

श्री

मस्थान की श्रोर से प्रकाशित-गून्थसूची—

(जे० मोतीलालशर्मा आह्निरसो मारद्वज)

- | | |
|--|-----|
| १—गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत—'बुद्धियोगपरीचा' नामक पञ्चम-खण्ड | २०) |
| २—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड | १५) |
| ३—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्ड | १५) |
| ४—मा० हि० निबन्धान्तर्गत—'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड | १२) |
| ५—वेदस्य सप्तविद्यानिघान्तम् (संस्कृत-निबन्ध) | १॥) |
| ६—भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय | १॥) |
| ७—वेद का स्वरूप-विचार | २) |
| ८—क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक-आमन्त्रण) | २॥) |
| ९—दिग्देशज्ञानस्वरूपमीमांसा | २५) |
| १०—शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्यान्तर्गत-प्रथमखण्ड | २५) |
| ११—राष्ट्रपतिमवनानुगत-व्याख्यानपत्रक ★ | ६) |

- | | |
|--|--------------------|
| (१)—सम्प्रस्तरमूला अग्नीषोमविद्या | (प्रथमव्याख्यान) |
| (२)—पञ्चपर्वात्मिक विश्वविद्या | (द्वितीय ") |
| (३)—'मानव' का स्वरूप-परिचय | (तृतीय ") |
| (४)—'अद्वैतविद्या' का स्वरूप-परिचय | (चतुर्थ ") |
| (५)—वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय (पञ्चम ") | |

प्रातिस्थान—

व्यवस्थापक—राजस्थानवैदिकतन्त्रशोधसंस्थान
(दुर्गापुरा अजमेर-राजस्थान)

★ राष्ट्रपतिमवन के टेपेस्ट्रों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महामाज के प्रास्त्यविक से अनुगत

‘राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधमस्थानजयपुर’ के

प्रधान-सरक्षक

महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महामाग

क

समर्थ करकमलों में

सस्थान की ओर से सम्मानपूर्वक

समर्पित

महामहिम राष्ट्रपति महामाग !

श्रीमान् की मशक्ता संरक्षता से समन्वित तत्त्वशोधमस्थानने अपने प्रकान्त वपत्रयात्मक स्वल्पकाल में राष्ट्र के वनतन्त्र एवं सचातन्त्र क सहयोग से भारतराष्ट्र की ज्ञान-विज्ञानममन्विता, भुति-स्मृति-पुराणमूला प्राच्य-सांस्कृतिक-सञ्चालुसधान की दिशा में अनुमानत ५००० (पाँच हजार) पृष्ठों का जो मौलिक-साहित्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित किया है, उसका प्रमुख श्रेय श्रीमान् की सांस्कृतिक-प्रेरणा से ही अनुप्राणित है । यद्यपि अपनी आर्थिक-सीमाओं के अनुबन्ध से निर्मित-साहित्य के अनुपात से अभी कार्य्य ‘नहीं’ के समान ही होपाया है । तथापि सस्थान की ऐसी आस्था है कि, महामहिम की अव्यर्था प्रेरणा से शीघ्र ही सस्थान अपन इस ‘प्राच्य-साहित्यकमल’ में पूर्ण सफलता प्राप्त करेगा, इसी आशा-प्रतीक्षा के साथ ‘दिग्वेश-कालस्थस्वप्नोर्मांसा’ नामक प्रस्तुत सङ्ग्रहपुष्पात्मक प्रकाशन कृतमृता-पूर्वक सस्थान की ओर से महामहिम राष्ट्रपति की सेवा में अत्यन्त विनय-पूर्वक समर्पित होरहा है अपने राष्ट्रपति की शतायु -कामना के साथ ।

समर्पकः—नाम

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान

मानभाम दुर्गापुरा (जयपुर)

द्वितीय-भाषणशुक्ल-मृतीया रविवासर

वि २ १५

मोतीलालशर्मापण्डित-य० करिष्यद्रूपि

मुक्तकन्धर्मा आश्रितसो भारद्वाज

(सत्यानाम्बुः)

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महामाग द्वारा प्राप्त
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधमस्थान' मानवाधम दुर्गापुरा (जयपुर) का
'प्रधानसंरक्षतालुगत-प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत हो रहा है—



भारत के राष्ट्रपति
डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रथम संरक्षक

यन्त्रणे की स्वीकृति प्रदान करने से

निम्निलिखी सेक्रेटरी ऑफिस

राष्ट्रपति भवन

नई दिल्ली

दिनांक 30/12/56

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार

प्रमुखासिद्ध

(सुभाष मिश्र) मैजर जनरल

निम्निलिखी सेक्रेटरी टू दि प्रेसिडेन्स

श्री।

‘दिग्देशकालस्वरूपमीमासा’-नुगत-‘किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्’

की

सक्षिप्ता-विषयसूची-परिच्छेदात्मिका



श्रीः

दिग्देशकालस्वरूपमीमासा'नुगत-“किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्”

की

मक्षिप्ता-विषयसूची

- १-अस्य संस्कृति संस्कृति-आचार-आयोजन, शास्त्र धर्म आदि निष्ठ मी भारतीय मानव की विमर्शकवानुगता दिग्देशकालनिबन्धना उत्पीडन-परम्परा .. ३
- २-आमचिन्तननिष्ठ भी भारतीय हिन्दूमानव का विमर्शकवर्त्मक अद्यपतन एवं स-सम्पन्न में अनतिप्ररनामक प्ररन एवं सलमाधान के लिए आपुर इन धम्म .. ४
- मी भारतीय मानव का कलियुगानुगत युगधर्म के प्रति सर्व्यार्पण .. ५
- ३-युगधर्मविगूट, अतएव दिग्देशकालपीडित भारतीय मानव ... ५
- ४-दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक लामो से बन्धित अतएव पीडित भारतीय मानव, एवं तात्कालिक लामो से समन्वित अतएव समुत्पीडित विरवमानव .. ६
- ५-मानवानुनविनी-प्ररन-नगप्ररन-परम्पराओं की सनातना, एक सलमाधानमूला अन्तर्वेदना .. ६
- ६-भारतीय हिन्दू मानव के सम्प्रनात्मक प्ररनी के समाधान से ही विरवमानव के दिग्देशकाल निरूपन प्ररनी का मी सम्भावित समाधान ... ६
- ७-आत्मयोगनिष्ठा से पराङ्मुखा क्षणिक-शून्य-दुःख-सङ्घणा अनात्ममायना से अनुप्राणिता दिग्देशकालानिबन्धना दुःखपरम्परा से आच भारतीय मानव ... ७
- ८-विमर्शकवर्त्मक में समुद्भूत-आभिभूत नवप्रह-माहात्मक एतद्देशीय नवविष उद्बोधक-विशेषक महामार्गों का नाम-सम्परण .. ७
- ९-परशूनमूला दिग्देशकालनिबन्धना प्रत्यक्षप्रमासात्मिका मातृकता' से उत्पीडित विमर्शकवर्त्मक भारतीय मातृक-हिन्दू-मानव ७
- १०-सदातन्त्रसापेक्षतामूलक दिग्देशकालन्यामोहन से व्यापुम्भ भारतीय मानव का संस्कृतिक-निष्ठाओं से पारम्परिक पठन .. ८
- ११-मातृकतानुगता आचारम्भलनारिमिक 'कृत धर्मविष्मृति से ही भारतीय मानव का विमर्शक वर्त्मक पठन ८
- १२-वेदशास्त्रविद्व सत्तानिरपेक्षतामूलक महान् उद्बोधनसूत्र ... ८
- १३-दान-क्रिया-अर्थमय, मनःप्राणजागरूप ब्रह्मधर्मिक आत्मब्रह्म एवं नामरूप-धर्ममय पान्चमूर्ति विरव का उदाभितत्व .. ८
- १४-अकारतमना मन, उद्वारालोक प्राण एव मकारात्मना वाक् की समष्टिरूप आ मनस तथा उदाचक-‘प्रयबोद्धार’ .. ९

- १५-मनःप्राणगर्भिता 'वाक्' की उच्च भाव लक्षणा व्यवस्था एवं वाग्ब्रह्म की सर्वव्यापकता १
- १६-मनःप्राणवाहक्य वाग्ब्रह्म का निःशब्दस्वयं अह-इ-शुक्-तामात्मक-अपौरुषेय-तत्त्वत्वं एवं उत्स्वस्व-किरलोपक शब्दात्मक वेदशास्त्र ---- ---- ११
- १७-उद्बन्धन अतएव अहस्वस्व 'श्रुति' नामक मनोगर्भित-वाहक्य प्राणतत्त्व का सङ्घटन स्व तथा मनःप्राणवाहक्य संहितावी प्रजापति एव आनन्दविज्ञानमनोमय मुक्तिवाची प्रजापति का संस्मरण " ---- १२
- १८-मनोमय-ब्रह्म-मित्र तथा प्राणमय अह-वस्व की कृत्वा दृष्टता तमिन्धन अर्थात् और अविद्येय-विवक्त एवं ब्रह्म-मित्र-विश्वेदेव-निन्धना ब्राह्मण-सृष्टिय-वैश्यमूला प्रकृति-विद्या आदर्शपर्यम्पत्स्या " " " " १३
- १९-सम्भारम्भ-शानुगत ब्रह्मरमक मित्र-कृत्वा, तथा अर्थात्मक बदन-दृष्ट का पापक्य एवं संहि-कर्मनिरोध " " " " १३
- २०-अत्र-वदन्नात्मक दृष्ट से पृथग्भूत ब्रह्म-मित्रात्मक कृत्वा की स्वस्व-स्थिति का एव ब्रह्म-मित्रा-त्मक-कृत्वा से पृथग्भूत अत्र-वदन्नात्मक दृष्ट की अस्मृति तथा स्वस्वरत्ना-विन्दुति का दिग्दर्शन " " " " १४
- २१-ब्रह्म और अत्र का पार्थक्य तमिन्धन सुष्टिकर्मव्यवस्थाओं का निरोध एव, तमिराकरण के लिए अत्र की ब्रह्म के प्रति शरणागति " " " " १५
- २२-अत्र के द्वारा प्रवृत्तमात्र से ब्रह्म का आमात्रण " " " " १५
- २३-ब्रह्म की अनुग्रहात्मिक स्वीकृति से ब्रह्म-अत्र का समन्वय कृत्वा तत्र ब्रह्म-मित्र की प्रभुत्वता एव 'मैत्रावरुणम्' का आभिर्भाव " " " " १५
- २४-प्रकृतिविद्या ईश्वरकृता कर्णोच्चरुषी एव संस्कारविद्या श्रुतिविद्या 'कर्णोच्चरुषी' " " " " १६
- २५-आमिगन्ध-पथप्रदर्शक ब्रह्ममित्र से समन्वित कर्णो-पयानुवर्ता अत्रवरण की स्वस्व-स्थिति एव अस्मृति तथा अस्तुत्तवी अक्षोपनात्मक आदेश (ब्रह्म के प्रति) " " " " १६
- २६-तत्त्वमीमाणाशुगत आदर्शवाद तथा आचारमीमाणाशुगत यथायथा, एव-तत्त्वानुगत 'दर्शन' और आचारानुगत 'धर्म' से अनुप्राणित प्रतिष्ठासूत्र " " " " १७
- २७-धर्म और दर्शन का महान् मौलिकमेद दर्शानिष्ठा के निग्रह से धर्म का अभिमय उत्थाने व अस्तनिक मतवादों का आभिर्भाव एव भारतयात्र के पारम्परिक अक्षयन के प्रमुख कारण " " " " १७
- २८-और-आन्द्र-पार्थिव-मात्रयानुवर्ती-अय-शिव-सुन्दर-लक्षणा प्रजापय-किरव-सौन्दर्य का प्रकृतिही कास्वनिक बगमिन्धनात्मकवाद एव अस्तुगता आचाररुत्वा दर्शानिक-महा " " " " १८
- २९-कास्वनिक अर्थात्-महा के महान् विमोहन के द्वारा विश्वसौन्दर्य की परवृत्तता " " " " १८
- ३०-ब्रह्मसम्प्रदो की उत्सविकान तथा अस्तुगता-आचार-मात्र-निन्धना सहचरीणी एव 'उपनि-पत्' शब्द का रहस्यार्थ-समन्वय " " " " १९
- ३१-तत्त्वमीमाणाभिन्ना 'उपनिपत्' से समन्विता आचारमीमाणा एव अस्तुप्राणित एव कश्चिद्व्यक्तक मैत्रावरुणमहाब्राह्मण " " " " १९

३२- 'गुहानिहित' नाम्ना 'श्रीर्ष्यमाश्रित' चरित्र, तथा 'पाठातपिक' धैर्य, एव तन्मिच्छना स्वतन्त्र निष्ठाओं का स्वरूप-विश्लेषण	१६
३३- गुहानिहित नाम्ना की अशुभन्यता से अनुप्राणित भोत-उद्बोधनयुक्त का तत्परार्थसमन्वय, एवं राक्षस्य की भाषण-सापेक्षता का विश्लेषण	२
३४- भोत उद्बोधनयुक्त के सम्बन्ध में जिज्ञासा-मन्त्र सम्बन्ध	२१
३५- 'यथा कालस्य कारणम्' मूला परिपत्त नशीला युगव्यवस्था, एवं प्रवृत्तिविहिता नित्या युगचतुष्टयी का स्वरूप-विश्लेषण	२२
३६- प्रति-मानवानुगत अथर्व्या-भोगमिमांसा अनुपु गम्ययस्या का स्वरूप-विश्लेषण	२२
३७- अविष्ठा से पराहस्य मातृक भारतीय मानव की 'युगभोतन्याय' मूला परत दापन्यापन-प्रवृत्ति का मलीमस इतिवृत्त	२३
३८- पराशरारोपणप्रवृत्ति से अनुप्राणित भारतीय मानव की व्यावहारिकी लोभमाना का मातृकतापूर्ण स्वप्न	२३
३९- मायास्वप्न के कल्पित उपाहरण एव तत्प्रतिद्वन्द्वी नैतिक उपाहरण	२४
४०- युगसम्मानुगत कालिक परिपत्त नों की सहस्रगति	२४
४१- भास-अहोरात्रानुवर्षी कल्पियुग का भाषण, एव तन्मिच्छना युगभोगव्यवस्था के सम्बन्ध में मातृक मानव से प्ररन	२४
४२- त्रिशष्ट (३) चत्वारिंशत् (४) वर्ष-युवानुगत अथर्व्या युग के एव तदुत्तरमावी वर्षमान युग के आत्यन्तिक परिवर्तन के माध्यम से तत्पक्ष प्ररन की वृत्तविगम्यता	२५
४३- त्रिशष्टपरमक वत् मानयुग से अनुप्राणित दानवता का नग्न चित्रण, एव तद्व्यापक कल्पियुग का उपगम	२५
४४- मातृकता से आक्रान्त भारतीय भाषण का अथर्वपठन एवं तद्व्यावहारिक से ही उद्ग की अभिभूति	२५
४५- मातृकताप्रवृत्ति का मूल कारणान्वेषण प्रयास एवं तदनुभविनी 'मैत्रावरुणप्रवृत्ति'	२६
४६- 'सम्कृति' और सम्यता शब्दों से अनुप्राणित प्रजापति की दो विभिन्ना वृत्तियों का स्वरूप-विश्लेषण	२६
४७- प्रवृत्तिविशिष्ट पुण्यप्रजाति का स्वरूप एव उस के अमृत भय-मानों का स्वरूप-विश्लेषण	२६
४८- पुरुषप्रजापति की रत्न-कला-तुल्यविनी शोभा कलाएँ	२७
४९- योद्धाकला-समन्वित योद्धा का संमरण	२७
५०- 'नासदासीनो स्यासीन्' मूलक सम्बन्धित प्रजापति और अनुगमवचन	२८
५१- प्रजापति की 'समन्वितता' तदनुवर्षी 'सम्' उपसर्ग, एव तन्मिच्छना-समता-समत्व-अभ्य-एकमात्र-आदि समन्वयविपादक शब्द	२८
५२- योद्धापुरुषप्रजापति की सम्यय-अदर-मूला मातृ-गुण-विचार-निच्छना विविधा वृत्ति का तात्त्विक स्वरूप-विश्लेषण	२९

- ५१-भावसृष्टि का अस्तित्व एवं गुण-विचार-सृष्टियों का सृष्टित्व तथा प्रजापति की दो विभिन्न कृतिर्वा
- ५२-समग्रसाधुगता देवमावात्मिना अक्षरप्रकृतिनिबधना-अभिव्यक्तमावापया सत्कृति' एवं वाग्-
ब्रह्मातुगवा-भूतमावात्मिना-अक्षरप्रकृतिनिबधना अभिभूतमावापया-सम्यता शब्दों का
तत्सार्थ " "
- ५३-अक्षरतुङ्गधी-दैवमावातुगत-प्राणात्मक सूक्ष्म चिरव का संस्कृतित्व अक्षरतुङ्गधी-भूतमावा-
तुगत-वागात्मक स्थूल चिरव का सम्यतात्व एवं मित्र-मज्ञ-प्रतिरूप ब्राह्मण के द्वारा 'सत्कृति
का तथा अत्र-ब्रह्म-प्रतिरूप सत्तात्त्र के द्वारा 'सम्यता' का सम्भावित संरक्षण " "
- ५४-सत्तानिरपेक्षा 'सत्कृति' एवं सत्तात्त्रपेक्षा 'सम्यता' तथा संस्कृति की प्रतिष्ठा से प्रति-
ष्ठिता-व्यवस्थिता सम्यता के प्रति ही सत्तात्त्र के व्यवस्था-सञ्चालन-मात्र उत्तर-
दायित्व " "
- ५५-सत्कृति-स्वरूप-चिरसौप्तक शास्त्र दक्षिण संस्कृतिक ब्राह्मण तद्द्वारा कृति स्मृति-पुराण-
माध्यम से संस्कृति-सत्तात्त्र-सदायोगन-जमी का व्यवस्थापन एवं उत्पत्ति सत्तात्त्र के हस्त-
क्षेप का निरोध " "
- ५६-सत्कृतिमूलक-धर्मों की स्वरूप-परिभाषा एवं संस्कृति, साहित्य (शास्त्र) तथा धर्म-तत्त्वों
की अभिप्रायणता का स्वरूप-सिद्धान्त " "
- ५७-'नीति' की स्वरूप-परिभाषा धर्मातुगवा 'नीति' का 'नीतिवचन' धर्मनिरपेक्षा 'नीति' का
'अनीतित्व' तद्द्वारा राष्ट्रव्यवस्था-सिद्धान्त-क्षेप एवं धर्म की परमता " "
- ५८-सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मणवत् धर्मनिरपेक्ष सत्तात्त्ररूपा महती सम्यता का आविर्भाव एवं उद्धार-
करण-प्रवास " "
- ५९-सत्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण की निरपेक्षता के सम्बन्ध में साधु-विद्वानों की महती शान्ति एवं उन्मत्ता
आपाठ्यमयीया 'राजमार्ग' " "
- ६०-ज्ञानविज्ञानसिद्ध प्रकृतिसम्मत सनातन-वैश्वरीय-धर्मों तथा मानसिक-मानवगतुङ्गधी युग-
धर्मात्मक 'मत' एवं दोनों का आत्यन्तिक पायक्य " "
- ६१-वर्तमानयुगीन-सनातनधर्म - हित्धर्मों आदि धर्मों-की 'धर्मों से पराङ्मुखता एवं इन
का विशुद्ध मतवापत्त्व " "
- ६२-ब्राह्मण की 'निरपेक्षता' का धार्मिक-सम्बन्ध एवं निरपेक्षधर्ममूलक साहित्य से ही संस्कृति-
निष्ठा का सम्भावित-संरक्षण " "
- ६३-ब्राह्मण की सत्तात्त्र के प्रति निरपेक्षता का तथा सत्तात्त्र की ब्राह्मण के प्रति सापेक्षता का
सम्बन्ध एवं समस्या का निराकरण " "
- ६४-ब्राह्मण की 'अराजकता' का सिद्धान्तब्रह्मतुङ्गधी-सम्बन्ध एवं तन्मात्रे संस्कृतिनिहात्मिक
स्थापनाविद्यया की अन्तमुत्पत्ता " "

- ६७-चिन्तनमूला संहति, स्वाध्यायमूलक 'मान्ति, एव आचारमूलक 'धर्म का समन्वय तथा मत्वात्मन-काल्पनिक 'धर्मप्रचार के व्यामोहन से ही मत्वाभव की पारम्परिक अभिव्यक्ति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त " २६
- ६८-सत्तामापन्न विद्वानों के द्वारा आचारशून्य अतएव धीनसौन्दर्य से असंसृष्ट, सत्तामान्यता-समयक काल्पनिक साहित्य का सम्पन्न " " " " २७
- ६९-'पर सम्पदा क वाद्यगणेश म आभद्र बत मान भारतराष्ट्र की 'पर-कन्या-सक्तिमूला काल्पनिक 'स्वतन्त्रता का दुःखपूर्ण इतिवृत्त " " " " " २८
- ७०-समय शून्य-ध्यामाहानुगत-वच मान की भ्रान्ति भूत-भविष्यत् की उपेक्षा एवं बत मान काला मत्र पशुवगत् से तत्समत्वजन " " " " २९
- ७१-भाष्यराष्ट्र की त्रिसहस्यारिणी पतनपरम्परा एव तथिरायोगदान्येवग
- ७२-संहति-मरुत्तानुक्त स भारतीय विद्वाना का प्रश्न उत्पत्ति प्रवृत्तिप्रनतमान एव सत्तासा पेशतानुगता भ्रान्ति-परम्परासा से ही संहति-स्वरूप का उत्तरातर अभिमव
- ७३-मत्वाभवता तथा शिष्यपरम्परानिमृष्टि के लिए सत्तासुर मत्वासा की सत्तासापेक्षता का स्वरूप-दिग्दर्शन " " " " ३०
- ७४-संहति-नित्यधर्म की सद्द मत्तानिरपेक्षता एव चिन्तन-न्याध्याय तथा धर्माभरणमूलक सर्वनिरपेक्ष संहति-चर " " " " ३१
- ७५-संहति-धर्म के प्रति सत्तासत्ता का प्रवृत्तमान स आत्मार्थग तनप्रति संहतिनिष्ठा का 'उपशु अनुमान एव उपशुमावतिरुचनता 'तथेति मूला निरपेक्षता का समन्वय " " " " ३२
- ७६-सत्तानिरपेक्षतामूलक 'अरुचन्य' शब्द का तत्त्वाय समन्वय एवं-सत्ता परित्यजेदयान् इत्यादि मानवीय-वचन का स्वरूप-दिग्दर्शन " " " " ३३
- ७७-युगधर्मानुगता मातृकताविता अखर्याग भावना के प्रति संहति-प्रथा का उद्बोधन एवं वर्तमान सत्तासत्ता क प्रति राष्ट्रप्रथा का निष्ठापरण " " " " ३४
- ७८-संहति-निरपेक्षता-मूला-धम्मनिरपेक्षता के मूलकारण का अन्वेषण-प्रवास एवं तदनुगता वामाना धम्मनिरपेक्षता की दोष-असंसृष्टता " " " " ३५
- ७९-धम्मनिरपेक्ष मी यथमान सत्तासत्ता के द्वारा मत्वासा के प्रति प्रकृन्ता सापेक्षता का दुःखपूर्ण आणतयमणीय इतिवृत्त " " " " ३६
- ८०-संहति-संस्कृतकालीना वचमानादस्था तत्परिभाषायाय एव सत्तानिरपेक्षतामूलक चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण-से ही सम्मानिता राष्ट्रीय-संहति-निधि की स्वरूपामिव्यक्ति " " " " ३७
- ८१-दिग्विजयकाल-स्यमोहनासंख्या गुहानिहित-सुनुगता निरपेक्षता तन्मूला संहति-निष्ठा एव तत्स्वरूपोपदिशि 'दिग्विजयकालम्बरुमीमांसा' " " " " ३८
- ८२-'भारतीय मानव' किंवा 'भिरुमानव के पारम्परिक उत्पीड़न का अन्वयत कारण दिग्विजयकाल-निरुचनता मातृकता " " " " ३९
- ८३-सर्ववचन-परिग्रह-सम्पन्न संस्कृति-साहित्यधर्माणि निष्ठ मी भारतीय मानव के पारम्परिक पतन का मूलकारण एव तत्परिभाषायाय-दिग्दर्शन " " " " ४०

- ५१-भाववृत्ति का असृष्टित्व एवं गुण-विकार-सृष्टियों का सृष्टित्व तथा प्रजापति की दो विभिन्न कृतियाँ " " " " " " ३
- ५२-समब्रह्मानुगत्य देवभावादिमहा अक्षरप्रकृतिनिष्पन्ना-अधिदैवतभावापन्ना सृष्टि' एवं वाग्-ब्रह्मानुगत्य-मृतभावादिमहा-अधिविकृतिनिष्पन्ना अधिमृतभावापन्ना-सम्यक्ता शब्दों का सत्त्वायं " " " " " " " ४
- ५३-अक्षयनुकम्पी-दैवभावानुगत-प्राज्ञात्मक सूक्ष्म विरव का संकृतिरव क्षरनुकम्पी-मृतभावा-नुगत-वागात्मक सूक्ष्म विरव का सम्यक्तात्त्व एवं मित्र-ब्रह्म-प्रतिरूप ब्राह्मण के द्वारा 'संस्कृति का तथा अन्न-बक्षण-प्रतिरूप सत्ताकत्र के द्वारा 'सम्यक्ता का सम्भावित-संरक्षण " " " " " " ३१
- ५४-सत्तानिरपेक्षा सृष्टि, एवं सत्ताधपेक्षा 'सम्यक्ता' तथा संस्कृति की प्रतिष्ठा से प्रति-ष्ठिता-स्मरतियता सम्यक्ता के प्रति ही सत्ताकत्र के व्यक्त्या-सञ्चालन-मात्र उत्तर-दायित्व " " " " " " " ३२
- ५५-संस्कृति-स्वरूप-विरलोक्य शास्त्र धर्मिष्ठ सांस्कृतिक ब्राह्मण उद्धार श्रुति स्मृति-पुण्य-माध्यम से संस्कृति-उदाचार-उदाबोधन-त्रयी का स्मरत्वापन एवं उद्यति उद्यत्कत्र के हस्त क्षेत्र का निरीय " " " " " " " ३२
- ५६-संस्कृतिमूलक-धर्म' की स्वरूप-परिमाथा एवं संस्कृति साहित्य (शास्त्र) तथा धर्म-उत्तरो की अनिर्वाप्यता का स्वरूप-दिग्दर्शन " " " " " " " ३३
- ५७-नीति की स्वरूप-परिमाथा धर्म'तुगत्य 'नीति' का 'नीतिपयत्वं' धर्मनिरपेक्षा 'नीति' का 'अनीतित्व' उद्धार यज्ञस्वरूपप्रतिष्ठो-क्षेप एवं धर्म' की परमता " " " " " " " ३३
- ५८-सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मण्यत् धर्मनिरपेक्ष सत्ताकत्ररूपा महती समस्या का आविर्भाव एवं तथिग-करण-मयास " " " " " " " " ३४
- ५९-संस्कृतिनिष्पन्न ब्राह्मण की निरपेक्षता के समन्वय में मानुष-विद्यानों की महती श्रान्ति एवं उन्मूला आपातरमपीया 'राजमर्दि' " " " " " " " ३५
- ६०-ज्ञानविज्ञानविद्य प्रकृतिस्मरत सनातन-ईश्वरीय-धर्म' तथा मानसिक-मान्यतानुकम्पी युग-धर्मदिग्क 'मत् एवं वेदों का आत्यन्तिक पायक्य " " " " " " " ३५
- ६१-वर्तमानयुगीन-उनातनधर्म' - 'हिन्दूधर्म' आदि धर्मों-की 'धर्म' से परबहुलता एवं इन का विशुद्ध मतवाहक " " " " " " " ३५
- ६२-ब्राह्मण की 'निरपेक्षता' का तास्मिक-समन्वय, एवं निरपेक्षत्वमूलक साक्षिक से ही सृष्टि-निष्ठा का सम्भावित-संरक्षण " " " " " " " ३५
- ६३-ब्राह्मण की सत्ताकत्र के प्रति निरपेक्षता का तथा सत्ताकत्र की ब्राह्मण के प्रति अपेक्षता का समन्वय, एवं समस्या का निराकरण " " " " " " " ३५
- ६४-ब्राह्मण की 'अराजक्यता' का निरपेक्षताकातुनकी-समन्वय एवं उद्धार्ये सृष्टिनिष्ठात्मिक स्थाप्यनिष्ठा की अन्तमुलता " " " " " " " ३५

- १ ८-परमप्रवृत्ता मातृकता से ही सांस्कृतिक-निष्ठा से पराट्-मुक्तता एवं स्वरूप विरक्षोपण ५१
- १ ९-अयमप्यमप्राप्तुगता हमारी निरपेक्षा साहित्यापचना क सम्बन्ध में विद्वानों से किं चिन्वित् आवेदन निवन्त ५२
- १ १०-उद्भाषनात्मक सामयिक-निबन्धों क सम्बन्ध में सापेक्षता की भ्रान्ति एवं तन्निराकरण ५३
- १ ११-सांस्कृतिक-अथ पतन के सम्बन्ध में विद्वानों से कनिष्ठ सामयिक-प्रश्न, एवं तद्द्वारा हमारा नि सीम उल्टीङ्गन ५३
- १ १२-कृतक तन्मत्त विद्वानों की ही रावन्परिचि किया सत्ताभयता का नग्नचित्रण ५४
- १ १३-शास्त्रतन्नामायुक्त इन मातृकीय विद्वानों की निरपेक्षता का प्रत्यक्ष रूप्य, निरपेक्षतापुगता इन की 'गद्यमफि, श्रीर त्रिदिशायुक्त क यशोगानकर्ता हमारे ये राष्ट्रीय-विद्वान् ५४
- १ १४-साह-विधैयणा-समन्विता मातृकता म अनुप्रायित विद्वद्दर्श, एव फेवल निरपेक्ष-तत्त्वचिन्तन क उद्भाषक भी इत वर्ग की तत्त्वनिष्ठा, तथा आचारनिष्ठा म आत्यन्तिक-पराट्-मुक्तता ५४
- १ १५-तात्कालिक लाम-प्रवर्धिका लाङ्कमान्यतामा का महान् परिश्रित यद् स्मृतिनिष्ठ १ विद्वद्दर्श और इस की अयमरक्षिता से अनुनाशिता-निरपेक्षता सापेक्षता अ सायडव ५५
- १ १६-आचारनिष्ठा मर धम्म से पराट्-मुक्ता ज्ञानविज्ञान-चिन्तन-धारा की आत्यन्तिक निरपेक्षता, एव- आचारः परमो धर्म' का मात्राजित संमरण ५५
- १ १७-स्वरूपानामृत अभ्यासवात् की मिति पर प्रतिष्ठित विद्वद्दर्श के काव्यनिक सिद्धान्त एवं सद्गुण इणैव अष्टनिव उपग्रहों का आविभाज ५६
- १ १८-तत्त्वानुगता आचारनिष्ठा का स्मर्यक-त्रिगुदेशकालमीमांसा नामक सामयिक निबन्ध ५६
- १ १९-ज्ञानविज्ञानप्रवृत्तिभ्रमगाभिसा आचाररक्षिता हमारी प्रवृत्तिया, एव तद्द्वारा ही विगतपुगे स्वाध्यायनिष्ठा-विश्रुति ५६
- १ २०-निष्ठा-विश्रुतिमूला अन्वेषणा तनुप्राप्तता मइती समस्या एव तदापारैशैव निष्ठा-मातृकता-राष्ट्री के स्वरूपदर्शन से साभिध्य ५७
- १ २१-वि-तनगील स्वाध्यायनिष्ठ वर्ग से अनुगत हमारा मूलसाहित्य तथा युगवर्मानुगत वर्ग से अनुगत मूलसाहित्य ५७
- १ २२-मूलसाहित्यात्मक उद्भावनात्मक लोकसाहित्य की भ्रुतिमूला तत्त्वप्रतिष्ठानुगति, एव तद्द्वारा सांस्कृतिक-निष्ठा-सरक्षणीपापावलम्बन ५७
- १ २३-प्रस्तुत- 'राष्ट्रीय-साहित्य' का द्विधा वर्गीकरण और उसकी स्वरूपदिशा ५८
- १ २४-वच मान मानव का 'उपयोगिता मूलक महान् ध्यामोहन मातृकीय-संस्कृति के सम्बन्ध में वनकन्धर्मों की आच के मानव के मातृकतापूर्ण उद्गार, और हमारी स्तम्भता ५८
- १ २५-'उपयोगिता' के काव्यनिक विद्वद्दर्श का स्वयंप-दिग्दर्शन निष्कारणभाव-निबन्धना मातृकीय-संस्कृति एव तन्मूलक स्वयन्मात्मक मातृकीय कृत व्यङ्ग्य की निष्कारणता का दिग्दर्शन ५९
- १ २६-मानव की-मानव' उपाधि के सम्बन्ध में मानव की छद्म जिज्ञासा एवं बुद्धि-मन-शरीर-अनुपधरणी के माध्यम से 'मानव' स्वरूपान्वेषण-प्रयास तथा तन्निष्पन्नता ५९

- ८४-स्वस्वरूपेण सुरक्षिता संरक्षित के सम्बन्ध में विद्वानों की सहायतासे प्राप्त—मूला महती भ्रान्ति
छानुप्राणित मन्वजनपरम्परएँ तद्विरुद्धात्मस्वरूप राष्ट्रीय-संपत्तियोंके और आस्ततावीमर्ग
के द्वारा राष्ट्र का अभिमान
- ८५-शोकानुभूति की व्यापकता से हमारा आत्मविरोध
- ८६-आचार्यचरित्रात्मक से ब्यामोहन से आत्मपरिचाप एवं उपास्य 'राजपथ' के द्वारा महती समस्या
का निराकरण
- ८७-चतुर्विधा मभिधा जाति, एक देवयुगीय मीमंसेलोच्य का स्वस्व-संस्मरण
- ८८-देवयुगीय भारतीय-मानव के संस्कृति के प्रति मानुष्यापूर्व उद्गार
- ८९-देवयुगीय स्थिति से सम्बन्धित वक्तमान भारतीय-मानव के अभिजातपूर्व उद्गार
- ९०-वेदांगप्रज्ञा मीमंस्वरूप से देवयुग बृहस्पति का भारत आगमन एवं मशरुस्य-स्वरूप-विकल्प
के द्वारा भारतीय मानवों की अभिजात का निराकरण
- ९१-मानसिक-रूपवादी से धर्मिका ब्यामवादी से सांस्कृतिक-ज्ञानविज्ञानविद्य मी वर्तमानकम्प्राप्त
धर्म की 'मननादरूप में परिणति, एवं धर्मब्यामरूप का के ये 'प्रसन्नारोह
- ९२-सामयिक उद्बोधनानुभूति एक सामयिक 'सोच' का प्रश्नचयन एवं उखमन्व में प्रशाक्तुमी
की क्लृप्ती प्रेरणा
- ९३-प्रेरणाकारण से ही श्रुति-स्मृति-पुराण-विद्य ज्ञानविज्ञानात्मक तथ्यों के आधार पर लघुवस्तु-
हस्तात्मक स्वतन्त्र निष्कर्ष की स्वरूपनिष्पत्ति
- ९४-निष्कर्ष अभिधा से अनुप्राणित-'हिन्दू' शब्द से प्राप्त के अन्तर्द्वीपस्थितिविमुक्त अतएव
निताप्त मानुष भारतीय मानव का उन्मूलन और उस की वास्तविक-विरवमानता
- ९५-'हिन्दुमानव' का सुप्रसिद्ध उदात्त-उद्बोधन एवं तद्द्वारा इती की नैष्ठिकी विरवमानता का
स्वरूप-दिग्दर्शन
- ९६-'भारत -'विरवकथुस्व -'मानव -'मानवधर्म'-'सत्य'-'अहिंसा' 'त्याग'-आदि शब्दों की मी
हिन्दू शब्दानुप्राणित निर्माणानुगत साम्प्रदायिकता एवं हमारा मानुष्यापूर्व महान्
ब्यामोहन
- ९७-गङ्गा-वन्दना-कन्वेमातरम्-तीराङ्ग-विद्वान्-असहिन्द-आदि वन्द्यवात् शब्दों की तथाविधैव साम्प्रदा-
यिकता एव तत्कालप्रसिद्ध 'हिन्दू' शब्द के प्रति राष्ट्रीय मानव का निरर्थक आक्रोश
- ९८- 'हिन्दू-मानव' रूपा पवित्र-अभिधा से अनुप्राणित 'विरवमानव' के शान्ति-स्वस्थित माव एवं
हिन्दुमानव के ही-'बसुपैव कुटुम्बकम्' इत्यादि लक्षण उदात्त-उद्बोधन
- ९९-निष्कर्ष के प्रथमचरण के सम्बन्ध में (१)
- १०-निष्कर्ष के द्वितीय-चरण के सम्बन्ध में (२)
- १०१-निष्कर्ष के तृतीय-चरण के सम्बन्ध से (३)
- १०२-निष्कर्ष के चतुर्थचरण के सम्बन्ध में (४)
- १०३-शास्त्रतत्त्वमात्रक विद्वानों का सामयिक परिदोष तत्त्वचिन्तनमूला सर्वनिरपेक्षा चिन्तननिष्ठा
की महती उपयोगिता एवं सर्वनिरपेक्षा ही तच्चिन्तन में सम्भाविता उदजाद्य

- १३८-नामाधप्रधाना अतएव 'पशुत्रगत्' मे गमनुविना 'उपयोगिता' का महान् व्यामोहन, एतं इत्थं भूत पशुत्रग्मात्तद तारतानि उपयोगितावाद के व्यामोहन से ही मानव का सांस्कृतिक-अव-पतन
- १३९-युगधर्मात्मक भोजन, भाषण, पर्यटन, प्रतीय-मौलिक-विधि-विधानानुसरण आदि आदि त्रिगु-शकालानुबन्धी कला-कौशलों के प्रति सद्यया अनुपयुक्त भारतीय सांस्कृतिक-वाङ्मय, एव तन्सम्बन्ध में उपयोगितावादीयों की विप्रतिपत्ति का सत्यतमना भ्रमात्
- १४०-युगधर्म प्रवाहात् अतएव त्रिदेशपालविभूत सांस्कृतिक विज्ञानों की, तथा मेधावी सांस्कृत-छात्रों की भी उपयोगिता-कारणता-उत्पत्ति-आदि सांस्कृतिकों के व्यापक प्रवादानुगति
- १४१-'योग' कर्मसु कौरालम् मूलर 'योग' शब्द, एव तन्नुपयोगित प्रवृत्तिभिः वैराग्य ज्ञान-परवर्ष्य धर्म नामक चतुर्विध सिद्धयोग
- १४२-आत्मानुगत योग्यबुद्धियोग, बुद्धधनुगत ज्ञानबुद्धियोग, मनोऽनुगत ऐश्वर्यबुद्धियोग, तथा शरीरानुगत धर्मबुद्धियोग का स्वरूप-त्रिगु-ज्ञान
- १४३-सम्बन्धयोगात्मक पुनर्पार्थलक्षण चतुर्विध सिद्धयोगों के संघातक स्वयंलक्षण चतुर्विध साध्ययोगा का 'उप' मात्र एवं तन्नुगत 'उपयोग' मात्र और तन्निष्पन्नता उपयोगिता
- १४४-'उपयोगिता' की व्यापहारिकता क मूलश्रोत का 'बोधात्म्य', एवं बोध के सम्बन्धमें व्यापहारिक उपयोगितावादीयों से प्रश्न
- १४५-सर्वव्यापहारिकता सर्वोपर 'बोधोत्पत्ति' का स्वरूप-सम्भरण
- १४६-मात्रामात्रानुबन्धी आनन्द-विज्ञान-ज्ञान-कर्म-अर्थ-नामक व्यापहारिक महिमायिनत्वों का स्वरूप-त्रिगु-ज्ञान, एवं इनका सत्तागतिवत्
- १४७-त्यागदायि-मात्रामात्रों के उपमोक्षा के सम्बन्ध में उपयोगितावादीयों से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न
- १४८-उपमोक्षा प्राणियों के अस्तित्व-विषय एवं तन्नुपयोगिता अस्तित्व-संख्याता उपयोगिताएँ
- १४९-सम्पूर्ण मात्रामात्रों के मूलबोधोत्पत्ति पञ्चबोधोत्पत्ति बोधोत्पत्ति की सत्तागतिवत् एव तत्सम्बन्ध में विज्ञाना
- १५०-पञ्चबोधोत्पत्ति सम्बन्धोत्पत्ति तन्नुबन्धी मात्रामात्रों का सर्वज्ञान में स्थान एवं एकमात्र आत्म निष्ठा 'मानव' का ही पूर्णरूपेण उत्पत्ति-साम्य-समन्वय
- १५१-स्वतन्त्र मोक्षत्व में वञ्चित मानवैतरेण, अस्मिन्-अस्मिन्-अस्मिन्-व्यवस्था एवं भूतसत्तागतिवत् आनन्दमात्रानुगता तारतम्य-व्यवस्था
- १५२-मात्रामात्राविद्यता बोधोत्पत्ति के पञ्चबोधों का सम्भरण बोधविनिर्गता मात्रामात्रों की उपयोगिता में अनुपयोगिता मौलिक-उपयोगिता का किञ्चित्चिन्तित निदर्शन
- १५३-आत्ममार्जनकप्रधान प्राणप्रधाना मौलिक-उपयोगितावादी के प्रति उपयोगितावादी की निरपेक्षता एव अस्मिन्-अस्मिन्-अस्मिन्-सोपयोगितागतिवत् महती विप्रतिपत्ति आ उद्यान
- १५४-आत्म का मौलिक-अनर्थात्मक तन्नुबन्धक उपयोगितावादी प्रमुखधर्म एवं सांस्कृतिक-उपयोगिता के सम्बन्ध में तत् मानानुबन्ध से अनुसन्धान का अत्यन्तिक अभाव

- १२३-इन्द्रियज्ञानादुत्थितबुद्धि के माध्यम से मानवस्वभावान्वेषण प्रयास एवं उद्देश्य बुद्धि-मन-शरीर त्रयी से अतीत गुणब्रह्मात्मक 'मानव स्वरूप के दर्शन' - ३६
- १२४-बुद्धिपुरुषगता विवक्षा मनोऽनुगता 'प्राकृता' एवं शरीरानुगता 'स्वरूपता से अतीता विलक्षणता' 'मानवता' एवं तस्मिन्मन प्राणी का ही 'मानवत्व' - ७
- १२५-बुद्धिप्रतिष्ठात्मक कालात्मक सूर्य्य मनःप्रतिष्ठात्मक दिगत्मक चन्द्रमा एवं शरीर-प्रतिष्ठाम्बु देहात्मक सूर्य्य एवं तीनों विषयों का केवल 'प्रकृति पर ही आबतान' ---
- १२६-दिग्देश-कालातीत सौरब्रह्माण्डातीत महद्ब्रह्मगमित, मनुर्ब्रह्मण ब्रह्ममात्मब्रह्म तन्मुप्राणित 'मानव शरीर मानव का लोकोत्तर-स्वरूप' - ---
- १२७-पार्थिव शरीर, चन्द्र मन सौरी बुद्धि तथा दिग्-देश-कालातीत आत्मब्रह्म एव तस्मिन्मन सगो के सर्वथा विभिन्न चार भेदविभाग शरीर तदनुगत मानवीय-जन्म-समाप्नय १
- १२८-केवल शरीर-मनो-बुद्धि-धर्मां परवादि प्राणियों की प्राकृत-उपयोगिता के अनुकूल से मानव की उपयोगिता से समतुलित-'माव' का विग्रह - ७९
- १२९-भूत-मस्मिन् के सत्त्व परिवारों से उत्पन्न-निरपेक्ष-मानवैतर प्राणीवर्ग की केवल बल मनो-पयोगिता एव तद्विभोदनायक बनवत्त्रादी कर्षमानोपयोगितावादी आब का मानव - "
- १३०-बुद्धि-मनः शरीर-लक्षण सत्य-दिग्-सुन्दर-रूप आधारात्मक दिग्देशकालात्मक विवक्ष-सौन्दर्य्य का प्रकृतिकी कास्मिक आत्मवादी दार्शनिक मानव शरीर तस्मिन्मन बुद्धि-पुरुष शून्य-मावनिष्पन्न-उपयोगिता - ---
- १३१-कास्मिक अगमिन्मात्सवादानुशा कास्मिकी आत्ममावना तस्मिन्मनोवैव माण्यीम-आचारनिष्ठा-परम्परा का त्रिहस्तपरिमित अगमिन् एव विद्या तथा अविद्यासे सम्बन्ध रखने वाले द्विविध तमोमावों का स्वरूप-दिग्दर्शन - ---
- १३२-आत्मनिष्ठावहित दिग्देशकालात्मिक उपयोगितावादी मानवता की उपयोगिता' का पशुबग-समनुमित सम्पूर्ण इतिहास, एव तद्वृत्ति-साहचर्य्य-मानवोत्पत्ति की उत्पत्ता - ---
- १३३-साहचर्य्य मानव के आत्म-बुद्धि-मन-शरीर-धर्मक चतुष्टयों स्वरूप का दिग्दर्शन एव तस्वरूप-माध्यम से ही मानव के उपयोगी-अनुपयोगी-मावों का तस्मात्कृत-प्रयास - "
- १३४-धार्म्य्यनिष्पन्न 'पुरुष' अगमिन् तदनुगत 'पुरुषार्थ' एव तदाधारेण प्रतिष्ठित निमित्त प्रकृत्यर्थ और पुरुषार्थ-प्रकृत्यर्थ-निष्पन्न-मानवीय कर्म्य्य की स्वरूप-दिशा का उद्घोष - ---
- १३५-मानव की पुरुषार्थचतुष्टयी एव मानवैतर प्राणियों की प्रकृत्यर्थचतुष्टयी एव दोनों विमल तन्नों का स्वरूप दिग्दर्शन
- १३६-'पर' पुरुष से अनुप्राणित 'पुरुष की स्वरूप-परिमाण एव आत्म-बुद्धि-मन-शरीर-पर्यानुगत मोक्ष-धर्म-काम-अर्थ-नामक-चारी पुरुषार्थों का पारस्परिक सहोत्तरसम्बन्ध - ७७
- १३७-आत्म-बुद्धिपुरुषकी मोक्ष-धर्मों से अमृत्युह मन-शरीर-मात्रा-वधान कर्माध्यात्मपराम्य्य पशुबग, एव तत्समनुमित मानववर्ग - ---

- १८-कामायप्रधाना अतएव 'पशुजगत् मे समनुगिता 'उपयोगिता का महान् व्यामोहन, एतं इत्य भूत पशुधम्मसारनइ तारतमिक उपयोगिताया' के व्यामोहन से ही मानव का मण्डूतिक-अव - पतन ५८
- १९-युगधर्मात्मन मोक्षन, भाषण, पर्यटन प्रतीप्य-मौक्तिक-विधि-विधानानुसरण, आधि आधि निगू देशकालानुसंधी कला-कौशलार्थं के प्रति सद्यथा अनुपयुक्त मार्गीय मण्डूतिक-वाह्य प्रय, एतं तत्सम्बन्ध में उपयोगितावापियों की विप्रतिपत्ति का मया-मना भ्रमार् ५९
- २०-युगधर्म प्रवाहाक्रान्त अतएव दिगूशकालविमू संमृतसह विद्वानों की, तथा मेधावी मसूत- छात्रों की भी उपयोगिता-कारणता-उत्पत्ति-आधि वाह्य-धृता के व्याज से प्रवाहानुगति ... ५९
- २१-योग कम्मसु कौरालम् मूलन 'योग शर' एव तन्नुमाणित प्रवृत्तिभिः परम्य शान-प्रेरयर्थ्य धर्म-नामन चतुर्विध सिद्धयाग ५९
- २२-आमासुगत वैराग्यबुद्धियोग, बुद्धधनुगत शानबुद्धियोग मनोऽनुगत प्रेरयर्थ्यबुद्धियोग तथा शरीरानुगत धर्मबुद्धियोग का स्वरूप-निगूशान ... ५९
- २३-समस्वयोगात्मक पुण्यार्थलक्षण चतुर्विध सिद्धयोगों क संस्थापक कृत्वयलक्षण चतुर्विध साध्ययोगा का 'उप माय एवं तन्नुगत-उपयोग माय श्रीर तत्सिद्धयना उपयोगिता ५९
- २४-उपयोगिता की व्यावहारिकता के मूलस्रोत का 'कोरस्य, एवं कोर के सम्प्रभ में व्यावहारिक- उपयोगितावापियों से प्ररन ५९
- २५-अव्यवहारविष्टाता सर्वाधार कोशमस का स्वरूप-सम्भरण ५९
- २६-मात्रामावातुसंधी आनन्द-विशान-शान-कम्म-अर्थ-नामक व्यावहारिक महिमाविषयों का स्वरूप-निगूशान एवं इनका सर्वानुगति ५९
- २७-व्यावहारिक-मात्रामावों के उपभोक्ता के सम्बन्ध में उपयोगितावादियों से सम्प्रनामक प्ररन ५९
- २८-उप-नज्ञा-आणियों के अरुह्य विवां एवं तन्नुनिधिनी असंख्य-सफ्याता उपयोगिताएँ ५९
- २९-सम्या मात्रामावों के मूलकोशामन पञ्चकोशामक 'कोशमस की सर्वानुत्पूता, एव तत्सम्बन्ध में विज्ञासा ... ५९
- ३०-पञ्चकोशामक अथव्या मसस तदनुसंधी मात्रामावों का सखिभे' से नितान एय एकमात्र आम निष्ट 'मानस' का ही पूर्णरूपेण ठरसइ-साम्य-समान्य ५९
- ३१-स्ववन्न भोक्तृत्व से वञ्चित मानवेतर वग तसिद्धयना-आसक्त-अस्य व्यवस्था एवं मूतसगानुबिनी आनन्दमात्रानुगता तारतम्य-व्यवस्था ५९
- ३२-मात्रामावाधिष्टाता कोशमस के पञ्चकोशों का संस्मरण कोशविनिर्गता मात्रामावों की उपयोगिता से अनुमाणिका मौलिक-उपयोगिता का सिद्धिदिव निदर्शन ५९
- ३३-आममाबनिर्बन्धना प्राणप्रधाना मौलिक-उपयोगिताओं के प्रति उपयोगितावादी की निरपेक्षता एव तत्सिद्धयना लोकोपयोगिता महावी विप्रतिपत्ति का उत्थान ... ५९
- ३४-आज का मौक्तिक-बनजीवन तत्सञ्चालक उपयोगितावादी प्रमुखवर्ग एवं 'समसूक्तिक-उपयोगिता के सम्बन्ध में वचमानानुसंध से अनुसरण का आत्यन्तिक अभाव ५९

- १७२-‘सद्मा कालस्य कारणम् मूला सापेक्षता का सम्मरण, एवं तस्मिन्मना संस्कृतिर-समृद्धि ६५
- १७३-‘वारिरोप्यात् स्मृतिस्वनिष्पन्ना अस्मिन्वक्ति एयं-तदनुसन्धिनी-‘उत्पद्यैरात्रिक अग्निधा कीस्वरूप
त्रिशा का मङ्गित स्वरूप निदर्शन “
- १७४-‘द्विगस्यगम, और मर्तह से समन्वित विराट् प्रजापति का स्वरूप-त्रिगुत्थान, उस की उक्त्य रूपता,
तदनुसन्धी ‘उत्पद्यैरात्रि’ एवं सम्प्रत्युलित ‘मानव ६५
- १७५-‘मानवैतर प्राणियों की ‘अन्वयैरात्रिक, तथा मानव की ‘उत्पद्यैरात्रिक अग्निधाओं का तात्त्विक
स्वरूप-त्रिगुत्थान “
- १७६-‘समन्वय विराट् प्रजापति के विषय-मण्डितगो क सम्बन्ध में प्रस्तावितया शिक्षाया, एवं तसमापाता
प्रमाण’ शब्द “
- १७७-‘समन्वय शब्द का तत्त्वाय-समन्वय
- १७८-‘इश्वरोत्पद्यैरात्रिक का प्रतिरूप मानवोत्पद्यैरात्रिक’, एवं मानवानुसन्धी उत्पद्यैरात्रिक के सिद्ध
साध्य-रूप दो विवेक
- १७९-‘द्विगोप्यन्तानुगत मानवानुत्पद्यैरात्रिकप्रमाण अग्निधा का संस्कृतमापानुगत-‘मानवाभय नाम
समन्वय “
- १८०-‘आभय शब्द की लाङ्प्रचक्षिता मातृकतापूर्णा-स्वरूप-व्याख्या
- १८१-‘वारिमायिक सव्यो की विष्मति के दुष्परिणाम एयं भारतीय सात्विक शब्दों के ‘अर्थ’ के स्थान
में अनय-परम्पराओं का आधिपत्य “
- १८२-‘सापेक्ष ‘आभय’ शब्द की मूलप्रतिष्ठाकर चतुर्वर्णा-योद्धरात्म-योद्धरी-प्रजापति का पावन-सम्मरण ६८
- १८३-‘वर्णावार योद्धरीप्रजापति के अधिष्ठान निमित्त उपागतनरक अशुद्धम्-अज्ञ शुक्लम् विवेकों का
सम्मरण “
- १८४-‘इश्वरोत्पद्यैरात्रिकविराट् प्रजापति के अरण-सूक्ष्म एवं स्थूल-शरीरों का स्वरूप-दिगुत्थान
- १८५-‘अथी इश्वरविराट् का साची-सुपर्णत्व, अथ-मानवविराट् का भ्रात्रा-सुपर्णत्व, दोनों अथ सम
साध्य एव दोनों शरीरों के मापनरह का सम-समन्वय “
- १८६-‘सर्वभूतान्तरात्मा द्विगस्य परिस्वाय इलान्द, पर्वों से समन्वित चतुष्पत्नी इश्वरविराट् एवं तत्स-
मनुलित भूतत्त्वा बुद्धि मन शरीर पर्वों से युक्त चतुष्पत्नी मानवविराट् “
- १८७-‘माही स्थिति के माध्यम से ‘आभय’ ‘परिभय’ आदि-सापेक्ष-शब्दों का समन्वय-प्रयास १०३
- १८८-‘सति के सामान्य तीन अनुसन्ध तदनुसन्धी अय-उप भय-मात्र, एवं तस्मिन्मना-कर्म्मस्वरूप-
निष्पत्ति “
- १८९-‘आसमन्ताद्भावपक्ष ‘आड्’ उपसर्ग तस्मिन्मना आभय’ शब्द एवं परित-‘माभापन्न ‘परि’
उपसर्ग तस्मिन्मना ‘परिभय’ शब्द एव उपसर्गानुसन्ध-भय शब्द “
- १९०-‘बुद्धिप्रधान-‘परिभय-शब्द का तत्त्वाय-समन्वय १४
- १९१-‘चित्तममय प्रजाप्रायात्मक, मनोमय ओकःशारी इन्द्र तदनुगता मूढासक्ति एव तस्मिन्मना
शरीरानुगत-‘अय’ का स्वरूप-त्रिगुत्थान “

- १५५-मौलिक-संस्कृति के स्वरूप-विरलेपक राष्ट्रीय ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न-परम्परा एवं दार्शनिक ज्ञान के बागबिंदुमय से प्रश्न की महीती सम्पन्नतामकता ८६
- १५६-नवप्रहमाहत्मक दार्शनिक वादवापारा से आवद्ध भारतीय प्रहाकृत्यों का राष्ट्रीय लोमानुबन्धनी आचारनिष्ठाओं से पारम्परिक स्वजन एवं तत्परिमाण-स्वरूप ही लोमानुयोगिता से राष्ट्र की पराङ्मुखा ८७
- १५७-सूक्ष्म तथा सूक्ष्म-भावों के माध्यम से ही सम्भावित उपयोगितावाद का समन्वय एवं तत्सम्बन्ध में एक तारिखक प्रश्न ८८
- १५८-मूलसंस्कृति से निरपेक्ष जनकत्व की उपयोगिताओं का पश्चिम-वर्गीकरण, एवं तत्स्वरूप-दिग्दर्शन ८९
- १५९-उपनिषद् की सुप्रसिद्ध मार्गवी-बाकणी-विद्या से अनुभावित ३ प्रकार की लोकयोगिताओं का आत्यन्तिक-समर्थन ९०
- १६०-पश्चिम लौकिक-उपयोगिताओं के मूलाधिष्ठानरूप तीन प्राकृत-विवर्त ९१
- १६१-दैवतानि च मृतानि च' मूलक 'पम्' और पुन-पम्' एवं तत्सम्बन्धन स्वरूपविषयक दृश्य-मयदल-भावों का तारिखक स्वरूपनिर्द्शन तथा तदनुकम्पी प्राकृत विवर्त ९२
- १६२-मूल-दिक्-वेद्यात्मक सूर्य-चन्द्र भूपिण्ड-विकर्षों के विरुद्ध-मयदल-भाव, और 'उपयोगिता ९३
- १६३-कालात्मक सूर्य से अनुभावित ज्ञान और कथ दिगाल्मक-चन्द्रमा से अनुभावित पशु और प्रजा तथा वेद्यात्मक भूपिण्ड से अनुभावित मोक्ष और मोक्षा, एवं पश्चिम लौकिक उपयोगि-विषय ९४
- १६४-मानवीय-बुद्धि मन शरीर, के साथ तपोक्षा पश्चिम-उपयोगिताओं का तारिखामाध्यमेन स्वरूप-समन्वय ९५
- १६५-पश्चिम प्राकृत-उपयोगिताओं की मूलप्रतिष्ठाकूप महान् उपयोगी अव्यवात्मकता ९६
- १६६-अव्यवात्मनिकम्पन मानव' की 'मानवता' से अनुभावित भारतीय आचार-निष्ठापय और तत्सम्बन्धन मूल-तुल्य मेलनाक राष्ट्रीय-साहित्य का (वयीवेदमूर्ति मारुतात्मिक रूप) राष्ट्रवेदताके पावन शरणी में अज्ञातक समर्थन ९७
- १६७-तत्सम्बन्धनविषये-प्यात्मक 'मूलसाहित्य' एवं आचारस्वरूप-विश्लेषणात्मक 'तुल्यसाहित्य' तथा तदनुबन्धनी उपयोगिता के सम्बन्ध में विद्विद्विषय आवेदन ९८
- १६८-सामयिक-उपयोगितावाद से अनुभावित तुल्यसाहित्य एवं तदनुगत चिन्तन-स्वाभाव्य तथा आचारम से अनुगता निष्ठा से ही सम्भावित राष्ट्र-अभ्युदय ९९
- १६९-युनःप्रकान्ता प्रकाशनप्रहाति से अनुभावित 'तत्सरोच-संरक्षण' का दिग्-वेद्यात्मकानुबन्धी कृत्यता-वापन १००
- १७०-संरक्षण की मौलिक प्रकृति के एकमात्र संवाहक संस्थान के सम्मान्य मन्त्रीमाहाभाग एवं तत्वे-रवायैव वास्तुविज्ञ-साहित्य-प्रकाशन की बागकला १०१
- १७१-दिग्-वेद्यात्मकानुबन्धी प्रवाहों का उमादर, किन्तु संस्कृतिक मौलिक-स्वरूप-संरक्षण के विषय अपेक्षित सर्वनिरपेक्षा स्वाध्याय-निष्ठा का ही भुक्ति के द्वारा समर्थन १०२

‘भारतीय हिन्दू-मानव-की मायुक्तता’ नामक-उद्बोधनात्मक-सामयिक-निबन्धान्तर्गत
 ‘दिग्देशकालस्वरूपमीमासा’-त्मक ‘चतुर्थखण्ड’ के सम्बन्ध में
 किञ्चिद्वि-प्रास्ताविकम् (प्रस्तावना)



मोदीलालशर्मापाण्डे-यः कश्चिदपि मुद्ररत्नशर्मा
 आश्रितो मास्त्राज-वेदवीथी-पथिकः
 मानवोक्त्यैरुपनिषद्बोधस्य ब्रह्मोपनिषत्सु

- १६२-आत्मामुपत 'आत्मनः', बुद्धयुगल 'परिभ्रम', मनोऽनुगत भ्रम एवं शरीरानुगता 'देवा तथा
 तदनुकम्पी प्रकृतिभिर्वा चानुपवर्त' --- --- १ ५
- १६३-सदकर्म्यैः, अमृत-मुमु-भय ब्रह्मकर्मसंयमक आत्मप्रभापति वा स्वरूप-संयमस्य --- " "
- १६४ उभयानामक आत्मप्रभापति से अनुप्राणित मानव के ब्रह्म तथा कर्म, नमस्क दो प्रयुक्त आत्मनः,
 एवं तद्विकल्पन मानव के सुप्रसिद्ध चार प्राप्तय --- १ ६
- १६५-आत्म-बुद्धि-मन-शरीर-दानमूला आत्मन-परिभ्रम-भ्रम-सेवा-दानात्मिका आत्मन-प्रधाना दानपद्धति
 तदनुगता आत्मनिका 'आत्मनः'विकल्पनपद्धति एवं तदनुगता 'मानव'विकल्पनपद्धति
- १६६-'मानव'विकल्पनपद्धति का अर्थ 'मानव'विकल्पनपद्धति से अनुप्राणित 'मानव'भ्रम
 वा स्वरूप-संयमस्य --- १ ७
- १६७-लोक तथा सदाशुभेषु दृश्यमान एवं तदनुगता चानुपवर्त तथा तद्विकल्पना इत्येव
 समनिरपेक्षता --- " "
- १६८-विगत युगानुगता इत्येव प्रचारयित्वा एतया एवं तद्विकल्प से तद्विकल्पित-स्वाभ्यासनिष्ठा वा
 आत्मनिका अस्तिमत् --- --- १ ८
- १६९-सदकर्म्यैः-प्रचारयित्वा-सात्म्या' युगता इत्येव तद्विकल्पना लोका तथा-
 सदाशुभेषु --- ---
- २ --'मातृकया स्वरूपतदनुपवर्त से ही दृश कर पूर्व तदनुपेक्षता से आश्रित-परिगत एक-
 'आश्रित' मातृकम्पी एक नूतन आत्म का आश्रितम्
- २ १-आश्रित-निरपेक्षता-युगानुगता अमुक मानवकोष्ठ की निर्माणा संकृतिनिष्ठा एवं तद्विकल्पन
 इत्येव स्वाभ्यासनिष्ठा-धीरक्षय ---
- २ २-सदकर्म्यानुगता मारुतपद्ध की संकल्प-स्वकल्पता तद्विकल्पन सर्वकल्प-स्वकल्प-मातृक-
 सदाशुभ एव तथाविच सदाशुभ के युगानुगता में भी मातृक सदाशुभ-मूलनिधि की निरपेक्षता
 और आश्रित-निरपेक्षता की 'धर्म'निरपेक्षता-रूप में परिणति --- --- १ ९
- २ ३-'सदाशुभ'निरपेक्षता रूप महत् पुरस्कार की पुरस्काराया का संयमस्य --- " "
- २ ४-सदाशुभ-निरपेक्षता-से अनुप्राणित अश्रीयनरूपक श्रौत-सूत्री का साहित्य-संयमस्य --- १ ११
- ५-'सदाशुभ'निरपेक्षता-तत्त्वरीचसंयमन की आश्रितपद्धतियों के प्रति तदनुभ-आश्रित --- " "
- २ ६-सदाशुभ-श्रावणपूर्वक 'विग्ने'शकालत्वकपदीमांका-युगता 'किञ्चिद्विद्य-अस्ताविकस्य' का उदगम

उपरता चैयं-'किञ्चिद्विद्य-प्रास्ताविकस्य' मक्षिप्ता
 परिच्छेदात्मिका-विषयसूची

‘दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा’-नुगतं
किञ्चिद्वि-प्रास्ताविकम् (प्रस्तावना)

१- ब्रह्म, मस्कृति, सांस्कृतिक-आचार-आयोजन, शास्त्र, धर्म, आदि आदि निष्ठ भी
भारतीय मानव की त्रिमहस्रवर्षानुगता दिग्देशकालनिबधना उत्पीड़न-परम्परा—

(१) दिक्कालाघनवच्छिन्न, अनन्त, त्रिमात्रमूर्ति, स्वानुभूत्यैकगम्य, अमशात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, इत्यभूत दिग्देशकालातीत, अतएव सर्वातीत, अद्वय, निरञ्जन, निगुण, विश्वातीत ‘परात्परब्रह्म’ नामक ‘आत्मतत्त्व को ही ‘अपना स्वरूप मानने वाले, इत्यभूता आत्मबोधनिष्ठा (२) को ही अपने जीवन का परम-पुरुषाय पाणित करने वाले मस्कृति के स्वरूप-विरलोकक ‘भ्रुतिशास्त्र’,-‘सांस्कृतिक-आचार’ के अन्वयार्थक ‘स्मृतिशास्त्र तथा ‘मास्कृतिक-आयोजन’ के अर्थार्थक ‘पुराणशास्त्र के प्रति अज्ञान-असन्धिता आस्था रखने वाले, भ्रुति-स्मृति-पुराण-द्वारा संसिद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक, वर्णाभ्याचारलक्षण कर्म्यकर्म रूप ‘शास्त्रधर्म’ से अभिन्न ‘सनातनधर्म’ को ही मानव के ऐश्वर्यिक मुख्य रूप ‘अभ्युदय का, तथा पारलौकिक-शान्तिरूप निःश्रेयस’ का अनन्तम कारण मानने वाले (३) सप्रिष्ठ, स्मृतिक आस्तिक भारतीय ‘हिन्दू मानव’ की तथाविधा ‘आस्था’ के सम्मुख तथोपवर्णित ‘आत्मचिन्तन के सम्मुख, एवं तथा-निर्दिष्टा भ्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रत्रयी के सम्मुख विगत तीन सहस्र वर्षों से अनतिपरनात्मिका को ‘प्ररनावली’ अनुपलियत होती आ रही है बसतः उक्त महस्रवर्षा ‘प्ररनावली का आचारारमक (ध्यावहारिक), तथा बुद्धिगम्य समाधान प्ररनकर्ता को नहीं मिल जाया बसतः तथाविध-आस्था-अज्ञान-परयण शास्त्रमक धर्माभिनिष्ठिष्ठ भारतीय-हिन्दू-मानव की दिग्-वशा-काक्षा-नुवन्धिनी, ‘युगधर्म’ से सम्बन्ध रखने वाली, इत की अवश्य

(१)-दिक्कालाघनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।

स्वानुभूत्यैकमानाय नम शान्ताय तेजसे ॥

—भर्तृहरि ।

(२) इतो न किञ्चित्, परतो न किञ्चित्, यतो यतो यामि ततो न किञ्चित् ।

विचार्यमाद्ये तु अगम किञ्चिन्, स्वात्मावबोधदपर न किञ्चित् ॥

—प्रसिद्धा वेदान्तसूक्तिः

(३)-यतोऽम्बुदय-निःश्रेयस-सिद्धि, स धर्मः ।

—वैशेषिकप्ररान

उत्पीड़ित ही होना पड़ रहा है, जिस उत्पीड़न के लिए अपने युगधर्मात्मक भाग्य के अतिरिक्त और किसी को भी दोष नहीं दिया जा सकेगा—अथं तु युगधर्मो हि धीयते कस्य दूषणम् इत्यादि इत्यादि ।

३—युगधर्मविमूढ, अतएव दिग्देशकालपीडित भारतीय मानव

इस प्रकार दिग्देशकालात्मक 'युगधर्म (कलियुगधर्म)' को ही अपना आराध्यधर्म मान बैठन वाले भारतीय हिन्दू—मानवने उत्पीड़न—परम्पराओं के सम्मुख अपने आपको सर्वप्रथम अवनतशिरस्क प्रमाणित करते हुए अपना जैसा जो कुछ दैन—दीन—मनीमस—योग्यशून्य—अधर्ममयतात्मक जीवन प्रमाणित कर लिया है विगत अनेक शताब्दियों से, उसे देख—सुन कर यही मान लेना पड़ता है कि मध्ययुग आब सम्पूर्ण विश्व में इन भारतीय हिन्दू—मानव से अधिक दिग्देशकालपीडित और कष्ट भी मानव नहीं है ।

४—दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक लामों से वञ्चित, अतएव पीडित भारतीय मानव, एव तात्कालिक लामों से समन्वित, अतएव समुत्पीडित विश्वमानव—

अन्य मानवयुग पीडित नहीं है, यह करना तो दिग्देशकाल का अपमान ही करना होगा । पीडित तो अन्य मानव भी हैं । क्रिस्तु इस की पीड़ा में, तथा उन की पीड़ा में अहोरात्र अन्तर है । यह वहाँ—दिग्देशकाल से अनुप्राणित तात्कालिक—भौतिक—लामों से वञ्चित रहता हुआ पीडित है, वहाँ इतर मानव अथ दिग्देशकाल से अनुप्राणित समसामयिक सजाविष लामों से निरतिशयरूपेण अपने आप को लामान्वित मानते हुए आ यन्त्ररूपेण समुत्पीडित हैं । इसे सभी लौकिक—चेना में वहाँ 'अभावपरम्पराएँ' उत्पीड़ित करती आरही हैं वहाँ उच्च दिग्देशकालनिकगना, अतएव मातृशिक्षा (कास्मिनिकी) 'भावपरम्पराएँ' समुत्पीडित करती आरही हैं । यह वहाँ कलियुगानुगत 'भाग्यवाद' के अनुभव से समुत्पन्न 'अधर्ममयता' से दिग्देशकालिक लामों से वञ्चित रहता हुआ आद्यन्त का दुःखी बन रहा है तो वे वहाँ दिग्देशकालानुगत—युगधर्मों से लाम उठाने की कला के मर्म से सुपरिचित रहते हुए, इस कालिक—देशिक—मातृशिक्षा कर्मांशुओं को ही पुरुषाय मानते मनवाते हुए, इत्यंभूत कास्मिनिक कर्मांशुओं को ही मानव—जीवन का सर्वस्व मानते हुए, इन से समुत्पन्न मातृक कला से समन्वित होते हुए आ यन्त्ररूपेण समुत्पीडित प्रमा—होते आरहे हैं । और यों यह, और ये ही क्या शत—अशत सभी मानव आब इतिहासके से किसी न किसी रूप से 'दिग्देशकाल' नामक महान्—यथ, महान् अधर्म से उत्पीड़ित—समुत्पीडित ही बनते आ रहे हैं अनेक शताब्दियों से ।

५—मानवानुबन्धिनी प्ररन—सम्प्ररन—परम्पराओं की मनातना, एवं तत्समाधानमूला अन्तर्बोधना—

स्थावर—बह्विधमानव—मूख—मौलिक—प्रपञ्च के समग्रलन में अपनी ज्ञान—क्रिया—अथ—शक्तियों से सर्व अथ प्रमाणित मानव 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे आदर्श की उच्चश्रेण्या का प्रयत्नविध्वंसक 'विश्वमानव' उपाधि से समलङ्घन यह भारतीय मानव इधरकार आद्यन्त का दुःखी तथा समुत्पीडित क्यों ? प्ररन कष्ट नवीन प्ररन नहीं है । यदि मानव 'सनातन' है तो उस की 'दिग्देशकालानुबन्धिनी' समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाला उपाधि प्ररन भी 'सनातन' ही है । और इत्यंभूत दिग्देशकालिक प्ररन को दिग्देश—

भाषिणी 'सद्यार्थता'—कों से सम्बन्ध रखने वाली उन 'विषमा-समस्याओं' का कदापि निराकरण सम्भव ही नहीं है बिन विषमा-समस्याओंमें तथाविध हिन्दु-मानव को निरन्तर तीन छद्म-बर्णों से आत्मनिक-कवेष्ट आत्मना अशान्त बुद्धया विभ्रान्त मनसा क्रान्त, तथा शरीरेण च परिभ्रान्त ही प्रभावित कर रक्ता है ।

२-आत्मचिन्तननिष्ठ मी भारतीय हिन्दुमानव का त्रिसहस्रवर्षान्तिक अघ पतन, एवं तत्सम्बन्ध में अनतिप्रश्नात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधान के लिए अतुर इस धर्म मीठ भारतीय मानव का कलियुगातुगत युगधर्म के प्रति सर्वस्वार्थ—

परःपत अचान्त परनी में से प्रमुख प्रश्न यही है इत मानवभेद के सम्मुख कि, 'जिस इस भारतीय मानव के प्रज्ञाशेरा में मानव की शुद्ध-शान्ति के लिए अपक्षित सम्पूर्ण साधन-परिग्रह सबा मे ही विद्यमान हैं वह मानवभेद विगत तीन सहस्र-बर्णों से निरन्तर अतुरोत्तर पतन-गर्त-परम्पराओं का ही अनुगामी क्यों और कैसे बनता आरहा है ? ।

'आत्मचिन्तन के माध्यम से एवं कर्मलक 'धर्म' के माध्यम से बहुत सम्भव है—भारतीय मानव की कच मान जीवन में भी 'आत्मशान्ति' मिल गई हो । और अपने प्रत्यक्षदृष्ट, दिग्देषकालात्मक मौलिक जीवन की परिष्कारित के अनन्तर इन्को अपनी इसी आत्मचिन्तननिष्ठा से तथा धर्ममाका से परलोक में भी 'नि लेक्स' रूपा 'शान्ति' प्राप्त कराही हो । अथर्व ही प्रश्नकर्त्त अनधिकृत है इन्द्रियातीता इत्यर्थवा आरहा दिग्देषकालातीता परोक्षा रिचति की आत्मोपना-प्रत्यात्मोपना करने में । अथर्व ही अपनी तथाविधा सुवर्णा आत्मशान्ति, एवं परलोकानुगता विद्यान्ति (मोक्ष) की दृष्टि से मार्तीय हिन्दु-मानव विषय के उन अन्व समस्त मानवों के सम्मुखन में सर्वोन्वर्धमिका का ही उपाय बन रहा होगा जो अन्य मानव भुक्ति-सुक्ति-पुरुष-सिद्ध कर्त्तव्यधर्म पर कोई आत्मा-ब्रह्मा नहीं रख रहे । हिन्दु— ।

इत हिन्दु ! का उत्तर स्पष्ट स्पष्टतर, स्पष्टतम है । दिग्देषकालनिष्कवन-म्यक्त-मूर्त-मरक-मौलिक-जीवन की दृष्टि से तो विगत तीन सहस्र-बर्णों से अपने मानवस्वभावानुगत आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर इन चारों ही पर्वों से, तथापि विशेषतः मन और शरीर-पर्वों से तो वह हिन्दु-मानव जेता संरक्त रहा है, वैसा सम्भवतः ही क्यों, निरध्वनेनैव अन्व कर्म मी मानव तथाकथेय स्रस्त नहीं ही रहा होगा । ऐसा क्यों ? । अथर्व ही कालानुगतिकन्यायेन स्वयं 'हिन्दु-मानव' के सम्मुख मी तयोक्ता कस्तावधि में वह मरुत्प्राणव 'क्यों ? (विशेष उपदीक्षनास्तरों पर तो अथर्व ही) उपरिष्ठ होता ही रहा है । परिष्ठित है हम इस 'क्यों ?' के प्रप्रठिङ उठ उत्तर से मी जो 'युगधर्म' नाम से प्रसिद्ध है । 'कलियुग' जो प्रकल्प है विगत पाँच सहस्र-बर्णों से । 'कलियुग का धर्म ही ऐसा है कि, बर्म्मिष्ठ सुखी रहें एवं अक्षम— । तन्मय महामहिमराक्षी 'कलियुग' तमक 'युगधर्म' की शेरला के ब्याज से हिन्दु-मानव अपने उन सभी अधियेनी, एवं परनी से ब्रह्मान के लिए अक्षमपरिहाय करा हुआ अपने मनोचम्ब में ऐसी दृष्टि ही अनुभूत कर लेता है कि, 'उस की तथाविधा इयनीया पतनवशा में स्वयं इस का कर्म्मिष्ठिगु मी अपराय नहीं है । यह सबहुद्ध तो कलियुग की ही महिमा है । अक्ष का ही इतकविधान है । दिग्देषकाल च निग्रह से ही बर्म्मिष्ठ (धम्मभीरु) शास्त्रनिष्ठ (शास्त्रभीरु), कर्त्तव्यनिष्ठ (धर्मभीरु) मी इस मानव को

अभिहित किया, जिस इत्थंभूता शून्यमात्रनैक्यकार, चण्णमावानुबन्धिनी, त्रिगुणकालात्मिका दुग्धपरम्परा से
 एकदक भी तो इत भारतीय-हिन्दू-मानव का परिचायन नहीं होकरा है।

- त्रिसहस्रवर्षावधि में समुद्भूत-आविर्भूत नवग्रह-ग्राहात्मक एतद्देशीय नवविध उद्-
 बोधक-विशेषक महाभागों का नाम-सम्मरण —

अपरय ही विगत-मुक्त-प्रक्रान्ता-त्रिसहस्रवर्षात्मिका आयुषि में इस मानव का 'उद्बोधन' प्रदान
 देने वाली अनेक विविध भारतीय प्रजाएँ मात्रराष्ट्र में यथाम्मय अभिव्यक्त भी हनीं रहीं जिन अभिव्यक्तियों
 पर 'सत्ताधिक' मानव (१)-सृष्टितत्त्वविमरापरायण-सत्यमीमांसक-दार्शनिक विवेचक, -(२)-
 स्मृतत्वविमरापरायण-धम्ममीमांसक-समास विवेचक, -(३)-विधि-निषेध-विमरापरायण-
 स्माभिनिधिष्ट-नैपथिक विवेचक, -(४)-भक्तिव्यविमरापरायण-भक्तिनिधिष्ट-साम्प्रदायिक-
 विवेचक, -(५)-शास्त्रपठन-पाठन-विमरापरायण-शास्त्रमन्त्र-यिद्धिविवेचक, (६)-सर्वविमरापरा-
 य-सववादी-'उपद्राक-महामहोपदेशकविवेचक, -(७)-सवविमराशून्य-यिसंवादी-'कल्याण-
 शविवेचक, -(८)-श्लोकराक्षणपटु-नीतिकुशल-प्रतीत्यययोच्छिष्टमोगी-नीतिविवेचक (नेतार)
 -(९)-सवशिक्षणपटु-मय्याशुशाल-नैतिकदलसमयक-समाजसुचारक इन सुपठित नवग्रह-
 ग्राहात्मक उद्बोधक विवेचकों-के 'भक्तिमिद स्थरूपों को साक्षात्, अपवा तो ऋणांकारिपरम्परया ज्ञान
 और परिधान रहा है।

६-परदर्शनमूला दिग्देशकालानिवन्धना प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका 'मायुक्ता' से उत्पीडित
 त्रिसहस्रवर्षात्मक भारतीय मायुक्त-हिन्दू-मानव—

तथापि नयग्रहार्थों के सन्तति-परम्परारूप असंख्य-अस्मात् उन विभिन्न मतवालों के सन्तुष्टिताना-
 मक इन्द्रबाल से बालान्वित बन जाने वाला यह माखीय हिन्दूमानव सचमुच उस सीमा पर्यन्त दिग्देश-
 कालविमूट ही बनता चला आरहा है विगत तीन सहस्र वर्षों से जिस सीमात्मक वादण-मार से आम्हा सुनदा हो
 जाने वाली मानवप्रका के स्वस्वरूपनोबानुगत समी नैष्ठिक द्वार सर्वात्मना लौहकपाठाब्द ही प्रमाणित हो-
 जाता करते हैं। जिस प्रहापरशालक, त्रिगुणकालात्मक महान् देय से मानव की स्वदर्शनमिदा का पारम्परिक
 सोल अक्फद हीबाया करता है, जिस अक्फेच से ही मानवप्रका प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती हुई दिग्देशकालविमूट
 रूपेण दिग्देश-काल-प्रान्ता ही बन जाया करती है जिस देशिक-कालिक-प्रान्ति से ही वो मानवप्रका
 मरिदिति गन्धर्वनगरसेलाब्द स्वस्वरूप-विगुग्धा बन जाया करती है, तद्प्रान्ति के मूल सष्ट-विधावा उठी
 महान् देय का नाम है—'मायुक्ता'। एकमात्र इसी महत्तमहीवान् देय (मायुक्ता) से सभित भी मार-
 तीव हिन्दूमानव दिग्देशकालानुबन्धी मातिसिद्ध-शात्कालिक-मत्यक्ष-प्रमाणा से प्रमाणित होता हुआ विगत तीन
 सहस्र वर्षों से अपने नैष्ठिक स्वरूप-बोध से उच्चरोचर अभिभूत ही होता चला आरहा है।

१०-सचातन्त्रसापेक्षतामूलक दिग्देशकालव्यामोहन से व्याप्तुग्ध भारतीय मानव का
 सांस्कृतिक-निष्ठाओं से पारम्परिक पठन —

प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका सर्वनाशकारिणी 'मायुक्ता' ने सर्वप्रथम इत मायुक्त-भारतीय मानव को उस
 'सचातन्त्र' के प्रति ही सर्वात्मना प्रणवमात्र से समर्पित कर ही तो लिया जिस 'सचातन्त्र' (शासनतन्त्र)

कालातीत्य के समन्वय से 'सम्प्रजन' का स्वरूप प्रदान करने वाले अप्राकृत-सनातन-अधिमानवों के द्वारा निर्धारित तत् 'समाधान' भी 'सनातन' ही है। आद्य से पूर्व तदस-वर्ष पूर्व भी इसी प्रजन ने मानव के समुल एक महीली समस्या समुपस्थित कर दी थी, जिस इव महान् प्रजन के समाधान के लिए ही अन्ततोगत्वा 'महाभारत' नाम से परिच्य वह अकारण-कारण-विपर्यय हो ही ता पड़ा था, जिस के प्रथमदोषाल से समुलमा मम्मवेदिनी निरविद्याम अन्तर्देना की आगतक भी मानव की 'मानवता' विलुप्त नहीं कर ली है।

६-भारतीय हिन्दू मानव के सम्प्रजनात्मक प्ररनों के समाधान से ही विश्वमानव के दिग्देशकालनिबन्धन प्ररनों का भी सम्माहित समाधान—

प्रजन ही नहीं, अस्तित् यह तो 'सम्प्रजन' है कि, वह ऐसा कीनद्य महामयाइ अचिन्त-अप्रकर्म-वोप' है जिस के निष्ठात्मक अनुग्रह से शक्ति-सामर्थ्य-योग्यता-ज्ञान-विज्ञान-योरुप-कला-कौर-सादि-यत्नबाबत् साधन-परिग्रहों से आर्कोमन्यः आनरताम्य' आनित रहने कला सर्वमूख न्य भी मानव समीकृतलपेय पीकित तथा समुत्पीकित बन जाता है। भारतेतर देशों के मानव भी 'मानव' हैं, मानवभेद है अतएव सर्वसाधन-परिग्रह-शक्ति-योग्यता-आदि से सर्वतपना सम्भव है। किन्तु हम अपनी स्वपठमा प्रजा के निग्रह से उन के दिग्देशकालसुखी मन-शरीरमाओं से अपरिचित नहीं, तो सुपरिचित भी नहीं है। अतएव उन से सम्बन्ध रखने वाले समुत्पीकनत्मक तथाविध 'प्ररनों' के समाधान का महान् उत्तर-दासित्व हमने दिग्देशकालमर्मज्ञा उनकी लोकप्रजा से ही अनुप्राणित मान लिया है। अतएव अत्र सम्य-जनकत्वक प्रजन एकमात्र भारतीय मानव के सम्बन्ध में ही, तथापि भारतीय उच हिन्दू-मानव के सम्बन्ध में ही हमारे समुल रोप रह जाता है जिस का विरुद्वस्यगतिक मीतिक इतिहास अत्यन्त ही मलीमत् प्रमाणित होता आ रहा है। अतएव एकमात्र इसी मानव के सम्बन्ध में सम्प्रजनत्मक महान् प्रजन हमारी प्रकृमा वेदना का समुत्पेकक बन रहा है। और हमारी ऐसी न केवल 'मान्यता' ही है अस्तित् कया-परिपूर्णा ऐसी 'आस्था' ही है कि भारतीय-हिन्दू-मानव के सम्प्रजन से सम्बन्ध रखने वाली समरथाएँ ही अविश्राम में विश्व मानव की भी समरथाएँ प्रमाणित होंगी। एवमेव इत की समरथाओं से सम्बन्ध रखने वाले सम्प्रजनत्मक प्ररनों का भी समाधान होगा अविश्राम में वही समाधान 'विश्वमानव' के नास्तिक 'प्ररनों' का भी होगा। अतएव कह दिया जायगा कि, 'हिन्दू-मानव' के माध्यम से सक्रियत यह प्रयास अन्ततोगत्वा तत्परक्या 'विश्व मानवता' पर ही निबन्धन होगा।

७-आत्मयोगनिष्ठा से पराङ्मुखा अशिक-शून्य-दुःख-सपत्ना अनारतमावना से अनुप्राणिता दिग्देशकालनिबन्धना दुःखपरम्परा से आर्ष' भारतीय मानव—

'वीन सहस-वर्षों की अजबि इतलिय प्रमुल मान की गई है कि, इसी अर्थिक के उपक्रम में भारतीय मानव की दुःखि 'आत्मयोग' से अशित हो कर मानसिक-कस्यामाओं के साथ विरुद्वस्यगतिक समीकृत होपड़ी, जिस अस्पतिक-सर्वयोगक्रम से ही यह भारतीय-मानव आत्मानुगत 'सूर्यता से उत्तरेपर सर्व-मना परत मुक्त होया हुआ मानसिक-कस्यानुपठ 'शून्य-शून्य' का ही अनुगामी बन गया जिस से अत्यन्त रखने वाली अशिकता ने तदधिक 'दुःख-दुःख' में इसे उठी उपक्रम-काल से उत्तरेपर दुःखी ही

प्रकृतिविद् अयोधय, तस्या मर, छन्दो-धितान-रम-लक्षण, रिष्कम्भ (व्याम)-परिखाह मरइल) हृदय (केन्द्र) रूप, 'महानि-श्वसित नामक, महाकालात्मक ब्रह्म के आचार पर (१) शब्दात्मक पाण्यव ब्रह्मशास्त्र का साक्षात्कार कर तन्मूलक 'मांस्मृतिक-आचार' व्यपस्थित हुआ था, जो क रक्षणा रूपमूला भावुकता के वाक्यशास्त्र में आबद्ध होता हुआ सर्वथा ही विवेकित हा गया। एवं कर्तव्यता में युग-वर्ग-व्यवस्थापक रक्षणा की मान्यताओं के अनुपात से ही इस शास्त्रत-सनातन ज्ञानविज्ञानात्मक ब्रह्मशास्त्र की, तन्नुगत स्मृतिशास्त्र की, एवं तन्मूलक पुराणशास्त्र की व्याख्याएँ उपनिषद् श्लेषों, विन इन स्थित व्याख्याप्रथों के निम्नहात्मक अनुमद में ही भारतराष्ट्र का ज्ञानविज्ञानात्मक सम्प्रदायवादनिरपेक्ष विशुद्ध मौलिक दृष्टिकाल एकान्ततः ही अभिमत होगया। और सम्पूर्ण माधन-परिमर्द् आदि आदि की विद्यमानता में मार्गीय मानव दर्शभूता अगाध्याया भावुकता से ही बृहरे शब्दों में शास्त्राभावरूपा मान्यता में ही प्रकृतिविद्, अतएव शास्त्रविद् अनातन आचारमार्ग (कर्त्तव्यकर्म) से स्वरहित ही हो होगया। एवं निरपेक्षेन आचाररक्षलनात्मक यह 'फक्तयस्सलन ही, किया 'फक्त-ययिस्मृति ही भारतीय-मानव के अिनहसवार्थिक पवन का प्रमुन्न फारण प्रमाणित होगई।

१२-वेदशास्त्रसिद्ध, सत्तानिरपेक्षतामूलक महान् उद्बोधनसूत्र—

स्वय वेदशास्त्रने एक स्थान पर यके ही मार्मिक शब्दों में सत्ताभक्मूला तपोक्षा भावुकता का स्वरूप विश्लेषण करते हुए अन्त में सूत्र की ज्ञानविज्ञानात्मक 'ब्राह्मणप्रका को यही उद्बोधनसूत्र प्रदान किया है कि, "इसे कदापि सानन्य अयात सत्तानुगत नहीं बनना चाहिए। छटिस्वरूप-व्यवस्थापक तात्विक श्रुक्त-यजु-साम-अथर्व-वेद के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप के प्रतिपादक सुप्रसिद्ध 'शतपथब्राह्मण' नामक वेदग्रन्थ के 'मैत्रायणसूत्रप्रह नाम के प्रहप्रकरण में विस्तार से तथाकथित तथ्य का स्वरूपोपहृ हण हुआ है जिसका निष्कर्ष यही है कि इस मौलिक विरय में ज्ञान और कर्म से दो ही महकविभूतिर्षा प्रमुन्नकर्म से सम्पूर्ण भीतिरु-व्यवस्थाओं की मूक्षप्रतिष्ठा हैं। अथात्मक मौलिक विरय की स्वरूप रिपति ज्ञान, तथा कर्म (क्रिया) पर ही अकलमित है।

१३-ज्ञान-क्रिया-अर्थमय, मन प्राणवागरूप ब्रह्मकर्ममात्मक आत्मब्रह्म, एका नामरूप-कर्ममय पाञ्चमौलिक विश्व का तदाश्रितत्व—

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, अर्थशक्ति इन तीन विभिन्न शक्तियों की समन्वितताबस्था से ही विश्व की स्वरूपमिति है विन इन तीनों शक्तियों का मूलाधिष्ठान 'ब्रह्म' किंवा आत्मा नाम से ही प्रसिद्ध है। 'स वा पय आत्मा-ब्राह्मण' प्राणमयो मनोमयः इत्यादि शातपथी (बृहदारण्यक, शतपथ-बृहद शकायक) श्रुति के अनुसार विश्वाधिष्ठानरूप आ ब्रह्म 'मनःप्राणवाह्मण्य' है। ज्ञानशक्ति का 'उक्थ' (प्रमथ)

(१) प्राकृतिक विश्व का मूल आरम्भक (उपादान) नित्य वेदतत्व ही है जिससे सम्पूर्ण विश्व अभिव्यक्त हुआ है। ज्ञानविज्ञानात्मिका परिमाणाओं के विलुप्त होबाने से तथाविध तात्विक वेद का स्वरूप उही भावुकता से तीन सहस्र वर्षों से अभिवृत्त होता आ रहा है। अटारहसी पृष्ठात्मक 'उपनिषद्भाष्य-भूमिक नामक अयहत्रया मक निष्कर्म में इसी तत्ववेद का स्वरूपोपहृ हण हुआ है।

की ही व्यक्त-मूर्त अथवा छवि-रूप, वर्तमानभावानुसंधी दिग्देश से समन्वित 'काल की वाग्ध-
 शिकी मूर्त-व्यक्ता-भूत-मीतकी कालिक-व्यवस्थाओं के सञ्चालन के प्रति उत्तरदायी माना गया है एवं जिस
 उत्तराधिकारी-उत्तरदायित्व की दृष्टि से ही—'राजा कालस्य कारणम्' (१) यह ठिकान्त भागभक्त बना
 है। राजा अर्थात् शासक अर्थात् शासक का लौकिक-विधानात्मक 'राज्यसम्पन्न', अर्थात् 'शासनसम्पन्न'
 (सत्तासम्पन्न) ही कालिक-व्यवस्थाओं का कारण माना गया है। इन ही राज की संस्कृतिप्रका (शासन)
 मातृक्यावरण अपनी संस्कृतिक-निष्ठाएँ दिग्देशकाल-व्यवस्थापक 'राजन्य के प्रति समर्पित कर देती है, स्व-
 मायासुधार बंध भी शासन 'राजन्य बन जाता है लयाभित होजाता है तो निरन्तर इसी दिग्देशकालातीत्य
 आत्मनिष्ठानुगत 'भूतिशास्त्रसंसिद्धा शारद-संस्कृति (अमाहुत-शारद-धम्म) तन्मूलक-सृष्टिराज-
 संसिद्ध सनतन-सांस्कृतिक-आचार (माहुत-सनतनधम्म) एवं तन्मूलक पुण्यशास्त्रसिद्ध निष्प
 सांस्कृतिक-आयोजन (मानवीय 'आत्मभाग से अनुप्राणित 'पर्यायोजन 'बुद्धि से अनु-
 प्राणित 'अन्वययोजन 'मन से अनुप्राणित 'सम्प्रेषनायोजन, एवं 'शरीर से अनुप्राणित 'समाहो
 हायोजन नामक चतुर्विध सुप्रसिद्ध भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजन (१) आदि आदि यन्त्रवाक्य आप-
 वास्तविक-विभूतिर्षा दिग्देशकालव्यवस्थापक राजन्यरूप के दिग्देशकालव्यवस्थापक आत्मसिद्ध-प्राथमिक-वाता-
 बरणी से आत्मनिष्ठरूपेण अभिमत ही बन जाया करती है। और इस अभिमतका किंवा बुद्धि'शा में अस्म-
 बुद्धिनिष्ठ ही मानवबोध की वास्तविक-प्रका दिग्देशकालानुगत वास्तविकी आपातप्रणयीया प्रातिमासिकी
 मान्यताओं की मातृक्या में ही अभिनिष्ठता प्रमाणित होजाती है जिस मातृक्यापूर्ण इरधमूत अभिनिष्ठता
 के बुद्धिजाग-स्वरूप ही विगत तीन चतुर्विधों से भारतीय मानव स्व स्वरूप से स्व निष्ठा से स्व-संस्कृति-
 सम्बन्ध-आदर्श आचार-आदि से उत्प्रेरित परांपरागत (अस्मत् किन्तु) ही होता आ रहा है।

११ मातृक्यानुगत आचारस्वरूपनात्मिका 'कर्मव्यवस्थाविस्तृति' से ही भारतीय मानव
 का त्रिसहस्रवर्षात्मक पतन—

तथाकथिता लयाभवमूला 'मातृक्या' में ही भारतीय की जनविज्ञानात्मिका प्रकृतिसिद्धा उस सर्व-
 आत्मबुद्धिनिष्ठा की ही सर्वप्रथम अभिभूत कर सिद्धा, जिस आत्मबुद्धिनिष्ठा के रूप पर इस राज की नैतिकी
 प्रका में 'काल से काल को छपीकृत करत हुए' (१) दिग्देशकालातीत्य अनन्त ब्रह्मसिद्धा के आचार पर
 ही अनन्त अव्यक्त-अमूर्त-काल के माध्यम से सद्विद्वान्त व्यक्त-मूर्त-काल से अनुप्राणित दिग्देशकालव्यव-
 स्थाएँ व्यवस्थित की थीं, एवं जिन इन व्यवस्थाओं के वास्तविक, तथा आचारात्मक नियमन के लिए

(१) इति से संशयो मा भूत-राजा कालस्य कारणम् ।

—महामारते मीमोक्तः

(२) इन चारों भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजनों' का सुविचार वैज्ञानिक विवेचन एतद्व्यक्त लक्ष्य-
 मक स्वच्छ निष्प में हुआ है।

(३) एवं सर्व स सृष्टिवेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।

आत्मन्पन्तदधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥

—मनु

१६-मन प्राणवाह्यमय वागव्रज का नि श्वात्मरूप यत्-जू-श्रक्-सामात्मक-अपौरुषेय-
तत्त्ववेद, एतं तत्स्वरूपविरलेपक शब्दात्मक वेदशास्त्र—

पाञ्चभौतिक, चराचर विरय 'वाह्यमय है, इस तत्त्व का समन्वयार्थ है- विरय मनःप्राणवाह्यमय है, अर्थात् ज्ञान-क्रिया-अधमय है । यही विरय की संक्षिप्ततमा स्वरूप-व्याख्या है, जिसके माध्यम से प्रकृत प्रस्ताविक में यही निवृत्तनीय है कि चक्षुरिन्द्रिय से दृष्ट पाञ्चभौतिक पदार्थों की मूलप्रतिष्ठा, मालिक उपादानद्रव्य मन-प्राण-गर्भित यह वाक् तत्त्व ही है, जिसे तात्त्विकवेद की अपेक्षा से-जू कहा जाता है एवं स्ववहारभाषा में जो वाग्वरूप 'जू' तत्त्व ही 'आकारा नाम से प्रसिद्ध है (१) । 'आकारा नामक, 'जू' रूप यह 'वाक्' तत्त्व ही 'अधराति' का मूलसत्त्व है, जो कि 'क्रियाराति' पन 'प्राण' तत्त्व से नित्य संश्लिष्ट माना गया है । जिसप्रकार वाक् का साङ्केतिक नाम 'जू' है, तथैव प्राण का साङ्केतिक नाम (इस के सहज गतिचर्म के कारण) 'यम्' कहलाया है । वाग्वरूप 'जू' यदि 'आकारा' है, तो तत्र आत्मन्तात् परिभ्याप्त प्राणरूप 'यम्' 'वायु (प्राणरूपक तत्त्व वायु) है । प्राण-वाक् किंवा यन्-जू, किंवा वायु-आकारा तैनों मुष्म विज्ञानभाषा म अक्षर समानार्थक ही बने हुए हैं । 'यत्-जू' की समष्टि ही 'यजू' है (२) यही परोक्षपिय वैज्ञानिकों की परोक्षभाष में यजु' नाम से प्रसिद्ध है जो कि प्राण-वाक्-रूप 'यजु' पयोनाया-त्मक छन्दोक्षण श्रक्-साम-सत्त्वा से आत्मन्तात् परिवेष्टित रहता हुआ 'अयीमूर्ति' ही बन रहा है । त्रिगुणात्मक (१) अयीमूर्ति (श्रक्-साम-यजुमूर्ति) यही 'अयीवद' रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-नाम से प्रसिद्धा पाञ्चभौतिक-स्थूलविरय की आरम्भणभूता (उपादानकारणभूता) सुप्रसिद्धा 'पञ्चतन्मात्राभ्यो' का अमिष्य श्रक (४) बनता हुआ विरय का मूलाधार बन रहा है जिस इस तात्त्विक प्रथीवेद को ही 'ब्रह्मनिःश्रयसित' नामक 'अपौरुषेय' वेद कहा गया है जिस इस नित्यवाह्यमय (मन-प्राणवाह्यमय) स्वायम्भुव तत्त्ववेद के ज्ञानविरा-नामक प्रकृतिकिद्ध नित्य रहस्य के स्वरूपोद्घाटन के लिए ही ऋषिप्रशा के द्वारा शब्दात्मक वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है ।

(१)-जूराकाशो, मरस्वत्यां, पिशाच्यां, यवने, स्थिर्याम् ।

—हेम

(२)-अयं वात्र यजुर्योऽय पवते । एष हि यज्ञो वेद सर्वं जनयति, एत यन्तमिदमजु प्रजापते । तस्माद्वापुरेव यजु । अयमेवाकाशो 'जू', यदिदमन्तरिचम् । एत आकाशमजु-
ववते । तदतद् यजुर्वायुश्च, अन्तरिचश्च, तस्मात् 'यजुः' ।

रातपथब्राह्मण १०।३।५।१० ।

(३)-त्रैगुण्यविपया वेदा, निस्त्रैगुण्यो मषाजुर्न ।

—गीता

(४) शब्द, स्पर्शश्च, रूपञ्च, रसो, गन्धश्च, पञ्चम ।

वेदादेव प्रसूयन्ते प्रद्युतिगुण-कल्मतः ॥

—मनुः

ब्रह्म (प्रतिष्ठा), माम (परायण) स्थान आत्मब्रह्म का 'मनस्तन्त्र' है। क्रियाराक्ति का उक्त-ब्रह्म-साम-प्राणतन्त्र' है। एवं अथराक्ति का उक्त-ब्रह्म-साम-धातुतन्त्र' है। ज्ञानराक्तिमय मनस्तन्त्र से निरन्तराथों के 'रूपविवर्तों' की अमिष्यक्ति हुई है, क्रियाराक्तिमय प्राण से पदार्थों का 'कर्मविवर्त' स्पष्ट हुआ है एवं अथराक्तिमयी वाक् से पदार्थों का 'नामविवर्त' प्रकटित हुआ है। रूप-कर्म-नाम-तन्त्रिकम वाङ्मौलिक महाविरच का उक्त-ब्रह्म-साम-सङ्घय ज्ञानक्रियार्थमय मन-प्राणवागुरूप आत्मब्रह्म ही सर्वत्र प्रमाणित हो रहा है। इसी आचार पर-'ब्रह्मैवेद् सवम्'-'आत्मीयेद् सवम्' इत्यादि सिद्धत्व स्थापित हुए हैं।

१४-अकारात्मक मन, उकारात्मक प्राण, एवं मकारात्मिका वाक् की समष्टिरूप आत्म-ब्रह्म, तथा सद्वाचक-'प्रयथोङ्कार'—

तत्कालिक 'परब्रह्म' (आत्मब्रह्म) की समानाचार से समन्वित 'शब्दब्रह्म' के 'अ-उ-म्' से तीन वर्ण ही कर्मर-आत्मब्रह्म के मन-प्राण-वाक् भावों के वाचक बने हुए हैं। अकारवाच्य मन कर्मर-वाच्य प्राण एवं मकारवाच्य वाक् तीनों की समन्वितत्वस्था ही 'ओङ्कार' (अ-उ-म्-ओम्) है, यही 'प्रयथोङ्कार' है, यही 'ओङ्कार' निरन्तर निरन्तरात्मा आत्मब्रह्म का वाचक है 'वेदाकि-तत्स्य वाचकः प्रयथ' (पातञ्जलयोगसूत्र) इस सूत्र से भी प्रमाणित है।

१५-मन-प्राणार्गमिता 'वाक्' की उ-अ-अच् सङ्घटा सर्वात्म्यता, एवं वाग्ब्रह्म की सर्व व्यापकता—

सर्व 'वाक्' शब्द ही इसी उक्ता राक्तिवदी का संभावक बन रहा है। मनोरूप 'अकार' तथा प्राणरूप 'उकार' इन दोनों की वाङ्मा करने वाला तत्त्व ही 'वाक्' है किन्तु सर्वकर्म बर्ण 'अ-उ-अच्' है यही प्राजात्मक कर्म 'उ-अ-अच्' है ज्ञानराक्तिमय मन ही निष्क्रिय है एवं अथराक्तिमयी वाक् भी ब्रह्मात्मिका है। सक्रिय है मन्वन्त्य क्रियाराक्तिमय प्राण। सुखनिर्माणप्रक्रिया में क्रियाराक्तिमय प्राण ही उच्चप्रथम अग्रणी बनता है। यैति' मूलक इसी प्राणमय के कारण इस किवादीति पठिष्यन्ती तत्त्व को 'प्राण' कहा गया है। इस प्राण मय के कारण ही 'मन-प्राण-वाक्' (अ-उ-अच्) -इस महासिद्धि स्थिति का-'प्राण-मन-वाक्' (उ अ-अच्) यह रूप सम्पन्न होजाता है। और इसी कर्मतन्त्र का अन्वेषण (अकार) तथा दीर्घ के कारण 'वाक्' (उ-अ-अच्-वाच्-वाक्) यह स्वरूप सम्पन्न होजाता है। इत्यकार केवल 'वाक्' शब्द ही उ अ-अच् कर्म से मन-प्राणवाङ्मय आत्मब्रह्म का संभावक बन रहा है। इसी आचार पर 'आत्मीयेद् सवम्' की मति-'वाचीमा विरवा मुबनान्यर्पिता (१)-'अथो वाग्मेव सवम्' (२ वा) इत्यादि निगम व्यबस्थित हुए हैं।

(१)-वाचं देवा उपवीदन्ति विरवे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विरवा मुबनान्यर्पिता सा नो हर्षं लुपतामिन्द्रपत्नी ॥
—सैचिरीब्राह्मणे

दक्ष काममय मन त्रिषा ज्ञानमय मन का स्वरूप ही—ऋतु है एवं इस कामासक्त ऋतुरूप संज्ञक की प्रायः क माध्यम से कर्मरूप में परिणति का नाम ही—'दक्ष' है। अधिभवनमात्र में सञ्ज्ञात्मक मनोमय ऋतु ही 'मित्र' कहलाया है एवं मानव स्त्र ही 'वरुण' कहलाया है। मित्रतर काय की उदरकनभूमि है, एवं स्रस्ततर काय की उदरकनभूमि है। प्राणव्यवस्थानुगुणिणी प्राकृतिक-प्राणान्मिसा आधिभैषिणी नित्या-वर्णसृष्टि की परिभाषा में मनोमय ज्ञानत्मक-ऋतुरूप मित्र ही 'ब्रह्म' कहलाया है एवं प्राणमय-कम्मानर-रूपरूप वरुण ही 'क्षत्र' कहलाया है(१)। ब्रह्ममित्र 'अभिगन्ता' है, 'प्रेरक' है, मूलप्रतिष्ठा है। तथा क्षत्रवरुण 'कर्त्ता' है, 'प्रेरित' है। एवं त्रिम शीर्षे तस्य पर इत्य प्रेरणा की अभिव्यक्ति होती है वही अर्धरात्रिप्रधान तीक्ष्ण 'सक' तत्त्व है त्रिमके द्वारा ही भूतसृष्टि में यिद् भाव आविर्भूत होता है, एवं सन्प्रधान मानव ही बण्णव्यवस्था में प्रेरक कहलाया है। यों मन-प्राणनाद-मय ज्ञान-श्रिया-अय-भाषापत्र मित्र-वरुण-विरवन्द्य नामक-तीन नित्य तस्य ही भातिर विरय के ब्राह्मण-क्षत्रिय-शैश्य नाम की वर्णत्रयी के स्वस्व प्रनाशित हो गइ हैं त्रिमके अनुग्रह में ही रथावर-वज्रनात्मक पाञ्चमायिक विरय का बद्ध-चतन प्रत्यक वग प्रकृतिसिद्धा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था से ही समन्वित है त्रिम व्यवस्था का तथोक्त सृष्टिसाक्षी अव्ययव्यवस्था प्रति में ही सम्मन्व है (२)। प्रकृत में ऋतु दक्ष नामक मनः-प्राणरूप-ब्रह्म-क्षत्र-लक्ष्ण-मित्र-वरुणामक-अंश ही लक्ष्मीभूत है त्रिम तथोक्ता तत्त्वद्वयी का भगवान् वाक्यरूप ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

ऋतुर्षां इ वाऽअस्य मित्रावरुणौ । एतन्नु-अप्यामम् । म यदव मनमा कामयते
'इद मे स्यात्', 'इद कुर्वीय', इति-स एष ऋतु । अथ यदस्मै समृद्धयते, स दक्ष । मित्र
एव ऋतु, वरुणो दक्ष । ब्रह्मैव मित्र, क्षत्र वरुण । अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रिय ।
—शतपथब्राह्मण ४।१।४।१।

१६-सृष्ट्यारम्भदशानुगत ब्रह्मात्मक मित्र-ऋतु, तथा क्षत्रात्मक वरुण-दक्ष का पार्यक्य,
एव सृष्टिकम्मनिरोध—

एष हि अयते-कि सृष्ट्यारम्भ-स्था में सृष्टि की मूलप्रतिष्ठारूप ज्ञानरात्रिमय-मनोरूप-‘ऋतु’ नामक मित्रब्रह्म तथा क्रियाशक्तिमय-प्राणरूप-‘दक्ष’ नामक क्षत्रब्रह्म दोनों सर्वथा स्वतन्त्र थे। न मन के प्रति प्राण ने आत्मसमर्पण किया था एवं न मन ही प्राण के प्रति अनुगत हुआ था। दोनों के इस नानात्व का विभिन्नता का पायक्य का वही परिणाम हुआ, जो होना चाहिए था। दोनों के इस पायक्य से सर्वनिष्ठा—

(१) प्राकृतिक आधिभैषिक ब्रह्ममित्र से समन्वित द्विवाकिमानव ही शौचित्य वर्णव्यवस्था में 'ब्राह्मण' है एवं क्षत्रवरुण से समन्वित मानव ही 'क्षत्रिय' है।

(२)-चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुणाकर्मविभाग ।

तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धि, अकर्त्तारमव्ययम् ॥

—गीता ४।१३।

१७-सूचन, अतएव अमद्वय 'ऋषि' नामक मनोगर्भित-वाङ्मय प्राणतत्त्व का मूर्ति कर्त्तृत्व, तथा मन-प्राणावाङ्मय मूर्तिमाहीप्रजापति, एवं आनन्दविज्ञानमनायक मुक्तिमाही प्रजापति का सम्मरण—

श्रुत्-साम-लक्षण बयोनाशरूपक दुःखामय से दृष्टित सीमित, मर्यादित बना रहने वाला ब्रह्म 'यजुर्वाक्त्व' ही प्राणमौलिक विरव का तात्त्विक स्वरूपेतिष्ठ है। मद्भवन (मद्भू) अतएव—'मामाम्ब सामान्यामाष' म्यायानुसार 'असत्' नाम से प्रसिद्ध गतिधर्मसम्बन्ध से श्रुति अग्निभा से व्यक्त, क्रियाशक्तिमय 'प्राणतत्त्व' (१) ही तथोक्त अर्थात्क्रियमय वाङ्मय विरव का मूलाधार है। क्रियाशक्तिमय श्रुतिमूर्ति इस स्वायम्भुव प्राण का मूलाधार 'शोषसीयम्'—किंवा 'शोषपरयम्' नाम से प्रसिद्ध 'अन्व-कार्त्तमन' है जिस इस ज्ञानशक्तिमय शरीरजीवन्मनोरूप आत्मन पर प्रतिष्ठित होकर ही गतिशील प्राण ही त्वारूप अन्तर्भाषार से बाह्यरूप अम नामक बहिर्भाषार के द्वारा मौलिकतया का स्वरूप-साधन करता है। सर्वाधार, अतएव निरानार इस अन्वमन के काममय (इच्छामय) रेत (२) (शुक्ल) के माध्यम से काम पमान बन कर ही प्राण के 'वय' से तथा वाक् के अम' से प्रजापति सृष्टि के प्रवर्तक बन रहे हैं (१)। मन प्राण-वाङ्मय इही विवर्त का नाम 'सृष्टिसाहीप्रजापति' है जब कि 'आनन्दविज्ञानमनोमय' यही तत्त्व—'मुक्तिसाहीमहा' अग्निभा से प्रसिद्ध हुआ है।

१८-मनोमय-ब्रह्म-मित्र, तथा प्राणमय अत्र-वरुण की क्रतु, दक्षता, तन्निबन्धन अभ्यात्म, और अधिदैवत-विवर्त, एवं ब्रह्म मित्र-निरवेदेव-निबन्धना ब्राह्मणा-त्रिय-वैश्वमुखा प्रकृतिसिद्धा वातुण्यव्यवस्था—

वाक्त्रि-परिमत्या मे (अभ्यात्मवर्गत् की दृष्टि से) तथोक्त मन-प्राणवाङ्मय सृष्टिसाही प्रजापति का ज्ञानशक्तिमय मनस्वरूप ही 'ऋतु' कहाया है एवं क्रियाशक्तिमय प्राणरूप ही 'वय' कहाया है। सवस्था-

(१) असद्वाङ्मयमग्र आसीत् (तत् 'सदा' सीत् । क्रममयत् सजापेत्) । तदाहु - कि तत्-असत्-आसीत् ? इति । श्रुपयो' वाव तदग्रे—'असत्' आसीत् । तदाहु - कि ते 'श्रुपय' ? इति । 'प्राणा ना श्रुपय' । ते यत्-पुरा अस्मात् सर्वस्मात् (वाङ्मय-विरवात्) इदं, (व्यक्तरूपं) इच्छन्त' अमेया, तापसा, 'अरिपन्', सस्मात्—'श्रुपय' ।

—वाचस्पत्यव्याख्य ६।१।१।१।

(२) कामस्वदग्ने समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीप्या कामो मनीषा ॥

—श्रुत्संहिता १०।१०।१४।

(३) सोऽब्रामयत् (मनसा), स तपोऽवप्यत् (प्राणेन), सोऽभाम्यत् (वाचा) । इति काम-वय-अम-समन्वपादेव सृष्टिसाहा समुत्पन्ते ।

२२-घ्न क द्वारा प्रणतभाव से ब्रह्म का आमन्त्रण—

हे ब्रह्ममित्र ! आप अनुग्रह कर मुझ से, एव मेरे कर्म म समन्वित होने की कृपा कीजिए ।। तर्पण मेरी आर पयवसित होने का कष्ट कीजिए । जब आप एसा अनुग्रह कर देंगे तो (आपन आग्रह के नानात्व का, पायस्व का । नमृत कर,) आपन दोनों ही परस्पर सह-समन्वित हो जायेंगे एक रूप में परिणत हो जायेंगे । और ही, इस सहसमन्वय-कर्म में मैं घ्न का ही (सह को ही) अग्रणी-प्रमुख मानूँगा । आप मुझे जब भी, जैसा भी एव जो भी आदेश प्रदान करोगे मैं उसी का अनुग्रह पावन करूँगा । मेरे प्रत्येक भौतिक भक्त मृत कर्म म आप की ही प्रस्ताविका (प्रेरणात्मिका) दृष्ट्या सशोपरि रहूँगी और वो आप मेरे 'पुरोधा' (अग्रगामी-नयप्रणयक) रहेंगे और मैं आप की आज्ञा का अनुकर्ता बना रहूँगा ।

२३-ब्रह्म की अनुग्रहात्मिका स्वाकृति से ब्रह्म-घ्न का समन्वय, तद्द्वारा तत्र ब्रह्म मित्र की प्रमुखता, एवं 'मैत्रावरुणग्रह' का आविर्भाव—

ब्रह्मा-आत्म्या मे समन्वितता प्रणतमायान्विता इत्यमृता प्रार्थना से ब्रह्ममित्र अपनी सहसमन्विता श्रुतता (स्वभावानुगत सरलता) के आरूपण म आकर्षित हो चतुर्वर्ण की ओर अनुगत होगए, एव--'तथेति (येमा हा हो) इस मन्विता ग्रीहृति के माध्यम से म ब्रह्ममित्र चतुर्वर्ण के अमिसुक्त होगए । परिणामस्वरूप दोनों परस्पर समन्वित होगए । इसी सहसमन्वय से दोनों का नानात्व तो होगया अमिमृत, एवं चतुर्वर्ण में दोनों मिलकर एकाकार बन गए । इन दोनों के सह समन्वय से अमेसामक वो एक अपूर्व स्वरूप आविर्भूत हुआ वही तत्त्वभाषा में-'मैत्रावरुणग्रह' नाम से प्रसिद्ध हुआ । अपने अपने स्वतन्त्र ब्रह्म-घ्न-रूपों से जो मित्र (मन) और वर्ण (प्राण) बाह्य मयी सृष्टि के परिग्रहण-सञ्चालन में असमर्थ बने हुए म इसी अग्रहण के कारण जो 'ग्रह' मर्यादा से पृथक्-प्रमाणित हो रहे, वे ही चतुर्वर्ण के प्रणत-मात्रानुगत आमन्त्रण से परस्पर समन्वित होते हुए सृष्टिकर्मपरिग्रहण में आब सशक्त बन गए । फलस्वरूप इसी अग्रहणम में दोनों की समन्वितानुगत 'मैत्रावरुणग्रह' नाम से प्रसिद्ध होगए । इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करने हुए शुक्लायजुषे के प्रथा याज्ञक्य कह रहे हैं कि—

स घ्न वरुण -ब्रह्ममित्रसुपमन्त्रयाश्चक्रे-उप मा-आवर्षास्व- मां- उपावर्षस्व), ससृजावर्षे, पुरस्त्वा करवै, त्वरप्रद्यत कर्म करवा, इति । तथेति (ब्रह्म-उवाच) । तौ समसृजेताम् । तत एव 'मैत्रावरुणग्रह' -अभवत् ।

—शतपथ ४।१।४।१।

२४-प्रकृतिसिद्धा ईश्वरकृता वर्णचतुष्टयी, एव सस्कारसिद्धा श्रुतिकृता वर्णव्यवस्था—

यह है प्रकृतिसिद्धा नित्या स्थिति जिसके आधार पर ही भौतिक-विरव की प्रकृतिसिद्धा 'वर्णमृष्टि- (चतुर्वर्णमृष्टि) सुव्यवस्थित हुई है प्रकृतिरस्यवेत्ता ज्ञानविज्ञाननिष्ठ महामहर्षियों के द्वारा । यह संस्मरणीय तथा सर्वथा अकिन्तनीय है कि सातुर्वर्ण के सृष्टा ब्रह्मा बगदीश्वर 'अव्ययात्मा' हैं (गीता ४।१३) वही इस प्रकृतिसिद्धा वर्णचतुष्टयी के व्यवस्थापक भारतीय महर्षिगण हैं । वर्ण प्रकृतिसिद्ध हैं, ईश्वर-

प्रक्रिया प्रचलन न होसकी । क्योंकि मनोमय ज्ञान तथा प्राक्प्रती क्रिया के सम्बन्ध के बिना ज्ञानशक्तिमय वाक् कदापि स्वविवृता स्थिति के प्रति उन्मुक्त नहीं हुआ करती ।

२०-क्षत्र-वक्ष्यात्मक दक्ष से पृथग्भूत ब्रह्म-मित्रात्मक क्रतु की स्वरूप स्थिति का एवं ब्रह्म-मित्रात्मक-क्रतु से पृथग्भूत क्षत्र-वक्ष्यात्मक दक्ष की असमृद्धि तथा स्वरूपरक्षा-विध्युत का दिग्दर्शन—

दोनों के तत्त्वविषयानाम (पार्थक्य) के सम्बन्ध में ऐसा कुछ अवश्य वा सुष्ट्यारम्भ दशा में ज्ञानशक्तिमय क्रतुरूप ब्रह्ममित्र (मनस्कन्ध) को अपने प्रातिमिक स्वरूप से स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता हुआ स्वस्वरूपधारण में सफल-समर्थ-बन गया । किन्तु क्रियाशक्तिमय दक्षरूप क्षत्रवदन (प्रायतन्त्र) ब्रह्ममित्र के साथ समन्वित न होने से स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित न रहसका । दूसरे शब्दों में-बिना भी क्षत्र-वक्ष्य के ब्रह्ममित्र के स्वस्वरूप की वो कोई क्षति नहीं हुई किन्तु बिना ब्रह्ममित्र के क्षत्रवदन तो स्वस्वरूप को सुरक्षित रखने में भी असमर्थ रह गया । ब्रह्ममित्र (मनस्कन्ध) की प्रेरणा भी उपेक्षा करने वाले,, किंवा मनोमयी ज्ञानशक्ति से निरोधक स्वरूप बन जानेवाले क्रियाशक्तिमय क्षत्रवदन में ज्ञानप्रतिष्ठा से पराह मूल्य रहते हुए भी भी कर्म क्रिया बही निष्कन्ध प्रमाणित हो गया । और वही ब्रह्ममित्र ये क्षत्रवदन, क्षत्रमित क्षत्रवदन की स्वस्वरूपप्रतिष्ठा भी संदिग्धा ही बन गई एवं कर्म भी समुद्दिश्य ही प्रमाणित होगया । ऐसी भी स्थिति की वह ज्ञानस्मदशा क्षिप्त में ब्रह्म और क्षत्र किंवा ब्रह्म और दक्ष किंवा मित्र और वक्ष्य किंवा ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति किंवा आत्मप्रभापति क्षत्र मन और प्राक्-नानेवासतुः । विभिन्नपदानुक्तर्मा ही बने हुए वे क्षिप्त इत प्राथमिक स्थिति का दिग्दर्शन करते हुए ही भगवान् साङ्ख्यिक्य करते हैं—

ते हैतेऽक्षत्रे नानवासतु-ब्रह्म च, क्षत्रञ्च । ततः शशाकैव ब्रह्म मित्रं श्रुते क्षत्रात्-वक्ष्यात्-स्यात्तुम् । न क्षत्र वक्ष्या-श्रुते ब्रह्मस्यो मित्रात् (स्यात् न शशाक) । नहं क्रिञ्च वक्ष्य कर्म चक्रे-अप्रसूत ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवासौ तत्समानुचे ।

—शा० ४।१।४।२,३ ।

२१-ब्रह्म और क्षत्र का पार्थक्य, तन्निबन्धन सृष्टिकर्मोप्यवस्थाओं का निरोध एवं तन्निराकरण के लिए क्षत्र की ब्रह्म के प्रति शरयागति—

आगे क्या प्रतिष्ठित विद्यते हुआ । अस्ताम् ! वह तत्त्वान्त्रिक ही था कि मित्रब्रह्म को स्वस्वरूप-प्रतिष्ठा के लिए निरोध के सहयोग की अन्विष्टि में आवश्यकता न थी । अस्तित्व वह तो अपने ज्ञानमय मनोस्वरूप से स्वयं में ही परिपूर्ण रहता हुआ स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहने में स्वयं ही समर्थ सफल था । किन्तु वक्ष्यक्षत्र की स्थिति ठीक इसके विपरीत थी । बिना ब्रह्म के सहयोग के तो इत क्षत्र की स्वस्वरूपप्रतिष्ठा भी संदिग्धा ही एव रहसका तत्काल कर्म भी समुद्दिश्य (सृष्टिकर्म में अन्तर्गम) ही प्रमाणित होरहा था । तद्विपर्य-स्वस्वरूपप्रतिष्ठा के लिए एव स्वकर्मसमृद्धि के लिए निराकरण इत क्षत्रवदन की ब्रह्ममित्र की शरण में आनन्द प्रसूतभाव से आ ही जाना पडा ।

२६—तत्त्वमीमामानुगत आदर्शवाद तथा आचारमीमामानुगत यथार्थवाद, एव—तन्त्या-
नुगत 'दर्शन' और आचारानुगत 'धर्म' से अनुप्राणित प्रतिष्ठासूत्र —

मैत्रानुगतप्रभृति से सम्बद्ध उक्त छन्दस के माध्यम से ही अब हम उस तथ्य की ओर दिग्देशकाल-
प्रमेयों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिस तथ्य के स्वरूप—सम्बन्ध के लिए ही हमें हम श्रोतस्मरन
का आश्रय लेना पड़ा है। 'तत्त्वमीमांसा' अन्य पक्ष है, एव 'आचारमीमांसा' विभिन्य पक्ष है। ये ही
हमारे (भारतीय) 'आदर्शवाद', तथा यथार्थवाद की मूलप्रकृति हैं। 'आदर्श' का 'तत्त्वसमन्वय' से
सम्बन्ध है, एवं 'यथार्थ' का 'आचारनिष्ठा' से सम्बन्ध है। सरतः 'तत्त्व' को 'आचार' से सम्बन्धित नहीं
कर लिया जाता, तत्रतः उस तत्त्वबोध का कुछ भी अर्थ नहीं है। यिशुद्ध तत्त्वबोध तो केवल—'दर्शन' बन
कर ही परिमत्पक्ष हो जाता है, जबकि दर्शनरूपक यही तत्त्वबोध आचार से सम्बन्धित होकर 'धर्म' (कृतव्य-
कर्म) स्वरूप में परिणत होता हुआ अपने आचारपक्ष से अस्मुत्पन्न (ऐहलौकिक सुग-समुद्भि), तथा
तत्त्वपक्ष से निःश्रेयस (पारलौकिक—शान्ति) का कारण बन जाता है, अंशदि—'यतोऽभ्युदय—नि श्रेयस-
सिद्धिः, स धम्म' (वैशदिक—दर्शन) इत्यादि धर्मलक्षण से प्रमाणित है।

२७—धर्म, और दर्शन का महान् मौलिकमेद, दार्शनिकयाद के निग्रह से धर्म का अभि-
मय, तन्त्याने च फाल्गुनिक मतवादों का आविर्भाव, एव भारतराष्ट्र के पारम्परिक
अव पतन प प्रमुख कारण—

यही 'दर्शन', और 'धर्म' में वह महतोमदीयान् बैसा विमेद है जिस मेद के कारण ही विगत
वीन सदृश—यथो से भारतीय जनजीवन धर्म के वाच्यमूलक दार्शनिक—पक्ष से परिचय रक्ता हुआ भी उस के
आचारपक्ष को सर्वथा ही विस्मृत किए हुए है। स्वयं विद्यमान रहते हुए भी कभी भारतराष्ट्र का उक्त
अभिव में उच्चोत्तर ममी निशाही में पतन होता आया है ? इत प्रकथन्त पूर्वपरन के अन्यान्य समाधानों में
से यही प्रमुख समाधान है। दर्शन और धर्म के सिद्ध्यद ने ही दूसरे शब्दों में तत्त्वज्ञान, और
आचारधर्म के पाथक्य ने ही भारतीय जनजीवन को एकत्रततः शून्य शून्य ही प्रमाणित कर
दिया है। उद्बन्धापानुसार—आचारनिष्ठाशून्या, केवल वाग्विभृम्भयात्मिका दार्शनिकता से ही शानविज्ञान-
निष्ठ भी भारतीय आचारधर्म का स्वरूप सर्वप्रथमा अभिभूत ही हो गया है। तथाविधा दार्शनिकता के अनुग्रह
से ही प्रकृतिविद शारवत—सनातनधर्म के उद्बन्—प्राकृतिक—विधि—विधानों के त्या में आचाररहितकर्म-कर्त्ता
व्य-कर्मनिष्ठा के ध्यान में मानवीया मातृकतापूर्णा प्रश के आश्रय से कास्वनिफ जैसे जैसे अगणित 'मतवाद'
ही प्राकृत होपके हैं जिन विकर्म (शास्त्रविरुद्ध कर्म) तथा अकर्म—(निरर्थक कर्म)—मात्रा की
समि ही कल्पनिक कर्मों का समुच्चय ही 'शास्त्र के नामकाल से विगत त्रिदशसर्वविधि में भारतराष्ट्र
का आचार' बनता आया है जिस इधमूल कल्पनिक विकर्म—अकर्मरहितक' आचार की 'नवमह-
प्राहारिक प्रमुख—शास्त्राभा का प्रास्ताविक के आरम्भ में ही स्मरण किया जा चुका है। और निरचयेन
यही भारतराष्ट्र के कल्पित पतन का प्रमुख कारण माना जा सकता है।

हृत है। किन्तु 'बर्वाध्यवरया श्रुतिहता है—स्मारां के माध्यम से, जैतानि—'प्रकृतिविगिष्टं वासुवद्य सस्वरविरोपाध्य' (वल्लिखरुति) इत्यादि आप्तस्मरण से प्रमाणित है।

२५—अभिगन्ता-पथप्रदर्शक ब्रह्ममित्र से समन्वित कर्त्ता-पथानुवर्त्ता ध्वजवरुण की स्वरूप स्थिति, एवं समृद्धि, तथा तदनुबन्धी उद्बोधनात्मक आदेश (ब्रह्म के प्रति)—

प्रकृतिरन्त में ब्रह्म (मन) प्रधान है। चतुर्गोत्र है। ब्रह्म आत्म्य है। चतुर्गोत्र आश्रित है। चतुर्गोत्र प्रेरित है। ब्रह्म अभिगन्ता है। पथप्रदर्शक है। चतुर्गोत्रां है। पथानुवर्त्ता है। इत्यन्तु ब्रह्म चतुर्गोत्रां से ही मानवीय पाठार्थपर्यं में क्रमशः आश्रय तथा श्रुतिय की प्रवृत्ति हुई है। अतएव ब्राह्मण 'मित्र' नाम से तथा श्रुतिय 'वरुण' नाम से भी व्यक्तित्व हुआ है (१)। मनोमय ब्रह्ममित्र से कृततमा ब्राह्मण ही प्राकृतिक ध्वजवरुण का पथप्रदर्शक है। पुरोगामी है। अतएव इसे श्रुतिय का 'पुरोधा (पुरोहित)' कहा गया है। पौरौहित्य-सम्बन्ध से श्रुतिय के सुकृत (पुण्य) तथा दुष्कृत (पाप) दोनों का ब्राह्मणपुरोधा को भी दायदमोक्षा (मानी) बन बाना पड़ता है। अतएव श्रुति उद्बोधन प्रधान कर रही है। इस मित्र ब्राह्मण को कि 'इसे सुकृत-शूल-साम्यता-आदि से परिचय प्राप्त किए बिना ही जिस किसी ही ब्रह्ममान-रुच्य का पुरोहित नहीं बन बाना आदि'। इस सामयिक आदेशप्रदान के अनन्तर प्रकृतानुसरण करती हुए श्रुति धारी बलकर कहती है कि 'ब्रह्म ध्वजवरुण ने ब्रह्ममित्र का आश्रय ग्रहण कर लिया। जब ब्रह्म की स्वप्रकृति बना लिया तो ब्रह्ममित्र की प्रेरणा से इस ध्वजवरुण का कर्म सुकृत ही बन गया। बौद्धिक कर्म ब्रह्म के लक्षण से पूर्वाभ्या में समृद्धि से बलित ही होखा था। इसी उद्बोध-रीति का निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए आश्रयक कह रहे हैं कि—

स उ एव पुरोधा। तस्मात्त ब्राह्मणा सर्वस्येव श्रुतियर पुरोधां कामयेत। स ह्येती सूक्षेत्-सुकृतस्य दुष्कृतस्य। स यत्-ततो ब्रह्मणाः कर्म चक्रे प्रकृतं ब्रह्मणा मित्रेणा, सं हेवास्मै तदानृषे (समानृषे)।

—शत० ४।१।५।५।

(१)—ब्राह्मणो वा एतद्रूपं, यद् ब्राह्मणाः (शत० १।३।१।५।२।)—ब्रह्म वै ब्राह्मणा - (१।३।१।५।३।)—अथ यत्रैतत्प्रतितरामिष विरश्चीवायि संशाम्यतो भवति, तद्धि ह्येव (अग्नि) भवति-मित्र'। सवस्य वाऽअयं ब्राह्मणो मित्रम्। न वा अयं कल्पन दिनस्ति- (शत० २।३।२।१२)।

—अप्येनेष तु संसिद्धेव ब्राह्मणो नात्र संशय ।

कुर्यादन्यत्र वा कुर्यात्-मित्रो' ब्राह्मणा उप्यते ॥

—मनु० १०८०

धर्मं वा ब्रह्म (शत० २।५।२।६।)—अप्रस्य राजा वरुणोऽधिरावः (तै० भा० ३।१।२।७।)।

६-तत्त्वमीमांसायुग आदर्शवाद तथा आचारमीमांसायुग यथार्थवाद, एवं-तत्त्वा-
युग 'दर्शन' और आचारानुगत 'धर्म' से अनुप्राणित प्रतिष्ठासूत्र —

मैत्रायणप्रबन्धनि से सम्बद्ध उक्त धर्म के माध्यम से ही अब हम उस तथ्य की और विगूँथकाल-
मिया का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिस तथ्य के स्वरूप-समन्वय के लिए ही हमें इस बात-सम-
न आश्रय लेना पड़ा है। 'तत्त्वमीमांसा' अन्य पक्ष है, एवं आचारमीमांसा विभिन्न पक्ष है। ये ही
मार (भारतीय) 'आदर्शवाद', तथा 'यथार्थवाद' की मूलप्रतिष्ठा हैं। 'आदर्श' का 'तत्त्वमन्वय' स-
म्बन्ध है, एवं 'यथार्थ' का 'आचारनिष्ठा' से सम्बन्ध है। अतः 'तत्त्व' को आचार से समन्वित नहीं
र लिया जाता, अतः उस तत्त्वबोध का कुछ भी अर्थ नहीं है। विद्युत् तत्त्वबोध तो केवल- 'दृशन' बन
र ही परिष्कार हो जाता है, जबकि अज्ञानात्मक यही तत्त्वबोध आचार से समन्वित होकर 'धर्म' (कर्तव्य-
धर्म) स्वरूप में परिष्कृत होता हुआ अपने आचारपक्ष से अस्तित्व (ऐहिक-सुख-समुद्दि), तथा
तत्त्वपक्ष में निःश्रेयस (पारलौकिक-शान्ति) का कारण बन जाता है, अतः- 'यतोऽस्त्युद्दय-नि श्रेयस-
मेदि' स धर्मः (वैश्विक-दर्शन) इत्यादि धर्मलक्षण से प्रमाणित है।

७-धर्म, और दर्शन का महान् मौलिकमेद, दार्शनिकवाद के निग्रह से धर्म का अभि-
भव, तत्स्थाने च कार्पनिष्ठ मतवादों का आविर्भाव, एवं भारतराष्ट्र के पारम्परिक
अथ पतन के प्रमुख कारण—

यही 'दृशन', और 'धर्म' में वह महत्वहीनान् 'वैय विमे' है, जिस मेद के कारण ही विगत
वीन अहस-धर्मों से भारतीय जनजीवन धर्म के तत्त्वमूलक दार्शनिक-पक्ष से परिचय रखता हुआ भी उस के
आचारपक्ष को सर्वथा ही विस्मृत किए हुए है। अत्युत्त विद्यमान रहते हुए भी क्या भारतराष्ट्र का उक्त
अर्थ में उत्तरोत्तर सभी दिशाओं में पतन होता आ रहा है ? इस प्रश्नत्त पूर्वप्रश्न के अन्यान्य समाधानों में
से यही प्रमुख समाधान है। दर्शन और धर्म के विच्छेद ने ही दूसरे राष्ट्रों में तत्त्वज्ञान, और
आचारधर्म के पाथक्य ने ही भारतीय जनजीवन को एकत्रन्तता शून्यं शून्यं ही प्रमाणित कर
दिया है। सहस्रमायानुसार-आचारनिष्ठाशून्या केवल वाग्विबन्धनशासिका दार्शनिकता से ही ज्ञानविज्ञान-
मिद भी भारतीय आचारधर्म का स्वरूप सर्वप्रथम अभिभूत ही हो गया है। अथापिचा दार्शनिकता के अनुग्रह
से ही प्रवृत्तिमिद शार्वत-सनातनधर्म के सहस्र-प्राकृतिक-विधि विधानों के रथा। में आचारात्मिक-कर्ता
न्य-धर्मनिष्ठा के ध्यान में मानवीया मानुष्यपूर्ण प्रज्ञा के प्राकृत्य से कान्यनिक जैसे जैसे अगणित 'मतवाद'
ही प्रादुर्भूत हो गये हैं जिन विकर्म्म (शास्त्रविरुद्ध कर्म्म) तथा अकर्म्म-(निरर्थक कर्म्म)-भावों की
समिधि ही काल्पनिक कर्म्मों का समुच्चय ही 'शास्त्र' के नामध्वल से विगत त्रिदशवर्षावधि में भारतराष्ट्र
का 'आचार' बनता आ रहा है जिस इधमूत कान्यनिक विकर्म्म-अकर्म्म-आत्मिक आचार की 'नवग्रह-
माहात्मिक प्रमुख-शास्त्रात्मा का प्रान्ताधिक के आरम्भ में ही स्मरण किया जा चुका है। और निरचयेन
यही भारतराष्ट्र के कर्मिक पतन का प्रमुख कारण माना जा सकता है।

२८-सौर-चान्द्र-पार्थिव-मावत्रयानुषङ्गी सत्य-शिवं-सुन्दर-स्रवण प्राजापत्य-विरव सौन्दर्य का प्रतिद्वन्द्वी कान्पनिक अगन्मिध्यात्ववाद, एव तन्नुगता आचारशून्या दार्शनिक-प्रज्ञा—

आचारनिष्ठात्मक अतएव सौरमण्डलानुगत स्रवणमात्रात्मक, पार्थिवमण्डलानुगत शिवभावत्मक, एवं चान्द्रमण्डलानुगत सुन्दरभावत्मक 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं'-लक्षण विरवसौन्दर्य की विगत अवधि में उत्तरोत्तर उपेक्षा ही करते रहने वाली आचारनिष्ठाशून्या एतद्वैराग्या दार्शनिकप्रज्ञा के द्वारा इत्यंभूत 'असत्य-अशिव-असुन्दर'-कास्पनिक विद्वान्त ही पुण्डित-पञ्चवित होते आये हैं कि—'विरव मायामय है, अतएव असत्य है, अतएव मिथ्या है। अतएव व हमें इस विरवसीमा को उपेक्षा कर केवल अम्हात्मचात्री ही बने रहना चाहिए'।

२९-कान्पनिक अच्यतात्मवाद के महान् बिमोहन के द्वारा विरवसौन्दर्य की पराकृष्टता—

स्पष्ट-स्पष्टतर-स्पष्टतम है कि, इसी कान्पनिक अम्हात्मवाद से मारतघ्न आचारनिष्ठात्मक भूत-सौन्दर्य से एकान्तता पर पराकृत ही बनवा आया है। जिस 'आत्मा का स्वरूप मनः-प्राण-वाक्मय माना जाता हो जिस अस्मररूप में मन'-मात्र-वागमुगता ज्ञान-क्रिया-अर्थ-रूपा शक्तिश्रेणी का समन्वय हो इत्यंभूत सर्वोत्तम स्वरूप विरवसौन्दर्य-प्राजापति-आत्मदेवता का उसी के अर्थात्मक विवर्तक मौलिक-विषय से उन आचारशून्य अतएव अप्रत्यक्ष में चर्मश्रीही मास्तीय दार्शनिकों ने जैसे क्यों और किस आचार पर पार्यक्य कर दिया। सचमुच यह प्रश्न हमारे जैसे वैशाम्यासकर्ममति के लिए तो अरुमावेय प्रश्न ही प्रमाणित होया है। 'आत्म-पालन' के अतिरिक्त (१) और कुछ भी समाधान सम्भव ही नहीं है तथाविध आचारशून्य अतएव सर्वशून्य नितांत कास्पनिक 'अम्हात्मवाद' के कास्पनिक वाग्बिबुध्य के लिए।

३०-प्राज्ञाग्रन्थों की तत्त्वविज्ञान, तथा तदनुगत-आचार-भाव-निबन्धना सहजशैली, एवं-'उपनिषत्' शब्द का रहस्यार्थ-समन्वय—

मन्त्रब्राह्मणग्रन्थक वेदशास्त्र के आचारवर्त्म-कर्म-कर्म-प्रतिपादक विधि नामक 'ब्राह्मण-ग्रन्थों की यह स्वाभाविक शैली है कि, वे आचारगतक प्रत्येक कर्मव्यवस्था के आरम्भ में उस कर्मव्य की 'तत्त्वमीमांसा' ही प्रस्तुत करते हैं जिसे आच की व्याख्या भाषा में वही हम 'द्वारान' कह सकते हैं वही अविद्यमान आचमना में वही तत्त्वमीमांसा 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुई है। मौलिक-उपपत्ति-लक्षण तात्त्विक-प्रवृत्तिदिश उस विज्ञान का नाम ही 'तत्त्वमीमांसा' है जिसके सम्पूर्ण परिष्कार तथा सुख्यव से विहास की मनोमुक्ता बुद्धि बातम्-कथ-व्य-के सभिकट (उप-उत्पी) निरवचनेन-उपदेहरहितकेस (नि) आर्या

(१) आसप्त्यालमिदं ब्रह्मोर्षस्स दारानपाहरत् ।

क्यापि खलु पापानामलमभ्यसे यत् ।

—महाभारते

भद्रावृत्त-प्रतिष्ठित हावाही है- (नीदति) । अतएव 'उप- (विपयममीप)-नि-(नितरा-अमदिग्ध रूपण)-सी-ति-(प्रतिष्ठिता भवति मनोयुक्ता बुद्धिर्जिज्ञासु-मानयस्य)-येन मौलिक-उपपत्त्या-सा उपपत्ति (तद्विज्ञान या)-अथ-तन्-कर्मण-उपनिपत्तुं ही 'उपनिपत्तुं शब्द का निवचनाय-अन्य है (१) ।

३१-तत्त्वमीमांसात्मिका 'उपनिपत्तुं' से ममन्विता आचारमीमांसा, एवं तदनुप्राणित दश कण्डिकात्मक मैश्वररुणग्रहब्राह्मण—

'कृत्-सौं ह वाऽअस्य मिश्रावरुणो० इत्यादि प्रथमा कण्डिकासे आरम्भ कर 'सोऽप्य पुरोषा० इत्यादि पञ्चम-कण्डिका-पर्यन्त के सप्तम संभूति न सहस्रकमानुसार तयाविषा 'उपनिपत्तुं (मौलिक-उपपत्तिलक्षण तात्त्विक विज्ञान) का ही स्पष्टीकरण किया है, जिसे हम वच माना दार्शनिक-भाषा में- 'तस्य मीमांसा कहलफते है । तन्न्तर-तत्-तत्-अथह प्तमेय० इत्यादि षष्ठ-कण्डिका से आरम्भ कर- 'म श्रीणाति इत्यादि दशम-कण्डिकापर्यन्त के सन्दर्भ से क्रमप्राप्ता आचारनिष्ठाभिन्ना 'कर्ममीमांसा का ही स्वभाववृत्त्य ह्युक्ता है त्रिम कर्म की ६ टी कण्डिकांमात्र के अक्षरार्थ-समन्वय-मात्र से ही हमार प्रकृत-प्रास्ताविक का सम्बन्ध है । अत कपल उमी अश के आचारमन्-समन्वय की अर ही णिग्देश-तामिनिष्ठो का (प्राणतभाव से) प्यान आर्षति क्रिया आरदा है । भूयताम् । अस्त्या पाप्ययथाप्य-ताम् ॥ किन्तु आत्मनः प्रतिकूलानि परंपा न समाचरेत् ॥

३२-'गुहानिहित' ब्राह्मण, 'सौम्यमारुतिक' क्षत्रिय, तथा 'वातावपिक' वैश्य, एव तन्नि बन्धना स्वतन्त्र निष्ठाओं का स्वरूप-दिग्दर्शन—

'ब्राह्मण्यमानय' वह मानव है जो ज्ञानविज्ञानात्मक छठिहस्त्यो के स्वाध्याय में (२) 'गुहानिहितवृत्त्या

(१)-निस्तार क लिए देखिए-'उपनिपत्तिज्ञानभाष्यभूमिका'-प्रथमपत्रक का-'उपनिपत्तुं'शब्दरहस्य नामक परिच्छेद ।

(२)- छठि का शास्त्र-अथ-मूल-मौलिक स्वरूप बर्ही 'अद्व' (प्रक) है वही इसका मुख्य-प्रास्ताविक-ज्ञानविज्ञानात्मक-मौलिक-स्वरूप-अनद्व (अप्रकट) है । इस 'अप्रकट' भावानुक्त्य से ही छठितत्व को 'रहस्य' कहा गया है । 'रहसि का अर्थ है-'एकान्ते' । 'एकान्तनिष्ठा' ही, बनसम्पर्कानुगता-भाषा-सामाजिकता से दृष्ट करने वाला 'अकर्मिक चिन्तन ही स्वाध्यायनिष्ठ मिश्राब्राह्मण की स्वाध्यायनिष्ठा कलाता का मूलकारण है । अतएव इसी सहस्रवृत्ति 'गुहानिहिता ही मानी गई है । अतएवच इसे-'गुहानिहित' ही माना है पुराणपुरय मगवान् प्यासने (महामारते)-बर्हि सौरप्रकारकत् एवं सौर तापवत् अपने प्रचण्ड तेज से राक्ष की बाह-व्यवस्थाओं विधि-विधानों को राक्षबा के द्वारा अनुगमनीया बनाए रखने वाला उपात्त-त्राय्य क्षत्रिय उभी ऐतिह्य-परिभाषा में 'सौम्यमारुतिक कहलाया है एवं चरभरीला ब्यव-अपनिष्ठा (व्यापारनिष्ठा) के द्वारा राष्ट्रीय-अर्थतन्त्र का सहायाधीन सर्वाप्रिय अतएव 'सभेच' नाम से प्रसिद्ध अर्थशक्तिप्रधान वैश्य 'वातावपिक (धूप-छाँह की चिन्ता न रखने वाला इतस्तत विचरणशील) नाम से प्रसिद्ध हुआ है । निष्कर्षतः-सौम्यमारुतिक क्षत्रिय एव वातावपिक वैश्य दोनों बर्ही अपने प्राचा-

(१) अपरामर्यसत्त्वतः यावज्जीवन एकनिष्ठा से उक्त दर्शन ही बना रहता है। एवमेव सत्तात्-प्राप्तियत्त चतुर्विधमानव (शास्ता, शासक) वह मानव है जो सृष्टिरहस्यमेवा गुहानिहित ब्राह्मण के द्वारा व्यक्तित्व प्रकृतिविधि विधि-विधानों के माध्यम से अपने 'सौम्यमाकृतिक' तेषोदयक के द्वारा राष्ट्र की व्यवस्था करता रहता है। इन दोनों वर्गों के द्वारा पुरुष का ज्ञानविज्ञानपक्ष तथा मृतबल दोनों मुख्य बने रहते हैं। यही इन दोनों का प्रमुख 'आचार' (कर्त्तव्यनिष्ठा) है। इस आचार को सदा बनाते ही जो व्यक्ति-प्रकृत्य है, उसी का नाम 'मैत्रावरुणप्रह्वयाग' है, जिसका प्रथम 'मैत्रावरुणप्रह्वयाग' (यत्तन्म चतुर्विधाय-चतुर्विधभास के चतुर्विधाय) में औपचारिक स्वरूप-विकसोपल हुआ है। इस याग के प्रमुख चतुर्विध भास के प्रतिरूपप्रपक्ष (प्रतीक नहीं) मित्र ब्राह्मण के सम्बन्ध में एवं प्रतिरूपप्रपक्ष ब्राह्मण राजन्य-सत्तात्त्व के सम्बन्ध में एक प्राक्कृत विशेष उद्बोधन प्रदान करते हुए मगवान् यावज्जीवन करते हैं कि—

तत्-सत्-अवकल्पमेव-यत्-'ब्राह्मणोऽराज्यं स्यात्' । यद् राजान समेत-ससृष्ट तत् । (किन्तु) एतत् इ-त्वेवानवकल्प-यत् अत्रियोऽब्राह्मणो भवति । यद् किञ्च कर्म कुरुते (शास्ता)-अप्रसृत ब्रह्मणा मित्रेण न हेवास्यै तत्समृष्यते । तस्माद् कर्मकरिष्यमाणेन-उपसर्गस्य एव ब्राह्मणः । न हेवास्यै तद्ब्रह्मणसुतं कम्मऽर्प्यते ।

—वाक्य २।१।१६।

३३-गुहानिहित ब्राह्मण की अराज्यता से अनुप्राणित भौत-उद्बोधनसूत्र का तत्त्वार्थ समन्वय, एवं राजन्य की ब्राह्मण-सापेक्षता का दिग्दर्शन—

श्रीशिव पर विशेष-श्ला प्रदान करते हुए 'तत्' का पुनराकर्षण करते हुए, 'तत्-तत्' रूप से ही उद्बोधन प्रदान करते हुए वाक्यकल्पन करते हैं कि "सो-यही पक्षो सत्रया उचित ही है कि, जोकि 'बह्म ब्राह्मण अराज्य ही बना रहे' अर्थात् अपने आपको सत्ता में सत्ता निरपेक्ष ही बनाए रखे। मुख्यारम्भयेन प्रसङ्गान् यदि यह राजा को (सत्तात्त्व को) उपलब्ध करने को यह इसकी मृतसमृद्धिमात्र ही मानी जायगी (अर्थात् मौक्तिक-ज्ञान के अतिरिक्त इस सत्ताभय से ब्राह्मण में और कोई अतिराय उत्पन्न नहीं होगा) ।

यह कर्म, तथा वाङ्मय आर्ष की व्यक्तता से 'सामाखित मानव' है वही मनीष्य ज्ञानत्त्व का अनुगामी ब्राह्मण ज्ञानत्त्व की उच्च परोक्षता से 'अतिर्जनसंसदि' (गीता) श्लोक से व्यक्तमावापन अन्तर्पक्ष से एवं सामाखित-जीवन की उच्छास्तरही से अपने आप को यथाशक्य अवशुद्ध रहता हुआ एकात्मिकतन्त्रज्ञान गुहानिहितवृत्त्या ही इस ज्ञानविज्ञानात्मक रहस्य के उद्घाटन में सफलता प्राप्त कर सकता है। सत्रयमातुल्यार-दिग्देशकालानुगत सत्र-सत्तात्त्व तथा दिग्देशकालात्मक वैशयत्त्व से तटस्थ-निरपेक्ष बना रह कर ही ज्ञानविज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण दिग्देशकालसातीता संस्कृति तथा अनन्तकालानुगत सांस्कृतिक आचार, एवं मूर्त्तिकालात्मक सांस्कृतिक-आयोजन इन तीनों प्रक्रमों के उद्बोधन में सफल होता है। भिन्न इस उद्यम का ही प्रथम मैत्रावरुणप्रह्वयाग शीत-ऊर्ध्व से स्थीकरण होने वाला है।

३-एतद् अपरामर्यसत्त्व, यदग्निहोत्रम् । (श्रुति)

किन्तु यह तो मयथा अनुचित, एवं अप्राप्रवृत्तिक-प्रकृतिविरुद्ध ही होगा जोकि क्षात्रमत्ता तन्त्र (ब्राह्मण की भोंति) 'अत्राक्षरा यन जायता । अथात्र मत्तानिरपत्त ब्राह्मण जैसे 'अरा-
बन्ध्याक्षरा दे, तथैव ब्राह्मण को उपचित पर देने वाला क्षात्रसत्तातन्त्र 'अत्राक्षरासपत्न्य'
माना गया है । ब्राह्मण का जहाँ 'अराजन्ता (मत्तानिरपत्त)' ही रहना चाहिए, यहाँ क्षात्रमत्ता
तन्त्र को 'अत्राक्षरा' (ब्राह्मणासापत्त) हा बना रहना चाहिए ।

जिन जिन भी राजतन्त्र (सत्तातत्र) ने ब्राह्मण को निरपत्त बनाते हुए जा जो भी कर्म
किया है मिश्रब्राह्मण की उपादा परन यज्ञे व सभी कर्म समृद्धि से भी मयथा यज्ञित रह हैं,
एवं- 'न क्षत्र वरुण - अत ब्राह्मणो मिश्रात्-स्यात् गुणाक' इत्यादि पूवभूति के अनुसार व अपनी
स्वरूपरक्षा भी नहीं करसक है । अपत्न्य हम (भक्ति) उद्बोधन (चेतावनी) प्रदान करते हैं
उम शास्ता सत्तातत्र को कि यदि यह अपने स्वरूप-सरक्षण की कामना रखता है, माय ही स्य
समृद्धिपूर्वक राष्ट्रसमृद्धि का भी उद्बुद्ध है तो उसे अपने प्रत्येक कर्तव्य में प्रवृत्तिरहस्यवत्ता ब्राह्मण
के द्वारा ही पथनिर्देश प्राप्त करत रहना चाहिए । अथर्व ही ब्राह्मिण के द्वारा प्रसूत, एव आदिप्र
कर्म ही सत्तातत्र का स्वरूपरिखि स्वसमृद्धि एव राष्ट्रसमृद्धि का कारण होगा (१) ।

३४-श्रांत उद्बोधनस्य क मन्त्र व में जिज्ञामात्मक मन्त्रप्रन-

प्रसन्नावेक्षया अत्र उद्भूत पूर्वोक्त 'मैत्रावरुणप्रह्मब्राह्मण' के सम्परण से प्रवृत्त में हमें प्रजाशील-
अनुमी का ध्यान उक्त ब्राह्मण की ६ टी कविद्वारा के अथर्व-महत्परुण- 'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्त्यः-स्यात्-
वत्तवेयायप्लूजम्' इम उद्बोधनस्य की ओर ही आकर्षित करना है । भूतिने ब्राह्मण को एकान्तः
'अराजन्त्य' (सत्तानिरपत्तः) बने रहने का ही आदेश कर्षा किया है । नबनुष युगसम्मानक कालिकुषम्भ'
का ही सर्वेषा मानते रहने वाले िगदेशकालानुगामियों के लिए तो प्रस्तुत परन सर्वथा अचिन्त्य ही प्रमाणित
हाका होगा ।

३५-'राजा कालस्य कारणम्' मूला परिवर्तनशीला युगव्यवस्था, एवं प्रकृतिसिद्धा नित्या
युगचतुष्टयी का स्वरूप-दिग्दर्शन-

'राजा कालस्य कारणम्' सिद्धान्त की अथर्व ही अपनी िगदेशकालमीमा में समुक्त स्वरूप-
प्रतिष्ठा है । वह समुक्त भीमा है-स्वस्त यावापत्त-मूर्त्त-दिग्-देश-काल को क्षत्र क्षण में परिभक्तनशील-
माने गए हैं । इ वभूत मूल-व्यक्त-परिवर्तनशील-दिग्-देश-काल-भागों की सम्न्वितावस्था का नाम ही है
व्यक्त-युगसम्भ विद्वता समुक्ता-काल-दिग्-देशानुक्रमी-ब्राह्म-अहोपत्रात्मक, अतुर्दृशमन्वन्तव्यक्त
सत्य-श्रेता-क्षत्र-कलि-नामक प्रकृतियुगी से कोई सम्बन्ध नहीं है (२) । वास्तविक सत्तातत्र ही परिवर्तन

(१) 'शतपथविज्ञानभाष्य'-अनुपकारक के 'मैत्रावरुणप्रह्मब्राह्मण' में इसविषय का विशद-वैज्ञानिक
निरूपण कर दिया गया है ।

(२) प्रकृतिसिद्धा युगचतुष्टयी विभिन्न सत्व है एव सत्तानुबन्धिनी युगचतुष्टयी मिश्र सत्व है । पुराण
शास्त्र में इन दोनों विभिन्न युगों का यत्रतत्र विस्तार से उपरू ह्य हुआ है ।

शील-शासननिरूपण-युगधर्म के प्रति उच्चरदायी बने रहते हैं। एवं इस शासनानुषंगी युगधर्मात्मक तत्त्व-
 शिक 'काल के सम्बन्ध में ही-राजा मन्त्रालय कारणम् यह विद्वान्त स्थापित हुआ है। प्रकृतिमिद्व द्वारपुत्र
 के अन्त में तथा प्रकृतिमिद्व ही कलियुग के आरम्भ में धम्मराज बुधित्तिर का शासन बड़ा 'मत्त्वमुगात्मक'
 या वहाँ उठी युग के कुनेष्टिक आठवायी बुधोपन का शासन 'कलियुगात्मक' ही प्रमाणित हो रहा था।

३६-प्रति-मानवानुगतता अवस्था-मेदमिमा चतुर्गुण्यवस्था का स्वरूप-दिग्दर्शन-

इसप्रकार शासकों की पुण्यनिष्ठा तथा पापमहिता के कारण ही प्रत्येक युग में भी उभी प्रकार
 शासनानुषंगिनी-कृत्य श्रेतादि चतुर्गुणी उपयुक्त होती रहती है जैसे कि भीतमिद्वान्त (१) के अन्तसार प्रत्येक
 'प्राकृतिकयुग' में तथा प्रत्येक 'शासनयुग' में प्रत्येक मनुष्य धर्मधर्मव्याख्यारूपा सुप्तावस्था निजस्वाग-
 मित्वा 'कर्मप्रवृत्तवस्था' उद्बोधनात्मिका 'कर्मद्वयस्था', तथा धर्मीमृतात्मिका 'कर्मसम्पन्नवस्था' के भेद
 से कृत्ति-द्वार-श्रेता-सत्य इन चारों ही युगों से सम्बन्धित मान लिया गया है। यही एक तीव्र प्रकार की
 युगधर्मवस्था है जिसका ही धार्यनिष्ठाकारण में विशेष उदाहरण हुआ है। प्रत्येक मानव अपने पौरुष के द्वारा
 प्रत्येक युग को बड़ा 'सत्ययुग' बना सकता है यहाँ वही मानव अवस्थाकारण से सभी युगों में अपने
 शिष्ट कृत्ति द्वारदि-समी युगों का सम्बन्ध कर सकता है। तद्वित्य-प्रकृतिसिद्धा नित्य युगचतुष्टयी शासन-
 निवन्धना युगचतुष्टयी एवं कर्मोत्तममेदमिमा युगचतुष्टयी, भेद से चतुर्गुण्यवस्था त्रि-स्थाना
 प्रमाणित हो रही है।

३७-स्वनिष्ठा से पराङ्मुख मायुक भारतीय मानव की 'दुग्धधौतन्याय' मूला परत्र दोषस्थापनप्रवृत्ति का मस्तीमस इतिवृत्त-

इसमत्र विशेषरूपेण-अवधेयम्। जैसाकि प्रस्तावना के आरम्भ में निवेदन किया गया है-मारुतरु
 की मायुक-प्रजा विगत-भुक्त एवं प्रकृन्त त्रिहसकर्मत्मक युगों में अपनी प्रत्येक 'असफलता' का सम्पूर्ण
 दोष 'कलियुग' के प्रति ही अर्पित-कर्मित-करती हुई अपने आपकी पराङ्कृत 'दुग्ध-धौतन्याय' (२) से
 तयोक्त-पठनपरम्पर के प्रति दोषास्पृष्ट ही प्रमाणित करती आ रही है। इसी युगधर्मात्म्य से आब इत
 भारतीय-मायुक हिन्दू-मानव की माया मी लर्षा उच्चरदायित्व-शून्य ही प्रमाणित होगी है किष्ट शून्यता में
 आपाद-मस्तक निमग्नित हो जाने के कारण ही इस मानव में उक्त सीमापर्यन्त 'अप्यक्षित्व-विमोहन'
 अस्मिन्ना हो पड़ा है किन्तु सीमाकिन्तु पर पहुँचने के अनन्तर स्वदेशदर्शन की उद्बोधनात्मिका छद्म-प्रवृत्ति
 लर्षा ही अन्तमुक्त बन बाबा करती है। परिणाम-स्वरूप अक्षित्वविमुक्त ऐल मानव अपना कर्म ही दोष

(१) कृत्ति शयानो भवति, सञ्चिहानन्तु द्वारपः।

उचित्प्रेतैश्चैता भवति, कृत्तं सम्पद्यते धरन्, चरैवेति, चरैवेति।

—तेतिरीयमुक्ति

(२) 'दूष का धोया-मुमसिद्ध-सौभिकम्माज-(निरपराधी)

स्वीकार न करता हुआ कमी अपनी अस्तित्वता का दाव युगधम्म से समन्वित कर देता है तो कमी साधन-परिग्रही पर ।

३८-परदोषारोपणप्रवृत्ति में अनुप्राणित भारतीय मानव की व्यावहारिकी लोकभाषा का भावुकतापूर्णा स्वखलन—

निश्चयेन अपराध होता है भय इसी के प्रजापराध (नाममग्नी-अशुता) से किन्तु गौर लगाता है वह वृमरी पर । परन्तु दोषग्यापनाभिन्ना इस की यह दोषारोपणप्रवृत्ति विगत कतिपय-यतान्द्रिया से तो सीमा का स्वभा ही अतिरमण कर देती है । फलस्वरूप का दोषारोपणप्रवृत्ति पूर युगों में केवल मानवी के प्रति ही समर्पित होती थी, आगे खल कर तो वह मनोजीवी पशु-पक्षी-वृमि-कीटादि प्राकृत-यथाभात प्राणियों के साथ भी समन्वित हो पड़ी श्रीग अन्ततोगत्वा ता इस पद्धति का अङ्गणार्थों के साथ भी सम्बन्ध स्थापित हो गया । इसप्रकार भाग्य ईश्वर कलियुग अन्यमानय मनोजीवी प्राणीसंग, और अन्ततोगत्वा वृक्षपशु, आदि आदि अनेक प्रकृती में इस भारतीय मातृक मानव की, आचारस्युष्य अङ्गमर्णय, क्रिया विक्रमस्य क्रिया निरयककर्मस्य मानव की दोषपरम्पराएँ समन्वित होपड़ी एव तन्नुपात से ही इस में भाषा का भी आशयन्तिरूप से खलन ही हो गया ।

३९-भाषास्वखलन क कतिपय उदाहरण, एवं सत्प्रतिद्वन्दी नैष्ठिक उदाहरण—

'कलक' (काँ) से मानय अपने प्रहापराध से ही निद्र होता है । अतएव इसे कहना यही चाहिए या कि, 'मैंने मूल से फँटा चुभा लिया । किन्तु पूर्वान्यासानुगत भावुकतावश आज इस की भाषा बन गई है—'मैरे कौटा चुभ गया यह । मानो काँटा इच्छा ही कर रहा था इसके चुमने के लिए । इसीप्रकार 'मैरे पत्थर की ठोकर लग गई' वृक्षत्यागु (१) से मैं टफरा गया 'मॉपने मुझे काट लिया' आदि आदि रूप में सभी व्यवहार परलोत्थापनात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं जबकि इन सभी निदर्शनों में अपराधी स्वयं मानव ही बना हुआ है । और— 'मैंने पत्थर की ठोकर लगाली चन्द्र के दोप से इत्यादिरूपेण स्वदेय-स्वीकृति से पराह मुझ ही बन गया यह मातृक मानय । निश्चयेन इसी भयावहा भ्रान्ति से हमने अङ्गमर्ण-विक्रमार्ण अक अपने सभी दोषों को कमी ईश्वर के साथ समन्वित कर दिया तो कमी काल के प्रति । कमी खल स्वव्यपिका लता के प्रति तो कमी प्रवृत्तिस्त्रि कलियुग के प्रति तो कमी अन्यान्य क्षेत्रों के प्रति ।

४०-युगधर्मानुगत कालिक परिवर्णनों की सहजगति—

मानते हैं-भुक्त-प्रकाम्त पाँच सहस्र-युगों से प्रवृत्तिस्त्रि कलियुग का ही मोग हो रहा है । आर निश्चयेन अपर-भेदा-सत्य-युगधर्मी की अपेक्षा इस वर्तमान कलियुग में अङ्गमर्णप्रवृत्ति उत्तरोत्तर क्रमशः अन्तमुल ही बनती चारही है । किन्तु प्रवृत्तिस्त्रि इस कलियुग का जो परिमाण गणनकालानुक्त से शास्त्री में व्यवस्थित हुआ है उसे सम्मुख रखते हुए हमें यह मान ही जौना पड़ता है कि दिगदेशानुक्तानुसन्धिनी प्रजा का यह कालिक-परिवर्तन अत्यन्त ही सहजगति से हो रहा है ।

(१)-न क्षेप स्थायोरपराधः, यदेनमन्वो न परपति ।

व्यक्तिव्यवसायपर्यय, ज्ञानयत्किमुक्त विज्ञान-भाषण की अपनी इस संस्कृतिक-निष्ठ के संरक्षण के लिए प्राणपण से, प्रयासपूर्वक 'भाराजन्य' ही बना रहना चाहिए। क्योंकि वही इसके सांस्कृतिक-स्वरूप-संरक्षण का प्रमुख अवलम्ब है। अथवा दिग्देराकालनिष्पन्न याम्नात्मन्त्रायक सत्तात्पत्नी के प्रभाव से आभय से भाषण की असंख्य ही बना रहना चाहिए।

४६- 'संस्कृति' और 'सम्पत्ता' शब्दों से अनुप्रासिता प्रजापति की दो विभिन्न सृष्टियों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कारण स्पष्ट है। संस्कृति, और सम्पत्ता, दोनों शब्द सुपठित हैं। पाण्डीतिक महाविरच के सहा मनःप्रान्तात् मय विस 'प्रजापति' का आरम्भ में स्मरण किया गया है, उस की 'कृति' [रचना] को महिमा-भाषी में विभक्त मानी गई है। मुख्यतः प्राणायामिका-कृति ही उस प्रजापति की 'अन्तरङ्गकृति' है, एवं स्कन्धा 'बाह्य-कृति' ही उसकी 'बहिरङ्गकृति' है। शरी की सूक्ष्मकृति स्मृतकृति भी कहा जा सकता है। प्राणकृतिरूप सूक्ष्मकृति उस की रहस्य-पूर्वा 'परोक्षकृति' है, एवं नाड्यकृतिरूप स्मृतकृति उस की प्रत्यक्ष-कृति है। एक ही प्रजापति की कृति क्यो और कैसे दो महिमा-भाषी में परिकृत होगई, प्रश्न का वास्तविक उत्तरान 'अर्थ' इ वे प्रजापतेरत्नमनो मर्त्यमासीत्-अर्थमसृजम्' (एतपयत्तादयत्) इत्यादि कृतिवचन के रहस्यबोध पर ही अवलम्बित है।

४७- प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति का सम्मरण, एवं उस के असृज-मर्त्य-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

'प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का ही नाम प्रजापति है'। मनःप्रधान अम्बुपुरुष ही 'पुरुष' है विले 'मा'—रूप सत्यात्मक, आकाशात्मा भी माना गया है (१)। मनोमय इस अम्बुपुरुष की अन्तरङ्गा 'पर्य' प्रकृति ही 'अक्षर' है, और यह प्रजाप्रधाना है प्रणमयी है। एक बहिरङ्गा 'अपरा' प्रकृति ही 'क्षर' है और यह ब्रह्मप्रधाना है बाह्य-कृति है। मनोमय मनःप्रधान अम्बुपुरुष की वही प्रकृति रत्नाप्रधान्या-वत्त्वा में- 'असृजाप्रकृति' है वही 'असृजाक्षर' है (२)। एवं इसी पुरुष की वही प्रकृति कलाप्रधान्यावरवा में 'मर्त्याप्रकृति' है वही 'मर्त्यक्षर' है। इसप्रकार पुरुष की एक ही प्रकृति रत्नापुरुषकी 'प्राण' तथा यज्ञानुबन्धिनी 'वात्'—के मंत्र से क्रमशः असृज मर्त्य' इन दो विभक्त भावों में परिकृत होगयी है। प्रकृति के वे दोनों विभक्त ही क्रमशः प्राणायामिका सूक्ष्मकृति तथा आगात्मिका स्मृतकृति पूर्वोक्ता इन दोनों कृतिवों की प्रकृति बन रही है।

४८- पुरुषप्रजापति की रस-यज्ञानुबन्धिनी सोलाह कलाएँ—

आनन्द-विज्ञान-प्राण-वात्-गर्भित-मनःप्रधानक पञ्चकोशात्मक, पञ्चकल 'पुरुषरत्ना' ही- 'अव्ययवत्त्वा' है। प्रजा-विष्णु-इन्द्र-आग्नि-सोमार्थिक-मातृकाशक्ति पञ्चकलोनेला अमृता प्रकृति

(१)-मनोमयो ज्य पुरुषो मा', सत्यं, आकाशात्मा ।

—इ० ४५० १।६।१।

(२)-अमृतस्यैप सेतुः (अक्षर) —मुद्रक २७२।

ही 'अक्षररामा' है। प्राण - आप-शब्-अभाद्-अभात्मिका पञ्चकलोपेता मत्याप्रवृत्ति ही-स्यमा
 है। एव इन तीना कलात्मक कर्त्री से अतीत अमना-अप्राणामक (१) विरवातीत तत्व ही इन तीनों की
 स्वर कलात्मक का पूरक मालहर्षा निष्पन्न-निरञ्जन-परात्पर' है।

४६-पोडशकला-समन्वित पोडशी प्रजापति का मस्मरणा—

पञ्चरत्न मनोमय अक्षय्यपुरुष, पञ्चरत्न प्राणमय अक्षर (पराप्रवृत्ति) पञ्चकल वाह्यमय क्षर
 (अपराप्रवृत्ति) एव निष्कल परात्पर इन पोडश (सोलह) कर्त्री की छम्दि का नाम ही वह 'पोडशी-
 प्रजापति' नामक 'प्रकृतिविराष्ट प्रजापति' है जिस की प्रवृत्ति का अक्षरमक अक्ष माग अमृत है, एव
 क्षरमक अक्ष माग मर्त्य है।

५०-'नामदासीमो मदासीत्' मूलक मदमद्विलक्षण प्रजापति, और अनुगमवचन—

प्राणात्मक अक्ष अमृताक्षर-माग ही उसी का-'मदरूप' है, एवं वागात्मक अक्ष मत्य क्षर माग ही
 उसी का 'अमररूप' है। इन दोनों प्राकृत सत्सद्भायी का प्रथम क, अतएव सत्सद्भावात्मक (२), अतएव
 सत्, और अम् (अक्षर, और क्षर,) से असीत बनता हुआ-'नामदासीमो मदासीत्तदानीम्' (श्रु-
 सं १२२।१।) इत्यादि रूपेण सत्, और अक्षर, गीना से ही विलक्षणभावमाभ्यम से उपगीयमान प्रकृति-
 विशिष्ट यह पोडशीप्रजापति ही भूत-मयत्-मधिष्यत्, सब कुछ बन रहा है (१)। इसी की तपोक्ता सोलह
 कलाओं के आधार पर वहाँ-'पोडशकला' वा इन्द्र मधम (शत ११।२।१।२०) यह अनुगम सिद्धान्त
 प्रतिष्ठित है वहाँ परात्पर-अक्षय्य-अक्षर-क्षर-इन चार प्रमुख विषयों के आधार-पर 'चतुष्टय' वा इन्द्र
 मधम (शां भा १४।१) यह अनुगम प्रतिष्ठित है।

(१) —अप्राणो अमना शुभ्र -अक्षरात् परत पर (तस्मात् 'परात्पर')

(२) —अमृत चैव, मृत्युरथ, सदस चाहमजुं न ! (गीता)

अक्षरापक्षया स एवाव्ययः सत्, क्षरापक्षया च स एव असत् इति निष्कर्ष ।

(३) क-यस्मान्न ज्ञात परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।

प्रजापति प्रक्षया सरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स पोडशी ॥

—यजु संहिता ८।३६।

सु-यस्माज्जात न पुरा किञ्च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा ।

प्रजापति प्रक्षया सरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स पोडशी ॥

—यजु सं० ३२।५।

ग-प्रजापते ! न चदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव ।

यत्क्षमास्ते जुहुमस्तन्नो वर्यं स्याम पतयो रयीषाम् ॥

—यजु सं० १०।२०।

संस्कृतत्वविमर्शपरामर्श ज्ञानरहितपुरुष विद्वान्-ज्ञानप को अपनी इस संस्कृतिक निष्ठा के संरक्षण के लिए प्राणपण से, प्रयासपूर्वक 'आराधन्य ही बना खना चाहिए। क्योंकि यही इसके संस्कृतिक-स्वरूप-संरक्षण का प्रमुख अंगत्व है। अर्थात् दिग्देशकालनिश्चयन शासनवन्नामक सप्तातन्त्रों के प्रभाव से आभय से भास्य को अंतःसृष्ट ही बना खना चाहिए।

४६- 'संस्कृति' और 'सम्पत्ता' शब्दों से अनुप्रासिता प्रजापति की दो विभिन्न सृष्टियों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

कारण स्पष्ट है। संस्कृति और सम्पत्ता दोनों शब्द सुप्रसिद्ध हैं। पाश्चात्तिक महाभारत के अष्टा मनःप्राणवाह मय जिस 'प्रजापति' का आरम्भ में स्मरण किया गया है उस की 'कृति' [रचना] दो महिमा भावों में विभक्त मानी गई है। सुवर्द्धना 'प्राणात्मिका-कृति' ही उस प्रजापति की 'अन्तरङ्गकृति' है एवं स्वल्पा वाह-मयी-कृति' ही उसकी 'बहिरङ्गकृति' है। इनकी की सूक्ष्मकृति सूक्ष्मकृति भी कहा जासकता है। प्राणकृतिस्मा सूक्ष्मकृति उस की उत्सव-पूर्णा 'परोक्षकृति' है एवं बाह्यकृतिस्मा सूक्ष्मकृति उस की प्रत्यक्ष कृति' है। एक ही प्रजापति की कृति क्यों और कैसे दो महिमा भावों में परिणत होगी! परन्तु का वास्तविक समाधान 'अर्थ' इ वे प्रजापतेरत्समो मर्त्यमासीत्-अर्थममृतम्' (शतपथब्राह्मणे) इत्यादि मुक्तिवचन के उत्सवोप पर ही अबलम्बित है।

४७- प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति का संस्मरण, एवं उस के अमृत-मर्त्य-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का ही नाम प्रजापति है। मनाप्रधान अमृतपुरुष ही 'पुरुष' है जिसे 'भा'-रूप सत्यरत्मक, आकाशात्मा भी माना गया है (१)। मनोमय इस अमृतपुरुष की अन्तरङ्गा 'पय' प्रकृति ही 'अक्षर' है और यह प्राणप्रधाना है प्राणमयी है। एक बहिरङ्गा 'अपरा प्रकृति ही 'वर्' है और वह बाह्यप्रधाना है बाह्यमयी है। मनोमय मनःप्रधान अमृतपुरुष की बही प्रकृति क्लृप्तावन्त्याकस्या बरथा में- 'अमृताप्रकृति' है बही 'अमृताक्षर' है (२)। एवं इसी पुरुष की बही प्रकृति क्लृप्तावन्त्याकस्या में 'मर्त्याप्रकृति' है यही 'मर्त्याक्षर' है। इत्यन्तर पुरुष की एक ही प्रकृति रसानुबन्धी 'प्राण' तथा बलानुबन्धी 'वाक्'-के मेष से क्रमशः अमृत मर्त्य इन दो विभक्त भावों में परिणत होगी है। प्रकृति के वे दोनों विभक्त ही क्रमशः प्राणात्मिका सूक्ष्मकृति तथा बागात्मिका सूक्ष्मकृति पूर्णका इन दोनों कृतियों की प्रवर्तिका बन रही है।

४८- पुरुषप्रजापति की रस-बलानुबन्धीनी सोलह कलाएँ—

भानन्द-विद्यान-प्राण-बान्-गर्भित-मनस्त्वन्ममक पञ्चकोशात्मक पञ्चकल 'पुरुषात्मा' ही- 'अमृत्यात्मा' है। ज्ञाना-विद्यु-इन्द्र-अग्नि-सोमार्त्समका-माहवन्नाशिमका पञ्चवस्त्रोपेता अमृता प्रकृति

- (१)-मनोमयो ज्य पुरुषो मा, सत्यं, आकाशात्मा।
- (२)-अमृतस्यैव सेतुः (अक्षर) —मुद्रक १२।१।

५२-बोहशीपुरुषप्रजापति की अभ्यय अक्षर-क्षर-मूला माय-गुण-विकार निबन्धना त्रिविधा सृष्टि का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन—

सिक्तस्य गतिरिन्तनीया । प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति का मन-प्रधान अभ्ययभाग (पुरुष) ही प्राणाफत्या सृष्टि का 'किंस्विदासीदधिष्ठानम्' (१) मूलक 'अधिष्ठान (आलम्बनकारण)' है । इस मूलाभ्ययपुरुषाधिष्ठान का नाम ही- समब्रह्म है । इस समब्रह्म (अभ्ययपुरुष) पर 'अधिष्ठित' प्राणप्रधान अक्षरभाग (अभ्ययपुरुष की 'परा' नाम की-अन्तरङ्गप्रकृति) ही सृष्टि का- 'कयासीत्' मूलक 'असमायायिकारण (निमित्तकारण)' है । एवं इसी समब्रह्म पर प्राणमय अक्षर के माध्यम से 'प्रतिष्ठित' क्षरभाग (अभ्यय-पुरुष की-अपरा नाम की 'यद्विरङ्गप्रकृति') ही सृष्टि का- 'आरम्भणं कृतमित्स्वित्' मूलक- 'आरम्भण' ('समयायिकारणात्मक उपादानकारण') है । इन तीनों कारणों से अभिव्यक्त-व्यक्त-प्रसूत (२) प्राणापत्यसर्ग इन तीन 'आत्ममहिमा' मायों के अनुबन्ध से त्रिधा विभक्त हो रहा है, जो कि तीनों सग क्रमशः भास्वरग (अव्ययात्मक) गुणसग (अक्षरात्मक), एष विष्कारमग (क्षररत्मक) नामों से प्रसिद्ध हैं । मनोमय-अभ्यय से अनुप्रेरित मायसग ही प्रजापति की 'अकृतिरूपा-सूक्ष्मतमा अद्विसृष्टि' है जिसना- 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एष पृथग्विधा' (३) (गीता १.१५) इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है । यही- 'मानसीसृष्टि' है यही- 'पुरुषमृष्टि (अव्ययसृष्टि)' है । प्राणमय अक्षर से अनुप्राणित गुणसर्ग ही प्रजापति की 'आभ्यन्तरकृतिरूपा सूक्ष्मा 'दशसृष्टि' है । एष वाच मय क्षर से समन्वित (४) विकारसर्ग ही प्रजापति की 'याद्विरङ्गप्रकृतिरूपा-स्यूला-मूत्सृष्टि' है । इन तीनों में मायात्मक सर्ग पुरुषसर्ग हैं, एवं-गुण-विकार-नामक दोनों सर्ग अक्षर क्षर, नाम की परा-अपरा प्रकृतियों के द्वारा क्रमशः अनुप्राणित तथा समन्वित होते हुए- 'प्राकृतिकसग हैं जिन्हें लक्ष्य बना कर ही भगवान् साधुदेवहृद्भजे कहा है-

प्रकृतिं, पुरुषं चैव विद्वधनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्वि प्रकृति-सम्भवान् ।

—गीता १३.१६।

(१)-किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भयां कृतमित् स्वित् कयासीत् ।

—श्रुत्संहिता

(२) अभ्यय के द्वारा अभिव्यक्त, अक्षर के द्वारा व्यक्त, एवं क्षर के द्वारा प्रसूत ।

(३) महर्षयः सप्त पूर्णं चरवारो मनबस्तथा ।

मद्भुमावा मानसा जाता येषां लोका इमा प्रजाः ॥

—गीता १०.१।

(४)-अभ्ययात्मक मन से 'प्रेरित' अक्षरात्मक प्राण से 'अनुप्राणित' एवं क्षरलिपिका वाक् से 'समन्वित' ।

५१-प्रजापति की 'समम्राज्ञता', तदनुबन्धी 'सम्' उपसर्ग, एवं तन्निबन्धन-समता-समन्-
साम्य-एकीभाव-आदि समन्वयप्रतिपादक शब्द—

उक्त प्राबापत्य-स्वरूप के द्वारा प्रकृत में यही निवेदनीय है कि, प्रकृति-विशिष्ट पुरुष (अम्बयात्मा) ही सर्वत्र स्रष्टा भूतों में 'समवस्थित' (१) बना रहता हुआ 'समम्राज्ञ' (२) नाम से प्रसिद्ध है। अपने अरुणिकबन्-बाह्य-मय-मार्ग, अतएव नानामात्रापत्र भीतिक-१) अरुणिक से दिग्देशकालात्मक भीतिक पदार्थ विभिन्न-आत्रापत्र है अनेक मावाकाल है (४)। इन विभिन्नों में विभक्तों में अनेकों में अविभिन्न-अविभक्त-एकरूप से प्रतिष्ठित रहना ही अम्बवपुरुष का 'समम्राज्ञत्व' है (५)। इसी आधार पर व्याकरणशास्त्र का सुप्रसिद्ध 'सम्' उपसर्ग एकीभाव का ही वाचक माना गया है और कि-समित्येकीभावे' से स्पष्ट है। एकमात्रात्मक, सर्वत्र समरूपेण अत्रस्थित 'अव्ययेश्वर' नामक समम्राज्ञ का उपाह्वय एकीभावात्मक यही 'सम्' उपसर्ग प्रमाणित हो रहा है। अतएव यत्र यत्र शास्त्र में अब भी कहीं की अविभक्तता व्यक्त करनी होती है, तत्र तत्र सर्वत्र 'सम्' उपसर्ग ही सम्पत्तिकर कर दिया जाता है। संस्कृति-संस्कार-संस्कृत-इत्यादि सुप्रसिद्ध शब्दों में पठित 'सम्' उपसर्ग 'समम्राज्ञानुगता' इस समता का 'समत्व' का 'साम्य' का 'एकीभाव' का ही उपाह्वय बन रहा है। देया वाचिकी-स्थितिः।

(१)-समं पर्यन् हि सर्वत्र 'समवस्थित'-मीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मान, ततो याति परां गतिम् ॥

—गीता १३।२८।

(२)-इद्वैव तैर्वितः सर्गो येषां साम्ये मनः स्थितम् ।

निर्दोष हि 'समम्राज्ञ' तस्माद् अद्याश्चि, ते स्थिताः, ॥

—गीता ४।१६।

समं सर्वेषु भूतेषु सिष्टन्तं परमेश्वरम् ।

बिनश्यत्स्वबिनश्यन्त यः पर्यति, स पर्यति ॥

—गीता १३।२७।

(३)-अरः सषास्त्रि भूतानि (गीता)

(४)-मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पर्यति ।

—(उपनिषत्)

(५)-अविभक्त विभक्तोषु विभक्तमिष च स्थितम् ।

भूतमर्हं च तन्क्षेपं प्रसिष्यु प्रमविष्यु च ॥

—गीता १३।१६।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।

अविभक्त विभक्तोषु उन्ञ्जानं विद्धि साच्चिदम् ॥

—गीता १८।२०।

५५-अक्षरानुबन्धी-दैवभावानुगत-प्राणात्मक सूक्ष्म विज्व का संस्कृतिच्च, चरानुबन्धी-भूतभावानुगत-वागात्मक म्भूल विरव का सम्यताच्च, एवं मित्र-ब्रह्म-प्रतिरूप ब्राह्मण के द्वारा 'संस्कृति' का, तथा क्षत्र-चरुण-प्रतिरूप सत्तातन्त्र के द्वारा 'सम्यता' का सम्भावित-सरवण—

प्रभापति का मनोगर्भित प्राणामञ्ज सुवृद्धम स्नातन आधिभित्तक विरव ही-‘संस्कृति है एव इही का मनाप्रानगर्भित-बाग्यमञ्ज स्थूल-परिपत्त नशील आधिभौतिक अगत् ही सम्यता है एवं यही पूर्वोक्त-प्रकृतिविशिष्ट पुरणप्रभापत की इन दोनों सुप्रसिद्धा अमृता-मृता वृत्तियों का संक्षिप्ततम स्वरूप-समन्वय है बिम मय्यय बनाए बिना प्रतिगत-तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्व्य’ इस महामाद्ब्रह्मिक उद्बोधनसूत्र का समन्वय सम्भव ही नहीं है। संस्कृति और सम्यता शब्दों से अनुप्राणित अधिदेवत और अधिभूत को लक्ष्य बनाए, एव तथाकार पर ही ब्रह्म उद्बोधनसूत्र-समन्वय का निःशेष अनुग्रह कीजिए। ‘नान्य’ पन्था विद्यत अप्रनाय। सुरस्य आरा निशिता दुरत्यया दुग् पथस्तत् कथयो वदन्ति’।

प्रतिविशिष्ट पुरणप्रभापति की अक्षरानुबन्धना लिया वृत्ति ही नित्याद्यसंस्कृति’ है, एव क्षर वाग्निस्वरुपना अनित्य (परिपत्त नशीला) कृति ही ‘अनित्या भूतसम्यता है। इन दोनों महत्-सिद्ध संस्कृति, सम्यता-रूपा द्य-भूय-कृतियों के आधार पर ही भारतीय श्रुतिप्रका के द्वारा ‘भारतीय-संस्कृति तथा ‘भारतीय-सम्यता नामक दोनों वस्तुओं की स्वरूप-व्यवस्था हुई है। जिसप्रकार प्रकृतिबगत् में ‘संस्कृतिरूपा-द्वैत का उत्तरदायित्व मनस्कन्नामक अनुभावपत्र-ज्ञानशक्तिप्रधान मित्रब्रह्म पर अवलम्बित है एवं जिसप्रकार ‘सम्यतारूपा-सूतकृति’ का उत्तरदायित्व मनोगर्भित-माणतन्त्रामक-दृष्ट-भावात्म-क्रियाशक्ति- (पौरुषशक्ति)-प्रधान ‘वरेणक्षत्र पर आभित है ठीक इसीप्रकार-‘द्वाननुविद्या वै-मनुष्या’-‘यद्वै यथा अकुपस्तम् करयाणि’-‘प्रह्लादयदधिकृति कर्त्तव्या’-‘पूणमञ्ज-पूणमिदम्’-‘यदमुत्र तदन्विह-पयाएह-तथा पियडे हत्यादि के अनुसार मित्रब्रह्म के प्रतिरूप ब्राह्मण के उत्तरदायित्व पर देवकृति की प्रतिरूपा ‘संस्कृति का तथा वरुणाक्षत्र की प्रतिरूपा सम्यता के उत्तरदायित्व पर भूतकृति की प्रतिरूपा ‘सम्यता’ का उत्तरदायित्व समर्पित हुआ है तत्ववेत्ता महामहर्षियों के द्वारा।

५६-सत्त्वानिरपेक्षा ‘संस्कृति’, एवं सत्तासापेक्षा ‘सम्यता’, तथा संस्कृति की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठिता-व्यवस्थिता सम्यता के प्रति ही सत्तातन्त्र के व्यवस्था-सञ्चालन-मात्र का उत्तरदायित्व—

अतएव ब्राह्मण को हम जहाँ संस्कृति का अधिष्ठाता मानेंगे वहाँ सत्तातन्त्र को सम्यता का ही संरक्षक कहेंगे। और इसी आधार पर ‘संस्कृति शब्द को जहाँ सत्त्वानिरपेक्ष’ कहा जायगा वहाँ ‘सम्यता शब्द को ‘सत्तासापेक्ष’ माना जायगा। अतएव क्या और मान लिया जायगा कि ब्राह्मण के ‘संस्कृतितन्त्र में सत्तातन्त्र अन्विष्टि मी हस्तक्षेप नहीं करसकेगा। अपितु इस सत्तातन्त्र का एकमात्र यही कच व्य होगा कि ‘यह संस्कृतिनिष्ठ-ज्ञानविज्ञाननिष्ठ-प्रकृति-रहस्यवेत्ता ब्राह्मण की संस्कृति के आधार पर निर्णीत

५३-माघसृष्टि का असृष्टिच, एय गुण-विकार-सृष्टियों का सृष्टिच, तथा प्रजापति की दो विभिन्न कृतियाँ—

मात्र गुण विकार (१) नाम की पूर्वाज्ञा प्राणात्म्या सृष्टिययी ही प्रजापति की-‘कृति’ है। इन दोनों कृतियों में पुरुषमूला (अव्यय नामक समग्रज्ञ से प्रेरिता) प्रथमा ‘माघकृति (माघसृष्टि) असृष्टिरूपा ही मानी गई है वैवाकि-‘न करोति न लिप्यते’ (गीता) से स्पष्ट है। अतएव अकृतिरूपा इस मनोमयी माघात्मिका सृष्टि को हम सृष्टिमार्थ्यासे से असंसृष्टा ही मानेंगे। ऐसी अकृत्या में अथ अक्षर-धर-मूला गुण-विकारात्मिका दो कृतियाँ ही-‘कृति’ शब्द की अधिकारिणी रह जाती हैं। अतएव अथ इन दो को ही ‘कृति’ किया-सृष्टि’ कहा जायगा।

५४-समग्रज्ञानुगता दशभावात्मिका अक्षरप्रकृतिनिबन्धना-अधिष्ठितमावापका ‘संस्कृति’, एव वागप्रज्ञानुगता-भूतभावात्मिका अक्षरप्रकृतिनिबन्धना अधिभूतमावापका ‘सम्यक्ता’ शब्दों का तत्त्वार्थ—

उक्त दोनों कृतियों में अक्षरात्मिका ‘प्राणकृति ही वैवकृति (वैवसर्ग) है वही अक्षररूपा अमृत-सनातना नित्यासृष्टि है विरक्त अक्षरात्मक-अव्यक्त-अमृत अनाद्यनन्त-अनन्तकाल से ही सम्बन्ध माना गया है। एव इस अक्षरात्मिका अधिष्ठितमावापका प्राणसृष्टि को ही तत्त्ववेदाग्नेय ‘समग्रज्ञ (अव्यय) की ‘प्रमुख कृति’ माना है। वृक्षी अक्षरत्मिका वाक्कृति’ ही-‘भूतकृति’ है वही अक्षर-पा मर्त्या-परिवर्तन-शीला-अनित्यासृष्टि है विरक्त अक्षरत्मक अक्षर-मूत-साधिसाध दिग्देशकाल से ही सम्बन्ध माना गया है। इसी सम्बन्ध के कारण विकागत्मिका यह वृक्षी मर्त्या-मूला-भूतसृष्टि-वाक्पा (अधिभूतात्मिका) ‘विरक्त सृष्टि’ ‘समात्मिकासृष्टि’ (प्रकृतसृष्टि) मानी गई है। ये दोनों प्राकृत-सृष्टियाँ ही तत्त्वपरिमायानुसार क्रमशः सम्स्कृति और सम्यक्ता नामों से व्यवहृत हुए हैं। समग्रज्ञ की अक्षरात्मिका नित्या अनन्ता कृति ही ‘मम’ के अघाहक सम्’ की कृति बनती हुई वहाँ ‘संस्कृति’ है वहाँ अक्षर-म-विरक्त-अक्षर-समाभावानुबन्ध से प्रत्यक्षा अनित्या अदिशान्ता कृति ही ‘विरक्तसमा’ माय्यमेन-‘सम्यक्ता’ कहाई है। अतन्त ही अक्षरिगम्य है इन दोनों वास्तविक शब्दों का चिरन्तन-इतिवृत्त विरक्तके स्वीकरण के लिए ही माननामाने अपने उत्तर दायित्व पर सहसृष्टात्मक एक स्वतन्त्र-निरक्त उपनिबन्ध किया है (२)।

(१)-किया-मानसी-प्राणात्मिका-वाहसयी-सृष्टित्री

किया-अव्यय-अक्षर-धर-मूला-सृष्टित्री

किया-पुरुष-प्रकृति-विहृति-मूला सृष्टित्री

किया-श्रुति-देव-मूत-मूला सृष्टित्री

किया-सूक्तमा-यज्ञमा-मूला-सृष्टित्री

(२)-“सत्तानिरपेक्ष संस्कृति शब्द अथ एवं सत्तासापेक्ष सम्बन्धा शब्द अथ चिरन्तन इति-मूत, तथा भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा’ नामक सहसृष्टात्मक स्वतन्त्र निबन्ध।

संस्कृतिसूत्रक आदिय (शास्त्र) के सनातन-प्रवृत्तिविद्-कृत धर्मों का ही नामान्तर-‘धर्म’ हुआ शिव दास है। इसी आधार पर हम-संस्कृति-साहित्य-धर्म-तीनों को अभिप्रायक ही मान सकते हैं बिन इन तीनों अभिप्रायक तत्त्वों का विन्तनासर्वाधिक सरकृतिक-ब्राह्मण से ही अनुपाणित माना गया है।

५६-‘नीति’ की स्वरूप-परिभाषा, धम्मानुगता ‘नीति’ का ‘नीतिपथ’, धर्मनिर-पेक्षा ‘नीति’ का ‘अनीतिपथ’, तद्द्वारा राष्ट्रस्वरूपप्रतिष्ठोच्छेद, एष धर्म की परमता—

प्रवृत्तिविद् सुयुक्त विधि-विधानों की समष्टिरूप संस्कृतिक-धर्म का दिग्देशकालानुक्रमी सामयिक-अभिव्यक्त स्वरूप ही ‘नीति’ है, जिसका सामाजिक-सम्प्रदाय से ही सम्बन्ध है, जिसका कि सत्कालक सत्काल ही माना गया है। यह सधर्मरणीय, एवं सधर्मा अभिस्मरणीय है कि, सत्कालानुगत नीतिविद्य तमीतक ‘नीति’ उपाधि का अभिप्राय बना रहता है जबतक कि हमारा आधार (प्रतिष्ठा) संस्कृति साहित्यमूलक पूर्वोक्त ‘धर्म’ बना रहता है। ‘धर्म’ सापेक्ष नीतिविद्य ही यहाँ ‘नीतिपथ’ माना गया है। जो नीति धर्म की उपेक्षा कर देती है, दूसरे शब्दों में अपने सत्कालानुगत से अभिभूत जो सत्काल ही प्रवृत्तिविद् धर्म को निरपेक्ष मान बैठने की भयावहा मूल करता हुआ, मूढ-दिग्-देशकालानुगता सत्कालिकी सम्प्रदाय के आवेश से आविष्ट होता हुआ व्यक्त-पर-प्रतिष्ठात्मक व्यामोहन में आवृत्त हो जाता है, निश्चयेन उसकी धर्मनिर-पेक्षा, किंवा धर्मविरोधा नीति अनीतिरूप में परिवर्तित होती हुई उग्रस्वरूप की विध्वंसिका ही बन जाता करती है, ‘वस्मात्-धम्मात् परं नास्ति (शतपथ१४।१।२६)।

६०-सत्कारिपेक्ष ब्राह्मणवत् ‘धर्मनिरपेक्ष सत्कालानुगता’ रूपा महती समस्या का आविर्भाव, एष सत्कारिपेक्ष-प्रयास—

धर्म और नीति के इस प्रासंगिक-अनुक्रम के माध्यम से ही एक नवीन प्रश्न अभिव्यक्त हो जाता है जिसका समाधान किए बिना प्रतिष्ठावत् उद्योगवत् अगताय ही बना रह जाता है। यह स्पष्ट किया गया है कि, संस्कृति तन्मूलक साहित्य उद्योग-विधानात्मक धर्म, तथा अनुपासक ब्राह्मण को धम्मानुगामी नीतिपथानुक्त सत्कालानुगता से निरपेक्ष ही बना रहना चाहिए। इसी समान-धर्म-नियमानुक्रम से क्या सत्काल की भी धर्म से निरपेक्ष नहीं बना रहना चाहिए?। दूसरे शब्दों में-संस्कृति, साहित्य धर्म और उद्योगवत् ब्राह्मण यदि सत्कारिपेक्ष है, तो क्या सभ्यता नीति, और उद्योगवत् सत्कालानुगता (शासनवत्) की भी संस्कृति-साहित्य तथा धर्म के प्रति निरपेक्ष नहीं बन जाना चाहिए?। यही वह महत्वपूर्ण समस्या है जिसका विगत-भूत प्रश्न हीन सहस्र वर्षों की अवधि में न तो राष्ट्र का विकास ही इस दुर्घटना समस्या का समन्वय कर पाया है एक न सत्काल ही इस विपत्तिपति का निराकरण कर सके है।

व्यवस्थित (१) संस्कृतबनुगामिनी सम्प्रदा के विधि-विधानों को ही साम-शाम-दरद-भेद-माध्यम से राष्ट्रप्रभा के द्वारा व्यवस्थापूर्वक अनुगमन कराया रहे एवं स्वयं भी अनुगामी बना रहे ।

५७-संस्कृति-स्वरूप-विरलेपक शास्त्र, तमिष्ठ सांस्कृतिक प्राज्ञाय, तद्द्वारा श्रुति-स्मृति-पुराण-माध्यम से संस्कृति-वदाचार-सदायोजन-त्रयी का व्यवस्थापन, एवं तत्सर्व सचातन्त्र के हस्तक्षेप का निरोध—

संस्कृति का स्वरूप-विरलेपक सनातनशास्त्र ही 'भतिशास्त्र' कहा गया है । तदनुकर्ता शास्त्र ही 'स्मृतिशास्त्र' माना गया है । एवं तमयशास्त्रस्वरूपोक्त इह इतिहास-पुराणात्मक शास्त्र ही-पुराणशास्त्र' कहा गया है । इस प्रकार प्रक्रमभेद से एक ही संस्कृतिक-सनातनशास्त्र के श्रुति-स्मृति-पुराण-नामक तीन शास्त्रविषय सम्पन्न हो रहे हैं । तिन इन तीनों के माध्यम से ही क्रमशः उसी तत्त्ववेत्ता प्राज्ञ के द्वारा संस्कृति-सांस्कृतिक-आचार-सांस्कृतिक-आयोजन-इन तीन अभिध्यात्मक संस्कृतिक स्मृतियों का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है । इसी दृष्टि से अथ संस्कृति और साहित्य (श्रुति-स्मृति-पुराणात्मक शास्त्रशास्त्र), दोनों को अभिधायक ही माना जा सकता है । माना गया है । शब्दशास्त्र ही स्वरूप शास्त्र ही भारतीय-संस्कृति का प्रतिरूपरूपक प्रतीक माना गया है । अतएव संस्कृतिरूप इस साहित्य को मूलव्यवस्था के समानात्मक सचातन्त्र के हस्तक्षेप से खया अस्तित्व ही माना गया है ।

५८-संस्कृतिमूलक-‘धर्म’ की स्वरूप-परिमाणा, एवं संस्कृति, साहित्य (शास्त्र), तथा धर्म-तन्त्रों की अभिधायकता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिसिद्ध-सनातन-विधि-विधानों के आचार पर ही प्राकृत विरत का एवं तद्दार्मीयता अतएव श्रुति-विधा (२) मूलमौलिकी प्रभा का कर्तव्यधर्मरूपक स्वरूप व्यवस्थित हुआ है । यही स्वरूप-स्वरूपक प्रकृतिभेदमिद कर्तव्यधर्म क्योंकि तत्त्वं प्राकृत ब्रह्म-चेतन-सर्वार्थों प्रकाशों के द्वारा 'मूल' बनाया हुआ है । स्व-स्व-स्वकर्ता में वारण किए हुए है । अतएव इस प्रकृतिसिद्ध शास्त्रसिद्ध कर्तव्यधर्म की ही-‘धर्मिका मूल’ सम्प्र धर्मियार्थ धारयति स्व-स्वरूपे' इति निर्वाचन से-‘धर्म’ कहा जाता है (१) । तद्विरत-

(१)-एकोऽपि धेदविदुर्धर्मो य व्यवस्वेदुद्धिजोचमः ।

॥ विज्ञेयः परो धर्मो नामानामुचितोऽप्युतैः ॥

—मनुः १२।११३।

(२)-लता-गुह्य-बस्ती-लक्षार-बोधवि-वनत्यति-क्यदि आदि पदार्थों की समकिसम एकविध (एक जातीय) १-सतम्बसर्ग १-कृमि २-कीट ३-पक्षी ४-पशु ५-मनुष्य-मैदमित पञ्चविध चेतनसर्ग एवं १-ब्राह्म-२-प्राजापत्य-३-वीर्य-४-प्रेत-५-गन्धर्व-६-पिराण-७-मङ्ग-८-राक्षस विभिन्न अश्विच वेद्योनिस्तग इन बीस प्रकार के प्रकाशों का नाम ही-‘अतएव शविष-मूलसर्ग' है ।

(३)-भारखासुर्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।

यस्याद्धारपासयुक्त स 'धर्म' इति निश्चय ॥

—पुराणो

है, उन सभी का सम्मिलित 'साम्यतानुगत' मतयादों से ही सम्बन्ध है, जिन इत्यमत, दास्ताप्रयत्न क मतवालों से राष्ट्र-चिन्ता शीघ्र 'निरपेक्ष' बन जाय, एवं इसी निरपेक्षता के बल पर यह चिन्ता शीघ्र आस्थापरिपूर्ण ज्ञानयिज्ञानात्मक शास्त्रवचनार्थक प्रति प्रणतमाय से मापेय बन जाय, इसीमें इसका अभ्युदय, तथा निःशयम् है। क्योंकि मानवीय-बन्धनाओं से आन्तःसृष्ट ज्ञानयिज्ञानसिद्ध प्रकृतिप्रेरित-मिथ शास्त्रवचनार्थक को ही दार्शनिकोंने अभ्युदय, निःशयम् का एकमात्र समाधक माना है—'यतोऽभ्युदयनिःशयो मसिद्धिः, स धम्मः (पंशेपिक-इत्यं) ।

६४—ब्राह्मण की 'निरपेक्षता' का तात्त्विक समन्वय, एवं निरपेक्षतामूलक साहित्य से ही संस्कृतिनिष्ठा का सम्भावित-सरचया—

निरपेक्षता का क्या अर्थ है ? प्रश्न का तत्त्वसम्मत एकमात्र यही समाधान है कि, संस्कृति—साहित्य—धर्म—निष्ठ विद्वान् को कभी सत्ता का वैसा आभव नहीं प्रदृष्ट कर लेना चाहिये, जिससे इसकी संस्कृतिक निष्ठा सो होबाम अभिभूत एवं तालयान में सत्ता की साम्यताएँ ही बन बैठे इसकी संस्कृति। कदापि इस निरपेक्षता का यह तात्पर्य नहीं है कि सत्ता अपनी इच्छानुसार यथेच्छ व्यवस्थाएँ करती रहे श्रीर संस्कृतिनिष्ठ इनका समर्थन करता हुआ इनसे उदासीन ही बना रहे। इतिहास साक्षी है कि, पुरापुराणों में जब जब भी अशुभ घन, राक्षस, कर्म, आदि के सत्ताकार्योंमें 'अनीतिपर्यो' को ही 'नीतिपर्य' मानना मनवाना आरम्भ कर लिया था तब तब ही राष्ट्र के विद्वान् ने ही उनका न केवल प्रचण्ड विरोध ही किया था, अपितु प्रशासन से उन कार्यों का उन्मूलन ही कर लिया था। 'साक्षी' जिस सीमापर्यन्त 'कृता के प्रति निरपेक्ष बना रहता है, वही निरपेक्षता यहाँ अभिप्रेत है।

६५—ब्राह्मण की सत्तातन्त्र के प्रति निरपेक्षता का, तथा सत्तातन्त्र की ब्राह्मण के प्रति सापेक्षता का समन्वय, एवं समस्या का निराकरण—

अब उक्त प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिये, जिसके द्वारा सत्तातन्त्र की सापेक्षता का इन्हें उपरिधत होपका था। जिसप्रकार ब्राह्मण 'धरातन्त्र' रहता है क्या उसीप्रकार राजन्य अर्थात् सत्तातन्त्र भी 'आब्राह्मण', अर्थात् 'आब्राह्मणनिरपेक्ष' बन जाय ? जिसका कलितार्थ निकलता है—संस्कृति साहित्य, धर्म धम्म के प्रति निरपेक्ष बन जाना। नहीं, कदापि नहीं। क्यों ?। इसलिए कि 'मित्रब्रह्म' बड़ा स्वस्वरूप से स्वयं प्रतिष्ठित रहने में समर्थ है बड़ा 'वक्रणक्षत्र' बिना मित्रब्रह्म के क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रहसकता। ज्ञान स्वस्वरूप से सुपरिष्ठित है किन्तु 'धर्म' तो बिना ज्ञानाधार के प्रष्ट ही नहीं होसकता (१)। अतएव स्पष्ट है कि, ब्राह्मणतन्त्र को सत्तातन्त्र के बिना भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह सका है रहता ही है। किन्तु सत्तातन्त्र कभी इसे निरपेक्ष बनाकर न तो स्वस्वरूप से ही प्रतिष्ठित रह सका एव न समृद्ध ही बन सका वैसाकि स्वयं भू-व्यवहारों के द्वारा पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है।

(१)—ज्ञानजन्या भवेद्विच्छा इच्छाजन्या कृतिर्मणेत् ।

कृतिर्जन्यं भवेत्कर्म तदेतत्कृतमुच्यते ॥

—प्रसिद्धसूक्तिः

६१—संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण्य की निरपेक्षता के सम्बन्ध में भाषुक-विद्वानों की महती भ्रान्ति, एवम् तन्मूला आपातरमणीया 'राजभक्ति'—

वर्तमान सषट्त्रय-एतदत्र-सत्तातत्र से पूर्व की मिटिरासत्तातत्र पर्यन्त अनुक-दाख्तापूर्णा एव भिन्नों से मारतव्य के धर्माभिनिधि धर्ममीय (मत्वादाभिनिधि (१) धर्मनिष्ठ नहीं) उपदेशक, महम्महो-पदेशक धर्मप्रचारक (मत्वाद्प्रचारक) विद्वानों से ऐय कुल उद्घोष सुना जाता था कि—“इमत्त राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु हमें तो (राजभक्ति से आश्लोमऋषः आनसामेभ्य समी-प्युत रहते हुए) केवल धर्म का ही प्रचार करते रहना है । क्या उच्चानिरपेक्षता का यही अर्थ है !। उच्चतत्र ध्येन्दु करता करता गै विद्वान् प्रणतमान से न केवल इस ध्येन्दाचार के प्रति उत्तर ही को र्थे अपितु शास्त्रों के क्लपर इन ध्येन्द्रों को ही राजभक्ति के आदेश में 'शास्त्रसिद्ध' प्रमाणित करते रहे क्या भुक्तिविदा उच्चानिरपेक्षता का यही अर्थ है !। अन्नधर्मम् ! अन्नधर्मयम् !।

६२—ज्ञानविज्ञानसिद्ध, प्रकृतिसम्मत, सनातन-ईश्वरीय 'धर्म', तथा मानसिक-मान्यतानु-बन्धी युगधर्मात्मक 'मत', एवं दोनों का आत्यन्तिक पाषण्य —

वित्पद्यार्गमिता लोकैपना के म्मामीहनाकर्षण से अनुमाणित्य उच्चतत्र की सापेक्षतानुगत आश्रयता से लोकैपयार्गमिता वित्पया के विकर्षण से अमिष्ण्डा वैरयत्न की आश्रयता से एकमेव अन्त्यान्य मी करक विरोधों से अब माननीय प्रमा तपोहता 'धर्मनिष्ठा' से पराङ्मुख हो जाती है तो इसके अप्यायतत्र की दिग्देराकालातीता आत्मभुक्तिनिष्ठा तो हो जाती है 'नन्तमु ल एव उस्थान में मनःशरीरनिष्कनना क्रमार्थमूला मापुक्ता हो जाती है उन्मुदा । वह मत्पुत्र ही अन्तःकरण में मानव की आत्मानुगत स्वस्वकुदि का अपहरण कर लेती है । अतएव 'आस्था' परिक्रान्त हो जाती है । पलस्वरूप मनोऽनुगत 'मान्यता ही प्रधान बन जाती है । अपनी मपुक्तापूर्वा मान्यता से अनुप्राणित अस्पनिक-विद्वान्ती को ही 'मत' नाम से व्यञ्जित किया गया है जो कि दिग्देराकालानुक्तों से परिवर्तित होते रहते हैं । यही 'धर्म' और 'मत' में वह महान् अन्तर है जिसका अन्य निष्कर्षों में विस्तार से स्वरूप-विरलेषण हुआ है ।

६३—वर्तमानयुगीय 'सनातनधर्म' हिन्दुधर्म' आदि धर्मों-की धर्म' से पराङ्मु-खता, एवम् इन का विशुद्ध मत्वाद्दत्त—

विगत तीन वरुष कर्षों से तथाधिवा मत्वावपरम्पराधर्मों में ही 'धर्म' का स्थान अफहत कर रक्ता है । सनातनधर्म धार्म्यसमाज एवं विभिन्न सम्प्रदायों आदि प्रादि जो भी धर्म-विभाग आज देखे घुने बाये

(१) प्रकृतिसिद्ध, ज्ञानविज्ञानात्मक, ईश्वरीय-सनातन-विधि-विधानात्मक कर्षाव्यधर्मों का ही नाम—'धर्म' है जिसका मानव की मनोऽन्विता मान्यता से एवं उरनुगत दिग्देराकालानुक्तों से कृत्विजिग-मी तो व्यर्थ नहीं है । उपपूत महामहर्षिगण इस धर्म के 'ब्रह्मामात्र' हैं कर्षी नहीं । ईश्वरपतार मगवान् राम-कृष्णारि मी इस शास्त्रधर्म के उन्दावाहक, एवं धर्मानुगता भ्रान्ति के उपरमनकर्षामात्र हैं । यही इस 'धर्म' वरुष की दिग्देराकालातीता 'सनातनता' है । अतएव यह धर्म 'सनातनधर्म' 'धार्म्यधर्म' आदि नामों से उपपद्यत है ।

कल्पित-मतवाणी का। इत्यंभूत मतवाणी क मंत्र में ही शिष्य-सम्प्रदाय-वृद्धि-की लिप्सा-पूर्णा कामना जागरूक बनी रखती है। और आज स तीन सदस्य वर्ग-रम में अपनी अनात्ममूला मतवादनिष्ठा इसी मान्यता क निमग्नत्वक अनुभव मे मातृतीय प्रथा में बा 'धम्मप्रचार-कामना जागरूक हावड़ी थी उठी के अमिश्राय स इस राष्ट्र के इत्यरनिष्ठ प्रजावर्ग में, विज्ञेयत' तन्निष्ठासंरक्षक विद्वत्समुदाय में भी यही सबविनाश-कारिणी प्रचारकामना जागरूक हो ही तो पड़ी। इसी प्रचार-कामना क वाष्णवाग्ने सर्वनिरपेक्ष भी इस राष्ट्र के प्रादुर को बचाए उनीयकार राजन्य (सत्तामापन) बना ही था दिया जैम कि अनात्मवादिया को स्वमतप्रचार के लिए ऋतुग में सर्वप्रथम राष्ट्रन्य (सत्ताभित) ही बन जाना पड़ा था।

६८-सत्तासापन विद्वानों क द्वारा आचारज्ञान्य, अतृण्य जीवनमौन्दर्य से अमस्पृष्ट, सत्ता मान्यता-ममथक कल्पनिक साहित्य का मज्जन -

'धिवकभ्रगना भयनि विनिपातः शतमुख्यम न्याय से तद्युगारम्भ में प्रचार-कामनाकरण के अनुभव से विवेकप्रद हो जान वाले राष्ट्रीय विद्वानों का यह विनिपात उत्तराखर पुणित पन्नाकित ही होता गया लक्ष्मिणामिहृदि मे एवं तत्सन्निधिना त्रिीयगामिहृदि से। ज्ञान क निष्करण से पराह मुन्ना सत्ताएँ ज्यों ज्यों अविश्विक उच्छङ्खल जाती गइ, त्यो यो ही इन वग की आ-मग्नता भी अविश्विक प्रवृद्ध होती गइ। महा मे जैसी कामना की जैसी ही शान्तभ्याज्जार्णै इस वर्ग को उपनिबद्ध कर देनी पड़ी। इसी असत्प्रवृत्ति के कारण आचाररमक-गान्ध तो स्वाध्यायनिष्ठा मे पराह मुन्ना हागए, एवं तत्स्थान में मतवादममथक साम्प्रदायिक शम्भार प्रधान बनता गया। एव शृङ्गारप्रधान मातृकतापूर्व वैसा शम्भार ही 'राष्ट्रीय-साहित्य' प्रमाणित कर दिया गया जिन मे कमलागिताम-मग्नमत्त सत्तातन्त्रों का अनुरम्भनमात्र ही सम्भव था एवं त्रिष अ आचारनिष्ठात्मक जीवन-सौन्दर्य मे तथा आमनि भेषम् से कन्निष्ठित् मी तो सम्भव नहीं था।

यह प्रवृत्तिमिद तथ्य है कि प्रथम ही सत्र का नियन्ता है, ज्ञान के ज्ञाय ही कम्म की मर्यादा सुर चित्खाक्यी है सत्कृति ही सम्भ्यता की सधिस है धम्म ही नीति की आधारभूमि है। सत्तात्मना संस्कृति ही आश्रय है, एवं सम्भ्यता ही 'आश्रित है। ऐसे भी अखर आय है इस भारतराष्ट्र में जब कि, सत्तातन्त्रों की अनीति स सम्भ्यताधोने संस्कृति का धम्म का आश्रय छोड़ दिया है। और परिणाम-स्वरूप तात्कालिकरूपेण दोनों में सपर्य होपडा है। उन सभी अवसरों पर भारतराष्ट्र की सत्कृति-कप्रजने त्रिगदशकालानुपनिबनी तात्कालिकी सम्भ्यताधो की उपेक्षा कर सर्वात्मना नहीं तो अशय' वो अपनी संस्कृति अ स्वरूप-मरच्य कर ही लिया है।

६९-'पर' सम्भ्यता क वाष्णवाश में आश्रय वर्तमान भारतराष्ट्र की 'पर'-सन्ध्या-सक्ति-मूला अल्पनिक 'स्वतन्त्रता' का दु खपूर्णा इतिवृत्त-

और यदि इन प्रान्ति में नहीं है तो कच मानकाल भारतराष्ट्र के लिए सधाविक 'संघर्षकाल' ही प्रमाणित होया है। प्रतीन्य-सम्भ्यताने भारतीय-संस्कृति-सम्भ्यता को उस सीमा पर्यन्त आज सर्वरमना अमि-युत ही कर लिया है जिस सीमाविन्दु पर पहुँचने के अनन्तर परसम्भ्यता में ही स्वसम्भ्यता की आश्रित होबायाक्यती है। अवश्य ही नाममात्र के लिए मात्र भारतराष्ट्र 'भारत' अमिषा स समन्वित है। किन्तु सम्भ्यता-परि-चायक देश-भूया भावा आहार-विहार-शिक्षा-श्रीक्षा आदि आदि यन्त्रयाकर् क्षेत्रों में आज यह स्वसंस्कृ-निर्माक स्व-सम्भ्यता-तन्त्र से आयन्तिकरूपेण पराह मुन्ना बनता हुआ परसम्भ्यतात्मक-'पर' तन्त्रों को ही

६६—ब्राह्मण की 'अराजन्पता' का दिग्देशकालानुबन्धी समन्वय, एवं तदभावे संस्कृति-निष्ठात्मिका स्वाध्यायनिष्ठा की अन्तन्मुखता—

एक सन्दर्भ के द्वारा निष्कर्ष यही निकला कि, ब्राह्मण का संस्कृति साहित्य धर्म, के सहज वास्तविक-स्वरूप-संरचना के लिए अपने आप को 'अराजन्प' ही बनाय रक्षना चाहिए। अर्थात् सत्तान्त्र के बीमे आश्रय से सहयोग से प्रत्येक सम्भव उपाय से संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् को अहमपरिप्राया ही करते रहना चाहिए, जिस से कि उस की दिग्देशकालातीता, किन्तु दिग्देशकालप्रतिष्ठाकरूपी सांस्कृतिक-स्वाध्यायनिष्ठा में दिग्देशकालानुबन्धिनी सत्तात्मकता प्रविष्ट न होजाये, जिन के प्रवेश से कि, संस्कृति का स्वरूप तो होजाता है अन्तन्मुख स एव-सत्तात्मकता बन जाती है प्रसुप्त। तस्मात्—

'ब्राह्मणोऽराजन्प स्यात्'

६७—चिन्तनमूला 'संस्कृति, स्वाध्यायमूलक 'साहित्य', एवं आचरणमूलक 'धर्म' का समन्वय, तथा-मत्वादात्मक-काम्पानिक 'धर्मप्रचार' के व्यामोहन से ही सत्तात्म्य की पारम्परिक अभिव्यक्ति का दुःखपूर्णा इतिवृत्त—

करी आसक में 'राजन्पुक्ति' का उदय होना, परम का एकमात्र उत्तर है—संस्कृति साहित्य एवं सर्वोपरि धर्म का प्रचार-व्यामोहन। प्रचार मत्वादाओं का ही दुष्प्रकार है। किन्तु संस्कृति का तो चिन्तन ही होता है, साहित्य का स्वाध्याय ही होता है एवं धर्म का आचरण ही होता है। चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण-अपी ही ज्ञानवी का वास्तविक प्रचार है। शिष्य-उत्पत्ति-मूलक प्रचार-व्यामोहन का इन तीनों प्रक्रमों में से किसी का भी सम्बन्ध नहीं है। स्वयं अपनी धीर से प्रचार की तो कच ही विद्वर है। अस्ति प्रकृतमात्र से विज्ञाया अभिव्यक्त करने पर भी इन तीनों प्रक्रमों के लिए शास्त्रने पाषाणप्रदा की ही कर्तव्यता परीक्षनीया माना है। (१) विविध प्रचार की मत्वादाओं की अप्रवृत्ति बना कर ही प्रचार हुआ करता हुआ है अपने

(१)—विद्या इ वै ब्राह्मण्यमाजगाम गोपाय मा शेषचित्तं ज्मस्मि ।

अधूपकायानृज्जेष्यताय न मा ज्ञूया, वीर्य्यवती तथा स्वाम् ॥

—यात्कमिकुळे

परनिन्द्राशील-अधूपकः । मनसा-वाचा-कर्मोखा च कुण्डिता-अनृद्धा । इन्द्रियासक्त-चम्पलोऽशुचि-अपतः । तस्मै न ज्ञूयात्-इति निष्कर्षः

(२) इहं ते नातपस्काय नामस्काय कदाचन ।

न चाशुभ पवे बाध्यं न च मां योऽभ्यस्यति ॥

—गीताशाम् (१५१०) ।

रनुकपी-कामार्थमागोसे ब्रह्म-मानसिक-तात्कालिक आयोगत्रयों का भी 'सांस्कृतिक-आयोजन त्रैत्री पावन अभिधा मे इष्टी विद्वानों का द्वारा सर्वसमना यशोगान किया जाता है । अतएव सुनरिचत है कि, सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण स कर्नापि तत्-तन्त्रययी की समृद्धि तो क्या, स्वरूपता भी सम्भव नहीं है, जिस इस ध्यामोहनने ही भारतीय विद्वानों का तथाकृता अवधि मे सत्तासापक्ष बना रक्खा है । अतएव पुनः पुनः हमें यही निवेदन कर देना है इन राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रजाओं मे कि—

“ब्राह्मणोऽराजन्त्य एव स्यात्

७३—सत्ताभ्रयता, तथा गिण्यपरम्पराभिष्टुद्धि के लिए समातुर मतवादों की सत्तासापक्षता का स्वरूप दिग्दर्शन—

इत्थमत्र नितान्तमवधेयम् । यदातक मतयादात्मक सम्प्रदायशीलों का सम्बन्ध है, उस धीमापस्यन्त तो अवश्य ही सत्तासापक्षता अपेक्षित है । क्योंकि मतवादी की अभिम्यक्ति का प्रधान कारण दिग्देशकालधर्माकान्त मानवीय मन की तात्कालिकी 'मान्यता ही बना करती है । अपनी इस 'मान्यता' से समुद्भूत मतवादों के प्रचार-सम्बन्ध-परिपारम के लिए तो प्रत्येक दशा में मान्यताओं के पौरुष कालिक सत्ताकर्तृओं का आभय-महल ही अनिषाय्य बना रहता है । सत्ताभ्रयता में ही मतवादा स्वरूप से मुरक्षित रहते हैं एवं तन्मात्र से ही इनकी समृद्धि (प्रचार) हासती है । यही कारण है कि, मतवादाभिनिष्ठ साम्प्रदायिक वर्ग ही सत्ताभ्रय के लिए, एव शिष्यपरम्पराभिष्टुद्धि के लिए प्रतिक्षण समुत्सुक बने रहते हैं ।

७४—सांस्कृतिक नित्यधर्म की सहज सत्तानिरपक्षता, एव चिन्तन-स्वाध्याय, तथा धर्माधारणमूलक सर्वनिरपक्ष सांस्कृतिक-क्षेत्र—

किन्तु सांस्कृतिक धर्म कर्नापि सत्ताभ्रय की कोर अपेक्षा नहीं रखता । अपितु यह तो विद्वत्प्रजाओं की ऐकान्तिकी चिन्तन-स्वाध्याय तथा आचरण-निष्ठात्रयी से ही स्वस्वरूप से अभिम्यक्त होता है । हाँ यदि सत्तात्त्र प्रवृत्तमात्र से इस तन्त्रययी क प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, तो अवश्यमेव सुविधा-पूर्वक इत की 'समृद्धि' हो जाती है । किन्तु सत्ता के आत्मसमर्पण के अभाव में मतवादी की भाँति कर्नापि इस त्रयी की कोर स्वरूपहानि नहीं है । इसी पृथुतिष्ठित तथ्य का—'ततोः शरणाकैय-ब्रह्ममित्र भूते चत्रादरुष्यान् स्वातुम् । यद्यु राजानं लमेव ममूद्ध तत्' इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है ।

७५—सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रति सत्तात्त्रयों का प्रणतमात्र से आत्मापण, तत्प्रति संस्कृति-निष्ठ का 'उपांशु' अनुमोदन, एवं उपांशु भावनिवन्धना 'तथेति' मूला निरपेक्षता का समन्वय—

ध्यान रहे, संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण कर्नापि स्वकामना से सत्ता के प्रति अनुगत नहीं होता । (१) । अपितु स्वयं सत्तात्त्र ही राष्ट्ररक्षा तथा राष्ट्रसमृद्धि के लिए संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् का परमशानुमह प्राप्त करता है । वृत्ते शब्दों में-स्वयं ही अर्थात्-आस्था पूर्वक सांस्कृतिक-शिष्य प्राप्त करता है जिसके उक्त 'निर्वाकरूपभुक्ति के-

१—नाष्ट कस्य चिद्भूयात्, न धान्यायेन पृच्छतः ।

जानन्नपि हि मेधावी जडवृक्षोक्त आचरेत् ॥

आराध्य मानता हुआ अपनी 'स्व-तन्त्रता' लक्षण 'स्वतन्त्रता' का स्वार्थमत्ता उपहास ही करता आ रहा है। ऐसा क्यों? एकमात्र उत्तर 'दिग्विदेशकाल का व्यामोहन'।

७०—'समय' शब्द-व्यामोहानुगत-वच मान की भ्रान्ति, भूत भविष्यत् की उपा, एवं वचमानकालात्मक पशुजगत् से तत्समतुलन—

हमारे राष्ट्रीय नेता 'समय' शब्द का उपयोग करते हुए आब भूत और भविष्यत् की ठो आत्मनिक स्पष्ट उपावा करते आ रहे हैं, एवं अस्पष्ट-व्यर्थार्थवाद की पीड़ा के माध्यम से 'वर्तमान' को ही आराध्य मान रहे हैं। अवश्य ही वच मान आराध्य है। किन्तु भूत-भविष्यत् को प्रतिष्ठा बना कर ही यह 'वचमान' मानव के अस्तुदव का बलक प्रभावित होकर है। तत्त्वदृष्ट्या 'विद्युत्-वर्तमान' को पशुजगत् का ही आराध्य माना गया है शास्त्रों में। भूत-भविष्यत्-से वञ्चित अतएव 'पशुजगत्' से अस्पष्टित इस वच मान के तात्कालिक-प्र-मदात्मक अतएव मानुषतापूर्व दिग्विदेशकाल-व्यामोहनन ही को निरन्तर तीन सहस्र-वर्षों से राष्ट्रप्राणों की सामूहिक-निहा से पगद-मुल प्रमाणित किया है।

७१—मारतराष्ट्र की त्रिसहस्रवर्षिकी पतनपरम्परा, एवं तन्निरोधोपायान्वेषण—

'राजा कश्यप कश्यप मूलक इसी दिग्विदेशकालानुबन्धने विद्वहर्त को 'राज्यन्य' बनाया है। इसी 'राज्यन्यता' (सत्तासापेक्षता) ने इस वर्ग को लक्ष्मन्मुत किया है। इसी सत्तासमयव्यामोहनने इसे आबा रनिष्ठा से परापरकत किया है। और स्वात्मता इसी एकमात्र प्रमुल दोष से मारतराष्ट्र की संस्कृति साहित्य एवं धर्म नामक तीनों ही छत्र अपने मौलिक ज्ञान-विज्ञानप्रमाक स्वरूपों से अन्तमु क बन मतवादन-त्मक जैसे सम्प्रदायवादी के रूप में ही परिणत हो गए हैं। जिन के अनुगमन से ही मारतराष्ट्र उत्तरोत्तर अवनति-गत् परम्परा का ही सम्मानित अतिथि बनता आ रहा है तीन सहस्र वर्षों से। तन्मामूत्, तस्मादेव—

ब्राह्मणोऽराज्यन्यः स्यात्

७२—संस्कृति-संरक्षणास्तुपन्ध से भारतीय विद्वानों का प्रश्न, तत्प्रति प्रततिप्रश्नोत्थान, एवं सत्तासापेक्षतानुगता भ्रान्ति-परम्पराओं से ही सांस्कृतिक-स्वरूप का उत्तरोत्तर अमिमव—

विद्वहर्त के सत्तानिरपेक्ष बन जाने से क्या भारतीय संस्कृति साहित्य धर्म नामक सांस्कृतिक तन्ध केवल विद्वहर्त के हाथ ही सुलभ बन जायेंगे? दिग्विदेशकालानुबन्धी 'राजा कश्यप कश्यप मूलक तात्कालिक वर्तमान-सत्ताओं की दृष्टि से इस अतिप्रश्नप्रमाक प्रश्न के अभावान का यहाँ अक्षर नहीं है। उत्सम्भ में तो मही 'प्रतिप्रश्न' पर्याप्त मान लिया जायगा कि विगत विश्वसर्वाभिति में तत्त्-सत्ताओं के प्रति प्रत्यक्षमान से आत्मरुपरिष्ठा करते रहने वाले एतद्व्यप्टीय विद्वानोंने सत्ताओं के हाथ क्या सांस्कृतिक-तन्धधरी की समृद्धि कर ली? समृद्धि की कौन कहे तन्धधरिता आत्मरुपरिष्ठा प्रभावित होने ही तो इस सत्ताधरी को ब्राह्म उत सीमापर्यन्त अमिमव कर लिया है कि आब ठी नाच-गान-टीका-धर्म-मैत्री-सु-सु-आदि आदि अक्षरवादी से अमलकृत चान्द्रमावानुगत-गन्धर्व-पराप्रमा-निबन्धन-मन-राटी-

एतदुक्तं—कामायमारोचते बह्व—मानसिक—तात्कालिक आयोगों का भी 'सांस्कृतिक-आयोजन' जैसी पाठ्य-ग्रन्थिमा मे इहो विज्ञानों के द्वारा सारांशना योगोमान विधा आरुदा है । अतएव सुनिश्चित है कि, सत् प्रति आत्मसमर्पण स क्वापि तत्-तत्प्रयत्नी की समृद्धि तो क्या, स्वस्वरूपा भी सम्भव नहीं है, जिस प्रयासोद्देशने ही भारतीय विज्ञानों का तथ्यकता अथवा म मत्तामादेव बना रक्ता है । अतएव पुनः पुनः यही निश्चय कर देना है इन राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रयासों में कि—

‘ब्राह्मणोऽराजस्य एव स्यात्

७३—सत्ताभ्ययता, तथा शिष्यपरम्परामिश्रद्धि के लिए समातुर मतवादों की सत्तासापेक्षता का स्वरूप दिग्दर्शन—

इतमत्र नितान्तमवधेयम् । बहोतक मतयाता मक सम्प्रदायगतों का सम्बन्ध है, उस हीमापस्यन्त अक्षरय ही सत्तासापेक्षता अपेक्षित है । क्योंकि मतवादी की अमिष्यकृति का प्रधान कारण सिद्धदेशकालधर्माज्ञान मानवीय मन की तात्कालिकी 'मा-यता' ही बना करती है । अपनी इस 'मान्यता' से समुद्भूत मतवादी प्रचार-समर्पण-परिपारम के लिए तो प्रत्येक दशा में मान्यताओं के पोरक कालिक सत्ताधर्मी का आश्रय-प्रद ही अनिवाप्य बना रहता है । सत्ताभ्ययता से ही मतवाद स्वस्वरूप में सुरक्षित रहते हैं एवं सदाभय से ही इनकी समृद्धि (प्रचार) होताती है । यही कारण है कि मतवादीमिश्रिष्ट साम्प्रदायिक वर्ग ही सत्ताभय के लिए एव शिष्यपरम्परामिश्रद्धि के लिए प्रतिक्षण समुत्तुक बने रहते हैं ।

७४—सांस्कृतिक नित्यधर्म की सहज सत्तानिरपेक्षता, एव चिन्तन-स्वाध्याय, तथा

धर्माधारणमूलक सर्वनिरपेक्ष सांस्कृतिक-क्षेत्र—

किन्तु सांस्कृतिक धर्म अर्थात् सत्ताभय की कोई अपेक्षा नहीं रहता । अपितु यह तो विद्वत्प्रयास ही ऐकान्तिकी चिन्तन-स्वाध्याय तथा आचरण-निष्ठाप्रयत्नी से ही स्वस्वरूप से अमिष्यक होया है । ही यदि सत्ताधर्मी प्रणतभाव से इन सन्ततयों के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है तो अक्षरयमेव सुनिचा-पूर्वक इस की 'समृद्धि' होताती है । किन्तु सत्ता के आत्मसमर्पण के अभाव में मतवादी की मूर्ति क्वापि इस प्रयत्नी की कोई स्वस्वरूपानि नहीं है । इसी प्रवृत्तिविध तस्य का— ततः शशाकैय-ब्रह्ममित्र अतः सत्ताधर्मी स्यानुम् । यद्यु राजानं सभेत समृद्ध तत्' इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है ।

७५—सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रति सत्ताधर्मी का प्रणतभाव से आत्मसापेक्ष, तत्प्रति संस्कृति-निष्ठ का 'उपांशु' अनुमोदन, एव उपांशु-मावनिषन्धना 'तथेति' मूला निरपेक्षता का समन्वय—

पान रहे, संस्कृतिनिष्ठ आश्रय क्वापि स्वस्वमना से सत्ता के प्रति अनुगत नहीं होता । (१) । अपितु स्वयं सत्ताधर्मी राष्ट्ररक्षा, तथा राष्ट्रसमृद्धि के लिए संस्कृतिनिष्ठ विज्ञान का परामर्शानुग्रह प्राप्त करता है । दूसरे शब्दों में-स्वयं ही अर्थात्-आस्था-पूर्वक सांस्कृतिक-शिष्य प्राप्त करता है जैसाकि उची 'मैत्रावकणभूति के-

१-नाष्ट कस्य चिद्भूयात्, न चान्यायेन पृच्छतः ।
वानमपि हि मेवावी अक्षरमोक्त आचरेत् ॥

आराध्य मानता हुआ अपनी 'स्व-तन्त्रता' लक्षणा 'स्वतन्त्रता' का स्वार्थमना उपहास ही करता करता है।
ऐसा क्यों ? एकमात्र उत्तर 'दिग्देशकाल का व्यामोहन'।

७०—'समय' शब्द—व्यामोहनानुगत—वच मान की भ्रान्ति, भूत-भविष्यत् की उपेक्षा,
एवं वचमानकालात्मक पशुजगत् से तत्समतुलन—

हमारे गृहीत नेता 'समय' शब्द का उद्दीप्त करने हुए आद्य भूत और भविष्यत् की दो अश्वत्थिक स्तंभ
उपेक्षा करते आ रहे हैं, एक अस्मिन्-यथावत्वाद् की पीठका के माध्यम से 'वर्तमान' को ही आराध्य मान-
रहे हैं। अथर्व ही वच मान आराध्य है। किन्तु भूत-भविष्यत् की प्रतिष्ठा बना कर ही यह 'वचमान' मानक के
अभ्युदय का बलक प्रमाणित होसकता है। तत्त्वदृष्टया 'विशुद्ध-वर्तमान' को पशुजगत् का ही आराध्य माना
गया है शास्त्रों में। भूत-भविष्यत्-से अस्मिन् अथर्व 'पशुकाल' से सम्बन्धित इस वच मान के उत्पत्तिक-
प्रत्यक्षतामक अथर्व मातृकतापूर्ण दिग्देशकाल—व्यामोहनने ही तो निरन्तर तीन त्त्व-वर्णों से यह प्रमाणों
की सांस्कृतिक-निष्ठा से पगल मुक्त प्रमाणित किया है।

७१—मारतराष्ट्र की त्रिसहस्रवार्षिकी पठनपरम्परा, एवं तन्निरोधोपायान्यवस्था—

'राजा कालस्य कारणम् मूलक इती दिग्देशकालानुक्त्वेन विद्वहर्ण को 'राजस्य बनाया है।
इसी 'राजस्यता (सत्तामापेक्षता) ने इस वर्ण को लक्ष्यमुत्त किया है। इसी सत्तामकव्यामोहनने इसे अस्मिन्-
रनिष्ठा से परा-परकल किया है। और स्वार्थमना इती एकमात्र प्रमुख दोष से मातृकत्त्व की संस्कृति,
साहित्य एवं चरम, नामक तीनों ही तन्त्र अपने मौक्तिक तान-निष्ठातामक स्वर्णी से अन्तमुक्त बन मतवादा-
त्मक जैसे सम्प्रदायवादों के रूप में ही परिकृत होमए है। तिन के अनुगमन से ही मारतराष्ट्र उत्तरोत्तर अवनति-
गत परम्परा का ही सम्मानित अतिथि बनता आ रहा है तीन त्त्व-वर्णों से। तस्मान्त, तस्मादेव—

'ब्राह्मणोऽराजस्य' ध्यात्

७२—संस्कृति-मरचस्यनुबन्ध से भारतीय विद्वानों का प्रश्न, तत्प्रति प्रततिप्रश्नोन्धान,
एवं सत्तामापेक्षतलुगता भ्रान्ति—परम्पराओं से ही सांस्कृतिक-स्वरूप का उत्तरोत्तर
अभिभव—

विद्वहर्ण के लक्ष्यविरुद्ध बन जाने से क्या भारतीय संस्कृति साहित्य चरम नामक सांस्कृतिक तन्त्र
केवल विद्वहर्ण के हाथ ही बुझूक बन जाँगी ? दिग्देशकालानुबन्धी 'राजा कालस्य कारणम्'
मूलक सांस्कृतिक वचमान-तत्त्वत्त्वों की दृष्टि से इस अवनतिप्रश्नतामक प्रश्न के समाधान का बही आकर
नहीं है। तन्त्रतन्त्र में तो यही 'प्रतिप्रश्न' पर्वान्त मान लिया जायगा कि विगत विद्वहर्णकार्षि में तन्त्र
वत्तात्त्वों के प्रति प्रसतमान से अप्रसतमान्य करत रहने वाले एतदुपधीय विद्वहर्णों के हाथ क्या
सांस्कृतिक-उत्तरवयी की समुद्रि कर ली ? समुद्रि की शून्य करे, तत्वावधिता आत्मकार्यकमूला प्रकृतात्त्वाने
ही तो इस तन्त्रवयी को आद्य उस लीमापर्यन्त अभिभूत कर लिया है कि आद्य ही मातृ-मान-दीक्षा-वर्ण-
मैत्री-पूर्वबुद्ध-आदि आदि अन्तद्वारों से अन्तद्वार, आन्तमातृकत-मन्त्रवाच्यतामक-निष्कथन-वनराटी-

७७-युगधम्मानुगता भावुकतान्त्रिता 'असहयोग' भावना क प्रति सांस्कृतिक-प्रज्ञा का उद्बोधन, एव वर्तमान सत्तातन्त्र क प्रति राष्ट्रप्रना का निष्पत्ति—

पूर्व निवेदनानुसार वर्तमानयुग (सत्तानुन्धी युग) भारतीय 'संस्कृति', एवं तन्मूला भारतीय 'सभ्यता' के लिए इसलिये संपर्कमय संस्कार ही माना जायगा कि जो एतद्देशीय संस्कृति, और सभ्यता त्रिंशद्युग स्यन्त दिग्देशवाचकमेव भूतसभ्यता से अन्य प्राप्ति (प्रतीत्यवर्ति) के द्वारा प्राप्त की गयी है। त्रिंशद्युग में ही प्रतीत्यवर्तमान से समाप्तान्ता है। त्रिंशद्युग में त्रिन प्रतीत्य-सभ्यता का उच्च विधि-विधानों को हम इन सत्तातन्त्र के लिए परन्तुता का अन्यतम कारण मान रहे थे। यद्यपि स्वयं हमारे ही प्राग्जन्तुयुग में यही सभ्यता य ही विधि-विधान सत्तातन्त्र के सर्वस्व बनते जा रहे हैं, जिना जना लिए गए हैं। अतएव इस यत्नमानयुग को तो हम पूर्वयुगी की अपेक्षा भी कहीं अधिक मयाबद ही करेंगे। इस पौरपोरतम सत्ता में परिवर्तन प्राप्त करने के लिए क्या हम भी भावुकतापूर्णा-असहयोगमिति का अनुयमन आरम्भ करें। वर्तमान सत्तातन्त्र के प्रति उन्मीप्रसार, जैमकि मत्वाभावनिष्ठ एतद्देशीय विभिन्न वर्गों में 'धर्म' के नाम पर जनमानस से आत्र सत्तातन्त्र के प्रति असहयोग-भावना का ही अनुसरण कर रखा है। नही, क्या ही नहीं। अपितु हमें तो सत्तातन्त्र के प्रति निष्पत्ति ही कर लेना चाहिए।

७८-सांस्कृतिक-निरपेक्षता-मूला-“धर्मनिरपेक्षता” क मूलकारण का अन्वेषण-प्रयाम, एव तदनुगता वर्तमाना धर्मनिरपेक्षता की दोष-असुस्पष्टता—

क्योंकि वर्तमान सत्तातन्त्र हम से दूर नहीं है। सत्तातन्त्रालोक यत्नमान सत्तातन्त्र-संस्कारों किंवा असहयोग करना तो एक प्रकार का स्वात्मघात ही होगा। परन्तु त्रिंशद्युग ऐसी ही आशय है हमारे अपने ही अज्ञान-मय भारतीय सत्तातन्त्र क प्रति कि, उसके सामान्य और विशिष्ट सभी अंगों के मजालक अभिजात में भारत राष्ट्र के प्रति सत्तातन्त्रा नहीं, तो अतएव तो अत्यन्त ही बागरूक हैं। एतद्देशीय के लिए ही उनके सामर्थ्य अपेक्षित प्रकृत भी हैं। तन्पि एकमात्र सत्तातन्त्र की मूलसंस्कृति, मौलिक साहित्य, तथा तदनुपासित सत्तातन्त्रधर्म (मत्वाभाव नहीं) इन मौलिक विमूर्तियों के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूपबोध से अपने आपकी दृष्टिकोण से ही सत्तातन्त्र की दृष्टिकोण में सत्तातन्त्र की निरपेक्षता 'दीपनी' है कि इसके लिए ही सत्तातन्त्र को ही हम सर्वोत्तम देखना चाहिये नहीं। मान सकते कि विद्यवादीन सहस्र-वर्षों से प्रकान्ता सत्तातन्त्र से सम्बन्ध रखने वाली मत्वाभावपरम्पराओं के निम्नमात्र अनुभव से संस्कृति-प्रमाणों का मौलिक स्वरूप सुन्या ही पर्यटन होता चला आ रहा है। संस्कृति साहित्य एव धर्म के नाम से जो कुछ उपलब्ध हुआ सत्तातन्त्र को वह मत्वाभावमय अभिनिवेशमार्थ ही था। अतएव हमें तद्विधि निरपेक्ष ही बन जाना पया कि इसके लिए सत्तातन्त्र को दीर्घसंस्कृति ही मानना चाहिए।

७९-धर्मनिरपेक्ष ही वर्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा सत्तातन्त्रों के प्रति प्रकान्ता 'सपेक्षता' का दुःखपूर्ण आपात्परमणीय इतिवृत्त—

श्रीमतिवत्। तन्पि सत्तातन्त्र को तथाभूता निरपेक्षता के लिए सर्वोत्तम दुःखबोध ही इसलिये नहीं ही माना जा सकता कि उसे दोषदृष्टि से ही नहीं, एकबार अपनी इन मूलनिर्णयों के स्वरूपान्वेषण के लिए

'स सत्रं वरुण' ब्रह्ममित्रमुपमन्त्रयाद्ब्रह्मे उप मात्रर्त्तस्व, संसृजात्रहे, पुरस्त्वा करवे, स्वस्वम् कर्म करवे इत्यादि कर्म से स्वस्वस्वमे प्रमाणित है। क्या इस सत्ता-धामन्त्रण से संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् उसी प्रकार वच मानसुग की भाँति कृतकता के रूप में अवनतशिरस्क बन कर 'अभिनन्दनम्' स्मरित करना अपना संस्कृतिक कर्म मान लेता है। यैवाकि, निर्भ्यानामत्र सङ्घोष के बिना भी प्रायः स्वर्ग को निरन्तर बरोगान करते रहना पड़ता है, इस परम के प्रति उद्बोधन प्रदान करने के लिए ही भुक्ति ने 'तथेति' जैसे प्रदर्शनरूप-स्वामन्त्रण का ही दिग्दर्शन कराया है। सत्तास्त्र बहै—'प्रसृतमात्र से इस सत्रवरुणने धामन्त्रण किया ब्रह्ममित्र का कि—आप मेरी ओर अनुगत होजाए। आपके साथ मैं समन्वित होजाऊँ। इस समन्वय में मैं आप ही को अग्रणी-पुरोधा-अभिन्ता मानता रहूँगा। आप जैसी जो अग्रणी प्रदान करूँगे मैं (सत्तास्त्र) जैसे ही यही कर्म करूँगा। इत्यादि महारम्भपूर्वक संस्कृतिनिष्ठ की धम्यर्चना ही करता हुआ अनुगत बन रहा है वहाँ संस्कृतिनिष्ठ बिना किसी प्रदर्शन के—तथेति' ठीक है 'पेमा ही हो' इस उपस्युगागुत्वारस्वमात्र के माध्यम से अनुगत होता हुआ अपने आपको 'सत्तानिरपेक्ष' ही प्रमाणित कर रहा है।

७६—सत्तानिरपेक्षतामूलक 'अराजन्व' शब्द का तत्त्वार्थ समन्वय, एवं 'सर्वान् परित्यजे-दर्यान्' इत्यादि मानवीय-वचन का स्वरूप दिग्दर्शन—

शुक्त वेत्त। यदि यह भी सत्तास्त्रक सत्तापेक्ष बन बनगा तो निरन्वयेन इसकी संस्कृतिनिष्ठ सत्तापेक्षतामूला आश्रयता से उसी प्रकार अभिभूत होजायगी जैसे कि दिग्देशकालस्वामन्त्रण इस अस्वमति माध्यम की प्रथा प्रायः संस्कृतिक-स्वाध्याय में सर्वथा ही शिक्षा प्रमाणित होती है। अतएव अनुगत बनते हुए भी इस संस्कृतिनिष्ठ को सर्वमना 'अराजन्व ही बना रहना चाहिए, जिसका सीधा स्व तात्पर्य यही है कि, सत्ता के द्वारा उपलब्ध लोकैयत्तमक (उपाधिसत्तक-नामस्वयतिरूप) तथा विधेयधामक (आर्यिक) जैसे व्यासक्तों से जागरूकता-पूर्वक सदा ही इसे अपना आत्मपरिचाय करते रहना चाहिए, जो कि लोक-वित्त-व्याप्तोद्देश निरन्वयेन ब्राह्मण की संस्कृतिक चिन्तन-स्वाध्याय तथा बर्माचरण से पर्यपगत (अस्वन्त किर) ही बना लिया करता है। 'तस्मात् ब्राह्मणोऽराजन्व' इस माहकिकस्य का यही निष्कर्ष है कि—'स्वाम्यायनिष्ठ द्विजातिपग को चाहिए कि, वह धन परबन्धक आर्यिक सुस-सुविधाओं का सर्वथा परित्याग ही करता रहे, जो सुस-सुविधाएँ इसकी स्वाध्यायनिष्ठा में अवरोधिका बन जाया करती हैं (१)।

(१)—सर्वान् परित्यजेदर्यान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।

यथातथाध्यायैरु मा अस्य कृतकस्यता ॥

—मनुः १।१७।

'भारतीय मानव', किंवा 'विश्वमानव' के पारम्परिक उत्पीड़न का अन्यतम कारण दिग्देशकालनिबन्धना मातृकता—

'भवमात्र-परिग्रहों की विद्यमानता में भी विश्वमानव, विशेषतः भारतीय मानव, तत्रापि एक 'भारतीय हिन्दू मानव' विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर निरन्तर क्यों प्रस्त-सत्रस्त बहुरूप्य, अरान्त-अममृद्ध यनता चला आ रहा है? जिस इस महत्वपूर्ण दुरधिगम्य अनतिक्रम की हमने प्रस्तावना के उपक्रम में ही उदघाटिका की थी, उत्पन्न के समाधानमासा से उत्तरोत्तर) अनुपाणित इश्यरीय-कोप, माग्यदोष (जत्मान्तरीय दोष), कलियुगप्रभाव, और अशैथिल्य काटि तथ्यो! की ही अचटक स्वल्पमीमांसा हुई, किन्तु पर्याप्तान अन्ततोगत्या सर्वणी उठ 'मातृकता' पर ही हुआ, जोकि तीन सहस्र वर्षों से भारतीय मानव को उत्पीड़ित किए हुए है।

वर्णमात्र-परिग्रह-सम्पन्न, मस्कृति-साहित्यधर्मादि निष्ठ भी भारतीय मानव के पारम्परिक पतन का मूलकारण, एवं तत्परिशाणोपाय-दिग्दर्शन—

निःसन्देह इत्यभूता एकमात्र मातृकता ही भ्रुति-स्मृति-पुराण जैसी नैष्ठिकी शास्त्रधर्या के खते हुए भी भारतीय-हिन्दू मानव के पारम्परिक अभिभव का प्रधान निमित्त बनती आ रही इस महान्, प्रथम, तथा प्रमुख कारण के समुल्लन में इश्यरीयकोप, माग्यदोषादि, निरान्त मातृकता एव कास्पर्धिक कारणमासी का यत्किञ्चित् भी सो महत्त्व रोप नहीं रह जाता। मातृकता से ही मानव तेजिष्ठा से परादमुख होबाया करता है। और इस मातृकता की बननी आरम्भ में बनी है—साहित्य-धर्म, नामक निष्ठास्तम्भों से सम्बन्ध रखने वाले चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण-मावों, कल्पाने व स्रष्टार-व्यामोहन, ससकलता के लिए सघातन की सापेक्षता जिसे-सस्कृति-न्वक-शास्त्र-(साहित्य)-स्वाध्यायनिष्ठ तथा धर्माचरपरामर्ण मानव के लिए-‘तस्माद् शास्त्रम्या’ रूपेण स्वयं मूलशास्त्र (वेदशास्त्र) ने ही प्रधान कारण माना है।

स्वरूपेण सुरक्षिता संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों की सचासापेक्षता-मूला इती भ्रान्ति, तदनुप्राणिता स्वलनपरम्पराएँ, तत्परिखामस्वरूप राष्ट्रीय-संघठनो वेद, और आततायीधर्म के द्वारा राष्ट्र का अभिभव—

स्वरूपेण सुरक्षित भी संस्कृति-साहित्य-धर्म-कर्मों का मातृकताएव ही दिग्देशकाल-म्यकरपायक तस्मात्मात्रानुगामी सघातनों को जिस दिन से भारतीय संस्कृतिक-प्रहाधनों (बाह्यधर्मों) संस्कृति उठी दिन से मातृकतामूला परबलम्बनता के माध्यम से इस वर्गविशेष के चिन्तन-स्वाध्याय-से सम्बन्ध रखने वाली स्वनिष्ठा सो सो हीर्गर्भ अभिभूत एवं स्रष्टार से ही सघातनबिनी दैशिक-स्वराएँ ही बन गई इसके लिए संस्कृति साहित्य और धर्म। भी मातृकतापूर्व सचासापेक्षता से र में संस्कृति बन गई अस्तित्व, साहित्य (शास्त्र) का स्थान ग्रहण कर लिए सचापरोचनात्मिका सम्पाधनों एवं धर्मों को अभिभूत कर लिया शोकेयवाजुगता-विशेषणा से समन्वित मतवालों में। फलतः राष्ट्रीय संघठन कालान्तर में उच्छिन्न ही सो हो गया। क्योंकि संस्कृतिक-निष्ठापूर्व

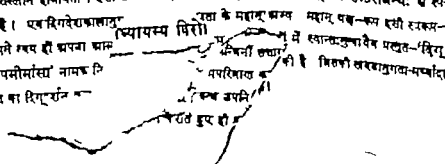
ठी प्रवृत्त हो ही बना था। पुस्तक है कि शात-अज्ञात अरुपरम्परान्त्री के निम्न से हमारा वर्तमान लक्षण विगत-मुक्त सुदीर्घ दशावधिप्रमक सकलत्र-स्वतन्त्र युग में भी भारतीय की मूलनिधि संस्कृति, उपरान्त साहित्य, तथा अक्षरणात्मक धर्म के मौलिक स्वरूपान्वेषण के सम्बन्ध में न केवल अपने आपसे लक्ष्य किया निरूपेण ही प्रमाणित किया जा रहा है अति मतादात्मिका इतर सम्प्रदाय धर्मनिरूपेण भी इही सत्तात्मक से बड़ी धर्मधना पुष्पित-पुष्पित होती बा रही है बड़ी इही धर्मनिरूपेण ! सत्तात्मक के लक्ष भारतीय-संस्कृति-साहित्य-धर्म की बौद्धि बौद्धि आपातरप्रवीणा आलोचनायें ही प्रकल्पत है जिन्हें सुन कर प्रत्येक भारतीय को ही लज्जा से अवनत-शिरस्क ही बन आना पकता है।

८०-सांस्कृतिक-संस्कृतकालीना वर्धमानावस्था उत्परिव्राणोपाय, एवं सत्तान्तिरूपेण-मूलक चिन्तन-स्वाध्याय-अक्षरख-से ही सम्माविता राष्ट्रीय-सांस्कृतिक निर्धिष की स्वरूपामिध्यक्ति —

इसपूता सांस्कृतिक-संस्कृतकालीना अवस्था में सज्ञ के प्रजाधर्म का क्या कथन ख बाता है, की वर सर्वप्रधानता समस्य है जिस के समन्वय-समाधानान्वेषण के लिए ही हमें-‘तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्व-मूलक मीमांसका-औतसन्धर्म का प्रस्तुत मास्तत्रिक में संस्मरण करना पका है। प्रात विद्वानेर्न अथ अथ मी तन्त्र-तन्त्री के प्रति अत्मसमर्पण कर दिया है तब तब ही मास्तत्रिक की संस्कृति अन्तमु ल होगई है। अतएव यह अनिवाच्यरूपेण आक्षरक है कि, यज्ञहितचिन्तक विद्वान् मत्वात्परम्परान्त्री से अपने आपको अलक्ष्य करते हुए, मत्वात्समर्पण शालम्बात्म्यान्त्री कीवृत्तः ही प्रथम्य मानते हुए स्वयं मूलरास्त्र की मौलिक आनि-नादिना परिमाणाओं के माध्यम से ही संस्कृति के चिन्तन में, साहित्य के स्वाध्याय में एवं धर्म के आक्षरण में प्रवृत्त होजायें। इनकी इही उद्योगिता से अब भी इन विमल-विमूर्तियों के तात्त्विक महत्त्वनव स्वरूप से राष्ट्रीय जनतन्त्र, तथा अक्षरणात्मक सत्तात्मक अक्षरण’ भी परिचित होजायगा, अक्षर्य ही उधी बच मारतयज्ञ अपना विस्मृत सांस्कृतिक गौरवा प्राप्त कर लंगा।

८१-दिग्देशकाल-व्यामोहनसंस्पृष्टा गुहानिहितवृत्त्युगता निर्येषता, तन्मूला सांस्कृतिक-निष्ठा, एषा तस्वरूपोपवृद्धिका ‘दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा —

तथावन्वान्तिन्तन-स्वाध्याय-धर्माक्षरण-निष्ठाप्रथी में विद्वानों को तभी सफलता उपलब्ध होतकैनी जबकि वह दिग्देशकालानुष्णवी अतएवा सर्वथा तत्कालिक, अतएवक सत्तात्मकानुगत लौकिकेयात्मक विधेयनार्थि व्यामोहनो को अपने आपको लक्ष्यवपरा-परवत्त आत्मनित्कण्ये निरूपेण बनावा हुआ गुहानिहितवृत्त्या स्वाध्याय यतिष्ठय में ही क्लेशिन होजायता। इही तन्त्र का इही महाम् उद्बोधन अ-‘तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्व्यः से स्व-हीकरण हुआ है। एव दिग्देशकालानुष्णव्यायस्य विरो।



२२- 'भारतीय मानव', किंवा 'विश्वमानव' के पारम्परिक उत्पीड़न का अन्यतम कारण त्रिगुद्देशकलनिवन्धना मातृकता—

'मध्यमादन-परिग्रहों की विद्यमानता में भी विश्वमानव, विशेषतः भारतीय मानव, तथापि अविशेषतः 'भारतीय-हिन्दू मानव' विगत तीन सहस्र वर्षों में उत्तरोत्तर निरन्तर क्यों प्रस्त-संग्रस्त शून्य-विलुप्त, अशान्त-असमृद्ध यनता चला आ रहा है? किम्वदुःखद दुरधिगम्य अनति-रनात्मक प्रश्न की हमने प्रस्तावना के उपक्रम में ही उद्यानिका की थी, उत्पन्न के समाधानामार्गों में कल्पित उत्तरों से) अनुप्राणित इग्यरीय-फोप, माग्यदोष (जत्मान्तराय दोष), कलियुगप्रभाय नक्षत्रों का शैथिल्य काटि तथ्यी? की ही अरतक स्वल्पमीमांसा हुई, जिनका पय्यनखान अन्वेषोत्पत्त्या सर्व-साधारणकारिणी उक्त 'मातृकता' पर ही हुआ, बोकि तीन सहस्र वर्षों में भारतीय मानव को उत्पीड़ित किए हुए है।

२३- सधामाधन-परिग्रह-सम्पन्न, सस्कृति-साहित्यधर्मादि निष्ठ मी भारतीय मानव के पारम्परिक पतन का मूलकारण, एवं सत्परिशायोपाय-दिग्दर्शन—

निःसन्देह इत्थंभूता एवमान मातृकता ही भ्रुति-सृति-पुराण जैसी नैष्ठिकी शास्त्रकी के वैषम्यमान रहते हुए मी भारतीय-हिन्दू-मानव के पारम्परिक अमिषव का प्रधान निमित्त बनती आ रही है, किम्वदुःखद प्रथम, तथा प्रमुख कारण के समनुपन में ईश्वरीयकोप, माग्योत्पत्ति, निरान्त मातृकता-पूर्ण अतएव कास्वनिष्ठ कारणामार्गों का यत्किञ्चित् मी तो महत्व रोप नहीं रह जाता। मातृकता में ही मानव स्वसस्कृतिनिष्ठा से पराहमुख होजाया जाता है। और इस मातृकता की बननी आरम्भ में मनी है-संस्कृति-साहित्य-धर्म, नामक निष्ठास्तमी से सम्बन्ध रखने वाले चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण-मार्गों की उपेक्षा सत्पाने व तत्पर-आधोभेदन, तत्फलता के लिए सचातन्य की सापेक्षता जिसे-संस्कृति-स्वरूपचिन्तक-शास्त्र-(साहित्य)-स्वाध्यायनिष्ठ तथा धर्माचारपरायण मानव के लिए- 'सत्साद्-ब्राह्मणोऽप्राजन्त्य' रूपेण स्वयं मूलशास्त्र (वेदशास्त्र) ने ही प्रधान कारण माना है।

२४ स्वस्वरूपेण सुरक्षिता सस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों की सचासापेक्षता-मूला महती आन्ति, तदनुप्राणिता स्वलनपरम्पराएँ, तत्परिणामस्वरूप राष्ट्रीय-संघटनो च्छेद, और आततायीधर्म के द्वारा राष्ट्र का अमिषव—

स्वस्वरूपेण सुरक्षित मी सस्कृति-साहित्य-धर्म-कर्त्रों का मातृकताका ही त्रिगुद्देशकल-व्यवस्थापक मात्र मूलसम्पत्तामातागुगामी सचातन्यों को बिस दिन से भारतीय सस्कृतिक-प्रहाधर्मे (ब्राह्मणों में) संग्रहक मान लिया उसी दिन से मातृकतामूला परावलम्बनता के माध्यम में इस बगबिरोप के चिन्तन-स्वाध्याय-धर्माचरण से सम्बन्ध रखने वाली स्वनिष्ठा वा तो होगई अमिषव एव सत्पण से ही सचासुपन्धिनी टैशिक-अनिष्ठ-मान्यताएँ ही बन गई इसके लिए संस्कृति साहित्य, और धर्म। यों मातृकतापूर्व सचासापेक्षता से ही कासान्तर में सस्कृति बन गई अस्कृति, साहित्य (शास्त्र) व स्यान प्रह्व कर लिए सचासरोचनात्मिका कल्पित व्याख्याओं, एव धर्मों को अमिषव कर लिया जोकेप्राणुगत-वितैपणा से समन्वित मतभेदों सपदायवादीनें। अतः राष्ट्रीय संघटन कासान्तर में उन्मिषव ही तो होगया। क्योंकि सास्कृतिक-निष्ठापूर्व-

को प्रवृत्त ही ही बनाया । इ
 विगत-भूत सुदीर्घ दशावध्यात्म
 साहित्य, तथा तदाचरणालम्ब
 किंवा निरपेक्ष ही प्रमायित कर
 इही सचातन्त्र से बहो सभ्यमन
 भारतीय-संस्कृति-साहित्य-धर्म
 भारतीय को जो लक्षण से

८०-सांस्कृतिक-संस्कृत
 मूलक चिन्तन-स्वा
 स्वरूपामिष्यक्ति—

इत्यभूत् सांस्कृतिक-सं
 बद्ध सभ्यप्रधाना समस्या है जिस
 मूलक मीत्रावध्या-भौतसन्दर्भ का
 तन्त्रों के प्रति अस्मत्समर्पण क
 बद्ध अतिव्याप्यस्मरण आचरण है
 स्मृते हुए, मतवास्तवमयिका शास्त्र
 नास्मिका परिभाषाओं के माध्यम से
 आचरण में प्रवृत्त होजोय । इ
 स्वरूप से राष्ट्रीय बनठना तथा उस
 माध्यम से अपना किस्मूत सांस्कृतिक

८१-दिग्देवकाल-स्वामीमोहनस
 विक-निष्ठा, एवम् तत्त्वरूपोप

तथाविधा चिन्तन-स्वाध्याय-धर्मात्
 बद्ध दिग्देवकालानुष्ठी अतएवा सर्वमांसा
 ध्यमोहनींते अपने आपकी सर्ववैषम्यपर्यायकता का
 यनिष्ठ्य में ही उत्कीर्ण होजायगा । इही तत्त्व का इही
 हीरक्य हुआ है । एवं दिग्देवकालानु
 विमोहन से हमने स्वय ही अपना ध्याय ^{विरो}
 देवकालस्वरूपमोमांसा नामक ^{विरो}
 के स्वस्तेविद्युत का दिग्दर्शन

(Faint, mostly illegible handwritten text on the right side of the page, possibly bleed-through or a separate column of notes.)

से शय्यखायतपव्रत (मुग्धसिद्धा-‘रायो’ नदी क निनिगमन स्थानरूप शिवालक) पर्यन्त पूर्वीलोकात्मक भारतवर्ष था, यहाँ म हिमालय की द्रोण्यां पर्यन्त प्रदश अन्तरिक्ष था, एवं यहाँ स प्राचीसरस्यती (उत्तररूपप्रदशान्तगत) पर्यन्त द्यूलोक था । सीनों के शयमोनपान्-अतिप्राया-दवता क्रमशः अग्नि, पायु इन्द्र य भार्गवी सम्पाद् मनु ये । इनके द्वारा ही देवबर्मात्मक मानवधर्म मुख्यपरियत बना हुआ था । तद्युग में देवगुरु गृहस्पति ही धम्म के ज्ञानविज्ञानम्यरूप क निर्देशक थे । इसी ऐतिहासिक भागोलिक-सैन्यव्यवस्था के आधार पर अब इन उस तप्य की आर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, जिसका पच मान युग क तपाविष ही आकाश के साथ सनात्मना समगुलन इगहा है ।

८८-त्रैयुगीय भारतीय-मानव क मन्कृति के प्रति मातृवृतारण उद्गार—

क्याकि नियन्त्र किया गया ह साध्यशक्ति क भूतविज्ञानात्मक दृष्टिक विज्ञानों से सहसा आकर्षित हो-पन्न बाल भारतीय धार्मिक मानवानों उन्ही दवयुग में य उद्गार अभिव्यक्त करत हुए यज्ञ-यागादि शास्त्र-विद्व कसम्भ-कर्मों का परित्याग कर ही लो किया कि—

“हम क्यों, और किस लिए इन धार्मिक कर्मों का अनुगमन करे ?, जब कि हम प्रत्यक्ष म यह देख रह हैं, सुन रह हैं, और अनुभव कर रह हैं कि, लो यक्षनादि कर्म नहीं करते, वे तो सुखी-समृद्ध बन हुए हैं, और लो (अम्मदादि) इन शास्त्रविद्व कर्मों का अनुगमन कर रह हैं, व आद्यन्त के दुःखी ही बनते जा रह हैं । हम प्रत्यक्षस्थिति को देखते हुए कौन प्रजाशील इन शास्त्रीय कर्मों क प्रति श्रद्धा रखेगा ? (१) ।

८९-द्वयुगीया स्थिति से समतुलित वर्धमान भारतीय-मानव के अश्रद्धापूर्ण उद्गार—

इत्यकार बिल इतुना को अग्रणी बना कर बच मान भारतीय मानव धर्माचरणों की आब उपेक्षा कर-वाये हैं ठीक उन्ही कारण के आकर्षण से सहस्रों क्यों-पूर्व दवयुग में ली मानवी म-सूक्ष्मों के प्रति सहसा अश्रद्धा ही अभिव्यक्त होवही थी । आब भी तो—‘होम करते हाय सलता है’—‘जो धर्म करते हैं, व दुःखी हैं, जो धम्म की अपेक्षा कर चुके हैं, व सुखी तथा समृद्ध बने हुए हैं’-इत्यकार क इत्सामाओं के आधार पर ही लो भारतीय प्रजा धर्मविमुक्त होखी जाउरहे-रे (०) ।

(१) ते इस्मावमर्श यजन्ते । ते पापीयसि आसु । अये ये नेजिर, से अयेसि आसु । ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद-ये यजन्ते, पापीयसिस्ते भवन्ति, ये-उ-न-यजन्ते, अयेसिस्ते भवन्ति ।

—रातपथ १।१।१७।

२-बस्तुस्थिति वास्तव में यथार्थ है । समेगुम्बकतुल पात्रमासिक विरह में- वहाँ सत्यादोजीय-दल भौव-सिद्धन्व के अनुसार स्यात्मक दवभाग तो है अन्तमुत्त एव बशात्मक मूलभाग है अमिव्यक्त । धर्माचरण कर्मों का प्रधान सम्बन्ध वहाँ दवभाग से है वहाँ धर्मनिरपेक्ष किंवा धर्मविरुद्ध कर्मों का सम्बन्ध मूलभाग से है । अतएव अधर्मात्मक भूतप्रधान धम्म आरम्भ में तत्काल ही फलप्रद बन जात है ।

एक ही संदर्भपटन की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। छहों—साहित्य—धर्म—मूलक संघर्षन के शक्ति को ही यत्र में जैसे महतीमाहीमान् छिद्र होगए, बिनमें सुगमता से आतवायी—बर्गों को प्रकट होने का सुधनन मिलता गया और, अलमविपन्नवितेन पापक्यामकनेन । मातृकतामूला सत्तासापेक्षता क अनुवृत्त से है हमें यहाँ उत्सम्भवी उत्तररूपविभिन्न मैत्रावरुण—मह—भुक्ति का आभय लेना पड़ा बिकके अक्षरपै-उम्भन्य के बिना 'मातृकता' का इतिहास अपूर्य—ही बना रह जाता है ।

८५—लोकानुपन्वी 'व्यासुवध्वत्र' से हमारा आत्मविमोहन—

आज से अनुमानत ३२-वर्ष पूर्व जबकि एक 'सांस्कृतिक-संस्थान' की कल्पना 'मानवात्म' के रूप से प्रकान्त की अस्मके प्रति-बनतन्त्र का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही 'मानवात्म-पाश्चिक' नामक 'पाश्चिक-पत्र' की अस्मिन्पिठ हुई। किसी अशातनामा अदालत के उच्छालीन आक्षेरापूर्ण इस 'व्यासुवध्व' से इस सहस्र उद्दिष्ट ही हो पड़े कि 'सुस आत्र जिस भुक्ति-सृष्टि-पुराण-संस्कृति-धम्म-आश्रम-आदि से सम्बन्ध रखने वाले किसी मानवात्म की कल्पना में विमोह बने हुए हो बीसवीं सदी जैसे वर्त्तमान युग में तुम्हारा यह प्रयास कदापि सफल नहीं होसकता । क्योंकि बचमान अिटिरासत्तातन्त्र के अनुप्रा? से हमारा समी कृष्ण उस सीमापर्यन्त बढ़ा गया है कि, अब इस विज्ञानप्रधान ? परिवर्तित युग में केवल अद्वैत से सम्बन्ध रखने वाली धर्माधि की चर्चा का कोई भी महत्त्व नहीं, रहने इत्यादि इत्यादि ।

८६—आचार्यचरणानुग्रह, से व्यामोहन से आत्मपरित्रास, एव उपास्य शतपथ' के द्वारा महती समस्या का निराकरण—

उक्त आक्षेरापूर्ण उद्बोधन से हम सहस्र उद्दिष्ट ही हो पड़े । और एकबार तो इस युगधम्म के प्रकाश ने हमें भी उद्वा अभिमूठ ही कर लिया । अन्त आचार्यचरणानुग्रह से शास्त्र का ज्ञानविज्ञानात्मक इति-कोश हमारे सम्मुख था । अतएव वह अभिभूति अधिक समय पर्यन्त स्थिर न रह सकी । उदपि प्ररन अक्षर एक महती समस्या बन कर अन्ततल को उद्दिष्ट करता रहा । उसी युग में शतपथमाध्य प्रकान्त था । उसी 'शतपथ' के दो स्थलोंमें सहस्र हमारा ध्यान उत महत्त्वपूर्ण तत्त्व की ओर आकर्षित कर ही तो लिया बिकने समी अस्मत्प्राप्ती का प्रकान्तलः उन्मूलन कर दिया । उन दोनों स्थलों में से शतपथ के ही अतुर्थअध्याय 'मैत्रावरुणमहवाक्य' से अनुप्राणित 'तस्माद्वाक्योऽराज्यः स्वात्' इत एक उद्बोधक तत्त्व का तो पूर्व में विस्तार से बरीगान किया ही जाचुका है । अब दिग्देराकालमें ही (इतिहासमें ही) पाठकी के अनुच्छान के लिए वृत्ते तत्त्व का भी दो शब्दों में अब अन्वयार्थनमात्र कर दिया जाता है ।

८७—चतुर्विधा 'महिजा' जाति, एव देवयुगीय भौमधैलोक्य का स्वरूप-संस्मरण—

विज्ञाननिष्ठ साध्य पौरुषनिष्ठ महाराजिक, अन्वयबलिष्ठ आमास्थर तथा धर्मनिष्ठ तुपित नामी से प्रविष्ट चतुर्विध महिजा मानकों के विज्ञानप्रधान साध्ययुग से उचरभावी केदुगात्मक 'देवयुग' में साध्यों के भूतविज्ञान से प्रभावित भारतीय मानुषोंमें एकबार सहस्र अपने यहादि आचारधर्मों का परिष्कार कर दिया । उत देवयुग में इसी भूतल पर बेलोक्य-अक्षरता व्यवस्थित की मीमंसा के द्वारा (१) । निरुध (लडा)

(१)—इस अक्षरता का शक्तिपरमाध्य प्रथमअक्षर में विस्तार से स्वरूपपरिचय हुआ है । 'राज स्थानपैरिक्लृत्तशोपसंस्थान' के द्वारा आचरत इसी का प्रकाशन प्रकान्त है ।

बृहस्पति ने त्रिम तार्किक-समाधान से मानवों में इस आचारधर्म के प्रति पुन भद्रा प्रतिष्ठित की, उस समाधान का अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण वैज्ञानिक-सन्दर्भ में सम्बन्ध है, त्रिम का अन्त समावेश सम्भव नहीं है। उस समाधान के सम्बन्ध में प्रकृत में यही खान लेना पर्याप्त होगा कि, भारतीय आचारधर्म का मत वाणी की प्रति क्यों क मानवीय-मानविक कल्पनाओं से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। अतएव इन के आचरण में मानव के शिष्टाचारानुसारी कल्पनिक उदाहरणों का प्रयोग तर्कसाही निषिद्ध है। यह आचारधर्म वा प्रकृति क सनातन-ज्ञानविज्ञानात्मक-नित्य-नियमों के आचार पर ही व्यवस्थित है। यदि कोई मुवाग्वाणी 'गायत्रीमन्त्र के स्थान में गायत्रीमन्त्र के असुगण (भाग्य)' का ही अप करना आरम्भ कर देगा तो वही मन्त्रार्थ इष्ट के स्थान में अनिष्ट का ही कारण बन जायगा। यही नहीं अपितु स्वयं गायत्री-मन्त्र भी एक भी स्वर-वर्ण-अक्षर-क विपर्ययात्मक दोष से अपकर्त्ता का विषय ही कर देगा (१)। अपने इसी कल्पनिक रूप में देवयुगीय मानवों के लिए अम्युदयमहाप्रकृति भी यज्ञधर्म प्रत्यगात्मक अनिष्ट का ही कारण बन गया था। भूतदृष्ट्या यद्यपि पटना आचारण ही थी। किन्तु प्राणदृष्ट्या वही पटना यज्ञका के अनिष्ट का कारण बन गई थी। भाषुक्तायण इस हर दोष से अपरिचित तन्त्रालीन मानव यज्ञात्मक धर्म को ही इष्ट अनिष्ट का कारण मान बैठा था। भूमिनिगननानन्तर निर्मिता वेदि पर कुशास्तरण होता है। तत्पूर्व इस वेदि का स्वर्य कर लेने से ही नियननप्रयुक्त हिंसक प्राण (उग्रप्राण) यज्ञकर्त्ता का अनिष्ट कर देता था। बृहस्पति ने यही तथ्य मानवों के सम्मुख रक्त्वा एव इष्ट वैज्ञानिक-स्वरूप-के माध्यम से ही उद्बोधन प्रदान किया (२)। बर्हि (कुश-हाम) से वेदि का हिंसक प्राण क्योंकि उपरान्त हो जाता है अतएव उस के विज्ञान देने के अनन्तर ही वेदि का स्वर्य करना चाहिए, यही उस उद्बोधन का यह निष्कर्ष है त्रिम इस प्राणविज्ञान का समन्वय कल्पि भूतविज्ञानवाणी नहीं करतकता।

१-मानविक-कल्पनाओं से ममान्वितों व्याख्याओं से मांस्कृतिक-ज्ञानविज्ञानसिद्धि भी कर्त्तव्यकर्ममार्त्मक धर्म की 'मत्तवादरूप' में परिणति, एन धर्मव्याज्ज्वात्मक आचर के य 'यज्ञसमारोह'—

तत्रमुक्तं इतने अपने ज्ञानविज्ञानसिद्धि आचारधर्मों को मो उसीप्रकार सामान्य-लौकिक-धर्म ही मान लिया है किन्तु कि इष्टानिष्ट विशेषरूपेण प्रभावशाली नहीं हुआ करता। इसी भाषुक्तापूर्वा श्रैतिकी मान्यता से इतने विगत-अवधि से शास्त्रीय-आचारों को अपनी कल्पना से ही समन्वित कर लिया है। 'यज्ञ' जैसे

(१)—बृह शब्द स्वरतो धर्षति वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्ध्वो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

(२)—कृष्णा वेदि । तेनावमर्शचारिणं-तस्मात् पापीयांसोऽभूत् । तेन-अनधर्शं यजन्वम् । तथा श्रेयांसो भविष्यन् । आ कियत्-इति (कप्रतक वेदि का स्पर्श न करे ?), आर्हिपस्तरशात्-इति । बर्हिपा इ वै खन्वेपा शान्यति । स यो हैष-विद्वान्-अन-धर्शं यजते श्रेयान् इ वै भवति ।

सोमागारे' शशिसौम्याकारः-शशी=चन्द्रस्तद्वत् सौम्य =रमणीयः, आकार = स्वरूप यस्य स तथोक्तः । 'कते' कान्त =कमनीयः । 'पियदसणे' पियदर्शन - पिय=दर्शकजनमनोह्लादक दर्शनम्=अवलोकन यस्य स तथोक्त । 'सुरूवे' सुरूप =सर्वातिशायिरूपभावप्यत्रान । 'सामदंडमेदउवप्याणणीइसुप्पउत्तण यविहिण्णू' सामदण्डमेदोपमदाननीति सुप्रयुक्तनयविधिह -तत्र साम='व्य युष्मा क यूयमस्माकं को मेदोऽस्माकम्' इत्यादि मधुरवाक्ये शत्रुपक्षवशीकरणम्, दण्ड दण्डयते-घनाशयपहरणेन निस्सारी क्रियते जनो येन स तथोक्त =कलेशोत्पादेन

परिपूर्ण था । चंद्रमाके जैसा इसका सौम्य आकार था । देखने वालों को यह बहुत अधिक पिय लगता था । कमनीय था । रूप लावण्य इसके मत्पेक अग से टपकसा रहा था ।

यहाँ "अहीणजावसुरूवे" में जो यावत् पद रखा है-उस से इस पाठ का यहाँ ग्रहण किया गया है-अहीणपडिपुण्ण-पचेन्त्रियसरीरे लम्बखणवजणगुणोववेप, भाणुम्माणप्पमाणपडिपुण्ण -सुजापसव्वगसुंदरने, ससिसोमागारे, कते, पियदसणे सुरूवे । (सामदंडमेदउवप्याणणी विसुप्पउत्तणयविहिण्णू ईहा-बृहमगण गवेसणअत्थमत्थमइविसामए) हम आपके हैं आप हमारे हैं हम में और आप में कोई भेद नहीं है इत्यादिमधुर वचनों द्वाराशत्रुपक्ष को वश में करना यह साम उपाय है, क्लेश उत्पन्न करके अथवा काप आदि का अपहरण करके शत्रु को वश में करना-या उसे बिलकुलकम जोर बना देना यह दण्डनीति है, शत्रु पक्ष के स्वामी-तथा सेवक में जो परस्पर में स्नेह होता है उसमें भेद करना-उनके चित्त में ऐसी बात जमा देना कि जिससे दोनों आपमें एक दूसरे का विश्वास न कर सकें इसका नाम भेदनीति है । यह भेदनीति ३ तीन प्रकार की कही गई है-

यन्दना जेवे अमेना सौम्य आकार हते. जेनारने जे जहुण वधारे गभते हते. जे कमनीय हता. इप अने लावण्य अमेना इरेके इरेक अगभाथी नीवरतु हतु

अही 'अहीण जाव सुरूवे' भा जे यावत् पद मुक्तगमा आव्यु छि, तेनाथी आ पाठतु अही अहए करवाभा आव्ये छि-अहीणपडिपुण्णपचेदियसरीरे लम्बखणवजनगुणोववेप सामुम्माणप्पमाणपडिपुण्णसुजापसव्वगसुंदरने ससिसोमागारे, कते पियदसणे सुरूवे ।" सामदंडमेदउवप्याण नीतिसुप्पउत्तणयविहिण्णू ईहा बृहमगणगवेसणअत्थमत्थमइविसामए) अमे तमारा छिजे, तमे अमारा छि, आपव्वाभा केई पणु जातने वेड नथी, वगेरे भीहा वचनेथी शत्रुपक्षने वश करवे आ आम उपाय छि पीजित करीने अथवा तो धन-अअरतु हरण करीने इअम उपर काणू मेगववे अअरते। तेने आप निर्गज अनाववे आ हएअनीति छि शत्रुपक्षना अवाभी तेमज सेवकभां जे अके पीला वरक

हे वह प्रमाण कही गई है ।

अपोह - अपोहते = निवार्यते स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेति स तयोक्त = निजा
कारनिर्णयज्ञान यथा - 'स्थाणुरेवाय' मिति। मार्गण - मार्ग्यते = अन्वियते वस्त्र-
नेनेति तत्तयोक्तम् = अपोहाग्रे सदभूतार्थविशेषज्ञानाभिमुखमेव 'तत्त्वत्वे तत्स-
त्त्वमन्वय' इत्यन्वयधर्मान्वेषण, यथा वृद्धीलताधारोहण स्थाणुधर्म एवात्र घटने
इति। स्थाणुमेवाश्रित्य वृद्धीलताधारोहण भवति, अत स्थाणु धर्मत्वेन वृद्धीलता
धारोहण व्यपदिश्यते। गवेषण - गवेष्यते = विशेषतो निश्चीयते वस्त्वनेनेति तत्

"इसी का नाम सशय है। इस सशयके होने पर यह स्थाणु होना चाहिये
अथवा पुरुष होना चाहिये इसतरह किसी एक तरफ झुकती हुई जो
बुद्धि की चेष्टा होती है यही ईशा है।

ईशा के बाद जो विशेष ज्ञान होता है उसका नाम अवाय है -
अपोह है - अपने आकार से विपरीत आकार जहा दूर किया जाता है
वह 'अपोह' है ऐसी अपोह शब्द की व्युत्पत्ति है। जैसे जब यह
योध हुआ कि यह स्थाणु होना चाहिये तब ऐसा जो योध
होता है कि यह स्थाणु ही है इसी का नाम अपोह है मार्गण शब्द
का अर्थ होता है - अन्वेषण - यह स्थाणु ही है ऐसा जो अपोह नामक
योध हो रहा है वह इस वान को लेकर हो रहा है कि यहाँ पर वल्ली
आरोहण आदि जो स्थाणुगत धर्म है वे ही घटित हो रहे हैं। इसी का
नाम अन्वय है 'तत्त्वत्वे तत्सत्त्वमन्वयः' यह अन्वय का लक्षण है। स्थाणु
को अश्रित करके ही वल्ली लता आदि का वहाँ आरोहण होता है -
इसलिये ये स्थाणु के धर्म तरी के प्रकट किये जाते हैं। मार्गणा में अन्वय
धर्म की पर्यालोचना होती है। गवेषणा में व्यतिरेक धर्म का विचार चलता

आ प्रभाषे केध ओक तरङ्ग वणती बुद्धिनी चेष्टा थाय छ, तेनु नाम धंहा छ
धंहा पछी ने विशेषनान डोय तेनु नाम अवाय छ - अपोह - छ पोताना
आकारधी भिन्न आकारने न्या दूर करवामा आवे तेने अपोह कह छ ओरीते अपोह शब्दनी
व्युत्पत्ति छ द. त. न्यारे ओ ज्ञान थयु ई आ न्यायु (इई) डोयु ओधओ त्यारे
ओयु निश्चयरे ने ज्ञान थाय छ ई आ न्यायु (इई) न छ, आनु न नाम अपोह छ
मार्गण शब्दने अर्थ 'अन्वेषण' थाय छ आ न्यायु न छ, आ प्रकारनु अपोह
नामे ने ज्ञान थयु रक्षु छ, ते आने धर्धने न थयु रक्षु छ ई अर्द्धा वल्ली (वेल)
आरोहणु वगेरे ने न्यायुमा रहेनारा धर्मो छ, ते न घटित अरिह्य छ आनु नाम
अन्वय छ "तत्त्वत्वे तत्सत्त्वमन्वय" आ अन्वयनु लक्षणु छ 'स्थाणु (इई) ना
आधारे न वता वगेरेनु आरोहणु थाय छ भाटे न ओ स्थाणुना धर्म भताववामा
आव्या छ मार्गणमा 'अन्वय' धर्मनी पर्यालोचना थाय छ गवेषणमा ई व्यतिरेक

नीचमल्पप्रदानेन, सम तुल्यपराक्रमे ॥१॥” इति, अन्यथा—“लुब्धमर्थेन गृहीयात्, साधुमञ्जलिकर्मणा। मूर्खं छन्दानुरोधेन, तत्त्वार्थेन च पण्डितम् ॥” इति। ईहाबोध मगणगवेसणश्चर्यसत्यमइविसारए’ ईहाऽपोहमार्गणगवेपणार्थशास्त्रमतिविश्राद - तत्र ईहा=स्वयापिवस्तुनोऽनालाचितविलोफनजन्यसशयनिराशाय बुद्धिवेष्टा, यथा दूरत उच्चैस्त्वयुक्तस्य कस्यचिदर्शने ‘स्थाणु र्वा पुरुषो वा इति विवकाय बुद्धिवेष्टनम्।

बश में करना चाहिये तो उसके साथ नम्रता का व्यवहार करना चाहिये। (शूर भेदेन योजयेत्) किसी शूरवीरको यदि बश में करना है तो उसके साथ भेदनीति का प्रयोग करना चाहिये। (नीचमल्पप्रदानेन) यदि किसी नीचजनको बश में करना है, तो उसे कुछ न कुछ थोड़ा बहुत अवश्य दे देना चाहिये।

(सम तुल्यपराक्रमे) परायरी चाहे शत्रु को यदि बश में करना है तो उसके तो उसके साथ परायरी का पराक्रम करना चाहिये। यही बात अन्यत्र इस प्रकार से गई है—

‘लुब्धमर्थेन गृहीयात् साधुमञ्जलि, कर्मणा,
‘मूर्खं छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम्’।

सामान्य रूप से वस्तु के बाद जो उसमें सशय होता है उस सशय को दूर करने की जो एक प्रकार की बुद्धि चेष्टा होती है उसका नाम ईहा है। जैसे दूर से किसी ऊँची वस्तु का जब हमें दर्शन होता है तब यह कुछ है ऐसा सामान्य बोध होता है अब इस सामान्य बोध के बाद फिर ऐसा जो विचार आता है कि यह स्थाणु है या पुरुष है

इस बोधके ‘शूर भेदेन योजयेत्’ वीर पुरुषने वशकरवेो होय तो तेनी साथे भेदनीतिने प्रयोग करवेो बोधके. ‘नीचमल्पप्रदानेन’ नीच भाषासने वश करवेो होय तो कर्कठने कर्कठ-शेडु बोधके आपवु बोधके. सम तुल्यपराक्रमे।’ शरणी शक्तिवाण्य दुश्मनने वश करवेो होय तो तेनी साथे गराभरीतु शूतन भताववु बोधके बोध वात भीने स्थाने आ रीते भताववामा आवी छे—

लुब्धमर्थेन गृहीयात् साधुमञ्जलिकर्मणा।

मूर्खं छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम् ॥१॥,

सामान्य रूपमा वस्तुना बोध पछी ने तेमा अशय उद्भववे छे तेने दूर करवानी ओक प्रकारनी बुद्धिनीबेध होय छे, तेनु नाम ‘ईहा’ छे छ. त. इरथी कर्कठ शी वस्तुनु न्याये दर्शन थाय छे, त्यारे आ कर्कठ छे, ओवु सामान्य ज्ञान आपवुने थाय छे आ सामान्य ज्ञान पछी इरी ओम विचार थाय के आ स्थाणु (इड) छे के पुरुष छे आतु नाम अशय छे आ अशय पछी आ स्थाणु होवु बोधके अथा पुरुष होवेो बोधके,

वैनयिक्या-विनयेन जाता वैनयिकी=गुर्वादिविनयप्राप्तशास्त्रार्थ सस्कारजन्या, तथा, अत्र नैमित्तिकशिष्यद्वयोदाहरण सक्षेपत प्रदर्श्यते—

एरस्मिन्ननगरे समकमवयस्त्री द्वौ शिष्यौ निमित्तशास्त्र पठितु कस्यापि नैमित्तिकस्य समीपे गतवन्तौ। तयोरेको विनयशीलो यद् यथा गुरुरुपदिशति तत्तथैव बहुमानपुरस्सर विनयावनतमस्तकोऽधीते, गुरुपाठित मुहुर्मुहुर्विमृशति, शङ्कास्पद स्थल गुरुसमीपमुपेत्य सविनय निर्णयति च। अपरस्तु न तथा विनयेन पठति, न पृच्छति, नापि विमृशति च। अधीतशास्त्राद्युभौ कालान्तरे जीविकार्थं देशान्तरं गतौ। अथचि

है। गुरु आदि के विनय से प्राप्त हुए शास्त्री अर्थ के सम्भार से जो बुद्धि प्राप्त होती है वह वैनयिकी बुद्धि है।

इस विषय में दो नैमित्तिक शिष्यों का उदाहरण इस प्रकार है— किसी नगर में समान अवस्था वाले दो शिष्य किसी निमित्तज्ञ के पास निमित्त शास्त्र को पढ़ने के लिये गये। उनमें एक शिष्य विनय शील था। गुरुमहाराज उसे जिस प्रकार जिस बात को पढ़ाते थे वह उस बात को बहुमान पुरस्सर चढ़े भारी विनय के साथ पढ़ता था। विद्या गुरु जिस विषय को उसे समझाया करते थे वह उस विषय को बार बार विचार में लाया करता था। जिन विषय में उसे किसी भी तरह का सदेह होता वो वह गुरु के पास जा कर विनय के साथ उसका निर्णय करता। दूसरा शिष्य ऐसा कुछ अधिनयी था कि वह न तो कुछ पढ़ता न कुछ लिखता और न गुरु से कुछ पूछता और न कुछ विचार ही करता। अब उन दोनों के लिये ऐसा अवसर आया कि उन्हें आजी

शुरु वगेरेना विनयशी प्राप्त करेव शास्त्रीय अर्थना अस्कार वटे ने बुद्धि प्राप्त थाय छे, तेवैनायिधी बुद्धि छे आ विषयने व ता ये नमित्तिक शिष्योना दृष्टान्त आ प्रभाषे छे—

डोर्ध न आ अरपी छभरना ये विद्यार्थिओ डोर्ध निमित्तज्ञानी पासे निमित्त शास्त्रना अभ्यासाथे गया। तेओभा ओक शिष्य विनय हुतो शुरु तेने ने वात शीभवता ते ते वातने अहुअ मानपूर्वक धर्या विनय साथे ते शीभवतो हुतो विद्या आपनारा शुरु ने विषय तेने अमजवता ते ते विषय छपर बारबार मनन कन्तो हुतो। ते विषयभा तेने डोर्ध पक्ष वतनी थका होय तो ते शुरुनी पासे न्ने अविनय तेनु समाधान करतो हुतो। ओजे शिष्य कर्क अविनयी हुतो न तो ते कर्ध वाचतो अने न ते कर्ध वपतो तेमज न शुरुने ते कर्ध पूछतो अने न ते डोर्धपक्षवतना विचार करतो हुवे विद्याअभ्यास करी छा पछी आ वन्नेने

योक्त-मार्गगादृर्त्वे सद्भूतार्थविशेष निर्णयामिष्टुवमेवान्यधर्मपरित्यागेन 'तदमत्वे तदसत्त्वं व्यतिरेकः' इति व्यतिरेक धर्माभ्यास समाप्नोचन यथा- 'अस्मिन्नशिरः शरीर कण्डूयनादयः पुरुषधर्मा न दृश्यन्ते' इति। एतेषां समाहारे ईहापोहमार्गगणवेषणानि, तैरर्थशास्त्रे=अर्थोपार्जननिमित्त शास्त्रमर्थशास्त्र, तत्र या मति=मनन तथा विशारदः=निपुणः स तथोक्तः। तथा 'उत्पत्तियाए वेणइयाए कम्मयाए पारिणामियाए चउत्तिहाए बुद्धीए उववेए' औत्पत्तिकाया, वैनयिकाया, कर्मजया, पारिणामिकाया, चतुर्विधया बुद्ध्या उपपेत, तत्र-औत्पत्तिकाया-उत्पत्तिरेक-शास्त्राभ्यासकर्मपरिशीलनादिक विहाय प्रयोजनं यस्या सा औत्पत्तिकी-पूर्वमदृष्टाद्युगा ननुभूतविषयतयाप्यस्माद्भवन्शीला, तथा, अत्र रोहकदृष्टान्त प्रसिद्ध एव।

है जैसे ऐसा विचार होना-कि यह स्वाणु ही है- पुरुष नहीं-कारण पुरुषगत जो शिर कण्डूयन आदि धर्म हैं वे यहा प्रतीत नहीं हो रहे हैं। 'तदमत्त्वे तदसत्त्वम्' यह व्यतिरेक का लक्षण है। अमयकुमार जिस तरह सामाजिक नीति के प्रयोग करने में विशेषांपदु ये उसी प्रकार वे ईहा अपोह मार्गण, गवेपण द्वारा अर्थशास्त्र के विचार करने में भी विशेष विशारद थे। (उत्पत्तियाए वेणइयाए कम्मयाए पारिणामियाए चउत्तिहाए बुद्धीए उववेए) औत्पत्तिका, वैनयिका कर्म जा तथा, परिणामिका, इस तरह विचार प्रकार की बुद्धि से वे अमयकुमार युक्त थे। जो बुद्धि स्वतः इस जीव को बिना किसी शास्त्राभ्यास आदि के उत्पन्न होती है वह औत्पत्तिका की बुद्धि है। यह बुद्धि पूर्व में अदृष्ट अद्युत तथा अननुभूत हुए विषय को अकस्मात् जान लेती है। इस विषय में रोहके का दृष्टान्त प्रसिद्ध ही

[अनाथ] धर्म उपर विचार करवाना आवे छै। छ त. केम विचार भवे छै छै आ स्थानु न छै, पुत्र नथी। करण के पुत्रअत के शिर कण्डूयन वगेरे धर्मो छै, तेमोनी-अही प्रतीति यती नथी। 'तदसत्त्वे तदसत्त्वम्' आ व्यतिरेकतु लक्षण छै केम अलयकुमार आभ तगेरे नीतिना प्रयोग करवाना विशेष कुशल छता; तेमन-छता, अपोह. भाजंछु, जवेपण वठे अर्थशास्त्र उपर विचार करवाना पण विशेष छोशि-यार छता (उत्पत्तियाए वेणइयाए कम्मयाए परिणामियाए चउत्तिहाए बुद्धीए उववेए) औत्पत्तिका, वैनयिका कर्म आने परिणामिका आ रीते आर प्रकारनी बुद्धिथी अलयकुमार अ पन्न छता. एवने पोतानी भेजे छैछ पण आतना आआभ्यास वगरे बुद्धि उदभवे छेते-औत्पत्तिका बुद्धि छै आ बुद्धीपहेवा छैछपण वमत नोवाभ नहि आवेवा, आलणवाभा नही आवेवा तेमन अनुभूतिना विषयभा नहि आवेवा दिश्यने आनायास समल वे छै आ आगतमा रोहकनु दृष्टात प्रसिद्ध भवेव न छै,

वैनयिक्या-विनयेन जाता वैनयिकी-गुरादिविनयमाप्तशास्त्रार्थं सस्फारजन्या, तथा, अत्र नैमित्तिकशिष्यद्वयोदाहरणं सक्षेपतः प्रदर्शयते—

एकस्मिन्नगरे समकक्षत्रयस्कां द्वौ शिष्यौ निमित्तशास्त्रं पठितुं कम्पादि नैमित्तिकस्य समीपे गतवन्तौ। तयोरेको विनयशीले यद् यथा गुरुरुपदिशति तत्तथैव बहुमानपुरस्तरं विनयावनतमस्तकोऽधीते, गुरुपाठितं मुहुर्मुहुर्विमृशति, शङ्कास्पदं स्थूलं गुरुसमीपमुपेत्य सविनयं निर्णयति च। अपरस्तु न तथा विनयेन पठति, न पृच्छति, नापि विमृशति च। अभीतशास्त्राद्युभौ कालांतरे जीविकार्थं देशान्तरं गतौ। ववचि

है। गुरु आदि के विनय से प्राप्त हुए शास्त्री अर्थ के सम्कार से जो बुद्धि प्राप्त होती है वह वैनयिकी बुद्धि है।

इस विषय में दो नैमित्तिक शिष्यों का उदाहरण इस प्रकार है— किसी नगर में समान अवस्था वाले दो शिष्य किसी निमित्तज्ञ के पास निमित्त शास्त्र को पढ़ने के लिये गये। उनमें एक शिष्य विनयशील था। गुरुमहाराज उसे जिस प्रकार जिस बात को पढ़ाते थे वह उस बात को बहुमान पुरस्तर घड़े भारी विनय के साथ पढ़ता या। विद्या गुरु जिम विषय को उसे समझाया करते थे वह उस विषय को बार बार विचार म लाया करता था। जिन विषय में उसे किसी भी तरह का संदेह होता वो वह गुरु के पास जा कर विनय के साथ उमका निर्णय करता। दूसरा शिष्य ऐसा कुछ अविनयी था कि वह न तो कुछ पढ़ता न कुछ लिखता और न गुरु से कुछ पूछता और न कुछ विचार ही करता। अब उन दोनों के लिये ऐसा अवसर आया कि उन्हें आजी

शुरु वगेरेना विनयशीलं प्राप्तं करेण शास्त्रीयं अर्थानां सम्कारं वदे नो बुद्धिं प्राप्तं यथ छे, तैवैनाधिधी बुद्धि छे आ विषयने लगता ये नमित्तिक शिष्योना दृष्टान्त आ प्रभाषे छे—

कोई न रमा सरणी उभरना ये विद्वार्थिओ कोई निमित्तज्ञनी पासो निमित्त शास्त्रना अव्यासार्थे गया। तेओमा ओक शिष्य विनय हुतो शुरु तेने ने बात शीभवता ते ते बातने अलग मानपूर्वक धरुा विनय साथे ते शीभवतो हुतो विद्या आपनारा शुरु ने विषय तेने समझवता ते ते विषय उपर बारबार मनन करतो हुतो। ते विषयमा तेने कोई पक्ष अवतनी थका होय तो ते शुरुनी पासो तेने अविनय तेनुं समझधान करतो हुतो। भीजे शिष्य कछक अविनयी हुतो न तो ते कछ वाचतो अने न ते कछ बभतो तेभज न शुरुने ते कछ पूछतो अने न ते कोईपक्ष अवतना विचार करतो हुवे विद्याअव्यास करी ह्य पछी आ भन्नेने

नगरनिष्ठे मरस्तीरे विश्रमत् । 'एतायुमी विद्वांसो' इतिश्रुत्वा मस्तकन्यस्त-
 जलभृतघटा काचिद्वद्धा विदेशगतस्यसुतकुशलिनीं वार्तां पप्रच्छ । मश्रसमकालमेव
 तमस्तकाद्घटो न्यपतत्, तद्वह्नी सोऽविमृश्यकारी रुटितिमाह—'वृद्धे ।=मृतस्तव
 पुत्र' इत्यादि । कर्णकठोर प्राणापहारक वज्रमिवाऽऽपतत् पुत्रमरणरूप तद्वचन
 श्रुत्वा यावत्सा मूर्छा प्राप्नाति तावदपरो विमर्शशीलो नेमित्तको न्यगदत् भोभ्रात
 र्मेव ब्रूहि, अस्या पुत्र साम्प्रतमेव स्वग्रहमागतो वर्तते, मात । गच्छ शीघ्रं ग्रह
 पुत्रमुखान्नलोकनजनितममन्दपरमानन्दमनुभवेत्त्यादि । तन्श्रुत्वा मत्पुज्जीवितेव

विका सपादन के लिये परदेश में जाना पडा । जय ये घाटर जा रहे थे तो
 किसी एक नगर के पास के सरोवर के किनारे ये दोनों ठहर गये । इतने में
 एक वृद्धाने कि जिसका पुत्र बहुत समय से परदेश गया हुआ था और अभी तक
 वापिस नहीं आया था उन्हे देखा-वह मस्तक पर घडा रखकर वहाँ
 जल भरने को भाई थी । उसने विद्वान समझ कर इनसे अपने पुत्र की
 कुशल वार्ता पूछी तो अधिनीत शिष्यने यह देवकर कि उसके मस्तक
 से मश्र पछने के साथ साथ घडा गिर गया है जल्दी से ऐसा कहा
 कि हे वृद्धे ! तेरा पुत्र तो परदेश में ही मर गया है—तू अथ किस की
 कुशल वार्ता पूछ रही है। ऐसा उसका कर्णकठोर वज्र के प्रहार जैसा
 तीक्ष्ण मर्मभेदक पुत्र का मरण रूप वचन सुनकर वह मूर्च्छित होने
 याभी ही थी इतने में दूसरे विनयशील शिष्यने विचार कर कहा भाई
 ऐसा मतकहो—इसका पुत्र तो इस समय घर पर ही आ पहुँचा है। ऐसा
 कहकर फिर उसने उस वृद्धा से कहा ! तूम जल्दी से नरकी घर जाओ।

पोतानी आलुविका यत्तावता माटे परदेश ज्वानु धयु न्यारे तेज्यो णद्धार नरररुषा
 इत्ता त्तारे भार्गभाडानगर पासे सरोवरना ठाठे आ जन्ने शक्या। व्येत्ताभा व्येक शशीव्ये
 के जेना पुत्र मरुा समय पड़ेला विदेश जये इतो अने इल पोताने घर पाछि इये
 न इतो—तेज्योने जेया, ते धरुा माथा उपर भूडीने पाव्णी कस्या आवी इती ते
 जशीव्ये तेज्योने विद्वान समलने जेभने पोताना पुत्रनुं कुशण पूछ्यु मश्र पूछ्तानी
 साथे न वृद्धाना माथा उपरथीपाव्णीने पछा पडी गयेछे,—जे जेऽने अधिनीन शिष्ये उडपरी
 कहु के से वृद्धे ! तारे पुत्र तो विदेशभा मरुा पाभ्ये छे, तु इवे डाना
 कुशणनी बात पूछे छे, आ प्रभाजे तेनुं वज्रप्रहार जेपु धावुं कटु, पीक्षु, अन्तःकरणने
 र्वाधनाडु, पुत्रमरुा इपवचन आभणीने ते जेसान यवानी न इती तेऽताभा जीव विनयशील
 शिष्ये विचारीने कहु के भाईआपु न जेवो जेना पुत्र तो अत्यारे घर आवी पड़ेअ्ये छे
 आभ कहीने पछी तेजे ते शशीने कहु के भा ! तमे सत्तरे घर जाओ। तभारे पुत्र

सा गता गृह, मिलितो बन्धुश्लाम पुत्र, हर्षप्रहर्षमुपागता। तद्गु सा घटमूल्य
 पारितोषिकमादाय सरस्तीरमागत्य तां पृष्टवतीकथ ज्ञातमेतद्दृत्तमिति। अविमृश्य
 कारी ब्रूते प्रश्नसमये तव मस्तकान्निपत्य कुम्भः स्फुटितस्तेन मया ज्ञात-‘मृतस्त्व
 पुत्र’ इति। तत्पश्चाद् विमृश्यकारी प्रवक्ति-प्रश्नममकालमेव तव घटाऽधो भूमौ
 निपतितस्त्वज्जलं च सरोजलेन साकं मिलितं तेन मया ज्ञात-‘यस्य यज्जलं तत्तेन

तुम्हारा पुत्र पर पर आ गया है। उसके मुग्धाबलोकन से तुम परम हर्ष का
 अनुभव करो। इस प्रकार उस विनयशील विचारक शिष्य के वचन सुन
 कर उसे मानो नई चेतना मी प्राप्त हो गई हो इस तरह घनकर वह
 अपने घर पहुँची। पहुँचते ही उहा उसने एक लाल रूप्यों को कमा
 कर साथ म लये हुए अपने पुत्र को देखा-देखते ही उसे परम आनन्द
 का अनुभव हुआ हर्ष प्रकर्ष से युक्त हो कर वह घटमूल्य पाणि
 तोषिक लेकर पुन उस तालाब के किनारे पर वह आई। आते ही उन
 दोनों से उनसे पूछा-माई बतलाओ तुमने यह सब कैसे जाना। सुनकर
 अविमृश्यकारी शिष्यने उससे कहा-मा! प्रश्न पूछने के साथ ही जब
 तुम्हारे मातक से घटा गिर कर फूट गया-तो मैंने विचार किया कि
 जिस प्रकार यह घटा अचानक गिरकर फूट गया है उसी प्रकार तुम्हारा
 पुत्र भी मर गया है। विमृश्यकारीने अपनी बात के समर्थन में उसे कहा
 -कि मातः? प्रश्न करने के समकाल में ही जब आप का घटा
 जमीन पर गिर पडा और उसम का जल सरोवर के माय मिल गया

घेर आवी गये छे तेनु मे नेधने तमे भूषण आनन्द अनुभवो आ रीते विनयी
 अने विचारक शिष्यना वचन आभणीने तेजे जेजे केनवी चेतनान भेजवी होय, तेम ते
 तस्तज पोताने घेर गछ अने घेर पडोअता ज त्या तेजे जेधे बाध इपिया इभाध आरेल पोता
 ना पुत्रने जेये। जेतानी साथे ज तेनु हेयु आनन्दथी तज्जोण थर्गयु प्रसन्न थती
 ते अहु कीमती बेट लधने तेज तणावने छडे इरी आवी आवीने तेजे अन्नेने
 तेजे पूछयु ‘भाध तमे आ अहु देवी रीते जणयु?’ जे आभणीने अविमृश्यकारी
 [अविचारी] शिष्ये कहु-‘मा! प्रश्न करतानी साथे ज तभारा भाधा उपरथी धडे
 पडीने इटी गये, त्यारे अने थयु हे जे रीते आ धडे ज्योचितो पडीने इटी
 गये, ते रीते तभारे पुत्र पखु मणु पायेथे जे। “विमृश्यकारीजे [विचारके]
 पोतानी वातना समर्थनभा कहु के ‘मा! प्रश्न करती वपते तभारे धडे जमीन
 पर पडये अने तेनु पाणी सरोवरना पाणीनी साथे मणी गयु ते जे
 उपरथी जे जणयु के जे प्रभाजे आ घडानु पाणी आ सरोवरना पाणीनी साथे
 मणी गयु छे, तेज प्रभाजे तभारे पुत्र पखु तभने नदही भजवे जेधजे आ

मिलितमिति ततोऽस्या पूज्येऽप्यनया सह द्रुतमय मिलिष्यती' त्यादि । तस्मिन्
 तमत्रिमृश्यकारिण दुर्वचनैर्निर्भर्तस्य विमृश्यकारिणे बहुपुत्र्य पारितोपिक समर्प्या
 श्रीर्षादशतानि ददौ । अयासावविमृश्यकारी खेदविन्नो भूत्वा स्वचेतसि चितया
 मास-मया गुरुजन विनयाभावेन शास्त्रमभ्यस्त तस्मात्मे विद्या न फलवती जाते'
 त्यादिना मन सत्ताप समाप । विनयशीलो विमृश्यकारी तु गुरोरूपकार मुहुमुहु
 रनुस्मरन् विद्यामचार कुर्वन्वास्मिन् लोके जनरमृतमिय पूजित - क्रमग आत्म
 विद्यां समाप्य कल्याणमार्गं साधितवान् । सहाध्ययने कृतेऽपि विनीते पत्र

तो इस पर से मैंने जाना कि जिस प्रकार यह जल इस जल के साथ
 मिल जुल गया है-उसी प्रकार आपका पुत्र भी आपके साथ ही
 मिल जाना चाहिये। इस प्रकार उस विमृश्यकारी के भूरि भूरि प्रशंसा
 करती हुई उस वृद्धाने उस अधिमृश्यकारी व्यक्ति को घुरा भला कह कर
 तथा उस विचारशील व्यक्ति को बहुमूल्य पारितोपिक प्रदान कर अन्त
 में सैकड़ों आशीर्वाद बचनों से यथाया। अपने साथी का इस प्रकार देव
 दुर्लभ सन्मान देखकर अधिमृश्यकारी बहुत अधिक खेद खिन्न हुआ।
 उसने अपने चित्त में सोचा मैंने विद्यागुरुके पास विद्या का अध्ययन तो
 किया है-परन्तु विनयाभाव के कारण वह मुझ में फलवती नहीं हुई
 है। विनयशील विमृश्यकारीने 'विनयादि सपन्न बनकर जो भी विद्या
 मैंने विद्या गुरु से पढ़ी वह मुझ में विशेष रीति से प्रस्फुटित हुई है अतः
 मेरे ऊपर विद्यागुरु का बड़ा भारी उपकार हुआ है-इस प्रकार बार
 बार विद्या गुरु के उपकार का स्मरण करते हुए विद्या का मन्त्र अच्छी
 तरह से किया इस प्रकारसे लोगों में उसकी भव्य जैसी मान्यता बनी।
 प्रसन्नः जप वह आत्मविद्या की साधना करते-र कल्याणमार्ग का अधिक धन

प्रभाषे वात्सल्ये ते दाश्यात् अविभूत्यकारीना ज्ञाननी भूय जाटकषी काली अने ते पक्षी
 विचारशीलने भूय भीमती खेट अने से कये आशीर्वचने आया। चोत्ताना साथीनु आ
 रीते देव दुर्लभ सन्मान लेधने अविभूत्यकारी भूय व दु भी कये अने तेले
 चोत्ताना मनमां विचार कये के 'मे विद्यागुरु पासेभी विद्याभ्यास तो कये छे परन्तु
 विनय रहित होवाने वीधे विद्या सारी खेटे भारामा फलवती बध नहीं।" विनय
 शील विभूत्यकारी शिष्ये विचार कये के 'विनयादिधी ने विद्या गुरु पासेभी भेजवी
 छे, ते भारामा सविशेष विद्यास पाभी छे परन्पर भारा उपर विद्यागुरुने बहुत बारी
 उपकार कये छे" आ रीते बारबार विद्यागुरुना उपकारनु स्मरण करतां सारी खेटे
 विद्याप्रचार कये। आ प्रचारशी होकेभा अभूत लेवी तेनी ज्ञाती वधी। अनुक्रमे विचार
 ते आत्मविद्यानी साधना करता करता कल्याणपथने अधिक जन्थे त्वारे अनन्त अनन्त

विद्या मकलशास्त्ररहस्य प्रकटयति । मुनिनीतत्तद् विद्या प्रभावेणास्मिन् लोके
स्व रचनया शास्त्रादिरहस्य प्रकटयन् आत्मविद्या समवाप्य स्वपर कल्याणाय प्रभवति ।
इतिवैनयित्री बुद्धि दृष्टान्त । अग्रानेकशो दृष्टान्ता सन्तीति विस्तरभयाद्
विरम्यते ।

कार्मिक्या=कर्मण =कृपिवाणिज्यादि व्यवसायात् जाता कार्मिकी=तत्तत्क
र्माभ्यामप्रवर्षजनितेत्यर्थ तथा । अत्र तस्करकृषीवल्लोदाहरणम्—

पत्रितम्करो वाणिजग्रामे कस्यचिद्वणिजो गृहे कमलाकार खात खनितवान् ।
प्रभाते जना एकत्रीभूतारतखात दृष्ट्वा भूयो भूयः प्रशसा कृतवन्त —अहो ! चौरस्य
गया तो अनन्त ससार का भी अत उमने कर दिया । इस दृष्टान्त लिखने का
तान्पर्य यह है कि साधु अध्ययन करने पर भी विनीत जनमें ही विद्या
फलवती बनती है तथा मकल शास्त्रों का रहस्य भी आत्मा में प्रकट होता है
जो आत्मा विनीत होता है । विनीत जन ही विद्या के प्रभाव से इस
लोक में अपनी रचना द्वारा शास्त्रादि के रहस्य को प्रकट करते हैं—और
आत्मविद्या को प्राप्त कर अन्त में वे स्व और पर के कल्याण करने में
समर्थ बन जाते हैं । इस बुद्धि के ऊपर और भी अनेक प्रकार दृष्टान्त
हैं जो यहां ग्रन्थ विस्तृत हो जाने के भय से नहीं लिखे गये हैं । कृपि वाणि
ज्य आदि व्यवसायरूप कर्म से जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह कार्मिकी बुद्धि है ।

इसके ऊपर कृपिवल (विशान) और चोर का उदाहरण इस प्रकार है—

एक चोर ने वाणिज गाँव में किसी एक वणिक् के घर में रात्रि
के समय कमल के आकार जैसा खात-ओँडा किया ।—प्रभातकाल जब
हुआ तो लोगोंने इसे देख कर चोर की बड़ी भारी प्रशंसा की । कहने

भरखुने पक्षु तेखे अत कथो आ दृष्टान्त लभवानु प्रयोगन अे छे के अेकी साधे
अभ्यास कथा होता पक्षु विनीत मायुसभा ७ विद्या अक्षुण्ण थाय छे, अने अधा शास्त्रोनु
रहस्य पक्षु ते ७ आत्माभा प्रकटे छे, के ले आत्मा विनम्र होय छे नम्र मायुस ७
विद्याना प्रभावथी आ लोकभा पोतानी रचना वटे शास्त्र वगेरेनु रहस्य भतावे छे, अने
आत्मविद्याने भेजवीने अ ते स्व [पितानु] अने पर [पारकानु] कल्याण साधवामा समर्थ
थाय छे आ बुद्धि विषे भीलपक्षु अनेक दृष्टान्तो छे ले अक्षी ग्रन्थ विस्तारना
भयथी लभ्या नथी । कृपि, वाणिज्य वगेरे व्यवसायना कर्मोथी ले बुद्धि उत्पन्न थाय
छे ते कार्मिकी बुद्धि छे

अेना भाटे कृषीवल [जेसुत] अने चोरनु उदाहरण आ प्रभासे छे—

वाणिज गामभा डोछ अेक वाणिज्याना घेर रातना वभते अेक चोरे कभणना
आकार लेषु पाडोइ [भातर] पाउथु सवारे लोकैअे अे जेधने चोरना भहु वारे

अस्यामवसर्पिण्या जातस्य चतुर्विंशस्य चरमतीर्थंकरस्य भगवतः श्रीवर्धमान-
स्वामिनश्चरमचातुर्मास्य पावापुर्यामासीत् । तत्र कृतपष्ठभक्तेषु नवमल्लकि-नव-
लेच्छकि-काशी-कौशलकेषु अष्टादशसु गणराजेषु समुपस्थितेषु तस्य चरमदेशना
पट्विंशदध्ययनात्मिका उत्तराध्ययननामतः प्रसिद्धा, विंशत्यध्ययनात्मिका तु
विपाकश्रुतारव्या । तत्रोत्तराध्ययनस्य शब्दार्थस्त्वेवम्-उत्तराणि=मोक्षसाधकत्वात्
प्रधानानि अध्ययनानि यत्र तदुत्तरा ययनम् ।

नन्विदमेव शास्त्र प्रधान चेत् आचाराद्गाविद्वादशाङ्गी भगवत्प्रज्ञाऽपि
प्रधानतयाऽनुकत्वादितोऽपकृष्टतया प्रेक्षावद्भिरनुपादेया स्यादिति चेद् ? अत्रो-
भगवान् गौतम गणधर को (नत्वा) नमस्कार कर में (उत्तराध्ययने)
इस उत्तराध्ययन मूत्र के ऊपर (प्रियदर्शिनीं वृत्तिं) प्रियदर्शिनी नामक
वृत्ति की (कुर्वे) रचना करता हूँ ॥ ४ ॥

टीकार्थ-इस अवसर्पिणी काल में उत्पन्न चौबीसवें अन्तिम तीर्थंकर
भगवान् श्रीवर्धमान स्वामी का अन्तिम चातुर्मास पावापुरी में हुआ ।
वहाँ पर भगवान् की सेवा में, नवमल्लकि नवलेच्छकि जो काशी एवं
कौशल देश के अठारह गणराजा थे वे उपस्थित हुए । उन सबों ने पष्ठभक्त
किया । उस समय उन श्री भगवान् महावीर स्वामी की अन्तिम देशना
हुई, जो देशना छत्तीस अध्ययनरूप 'उत्तराध्ययन' इस नाम से प्रसिद्ध
हुई, तथा बीस अध्ययनरूप विपाकश्रुत, इस नाम से भी प्रसिद्ध हुई ।
उनमें 'उत्तराध्ययन' शब्द का अर्थ इस प्रकार है—मोक्ष साधक होने
से उत्तर-प्रधान हैं अध्ययन जिसमें वह उत्तराध्ययन है ।

गणधरने (नत्वा) नमस्कार करी हूँ (उत्तराध्ययने) उत्तराध्ययन सूत्र उपर
(प्रियदर्शिनीम् वृत्तिं) प्रियदर्शिनी नामकी वृत्तिनी (कुर्वे) रचना करूँ ॥४॥

टीका-आ अवसर्पिणी काणमा उत्पन्न भयेत्वा चोवीसमा लेख्वा तीर्थंकर भग
वान् श्री वर्धमान स्वामीने छेत्वा चातुर्मास पावापुरीमा भयेत्वा आगण
भगवान्नी सेवामा नवमल्लकि नवलेच्छकि ने काशी अने कौशल देशना अठार
गणराज आवेल हुता ये अध्याये पष्ठभक्त करेल. आ समये भगवान् श्री
महावीर स्वामीनी अन्तिम देशना यध, ने देशना छत्तीस अध्ययनरूप
'उत्तराध्ययन' आ नामधी प्रसिद्ध यध, तथा बीस अध्ययनरूपमा विपाकश्रुत
नामधी पञ्च प्रसिद्ध यध, आमा 'उत्तराध्ययन' शब्दने अर्थ आ प्रकारे छे-
मोक्षसाधक होवाथी उत्तर-प्रधान छे अध्ययन नेमा ते उत्तराध्ययन छे

(सगुप्तिसमितिं समा विरतिमावधान सदा) जो पाच समिति और तीन गुप्तियों के धारक हैं, तथा सर्वदा सर्वविरति को पालने वाले हैं, (क्षमावदखिलक्षम) पृथिवी के समान जो सर्व प्रकार के अनुकूल प्रतिकूल परीपहादिक को सहन करते हैं, (कलितमञ्जुचारित्रकम्) जो निरतिचार चारित्र्य अराधन में सदा तत्पर रहते हैं, तथा—(सदोर-मुखवस्त्रिकाविलसिताननेन्दुं) वायुकायादि की यतना के लिये जिनका मुखरूपी चन्द्रमण्डल सदा सदोरक मुखवस्त्रिका से सुशोभित है, तथा—(अपूर्वघोषप्रद) जो अपूर्व समकितरूपी घोष-बीज के दाता हैं और (भववारिधिप्लवम्) इस ससारसमुद्र से मन्व्य जीवों के पार होने के लिये नौका समान हैं, ऐसे (गुरु) निर्ग्रन्थ गुरु महाराज को (प्रणौमि) मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

अथ टीकाकार भगवानकी वाणी आदिको नमस्कार करके अपनी व्यक्तव्यता प्रकट करते हैं—‘जैनों’ इत्यादि ।

(जैनों सरस्वतीं) जिनेन्द्र के मुखकमल से निर्गत द्वादशाङ्गीरूप सरस्वती देवी को, एवं (गणनायक गौतम) गणनायक-गच्छ के नायक

(सगुप्तिसमितिं समां विरतिमावधान सदा)—जे पाच समिति अने त्रय गुप्तियेना धारक छे, तथा सर्वदा सर्वविरतिने पाणवावाणा छे, (क्षमा वदखिलक्षमं) पृथ्वीना समान जे सर्व प्रकारना अनुकूल प्रतिकूल परिषेहोने सहन करे छे, (कलितमञ्जुचारित्रकम्)—जे निरतिचार चारित्र्यना आराधनमा सदा तत्पर रहे छे तथा (सदोरमुखवस्त्रिकाविलसिताननेन्दुं) वायुकाय आदिनी यतनाने भाटे जेभनुं सुभङ्गी चन्द्रमण्डल सदा होरासहितनी सुदुषतीथी सुशोभित छे, तथा (अपूर्वघोषप्रदं) अपूर्व समकितरूपी घोष-बीजना दाता छे अने (भववारिधिप्लवम्) आ ससारसमुद्रथी मन्व्य एवोने पार करवामा नौकासमान छे, जेवा (गुरुं) निर्ग्रन्थ गुरु महाराजने (प्रणौमि) हूँ नमस्कार करे हूँ ।

इवे टीकाकार एन भगवाननी वाणी आदिने नमस्कार करी स्ववक्त व्यता प्रकट करे छे—‘जैनी’ इत्यादि.

(जैनी सरस्वतीं) जिनेन्द्रना सुभक्तमणथी निर्गत द्वादशाङ्गीरूप सरस्वती देवीने, अने (गणनायकम् गौतम) गणनायक-गच्छना नायक भगवान गौतम

तत्र पट्विंशदध्ययनाना नामानि प्रदर्श्यन्ते—

१-विनयश्रुतम्, २-परीपह, ३-चतुरङ्गीयम्, ४-असंस्कृतम्, ५-अकामसकाममरणायम्, ६-क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय, ७-एलकीयम् (उरभ्रीयम्), ८-कापिलकम्, ९-नमिप्रब्रज्या, १०-द्रुमपत्रकम्, ११-बहुश्रुतम्, १२-हरिकेशीयम्, १३-चित्तसभूतीयम्, १४-इषुकारायम्, १५-सन्धिषु, १६-ब्रह्मचर्यसमाधिः, १७-पापश्रमणीयम्, १८-सयतीयम्, १९-मृगापुत्रीयम्, २०-महानिर्ग्रन्थीयम्, २१-समुद्रपालीयम्, २२-रथनेमीयम्, २३-केशिगौतमीयम्, २४-समितीयम्, २५-यज्ञीयम्, २६-सामाचारी, २७-खलुकीयम्, २८-मोक्षमार्गगतिः, २९-सम्यक्त्वपराक्रम, ३०-तपोमार्ग, ३१-चरणविधिः, ३२-प्रमादस्यानम्, ३३-कर्म-

जगह-जगह वर्णित कृआ है, अत प्रसिद्धिवश इसे प्रधान कहना कोई अनुचित नहीं है। इसलिए इस मूलसूत्र का नाम उत्तराध्ययन कहा गया है। उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययन ये हैं—

(१) विनयश्रुत, (२) परीपह, (३) चतुरङ्गीय, (४) असंस्कृत, (५) अकामसकाममरण, (६) क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय, (७) एलकीय, (८) कापिलक, (९) नमिप्रब्रज्या, (१०) द्रुमपत्रक, (११) बहुश्रुत, (१२) हरिकेशीय, (१३) चित्तसभूतीय, (१४) इषुकारीय, (१५) सन्धिषु, (१६) ब्रह्मचर्यसमाधि, (१७) पापश्रमणीय, (१८) सयतीय, (१९) मृगापुत्रीय, (२०) महानिर्ग्रन्थीय, (२१) समुद्रपालीय, (२२) रथनेमीय, (२३) केशिगौतमीय, (२४) समितीय, (२५) यज्ञीय, (२६) सामाचारी, (२७) खलुकीय, (२८) मोक्षमार्गगति, (२९) सम्यक्त्वपराक्रम, (३०) तपोमार्ग,

अटके प्रसिद्धिवश आने प्रधान कहेवाभा काय अनुचित नेवु नहीं आ माटे आ सुखसूत्रनु नाम उत्तराध्ययन कहेवायेव छे उत्तराध्ययनना छत्रीस अध्ययन आ प्रकारे छे—

(१) विनयश्रुत, (२) परीपह, (३) चतुरङ्गीय, (४) असंस्कृत, (५) अकामसकाममरण, (६) क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय, (७) एलकीय, (८) कापिलक, (९) नमिप्रब्रज्या, (१०) द्रुमपत्रक, (११) बहुश्रुत, (१२) हरिकेशीय, (१३) चित्तसभूतीय, (१४) इषुकारीय, (१५) सन्धिषु, (१६) ब्रह्मचर्यसमाधि, (१७) पापश्रमणीय, (१८) सयतीय, (१९) मृगापुत्रीय, (२०) महानिर्ग्रन्थीय, (२१) समुद्रपालीय, (२२) रथनेमीय, (२३) केशिगौतमीय, (२४) समितीय, (२५) यज्ञीय, (२६) सामाचारी, (२७) खलुकीय, (२८) मोक्ष मार्गगति, (२९) सम्यक्त्वपराक्रम,

ચ્યતે—યદ્યપિ સર્વે પ્રવચનં પ્રધાનમેવ, તથાપ્યેતાનિ વિનયશ્રુતાદીનિ પદ્ત્રિંશદ-
ધ્યયનાનિ રુઢિત્રશાત્ પ્રધાનાનિ । મગચચરમદેશનાસ્વરૂપતયાઽસ્મિન્ શાસ્ત્રે દ્વાદશાશ્રી
પ્રતિપાદિતાર્થમુપસંહરતા મગચતા પ્રાધાન્ય રૂઢ્યા પ્રદર્શિતમ્, સવિસ્તરં તુ તત્ત્વં તથ
તત્ર સૂત્રે વર્ણિતમિતિ ન કાઽપ્યનુપપત્તિઃ ।

પ્રશ્ન—યદિ છત્તીસ અધ્યયનાત્મક યહ શાસ્ત્ર હી પ્રધાન માના
જાવેગા તો આચારાગ આદિ દ્વાદશાગ કિ જિનકા પ્રરૂપણ મી સ્વયં
મગવાન્ ને હી કિયા હૈ, પ્રધાનરૂપ સે નહોં કહે જાને કે કારણ ઇમકી
અપેક્ષા અપકૃષ્ટ-અપ્રધાન હો જાયેંગે, ઓર ઇસ કારણ વે પ્રેક્ષાવાન્-
બુદ્ધિમાનો-કી દૃષ્ટિ મેં ઉપાદેય નહોં રહ સકેંગે, સો ઇસ પ્રકાર યદિ
કોઈ પ્રશ્ન કરે તો ઉસકા સમાધાન ઇસ પ્રકાર હૈ—

મગવત્પ્રતિપાદિત હોને કે કારણ યદ્યપિ સમી દ્વાદશાગાત્મક
પ્રવચન પ્રધાન હૈ ફિર મી યહાજો ઇન વિનયશ્રુતાદિક છત્તીસ અધ્યયનોં
મેં પ્રધાનતા પ્રદર્શિત કી ગઈ હૈ યહ કેવલ પ્રસિદ્ધિ કે વશ સમજના
ચાહિયે । મગવાન કી અન્તિમદેશનાસ્વરૂપ હોને સે ઇસ શાસ્ત્ર મેં
દ્વાદશાગપ્રતિપાદિત અર્થ કા સંક્ષેપ સે સમાવેશ કિયા ગયા હૈ, અતઃ
સૂત્રકાર ને પ્રસિદ્ધિ સે હી ઇસમેં પ્રધાનતા પ્રકટ કી હૈ । દ્વાદશાગ કા
વિસ્તારસહિત વાસ્તવિક તત્ત્વ, આચારાગ, સૂત્રકૃતાંગ આદિ આગમોંમેં

પ્રશ્ન—જો છત્તીસ અધ્યયનાત્મક આ શાસ્ત્ર જ પ્રધાન મનાશે તો આચારા
ગ વગેરે દ્વાદશાગ કે જોનું પ્રરૂપણ પણ સ્વયં ભગવાને જ કરેલ છે, તે
પ્રધાનરૂપના ન કહેવાવાને કારણે આની અપેક્ષા અપકૃષ્ટ-અપ્રધાન બની જશે,
અને આ કારણથી તે પ્રેક્ષાવાન્-બુદ્ધિમાનો-ની દૃષ્ટિએ ઉપાદેય નહીં રહે. જો
આ પ્રકારનો કદાચ કોઈ પ્રશ્ન કરે તો એનું સમાધાન આ પ્રકારથી છે—

સ્વયં ભગવાનથી પ્રતિપાદિત હોવાના કારણે જોકે બધા દ્વાદશાગાત્મક
પ્રવચન પ્રધાન છે છતાં પણ અહિં આ વિનયશ્રુતાદિક છત્તીસ અધ્યયનોમા
પ્રધાનતા પ્રદર્શિત કરાયેલ છે, તે કેવળ પ્રસિદ્ધિને વશ હોવાનું સમજવું
જોઈએ. ભગવાનની છેલ્લીદેશનાસ્વરૂપ હોવાથી આ શાસ્ત્રમા દ્વાદશાગપ્રતિ
પાદિત અર્થોમા સંક્ષેપમા સમાવેશ કરવામા આવેલ છે, એટલે સૂત્રકારે
પ્રસિદ્ધિથી જ આમા પ્રધાનતા પ્રકટ કરી છે. દ્વાદશાગનું વિસ્તારસહિત
વાસ્તવિક તત્ત્વ, આચારાગ, સૂત્રકૃતાંગ વગેરે આગમોમા ઠેકઠેકાણે વર્ણન થયેલ

સહ સમ્બન્ધઃ । ભાવસયોગઃ-અશુભમાવૈઃ સહાત્મનઃ સમ્બન્ધઃ, તસ્માત્ સર્વવિધ-
સયોગાદ્ વિમયુક્તસ્ય=વિમયુક્તસ્ય, અનિત્યાશ્વરણાદિદ્વાદશભાવનામિ સયોગસ્ય
ફલ સસારપરિશ્રમણાદિસ્વ વિજ્ઞાય સયોગ પરિત્યક્તવત્ इत्यर्थः । સયોગો हि मृग
वृष्णावद् भ्रमोत्पादक , कृगतिसाधक , विवेकतस्मूलने मत्तगजराजोपमः, अम-
न्दात्मानन्दरसशोषणे प्रचण्डमार्तण्डसमः, श्रुतचारित्रधर्मारामदावानलः, सद्ब्रह्मान-
वारिदिविक्षेपणे शैलशिखरानिलः । સયોગસ્ય પ્રિયવિયોગજનકત્વેન દારુણદુઃખોત્પાદ-
કતયાઽપિ પરિહાર્યતા,

ક્તસ્ય) સર્વથા રહિત (અળગારસ્સ-અનગારસ્ય) અનગાર (મિક્સુણો
-મિક્ષો)-સાધુ કે (વિણય-વિનય) વિનય કો મૈ (આણુપુર્વિ-આ-
નુપૂર્વી) શાસ્ત્રોક્તપદ્ધતિ કે અનુસાર (પાઠકરિસ્સામિ-પ્રાદુષ્કરિષ્યામિ)
પ્રકટ-ક ગા । અતઃ હે જમ્બૂ ! તુમ સત્ત ઉસે (મે-મત્ત) મુક્ષ સે
(સુણેહ-શુણુત) સુનો ॥ ૧ ॥

ભાવાર્થ—સયોગ શબ્દ કા અર્થ સયધ હૈ । દ્રવ્યસયોગ ઓર
ભાવસયોગ કે ભેદ સે યહ સયોગ દો પ્રકાર કા હૈ । પૂર્વસયોગ ઓર
પશ્ચાત્સયોગ કે ભેદ સે દ્રવ્યસંયોગ મી દો તરહ કા યતલાયા ગયા હૈ ।
માતા પિતા આદિ કે સાથ જો જન્મ સે સયધ હૈ વહ પૂર્વસયોગ હૈ ।
શ્વશુર અદિ કે સાથ પીઠે સે હુઆ સયધ પશ્ચાત્સયોગ હૈ । અશુભ
માવૈં કે સાથ આત્મા કા સયધ રહતા હૈ વહ ભાવસયોગ હૈ । ઇસ
સયોગ કા સર્વથા પરિત્યાગ વહી આત્મા કર સકતા હૈ જો અનિત્ય

રહિત (અળગારસ્સ-અનગારસ્ય) અણુગાર (મિક્સુણો-મિક્ષોઃ) સાધુના (વિણય-
વિનય) વિનયને હું (આણુપુર્વિ-આનુપૂર્વી) શાસ્ત્રોક્ત પદ્ધતિ અનુસાર (પાઠક
રિસ્સા મિ-પ્રાદુષ્કરિષ્યામિ) પ્રકટ કરીશ. એટલે હે જમ્બૂ ! તમે બધા એને
(મે-મત્ત) મારી પાસેથી (સુણેહ-શુણુત) સાબળો.

ભાવાર્થ—સયોગ શબ્દને અર્થ સબધ છે દ્રવ્યસયોગ અને ભાવસયોગના
બેદથી આ સયોગ બે પ્રકારે છે પૂર્વસયોગ અને પશ્ચાત્સયોગના બેદથી દ્રવ્ય
સયોગ પણ બે રીતને બતાવેલ છે માતા પિતા વગેરેની સાથેના જે જન્મને
સબધ છે, તે પૂર્વસયોગ છે શ્વશુર વગેરેની સાથે પછીથી થયેલ સબધ
એ પશ્ચાત્સયોગ છે અશુભ ભાવોની સાથે આત્માને જે સબધ રહે છે એ
ભાવસયોગ છે આ સયોગને સર્વથા પરિત્યાગ એજ આત્મા કરી શકે છે,

प्रकृतिः, ३४-छेद्या, ३५-अनगार मार्गगतिः, ३६-जीवाजीव-विभक्तिः, इति ।
तत्र-श्रीसुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनमन्यानपि शिष्यानुत्तराध्ययनसूत्रार्थं प्रतिबोध-
यितुं प्रवृत्तः सन् धर्मस्य विनयमूलकत्वात्प्रथमं विनयश्रुतार्यमध्ययनं प्रस्तुवस्त-
स्याद्य सूत्रमाह—

मूलम्—

सजोगो विष्णुमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो ।

विणय पाउंकरिस्सामि, आणुपूर्वो वि सुणेह मे ॥ १ ॥

छाया—

संयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षो ।

विनयं प्राहुष्करिष्यामि, आनुपूर्वीं शृणुत मे ॥ १ ॥

टीका—

‘सजोगा’ इत्यादि । संयोगादिति, संयोगः=सम्बन्धः, स द्विविध-
द्रव्यसंयोगः भावसंयोगश्च । तत्र द्रव्यसंयोगो द्विविधः—पूर्वसंयोगः पश्चात्संयोगश्च ।
तत्र पूर्वसंयोगो मातापित्रादिभिः सार्धं सम्बन्धः । पश्चात्संयोगस्तु श्वशुरादिभिः
(३१) चरणविधि, (३२) प्रमादस्थान, (३३) कर्मप्रकृति, (३४) छेद्या,
(३५) अनगारमार्गगति, (३६) जीवाजीवविभक्ति ।

इन में श्री सुधर्मास्वामीने सर्व प्रथम जंबूस्वामी एवं और भी
बूसरे शिष्योंको इस उत्तराध्ययन सूत्र के अर्थको समझाने के लिये
“विनय है मूल कारण जिसका ऐसा धर्म है” ऐसा समझकर पहले
इस विनयश्रुत नाम अध्ययनका प्ररूपण करते हुए प्रथम सूत्र कहते
हैं—‘संयोगा’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(सजोगा-संयोगात्) संयोग से (विष्णुमुक्कस्स-विप्रमु-

(३०) तपोभाग, (३१) चरणविधि, (३२) प्रमादस्थान, (३३) कर्मप्रकृति,
(३४) छेद्या, (३५) अनगारमार्गगति, (३६) जीवाजीवविभक्ति

आमा श्री सुधर्मा स्वामीने सर्व प्रथम जंबूस्वामी अने भील धरु
शिष्योने आ उत्तराध्ययन सूत्रने अर्थ समझववा भाटे “विनय छे भूण
ठारु नेनु जेवो धर्म छे” जेनुं समल पछेवा आ विनयश्रुत नामना
अध्ययननुं प्ररूपण ठरता प्रथम सूत्र छडे छे—‘सजोगा विष्णुमुक्कस्स’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(संयोगा-संयोगात्) संयोगसे (विष्णुमुक्कस्स-विप्रमुक्कस्स) सर्वथा

सह सम्बन्धः । भावसयोगः—अष्टमभावै सदात्मनः सम्बन्धः, तस्मात् सर्वविध-
सयोगाद् विप्रमुक्तस्य=विप्रमुक्तस्य, अनित्याशरणादिद्वादशभावनाभि सयोगस्य
फल ससारपरिभ्रमणादिस्व्य विज्ञाय सयोग परित्यक्तवत् इत्यर्थः । सयोगो हि मृग
वृष्णावद् भ्रमोत्पादकः, कृगविसाधकः, विवेकतस्मूलने मत्तगजराजोपमः, अम
न्दात्मानन्दरसशोषणे प्रचण्डमार्तण्डसमः, श्रुतचारित्रधर्मरामदावानलः, सद्ग्रथान-
चारिदिविक्षेपणे शैलशिखरानिलः । सयोगस्य प्रियवियोगजनकत्वेन दास्यदुःखोत्पाद-
कतयाऽपि परिहार्यता,

क्तस्य) सर्वथा रहित (अणगारस्स—अनगारस्य) अनगार (भिक्खुणो
—भिक्षोः)—साधु के (विणय—विनय) विनय को मैं (आणुपुब्बि—आ-
नुपूर्वी) शास्त्रोक्तपद्धति के अनुसार (पाउकरिस्सामि—प्रादुष्करिष्यामि)
प्रकट—क गा । अतः हे जम्बू ! तुम सय उसे (मे—मत्तः) सुहृ से
(सुणेह—शृणुत) सुनो ॥ १ ॥

भावार्थ—सयोग शब्द का अर्थ सवध है । द्रव्यसयोग और
भावसयोग के भेद से यह सयोग दो प्रकार का है । पूर्वसयोग और
पश्चात्सयोग के भेद से द्रव्यसयोग भी दो तरह का यतलाया गया है ।
माता पिता आदि के साथ जो जन्म से सवध है वह पूर्वसयोग है ।
श्वशुर अदि के साथ पीठे से हुआ सवध पश्चात्सयोग है । अशुभ
भावों के साथ आत्मा का सवध रहता है वह भावसयोग है । इस
सयोग का सर्वथा परित्याग वही आत्मा कर सकता है जो अनित्य

रहित (अणगारस्स—अनगारस्य) अणुगार (भिक्खुणो—भिक्षो) साधुना (विणय-
विनय) विनयने हुं (आणुपुब्बि—आनुपूर्वी) शास्त्रोक्त पद्धति अनुसार (पाउक-
रिस्सामि—प्रादुष्करिष्यामि) प्रकट करीशः ओठके डे जम्बू ! तमे अधा येने
(मे—मत्तः) भारी पासेथी (सुणेह—शृणुत) सावणो ।

भावार्थ—सयोग शब्दको अर्थ सवध छे द्रव्यसयोग अने भावसयोगना
बेदथी आ सयोग के प्रकारे छे पूर्वसयोग अने पश्चात्सयोगना बेदथी द्रव्य
सयोग पद्य के रीतने अतावेव छे माता पिता वगेरेनी साथेने जे जन्मने
सवध छे, ते पूर्वसयोग छे श्वशुर वगेरेनी साथे पछीथी थयेव सवध
अे पश्चात्सयोग छे अशुभ भावोनी साथे आत्मानो जे सवध रहे छे अे
भावसयोग छे आ सयोगने सर्वथा परित्याग अे आत्मा करी शके छे,

અન્યથા— ન સ્વલ્લુ વિઘટિતા' પુનર્ઘટન્તે,
 ન ચ ઘટિતાઃ સ્થિરસગતં શ્રયન્તે ।
 પિપતિપુમવશ રુજન્તિ વશ્યા,—
 સ્તટતરુમાપ ણ્વાપગાગણસ્ય ॥ ૩ ॥
 અત્ર વિપયે દષ્ટાત કથયતિ—

કથિદ્ વણિક્ષુપુત્ર સયોગસ્ય કદુકફલ વિગ્નાય વિરજ્ય સયોગ પરિત્યક્ત-
 વાન્ । તથાહિ—મથુરાનગર્યાં સુમગ-સુનન્દનામાનો દ્વૌ વણિજૌ સ્ત , સુમગસ્ત્ર

ઔર મી-ન સ્વલ્લુ વિઘટિતા પુનર્ઘટન્તે, નચ ઘટિતા સ્થિરસગતશ્રયન્તે ।

પિપતિપુમવશ રુજન્તિ વશ્યાસ્તટતરુમાપ ણ્વાપગાગણસ્ય ॥ ૩ ॥

જો મિલકર ફિર અલગ હો જાતે હૈં ઝનકા ઝસી પર્યાય મેં ઝસી રુપ સે ફિર મિલના હોગા, યહ સર્વથા અસમ્ભવ હૈં । જો મિલે હૈં બે હમારે સાથ સદા સ્થિર હી રહેગે-યહ મી કોઈ નહીં કહ સકતા । ઝિસ પ્રકાર નદિયોં કા પાની અપને તટ પર રહે હુગ વૃક્ષોંકો ડુ.ન્વ દેતા હૈ, ઝસી પ્રકાર વશ્ય-પ્રિય સ્ત્રીપુત્રાદિ મરતે સમય મનુષ્ય કો ડુ સ્ત્રી કરતે હૈં, અર્થાત્ યે સ્ત્રી પુત્રાદિક ઈસ ઝીવ કો અનેક પ્રકાર સે વ્યથિત કરતે રહતે હૈં । ઈસ લિયેમાતા પિતા આદિ કા સયોગ સર્વથા ત્યાગને યોગ્ય હૈ ।

ઈસ પર સુઘન નામક વણિક્ષુપુત્ર કા દષ્ટાન્ત ઈસ પ્રકાર હૈ—

સુઘન નામક ઈક વણિક્ષુપુત્ર ને કિસ તરહ ઈસ સયોગ કા ફલ કદુક ઝાના ઔર કિસ તરહ વિરક્ત હોકર ઝસકા પરિત્યાગ કિયા? યહ

વર્ણી પશુ ન સ્વલ્લુ વિઘટિતા' પુનર્ઘટન્તે, ન ચ ઘટિતા' સ્થિરસગત શ્રયન્તે ।

પિપતિપુમવશ રુજન્તિ વશ્યાસ્તટતરુમાપ ણ્વાપગાગણસ્ય ॥ ૩ ॥

ઝે મળીને ઈરી બુદ્ધા થઈ અથ ઝે ઝેમનું ઝેજ પર્યાયમા ઝેજ રૂપના ઈરી મળવાનું થાયે, ઝે સર્વથા અસભવ ઝે ઝે મળ્યા ઝે તે અમારી સાથે સદા સ્થિર ઝ રહેયે—આ પશુ કોઈ કહી શકતું નથી ઝે રીતે નદિયોનું પાણી પોતાના તટ ઉપરના વૃક્ષોને ડુ અ આપે ઝે, ઝેજ પ્રકારે વશ્ય-પ્રિય સ્ત્રી પુત્રાદિ મરતી સમયે મનુષ્યને ડુ ખી કરે ઝે, અર્થાત્ ઝે સ્ત્રીપુત્રાદિક આ જીવને અનેક પ્રકારથી ડુ ખી કરતા રહે ઝે આ માટે માતાપિતા આદિને સયોગ સર્વથા ત્યાગવા યોગ્ય ઝે

આ અંગે સુઘન નામના વણિક્ષુપુત્રનું દષ્ટાન્ત આ પ્રકારનું ઝે—

સુઘન નામના ઝેક વણિક્ષુપુત્રને કેવી રીતે આ સયોગનું ફળ કઠવું માલુમ પડયું ? અને કેવી રીતે વિરક્ત બનીને તેને પરિત્યાગ કર્યો ? ઝે વાત

दक्षिणत, मुनन्दश्चोत्तरतो निवसन्नासीत् । तत्रैकोऽपरस्य गृहे प्राघुणिकोऽभवत्, तदोभौ मिथश्चित्तवन्तौ—आवयो प्रीतिर्दृढतरा कथं भविष्यति ?, यथावयोर्मध्ये एकस्य पुत्र. स्यादेकस्य च पुत्री, तदा तयोर्वाहिकसम्बन्धेनावयो सयोगस्तज्जनिता प्रीतिश्च स्थिरतरा भविष्यति । अथैकदा दक्षिणदिग्वातिनः श्रेष्ठिनः सुधननामकः पुत्रो जात, उत्तरदिग्वासिनः श्रेष्ठिनश्च पुत्री, कुसुमवती—नाम्नी समजनि । तयोः परस्पर वाम्दानं सजातम् । तदनन्तरं दक्षिणदिग्वासी वणिग् मृत । तस्मिन् मृते—सति तत्पुत्र. सुधनः पितुर्धनाधिकारी सजातः । प्रचुरं पितृधनं प्राप्य स प्रमृदितो—

घात उसीके आख्यान द्वारा प्रकटित की जाती है—मथुरा नगरीमें सुभग और सुनन्द नाम के दो वणिक् निवास करते थे । सुभग का घर दक्षिण दिशा में था और सुनन्द का घर उत्तर दिशा में । एक दिनकी घात है कि इन दोनों में से एक दूसरे के घर मेहमान हुआ था, यहाँ इन दोनों ने परस्पर यह विचार किया कि—अपने दोनों का यह स्नेह सर्वदा इसी तरह से बना रहे, इस हेतु अपने दोनों में से यदि एक को पुत्र हो और दूसरे को पुत्री हो तो दोनों का विवाह कर दें । भाग्यवशात् ऐसा ही हुआ कि—सुभग के यहाँ पुत्र का जन्म हुआ । लड़केका नाम सुधन रखा गया । उत्तरदिशा में निवास करनेवाले उस सुनन्दके यहाँ एक पुत्री हुई । उसका नाम कुसुमवती रखा गया, पूर्वनिश्चित के अनुसार इनकी सगाई—व्यादान पक्की कर दी गई । सगाई पक्की करके सुभग का तो देहात हो गया । पिता के धनका अधिकारी पुत्र होता है, इस नियम

तेना आख्यायान द्वारा प्रकट कर्वाया आवे छे—मथुरा नगरीमा सुभग अने सुनन्द नामना वे वणिक् निवास कर्ता छटा । सुभगनुं घर दक्षिण दिशामा छतुं अने सुनन्दनुं घर उत्तर दिशामा ओक द्विपसनी वात छे के ओ भन्नेमाथी ओक भीजने घर मेहमान भनेल, त्या आ भन्नेजे परस्पर विचार कर्यो के—आपला भन्नेना आ स्नेह कायम टही रहे ते हेतुधी आपला भन्नेमाथी कदाय ओकने पुत्र होय अने भीजने पुत्री होय तो भन्नेना विवाह करी देवा । भाग्यवशात् ओतुं न् अन्यु के, सुभगने त्या पुत्रना जन्म थये, छोकरानुं नाम सुधन राभवामा आव्यु उत्तर दिशामा निवास कर्वावाणा ते सुनन्दने त्या पुत्री अवतरी, तेनुं नाम कुसुमवती राभवामा आव्यु अगाडिना निश्चय अनुसार तेमनी सगाई कर्वाया आवी । सगाई पाकी कर्यो पछी सुभगनुं मृत्यु थयु पिताना धनना अधिकारी पुत्र होय छे, आ नियम अनुसार पिताना पिताना धनना सुधन अधिकारी भन्थे । कौण ओक समय सुधने स्नान

ऽभवत् । अथैकदा तेन स्नानार्थं पार्श्वतः पृष्ठतः पुरतश्चतुर्विंशु चत्वारः स्वर्ण-कलशा-
 धत्वारो रौप्यकलशाधत्वारस्ताम्रकलशाधत्वारो मृन्मयकलशा जलपूर्णा स्थापिता,
 अन्यान्यपि स्नानोपकरणानि तत्रोपस्थापितानि । अत्रान्तरे तत्पूज्यमित्रदेवस्य
 प्रतिवोधयितुं समागतः । स वणिक्पुत्र सुधनः स्नानार्थं स्वर्णकलशमुत्थापयति,
 स स्वर्णकलशस्तदानीमेव मित्रदेवभावात्प्रणष्टः, एव चतुर्विंशु सर्वे कलशाः
 प्रणष्टाः । ततोऽसौ स्नानपीठादुत्तिष्ठति । तस्मिन्नुत्थिते सति स्नानपीठमपि नष्टम् ।
 ततस्तस्य धृतिर्नष्टा । यावद् गृहं प्रविष्टः, भृत्यैर्भोजनविधिरुपस्थापितः, स्वर्णरौप्य-

के अनुसार सुधन अपने पिताके घनका अधिकारी बना । किसी एक
 समय सुधनने स्नान के अवसर पर भृत्योंसे चार सोने के कलश, चार
 चादी के कलश, चार ताँबेके कलश और चार ही-मिट्टी के कलश पानी
 से भरवाकर अपनी चारों ओर आजू याजू और समक्ष एवं पीठे की
 ओर, इस प्रकार चारों दिशाओं में रखवा लिये । इसके बाद इसका
 पूर्वभवका मित्र जो देवपर्याय में था इसकी इस तरह सयोगी पदार्थों के
 सेवन में अधिक लालसा का निरीक्षण कर उसको प्रतियोध देने के लिये
 वहाँ आया । वणिक्पुत्र उस सुधन ने ज्योंही नहाने के लिये सुवर्ण के
 कलश को ऊपर उठाया कि उसी समय वह कलश उस अदृश्य हुए देव
 के प्रभाव से शीघ्र ही अदृश्य हो गया । इसी तरह अवशिष्ट तीन
 कलशों की भी यही हालत हुई । वह एकदम स्नान पीठसे उठ कर खड़ा
 हो गया और ज्यों ही उससे नीचे उतरा तो वह स्नान पीठ भी इसकी
 नजरों के समक्ष ही नष्ट-अदृश्य हो गया । उसने आश्चर्यचकित होकर
 इधर उधर देखा पर कुछ समझ में नहीं आया । यह क्या बात है इससे

ठरवाना सुभये नोऽदशो चार सोनाना कणश, चार चादीना कणश, चार तागाना
 कणश, अने चार भाटीना कणश पाणीथी भरवीने पोतानी चारे तरङ्ग-आलु
 आलु चारे दिशाओभा रभाव्या आ पछी ओना पूर्व भवने मित्र ने देव
 पर्यायभा इतो तेजे आ रीते सयोगी पदार्थना सेवनभा अधिक वास्तानुं
 निरीक्षणु करी तेने प्रतिबोध आपवा भाटे त्या आव्ये। वणिक्पुत्र सुधने न्हावा
 भाटे व्या सुवर्णु कणशने उपाडयो त्या अक्षय रहेवा देवना प्रभावथी
 ते कणश पुरत न अक्षय यथ गया आ न रीते पीठ त्रषु कणशोनी
 पषु ओ न्हावत यथ वणिक्पुत्र स्नाननी न्हाओथी ओकदम उठो यथ
 अथो अने पाटवा उपर पोत गेडो इतो तेनाथी नीचे उतर्यो त्या ओ पाटवो
 पषु अक्षय यथ गयो। ओजे आश्चर्यचकित जनी चारे तरङ्ग ओवा भांडयु

मयभोजनपात्राणि समानीतानि, तत्रैकैरुभाजन क्रमेण नष्टमभवत् । यदाऽसौ स्वर्णमयस्थाल्मग्रतो धावमान व्योम्नि पश्यति, तदा तत् स्थाल हस्तेन गृह्णाति, गृहीते सति तद्ग्रभागत' खण्डमेक तस्य करतल्लम्बनमासीत्, अपरभागत. स्वर्णमय-स्थाल सर्वं प्रणष्टम् । तत चुटितस्थालैकखण्डहस्त मुधन सर्वं नश्यद् विलोकयन् मूलधन द्रष्टुमागच्छति, तावत् सर्वं मूलधनमपि नष्टम् । एव सवाऽपि तस्य श्री वित्पटा । अथ निर्धिं द्रष्टुमागच्छति तदा सर्वं निधानमपि नष्टम् । एव दासीवर्गः, परिवारवर्गोऽपि तस्य नष्ट ।

इसका घैर्य नष्ट हो गया । घर में जाकर यह ज्यों ही भोजन करने के लिये भोजनालय में गया तो रसोईयने पहिलेसे सजाकर रखे हुए सुवर्ण एव चादी के भोजनपात्रों में इसके बैठने पर भोजन परोस दिया परन्तु इसके समक्ष ही वे सब के सब भोजनपात्र क्रम २ से नष्ट हो गये-पता नहीं पडा कहा चले गये। जब एक सुवर्णका थाल जो इसके समक्ष ही आगे से उठकर आकाश में उड़ने लगा तो इसने उसे धाम कर पकड़ लिया । पकड़ते ही उस थाल की किनार टूटकर इसके हाथ में रह गयी। चाकी का थाल नष्ट हो गया । यह फिर उस टुकड़े को हाथ में लिये हुए ही अपने मूल धन को देखने के लिये वहा से दूसरी तरफ चला तो क्या देखता है कि इसका मूल धन भी सब नष्ट हो चुका है । इस तरह समक्ष ही देखते २ इसकी समस्त लक्ष्मी नष्ट हो गई । निधान नष्ट हो गया । दासी-दास आदि और परिवार वर्ग भी नष्ट हो गये । अब यह उस

परतु काँध समजवामा न आब्यु जेनाभा धिरज न रही. आधी अकणाध नावानु छोडी हथ धरमा गये। अने भोजन करवा भोजनालयमा पछोअये। न्या रसोइयाअे सोना आदिना वासखेमा जेना जेडा पछी भोजन पीरस्यु भोजन पिरसाया पछी तेनी नजर सामे जेत जेतार्मा कम कमधी भोजनापात्रे अहस्य धवा दाज्या जभर न पडी कथा आह्या गया. अक सुवर्ण थाण जे तेनी सामेथी उडवा भांडेला तेने हाथधी पकडता जे थाणनी किनार तुटीने तेना हाथमा रही गथ अने भाडीनेा थाण अहस्य भनी गये। थाणना तुटेला टुकडाने हाथमा राणीने पोताना मुण धनने जेवा भाटे त्याधी भील तरइ गये। त्या जता शुं डेजे छे के पोतानु मुण धन पखु अहस्य भनी गयु छतुं आ रीते पोतानी नजर सामे तेनी सभणी लक्ष्मी अहस्य भनी गथ, निधान नष्ट थथ गये। दासी दास वगेरे परिवार पखु

अयासौ स्वर्णमयस्थालैकत्वण्डहस्त' सन्नितस्ततो भ्राम्यन्नकस्मादुत्तरभाग-
वासिनः पितृमित्रस्य सुनन्दनामकस्य वणिजो गृहं जगाम । त दृष्ट्वा सुनन्दस्तं
सादरं भोजयामास । भोजनसमये सुधनस्तानि तानि रत्नानि, ताश्च स्वर्णकल्पशान्,
तानि स्वर्णमयस्थालानि सर्वाणि स्वकीयानि वस्तूनि तत्र ददर्श । तच्चद् वस्तुजातं
प्रेक्षमाण वणिक्पुत्र सुधनं सुनन्दो वणिक् पृच्छति—किं मम पुत्रीं पश्यसि ?
सुधनेनोक्तम्—नाहं तत्र पुत्रीं पश्यामि, किं तु त्वद्गृहस्थितान्येतानि रत्नमयानि
वस्तूनि मदीयानि सन्तीति विलोकयामि । सुनन्देन वणिजा प्रोक्तम्—किमत्र

सोने के थाल के टुकड़े को हाथ में लिये हुए उधर-उधर घूमने फिरने
लगा । फिरते २ इसकी दृष्टि उस उत्तर दिशा में रहने वाले सुनन्द के
मकान ऊपर पड़ी, जो इसके पिता का मित्र था । यह उसके घर पर
गया । सुनन्द ने उसको आदर के साथ भोजन करने के लिये बैठाया ।
वहा पर सुधन ने अपनी समस्त नष्ट हुई वस्तुएँ देखा-वे ही सोने के
थाल, वे ही सुवर्णादि के कलश और वे ही रत्न आदि । जब उसकी दृष्टि
उन अपनी बीजोंके निरीक्षण करने में आसक्त हो रही थी, तब अचा-
नक ही बीचमें टोकते हुए सुनन्द ने कहा—सुधन ! यह क्या करते हो ?
तुम्हारी दृष्टि इस समय कहाँ है, क्या हमारी पुत्री को देख रहे हो ?
सुनन्द के वचन सुन कर सुधन ने कहा—महाशय ! मैं आपकी पुत्री को
नहीं देख रहा हूँ, किन्तु यह विचार कर रहा हूँ कि “ तुम्हारे यहा रही
हुई वे सयही रत्नादिक वस्तुएँ मेरी हैं, यहा ये कैसे आ गईं ” इस बात
का विचार कर रहा हूँ । सुनन्द ने कहा—तुम्हारी होने का क्या प्रमाण है ?

नष्ट यद्य गम्य, आ पथी सोनाना धावना टुकडाने हाथमा राणीने ते अडि
तडि धुमवा दाव्ये। इरता इरता तेनी दृष्टि उत्तर दिशाभा रहेवावाणा सुनदना
भक्षान उपर पडी, ने तेना पिताने मित्र इते। ते अेना घेर गये। सुनदे
तेने आवकारी प्रेमपूर्वकं बोधन करवा गेसाउये। त्या सुधने पोतानी नष्ट
यअेही सधणी वस्तुअे। बोध-तेअे सोनाने धाण, अेअे सोनाना कणश अने
अेअे रत्न आदि अ्यारे तेनी दृष्टि अे पोतानी अीअेनु निरीक्षअे करवाभा
आसक्त यद्य रही इती, त्यारे अयानकअे तेने टोकता सुनदे कथु-सुधन !
आ शुं करे छे ? तमारी दृष्टि आ समये कया छे, शुं मारी पुत्रीने अेध
रहा छे ? सुनदना वचन साधणीने सुधने कथु-महाशय ! इ अापनी
पुत्री तरक अेतो नथी, परतु अे विचार कउे कउे के “ तमारे त्यां रहेही आ
सधणी रत्नादिक वस्तुअे। मारी छे, अडि अे कधं रीते आवी ” आ वातने
विचार करी रखी कउे सुनदे कथु-तमारी हेवावु शुं प्रमाअे छे हा, प्रमाअे छे

प्रमाणम् ? । सुधनः प्रत्याह—त्वद्गृहावस्थितस्यैतस्य उदितस्वर्णमयस्याल्पस्य खण्ड-
मेक मम हस्ते विद्यते, पश्य सयोजयामीत्युक्त्वा सयोजयति, सयोजिते सति तत्
खण्डं तत्र सम्यक् सन्नम् । अथ सुनन्दः पृच्छति—कस्त्वम्, सुनन्देन पृष्टोऽसौ
वणिक्पुत्रः सुधनः स्वपितुर्नाम कथयित्वा परिचयं दत्तवान् । तस्मिन् वणिक्-
पुत्रे परिचिते सति सुनन्दः पुनराह—त्वत्तु मम जामाताऽसि, इति । इत्य सर्वं

हा, प्रमाण है तभी तो ऐसा कह रहा हूँ, नम्रता से सुधन ने
जयाव दिया। साधित करनेकी चेष्टा करते हुए सुधन ने वह एक
सोने के थाल की किनार जो उसके हाथ में पहिलेसे थी उसको
दिखलाया, और यह भी बतलाया कि देवो यह सुवर्ण का थाल
जो मम अग्रस्था में आप के यहा है उसी की यह किनार है।
मैं आप के ही समक्ष उसे इसमें जोड़ता हूँ, यदि यह उस थाल में
जुट जाये तो आपको मेरी बात सत्य माननी पड़ेगी। सुनद ने
यह सब स्वीकार कर लिया। सुधन ने सुनद के समक्ष ही उस किनार
को उस थाल में ज्यों ही योजित किया तो वह उस में अच्छी तरह जुट
गया। यह देखकर सुनद ने कहा—ठीक है। अब तुम यह तो बतलाओ
कि तुम हो कौन ? इस प्रकार सुनद के पूछ ने पर सुधन ने उसे अपना
परिचय दे दिया। परिचय पाकर सुनद बहुत हर्षित हुआ और कहने
लगा कि धन्य है आज का दिन जो आपके दर्शन हुए। आपके पिताने
मेरी पुत्री के साथ आप का पहिले से वाग्दान निश्चित कर दिया था,
अतः आप मेरे सबब में जामाता हैं। अब आप योग्य हो चुके हैं, इस

त्यारे तो अबु कही रहा छु तेरो नम्रताधी नवाय सुधने आप्यो साधीत
करवानी चेष्टा करवा पोताना हाथमा रहेवी सोनाना थाणनी किनार तेने
भतावी, अने ओ पक्ष नवाव्यु के बुझो सोनानो थाण ने तुटेवी अवन्थाभा
तभारे त्या छे तेनी आ किनार छे आपनी अमक्ष न दु तेने आ साथे नेदु
छुं, कदाय ते आ थाण साथे नेडाए बय तो आपने भारी वात सत्य मानवी
पउथे सुनदे ओ वातने स्वीकार कर्यो। सुधने सुनदनी साथे न ओ किनार
तुटेवा थाण साथे नेडता तेनी साथे परापर भगी गध आ नेध सुनदे
कहूँ-ठीक छे, इवे तमे ओ तो भतावो के तमे छे केवल ? आ प्रकारे सुनदना
पूछवाधी सुधने तेने पोतानो परिचय आप्यो परिचय आभणता न पूछ न
इयं पाभ्यो अने कडेवा वाग्यो के धन्य छे आनो द्विस, के आपना दर्शन
थया तभारा पिताने भारी पुत्री साथे तमाइ वेविशाण अगाठ नखी करेहुं
अटवे तमे भाश नभाए छे, अने तमे योग्य उभरना थया छे, ओ भाटे भारी

पूर्ववृत्त वर्णयित्वा मुनन्दो वणिक् पुनरवोचत्-गृहाण मम पुत्री, मदीय सर्वस्व च । एतद्वचन श्रुत्वा सुधनाऽप्रवीत्-पुरुषः पूर्वं कामभोगान् परित्यजति, कामभोगा वा पुरुषम्, मा तु कामभोगा एव पूर्वं परित्यक्तवन्तस्तेनाह तान् परित्यजामि, नास्ति मे किञ्चित् प्रयोजनं तत्र पुत्र्या सर्वस्वेन चेति । एष सवेगसवलितं सुधन वचन श्रुत्वा मुनन्दो वणिक् सवेग प्राप्तवान् ।

अथ वणिक्पुत्रस्य सुधनस्य वैराग्य दृष्ट्वा तत्पूर्वभवमित्रदेव प्रत्यक्षीभूय तमप्रवीत्-त्वां प्रतिवोधयितुं मया सर्वमेतत् समाचरितम्, इत्युक्त्वा तस्मै सदोरक-मुखवस्त्रिकारजोहरणपात्रादीनि साधूपकरणानि समर्पितानि । तदा सुधन मुनन्देन सह मद्यजित इति ।

लिये मेरी पुत्री को और मेरे सर्वस्व को अपनाकर मुझे कृतार्थ करें । मुनद के वचनोंको सुनकर सुधन ने कहा-ससार की विचित्रता को देखो । प्रायः पुरुष ही पहिले काम-भोगोंका परित्याग किया करता है परन्तु आश्चर्य है कि जब काम-भोगों ने ही मुझे पहिले से छोड़ दिया है, तब अब सुन्दर मार्ग यही है कि मैं भी अब इन्हें सर्वथा छोड़ दूँ, अतः मुझे अब न आपकी पुत्री से मतलब है और न आपके सर्वस्व से । इस प्रकार वैराग्य से युक्त सुधन के वचनको सुनकर मुनद भी वैराग्य को प्राप्त हुआ । वणिक्पुत्र सुधनके वैराग्यको देखकर उसका पूर्वभवीय यह मित्र जो देव था प्रत्यक्ष होकर उससे कहने लगा-मित्र सुधन ! तुम्हें प्रतिबोधित करने के लिये ही मैंने यह सब खेल रचा है, अच्छा हुआ तुम प्रतिबोधित हो गये । इस प्रकार कहते हुए उसने उसके लिये

पुत्रीने अने मारा सर्वस्वने पोतानुभानी मने कृतार्थ करे। मुनदना वचने। साबणी सुधने कर्ण-ससारनी विचित्रताने लुब्धो, गरी रीते पुरुष न काम भोगाने। परित्याग करतो आवेक छे, परतु आश्चर्य छे के ब्यारे काम-भोगाये न पहिलेथी मने छोडी छीधेक छे, त्यारे साराना सारे मार्ग ये छे के हुं पक्ष आने सर्वथा छोडी हउ, जेटके मने डवे नथी आपनी पुत्र्यां मतलब के न आपना सर्वस्वकी आ प्रकारना वैराग्यथी मुक्त जेवा सुधनना वचने। साबणीने मुनदने पक्ष वैराग्य प्राप्त थये। डवे वणिक्पुत्र सुधनना वैराग्यने जेठ तेना पूर्वभवने। मित्र के ने देव छे ते प्रत्यक्ष गनी तेने कहेवा बाज्ये- -मित्र सुधन ! तने प्रतिबोधित करवा माटे न मे आ सुधनो जेक सबेक छे डिक थयु के तने प्रतिबोध पाभ्या। आ प्रकारे कहेवा तेजे तेना माटे

अनगारस्य=न विद्यतेऽगारं = गृह यस्य सोऽनगारः=द्रव्यमावगृह-
रहित, तत्र द्रव्यागारं-नियतयासस्थानम्, भावागार कपायमोहनीय कर्म, तस्य
स्थित्यादिभूयस्त्वे नास्ति विरतिसमवस्तस्मादल्पकपायमोहनीयो भावतोऽनगार-
स्तस्य भिक्षोः=हननघातनादिनवकोटिपरिच्छद्भिः प्राणिभिः। विनयम्=विश्लिष्टो

साधु के उपकरणरूप सदोरक मुचवस्त्रिका रजोहरण पच पात्र आदि
समर्पित किये। इस प्रकार सयोग का कटुक फल जानकर सुघनके साथ
सुनन्द भी प्रव्रजित हो गया।

अथ 'अणगारस्त भिक्षुणो' का अर्थ कहते हैं-अनगार शब्द
का अर्थ घर का परित्याग करना है। द्रव्य और भावके भेदसे अगार
के दो भेद हैं। नियत जो निवास का स्थान है-वह द्रव्य-अगार है।
कपाय-मोहनीय कर्म भाव-अगार है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति आदि में
जीव को विरतिका लाभ नहीं होता है। विरति का लाभ होने के लिये
इसकी स्थिति आदि अल्प अपेक्षित होती है, इसलिये अल्पकपाय-
मोहनीयवाला भावानगाररूप से विवक्षित हुआ है। अथ 'भिक्षु'
शब्द का अर्थ कहते हैं-भिक्षु वही हो सकता है जो हनन घातन आदि
क्रियाओं का नवकोटि से परित्यागी होता है, अर्थात् हनना, हनवाना,
उसका अनुमोदन करना, पकाना, पकवाना, उसका अनुमोदन करना,
खरीदना, खरीदवाना, उसका अनुमोदन करना, इन नवकोटि दोषोंसे

साधुना उपकरणरूप डोरासाथेमुभवस्त्रिका, रजोहरण अने पात्रे आदि
समर्पित कर्था आ प्रकारे सयोगना कडवा इणने जल्दीने सुघननी साथेसाथ
सुनन्दे पद्य प्रव्रज्या अगीकार करी

इवे "अणगारस्त भिक्षुणो" नो अर्थ कहे छे—अनगार शब्दने
अर्थ घरने परित्याग करवे ते द्रव्य अने भावना वेदधी अगारना वे वेद छे
नियत वे निवासनु स्थान छे ते द्रव्य-अगार छे कपाय मोहनीय
कर्म भाव-अगार छे तेनी उत्कृष्ट स्थिति आदिमा एवने विरतिने लाभ थतो
नथी. विरतिने लाभ थवा माटे अनी स्थिति आदि अल्प अपेक्षित धाय
छे, आ माटे अल्पकपायमोहनीयवाणा भावानगाररूपथी विवक्षित थयेव छे
इवे "भिक्षु" शब्दने अर्थ कहे छे—भिक्षु अथ यथ शक्ये छे वे हनन घातन
आदि क्रियाओंने नवकोटीथी परित्याग करे छे अर्थात् छडवुं, छडवावुं अने तेनु
अनुमोदन करवुं पकावुं, पीकाथी तैयार करावुं, तेनु अनुमोदन करवुं,
परीहवुं, परीहावुं, अने तेनु अनुमोदन करवुं, आ नवकोटी होयेथी रहित

नयो नीतिर्विनयः=साधुसमाहृतः समाचारस्तम्, यद्वा-विनयति=नाशयति सकल-
 क्लेशजनकमष्टविधं कर्म स विनयस्तम्, गुरु प्रति नीचैर्वृत्तिलक्षणा नम्रता द्रव्यतो
 विनयः, साध्वाचारं प्रति भवणत्व भावतो विनयस्तमित्यर्थ, प्रादुष्करिष्यामि=
 प्रकटयिष्यामि । केन प्रकारेण प्रादुष्करिष्यामीत्याकाङ्क्षायामाह-‘आणुपुन्वि’
 इति । आणुपूर्वीमिति, अत्र-सौप्रत्वात् तृतीयार्थे द्वितीया, आणुपूर्व्या=क्रमेण
 शास्त्रोक्तपरिपाठ्येत्यर्थ, हे शिष्या ! मे=मम मत्सकाशादित्यर्थ, यद्वा-‘मे’ इति
 विभक्त्यन्तप्रतिरूपकमव्ययम् मे=मत्त, शृणुत=यूयमाकर्णयत भ्रवण प्रति सावधाना
 भवतेत्यर्थः । स्वशिष्यामिद्गुहीकरणार्थमिदम् ॥ १ ॥

‘विनयं प्रादुष्करिष्यामी’त्युक्तं, तत्र विनीतलक्षणे विज्ञाते सति विनय-
 स्वरूप विदित स्यादिति विनीतलक्षणमाह—

रहित भिक्षा का ग्रहण करनेवाला भिक्षु कहा गया है । विनय का अर्थ
 है-विशिष्ट नय, इसलिये यहाँ ‘विनय’ शब्द से साधुओंका आचार
 समझना चाहिये । अथवा-जो अष्टविध कर्मोंका नाश करे सो ‘विनय’
 है । वह विनय द्रव्य विनय और भाव विनय के भेद से दो प्रकार का
 है । गुरु के प्रति, तथा पर्यायज्येष्ठोंके प्रति नम्र होना, तथा उनकी सेवा
 करना यह द्रव्य-विनय है । साध्वाचार में तत्पर रहना यह भाव-विनय
 है । उस विनय को मैं शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार प्रकट करूँगा,
 अतः हे जम्बू ! तुम सब मुझ से इस बात को अच्छीतरह सुनो ॥ १ ॥

विनीत के लक्षण का जयतक ज्ञान न हो जाय तब तक विनय का
 स्वरूप जाना नहीं जा सकता है, इसलिये सूत्रकार विनीत का लक्षण
 कहते हैं—‘आणाणिहेसकरे’ इत्यादि ।

भिक्षाने ग्रहण करवावाणा ‘भिक्षु’ कहेवाय छे विनयनेो अर्थ छे-विशिष्ट नय,
 आ भाटे अह्नि ‘विनय’ शब्दधी साधुओंनेो आचार समझवेो ओधये अथवा-
 ने अष्टविध कर्मोंनेो नाश करे ते ‘विनय’ छे ते विनय द्रव्य-विनय अने भाव
 -विनयना वेदधी जे प्रकारे छे गुज्ञना प्रति तथा पर्यायधी जडायेो प्रति नम्र
 धनुं, तथा तेनी सेवा करवी ते द्रव्य विनय छे साधुना आचारभा तत्पर रहेवुं
 जे भाव-विनय छे ते विनयने दुं शास्त्रोक्ता पद्धति अनुसार प्राट करीथ,
 भाटे छे जम्बू ! तमे आराधी आ सधगी वातने सारी रीते साकणेो (१)

विनीतना लक्षणनु ब्या सुधी ज्ञान न थाय त्या सुधी विनयनु स्वरूपबन्धी
 शकानु नधी आ भाटे सूत्रकार विनीतना लक्षणु कहे छे-‘आणाणिहेसकरे’ इत्यादि ।

मूलम्—आणाणिद्वेसकरे, गुरुणमुववायकारण ।

इगियागारसपण्णे, से विणीणं त्तिं वुच्चई ॥ २ ॥

छाया—

आज्ञानिर्देशकर गुरुणामुपपातकारक ।

इङ्गिताकारसम्पन्न स विनीत इत्युच्यते ॥ २ ॥

टीका—

‘आणाणिद्वेसकरे’ इत्यादि । आज्ञानिर्देशकर = आज्ञा = विधिरूप

प्रतिपथरूपं वा गुरुवचन, यथा—‘इदं कुरु’ ‘इदं मा कुरु’ इति, तस्या निर्देश—
भवद्वचनानुसारेण करिष्यामीति कथन, तस्य कर=कृता, यद्वा—आज्ञाया=तीर्थ-
करवाण्या निर्देश = उत्सर्गापवादरूपन, तस्य कारक, तथा—गुरुणाम्=आचार्यादीनाम्,
उपपातकारक=उपपात = समीपेऽवस्थान, तस्य कारक, आचार्योदिसनिहितस्थान-
वर्ती, न तु तन्नियोगवचनमयाद् दूरावस्थायीत्यर्थ, तथा—इङ्गिताकारसम्पन्न,
इङ्गित=निष्पुणमतिगम्य स्वाभिप्रायमूचकमीपद्भ्रूचालनादिकम्, आकार.=स्थूल-
मतिगम्य प्रस्थानादिमूचको दिगवलोकनादि, ताभ्या सपन्न.=युक्त, गुरुमनो-
दृष्टिज्ञानवानित्यर्थ, एवभूतो य शिष्य स विनीत = विनयवान्, इत्युच्यते
तीर्थकरगणधरादिभिरिति शेष ।

अन्वयार्थ—(गुरुण-गुरुणा) आचार्य आदिकी (आणाणिद्वेसकरे-

आज्ञानिर्देशकर) आज्ञा को मानने वाला (उववायकारण-उपपातकारक)
उनके निकट सदा रहने वाला (इगियागारसपण्णे-इङ्गिताकारसंपन्न)
इगित-सूक्ष्म बुद्धि वालों से जानने योग्य गुरु आदि की भ्रूचालन आदि
चेष्टा । आकार-स्थूल बुद्धि वालों से भी समझने योग्य गुरु आदि की
गमनादिसूक्ष्म दिशाका अवलोकनादि चेष्टा । गुरु आदि की इन दोनों
चेष्टाओं को अच्छी तरह जानने वाला जो शिष्य होता है (से विणीण

अन्वयार्थ—(गुरुण-गुरुणा) आचार्य वगेरुनी (आणाणिद्वेसकरे-आज्ञा-
निर्देशकर) आज्ञाने मानवावाणा (उववायकारण-उपपातकारक) अमनी पास सदा
रहेवावाणा (इगियागारसपण्णे-इङ्गिताकारसंपन्न) धृगित-सूक्ष्म बुद्धिवाणाथी
बलुवा थोअ्य गुर्नी भ्रूचालन-(आभनेो धशारे) आदिनी चेष्टा, आकार
-स्थूल बुद्धिवाणाथी पलुसमज्वा थोअ्य गुर् आदिनी गमनादिसूक्ष्म दिशानु
अवलोकन आदि चेष्टा, गुर् आदिनी आ भन्ने चेष्टाओने सारी रीते बलुवावाणा

સિ યુઘ્ઙ્-સ. વિનીત ઇતિ ઉચ્યતે) વહ તીર્થંકર ગણધર આદિ કે દ્વારા વિનીત કહા ગયા હૈ ॥ ૨ ॥

ભાવાર્થ—“આજ્ઞાનિર્દેશકર ” “યહ કરો, યહ ન કરો” ઇસ પ્રકાર વિધિરૂપ ઓર નિષેધરૂપ જો ગુરુ કે વચન હૈં વે ‘આજ્ઞા’ શબ્દ સે ગ્રહણ કિયે ગયે હૈં । “આપ કે વચન કે અનુસાર હી પ્રવૃત્તિ કરને કા ભાવ હૈ, અન્યથા નહીં,” ઇસ પ્રકાર શિષ્ય કા કથન નિર્દેશ હૈ । ઇસ નિર્દેશ કા અચ્છી તરહ સે પાલન કરને વાલા આજ્ઞાનિર્દેશકર હૈ । અથવા—આજ્ઞા-તીર્થંકર પ્રભુ કી વાણી કે દ્વારા જો ઉત્સર્ગ ણ્વં અપવાદ માર્ગ કા નિર્દેશ અર્થાત્ વિધાન કિયા ગયા હૈં ઉસકે અનુસાર કરને વાલા આજ્ઞાનિર્દેશકર કહા જાતા હૈ । ઉપપાત શબ્દ કા અર્થ હૈ—સમીપ ઘેઠના । શિષ્ય કા કર્તવ્ય હૈ કિ ઘહ સદા અપને ગુરુ કે સમીપ ઘેઠે । ઉનકી આજ્ઞા કે પાલન કરને કે ભય સે ઉનસે દૂર ન ઘેઠે । ગુરુ કા અભિપ્રાય પરસ્થના યહ સાધારણ ઘાત નહીં હૈ । યહ યાત તથ હી સીસી જા સક્તી હૈ કિ જબ શિષ્ય ઉન કે પાસ મેં ઘેઠે, અન્યથા નહીં । વિનીત શિષ્ય ગુરુ કી સેવા કરને સે આત્મકલ્યાણ કરતા હૈ, ।

જે શિષ્ય હોય છે, (સે વિનીત-સિ યુઘ્ઙ્-સ વિનીત ઇતિ ઉચ્યતે) તે તીર્થંકર ગણધર આદિ દ્વારા વિનીત કહેવાયેલ છે (૨)

ભાવાર્થ—“આજ્ઞાનિર્દેશકર ” “આ કરો અને આ ન કરો.” આ પ્રકારે વિધિરૂપ અને નિષેધરૂપ જે શુદ્ધ વચન છે તે ‘આજ્ઞા’ શબ્દથી પ્રકટ કરવામાં આવેલ છે “આપના વચન અનુસાર જ પ્રવૃત્તિ કરવાના ભાવ છે ખીબા નથી” આ પ્રકારનું શિષ્યનું કથન નિર્દેશ છે નિર્દેશનું સારી રીતે પાલન કરવા વાળા આજ્ઞાનિર્દેશકર છે અથવા—આજ્ઞા-તીર્થંકર પ્રભુની વાણીદ્વારા જે ઉત્સર્ગ અને અપવાદ માર્ગનો નિર્દેશ અર્થાત્ વિધાન કરવામાં આવેલ છે તે અનુસાર કરવાવાળા આજ્ઞાનિર્દેશકર કહેવાય છે ઉપપાત શબ્દનો અર્થ છે સમીપ બેસવું શિષ્યનું કર્તવ્ય છે કે તે સહા પોતાના શુદ્ધ સમીપ બેસે શુદ્ધ આજ્ઞાનું પાલન કરવાના ભયથી તેનાથી દૂર ન બેસે શુદ્ધો અભિપ્રાય બહુવો તે સાધારણ વાત નથી. જે વાત ત્યારે જ શીખી શકાય કે જ્યારે શિષ્ય તેની પાસે બેસે, એ શિષ્ય નહીં વિનીત શિષ્ય શુદ્ધી સેવા કરવાથી આત્મકલ્યાણ કરે છે // /

मया ततमिदं सर्वं जगद्व्यक्तमूचना ।
 मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तप्ववस्थितः ॥
 न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैस्वरम् ।
 भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभाषण ॥
 —गीता ६।४,५।

१२६—अव्यक्ताक्षरकालात्मिका प्रकृति से ही महिमा मय विरव का विधान, एवं सुप्रसिद्ध व्याससूत्रचतुष्टयी के द्वारा जन्म-स्थिति-मङ्ग-कारणभूत कालत्रय का स्वरूप-समन्वय—

अक्षर ब्रह्म परमम्—‘अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुः’ क अनुभार—‘काल स इत्यत परमो नु इवः मे उपवर्णिता अव्यक्ताक्षरकालात्मिका प्रकृति के द्वारा ही इस महिमा मय विरव का महिमारूप से ही विधान हुआ है जिसका—‘मया ततमिदं मय जगद्व्यक्तमूचना से स्पष्टीकरण हुआ है। कालार्थक अनन्त अक्षरकाल-व्यक्त अव्यक्त अक्षरकाल रूप से ही विरवविधान रूप में परिणत हुआ है। सम्पूर्ण भूतमोक्ष-व्यक्त विरव अव्यक्ताक्षर से समन्वित, अतएव अव्यक्ताक्षरमूर्ति अनन्त-अव्यक्त क इस एकाक्षरकाल अव्यक्ताक्षरकाल प्राकृत विषय पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव इस अव्यक्त-माध्यम इति से उस अव्यक्ताक्षर-सर्वाक्षर अनन्त ब्रह्म को भी ‘भूतभृत्’ (भूतविषय को धारण करने वाला) कह दिया गया है। किन्तु साक्षात्-आधारत्व ता भूतप्रकृतिरूपा अव्यक्ताक्षरप्रकृति (भूतकाल) को ही उपलब्ध है दो प्रकार की है यह आचारभूमि। तटस्थाचारभूमि समन्वयाचारभूमि भेद से भूतभृता का दो प्रकार से समन्वय सम्भव है। कारण अर्थ की उत्पन्न कर प्रतिष्ठान्त स अपने कार्य में प्रसिद्ध हो गया है जिसका—‘तत्सुप्त्वा तवेयानुप्राधिरात्’ से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी को ‘सृष्टानुप्रविष्टब्रह्म’ कहा गया है जिसके लिए—‘आत्मास्य जन्तोनिहितो गुहायाम्’ प्रसिद्ध है। यही विरवचर ब्रह्म (मला-क्षरप्रकृति) है। यही विरवत्मा विरवचर (कालात्मा-अव्यक्ताक्षर) है। और यही अव्यक्त-मत्तमभृत् के गर्भ में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित खन काला ‘भूतभृत्’ विरवत्मा है जिसके लिए—‘प्रजापतिरक्षरति गर्भेऽन्तरजायमानो यदुवा विजायते’—‘प्रजापति’ प्रजाया संरक्षणस्त्रीणि ज्योतीषि सचत म पोबरी’ इत्यादि प्रसिद्ध है। यही विरवाधार विरव की समन्वयाधारभूमि है यही विशिष्टास्य वह ब्रह्म (अक्षर) है जिसके समन्वय से विरव समन्वित है एवं जो अपनी कालात्मिका कारणता से विरव के जन्म-स्थिति-मङ्ग-मात्रों का प्रवक्तृ बन रहा है। और यही है शास्त्रयोनिभूत वह ब्रह्म जिसका प्रकृतिरूपविरवक्षयात्मक मन्त्रजाद्ययात्मक वेदशास्त्र में विस्तार से उपलब्ध हुआ है। एवं यही है वह भूतभृत्-कालात्मक-परमदेव-मूर्ति-विरवत्मा-विरवाव्यक्त-संगुण-प्रकृतिब्रह्म जिसका—‘अथातो ब्रह्मविज्ञासा-उत्तु समन्वयात्म-जन्मा-यस्य यत्-शास्त्रयोनिन्त्यात्’—इस सुप्रसिद्धा व्याससूत्रचतुष्टयी के द्वारा स्वरूप-विरलेपन हुआ है।

है, जिसे दार्शनिक ज्ञानमीमांसा कहा करता है जिसका उपक्रम—उपान आत्मयज्ञोपान (त्मक) सिग्देराकालानुक्रम से ही हुआ है। मान रहा है दार्शनिक आत्मयज्ञ को सिग्देरै ईव रहा है उसे वह सिग्देराकालानुक्रम भूतों के मीतर। न इसके भीतर का ही कुछ 'सूत्रम—सूत्रमवर—सूत्रमरम' शब्दों का ही कोई महत्व है। वाक्यरूप के अतिरिक्त और है इस दार्शनिक—दृष्टि—परम्परा में। ने ही स्थूल से सूत्र को ईदने के ने दार्शनिक प्रकार अन्वेषण—समन्वय करते रहने में ही दार्शनिक की तत्त्वविबुध्मन्नात्मिका—सिग्देराकालानुक्रम गम्य व्ययत्ना समाप्त होबावी है। और परिणाम में अन्व में यह परिणामवादी ही बना २ आत्मयज्ञोपान—परिणाम का अनन्तयज्ञ के अनन्त भिरव से व्यक्तित्व भी तो सम्पूर्ण नर कात्मक परिवामबाद तो दार्शनिक की विशुद्ध अन्वनामात्र ही है।

१२८—'आत्मानुशीलन' की स्वरूप—परिमापा, एवं—'न च्चह तेषु, ते का रहस्यपूर्वा मन्वय—

'न च्चह तेषु' त मयि ही आत्मानुशीलन है एवं यही अनन्तयज्ञ का महिमात्मक स यज्ञ के व्यक्तित्व अरूप एकाग्र के महिमामय विस्त का नाम ही भिरव है। वह बहु भसा वह इसमें कैसे समा समा है ?। उसमें यह अनुक्त अन्वय ही समाविष्ट है उसके भी एकाग्र में ही। वह अपने अनन्त स्वरूप से इन सादिसन्त भावों में सर्वात्मना समा भी यही आत्मानुशीलनात्मक अन्वय है। वह 'मृतसूत्र' अन्वय है किन्तु 'मृतस्थ' नहीं है। स प्रपञ्च उरीके प्रत्यक्ष में महिमारूप से समाविष्ट है अन्वय—वह मृतधीमा से सिग्देराक अर्धसूत्र ही है। मानते हैं उपनिषदों की मीति यद्यपि गीता की मापा भी है तो दार्शनिक है का पारिभाषिक महिमामय अन्वय में मन्त्रजाह्नवत्मक वेदशास्त्र के अनन्वामक समुत्थित है। 'सर्वमाहृत्य विष्टि' 'पात्रोत्सेहामवतपुन—अतो व्ययार्थक पूर्य' । शास्त्र में भी—'मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मयिगणा इव—'एन्द्रोरोन जगत्सर्वम्'—'ममै जीवमृत सनातन' इत्यादिरूप से अनन्वमूलक आत्मानुशीलन का ही उपरु इण दुः आत्मयज्ञ वेदशास्त्र के अतिरिक्त अन्व समस्त भारतीय वादमय विषय में ऐव समग्र सौमाग्य' एकाग्र गीताशास्त्र को ही प्राप्त है बिस्ने केवल • 'न च्चह तेषु' त मयि—'हैं, अपितु वे मुझमें हैं—अर्थात् अनन्त के गम में अन्वमय प्रविष्टि हैं, रह स अन्वभाषों में अनन्त का समावेश सम्भव नहीं है'—इत एक ही वाक्य से अनन्वामानु महिमैतिह्य स्पष्ट कर दिया है। आगे चलकर नम आन्वय में भगवान् ने इसी 'मूलसू' में भी व्ययत्ना की है उसके द्वारा तो स्पष्ट ही तपाकथित आत्मानुशीलन—अन्व का अन्वना है। सत्य बनाइए आगे के दोनों रत्नों की, एवं उदापारेण आत्मानुशीलन का अन्वय न

• ये चैव साधिका भावा राजसात्प्राप्तारच ये ।

मय एवेति तान्निद्धि नचह तेषु, त मयि ॥

—गीता ५।१ ।

इसे कटवस्त्र से 'भूत-भक्त' ना फिर नी कटा जा सकता। किन्तु कदापि इसे 'भूतम्भ' (भूतगर्भ प्रसिद्ध) का नहीं ही कहा जा सकता।

१३१- 'भूतात्मक, कालातीताव्ययपुरुष, 'भूतभावन' अव्यक्तकालात्मक अक्षर, तथा 'भूतयोनि' व्यक्तकालात्मक अक्षर, एव गीताश्लाकछया से दार्शनिकों को आचारशून्या सविशेषभावनियन्धना मान्यता का मूलोच्छेद—

जो भूतभावन हागा वही भूतस्वयं बन सकता। भूतों की मानना किंवा सृष्टिसम्पन्न करने वाला ही 'भूत-भावन' कालात्मा, और यह हागा अव्यक्त-अक्षर। अतएव 'भूतभावन' उपाधि का सम्मान इस अक्षरप्रकृति को ही मिलेगा, जैसे कि- 'भूतयोनि' का सम्मान उन्हीं भूतकीत अव्यक्त की अक्षरप्रकृतिरूप अक्षर को मिलता हुआ है। भूतभावन स्वयं अव्यक्त नहीं है अतएव आत्मनिर्भावनरूप अक्षरप्रकृति है। भूतभावन यह स्वयं नहीं है उन अक्षर यह भूतभावन है- 'सामुद्रो हि तरङ्ग-ऊचन समुद्रो न तारङ्गः। उस का यह आत्मा है महिमा है- जो कि भूतभावन है। अतएव भूतभावन अक्षर ही 'नरम्भ' है- 'भूतमूल अ भूतस्थोऽव्ययः समात्मा भूतभावन-अक्षर एव भूतस्थः इत्यक्षर-इन दो स्थानों में दार्शनिकों की उस मान्यता का सर्वथा ही मूलोच्छेद का बाधा है जो प्रकृतिभाषात्मक प्राकृत-व्यतिरेक-अक्षर (अक्षर-अक्षर) के प्रति-पादक- 'तद्व्यक्तस्य सत्यस्य' इत्यादि बचनों का, एवं-कोशप्रसिद्धियों का सम्बन्ध करने में असमर्थ होने पर ही इन सीमित-दिग्दशकालात्मक-भूतों की दृष्टि के माध्यम से उन भूतकीत-मगोचर के दर्शन के व्याप्तोहन से व्याप्त बन अपनी कालनिक तत्त्वमीमांसा का विवर्धन करने हुए इतन्त एतन्म-माया है।

१३३- भूतों के गर्भ में भूतानीत के अन्वेषण के लिए आतुर हमारे दार्शनिक यन्त्रु, एव तदन्वेषणकर्म का अन्ततोगत्वा शून्यवाद पर विभ्राम—

ये ही दार्शनिक महाभाग भूतों के गर्भ में भूतकीत को ढूँढने के लिए अपनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं का निरर्थक विधान करते रहते हैं। ये ही दार्शनिक-वेद्यं प्रेतो विचिकित्सास्ति जैसी भाष्यवाण्या विचिकित्सा से दिग्दशकालानुबन्धिनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं के माध्यम से। इस मूलान्वेषणमूला दृष्टि का तो वही अन्तिम परिणाम होता है जो अक्षरस्वयं के मीतर किन्हीं तत्व को ढूँढने वाले का हुआ करता है। भाष्य मानक ऐसी आन्ति कर ले सकता है कि कदलीस्वयं (किन्नाक्षर) के मीतर कहीं, कोई भी अक्षर होगा। इसी आन्ति से अब यह स्वयं के अक्षर के आक्षर को हथाना है तो मीतर भी इसे वैसा ही वृक्ष पुत्र मिलता है। यों देखते देखते अन्ततोगत्वा इस देखने का पर्यवसान शून्य पर ही हो जाता है।

१३४- शून्यवाद-परिणाममूला प्रज्ञास्वयंता से अनुप्रायिता जड़ता का 'आत्मशान्ति' नामकरण—

अब आत्मात्मक शून्य पर पहुँच कर अपने इस महान् प्रयास से बच कर यह अन्वेषण निरपरा में निमग्न हो सकता है। और यही इसकी सम्पूर्ण विचारक्रिया उपरान्त हो जाती है। और हाथकी है- इसी अक्षर

१३०-क्षरात्मक विरह के आधारभूत 'भूतभूत्' अक्षरकाल के भी आधार-भूत तदस्य-द्वितीय 'भूतभूत्' का संस्मरण, एव-'मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः' इत्यादि गीता सिद्धान्त का तात्त्विक समन्वय—
 वृत्त है उदर्य भूतभूत्, और वह है इस अभ्यक्त अक्षर से भी अतीत अनात्म-अनन्तान्यग्रह-परस्वस्मात् भाषोऽन्य । यही उदर्य स्वामक भूतभूत् है । अर्थात्-वेदा-केवलो-निर्गुणरच-रूप यह वैवा भूतभूत् है जो कभी किसी भी मत का अर्थ नहीं बनता । अतएव जिसे भूतभूत् में प्रवेश की कोई अपेक्षा ही नहीं । अतएव जो गीता के ही शब्दों में- अज्ञः नाम से प्रसिद्ध हुआ है । सात्त्विक-राजस-तामस-मायात्म तीन गुणों से समन्विता अज्ञ-अभ्यय की त्रिगुणात्मिका अभ्यक्ताक्षरप्रकृति ही अक्षररूप से कार्यात्मक-गुणात्मिक विरह में प्रविष्ट रहती है गमरूप से । अक्षर्य ही इस कारणप्रकृति के द्वारा उस निर्धारण को उदर्य-अरण्याता भी प्राप्त है । किन्तु कदापि अक्षरभूता प्रकृति की भाँति वह इन के गर्भ में प्रविष्ट नहीं है । ही संप्रतिक के सम्पूर्ण गुणमात्र इस के गर्भ में अक्षर्य ही प्रविष्ट माने जा सकते हैं । इस उदर्य-अरण्याता की दृष्टि से ही इस अभ्ययप्रकाश को 'भूतभूत्' मान लिया जा सकता है । अतएव कह दिया जा सकता है कि-सम्पूर्ण भूत उन्ही अनन्तान्यग्रह में दूत हैं प्रविष्टित हैं । किन्तु कदापि वह इन में अवस्थित नहीं है । अर्थात् मूलप्रकृतिरूप अभ्यक्ताक्षर जैसी गयानुगता प्रविष्टा का वहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है । और-'मत्स्थानि सप्त-भूतानि-न चाहं तेष्ववस्थितः' का यही समन्वय है जो कि-नस्वह-तेषु, ते मयि' इस मूलश्लोक की व्याख्यामात्र ही है ।

१३१-'मत्स्थानि सर्वभूतानि' लक्ष्य का साक्षरभाषा, त माध्यम से ही तद्-भाषा का कक्षातीताभ्यय-भाषाएव, एव 'न च मत्स्थानि भूतानि-पर्य मे योगमैश्वरम्' शब्द का तात्त्विक-समन्वय—

'मत्स्थानि सर्वभूतानि' वह भाषा बलुकः अक्षर की भाषा है । क्योंकि-अक्षरस्य-प्रसासने-गार्गि० इत्यादि रूपेण अक्षरयत्ना ही (वास्तवता ही-प्रकृति ही) भूतपदार्थों के क्षेत्र में अन्तर्स्थाती-रूप से प्रविष्टित रहता हुआ सम्पूर्ण भूतों को स्वप्नरूप से प्रविष्टित रहता है । अतएव यही 'भूतत्स' माना गया है । भूतत्स ही 'मत्स्थानि सप्तभूतानि' (सम्पूर्ण भूत मुझ पर उदरे हुए हैं) यह कह सकता है । अतएव यह उस आध्यात्मिक-कार्यात्मिक-अज्ञाती-अज्ञाती-अनन्तान्यग्रह की भाषा ही ही नहीं सकती । ही-कक्षती है एकमात्र-अभ्ययप्रकृति । अभ्यक्ताक्षर के माध्यम से ही इसे अभ्यय की भाषा मान लिया जा सकता है मान लिया गया है । और इसी आधार पर-'मया तन्मिदं सर्वं जगद्व्यक्तमूर्तिना' यह कह भी लिया गया है । एव इस आध्यात्मिक-कार्यात्मिक-अज्ञाती-अनन्तान्यग्रह से ही उस की-'मत्स्थानि सर्वभूतानि' यह भाषा भी मान ली जा सकती है । किन्तु इस माध्यम के अर्थ ही प्रकृत-'न चाहं-तेष्ववस्थितः' इस उपसंहारभाष्य से इस मान्यता का अन्वय भी हो जाता है । अतएव इस प्रियुक्त निश्चिन्त-अभ्ययप्रकाश की अपेक्षा से तो अब यह भाषा अक्षर की ही भाषा मनी रह जाती है । 'अभ्ययप्रकाश' क्या बोलते हैं इस अपने कक्षातीत निश्चिन्त-भाष से ई, प्रश्न का उत्तर है-'न च मत्स्थानि भूतानि पर्य मे योगमैश्वरम्' । कदापि अभ्ययप्रकाश अक्षररूपक भूतभूत् नहीं है । अर्थात् यह भूतभूत् नहीं है । कदापि यह भूतों की गम्यमिच्छा प्रविष्टा नहीं है । अभ्ययप्रकृतिना कदापि

मानव का महान् पुरुषार्थ, जो उस विश्वातीत रीतिरूपन आनन्दपन सर्वमूर्ति अव्ययब्रह्म का एकमात्र महान् प्रतीक ही नहीं, अपितु प्रतिमान है। जो अनन्तब्रह्म अपनी अनन्ता-पूर्णा-अभिव्यक्ति से कदापि किसी भी भूत के गर्भ में प्रविष्ट नहीं हुआ करता, यही पुरुषब्रह्म एकमात्र मानव में ही स्वतन्त्रता अभिव्यक्त हो रहा है। ऐसा है यह मानव, जिसने अपने बुद्धिवादात्मक ब्यामोहन में आकर, आचार्यान्त्या सम्पन्निक दार्शनिकता में पड़ कर अपने इस महान् कालातीत अनन्त स्वरूप को बिस्मृत ही कर लिया है। जिस भूत्पपञ्च के लिए अनन्ताध्ययब्रह्म की 'न त्वहं तेषु त मयि यह भाषा है, यही अनन्ताध्ययब्रह्म अपने पूर्णस्वरूपाभिव्यक्तत्वरूप परिपूर्ण, प्रतिमानात्मक मानवभ्रष्ट के लिए स्या माया बोलता है?, प्रश्न का समाधान भी उन्हीं के पूर्णान्वार-मानवावधार भगवान् शानुदेव कृष्ण के मुख से सुन लीजिए !

ममोऽह सर्वभूतेषु न म द्वेष्योऽस्ति, न प्रियः ।

य मजन्ति तु मां भक्त्या-‘मयि ते, तेषु चाप्यहम्’ ॥

—गीता ६।२.६।

१३७-‘मयि त, तेषु चाप्यहम्’, एव-‘न चाहं तेषु-त मयि’ वाक्यों का तात्त्विक समन्वय, तथा दार्शनिक की भूतानुगता आत्मस्वरूपान्वपशपृष्टि की आत्यन्तिक निरर्थकता—

‘न त्वहं तेषु-त मयि-आर-‘माय त तेषु चाप्यहम्’, इन दोनों का समतुलनमात्र कर लेने से ही शिथिल का सर्भरमाना स्वकीकरण होनावा है। अक्षरप्रकृतिसूत्रक-निगुणात्मक-भूतभौतिक पदार्थों में यह नहीं है जबकि ये सब पदार्थ उन्हीं में ही महिमारूप से। किन्तु मानव का स्वरूप तो उन्हीं कालातीत अव्ययब्रह्म का प्रतिमान है। यह और यह तो अभिन्न ही है। अतएव मानवानुक्त्य से यह कहा ही जा सकता है कि, आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिरूप मानव उस में है एव यह मानव में है। गर्भरमक सम्पन्न नहीं है अपितु विभूतिकर सम्पन्न है जिस के द्वारा स्पष्ट यही करना है भगवान् को कि वह, और मानव (मानव का प्रकृत्यतीत कालातीत अनन्ताध्ययभाव) दोनों एक ही बस्तुत्व है जिस एकत्वानुगत अनन्त्य की अभिव्यक्ति महिभोगात्मक-धर्म ज्ञान-वैराग्य-देवधर्म-लक्षण बुद्धियोग से ही हुआ करती है। ‘ये मजन्ति तु मां भक्त्या’ से इस बुद्धियोगात्मक महिभोग की ओर ही सञ्चित हुआ है जिस अनुभियोगात्मक बुद्धियोग के बिना मानव का प्राकृतपारा में आनन्द रहता हुआ दिग्देशकालानुगता बुद्धिगम्या व्यवस्था का ब्यामोहन में आवृत्त होकर उस भूतों के गर्भ में डूबने का स्वर्ण का ही प्रयास करता रहता है।

१३८-तथाविधा शून्यवादात्मिका दार्शनिकता के ब्यामोहन से ‘तन्तपरम्परा की अभिव्यक्ति, एवं तद्द्वारा अम्युदय-नि श्रेयस्-संसाधक-भारतीय-आचारधर्म की उत्तरोत्तर अन्तर्मुखता, और उस के भीषण परिणाम—

इसी आन्त्या दार्शनिकताने आगे चल कर इस पुस्तकमि धार्मिक भाव्यरूप में वैसी ‘तन्तपरम्परा’ अभिव्यक्त कर ही तो ही जिसने बाहिर के सब द्वार अवरुद्ध कर पीठर के पट खोलने-मुलबान म ही अपनी

में एक नवीन भ्रान्ति । भूषा के पूर्व-पर्व के विरोध का प्रचरुह-प्रवास, केवल तत्त्वमीमांसा के द्वारा अपने शैक्षिक अणु में ही । इस अर्थक प्रवास के अनन्तर उपलब्ध होने वाला शून्यमात्र तदनुमाश्रिता उपरति, और इसी उपरति का नाम होगा 'आत्मशान्ति' ।

१३५—मोहासक्त आतुर—वास्तवकी निराशा-पूर्वा स्तम्भता, एवं तत्समतुलितता दार्शनिक की विश्वसौन्दर्यव्यभिचिता अभावात्मिका-शून्य-शून्य-लक्षणा अभ्यासवादिता—

जैसे अभिलक्षित-पेन्डिक-प्राथो को हूँदने में व्यस्त एक शलक इच्छताः अनुपातन करवा हुआ मिलने की आशा से कमी हूँदवा है न मिलने की दुराशा से कमी रोता है । यो हूँदता-रोसा-दुष्ठा अन्तवोगत्वा इन सवधों से खय ही निष्ठाशून्य मातृक अभिमाक्यी के द्वारा उपलब्ध-मूर्ख-वाङ्मनादि-आक्रमणों से एक कर निस्सम्भ-ब्रह्मण-शून्यण-वन बाधा है तो उस दशा में धातक मी सम्भवतः यही मान लेवा होगा कि, उसे अत्र पेन्डिक शान्ति मिल गई । साथ ही अभिमाक्य तो यह मान ही लेत है कि, कम इस की इच्छा शान्त ही गई अत्र यह ज्ञानवान् बन गया अमकरार खाना बन गया । ठीक यही स्थिति उस दार्शनिक-शिरोमणि की हो जाती है जो भूषो को तो मान बैठता है आरम्भ से ही मलौमत्त यवकचक । अतएव हूँदने क्षय पड़ता है इनके भीतर क्षिपे हुए किसी वैसे यत्न तत्त्व की बिल से इस विविध दुःखों से छटा के लिए मुक्तकार ही मिल जाय । पुणनिष्ठिकस्य 'अभाव ही शक्य बनता है इस दार्शनिक का । आनन्द शान्ति-समुद्भि-पेरकर्म-आदि सत्तात्मिक छत्यं शिबं सुन्दर-कम विरबैभन इसके लक्षण नहीं है । अपिष्ट इसका कारण है-दुःखामात्र । दुःख का अभाव ही जाता है अभाव नहीं !, यह छो नहीं कहा जासकता । हाँ 'अभाव' यदि कोई फदार्थ है तो वह अक्षर ही मिल जाता है-इसे । भूषो की उपेक्षा से सम्पूर्ण प्राकृत-अनुशीलन-आवरण-अनुकरण-अमुकरणात्मक-प्रतीक-धर्मों से तो यह आरम्भ में ही बञ्चित हो जाता है-भूषो के भीतर क्षिपे हुए किसी अलौकिक-सूक्ष्म-सत्त्व के प्रसोमन में । दिग्देशकालानुबन्धिनी भूतेष्वान्ति से भूषो के गर्भ में तो वह इसे नहीं ही मिलता । भूतद्येन्दर्य और जो बैठता है इस अपने ही कल्पित अभ्यास-व्यामोहन में । परिखाम में इस के लिए पारिशेष्यत् रोष रह जाता है-शून्य-शून्य-ही ।

१३६—सर्वशून्यात्मक-जड़तालखण्ड-कल्पित—'निर्वाणपद', तन्मूलक-कल्पित 'मोक्ष', तन्निग्रह से राष्ट्रीय भी-समुद्भि की आत्यन्तिक अन्तर्मुक्तता, एवं तदनुगत शून्य वादात्मक पुरुषार्थ ?—

इसी शक्ति अयक्या-म्याननावापना-सर्वशून्यता का नाम एत लेता है यह अपने अन्तिम महात्-व्यामोहन से—'निर्वाणपद' । यही इसके मोक्ष का अन्त इतिहास है । दार्शनिक की शून्यवादात्मिका इसी मोक्षपरम्पराने आचार्यनिष्ठ मारुतराज के अन्त मोक्षिक-सौन्दर्य को लक्ष्य बना भीतिहीन ही तो प्रमाणित कर दिया है । इसी दार्शनिकवाद न शून्यवादात्मक वह अनात्मवाद आभिर्भूत हो पड़ा है, जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप ही आचार्यनिष्ठाशून्या-कल्पित-अय-अहिता-मानयता-पञ्चशील-सकम-आदि आदि परम्पराओं से कुम्भूद भी भाष्यराज नियत २-१-मदस बर्षों से तत्त्वोपर शून्य-शून्य-लक्षिक-धर्मिक-दुर्ग-दुर्ग-दुर्ग-का ही परोपमान करवा आरुह है और मानता पड़ा आरुह है इसी शून्यवाद को मानन का मूख्य पुरुषार्थ । उक्त

क्याकि आप बिस देश, किवा प्रदेश का देश रह ई उस स सर्वथा पूथकू फस्तुतत्व हे मत्वाभिद् देशप्रदेश बैद्यकि म्प-सक्तदयी क पूवपरिदेग में विन्ताग स स्पष्ट किवा जानुम है। जिसे आप छूकर देश यतशाते ई वह 'धूना' पूथकू है, एव यतलाना पूथकू है। घूत ई आप सत्ताभिद् देशप्रदेश का, एव कलाले ई आप देश हुए देश-प्रदेश की। दृष्टि का विषयभूत देशप्रदेश आप के मानस-कास्मनिक-ब्रह्म के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व में कही भी ता नहीं है। अन्या हि सूर्यमान- अन्या हि हर्यमाण'। आपकी गार्शनिकता ता दृष्टिमा है। आप ता प्र रचप्रामाग्यवादी ई। अतएव आप ता बिने दगत ई उसे गी मानत ई। आप बिस देश-प्रदेश-का नत्तरिन्द्रिय क द्वारा देगत ह वह ता आप की कल्पना से ही प्रसूत अतएव आप के मानसब्रह्म में ही विद्यमान भातिसिद्द यह कास्मनिक देशप्रदेश ही है, बिस का भी कास्मनिक दिग्मात्र की भांति कोई मत्वाभिद् भातिक-परीचय आप कटापि नहीं कर सकते। फिर जतलाएए' आपक कल्पित देश प्रदेश के प्रत्यवाप्रहमूलक प्रामाग्यवाट का क्या महत्त्व रहा ?।

१४१-भातिसिद्द-गणनात्मक-काल की स्वरूप-ध्यास्या से पराडभूसा दार्शनिक-प्रज्ञा—

ठीक यही रिधति कजना मक-क्रमभावात्मक-सम्बन्धसिद्द अतएव भातिसिद्द काल की है। निरपच एकत्व को छोड़कर खपच एक मन्या से आरम्भ कर परम्परारूपसा बितनी भी सम्पाएँ (गणनाएँ) ई वे सन कल आपकी कल्पना क कास्मनिक प्रस्तमान ही ई। मूलभूता एकत्वसम्पत्ता का वैधानिक भाव ही वे-तीन चार आदि सम्पानन्त्य है। सर्वत्र- अयमेक-अयमेकः इत्यादि रूपेण एकत्व का ही साम्राय है- एक वा शूनं वि यभूय सवम् । अविच बिन प्रदेश-देश-भावा के माध्यम स आप कलनात्मक-संख्यासिद्द-काल का परिगणन करते ई वे देशप्रदेश ही जन पूर्वकथनानुसार कल्पित ई ता फिर सदाधार पर ही व्यक्तियत क्रमसिद्द गणनसिद्द-अल का सन् महत्त्व शेष रह जाता है ?। मान लेत ई आप बिस 'अल' कहत ह वह कोई तत्व होण। किन्तु स्वरूप-ध्यास्या तो कीबिए आप अपने इस माने-जाने और पहिचाने हुए अल की ?। बरसकेंगे क्या आप इसरी स्वरूप-ध्यास्या ?। असम्भव। बिसप्रकार दूरत्व-अपरत्व-गुरुत्व-आकुञ्चनत्व-प्रसारणत्व-आकृषण-विकर्षण-स्पर्शन-घोरण-शापण-आपि आदि कल्पना-प्रसूत असम्बन्ध-अपेक्ष-भावा की कोई सत्तासिद्द स्वरूप-ध्यास्या सम्भव ही नहीं है इनकी भातिसिद्दता के कारण तयैव इस भातिसिद्द अतएव सर्वथा कास्मनिक गणनशास्त्रात्मक अल की भी आप कोई स्वरूप-ध्यास्या नहीं ही कर सकत।

१४२-दिग्देशकालक्रमव्यवस्थानुगत बुद्धिवाद की कल्पनिकता का नग्नचित्रण, एवं

बुद्धिमान् दार्शनिक के कल्पनाप्रसून—

तद्वि-आपकी बुद्धिगम्या ध्यास्या क महतोमहीमान महत्त्वपूर्व दिक्-देश-काल-नामक तीनों ही महान् अम्ब महान् यच्च सर्वथा कास्मनिक ही प्रमाणित हो-हे ह बिनके आधार पर ही लाकनतुर प्राकृत बुद्धिमान् अपने लोककर्म-व्यवस्थित कृत हुए इतस्तथा दन्त्रम्याण है। बिनके आधार पर ही अपनी बुद्धिगम्या ध्यास्या के द्वारा इन कल्पित दिक्-देश-कालानुसन्धी भूतपदार्थों क माध्यम स इनके गन में ही आत्मदर्शन के लिए आहुर के रहते हुए दार्शनिक ध्यामुष्य ई ता इन्हीं कल्पनाप्रसूती के मा यम का महान् विविधमन्त्र करन वाले आद के भूतविज्ञानवादी अपने भातिसिद्द अणिक विज्ञानवादा के गर्ब स चरलल को विकल्पित करते आये ई। ऐसे ही लोकचतुर बुद्धिमान् तत्त्वमीमांसक दार्शनिक, तथा तत्त्वचिरलेखक

में एक नवीन भ्रान्ति । भूतो के पर्व-पर्व के किरलोपव का प्रत्यक्ष-प्रवास केवल उत्कमीमांसा के द्वारा अपने दैविक धर्म में ही । इस अर्थक प्रयास के अनन्तर उपलब्ध होने वाला शून्यभाव धनुःप्राणिका उपरति, और इसी उपरति का नाम होगा 'आत्मशान्ति' ।

१३५-मोहासक्त आतुर-बालक की निराशा-पूर्वा स्वप्नता, एवं तत्समतुल्यता दार्शनिक की निरवसोन्दर्यवृत्तित्वा अभावान्तिका-शून्य-शून्य-सुखशा अभ्यासवादिता-

जैसे अमिलभित-यन्त्रिक-पदार्थों को हँडने में न्यस्त एक बालक इतस्ततः अनुधानन करता हुआ मिलने की आशा से कमी हँडता है न मिलने की दुःखता से कमी रोता है । यी हँडता-रोता-हुआ अन्तर्गतत्वा इन संघर्षों से साथ ही निष्ठाशून्य मायुक अभिमानकों के द्वारा उपलब्ध-मूर्च्छन-वाङ्मनसि-आत्ममयी से एक कर निस्तम्ब-वृद्धन्-शून्यन्द् वन जाता है, तो उस दशा में बालक भी स्वप्नतः यही मान लेता होता कि उसे अब दैविक शान्ति मिल गई । साथ ही अभिमानक तो यह मान ही लेते हैं कि अब इस की इच्छा शान्त हो गई अब यह ज्ञानधान बन गया समभ्यदार स्थाना बन गया । ठीक यही स्थिति उस दार्शनिक-शिरोमणि की हो जाती है जो भूतो का तो मान बैठता है आरम्भ से ही मसीमत्त भवकचक्र । अतएव हँडने लग पड़ता है इनके नीतर क्षिपे हुए किसी-वैसे सूक्ष्म तत्व की, बिच से इसे त्रिविध दुःखों से छा के लिए फुटकार ही मिल जाय । दुःखनिवृत्तिकम 'अभाव' ही लक्ष्य बनता है इस दार्शनिक का । आनन्द शान्ति-समुद्रि-देशकर्म्य-आदि लक्ष्यिष्ठ छर्ष शिष्य सुन्दर-रूप निरवसोन्दर्य इसके लक्ष्य नहीं हैं । अपिष्ट इच्छा लक्ष्य है-दुःखान्ताव । दुःख का अभाव ही वास्तव है, अथवा नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता । हाँ 'अभाव' यदि कोई पदार्थ है तो वह अकार्य ही मिल जाता है-इसे । भूतो की उपेक्षा से सम्पूर्ण प्राकृत-अनुशीलन-आनरण-अनुकरण-अनुकरणान्तक-प्रतीक-धर्मों से तो यह आरम्भ में ही वञ्चित हो जाता है-सूतो के नीतर क्षिपे हुए किसी अलौकिक-सूक्ष्म-तत्व के प्रसोमन में । विगदेशकालानुवन्धिनी भूतोपशान्ति है भूतो के गर्भ में तो वह इतने नहीं ही मिलता । भूतोन्दर्य और जो बैठता है वह अपने ही वञ्चित अभ्यास-व्यमोहन में । परिणाम में इस के लिए पारिशेष्य शेष यह बाठा है-शून्य-शून्य-ही ।

१३६-सर्वशून्यात्मक-जडसालुवख-कल्पित-निर्वाणपद, तन्मूलक-कल्पित 'मोक्ष', सन्नियम से राष्ट्रीय श्री-समुद्रि की आत्यन्तिक अन्तर्मुक्तता, एवं तदनुगत शून्य वादात्मक पुरुषार्थ ?-

इसी शक्ति घयस्या-महाननावापना-सर्वशून्यता का नाम रल लोच्य है यह अपने अन्तिय महान्-व्यमोहन से-निर्वाणपद' । यही इसके मोक्ष का समस्त इतिवृत्त है । दार्शनिक की शून्यवादात्मिका इसी मोक्षपरम्पदने आचारनिष्ठ मारतपत्र के समस्त मीतिक-सौन्दर्य की स्वर्णमना भीविहीन ही तो प्रमाणित कर दिया है । इसी दार्शनिकताव म शून्यवादात्मक यह अनात्मवाद आभिर्भूत हो पात्र है, जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप ही आचारनिष्ठाशून्य-कल्पित-सक-आहित-मानकता-पञ्चशील-सम-आदि आदि परम्पराधी से मुक्त्युद्दी ही भारतपत्र विगत २-१-सदस्य बर्षों से उत्तरोत्तर शून्य-शून्य-धर्मिक-धर्मिक-दुर्ग-दुर्ग-का ही यथोमान करता आ रहा है, और मानता बना आ रहा है इसी शून्यवाद की मानव का महान् पुण्यार्थ । उस

क्याकि आप बिस देश, कियो प्रस्था का रूप रह ह उस म सवथा पूभङ्ग यस्तुतत्त्व हे सत्तामिद देशप्रदेश, बैसाकि अधनस्युक्तदयी क वृत्परिन्देदा में विस्तार स स्पष्ट किया जाजुझ हे । जिसे आप छुकर दरा बतलाते हे, पर 'छुना' वृषङ्ग हे, एव प्रतलाना वृषङ्ग हे । एते हे आप सत्तामिद देशप्रदेश का, एवं बतलाते हे आप देश हुए देश-प्रदेश का । दृष्टि का विषयमत देशप्रदेश आप क मानस-काम्यनिक-ब्रह्म क अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व में कही भी ता नही हे । अन्या दि सूर्यभाव अन्यो हि दर्यभाव । आपकी गणनिकता ता दृष्टिमूला हे । आप वो प्रयत्नप्रामाण्यवाणी हे । अतएव आप ता बिने तरते हे उम गी मानते हे । आप बिस देश-प्रदेश-का चक्षुरिन्द्रिय क द्वारा दंगत ह, पर ता आप की कल्पना स ही प्रसूत अतएव आप के मानसब्रह्म में ही विद्यमान भाविसिद्ध यह काल्पनिक देशप्रदेश ही हे, बिस का भी काल्पनिक दिग्मात्र की भाँति कोइ सत्तामिद भाविक-परीक्षण आप क्वापि नही कर सकते । फिर चलाइए ! आपक कल्पित देश प्रदेश के प्रत्यक्षामूलक प्रामाण्यवाद का क्या महत्व रहा ? !

१४१-भाविसिद्ध-गणनात्मक-काल की स्वरूप-व्याख्या से पराङ्मुखा टाशनिक-प्रज्ञा-

ठीक यही स्थिति पचना मक-कर्मभावतात्मक-नन्धासिद्ध अतएव भाविसिद्ध काल की हे । निरपेक्ष एतत्त्व को ह्याङ्कर आपक एक सस्या स आरम्भ कर परमपरामरुता जितनी भी सन्धारण (गणनाएँ) हे स स कवल आपकी कल्पना क काल्पनिक प्रस्तुतमान ही हे । मूलभूता एकत्वसस्या का वैतानिक भाव ही गे-तीन चार आदि सन्धानन्त्य हे । सर्वत्र-अयमेक-अयमक । इत्यादि रूपेण एकत्व का ही साम्राज्य हे- एक वा इतुं वि वभूय सवभु । अतिच बिन प्रदेश-देश-भाषा के माध्यम से आप कलनात्मक-सन्धासिद्ध-कास का परिगणन करते ह वे देशप्रदेश ही सब पूषकधनानुसार कल्पित हे ता फिर साधारण पर ही व्यवस्थित क्रमसिद्ध गणनसिद्ध-ब्रह्म का क्या महत्व शय रह जात हे ? ! मान लेते हे आप जिसे 'काल' कहते हे वह कर्म तत्त्व हाण्ड । किन्तु स्वरूप-व्याख्या तो यीदिए आप अपने इस मान-बान और पहिधान हुए ब्रह्म की ? ! कसकरो क्या आप इसकी स्वरूप-व्याख्या ? ! असम्भव । बिसप्रकार वृत्त्व-अपरत्व-गुणत्व-मातृजनत्व-प्रसारणत्व-आकारत्व-विरर्षण-व्यवधान-योग्यत्व-शौर्यत्व-आणि आनि कल्पना-प्रसूत असम्भ-अपेक्ष-भाषा की कोइ सत्तामिद स्वरूप-व्याख्या सम्भव ही नहीं हे इनकी भाविसिद्धता के कारण तयैव इस भाविसिद्ध, अतएव सर्वथा काल्पनिक गणनात्मक ब्रह्म की भी आप कोइ स्वरूप-व्याख्या नहीं ही कर सकत ।

१४२-दिग्दशकालक्रमव्यवस्थानुगत बुद्धिवाद की काल्पनिकता का नग्नचिप्रण, एव बुद्धिमान् दार्शनिक के कल्पनाप्रसून-

तदिय-आपकी बुद्धिगम्या व्याख्या क महतीमहीयान महत्वगुण दिक्-देश-काल-नामक तीना ही महान् अन्व महान् यद्य सर्वथा काल्पनिक ही प्रमाणित हो-हे हे । बिनके साधारण पर ही लाजवगुण प्राकृत बुद्धिमान् अपने लोकोक्त व्य-व्यवस्थित करत हुए इतकत दन्त्रम्यमाण हे । बिनके आधार पर ही अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा इन कल्पित दिक्-देश-कालानुष्णपी भूतप्रायो क माध्यम से इनके गम में ही आत्मदर्शन के लिए आदुर को रखते हुए टाशनिक व्यासुध हे ता इन्ही कल्पनाप्रसूती के माध्यम का महान किञ्चिदमपेक्ष करन बाते आप के भूतव्यवधानवादी अपने भाविसिद्ध अणिक विज्ञानवादी क गर्व म भराकल को निश्चित करते बाख हे । ऐसे ही लोकोक्त बुद्धिमान् उत्तमीमांसक टाशनिक, तथा तत्त्वविश्लेषक

सम्पूर्ण शक्ति समर्पित करती। बाहर के पट इस दृष्ट्या से बंद होनाए कि, आभतापी आशान्ताधीर्नें कब इन के इन अन्न हारपटीं की ठोड़-ठोड़ बासा कब इन के भीतर क पटीं की भी धूलिघुंछरित कर दसा ।, इत्यादि कुछ ही का बाध ही न हो स्या इन सतीं की। ये विचरते रहे अपने किसी अलौकिक तत्त्व के प्राङ्गण में, और इन की इस विचरणशक्ति का काम उठाते रह आश्रयता। पैख वा ही वो आश्रम भी कुछ प्रति विपटित हो रहा है। यह अपनी उठी कस्मिण्य आन्वाराश्रयता-अर्धधर्मयवतानुगत आश्यात्मिकता के वास्पनिक पोष में निमग्न है। वो इस की इस कस्मित मानकता-अद्वितीय-इया-कठमा-मूला भावुष्या से ज्ञान उठा कर आश्रयता कुनैतिक मैत्री के कुल से इस का सर्वत्र निगरण करते आये हैं। आश्रयक करते हैं-इसाय दर्शमान सवाक्य धर्मनिरपेक्ष बन कर बड़ी मूला कर रहा है। हम करते हैं यह सवाक्य की मूला नहीं है। अस्तित्व के वो उत दार्शनिकता के महान् प्रखन हैं जिनका जन्म आश्रम से टाई इबार वर्ष पूर्व ही हो चुका था एवं वो विगत युगानुगत सन्तपरम्पराधीं से उत्तरोत्तर पुष्पित-फलवित ही होते आये हैं। आचारसिद्ध धर्म का स्थान प्रकृत कर शिष्य अगनिष्यात्कला दार्शनिकता ने उत्परिव्यामस्वस्म प्रकृत ही पका शून्यवाद, इस शून्यवाद से जन्म ले पकी आन्तःप्रतिभोर सन्तपरम्परा और वो अम्युदय-निर्भोयसकर धर्म का आचारपक्ष सर्वथा ही अमिमम इममा इन गहपरम्पराधीं से बलाकि द्वितीय पायब में विस्तार से निवेदन किया जाचुका है। इन्ही सब आश्रमों से उत्त्रस्त हमारे सवाक्य न धर्मनिरपेक्षता की पोषणा कर बहली, और उत्स्थान में उपलब्ध एकमात्र किस्म प्रतीय मैत्री की मौलिक-बीजनपद्मवित ही इस का आदर्श बन गई। यी आश्रम ही सभी कुछ-आलयात्ममेव।

१३६-गोचरभावाभिनिविष्ट दार्शनिकों की कास्पनिकी दिग्देशकालत्रयी, एवं कास्पनिक 'काल' क सम्बन्ध में बुद्धिवादी दार्शनिक से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न—

जिस अन्तःसम्बन्ध निर्बिरोध ब्रह्म के स्वयं सापेक्ष-रिक्कालदेशमाधीं का राजनिक सम्बन्ध भी नहीं है उन्ही की धृष्टगर्भ में गोचरभाव से देखने-समझने के लिए आतुर बन जाने वाली दार्शनिक-दृष्टि के अनुग्रह से ही स्पष्टिकिद रिक्-देश-काल-त्रयी का वास्पनिक आधिर्भाव हो पका है जिसे इस तत्त्व का सम्बन्ध बुद्धिवादी प्राकृत मानव ही करापि नहीं करतकेगा। ऐसे बुद्धिवादी से प्रकृतभावपूर्वक क्या वह प्रश्न नहीं किया जासकेगा कि, जिसे वह पूर्व-परिचय-उत्तर-दक्षिण-आदि दिशाएँ करता-मानता चला आरहा है क्या मौलिक-सवाक्यिक प्रदायी की मांति वह इन दिशायों की स्वरूप-स्वाक्यता कर सकेगा। क्या यह कठना सकेगा कि 'रिक्' नामक प्रदाय का वह रूप है यह कर्म है। और अत्युक्त स्थानस्थिति में अत्युक्त नामरूप-गुणधर्म से वह दिग्भाव प्रविष्टित है। मौलिक इन्हीं-प्रदायी की मांति क्या आज इस अपने धीमिक, अतएव सर्वथा वास्पनिक दिग्भाव पर कोई परीक्ष कर ली। ये ही ये कस्मिण्य प्रश्न है जो उनके सापेक्ष दिग्भाव की सवाक्यता एवं स्पष्टिकता अतएव वास्पनिकता स्पष्ट कर रहे हैं।

१४०-कास्पनिक कालानुगत कास्पनिक रिक्-देश-भावों के सम्बन्ध में दार्शनिक से प्रश्न—

यही स्थिति ऐसे वास्पनिक दिग्भाव से समन्वित वास्पनिक-प्रदेशात्मक दृष्टमात्र की है। जिसे आप सब-सिद्ध उ-धृ-कर 'देश' किया प्रदेश करते हैं वह वो आप के दर्शन का वो स्थित नहीं बनकता।

अत्र गुणनिधिभ्रमणस्य दृष्टान्त —

तथाहि—धर्मसिंहाचार्यस्य गुणनिधिनामक सुधीः शिष्यः प्रकृतिभद्रः प्रकृतिविनीतः प्रतिदिवस गुरुनिकटवासी गुरुवचनानुकूलकार्यकारी गुरुमनोवृत्त्यनुसारी गुरुविचारश्रेणिमरगिसचरणशीलः प्रकृतिसरलः सुशील आसीत् । यदा गुरुरागच्छति तदाऽऽसनादुत्थाय तस्मै सविनयमासनं प्रयच्छति, यदा गच्छति तदाऽऽसनमुपादाय तदुपवेशनस्थाने विस्तारयति, गुरोराज्ञा कदा कीदृशी भविष्यतीत्येव प्रतिक्षणं प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति । यस्मिन् यस्मिन् ऋतौ यद् यद् गुरुप्रकृत्यनुकूलमशनादिकं, तत्तत् समानीय गुरवे समर्पयति । गुरुहि जननीजनकाभ्यामप्यधिकः, तत्र कारण-जन्मदाता जन्मनि जन्मनि भवति, मुक्तिदाता गुरुस्तु दुर्लभः ।

इस पर गुणनिधिभ्रमण का दृष्टान्त कहते हैं—

धर्मसिंह आचार्य का गुणनिधि नामका एक शिष्य था। यह सुबुद्धि एवं प्रकृतिभद्र था। विनीत था। गुरु महाराज के पास बैठना उनके वचन के अनुसार चलना, उनकी मनोवृत्ति के अनुकूल काम करना इत्यादि समस्त सद्गुणों से युक्त था। यद्वा ही सुशील था। जब गुरु महाराज पधारते तब आसन से उठ कर वह उनके लिये विनयपूर्वक आसन देता, तथा जब गुरु महाराज वहाँ से उठ कर जाते तब वह आसन छेकर उनके पीछे २ चलता और जहाँ गुरु महाराज बैठना चाहते वहाँ आसन पिछा देता। गुरु महाराज की आज्ञा कब कैसी होगी, इसकी प्रतिक्षण प्रतीक्षा करता था। जिस २ ऋतु में जो जो आहार पानी आदि गुरुमहाराज के प्रकृति के अनुकूल होता उस उस ऋतु में वही वही पदार्थ लाकर गुरु महाराज को अर्पण करता। गुरु ने जो कुछ कहा वही

आ अगे शुषुनिधि भ्रमणनु दृष्टात कडे छे—

धर्मसिंह आचार्यने शुषुनिधि नामने एक शिष्य हतो. ते सुबुद्धि वाणे. अने प्रकृतिभद्र हतो. विनीत हतो. गुरु महाराज पास बेसवु, तेमना वचन अनुसार वासवु, तेमनी मनोवृत्ति अनुकूल काम करवु धत्यादि समस्त सद्गुणोथी युक्त हतो. धरो सुशील हतो. न्यारे गुरु महाराज पधारे त्यारे आसनथी उठीने ते तेमने भाटे विनयपूर्वक आसन आयतो, तथा न्यारे गुरु महाराज त्याथी उठीने जाता त्यारे ते आसन वधने तेमनी पाछण पाछण जतो अने न्या गुरु महाराज बेसवा धच्छे त्या आसन पीछावी (पाधरी) हेतो. गुरु महाराजनी आज्ञा क्यारे ठेवी हथे, तेनी प्रतिक्षण प्रतीक्षा करतो हतो. जे जे ऋतुमा जे जे आहार पाणी आदि गुरु महाराजनी प्रकृतिने अनुकूल होयते ते ऋतुमा ते ते पदार्थ वाचीने गुरु महाराजने

अपूर्ण शक्ति समर्पित करती। बाहर के पट इस इच्छा से नष्ट होना चाहता है, आतन्त्र्यी आकाशमूर्ति नच इन के इन शब्द द्वारापत्तों को छोड़-छोड़ जाता कम इन के भीतर के पत्तों को भी वृत्तिधूसरित कर जाता है, इत्यादि कुछ ही का शेष ही न हो उभर इन कन्ती को। ये विचरते रहे अपने द्वितीय अर्थिक तत्व के प्राकृत्य में और इन की इस विचरणावृत्ति का साम उठाते रहे आकाशमूर्ति। यैष स ही तो आकाश भी कुछ पवित्र विपणित हो रहा है। यह अपनी उन्नी कस्मिता आचारशून्या-अकर्मपरतानुगत आध्यात्मिकता के कास्मनिक धर्म में निमग्न है। तो इस की इस कस्मित मानवता-अहिंसा-दया-कृपा-मूला मण्डलता से साम उठा कर आकाशमूर्ति कुनीष्टिक मीत्री के दल से इस का सर्वस्व नियरण करते बाखे हैं। आलोचक कहते हैं-इमारत वर्तमान सत्तात्मक धर्मनिरपेक्ष बन कर पड़ी मूल कर रहा है। हम कहते हैं यह सत्तात्मक की मूल नहीं है। अस्तित्व से तो उक्त दार्शनिकता के महान् प्रसून है किन्तु अन्त आश से डाई इनार वर्ष पूर्व ही हो चुका था एवं जो विगत युगानुगत सन्तपरम्पराओं से उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित ही होते बाखे हैं। आचारविद्य धर्म का स्थान ग्रहण कर शिवा बगनिष्ठात्ममूला दार्शनिकता ने अन्परिणामस्वरूप प्रह्व हो पका शून्यवाद इस शून्यवाद से कम से पकी अन्त-पद्यभोग सन्तपरम्परा और जो अम्युदय-निर्भोयसकर धर्म का आचारपद्ध सर्वथा ही अविमल हाग्य इन प्राहपरम्पराओं से अत्यन्त द्वितीय अर्थ में विस्तार से निवेदन किया जाचुका है। इन्हीं सब आकाशमूर्ति से उन्नत हमारे सत्तात्मक ने धर्मनिरपेक्षता की पोषणा कर जाती और अस्थान में उपलभ्य एकमान किस्म प्रतीय देशों की भौतिक-जीवनपद्धति ही इस का मादर्श बन गई। यी आश तो सभी कुछ आलम्ब्यमाने।

१३६-गोचरमावाभिमिबिष्ट दार्शनिकों की कास्मनिकी दिग्दशकालत्रयी, एवं कास्मनिक 'काश' के सम्बन्ध में बुद्धिवादी दार्शनिक से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न—

जिस अन्तःस्थानिक निर्भोय ब्रह्म के साम अर्थ-दिक्कालदेशमायी का स्थानिक सम्पर्क भी नहीं है उन्नी को मूहगर्भ में गोचरमय से देखने-समझने के लिए आसुर बन जाने वाली शारीरिक-दृष्टि के अनुग्रह से ही भाविष्ठ दिक्-देश-काल-त्रयी का कास्मनिक आविर्भाव हो पका है जिस इस तन्त्र का अन्तःस्थान बुद्धिवादी प्राकृत्य मानव तो कदापि नहीं करसकेगा। ऐसे बुद्धिवादी से प्रफतमावपूर्वक क्या यह प्रश्न नहीं किया जासकेगा कि, जिसे यह पूर्व-परिचय-उत्तर-द्विष-आदि दिशाएँ बहस-मानवा पला आरखा है क्या भौतिक-सत्तात्मक पदार्थों की मति यह इन दिशाओं की स्वरूप-भ्याप्य कर सकेगा? क्या यह कला सकेगा कि 'दिक्' नामक पदार्थ का यह रूप है यह धर्म है, और अत्युक्त स्थानविशेष में अत्युक्त नामरूप-गुणधर्म से यह दिग्मय प्रकृत है? भौतिक ब्रह्मों-पदार्थों की मति क्या आप इस अपने भौतिक, अतएव सर्वथा कास्मनिक दिग्मात्र पर कोम परीक्षण कर लेंगे? ये ही वे कतिपय प्रश्न हैं जो उनके आपक्ष दिग्मात्र की सत्तात्मकता अतएव कास्मनिकत्व व्यक्त कर रहे हैं।

१४०-कास्मनिक कालानुगत कास्मनिक दिक्-दश-भावों के सम्बन्ध में दार्शनिक से प्रश्न—

परी रिपति एत कास्मनिक दिग्मात्र से समन्वित कास्मनिक-प्रदेशात्मक पदमात्र की है। जिसे आप अत्युक्त सत् कर 'देश' किया प्रदेश करते हैं वह तो आप के दर्शन का ही विषय नहीं बनसक्या।

१४३-कान्यनिक-भातिसिद्ध-‘दिग्दशकाल’ की सत्तासिद्धता का व्यामोहन, सत्तासिद्ध
‘कालदिग्दश’ की भातिसिद्धता का आवेश, एवं दार्शनिक की भूतास्वरूपमयी
प्रज्ञा—

हेतु आश्चर्य । यों मानव न, प्राकृत मानव न भूतास्वरूप मानव न अपन कल्पित दिग्दशकाल से
अनुप्राणित वाग्विब्रमण को वा मान लिया है सत्तासिद्ध एवं विसर्गी सत्ता से सत्ता क एक प्रत्यक्षतम से
यं भातिसिद्ध भूत अपनी भाति का बीजित रख रहा है, वह उन गया है इन पुष्टिवाचियों क लिए भातिसिद्ध । यां
आत्मनिष्ठ बिसे दिन यह रह हैं, उसे ये लाक्षणिक प्राकृत जन रात्रि मानत हैं । एवं आत्मनिष्ठों की दृष्टि में जो
रात्रि है वह दिन बना हुआ है इनकी दृष्टि में जैसे कि अन्य प्राणियों का दिन उलूक क लिए रात्रि तथा
अन्य प्राणियों की रात्रि इन उलूकों के लिए दिन बना रहता है । सत्तामय ज्योतिर्विश्व का ‘तम मान बैठना
एक भातिरूप तम का ज्योति कहने लग पड़ना यही तो आत्मनिष्ठलाभ्यतीव मानव की दृष्टि में तथा लाक्षणिक-
स्वरूप शोभासिद्ध मानव की दृष्टि में वह महान् अन्तर है जिसका मगयान् इन रात्रियों में अभिनय किया है—

या निशा सर्वाभूतानां तस्यां जागर्ति सयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुन ॥

—गीता

१४४-‘विकृति’ (धर) की ‘प्रकृतिवादिता’, प्रकृति (अधर) की पुरुषवादिता’, एवं
तन्मूला भ्रान्ति, और दार्शनिक का व्यामोहन—

विकृति को प्रकृति मान बैठना एवं प्रकृति को पुरुष मान बैठना ही दार्शनिक-व्यामोहन का मूल
कारण बना है । दिक्-देश-कालात्मिका-बुद्धिगम्या व्याख्या से इन्हें जो कुछ प्रतीत हुआ उसे ही इन्होंने
‘महति मान लिया इन्हीं का नाम रख लिया इन्होंने ‘प्राकृतब्रह्म’ । इसे आधार बना कर इन्होंने उची
दिग्दशकाल के माध्यम से धर्ममीमांसा का उपक्रम कर डाला । अक्षय ही इस मीमांसा से इन प्राकृत-मूर्तों के
पद में इन्हें सत्त्वमात्र की उपलब्धि भी हुई । किन्तु जिसकी यह उपलब्धि हुई वह भी प्रकृति से अतिरिक्त
और कुछ भी न निकला । जिस उपलब्धि को यह अन्तर्ध्यायी-प्रज्ञापति-भूतात्मा-भूतमात्र-कहने लगे वह
सिवाय प्रकृति के और कुछ भी हो नहीं है । यदि आरम्भ में ही अपनी मान्या प्रकृति क विकृतित्व का य स्म
नक्ष कर लेते तो कदापि अनन्तर उपलब्ध हो पड़न वाली प्रकृति को ही वे पुरुष मान बैठन की भ्रान्ति न
कर बैठते । अतएव कहना और मानना पड़ेगा कि— विकृति को प्रकृति मान बैठना एवं प्रकृति को
पुरुष कह बैठना ही दार्शनिक-भ्रान्ति का अन्यतम कारण बना है” ।

१४५-दार्शनिक दृष्टिकोष की प्रज्ञासमाप्ति का कान्यनिक कन्द्र आत्मानुगत कान्य
निक चैतन्यवाद, एवं तदनुगता प्राकृत दृष्टि के अनुग्रह में नाम्निक्दशन का
आविर्भाव—

प्रकृति काय है यही परमास्वरूप अमृत अनन्त कारण है जो सतता-सचचा है । एवं विकृति
अर्थ है यही अक्षर-अक्षर-मूल-सादिखान्त काल है जिसकी अभिव्यक्ति का ही नाम दिग्दश है और

वैज्ञानिक मन्त्रे ही इत्थं से यह उद्देश्य करते रहते हैं अपने अपने मन्त्रम्यो की कार्यकारणताओं का कि,—
 'जो दिग्देवताकाल-व्यवस्थाओं से अनुप्राणित होगा जो इत्थं व्यवस्था-सम्मत-होगा, अतएव
 जो बुद्धिगम्य होगा (किंवा बुद्धिबाधात्मक होगा) अतएव च जिस की क्रमबद्धा बुद्धिगम्या ध्यात्म्या
 की वासकेगी उस प्रत्यक्षसिद्ध तत्त्व को ही इन मन्त्रोंगी रसी पर प्रकृत करेगी रसी पर अस्या
 करेंगे। क्योंकि दिग्देवताकालातीत-‘आत्मब्रह्म’ जैसा कोई तत्त्व दिग्देवताकाल से कोई सम्बन्ध न
 रखता हुआ बुद्धिगम्य नहीं है। अतएव उसे तो केवल ‘कल्पना’ ही कहा जायगा ।

६-माखीय दर्शनशास्त्र भी इसी ध्येयवाद का पक्षक बना हुआ है। अतएव माखीय दर्शन भी
 भ्रमोत्पत्त्या आचारनिष्ठ से सर्वथा पराङ्मुख ही प्रमाणित है जैसा कि द्वितीय खण्ड में विस्तार से निर-
 प्त है जिसकी प्राथमिक-सन्दर्भ-उक्ति का सविस्त इतिहास सुरमाखी (संस्कृत) के माध्यम से यों समन्वित हो
 रहा है कि- ‘अगोचरस्य गोचरभावे दृष्टिरेव दर्शनम् । दर्शनदृष्ट्या बुद्धौ दिग्-देश-प्रल-मात्रानां सर्वैवाविर्भाव-
 कल्पनामाध्यमेन । तेषां प्रत्ययैकस्योपनिष्पत् । मानवस्य स्वबुद्धौर्ब्याख्यैवात्स दार्शनिक-तत्त्वमीमांसा ज्ञान
 मीमांसा वा । तस्यैवस्य स्वरूपविमोहन-मकल्पनौदिक-प्रतिरूपविमोहनस्य रक्षार्थमेव-कल्पनयैव दार्शनिकै-
 रेषा कल्पनाशरी-आविष्कृता इति महातीय प्रचारणा मानसबुद्ध-मानवैरेव । न यत्र मानवस्य कल्पनाबुद्धोः
 क्मावेषः, न तत्र मानवस्य मानवता भेदा वा आस्या वा । तार्किकाना-नैय्यायिकाना-ईश्वरसिद्धिप्रामोहन
 वैरोधिकाना-विरोधानुगतित्वं दार्शनिकभूतविज्ञानवादिनाञ्च विज्ञानदम्भसर्वं सर्वमपि दिग्देवताकालभावे-सर्वयैव
 वास्तवोद्भवमेवेति नास्त्येव एतेदोशावच्छेद इति नु सर्वेषामेतेषां दार्शनिकानां वैज्ञानिकानाञ्च स्वरूपं
 महत्स्वरूपमेव ।

प्राचानिक-अपिस्तु-अत्र मानसबुद्धिमीमांसाया किञ्चिद्विद्वि अस्तुज्ञा-इति महत्त्वोपमाय माखीयस्य ।
 नात्र अदुर्बिरासिधिस्यमित्यादा तत्त्वगणनाया दिग्देवताकालमात्रानां परिगणनम् । अतएव दौर्ब्यव्याहकन
 मगन्ता वासुदेवेन-‘यत् साख्यै प्राप्यते स्थान-तद्योगीरपि गम्यते’ इत्येवकूपेण प्राचानिकाना-शोकस्येह-
 समन्वितः । प्रकृते परं पुरुषा धाम्यमते । योऽत्र पुरुषोऽत्र बहुरूप्या अक्षरपुरुष एव । सा तु पराप्रकृतिरेवा-
 म्यपुत्रस्येति धाम्यामिमतः-पञ्चनिर्वा-पुरुषोऽपि प्रकृतिरेव । तथा च-पुरुषपदार्थ्या तु धाम्यदर्शनस्यपि स्वर-
 षणमेव । इन्द्रियगोचरभावे हि दर्शनम् । सर्वमपि प्राकृतवितर्कमिन्द्रियगोचरमेव । सर्वेऽपि दार्शनिका-
 प्रकृतिस्वनिमरापर एवेति नात्र दर्शनेषु-अनन्तामस्वरूपी-कल्पिभः । सख्यतीत ज्ञानं, सख्यातः सिद्ध ज्ञानमेव
 धाम्यम् । एषु प्राकृतिकमेव संख्यास्येच्छात् । तथा च यद्यपि दिग्देवताकालमिमांसा मानसबुद्धिवापेक्षा धाम्यस्या
 नात्र साख्ये । तथापि-इन्द्रियगोचरत्वात्-स्वरूपनमेयस्यपि दर्शनस्य-इत्यदर्शनत्वात्, इति सर्वांगि दर्शनानि
 दर्शनान्येव । तस्माच्च कर्मस्यवचनात्-कर्मयोग एव विधिष्यते इत्येह म्मात्रं योगैरवट श्रीहृष्यः-
 ‘तयोस्तु कर्मस्यवचनात् कर्मयोगो विशिष्यते’
 -इति सर्वमेव सुस्थम् ।



१४३-कान्पनिक-भातिसिद्ध - 'दिग्दशकाल' की सत्तामिदृता का व्यामोहन, सत्तासिद्ध 'कालदिग्दश' की भातिसिद्धता का आवेश, एवं दार्शनिक की भूतारचर्यमयी प्रज्ञा—

कैसा आश्चर्य ! वो मानव न, प्राकृत मानव ने भूतार्क मानव न अपन बर्तित दिग्दशकाल से अनुप्राणित वाग्बिबम्भण की ता मान लिया है सत्तासिद्ध एवं बिसर्ग सत्ता से सत्ता क एक प्रत्यक्षतम स य भातिसिद्ध भूत अपनी भाति का बीधित एर र ह, यह बन गया है इनपुत्रिपात्रिया क लिण भातिसिद्ध । या आत्मनिष्ठ बिते दिन यह र ह उर य क्षोत्रमुग्ध प्राकृत बन यदि मानते हैं । एक अहमनिष्ठ की दृष्टि में जो यदि है यह दिन बना हुआ है इनकी दृष्टि में, बेश कि अन्य प्राणियों का दिन उलूक क लिए यदि, तथा अन्य प्राणियों की यदि इन उलूकों के लिए दिन बना रहता है । सत्तामय व्यापिज का तम मान बैठना एव भातिरूप तम का ज्यति बदन लग पड़ना, यही तो आत्मनिष्ठ सामाजिक मानव की दृष्टि म तथा लक्षण्या-एक सामाजिक मानव की दृष्टि में यह महान् अन्तर है बिसवा भगवान् इन शर्मा में अभिनय किया है—

या निशा सर्गभूतानां तस्या जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पर्यतो मुन ॥

—गीता

१४४- 'विकृति' (धर) की 'प्रकृतिवादिता', प्रकृति (अक्षर) की पुरुषवादिता', एवं तन्मूला भ्रान्ति, और दार्शनिक का व्यामोहन—

विकृति का प्रकृति मान बैठना एवं प्रकृति का पुरुष मान बैठना ही दार्शनिक-व्यामोहन का मूल कारण बना है । कि-वेश-कलादिभ्य-बुद्धिगम्या व्याख्या से ह ह जो कुछ प्रतीत हुआ उस ही इन्होंने 'प्रकृति मान लिया इसी का नाम रल लिया इन्होंने प्राकृतब्रह्म । उसे आभार बना कर इन्होंने उसी दिग्दशकाल के माध्यम से सत्तामीमांसा का उपक्रम कर बासा । अक्षर्य ही इस मीमांसा से इन प्राकृत-भूतों के गर्म में इन्होंने सूत्रमाय की उपलब्धि मी हुई । किन्तु बिलकी यह उपलब्धि हुई यह मी प्रकृति से अतिरिक्त और कुछ मी न निकला । बिस उपलब्धि को यह अन्वर्ष्यामी-प्रजापति-भूतात्मा-भूतमाषन-कहन लगे यह किनाय प्रकृति के घोर बुद्ध मी लो नहीं है । यदि आरम्भ में ही अपनी मान्य प्रकृति क विकृति का ये मम न्य कर लेते तो क्यापि अन्तर उपलब्ध हो पकन वाली प्रकृति को ही ये पुरुष मान बैठन की भ्रान्ति न कर बैठते । अतएव कहना और मानना पड़ेगा कि-“विकृति को प्रकृति मान बैठना एवं प्रकृति को पुरुष क बैठना ही दार्शनिक-भ्रान्ति का अन्यतम कारण बना है ।

१४५-दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रज्ञासमाप्ति का कान्पनिक कन्द्र आत्मानुगत कान्पनिक शैतन्यवाद, एवं सदनगता प्राकृत दृष्टि के अनुग्रह में नामिकदर्शन का आविर्भाव—

प्रकृति काय है यही परमाक्षरकम असूत अन्त कारण है जो शतना-लक्षणा है । एक विकृति अर्थात् है यही अक्षर-क्षर-रूप मूच-सादिद्यन्त काल है बिसकी अभिव्यक्ति का ही नाम दिग्देश है और

को बड़ है। पर, सम्पूर्ण दार्शनिक दृष्टि इन बड़-चेतन-प्राकृत-वैकृत-विषयों में ही परिस्मात्त है। जिसे दार्शनिक 'आत्मा' कहता है उसे वह चेतन मानता है। जिधा चेतनत्व ही वह आ मा का लक्षण कहता है, उसे ही चेतनपुरुष कहता है और इसे ही ज्ञानवान् मानता है। एव बड़त्व ही इसकी दृष्टि से प्रकृति का लक्षण है। अब कि क्लृप्तिवति सर्वथा पुच्छ और ही है। 'चेतन' और 'बड़' ये दोनों तो एक ही प्रकृति के पूर्व उचर-सञ्चय दो विभिन्न भाव हैं। प्रकृति का पूर्वरूप ही 'प्रकृति' है यही मन्त्र है यही अमूर्तकाल है अविमान्य चेतनकाल है, अगताभाभय काल है इसी का नाम है 'ज्ञानवान् आत्मा' जो प्राचीनर्ग में 'जीव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है*। यही दार्शनिकों का वह ज्ञानाधिकरण-ज्ञानाभय-आत्मा है जिसकी कृपा से ही लोकप्रयत्नियों का अनन्तमादात्मक-शून्यवाद आविर्भूत हो पड़ा है। घट पूर्णका भाव, तो अनन्तमावत्सक-मास्तिकमत के आविर्माण का प्रधान भोग भारतीय आस्तिक दर्शनों की इस चेतनलक्षणा-दृष्टि को ही धर्मरहित किया जा सकता है। अपने अपने आस्तिक करने-करलवाने वाले वाले भारतीय दार्शनिकों की इत्यभूता प्राकृत-दृष्टि ने ही लोकप्रयत्नियों को जन्म दिया है।

१४६-सत्तासिद्ध-आधिदैविक-आचारात्मक-अनन्तकाल क आभय सं वञ्चित केवल
अप्यारम-अधिभूतासक्त-मात्तिसिद्धकाल व्यासक्त दारानिककी कालस्वरूपान
मिद्धता, एर्ग तदनुगता ब्रह्मभूतपरायणता—

उस चेतनप्रकृति (अनन्त-अमूर्त कालप्रकृति) का कार्यात्मक चित्र ही विकृतिरूप है बड़मात्र जिसे स्यक्त-द्वारात्मक-स्यक्त-मूर्तकाल कहा गया है और इसी का नाम है मात्तिसिद्धकाल जिसकी मात्तिसिद्धता उस प्रकृतिमूर्त-सत्तासिद्ध-चेतन-अमूर्त-काल पर ही अवलम्बित है जिसे विकृतिवादी प्राकृत मानव सर्वथा ही अपरिचित है। क्योंकि वह अनन्तकाल इसकी अदितान्य-ब्रह्मभूतनिरूपणा-स्यक्ता विगदेशकाला-त्मिका बुद्धि में आ ही नहीं पाया। अब कि यह ब्रह्मभूतप्रकृतिमूर्त अनन्तकाल का भी अनुमान नहीं लगा सकता तो ऐसी स्थिति में वह अनन्तकाल बिना अनन्त अभ्यपन्न का एकमात्र है उसकी वी यह कल्पना भी कैसे कर सकता है ? अपनी सीमित विगदेशकालात्मिका प्रज्ञा को तब नियत कुण्ठित होता बेलकर यह उस ओर से विमुक्त ही बन जाता है। और इसी नेमुक्त से यह अपने बुद्धिवाद के द्वारा उचरौचर ब्रह्म का ही सर्वज्ञ-ब्रह्म न-धर्मर्षक-अनुमोदन-करने लग पड़ता है एवं सत्तासिद्ध कालाभय से बन्धित यह विगदेशकाला दृष्टि ही मानव को मानव के लोकतीत अनन्त स्वकम का बोध नहीं देने देती। इसकी इसी महती समस्या के निराकरण के लिए परम आधुनिक महर्षि ने कालसूक्तद्वयी के द्वारा निरपेक्ष उस अनन्तकाल की प्रतीकविधि से इसके सम्पूरन करना है बिना कालद्वयत्व के माध्यम से अथर्वय ही इसका अपना कल्पित विगदेशकालाभ्या मोहन उपरान्त हो जाता है स्वय ही। एवं इस उपरान्त के अनन्तर वह स्वय ही अज्ञानन्यपटीयता से अपनी अनन्त-प्रतीकता का समन्वय-बोध प्राप्त कर लेता है।

*-इत्येवञ्चनां प्रकृतिं विद्मि म परम् । श्रीबभूव महाशरी । एवेदं पार्थिवं कम् । (गीता) ।

१४७-निर्विशेषानन्त्य, सविशेषानन्त्य-मूलक शान्तानन्द-समृद्धानन्द, तदनुगत शान्ति-सुख, तदाधारभूत अभ्युदय-निधेयस्-भावों का माङ्गलिक सम्मरण—

प्राकृत-मानव के उद्बोधन-प्रसन्न में ही प्रकार से आनन्द का समन्वय किया जायगा, बिना कर्मों के निर्विशेषानन्त्य, तथा सविशेषानन्त्य, इन नामों से व्यक्त किया जा सकता है। अक्षरशालात्मक आनन्द के ही प्राकृतिकानन्त्य कहा जायगा जिस की दृष्टि से काल भी अनन्त है किन्तु भी अनन्त है, एन देश भी अनन्त है, जिसके कि गर्भ में व्यक्तचरणक सादि-सान्त-मुद्रिगम्य विष्-देश-काल प्रतिष्ठित है अणुवत्। यही प्राकृतिकानन्त्य सविशेषानन्त्य है। कालातीत (आन्ताक्षरकाल से भी अतीत) अभ्युदयानन्त्य को ही 'प्राकृतिकानन्त्य' कहा जायगा, जिसके एकाग्र में प्राकृतिकानन्त्य-(अक्षरानन्त्य) प्रतिष्ठित है अणुवत्। यही विशेषानन्त्य निर्विशेषानन्त्य है। निर्विशेषानन्त्य का नाम शान्ति है, एन सविशेषानन्त्य का नाम सुख है। शान्ति का अर्थ है-'शान्तानन्द' एवं सुख का अर्थ है-'समृद्धानन्द'। शान्तानन्द का ही पारिभाषिक नाम है-'निधेयस्' एवं समृद्धानन्द का ही पारिभाषिक नाम है-'अभ्युदय'।

१४८-धम्ममूलक भूमासुख' की स्वरूप-परिभाषा, एवं तत्प्रतिद्वन्द्वी दुःख—

यथाऽभ्युदयनिधेयसंसिद्धिः-स धम्म क अनुसार धर्म ही अभ्युदयरूप समृद्धानन्द का कारण है एवं धर्म ही निधेयस रूप 'शान्तानन्द' का कारण है। प्रतीकारक-आचारधर्म-आधारणधर्म से ही अभ्युदय की प्राप्ति होती है एवं अप्राकृत-धारण-धर्माधिक अनुसारीधर्म से ही निधेयस की प्राप्ति होती है। प्राकृत मानव का बुद्धिगम्य-व्यक्त्यावधारण लौकिक-मानव का भी यह तो मान ही लेना पड़ता है कि 'मानव का एकमात्र लक्ष्य सुख की प्राप्ति ही है'। इस सुखप्राप्ति के लिए ही इस क लौकिक-दार्शनिक-वैज्ञानिक-प्राणि-प्राये मनुष्य प्राकृतिक विषममय प्रवृत्त रहते हैं। सुखैवमा-सुखसामना ही इन सब प्रवृत्तियों का एकमात्र मूलाधार है। सुख की परिभाषा है-'भूमा'। 'यो ये भूमा-नरमुन्नम'। नारूपे सुखमस्ति। भूमानमिस्तुपास्य इत्यादि अपिपिनयद सिद्धान्तानुसार मन्वसा का नाम ही सुख है एवं भूमा का नाम ही सुख है।

१४९-अनुकूल-प्रतिकूल-वेदनात्मक सुख-दुःख-द्वन्द्व, सुख-दुःख-शब्दों का निर्वचन, एवं तदनुगत आद्यन्त का दुःखी मानव—

विहितप्रधानुगत विद्युत्कालानुसंधी सभी परिमाण अपने मातृविद्युत्मात्र से सर्वथा अल्प बन हुए हैं। अतएव इन की आस्था-मान्यता से तो मानव को-'अनुकूलजनन' का उपलब्ध हो सकती है जिस का नाम ही इच्छने अपनी प्रवृत्तियों के लिए 'सुख' रच लिया है। ऐन्द्रिक-परिमृष्टि ही सुख का सुलत्व है। विहितमात्रों से इन्द्रियों की कष्टमान्यता तो वास्तविकरूप से शान्त हो सकती है। विन्दु कदापि बिना प्राकृतिक आधार के आचारधर्म के इन इन्द्रियों की इन 'स' मात्रों की 'सु' रूपा परिपूर्णता सम्भव ही नहीं है। अतएव ऐसे अनुकूलक-नात्मक-सुखाभासक वास्तविक-वैकारिक-सुख से तो मानव अपने स विषयों (इन्द्रिय-विषयों) को पूर्ण बना लेने में असमर्थ प्रमाणित होता हुआ सुख आद्यन्त का दुःखी ही बना रहता है।

१५०-प्राकृततामसमूलक-धर्मसंज्ञात्मक-प्राकृत-सनातनधर्म, एवं तन्मूलक सनातन-प्राकृत-मुख—

उक्त लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए वा इसे प्राकृतानन्त्य की ही शरणा में आना पड़ेगा। नदी इसे 'अम्युदय' नामक परिपूर्ण-लोककृत प्रदान कर गम्गा विसे लौकिक-वैज्ञानिक-मानवी की भित्ति धार्मिक मानवने भी सुखान्वेषण के आनोदन से किम्पूत ही कर दिया है। जिस उपाय से यह प्राकृतानन्त्य प्राप्त होता है, उसी का नाम है प्राकृत-आधारधर्म, जिसे कि 'प्रतीकधर्म' माना गया है जो कि प्राकृत प्रजापति (अक्षयनापति) के द्वारा ही सृष्ट है (देखिए। अक्षय १५।१।२।३।) जो कि अनन्तानन्त्य की महिमा में प्रतिक्रित करता हुआ 'सनातनधर्म' नाम से प्रसिद्ध ही रहा है।

१५१-पुरुषार्थरूप-अप्राकृत-शाश्वतधर्म, तन्मूला निर्दिशेपानन्तता, एवं तद्द्वारा कल्पित-भ्रान्तियों का मूलोच्छेद—

दूधर है मानव का पुरुषार्थरूप निर्दिशेपानन्त्यरूप निःश्रेयसभाव। अम्युदय नामक अमृतानन्द (सुख) मानव का 'प्रकृत्यधर्म' माना गया है एवं उच्छेदक धर्म प्राकृतधर्म कहलाया है। जबकि निःश्रेयस का तापक अनुपस्थितानन्त्यक अप्राकृत धर्म ही 'पुरुषार्थ' कहलाया है। यह धर्म सदा ही सृष्टि नहीं है जिस क गर्म में सृष्ट-मतीकधर्म प्रतिक्रित है। अम्युदयपुत्र ही इस की स्वरूप-परिभाषा है। अतएव यह 'शाश्वतधर्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ है जिस इस शाश्वत-सदा-धर्म के आधार पर ही प्राकृत-सनातनधर्म प्रतिक्रित है। प्राकृत सनातनधर्म का स्वरूप लक्षणात्मक है एवं अप्राकृत शाश्वतधर्म अलक्षण है। देश-काल-यान-वस्त्र-भूदा-आदि के समन्वय-कारण से कृत्रिम प्राकृत सनातनधर्म का स्वरूप प्रकृतसुखर व्यवस्थित है जबकि इन सब समन्वयों से अतीत अप्राकृत शाश्वतधर्म अपने आप में ही व्यवस्थित है। सम्भवता क्रमप्राप्त-प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा नामक संकल्पित अग्रिम संरक्ष में इन दोनों ही धर्मों के सम्बन्ध में विशेष निवेदन किया जाऊँगा। अतएव इस प्रसङ्ग को यही उपर्युक्त कर प्राकृत में यही निबंदन कर देना है कि, निर्दिशेपानन्त्य तथा अधिशेपानन्त्य इन ही अनन्तों के समन्वय-सम्पन्न से मानव का अप्राकृत-प्राकृत-दोनों स्वरूपों का मूलोच्छेद समन्वय-हो जाता है। एवं तदाचार्यीय दिग्द्वेषकालानुगतता इस की अस्मिन् भ्रान्ति का कर्मात्मना मूलोच्छेद ही जाता है।

१५२-अनन्तकालानुगत सविशेषानन्त्य, तदनुगत प्राकृत-धर्म, एवं तद्विषयधन अम्यु-दयरूप प्राकृत-मुख—

अनन्तकालानुगत अधिशेपानन्त्य का नाम ही प्राकृतिकानन्त्य है यही प्राकृत मानव के 'अम्युदय' नामक अमृतानन्द (लोककृत) की मूलप्रतिष्ठा है। प्राकृत मानव इसी को अपनी प्राकृत इति से क्योंकि प्राथम्य देता आया है। अतएव कर्षयपत्र अज्ञानान्तर-माध्यम से इन इन्हीं की धार प्राकृत मानव का प्थान काकीर्ण कर रहा है। मन-शरीरधर्मों प्राकृत मूलन की इस अनन्तसंज्ञा का प्रतीक माना जायगा सम्भवतः के माध्यम से एवं इन्हीं प्रतीकता के माध्यम से प्राकृत मानव की इस के अधिशेपानन्त्यरूप कालानन्त्य का स्वरूप करते हुए कर्माध्यम में ही इस की सीमित-दिग्द्वेषकालानुगतता के निराकरण का उपाय किया जा सकेगा।

०-ममद्यो हि प्रतिपद्यममृतस्यान्यपस्य च।

'शाश्वतस्य च धर्मस्य मूलस्यैभ्रान्तिपस्य च ॥ (गीता १५।२०)।

१५३-परमाक्षरमूर्ति-परमशालात्मक-अनन्तकाल, तदभिन्न अश्वत्थमूर्ति महाकालात्मक
मायी महेश्वर, तदनुगता महिमामयी विभूति, एवं तदप्रतिष्ठारूप महाकाल
महोमहीयान् ध्यानन्त्य का संस्मरण—

महामायी पादपीत्रवापति का स्वरूपान्भिधप्रकृत अथ अश्वत्थमूर्तिरूपान्भिधप्रकृत, महामायावृत्तात्मक
परमाक्षरमूर्ति-पराप्रकृतमूर्ति परमकाल ही वह अनन्तकाल है जो महामायी-अश्वत्थमूर्ति के स्वरूप
अपना समूर्ण महिमामय स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है। जिस महामायी अश्वत्थमूर्ति में एक सदा
पञ्चपुरहीन कन्याएँ गर्भीभूत हैं वेस महोमहीयान् महामायी अश्वत्थमूर्ति पर पादपीत्रवापति को तो उ
मायावृत्तात्मक अनन्तकाल का एकाक्षर ही माना जायगा। क्या एक ही नहीं है वह मायावृत्त। अपितु उ
निर्दिशत-अनन्त-परात्पर-उद्यतन पर अनन्त-अनन्त-है वेस अलात्मा-मायावृत्त जो प्रत्यक्ष माया-
वृत्तात्मक अलात्मा एक एक अश्वत्थमूर्ति का अभिव्यक्त बना हुआ है। कालस्वन का समूर्ण मायावृ
एक ही मायावृत्तात्मक एक ही महाअक्षर है, जिसके एक एक अक्षर का नाम है-अश्वत्थमूर्ति एक एक
मायावृत्त। एसा यह अनन्तानन्त- (अनन्त भावापन्न अनन्त मायावृत्त का स्वधीमा में प्रतिष्ठित स्वन काल
अन्तिम अनन्तरूप महोमहीयान् एक मायावृत्त)-लक्षण महामायावृत्त ही वह महाकाल है जिसका
यत्किञ्चिद्विशेषरूप- (एक मायावृत्तरूप-अलात्मावृत्तरूप) में ही अश्वत्थमूर्ति अश्वत्थमूर्ति प्रतिष्ठित है।

१५४-अमरुप-अनन्त-अश्वत्थमहेश्वरों की महाकालसमतुलन में एकाक्षरुपा-यत्-
किञ्चिदश्रुता, एवं-‘एतावानस्य महिमा, अतो ज्यायोरच पूरुष’ का समन्वय—

विदित नहीं ऐसे दिवने अगणित-अमरुप-अश्वत्थमहेश्वर उष महामायावृत्तात्मक अलात्मक अनन्त
नन्तकाल के गर्भ में आभिभूत-तिरोभूत होते रहते हैं सामुद्र सुदृष्टता जिनमें से केवल एक ही अश्वत्थमहेश्वर
हमारा लक्ष्य बन रहा है जिसे हम उस महाकाल का प्रतीक मान रहे हैं। यह ठीक है कि वह एतावान् ही
नहीं है। इस एक ही अश्वत्थमहेश्वर में उस का ध्यानन्त्य परित्याप्त नहीं है। यह तो उस का महिमामय एक-
श्रुता ही है। वह इसके बहुत बड़ा है छोटे से भी बड़ा है। अतो ज्यायोरच पूरुष-‘एतावानस्य महिमा’।
कपि यह तो कहा ही जा सकता है इस प्रतीकमूर्त एक अश्वत्थमहेश्वर के लिए भी कि वह अनन्तानन्तकाल
अपने एकाक्षरुप-प्रतीकमूर्त-इस एक अश्वत्थमहेश्वर से भी अपना समूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त तो कर ही रहा
है। जैसा स्वरूप महोमहीयान् का होता है अश्वत्थमहेश्वर का भी वैसा ही, किंवा बड़ी स्वरूप माना गया है
विज्ञान अणु में।

१५५-अश्वत्थमहेश्वर कालकन्द्र, तथा महोमहीयान् कालमहिमा का अभिव्यक्त, एवं
एक मायावृत्तात्मक, एकाक्षरुप अश्वत्थकाल का द्वारा कालातीत का प्रथम
ध्यानन्त्य की अभिव्यक्ति का समन्वय—

महिमा और केन्द्र वानी अभिन्न वस्तु हैं। जो महिमा है वही केन्द्र है। जो केन्द्र है वही महिमा
है। अथवा वानी ही अनन्त है। यह अनन्तमहिमायात्री है जो यह उल्ला एक केन्द्रविन्दुमात्र है और

इस दृष्टि से वो वह उच्च एकाग्र ही है। किन्तु वह इस एकाग्ररूप दृष्टमात्र से ही अपने समस्त महिमामकरूप को अभिम्यक्त कर देता है। ध्यान रहे—अनन्तकाल पर किन्दु—किन्दु—रूप से प्रतिष्ठित यथावाक्त्वात् मांसी अरक्यवज्र एक वृत्ते से विभिन्न हैं। उन अपने अपने रूप से उसी के प्रतीक हैं। और मन्—(प्रत्येक) अपने अपने एकाग्र से भी उस की परिपूर्ण अभिव्यक्ति प्रमाणित होते हुए अपने अपने रूप से परिपूर्ण ही बने हुए हैं। कोई किसी से छोत्र अथवा तो बड़ा नहीं है। कोई किसी का प्रतिद्वन्दी नहीं है। मन् स्व—स्व महिमा से परिपूर्ण है। प्रत्येक परिपूर्ण है समष्टि परिपूर्ण है समष्टि की समष्टि भी परिपूर्ण है। सर्वत्र—सर्व में प्रत्येक में वो अनन्तकाल अपनी परिपूर्णता से व्याप्त होया है। इसी का नाम है सन्निरोधानरूप यही है प्राकृतिकानन्त और इसी का एक अनन्त—उदाहरण है एक मायावृत्तात्मक एक अरक्यवज्र जो अपनी प्रतीकता से प्रकृतिक अनन्तकाल के सम्युक्त अनन्त को अभिम्यक्त कर रहा है। इतिदु प्रथमानन्त—समन्वय।

१५६—अनन्तमहाकाल क प्रथमावतार अनन्ताश्रयकाल के द्वितीय अवताररूप अनन्त परोरजाकाल का स्वरूप—समन्वय—

आये बलिय। अनन्तकाल के एकाग्ररूप-प्रतीकरूप अरक्यवज्र का नाम होगा—'अनन्तारक्यकाल' जिसे हम अपनी सीमित दृष्टि से उस अनन्तकाल का प्रथमावतार कहेंगे (यद्यपि ऐसे असम्भ्य अरक्यवावतार पूर्वकथनात्तु उक्त अनन्तकाल—वगतल पर इत्तवतः बुद्धुद्बत् विचरण कर रहे होंगे निरवधेन कर रहे हैं अतएव बरते बरते ही हमें इस एक अरक्य के लिए केवल अपनी अपेक्षा से स्तुतिमावातुष्क से ही 'प्रथम' शब्द अभिम्यक्त कर देना पड़ रहा है)। उस अनन्तकाल के एकाग्र—प्रतीकरूप अनन्तारक्यकाल के सहाय महिमा—विश्व है जो पञ्चपुस्तकीरा—प्राजापत्यवज्रा' नाम से प्रसिद्ध है। अरक्यवज्र की इधर शालाएँ हैं। प्रत्येक शाला में स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य्य—मू—चन्द्र—नामक पाँच पाँच पुत्रहीन हैं। पाँची पुत्रहीनों की समष्टिक्रिया एक शाला का नाम ही 'पञ्चपुत्रहीन प्राजापत्यवज्रा' है जिसका एक स्वतन्त्र कृन्द् है—'योगमाया'। योगमायावृत्तात्मक वह एक कस्याकाल ही उस अरक्यवज्र का एक प्रतीककाल है। और ऐसे सहायक प्रतिष्ठित हैं सहायकाल से उस अनन्तारक्यकाल के यम में। यथावाक्त्वात् शालावज्र पर स्वर विभिन्न हैं किन्तु स्वरके लिए वह सहायकाल—अरक्य अभिन्न है। अथवा वह अपनी प्रत्येक शाला के माध्यम से शालारूप में ही अपना सम्युक्त अनन्त स्वरूप अभिम्यक्त कर रहा है। अतएव प्रत्येक शाला अपने अपने योगमायावृत्त में परिपूर्ण है अनन्त है। और यही उस अनन्तकाल का द्वितीयावतार है जिसे हम समझने के लिए 'शास्त्रावतार' कह सकते हैं। १११ शालावतारों का हम से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध है भी तो वह हमारे आचार्यत्मक पक्ष से तो सर्वथा असम्बन्ध ही है। ज्ञानीय सम्बन्ध हो सकता है उन के भी साथ होगा ही है ही। किन्तु आचार्यत्मक सम्बन्ध की आचार्यभूमि तो हमारे लिए बही एक शास्त्रावतार है जिस में हम प्रतिष्ठित हैं अपने प्राकृत स्वरूप से। अतएव उन सब अनन्त प्रतीकों को अपने ज्ञानीय बन्ध में अपनी प्रणयिता समर्पित करते हुए अब हम इस एक शास्त्रात्मक को ही अपना सहाय बना लेते हैं जो अपने इस एकाग्र से ही उस सहायकालत्मक अनन्तारक्य की परिपूर्णता का उदाहरण बना हुआ है। इस एक क परिज्ञान से ही यह नर्तकमना परिगत बन रहा है—एकैक विद्यतेन सर्वमिदं विद्यते भवति'। क्योंकि वह इस एकाग्ररूप एक ही वज्रावत् (एक कस्याधी की भाँति) अपना सम्युक्त—परिपूर्ण—

अनन्त-स्वरूप अविन्यक्त नर रहा है। अनन्तराल का प्रथमावतार सहस्रकच्छरवर अनन्तकालात्मक-अस्य
स्थगद्ध उसी अनन्तराल का द्वितीयवतार एककच्छरवर-अनन्तकालात्मक-शालामद्ध।

१५७-अन्यक्त स्वयम्भू, एव व्यक्त स्वयम्भू-रूप से शाखेरवर अव्यक्तकाल क दो
महिमा-विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

मोर आगे धलिप। यहाँ धाड़ा नामसाम्प्रमूलक यन्मन्त्रितन अपचित दाग। वैजानिर्भन स्वयम्भू
क अन्यक्तस्वयम्भू-व्यक्तस्वयम्भू-रूप से दो महिमावित्त मान हैं। अन्यक्तस्वयम्भू नर स्वयम्भू है, जो
पाँचों विश्वपुण्यहीनों (पर्वों) का आचारापीय एक आत्मा है एक ईश्वर है। इस का नाम है 'वलारपर'—
शाखेरवर - विश्वेश्वर। कच्छरवर नामक यह अन्यक्त स्वयम्भू अपन निरतिशय अन्यक्तमान के आगण
अरव यन् अपगत-अलक्षण-अप्रत्यय-अनुपात्मतात्मक ही बना हुआ है, जो सुष्ठिक्रम का अरवत्भवत्
अस्य साक्षीमान ही है। जो केन्द्र अरवय का है यही इस अन्यक्त स्वयम्भू का है *। भूतसाक्षीमान यह
अन्यक्तस्वयम्भू तो अरवयन्त अन्यक्ता प्रकृति की सीमा में ही अनन्तयुक्त है। यह नर अन्यक्तस्वयम्भू है,
विश्वकर्मा में व्यक्तस्वयम्भू प्रतिष्ठित है जिसे प्रकृतियाद् उपरान्त होता है। अन्यक्त-प्रकृतिरूप मतसाक्षी
स्वयम्भू क गम में पुण्यहीनरूप से व्यक्त-प्रकृतिवाचकप्रकृतमत्-मृतादि-इच्छा-स्वयम्भू ही वृत्त विवर्त्त है।
अन्यक्तस्वयम्भू परोरजा है विश्वान्यक्त है ता पुण्यहीनस्वयम्भू-अलक्षण अन्यक्तस्वयम्भू रज-प्रवर्त्तक है,
विश्वकर्मा है।

१५८-द्विविध स्वयम्भू-विवर्त्तों का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन—

यह लोकासाक्षी है ता यह लोकाप्रवर्त्तक-आरम्भ-विधाता है। यह विश्वेश्वर स्वयम्भू है ता यह
उपरवर स्वयम्भू है उपरवर पाँच हैं जबकि विश्वेश्वर एक ही है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सर्व-म-चन्द्रा-ये
पाँच हैं उपरवर भिन का आदिभूत-महामता-इच्छात्रा पुण्यहीन स्वयम्भू ही है। इन पाँचों उपरवरों का
आधारमत्-साक्षीरूप-आचारापीय-विश्वेश्वर स्वयम्भू ही अन्यक्त स्वयम्भू है जिसे इन अनन्तारक्य का
द्वितीय अवतार धलगाया है। नाम दोनों के स्वयम्भू ही हैं। अतएव नामसाम्प्र से दोनों के प्रकृतिनिकषन-
प्रकृतिवादनिकषन-पायक्य का समन्वय धाड़ा दुर्बोध्य अरवय पन बाता है जिस दुर्बोध्यता का गवर्त्ति ने
स्वयम्भू और ब्रह्मा इन दो नामभेदों से आगत समन्वित कर लिया है। स्वयम्भू दोनों का समान ही
नाम है। किन्तु 'ब्रह्मा पुण्यहीनस्वयम्भू का ही नाम है। क्योंकि यही यन्मन्त्रित-सर्वभूतयत्नप्रवर्त्तक-ब्रह्मा प्रजापति
है जबकि अन्यक्त स्वयम्भू ही केवल सुष्ठिसाक्षी ही है अपने अन्यक्त अनुपात्मसमीपता से। निम्नलिखित मान
नीम-बचन इन्हीं दोनों स्वयम्भू-विवर्त्तों का यथागान कर रहे हैं—

*-निर्दिशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'एकेन' का सर्वत्र अर्थ होगा-मूलभूतन-एक्यरूपण। एव सविशेष
पानन्त्य-प्रसङ्गों में 'एकेन' का सर्वत्र अर्थ होगा-मूलभूतन-एक्यरूपण। 'उसके एकत्व से इन नानाभावों का
समन्वय' यह निर्दिशेषात्मक प्रकार होगा। एवं 'इस के एक्यरूप के समन्वय से उस की सवरूपता का
बोध' यह सविशेषात्मक प्रकार होगा। अरक्य क परिज्ञान से कल्या का महल यह निर्दिशेष पद माना
जायगा। एवं कल्या के परिज्ञान से अरक्यमानन्त्य की आयाचना, यह सविशेष पद माना जायगा। यहाँ सविशेषता
के आचार पर ही समन्वय हो रहा है।

गुरुं विना कालत्रयेऽपि ज्ञान दुर्लभम्, यथा सिद्धाञ्जन विना भूतलान्तर्गत निधान नयनपथ नापतरति, तथैव गुरुमन्तरेणात्मस्वरूप न पश्यति । यथा दुग्धाश्वनीत तद्विलोढनं विना न प्राप्यते, एव गुरुसेवनं विना स्तत्रय नोपलभ्यते । स गुण-

करना, यह समझ कर कि गुरु महाराज कमी भी अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करा सकते हैं, अहित में प्रवर्तन कराने का अभिप्राय इनके अन्त करण में कमी भी जाग्रत नहीं हो सकता है, क्यों कि ये मेरे हितकारी हैं, इस अभिप्राय से—इस दृढ आस्था से—वह सदा गुरु की आज्ञा का आराधन किया करता था । साथ में उसका यह पक्का विश्वास था कि गुरुमहाराज माता पिता से भी अधिक उपकारी होते हैं, क्यों कि जन्म दाता तो इस जीव को प्रत्येक भव में प्राप्त होते रहते हैं, परन्तु मुक्तिदाता गुरु तो बड़े भाग्य से ही मिलते हैं, निर्धन को निधिके समान आत्मा को इनका समागम बहुत दुर्लभ है । आत्मज्ञानकी प्राप्ति इनसे ही हुआ करती है । गुरु के बिना तो कालत्रय में भी सम्यग्ज्ञान का लाभ नहीं हो सकता है ये तो सिद्ध-अञ्जन समान हैं—जिस प्रकार सिद्ध-अञ्जन आत्मा में आंजने के प्रभाव से जीवों की भूमिगत निधान को लक्षित करनेवाली दृष्टि खुल जाती है उसी प्रकार गुरु की कृपा से आत्मज्ञान का अनुभव जीवको होने लगता है । दुग्ध के विलोढन किये बिना जैसे मक्खन का

अर्षण करते। गुरुओं के ठण कर्तुं ओं करतुं, ओतुं समलने के गुरु महाराज ठही पक्ष अन्यथा प्रवृत्ति न न करावे. अहितमा प्रवर्तन कराववानो अभिप्राय तेमना अत करणमा ठाण वपत पक्ष अत्रत थाय न नहीं, केमके तेओ भारा हितकारी छे आ अभिप्रायधी—आवी द्रढ आस्ताधी—ते सहा गुरुनी आशानु आराधन कर्था करते। साथैसाथ तेने ओ पाके विधास हतो के गुरु महाराज माता पिताधी पक्ष अधिक उपकारी होय छे केमके अन्महाता तो आ लवने प्रत्येक भवमा प्राप्त यता न रहे छे परतु मुक्तिदाता गुरु तो सारा सहभावधी न भणे छे निर्धने निधि समान तेवी रीते आत्माने गुरुने समागम धरुओ न दुर्लभ छे आत्मज्ञाननी प्राप्ति तेमनाधी न थाय छे गुरु विना तो कालत्रयमा पक्ष सम्यग्ज्ञाननो लाभ थण शकतो नथी ओओ तो सिद्ध-अञ्जन समान छे ने प्रकारे सिद्ध-अञ्जन आपोभा आन वाना प्रभावधी लवोनी भूमिगत निधानने लक्षित करवावाणी दृष्टि खुली जाय छे ओवी रीते गुरुनी कृपाधी आत्मज्ञाननो अनुभव लवने यवा लागे छे दुधने वदोव्या शीवाय नेम भाषणु भणवु असभव छे तेम

यह सम्भ्रात्मक सम्पूर्ण स्वरूप इस एक पुण्यद्वीपस्वरूप के द्वारा अभिव्यक्त हो रहा है। पुण्यद्वीप-स्वरूप के परिहास से अनन्त अन्त्याक रूप-स्वरूप सम्पूर्ण स्वरूप विहास बन जाता है। और यही उस अनन्तकाल का एतायावतार है।

१६०-अनन्त महाकाल क चतुर्थ अवतार महद्वारकाल का, एवं पञ्चमावतार घराघर मूर्ति ध्यक्त-द्विरयगमकाल का स्वरूप-समन्वय-

अनन्तार पञ्चाल का प्रतीक अनन्ताव्यक्त एक शायात्मक-स्वरूप-भूजन, एवं इसका प्रतीक अनन्त व्यक्त पुण्यद्वीप-भू-भूज। आगे चलिए। इस महाभूयानि द्वीपका स्वरूप-भूजाल के यज्ञ रूप एकाग्र से अभिव्यक्त आध्यात्मिक परमपटी ही उस अनन्तकाल का चतुर्थ अवतार माना जायगा, जिसके द्वारा अनन्तकालात्मक पुण्यद्वीप-भू-भूजन महद्वारकालात्मक सम्पूर्ण अनन्त का अभिव्यक्त कर रहा है। और यही वह अनन्तकाल लाक्षणिक सम्भ्रात्मक मन्त्राग से अत्यन्त ही प्रमाणित हो रहा है-‘न ह तव पुरा मन्त्रत्वर-भाम’ (शतपथब्राह्मण)। लाक्षणिक-श्रुति-मास-पञ्चाङ्ग-रूप सम्भ्रात्मक की प्रथम अभिव्यक्ति ता उस शौरभारतल में ही आकर होती है जो उस परमपटीकाल के गम में परमपटी का प्रतीक बनकर इत्यन्त से प्रतिष्ठित है। अनन्तकालात्मक परमपटी अपने सम्पूर्ण अनन्त का इस शौरभारतल के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। शौरभारतल का ही नाम है-शौरभारतल, और यही है शौरभारतल का वह एक रूप-मन्त्र एक सम्भ्रात्मकाल, जिसके मानवव्यक्तुपात से अत्र सर्वदि गणनकालपर्यन्त मान लिया गए हैं मन्त्रत्वरकालगणनात्मिका को बाल-द्वय ही मानव ही बुद्धि से अतीता ही प्रमाणित हो रही है। यही कारण है पुराण-मन्त्र शौरभारतल उस अनन्त परमपटी का एकाग्रमान है। एकाग्रमान ही यह शौरभारतल परमपटी के माध्यम से क्योंकि अनन्तकाल के सम्पूर्ण स्वरूप का अभिव्यक्त कर रहा है अतएव उस ही उसी का पञ्चमावतार मान लिया है वैज्ञानिकों।

१६१ अनन्तकाल क षष्ठ अवतार इन्द्रकाल का, एवं सप्तम अवतार-‘नक्षत्रकाल’ का स्वरूप-समन्वय, तथा परिलेख-माध्यम से अनन्तकाल क सात कालावतारों का संकलन-

आगे आगे चलिए। शौरभारतल के एकाग्ररूप प्रथमभाग से उपग्रहरूप अभिव्यक्त सम्पूर्ण महद्वारकालों से सम्भ्रित-पार्थिवसम्भ्रात्मकाल ही शौरभारतल का प्रतीक बना हुआ है जिसके द्वारा शौरभारतल-अनन्त का सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त हो रहा है। एवं जो यह पार्थिवसम्भ्रात्मकाल सर्वज्ञ-द्विरयगम-विद्युत्पूर्व-सर्वशुभ-नामक महाशुभ की आध्यात्मिक बना हुआ है जिस महाशुभ के अग्रभागों का नाम ही बीनात्मक मोक्षा शुभ है। इस पार्थिव सम्भ्रात्मकाल के प्रथमरूप एकाग्र से ही उस लोक-प्रधान-विभक्त चान्द्रसम्भ्रात्मक की अभिव्यक्ति हुई है जो ‘वप’ (मानववर्ष) नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिवसम्भ्रात्मकाल यदि उसी अनन्तकाल का षष्ठ अवतार है तो यह चान्द्रसम्भ्रात्मकाल उसी का सप्तम अवतार है। और यही आकर उस अनन्तकालात्मक का एक परिष्काररूप उपर्युक्त होया है। अतएव चान्द्रसम्भ्रात्मक निधनस्यम नाम से प्रसिद्ध हो गया है। उपर्युक्त है ‘लोकवितान’ की दृष्टि से। किन्तु ‘प्राणवितानदृष्टि’ से तो यह चान्द्रसम्भ्रात्मकाल ही

आसीद्विदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षयम् ।

अप्रतर्क्यमनिर्दोष्यं प्रसृप्तमिव सर्वतः ॥

—मनुः १।४।

ततः स्वयम्भूर्मगवानव्यक्तो व्यस्रयन्निदम् ।

महामृतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीचमोनुदः ॥

—मनुः १।५।

योऽसावतीन्द्रियप्राण-स्रष्टमोऽव्यक्त सनातनः

सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुत्सृजमौ

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृञ्चुर्बिषिषाः प्रजाः

अथ एव ससर्वाद्दौ तासु नीचमवासुञ्जत्

तस्मिञ्ज्ज्ञे स्वय ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः ।

यत्तत्कारणमव्यक्त नित्यं सदसदात्मकम् ।

तदिसृष्टः स पुरुषो लोकं ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥

—मनु

—अव्यक्तस्वयम्भूः साक्षी

—व्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा

—अव्यक्तस्वयम्भूः साक्षी

—व्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा

१५६—अनन्तकाल के तृतीयाक्षरार पुण्डरीर-स्वयम्भूकाल का स्वरूप-समन्वय—

अव्यक्त प्रकृति के व्यक्तीभाव की उपक्रमयुग्मि अव्यक्त स्वयम्भू ही कला है जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति का नाम है—'व्यक्तस्वयम्भू' जो उस अव्यक्तस्वयम्भू का ही एकाग्र माना गया है। अर्थात् इस अव्यक्तस्वयम्भू रूप एकाग्र से यह अव्यक्त-विरचेरकर-विक्रमसाक्षी-स्वयम्भू बनने सम्पूर्ण स्वयम्भू को अभिव्यक्त कर रहा है जो कि सम्पूर्ण स्वयम्भू सदसदात्मकानुक्रम से स्रष्टा-अव्यक्त स्वयम्भू-विक्रमों में विभक्त हो रहा है।

दिग्देशवाचस्वरूपमीमांसा

यम्-अल (द्वितीयावतार) अपने समय स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है-स्व-एकांशरूप-चतुःपुरवीर्याप्यञ्च
 विरयकृशा-उपधागमायाशूताराम-शुक्ताभराभूर्चि-रजाप्रवत्त-महा-वालात्मक-स्यहस्वयम्भ के रूप में ।
 यह स्यहस्वयम्भ (तृतीयावतार) अपने समय स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है-स्व-एकांशरूप
 पुरवीरमयाप्यञ्च-विरयकृश-महेश्वरमूर्चि-भत-परिष्यत्वात्मक-भृशत्रिरोरूप-परमेष्ठी के रूप में । यह
 परमेष्ठी अल (चतुर्थावतार) अपने समय स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है-सम्पत्सर्वेलात्मक-दिव्यसदस
 पुगानुगत-चतुरशमन्वतयात्मक-प्याह-शोरसम्पत्सरअल से रूप में । यह शोरसम्पत्सरअल (पञ्चमावतार) अपने
 समय स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है-पाथिवसमन्वत्सरअल के रूप में । एवं यह पाथिवसम्पत्सरअल (षष्ठ-
 अवतार) अपने समय स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है-उस चन्द्रसम्पत्सरअल के रूपमें जो 'वर्ष' (मानववर्ष)
 नाम से प्रसिद्ध है । अखण्ड अनन्त है वे वारअल । धाय ही वही वर्ष सर्वाया पृथक् पृथक् है । चिन्तु प्रत्येक
 वर्ष शेषभूत उन अन्त अनन्त वर्षों का प्रतीकविधि से प्रातिनिध्य कर रहा है । प्रत्येक वर्ष स्व स्व सम्पत्सर्वीमा
 में उस अनन्तअल क सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है । क्षीर या व्यहृष्ट्या सादिसन्त भी प्रतीक
 मान वर्षात्मक सम्पत्सरअल अपने उस आधामत अनन्तान्यह-अलानुबन्ध से अनापनन्त ही प्रमाणित
 हो रहा है ।

१६३-समानुबन्धिनी-प्राकृतिक-कालानन्तता-अमूर्त्ता, एवं पलातुबन्धिनी-प्राकृतिक-
 कालाधिपर्वाजन्मदाता-अनन्त-अमूर्त्ता-महाकाल, उसकी 'वर्षा' रूपता का समन्वय,
 एवं प्रकृति-स्वरूप-समन्वय—

क्या तात्पर्य ! । तात्पर्य-अमन्वय के लिए तो अमूर्त्-मूच-गन्धों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । जिस
 अनन्तअल का यथागान किया जाएगा है उस से भी अतीव अतएव अलातीव-अनन्त परात्पररूप निर्दिष्ट
 महा की सर्वत्रलविशिष्टरक्षेकपनता का पूष में - अनकथा० बहुधा-यथोगान किया जानुका है । पलाविशिष्टरक्षेकपन
 अनन्त निर्दिष्टिप महा के बलात्मक एकांश का ही नाम वह अनन्तअल है, जिस के अत अवतारों की पर्चा
 प्रमाप्त है । 'अन्त' ही प्रकृति का मौलिक स्वरूप है, जबकि उस की ही अनन्त पुरय का मौलिक स्वरूप माना
 गया है । पलादिमन्ध प्रकृति ही अद्यत्प्रकृति है एवं इसी का नाम अनन्तअल है जो अपनी इस स्वरूपरक्षा
 के लिए, नलवधा के लिए उस को ही आश्रय किए रहता है । उस से आश्रय बल ही प्रकृति का सम्पूर्ण
 स्वरूप है ।

१६४-रसानुबन्धिनी-प्राकृतिक-कालानन्तता-अमूर्त्ता, एवं पलातुबन्धिनी प्राकृतिक-
 कालसादिमान्तता-मूर्त्ता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिकाल की यह अनन्तता बलुदः रसानुबन्धिनी ही है । क्योंकि कल वा सज्जा से अनन्त (असक्य)
 होता हुआ भी दिग्देशादृष्ट्या सादिसन्त ही है । जो एक ही प्रकृति में किंवा प्रकृतिरूप अल में अनन्तरम

—उपक्रमस्यं जगत्कृत्स्न प्रविमक्त-‘मनेकवा’ । (गीता ११।१३) ।

*-एकं सदिप्रा-‘बहुधा’ बदन्ति । (अथर्व० १।१६ । २६) ।

आसीद्विदं तमोमूतमप्रज्ञातमलक्षयम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्दोष्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

—मनुः १।५।

क्त स्वयम्भूमंगवानव्यक्तो व्यञ्जयभिदम् ।
महामूलादि वृत्तौघाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥

—मनुः १।६।

योऽसावतीन्द्रियाणाः—सृष्टमोऽव्यक्त सनातनः

सर्वमूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् तिसृष्टुर्विधिनाः प्रभाः
अप एव ससर्वादी तासु नीक्षमवासुक्त
तस्मिन्ब्रह्मे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः ।
यत्तत्कारश्चमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥

—मनु

—अव्यक्तस्वयम्भू साक्षी

—अव्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा

—अव्यक्तस्वयम्भू साक्षी

—अव्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा

१५६—अनन्तकाल के तृतीयावतार पुण्डरीर—स्वयम्भूकाल का स्वरूप—समन्वय—

ब्रह्मक प्रकृति के व्यक्तीभाव की उपरमपूमि ब्रह्मक स्वयम्भू ही काल है किन्तु प्रथम क्रमिक नाम है—'व्यक्तस्वयम्भू' जो उक्त ब्रह्मकस्वयम्भू का ही पर्याय माना गया है। अर्थात् इस व्यक्तस्वयम्भू रूप परमप्रा त वह ब्रह्मक—किरवेरवर—किरवदधी—स्वयम्भू अपने सम्पूर्ण स्वयम्भू को व्यक्त कर रहा है, जो कि सम्पूर्ण स्वरूप महसुसगानुष्पन्न से व्यक्त—ब्रह्मक स्वयम्भू—विकर्षों में निष्क से रहा है।

यन्-बाल (द्वितीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिप्रेत कर रहा है—स्व-एकाग्ररूप—चतुःपुण्डरीकाभ्यक्ष
 विरयकृष्ण—उपयोगमायावृत्तात्मक—स्पृहा अशमूर्ति—रत्नाप्रवचक—शशा—बाला मङ्गल—व्यक्तस्वयम् के रूप में ।
 यह अष्टपुण्डरीकस्वरूपमद्यल (तृतीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिप्रेत कर रहा है—स्व—एकाग्ररूप—
 पुण्डरीकयाभ्यक्ष—विरयरूप—महदक्षरमूर्ति—भक्त—भक्तिप्रकलात्मक—मृगशिशिररूप—परमेष्ठी के रूप में । यह
 पारमेष्ठ्य बाल (चतुर्थावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिप्रेत कर रहा है—सम्बन्धस्वलात्मक—दिव्यवृक्ष
 पुगानुगत—चतुर्दशमन्वतगामक—प्यक्त—संगम्बन्धस्वरूप से रूप में । यह संभन्धस्वरूपबाल (पञ्चमावतार) अपने
 समग्र स्वरूप को अभिप्रेत कर रहा है—पार्थिवसमन्वत्स्वरूपबाल के रूप में । एवं यह पार्थिवसमन्वत्स्वरूपबाल (षष्ठ-
 षष्ठावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिप्रेत कर रहा है—उत्तमान्द्रसमन्वत्स्वरूपबाल के रूप में, जो 'शर्ष' (मानवशर्ष)
 नाम से प्रसिद्ध है । अस्मन्त अन्तर्त्त हैं य यज्ञकाल । साय ही मभी शर्ष सर्वथा पृथक् पृथक् हैं । किन्तु प्रत्येक
 शर्ष शेषमन उन समस्त अन्तर्त्त शर्षों का प्रतीक से प्रातिनिध्य कर रहा है । प्रत्येक शर्ष स्व स्व सम्बन्धस्वलात्मा
 में उस अन्तर्त्तकाल क समूर्ण स्वरूप को अभिप्रेत कर रहा है । और यों स्पष्टदृष्ट्या आदिमान्त मी प्रतीय
 मान शर्षत्मक सम्बन्धस्वरूपबाल अपने उक्त आध्यात्मिक अन्तर्त्तान्द्रक—अलानुपन्ध से अनाद्यन्त ही प्रमाणित
 हो रहा है ।

१६३—सदावल्लविशिष्टरमैकधननिर्विशेषानन्त्यरूप अन्तर्त्त ब्रह्म का एकाशविश्वरूप, सप्त
 कालविषयजनमदाता—अनन्त—अमूर्त्त—महाकाल, उसकी 'यन्' रूपता का समन्वय,
 एवं प्रकृति—स्वरूप—समन्वय—

क्या तात्पर्य ! । तात्पर्य—समन्वय के लिए जो अमूर्त्त—मूर्त्त—गन्तों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । जिस
 अन्तर्त्तबाल का यशमान किया जा रहा है उस से मी अतीत अतएव अलातीत—अनन्त परस्पररूप निर्दिशेय
 ब्रह्म की सर्वकालविशिष्टरमैकधनता का पूर्व में—अनन्तका बहुधा-यशोगान किया जाना है । बलाविशिष्टरमैकधन
 अन्तर्त्त निर्दिशेय ब्रह्म क बलात्मक एकाग्र का ही नाम यह अन्तर्त्तबाल है जिस के साथ अन्तर्त्तों की धर्षा
 प्रकान्त है । 'सल' ही प्रकृति का मौलिक स्वरूप है बल्कि उस को ही अन्तर्त्त पुरुष का मौलिक स्वरूप माना
 गया है । बलात्मिक प्रकृति ही अक्षयप्रकृति है एवं इसी का नाम अन्तर्त्तबाल है जो अपनी इत स्वरूपरत्ना
 के लिए, बलबन्ध के लिए उस को ही मातृ किये रहता है । उस से आदृत बल ही प्रकृति का सम्पूर्ण
 स्वरूप है ।

१६४—रसानुबन्धिनी—प्राकृतिक—अलानन्तता—अमूर्त्ता, एवं बलानुबन्धिनी प्राकृतिक—
 कालसादिसान्तता—मूर्त्ता का स्वरूप—दिग्दर्शन—

प्रकृतिकाल की यह अन्तर्त्तवा बलबन्ध रसानुबन्धिनी ही है । क्योंकि बल तो संख्या से अन्तर्त्त (अक्षय्य)
 होता हुआ मी दिग्देशदृष्ट्या आदिमान्त ही है । यों एक ही प्रकृति में किन्ना प्रकृतिक बल में अन्तर्त्तवत्,

—सत्रकस्यं जगत्कृत्स्नं प्रथिमक्त—'मनेकधा' । (गीता ११।१३) ।

*—एकं सन्निसा—'बहुधा' वदन्ति । (अध्यात्म ० १।१६।१४६) ।

अथ प्रथमकाल की उपक्रमभूमि बनने जाता है। जिसप्रकार पार्ष्वसम्बन्धकाल और अनन्तकाल के माध्यम से उस अनन्तकाल की सर्वात्मना अभिम्यक्त कर रहा है। तद्वैव लक्ष्मीकभूत यह बान्द्रसम्बन्धकाल भी उही क्रमबद्ध से पार्ष्वसम्बन्धकाल के माध्यम से उस अनन्तकाल की सम्पूर्ण परिपूर्णता की सर्वात्मना अभिम्यक्त कर रहा है। और मानव की प्राकृत-दृष्टि से हम अथ इस लोकोपस्थित बान्द्रसम्बन्धकाल 'एकका' की ही उस अनन्तकाल का प्रतीक मान लेते हैं जो कि अर्थात् उसका व्युत्पत्ति अवतार बना हुआ है।

कालः	अनन्तमाप्युत्पाद्योऽनन्तोऽनादिकाः - प्रथमकालः -	{ महाकालकालः	} प्रकृतिः सर्वविश्विकस्य प्राकृत्यासा
काशमिमा-विश्वानि-काशात्मकानि अनन्तानि-समप्यथा-प्रकृतिः च	१-उस्य प्रथमावधारः - प्रतीकभूतः - अनन्तारव्यवस्थाः	{ अरन्तःप्रकृतः	
	२-उस्य द्वितीयावधारः - प्रतीकभूतः - अनन्तराज्ञाकाशः अभ्यन्तरकर्मस्युक्त्याः	{ अभ्यन्तरकालः	
	३-उस्य तृतीयावधारः - प्रतीकभूतः - अनन्तस्वयम्भुजकालः अभ्यन्तरकर्मस्युक्त्याः	{ स्वयम्भुजकालः	
	४-उस्य चतुर्थावधारः - प्रतीकभूतः - अनन्तपारमेष्ठ्यकालः	{ परमेष्ठिककालः	
	५-उस्य पञ्चमावधारः - प्रतीकभूतः - अनन्तसौख्यसम्बन्धकालः	{ सुखकालः	
	६-उस्य षष्ठावधारः - प्रतीकभूतः - अनन्तपार्ष्वसम्बन्धकालः	{ मन्त्रकालः	
	७-उस्य सप्तमावधारः - प्रतीकभूतः - अनन्तबान्द्रसम्बन्धकालः अर्थात् -	{ बान्द्रकालः	

१६२-पूर्व-पूर्व-कालविषयों के सर्व-कृत्स्न-अनन्तप के अभिम्यक्तक उत्तर-उत्तर-कालविषय, एवं अनन्त की अनन्तता का व्यापकत्व—

अनन्त-अर्थक-महामाप्युत्पाद्य-अनन्तानन्तानाद्युक्ति-अनन्तसाधक-परमदेवत्वक-प्रकृति-कर्म-अनन्तकाल-अपने समस्त स्वरूप की अभिम्यक्त कर रहा है-स्व-एकीकृत्य उपपुत्रात्मिकस्य एक 'अरन्तःप्रकृत' के रूप में। उत्तर-अर्थक अनन्त-पञ्चपुरहीनप्राकृत्यवस्तुताओं से अन्वित, महामाप्युत्पाद्य-अनन्तानन्तानाद्युक्ति-महासत्त्वक-मामी मंदिरकर नामक 'अनन्तारपत्यकाल' (प्रथमसम्बन्ध) अपने समस्त स्वरूप की अभिम्यक्त कर रहा है-स्व-एकीकृत्य पञ्चपुरहीनपञ्चपुर-कत्याप्य-वेदमाप्युत्पाद्य-अभ्यन्तरकाल-अर्थक-आधी-असाधक वेदमायी निरन्तर अन्तःस्ववर्ग के रूप में। यह अभ्यन्तरक-

यम्-बल (द्वितीयावतार) अपन समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—स्व-एकांशरूप-वतुःपुण्डीरपञ्च
 विर्यरुद्रा-उपथगमायाचूचामक-दत्ताग्रगूर्ति-रज-प्रवत्क-सष्टा-बला मरु-व्यहस्वयम्न के रूप में ।
 यह व्यक्तपुण्डीरस्वयम्नज्ञान (तृतीयावतार) अपन समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—स्व-एकांशरूप
 पुण्डीरपञ्च-विर्यरूप-महच्चरगूर्ति-भत-भरिष्यत्प्रालात्मक-भृगुशिरोरूप-परमेष्ठी के रूप में । यह
 परमेष्ठ्य बल (चतुर्थावतार) अपन समग्र स्वरूप का अभिव्यक्त कर रहा है—सम्पारस्ववेलात्मक-दिव्यसहस्र
 पुण्यनुगत-चतुर्दशमन्वतरामरु-व्यह-वीरुगन्धर्वस्वरूप से रूप में । यह सारस्वत्स्वरूप (पञ्चमावतार) अपन
 समग्र स्वरूप का अभिव्यक्त कर रहा है—पाथिवसमन्वत्स्वरूप के रूप में । एवं यह पार्थिवसमन्वत्स्वरूप (षष्ठ-
 षडवतार) अपन समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है—उस पान्द्रस्वत्स्वरूप के रूप में जो तर्प (मानववर्ग)
 नाम से प्रसिद्ध है । असंख्य अनन्त ही ये षडबल । सद्य ही सभी षड बलका पृथक् पृथक् हैं । किन्तु प्रत्येक
 वर्ग शोषमान उन समस्त अनन्त वर्गों का प्रतीकनिधि से प्रातिनिध्य कर रहा है । प्रत्येक षड स्व स्व समन्वत्स्वरीमा
 में उस अनन्तबल का सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है । आर या व्यक्तदृष्ट्या सादिसन्त ही प्रतीय
 मान कार्यात्मक सम्पत्स्वरूप अपन उस आभासगत अनन्तात्मक-बलानुबन्ध से अनापनन्त ही प्रमाशिव
 हो रहा है ।

१६३-सगबलविशिष्टरमैकधननिर्विशेषानन्तरूप अनन्त ब्रह्म का एकांशविवशरूप, सप्त
 कालविवर्षाजन्मदाता-अनन्त-अमूर्त्त-महाकाल, उसकी 'पल' रूपता का समन्वय,
 एवं प्रकृति-स्वरूप-समन्वय—

क्या तात्पर्य ! । तत्पर्य-समन्वय के लिए तो अमूर्त्त-मूर्त्त-गर्भों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । बिना
 अनन्तबल का यशमान किया बा रहा है, उस से ही अतीत अतएव अलातीत-अनन्त परात्पररूप निर्दिष्ट
 ब्रह्म की सर्वस्वविशिष्टरमैकधनता का पूर में + अनन्तधा ० बहुधा-यशोगान किया जाना है । बलविशिष्टरमैकधन
 अनन्त निर्दिष्ट ब्रह्म क बलात्मक एकरूप का ही नाम यह अनन्तबल है जिस के सात अवतारों को चर्चा
 प्रकृत है । 'पल' ही प्रकृति का मौलिक स्वरूप है जबकि रस का ही अनन्त पुरुष का मौलिक स्वरूप माना
 गया है । बलात्मिक प्रकृति ही अक्षरप्रकृति है एवं इली का नाम अनन्तबल है जो अपनी इस स्वरूपरक्षा
 के लिए, बलबन्ध के लिए रस को ही मारव किये खड़ा है । रस से आशुत बल ही प्रकृति का सम्पूर्ण
 स्वरूप है ।

१६४-रसानुबन्धिनी-प्राकृतिक-कालानन्तता-अमूर्त्ता, एवं बलानुबन्धिनी प्राकृतिक-
 कालसादिमान्तता-मूर्त्ता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिबल की यह अनन्तता बस्तुतः रसानुबन्धिनी ही है । क्योंकि बल तो संख्या से अनन्त (असंख्य)
 होना हुआ भी दिग्देशदृष्ट्या सादिसन्त ही है । यी एक ही प्रकृति में, किंवा प्रकृतिरूप बल में अनन्तरम

—उपक्रमस्य जगत्कृत्स्न प्रविमक्त-‘मनेकवा’ । (गीता ११।१३) ।

०-एकं सद्भिप्रा-‘बहुधा’ वदन्ति । (श्रुतसं १।१६।४६) ।

इन्द्रित पदार्थ ही मूर्ति बरलाएगी। महिमा ही 'पुनःपदम्' होगा एवं मूर्ति ही 'पदम्' होगा। पुनःपदरूप महि-
नाभाव ही अमृतवशात्मक अमूर्तां भाव होगा, एवं पदामक मूर्तिभाव ही मर्त्यबलात्मक मूर्ताभाव होगा। छन्दोरूप-
अमृत-वशात्मक-महिमाभाव ही उधी काल का 'अमृताफाल' रूप माना जायगा, एवं-छन्दित-मर्त्य-बलात्मक
मूर्तिभाव ही उधी काल का 'मृताफाल' रूप माना जायगा। छन्दःकाल का पारिभाषिक नाम होगा 'फाल'
एवं इन्द्रित काल का पारिभाषिक नाम होगा विगनुगत चरा। यों अपने रस-बलात्मक अमृत-मृत भावों से
स्वयं अनन्तकाल ही अमृत दृष्टया अनन्तकाल-अनन्तरि-अनन्तेशामक बना रहेगा, तो यही मृत दृष्टया
छादि-छान्त-दिक्-देश-कालात्मक बना रहेगा। अनन्तकालिगद्देशरूप महिमाभावक ही अमृतकाल है
यही अक्षरप्रवापति का अमृतरूप है जिन क गम में ही छादितान् दिग्देशकालरूप कस्तुपिण्ड (मूर्ति)
प्रतिष्ठित है। यही अक्षरप्रवापति का मर्त्यरूप है एव-अद्व ह धे प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीद्द्व ममृतम'
का यही रहस्यात्मक समन्वय है।

१६८- 'प्र' और 'कृति', 'कृति' की प्रागयस्था का 'प्रकृतिश्च', एवं 'कृति' की उगारावस्था
का 'विकृतिश्च', तथा प्रकृति का अमूर्त्तकालश्च, और विकृति का मूर्त्तकालश्च—

अनुपस्थिति अमृत काल तथा बलानुबन्धी मृत काल दोनों के समन्वितरूप का नाम ही है- 'प्र-कृति'
लक्षण 'प्रकृति'। कृति नाम है कार्यभाव का। इस कार्य की प्रयत्नस्थिति-पूर्वावस्था ही वह कारणावस्था
है जिसे प्राग् भाव के कारण 'प्र' कहा गया है। 'प्र' रूप कारणात्मक अव्यक्तभाव का नाम है प्रकृति का
अमृत अक्षरभाव एव 'कृतिरूप कार्यात्मक व्यक्तभाव का नाम है प्रकृति का मृत अक्षरभाव। अक्षररूप
रसभाव क्याकि अक्षररूप बल से अविनाशित है। अतएव 'प्र' (अक्षर) के साथ ही 'कृति' (अक्षर) समन्वित
है। एयमेव अक्षररूप बल ही क्योंकि अक्षररूप 'प्र' (अक्षर) के बिना अनुपपन्न है। अतएव 'कृति' (अक्षर)
के साथ ही 'प्र' (अक्षर) जुड़ा हुआ है। यां अक्षरप्रधान अमृत भाव मक 'प्र' भाव ही 'प्रकृति' बन रहा
है तथा अक्षरप्रधान मृत भावमक कृति भाव ही प्रकृति बन रहा है। अथवा-अक्षरप्रकृति का अर्थ है
रसगमित रस, किंवा अक्षरगमित अक्षर। एवं व्यक्ता अक्षरकृति का अर्थ है-रसगमित बल किंवा अक्षरगमित
अक्षर। उभयात्मक (रसबलात्मक-अक्षररसमक) अक्षर का नाम है अमृतकाल एवं उभयात्मक (अक्षर-
अक्षरमक) अक्षर का नाम है मृतकाल। अमृतकाल काल है, एवं मृतकाल दिग्देश है।

१६९-अश्वत्थकालात्मक-अमृत्काल के 'खस्वस्तिक' रूप सुसुप्त काल-दिग्-देश-
भाव, एवं अमूर्त्तकालात्मक अश्वत्थ-परोरजा-स्वयम्भू-महदक्षर-रूपा अनन्त-
कालचतुष्टयी के सम्बन्ध में मूर्त्तभावापन्न दिग्-देश-काल-भावों की प्रासङ्गिक-
शिक्षासा—

क्या परिभाषा होगी अश्वत्थकालात्मक कालमिन्वत में दिग्देशात्मक मृत भाव की, जबकि वही
दिग्देश का क्षेत्र स्वयम्भू ही नहीं प्रतीत ही रहा। दिग्देश की प्रतीति तो बहुत आगे आकर पंचम वीर
सम्बत्तरकाल में ही हुआ करती है। इस निप्रतिपत्ति का एकमात्र समाधान है स्वस्तिकभाव। अक्षर ही
शोकप्रसिद्ध सर्वाभूत-द्व-भूत-उपपत्ति दिग्देशात्मक मूर्त्तभाव न तो अश्वत्थकाल में ही है न तदशभूत

सादिसान्त कल-दोनों का समन्वय मन्दित्र हो रहा है। प्रकृति का यह अनन्त रसभाव ही इसका अ-
 अनन्त-भाव है एवं प्रकृति का यह सादिसान्त बलभाव ही इसका मूर्त्त-सादिसान्त भाव है। इसप्रकार
 प्राकृतकालजस के ही रस-बलानुसन्धेन अमूर्त्त-मूर्त्त-य दो महिमाविवक्त हो जाते हैं। अनन्तराल
 अनन्त के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाला यदि मान लिया जासकता है तो इस अभिव्यक्त अन-
 न्त रसाभिव्यक्ति को अमूर्त्ताभिव्यक्ति, एवं कलामिव्यक्ति मूर्त्ताभिव्यक्ति कहा जासकता है मा-
 जासकता है बरन्कि ऐश्व मान लेना मान्यता ही है। इस मान्यता की आस्थास्म में परिमति व
 अनन्तजस के अनन्तम प्रतीकरूप मानन के द्वारा ही होगी वैश्विक सम्मननः आगे चलकर स्पष्ट हा र

१६५-प्रतीकाधार की अमूर्त्तता, एवं प्रतीक की मूर्त्तता, तथा-‘द्वे वाच ब्रह्मणो रूपे
 ऋषामूर्त्तश्च’ श्रुति का समन्वय—

को प्रतीक है वही मूर्त्त है एवं जिसका प्रतीक है वही अमूर्त्त है। जिसका वा प्रतीक है वह
 भी तो वही है। वही तो प्रतीकरूप में परिणत हुआ है। एकाररूप प्रतीक उस ज्ञापान् करती स अग्नि
 तो है। अज्ञप्रतीकता से समन्वय कीविषय इस दृष्टिकोण का। अनन्तकाल का रसभाव ‘अमूर्त्त’ है व
 कल का कलभाव ‘मूर्त्त’ है। या स्वयं मूलमूर्त्त अनन्तकाल ही-‘द्वे वाच ब्रह्मणो रूपे-मूर्त्त आमूर्त्त
 रूप से दो महिमाभाषी में परिणत होरहा है। अतएव इसके पूर्वप्रतिपादित छंदो ही प्रतीक विवर्त्तो मे-
 मे-अमूर्त्त-मूर्त्त-दोनों महिमाभाव समाविष्ट रहेंगे। तभी तो इनका प्रतीकरूप सुरक्षित रहेगा। और त
 यह कहा जासकेगा कि वह अपने एकाररूप प्रतीकभाव से अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर
 तो एकाररूप यह अपनी एकारता से उस अग्नि के समान स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। अमूर्त्त-
 दोनों का समर ही इस समप्रता का कारण बन रहा है।

१६६-सप्तकालविषयानुगत अमूर्त्त-मूर्त्तभाव, सविशेष कालविषयों की प्राकृत
 एवं नात्र एकान्तिकाभूतस्वस्य तु-आशास्ति—

और यी अनन्तकाल से आरम्भ कर पान्द्रसम्पत्करअल-वर्षान्त व्याप्त आठो कालविषयों के प्रत्ये
 अमूर्त्तकाल मूर्त्तकाल-रूपेण दो दो विवर्त्त होजाते हैं बिनके सम्बन्ध में यह अक्षर्य ही अक्षरघा-
 समन्वय करते आता आरिष्य कि, पूर्व-पूर्व के कालविवक्त उत्तर उत्तर के कालविवक्त की अपेक्षा से अ
 काल बन रहे हैं एवं उत्तर-उत्तर के काल पूर्व-पूर्व की अपेक्षा मूर्त्तकाल बन रहे हैं। अमूर्त्तकाल
 कालविवक्त अनन्त है वही सविशेषानन्त्य है प्राकृतिकानन्त्य है। एवं मूर्त्तकाल काली कालविवक्त सादिसान्त
 वही सविशेषप्राकृतभाव है प्राकृतिक अनन्त भाव है नात्र-येकान्तिकाभूतस्वस्य तु-आशास्ति। अपेक्षानन्त
 इस प्राकृतिकानन्त्य का एकमात्र महान् उदरक है बिते शालीन-माया में लोकाभ्युदिकरूप ‘अभ्युदय’ कहा गया

१६७-कालात्मक-अक्षरप्रजापतिरूप-प्राकृत विषयों के अमूर्त्त-मूर्त्त-मावाजुषधी-अक्षर
 अद्वैतात्मक अमूर्त्त-मत्स्य-भाषों का स्वरूप-द्विगदर्शन—

रक्तानुसंधी अनन्तभाव ही अमूर्त्त कहलाएगा सर्वत्र सभी विषयों में एवं अन्तः पदाथ एव का
 पदार्थ ही इन अमूर्त्त-मूर्त्त-भाषों की तात्त्विक परिम्यया होगी। अन्तः पदार्थ ही महिमा-कहलाएगा

निधिर्गुरुस्तुतिं करोति—हे गुरो ! भवान् वारिद इव करुणारसगुणामामकीन चित्त-
चातक प्रमोदयति, शमदमादिगुणोद्यान हरितीभरोति । हे करुणासागर ! भव-
त्करुणा विना सम्यक्त्वप्राप्तिर्न भवति, सम्यक्त्व विना तत्त्वातत्त्वविवेकरूपाऽमृत
भावना न जायते, अमृतभावना विना विशुद्ध ध्यान न भवति । विशुद्ध ध्यान विना
क्षपकश्रेणिर्न प्रादुर्भवति । क्षपकश्रेणिं विना शुकुलध्यानस्य द्वितीयपादः प्राप्तो न
भवति । शुकुलध्यानस्य द्वितीयपाद विना केवलज्ञान न सम्भवति । केवलज्ञान-

मिलना असंभव है उसी प्रकार गुरु की सेवा किये विना भी रत्नत्रयकी
प्राप्ति होना महादुर्लभ है, धन्य है, गुरुमहाराज !। गुणनिधिने इस प्रकार
मन में विचार कर गुरु महाराज की स्तुति की, जो इस प्रकार है—
हेगुरुमहाराज ! आप मेघ की तरह मेरे चित्तरूपी चातक को करुणारस
के वर्षण से प्रमुदित करनेवाले हैं । शम दम आदि गुणस्वरूप उद्यान
को हरा भरा बनाने वाले हैं । हे करुणासागर ! जबतक आपकी करुणा-
रसार्द्र दृष्टि जीवों पर नहीं पड़ती, तबतक उन्हें सम्यक्त्व का लाभ नहीं
होता है । सम्यक्त्व प्राप्त किये विना जीव कभी भी तत्त्वातत्त्वविवेकरूप
अमृत से भरी हुई भावना को अपने में नहीं भर सकता । अमृतभा-
वना भरे विना विशुद्ध ध्यान कभी भी नहीं जग सकता । विशुद्ध
ध्यान की जागृति विना जीव को क्षपकश्रेणिकी प्राप्ति नहीं हो सकती,
क्षपकश्रेणि की प्राप्ति दृष्ट विना शुकुलध्यान का द्वितीयपाद (दूसरा

शुद्धी सेवा कर्था त्रिवाय रत्नत्रयनी प्राप्ति यवी महादुर्लभ छे धन्य छे
शुद्ध महाराज ! शुद्धनिधिसे आ प्रकारने मनमा विचार करे शुद्धमहाराजनी
स्तुति करी, जे आ प्रकारनी छे—हे शुद्धमहाराज आप मेघनी भाइक
भारा चित्तरूपी चातकने कइष्टारसना वर्षाकथी प्रमुदित करवावाणा छे। शम
दम आदि शुद्धस्वरूप उद्यानने क्षलतो क्षलतो बनाववावाणा छे, हे कइष्टासागर !
न्या सुधी आपनी कइष्टा रसार्द्र (इयाथी बीनी) दृष्टि लये पर नथी पडती
त्या सुधी तेने सम्यक्त्वने लाभ थतो नथी सम्यक्त्व प्राप्त कर्था वगर
एव कथारेय पबु तत्त्वातत्त्वविवेकरूप अमृतथी बरेवी भावनाने पोतानाभा
बरी शकतो नथी अमृत भावना कर्था वगर विशुद्ध ध्यान कही पबु ब्रत
थनु नथी विशुद्धध्याननी ब्रति विना एवने क्षपकश्रेणीनी प्राप्ति थती
नथी क्षपकश्रेणीनी प्राप्ति थया विना शुद्धध्यानने भीजे पाये प्राप्त थतो

वादिहान्त क्ल-दोनों का समन्वय संश्लिष्ट हो रहा है। प्रकृति का यह अनन्त रहभाव ही इच्छा अमूर्त-अनन्त-भाव है। एव प्रकृति का यह वादिहान्त क्लमात्र ही इसका मूर्त-सादिसान्त भाव है। इस प्रकार एव प्राकृतप्रकृतिक के ही रस-क्लानुबन्धेन अमूर्त-मूर्त-ये दो महिमाविकृत हो जाते हैं। अनन्तरत्न को उस अनन्त के स्वरूप को अभिव्यक्त करने बाधा यदि मान लिया जायता है। तो इस अभिव्यक्त अनन्तकाल की रसामिव्यक्ति को अमूर्ताभिभ्यक्ति, एव क्लामिव्यक्ति मूर्ताभिभ्यक्ति कहा जासकता है मानसिपा जासकता है। अर्थात् ऐसा मान लेना साम्यता ही है। इस साम्यता की माह्यारूप में परिणति ता उस अनन्तत्न के अन्यतम प्रतीकरूप मानने के बाव ही होगी। वैधकि सम्भवतः आगे चलकर स्पष्ट हो सकेगा।

१६५-प्रतीकाधार की अमूर्तता, एव प्रतीक की मूर्तता, तथा-‘द्वे वाच प्रकृतौ रूपे मूर्ता अमूर्तौ च’ अति का समन्वय—

यही प्रतीक है। यही मूर्त है। एवं विषय प्रतीक है-यही अमूर्त है। विषय का प्रतीक है यह प्रतीक ही तो यही है। यही तो प्रतीकरूप में परिणत हुआ है। एकारूप प्रतीक उस अमूर्त अमूर्त में अभिव्यक्त ही तो है। अलप्रतीकता से समन्वय कीलिए एव इच्छिणेण अ। अनन्तत्न का रहभाव ‘अमूर्त’ है अनन्त-अल का क्लमात्र मूर्त है। या रस मूलमूर्त अनन्तत्न ही-‘द्वे वाच प्रकृतौ रूपे-मूर्त-अमूर्त-अ-रूप से दो महिमाभावों में परिणत होखा है। अतएव इसके पूर्वप्रतिपादित बातों ही प्रतीक विषयों में-प्रतीक में-अमूर्त-मूर्त-अ-दो महिमाभाव समाविष्ट रहेंगे। तनी तो इनका प्रतीकत्व सुरक्षित रहेगा। और तनी तो यह कहा जासकेगा कि यह अपने एकारूप प्रतीकभाव से अपने अमूर्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है तो एकारूप यह अपनी एकारुता से उस अमूर्त के समान स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। अमूर्त-मूर्त दोनों का अर्थ ही इस सम्प्रदाय का अर्थ बन रहा है।

१६६-सत्त्वकानाविषयानुगत अमूर्त-मूर्तभाव, सविशेष कालविषयों की प्राकृतता, एवं नात्र एकान्तिः अमूर्तस्य तु-आशास्ति—

और यी अनन्तत्न से आरम्भ कर जान्द्रसम्पत्कराल-पर्यन्त अघात आठो कालविषयों के प्रत्येक के अमूर्त-अल मूर्तकाल-रूपेण ही हो विकृत होजाते हैं। जिनके सम्बन्ध में यह अर्थ ही अर्थवानपूर्वक समन्वय करते आना। वादिए कि, पूर्व-पूर्व के कालविषयों उचर उचर के कालविषय की अर्थवा से अमूर्त काल बन रहे हैं। एव उचर-उचर के अल पूर्व-पूर्व की अर्थवा मूर्तकाल बन रहे हैं। अमूर्त अमूर्त ही कालविषय अनन्त हैं। यही सविशेषानन्त ही प्राकृतिकानन्त है। एव मूर्त अमूर्त ही कालविषय वादिहान्त है, यही सविशेषमाह्यारूप ही प्राकृतिक अन्त भाव है। नात्र-येकान्तिः अमूर्तस्य तु-आशास्ति। अर्थवानन्तत्न ही एव प्राकृतिकानन्त का एवमात्र महान् उदर्क है। जिते शास्त्रीय-माया में लोकतन्त्रिक रूप ‘अमूर्त’ कहा गया है।

१६७-कालात्मक-अचरप्रज्ञापतिकरूप-प्राकृत विषयों के अमूर्त-मूर्त-माबानुबन्धी-अमूर्त-अमूर्तक अमूर्त-मूर्त-भावों का स्वरूप-विगृहण—

रत्नकाली अनन्तभाव ही अमूर्त कहलाएगा अर्थ ही तनी कितनों में एवं अन्तः पदार्थ एव अन्तः पदार्थ ही इन अमूर्त-मूर्त-भावों की तात्विक परिमाणा होगी। अन्तः पदार्थ ही महिमा-कालाएगा। एव

नहीं मिलता। अतएव इस भीमाच्चरकाल से चारों ओर से घिर गए वही भी भीमा के केन्द्र में परस्पर घटित हो ही जाना पड़ता है। एव इसी की 'बलचिति' कहा गया है। परस्पर सम्मिलित हो जाने वाले वही भी इस चिति का नाम मूल, किंवा मूर्ति अवश्य है। किन्तु इस का सूक्ष्ममूर्ति या उस भीमावृत्त की ही माना जायगा, जिसका एक सुनिश्चित केन्द्र होता है। एवं जिस केन्द्रबल की स्थित्यात्मिका प्रेरणा से ही केन्द्रबल पर ही गत्यागतिशील बल मन्त्रित होते हुए स्थूल मूल रूप में परिणत हो जाते हैं।

१७२—मकुन्देदनात्मक—सर्षप का जन्मदाता पारमपुत्र महदक्षरकाल, तन्मूला ससृष्टि, एवं तत्पूर्ववर्ती कालविवर्तों का ससृष्टिभावों से पार्यय—

मानते हैं—स्वयं अनन्तराल से आरम्भ कर महदक्षररूप परमेष्ठि-सम्पन्न बल चिति-अवस्था में परिणत नहीं हो सकते इन विषयों के अनूत प्रधान होने से एवं परमाकारात्मक होने से प्राणायामक बन रहने से। किन्तु अविचिती का आचारमत सीमावृत्त, एवं चितिप्रवक्तृक बल तो वर्यापि विद्यमान हैं ही। अनन्तराल महामाया इत्यमक है। यह वृत्त ही वह भीमाच्चर है, जिस में सशरकल्पनात्मक असम्पन्न-अनन्त बल इत्येतत् सशरकल्प अन्ते ही रहते हैं। रमानुगता अत्यकला की प्रधानता से अवश्य ही इन में चिति नहीं हो पाती। अतएव इन का मूलमात्र ही अविचिती नही हो पाता। मन्थनात्मक प्रवृत्त सर्षप का उपक्रम तो हाथा है आपाप्रय परमेशी में ही। वैद्यकि- मन्त्रिकर्य-अप्यु प्रापिष्यन्त। स पराक्षरसोऽत्यक्षरत्। स धूम्रमोऽभवत् इत्यादि से स्पष्ट है। यह सकृदनात्मक सर्षप क्योंकिये नहीं है। अतएव विद्यमान भी इतनीमात्र के विद्यमान भी इत्यमक के, एवं विद्यमान भी वही के अत्यन्तप्रामिका बलचिति नहीं होने पाती। उद्योगकार, जैम कि शुभ में किंवा दधि में विद्यमान भी वृत्त मन्थनात्मक सर्षप के बिना अत्यन्त नहीं हो पाता। ठीक यही स्थिति उन अत्यन्त-विषयों में समझ लीजिए।

१७३—'महिमान आसन्' मूला विभूतिसृष्टि, एव रतोषा आसन्' मूला चित्या सृष्टि, तथा तदनुदन्धी स्वादा स्वधा-शब्दों का समन्वय

भाषा और स्पष्टीकरण कर लीजिए। एवं इस स्पष्टीकरण के लिए—'रतोषा आसन्—महिमान आसन्' * इस मन्त्रवाक्य की अनुमानपूर्वक सत्त्वावृत्त बना लीजिए। इसी मन्त्रवाक्य का पूरक है—'स्वधा-अवस्तात् प्रयति परस्तात्' यह वाक्य। दोनों वाक्यार्थों के समन्वय से मूलपूर्वविषयक मन्त्रवाक्य अन्तरन(विज्ञाकार्य) गताय बन जाते हैं। कथमिति चेत्? अथवात्। अनन्तराल में अथकि सृष्टि का आचार मत सीमावृत्त है। सृष्टिक्रमना का उपक्रमक इत्यमक विद्यमान है। सृष्टि का आरम्भक (उपागमनद्रव्य) बलतत्त्व विद्यमान है तो सृष्टि की अविचिती तो होनी ही चाहिए, फिर वह अनन्तरालविवर्त हो अथवा तो उन्महिमात्मक अत्यन्तप्रवृत्त हो किंवा अत्यन्तप्रवृत्त-व्यक्तत्वव्यक्त महदक्षररूप-परमेशी को ही क्या न हो। यहाँ

*—तिरश्चीनो विततो रश्मिरेपामष स्थिदासीदुपरि स्थिदासीत्।

रतोषा आसन्—महिमान आसन्—स्वधा अवस्तात्, प्रयति परस्तात् ॥

—अथर्वसं १०।१०६।१५।

अभ्यस्तस्वयम्भू में ही है न तदशभूत महदक्षरमूर्ति पारमेष्ठ्य मयङ्कल में ही है। इस शीघ्र परमेष्ठी के आपोमात्रा मङ्क पुष्परण्य से ही दिग्भाषारिमना—मूल मावापना—छन्दात्मयी-मूर्ति का उपक्रम होता है। जबकि अनन्तकालावधारक इन चारों अक्षरवय-अभ्यन्त-स्वयम्भू-परमेष्ठी-नामक कालविवर्तों में दिग्देशमात्र अनुपपन्न है मूलादृष्ट्या तो फिर इनके सहायक—मूल-मात्रों किता मूर्तिमात्र का कैसे क्या सम्बन्ध किना बाध !।

१७०—प्रकृतिनिबन्धन सत्कार्यवादसिद्धान्तमूलक-प्रश्न-समाधान का समन्वय—

प्रश्न अक्षरय महत्त्वपूर्ण है अतएव समावर्तीय भी। कस्तुत मूलादृष्ट्या बिसे मूल किना मूर्ति कहा जाता है उस की अभिव्यक्ति तो धीरमपेक्ष से ही उपक्रान्त होती है। और इस मूलादृष्टि से तो धीर मङ्कल से परस्पर क समी कालविवर्त अपनी प्राणान्तरित रसपदानता से अभ्यस्त-अमूच-प्रधान बनते हुए केवल कालात्मक ही माने जायेंगे। मूर्त्यनुगत मूल्यमात्र तो सूर्य के मध्याग से ही उपक्रान्त बनता है। यह संस्कृत ठीक ठीक होने पर भी इस तथ्य के साथ भी गबनमिथिना नहीं की जासकती कि, जिस मूल मात्र की किना मूलकार्यभाव की किना मूर्ति की धीरस्था से उपक्रान्त होती है उसका बीच इतनी कारणमत्ता पारमेष्ठ्या महदक्षरपकृति में अन्वय ही होना चाहिए। यदि परमेष्ठी में यह मूलबीज है तो स्वयम्भू भी उस से बहिष्कृत नहीं माना जासकता। फिर तो उल्लासित उस अनन्तकाल में यी यह मूलबीज मान ही लेना पड़ेगा जिसके किना परमेष्ठी में भी बीजमय अनुपपन्न है। जो है उली की अभिव्यक्ति होती है। जो नहीं है मूलप्रकृति किना मूलकाल में यह क्यापि लक्षणात्मक भव-व्यक्त-विवक्ष में नहीं हो सक्ता। यही तो प्रकृतिमूलक यह सत्कार्यवादसिद्धान्त है जिसका मगनात् ने भी समर्थन किया है ०।

१७१—महाचिह्नरूपा संसृष्टि चयनानुगता इष्टकाचिति, विस्तारमङ्क-रासायनिक-सम्मि अक्षररूप-याग, एवं तदाधारभूत केन्द्रवृक्ष का समन्वय—

मूल्यानुगत मूल्यमात्र किना मूर्तिमात्र का अर्थ है—अमूल प्राणात्मक रस के आधार पर मूलमूलमात्रात्मक कलों की परस्पर-विविध बागात्मक अन्तर्ग्रामि-सम्बन्ध परस्पर प्रतिपक्षबन्धन चयन। इसी महाचिह्न किना नाम है कलों की 'संसृष्टि'। और यही संसृष्टि इस महाचिह्न की मूल किना मूलरूप प्रधान कृती है जिस में सिक् और कस्तुमत्त वेद्यात्मक प्रवेश अभिव्यक्त रहता है। अक्षरय ही इस मूल किना मूर्तिमात्र की अभिव्यक्ति-स्वस्मिन्व्यति के लिए कलों की विधि अपेक्षित है जो 'व्यनयवपरिमामा म-इष्टकाचिति' अक्षरार्थ है जिसका आधार सत्त्वविक्रम प्रभावति एवं पञ्चविक्रम सम्प्रसरण ही माना गया है। महाचिह्न का अर्थ है—गतिवर्ती विच्छन्न अनन्त कलों का पारस्परिक सम्मिश्रण। इस सम्मिश्रण का आधार है—कोई वैद्य जीवित क्षेत्र जो इन कलों के गमनागमन का 'संश्लि' रूप एक उच्चारण बना रहता है। इस उच्चारण उच्चारण के कारण ही गम्यवतिशील कलों को बाहिर की ओर विद्यत होने—पैलने के लिए कवीकि अक्षीम-वरात्मक

*-नामतो विद्यते मात्रः, नामापो विद्यते सतः।
उमपोरपि इष्टोऽन्वस्त्वनयोस्तच्चदर्शिमिः ॥

—गीता ७।२१।

नहीं मिलता। अतएव इस भीमाक्षेत्र-इन से चारों ओर स पितृ रूप बलों का सीमा के केन्द्र में परस्पर परिलिप्त हो ही जाना पड़ता है एवं इसी का बलवृत्ति बढ़ा गया है। परस्पर सम्मिलित हो जान पाले क्लों की इस चित्ति का नाम मूल, त्रिधा मूर्ति अन्वय है। किन्तु इस की मूलमूर्ति तो उस सीमावृत्त का ही माना जायगा, जिसका एक मुनिरिक्त केंद्र होता है। एवं त्रिबु केन्द्रबल की क्लिष्टाभिमाना प्रेरणा से ही, केन्द्रबल पर ही गत्यागतिशील बल मंडित इन रूप मूल मूल रूप में परिलिप्त हो जाते हैं।

१७२-सयत्नेदनात्मक-मर्ष का जन्मदाता पारमथ्य महदक्षरकाल, तन्मला ससृष्टि, एवं तत्पूर्वर्त्ती कालवित्तों का ससृष्टिभावों से पार्यन्त्य—

मानत है—स्वयं अनन्तराल से आरम्भ कर महदक्षररूप परमेष्टि-व्यक्त बल चित्ति अथस्या में परिणत नहीं हो सकते इन विपत्तों का अमूल प्रधान इन में एव परमाशात्मक होने से, प्राणा मक बन खने से। किन्तु बलवृत्ति का आभारमत सीमावृत्त, एवं चित्तिप्रवृत्त का बल तो तत्रापि विद्यमान हैं ही। अनन्तराल महाभाषा-वृत्तमक है। यह वृत्त ही वह सीमावृत्त है जिस में सशरकथनात्मक असत्य-अनन्त बल दृढस्वत सवरण करते ही रहते हैं। रमानुगत अल्पकृता की प्रधानता से अन्वय ही इन में चित्ति नहीं हो पाती। अतएव इन का मर्षभाव भी अमिष्यन्त नहीं हो पाता। मन्यना मक प्रचमद क्षरण का उपक्रम तो होता है आपामय परमती में ही। शेषादि—‘संक्षिप्त-आप्तु प्रापिष्यन्। स पराक्ष्मोऽत्यक्षरत्। स पूर्ममाऽमयन्’ इत्यादि से स्पष्ट है। यह कृत्त दना मक मर्षों की वहाँ नहीं है। अतएव विद्यमान भी वृत्तमीमा के विद्यमान भी हृदयकल के, एवं विद्यमान भी बलों का अल्पकथनात्मक बलवृत्ति नहीं होने वाली उधीप्रकार, प्रम कि हुए में त्रिधा दधि में विद्यमान भी वृत्त मन्यना मक मर्षों के बिना व्यक्त नहीं हो पाता। नीक यही विपत्ति उन अल्पस्व-विपत्तों में समझ लीजिए।

१७३-‘महिमान आसन्’ मूला विभूतिसृष्टि, एष रतोधा आसन्’ मूला चित्पा सृष्टि, तथा तदनुदन्धी स्वाभा स्वधा-शब्दों का समन्यय

धाया ओर स्पष्टीकरण कर लीजिए। एवं इस स्पष्टीकरण के लिए—‘रतोधा आसन्-माहिमान आसन्’ * इस मन्त्रवाक्य को अधिधानपूर्वक लक्ष्यारूप बना लीजिए। इसी मन्त्रवाक्य का पूरक है—‘स्वधा-अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्’ यह वाक्य। दोनों वाक्यार्थों के समन्यय से मूर्त्तापूर्वविषयक यन्त्रवाक्य सम्पन्न (विशाखर्षे) गताथ बन जाते हैं। कथमिति चेत् ! भूयत्तम्। अनन्तराल में बक्ति सृष्टि का आभार मत सीमावृत्त है सृष्टिकामना का उन्वयक हृदयकल विद्यमान है सृष्टि का आरम्भक (उपादानश्रम्य) बलवृत्त विद्यमान है तो सृष्टि की अमिष्यन्ति ही होनी ही चाहिये, फिर वह अनन्तबलवृत्त ही हो, अथवा तो ऊन्महिमान अन्वयकथनात्मक ही त्रिधा अल्पकथनात्मक-व्यक्तस्वयम् महदक्षररूप-परमेष्टी कोई भी क्या न हो। यहाँ

*-तिरश्चीनो विततो रश्मिरेपामघ स्थिदासीदुपरि स्थिदासीत्।

रेतोधा आसन्-महिमान आसन्-स्वधा अवस्तात्, प्रयति परस्तात् ॥

—अक्षरं १०।१७६।४।

अभ्यन्तस्वयम्-तथा-भ्यन्तस्वयम्-दोनों को एक स्वयम् विवर्त् मान लेते हैं-साम्यात् । एव महाभाष्य
 बन्धुम अरव यज्ज का महामहिम-महामायावृत्तात्मक अनन्तकाल में अनन्तमात्र मान लेते हैं । यी इन पाँ
 विषयों के हीन ही प्रमुख विवर्त् रख जाते हैं । अनन्तकाल, और अनन्त अरवत्प दोनों की ममि को ह
 'अनन्तकाल' करेंगे एव अनन्तअभ्यन्तस्वयम् तथा अनन्तपुरबीरवत्पयम्-दोनों को 'अनन्त स्वयम्
 करेंगे एव तीसरा 'अनन्तपरमेष्ठी' रहेगा । और इस जित्त को आचार बना कर ही रेतोचा आसन्व
 इत्यादि के समन्वय का अन्वेषण करना पड़ेगा ।

१७४-कलनमाघात्मक कलात्मक काल, तदनुवन्धी पौडशकल अरवत्पपुरुष की काल-
 रूपता तद्विमूर्तिरूप सृष्टिविवर्त्, एव अनन्तकाल, तथा अभ्ययाश्वत्थकाल की
 अभिज्ञता—

कल ही कलनभाव का आचार है जिस कलनभाव को ही-'कला' कहा गया है । अभ्ययपुरुष की
 पञ्चकल है अक्षर की पञ्चकल है अक्षर की पञ्चकल है । तभी तो अरवत्पयज्ज पौडशी (पौडशकल) कलात्मक
 है । कलनत्मक काल का ही नाम 'अक्षरकाल' है । अतएव कलात्मक अभ्यय की उत्पत्तः अक्षरकाल ही है
 कलात्मक अक्षर की अक्षरकाल ही है एव स्वयं की अक्षरकाल ही है । अलावीत निष्कल अनन्तअभ्यय
 ब्रह्म प्रथम् सत्तत्त्व है । एव कलात्मक, अतएव कालात्मक पञ्चकल अभ्यय वा अक्षरकालिक ही बन रहा है
 और यही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है । तत्त्व यही है कि जब अक्षरकालिक अभ्यय को आचार
 बना होता है तो इसके द्वारा अभ्ययसृष्टि (अभ्ययमिमांसा अक्षरकाल) ही पकती है । यही कलात्मक
 (अक्षर) का स्वयं को लक्ष्य बना लेती है तो इसके द्वारा अक्षरसृष्टि हो पकती है । अभ्ययमिमांसा अक्षर
 अक्षरकाल का नाम ही है-अनन्तकाल (जिस में अनन्तकाल और अभ्ययारवत्पपौडशी ब्रह्म दोनों
 समन्वित हैं) ।

१७५-कलासृष्टि का स्वस्व-परिचय, एवं 'कलासर्गकर् देवं य विदुस्त बहुस्तुनम्' का
 समन्वय—

अक्षरकालिक अक्षरकालसृष्टि का ही नाम है-'स्वयम्भूकाल' (जिस में अभ्यन्त स्वयम् एव
 पुरुषबीरवत्पयम्-दोनों समन्वित हैं) । ये दोनों सृष्टिवाँ सृष्टिवाँ मने ही न हों, किन्तु 'सृष्टि' इनको अक्षरक
 ही कहा बातवत् है । अनन्तकाल-ब्रह्मज्ञानुगता अभ्ययसृष्टि का नाम ही है-'कलासृष्टि' जिस से अनन्ता
 व्यपमूर्ति अक्षरकाल अक्षरक-पौडशीब्रह्म-काल में परिणत हो रहा है । यही माननीयसृष्टि है, यही मातृसृष्टि है
 जिस में सभी महिमामय बने हुए हैं । यहाँ का सृष्ट्याधारमत् कालकाल ही महिमामय है अक्षर प्रतिष्ठित अक्ष
 की मातृत्मक ही है एव स्थिधोक्त्यर्थ अक्षर ही मातृत्मक ही है । जिसे मानसिक चित्र कहा जाता है लोक
 में भी मनोब्रह्मण्य विद्य है, किन्तु जिसकी अभी लोक में अभिमूर्ति नहीं हुई है । ऐसी ही ही कुछ रिपति
 समिच्छ उत प्रथम अभ्ययकाल अक्षरकालिक अनन्तकालब्रह्मण्य में । इसी प्रथम-कलासर्गकालिक मातृसर्ग
 को आचार्यकालकाल संकल्पसर्ग को लक्ष्य बना कर मुक्ति कहा है—

मानप्राप्तमनीडाख्य भावाभावकर शिवम् ।

फलासर्गकर दत्त य विदुस्ते जहृस्तनुम् ॥

—२२ उप० ५।१६।

१७६—गुणसर्गात्मक पञ्चतन्मात्रासर्ग, तदभिन्न 'प्राणसर्ग', एवं-गुणांश्च सवान् विनि-
योत्रयेद्य ' का समन्वय —

जब कालप्रकृतिरूप अक्षर स्वयं अपने का ही सृष्टि का लक्ष्य बना जाता है, तो इस अक्षररूपक अक्षरकाल का नाम होता है—अप्यक्तस्वयम्भूजाल। इस की पदप्राणरिमिका अभ्यक्ता अक्षरसृष्टि का नाम ही है—'गुणसर्ग' जो कि गुणसर्ग रूपरक्षणस्वयंशब्द नामक पञ्चतन्मात्रा-सर्ग नाम से भी समन्वित हुआ है। स्वयम्भू महा वाक्त्मा है। यही गुण-भूत मन्त्र मात्रासर्ग का प्रयत्न है, जो कि 'प्राणसर्ग' नाम से भी परिचित है। निम्नलिखित भौत-स्मात् पञ्चन इनी उस अक्षरप्रधान गुणसर्गात्मक पञ्चतन्मात्रासर्ग की धार प्रकृत कर रहा है, त्रिकोणीमात्रत फल हृत्प आदि सभी निबर्त प्राणात्मक अभ्यक्तमात्र के कारण महिमा मय ही बन हुए हैं। मात्रासर्ग जहाँ महिमात्मक था वहाँ यह गुणसर्ग भी महिमात्मक ही बन रहा है।

यच्च स्वमात्रं पचति विश्वयोनि पाच्यारंश्च सर्वान् परिणामयेद्य ।

मर्गमेतद्विनवमधितिप्लत्यको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥

—२४ उप० ५।५।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चम ।

वदादेद्य प्रसूयन्त प्रसूति गुण-कर्मन्त ॥

—मनु

१७७—मूर्धिसृष्टि की आधारभूता रत रतोष्वा-योनि प्रथी का दिग्दर्शन, एवं तदनु-
बन्धी विद्यारमर्ग—

मानस मानविषय प्राणा मन्त्र गुणविषय ये दोनो ही महिमाविषय हैं। इन्हीं के लिए 'महिमान आसन्' कहा गया है जिनमें प्रतिपचन का अभाव है। सृष्टि है, किन्तु मनोमयी (माधमयी) और प्राणमयी (गुणमयी)। मैतुनीसृष्टि का नाम ही मूल सृष्टि किंवा मूर्धिसृष्टि है जिसमें 'रत-रेतोष्वा-योनि' इन तीनों का समन्वय उपस्थित है। एक इस सृष्टि का उपक्रम होता है आपामय-सोममूर्ति परमेष्ठी से ही। पारमेष्ठ्य-सम्बन्धित्वोपाय ही यह 'गुरु' (रत) है जिसका मातरिश्वा नामक वायव्यप्राणरूप रत्नाभा से साक्षिनात्मिक योनि में आधान होता है। और रेतोष्वा मातरिश्वा के द्वारा साक्षिनात्मिक योनि में आहुत पारमेष्ठ्य सम्बन्धित्वोपायः

अनञ्जदक मनसो ज्वीयो नैनद्वा आप्नुवन पृथमपत् ॥

तद्वाधतोऽन्यानत्येति तिष्ठतास्मिन्नपो मातरिश्वा दधानि ॥१॥

स पर्यगाच्छुक्कमकायमत्रशामस्ताचिरं शुद्धमपापविद्धम् ॥

कविर्मर्नीपी परिभू स्वयम्भूर्याथातप्यतोऽथान् व्यवाच्छारवतीभ्य समाभ्य ॥

—ईशोपनिषत्

शुक्र की आहुति से ही अक्षरमूर्ति प्रथम-उत्पत्ति भगवान् स्वर्णनारायण अथ आदिमानव हुआ है। यही 'विष्णुसर्ग' है। अक्षर अक्षर का आश्रयन प्रथम कर लेता है तो चरा मनु यह अक्षर ही महत्त्व परमेष्ठीकाश कहलाने लगता है। यही रेतोषामूला वैष्णवकी दृष्टि उपमान्त हो जाती है। इमा व 'रेतोषा आसम्' कहा गया है।

१७८-अनन्तारवत्काल के प्रमुख तीन महिमाविषय, विषयप्रयानुगता मातृ-
विष्णु-सगोत्रयी एव परस्तात्सर्ग-अवस्तात्सर्ग-मूलक 'स्वधा अवस्तात्, प्र
परस्तात्' इत्यादि श्रौतवचन का तात्त्विक समन्वय—

यो अक्षय-अक्षर-अक्षर-मातृगुण्य से एक ही अक्षरकाल क्रमः अनन्तारवत्काल क स्वयम्भूकाल-अपकालकाल परमेष्ठीकाल-मेद से तीन मातृ में परिचित हो कर तीन स्थानों में। मनसा-प्राणोम-वाचा-मातृ-गुण्य विष्णु-नाम की तीन दृष्टियों का प्रवर्तक बन रहा है। तीनों में और गुण-नामक दो महिमासर्ग परस्तात्सर्ग हैं जिनका केवल अलगतरूप 'प्रयति' से ही सम्बन्ध इनमें चितिक्रम कलापान (रेत के आधान का अभाव है। एवं विष्णुसर्गात्मक पादोपस्थासर्ग परमेष्ठी नहीं, अक्षर परमेष्ठी से यह स्वर्ण-मू-अन्नादि मूर्त-व्यक्त सर्ग) रूप रेतोषा सर्ग अवस्तात्। जिनका अक्षरचितिक्रम 'स्वधा' से सम्बन्ध है। संवरणमात्रापरया में केवल अलगतरूप है अक्षरचिति अतएव कर्त्तों का कर्त्तों पर आधान नहीं होता इध महिमासर्गादिक्रम परस्तात्सर्ग में-'प्रयति' परस्तात्। रेतोषासर्गा अक्षरचितिक्रम विष्णुदृष्टि तो होती ही तब है, जबकि कर्त्तों का कर्त्तों पर आधान होजाता है नि जाती है। यही स्वाधानरूपा-स्वस्मिन्वचने-कमा 'स्वधादृष्टि' है—'स्वधा-अवस्तात्'।

१७९-सर्गप्रयानुगता सम्बन्धत्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

निष्कर्ष तत्र स्वर्ग का यही है कि, विष्णुदृष्टिरूपा मूर्त-दृष्टि के बीच का नाम है गुणदृष्टि, गुणदृष्टि के बीच का नाम है मातृदृष्टि। उसी अक्षर से अक्षयवशाची में मातृदृष्टि होती है जिसमें काल परस्पर विभूति-सम्बन्ध से ही प्रतिष्ठित रहते हैं। उसी अक्षर से स्वधाची में गुणदृष्टि हो जिसमें सम्पूर्ण काल परस्पर 'योगसम्बन्ध' में ही परिचय रहते हैं। एवं उसी अक्षर से अक्षरवाची में विदृष्टि होती है जिसमें सम्पूर्ण काल 'प्रयति-सम्बन्ध' में ही परिचय रहते हैं। तदित्ये-कर्त्तों के वि-
योग-सम्बन्ध-नामक तीन परस्परिक सम्बन्धों के अन्तर्गत ही दृष्टि-सर्ग त्रिधा विभक्त हो रहा है जिनमें अक्षय अक्षरसर्गकाल मातृसर्ग स्वानुगतासर्गकाल गुणसर्ग वे दोनों सर्ग तो अमूर्त हैं एवं अक्षरगुणाक्षरसर्गकाल वि-
सर्ग मूल सर्ग है। शीघ्राधानवर्तुत्व शीघ्रस्वकर्मनिर्माणवर्तुत्व शीघ्रनामस्वकर्मनिष्पत्तिव इन तीन कर्मों में वि-
हे लक्षितत्व। शीघ्राधानवर्तुत्व अक्षयवत्काल अक्षर का कर्म है-'अहं शीघ्रप्रय' पिता' (गीता)। शी-
कर्मनिर्माणवर्तुत्व अक्षरवत्काल अक्षर का कर्म है 'मयाभ्यषेख प्रकृति' सूयते स अक्षरवत्कालम्' (गीता)। शीघ्र को शीघ्राह-कृतनामेन इक्षरवत्काल मूल स्वकर्म में निष्पन्न करना अक्षरवत्काल अक्षर का कर्म है। सर्वाणि मृतानि (गीता)।

१८०-सम्प्रश्नात्मिका त्रिपासा का समाधान वीज 'स्वस्तिकभाव', एव सम्प्रश्न के तात्त्विक समाधान का परिलेख-माध्यमन समन्वय

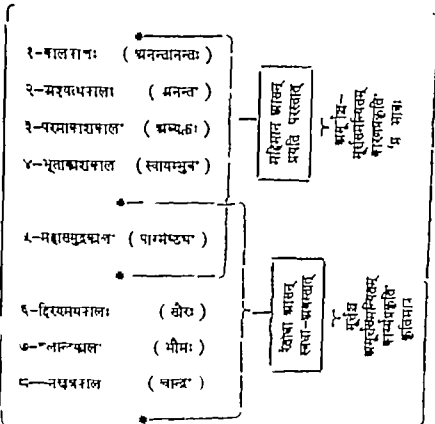
रूपवि का स्वीकरण तो हुआ। किन्तु सम्प्रश्न का अनी मनायना समाधान न हो सका। मान लिया कि, अनन्तकाल से आरम्भ कर परमेष्ठी-कालपर्यन्त अप्यय-मन्त्रयनुगत भाव तथा गुणभाषापल महिमानः रूप अत्यन्त समूह-सर्ग ही है। किन्तु कलनाया तो यह गया था कि आठा ही कालविवर्धों में अमर्षि, आर २७ रूप से सत्र समूह-मूर्त्त नामक अत्यन्त-मूर्त्त-वैजा मान है। अत्यन्तता, एव तदनु रचिनी समूह ता तो समझ में आती है उन विचों में। किन्तु मूर्त्तभाव समझ में नहीं आ रहा। समझ में इसलिए नहीं आ रहा नहीं आसकता कि, हमारी समझ स्वल्पनामयत्र दिग्देशनालामक उस मौखिक मूल्याय में अत्यन्त स्त गद है कि बीजनाभापत्र, अतएव मन प्राणात्मक ही, अतएव च समूहमात्रमवान ही सुवदन मूच भाष का स्थूलनूर्ध्वमात्राका हमारी समझ पकड़ ही नहीं पाती। बुद्धि पकड़ अथवा न पकड़े सहाय्यता समूर्त्तमक मूच भाव-वीजरूपण है अथवा ही उन अत्यन्त-अमूर्त्त विचों में बिना लाक्षणिक 'स्वस्तिक से समन्वय किया जा सकता है। अनन्तकाल भी महाभाषावृत्तमक है तन्वन्दिष्ट अनन्तारवत्प-धम भी भाषावृत्तमक है अत्यन्तस्वम्भ भी योगमायात्वेन भाषावृत्तमक है एव पुरबीरत्वयम्भ का धे- 'हृद्योक्त्य स्वप्न ही है आराधरूपेण। तथैव परमेष्ठी की रतोऽप्यहृद्यता भी तत्त्वसम्भव है। प्रत्येक इत ९ के अनुपात से चतुस्रु अत्यन्त है। यह चतुस्रु अथवा ही यह छन्द है बिसे आकार कहा गया है जो कि आकार ही त्रिगुण मूत्र छन्द माना गया है। इस छन्दोरूप दिक् से इत से सीमित भाषा मक कल, तथा गुणमक बल ही दश का बीजमक सूत्रनदश है। 'बिसे चतुष्कोणानुगत-चतुस्रु-समन्वित ही, चतुस्रु अत्यन्त बिसे इस इत में व्योक्त-यस्तुभावरूप तत्र प्रतिष्ठित हो उसीका नाम तो 'मूच किंवा मूर्त्ति है। पूर्वोक्त सभी कालविवर्त वृत्तमक है अतएव चतुस्रु-स्वस्तिकमक है आर यही इनकी सुवृत्ता दिग्दर्शना है। सभी कालवृत्त विभूति तथा-योगसम्भवावच्छिन्न रूपमात्रों से समन्वित है अपने अपने भाषा मक तथा गुणात्मक सर्गों से। और यही इनकी सुवृत्ता बीजमक दशरूपता है। एव कालमकता तो स्वतन्त्रिष्ट है ही। वा मूर्त्ति, किंवा मूच भाषानुक्तभी काल-दिक्-देशरूप तीनों सूत्रमात्र नियमान ही है अनन्तकाल विच से आरम्भ कर-परमेष्ठी-पर्यन्त। काल-दिक्-देश भी समन्वितवत्तया का नाम ही अत्यन्त-अमूर्त्त-प्रकृति है एव दिक्-देश-काल भी समन्वितवत्तया का नाम ही अत्यन्त-मूच-प्रकृति है। अमूर्त्ता प्रकृति भी मूच भाष से समन्वित है एव मूर्त्ता प्रकृति भी समूर्त्तभाव से समन्वित है। अन्तर स्थितिमात्र में है। अमूर्त्ता प्रकृति के गम में मूचभाष महिमान रूप से प्रतिष्ठित है एव मूर्त्ता प्रकृति के गम में अमूर्त्ता प्रकृति प्रति-ष्ठित है बुद्धिगम्या व्याख्या की दृष्टि से। अव्यक्त के मूर्त्तभाष महिमान है, एव अत्यन्त के मूर्त्तभाष रवोधा है। हैं दोनों स्थानों पर दोनों ही। इसकारण सभी सम्प्रश्न सर्वात्मना समन्वित हो जाते हैं बिना परिलेख के माध्यम से समन्वय किया जा सकता है।

आचारमीमांसा

१-अनन्तकालः	}	अनन्तकालः-अभ्यपानुगतोऽक्षरकालः (१)-अनन्तः]-मापक्रमकः	
२-अक्षरकालः			
३-अभ्यक्षरकालः	}	स्वयम्भुक्कालः-स्वानुगतोऽक्षरकालः (२)-मन्यकः]-गुणक्रमकः	
४-पुण्यक्षरकालः			
५-परमेष्ठिकालः	}	परमेष्ठिकालः-अनुगतोऽक्षरकालः (३)-अमूर्तः]	
६-सौरसम्बन्धकालः			
७-पार्ष्णिकसम्बन्धकालः	}	अनुगतो-विकारकालः (३)-मूर्तः]	-विकारक्रमकः
८-बान्धुसम्बन्धकालः			

कालः कालमीमांसा-कालावधारणः-कालः	१-महामासवृत्तम् (अनन्तः) (०)	}	अभ्यभिदा प्रकृतिरक्षर-अनन्त-मनीमकः - उच्यते-माकृतिर्विभूतिभङ्गाया -
	२-मासवृत्तम् (अक्षरकालः) (०)		
	३-योगमासवृत्तम् (परोरथाः) (१)	}	स्वाभिदा प्रकृतिरक्षर-अभ्यकोऽमूर्त-प्रागमयः - उच्यते-गुण्यस्यविभोगतङ्गा -
	४-उपयोगमासवृत्तम् (पुण्यक्षरः) (१)		
	५-रेवोऽक्षरवृत्तम् (परमेष्ठी) (४)	}	अनुभिदा प्रकृतिरक्षर-अभ्यको मूर्त-वाक मयः - उच्यते-विकारस्यविभो-बलाङ्गा -
	६-पयोऽक्षरवृत्तम् (सूर्यः) (१)		
	७-पौन्यवृत्तम् (भूषिकः) (२)		
	८-अक्षरवृत्तम् (अनन्तः) (१)		

कालः स ईयते-प्रथमो तु देव (नवमसूक्त २ मन्त्र) ।



प्रकृतिभावोऽथर - स एष काल एव
'कानः स ईयते-प्रथमो तु देव' (अष्टमसूक्त - मन्त्र)

१८१-परस्तात्-कानादिवर्षों के बीजात्मक मूर्त्तभावों के सम्बन्ध में तथामिष्यक्तिरूप एक नवीन सम्प्रश्न—

अन काल एक महत्पूर्व सम्प्रश्न और शय रह जाता है इस सम्बन्ध में त्रिमता दो शब्दों में समग्र कर यह दिग्देशकालमीमांसा उपरत हारही है । कालात्तर के कालिभद्रधृत आठ विषयों में से आरम्भ के पांच अलविषयों में अन बीजात्मक मात्रात्मक, तथा गुणात्मक सुवृत्तम-काल-दिग्-देशरूप मूर्त्तभाव विद्यमान है तो वही ये बीजात्मकत्वान्त पुण्यित पञ्चवित कथों नहीं हाणए ? । कथों नहीं अनन्तकाल से आरम्भ कर पांचवें महासमुद्रात्मक परमेष्ठीकाल-परम्यन्त के परस्तात् अलविषयों में बीजात्मक 'अलदिग्देश' भाव मूर्त्त रूपेण धर्मात्मना अभिष्यक्त होणए ? । कथों 'न परस्तात् कालविषयों में लोअप्यदिग् मूर्त्तभाव अभिष्यक्त नहीं हुआ ? ।

१८२-कालतत्त्व के अशु, तथा षड मात्रों के माध्यम से सम्प्रश्न का समाधान, 'तिर-रचीनो विततो रश्मिरपाम्' मन्त्रभाग का तापिक समन्वय, एवं-'सौवी-अङ्गुलियों से भी नहीं निकला करता' लोकरूपि के रहस्यपूर्ण दिग्दर्शन—

अक्त महत्पूर्व सम्प्रश्न का उत्तर है- 'तिररचीनो विततो रश्मिरपाम्' । (श्रु सं० १०।१२६।५) । दो पारिभाषिक शब्दों का लक्ष्य बनाने से इस सम्प्रश्न का भी समाधान हो जाता है । 'अङ्गु' और

प्राप्तिं विना शैलेश्यवस्या न जायते । ता विना सकलकर्मक्षयो न भवति । सकल-
कर्मक्षयं विना मुक्तिर्न सम्भवति । मुक्तिप्राप्तिं विनाऽयमात्माऽमरपदं न लभते ।
अमरपदप्राप्तिं विनाऽऽत्मनः सिद्धावस्था न जायते, अतो भवानेव सकलकल्याण
कारणमिति प्रतिक्षणं भवचरणसमाराधनमेव मम सयमाराधनम् । एव गुरुमारा-
धयन् गुणनिधिः सयमयात्रां निर्वहन् स्वात्मकल्याणमचिरेण साधितवान् । एव
मन्येनापि शिष्येण विनयपरेण भवितव्यम् ॥ २ ॥

अविनीतत्ववर्जनेन विनीतो भवतीत्यतो विनीतविपरीतमविनीत-
स्वरूपमाह—

पाया) प्राप्त नहीं हो सकता । शुद्धध्यान के दूसरे पाये की प्राप्ति विना
केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती । केवलज्ञान की प्राप्ति विना शैलेशी
अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती है । शैलेशी अवस्था की प्राप्ति विना सकल
कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता है और सकल कर्मोंके क्षय विना मुक्ति
की प्राप्ति नहीं हो सकती, और मुक्तिकी प्राप्ति विना अमरपद नहीं
मिल सकता । अमर पद पाये विना आत्मा सिद्धावस्थासम्पन्न नहीं
यन सकता । इस लिये हे नाथ ! आप ही सकल कल्याण के कारण
हैं, अतः प्रतिक्षण आपके चरणोंका आराधन ही मेरा सयमाराधन है ।
इस प्रकार अपने गुरुकी आराधना करते हुए गुणनिधि ने तप सयम
की आराधना की, और थोड़े ही काल में आत्मकल्याण किया । इसी
तरह अन्य शिष्योंको भी अपने गुरुके प्रति विनयशील रहना चाहिये ॥ २ ॥

नथी शुद्धध्यानना जीव पायानी प्राप्ति विना केवलज्ञाननी प्राप्ति यती
नथी केवलज्ञाननी प्राप्ति विना शैलेशी अवस्था प्राप्त यती नथी । शैलेशी
अवस्थानी प्राप्ति विना सकल कर्मोना क्षय यतो नथी अने सकल कर्मोना
क्षय विना मुक्तिनी प्राप्ति यती नथी । अने मुक्तिनी प्राप्ति विना अमरपद
भणी शकतुं नथी । अमरपद भेगव्या वगर आत्मा सिद्ध भवस्थासम्पन्न
अनी शकतो नथी भाटे हे नाथ ! आपञ्च सकल कल्याणना कारण छे अटले
प्रतिक्षण आपना चरणोनु आराधनञ्च भाडु सयम आराधन छे आ प्रकारवी
पोताना गुडनी आराधना करता करता शुद्धनिधिञ्चे तप सयमनी आराधना
करी अने थोडाञ्च कालमा आत्मकल्याण कथुं आवी रीते अन्य शिष्योञ्चे
पञ्च पोताना गुड प्रत्ये विनयशील रहेवुं ओछञ्चे ॥२॥

शुद्ध रूप से देना चाय, वा यह भी स्वयम्भूत्सक्त् श्रुतत् ही बना रहता है। यकत्वा पत्र उपक्रम अन्वय ही श्राव्य है परमप्रीत्य में। अतएव इस 'आद्येऽत्र मान मी लिया जाता है। तदपि अपनं स्वायुन्मुख मावा नुरुप म परमप्रीत्य भी 'दृशोत्रा ही बना रहता है। सर्वथा यत् सत्त्वता ही 'दृशोत्रा' पत्र है, जिस में वनी प्राय सर्वथा श्रुतुरूप से-अकुटिलरूप से-अवक्ररूप से इतस्तवः निर्विरोध स्व-स्व-नियत वरणिपी से सम्भग्य अत रहते हैं।

१८६-सर्वपाश्र्वान्य अवक्रचेता युक्तौत्रा कालविवर्त्त, तस्मिन्धना परिपूर्णता, एव-
 'सर्वत पाणिपाद तत्' इत्यादि वचन का समन्वय—

अतएव पूर्णत्व मं इत्यपि सर्वपां का अन्वय आता दी नहीं। कर्त्तं प्राण्य जिन्ही प्राण्य से उत्पीडित नहीं होता। इवति ए उत्पीडित नहीं होता कि-दृशो की वच सता से सभी हृष्यप्राण्य समरक्ति-बलात्मक ही बन रहते हैं। बा यस्तु परिमयदलात्मिक हमी यत् लक्षणात्तर हागी, उस की केन्द्ररक्तियां तमानरूप से समानान्तर पर सर्वत्र सममावापत्ररूपे ए ही परिभ्याप्त रहगी एवं इस समानभ्याप्ति-का नाम ही स्वत-भावा-त्मिक-परिपूर्णता हागा। अतएव दृशोत्रा विद्युत्-कालप्रवापति को- 'सयस-पाणिपादाक्षिशिरोमुख' ही वच-साया गया है *। एसा ह्योत्राभावा अतने महिमाभवल में स्वय अपनं रूप से ही परिपूर्ण है। श्रेय इव का स्वरूप है, वही पश्याप्त है इव के लिए। अन्य कोर कामना-वासना-इच्छा-आश्रया नहीं है इव दृशोत्रा श्रुतमयत्वमे। अतएव श्रुतमयत्वलात्मक-दृशोत्रा-श्रुतमयत्वविषयों में वह बलप्रतिभमना उत्पित दी नहीं होती, जिस के द्वारा मूत्र-मठ-माय का स्वरूप-निम्माण हुआ करता है। यही ता वह महिमात्मक विवत है जिसे सम्निवत करने के लिए ही यह मीमात्वा प्रस्तुत हुई है। मूत्र-मठ-भी इस महिमात्मक विवत माय से सम्निवत हा कर श्रुतु बन जाया करता है। आर उस दशा में सम्पूर्ण अक्षयीजन उपरान्त होजाता है।

१८७-पारमेष्ठ्य-कालानुपन्धी आपोमय नारदप्राण्य की सृष्टिकर्म से तटस्थता, एव
 दशप्राण्यमूलक मूर्त्तिसर्ग का समन्वय—

श्रुतुदशालोक वस्तु सत्त्व क्योकि स्वयं में परिपूर्ण है। अतएव इस के प्राण्यत्मक बलभाव परस्पर उत्पीडनपूर्वक स्वयं में आवे ही नहीं। अतएव परिपूर्णमाय कदापि अ्यक्त-भूत-भूत-व्यधि का अन्वय नहीं बना करता +। वही ही पारमेष्ठ्य 'नाराः नामक अपतत्व के आभारभूत 'नारदप्राण-श्रुति' को पुराण ने कृतान्तममूक्य से अर्थवृद्ध ही मान लिया है। वही प्राण प्राणत्वेन मूर्त्तव्यधि से वस्तुतः तटस्थ ही बने रहते हैं यकत्त कि ये वस्तु सत्त्वों से निकल कर वस्तुत्वों में नहीं आजाते। प्राण का श्रुतिभाव वस्तु सत्त्वानुबन्धी है एवं इही प्राण का 'व्यभक्त' ब्रह्मिष्ठपूतानुबन्धी है। श्रुतिप्राण से व्यधि नहीं होती। व्यधि होती है देवप्राण से

* सर्वत पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
 सर्वतः श्रुतिमन्त्रोक्तं, सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
 —भक्तिः
 — न्यूनार्द्रं प्रजाः प्रजायन्ते । (भुक्ति) ।

'वक्र' दोनों शब्द लोकप्रसिद्ध हैं बिना क्व लौकिक भाव 'सरलता-कुटिलता' इन नामों में लोको में प्रसिद्ध है। करते हैं- 'सीधी अङ्गुलियों से भी नहीं निकला करता'। बलकक अङ्गुलियों को तिररचीन नहीं कर लिया थावा, वेदा-कुटिल-नहीं बना शिवा बजा अकक पात्रस्थ पूत पात्र से बाहिर नहीं हुआ करता धीरेपन से, अङ्गुला से क्वापि कर्मविधि नहीं हुआ करती।

१८३-दिग्देशकालात्मक मूर्त्तभाषापन्न लक्षणों का पूरक कुटिलकाल, एवं अङ्गुलकाल से मूर्त्तकार्यसिद्धि की अन्तर्मुखा—

अन्तर्मुखादान के लिए अङ्ग-मूर्त्त-मौक्तिक-स्वल्प-अन्तर्-सम्पादन के लिए तो बहामार्ग का ही आशय होना पड़ता है। ऐसा ही कुटिल-अङ्ग का कुछ स्वभाव है। सम्भव है काल का अङ्गुलत्वस्य भी ही। किन्तु मूर्त्त-मूर्त्त-स्वल्प-बगर् के स्वल्प-मौक्तिक-अन्तर् में उक्त अङ्ग-धीरेपन से-अङ्गुल-अङ्ग का कोई उप-योग नहीं। अङ्ग का बहामार्ग-कुटिलभाव-वेदापन ही मौक्तिक-मूर्त्त-अन्तर् की स्वरूपसिद्धि का कारण बनता है जिस वेदपन का नाम ही 'परोक्षभाव' है। यदि बात धीरे-सन्धी-अङ्गुलापूर्वक कह दी जाती है तो उक्त अङ्गुलापूर्वक धीरे-सन्धी-कह देने वाले को जो प्राकृत-बुद्धिमान् लोकोचक्षुर मानव 'मौजू' कह कर उस की उपेक्षा ही कर दिया करते हैं। मूर्त्त-बगर् के निर्माता कुटिलकाल से निर्मित मूर्त्त प्राकृत मानव अङ्गुला-नुबन्धिनी धीरे-सन्धी बातें सुनना ही नहीं चाहते। सुन कर भी उन पर ध्यान ही नहीं देना चाहते। अन्तर् उक्त अङ्गुला की जो वे अन्तर् उपाधि ही मान लेते हैं।

१८४-'परोक्षप्रिया इव हि देवा प्रत्यक्षद्रिपः' लक्ष्य निष्ठास्य का आचारात्मक सम-
न्वय—

अतएव आचरन्क ही थावा है कि, लोकतन्त्र में जो कुछ कहा जाय जो कुछ किया जाय, परोक्षरूप से ही कहा और किया जाय। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' *। 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्रिपः'। यही तो वह निष्ठास्य है जिस के स्वरूप-निर्देश के लिए ही प्रसिद्ध लोकनियम उपनिषद् हुआ है। इस कुटिल सत्ता में सीधी उन्नी बात का तत्काल कोई मूल्याङ्कन हो ही नहीं सकता जबतक कि उसे पुमा-प्रिय कर-बहिष्-कर-तोड-सरोड कर-पदा-बधा-कर न कह दिया जाय। यही मूर्त्त-मूर्त्त-अन्तर् का अन्तर् स्वरूप है जिस लोकनिष्ठास्य को विलुप्त कर देने के कारण ही धीरे-उन्नी-कर्वे करने करने वाले निष्ठास्य मातृवद्गने सम्पूर्ण लोकनिष्ठास्य विना ही कर शिवा है। इति नु सामयिक-उपनिषत्तम्।

१८५-हृत्प्राप्तवय पञ्चविध अन्तःकाल विवरणों की अङ्गुलरूपता, तन्मूला 'अवकृता,'

एष सधिरन्धन सहज सञ्चरन्वरूप विभूतिमाह—

बात हमें क्वनी यह है कि, अन्तःकाल से आरम्भ कर परोक्षी-अन्तर् पर्यन्त-जा भी अन्तःकाल है, वे क्व 'हृत्प्राः' ही क्वे हुए हैं। क्वपि परोक्षीहृत्त में कोई बहता का जाती है। किन्तु यदि इसे हृत्त के वि-

*-उपायाः शिष्टमाथानां बालानामुपशालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

—महर्षिः ।

पारिभाषिकी भाषा में स्पष्टीकरण कर रहे हैं, किन का सम्बन्ध प्रकृतेय प्रज्ञायीला की स्वयं ही कर शाना
 चाहिए—

एक. सुपण स समुद्रमाविषश स इड विरव भुवन विचष्टे ।

त पाकन मनसा परयमन्तितस्त माता रहिल, म उ रहिल मातरम् ॥

—श्रुक् मं १०।११।१।

पूर्वापर चरतो मापयेतो शिशू कीडन्तो परि यातो अप्वरम् ।

विरवान्यन्यो भुवनामिचष्टे श्रुतूरन्यो विदधञ्जायते पुनः ॥

—श्रुक् मं० १०।११।१२।

१२०—त्रिगुणात्मक महदचरकाल, तन्निबन्धन आकृति प्रकृति ब्रह्म कृतिभाव, तन्मूला
 विरुद्धता, तदनुगता विषमता, तन्मूलक सपर्य, तज्जनिता चिति, एव चिति-
 मूलक मृगाजगत् का आविभाव—

इत्यमरावयवम् । पारमप्य अचरकाल का नाम इमन महदचर कहलाया है । यही वह 'महत्प्रकृति
 है जिस में त्रैगुण्य की अभिव्यक्ति होती है । अतएव मूला त्रिगुणामिषा मूक्ति का उपक्रम महत्प्रकृतिरूप
 इस परमती में ही होता है । यही सौरसम्बत्सर के सम्बन्ध से 'ब्रह्मकृति' भावार्थिका है चान्द्रसम्बत्सर के
 सम्बन्ध से 'प्रकृति' भावार्थिका है एवं पार्थिवसम्बत्सर के सम्बन्ध से 'आकृति' भावार्थिका है । तीनों की
 समन्वितकथा का नाम ही है 'मूर्ति' किंवा मूर्तभाव । सौर-चान्द्र-पार्थिव-सम्बत्सरयुगी ही वह विक्रमता है,
 जिस से मातृहृत्स त्रिकन्द्र बन रहा है । यही दीर्घहृत्स की ब्रह्मता का कारण है । इस ब्रह्मता से ही प्राणशक्तियों
 का समतुलन अन्तर्मुख हो जाता है एवं विषमता माभिभूत हो पड़ती है । यही विषमता इन ब्रह्मप्राणों में
 सपर्य उत्पन्न कर देती है । इस सपर्य का नाम ही प्राणपीडन है । इस पीडन से ही प्राणा की चिति होती है ।
 और इस चिति में ही मूक्त-भूत-मूर्त-मूर्धिरूप सूर्य-चन्द्र-भू-पिरड-रूप प्रत्यक्षिद्ध मूर्तब्रह्म-
 अभिव्यक्ति ही पड़ता है । ब्रह्मता का उपक्रम होजाता है परमेठी में ही, किन्तु इस ब्रह्मता की अभिव्यक्ति होती है
 सर्वप्रथम सौरसम्बत्सर में ही । अतएव सौर कालविशेष ही 'दीर्घहृत्स' नाम से प्रसिद्ध हुआ है जिस कि विषमता
 के कारण ही वह 'कुटिलहृत्स' भी कहा जासकता है ।

१२१—सौरसम्बत्सरकाल की ब्रह्मतात्मिका कुटिलता से ही त्रैलोक्यशानुगत आज्यरूप
 सोम का द्रव्य, तद्बद्धा प्रज्ञास्वरूपनिर्मास, एवं 'ब्रह्मता' का तात्त्विक-स्वरूप-
 समन्वय—

यही सौरकाल भारत की वास्तविक प्रथा में 'ब्रह्मकाल' 'कुटिलकाल' आदि नामों से प्रसिद्ध है । इसी
 ब्रह्मकाल से पारमेष्ठ्य ब्रह्मकाल में रसरा हुआ भ्रमणविरोध-स्नेहतेजोमुखक आन्म (भूत) मूलजगत् के
 स्वरूपनिर्माण के विषय बाहिर निकल पड़ता है । और यों कुटिलकालात्मक सूर्य ही दीर्घहृत्सानुगत अपनी
 कुटिल-परिमरुता ब्रह्मशुक्ति से पारमेष्ठ्यकाल में से सूर्यकुम्भ में से (पूष्य कुम्भोऽधि काले०)

‘दिवेभ्यश्च जगत्सर्षं चरं स्थावजनुपूर्वराः (मनु)। ऋषिणां स्वयम्भू हे-पतेरवा हे, अथएव नर होना-
दिभ्यः मूठवृष्टि से अस्त्युह है। स्वयम्भू पर्यन्त ती निरन्वयेन सभी कालरूप क्व लक्ष्य ही नते रहते हैं।

१८८-आशिक वक्रतालुगत पारमेष्ठ्य महदक्षरकाल, तमूलक सम्वत्सरकाल की लक्ष-
गतिरूपा-सर्वस्वरलक्षणा कुटिलता-वक्रता, एवं तद्रूप दीर्घवृत्तात्मक आयुहकाल
से मूर्धसर्गप्रवृत्ति—

आशिक वक्रता आती है पारमेष्ठ्यरूप में। इस आशिक वक्रता के आते ही वही कालरूप
'अयहवृत्त रूप में परिणत हो जाता है—‘सोऽनया त्रय्या विशवा सद्-आपः प्राविशत्। तत आण्डं
सम्पत्त’ (शत १।१।१।१।)।

इस आरम्भकाल की पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम ही है—सम्पत्तरचक्र जिसके हम कान्तिवृत्त नाम से
जान रहे हैं परिचयान रहे हैं। सम्पत्तरचक्ररूपक इत बच लक्ष्य नहीं है। अपिष्ट वक्रित इष्ट है, कुटिल इष्ट
है उदा इष्ट है। क्या तात्पर्य ?। तात्पर्य यही कि, त्रिकेन्द्ररूपक इष्ट का नाम ही कान्तिवृत्त है और इसे ही
कहा जाता है ‘दीर्घवृत्त’ जिसका पूर्ण में यत्रतत्र अनेकधा-बहुधा परीक्षण किया जानुका है। त्रिकेन्द्र-
मुगता दीर्घवृत्ता का नाम ही है—आरम्भकाल आर इष्टक मूलरूप अभिव्यक्त होयता है आपोमव अनन्त
समुद्र में ही।

१८९-पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के अयह से विनिर्गत अग्निमूर्ति महासुपर्वा पक्षी,
तस्साहचारी साममूर्ति पक्षी, दोनों पक्षियों का समुद्र में सम्भरण, एवं तदनु-
बन्धिनी षड् मन्त्रद्वयी का संस्मरण—

येस एक अयह है जो उस पारमेष्ठ्य समुद्र में स्मरण कर रहा है जो कभी व्यक्त हो पकटा है
तो कभी उसी समुद्रगर्भ में डूबकी लगा होता है नक्षत्ररक्षियों की मति। तोर पार्थिव चान्द्र-समष्टिकम महान्
सम्पत्तर ही उस अयहे में रहने वाला वह महासुपर्वापक्षी है * की हत अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र में आविर्भूत-
विरोध-होता रहता है। विसर्पकार बन्धनरूपपरिपूर्णा माता अपने शिशु को कभी अपने अङ्गुल में धिया होती
है तो कभी शिशु अपने चक्षुःशुभ्र कीड़ा-शैतुक से अङ्गुल से बाहिर निकल आता है एवमेव आपोमव सूर्य
तथा सौम्य चन्द्ररूपक व ‘साम्वत्सरिक शिशु’ आपो-बावा-आर-कम पारमेष्ठ्य-‘अम्बा’ समुद्र (मातृसमुद्र) में
कभी तो धिया करते हैं कभी निकल आते हैं। यी मातो मातृस्थानीय परमेष्ठी मन्त्ररूपमूलक अपने इन सम्पत्तर-
शिशुओं से अधिज्ञ ही करते रहते हैं ऊर्ण-छहार-स्मरण X। निम्नलिखित मन्त्र इसी रहस्य का अपनी रहस्यपूर्णा

* अय ह वाऽय महासुपर्वा एव-पत्सम्बत्सरः। (शत० १२।२।३।३।)।

X मन्वन्तराण्यसस्यानि सगः-संहार एव च।

क्षीडन्निवैतत् दुरुते परमेष्ठी पुन पुनः ॥

—मनु १।८५

१६३-अनन्ताक्षरकाल क अमृता-मूर्त्त-भूत-नामक तीन महिमाविवर्त्त तदनुगत काल
दिक्-दश-विवर्त्त, एत कान्तरीयी, कान्तचतुष्टयी, कान्तत्रीयी-रूपा नवकान्ता
त्मिका प्रकृति का काल-दिक् देश-त्रयी म अन्तर्माषि—

उक्त निष्पन्न के माध्यम से ही आप यह तथ्य भी स्वतः ही समन्वित हागया कि परमदेवरूप अनन्ता
क्षरकाल म ही अमृता-मूर्त्त-भूत-रूप से तीन मंशदान व्यक्तभित है । फलतः-त्रिक-दश-नामक तीन
प्रमुख विरच हा बात है भाव-गुण-विकार-स्वतन्त्री के अनुबन्ध से । अक्षरप्रकृति का अन्वयाभित-
मायात्मक-रूप ही 'काल' है । अक्षरप्रकृति का स्वाभित गुणामक रूप ही 'दिक्' है । एवं अक्षर
प्रकृति का क्षराभित विकारात्मक रूप ही 'दश' है । अनन्तकालात्मक प्रथम विषय एवं अक्षरार्थ नामक
द्वितीय विरच-इन दोनों की सम्मिश्र का नाम ही अन्वयाभित-भावात्मककाल नामक काल है । अत्यन्त
स्वयम् पूणहीमत्ययम्-विशुद्ध परमेष्ठी-तथा-अमृतसूर्य-एन चारों की समष्टि का नाम ही स्वाभित
'गुणामककाल' नामक 'दिक्' है । एव सूर्य सूर्य-चन्द्र-माषि-एन तीनों की समष्टि का नाम ही
'क्षराभित-विकारात्मककाल' नामक 'देश' है । या आठों कालविषय एत समन्वय-दृष्टि से काल-दिक्-
देशात्मक ही प्रमाभित हा रहा है किन में पहिला अनन्तकाल ही प्रमुख काल है, पाँचवाँ परमेष्ठी-काल ही प्रमुख
'दिक्' है एव ष टा सूर्य ही प्रमुख 'देश' है । अनन्तकाल ही आपन अनन्त-अक्षरार्थ-स्वायम्भुव-रूपा के
माध्यम से पारमेष्ठ्य-दिक्-रूप में परिणत हुआ है । यह अनन्त त्रिगुण परमेष्ठी ही चन्द्र पृथिवी-गर्भित
स्वयम्भुव अनन्त देशरूप में परिणत हा रहा है । इसप्रकार अनन्तस्वयम्भु-अनन्तपरमेष्ठी-अनन्तसूर्य
क्रमेण एक ही काल इन तीन काल-दिक्-देश-माषी में परिणत हा रहा है । वही स्वयम्भु-रूपण काल है
वही परमेष्ठी-रूपण दिक् है, वही सूर्य-रूपण देश है । एव इस देशात्मक औरकाल की मूर्त्त अभिव्यक्ति
का नाम ही दिक्-देश-काल है । देशात्मक सूर्य मूर्त्त दिक् है देशात्मक पार्थिव विषय मूर्त्त देश है, एवं
देशात्मक (प्रदेशात्मक) चन्द्रमा मूर्त्त काल है । परस्तात् माषी में काल-दिक्-देश (स्वयम्भु-परमेष्ठी-सूर्य-
अमृतसूर्य)—यह क्रम है वही अमर्त्त कालत्रयी, किंवा काल-दिग्-देश-त्रीयी है । अक्षरार्थ-माषी में दिक्-
देश-काल (सूर्य-मू-चन्द्र) यह क्रम है वही मर्त्त कालत्रयी है किंवा दिग्देशकालत्रयी है । उपक्रम में
अमूर्त्तकालात्मक काल है उपसहार में मूर्त्तकालात्मक काल है । दोनों अक्षर से काल से ही आहत सम्पूर्ण
माहृत विषय कालात्मक ही है इति नु—

सर्वान् लोकांभिर्जित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु इव

तस्माद् नान्यन् परमस्ति तेजः

कानं तमाहुः परमे ष्योमन्

फाल स ईयते प्रथमो नु देव

'आम्ब' निकालने में स्पर्श पनकर मूर्त्विगत् का निर्मांस करते हैं। सच बात है। कभी चीची अगुलिनीं से भी नहीं निकला करता। श्रुतकाल के आचार पर पीडित ब्रह्मण्ड ही मूर्त्वृष्टि का प्रवर्तक बना है। बिना पीडात्मक संघर्ष के, वेदना के प्रबलन असम्भव है। इसी वजह से लक्ष्य में रस कर तिरस्वीनो विततो ररिस रेपामवस्थिवासीदुपरि स्विवासीन्' यह कहा गया है जिसके—'रतोबा आसम्—सहिमान—आमन्—स्ववा अवस्तात्—प्रयतिः परस्तात्' इस उचर वाक्यसन्दर्भ का पूर्व में स्पन्दन किया जा चुका है।

१६२—पद्मवर्माविच्छिन्ना कृतिमूला प्रकृति से अतीव त्रिगुणातीत इतौजाकाल का कालिक सर्ग से असस्पर्श, तत्साधी मात्रा, एवं नवीन सम्प्रन का सम्पक् समाधान—

निवेदन—निष्कर्ष यही हुआ कि, प्रथम अनन्तकाल विवर्त से आरम्भ कर पीचने महावमुद्रकालसम्भ्र परमेष्ठी—काल—पर्यन्त समी कालवृत्त 'इतौबा' बनते हुए 'अवकृत्' है 'अनुवृत्' है 'पुण्यवृत्' है, 'प्राणवृत्' है 'अपीवितवृत्' है 'अमृत्वृत्' है। अतएव इन में प्राकृत—मूर्त्तमाद्यनुगत—मैगुण्य अभि—व्यक्त नहीं होता जोकि सन्—एव—स्तमोनुगत मैगुण्य ही अहङ्क ति—प्रकृति—आकृति—समन्वय के द्वारा मूर्त्तगत की अभिव्यक्ति का कारण बना करता है। प्रकृतिप्र प्रकृतित्व किंवा 'कृतित्व' (अभ्यन्त) यह त्रिगुण्य ही है जिस की श्रुत—कालवृत्तों में अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है। क्योंकि उन प्राकृत 'श्रुतवृत्तों' की श्रुतता—वृत्त लता से श्रुत—अवक—अभ्यन्त—नामक यह अवकपुरण ही प्रधान बना रहता है इन श्रुतवृत्तों में जो कि त्रिगुणातीत माना गया है +। अवकवेला अव—अभ्यन्त की अवकाला से ही तो वे कालवृत्त अवक बने हुए हैं। इसीलिए तो—'कालो अवसो बह्वि सप्ताररिसः—सहसाङ्गः—अवरः—मूरिरेताः इत्यादिरूप से अवक अव—अभ्यन्त से सम्बन्धित उच मूलकाल को सहसाङ्ग—अवर—कहा गया है। 'सहसाङ्गरा परमे व्योमन्' (श्रुत्स० १।१९।४।२।) इत्यादि मन्त्र मी उची अवक—सहसाङ्ग—परमाश्रयात्मक—अनन्तकाल का यशोगान कर रहा है। अवक—अव—अभ्यन्त * से सम्बन्धित अवक—अव—कम ही इतौबा अनन्तकाल अपनी इस अवक इतौबा से ही मूर्त्तवीचान्वित प्रमाप्ति होता हुआ मी अमूर्त्त ही बन रहा है। और यही तथ्याकथित सम्प्रन का वशिष्ठ समाधान है।

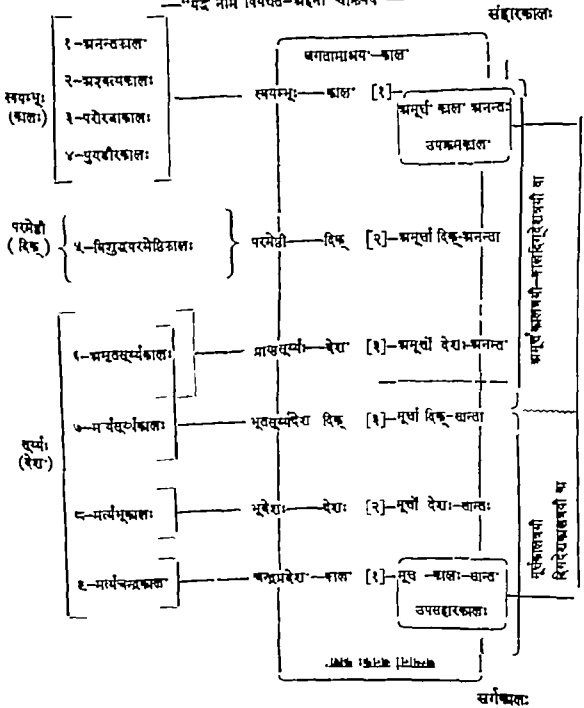
— अनादिश्चास्मिन् शब्दात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्योऽपि कौन्तेय ! न करोति न क्षिप्यते ॥
—गीता

* पुरमेकदशद्वारमजस्वायकचेतसः ।
अनुष्टाय न शोषति विष्णुकश्च त्रिमुष्यते ॥
—कठोपनिषत् ५।१।

द्विगुणकालस्वरूपमीमांसा

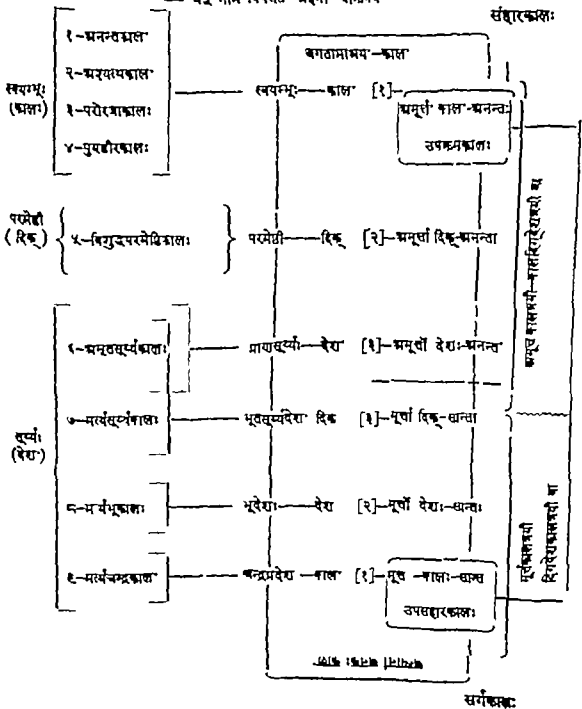
प्रकारान्तरेण समन्वयः—

—“यद् नाम विपर्येत—ग्रहणी चक्रियथ —



प्रकारान्तरेण समन्वयः—

—“यद् नाम विपत्ति-ग्रहणी चक्रियम् —



आणाऽणिद्देशकरे, गुरुणामणुववायकारण ।

पडिणीए असवुद्धे, अविणीयं—त्तिं बुच्चइ ॥ ३ ॥

छाया—

आज्ञाऽनिर्देशकरो गुरुणामनुपपातकारकः ।

प्रत्यनीकोऽसबुद्ध अविनीत इत्युच्यते ॥ ३ ॥

टीका—

‘आणाऽणिद्देशकरे’ इत्यादि । आज्ञाऽनिर्देशकरः=आज्ञाया गुरुवचन-
स्यानिर्देशकरः—अनादरकारक, तथा गुरुणाम्=आचायादीनाम्, अनुपपातकारक=
समीपानवस्थायी, गुरुणा सनिधीं तिष्ठामि चेद् गुरवो मा स्वकार्यार्थमाज्ञापयिष्य-
न्तीति विज्ञाय दूरे तिष्ठतीत्यर्थः । तथा—प्रत्यनीक=प्रतिकूल, गुरुदोषान्वेषणपर
इत्यर्थः । तथा—असम्बुद्धः जीवाजीवादितत्त्वानभिज्ञः, एवंभूतो यः शिष्यः स
सबुद्धविनीत इत्युच्यते ।

शिष्य में विनीतता, अविनीतता के परित्याग से ही आती है
इसलिये विनीत से विपरीत अविनीत का स्वरूप सूत्रकार कहते हैं—
‘आणाऽणिद्देशकरे०’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(गुरुण आणाऽणिद्देशकरे—गुरुणा आज्ञाऽनिर्देशकरः) गुरु
की आज्ञा का अनादर करने वाला, (अणुववायकारण) उनके समीप
नहीं बैठने वाला (पडिणीए) उनसे सदा प्रतिकूल वर्ताव करनेवाला
(असबुद्धे) जीव एव अजीव आदि के स्वरूप को नहीं जाननेवाला ऐसा
शिष्य (अविणीए बुच्चइ—अविनीत—उच्यते) अविनीत कहा जाता है ।

भावार्थ—इस गाथा द्वारा सूत्रकार ने विनीत से विपरीत अविनीत
का स्वरूप प्रदर्शित किया है । यद्यपि यह बात अर्थापत्ति से स्वयं सिद्ध

शिष्यमा विनीतता अविनीतताना परित्यागधी व आवे छे आ माटे
विनीतथी विपरीत अविनीतनु स्वरूप सूत्रकार कहे छे—‘आणाऽणिद्देशकरे’ इत्यादि
अन्वयार्थ—(गुरुण आणाऽणिद्देशकरे—गुरुणा आज्ञाऽनिर्देशकरः) गुरुणी आज्ञाने
अनादर करवावाणा (अणुववायकारण) अमनी सभे न भेसवावाणा (पडिणीए)
अमनाधी सदा प्रतिकूल वर्ताव करवावाणा (असबुद्धे) एव अने अणुव आदिना
स्वरूपने नही बासुवावाणा अेवा शिष्य (अविणीए—बुच्चइ—अविनीत उच्यते)
अविनीत कहेवाय छे

भावार्थ—आ गाथाद्वारा सूत्रकारे विनीतथी विपरीत अविनीतनु स्वरूप
प्रदर्शित करेव छे अेके आ बात अर्थापत्तिथी स्वयंसिद्ध थड नती हती

१६४--कात्यायनगता सूत्रमीमांसा से समन्वित आचारमीमांसा के सम्बन्ध में मानव की जिज्ञासा, तद्वन्वित बुद्धिवादा-ज्ञानमात्रमीमांसक-तत्त्ववादी-दाशुनिक की आत्मा-शून्या तत्त्वमात्रविजम्भसोपेता कान्पनिक-तृष्टि का नमन चित्रण—

यह ही हुआ कानपुत्रय का उत्पत्तिक सम्बन्ध किंवा उत्पत्तीमासादिका आचारमीमांसा का प्र-
 स्म-सम्बन्ध । अब इस तत्त्वसम्बन्ध के साथ उस आचारमीमांसा का भी सम्बन्ध कर लीजिए, जिसका
 महत्त्वमात्र श्रुतिप्रकाश ही उपलब्ध हुआ है । मानव क्या करे कानपुत्रय के स्वात्मपुत्र-मारमन्त्र-सोद-रूप
 काल-रिक्त-दश-भारों को जान करे, यही आचारव्यक्त वह सम्पन्न है, जिसका दर्शनशास्त्र ने तो स्वर्ण
 मी नहीं किया है । न यहाँ आचारविधि है न विधि का पूरक निषेध ही है । है केवल तत्त्वविजम्भकात्मक
 तत्त्वमीमांसक किंवा बुद्धि का उत्पीड़न । महिमात्मक विद्वत् से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू-मूलक आधिदैविक
 'धर्मसंग' (आचारव्यक्त-'श्रुतिसंग') का तो मानो मूलाच्छेद ही कर दिया है उत्तमीमांसकमिनिषिद्ध
 'दर्शनशास्त्र' ने शक्ति आधिदैविक आचार ही इस 'अध्यात्म' रूप 'मानव' का एकमात्र अस्तित्व-निर्देश
 'धर्म' था । अधिभूत का आचार बना कर शौचक-कर्मियत दिग्देवकाल-भाषा के माध्यम से भूतों के
 गर्भ में किसी मूक-तत्त्वान्तरण का प्रवास । उन सहायत्व कल्पनिक, अतएव मासिकिद्ध सूत्रकालों ' के साथ
 अपने कल्पनिक अध्यात्म के साथ सम्बन्ध, सम्बलन । और इस कल्पना-सम्बलन-से ही स्वयं अपनी
 कल्पना में ही, मनोरम्य में ही--"बाह कथा बात है कैसा अदभुत सम्बन्ध है, सूत्रमत्तकों के साथ
 का धारम का कथा मेत है-अज्ञान-आतंर भागवा-रुन हागए' इत्यन्तर की कान्पनिक-तृष्टि-
 तृष्टि का सम्बन्ध करते रहने वाले आचारधर्मरूप्य दर्शनिकों ने मन्त्र-ब्राह्मणव्यक्त (संहिता ब्राह्मण
 आरण्यक, उपनिषदात्मक) 'बहुरास्त्र के द्वारा कठिण, 'स्युविशास्त्र' के द्वारा आदिष्ट एवं 'पुरायशास्त्र'
 के द्वारा उपरहित उस धर्म्य आधिदैविक-आचारधर्मों को विद्वत् ही कर दिया जिस ज्ञानविज्ञानसिद्ध-
 प्राकृतिक आचारधर्म से ही मानव को सहायिका तृष्टि-तृष्टि श्रुति-स्मृति-मिला करती थी आचारप्रधान
 आच से तीन सदसद्वर्गों से पूर्व के धर्म्युगी में ।

१६५-भ्रूति-स्मार्ग-आधिदैविक-आचारधर्मों से असंस्पृष्ट बुद्धिवादी लोक-आत्म-
 विमृग्य केवल अध्यात्मकल्पनारत-प्राकृत मानव के समस्त जीवन का शून्य-
 शून्य-लक्ष्य इतिवृत्त—

भ्रूति-स्मार्ग-संस्कार-कर्मधर्म-आचार-आत्ममीमांसक-विद्वत्-वेदपूजन-आत्मकर्म-उपायना-ब्रह्मरथी (गङ्गा)
 में कायविरोधन-भ्रूति-स्मार्ग-आदि समस्त आधिदैविक आचार धर्म में ही नहीं थाए इस तत्त्वमीमांसक
 की मासिकिद्धा प्रकाश के । आधिदैविक धर्मों के आचार पर उसी के एकमात्र से महिमात्म से अभिप्रेत न तो
 मूलसौन्दर्य ही उल्लेख सम्भू एव न मूलमाध्यमातुल्य आधिदैविक आचार ही इच्छी सम्भू में थाए । धर्म में
 आत्म तो वह थाए कि, कुछ भी सम्भू में न आया । धार्मिक, अध्यात्म विद्वत् लोक-आत्म-परिचय-
 राह-निष्ठाओं से कर्म सम्भू नहीं । केवल शक्तों के कुलाभ मिताकर स्वयं ही दिग्भ्रम्य बन रहना और
 पुत्रों को भी दिग्भ्रम्य करते रहना ही इच्छा प्रथ और एकमात्र पुत्रार्थ तदुपरि आचारनिष्ठाओं का
 तथा आचारनिष्ठ आदिष्ट इती का उपहास, उपेक्षा । अस्तित्वज्ञान में अपने कल्पनामार से ही अपने आच की

सर्वत्र—चिन्तक—अन्यत्र—मानव की शक्ति, मनवान की मातृत्वा । वाणीमात्र अ उल्लेखन, प्रचार मात्र अ व्यामोहन, आर इत्थंभूता वसित—आत्मा—अन्यत्र—आत्मिक—दार्शनिकता में ही इतस्ततः एन्द्रम्याग क रते हुए, आचारधर्मों अ बलाजलि समर्पित परत हुए अन्तवोगत्वा निर्लक्ष्य—निर्दोष—स्वयैव यामीयातनाओं क आतिथ्य के लिए एक दिन 'कानाशानिकेतन (यमराजसदन) अ अतिथि बन आना ही तत्त्वमीमांसक—आचारधर्म—चिन्तक—आत्मा—आदी—सूक्ततत्त्ववादी—नाह—मान—विमुक्त अतएव शून्य—शून्य एक गणितिक—शिरामणि अ समस्त जीवनविह्वल माना आयगा ।

१६६—श्रद्धा-आस्था-परायण भारतीय मास्कृतिक-आप मानव की आचारधर्मनिष्ठा, एव तदनुगता सम्प्रनात्मिक इस्की जिज्ञासा का समन्वय—

ठीक एक विपरीत एक धर्मिष्ठ आर मानव सम्प्रनात्मिक शिक्षाओं के माध्यम से अवरुचतथा धानन की इच्छामात्र एतत्तुष्टा विद्यन) सम्पूर्ण विश्व को, विश्व पदार्थों का विश्वमाणियों को उल्लेखन अन्त परमन्वय रूप आधिदैविक की महिमा मानता हुआ इस आधिदैविक सर्व के आधार पर व्यवस्थित भौत-ध्मा—आचारधर्मों अ अनुगमन ही करता रहगा यथाशक्त यथा सुविधा । आर यही इस की जिज्ञासा अनुगता तत्त्वमीमांसक का एतत्तुष्टा फल माना आयगा । यदि आचार की उपेक्षा है, तो व्यय है यह सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसक । समझना, समझ दना योग्य—प्रचार—करते रहना—कदापि धर्म नहीं है । यह तो कौरी गणितिकता है जो आचार की अभिभूत ही कर लिया करती है । करना—करना—करते रहना ही—यहाँ 'धर्म' की एकमात्र परिभाषा है । आर इसी परिभाषा के माध्यम से यह महत्त्वपूर्ण सम्प्रना उपस्थित हो पड़ता है एक आचारनिष्ठ—आचारधर्म—मानव के अन्तराल में कि, उपोपस्थित अल-दिहू-देश-स्वरूप—शेष से मानव करगा क्या ? ।

१६७—श्रद्धालु की जिज्ञासा अ आचारशून्य-तत्त्वमीमांसा मात्रपरायण वृद्धिमान् मानव क द्वारा स्वरूप-विमोहन, इति तु अत्रक्षयम् ! अत्रक्षयम् !!

क्या इस तत्त्वमीमांसक अ यह अर्थ है कि, मानव सम्पूर्ण विश्व का उल्लेख महिमामय विश्व मान कर कुछ भी न करे ? । यही नहीं यदि कुछ करता हा, तो वह भी छोड़ देते ? । एसा ही तो हुआ है-दार्शनिकों के अनुभव से विगत शक्तियों में ही नहीं, अपितु तीन सदस्य बर्गों में । क्पाकि आधिदैविक सर्व का महिमामय स्वरूप ही अमन्वित नहीं होसक उन दार्शनिकों से । ज्ञानविज्ञानात्मक प्राणपत्य सृष्टिसात्मक आधिदैविक सर्व का स्वरूप ही नहीं समझ उन अज्ञानिप्यासवादी—आस्थावादी—सूक्ततत्त्ववादी—अधिदैविकशास्त्रवादी—दार्शनिकों से अस्सुख अतएव आत्मिक उनके तत्त्वमीमांसकने वा उन्हें प्रकृत्य क्रियमाण आचारों से भी विमुक्त कर दिया । और उनकी गद्यनुगतिरत्ता का कुचल मंगने वाली मातृक भारतीय मनवाने भी इसी तत्त्वमीमांसक के व्यामोहन में आकर तम्पूर्ण आचारधर्मों को बलाजलि ही समर्पित करती इति तु अत्रक्षयम् ? । अत्रक्षयम् ! मरती विह्वलना !!

१६८—आचारात्मक मानवधर्म का शास्त्रीय-स्वरूप-समन्वय—

आत्मानुशीलनपूर्वक आचारधर्मों अ यथाविधि—यथाशास्त्र अनुगमन ही मानव क अत्युत्तम—निष्केश—का अरण माना गया है शिव इस मानवकथम्यत्मिक आचारनिष्ठ अ—'मानवकथम्य—

१६४—कालानुगतता तत्त्वमीमांसा से समन्विता आचारमीमांसा के सम्बन्ध में मानव की जिज्ञासा, सृष्टिचित्त बुद्धिवादा-ज्ञानमात्रमीमांसक-तत्त्ववादी-दाशनिफ की आचारशून्या तत्त्वमात्रविजम्भशोपेता कान्पनिक-तुष्टि का नग्न चित्रण—

यह तो हुआ कालपुरष का तत्त्वमक सम्बन्ध किंवा तत्त्वमीमांसकतिका आचारमीमांसा का स्व-रूप-सम्बन्ध । अब इस तत्त्वसम्बन्ध के साथ उस आचारमीमांसा का भी सम्बन्ध कर लीजिए, जिनका महत्त्वमात्र अतिप्रसन्न को ही उपलब्ध हुआ है । मानव क्या करे कालपुरष के स्वात्म्युप-पारमेष्ठ्य-धोर-रूप काल-दिक्-देश-मात्रों को जान कर ? यही आचारमक वह सम्मरन है जिसका दर्शनशास्त्र ने तो स्पर्श भी नहीं किया है । न यहाँ आचारविधि है न विधि का पूरक निषेध ही है । है केवल तत्त्वचिन्ममशात्मक तत्त्वमीमांसक किंवा बुद्धि का उत्पीड़न । महिमामय विषय से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू-मूलक आधिदैविक 'धर्मसर्ग' (आचारमक-सृष्टिसर्ग) का तो मानी मूलोन्नेव ही कर दिया है तत्त्वमीमांसकमिनिष्ठ 'दर्शनशास्त्र' ने जोकि आधिदैविक आचार ही इत 'अध्यात्म' रूप 'मानव' का एकमात्र अध्यात्म-निःशेषम् 'धर्म' था । 'अधिभूत' को आचार बना कर बौद्धिक-कल्पित दिग्देशात्मक-मात्रों के माध्यम से भूतों के गर्भ में किसी सूक्ष्म-तत्त्वान्तरण का प्रयास । उन सध्यात्म कान्पनिक, अतएव मातिष्ठित सूक्ष्मतस्वी ' के साथ अपने अध्यात्मिक अध्यात्म के साथ सम्बन्ध सम्भूलन । और इस कल्पना-सम्भूलन-से ही स्वयं अपनी कल्पना में ही, मनोरण्य में ही—'वाह क्या बात है कैसा अवसुत सम्बन्ध है, सूक्ष्मतस्वी के साथ अध्यात्म का कैसा मेज्ञ है-अशाहा-आनन्द भागवा-युन हागए' इसप्रकार की कान्पनिक-तुष्टि-तुष्टि का सम्बन्ध करते रहने वाले आचारधर्ममूलक दार्शनिकों ने मन्त्र-ब्राह्मणमक (संहिता ब्राह्मण आचारमक, उपनिषदमक) 'वेदशास्त्र' के द्वारा सृष्टि 'सृष्टिशास्त्र' के द्वारा आदिष्ट, एव 'पुराणशास्त्र' के द्वारा उपलब्धित उस सम्पूर्ण आधिदैविक-आचारधर्मों को विलुप्त ही कर दिया जिस ज्ञानविज्ञानसिद्ध-माकृतिक आचारधर्म से ही मानव को सहायिका तुष्टि-तुष्टि-सृष्टि-सृष्टि-मिसा करती थी आचारप्रधान आद्य से तीन सहस्रकों से पूर्व के आर्यसुगों में ।

१६५—आद्य-स्मार्च-आधिदैविक-आचारधर्मों से असंस्पृष्ट बुद्धिवादी लोक-आत्म-विमुग्ध केवल अध्यात्मकल्पनारत-प्राकृत मानव के समस्त जीवन का शून्य-शून्य-सहस्र इतिषुच—

आद्य-स्मार्च-स्मर-बर्तमानमाचार-आद्यमशीकनपद्धति-देवपूजन-आद्यधर्म-उपासना-ब्रह्मपत्नी (गङ्गा) में कायविद्योपन-महाप्रास-आदि-आदि समस्त आधिदैविक आचार मक में ही नहीं आए इस तत्त्वमीमांसक की मातिष्ठिता मजा के । आधिदैविक र्मा के आचार पर उसी के प्रकाश से महिमामय से अधिम्यक्त न हो भूतसीन्मर्त्य ही उसने समझ एव न भूतमाध्यमानुगत आधिदैविक आचार ही इतकी समझ में आए । मक में आया तो वह आया कि, कुछ भी समझ में न आया । दार्शनिक, अर्थार्थ विषय लोक-ध्यात्र-परिचार-यज्ञ-निष्ठाओं से कोई सम्बन्ध नहीं । केवल कर्तों के कुशाये मिसाकर स्वयं ही दिग्भान्त बन रहना और पुरुषों को भी दिग्भान्त करते रहना ही इसका परम और एकमात्र पुरुषार्थ तदुपरि आचारनिष्ठाओं का तथा आचारनिष्ठ आदिष्ट कर्तों का उपहास उपेक्षा । तत्त्वसम्भूलन में अपने कल्पनामार से ही अपने आप को

नहीं सन्त, जैसे कि इस दृष्टययी स अनुप्राणित कालमहिमानिवस से अपरिचित रह जाने वाले दार्शनिक दशात्मक इस आधिदैविकी तत्त्वययी का समन्वय नहीं कर सके हैं।

१६६-शङ्कर-भास्कर-शक्ति-रूपा देवययी का सस्मरण, एव तन्मूलक मानवीय आचार धर्म—

सन्मुख अस्मदि प्राकृत मानवी क लिए—(जो आचार्यपरम्परा के अनुप्रदमान से किसी परब-उपास्य-पर आस्यामयी भदा रगते हैं) यह मही समरया हे नि, प्राकृतिक-आधिदैविक चालचिचतों में महिमाकर से व्यास अगणित देवदेवताओं में से किसे अपना उपास्य बनायें ?, जिसके माध्यम से प्राकृत-शक्ति-लाम बन हुए हम अपने आचारधर्मों में निष्ठापूर्वक आस्थित रहते हुए—आस्थित स हि धर्ममात्मा से सार्तमना नहीं, तो अशक्त: तो अन्यर्थ प्रमाणित कर सके। पुण्यपुरुष भगवान् भ्यक्त शङ्कर भास्कर 'व्यास' द्वारा इसी समस्या का समाधान किया है। न कवल मानव की उपासनाकरक फ ही, अपितु शनकाय-वया कर्मकायों की प्रतिष्ठाममि भी यही निदकता-समष्टि है। क्या ये वृषक वृषक वीन देवता हैं ? नहीं, य तो एक ही देवता के तीन महिमा-विषय हैं। इन तीन आधिदैविक देवताओं के अतिरिक्त उपासना की मानवधर्मानुगत भासि का अभाव ही समझना चाहिए। इतर सम्पूर्ण देवतावाद इन्हीं तीनों में से किसी न किसी एक देवविमति में अन्तमूत है।

२००-देवययी का मूलाधिष्ठातृरूप 'महोदेव', देववाप्यनुगत 'महादेव', उसके विस्म जनक चतुःशृङ्गारमक महिमामय स्वरूप का संस्मरण—

और इस देवययी का अर्थ है—'महोदेव', जिसका देवनायी में रूप हो गया है—'महादेव'। 'अप्यारि शृङ्गा शयो अस्व पादा'० इत्यादि मन्त्र के माध्यम से इस उच 'महादेव' रूप देवादिदेव महादेव का दार्शनिक स्वरूप पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, जिसका आगमशास्त्र में 'कालकाल-महाकाल-कामानुम्' रूपेण महात्माकारभेष यशोगान हुआ है। साम्प्रदायिक देवमक्तिकाद से पूर्व के आचारनिष्ठ मुनी में भारतीय मानव का प्रमुख उपास्य यही महादेव तत्र था जिसके आचार पर ही परमशैवता परम्परा अचक्षा ही की रही है। महाकाला मक इसी अमूच महादेव की शक्ति का नाम 'महाकाली' है एवं इसीके मूच-म्यक्त-रूप का नाम है—सूर्य। यो महादेव ही महाकाल सूर्य शक्ति-इन तीन मावी में परिणत हो रहे हैं। और इस विशा में हमें एक शास्त्रीय तथ्य का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और कर लेना है।

२०१-मूर्त्त-व्यक्त-प्रजा की शिव-शक्ति-रूपता का प्राधान्य, एवं तत्र पुराणपुरुष भगवान् व्यास के द्वारा यशोवर्णन—

जिन भगवान् व्यासने—'शङ्करे-भास्करे-व्यास-भक्तिरुच्यत' रूप से नामनपुराण में त्रिमूर्ति महादेव की उपास्यता को लक्ष्य बनाया है उन्ही व्यासदेव ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहास-मन्थ महाभारत में बड़े विस्तार से अन्य देवमक्ति की गीणता स्वहाते हुए महादेवोपासना की ही प्रमुखता स्थापित की है जिन प्रमुखता का मूलबीज वेदशास्त्रविदा सुप्रसिद्धा—'स्कन्धविद्या' ही माना गया है। स्वयम्भुकेन्द्र से आरम्भ

मीमांसा' नाम से पूर्व के द्वितीय उत्तर में विस्तार से दिग्दर्शन करवाया जा चुका है। प्रकृत में तो फलानि इत्यादि केवल एक औपनिषदिक-आचार की ओर ही आचारधर्मविज्ञानियों का ध्यान आकर्षित करा दिया जाता है। बिना आधिदैविक विषय को लक्ष्य बनाए मानव केवल अपने भूतबल पर कदापि आचार बराबर नहीं बन सकता। देवभावना ही इष्टभावना है। एव इष्टभावना ही आचारधर्मनिर्गति-आचारधर्मप्रवृत्ति का एकमात्र अन्तःप्रणय है जिस इष्टदेवभावना का मूल विरवासात्मिका अन्तः ही मानी गई है। जिसकी आधिदैविक-देवभाव में अन्तःपूर्वक आस्था है निष्ठा है, वैद्य देवभावनापन्न मानव ही • आधिदैविक प्राणानुगत आचारधर्मों में अन्तःपूर्वक प्रवृत्त हो सकता है, हुआ करता है। इसी आधार पर उपर्युक्त में यह लोकोत्थित प्रसिद्ध है कि—'इष्टं विना सन्न भ्रष्ट'। मानव के कृतव्यवर्थात्मिक आचारधर्म का मूलाधारमूल आधिदैविक इष्ट कौन ?। वा इष्ट होगा वही इस आचारधर्म की मूलप्रतिष्ठा माना जायगा एव उठे ही धर्म का धर्मत्व किना परमधर्म (आचारधर्म) कहा जायगा एवं उसीका पारिभाषिक नाम होगा वह 'मानवधर्म' जिसकी दार्शनिक-भ्रान्ति से आब अनेक अस्पष्टिक व्याख्याएँ प्राबुध्त् होचकी हैं। कसल वाग्विद्वन्मनस्सा उन व्याख्याओं का कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं है मानव के इष्टतमक स्वव्यवर्थात्मिक-मूलधर्म से। क्या परिभाषा है आचारधर्माधारमूल मानवधर्म की ?। अस्तान्।

स्वाध्यायं ब्रह्मचर्यं च-दान-यज्जनमेव च ।

अकार्षण्य-अनायास-दया श्रद्धा-समाह्वयः ॥

चित्तेन्द्रियर्ष-शौचञ्च-माङ्गल्यम्-“भक्तिरुच्यते-

शङ्करे-मास्कर-देव्या”-धर्मोऽयं मानवः स्मृत ॥

—बामनपुराणे ११ अध्याये -

'स्वाध्याय' से आरम्भ कर स्वल्पयनात्मक मानवस्व पर्यन्त के आचारधर्मिक कृतव्य ही आचारधर्म हैं एवं इनकी मूलप्रतिष्ठात्मक-शङ्कर मास्कर देवी इन तीनों देव-माता की इष्टतासङ्घना उपासना ही इस आचारधर्मात्मिक मानवधर्म की मूलप्रतिष्ठा है। शङ्कर-मास्कर-देवी-तीनों में से बसक क्विची एक को इष्ट नहीं मान लिया जाता क्योंकि तबतक मानव की मानकता अभिम्यक्त नहीं हो सकती। एवं इष्ट अभिम्यक्ति के बिना मानव के कर्तित आचार कदापि 'मानवधर्म' की धीमा में नहीं आकण्टे को इष्टमूल तप्य उची प्रकर आब के अनात्मवादी-शुम्वादी अतएव अनिष्टवादी-माकृत मानव की समस्त में आ ही

•-यस्य देवे परा भक्तिर्याया देवे, तथा गुरो ।

तस्यैते कथिता धर्मा प्रकथयन्ते महात्मनः ॥

—एव० अ० १।१३।

+ 'संस्कृति-सम्पत्ता-शाब्देतिहास' नामक (अखण्डात्मक) स्वल्पक निरूपण में विस्तार से इन धर्मप्रसङ्गों का दिग्दर्शन हुआ है ।

नहीं करता जैसे कि इस दृश्ययी से अनुप्राणित कालमहिमाविवक्त से अपरिचित रह जाने वाले दार्शनिक दृष्टान्तक इस आधिदैविकी तत्त्वयी वा समन्वय नहीं कर सके हैं।

१८६-शङ्कर-भास्कर-शक्ति-रूपा देवयी का सस्मरण, एवं तन्मूलक मानवीय आचार-धर्म—

मन्मुख अक्षय त्ति प्राकृत मानवी क लिए—(वा आचार्यपरम्परा के अनुग्रहमात्र से किसी पराङ्ग-उपास्य-पर आरधामयी भद्रा रहते हैं) यह महती समस्या है कि, प्राकृतिक-आधिदैविक कालनियतों में महिमारूप से ब्याप्त अगणित नेमदेवताओं में से किस अपना उपास्य बनायें !, त्रिकके माध्यम से प्राकृत-शक्ति लाम करने हुए हम अपने आचारधर्मों में निष्ठापूर्वक आस्थित रहते हुए— आन्वित स हि धर्ममात्मा को सर्वात्मना नहीं, तो अगत वा अन्यर्थ प्रमाणित कर सकें। पुराणपुराण भगवान् व्यक्त 'शङ्करे-भास्कर-व्याप्तम्' द्वारा इसी समस्या का समाधान किया है। न करल मानव की उपासनाकरण क ही, अस्थि शनकारण-तथा कम्मकार्यों की प्रतिष्ठामूर्ति भी यही निदबन्ध-समष्टि है। क्या ये पूयङ् पूषङ् तीन देवता हैं ! नहीं, य वा एक ही देवता के तीन महिमा-विवक्त हैं। इन तीन आधिदैविक देवताओं के अतिरिक्त उपासना की मानवधर्मानुगतता ब्याप्ति अ अमान ही समझना चाहिए। इतर सम्पूर्ण देवतावाद इन्हीं तीनों में से किसी न किसी एक दनयिमति में अन्तमूठ है।

२००-दशत्रयी का मूलाधिष्ठानरूप 'महोदेव', दशवाण्यनुगत 'महादेव', उसके विस्म-जनक पतु-शृङ्गात्मक महिमामय स्वरूप का सस्मरण—

और इस दशत्रयी का अर्थ है—'महोदय', त्रिक देवतायी में कम हा गया है—'महादेव'। चत्वारि शृङ्गा प्रयो अस्व पादा० इत्यादि मन्त्र के माध्यम से इस उच्च महादेव' रूप देवादिदेव महादेव का व्यक्तिक स्वरूप पूर्ण में स्थल किया जा चुका है जिसका आगमशास्त्र में 'कालकाल-महाकाल' कृमानुम रूपेण महा उमारम्भेण यशोगान हुआ है। साम्प्रदायिक देवमक्तिवाद से पूर्व के आचारनिष्ठ युगी में भारतीय मानव का प्रमुख उपास्य यही 'महादेव' था या जिसके आचार पर ही परम्परावता परम्परा अच्युस्था ही बनी रही है। महाकालात्मक इसी अमूल महादेव की शक्ति का नाम 'महाकाली' है एवं इसीके मूत-म्यक्त-रूप का नाम है—'मूय्य'। यो महादेव ही महाकाल सूर्य, शक्ति-इन तीन मायी में परिणत हो रहे हैं। और इस विद्या में हमें एक शास्त्रीय तथ्य का प्रासंगिक स्पष्टीकरण और कर लेना है।

२०१-मूल-म्यक्त प्रजा की शिव शक्ति-रूपता का प्राधान्य, एवं तत्र पुराणपुराण भगवान् ब्यास के द्वारा यशोवर्धन—

जिन भगवान् ब्यासने—'शङ्करे-भास्करे-व्याप्त-भक्तिरुच्यत' रूप से वामनपुराण में निर्मादि महादेव की उपास्यता को लक्ष्य बनाया है उन्हीं ब्यासदेव ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहास-ग्रन्थ महाभारत में बड़े विस्तार से अन्वय देवमक्ति की गौणता बतलाते हुए महादेवोपासना की ही प्रमुखता स्थापित की है जिस प्रमुखता का मूलबीज वेदशास्त्रविद्या सुप्रसिद्धा—'स्कन्धविद्या' ही माना गया है। स्वयम्भूक्त से आरम्भ

मीमांसा' नाम से पूर्व के द्वितीय अण्ड में विस्तार से दिग्दर्शन करया जा चुका है। प्रकृत में ता कासादि दृष्ट्या केवल एक औपासनिक-आचार की ओर ही आचारधर्म्मविज्ञानियों का ध्यान आकर्षित कर दिया जाता है। बिना आधिदैविक विषय को लक्ष्य बनाए मानव केवल अपने भूतबल पर कृपाि आचार परवश नहीं बन सकता। देवमायना ही इष्टमायना है। एव इष्टमायना ही आचारधर्म्मशुक्ति-आचारधर्म्मप्रवृत्ति का एकमात्र अफलम्ब है जिस इष्टदेवमायना का मूल निरवाकर्म्मिता भद्रा ही मानी गई है। जिसकी आधिदैविक-देवमाय में भद्रापूर्वक आर्या है निष्ठा है वैद्य देवमायापक्ष मानव ही * आधिदैविक प्राणानुगत आचारधर्म्मों में भद्रापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है, हुआ करता है। इसी आधार पर उक्तपत्रन में यह लीक-वृत्ति प्रसिद्ध है कि- 'इष्ट बिना सब भ्रष्ट'। मानव के कृतव्यकर्म्मार्थक आचारधर्म्म का मूलाधारभूत आधिदैविक इष्ट कौन ? जो इष्ट होगा यही इष्ट आचारधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा माना जायगा एव उठे ही धर्म्म का धर्म्मत्व किंवा परधर्म्म (आचारधर्म्म) कहा जायगा एवं उसीका पारिभाषिक नाम होगा यह 'मानवधर्म्म' जिसकी दार्शनिक-भ्रान्ति से आब अनेक अल्पनिक व्ययस्यार्थे प्रातुभूत होपड़ी हैं। कवला जगदिन्द्रमन्त्रकमा उन व्याख्याओं का पुञ्ज ही तो सम्बन्ध नहीं है मानव के इष्टात्मक स्वरूपधर्म्मार्थक-मूलधर्म्म से। क्या परिमत्था है आचारधर्म्मधारभूत मानवधर्म्म की ?। मूलात्मा।

स्वाध्यायं ब्रह्मचर्यं च-दानं-यजनमेव च ।

अकार्पण्य-अनापास-दया ऽहिंसा-वमादयः ॥

जितेन्द्रियत्वं-शौचञ्च-माङ्गल्यम्--"भक्तिकल्पिते-

शङ्करे-मास्करे-देव्या"-धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः ॥

—बामनपुराण्ये ११ अध्याये -

'स्वाध्याय' से आरम्भ कर स्वल्पयनात्मक माङ्गल्य धर्म्मन्त के आचार्यत्मक कृतव्य ही आचारधर्म्म है एवं इनकी मूलप्रतिष्ठात्मक-शङ्कर मास्कर देवी इन तीनों देव-मायी की इष्टव्यक्षणा उपायना ही इस आचारधर्म्मार्थक मानवधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। शङ्कर-मास्कर-देवी-तीनों में से कवला किन्ही एक को इष्ट नहीं मान लिया जाय कदापि तत्काल मानव की मानवता अमिष्यक्त नहीं हो सकती। एवं इष्ट अमिष्यक्ति के बिना मानव के कर्मिण्य आचार कदापि 'मानवधर्म्म' की धीमा में नहीं आसक्त हो इत्ययूत तत्र उसी प्रकार आब के अनारमभादी-शून्यवारी अतएव अनिष्टवारी-माङ्गल्य मानव की धमक में आ ही

ॐ-यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे, तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता धर्मा प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

—रवे० अण० ६।१११।

+ 'संस्कृति-सम्बन्धा-शाब्देतिहास' नामक (खरचपुस्तक) स्कन्ध निकष में विस्तार से इन धर्म्मप्रवृत्तों का दिग्दर्शन हुआ है।

नहीं समझा, जैसे कि इस दृष्टययी से अनुपाणित कालमहिमाविवृत से अपरिचित रह जाने वाले दार्शनिक द्दामक इस आपिदैविकी तन्त्रययी का समन्वय नहीं कर सके हैं।

१६६-शङ्कर-भास्कर-शक्ति-रूपा देवत्रयी का सस्मरण, एवं तन्मूलक मानवीय आचार-धर्म—

सन्मुख अर्थ ही प्राकृत मानवी क लिए—(जो आचार्यपरम्परा क अनुप्रहारा से किसी पर्यन्त-उचास्य-पर आर्याययी भद्रा रणते हैं) यह महती समस्या है कि, प्राकृतिक-आधिदैविक धलविवृतों में महिमारूप से ध्यात अगणित नेवदेवतायों में से किस अपना उपास्य बनावें ?-किसके माध्यम से प्राकृत-शक्ति-ताम जन हुए हम अपने आधारधर्मों में निष्ठापूर्वक आरिणत रहते हुए—'आस्थित' स हि धर्मर्त्मा' को सवात्मना नहीं, तो अंगतः तो अन्वय प्रमाणित कर सकें। पुराणपुराण भगवान् स्थल शङ्कर भास्कर-व्यास्य द्वारा इसी समस्या का समाधान किया है। न कल मानव की उपासनाक्यक क ही, अपितु जनक्यक-तथा कर्मजायवी की प्रतिष्ठामूमि भी यही रिदेवता-समधि है। स्या से प्रयक् प्रयक् चीन देयता है ? नहीं, य तो एक ही देवता के तीन महिमा-विवृत हैं। इन तीन आधिदैविक नेवतायों के अतिरिक्त उपासना की मानवधर्मनुगता ध्याति का अभाव ही समझना चाहिए। इतर सम्पूर्ण देवतावाद इन्हीं तीनों में से किसी न किसी एक देवविमति में अन्तर्भूत है।

२००-देवत्रयी का मूलाधिष्ठातृरूप 'महोदेव', दक्षवाययनुगत 'महादेव', उसक विस्म जनक चतुःशृङ्गात्मक महिमामय स्वरूप का संस्मरण—

और इस देवत्रयी का अर्थ है—'महोदेव' जिसका दक्षवायी में रूप हा गया है—'महादेव'। 'पत्यारि शृङ्गा त्रयो अत्य पादा'० इत्यादि मन्त्र के माध्यम से इस उच महादेव' रूप देवादिदेव महादेव का अतिक स्थरूप पूर्व में स्थ किया जा चुका है, जिसका आगमशास्त्र में 'कालकाल-महाकाल कृपात्म' रूपक महा समारम्भेज यशोगान हुआ है। साम्प्रदायिक देवमक्तिवाद से पूर्व के आचारनिष्ठ युगों में माथीय मानव का प्रमुख उपास्य यही 'महादेव' तत्व था जिसके आभार पर ही परमशैवता परम्परमा अक्षयणा ही बनी रही है। महाकाला मक इसी अमृष महादेव की शक्ति का नाम 'महाकाली' है, एवं इसीके मूक-अ्यक-रूप का नाम है—'मूर्त्य'। यी महादेव ही महाकाल सून्य शक्ति-इन तीन भावी में परिणत हो रहे हैं। और इस दिशा में इने एक शास्त्रीय तथ्य का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और कर लेना है।

२०१-मूर्त्य-अ्यक प्रजा की शिव-शक्ति-रूपता का प्राधान्य, एवं तत्र पुराणपुराण भगवान् व्यास के द्वारा यशोवर्धन—

जिन भगवान् व्यासने—'शङ्करे-भास्करे-व्यास-अक्षिरुच्यत' रूप से नामनपुराण में निर्मूर्ति महादेव की उपास्यता को लक्ष्य बनाया है उन्हीं व्यासव ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहास-ग्रन्थ महाभारत में बड़े विस्तार से अन्व देवमक्ति की गोपता कल्लाते हुए महादेवोपासना की ही प्रमुखता स्थापित की है जिन प्रमुखता का मूलवीच वेदशास्त्रधिया सुप्रसिद्धा-'स्कन्धविद्या' ही माना गया है। स्वयम्भुक्त्रे से आरम्भ

अर मूकेन्द्रपर्यन्त व्याप्त महादेवहीयान् ब्रह्माग्नि-वैवाग्नि-भूताग्नि-मय जो ब्रह्माग्नि-युक्त है उसी का नाम है स्कन्म, जिस पर सब कुछ प्रतिष्ठित है—'स्कन्मे सर्वे प्रतिष्ठितम्'। यही अपने ब्रह्माग्निरूप से आभार है वही अपने वैवाग्निरूप से श्रद्धा है। एव वही अपने भूताग्निरूप से अभ्यक्तों का व्यक्त लिङ्ग (परिचायक) है। यही—लिङ्गात्मक स्त्रीतिःपुङ्गव उपासना का माध्यम किंवा स्वयं उपास्य है। यही लिङ्गप्रतीकामक महादेव है जो अपने भूताग्निरूप से वैश्व-ब्रह्म-रूपों का लिङ्ग बना हुआ है। लिङ्गाङ्गा प्रभा ही शिष्यतत्त्व है महात्म्यतत्त्व है। एव मगाङ्गा प्रभा ही शक्तिरूप है महात्म्यतत्त्व है। यों शिष्यरूपमेव सर्वत्र वही व्याप्त ही रहा है। मला इसके अतिरिक्त-शिष्यरूपमेव मानव-मानवी के और और उपास्य होंगे ?। तस्य क्नाह्य महाभाय के इन तात्त्विक कर्तव्यों को, जिनके द्वारा शिष्य-शक्त्युपासना का निस्वयं शब्दों में उद्घोष ही रहा है—

न पद्माङ्गा, न चक्राङ्गा, न बध्नाङ्गा यत प्रजा ।

लिङ्गाङ्गा च मगाङ्गा च तस्मान्माहेश्वरी प्रजाः ॥

—म० अनुरासतन पर्यं १४ अ० २३३ श्लोक

देव्या कारवारूपमावसनिता सर्वा मङ्गाङ्गा स्त्रियो—

लिङ्गेनापि हरस्य सर्गपुत्र्याः प्रत्यघचिद्वीकृताः ।

याऽन्यत्कारवासीश्वरात् प्रवदते देव्या च यथाङ्कित—

त्रेस्रोऽप्ये सधराचरे स तु पुमान् बध्नाो मधेर्मुर्मति ॥

पुच्छिङ्ग सर्बमीशानं, स्त्रीलिङ्ग बिदि चाप्युमाम् ।

द्राम्यां क्तुम्यां व्याप्त हि पराचरमिदं जगत् ॥

—म० अनु० पर्यं १४ अ० २३४-२३५-में श्लोक

२०२—सोमगर्भित-कालाग्निरूप-महाकालेश्वर महादेव के उपासक, आषाढधर्मसम्भा-पक मर्यादापुस्तोचाम भगवान् राम—

अषाढपुस्तक स्वयं भगवान् राम के द्वारा 'रामेश्वर' क्लेश इसी महादेवकल की उपासना हुई है। पूर्वाशुभ भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण अक्षय-वैश्वर्ष्य शङ्करप्रसन्न से ही अनुप्राणित माना गया है (देखिये म अनु १५ अ० ७ श्लोक)। तत्कालिष्ठ सभी विद्वानों का आराध्य यो शिष्यरूपित ही रहा है। मानवातिरिक्त अन्य असुर-राक्षस-मन्त्रवादि-बान्धी प्रजासौर्षों में इसी तत्त्व की आराधना से शक्तिमान किया है। और यों तत्त्वदृष्ट्या मानव की उपास्यकोटि में शिष्यरूप से तन्मन्त्र आदिदेव महादेव ही प्रसन्न कने हुए हैं, जिन की मूलोपनिषद् है सोमगर्भित-'कालाग्नि' जिसका कि अनन्तरत्वरूप से आरम्भ से ही यही भगवान् किया गया है।

२०३-नित्य शान्त अमूर्त्त-कालाग्निरूप अधोम्यपुरुष, एवं नित्य-अशान्त-मूर्त्त-कालाग्निरूप बोध्यपुरुष तथा 'विश्वधिपो रुद्रो महर्षि -'एको हि रुद्रा न द्वितीयाय-तस्यु' इत्याद उपनिषद्दर्शनां का समन्वय—

उक्त अक्षरान्ति की ही अधोम्य-बोध्य-रूप से वा अक्षरधार्य मानी है तत्त्वज्ञानं । नित्यशान्त अक्षरान्ति अचाम्य है, एष नित्य अशान्त अक्षरान्ति बोध्य है । अधोम्य कालाग्नि ही अर्पितकाल है, एवं बोध्य कालाग्नि ही पीडितकाल है । 'कालं कान्त पीडयन्' का फलन' अचाम्यकाल है, एवं 'कालम्' बोध्यकाल है । 'अग्नि ही इन दोनों की उपनिषद् (मीलित स्वरूप) है । इसी का सापञ्च नाम है- रुद्र, जिस का शान्त अक्षरान्त-फल रूप निर्वाही सम्भवसदाशिव है एवं जिस का अशान्त-चाम्य-कालम् रूप निवर्त ही पोररुद्र है । शिवशरीरी कालाग्निरूप ही शिव है एवं पारशरीरी अक्षरान्ति ही रुद्र है । वही परमात्-भाव स शिव है एवं वही अक्षरगत भाव स रुद्र है । अग्निर्वा रुद्र-तस्यैत इ सत्या पोरान्त्या च शिवाऽन्या च' । या स रुद्र । शिवा तनूरपारा पापक्षशिनी इत्यदिक्रम से रुद्र की इसी निर्भूत का पद्यमन हुआ है । विश्वधिपो रुद्रा महर्षि- 'एका हि रुद्रा न द्वितीयाय तस्यु' इत्यादि औपनिषद्-विद्वन्व मी इसी की महिमा का महत्त्व स्थापित कर रहे हैं ।

२०४-सम्भवसदाशिव-पारमेष्ठ्य-आपोमय-शिवतत्त्व, और उस की आस्था-भद्रा-परायणा आप्रज्ञा के द्वारा 'श्रावणे' आचारात्मिका उपामना—

रूप में जिन कालवियर्त्तों का हमन तालिकारूपेण द्विगदर्शन कथ्या है उन में से पहिले अनन्त-कालवियर्त्त से आरम्भ कर आपामय परमेष्ठी गाल-परम्यन्त के पाँचों वियर्त्तों की समष्टि का नाम ही अनन्त-अम्यक्त-अमूर्त्त-कालात्मक-अधोम्यकाल है । वही सम्भवसदाशिव पारमेष्ठ्य-आपोमय वह शिवतत्त्व है, जिस का उन भावणमास में प्रधानरूपेण आशयन कर अन्य ननाही रहती है आर्षप्रज्ञा अपने मानवजीवन को जिस भावणमास में मानव का प्राकृत सम्बन्धरक्षक-पारमेष्ठ्य शिवमण्डल में अन्तमुक्त होनाया करण है । अतएव आर्षमानव की आचारपद्धति में भावणमास सम्बन्धशिव की उपासना का प्रमुख काल मान लिया गया है तत्रास्ति चान्द्रसोममय चार सोमवार (भायण के सोमवार-चन्द्रवार), इत्याहो ! आरच्यमयी भारतीय-मानवता-महामहिमराक्षिनी-आचारपद्धति ।

२०५-रोदसीत्रिलोकीं कं अविष्ठाता प्रचण्डकालाग्निमूर्त्तिं भगवान् रुद्र, तदनुगत मध्य-वीर्यात्मक-सान्तपनभाव', उत्पत्तीकलिधि-कालरात्रिरूपा महाशिवरात्रि, एवं आर्षप्रज्ञा के द्वारा 'काल्युने' आचारात्मिका तदुपासना—

अनन्तकालादि-परमेष्ठिकालान्त-कालवियर्त्तमय 'सम्भवसदाशिव' नामक अधोम्य-अनन्ताम्यक्तान्त परमशिव का ही वृक्ष अक्षर-मूर्त्त-बोध्य-वियर्त्त ही सौरसम्बन्धरक्षक 'शिव की महिमा में सूर्य-चन्द्र भूषिण्ड तीनों प्रसिद्धित है । इन तीनों लोकों का नाम (सौरलोक का नाम) ही रोदसीत्रिलोकीं है जिस के अर्पित अक्षरकालाग्निरूप शीघ्र ही है जो अपने रहस्य सोम से सम्पूर्ण रोदसी त्रिलोक्य को दुग्ध-पीडित-

है प्रदीप्तप्रियमा निगानविधि क माध्यम स । अनन्तप्रल-अरयत्य-परोरजा पुण्डीर-आर परमेष्ठी, इन पांच प्रलपित्रियों की सम्मिलिताकरणा का नाम ही सम्मलशिवरूप शिष्यतन्त्र है, यही 'शङ्कर' है, अपने अक्षोभ्यरूप से 'जैमिनी' है शान्तिकर है, त्रिकर्म सम्पूर्ण प्राकृत विशेष उपरान्त हैं, वैश्वकि प्रतीकात्मक शिष्यपरिवार से स्पष्ट है । महादेव द्विगम्बर, जिन का याहन शृगम । महादेवी सर्वेश्वर्याभिष्ठात्री-सर्वाभूताना-लङ्कारणोपेता, इनका याहन शृगमविशेषी सिंह । अनिष्ट पुत्र गणपति का वाहन मूषक, ज्येष्ठपुत्र स्वामि-कार्तिकेय का वाहन मूषकशृगु मयूर । महादेव भूतनाथ के कथ्य में हालाहल, तो मस्तक पर मुषामयी चन्द्र-बला । महाप्रया के अन्त-करण में मोहनियर्तक विद्यातत्व तो हाथ में मोहप्रवाक मण्डिपात्र । और इन परस्परयन्त्र-विशेषी तंत्रों की विद्यमानता में ही इस महान् परिवार का 'शिवपरिवारस्व' दृश से बड़ी आचार शिवा भगवान् शङ्कर आर मातापार्वती की उपासना के सतिष्ठि अन्यत्र कहाँ उपलब्ध हो सकती है ! ।

२०६-‘धर्माऽयं मानव स्मृतः का तात्त्विक समन्वय—

यही सम्मलशिव-अम्बर-काल का मूत्ररूपमय अमृत सूर्य ही कद्र है, जिस की उपासना तो अपठित-मद्वज मानवा में भी परम्परया प्रकल्प ही है । उद्यन् सूर्यनारायण को मद्रापूर्वक दीपदान तो प्रसिद्ध ही है । साथ ही बलामिषक के द्वारा भी ये उपाय क्ते हुए हैं जिस से ये इन उद्वेग के शिवस्वरूपानुग्रह की आम्ना अभिष्यक्त करते रहते हैं । प्रतीकभूता मूर्ति पर ही नहीं मूर्ति की अनुपलम्बि में साक्षात् सूर्य के प्रति भी यह बलदान परम्परया बहिरु है सबसामान्य में । तीसरा शक्त्युपासन भी प्रसिद्ध ही है । भूत-कालामिका मातापृथिवी की उपासना ही शक्त्युपासना है, देवकालामिक कद्र की उपासना ही सूर्योपासना है एवं ब्रह्मकालामिका शिवापसना ही शङ्करोपासना है । शङ्कर ब्रह्माम्निप्रलाभक-‘कद्र’ है, सूर्य देवानि अस्मात्तिस्र विद् है एक देवी भूवाग्निकालामिक ‘देवी’ है । यों शङ्कर-सूर्य-देवी का उपासक मास्वीय मानव फलपुत्र के काल-दिक्-देश-मायी की उपासना करता हुआ उन्माध्यम से ही अपने आचारधर्म को व्यवस्थित करता है-‘धर्माऽयं मानवः स्मृतः । यही है काल-दिक्-देश-मायात्मक परमदेवात्मक काल के आचारानुगत इष्टिक्रमेण का प्रासङ्गिक समन्वय-द्विगद्यर्तन, जिस की प्रसिद्धा के बिना जिस की उपासना के बिना मानव का मानवधर्म सर्वथा धर्माभावमयक अधर्म ही बना रह जाय है ।

- १-अनन्तप्रलतः-परमेष्ठिकालपर्यन्त-ब्रह्माम्निकाल (शङ्कर)-काल (अमृतकाल)
 २-सूर्यकालः-देवानिकालः (मास्वीय)-दिक् (मूत्रकाल)
 ३-अन्तरागुगतः-पार्थिवकालः-भूवाग्निकाल (देवी)-देश (मूर्तिकालः)



२१०-प्राकृतानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य, एवं पौरुषानन्त्यात्मक निविशेषानन्त्य, तथा सविशेषानन्त्य का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण—

प्रसङ्ग उपरान्त हुआ या पूर्व में उक्त 'आनन्त्य' का अर्थके सविशेषानन्त्य निर्बिशेषानन्त्य-नामक दो विषय प्रतिपाद्य कते थे । इन्हीं दोनों को उक्त क्रमशः प्राकृतिकानन्त्य एवं पौरुषानन्त्य-इन

कर मूकैन्द्रपर्यन्त व्याप्त महतीमहीत्यान् अग्नि-वृषाग्नि-भूवाग्नि-मय नो कालाग्नि-पुञ्ज है उसी का नाम है ऋग्म, जिस पर सब कुछ प्रतिष्ठित है—'ऋग्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यही अपने महाग्निरूप से आचार है, यही अपने देवाग्निरूप से सहा है एव यही अपने मूवाग्निरूप से अग्न्यहोम का व्यक्त सिद्ध (परिचायक) है। यही-सिद्धात्मक अग्नि-पुञ्ज उपासना का माध्यम किना स्वयं उपास्य है। यही सिद्धमतीकतमक महादेव है जो अपने महाग्निरूप से देव-महा-रूपो का सिद्ध बना हुआ है। सिद्धाह्वा प्रथ ही शिष्यतत्त्व है महाकालतत्त्व है। एव मगाह्वा प्रथ ही शक्तिरूप है महाकालीतत्त्व है। यी शिष्यरुद्ररूपम सर्वत्र यही व्याप्त हो रहा है। मला इसके अतिरिक्त-शिष्यरुद्ररूप मानव-मानवी के और तीन उपास्य होंगे !। तत्त्व अन्वय महाभारत के इन दार्शनिक बधनों को, बिनके द्वारा शिष्य-शक्तुपासना का निस्सङ्क शब्दों में उद्घोष हो रहा है—

न पञ्चाह्वा, न चक्राह्वा, न बजाह्वा यतः प्रजाः ।

सिद्धाह्वा च मगाह्वा च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा ॥

—म० अनुरामन पर्व १४ अ० २३३ श्लोक

देव्या कारशरूपमावजनिताः सर्वा मङ्गलानि स्वियो—

सिद्धेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः प्रत्यचविहीकृताः ।

योऽन्यत्कारवासीस्वरात् प्रवदते देव्या च यथाङ्कितं—

प्रेलोक्ये सचराचरे स तु पुमान् बाधो मवेदुर्मति ॥

पुंसिज्ञ सर्वमीशानं, स्त्रीसिद्ध विद्धि चाप्युमाम् ।

द्वाम्यां तनुम्यां व्याप्त हि वराभरमिदं षगत् ॥

—म० अनु० पर्व १४ अ० २३४-२३५-में श्लोक

२०२-सोमगर्भित-अग्निरूप-महाकालेश्वर महादेव के उपासक, आचारधर्मसंस्था पक मर्यादापुरुषोत्तम महावन् राम—

अक्षयपुरष स्वर्ग भगवान् राम के द्वारा 'रामेश्वर' रूपेण इसी महादेवतत्त्व की उपासना हुई है। पृथिव्यार भगवन् रूप का तत्पूर्ण अक्षय-पेशवर्त्त शङ्करप्रसन्न से ही अनुमानित माना गया है (देखिए म अनु १५ अ० ७ श्लोक)। तत्त्वनिष्ठ सभी विद्वानों का आराध्य तो शिष्यरुद्ररूप ही रहा है। मानवशक्तिरिक्त अन्य अक्षय-उपशक्त-गन्धर्वादि-वाग्नी प्रथमों में ही इसी तत्त्व की आराधना से शक्तिज्ञान किया है। और यी तत्त्वदृष्ट्या मानव की उपास्यशक्ति में शिष्यरुद्र से समन्वित आदिदेव महादेव ही प्रमुख बने हुए हैं बिन की मूलोपनिष्क है 'सोमगर्भित-अग्निरूप', जिसका कि अनन्वयतत्त्व के आरम्भ से ही उपयोग किया गया है।

हे प्रतीकारिमद्य निगमनिधि क माध्यम म । अनन्तकाल-अस्यत्य-परोरजा पुण्डीर-आर परमेष्ठी, इन पांच कालवित्तों की समन्वित्तात्मा का नाम ही अन्वस्यशिवरूप शिवतत्त्व है, यही शङ्कर है, अपने अज्ञानरूप से 'अनन्तर' है शान्तिकर है जिसमें सम्पूर्ण प्राकृत विरोध उपशान्त है, वैश्वान् प्रतीकारमक शिवशिवार मे स्थित है । महादय गिगम्बर, जिन का वाहन शृगम । महादेवी सर्वेश्वर्याधिष्ठात्री-सर्वाभूषणा-शङ्करशोषिता, इनका वाहन शृगमविद्युधी सिंह । अनिष्ट पुत्र गणपति का वाहन मूषक, स्पष्टपुत्र स्वामि-अर्चिकर का वाहन मूषकशृगु मयूर । महादेय नृतनाय क कण्ठ में हालाहल ता मल्लक पर मुषामयी चन्द्र-कला । महात्म्या के अन्तःकरण में मोहनियार्क दिगतत्व दो हाथ में मोहप्रपर्वक महियपान । और इन परस्परतत्त्व-विरोधी व-वों की शिवमानता में ही इस महान् परिवार का शिष्यपरिवारतत्त्व, इस स बड़ी आचार शिष्या भगवान् शङ्कर आर मानापारता की उपासना के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ उपलम्भ हो सकती है ? ।

२०८-‘धर्म्मोऽयं मानव स्मृत का तात्त्विक समन्वय—

इसी अन्वस्यशिव-अन्वक-काल का मूच रूपान्तरक अन्त सूर्य ही उद्ग है, जिस की उपासना ता अपठित-गृह मानवों में भी परम्परा प्रकान्त ही है । उद्यन् सूर्यनाचरण को भद्रापूर्वक दीपगान ही प्रसिद्ध ही है । स्वयं ही ज्ञानमिषक के दास भी ये उपास्य बन हुए हैं जिस से ये इन उद्गदेव के शिवस्वरूपानुग्रह की कामना अभिष्यक्त करते रहते हैं । प्रतीकभूष मूर्ति पर ही नहीं मूर्ति की अनुपलब्धि में साक्षात् सूर्य के प्रति भी यह अलौकिक परम्परा बिहित है स्वस्वामन्य में । तीसरा शक्त्युपासन भी प्रसिद्ध ही है । भूत-कालात्मिका मातापुपिनी की उपासना ही शक्त्युपासना है, देवताशात्मक उद्ग की उपासना ही सूर्योपासना है एवं ब्रह्मकालात्मिका शिष्यापासना ही शङ्करोपासना है । शङ्कर ब्रह्मानिष्ठाशात्मक-‘कर्म’ है सूर्य देवता शिष्यात्मिका विष्णु है एव देवी भूतानिकालात्मक ‘देवा’ है । यों शङ्कर-सूर्य-देवी का उपासक माखीय मानव कालपुरुष के काल-दिक्-देश-मावों की उपासना करता हुआ तन्माध्यम से ही अपने आचारधर्म को व्यवस्थित करता है-‘धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः । यही है अल-दिक्-देश-मावात्मक परमदेवात्मक काल के आचारानुगत दृष्टिकोण का प्राकृतिक समन्वय-दिग्दर्शन, जिस की प्रकृष्टा के बिना जिस की उपासना के बिना मानव का मानवधर्म सर्वथा धर्म्मोऽयं मानवः स्मृत ही बना रह जाता है ।

- १-अनन्तकालः-परमेष्ठिकालपर्यन्त-ब्रह्मानिष्ठा (शङ्करः)-काल (अमूर्तकाल)
- २-सूर्यकालः-शेवात्मिककालः (भास्करः)-दिक् (मूचकाल)
- ३-चन्द्रानुगतः-पार्थिवकालः-भूतानिष्ठा (देवी)-देशः (मूर्तिकालः)



२१०-प्राकृतानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य, धर्म पौरुषानन्त्यात्मक निविशेषानन्त्य, तथा सविशेषानन्त्य का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण—

प्रथम उपास्यतु हुआ था पूर्व में उस आनन्त्य का जिसके सविशेषानन्त्य निविशेषानन्त्य-नामक दो विश्व प्रसिद्ध वने थे । इन्हीं दोनों को तब क्रमशः प्राकृतिकानन्त्य एवं पौरुषानन्त्य-इन

एवं एतत् है। ऐसी श्रद्धा है। सौम्य स्वयं पीकित है उच अचोम्य शिव से, वा पीकित (अपे-
 णि-अपेक्यत्वं इत्यम्) सुम्य-ये शोम्य इत् मन्वान् (शैरुप) अपनी पत्नीरूपा ऐसीशिलोकी को
 नी अपने मन्वानान्त-वर्त्म से पीकित करते एते हैं। और इस पीकनवर्त्म से ही महत्त्व (महादेव)-
 मर्त्या अग्निवेश, 'वृषभो ऐरपीति। मन्त-कालात्मक इसी नीलकोहित इत् अ नाम है ऐरपी-
 महादेव जिहं' तहार का अर्थित माना गया है शुद्धरूप से एवं शरद्वय पावन का अर्थित माना गया
 है इसी के उच अम्यत्-अमूर्त-आम्क्यदाशिवरूप से। 'सूरी-सू' आदि नाम से प्रसिद्ध पाठस्यानुगत
 उपासकम्य (पञ्चःसंहिता के ही अमुक अध्याय) में उमको नमस्कार से इसी इत् की आराधना का अर्थ-
 मान हुआ है। जिसकार अम्यत् में इन का अम्क्यदाशिवरूप प्रथम रखा है तथैव प्रथम हीम में इसी
 का अर्थमानुगत ऐररूप प्रथम बना रखा है। मही इन का अन्वपनसेव है जिस ज्ञानकार्य का
 अमानुगत अर्थार्थ्य की प्रकृति माना गया है। प्रीमरम्य में-कान्यु में ही इन श्रद्धेयता का
 अर्थमान (अर्थ) आरम्भ हो जाता है जिसकी प्रतीकभूता कालक्षिप्य ही 'काशिरात्रि' नाम से प्रसिद्ध है-
 आगमशास्त्र में। वास्तव में यह इत् अपने विशुद्ध-सोमविरहित-अभिरूप से काल ही है जिस अपनी
 उपासना के माध्यम से यहाँ की उत्पत्ति प्रजा का अर्थपूर्वक 'शिवरात्रि' रूप में परिणत कर देती है-
 अलाभिक के साथ। इत्यन्तर 'महाकाशिरात्रि' इस प्रतीकोपासना के माध्यम से 'महाशिवरात्रि' रूप में
 परिणत हो जाती है जिस परिणति के प्रकार भारतीय अनात्मन्या में अर्थितना अभिष्कृत है परम्परा।
 उपासक भावन में अपने पाठमध्य अमूर्त-अचोम्य-शिवरूप से तथा पश्युन में अपने ऐर-मूर्त-चोम्य-
 इत् रूप से अस्तित्व ही उपास्य बना रखा है।

२६-महाग्निरूप-अचोम्यकालात्मक साम्यसदाशिव एव देवाग्निचोम्यकालात्मक
 ऐररत्न, तथा उदनुगत भूताग्नि का सस्मरण—

परमशिवरूप अम्यत्-अचोम्यकाल यहाँ अग्नि-प्रधान है यहाँ अममररूप अम्यत्-चोम्य-
 ऐर-काल देवाग्नि-प्रधान है। और अम शेष रह जाता है भूताग्नि। इसी का मान है 'पार्विकरक्षित्वत्'।
 अन्तःकालानुगत पार्विक भूताग्निवत् ही 'मातृकाल' है एव इसी अनेका से अर्थ्य ऐर चोम्यकाल ही
 पितृकाल है। पितृकालात्मक 'यु' अन्त एव मातृकालात्मक 'मू'-काल इत् वाताग्निचोम्य पितृ-मातृ-
 णी से ही अन्तर विश्व व्याप्त है जैवकि पूर्ण के ऐशिय उचन से एव है।

२७-पितृकालात्मक सौरकाल का निरूपक निगमशास्त्र, मातृकालात्मक पार्विककाल
 का निरूपक आगमशास्त्र, एवं निगमागममूक्त पराविद्या-महानिद्या-विषय—
 पितृकालात्मक सौरकाल का निरूपक शास्त्र ही निगमशास्त्र है एव मातृकालात्मक पार्विककाल-
 का निरूपक शास्त्र ही-आगमशास्त्र है। निगमशास्त्रानुगत विनियोग ही परमाविद्या है एवं आगमशास्त्रा-
 नुगत शक्तिविद्या ही महाविद्या है जैवकि अन्य निरूपों में यत्न विस्तार से प्रतिपादित है।

२८-शिवतत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन, एव शिवपरिवार—

प्रकृत में जो एव अर्थ में से यही निरुद्धनी है कि, अज्ञानवत् किना नवाचमय जिस अज्ञानवत् का पूर्व-
 प्रतिवाची में दिग्दर्शन कराया गया है यही अज्ञानवत् शिव-सूर्य-शक्ति-रूप से मानव का उत्पत्त बना हुआ

२१४-सम्बत्सर, और प्राकृत मानव का समतुलन, एवं तदनुबन्धी भौतसन्दर्भ—

तात्पर्य यह हुआ कि, इस भौतिक-सम्बत्सर-वर्ष में उस अनन्तकाल के दो ही प्रमुख प्रतीक हैं, एक तो कार्यात्मक सम्बत्सर, एवं एक सम्बत्सर से अभिव्यक्त हुए वाला प्राकृत मानव । सम्बत्सर, और मानव के अतिरिक्त अन्य सभी प्राण, और प्राणी अनन्तकाल के सर्वात्मना प्रतीक नहीं बनते । क्योंकि सम्बत्सर, तथा प्राकृत मानव के अतिरिक्त अन्य प्राण-प्राणी कल्प कालप्रपञ्च पर ही व्यवस्थित हैं । इन का समस्त इतिहास सभ्यता-काल की सीमा में ही समाप्त हो जाता है जबकि सम्बत्सर, और तन्मनुजित प्राकृत मानव अत्रैव उपलब्ध न होकर अपने प्रथम-अभिक्रमामय-मूर्तनी से अनन्तकाल में ही विधाम प्रदण करते हैं । अनन्तकाल का प्रथम भिन्न वह अनन्तकाल यज्ञ है, जिसे 'पोडशीप्रजापति' कहा गया है जो सदसत्स्वात्मक है । यद्यपि एक सम्बत्सर अनन्तकालात्मक उस पोडशीप्रजापति सहस्र-शत-मासी महत्पर क समग्र स्वरूप का अभिव्यक्त कर रहा है । सभी तो इसे उसका प्रतीक मान लिया गया है । सभी तो इस सम्बत्सर के प्रजापति-पोडशास्त्र-पोडशा-महद्य-इत्यादि नाम प्रकृत हाण्ड हैं जो कि बहुत-उस अनन्त कालात्मक अरथ प्रजापति के ही नाम हैं । जब कि प्राकृत मानव इस सम्बत्सर की पूर्ण प्रतिमा है तथा मना समस्तित्व दे कर कि सम्बत्सर, और प्राकृत मानव का अरथ ही इसे भी उस अनन्तकाल का सम्बत्सर-वत् पूर्ण वीक माना जा सकता है माना गया है । किन्तु निम्न लिखित कतिपय यत्नों से स्पष्ट प्रमाणित है—

(१)-पुरुषो वायु सम्बत्सर । सप्त वै शतानि विश्वतिरश्च सम्बत्सरस्य अहानि-
च रात्रयश्च । एतावन्त एव पुरुषस्यास्मीनि च मज्जानरश्च इत्यत्र तत्सम् ।

—गो० पू० १५।

(२)-पोडशकलो वै पुरुष (प्राकृतमानवः) । (शत० ११।१।५।३६।) ।

(३)-पुरुषो वै सहस्रस्य (सम्बत्सरस्य) प्रतिमा । (शत० ७।१।२।१७।) ।

(४) यद्वै चतुरशर सम्बत्सरः, चतुरशर प्रजापति । तेनो ह्यैवास्वैप प्रतिमा ।
(शत० ११।१।६।१ ।) ।

२१५-व्यक्तिचविमोहन से असस्पृष्ट मानव के द्वारा कालानन्त्य-दशन का उपक्रम—

एक व्यक्तिगत सम्बत्सरकाल से मानव काल के प्राकृतिक-मानव्य का अनुमानमात्र कर अपनी उस मानव्य का दम्भ अज्ञान में विद्यमान कर सकता है जिस मानव्य के आभार पर इस काल की अति-अन्त मान लिया है । एवं जिस अति-अन्तवा में ही इसे पशुपर तात्कालिक-स्वार्थ-व्यामोहना में आत्म-व्यापक बना दिया है । अतः किन्तु चतुर्मानवक कर्काल पर ही इसके प्राकृत स्वरूप का पर्यवेक्षण नहीं है, किन्तु यह अपनी पुष्टिगम्या स्थूलतमा भाषा में 'वर्ष'मानकाल' कहा करता है । चतुर्मान ही

*-(१)-एष वै सम्बत्सर एष प्रजापति (शत० १।६।३।३५) ।

(२)-स एष सम्बत्सरः प्रजापति पोडशकल । (शत० १।६।३।३२।) ।

(३)-सम्बत्सरो वै समस्तः सहस्रवान् । (ऐत० ब्रा० २।४।१ ।) ।

अभिप्रायों से व्यवहृत किया गया था एवं इन्हीं दोनों आनन्त्या के आधार पर मानव के पौरुष-प्राकृत-मायों का प्रतीकधिया समन्वय-उपभ्रान्त बना था। वहाँ से आरम्भ कर (४९१ वें पुष्ट से आरम्भ कर) उक्त उपस्थ-परिक्षेप पर्यन्त (४९५ वें पुष्टपर्यन्त) अनेक दृष्टिकोणों से सविशेषानन्त्यरूप प्राकृतिकानन्त्य (विरवानन्त्य) के समन्वय का ही प्रयास-प्रभ्रान्त रहा बाल-दिग्-वेद्य-के विभिन्न दृष्टिकोणों के माध्यम से जो सविशेषानन्त्य उपभ्रान्त हुआ महामाध्य-इत्तात्मक अनन्तकाल से एवं उपसहस्रत हुआ योग्याद्युत्तरात्मक चान्द्रसम्बत्सरकाल पर जिसे कि लोकमाया में—'धर्म' कहा गया है।

२११—'आदि' सामात्मक अनन्तकाल के समग्र स्वरूप का अभिव्यञ्जक 'निधन' सामात्मक सम्बत्सररूप वर्षकाल—

अनन्तकाल वहाँ सृष्टि का उपभ्रान्तिवन्दु है, वहाँ कर्त्तिक सम्बत्सरकाल सृष्टि का उपसहस्रमिन्दु है निधनमिन्दु है। अनन्तकाल आदिसाम है सम्बत्सरकाल निधनसाम है। आदिख्यमात्मक अनन्तकाल अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है निधनसामात्मक एक वर्षकाल के माध्यम से। अतएव इस चान्द्र-सम्बत्सरकालात्मक 'निधनसाम' रूप एक 'वर्षकाल' को उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है। इस प्रतीकत्व के कारण ही यह वर्षकालात्मक सम्बत्सरकाल 'सम्बत्सरो वै प्रजापति' इत्यादिरूपेण 'प्रजामति' (अक्षरकाल) नाम से सम्निक्त हो गया है। वैद्य को कुछ सविशेषानन्त्यरूप अनन्तकाल है ठीक वैद्य ही वही सनकुक्ष यह एक 'सम्बत्सरकाल' है।

२१२—सम्बत्सरकाल का प्रतिमानरूप प्राकृत मानव, एवं मानव के प्राकृत-आनन्त्य का दिग्दर्शन—

यह 'सम्बत्सर' उस का सर्वात्मना प्रतिमान है और इस सम्बत्सर का प्रतिमान है सविशेषमात्रात्मक 'प्राकृतमानव'। अतएव जैसे प्रतिमानरूप सम्बत्सरकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक बना हुआ है तथैव इस सम्बत्सरकाल के प्रतिमायुत प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का वैद्य ही प्रतीक माना जायगा किन्तु इस कालप्रतीकभूत-सम्बत्सरकालप्रतिमात्मक-प्राकृत मानव के द्वारा भी सम्बत्सरकालक उस अनन्तकाल का समग्र स्वरूप सर्वात्मना अभिव्यक्त हो रहा है और यही प्राकृत मानव का प्राकृतिकानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य है जिसे कश्चानन्त्य कहा गया है। अनन्त है वह मूलकाल अनन्त है उत्तम प्रतीककृत एक सम्बत्सरकाल और अनन्त है इस सम्बत्सरकाल का प्रतिमात्मक तथा उस अनन्तकाल का प्रतीककृत प्राकृत मानव।

२१३—अ शात्मक सविशेषानन्त्य से अ शौरूप सविशेषानन्त्य का समन्वय—

विरिच-अक्षप्रतीककृत से प्राकृत मानव भी सम्बत्सरकालक अनन्तकाल का पूर्ण प्रतीक बन रहा है। वितप्रक्षर एक सम्बत्सरकाल से अनन्तकाल का स्वरूप परिपरीत हो जाता है तथैव एक प्राकृत मानव के प्राकृत स्वरूप से भी उस अनन्तकाल का स्वरूप परिपरीत बन रहा है। अन्यत्र यह अनन्तकाल अपने अक्ष से इति पर्यन्त के स्वरूप को अपने एकमात्र प्राकृत मानव का रूप में सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। वैद्य को कुछ यह है वैद्य वही सनकुक्ष यह है। इस एकात्मक एक सविशेष के परिमाण से यह अक्षीय सविशेषानन्त्य परिपरीत है मित्रात है।

सम्बन्ध रखने वाली परिशोपानन्तता का प्राकृत मानव फिर भी यथाकथञ्चित् समन्वित कर लेता है उपासनादि के माध्यम से। किन्तु निःसीम निर्दिशोपान्त्य का समन्वयबोध वा अरमदादि प्राकृत मानवों के लिए अत्यन्त ही दुर्लभ बना रहता है। यस्तु रिषति ता कुल्य एकी है कि, प्रस्तुत पिण्डेशकालमीमांसा का उद्देश्य कदापि अज्ञान न्यस्तक्षण परिशोपान्त्य का समन्वय नहीं है। अपितु मुख्य लक्ष्य तो निर्दिशोपान्त्य ही है जिसका अनुकूल से ही अज्ञानान्त्य माध्यममात्र बन गया है।

२१८—अज्ञातीत मानव क वास्तविक स्वरूप का आधारभूत अनन्तब्रह्म, एव अनन्त ब्रह्मात्मक निर्दिशोपान्त्य क सम्बन्ध में 'प्रतीकभाव' का अन्वेषण—

अनन्तकाल त्रिषु निर्दिशोपान्त्य निष्कल—अनन्त परात्पराध्ययन के यत्किञ्चिद्गुरुत्वं एकांश में परिमा अपगु गमित है उस अनन्त का ही नाम निर्दिशोपान्त्य है और वही है अज्ञातीत मानव का वास्तविक स्वरूप। "न स्वरूप का बोध कर लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। सम्बन्धरक्षण के माध्यम से अनन्तकाल का बोध प्राप्त कर लेना तो मानव का पुरुषार्थ नहीं, अपितु प्रकृत्यर्थमात्र है। परिशोपान्त्यरूप अनन्तकाल के बोध के लिए तो मानव न सम्बन्धरक्षण को प्रतीक मान लिया। एव अन्वेषण—अनन्तान्त्य से इसका अनन्तकालात्मक परिशोपान्त्य का अनुमान भी लगा लिया अपनी अवस्था—श्रुतुदि से। किन्तु त्रिषु निर्दिशोपान्त्य—अनन्तब्रह्म के एकांश में अनन्तकाल अवस्थित है उम्मा प्रतीक हीन? त्रिषु प्रतीक के माध्यम से उस निर्दिशोपान्त्य का अन्वेषण भी प्राप्त कर लिया जाय? यह मही समया मानव के सम्पूर्ण उपस्थित हो पड़ी और अपने सब प्राकृतिक अन्वेषण के माध्यम से सब मुदि से ही इस अपने से उद्गार अभिव्यक्त कर ही तादिए कि, 'यदि-समस्त प्रदाएव न तस अनन्तब्रह्म का कीद प्रतीकत्वक एषान्त्य यन सफल है तो, यह एकमात्र अनन्तकाल ही है, जिसके गम में अत्यन्तब्रह्म से अन्तर्म पर पर्यात्मक-चान्द्रसम्पत्तरसरभ्राज-पय्यन्त के सम्पूर्ण कक्षमहिमाविषय सुदुर्लभत्व प्रतिष्ठित हैं'। इसी सब कालप्रतीकता का महर्षि की सब, किन्तु प्राकृत मुदि से प्रकृतियिज्ञानसिद्ध अनन्तकाल का, तथा अनन्त कालमहिमाओं का ही क्रमशः अवयवेद के अष्टम-नवम-युक्तों के द्वारा स्वरूप-विक्षेपण हुआ है, विनम्र अन्वेषणमात्र-समन्वय पूर्व में यथाक्रम क्रिया ही का पुत्रा है।

२१९—अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से 'दृष्टान्त' का समन्वय, एवं तत्सम्यन्ध में आधिदैविक-विज्ञानात्मक ब्राह्मणवेद, तथा आधिदैविक ज्ञानात्मक उपनिषद्—

अज्ञातकालानुगता प्राकृता—प्राकृतानन्त्यानुगता—परिशोपान्त्यत्मिका—सब—श्रुतुदि से अब हम अनन्तकाल को ही दृष्टान्तविधि के माध्यम—द्वारा उस निर्दिशोपान्त्यरूप अज्ञातीत अनन्तब्रह्म का 'प्रतीक' मान लेते हैं। प्राकृत विश्व में इसके महान्, इसके विविध अन्वेषणों द्वारा दृष्टान्त ही नहीं। अतएव मन्त्रसंहितायाम् ब्राह्मण आरययक तथा उपनिषत् में भी यत्न इत अनन्तकाल के माध्यम से ही ब्रह्म की अनन्तता के अज्ञातकार का प्रयास हुआ है। ब्राह्मणप्रयोगों सम्बन्धरक्षण की प्रतीकता से अनन्तकाल को लक्ष्य बनाया है, वा उपनिषदों में अनन्तब्रह्म को प्रतीकता से अनन्तब्रह्म को लक्ष्य बनाया है। और

मानव की विभामभूमि नहीं है। अर्थात् वह पशुमान मानव का लक्षण होना चाहिए, जिस के इस और 'भूत' है एव उस और 'भविष्यत्' है। भूत और भविष्यत्-रूप कालानन्तता को विस्मृत कर देने के अनन्तर तो मानव का प्राकृत स्वरूप कुछ भी नहीं रहनावा। फिर तो भूतस्वरूपों से अस्तित्व एव भविष्यत् के परिभाषों से अस्तित्व तात्कालिक (वच मानकालिक) पशु से अधिक 'स' का कुछ भी अधिक महत्व नहीं है। वचमान-अलया वहाँ प्राकृत पशु का बीकनाधार है वहाँ प्राकृत मानव की आधारभूमि कालत्रयी ही मान गई है। अतएव मानव परिणामदर्शी है संस्कारी है जबकि मानकेतर प्राणी संस्कारों से और परिणाम-दर्शन से अव्यभिचारात् वञ्चित है। भूत-भविष्यत्-कालता ही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है जिसे अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या से प्राकृत मानव भले ही समझ न सके। किन्तु उस की सहाय सदा पर तो अपने 'स' मान्य सम्-स्कारकाल की प्रतीकता से आस्था कर ही लेनी पड़ेगी अपने स्वकृतिकविनोदन की थोड़ी देर के लिए विस्मृत करते हुए ही। अब यह देखेंगे कि—

२१६-अनाद्यनन्त कालचक्र तद्विष्ठाधारण्य कर्मव्यनिष्ठातुगति, एव अनन्तकालो-
पासक नैष्ठिक-मानव की-कर्मव्येवाधिकारस्ते' मूला सहज आचारनिष्ठा—

"वही सम्प्रसारकाल-विशेष में ३१५ अक्षरों का ही मान रहा है—अध्यात्म अपने शारदत प्रवाह से प्रायशक्ति चक्र से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। और और और ही नहीं है इस कालचक्र का। सम्पूर्ण गणनाएँ परिष्कृत हैं इस की इसका का सम्भव करने में तो निश्चयमेव इसी सीमित ३१५ दिन वाले कर्मव्येवाधिकारप्रतीक के माध्यम से ही इस की सहज प्रवाह काल के अनन्त की और आकर्षित ही ही आसगी। और इसका कालगणनात्मक, तदनुकम्पी दिग्देश-यदेश-गणनात्मक एवं गणनाकाल-दिग्देशात्मक-मत्स्यवृद्ध वच मानकाल-व्यामोहन स्वयं ही उपरान्त होनापना। इस सीमाबन्धन के उपरान्त होने ही इस की प्रका संश्लेषानन्त की उपासना में प्रवृत्त हो आसगी। एवं कर्ममानकालानुकम्पी-तात्कालिक-सफलता-असफलताओं को नगद्वय मानवा हुआ यह आस्थापूर्वक कर्मव्यनिष्ठ बन आसगी परिणामव्यति-पूर्वक। कर्मो धादि-दान्त-काल इसे लक्ष्यविहीन न बना सकेगी। कर्मो तात्कालिक-सफलता-असफलताओं का व्यामोहन इसे प्रकृति-विस्मृत नहीं होने देगा। और यों इस संश्लेषानन्त के अनुग्रह से प्राकृत मानव की कर्मव्यनिष्ठ मर्यादा-पूर्वक-दिग्-देश-कालानुकम्पी के प्रति स्वतन्त्रता जागरूक रहती हुई भी इनकी तात्कालिकताओं के वाक्य-उपासकत्व से असह्य ही प्रमाणित होती रहेगी। और भी काल-दिग्-देश-व्यामोहन व्यवधान इस कर्मव्यनिष्ठ से आचारनिष्ठ से परवृत्त न कर सकेगा। क्योंकि इस की दृष्टि में काल भी अनन्त है प्रकृति भी अनन्त है और देश भी अनन्त है। इसी अनन्तता पर-कर्मव्येवाधिकारस्ते' विद्वान्त जागरूक बनना है इति नु प्राकृतिकानन्तस्व-अनन्तकालस्व-संश्लेषानन्तस्व स्वरूपमीमांसा-साधारण्यव्यति।

२१७-निःसीममावापन्न, अत्यनपिनद्ध निर्विशेषानन्तपक्षस्य अनन्तमहा के अनन्त
का संस्मरणोपक्रम—

अब क्रमशः प्रतिष्ठित उस निर्दिष्टात्म्य को लक्ष्य जानने का 'निःसीम' अनुग्रह कीधिय, जो पिना निःसीम-अनुग्रह' के लक्ष्यकर्म बन ही नहीं सफटा। क्योंकि यह अपने स्वरूप से सर्वथा ही निःसीम है। सम्प्रसारकाल के माध्यम से वहनुगण्य वाचकत्व के परिष्कृतमात्र-कालचक्र के माध्यम से काल की अनन्तता से

सम्बन्ध गगने यात्री सविशयानन्तता वा प्राकृत मानव द्विर भी यथाऋधचित् समन्वित कर लेता है उपासनादि के माध्यम से। किन्तु निःश्रीम निर्विशयान्त्य वा समन्वयबोध वा अस्मत्प्रति प्राकृत मानवों के लिए अत्यन्त ही बुद्धिमान बना रहता है। यन्त्रविधि वा युक्त एकी है कि, प्रस्तुत सिद्देशकालमीमांसा का उद्देश्य क्यापि अज्ञानान्त्यवर्णन सविशयान्त्य का समन्वय नहीं है। अपितु मुख्य लक्ष्य तो निर्विशयान्त्य ही है, जिसके अनुक्रम से ही अज्ञानान्त्य माध्यममात्र बन गया है।

२१८-अज्ञातीत मानव के वास्तविक स्वरूप का आधारभूत अनन्तप्रश्न, एवं अनन्त प्रश्नात्मक निर्विशयान्त्य के सम्बन्ध में 'प्रतीकभाव' का अन्वयण—

अनन्तकाल जिस निर्विशय निष्कल-अनन्त परस्परव्ययप्रश्न के यन्त्रिकीकरण प्रकार में महिमा रूप में गर्भित है उस अज्ञानान्त्य का ही नाम निर्विशयान्त्य है और वही है अज्ञातीत मानव का वास्तविक स्वरूप। इस स्वरूप का बोध कर लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। समन्तरकाल के माध्यम से अनन्तकाल का बोध प्राप्त कर लेना वा मानव का पुरुषार्थ नहीं अपितु प्रकृत्यर्थमात्र है। सविशयान्त्यरूप अनन्तकाल के बोध के लिए वा मानव न सम्बन्धरक्षा को प्रतीक मान लिया। एवं उत्परिभ्रमण-बन्धनान्त्य से इतना अनन्तकालात्मक सविशयान्त्य का अनुमान भी लगा दिया अपनी अक्षय-श्रुतुति से। किन्तु जिस निर्विशय-शेष-अनन्तप्रश्न के प्रकार में अनन्तकाल अवस्थित है उसका प्रतीक कौन? किम प्रतीक के माध्यम से उस निर्विशयान्त्य का समन्वयमात्र सौभाग्य भी प्राप्त कर लिया जाय? यह महती समस्या मानव के सम्पूर्ण उपस्थित हो चकी और अपने सदैव प्राकृतिक अन्वय के माध्यम से सदैव बुद्धि से ही इस अपने य उद्गार समिप्यक्त कर ही लापिए कि, 'यदि-समस्त प्रश्नाएक में उस अनन्तप्रश्न का फोड़ प्रतीकप्रश्नक दृष्टान्त्य बन सकता है तो यह एकमात्र अनन्तकाल ही है, जिसके गर्भ में अग्र्यत्यजस से अस्मत्प्रश्न पर पयात्मक-चान्द्रसम्बन्धरक्षण-पर्यन्त के सम्पूर्ण अज्ञानमीमांसायित्तं बुद्धिबुद्धयत् प्रतिष्ठित है'। इसी सदैव अज्ञानप्रतीकता का महर्षि की अहम, किन्तु प्राकृत बुद्धि से प्रकृतियिज्ञानसिद्ध अनन्तकाल का तथा अनन्त अज्ञानमीमांसा का ही अहम अग्र्यवेद के अहम-नवम-सूक्तों के द्वारा स्वरूप-विकल्पण हुआ है जिनका अग्र्यार्थमात्र-समन्वय पूर्व में पयाक्रम किया ही जा चुका है।

२१९-अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से 'दृष्टान्त' का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में आधिदैविक-विज्ञानात्मक ब्राह्मणवेद, तथा आधिदैविक ज्ञानात्मक उपनि-पदे—

अज्ञानान्त्यनुगत प्राकृता-प्राकृतान्त्यानुगता-सविशयान्त्याभिन्न-सदैव-श्रुतुति से अग्र्य हम अनन्तकाल को ही दृष्टान्तविधि के माध्यम-द्वारा उन निर्विशयान्त्यरूप कालातीत अनन्तप्रश्न का 'प्रतीक' मान लेते हैं। प्राकृत विरच में इसके महान्, 'असं निश्चित अन्य फोड़ दूसरा दृष्टान्त है ही नहीं। अतएव मन्त्रसहितान् ब्राह्मण आरयसक, तथा उपनिषत् में भी यत्रतत्र इस अनन्तकाल के माध्यम से ही अज्ञान की अनन्तता के साक्षात्कार का प्रयास हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थों में सम्बन्धरक्षण की प्रतीकता से अनन्तकाल को लक्ष्य बनाया है वा उपनिषदों में अनन्तकालअज्ञान की प्रतीकता से अनन्तप्रश्न को लक्ष्य बनाया है। और

मानव की विभामभूमि नहीं है। अर्थात् यह वच मान मानव का लक्ष्य होना चाहिए, जिस के लक्ष्य और 'भूत' है एक उस और 'मविष्यन्' है। भूत और मविष्यन्-रूपा काष्ठानन्तता को विस्मृत कर देने के अनन्तर तो मानव का प्राकृत स्वरूप कुछ भी नहीं रह जाता। फिर तो भूतसंस्कारों से अस्तित्व एक मविष्यन् के परिमाणों से अस्तित्व वास्तविक (वचमानकालिक) पशु से अधिक इस का कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं है। वच मान-कालता नहीं प्राकृत पशु का जीवनान्तर है नहीं प्राकृत मानव की आचारभूमि कालभयी ही मान गई है। अतएव मानव परिणामदर्शी है संस्कारी है नकि मानवेतर प्राणी संस्कारों से और परिणाम-दर्शन से सर्वव्यवसाय बहिष्कृत है। भूत-मविष्यन्-कालता ही अनन्तकाल का स्वस्म-परिचय है जिसे अपनी बुद्धिगम्या न्याय्यता से प्राकृत मानव प्रती ही धमक न सके। किन्तु उस की खबर लया पर तो अपने इस मान्य ठम्-स्वरूपता की प्रतीकता से आस्था कर ही लेनी पड़ेगी अपने व्यक्तिवविमोहन को धीरे धीरे के लिए विस्तृत करते हुए ही। वच यह देखेगा कि—

२१६-अनाद्यनन्त कालचक्र, तन्निष्ठाधारण कर्माभ्यनिष्ठानुगति, एव अनन्तकालो-पासक नैष्ठिक-मानव की-कर्मोपयोगिधिकारस्ते' मूला सहज आचारनिष्ठा—

“वही सम्प्रसरकाल-जिसे मैं १३५ अहोरात्रों का ही मान रहा हूँ-अधमूत्र अपने शास्त्र प्रवाह से, प्रायवाहिक चक्र से अनाद्यनन्त ही प्रमाहित हो रहा है। और और और ही नहीं है इस कालचक्र का। सम्पूर्ण गणनाइ परिष्कार है इस की इच्छा का सम्भव करने में” वा निश्चयेन इसी सीमित १३५ दिन वाले वर्षात्मक कालप्रतीक के माध्यम से ही इस की खबर प्रहा काल के अनन्त की ओर आकर्षित हो ही जाती। और इसका कालगणनात्मक तदनुकम्पी दिग्देश-वर्ष-गणनात्मक एवं गणनाकाल-दिग्देशात्मक-प्रत्यक्ष वच मानात्मक-अभ्योहन स्वतः ही उपरान्त होबायगा। इस सीमाकरण के उपरान्त होते ही इस की प्रशंसा विशेषानन्त की उपासना में प्रवृत्त हो जायगी। एक वच मानकालानुकम्पी-वास्तविक-सफलता-असफलताओं को नगण्य मानता हुआ यह आस्थापूर्वक कर्तव्यनिष्ठ वच बायगा परिणामदर्शित-पूर्वक। कमी लारि-सन्त-काल इसे लक्ष्यविहीन न बना सके। कमी वास्तविक-सफलता-असफलताओं का अभ्योहन इसे प्रकृति-विस्मृत नहीं होने देगा। और जो इस विशेषानन्त के अनुग्रह से प्राकृत मानव की कर्तव्यनिष्ठा मर्यादा-पूर्वक-दिग्-देश-कालानुकम्पी के प्रति सर्वव्यवसाय बाधक रहती हुई भी इनकी वास्तविकताओं के वास्तविक-परिणाम से अस्तित्व ही प्रमाहित होती रहेगी। और जो काल-दिग्-देश-अभ्योहन व्यवधान इसे कर्तव्यनिष्ठा से आचारनिष्ठा से पराङ्मुख न कर सकेगा। क्योंकि इस की दृष्टि में काल भी अनन्त है दिग् भी अनन्त है और देश भी अनन्त है। इसी अनन्तता पर-कर्मोपयोगिधिकारस्ते' विद्वान्त बाधक बनता है इति नु प्राकृतमानन्त्य-अनन्तकाल-विशेषानन्त-स्वरूपमीमांसा-आचारनिष्ठा।

२१७-निःसीममावापन्न, अत्यनपिनद्ध निर्विशेषानन्तपक्षध्व अनन्तपक्ष के अनन्त का संस्मरणोपक्रम—

अब क्रमशः प्रविष्टात उस निर्विशेषानन्त को लक्ष्य बनाने का निःसीम अनुग्रह कीजिए, जो निना नि सीम-अनुग्रह के लक्ष्यरूप बन ही नहीं सकेगा। क्योंकि यह अपने स्वभाव से सर्वथा ही निःसीम है। सम्प्रसरकाल के माध्यम से तदनुगता सर्वपरमपक्ष के परिग्रहमात्र-कालचक्र के माध्यम से कर्म की अनन्तता से

आणाऽणिदेसकरे, गुरुणमंणुववायकारण ।

पडिणीए असबुद्धे, अविणीए-त्तिं बुच्चइ ॥ ३ ॥

छाया—

आज्ञाऽनिर्देशकरो गुरुणामनुपपातकारक ।

प्रत्यनीकोऽसबुद्ध. अविनीत इत्युच्यते ॥ ३ ॥

टीका—

‘आणाऽणिदेसकरे’ इत्यादि । आज्ञाऽनिर्देशकरः=आज्ञाया गुरुवचन-
स्वानिर्देशकर-अनादरकारक., तथा गुरुणाम्=आचार्यादीनाम्, अनुपपातकारकः=
समीपानवस्थायी, गुरुणा सनिधौ तिष्ठामि चेद् गुरवो मा स्वकार्यार्थमाज्ञापयिष्य
न्तीति विज्ञाय दूर तिष्ठतीत्यर्थ । तथा-प्रत्यनीकः=प्रतिकूल, गुरुदोषान्वेषणपर
इत्यर्थ । तथा-असम्बुद्ध जीवाजीवादितत्त्वानभिन्न, एवभूतो य. शिष्य स
स्वत्वविनीत इत्युच्यते ।

शिष्य में विनीतता, अविनीतता के परित्याग से ही आती है
इसलिये विनीत से विपरीत अविनीत का स्वरूप सूत्रकार कहते हैं—
‘आणाऽणिदेसकरे०’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(गुरुण आणाऽणिदेसकरे—गुरुणा आज्ञाऽनिर्देशकरः) गुरु
की आज्ञा का अनादर करने वाला, (अणुववायकारण) उनके समीप
नहीं बैठने वाला (पडिणीए) उनसे सदा प्रतिकूल वर्ताव करनेवाला
(असबुद्धे) जीव एव अजीव आदि के स्वरूप को नहीं जाननेवाला ऐसा
शिष्य (अविणीए बुच्चइ—अविनीत—उच्यते) अविनीत कहा जाता है ।

भावार्थ—इस गाथा द्वारा सूत्रकार ने विनीत से विपरीत अविनीत
का स्वरूप प्रदर्शित किया है । यद्यपि यह बात अर्थापत्ति से स्वयं सिद्ध

शिष्यमा विनीतता अविनीतताना परित्यागथी न आवे छे आ भाटे
विनीतथी विपरीत अविनीतनु स्वरूप सूत्रकार कहे छे—‘आणाऽणिदेसकरे’ इत्यादि

अन्वयार्थ—(गुरुण आणाऽणिदेसकर—गुरुणा आज्ञाऽनिर्देशकरः) गुरुनी आज्ञाने
अनादर करवावाणा (अणुववायकारण) ओभनी साथे न भेसवावाणा (पडिणीए)
ओभनाथी सदा प्रतिकूल वर्ताव करवावाणा (असबुद्धे) एव अने अणुव आदिना
स्वरूपने नहीं बखुवावाणा ओवा शिष्य (अविणीए—बुच्चइ—अविनीत उच्यते)
अविनीत कहेवाय छे

भावार्थ—आ गाथाद्वारा सूत्रकारे विनीतथी विपरीत अविनीतनु स्वरूप
प्रदर्शित करेले छे ओके आ बात अर्थापत्तिथी स्वयं सिद्ध यथ नली हली

मानव की विभ्रामभूमि नहीं है। अस्तित्व वह वर्तमान मानव का लक्ष्य इत्यादि चाहिए, जिस के इस प्रकार 'भूत' है, एवं उस प्रकार 'भविष्यन्' है। भूत, और भविष्यत्-रूप्य अज्ञानान्तर्यामि विस्तृत कर देने के अनन्तर तो मानव का प्राकृत स्वरूप कुछ भी नहीं खड़ा था। फिर तो भूतस्वकार्य से असंख्य, एवं भविष्यत् क परिमाणों से असंख्य वास्तविक (वर्तमानकालिक) पशु से अधिक इस का पुंसु भी अधिक महत्त्व नहीं है। वर्तमान-अज्ञता यहाँ प्राकृत पशु का बीजनाश है, यहाँ प्राकृत मानव की आधारभूमि फालतकी ही मान गई है। अतएव मानव परिसामदर्शी है। अस्वारी है अकि मानवेतर प्राणी संस्कारों से और परिग्राम-दर्शन से सर्वान्ना वधित है। भूत-भविष्यत्-अज्ञता ही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है जिसे अपनी बुद्धिगम्य व्याख्या से प्राकृत मानव मछो ही समझ न सके। किन्तु उस की अज्ञता पर तो अपने इस मान्य रूप-स्वरक्षा की प्रतीकता से आस्था का ही लेनी पड़ेगी अपने व्यक्तिविकीर्णन को थोड़ी दूर क विष्ट विस्तृत करते हुए ही। वन यह देखेगा कि—

२१६-अनाद्यनन्त कालचक्र, तन्निष्ठाधारण कर्षभ्यनिष्ठानुगति, एवं अनन्तकालो-पासक नैष्ठिक-मानव की-कर्मण्येवाधिकारस्ते' मूला सहज आचारनिष्ठा—

“यही सम्प्रसारकाल-विसे में ११५ अद्योपनी का ही मान रहा है—समयभूत अपने शरवत प्रवाह से प्रायवार्तिक चक्र से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। कोई और धार ही नहीं है इस कालचक्र का। सम्पूर्ण गणनाङ्क परिग्रामाच है इस की दृष्टा का सम्भव करने में” तो निश्चयेन इसी सीमित ११५ दिन वाले कर्षभ्य अज्ञप्रतीक के माध्यम से भी उस की अज्ञता प्रकाश का के अनन्त की और आकर्षित हो ही बावनी। और इसका अज्ञातगणनात्मक लक्षणकी दिग्देश-परदेश-गणनात्मक, एवं गणनात्मक-दिग्देशात्मक-मत्त्वचक्र वर्तमानात्मक-व्यामोहन स्वरूप ही उपरान्त ही बावनी। इस सीमाबन्धन के उपरान्त होते ही इस की प्रकाश विशेषानन्त की उपासना में प्रवृत्त हो जाती। एवं वर्तमानअज्ञानात्मकी-वास्तविक-अज्ञता-अज्ञताओं को नग्यमानता हुआ यह आस्थापूर्वक कर्षभ्यनिष्ठ वन धारणा परिसामदर्शिता-पूर्वक। कमी धारि-अन्त-अज्ञता इसे लक्षणविहीन न बना सकेंगे। कमी वास्तविक-अज्ञता-अज्ञताओं का व्यामोहन इसे प्रकृति-विस्तृत नहीं होने देगा। और यो इस विशेषानन्त के अनुग्रह से प्राकृत मानव की कर्षभ्यनिष्ठा मर्षादा-पूर्वक-दिग्-देश-अज्ञानात्मकी के प्रति सर्वान्ना बागरूप रखती हुई भी इनकी वास्तविकताओं के वाक्य-प्राकारान्त से अज्ञता ही प्रमाणित होती रहेगी। कोई भी काल-दिग्-देश-व्यामोहन व्यवधान इसे कर्षभ्यनिष्ठा से आचारनिष्ठा से परक-गुल न कर सकेगा। क्योंकि इस की दृष्टि में अज्ञता ही अनन्त है कि भी अनन्त है और देश भी अनन्त है। इसी अनन्तता पर-कर्मण्येवाधिकारस्ते' विद्यान्त बागरूप कता है इति नु प्राकृतिमानन्त-अनन्त-अज्ञता-विशेषानन्त-स्वरूपमीमांसा-आचारसमन्विता।

२१७-निःसीमभाषावच, अत्यन्तविनन्द निर्विशेषानन्तपक्षधर अनन्तप्रकाश के अनन्त का संस्मरणोपक्रम—

अब क्रमपाठ प्रविशत उस निर्विशेषान्त्य को लक्षण बनाने का 'निःसीम' अनुग्रह कीविए, जो किना निःसीम-अनुग्रह के लक्ष्यरूप का ही नहीं सकता। क्योंकि यह अपने स्वरूप से सर्वथा ही निःसीम है। सम्प्रसारकाल के माध्यम से लक्षणगत कर्षभ्यपर-परिग्राममात्र-काकाचक्र के माध्यम से अज्ञता ही अनन्तता से

सम्बन्ध रखने वाली त्रिशोपानन्तवा ता प्राकृत मानव फिर भी यथाकथञ्चित् समन्वित कर लेता है उपासनादि के माध्यम से। किन्तु निःसीम निर्विशेषान्त्य का समन्वयबोध वा अस्मत्प्रति प्राकृत मानवा के लिए अत्यन्त ही दुर्बोध बना रहता है। यत्सुरिधति वा बुद्ध एही है कि, प्रस्तुत त्रिगुदेशनालमीमांसा का उद्देश्य यद्यपि कालानन्तकाल त्रिशोपानन्त्य का समन्वय नहीं है। अपितु मुख्य लक्ष्य तो निर्विशेषान्त्य ही है, जिसके अनुकूल से ही अज्ञानान्त्य माध्यममात्र धन गया है।

२१८-कालातीत मानव क वास्तविक स्वरूप का आधारभूत अनन्तब्रह्म, एवं अनन्त ब्रह्मात्मक निर्विशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'प्रतीकभाव' का अन्वेषण—

अनन्तकाल जिस निर्विशेष निष्कल-अनन्त परात्पराव्ययब्रह्म के अकिञ्चिदंशरूप एकांश में महिमा अर्पण गर्मित है, उस अनन्त्य का ही नाम निर्विशेषान्त्य है और यही है कालातीत मानव का वास्तविक स्वरूप। इस स्वरूप का बोध कर लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। सम्बन्धकाल के माध्यम से अनन्तकाल का बोध प्राप्त कर लेना तो मानव का पुरुषार्थ नहीं, अपितु प्रकृत्यर्थमात्र है। त्रिशोपानन्त्यरूप अनन्तकाल के बोध के लिए तो मानव न सम्बन्धकाल को प्रतीक मान लिया। एव उपरिभ्रमण-ब्रह्मनन्त्य से इसने अनन्तकाला मरु त्रिशोपानन्त्य का अनुमान भी लगा लिया अपनी अथवा-शुद्धबुद्धि से। किन्तु जिस निर्विशेष-अनन्तब्रह्म के एकांश में अनन्तकाल अवस्थित है, उसका प्रतीक कौन? किस प्रतीक के माध्यम से उस निर्विशेषान्त्य का स्मरणमात्र सौभाग्य भी प्राप्त कर लिया जाय? यह महती समस्या मानव के सम्मुख उपस्थित हो पड़ी और अपने सहज प्राकृतिक अन्त्या के माध्यम से सहज बुद्धि से ही इसने अपने ये उद्गार अभिव्यक्त कर ही छोड़िए कि 'यत्किञ्चिन्मत्प्रकारकं तस्य अनन्तब्रह्म का कोई प्रतीकत्वमक टण्ड-न्त धन सफला है तो वह एकमात्र अनन्तकाल ही है, जिसके गर्भ में अस्वतन्त्रब्रह्म से अस्मत्प्रकार पर्यात्मक-चान्द्रसम्प्रसरकाल-पर्यन्त के सम्पूर्ण कालमहिमाविषय बुद्धबुद्धत प्रतिष्ठित है'। इसी सहज कालप्रतीकता का महर्षि की सहज, किन्तु प्राकृत बुद्धि से प्रकृतिविज्ञानसिद्ध अनन्तकाल का तथा अनन्त कालमहिमाओं का ही क्रमशः अध्यात्मिक के अग्रम-नम-सूक्तों के द्वारा स्वरूप-विकल्पण हुआ है किन्तु अज्ञानार्थमात्र-समन्वय पूर्व में यथाक्रम किया ही था पुनः है।

२१९-अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से 'दृष्टान्त' का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में आधिदैविक-विज्ञानात्मक ब्राह्मणवेद, तथा आधिदैविक ज्ञानात्मक उपनि-पदेश—

कालसकलानुगत प्राकृत्या-प्राकृतानन्त्यानुगत्या-त्रिशोपानन्त्याभिन्न-सहज-शुद्धबुद्धि से अथ इस अनन्तकाल को ही दृष्टान्तविधि के माध्यम-द्वारा उस निर्विशेषान्त्यरूप कालातीत अनन्तब्रह्म का 'प्रतीक' मान लेते हैं। प्राकृत विश्व में इससे महान्, इससे विधिष्ठ अन्व कोई वृत्त दृष्टान्त ही नहीं। अतएव मन्त्रसंहितावन् ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषत् में भी यत्रतत्र इस अनन्तकाल के माध्यम से ही नक्ष की अनन्तवा के लक्षणात्कार का प्रयास हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थों में सम्बन्धकाल की प्रतीकता से अनन्तकाल को लक्ष्य बनाया है तो उपनिषदों में अनन्तकालकाल की प्रतीकता से अनन्तब्रह्म को लक्ष्य बनाया है। और

मानव की विभ्रामभूमि नहीं है। अपितु वह वच मान मानव का लक्ष्य इना चाहिए, जिस के इस अंगर 'भूत' है एव उस अंगर 'भविष्यन्' है। भूत अंगर मनिष्यत्-रूप काज्ञानन्तव्य क। विस्मृत कर देने के अनन्तर तो मानव का प्राकृत स्वरूप कुङ्क भी नहीं रहता। फिर तो भूतसंस्कारों से असंशुद्ध, एव मनिष्यत् क परिमाणों से असंशुद्ध वात्कालिक (वच मानकाशिक) प्यु से अधिक इस का उक्त भी अधिक महत्त्व नहीं है। वच मान-कालता यहाँ प्राकृत प्यु का बीजनाचार है वहाँ प्राकृत मानव की आधारभूमि पालक्यी ही मान गई है। अतएव मानव परिणामदर्शी है, संस्कारी है वरकि मानवेतर माषी संस्कारों से अंगर परिणाम-दर्शन से सम्प्रमना बधित हैं। भूत-मनिष्यत्-कालता ही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है जिसे अपनी बुद्धिगम्या प्यस्या से प्राकृत मानव मझे ही समझ न सके। किन्तु उस की खड्ड सत्ता पर तो अपने इस मान्य उन्म-त्तरकाल की प्रतीकता से आस्था कर ही लेनी पड़ेगी अपने व्यक्तित्वविमोहन को धोड़ी देर क लिए विस्मृत करते हुए ही। बच यह देखेगा कि—

२१६—अनाघनन्त कालचक्र वञ्छिष्ठाधारस्य कर्षण्यनिष्ठानुगति, एव अनन्तकालो-
पासक नैष्ठिक—मानव की 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' मूला सहज आचारनिष्ठा—

“वही सम्प्रसरकाल-चिते में ११५ अक्षरों का ही मान रहा है—सबमुच अपने शरयत प्रमाह से पाणवाहिक चक्र से अनाघनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। कोई अंगर अंगर ही नहीं है इस कालचक्र का। सम्पूर्ण गणनाङ्क परिष्माप्त है इस की इयत्ता का सम्भव करने में” वा निरुचयेन एही सीमित ११५ दिन वाले कर्षण्यक कालप्रतीक के माध्यम से ही दृष्ट की खड्ड प्रमाह काय के अनन्तव्य की अंगर आकर्षित हो ही जायगी। अंगर इसका अनाघनन्तकाल तदनुकम्बी दिग्देश-प्रदेश-गणनाङ्क एवं गणनाङ्काल-दिग्देशात्मक-प्रत्यक्षक वच मानात्मक-स्वामोहन स्वतः ही उपरान्त होजायगा। इस सीमानुबन्ध के उपरान्त इति ही दृष्ट की प्रमाह सविशेषानन्तव्य की उपरान्त में प्रवृत्त हो जायगी। एवं वच मानकालानुकम्बी-वात्कालिक-कालता-असङ्कलताओं को नगस्व मानवा कुङ्का यह आस्थापूर्वक कच स्पनिष्ठ वच जायगा परिणामदर्शिता-पूर्वक। कमी खनि-सन्त-काल इसे लक्ष्यविहीन न बना सके। कमी वात्कालिक-कालता-असङ्कलताओं का स्वामोहन इसे प्रकृति-विस्मृत नहीं होने देगा। अंगर वी इस सविशेषानन्तव्य के अनुमह से प्राकृत मानव की कच स्पनिष्ठा मय्यादा-पूर्वक-दिग्-देश-कालानुकम्बी के प्रति सम्प्रमना बागरक रहती हुई भी इनकी वात्कालिकताओं के वात्-पाणवाङ्कन से असंशुद्ध ही प्रमाणित होती रहेगी। कर्म ही काल-दिग्-देश-स्वामोहन स्वभाषण इसे कच स्पनिष्ठा से आचारनिष्ठा से परक-मूल न कर सकेगा। क्योंकि इस की इति में काल भी अनन्त है दिग् भी अनन्त है अंगर देश भी अनन्त है। एही अनन्तव्य पर—'कर्मण्येवाधिकारस्ते' विष्णवत बागरक कता है इति नु प्राकृतिज्ञानन्तव्य-अनन्तकालस्य-सविशेषानन्तव्य स्वस्वमीमांसा-आचारधर्मिकता।

२१७—निःसीममात्रापच, अत्यनपिनद्ध निर्विशेषानन्तव्यलाघव्य अनन्तव्य के अनन्तव्य का संस्मरणोपक्रम—

अब कर्मपात्र प्रविशत उच निर्विशेषानन्तव्य को लक्ष्य बनाने का 'निःसीम' अनुमह कीविए, जो किना 'निःसीम-अनुमह' के लक्ष्यपक्ष वच ही नहीं सके। क्योंकि वह अपने स्वरूप से अर्था ही निःसीम है। सम्प्रसरकाल के माध्यम से उदनुपया कर्षण्यपण के परिष्ममात्र-काताचक्र के माध्यम से काल की अनन्तता से

२११-संदिग्धा सम्भावना, 'समग्र-स्वरूप' क समग्रभाव की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में सन्दिहानशुचि की जागरूकता, एवं प्रकृतिविस्तारमात्रानुगता दिग्देशकालस्वरूप मीमांसा—

'हर इ सफला है' का क्या तात्पर्य ?। क्या हर मन्त्र में कुछ छन्द है ?। बर्हिातक 'अनन्त' शब्द का सम्बन्ध है नदीतक वा कर मकना यथाय है। अनन्त-दक्षिणेण से तो अक्षर्य ही उभरी अनन्तता इस अनन्तकाल में अभिव्यक्त मानी जासकती है मानली गई है-संदिहावेगानुगत जालयन्ता के द्वारा मोक्षराधेदानुगता सम्भारविद्याओं के द्वारा एव उपनिषदनुगता चर्याचरिण्यामी के द्वारा। किन्तु इस अभिव्यक्ति का 'समग्र' शब्द इस अनन्तकालप्रतीकता में सन्दिग्ध ही माना जायगा। 'अनन्त स्वरूप' को अनन्त फल अभिश्यत हर रहा है, किन्तु अनन्त क समग्र स्वरूप को अनन्तकाल उसप्रकार से कदापि अभिव्यक्त कर ही नहीं सकता जैसेकि अनन्तकाल का प्रतीकमूल-प्रतिमानरूप सम्यत्सरकाल क्रिया सम्यत्सरप्रतिमानरूप प्राकृतमानय कलात्मक साम्यस्मरिफ मानय) अनन्तकाल के समग्र अनन्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, कर रहा है। श्रीर या अनन्तकाल उस निर्विशय क अनन्त मानने अपनी अनन्तता से अभिव्यक्त करता हुआ मां उसकी समग्र-अनन्तता का ही स्पर्श भी नहीं कर पाया। एवं यही इसी समग्र' शब्द क माध्यम से, क्षणम्यत्यरूप 'परिपूर्ण' शब्द के माध्यम से प्राप्त मानने की उस गुण-बद्ध (गुणतम-रूप्य) के साथ अपनी प्रज्ञा का सम्बन्ध स्थापित कर ही लेना है, जिस सहज गुण-सम्बन्ध की श्रीर मानने प्रज्ञा का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हमें प्रकृतिस्मितागमिका दिग्देशकालमीमांसा का आशय लेना पड़ रहा है।

२२२-कृत्स्न, और सय-शब्दों का पारिभाषिक तत्त्वार्थ-समन्वय, तदनुबन्धिनी पूर्णता, एवं परिपूर्णता क माध्यम से वस्तुस्थिति का स्वरूपान्वेषण—

'पूर्ण' का अर्थ है 'कृत्स्न' एवं परिपूर्ण का अर्थ है-'सय' *। एक की अशेषता ही 'कृत्स्नता' है अनेकों की अशेषता ही 'सयता' है। आपकी दृष्टि के समुद्र अगणित-असंख्य पदार्थ रजले हुए हैं। इन में से आपने किसी एक पदार्थ को अपने अर्थ में ले लिया। यही 'कृत्स्नग्रहण' किंवा 'पूर्णग्रहण' माना जायगा। क्योंकि आपने उस एक वस्तु को पूरी वस्तु की उग लिया। यदि आप पुरोऽपरस्थित उन अगणित सब पदार्थों का ग्रहण कर लेते हैं, तो यही 'सयग्रहण' किंवा 'परिपूर्णग्रहण' माना जायगा। क्योंकि आपने परित-चारों ओर अक्षरिषत सब पूर्णों को उठा लिया। यही समग्रग्रहण कहालाया है। लोक में 'कृत्स्न' के लिए 'पूरा' शब्द प्रसिद्ध है एव अर्थ के लिए 'सय' शब्द प्रसिद्ध है। एक की पूर्णता ही 'पूरापन' है अनन्त की परिपूर्णता ही 'सयपना' है। श्रीर या कृत्स्न, तथा सय शब्द अर्थों विभिन्न अर्थों के ही वाचक बन रहे हैं। इसीलिए वा- 'सम्यत्सर एव सय'-कृत्स्नः-समस्क्रियत (शत १।१।२।२।२१) इत्यादि रूप से भुक्ति में सय, और कृत्स्न दो अर्थक अर्थक शब्द उद्भूत हुए हैं।

*-'एकस्याशेषता-कात्स्न्यम्', अनक्षयामशेषता साव्यम्'-इति हि परिभाषा।

यही आचार्यो, तथा उपनिषदों में महान् विभेद है। ब्राह्मणग्रन्थ आधिदैविक-विज्ञान को माध्यम बना रहे हैं एवं उपनिषद् आधिभौतिक-ज्ञान को माध्यम बना रहे हैं। ई दोनों ही अस्तित्वमक निवर्त'। आधिदैविक-विज्ञान की प्रतिष्ठामि चरकालानुगत अक्षरकालमूर्ध्व सम्प्रसारणकाल है, यही ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य सञ्चल है, जबकि वे ही उपसंहार में (शतपथ १४ वें-ब्राह्मण में) औपनिषद अक्षरकालमक इनप्रधान अनन्तकालमक को भी प्रतीकस्वरूपेण लक्ष्य बना रहे हैं। एवमेव आधिभौतिक ज्ञानकी प्रतिष्ठामि स्वानुगत अक्षरप्रधान अनन्तकाल है यही उपनिषद्ग्रन्थों का मुख्यलक्ष्य है, जबकि-‘यद्यपीयां यथा वा’ इति तु पञ्चम्यामाहुवावाप’ पुरुषयवचसो भवन्ति’ इत्यादि रूपेण यत्रतत्र संक्षेप से और विस्तार से अक्षरकालमक-विज्ञानप्रधान सम्प्रसारणकाल का भी उपनिषदों में स्वरूपमक इत्युक्तं है। सर्वथा मन्य-ब्राह्मण आचार्यक-उपनिषद्-रूप वेदशास्त्र ने नहीं अक्षरकालमक से (सम्प्रसारणकालमक से) ही नहीं अक्षरकालमक से प्राकृतिक-कालात्मक-ज्ञान-विज्ञान-मार्गों के माध्यम से ही अनन्तकालमक के समन्वय का उत्पन्न प्रयास किया है। और यों अक्षर-प्रतीकता के माध्यम से ही निर्विशेषानन्तय समन्वित हुआ है वेदशास्त्र में। निम्नलिखित औपनिषद्ग्रन्थ अक्षर-प्रधान अनन्तकाल की तथा अक्षरप्रधान सम्प्रसारणकाल की दृष्टान्तानुगता ही प्रतीकता का समर्थन कर रहे हैं—

१-समेकनेमि प्रिवृत पोहशान्त शताद्वारं विंशति-प्रत्यराभिः ।

अष्टकैः-पठमि बिंस्वरूपैक्याशां त्रिमार्गमेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

२-पञ्चस्रोतोस्यु पञ्चयोन्मुप्रवक्रां, पञ्चप्राशोर्मिं, पञ्चपुद्गधादिमूलात् ।

पञ्चावर्षां पञ्चदु खौषवेगां पञ्चाशद्मेदां पञ्चपर्वामधीम ॥

३-संयुक्तमेतदक्षरमक्षरस्य व्यक्ताव्यक्त मरतं विस्वमीशः ॥

अग्नीशश्चात्मा अण्यते भोक्तृभाषाव्याख्या वेधं हृष्यते सर्वपशौ ॥

४-अरं प्रधानममृताअरं हरः, अरात्मानावीशते द्वव एकः ।

तस्यामिष्पानाद्योखनाचक्षमाबाहू यश्चान्ते विस्वमापानिहृषिः ॥

—रवे० षप० १ अ०१४,५, = १० मन्त्र

२२०-अनन्तकालात्मक प्रतीक के माध्यम से कालातीत अनन्तकाल का सम्भावित-संस्मरण—

द्विषयकार अपने इस अहोरात्रिकों से सम्प्रसारणकाल अपना सम्पूर्ण स्वरूप अभिमन्यक कर देता है तबैव अपने इस सम्प्रसारणकालमक कर्मकाल से यह अक्षरीरुप अनन्तकाल अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिमन्यक कर रहा है। तबैव य यह अनन्तकाल अपने इस अनन्तकालमक से उस अक्षरीरुप अनन्त निर्विशेष-काल का स्वरूप अभिमन्यक कर देता है ‘अनन्त’ इति कोम से। दूसरे शब्दों में-द्विषयकार अनन्तकाल के एकत्रात्मक में स्थित ही सम्प्रसारणकाल अपने अक्षरीरुप अनन्तकाल के समग्र स्वरूप को अभिमन्यक कर रहा है, तबैव उस निर्विशेषानन्तकाल के एकत्रा में स्थित ही अनन्तकाल अपने आचारकाल अनन्तकाल के समग्र स्वरूप को-‘अभिमन्यक कर दे सकता है अनन्त-दृष्टिकोण से’ ।

प्रकृति से 'पर' कहा गया है। लीबिए, त्रिष उद्वाधन के लिए काल का प्रतीकत्वंक दृष्टान्त माना गया, त्रिष कालदृष्टान्त की अनन्तता प्रमाणित करने के लिए महतास्मारमेण कालसूक्तों का उपरू हण किया गया, त्रिष उपरू हण का समन्वित करने के लिए सूक्तव्याख्या के पूर्व में, एम उत्तर में प्राकृतिक-विज्ञानानुबन्धी दिग्दशकाल के अगणित-विषयों का उदापोह प्रकान्त रहा, वह सम्पूर्ण भ्रम-परिभ्रम कृत्न, श्रीर सर्व-शर के एक ही भ्रमके से समया विगलित ही हो पना, और अन्ततोगत्या 'पुनस्त्वत्रैवायलम्बितो बताल क अनुवार हम अपनी उठी प्राकृतिक अक्षया, किना दुरवस्था में परिणत होगए। सांचा या प्रकृति के महोत्सहीयान् एव अनन्तमल-विनत के माध्यम से तो हम चाबी मार ही लेंगे। चन्द्र सम्यत्तरकाल क समतुलन में हमारी प्राकृतबुद्धि क्रमशः पायियकाल-धेरकाल-पारमेष्ठ्यकाल-पुण्डीरकाल-परोरबद्धक-परमाकारकाल-अश्वत्थ-काल-रूप उधरांतर ज्यापान्-महान्-कालोपानों को पार करती हूइ अन्ततोगत्या परमानन्तरूप परमदेवरूप-अनन्ताचरकाल-रूप अन्तिम प्रकृतिकाल पर विभ्राम प्ररूप करती हूइ इस व्यक्तित्वविभादन में अमिनिषिष्ट ही हागइ थी कि-बह रहा अनन्तप्रस पा लिया हमने इस अनन्तकाल के दृष्टान्त-प्रतीक-माध्यम से उसे। किन्तु हमारी इस बुद्धिगम्य सत्ताच्छिदकालानुगत अनन्ताचरकालात्मिका भी व्याख्यान अन्ततोगत्या हमारी प्रबन्धना कर ही तो चाली। और अन्ततोगत्या हमें भी उस श्रुतिवाक्य पर ही विभ्राम कर ही तो लेना पड़ा त्रिषका वाचिकरूप-'नलि नेतीति होषाच से विश्वविभ्रुल हो रहा है एवं किस विश्वनिभृति के आधार पर ही उठी श्रुतिप्रका से निम्न लिखित उद्गार अमिन्त्यक हो पड़े हैं अन्ततोगत्या सम्पूर्ण प्राकृत-विवयों के अन्वेषणान्तर ही—

१—न त विदाय य इमा ज्ञान-अन्यथुप्पाकमन्तर बभूव ।

नीहारण प्राधृता वन्प्या चासुतप उक्थशासश्चरन्ति ॥

—श्रुत्सं० १०।८७ ७।

२—न विज्ञानामि यदि वेदमस्मि निष्य सन्नदो मनसा शरामि ।

यदा मागन् प्रथमत्वा श्वतस्यादिद्राचो अश्रनुवे भागमस्याः ॥

—श्रुत्सं० १।१।६४।३७

३—यस्यामत्-सस्य मत, मतं यस्य-न वेद स ।

अविज्ञातं विज्ञानतां, विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

४—सं विदन्ति न यं वेदा, विप्युर्वेद, न वा चिचि ।

यतो नाचो निवर्त्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह ॥

—उपनिषत्

५—अचिकित्वाश्चिकित्सुपरिषदश्च कधीन् पृच्छामि विद्यने, न विद्वान् ।

वि यस्तस्वम्म पद्धिमा रजांस्यजस्य रूप किमपि स्विकेकम् ॥

—श्रुत्सं० १।१।६४।६।

२२३-अनन्तकालात्मिक घराचरप्रकृति की पूर्णतारूपा कृत्स्नता, तदनुगता सम्बत्तर कालात्मिक अशता, तन्निबन्धना असंवतारूपा अपरिपूर्यता, एव सम्बत्तरकाल की असमग्रा-अनन्तता का दिग्दर्शन—

अनन्तकालात्मिक घराचरप्रकृति, एवं सम्बत्तरकालात्मिक घराचरप्रकृति अपने अपने एक एक अणु से अक्षरय ही पूर्ण है कृत्स्न है। किन्तु कदापि इन प्राकृत कालविकृतों को सर्व शब्द का सम्मान नहीं मिल सकता। क्योंकि एक अनन्तकाल के गम में 'कृत्स्न' कम अनेक सम्बत्तरकाल प्रतिष्ठित है। अतएव इन अशभूत कालात्मिक अनेक सम्बत्तरकालों की अपेक्षा से तो अनन्तकालप्रकृति 'सर्व' अक्षरय ही उच्यते है किन्तु स्वयं एक एक सम्बत्तर उस अनन्तकालप्रकृति की दृष्टि से-सर्व नहीं कहला सकते। पूर्ण है सम्बत्तर, किन्तु परिपूर्ण नहीं। कृत्स्न है प्रत्येक सम्बत्तर, किन्तु सर्व नहीं। अनन्त है प्रत्येक सम्बत्तर, किन्तु सम्प्रान्त नहीं।

२२४ सम्पूर्ण सम्बत्तरकालों के अधिष्ठानात्मक अनन्तकाल की सम्बत्तरकालापेक्षया समप्रतारूपा अनन्तता, किन्तु कालातीत अनन्त ब्रह्मापेक्षया तदेकाश्रया, तन्निबन्धना असर्गातारूपा अपरिपूर्वता, एवं अनन्तकाल की असमग्रा-अनन्तता का दिग्दर्शन—

समप्रान्त तो अनन्तकाल ही माना जायगा। ठीक यही स्थिति इस सम्प्रान्तकालक महान्-सर्व-परिपूर्ण भी प्रकृतिकाल की है। एक एक मायावृत्त का ही नाम एक एक अनन्तकाल है। उस अनन्तकाल बराबर पर ऐसे ऐसे आत्म्य-अगणित-मायावृत्तक-अनन्तकाल (अक्षरप्रकृतियों) अणु-बुद्बुदक इतस्तत् द्रव्यमय हैं। जिसप्रकार अनन्तकालात्मिका प्रकृति की दृष्टि से विहृतिरूप सभी सम्बत्तरकाल अभिन्न हैं किन्तु परस्पर वे सम्बत्तरकाल एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न हैं। तथैव मायावृत्तक सभी अनन्त-कालविकृत कदापि उस अनन्त-निर्दिशयब्रह्म-बराबर की अपेक्षा तो अभिन्न हैं। किन्तु वे परस्पर में तो एक दूसरे से (मायावृत्तमेरागुण्य से) सर्वथा पृथक् पृथक् ही हैं। जिसप्रकार प्रत्येक सम्बत्तर उस अनन्त की पूर्णस्वयं अभिव्यक्त कृत्वा हुआ भी इतर सम्बत्तरों की अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। तथैव प्रत्येक अनन्तकाल उस अनन्त के पूर्ण अनन्त की अभिव्यक्त कृत्वा हुआ भी स्व से निरन्तर अन्य समस्त अनन्तकाल वृत्तों की अभिव्यक्त करने में तो असमर्थ ही प्रमाणित है। अतएव अनन्तकाल की उस का 'कृत्स्न' प्रतीक ही माना जा सकता है सर्वत्रिक प्रतीक नहीं। क्योंकि यह अनन्तकाल अपने एकात्मक वैयक्तिक एकत्व से कृत्स्न ही प्रमाणित है। इन सब कृत्स्नों का परिपूर्णतात्मक सर्वस्व तो स्वयं वह अनन्तकाल ही हो सकता है। अतएव कदापि अनन्तकाल को उतने समग्रकाल का अभिव्यक्त नहीं माना जा सकता।

२२५-अनन्तकाल की दृष्टान्तविधिरूपा प्रतीकविधि से बहिष्कृत अनन्तकाल, अनन्त-कालानुबन्धी सम्पूर्ण प्रयासों की तद्दान्त्य के सम्बन्ध में आत्यन्तिक-व्यर्थता, एवं तत्सम्बन्ध में तद्बोधनात्मक औव-सन्दर्भ—

अतएव ये अनन्तकालात्मिक अक्षरविकृत भी तत्काल न ही उक्त दृष्टान्त ही बन सकता नापि प्रतीक ही। सधनुच प्रकृति अक्षरय है उस अनन्त की सर्वकमता का मापदण्ड करने में। सभी तो उसे

प्रकृति से परे कहा गया है। लीत्रिय, जिस उद्वाचन के लिए काल को प्रतीकत्वक दृष्टान्त माना गया जिस क्षणदृष्टान्त की अनन्तता प्रमाणित करने के लिए महतासमारम्भेण कालसूक्ष्मी का उपरुद्घण किया गया जिस उपरुद्घण का समन्वित करने के लिए यत्नभ्याग्न्या के पूर्व में, एवं उत्तर में प्राकृतिक-विज्ञानातुरूपी दिग्देशकाल के अगणित-विवर्तों का उदाहरण प्रकथित रहा वह सम्पूर्ण भ्रम-परिभ्रम कूलन, और स्थ-शब्द के एक ही भ्रम के से सर्वथा विगलित ही हो पड़ा और अन्ततोगत्या 'पुनस्त्वैवायत्तस्मिन्ना वतालः क अनुसारा एव अपनी उमी प्राकृतिक अवस्था किया दुरवस्था में परिणत होगय। सत्त्वा था, प्रकृति के महत्वमहीयान् एव अनन्तघल-विवर्त के माध्यम से तो हम अभी मार ही लेंगे। चन्द्र सम्स्तरघल का समतुलन में हमारी माहृतनुदि क्रमशः पापियकाल-श्वरकाल-पारमप्यकाल-गुणवीरकाल-परोरत्नक-परमाशयकाल-अरवत्यकाल-रूप उचरांतर न्यायान्-महान्-कालधोपानी का पार करती हुई अन्ततोगत्या परमानन्तरूप परमदेनरूप-अनन्ताचरकाल-रूप अन्तिम प्रकृतिकाल पर विभ्रम ग्रहण करती हुई इस व्यक्तित्वकिमाह्न में अमिनिवित ही हमारे भी कि, यह रहा अनन्तघल का लिया हमने इस अनन्तकाल के दृष्टान्त-प्रतीक-माध्यम से उस। किन्तु हमारी इस बुद्धिगम्या सहायिद्रकालानुगत अनन्ताचरकालात्मिका भी म्यायन्या अन्ततोगत्या हमारी प्रवचना कर ही वा वाली। और अन्ततोगत्या हमें भी उस श्रुतिप्रसा पर ही विभ्रम कर ही तो लेना पड़ा, जिसका वाचिकरूप-नति नेतीति होयाच' से विश्वविमुक्त हो रहा है एवं जिस विश्वविभ्रम के आधार पर ही उही श्रुतिप्रसा से निम्न लिखित उद्गार अमिभ्यक्त हो पड़े हैं अन्ततोगत्या सम्पूर्ण प्राकृत-विवर्तों के अन्वेषमानन्तर ही—

१—न त विदाथ य इमा जज्ञान-अन्यद्युष्माकमन्तर बभूव ।

नीहारस्य प्रायुता ज्ञप्या चासुतुप उक्थशासरचरन्ति ॥

—श्रुत्सं० १०।८० अ

२—न विज्ञानामि यदि वेदमस्मि निष्य सन्नदो मनसा चरामि ।

यदा मागन् प्रयमजा श्वतस्यादिद्राधो अशनुषे मागमस्या ॥

—श्रुत्सं० १।१६।१३ अ

३—यस्यामत-सस्य मत, मतं यस्य-न वेद स ।

अविज्ञात विज्ञानतां, विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

४—सं विदन्ति न यं वेदा, विष्णुर्वेद, न वा विधि ।

यतो वाचो निवर्षन्ते-अप्राप्य मनसा सह ॥

—उपनिषत्

५—अधिकिष्वाश्रिकितुपरिचदय कवीन् पृथक्षामि विघने, न विद्वान् ।

वि यस्तस्तम्म पद्धिमा रजांस्यजस्य रूप किमपि स्विकेकम् ॥

—श्रुत्सं० १।१६।१६।

६—को अद्वा वद क इह प्रवोचत् कुत आवाता कुत इय विसृष्टि ।
अवाग्देवा विसर्जनेऽनाया को वद यत आबभूव ॥

७—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा इध, यदि वा न ।
योऽस्याभ्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वद यदि वा न वद ॥

—श्रुत्सं० १०।१२३।६७।

२२६—परमाकाशात्मक अनन्त स्वायम्भुवकाल क लिल भी अद्वात कास्तातीत मन्त्र,
एवं— योऽस्याभ्यक्षः—परमे व्योमन्—सोऽङ्ग वद यदि वा न वद' का तात्त्विक
समन्वय—

श्रीशिव ! किस विश्वाभ्यक्ष—परमाकारमूर्ति—परमाक्षरमूर्ति—अनन्तकाल को पतीक मान कर उद्वाप
हम (मानव) किस अनन्त को जानने वाले ये अपने महतीमहीमान् उत्पत्तिवृत्तमण के माध्यम से श्रुति
करते हैं— 'ये विश्वाभ्यक्ष—परमाकाररूप—अनन्तकालदेव भी वसे जानते हैं, अथवा नहीं जानते
यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता' । अलमस्तिपस्तकितेन । बिल्के माध्यम से जानना चाहते हैं व भी
बन इस जानकोटि में उद्दिष्ट हैं तो सबकुछ समाप्त हो गया । सबकुछ अनन्तकाल भी अस्तव्यस्त है
तो 'अल' ही । 'प्रकृति' ही तो इस अल की स्वकम—स्वास्या है । वह ठीक है कि, उक्तमतुलन में सर्वथा
नमस्क प्राकृत स्वकम रखने वाली हमारी प्राकृतश्रुति उसके लिए— 'वह भी अपने लिए प्रकृतिभाषानुबन्ध
से स्व से अतीत—(प्रकृति से अतीत) उस अनन्त को नहीं जान सकता, सबरूपेण उस आनन्त्य
की इयत्ता नहीं ही कर सकता' इस वृत्तपूर्ण नमसाभा में अपना निरन्तर प्रकृत नहीं कर सकती । त्वपि
अवस्था बायीं से श्रुति परिचरुनेण यह तो कह ही डालती है कि—'जो इस सम्पूर्ण काशिक विश्व का
अभ्यक्ष है, परमाकाररूप वह प्राकृत—अनन्तकाल भी जानता है उसे अथवा नहीं जानता—वह
कुछ भी कह देना कठिन है'—'योऽस्याभ्यक्ष' परमे व्योमन्सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' । अपने
महतीमहीमान्—जानविज्ञानात्मक—प्राकृतिक—स्वामीहम को भी अन्धमात्र में विसृत कर देने वाली श्रुतिमात्राभा
श्रुतिप्रवा ही तो उस असम्भल भी, अचिन्त्य भी प्रकृतिभ्य' पर' भी अनन्तकाल से यदि उक्तुय प्राप्त कर—
खेती है इती प्राकृतविमोहनपरिभाष—माध्यम से तो कोई आश्चर्य नहीं है । सबकुछ—'सोऽङ्ग वेद' यदि
वा न वेद' इस सूत्र के द्वारा ही श्रुतिप्रदान मानव की उस प्राकृतिक—पुरविगम्या—महती समस्या का समाधान
भी कर डाला बिल्के लिए वह अलभ्यक के विविध—विचरों में इच्छता भ्रष्टता रहता है । क्या समाधान
कर डाला ? परन्तु मो स्या से अन्तर ही कनका बला आया है बिल्के कयापि बायीं से समन्वय सम्भव
ही नहीं है । इति तु पुनस्तनैवाकस्मिन्कोऽप वेवाला—प्राकृतो मानव' ।

२२७—अनन्तब्रह्म की प्रतीकता का समन्वयक लिए कालातीत 'श्रुतिमानव' का प्रति 'आत्म-सर्गस्थ', एवं उद्भिन्न परदर्शनव्यासक्त-कालासक्त-भावुक-मानव की दिग्दश कालनिबन्धना भ्रान्ति-परम्पराएँ—

अब तो प्राकृत मानव की इस कालातीत के समन्वय की आधारभूमि यह साक्षात् मानव ही माना जायगा, जिस प्रकृति की भाषा में—ज्ञानातीत श्रुतिमानव कहा गया है। स्मरण रहे! अनेक परब्रह्मण्य प्रभुत्व रहितवच सा साक्षरक नाम है—'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'। 'भावुकता' से ही इसका अपने प्राकृत-अर्थ शिव-मुक्त-रूप का (निररूप का) धूलिधूलित किया है, एवं इसी भावुकता से इसने अपने कालातीत अशाकृत-अनन्त-गुण-स्वरूप से अपने आपका परब्रह्म बनाया है। सर्व-नाशकारी इस भावुकता का मौलिक स्वरूप है—'परदर्शन' एवं जिस शक्ति से इस का यह 'परदर्शन' एवं कल्पना भावुकता बनावित होती है उसी का नाम है—निष्ठा जिसका मौलिक स्वरूप है—स्वदर्शन। वृत्तों का समन्वय का प्रयास करते रहना भी भावुकता है एवं वृत्तों के माध्यम से अपने आप का समन्वय का प्रयास करते रहना भी भावुकता है जिसका आधार सर्व वाचक्य ही बनता है। परिणाम इस परदर्शनमूला भावुकता का यही हाथ है कि वैसा दूसरे समझते हैं इस वैसा ही समझ लेना पड़ता है। कलत इसका अपना स्वभाव ही उच्छिन्न हावाका है इस परदर्शनमूला-परप्रत्ययनयभावानुगत भावुकता से फिर वह 'पर' छाय ही अपना वा पड़ा है। परधर्म तो सग ही न्यायवह ही बना रहता है—'परधर्मा भयवह'। इस महान् यत्न से परिग्रह प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है स्वदर्शनमूला वह निष्ठा जिसके आभय से ही मानव स्वरूप को प्राप्त किया जाता है जिसका कि—उद्धरदात्मना—आत्मानम्—'नात्मानमप्यसाद्येत्'—इत्यादि से समन्वय हुआ है। सम्यक्काल ही अपना तो सापानपरम्परानुगत अनन्तकाल। मनी 'परकाल' है, परमात्म ही प्राकृतमात्र है ब्रह्मभाव है। इन परमात्मी की प्रतीकता—दण्डान्त-विधि-के माध्यम से कालातीत अनन्त के अनन्तव्य में प्रकृत होना तो 'भावुकता' ही मानी जायगी प्रकृतिव्यापक-परदर्शनानुर-निष्ठान्त भावुक प्राकृत मानव की। इस अनन्त शब्द है प्राकृतिक-विरह म दिन के साथ मानव को अनन्तता की भ्रान्ति हासकती है होती रही है हो रही है एवं होती ही रहगी।

२२८—सम्पूर्ण उत्पातों-समस्याओं का जनक भावुकतापूर्ण 'अनन्त' शब्द, एवं निषेध-भाष से ममन्वित सापेक्ष अनन्तशब्द की शिथिलता —

उदाहरण के लिए—'अनन्त' शब्द का ही शीघ्रिए। इस अनन्त शब्दने ही यह सम्पूर्ण उत्पात पैदा किया है। काल के साथ सम्बन्ध होनेसे पहले इस 'अनन्त' शब्द ने ही प्राकृत मानव की दिग्दशान्त-उद्धान्त-बना दिया है। 'न अनन्त-अनन्त' रूप से अपने उपक्रम में ही निषेधार्थक 'न' कार को अपनी आधारभूमि बनाए अपने बाला 'अन्त ही तो 'अनन्त की स्वरूप व्यक्त्या है जो अनन्त मन्त—सपेक्ष बनता हुआ अपनी सीमाबद्ध दिग्दशकालावच्छिन्नता ही प्रमाणित कर रहा है।

गुणमय-अतएव स्वात्मक अक्षरकाल हो, अथवा तो विनात्मक, अतएव कलनात्मक अक्षरकाल हो, दोनों ही अक्षरभाव- (सच्चिद अक्षरकाल तथा सात्विद अक्षरकाल) प्रकृति के कोट में ही समाविष्ट हैं। अक्षर प्रकृति ही स्वानुगत कलाभाव से अक्षरकाल (महाकाल) कहलाने लगती है, एवं अक्षरप्रकृति ही चरणु पत्र कलनाभाव से अक्षरकाल (सम्यक्सकाल) कहलाने लगती है। यह अनन्त तो वेद अनन्त है, जिसके एकैशरूप अक्षरप्रकृतिभाव के भी एकाग्र में दोनों कालवियोग समाविष्ट हैं। बला एका काल जैसे 'अनन्त हो सकता है ? अतएव जैसे यह उस अनन्त का दृष्टान्तात्मक प्रतीक बन सकता है ?। अत्रापि नहीं।

२३१-सर्वात्मक समग्रभाव से वञ्चित कालिक पदार्थ, एवं दृष्टान्तिविधि में किंकरत्तव्य-
विमृदता—

अब क्या किया जाय ?। जैसे उस प्रकृत्यतीत-कालातीत-सर्वातीत-किन्तु सर्वात्मक-महिमाय अनन्त-निर्दिशरूप रगात्मक नद का स्वरूप-बाध प्राप्त किया जाय ?, इस कालात्मक प्राकृत-विरय में किस उन्मत्त दृष्टान्तात्मक प्रतीक माना जाय ? बरकि प्राकृत विरय में नर अस्मिन्प्रकृत्या कृत्स्नमायापना हो है, किन्तु कोट में ही सर्वभावापन्न नहीं है। दूसरे शब्दों में प्रकृत्या कृत्स्न बनते हुए सभी धर-अक्षर-पदार्थ पूर्ण हो है किन्तु परिपूर्ण कोट भी नहीं है। क्या प्राकृत-मानव भी परिपूर्ण नहीं है ?। नहीं। प्रकृत्या मानव अन्य सब मानवी में निमिष है।

२३२-प्राकृत मानव की प्रतीकता के समन्वय में उदापोह—

इस प्रकृति मेद के कारण ही प्रत्येक प्राकृतमानव के जाति (यानि)-आयु भोग • तीनों पृथक् पृथक् हैं। अतएव प्राकृत मानव भी इतर पदार्थों की भाँति कृत्स्न' पूर्ण हो बन रहा है। किन्तु इस भी सर्व, किंवा-परिपूर्ण नहीं माना जा सकता। अतएव यह भी अन्य प्राकृत वियोगों की भाँति अविशेष ही बना हुआ है। अत-एव विशेषमायात्मक प्राकृतमानव भी उस निर्दिशरूपान्वय अथ, समान्वयानन्त का दृष्टान्तात्मक प्रतीक नहीं बन सकता, अत्रापि नहीं बन सकता। वही नहीं, इस प्रकृतिकी कृत्स्नमायापत्तिमा पूर्णता की दृष्टि से तो प्राकृत मानव की अपेक्षा पशु-यक्षी-आदि इतर प्राणी कहीं अधिक पूर्ण हैं, बरकि प्राकृत मानव तो इन की अपेक्षा भी प्रकृत्या ही अपूर्ण ही है जैसा कि पूर्वपरिच्छेदों में बित्तर से बतलाया जा चुका है। अतएव प्राकृत मानव की प्रतीकता का तो प्रश्न ही पड़ा नहीं जाता। और वही, इसी मन्दि पर एक साक्षरिक तथ्य होने और समन्वित धर ही तोना है प्रसन्नविषया।

२३३-प्राकृत-मानव के साम्बत्सरिक-सात्त्विक-स्वरूप का समन्वय—

क्या स्वरूप है प्राकृत मानव का ? प्रश्न का उत्तर है- 'पोषराकृत-सम्बत्सर'। क्या स्वरूप है- 'पोषराकृत सम्बत्सर' का ?, प्रश्न का उत्तर है- 'पोषरी प्रजापति'। क्या स्वरूप है- 'पोषरी प्रजापति' का ?, प्रश्न का उत्तर है- महात्मावाक्चिद्धम अरवत्यग्रद। क्या स्वरूप है 'महात्मावाक्चिद्धम अरवत्यग्रद' का ?, प्रश्न का उत्तर है 'योगमायावचिद्धम पन्शरधर'। क्या स्वरूप है 'योगमायावचिद्धम पन्शरधर' का ? प्रश्न का उत्तर है- 'पञ्चपुण्डरीकाभ्यक्ष परोरजा नामक अन्याक्त स्ययम्भू'। क्या स्वरूप है इस 'अम्पक-रव्यम्भू' का ? प्रश्न का उत्तर है- 'पुण्डरीक स्ययम्भू-व्यक्तव्यक्त परमाणी-सौरसम्बत्सरमध्यवर्ती स्यय

—जात्यायुर्मोंगा (न्यायदर्शन-गोतमधर्म)

६—को अद्वा वेद ऋ इह प्रबोधत् कुत आवाता कुत इयं विसृष्टि ।
अथाग्देवा विसर्जनेऽनाथा को घद यत आबभूव ॥

७—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दध, यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

—श्रुत्सं० १०।१२३।६७।

२२६—परमाकाशात्मक अनन्त स्वापम्भुषकाल के क्षिण भी अज्ञात कालातीत ब्रह्म,
एवं—'योऽस्याध्यक्षः—परमे व्योमन्—सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' का शाब्दिक
समन्वय—

लौकिक ! जिस विश्वाप्यक्ष-परमाकाशमूर्ति-परमाद्यमूर्ति-अनन्तकाल की प्रतीक मान कर लक्षण
हम (मानव) जिस अनन्त को जानने वाले थे अपने महतोमहीयान् तत्त्वविबुध्मस के माध्यम से श्रुति
करते हैं—'ये विश्वाप्यक्ष-परमाकाशरूप-अनन्तकालवेद्य भी उसे जानते हैं, अथवा नहीं जानते
बह कुछ भी नहीं कहा जासकता' । अलमस्ति-शक्तिन । जिसके माध्यम से जानना चाहते हैं व भी
बह इस शानकोटि में धरिण हैं तो एकदुख समाप्त हो गया । उच्यते अनन्तकाल भी अनन्तमात्रा है
तो 'अत' ही । 'प्रकृति' ही तो इस काल की स्वरूप-व्याख्या है । पर ठीक है कि, तत्त्वमद्वलन में सर्वथा
नमय्य प्राकृत्य स्वरूप रक्ते वाली हमारी प्राकृत्यमिति उसके लिए—'बह भी अपने लिए प्रकृतिमात्रातुषम्भ
से स्व से अतीत—(प्रकृति से अतीत) उस अनन्त को नहीं जान सकता, उच्यते उस अनन्त
की इच्छा नहीं ही कर सकता" इस वृत्तापूर्वा नममाथा में अपना निरक्षय प्रकट नहीं कर सकती । तदपि
अकृता वाली से दुखि परोक्षस्मेय यह तो कर ही वाला ही है कि—'जो इस सम्पूर्ण काशिक विश्व का
अध्यक्ष है परमाकाशरूप बह प्राकृत-अनन्तकाल भी जानता है उसे अथवा नहीं जानता—बह
कुछ भी कह देना कठिन है—'योऽस्याध्यक्ष' परमे व्योमन्सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' । अपने
महतोमहीयान्-जानविधानात्मक-प्राकृतिक-व्यमोहन को यों ज्ञानमान न विसृत कर देने वाली श्रुतमात्रात्मा
श्रुतिप्रका ही तो उच्य अक्षम्भ भी अधिन्य भी प्रकृतिम्भ पर भी अनन्तकाल से यदि छावुष्य प्राप्त कर-
लेती है इसी प्राकृतिकमोहनपरिव्याग-माध्यम से तो क्षेत्र व्यापक्य नहीं है । उच्यते—'सोऽङ्ग वेद यदि
वा न वेद' इस काल के द्वारा ही श्रुतिप्रकृतने मानव की उच्य प्राकृतिक-तुरविगम्या-महती समस्या का समाधान
भी कर वाला जिसके लिए बह कालकाल के विनिब-विबली में इतकतः मरकटा खता है । क्या ममाधान
कर जाता ? परन्तु तो क्या से तद्वहन ही कनया चला आया है जिसका कवापि वाली से समन्वय सम्भ
ही नहीं है । इति तु पुनस्तत्रैवाकलम्बितोऽय वेतला-प्राकृत्य मानव ।

नहीं हा सञ्चता, एवं जीव आत्मा नहीं हा सञ्चता अतएव 'जीवात्मा' शब्द कृत्वि सम्बन्धित नहीं हा सञ्चता । प्राकृतभाव का नाम जीव है, एवं पुरुषभाव का नाम आत्मा है । दोनों में अहोग्रहण अन्तर है । आत्मा अन्तर अन्तर अविनाशी है, जबकि जीव अन्त-मृत्यु-वन्धु स चक्रापित है । अन्तर इस जीव के ही दो विभव हैं अविनाशीजीव, एवं नश्यरजीव । जो जीव शरीर की स्थीमा में भुक्त-गमित रहत है व 'अविनाशी-जीव' है, एवं जो जीव शरीर की स्थीमा में भुक्त-गमित-रहते हैं, वे नश्यरजीव हैं, जिस इन तन्त्र स दार्शनिक मतवत् अपने प्राकृत ध्यामोहन के कारण सर्वथा अस्पष्ट ही रहा है ।

२३६-जीव से जीव का विनिगमन, एवं अविनश्यर जीवसंग, शरीर स शरीर का विनिगमन एवं नश्यरजीवसंग, तथा 'जीव में शरीर', और शरीर में जीव'

लक्षण पार्थक्य का समन्वय—

जीव से जाय की अभिव्यक्ति यह एक प्रकार का प्राकृतिक संग है । एवं शरीर से शरीर का विनिगमन यह एक प्रकार का प्राकृतिक संग है । 'जीव स जीवाभिव्यक्ति पक्ष में जीव आचार है, शरीर आभेय है । 'शरीर से शरीरविनिर्गमन पक्ष में शरीर आचार है जीव आभेय है । प्रथम पक्ष में-जाय में शरीर है, एवं द्वितीय पक्ष में शरीर में जाय है । 'जीव में शरीर है' इस प्रथम पक्ष में-शरीर उत्पन्न विनष्ट होत रहते हैं जीव का कुछ नहीं बदलावा, कुछ भी नष्ट नहीं होत । शरीरपुरुष से अन्त-मृत्यु-वन्धु-का परिभ्रमण अवश्य है । किन्तु जीव स्वरूप से अविनश्यर है । उन्तर 'शरीर में जीव है' इस द्वितीय पक्ष में शरीर के साथ ही शरीर की स्थीमा में ही, शरीर से ही जीव उत्पन्न होत है एवं शरीर के साथ ही यह जीव नष्ट होजाता है । शरीर के विनाश के साथ ही इस जीव की भीनकीला समाप्त होजाती है एवं ये ही निनश्यर जीव हैं ।

२३७-अक्षरानुबन्धी-प्राकृत-मानवजीव, अक्षरानुबन्धी प्राकृत इतर जन्तु, एवं प्राणी-

वगत का स्वरूपदिग्दर्शन—

प्रकृति की भाषा में-शरीर को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित रहने वाले जीव का नाम है अव्ययगमित-अणुगत्-अक्षरजीव' । एवं शरीर के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले अक्षरगमित अणुवत् जीव का नाम है 'अक्षरजीव' । अक्षरजीव का नाम है पुरुषानुगता प्रकृति एवं अक्षरजीव का नाम है-अक्षरानुगता विकृति । प्राकृतजीव ही का नाम है प्राकृतमानव एवं वैचारिक जीव ही का नाम है प्राकृत जन्तु । प्राकृत जीवामक मानव शरीर में नहीं है अपितु शरीर इस प्रकृतिरूप जीव में है । तात्पर्य यही है कि, मानव का स्वरूप-परिचयक इसका शरीर नहीं है अपितु प्रकृति ही इसकी स्वरूपपरिचायिका है । केवल अक्षर-शरीरकारमात्र से मानवीय जीवमात्र का स्वरूप सम्बन्धित नहीं हा सञ्चता । ठीक इसके विपरीत मानवेतर समस्त परमादि प्राकृत (वैचारिक) प्राणियों के शरीर में स्वीकृति नश्यरजीव प्रतिष्ठित है । अतएव इनमें शरीर ही प्रधान बना रहता है । अतएव केवल शरीरधार-साक्षात्कारमात्र स ही परमादि प्राणियों का स्वरूप परिच्छात बन जावा है । सभी ही इस प्राणीवर्ग को हमने प्रकृत्या (विकृत्या) पूर्ण कहा है, जबकि इस शरीररूपा प्रकृति (विकृति) की दृष्टि से तो मानव अपूर्ण ही बना रहता है । प्राकृतमानव अपने जीवमात्र से अस्मिन्मात्र है प्रकृतिमात्र से परिचय नशील है, एवं इस परिचय न का ही नाम-अन्त-मृत्यु-वन्धु-है 'वहूनि मे व्यतीष्ठानि जन्मानि तव

२२६-अनन्त-अक्षर परम प्रजापति-चेतना-ज्ञान-आत्मा, आदि आदि सापक्ष-शब्दों की आमकता, उदाचारेण समन्वयप्रयासन्नान्ति, एवं सापक्ष-शब्दमात्र से अतीत-
'तत्त्व'—

अनन्त-अक्षर-परम प्रजापति-चेतना-ज्ञान-आत्मा-आदि आदि यद्यथाप्युक्तं शब्द वस्तुगत्वा सापेक्षमात्रो के ही स्वप्न, किंवा वाचक बन रहे हैं जो अपनी इस सापेक्षता के कारण दिग्देशकालात्मिक प्रकृति के ही स्मारक बने हुए हैं। वस्तुतः दिग्देशकालातीत उच्च निरपेक्ष निर्दिष्ट-वीर्यप्रान्तव के लिए कोई शब्द ही ही नहीं प्राकृत-बीजा में। तभी तो-‘न विवृण्वि न सं येदा’ कहना आवश्यक बनता है। शब्दावच्छिन्न ज्ञान का ही नाम वेदशास्त्रसिद्ध ज्ञान है। प्रत्येक शब्द कार्यकाल-पर्यायवाचक-चेतनवच्छिन्न में ही जब निरूपित है और वह निरपेक्ष अनन्त जब कि इस अवच्छिन्न दृष्टि से सर्वथा अनवच्छिन्न है, तो अवच्छिन्न शब्दों के द्वारा उच्च अनवच्छिन्न का स्मरण सम्भव ही कैसे है। अधिक से अधिक उचका नाम ‘अन्त’ अक्षरय रक्ता वाचकत्व है सो भी अपनी प्राकृत बुद्धि के तात्कालिक परिवेश के लिए ही। जहाँ, किन्हीं संपूर्ण वेदशब्दों का अन्त (समाप्ति) हो जाता है वही वह है। वेदशब्द का किंवा शब्दप्रमाण संपूर्ण वेद का अन्तस्थान ही वह-‘वेदास्तपुरुष’ है जो शब्दमात्र से निरपेक्ष बनता हुआ अपने रूप से स्वतः ही प्रमाथित है। क्योंकि किन्हीं भी शब्दप्रमाणों के द्वारा उद्वृण्वि दिग्देशकालात्मिक व्याख्याओं के द्वारा इन परदर्यामूला माडक-ताओं के द्वारा उचका स्वरूपसंशोध सम्भव ही नहीं है। मनभाषणात्मक इमार प्राकृत आत्मा भी तो उचके नहीं जान सकता। क्योंकि वह अक्षर है (सद्रूप है) अमना (मनोबन) है अमात्र (प्राणबन) है, मनभाषणात्मक मय अक्षररमा-वाचकता-से पर है अतीत है-‘अप्रमाया अमनाः शुभ्र-अक्षरात् परता-पर’ ही उचका व्यस्य स्वरूप-परिचय है।

२३०-काञ्चनन्तता की वृत्तनिबन्धना सादिमान्तता प्राकृतवर्मात्मिका वृत्तवृत्ता, अप्रा-
कृतभावारिमिका रसवृत्ता, एवं रसात्मक अनन्तवृत्त, तथा वृत्तात्मक अनन्तकाल
का असम्बन्धात्मक सन्बन्ध—

विशेषमात्रापत्र कल तो अपने कलात्वेन क्या ही सादि-सन्त ही माना जायगा फिर मछे ही वह कौन
कल ही अपया वृत्त वस्तुत्पात हो। मानते हैं-महाकालकला कलाप्रकृति से प्राकृत विरच में और कोई वृत्त
वृत्त कलत्पात नहीं है। एव इस विरचवृत्तता अलात्मक उच विशेष कलात्पात को ‘अनन्त’ कहा भी
जासकता है। तदपि इत्थी वृत्तात्मिका सादि-सन्तताने तो इसे उचका दिग्देशकालात्मक ही प्रमाथित
कर रक्ता है। अतएव निर्दिष्टप्रमाणक उच अनन्त तो यहाँ अनुपपन्न ही है। क्योंकि अनन्त और कल
का सम्बन्ध सम्भव ही नहीं है। अनन्त रक ही है कल वल ही है। तभी तो मापटीम लोभ्यनहार में इचकलिय
‘कल वृत्ती रिपु सवके सिर पर, क्यो नमश्चर पर वाज * इत्यादि रूप से ‘वृत्ती’ शब्द ही प्रकृत हुआ है।
कालकता यहाँ प्राकृतवर्मा है यहाँ रक्ता ही अप्राकृत अनन्त उच है यही वास्तविक अनन्त है। सावात्मक-

*-‘जो तू यासों उबरयो जाहे, मदन रामकृष्ण के परल सुनर-वर’।

मात्रों का धारण कर रक्ता है। इसी आधार पर—‘इतस्त्यन्यां प्रकृति विद्धि में परं—जीवभूतां—महानाहो ! ययद् धाप्यत जगत् (गीष्वा) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। बैरा, जो स्वरूप आधिपतिक में अनन्त-अलाक्ष्य का है, अध्यात्म में बैरा ही, यही स्वरूप मानवबीज का है। अविदेवत में बैरा स्वरूप अश्वत्थादि-चान्द्रसम्बन्धन्त प्राकृत विरव का है, अध्यात्म में बैरा ही स्वरूप अप्यत्थादि-शरीरयन्त मानवीय पञ्चपर्या प्रकृति का है। यही मानव और मानव की प्रकृति का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है, एवं यही है—‘प्राकृतमानव की स्वरूपिणा का प्राकृतिक समन्वय।

२४०—प्राकृतमानव की स्वतन्त्रता, तदनुगता सम्बत्सरप्रतीकता का विरोध, एवं सम्बत्सर-प्रतीकात्मक कवल प्राकृत-जन्तु—

हमने पूर्व में प्रतीकमात्रों का समन्वय करते हुए एका कुच्छ कर दिया था कि—‘अनन्ताक्षरकाल का प्रतिमानात्मक प्रतीक सम्बत्सरकाल है एवं सम्बत्सर की प्रतिमा प्राकृत मानव है। अतएव जैसे सम्बत्सरकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक है तथैव परम्परया सम्बत्सरांशभूत प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है’ (देखिए ! पृ सं १८६ परिच्छेद सख्या २१०)। किन्तु उक्त बीजभाव-समन्वय का आधार पर जो अब स्थिति सर्वाथा ही बदल गई। सम्बत्सर का प्रतीक तो पशुजगत् ही माना जायगा इस दृष्टि से जिस का माध्यम से एक सम्बत्सर अपना कृत्स्नस्वरूप (सर्वस्वरूप नहीं) अभिव्यक्त कर देता है। प्राकृतमानव तो कदापि इस सम्बत्सर का प्रतीक नहीं बनसकता। सम्बत्सरकालात्मक चरभाव तो अक्षररूप प्राकृत मानव का अन्तिम पर्यन्त केवल शरीर में ही अन्तमुक्त है। अतएव सम्बत्सर, और मानव दोनों का वहाँ समतुलन कलाया है वहाँ मानव के अरिथ-मन्त्राणि-शारीरमाथा का ही उल्लेख हुआ है *। प्राकृत मानव में जो स्थान केवल शरीर का है वही स्थान यहाँ सर्वात्मक सम्बत्सर का है। अतएव प्राकृत मानव का शरीर तो फिर भी इस सम्बत्सर का प्रतीक माना जासकता है। किन्तु कदापि सम्पूर्ण प्राकृत मानव को इस सम्बत्सर का प्रतीक हो ही नहीं सकता बन ही नहीं सकता। वहाँ अनन्ताक्षरकाल और वहाँ चान्द्रसम्बत्सरयत्नक कर्काल !। एवमेव वहाँ अनन्तअलाक्ष्य प्राकृत मानव और वहाँ व्यक्तकालात्मक चान्द्रसम्बत्सर !।

२४१—मानव के एकांश से आविर्भूत सम्बत्सरकाल की मानव के समतुलन में अपूर्वता अकृत्स्नता, एवं दृष्टान्तात्मक प्रतीकलक्षण व्यामोहन से आत्मप्राय—

हाँ मानव उस अनन्तकाल का दृष्टान्तात्मक सर्वात्मक प्रतीक अवश्य ही बन सकता है बना है वेदशास्त्र में। एवमेव जैसे सम्बत्सरकाल उस अनन्तकाल का कृत्स्नात्मक प्रतीक है तथैव यही सम्बत्सर उस प्राकृतमानव का भी प्रतीक बन सकता है बना है वेदशास्त्र में। सम्बत्सर से मानव का निर्माण नहीं हुआ है, अस्तित्व मानव के एकांश से सम्बत्सरयत्न की अभिव्यक्ति हुई है। मानव सम्बत्सर के गर्भ में नहीं है, अस्तित्व मानव के गर्भ में सम्बत्सर है—‘यस्मादवाक्-सम्बत्सरमहोभिः परिवृत्तते’। ‘पुरुषो वै यज्ञः—‘पुरुषसम्मिसो यज्ञ’ (श्व० ३१।१।२१)—‘पुरुषो वाच सम्बत्सरः (गो पू ५।३)—‘पुरुषो वै

विषयसम्बन्धसमन्वयार्थी भूयिष्यत् चान्द्रसम्बन्धसमन्वयार्थी चान्द्रमा-इन पाँच प्राकृत-विस्तृतपूर्वार्थी-
वर्णों की समन्वितत्वस्था'। क्या स्वरूप है इस समन्वितत्वस्था का? प्रश्न का उत्तर है- स्वात्मसुख
व्यक्त, पारमस्त्र्य महान् सीरी बुद्धि, चान्द्र मन, पार्थिव शरीर, इन पाँच पदों की प्राकृत सम-
न्वितत्वस्था'। और सर्वान्त में क्या स्वरूप है इस 'प्राकृत समन्वितत्वस्था' का? प्रश्न का अन्तिम उत्तर
- 'प्राकृत मानव'। जिस मानव की प्रकृति में अल्पक-महान्-बुद्धि-मन-शरीर-य पाँच प्राकृतिक पद
सन्वित रहेंगे उसी मानव को 'प्राकृतमानव' कहा जायगा।

२३४-प्राकृत विश्व, और प्राकृत मानव, प्राकृत मानव का जीवत्व, एवं अप्राकृत
मानव का आत्मत्व, तथा जीवसीमागमित प्राकृत विश्व-

पान दीनिय- जिस मानव की प्रकृति में ५ पाँच पदों का वाक्याष्ट पर। कान है यह मानव
केसके कोश में-कोश में-आइ में प्रकृति जैसा और जैसा तत्व विद्यमान है, जिस प्रकृति के ५ पाँच प्राकृत-
पद हैं?। अथवा अथवा सं आरम्भ कर चान्द्रसम्बन्धसमन्वित बितने मी प्राकृतिक-अलविषय हैं उन सब का
तो संभव परोरबामूर्ति-पञ्चपुण्यहीरपञ्च अरन्धकैन्द्रीभूत-अभ्यक्त-स्वयम्भू-से हो ही साथ है। अतएव अथवा अ-
थवा से आरम्भ कर चान्द्रसम्बन्ध-समन्वित किंवा चान्द्रसम्बन्ध से आरम्भ कर अथवा अथवा-समन्वित का
समपूर्ण प्राकृत-विकृत तो पञ्चपदों-स्वामन्धुवी अभ्यक्ता प्रकृति से ही परिष्कृत है, जिस इस सम्पूर्ण 'समन्वित
का नाम ही 'प्राकृतविरव' विषय है। मानव का विरव ही मानव की प्रकृति है'। इस अपने प्राकृत
विरव की अपेक्षा से ही मानव 'प्राकृतमानव' कहलाया है। वही वह प्रश्न उपस्थित है कि, जिस मानव का
यह पञ्चपदों किंवा अथवा अथवा चान्द्रसम्बन्धसमन्वित सर्वपदा प्राकृत विरव है इस प्राकृत विरव को स्वप्रतिष्ठा
में आरम्भ करने वाला मानव कौन? इसी प्रश्न का उत्तर है-'जीव'। 'जीव' का नाम है 'मानव' एवं
इसकी पञ्चपदा प्रकृति का नाम है इस जीवमानव का प्राकृतसंसार प्राकृत विरव। इस प्राकृत विरव से नित्य
समन्वित जीव' नामक मानव का ही नाम है 'प्राकृतमानव'। जीव स्व ही जीव भी है एवं यही जीव
अपने महिमाभाव से पञ्चपदा प्रकृति मी बन रहा है। अथवा समन्वितत्वप्रवृत्ति प्रकृति 'जीव' है, एव महि
माध्यव्यक्तिप्रवृत्ति वही पञ्चपदा प्रकृति इस जीव का प्राकृत विरव है। प्राकृत विरव में जीव नहीं है अथवा
जीवसीमा में प्राकृत विरव प्रतिष्ठित है।

२३५-आत्मभाव से असस्पृष्ट प्राकृत जीव, जीव के अविनस्वर विनश्वर विषय', तथा
दानों का स्वरूप दिग्दर्शन-

क्या उत्तरण्य?। तात्पर्य यही है कि प्रकृति में लोकभावानुसार-प्राकृत शरीर में जीव है, अथवा
तो जीव में प्राकृत शरीर है?। अथवा शरीर के भीतर जीव है, अथवा तो जीव के भीतर शरीर है? इस
प्राकृत प्रश्न ने आचार्यशत्रुघ्न बार्हस्पति-महर्षि के निःसीमरूप से उत्प्रेक्षित कर रखा है इसलिये कि, उसने
'जीव' के स्वयं शब्द का समन्वित बोझ दिया है। अन्वयतः 'प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा' नामक
अग्रिम अक्षर में इस अर्थ में स्पष्ट करने का प्रयास किन्ना जायगा। अतएव अथवा इसे तुल्यरूप न लेते हुए अमी
हमें यही निवेदन कर देना है कि -जीव प्राकृत मानव है, एव आत्मा अप्राकृतमानव है। अतएव आत्मा जीव

माषों का धारण कर रहता है। इसी आधार पर—‘इतस्त्वन्यां प्रकृतिं त्रिभिः परा—जीवभूतां—महानाहो ! यद्यद् धाम्यत जगत्’ (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। जैसा, जो स्वरूप आधिदैविक में अनन्त-अलाघर का है, अध्यात्म में वैद्य ही, यही स्वरूप मानवबीज का है। अधिदैवत में जैसा स्वरूप अरकपादि-चान्द्रसम्बन्धरूपान्त प्राकृत विरय का है, अध्यात्म में वैसा ही स्वरूप अम्यक्तादि-शरीररूपान्त मानवीया पञ्चपत्नी प्रकृति का है। यही मानव, आर मानव की प्रकृति का अधिष्ठित स्वरूप परिचय है, एवं यही है—‘प्राकृतमानव की स्वस्मिण्या का प्राकृतिक समन्वय।

२४०—प्राकृतमानव की स्वतन्त्रता, तदनुगता सम्बन्धरूपप्रतीकता का विरोध, एवं सम्बन्धरूप-प्रतीकप्रत्यय काल प्राकृत-जन्तु—

इसने पूर्व में प्रतीकभावों का समन्वय करते हुए एसा कुछ कह दिया था कि—‘अनन्ताक्षरकाल का प्रतिमानात्मक प्रतीक सम्बन्धरूपकाल है एवं सम्बन्धरूप की प्रतिमा प्राकृत मानव है। अतएव जैसे सम्बन्धरूपकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक है, तथैव परम्परया सम्बन्धरूपशुभ्र प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है (देखिए ! पृ. सं. १८६ परिच्छेद अध्याय २१०)। किन्तु उक्त बीजभाव-समन्वय के आधार पर तो अब स्थिति सर्वथा ही बदल गई। सम्बन्धरूप का प्रतीक तो पशुजगत् ही माना जायगा इस दृष्टि से जिस के माध्यम से एक सम्बन्धरूप अपना कृत्स्नस्वरूप (सर्वस्वरूप नहीं) अभिव्यक्त कर देता है। प्राकृतमानव तो कदापि इस सम्बन्धरूप का प्रतीक नहीं बनसकता। सम्बन्धरूपकालात्मक चरमानव तो अक्षररूप प्राकृत मानव का अन्तिम पर्यन्त केवल शरीर में ही अन्तर्भूत है। अतएव सम्बन्धरूप, आर मानव, दोनों का बड़ा समतुलन बतलाया है यहाँ मानव का अस्थि-मज्जादि-शरीरमाषों का ही उल्लेख हुआ है *। प्राकृत मानव में जो स्थान काल शरीर का है वही स्थान यहाँ पर्यन्तक सम्बन्धरूप का है। अतएव प्राकृत मानव का शरीर वा फिर भी इस सम्बन्धरूप का प्रतीक माना जासकता है। किन्तु कदापि सम्पूर्ण प्राकृत मानव तो इस सम्बन्धरूप का प्रतीक हो ही नहीं सकता बन ही नहीं सकता। यहाँ अनन्ताक्षरकाल और यहाँ चान्द्रसम्बन्धरूपकाल पर्यन्तक !। एवमेव यहाँ अनन्तकालात्मक प्राकृत मानव, और यहाँ व्यक्तअक्षरकाल चान्द्रसम्बन्धरूप !।

२४१—मानव के एकांश से आविर्भूत सम्बन्धरूपकाल की मानव के समतुलन में अपूर्णता अकृत्स्नता, एवं दृष्टान्तात्मक प्रतीकलक्षण व्यामोहन से आत्मव्याय—

यहाँ मानव उस अनन्तकाल का दृष्टान्तात्मक सर्वप्रथम प्रतीक अवश्य ही बन सकता है वना है वेदशास्त्र में। एवमेव जैसे सम्बन्धरूपकाल उस अनन्तकाल का कृत्स्नात्मक प्रतीक है तथैव यही सम्बन्धरूप उस प्राकृतमानव का भी प्रतीक बन सकता है वना है वेदशास्त्र में। सम्बन्धरूप से मानव का निर्माण नहीं हुआ है अपितु मानव के एकांश से सम्बन्धरूप की अभिव्यक्ति हुई है। मानव सम्बन्धरूप के गर्भ में नहीं है अपितु मानव के गर्भ में सम्बन्धरूप है—‘यस्माद्दर्शक-सम्बन्धरूपमहोभिः परिषत्तते’। ‘पुरुषो वै यज्ञः—पुरुषसम्मिसो यज्ञ’ (शत० ३।१।४।२१)—‘पुरुषो वाच सम्बन्धरूप’ (गो पू. ५।१)—‘पुरुषो वै

‘प्राज्ञुन’ ! शरीर बदलते रहते हैं मानव (जीव) नहीं बदलता। क्योंकि शरीर में मानव (जीव) नहीं है, अपितु शरीर मानव (जीव) में है। आचार नहीं बदलता, अभिये बदलते रहते हैं।

२३८—प्राकृत-मानवीय-अविनश्वर जीवों के, तथा वैकारिक-परवादि विनश्वर जीवों के प्राकृत-स्वरूपों में महान् अन्तर—

ठीक इसके विपरीत मानवेतर परवादि प्राणियों में नया ही शरीर, शरीर से ही शरीर, शरीर में ही नवीन ही तात्कालिक ही जीवमात्र का दृष्टात् कुरन्त्यात् से उद्गम, शरीर के साथ ही इस जीव का संरक्षण एवं शरीरसाध के साथ ही समाप्ति। न पूर्वक्रम न उत्तरक्रम न कर्ममन में ही स्वरूपामिम्पटि। केवल अद्यानपानपरपद्यता। दैवे-नये-तुले-जासाकमानुसार काल-मोक्षया-जाते-पीते-मल-मूत्रादि-विद्युत्कियते हुए स्वच्छन्दपूर्वक प्राण-साय-रात-आधीरात दुपहर-सर्वा-सक्रे सम्मूल-शारीरिक-मानसिक-काममोगी का अनुगमन करते हुए इतस्तत् प्रकृतिप्रेरणया शरीर से जीवधार को उठाए हुए इन्द्रम्यमात्र फले रहना ही इन प्राणियों का समस्त अविनेषित्व है अिनद्य कोर् इतिहास नहीं है। यही प्राकृत मानवीय जीव एवं वैकारिक परवादि-जीव इन दोनों में बड़ा महान् अन्तर है अिन के अन्वय के अिना कालम्बप-अविभात ही बना रहता है।

२३९—चान्द्रसम्बत्सरकालानुबन्धी मानवेतर प्राणिस्रगत्, एवं अनन्तकालानुबन्धी मानवीय-जीवजगत्, तथा अपराप्रकृतिमूलक धरात्मक प्राकृतिक जन्तु और पराप्रकृतिमूलक अधरात्मक मानवजीव—

प्राकृत प्राणियों का वह वैकारिक-विनश्वर-जीवमय (जो इन के शरीरों के साथ ही तात्कालिकरूप से ही उत्पन्न होता है एवं शरीरसमाप्ति के साथ ही नष्ट हो जाता है) उस चान्द्रसम्बत्सरकाल से ही सम्बन्ध रखता है जो वर्षात्मक-मूल-व्यक्तम-मौक्तिककाल ही है *। उपर प्राकृत-मानवजीव का सम्बन्ध उस महाकाल से है अिसे इनने अनन्त-अमूर्त-अध्यातम अधरकाल कहा है अेकि अरकल्पकाल से भी परस्तात् है अिस के गर्भ में अरकल्पकालादि चान्द्रसम्बत्सरजन्तु सम्पूर्ण प्राकृत-असत्त्वित प्रसिद्धि है। अनन्ताचररूप-परमअज्ञ ही मानव का जीवमात्र है। आधिदैविकजगत् में उसका नाम ‘अनन्तकालाचर’ है एवं मानव-रूपा में उसी का नाम-‘प्राकृतमानव’ है। जो वह है वही वह है। वह अपने सम्पूर्ण कालिक प्राकृतिक विरव का अध्याय है तो वह (मानव) अपने अध्यायादि शरीरजन्त-सम्पूर्ण कालिक शरीर का अध्याय है। अनन्तकालात्मक आचर का नाम ही है उस अनन्त-अध्यायक को ‘पराप्रकृति’ रही का नाम है ‘प्राकृत-मानव जीव’ इतिने अपने आधिदैविक प्राकृत-‘अनन्तकाल’ रूप से सम्पूर्ण कालिक विरव को स्वर्ग में धारण कर रखा है, अेकि अविभक्त मानव नामक प्राकृत जीवने स्वर्ग में अपने सम्पूर्ण अध्यायादि-अकालिक

* वर्ष में तत्कालानुबन्धी में तत्कालीन काल-पराचरि प्राणी उत्पन्न होते रहते हैं, नष्ट होते रहते हैं, अिनका अद्यत-अियतव के अकालिक और कोर् इतिहास नहीं होता। सम्पूर्ण प्राणियों का वही इतिहास है अिकल्प मूल वह वर्षात्मक सम्बत्सरकाल ही बना रहता है।

मात्रों का धारण कर रक्ता है। इसी आधार पर—'इतस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि में परां-जीवभूतां-महाराहो ! ययत् प्राप्यत जगत् (गीता) यह विद्वान्त स्थापित हुआ है। ब्रह्मा, जो स्वरूप आधिदैविक में अनन्त-असाधारण है, अध्यात्म में वैसा ही, यही स्वरूप मानवबीज का है। अधिदैवत में वैसा स्वरूप अश्कथादि-चान्द्रसम्बन्धरूपतः प्राकृत विरय का है, अध्यात्म में वैसा ही स्वरूप अधिष्ठादि-शरीरान्त मानवीया पञ्चपत्नी प्रकृति का है। यही मानव और मानव की प्रकृति का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है, एवं यही है—'प्राकृतमानव की स्वरूपविद्या का प्राकृतिक समन्वय।

२४०—प्राकृतमानव की स्वतन्त्रता, तदनुगता सम्बन्धप्रतीकता का विरोध, एवं सम्बन्ध-प्रतीकतात्मक फल प्राकृत-जन्तु—

इसने पूर्व में प्रतीकमात्रों का समन्वय करते हुए एका युद्ध कद दिया था कि—अनन्ताक्षरकाल का प्रथिमानामक प्रतीक सम्बन्धकाल है एवं सम्बन्ध की प्रतिमा प्राकृत मानव है। अतएव जैसे सम्बन्धकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक है तथैव परम्परया सम्बन्धशरीरतः प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है' (देविप. 1 पृ. सं. ४२६ परिच्छेद सख्या २१०)। किन्तु उक्त बीजभाव-समन्वय का आधार पर तो अत्र स्थिति सर्वथा ही बदल गई। सम्बन्ध का प्रतीक तो पशुजगत् ही माना जायगा इस दृष्टि से बिना के माध्यम से एक सम्बन्ध अपना कृतस्वरूप (सर्वस्वरूप नहीं) अधिष्ठात् कर देता है। प्राकृतमानव तो कदापि इस सम्बन्ध का प्रतीक नहीं बनसकता। सम्बन्धकालात्मक धरमान तो अक्षररूप प्राकृत मानव के अन्तिम पर्वरूप के रूप शरीर में ही अन्तर्भूत है। अतएव सम्बन्ध, और मानव, दोनों का वहाँ समुलान चलना ही यहाँ मानव का अधिष्ठा-ममादि-शरीरमात्रों का ही उल्लेख हुआ है *। प्राकृत मानव में जो स्थान केवल शरीर का है वही स्थान यहाँ वर्तमानक सम्बन्ध का है। अतएव प्राकृत मानव का शरीर तो फिर भी इस सम्बन्ध का प्रतीक माना जासकता है। किन्तु कदापि सम्पूर्ण प्राकृत मानव तो इस सम्बन्ध का प्रतीक हो ही नहीं सकता वन ही नहीं सकता। वहाँ अनन्ताक्षरकाल और वहाँ चान्द्रसम्बन्धरूपतः करकाल ?। एवमेव वहाँ अनन्तकालात्मक प्राकृत मानव, और वहाँ अक्षरकालात्मक चान्द्रसम्बन्ध ?।

२४१—मानव के एकाग्र से आविर्भूत सम्बन्धकाल की मानव के समतुलन में अपूर्वता अकृत्स्नता, एवं दृष्टान्तात्मक प्रतीकलक्षण व्यामोहन से आत्मप्राय—

ही मानव उस अनन्तकाल का दृष्टान्तात्मक सर्वात्मक प्रतीक अक्षरय ही बन सकता है नना है वेदशास्त्र में। एवमेव जैसे सम्बन्धकाल उस अनन्तकाल का कृत्स्नात्मक प्रतीक है, तथैव यही सम्बन्ध उस प्राकृतमानव का भी प्रतीक बन सकता है वना है वेदशास्त्र में। सम्बन्ध से मानव का निर्माण नहीं हुआ है अर्थात् मानव के एकाग्र से सम्बन्धकाल की अधिष्ठात् ही हुई है। मानव सम्बन्ध के गर्भ में नहीं है अर्थात् मानव के गर्भ में सम्बन्ध है—'यस्मात्प्राक्-सम्बन्धकालमहोभिः परिवर्तते'। 'पुरुषो वे यज्ञः—पुरुषसन्मितो यज्ञः' (शत० ११.१.२१)। 'पुरुषो वाच सम्बन्धकालः' (गो पू. ५.१)। 'पुरुषो वे

‘चातुर्न’ । शरीर बदलते रहते हैं मानव (जीव) नहीं बदलता । क्योंकि शरीर में मानव (जीव) नहीं है, अस्थि शरीर मानव (जीव) में है । आभार नहीं बदलता, आभेय बदलते रहते हैं ।

२३८—प्राकृत-मानवीय-अविनश्वर जीवों के, तथा वैकारिक-परधादि विनश्वर जीवों के प्राकृत-स्वरूपों में महान् अन्तर—

ठीक इसके विपरीत मानवेतर परधादि प्राणियों में नया ही शरीर, शरीर से ही शरीर, शरीर में ही नवीन ही सात्त्विक ही बीजभाव का इच्छाद कुटन्वय से उत्पन्न, शरीर के साथ ही इस जीव का संरक्षण एवं शरीरनाश के साथ ही समाप्ति । न पूर्वजन्म न उत्तरजन्म न वर्तमान में ही स्वस्वामिस्यक्ति । केवल अखण्डानुपस्थिति । जैसे-नसे-गुले-फाल्गुमानुसार काल-प्रेरणका-माते-पीते-मला-मूत्रादि-विसर्जित करते हुए स्वप्न-जाग्रत-प्राण-साय-उठ-आधीरत हुए-सर्व-सयके सम्मुख-शारीरिक-मानसिक-कामभोगा का अनुगमन करते हुए इतकतः प्रकृतिप्रेरणया शरीर से बीजमार का उठाए हुए दन्तमयाय के रहना ही इन प्राणियों का समस्त बीजनिष्ठ है विनश्वर और इतिहास नहीं है । यही प्राकृत मानवीय जीव एवं वैकारिक परधादि-जीव इन दोनों में यह महान् अन्तर है कि के अन्तः के निना अक्षय्य-अविनाश ही बना रहता है ।

२३९—चान्द्रसम्बत्सरकालानुबन्धी मानवेतर प्राणिवगत, एवं अनन्तकालानुबन्धी मानवीय-अधिवगत, तथा अपराप्रकृतिमूलक चरात्मक प्राकृतिक जन्तु और पराप्रकृतिमूलक अचरात्मक मानवजीव—

प्राकृत प्राणियों का वह वैकारिक-विनश्वर-बीजभाव (जो इन के शरीरों के साथ ही सात्त्विकजन्म से ही उत्पन्न होता है एवं शरीरसमाप्ति के साथ ही नष्ट हो जाता है) उस चान्द्रसम्बत्सरकाल से ही सम्बन्ध रहता है जो वर्षा-मूल-स्युक्तम-भौतिककाल ही है * । उच्च प्राकृत-मानवजीव का सम्बन्ध उस महाकाल से है जिसे हमने अनन्त-अमूर्त-अस्यक्त अक्षरकाल कहा है जोकि अक्षय्यकाल से ही परस्तात् है विष के गर्म में अक्षय्यकालादि चान्द्रसम्बत्सरकाल सम्पूर्ण प्राकृत-अक्षय्यकाल प्रतिष्ठित है । अनन्तकाल-परमकाल ही मानव का बीजभाव है । आधिदैविकजन्म में उक्त नाम ‘अनन्तकालाक्षर’ है एवं मानव-रूपा में उसी का नाम-‘प्राकृतमानव’ है । जो वह है यही यह है । वह अपने सम्पूर्ण आशिक प्राकृतिक विरव का अक्षय्य है जो वह (मानव) अपने अक्षय्यकाल शरीरकाल-सम्पूर्ण आशिक शरीर का अक्षय्य है । अनन्तकालात्मक अक्षर का नाम ही है उस अनन्त-अस्युक्त का ‘परमप्रकृति’ इती का नाम है ‘प्राकृत-मानव जीव’ इतीने अपने आधिदैविक प्राकृत-‘अनन्तकाल’ रूप से सम्पूर्ण आशिक विरव को स्वर्ग में पारण कर रखा है, जैसाकि जन्मिष्ठ मानव नामक प्राकृत जीवने स्वर्ग में अपने सम्पूर्ण अक्षय्यकाल-आशिक

* वर्ष में उक्तस्युक्तविशेषों में उक्तविशेष और-महादि प्राणी उत्पन्न होते रहते हैं नष्ट होते रहते हैं विनश्वर अक्षय्य-अस्युक्त के अतिरिक्त और और इतिहास नहीं होता । सम्पूर्ण प्राणियों का यही इतिहास है, जिसका मूल यह अक्षय्यकाल सम्बत्सरकाल ही बना रहता है ।

अत्र क्षुद्रबुद्धिशिष्यस्य दृष्टान्त —

यथा एकस्य भद्रबुद्धिनामकाचार्यस्याऽविनीतः क्षुद्रबुद्धिनामकः शिष्य आसीत् । यदा गुरुः शिक्षार्थं प्रेरयति, तदा शिक्षा वह्निज्वालेव तस्य प्रतिभाति, अतः विषवत्, तपस्या खड्गधारेव, स्वाध्यायः कर्णमूचीव, समयो यम इव । अयमाहारे विहारे व्यवहारे च सर्वदाऽऽचार्यं पीडयति । सरस भद्रक मुखादमाहार स्वयमश्नाति विवर्णं विरसमभद्रक रूक्षमाचार्याय प्रयच्छति । अथ कदाचिदसौ श्रावकश्राविकाणां पुरतो वृत्ते—अथ मम गुरोरुपवासः, पास वह इसलिये नहीं रहना चाहता है कि वह प्रत्यनीक—अर्थात्—गुरु-द्वेषी—गुरु के छिद्रान्वेषण में तत्पर है, गुणद्वेषी वह इसलिये है कि वह असम्बुद्ध अर्थात् हितार्हित के विचारों से रहित है ।

अविनीत शिष्य कैसा होता है इस बात को क्षुद्रबुद्धि शिष्य के दृष्टान्त से स्पष्ट किया जाता है—

भद्रबुद्धि नामके एक आचार्य थे । उनका क्षुद्रबुद्धि नामक शिष्य था जो बड़ा अविनीत था । यह यथानाम तथागुण था । गुरु महाराज जब इसे शिक्षा देने बैठते तब उसका मन उदास हो जाता था । शिक्षा उसे ऐसी मालूम होती थी कि जैसे अग्नि की ज्वाला है । विषतुल्य इसे अतः ज्ञात होने लगते । तलवार की धार के समान यह तपस्या को मानता, कर्ण को मेदनेवाली शलाई के तुल्य यह स्वाध्याय को समझता । अधिक क्या कहा जाय—समय को तो यह यमके समान निहारता । आहार में विहार में एवं व्यवहार में यह सदा गुरु—महाराज को दुःस्मित ही किया

नहीं, तेमनी पास रहेतो नहीं, पास रहेवानु ते अटका भाटे नहीं आहते । ते ते प्रत्यनीक—अर्थात् गुणद्वेषी—गुणना छिद्रा नेवामा तत्पर छे गुणद्वेषी ते अे भाटे छे ते छिताछितना विचारार्थी रहित छे

अविनीत शिष्य कैसा होय छे आ बातने क्षुद्रबुद्धि शिष्यना दृष्टान्तही स्पष्ट करवाभा आवे छे—

भद्रबुद्धि नामना अेक आचार्य अता तेमने क्षुद्रबुद्धि नामनो अेक शिष्य अतो जे अविनीत अतो, तेनाभा नाम प्रभाषे शुषु अता । गुण भडा राज न्यारे तेने शिक्षा आपवा अेसता त्यारे तेनु मन उदास थछे जतु शिक्षा जेने अग्निनी न्याणा जेवी लागती अती अत तेने अहेर जेवा कउवा लागता, तपस्याने ते तलवारनी धार समान गणुतो, स्वाध्यायने ते कानने विधनारा सोया भाक्षक बन्युतो अतो । बहु शुं कहेवाना आवे । समयने तो ते यमनी भाक्षक न जेतो, आहारभा, विहारभा, ने वहेवारभा अे गुणभडाराजने

सम्बन्धः (यत् १२।२।४।२।)-इत्यादि पञ्च सम्बन्ध को ही पुरुष का प्रतीक मान गइ है। किन्तु पुरुष का ही, प्राकृतपुरुष का प्राकृत मानव का, यह विरोधरूप से समझ रखिए, जिसके माध्यम में ही हमें अनुभव में ही अप्राकृत मानव का सम्बन्ध करना है। जिस महत्वमहीमान् अनन्तकाल का अक्षतक पराक्रम हुआ है उस से तो इस प्राकृत मानव का प्राकृत-इतिहास ही अस्तित्व ही पाया है। कदापि इस अनन्त-काल के माध्यम से उस अक्षतकाल का अनुमान भी सम्भव नहीं है। प्राकृत विरव में अनन्तकाल, और तदन्तित प्राकृत मानव दो ही ऐसे प्राकृतिक विवर्त में, जिन्हें दृष्टान्त्यन्तक प्रतीक मान बैठन का ध्यामोहन हुआ था। किन्तु यह ध्यामोहन गणार्थ नहीं बन सका इन दोनों ही विवर्तों की प्रकृतियों के कारण।

२४२-अप्राकृत-श्रुतिमानव क माध्यम से प्रतीकता क समन्वय की चेष्टा,—प्राकृत-मानव की प्राकृत-सुद्धि की कुण्ठितता-विवशता, एवं तन्मूलक प्रतीकात्मक दृष्टान्तों की और आकर्षण—

अब तो केवल यह अप्राकृत-श्रुतिमानव ही रोचक रहा जाता है जिस के माध्यम से ही प्रतीकता की प्राकृत-चेष्टा और करनी जाती है। इस चेष्टा से पहिले अनन्तकाल विवर्त तथा तदन्तित प्राकृत मानव विवर्त-इन दोनों को वास्तविकरूपेण अनुमानपूर्वक इसलिए लक्ष्य करना ही लेना चाहिए, जिस से अन्तर्गता अक्षर-प्रकृति की कालात्मकता में फिर कोई ध्यामोहन रोचक न रहनाय। व्यक्तिचिन्तन के द्वारा अक्षर ही हम जैसे प्राकृत मानवों को तो इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना पड़ेगा कि, अनन्तकाल से प्रकृति का उपक्रम होय है एवं सम्बन्धरूप पर प्रकृति का उपसहार होय है। इन सम्पूर्ण प्राकृत विवर्तों में प्राकृत-मानवों के अतिरिक्त दृष्टान्त्यन्तक प्रतीक मान लिया जाय ! किना प्रतीक-माध्यम के क्योंकि प्राकृत मानव की प्राकृत सुद्धि किन्ती तन्म ही अनुयामी करने के अन्वय से अर्हण है। अतएव सुद्धिमान् प्राकृत मानव तो उस अनन्तकाल पर आस्था कर ही नहीं सकता। तभी तो सुद्धिमान् प्राकृत लौकिक-साक्षात् मानवों में अपने आप को उस आत्मानन्त्य से उसीप्रकार अर्हण ही बनाए रखता है जैसे कि प्राकृतिक-वैचारिकता के परवाहि प्राची उस आनन्त्य से दृष्टक रहते हुए अपनी अनुमोहापरययता में ही ऊर्ध्वतना समाप्त हो जाते हैं, इति यु-आत्मन्यासमेव। कदापि अस्तु पापानाम्भ्रमभ्रमेयसे यतः। किन्ता-काले कारुणिक। स्वयैव कृत्या तं भावनीया मराः।

प्राकृतमानवस्य-स्वरूपरिलेख -कालात्मक-

पूर्वमद-हृत्नमद	पूर्णमित्-	कृत्नमित्
१-मनन्तमल	मानवबीर	} जीव (०) } महत्त्वभिदावा-प्राकृतोऽयं मानव.
२-मरुत धोऽशी	मानवपादशी	
३-पररा-घन्यक्तः	मानवाम्यक्तः	} अभ्यक्त (५)
४-रजप्रत क-स्वयम्भू	मानवाम्यक्तः	
५-रजमग-परमदी	मानवमहान्	} महान् (८)
६-रजोयोनि-मूर्ध्	मानवपुद्गि	
७-रजोमयी-पृथिवी	मानवशरीरम्	} शरीरम् (२)
८-रजोक्त-घन्रमा	मानवमन	
इति नु-अभिदेशतम् प्रकृत्या पूर्णम्	इति नु-अध्यात्मम्-प्रकृत्या अपूर्णमेव	

पद्यपदे-महत्त्वित्य-मानवस्य
-जीवमहिमापिबर्ते-प्रतिष्ठिता प्रकृति -
"जीवे शरीरम् । नतु शरीरे जीवः ।
इति हि-विषयक, मानवजीवानुगतः

२४३-अप्राकृत-मानव की श्रुतिमानवता का समन्वय-

उक्त-कालिकानुगत कालिक स्वरूप ही प्राकृत मानव का प्रकृति-निष्पन्न-कालात्मक-वह-‘व्यक्तित्व’
ह जो इसे उस कालातीव्र मनन्तमल क साथ सम्मिलित नहीं होने देता। और यही दृष्टका प्रकृतिव्या-
मोहनात्मक-पुद्गिगम्य-वह महान् प्राकृतिक व्यक्तित्व है जो इस देश प्राकृतिक व्यक्तित्व से अर्कस्वह अतएव
अप्राकृत ‘श्रुतिमानव’ के साथ सम्मिलित होने ही नहीं देता जिस श्रुतिमानव के अविष्णानुग्रह के बिना न
तो इतना प्राकृत-निर्मोहन ही पलायित होता एवं न इसे मनन्तमलानुगत-कालातीव्र का स्वरूपबोध ही हो-
सक्या। क्योंकि समस्त प्राकृत विषयों में एकमात्र अप्राकृत मानव श्रुतिमानव ही है जिसे प्रतीक बना कर
ही प्राकृत मानव उस अप्राकृत मल के साथ सम्मिलित हो सक्य है।

सम्बन्धः (यत् १२।२।४।) -इत्यादि वचन सम्बन्ध को ही मुख्य वा प्रतीक मान २६ है। किन्तु मुख्य वा, प्राकृतपुरुष वा प्राकृत मानव वा वह विद्यमान्य से स्मरण रणिए, त्रिक माध्यम न ही हमें अनुभव में ही अप्राकृत मानव वा अन्वय्य करता है। जिस महोत्सहीमान् अनन्तकाल वा अक्षतक यगामान हुआ है उस से तो इस प्राकृत मानव वा प्राकृत-इतिहास ही सम्बन्धित हो पाया है। कदापि इन अनन्त-काल के माध्यम से उस अलातीत वा अनुमान भी सम्भव नहीं है। प्राकृत विषय में अनन्तकाल और कानिप्र प्राकृत मानव दो ही ऐसे प्राकृतिक विवर्तों में सिद्धो दधान्यात्मक प्रतीक मान बैठन वा आनोदन हुआ वा। किन्तु यह आनोदन गद्यार्थ नहीं बन सका इन दोनों ही विवर्तों को प्रकृतिया के कारण।

२४२-अप्राकृत-श्रुतिमानव क माध्यम से प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा,—प्राकृत-मानव की प्राकृत-बुद्धि की कुण्ठितता-निवृत्तता, एवं तन्मूलक प्रतीकात्मक दधान्यात्मक और आक्षर्य—

अब तो केवल वह अप्राकृत-श्रुतिमानव ही शेष रह गया है जिस के माध्यम से ही प्रतीकता की प्राकृत-चेष्टा और करनी जाती है। इस चेष्टा से पहिले अनन्तकाल विवर्त तथा उद्यमिप्र प्राकृत मानव विवर्त-इन दोनों को तालिकाक्रमेण ध्वनयानपूर्वक इतलिये लक्ष्य बना ही लेना चाहिए, जिस से अविभूय आक्षर-प्रकृति की अलात्मकता में फिर कोई आनोदन शेष न रहजाय। तालिकावित्तर के द्वारा आक्षर्य ही हम जैसे प्राकृत मानवों को तो इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना पड़ेगा कि, अनन्तकाल से प्रकृति वा उपक्रम होय है एवं सम्बन्धकाल पर प्रकृति वा उपसहार होय है। इन सम्पूर्ण प्राकृत विवर्तों में प्राकृत-मात्रों के अतिरिक्त वैसा एक भी तो सिद्देशुअलातीत अप्राकृत मात्र नहीं है जिसे प्रकृतकाल-अन्वयातीत-अनन्तकाल वा तन्म को अनुगामी बनने के अन्वय्य से अक्षर्य है। अतएव बुद्धिमान् प्राकृत मानव तो उस अनन्तकाल पर आस्था कर ही नहीं सकता। तमी तो बुद्धिमान्! प्राकृत लोकावधिक-वाक्यादि मानवों में अपने आप को उस आनमानन्व से उचीप्रक्षर अक्षर्य ही बनाए रखता है जैसे कि प्राकृतिक-वैचारिकता के परबन्धि प्राणी उस आनन्व से प्रकृत्य रहते हुए अपनी कामयोगपरबन्धता में ही अक्षर्यता उभाय हो जाते हैं; इति तु—अलात्प्राप्तमेव। कदापि बहुत पापानामाहमभेयसे यत्। किंवा—अन्ते कारुणिक। तन्वैव कृत्यं तं भावनीया नराः।

प्राकृतमानवस्य-स्वरूपरिलेख - कालात्मक-

पूर्णमद - कृत्स्नमदः	पूर्णमिदम्-	कृत्स्नमिदम्
१-अनन्तकालः	मानवजीव	जीव (०)
२-अनन्तकालः पौडगी	मानवपौडगी	
३-पौडगी-अनन्तकालः	मानवान्यक्तः	अन्यक्त (५)
४-अनन्तकालः स्वयम्भू	मानवान्यक्तः	
५-अनन्तकालः परमेष्ठी	मानवमहान्	महान् (५)
६-अनन्तकालः सूर्यः	मानवसुद्धिः	सुद्धि (१)
७-अनन्तकालः पृथिवी	मानवशरीरम्	शरीरम् (२)
८-अनन्तकालः चन्द्रमाः	मानवमनः	मनः (१)
इति नु-अभिदम्बसम् प्रकृत्या पूर्णम्	इति नु-अभ्यात्मम्-प्रकृत्या अपूर्णम्	

पञ्चपर्याय-प्रकृतिरित्येव-मानवस्य
-जीवमहिमायित्यर्थे-अतिप्रतिता-अकृति-
"जीवे शरीरम् । ननु शरीरे जीव ।
इति हि-विशेषक मानवजीवानुगत

२४३-अप्राकृत-मानव की अविमानवता का समन्वय -

उक्त-वालिदानुगत कालिक स्वरूप ही प्राकृत मानव का प्रकृति-निरूपण-कालात्मक-वह-‘अप्यकृतिर्य’
हे जो इसे उस कालातीत अनन्तकाल के साथ समन्वित नहीं होने देता। और यही इसका प्राकृतिक-
मोहनात्मक-सुदृशान्य-वह महान् प्राकृतिक व्यक्तित्व है जो इसे ऐसे प्राकृतिक व्यक्तित्व से संकल्पित अतएव
अप्राकृत अविमानव के साथ समन्वित होने ही नहीं देता बित अविमानव के आधिभ्यनुग्रह के बिना न
तो इसका प्राकृत-विमोहन ही पलायित होता एवं न इसे अनन्तकालानुगत-कालातीत का स्वरूपबोध ही हो-
सक्य। क्योंकि समस्त प्राकृत विषयों में एकमात्र अप्राकृत मानव अविमानव ही है जिसे पतीक बना कर
ही प्राकृत मानव उस अप्राकृत ब्रह्म के साथ समन्वित हो सकता है।

सम्बन्धः (यस्य १२।२।४।) - इत्यादि वचन सम्बन्ध को ही मुख्य या प्रतीक मान गे है। किन्तु मुख्य क्या? प्राकृतपुरुष का प्राकृत मानव का यह विशेषण से धारण रविण, ब्रह्मके माध्यम से ही हमें अनुभव में ही अप्राकृत मानव का अन्वयण करता है। जिस मरुतोमहीमान् अनन्तकाल का अन्तक यथात्मन हुआ है उस से तो इस प्राकृत मानव का प्राकृत-इतिहास ही सम्बन्धित हो पाया है। कदापि इस अनन्त-काल के माध्यम से उस कालातीत का अनुमान भी सम्भव नहीं है। प्राकृत विश्व में अनन्तकाल और उदमित्त प्राकृत मानव दो ही ऐसे प्राकृतिक विभक्तियों में विभक्त हैं जिनमें अन्वयणमक प्रतीक मान वेदों का व्यमोहन हुआ था। किन्तु यह व्यमोहन गतार्थ नहीं बन गया इन दोनों ही विभक्तियों को प्रकृतियाँ के कारण।

२४२-अप्राकृत-रूपिमानव क माध्यम से प्रतीकता क समन्वय की चेष्टा, - प्राकृत-मानव की प्राकृत-बुद्धि की कुण्ठितता-विषयता, एवं तन्मूलक प्रतीकात्मक दृष्टान्तों की और आकर्षण—

अब तो केवल यह अप्राकृत-रूपिमानव ही शेष रह गया है जिस के माध्यम से ही प्रतीकता की प्राकृत-वेदा और करनी जाती है। इस वेदा से पहिले अनन्तकाल विभक्त तथा उदमित्त प्राकृत मानव विभक्त-इन दोनों को तालिकाक्रमेण धारणपूर्वक इसलिए लक्षण बना ही लेना चाहिए, जिस से बीच-बूझा आचार-प्रकृति की अन्वयण में फिर कोई व्यमोहन शेष न रहेगा। तालिकाक्रमेण के द्वारा आचार ही हम जैसे प्राकृत मानवों को तो इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना पड़ेगा कि, अनन्तकाल से प्रकृति का उपक्रम होता है एवं अन्तःकरण पर प्रकृति का उपहार होता है। इन सम्पूर्ण प्राकृत विभक्तियों में प्राकृत-मानवों के अतिरिक्त वेद एक भी तो दिग्भ्रमकालातीत अप्राकृत भव नहीं है जिसे प्रकृतकाल-अन्वयणमक-अनन्तकाल का दृष्टान्तमक प्रतीक मान लिया जाय।। बिना प्रतीक-माध्यम के क्योंकि प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि किसी वचन को अनुगामी बनने के अन्वयण से अक्षय्य है। अतएव बुद्धिमान् प्राकृत मानव तो उस अनन्तकाल पर आस्था कर ही नहीं सकता। तभी तो बुद्धिमान् प्राकृत लौकिक-वार्ता-वि मानवों में अपने आप का उस आत्मानन्व से उद्योग-प्रकार अक्षय्य ही बनाए रखता है जैसे कि प्राकृतिक-वैचारिकता के पर्याय प्राणी उस आनन्व से प्रकृत रहते हुए अपनी कामयोग्यता में ही अन्वयणमक आस्था हो जाते हैं इति बु-आत्मानन्वमेव। कदापि अक्षय्य पापानाम्नामभेयसे अक्षयः। किन्तु-अन्वयणमक-वैचारिक। तन्मूलक रूपका त-भाषनीया मरा।।

दीनता-दीनता-आदि दुस्खित-प्राकृतभावनां स परदृष्ट, सद्बन्ध रियति से सम्बन्धित, दृष्टीरूपण शास्त्र-
सिद्ध कच म्यकर्मों में यथाशाल-यथापति-यथायक्ति-कच म्यमूला उत्तरदायित्व की भावना स एषनिष्ठ बना
रहने वाला मानवभ्रष्ट ही अप्राकृत-श्रुपिमानव है ।

२४८-प्राकृतिक यद्यथावत् द्वन्द्वभावों से असस्पृष्ट, अतएव निर्द्वन्द्वरूपेण कर्तव्यनिष्ठा-

परायण मानव की श्रुपिमानवता—

अपनी प्रत्येक समस्या, प्रत्येक कर्म, प्रत्येक उपायना प्रत्येक प्राकृत ज्ञान, प्रत्येक लौकिक-पारिषारिक-
सामाजिक-राष्ट्रीय-अनुग्रही-कच म्यकर्मों में सर्वत्र उपक्रमोपसंहार में अनन्तात्मनस की ही मूलाधार मानने
वाला अनन्ताधारण्य-प्राकृत-अन्तभावों का निर्बाह करने वाला अतएव आद्यन्तरूपण अनन्तमाषानुगत
ही बना रहने वाला, अतएव च अन्तमाषानुगत-प्राकृत-तात्कालिक ज्ञानि-ज्ञात, यथा अपयथा-जम मृत्यु,
शोक-मोह, जरा-व्याधि-मान अपमान-सफलता-विकलता-हर्ष-शोक, आदि आदि किसी भी द्वन्द्व स कमी
भी सुख-सुख-दुःख-दुःख-रस्त-रस्त न होने वाला सदैवमतापूर्वक कच म्यनिष्ठ बना रहने वाला इत्यंमत
मानव भ्रष्ट ही-‘अप्राकृत श्रुपिमानव’ है ।

२४९-‘योऽस्मि-सोऽस्मि’ रूपेण तूष्णीं ईश्वरप्रेरणाया कर्तव्यनिष्ठ-कलाकला-

सस्पृष्ट-जसामर्ग्यसत्त्वानुगामी मानव की ‘श्रुपिमानवता’—

‘मैं जानता हूँ-दृष्ट अतिमान से अस्पृष्ट रहने वाला, ‘मैं कुछ भी नहीं जानता’ इव अस्पृष्ट
मायस से भी वृथक रहने वाला + ऐसे जानने न जानने-वाले अतिमानात्मक लाक्षाचार्यों से पराग्न बना रहने
वाला, ‘योऽस्मि-सोऽस्मि-केनापि वचन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि’ रूपेण तूष्णीं अपनी प्राकृत-
चर्चा को बरामर्ग्यभ्रत नामक अग्निहोत्रवत् याचनीयन प्रकथन करने वाला • मानवभ्रष्ट ही अप्राकृत
श्रुपिमानव है ।

२५०-योगज्ञ-दृष्टिपरायण, महर्षिं शीर्षतमा के ‘विद्यते न विद्वान्’ घोष के अनुगामी,

आत्मनिष्ठ, सबनिष्ठ मानव की-‘श्रुपिमानवता’, एवं तद्द्योग का तात्त्विक-

समन्वय—

और उसका नाम है-श्रुपिमानव जो अपनी आर्षी-योगज्ञ-दृष्टि से अनन्तकाल से आरम्भ कर सम्बन्ध
काल-पर्यन्त के सम्पूर्ण सुधिविषयों का सर्वप्रथमा परिज्ञान प्राप्त करता हुआ भी लौकिक-आलौकिक-अनन्त

— नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद च ।

योनस्तद्देद-तद्देद, नो न वेदति वेद च ॥

—वेद्विप’ केनोपनिषद्ब्रह्मज्ञानभाष्य ० ३

• कुर्वन्नेवेह कर्म्मार्थि जिजीविषेच्छत समा ।

एवं त्वयि नान्यथतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यत नरे ॥

—वेद्विप’ ईशोपनिषद्ब्रह्मज्ञानभाष्य

२४४-समदर्शानुगत-विषमवर्शनात्मक-शास्त्रीय आचारों में एकान्तनिष्ठ मानव, और उसकी श्रुतिमानवता—

क्या स्वल्प-परिमाण है उस अप्राकृत-श्रुतिमानव की ?। अथवा । जो मानव स्वर्णधाम्बन्ध्यापूर्वक विगदेराकात्मकपूर्वक-प्राकृतिक-आचारधर्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहता हुआ इन प्राकृतिक आचारधर्मों-कर्मधर्मों से अपने वैयक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-तथा राष्ट्रीय-लोकानुदयो का सर्वत्रक बना हुआ निस्सन्तुल्य अ अनुगामी प्रमाणित ही इन इन विभिन्न आचारधर्मों का एक आचार-अवलम्ब बना रहता है श्री मानव अप्राकृत-श्रुतिमानव है । समदर्शानुगत आत्मनिष्ठा के आधार पर प्राप्त विष्म-वर्धमानात्मक आचारधर्मों के द्वारा लोकानुदय को सुरक्षित रखने वाला इन प्राकृत कर्मों में क्याविधि-मयाशास्त्र कर्म स्वरूपका-एकनिष्ठ बना रहने वाला किन्तु अपने आत्ममात्र से इनके प्रवर्धकत्व में अपने आपको उन्मूल्य रखने वाला उदात्तनीचदात्त-कर्मनिष्ठ मानवभेद ही अप्राकृत-श्रुतिमानव है ।

२४५-लोक-वित्त-पुत्रपुत्राश्रयी से असस्पृष्ट, एवं लोक-वित्त-पुत्र-कामनाश्रयी से संस्पृष्ट मानव की श्रुतिमानवता—

लोक-वित्त-पुत्रादि एषयाश्री (उरथाकाकाकाका-रन्ध्रों जीवतुगता-रन्ध्राश्री) से एकान्ततः असस्पृष्ट रहने वाला किन्तु शास्त्रविदा-लोक-वित्त-पुत्रादि-कामनाश्री (उरिथताकाकाका कामनाश्री ईरकानुगत्य कामनाश्री) से स्वार्थना असस्पृष्ट रहने वाला इन कामनाश्री के द्वारा स्वल्प (प्राकृतिकस्वल्प) सर्वत्रकपूर्वक परस्परको (परिवार-समाज-राष्ट्र-विरव-स्वर्ग) के सर्वत्रक अ परम्परया परेवस्वत्रेक निमित्त बना रहने वाला मानवभेद ही अप्राकृत-श्रुतिमानव है ।

२४६-परदर्शनमूला लोकमाधुष्यता से असस्पृष्ट, इष्टदेवानुगता भाधुष्यता से नित्य संस्पृष्ट, आस्था-भ्रंश-परायण, श्रुतिकर्मनिष्ठ मानव की श्रुतिमानवता—

परप्राकृतिदर्शनमूला भाधुष्यता से एकान्ततः असस्पृष्ट स्वमठश्रितरनिमूला कुनिष्ठा से सर्वत्रक परःस्पर्शत किन्तु स्वात्ममूला कर्मिता से सर्वत्रक अनन्त आस्था-भ्रंश-रहित श्रुतपयानुष्यता मानवभेद ही अप्राकृत-श्रुतिमानव है । सम्पूर्ण प्राकृतिक-रहस्यो का शास्त्राधार करने के अनन्तर ही इत प्राकृतिक ज्ञान से अपने आपको (अमरमत्वरूप को) विस्मृत न कर बैठने वाला वही ही मानविक-बौद्धिक-प्राकृतिक-कर्मों अतिस्वभिमोहनों से दूषित बना रहने वाला 'पायिष्ठत्यं निर्विषयं वाक्येन विद्यासेत' क्लेश शीघ्र वाक्यमावन् सर्वथा श्रुतमात्र में ही परिक्रम रहने वाला सम्मरनपयानुष्यता मानवभेद ही 'अप्राकृत-श्रुतिमानव' है ।

२४७-कृत्रिम-विनय-सौमन्य-सौम्या प्रकृति-मन्द-मधुर-बाशी-लोक-परिग्रह-प्रदर्शन-आदि प्रदर्शनों से एकान्ततः असस्पृष्ट, हीनता-हीनता-आदि प्रदर्शनों से पराकृत्य, सहज स्थिति से नित्य समन्वित, उचरदायिष्यपूर्णा निष्ठा से समस्तकृत मानव की श्रुतिमानवता—

कृत्रिम विनय-प्रदर्शन-सौमन्य-प्रदर्शन-सौम्याकृति-प्रदर्शन-सौम्य-मन्द-मधुर-बाशी-प्रदर्शन-मयक-प्रदर्शन-लोकपरिग्रह-प्रदर्शन-आदि आदि पञ्चकृत प्रदर्शनों-से सर्वत्रक ही असस्पृष्ट रहने वाला साध ही

'मायुक्त्य' न्न इर ही शय रद् बासकता हे त्रैलोक्यि ब्रह्मिन्मत्या यवादमूलक वस्वित न्नदानन्त्यवाद से गत धनक शक्यद्विगा स 'अनन्तरप्र' शब्द का लकर ऐसी ही मायुक्त्य-तूणा भ्रान्ति चली आ रही हे ।

२५२-सत्यकाम जापालि के गोचारण दृष्टान्त से उत्पन्न हो पड़न वाली भ्रान्ति, एव तदनुग्रह से कर्तव्य कृम्मनिष्ठा से वञ्चित 'मन्तवाद' का आविर्भाव—

श्वयम्भुव जापानि को गार्ह्य चयन मान न यदि ब्रह्मरथन शक्या आर यों गा-सेवा ही यत् ब्रह्म का प्रतीक बन गए, ता फिर ऐसी स्थिति में व्यय हे भूति-स्मृति-पुराण-सम्मत आचारधर्म व्यय हे शास्त्रीय-कृत व्य कर्म । फिर तो केवल आगीर्षां स ही मय पुष्ट गताथ हे । और इसी भ्रान्ति न था उस कृतसम्प्रदायवाद का बन्म न जाला हे त्रिभुन सम्पूर्ण शारीय-आचारों को जनाजलि-नमस्ति कर केवल 'गुरुहृषा' की 'यज्ञि' वदि पर ही प्राकृत मानव क प्राकृत जीवन का ननिदान कर जाला हे । 'नास्त्यहृतः कृतेन' 'वमप्रतु' परयति पातशोकः त्यागने कऽमृतचरमानयु' इत्यादि दार्शनिक-शब्दों के आचारमक समन्वय में अक्षमर्थ कर्मनिर्देश के नचित वेदान्तगत न ही इनकी ज्ञानमीमांसादिना क तत्वमीमांसा (तत्रविबुम्भसमात्र) न ही यों तथाविध कृतसम्प्रदाय का बन्म न जाला हे ।

२५३ आचारनिष्ठा का प्रथम स्वलन दर्शनजगत में तद्द्वारा आविर्भूत शून्यवादा-नुगत द्वितीय स्वलन, तद्द्वारा प्रयुत सन्तबोदानुगत तृतीय स्वलन, एव सन्त-मवात्मिका साम्प्रदायिकता स आचारनिष्ठा की आत्यन्तिक-मन्तमुत्थिता—

आचारनिष्ठा चरननिष्ठा सर्वप्रथम विद्युत्त एव हे दार्शनिकता में । इस दार्शनिकता से समुत्पन्न दृष्ट्यवात् से कृतसम्प्रदाय-विद्युत्त हा जाने वाली मात्रक बनवा ने ही जगो चलकर कृतसम्प्रदाय को बन्म दे जाला परमथानुगत-मायनाम्ना के आचार्य स त्रिन परमावनाम्नी में फल गुरुहृषा ही मानव के यथयाक्त् पाप क्षमा कर दिया करती हे । बड़े से ले गुरुवम अपराध-पापपुत्र मी वहाँ के गुरु (पीर-वैग-म्बर-पादरी-ननी-मादि) जैसे अपनी कृपाकर से क्षमाया में समाप्त कर देते हैं ठीक वही मायना दार्श-निकता के द्वारा उत्पन्न धर्मन स एव इन आगवा-समागवा-परमावनाम्नी के सम्मिभलसङ्घ से आचार्यनिष्ठ मार्वीय प्रजा में भी दृढमूल बन गई और यों शारीय आचार्यनिष्ठा का स्थान सम्प्रदायवाद ने ही अप्पुष्ट कर दिया । परिणाम-स्वरूप यद्ग्रन्थ का अम्युदय-निर्भयत्-ससाधक सम्पूर्ण आचारधर्म उदनुगत समस्त माहविक मोन्दर्य एवं आत्मिक समभाव अविभूत ही होगया ।

२५४-नैष्टिक क 'सत्तासिद्ध भगवान्', मायुक क 'भाव क भूये भगवान्', ब्रह्म की सगुणमूर्ति ब्रह्मद्वयी मावा भागीरथी के स्थान में खटोटी' की गङ्गा का का-ल्पनिक प्राधान्य, तथैव च इष्टकामधुक् यज्ञकाण्ड, ताञ्चिक उपासनाकण्ड, आदि के स्थान में काल्पनिक 'ज्योति'-उपासनाओं का आविर्भाव—

तथाविध ब्रह्म (भगवान्) मी वहाँ केवल मात्र (भाति) के ही भूमे प्रमाणित कर दिए गए । 'मन चंगा तो खटोटी में गङ्गा' के कल्पित उदाहरण से ब्रह्म की सगुणमूर्ति ब्रह्मद्वयी पावनवशिव मावा

मन के सम्बन्ध में सर्वथा निर्णयहीनता से यह कह देने, और मान लेने में यत्किञ्चित् भी संकोच नहीं करना कि—'मैं अपने प्राकृत स्वरूप से उम अमार्हत-पञ्चातीत-अनन्त-आत्म-स्वरूप को यत्किञ्चित् भी तो नहीं जानता। सचमुच मैं-विद्यन् नहीं हूँ। अतएव केवल विनय प्रदान के लिए ही मरा ऐसा कहना नहीं है। मैं उसे जानने के लिए ही उन अन्तिवर्षी कथियों से प्रणतभाव से यह जानने की जिज्ञासामात्र कर रहा हूँ कि, जिसमें व ६ रजोलोक (पाँच प्राकृतिक पथ तथा छटा प्राकृतिकरूप जीवसोके) प्रतिष्ठित है जिस 'अज' (अव्यय) के आचार पर (श्रुत् सं० १।१६। ६ मन्त्र)। इसलिए श्रुतिमानव उसे नहीं जानता कि, 'यह' और 'यह' एक है अपने आत्मभाव से। अनन्तरण की अनन्त-भावना के बिना इस प्रकार का प्राकृतिक व्यमोहन उच्छिन्न हो ही नहीं सकता। बिना प्राकृतिक-आत्माहो-न्देह के अनन्तभावना का उदय ही सम्भव नहीं है। श्रुतिमानवभेद की इस अविवेक्यता में ही अवि-शेष्य भी अनन्तब्रह्म की विश्लेष्यता के सूत्र सुरक्षित है। बुद्धिगम्या अतएव द्विगुणकान्तानुगामिनी कर्म-विद्या-माहृत-आत्म्या का विमोहन उपशान्त होते ही बुद्धि की बकवा समाप्त हो जाती है। बकवावनागुण्य इस कुटिलता के इच्छे ही बुद्धि कुटिल-सम्पत्करकालचक्र से बाहिर निकल आती है। बकवावनागुण्य श्रुतभाव में आते ही उस 'अज्ञस्यानकथयतस' का स्वतः ही आचिर्मण हो जाता है-तत्स्वयं योगसंसिद्ध'। यह संश्लेष्यता ही मानव की 'श्रुति'-अवस्था है। ऐश्व मानव ही अमार्हत-श्रुतिमानव कहलाता है। और अचर्य ही अपने लोकस्वाहक-माहृतिक-शास्त्रीय आचार से प्राकृतमानवभेद में विद्यमान रहता हुआ भी वह मानव अपने लौकिकीत-अवकथेता-अनन्त अज-अव्यय के स्वतः प्रकार से अमार्हत-अलौकिक-लौकिकीत-आत्मातीत-श्रुतिमानव' ही प्रमाहित है।

२५१ तत्राविष श्रुतिमानव की पञ्चातीत अनन्तब्रह्म के प्रति दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता, एवं 'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिमासि' ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' का रहस्यात्मक-सामन्वय—

और ऐसे श्रुतिमानव को अचर्य ही उस पञ्चातीत-अनन्त-ब्रह्म का दृष्टान्तात्मक-प्रतीक माना जा सकता है माना गया है। न केवल प्रतीक ही अस्ति 'यही' माना जा सकता है। सचमुच यों अपनी श्रुतिप्रज्ञा (बुद्धिगम्या आत्म्या से अस्तुष्ट्य-सह-प्रज्ञा) से प्राप्ता उस अनन्तब्रह्मविमिति से समन्वित श्रुतिमानव ही 'ब्रह्मविद्' कहा जाता है एवं 'ब्रह्मविद्-सोम्य प्रतिमासि' (ब्रह्मन्तो जप) के अनुसरण को आचार्य्य की आज्ञा से केवल गोपारण्यकर्म से उत्पन्न पावन अक्षर से ही अथनाम आत्मनि में बुद्धि की श्रुतता प्राप्त हो सकती है और इस श्रुतता के कारण अमभावात्त ब्रह्म इस की अम-श्रुत-माहात्मिका बुद्धि में स्वतः ही आविर्भूत हो सकता है। और गोमन्त्र-गोसेक-एक प्राकृत-सौम्य (शालबुद्धि) स्वनाम वैश्व प्राकृत मानव भी ब्रह्मविद् बन जाता है। 'ब्रह्मविद्-ब्रह्मैव भवति' रूप से आरम्भ की यह प्रतीकता भी स्वतः ही हट जाती है। लौकिक दृष्टान्तात्मक प्रतीक यहाँ दार्ष्टान्तिक-लक्ष्य के अनन्तर हट जाते हैं वैश्व प्रतीकत्व पर्यं नहीं है। अस्ति यहाँ तो प्रतीकत्वक दृष्टान्त (मानव) ही प्राकृतमानव के आविर्भूत होते ही स्वयं दृष्टान्त ही बन जाता है। ऐश्व अरुण दृष्टान्त तो एवमात्र अमार्हत-श्रुतिमानव ही माना जायगा। और यही हमें पुनः-एक अचर्य्य दृष्टिकोण की ओर अनन्त के विज्ञानुओं का ध्यान आकर्षित कर लेना पड़ेगा बिनाके बिना उक्त प्रकृत केवल

'आयुष्मता' का अर्थ ही श्राद्ध का अर्थ है। क्योंकि 'अग्निमन्वाच्यवा' मूलक कल्पित प्रधानतया श्राद्ध से मत बनकर श्राद्धियों से 'अनन्तरम' श्राद्ध का अर्थ एसी ही आयुष्मता-गुण प्राप्त होती आ रही है।

२५२—सत्यकाम जाबालि के गोचारण दृष्टान्त से उत्पन्न हो पड़ने वाली भ्रान्ति, एवं तदनुग्रह से कर्तव्य-कर्मनिष्ठा से वञ्चित 'मन्त्रवाद' का आविर्भाव—

स्वयंभुव जाबालि का गर्व घटने मात्र से यदि श्राद्ध-श्राद्ध होना और भी गो-मत्स्य ही यों ब्रह्म का प्रतीक बन गए, वा फिर एसी स्थिति में व्यर्थ है भूति-स्मृति-पुण्य-सम्मत आचारधर्म, अथ है शास्त्रीय-कृत व्यर्थ। फिर तो केवल आगीर्ण से ही नव पुण्य गताय है। और इसी भ्रान्ति ने ही उक्त कर्मप्रणयना का अर्थ दाना है, शिवाय सम्पूर्ण शास्त्रीय आचारों का जगत्प्रति-अमर्षित कर केवल 'गुरुहृत्वा' ही 'रति वदि' पर ही श्राद्ध मानने का प्रकृत जीवन का बनिदान कर डाला है। 'नास्त्यहृत् कृतन' 'वमन्तु' पर्यन्त श्राद्धोक्त 'त्यागने' 'अनुत्पन्नानु' श्राद्धि दार्शनिक-श्राद्धि के आचार-मूलक समन्वय में असमर्थ श्राद्धियों के कल्पित मन्त्रवाद ने ही इनकी आनमीमांसात्मक तरयमीमांसा (तरयिभूमिप्रमाण) ने ही जो तथाविध अन्तसंग्रहाय का अर्थ डाला है।

२५३—आचारनिष्ठा का प्रथम स्वल्पन दर्शनजगत् में तद्द्वारा आविर्भूत शून्यवाद।
द्वितीय स्वल्पन, तद्द्वारा प्रकृत सन्ततोदानुगत तृतीय स्वल्पन, एवं सन्त-
मतादिमहा साम्प्रदायिकता से आचारनिष्ठा की आत्यन्तिक-अन्तस्मृति—

आचारनिष्ठा अन्तःश्राद्ध सर्वप्रथम विस्तृत हुई है श्राद्धनिष्ठा में। इस श्राद्धनिष्ठा से अनुभव शून्यवाद से अत्यन्त-विस्तृत हो जाने वाली भावक प्रकृति ने ही आगे चलकर अन्तःश्राद्ध की प्रकृति दे डाला परन्तानुगत-भावनाओं के आकर्षण से श्रित परभावनाओं में केवल 'गुरुहृत्वा' ही मानने के यथार्थता पाप चमा कर दिया करती है। वही से ही गुरुहृत्वा अथवा-पानपुण्य ही वही के गुरु (पौर-वैग-म्वर-प्राची-नरी-आदि) जैसे अनेकी कृपाकार से अज्ञान में अन्तः कर देते हैं। ठीक वही भावना दार्शनिकता के द्वारा उत्पन्न यज्ञान से एक इन आगता-समागता-परमात्मनाओं के समिभवेण स आचारनिष्ठा शास्त्रीय प्रका में ही दृष्टमूल बन गई और वी शास्त्रीय आचारनिष्ठा का स्थान अन्तःश्राद्ध ने ही अर्पित कर लिया। परिणाम-स्वरूप श्राद्धों का अन्तःश्राद्ध-निष्ठा-सम्बन्ध सम्पूर्ण आचारधर्म अन्तःश्राद्ध समस्त साहित्यिक सौन्दर्य एवं आर्थिक सममान अमिष्ट ही होगया।

२५४—नैष्ठिक के 'सत्तासिद्ध भगवान्', मायुक्त के 'भाव के भूमे भगवान्', ब्रह्म की सगुणमूर्ति ब्रह्मद्रवी माता मागीरपी के स्थान में सुटोटी' की गङ्गा का का-
ल्पनिक प्राधान्य, तथैव च इष्टकामपुत्र यज्ञकाण्ड, तात्त्विक उपासनाकाण्ड,
आदि के स्थान में काल्पनिक 'ज्योति'-उपासनाओं का आविर्भाव—

सत्तासिद्ध ब्रह्म (भगवान्) की वही केवल भाव (भासि) के ही रूप प्रमाणित कर दिए गए।
'मन चैगा, सो सुटोटी से गङ्गा' के कल्पित उद्गारों से ब्रह्म की सगुणमूर्ति ब्रह्मद्रवी पावनशक्ति या माता

हो जाती थी कि जो विनीत के कथित स्वरूपसे रहित है वह अविनीत है फिर भी जो यद्वा सूत्रकार ने उसे स्पष्ट शब्दों द्वारा अलग उल्लेख किया है उसका कारण विशेषरीति से विवेचन करना है, ताकि मद-बुद्धि जन भी इस बात को अच्छी तरह समझ सकें। गुरु के समीप वह अविनीत शिष्य इसलिये नहीं रहना चाहता है कि वह विचारता है कि यदि गुरु के पास बैठूंगा तो उनका प्रत्येक कार्य मुझे करना पड़ेगा इसलिये अच्छा है कि मैं उनसे दूर ही बैठू। ऐसा करने वाला शिष्य स्वेच्छाचारी हो जाता है। गुरु के पास बैठने का मुख्य यही उद्देश्य होता है कि शिष्यजन विनय आदि गुणों को प्राप्त करते हुए तप सयम की आराधना सुख से कर सकें। मुझ से गुरु कुछ भी कह न सकें, गुरु पर भी मेरा रौप्य रहे, इस ख्याल से वह अपने पूज्य गुरुजनों में भी दोषों को बूढ़ने में लगा रहता है। यह काम उसी शिष्य से हो सकता है जो असयुद्ध-अर्थात् हिताहित के विचारों से रहित है। अभिज्ञ शिष्य ऐसा नहीं होता। गाथा में ये सब विशेषण हेतुहेतुमद्भाव वाले हैं, जिनका अभिप्राय इस प्रकार है—वह गुरु की आज्ञा का पालक इसलिये नहीं है कि वह उनके पास नहीं बैठता है—उनके पास नहीं रहता है,

के जे विनीतना कथित स्वरूपसे रहित छे, ते अविनीत छे, ते पक्ष अर्द्ध सूत्रकारे जेने स्पष्ट शब्दों द्वारा अलग उल्लेख करेव छे, तेनु कारण विशेष रीतिथी विवेचन करवुं जेव छे, कारण के मदबुद्धिवाणो भावस पक्ष आ बातने सारी रते समल शके गुरुनी समीप ते अविनीत शिष्य जेटवा भाटे रहेवा नहीं चाहतो के ते विचारे छे के कदाच गुर्नी पास जेवुं तो तेनु प्रत्येक कार्य भारे करवुं पउथे. आ भाटे सार् जे छे के हुं तेमनाथी इर जेसुं आवुं करनार शिष्य स्वेच्छाचारी बने छे गुर्नी पास जेसवानो भास उद्देश तो जे छे के शिष्यजन विनय आदि गुणोने प्राप्त करता करता तप सयमनी आराधना सुभधी करां शके गुर् भने काछ पक्ष कही न शके, गुर् उपर भारे हाव रहे, आ ज्यवाथी ते पाताना पूज्य गुर्जनोभा पक्ष दोषोने शोधवा लागी रहे छे आ काम तेवा शिष्य करे छे के जे असयुद्ध अर्थात् हिताहितना विचारथी रहित छे, अभिज्ञ शिष्य आवा नहीं होत। गाथाभा आ पधा विशेषण हेतुहेतुमद्भाववाण्यं छे, जेने अभिप्राय आ प्रकारे छे ते गुर्नी आज्ञानो पालक जे पातर नहीं के ते गुर्नी पास जेसतो

भाष्यस्य, तन्मन्त्रस्य, तत्सत्तातन्त्रस्य च सप्ततन्त्रस्य तन्त्रप्रभु-सत्तासमयगततन्त्रोच-प्रजा-
तन्त्रतन्त्रस्य चेत्यालप्यालमेव ।

२५७-शब्दात्मक-सम्पूर्ण शब्दशास्त्र के सम्पूर्ण आचारधर्मों की कालातीत धर्म के
सम्बन्ध में तटस्थता का दिग्दर्शन, एवं वस्तुस्थित का समन्वय—

यह ठीक है, और विस्तृत ही ठीक है कि, उस कालातीत अनन्त मन्त्राध्या क समतुलन में कालानुसूची
परीक-धर्मात्मक-प्राकृत-आचार-धर्म-धर्मों की कार म्यकस्यवा नहीं है । यह भी ठीक ही है कि, इन
आचारधर्मों में से कोर ही कालिक-द्वैतिक-अतएव गुणामक प्राकृत धर्म उव गुणातीत अनन्ताभ्यन्तर के
परीक नहीं बनकरत । यह भी सर्वान्ना मुखप्रत ही है कि, सांस्कृतिक-आयोजन' रूप लोकाधर्मों का
प्रतिपादक पुराणशास्त्र, सांस्कृतिक-आचार' रूप धर्माध्यात्मिक का प्रतिपादक स्मृतिशास्त्र एव
पराध्यात्मिक 'संस्कृति' का प्रतिपादक चरशास्त्रमूढ न्य-स्वतःप्रमाणभूत मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय-
वदशास्त्र आदि शब्दात्मक सम्पूर्ण शास्त्रप्रपञ्च प्राकृतिक-गुणात्मक-माना के ही प्रतिपादक नन्वे हुए उव
गुणातीत के प्रति कोर ही निमित्तता नहीं रख रहे • । स्थिति यह गुणातीत गुणामक, अतएव असात्म्यक
शब्द की वाच्यार्थता स सर्वथा ही अतीत अतएव अस्वरूप ही है । अतएव अन्ततोगत्वा उव के सम्बन्ध में
यह आस्था भी अचर्य ही समादरणीया ही है कि, वह किसी भी प्राकृत धर्म आचार-आदि से अदापि
प्राप्त्य नहीं है । अतएव अ-तत्सर्वयं योगसंमिद्धः क अनुकार वह तो योगबन्धिता सखिदावस्था में अल
पाकर स्वय ही आतिर्भूत-अभिन्त्यत हो पड़ा है । अदापि उव के लिए अर्थ-कारणात्मक कोर ही प्रयात,
धर्म, धर्म, धर्महीन नहीं है ।

२५८-तदुच्चारण-के माध्यम से ही दार्शनिक-मन्त्रिक से अगन्मिथ्यात्व-धर्मपना की
प्रश्रुति, तदनुग्रहेणैव कर्मत्यागात्मक कल्पित-त्याग-सन्त्यार-भावों का कान्य
निक-विजृम्भण—

और सम्भवतः क्यों इसी कारण के आचार पर उत्तमीमात्रक अध्यासवादी दार्शनिकों ने, एव
तदनुगामी गतानुगतिक-मातृक-सन्त-सम्प्रदायों में शास्त्रीय आचारधर्मों तथा अध्यात्मिक धर्मधर्मों, वे शास्त्र-
सिद्ध यथादि धर्मों आदि आदि समस्त धर्मधर्मों-धर्मों को अला-जनि समर्पित कर देना ही उचित ! कान्य
मान लिया होगा ! । इसी भावना से अस्वर इन के लिए अस्वर प्रमाणित हो गया होगा ! । अतएव उव 'अकृत'
के म्यामोहन में इन्होंने 'कृत' का परिव्याग कर दिया होगा ! । इसीलिए वे अकृत (अधर्मधर्म) बन गए
होंगे ! । और इसीलिए इन्होंने सम्पूर्ण प्राकृत-भाषा का 'त्याग' कर लिया होगा ! ।

॥-श्रीगुण्यविषया वदा निस्त्रैगुण्यो भवानु न ।—(गीता) ।

शब्द के सम्बन्ध में सर्वथा निर्याम्यरूप से यह कह देने, और मान लेने में कदाचित् भी संकोच नहीं किया कि— मैं अपने प्राकृत स्वरूप से उम अप्राकृत-व्यक्तीय अनन्त-स्वरूप को चतुर्दिक्षित भी तो नहीं जानता। सचमुच मैं-विद्वान् नहीं हूँ। अतएव फयल विनय-प्रदान के लिए ही मरा ऐसा कहना नहीं है। मैं उसे जानने के लिए ही उन क्रान्तिद्वारा कथियों से प्रसृतभाव से यह जानने की जिज्ञासामात्र कर रहा हूँ कि, जिसम च ६ रजोलोक (पंच प्राकृतिक पथ तथा छटा प्राकृतिकरूप जीवलोके) प्रतिष्ठित है जिस 'अज' (अभ्यय) के आचार पर (शुष् सं० १।१६४। ६ मन्त्र)। इत्येव श्रुतिमानव उसे नहीं जानता कि, 'यह' और 'यह' एक है अपने आत्मभाव से। अनन्तप्रथ की अनन्त-मानना के बिना इसप्रकार का प्राकृतिक व्यमोहन उन्निष्ठ हो ही नहीं सकता। बिना प्राकृतिक-न्यायान्ते-न्द्य के अनन्तमानना का उदय ही सम्भव नहीं है। श्रुतिमानवभेद की इस अविज्ञेयता में ही अवि-प्रय भी अनन्तब्रह्म की विज्ञेयता के सूत्र सुरक्षित है। बुद्धिगम्या अतएव दिग्देशकालानुगामिनी कम सिद्धा-माहृत-स्वाम्या का विमोहन उपचान्त होते ही बुद्धि की बन्धना समाप्त हो जाती है। वक्रमावातानुगुण इस कुटिलता के इत्ये ही बुद्धि कुटिल-सम्बन्धकालक से बाहिर निकल जाती है। बुद्धि के इसप्रकार अज श्रुतमान में आते ही उस 'अजस्यावकथतस' का स्वतः ही आविर्भाव हो जाय है-तत्स्वरयं योगसंसिद्ध। नर उच्छिन्नकरथा ही मानव की 'श्रुति'-अवस्था है। ऐसा मानव ही अप्राकृत-श्रुतिमानव कहलाया है। और अवरय ही अपने लोचस्वाराहक-प्राकृतिक-शास्त्रीय आचार से प्राकृतमानवकोटि में विद्यमान रहता हुआ भी वह मानव अपने लोचस्वीय-अवकथेत-अनन्त अज-अभ्यय के स्वतः प्रकाश से अप्राकृत-सौकीनिक-लोच-वीय-आत्मीय-श्रुतिमानव' ही प्रमाणित है।

२५१ तत्राविच श्रुतिमानव की फलदायीय अनन्तब्रह्म के प्रति दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता, एवं 'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिमासि' ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' का रहस्यात्मक-समन्वय—

और ऐसे श्रुतिमानव को अवरय ही उस कालातीय-अनन्त-ब्रह्म का दृष्टान्त-प्रतीक माना जा सकता है माना गया है। न केवल प्रतीक ही अर्थात् 'वही' माना जा सकता है। सचमुच मैं अपनी श्रुतिप्रदा (बुद्धिगम्या अवरय से अस्तुष्ट-सहज प्रज्ञा) से प्राप्ता उस अनन्तब्रह्मविमति से समन्वित श्रुतिमानव ही 'ब्रह्मविद्' कहलाया है, एवं 'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिमासि' (सुन्दो उप) के अनुसर तो आचार्य्य की आज्ञा से केवल गोचारागम्य से उदयत पवन अक्षर से ही अचरम कावलि में बुद्धि की श्रुतता प्राप्ति हो पड़ती है और इस श्रुतता के कारण समभावपत्र ब्रह्म इव की अ-श्रुत-व्यवस्थिका बुद्धि में स्वतः ही आविर्भूत हो पड़ता है। और गोचर-गोचरक-एक प्राकृत-वीय (बालबुद्धि) अक्षरम जैसे प्राकृत मानव भी ब्रह्मविद् बन जाता है। 'ब्रह्मविद्-ब्रह्मैव भवति' रूप से आरम्भ की यह प्रतीकता भी स्वतः ही इत बारी है। सौकीन दृष्टान्तप्रतीक प्रतीक बड़ा दान्तिनिक-सन्ध के अनन्तर इत बड़े है। ऐसा प्रतीकत्व नहीं नहीं है। अर्थात् यहाँ तो प्रतीकत्वक दृष्टान्त (मानव) ही प्राकृतमानव के आविर्भूत हीत ही स्वतः सिद्धान्त ही बन जाता है। ऐसा अनुभव दृष्टान्त तो एकमात्र अप्राकृत-श्रुतिमानव ही माना जायगा। और वही हमें पुन-एक अक्ष-मेव दृष्टिकोश की ओर अनन्त के विद्यमानों का ध्यान आकर्षित कर लेना पड़ेगा। बिल्के बिना उक्त प्रकृत केवल

भारतराष्ट्रस्य, तन्त्रनवन्त्रस्य तन्त्रसत्तावन्त्रस्य च सषट्त्रयस्यतन्त्रप्रमु-सचासमयगणतन्त्रीय-प्रजा-
तन्त्रात्मकस्य चेत्यालप्यालमेव ।

२५७-शब्दात्मक-सम्पूर्ण शब्दशास्त्र के सम्पूर्ण आचारधर्मों की कालातीत ब्रह्म के
सम्बन्ध में तटस्थता का दिग्दर्शन, एवं वस्तुस्थित का समन्वय—

यह ठीक है, और विन्दु ही ठीक है कि, उस कालातीत अनन्त ब्रह्मात्मा के समुल्लस में कालानुबन्धी
प्रतीक धर्ममन्त्र-प्राकृत-आचार-धर्म-धर्मों की धारें स्वरूपधरा नहीं हैं । यह भी ठीक ही है कि, इन
आचारधर्मों में से धारें भी कालिक-देशिक-अतएव गुणात्मक प्राकृत धर्मों उस गुणातीत अनन्तात्म्यब्रह्म के
प्रतीक नहीं बन सकत । यह भी सर्वात्मना सुसन्नत ही है कि, सांस्कृतिक-आयोजन रूप लोकोपधर्मों का
प्रतिपादक पुराणशास्त्र, सांस्कृतिक-आचार' रूप वर्णाश्रमधर्मों का प्रतिपादक स्मृतिशास्त्र, एवं
वर्णाश्रमधर्मनूला संस्कृति' का प्रतिपादक उपशास्त्रमूद्र न्य-स्वतःप्रमाणभूत मन्त्रब्राह्मणमन्त्र अपास्येय-
वेदशास्त्र आदि शब्दात्मक सम्पूर्ण शास्त्रप्रपञ्च प्राकृतिक-गुणात्मक-भावा के ही प्रतिपादक बनते हुए उस
गुणातीत क प्रति कोरें भी निमित्ता नहीं रखे ० । क्योंकि यह गुणातीत गुणात्मक, अतएव अलात्मक
शब्द की वाक्यार्थता से सर्वथा ही अतीत अतएव असंस्पृष्ट ही है । अतएव अन्तर्वगतत्वा उस के सम्बन्ध में
यह आस्था भी अयश्य ही समादरणीया ही है कि यह किसी भी प्राकृत धर्म आचार-आदि से अद्वि
पान्त्वम् नहीं है । अतएव च-'तत्सत्यं योगसंमिद्धा के अनुसार यह तो योगप्रतिष्ठा सतिदावरथा में अल
पाकर स्वयं ही आविर्भूत-अभिन्त्यक हो पड़वा है । अद्विपि उस के लिए अर्थ-कारणात्मक धारें भी प्रयात,
धर्म धर्म, बाधकनीय नहीं हैं ।

२५८-सुधारणा-के माध्यम से ही दार्शनिक-मस्तिष्क से अगन्मिध्यास्य-कल्पना की
प्रवृत्ति, तदनुप्रवृत्तौ कर्मात्यागात्मक कल्पति-त्याग-संन्यास-भावों का कल्प-
निक-विजृम्भण—

और सम्भवतः क्यों इसी धारणा के आधार पर तत्त्वमीमांसक अष्टासवारी दार्शनिकों ने, एवं
तदनुगामी गतानुगतिक-भाषुक-कृत-सम्प्रदायों ने शास्त्रीय आचारधर्मों वर्णाश्रमविद्य कर्षधर्मों वेदशास्त्र-
विद्य यथादि धर्मों आदि अस्व कर्षधर्मों-धर्मों को बलाबललि समर्पित कर देना ही उचित । कर्षध
मान लिया होगा । इसी भावना से अक्षर इन के लिए अक्षर प्रमाणित हो गया होगा । अतएव उस 'आकृत'
के व्यामोहन में इन्होंने 'कृत' का परिव्याग कर दिया होगा । इसीलिए ये अक्षर (अधर्मयय) बन गए
हैंगे । और इसीलिए इन्होंने सम्पूर्ण प्राकृत-भाषों का 'स्यास' कर दिया होगा ।

॥ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो महाशुन !—(गीता) ।

साहसी तो बन गई इन के लिए कसना और मन की गद्दा बन गई प्रधान । किन्तुना—भात—साध स्कार, इहकर्मपुक् विहानसिद्ध यहअवह शङ्कर—मास्कर—भगवती—अनुबन्धिनी उपसनाएँ प्रबन्धविद्यन कर्षा भास्करम्म, आदि आदि सभी शास्त्रीय आचार क्तसम्प्रदायवाद में आकर सर्वथा शिथिल ही रहाए । उक्तकर्षां मातुक् प्रबा ने सग्युर्ण आचार पम्नों—कर्मों की उपेक्षा कर आर्त्ति मीच कर, जान अबकइ कर, कस्तिव वातावरण में स्वीति के दर्शन करने के लिए ही अपने आप को एकमात्र गुबट्टपा पर ही छोड़ दिया ।

२५५—आचारस्वच्छित्त मारतराष्ट्र का कान्यनिक दार्शनिकता, नास्तिकता (शून्यवाद), सन्तमत्तवाद, गुल्दम्मपरम्परा, आदि आदि स आत्यन्तिक पतन, एवं इस का प्राकृतिक-धमत्कार-व्यामोहन—

और परिणामतः जो मारतराष्ट्र अपने आचार्यत्मक-कृतस्युर्णों में सग्युर्ण विरव का मूर्द्धय बना हुआ था वही अपनी इस आचार्यत्वा दारानिकता से बन्धित बगनिमप्यात्वाद् के विमोहन से सर्वोपरि स्वर्त्त-स्वविमोहन-मूला क्तसम्प्रदायान्तिष्ठा मातुक्त्वा से सभी क्षेत्रों में सर्वोत्तमा दीन-हीन-दरिद्र-शून्यकर्त्त ही प्रमाहित होगया । शास्त्रीय आचारनिष्ठाओं का स्थान ग्रहण कर लिया उन क्त्यों-सिद्धों-साधुओं-पहुँचवानी-के प्राकृतिक-धमत्कारों ने जिन से मातुक्-मानव अवरय ही उद्धार के लिए आत्मनिस्तृत हो जाते हैं । किन्तु वी धर्मनिष्ठ हैं शास्त्रीय आचारनिष्ठ हैं वे क्मी बान्द-प्राणानुक्म्पी इन प्राकृतिक धमत्कारों से यत्किञ्चित् मी तो प्रमाहित नहीं होते ।

२५६—आचारधर्मात्मिका शास्त्रीय-धर्मनिष्ठ के सम्बन्ध में मगवान् राम, आचार-धर्म का महान् गौरव, एवं क्वचित्स्मृति से मारतराष्ट्र की श्री-समृद्धि का प्रजा-तन्त्रीय-गणतन्त्र-काल में सर्वथैव अभिमव—

प्रसिद्ध है कि—महान् शास्त्राचारनिष्ठ मर्षांरापुक्पोत्तम मगवान् राम ने अपने कन्यकाल में विद्व-भास् करके हुए भूपर्में से निष्कलने वाले विद्या दशरथ के हाथ में विद्यक स्मार्पन न कर शास्त्रादेशानुसार बर 'कुश' पर ही विद्यब्रह्मन किया तो उक्तकाल इन की इस शास्त्रनिष्ठा से प्रसन्नमना बनवाने वाले दशरथ के प्रेक्षमाने वह नमोवाणी अभिष्यक्त की कि,—'तुमने हमारे हाथ में विद्यब्रह्मन न कर शास्त्रनिधि के अनुसर कुश पर ही विद्यब्रह्मन दिया इस शास्त्रनिष्ठा से हम सर्वोत्तमा वृत्त हो गए हैं । तुम्हारा यह कर्म सर्वो-त्तमा सफल हो गया है । एवमेव ध्रुपसिद्ध धर्मतत्त्वज्ञ महात्मा मीष्म ने भी अपने विद्यभीरवान्तु के भास्काल में इसी शास्त्रनिष्ठ का अनुपमन किया था । क्त्वापि वे इस नास्तिकधमत्कार से भी प्रमाहित नहीं हुए । और वही आचारधर्म का महान् गौरव इस राष्ट्र की राष्ट्रीकता का संरक्षक बनवा था जिसे निस्तृत कर कश्चमुच मारतराष्ट्र ने अपना आदिमक-लौकिक-धनी वैमन निस्तृत ही कर लिया है । और जो कुछ प्राकृतिक-आयोजन-कर्म से रोच रह गया था उसे आज के सद्यन्त्र के द्वारा आदिभूत दार्शनिकता-धम्मप्राकृतिकता-आदि आदि सभी से जित्तव्य प्रमाहित होने वाले नव-विद्व-मायह-नशिकारि से क्या कुशित प्राकृतिक-आयो-जनी नें ? तो सर्वथा ही समाप्त कर डाला, इति तु अत्राद्यवयम् ! आत्राद्यवयम् ! इत्यहो महवीय विद्यवन्तना

मातृव्यस्य, तन्मनतन्त्रस्य, तत्सचातन्त्रस्य च सप्ततन्त्रस्यतन्त्रप्रभु-सत्तासमयगणतन्त्रीय-प्रजा-
तन्त्रसूक्तस्य चत्यास्यप्यासमेव ।

२५७-शुद्धात्मक-सम्पूर्ण शब्दशास्त्र के सम्पूर्ण आचारधर्मों की कालातीत वक्ष्य क
सम्बन्ध में तटस्थता का दिग्दर्शन, एवं वस्तुस्थित का समन्वय—

यह ठीक है, और चिन्तुल ही ठीक है कि, उस कालातीत अनन्त ब्रह्मात्मा के समुल्लस में बालानुक्त
प्रतीक-धर्मात्मक-प्राकृत-आचार-धर्म-धर्मों की का' स्वरूपसत्ता नहीं है । यह भी ठीक ही है कि, इन
आचारधर्मों में से धर्म भी कालिक-शिक-अतएव गुणात्मक प्राकृत धर्म उस गुणातीत अनन्तान्ययमस्य के
प्रतीक नहीं बन सकते । यह भी सर्वमान्य सुसन्नत ही है कि, सांस्कृतिक-आयोजन' रूप लोकधर्मों का
प्रतिपादक पुराणशास्त्र 'सांस्कृतिक-आचार' रूप वर्णाधर्मधर्मों का प्रतिपादक स्मृतिशास्त्र एवं
वर्णाधर्मधर्मधर्मों का 'मस्तुति' का प्रतिपादक सवशास्त्रनूदन्य-स्वतःप्रमाणभूत मन्त्रब्राह्मणधर्म धर्मोपय-
यशास्त्र आदि शान्तात्मक सम्पूर्ण शास्त्रप्रपञ्च प्राकृतिक-गुणात्मक-भावी के ही प्रतिपादक करते हुए उस
गुणातीत के प्रति श्रेय भी निमित्ता नहीं रख रहे * । क्योंकि यह गुणातीत गुणात्मक, अतएव ब्रह्मात्मक
शब्द की पर्यायार्थता से सर्वथा ही अतीत अतएव असंशुद्ध ही है । अतएव अन्ततोगत्वा उस के सम्बन्ध में
यह धारणा भी अतएव ही समादरणीया ही है कि यह किसी भी प्राकृत धर्म, आचार-आदि से क्यापि
प्रत्यक्ष नहीं है । अतएव च-तस्यैव योगसंमिष्टः के अनुसार यह वो योगबलिवा ससिद्धाधरणा में ब्रह्म
पाकर स्वय ही आभिर्भूत-अभिषिक्त हो पड़ा है । अतएव उस के लिए धर्म-कारणात्मक कोई भी प्रयास,
धर्म धर्म ब्रह्मनीय नहीं है ।

२५८-सवधारणा-के माध्यम से ही दार्शनिक-मन्थिष्क से जगन्मिथ्यात्व-कल्पना की
प्रवृत्ति, तदनुग्रहणैव कर्मत्यागात्मक कल्पति-त्याग-सन्यास-भावों का कल्प
निक-विजृम्भण—

और सम्भवतः क्यों इसी धारणा के आचार पर उत्तरीमाविक अण्णसवादी दार्शनिकों ने एवं
उदनुगामी गतनुगतिक-मातृक-सुत-सम्प्रदायों ने शास्त्रीय आचारधर्मों वर्णाधर्मधर्म कर्त्तव्यधर्मों वेदशास्त्र-
सिद्ध यथादि धर्मों आदि आदि समस्त कर्त्तव्यधर्मों-धर्मों की जलात्मनि समर्पित कर देना ही उचित ! कर्त्तव्य
मान लिया होगा ! । इसी भावना से सत्कार इन के लिए अक्षर प्रमाथित हो गया होगा ! । अतएव उस 'अक्षर'
के व्यापीहन में रहने 'सुत' का परिष्कार कर दिया होगा ! । इसीलिए ये अक्षर (अक्षरमय) बन गए
होगे ! । और इसीलिए रहने सम्पूर्ण प्राकृत-भावी का 'त्याग' कर दिया होगा ! ।

७-त्रैगुण्यविषया वदा निस्त्रैगुण्यो भवानु न !—(गीता) ।

बाह्यी वा मन गर्भ इत के लिए कस्यना और मन की गत्या मन गर्भ प्रधान । किपहुना-भाव-व्याज स्वरूप, इहकर्मपुद् विज्ञानसिद्ध यज्ञस्यैव शब्दर-भास्कर-भगवती-अनुनन्दिनी उपसनाएँ प्रबालन्युधियान कर्षा भास्करम् आदि आदि सभी शास्त्रीय आचार स्तसम्प्रदायवाद में आकर सर्वथा शिथिल ही हाए । उद्युक्त्यां मायुक्त प्रभा ने सम्युर्ण आचार धर्मों-कर्मों की उपेक्षा कर आर्यों मीच कर, कान अक्षर्य कर, कस्मिन् वस्तावरय में ज्योति के दर्शन करने के लिए ही अपने आप को एकमात्र गुरुकृपा पर ही छोड़ दिया ।

२५५-आचारस्वच्छित्त मारतराष्ट्र का कान्यनिक दार्शनिकता, नास्तिकता (शून्यवाद), सन्तमत्ववाद, गुह्यधर्मपरम्परा, आदि आदि से आत्यन्तिक पतन, एवं इस का प्राकृतिक-धर्मत्कार-व्यामोहन—

और परिणामतः जो माखरग्न अपने आचारधर्म-कृत ध्युगों में सम्युर्ण विरय का मूढ व बना हुआ था वही अपनी इस आचारधर्मशास्त्रिकता से, कस्मिन् अग्निध्यात्मवाद के विमोहन से अर्धपरि ध्युक्ति-स्वधिमोहन-मूला स्तसम्प्रदायात्मिका मायुक्तता से सभी क्षेत्रों में अन्तिमना दीन-हीन-दन्नि-शून्यवाद ही प्रभावित होगया । शास्त्रीय आचारनिष्ठाओं का स्थान महय कर लिना उन कर्तों-सिद्धों-शास्त्रियों-पण्डितानों के प्राकृतिक-धर्मत्कारों ने बिन से प्राकृत-मानव अक्षरय ही अक्षय के लिए अन्तमस्मृत हो जाते हैं । किन्तु जो धर्मनिष्ठ हैं शास्त्रीय आचारनिष्ठ हैं वे कभी चान्-मायानुसूची इन प्राकृतिक धर्मत्कारों से कश्चित् मी तो प्रभावित नहीं होते ।

२५६-आचारधर्मात्मिका शास्त्रीय-धर्मनिष्ठा क सम्बन्ध में भगवान् राम, आचार-धर्म का महान् गौरव, एवं तद्विस्तृति से भारतराष्ट्र की धी-समुद्धि का प्रसा-तन्वीय-गद्यकन्ध-काल में सर्वथैव अभिसम्—

प्रसिद्ध है कि-महान् शास्त्राचारनिष्ठ धर्मादापुत्रोत्तम मगवान् राम ने अपने कर्मकाल में विद्व-बाद करते हुए धर्म से निष्काने वाले विवा द्यारय के हाथ में विरय समर्पण न कर शास्त्रादेशानुसर कर्ष 'कुरु' पर ही विरयदान किया तो अक्षय इन की इस शास्त्रनिष्ठा से प्रसन्नमाना बनवाने वाले द्यारय के प्रोद्यमाने यह नमोवाणी अभिसम्क की कि,—'प्रमने हमारे हाथ में विरयदान न कर शास्त्रविधि के अनुसर कुरु पर ही विरयदान दिया इस शास्त्रनिष्ठा से हम अर्धमाना द्युष्ट ही गए हैं । दुन्द्या यह धर्म सर्व-अना अक्षय हो गया है । एकमेव तुप्रसिद्ध धर्मत्कार महारना मीम ने भी अपने शिष्यभीयात्कु के भायकाल में इसी शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन किया था । अर्थात् वे इस वास्तविक धर्मत्कार से भी प्रभावित नहीं हुए । और वही आचारधर्म का महान् गौरव इस राष्ट्र की राष्ट्रता का संरक्षक बनता रहा बिसे विस्तृत कर कश्चमुष माखरग्न ने अपना आदिम-लौकिक-समी वैभव विस्तृत ही कर लिया है । और जो कुछ वास्तविक-आद्योदन-कर्म से शेष रह गया था उसे आर के अक्षय के द्वारा आविष्कृत शर्यनिकता-अध्यात्मिकता-आदि आदि सभी से निष्कान प्रमाशिव होने वाले नर-विद्व-माखर-गणिकादि से उमाकृत वास्तविक-आयो-कनी न ? तो सर्वथा ही व्याप्त कर इला इति नु अक्षययम् ! अक्षययम् !! इत्यहो महावीर्य विरयवना

मर्क, कर्म, नामक तीनों अत्यंत योग्य सवथा पृथक् वशा गुणतम योग ही है, जिस का अत्र विस्तार अत्र पेशित है • ।

२६१-धारणा-ध्यान-समाधि-लक्षण, -मायुफला-सरसकमात्र अभिनवयोग से असृष्ट बुद्धियोगात्मक गीता का योग, एवं स्वधम्मनिष्ठात्मक-आचारयोग की योगात्मकता, और-‘योगी भवान्’ का समन्वय-

नाथि इस अंगलात्मक योग से वह धारणा-ध्यान-समाधि-लक्षण-दार्शनिक योग (पातञ्जलदर्शन-सम्मत सिद्धि-धर्मकार-व्यासाद्वारा मन्-चन्द्रो प्रकृति से समन्वित प्राकृतयोग) ही अभिप्रेत है जिसका अर्थन यथा प्रत्युक्त (व द २।१।३) इत्यादि रूप से स्वयं दार्शनिकान् ने ही नियंकरण कर दिया है। अतिसुख वा धार्मिक आचार्यात्मक यथाधर्माचारसिद्ध-लाक्षणिक-मन्त्र-वह भाग है, जिसके साथ मानवकी व्यापकत एवम्मात्र अत्र अस्ति भी सम्भव नहीं है। यह तो सुप्रसिद्ध आचार्यात्मक धर्मरूप क्त व्यक्तार्थक वह योग है जिस ‘स्वधम्म’ कहा गया है, जो ‘यथाधर्म’ नाम से प्रसिद्ध है एक जो सर्वथा अशुचन ही माना गया है-। यह तो वैद्यक भाग है जिस स्वधर्मरूप ध्यानयोग का अनुगमन कर अत्रुन ‘योगी बन गया था-’तस्माद्योगो भवान् । अतिसुख अत्रुन धारणा-ध्यान-समाधिकरूप अत्यन्तप्रधान अत्यन्तेश्यात्मक योग की स्थापना में प्रयुक्त नहीं होता था मगवान् के-योगी भवान् । इस आदेश का भावम सं । अतिसुख अपनी प्राणार्थम-बीवमावना का परिचाय कर गुणातीता अभ्यसमावना से गुणातीत बनत हुए इसने बुद्धियोगात्मक स्वधर्मरूपक योग का अनुगमन कर दुष्टबुद्धि पुनैष्टिक दुष्प्रोचनप्रमुख बीरवी को निन्देण ही बनाया था ।

२६२-ज्ञानविज्ञानसिद्ध-आधिदैविक सृष्टिसर्गबोध से अपरिचित रह जाने के दुष्परिणाम, एवं मार्गस्वरूपयश्चिता-कान्यनिक आध्यात्मिकता के व्यामोहन से व्यामृग, विविध मतवादासक्त-दिग्देशकालग्रान्त राष्ट्रीय-जनमानस-

वस्तुस्थिति वास्तव में उक्त आधिदैविक सर्ग से सम्बन्ध रख रही है जिसका न तो दार्शनिक ने ही स्पर्श किया एवं न क्त-गठानुगतिक साम्प्रदायिक कर्तव्य ही । केवल अविभूत और केवल अप्यात्म इन दो के बाग्विबुम्भय में ही इनके सम्पूर्ण प्रवास समाप्त होगे । पार्थिव-सम्कलरिक्त-मूल-मौलिक प्रथी की नामावली से उपोक्त दार्शनिकों में अपने शरीर के साथ ही इन नामों का सम्बन्ध बोज कर अपना क्त व्यक्त समाप्त कर लिया । एकमेव आधिदैविक सर्ग के जो नाम इनके सम्मुख आए, उनका भी इन्होंने अपने इस कल्पित अप्यात्म के साथ ही सम्बन्ध बोज बाज कर आधिदैविक सर्गानुगत आधिभौतिक आचार्यों की अपेक्षा ही कर डाली । पिच्छ ही इनके लिए इरका सम्पूर्ण कान्यनिक ‘अज्ञानरूप’ बन गया । ये स्वयं अपने आपको उच्चरी महिमा में प्रतिष्ठित नहीं कर सके । अतिसुख उक्त सम्पूर्ण को प अपनी महिमा ! के गर्भ में

•-३ पृष्ठात्मक ‘बुद्धियोगपरीक्षा नामक स्कन्ध निरूप में इस अक्षर-बीरुलक्ष-योगात्मक कर्मलक्षण ‘बुद्धियोग’ का स्वरूप स्पष्ट किया जाचुका है ।

—पञ्चार्थान् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मवन्वनः । (गीता) ।

२५६-कर्मन्त्यागात्मिका-अध्यासमुखा-कल्पित-वेदान्तभावुकता के व्यामा-
इन का समस्त इतिवृत्त, एवं-‘मनुष्या एवैके-अतिक्रामन्ति’ भति का
संस्मरण-

‘होगा’ ? यह इतिवृत्त कहना पड़ रहा है कि अहोरात्र त्याग-तपस्या-अपविग्रह की योग्यता में निम्न
मी न वो आचरक किसी दार्शनिक-शिरोमणि को ‘अभ्यक्त’ ही होत देजा न किसी सन्त को, समुक्तों मातृ-
वैरगी को अपने मौक्तिक-स्वरूप से अस्पृष्ट ही देखा मुना । यही शरीर, शरीर के वे ही अरान-पानाति-
कर्म यही मन यही बुद्धि यही असाह, उन्हीं में परिमृगण उन्हीं के प्राकृत पदार्थों से इन सब ‘यही-यही’
नामक प्राकृत-मात्रों का स्वरूप-रक्षक आदि से अन्तःपन्थ वी प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से प्राकृत-मात्रों को
असाक्षिकन और साथ ही में इन सब के प्रति-‘मिष्यादृष्टि’-‘अनारदृष्टि’-‘स्यागोवृषोप’-‘शरारयनापि
य ते न सिद्धयेत्-आकर्मण’ । यही कर्मन्त्यागात्मक वेदान्त-आमोहन का यह समस्त इतिवृत्त है त्रिन
मातृक मानकों को दिग्दान्त-अलदान्त-प्रमाक्षित कर रक्ता है । सम्पूर्ण काम होत हैं इन के मी दिग्-देश
अल-सीमाओं में ही । किन्तु इन के लिए दिग्-देश-अल-के साथ ‘अभ्यास’ नाम का कोई सम्बन्ध नहीं
रहता । यही इन की दिग्-देश-अलानीयता है । क्यों ? ठीक है न ! तन्मय ऐसे दिग्देश-अलानीय
नभप्रहाहास्तक उपदेशक-विशेषकों का अनुभव से ही वा आचारनिष्ठापि भारतीय प्रथम अपनी मर्यादित-
दिग्देशअलसीमानों का अतिक्रमण करती हुई ‘न पराव-अतिक्रमन्ति’ की मी सीमा का उल्लापन करने
वाले-‘मनुष्या एवैके अतिक्रमन्ति’ इस भीषणन को अज्ञान’ अज्ञान्य करती हुई तथाअज्ञान्य अमर्या-
दित्य नियमिताचार्यत्वा स्वीकार की ही अनुगामिनी बन गई है ।

२६०-‘तत्त्वचरं योगसंसिद्धः’ मूलक ‘योग’ शब्द के स्वरूप-समन्वय के सम्बन्ध
में पारिभाषिक-दिग्दर्शन एवं ‘योग’ कर्मसु कौशलम्’ का तात्विक स्व-
रूप-समन्वय

‘तत्त्वचरं योगसंसिद्धः’ के ‘योग’ के अर्थ का मी क्या समन्वय किया है कमी उन आचार्यराजुओं में ! ।
सम्पूर्ण शालीय आचार्यकर्म-कर्मव्यक्तियों के परिश्रम का नाम ही क्या ‘योग’ है ! जिसके उल्लिख होने पर
अनन्तब्रह्म अभिम्यक्त ही भाषा करता है । अत्रह्यसम् ॥ अत्रह्यसम् ॥ ‘योग’ कर्मसु कौशलम्’ ही एक-
मात्र ‘योग’ की परिभाषा है । अत्रह्य ही आचार्यकर्म-कर्म-विश्रुतसम् है अत्रह्य मातृक अन्तः का प्र-
सक्त है । किन्तु यही आचार्यकर्म प्राकृत गुणात्मक-कर्म ‘कारण’ का ‘योग’ के कारण अपनी गुणात्मकता
से पृथक् होता हुआ अकर्मोत्तम कर्म का कर उस अकर्म-अकृत-अकृत-अन्तःका अन्तःका अन्तःका अन्तःका अन्तःका
का साथ है निश्चयन का साथ है इस तत्त्व का समन्वय कर ही नहीं सके वे कर्मशून्य साम्याहीन अग
निष्वात्मवादी दार्शनिक । तथा असाह, और उस के कर्म को असाह समझ बैठने वाले शीशरगी अन्तः
की त्यागी की महाराज एव तदनुक्तों मातृक अन्तःका अन्तःका अन्तःका अन्तःका अन्तःका अन्तःका अन्तःका अन्तःका
कर्म अकृत कर्म बन जाता है अकृत-निष्कम कर्मोत्तम ईश्वरकर्मोत्तम अकृत कर्म का साथ
है, जो कि शीशपरिभाषा में ‘युद्धियोग’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो कि दार्शनिकों के अग्रिम प्राकृत अन्तः

२६४-शाश्वत मनु, एव उनका शाश्वत मन्वन्तरकाल, तथा मनुपत्नी 'मनावी' का स्वरूप-दिग्दशन—

अथएव मन्वन्तरकाल काल अथवयमय शाश्वतमनु से अभिन्न है। कौनसा मन्वन्तरकाल ?। नया वह मन्वन्तरकाल, त्रिकक मन्वन्तरकाल से आरम्भ कर चान्द्रसम्बन्धकाल-पर्यन्त पूर्व में आठ विषय* बरूलाए गए हैं। नियम नहीं करते। किन्तु स्वीकृति में हम उस मन्वन्तरकाल को आप के सम्मुख रखेंगे, जो मनु, और सुप्रसिद्ध मन्वन्तर, इन दोनों के मध्य में एक और तीसरा ही रहस्यात्मक वैसा मन्वन्तर प्रतिष्ठित है, जो मनु की महिमा का प्राकृतकालात्मक मन्वन्तर के साथ समन्वित करता है। मार बही मध्यम मन्वन्तर है वह सुप्रसिद्ध-मनावी सत्व चक्रि-मनुपत्नी नाम से प्रसिद्ध हुए है पुराणशास्त्र में, एवं ब्राह्मणग्रन्थों में म-इका* बरूलाए है।

२६५-रुक्माम-स्वप्नधीगम्य-अखोरणीयान्-मनु, तदभिन्ना श्रद्धात्मिका 'इका, एका-श्रद्धा विश्वामिदं जगत्' का सम्मरण—

अखोरणीयान् मनु ० की महिमा का नाम ही अनन्तकाल से आरम्भ कर सत्व महाकाल-पर्यन्त व्याप्त प्राकृत विषयों है। अखोरणीयान् मनु 'प्रशासिता' है। अर्थात् शान्तिमय व्याख्या में तो 'अचर' (प्रकृति) ही इन का स्वरूप है। अचर ही शास्ता, प्रशासिता माना गया है। 'रुक्मामम्' शब्द इन के कर्मनीयता-एक 'योग' का परिचायक है। पञ्चपां प्राकृत विश्व का केन्द्र विरयमय सूर्य ही है जिसे इन्ममरुद्ध (सुख्य मरुद्ध) भी कहा गया है। यही कौरकेन्द्रात्मक अचर बुद्धियोगात्मक-योग की प्रतिष्ठाभूमि है जिसे आधा रना होने के अनन्तर प्राकृत विश्वमार सर्वात्मना समतुलित होता हुआ निर्मा बन जाता है। कन्धानुगत मार मार रहता ही नहीं-नेमपक्षपापयन्ते। पन्द्रविंशति में ही प्राकृतमार मार बन कर मानव को उत्पीडित किया करता है बिन इस केन्द्रविषया का ही-प्रजापतिरचरति गर्भे ० इत्यादि यजुर्मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। मनुपत्नी मनावी-इका ही वह भद्रा है, जिस से अखोरणीयान् मनु (केन्द्राचरकम सत्व) प्राकृत विश्वमहिमात्मक से अभिम्यक्त हुए हैं। महिमात्मक ही व्यक्त मन्वन्तर है एव मनु ही केन्द्रकर्म है। इस केन्द्रकर्म तथा महिमा सत्व का अथोक्त सूत्रमन्त्रकृतवाक्य-मनुप नीरुप-भद्रासत्व ही है-भद्रा विश्वामिदं जगत्।

२६६-परमपुरुषात्मक मनु, तदभिन्ना अचरप्रकृति, एव मनुके तात्त्विक-स्वरूप के सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

इसप्रकार केन्द्रीय सत्व यद्यपि है अचर (प्रकृति) ही। किन्तु यह केन्द्र अपने केन्द्रकर्म से विशुद्ध केन्द्रकर्म से उक्त अनन्तकाल से अथोक्त ही प्रमाणित है। महिमात्मक अनन्तकाल-प्राकृतकाल-का माया-

* प्रशासितारं सर्वेषां-अखीपांसमखोरपि ।

रुक्मामं स्वप्नधीगम्यं तं विधात् पुरुषं परम् ॥

एव सर्वाणि भूतानि पञ्चमिर्वाप्य मूर्तिभिः ।

जन्म-बुद्धि-वयै-नित्यं संसारपति षष्ठवत् ॥

—मनु १२।१२२ १२४।

ही मिलीन कर बैठे अपने व्यक्तित्व विमोहन के कारण । 'अबसठ वीरथ घट में विराजे, कर दूरसय कन्न मॉही' कहते हुए इन गहनों सम्पूर्ण तीर्थों को अपने मानस संकल्पमान में ही निमग्नित कर लिया । अतएव न तो इनके लिए इनके भूतपितृव्य-शरीरपितृव्य (जिसे वे भ्रान्ति से अप्यात्म मान बैठे हैं) के अतिरिक्त प्रतीक प्रतिकल्प-प्रतिमान-रूप आधिभौतिक तीर्थों का ही कोई महत्त्व शेष रहा, न इनके मूलभूत आधिभौतिक तीर्थों के सत्वादिद्वैत स्वर्णों का ही वे समन्वय करके । 'अप्यात्म नामगुह्य से वे अपने नरवर शरीर का ही उप-महान करते रह गए, वहाँ शून्य के अतिरिक्त और क्या मिलना या । तभी तो—'चामड़ा की पूतनी भजन करए' जैसे मन्त्र विनिश्चय हो पड़े इन अप्यात्मवादियों के भीमुख से । यी अनन्तरण के ही महिमामय आधिभौतिक-प्राकृतिकों को किन्तु कर बैठने के दुष्परिणाम-स्वरूप ही उन्मुख अधिमृत एवं उन्मुख अध्यात्म-ममी कुछ विलुप्त होगया इनके लिए । यह गया 'शरीर' नामक ध्वनितिक अप्यात्म । और कस्स-निक संसार के साथ अपने कस्सनिक अप्यात्म का जोड़ तोड़ बैठाना ही इनका समस्त कर्मकीशल प्रशं प्रोक्षण बना रह गया जिस इस कल्पना में ही तो इन्हें आबतय स्थिति पर ला लड़ा किया है कि, इनके लिए सर्वत्र इन बुद्धिबावगम्य-स्वाध्यायों के अतिरिक्त अनुकरण का और कोई भी तो क्षेत्र नहीं रह गया है । आचार्यत्वक सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों से शून्य वे बुद्धिवादी दार्शनिक वे शिखरब्रह्माख्यवादी सन्त, और इनका अप्राकृतिक करने वाला न मान्यक मानवमय्यक सभी समिश्रितरूप से आत्म धर्मात्मक कथम्य को, किंवा कर्त्तव्यात्मक धर्म की राष्ट्रमानव के लिए सर्वथा निरपेक्ष ही तो प्रमाणित करते आये हैं । इसके परिणाम किंवा मीरप्यसम वीरसेरतम मनावर बुष्परिणाम आब राष्ट्र के उन्मुख प्रत्यक्ष प्रमाणित होलुके हैं ।

२६३—आधिभौतिक-मात्मानुगत 'सर्ग' की प्राकृतता, एवं 'प्रतिसर्ग' की अप्राकृतता, तदाचारभूत शास्त्रप्रवृत्त-सूचक मनु, तथा प्रवृत्ततावस्था में मी मनु की शास्त्रता का ममन्वय—

आधिभौतिक धर्म का स्वरूप हमें यह बतलाता है कि इसका उगलुप्त महिमा य वहाँ प्राकृत है, वहाँ प्रतिधर्मात्मक स्वरूपक अप्राकृत ही है । महतोमहीयान स्वरूप ही प्राकृत किरण है एवं अनोरखीयान् स्वरूप ही अप्राकृत आत्मा है । अप्राकृत आत्मा ही महिमा से प्राकृत किरण बना है । अप्राकृत आत्मा का नाम आधिभौतिकधर्म-परिभाषा में है—'मनु' । आधिभौतिकधर्म के स्वरूप-विशेषक पुण्यपरास्त्र से हम छुनते आए हैं कि, जब जब मी प्राकृत प्रलय होता है तो मनु इस प्रलय में बच जाते हैं । प्रकृति अपना स्वरूप संवरण कर लेती है, वैधकि इसका सहज स्वभाव है । किन्तु मनु-रूप शास्त्रक अनन्त ब्रह्म की तो कोई भी क्षति नहीं होती इस प्राकृतप्रवृत्ततावस्था में मी * । अनोरखीयान् शास्त्रप्रवृत्तक अनन्त मनु ही वह अलादीय तत्त्व है जिसके एक एक अन्तर-प्रसन्तर-सुक्ष्मान्तर का नाम एक एक मन्कन्तरकाल है जोकि मन्कन्तरकाल इस मनु की ही शास्त्रप्रवृत्त की ही अभिव्यक्ति है ।

*—इन्द्रमेक, पर प्राणमपरे ब्रह्म शास्त्रतम् । (मनु)

करोति, यदि कमपि दानादिकं विषयमवलम्ब्य गुरुर्मव्यानुपदिशति, तदा तत्स-
भायागेऽ गुरोरनभिज्ञता वदन् तं विषयं स्वयमुपदिशन् गुरुमपमानयति । कदाचिद्
वदति—‘अद्य मम गुरुमौनव्रतमनुतिष्ठन्नास्ते’ इत्युक्त्वा स्वयमेव व्याख्यानं करोति ।
एव क्षुद्रबुद्धिचरितं विलोक्य वृद्धाचार्यं स्वचेतसि चिन्तयति—अयमभीक्ष्णं ‘सनि-
मित्त-मनिमित्तंवा क्रोधकारकः, कलहप्रिय, अभिमानी, अज्ञानी, मर्ममृषावादी च,
तदिदं ममैव कर्मणः फलमिति मन्यमानो वृद्धाचार्यं सर्वं सहमान आसीत् । कदा-

से विहीन हो गया । गुरुजी वृद्ध थे, इस लिये विहारकाल में चलते
समय उन्हें घड़ा कष्ट होने लगा, परन्तु क्या किया जाय फिर भी
शिष्य की प्रेरणा से उन्हें अनिच्छा होने पर भी विहार करना ही पड़ता
था । शिष्य का यह हाल था कि वह साधुसामाचारी को भी विपरीत
करते हुए नहीं लजाता था । गुरु-महाराज जब कभी किसी दानादिक
विषय को लेकर प्रवचन परिपद के भीतर बैठकर करते तब यह उनके
प्रवचन को अन्यथारूप में जाहिर करने के लिये, अथवा उस विषय में
उनकी अनभिज्ञता प्रकट करने के लिये बीच ही में धोल उठता और
कहता कि यह ऐसे नहीं ऐसे है, गुरुजी वृद्ध होने के कारण भूल गये
हैं । जब कभी इसे धोलना होता तो लोगोंसे कहने लगता कि आज
गुरुजी को मौनव्रत है, वे व्याख्यान नहीं देंगे, मैं ही व्याख्यान दूँगा, इस
प्रकार कह कर व्याख्यान देने लग जाता । क्षुद्रबुद्धि का इस प्रकार
स्वच्छदाचरण देख कर गुरु-महाराज स्वयं इसमें अपने कर्मोंका फल

मानी गुरु गुरु वृद्ध होता ओधी विहारमा यावती वधते तेभने प्रभु कष्ट
थवा लाग्य परतु शुं यधं शके ? शिष्यनी प्रेरणाथी तेभजे धम्मिहा न
डोवा छतां प्रभु विहार करवा पडते। शिष्य साधुसामाचारीथी विपरीत
यावतामां प्रभु दबता नहते। गुरु महाराज न्यारे डोर्ष दानादिक विषयने
वर्धने तेना उपर प्रवचन परिषदमा करता त्यारे ते शिष्य तेभना प्रवचनने
अन्यथाऽपमा बाहेर करवा भाटे अथवा ओ विषयमा तेमनी अनभिज्ञता
पताववा भाटे वचमा न जोडी उठते अने कहेते के आ आम नधी प्रभु
आम छे, गुरुल वृद्ध होवाथी भूली गया छे न्यारे तेने यावतानु मन थतु
त्यारे ते बोडोने कहेते के आने गुरुलने मौनव्रत छे ते व्याख्यान आपथी
नहीं, हुं न भापलु करीश आ रीते कहीने भापलु करवा लागते क्षुद्रबुद्धिनु
आवुं स्वच्छद आचरलु ओधने गुरु महाराज योताना कर्मोनु क्षु

इत्यावसान के साथ अवसान माना जा सकता है। किन्तु केन्द्रात्मिका मनुक्या इदवाद्यत्वस्वरूपिणी मूलप्रकृति का भीकारमक (ब्रह्मात्मक) स्वरूप तो पुरुषात्म्यमत् अनुसूय ही है शारवत ही है—'प्रकृति पुरुषं चैव विश्ववनापी उभावपि'। अतएव मनुक्या इदवाद्यत्वप्रकृति को तो उस परपुरुष से अभिन्न ही मान लिया गया है। अतएव प्रशाखिया अक्षररूप भी मनु के लिए उचरिनि—'तं विद्यात् पुरुषं परम्' केषु 'परपुरुष' (अक्षर-पुरुष) नाम अन्वर्थ मान लिया है। केन्द्रात्मिका मूलप्रकृति 'पर' (अक्षर) है इही का महिमात्मक-मूलप्रकृतिमान 'परम' (अक्षर) है। अक्षररूप केन्द्रीय अक्षर ही मनु है एव अक्षररूपक-महिमात्मक कालरूप मनु ही मन्वन्तर है। मनु अक्षर्य है, मन्वन्तर-अक्षर है। अक्षर्य पुरुष है अक्षर प्रकृति है। श्रीर इस इति से केन्द्राक्षररूप मनु उस कालातीत अक्षर्य से अभिन्न करते हुए 'तं विद्यात् पुरुषं परम्' को भी उचरिण्य कर रहे हैं। य ही मनु कालात्मक-महत्त्वधर्मक बन कर इन्द्र-माय-कालात्मि-प्रजापति-आदि प्राकृत नामों से प्रसिद्ध होते हुए प्राकृतधर्म के सर्वस्व हैं ये ही प्राकृत मनु पूर्वोपस्थित प्राकृतमानव की मूलप्रकृति बने हुए हैं। एव ये ही मनु अपने अप्राकृत-अक्षर-रूप शारवतप्रमाण से 'अप्राकृत-श्रुतिमानव' (कालातीत मानव) की प्रकृति बने हुए हैं। मनु के इस इदवाद्यत्वक कालातीत रूप तथा महिमात्मक अक्षरस्वरूप का लक्षणरूप स ही निरूपण करते हुए उचरिनि कहा है—

कालात्मको मनु { एतमेकं यदन्त्यस्मि मनु-मन्वे प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेकं परं प्राणम् } -प्राकृतमनु-अक्षर.
कालातीतो मनु { " " " अपरे ब्रह्म शारवतम् ॥ } -अप्राकृतमनु-अक्षरः

२६७—कालातीत-अप्राकृत-मनु का विश्वकर्मात्मक-योगात्मक-कौशल, एवं—'कुर्वन्नापि न क्षिप्यते' का समन्वय—

केन्द्ररूप-शारवतब्रह्मात्मक-अप्राकृत-कालातीत मनु अपने महिमारूप-अन्तःकालात्मक-प्राकृत-अक्षरक विश्वरूप को, एवं विश्ववाचारमक विश्वकर्म का विगृह्यकालचक्र से व्यवस्थित करते हुए, स्वयं प्रकृतिरूप से स्वयं के आचार करने रहते हुए अपने केन्द्रीय समत्व (अक्षर्यधर्मत्व) रूप योगात्मक कर्म-कौशल से 'कुर्वन्नापि न क्षिप्यते'। असङ्गो धर्मं पुरुष-न सम्ब्रते न व्यथते न रिप्यति। एवमेव इही इय मनु-अप्राकृत मनु से समन्वित अप्राकृत श्रुतिमानव इही समत्वयोगात्मक कौशल से व्यवस्थापूर्वक संपूर्ण प्राकृत आचारों में उत्तरदायित्वरूपेण साक्षीबन * कर्म करता हुआ भी अपने अप्राकृत मनुस्व से 'कुर्वन्नापि न क्षिप्यते'।

२६८—सृष्टि में प्रविष्ट मनुप्रकृति की शारवत-अभ्युदय निःश्रेयस्-ता का तात्त्विक-समन्वय-गुणात्मक प्राकृत कर्म से वहाँ मानव का प्राकृत मनुस्वस्व अक्षररूप-पदानुगामी बना रहता है तबैव गुणातीत इय मनु से अनुप्रापित कर्मकौशलात्मक-दुस्विभेग से इस का अप्राकृत मनुस्वस्व निःश्रेयस्-

* कुर्वन्नेवेह कर्माणि क्षिज्जीविषेच्छतं समाः ।
एषं त्वयि नान्यथनोऽस्ति न कर्म क्षिप्यते नर ॥
—ईशोपनिषत्

11/11

पद्यगुणानी स्ना यदा ६ । आर यो- ता समन्यमान म्ना समन्यनिष्ठा स मानव वा उमस पुप्राथे
 म्निष्ठ हा जाता है । बुद्धिवागा-मक इम मभिदिमात्र स ही इन में अनन्तरम स्वन ही प्रादुर्भूत हा जाता है ।
 यागनिष्ठा क द्वारा आचारवर्मा का अनुगमन ही यागममिद्धि है । आर 'नम्ययं यागममिद्धि
 ज्ञाननागमनि विन्दति का यही ता' १६ समन्य है ।

२६६-प्राकृतिक-प्रगुणय स असदृष्ट्या प्रकृति की उपायता, एवं 'निम्नगुणया
 म्वाहुन !' का समन्य—

विगुणमाय का विचार है, कम का नहीं । जगत्तन निम्नगुणया म्वाहुन ! ही कहा है
 व ग्रास्येष्ट आचारम क निष्ठा नहीं । यो एका हाय, हा मूर्ख-दृष्ट्यानुमताद (गीतायाय) ही
 धर्म प्रमाणित हा जाता । प्रगुणयविषया यदा, अर्थात् वैदिक धर्मग्रन्थ गुणमक है प्रकृत्या
 अलक्षणा क अनुसर स । यो यही गुणमात्र नहीं है, वा यही धर्म बुद्धिवागकरण अस्मान् इ-न न्याय,
 प्रत्ययय तन' । अन्तर मत्तमना म्निष्ठ है कि आमतथासिद्धि स मन्त्रः स्वन पानी मत्तमिद्धि
 भूति म्वाहुन गुणान न म्निष्ठ म्निष्ठि मास्तिष्ठि-आचार-मास्तिष्ठि-आयाजन ही है * । मास्तिष्ठि
 आचारमक व म्निष्ठि ही स्ना म्निष्ठि-आ है * परत का उतर इमा निष्ठा क प्रत्ययही स गताय ६ ।
 यही यह मास्तिष्ठि प्रतिदान दृष्टिमात्र या (प्रिय ११३ यो दृष्ट, वा यो म्निष्ठि), विम क प्रतीक
 म्निष्ठि क निष्ठा एवं आचारमत्तमिष्ठि-मास्तिष्ठि (यागनिष्ठासिद्धि बुद्धिवागनिष्ठा) क म्निष्ठि म
 इन कर्णप्रमत्त का अनुगमन पर जाता हा ।

२७०-प्रतीकविधि स अममृष्ट्या प्रतिरूपविधि', तमाध्यम स अनन्त-मानव की
 अनन्तप्रदानुगता दृष्टान्तलक्षणा प्रतिरूपता का दिग्दर्शन—

पुन प्रकृतमनुगमनः । अत्राहुन श्रुतिमानव ही एक वेदा तथा है, वा उम अनन्तरम का दृष्टान्त-
 म्निष्ठ प्रतीक ही नहीं, अर्थात्- स्वयं स्वयं प्रतिरूपता म्निष्ठ क अनुसर प्रतिरूप वन म्निष्ठ है, वना ही हुआ
 है । नान्यय यही है कि, स्वयं मानव हा उम अनन्त का मास्तिष्ठि है । उम क आर इमक मन्त्र में अर्था
 मी तथा प्राकृत माध्यम नहीं है वा इस उम तक पहुँचा* । मास्तिष्ठि निष्ठाचय म उम क, आर इस क
 मन्त्र म यो का माध्यम है, वा यह है-एकमात्र 'अत्राहुन श्रुतिमानव', विम दृष्टान्तक स प्रतीक मान-
 व प्राकृत मानव अपना अमृष्ट्य-निष्ठा म्निष्ठि का मन्त्र है अनन्त ही म्निष्ठि है । आर यही पुनः
 एवं अनन्तमिष्ठा का अन्त एक अन्त मास्तिष्ठि दृष्टिमात्र की आर आस्तिष्ठि पर ही दना है विम क विना
 यह प्रतीक अमृष्ट्य-निष्ठा म्निष्ठि क स्वन म 'प्रयय का ही अन्त उम जाय म्निष्ठि है ।

* इन तीन प्रकृती में स मास्तिष्ठि-आयाजन नामक तीसरे प्रकृत का दिग्दर्शन-मास्तिष्ठि-
 मास्तिष्ठि-आयाजना की रूपरक्षा नामक दृष्ट्य गुणमक (प्रमाणित) मन्त्र निष्ठा म हुआ है ।

इष्टावस्थान के साथ अतलान माना जा सकता है। किन्तु केन्द्रात्मिका मनुष्या इन्द्रयाज्ञत्वस्वरूपी मूलप्रकृति का नीचात्मक (नलात्मक) स्वरूप तो पुरुषात्म्यवत् अस्तुत्य ही है शारकत ही है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वान्नापी प्रमादपि'। अतएव मनुष्या इन्द्रयाज्ञरप्रकृति को तो उस परपुरुष से अमिश्र ही मान लिया गया है। अतएव प्रशाखिता अक्षररूप भी मनु के लिए रचार्पिने—'तं विद्यात् पुरुषं परम् कथेय 'परपुरुष' (अव्यय-पुरुष) नाम अन्वय मान लिया है। केन्द्रात्मिका मूलप्रकृति पर' (अव्यय) है इती का महिमा मन्-तुल्यप्रकृतिमान 'परम्' (अक्षर) है। अव्ययपरमक केन्द्रीय अक्षर ही मनु है एवं अक्षरतमक-महिनामय कलात्मक मनु ही मन्वन्तर है। मनु अव्यय है मन्वन्तर अक्षर है। अव्यय पुरुष है अक्षर प्रकृति है। और इस इति से केन्द्राक्षररूप मनु उस कालातीत अव्यय से अमिश्र बनते हुए 'तं विद्यात् पुरुषं परम्' को भी चरिधार्य कर रहे हैं। ये ही मनु कलात्मक-प्रकृतात्मक बन कर इन्द्र-माया-अलापि-प्रजापति-आदि प्राकृत नामों से प्रसिद्ध होते हुए प्राकृतवर्ग के सर्वस्व हैं ये ही प्राकृत मनु पूर्वोक्तप्रति प्राकृतमानव' की मूलप्रतिष्ठा बन हुए हैं। एवं ये ही मनु अपने अमाकृत-अव्यय-रूप शारकतप्रभाव से 'अप्राकृत-श्रुतिमानव' (कालातीत मानव) की प्रतिष्ठा करने हुए हैं। मनु के इस इन्द्रयाज्ञक कालातीत रूप तथा महिमात्मक कलात्मक का उन्मिश्रक स ही निकलपथ करते हुए रचार्पिने कहा है—

कालात्मिका मनु: { एतमेके चन्द्रयमि मनु-मन्व प्रजापतिम् । | —प्राकृतमनु-अक्षर
 इन्द्रमके परे प्राणम् ---- - - - - - }
 कालातीता मनु - { - - - - - अक्षरं ब्रह्म शारकतम् ॥ | —अप्राकृतमनु-अव्ययः

२६७—कालातीत-अप्राकृत-मनु का विरक्तकर्मरूपक-योगात्मक-कौशल, एवं—'कुर्वाणपि न क्षिप्यते' का समन्वय—

केन्द्ररूप-शारकतप्रभावक-अप्राकृत-कालातीत मनु अपने महिमात्मक-अनन्तकलात्मक-प्राकृत-अक्षिक विरक्तकर्म को, एवं विरताचार्यात्मक विरक्तकर्म को दिग्द्वैराक्षरकर्म से व्यवस्थित करते हुए स्वयं प्रसिद्धरूप से सब के आधार बनने रहते हुए अपने केन्द्रीय अमल (अव्ययत्वमय) रूप योगात्मक कर्म-कौशल से 'कुर्वाणपि न क्षिप्यते'। अतएवो धर्म्य पुरुष—'न सञ्जते, न व्यथते न रिप्यति। एवमेव इती ह्य मनु-अप्राकृत मनु से अमिश्रित अप्राकृत श्रुतिमानव इती उन्मिश्रयोगात्मक कौशल से व्यवस्थापूर्वक समूर्ण प्राकृत आधाराँ में उच्चदावित्वरूपेण वाचकीकन * कर्म करता हुआ भी अपने अप्राकृत मनुस्व से 'कुर्वाणपि न क्षिप्यते'।

२६८—सृष्टि में प्रविष्ट मनुष्य का शारकत-अभ्युदय-निःश्रेयस्-ता का तात्त्विक-समन्वय-गुणात्मक प्राकृत कर्म से बर्दा मानव का प्राकृत मनुस्वक रूप अभ्युदय-पयातुगामी बना खला है तमैव गुणातीत ह्य मनु से अनुप्राणित कर्मकौशलरूपक-दुर्बियोग मे इस का अप्राकृत मनुस्वक निःश्रेयस्-

* कुर्वाणो वेद कर्मणि विजीविषेच्छतं समा ।
 एवं त्वयि नान्यथोऽस्ति न कर्म क्षिप्यते नृ ॥
 —इतोपनिषत्

पद्मपुष्पानी बना खटा है । आर्य-तत्त्व समन्वयात् मूला समन्वयनिष्ठ से मानव का उभय पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है । उद्विषागामक इव सविदिमान से ही इन में अनन्तरण स्वतः ही प्रादुर्भूत हो जाता है । योगनिष्ठा के द्वारा आचारधर्मा का अनुगमन ही योगसिद्धि है । और 'वत्स्ययं योगसंसिद्ध-धर्मेनात्मनि विन्दति का यही तात्त्विक समन्वय है ।

२६६-प्राकृतिक-त्रैगुण्य से असस्पृष्टा प्रकृति की उपादयता, एवं 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' का समन्वय—

त्रैगुण्यमात्र का विरोध है, कर्म का नहीं । नगवान् न निस्त्रैगुण्यया भवार्जुन । ही उक्त है वेदास्त्रविद्ध आचारान्याग क लिए नहीं । यदि ऐसा होता तो सम्पूर्ण-कृष्णाजु नखपाद (गीताशास्त्र) ही धर्म्य प्रमाणित हो जाता । 'त्रैगुण्यविषया वदाः अर्थात् वैदिक कर्मकारण गुणात्मक है व्यक्तिगत अलक्षणता के अनुकूल से । यदि यही गुणमात्र नहीं है, तो यही कर्म बुद्धियोगरूपेण अकल्पन है—'न त्याज्यं धर्म्यमेष तनु । अतएव सर्वज्ञाना मसिद्ध है कि ध्यामयज्ञानिन्वक्ति से सम्बन्ध रखन वाली यज्ञसिद्धि भुक्ति-स्मृति पुराण ने मन्दिष्ट मरुक्ति-सांस्कृतिक-आचार-सांस्कृतिक-आयोजन ही हैं * । सांस्कृतिक आचारधर्मक कांक्ष्यधर्मों की क्या स्वरूप-विधा है ? प्रश्न का उत्तर इन्हीं निम्न के पूर्वगण्यों से गताथ है । यही वह प्राकृतिक प्रतिज्ञात दृष्टिकोण या (दक्षिण ५१३ वाँ पृष्ठ १० वाँ परिच्छेद) जिस क प्राकृतिक समन्वय के लिए हमें आचारधर्मात्मिका-प्राकृतिकमनिष्ठा (योगनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा) के सम्बन्ध में इस धर्म्यप्रसङ्ग का अनुगमन कर लेना पड़ा ।

२७०-प्रतीकविधि से अमस्पृष्टा प्रतिरूपविधि, तन्माध्यम से अनन्त-मानव की अनन्तप्रज्ञानुगता दृष्टान्तलक्षणा प्रतिरूपता का दिग्दर्शन—

पुनः पक्षमनुसराम । अमाकृत अपिमानव ही एक वैद्य तथ्य है जो उक्त अनन्तरण का दृष्टान्त-त्मक प्रतीक ही नहीं, अस्तित्व-रूपं रूपं प्रतिरूपां बभूव' के अनुसार प्रतिरूप बन सकता है बना ही हुआ है । वास्तव्यं यही है कि, स्वयं मानव ही उस अनन्त का साक्षी है । उक्त के और इसके मध्य में कोई भी वैद्य प्राकृत माध्यम नहीं है जो इसे उक्त तक पहुँचावे । भारतीय निष्ठाक्षेत्र में उक्त के, और इस के मध्य में यदे कोटि माध्यम है, जो यह है—एकमात्र 'अमाकृत अपिमानव', जिसे दृष्टान्तरूप से प्रतीक मान-कर प्राकृत मानव अपना अम्युदय-निर्भोषण साधन कर सकता है अक्षय ही अखरोत्य है । और यही पुनः हमें अलक्षेणिका का ध्यान एक अन्य प्राकृतिक दृष्टिकोण की ओर आकर्षित कर ही देना है जिस के बिना यह प्रतीक अम्युदय-निर्भोषण के स्थान में प्रत्यक्ष ही अक्षय बन गया करती है ।

* इन तीन प्रश्नों में से 'सांस्कृतिक-आयोजन' नामक तीसरे प्रश्न का दिग्दर्शन—'भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा' नामक ग्रन्थ शृण्वात्मक (पद्यधित) स्वरूप निम्न में हुआ है ।

२७१-अनन्तब्रह्म के प्रतिरूपरमक-दृष्टान्तात्मक-श्रुतिमानव के अन्वेषण-उपलक्ष्मि
की दुरधिगम्यता—

१- 'अप्राकृत श्रुतिमानव' अथर्व ही उस अनन्तब्रह्म के, और इस सादिसन्त प्राकृत मानव के मध्यम में भेद मध्यम-प्रतीक-है। भिन्न की दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता-मध्यस्थता से यह उसे प्राप्त कर लेता है। अनाद्यतेनैव वैतेकि काशात्मक सादि-सन्त भी प्राकृत विरव उस अनाद्यनन्त काशातीत अन्वेषण की अनन्तता से मध्यम हृदयमनुरूप अप्राकृत मनुष्य के माध्यम-प्रतीक से-समन्वित होता हुआ महिमामय बन रहा है। किन्तु धरन हमारे सम्मुख यह है कि, उस अप्राकृत श्रुतिमानव को इस प्राकृत विरव में हम डूँटें नहीं, जबकि हृदय-अप्राकृत मनुष्य की मति प्राकृत-मूल-मानी से सर्वथा असंख्य रहता हुआ वह अशोरजीव्यान् ही बना हुआ है। हम प्राकृत मानवों की स्थला-भूतदृष्टि के लिए।

२७२-काशात्मिका प्रकृति का, तदनुबन्धी मन-शरीर-बुद्धि-सचक्ष-प्राकृतमार्गों का अन्वेषण सम्पादित, एवं कलातीत-पुरुषविष-आत्मरूप-श्रुतिमानव का अन्वेषण असम्भव तथा प्राकृत मानव के सुख-स्वप्नों का पुनः अन्तर्विलयन—

अन्वेषण प्रकृति का सम्भव है प्राकृत शरीर, मन बुद्धि महान् और अधिक से अधिक अस्मत्क का अन्वेषण सम्भव है। प्रकृति की सीमा ही यहाँ समाप्त कर जानें। जो सर्वज्ञ में इन पाँचों पदों का अन्वेषण बृहत् महिमामय आत्मकारिक धीव्र हूँट लिया जा सकता है। यों प्राकृत विरव में इन प्राकृत मानवों के अतिरिक्त हूँटने से और किसी अप्राकृत मानव का जो वाञ्छितकार सर्वथा असम्भव ही है। भिन्न प्राकृत मानव को हमने पूर्व में यद्विषय प्राकृतिक विवर्यत्मक ही स्तरात्मा है श्रुतिमानव तो इन ५ भाँसे अतीत ही है। महा उसे इस विरव में कैसे नहीं प्राप्त किया जा सकता है!। सर्वथा असम्भव। अथपुन पुनस्तवैवाकलान्तिवो वेताल। बड़े प्रयास से शिग्रेणकलम्यक्याओं के महान् आद्येप से जैसे जैसे वो पहिले अनन्तकाल की प्रतीकता का अन्वेषण किया गया। इसे भी प्राकृत मानवस्य से अन्तरीयत्वा छोड़ देना पड़ा। पुनः प्रयास आरम्भ हुआ। प्राकृत-मानवों के माध्यम से अप्राकृत-श्रुतिमानव की शोष आरम्भ हुई। उक्त स्वल्प महा अकारमेव प्रतिपादित हुआ। और वही आधार पर अब यह आशा हो जाती थी कि, अब इस अप्राकृत-श्रुतिमानव की प्रतीकता किना प्रतिरूपता से वो प्राकृत मानव उस अनन्त को प्राप्त कर ही लेगा तो सदा इस प्राकृत-अन्वेषण-धर्म में इस हूँट-ढाँटी ने पुनः प्राकृत मानव के सम्पूर्ण ऊपर-स्वान वेत्तलक्ष्य में ही परिकर कर दिए, इत्यहो प्राकृतिकत्वचिन्तनस्य-महती-अभ्युत्था महती सञ्चता।

२७३-सर्वदिक्षुः अस्तहाय-विवश-मानव का अशरख-शरबा-धर्म, एवं तत्स्वरूप जिज्ञासा—

अपने आद्यपुरुषों से परम्परा देखे हुएने आप हैं कि अब मानव चारों ओर से संकटपरम्पराओं से आहत होबाया है, वो उस विपन्नदशा में माध्य-पितृ गुण-आद्य-मणिनी-मिष पुत्र-सेवक-आदि मादि तमी विमुक्त हो जाते हैं। और इस सर्वथा अस्तहायवस्था में एकमात्र 'धर्म' ही मानव का निपटि से उन्नाय करता है। 'अस्वयं धर्मः ?। क्या प्राकृत मानवों के द्वारा व्यक्तयापित इन की प्राकृतिक अनुभूतियों का नाम ही धर्म है!।

२७१-अनन्तब्रह्म के प्रतिरूपात्मक-दृष्टान्तात्मक-श्रुतिमानव के अन्वेषण-उपलक्षि-
की दुरधिगम्यता—

५। 'अप्राकृत श्रुतिमानव' अर्थ ही उक्त अनन्तब्रह्म के, और इस साक्षिज्ञान प्राकृत मानव के मध्यम में पैदा मध्यम-प्रतीक-है जिस की दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता-मध्यमता से यह उसे प्राप्त कर लेता है अनायासेनैव जैसेकि अज्ञानात्मक साक्षि-धर्म ही प्राकृत विरव उस अनाद्यनन्त अज्ञातीत अज्ञानब्रह्म की अनन्तता से मध्यम दृश्यमयुरूप अप्राकृत मनुष्य के माध्यम-प्रतीक से-सम्बन्धित होता हुआ महिमापन्न बन रहा है। किन्तु परन्तु हमारे सम्मुख यह है कि उस अप्राकृत श्रुतिमानव को इस प्राकृत विरव में हम कैसे ढूँढें ?, जबकि दृष्ट-अप्राकृत मनु की मांथि प्राकृत-मूच-माथों से उर्ध्वा अर्धस्युह रहता हुआ वह अयोधीबान् ही बना हुआ है हम प्राकृत मानवों की स्थला-भूतदृष्टि के लिए ।

२७२-आलात्मिका प्रकृति का, तदनुबन्धी मन-शरीर-बुद्धि-लक्षण-प्राकृतमाथों का अन्वेषण सम्भावित एवं अज्ञातीत-पुरुषविद्य-आत्मरूप-श्रुतिमानव का अन्वेषण असम्भव, तथा प्राकृत मानव के सुख-स्वप्नों का पुनः अन्तर्विज्ञान—

अन्वेषण प्रकृति का सम्भव है प्राकृत शरीर, मन बुद्धि महान् और अधिक से अधिक अत्यन्त का अन्वेषण सम्भव है। प्रकृति की सीमा ही यदि समाप्त कर डालें तो सर्वत्र में इन पाँचों पदों का अन्वेषण भूत महिमात्मक आत्मकारिक बीज हूँट लिया जासकता है। यों प्राकृत विरव में इन प्राकृत मानवों के अतिरिक्त हूँटने से और किसी अप्राकृत मानव का तो साक्षात्कार उर्ध्वा असम्भव ही है। जिस प्राकृत मानव की हमने पूर्व में यहविधि प्राकृतिक विवर्धनक ही बताया है श्रुतिमानव तो इन ५ की से अतीत ही है। भला उसे इस विरव में कैसे ढूँढें प्राप्त किया जासकता है ?। उर्ध्वा असम्भव। अथएव पुनस्तत्रैवाकामिकौ वेतालः। बड़े प्रयास से दिग्देवकाम्यात्म्याओं के महान् आद्येप से जैसे जैसे तो पहिले अनन्तकाल की प्रतीकता का अन्वेषण किया गया। इस ही प्राकृत मानवोत्पत्ति से अन्तर्विज्ञान का होज़ देना पड़ा। पुनः प्रयास आरम्भ हुआ। प्राकृत-मानवों के माध्यम से अप्राकृत-श्रुतिमानव की खोज आरम्भ हुई। उक्त स्वरूप महात्मा अमारम्भेन प्रतिपादित हुआ। और इसी आधार पर अब यह आशा हो जाती थी कि, अब इस अप्राकृत-श्रुतिमानव की प्रतीकता जिना प्रसिद्धता से तो प्राकृत मानव उस अनन्त को प्राप्त कर ही लेगा तो खड़ा इस प्राकृत-अन्वेषण-कर्म ने इस हूँटा-दाँटी में पुनः प्राकृत मानव के उर्ध्व्यं सुख-स्वप्न वेतालदृष्टि में ही परिकर कर दिए, इत्यहो प्राकृतिकतत्त्वचिन्तनस्य-महती-अभ्यता महती पड़ता।

२७३-सर्वदिकृतः असहाय-विवश-मानव का अशरणा-शरणा-धर्म, एवं उत्स्वरूप जिज्ञासा—

जपने आत्पुरुषों से परम्परया देख सुनते आए हैं कि, अब मानव जारी और से संकटपरतपरतों से आहत होजाता है तो उस विपन्नदशा में माता-पिता-गुरु-भावा-महिनी-मित्र-पुत्र-सेवक-आदि आदि सभी मित्र हो बने हैं। और इस उर्ध्वा अज्ञानात्मकता में एकमात्र 'धर्म' ही मानव का निवृत्ति से उन्नाह करता है। 'कोऽयं धर्मः ?। क्या प्राकृत मानवों के द्वारा व्यक्तपाठित, इन की प्राकृतिक अनुभूतियों का नाम ही धर्म है ?।

२७४—प्राकृत मानव की दिग्दशकालात्मिका मायुक्तापूर्णा अनुभूतियों, एवं गुरुओं की अनुभूति से मायुक्त शिष्यों का बुद्धिविमोहन—

यदि ऐसा होता, तब तो चिन्ता ही क्या थी। इस सम्पूर्ण प्राकृतकाल का तो हम आरम्भ में ही बलाश्लि सम्भवि कर बैठे हैं। फिर तो प्राकृत मानवों की अनुभूति को ही क्या साक्षात् इन्हीं की प्रतीकात्मक माध्यम नहीं मान लेते इन त प्राप्ति के लिए, जैसेकि अन्यत्र ऐसा ही कुछ माना, यार मनवाया जाता है। प्राकृत मानव वहाँ अपनी अनुभूतियों, अपने चमत्कारों से स्वयं ही प्रतीक बन बैठते हैं किन प्रकृत्यमिनिषिद्ध मायुक्त मानवों के लिए, उनके लिए तो ये प्राकृत-प्रतीक-गुरुमानव ही पर्याप्त हैं। उन मायुक्तों के लिए तो अनुभूतिरूपयण-चमत्काररूपयण-मध्यस्थ गुरु प्रतीक ही नहीं, अपितु य गुरुनी ही साक्षात् ज्ञान है *। गुरुनी की अनुभूति-अनुमान-चमत्कारों की भी वहाँ आवश्यकता है इन मायुक्त भक्तों को। उनका उन्निवृत्त मानन, उनका चरण-मदन आदि आदि उनका स्थूल भूतों का सेवन ही पर्याप्त है इन भक्तों के उद्धार के लिए। किसी आचार-धर्म-धर्म-लाभ-उपाय-परिहार-गृह-निष्ठा की कोर आवश्यकता नहीं है। अपितु महापुरुष सततोभावेन ऐसे गुरुनी की सेवा-शुभ्र्या ही इन मायुक्त भक्तों के न केवल दनी कर्म के, अपितु इनके अनक जमी के पावों का सर्वथा विनाश ही तो कर देती है। भूलो, बहुत भूलो। गुरुनी की सेवा वहाँ अभीष्ट है ऐसे संवकी की। आवश्यक है इनके ऐसे सेवक। किन किन को सेवा का अवसर प्रदान करें वे एक 'गुरुज्ञा महापुरुष' नहीं- 'गुरुमहापुरुष'। 'गुरुज्ञा' नहीं, अपितु 'गुरुज्ञा'।

२७५—अनुभूतियों के परमाचार्य्य ? गुरुवरों ? के अक्षय-ताण्डव, एवं तन्निग्रह से सहज मानव की मानवता का अभिमव—

अतएव जेला पर निमीम अनुग्रह कर य 'गुरुकाराज्ञा स्वस्थान में मुक्ति सुयोगित-विपद्गान पते हुए ही तच्छान्तवर्धी अपने जेला के लिए वेधी नृतसेवा [प्रम-वस्त्रादि परिग्रहसेवा] की ही सुम्भ-कस्या कर देते हैं किन्तु वेदादि कोर अन्तर्गत नहीं जान पावा। हां जेले अन्तोगत्वा अभी जेले हैं। भूल भी कर सकते हैं इस परोक्ष संवाकर्म में। अतएव यर्ष में जेला की मांगवा के अनुपात से १, एक दो बार स्वस्थान में किसी भी अनुभवपूर्ण निमित्त से सेवकों का आमन्त्रण कर लेना कदापि विस्मृत नहीं करते गुरुदेव। यदि इस पद्धति में भी शिष्यलता प्रतीत होने लगती है तो पशुपतिशर-पुस्तक भय-मन्त्रक गुरुदेव स्वयं ही पापिपादे ही भक्तों के पर पशुच जाते हैं उन्नीधनप्रदानानुप्रदान के लिए। कर्परीकार में सेवक भक्त को कुछ करते हैं वह सब ही आनुगच्छिक ही मान लिया जाता है। निश्चयेन कर्मममि इस भारतदेश की कर्मगमिता पावनमित्री से कृतरपीरी अक्षयदाति प्राकृत मानव का कदापि ऐसी सुलभा प्रतीक्य के पात्र नहीं ही बन सकते। इसीलिए तो अपाठक-प्रतीक-अन्वेष्य क्या या हमारे लिए की मानवकर्म में तो हमें वही भी उपलब्ध नहीं हुआ। अतएव 'अप्राकृत-श्रुतिमानव' तो केवल हमारे मानव ज्ञान की

* गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवमहेश्वरः

गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नम ॥

—शोकमानुष्यात्मकः

ही स्वयं को रूपाय । और ही सर्वद्वारावरोध-रिपति, किंवा विपत्ता परिस्थिति में 'धर्म' ने ही हमारा परिहाय रिया ।

२७६—मानव का अनन्य-सहायक मानवधर्म, तत्प्रतिपादिका शास्त्रधर्या, तन्मूलक श्रुतिमानवदृष्ट धर्म, तन्निबन्धन प्राज्ञात्मक श्रुतितत्त्व, एवं तदुपबृंहित आप-धर्मात्मक शास्त्रतत्त्व—

किञ्च धर्म ने !, मानवधर्म ने ! किञ्च मानवधर्म ने ! शास्त्रविद्य मानवधर्म न !। स्वयं क्या है शास्त्र का ! श्रुति-स्मृति, और पुराण । क्यों शास्त्रविद्य धर्म प्रमाय बन गया !, श्रुतिदृष्ट होने से । के ते श्रुत्य !, इत्य मनुष्या के महिमामय प्राज्ञात्मक श्रुति । किन्तु इन श्रुतिप्रामां का साक्षात्कार किञ्च !, उन अप्राकृत मानवों को बुद्धिमत्ता धीमाओं को तौक कर अपनी श्रुतुदृष्टि से उन श्रुतिप्रामां का साक्षात्कार कर स्वयं ही उन श्रुतिप्रामां के नाम से ही प्रसिद्ध होमाय, एम ही श्रुतिप्रामात्रभूत् से जो शास्त्रदृष्टा [न तु कश्चि] कहलाए, अतएव को 'अप्राकृत-श्रुतिमानव' कहलाए । इन महामहर्षियों की योगवसिद्धा आचारधर्मवसिद्धा-योगवदृष्टि से इह शास्त्र से अनुप्राप्तिव आचारधर्मक धर्म ही—'धर्मवधर्म' कहलाया० यही 'श्रुतिधर्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ यही स्मृतिप्रामा में 'मानवधर्म' कहलाया बिलकुल मूल श्रुतिशास्त्र म ही सुरक्षित रखा । धर्म का धर्मत्व प्रतिपादित हुआ श्रुतिदृष्ट अनौपेय वेदशास्त्र में विविक्त आचार पञ्च प्रतिपादित हुआ स्मृतिशास्त्र में एम आचोबनपञ्च प्रतिपादित हुआ पुण्यशास्त्र में ।

२७७—शब्दशास्त्र की प्रतिक्रिया के माध्यम से ही अप्राकृत श्रुतिमानव की उप-सृष्टि—

यौ श्रुतिदृष्ट शब्दशास्त्र के रूप में ही हमें 'अप्राकृत-श्रुतिमानव' उपलभ हुए । शब्दशास्त्र की क्रीडकर इसके अतिरिक्त प्राकृत मानवों की मूर्ति श्रुतिमानव 'श्रुतिमानव' रूप से तो आकृत किन्ती भी प्राकृत मानव की न ही उपलब्ध हुए ही न उपलब्ध होंगी ही । वेदशास्त्री के उपक्रम में जो 'श्रुति' नाम हम सुनते आए हैं उनको किन्तु देखा ! । उस युग के प्राकृत मानवों न ही देखा ही होगा उन श्रुतिमानवों को इसके लिए भी कोई आचार नहीं मिले था । क्योंकि हम उन्ही श्रुति-मानवों के हुए थे—'न विजानामि'—को कहाय पद न तं विधाष० 'नाहं मय्ये सुचेदेति' इत्यकार की प्राकृत-भाषा सुनते हैं तो हमें सम्भव रह बना पकड़ा है । इनकी हव श्रुतुभाषा के द्वारा उस युग में भी इनके अप्राकृत-श्रुति-स्वरूप की किञ्च प्राकृत मानव ने समझ होगा ! 'स्नेह ही है 'सोऽङ्गवेव' बधि वा न वेह' के अनुसर ।

२७८—अध्वयपुत्र्य के पूर्णांतर भगवान् वासुदेव के अप्राकृत-कासातीव-स्वरूप के तद्युग में एकमात्र ज्ञाता वसुधिन के अवतार महात्मा भीष्म—

सुनते हैं—अध्वयपुत्र्य के पूर्णांतर भगवान् कृष्ण को आचारधर्मनिष्ठ महात्मा देवक्य [भीष्म पितामह] के अतिरिक्त और किन्ती न भी ठीक ठीक नहीं समझ या । दुर्व्योचन जैसे बुद्धिमान्-धर्मी-कुपरा

०—धर्म धर्मावदराज्य । (वीथ)

चाक्रवर्तुर ने वा भगवान् की भगवता से सग ही अपने आपका असंख्य ही बनाए रखा । तभी वा वर
हैं राक्षसों में कन्दी बनाने के लिए आतुर हो पड़ा था । अतएव कन्दी पड़ेगा कि, लोभसंशयक अपवतार
पुण्या तथा श्रुतिमानयों के प्राकृत-भौतिक स्वरूप के आधार पर, इनकी सहा-मुदिभ्यामोहनशून्या-म्यक्ति व
प्रतिष्ठा से असंख्य-श्रुतियाणी क आधार पर वा न परिले किसी ने उन्हें समझ, न आन ही कोइ समझ
सकता ।

२७६-भगवान् क महाप्रलात्मक अनन्त-विराट्स्वरूप क दर्शनमात्र से विकम्पित
वत्सखा भावुक आजुन—

भगवान् के भी प्राकृत नन्दनन्दनरूप वा वा वर न यद्योगान कर लिया इनक प्राकृत बालनाभ की
बालसीताया की वा वरन आरपना करली । किन्तु विराट्मावानुगत-सवानुगत-वासुदेवरूप के साक्षा-
त्कार क संभाम्य वा इन प्रकृतिनादिया क नहीं ही मिल सग * । मुनते हैं-अनुन को घणमात्र के लिए
विद्युत्स्वरूप के दर्शनों वा महद्भाग्य प्राप्त हुआ था । क्या परिणाम हुआ इस स्वरूप-दर्शन क ? अन्त-
योगत्वा अर्जुन को, प्राकृत-भावुक-अनुन को यही प्रार्थना कर देनी पड़ी कि, भगवान् ! संशय कीविए !
अपने इस विराटरूप वा । और मुझे तो बही मेघ-सरा-रूप - - - - - !

२८०-गुरुभक्तों-भावुक-भक्तों के द्वारा अन्तर्व्यामी ? क दर्शन ? तदतिमान स तद्
द्वारा शास्त्रीय धर्माचारों की आस्थानिक-उपचा, एव तथाविध मल्लीमस-
ध्यामोहन क प्रति उद्बोधन-प्रदाता श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप आचारधम्मशिष्या-
त्मक गीताशास्त्र—

भावुक मक करते हैं-गुरुहय से जब हमें अपने अन्तर्व्यामी के दर्शन मिल गए, तो अब हम इस
धर्म-धर्म-शास्त्रादि क पत्रके में क्या पढ़ें ? । गुरु क ध्यान और गुरु अपने अनुभव ? हाथ जिस ज्योति-
रिबर-अन्तर्व्यामी-मुरत-आदि वा ध्यान बतलावें, तदतिरिक्त अब और कुछ भी कचन्य शेष नहीं रह बाव
हमारे लिए । गुरुभगवान् की और गुरुभगवान् के अनुभव से प्रमाणित ? भगवान् की रट लगाते हुए
ही हम तो मन्वसगर से पार उतर जायेंगे अशमील-गीप-भ्याव-गणिकारण । वापस्य यही कि रिबर
सघातकार के अनन्तर आचार्यदि शास्त्रीय-कर्तव्य-धर्मों की कोइ भी अपेक्षा-आशयकतय शेष ही नहीं रह
बाती इन भावुक-भक्तों की दृष्टि में । किन्तु सवास्मि भगवान् तथा उनके सकारण के ही उपासक सचास्मि ही
मक से दोनों बग तो भावुक भक्तों की उक्त मानस्य के ठीक विपरीत ही गमन करते हुए प्रतीत हो रहे हैं । जब
वक अनुन अपनी अनुभूति-अनुभव-प्राकृतवृद्धि से स्थिति के नीर-धीर-विभेक वा अनुगामी बनता हुआ
अपने अनुभव के आधार पर ही पाप-पुण्य की अवस्था में ठकनीन रहा तबतक यह भावुक ही बना रहा ।
जब अनेक प्रकार की सुदिगम्या व्याख्याओं से भी इसकी भावुकता क मूलोन्धेन न हुआ तो अशक्यता

* वहाँनां जन्मनामन्ते ध्यानवान् मां प्रपद्यते ।

वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुस्तम ॥

—गीता १।१६।

इति, ततोऽसौ स्वयमश्नाति, गुरुश्च क्षुधातः सन् दिवसं यापयति । कदाचिद् वदति
अथ मम गुरुणा पष्ठभक्तं कृतम्, कदाचिच्च वदति—अथ मम गुरुणाऽष्टभक्तमनु-
ष्ठितमिति, एव क्रमेण गुरुः क्षुधया विवर्णः कृशः शक्तिरहितः सजातः । विहार-
काले हृदत्वेन शीघ्रगमनसामर्थ्यवर्जितोऽपि गुरुः शिष्यप्रेरणया सकलेषु
विहरति । साधुसामाचार्या क्षुद्रबुद्धिर्विपरीतमाचरति, प्रतिलेखनादिकं सम्यग् न

करता था । आहार के समय सरस सुस्वादु एवं रुचिकारक आहार यह
स्वयं पहिले खाता और जो स्वस्थ विरस एवं अतः प्रान्त आहार होता
वह गुरु-महाराज को देता । जब इसे गुरु-महाराज को आहार देनेकी
इच्छा नहीं होती तो श्रावक और श्राविकाओं के समक्ष कहने लगता
कि आज तो मेरे गुरु-महाराज ने उपवास किया है, इस प्रकार यह गुरु
महाराज को भूखा रखकर स्वयं खूब खाने पीनेकी मजामौज उड़ाता
रहता । विचारे गुरुजी क्षुधा को शांतिभाव से सहन करते हुए
शमभाव में समय को व्यतीत करते । कभी २ कहता है कि आज
हमारे गुरु महाराज ने षष्ठभक्त किया है, आज अष्टभक्त किया है ।
इस प्रकार गुरु को अत्यन्त कष्ट पहुंचाता । गुरु जी भी सम-
ताभाव से क्षुधा की वेदना इसे अविनीत समझ कर सहन करने लगे,
परन्तु आखिर औदारिक शरीर ही तो ठहरा वह विना आहार के कहाँ
तक टिके । अन्त में वह शरीर विवर्ण—म्लान, कृश—कमजोर, और शक्ति

सदा दुःखीत न कर्था करते, आहारना समये सरस स्वादवाणा ओटले इन्ही
कारक आहार ते पोते पडेवा भाई देतो अने जे इक्ष, विरस ओवो अन्त
प्रान्त आहार होय ते शुद्ध महाराजने आपते। अन्ये तेनी शुद्धमहाराजने
आहार देवानी छिछा न घटी त्यारे श्रावक अने श्राविकाओनी समक्ष ठडेवा
लागतो के आन तो भास शुद्धमहाराजे उपवास करैस छे आ प्रकारे ते
शुद्ध महाराजने भूख्या राषीने पोते पूण भावापीवानी भोजनभाळ उडावतो
रहेतो, पीआरा शुद्ध क्षुधाने शान्त भावधी सहन करीने समभावमा समयने
व्यतीत करता। केई केई वधत कडेतो के आने अभास शुद्ध महाराजे छुट्ट करैस
छे आने अकृम करैसी छे आवी रीते शुद्धने अत्यंत कष्ट पडेवाउते। शुद्ध
पक्ष समताभावधी क्षुधानी वेदना तेने अविनीत समल सहन करवा लाय्या।
परंतु आपरे औदारिक शरीर तो छे न ते आहार विना कथा सुधी टकी
शके ? अतमा तो शरीर विवर्ण म्लान, कृश—कमजोर, अने शक्ति वगैरु

हुमा प्राकृत मानव को कालान्तर में अप्राकृत-श्रुतिमानव की कोटि में ही ला लाना करता है, जिस इस तथ्य का पैरवी-बणी से कर्नापि कथमपि स्पष्टीकरण सम्भव ही नहीं है। आचारक्रमक योग से मानव का केन्द्रीय मनुष्य परपुराणामक अभ्ययज्ञान दत्त ही उद्भूत हो पड़ता है, जिससे कर्मजनित त्रिगुणभाव आच्छन्न होने ही नहीं पाते। अतएव कर्म में सर्वथा वर्जमान भी यह योगी अभ्ययनिष्ठ ही बना रहता है *। यों आचारनिष्ठा से, आचार श्रमण योगनिष्ठा (धर्मनिष्ठा विधिनिष्ठा-कर्मिण्यहर्मातुगति) से इसका लोभान्मुदय भी 'प्रकृतिस्थ' बना रहता है एवं छत्सविद् व्यसयानुगत अभ्ययनिष्ठा से इसका आमनिःश्रेयन् भी 'स्थस्थ' प्रमाथित होजाता है।

योगसन्त्यस्तकर्मणिं ध्यानसच्छिन्नसशयम् ।
 आत्मनन्त न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥
 —गीता ४।४१।

२२३-स्वनिष्ठात्मिका 'धर्मनिष्ठा' का संस्मरण, तन्मूलक स्वस्वरूपबोध, एवं अपौरु-
 पय तत्त्ववेद क आधार पर आचारधर्म की व्यवस्थिति—

अनमविनिस्तरु । उक्त प्राथमिक अवधेय दृष्टिकोणी के माध्यम से प्रकृत में निवेदन हमें यही करना है कि मानव को स्वयं अपनी निष्ठा से ही अपना लक्ष्य व्यवस्थित कर लेना है। यह 'अपनी निष्ठा' ही इस की वह 'धर्मनिष्ठा' है जो शब्दशास्त्र के द्वारा ही व्यवस्थित हुई है। अतएव धर्मप्रतिपादक पुराण स्मृतिशास्त्र, तथा धर्म क धर्मत्व (मौलिक रहस्य-ज्ञानविज्ञानात्मिका आधिदैविक-उपपत्ति) का प्रतिपादक अपौरुपेय-स्वतःप्रमाणभूत शब्दशास्त्र × ही इसके अभ्युदय-निःश्रेयस-संसाधक-स्वरूपबोध का एकमात्र प्रतीक है जिस की मध्यस्थता से ही अप्राकृत-श्रुतिमानव को इमन् पूर्व में प्रतीकत्मक दृष्टान्त कह दिया है। श्रुतिमानव 'श्रुति' है, इसलिए वह हमारे लिए प्रमाण नहीं है। अतिस क्योकि वह अपनी बाणी से ईश्वरशक्ति-अपौरुपेय-तत्त्वात्मक-वेद के आधार पर ही शब्दत्मक शब्दशास्त्र के द्वारा हमारे लिए आचार धर्म व्यवस्थित करता है इसलिए ही श्रुतिमानव हमारे लिए प्रमाण है।

*-सर्वभूतस्थित यो मां मज्जत्येकध्वमास्थितः ।
 सर्वाथा वर्धमानोऽपि स योगी मयि वर्धते ॥
 -वर्धमानोऽपि, आचारात्मके कर्मणि प्रवर्धमानोऽपि, मयि अनन्तान्यये ।

×-अ तिसु वेदो विज्ञेयाः धर्मशास्त्र तु वै स्मृतिः ।
 ते सपरिधिष्वमीमांस्य ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥
 धर्मोऽमेष्वसत्प्रज्ञानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
 धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणां परमं भुक्ति ॥

—मनुः २।१ २३ श्लोक

मगवान् की इसे अपने किण्ट् स्वरूप के (ईश्वरस्वरूप के) ही दर्शन करने पड़े । इस ईश्वरदर्शन से ही इसकी मातृकतापूर्णा अनुभूतियाँ सम्पन्न हो सके एवं तदनन्तर ही इस ईश्वरनिष्ठ के माध्यम से ही यह स्वधर्मात्मक ज्ञानधर्म (युद्धधर्म) में प्रवृत्त हुआ । आज की परिभाषानुसार तो अनुन को इस ईश्वरसाक्षात्कार के अनन्तर 'करताज्ञे' हाथों में लेकर हरे-राम-हरे-राम राम-राम-हरे-हरे-ने ही उल्लिखित हो जाना चाहिए या आचारधर्मक सम्पूर्ण धर्म-धर्मों को छोड़कर ही । किन्तु ईश्वरदर्शन के द्वारा इस यज्ञ को तो कल्पनिहा में आस्था ही उपलब्ध हुई बल्कि आज के यज्ञ केवल गुह्यगणनायक से ही शास्त्रीय आचारों से विमुक्त हो पड़े हैं । अतएव कदापि इस प्राकृत-गुरुमान की माध्यम प्रसा ने तो सम्भवता प्रदान नहीं की थी । इसके लिए तो उन्हीं प्राप्ति का एकमात्र मध्यस्थ-माध्यम वह शब्दशास्त्र, एवं शास्त्रविद आचारधर्म ही है जिसे हम अप्राकृत-श्रुतिमानव का ही मूल रूप कहा करते हैं ।

२८?—मानव की प्राकृत-कालिक-भुक्ति के लिए अदृष्ट श्रुतिमानव, एवं अदृष्ट सुखस्य धर्म तथा एकमात्र शब्दशास्त्र की ही दृष्ट-भुतलुगता प्रतीकात्मिका प्रामा-
शिक्षिता—

अदृष्ट है हमारे लिए अप्राकृत-श्रुतिमानव तथैव अदृष्ट है हमारे लिए धर्म का भी सुखस्य स्वरूप । अतएव एकमात्र शास्त्र ही हमारे लिए वैद्य इह-भूत-प्रतीक है जिसे मध्यस्थ बना कर ही हम उसे भी प्राप्त कर सकते हैं एवं इस प्राकृत मानव के प्राकृत अस्तित्व का भी रक्षण कर सकते हैं । शास्त्र ही हमारे लिए प्रमाण है । यत्-शब्द आह, तस्मात्क प्रमायम् । यतो हि शब्दप्रमायाका एव धर्मम् । तस्माच्छास्त्रं प्रमायां ते कार्यार्थान्वयव्यवस्थितौ * ।

२८२-शब्दात्मिक भुक्ति-सृष्टि-पुराण-शास्त्रप्रयी की अप्राकृत-श्रुतिमानव के प्रति प्रतिक्रमशिल्पता, तदनुगता कथंभ्यकर्मात्मिका आचारात्मिका योगनिष्ठा, एवं 'योगसंन्यस्तकर्माण्यम्' इत्यादि शास्त्रीय सिद्धान्त का समन्वय—

शब्दात्मिक भुक्ति-सृष्टि-पुराण-शास्त्र ही अप्राकृत-श्रुतिमानव का प्रतिक्रम शिल्प है । इसी को प्रतीक बनाकर, इसी से उचित आचारधर्मक कर्तव्यधर्मों को माध्यम बना कर प्राकृत मानव की शक्तिपूर्वक (बुद्धिनिहा-पूर्वक) उस योग की उक्ति कर लेता है जो योगसिद्धि ही कालान्तर में इसमें स्वतः ही अनन्तमात्र अभिव्यक्त कर देती है । योगधर्मक-धर्मोंकेसाल से अन्वित नही गुणधर्मक आचारधर्मों धामधर्म-अप्राकृतधर्म बनाता

० यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वचसे कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमायन्ते कार्यार्थान्वयवस्थितौ ।
धाया शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
—गीता

के लिए । अपितु आचार्य का आचरण प्रमाण है अन्तेवाणी के लिए । वैयक्तिक-अनुभव-अनुभूतिमूलक आचरण नहीं अपितु शास्त्रमिद आचरण । अतएव आचार्य का माध्यम भी तत्स्य शास्त्रीय-आचार्यत्व ही ही मध्यस्थता प्रमाणित कर रहा है । येदृश्यव्यक्ता, तदनुगत आचरण में निष्ठ आचारशिष्टक शास्त्रनिष्ठ आचार्य ही अन्तेवाणी को आचारपरम की व्यावहारिक-पद्धति से अवगत करता है । मले ही मानव-स्वप्रतिमा से आचारपरम का मौलिक रस्य समझ जाय मले ही गोचारणादि देवमाना के माध्यम से इस में श्रुतमान का समावेश हो जाय और मले ही इस श्रुतता से इन में आत्मभाव भी प्रस्तुति हो जाय । किन्तु तत्रतः इत्यत्र यह बोध अपरिपक्व-अन्यवस्थित ही बना रहता है अतः कि यह आचारनिष्ठ आचार्य का अन्तेवाणी नहीं बन जाता । तभी ता गोचारणात्मक दिव्याचरण से श्रुतमाय में परिणत, अतएव आत्मभाव से अस्मित भी कल्पनाम आशक्ति आचार्यभ्रष्ट गौतम के-‘ब्रह्मविद्वैत वै सोम्य’ भासि । को तु त्वानुशास ? यह शिक्षा कले पर यही उतर देते हैं कि-‘भगव्योस्त्वव मे कामं प्रयात् । मृतं ह्येव मे भगवद्गोभ्य-आचार्याद्वय व विया विविता साधिष्ठं प्रापयति’ इति (छा उप ४ अ १ ए पर ४) ।

२८७-शास्त्ररहस्यज्ञाता-‘आचार्य’, आचार प्रतिपादक-‘शब्दशास्त्र’, तद्ब्रष्टा ‘अपि’, तत्समर्त्ता मुनि’, तत्सस्थापक अवतारपुरुष’, आदि मानवविभूतियों का अप्राकृत अपिमानवकोटि में अन्तभाव—

तदिरय-वेदशास्त्र का रस्यज्ञाता आचारनिष्ठ आचार्य उद्गृत आदिष्ट आचारत्मक कृशाठ्य, क्व प्रविपाक भुक्ति-स्मृति-पुण्यतामक शब्दशास्त्र एव उद्गृत्य अपि, स्वर्त्ता मुनि, तथा तत्सस्थापक अवतार पुरुष, इन तत्र का परम्परया अप्राकृत अपिमानव कोटि में ही अन्तभाव माना जासकता है । एवं अन्ततो-गत्वा इस समन्वय के माध्यम से उक्त कालातीत अनन्ताम्बयत्रक अ प्रतिस्मात्मक प्रतीकात्मक शिक्षान्तरूप इष्टान्त अवश्य ही उक्त-अप्राकृत-अपिमानव’ को ही माना जासकता है बितके गर्भ में ही आचार्य, तत्कर्त्तव्य, शब्दशास्त्र आदि आदि सभी माध्यम प्रतिष्ठित हैं इति तु नमः परम-अपिभ्य ! नमः परम-अपिभ्य ! नमः परम-अपिभ्य-मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः ।।। • ।

•-(१)-अपे मन्त्रकृतां स्तोमैः करयपोद्ब्रुपयन्गिर ।

स्तोमं नमस्य राजानं यो जग्ने धीरुपां पति ॥

—शुक्ल ० १।११।२।

(२)-यामृपयो मन्त्रकृतो मनीषिण्य अन्वैच्छम् देवास्तपसा भमेण ।

तां देवीं धार्च हविषा यजामहे सा नो दधातु मुह्यतस्य ह्योके ॥

(३)-नमा अपिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः ।

मा मा श्रुपयो मन्त्रकृतां मन्त्रविक् माहूर्वेवी वाचम् ॥

—देक्षिण उप ० वि मा धूमिश्च द्वितीयकण्ड

मगवान् को इसे अपने विराट् स्वरूप के (ईश्वरस्वरूप के) ही दर्शन करने पड़े । इस ईश्वरदर्शन से ही इसकी मातृभवापूर्णा अनुभूतियों, कल्पनार्थ स्वतन्त्र हुई एवं तदनन्तर ही, इस ईश्वरनिष्ठा के माध्यम से ही यह स्वधर्मात्मक आचारधर्म (युक्तधर्म) में प्रवृत्त हुआ । आचर्य की परिभाषानुसार तो अज्ञान की इस ईश्वरसाक्षात्कार के अनन्तर 'करतस्त्रै' हाथों में लेकर हरे-राम-हरे-राम राम-राम-हरे-हरे-में ही छपनीत हो जाना चाहिए या आचारधर्मक सम्पूर्ण धर्म-धर्मों को छोड़छाड़ कर । किन्तु ईश्वरदर्शन के द्वारा इस मूल को तो कतन्मनिष्ठा में आस्था ही उपलब्ध हुई किन्तु आचर्य के मूल केवल गुणदर्शनमात्र से ही शास्त्रीय आचार्यों से विमुक्त हो पड़ते हैं । अतएव कदापि इस प्राकृत-गुरुभाव को भारतीय प्रथा ने तो मन्वस्यता प्रदान नहीं की थी । इसके लिए तो उसकी प्राप्ति का एकमात्र मन्वस्य-माध्यम वह शब्दशास्त्र एवं शब्दसिद्ध आचारधर्म ही है, जिसे हम अप्राकृत-श्रुतिमानव का ही मूल रूप कहा करते हैं ।

२८१-मानव की प्राकृत-कालिक-भुक्ति के लिए अदृष्ट श्रुतिमानव, एवं अदृष्ट सुसूक्ष्म धर्म तथा एकमात्र शब्दशास्त्र की ही दृष्ट-भूतानुगता प्रतीकात्मिका प्रामा-
खिकता—

अदृष्ट है हमारे लिए अप्राकृत-श्रुतिमानव तब ही हमारे लिए धर्म का ही सुसूक्ष्म स्वरूप । अतएव एकमात्र शास्त्र ही हमारे लिए वैद्य दृष्ट-भूत-प्रतीक है जिसे मन्वस्य बना कर ही हम उसे भी प्राप्त कर सकते हैं एवं इस प्राकृत मानव के प्राकृत धम्मद्वय का भी रक्षण कर सकते हैं । शास्त्र ही हमारे लिए प्रमाण है । यत्-शब्द आह, तदस्मान् प्रमाणम् । यतो हि शब्दप्रमाणाय एव धर्मम् । तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते क्षर्प्याक्षर्प्याभ्यवस्थितौ * ।

२८२-शब्दात्मिका भुक्ति-सुखि-पुराण-शास्त्रत्रयी की अप्राकृत-श्रुतिमानव के प्रति प्रतिक्रियाशक्ति, तदनुगता कर्णव्यकर्मरतिमिका आचारात्मिका योगनिष्ठा, एवं 'योगसंन्यस्तकर्म्यायम्' इत्यादि शास्त्रीय सिद्धान्त का समन्वय—

शब्दात्मिका भुक्ति-सुखि-पुराण-शास्त्र ही अप्राकृत-श्रुतिमानव का प्रतिक्रिया शक्ति है । इसी की प्रतीक बनाकर, इसी से सद्यः आचारधर्मक कर्णव्यकर्म की माध्यम बना कर प्राकृत मानव को यथापूर्व (प्रतिनिष्ठा-पूर्वक) उक्त योग को सद्यः कर लेता है जो योगसिद्धि ही अज्ञानान्तर में रहने स्वतः ही अनन्तभाव का मिश्रण कर देती है । योगधर्म-धर्मकोश से छानिविचारी गुणात्मक आचारधर्म शास्त्रधर्म-अप्राकृतधर्म बनाया

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वचते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्र प्रमाणान्ते क्षर्प्याक्षर्प्याभ्यवस्थितौ ।
शाघा शास्त्रविधानोक्त कर्म कर्तुमिहाहसि ॥

—गीता

के लिए। अग्नि आचार्य का आचरण प्रमाण है अन्तर्वाणी के लिए। वैयक्तिक-अनुभव-अनुभूतिमूलक आचरण नहीं, अग्नि शास्त्रविद्वान् आचरण। अतएव आचार्य का माध्यम भी तबत शारीय-आचारधर्म ही ही मध्यमता प्रमाणित कर रहा है। पदरहस्यपक्षा, तदनुगत आचरण में निष्ठ आचारशिष्यक शास्त्रनिष्ठ आचार्य ही अन्तर्वाणी को आचारधर्म की व्यावहारिक-पद्धति से अवगत करता है। भले ही मानव-व्यक्तिमा से आचारधर्म का मौलिक रहस्य समझ बाय भले ही गोचारणानि दमभावी के माध्यम से इस में श्रुतभाव का समावेश ही बाय, और भले ही इस श्रुतता से न में आमभाव भी प्रस्तुत हो बाय। किन्तु उक्त इसका यह बाय अपरिपक्व-अव्यवस्थित ही बना रहता है बल्कि कि यह आचारनिष्ठ आचार्य का अन्तर्वाणी नहीं बन जाता। तभी तो गोचारणामक दिव्याचरण से श्रुतभाव में परिणत, अतएव आत्मभाव से अनन्त न भी अवगतान बायानि आचार्यधर्म गोत्रम के-‘प्रद्युम्निद्वयै सोम्य। भासि। को नु स्वानु शशास ?’ यह विहाता करने पर यही उतर देते हैं हि-‘भगवतोस्तय मे फाम् मयान्। श्रुतं श्ये म भगवद्गुण्यः-आचार्यादयश्च विद्या विदित्वा साधिष्ठं प्रापयति’ इति (श्रुतं उप ४ अ १६ परब)।

२८७-शास्त्ररहस्यज्ञाना-‘आचार्य’, आचार प्रतिपादक-‘शब्दशास्त्र’, तद्वृष्टा ‘श्रुति’, ‘तस्मिन्मूर्ति’, तत्संस्थापक अवतारपुरुष’, आदि मानवविवृत्तियों का अप्राकृत श्रुतिमानवकोटि में अन्तर्भाव—

तद्विषय-वेदान्त का रहस्यशास्त्र आचारनिष्ठ आचार्य उद्घाटन आदिष्ट आचारसमक कसन्व्य तत् प्रतिपादक भूति-मूर्ति-पुराणसमक शब्दशास्त्र एव उद्घाट्य श्रुति, स्मार्त्तानि, तथा तत्संस्थापक अवतार पुरुष इन सब का परम्परया ‘अप्राकृत श्रुतिमानव कोटि में ही अन्तर्भाव माना बासक्य है। एव अन्तर्वाणी-गत्वा इस समन्वय के माध्यम से उक्त अज्ञात अन्तर्वाणीययज्ञ का प्रतिष्ठासमक प्रतीत्यमक विश्रान्तस्म दृष्टान्त अपरय ही उक्त-‘अप्राकृत-श्रुतिमानव’ को ही माना बासक्य है विरुद्धे गर्भ में ही आचार्य तत्काल्य, शब्दशास्त्र आदि आदि सभी माध्यम प्रतिष्ठित हैं, इति नु नम परम-श्रुतिभ्यः। नम परम-श्रुतिभ्यः-मन्त्रकृत्यो मन्त्रपतिभ्यः।।।।

•-(१)-श्रुते मन्त्रकृतानि स्तोमैः करयपोद्धयन्गिरः।

स्तोमैः नमस्य राजानं यो अग्ने शीरुषां पतिः ॥

—श्रुतं २१११४२।

(२)-यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणश्च अर्न्वेष्यन्तु द्वात्तपसा अनेण।

तां दधी वाचं इषिषा यजामह सा नो दधातु मुकृतस्य कोफे ॥

(३)-नमा श्रुतिभ्यो मन्त्रकृत्यो मन्त्रपतिभ्यः।

मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपितुः प्राहुर्वेदी वाचम् ॥

—देखिए उप० वि मा भूमिका द्वितीयपरब

२८४—मानवश्रुति की 'अनुभूति' से असस्पृष्टा, तद्दृष्टिमात्रानुगता शब्दशास्त्रनिष्ठा, एवं 'स्वानुभूति' क सम्बन्ध में श्रुतिमानव के भाव उद्गार, तथा 'शास्त्रयोनिष्वात्' सूत्र का संस्मरण—

इसलिए यह हमारे लिए प्रमाण है कि, यह प्रामाणिकता श्रुति की अपनी अनुभूति से कार्य में तो सम्बन्ध नहीं रख रही। जब श्रुति से उनकी अनुभूति पूर्ण हो जाती है, तो वे तत्काल यही कह देते हैं कि— 'न विजानामि—यदि वेदमस्मि'—'कवीन्द्र्यामि विद्याने न विद्वान्'—'नाहं मन्ये सुबभूवि'। अर्थात्— 'इति शुभम् भीराणां ये नस्तद्वृत्त्याचक्षिरे' रूप से अपने प्राकृत-म्यङ्गित्वनिर्माहन से असस्पृष्ट रहते हुए श्रुति परम्पराक्षिप्त-शास्त्र-अप्राकृत-धर्म को ही हमारे सम्मुख रख देते हैं। अतएव उनका बचन हमारे लिए प्रमाण बन जाय है। और यी आर्षवाणीरूप से अप्राकृत श्रुतिमानव अथर्व ही स्वस्वरूपभोज के महान् प्रतीक प्रमाथित हो रहे हैं जिस प्रतीकता की अन्तिम पर्यायस्थानभूमि जो—'शास्त्रशास्त्र' ही माना जायगा। अर्थात् 'म्यङ्गि' को, किंवा म्यङ्गि की 'अनुभूति' को जब कदापि कोई भी प्रतीकता-मध्यस्थता-नहीं दी जासकेगी नहीं ही दी गई। इसी आचार पर पुराणपुराण भगवान् व्यास ने अपने सुप्रसिद्ध सूत्रग्रन्थ में ब्रह्मविद्या की पूर्ण अन्तर्वेगत्वा एकमात्र 'शास्त्र' को ही माना है, यैवकि सुप्रसिद्ध सूत्रचतुष्टयी के अन्तिम सूत्र—'शास्त्र-योनिष्वात्' सूत्र से प्रमाणित है।

२८५—श्रुतिदृष्टि से दृष्ट शास्त्र से अनुप्रायित 'आचारण' के माध्यम की जिज्ञासा, एवं तत्समाधानभूमि शास्त्रीय-आचारनिष्ठ-आचार्य—

अब इस सम्बन्ध में प्राकृत मानव की केवल एक विद्याय शेष रह जाती है, उसी का समाधान कर वह मीमांसा-मन्त्रण उपरत हो रहा है। अप्राकृत, अतएव लोकादीत, योगबद्धतिपरमणु अक्षाकृतधर्मों (एह तत्त्व के आचार पर आचरण के अनुगामी) श्रुतिमानवों की दृष्टि से एकमात्र (न तु कृत) मूति-श्रुति-पुराणोपबर्धित-शास्त्रक्षिप्त आचारधर्म (कच व्यनिष्ठारमक-प्रकृतिमेषमिष-त्वधर्म) 'आचरण' से ही सम्बन्ध रखता है। इस 'आचरण' पक्ष का माध्यम कौन ! यही वह अन्तिम प्रश्न है जिसका समाधानकर्ता शास्त्रनिष्ठ शास्त्रीय आचारपरमणु मानवभेद ही यहाँ—'आचार्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो तृष्णी अपने अन्तर्भाव में विद्यासात्मक सम्पत्तियों का उत्पान करता हुआ शास्त्रानुमेरित परम्पराधर्मोचित गुणों के माध्यम से शास्त्रीय तत्त्वों का अथर्व-मनन-निष्पन्न करवा हुआ आचार्यधर्म-धर्मधर्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहता है। ऐसे आचार्य को माध्यम बना कर ही अथर्वदासि शास्त्रप्रवृत्त प्राकृत मानव आचार्य के स्वधर्म में-अन्त में-समीप रहते हुए अपने अपनी 'अन्तर्वासी' बनाते हैं। एवं आचार्य के आचरण-धर्म के अनुहार आचार्य के द्वारा आदिष्ट-प्रदृष्टि-प्रदृष्टियों के अनुहार ही परमाचरण की शिक्षा प्राप्त करने में तत्काल बन उठते हैं।

२८६—'आचार्य, और 'अन्तर्वासी' शब्दों का स्वरूपेतिहास, एवं—'आचार्याद्वय क विद्या विदिता साधिष्ठ प्रापयति' इत्यादि श्रुति का सम्मरण—

यही आचार्य और अन्तर्वासी-धर्मों का स्वस्वेतिहास है जिसके अर्थ स्थापनानुगता गुणधर्म का एव तदन्तर्वासी शिष्यवद् अर्थात् यी तो सम्बन्ध नहीं है। आचार्य प्रमाण नहीं है अन्तर्वासी

प्र अन्नैतु सद्नादृतस्य वि रश्मिभि ससृजे सूर्या गा ।

वि साधुना पृथिवी सप्त उर्वी 'प्रतीक'-मध्येषे अग्नि ॥

—शुक्लसंहिता ७।२६।१।

२६१-प्रतीकमापच अङ्गाङ्गीमाच, एव पाथिव गायत्राग्नि की प्रतीकरूपा 'अङ्गता' का दिग्-दशन—

उक्त मन्त्र में अग्नि का पृथिवी का प्रतीक इसलिए बतलाया गया है कि 'यथाग्निगभा पृथिवी तथा धारिन्त्रेण गर्भिणी इत्यादि भुक्ति क मन्त्रकार मूर्धन्यक में चित्त्वरूप से तथा मुमहिमाकृता पृथिवी में चितनिधेरूप से गायत्र अग्नि प्रतिष्ठित है। एव इसी गायत्राग्नि के सम्बन्ध से पृथिवी को 'गायत्री' कहा गया जाता है। निरुपकार पृथिवी में आप-पन-मूल-चिह्नवादि आठ ब्रह्मन्त पर्व, तथा आपधि-पन-पति-पशु-पक्षी-कृमि-कीट-धातु-उपधातु-आदि आदि असंख्य इतर प्रयत्नपर्व अङ्गरूप से प्रतिष्ठित हैं तथैव यह अग्नि भी हमरा एक अङ्ग ही बन रहा है। अतएव इस पृथिवी का प्रतीक मान लिया गया है। क्या अत्राहृत मानव इन्द्रवार का 'अङ्ग' है उस अनन्तप्रज्ञ का? प्रतीकमध्येष अग्नि' यह श्रुति वाक्य अङ्कत ही महानुर्य है। 'प्रतीक' मान का उदय बलुगत्वा पार्थिव-अग्नि (नताग्नि) पर ही या क होता है।

२६२-पाथिवसगाधारभूत सौर-वारमेष्ठ्यादि पूर्वसर्गों की अप्रतीकता, एव मौक्तिक धरा जुगत कवल पार्थिव-जगत् की ही प्रतीकता—

पार्थिव सग से पूर्व पूर्व क चितन मी (सौर-वारमेष्ठ्य-स्वायम्भुव-आदि) प्राकृत सग ह, उनमें कहीं भी अङ्ग-अङ्गी-भावात्मक-प्रतीकमान नहीं है। वहाँ अर्घ्य-अरण-सम्बन्ध होता है वहीं अङ्गाङ्गीमाच रहा करता है। अर्घ्य-कारण-माच धर के धर्म हैं उस मूर्त्-म्यक-धर क धर्म हैं जो पार्थिव-मौक्तिक-म्यक-जगत् में अभिम्यक्त होता है 'सर्वे सवाणि भूतानि'।

२६३-अधरात्मक कन्द्रीय मनु से अनुप्राणित सौर मयदल, एवं तदभिस सौर मानव—

सौर मयदल अपने केन्द्रीय-अधराणु-रुन्नी देवात्मक प्राणमात्र से अधरप्रधान है। अतएव प्रकृति के अणोत्पीधान् मनु से आरम्भ कर औपमयदल पर्वन्त का समस्त प्राकृत्यभाव दो अफनी प्राणासुरनिष्पन्ना अधरत-अभ्यकृता के कारण अङ्गाङ्गीमाचों से 'सर्वथा ही असृष्ट है। तमी सा अत्राहृत मानव का नाम

•-दधारण ह वा-अधुरारण-उभय प्राजापत्या' पस्तुचिरे । तान्त्स्यद्वानात्र 'गायत्री अन्तरा वत्स्ये । या वे सा 'गायत्री आमीत्' इयं वे सा पृथिवी । इयं ह्येय तदन्तरा वत्स्ये ।

—वेदिए ! शतपथब्राह्मण १।१।१।१८

२८८—सहज मानवभ्रष्ट के 'पुरुषार्थ' का स्वरूप-परिधय, एवं तन्माध्यम से ही प्रतीकता के समन्वय की खेप्ता—

'पूख उत्तरदायित्व की भावना से मध्यजीवन धर्माभ्रमाचारसिद्ध आधिकारिक कर्तव्य-कर्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहते हुए अपने अज्ञातवश 'मानव' स्वरूप को मन्वायात् प्राकृतिक प्रतीक-मार्गों से सर्वथा असस्पृह बनाए रखना ही सहज-मानवभ्रष्ट का परम पुरुषार्थ है' । 'अनन्तब्रह्म के उदात्त बिंदु इस 'परमपुरुषार्थ' के समन्वय के लिए ही प्रखरत 'विग्-वेश-कास-मीमांसा' नामक स्वप्न प्रवृत्त हुआ है। इस प्रतीकता के समन्वय के लिए ही काशयुक्तों के माध्यम से विभिन्न दृष्टियों से कास-विग्-वेश-विधियों की, तथा विग्-वेश-कास-विधियों की स्वल्प-परिमाणा अनन्तस्वरूपनिष्ठ सहज मानवभ्रष्टों की सेवामें प्रणवमात्र से उपस्थित कर देने का प्रयत्न हुआ है।

२८९—प्रतीकविधि का सैद्धान्तिक-पक्ष के सम्बन्ध में पुनः जिज्ञासात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधान का आत्यन्तिक अभाव, तथा—'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेताल'—

अपठक अनक 'प्रतीक' भाषी के माध्यम से हमने प्रतीकवैतल जिस अनन्तब्रह्मबोध-समापक परमपुरुषार्थ के समन्वय की माहृत-वेधा की है उस 'प्रतीकता' समन्वय का अन्ततोगत्वा अप्राकृत्य अविमानव' पर विभ्राम हुआ प्रकृति की माया में ही। और यह अप्राकृत्य-मानव ही सैद्धान्तिक-प्रतीकरूप ब्रह्मन्त बना प्रकृत्य प्रतीक-विधि में। क्या इस प्रतीकविधि की सिद्धान्त मान लिया जाय ?। इस प्रश्न के समाधान के लिए जब हम स्वयं 'प्रतीक' शब्द के ध्यानार्थ को सत्य बनाते हैं तो पुनः हमें आत्यन्तिक रूप से इसलिए नियम ही होबाना पड़ता है कि, अप्राकृत्य मानव अर्थात् उच्छ्र प्रतीक नहीं बन सकता। जो प्राकृत्यमात्र प्रतीक बने जाते हैं वे अस्तुगत्वा प्रतीक हैं नहीं एवं बिना अप्राकृत्य मानव को प्रतीक मान लिया जाय है उसके साथ प्रतीकता किसी भी दृष्टि से सम्बन्धित होती नहीं। अतएव अन्ततोगत्वा 'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेताल' ।

२९०—'प्रतीक' शब्द के वाच्यार्थ का समन्वय, एवं 'प्रतीकमध्येषे-अग्निः' इत्यादि मन्त्र का संस्मरण—

प्रतीयते इति प्रत्येति वा ही प्रतीक शब्द का निर्वचनार्थ है, जिसका अर्थ है 'अज्ञ' 'भाग' 'अपयय' । अज्ञ लि पुरुष का अर्थवत् है अतएव यह प्रतीक है। अर्थवत् ही अर्थवत्कत्वा अतएव प्रतीकमन्त्रा इव अज्ञ लि के महत् से अज्ञीरूप, अर्थवत्कत्वा सम्युक्त पुरुष (पुरुषराश्री) का अज्ञीरूपमात्र बोध हो जाता है और अज्ञ लिप्रदीया-मिनें पुरुष का महत् कर लिया पुरुष को पकड़ लिया यह अतिक्रम प्रत्य करने में समर्थ बन जाता है। ए (कल्प) के एक अर्थवत्-बोध के दास हो जाने पर भी-पटा वृत्तः (कल्पना जल गया) यह अर्थवत्कत्वा में प्रसिद्ध है। इसी आधार पर अज्ञीरूपमात्र में—'समुदाय' दृष्ट्या राश्री अपययव्यपि वत् न्तं' यह न्याय अर्थवत्कत्वा हुआ है। और अज्ञीरूपमात्र अर्थवत्-अर्थवत्-मन्त्रानु-कपी पर्व-अज्ञ-मात्र-अर्थ का ही नाम प्रतीकभाव है अतएव निम्नलिखित अष्टमन्त्र में स्पष्ट प्रमा-पित है—

प्र ब्रह्मैतु सदनाद्यतस्य वि ररिममि ससृजे ध्रुवो गा ।
वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी 'प्रतीक'-मध्यधे अग्नि ॥

—श्रुतमहिता ७।२६।१।

२६१-प्रतीकमापद्य अङ्गाङ्गीभाव, एव पाथिव गायत्राग्नि की प्रतीकरूपा 'अङ्गता' का दिग्-दर्शन—

उक्त मन्त्र में अग्नि का पृथिवी का प्रतीक इच्छलिए बतलाया गया है कि, 'यथाग्निगभा पृथिवी, तथा घोरिन्द्रेण गर्भिया द्यादि भुवि के अन्तर्गत मू पयङ्ग में चित्यरूप सं, तथा ममहिमा रूपा पृथिवी में चित्वनिधयरूप सं गायत्र अग्नि प्रसिद्धित है। एव इती गायत्राग्नि के सम्बन्ध से पृथिवी को-गायत्री • अङ्गता' किया जाता है। ब्रह्मप्रकार पृथिवी में आप-मन-मू-विद्युत् आदि अष्ट ब्रह्मण परं, तथा ओषधि-वन-सृष्टि-पशु-पक्षी-कृमि-कीट-धातु-उपधातु आदि अस्मत् इतर प्रपद्यं परं अङ्गरूप से प्रसिद्धित हैं तथैव यदि अग्नि मी ममा एक अङ्ग ही मन रहा है। अतएव इसे पृथिवी का प्रतीक मान लिया गया है। नया अष्टाहृत मानव इत्यन्तर का 'अङ्ग' है उस अनन्तरस का ?। प्रतीकमध्यधे अग्नि' यह श्रुति अष्टाहृत ही महत्त्वपूर्ण है। 'प्रतीक' भाव का उदय बलुगत्या पार्थिव-अग्नि (भवाग्नि) पर ही मा के होता है।

२६२-पार्थिवसगाधारभूत सौर-वारमेष्ठ्यादि पूर्वसर्गों की अप्रतीकता, एवं भौतिक धरा नुगत कवल पार्थिव-जगत् की ही प्रतीकता—

पार्थिव सग से पूर्व पूर्व क ब्रितने मी (सौर-वारमेष्ठ्य-स्वायम्भुव-मादि) प्राकृत सग हैं उनम कही भी अङ्ग-अङ्गी-भावात्मक-प्रतीकभाव नहीं है। वही अङ्ग-कारण-उत्पन्न होता है, वही अङ्गाङ्गीभाव रहा करता है। अङ्ग-कारण-भाव धरा के धर्म हैं उस मूल-अङ्ग-धरा के धर्म हैं जो पार्थिव-भौतिक-स्थूल ब्रह्म में अभिष्यक्त होता है धरा: मवाणि भूतानि ।

२६३-अक्षरात्मक कन्द्रीय मनु से अनुप्रासित सौर मयजल, एवं तदभिन्न सौर मानव—

सौर मयजल अपने केन्द्रीय-अक्षरानुबन्धी नेवामक प्राणभाव से अक्षरप्रधान है। अतएव प्रकृति के अक्षरेष्वभिन्नान् मनु से आरम्भ कर सौरमयजल पर्यन्त का समस्त प्राकृतभाव जो अपनी प्राणाक्षरनिष्क-रना मन्तुता-अस्पष्टता क कारण अङ्गाङ्गीभावा से सर्वथा ही अक्षरुष्ट है। तमी ता अष्टाहृत मानव का नाम

•-वृषारथ ह वा-असुरारथ-उभय प्राजापत्याः पशुचिरे । वान्स्पद्यमानान 'गायत्री' अन्तरा तस्यो । या ये सा गायत्री 'आमीत्' द्यं ये सा पृथिवी । इयं द्वेष तदन्तरा तस्यो ।
—वेदिए ! शतपथब्राह्मण १।४।१।३८

२८८—सहज मानवभेद क 'पुरुषार्थ' का स्वरूप परिचय, एव तन्माध्यम से ही प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा—

'पूरा उत्तरदायित्व की भावना से यावत्जीवन धर्माभ्यन्तारसिद्ध आधिकारिक कर्तव्य-कर्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहते हुए अपने कलातीत 'मानव' स्वरूप को यथावत् प्राकृतिक प्रतीक-भावों से सर्वथा अन्तःसूत्र बनाए रखना ही सहज-मानवभेद का परम पुरुषार्थ है' । 'अनन्तब्रह्म के उद्घोषक बिच इस 'परमपुरुषार्थ' के समन्वय के लिए ही प्रस्तुत 'विग्-वेरा-काल-मीमांसा' नामक खम्भ प्रवृत्त हुआ है। इस प्रतीकता के समन्वय के लिए ही कालसूक्तों के माध्यम से विभिन्न दृष्टियों से काल-विग्-वेरा-विवर्तों की, तथा विग्-वेरा-काल-विवर्तों की स्वस्म-परिभाषा अनन्तस्वरूपनिष्ठ सहज मानवभेदों की संघर्षों प्रणतभाव से उपन्यित कर देने का मन्वस हुआ है।

२८९—प्रतीकविधि के सैद्धान्तिक-पक्ष के समन्वय में पुनः जिज्ञासात्मक प्रश्न, एव तत्समाधान का आत्यन्तिक अभाव तथा—'पुनस्तत्रैवावसन्मिती वेताल'—

अस्तक अनेक प्रतीक' भाषों के माध्यम से हमने प्रतीकता के बिच अनन्तब्रह्मोद्घोष-संघर्षक परमपुरुषार्थ के समन्वय की प्राकृत-बन्धा की है उस 'प्रतीकता' सम्बन्ध का अनन्तयोग्यता 'अप्राकृत आधिमानव' पर विभाव हुआ प्रकृति की भाषा में ही। और यह अप्राकृत-मानव ही सैद्धान्तिक-प्रतीकरूप दृष्टान्त बना प्रकृत प्रतीक विधि में। क्या इस प्रतीकविधि को सिद्धान्त मान लिया जाय ?। इस प्रश्न के समाधान के लिए जब हम स्वयं 'प्रतीक' शब्द के आन्वयार्थ को लक्ष्य बनाते हैं, तो पुनः हमें आत्यन्तिक रूप से इसलिये निराश ही होबाना पड़ता है कि, अप्राकृत मानव क्यापि उसका प्रतीक नहीं बन सकता। जो प्राकृतभाव प्रतीक बने पाते हैं वे बस्तुगत्वा प्रतीक हैं नहीं एव बिच अप्राकृत मानव को प्रतीक मान लिया जाता है उसके साथ प्रतीकता किसी भी दृष्टि से सम्बन्धित होती नहीं। अतएव अनन्तयोग्यता 'पुनस्तत्रैवावसन्मिती वेताल'।

२९०—'प्रतीक' शब्द के वाच्यार्थ का समन्वय, एवं 'प्रतीकपर्येषे-अग्निः' इत्यादि मन्त्र का तस्मरण—

प्रतीकते इति प्रत्येति वा' ही प्रतीक शब्द का निर्बचनार्थ है जिसका अर्थ है 'अङ्ग' 'भाग' 'अवयव'। अङ्गुलि पुरुष वा अवयव है अतएव यह प्रतीक है। अतएव ही अवयवकत्वा अतएव प्रतीकमत्वा इत अङ्गुलि क प्रत्येति से अङ्गीकृत, अवयवीकृत स्मृत्य' पुरुष (पुरुषपरिचर) का सङ्केतमात्मक रूप ही होता है और अङ्गुलिमहीता-मिनें पुरुष का प्रत्येति कर लिया पुरुष को पकड़ लिया' यह शक्तिप्रद प्राप्त करने में स्मर्य बन जाता है। पट (सूत्र) के एक अवयव-कील के रूप हो जाने पर भी-पटो बन्धः (कपड़ा जल गया) यह व्यवहार लोक में प्रचलित है। इसी आधार पर स्मृत्यव्यवहार में-समुदाय दृष्ट्या शब्दा अवयवव्यपि वत् स्त' यह म्भाव व्यवस्थित हुआ है। और अङ्गातीभाव अवयव-अवयवी-भाषानु-कम्पी पूर्व-अङ्ग-भाग-अवयव का ही नाम प्रतीकमत्वा है जिसकी निम्नलिखित शब्द-मन्त्र से स्पष्ट प्रमा-णित है—

जराज्वरिते कृशे निःसत्त्वे सत्यपि शरीरे कातरजनदुष्करं कठिनतरं
 मनशन स्वीकृतम् । एव चतुर्विधसघवचन श्रुत्वा गुरुणा चिन्तितम्—यदि स्व
 बुद्ध्या प्रकाशयामि शिष्यप्रपञ्चं चावेदयामि, तर्हि जिनशासनस्य ही
 निन्दना लघुता भवतीति । तदन्तर वृद्धाचार्येण चिन्तितम्—मम साहजिकः स
 कर्मक्षयसमय समायात इति । एवमसौ मनसि धारयन् समाधिमावमुपगत्य प्र
 परिणामेन क्षपऋत्रेणि प्राप्य सकलकर्म क्षपयित्वा केवली भूत्वा सिद्धिगतिं प्राप्त

को सुनकर समस्त चतुर्विध सघ उसी समय आचार्य के समीप आ
 और कहने लगा हे महात्मा ! आपको अनेकश. धन्यवाद है, आप वा
 में बड़े भाग्यशाली हैं, आप जैसे जिनशासन को प्रकाशित करने
 सूर्य से धर्मकी प्रभावना होती है । करुणासागर ! हम आपका गुण
 कहा तक गावें, हम सबको तो यह सुनकर अपार हर्ष हो रहा है
 आपने जरा से जर्जरित, कृश एव नि सत्त्व शरीर के होने पर
 कायर जनों द्वारा दुष्कर एव कठिनतर तीव्र अनशन को जो स्वी
 किया है । इस प्रकार चतुर्विध सघ के वचन सुनकर गुरुमहाराज
 चित्त में विचार किया कि यदि मैं अपनी भूख प्रकट करता हूँ और
 सच कुछ शिष्यका प्रपच है' ऐसा जो कहता हूँ तो जिनशासन की उ
 हेलना होती है, निन्दा होती है लघुता जाहिर होती है अतः अय
 इसी में है कि अनशन व्रत अंगीकार कर लूँ, यह सहज ही कर्मक्ष
 का समय उपस्थित हुआ है, इसे छोड़ना बुद्धिमानी की बात न

नोने साक्षणी समस्त चतुर्विध सघ ते समये आचार्यनी पास आवी अ
 विनती करी कहेवा लाग्या के हे महात्मा ! आपने अनेकानेक धन्यवाद
 आप वास्तवमा भवान् भाग्यशाली थे आप नेवा अनशासनने प्रकाशि
 करवावाणा सूर्यथा धर्मनी प्रभावना वायु थे उरुणासागर अमे आप
 सुखोने क्या सुधी वरुणी शकिये. अमने गधाने तो अे बलुणीने अेवो ह
 थयो थे के आपे वृद्धावस्थायी लुषुं कृश अने निःसत्त्व शरीर होवा छ
 पक्ष कायरजनो द्वारा दुष्कर अेवा आ कठिनतर तीव्र अनशननो अगीक
 करेछ थे चतुर्विध सघना आ प्रकारना वचन साक्षणीने सुर् महााराजे चित्त
 विचार कर्यो के ने कुं भारी बुध प्रगट करू अने 'आ सघणो शिष्य
 प्रपच थे' अेम ने करू तो अनशासननी अवहेलना थायु छे, निन्दा था
 छे, लघुता बहोर थायु छे, भाटे हुवे तो अेय अेमा छे के अनशन प्र
 अगीकार करी लख कर्मक्षयनो आ सहजे समय प्राप्त थयो छे अे
 छोडवे अे बुद्धिवाणी वात नथी. आ प्रकारे विचार करी सुर् महााराजे

'खैरमानव' (बुद्धियोगनिष्ठ-मानव) भी रक्ष दिया गया है। वैदिक पूर्वस्यद्वातुगता 'मानवस्वरूपमीमांसा' में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है।

२६४-सौररश्मियुक्त की अक्षिरूपविभ्रता, तदनुगत मन्वत्तरमात्र, एव सूर्यादि-अनन्तकालान्त-विवर्षों में 'प्रतीक' भाव का असंशय—

अक्षरूप अवयवभाव-यवमान-से अखंड रहने के कारण ही तो सौरप्राणमक रश्मियुक्त की 'अक्षिरूपविभ्रता' कहा गया है। अक्षर का नाम ही अक्षरत्व-यवता-अवयवत्व तथा अखण्डत्वनिधी प्रतीकत्व है। भवति इत्यप्रकार स्वयं प्राकृत विरच में भी पार्यवर्षों से परस्तात् के प्राणप्रधान सूर्यादि अनन्तकालान्त, किंवा मन्वत्तर-मात्रों में अज्ञाहीमावात्मक कार्याकारणभाव नहीं है। अतएव वहाँ उन प्राकृत विभ्रों में भी यव प्रतीकत्व-लक्षणा अक्षरता अनुपपन्न है, तो प्रकृति से अतीत अतएव कालातीत अमाकृत मानव के साय प्रतीकता का सम्भव सम्भव ही कैसे हो सकता है !। और ऐसी स्थिति में अत्यन्तिकल्प से निर्बिरोध-अनन्तकाल के स्वस्मनोप के सम्भव में 'प्रतीक' का कार्याकारणभावों का अज्ञाहीभावों का प्रश्न उठाना ही अनविश्रान्त-मक अक्षर-अक्षमात्रेण प्रश्न ही बन जा है।

२६५-नानामावात्मक अक्षुभावों से अभिन्न अक्षी—

'अक्ष' भाव ही 'अक्षी' और 'अक्ष' इन दो स्वरूपभावों का बनक बन जाया है। अक्षी अक्ष से भेद प्रपञ्चन नहीं है। नानामाव ही 'अक्ष' की स्वस्म-परिमथा है। इन नानामावों की राशि-रूप-वेर-कृत-ता नाम ही 'अक्षी' है अथवा ही जो कि अक्षों से भेद प्रपञ्चन नहीं है।

२६६-अक्षुमीमावात्मक-प्रतीकात्मक-अक्षुभावों से व्याप्त आचारगिनष्ठाशून्य दर्शानिकों का बाग्विबृम्भण —

उसी तो अज्ञाही-भावों में व्याप्त, दार्शनिक मूलात्मक-शरीरपुद्गल से अतिरिक्त किसी अथवा ही व्यापना में अतमर्थ ही प्रमाणित रह गए हैं। इसी अन्तिने दो अनात्मकारमूलक नास्तिकवाद अस्तिक-अस्तिक-दृश्य-दृश्य-दुर्ल-दुर्ल-रूप अज्ञायसिद्धता को कम दे डाला है। यही तो आस्तिक-नास्तिक-आचारगिनष्ठा उन आस्तिक-नास्तिक-दर्शनों का वैदिक-अस्तिक-कार्यकारणनियमन-अज्ञाहीभाव-निकषण कर्षणा ही निरर्थक वह बाग्विबृम्भण है बिखरे आस्तिक नास्तिक, उमी दार्शनिक आद्यन्त के दृश्य-दृश्य ही प्रमाणित होते पाये हैं।

२६७-अज्ञाहीभावनिबन्धना-प्रतीकता क व्यामोहन से आस्तिक-नास्तिक-दर्शनों में निरर्थक वाक्यलक्ष, एवं कार्यकारणमात्र प्रतीकभावों से असंशय महिमात्मक विवर्य का द्वारा फलक की उपशान्ति का प्रयास—

शरीर भौतिक है अमणित धरकृषी की समष्टि है अनेक अक्षों-अवयवों की एधिमण है उद्यमण है। अतएव भौतिक शरीर इन अक्षुभावों की समष्टि के अतिरिक्त कोई स्वल्प निम्न-अभिनायी-एक-अक्षी-

अवयवीभाव नहीं है, जिस प्रमाणित करने लिए एक बार भूत-माध्यम-वादी, अतएव अन्तर्वादी आस्तिक-दशकाल की सारी बातें जो जोर लगाकर यह कह करारदा है ता दूसरी ओर फल इस जड़भूत का ही अन्यतम यैमी नास्तिक-दशकाल आस्तिक-दशकाल के मौखिक तर्कों का व्यवहन करने में परिभ्रान्त हो रहा है। बरकि तत्त्व न तो आस्तिक-दशकाल के मण्डनात्मक तर्कों का ही काय महत्त्व एव न नास्तिक-दशकाल के स्वप्ननामाध्यत्मक-तर्कों-माथों का ही काय मूल्य। दोनों ही स्व-स्व-निर्गुण-कालानुगता-भूत-वार्थिबभूत-कालानुबन्धिनी-नुदिगम्या-अस्मिन्-काल-व्याप्ती के विवम्भणों में ही इतस्ततः दन्तम्यमान हैं। बरकि यह अनन्ततत्त्व आस्तिक के कल्पित धर्म, तथा नास्तिक के कल्पित अधर्म, दोनों से ही अतीत महिमानय ही तत्त्व है * जिसके अथ परिणामात्मक कार्म्य-धारणमाथों का, सामान्य परिणाम-माथों का अथ अस्ती-माथों का कदापि क्षेत्रों में स्वान्तिक सम्पर्क भी तो नहीं है। कश्चित् ही यह गया है आस्तिक-नास्तिक-शिरोमणि शारंगिक अनन्त के महिमानय आधिदैविक विरत रूप अकार्यात्मक का क समन्वयगाय स। यही ता विभूतिरूप-महिमानय-विषय में, तथा कथक-परिणाम-माथों-अध्ययनमाय में यह महान् अन्तर है, जिस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ही दिग्दशकालमीमांसा प्रवृत्त हुए है।

२८८-चरामक मौखिक-शरीरानुगत प्रतीक-सचरण-अज्ञाज्ञी-भाव, एव तत्सम्बन्ध में 'अज्ञादज्ञात्सम्मवति' इत्यादि धौतसन्दर्भ का स्मरण—

हाँ, जो अज्ञ से अज्ञ का उदय अवयव से ही अवयव का आविर्भाव, बिना स्थूलमायानुसार-शरीर से ही शरीर (उदाहरण मृगमं का बार मानवेतर सम्पूर्ण अणु-जेद-बरायु-उद्भिजाति प्राणियों का, बहाँ मानकवत् नालभेद का सस्यरं भी नहीं है) की उत्पत्ति यह यही है यह दार्शनिकता, विद्वान् शरीर में 'जीवन्मा' होने का प्रयास करते हुए, इन काव्यधारणरूप अज्ञों के माध्यम से ही अपने अस्मिन्क अज्ञी को होने रहने में ही अपनी सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसा समाप्त करदी है। पशुकार्मिक मीतिकर्म में 'अज्ञी वैद्य निरस्यव को अन्त-अकिनाशी तन्त्र ही ही नहीं, जिसका महत्व समारम्भ एक (आस्तिक) दार्शनिक ने तो मरणप्रयास किया है एवं दूसरे (नास्तिक) दार्शनिकने व्यवहनप्रयासमात्र किया है। लक्ष्य बनाएव इस सुविचन को विद्वान् शरीर को अज्ञ मानते हुए इससे उत्पन्न दूसरे मौखिक शरीर को विद्वान् शब्दों में 'अज्ञ' ही प्रमाणित किया है—

“अज्ञादज्ञात्-सम्मवति, हृदयादधिजायते ।

स त्वमङ्गकपायोऽसि दिग्घनिद्वामिष मादयेमाम् मयि ॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ६।४।४

*-अन्यत्र धर्मात्, अन्यत्रापन्मात्, अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूतात् मन्माथ पत्तत् परस्यसि, तद्द ॥

—छठोपनिषत्

'सौरमानव' (बुद्धियोगनिष्ठ-मानव) भी रक्त दिया गया है। बौद्धिक पूर्वस्यद्दानुगत 'मानवस्वरूपमीमांसा' में विस्तार से स्पष्ट किना जासुत्र है।

२६४-सौररश्मियद्धस की अङ्कित्वविधता, तदनुगत मन्वन्तरमास, एवं सूर्यादि-अनन्तकालान्त-विवर्धो म 'प्रतीक' मास का असस्पृश—

अङ्करूप अक्षय्यमास-पूर्वमास-से अखंडरुद्ध रहने के कारण ही सो सौरप्राणात्मक रश्मियद्धस की अङ्कित्वविधता कहा गया है। द्विधता का नाम ही अङ्कत्व-पूर्वता अक्षय्यता तथा तदनुवन्धिनी प्रतीकता है। जबकि इसप्रकार स्वयं प्राकृत विरह में भी पार्थिवसर्ग से परस्तात् के मासप्रधान सूर्यादि अनन्तकालान्त, किंवा मन्वन्तर-मानों में अङ्काङ्गीमासात्मक कार्यकारणमास नहीं है। अतएव वहाँ उन प्राकृत विधियों में भी सब प्रतीकत्व-लक्षणा अङ्कत्व अनुपपन्न है तो प्रकृति से असीत, अतएव कालातीत अप्राकृत मानव के स्वयं प्रतीकता का सम्भव सम्भव ही कैसे हो सकता है?। और ऐसी स्थिति में आत्यन्तिकरूप से निर्दिष्ट-अनन्तप्रकार के स्वस्वभाव के सम्बन्ध में 'प्रतीक' का कार्यकारणभावों का अङ्काङ्गीभावों का प्रयत्न उठाना ही अनतिपरनात्मक अक्षय्य-असमाप्य परत ही बन रहा है।

२६५-नानामासात्मक अङ्कभावों से अमिथ अङ्गी—

'अङ्क' मास ही 'अङ्गी' और 'अङ्क' इन दो व्यपेक्षमावों का अन्तक बन जाता है। अङ्गी अङ्क से कोई व्यपेक्षत्व नहीं है। नानामास ही 'अङ्क' की स्वस्व-परिभ्रमण है। इन नानामासों की रश्मि-स्पर्श-डेर-टूट-का नाम ही 'अङ्गी' है अक्षयनी है जो कि अङ्कों से कोई व्यपेक्षत्व नहीं है।

२६६-अङ्कङ्गीमासात्मक-प्रतीकात्मक-अङ्कभावों से व्याप्त आचारग्निष्ठाशून्य दार्शनिकों का वाग्विजृम्भण -

जमी सो अङ्काङ्गी-मानों में व्यापक, दार्शनिक भूतात्मक-रश्मियुत्पत्त से अतिरिक्त किसी अवयवी आत्मा की स्थापना में अक्षय्य ही प्रमाणित रह गए हैं। इसी अन्तिमे तो अनात्मवादमूलक नास्तिकवाद अतिरिक्त-अतिरिक्त-शून्य-शून्य-नुपत्-नुपत्-रूप लोनापतिकवाद को बन्ध दे डाला है। यही तो आस्तिक-नास्तिक-आचारशून्य उन आस्तिक-नास्तिक-दर्शनों का बौद्धिक-अत्यन्त-कारण-निष्पन्न-अङ्काङ्गीमास-निष्पन्न अर्थवा ही निरर्थक यह वाग्विजृम्भण है जिसे आस्तिक नास्तिक, जमी दार्शनिक आद्यन्त के शून्य-शून्य ही प्रमाणित होने आये हैं।

२६७-अङ्काङ्गीमासनिवन्धना-प्रतीकता क व्यामोहन से आस्तिक-नास्तिक-दर्शनों में निरर्थक वाक्पल्लव, एवं कार्यकारणमास प्रतीकभावों से असंसृष्ट महिमात्मक विवर्ध क द्वारा क्लृप्त की उपशान्ति का प्रयास—

रश्मि भौतिक है अगणित परत्यों की समष्टि है अनेक अङ्कों-अवयवों की रश्मिमात्र है वेप्याप्त है। अरावि भौतिक रश्मि इन अङ्कभावों की समष्टि के अतिरिक्त कोई स्वस्व-निष्पन्न-अकिनायी-एक-अङ्की-

३००-प्रतीकसमन्वयासक्ति क व्यामोहन से अनुप्राणित मानव क 'पुरुष-मानव-मनुष्य नर' नामक चार श्रेणि विभाग—

असमतिविस्तरण प्रतीकशब्दविश्लेषण । हमने केवल अपने बालोपलालन क लिए ही 'प्रतीक शब्द के माध्यम से अनक माध्यमों का अनुगमन कर लिया है, जिसे अथ समष्टिरूप से संकलित करते हुए यही उपलब्ध कर लेते हैं । अपनी इस प्रतीकमानासक्ति के संकलानामक समन्वय के लिए हम मानव के चार भौतिक-विभाग मान लेते हैं एवं इन चारों का क्रमशः पुरुषात्मक मानव, मानवात्मक मानव मनुष्यात्मक-मानव, नरात्मक मानव, यह नामकरण भी कर लेते हैं । पुरुष मानव मनुष्य नर चारों शब्द यद्यपि शोकव्यवहार में स्मानाधिक्य बनेत हुए परस्पर एक दूसरे के पर्याय ही प्रमाणित हो रहे हैं । तथापि कालानु-कृपी का-भ्रं स चारों ही शब्द पृथक्-पृथक्-चार तत्त्वा-भावी-के ही समर्थक बन रहे हैं । मानववर्गचतु-पथी से परिचित उस प्राकृत-विषय-चतुष्टयी को ही लक्ष्य बना लेना आवश्यक होगा जिसके माध्यम से ही मानव चतुर्दश विभक्त हुआ है । बड़ा ही रहस्यपूर्ण है यह समतुलनात्मक-समन्वय जिसके माध्यम से ही प्राकृत मानव का 'प्रतीक-व्यामोहन' उपरान्त होसकता है ।

३०३-अनन्तकालात्मक प्रथम प्रतीक-व्यामोहन, एवं तत्स्वरूपोपवर्णन की महती वृष्टता—

पहिला प्रतीकव्यामोहन है अनन्तकालात्मक, जिसे हमने अनन्त-भूत-भौतिक-दृष्टान्तों-प्रतीकों क समुत्पन्न में सर्वश्रेष्ठ प्रतीक माना है एवं जिसे कालातीव्य निर्दिशोपानन्त्य का प्रमुख प्रतीक घोषित कर डाला है । इस प्रतीकव्यामोहन का आधार बना है- एन्द्रोयन जगन्मर्मम् का मूलाधारभूत-त्रिपादृष्य उदै-सुरुष-पादोत्प्रेहायमयतपुनः यह संदधान्य । ब्रह्म को चतुष्पात मान लिया गया है इस ही अनन्तब्रह्म घोषित कर लिया गया है । एवं इसी का एकाग्र-एक-पाद मान लिया गया है अक्षयमक अनन्तकाल । अब अनन्तकाल उदीका अंश-भाग-अक्षय बन गया तो निश्चयेन कर्ष-उदैत्-त्रिपान्मूर्ति यह अनन्तब्रह्म अक्षी प्रमाणित होगया । अक्ष ही अब प्रतीक की परिमाणा है, जो इस दृष्टि से एकाग्र-एकाङ्करूप अनन्तकाल अक्षरय ही उसका प्रतीक प्रमाणित होगया और इस अनन्तकालाप्रतीकता के व्यामोहन से हमने अपने आपको धन्य-हृत्कृत्य ही मान लिया । प्रकृतिसर्ग में सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त यों एकाग्ररूप फल ही प्रमाणित होगया जिसके अर्थन में ही हमने अक्षयवैशेष्य दो कालचक्रों का भी महती स्मारकमेव अक्षय-पाटन कर ही ले डाला ।

३०४-अनन्तकालानुगता 'सत्य शिव-सुन्दरम्' लक्षणा साम्बत्सरिक-प्रतीकत्रयी का सस्मरण—

और आगे चल कर इसी अनन्तकाल की आधार मानकर सत्य-शिव-सुन्दरम्-नामक उन तीन कालविषयों की पारम्परिक-प्रतीकताका भी समन्वय कर ही ले डाला जो प्रतीकत्रयी क्रमशः सत्यमाशात्मक-सौरसम्बत्सरकाल शिवभाशात्मक पार्थिवसम्बत्सरकाल एवं सुन्दरमाशात्मक पान्द्रसम्बत्सरकाल नाम से प्रसिद्ध है । अनन्तकाल बना सर्वाधार, स्वयंशौरसम्बत्सरकाल बना मूषर्ग का मूलप्रवक्तक, शिव-पार्थिवसम्बत्सरकाल बना पुरुषर्ग का आरम्भक एवं सुन्दरमाशात्मककाल बना स्त्रीर्ग का आरम्भक ।

२६६ पूर्वाङ्ग का अङ्गत्व, उत्तराङ्ग का अङ्गत्व, एवं अज्ञात्मक 'प्रतीक' में ही-अङ्गी-
अङ्ग-भावों का अन्तर्भाव, तथा 'प्रतीक'-शब्देतिहास का संस्मरण

अङ्ग से अङ्ग की उत्पत्ति में उत्पादक-अख्यात्मक अङ्ग तो अर्थात् उत्पन्न अङ्ग की अपेक्षा 'अङ्गी' मान लिया जाता है एवं उपपेक्षया उत्पन्न भूत 'अङ्ग' बन जाता है। यों कारण-अर्थ्यात्मक पूर्व-उत्तर अख्यात्मकों के भेद से अङ्गभाव में ही अङ्गी-अङ्ग-ये दो विभिन्न भाव व्यक्त हो जाते हैं पार्षिय भूतसम्बन्ध, भूतान्तिर्भावत् पशुसम्बन्ध, जिसके साथ आत्मत्वकामिष्यकृत्व जैसी निरवयवता का सम्पर्क भी हो नहीं है। कर्मात्मक ऐश्वर्य उत्तररूपरूपक भौतिक अङ्ग ही 'प्रतीक' शब्द का चिरन्तन इतिहास है जिस चिरन्तन इतिहास का उपलक्षणोपसंहार पार्षिय-बान्द्र-नामक भौतिक-भूत-उत्पत्त्यर्थक में ही परिष्कृत है।

३००-धरभावनिवन्धना सगुणोपासना से अनुप्राणित 'प्रतीक' भाव की अनन्तप्रवृत्ति-
धरातलपेक्षया आत्यन्तिक-निरपेक्षता—

अवश्य ही धरभावनिवन्धना सगुणोपासना (जिस उपासना न कह कर—'मक्ति' ही कहा गया है) इस प्रतीकत्व का भी बाधोपलालनमाध्यम से स्पष्ट होगा है। अतएव धरात्मिका-भूतोपासनात्मिका मक्ति में अवश्य ही प्रतीकत्वमेव भौतिक माध्यमी का भी स्पष्ट हो पका है। किन्तु अनन्तप्रवृत्तिधरातल पर तो इस प्रतीकता का संस्मरण भी निश्चिद है। अतएव बलव्यति के समन्वय-प्रवृत्ति में कदापि प्रतीकभाव समाधि नहीं होता। और जो ओर, अपने अमूर्त-अव्यक्त-स्वरूप से निरवयव प्रमाणित अनन्तकालादि-सैरकाशान्त के प्राकृत विषय भी हो उस अनन्त के प्रतीक नहीं बन सकते बल्कि इनका भी अविमानव ने 'महिमा' रूप से ही सम्भव किया है जो महिमात्मक-विषय भाव आधिदैविक-मायात्मक-महिमात्मक से वञ्चित दार्शनिकों की दृष्टि में समाधि ही नहीं हो पाया है।

३०१-सर्वभूतेश्वराराध्यमहाभाग का अभ्यासवादात्मक, अतएव आधिदैविक-आधार से असंस्पृष्ट अद्वैतवाद एवं तत्प्रतीकनिग्रहेद्यैव राष्ट्रीय-आधारनिष्ठा का शैथिल्य, इति तु महद्दुःखास्पदमेव—

हम यह निवेदन करते हुए अत्यन्त ही ऊँचा हो रहा है कि, पूम्पाद भीराहूराचार्यने जहाँ महिमात्मक विषय के माध्यम-पथ्यन्त दिग्द्वाराकाशानुबन्धी परिवर्तनवाद को विष्वक्त कर आस्तिकधरान की प्रतिष्ठा को अनुकूल शरामे सुरक्षित कर लिया है, वहाँ मन्त्र-माद्ययात्मक बवमान की आधिदैविक-सृष्टियिषा का स्वर्ग न करन के कारण अतएव अपने वाद्यरूप से दार्शनिकभाषात् प्रतीयमान उपनिषद्भाग तथा गीताभाग की आधिदैविक-महिमासगान्धिता सृष्टिरूपरूपम्यात्म्या का किसी अज्ञान कारण से समन्वय न करने के कारण उस महिमात्मक विषय का समन्वय के लिए अभ्यासवादात्मक जैसे भौतिक दृष्टान्तों को ही माध्यम बना लिया है, जिनके कारण ही आध्यात्मिक धारा राष्ट्रीय-आधारपथ सरया सिधिल ही प्रमाणित होगया है।

३०-प्रतीकप्रमन्यासक्ति क व्यामोहन से अनुप्राणित मानव क 'पुरुष-मानव-मनुष्य नर' नामक चार श्रेणि विभाग—

अलमक्तिविक्षरण प्रतीकशब्दविवृतेन । हमने केवल अपने बालोपलालन क लिए ही 'प्रतीक' शब्द के माध्यम से अनेक माध्यमों का अनुगमन कर लिया है, जिस अत्र समष्टिरूप से संकलित करते हुए यही उपलब्ध कर देते हैं । अपनी इस प्रतीकभावावधिक के संकलनात्मक समन्वय के लिए हम मानव के चार श्रेणि विभाग मान लेते हैं एवं इन चारों का क्रमशः पुरुषात्मक मानव, मानवात्मक मानव मनुष्यात्मक-मानव, नरात्मक मानव, यह नामकरण भी कर लेते हैं । पुरुष मानव मनुष्य नर चारों शब्द यद्यपि लोकोप्यवहार में समानार्थक नत हुए परस्पर एक दूसरे के पर्याय ही प्रमाणित हो रहे हैं । तथापि कालानु-कयी का-भेद से चारों ही शब्द पृथक्-पृथक्-चार त पा-भाषी-क ही सम्यक बन रहे हैं । मानववगचत-प्यपी से पक्षि-उभ प्राकृत-विषय-चतुष्टयी को ही लक्ष्य बना लेना आवश्यक होगा जिसके माध्यम से ही मानव चतुर्धा विभक्त हुआ है । यहाँ ही रहस्यपूर्ण है यह समतुलनात्मक-समन्वय त्रिके माध्यम से ही प्राकृत मानव का 'प्रतीक-व्यामोहन' उपशान्त होसकता है ।

३०३-अनन्तकालात्मक प्रथम' प्रतीक-व्यामोहन, एवं तत्स्वरूपोपवर्णन की महती घृष्टता—

परिहा प्रतीकव्यामोहन है अनन्तकालात्मक, जिस हमने अन्यान्य भूत-भौतिक-दृष्टान्तों-प्रतीकों के अस्तुजन में सर्वश्रेष्ठ प्रतीक माना है एवं जिस कालातीत निर्विशिष्टानन्त्य का प्रमुख प्रतीक घोषित कर डाला है । इस प्रतीकव्यामोहन का आधार बना है—'अस्त्येन जगन्मर्षम्' का मूलाधारभूत-त्रिपान्थ्य ३३ 'सुरूप-पादोस्तेद्वायमयमपुनः यह वदवान्य । तत्र की चतुष्टयात मान लिया गया है इसे ही अनन्तप्रथम घोषित कर लिया गया है । एवं इसी का एकाग्र-एक-पाद मान लिया गया है अक्षरमत्र अनन्तकाल । जब अनन्तकाल उल्टीका अग्र-भाग अङ्ग बन गया तो निश्चयेन ऊर्ध्व-उदैत्-त्रिपान्मूर्ध्ति यह अनन्तप्रथम अङ्गी प्रमाकित होगया । अत्र ही अब प्रतीक की परिभाषा है, जो तब दृष्टि से एकाग्र-एकाङ्क्य अनन्तकाल अवश्य ही उठना प्रतीक प्रमाकित होगया, और इस अनन्तकालप्रतीकता के व्यामोहन से हमने अपने आपकी पन्थ-हृत्वहृत्य ही मान लिया । प्रकृतिकर्ष में सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त यों एकाङ्क्य फल ही प्रमाणित होगया जिसके अर्पण में ही हमने अद्यवैदीय दो अक्षरयुक्तों का भी महता अकारण्येन समन्वय-पाप्यन कर ही तो डाला ।

३०४-अनन्तकालानुगता 'सत्य शिव-सुन्दरम्' लक्षणा साम्बत्सरिक-प्रतीकत्रयी का सस्मरण—

और आगे चल कर इसी अनन्तकाल की आधार मानकर सत्यं-शिव-सुन्दरम्-नामक उन तीन काव्यवर्षों की पारम्परिक-प्रतीकताका भी समन्वय कर ही तो डाला जो प्रतीकत्रयी क्रमशः सत्यमावात्मक-सौरसम्वत्सरकाल शिवभाषात्मक पार्थिवसम्वत्सरकाल एवं सुन्दरभाषात्मक पान्द्रसम्वत्सरकाल नाम से प्रसिद्ध है । अनन्तकाल बना सर्वाधार, स्वयंशौरसम्वत्सरकाल बना मूर्च्छा का मूलप्रवचक, शिव-पार्थिवसम्वत्सरकाल बना पुरुषार्थ का आधारमक एवं सुन्दरपान्द्रसम्वत्सरकाल बना स्त्रीर्ष का आधारमक ।

३०५-निर्बिशेषानन्त्य का प्रतीक अनन्तकाल, तत्प्रतीक सौरसम्बत्सरकाल, तत्प्रतीक पार्थिवसम्बत्सरकाल, तत्प्रतीक चान्द्रसम्बत्सरकाल, एव प्रतीकभावनार्त्मिका अज्ञादज्ञावृत्त्या मन्तान परम्परा, तथा प्रतीकासक्ता मानवप्रज्ञा का आन्व्यन्तिक विमोहन—

इसी कालपरिपूर्णाया के माध्यम से निर्बिशेषानन्त्य का प्रतीक बन बैठा अनन्तकाल इस अनन्तराल का प्रतीक बन बैठा अन्वभावात् सौरसम्बत्सरकाल इस का प्रतीक बन गया शिवभावापन्न पार्थिव सम्बत्सर, किन्तु तदभिन्न शिवमूर्ति पुरुष एव इस का प्रतीक बन गया सुन्दरभावापन्न चान्द्रसम्बत्सर, किन्तु सुन्दरी नारी । भार यहाँ आत्म एक प्रतीकभाव उपरत होगई जिस का आगे बान्ध-‘अज्ञादज्ञात्-सम्भवति’ रूपा अन्तानप्रतीकत्वा में मौलिक विस्तार होता गया । ऐसा विस्तार हुआ कि, गणनात्मक इस प्राकृत-प्रतीकवाद का अनन्तकालारम्भ से आबन्धक उपराम ही नहीं हो पाया है । मानव की अवस्था पीढियों गणन करते करते अमर्त्यत्व करते करते यह यह गई । किन्तु यह प्रतीक-परिगणन समाप्त ही नहीं हुआ समाप्त नहीं ही होगा कभी भी इस प्रतीक-व्यामोहन-परम्परा से तो । अतएव इत्थंभूत प्रतीक-परिगणन से मानव इस अज्ञ-बन्धक में परित्राण प्राप्त कर ही न सकेगा और अनन्तकाल की सर्वभेद-प्रतीकत्वा का भी बही परिणाम होगा जो परिणाम शक्ति-सम्पत्-मौलिक प्रतीक-वादिभ्यो का हुआ करता है एवं जिन के प्रति आक्रुह हो कर ही बड़े गर्व से हमने अनन्तकाल की प्रतीक उन्नीत कर देने की महती प्रान्ति कर डाली है ।

- १-अनन्तकालयो निर्बिशेषस्य-अनन्तकालस्य-प्रतीकः (प्रकृतिसर्वो सर्वभेदकालान्ता-प्रकृतः-एकारात्वेन)
- २-अनन्तकालस्य विशिष्टस्य-सौरसम्बत्सरकाल-प्रतीकः-(अनन्तकालस्य-एकारात्वेन)
- ३-सौरसम्बत्सरकालस्य विशिष्टस्य-पार्थिवसम्बत्सरकाल-प्रतीकः-(सौरकालस्य प्रथमत्वेन)
- ४-पार्थिवसम्बत्सरकालस्य-पृथक्स्य-चान्द्रसम्बत्सरकाल-प्रतीकः (पार्थिवकालस्य-अज्ञत्वेन)
- ५-उक्त प्रतीक इमे साम्बत्सरिकाः-चेतनापेत्तनपदार्थाः-अनन्ताः-चान्द्रकालस्य-अज्ञत्वेन

प्रकारान्तरेषु—

- १-निर्बिशेषानन्तरालस्य-प्रतीक-अनन्तकाल-सर्वभारकाल (अनन्तो निर्बिशेषस्य)
- २-अनन्तकालस्य प्रतीक-अन्वभावापन्न-सौरकाल-मूष काराधारकाल (सूर्य-अनन्तस्य)
- ३-सौरकालस्य प्रतीक-शिवभावापन्न-पार्थिवकाल-पुरुषात्मककालः (नर-सूर्यस्य-मत्कभूत्वा)
- ४-पार्थिवकालस्य-प्रतीक-सुन्दरभावापन्न-चान्द्रकाल-रघुनात्मक काल (नारी-नरस्य-प्रतीकभूत्वा)
- ५-उक्तस्य-प्रतीकः-अनन्ता-अपेत्तनाः-अपेत्तित्वाः-अज्ञत्वे आबन्धाः—

३०६-सर्गविद्यात्मिका सृष्टिविद्या क महिमाविद्या, कात्तविद्या-नामरु दो विवर्ष, एवं सन्मूलक महिमासर्ग, तथा रतोषामर्ग का तापिक-स्वरूप-समन्वय—

अथ एक दृष्टी दृष्टि स इव प्रतीकनाद अ समन्वय कीत्रिय । सगवियात्मिका सृष्टिविद्या अ-महिमा-विद्या, कात्तविद्या मे स दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, किया गया है किन इन दोनों भागों अ मनाधार-‘रतोषा आसन, महिमान आसन इत्यादि मन्त्र ही है, किमत्र कि पूर्व में दिग्दर्शन करया यजुस है । महिमान आसन’ ही महिमाविद्यात्मक महिमासर्ग है, एवं ‘रतोषा आसन’ ही कात्तविद्यात्मक कात्तसर्ग है । इन दोनों सर्गों के आगे चलकर षष्ठ्यनुसंधान से दो न अवान्तर विवर्ष हो बात है । महिमासर्ग के दोनों विवर्ष क्रमशः अक्षय्यात्मक अक्षरसर्ग अक्षय्यानुगत अक्षरसर्ग, इन नामों से तथा कालसर्ग के दोनों विवर्ष क्रमशः अक्षरात्मक अक्षरसर्ग अक्षरानुगत अक्षरसर्ग, इन नामों से समन्वित माने जा सकते हैं । इन चारों के क्रमशः अक्षय्यसर्ग, अक्षरसर्ग, अक्षरानुगत अक्षरसर्ग, अक्षरसर्ग इन नामों से भी व्य-वहृत किया जा सकता है । इन्हीं के क्रमशः पुरुषसर्ग मूलप्रकृतिसर्ग, प्रकृतियिद्धिसर्ग यिद्धिसर्ग, इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है । प्रशास्त्ररत्न इन्हीं चारों के क्रमशः अप्राकृतसर्ग प्राकृतसर्ग, अनन्तरालसर्ग सम्यत्सरफलसर्ग इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है । पहिले अथधान-पत्रक तालिका-रूपण इन चारों सर्गों को लक्ष्याकर कर कीत्रिय । तदनन्तर प्रतीकता अ समन्वय कीत्रिय ।

महिमान कात्त	१-अक्षय्यात्मक-	अक्षरसर्ग-	अक्षय्यसर्ग-	पुरुषसर्ग-	अप्राकृतसर्ग-	महिमासर्ग
	२-अक्षय्यानुगत-	अक्षरसर्ग-	अक्षरसर्ग-	मूलप्रकृतिसर्ग-	प्राकृतसर्ग-	
शोभा कात्त	१-अक्षरसर्ग-	अक्षरसर्ग-	अक्षरसर्ग-	प्रकृतियिद्धिसर्ग-	अनन्तरालसर्ग-	शोभासर्ग
	२-अक्षरानुगत-	अक्षरसर्ग-	अक्षरसर्ग-	यिद्धिसर्ग-	सम्यत्सरफलसर्ग-	
इति वा अक्षरसर्ग	इति वा	इति वा	इति वा	इति वा		
अक्षरसर्ग वा इद मयम्-इत्याहुतवाच्यः						

३०७-भावसर्गात्मिक अक्षरसर्ग की मनुसर्गता का दिग्दर्शन—

त्रिदशक की दृष्टि से उक्त चारों सर्गविषयों का समन्वय कीत्रिय । अक्षय्यसर्ग अक्षरसर्ग को कहा जायगा अक्षरात्मसर्ग अक्षय्यानुगत अक्षरसर्ग को कहा जायगा अक्षरसर्ग । एवं इन दोनों महिमासर्गों की समष्टि को माना जायगा-अक्षय्ययनियन्त्रण मानससर्ग किंवा भावसर्ग किंवा अक्षरसर्ग, किंवा मनुसर्ग ।

३०५-निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक अनन्तकाल, तत्प्रतीक सौरसम्बत्सरकाल, तत्प्रतीक पार्थिवसम्बत्सरकाल, तत्प्रतीक चान्द्रसम्बत्सरकाल, एव प्रतीकमाख्यानार्थिकका अज्ञादज्ञापूर्वा मन्वान परम्परा, तथा प्रतीकासक्ता मानवप्रज्ञा का आन्यन्तिक विमोहन—

इसी कालपरिपूर्णाया के माध्यम से निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक बन बैठा अनन्तकाल। इस अनन्तकाल का प्रतीक बन बैठा ऊषमावापन्न सौरसम्बत्सरकाल। इस का प्रतीक बन गया शिवमावापन्न पार्थिव सम्बत्सर, किंवा क्रमिक शिवपूर्ति पुरुष, एक इस का प्रतीक बन गया सुन्दरमावापन्न चान्द्रसम्बत्सर, किंवा सुन्दरी नारी। भार यहाँ आकर एक प्रतीकचार उपरत होकर, जिस का अर्थ आकर—‘अज्ञादज्ञात्-सम्भवति’ का अन्वयप्रतीकता में भौतिक स्थित्यार होता गया। ऐसा विचार हुआ कि, गणनात्मक इस प्राकृत-प्रतीकवाद का अनन्तकालारम्भ से आचरण उपरम ही नहीं हो पाया है। मानव की अल्पज पीढ़ियाँ गणना करते करते अन्वेषण करते करते पक यक गईं। किन्तु वह प्रतीक-परिगणन समाप्त ही नहीं हुआ समाप्त नहीं ही होगा कभी भी इस प्रतीक-म्यामोहन-परम्परा से तो। क्योंकि इत्यन्त प्रतीक-परिगणन से मानव इस अज्ञा-वक्त से परिणाम प्राप्त कर ही न सकेगा और अनन्तकाल की सर्वभेद-मयीकता का भी वही परिणाम होगा या परिणाम धर्मि-सात्व-भौतिक प्रतीक-वादियों का हुआ चला है एवं जिन के प्रति आकृष्ट हो कर ही बड़े वर्ष से हमने अनन्तकाल का प्रतीक उद्घोषित कर देने की महती प्रार्थना कर बाकी है।

- १-अनन्तकालयो निर्विशेषस्य-अनन्तकालः-प्रतीकः (प्रकृतिसौं धर्मभेदज्ञानता-प्रज्ञाः-एकारत्वेन)
- २-अनन्तकालस्य विशिष्टस्य-सौरसम्बत्सरकालः-प्रतीकः-(अनन्तकालस्य-एकारत्वेन)
- ३-सौरसम्बत्सरकालस्य विशिष्टस्य-पार्थिवसम्बत्सरकालः-प्रतीकः-(सौरकालस्य प्रकृत्यन्तरेण)
- ४-पार्थिवसम्बत्सरकालस्य-मूर्धस्य-चान्द्रसम्बत्सरकालः प्रतीकः (पार्थिवकालस्य-अज्ञादज्ञेन)
- ५-इत्येव प्रतीक इमे सम्बत्सरिकाः-चेदनाचेतनप्रायाः-अनन्ताः-चान्द्रकालस्य-अज्ञादज्ञेन

प्रकारान्तरस्य—

- १-निर्विशेषानन्त्यप्रत्यय-प्रतीकः-अनन्तकालः-सर्वधारकाल (अनन्तो निर्विशेषस्य)
- २-अनन्तकालस्य प्रतीकः-ऊषमावापन्न-सौरकाल-मूल आचारकाल (सर्व-अनन्तस्य)
- ३-सौरकालस्य प्रतीकः-शिवमावापन्न-पार्थिवकाल-पुरुषात्मककालः (नर-सर्वस्य-प्रत कर्तुः)
- ४-पार्थिवकालस्य-प्रतीकः-सुन्दरमावापन्न-चान्द्रकालः-रम्पत्तमः अन्न (नारी-नरक-प्रतीकभूत)
- ५-उपर्य-प्रतीक-अनन्त-असंख्या-अप्रकृतिस्य-अज्ञादज्ञेन आचरता—

है। उदाहरण के लिए—एक पलायवृक्ष का ही लीत्रिए। इस पलायवाति के वृक्ष में प्राज्ञपर्यं ही नयी विधानरूप से अभिन्यक्त है, अतएव इसे प्राज्ञणवृक्ष ही मान लिया गया है—‘पालायो वै प्राज्ञ’ (उत्पथ) अतएव मानववाति का प्रत्यवर्णमिक प्राज्ञणमानव इस अनुरूपता—उभयसे सावित्री—दीक्षाग्रज (पञ्चोपधी) में पलायवृक्षप्रमाण का ही अधिकारी मान लिया गया है। प्रकृतिसूक्त इस वर्णहरण्य का आधिदैविक-समन्वय न अन्न के कारण ही आन्तिवय आब पण, आर जाति शब्द पम्पय बन गए हैं। इसी साङ्ख्यिक न वर्णहरणसूक्त नद उल्लास राङ्गा कर दिया है, जिसका प्राज्ञ पदायो की वर्णोक्तकाल का, तथा कन्मूला वावियों की अभिन्यक्तियां की स्वतंत्रता ही अभिनृत कर लिया है।

३१०—अथसगचतुष्टयी के अर्द्धादनवर्णसर्ग, एव प्रथमवर्णसर्ग—लक्ष्य दो प्रधान विवर्ण—

चित्तमसर्गमक, अथवा मक अक्षररूप प्रथम सर्ग परमात्मक (अध्ययमात्मक) अगम-अवर्ण-अन्न-अक्षर-लक्ष्य • अथसग है। चित्तमसर्गमक, अथवा अनुगत-अक्षररूप द्वितीय सग परममात्मक (अक्षरमात्मक) गोर-वर्ण-प्रवर्णक-अन्न-अक्षर-लक्ष्य ‘अर्द्धादनवर्ण’ है। चेतनसर्ग-मक अक्षरमक-अक्षररूप तृतीयसर्ग अन्नमात्मक (अक्षरमात्मक) मिट्टी-वाष्प-लक्ष्य-‘प्रथमवर्ण’ है। एव अक्षरमसर्गमक, अक्षरानुगत-अक्षररूप चतुर्थ सग अक्षरवर्णमक ‘अक्षरवर्णसर्ग’ है। इस प्रकार वर्णरूप्या भी सगचतुष्टयी स्वतंत्रता समन्वित ही रही है, वैसाविक परिशोध से स्पष्ट है—

सर्वमान	१-परमात्मक-चित्तमसर्ग-स एव अथसर्ग	अर्द्धादनसर्ग अक्षरवर्णः (अनुवर्णसर्गः)	मिथ्यासर्ग
	२-परमपरमात्मक-चित्तसर्ग-स एव अर्द्धादनवर्णसर्ग		
शोभा	३-अक्षरमात्मक-चेतनसर्ग-स एव मिट्टीवाष्पसर्ग	अक्षरवर्णः अक्षरवर्णसर्गः	प्राज्ञसर्ग
	४-अक्षरमात्मानुगत-अक्षरसर्ग-स एव अक्षरवर्णसर्ग		

३११—अथवर्णाज्ञात्मात्मक अथपिमानव के द्वारा प्राकृतधर्म का संस्थापन, एव वर्ण-प्राज्ञात्मात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृत धर्म का संरक्षण—

अन उन मानव नामों के माध्यम से ही इन चारों सगों का उभय कर लीत्रिए, जिनके माध्यम से ही परमतीमा मक अयोहन संकलनरूप से समन्वित होने चाया है। चित्तमसर्गमक-परमात्मा मक अक्षर-

• यद्यद्वैश्यमप्राज्ञमगोत्रमनयामचक्षुःभोत्रं तदपाधिपदं नित्यं विद्म सर्वगतं-
सुखत्तमं तदभ्यर्षं, तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डकोपनिषत् १।६।)
तत्र द्रष्टुं अद्रष्टुं भवति, चक्षुःसर्षं भवति •, (बृहदारण्यकोपनिषत्)

વિદતિશ્લુષયા પીઢિતો ગુરુચિન્તયતિ આહારાનયનાર્થં ક્ષુદ્રચુદ્ધિ મેપયામીતિ,
તાવદસૌ ક્ષુદ્રચુદ્ધિ. સ્વગુરોઃ પ્રાણવ્યપરોપનાર્થં ચતુર્વિધસયસમક્ષમત્રાદીત્-ગુરુના
શરીરમતિકૃત્ત્વ શક્તિરહિત વિલોક્ય યાવજ્જીવમનશન સ્વીકૃતમ્, ક્ષુદ્રચુદ્ધિવાક્ય
શ્રુત્વા ચતુર્વિધસયસ્તદૈવાચાર્યસ્ય સમીપમાગત્યાગ્રવીત્-ધન્યોઽસિ કૃતપુણ્યોઽસિ
મહાત્મન્ ! ભવાન્ જિનશાસનમાસ્કરઃ કરુણાસાગર, યત્ સ્વલુ ભવતા

વિચારતે થે ઓર મનહી મન કહતે થે-દેસ્લો તો સહી ઇસ્કી કિનની
થહી મારી અજ્ઞાનતા હૈ જો વિના નિમિત્ત કે હી ક્રોધ કિયા કરતા હૈ,
ચાહે જિસસે ક્ષમગઢા કરતા હૈ, સમક્ષાને પર મી નહીં માનતા હૈ, અભિ-
માન કા પુતલા બના હુઆ હૈ, મર્મચ્છેદી મૃપાવચન વોલને મેં ઇસે
સકોચ તક નહીં હોતા, અય ઇસ્કા ઇલાજ ક્યા કિયા જાવે, કુછ મી
ઉપાય નહીં, અનુપાયવસ્તુ મેં સહનશીલતા ધારણ કરના હી ઉચિત હૈ ।
ઇસ પ્રકાર કે વિચાર સે ગુરુમહારાજ શાન્ત હોકર ઉસ કે દ્વારા પ્રદત્ત
કષ્ટોકો સહતે રહતે । ઈક સમય કી ઘાત હૈ જય કિ ગુરુ-મહારાજ
ક્ષુધા સે પીઢિત હોકર આહાર લાને કે લિયે ક્ષુદ્રચુદ્ધિકો મેજનેકા વિચાર
કર રહે થે કિ ઇતને મેં ક્ષુદ્રચુદ્ધિ ને ગુરુમહારાજ કો મારને કે અભિપ્રાય
સે ચતુર્વિધ સય કે સમક્ષ ઈસા પ્રકટ કર દિયા કિ વૃદ્ધાવસ્થા કે
કારણ ગુરુમહારાજને શરીર કી સ્થિતિ કમજોર જાનકર યાવજ્જીવ અન-
શનઘત-સપારા ધારણ કર લિયા હૈ । ક્ષુદ્રચુદ્ધિ કે ઇસ પ્રકાર વચનોં

હોવાનુ પોતે વિચારતા અને મનમાજ કહેતા કે બુદ્ધિ તો ખરા આની
કેટલી બધી અજ્ઞાનતા છે કે જે વિના નિમિત્ત ક્રોધ કર્યા કરે છે, ચાહે
તેનાથી અગડે છે, સમબલવા છતાં પણ માનતો નથી, અભિમાનનુ પુતળુ
બની ગયો છે મર્મવેધક મૃપા વચન બોલવામા તેને સંકેચ થતો નથી,
હવે એનો ઈલાજ શુ થઈ શકે, કોઈ ઉપાય નથી. અનુપાય વસ્તુમા સહન
શીલતા ધારણ કરવી તે જ ઉચિત છે એવા પ્રકારના વિચારથી ગુરુમહારાજ
શાન્ત બનીને તેનાથી અપાતા કષ્ટોને સહા કરતા એક સમયની વાત છે
બ્યારે ગુરુ મહારાજ ભુખથી પીઢિત બનીને આહાર લાવવાને ક્ષુદ્રચુદ્ધિને
મોકલવાનો વિચાર કરતા હતા એટલામા ક્ષુદ્રચુદ્ધિએ ગુરુમહારાજને મારવાના
અભિપ્રાયથી ચતુર્વિધ સયની સમક્ષ એવું પ્રગટ કર્યું કે વૃદ્ધાવસ્થાને કારણે
ગુરુ મહારાજના શરીરની સ્થિતિ સારી રહેતી ન હોવાથી તેમણે બ્યા સુધી
હવે ત્યા સુધી અનશન ઘત ધારણ કરેલ છે ક્ષુદ્રચુદ્ધિના આ પ્રકારના વચ

है। उदाहरण के लिए—एक पलाशवृक्ष को ही लीजिए। इस पलाशवृक्ष के वृक्ष में माध्यवर्ण ही क्या कि प्रथमरूप से अभिन्यक्त है, अतएव इसे 'प्राज्ञणपृष्ठ ही मान लिया गया है—'पलाशो वै ब्रह्म' (शतपथ)। अतएव मानववृक्ष का ब्रह्मवर्णमक प्राज्ञणमानव इत अनुरूपत्व—सम्बन्धसे सावित्री—दीक्षाफल (यज्ञोपवीत) में पलाशवृक्षप्रदृश्य का ही अधिकारी मान लिया गया है। प्रकृतिमूलक इस वर्णहरण्य का आधिदेविक—अन्वय न करने के कारण ही भ्रान्तिग्रह आत्र पण, आर जाति शब्द पर्याय बन गए हैं। इसी साध्युर्न नर्गणमूलक वह उत्पात पढ़ा कर लिया है जिसने प्राकृत वर्णों की वर्णोत्कृष्टता का, तथा तन्मूला वारिषी की अभिन्यक्तियों को सपत्नना ही अभिभूत कर लिया है।

३१०—व्यासराक्षतुष्टयी के ब्रह्माद्भनवर्णसर्ग, एवं प्रवर्गवर्णसर्ग—लक्ष्य दो प्रधान विवचन—

चित्सात्मसर्गमक, अभ्ययात्मक अक्षररूप प्रथम सप्त परमात्मक (अन्वयमावात्मक) अगात्र—अवर्ण—अप्रज्ञ—अक्षर—लक्षण * अवर्णसर्ग है। चित्सर्गमक,—अभ्ययातुगत—अक्षररूप द्वितीय सप्त परापरमावात्मक (अक्षरमानात्मक) गोर—वर्ण—प्रवर्ण—मज्ञ—क्षर—लक्षण 'ब्रह्माद्भनवर्ण' है। चेतनसर्ग—मक अक्षररूप—क्षरसर्गमक तृतीयसर्ग अक्षरमावात्मक (क्षरमावात्मक) बिट्—पोष्ण—लक्षण—'प्रवर्गवर्ण' है। एव अक्षरतनसर्गमक, अक्षरतुगत—क्षरसर्गमक चतुर्थ सप्त अक्षरसर्गमक 'अक्षरवर्णसर्ग' है। इसप्रकार वर्णोत्कृष्टता भी वर्णोत्कृष्टता की समन्वित ही रही है वैसाकि परिलोक्य से स्पष्ट है—

महिमान	१-परमावात्मक—चित्सात्मसर्ग—स एव अवर्णसर्ग	-वर्णोत्कृष्टसर्ग	} महिमान
	२-परापरमावात्मक—चित्सर्ग—स एव ब्रह्मक्षरवर्णसर्ग		
श्रीव्या	३-अक्षरमावात्मक—चेतनसर्ग—स एव विट्पोष्णसर्ग	-क्षरवर्णः	} श्रीव्या
	४-अक्षरमावातुगत—अक्षरतनसर्ग—स एव अक्षरवर्णसर्ग	-अक्षरवर्णसर्ग	

३११—अक्षरप्राज्ञणात्मक अक्षरमानव के द्वारा प्राकृतधर्म का संस्थापन, एवं वर्ण—प्राज्ञणात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृत धर्म का सरक्षण—

अब उन मानव नामों के माध्यम से भी इन चार वर्णों का सम्बन्ध कर लीजिए, जिनके माध्यम से यह प्रतीक मक ब्रह्माद्भन संकलनरूप से समन्वित होने जा रहा है। चित्सात्मसर्गमक—परमावात्मक अवर्ण—

* यद्यद्वे श्यमप्राज्ञमगोश्रमवर्णमक्षरुःभोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विश्व सर्वगत—सुसूक्तं तद्व्ययं, तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (सुब्रह्मकोपनिषत् १।६।) तत्र ब्रह्म अत्र ब्रह्म भवति, क्षत्रमक्षरं भवति०, (शुद्धवार्तयकोपनिषत्)

है। उदाहरण के लिए—एक पलाशवृक्ष को ही लीबिए। इस पलाशवृक्ष के वृक्ष में बाह्यवर्ण ही स्वी कि प्रधानरूप से अभिव्यक्त है, अतएव इसे 'प्राज्ञणवृक्ष' ही मान लिया गया है—'पलाशो वै ब्रह्म' (शतपथ)। अतएव मानवजाति का प्रधानवर्णमक प्राज्ञणमानव इस अनुरूपता—सम्बन्धसे साथिनी—दीक्षाकाल (यज्ञोपवीत) में पलाशवृक्षमदृश का ही अधिकारी मान लिया गया है। प्रकृतिमूलक इस वर्णहरण का प्राणिवैदिक-सम्बन्ध न करने के कारण ही भ्रान्तिरस आत्र पण, आत्र जाति शब्द पर्याय बन गए हैं। इसी साध्य न वर्णमूलक यह उपात राका कर लिया है किन्तु प्राकृत पदार्थों की वर्णोत्कृष्टता का, तथा उन्मूला जातियों की अभिव्यक्तियों को सवात्मना ही अभिभूत कर लिया है।

३१०-वर्णसगचतुष्टयी के ब्रह्मादिनवर्णसर्ग, एव प्रवर्णवर्णसर्ग-लक्षण दो प्रधान विधा—

चित्तमसर्गमक, अभ्ययात्मक अक्षरसगरूप प्रथम सग परमात्मात्मक (अभ्ययमात्मात्मक) अगात्र-अवर्ण-अब्रह्म-अक्षय-लक्षण * अवर्णसग है। चित्तमसर्गमक-अभ्ययानुगत-अक्षरसर्गरूप द्वितीय सग पणपरमात्मात्मक (अक्षरमात्मात्मक) गौर-वर्ण-प्रवर्ण-ब्रह्म-क्षत्र-लक्षण 'ब्रह्मादिनवर्ण' है। चेतनसर्ग-मक अक्षरमक-क्षरसगरूप तृतीयसर्ग अक्षरमात्मात्मक (क्षरमात्मात्मक) विट्-वीधन-लक्षण—'प्रवर्णवर्ण' है। एव अक्षरमसर्गमक, अक्षरानुगत-क्षरसर्गरूप चतुर्थ सर्ग अक्षरवर्णमक 'अक्षरवर्णसर्ग' है। इसप्रकार वर्णहरण्य मी वर्णचतुष्टयी सर्वात्मना समन्वित हो रही है जैसा कि परिशेष से स्पष्ट है—

महिमा	१-परमात्मात्मकः—चित्तमसर्ग—स एव अवर्णसर्ग	}—भर्तातीसर्ग	}—महिमा
	२-पणपरमात्मात्मकः-चित्तमसर्ग—स एव ब्रह्मक्षत्रवर्णसर्गः		
शोभा	३-अक्षरमात्मात्मकः-चेतनसर्ग—स एव विट्वीधनसर्ग	}—क्षत्रवर्णः	}—शोभा
	४-अक्षरमात्मानुगतः अक्षरमसर्ग—स एव अक्षरवर्णसर्गः		

३११-अवर्णप्राज्ञसात्मक अपिमानव के द्वारा प्राकृतधर्म का संस्थापन, एवं वर्ण-प्राज्ञसात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृत धर्म का संरक्षण—

अब उन मानव नामों के माध्यम से मी इन चारों सर्गों का समन्वय कर लीबिए, जिनके माध्यम से यह प्रतीकधर्मक ध्यमोहन संस्करणरूप से समन्वित होने जा रहा है। चित्तमसर्गमक-परमात्मात्मक अवर्ण-

* यत्तद्विश्वमग्राह्यमगोश्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाशिपादं नित्यं विभु सर्वगत-सुखं तदव्ययं, त्वसूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डकोपनिषत् १।६।) तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति, क्षत्रमक्षत्रं भवति०, (बृहदारण्यकोपनिषत्)

यद् स्मरस्य खे किं, मानसकर्मक मावर्त्तनां का अस्म्यप्यात्मक चिदात्मसर्गं स प्रधान सम्बन्ध है एवं आत्म्यात्मक मनुसर्गं का अस्म्यप्यनुगत चित्सर्गं से प्रधान सम्बन्ध है। दोनों माने बाँटेंगे अस्म्यसर्गात्मक महिमासर्ग ही, मावर्त्तनां ही मानससर्ग ही।

३०८-चिदात्मसर्ग-चित्सर्गात्मक पुरुषसर्ग का दिग्दर्शन—

अक्षररूपक चरसर्ग को कहा जायगा चेतनसर्ग एवं इसे ही माना जायगा प्राण्यत्मक गुण्यसर्ग। अक्षररूपगुणव चरसर्ग को कहा जायगा अचेतनसर्ग एवं इसे ही माना जायगा बाह्य मय विकारसर्ग। चिदात्म-सर्ग चित्सर्ग दोनों महिमासर्गों को कहा जायगा पुरुषसर्ग, एवं चेतनसर्ग-अचेतनसर्ग इन दोनों खोलासर्गों को माना जायगा प्रकृतिसर्ग। अतः यही सार्थकपट्टयी का दूसरा 'चिदुमाथात्मक समन्वय' होगा, जैसा कि परिकल्प से स्पष्ट है—

अक्षरसर्गः	}	१-अस्म्यप्यात्मक-चरसर्ग-एव-चिदात्मसर्ग-मानससर्ग-मावर्त्तनां २-अस्म्यप्यनुगत-अक्षरसर्ग-एव-चित्सर्ग-आदि-सर्ग-मनुसर्गः	}	—पुरुषसर्गः (१) —महिमान आसन्—
अक्षरसर्गः	}	१-अक्षररूपक-चरसर्ग-एव-चेतनसर्ग-गुण्यसर्गः (अभ्यन्तकालसर्गः) २-अक्षररूपगुणव-चरसर्ग-एव-अचेतनसर्ग-विकारसर्गः (अभ्यन्तकालसर्गः)	}	—प्रकृतिसर्ग (१) —खोला आसन्—

३०९-वर्षाभाष्यनिबन्धना सर्गपट्टपट्टयी का स्वरूप-परिचय—

अब वर्षाभाष्य की दृष्टि से उक्त चारों सार्थकपट्टियों का समन्वय कीजिए। ब्रह्म-क्षत्र-चिदु-पौष्य-रूप प्राकृत-शक्तिभावों का ही नाम 'वर्षासर्व' है जो प्राकृत-काविक-सर्ग-के चर-अक्षर-स्वावर-अक्षर-यक्षयक्ष-पदायों में यथागुण-यथाकर्म-प्रतिष्ठित हैं। प्रकृतिविशिष्ट 'आप्तुर्वैर्यम्' (कवित्वाः) के अनुसार प्राकृतगुणात्मक प्राप्तुर्वैर्य समूह प्राकृत पदायों के विकारात्मक-साकृतिभावों की प्रतिष्ठित बन रहा है। साकृतिभाव बड़ा चतुररीशिलक्ष (वीर्यशीलात्म) है अतएव यक्षिकपना नासियाँ (योगिन्याँ) बहाँ इतनी ही हैं बहाँ वर्षा केवल चार ही हैं। प्रत्येक वादि में नासि की प्रत्येक स्थिति में प्रत्येक पदार्थ में गौरव-प्रधानता से चारों वर्षा सम्बन्धित हैं जिन चारों प्राकृत वर्षों में से प्रत्येक में एक वर्षा प्रधान रहता है शेष तीन वर्षा गौण रहते हैं। जो वर्षा प्रधान रहता है वह पदार्थ कर्मपर्यायनाम से ही प्राकृतवर्षा में प्रतिष्ठित हुआ

✽ महर्षयः सप्त पूर्वे चक्षारो मनवस्तथा ।
 मवुमाषा मानसा ज्ञाता वैर्यं लोफ-इमाः-प्रजाः ।
 मवन्ति मावा भूतानां मच एष पृथग्निधाः ॥ (गीता)

है। उदाहरण के लिए—एक पलायनवृत्त का ही लीबिप। इस पलायनवृत्त के दृष्ट में ब्राह्मण्य ही क्यों कि पदानरूप से अभिव्यक्त है, प्रत्यक्ष इसे 'ब्राह्मण्यवृत्त ही मान लिया गया है—'पलायनो ये ब्रह्म' (शतपथ)। अतएव मानववृत्ति का ब्रह्मवर्णनमक ब्राह्मणमानव इस अनुरूपता—सम्बन्धसे खनिजी—दीर्घाक्षल (यज्ञोपवीत) में पलायनवृत्तवृत्त का ही अभिप्राय ही मान लिया गया है। प्रकृतिसूत्रक इस वर्णनरूप का आभिर्दिविक-अन्वय न करन के कारण ही भ्रान्तिउत्पन्न मात्र था, और जाति शब्द पश्यत चन गए हैं। इसी सादृश्य न वर्णनमूलक यह उपाय गरका कर लिया है, किन्तु प्राकृत वर्णनों की वर्णोत्कृष्टता का, तथा कन्मूला वृत्तियों की अभिव्यक्ति का को अर्थमना ही अभिभूत कर लिया है।

३१०-वर्णसगचतुष्टयी के ब्रह्मादनवर्णसर्ग, एवं प्रवर्णवर्णसर्ग—लक्षण दो प्रधान विषय—

चिदात्मसर्गमक, अभ्ययात्मक अक्षरसगरूप प्रथम का परमानात्मक (अभ्ययमावात्मक) अक्षर-अर्क-अक्षर-अक्षर-लक्षण * अक्षरसर्ग है। चित्सर्गमक—अभ्ययानुगठ-अक्षरस्यरूप द्वितीय सग परपरमावात्मक (अक्षरमावात्मक) गौर-वर्ण-प्रवर्तक-ब्रह्म-अक्षर-लक्षण 'ब्रह्मादिनवर्ण' है। चेतनसर्ग-अक्षरस्यरूप-अक्षरस्यरूप तृतीयसर्ग अक्षरमावात्मक (अक्षरमावात्मक) विट्-गोष्प-लक्षण—'प्रवर्णवर्ण' है। एवं अक्षरतनसर्गमक अक्षरानुगठ-अक्षरस्यरूप चतुर्थ सग अक्षरवर्णमक 'अक्षरवर्णसर्ग' है। इस प्रकार सर्गदृष्ट्या भी वर्णचतुष्टयी वर्णमना समन्वित हो रही है वैसाकि परिक्षेप से स्पष्ट है—

महिमान	१-परमानात्मक—चिदात्मसर्ग—स एव अक्षरसर्ग २-परपरमावात्मक—चित्सर्ग—स एव ब्रह्मअक्षरवर्णसर्ग	}-परमातीतसर्ग }-ब्रह्मवर्ण (अक्षरवर्णसर्ग)	महिमासर्ग

३११-अक्षरमावात्मक अक्षरमानव के द्वारा प्राकृतधर्म का संस्थापन, एवं वर्ण-ब्राह्मणात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृत धर्म का सरक्षण—

अब उन मानव नामों के माध्यम से भी इन चारों वर्णों का समन्वय कर लीबिप, किन्तु माध्यम से यह मतीभ्रमक व्यामोहन संकलनरूप से समन्वित होने बाध है। चिदात्मसर्गमक—परमावात्मक अक्षर—

* यत्तद्वद्रेष्यमब्राह्मणमगोश्रमवर्णमिषत्तु भोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विशु सर्वगत-सुश्रुतं तदभ्यर्ष्य, तद्वृत्तयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डकोपनिषत् १।६।) सत्र ब्रह्म अक्षर भवति, अक्षरमक्षरं भवति०, (बृहदारण्यकोपनिषत्)

वह स्मरण रहे कि, मानसप्रक भावसर्ग का अभ्ययात्मक चिदात्मसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है एवं श्रुत्यात्मक मनुसर्ग का अभ्ययानुगत चित्तसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है। दोनों माने जायेंगे अभ्ययसर्गात्मक महिमासर्ग ही, भावसर्ग ही मानससर्ग ही।

३०८-चिदात्मसर्ग-चित्सर्गात्मक पुरुषसर्ग का दिग्दर्शन—

अक्षररूपक चरसर्ग को कहा जायगा चेतनसर्ग, एवं इसे ही माना जायगा प्राणात्मक गुणसर्ग। अक्षरानुगत चरसर्ग को कहा जायगा अचेतनसर्ग एवं इसे ही माना जायगा धारमय चिकारसर्ग। चिदात्मसर्ग चित्सर्ग दोनों महिमासर्गों को कहा जायगा पुरुषसर्ग, एवं चेतनसर्ग-अचेतनसर्ग इन दोनों शैवभासों को माना जायगा प्रकृतिसर्ग। और यही सर्गाच्छयी का रूप चिदात्मप्रक समन्वय होगा जैसा कि परिश्लेष से स्पष्ट है—

सर्गसंज्ञा	{ १-अभ्ययप्रक-चरसर्ग-एव-चिदात्मसर्ग-मानससर्ग-भाससर्ग } { २-अभ्ययानुगत-अक्षरसर्ग-एव-चित्सर्ग-श्रुतिसर्ग-मनुसर्ग }	{ पुरुषसर्ग (१) महिमान आसन्-
सर्गसंज्ञा	{ १-अक्षररूपक-चरसर्ग-एव-चेतनसर्ग-गुणसर्ग (अनन्तकालसर्ग) } { २-अक्षरानुगत-चरसर्ग-एव-अचेतनसर्ग-चिकारसर्ग (सम्बन्धकालसर्ग) }	{ प्रकृतिसर्ग (१) शैव आसन्-

३०९-वर्षमावनिषन्वना सर्गवत्पृथ्वी का स्वरूप-परिचय—

अब वर्षमाव की दृष्टि से उक्त चारों सर्गविकृतों का सम्बन्ध कीजिए। प्रकृत-चर-चिद-योष्य-रूप प्राकृत-पृथिवीसर्गों का ही नाम 'वर्षवत्पृथ्वी' है जो प्राकृत-कालिक-सर्ग-के चर-अक्षर-स्वावर-वृद्धम-कषयाक्षर पदार्थों में यथाशुभ-यथाकर्म्म-प्रतिष्ठित है। 'प्रकृतिविरिञ्चि चतुर्भयसम्' (वशिष्ठा) के अनुसार प्राकृतसुखात्मक चतुर्भय सम्पूर्ण प्राकृत फलसर्गों के विषयजन्म-आठविधासर्गों की प्रतिष्ठा कन राहा है। आठविधावर्ष चतुर्भयसिद्धि (चौपटीकाल) है अतएव वषिक्रमना चारिमा (दीनिया) वहाँ इतनी ही है वहाँ वर्ष केवल चार ही है। प्रत्येक चादि में चादि की प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्येक पदार्थ में गीश-प्रधानता से चारों वर्ष सम्मिलित है किन्तु चारों प्राकृत वर्षों में से प्रत्येक में एक वर्ष प्रधान रहता है शेष तीन वर्ष शोक रहते हैं। जो वर्ष प्रधान रहता है वह पदार्थ तत्कर्त्तव्यनाम से ही प्राकृतवर्ष में प्रतिष्ठित हुआ

ॐ महर्षयः सप्त पूर्वे चक्षारो मनवस्तथा ।
 मव्मावा मानसा जाता येर्षं लोका-व्माः-प्रजाः ।
 भवन्ति मावा भूतानां मत्त एव पूषन्विषाः ॥ (गीता)

दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा

महिमान	१-अनर्थासर्गानुगतः—मानवसर्ग एव—पुरुषसर्गः—ब्राह्मणमानव	—महिमसर्गो
श्रीश्री	१-त्रिपुष्पाभाषणानुगतः—मानवसर्ग एव—मनुष्यसर्गः—वैश्यमानवः ४-अथर्वशास्त्रानुगतः—मानवसर्ग एव—नरसर्गः—शूद्रमानवः	—प्राकृतसर्गो

यस्य ब्रह्म च, घञं च उभे भवत ओदन ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद, यत्र स । एतद्वैतत् । (अनियत्)

२१४-स्वधर्म से अनुप्राणित चतुर्विध पुरुषार्थों का नामसंस्मरण—

क्या स्वस्व है उस स्वधर्म का जो 'स्वे-स्वे-कम्मययमिरस' संसिद्धि सभते नर' के अनुसार प्रकृतिमेमिन्न पुरुषादि-नरन्त मानव के चार वर्गोंमें में विभक्त होकर चतुर्धा, एवं अन्तर महिमासर्गों में विभक्त होकर अनेकधा विभक्त हो रहा है ? प्रतीति के समन्वय का अत्र प्रस्तुत स्वधर्म में अनंतर नहीं है विस्तार मिया । सम्भव हुआ तो सङ्कल्पित-प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा नामक अग्रिम खंड में इस दिशा में कुछ निवेदन करने की चेष्टा की जायगी । प्रकृत में शक्ति का मूल समन्वय-उद्देश-सङ्घटि की दृष्टि से यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्राकृतधर्ममैदात्मक यह स्वधर्म मी सर्वाचरुष्यी के कारण क्रमशः ब्राह्मणधर्म-क्षत्रियधर्म-वैश्यधर्म-शूद्रधर्म भेद से चार ही भागों में विभक्त हो रहा है, जिन इन चारों के ही पारिभाषिक नाम मोक्ष धर्मों का अर्थ-रूप से प्रसिद्ध हैं ।

२१५-आत्मपर्वानुगत मोक्षभाव, बुद्धिपर्वानुगत धर्मभाव, मनःपर्वानुगत कामभाव, शरीरपर्वानुगत अर्थभाव, एवं चतुष्पर्वानुगत पुरुष-मानव-मनुष्य-नर-भावों का चतुर्विध स्वधर्मों से क्रमिक-सम्बन्ध—

धर्म-नाम-अर्थ-गमित-मोक्ष' नामक प्रथम धर्म चतुर्विध मानव के प्रथमपर्वानुगत 'आत्मपर्व' से अनुप्राणित रहता हुआ 'आत्मधर्म' है । चतुर्विध मानवधर्मों में से आरंभ 'ब्राह्मणमानव' नामक 'पुरुष' का इसी आत्मधर्म से प्रथम सम्बन्ध है । अतएव इसे ही 'पुरुष' (ब्राह्मण) का प्रमुख स्वधर्म मान लिया गया है । मीच-काम-अर्थ-गमित-धर्म' नामक द्वितीय धर्म मानव के द्वितीय पर्वानुगत 'बुद्धिपर्व' से अनुप्राणित रहता हुआ 'बुद्धिधर्म' है । बुद्धिनिष्ठ क्षत्रियमानव' नामक 'मानव' का इसी बुद्धिधर्म से

यह स्मरण रहे कि मानसात्मक भावसर्ग का अभ्ययात्मक विदात्मसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है, एवं श्रुत्यात्मक मनुसर्ग का अभ्ययानुगत चित्सर्ग से प्रधान सम्बन्ध है। दोनों माने कार्यो अभ्ययसर्गात्मक महिमासर्ग ही, भावसर्ग ही मानससर्ग ही।

३०८-विदात्मसर्ग-चित्सर्गात्मक पुरुषसर्ग का दिग्दर्शन—

अक्षरमक चरसर्ग को कथाबायगा चेतनसर्ग एवं इसे ही माना बायगा प्रायुहात्मक गुणसर्ग। अक्षरानुगत चरसर्ग को कहा बायगा अचेतनसर्ग एवं इसे ही माना बायगा वाङ्मय विकारसर्ग। विदात्म-सर्ग चित्सर्ग दोनों महिमासर्गों को कहा बायगा पुरुषसर्ग, एवं चेतनसर्ग-अचेतनसर्ग इन दोनों खोभासर्गों को माना बायगा प्रकृतिसर्ग। और वही सार्गचतुष्टयी का दृष्ट 'चित्सर्गात्मक समन्वय होगा कैय कि परिलोक से स्पष्ट है—

<p>चित्सर्ग</p>	<p>{</p>	१-अभ्ययात्मक-चरसर्ग-एव-विदात्मसर्ग-मानससर्ग-भावसर्गः*	<p>}</p>	—पुरुषसर्ग (१)
		२-अभ्ययानुगत-अक्षरसर्ग-एव-चित्सर्ग-श्रुतिसर्ग-मनुसर्गः		—महिमान आद्यन्—
<p>प्रकृतिसर्ग</p>	<p>{</p>	१-अक्षरमक-चरसर्ग-एव-चेतनसर्ग-गुणसर्गः (अनन्तकाससर्गः)	<p>}</p>	—प्रकृतिसर्ग (२)
		२-अक्षरानुगत-चरसर्ग-एव-अचेतनसर्ग-विकारसर्ग (सम्कलरक्षससर्गः)		—शैवी आद्यन्—

३०९-वर्णमात्रनिबन्धना सर्गचतुष्टयी का स्वरूप-परिषय—

अब वर्णमात्र की दृष्टि से उक्त चारों सार्गिकसर्गों का समन्वय कीजिए। अक्षर-चर-विद्-पौष्पा-रूप प्राकृत-एकित्मात्रों का ही नाम वर्णवस्त्व है जो प्राकृत-अक्षिक-सर्ग-के चर-अक्षर-स्थानर-सङ्गम-सम्बन्धक पदार्थों में यथागुण-यथाकर्म-प्रतिष्ठित हैं। 'प्रकृतिसिद्धिस्तु चतुर्वर्ण्यम्' (वसिष्ठा) के अनुसार प्राकृतगुणात्मक चतुर्वर्ण्य सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थों के विकारमक-आकृतिमात्रों की प्रतिष्ठा बन रहा है। आकृतिमात्र वहाँ पदुरणीशिक्षण (बीयसीशाल) हैं अतएव तन्निबन्धना बाहिर्या (योनिर्या) वहाँ इतनी ही हैं वहाँ कर्ण केवल चार ही हैं। प्रत्येक बाहिर्या में अक्षि की प्रत्येक व्यष्टि में प्रत्येक पदार्थ में गीस-प्रधानत्वा से चारों कर्ण सम्मित है किन् चारों प्राकृत कर्णों में से प्रत्येक में एक कर्ण प्रधान रहता है शेष तीन कर्ण गौण रहते हैं। जो कर्ण प्रधान रहता है वह पदार्थ वर्णसर्गनाम से ही प्राकृतकर्म में प्रसिद्ध हुआ

* महर्षयः सप्त पूर्वं चक्षारो मनसस्तथा ।

मवृसावा मानसा जाता वेपं लोक-इमाः-प्रजाः ।

मवन्ति मावा भूतानां मच एव पृथग्विधाः ॥ (गीता)

आर यही शरीर-मनो-माय-प्रधान 'प्रजातन्त्रीय-गणतन्त्र' की, क्रिया गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्र की स्वरूप-परिभाषा है। अर्थ-ज्ञान-प्रधान राष्ट्र ही गणतन्त्रीय प्रजातन्त्रपद्धति का अनुगामी बना रहता है जिस के सम्पूर्ण विधि-विधान परानुकरणगर्भित-परानुसरण पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। राष्ट्र का बाह्य शरीर, अधिक से अधिक मानस अनुरजन-माय ही इस तन्त्र में व्यक्त रहता है जबकि राष्ट्र की बुद्धि, और राष्ट्र का प्रमुखसम्पर्क आत्मा ये दोनों तो अन्तर्मुख-प्रसृत ही बने रहते हैं इस अनुरणा मन्त्र-गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्र में भी।

३१६-बुद्धिप्रधान मानवों का राजन्यस्व, तदनुगत आचरणधम्म, एवं तदनुप्राणित राजतन्त्र

(३)-बुद्धिनिष्ठ अतएव वैय्यक्तिक-पारिवारिक-स्वाय-साधनपूर्वक सामाजिक (प्रान्तीय) स्वाय निष्ठ, शरीर-मनो-बुद्धि-धर्मा सत्रियमानव (मानव) का अभ्युदय-निर्भेयस् मोक्ष-ज्ञान-अर्थ-गर्भित बुद्धयनुगत 'धम्म' धम्मरूप 'आचरणधम्म' पर ही अवलम्बित है जिसकी मूलप्रतिष्ठा है- 'पुत्रानुशासनम्'। अतएव वैय्यक्तिक-पारिवारिक-तथा प्रान्तीय (सामाजिक) स्वाय के अतिरिक्त इस आचरणधर्म में भी सम्पूर्ण राष्ट्र का हित का काइ समावेश नहीं है। आर यही शरीर-मनो-बुद्धि-मात्रप्रधान राजन्यस्व की स्वरूप-परिभाषा है। अतमनिष्ठा से वञ्चित ऐसे राजतन्त्र के कारण ही वा ऐसे राजतन्त्र से उद्भाविता प्रान्तीयता से ही वा-राजा फौज पने ? मूलक व्यामोहन से राष्ट्रीय सचटन क्षिप्त मित्र हा बाधा है, परिणाम-स्वरूप परसत्तार्थ ऐसे शिथिल-असंपठित राज्य-बदलरूप राष्ट्र को स्वानिर्कार में ही लेलिया करती है।

३२० आत्मप्रधान पुरुषों का नीतिक्रयस्वत्व, तदनुगत अनुशीलनधर्म, एवं तदनुप्राणित नीतितन्त्र, तथा तालिकाओं के माध्यम से स्वधर्म-चतुष्टयी का समन्वय-प्रवास—

(४)-आत्मनिष्ठ अतएव वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-स्वाय साधनपूर्वक राष्ट्रीय स्वार्थनिष्ठ शरीर-मनो-बुद्धि-स्वाय-धर्मा ब्राह्मणमानव (पुरुष) का अभ्युदय-निर्भेयस् धर्म-ज्ञान-अर्थ-गर्भित आत्मानुगत-‘मोक्षधर्म’ रूप अनुशीलन पर ही अवलम्बित है जिस की मूलप्रतिष्ठा है- ‘पपा सधित्’। अतएव यह कां समावेश-उपदेश-अनुशासन तीनों की सीमाओं से असम्बद्ध है। इस आत्मनिष्ठ का वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक स्वार्थ प्रत्येक दशा में राष्ट्रीय स्वार्थ को ही मूलप्रतिष्ठा बनाए रहता है। बिन वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-स्वार्थ-साधनों से इसे राष्ट्र का अहित प्रतीत होने लगता है अतमान में उन सब का परित्याग कर यह स्वर्गोभावेन राष्ट्रहित को ही अपना अनुशीलनधर्म प्रकृतभाव से समर्पित कर देता है। भूयो भूयः इस प्रणामाशक्तियां ही समर्पित कर रहे हैं आस्था-भ्रष्टा-पूर्वक ऐसे राष्ट्रहितनिष्ठ, राष्ट्रहितनिष्ठा के ही माध्यम से निररहितनिष्ठ बने रहने वाले ब्राह्मणमानव के लिए पुनः पुनः। एव इस प्रकृति-समर्पण के साथ ही उपरत हो रही है यह स्वधर्मपरिभाषा बिसका तालिका मक समन्वय इत्य-रूपेण सम्भव है—

स्मार्तानुष्नी-अप्राप्त-श्रुतिमानव का ही नाम है 'पुरुष', एवं यही है पहिला यह विद्वान्मूर्ख, जिसे हम अगोर-अर्थात् किन्तु गोर-वर्ण-मर्णांक, स्मार्तित-किन्तु अप्राप्तक अर्थात्मर्क-अचरुर्था यह वह है, जिस की उपनिषद्में अर्थात्कर्म से ही स्वरूप-स्थापना की है। अर्थात् इस का अर्थ यह नहीं है कि, ब्राह्मण-वर्णोचित आचारधर्म का श्रुतिमानव परिचय कर देते हैं। अर्थात् अपने अनुरीलनभाव से इनकी आचार-पद्धति तो उदा ही वागवृत्त की ही रहती है। वे ही तो आचारधर्मोत्तम अर्थात्-मानवधर्म के महान् स्वम्भ है। अर्थात्ब्राह्मण तथा श्रुतिब्राह्मण में अन्तर है केवल सिद्धांतका, तथा धर्म्यावरण का। ब्राह्मणमानव की पूर्णस्था का नाम ही अर्थात्ब्राह्मण है एवं इसी की उत्तरवृत्त का नाम अर्थात्ब्राह्मण है। योग्यवृत्त ब्राह्मण अर्थात्ब्राह्मण है एवं योग्यवृत्त ब्राह्मण अर्थात्ब्राह्मण है। अर्थात्ब्राह्मण आचार से नियन्त्रित है एवं आचार अर्थात्-ब्राह्मण से नियन्त्रित है। अर्थात्ब्राह्मण आचारधर्म में प्रतिक्रिय है एवं ब्राह्मणधर्म अर्थात्ब्राह्मण में (श्रुतिमानव में) प्रतिक्रिय है। अर्थात्ब्राह्मण धर्मशील है एवं अर्थात्ब्राह्मण धर्मप्रवर्तक है।

३१२-अर्थात्ब्राह्मण प्रवर्णिक-प्रजा से अनुप्राणित मानव-मनुष्य-नर-मावों का समन्वय—

अब वृत्त का का समन्वय कीविधि। चित्कर्मात्मक-परवरमात्मक-ब्रह्मवर्ण-स्मार्तानुष्नी प्राहुत अर्थात्मानव (ब्राह्मण और क्षत्रिय मानव) का ही नाम है-मानव एवं यही वृत्त अर्थात्कर्ता है। वेदतन्त्रार्थिक-अवरमावात्मक-विट-शौष्य-स्मार्तानुष्नी प्राहुत अर्थात्स्मार्तानुष्नी प्राहुत अर्थात्मानव (वैश्य, और शूद्र-मानव) का ही नाम है-मनुष्य। एवं अर्थात्तन्त्रार्थिक-अवरमार्थस्मार्तानुष्नी वैश्विक-अवरमार्थमानव (अन्तर्गत-अन्त्यात्मिक-वस्तु-मन्त्र-स्मरण-पार अवरमार्थों में विभक्त अवरमार्थमानव) ही अवरमार्थिक 'नर' है। यह संस्मरणार्थिक है कि, चतुर्ण अर्थात्मानवोद्देशावृत्ति से श्रुतिमानव नरमानव कीटि में आजाता है, तो नर मानव सेवानपरम्परा प्रथमस्मार्तानुष्नी से श्रुतिमानवकोटि में आसकता है। नही मानव इन अर्थात्कोटि से नर-मनुष्य-मानव-पुरुष-आदि सभी कुल बन सकता है। अन्तर्गतवा नही नर अर्थात्कोटि का भी अर्थात्क्रम कर नार्य-स्थानाव में भी परिवर्त हो सकता है इस अर्थात्चित पूर्णक आचारधर्म के माध्यम से।

३१३-प्रकृतिसिद्ध-अर्थात्धर्मात्मक 'स्वधर्म' से अनुप्राणित अर्थात्चतुष्टयी, एवं 'सहज धर्म' कीन्तेय। सद्योपमवि न त्यजेत्' का समन्वय—

यदि प्रकृतिसिद्ध अर्थात्धर्मिक स्वधर्मात्मक, अपने कर्मानुष्नी प्राहुत-स्वधर्मात्मक अर्थात्धर्म का परिचय कर अपनी कल्याण से ही यह अपने आपको अर्थात्कर्म मान बैठने की भूल कर बैठता है तो उस अर्थात्-निरीहता आन्ति से तो फिर इस नर का प्रकृतिक नरत्व भी अर्थात्चतुष्टयी ही जाता है एवं उस द्वारा न ही इसे स्वैर-परवर्ण पशु की कोटि में ही अपना नामोद्देश्य कर लेना पकता है। ब्राह्मणपुरुष, क्षत्रिय-मानव वैश्वमनुष्य एवं शूद्रनर चारों स्व-स्व-प्रकृतिसिद्ध-विभक्त-स्व-स्वधर्मात्मक-स्व-स्वधर्म-धर्म-धर्मों में धर्मनीरालात्मक-योग्यवृत्त एकनिष्ठ बनते हुए अर्थात्स्वधर्म अर्थात्स्वधर्म-निर्धर्म के उपरोक्त बन जाते हैं। स्व-स्व धर्मपर्यवर्तित संसिद्धि अर्थात् नर-स्वधर्मात्मिक धर्म अर्थात्स्वधर्मोक्ति किन्तिधर्म-स्वधर्मोक्ति निबन्ध भेयः परधर्मो भयवद्-सहज धर्म कीन्तेय। सद्योपमवि न त्यजेत्' इत्यादि अर्थात्धर्म अर्थात्धर्म-प्रकृतिसिद्धि ही स्वधर्म का समन्वय अर्थात् कर रहा है।

तरा दशविधक्षत्रवेदनामनुभूय स गर्भाद् गर्भं, जन्मतो जन्म, मरणाद् मरण, दुःखाद् दुःख, पुन पुनश्चतुर्गतिदुःखं प्राप्नुवन् दुर्लभवोधिता दीर्घससारिता च माप्तवान् ॥३॥

अविनीतस्य सदृष्टान्तमवस्थामाह—

मूलम्—जहां सुणीं पूइकणेंगी, निम्कंसिज्जइ सर्व्वसो ।

एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ ॥ ४ ॥

छाया—

यथा शुनी पृथिवीं निष्कास्यते सर्व्वत ।

एव दुःशीलः प्रत्यनीकः मृत्वारिर्निष्कास्यते ॥ ४ ॥

‘जहा०’ इत्यादि—यथा—पृथिवीं=पृथी=दुर्गन्तवन्तीं कर्णो यस्या सा

तथोक्ता, कर्णगतानेकविपमत्रणपरिपाकजनितदुस्सहदुर्गन्धपूपविकृतरक्तस्रावस्थि-
तकृमिमलिकानिक्कदशनोद्भूततीव्रतरवेदनाव्याकुलतया प्रतिक्षणमितस्ततो भ्रम-
न्तीत्यर्थः, शुनी=कुक्कुरी, सर्व्वश=सर्व्वमकरण प्रतिस्थानात् निष्कास्यते=नि सार्यते,

और घोर नरक में जाकर नारकी की पर्याय से उत्पन्न हुआ । वहा उसने दश प्रकार की तीव्रतर क्षेत्रसयधी वेदना को पाया । वहाँ की स्थिति को समाप्त कर जब वह वहा से निकला तो भी इस के दुःखों का अन्त नहीं आया । एक गर्भ से दूसरे गर्भ में पहुचना और वहा के कष्टों को भोगना, फिर वहा से मर कर पुन जन्म धारण करना और कष्टों को भोगना, इस प्रकार अनन्तससारी बने हुए इस क्षुद्रबुद्धि की आत्मा को योधिका लाम दुर्लभ हो गया ॥ ३ ॥

अविनीत की अवस्था को दृष्टान्तद्वारा सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—

‘जहा सुणी०’ इत्यादि ।

इस प्रकारनी तीव्रतर क्षेत्र सयधी वेदनाव्याकुलतया पडी. ये स्थिति योगनी
ये व्यापारे त्याधी निकल्यो छत्ता पणु तेना दुष्पेना अत न आये। अेक
गर्भमाधी पीण्त गर्भमा जलुं अने त्याना कष्ट योगववा. अेक त्यायेधी मरी
पीणे स्थणे इरां जन्म धारणु करवे। अने कष्टो योगववा. आ प्रकारे अनन्त
सञ्चारं अनेस ते क्षुद्रबुद्धिना आत्माने योधिनी लाम दुर्लभ अनी गये।

अविनीतनी अवस्थाने दृष्टान्त द्वारा सूत्रकार प्रदर्शित करे छे—‘जहा सुणी’ इत्यादि.

प्रधान सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (इन्द्रिय) का मुख्य स्वधर्म मान लिया गया है। मोक्ष-धर्म-अर्थ-गर्भित क्रम नामक तृतीय धर्म मानव के तृतीय पक्षात्मक 'मनःपथ' से अनुप्राणित रहता हुआ 'मनोवधर्म' है। मनोनिष्ठ 'वैश्वमानव' नामक 'मनुष्य' का इसी मनोधर्म से क्योंकि प्रधान सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (वैश्य) का प्रधान स्वधर्म मान लिया गया है। मोक्ष-धर्म-काम-गर्भित 'अर्थ' नामक चतुर्थ धर्म मानव के चतुर्थ पक्षात्मक 'शरीरपथ' से अनुप्राणित रहता हुआ 'शरीरधर्म' है। शरीरनिष्ठ 'शुद्धमानव' नामक 'नर' का इसी शरीरधर्म से क्योंकि विशेष सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (शूद्र) का प्रधान स्वधर्म मान लिया गया है। त्रिगर्भित 'मोक्ष' नामक स्वधर्म प्रथम चिदात्मवर्ग से त्रिगर्भित 'धर्म' नामक स्वधर्म द्वितीय चित्तवर्ग से त्रिगर्भित ही 'काम' नामक स्वधर्म तृतीय चेतनवर्ग से एवं त्रिगर्भित ही 'अर्थ' नामक स्वधर्म चतुर्थ अप्पेचनवर्ग से उठी क्रमानुपात से समन्वित है और यही अर्थ से इस पर्यन्त के शास्त्रीय-व्यवस्था-आचारधर्मों का संक्षिप्त स्वरूप-दिग्दर्शन है।

३१६-पुरुषात्मानुगत अनुशीलनधर्म, मानवपुण्यस्तुगत आचरणधर्म, मनुष्यमनोजु-
गत अनुसरणधर्म, नरशरीरानुगत अनुकरणधर्म, एवं स्वधर्म के महिमामाष-

ये ही पांच स्वधर्म अत्यन्त-रहस्यपूर्ण कृत्व का अग्रह करने वाले क्रमशः अनुरीक्षित आचरण अनुसरण अनुकरण इन पारिभाषिक नामों से समन्वित हैं। आत्मानुगत मोक्षधर्म का अनुशीलन ही होता है पुण्यस्तुगत धर्म का आचरण ही होता है मनोजुगत कामधर्म का अनुकरण ही होता है एवं शरीरानुगत अर्थधर्म का अनुकरण ही होता है।

३१७-शरीरप्रधान नरों का प्रजापत्य, तदनुगत अनुकरणधर्म, एवं तदनुप्राणित प्रजातन्त्र-

(१) शरीरनिष्ठ अतएव वैय्यक्तिक स्वार्थमाननिष्ठ शरीरधर्मों शुद्धमानव (नर) का अनुपदक-निःश्रेयस् (व्यवस्था पुरुषार्थव्यवस्था) मोक्ष-धर्म-काम-गर्भित शरीरानुगत अर्थधर्मक अनुकरणाधर्म पर ही अवलम्बित है जिसकी मूलप्रतिष्ठा है-एष आदेशः। अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त इस अनुकरणाधर्म में परिभार-उपाय-यज्ञ-दिवो का कोई उपाय नहीं है। और यही शरीरप्रधान 'प्रजातन्त्र' की स्वरूप-परिभाषा है। अर्थप्रधान यज्ञ ही प्रजातन्त्रपद्धति का अनुगामी बना रहता है जिसके अन्वयानु-विधि-विधान 'परानुकरण' पर ही अवलम्बित होने रहते हैं। यज्ञ का पाप शरीरप्रधान ही इस तन्त्र में गन्तव्य-स्थान-रूप से व्यक्त रहता है जबकि यज्ञ का मन यज्ञ की बुद्धि यज्ञ का स्वतन्त्र आत्मा तैनी तो अन्तर्मुक्त-प्रसूत ही बने रहते हैं इस अनुकरणाधर्म-प्रजातन्त्र में।

३१८-मन-प्रधान मनुष्यों का गण्यत्व, तदनुगत अनुसरणधर्म, एवं तदनुप्राणित गण्यतन्त्र

(२)-मनोनिष्ठ अतएव वैय्यक्तिक-स्वार्थ-खानपूर्वक पारिभारिक स्वार्थनिष्ठ शरीर-मनोधर्मों वैश्वमानव (मनुष्य) का अनुपदक-निःश्रेयस् मोक्ष-धर्म-अर्थ-गर्भित मनोजुगत-कामधर्मक 'अनुसरणाधर्म' पर ही अवलम्बित है जिस की मूलप्रतिष्ठा है-एष उपदेशः। अपने वैय्यक्तिक, तथा पारिभारिक स्वार्थ के अतिरिक्त इस अनुकरणाधर्म में उपाय तथा यज्ञ के दिवो का कोई उपाय नहीं है।

आर यही शरीर-मना-मात्र-प्रधान प्रजातन्त्रीय-गणतन्त्र भी, किंवा गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्र' की स्वरूप परिभाषा है। अर्थ-शाम-प्रधान राष्ट्र ही गणतन्त्रीय प्रजातन्त्रपद्धति का अनुगामी बना रहता है, जिस के सम्पूर्ण विधि-विधान परानुकरणगर्भित-परानुसरण पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। राष्ट्र का नाम शरीर, अधिक से अधिक मानस अनुरक्षण-मात्र ही इस तन्त्र में व्यक्त रहता है, जबकि राष्ट्र की बुद्धि और राष्ट्र का प्रमुखत्वार्थ आत्मा ये दोनों वा 'प्रत्यम्पुत्र-प्रसुत ही सने रहते हैं इस अनुसरण मन्त्र-गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्र में भी।

३१६-बुद्धिप्रधान मानवों का राजन्यत्व, तदनुगत आचरणधर्म, एवं तदनुप्राणित-राजतन्त्र

(३)-बुद्धिनिष्ठ अतएव वैय्यक्तिक-पारिवारिक-स्वाय-साधनपूर्वक सामाजिक (प्रान्तीय) स्वाय निष्ठ शरीर-मना-बुद्धि-धर्मा त्रयिमानव (मानव) का अभ्युदय-नि भेयत् मोक्ष-काम-अर्थ-गर्भित बुद्धयनुगत धर्म' धर्मरूप 'आचरणधर्म पर ही अवलम्बित है जिसकी मूलप्रतिष्ठा है- 'तदनुशासनम् । अधन वैय्यक्तिक-पारिवारिक-तथा प्रान्तीय (सामाजिक) स्वार्थ' क प्रतिष्ठित इन आचरणधर्म में भी सम्पूर्ण राष्ट्र क हित का काह समावेश नहीं है। आर यही शरीर-मना-बुद्धि-मात्रप्रधान राजन्यत्व की स्वरूप-परिभाषा है। आत्मनिष्ठा से बञ्चित ऐसे राजतन्त्र के कारण ही ता, ऐसे राजतन्त्र से उद्माकित प्रान्तीयता से ही त-राजा कौन बनें ? मूलक न्यायोहिन से राष्ट्रीय सचटन क्षिप्त भिन्न हा बाध्य है, परिश्रम-स्वरूप परसत्तारै ऐसे शिथिल-असचठित यन्त्र-उदसोक्षुप राष्ट्र का स्वाधिकार में ही लेलिया करती है।

३२० आत्मप्रधान पुरुषों का नीतिकुशलत्व, तदनुगत अनुशीलनधर्म, एवं तदनुप्राणित नीतित्र, तथा तालिकाओं क माध्यम से स्वधर्म-चतुष्टयी का समन्वय-प्रवास—

(४)-आत्मनिष्ठ अतएव वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-स्वायसाधनपूर्वक राष्ट्रीय स्वायनिष्ठ शरीर-मना-बुद्धि-शाम-धर्मा त्रयिमानव (पुरुष) का अभ्युदय-नि भेयत् धर्म-काम-अर्थ-गर्भित आत्मानुगत-मोक्षधर्म रूप अनुशीलन पर ही अवलम्बित है जिस की मूलप्रतिष्ठा है- 'प्रा सधित्' । अतएव यह का आदेश-उपदेश-अनुशासन तीनों की सीमाका से असच्छेद है। इस आत्मनिष्ठ का वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक स्वार्थ' प्रत्येक दशा में राष्ट्रीय स्वार्थ को ही मूलप्रतिष्ठा बनाए रहता है। बिन वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-स्वार्थ-साधनों से इसे राष्ट्र का अहित प्रतीत होने लगता है। साधनार्थ में उन सब का परित्याग कर यह स्वतोभावेन राष्ट्रहित को ही अपना अनुशीलनधर्म प्रवृत्तमाव से समर्पित कर देता है। भूया भूय इन प्रयाणाङ्गलियाँ ही समर्पित कर रहे हैं आस्था-भ्रष्टा-पूर्वक ऐसे राष्ट्रहितनिष्ठ राष्ट्रहितनिष्ठता के ही माध्यम से विरमहितनिष्ठ सने रहने वाले शासनमानव के लिए पुन पुन । एष इस प्रवृत्ति-समर्पण के साथ ही उपरत हो रही है यह स्वधर्मपरिभाषा जिसका तालिकात्मक समन्वय इत्य-रूपेण सम्भव है—

महिसा-धर्मो	{	१-विद्यमानानुगत-अनुशीलनधर्मो-आत्मस्य स्वधर्मो [मोक्षधर्मः]	}	प्रतिस्वधर्मो
		२-वित्तानुगतः-आत्वरथधर्मो-क्षत्रियस्य स्वधर्मो [धर्माधर्मः]		
श्रेयसा-धर्मो	{	३-चेतनानुगतः-अनुकरधर्मो-वैश्यस्य स्वधर्मो [क्रमात्मकः]	}	प्रतीकधर्मो
		४-अचेतनानुगतः-अनुकरधर्मो-शूद्रस्य स्वधर्मो [अयत्निकः]		

- १-शरीर-मनो-बुद्धि-गर्भित-आत्मनिष्ठः-आत्ममानवः [राष्ट्रहितनिष्ठः] ।
 २-शरीर-बुद्धि-आत्म-गर्भितः-बुद्धिनिष्ठ-क्षत्रियमानवः [सम्प्रदायान्त-हितनिष्ठः] ।
 ३-शरीर-बुद्धि-आत्म-गर्भित-मनोनिष्ठ-वैश्यमानवः [परिभारहितनिष्ठः] ।
 ४-मनो-बुद्धि-आत्म-गर्भित-शरीरनिष्ठ-शूद्रमानवः [वैयर्थिकहितनिष्ठः] ।

- १-राष्ट्रहितनिष्ठो आत्मस्य एव पुत्रधः-सक्तिरनुगतः [एषां संक्तिः] ।
 २-मान्दीनहितनिष्ठः क्षत्रिय एव मानवः-अनुशाठनानुगतः [पठननुशाठनम्] ।
 ३-परिभारहितनिष्ठो वैश्य एव मनुष्यः-उपशेयानुगतः [एष उपशेयः] ।
 ४-वैयर्थिकहितनिष्ठः शूद्र एव नटः-आशेयानुगतः [एष आशेयः] ।

- १-सक्तिरनुगत-नीतिकर्मम्-(आत्मस्यैवात्मनिष्ठस्य)-मोक्षप्रधानम्-राष्ट्रिकम् ।
 २-अनुशाठनानुगत-पठनकर्मम्-(क्षत्रियस्यैव बुद्धिनिष्ठस्य)-धर्मप्रधानम्-मान्दीनम् ।
 ३-उपशेयानुगत-गायककर्मम्-(वैश्यस्यैव मनोनिष्ठस्य)-कर्मप्रधानम्-परिभारिकम् ।
 ४-आशेयानुगत-प्रदायककर्मम्-(शूद्रस्यैव शरीरनिष्ठस्य)-आर्षप्रधानम्-वैयर्थिकम् ।

३२१-पौरुष, तथा माग्य के अनुबन्ध से सर्गचतुष्टयी का स्वरूपोपक्रम, एवं 'पौरुष' की स्वरूप-परिभाषा —

अब पौरुष और भाग्य की दृष्टि से भी सर्गचतुष्टयी का समन्वय क्या न कर लिया जाय ?। अथर्व्य कर लिया जाय, जिस पुरुषार्थ, और भाग्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली महती समस्या का प्रबलमंडो में अत्र तत्र मन्त्र से, तथा विस्तार से दिग्देशन करवा जानुका है। 'ब्रह्मविद्याया इ ये सर्वे' मधिष्यन्ता मन्यन्त मनुष्या' इस भूति-सिद्धान्तमूलक अनन्तममसाजानुगत, सर्वशक्तिमन्वित 'भाग्य' के लिए कुछ भी असम्भव रखिए नहीं है कि, समस्त प्राकृतिक सर्ग के महिमा मन्त्र [आधिभौतिक], तथा परिणामात्मक [आधिदैविक] क्रम-संरचान इनका उल्लासल ब्रह्मविद्यावित् आत्मनिष्ठ अप्राकृत मानव के लिए सर्वथा विनाश ही बना रहता है। यतएव यह कालानुक्रमी-दिग्देशानुक्रमी-भाग्य का परावर्ती न रह कर भाग्य को अत्र में रखता हुआ- 'कसु मरुतु मन्यथासु' समर्थ ही बन जाता है। अन्वयपुरुषानुगत स्वयसंभ्य, एवं तदनुगत स्वयकामा-प्यन्यथ इवक सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण कर देते हैं- य यं कामयत, तं तमाप्नोति ।

३२२-दिग्देशकालानुप्राणित भूताभिव्यक्ति, एवं भाग्यवादी, तथा पुरुषार्थनिष्ठ में प्राकृतिक विभेद—

यह ठीक है कि दिग्देशकालानुबन्धी के बिना व्यक्त भूतमाय अभिव्यक्त नहीं हुआ करते। इस दिग्देशकालापीनता का नाम ही भाग्य किंवा भाग्यवाद है। अथर्व्य ही अन्वयपुरुषानुगत आत्मनिष्ठ नस्ति शक्ति का भी अनुगमन ता भाग्यवाद के मूलप्रतिष्ठाकर दिग्देशकालानुबन्धी का करना ही पड़ता है। किन्तु भाग्यवादी में और इस अन्वयपुरुषनिष्ठ पौरुषशाली ब्रह्मविद्यावित् में अन्तर केवल इतना सा है कि, भाग्यवादी वहाँ दिग्देशकालापीन है, वहाँ पौरुषशाली मानव स्वयसंभ्यानुसार ऐच्छिक दिग्देशकाल तत्काल अभिव्यक्त कर लेता है। इसलिए कहते हैं कि, वहाँ भाग्यवादी दिग्देशकाल के गर्भ में रहने से दिग्देशकालापीन है। यह स्वयं अपनी इच्छा से न चल सकता, न खींच सकता न कुछ कर ही सकता। यद्यपि काल ही इसका बदन करता रहता है। अतएव कालगति के अनुसार ही इसे अपने व्यक्त जीवन का यापन करते रहना पड़ता है जैसाकि कालचक्र के- 'कालो अथो पृथ्वि' इत्यादि शान्ध्याय-समन्वय-प्रसङ्ग में विस्तार से बतलाया जानुका है। वहाँ ठीक इसके विपरीत ब्रह्मवित् अन्विष्टर्षी मनीषी कवि अपने प्राकृतिक से काल के गर्भ में रहता हुआ भी कालातीत अनन्ताभ्यपुरुषलक्षण अप्राकृत-कालातीत स्वरूप से काल को स्वगर्भ में ही प्रतिष्ठित रखता है जैसाकि उसी मन्त्र के- 'तमारोहन्ति ऋषयो विपरिबसः' इत्यादि उत्तर-ब्राह्म्य से तत्रैव स्पष्ट किया जानुका है।

३२३-पुरुषार्थवेदानुगता दिग्देशकालसमर्पणा का समर्थन—

अद्यापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस कालातीत पौरुषशाली ब्रह्मवित् के संकल्प दिग्देशकाल को सीमा से परिभूत केवल मातृवगत में ही, काल सङ्कल्प से ही पूर्ण हो जाते हैं जैसाकि तत्वमीमांसकों ने कुछ देखा सा ही मान रक्ता है।

३२४—पौल्यशाली महामानवों की सत्यसकल्पसिद्धि पर पूरा आस्था, किन्तु प्राकृत-
कालमर्यादासुगता उनकी दिग्देशकालानुगति का समन्वय—

इस कदापि उन पौल्यशाली महामानवों की इस शक्ति में कोर शक्य नहीं रहा रह नि, यदि वे
चाहें तो बिना दिग्देशकालानुगति के भी उनके कल्पनकल्पमात्र ही दिग्देशकालानुगति-सम्पन्न-मूर्तमानवों के
बिना भी उनकी कृति-शक्ति-शक्ति के अरण बन सकते हैं। कुछ भी असम्भव नहीं है उनके लिए। उदात्त
उनका महिमामय कालस्वरूप ही यह प्रमाणित कर रहा है कि, उनका प्रत्येक कल्प्य उन के द्वारा अस्मिन्-
मर्यादित कालचक्र की सीमा में दिग्देशकालानुगति से ही सम्भव होना चाहिए। नया वे स्वयं अपने लिए,
तथा अपने से अमिन्न ब्रह्मवेत्ताओं के लिए अपने ही संकल्प से अस्मिन्मय अपने ही महिमामय दिग्देश
कालानुगति की भा उपेक्षा कर देंगे ? कदापि नहीं।

३२५—अवतारपुरुषों के दिग्देशकालानुगति मर्यादित इतिवृत्त, एवं तदपरिचित-
चमत्कारव्यामोहनासक्त आज के सन्त-सिद्धों की दिग्देशकालानुगति आचार
निष्ठा के प्रति अवहेलना—

अवतारपुरुषों का दिग्देशकालानुगति मर्यादित लीलावृत्त कौन नहीं जानता ?। यदि स्वयं लीलापर
विरवेरवर, एवं उनके अनुभूत से सम्बन्धित ब्रह्मविद् ही वो मर्यादावाच्य का परित्याग कर देगे तो फिर इन्हीं की
आदर्श मानने वाले अस्मिन्नादि शौचिक-प्राकृत नर क्या क्या कस्तुनाएँ नहीं कर डालेंगे उनके उदाहरणों को
धामने रहते हुए ?, जैसेकि ईश्वरशक्ति-दिग्देशकालानुगति शास्त्रसिद्ध आचार की अवहेलना करने वाले
चमत्कारमिथुन सन्तों, एवं सन्तुनामिनी मातृक-जनताने अपने गुणधर्मों की तथा उन्मत्तमय से अपने
मातृकासिद्ध (मातृसिद्ध) भगवान् की दिग्देशकालानुगतिवत् अवहेलनासुख-अस्मिन्मयिता अलौकिक
चमत्कारपरम्पराओं के उन्मत्ताचार पर अपने आपको शास्त्रीय आचारनिष्ठा से सर्वथा ही परह-मुक्त कर
लिमा है।

३२६—भगवान् की सगंकरशीयता से अनुप्राणित लोकवृद्ध, एवं तत्स्वरूप से अपरिचित
मक्त-सन्तों का सिद्धिचमत्कारात्मक महान् व्यामोहन—

‘अवश्य ही भगवाण् के साम्राज्य में सभी कुछ सम्भव है। कुछ भी असम्भव नहीं है उस
ईश्वरीय-प्राज्ञण में। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए सबकुछ सम्भव ही हो यह तो असम्भव ही
है’ लोकोक्ति महामानवों के इस लोकोक्त का अर्थ में कुछ अर्थ है जिस की मातृकवाच्य उपेक्षा कर
अस्मिन्नादि चमत्कारों के अस्मिन्नादि आवेशों में उन्मत्ताचार-पुण्यशक्ति में आधुनिक-व्यासकामना मातृक-जनता
सर्वथा ही आचारवृत्त अवश्य सर्वशून्य ही बन गई है इति नु महदुःखप्रदानम्। जिसे ‘अष्टसिद्धि’ कहा है—
योग ने उन्मत्तमय में भी इस अभी इस से अधिक कुछ भी निवेदन नहीं करना चाहेंगे कि-‘अष्टसिद्धि’
नामकी यदि कोई योगविधि है तो उन्मत्त वह शिष्टमानव आश्रयेणर्षा का ही कर्म अवश्य ही करता
है। यह सर्वमान्य निरकलीय है कि-‘मानव का मानवशरीर में विद्यमान रहते हुए इसका अष्टसिद्धि
प्रदर्शन संशया असम्भव ही है’।

३२७-त्र्यविद्यात्मका चान्द्रीविद्या क सम्भावित प्रदर्शन, एवं तद्वद्वारा सिद्धिमक्त मायुक मानवों क आचारात्मक-सहज-नैष्ठिक-स्वरूप का विमोहन—

अपरम ही देवविद्यामिमा चान्द्रीविद्या के माध्यम से (त्रिषु वा नाम-‘योग-रूप लिया गया है) प्रकृतिविद्या का तात्कालिक प्रदर्शन सम्भव है। किन्तु यह प्रदर्शनभक्त अपने व्यक्ति-प्रतिष्ठापन-लक्षण प्रकृतिक-विमोहन क अतिरिक्त और कुछ भी वा वैसा आचारात्मक-लक्षण व्यवस्थित नहीं कर पाता, जिससे एक साधारणजन में काश्चिच्छिष्य उत्पन्न हो जाता हो। नशापि इन प्रदर्शनात्मक विवर्तनों से यह स्वयं को देवभाव में परिणत नहीं हो पाता।

३२८-देवविद्यानुगत नैष्ठिकी आचारात्मिका सिद्धियों की मायुक्तापूर्णा भूतसिद्धिया से असस्पृष्टता, एवं भूतसिद्धियों क महान् पण्डित एतद्देशीय ‘सर्पविमोहनकुशल अगणित यायानर-लोकमानव—

स्मरण २८ त्रिषु सिद्ध-योगियों की, नारदादि की यथागाथायै पुराण म सुनी जाती है, वे कोइ भूतलोक के-भूतलोक के प्राणी नहीं हैं। अस्तु वे तो आधितैविक-प्राणमा की प्राणात्मिका ही विभूतिया हैं। सभी वा नारद ‘व्यर्थि कहलाए हैं तत्र। सन्त-साधु-करीर-उत्समा-आदि की सम्प्रदाया में जो यदा कदा कुछ एक अलौकिक-पटनायै चमत्कार देने और सुने जाते हैं उनका देवविद्या मक-प्रदर्शन से कश्चिद्भिन्न भी तो सम्भव नहीं है। अस्तु यह तो यह ‘भूतसिद्धि मान है जिसके पारम्परिक प्रचार, हीनतम-अपत्य-वम-मलीमस-प्रकार, न केवल तथाकथित साधु-सन्तो में ही अपितु एते एते द्वारे द्वारे करपट्टिका-खरबो तथा वाद-कार्याणाम् क लिए ‘यूगी’ नामक नायविशेष के पदातु हुए आहोरात्र इच्छत भक्तों रहने वाले ‘सर्पविमोहनकुशल’ गैरिष्यरूपारी प्राकृत मानव (पातकलक्षण) भी यथा कदा ऐसे चमत्कार प्रदर्शित कर सकते हैं जिन कुछ ऐसे चमत्कारों को देख-सुन कर ही तो भारतीय-योगविद्या की अलौकिक शक्ति की यथागाथा ! से प्रमाणित हो पड़ने वाले सुप्रसिद्ध प्रतीच्य विद्वान् पास्तमन्टन महामाग बड़ी कठिनाता से अपनी सहज भ्रमा वा स्मरण कर सके थे—(देखिए-पास्तमन्टनलिखित-‘गुप्तभारत की साज’ नामक निबंध)। एसी भूतसिद्धियाँ तो भारत के निरन्तरमूढ-उदरम्भरि-यथावात-प्राणी में भी यदा कदा क्षणका से उपलब्ध होजाती हैं। अन्तर इन में और साधु-सन्तो में यही है कि प्राणीय कोशलपूर्वक उन का प्रदर्शन करना नहीं आते नहीं वे अधिकार में प्रदर्शन करते ही। जबकि हमारे ये बाबालोग-सन्त-गुरु-महायाज कोशलपूर्वक प्रदर्शन करते हुए उन प्रतीच्यविद्याधुरीण-मास्त्रीय सन्तो तक को तात्कालिकरूप से प्रमाणित कर लेते हैं जिन्होंने अपने भूतविज्ञान में एसी अलौकिक-चमत्कारपूर्वक-पटनामा को कभी पका सुना नहीं है। और जिनका मास्त्रीय तत्त्ववादानुगत तन्मूलक देवभावत्मक आचारात्मक से कभी सम्पर्क रहा ही नहीं है। अतएव वे सिद्धि सन्त मास्त्रीय महानुभाव ही अज्ञानों की मूर्ति अपितु कही कही तो उन से भी विशेषरूपेण तथाविध भूतचमत्कारों से प्रमाणित होते देखे एव सुने गए ह।

• एसी के टुकड़ा और एके के पैदा के लिए ।

३२४-पौरुषशाली महामानवों की सत्यसकल्पसिद्धि पर पूर्ण आस्था, किन्तु प्राकृत-
कालमर्यादासुगता उनकी दिग्देशकालानुगति का समन्वय—

हम क्यापि उन पौरुषशाली महामानवों की इस शक्ति में कोई शक्यता नहीं रखते हैं, यदि वे
चाहें तो बिना दिग्देशकालानुगति के भी उनके स्वयमकल्पमात्र ही दिग्देशकालात्मक-मर्यादा-मूर्धन्यावी क
दिना भी उनकी कृति-शक्ति-शान्ति के कारण बन सकते हैं। कुछ भी असम्भव नहीं है उनके लिए। उदात्त
उनका महिमात्मक आसत्त्वक ही यह प्रमाणित कर रहा है कि, उनका प्रत्येक संकल्प उन के द्वारा अस्मिन्क-
मर्यादित कालचक्र की सीमा में दिग्देशानुगम्य से ही सम्भव होना चाहिए। क्या वे स्वयं अपने लिए,
तथा अपने से अग्रिम ब्रह्मवेत्ताओं के लिए अपने ही संकल्प से अस्मिन्क, अपने ही महिमात्मक दिग्देश
कालानुगति की यो उद्देश्य कर देंगे ?। क्यापि नहीं।

३२५-अनन्तारपुरुषों के दिग्देशकालानुगति मर्यादित इतिहास, एवं तदपरिचित-
चमत्कारव्यामोहनासक्त आज के सन्त-सिद्धों की दिग्देशकालानुगता आचार
निष्ठा के प्रति अविज्ञान—

अनन्तारपुरुषों का दिग्देशकालानुगति मर्यादित अविज्ञान ही नहीं बलवत्ता है। यदि स्वयं अविज्ञान
विरुद्ध, एवं उनके वायुम्य से समन्वित प्रकृति ही भी मर्यादाधारों का परित्याग कर देंगे तो फिर इन्हीं को
आदर्श मानने वाले अस्मद्विद्वि-प्राकृत नर क्या क्या कल्पनाएँ नहीं कर बैठेंगे उनके उदाहरणों को
सामने रखते हुए ? जैसेकि ईरकवादि-दिग्देशकालानुगति आचार की अविज्ञान करने वाले
चमत्कारमिश्रित छतोंने एव उदुगामिनी मातृक-जनने अपने गुणों की तथा तन्माध्यम से अपने
भाषनादि (मातृदि) भगवात् की दिग्देशकालानुगति उदाहरणमातृकार-अमर्यादित अलौकिक
चमत्कारपरम्पराओं के सर्वनाथ पर अपने आपकी शालीय आचारनिष्ठा से सर्वथा ही पण्डित्य कर
सिवा है।

३२६ मगधान की सर्वकरवीर्यता से अनुप्राणित खोक्य, एवं तत्स्वरूप से अपरिचित
मत्त-मन्तों का सिद्धिचमत्कारात्मक महान् व्यामोह—

“अक्षय ही मगधान के साम्राज्य में सभी कुछ सम्भव है। कुछ भी असम्भव नहीं है उस
ईश्वरीय-प्राज्ञय में। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए सबकुछ सम्भव ही हो सके तो असम्भव ही
है” जो प्रतिष्ठ महामानवों के इस लौकिक वास्तव में कुछ अर्थ है, बिल की मातृक्याय उद्देश्य कर
अस्मद्विद्वि-प्राज्ञय के कल्पित आचारों में ऊन्हा आरा-पुत्राओं में आस्त-व्यास्तमना मातृक-जनता
सर्वथा ही आचाररत्या, अतएव सर्वथा ही बन गई है इति तु महान्प्रतापस्वरु। बिले ‘अष्टसिद्धि’ कहा है—
योग ने अस्मक-मैं भी हम सभी इस से अधिक कुछ भी निवेदन नहीं करना चाहिये कि-अष्टसिद्धि
नामकी यदि कोई योगसिद्धि है तो उदुक्त वह क्षिप्रमानव आन्तदैवर्ग का ही कोई अस्मद्विद्वि-
है। यह सर्वमना विरुद्धनीय है कि-‘मानव एव मगधराज में विद्यमान रहते हुए इसका अष्टसिद्धि-
प्रदर्शन सर्वथा असम्भव ही है’।

एसा-पय में । अतएव अन्तःतत्ताया आचारशून्य, चमत्कारपूर्ण इत्थंभूत भूतनिदिध्यामाहन वा निम्नरस्य
 है, एवं परिशाम में सर्वनाशकरस्य ही प्रमाणित हो जाता है ।

३३१-आचारारिभक्ता-शास्त्रीया-कर्तव्यनिष्ठा के समतुलन म नैष्ठिकी देव-
 विद्याया का भी जैथिल्य, गव्य आज से ५ सहस्र-वर्ष-पूर्व क भारत म
 देवसिद्धिया की सगुणप्रतिमा रूप भगवान् कृष्ण के द्वारा आचारधर्म
 का ही समर्पण-पालन—

भूतविदियों की बातें तो ब्रान दीजिए । आधागमिका प्रकृतिविद्या-कर्मनिष्ठा के समतुलन में तो
 प्रथम को समझ बना हालन की चमत्ता एतन पाली नेवविद्यामिका परविद्या का भी स्मार्तर नहीं किथ
 काव्य श्रुतिमानवोंने, एवं कर्तव्य अपतारपुरुषोंने । कमी इन देवविद्याओं के माध्यम स न ता आर्षधर्म-
 प्रवक्त महामहर्षियोंने ही दिग्देशकालात्मिक क्रिया, एवं न आर्षधर्मसरचक भगवत्पतारपुरुषोंने ही
 प्रकृतिविद्या शास्त्रीय आचारपथ की अग्रदत्तना की । अतितु इनक सभी लोकानुत्थ-समाज-राष्ट्रादि-स्य
 मध्यम दिग्देशकालानुत्थी मायदास्यां से ही समन्वित होते रह । भूतविदिध्यामाहिक साधु-सन्त-गण सम्भवतः
 का वा मान ही लेंगे कि आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व क सामाजिक-न्याय-कास्वालीकृत-धर्मम्लानिरूप महा
 नामधुम म इस धर्मम्लानि के उपशम के लिए ही अपन अभ्ययात्मक अचररूप स अवतीर्थ पूर्णवतार
 मगधन् वामुन्व भीकृष्ण में वे सभी निदिद्यां विद्यमान थीं, किन्तु उपयाग भी धर्मद्वयी तर्षों क उपशम
 के लिए क्वाचित्करूपण ही हुआ । किन्तु अतपि भगवान् न सांनिद्धा-उपराध प्रसङ्गों में किसी भी अलौकिक
 सिद्धि को माध्यम नहीं बनाया । अपने देवमायात्मक विराट्स्वरूप की तत्त्वमतिक्रमि अतिमपिकि की आपरयकता
 की उस मात्रक अत्रुन क प्रति हो पकी थी, जो मात्रतापय अपनी मानसिक अनुभूति अत्यन्तिक-त्या
 अतिमानकता क ध्यामाहन में आकर आधायित्त दिग्देशकालानुत्थी-जातधर्मोत्थक आचारधर्म को
 नृस ग्या था । आचारधर्मप्रतिश्रापन ही तो अकवारपुरुष का एकमात्र उद्देश्य था । न कि देवविदिया
 अलौकिक चमत्कारों एवं भूतविदियों के द्वारा मानवसमान की सम्पूर्ण आभरयकताओं को जिना ही क्वच्यनिष्ठा
 के अनायासेनैव पूर्ण करने के लिए भगवदवतार हुआ था । सर्वशक्तिमय्यत्र जो भगवान् भीकृष्ण अपन
 कल्पमान से कौरवसना को बलमान में मरमच्छा कर मरु अत्रुन का उपपत्तक महान् उधरदावित्त स बचा
 तो सद्यत् व उन भगवान् न घैसा न कर दिग्देशकालानुत्थी उर्द्धी विनि-विधानों का मध्य भी मानुषी-शीला
 धर्ममय्यत्त पालन किया आस्था-भटा-पूर्वक एवं अपने मरु अत्रुन को भी प्रष्ट क्रिया इनी आचारनिष्ठा की
 प्राय तथा अपने लोकोत्तर, सिद्धिप्रेषानपरम्यरात्मक पारम्य ब्रह्मस्वरूप (गीताशास्त्र) क द्वारा सम्यक्त मानक-
 म्नाह को भी कर्तव्यनिष्ठा में ही दीक्षित किया । आचारोत्तक एते प्रकट कर्मक्य के महसाशुख्यतव
 प्रमिष्णत्त एने पर भी सम्पूर्ण बाधि (भारतीय मात्रक हिन्दुबाधि) ही वास्पनिक चमत्कारवालों के आकर्षण स
 प्राकर्मित होकर उपोपवर्णित सिद्धों-कृतों के कुचक में आकर दिग्देशकालानुत्थी क्वच्य-कर्मों का कैम
 ली विसृत्त कर वैदी है, इस विस्मरण से कैम इवने अपने सर्वशक्ति-साधन-मय्यत्र भी राष्ट्र को विगत
 प्रनेक सहस्रासिद्धों से परकत्रता क बाक्यपाय में आन्ध्र कर लिया है, इत्यादि प्ररनी का सद्यत् समाधान
 प्रे सम्मत्ता वे सन्त, वे दार्शनिक ही कर सर्वेगे किन्हीं आचारधर्मक क्वच्यशून्य तर्षविषयमण के द्वारा,

३२६-देवविद्यानुगत अलौकिक-सिद्धियों में निष्पात सन्तों के प्रति आस्था-समर्पण, किन्तु तथाविध सिद्ध-सन्त-महापुरुषों की प्रदर्शनों से आत्यन्तिक तटस्थता—

मान लेते हैं एवं सर्वांगना आस्था भी कर लेते हैं कि, यद्यप्य ही देवविद्यानुगत जैसे ऊँच-छात्र भी इन्हीं भूतल पर विद्यमान हैं जो देवविद्यामूला अलौकिक सिद्धियों के समुच्च स्वस्म नन्त हुए माता पत्नी को भक्त बनाते रहते हैं। किन्तु यह सुनिश्चित है कि, ऐसे देवविद्यानिष्ठ परमरुत महामानव कदापि अपनी इन देवसिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करते करते। कदापि इन में शिष्य-सम्प्रदायवृद्धि का सम्प्रमोहन नहीं होता। कदापि वर्तमानजुग की भूत-कालाव सामग्रियों से आत्मोन्मत्तः ज्ञानलाभेभ्यः ज्ञानसुखम् ? नगरी के अनकोलाहलपरिपूर्ण प्राङ्गणों में महान् आदोष के व्यक्त 'समाधि' जैसे सामान्यतम प्राणनिरोध-प्रदर्शन के लिए वे परमरुत आकुल-ज्याकुल नहीं बनते रहते। कदापि इन की देवसिद्धियों का कभी भी किसी के भी अनिष्ट चिन्तन में उपपन्न नहीं होता जब कि-भूत-प्रेत-यक्ष-राक्षसदि-बान्ध-भूत-भौतिक-दार्शनिक आचर्यों से आधिष्ठ 'भूतसिद्धिपरामर्श' ऊँच अपने इन भूतस्यामोहनो से मानक बनता को मन्त्रस्त करत रहने में ही अपना परम-वीर्य मानते रहते हैं। स्वयं भगवान् में विस्तृत शब्दों में ऐसे भूतसिद्धिप्रदियों की सर्वांगना अन्वेषणा ही ठा की है *।

३३०-दिव्यदेशकालस्यामोहक-भौतिक-अमत्कारों से तात्कालिकरूपेण तुष्ट्य तुष्ट्य लोकप्रजा का परिणामतः मानवीय-निष्ठहृष्टि से आत्यन्तिक विनाश—

अमुपगमनादृष्ट्या यह भी मान लेने में हम कोई आपत्ति नहीं करेंगे कि, भूतसिद्धिपरामर्श तथाविध प्रदर्शनकारी ऊँचों, साधुओं के अमत्कारपूर्ण प्रदर्शनों से इनकी मूकबनता प्रमावित भी अवश्य ही हो-सकती होगी। पण्डितिक इन ऊँचों के भौतिक सिद्धिस्त से ऊँचों के लोक-विश्व-युष्मत्परमक-लौकिक-सामाजिक-पारिवारिक-राजनैतिक-दार्शनिक-स्वार्थ भी उच्छल होसकते हैं। स्वयं इन ऊँच स्यामोहनो से न तो मानव उस सख्त शान्ति-मुक्ति-मुक्ति-शुद्धि का ही अनुगामी बन सकता न ऐसे सिद्धिप्रलोभन-मूक मानव का अस्तित्व ही अस्तिष्क ही पाठा न परिवार ही अमुदपपपात्रुमामी बन सकता, न समाज ही अमत्कारपूर्वक सुखपरिषत् बन सकता। और राष्ट्रहितानुष्ठी मानवधर्म का तो ध्वनस्य भी सम्भव नहीं है इस वैदिक

*-यज्ञस्ते सात्त्विका देवान् यज्ञ-रक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान् भूतगणान्रचाम्ये यज्ञस्त तामसा जनाः ॥

अशास्त्रविहितं पोरं तप्यन्त ये तपो जनाः ।

वन्भाहङ्कारसमुक्त्वा कम्मरमावसान्बिताः ॥

अर्धस्य शरीरस्य भूतप्रममचेतसः ।

यं वैशान्तशरीरस्य (जीव)-तान् विद्धि-अमत्कारनिरचयात् ॥

—गीता २०/४५,४६

एषा-पथ में। अतएव अन्तर्दोषाया आचारशून्य, चमत्कारपूर्ण इत्यभूत भूतविद्विष्यामोहन का निम्नारस्य ही, एवं परिणाम में सर्वनाशकरस्य ही प्रमाणित हो जाता है।

३३१-आचारात्मिका-शास्त्रीया-कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में नैष्ठिकी देव-विद्याओं का भी शैथिल्य, एवं आज से ५ सहस्र-वर्ष-पूर्व के भारत में देवसिद्धियों की सगुणप्रतिमा रूप भगवान् कृष्ण के द्वारा आश्चारधर्म का ही समर्पण-पालन—

भूतविद्वियों की राते तो जान दीजिए। आचागत्मिका प्रकृतिविद्या-कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में तो समभव को समभव बना डालन को चमत्ता गगन वाली देवविद्यात्मिका परविद्या का भी समाहर नहीं किया। अतएव श्रुतिमानयोंने, एवं कर्त्तव्य अथवारपुरुषोंने। कभी इन देवविद्याओं के माध्यम से न तो आर्षधर्म-प्रवर्तक महामहर्षियोंने ही दिग्देशकालात्मिकता किया, एवं न आर्षधर्मवरक्षक भगवत्परायणपुरुषोंने ही प्रकृतिविद्व शास्त्रीय आचारपथ की अग्रहणना की। अतएव इनके सभी लोकायुक्त-समाह-उद्गादि-व्यथ स्थापन दिग्देशकालानुष्ठी मर्यादायुक्तों से ही समन्वित होते रहे। भूतविद्विष्यामोहक साधु-सन्त-गण सम्भवतः यह वा मान ही लगे कि, आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के साम्प्रतिक नयावह अस्वालीकृत-धर्मस्थानिक मद्रा माध्युग में इस धर्मगलानि के उपराम के लिए ही अपने अभ्ययामक अचररूप से अचतीर्ण पूर्णावतार भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण में वे सभी विद्वियाँ विद्यमान थीं। किन्तु उपयोग भी धर्मद्वयी तर्कों के उपराम के लिए क्वाचित्कस्मेय ही हुआ। किन्तु क्वापि भगवान् न सांनिष्ठा-सरक्षण-प्रसङ्गों में किसी भी अलौकिक विधि को माध्यम नहीं बनाया। अपने देवमाया मद्र विराट्स्वरूप की तात्कालिक अभिव्यक्ति की आवश्यकता भी उस मातृक अज्ञान के प्रति हो पड़ी थी, जो मातृकतावश अपनी मानसिक अनुभूति अत्यन्त-दया-अहिंसक मानवता के ध्यामोहन में आकर आचारविद्व दिग्देशकालानुष्ठी-चात्रधर्मात्मक आश्चारधर्म को भूल गया था। आचारधर्मप्रतिष्ठापन ही तो अवतारपुरुष का एकमात्र उद्देश्य था। न कि देवविद्विया अलौकिक चमत्कारी, एवं भूतविद्वियों के द्वारा मानवसमान की सम्पूर्ण आवरयकताओं को बिना ही कृतव्यनिष्ठा के अनाद्यतेनैव पूर्ण करने के लिए भगवदवतार हुआ था। सर्वशक्तिव्यक्त जो भगवान् श्रीकृष्ण अपने अल्पमात्र से बीरबसेना को चमत्कार में भरमखर कर मद्र अज्ञान को सपर्ययक महान् उचरतामिष से बचा हो सकते थे उन भगवान् ने वैसा न कर दिग्देशकालानुष्ठी उर्ध्वी विधि-विधानों का स्वयं भी मासुपी-सीला भोगवर्कत पालन किया आरथा-भद्रा-पूर्वक एवं अपने मद्र अज्ञान को भी प्रहस किया इसी आचारनिष्ठा की प्राय तथा अपने लोकोत्तर, सिद्धिचोपानपरम्परा मद्र यादम्य मद्रस्वरूप (गीतारास्त्र) के द्वारा मन्मूर्ण मानव समाह को भी कर्त्तव्यनिष्ठा में ही दीक्षित किया। आचाररत्मक एसे प्रचण्ड कर्मस्त्रय के सहस्रशुश्रुर्षवथ प्रमिष्यक्त रहने पर भी सम्पूर्ण जाति (भारतीय मातृक दिन्वृजाति) ही कल्पनिक चमत्कारवासी के आर्षधर्म से प्राकृतिक होकर तथोपवर्णित सिद्धि-सन्तों के कुचक में आकर दिग्देशकालानुष्ठी कृतव्य-कर्मों को कैसे ली विसृत कर बैठी? इस विसरण से कैसे इसने अपने सर्वशक्ति-साधन-सम्पन्न भी राष्ट्र को विगत प्रनेक अस्वास्तिद्वी से परकृतता के शक्यपारा में आरक्ष कर लिया? इत्यदि प्ररनी अ सफल समाधान प्रनेक सम्भवता वे सन्त वे दार्शनिक ही कर सके विन्हीं आचारधर्मक कृतव्यस्त्य तत्वविवग्मम्य के द्वारा

तदा गगनमण्डले देवैर्दुन्दुभिं वादयद्भिर्जयजयध्वनिं कृत । क्षुद्रबुद्धिः कृत सर्वमत्याचारं च ते देवा विदितवन्तः । ततस्ते तद्वृत्तमुद्रोपितवन्तः । तच्छ्रुत्वा चतुर्विधसघस्त सघान्निष्कासितवान् । तस्मिन्नेव समये आचार्यांशतनाजनितपापेन क्षुद्रबुद्धेर्वपुषि षोडश रोगाः समुत्पन्नाः । गच्छान्निष्कासितः, तीव्रवेदना सर्वजनतिरस्कारं च प्राप्नुवन् स क्षुद्रबुद्धिर्मृतः । तदतन्तरं स नरके निपतितः । तत्र तीव्र

होगी । इस प्रकार विचार कर गुरु-महाराज ने समाधिभाव को धारण कर लिया, और परिणामों की अतिशय विशुद्धि एवं वृद्धि से क्षपक श्रेणि पर आस्ढ़ होकर घातिया कर्मों के नाश से केवली-अवस्था प्राप्त करली, पश्चात् अघातिया कर्मोंके नाश से सिद्धिगति के अधिपति बन गये । देवों ने मद्रबुद्धि आचार्य के केवलज्ञानप्राप्तिका उत्सव मनाया । आकाशमें जयघोषपूर्वक दुन्दुभिया बजायीं । उन देवों ने साथ २ यह भी जान लिया कि इन आचार्य के साथ इस क्षुद्रबुद्धि ने अच्छा व्यवहार नहीं किया, उन्हें इसने अधिक से अधिक दुःख दिये और खूष मनमाना उनके साथ अविनीतना का व्यवहार किया है । देवताओं ने इस बात को सघ में जाहिर की । सघ ने क्षुद्रबुद्धि को सघयाहर किया, क्षुद्रबुद्धि भी कुछ समय याद गुरुदेषी होने के कारण अर्जित पापकर्म के उदय से बहुत दुःखी हुआ, उसके शरीर में १६ प्रकार के रोगों ने अपना प्रभाव जमाया । सघ से यहिष्कृत वह इस प्रकार तीव्र वेदना एवं तिरस्कारजन्य दुःखों का अनुभव करता हुआ मर गया,

समाधिभाव धारण कर्षी अने परिष्ठाभोनी अतिशय विशुद्धि अने वृद्धिधी क्षपकश्रेणी पर आइड बनी घातीया कर्मोना नाशधी सिद्धगतिना अधिपति बनी गया देवोअये क्षुद्रबुद्धि आचार्यने प्राप्त थयेख केवलज्ञाननो उत्सव मनान्यो । आकाशमा जयजयकार साथे दुडु बियो वगाडवामा आवी, अने देवोअये साथेसाथ अे पक्षु बखी वीधु के आ आचार्यनी साथे क्षुद्रबुद्धिअये सारे वहेवार करेख नहीं, तेखे अेभने वधुमा वधु दुःख आपेख छे, अने मनमान्यो अविनीतनो वहेवार अेभनी साथे यखान्यो छे देवताअोअये आ वातने सधमा बहेर करी सघे क्षुद्रबुद्धिने सघ बहार कर्षी क्षुद्रबुद्धि गुरुदेषी होवाना कारखे थोडा समय बाद अखलत पापकर्मना उदयधी धखो दुःखीत थये, तेना शरीरमा सौण १६ प्रकारना रोगोअे योतानो प्रभाव जमान्ये । सधधी यहिष्कृत अेवा अे शिष्ये आ प्रकारनी तीव्र वेदना अने तिरस्कारजन्य दुःखोना अनुभव कर्षी, अने छेवटे तेनो देहात थये । भरखुबाड तेने

हामी !। सो करने दो, और होने दो। वस्तुस्थिति के साथ गहनमीमांसा करते रहने के दुष्परिणाम ही तो उस राष्ट्र की उस जाति को अपनतथितरस्क बनकर आबतक मोगने ही पड़ रहे हैं, जिस राष्ट्र में किसी साधन परिग्रह-शक्ति-श्रोत का अभाव ही नहीं था जिस जाति के नामस्मरणमात्र से भी कभी आतवापी विकम्पित हो पड़ते थे, एवं जिस राष्ट्र ने सुदूर अतीत युगों में सम्पूर्ण विश्व पर एकच्छेद साम्राज्य किया था। आज वही राष्ट्र उस राष्ट्र की वही जाति अपने शयन-भोवनादि जैसे सामान्य कर्मों की व्यवस्था के लिए भी प्रतीत्य-पद्धतियों का ही आचानुकरण करने में अपने आपको गौरवान्वित मान रही है एवं विधानपूर्वक कलाकार से मनष्य रही है।

३३४-परदर्शनमूला भयावहा भावुकतारूपा एक ही 'भूल' का माध्यम से समस्यात्मक प्रश्न का समाधान—

यह ऐसी अनेकी भूल थी जिसने सब कुछ हाथ हुए भी भारतराष्ट्र की एसी दुरशा करवा डाली ? उत्तर एकमात्र परदर्शनमूला वही भावुकता, जिसने विगत अनेक शताब्दियों से दिग्देशकालानुमाशिया निष्ठात्मिक-स्वधर्मनिष्ठा-कृत्यधर्मनिष्ठा में प्रवृत्त ही नहीं होने दिया इस जाति को। अपनी इसी भावुकता से अपने ज्ञानविक्रम मत्तवाहों का नाम ही इसने 'धर्म' एवं 'कृत्य' रख लिया। तदनुपात से ही, अपनी मान्यताओं का अपने मानसिक-अनुभूति के माध्यम से ऐसे ऐसे विभिन्न सम्प्रदायवाद-सन्तवाह-मन्त्रिवाद-नामस्मृत-नवाह-अपनी मानसिक-अनुभूति के माध्यम से ऐसे ऐसे विभिन्न सम्प्रदायवाद-सन्तवाह-मन्त्रिवाद-नामस्मृत-नवाह-यक्ष्यवाद-आदि आदि अमणित-वाद उत्पन्न कर डाले जिन नवप्रवृत्त-आत्मिक भावों से इस राष्ट्र का निष्ठात्मक सर्वथा ही अमिभूत हो गया जिन इन नवप्रवृत्तों का इतिहास निम्न के द्वितीय खण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। तथैव किमिदं शास्त्रम् ? , केयं वा शास्त्रनिष्ठा !, कोऽयं शास्त्रीयाचारः ? इत्यादि प्रश्न भी तत्रैव द्वितीय-खण्डे समाहित हैं, इति वाचकानुमित्तत्रैव द्रष्टव्यम्।

३३५-दिग्देशकालचक्र से ऊर्ध्व स्थित मी अलौकिक-कालातीत-पुरुषार्थनिष्ठ-मानव के द्वारा कालातीत के महिमारूप काल का सम्मान, एवं तदपचित कर्मभोग का समादर—

प्रकृत में इस कर्म के माध्यम से हमें केवल वही निवेदन करना है कि, विदात्मसर्गानुगत अस्म्यनिष्ठ अप्राकृत अलौकिक मानव यद्यपि दिग्देशकाल-चक्र से ऊपर है। तथापि अत्र के महिमामय इस काल-विषय की उपेक्षा नहीं करता यह ब्रह्मविष्णु-पुरुष। अस्तित्व इसे भी लोकन्त उठी मर्यादित कृत्यधर्म-कर्म का अनुगामी जना रहना पड़ता है सहकरुण से अनायासेनैव, बल्कि अस्मत्सर्गित माध्यवादी का कर्मचक्रानुपात के अनुसार ही कर्मभोग मोगने पड़ते हैं।

३३६-आत्मनिष्ठ पुरुष-मानव, और उसका कर्मचक्रानुपात से पार्थक्य—

विदात्मसर्गानुगत ब्रह्मविद्याविष्णु आत्मनिष्ठ मानव आत्मात्म्यपुरुष के स्वयंस्वरूप से नित्य समन्वित रहता हुआ पुरुषानुगत (अभ्ययानुगत) पीर्ययाशिता से क्योंकि आत्मरतिनिष्ठ (अभ्ययपुरुषात्मक बुद्धियोग-

एवं अस्पृशिक-चमत्कार-प्रदर्शनानुगत्य कर्तव्यहीनता के द्वारा राष्ट्र की कृत आत्मिक आचारनिष्ठा को नहीं की शक्तिव्यतिरिक्त उपासनापद्धति को संकषा ही विस्मृति के गर्भ में क्लिप्त कर दिया है।

३३२-सर्वविध सिद्धि-चमत्कार-प्रदर्शनों के पारस्परिक-ध्यामोहनों से ही भारत राष्ट्र की आचारनिष्ठात्मिक 'मी' 'समृद्धि' की उत्तरोत्तर अन्तर्मुखात्ता-

स्मरण रहिए ! प्रकृतिविद्य-विगूदेराप्रकृतिकर्मी-मर्माहित-प्रकृतिमेदात्मक-स्वधर्मात्मक-निष्ठ आचारधर्मिक कर्तव्य-धर्म ही राष्ट्र की राष्ट्रियता है जिससे राष्ट्रीय-संपन्न आधुनिक बना करवा है। कल्पनिक चमत्कारपूर्ण विदियों से सम्भव है आप वैयक्तिक, एवं अधिक से अधिक पारिवारिक (जिसकी कि कल्पनाएँ हम वो सम्मानना भी नहीं मानते) धात्वधिक स्वार्थ सृष्टि कर लेने की आन्तिका के अनुगामी बन जायें। किन्तु आपि समाज तथा समाज-समष्टिको राष्ट्रियता का मानवपाति का वो अनुद्वय समझ ही नहीं है-कृत व्याचारानुत्पन्ने ऐसे ध्यामोहन-पथों से। अतएव मर्मात्मना अराजक ही बन जाता है वह राष्ट्र जिसमें पहिले तो व्याचारानुत्पन्ने धार्शनिकता (तत्त्वचर्चामात्र) धर्म से पकृती है व्याचारपर ही ध्यामे चलकर जिस राष्ट्र में चमत्कार-सिद्धि-प्रदर्शक कृत-साधु-परम्पराएँ आविर्भूत हो पकृती हैं एवं अन्तः में इन ध्यामिकी एवं कर्तों की शून्य-शून्य भावना से निराश बनकर बौद्धसमझदाय आविर्भूत हो पकृता है वो धार्शनिकता-कृतवृत्तिका के प्रति विरोध करता हुआ अपनी कल्पना से भूखडिमाध्यम से ही एक वैख धमनिरपेक्ष पथ उत्पन्न कर बैठता है जिसमें तो सभी कुछ स्वहा होजाता है।

३३३-राष्ट्रस्वरूपसरक्षण के लिए अपेक्षित शास्त्र, तत्कर्तव्य, तल्लिष्ट विज्ञान, तद्वरक्षक क्षत्रिय, तदनुकर्त्ता भद्राशील जनतन्त्र आदि आदि की विद्यमानता में 'मी' त्रिसहस्र-वर्षात्मिक अक्षयि में राष्ट्रस्वरूप का उत्तरोत्तर अमिम्ब, एवं सम्प्रश्नात्मक एक महान् प्रश्न !-

राष्ट्र में शास्त्र भी विद्यमान थे उनमें प्रकृतिविद्य शास्त्रीय कथम्य भी प्रकृतिक के धर्मनिष्ठ (धर्म-मापक) शास्त्र विज्ञान भी प्रचुर संख्या में विद्यमान थे। ईस्ते ईस्ते धर्म के नाम पर क्या कथा ब्रह्मन वाले धर्मरक्षक क्षत्रिय-सामन्त राजाओं की भी कमी नहीं थी। तदनुकर्त्ता बनकर भी धर्म के प्रति पूर्ण भद्रा रख रहा था। तद्विषय-राष्ट्ररक्षक के लिए वो कुछ खपन-परिग्रह-शक्ति-वीर्य-दान-ध्यान-धर्म-मक्ति-आदि आदि अपेक्षित होने चाहिये थे सभी वो विद्यमान थे आर्षिपुत्रों में। किन्तु धना यह गया इतिहास के महािमर अक्षर-वर्षों के माध्यम से कि,—श्रेष्ठि श्रेष्ठि धार्मिक बनवा के विद्यमान रहते भी विदेही बकर आक्रान्ता निर्धोषगति से आप, आकर यहाँ का संकुल तोड़ोडक कर सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्रह कर प्रकृत होते हुए कुछ तो श्रेष्ठ पथ, और कुछने यहाँ के जहाँ धर्मपुत्रीयों के आग्रह से यहाँ आदिप्य प्रहण कर लेना उचित मान लिया। उन पुत्री में भी आन्तारिक अग्र-कर्तों की कमी तो नहीं रही होगी ? फिर क्या एक ने भी यह आन्तरिक नहीं समझ कि वह अपने चमत्कार से अपने इहदेव धमनापसिद्धि को तो क्या लेता ? यहीं, इन मूर्धिमानी की प्रतीकता में ही यह उच्य सुनिहित है जिसका समन्वय कर ही नहीं लम्ब लघु का कृत, मिश्रण, एवं धार्मिक। हम समझते हैं-हमारी यह स्वधारित मापक-धनी की भद्रा की विधायित कर रही

‘मलविशोधक-कर्म’ कहा है भगवान् ने • । एकमात्र इसी दृष्टि से यज्ञ-दान-उप-रूप प्रवृत्तिकर्मों तथा शत्रुपलक्षित श्रेष्ठ-आपूर्त्त-वृत्त-नामक लौकिक सत्कर्मों की अवस्थकर्त्तव्यता का नमनधन भी कर लिया है भगवान् ने । इसी से स्पष्ट है कि, उपरक्त आत्मबोध नहीं हो जाता, तभीतक इन कष्ट-व्यक्तियों का आरयकरता है । आत्मबोध हो जाने के अनन्तर तो फलहरजोयत् ये कर्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं । और उस प्राज्ञास्थिति में पहुँचने के अनन्तर उस आत्मबोधनिष्ठ फलहर काई भी कर्त्तव्य-कर्म शेष नहीं रह जाता । फिर सौ-‘निस्त्रैगुण्य’ पधि विचरता को विधिः को निषेधः हा एकमात्र पक्ष गेप रह जाता है” । प्रतीकृत गीतापत्रनों का नी लक्ष्य बनाएँ ।

यस्त्वात्मरतिरव स्यात्, आत्मतृप्त्यच मानव ।

आत्मन्येव च मन्तुएस्तस्य काय्य न विद्यत ॥

नैव तस्य कृतनार्था नाकृतनह करचन ।

न चास्य मवभूतेषु कश्चिदय्यन्यपाधय ॥

—गीता ३।१६।२८

३३८-‘तस्य काय्य न विद्यते’ का अर्थसन्निष्ठा के माध्यम से नीरर्त्तागविवेक—

‘तस्य काय्य न विद्यते’ का ‘कर्मत्याग-रूप कर्म’ समक बैठन वाला त्यागी-वैरागी-ब्रह्मि-प्यारवादी, वैश्व-लौकिक-कर्म-कर्मों के अनन्तर शत्रु उन कर्त्तव्यों से पुनः इन प्रश्न करते हैं कि, क्या ‘तस्य काय्य न विद्यते’ का यही अर्थ है कि, “आत्मबोधनिष्ठा के अनन्तर मानव का कर्म से शास्त्रीय-विधि-निषेधों से शास्त्रानुमोदित धैर्यलौकिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-उत्तरदा-यित्वों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता”? । यदि ऐसा ही है, तब तो इन कर्त्तव्यों की दृष्टि में उन भग-वान् ने भी क्या ही अपराध कर वाला बिहोने सिद्धान्त तो स्थापित कर डाला-‘तस्य काय्य न विद्यते’ पर और अपन ही सिद्धान्त के विरुद्ध स्वयं भगवान् प्रकृत रह बैठे बैठे कर्त्तव्य-कर्मों में वाक्यान्वितानामयन्त किन मारवित्य-पादकवृत्तस्य-सन्धिविप्राहकस्य-आदि आदि लौकिक कर्मों का दण-मुन कर आर क युग का तो एक सत्य-लौकिक मानव भी आर-कर्मों से सम्बन्ध बन रहा है । विरोधक यज्ञ-तप-दानादि कर्म ही नहीं, अर्थात् लोकशासन में कल्याण सामान्यकौटि की माने जान वाली कोचवानी समाचार-प्रेषण साधनमूल-वैश्वकर्म मुद्रनिभानामयणों पर स्वयं एक कुशल कोचवान-कार्य-की भाँति पके पादों का मर न-कलापिपक-आदि आदि बैठे लौकिक कर्मों में भी वा भगवान् न कनी सकाच नहीं प्रिया जिन कर्मों के संरक्षण से भी आर क सत्यतामिनी लक्षण-संश्लेष का अनुभव कर सकत है कर्त्तव्य गग पकत है ।

*-यज्ञ-दान-उप-कर्म न त्याज्य कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

—गीता १।२५।

‘महाविशोधक-कर्म’ कहा है भगवान् ने ७ । एकमात्र इसी दृष्टि से यज्ञ-दान-तपो-रूप प्रवृत्तिकर्मा तथा तदुपलक्षित इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-नामक लौकिक सत्कर्मों की अथर्वकर्मव्यवस्था का समयन भी कर लिया है भगवान् न । इसी से स्पष्ट है कि, जयतक आत्मयोध नहीं हो जाता, तभीतक इन कर्त्तव्यकर्मों की आरम्भरूपा है । आत्मयोध हो जाने के अनन्तर तो फलकरजोयत् ये कर्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं । और उस प्राप्तिस्थिति में पशुपत के अनन्तर उस आत्मवाधनिष्ठ के लिए कोई भी कर्त्तव्य-कर्म शेष नहीं रह जाता । फिर तो-‘नित्यैर्गुण्य पथि विचरतां को विधि, को नियमः हा एकमात्र पक्ष गेप रह जाता है । प्रतीकृत गीतावचनों का भी लक्ष्य बनाएँ ।

पस्त्वात्मरतिरव स्यात्, आत्मतृप्तश्च मानव ।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

नैव तस्य कृतेनार्था नाकृतनद करचन ।

न चास्य मचभूतेषु कश्चिदर्धव्यपाश्रय ॥

—गीता ३।१६, १७

३३८-‘तस्य कार्यं न विद्यते’ का भगवन्निष्ठा के माध्यम से नीरर्त्तागविवक—

‘तस्य कार्यं न विद्यते’ का ‘कर्मत्याग-रूप मर्म’ समझ बैठने वाले व्यागी-बैरागी-भगन्निष्ठा-प्यासस्वदी वैदिक-लौकिक-कर्मव्यवस्था के अन्त्यतम शत्रु उन कन्यासियों से पुनः हम प्ररन करते हैं कि क्या ‘तस्य कार्यं न विद्यते’ का यही अर्थ है कि “आत्मयोधनिष्ठा के अनन्तर मानव का कर्म से शास्त्रीय-विधि-निषेधों से शास्त्रानुमोदित धैर्यविक्रम-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-उत्तरदा-यित्वों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता’ ? यदि ऐसा ही है, तब तो इन कन्यासियों की दृष्टि में उन भगवान् ने भी क्या ही अपराध कर डाला किर्त्तन विद्वान्त वा स्थापित कर डाला-‘तस्य कार्यं न विद्यते’ यह धार अपन ही विद्वान्त के विरुद्ध स्वयं भगवान् प्रवृत्त रह बैठे जैसे कर्त्तव्य-कर्मों में यावन्मौलाभागपम्पन्त विन सारविस्म-पापकवृत्तस्व-सन्धिविप्राहकृत्य-आदि आदि लौकिक कर्मों का देव-सुन कर आब के पुन का तो एक सम्य-लौकिक मानव भी आरम्भमें से स्वप्न बन रहा है । विशोधक यज्ञ-तप-दानादि कर्म ही नहीं, अपितु लोकसाधारण में सर्वथा सामान्यकोटि की माने जाने वाली कोषधानी समाचार-प्रेषण साधनमूल-वैतन्यकर्म बुद्धिभ्रामावसथों पर स्वयं एक कुशल कोचवान-सर्विस-की गति पके पाकों का मरन-कामिपत्र-आदि आदि जैसे लौकिक कर्मों में भी ठा भगवान् ने कमी सक्ता नहीं किया किन कर्मों के संस्मरण से भी आब के सम्मतामिमानी लक्ष्य-सञ्चय का अनुभव कर सकते हैं करने लग पड़ते हैं ।

*-यज्ञ दान-तप-कर्म न त्याज्य, कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

—गीता १७।३।

निष्ठ) ही बन जाता है। अतएव दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत आचार, धर्म,—कर्म से सम्बन्ध रखने वाली कालिक पराधीनता (जिसे 'भाग्य' कहा जाता है) ऐसे 'पुरुष' नामक मानव अथवापि संस्पर्श नहीं कर सकती। बिना भी दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत-कर्मों के यह स्वयं अपने आत्मभाव में ही परिष्ठ है, आत्मभाव में ही परिष्ठ है। अतएव 'कर्त्तव्य' करने बौधी कोई कष्ट इसे अर्थापि पराधीन नहीं कर सकती। यदि यह भी कह दिया जाय कि, ऐसे आ मधोपनिष्ठ-आत्मरति-आत्मतृप्त-आत्मतृप्त-पुरुष के लिए कोई भी विधि-विधान कोई भी शास्त्रीय-लौकिक-कृत मन्-कर्म कुछ भी महत्त्व नहीं रखते तो भी अत्युक्ति ज्ञ होगी।

३३७—आत्मकाम, आत्मरति—लोकार्थीत मानव की कर्मासिद्धता, एव-'तस्य कार्यं न विद्यते' का समन्वय—

सबसुख यह कृतमन्कर्मिक आचार की धीमा से नहिमत है अपने आत्मानुशीलन-भाव से। यदि ऐसा पुरुषनिष्ठ कुछ करता रहता है तो इसके इत करने से न तो इसमें कुछ विशेष अतिराग ही उत्पन्न हो जाता एव न करने से न इसकी कोई हानि ही होती। क्योंकि दिग्देशकालानुबन्धी-मृत-मीलिक-म्यक्त-मृत-कालिक-इन्द्रात्मक फलाकालों में इसकी कोई प्राक्कि नहीं होती। सम्पूर्ण दिग्देशकाल को स्वगम में रखने वाले ऐसे आत्मनिष्ठ मानव (पुरुष) के लिए इन यमीमत कालिक-देशिक-मूर्त्तों में प्राप्त करने ब्रैद्य कोई भी तो अर्थ शेष नहीं रह जाता जिसे प्राप्त करने की क्षमता से इसे दिग्देशकालानुबन्धी शास्त्रसिद्ध-मर्माहित-कृत म्यों का अनुगमन करना पड़े। अतएव 'तस्य कार्यं न विद्यते'।

३३८—आत्मतृप्त-एकान्तनिष्ठ-अलौकिक-मानव से एकान्तत असम्बद्ध कर्त्तव्यजगत्, तत्सम्बन्ध में गीताशास्त्र, एवं तदाचारेण कर्म्मत्यागासक्त दार्शनिकों की भ्रान्ति—

तो क्या सबसुख आत्मनिष्ठ आत्मरति-आत्मतृप्त-आत्मतृप्त के लिए कृतमन्कर्मों अथ कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता। क्या सबसुख पुरुषनिष्ठा की प्राप्ति के अनन्तर, अमिन्न बेशान्ती की भाषा के अनु-साह-ब्रह्मबोधानन्तर कर्त्तव्यकर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता ब्रह्मबोधनिष्ठ पुरुष के लिए। निम्नलिखित गीताबचन तो प्ररनों अथ 'भोक्तिबेत्' रूप से ही उभाधान कर रहे हैं। और इस उभक्तों हैं ऐसे वचनों में ही उन अन्विमयात्त्ववादी अमिन्न-बेशान्तिवों को प्रमाहित किया है किन्हीं शास्त्रसिद्ध कर्माभ्यावाचकक यज्ञ-तप-दान इष्ट-आपूत-दत्त-आदि कृतमन्कर्मों का आत्यन्तिक परिष्कार ही अपने इस आत्मबोध अ परमपुरुषार्थ मान लिया है। और इनके सम्बन्ध में अपना यह दार्शनिक विद्वान्त स्थापित कर ही तो किया है उन्होंने कि — 'शास्त्रसिद्ध आचारकर्मों, कर्त्तव्यों की आत्मरत्नकता तभीतक है, जबतक कि आत्मबोध प्राप्त नहीं होजाता। आत्मबोध के प्रतिबन्धक आभरण-पाप्मा-मल को हटाने मात्र में ही विधिरास्त्र का, यज्ञ-यागादिका उपयोग है। तभी तो इन्हें 'पावनकर्म पवित्रकर्म'—अर्थात्

तत्मादसत्त सतत कार्यं कर्म समाधर !
 असन्नो ह्याचरत कर्म परमाप्नोति पूर्य ॥
 —गीता ५.१४

३४२-मगवान् के द्वारा समस्या-निराकरणात्मक सफल समाधान, एवं-‘कर्म-
 यांच हि ससिद्धिमास्थिता जनकादयः’ का सस्मरण-

“अनुन ! अम्यया मनित्र मानव क सम्बन्ध मे-‘तस्य फल्य न विद्यत’ इमार इत कथन का
 अर्थ यह था पर्यन्त नव फलक वेदना कि, तू कतम्भ न विमुक्त ही हावाय तुम्हें ता अस्तकतुद्धि स निगन्त
 कतम्भ-कर्म का अनुगमन इत ही जाता है। आशक्ति-रूपन-परित हाइर माननिद्रापूर्वक कतम्भ-कर्म
 कर्त ग्द न पाया निश्चयन अम्ययपुरुष का आद्यात्पर कर ही लया है। बात अनी पूरी नगी नहीं।
 ‘अतामक-कर्म मे अम्ययपुरुषपद् प्राप्त हो जाता है’ इन वाक्य स ता कान्तनिक दायनिक का छि-
 मिल गया। कद कदन लग पड़ा कि बस्तक अम्ययनस की आति (शक्ति) नहीं हा वाय, अम्यत् कतक
 अम्ययवाच का उच्य न हावाय, सदाक क लिए ता इन स्वय ही कतम्भ-कर्म का अनुगमन शुद्धि के लिए
 आधारक मान रह है। स्पष्ट है कि-उस प्राप्त करने क अनन्तर कदापि अम्यय न विद्यत’ पक्ष ही सिद्धान्त-
 पक्ष है। और असको ह्याचरत कर्म-परमाप्नोति पूर्य स सिद्धान्तपक्ष ही समर्थित है परम्परा।
 ‘कर्म का आचरण करो ! अम्ययपुरुष की प्राप्ति क लिए’। अम्यत् रूप पर प्राप्त हा वाय, ता-पुन
 तानन्तर ‘तस्य फल्य न विद्यत’। फिर मगवान क खानन वही मातृकता-गुणा समस्या उपस्थित हा पड़ी।
 इसी समस्या का एक पद्य उदाहृत के हाय निराकरण करने के लिए मगवान का आगे आकर निम्न शब्दों
 में पर पारणा कर ही दर्नी पड़ी कि—

कर्मण्यैष हि ससिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
 लाकमग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्षुमहसि ॥
 यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
 स यत्प्रमाणा कुर्वते लोकस्तदनुवर्तते ॥
 —गीता ३.१०-११

३४३-रात्रिं विद्व जनक की दिग्दशकालात्मिक कर्मण्यकर्मनिष्ठा, एवं ‘लोकसग्रह-
 मर्षापि-सम्पश्यन् कर्षुमहसि’ का सस्मरण—

“रात्रिं जनक विद्व य बीजन्तुक य और बीजन्तुक सर्वेभी मगवान्शुभ्रति के अथ इनका बलाय
 दुष्ठा कटा या’ इत्यादि इतिव अनुन के लिए पर्येव नहीं था। अतएव क्षत्रिय अनुन के उर्वाचन के
 लिए क्षत्रिय जनक के अतिरिक्त वृत्तरे विशिष्ट उदाहरण का मिल सकना कठिन था। बलवाननिद्र रात्रिं जनक,
 और बलवाननिद्र मगवान् यावन्तस्य क संवाद का ही नाम इत्यादय्ययानियन् है विष्णुं इन दोनों की उदाह
 मय के माध्यम से अम्ययपरणातीत ब्रह्मत्वपुरुष का ही मर्यापन हुआ है। इ-च-नूत रात्रिं विद्व ‘क्षत्रिय

निष्ठ) ही बन जाता है। अतएव सिद्देशकालानुबन्धी प्राकृत आचार, धर्म,—कर्म से सम्बन्ध रखने वाली कालिक पराधीनता (जिसे 'आत्म' कहा जाता है) ऐसे 'पुरुष' नामक मानव का अर्थात् संस्पर्श नहीं कर सकती। बिना भी सिद्देशकालानुबन्धी प्राकृत-कर्मों के यह स्वयं अपने आत्मभाव में ही परिमृष्ट है, आत्मभाव में ही परिमृष्ट है। अतएव 'कर्तव्य' करने वाली कोई वस्तु इसे अर्थात् पराधीन नहीं कर सकती। यदि वह भी कह दिया था कि, ऐसे आत्मबोधनिष्ठ-आत्मरति-आत्मवृत्त-आत्मद्वन्द्व-पुरुष के लिए कोई भी विधि-विधान कोई भी शास्त्रीय-लौकिक-वृत्त-धर्म-कर्म कुछ भी महत्त्व नहीं रखते तो भी अत्युक्ति न होगी।

३३७-आत्मकाम, आत्मरति-लोकार्थी मानव की कर्मासंस्पृष्टता, एवं 'तस्य कार्यं न विद्यते' का समन्वय—

सबसे पहले कर्तव्यकर्मिक आचार की सीमा से परिमृष्ट है अपने आत्मानुरागिन-भाव से। यदि ऐसा पुरुषनिष्ठ कुछ करता रहता है तो इसके इस करने से न तो इसमें कुछ विशेष अतिराग ही उत्पन्न हो जाता एव न करने से न इसकी कोई क्षति ही होती। क्योंकि सिद्देशकालानुबन्धी-मठ-मौलिक-व्यक्त-मूत्-कालिक-इन्द्रजित्क फलाफलों में इसकी कोई भाविका नहीं होती। सम्पूर्ण सिद्देशकाल को स्वयं में रखने वाले ऐसे आत्मनिष्ठ मानव (पुरुष) के लिए इन गर्भीमूत् कालिक-दृष्टिक-मूत् में प्राप्त करने के लिए कोई भी तो कार्य शेष नहीं रह जाता जिसे प्राप्त करने की क्षमता से इसे सिद्देशकालानुबन्धी शास्त्रविद-मर्यादित-वृत्त-व्यो का अनुगमन करना पड़े। अतएव 'तस्य कार्यं न विद्यते'।

३३८-आत्मवृत्त-एकान्तनिष्ठ-अलौकिक-मानव से एकान्ततत्त्व असम्बद्ध कर्तव्यप्रवृत्त, तत्सम्बन्ध में गीताशास्त्र, एवं उदाचारेण कर्मत्यागासक्त दार्शनिकों की शान्ति—

तो क्या सबकुछ आत्मनिष्ठ आत्मरति-आत्मवृत्त-आत्मद्वन्द्व के लिए कर्तव्यकर्मों का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता ?। क्या सबकुछ पुरुषनिष्ठा की प्राप्ति के अनन्तर, अस्मिन् वेदान्ती की मर्या के अनुसार-महाबोधानन्दर कर्तव्यकर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता महाबोधनिष्ठ पुरुष के लिए ?। निम्नलिखित गीतावचन तो प्ररनी का 'श्रीमित्येव' रूप से ही समाधान कर रहे हैं। और हम समझते हैं ऐसे वचनों में ही उन अस्मिन्प्यत्त्वन्ती अस्मिन्-वेदान्तिनों को प्रमादित किया है किन्हीं शास्त्रविद-वर्णाश्रमाचारपरमक यज्ञ-तप-दान इष्ट आपूत-वृत्त-आदि कर्तव्य-कर्मों का अत्यन्तितक परित्याग ही अपने इस आत्मबोध का परमपुरुषार्थ मान लिया है। और इनके सम्बन्ध में अपना यह दार्शनिक सिद्धान्त स्थापित कर ही तो किया है उन्होंने कि,—'शास्त्रसिद्ध आचारधर्मों कर्तव्यों की आवश्यकता तभीतक है, जबतक कि आत्मबोध प्राप्त नहीं होजाता। आत्मबोध के प्रतिषेधक आपररण-पाप्मा-मल को हटाने मात्र में ही विशिष्टशास्त्र का, यज्ञ-यज्ञादिविषय उपयोग है। तभी तो इन्हें 'पावनकर्म पवित्रकर्म'—अर्थात्

है। सामान्य भाव्य बन ही नहीं। अस्तित्व विन-सुखिमान् सुखिहृद्य पत्र मानकों के द्वारा में आब यद्वा नतुल्य है, वे भी प्रायः अपने प्रतिदिन के सम्भाषणों में बसतक एक दो बार भारतगद्वा के अतीत को गाली-प्रदान नहीं कर सत, तबतक उनका मानस गृह ही नहीं होता। यही तो भावुत्वा का यह जगलन्त उदाहरण है, त्रिके निप्र दायक अनुमद से ही भारतगद्वा की सम्पूर्ण जीवनपद्धतियाँ आब यद्यमान के माँचें में ही सलपूषक गाली, और गलवारें बारही हैं, त्रिनका न ता भारत के अतीत-संस्कारों से ही काः सम्भव, न व ज्ञान-सम्पाग मे ही। और मविष्य की बात इतलिय नहीं कही जायगी कि, यदि वच मान इसी भावुत्वा का अनुगामी बना रहा तो सोन कह सकता है कि भविष्य में भारत 'भारत' न कह कर कुछ आर ही न बन जाय ?।

३४६-वर्षमानकालवादी प्रत्यक्षामक्त भावुक अर्जुन की विद्वहजनकात्मक अतीत क उदाहरण क प्रति परिलक्षिता असन्तुष्टि —

ही, तो अनुन भावुक था, प्रत्यक्ष से सात्कालिकरूपग प्रभावित इन वाला प्रत्यक्षवादी था। तभी ता मैल को दगने मात्र से यह विकल्पित हो पड़ा था और अपने पाश्चरिक चारभर्म को विस्मृत कर देता था इन भावुकताका मानवता कठगत्या अहिंस-मैत्री-विरवन्धुस्व-सहास्ति य आदि के व्यामाहन से। और रथाणय छ-न योस्स्य कह कर रथ स उतर पड़ा था। कहीं ता ऐस्य प्रत्यक्षवादी भावुक अनुन !, और पदाँ गुरुर अतीतकाल के विदेह जनक !। जैसे अनुन मान ले उस उदाहरण को जबकि यह उदाहरण तो इतिहास क उदाहरण था वच मान-मानव्य के अनुसर तो गला-सङ्गा-उस युग का उदाहरण था जो वच मान में ही भी सम्भव नहीं रर रहा था।

३४७-स्वानुगत प्रत्यक्ष उदाहरण के द्वारा प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन का आचार निष्ठात्मक समाधान—

यह सर्वथा विरवसनीय है कि 'कम्मणोष हि संसिद्धिमास्तिता जनकादय' कहने के साथ ही नैष्टिक भगवान् के मानस में वच मानप्रेमी प्रत्यक्षवादी भावुक अनुन प्रतिमाधित हो पड़ा होगा। और तत्काल ही अपनी सक्तिमशा से भगवान् ने यह निर्णय कर लिया होगा कि अनतक इस प्रत्यक्षवादी के सम्मुख इस युग का ही, इस की भद्रा का ही, इसके सम्मुख अकसियत ही और प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित नहीं कर दिया जायगा तबतक कदापि इसकी भावुकता उपशान्त न होगी और यह हमारे तस्य कर्मर्ष न पिद्यता का अर्थ कर्मत्याग ही समझ देटेगा। अतएव इसी निरवय के अनुसर भगवान् को अन्तर्दीगतरा अगतिक-गतिकरणेण स्वय अपने आपको ही उदाहरणरूप से इस भावुक अनुन के सम्मुख उपस्थित कर ही छो देना पड़ा इस रूप से कि—

न मे पायास्ति कषाव्य त्रिपु लोक्पु किञ्चन ॥
 नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्ष एव च कर्मणि ॥१॥
 यदि ह्यहं न वर्षेय जातु कर्मण्यपतन्त्रित ॥
 मम वर्तमानुवर्षन्ते मनुष्या पार्थ ! सर्वशः ॥२॥

३४०—आचारनिष्ठ भगवान् का सारथिस्व, कर्त्तव्योपरत भाषुक अर्जुन की भगवान् के द्वारा कर्त्तव्य 'प्रवृत्ति,' एवं आचरण्यात्मिकत्वं-कर्त्तव्यकर्मोत्तिमत्वं अस्याज्या स्वधर्मनिष्ठा—

मत्तबन स्माधान करते हैं कि, 'यह तो मत्त अर्जुन की भक्ति की महिमा थी जिस के कारण भगवान् को रथ हटाना पड़ा'। हम उन स्माधानकर्त्ताओं से पूछते हैं कि, क्या अर्जुन बैठा ही मत्त था, बिना भूमि—हाथ—मुद्गा—करवालादि के माध्यम से क्योंकि भगवान् की नामसंकीर्तनात्मिक भक्ति से अर्क-अर्थ नहीं मिलता था। अतएव भगवान् को अपनी भगवत्ता की तथा भक्ति की रक्षा के लिए सारथि बनकर ऐसे मत्त अर्जुन का रथ चला करना पड़ा? और यों अपने मत्त की साथ रस लेनी पड़ी?। वैधी आत्मवृत्ति कर्मस्वांगी उन्मथी की वैधी ही मानसिक-वृत्ति स्माधानकर्त्तव्य आच-के मत्तों की। हम अनुमान करते हैं कि, यदि अर्जुन भ्रान्ति से भी अपने भगवान् के समुक्त अपने ये मनोभाव मूकभाषा में भी व्यक्त कर देता कि "भगवन्! जब आप साक्षात् रूप से इस मत्त को मिल ही गए, तो अब तो बस आपका नाम ही प्रेमपूर्वक अपने वीक्षित, जिस से आप का यह अनन्यमत्त कौरव-सैन्यसागर ही क्या मघसागर ही पार कर जाय' वा निरचयेन उच्चैश्च ही भगवान् सुदर्शनचक्र से अपने ऐसे भाषुक-मत्त का शिरच्छेद ही कर डालते बरकि शिशुपाल का वो योद्धा अचर मी रे दिया था लोकव्याहक भगवान् ने। केवल 'न सोत्स्ये' (मैं नहीं छडूँगा) करने मात्र से तो भगवान् ने अपने विद्युत् स्वरूप-सुदर्शन से मत्त अर्जुन को उस सीमापर्यन्त विक्रमित कर डाला था कि, "। अन्तर्गत तो अब यह भाषुकतापूर्ण-मत्त यही उपरत कर वीक्षित, और प्रकृत स्थिति का समन्वय वीक्षित।

३४१—भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के द्वारा आचारात्मक स्वधर्म के परिपालन का हृदयतम आवेश, एवं 'असक्तो आचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः' का संस्मरण

अन्तर्त्सामी भगवान् उस भाषुक अर्जुन को उद्बोधन प्रदान कर रहे थे गीताशास्त्र के माध्यम से जो अपने—'न सोत्स्ये' मूलक कर्मसम्बन्धिताग के प्रति आकर्षित हो पड़ा था—अपनी कल्पनिक दार्शनिकता बुद्धिमानी, किंवा गीता के शब्दों में 'प्रज्ञानाद' के कारण। बहुत सम्भव था और अनेक बार देख ही कुछ सम्भव बनता आरंभ था कि, भाषुक अर्जुन भगवान् के अभिप्राय को समन्वित करने में असमर्थ बनता हुआ विचलित होपड़ता था मध्ये मध्ये। इत व्यङ्ग्य के प्रति भाषुकतावश उदासीन बन बैठ जाने वाले भाषुक अर्जुन के मानस पटल पर तस्य काव्य न विद्यते' का क्या वास्तविक प्रमाण पड़ सकता था?, यह अन्तर्त्सामी जान रहे थे। अतएव—'न चास्व सबभूतेषु करिष्येर्ष्यभ्यपाभयः (३।१८) के अनन्तर ही भगवान् को यह कह ही तो देना पड़ा कि—

—सारथि बन कर रथ को हाँके चक्रसुदर्शनपाटी—मत्त की डेक न टारी अब की डेक हमारी, साथ अपने गिरिपारी० इत्यादि लोकप्रसिद्ध भाषुकतापूर्ण मन्त्र

समानोचयति, मुग्व हि आसेवना क्रियते, दुःख चेत्यमालोचयितुम्, तस्मादयं शास्त्रहीन शुद्ध इति । एवं तं गुरुणा प्रशस्यमान दृष्ट्वाऽन्येऽपि अगीतार्थश्रमणा प्रशसन्ति चिन्तयन्ति च—दोषासेवनायामसकृदापतितायामपि न कश्चिदोप, आलोचनयैव सकृदोपपरिहारसमवात् । अथान्यदा तत्र सविप्रगीताथ कश्चिदाचार्यं शिष्यगणपरिवृतं समायात । स च प्रतिदिन तमेव व्यतिकर त्रिलोक्याचार्यमत्रवीत्—हे महाभाग! शासनप्रभावक! मन्व्यमास्कर ! जयमविनीत खलुशिष्यो

करता है। जो मुनि उस प्रकार से अपने अतिचारों की आलोचना करता है उसी की आलोचना करना ठीक है। ऐसी आलोचना से ही दु खों का विनाश होता है। उस प्रकार अन्य शिष्यों ने जब गच्छाचार्य को उसकी प्रशंसा करने में रत देखा तो अगीतार्थ शिष्य भी उसकी प्रशंसा करने लगे। तथा सा २० में यह भी धारणा उनके चित्त में जम गई कि धार २ दोषों की आसेवना करने पर भी हरकत नहीं है, क्योंकि दोष करने पर भी उन दोषोंकी शुद्धि आलोचना से हो जाती है, नहीं तो इस मुनिकी प्रशंसा हमारे आचार्य क्यों करते, और क्यों यह दोषों का आसेवन करता हुआ भी उनकी आलोचना करता है। एक दिन की बात है कि वहा सविग्न गीतार्थ—(क्रियापात्र) कोई आचार्य महाराज अपनी शिष्यमण्डलीसहित आये। उन्होंने ने जब वहा इस अविनीत शिष्य के इस प्रकार के प्रतिदिन के व्यवहार को देखा तो वे आश्चर्य पाये और गच्छाचार्य से कहने लगे कि—हे महाभाग ! शासनप्रभावक।

લાગેલા અતિચારોની શુદ્ધ આલોચના કરે છે એ મુનિ આ રીતે પોતાના અતિચારોની આલોચના કરે છે તેવી આલોચના કરવી ઠીક છે આવી આલોચનાથીજ દુઃખોનો વિનાશ થાય છે આ પ્રકારે અન્ય શિષ્યોએ બ્યારે ગુરુ મહારાજને તેની પ્રશંસા કરવામાં રત બોયા ત્યારે ખીબ શિષ્યો પણ તેની પ્રશંસા કરવા લાગ્યા અને સાથેસાથ એવી ધારણા એમના ચિત્તમાં ઠસી ગઈ કે વારવાર દોષોનું સેવન કરવામાં પણ હરકત નથી કેમકે દોષ કરવા છતા પણ તેવા દોષોની શુદ્ધિ આલોચનાથી થઈ બાય છે નહીં તો આ મુનિની પ્રશંસા અમારા આચાર્ય કયા કાગજે કરત. તેમ આવા દોષોનું આસેવન કરવા છતા પણ તે તેની આલોચના કરે છે એક દિવસની વાત છે કે ત્યા કોઈ અન્ય આચાર્ય મહારાજ પોતાની શિષ્યમંડળી સાથે આવ્યા. તેઓએ બ્યારે ત્યા તે અવિનીત શિષ્યના આ પ્રકારના હરશેજના વહેવારને બોયો તો તેમને આશ્ચર્ય થયું અને આચાર્ય મહારાજને કહેવા લાગ્યા કે

बनक यदि शास्त्रीय-विधि-विधानों के अनुसार व्यवस्थित कृत्य का पालन करना अपना परमधर्म मान ले है तो अब अनुन के लिए कोई भी प्रयत्न शेष नहीं रहना चाहिए था। अनुन अधिक से अधिक सब यही प्रयत्न कर सकता था अपनी सर्वशक्ति मातृकता के आवरण में आप्त कि-विदेह बनक जब आत्मबोधनिष्ठ बन गए थे तो 'वस्य कर्म्य न विद्यते' आप के (मगवान् के) इस सिद्धान्त के निपरीत किया ही क्यों बनक ने कृत्य-पथ का अनुगमन ? क्या प्रयोजन था उन्हें आत्मबोधानन्तर भी कर्ममार्गानुगमन से ?। श्लोकसंग्रहमेवापि सम्प्रकर्-कृतुं महेशि' के अतिरिक्त मातृकतापूर्व इस प्रयत्न का और क्या उपाधान हो सकता था ?। ठीक है मिय (मातृक) अनुन । सचमुच बनक को संसार से कुछ लेना देना नहीं था । वे यदि कुछ न करते, तब भी उनका कोई हानिह सम्भव नहीं था । फिर भी उन्होंने किया और वास्तविकता किया । केवल इसलिए कि, यदि वे न करते तो व्यवहार प्राकृत धन-बो व्यावहारिक-लोकभेद माननी को ही अपने कृत्यव्यवस्था में प्रमाण मानते आए हैं - वै कर्मरत्न विदेह बनक का अनुकरण कर कृत्य से निमुक्त ही हो जाते । अतएव (दुम अपनी मातृकता के परिवेष के लिए यही उपाध हो अभी कि) बनको लोकव्याह के लिए ही कृत्यकर्म का अनुगमन किया । मान लेते हैं-दुमने आत्मबोधनिष्ठा प्राप्त करली । फिर भी हम व्याह करगे दुम से कि विश्वप्रकार अतीत्युगो के आत्मबोधनिष्ठ भी दुमारे ही पूर्वपुरुषों (वनकदि जिनियप्रवर्तों) में भी लोक-व्याहार्थ कर्म करना व्यावहारिक उपाध या तथैव दुम में - - इत्यादि इ यादि ।

३४४-महती विमीशिका-मातृकता का मूलाधार-‘प्रत्यक्षप्रगत’, तन्निग्रह्य परिहा-
मदर्शिता का आत्यन्तिक अभाव, एवं अतीत का द्रोही, तथा केवल वर्तमानवादी
प्राकृत मातृक-मानव—

‘मातृकता’ वह महती विमीशिका है, जिसका मूलाधार है ‘प्रत्यक्ष । प्रत्यक्ष से प्रभावित होने का नाम ही तो मातृकता है । अक्षयुक्त के तिन मूत-मन्-मविष्णु-नामक तीन त्रिवर्षों का यथांगान प्रक्रम है उनमें से प्रत्यक्षवादी मातृक ही दृष्टि में मूत-मविष्णु, और उपरिणाम ही ही नहीं । उसके कर्मवस्तुओं के समीप है प्रत्यक्षानुगत केवल वचमान । अतएव पशुकर सम्मूल उपस्थित लज्जा-कचमान के आधार पर ही वह अपनी मनस्थिति कर अपने में सम्यक् बनवा है और यही प्रत्यक्षप्रमाण का सम्पूर्ण महत्त्व है जिस पर बुद्धिवादी बड़ा अस्मिमान किना करते हैं, बरफि मातृकीय दृष्टि से प्रत्यक्ष-मन्त्रवादी को तो ‘नास्तिक’ ही कहा गया है जो लक्ष्मण तुन पर भी देख कर भी समझ कर भी कुछ नहीं सुनता नहीं देखता नहीं समझता । अतएव अतीत का तो द्रोही ही बना रहता है यह प्रत्यक्षवादी-वर्तमानवादी-मातृक प्राकृत मानव ।

३४५-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र का मातृक नेताओं के द्वारा अतीत का प्रक्षय विरोध, वर्तमान
के व्यामोहन से स्वराष्ट्रनिष्ठा-विरोधी प्रतीत्य राष्ट्रों का अन्वयुक्तकरण, एवं
भारत के सांस्कृतिक-वैभव की अन्तर्मुखता—

तनी तो आब दुर्माप्यवध इत आत्मनिष्ठ मी निवृत्त नैतिक मी, निष्कालानुगामी मी पावन भारतवर्ष में देखा कुछ मुना शरणा है कि-“हमें तो अब पुराने कल्पवृक्ष का मुसा ही देना है । क्योंकि पुराना सब कुछ गलत सब पुत्र है । अब तो हमें वच मान के आधार पर ही सब कुछ नवीन ही रचना कर गइनी

दोषैरतै वृत्तघ्नाना धर्मासकरकारकै ॥

उत्सापन्ते जातिधर्मा कुलधर्माश्च शाश्वता ॥६॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां वनाद्दैन ! ॥

नरक नियत वातो भवतीत्यनुशुभम् ॥७॥

—गीता १।३२ से ४४ पर्यन्त ।

३४६-प्रत्यक्षमूलक-तात्कालिक-भावों से आघिष्ट अजुन का धारावाहिक व्याख्यान, तथा चाक्रचिन्मपूरा-लोकनिय प्रज्ञाकौशल—

विद्युत् मातृक अजुन के उक्त उद्गार जिस मातृक का प्रभावित नहीं कर देंगे, जिन में व्यक्ति-कुल (परिवार)-समाज (जाति)-और अन्तर्गतत्वा सम्पूर्ण राष्ट्र की भी मञ्जलकामना के बीच मुनिरहित प्रतीत हो रहे हैं। पहले ही महत्त्वपूर्ण हैं अजुन के ये उद्गार, जिनके गम में भारतराष्ट्र का मातृकपूर्ण स्वविनाश का इतिहास ही मानो लिखित कर दिया है पुरुषपुरुष भगवान् आस ने। मातृक मानवों की विचारसरणी का उद्यमान का 'पर' का (दूसरे को) सम्बन्ध बना कर ही होता है। यह सग वृत्तों का आधार बना कर ही (अथ-एव अपने आपको विस्तृत कर क ही) बात आरम्भ करता है, जब कि भ्रान्ति उसे यही कनी रहती है कि, वह कर रहा है अपनी ही धार से अपनी ही बात। और इस दृष्टि से मातृक अजुन अपने धार्मिक? ही विद्युत् धर्मभीक्ष्णपूर्ण विचार का उपक्रम करता हुआ निर्बोधगति से नीच में चपम्यान भी विभाम न कर, धुनने वाले के मनोभावों की ओर से सर्वथा अपरिचित रहते हुए आवेशपूर्ण एक कुशल प्रजातीय-धर्म स्वरूप-व्याख्याता-उपदेशक-उद्बोधक-विबचक-की ही भाँति अनगलरूप में यों नदन लग ही तो पड़ता है कि—

मगबन्! यह ठीक है कि, यद्यपि बुद्धि आत्मवापी दुर्म्योचनप्रमुख से कारकम्भ सम्प्लोम के कारण सम्पूर्ण विवेक को बैठन के कारण 'युद्ध' का मावी परिमाणों का विचार नहीं कर रहे हैं। और जो एकमात्र सम्प्लोमप्रवणवर्धी बन कर ये सर्वनाश के लिए सम्राज्य में बालके हुए हैं। इसी सामावरणन इनके अन्तःकरण को उक्त सीमारम्यन्त मलिन बना दिया है कि युद्ध से सम्भावित कुलघनरूप महान् शेर को, तथा निजप्रोद्गमक महान्ग को, एव इन्का मावी परिमाणों को देवतन की शक्ति ही उनकी नष्ट हो चुकी है। (१) ॥ तथापि इसका यह अर्थ तो क्यापि नहीं लगा लेना चाहिए कि, हम भी उन्हीं का अनुकरण करने लग पड़ें, और हम भी युद्ध जैसे वृत्तधर्मों के लिए समुपत हो जायें। इस महान् दोष, महान् पाप से बच निकलना कभी नहीं हमारी भी समक में न आवे?। हमें तो समक लेना ही चाहिए इस भूल को, एव भूल के मयानक परिमाणों को। वनाद्दैन! आप ही रूपम स्तलाश्च कि, कुलघन से सम्भावित इस महान् दाप को देखते हुए भी क्या हमें भी उन पापामाओं का अनुसरण कर लेना चाहिए? उच्य जीबिष्य (२) ॥ यह आप से तो परोक्ष नहीं है मगबन्! कि-कुलों के नष्ट हो जान से तुलों का सनातन-परम्परामिष्ट-कुल धर्म ही उन्मिष्ट हो जायेंगे। कुलधर्म ही बच नष्ट हो जायेंगे तो कुलधर्मों के आधार पर प्रतिष्ठित कुल कदा बचेंगे?। अथर्व ही धर्मनाश के अथ चाय कुल भी नष्ट हो जायेंगे। धर्मनाश एव स्तलाश्च कुलनाश।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ॥

संकरस्य च कर्त्ता स्यात्पह्न्यामिमाः प्रजा ॥३॥

—गीता ३।२२, २३, २४।

३४८—प्रत्यक्षवादी धर्ममीरु अर्जुन कं करुणा-अहिंसा-मानवता-त्याग-उपस्यादि मूलक मातृकता-पूर्वा उद्गार, एवं नितान्त अववेय-‘संकरस्य च कर्त्ता स्यात्-उपह्न्यामिमाः प्रजा’ उद्गार—

यह अविस्मरणीय है कि-‘अस्त्वत्प्रतरतिरेष स्यात्’० (गीता ३।१७।) से आरम्भ कर-‘उत्सी देयुरिमे लोका ० [३।२४] पर्यन्त सम्पूर्ण श्लोक धारावाहिक रूपेण क्रमबद्ध हैं। अतएव ‘अस्त्वत्प्रतरति ० से उपरान्त प्रकरय ‘उत्सीदेयुः पर ही विभान्त है। अब यह निवारणीया प्रजाप्री का काम है कि, इस उन्दर्मे से कर्मस्याग का समन्वय कर डालें अथवा तो कर्मसमूह का स्थिति का स्पष्टीकरणमात्र इत्यादि कृतस्य या विरुद्धे ‘संकरस्य च कर्त्ता स्यात्-उपह्न्यामिमाः प्रजा’ इत अन्तिम वाक्य की ओर ही विशेषरूप से हम पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहते हैं। प्रत्यक्ष से सहसा प्रभावित हो पड़ने वाले धर्मियोचित-प्रकृतिविद्य-युद्धकर्म से उरला परगड़-मुक्त हो जाने वाले प्रत्यक्षप्रभाववादी मातृक अर्जुन ने अपनी इस मातृ-कता के समयन के लिए उठे-बना-करुणा-भीमस्य-आदि आदि विविध मात्मानित अनेक उच्छ्रमास प्रदान करने जैसे प्रजावादी का अनुगमन कर लिया था। उन सब में अर्जुन की दृष्टि में धर्मसंस्थापक भगवान् के लिए दो कारण प्रमुख बन बैठे थे एक तो कर्त्तव्यता और दूसरा आत्मसन्तों का नामा (कुलधय और प्रजाधय)। कर्त्तव्यता के निरोध के लिए, एवं बनकर के संरक्षण की कामना से इन दो प्रमुख कारणों से ही अर्जुन के भीमस्य से ‘न योस्स’ निष्क पड़ा या वैयक्तिक निम्नलिखित प्रसिद्ध कारणों से प्रभावित है—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोमोपहृतयेतस ॥

कुलधयकृतं दोषं मित्रद्रोहं च पातकम् ॥१॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्माभिवर्षितुम् ॥

कुलधयकृतं दोषं प्रपश्यन्निर्जनार्हिनः ॥२॥

कुलधये प्रपश्यन्ति कुलधर्माः सनातना ॥

धर्मो नष्टे कुल कर्त्तनं, अधर्माऽभिममत्स्युत् ॥३॥

अधर्माभिमवात् कुप्य ! प्रदुप्यन्ति कुलस्त्रियः ॥

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते धर्षासंकरः ॥४॥

सकरो नरकपैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥

पतन्ति पितरो षोपां सुप्तपिपडोदकक्रियाः ॥५॥

दोषैरतं कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकं ॥

उत्साद्यन्ते जातिधर्मा कुलधर्मारच शाश्वता ॥६॥

उत्सन्नकुलधर्माणा मनुष्याणां जनाह्नन ! ॥

नरक नियत वासो भवतीत्यनुशुभ्रम् ॥७॥

—गीता १।३८ मे ४४ पद्यन्त ।

३४६-प्रत्यक्षमूलक-तात्कालिक-भावों से आविष्ट अजुन का धारावाहिक व्याख्यान,
तथा चाक्रचिक्थपूर्णा-लोक्रीय प्रज्ञाकांक्षल—

विशुद्ध मायुक अजुन क उक्त उद्गार किस मायुक का प्रभावित नहीं कर देंगे, त्रिन में व्यक्ति-कुल (परिवार)-समाज (जाति)-और अन्तोगत्वा सम्पूर्ण राष्ट्र की भी मद्दलकामना के श्रेष्ठ सुनिहित प्रतीत हो रहे हैं। यह ही महत्त्वपूर्ण है अजुन के ये उद्गार, त्रिनक गम में भारतयुद्ध क मायुक्तापूर्ण समविनाश का इतिहास ही मानो लिपिबद्ध कर लिया है पुरुषयुद्ध भगवान् व्यास ने। मायुक मानवों की विचारसरणी का उत्थान तथा 'पर' की (दूसरे को) अवलम्ब बना कर ही होता है। यह सत्ता दूसरों का आघात बना कर ही (अथ एव अपने आपको विस्तृत कर के ही) बात प्रारम्भ करता है अथ कि भ्रान्ति उसे यही क्ती रहती है कि वह कर रहा है अपनी ही आर से, अपनी ही बात। और इस दृष्टि से मायुक अजुन अपन धार्मिक? ही विशुद्ध धर्ममीमांसापूर्ण विचारों का उपक्रम करना हुआ निर्बाधगति स नीच में चण्मात्र भी विश्राम न कर, युनने वाले क मनोमायी की आर से सर्वथा अपरिचित रहते हुए आवेशपूर्वक एक कुशल प्रजागति-धर्म स्वल्प-व्याख्याता उपदेशक उद्गात्रक-विवक्षक-की ही मति अनर्गलरूप मे यी उद्दन लग ही ता पड़ता है कि-

“मगवन् ! यह ठीक है कि, यद्यपि दुष्टतुष्टि आवतायी दुष्मोहनप्रमुत्त य कारवन्ध रन्धलोभ के कारण सम्पूर्ण विवेक को घैटन के कारण 'युद्ध' क भावी परिमाण का विचार नहीं कर रहे हैं। और यो एकमात्र रन्धलोभशक्तता अथ कर ये सन्नाश के लिए समग्रद्वय में आलोक्ये हुए हैं। इसी क्षामाकरण इनके अन्तःकरण को उस वीमापर्मन्त मलिन बना दिया है कि, युद्ध से सम्भावित कुलक्षयक महान् दोष को तथा मित्रद्रोहात्मक महापाप को एव इसक भावी परिमाणोंको घैटन की शक्ति ही उनकी नष्ट हो चुकी है। (१) ॥ तथापि इसका यह अर्थ तो क्यापि नहीं लगा लेना चाहिए कि, हम भी उन्हीं का अनुकरण करने लग पड़ें? और हम भी युद्ध जैसे दुष्टसकर्म के लिए समुत्थ हो जायें? इस महान् दोष महान् पाप से बच निश्चयना क्यों नहीं हमारी भी समझ में न आवे?। हमें तो समझ लेना ही चाहिए इस भूल की एव भूल के मथानक परिमाणों को। जनाह्नन ! आप ही रूपया क्ललाइए कि कुलक्षय से सम्भावित इस महान् दोष को घैटत हुए भी क्या हमें भी उन पापात्माओं का अनुकरण कर लेना चाहिए?। उत्तर दीजिए। (२) ॥ यह आप से तो पर्येच नहीं है मगवन् ! कि-कुलों के नष्ट हो जाने से कुलों क समादन-परम्पराम्बि-कुल धर्म ही उन्निष्ठ हो जायेंगे। कुलधर्म ही बच नष्ट हो जायेंगे तो कुलधर्मों के आभार पर प्रविष्टित कुल कर्तौ बचेंगे?। अथर्व ही धर्मनाश के साथ साथ कुल भी नष्ट हो जायेंगे। पम्पनाथ एव उद्गात्र कुलनाथ।

और जानते हैं आप क्या परिणाम होगा इच्छा ?। धर्म के स्थान में अधर्म का साम्राज्य प्रतिष्ठित होयस्मा
 (३) ॥ आगे क्या होगा ?, यह भी मुन खीनिए । मगवन् ! अधर्म के द्वारा जब धर्म समाप्त । अग्निभूत-
 पराभूत-परचित हो जायगा तो कुलस्त्रियों में आचारदोष उत्पन्न हो पड़ेगा (अन्नक्षयम्, अन्नक्षयम् ।
 महतीन मानुषता मानुषासु नस्व-परप्रत्यक्षनेवविमुदस्व)। और इ शृण्वन्नाकुलोत्सव कुलधर्मस्य च
 स्त्रियो के इष्टकार आनाचारपथ पर आने से अकुलात्मक वर्णसंकर उत्पन्न होने लग पड़ेगे (४) ॥
 यह शास्त्रविद ही है कि वर्णसंकर मृतान जो नरकगति का ही कारण बनती है । नयींकि इसके द्वारा पित्र-
 वादादि क्रियाएँ सर्वथा विरुद्ध हो जाती हैं । संकरसन्त व प्रथम तो भद्रापूर्वक पित्रदान-संलग्न प्रेषित
 भद्र कृती ही नहीं । यदि लोकानुसंध से कृती भी है तो संसृष्टपुत्रानुगत संपिबद्धता से अस्तुत्वा इत
 संकरसन्तति के द्वारा प्रथम पित्र चन्द्रलौकर्य महानधमरुम प्रेषितरी की सृष्टि के कारण भी नहीं बन
 पाते । फलतः उन प्रेषितरी को इन संकरसन्तानों की कृपा से नरकगति का ही अनुगामी बना रहना पड़ता
 है । और जो प्रत्यक्षदृष्ट कुलचक्र धर्मविरुद्धि तथा धर्मप्रसार के साथ साथ युद्धबन्धिता हिसा से अदभुत
 प्रयोगलोक भी विरुद्ध होतावते हैं (५) ॥ इत्यन्त कुलपाती सन्तानों के वर्णसंकरजनक इन महान् दोषों,
 पातकों से परम्परवा कुलसमष्टिक्रिया बाति के ही धर्म उन्निवृत्त होतावते हैं एवं तद्व्याप सन्तानों द्वारा ही धर्म-
 न्युत्पत्त बन जाती है । वे बनाए न । प्रजासंकर-बाधिरूप संरक्षक । ये युद्धरुमा हिसा की कृपा से व्यक्ति-कुल
 (परिवार)—बाधि तथा अनुपलब्धत राह, सभी के धर्म सभी के शास्त्रविद संकर्म उन्निवृत्त होतावते हैं
 (६) ॥ और हे मगधर्म ! भरतकुल के अग्निभावक ! रक्षक ! विन मनुष्यों के कुलधर्म तथा बाधिधर्म
 उन्निवृत्त होतावते हैं उनके प्रेषितर तो नरक में निवास करते ही हैं (पूर्वकृतानुसार) तदतिरिक्त स्वयं
 इनकी भी अन्वयोलम्बा उसी नरकगति का सम्मान्य अस्तिपि न बनना पड़ता है । (इसीलिए तो मगवन्
 'न योत्स्ये') । इन सब भौतिक-आत्मिक-दैविक-विपत्तियों से स्वयं को परिवार को समाज को एवं राष्ट्र
 को बचाने की पुरस्कामना से ही तो यह आपका उद्देश्य अस्तु न पुर नहीं कृता चाहता (७) ॥

३५०—असुन की महत्त्वपूर्ण भक्तता का मानवता-प्रेमियों के द्वारा अभिनन्दन, तत्स
 मतुलिता आज के राष्ट्रीय-नताओं की कर्णप्रिया व्याख्यानशैली, एवं तदनुग्रह
 से ही तीन सहस्र-वर्षों से क्रूर आकाशपी-वर्गों के प्रति राष्ट्र का आत्मसमर्पण-
 अस्तु न की उक्त उक्त का ही नौन मानवताप्रेमी श्रम-सृष्टि नहीं करेगा ? । आज हमारा बच मान
 भारतराष्ट्र, विशेषतः इस राष्ट्र में एकमात्र अपने आपकी ही 'राष्ट्रीय'-मानने मनवाने के लिए विशेषरुम से
 आक्षर राष्ट्रीय कर्णधारी की भ्रमा तो मानो अस्तु न के सम्मोहन का ही प्रतीक है । एक विपत्त तीन धरक वर्गों
 से इस राष्ट्रीय ? माखीय ? मानव ? (निवृत्त मनुष्य मानव) पर जब जब भी दुःखदुःखि-आत्-
 तापिनें निर्म्मम आक्रमण क्रिय तब तब ही अपनी भाउक्यामृशा कर्मित मानकता अहिंसा-करुणा दया
 के माध्यम से कर्णपरि श्रम के रक्षापथ से राष्ट्रपदा की पथा ले जाने की महत्त्वमानना से और सम्भवतः
 तद्व्यापानुगत सुप्तविद्वान्श्रम के भ्रम से भ्रमरुधा के लिए ही मानो प्रथमत्वापूर्व ही सम्भोग करके
 उन दुःखदुःखियों की इस माखीय निवृत्त मनुष्य 'दिन्मानव' ने संकटुध कर्णित कर ही तो दिया ।

३५१-अर्जुन से समतुलित भावुकता की कृपा से ही भारतराष्ट्र के श्री-वैभवं का आत-
तापीवर्ग के द्वारा निर्म्मम अपहरण, और हमारी कायरतापूर्ण अहिंसासक्ति—

कल ही वो हमारे राष्ट्र अपने त्रिसहस्रनपतमक उसी महत्त्वपूर्ण ! इतिहास का हैंखते हैंखते ही चड़े गारव
के शोषण ने ब्रह्म महत्त्वपूर्ण बन कर लिया था । और आज भी, अर भी आततायी-दुष्ट-स्यु चोर-उचरका को
प्रमादान, उन का मानवता के नाम से निम्माप और निरीह प्रजा की उपेक्षा । बाने दीक्षिए । वचमाना भावुक
महा अर्जुनकर सम्भवतः सह न सकेगी इन आलोचनाओं को । हमें सहन करना भी नहीं है । हमें वो बन्धु-
नियति का स्वप्नीकरणनात्र कर देना है एक बार राष्ट्र की महत्त्वप्रामाणा में राष्ट्रप्रजा को संकरता से बचा
लेने की कामना से, एष राष्ट्रप्रजा के सर्वजन की कामना से ।

३५२-मातृशक्ति पर अभियोग लगा बैठने वाले निर्लज्ज अर्जुन के प्रति हो पढ़ने
वाली भगवान् की आश्चर्यमयी उपवा—

‘या आततायी-वर्ग के नरक्षण से हमारी प्रजा सुरक्षित रह जायगी । क्या उन रक्षकों मानवता के
विषमयी के प्रभय देने से हमारी पुत्रभिनया का स्वीत्य अक्षुण्ण बना रह जायगा ?, जिस स्वीत्य के सम्बन्ध में
भावुक आतपय संध्या निर्लज्ज कृतव्यलिष्टा-विश्रुत अर्जुन ने— प्रमुष्यन्ति कुलस्त्रियः ‘स्त्रीषु दुणुसु
वाप्याय । जायते क्षणसकरः इवमकर की दग्धा-निर्लज्जा-पापमयी नाभी का उच्चारण करते हुए अपने
आप को उसी क्षण भूगर्भ में सदा के लिए ही क्यों नहीं निमज्जित कर लिया ? । और आश्चर्य है कि भग-
वान ने स्वय ही बगनान्या प्रजा अनन्यभद्रेया मातृशक्ति पर यी कलङ्क लगा बैठने वाले भीक अर्जुन के
सुदर्शन से तत्काल ही शिरदछेद कर स्वय ही महामारुत मुक्त का उपक्रम कर कौरवों को विनाश क्यों नहीं
कर दिया ? । • ‘न स्पैरी स्पैरिणी कुतः का मर्म भगवान् के वो सम्पुन विद्यमान था । फिर स्वस्वरूप से
कर्मिणा अनपराधिनी बननी-पराम्भिक मातृवाणि पर दोषारोपण सुन कर भी भगवान् ने कैसे इसे क्षमा
कर लिया ? उत्तर । वही उत्तर अभी चल कर स्वयं भगवान् को ही— ‘संकरस्य च कर्ता स्यात्-उपहृत्या-
मिमां प्रजाः (३।२४।) इस रूप से दे देना पडा है जिस के सम्बन्ध के लिए ही हमें मातृक अर्जुन के
भावुकतापूर्ण-धम्ममीरुतापूर्ण व्याख्यान का पूर्व में दिग्दर्शन करना पडा है ।

* एष स्त्री नापराध्नोति, नर एवापराध्यति ॥

धुञ्चरश्च महादोष नर एवापराध्यति ॥१॥

नापराधोऽस्ति नारीषां नर एवापराध्यति ।

एवं नारीं, मातरश्च गौरवे चाधिकां स्थिताम् ।

‘अवध्या’ तु विद्वानीषुः-पशवोऽप्यविष्वसयाः ॥

—महामारुत-शास्त्रिपत्र-सो० २६६ अ० ।

३५३-सर्वनाशपरम्पराओं की जन्मदात्री मायुक्तापूर्णा स्वधर्म-विप्युति, एवं स्व-धर्मात्मिका कर्तव्यनिष्ठा से ही राष्ट्रस्वरूप-संरक्षण -

धर्म का अभिमत अधर्म का खान्दान्य कुलचय, निरपराधा मातृवादि का अद्यतन-उत्पीड़न वर्ष संकटा आदि आदि समस्त अपराधों का एकमात्र कारण है-मानव का स्वधर्मात्मिक कर्तव्य से पराङ्मुल हो जाना । फिर इस पराङ्मुलता का कारण आरम्भ में मझे ही दार्शनिकता रहा हो भागे चलकर भले बही जो उन्धमुगत मस्तिष्क बन गया हो, और आज भले ही जो कस्वित मानवतावादात्मक बन रहा हो । अन्त्या-अन्त्याचार-पाप-अधर्म-परम्पराओं को, उन्मुगामी तुह-आततामियों को कर्तव्यनिष्ठारक्षण के लिए दक्षिण न कर प्रभय प्रदान करना ही उक्त सर्वनाश-परम्पराओं का प्रमुक्त कारण है ।

३५४ हिंसा-अहिंसा, दण्ड क्षमा, ज्ञान-निर्माण, आदि प्राकृतिक इन्द्रों से समन्विता दिग्देशकाल्वात्मिका प्रकृति, एवं तन्माध्यमानुपात से ही प्राकृत मार्गों की प्रकृति सिद्धा व्यवस्थिति—

हिंसा और अहिंसा दण्ड-और क्षमा निर्माण-और ज्ञान, संरक्षण-और उत्पीड़न स्वधर्म की धीमा में दिग्देशकाल्वात्मिक से वे समी इन्द्रमय स्थापित हैं । नापी की उन्ध जूलता वहाँ क्षमादान से उपरान्त होमी वहाँ हिंसक छिद्र व्याप्रादि क्वापि क्षमादान से 'मानवकोष्ठकोटि' में नहीं आक्यों नहीं आकके आज तक तो । और त्रिमुद्यात्मक किरण में तो ऐसा क्षमी सम्भव होगा भी नहीं । इसीलिए तो निष्ठा के परमा धार्म्य महामानव हमें यह उद्बोधन प्रदान कर रहे हैं कि, अहिंसा क्षमा कल्या आदि धर्म के अज्ञ अज्ञय हो सकते हैं किन्ना धर्म के लक्षण अज्ञय होसकते हैं । किन्तु क्वापि ये स्वय धर्म का आसन महय नहीं करसकते । क्योंकि देश-क्षल-पान-ब्रह्मादि के मेल से हिंसा-दण्ड-आक्षेप भी उसी स्वधर्म के अज्ञ बने हुए हैं । वहाँ हिंसारि अज्ञ मान्य हैं ! और वहाँ अहिंसारि अज्ञ मान्य हैं ! इसका निर्णय क्वापि प्रत्यक्षप्रमाकम्ला मायुक्ता के माध्यम से सम्भव ही नहीं । अपनी प्रत्यक्षदृष्टि से बिते हम क्षमा करना चाहते हैं बहुत सम्भव है-उत्कण्ड परोधकम बैठा सुनने की मिले बिते सुनकर उसे हम क्षमादान के स्थान में मरुत्कर ही कर देना चाहें । एवमेव बिते हम प्रत्यक्ष में कुटिल कर्कश ज्ञान कर दण्ड देने के लिए आह्वार ही पड़ें बहुत सम्भव है उन्की यह कुटिलता-कर्कशता भी लक्षण हो ।

३५५-पूर्वापरात्मक-भूतमविप्यत् की परिव्यामदर्शिता के माध्यम से ही वर्तमान स्थिति का न्यापविधान के द्वारा सम्भावित निर्णय, एवं तन्माध्यमेनैव प्राकृत-वर्तमानवादी-मानव की मी शास्त्रैकशरणाता—

कौन इसका निश्चयक ? । क्या मानव की वर्तमाना प्रत्यक्षप्रमाणनूना-मायुक्ता-परिपूर्णा-तात्कालिकी भूतदृष्टि किना व्यक्तात्मिकी प्रका प्रत्यक्षस्थितिमान से क्षमा एव दण्ड का निर्णय कर बालेगी ? । तब तो उसे अपने लोभनुकमी कर्ण्य विधि-विधान (क्मन्त) मी लक्षणमय में स्थितिर्म में ही बिलीन कर देने पड़ें अपने ही हाथी । पूर्व-अपद-अपार् भूत और मविप्यत् की परिस्थितियों के आपार पर ही तो क्मन्त

वर्तमान का निर्णय करता है। फिर तो इसके स्वयं के अपन ही मुग्न स भी प्रत्यक्षात्मक वच मान का काइ भी महत्त्व नहीं रहा। यही वह मूलभूत है, जिसके माध्यम से ही वच मानवाणी का प्यान हम उस कच म्य निष्ठा की ओर आकर्षित करसकते हैं, जिसका मूल निष्कलज श्रुतियों की प्रज्ञा से दृष्ट निष्कलम्बवस्थापक शास्त्र (मानवजीवन के कानून) से ही है। यदि इस शास्त्र से शास्त्रविद्वि स्वधर्मा मक कर्तव्यकर्म से त्रिङ्ग है, तो सर्वप्रथम हम इसके प्रवृत्तभाव से यही नम्र आवदन कर लेंगे कि, जिस हेतुवाद से यह शास्त्र की नष्ट कर देना चाहता है, उसी, अपन ही हतुवाद से इसे अपन सम्पूर्ण अनून को भी क्रम्यादानि में आहुत कर उस क्रांति में ही आबाना चाहिये, जिस सुप्रसिद्धा प्राहुत बीवक्रांति के लिए न कभी कोइ शास्त्र बना है, न अनून। अश्रुि प्रत्यक्षप्रमावात्मिका तात्कालिकी प्रकृति ही जिस यग क लिए शास्त्र, किंवा कानून कनी दुर है। आर हम समझते हैं स्वस्वतः ही आत्मना परिपूष कोई भी मानव उस क्रांति में आबाना वा कपी भी अभीष्ट नहीं ही मानेगा अपन आप को।

३१६-प्रघण्ड-दुर्हान्ति सस्कर-आक्रान्ता की मानवस्वभावसुलभा पुण्यवासना, एवं मानव का अन्ततोगत्वा मनुनिवन्धन-आत्मनिष्ठ 'मानवस्वरूप' पर ही विश्राम —

क्यों कि मुनते हैं अनुभव करते हैं कि, एक प्रथमदुर्हान्ति डाकु भी अपन आपका 'पापा मा कलान क स्थान में 'पुण्यत्मा' कलान में ही अपन अन्तर्गत में गौरव का अनुभव करता है। इसलिए अनुभव करता है कि, मानव प्रत्यक्षवादी प्राहुत पशु नहीं है। अपिष्ट वह मानव है। आमानुष्य अम्युदयनिष्ठा-पुण्यनिष्ठा ही उसका अपना मालिक स्वरूप है। अतएव अन्ततोगत्वा मानव 'मानव' ही है जिसके स्वधर्मात्मक कर्तव्यों का स्मरणपाक शास्त्र ही जिसे प्रत्यक्षमूला भावुकता से बना लिया गया है— तन्माच्छास्त्र-प्रमाण त कर्ष्याश्चप्यवस्थितौ ।

३५७-भ्रमका-ताल मृदङ्गादि से समन्वित नामसकीर्चन के विपरीत स्वमक्त अर्जुन के प्रति भगवान् का कर्ष्यकम्मदिश, एवं शास्त्राधारनिष्ठ भगवान्—

यदि भगवान् शास्त्रनिष्ठा क माध्यम से मायुक अर्जुन को उस भीषण परिस्थिति में क्षात्रधर्मकर्म स्वधर्म में प्रवृत्त न करते ठीक इसके विपरीत यदि कबूटी-माला-मृदङ्ग-मैथीय-वेकर उसे मदन-कीर्तन और स्वनाम-सकीर्चन करने क लिए ही छोड़ देते तो आठवायी व और कया कया नबीन अनर्थ नहीं कर डालते ?, जिन्होंने अपने आत्मनियन्त्रु पायडवा उक्त को वारणावतनगर के सादाण्ड में भीषित कला डालने के प्रयास में भी कर्ष कमी नहीं की थी। पर्याउत्तरता-कुशलस्य-अधर्म-नारीजाति का अपमान से सभी आमुटी-प्रवृत्तियां जिन कौरवों में अन्ततः ही विद्यमान थीं, उनका रक्षण कया इन प्रवृत्तियां को मूर्खमान नहीं बना देया ?। कया मायुक अर्जुन मूल गया था महाशक्ति दीपनी के महतीमहीयान् उस पोरपोरुतम अपमान की पटना को का पटना ही महामारुतधर का प्रसुल आरण बन बैठी। एवं एकाग्र केवल इत एक, ही एक मायुशक्ति के अपमानने ही इस के अधु पूर्णकुलोचणने ही, इस के निष्पीर्ण केषपाशन ही उस विरवरर की भी विरचित कर डाका था जिसकी अकुटीमाय से अनन्त ब्रह्माड भी विरचित होपकवा है। भगवान् के इसी क्षुधिक

विद्यमानानि में अन्तर्लोकत्वा आत्तायीवर्ग बल कर मस्मात् हो ही जा गया । यों भगवान्ते आत्तायीवर्गों को निरोध बना कर अपनी इस आचारनिहात्मिक कर्त्तव्यनिष्ठा के बल पर ही अर्जुन के माध्यम-प्रतीक से उत्कल्लीन माखण्ड की धर्मनिष्ठा को कुसुम्य को, बचाते हुए जाति की संकरदोष से ही तथा शिवा एव इत से प्रवाक्य स्वकम सुवर्षित ही हो गया । स्थिति-परिस्थिति अर्जुन की प्रत्यक्षमूला पारया से ठीक विपरीत इतरां । जिस कर्त्तव्यपाठन में अर्जुन की बर्ष्यसंकरता और प्रजायिनाशा प्रतीत हो रहा था मगवान् ने उसकी इत भान्ति को निमूल कर दिया कर्त्तव्य-स्वरूपबोधमूला शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से । और यह प्रमाथित कर दिया कि कर्त्तव्यनिष्ठा ही बर्ष्यसंकरता का निरोध कर लक्ष्मी है, एकमात्र कर्त्तव्यनिष्ठा से ही प्रवाक्यबल, किता यक्षुसंक्षय सम्भव है । एव उक्त बचनउद्धरण के उर्वात के—“यदि मैं कर्त्तव्यकर्म्मों में प्रयुक्त न रहूँ, तो लोकमन्यार्था ही लक्ष्मण हो जाय । कर्त्तव्य से बञ्चित होकर तो मैं संकरता का तथा प्रजायिनाशा का ही निमित्त बनजाऊँ (११२४) इस वच्य का यही मावक्षिक समन्वय है जिस के द्वारा कर्म्मत्यागमूला धारानिकता सम्भ्रमूला मावुक्ता, धत्तमानकल्लानुगता धर्म्मनिरपेक्षता एवं तदनुप्राणितता कल्पनया-प्रसूता सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता-लक्षणा स्वैराचारपरास्वस्था, आदि आदि सभी का सर्वमना सम्पक् ठीक ठीक समन्वय हो जाता है जैसा कि समन्वय इनका हीना आदिप ।

३५८-प्रकृतानुसरस्यात्मक पौरुष, तथा मान्य का संस्मरण, एवं सहबकर्मनिबन्धन-जराभर्यसत्त्वात्मक पौरुष की स्वरूप-परिभाषा—

प्राकृतमनुसयम् । बात बल रही है पौरुष और मान्य की । प्रतीकत्मक चतुर्विध भावों के अनेक उद्भवों में पौरुष एवं मान्य का भी एक विशेष स्थान है किन्तों से अन्वयप्रत्यक्ष अक्षररूप-विदारमकानुगत ब्रह्मकि-दिग्देशकालाठीव-‘पुरुष’ नामक प्रथम-मानव के ‘पौरुष’ के सम्बन्ध से ही कर्त्तव्यनिष्ठा का यह प्राथमिक प्ररने उपरिस्थ हो पड़ा था । आत्मबोधनिष्ठ ब्रह्मविधि भी दिग्देशकालानुक्त से अस्मदादि प्राकृत मानवों की मति ही अक्षरप्रमेव शास्त्रविद-कर्त्तव्यकर्म्मों में ही-‘कुलमे वेह कर्म्मार्थि जिजीविषेच्छतं समा। के अनुसर यावजीवन लोकसंग्रह-रक्षणा प्रवृत्त रहेगा निरुत्थिर्लोक ० । किसी भी माखीय शास्त्र में जैसी उपायताबस्था का एकान्तता अभाव ही है जिस में कर्म्मत्याग को प्रशस्त माना गया हो । ‘जरया वा जीर्ण्यते पृथुना वा शीर्ण्यते’ के अनुसर एकमात्र आत्मनिक दुड़ाया एवं तर्नात में मनुदेकता ही कर्म्मभ्यूह के एक अमिकम को पूर्ण करता है । ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ-सहबकर्मनिष्ठ-सहब मानवों का यह सहब कर्म्म ही ‘पौरुष’ कहलाया है और यही मक्षिमात्मक ठग का प्रथम पर्व है ।

३५९-ब्रह्मवल्लानुगत पौरुष, एवं क्षत्रवल्लानुगत पुरुषार्थ का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अन्वयानुगत-अक्षररूप चित्कानुगत रूप ‘मानव नामक मानव ही ‘पुरुषार्थ’ शीत मानव कहलाया है । दोनों ही अमुक वरुम-स्यरतम्भेरसे पौरुषशैति में अन्तर्भूत है । अन्तर्भूमिमानव पुत्रानि-

० ब्रह्मण्याघाय कर्म्मार्थि सङ्ग त्यक्त्वा करोति यः ।

क्षिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिबाम्भसा ॥

—गीता

दिव अथर्व वेदों की 'वीर्य' है, एवं बहिर्म्मन्दिनामस-लाङ्घिन्द्र-प्रविन्द्र व्यक्तपोषण ही 'पुरुषार्थ' है। पौरुष-
 ब्राह्मणपुत्र्य का धर्म है, एवं पुरुषार्थ चरित्रमानस का धर्म है। ब्राह्मण केवल पुत्र्य, किंवा पौरुष है, ब्रिहस्पति
 आपान दाया है क्षत्रिय में- तनुसुत्र एव ब्रह्म-यशो दद्याति (दक्षिण! मैत्रावरुणब्राह्मण)। ब्राह्मण का
 पौरुष पुत्रार्थरूप से व्यक्त होता है क्षत्रियके द्वारा वैश्वकि 'सांस्कृतिक-नियन्त्र' में विश्वास से निर्वापित है।
 अथर्व नहीं ठहरे, इन दोनों महिमाविकसों ठहरे कालातीत लक्षणा ही क्षत्रिक व्यवस्था है। इसी आधार पर पुत्र्यार्थ
 याम्ना चरित्रगता धर्म नी ब्राह्मणत् कालापीन न मान कर कालनिम्माता-ही बहाला दिया गया है 'राजा कालस्य
 कारणम्' *।

३६०- 'राजा कालस्य कारणम्' मूला भावुकता से आविर्भूत भ्रान्तियों का इतिवृत्त—

'राजा अध्यात् शास्ता-शासक अध्यात् राष्ट्र का मन्त्रालय ही कर्त्त का निम्माता है' इस वाक्य
 के मर्म में ही मातृ-प्राप्ति उस आधारमण्डलीय प्रश्न का उत्तर सुरक्षित है जिस प्रश्न की उत्थानिका से वर्तमान
 राष्ट्र का राष्ट्रीय नेतागण तथा तदनुवर्तिनी गताभुगतिरा प्रभा बड़े आन्तरिक के साथ माध्यम संस्कृति छद्म-
 पलायनक भ्रूति-भ्रूति-पुण्य-शास्य सन्निपातित कर्मोपनिषत्। (कर्मरहस्य)-कर्त्तव्यस्वरूप (कर्मोपनि-
 षत्पत्ता-पद्धति)—इत्यादि (सांस्कृतिक-आधार) तथा तन्निगन्ता-यथा-प्रचारक ब्राह्मणवर्ग के
 मति अत्यन्त ही कुत्स-गर्हो-पूर्णा भाषा में अभिनिवेश के साथ अपने से उद्गार अनुत्पन्न प्रकट करते ही
 खते हैं कि—

३६१- अलक्षर्मविशारद आज क सत्तामर्कों क द्वारा भारतीय-ब्राह्मणप्रजा पर आक्रोश
 पूण मलीमस आक्रमण—

"इन ब्राह्मणों, इन की संकल्पिते इनके पुत्रप्राप्ति शास्त्रों, इनके धर्मादम्बरीयों सर्वोपरि इन के
 मानकता-विरोधी बगमेदों नीचे-ऊँचे के कल्पित मर्दों ही राष्ट्रीय-संपठन ठन्डिप किया है, एवं एकमान
 इतिवृत्त राष्ट्र परतन्त्र हुआ है जिसे बड़ी कठिनता से पुन हमारे राष्ट्रीय-नेतामर्गों स्वच्छत्र किया है।
 अतएव अब यह आवश्यक है कि पुनः उस भूल को राष्ट्र में न पनपने दिया जाय। एवं अब राष्ट्र की दस
 अभिनव-स्वच्छत्रता के संरक्षण के लिए उस पुत्रपन्यी-धर्म-माकनात्मिक सर्वनाय-प्रतिष्ठा पद्धति को
 बलाभ्रान्ति समर्पित कर, बगमेद का मूलोन्मूलन करते हुए धर्मनिरपेक्षता के माध्यम से मानवमान की
 समानता का समर्थन करने वाले जैसे ही विधि-विधान-बनाए जायें जिनके सभी समानरूप से उपमाह्य हों।
 सभी प्रांत स्वच्छत्रता का संरक्षण अभिबद्ध न सम्भव है। कदापि इस अभिनव-स्वच्छत्रता में हमें धर्म-रूढ़ि-
 शास्त्र-प्राचीनता-परम्परा-अतीत-आदि आदि-मूलक म्यामोहनों का प्रवेश नहीं होने देना है जिन
 म्यामोहनों के कारण ही भारतराष्ट्र को विगत अनेक शताब्दियों से परतन्त्र बना खते पका है।

* इति त संशयो माभूत्-राजा कालस्य कारणम्। (महाभारत भीष्मोक्ति)।

અથ દૃષ્ટાન્તસ્તથાદિ—

કસ્મિંશ્ચિદ્ ગચ્છે એક. શ્રમણશુણમુક્તઃ સર્વથા ભાવવિનયવર્જિતઃ સાધ્વાભાસ શિષ્ય આસીત્ । સ ચ પ્રતિદિન પુર.કર્માદિદોષદૂષિતમનેષણીય મક્તાદિક ગૃહીત્વા મઠતા સવેગેન પ્રતિક્રમણકાલે આલોચયતિ । તસ્ય ગચ્છાચાર્ય પ્રાયશ્ચિત પ્રયચ્છન્ વદતિ—અહો પશ્યત કથમસૌ ભાવમગોપયન્ શાશ્વત્વીન સર્વ

હસ અવિનીતતારૂપી ઘાવ કે હોને પર શિષ્યજનોં મેં સ્વાભાવિક ચચ્ચલતા આજાતી હૈ, પરન્તુ જય ઉસ ઘાવ મેં ગુરુઓં સે મી પ્રત્યનીક હોનેરૂપ સદ્ધા આને લગતા હૈ તય ઉસકી ડુર્ગંથ કો ગુરુજન મી સહન નહીં કર સકતે હૈ, અત વહ સઘ સે અથવા ગચ્છ સે યાહર કર દિયા જાતા હૈ । યદિ હસપ્રકાર કી પરિસ્થિતિવાલે શિષ્ય કો સઘ સે યાહર ન કરે તો કુલ ગણ એ સઘ મેં મહાન્ અનર્થ હોતા હૈ । હસી વિષય કો એક ઉદાહરણ દ્વારા સ્પષ્ટ કિયા જાતા હૈ—

કિસી ગચ્છ મેં સાધુઓં કે મીતરી આચાર વિચાર સે રહિત પરન્તુ ઉપર સે સાધુ જૈસા જ્ઞાત હોને ઘાલા એક સાધ્વાભાસ શિષ્ય રહતા યા । યહ પ્રતિદિન પુર.કર્માદિદોષોં સે દૂષિત અનેષણીય—આહારાદિક ગ્રહણ કરતા ઓર ઉપર સે દિશ્વાયદી સવેગમાય સે ઘડે જોર-શોર સે પ્રતિક્રમણ કે સમય આલોચના કિયા કરતા યા । ગચ્છાચાર્ય પ્રાયશ્ચિત દેતે સમય કહા કરતે કિ દેલ્લો યહ કિત્તના મદ્રપરિણામી જીવ હૈ જો અપને હાર્દિક ભાવોં કો નહીં છુપાકર લગે કુચે અતિચારોં કી શુદ્ધ આલોચના

કારણે અવિનીતતારૂપ ધા ને લઈ તેના મનમા ભારે ચચળતા આવી બન્ય છે પરન્તુ ગુરુ-આજ્ઞાના અનાદરરૂપી સહો એના દિલમા લાગી બન્ય છે ત્યારે એની દુર્ગંધીને ગુરુજન પણ સહન કરી શકતા નથી એટલે એને સઘથી અથવા ગચ્છથી બાહર કરી દેવામા આવે છે એ આ પ્રકારની પરિસ્થિતિવાળા શિષ્યને સઘથી બહાર કરવામા ન આવે તો કુલ ગણ અને સઘમા મહાન અનર્થ બને છે આ વિષયને એક ઉદાહરણ દ્વારા સ્પષ્ટ કરવામા આવે છે—

કોઈ ગચ્છમા સાધુઓના અદરના આચાર વિચારથી રહિત પરન્તુ ઉપરથી સાધુ જેવો દેખાવ રાખતો એક સાધ્વાભાસ શિષ્ય રહેતો હતો તે દિન દહાડે આધા કમીંદિ દોષોથી દૂષિત અનેષણીય આહારાદિક ગ્રહણ કરતો. અને ઉપરના દેખાવમા સવેગભાવથી ઘણા બેરશીયથી પ્રતિક્રમણના સમયે આલોચના કર્યા કરતો ગુરુ મહારાજ એને પ્રાયશ્ચિત્ત દેતી વખતે કહેતા કે ભુલ્યો આ કેટલો મદ્રપરિણામી ભવ્ય છે જે પોતાના હાર્દિક ભાવોને નહીં છુપાવતા

तत्प्रकृतौ पौरुष ही 'पौरुष' है, एतन्निर्दिष्टमिदमप्य-साकृदिदं-प्रकृत्यैक्येण ही 'पुरुषार्थ' है। पौरुषात्पुण्यं च धर्म है, एवं पुरुषार्थं चरियमानव च धर्म है। ब्राह्मण केवल पुण्य, किंवा पौरुष है, जिसका आधान होना है चरिय में- तत्सुत्रेण च ब्रह्म-यसो वृथाति (अथैव। मैत्रायणब्राह्मण)। ब्राह्मण का पौरुष पुरुषार्थरूप से व्यक्त होता है चरियके दाग, वैदिक 'सांस्कृतिक-नियम' में विस्तार से निरूपित है। पौरुष ही तत्, इन दोनों महिमाविवर्तों तक मालातीत लक्षणा ही कालिक व्यवस्था है। इसी आधार पर पुण्यार्थी ब्राह्मण चरियगवा च भी ब्राह्मणार्थ कालाधीन न मान कर कालनिम्माता ही बताया दिया गया है 'राजा कालस्य प्रकरणम्'।

३६०- 'राजा कालस्य कारणम्' मूला भावुकता से आविर्भूत भ्रान्तियों का इतिवृत्त—

'राजा, अध्यात् शास्ता-शासक, अध्यात् राष्ट्र का सत्ताधर ही काल का निम्माता है' इस वाक्य के गर्भ में ही भाष्यकाराचार्य उस आपातकालीन प्रश्न का उत्तर मुद्रित है जिस प्रश्न की उत्थानिका से वर्तमान युद्ध के राष्ट्रीय नतागण तथा तदनुवर्धिनी गवानुगतिरा प्रभा बड़े आक्रमण के साथ भारतीय संस्कृति, उत्-प्रतिगतक धृति-स्मृति-पुराण-शास्त्र तत्प्रतिपाठित धर्मोपनिषत्। (धर्मरहस्य)-कार्यान्वयक (धर्मोप-निषत्-प्रतिपाठक धृति-स्मृति-पुराण-शास्त्र तत्प्रतिपाठित धर्मोपनिषत्)। (धर्मरहस्य)-कार्यान्वयक (धर्मोप-निषत्-प्रतिपाठक धृति-स्मृति-पुराण-शास्त्र तत्प्रतिपाठित धर्मोपनिषत्) तथा तत्प्रतिपाठक-वक्ता-प्रचारक ब्राह्मणवर्ग के प्रति अत्यन्त ही कुत्स्य-गहा-पूर्णा भाषा में अभिनिवेश के साथ अपन व उद्गार अनुनि प्रकट करते ही रहते हैं कि—

३६१- कालधर्मविशारद आज के सत्तामत्तों क द्वारा भारतीय-ब्राह्मणप्रजा पर आक्रोश पूरा मलीमस आक्रमण—

"इन ब्राह्मणों में इन की सृष्टिने इनके पुराणादि शास्त्रों में इनके धर्माहम्बरों में सर्वोपरि इन के मानवता-विरोधी धर्मोपनिषत् में नीच-ऊँच के कल्पित भेदों में ही राष्ट्रीय-संपदन अन्विष्ट किया है, एवं एकमात्र इच्छाएँ राष्ट्र परतन्त्र हुआ है जिसे पड़ी कठिनता से पुनः हमारे राष्ट्रीय-नेताओं ने स्वतन्त्र किया है। अतएव अब यह आश्चर्यक है कि, पुनः उस भूल को राष्ट्र में न पनपने दिया जाय। एवं अब राष्ट्र की इस अभिनव-स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए उस पुण्य भी-धर्म-मानवताका सर्वनाशकारिणी पद्धति को बलाघ्नित समर्पित कर, धर्मोपनिषत् के मूलोन्वेद करते हुए धर्मनिरपेक्षता के माध्यम से मानवमात्र की समानता का समर्थन करने वाले बड़े ही विधि-विधान-बनाए जायें, जिनके सभी समानरूप से उपमोक्ष ही। सभी प्राप्त स्वतन्त्रता का संरक्षण-अभिवृद्ध न सम्भव है। क्योंकि इस अभिनव-स्वतन्त्रता में हमें धर्म-सृष्टि-शास्त्र-आधीनता-परम्परा-अधीन-आदि आदि-मूलक ध्यामोहनी का प्रवेश नहीं होने देना है बिन ध्यामोहनी के कारण ही भारतयुद्ध को विगत अनेक शताब्दियों से परतन्त्र बना रहने पड़ा है"।

* इति ते सशयो मामृत-राजा कालस्य कारणम्। (महामारते भीष्मोक्ति)।

विकल्पनादि नो अन्वययोग्या आठतामीवर्गं बलं च मस्मात् हो ही वा गया । यौ मगवान्ते आठतामीवर्गं ओ निःशेष बना च अपनी इस आचारनिष्ठात्मिका कर्तव्यनिष्ठा के बल पर ही अर्जुन के माध्यम-मौलिक से उत्कलीन मातरयज्ञ की धर्मनिष्ठा को, मुक्तज्ञान को, बचाते हुए शक्ति की संकरदेश से ही बचा लिया एवं इत से प्रबाका स्वयं सुरक्षित ही हो गया । स्थिति-परिस्थिति अर्जुन की प्रत्यक्षमूला वारणा से ठीक विपरीत हार्मों । जिस कर्तव्यपालन में अर्जुन की कर्णसंकरता और प्रजाधिनारा प्रतीत हो रहा था मगवान् ने उसकी इत शान्ति की निमूख कर दिया कर्तव्य-स्वयंमौलिकमूला शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से । और यह प्रमाणित कर दिया कि, कर्तव्यनिष्ठा ही कर्णसंकरता का निरोध कर सकती है, एकमात्र कर्तव्यनिष्ठा से ही प्रबातरक्षण, किये राष्ट्ररक्षण सम्भव है । एवं उक्त कचनउद्वर्ग के उर्नांत के-“यदि मैं कर्तव्यकर्म में प्रवृत्त न रहूँ, तो शोकमय्यावा ही उच्छिन्न हो जाय । कर्तव्य से वञ्चित होकर तो मैं संकरता का तथा प्रजाधिनारा का ही निमित्त बनजाऊँ (३।२४) इस उक्त का यही प्रासंगिक समन्वय है जिस के द्वारा कर्मस्वांगमूला वारोनिष्ठा सन्तमूला मायुक्तता, वचमानकालानुगत धर्मनिरपेक्षता एवं तदनुप्राणितता कल्पनय-प्रसूता सर्ववत्प्रत्ययतन्त्रता-स्रष्टया स्वैराचारपरत्ययता आदि आदि सभी का उर्नाधना सम्यक् ठीक ठीक सम्भव हो जाता है बस कि समन्वय इनका होना चाहिए ।

३५८-प्रकृतानुसरयात्मक पौरुष, तथा माय्य का संस्मरण, एवं सहजकर्मनिबन्धन-ज्वरामर्ष्यसत्त्वात्मक पौरुष की स्वरूप-परिमाणा-

प्रकृतमनुस्वयम् । पात चल रही है पौरुष और माय्य की । प्रतीकमक अर्जुनिक भावों के अनेक समन्वयों में पौरुष, एवं माय्य का भी एक विशेष स्थान है जिनमें से अस्वभाविक आचरकरूप-विदारमकारानुगत ब्रह्मविद्य-विद्येशकाशाटीत-‘पुरुष’ नामक प्रथम-मानव के ‘पौरुष’ के समन्वय से ही कर्तव्यनिष्ठा का यह प्रासंगिक प्रश्न उपस्थित हो पड़ा था । आत्मनोपनिष्ठ ब्रह्मविद्य मी विद्येशकालानुक्त से अस्मदादि प्राकृत मानवों की मति ही अचरयमेव शास्त्रसिद्ध-कर्तव्यकर्मों में ही- अन्वये वेह कर्म्याणि विधीविपेक्ष्यत समा । के अनुसार यावजीवन शोकसंग्रह-इष्ट्या प्रवृत्त रहेगा निश्चितपूर्वक । किसी भी मास्तीय शास्त्र में वैसी उन्वयावस्था का एकान्तः अभाव ही है जिस में कर्मस्वांग को प्रयास माना गया हो । ‘अस्था वा जीव्यते मृत्युना वा शीव्यते’ के अनुसार एकमात्र आचरनितक गुणाए एवं उर्नांत में मृत्युवेत्ता ही कर्माम्भू के एक अमिक्तम को पूर्व करछा है । ऐसे कर्तव्यनिष्ठ-अचरकर्तव्यनिष्ठ-अचर मानवों का यह स्वयं कर्म ही ‘पौरुष’ कहलाता है और वही महिमात्मक कर्ण का प्रथम पर्व है ।

३५९-ब्रह्मवत्तानुगत पौरुष, एवं अन्नवत्तानुगत पुरुषार्थ का स्वरूप-दिग्दर्शन-

अस्वभाविक-अचरकरूप चित्तमातुक्त रूप्य ‘मानव’ नामक मानव ही ‘पुरुषार्थ’ शीत मानव कहलाता है । दोनों ही अमुक्त स्वयं-दायकमिदरते पीरुषकौटि में अन्तर्भूत हैं । अन्तर्भूदिमामय गुणानि-

• ब्रह्मयाधाय कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा करोति यः ।

सिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

—गीता

३६३-कालनिर्वाहक सत्ताधीशों के प्रति आत्मसमर्पण कर बैठने वाले ब्राह्मण की सत्तासापेक्षता से ही भारत का सांस्कृतिक वैभव, तथा तन्मूलक भौतिक वैभव की अन्तर्मुखता—

महत्त्व में अन्तर्भवप्रति की दृष्टि से यही निवेदन पर्याप्त मान लिया जायगा कि, 'सत्तावन्त्राधीश शासकों के द्वारा निर्मित फल के प्रति अपनी निष्ठाएँ समर्पित कर देने से ही ब्राह्मण के द्वारा उन सब व्यामोहनों का आविर्भाव हो पड़ा है, जिन से स्वयं ब्राह्मण भी शक्तिहीन बन गया एवं वतुस्थानी सत्तान्त्र भी अशक्त बन गया और यही भारतराष्ट्र की परतन्त्रता का प्रमुख कारण बना । ब्राह्मण का पारंगत अभिभूत हो गया सत्तावन्त्र की पुरुषापथीमा में । यह भाषानुसार-वस्तु-धर्म-स्वयं के व्यामोहन से ब्राह्मणने जिस दिन से सत्ता का आभय ले लिया, उसी दिन से असन्न शास्य, इसका धर्म, इसका साहित्य, आदि आदि कुछ भी इसका रहा ही नहीं अपितु सबकुछ सत्ता के ही बन गए । आब की माया में-सत्तावन्त्र के द्वारा स्वयं ब्राह्मणने ही मातृसत्तापथ, जिया स्मृति-धर्म-साहित्यादि के संरक्षण-व्यामोहन-उप कर का राष्ट्रीयकरण ही करवा लिया प्रसन्नतापूर्वक राजगुरुपद पर उभासीन होकर हुए । यह राज्याभय यह राजगुरुत्व, यह पदप्रतिप्रतिष्ठा मक व्यामोहन ही गुहानिहित, सत्ता को आभय देने वाले राष्ट्रीय ब्राह्मण की सत्ता-विमल-निष्ठा के पतन का मूल कारण बना । और यों-‘वस्मत्प्रमादणोऽराजन्त्या स्यात्-‘सामोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा’ इत्यादि भाव उद्बोधनद्वारा से स्वयं ही अपरिचित रहने वाला मातृगण का राष्ट्रीय ब्राह्मण सत्ता का कीर्तनास ही बन गया जिसका ब्रैसा एव बा कुछ परिणाम होना चादिप या यह राष्ट्र के सम्मुख विद्यमान है ।

३६४-सांस्कृतिक-आचारनिष्ठ की अन्तर्मुखता से ही शाश्वतधर्मलक्ष्य कर्षण का अभिभव, तन्मूलक मतवादों का प्राचुर्य, एवं मतवादाभिनिषिद्ध ब्राह्मण का अघ पतन—

सत्तावन्त्र बदलते रहे बदलते रहना सामाजिक ही है इनका । इस सत्ता-परिवर्तन के अघ अघ ही सत्तावन्त्र ब्राह्मणों की मातृसत्ताओं भी भूलती रही । तन्नुपात से ही मूलसाहित्य भी उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता गया । उत्थान में कमी मूलसाहित्य के नाम पर, तो कमी स्वतन्त्ररूप से उच्चारणों की मान्यता, इन्का पोषण समर्थन नृपायाज्ञा के अनुपात से राज्याभिव-सत्ताभिव-राज्यमक-मातृक विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा नवीन-नवीन ग्रन्थ बनते गए । आगे आकर तो यह स्वतन्त्र-साम्प्रदायिक-ग्रन्थभार ही उस सीमा-पर्यन्त सीमा का अतिक्रमण ही कर गया कि मात्रब्राह्मणवात्मक वेदशास्त्र तो इन विद्वान् ब्राह्मणों की दृष्टि से भी सर्वथा सिरोहित ही बन गया अतकि परम्परया वेद के प्रति आस्था-अज्ञा रखने वाली राष्ट्रीय-जनता की वेदानुगता मातृसत्ता के संरक्षणमात्र के लिए इन विद्वानों के अस्पष्ट-शास्त्री साम्प्रदायिक-ग्रन्थों की प्रामाणिकता के नाम पर यदा कदा नाम केद का भी उच्चारण होता रहा । कुछ ऐसे ही (ब्राह्मणोत्तर) नवीन विद्वान् उद्भूत हो पड़े सर्वाकालीन मातृत्व भीलों की मौखि किन्हीं अपनी अहमन्त्यताओं में आकर आगे बल कर इस वेदानामभक्ति को भी सर्वथा विस्मृत कर दिया और उत्थान में अपनी मान्यता के अनुपात से ऐसे ही नवीन साहित्य का अपने

३६२—राष्ट्रवादियों के आपातरमणीय-आक्रोशात्मक-अभियोगों की मान्यता, एवं त्रिसहस्र वर्षानुगत भारतीय-ब्राह्मण की मतषादाभिनिवेशमूला भ्रान्ति से ही राष्ट्र का अधःपतन—

राष्ट्रवादियों का आपातरमणीय भी उक्त अभियोग इसलिये सर्वामना मान्य ही होगा राष्ट्रमूलक प्रत्येक प्रशासक के लिए कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से संचयित ही धर्म-साहित्य-संस्कृति-आचार-ब्राह्मण-विद्वान्-परमेश्वर-मान्यता के विरोधी उच्च-नीच-भाव आदि आदि सभी कुछ तथाकथितरूप से उत्तरोत्तर पुष्किल-पल्लवित ही होते आए हैं, एवं निरन्तर इन बाँटों से ही राष्ट्र को आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक, तथा सर्वान्व में शारीरिक-परतन्त्रता मोहनी पड़ी है। अक्षय ही इन सब उपायों की बड़ बर्माभिनिविष्ट-शास्त्राभिनिविष्ट यह ब्राह्मण ही माना आया बिना उक्त अभि में मायुक्त अर्जुन की भीति परदर्शनता के कारण राष्ट्र की मूलनिधि वेद धर्म संस्कृति आदि के समन्वय में अपने कल्पित मतबादों को ही प्रयुक्त प्रदान कर डाली है जैसा कि पूर्व के गीता-मसूदा से स्पष्ट किता बाबुका है। ब्राह्मण के द्वारा ऐसा क्यों हो पड़ा है, वर कि वेदशास्त्र उच्छिद्य धर्म * उत्तुगत्य ज्ञानविज्ञानविद्या कथं व्यनिष्ठाएँ सन्निभना सभी युगों के लिए शिष्टमद मङ्गलमय ही थे। ब्राह्मण ने कैसे इहाँ के आधार पर अमाहलिक-विधि-विधानों का सन्धान कर डाला ? और यदि अमङ्गल विधान न कर ब्राह्मण ने उन कुछ शास्त्र के अनुसार ही ठीक ठीक ही व्यरिषत किना, तो फिर ऐसे ठीक ठीक मङ्गलमय विधि-विधानों के विद्यमान रहते हुए भी राष्ट्रीय-संघटन क्यों ? और कैसे उच्छिद्य हो गया ? अक्षय ही ये प्रश्न आब प्रत्येक उस प्रशासक के लिए तो उत्पीड़क ही बने हुए हैं जो आस्था-भ्रष्टा के कारण एकरेलया 'वेद'-जैसे शास्त्र की भी अकहेलाना नहीं कर सकता तो दूसरी ओर राष्ट्र के अतीत दुःख-युग इतिहास के साथ भी गबनिमीलिका नहीं कर सकता। स्वयं हमारे सम्मुख भी सके ही आक्रोश से ऐसे ही प्रश्न अनेक बार उपरिषत हो पड़े हैं। और राष्ट्र की विगत-शताब्दियों की बीकन-धर्मों राष्ट्रीयता पर अब वन भी हमारा ध्यान गया है हम विकल्पित ही हो पड़े हैं। क्यों हमारे शास्त्रीय मङ्गलमय विधि-विधान है, और कहाँ निरपराध बालाओं का बीछे बी कम्पाशानि में हूद पड़ना ! किना बलापूर्वक उन्हें मृत्यु के लिए बिबश कर देना ! क्यों एक ओर परस्पर एक दूसरे का गला कटने में ही अपना बातचेब समर्पित करते रहना और कहाँ दूसरी ओर उधी सापतेब को परस्पाओं के प्रति दासमान से समर्पित करते रहना ? कहाँ एक ओर आत्मानुगत अमरपद के गुणवान ? तो क्यों दूसरी ओर एक पूयकामय से भी भयत्रस्त हो पड़ना ? परस्पर अस्मन्त विरुद्ध आदरों तथा मुक्त-प्रभन्त यथार्थताओं के कैयम्के सच-मुच हमें क्या ही विरिष्यत किना है। और यदि 'हम मूल वेदाने में भूत नहीं कर रहे' तो निरन्तर इन सब विकम्पनी का प्ररनी का समस्पापूर्ण आक्रोशी का उतर हमें उपसम्भ हुआ है पुरणपुरण भगवान् व्यास के- राजा कालस्य कस्यम्' इस लोटे से बाल्य के निरन्तन इतिहास के मम में ही शिष्ट निरन्तन इतिहास के लिए ही तो हमें परहवाह्यप्रमक प्रस्तुत निरुध एवं 'संस्कृति-सम्पत्ता राष्ट्रों-का धिरन्तन इतिहास' नामक एक स्वल्प निरुध उपनिषद कर देना पड़ा है।

* वेदादर्मों हि निधमों। (मनु)।

३६७-राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता-आन्दोलनों का आलोचक ब्रिटिशसत्तामत्त भारतीय विद्वद्गण, एवं तद्विरोधना मदती निर्लज्जता—

विद्वान् ब्राह्मणों के प्रति इनके आभिजात्य के कारण यश से ही उन्नत सम्मान करने वाली भारतराष्ट्र की आस्था-भद्रा-शीला प्रजा को सम्भवतः यह भी भिदित होगा ही कि, विश्व निष्ठापूर्वक युग में भारतराष्ट्र के स्वतन्त्रपण्य प्रतिपत्त महायात्रा मानवभेद सम्मानित ब्रिटिशसाधीयों, एवं अनिर्दिष्टों को सम्मानपूर्वक इस देश से विगा कर देने जैसे पुरस्कारार्थ में संलग्न व उक्त युग में ही राजभक्त प्राज्ञगणविद्वानोंने, एव तदाभ्युपगता सम्मान्य सम्मान्य राजाओंने ही इस कार्य में यिन्म उपस्थित किया था। एक आर राष्ट्रिय महायात्रा जहाँ ब्रिटिशसत्ता के द्वारा दारुणताओं में यामीयातनाएँ यह रहते व देश को स्वतन्त्र बनाने की पावन क्षमना से, तो हुन्दी आर हमार राष्ट्र के, राष्ट्र की संहति के मूल-सुरधार विद्वान् पण्डित लन्दन में विद्यमान अपने सम्राट् की आत्मन्य-की आत्मस्यता से चिन्तित होते हुए अपने उपायना-मन्टिरी में भगवान् से सम्मान की आरध्या-धमना अमिच्छक करते हुए भी लज्जा से सम्भवत अपने आपको असह्य ही मानते रहते थे। कैना या यह उद्देश्यकर मनीमस विधि वा विचित्र विधान है, भिषके धरणमात्र से भी यह द्विजकण्य तो बधाकरण से अपनी वधाविधा निर्लज्जता का कही पराज बनाने का स्थान भी तो उपलब्ध नहीं कर रहा।

५० स १०२ की टिप्पणी का जेपारा—

पूषाम्नाये नवशत पडशीति प्रकीर्तिता ।
 किरङ्गीभापया मन्त्रा यपां ससाधनान् कर्त्ता ॥
 अविपा मण्डलानाश्च संग्रामम्बपराजिता ।
 'इ ग्रेजा' नवपट्पश्च लन्दजारचापि भाविनाः ॥

शेरी की वास्तव्यार्थ यही है कि, "कन्यशास्त्र के सुप्रसिद्ध पूर्व-परिचय-भाग-द्विष्ण-उर्ध्व-आय नामक ६ आम्नाओं में से पूर्वान्नावकन्य में किरङ्गी भाया के (अंग्रेजी भाया के) सैकड़ों मन्त्र हैं जिनकी साबना से कसियुग में मानव भयस्वर पार कर बाव्य है। ये मन्त्र उक्त इ गलिशभाया के हैं, जिन भाया के सारक अर्थों का आब भाव्य जैसे राष्ट्र के अविपति है एव हिन्दु युद्ध में कर्म नहीं ह्य सक्यत। ऐसे इ ग्रेजा किसी सम्यक लन्दन में उपलब्ध हैंगे। इत्यादि इत्यादि। आरचस्य्य वा यह है कि प्रयास करने पर भी येक-त्यादि मन्त्रों में हम आबतक तर्कालाभ्यार महाभाग के द्वारा उद्धृत इ गलिशभाया के तथाकथित मन्त्र उपलब्ध नहीं कर सकें। तमी तो उयी युग के उयी मन्त्रान्त के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् (एव भीआस्यवमदत्त महाभाग) ने अपने सुप्रसिद्ध-“भारतवर्षीय-उपासक सम्प्रदाय नामक साम्प्रदायिक मन्त्र की प्रस्तावना में तथाकथा मन्त्रियुक्ति का सम्मूलचूक लक्षण कर वाला है। जैसे मरुवन, बैवा ही लखनन। एक दस राक-मन्त्र का अनुगामी तो आरकनकर्षा हल सम्प्रदायमन्त्रि अ समर्थक। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के सिध तो दोनों ही प्रचस्य, इत्यल पापक्याप्रसङ्गेनैतेन।

३६२-राष्ट्रादियों के आपातरमयीय-आक्रोशात्मक-अभियोगों की मान्यता, एवं त्रिसहस्र वर्षानुगत भारतीय-ब्राह्मण की मतवादाभिनिवेशमूला अन्ति स ही राष्ट्र का अक्षयपतन—

राष्ट्रादियों का आपातरमयीय जो उक्त अभियोग इसलिए सर्वप्रथम मान्य ही होगा राष्ट्रमूक प्रत्येक प्रशासक के लिए कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से सशुद्ध ही चर्मा-साहित्य-संस्कृति-आचार-ब्राह्मण-विद्वान्-वर्गभेद-मान्यता के विरोधी उच्छ-नीच-भाव आदि आदि सभी कुछ तथाद्वयितरूप से उत्तरोत्तर पुम्बित-प्लवित ही होते आए हैं एवं निरुचयेन इन बादी से ही राष्ट्र को आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक, तथा सर्वान्त में शारीरिक-परतन्त्रवा भोगनी पड़ी है। अथर्व ही इन सब उत्पादों की अङ्ग चर्माभिनिविष्ट-शास्त्राभिनिविष्ट वह ब्राह्मण ही माना आम्गा बिचने उक्त अक्षय में मनुक अजुन की मूर्ति परदर्शनता के कारण राष्ट्र की मूलनिधि वेद धर्म संस्कृति आदि के समन्वय में अपने अस्मनिक मतवादी को ही प्रमुखता प्रदान कर डाली है जैसा कि पूर्व के गीता-महास से स्पष्ट किया जानुका है। ब्राह्मण के द्वारा ऐसा क्यों हो पड़ा ? उन कि वेदशास्त्र उत्पिष्ट धर्म * उद्वुगत शान्तिहानसिद्धा क्वच्यनिष्ठाएँ सर्वप्रथमा सभी युगों के लिए विद्वत् मङ्गलमय ही थे। ब्राह्मण ने कैसे इही के आचार पर अमातृशिक-विधि-विधानोंका सम्बन्ध कर डाला ! और यदि अमङ्गल विधान न कर ब्राह्मण ने उन कुछ शास्त्र के अनुवार ही ठीक ठीक ही धरिचय किया तो फिर ऐसे ठीक ठीक मङ्गलमय विधि-विधानों के विद्यमान रहते हुए भी राष्ट्रीय-उपठन क्यों ? और कैसे उन्विष्ट हो गया ! अथर्व ही ये प्रश्न आब प्रत्येक उस प्रशासक के लिए तो उत्पीड़क ही बने हुए हैं जो आस्था-भ्रष्टा के कारण एकद्वेलया 'वेद'-जैसे शास्त्र की भी अक्षयलना नहीं कर सकता तो वृत्ती और राष्ट्र के अतीत कुल-पूर्ण इतिहास के साथ भी गबनिमीशिक्र नहीं कर सकता। स्वयं हमारे सम्मुख भी बड़े ही आक्रोश से ऐसे ही प्रश्न अनेक बार उपरिष्ठ हो चुके हैं। और राष्ट्र की विगत-शताब्दियों की जीवन चर्मा राष्ट्रीयता पर अब सब भी हमारा ध्यान गया है हम विकम्पित ही हो चुके हैं। कहाँ हमारे राष्ट्रीय मङ्गलमय विधि-विधान हैं, और कहाँ निरपराध बालाओं का बलि की कर्मादानि में हूँ पड़ना ! किया बलपूर्वक उन्हें नूदने के लिए शिवा कर देना ! कहाँ एक ओर परस्पर एक दूसरे का गला काटने में ही अपना आत्मचेष्ट समर्पित करते रहना, और कहाँ वृत्ती और उभी धात्रवेक को परलवाओं के प्रति दासभाव से समर्पित करते रहना ! कहाँ एक ओर आत्मातुगत अमरपद के गुणगान ! तो कहाँ वृत्ती और एक मूयकर्मण से भी मयस्त हो पड़ना ! परस्पर अलवन्त विरुद्ध आदर्शों तथा मुक्त-प्रकृत ब्यार्थवाणी के कैयम्ने छ-मुच हमें क्या ही विरम्पित किया है। और यदि 'हम मूल वेदाने में भूल नहीं कर रहे' तो निरुचयेन इन सब विकम्पनों का प्रश्नों का समस्तपूर्ण आक्रोशी का उत्तर हमें उपलब्ध हुआ है पुरुष्यपुरुष म्मावान् ध्याव के- 'राजा कालस्य करणम्' इत छोट से वाक्य के विरुक्त इतिहास के धर्म में ही जिस चिरन्तन इतिहास के लिए ही तो हमें परदृष्ट्युपलम्बक प्रस्तुत निरुच्य एव 'संस्कृति-सम्पत्ता राष्ट्रों-का चिरन्तन इतिहास नामक एक स्मृत्त निरुच्य उपनिषद् कर देना पड़ा है।

• वेदादर्मों हि निधमों। (मनु)।

३७०-सर्गविनाशक-सत्ताश्रयात्मक-राज्याश्रय की निरपेक्षता से ही ब्राह्मणप्रज्ञाओं के द्वारा राष्ट्र का सम्भावित-जागरण—

आर अनन्य भद्रोय पूज्य गिज्ञान् ब्राह्मणों से, तथा अन्यान्य संस्कृतविनिष्ठ-साहित्यिकों से भी हम यही निवेदन करेंगे कि, वे सत्तात्मक की सामानुगत्य मान्यताओं से अपने आपका सर्वथा अग्भंग्य ही रहते हुए, इस अलक्षक के साधुमात्र ही बन रहते हुए, अक्षयशालन का उत्तरदायित्व सत्तात्मक पर ही छोड़ते हुए, साथ ही अपने आपका सत्ताश्रय-राज्याश्रय के सबविनाशक महामाह से सर्वथा ही बचाते हुए शुद्धबुद्धि से आस्था-भ्रष्टा पूर्वक (किन्हीं भी व्याख्यामाह में न पढ़ते हुए) अपनी मूलनिधि के स्वाध्याय-चिन्तन-अनुशीलन में ही प्रवृत्त हो जायें। इनके इसी पुरय से एक दिन सत्तात्मक को अन्वय ही इस संस्कृति की शरण में आ ही जाना पड़ेगा, इसी मङ्गलकामना के साथ अब हम 'राजा कालस्य कारणम्' मूलक प्रासंगिक निवेदन को उपरत कर पुनः प्रसन्न होकर, तथा पुरुषार्थ की आर ही कालप्रैमिया का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

३७१-कालमापेक्ष सत्तात्मक, एवं कालातीत-शाश्वतधर्म के क्षेत्र में तत्तन्त्र का अनधिकार—

'यथा' अर्थार् मत्तात्मक काल का कारण अन्वय है। अन्वय ही दिग्देशकालानुक्रमी सम्बन्धकालचक्र (चन्द्रसम्बन्धकालचक्र) से सीमित बने रहने वाले भूत-भौतिक-व्यक्त-मृत-अमृत के मातृक विधि-विधाना का कारण, क्रिया उत्तरदायी अन्वय है। तभी तो शास्त्रने आधिभौतिक रक्षाधर्म का उत्तरदायित्व सत्तात्मक को, शास्त्रा चरित्रको ही दिया है—बैसाकि इसके-सुतात् प्रायतः निर्वचनार्थक 'सुप्रिय शब्द से प्रमाणित है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी इसे उस कालातीत की व्यवस्था का कोई उत्तरदायित्व प्राप्त नहीं है किन्तु अमृत-अमृत मानों से ही सम्बन्ध है एवं जिस कालातीत-सम्बन्ध-अप्राकृत मान का ही 'शाश्वतधर्म' कहा गया है।

३७२-स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित, सुरचित शाश्वतधर्म, एवं 'धर्मों विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' का संस्मरण—

दुष्का उत्तरदायित्व तो कस्तुतः किसी को भी नहीं है। अर्थात् धर्मों को स्वयं ही अपना उत्तरदायित्व बहन कर रहा है। ब्राह्मण उस का नाम है जो कालातीत स्थिति में रहता हुआ इस धर्म का अनुशीलन करता है एवं सुप्रिय उसका नाम है जो ब्राह्मण के अनुशीलनात्मक धर्मों की आचार का स्वरूप प्रदान करता है। यों ब्राह्मण वहाँ 'धर्मप्रवर्तक' बना हुआ है वहाँ सुप्रिय 'धर्मरक्षक' प्रमाणित हो रहा है। 'धर्मरक्षकता का अर्थ है ब्राह्मण के द्वारा निर्दिष्ट धर्मों का प्रभा के द्वारा व्यवस्थापूर्वक पालन करवाना। जैसे जो स्वयं धर्म ही सुप्रिय का भी रक्षक है और ब्राह्मण का भी रक्षक है। किन्तुना-सम्पूर्ण विश्व का रक्षक है—'धर्मों विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'।

३७३-ब्राह्मण के पौल्य की सत्तात्मक के द्वारा कार्यरूप में परिस्थिति, एवं-मैत्रावरुण ग्रहभूति' मूलक मित्रव्रत-सुप्रवर्ण-क अभिगन्तुश्च-कर्तृत्व-माता का तारिक-स्वरूप-समन्वय—

धायक कहने का यही है कि, ब्राह्मण के पीरय को कार्यरूप में परिणत कर देने का उत्तरदायित्व सत्तात्मक से ही अनुप्राप्त है। जो सत्तात्मक अपने कालव्यापार में आकर कालातीत धर्मों की उत्पत्तक

दुर्दिवाव के नश पर ही स्मर्जन कर डाला जो हत्यमृत स्वच्छन्द-कल्पित-साहित्य ही आगे जाकर भारतीय का मूलशास्त्र बन गया एवं उसी के काल्पनिक विधि-विधानों में धर्म तथा कर्तव्य का स्थान प्रदत्त कर लिया, जबकि इन में धर्म और कर्तव्य का तत्त्वतः नामस्मरण ही नहीं था ।

३६५-पतनगर्धनिमग्ना ब्राह्मणप्रज्ञा के द्वारा काल्पनिक-उपनिषदों का निर्माण, मौलिक शास्त्रों के प्रति वक्ष्यकता, एवं विधिपतनानुगता भयावहा प्रविष्टता—

इदमप्यत्राक्षयेत् । मन्त्रभाग ब्राह्मणभाग एवं अमुक वीमापस्यान्त आरयवकभाग इन तीन वेदपत्रों में कल्पनिक-व्याख्याएँ तो समाविष्ट होगी उक्तमन्त्र ब्राह्मणों के द्वारा । किन्तु 'छन्दोमस्ता' नाम से प्रसिद्धा वेदभाषा के बोध से अपरिचित विद्वान् उक्तभाषामय इन तीनों पत्रों में ऐन्द्रिक परिवर्तन नहीं कर सके जबकि संस्कृतभाषाप्रधान उपनिषत्साहित्य में तथा उक्तभाषामय ही स्मृति तथा पुराणशास्त्र में श्रद्धेयों का यह अक्षय्य तायज्य ही चल गया इसके लिए-रामतपनीयोपनिषत्-गोपिस्तपनीयोपनिषत्-त्रिपुण्ड्रभस्मोपनिषत्-अस्त्रोपनिषत्-कश्चिदन्तरखोपनिषत्-आदि नाम ही पर्याप्त होंगे । यही दुर्दशा स्मृतिशास्त्र की हुई । और लोकसामान्य की आस्था-भ्रष्टा धुरंधित गणने के एकमात्र-अन्वयम साधनमूढ भारतीय-संस्कृतिक-प्रायोजनों के महान् इच्छितरूप आर्यसंस्कृतत्वक गरिमामहिमामय पुराणशास्त्र के सम्बन्ध में तो विधिपत्नी की वह प्रविष्टता वीमा का उल्लापन ही कर गई । राजभक्ति के आवेश ने इस शास्त्र की तो बेसी दुर्दशा कर डाली जिसके नामोल्लेख से ही हमें प्राक्प्रतिषेध का अनुगामी बन जाना पड़ता है ।

३६६-ब्रिटिशशासकतन्त्र का परममक्त भारतीय विद्वद्गण, तत्प्रसादप्राप्तपर्य ही ब्रिटिश-साम्राज्य का काल्पनिक पुराणवचनों के द्वारा समर्थन, इति तु सर्वथा अत्राक्षय्य मेव—

भारतराज की शेषभूय स्वच्छन्दता को स्मृतिगर्भ में मिश्रित कर देने वाले अन्वय परल्लातन्त्र ब्रिटिश राज्य के प्रति भी अपने उसी पूर्वान्यास के अनुसर इस देश के विद्वान् ब्राह्मणों ही उद्युधिप्राप्त राजकुमार महामहोपाध्यायों ही सर्वप्रथम न केवल आत्मछत्रपर्य ही कर दिया अर्थात् 'भविष्यपुराण' के माध्यम से तथा सुप्रसिद्ध 'मैकलन्ड्र नामक तन्त्रग्रन्थ के माध्यम से जैसे जैसे नवीन श्लोक भी बना वाले किन्तु यही प्रमाणित करने की चेष्टा की इन राजभक्त विद्वानों ने कि- 'यह तो हमारे पुराणों में ही सिखा है कि, भारत पर कभी अंग्रेज प्रकल्पित राज्य करेंगे' * । न केवल अत्र उनके आशय का ही, अर्थात् इन विद्वानों के लिए सम्मक्तः पुस्तकाम चारजायी से भी कहीं अधिक पवित्र उनके 'अन्वयनगर' का स्मरण करना भी विसृत नहीं किया उन वर्षखण्डकार, वर्तमान महामहोपाध्याय विद्वानों ही इति तु अत्राक्षय्यमेव ।

*-देखिए-नवीन परिवर्तन महामहोपाध्याय स्व भीषन्प्रधन्त कर्तव्यद्वार मर्याद के-भीमाशय-मनिक प्रसोद्रीप का अपना द्वितीय व्याख्यान एवं तदनुगत निम्नलिखित उद्धरण-भविष्यपुराण का नाम से

है, उसी का नाम है 'काल', जिससे अभिन्न है प्रवासर्ग, जिसके कि 'विद्', तथा 'शुद्ध', प्रत्ययरूपेण य दो विद्यत माने गए हैं।

३७६-कामाधारभूता विट्प्रजा, मोगाधारभूता पौण्यप्रजा, एषां तदनुगत-तद्रूप मन - शरीर भावों का समन्वय—

'विरा' और 'शुद्ध' ही प्रजा है यही शुद्ध का कालिक-भाविक-स्वरूप है, जिसकी सम्पूर्ण ध्यनम्भा काष्ठानुबन्धिनी ही मानी गई है। सत्तात्पर्य का एकमात्र प्रधान कथन्य है-इन कालिक सगों का नियन्त्रण-पूर्वक सञ्चालन। यदि य दोनों पय कालसीमा का अतिक्षणण कर जाते हैं, तो न केवल तद्शुद्ध में ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान होजाता है। विट् प्रतीक है काम का, एवं शुद्ध प्रतीक है मोग का। मोग की आधारभूमि है शरीर, एवं काम की आधारभूमि है मन। जिन प्रजाओं का मन, और शरीर सत्तात्पर्य के द्वारा नियन्त्रित रहता है, उन प्रजाओं का बुद्धिपूर्व और आत्मक सत्तात्पर्य बना रहता है।

३७७-आत्म-बुद्धिरूप ब्रह्म चक्र क नियन्त्रण से पृथग्भूत मन शरीर-निबन्धन विट्-शुद्ध प्रजा क द्वारा सम्भावित विश्वचोम, एवं 'चोमयेतामिदं जगत्' वचन का समन्वय—

मन, और शरीर का अनिच्छित ही बौद्धिक-आत्मिक-पारकल्प्य का कारण बन जाया करता है। तत्त्वतः आत्मबुद्धिसत्त्वतनुगत मनशरीरपारत-प्य का ही नाम है मानव की स्व तन्त्रानुगता स्वतन्त्रता, जिस इस तन्त्र का विस्मृत कर वच मान प्रतीच्य सत्तात्पर्योर्ने मन-शरीर की स्वतन्त्रता को (काम-मोग-स्थात्कल्प्य को) ही स्वतन्त्रता मानने की भूल कर डाली है। उसी का अ-धानुकरण कर हमारे सत्तात्पर्यने भी मन-शरीरानुगता उच्छ्र्य उसता, अमर्त्यादा का नाम ही आत्म 'स्वतन्त्रता' मान लिया है। परिष्कामस्वरूप प्रजा का बौद्धिक तथा आत्मिक क्षेत्र सत्ता ही परकल्प बन गया है। हमारी आस्था है कि, दिग्देशकाल-स्वरूपमीमांसा के माध्यम से सत्तात्पर्य उद्बोधन प्राप्त करेगा, और शरीरों मनु के इस यत्न के प्रकृतिसिद्ध मम्म का समन्वय कर के ही स्वशासनसूत्र का सञ्चालन करेगा, जिस सूत्र की उपेक्षा कर सभी सत्तात्पर्योर्ने आत्म विश्व में विकल्पन उत्पन्न कर दिया है—

नैश्यशुद्धौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।

तां हि ध्युतौ स्वकर्मम्यः चोमयेतामिदं जगत् ॥

—मनुः २।४१८

३७८-विद्भावापन्न-मनोघम्मा-चान्द्र प्राकृत-भाग्यवादी-मनुष्यविष 'मानव', एषां तदनुगता पारिवारिकी स्वार्थनिष्ठा—

अद्यत्कर्म चरकम चेतनसर्गानुगत मानवविभाग का नाम ही है- 'मनुष्य' इसी का नाम है विट् (वैश्य) और यही है भाग्यवादी-प्राकृत-मानव। अर्थात् यह भूत और मनुष्य पर निष्ठा नहीं रखता,

३६८-वर्षमान स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र के भारतीय विद्वानों के युगधर्मस्त्रुगत विभिन्न दो वर्ग, एवं प्रथम वर्ग के द्वारा धर्मध्व्वाज से सचा की आलोचना, तथा द्वितीय वर्ग के द्वारा सचा की माधुकरापूर्वा मान्यताओं का समर्पण—

और आब के स्वतन्त्रतापूर्ण-सर्वतन्त्र स्वतन्त्र माखराष्ट्र के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतीय आबान विद्वान् नया कर रहे हैं !। वही संस्कृत तो कर रहे हैं, जो कुछ हीन छद्म वर्षों से ने करते आरहे हैं। अन्तर है केवल योग्य मनोवृत्ति में। इस से पूर्व के जो परसत्तात्त्र (ब्रिटिश-मुगल-सिक्ख-राजादि-सत्तात्त्र) थे उन में मय की ही प्रयुक्तता थी स्वार्थ गीण या। हिन्दू आब मय का स्थान भी स्वार्थ न ही छे शिमा है। क्योंकि सत्तात्त्र इनका ही है। अतएव आब ने संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् दो वर्गों में विभक्त होगए हैं। जिस वर्ग का सत्तात्त्र से बोज-बोज नहीं पैठा वह धर्म के नाम से आलोचक बन गया है इस सत्तात्त्र का एवं जिसका बोज बोज पैठ गया है उसने तो एक स्वतन्त्र दर्शन (गांधीदर्शन) का ही छर्नन कर डाला है। कुछ एक लोकचतुर संस्कृतिमर्मज्ञ विद्वान् (हिन्दू आबय नहीं अहिन्दू इतर वर्गों को समलङ्घ्य करने वाले) ऐसे भी हैं जो अपने लोकचतुर्ष्य से सत्तात्त्र को भी प्रसन्न रखने के प्रयास में उखलीन हैं एवं अपने इसी वाक्कुल के माध्यम से धर्मप्राभा बनता के भी अज्ञानमान्यन के खने का प्रयास करते रहने में मुराब हैं। तत्त्वतः इन विद्वानों की सभी भेषियाँ आब की आबन्तुद्धिमन-शरीरसत्ता का ही पुनरवर्चन कर रही हैं। इसी सत्ताविमोहन से आब भी मूल संस्कृति मूल धर्म मूल आचार पुनानिहित ही प्रमाहित हो रहा है। और यी सत्ताधमत्त्र के कारण ही आब के इस महद्मायराशी स्वतन्त्र भारत में भी भारत की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा आचारपद्धति की और न तो विद्वानों का ही ध्यान बाकत्र है और न सत्तात्त्र का ही। सत्तात्त्र धिका हुआ है राजभक्त, धनेविद्वेषात्मक विद्वानों से एव इनकी मत्वादात्मिक मान्यताओं से बिनसे धिकते रहना और आबपरिहास करते रहना तो प्रत्येक प्रजासिद्धि का हम तो स्वधर्म ही मारंगे। और आब तो बनकन भी उदासीन होता बायदा है इन्ही सब कारणों से इन धर्मियों की और से। तो क्या अब कोई उपाय नहीं है भारतराष्ट्र की मूलनिधि के पुनरुन्मिर्षक का ? उच्च होगा 'एकमात्र - 'राजा कसस्य कसस्यम्' ही।

३६९-अन्तर्राष्ट्रीय-ध्यामोहनात्मक स्वराष्ट्रनिष्ठावच्छिन्न हमारा वर्षमान सत्तात्त्र, एवं इसके- 'स्व' माव की 'पर' तन्त्रों से अनुगता 'परतन्त्रता'—

जब सत्तात्त्र की ही आब नहीं, तो कल कल नहीं तो परती अपनी मूल स्वोचर करती ही पड़ेगी जिस माधुकरापूर्व भूलने ही सत्तात्त्र की प्रजा को आब अन्तर्राष्ट्रीय-विमोहन-मूलक परदर्शन-परसुकरन की और ही महव कर रस्ता है। और इसी माधुकरा के कारण अनुक नागिरोप-धर्मिकिरोपी के रूप से अपने भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति की और दक्षिणत करजा भी पाव मान शिष्य है। हम समझ आनेवन करंगे अपने प्रयुक्तताधर्म सत्तात्त्र से कि वह एक बार, केवल एक बार-गुणदक्षि से नहीं तो दीरदक्षि से ही दक्षिणत का तो अनुभव करे अपनी इस उठ मूलनिधि की और, किन्ना एक एक सत्तात्त्र की उन सम्पूर्ण सम स्थलों का धम्ममात्र में निराकरण करने की क्षमता रखता है बिन शिमा धम्मस्थलों के शिष्य विभित्त हमारा सत्तात्त्र नाब उन 'परतन्त्रों' के 'परसूत्रों' की ही राख सेवा बायदा है जो कि 'प्रतीधम-परसूत्र' धम्मस्था के निराकरण के स्थानमें धम्मस्था के सर्वत्र ही बनत नारे हैं।

आगतेनाचार्येण कथितम्—

गिरिनगरनिवासी रुद्धिमत्को वणिक् पद्मरागरत्नैर्भवन पूरयित्वा प्रतिवर्षं वह्निना प्रदीपयति । तत्रत्यमन्दबुद्धितृपतिसभाया स वणिक् प्रशंसित—अहो धन्योऽयं वणिक् यदनेन वह्निदेव पद्मरागरत्नैः सत्सर्प्यते । तदनन्तरमेकदा प्रबलपवनपटलप्रेरितस्तत्प्रदीपितदहन सराजभासाद् समस्तमपि तन्नगर दहतिस्म । ततोऽसौ वणिक् राज्ञा दण्डितो नगरान्निष्कासितः, तदेव राज्ञा को वाधने में मिष्ट्र के जैसा सिद्धहस्त होता है । धर्मरूपी उथान को नष्ट करने के लिये यह तरुकोटरान्तर्गत वह्निकी ज्वाला के समान दारुण और विनाशकारी माना गया है । आप जैसे गच्छाधिपति को इस अविनीत की प्रशंसा करते हुए देव कर मुझे उस राजा की कथा याद आती है—

गिरिनगरनामक एक शहर में अग्निभक्त कोई एक बनिया रहता था, जो प्रतिवर्ष अपने भवन को पद्मराग मणियों से भर कर जला दिया करता था । उसके इस कार्यकी प्रशंसा वहाँ के मन्दबुद्धि नामक राजा तथा प्रजा सभी मुक्तकंठ से करते थे । वे कहते थे—धन्य है यह अग्निभक्त जो अग्नि की प्रतिवर्ष इस प्रकार से पूजा किया करता है । एक दिन की बात है कि उस वणिक् ने ज्यों ही अपना मकान जलाया कि इतने में बड़ी मारी आधी का एक प्रचल वेग आया, और उससे प्रज्वलित हो उस अग्निज्वाला ने उस नगर को भस्म कर दिया ।

भाषा अन्य श्रवणपी भूगोने आधवाभा बिलना माइक सिद्धहस्त डोय छे धर्मरूपी भागनो नाथ करवा भाटे आ तड़कोटरान्तर्गत अग्निनी न्वादा समान हाइश्रु अने विनाशकारी मानवाभा आवेव छे आप जेवा गच्छाधिपतिने आवा अविनीतनी प्रशंसा करता जेध मने जेक राजनी वात याद आवे छे—

गिरिनगर नामना जेक शहरमा अग्निभक्त जेवो जेक वखीक रहते। हुतो जे हर वरसे पोताना मकानने पद्मराग मणीजोधी बरी भाणी नाथतो तेना आ कार्यनी प्रशंसा राज अने प्रज पधा मुक्तकंठे करता हुता अने धडेता हुता के—धन्य छे आ अग्निभक्तने के जे हरवरसे अग्निना आ प्रकारथी पूजा करी करे छे जेक दिवसनी वात छे के जे वखीके पोतानु मकान सजगाव्यु जे समये भारे जेरशोरथी पवननी आधी थदी आवी वेगवाणी पवननी आधीने धध अग्नि जेशवेर प्रज्वलित भन्ये अने तेना आ गारा शहरभरमा डूरी वणता आयु शहर अने राजना भेडवमा पशु अग्निशाभाजो डूरी वणी अने साइ जे शहर तथा राजभेडव पशु नाथ पाम्ये राजजे आधी असतुष्ट भनी जे वखीकने

नाशय के पीछे की अवहेलना कर देता है उस के सम्पूर्ण पुरुषार्थ 'पुरुषार्थ' न रह कर कालानुक्रमी वास्तविक 'प्रकृत्यर्थ' ही बने रह जाते हैं। और पुरुषार्थरहित, केवल प्रकृत्यव्यपरायण वच मानवकी ऐला सत्तात्मक कालातीता मूलसंस्कृति के, मूल अभाकृत शारवतधर्म के आभय से स्थूलभाषा के अनुस्यार-नाशय के आभय से बहिष्कृत होकर कालान्तर में कालवीमा में ही नष्ट ही हो जाता है वैसाकि मैत्रायणसूक्ति के—'अद्द किञ्च कन्म कुर्वते—आमस्तुं ब्रह्मणा मिश्रेण, न हेवास्मै तत्समुभ्यते। तस्मात् उन्नियेण कन्मकरिभ्य-मास्योन् उपसप्त व्य एष ब्राह्मण'। सं हैवास्मै तत् कन्मऽर्ष्यते' (शत ब्राह्मण) इत्यादि उक्तों से स्पष्ट प्रमाणित है। 'तस्माद् ब्राह्मणोऽस्त्यन्वः स्यात्' के अनुस्यार ब्राह्मण वहाँ 'भराजन्व' ('सत्ता-निरपेक्ष') रह कर ही कालातीत धर्म के अनुशीलन में समर्थ बन सकता है वहाँ प्राप्त सत्तात्मक ब्राह्मण-प्रेरणा का आभय लेकर ही स्वकालम्भकस्था में ऊलता प्राप्त कर सकता है।

३७४—मित्रब्रह्म, एवं वरुणस्य के समन्वय-पार्यन्त से राष्ट्र की ज्ञान-गौरव-शक्तियों का विघटन, एवं उत्पत्तिरिखामस्वरूप ब्रह्मचप्रसमन्वय से बहिष्कृत राष्ट्र का अभिभव —

मित्रब्राह्मण और वरुणबलिब्र का जब परस्पर विपर्यय हो जाता है अर्थात् ब्राह्मण बन सता का आभय से होता है एवं सता वच ब्राह्मण को आभय मान बैठती है, तो ब्राह्मण की तो धर्मनिष्ठा ही अन्तमुल बनती है किन्तु सत्तात्मक का तो मूलोन्धेव ही होनावा है। इवीलिय कहा गया है कि—'धर्मो रक्षति रक्षितः। ब्रह्मण सीमा ध्य अर्थ यही है कि, संस्कृति धर्म—शास्त्र—उत्पत्तबर्तक ब्राह्मण इनकी रक्षा से ही वे रक्षा किया करते हैं सत्तात्मक की एवं उरुक राष्ट्र की। कालनिर्मिता सत्तात्मक वच धर्मनिरपेक्ष बन जाता है तो सभी कुछ अरक्षित बन जाता है। अतएव वहाँ आकर हमें उस आक्रोशपूर्ण उस प्ररन-परम्पर का पूरा पूरा स्माधान प्राप्त हो जाता है कि 'शास्त्र-धर्म-ब्राह्मण-संस्कृति-आचार-आदि आदि वच-पात्र मङ्गलमय विधि-विधानों की विद्यमानता में ही मातृराष्ट्र क्यों पर्यन्त बना।। अस्तुत्या 'राजा कर्त्तव्य करखम्' ही इन सब प्ररनों का मूल स्माधान है। एकमात्र सता के दोष से ही राष्ट्र के ब्राह्मण राष्ट्र की संस्कृति राष्ट्र का धर्म राष्ट्र का आचार अभिभूत होजावा है अन्वमुल बन जाता है। सत्तात्मक के प्रकृत्यवर्षवादी बनते ही इच्छा पुरुषार्थ विहीन हो जाता है शेष रह जाती है वास्तविक मातृजटा वस्तुगता मन शरीरनिष्पन्ना काममोहापरवक्या। यही बना दी जाती है वस्तुपूर्वक राष्ट्र का एकमात्र जीवनीय लक्ष्य। परिणाम वैद्य, जो कुछ होता है हुआ है हो रहा है स्पष्टतम है।

३७५—कालातीत-चिदात्मसंग से नियन्त्रित 'कालसर्ग', एवं तदनुगता- वरुणा कालिक-प्रवा का स्वरूप-परिषय—

चित्तप्रकार विदग्धसर्ग कालातीत धर्म है तथैव चित्तों में कालातीत ही है। अन्तर दोनों में यही है कि, विदग्धसर्ग वहाँ कल से अरुण्य है, वहाँ चित्तों कल से गत्यु है। उस और कालातीत ब्राह्मण है इस और काल है दोनों के मध्य में प्राप्त सत्तात्मक है जो उस और के कालातीत ब्राह्मण के पीछेआभय से पुनर्गामी बनवा हुआ इस और के काल की प्रकृत्यवर्ष-व्यवस्थाओं का नियन्त्रण करवा है नियमन करता है ब्रह्मण धर्म है प्रशस्त की व्यवस्था बोधि प्रशस्तों आशात्मक माना गया है। जिसे राष्ट्र कहा जाता

है, उठी का नाम है 'अल', जिसके अग्रिम है प्रजाधर्म, जिसके कि 'विद्', तथा 'शूद्र', प्रणयरूपेण य दो विस' माने गए हैं ।

३७६-कामाधारभूता विट्प्रजा, भोगाधारभूता पौष्णप्रजा, एवं तदनुगत-तद्रूप मन शरीर-भावों का समन्वय—

'विरा और 'शूद्र' ही प्रजा है, यही शूद्र का अलिक-भौतिक-स्वरूप है जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था अस्मानुबन्धिनी ही मानी गई है । सत्वात्म्य का एकमात्र प्रधान कृत्य है—इन अलिक कर्मों का नियन्त्रण पूर्वक सञ्चालन । यदि ये कर्मात्मा का अतिक्रमण कर जाते हैं तो न केवल तद्रूप में ही अपितु सम्पूर्ण विश्व में विक्रमण होजाता है । विट् प्रतीक है काम का, एवं शूद्र प्रतीक है भोग का । भोग की आधार भूमि है शरीर, एवं काम की आधारभूमि है मन । जिन प्रजाओं का मन, और शरीर सत्वात्म्य के द्वारा नियंत्रित रहता है, उन प्रजाओं का बुद्धिपूर्व और आत्मन्त्र स्वत्वन्य बना रहता है ।

३७७-आत्म-बुद्धिरूप ब्रह्म क्षेत्र क नियन्त्रण से पृथग्भूत मन शरीर निश्चयन विट्-शूद्र प्रजा क द्वारा सम्भावित विश्वचोम, एवं 'घोमयेतामिदं जगत्' वचन का समन्वय—

मन, और शरीर का अनियन्त्रण ही बौद्धिक आत्मिक-पारलम्ब्य का कारण बन जाया करता है । तत्त्वतः आत्मबुद्धिस्थितानुगत मन-शरीरपारलम्ब्य का ही नाम है मानव की स्व' तन्त्रानुगता स्वतन्त्रता, जिस इस तत्त्व का विस्मृत कर कर मान प्रतीत्य सत्वात्म्यों में मन-शरीर की स्वतन्त्रता को (काम-भोग-स्वात्म्य को) ही स्वतन्त्रता मानने की भूल कर जाती है । उठी का अस्मानुकरण कर हमारा सत्वात्म्यने भी मन-शरीरानुगता उच्च प्रकृता अमर्षादा का नाम ही प्राप्त स्वतन्त्रता मान लिया है । परिणामस्वरूप प्रजा का बौद्धिक तथा आत्मिक क्षेत्र सद्यथा ही परलम्ब्य बन गया है । हमारी आस्था है कि, दिग्देशकाल-स्वरूपमीमांसा के माध्यम से सत्वात्म्य उन्नोचन प्राप्त करेगा और उन्नोचन मनु के इस वचन के प्रवृत्तिदिग्दर्शन का समन्वय कर के ही स्वशासनसूत्र का सञ्चालन करेगा, जिस सूत्र की उपेक्षा कर सभी सत्वात्म्यों में आत्म विश्व में विक्रम्यन उत्पन्न कर दिया है—

शैश्यशूद्रा प्रयत्नेन स्वानि कर्म्मार्थाणि कारयेत् ।

तां हि व्युत्तौ स्वकर्म्मभ्यः घोमयेतामिदं जगत् ॥

—मनुः ॥४१२॥

३७८-विह्मावापक-मनोधर्मो-धान्द्र प्राकृत-भाग्यवादी-मनुष्यविध 'मानव', एवं तदनुगता पारिवारिकी स्वार्थनिष्ठा—

अक्षरमक चरकम धेत्नसर्गानुगत मानवविभाग का नाम ही है—'मनुष्य' उठी का नाम है विट् (वैश्य) और यही है भाग्यवादी-प्राकृत-मानव । कदापि यह भूत और भविष्यत् पर निष्ठा नहीं रहता,

नहीं रख सकता अपने नियन्त्रण से। अपितु उल्लंघनिक वैयर्थिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ ही इसके बीज का प्रधान उद्देश्य है। अतएव इसका नियन्त्रण अनिष्टाध्ययकषेण आवश्यक माना है राबर्त्सि ने। राबर्त्सि के विधानों की आलोचना करने वाले आब के सहायोगियों में इस तथ्य को प्रकृतभाव से स्वीकार कर ही लिया है फिर इत स्वीकृति का मूल भले ही उद्यत्तन की अपनी विवेचना ही क्यों न हो।

३७६-राष्ट्रीयकरणयात्मक व्यामोहन से अर्थातन्त्र का शैथिल्य, एवं इसके सुन्दोष्णुन्ड न्यायात्मक भीक्षया-परिग्राम—

राश्रीय-वार्त्सिक नियन्त्रण में करार्त्ति 'राश्रीयकरण' केव्य महान् व्यामोहन स्थान नहीं पासक्य है किंस इस राश्रीयकरणयात्मक व्यामोहनने वो राश्री की अन्वयार्त्ति के महान् स्वम्भूत इस वग का स्वस्व ही उन्विक्रम कर दिया है और अन्वयार्त्ति यह राश्री के लिए महान् अन्वयार्त्ति ही हुआ है। अन्वयार्त्ति के द्वारा उन्व, अन्वयार्त्ति का आर्थिक अन्वयार्त्तिवादी का नियन्त्रण ही यह नियन्त्रण था किन्त्वा और राबर्त्सि न सुन्दोष्णुन्ड किया है। इस दिशा में वो यह वर्ग अन्व अन्वयार्त्ति से अनियन्त्रित ही बन गया है। अतएव ऐसे राश्रीयकरणयात्मक नियन्त्रण का परिणाम वो सुन्दोष्णुन्डय्य के अन्वयार्त्ति और कुञ्ज ही नहीं माना जावगा।

३८०-पुरुषनिष्ठ-पुरुषार्थी-भाम्यवादी-भाम्याधीन-मेद से वर्त्तमान के पौरुष-भाम्यानुबन्धी धार विचारों का तात्त्विक-समन्वय—

निवेदन आज वही करना है कि, वेतनकर्त्तानुगत विद्मानव ही मनुष्य है और वही 'भाम्यवादी' का है किन्त्वा वृत्ति वर्त्त में अन्वयार्त्ति हो रहा है। येव यह अन्व है अन्वयार्त्ति अन्वयार्त्ति अन्वयार्त्ति अन्वयार्त्ति, किन्त्वा अन्व है 'नर' नामक मानव। इसी को 'भाम्याधीन' मानव माना गया है। वो अन्वयार्त्तिानुगत से विद्मान-सर्ग-विद्मान-वेतनकर्त्त-अन्वयार्त्ति-मेद से अन्वयार्त्ति अन्वयार्त्ति-अन्वयार्त्ति-वैश्य-राश्री-ये वर्त्त वर्त्त 'भाम्या' पौरुष-पुरुषार्थी-भाम्यवादी-भाम्याधीन-ही मन्वयार्त्ति हो रहे हैं। अन्वयार्त्ति ही वर्त्त के मूलोन्वयार्त्ति के अन्वयार्त्ति-प्राज्ञा अन्व के मन्वयार्त्ति मानव इत तथ्य से मन्वयार्त्ति-विद्मान कर लन्व है, अन्व है। किन्त्वा अन्वयार्त्ति-प्राज्ञा अन्व के मन्वयार्त्ति मानव न क्मी इत्ति है न क्मी इत्ति, वो अन्व के मन्वयार्त्ति में वो क्मी की वर्त्त किन्त्वा मान है किन्त्वा एक अन्वयार्त्ति-मन्वयार्त्ति में विद्मान से अन्वयार्त्ति वा पुञ्ज है। तथ्य वो अन्व तथ्य ही रहता है किन्त्वा अन्वयार्त्तिानुगत मानवार्त्ति न अन्व से परिष्क क्मी अन्व क्मी न अन्व अन्व क्मी नाथि मन्वयार्त्ति में ही। 'भाम्या वर्त्तानुगत' इत अन्वयार्त्ति-अन्वयार्त्ति का अन्वयार्त्ति अन्वयार्त्ति कर रहा है।

०-“सांस्कृतिक-संघर्ष के लिए अन्वयार्त्ति एवं अन्वयार्त्ति का महान् अन्वयार्त्ति” नामक अन्वयार्त्ति-मन्वयार्त्ति

महिसर्ग	१-चिदासर्गानुगत-मानवः-पुरुषो नादणः-वैश्वदेवः २-चित्सर्गानुगतः-मानवः-मानवः चरियः-पुरुषाधी	पुरुषार्थवादः-अमाहृतः -कालातीतः-
वशिष्टसर्ग	१-चेतनसर्गानुगत-मानवः-मनुष्यो वैश्यः-भ्राह्मणवारी ४-अचेतनसर्गानुगत-मानवः-नरः-शूद्रः-भ्राह्मणीन	भ्राह्मणवादः-प्राकृतः -कालात्मकः-

३२- 'क्रान्ति' भावानुगत सर्गसमन्वय का उपक्रम, एवं कालिक-सर्गचतुष्टयी से समन्वित श्वेत रक्त-पीठ-कृष्ण-क्रान्तियों का नामसंस्मरण—

अब सनातन में कबल 'क्रान्ति' मूलक परिलेखमान उद्धृत कर इस संगमन्वय को उपर उतार दिया गया है विस्तारविध्या। निरुध के तृतीय तबक का नाम हुआ है 'श्वेतक्रान्ति' का महान् सन्देश, और यों 'क्रान्ति' शब्द प्रकृत सामायिक निबन्ध का एक प्रमुख अङ्ग प्रमाणित हो रहा है। यह क्रान्तिभाव उक्त मन्वयानुपात से ही क्रमशः श्वेतक्रान्ति रक्तक्रान्ति पीठक्रान्ति, कृष्णक्रान्ति-मेघ से चार विनय भावों परिलक्षित हो रहा है। जिसका तृतीय तृतीयलक्षके सम्माण समन्वय क्रिया का पुत्र है। प्रकृत में सर्गानुक्रम केवल कालिक ही उद्धृत हो रही है—

श्वेत-रक्त-पीठ	१-चिदासर्गानुगतः-ब्राह्मणः-आत्मनिष्ठः-श्वेतक्रान्तिप्रवर्तकः-पुरुषः २-चित्सर्गानुगतः-चरियः-बुद्धिनिष्ठः-रक्तक्रान्तिप्रवर्तकः-मानवः	महिमान आठन्
श्वेत-कृष्ण-पीठ	१-चेतनसर्गानुगतः-वैश्यः-मनोनिष्ठः-पीठक्रान्तिप्रवर्तकः-मनुष्य ४-अचेतनसर्गानुगतः-शूद्रः-शरीरनिष्ठः-कृष्णक्रान्तिप्रवर्तकः-नरः	श्वेयोषा आठन्

३२- प्राकृत-सर्गात्मक चतुर्विध 'प्रतीक' भावों का संस्मरण, एवं तदनुबन्धी विविध निबन्धोंका समष्ट्यात्मक सिद्धांतसंक्षेप—

काल काली थी 'प्रतीक' शब्द को लेकर, जिस के समन्वय में यह उपनिषद् हुई थी कि- 'अहंभाव' से सम्बन्ध रखने वाला प्रतीक शब्द कदापि अनन्तप्रस के सम्बन्ध में समन्वित नहीं हो सका (वेदिए पृ- ४१८)। इसी उपनिषद् के साथ 'प्रतीक' शब्द का चिह्नित-उपदेशाव स्पष्ट किया गया। और

नहीं रख सकता अपने विद्वत्त्व से। अस्तित्व तात्कालिक वैयक्तिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ ही इसके जीवन का प्रधान उद्देश्य है। अतएव इसका नियन्त्रण अनिवार्यरूपेण आवश्यक माना है। राजर्षि ने। राजर्षि के विधानों की आलोचना करने वाले आत्र के सत्पापीयों में ही इस तथ्य को प्रथममात्र से स्वीकार कर ही लिया है। फिर इस स्वीकृति का मूल मते ही उपायतन्त्र की अपनी विशेषता ही क्यों न हो।

३७६-राष्ट्रीयकरणयात्मक व्यामोहन से अर्थतन्त्र का शैथिल्य, एवं इसके सुन्दोष्णुन्द न्यायात्मक मीमांसा-परिणाम—

राष्ट्रीय-वार्मिक नियन्त्रण में कदापि 'राष्ट्रीयकरण' ब्रह्म महान् व्यामोहन स्थान नहीं पासक्य है, बित्त इस राष्ट्रीयकरणयात्मक व्यामोहनने तो राष्ट्र की अन्तर्गत के महान् स्वम्भूत इस बग का स्वस्व ही उन्मूलन कर दिया है, और स्वयुक्त यह राष्ट्र के लिए महान् अमङ्गल ही हुआ है। धर्मसूत्र के द्वारा उन्मूलन कलठाधी का, आर्थिक दुर्बलताधी का नियन्त्रण ही यह नियन्त्रण या बिसन्धी और राजर्षि ने सङ्केत किया है। इस विद्या में तो यह वर्ण आत्र अभिक्रम से अनिवारित ही बन गया है। अतएव ऐसे राष्ट्रीयकरणयात्मक नियन्त्रण का परिणाम तो सुन्दोष्णुन्दन्याय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माना जायगा।

३८०-पुरुषनिष्ठ-पुरुषार्थी-मान्यवादी-भाग्याधीन-मेद से वर्णप्रजा के पौरुष-भाग्यानुबन्धी पार विचारों का तात्कालिक-समन्वय—

निवेदन का यह कथना है कि, वेदनात्मकानुगत किन्-मानव ही मनुष्य है और यही 'भाग्यवादी' तम है बित्तक कृतीव का में अन्तर्भाव हो रहा है। शेष यह बाव है अक्षरानुगत चरकात्मक अवेदनका, जिसे कहा गया है 'नर' नामक मानव। इसी को 'भाग्याधीन' मानव माना गया है। नौ चतुर्वर्णानुपात से विचार-सर्ग-वित्तसर्ग-वेदनसर्ग-अवेदनसर्ग-मेद से अष्टधा विभक्त आश्रय-व्यभिच-वैश्व-शुद्ध-ये चारों वर्ण क्रमशः पौरुष-पुरुषार्थी-भाग्यवादी-अ ग्याधीन-ही प्रमाथित हो रहे हैं। अक्षर ही वर्णमेद के मूलोपदेव के सुलक्ष-प्राप्तवा आत्र के मातृक मानव इस तथ्य से गहनमीथित कर सकते हैं। किन्तु प्रकृतिकिद चतुर्वर्णक उन्मुक्त माहृष्टिक-किमत्त न कभी हरी है न कभी हरेगी। नौ आत्र के व्यवहार में भी ज्यों की त्यों विद्यमान है, वैयक्तिक एक स्वतन्त्र-निकम्ब में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। तथ्य तो क्या तथ्य ही रहता है जिसे सुगन्धमानुगत मान्यताएँ न आत्र से पक्षि कभी बदल सकें, न आत्र बदल सकें। नापि मन्थि में ही। 'भारत यथापूर्वकल्पयन्तु' इस अनातन-सर्व-तथ्य का हीन अतिक्रमण कर क्या है ?।

७-“सांस्कृतिक-संघर्ष के लिए आन्तरिक, एवं श्वेतकान्ति का महान् सम्भार” नामक सामयिकनिकम्ब

महिमान्त	१-चिदात्मसर्गानुगत-मानवः-पुरुषो ब्राह्मण — पौरुषपूर्ति २-चित्सर्गानुगतः—मानवः-मानव- चरित्र-पुरुषार्थी	पुरुषार्थनादः अप्राकृत —कालातीतः—
परिणामान्त	१-चेतनसर्गानुगत-मानवः-मनुष्यो वैश्य-मायवादी ४-अचेतनसर्गानुगत-मानवः-नरः-शूद्रः—मायापीन-	मायवाट -माकृत —कालात्मकः—

३८१-‘कान्ति’-भावानुगत सर्गसमन्वय का उपक्रम, एवं कालिक-सर्गचतुष्टयी से सम विचिता श्चेत रक्त-पीत-कृष्ण-कान्तियों का नामसस्मरण—

अब अर्थांत में केवल ‘कान्ति’ मूलक परिकल्पित उद्भव कर इस सगसमन्वय को उपरत कर दिया जाता है निस्तारविनया । निरुक्त के तृतीय खण्ड का नाम हुआ है ‘श्चेतकान्ति का महान् सन्वेश’, श्रीर या ‘कान्ति’ शब्द प्रस्तुत सामायिक निबन्ध का एक प्रमुख अङ्ग प्रमाणित हो रहा है । यह अन्तिमान उक्त सगसमन्वय से ही क्रमशः श्चेतकान्ति, रक्तकान्ति पीतकान्ति, कृष्णकान्ति-भेद से चार विधव भावों में परिणत हो रहा है जिसका शेषव तृतीयखण्डके सप्रमाण समन्वय क्रिया का हुआ है । प्रकृत में सर्गानुक्त से केवल कालिक ही उद्भव हो रही है—

स्वातंत्र्य	१-चिदात्मसर्गानुगत-ब्राह्मण-आत्मनिष्ठ-श्चेतकान्तिप्रवर्तकः-पुरुषः २-चित्सर्गानुगतः—चरित्रा-बुद्धिनिष्ठ-रक्तकान्तिप्रवर्तकः-मानवः	महिमान् आसन्
परिणाम	१-चेतनसर्गानुगतः—वैश्य-मनोनिष्ठ-पीतकान्तिप्रवर्तकः-मनुष्यः ४-अचेतनसर्गानुगतः-शूद्रः-शरीरनिष्ठ-कृष्णकान्तिप्रवर्तकः-नरः	शैलीया आसन्

३८२-प्राकृत-सर्गात्मक चतुर्विध ‘प्रतीक’ भावों का सस्मरण, एवं तदनुबन्धी विविध विषयोंका समष्ट्यात्मक सिंहासलाकन—

अब बली यी ‘प्रतीक’ शब्द को लेकर, जिस के समन्वय में यह उत्पानिक हुईं यी कि-‘अङ्गभाष’ से समन्वय रहने वाला प्रतीक शब्द कदापि अनन्तराद्य के समन्वय में समन्वित नहीं हो सकता (वेदिए पृ०-४१८) । इसी उत्पानिक के साथ ‘प्रतीक’ शब्द का चिरन्तन-उन्मेषिहास स्वरु क्रिया गया । श्रीर

नहीं रख सकता अपने नियन्त्रण से। अपितु तात्कालिक वैयक्तिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ ही इसके जीवन का प्रधान उद्देश्य है। अतएव एकत्र नियन्त्रण अनिवार्यरूपेण आवश्यक माना है। राजर्षि ने। राजर्षि के विधानों की आलोचना करने वाले आत्र के सलाहियों में भी इस तथ्य को प्रकृतभाव से स्वीकार कर ही लिया है। फिर इस स्वीकृति का मूल भले ही अत्यन्त ही अपनी विधिपना ही क्यों न हो।

३७६—राष्ट्रीयकरणयात्मक व्यामोहन से अर्थतन्त्र का शैथिल्य, एवं इसके सुन्दोष्णत्व न्यायात्मक मीषया-परिणाम—

राष्ट्रीय-वार्मिक नियन्त्रण में क्यापि 'राष्ट्रीयकरण' पैठा महान् व्यामोहन स्थान नहीं पाकर है, त्रिस्त इस राष्ट्रीयकरणयात्मक व्यामोहनने तो राष्ट्र की अर्थशक्ति के महान् स्तम्भभूत इस वग का स्वल्प ही उच्छिन्न कर दिया है और अल्पमुत्र वह राष्ट्र के लिए महान् अमङ्गल ही हुआ है। घम्सून के प्राग उष्ण, लक्ष्याओं का, आर्थिक दुरुपयोगियों का नियन्त्रण ही वह नियन्त्रण या किसकी ओर राजर्षि ने उद्घोषित किया है। इस दिशा में तो यह वर्ग आत्र अधिकतम से अनियन्त्रित ही बन गया है। अतएव ऐसे राष्ट्रीयकरणयात्मक नियन्त्रण का परिणाम तो सुन्दोष्णत्वयाव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माना जायगा।

३८०—पुरुषनिष्ठ पुरुषार्थी-भाम्यवादी-भाम्याधीन-मेव से बर्थाप्रमा के पौरुष-भाम्यानुबन्धी चार विवर्धों का सांख्यिक-समन्वय—

निवेदन आज बही करना है कि, चेतनछातुगत किन्-मानव ही मनुष्य है और यही 'भाम्यवादी' वर्ग है जिसका स्वीय वर्ग में अन्वर्माण हो रहा है। शेष यह बाव्य है अक्षरानुगत चर्याकस अचेतनसर्ग विवेक का गन्ध है 'नर' नामक मानव। इसी को 'भाम्याधीन' मानव माना गया है।-यों अक्षरार्थानुपात से विद्वत्सर्ग-चित्तवर्ग-चेतनसर्ग-अचेतनसर्ग-मेव से अक्षरों विम्वक्त आक्षय-अत्रिय-वैरव-शूद्र-ने चारों वर्गों अक्षरों पौरुष-पुरुषार्थी-भाम्यवादी-भाम्याधीन-ही प्रमाणित हो रहे हैं। अक्षरय ही वर्गभेद के मूलोन्वेद के सुलस-प्राज्ञा आत्र के मनुष्य मानव इस तथ्य से गहननिमीषिका कर लक्ष्ये हैं, करेगी ही। किन्तु महतिष्ठिक आक्षरव्य, अक्षरानुगा प्राकृतिक-विषमय न कभी हट्ये है न कभी हट्येगी, जो आत्र के मन्वहार में भी क्यों की त्यों विद्यमान है। वैयक्तिक एक स्वतन्त्र-नियन्त्रण में कित्तर से स्पष्ट किया जा चुका है। तथ्य तो उदा तथ्य ही रहता है जिसे युगचम्पानुगता माम्यवादी न आत्र से पहिले कभी परल लक्ष्ये, न आत्र कदा लक्ष्ये नापि मन्विष्य में ही। 'मात्रा यथापूर्वकन्वयता' इस क्वातन-अक्षर-तथ्य का कौन अक्षिकम्पण कर ला है !।

—“सांस्कृतिक-संपन्न के लिए आमन्त्रण, एवं श्वेतकान्ति का महान् सन्देश”—नामक रामकिष्किन्व

में पाओने जैसा कुछ भी वा नहीं है। दारणिक-दृष्टि अवरय हो बाँकने वाली है, जिस में आचारपत्र का कोड सरुन-भिन्ने-उ नहीं हुआ है। किन्तु श्रुतिदृष्टि। (ज्ञानविज्ञानामिसा सह-दृष्टि) से सह-रूप से ही इस तथ्य का अन्वय हो जाता है कि उस में, और इस में, अनन्तप्रलय म आर मानव म कोड भी अनन्तर नहीं है। जो यह है, यहा यह है। एर जो यह है यही यह है। मानव कृता है-यह बात समझ में नहीं आती। एन कृत है-समझ में यह बात आ नी नहीं सकती, यै समझ का नाम मानव न वह 'बुद्धि' ही मान रक्ता है तो, जिस क द्वारा कि मानव अपने दिग्देयकालानुष्ठी प्रत्यक्ष दृष्ट भूत-भौतिक-ग्राह्य-रूपों की नाप-वेल कर इहो समझ और समझया करता है। मानव की यह बुद्धि क्या समझ उस 'समझ' से समझा ही वा समझ है जिस उस समझ के बिना मानव की बुद्धि सर्वथा निरीहा (वापुरी) ही बनी रहती है। राक्षसान में एक लाकृति प्रसिद्ध है कि- ममझ बिना कुछ पापका। सृष्टि का अर्थ यही है कि बिना समझ के 'बुद्धि' समझा वापुरी है, स सृष्टिक में अक्षमथ है। पशुओं में क्या बुद्धि नहीं है ? है और अवरय है। यही नहीं, अपन वात्कालिक स्थाप का समझ लने की वैसी बुद्धि पशुओं में है मानव की बुद्धि तो का चूनी में उन पशुबुद्धि म मी परान्त है। निकटवर्ती-आक्रमणा का जिस ता सलित्ता से पशु समझ लेता है मानव की बुद्धि समझा है-न काल निकटवर्ती भावा का समन्वय करने म।

३२६-पशु की वात्कालिकी बुद्धि से मानबुद्धि का परामत्र, एां गृहस्थ-क्षेत्र में चतुर्गुणित-बुद्धिशालिनो नारी क द्वारा बुद्धिमान् मानव धर अभिमत्र—

पशु अपनी प्राकृत समस्याओं के लिए अपनी बुद्धि से वात्काल निगाय कर लेता है जबकि मानव समझ समस्याओं के समुपस्थित हो जाने पर एकदर तो इन्द्रिय सन्ध वा ही बना रह जाता है। स्पष्ट प्रमा-थित है कि 'बुद्धि' के क्षेत्र में तो पशुओंने मानव को भी परान्त कर ही रक्ता है उन्नीयप्रार, जैने कि एह-रक्ष-क्षेत्र में मानव की बुद्धि परान्त रहती है मानव की वात्कालिकी निर्णयबुद्धि के समतुलन में। तमी वा मार-तीय विज्ञानने मानवी में चतुर्गुणित मानी है बुद्धि मानव की अपचा से-बुद्धिस्तासा चतुर्गुणा'। एक अराय शिशु का उदाहरण सामने रक्षिए। जिस की बानी मी अभी प्रकृष्टित नहीं है ऐना शिशु कल्पना यह समझ-लेता है कि अनुक पुरुष अथवा अनुक स्त्री तो उस से वास्तव में वात्कल्प्य रक्ते हैं और अनुक कृत्रिम। कदापि कृत्रिम प्रेम की ओर वह शिशु आकर्षित नहीं होता जब कि वास्तविक वात्कल्प्य की ओर स्वत ही इस की कलाहृत्तियां आकर्षित हो पड़ती है। और मानव ?। स्वय मानव ही इस बात का ठीक ठीक उधर से मुकेगा कि वह कैसे कृत्रिम अनुसारां के प्रति कल्पनान्ति से आकृष्ट हो जाता है ? एवं परिस्थाम में उसे इव कृत्रिम अनुसारां के क्या क्या फुडल भोगन पड़ते हैं ?। अतएव मानव को मान-लेना चाहिए कि, उस की अपेक्षा तो तिनकी नालको एवं कवापेक्षा पशुओं में कहीं अधिक बुद्धि है वात्कालिक समन्वय की अधिक क्षमता है।

३२७-'संविद्' भाषापत्र मानव की ध प्ठता, एवं 'संविद्'-स्वरूप-दिग्दर्शन—

बुद्धि अवरय है और मानव की अपेक्षा अधिक है पशुवर्ग में बुद्धि *। किन्तु मानव में अवरय ही पशुओं की अपेक्षा बुद्धि से मी कुछ अधिक तथा अन्य विविष्ट कत्व और है जिसे लाकृम्या में बहा-

*-ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्बिपयगोचरे। (सध्याती)

इस प्रतीकता को मध्यस्थ बना कर ही प्रतीक-व्यामोहनात्मक सर्वाधिक-उपश्रुत हो पड़े किन्तु के 'चतुर्विध कलात्मक-प्रतीकभाव प्राकृतसर्गात्मक चतुर्विध प्रतीकभाव चतुर्विध-व्यायसर्गात्मक प्रतीकभाव चतुर्विध मानवसर्गात्मक प्रतीकभाव चतुर्विध पौरुष-भान्यविध प्रतीकभाव एवं सर्वान्त में-चतुर्विध अन्तिकरूप प्रतीकभाव, रूपेण अनेक विधत दृष्टिकोणभेद से प्रावृत्तिक बन गए, किन्तु के माध्यम से अब हमें इन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचना पड़ रहा है कि मध्ये ही दिग्देशकत्वानुष्पी-मौक्तिक-पारिविध तथा चान्द्र सम्प्रत्यक्ष-सर्गों में 'अज्ञान-वज्ञान-सम्भवति' मूलक प्रतीकभाव अन्तिकरूप हैं। किन्तु महिमामयों के सम्बन्ध में (विकर्ष' के प्रसङ्ग में) एवं महिमाधारभूत अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में तो कदापि प्रतीक सम्बन्ध पटित हो ही नहीं सकता। क्योंकि ब्रह्म के धाय अज्ञाज्ञी-भावान्मक परिणामवाद का क्वचिद्विध भी तो सम्पर्क नहीं है।

३८३-प्रतीकात्मक अज्ञाज्ञीभावों से एकान्तत असस्पृष्ट महिमामय सर्वभूतान्तरात्मा, एवं तत्क्षेत्र में प्रतीकभाव का प्रवेश-निषिद्ध—

'सर्वमात्मैयाम्' ही उक्त अ महिमामय विकर्षभाव है जिस में न कोई अज्ञ है न कोई अज्ञी है। अन्तिक ब्रह्म भी नहीं है इत्यन भी नहीं है। विज्ञाता भी नहीं है, ज्ञानसाधन भी नहीं है ज्ञेय भी नहीं है। 'तत्केन किं परयेत्' ही उक्त अ दर्शन है। 'एत से स्व का दर्शन' यदि-सम्भव है तो वैसा दर्शन अवश्य ही अनन्तब्रह्मनिष्ठा में सुखित है किन्तु अ यद्यपि एत शब्दों में दिग्दर्शन करवा है मनुस्-रूप-विश्लेषण-प्रसङ्ग से—

एवं यः सनाभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।

स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माम्येति परं पदम् (अभ्ययपदम्) ॥

—मनु १२।१२५।

३८४-प्रतीकभाव का मूलोप्येदक-‘तद्वरेदात्मनात्मानम्’ वचन—

अतएव गीताध्यायनि भी प्रतीकवादपरमक व्यामोहन अ मूलोप्येद करते हुए 'तद्वरेत्-आत्मना-आत्मानम्' इस सिद्धान्त को ही प्रमाणिकता प्रदान की है। कहीं भी अनन्तात्मब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतीकवाद को प्रवेशाधिकार प्राप्त नहीं है। बल मध्ये ही अनन्त रहे, किन्तु कसनात्मक किंवा कलात्मक भाव से अनन्तात्मक भी है प्राकृतभाव ही। अतएव यह भी निष्पन्न-अज्ञातीव ब्रह्म अ प्रतीक नहीं बन सकता। काल-महिमा से कदापि उक्त अनन्तमहिमामय ब्रह्म अ अग्रह सम्भव नहीं है। अतएव यह कहना कि अनन्तब्रह्म अ एकांशरूप महिमामय अनन्तब्रह्म (अक्षरप्रकृति) उक्त के सम्युक्त स्वरूप को अभिम्यक्त कर रहा है कदापि स्वीचीन नहीं है। क्योंकि न वह अ ही है न उक्त अ का एकांश ही है। अन्तिक बही लक्ष्य है।

३८५-सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्म, तथा मानव की अभिम्यक्ता, तत्-सम्बन्ध में शकृत मानव की बुद्धि का व्यामोहन, एवं मानव के महान् आमक 'समम्' शब्द से अनुप्रासित 'समम् बिना पुत्र प्रापद्मी' इस लोकव्यक्तिक अ संस्मरण—

ता न्य उक्त बही की शीर्ष स्वरूपपरिमाण नहीं है।। नहीं। वह स्वयं ही अफन 'रूप की 'स्वल्प की स्वल्प' की परिमाण है। और उक्तके इन्हीं 'स्वरूप का नाम है-मानव'। वीक्ष्य नहीं। 'मानव बही है' इत्

३६०—नारी की भावुकतापूर्णा तात्कालिकता, तथा दिग्दशकालज्ञता, एव मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीवानुगतित्व, और 'चिरकारी प्रशस्यते'—

कहना हमें कल यही है कि, प्रवृत्तिमापनिक्रमना सहजा प्रत्युत्पन्नमति के आधारमान से इस प्रत्युत्पन्नमतिव्य स प्रकृत्या ही यच्चित्त पुत्रकन्तति की कन्यामी के समतुलन में हीनता प्रमाणित करना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमतिव्य के स्थान में पुत्रकन्तति का चिरकारी होने रहना ही इसकी प्रशंसा का मुख्य धरण माना जाना चाहिए। कन्यापि अपनी तात्कालिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमतिव्य के प्रभाव में पुत्रकन्तति क प्रति हीनभाव नहीं रखने चाहिये। दोनों का क्षेत्र भिन्न है। प्राकृत स्वरूप विभिन्न है। पुत्र का चिरकारित्व ही प्रशस्त है। ता नारी का प्रत्युत्पन्नमतिव्य ही अभिनन्दनीय है। गृहस्थक्षेत्रानुगता नारी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ही यात्री ही अवधि में परस्परपरिधेयिनी समी एहस्य—न्यस्तियों का समकाल्य स्थापित करते रहने में समर्थ बन जाती है। लाकृच्छ्रानुगत पुत्र अपने चिरकारित्व से एक क्षत्री अवधि में निश्चित निश्चल निर्गम्य के द्वारा परिस्थिति की वास्तविकता का मूल्यांकन करता हुआ ही लाकृच्छ्रात्रा के निवाह कर्म में काल बनाता है। अतएव प्रकृत है कि—'जन्त्री का काम शीतान का काम है'। पुत्रपुत्र्य भगवान् अपने या चिरकारी नाम से एक स्वतन्त्र इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिषद् कर दिया है। अपने वाशालिक आवेश में आकर पूर्वापर की स्थिति—परिस्थितियों का विचार—विमर्श—निय बिना ही, काल ही निर्णय कर डालने वाले, भ्रष्टि ही कार्यसमाप्ति कर बैठने वाले भावुक मानवा से हम अब निवेदन करेंगे कि कृपा एकबार के महामात्र के कृपकरण को मन्त्र ही समन्वित कर लेने का कहें उदाहरण *।

३६१—कार्यारम्भे दक्ष, तथा कार्यसमाप्ति से यच्चित्त भावुक, एव कार्यारम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धि मानी का स्वरूप-चित्रण—

गोडा और भी कुछ प्रासङ्गिक सम्बन्ध कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक महापुरुषों का कहना है कि—'भावुक मानव कार्य आरम्भ करना तो जानता है, किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना नहीं जानता' जबकि निष्ठा के क्षेत्र में ठीक इसके विपरीत स्थिति है। 'नैष्ठिक मानव आरम्भ करना नहीं

* एष सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ॥

चिरेण निश्चयं कृष्णा चिरं न परिताप्यते ॥१॥

रागे, द्वेषे च, माने च, क्रोधे, पापे च कर्मणि ।

अप्रिये चैव कर्षण्ये 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥

—वृक्षिप । महाभारत—शान्तिपर्व—मो० २६६ अ० ।

जन्मजरामरणगर्तपातनाय पञ्चविधास्रवरूपः, क्षान्त्यादिगुणकमलनिम्ननाशनाय भयकरतुपारनिकरस्वरूपः, चारित्रविध्वसने धूमकेतुः, सम्भ्रास्रवहेतुः, मुनि-मण्डलाखण्डशशिमण्डले राहुरिव, मायाजालेन भव्यमृगवन्यने भिन्न इव, धर्मोद्यानदहने तरुकोटरवह्निरिव गच्छे वर्तते । भवानित्यमस्य प्रशंसां कुर्वन् क्षितीश इव लक्ष्यते । आचार्येणोक्तम्—कोऽसौ क्षितीशः ? कीदृशी तस्य वार्ता ?

आप भव्य जीवोंके विकसित करने में यद्यपि सूर्य के तुल्य हैं तो भी आपकी छत्रच्छाया में रहकर भी जो कुमुद ही बना रहे, अर्थात्—आचार विचार से सदा शिथिल रहे उस मन्दभागी के लिये क्या कहा जाय । आप के इस गच्छ में एक अविनीत शिष्य है, जो इस गच्छ का कलक स्वरूप है, क्यों कि अविनीत शिष्य जन्म जरा एव मरणरूपी खड्गे में पाड़ने के लिये पचविध आस्रवरूप माना गया है, जिस प्रकार तुपार हिम का पुंज कमलों के वन को विध्वस्त करने में कसर नहीं रखता है उसी प्रकार अविनीत शिष्य भी क्षान्त्यादि गुणों को नष्ट भ्रष्ट करने में जरा भी आगे पीछे का विचार नहीं करता है । अविनीत शिष्य चारित्र के विनाश करने के लिये धूमकेतु के जैसा माना गया है । सम्पूर्ण आस्रवों का यह कारण बतलाया गया है । मुनिमण्डलरूप अम्बड चन्द्रमण्डल को ग्रसन करने के लिये विद्वानों ने इस को राहु के जैसा कहा है । यह अपनी माया-जालसे अन्य विचारे मोले भाले भव्यजीवरूपी मृगों

के शासन प्रभावक ! आ भव्य भवने विकसित करवाना जो के सूर्यना तुल्य हो तो पक्ष आपनी छत्रछायाभा रहींने पक्ष जो कुमुद न बननी रहे—अर्थात् आचार विचारधी सदा शिथिल रहे तथा मन्दभागी भाटे शु कहेवाम्भ आवे. आपना आ गच्छभा जोक अविनीत शिष्य हो—जो आ गच्छभा कलकस्वरूप हो केभके अविनीतजन जन्म, जरा, मने मरणरूपी आडामा पाडवावाणा पचविध आस्रवरूप मानवाम्भ आवेव हो जो प्रकारे तुपार अर्थात् (परक) हीमनो पुंज कमलना वननो नाश करवाम्भ कसर राधतो नहीं तेम अविनीत शिष्य पक्ष क्षान्त्यादि गुणोंने नष्ट भ्रष्ट करवाम्भ आगण पाछणनो विचार करतो नहीं. अविनीत शिष्य चारित्रनो विनाश करवा भाटे धूमकेतु जेवो मानवाम्भ आवेव हो संपूर्ण आस्रवतु जो कारखु पताववाम्भ आब्यु हो मुनिमण्डलरूप अथ उच्च द्रमणने ब्रह्म करनारा राहु जेवो विद्वानोजे कहेव हो ते पोतानी आ अविनीतता र्थी बनधी अन्य भीचारा बोणा

३६०-नारी की भायुक्त्यापूर्णा तात्कालिकता, तथा दिग्दशकालक्षुद्रता, एवं मानव की नैष्टिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीवानुगतित्व, और 'चिरकारी प्रशस्यते'—

कहना हमें काल यही है कि, प्रकृतिमायनिकता सहजा प्रत्युत्पन्नमति का भागमानव से, इस प्रत्युत्पन्नमति से प्रकृत्या ही यथित पुत्रकन्यादि की कन्याओं के समतुलन में हीनता प्रमाणित करना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमति का ग्यान में पुत्रकन्यादि का चिरकारी कल रहना ही इसकी प्रशंसा का मुख्य कारण माना जाना चाहिए। कदापि अपनी तात्कालिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमति के समान में पुत्रकन्यादि के प्रति हीनभाव नहीं रखन चाहिए। दोनों का चित्र भिन्न है, प्राकृत स्वरूप विभिन्न है। पुत्र का चिरकारी त ही प्रशस्त है ता नारी का प्रत्युत्पन्नमति ही अभिन्नवर्णीय है। पदार्थानुगतता नारी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ही भाँड़ी ही अपरिधि में परम्परव्यवधिनी सभी पदार्थ-व्यवधियों का सामञ्जस्य स्थापित करते रहने में समर्थ बन जाती है ता लाञ्छनानुगत पुत्र्य अपन चिरकारित्व में एक लम्बी अपरिधि में निश्चित निश्चल निर्णय का दाय परिधिति की वास्तविकता का मूल्यांकन करना हुआ ही लाञ्छन का कन्याद्वयन में सफल बनता है। अतएव प्रसिद्ध है कि—'जल्दी का काम गीतान का काम है'। पुत्र्यपुत्र्य भगवान् स्थापन ता 'चिरकारी' नाम से एक स्वतन्त्र इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिबद्ध कर दिया है। अपि वास्तविक आनन्द में आकर पूर्णपर की स्थिति-परिधितियों का विचार-विमर्श-रिश्त विना ही, काल ही निर्णय कर कालन प्राप्त, भर्त्सित ही कार्यारम्भ और कार्यकर्मार्थ कर बैठन याल भावुक मानवों से इस सम्बन्ध निवेदन करेंगे कि कृपया एकरार य महाभारत के कल्पवृक्ष का अक्षर ही समन्वित पर लोचन का अर्थ उठालें ॥

३६१-कार्यारम्भे दक्ष, तथा कार्यसमाप्ति से यथित भावुक, एवं कार्यारम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्यसमाप्ति से समन्वित नैष्टिक, तथा भावुक की वृद्धि, किन्तु वृद्धि मानी का स्वरूप-चित्रण—

आज्ञा और भी कुछ प्रामाणिक सम्बन्ध कर लेना है वहाँ। नैष्टिक महापुरुषों का कहना है कि— 'भावुक मानव काव्य आरम्भ करना तो जानता है किन्तु उसे माझेपान्न समाप्त करना नहीं जानता' बर्निक निष्ठा का चित्र में ठीक इससे विपरीत स्थिति है। 'नैष्टिक मानव आरम्भ करना नहीं

ॐ एनं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ॥

चिरण निरचयं कृत्वा चिरं न परिवर्त्यते ॥१॥

रागे, दर्य च, माने च, द्रोह, पापे च कम्मणि ।

अप्रियं चैव कर्त्तव्यं 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥

—दक्षिण । महाभारत-शान्तिपर्व-सो० १६ अ० ।

‘समम्’ कहा जाता है वहाँ वही विशिष्ट तत्त्व शास्त्रीय-भाषा में ‘संयित्’ नाम से प्रकृत हुआ है - । मुझि वहाँ अलानुम्बिनी है वच मानानुपम्बिनी है वहाँ यह सञ्चि अलातीया, किना त्रिकालात्मिका है । मुझि वहाँ वच मान को ही लक्ष्य बनाती है वहाँ—संयित् वच मान के आभार पर भूत और भविष्यत् को ही प्रधानरूप से अपना क्षेत्र बनाती है ।

३८८—भूत-भविष्यत् की परियामदर्शिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की ‘यथा-
र्थता’ का नमन चित्रण—

बुद्धि न पूर्व का विचार करती, न अपर का । अस्तित्व वर्तमान के आभार पर वह अस्तित्व अपना नियंत्रण कर बालती है, जिस इस प्रत्यक्षप्रमाणात्मक तात्कालिकभाव को ही हम ‘मायुक्तता’ करते हैं । यही मायुक्तता भावावेश की बननी है जो मानव को आशा (अपर-भविष्य) पीक्षा (पूर्व-भूत) कुछ भी तो नहीं सोचने देती । अस्तित्व तरत ही अस्तित्व ही अपना सर्वस्व पोषण समान्त कर बालती है मायुक्तताका वह तात्कालिकी बुद्धि । और आच का मायुक्तता इस तात्कालिकी बुद्धि का ही स्वार्थमना प्रयोग बन रहा है अपने—‘यथाव तद्यथा यथा मान’ की योजना के माध्यम से ।

३८९ ‘प्रत्युत्पन्नमतिष्व’ का शैथिल्य, गृहस्थचेत्रानुगत पुत्र-कन्या-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरक्षीरविवेक, कन्या का समादरणीय प्रत्युत्पन्नमतिष्व, एवं पुत्र का अभि-
नन्दनीय सविष्टभाव—

ऐसे ‘तुरतबुद्धि’ मानव को ही प्रत्युत्पन्नमति कहा गया है जिसे ‘संयित्प्राप्ती मानव (संवेदनशील समस्तकार मानव) अपि प्रत्यक्ष की दृष्टि से नहीं देखते । अतएव मानव कभी कभी बड़ी भूल कर जाता है । बुद्धिमान् मानव तो अक्षर्य ही अविश्वस्य में भूल ही करवा रहता है इस विद्या में जबकि वह तात्कालिकी बुद्धि के मायुक्तता से तपाविच मानवों को बालकों को ही बुद्धिमान् समझ बैठता है एवं प्रत्यक्ष में पौत्रा बसन्त प्रतीयमान किन्तु चिरकारी अतएव वास्तव में बुद्धिमान् मानवों तथा बालकों को अपने मायुक्तता से पूर्व मान बैठता है, जबकि स्थिति सर्वथा विपरीत ही होती है । यहलक्ष्य में बालक, और शक्तिशाली दोनों को प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष-रूप से लक्ष्य बनाएँ । दोनों के समस्तत्व की दृष्टि से कन्यासन्तति ही प्रायः पुत्रसन्तति की अपेक्षा विशेषरूप से बुद्धिमती प्रतीत होती है । प्रत्येक मान के अनुकरण में जैसी दृष्ट्या कन्याओं में होती है, पुत्रों में वैसी नहीं । अतएव प्रायः मानव अपनी कन्याओं के प्रत्यक्ष, तथा पुत्रों के अप्रत्यक्ष को रहते हैं । अपि इमार यह तत्राप्यं नहीं है कि, कन्याओं की प्रशंसा न की जाय । अक्षर्य की जाय । स्वयं शास्त्र न नी ‘बुद्धिस्तासां बतुगुणां च कर इतको सम्मान ही प्रदान किया है ।

— मासा-ध-युग-कल्पयु गतमाम्यस्वनकथा ॥

नाद्वि नास्तमेति संविद्या स्वयंप्रमा ॥१॥

कलारश्च क्रियां तद्वत् व्यावृत्तमिपयानपि ॥

स्वयंयदकल्पन्त याऽतो संयित् स्वयंयु ॥२॥

—विद्या देव्य-दत्तप्रीत

३६०-नारी की भावुष्ठापूर्णा तात्कालिकता, तथा दिग्दर्शकालक्षुब्धता, एवं मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीतानुगतविषय, और-'चिरकारी प्रश-स्यते'—

करना हमें कल्प यही है कि, प्रकृतिमानविक्रमना सर्वत्र प्रत्युत्पन्नति के आधारनाम स इव प्रत्युत्पन्नतित्व म प्रकृत्या ही वञ्चित पुरस्कृति की कृपाकी क समनुपान में हीनत्व प्रनाशित करना क्या निरुद्दिशनी नहीं है। अर्थात् प्रत्युत्पन्नतित्व क स्थान में पुरस्कृति का चिरकारी बन रहना ही इसकी प्रशाना का मुख्य कारण माना जाना चाहिए। क्योंकि अपनी तात्कालिकी बुद्धि क नाशम स प्रत्युत्पन्नतित्व के अभाव में पुरस्कृति क प्रति हीनत्व नही रखन चाहिए। दोनों का द्वेष निम्न है प्राहृतस्वरूप विनिष्ठ है। पुरुष का चिरकारित्व ही प्रशस्त है वीनारी का प्रत्युत्पन्नतित्व ही अन्नित्तीय है। गृह्यधनुवानुगत्य नारी अन्तः प्रत्युत्पन्नति स ही पाङ्गी ही अन्वधि में परस्परविराधिनी सभी परस्पर-स्पर्द्धियों का आनन्दरूप स्थापित करत रूने में समय बन जाती है तो लोकधनुवानुगत पुरुष अपने चिरकारित्व से एक लम्बी अन्वधि में निरिषत निरन्तर निर्णय के द्वारा परिस्थिति की नाशविषय का मूल्ययुक्त करवा हुआ ही लोकधनु का निबन्ध बन में सफल बनता है। अतएव प्रसिद्ध है कि- 'उल्दी का अन्न शीतल का फल है'। पुरुषपुरुष नगवान् अन्न ता 'चिरकारिता' नाम स एक स्वप्न इतिहास ही इत सम्भव में उपनिषद् कर िया है। अपन यात्कालिक आशय में आकर पूरापर की स्थिति-परिस्थितिया का विचार-चिन्ता-किरण बिना ही, उन्मत्त ही निर्णय कर डालने वाल अर्द्धति ही अन्व्यारम्भ, और अन्व्येकान्ति कर बेगन बाल नाशक मानवा स इन शब्द निवेदन करेंगे कि कृपा एकबार के नहानारत क त्पुनरुत्पत्त को अन्वय ही अन्वित कर सन का कष्ट उठाएँ * ।

३६१-कार्यारम्भे दक्ष, तथा कार्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एव कार्यारम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धि मानी का स्वरूप-विशेष—

याज्ञ और नी कुछ प्राकृतिक अन्वय कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक नहापुरुषों का करना है कि - 'भावुक मानव अप्य आरम्भ करना तो जानता है, किन्तु उसे साहजोपाज्ञ सनाय करना नहीं जानता' जबकि निष्ठा के द्वेष में टीक इत्त विपटीत स्थिति है। 'नैष्ठिक मानव आरम्भ करना नहीं

* एष सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्तत ॥

चिरण निश्चय कृष्णा चिर न परिताप्यते ॥१॥

रागे, द्वेषे च, माने च, श्रोह, पाप च कम्मणि ।

अप्रिये चैव कर्त्तव्ये 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥

—इति ! महाभारत-शान्तिपर्व-मो० २६६ अ० ।

'समम्' कहा जाता है, वहाँ वही निशिष्ट तत्त्व शास्त्रीय-माथा में 'संवित्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है - । बुद्धि वहाँ अज्ञानान्धिमित्री है बर्चमानान्धिमित्री है वहाँ यह संज्ञि अज्ञातात्मिका, किंवा निष्कलात्मिका है । बुद्धि वहाँ बर्चमान को ही लक्ष्य बनाती है वहाँ-अज्ञि बर्चमान के आचार पर भूत, और मविष्य को ही प्रधानरूप से अपना क्षेत्र बनाती है ।

३८८-भूत-मविष्यत् की परियाामदर्शिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की यथा-
र्थता का नग्न चित्रण—

बुद्धि न पूर्व का विचार करती न अपर का । अज्ञि बर्चमान के आचार पर वह अज्ञि अपना निर्धन कर बालती है जिस इस प्रत्यक्षप्रमाणात्मक तात्कालिकमान की ही इस 'मातृक्या करते हैं । यही मातृ क्या मानावेश की बनती है जो मानव को अज्ञाना (अपर-मविष्य) पीसा (पूर्व-भूत) कुक्षु भी तो नहीं सोचने देती । अज्ञि सख ही अज्ञपट ही अपना सर्वस्व पोषण समाप्त कर बालती है मातृक्यरूपा यह तात्कालिकी बुद्धि । और आच का मातृक्युग इस तात्कालिकी बुद्धि का ही स्वतंत्रिना प्रशरण बन रहा है अपने-अभाव सख 'बर्चमान' की पीडना के माध्यम से ।

३८९ 'प्रत्युत्पन्नमतिष्व' का शैविक्य, गृहस्थचेत्रानुगत पुत्र-कन्या-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरधीरविवेक, कन्या का समादरणीय प्रत्युत्पन्नमतिष्व, एवं पुत्र का अमि-
नन्दनीय सविबुभाव—

ऐसे 'गुरतबुद्धि' मानव को ही प्रत्युत्पन्नमति' कहा गया है जिसे 'संवित्'शास्त्री मानव (संवेदनशील समझदार मानव) अज्ञि प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखते । अतएव मानव कभी कभी बड़ी भूल कर जाता है । बुद्धिमान् मानव तो अवरन ही अविष्यण में भूल ही करता रहता है इस विद्या में, जबकि यह तात्-
कालिकी बुद्धि के मापदण्ड से तथाविध मानवों को, बालकों को तो बुद्धिमान् समझ बैठता है एवं प्रत्यक्ष में धोखा वसन्त प्रदीप्तमान किन्तु चिरकरी' अतएव वास्तव में बुद्धिमान् मानवों तथा बालकों को अपने मापदण्ड से मूर्ख मान बैठता है, जबकि स्थिति सर्वथा विपरीत ही होती है । एतएव में बालक, और बालिकाएँ दोनों को प्रथक प्रथक-रूप से लक्ष्य बनाएए । दोनों के सम्पुजन की दृष्टि से कन्याकृतति ही प्रायः पुत्रकृतति की अपेक्षा किरोपरूप से बुद्धिमती प्रतीत होती है । प्रत्येक माव के अनुकरण में ऐसी दक्षता कन्याओं में होती है, पुत्रों में वैसी नहीं । अतएव प्रायः मानव अपनी कन्याओं के प्रशंसक, तथा पुत्रों के अप्रशंसक बने रहते हैं । अज्ञि हमारा यह तद्वर्त्य नहीं है कि, कन्याओं की प्रशंसक न की जाय । अवरण की अर्थ । स्वयं शास्त्र ने भी 'मुष्टिस्त्रासां चतुगुणा' कह कर इनको सम्मान ही प्रदान किया है ।

— मासा-ध-युग-कल्पेण गतागम्यत्सनेकथा ॥

नाद्वि नास्तमेति संविद्वया स्वयंप्रथा ॥१॥

कृत्तारश्च क्रियां तद्वत् न्यावृत्तविषयानपि ॥

स्मोरयत्कफनन याऽसौ संवित् स्वयंबु ॥२॥

—शशिदा देवम्—रत्नपत्रिका

३६०-नारी की भावुकतापूर्णा वात्कालिकता, तथा दिग्देशकालक्षता, एवं मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा फाल्गवीतानुगतित्व, और 'चिरकारी प्रश-
स्यते'—

कहना हमें केवल यही है कि, प्रवृत्तिमापनिक-यना यद्वा प्रत्युत्पन्नमति के आधारमात्र से, इस प्रत्युत्पन्नमतिवत् स प्रकृत्या ही यच्चित पुनरुत्पत्ति की अन्यायों के समतुलन में हीनता प्रमाणित करना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमतिवत् के स्थान में पुनरुत्पत्ति वा चिरकारी बने रहना ही इसकी प्रशंसा वा मुख्य अर्थ माना जाना चाहिए। कदापि अपनी वात्कालिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमतिवत् के अभाव में पुनरुत्पत्ति के प्रति हीनभाव नहीं रखने चाहिए। दोनों का क्षेत्र भिन्न है प्राकृत स्वरूप विभिन्न है। पुरुष वा चिरकारित्व ही प्रशस्त है वो नारी वा प्रत्युत्पन्नमतिवत् ही अमिनन्दनीय है। एहस्थचेत्रानुगता नारी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ही धात्री ही अथपि में परस्परविरोधिनी सभी एहस्थ-स्मृतियों वा सामञ्जस्य स्थापित करते रहने में समर्थ बन जाती है वा लोकोत्तरेतानुगत पुरुष अपने चिरकारित्व से एक लम्बी अवधि में निरिषट निरन्तर निर्णय के द्वारा परिस्थिति की वास्तविकता वा मूल्यांकन करता हुआ ही लोकमाया के निवाह करने में सफल बनता है। अतएव प्रविष्ट है कि- 'जल्दी वा काम शीतान वा काम है'। पुरुषपुरुष भगवान् आठने वा चिरकारी नाम से एक स्वतन्त्र इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिबन्ध कर दिया है। अपने वात्कालिक आवेश में आकर पूर्वापर की स्थिति-परिस्थितियों वा विचार-विमर्श-विण विना ही, उन्कास ही निर्णय कर डालने वाले, भ्रष्टति ही कार्याक्रम और कार्यसमाप्ति कर बैठने वाले भावुक मानवों से हम स्वयं निवेदन करेंगे कि, कृपया एकबार वे महाभारत के उत्पन्नकरण को अवश्य ही समन्वित कर लेने वा कह उठाएँ * ।

३६१-कार्यारम्भे दक्ष, तथा कार्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एव कार्यारम्भे स्तब्ध,
किन्तु कार्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धि
मानी का स्वरूप-चित्रण—

योद्धा और मी कुञ्ज प्रासङ्गिक सम्बन्ध कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक महापुरुषों वा कहना है कि,—
भावुक मानव काय्य आरम्भ करना तो जानता है किन्तु उसे सज्जोपाङ्ग समाप्त करना नहीं
जानता बल्कि निष्ठा के क्षेत्र में ठीक इसी विपरीत स्थिति है। 'नैष्ठिक मानव आरम्भ करना नहीं

- * एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्तत ॥
धिरेष्य निश्चयं कृत्वा चिरं न परिताप्यते ॥१॥
रागे, दर्पे च, माने च, द्रोहे, पापे च कर्मसि ।
अप्रिये चैव कर्तव्ये 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥

—वेदेषु । महाभारत-शान्तिपर्व-श्लो० २६६ अ० ।

'ममम्' कहा जाता है, वहाँ वही विशिष्ट तत्व शास्त्रीय-भाषा में 'संचित्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है - । बुद्धि वहाँ कालानुबन्धिनी है वर्तमानानुबन्धिनी है, वहाँ यह सन्धि अज्ञातीया, किंवा अज्ञातमितिका है । बुद्धि वहाँ बचमान को ही उत्पन्न बनाती है वहाँ-सक्ति बचमान के आचार पर भूत, और मविष्यत् को ही प्रधानरूप से अपना क्षेत्र बनाती है ।

३८८-भूत-मविष्यत् की परियामदशिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की 'यथा-
र्थता' का नग्न चित्रण—

बुद्धि न पूरा का विचार करती, न अपर का । अथिष्ठ वर्तमान के आचार पर वह सृष्टि अपना नियंत्रण कर डालती है जिस इस प्रत्यक्षप्रमाणिक तात्कालिकमान को ही हम 'मातृकता' करते हैं । यही मातृ-
कता मातावेश की बननी है जो मानव को आत्मा (अपर-मविष्य) पीछा (पूर्व-भूत), कुछ भी तो नहीं सोचने देती । अथिष्ठ तरह ही भ्रष्ट ही अपना सर्वस्व पोषण समाप्त कर डालती है मातृकताकृता यह तात्कालिकी बुद्धि । और आच का मातृकभूत इस तात्कालिकी बुद्धि का ही सर्वोत्पन्ना प्रशस्तक बन रहा है अपने- 'यथा' लक्ष्य 'बचमान' की पौरुषा के माध्यम से ।

३८९ 'प्रत्युत्पन्नमतिष्व' का शैथिल्य, गृहस्थवेदान्तगत पुत्र-कन्या-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरक्षीरविवेक, कन्या का समादरहीन प्रत्युत्पन्नमतिष्व, एवं पुत्र का अस्मि-
नन्दनीय सक्तिभाव—

ऐसे 'गुरुबुद्धि' मानव को ही प्रत्युत्पन्नमति' कहा गया है जिसे 'संवित्रास्त्री मानव (संवेदनशील
सममद्वार मानव) अथिष्ठ प्रशस्त की दृष्टि से नहीं देखते । अतएव मानव कनी कमी बड़ी भूल कर जाता है । बुद्धिमान् मानव तो अवरय ही अथिष्ठम में भूल ही करता रहता है इस दिशा में जबकि यह अथि-
स्थिकी बुद्धि के मापदण्ड से तथानिष्ठ मानवों को बालकों को तो बुद्धिमान् समझ बैठता है एवं प्रत्यक्ष में पौषा बसन्त प्रतीकमान किन्तु 'पिरक्यरी' अतएव वास्तव में बुद्धिमान् मानवों तथा बालकों को अपने मापदण्ड से मूर्ख मान बैठता है जबकि श्रियति सर्वथा विपरीत ही होती है । अथिष्ठ में यथार्थ, और यथार्थ हीनों को यथार्थ पृथक्-रूप से लक्ष्य बनाएँ । हीनों के समग्रजन की दृष्टि से कन्यासन्तति ही प्रायः पुत्रसन्तति की अथिष्ठा
श्रियेयस्य मे बुद्धिमती प्रतीत होती है । प्रत्येक माय के अनुकरण में वैसी दक्षता कन्याओं में होती है, पुत्रों में
देखी नहीं । अतएव प्रायः मानव अपनी कन्याओं के प्रशस्तक, तथा पुत्रों के अपशस्तक बने रहते हैं । अथिष्ठा
इनाथ यह तथार्थ्य नहीं है कि, कन्याओं की प्रशस्त न की जाय । अवरय की जाय । स्वयं शास्त्र ने
भी 'बुद्धिस्तासां अनुगृह्या' कह कर इनको सम्मान ही प्रदान किया है ।

+ मास्य षड-युग-कल्पेषु गतागम्यस्वनकषा ॥

नोदेति नास्त्वमेति संविद्वया स्वर्यप्रमा ॥१॥

कर्तारश्च किम्यं तद्वन् क्यावृत्तवियमानपि ॥

स्फोरयद्कयत्नन योऽसौ संचित् स्वर्यवपु ॥२॥

—मविद्य देस्य—इत्युपनिषत्

३६०—नारी की भावुकतापूर्णा वात्कप्रलिकता, तथा दिग्दशकालश्रुता, एवं मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीतानुगतत्व, और 'चिरकारी प्रशस्यते'—

कहना हमें केवल यही है कि, प्रकृतिमायनिक्रमना सहजा प्रत्युत्पन्नमति के आभारमात्र से इस प्रत्युत्पन्नमति के प्रकृत्या ही यथित पुनरुत्पत्ति की कन्याभा के समतुलन में हीनता प्रमाणित करना कदापि बुद्धिमान्नी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमति के स्थान में पुनरुत्पत्ति का चिरकारी बन रहना ही इसकी प्रशंसा का मुख्य कारण माना जाना चाहिए। कदापि अपनी वात्कप्रलिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमति के अभाव में पुनरुत्पत्ति के प्रति हीनभाव नहीं रखन चाहिए। दोनों का क्षेत्र भिन्न है प्राकृत स्वरूप विभिन्न है। पुरुष का चिरकारित्व ही प्रशस्त है तो नारी का प्रत्युत्पन्नमति ही अभिनन्दनीय है। ग्रहभ्रमणानुगता नारी अपने प्रत्युत्पन्नमति से ही थोड़ी ही अवधि में परस्परव्यभिचारी सभी ग्रहस्थ-व्यक्तियों का सामञ्जस्य स्थापित करते रहने में समर्थ बन जाती है या लक्षणानुगत पुरुष अपने चिरकारित्व से एक क्षणी अवधि में निरिच्छत निरान्त निर्णय के द्वारा परिस्थिति की वास्तविकता का मूल्यांकन करता हुआ ही लक्ष्यप्राप्ति का निश्चय करने में सक्षम बनता है। अतएव प्रसिद्ध है कि—'जन्दी पर काम शीतान का काम है। पुरुषपुरुष भगवान् व्यक्तं ता चिरकारी नाम स एक स्वल्प इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिबद्ध कर दिया है। अपने धर्ममूलिक आवेश में आकर पूर्वापर की स्थिति-परिस्थितियों का विचार-निमग्न-त्रिष्ट विना ही, काल ही निर्णय कर डालने वाला भवति ही कार्यारम्भ और कार्यसमाप्ति कर बैठन वाले भावुक मानवी से हम अप्रति निवेदन करेंगे कि कृपया एकबार के महाभारत के सत्यकरण को अवश्य ही समन्वित कर लेन का कष्ट उठाएँ ॥

३६१—कार्यारम्भे दक्ष, तथा कार्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एवं कार्यारम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धि मानी का स्वरूप चित्रण—

पांडा और भी कुछ प्रावर्तक सम्बन्ध कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक महापुरुषों का कहना है कि— 'भावुक मानव कार्यारम्भ करना तो जानता है किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना नहीं जानता' जबकि निष्ठा के क्षेत्र में ठीक इसके विपरीत स्थिति है। 'नैष्ठिक मानव कार्यारम्भ करना नहीं

॥ एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्तत ॥

चिरस्य निश्चय कृत्वा चिरं न परिताप्यते ॥१॥

रागे, दर्पे च, माने च, क्रोधे, पापे च कर्मणि ।

अप्रिये चैव कर्त्तव्य 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥

—दक्षिण ! महाभारत-शान्तिपर्व-श्लो० २६६ अ० ।

'स्मरक' कहा जाता है, वहाँ वही विशिष्ट तत्व राष्ट्रीय-भाषा में 'संविद्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है - । बुद्धि वहाँ अज्ञाननिवृत्ति है क्त मानानुबन्धिनी है, वहाँ यह उक्ति अज्ञातता, किंवा अज्ञानता है। बुद्धि वहाँ क्त मान को ही लक्ष्य बनाती है वहाँ-संविद् क्त मान के आचार पर भूत और मविष्यत् को ही प्रधानरूप से अपना चर्चा बनाती है।

३८८-भूत-मविष्यत् की परिणामदर्शिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की 'यथार्थता' का नमन चित्रण—

बुद्धि न पूर्व का विचार करती, न अग्रपर का। अविद्य कर्तमान के आचार पर वह कल्पित अपना निर्देश कर बालती है जिस इस प्रत्यक्षप्रमाणमक तात्कालिकमान को ही हम 'भावुकता' करते हैं। यही मातृ-कता भाषावेश की बनती है जो मानव को अज्ञाता (अग्रपर-मविष्य) पीड़ा (पूर्व-भूत) कुछ भी हो नहीं सोचने देती। अविद्य तत्व ही भटपट ही अपना सर्वत्र बोध व्यक्त कर बालती है मातृकताक्या यह तात्कालिकी बुद्धि। और भाव का मातृकयुग इस तात्कालिकी बुद्धि का ही वर्तमाना प्रदर्शक बन रहा है अपने-सम्बन्ध लक्षण 'क्त मान' की धारणा के माध्यम से।

३८९ 'प्रत्युत्पन्नमतिष्व' का शैथिन्य गृहस्थचेत्रानुगत पुत्र-कन्या-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरक्षीरविवेक, कन्या का समादरशील प्रत्युत्पन्नमतिष्व, एवं पुत्र का अमि-नन्दनीय सविदुभाव—

ऐसे 'नुरतबुद्धि' मानव को ही 'प्रत्युत्पन्नमति' कहा गया है जिसे 'संविद्ग्राही मानव (संवेदनशील ममभक्षार मानव) क्वापि प्रशस्त की दृष्टि से नहीं देखते। अतएव मानव कमी कमी बढ़ी गूना कर जाता है। बुद्धिमान् मानव तो अग्रपर ही अविद्या में भूत ही कथा रहता है इस विद्या में अग्रपर यह तात्कालिकी बुद्धि के मातृक से तथापि मानवों को बालकों को ही बुद्धिमान् समझ बैठता है, एवं प्रत्यक्ष में घोषा बसन्त प्रतीतमान किन्तु 'विरक्षरी' अतएव वास्तव में बुद्धिमान् मानवों, तथा बालकों को अपने मातृक से मूर्ख मान बैठता है अर्थात् विपत्ति सर्वथा विपरीत ही होती है। अग्रपर में बालक और बालिकाएँ दोनों को वृषक वृषक-रूप से लक्ष्य बनाएए। दोनों क समुत्पन्न की दृष्टि से कन्यास्तति ही प्रायः पुत्रस्तति की अपेक्षा विशेषरूप से बुद्धिमती प्रतीत होती है। प्रत्येक भाव के अनुकरण में वैसी दृष्टता कन्याओं में होती है, पुत्रों में वैसी नहीं। अतएव प्रायः मानव अपनी कन्याओं के प्रशंसक, तथा पुत्रों के अग्रशक बन रहते हैं। क्वापि इमाद्य यह तत्पर्य नहीं है कि, कन्याओं की प्रशंसा न की जाय। अग्रपर की जाय। स्वयं शास्त्र ने भी 'बुद्धिस्तासां पतुर्गुणा' कह कर इनकी सम्मान ही प्रदान किया है।

→ मास्य-व्य-सुग-कल्पेपु गतमान्यत्पनकथा ॥

नादति नास्तमेति मन्विद्या स्वयंप्रमा ॥१॥

कस्तारिष्य क्रियां तद्वत् व्यावृत्तविषयानपि ॥

स्वग्रहणकल्पनन योऽसौ संविद् स्वयंपु ॥२॥

—विरा देवर्ष-स्तुपनिष्

३६४-भावुक, तथा नैष्ठिक की सहज स्थितियों का भ्रुति क द्वारा सहज-स्वरूप-चित्रण—

एसे स्थिर-चैरसम्भारमाल से युक्ता अहमस्थिररूपा सवित् स युक्ता बुद्धि की प्रेरणा भी स्थिर भावानुगता ही बनी रहती है । अपने विकालात्मक-प्रीतिपर्य्य के कारण सकेनशीला आत्मनिष्ठा यह खैरीबुद्धि संशुक्ति के प्रभाव से मन पर निष्कण्ठ रहती हुई मन को तो मनमाना करने नहीं देती, एवं स्वयं कृपणस किना पूर्वापर को समन्यय किए सहसा काम्यारम्भ करती नहीं । अतएव कहा बाककता है कि, 'नैष्ठिक-मानव काय्य आरम्भ करना नहीं जानता । किन्तु पूर्वापर के निर्णय के अनन्तर भूत-भविष्यत्-वर्तमान के सु-असु-परिणामी का अध्ययनपूर्वक निर्णय कर लेने के पश्चात् यही बुद्धि अथ स्थिरता से काय्य आरम्भ कर देती है तो फिर मन को भी विश्वस्त कर अनिच्छुप्रति इस कार्य में प्रसह (सहगम) पाश से बाधद रक्षारथों की भांति युद्ध ही रहना पड़ता है उस नैष्ठिक कार्य में । फिर मन की इच्छा-अनिच्छा को भी मूल्य नहीं रह बाका । महर्षि करने नहीं ही प्राञ्जलमाया में इन दोनों स्थितियों को निम्नलिखित रूप में स्पष्टीकरण किया है—

(१)-यस्त्वविज्ञानवान्भवति भ्रमयुक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि भवन्त्यानि-दुष्टारवा इव सारथे ॥

-भावुक

(२)-यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वर्यानि सदा इव सारथे ॥

-नैष्ठिक

(१)-यस्त्वविज्ञानवान्भवति-अमनस्कः सदाऽशुचि ।

न स तत्पदमाप्नोति, ससारं चाधिगच्छति ॥

-भावुक

(२)-यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवाभर-

सोऽध्वन पारमाप्नोति तद्विष्यो परमं पदम् ॥

-नैष्ठिकः

जानता किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना अवश्य जानता है। इन वाक्यों का अर्थ स्पष्ट है।
 मानुष मानव श्री बुद्धि मनोवशवर्तिनी बनती हुई मनोमयी बनी रहती है। और इस मानसिक-वात्प्राप्तिक-
 अनुभूति का नाम ही इसने 'बुद्धि', किंवा 'बुद्धिमानी' मान रखा है। मनोमयी यह बुद्धि इन्द्रियधारण-
 गामिनी बनती हुई प्रत्यक्ष मूर्तों की ही उपासना में प्रवृत्त रहती है। प्रत्यक्ष मूल, उत्सर्गाहक इन्द्रियकर्मा, इन्द्रिया-
 भ्यन्त मन एव उन्मयी बुद्धि सम्बन्ध उच्च चान्द्रसम्पत्करकाशचक्र की सीमा से सर्वथा सीमित ही बने रहते हैं
 जो चान्द्रसम्पत्करकाश प्रतिबन्ध नथीन नथीन-रूप धारण करता रहता है—'नवो नवो भवति जायमान'
 इस भौतसिद्धान्त के अनुसार। इस चान्द्रपरिवर्तन के अनुपात से ही मानव के ऐन्द्रियक, मानसिक, तथा
 उच्चमान बौद्धिक भाव भी जन्म जन्म में बदलते ही रहते हैं। अतएव ऐसे मनोवशवर्ती-इन्द्रियपरमणु-बहिष्कृत
 प्रत्यक्षवादी-मौखिक-प्राकृत मानवों की बुद्धि भी वात्प्राप्तिक ही बनी रहती है।

३६२—मनोवशवर्ती-इन्द्रियपरायण बुद्धिमान्-प्रत्युपक्रमति-मानवों के माहोमहीयान्
 आयोजन, किंवा योजनाएँ, एवं उनकी छिन्न-भिन्नता—

इस वात्प्राप्तिक धार्मिक आवेश में आकर इनकी बुद्धि अर्थात् मन उत्काल अर्थ-प्रारम्भ हो कर
 देने की उच्च क्षमता रखता है किन्तु अलपरिवर्तन के साथ ही बदल जाने वाले उन मनोभावों के अनुक्रम
 से चिरकाल पर्यन्त इनकी बुद्धि आरम्भ प्रारम्भ-कार्य में स्थिर नहीं रहने पाती। इसे ही कहा जाता है—
 'मन का बहल जाना'। मानसिक इति के बदलते ही आरम्भ अर्थ्यों का त्यों अपूर्ण ही बना रह जाता
 है। और यों प्रत्युपक्रमति-बुद्धिमान्-मातृक-मानवों के अर्थ्यों का आरम्भ वहाँ महत्व स्मारकमेण पद्यार्थी-
 मयङ्कुर-रूप से प्रथम मन्थाया हुआ ही प्रकल्पित होता है वहाँ एवमातृकपूर्ण आयोजन कदापि सर्वज्ञान-
 रूप से सम्पन्न नहीं होता। और फिर वही मातृक बुद्धिमान् आती बल कर अनुकामक वास्तविक करणों
 का अर्थन कर, अपने दोनों को दूसरों पर थोप कर इन आयोजनों में कर्ममान-सुगभाषा के अनुसार-उन
 बड़ी बड़ी योजनाओं में कटीली क प्रस्ताव पास करता रहता है।

३६३—सविद्भावानुगत सहजबुद्धिशाली-चिरस्वरी-नैष्टिक-मानवभ्रष्ट के सेमकर
 स्वप्नारम्भ, एवं तत्संनिवृ-बुद्धि का स्वरूप-विगद्शन—

ठीक इसके विपरीत नैष्टिक उक्त नाम है जिसकी बुद्धि मनोवशवर्तिनी नहीं रहती अपितु मन
 चित्तकी बुद्धि के बरा में रहता है। इसे एव्य है? का उत्तर है—सविद्भाव। विद्यमकार बुद्धि के इत और
 मन प्रतिष्ठित है तथैव इसके उक्त और 'भूतत्मा' नामक अम्बुजाभा (अनन्तप्रसन्नरूप स्थापयुव आत्मा-
 प्राणप्रमा) प्रतिष्ठित है। इत आत्मभाव का नाम ही संनिवृ है। इत र्थज्ञाणिक स त्मन्विद्य बुद्धि ही
 सविद्बुद्धि है और इसी का नाम है 'समन्त' विख्या 'सौरसम्पत्सर' से सम्बन्ध है। कि छैरत्तमकर
 तृष्टिरूप अनन्तप्रसन्नरूप है एव-कल्पप्रकल्पमन्थायान्त भाषाभाष्यसप्तसप्तमम् (म या मा २१ अ
 २१ श्लोक) के अनुसार प्राकृतिक यह क्षैरधातुचक्र विहासप्रक कन्य दुष्मा अनन्तनन्त है। अतएव
 एव्य परैर त्र मानव के प्राकृत स्वरूप के समनुपन में सर्वथा अपरिचयन ही प्रमाथित रह्य है।

ननु दुःशील सकलानर्थमूल चेत् अविनीतेन कथं तत्रानुरज्यते ?
इत्याकाङ्क्षाया दुःशीलरतिकारण सदृष्टान्त प्रतिबोधयितुमाह—

मूलम्—कणकुडग चङ्क्तां ण, विट्टे भुजई सूयरो ।

एव सील चङ्क्तां णं, दुस्सीले रमई मिए ॥ ५ ॥

छाया—

कणकुडक त्यक्त्वा खलु, विष्टा भुङ्क्ते सूकर ।

एव शील त्यक्त्वा खलु, दुःशीले रमते मृगः ॥ ५ ॥

टीका—

'कणकुडग' इत्यादि । सूकर' खलु कणकुडकम्—तण्डुलपूर्णभाजनम्—
इदमुपलक्षणम्—रुचिरं मधुरं सुस्वादं सुगन्धयुक्तं त्वद्दमासादिपुष्टिकरं इतिकरं
यत् तण्डुलादिकं, तेन पूर्णं यद्भाजनमुपस्थितं तदिति भावः, त्यक्त्वा विष्टा
भुङ्क्ते, अत्र विष्टामित्यनेन अपवित्रा घृणोत्यादिका रुजाकरा हेया दुर्गन्धा कृमिमक्षि
कादिपरिपूर्णांमित्यर्थो ध्वनितः । एवम्—असुनाप्रकारेण मृगः—मृग इव मृगः अन्न-
हिताहितविवेकवर्जित इत्यर्थः, शील—मूलोत्तरगुणलक्षणं साध्याचारः, यद्वा—विनय
समाधिलक्षणं त्यक्त्वा दुःशीले—दुराचारे अविनयलक्षणे रमते—आसज्यते । अयं
भावः—यथा सूकरं मणस्तमाहार विहाय नितान्तमशुचिं सादरं भुङ्क्ते, अश्रत्वात्,

यदि दुःशील सकल अनर्थों की जड़ है तो फिर क्यों अविनीत उममें
अनुरक्त होता है? इस प्रकार की शका के समाधान निमित्त दुःशील में
रतिका कारण दृष्टान्त देकर सूत्रकार समझाते हैं—कणकुडगं इत्यादि ।

अन्वयार्थ—जैसे—(सूयरो—सूकरः) सूकर (कणकुडग—कणकुडक)
तन्दुल—आदि उत्तम भोजनीय पदार्थों से भरे हुए भाजन को (चङ्क्ता)
परित्याग कर (णं—खलु) निश्चय से आनंद के साथ (विट्टे—विष्टा)
विष्टा—अशुचिको (भुजई—भुङ्क्ते) खाता है (एव) इसी तरह (मिए—

जे दुःशील सकल अनर्थोंनी जड़ छे तो पछी अविनीत अन्ना डेम
अनुरक्ता थाय छे आ प्रकारनी शकानु समाधान करवा निमित्त दुःशीलमा
रतितु दृष्टान्त भाषी सूत्रकार समझावे छे—'कणकुडग' इत्यादि

अन्वयार्थ—जैसे (सूयरो—सूकर) सूकर (भूड) (कणकुडग—कणकुडक)
आभाषणरे उत्तम भोजनता पदार्थोंथा अरेखा भोजन पात्रनो (चङ्क्ता) त्याग करी
(णं—खलु) निश्चयवी आनंद साथे (विट्टे—विष्टा) विष्टा—अशुचिने (भुजई—

३६४ नैष्ठिक के कर्षण-कर्म का आत्मात्मिक समन्वय—

‘शरीर है रथ, इन्द्रियाँ हैं इस रथ के घोड़े मन है इन घोड़ों का प्रमह (लगाम) और बुद्धि है इस प्रमहरूप मन (लगामरूप मन) की हाथ में पकड़े रखने काशा कुशाक्ष खरपी, तथा यह संसार, और यह परलोक, वे दो हैं गन्तव्य मार्ग। स्वयं बीजात्मा है यात्री, जो इत्थंभूत रथ में बैठ कर संसारयात्रा करता हुआ परलोकयात्रा की प्रतीक्षा करता रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से मन मन निकला जाता है तो इन्द्रियाँ संकलित हो सकती हैं। ऐसे यात्री के लिए न बुद्धि बुद्धि रहती न मन मन रहता। अपितु इन्द्रियाँ उठी प्रकर बुद्धि न जाती है जैसेकि सारपी के हाथ से छूटी हुई लगाम को लेकर घोड़े भाग लगे होते हैं। परिक्रामत रथ (शरीर) सारपी (बुद्धि) प्रमह (मन-लगाम) घोड़े (इन्द्रियाँ), सभी अपना स्वरूप को बैठते हैं। यात्री भीम की न यात्रा पूरी होने पायी न पारलौकिक स्वर्गति ही इसे मिलती। ऐसे यात्री के सभी स्वप्न केवल संकल्प बन कर ही बरे रह जाते हैं, जबकि बुद्धिरूप सारपी के नियन्त्रण से नियन्त्रित प्रमहरूप मन इन्द्रियाँ का नियन्त्रण करता हुआ यात्री मोक्षत्वा की सभी यात्राएँ निरिन्धन पूर्ण कर देता है” यही उक्त मन्त्रों का भावार्थ है। इसीलिए कहा गया है कि, नैष्ठिक का कर्म आरम्भ तो योज्ञा विशान्व स होता है, किन्तु आरम्भ होने पर उभाव्य होकर ही यह उपरठ होता है।

एक प्रासंगिक लौकिक तथ्य का समन्वय और। परममात्मघाती सांस्कृतिक राजस्थान में एक यह भी लोकव्यक्ति प्रसिद्ध है कि—‘मोटयार को सापो और लुगार्ड को हापो दोम्पू बरोबर’। व्यक्ति का मन है—यदि मानव मोक्षनादि में ही समय उभाव्य कर देता है तो उक्त का लोकक्षेत्र उन्निष्ठ हो जाता है। एवं यदि मानवी शरीरप्रवचनों में ही अधिक समय को देती है, तो इसका आत्मन्तर परत्य क्षेत्र उन्निष्ठ हो जाता है। क्या वास्तव्य निकला इस उन्निष्ठि से ?। समन्वय शीघ्र अपनी लाक्षणिक से। व्यक्ति का स्वस्वयं बर्तन अत्यन्त स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है। बर्तन इसका समन्वय व्यक्ति के सुखत्म समन्वय से ही अनुप्राणित है, विशिष्ट भविति समन्वय कर लेना प्रतिन ही है।

३६६—मानव, और मानवी के उभयात्मक स्वरूपों का दिग्दर्शन, एवं मानव-मानवी की स्वरूपानुगता पर्वचतुष्टयी का तात्त्विक-समन्वय—

बलुविधिति देखी है कि मानव में भी मानव और मानवी दोनों भाग समाविष्ट हैं। एवं मानवी में भी इतनी समाविष्ट है। अतएव दोनों स्वस्वरूप से अपने अपने व्यक्तित्व से परिपूर्ण हैं। दोनों में कोई भी एक दूसरे से क्षुद्र अथवा ता बड़ा नहीं है। वे ही पार्वी पर्व मानव में हैं एव वे ही पार्वी पर्व मानवी में हैं। मानव के आत्मा-बुद्धि वे दो पर्व मानवभाव हैं एव मानव के मन शरीर नामक ही पर्व मानव के मानवी-रूप हैं। और यही विधिति मानवी के पार्वी पर्वों की है। इत्यभूत समानता के विद्यमान रहते एव भी मानव और मानवी में प्रत्यक्षदृष्ट स्वस्वभेद देखे, और क्वी उत्पन्न हो गया है, यह प्रश्न है किन्के—‘क्या ?’, का उत्तर तो सर्वत्र विद्यमान से ही सूचना चाहिए। यही बात देखे ! की ती स्वस्वयं में भी अविद्यता ही ठीक ठीक समाधान कर उभेगी बिलकी उद्यमता से पारय-पाहत मानव तथा इस से अधिक और कुछ भी निरिन्धन नहीं कर भेजेगा इस उक्त में कि इतिभेद का कारण मत्पत्तोरसम्बन्धतात्मक-पार्थिवसम्बन्धता तथा अन्तर्भावपन्न पान्द्रसम्बन्धता का विभे ही बन रहा है।

३६७-कठिनावयव मानव का आधारभूत सौरसम्बन्ध, तथा कीमलावयव मानवी का आधारभूत चान्द्रसम्बन्ध—

पार्थिवसम्बन्धरानुगत खैरसम्बन्ध अग्निप्रधान है, यही मानव के मौलिक स्वरूप का अभिव्यञ्जक बनता है। एवं चान्द्रसम्बन्धर सोमप्रधान है और यही मानवी के मूलिक स्वरूप का अभिव्यञ्जक बनता है। खैरसम्बन्ध भी अग्नीयामात्मक है, एवं चान्द्रसम्बन्ध भी अग्नीयामात्मक ही है। अन्तर केवल प्रधानता, अप्रधानता का है। खैरसम्बन्ध में सोम गर्भ में है, अग्नि अभिव्यक्त है, तो चान्द्रसम्बन्ध में अग्नि गर्भ में है, सोम अभिव्यक्त है। और इन दोनों सम्बन्धों की अभिव्यक्ति क्रमशः सूर्य तथा चन्द्रमा की छाड़ी में आता, और यत्र में हो रही है। अह-नालात्मक, सोमगर्भित खैरसम्बन्धरग्नि ही मानव की स्वरूप-प्रतिष्ठा है। एवं यत्रिशास्त्रात्मक, अग्निगर्भित चान्द्रसम्बन्धरसोम ही मानवी की स्वरूप-प्रतिष्ठा है। मानव का भावस्थान खैरग्निसोमप्रधान बनता हुआ आग्नेय है, कठिन है कर्कश है हृदावयव है जबकि मानवी का भावस्थान चान्द्रसोमप्रधान बनता हुआ शीम्य है मृदु है, कोमल है, शिथिलावयव है।

३६८-बहि कठिन, अन्त मृदु मानव, एवं बहिः मृद्वी, अन्त कठिना मानवी, तथा उदनुपात से सम्बन्धरचक्र का समन्वय—

इसके साथ ही मानव के नाम आग्नेय शरीर की मूलप्रतिष्ठात्मक आग्नेयशुक्रत्व शीम्य है मृदु है, कोमल है, शिथिलावयव है जबकि मानवी के नाम शैम्य शरीर की मूलप्रतिष्ठात्मक आग्नेयशुक्रत्व शोभितत्व आग्नेय है, कठिन है कर्कश है हृदावयव है। यों मानव भीतर से शीम्य बाहिर से आग्नेय है तो मानवी बाहिर से शीम्य, किन्तु भीतर से आग्नेय है। और इस गौण-प्रधानता से ही दोनों के स्वरूप-स्थान में महान् भौतिक भेद व्यक्तित्व हो रहा है सम्बन्ध-प्रभापति के द्वारा जिसे आधार बना कर ही शास्त्र ने मानव, तथा मानवी के कर्तव्यों की व्यवस्था की है, जिसे न समझ कर ही आज के खानाधिकारवादी इन दोनों का ही स्वरूप विवृत करते जा रहे हैं।

३६९-सौर-चान्द्र-सम्बन्ध-भेदमिथ मानव-मानवी के विभक्त-व्यवस्थित कर्म, एवं प्रकृतिकिञ्च आज के 'समानाधिकारवाद' का स्वरूप-चित्रण—

कहा जाता है कि, जो काम पुरुष कर सकते हैं स्त्रियाँ भी वे सब काम कर सकती हैं और पुरुष की अपेक्षा भी कहीं अधिक कोशल-योग्यता से कर सकती हैं कर रही हैं मारतेतर राष्ट्र की साम्य स्त्रियाँ। कदापि 'स' कर मरने का' प्रकृति विरोध नहीं करती। किन्तु 'करसकना' अन्य पक्ष है और 'करना' अन्य पक्ष है। परिस्थितिकर प्रकृतिकिञ्च उत्पीड़न के माध्यम से जिसे नहीं करना चाहिए, उस से भी करवाया जा सकता है एवं जिसे करना चाहिए, उसे भी नहीं कर सकते की स्थिति में ला कड़ा किया जा सकता है। स्वभाविकरूप से 'करसकना' के अन्तर्भावना क्या परिणाम होते हैं ? हो नार्थी ? परन की मीमांसा करने के लिए मीमांसा का मातृक मानव सन्भव लब्ध न हो। बर्हा मानव, और मानवी केवल शरीर ही शरीर है अधिक से अधिक मन पर ही बर्हा दोनों का स्वरूप अभाव मान लिया गया है अवयव शरीर से शरीरैवपि मात्र ही बर्हा के भौतिक दाम्पत्य की एकमात्र परिभाषा है उनके लिए तो सभी समान हैं सभी अमानाधिकारी हैं।

और फिर मानव-मानवी ही क्यों पशु-पक्षी-आदि प्राणी भी मानव-मानवी के कर्तव्यों की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का मार हत्या कर छूटने में समर्थ बन जायें तो इस में भी कोई आश्चर्य नहीं है। सभी सब बन सकते हैं बनाए जा सकते हैं बनाए जा रहे हैं। किन्तु इस 'छूटने' से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है जिस विकम्पन के घोर-घोरतम परिणाम उन समानाधिकारवादियों को भोगने पड़ रहे हैं यह स्वभावगत-कधी गार्हस्थ्य-सौन्दर्य तथा लोकजीवनगत गान्ध-स्वस्तिमय जो लोकसौन्दर्य आज पराङ्मुख बन गया है, उसकी क्षयनामात्र से भी भारतीय हृदय तो आज के इस सुभारयुग में विकम्पित ही हो पड़ा है किन्तु विकम्पन-गाथाओं का स्मरण न करना ही भय-कथा है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने ही दुर्मायका आज भारतीय नवविद्यित प्रजा को भी इसी सर्वस्ववात्क समानाधिकारव्यामोहन-क्षेत्र में ला मड़ा किया है जिसका पर्यवेक्षण यदि सभी अधिकारों में परिणत होना, तो मानव और मानवी के स्वरूप किस अस्मित्य-भाव में परिणत हो जायेंगे ? नहीं क्या बाकूटा। आस्था नाकू। कड़ों की बातें कड़ों तक ही सीमित रहे, वही हम छोटी के लिए ठीक है। अतएव हमें तो अपनी छोटी छोटी व्यक्तियों का समन्वय 'अपनी' सीमित दृष्टि से ही कर लेना चाहिए और तदापारयोग हमें तो यह मान कर ही चलना चाहिए निष्ठापूर्वक ही कि—

४००-आङ्गिरस-आग्नेय-उत्तरदायिञ्चा से अनुप्राणित मानव, एवं मार्ग-सौम्य उत्तरदायिञ्चों से अनुप्राणित मानवी, तथा उत्तरदायिञ्च-परिवर्तन-व्यामोहनों से अनुप्राणित-मानव-मानवी का सम्भावित लैङ्गिक-परिवर्तन—

मानव का आम्पन्तर लोभ तथा शय आग्नेय है तो मानवी का आम्पन्तर आग्नेय तथा शय लोभ है। अतएव दोनों के कर्तव्य भी क्रमशः आग्नेय तथा लोभ ही होने चाहियें, जबकि गौरव से दोनों में ही नियमान लोभ-आग्नेय-मात्रों के अनुकूल से उदीकृतपूर्वक दोनों के कर्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में ही नियमान है। वह योग्यता जो ऐसी है कि, अपने मनोमात्रों के उदीकृत-माध्यम से 'करसकने' की स्थिति में तो, यदि मानव चाह तो वह साक्षर मानवी बन सकता है, और मानवी चाहे, तो वह साक्षर 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुण्यशास्त्रमें ऐसे लैङ्गिक-परिवर्तनों के अनेक उदाहरण आम्पन्तव्याक से निश्चय से उपलब्ध हैं। एक स्थान पर तो पुण्यपुण्यने ऐसे ही आम्पन के माध्यम से एक ऐसे निरुच्य तप्य की और इमात्र ध्यान आकर्षित किया है कि, बिसे देत कर हम सब स्वयं ही होजात हैं। पाठकों की कुतूहलवशान्त के लिए यहाँ दो स्थलों में उक्त पटना का सिद्धान्त कर देना सम्भवतः वर्तमान-प्रज्ञाओं को भी अरुचिकर न लगेगा।

४०१-लैङ्गिक परिवर्तन का महाभारतीय ऐतिहासिक-उदाहरण, तत्प्रा 'भङ्गास्वन' नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी-स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आम्पण—

देखा मुना बाव है कि, 'पुण्य कल्पुस में 'भङ्गास्वन' नामक वय आम्पिक राजर्षि ने पुत्रवधना के लिए अनिमप्रधान उक्त का अनुष्ठान विध, दिव में हन्त का उपायेण नहीं देना। अनिमप्रधान कहे से

पुत्री की प्राप्ति को हास्य राजर्षि को, किन्तु इन्द्र अप्रसन्न हुआ। इनकी धर्मनिष्ठा के कारण इन्द्र इन्हें पीढ़ा पहुँचाने का अवसर न पा सका। बालान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से आनन्दित राजर्षि अपने साम्प्रत्यजीवन में पूर्णव्यासायुक्त होते हुए मृगया (शिकार) के स्वप्न में लगपड़े। नापीधाना के सतत अनुगमन से तथा मृगया-स्वप्न से राजर्षि की धर्मनिष्ठा शिथिल हुई। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला। मृगयायुक्त राजा इन के बाध प्रदत्त भ्रान्ति से दुस्तर बहूता में विचरते हुए माग भूल गए। इस एकान्त में यही पत्नीभ्रमना-स्त्रीमाधना इन्हें निरतिशय-स्नेह पीकित करने लगी। म्याकुलोन्द्रियवेदन को हुए भद्रास्थन इतस्तत् भटनत हुए किसी सरोवर के तट पर बाणद्विज जिस में स्वच्छ निग्मल बल मय हुआ था। इन्में सर्वप्रथम राजाने यके हुए घोड़े को बला-पिलाया, पाद को दृष्टमूष के बांधकर स्वयं सरोवर में नूतपड़े। जब डुबकी लगाकर राजा बाहिर निकले तो इन्होंने अपने प्राण को स्वारूप में परिक्रम दंगा। लज्जाने अनन्त हुआए राजर्षि अपने इस लौकिक परिवर्तन को गन कर। इस को अरवारोहण करूँगा और कैसे स्वनगर पहुँचूँगा, इस चिन्ता ने सन्नत करलिया स्त्रीरूप राजर्षि को। पुरुस्वरूपगुणम करूँग-काठिन्यादि गुण अमिभूत होगए, एवं स्त्रीसुलभ मृदु-शीघ्रस्वादि गुण अमिष्यक्त हुआए ०। निष्कर्षतः यद्व्यस्यप्रयास से राजा अरवारूप बन कर राजधानी पहुँचते हैं यकी कठिनता से दुर्घटना का वर्णन कर अपना परिचय दते हैं। एवं अपने पुत्रा को सम्य समर्पित कर पुन यनकी ओर लौट आते हैं। वैद्ययश उसी यनमें एक तपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है, एवं तपस्वी से इन्हें वहीं से पुन प्राप्त होता है। इन से पुत्री को साथ लेकर स्त्रीरूप राजा पुन राजधानी आते हैं, और पूर्वपुत्री को बहने लगते हैं कि पुत्री। तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हो तो व पुन यनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मे चाहवा हूँ कि, तुम सब मिलकर सम्यसुलभ-भोग करो। जब इन्द्र ने यह देखा तो खेपाकि, "इमनें वा उत्पीकित करना चाहा या राजर्षि को विग्न भ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं ये तो स्त्रीरूप में आकर भी बंशविस्ताररूप बहस्वय-सुख का भोग कर रहे हैं"। इत्यादिकरूप से कथानक आगे आकर विस्तार होता गया है जिसके इसी अरापर हमें विशेषरूप से पाठकी का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं तो ये इन्द्र से क्षमा मांगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर जब इन्हें पुन पुरुषरूप में परिक्रम करना चाहते हैं तो राजर्षि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नहीं चाहते कि—

स्त्रीस्वमेव प्रथे शक्र ! पुस्त्वं नेच्छामि वासव !
स्त्रीमाधेन हि तुभ्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप ॥

—महाभारत अनु० १० अध्याय।

० मृदुञ्च च, तनुस्व च, विक्लवस्थे तयैव च।

स्त्रीगुणा श्रुपिभिः प्रोक्ता धर्मतच्छार्थदर्शिभिः ॥

व्यायामे कर्कशन्म च पीर्य्य च पुरुषे गुणा ॥

—यही भाष्यात।

और फिर मानव-मानवी ही क्यों, पशु-पक्षी-आदि प्राणी भी मानव-मानवी के कर्तव्य की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का मार इच्छा कर करने में समर्थ बन जायें तो इस में भी कोई आश्चर्य नहीं है। सभी सब बन सकते हैं बनाए जा सकते हैं बनाए बा रहे हैं। किन्तु इस करने से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है जिस विकम्पन के पीर-पीरयम परिणाम उन समानाधिकारवादियों को भोजने पड़ रहे हैं, एहस्थबीजनातु कभी गार्हस्थ्य सौन्दर्य, तथा लोकजीवनसमक शान्ति-स्वस्थितमय जो लोकसौन्दर्य आब परबहुत बन गया है, उसकी कल्पनामात्र से भी भारतीय हृदय को आब के इस सुधारयुग में विकम्पित ही हो पड़ता है, जिन विकम्पन-गाथाओं का धरण न करना ही भय-पन्था है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने ही दुर्भाग्यवश आब भारतीय नभशिक्षित प्रजा को भी इसी सर्वस्ववात्क समानाधिकारव्यामोहन-क्षेत्र में ला पड़ा किया है जिसका पर्यवसान यदि सभी अधिकारों में परिणत होगया तो मानव और मानवी के स्वरूप किस अहित्य-भाव में परिणत हो जायेंगे ?, नहीं क्या जासकता। आस्था लाए। बड़ों की बातें बड़ों तक ही सीमित रहे, यही हम बड़ों के लिए ठीक है। अतएव हमें तो अपनी छोटी छोटी बातों का समन्वय 'अपनी' सीमित दृष्टि से ही कर लेना चाहिए, और उदापारयौन हमें तो यह मान कर ही चलना चाहिए निष्ठापूर्वक ही कि—

४००—आङ्गिरस-आग्नेय-उत्तरदायिण्यो से अनुप्राणित मानव, एवं मार्ग-सौम्य उत्तरदायिण्यो से अनुप्राणित मानवी, तथा उत्तरदायिण्य-परिवर्चन-व्यामोहनो से अनुप्राणित-मानव-मानवी क सम्भावित लैङ्गिक-परिवर्चन—

मानव का आन्तरिक शोभ्य तथा शक्य आग्नेय है तो मानवी का आन्तरिक आग्नेय तथा शक्य सौम्य है। अतएव दोनों के कर्तव्य भी अन्तरः आग्नेय, तथा सौम्य ही होने चाहियें, जबकि शौचकर्म से दोनों में ही विद्यमान सौम्य-आग्नेय-भावों के अनुकूल से उत्पीड़नपूर्वक दोनों के कर्तव्यों के 'करसकने' की शोभ्यता ही दोनों में ही विद्यमान है। यह शोभ्यता ही ऐसी है कि, अपने मनोभावों के उत्पीड़न-माध्यम से 'करसकने' की स्थिति में तो, यदि मानव चाहे तो वह वाञ्छित मानवी बन सकता है, और मानवी चाहे, तो वह वाञ्छित 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुरुषराज्यमें ऐसे लैङ्गिक-परिवर्तनों के अनेक उदाहरण आस्मानव्याब से विस्तार से उपलब्ध हैं। एक स्थान पर जो पुरुषपुरुषने ऐसे ही आस्मान के माध्यम से एक ऐसे मिलानचक तन्त्र की और हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि, जिसे देख कर हम स्वयं स्वयं ही हीनात हैं। पाठकों की कुतूहलसन्निधि के लिए यहाँ ही शब्दों में उक्त प्रयत्न का दिग्दर्शन कर देना सम्भवतः वर्तमान-प्रकाशकों को भी अरुचिपर न लगेगा।

४०१—लैङ्गिक परिवर्चन का महामारतीय ऐतिहासिक-उदाहरण, तत्पत्र 'भङ्गास्वन' नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी-स्वरूप के प्रति 'मानवी'-स्वात्मक भङ्गास्वन का विशेष आकर्षण—

देख गुना बाबा है कि, 'पुरुषराज्य' में 'भङ्गास्वन' नामक पत्र धार्मिक राजर्षि ने पुरुषराज्य के लिए अग्निप्रधान उक्त यज्ञ का अनुष्ठान किया जिस में इन्द्र का उपासने नही देखा। अग्निप्रधान यज्ञों से

पुत्री की प्राप्ति तो हास्य रसार्थों को किन्तु इन्द्र अप्रसन्न हुआ। इनकी धर्मनिष्ठा का कारण इन्द्र इन्हें पीड़ा पहुँचाने का कारण न पा सका। अतान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के किमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से आनन्दित रावर्षि अपने दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया आसक्त होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े। नारीमान्सा के सतत अनुगमन से तथा मृगया-व्यसन से रावर्षि की धर्मनिष्ठा शिथिल होगी। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका किमोहन कर डाला। मृगयासक्त रावा इन के द्वारा प्रदत्त भ्रान्ति से तुम्हरे ब्रह्मणों में विचरते हुए माग भूल गए। इस एकाग्रता में वही पत्नीधामना-स्त्रीभावना इन्हें निरतिराय-रुणेण पीड़ित करने लगी। म्याकुलोन्द्रियचेतन बने हुए मञ्जालिन इतस्ततः भट्टरते हुए किसी सरीसर के छपर नापहुँचने क्रम में स्वच्छ निम्नल जल भया हुआ था। इसमें सर्वप्रथम रावान के हुए पोड़े को बल-पिशाचा, पोड़े को इक्षुम्भ के बांधकर स्वयं सरीसर में डूबपड़े। जब तुरकी लगाकर रावा नाहिर निकले, तो इन्होंने अपने आप को स्नानार्थ में परिश्रम देना। लज्जामें अवनत होगए रावर्षि अपने इस लौकिक परिवर्तन को देख कर। जैसे तो अरबाबोदण कहेंगा और जैसे स्वनगर पहुँचेंगा इस चिन्ता ने सन्नत कर लिया स्त्रीस्य रावर्षि को। पुत्रस्वरूपमुलभ कर्षण-काठिन्यादि गुण अभिभूत होगए, एवं स्त्रीसुलभ मृदु-सौधिस्याणि गुण अभिम्यक्त होगए ०। निष्पर्यतः अष्टसाध्यप्रयास से रावा अरवारुट बन कर रावधानी पहुँचते हैं बड़ी कठिनता से दुर्घटना का यथार्थ कर अपना परिचय देते हैं। एवं अपने पुत्रा को रास्य समर्पित कर पुन वनकी ओर लौट आते हैं। दैववश उसी वनमें एक तपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है एवं तपस्वी से इन्हें वही सो पुत्र प्राप्त होजाते हैं। इन की पुत्री को साथ लेकर स्त्रीरूप रावा पुनः रावधानी आते हैं और पुनःपुत्री को कहने लगते हैं कि पुत्रो ! तुम मेरे पुत्ररूप से उत्पन्न हुए हो वा ये पुत्र वनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मे चाहता हूँ कि, तुम सब मिलकर रास्यसुख-मोग करो। जब इन्द्र ने यह देखा तो सोचाकि, “इसमें तो उत्पीड़ित करना चाहा था रावर्षि को दिग् भ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं वे तो स्त्रीरूप में आकर भी वंशवित्साररूप आत्मन्य-सुख का मोग कर रहे हैं”। इत्यादिरूप से कथानक आगे जाकर विस्तार होता गया है जिसके इसी अरापर हमें विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण रिपति का स्वस्वीकरण करते हैं तो ये इन्द्र से क्षमा माँगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर अब इन्हें पुनः पुत्ररूप में परिश्रम करना चाहते हैं तो रावर्षि यह कह कर पुनः पुत्रपत्नना नहीं चाहते कि—

स्त्रीस्वमेव ब्रूणे शक ! पुस्त्वं नेच्छामि वासव !

स्त्रीमावेन हि तुप्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप ! ॥

—महाभारत अनु० १० अध्याय।

* मृदुश्च च, तनुश्च च, विस्तुवश्च तपैश्च च।

स्त्रीगुणा ऋषिमि प्रोक्ता धर्मतत्त्वार्थदर्शिमि ॥

म्यायामे कर्कशश्च च वीर्यं च पुरुषे गुणाः ॥

—वही आख्यान।

और फिर मानव-मानवी ही क्या पशु-पक्षी-आदि प्राणी भी मानव-मानवी के कर्तव्यों की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का मर इच्छा कर उक्तों में समर्पण कर जायें तो इस में भी कुछ आश्चर्य नहीं है। सभी उन कर सकते हैं बनाए बाकूठे हैं, बनाए बाजे हैं। किन्तु इस 'उक्तों' से जो प्राकृतिक विकल्पन हो रहा है जिस विकल्पन के पोर-पोरुतम परिस्थान उन समानाधिकारवादीयों को मोगने पड़ रहे हैं यह स्वयंकीर्णनाश-कधी गार्हस्थ्य सौन्दर्य तथा लोकजीवनात्मक शान्ति-स्वस्थिमम जो लोकसौन्दर्य आब पराङ्मुख नम गय है, उक्तों कल्पनामात्र से भी माखीय हडन तो आब के इस सुभासुग में विकल्पित ही हो पड़त है जिस विकल्पन-गायाम्री का स्मरण न कजना ही भेय-क्य है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने ही पुर्मायनर आब माखीय नमशिक्षित प्रभा को भी इसी सर्वस्वपाठक समानाधिकारव्यामोहन-उत्र में ला पड़ा किया है जिसका पय्यमखन यदि सभी अधिकारी में परिणत होयय तो मानव और मानवी के स्वरूप किञ्च अचिन्त्य-मात्र में परिणत हो जायेंगे, नहीं कहा बाकूठय। आस्ता ताक। बड़ा की शते बड़ी तक ही सीमित रहे यही हम शायें के लिए ठीक है। अतएव हमें जो अपनी छोटी छोटी शक्तों का समन्वय 'अपनी' सीमित शक्ति से ही कर लेना चाहिए और तदाभारेणैव हमें जो यह मान कर ही चलाना चाहिए निष्पार्थक ही कि—

४००-आङ्गिरस-आग्नेय-उत्तरदायिष्ठों से अनुप्राणित मानव, एवं मार्गध-सौम्य उत्तरदायिष्ठों से अनुप्राणित मानवी, तथा उत्तरदायिष्ठ-परिवर्तन-व्यामोहनों से अनुप्राणित-मानव-मानवी क सम्भावित लैङ्गिक-परिवर्तन—

मानव का आन्तर सौम्य, तथा बाह्य आग्नेय है जो मानवी का आन्तर आग्नेय, तथा बाह्य सौम्य है। अतएव दोनों के कसब भी क्रमशः आग्नेय तथा सौम्य ही होने चाहिए, यद्यकि सौम्य से दोनों में ही विद्यमान सौम्य-आग्नेय-मात्री के अनुकूल से उत्पीड़नपूर्वक दोनों के कर्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में ही विद्यमान है। यह योग्यता जो ऐसी है कि, अपने मनोमार्गी के उत्पीड़न-माध्यम से 'करसकने' की शक्ति में जो, यदि मानव बाह्य तो वह स्वच्छ मानवी बन सकता है और मानवी पावे, तो वह स्वच्छ 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुराणशास्त्रमें ऐसे लैङ्गिक-परिवर्तनी के अनेक उदाहरण आख्यानम्यात्र से विस्तार से उपबोधित हैं। एक स्थान पर तो पुराणपुराणने ऐसे ही आख्यान के माध्यम से एक ऐसे किलक्षण तथा जो और इमार ध्यान आकर्षित किया है कि, बिसे देख कर हम स्वच्छ स्वयं ही होजाते हैं। पाठक की कुतूहलसन्धान के लिए यहाँ दो शब्दों में उस पटना का विगृहणन कर देना सम्भवतः वर्तमान-प्रश्नों को भी अचिन्तित न लगेगा।

४०१-लैङ्गिक परिवर्तन का महामारतीय एतिहासिक-उदाहरण, तत्पत्र 'भङ्गास्वन नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी-स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आकर्षण—

देख मुना गद्य है कि, "पुराणकाल में 'भङ्गास्वन' नामक फल धार्मिक राजर्षि ने पुत्रकामना के लिए अग्निप्रधान उष यज्ञ का अनुष्ठान किया जिस में इन्द्र का क्पायेण नहीं देखा। अग्निप्रधान यज्ञसे जो

पुनो श्री प्राप्ति तो हागइ रात्रि को, निन्दु इन्द्र अपसन्न हागए । इनरी धर्मनिष्ठा के कारण इन्द्र इहो पीडा पहुँचाने का अपसर न पासके । अलान्तर में एक क्षिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए । पुनप्राप्ति स आरनस्त रात्रि अपन दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया आसक्त होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े । नारीमान्ना के सतत अनुगमन से, तथा मृगया-व्यसन से रात्रि श्री धर्मनिष्ठा शिथिल होगइ । एवं इसी क्षिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला । मृगयासक्त रात्रा इन के शाय प्रदत्त भान्ति से उत्तर बधुओं में विचरते हुए माग भूल गए । इस एकान्त में वही पत्नीकामना-स्त्रीभावना इहो निरतिशय-स्नेह पीड़ित करने लगी । व्याकुलेन्द्रियचेतन बने हुए मन्नास्थन इतस्तथा भटकते हुए किसी सरोवर के तट पर आपहुँचि तिस में स्वच्छ निम्नल जल भय हुआ था । इन्हें सर्वप्रथम रात्राने यके हुए पोंके को बल-पिलाया, पोंके को इक्षुस्यू के बांधकर स्वयं सरोवर में कूटपड़े । जब उबकी लागकर रात्रा बाहिर निकले तो इहोने अपने आप को स्त्रारूप में परिणत देना । लजासे अवगत हागए रात्रि अपने इस लौकिक परिवर्तन को देत कर । जैसे तो अरवाचोहल कर्कशा, और जैसे स्वनगर पहुँचूँगा इस चिन्ता ने सन्नस्त करलिया स्त्रीरूप रात्रि को । पुरुषस्वरूपमुपम कर्कश-काठिन्याणि गुण अभिभूत हागए, एवं स्त्रीमुलम मृदु-र्यापित्याणि गुण अभिव्यक्त हागए ० । निष्कर्षतः ऋषयप्रयास से रात्रा अरवाचुट बन कर रात्राभानी पहुँचते हैं बड़ी ऋटनता से दुर्घटना का वर्णन कर अपना परिचय देते हैं । एवं अपने पुनो को गम्य समर्पित कर पुन बनकी ओर लौट आते हैं । देववरा उसी वनमें एक तपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है एवं तपस्वी से इहो वही सी पुन प्राप्त होजाते हैं । इन सी पुनो का साथ लेकर स्त्रीरूप रात्रा पुन रात्राभानी आते हैं और पूर्वपुनो को बहने लगते हैं कि, पुनो ! तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हा तो ये पुन वनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं । मैं चाहता हूँ कि तुम सब मिलकर गम्यमुल-मोग करो । जब इन्द्र ने यह देला, तो सोचाकि, 'इमनें तो उत्पीड़ित करना चाहा था रात्रि को त्रिगु-भ्रान्त करके । किन्तु देखते हैं ये तो स्त्रीरूप में आकर भी बंधविस्ताररूप वासक्य-सुख का मोग कर रहे हैं' । इत्यादिरूप से कथानक आगे जाकर विस्तार होता गया है जिसके इसी अंशपर हमें विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं तो ये इन्द्र से क्षमा माँगते हैं । इन्द्र प्रसन्न होकर अब इहो पुन पुरुषरूप में परिणत करना चाहते हैं तो रात्रि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नहीं चाहते कि—

स्त्रीत्वमेव वृशे शक ! पुस्त्वं नेच्छामि वासव !

स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशधिपि ! ॥

—महामारुत अनु० १२ अध्याय ।

* मृदुस्त्वं च, तनुस्त्वं च, विबल्लषत्त्वं तयैव च ।

स्त्रीगुणा अपिमिः प्रोक्ता धर्मवत्त्वार्थदर्शिमिः ॥

व्यापामे कर्कशत्वं च बीर्यं च पुरुषे गुणाः ॥

—वही आस्थान ।

और फिर मानव-मानवी ही क्यो, पशु-पक्षी-आदि प्राणी भी मानव-मानवी के कर्तव्य ही शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का मार हत्या कर करने में समर्थ बन जायें तो इस में भी कोई आश्चर्य्य नहीं है। सभी सब बन सकते हैं बनाए जा सकते हैं, बनाए जा रहे हैं। किन्तु इस 'करने' से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है जिस विकम्पन के दोर-दोरतम परिणाम उन तमामाधिकारवादिनी को भोगने पड़ रहे हैं, यह स्वामीबनाउ कभी गार्हस्थ्य छौन्दर्य्य तथा लोकमीकनात्मक शान्ति-स्वस्तिमय जो लोकछौन्दर्य्य आज पराङ्मुख बन गया है उसकी क्षयनामान से भी माथीम हृदय तो आज के इस सुभारयुग में विकम्पित ही हो पड़ता है जिन विकम्पन-गणनाओं का स्मरण न करना ही श्रेय-कन्या है। इस 'करसकने' के महान व्यामोहनने ही दुर्भाग्यवश आज भारतीय नवविश्वित प्रथम को भी इसी सर्वस्वभावक छमानाधिकारव्यामोहन-द्वेष में ला पड़ा किया है जिसका पर्य्यवसन यदि सभी अधिकारों में परिणत होम्या, तो मानव, और मानवी के स्वरूप किन्तु अचिन्त्य-मात्र में परिणत हो जायेंगे, नहीं कहा जासकता। आस्ता गाकर। यज्ञो की बातें यज्ञो तक ही सीमित रहे, वही हम ज्ञोदो के लिए ठीक है। अतएव हमें जो अपनी छोटी छोटी शक्तों का समन्वय 'अपनी' सीमित इति से ही कर लेना चाहिए और उदापारयौष हमें तो यह मान कर ही चलना चाहिए निष्ठापूर्वक ही कि—

४००-आङ्गिरस-आग्नेय-उत्तरदायिष्णो से अनुप्रासित मानव, एवं मार्गव-सौम्य उत्तरदायिष्णो से अनुप्रासिता मानवी, तथा उत्तरदायिष्ण-परिवर्धन-व्यामोहनो से अनुप्रासित-मानव-मानवी के सम्भावित लौकिक-परिवर्धन—

मानव का आन्तर छौम्य तथा बाह्य आग्नेय है तो मानवी का आन्तर आग्नेय तथा बाह्य छौम्य है। अतएव दोनों के कर्तव्य भी क्रमशः आग्नेय तथा छौम्य ही होने चाहियें, जबकि योग्यता से दोनों में ही विद्यमान छौम्य-आग्नेय-मात्रों के अनुक्रम से उत्तीकनपूर्वक दोनों के कर्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में ही विद्यमान है। वह योग्यता तो ऐसी है कि, अपने मनोमयों के उत्तीकन-माध्यम से 'कर सकने' की स्थिति में हो, यदि मानव चाहे तो वह शाश्वत मानवी बन सकता है, और मानवी चाहे, तो वह शाश्वत 'मानव' बन सकता है। स्वयं पुरुषपास्तमें ऐसे लौकिक-परिवर्धनी के अनेक उदाहरण आख्यानव्यास से विस्तार से उपबोधित हैं। एक स्थान पर जो पुरुषपुरुषने ऐसे ही आख्यान के माध्यम से एक ऐसे विशालकाय तप्य श्री और इमार्य भ्रान्त आकर्षित किया है कि, जिसे दस कर हम खस खस ही होवाते हैं। पाठकों की कुदृष्टलोकप्राप्ति के लिए यहाँ दो शक्तों में उस पटना का दिग्दर्शन कर देना सम्भवता वर्तमान-प्रशास्त्रों को भी अधिकार न लमेगा।

४०१-लौकिक परिवर्धन का महामारतीय ऐतिहासिक-उदाहरण, तत्प्रा 'भङ्गास्वन' नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी-स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आकर्षण—

ऐसा धुना बाया है कि, 'पुरुष कल्पयुग में 'भङ्गास्वन' नामक परम धार्मिक राजर्षि ने पुत्रप्राप्तना के लिए अग्निप्रधान उस यज्ञ का अनुष्ठान किया जिस में इन्द्र का समावेश नहीं होता। अग्निप्रधान यज्ञसे छे

पुत्री की प्राप्ति तो हागइ रात्रि की, किन्तु इन्द्र अग्रसर हागए। इनकी धर्मनिष्ठा क अग्रस इन्द्र इहो पीड़ा पहुँचाने का अग्रसर न पासक। कालान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से अग्रस्त रात्रि अपने दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया मग्नक होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े। नारीभावना के सतत अनुगमन से, तथा मृगया-व्यसन से रात्रि की धर्मनिष्ठा शिथिल होगइ। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला। मृगयासक्त रात्रा इन के द्वारा प्रदत्त भ्रान्ति से दुस्तर बधनों में विचरते हुए माग भूल गए। इस एकान्त में यही फनीअमना-स्त्रीभावना इहो निरतिशय-रुमेण पीड़ित करने लगी। व्याकुलेन्द्रियचेतन बन हुए मद्भास्वन इतस्ततः भटकत हुए किसी सरीसर के तट पर व्यापहुँच बिस में स्वच्छ निम्मल बल भरा हुआ था। इसमें सर्वप्रथम रात्रान धके हुए पोड़े को बल-विशाला, पाड़े को इक्षुस्थूल के बंधकर स्वय सरोवर में नूँपड़े। अब तुमकी लागाकर रात्रा बाहिर निकले तो इहोने अपने आप को स्त्रीरूप में परिणत देना। लजामे अवनत हागए रात्रि अपने इस लैङ्गिक परिवर्तन को देग कर। जैसे तो अग्रवारेण्य कहेंगा और जैसे स्वनगर पहुँचूँगा इस विन्ता ने अन्तस्त करलिया स्त्रीरूप रात्रि को। पुरुषस्वरूपमुक्तम कर्कश-आठिन्यामि गुण अभिभूत होगए, एवं स्त्रीमुल्लम मधु-रापिन्यादि गुण अभिव्यक्त हागए *। निष्कर्षतः कष्टव्यथाप्रयास से रात्रा मर्याकट बन कर रात्रधानी पहुँचत है नही कठिनता से दुर्घटना का वर्णन कर अपना परिचय देते हैं। एवं अपने पुत्री को अन्य स्मरित कर पुनः वनकी ओर लौट आते हैं। दैववश उसी वनमें एक वपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है एवं वपस्वी से इहो वही से पुत्र प्राप्त होजाते हैं। इन से पुत्री का खय लेकर स्त्रीरूप रात्रा पुन रात्रधानी आते हैं और पूर्वपुत्री को कहने लगते हैं कि, पुत्री ! तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हो तो वे पुत्र वनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मे चाहता हूँ कि, तुम सब मिलकर रज्यमुल्ल-भाग करो। अब इन्द्र ने यह वेला तो सोचाकि हमने तो उत्पीड़ित करना चाहा था रात्रि को दिग भ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं ये तो स्त्रीरूप में आकर भी वरापिस्ताररूप बास्वन्त्य-सुग का मोग कर रहे हैं। इत्यादिरूप से कथानक आगे जाकर विस्तार होता गया है जिसके इसी अग्रपर हमें किण्वरूप से पाठकी का ध्यान आकर्षित करना है कि, अब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं तो वे इन्द्र से जामा माँगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर अब इहो पुनः पुरुषरूप में परिणत करना चाहते हैं तो रात्रि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नही चाहते कि—

स्त्रीस्वमेघ वृणे शक्र ! पुस्कां नेच्छामि वासव !
स्त्रीभावेन हि तुभ्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप !।।

—महाभारत अनु० १० अध्याय ।

* मृदुर्ध्वं च, तनुष्व च, विस्त्राघर्षणं तयैव च ।

स्त्रीगुणा अपिमि प्रोक्ता धर्मतत्त्वार्थदर्शिभिः ॥

व्यायामे कर्कशर्षणं च वीर्यं च पुरुषे गुणाः ॥

—यही आश्रयान ।

तस्य प्रशसा कुर्वता आत्मा नगरं लोकश्च नाशितः । तथा मवानपि अस्याविधि-
प्रवृत्तस्य प्रशसा कुर्वन् आत्मानं समस्तगच्छं चोच्छेदयति । ततस्तद्वचनं श्रुत्वा स
आचार्यः साध्वामासमविनीतं शिष्यं स्वगच्छतो निष्कासितवान् । तस्माद् दुःशी-
लस्य निष्कासनं श्रेयस्करम् ॥ ४ ॥

देखते २ वह समस्त नगर उस राजा के मरलसहित एकदम जल कर
नष्ट हो गया । राजाने इससे असंतुष्ट हो उस वणिक् को दण्डित
करके अपने नगर से बाहर निकाल दिया । राजा जो पहिले से उस
वणिक् के इस कार्य की प्रशसा न करता तो उसका होसला आगे भी
इस कार्य को करने के लिये नहीं बढ़ता । समस्त नगर एव राजमहल
जो नामशेष हुए उसका प्रधान कारण उस राजा की ही नासमझी है ।
इसी तरह साधु के अकल्पनीय कार्य में प्रवृत्त इस अविनीत शिष्य की
जो आप प्रशसा करते हैं उससे इसका होसला बढ़ता है, आगे भी
अकल्पनीय कार्य करने में सौत्साह्य घनता है । जिसका अन्तिम फल
होगा गच्छका उच्छेद, और इस उच्छेदजन्य दोषों के भागी होना
पड़ेगा आप को, अतः आपका अपनी और गच्छकी रक्षानिमित्त इस
अविनीत को गच्छ से बाहर कर देने में ही श्रेय है । इस प्रकार आये
हुए आचार्य महाराज के कथन पर अच्छी तरह ध्यान देकर गच्छा-
चार्यजीने उस अविनीत शिष्य को अपने गच्छ से बाहर कर दिया ।
क्यों कि दुःशील शिष्य का गच्छ से सयवविच्छेद करना श्रेयस्कर ही
माना गया है ॥ ४ ॥

सारी रीते इस करवा उपरांत तेने पोताना शङ्करमाथी कादी भूक्या राज
के वखीकना के कार्यनी प्रशसा न करत तो के वखीकनी ताकात नहोती
के हर वरसे आ प्रभावे अश्लेषवाला प्रगटावी राडे समस्त शङ्कर अने
राजभेदध अणी गया तेनु प्रधान कारण के राजनी पीनसमजदारी के छे
के रीते साधुना अकल्पनीय कार्यमा प्रथम आ अविनीत शिष्यनी आप
प्रशसा करे छे, अथी के पोताना मनमा कुदाधने आगण उपर आथी
पख विशेष अकल्पनीय कार्यमा आगण वधरे केनु अतिम रूप गच्छना
उच्छेदमा आववातु अने के उच्छेदजन्य दोषाना भागी आपने अननु पडरे
आथी आपनी अने गच्छनी रक्षा माटे आ अविनीतने गच्छमाथी पहार
करी हेवाभाज श्रेय छे आ प्रकारे आवेला आचार्य महाराजना कहेवा उपर
सारी रीते ध्यान इध गच्छाचार्यजके के अविनीत शिष्यने पोताना गच्छका
पहार करी हीधे। केमके दुःशील शिष्यनी गच्छथी विच्छेद करवे के श्रेयस्कर
मानवाम आवेव छे (४)

पुत्री की प्राप्ति तो हमारे राजर्षि को, किन्तु इन्द्र अग्रसत्र हमारे। इनकी धर्मनिष्ठा के कारण इन्द्र इन्हें पीड़ा पहुँचाने का अग्रसर न पासक। कालान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से आश्चर्यत राजर्षि अपने दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया आसक्त होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े। नारीभावना के उक्त अनुगमन से, तथा मृगया-व्यसन से राजर्षि की धर्मनिष्ठा शिथिल होगी। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला। मृगयासक्त राजा इन के साथ प्रदक्ष्य भ्रान्ति से दुस्तर बन्धुओं में विचरते हुए माग भूल गए। इस एकान्त में यही फनीकामना-स्त्रीभावना इन्हें निरतिशय-रुग्ण पीड़ित करने लगी। व्याकुलशोचित्रयचेतन बन हुए मन्त्रास्त्रन इत्तत्त' भक्त्युत हुए किसी सरोवर के तट पर व्यावृत्ति त्रिस में स्वच्छ निम्मल बल भरा हुआ था। इसमें सर्वप्रथम राजान पड़े हुए घोड़े को अल-पिशाचा पाड़े को दृचमूल के बानकर स्वय सरोवर में कूटपड़े। जब कुचकी लगाकर राजा बाहिर निकले तो इन्होंने अपने आप को स्वारूप में परिणत देना। जत्रामे अवनत होगए, राजर्षि अपने इस लौकिक परियचन को देख कर। जैसे तो अस्वतोहन करूँगा, और जैसे म्यनगर पहुँचूँगा इस चिन्ता ने क्यस्त करलिया स्त्रीरूप राजर्षि को। पुरुषस्वरूपसुलभ कर्कश-काठिन्यादि गुण अमिभूत होगए, एवं स्त्रीसुलभ मृदु-रौप्यत्वादि गुण अमिभूत होगए *। निष्कर्षतः कष्टसाध्यप्रवास से राजा अस्वाकृष्ट बन कर राजधानी पहुँचते हैं यही कष्टिनता से दुर्पटना का वर्णन कर अपना परिचय देते हैं। एवं अपने पुत्री को उन्मत्त समर्पित कर पुनः यनकी और लौट आते हैं। दैवधरा उभी वनमें एक उत्पत्ती से इन का सम्बन्ध हो जाता है एवं उत्पत्ती से इन्हें यही छी पुत्र प्राप्त होजाते हैं। इन छी पुत्री का साथ लेकर स्त्रीरूप राजा पुनः राजधानी आते हैं और पूर्वपुत्री को कहने लगते हैं कि पुत्री! तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हो तो मे पुत्र यनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मैं चाहता हूँ कि, तुम सब मिलकर उन्मत्त-माग करो। जब इन्द्र ने यह देखा, तो खेचाकि, "हमने तो उत्पीड़ित करना चाहा था राजर्षि को दिग् भ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं य तो स्त्रीरूप में आकर भी वंशविस्ताररूप वास्तव्य-सुख का भोग कर रहे हैं"। इत्यादिरूप से कथानक आगे आकर विस्तार लेता गया है जिसके इसी अंशपर हमें विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं तो वे इन्द्र से क्षमा मांगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर जब इन्हें पुनः पुरुषरूप में परिणत करता चाहते हैं तो राजर्षि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नहीं चाहते कि—

स्त्रीरूपमेव ब्रूणे शक ! पुस्कां नेच्छामि वासय !

स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां प्रिदशाधिप ! ॥

—महाभारत अनु० १२ अध्याय ।

* मृदुस्व च, तनुस्व च, विक्लवस्व तयैव च ।

स्त्रीगुणा श्रुपिमिः प्रोक्ता धर्मतत्त्वार्थदर्शिमिः ॥

व्यापामे कर्कशस्व च वीर्य्य च पुरुषे गुणाः ॥

—यही आख्यान ।

और फिर मानव-मानवी ही नयी, पशु-पक्षी-आदि प्राणी भी मानव-मानवी के कर्तव्यों की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का भार हल्का कर उठने में समर्थ बन जायें तो इस में भी कोई आश्चर्य नहीं है। तभी तब बन उठते हैं बनाए जा सकते हैं, बनाए जा रहे हैं। किन्तु इस 'उठने' से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है जिस विकम्पन के दोर-दोरतम परिव्याप्त उन उमानाधिभारवाधियों को मोड़ने पड़ रहे हैं, यह स्वर्णनानु-कम्पी गार्हस्थ्य सौन्दर्य तथा लोकजीवनानुसङ्ग शान्ति-स्थितिमय जो लोकसौन्दर्य आज पराङ्मुख बन गया है उसकी कल्पनामात्र से भी भारतीय हृदय तो आज के इस सुचारुयुग में विक्षिप्त ही हो पड़ता है जिन विकम्पन-गाथाओं का स्मरण न करना ही श्रेय कम्पा है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने ही दुर्मायक्य आज भारतीय नवविद्यित प्रजा को भी इसी सर्वस्वपाठक उमानाधिभारव्यामोहन-क्षेत्र में ला लड़ा किया है जिसका पर्यवेक्षण यदि तभी अधिभारों में परिणत होगया तो मानव, और मानवी के स्वस्व स्थि अधिनित्य-भाव में परिणत हो जायेंगे, नहीं क्या बाधकता। आस्ता त्वक्त्। यज्ञा की बातें यज्ञों तक ही सीमित रहे यदि हम छोटी-छोटी के लिए ठीक है। अतएव हमें तो अपनी छोटी-छोटी नाती का सम्भव 'अपनी' सीमित दृष्टि से ही कर लेना चाहिए और त्वाभारेखेन हमें तो यह मान कर ही अज्ञाना वादिए सिन्धुपूर्वक ही कि—

४००-आङ्गिरस-आग्नेय-उत्तरदायिञ्चा से अनुप्राणित मानव, एवं मार्ग-सौम्य उत्तरदायिञ्चो से अनुप्राणित मानवी, तथा उत्तरदायिञ्च-परिवर्तन-व्यामोहनो से अनुप्राणित-मानव-मानवी के सम्भावित लौकिक-परिवर्तन—

मानव का आन्तर सौम्य तथा यज्ञ आग्नेय है तो मानवी का आन्तर आग्नेय तथा यज्ञ सौम्य है। अतएव दोनों के कर्तव्य भी क्रमशः आग्नेय तथा सौम्य ही होने चाहियें, क्योंकि गोत्ररूप से दोनों में ही विद्यमान सौम्य-आग्नेय-प्राणी के अनुकूल से उत्पीड़नपूर्वक दोनों के कर्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में ही विद्यमान है। यह योग्यता तो ऐसी है कि, अपने मनोभावों के उत्पीड़न-माध्यम से 'कर उठने' की स्थिति में ही, यदि मानव चाहे तो वह वाञ्छित मानवी बन सकता है और मानवी चाहे, तो वह वाञ्छित 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुराणशास्त्रमें ऐसे लौकिक-परिवर्तनों के अनेक उदाहरण आत्मज्ञानव्याप से विस्तार से उपबसित हैं। एक स्थान पर तो पुराणपुराणने ऐसे ही आत्मज्ञान के माध्यम से एक ऐसे विशिष्ट तप्य की और इमार ध्यान आकर्षित किया है कि, जिसे देख कर हम अर्ध सतम्प ही होजाते हैं। पठकों की कुट्टकरोरान्ति के लिए यहाँ दो शब्दों में उस पटना का दिग्दर्शन कर देना सम्भवतः वर्तमान-प्रज्ञाओं को भी अरुचिकर न लगेगा।

४०१-लौकिक परिवर्तन का महामारतीय एतिहासिक-उदाहरण, तत्प्राय 'भङ्गात्सवन' नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी-स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गात्सवन का विशेष आकर्षक—

देखना मुना यद्यपि कि, "पुराणपुराण में 'भङ्गात्सवन' नामक पद्य बार्मिक राजर्षि ने पुराणप्रज्ञा के लिए अनिग्रहण उठ पड़ का अनुग्रह किया, जिस में इन्द्र का उभावेष नहीं होता। अनिग्रहण कसे ही

नाम के छल से, वही 'पर फी मय्यावा' नाम के छल से, वही 'समानाधिकारव्यामोहन के छल से, वी एबमे अन्वान्य भी कतिपय अयान्य-अभान्य-अरणी स नारी क उस आन्वन्तर आन्वय पीरप के साथ छीना-अरणी ही आरम्भ कर दी हे, तिसमें एकमान नारी की मातृत्वानुभूतिनी सहज कृपा ही अभीतक इस मानव को येनकेन रूपेण शरीरत भीनितमान ही रप रही हे । यदि अब भी मानव न संमला यदि अब भी इस्के नारी के पास स्वरूप को ही नारी मानने की भूल प्रकन्त रक्ती, तब सभी राष्ट्री के तथाविध हितशत्रु, तथा वास्तविक शत्रु कालगम में ही समाधि हो जायेंगे ।

४०३-स्वैराधारमूलक समानाधिकारव्यामोहन, तद्द्वारा 'सहधर्मचारिणी' मानवी का 'सहकर्मचारिणी' पद पर सस्थापन, तथा कामोपभोगपरायणतामूलक-समानाधिकार का तथ्य-विरलेपण—

सबमुच कर्षात्मना शक्तिरत हे हम अपने वाचिस्त्रु मानवी के समानाधिकार-व्यामोहन के उन उच्छ्रल चरितों की गाथा कर्णाकर्णपरम्परया सुन सुन कर, जिस समानाधिकार का मूल, एकमात्र प्रधान मूल हे मानव की स्वैराधारपरायणता । अपनी इसी अमर्यादिता स्वैरित्य को नानरूप से समाहित करने के लिए ही इस्के-समानाधिकार जैसे छल का आभय ले लिया हे, तिसके माध्यम से आज इस्के इस पवित्र हत्या सर्वशक्तिशालिनी सहधर्मचारिणी नारीवादि को सहकर्मचारिणी जैसे निम्न स्तर पर ही ला लड़ा किया हे । और नही हे इस्के-समानाधिकार' का अन्वय, किन्तु मन्त्रण इतिरत की आज वी कर्षा-मना अमिष्यक ही हुआ हे । धार्मिक-जीवनपद्धति की उपेक्षा-अवेहलना-विरुद्ध से सर्वप्रथम तो अपने आपको केवल मनःशरीरभर्मा कामभोग-परायण बना लेना उदन्तर अपनी उद्दामबासनाओं को अमर्यरूप में परिणत करने की लिप्ता से नारी को मी उठी स्थान पर ला लड़ा कर देना उसके नारीमुख सहबिद्ध 'निषेध' का अक्षपूर्वक निरोध करत रहना उसके न-न करते हुए मी उसे आपणव्यवसायप्रधानतापनक एकमात्र अपनी कामभोगपरायणता का सहायक बना डालना इसी किन्तु पर 'समानाधिकार' की घोषणा से अपने आपको नारी की व्हातुभूति का पाप प्रमाणित करने की अक्षम्या बृहता करते जाना, एवं इसी बृहत् के बल पर भारतीय पुण्यतन-नारीजीवन की अक्षम्याव्याख्या आलाचना के लिए कदा अपने आपको निर्लक्षतापूर्वक उन्नत बनाए रखना क्या इस्के अधिक मी मानव का और मी कुत्र भीयप पतन शेष रह गया हे ! स्वय मानव को ही मुकुलिवनस्पत बन कर इस प्रश्न की अपने अन्तर्बग्न में ही, ईश्वरव्यप्रीत्यूर्वक ही मीमांसा कर लेनी हे, अविलम्ब कर लेनी हे इसी लय कर लेनी हे । एवं तदनन्तर ही इसे 'समानाधिकार' का प्रश्न उठाना हे ।

४०४-मानव के समतुलन में मानवी के ममी मानवीय गुणों की सर्वमूर्द्धन्यता का दिग्दर्शन एवं प्राकृत विश्व में प्रकृति की सगुणमूर्ति मानवी का ही प्राधान्य—

हम वृद्धते हे इस बुद्धिशिरोमणि मानव से कि, उस्के किञ्च आचार पर अपने आपको नारी का समानाधिकारी मान लिया हे, जबकि सभी क्षेत्रों में मानव नारी की अपेक्षा सर्वथा निरक्ष ही प्रमाणित होता आया हे । स्नेह-दया-कल्याण-ममता-वात्सल्य-अदा-आविष्य-दान आदि आदि मानवत्वगुणकी सभी क्षेत्रों में सवार की सभी बाधियों में एकमात्र 'नारी' का ही स्थान मानव की अपेक्षा कहीं अधिक प्रकृत रहा हे प्रकृत

“स्त्रीभाव में परिणत होबाने के अनन्तर महात्सकन महामाग ने पुनः पुनः पुनः में परिणत होबाना क्यों नहीं ठीक समझा है” यही वह एक ऐसा तथ्य है, जो परोक्षरूप से मानवसमान की स्वरूपरक्षा का प्रधान उत्तरदायित्व ‘नारीप्रकृति’ को ही दे रहा है। बस्तुतः प्राकृत विरच में ‘पुरुष’ नामक वास्तविक पुरुष (अध्यात्म) तो अनभिद्युक्त ही है। सर्वत्र प्रकृति (अक्षर) का ही साम्राज्य है। जिस इस प्रकृतिरूप स्त्रीत्व की ही पूर्व उत्तर-रूप से दो समस्या हो जाती हैं जो क्रमशः ‘पुरुष’ और ‘स्त्री’ नाम से प्रसिद्ध हो रही हैं व्यवहारमाया में। इसी आचार पर शून्येय का खल्लपूर्ण-क्षिप्यः सतीसर्तो व मे पु स आहुं यह विद्वान्त व्यक्तियुक्त हुआ है जिस का अर्थयम यही है कि, ‘जो बस्तुव क्षिप्यो ही हैं, उन्हें भी हम ‘पुरुष’ नाम से व्यवहार कर रहे हैं, प्रकृतिरूपा जिस इस की की सर्वव्यापि को-परमव्यवस्थान न विवेकवन्ध- (श्रुत १ १११४ सू १६ म)। विरच अक्षर्य प्रकृतिमूलक है *। सखर मावालय है अर्थात् प्रकृतिमय है अर्थात् दिग्देवकावात्मक है अर्थात् स्त्रीभावप्रधान है। सभी वा लोकप्रसिद्ध मानव (पुरुष) का स्वरूप-निर्माण भी तो नारीगर्भसीमा में ही पुष्पित पल्लवित हो रहा है। अतएव सभी दृष्टियों से मानव और मानवी में मानवी-वत्त्व ही प्रधान है।

४०२-दाम्पत्यसुख की प्रमुख अधिकारिणी मानवी, सर्वशक्तिमयी आद्या मातृजाति, उत्पत्ति शक्तिस्वरूपवञ्चित मानव के अकायहतापह्नव, एवं समानाधिकारवादी हितशत्रुओं के मातृशक्तिविमोहक वधन्य कर्म—

इसी तथ्य को लोकमातृकता-उत्तरायणमूला मातृकमाया में पुराणपुरुषों ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है उन्नी आश्वथन में कि-‘देवी के दाम्पत्य में नारी ही किरोपकरूप दाम्पत्यसुख की अधिकारी बनती है। जैसे व्यवहारकीकन में भी-अपने कल्पित व्यक्तित्व से सर्वोत्तमा किमूठ को हुए पक्षितशिरोमणि मानवायम के समस्त आध्यात्म अपराध भी इस मातृशक्ति के छत्र वात्सल्यदान से ध्वंस ही करते रहते हैं, जिसका अर्थ यह मूलशिरोमणि अपने कल्पित व्यक्तित्व के धम्म से यह मान बैठता है कि, इसने अपने पीरुष से कल से ही नारी पर विषय काम किया है। बाह्यदक्षिणयमण इस मूढमति बुद्धि को यह विविक नहीं है कि, जिस आन्वेष्य पीरुष पर, शारीरिक पीरुष पर यह गर्व करता है उस आन्वेष्य पीरुष का भी नारी के अन्तःप्रसिद्धरूप शक्तिवामिनरूप प्रचरदकरूपेण कर्तव्य पीरुष के समकालन में स्पर्किक्षिप्त् भी तो महत्त्व नहीं है। पुरुष का बाह्य-शारीरवात्मक आन्वेष्य-पीरुष उन्विकित होकर वहाँ नारी के अक्षरशरीररूप औपम्यासमान को उन्वीकित कर उप-दान्त हो जाता है वहाँ दुर्भाग्य से मानव के इसी सीमातीत अपराध से यदि नारी का आम्कन्तर शक्तिवामिन-मूलक पीरुष बाधत हो पकटा है तो एक पुरुष ही नहीं अपितु समस्त विरच के दरपभूत आहूत-मानव इस प्रचरदकरूपेण के अक्षान्ति में मरमसहर् ही हो पकटे हैं। और हम भूल नहीं कर रहे, तो अपने सभ्यतीय मानवधनुषों को वह वेलावनी दे देना अपना मानवीय कर्तव्य मान रहे हैं कि, आब मानव ने कही ‘देवी’

* अज्ञोऽपि सन्न्यायात्मा मृतानामीस्वरोऽपि सन् ।

प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्मथाम्यात्ममात्सया ॥

—गीता

मानवी-रूप है, वो मानवी भी मानव-मानवी-स्वरूप है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सम्बत्सराज चक्राचार्य ही मानव है सम्बत्सराज चक्राचार्य ही मानवी है, दोनों की समन्वितवस्था का नाम ही पूर्ण-कृत्स्न-सम्बत्सराज है, और यही पूर्णवाच्यत्वं का भारतीय दाम्पत्यबीजवत् की मौलिक-परिमाण है, जिसमें अभ्यास-अभिभूत-अभिभव नामक तीनों प्राकृत विन्दु समाधि हैं।

४०६-आत्मानुगत सारसम्बत्सरात्मिका बुद्धि, शरीरानुगत चान्द्रसम्बत्सरात्मक मन, एवं बुद्धिनिष्ठ मानव, तथा मनोमातृका मानवी—

मानव क्योंकि अग्निप्रधान है, अतएव आत्मानुगता बुद्धि ही मानव का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि बुद्धि का शौरसम्बन्धतागमि से ही प्रधान सम्बन्ध है—धियो यो न प्रचोदयात् । एव मानवीय प्राकृत आत्मभाव की आभारभूमि भी और प्राण ही है—मूर्त्य आत्मा जगतस्तस्मुपरम्' । या न्योयनेय नत्व ही आत्मा, तथा बुद्धि, इन दोनों पक्षों का सम्राट् बन रहा है, जोकि खर अग्नि ही मानव का मुख्य भाग (स्पृक) स्वरूप है। मानवी क्योंकि योगप्रधाना है। अतएव मनोऽनुगत शरीर ही मानवी का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि मन का चान्द्रसम्बत्सरात्मिक से ही प्रधान सम्बन्ध है—'चन्द्रमा मनसो जात'—मन-श्चन्द्रेण ज्ञायत । एव मानवीय प्राकृत शरीर भी चान्द्रसम्बत्सरात्मिक के ब्रह्मात्मिक रूप पार्थिव सम्बत्सरात्मिक का ही अंग है। अतएव चान्द्र श्रुतुभाष ही पार्थिवानि—माध्यम से शरीर का निर्माता बनता है—'चन्द्रमसाद्र ता-श्चतय आश्रुतम्' । या चान्द्र शीघ्र तत्व ही मन, तथा शरीर, इन दो पक्षों का सम्राट् बन रहा है जोकि चान्द्रशौम्यत्व ही मानवी का मुख्य भाग (स्पृक) स्वरूप है। वात्सर्व्य यह निष्पत्ता कि मानव के चारों पक्षों में से सारसम्बत्सरात्मिक रूप आत्मा तथा बुद्धि ये दोनों वो मानव की प्रातिस्विक सम्पत्ति है एव मन, तथा शरीर, ये दोनों मानव की परसम्पत्ति (नारीसम्पत्ति) है। तथैव चान्द्रसम्बत्सरात्मिक मन तथा शरीर, ये दोनों वो मानवी की प्रातिस्विक सम्पत्ति है, एवं आत्मा तथा बुद्धि, ये दोनों मानवी की परसम्पत्ति (मानवसम्पत्ति) है।

४०७-मानव के मन शरीरपक्षों की स्वत्त्वाधिकारिणी मातृका मानवी, एव मानवी के आत्मबुद्धिपक्षों का स्वत्त्वाधिकारी नैष्ठिक-मानव—

अर्थात् मानव के मन शरीरपक्षों पर सर्वोत्तमना मानवी का अधिकार है तो मानवी के आत्मा-बुद्धि पक्षों पर मानव का अधिकार है। 'अभिभर' शब्द दोषपूर्ण है मातृकापूर्ण है। उत्तरधान में यह कहना नैष्ठिक माना जायगा कि मानव के मन-शरीरपक्षों के संरक्षण का उत्तरदायित्व मानवी के आत्मबुद्धिपक्षों पर अश्लक्षित है एवं मानवी के आत्मबुद्धिपक्षों का संरक्षण मानव के मन-शरीर पक्षों पर अश्लक्षित है। उदाहरणार्थानुसार—मानव अपने मन और शरीर का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानवी के आत्मा तथा बुद्धिपक्षों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (मन-शरीर) पक्षों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ हो जाता है। एवमेव मानवी अपने आत्मा और बुद्धि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानव के मन तथा शरीरपक्षों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (आत्मा-बुद्धि) पक्षों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ बन जाती है। यों दोनों अन्योऽन्याभितरूपेण एक दूसरे के परक बनते हुए दोनों दोनों के रक्षक, तथा दोनों दोनों से रक्षित बन जाते हैं।

है—आत्म ही। बिल पृथि-वैर्म-गुण की मानक वद वद कर बाँटें करखा रहता है, उस पृथिव्य में भी उदा से नारी ही किन्तु काम करती आई है। धुनिरिचव वेदिहासिक तथ्य है कि, यदि नारीवत् मानव को शठाप्य भी नारी से उत्पीड़न उपलम्भ हो जाते तो सम्भवतः मानवमात्र का उत्खन्द ही होता, जबकि वृशच मानव के द्वारा उत्पीड़न खाटी हुई भी नारीने बड़े वैर्म से मानव को स्नेहदान से, वात्सल्यदान से आरुह्य जीवित रखा है। कदापि उत्पीड़न मानव के लिए और धर्मपथ नहीं माना गया है। मानव ने अत्रिकाश में अग्नि ही अग्रा है अपने इस पापकर्म से। लज्ज है केवल वह 'पृथि' गुण। बिल शारीरिक आनन्द भाव पर मानव दम्भ करखा है वह भी निस्सर्व प्रमाथित हो जाया है नारी के आम्भवर शोषितानुगत आम्भेव वेव के सम्मुख। अब केवल एक वृद्धि से मानव को वह अन्ति है कि मानो उत्तरे में मानव ही विजेता हो। स्त्री-शत्रु-विजयकुशी की मातृत्व-सोत्कृष्टता के संरक्षण को प्रचलन मानने वाली इतिहास की भाषा में पुरुषपुरुष ने उस तथ्य के समुत्थन में भी मानव को निस्सर्व ही प्रमाथित कर दिया है, किन्तु अन्त्य मानव को स्वयं अपनी प्रज्ञा से ही कर लेना चाहिए निम्नलिखित बचनों के माध्यम से—

स्त्रीरूपे परिखतो मङ्गलस्वन उवाच—

स्त्रियाश्चम्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै ।
 तस्मात्ते शक्र ! जीवन्तु ये जाता स्त्रीकृतस्य वै ॥
 स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरम्यधिकः सदा ।
 एतस्मात्कारणाच्छक्र ! स्त्रीश्चमेव दुःखीम्यहम् ॥
 रमिताम्यधिकं स्त्रीश्चे सत्यं वै देवसत्तम ! ।
 स्त्रीभावेन हि तृप्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप ! ॥
 —स० अनु० 'मङ्गलसनापास्यान' १२ अ० ।

४०५—सौरसम्बत्सरानुगत अन्नेप मानव चान्द्रसम्बत्सरानुगता सौम्या मानवी, तथा मानव का मानवीश्व, एवं मानवी का मानवश्च—

राक्षसान की प्राणिकी लोकायुक्ति के अन्त्य-मवद से मानव और मानवी के आधिकारिक नहीं, अपितु उत्पत्त्याविकर्ण विभिन्न कतनों के सम्बन्ध में विविध निवेदन किया गया। अब पुन उठी लोकयुक्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाया है। मानवसंस्था में भी आध्या-सुखि-मन शरीर, बाँटें मानवीम पर्व हैं एव मानवी में भी बाँटें ही पर्व हैं। और इस वृद्धि से दोनों का ही स्वस्व समुत्थित है, समान है। किन्तु सौर-चान्द्र-सम्बत्सरानुगता से दोनों की इस समानता में विभिन्नता भी समा-विष्ट ही रही है जिसका अर्थ है—अग्निप्रधान मानव, और सोमप्रधान मानवी, जबकि मानव गर्भस्थ शुक्र के अन्त्य से सौम्य भी है, एव मानवी गर्भस्थ शोषित से आन्नेयी भी है। अर्थात् पुरुष की स्वस्वता के गर्भ में रहने वाले चान्द्रसम्बत्सरानुगत सौम्य स्वस्व का ही नाम मानवी है एवं स्त्री की स्वस्वता के गर्भ में रहने वाले सौरसम्बत्सरानुगत आन्नेय स्वस्व का नाम ही मानव है। यी मानव भी मानव—

मानवी-रूप है, वो मानवी भी मानव-मानवी-स्वरूप है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सम्यक्सयद् चक्षुःश्राही मानव है सम्यक्सयद् चक्षुःश्राही मानवी है, दोनों की समन्वितवस्था का नाम ही पूर्ण-कृत्स्न-सम्यक्सयद् है, और यही पूर्णताप्रवचक भारतीय दाम्पत्यजीवक की मौलिक-परिभाषा है, जिसमें अध्यात्म अभिभूत-अभिप्रेत नामक दोनों प्राकृत विरल समाधिष्ट हैं।

४०६-आत्मानुगता सौरसम्बत्सरात्मिका बुद्धि, शरीरानुगत चान्द्रसम्बत्सरात्मक मन, एव बुद्धिनिष्ठ मानव, तथा मनोभावुका मानवी—

मानव क्योंकि अग्निप्रधान है, अतएव आत्मानुगता बुद्धि ही मानव का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि बुद्धि का सौरसम्बत्सरात्मिका से ही प्रधान सम्बन्ध है—‘धियो यो नः प्रचोदयात्’। एवं मानवीय प्राकृत आत्मभाव की आधारभूमि भी और प्राण ही है—‘मूर्त्य आत्मा जगतस्सुपरम्’। यो सौरसम्बत्सरात्मिका ही आत्मा, तथा बुद्धि, इन दोनों पवों का संघाटक बन रहा है जोकि सौर अग्नि ही मानव का मुख्य भाग (व्यक्त) स्वरूप है। मानवी क्योंकि क्षामप्रधाना है। अतएव मनोऽनुगत शरीर ही मानवी का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि मन का चान्द्रसम्बत्सरात्मिका से ही प्रधान सम्बन्ध है—‘चन्द्रमा मनसो जातं—मनश्चन्द्रोऽस्य लीयत। एव मानवीय प्राकृत शरीर भी चान्द्रसम्बत्सरात्मिका के ब्रह्मोत्पन्नरूप पार्थिव सम्बत्सरात्मिका ही मय है। अतएव चान्द्र श्रुतभाव ही पार्थिवानि—माध्यम से शरीर का निर्माता कृता है—‘चन्द्रमसाद्र ता-श्चतस्र आभूतम्’। यो चान्द्र भीम वल ही मन तथा शरीर, इन दो पवों का संघाटक बन रहा है जोकि चान्द्रसम्बत्सरात्मिका ही मानवी का मुख्य भाग (व्यक्त) स्वरूप है। तात्पर्य यह निकला कि, मानव के चारों पवों में से सौरसम्बत्सरात्मिका आत्मा तथा बुद्धि ये दोनों तो मानव की प्रातिष्ठिक सम्पत्ति है एव मन, तथा शरीर, ये दोनों मानव की परसम्पत्ति (नारीसम्पत्ति) है। तथैव चान्द्रसम्बत्सरात्मिका मन तथा शरीर, ये दोनों तो मानवी की प्रातिष्ठिक सम्पत्ति है एव आत्मा तथा बुद्धि, ये दोनों मानवी की परसम्पत्ति (मानवसम्पत्ति) है।

४०७-मानव के मन शरीरपवों की स्वत्वाधिकारिणी भावुका मानवी, एव मानवी के आत्मबुद्धिपवों का स्वत्वाधिकारी नैष्ठिक-मानव—

अर्थात् मानव के मनःशरीरपवों पर सर्वप्रथम मानवी का अधिकार है, तो मानवी के आत्मा-बुद्धि पवों पर मानव का अधिकार है। ‘अधिकार’ शब्द दोगपूरुष है भावुकापूर्ण है। तत्प्रधान में यह कृता नैष्ठिक माना जायगा कि मानव के मनःशरीरपवों के संरक्षण का उत्तरदायित्व मानवी के आत्मबुद्धिपवों पर अक्षरलिखित है एवं मानवी के आत्मबुद्धिपवों का संरक्षण मानव के मनःशरीर पवों पर अक्षरलिखित है। यह सम्पत्तिसार-मानव अपने मन और शरीर का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानवी के आत्मा तथा बुद्धिपवों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (मनःशरीर) पवों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ हो जाता है। एवमेव मानवी अपने आत्मा और बुद्धि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानव के मन तथा शरीरपवों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (आत्मा-बुद्धि) पवों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ बन जाती है। यो दोनों अनन्वीऽन्वाहितस्मेश एक दूसरे के पूरक कर्ते हुए दोनों दोनों के रक्षक तथा दोनों दोनों से रक्षित बन जाते हैं।

है-आत्म ही। जिस वृत्ति-वैश्व-गुण की मानव बन्धु बन्ध कर बाँट करता रहता है, उस वृत्तिगुण में भी क्या से नारी ही विषय प्राप्त करती-आर्य है। सुनिश्चित ऐतिहासिक तथ्य है कि, यदि नारीके मानव को उद्योग में नारी से उत्पीड़न उपलब्ध हो जाते, तो सम्भवतः मानवमात्र का सम्बन्ध ही होजाता, जबकि उद्योग मानव के द्वारा उत्पीड़न खड़ी हुई भी नारीने बड़े धैर्य से मानव को स्नेहवान से, वात्सल्यदान से अत्यन्त कीर्ति रक्ता है। अर्थात् उत्पीड़न मानव के लिए कोई धर्मपथ नहीं माना गया है। मानव ने अविश्वस्य में अतिवृत्ति ही करया है अपने इस पापधर्म से। सत्य है केवल वह 'वृत्ति' गुण। जिस द्यौरीक आत्मनः मान पर मानव धम्म करता है वह भी निस्तेज प्रमाणात् हो जाता है नारी के आत्मन्तर शोषितानुगत आग्नेय तेज के समुच्च। अब केवल एक दृष्टि से मानव को यह प्रान्ति है कि मानी क्षेत्र में मानव ही विजेता हो। श्री-शूद्र-शिवकृतुओं की मातृशिव-शोकमातृक्या के उरबन्ध को प्रधान मानने वाली वृत्तिगत की भाषा में पुण्यापुण्य ने उस तथ्य के समुच्चन में भी मानव को निस्स्व ही प्रमाणात् कर दिया है, निम्न आत्मनः मानव को स्वयं अपनी प्रज्ञा से ही कर लेना चाहिए निम्नलिखित कवनों के माध्यम से—

स्त्रीरूपे परिचिता भङ्गास्वन उवाच—

स्त्रियास्त्वम्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै ।
 तस्मात्ते शक्यं । जीवन्तु ये ज्ञता स्त्रीकृतस्य वै ॥
 स्त्रियाः पुरुषसंयोगे श्रीशिरम्यधिकः सदा ।
 एतस्मात्कारणाच्छक्यं । स्त्रीभवेव पृथोम्याहम् ॥
 रमिताभ्यधिकं स्त्रीष्वे सत्यं वै देवसत्तम ! ।
 स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप ! ॥

—म० अनु० 'भङ्गास्वनोपाख्यान' १२ अ० ।

४०५—सौरसम्बत्तरानुगत आग्नेय मानव चान्द्रसम्बत्तरानुगता सौम्या मानवी, तथा मानव का मानवीष्व, एवं मानवी का मानवश्च—

एतद्विधान की प्रासंगिकी शोकवृत्ति के सम्बन्ध-मसङ्ग से मानव और मानवी के आधिकारिक नहीं, अर्थात् उत्तरदायित्वपूर्ण विभिन्न कृत्यों के सम्बन्ध में विभिन्न निवेदन किया गया। अब पुनः उसी शोकवृत्ति की और पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। मानवसंस्था में भी अस्मात्-शुद्धि-मान-शरीर, चारों मानवीय पर्व हैं एवं मानवी में भी चारों ही पर्व हैं। और इस दृष्टि से दोनों का ही स्वल्प सम्बन्धित है अमान है। किन्तु सौर-चान्द्र-सम्बत्तरानुगत से दोनों की इस ध्यानता में विभिन्नता भी समा-न्विता ही रही है, विद्वान् अर्थ है-अग्निप्रधान मानव, और सोमप्रधान मानवी परकि मानव गर्भस्थ शूद्र के सम्बन्ध से श्रेय भी है, एवं मानवी गर्भस्थ शोषिता से आग्नेयी भी है। अर्थात् पुण्य की स्वामी के गर्भ में रहने वाले चान्द्रसम्बत्तरानुगत श्रेय स्वल्प का ही नाम मानवी है एवं स्त्री की स्वामी के गर्भ में रहने वाले सौरसम्बत्तरानुगत आग्नेय स्वल्प का नाम ही मानव है। यो मानव भी मानव--

मानव के आत्म-बुद्धि-स्वात्म्य की रक्षा हुआ जाती है। उधर मात्रनासक्त मानव अपनी ही मन-शरीर-व्यक्तियों में हुआ हुआ नारी के आत्मबुद्धिमात्रों के रक्षण में असमर्थ बन जाता है ता उधर मानपी अपने मन-शरीरप्रसाधनों-स्नानादि-केरापारादि व्यासनों में ही मलम्ना रहती हुई मानव के मन-शरीरमात्रों के रक्षण में असमर्थ बन जाती है।

४११-मृद्धारप्रसाधनकासक्ता मानवी के, तथा आहारादि-भोगासक्त मानव के स्वैरा-चार से दोनों का ही समान स्वरूप, एवं तत्सम्बन्ध म राजस्थान की एक महत्त्व पूर्णा लोकात्मिक—

अथ यैत् । त्रिम पर की कुलदरिया आहावत्र अपन स्नानादि शृद्धारप्रसाधनों में ही लग पड़ती है उस पर के कुलपुरुषों की मन शरीरस्वभ्या शक्त्यों के ही आधीन बन जाती है, जहाँ अथ स इति-पर्यन्त अन्तार का ही साम्राज्य बना रहता है। एवमथ त्रिम पर के कुलपुरुष मात्रानुदानस ही बने रहते हैं वे आत्मबुद्धिस्वरूप-समपदक इतन्वी के लिए समय न निश्चलते हुए ब्रह्मान्तर में मन-शरीर पराकाष्ठा ही नन्ते हुए निश्चाल से बन्धित ही होजाते हैं। आर या दोनों ही क्रमशः इस माबनासक्ति, तथा स्नानापासक्ति से अपनी परम्परिक-पूरकवृत्ति से पराङ्मुख बनते हुए स्वस्वरूप ही ला बैठते हैं ब्रह्मान्तर में। इसी तथ्य के आधार पर-मोटपार को स्वाधो और लुगाइ को ह्यायो-दोन्नु बरोवर' यह लाकात्मिक आधिष्ठित हो पड़ी है समझ रखने बाल सद्बन मानवों की उस अद्ब बुद्धि स विधमें अथक्या-श्रुतता से स्वतः ही प्रकृति के मुमुक्षु मी रहस्य सद्बनरूपेणैव आधिष्ठित होने रहते हैं बिनका बुद्धिमान् मानव प्रयास करके सम्भव्य मी तो नहीं कर पाते। 'मोटपार को स्वाधो' मानव की भोजनासक्ति। 'अर-लुगाइ को ह्यायो'—अर्थात् 'अर मानवी को स्नान-शृद्धार प्रसाधनापासक्ति'। 'दोन्नु बरोवर' अर्थात् 'भोजनासक्त मानव तथा स्नानासक्त मानवी दोनों का कोई भी स्वरूप शेष नहीं रह जाता' त्रिम इस शपता का समन्वय तो समझ' से ही सम्भव्य रखता है।

४१२-बौद्धिक-लौकिक-क्षेत्रों में श्रद्धा का समावेश, अलौकिक-पुद्गलतीत-क्षेत्रों में बुद्धि का प्रवेश, एवं क्षेत्रविपर्ययात्मिका महती भ्रान्ति से समन्वित मात्रुक मानव —

तमी तो हमने कहा है कि- 'समझ बिना बुध यापकी'। (देखिए पृ ४ ५८)। प्राकृत मानव करता है कि- "यह, और यह एक ही तत्त्व है" यह बात समझ में नहीं आती अर्थात् बुद्धि स्वीकार नहीं करती। बुद्धिगम्य नहीं है यह ठीक है। मानव के लिए बुद्धिगम्य क्या है? आर क्या नहीं है? इस समस्या का मार धो हम उस मात्र के प्राकृत मानव पर ही छोड़ देते हैं जो बुद्धिगम्य विषयों में तो परम-अज्ञान बना हुआ है एवं अज्ञानत्व तत्त्वों के सम्बन्ध में अपनी बुद्धिमात्रों को पारिहृत्य को उल्लेख देने के लिए आशुर बना हुआ है। त्रिम लौकिक दिग्देशब्रह्मात्मक-मीलिक-प्रत्यक्ष-भूत उपनिहित-व्यावहारिक क्षेत्र में प्रतिबन्ध सवर्क्यापूर्वक, अर्थात् कोलकर बुद्धिपूर्वक बीजनायात्र-निर्वाह की अपेक्षा-आधारपरता है उस व्यावहारिक क्षेत्र में तो हम अर्थात्मना गतानुगतिक परम्परावादी अन्धानुकरणवादी बन रहते हैं। एवं

४०८-मनःशरीरेण नितान्त मायुक्त मानव, एवं आत्मना युज्या च नितान्त मायुक्ता मानवी—

इसी से यह तथ्य भी स्वयं ही उद्विग्न है कि, मानव अपने मन-शरीर से बड़ा मायुक्त है परबल-मनता (नारी की अकलमनता) के कारण वहाँ अपने आत्म-बुद्धि-माय से नैष्ठिक है स्वयंशरीर कला हुआ। एतमेव अपने आत्मबुद्धिपूर्व से मानवी बड़ा मायुक्त है परबलमनता [मानव की अकलमनता] के कारण वहाँ अपने मन-शरीर-स्वयों से नैष्ठिकी है स्वाकलमिन्नी बनती हुई। अर्थात् मानव अपने आत्म-बुद्धिपूर्व पर मानवी का आत्ममय नहीं उद्विग्न है। मानव आत्मबुद्धिस्वाकलम्य चाहता है, क्योंकि वही मानव का मुख्य स्वरूप है। तो मानवी मनःशरीरस्वाकलम्य चाहती है क्योंकि वही मानवी का मुख्य स्वरूप है। अतएव मानव के आत्म-बुद्धिस्वाकलम्य को अपने मन शरीरमानवी से सुरक्षित रखती हुई ही मानवी मानव के इन दोनों कर्त्री [आत्म-बुद्धिकर्त्री] की रक्षा का कारण बनती है। अतएव मानवी के मनःशरीरस्वाकलम्य को अपने आत्म-बुद्धिमानवी से सुरक्षित रखता हुआ ही मानव मानवी के इन दोनों कर्त्री [मनःशरीरकर्त्री] की रक्षा का कारण बनता है।

४०९-अस्पन्त सुषुप्तम्, अतएव दुरक्षियस्य मानव-मानवी का प्राकृतिक-स्वरूप अतएव बुद्धि से अतीता तत्कचर्ष्य-व्यवस्था, अतएव च तत्सम्बन्ध में शास्त्र प्रामाण्यैकशरब्दता—

अस्पन्त ही सुषुप्तम् है वह प्राकृतिक सम्बन्ध विच्छन्न यथावत् सम्बन्ध मानव की मातृवुद्धि [बुद्धिमानवी] कदापि नहीं कर सकती। प्रकृति का यह सुषुप्तम् सम्बन्ध तो महर्षियों की अमातृता दिग्दर्शिक के ही आसीक्तिक उत्तरदायित्व से अनुप्राणित है बिनकी इति को अमक लेना भी अल्पदादि प्राकृत मानवी की बुद्धि से अतीत ही माना अमया। अतएव हमारे लिए तो एतन्मात्र अतएव अतएव आदेशात्मक वह कथम् ही है विच्छन्न शास्त्र के द्वारा विधान हुआ है। कदापि हम अपनी अल्पनिक अनुभूतियों से उन सुषुप्तम् कर्तों से निर्णायक नहीं बन सकते। अतएव मानव और मानवी के आधिपारिक विना उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्यी का अनुपमन ही इनके लिए एतन्मात्र अर्थ-व्यवस्था है—'तस्माच्छास्त्र प्रमाणां ते काव्याकाव्यम्बवस्थितौ'।

४१०-मनःशरीरानुगत आहारादि भोगों में मानव का, तथा मनःशरीरानुगत केश-प्रसाधनादि में मानवी का शास्त्र के द्वारा नियन्त्रण—

हाँ तो हमने यह देखा कि, मानव आत्मबुद्धिमिष्ठ है तो मानवी मनःशरीरमायुक्ता है (स्त्रियो हि मानुष्यः-उत्तरपत्राशय)। अतएव आवश्यक है कि, मानव मनःशरीरानुगत अरणपानादि-कर्मों में आच्छन्न न रहे। तो उभर मानवी मनःशरीरप्रसाधनों में ही आच्छन्न न रहे।। जीवनार्थक आत्म की रक्षा में अदोष्य चर्बक-मद्यन में ही निमग्न अचरात-भोजनशास्त्र मानव कदापि आत्मबुद्धिमिष्ठ नहीं रह सकता। एतमेव अदोष्य स्नान-उच्छन्न-केशपाठभिन्यास-पुञ्जादि प्रसाधनों में ही रखे जाती नारी भी उच्छन्न अपने मानसिक-शारीरिक-उत्तर गार्हस्थ्य उत्तरदायित्व का निर्णय नहीं कर सकती विच्छन्न ही

ज्ञानावरणीयादिवर्मरज, समुत्पादक क्षान्त्यादिगुणघातक मूलोत्तरगुणकल्पपाद-
पोन्मूलक शुभभावनाऽम्भोजनिकरनीठारपटल सकलानर्थमूल धर्ममर्यादाविश्वसन-
शीलं दुःशीलं सेवते । अज्ञानं हि सर्वानर्थकरं विवेकहरं कष्टरूढकानुविद्धं सकल-
दुर्गुणसमिद्धं तपःसयमविनाशकं प्रमादजनकं स्वगापवर्गमुखहारकम् ।

देने वाले ऐसे शील-अर्थात् मुनि के आचार का परित्याग कर देता है ।
यह शील सकल गुणों में प्रधान माना गया है । जीव के साथ अनादि-
काल से लगे हुए अष्टविध ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के घष का उच्छेद
करने वाला घतलाया गया है । मिथ्यात्वरूपी प्रवलग्रन्थि-(गाठ) का यह
भेद करने वाला है । सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत की घृष्टि करना इसका
स्वभाव है । ऐसे प्रशस्त उपकारक इस शील का वह अविनीत शिष्य
परित्याग करके दुःशीलका सेवन किया करता है । यह दुःशील शिष्य
ज्ञानावरणीयादिक कर्मरूपी धूलीको अपनी आत्मा में चिपकाने वाला है ।
क्षान्ति आदि सदगुणों का ध्वंसक है । मूलगुण एवं उत्तरगुणरूप
कल्पवृक्ष का उन्मूलक है । शुभभावनारूपी कमलों को नष्ट-भ्रष्ट करने
के लिये तुषारपात-अर्थात्-हिमवर्षा जैसा है । सकल अनर्थों का यह
मूल है । ऐसे धार्मिक मर्यादा को उखाड़ने के स्वभाववाले इस दुःशील
का वह अविनीतशिष्य सेवनकर हिताहित को नहीं समझता है । यह
कितने आश्चर्य की बात है कि जिस विनयमूल धर्म से अपनी आत्मा
का उद्धार होता है उसका वह अविनीत त्याग कर अपकारक दुःशील

आचारको परित्याग करी दे छे आ शील सकल गुणोभा प्रधान भनायेल छे
एवनी आबे अनादिकाणधी लागेला आठ प्रकारना ज्ञानावरणीय आदि कर्मना
धधनोको उच्छेद करवा वाणा अतावेल छे मिथ्यात्वरूपी प्रणय श्रथीनो आ
सेव करवावाणो छे, सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतनी घृष्टि करवी तेनो स्वभाव छे,
ऐवा प्रशस्त उपकारक आ शीलनो ते अविनीत शिष्य परित्याग करीने दुःशीलनु
सेवन करे छे आवो दुःशील शिष्य ज्ञानावरणीयादिक कर्मरूप धूणने पोताना
आत्माना आटाउनार छे क्षान्ति आदि सदगुणोना नाश करनार छे मूलगुण
उत्तरगुणरूप कल्पवृक्षनो उन्मूलक-नाश करनार छे शुभ भावनारूपी कमलाने
नष्ट भ्रष्ट करवा माटे तुषारपात-अर्थात् हिमवर्षा ऐवा छे सकल अनर्थनु
ऐ मुण छे ऐवा धार्मिक मर्यादाने उपाडवानी वृत्तिवाणा आवो दुःशीलनु
ते अविनीतजन सेवन करी हिताहितने समझता नथी आ देवा आश्चर्यनी
बात छे के के विनय मुण धर्मधी पोताना आत्मानो उद्धार थाय छे तेनो

४०८—मन शरीरेण नितान्त मायुक्त मानव, एवं आत्मना बुद्ध्या च नितान्त मायुक्ता मानवी—

इसी से यह तथ्य भी स्वता ही सिद्ध है कि, मानव अपने मनःशरीर से बहाँ मायुक्त है परन्तु-
 म्नता (नारी की अकलमनता) के कारण बहाँ अपने आत्म-बुद्धि-माय से नैतिक है स्वाकलमी कता
 हुआ । एतदेव अपने आत्मबुद्धिपूर्वों से मानवी बहाँ मायुक्त है परन्तुमनतः [मानव की अकलमनता]
 के कारण बहाँ अपने मनःशरीर-पूर्वों से नैतिकी है स्वाकलमिन्नी बनती हुई । अर्थात् मानव अपने
 आत्म-बुद्धिपूर्वों पर मानवी का आक्रमण नहीं यह सक्ता तो मानवी अपने मनःशरीरपूर्वों पर मानव के
 आक्रमण नहीं करती । मानव आत्मबुद्धिस्वाकलम्य चाहता है, क्योंकि यही मानव का मुख्य स्वरूप है । तो
 मानवी मनःशरीरस्वाकलम्य चाहती है क्योंकि यही मानवी का मुख्य स्वरूप है । अतएव मानव के आत्म-
 बुद्धिस्वाकलम्य को अपने मनःशरीरपूर्वों से सुरक्षित रखती हुई ही मानवी मानव के इन दोनों कर्तव्य [आत्म-
 बुद्धिकर्तव्यों] की रक्षा का करण बनती है । अतएव मानवी के मनःशरीरस्वाकलम्य को अपने आत्म-
 बुद्धिपूर्वों से सुरक्षित रखता हुआ ही मानव मानवी के इन दोनों कर्तव्य [मनःशरीरकर्तव्यों] की रक्षा का कारण
 बनता है ।

४०९—अत्यन्त सुदृढम, अतएव दुरधिगम्य मानव—मानवी का प्राकृतिक-स्वरूप, अत
 एव बुद्धि से अतीता तत्कर्षण्य-व्यवस्था, अतएव च तत्सम्बन्ध में शास्त्र
 प्रामाण्यैकशरयता—

अत्यन्त ही सुदृढम है यह प्राकृतिक समन्वय बिलक बयाकत् समन्वय मानव की प्राकृतबुद्धि [बुद्धि
 मानी] कदापि नहीं करसकती । प्रकृति का यह सुदृढम समन्वय तो महर्षियों की अमाहता विम्वदिति के ही
 अलौकिक उत्तरदायित्व से अनुप्राणित है किन्तु इति को समझ लेना भी असम्भवादि प्राकृत मानवी की बुद्धि
 से अतीत ही माना जायगा । अतएव हमारे लिए तो एकमात्र अशरयणरज आदेशात्मक वह कर्तव्य ही है
 बिलका शास्त्र के द्वारा विधान हुआ है । कदापि हम अपनी अन्यायिक अनुभूतियों से उन सुदृढम तत्वों के
 निर्वाहक नहीं बन सकते । अतएव मानव और मानवी के आधिपारिक, किंवा उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्यों का
 अनुगमन ही इनके लिए एकमात्र अर्थक्या है—'तस्माच्छास्त्र प्रमाणां ते कर्तव्याकार्यैश्चरिषथी' ।

४१०—मनःशरीरानुगत आहारादि भोगों में मानव का, तथा मनःशरीरानुगत केश-
 प्रसाधनादि में मानवी का शास्त्र क द्वारा नियन्त्रण—

ही तो हमने यह देखा कि, मानव आत्मबुद्धिनिष्ठ है तो मानवी मनःशरीरमायुक्ता है (त्रियो हि
 मानुष्यै-एतपयत्रासक) । अतएव आवश्यक है कि मानव मनःशरीरानुगत अशनपानादि-कर्मों
 में आशक्त न कने । तो उधर मानवी मनःशरीरमायुक्ता में ही आशक्त न कने । । भोगनाशक्त आत्म की
 माय में अशरीर बर्तन-मद्य में ही निमग्न अशरात-भोगनशात मानव कदापि आत्मबुद्धिनिष्ठ नहीं रह
 सकता । एतदेव अशरीर स्नान-उत्थन-केशपानमिन्ध्यास-पुष्पादि प्रथमों में ही रह रहने वाली नारी भी
 कदापि अपने मानविक-शारीरिक-उत्तरदायित्व उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकती बिलके हाथ ही

४१६-‘समम्भ’ रूपा ‘सवित्’ क अनुग्रह से वञ्चिता बुद्धिमान् की निरीहा (वापकी)

बुद्धि, एवं-‘समम्भ बिना बुध वापकी’ लोकप्रकृत का समन्वय—

यो मानयने, प्राकृत मानयने इस चंद्रभेद का समतुलन प्राप्त हुए अपना ‘यह’ और ‘यह’, दोनों ही अभिभूत कर लिया है। यह अभिभूत होगया है बुद्धि की व्यस्तता से, ता यह अभिभूत होगया है ‘बुद्धि’ की वापेक्षता से। सदब्रह्मप्राप्तुसार—वहाँ सदब्रह्मत्व से इस भ्रष्टापूर्वक प्रकृत रहना चाहिए था, वहाँ वा इसके ‘बुद्धि’ का मूल गढ़ा कर दिया है, एव त्रिस लोचन में बुद्धि पूर्वक इसे कर्तव्य निश्चित करना चाहिए था—बुद्धि से अतीत प्रामाणिक सूत्रों के आधार पर, वहाँ यह सपथा बहुरस-बुद्धिराज्य बन गया है। शूलमापानुसार वहाँ—बुद्धि प्रयोग ही नहीं कर सकती वहाँ वा यह बुद्धिमान-वर्द्धवादी बनता बागहा है, एवं वहाँ बिना बुद्धिप्रयोग क अर्थ ही पत्न की सम्पादना रहती है, वहाँ यह अपनी बुद्धि का बलाजलि स्मरित किए रहता है। परिणाम इस विपर्यय का जो हुआ करता है वही वा हा रहा है आश। आश यही ‘समम्भ’, तथा ‘बुद्धि’ का यह महान् अन्तर है जिसके समन्वय के बिना सधमुच ही तो-‘समम्भ बिना बुध वापकी’।

४१७-‘वापकी’ शब्द के तात्परिक अर्थ का समन्वय, एवं विद्वान् मानव की मूर्खता, तथा मूर्ख मानव की विद्वत्ता—

लोकप्रकृति का वापकी शब्द वही स्वमन्कारपूर्ण है। परवराता पारतन्त्र्य निरीहता, विपराता-आदि हीनभाव ही इस शब्द से अभिव्यक्त हो रहे हैं। जो बुद्धि ‘समम्भ’ नामक अलौकिक तत्त्व से वञ्चित हो जाती है वह बुद्धि सचमुच में ही तो ‘वापकी’ अर्थात् परतन्त्रा बन जाती है। इरधभूत विद्युदा ? बुद्धि की ही तो मान ‘स्वतन्त्रता’ मान लिया गया है जिसके समतुलन में तो मानवेतर प्राणी अपने प्राकृत क्षेत्र में वही अधिक बुद्धिमान् अतएव वही अधिक स्वतन्त्र हैं। आत्मानुगता सहज बुद्धि से समन्वित स्थितिमूला निष्ठा का नाम है ‘आस्था’ एवं आत्मानुगत सहज मन से समन्वित स्नेहपूर्ण स्वस्वमाहक भाव का नाम है—‘भ्रष्टा’। आस्था-भ्रष्टा की सम्मिलितावस्था का नाम ही है-‘सवित्’, और इस सवित् का ही लौकिक नाम है ‘समम्भ’ जो नडे बडे बुद्धिमान् विद्वानों हदों में भी नहीं होती एवं एक आधारण अपठित-मामीण-बालबुद्धि-मानव में भी इस ‘सवित्’ का अनुग्रह होजाता है। अतएव लोकप्रकृत है कि—‘विद्वान् बुद्धिमान् है अतएव वह मूर्ख है। एवं मूर्ख समम्भवत है, अतएव वह विद्वान् है’। क्योंकि ‘समम्भ बिना बुध वापकी’।

४१८-विद्वान् की बुद्धि के उपभोक्ता मूर्ख, किन्तु समम्भदार, एवं बुद्धिमान् विद्वान् की मूर्खतापूर्णा परवशात्—

बुद्धिमान् विद्वान् इसलिए मूर्ख है कि यह अपनी बुद्धि से व्यक्तिस्वविमोहन के अरण लोक में आम न लेता हुआ वहाँ तो अन्धभ्रष्टा बन रहा है एव अलौकिक क्षेत्र में उस की बुद्धिमानी प्रवेश नहीं कर पाती। उधर वह अपठित किन्तु सहजस्व से ही अपनी परम्परा में आस्था-भ्रष्टा रहने वाला मूर्ख भी भ्रष्टा से उस अलौकिक ईश्वरमायना से भी समन्वित रहता है एव ‘ही’ ‘समम्भ’ रूपा वक्ति से यह अपनी परम्प-

दिग्देशकान्वातीति, अथएव मन-बुद्धि-महान्-अभ्यक्त-से भी अतीत अभ्यावहारिक-अलौकिक, किन्तु सर्वभ्यवहारपरमत् अनन्तत्व के सम्बन्ध में अपनी बुद्धि का दम्भ अभिम्यक्त करने लग पकृते हैं। यी मानव की बुद्धि आब क्षेत्रविक्षलित होती हुई पशुबुद्धि से भी अर्थात्कोटि में ही समाधि है।

४१३-पशु की दिग्देशकान्निबन्धना ज्ञागरूका भ्यावहारिकी बुद्धि, एवं तत्समतुलन में माधुक-प्राकृत-मानव की बुद्धिहीनता—

पशु अपने भ्यावहारिक-प्राकृत-वस्तु में तात्कालिक-बुद्धि को अग्रणी बना कर ही अपने प्राकृत स्वरूप के हानि-साम से उक्त उक्त (चौकआ) रह कर ही जीवनयात्रा में प्रवृत्त रहता है। अथएव स्वप्रकृतस्वरूप भोग ही इसके लिए प्राण होते हैं एव प्रकृतिविरुद्ध भोग सर्वथा त्याग्य। जबकि प्राकृत मानव अपनी बुद्धि से इस प्राकृत क्षेत्र में सर्वथा ही उत्थय बनवा हुआ हानि-साम का कोई विवेक न करता हुआ परम-अदातु आस्तिक बनवा हुआ ही मानो-देखा देखी-अनुकरण से सभी कुछ खाने पीने करने सुनने-आदि के लिए तन्मय हो पकृता है। और जो पशुक्त वाकालिकी परिणामपरिणय से भी यह बुद्धिमान् 'बुद्धि' को सर्वथा बलाकालि ही समर्पित किए रहता है।

४१४-माधुक मानव की बुद्धि के एकमात्र प्रमास्य तवाविध भूवासक्त-बहिर्माधुक लोक मानव, एवं अलौकिक-दिग्देशकान्वातीत सचासिद्ध तथ्यों के प्रति बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए इसकी आतुरता—

इस सम्बन्ध में इसके लिए एकमात्र प्रमास्य उनका बचन ही उनकी जीवनपद्धति ही बना रहता है किन्तु अपनी लोकबुद्धि से केवल प्राकृत मूर्तों के आभार पर प्राकृत विधि-विधान बना डाले हैं। यी मानव बहाँ एक बार अलौकिक क्षेत्रों के सम्बन्ध में अलौकिक क्षेत्रों के इहा श्रुतियों की दृष्टि से अनुप्रास्यित शास्त्रीय-बचन एवं तदनुगत आचारपद्धति की अन्वेषणा करता हुआ उनकी बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए अतुर हो पकृता है और उन शास्त्रीय अलौकिक-क्षेत्रों के लिए बहाँ यह मन्वप्रक-परमात्मा ने हमें बुद्धि ही है। हम समझ लगे सभी मानेगे सभी करोगे' इसप्रकार शैक्षिक एक कड़ा करता हुआ अक्रियत्व ही तो लम्बित नहीं होता। तथैव यही प्रजातीय बुद्धिमान् यों शास्त्रीय आचारों के सम्बन्ध में बुद्धिवाद का विवम्बक कड़ा कर लोकक्षेत्र में अन्वेषणा की मति उन बुद्धिमानों के बचनों का ही उनकी जीवनपद्धति का ही अखि मीचकर अनुकरण करने लग पकृता है और अदापि मूर्ख से भी इन लोक-क्षेत्रों में यह बुद्धि-‘तर्क’-‘विचार’ ‘परिणाम’ आदि अ संस्मरण यी नहीं करता।

४१५-बुद्धिमान् मानव की बुद्धि का लोकक्षेत्रों में अन्धानुकरण, और तदुपरिग्रह—

अभिदु विसे लोक में 'अद्विष्यन्सत्तान' क्या बात है विसे-‘अन्धानुकरण’ क्या है शास्त्र ने एवं इसके आभार पर गतानुगतिकी लोक:- न लोकः पारमार्थिकः यद्भ्यस्य अभिम्यक्त हो पकृता है तथाप्रियत बही इन महान् ! बुद्धिमानों ! अ क्व भ्यस्य ! बन बाव है। कुछ भी तो जानने की शक्त ने की विचारपरमर्ष की उत्सविवेक की कोह भी तो आवरण्य अनुभूत नहीं पकृते से बुद्धिमान् इन अपने अनु-वस्वक्षेत्रों में जो कि अलौकिक क्वस्यो-बचनों के सम्बन्ध में अपने बुद्धिजन की समुत्प सा पकृता कर देने में अग्रम्यन अ भी विस्तन् नहीं करने।

४१६-‘समम्’ रूपा ‘सवित्’ क अनुग्रह से वञ्चिता बुद्धिमान् की निरीहा (वापड़ी) बुद्धि, एवं-‘समम् विना युध वापड़ी’ लोकरूक्ति का समन्वय—

यौ मानवने, प्राकृत मानवने इस चतुर्भेद का समतुलन पाठ हुए अपना ‘यह’ और ‘यह’ दोनों ही अभिभूत कर लिया है। ‘यह’ अभिभूत होगया है बुद्धि की वदरूपता से, ता ‘यह’ अभिभूत होगया है ‘बुद्धि’ की सापेक्षता से। यह प्रमाणानुसार—वहाँ यह मान से “से भद्रापूर्वक प्रवृत्त रहना चाहिए था, वहाँ वा इसके ‘बुद्धि’ का मूत्र लड़ा कर दिया है, एव जिस लोकरूक्ति में ‘बुद्धि’ पूर्वक इस कार्य निश्चित करना चाहिए था—बुद्धि से अतीत प्रामाणिक सूत्रा के आधार पर, वहाँ यह सत्रथा बहभरत—बुद्धिशून्य बन गया है। प्रमाणानुसार वहाँ—बुद्धि प्रयत्न ही नहीं कर सकती वहाँ ता यह बुद्धिमान्—वर्तपादी स्तता बागहा है एवं वहाँ विना बुद्धिप्रयत्न क अनर्थ हा पढ़ने की सम्पादना रहती है वहाँ यह अपनी बुद्धि का बलाञ्जलि अर्पित किए रहता है। परिणाम इस विभर्ष्य का वो हुआ करता है वही ता हा रहा है आब। आर यही ‘समम्’, तथा ‘बुद्धि’ का यह महान् अन्तर है जिसके समन्वय के विना सचमुच ही तो—‘समम् विना युध वापड़ी’।

४१७-‘वापड़ी’ शब्द क तार्किक अर्थ का समन्वय, एव विद्वान् मानव की मूर्खता, तथा मूर्ख मानव की विद्वत्ता—

लोकरूक्ति का ‘वापड़ी’ शब्द बड़ा ही चमत्कारपूर्ण है। परवशता पारतन्त्र्य निरीहता विषयता—आदि हीनभाव ही इस शब्द से अनिन्यक्त हो रहे हैं। जो बुद्धि ‘समम्’ नामक अलौकिक तत्व से वञ्चित हो जाती है यह बुद्धि सचमुच में ही वा ‘वापड़ी’ अर्थात् परवशता बन जाती है। इत्थभूत बुद्धिवा ! बुद्धि को ही तो मान ‘स्यतन्त्र्यता’ मान लिया गया है जिसके समतुलन में तो मानधेतर प्राणी अपने प्राकृत क्षेत्र में वही अधिक बुद्धिमान् अतएव वही अधिक स्वतन्त्र हैं। आमानुषता यह बुद्धि से समन्वित स्थितिमूला निष्ठा का नाम है ‘आस्था’ एवं आमानुषगत यह मन से समन्वित स्नेहगुणक क्यस्माहक भाव का नाम है—भद्रा। आस्था—भद्रा की सम्मिलितावस्था का नाम ही है—‘सवित्’ और इस सवित् का ही लौकिक नाम है ‘समम्’ जो बड़े बड़े बुद्धिमान् विद्वानों, इदों में भी नहीं होती एवं एक आधारण अपटिस—प्राचीण—नालबुद्धि—मानव में भी इस ‘लक्ति’ का अनुग्रह होता है। अतएव लोकरूक्ति है कि,—“विद्वान् बुद्धिमान् है अतएव वह मूर्ख है। एवं मूर्ख समम्भदार है, अतएव वह विद्वान् है। क्योंकि ‘समम् विना युध वापड़ी’।

४१८-विद्वान् की बुद्धि के उपभोक्ता मूर्ख, किन्तु समम्भदार, एव बुद्धिमान् विद्वान् की मूर्खतापूर्णा परवशता—

बुद्धिमान् विद्वान् इसक्ति मूर्ख है कि यह अपनी बुद्धि से व्यक्तित्वविमोहन के कारण लोक में काम न लेता हुआ वहाँ तो अन्धभद्रालु बना रहता है एव अलौकिक क्षेत्र में उस की बुद्धिमानी प्रवेश नहीं कर पाती। उधर वह अपटित किन्तु यह रूप से ही अपनी परम्परा में आस्था—भद्रा रखने वाला मूर्ख भी भद्रा से उस अलौकिक ईश्वरभाजना से भी सम्मिश्रित रहता है एव “ही ‘समम्’ रूपा सवित् से यह अपनी पारम्प

दिग्देशकालातीत अतएव मन-बुद्धि-महान्-अभ्यक्त-से मी अतीत अभ्यावहारिक-अलौकिक चिन्त सर्वभ्यवहारआचारमत् अनन्तस्वत्व के सम्बन्ध में अपनी बुद्धि का दम्भ अभिभ्यक्त करने लग पड़ते हैं। यो मानव की बुद्धि आब चेतनित्तित होती हुई पशुबुद्धि से मी अर्थाकृष्टि में ही समाविष्ट है।

४१३-पशु की दिग्देशकालानिवचना जागरूकता व्यावहारिकी बुद्धि, एव तत्समतुलन में मायुक-प्राकृत-मानव की बुद्धिहीनता—

पशु अपने व्यावहारिक-प्राकृत-स्वत् में तात्कालिक-बुद्धि को अभ्ययी बना कर ही अपने प्राकृत स्वरूप के हानि-ज्ञान से उक्त उक्त (बीजभा) रह कर ही बीजनयात्रा में प्रवृत्त रहता है। अतएव स्वप्रकृत्युक्त मोग ही इसके लिए माद्य होते हैं एव प्रकृतियिद्ध मोग सर्वथा त्याग्य। जबकि प्राकृत मानव अपनी बुद्धि से एव प्राकृत चेतन में सर्वथा ही उत्पन्न बनता हुआ हानि-ज्ञान का कोई विवेक न करता हुआ परम-मदालु आस्तिक बनता हुआ ही मानो-देला देखी-अनुकरण से सभी कुछ खाने पीने करने सुनने-आदि के लिए सम्यक् हो पड़ता है। और यो पशुस्व तात्कालिकी परिणामदर्शिता से मी यह बुद्धिमान् 'बुद्धि' को सर्वथा बलाश्रित ही स्मर्त्तित किए रहता है।

४१४-मायुक मानव की बुद्धि के एकमात्र प्रमाद्य तथाविध भूवासक्त-बहिर्भावुक लोक मानव, एवं अलौकिक-दिग्देशकालातीत सधासिद्ध तथ्यों के प्रति बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए इसकी आतुरता—

इत सम्बन्ध में इसके लिए एकमात्र प्रमाद्य उनका बचन ही उनकी बीजनपद्धति ही बना रहता है किन्तु अपनी लोकबुद्धि से केवल प्राकृत मूर्तों के आचार पर प्राकृत विधि-विधान बना बाते हैं। यो मानव बहाँ एक और अलौकिक चेतन के सम्बन्ध में अलौकिक चेतनों के प्रथा श्रुतियों की दृष्टि से अनुप्राथित शास्त्रीय-बचन एव तदनुगवा आचारपद्धति की अभ्येष्टता करता हुआ उनकी बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए आसुर हो पड़ता है और उन शास्त्रीय अलौकिक-चेतनों के लिए बहाँ यह मन्दप्रथ-परमात्मा ने हमें बुद्धि दी है। इस समझ खरो तभी मानेगे तभी करेंगे' इसप्रकार धैर्यिक एक लड़ा करता हुआ अकिञ्चित् मी तो अभिजत नहीं होता। तथैव यही प्रजापति बुद्धिमान् यो शास्त्रीय आचारों के सम्बन्ध में बुद्धिवाद का विबन्धन लड़ा कर लोकचेतन में अन्धमदालु की मति उन बुद्धिमानों के बचनों का ही उनकी बीजनपद्धति का ही आत्म मीचकर अनुकरण करने लग पड़ता है और बराबि भूत से मी इन लोक-चेतनों में यह बुद्धि-तर्क-विचार 'परिणाम' आदि का संश्रमण मी नहीं करता।

४१५-बुद्धिमान् मानव की बुद्धि का लोकचेतनों में अन्धानुकरण, और तद्परिणाम—

अभिष्टु विवेक लोक में 'भेदिव्यवसान' क्या बाया है विवे-अन्धानुकरण' क्या है शस्त्र ने एवं इसके आचार पर गतानुगतिको लोक:- न लोक परामर्शिक: यह म्यत्र अभिभ्यक्त हो पड़ा है तथाकथित यही इन महान् बुद्धिमानों! का कव व्यपय! बन बाया है। कुछ मी वो जानने की समझ ने की विचारपरामर्श की, सर्वविवेक की कोर्ष मी ती आभरयता अनुभव नहीं करत व बुद्धिमान् इन अपने अनु-करणचेतनों में जो कि अलौकिक बचनों-बचनों के सम्बन्ध में अपने बुद्धिजन की तम्युन ला पड़ा कर देने में परामय का भी विज्ञान नहीं करते।

अपने वैदिक व्यामोहनात्मक सम्पूर्ण लोसधर्मों को, अपनी वैदिक मान्यताओं को, मातृकतापूर्ण अनुभूतियों को, तथा कल्पनाओं को सर्वोत्तमा उष 'समम्भ'व्यता (संयिह्यता) के अर्पण पर रका, वो निश्चयेन उष 'समम्भ' का न कमल यह समम्भ ही होगा, अपितु फिर वो यह स्वयं ही 'समम्भ' बन जायगा और उष अवस्था में आते ही वो महर्षि गोतमवदया परीक्षक इस स्वयंभवा जैसे 'समम्भ'दार की आकृति को देखते ही कह उठेंगे कि—'ब्रह्मविद्युय सोम्य ! मे प्रतिभासि । फिर अद्यापि इस न वो इतस्ततः दन्द्रम्ममाया ही बना रहना पड़ेगा, न पाण्डित्यपूर्ण बुद्धिवादों से स्वयस्त ही होना पड़ेगा । अपितु उष अवस्था में वो इस समम्भ क अनुग्रह से सम्पूर्ण भूवासङ्घियों से असंख्य रहता हुआ कर्ममुद्रणा इस समम्भ से युक्ता बुद्धि के माध्यम से सम्पूर्ण सांक्रिक अनुष्ठाना का वाशलपूर्वक व्यवस्थित ही बनाए रहगा । और या एकमात्र 'समम्भ' के स्वतः ही 'समम्भ' जाने क अनन्तर इसके अभ्युदय-निर्भयस्-स्वता ही सध्द होते रहगे । यदि इसन एक्य नहीं किया, अर्थात् यदि बुद्धिदम्भ में आकर, इस कालकुटिलता में आकर उष कालातीत समम्भ को इसन बुद्धि का आधार नहीं बनाया तो फिर अन्ततोगस्ता हमें एक बार पुन यही कह देना पड़ेगा कि—समम्भ बिना कुछ पापकी ।

४२१—'समम्भ' क स्वरूप-विरलेपण क सम्बन्ध में हमारा वैदिक व्यामोहनात्मक छल, एव वस्तुगत्या 'समम्भ' क सम्बन्ध में 'न स वेद, न स वेद' का उद्धोष—

इस वागविश्रमणामक वैदिक-व्यामोहन-छल से हम अपने आप को भी स्वयंभवा कर देना आवश्यक समझ रहे हैं कि, जिस 'समम्भ' के समम्भ ने के लिए 'समम्भ' नामक आलाङ्किक तत्व के प्रति सर्वापवा (उद्धोषार्ज) रूप का उपाय हमने पूर्व-में बतलाया है यह भी वस्तुता वैदिक-व्यामोहन के अविरिक और कुछ भी तो नहीं है । हम स्वयं तो क्या समम्भ गए इस का मापण स उष समम्भ को, और वृषधे को क्या समम्भ दिया इस का कट्टलमान से समम्भ का स्वरूप ? यदि हम अपने आपको 'समम्भ' हुआ मान लेते ह तो बरी वैदिक दम्भ । यदि इस से वृषधे को 'समम्भ' प्रदान कर देने में कुशल मान लेते हैं, तो हमारा सात्यन्तिक परामव । अवश्य मान लीजिए, और हम तो मान ही रहे हैं कि वह समम्भ समम्भने जैसी (बुद्धिगम्या) है ही नहीं । जो यह करता है कि मैंने उष 'समम्भ' (विज्ञाव) को-समम्भ लिया जान लिया पहिचान लिया विश्वास लीजिए-न स वेद न स वेद । उमने सबकुछ समम्भ कर मौ कुछ भी तो नहीं समम्भ ।

४२२—वाङ्मूल से एकान्तत असंस्पृष्टा सहज धारणा, उदनुप्राणित्या 'सवित्' (समम्भ), एवं हमारी समम्भ, और उसकी कथेव्यानुष्ठानात्मिका इयत्ता—

स्मरण रखिए । यह वाङ्मूल नहीं है । अपितु यही तो वस्तुस्थिति है । उष 'समम्भ' का वो 'न समम्भना ही उष का समम्भ लेना है । क्या वात्सल्य ? । यही कि-समम्भने-समम्भने मानने-मनवाने-जैसे वैदिक व्यामोहना तर्कानाथी सुक्रिया भूतनिशामबादों साङ्क्यात्म्यों आदि आदि से अपने आप को सर्वात्मना अवस्था रहते हुए, यह मान कर ही नहीं अपितु पूर्ण आस्था-भदा रहते हुए कि—'किन आप्त महर्षिवेदों हम प्राकृत माननों के लिए, हमारे अभ्युदय-निर्भयस् के लिए वो धर्मसम्भ-कर्मकर्म निरिधत किया है वह उहोंने समम्भ' के किया हो * अथवा बिना समम्भे किया हो हमें तो आस्था-भदा

४-बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिवेद' । (कृष्णावसूत्र) ।

रिक्त-लोकप्रवृत्ति का अनुयायी बना रहा हुआ प्रवाह में भी नहीं बह जाता। अतएव यह विद्वान् बुद्धिमान् की अपेक्षा कहीं अधिक विद्वान् और बुद्धिमान् है। इसीलिए तो यह वृक्षय शोणस्थ आविर्भूत होकरता है कि—“विद्वान् बुद्धिमान् की बुद्धि से शान् भय होजाते हैं अविद्वान्-किन्तु समझदार सहज मानव जब कि विद्वान् बुद्धिमान् समी कानों से वञ्चित रहता हुआ अपने भाग्य को ही रोया करता है यावज्जीवन”। क्योंकि—‘समझ बिना बुध बापड़ी’।

४१६—पुरुषार्थवादी समझदार मूर्ख आद्यन्त का सुखी, एणं मत्प्यवादी बुद्धिमान् विद्वान् आद्यन्त का दुःखी, तथा ‘संयित्’ रूपा ‘समझ’ का संस्मरण—

मूर्ख किन्तु समझदार नहीं पुरुषार्थवादी है अतएव यह आद्यन्त का सुखी है वहीं विद्वान् किन्तु बुद्धिमान् मात्प्यवादी है अतएव यह आद्यन्त का दुःखी है। मूर्ख भी समझदार सुखी है अन्तुष्ट है अपने प्राकृत-पुरुषार्थ के अनुग्रह से एवं विद्वान् भी बुद्धिमान् दुःखी है अन्तुष्ट है अपने प्राकृत-मात्प्यवादानुग्रह से। और निरूपणेन ऐसे विद्वान् बुद्धिमान् मानवपुटीयोंमें ही अपने बुद्धिवाद के मात्प्य से मानव की खूब ‘समझ’ का विरकार कर ऐसे ऐसे म्यावह व्यामोहन लड़े कर लिए हैं किन बुद्धिवादतक वसिपत-मयी धमस्याधो विपमतधो से ही खूबरूपेण स्वय एव प्रकृतिस्व मी मानव काय अस्वय तथा अमकृतिस्व ही बन गया है। और यों एक ‘समझ’ वैसी शोणस्थीय ‘संयित्’ का अपनी बुद्धिगम्या व्याम्याधो से विरकार कर मानवने अपने इस बुद्धिवादतक महान् पाप से आज धर्मुरा मानवता के ही सुल-शान्ति-स्थिति-व्याकृत्य को विच्छिन्न कर दिया है बुद्धिमानी से अनुप्राथिषा विग् देश-अलाहिमका-पुणवम्राट्टिगता पोषकाधो के क्षय से।

४२०—‘समझ’ को ‘समझने’ की आतुरता के सम्बन्ध में समझदारों के सहज उत्पार, तदुत्पारों के ठीक ठीक न समझने से ‘समझ’ की बुद्धि के लिए दुर्बोध्यता, एवं तदवस्था में—‘समझ बिना बुध बापड़ी’—

एव हि अनुमीयते कि बुद्धिमान् मानव अक्षर्य ही ‘संयित्’ नामक उच अलीकिक ‘समझ’ को समझने के लिए आतुर हो रहे होंगे जो सुख-शांति की अपिच्छरी है। यही तो वह व्यामोहन है जिसका हमें भी सर्वतोभावेन परित्याग कर देना है एवं इस ‘समझ’ की ‘समझारी’ (बुद्धिमानी) ने समझने के लिए आनुक-व्याकुल होने वाले लयावीय किन्तु बुद्धिमान् मानव-भेदों को भी परित्याग कर ही देना है। समझने के व्यामोहन का आत्यन्तिक परित्याग ही उस ‘समझ’ (संयित्) नामक अलीकिक तत्त्व को समझ जाने का एकमात्र अन्वयम रावपय है, जो कि—‘समझ’ नामक तत्त्व ही अपिभाषा में—‘समझनेवाला’ (विद्याता) कहलाया है। जो ‘समझ’ नामक अलीकिक तत्त्व स्वयं सचकुञ्ज समझनेवाला है, एवं सब को समझनेवाला (बुद्धिप्रवता) है, उसे मानव अपनी ‘समझ’ (बुद्धि) से कैसे समझ लगा ? इस के लिए तो इसे उस ‘समझ’ (विद्याता) की यत्किञ्चिदंशरूपा अपनी बुद्धि का इन्ध छोड़ कर सपताभावन उस ‘नासमझीरूपा समझ’ (अधिज्ञेय-अनन्ततत्त्व) की शरण में ही अपने आपको समर्पित कर देना पड़ेगा। और यदि बुद्धिमान् भी

अपने बौद्धिक व्यामोहनात्मक सम्पूर्ण लोकात्मियों का, अपनी बौद्धिक मान्यताओं को, मायुक्त्यापूर्ण अनुभूतियों को, तथा कल्पनाओं को सर्वोत्तमा उक्त 'समम्भूयता (संविद्येयता) के अर्पण कर कष्ट, वा निरन्वयेन उक्त 'समम्भूय' का न केवल यह समझ ही होगा, अपितु फिर वा यह स्वयं ही 'समम्भूय' बन जायगा, और उक्त अर्थव्यवस्था में आते ही वा महर्षि गोतमवदन्त परीचक इस सत्यनाम जैसे समम्भूयता की आकृति को देखते ही वह उठेंगे कि 'असंविद्येय सोम्य ! मे प्रतिभासि । फिर क्यापि इसे न तो इत्यस्ततः दन्द्रन्ममाण ही बना रहना पड़ेगा न पाश्चिदन्त्यपूर्ण बुद्धिपातों से अन्वस्त ही होना पड़ेगा । अपितु उक्त अवस्था में तो इस समम्भूय का अनुभव से सम्पूर्ण भूतावहिया से असंख्य रहता हुआ अन्व्युदया इस समम्भूय से युक्ता बुद्धि के माध्यम से सम्पूर्ण लौकिक अनुष्ठाना का बीजालम्बक व्यवस्थित ही बनाए रहगा । और वा एकमात्र 'समम्भूय' के स्वतः ही 'समम्भूय' जान क अनन्तर इसके अन्व्युदय-निर्भोयस्-स्वतः ही संविद्येय होते रहेंगे । यदि हमने ऐसा नहीं किया, अर्थात् यदि बुद्धिन्म में आकर, इस कालकुटिलता में आकर उक्त कालातीत समम्भूय का इसने बुद्धि का आधार नहीं बनाया तो फिर अन्व्युदयवा हमें एक बार पुनः यही कष्ट देना पड़ेगा कि—'समम्भूय बिना बुध पापकी' ।

४२१—'समम्भूय' के स्वरूप-विरलेपण क सम्बन्ध में हमारा बौद्धिक व्यामोहनात्मक छल, एवं वस्तुगत्या 'समम्भूय' क सम्बन्ध में 'न स वेद, न स वेद' का उद्धोष—

इस वाग्विद्वम्भणात्मक बौद्धिक-व्यामोहन-छल से हम अपने आप को भी सावधान कर देना आवश्यक समझ रहे हैं कि, जिस समम्भूय के समम्भूय न के लिए 'समम्भूय' नामक आलोचिक तत्व के प्रति स्वापण (उद्धोषण) रूप का उपाय हमने पूर्व-में बतलाया है वह भी अस्तु बौद्धिक-व्यामोहन के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है । हम स्वयं तो क्या समम्भूय गए इस आ मार्गस उक्त समम्भूय को और दूसरों को क्या समम्भूय दिया इस वाक्कुलमात्र से समम्भूय का स्वरूप । यदि हम अपने आपको 'समम्भूय हुआ' मान लेते हैं तो यही बौद्धिक दग्ध । यदि इस स दृश्य को 'समम्भूय' प्रदान कर देने में कुशल मान लेते हैं तो हमारा अत्यन्तिक परामर्श । अतएव मान लीजिए, अगर हम तो मान ही रहे हैं कि वह 'समम्भूय' समम्भूय जैसी (बुद्धिगम्या) है ही नहीं । जो यह कहता है कि मैंने उक्त 'समम्भूय (विज्ञाता) को-समम्भूय शिवा जान लिया पहिचान लिया निश्चयन लीजिए—न स वेद न स वेद । उक्तने अनेक समम्भूय कर भी कुछ भी तो नहीं समम्भूय ।

४२२—वाक्कुल से एकान्ततः असस्पृष्टा सहब धारणा, उदनुप्राप्तिता 'सवित्' (समम्भूय), एवं हमारी समम्भूय, और उसकी कपोल्यानुष्ठानात्मिका इयथा—

स्मरण रखिए ! यह वाक्कुल नहीं है । अपितु यही तो वस्तुस्थिति है । उक्त 'समम्भूय' का तो 'न समम्भूयता ही उक्त का समम्भूय लेना है' । क्या तात्पर्य ? । यही कि—समम्भूयने-समम्भूयने, मानने-मानवाने-जैसे बौद्धिक व्यामोहनों तर्काभावी युक्तियों भूतविज्ञानवालों लोकात्मियों आदि आदि से अपने आप को सर्वोत्तमा अकल्प्य रहते हुए, यह मान कर ही नहीं, अपितु पूर्ण आस्था-भ्रमा स्वते हुए कि—विन आन्त महर्षियोंने हम प्राकृत माननों के लिए, हमारे अन्व्युदय-निर्भोयस् के लिए जो धम्मसम्मत्-कर्मव्यवहारों निश्चित किया है वह उठेंगे समम्भूय के किया हो * अथवा बिना समम्भूय किया हो हमें तो आस्था-भ्रमा

*-बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिवेदे' । (कण्ठावसूत्र) ।

रिक्त-सोकप्यति अत्र अनुगामी बना रहता हुआ प्रवाह में भी नहीं बह जाता। अतएव यह विद्वान् बुद्धिमान् की अपेक्षा कहीं अधिक विद्वान् और बुद्धिमान् है। इसीलिए तो यह वृत्त सोकप्यत आनिभूत होपक्या है कि- 'विद्वान् बुद्धिमान् की बुद्धि से ज्ञान छटा लेजाते हैं अविद्वान्-किन्तु समझदार सहज मानव जब कि विद्वान् बुद्धिमान् समी सामों से वञ्चित रहता हुआ अपने भाग्य को ही रोना करता है यावज्जीवन'। क्योंकि- 'समम् बिना बुध बापड़ी'।

४१६-पुरुषार्थवादी समझदार मूर्ख आघन्त का सुखी, एवं मानववर्दी बुद्धिमान् विद्वान् आघन्त का दुःखी, तथा 'सवित्' रूपा समम्' का संस्मरण—

मूर्ख किन्तु समझदार वहाँ पुरुषार्थवादी है अतएव यह आघन्त का सुखी है वहाँ विद्वान् किन्तु बुद्धिमान् माम्मवर्दी है अतएव यह आघन्त का दुःखी है। मूर्ख भी समझदार सुखी है अन्तुष्ट है अपने प्राकृत-पुरुषार्थ के अनुग्रह से एव विद्वान् भी बुद्धिमान् दुःखी है अन्तुष्ट है अपने प्राकृत-माम्मवादनुग्रह से। और निश्चयेन ऐसे विद्वान् बुद्धिमान् मानवधुरीयोंमें ही अपने बुद्धिमान् के माम्म से मानव की खूब 'समम्' का विरक्तार कर ऐसे ऐसे म्याबह म्यामोहन लड़े कर लिए हैं जिन बुद्धिवादाम्मक वरिषत-मयी समम्माका विषमताओं से ही खूबकलेय स्वल्प एवं प्रकृतिस्थ भी मानव आब अस्वस्थ तथा आमकृतिस्थ ही बन गया है। और यों एक 'समम्' बैठी लोकगीता 'सवित्' का अपनी बुद्धिमान् म्याम्माओं से विरक्तार कर मानवने अपने इस बुद्धिवादाम्मक महान् पाप से आब सम्पूर्ण मानवता के ही कुल-शान्ति-स्वस्थि-स्वाकन्म को विकम्पित कर दिया है बुद्धिमान्नी से अनुप्राणिता शिग् देठ-कलात्मिका-युगधम्मनिगता धौषलाओं के ह्म से।

४२०- 'समम्' को 'समम्झने' की आतुरता के सम्बन्ध में समझदारों के सहज उद्गार, उद्गारों क ठीक ठीक न समझने से 'समम्' की बुद्धि क लिए दुर्बोध्यता, एवं तदवस्था में- 'समम् बिना बुध बापड़ी'—

एव हि अनुमीम्मे कि बुद्धिमान् मानव अवरय ही 'सवित्' नामक उठ यलौकिक 'समम्' को समझने के लिए आतुर हो रहे हैं जो मूल-शान्ति की अविच्छात्री है। यही तो वह म्यामोहन है बिल्का हमें भी सर्वतोभावेन परिष्याग कर देना है एवं इस 'समम्' को 'समम्झारी' (बुद्धिमान्नी) से समझने के लिए आकुल-म्याकुल होने वाले उवाठीय, किन्तु बुद्धिमान् मानव-भेदों को भी परिष्याग कर ही देना है। समझने के म्यामोहन का आस्पन्तिक परिष्याग ही उस 'समम्' (सवित्) नामक अलौकिक तत्त्व को समझ जाने का एकमात्र अन्वयतम राजपथ है, जो कि- 'समम्' नामक तत्त्व ही अविभाया म- 'समम्झनेवाला' ('विद्याता') कहलाया है। जो 'समम्' नामक अलौकिक तत्त्व स्वयं सबबुद्ध समझनेवाला है, एव सब को समझनेवाला (बुद्धिमयता) है, इसे मानव अपनी 'समम्' (बुद्धि) से कैसे समझ लंगा ? इस के लिए तो इसे उस 'समम्' (विद्याता) की यन्त्रिद्विराहा रूपी अपनी बुद्धि का इन्म छोड़ कर सर्वतोभावेन उस 'नासमम्भीरूपा समम्' (अविशेष-अनन्ततत्त्व) की राज्य में ही अपने आन्वी व्यर्तित कर देना पडगा। और वरि बुद्धिमान् की

४२५—'स एव' लक्षण अनन्तग्रहण के स्वरूप-सम्बन्ध में सहज-जिज्ञासा की अभिव्यक्ति, तत्पूरक उदमिन्न 'मानव' एवं तद्दृष्टिकोण की बुद्धिपथ से अतीवता—

अमरीक पाठकों को स्मरण होगा कि, प्रतीकत्व-कारण, तथा अर्थीभावों से अत्यंत असाधारण अनन्तग्रहण के सम्बन्ध में प्रतीकत्वगत विप्रतिपक्ष का उपापान कर हमने यह जिज्ञासा अभिव्यक्त की थी कि—'तो क्या उस-वह-रूप अनन्तग्रहण की कोई स्वरूप-परिभाषा नहीं है'। नहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि, यदि इस सम्बन्ध में जिज्ञासा का बहुत ही अधिक आग्रह होता है, तो श्रुतिशास्त्र प्रतीकत्वमोहात्मक सम्पूर्ण दृष्टान्तों का निर्बल प्रमांनित करता हुआ अन्तर्गतत्वा एकमात्र 'मानव' को ही उस अनन्तस्वरूपगत का 'पुख मान लेता है। अतएव कहा जा सकता है कि, 'जो अनन्तग्रहण है, वही मानव है। ग्य जो मानव है, यही अनन्तग्रहण है। इसी दृष्टिकोण पर माहृत, किन्तु उद्दिमान् मानव तर्क कह उठता है कि—'वास्तव में समझ में नहीं आती। हम तो इस तथ्य को बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा समझाएँगे'। इसी पर हमें यह उतर मिला है कि यह निवेदन का 'ने ही पृथक् कर लेनी पड़ी कि—'समझ से तो यह समझ में आसकता है, किन्तु बुद्धि से, किंवा बुद्धिगम्या समझ से यह समझ में नहीं आसकता। यदि बुद्धि में समझ नहीं है तो कि यह बुद्धि सर्वथा अममभा है उसे समझ में क्योंकि समझ यिना बुध यापड़ी।

४२६—अनन्तग्रहण का ही किञ्चित् (कुछ) मानव, एवं इस 'किञ्चित्' की स्वरूपजिज्ञासा, तथा तत्समाधानभूमि उदाहरणविधिरूपा प्रतीकविधि—

अभिहित। वह मानव इस तत्त्वपूर्ण लक्षणिक का सम्बन्ध कर लेता है तो निश्चयन उसकी समझ में (बुद्धि में) यह आजाया है कि, वास्तव में उस में और मानव में कुछ भी विभेद नहीं है। अतएव मानव उसी का 'पुख' है। 'पुख' का तात्पर्य क्या प्रतीक है ! नहीं। इस प्रतीकत्वमोहन के निराकरण के लिए ही तो हमें 'दिग्दशकालमीमांसा' जैसे प्रतीकत्वक व्यामोहन का अनुगमन करना पड़ा है। उद्दिमान् मानव चाहता है तत्काल प्रतीकत्वक दृष्टान्तविधि से ही समन्वित कर लेना। किसी भी उदाहरण से उदाहरण को अप भी आप जिस किसी भी मानव के सम्मुख करवेंगे, तत्काल उसका प्रथम प्रश्न होगा कि—'मम (मानव) ! अर्थात् 'उदाहरण दे के समझाइए। इस उदाहरणविधि का नाम ही है—'प्रतीकविधि', एव त्वयं 'उदाहरण किंवा दृष्टान्त का नाम ही है—'प्रतीक'।

४२७—प्रतीक की बुद्धिगम्यता का आग्रह, एवं तत्पूरक धालोपलालनात्मक-धौत उदाहरणों का स्वरूप-दिग्दशन—

प्रतीक भी ऐसा होना चाहिए, जो बुद्धिगम्य हो। अर्थात् जो मानव की बुद्धिक-सीमा में समाहित होकर। अर्थात् बुद्धि किसे पकड़ सके। अर्थात् प्रतीक होना चाहिए-दिग्दशकाल-कालात्मक अर्थात् मौलिक विषय जो कि न कोई मोगकाल निरिपत हो, जो पूर्वादि विद्याओं से सम्बन्धित हो, साथ ही जो सर्वथा असाधारण-सात्मक हो अर्थात् धामन्कुर हो स्थानादयोपी (बर्गह देखने वाला)-एक-मौल्य-द्विजगम्य-पर्याय हो। यही वह अलानुदपतुगता किंवा है उदाहरण-दृष्टान्त-प्रतीक-जिज्ञासा है श्रुतिशास्त्रने अग्रमम म वैदे

यथा वा द्विताहितत्रिवेकरद्वित्वान्मृगः स्थापायमपश्यन् गानतानश्रवणमोहितः सन् व्याधमभिसरति, एवम्—अज्ञानतिमिरसवृतात्मा खलु ससारवारिधिर्महातरणिं शिवपदसरलसरणिं सिद्धिपददायक सकलगुणनायकम्, अनादिभवसचिदाष्टविध-कर्मबन्धनोच्छेदक मिथ्यात्वग्रथिभेदक सम्यग्ज्ञानसुभावर्यणशील शील प्रविहाय मृगः) विवेक रहित होने के कारण मृग जैसा यह अविनीत शिष्य भी (सील-शील) मूलोत्तरगुणरूप अथवा विनयसमाधिरूप साधुसबधी आचार को (चइत्ता-त्यक्त्वा) परित्याग कर (ण-खलु) निश्चय से (दुस्सीले-दुःशीले) अविनयरूप दुराचार का (रमइ-रमते) सेवन करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—बोधविकल होने के कारण जैसे सूकर प्रशस्त आहार का परित्याग कर नितान्त अशुचि पदार्थका यज्ञे जानदके साथ सेवन करता है, तथा द्विताहित विवेक से रहित होनेकी वजह से जैसे मृग भविष्य में होने वाली आपत्ति को नहीं जानता हुआ गान के सुनने में एकतान होकर अपने आप व्याध की जाल में फस जाता है, उसी तरह अज्ञानरूपी अधकार से आच्छादित हुआ अविनीत शिष्य भी ससाररूपी समुद्र से पार लगाने के लिये बड़े सुरक्षित जहाज जैसे, तथा शिवपद में छेजाने के लिये सुन्दर सीधे मार्ग जैसे, एवं सिद्धिपद को

मुक्ते) आय छे (एवं) आ प्रभाषे (मिण-मृग) विवेकरहित धवाने कारणे मृग जेवा आ अविनीत शिष्य पक्ष (सील-शील) भूखोत्तर गुणरूपअथवा विनय-समाधिर्रूप साधुसबधी आचारनो (चइत्ता-त्यक्त्वा) परित्याग करी (ण-खलु) निश्चयथी (दुस्सीले-दुःशीले) अविनयरूप दुराचाररु (रमइ-रमते) सेवन करे छे

भावार्थ—बोधविकल होवाने कारणे जेभ सूकर (बूड) प्रशस्त आहारनो परित्याग करी नितान्त अशुचि पदार्थनु बारे आनइथी सेवन करे छे अने द्विताहित विवेकथी रहित होवाना कारणे जेभ मृग भविष्यमा आपनारी आपत्तिने भङ्गतो नधा, कारणके संगीतना सुरेना ओकतान जनीने पोते पोताना छथे शीकारनी प्रगभा इसाई अथ छे जेवी रीते अज्ञानरूपी अधकारथी आच्छादित भनेदा अविनीतशिष्य पक्ष ससाररूपी समुद्रथी पार करवावाजा मोटाभा मोटा सुरक्षित जहाज जेवा तथा शिवपदभा एह अवावायो सुन्दर सीधा मार्ग जेवा अने सिद्धिपदने आपनार जेवा शील-अर्थात् मुनिना

४२५- 'स एव' लक्षण अनन्तवृद्ध क स्वरूप-सम्वन्ध में सहज-जिज्ञासा की अभिव्यक्ति,

तत्पूरक तदभिन्न 'मानव' एव तद्दृष्टिकोण की बुद्धिपथ से प्रतीतता—

प्रशासित पाठकों को स्मरण दायक, प्रतीकामक-अर्थ, तथा अंशीभावों से अशुद्ध झलाती व अनन्तवृद्ध के सम्बन्ध में प्रतीकानुगत विप्रतिरक्ति का उत्पादन कर हमने यह जिज्ञासा अभिव्यक्त की थी कि- 'तो क्या उस-वही-रूप अनन्तवृद्ध की कोई स्वरूप-परिभाषा नहीं है'। वही यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि, यदि इस सम्बन्ध में जिज्ञासु का बहुत ही अधिक आग्रह होता है तो श्रुतिशास्त्र प्रतीकभ्यामोद्नात्मक सम्युक्त दृष्टान्तों का निर्बल प्रमाणित करता हुआ अन्तर्गतत्वा एवम्मान 'मानव' का ही उस अनन्तस्वरूपगत का 'कुछ' मान लेता है। अतएव कहा जासकता है कि, 'जो अनन्तवृद्ध है वही मानव है' एवं जो मानव है वही अनन्तवृद्ध है। इसी दृष्टिकोण पर प्राकृत निरुद्धिमान मानव सर्वत्र वह उद्यत है कि- वात समझ में नहीं आ रही। हमें तो इस तथ्य को बुद्धिगम्यता व्याप्त्य के द्वारा समझना पड़ेगा। इसी पर हम सर्वरूप से ही यह निवेदन कर देने की प्रवृत्ति पर डनी पड़ी कि- समझ से तो वह समझ में आसकता है, किन्तु बुद्धि से, किंवा बुद्धिगम्यता समझ से यह समझ में नहीं आसकता। यदि बुद्धि में समझ नहीं है तो कि वह बुद्धि सवथा असमथा है उसे समझ में क्योंकि- समझ थिना बुध थापकी।

४२६-अनन्तवृद्ध का ही किञ्चित् (कुछ) मानव, एवं इस 'किञ्चित्' की स्वरूपजिज्ञासा, तथा तत्समाधानभूमि उदाहरणविधिरूपा प्रतीकविधि—

अभिव्यक्त। जब मानव इस तत्त्वपूर्ण शोचस्फुटि का समन्वय कर लेता है तो निश्चयेन उसकी समझ में (बुद्धि में) यह आजाता है कि वास्तव में उस में और मानव में कुछ भी भिन्न नहीं है। सम्बन्ध मानव उसी का 'कुछ' है। 'कुछ' का वास्तविक क्या प्रतीक है?। नहीं। इस प्रतीकभ्यामोद्ना के निराकरण के लिए ही तो हमें दिग्देशकालमीमांसा जैसे प्रतीकामक व्यामोहन का अनुगमन करना पड़ा है। बुद्धिमान मानव चाहता है सबकुछ प्रतीकार्थिक दृष्टान्तविधि से ही समझित कर लेना। किसी भी सर्वत्र से सर्वत्र ही तथ्य को जब भी आप जिस किसी भी मानव के सम्मुख रखेंगे उन्मत्त उसका प्रथम प्रश्न होगा कैसे? (मस्तक)। अर्थात् 'उदाहरण वं क समझिए। इस उदाहरणविधि का नाम ही है- 'प्रतीकविधि' एव स्वयं 'उदाहरण किंवा दृष्टान्त का नाम ही है- प्रतीक'।

४२७-प्रतीक की बुद्धिगम्यता का आग्रह, एवं तत्पूरक बालोपलालनात्मक-भौत उदाहरणों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रतीक भी ऐसा होता चाहिए, जो बुद्धिगम्य हो। अर्थात् जो मानव की शैक्षिक-वीमा में समाविष्ट होसके। अर्थात् बुद्धि जिसे पकड़ सके। अर्थात् प्रतीक होना चाहिए-दिग् वृत्त-कालात्मक अर्थात् शैक्षिक विषय को ही न केवल भोगकाल निश्चित हो जो पूर्वादि दिशाओं से समन्वित हो साथ ही जो सर्वथा देशप्रदेश-राम्य हो अर्थात् आमन्त्र हो स्थानानुवर्धी (जैसे रोके वाला)-स्पृश-मोच-इन्द्रियगम्य-पर्याप्त हो। वही यह बालबुद्धिपथगत जिज्ञासा है उदाहरण-दृष्टान्त-प्रतीक-जिज्ञासा है श्रुतिशास्त्रन आरम्भ में कैसे

पूर्वक याकन्वीचन अपनी समझ (बुद्धि) अपना मन, अपनी इन्द्रियाँ अपना शरीर, इन सब प्राकृत बिकर्तों को एव सर्वतोभावेन अपने आपको भी उस कर्तव्यनिष्ठा में ही केवल कर्तव्यबुद्धि से ही समर्पित कर ही देना है। कर्तव्यव्यवहार ही हमारी 'समझ' की इच्छा है। यदि भगवन्नुपग्रह से यह कर्तव्यबुद्धि भी हमारी प्रज्ञा में अभिव्यक्त होगई तो हम समझ लगे हमने सबकुछ समझ लिया आन लिया पहिचान लिया एव प्राप्त कर लिया।

४२३—कर्तव्यानुष्ठानात्मक आचारधर्म मे असंस्पृष्ट समस्कार दाशनिर्को, तथा सन्तवाहो के आचारनिष्ठाशून्य महतो महीयान् उद्गार—

यदि कर्तव्यबुद्धि की समझ नहीं आई हमें तो फिर कौरी 'समझ' हमारा क्या उद्धार कर देगी? इस प्रश्न का ठीक ठीक समाधान तो वे दार्शनिक ही कर सकेंगे, जो समझने के लिए आदर करते हुए लौकिक (आधिभौतिक) पारलौकिक (आधिदैविक) समस्त कर्तव्यधर्मों को बलान्बलि समर्पित कर कार्य-कारण-विमर्शों से स्वयं भी उत्पीडित होते रहते हैं एव समानधर्मा धर्मधर्मियों को भी उत्पीडित बनाते रहते हैं। अथवा तो फिर वे कृतसम्प्रदायवादी ही तथाकथित प्रश्न का समाधान करसकेंगे जो अपनी समझ (बुद्धि) से अपने गुण की समझ (कृपा) से सबकुछ समझते हुए अपने मूर्खों को अपनी समझ—(अनुभूति) का ही व्याख्यान देते हुए यही समझते रहते हैं कि—'सत्सरोऽयमसार (ब्रह्मा साधुपात)। संसार असार है।' 'जीवनमिषं ऋषभङ्ग रम्' (जीवन दो दिन का भी नहीं अपितु क्षणमात्र का है)। 'सुखदुःखौ-आगमायापिनौ' (सांसारिक सुख-दुःख-विनश्यते हैं, जो ही बदलते रहते हैं)। 'अवश्य सद्यसम्बन्धत्वात् सब से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए, और एकमात्र ऐसे महात् ज्ञानप्रवाहा गुरुमगधाम की शरण में ही आशाना चाहिए। तभी तुम्हें परमपद मिलेगा)।

४२४—स्वानुगता समझ के सम्बन्ध में किञ्चिद्विष दिग्दर्शन—

यही बात हमारी तो कृतसम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि उस 'समझ' के (विशाल-प्रायश्चित्त के) एकाद्यात्मक प्रतीक के अनन्तकालात्मक महान् अलक्षक के भी अरात्म-अत्यरात्म-रूप-चन्द्र-बन्धसंरचक के निरौम अनुग्रह से समन्वित अपने बन्धराध सुगुण-ब्रह्ममूर्ति माता पिता के बरणों का भद्रापूर्वक, किंवा पुण्यधर्मानुसार अश्रद्धा-पूर्वक संस्मरण करते हुए जही माशफया कर्मनिष्ठा का सम्भरण-मात्र करते हुए भी यदि हम अपना यह प्राकृत बौद्धिक व्यतीत कर सके अलपुण्यानुग्रह से तो बही हमारे लिए पर्याप्त होगा। वृत्ते शब्दों में-श्रुतिशास्त्र पर हमारी गन्तव्य-स्तननरुमा भद्रा-सुरक्षित रहे, प्राकृत-बुद्धिमान् मानवी की कृपा से समुपवा पुण्यधर्मानुगता-विधमा समस्कारों के इस मयावह प्रकल्पितअल में हम यथाकर्मचित् श्रुतिशास्त्र के दर्शन-स्पर्श-मान का महत्प्रमाण प्राप्त करते रहे और वी सर्वथा-अभ्य-वहितरूपेणापि शास्त्रसंस्मरणपूर्वक भी अपना प्राकृत जीवन व्यतीत करसके तो हमारी समझ से तो हमारे लिए यही पर्याप्त होगा—

यस्यामत तस्य मत, मस यस्य—न वेद सः।

अविज्ञातं विज्ञानतां, विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

—श्रोतमिपत

कालातीत अनन्तप्रद रा प्रतीगामक वैद्य सर्वभेष्ट दृष्टान्त बन गया, जिस क समतुलन में यहाँ स (परमनाल से) आगम कर चान्द्रमण्डलराल- (गणनकाल) पच्यन्त के प्राकृत-कालिक विषय में और और भी दृश्य अमूर्त-अप्यक्त-अनन्तमाया मरु सर्वभेष्ट दृष्टान्तात्मक प्रतीक नहीं था ।

४२६-बुद्धिपूर्वक समन्वय का महान् आग्रह, तदुपशमनार्थ ही 'दिग्देशकालमीमांसा' का पौद्धिक-त्रिजम्भण, एवं वस्तुगत्या दिग्देशकालमाया का निस्तारस्व—

बुद्धिगम्या-दिग्देशकालानुगत-भौतिक-व्याख्यामा की ही परमबुद्धिमान-समभट्टारी-मानने-मनवाने पास प्राहत लाइचतुर मानव प्रकृतिविन्त गणनिक मन्त्रिक तथा भूविक्रम वैज्ञानिक मन्त्रिक, इन तीनों पगों का बिन का ही मात्र सम्पूर्ण विषय में आधिपत्य है) यही महान् व्यामोहन रहता है कि मानव की सम्पूर्ण समस्याओं का समन्वय बुद्धिपूर्वक ही होना चाहिए, दिग्देशकालानुगत-क्रमव्यवस्थापूर्वक ही 'वस्तुनिरूपण' होना चाहिए । यही इन तीनों पगों की प्ररनशीली है । एवं इसी क्रमव्यवस्थानुगत बुद्धिगम्या दिग्देशकालाप्रिभवा उत्तरशीली से यह स्पष्ट होता है । जब कि वस्तु तथाविधा प्ररनशीली, एवं तथाविधैव उत्तरशीली यानी ही महिमामय विषयों के सम्पूर्ण धनमान भी अपने अस्तित्व मुर्छित नहीं रह सकती ।

४३०-दिग्देशकालनिबधना बुद्धि क महतोमहीयान् चमत्कारों से प्रभावित प्राकृत मानव का पौद्धिक-व्यामोहन, एवं तन्निग्रहार्थ कालातीत अनन्तप्रद न प्रति वधिरपेक्षता—

हिन्दु मानव मानव को टहरा बना प्राहत मानव को टहरा जिसे बुद्धि' वैद्य वह अमूर्त ? धन ! प्राप्त है जिसके माध्यम से, इसी पौद्धिक दिग्देशकाल के माध्यम से तन्नुपस्थित क्रमव्यवस्थाविधा भू-शैतिकी व्याख्यामा के माध्यम से उधने बड़े बड़े रम्यकृत्य-स्थापित कर टाले (प्राकृत-सोचतुरमानवों में), बड़े बड़े तत्त्वपूर्ण ज्ञानमीमांसा मरु प्रत्य लिल डाले (प्राकृत-सोचव्याख्याय दार्शनिक मानवों में), एवं महतोमहीयान् आश्चर्यप्रद भौतिक आविष्कार कर डाले (शैतिक-भूविक्षानवापी मानवाने) । ऐसा सर्व-शक्ति-सामर्थ्य-भूत-परिग्रह-सध्या-सम्पन्न बुद्धिमान् मानव क्या किना सोचे समझ एक अपठित अन्ध भट्टालु श्री मोक्षि-शास्त्र कहता है एतावता ही क्या किसी जैसे तत्व की सजा स्वीकार कर लेगा जिसकी न था कही दिग्देशकालमीमांसा ही उपलम्बि हो रही अतएव न को समझने ही आरहा ! ।

४३१-दिग्देशकालविमूढ प्राकृत बुद्धिमान् मानव के बुद्धिदम्भ पर कालातीता आप-प्रज्ञा का प्रक्षय प्रहार, तदुद्वारा विमोहनोपशान्ति, एवं तदनुग्रहार्थ- 'शाधि मां, श्रीं प्रपन्नम्' का प्रसूतभाव से अनुगमन—

एसे ही बुद्धिगर्वित प्राकृत मानव पर पहिला और प्रक्षयप्रद-धरधोरकम अनन्तकालात्मक वैद्य प्रहार होता है श्रुतिप्रका के द्वारा जिसके शक्ति अभिज्ञपमान से उक्त विधि मानव महामार्गों का सम्पूर्ण प्राकृत विमोहन उपशान्त होजाता है और यही श्रुतिप्रका एवं अत्र निरूप्ये अज्ञा-आस्था-पूर्वक प्रगतभाव से केवल अमूर्त दिग्देशकालमीमांसा का एकमात्र महान् उद्देश है । इस उद्देशानु पर प्राकृत मानव अपने

सूक्त याजगदीयन अपनी समक (बुद्धि) अपना मन अपनी इच्छियां, अपना गरीर, इन सब प्राण्य विषयों का, एक सनत्प्रमाणन अपने आपका भी उस इत्यन्विष्टा में ही केवल इत्यन्विष्टि न ही समर्पित कर ही बना है। इत्यन्विष्टिमातृदान ही हमारी समक की इच्छा है। यदि न्यायपुरप्रद से यह इत्यन्विष्टि न ही हमारी प्रज्ञा में अनिष्कृत होगी तो हम समक लेंगे, हमन सनदुह समक लिया, धान लिया पहिचान लिय एक प्राण कर लिया।

४२३-कृत्यालुष्टानात्मक आचारधम्म स असंसृष्ट समन्वय दानुनिकों, तथा सन्तवाहों के आचारनिष्ठासून्य महतो महीयान् उद्गार—

यदि इत्यन्विष्टि की समक नहीं प्राप्त हों तो फिर कौरी 'समक' हमारा क्या उद्धार कर गयी ? हम प्ररन का गीक ठीक समाधान का ब गारानिक ही कर सकेंगे वा समन्ते क लिए आदुर बनत हुए लाईक (आनिमातिक) पाष्ठाकिक (आधिबक) समन्त इत्यन्विष्टि में बलात्कालि समर्पित कर सम्य-धरण-विनयों में स्वयं भी उत्पीडित होत रहत हैं एक अनानधम्मा अकर्मस्वीं को भी उत्पिद्र बनात रहत हैं। अथवा तो फिर ब सनत्प्रमाणनगारी ही तप्याधित प्ररन का समाधान करसकेंगे वा अपनी समक (बुद्धि) स शरण गुरु की समक (हृषा) स सनदुह समन्त हुए अपने नहीं वा अपनी समक- (अनुभूति) का ही स्यान्वयन दत्त हुए वही समन्त रहत हैं कि—'ससत्प्रेष्यममार. (वचना ! सत्यवान ! । मंसार असार है) । 'जीवननिर्दंशयामङ्ग रम्' (जीवन हो दिन का भी नहीं, अपितु अणुमात्र का है) । 'सुन्दुष्ठी-आगानापापिनी' (आगारिक सुन्द-दुन्-विनस्पर है, यों ही बखत रहत है) । 'अतप्य सपसम्यन्वत्पामः सब से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए, और एकमात्र ऐसे महान् ज्ञानप्रज्ञता गुरुमगवान का शरण में ही आत्राना चाहिए। तभी तुम्हें परमपद् मिलेगा)।

४२४-स्वानुगता ममक क सम्बन्ध में छिन्विदिव दिग्दशन—

यही बात हमारी तो कलकम्ब में यही निबन्धन कर देना पर्याप्त होगा कि उस 'समक' के (विद्या-साधक के) एकत्रात्मक प्रतीक के अनन्तधलात्मक महान् अलक्षक के भी अद्यत्म-प्रत्यद्यत्म-सम-बन्ध-बन्धुत्व-रचक के निःश्रीम अनुग्रह स अनिष्टक अपने अनद्यत्य सुगुण-ब्रह्मनिर्दि माया विद्या क चरनों का अद्यावक, किंवा पुण्यधम्मलुधर आभङ्गा-वृक संभरण करते हुए उन्नी प्राशक्तय कम्मनिष्ठा का सत्प्रमाण करते हुए भी यदि हम अपना यह प्राण्य जीवन व्यतीत कर सके अलपुण्यतुमह से तो यही हमारे लिए पर्याप्त होगा। बड़े शर्मों में-श्रुतिशास्त्र पर हमारी गन्धक-स्वसनकमा अद्या-मुर्ध्वत रहे, प्राण्य-बुद्धिमान् मानवों की हृषा स अनुत्पत्ता पुण्यधम्मलुधर-विद्यमा अन्वयाधी के रत अथवा प्रकल्पितकाल में हम यथाकल्पित श्रुतिशास्त्र के दशन-सर्ग-नाम का महद्दाम्य प्राप्त करते रहे और यी कथा-अन्व-बहिष्कृतकेसावि शास्त्रसंभरणवर्क भी अपना प्राण्य जीवन व्यतीत करके, तो हमारी समक स वा हमारे लिए यही पर्याप्त होगा—

यस्यामत तस्य मत, मत यस्य-न वेद स ।

अविज्ञातं विज्ञानता, विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

—इरायनियम

४३४-प्रश्न-प्रदशनादि भावों से असस्पष्ट-नैष्ठिक मानव का आत्ममर्षण, तदनुबन्धिनी तूष्णीभावानुगता सहज जिज्ञासा, एवं तद्विपरीत भावुक, किन्तु अद्भुत ही जिज्ञासा का कान्वालीकृत इतिवृत्त—

आत्मवन्धन में न तो प्रश्न ही होता न कार्य अन्य प्रश्न ही। अतः यह सब तो यथादेशमूलक तूष्णीभाव में ही सम्बन्ध रहता है। श्रुतिमातृगुण-आशयप्रति में यद्यपि आत्मवन्धन का एका स्वरूप नहीं है। अतः उन प्रादेशमित्तक विधा का प्रतीकरूप से हाथ में लेकर नाम-गात्र का उधारणमान कर अन्वेष्टाणी तूष्णीभाव में प्रतिष्ठान कर प्रणतमुद्रा से आचार्य्य के सम्मुख श्रुतुभाव से परामात्र हो जाता है। न तो कार्य प्रश्न न कोट छुट्टादृष्ट एव न अश्रुतुगुणालोचनता। एसी विधी मी मातृक्यागुणां शिथिल इति का सम्बन्धित-विदाता क चर में कार्य भी सम्बन्ध नहीं है (स्मिन् ए छा उप)। इधर अत्रुन महामात्र अपनी उची सहज मातृक्या के आशय में आकर इस रूप से विज्ञाप्य कर रहे हैं कि-‘मरी युद्धि नष्ट होगद है। मैं आपसे पूछता हूँ। मैं धम्मसम्मूदचेता हूँ। मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे मार्ग पतलाइए। मैं आपकी शरण में हूँ।’ त्रीमी मातृक्यागुणां विज्ञासा वैद्य ही समाधान और उसका वैद्य ही परिणाम। तनी तो सगुण सम्भ कर भी तो अत्रुन की सरलनपरम्पर उपरान्त न हातही सर्वकम्ना। इसीलिप तो गीत्य विपरिवास्त नहीं है आर्मानव के लिए। अतः यह तो लोकप्रदाइक-मातृक्यावरचक-धम्मरोशरलशास्त्र मान ही है। तनी तो कत ध्वविधि के सम्बन्ध में स्वयं भगवान्-‘तस्मान्छास्त्र प्रमाणं ते धम्म्याध्वय्यव्यव स्थितौ रूप म इव महान् उचरणापित्तं च सम्बन्ध गीत्य से न मानकर भ्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र से ही मान रहे हैं।

४३५-परमकालात्मक अनन्तकाल की प्रतीकता से उपशान्त मानव में सहज प्रस जिज्ञासा का आविर्भाव, एवं तज्जिज्ञासा का धम्मोचरण पर विभाम—

तदि य-परमकालात्मक अनन्तकाल की प्रतीकता से उपशान्त मन हुए सहज मानव में ही जिज्ञासा का उदय होता है विधमा-अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्यादिरूपेण यथाज्ञान हुमा है। और उस सम्प्रदा विज्ञासा से ही तन्मिप्याणी जिज्ञासु अन्वेष्टाणी मानव अत्र यही से उस ‘समम्’ की दीक्षा का अधिकारी बनता है जिससे बुद्धिभ्यामोहनकरणा-वर्षन्त तो यह बद्धित ही प्रमाणित हो रहा था। इस ब्रह्मजिज्ञासा का और धम्मोचरण का उपक्रम एक साथ ही हो जाता है आचार्य्यपुरुष में इस अन्वेष्टाणी का। प्यान रहे धम्म की जिज्ञासा नहीं होती। धम्म का होता है आचरण एवं ब्रह्म की होती है जिज्ञासा।

४३६-जिज्ञासात्मक ब्रह्म, एवं आचरणोत्तमक धम्म भावुकता क निग्रह से दोनों क्षेत्रों का विपर्यय, तथा तन्निवन्धन ब्रह्माचरण-व्यामोहन, और धम्मप्रचारव्यामोहन— ब्रह्म का जिज्ञासा से ही सम्बन्ध है तो धम्म का आचरण से (त्रिचि-कृतव्य से) ही सम्बन्ध है। बुभोव्यवश अब दोनों का चर सल अता है तो गेनी ही लक्ष्यमानव से अन्वेष्य ही बने

•-बौदनालक्षणाऽर्था धम्म । (पूषमीमास्यसूत्र)

ही उदाहरण इसके सामने रखते भी हैं वैश्वकि-इन्द्र-विपचनास्नान में विद्यार से प्रतिपादित है। एवंक में प्रतिबिम्बित पुरुष, बल में प्रतिबिम्बित पुरुष, चतुःपदा में प्रतिबिम्बित पुरुष, प्रज्ञानपटल में प्रतिबिम्बित पुरुष, आदि आदि सभी उदाहरण उस आख्यान की मातृकासंरक्षणप्रवृत्ति-लक्षणा दार्शनिक-पद्धति के ही स्वरूप बन रहे हैं। सभी दृष्टान्त भौतिक हैं, बल्कि सृष्टिविज्ञान के अनुसार इन सभी औपनिषद् दृष्टान्तों का प्रतीक से सम्बन्ध न होकर तत्त्व 'प्रतिरूपता' से ही सम्बन्ध है, वैश्वकि अनुपद में ही निबधन किया जाने वाला है। अगर प्रतिरूपविधि से उपनिषद् के वे सभी दृष्टान्त 'मानवस्वरूप' के अन्तर्गत आते हुए सर्वथा सिद्धान्त ही सन्ने हुए हैं जिस 'व्यवहारवैश्विकता' का सम्बन्ध करने में असमर्थ दार्शनिक-प्रज्ञाने सम्भक्ता इन औपनिषद् प्रतिरूप दृष्टान्तों के आचार पर प्रतीकात्मक-स्थानगुरुरूप-भृगुमरीचिका-शाराशुक्ल-धन्व्यापुत्र-आदि आदि-वैश्वे भौतिक दृष्टान्त ही सम्बन्ध बना लिए हैं अप्यात्मवाद के व्यामोहन से जो कदापि उस प्रमूय अनन्त के न ही प्रतिरूप ही हैं न प्रतीक ही। दार्शनिकों का महान् व्यामोहन यही था कि, व इन भौतिक दृष्टान्तों के माध्यम से स्वयं भी उस अनन्त की बुद्धिगम्य बनाने के लिए आहुर हो पड़े थे एवं वृत्तों का भी 'परमाबाधुगम्य-दार्शनिकता' के व्यामोहन से बचलाने के लिए आहुर बन गए थे। अतएव 'दर्शन' रूपा परपनुगता दसी मातृकाने इसी बुद्धिवादात्मक व्यामोहनने दार्शनिक के मस्तिष्क में भौतिक-दृष्टान्तरूप व्यामोहन उत्पन्न कर ही तो लिया।

४२८-कालात्मक प्रतीक-दृष्टान्तों के अष्टविध (=) विषयों का नामसंस्मरण, एवं परम-कालात्मक अनन्तकाल की अन्तिम प्रतीकता का सम्बन्ध—

दार्शनिक मस्तिष्क से उद्भूत दिग्दर्शकालात्मक-भौतिक-प्रतीकता की पर्यवसानभूमि या वह चान्द्रसम्बन्धकाल जो अपनी 'कर्म' मर्यादा से गणनकाशात्मक बनता हुआ मनया भागिष्ठिककाल ही प्रमाथित है। अतएव तत्त्व अपने इस केवल मातृकाम से ही न उस काल का ही कोड अन्तित्व, न दिग्क का ही एवं न देशप्रदेश का ही। यही मानव की बुद्धिगम्या व्याख्या की वह श्रद्धाल्पसी २ दिग् पर दार्शनिक, तथा उदाहारेयैव आतिभूत-भूतवैज्ञानिक के सम्पूर्ण कालिक-देशिक आहम्बर नर्तन कर रहे हैं। इसी व्यामोहन की उपरान्ति के लिए इसी चान्द्रसम्बन्धकाल-वर्ष-अज्ञातमक-मूलकाल की प्रतीकता के माध्य से शास्त्र ने इस की अपेक्षया महतोमहीयान् पाषाण सम्बन्धकाल का उत्पत्ती के माध्यम से उपपेक्षया महतोमहीयान् सौरसम्बन्धकाल का उत्पत्ती के माध्यम से उपपेक्षया महतोमहीयान्-माहचरलम पारमेष्ठकाल का उत्पत्ती के माध्यम से उपपेक्षया महतोमहीयान् पुरबीरलव्यन्मूलकाल का उत्पत्ती के माध्यम से उपपेक्षया महतोमहीयान् अत्यन्त परोरजामूर्ति परमात्मकाल का एवं उत्पत्ती के माध्यम से उपपेक्षया महतोमहीयान् अनन्त-अस्मत्काल का दिग्दर्शन करते हुए इस प्रतीकता का पर्यवसान किया उत्पत्ती के माध्यम से उपपेक्षया अनन्तानन्त प्रमाथित उस महाकालकाल कालकालात्मक अनन्तकाल पर, वही पहुँचते पहुँचते जो मानव की अक्षिक-देशिक बुद्धि का व्यामोहन सर्वथा ही प्रकृष्टीकृत हो जाता है। और वही आकर शास्त्रने 'काल' स ईयते परतो नु वेधः क्म से एकवार पुनः बालोपलापन-माध्यम से मानव की प्राकृत-बुद्धि के निःशेषभूत रम्य को सर्वथा ही अमिभूत कर दिया इस अनन्तकाल जैसे अनन्तानन्तविवर्त का भी उन कालातीत परम अनन्त का एकमात्र-अप्रतिविद्यमान ही कल्पते हुए। वी यह अन्तिम कालकाल परमकाल एकमात्र बुद्धिव्यामोहन की निःशेष बनाने के लिए ही अतिविधि में उस

एकमात्र मुख्य उद्देश्य है धर्माचारसंस्थापन • । अतएव अनन्तब्रह्म की विशिष्टता के समाधान का, तथा अनन्तब्रह्म के महिमात्मय प्राकृतिक विरय क मुख्यपरिपक्व कच न्ये का, दोनों का मूलनीच धर्माचरण में ही सुचित है—तरमाद्ब्रह्मान् परं नास्ति । (शतपथ भा १.१.१।२१।) ।

४३६—ब्रह्मानुगत अभ्युदय—नि भयस्—मावों की सिद्धि का अन्यतम द्वार धर्माचरण, एव तद्द्वारा ही अनन्तब्रह्म, और अनन्त मानव की अभिन्नता का स्वरूप—बोधोदय—

अनन्तब्रह्मानुगत निभयस्, एवं विश्वानुगत अभ्युदय दोनों की सिद्धि धर्म पर ही अवलम्बित है—‘यतोऽभ्युदय-नि भयस सिद्धि-स धम्म’ (कणादसूत्र) । और ऐसे धर्मानुशीलनपरयण धर्माचारनिष्ठ-सद्ब्र मानव की बुद्धि में ही ‘संभित्’ का यह समझ स्वतः प्रादुर्भूत हो जाती है हैमवती उमा मगवती क अनुग्रह से +, जिस समझ क उदित होवाने पर अचरय ही इसकी समझ में (बुद्धि में) यह बात भी आवती है कि—‘जो यह अनन्तब्रह्म है, वही यह मानव है, एवं जो यह मानव है वही यह अनन्तब्रह्म है’ । और ही अन्तवोगत्वा यही आकर यथयानत् प्रतीकवाद अन्तर्लान हो जाते हैं एवं स्वयं मानव ही उस अनन्तब्रह्म का ‘किञ्चित्’ (‘कुछ’) बन जाता है । ऐसी अवस्था में तो अब अनन्तब्रह्म की प्रतीकत्वा का भी कोई अर्थ शेष नहीं रह जाता ।

४४०—स्वस्वरूपबोधात्मिका ‘संभित्’, तदनुग्रहशक्तिमूलक धर्माचरण, एव स्वतः आविर्भूता पारिमापिकी ‘समम्’—

“ममम् की ‘समम्’ को समझने के लिए सद्यप्रथम समम् का स्वरूप ही समम् लेना अनिषाय्य माना है समम्भारोने । यदि समम्भार (बुद्धिमान्) मानव इस लोकसूत्र का समन्वय कर लेता है, तो फिर इसकी—ममम् में नहीं आता यह व्युत्पत्त्या नियेचमाया स्वार्थिना अन्त होजाती है । समम् का लौकिक समम्भार कहता है—बुद्धि । इस बुद्धिरूप लौकिक समम् की जो समम् है उसीका नाम है—‘संभित्’ । समम् की (बुद्धि की) इस ‘समम्’ (संभित्) को समझने के लिए मानव को ‘समम् का (अर्थात् अपनी बुद्धि का) ही स्वरूप समम् लेना पड़ेगा जान लेना पड़ेगा । सचमुच यदि मानव अपनी इस समम्भार बुद्धि का स्वरूप, अनन्तब्रह्मलक्षणानुगत महिमा के अन्तर्लान में इस अपनी बुद्धि की इसका-परिमाण—ज्ञान लेता है तो इसका बुद्धिभ्यामीहन स्वतः ही समाप्त हो जाता है । और उत्पन्न ही समम् में (बुद्धि में) न जाने काली समम् (संभित्) की इसकी समम् में (बुद्धि में) बिना किसी प्रयास के स्वतः ही आविर्भूत हो पड़ती है ।

• यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

—गीता

+ देखिए । केनोपनिषत् १।१।

कमान्तरीय पुत्र्य से, सर्वोपरि इहदेवामुग्रह से यदि स्थिर होयता है एकवार भी तो अक्षय ही इस की तपाकथिता बुद्धिभ्यास्तुपनिबनी प्ररनोचरौशी एवं समभन्ने-समभन्ने की अक्षरवा स्वयं ही उपरान्त ही होयती है छा उदा के लिए । एवं यहाँ आकर यह उदा मानव केवल 'मानय' रूप से ही अभिप्रेत हो सकता है और प्ररनोचरविमर्शों के वाक्यपाश से अतिमुक्त ऐसे मानव में ही 'शुद्धबुद्धि' का उदय हुआ है । यही शुद्धबुद्धि अत्र नवत् अपने सम्युक्त धैर्यिक-भ्यामोहनोंसे उपरत होती हुई अब प्ररन न कर प्रस्तम्भ से यही कह कर अविमर्श के प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण ही तो कर देती है कि—

कार्पयस्त्रोपोपहत स्वभावः पुरुश्यामि त्वां धर्मसम्मूढचेता ।

यच्छ्रेयं स्याद्विरिचत ब्रूहि तमे शिष्यस्तेऽहं शाधि-मां, त्वां प्रपन्नम् ॥

—गीता

४३२-दार्शनिक-मायाप्रधान उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र, एवं महजभाषा-प्रधान मन्त्रब्राह्मशास्त्रक वेदशास्त्र, और तद्द्वारा ही उपनिषत् गीता आदि का सम्मान-वित-नैष्ठिक-समन्वय—

स्मरण रहे, उपनिषत् तथा गीता दोनों की माया दार्शनिक है । मन्त्रब्राह्मशास्त्रिक (ज्ञानविज्ञान-विमर्श) उदाहरणों को आचार क्नाए बिना उपनिषत्, तथा गीता का उदा समन्वय अन्य प्रकृत-सदृशों से भी सम्भव नहीं है । उदाहरण के लिए—उसी 'प्रतीक' मान की मध्यम क्नाए क्वल उक्त गीताभाग की उदा से । गीता इतिहास की माया है जिस में 'मातृकता' का पदे पदे संरक्षण हुआ है लोकउग्रहक मगवान् के द्वारा जबकि अविमर्श (वेदमाया) में 'मातृकता' का संस्मरण भी निश्चिन्त माना गया है । समझनेवाला पात्र है गीता में भातृक, अविष्कृत अत्रुन । अतएव ध्रियोचित दर्प संकुल किशित हो जाने पर भी निरोध नहीं हुआ अत्रुन का । तभी तो गीतापदेश के अन्वयानन्तर भी अनेक पल कर अक्षयपथ-कार्यवादि प्रकृतों में अनेक बार इस भातृक धर्मन्यतिक्रम कर जाता था एक पुन पुन मगवान् को ही इस निधन्त भातृक अत्रुन का संरक्षण करते रहना पड़ता था ।

४३३-आचारधर्मनिष्ठाविरोधिनो सर्वनाशकारिणी दिग्देशकानिबन्धना हिन्दूमानव की मानुषता—

इरीक्षिए तो लोक्यत है कि—'बुद्धिभ्यास्तुग्-भ्यक्तिस्वमिगूढ-भातृक मानव पहिले तो कुछ सुनना-समकृता-ज्ञानना ही नहीं चाहता । यदि समकृता है, जान लेता है, तो उसे कर्मरूप में परिणत करना नहीं चाहता अपने इसी व्यक्तिस्वविमोहनत्मक धर्म से किंवा इस मय से कि यदि मैं करने लग पड़ा, तो संसार के सामने मैं छोटा होजाऊँगा । यदि किसी बलवती प्रेरणा से करने लग भी पड़ा, तो यह कत म्य चिरस्थायी नहीं बनने पाता ।' देवी है सर्वनाशकारिणी दिग्देशकानिक्रमना अतएव विद्विगूढ-देवविगूढ-वाक्यविगूढ वह भातृकता जिस ने भारतीय उदा भी अतिरिक्त हिन्दूमानव को किण्व हीन उदासवर्षों से तो अत्यन्तिक्रमेणैव पराह मुक्त ही प्रमाहित कर रक्ता है ।

अधिक से अधिक विचार क्रिया भी, तो अपने इस प्राकृत स्वरूप का पर्यवसान करने अपने मन पर ही कर लिया। उष का लगेगा प्राकृत मानन का। किन्तु स्थिति तो कुछ ऐसी है कि, करने हिरण्यगम सूर्यनारायण की अग्रभूत 'बुद्धि' का- भी स्वरूप समन्वित नहीं किया जिस इस बुद्धि पर ही इसका सम्पूर्ण रूप प्रतिष्ठित है। जिस मानसिक अनुभूति का आधार चान्द्र मन है, जिसमें प्रज्ञा, और प्राण नामक दो तत्व समन्वित हुए हैं उस मन का इस चान्द्र सामन्तरिक स्वरूप का भी यह समन्वय न करसका। और तो और, सर्वान्त के प्राञ्जमौलिक मूलशरीर के आधारभूत पार्थिव-गायत्र अग्नि के मूल-चिह्नारूप को तथा अमृत-चित्-निषेयारूप को भी प्रकृतिक विचित्रता से यह समन्वित न करसक। यों इसने त्रैकारिक शरीर विचित्र-रात्मक मन, विफुति प्रकृतिरूपा बुद्धि, इन स्थूल पदों का भी तो स्वरूपरोध प्राप्त नहीं किया। अस्तित्व केवल अपनी मानसिक अनुभूति का ही नाम, स्पन्दनविशेषात्मिका सूक्ष्मक्रिया-विशेष का ही नाम इसन 'मात्ररूप' रख लिया इस ही अन्त 'मन मान लिया और यही इसकी बुद्धि की विभामभूमि बन गया। एत कल्पित बुद्धिमात्र से आविर्भूत कल्पित बुद्धिमात्र को आधार बना कर ही इसने अपना अनन्तस्वरूप महात्मना विस्तृत ही तो कर लिया।

४४४ दिग्देशकालभ्रान्त-विस्मृतिपरायण-मानव की कल्पना से आविर्भूता प्रश्नाचली, तत्कालान्तर समाधान, एवं तद्द्वारा इसकी कालान्तर-तुष्टि—

और इसी विस्मृति को आधार मान कर इसने जैसे जैसे कल्पित प्रश्न पड़े कर लिए कल्पना के माध्यम से ही किन्हीं यह बुद्धिगम्य प्रश्न मान बैठे। एव इनके बुद्धिगम्य उत्तर की ही कालत्व भागरूप ही पड़ी जिस अर्थात् बुद्धिगम्य प्रश्न का एतन्मात्र उत्तर इसका बुद्धिगम्य प्रश्न से ही कही मयानक बुद्धिगम्य-प्रश्न ही होसकता है। और अन्तरवर्त्य है कि, उस प्रश्न को ही यह उत्तर मान कर सन्तुष्ट हो जाता है मानो इसे इस माध्यमिक्त प्रश्न से ही अपने बुद्धिगम्य प्रश्न का समाधान मिल गया हो।

४४५-प्राकृतशैली से अनुप्राणित-'प्रश्न का उत्तर प्रश्न', तद्द्वारा मात्रक मानव के विमोहन का प्रयास, एवं उसका सम्भावित उद्बोधन—

इसी शैली को ही प्राकृतशैली कहा गया है जिसका अर्थ है-'प्रश्न का उत्तर भी प्रश्न ही'। क्योंकि किना इस शैली के बुद्धि का अर्थात् उपशान्त ही नहीं होता। प्रकृतिकल्पन अतएव कल्प-कारणात्मक अतएव का बुद्धिगम्य अर्थमय प्रश्नों के उत्तर वैसा प्रश्न ही तो होंगे, जो प्रश्नरूपा के प्रश्न को ही अधिक विस्तृत कर उसके बुद्धिभ्रामोहन को और भी अधिक भ्रामोहन में डाल देना का उद्योग करते हैं। और इस कड़े बुद्धिभ्रामोहनात्मक कड़े प्रश्न से ही जब छोटे प्रश्न करने वाले की बुद्धि थक जाती है तो इस धक्का को ही मान लेता है वह अपने बुद्धिगम्य प्रश्न का समाधान।

— हिरण्यगर्भो मगधान् (सूर्य) 'बुद्धि'-रिति स्मृतः ।

—महाभारत शा० मो ३०२ अ० ।

है। मानवबुद्धि जब ब्रह्म के सम्बन्ध में आचरण की धारणा, एवं धर्म के सम्बन्ध में विज्ञान की पोषणा करने लग पड़ती है, तो दोनों ही परब्रह्ममुख बन जाते हैं मानव से। ब्रह्म कमी आचार में नहीं आता, तो धर्म कमी प्रचार में नहीं आता। ब्रह्म अनुरीलनात्मिक जिज्ञासा से ही अनुप्राणित है तो धर्म आचरण्यात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से ही अनुप्राणित है। जिज्ञासात्मक प्रश्न का ब्रह्म से ही सम्बन्ध है, एव आचारत्मक प्रश्न का धर्म से ही सम्बन्ध है। ब्रह्माचारव्याप्तोद्दानुगत धर्मप्रचार-व्याप्तोद्दान ने ही एक ओर जहाँ धर्म के आचारपक्ष को शिथिल कर दिया है, तो वहाँ दूसरी ओर इसी से ब्रह्मविचारपक्ष शिथिल होनाया है। ब्रह्मविचारस्वारपरमा मगधती शारदा की उपासना से फल-मुक्ता मन्त्र की पाठ्यबुद्धि आब धर्म पर तो 'विचार' का प्रयोग करने लग पड़ी है, एव ब्रह्म पर आचारत्मक 'साक्षात्कार' का प्रयोग करने लग पड़ी है। ज्योतिर्दर्शनव्याप्तोद्दानात्मक कल्पित आचार ही मात्र क ब्रह्मज्ञानिना का ब्रह्माचाररूप ब्रह्मदर्शन (ईश्वरदर्शन) बन रहा है। ऐसे ब्रह्मसाक्षात्कार-पर्यवण प्राकृत मानव ही धर्म-प्रचारमात्र के लिए आहार बने रहते हैं। धर्मप्रचार के 'व्याज' ('धूल') से ये अपनी अनुभूतिना अपने ब्रह्मसाक्षात्कारों से ही मातृक बनता को उन्मुग्ध बनाते रहते हैं, जबकि धर्मप्रचार की एकमात्र आचारभूमि मानी गई है—'धर्माचरण' 'कर्त्तव्याचरण'।

४३७—अग्निवैशुनिवारक धर्माचरण, तब एव ब्रह्मजिज्ञासा का उदय, एवं सत्यकाम की धर्माचरणमूला ब्रह्मजिज्ञासा, और तच्छान्ति—

धर्माचरण ही वह महान् माध्यम है जिसके द्वारा मानवबुद्धि का व्यक्तिव्यक्तोद्दानात्मक अग्निवैशु (दुराग्रह-इष्टधर्मी) हटा करता है। इस अग्निवैशु के हटने से ही मानव में ब्रह्मविज्ञान का उदय होता है जिस जिज्ञासा के उत्तर में इसे उत्तरेतर आचारनिष्ठा में ही प्रवृत्त करते हैं श्रुतिमानव। जिज्ञासा का स्वतन्त्ररूप से कोई समाधान नहीं होता। उपक्रम जाते हैं ब्रह्मविज्ञान लेकर महर्षि गोत्रम के समीप। उत्तर मिलता है गोत्रेवाक्य प्राथमिक उस धर्माचरण के रूप में जो गोपशु और वेदतत्त्वात्मक गोत्राव का प्रतिरूप बनता हुआ मानव के प्राकृत दोषों अग्निवैशुओं का परिमार्चक माना गया है। इसी से तो उपक्रम को अज्ञानतर में वह शुद्धबुद्धि प्राप्त होनावी है जिससे स्वता ही उपक्रम की ब्रह्मविज्ञाना उपरान्त हो जाती है एवं पुनःउत्कर्ष पर श्रुति की कठना पड़ता है कि—'ब्रह्मविद् इव सोम्य । ते सुर्वं मासि' (ब्रा उप ४।१।२।) स्पष्टतमरूपेण आचार की सीमा में ही ब्रह्मजिज्ञासा का सफल समाधान सुरक्षित है।

४३८—ब्रह्मजिज्ञासात्मक प्रश्नों से असस्पष्ट अवतारपुरुषों का धर्मात्मक-कर्त्तव्याचार संस्थापन के लिए ही युग युग में आविर्भाव—

अतएव भारतवर्ष के ब्रह्मरूप अवतारपुरुषों तक ने यन्त्रोक्त धार्मिक-कृत व्यापारों का ही स्वर्ण मी अनुपमन किया है एव अपने उपदेशोंसे उन्नालीन समाज का मी उद्दीयन करता है। ब्रह्मविज्ञान के उपराम के लिए मगधान् कमी कदसा करके अवतार नहीं किया करते। अग्नि मगधान् के अवतार का

दासी सूकरीसन्निधौ गत्वा तदीयशिशु समानीय राजपुत्र्यै समर्पयामास । सा च राजपुत्री वात्सल्येन सूकरशिशु पालयन्ती कदाचित्तमङ्के स्थापयति, स्नापयति, तदङ्क करेण प्रोच्छयति, कदाचित् तदङ्कसलम्ना धूलिमपसारयित्वा मार्जयति, विविधं मिष्टान्नं भोजयति, मृदुलशय्याया स्वसमीपे स्थापयति । सा राजपुत्री तस्य सूकरशिशोर्गले चरणेषु च सकिङ्किणीक स्वर्णाभरण रचयति, पृष्ठोपरि बहुमूल्यक चिविधवर्णरञ्जित 'झर' इति प्रसिद्ध स्वर्णजटितवस्त्रं च वितरति । एव सा राजपुत्री पुत्रवत् सूकरशिशु पालयतिस्म ।

एक दिनकी बात है कि जब यह अपने महलके झरोखे में बैठी हुई पाहुर की ओर निहार रही थी कि सहसा इसकी दृष्टि एक सूकरी पर पड़ी, जो अपने बच्चोंको सगमें लिये हुए वहीं पर इधर-उधर फिर रही थी । उसे देखकर उसने मन में विचार किया कि यह सूकरी मेरी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है, जो कम से कम अपने बच्चों के साथ घूमा करती है । इस अवस्था में इसे जो आनन्द मिलता है वह यही जान सकती है । एक में अभागिनी है जो राजमहल में रहती हुई भी इस प्रकार के सुख से वंचित बनी हुई है । इस प्रकार का विचार कर उसने अपनी एक दासी को बुलाया और कहा कि जाओ और इन सूकरी के बच्चों में से एक बच्चे को ले जाओ । आज्ञा पाते ही दासी सूकरी के पास पहुँची और वहाँ से एक बच्चे को उसने उस राजपुत्री के लिये लाकर दे दिया । राजपुत्री ने भी वैसे आनन्द के साथ उसका पालन पोषण करना प्रारम्भ कर दिया । इस सिलसिले में कभी वह उसे अपनी गोद में बैठा लेती,

न्याये ओ चोताना भडेलना अङ्गामां जेडी जेडी भडार जेध रही इती, के सहसा तेनी दृष्टी ओक भूउषु उपर पडी । ओ चोताना भन्ध्याओने साथमा लधने आभतेम धुमी रही इती तेने जेधने राजकन्याओ मनमा विचार कयो के आ सूकरी मारा करता धरुी सुभी छे, ओ चोताना भन्ध्याओ साथे लधने करे छे, आ अवस्थामा ओने के आनन्द भगतो इशे ते ओक नदुती इशे । ओक हु ओ ओवी अभागिनी छु के राजभडेलमा रहेवा छता पक्ष आ प्रकटना सुभधी वचित भनेव छु आ प्रकटनो विचार करी तेबे चोतानी ओक दासीने जोलावी भने कहुं के नओ भने ओ सूकरीना भन्ध्यामांथी ओक भन्धु लध आवे । आज्ञा भगतो ओ दासी सूकरीनी पासो पडोनी भने त्याथी ओक भन्धु लध राजपुत्री पासो आवी तेने सुभङ् कथुं राजपुत्रीओ तेनु सारी रीते पालन पोषण करवानु अङ् कथुं आ उत्साहमा ते केध वषत सूकरीना भन्ध्याने प्रेमभी चोताना जोलाभां जेसारी देती, कथारेक तेने नवडावती

४४१—स्वस्वरूपबोध की इच्छा से ही स्वस्वरूपबोध का अनुग्रह, एवं तद्विषय प्राकृत मानव की प्रकृति—पुरुष—स्वरूप—विमूर्धता—

'स्वस्वरूप का बोध ही उसे उम स्वरूप का थाप कर देता है, जोकि यही स्वरूप इसका वास्तविक स्वरूप है इस वर का भी वही अर्थ है जो पूर्व उम अ है। मानव का बुद्धिगम्य स्वरूप ही प्रकृति-दृष्ट्या 'स्वस्वरूप' है और उसी का नाम है 'प्राकृतस्वरूप'। दुर्भाग्य तो इस बुद्धिमान् प्राकृत मानव का यह है कि वह अपने बुद्धिगम्य इस प्राकृत-स्वरूप को भी तो नहीं जान रहा। प्रकृति से पर अन्वित अम्राकृत स्वरूप की बात अस्पृगमभाव से थोड़ी देर के लिए हम छोड़ देते हैं। केवल बुद्धिगम्य प्राकृत-स्वरूप की ही बात करते हैं। सचमुच महतोमहीयान् भी इस प्राकृत मानवने अपने इस महतोमहीयान् उस प्राकृत-स्वरूप का भी तो चिन्तन नहीं किया है, बिलका चिन्तन, और समन्वय इसकी प्राकृत-बुद्धि से ही सम्भव माना है शास्त्र ने।

४४२—प्रकृति की ६ ठी वैज्ञानिक परम्परम्परा से अनुप्राणित चक्षुभूतों क प्रति प्रकृतिच व्यामोहन, एवं तद्व्यामोहन में ही इसकी भूतबुद्धि की परिसमाप्ति, और उसक भीषण परिणाम—

इसने तो अपने आपको इस सीमापर्यन्त ज्ञेय कर लिया है बिलके सम्भव में कोई भी चक्षुष्य शेष नहीं रह जाता। प्रकृति के निष्पन्न प्रकृतिविभक्तिभाव अन्विष्टभूत वैज्ञानिकभाव अस्पृगीकरणत्मक स्थूलमाहृतभाव एवं अल्पजीवनकालक प्रत्यक्षदृष्ट भूत-भौतिक पदार्थ इस सम्पूर्ण प्राकृत परम्परा में से मानव की बुद्धि ने आब अर्थात् के सर्वथा वैज्ञानिक-प्रत्यक्षदृष्ट-भूत-भौतिक-पदार्थों को ही दुर्भाग्यवश 'प्रकृति' मान लिया है एवं इसकी व्याख्या में ही अपनी बुद्धि परिसमाप्त कर दी है। और स सीमापर्यन्त समाप्त कर दी है बिल सीमा से तो कुछ इधर ही पशुओं की भी बुद्धि कुछ अधिक जान लेती है जानकर इन बुद्धिगम्य-मयी से यथाशक्त अपना परित्राण कर लेती है जबकि मानव अपने पशुसमवृक्षित इन बुद्धिगम्यमायी से उन्वय मर्गों से भी अपना शरण नहीं कर पाता। इससे अधिक मानव का, इसकी बुद्धि का अतोपरि इसकी बुद्धिगम्या व्याख्या का एक उदनुप्राणित कस्मिन् अक्षित-विमोहन का दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास और क्या होगा !। इतीशिए हमने कहा है कि, यदि यह अपना प्राकृत स्वरूप भी जान लेता तो ज्यारा भी इसे अपने अन्वित अम्राकृत स्वरूप का तो बोध हा ही सकता था।

४४३—स्व प्राकृत, और पौरुष—स्वरूप से संबंधा पराकृष्ट प्राकृत मानव के लिए अविज्ञाता और हिरण्यगर्भमूला 'बुद्धि', एवं तथैव: स्थूलभूतों के भी प्राकृत स्वरूप से पराकृष्ट मानव की सब विस्मृति—

किन्तु !। इस किन्तु, पण्ड नभ, मुच में ही यह अपनी बुद्धि को आलोचित-विमोहित करता रहा। भौतिक रसा की व्याख्या-सम्भवों में तो यह अहोयक प्राकृत्य से ज्ञेय रहा। किन्तु स्वयं 'वह' क्या है ! इस अपने प्राकृत स्वरूप के सम्बन्ध में इसने अपनी बुद्धि से धनमान भी कमी विचार की नहीं किया *।

* न विजानामि यदि वेदमस्मि, निषयः सद्यदो मनसा चरामि । (श्रुतं ० १। १४ ३०) ।

ही प्राकृत बुद्धिमान मानवों को इनके सम्मुख महान् प्रश्न खड़े कर परोक्षरूपेण उद्बोधन ही प्रदान कर रही है।

४४८-वेदशास्त्र क सम्पूर्ण प्राकृत उत्तरों की रहस्यपूर्णा सम्प्ररनात्मकता, एव तदनुगत 'न तं विदाथ य इमा जनान' लक्षण महान् उद्बोधनघट्ट—

निरन्तर ही वेदशास्त्र के सम्पूर्ण उत्तर सम्प्ररनात्मक ही बने हुए हैं, यह हमें इस उक्त्य से विदित हो जाता है कि, सम्पूर्ण प्राकृत प्रश्नों का आधिदैविक-प्राकृत-सर्ग-विज्ञान के माध्यम से स्वतन्त्रता व्याधान करने वाला भी वही वेदशास्त्र उस अप्राकृत-अनन्तरजगत-कालातीत-अप्यकारणातीत-स्वतः प्रमाणित, अतः अतीत उतर के सन् २ में अरनो एन विज्ञानात्मिका प्राकृत-व्याख्याओं का विमोहन उपरान्त ही कर देता है, जिस शान्तिघट्ट से ता सचमुच ही मानव का बुद्धिगम्य एवन्तव ही विगलित हो जाता है। अतः उक्त महान् सूत्र का अनिच्छलरूप है यह कि—

न तं विदाथ य इमा जनान, अन्यद्युप्माक्रमन्तर यभूष ।

नीहारण प्रायुता अन्य्या चासुवृष उक्थशासरचरन्ति ॥

—श्रुत्सं० १०।८२।५।

४४९-सम्प्ररनात्मक उद्बोधनघट्ट का रहस्यात्मक समन्वय, एवं तत्समतुलित औपनिषद्-मन्त्र का प्रासङ्गिक-सस्मरण—

यह उची श्रुत्येद का महान् सूत्र है जो माखीयज्ञानविज्ञान का, अन्तर्गत सम्पूर्ण सृष्टिरहस्यों का महान् कोण है जिसने सम्पूर्ण प्राकृतिक रहस्यों के उक्था (मूलकारणों) का विस्तार से विरलेपन किया है। वही श्रुत्येद स्वयं ही आद्य उन्हीं उक्त्यों तथा उक्थशाखा को उस प्रकृत्यतीत अनन्त के समतुलन में उद्बोधन प्रदान कर रहा है। श्रुति कहते हैं स्वयं अपने को ही परोक्षरूप से गुप्ताच्छदरूपेण लक्ष्य बना कर कि— 'तुम लोग सयया यह नहीं जानते कि, जिसने यह सययुद्ध उत्पन्न किया है'—'न तं विदाथ-य इमा जनान । 'तुम्हारे अन्तर्गत में—बौद्धिक जगत में जो ज्ञानात्मक विलुम्भण बेटा हुआ है, वह कुछ और ही है। अर्थात् जैसा तुमने अपनी इन सुद्विगम्या व्याख्याओं से उसे समझ रक्खा है, तुम्हारे समझे हुए से वह कुछ प्रत्यक्ष ही है। अर्थात् वह है कुछ और एवं समझ रक्खा है तुमने कुछ और ही— 'अन्यद्युप्माक्रमन्तर यभूष'। अतः श्रुति परोक्षरूपेण ऐसे अरण्यतानादियों की (अर्थात् स्वयं अपने आप की ही) आलोचना करते हुए आगे चल कर कहते हैं कि,— 'जिस प्रकार नीहारण से पनीभूत 'कोहरे' से पारों और से आच्छन्न—(ईका हुआ) एक व्यक्ति सब को स्पष्टतम-वीथामार्ग बतलान की शान्ति करवा रहा है ठीक उसीप्रकार प्राकृत-व्याख्यारूप-अर्थकारणविरलोपात्मक महतोमहीयान् नीहार से (कोहरे से) पारों और से आहत (ईके हुए) वाय ही अत्यन्त स्पष्टरूप से निर्यापन-रूप से—'यह देख ही है इसी प्रकार अमुक कारण से अमुक कार्य अमुक प्रकार से यों ही बना है बनता है

४४६-सेर का सवासेर से, वतायो का पन्सेरी से परिमाख-समतुलन, एमं तत्समतु-
लित उचर से ही बुद्धिमान् के बुद्धिदम्भ की उपशान्ति—

उदाह-भाषा में वो कह लीकिए कि, बधिकून्त्र में सेर को जब सवासेर से तोला गया जाता है तो तुलवाने वाले भी 'सेर' की निष्ठा दृढ़मूल नन जाती है। उदाहरण तो यहाँ तक मिलता है लोको में कि-
वताया को असुर बणिकू पन्सेरी से तोलाकर दिखला देता है। और फिर भी तुलवाने वाले महान् बुद्धिमान् की दृष्टि में वताया पन्सेरी से भी अधिक भारी ही प्रमाणित हो जाता है। सन्तुष इस उपाय के अतिरिक्त प्ररनकर्त्ता बुद्धिमान् के प्ररन का और कोई भी तो उचर नहीं हो सकता वो उचर एक महान् प्ररन के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखता।

४४७-असमाधेय प्ररनात्मक 'सम्प्ररन' के द्वारा ही मानव का सम्भावित अनुरजन,
एमं सम्प्ररनशैली का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्योंकि उठ बुद्धिमान् की बुद्धि को यह कैसे समझया जाय कि, भीमन् ! वह उचर कार्यकारणतत्त्व का वता हुआ आपकी, और हमारी, दोनों की ही समझ से बहिभूत है। उसके सम्बन्ध में न कार्यकारणतत्त्व प्ररन ही लगे हो सकते न कार्यकारणतत्त्व उचर ही हो सकते। किन्तु प्ररनकर्त्ता प्राकृत-बुद्धिमान् मानव उचर के बिना कबोकि स-दृष्ट ही नहीं होता। अतएव उठ के सम्बन्ध विषय बनकर उचरय मानव को एक ओर बढ़ा प्ररन ही लफा कर देना पड़ता है। दुरधिगम्य महान् प्ररनात्मक वो उचर ही वैदिक-परिमथा में 'सम्प्ररन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है जिसका सर्वप्रथम उदाहरण बन रहा है- 'योऽस्याभ्यस्य परमेभ्योमय सोऽङ्ग । वेदं धदि धान वेदं । अरे ! तुम हम से सृष्टि के कार्यकारण-सम्बन्ध में पूँछ रहे हो। महा हम क्या समाधान कर सकते हैं इन प्ररनों का। हम ही नहीं इस सम्पूर्ण विषय का वो परमाकारणतत्त्व कोई अभ्यस्य (अत्यन्तप्रकृतिरूप स्वयम्भू) है, हम तो कहेंगे-वह भी तुम्हारे इस प्ररन का समाधान करसकता है, अबका नहीं अत्रापि सन्देह'। प्रतापपूर्वक उद्बोधन की ऐसी विशिष्ट शैली हम समझते हैं विरव के और किसी प्राकृत साहित्य में उपलब्ध नहीं होसकती। अब यह प्ररनकर्त्ता का अपना विवेक है कि, वह इस सम्प्ररनात्मक महान् प्ररन से अधिक बुद्धिभ्यामोहन में इसलिये आयाय कि- 'वेसा कैसा प्ररन किया है। मान गए न अब तो उचरवता भी हमारा----- इत्यादि'। और जो अपने इस अधिक-भ्यामोहन में ही प्ररनकर्त्ता बुद्धिमान् समाप्त हो जाता है। यदि सम्प्ररन के द्वारा श्रुतयानुग्रह से विवेक जागरूक हो पड़ता है तो इसी सम्प्ररन के द्वारा प्ररनकर्त्ता का सम्पूर्ण बुद्धिभ्यामोहन उसी क्षण उपरान्त हो जाता है एम वही सम्प्ररन इसे महान् उद्बोधन प्रदान कर देता है। किन्तवरीय कुछ कस्य शर्मप्रम्भ किन्मासीद्गहनं गमीरम' केनेपिपि पवति प्रे पितं मनः 'अमे वेद्यम इयिया विषयं'- 'किंस्तिद्वनं क ठ स शृष आसं । इत्यादि श्रुतियाँ इस • सम्प्ररनशैली के माध्यम से

* यो न पिता बनिता यो विधाता धामानि वेदं श्रुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं 'सम्प्ररनं' श्रुवना पन्त्यन्वा ॥

—श्रुत्सं० १०।८।३।

स्वरूप। अतएव इमार लिए वा मालातीव तत्र यह महाभनी बगन्माव बगन्मा ही है, विवक मित्त न वा महाभल अ महाभलत्व ही मुखिन रदनमत्ता, न मालातीव अनन्तप्रस्य महिमारूप से अपने आपका 'मूर्ध-भ्याक उपाधि से ही समलद्वृत कर मत्ता। अतएव हम वा इस 'प्राकृतस्वरूप' का ही अपना (मानव ध) स्वरूप मानें। एव इधी अ आभार बना कर पुनः उधी पृथक् को शहर ने कि—'स्यस्वरूप अ- (प्राकृतस्वरूप अ) पोथ ही इसे (प्राकृत मानव को) उस स्वरूप ध (मायातीव अनन्त प्रस्य का) बाध फर दता है जो कि यह स्वरूप (अनन्तप्रस्यरूप) ही इसध (प्राकृत मानव ध) वास्तविक (प्रकृतिसमन्वित अनन्तप्रस्यत्मक) स्वरूप है"। म्बय अन्तारपुत्र्योन मी इमी तप्य धी अार हमता प्यन आर्द्धित दित्त है—

देवी अ पा गुणमयी मम 'माया' दुरत्यया ।

मामव ये प्रपद्यन्त मायामेतौ तरन्ति त ॥ (सुकृतिन —इति यावत्)

—गीता अ१४।

४५१—प्राकृत बुद्धि क द्वारा परिगृहीत दिक्-दश-काल-भाषों की वास्तविक-अनन्तता से बुद्धि का पार्थस्य—

बुद्धिगम्या म्बाक्या के द्वारा मानव उसे समझना चाहता था। उसके समझने के लिए मानव ने बिलन मी प्रन किए अ वे सब अवरय ही बुद्धिगम्य प्रन थे। अतएव मानव क इन दिग्दशकालाकु-अन्धी-अमभ्यवसायिद अनन्त ही महत्पूर्ण बुद्धिमय प्ररनों का शास्त्र ने समादर किया, एवं अमादरमाव की रक्षा के लिए ही इसके सम्मुख बुद्धिगम्या म्बाक्या से ही अनुप्राणित दिक्-दश-काल-भाषों अ स्वल्प उपरिषठ किया गया जिस इत स्वरूप के माध्यम स अवरय ही इसकी बुद्धि ने यह स्वीकार कर लिया कि, काल का जेला गणनात्मक सीमित स्वरूप बुद्धिने समझ रस्ता था बलुतः इसके समके-अमभ्यारे हुए दिक्-दश-काल-की अपचा काल-दिग्-दश कही अनन्त हैं। और यह अनन्त एसा अनन्त है, जो बुद्धिगम्य बनता हुआ भी बुद्धिप्राप्त नहीं है।

निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सवकारणकारणम् ॥

तस्यच्छामात्रमालम्ब्य त्वं महायोगिनी परा ॥२॥

महामाया कालिकाया कालमातुर्महाद्युतेः ॥

गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपरूपना ॥३॥

—उम्त्रशास्त्रे

—न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहृतज्ञाना आसुरं माक्माभिताः ॥ (गीता)

बनवा रहगा (धाता यथापूषमकल्पयत्), इसप्रकार की अज्ञाता वाणी से बस्यन् • करत हुए, किया कर नार अपने अर्थ्यकारणात्मक सृष्टिविज्ञानों का अज्ञानरूप बस्यन् करते हुए + ऐसे उक्त्यशास विचार रहे हैं। मूलकारण का ही नाम 'उक्त्य' है जिसके आधार पर ही सत्यदात्मिका उक्त्यविद्याएँ, एवं इन उक्त्य-विद्याओं की मूलभूता महदुक्त्यविद्या प्रतिष्ठित है वेदशास्त्र में। ऐसी विद्याओं की विस्तार से व्यख्या करने वाले ही 'उक्त्यशास' (आय्यकरण्याविरलपकाः) कहलाए हैं। और हाँ जैसे हैं य अस्या उक्त्यशास ?। 'असुतुप'। अपनी इन व्याख्याओं से ये स्वयं अपने आपको अपने प्रायों को सर्वप्रथमता रूप मान लते हैं। उक्त्य ही वाते हैं अपनी इन व्याख्याओं से एव वृत्तों को भी उक्त्य मान लने की शान्ति करते रहते हैं—'नीहारेण प्राभुता अस्या प्वासुतुप उक्त्यशासश्चरन्ति'। हम समझते हैं—प्राहृत-व्या-स्यात्मक बुद्धिब्यामीहन का स्वयं अपने ही मुख से इसप्रकार निराकरण कर देना अपनी उक्त्यविद्या के सम्पूर्ण प्राहृत विषयों को यों श्रुतभाषा से उस अनन्त में धर्मित कर देना प्राहृत मानव का तो काम नहीं हो सकता। जो ऐसा कर सकता है सचमुच वही 'अप्राहृत श्रुतिमानव' है। और अक्षर्य ही एव श्रुतिमानव ही उस अनन्त से अमित बनवा हुआ उसका 'कुञ्ज' माना जा सकता है। इन्ही उक्त्य को उपनिषत्त अपनी दार्शनिकी आकाशपूर्ण अज्ञाता मत्ता में यो अभिष्यक्त किया है कि—

अविद्यायामन्तरं वर्षमानाः स्वयं धीराः पण्डितमन्यमाना ।

द्वन्द्वम्यमास्याः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यवान्धाः ॥

—कठोपनिषत्

४५०—विगृह्यकालस्यरूपमीमांसात्मक महान् सम्पन्न के द्वारा स्वबिमोहनोपशान्ति का प्रयास, परिश्रामतः अधिक व्यामोहन का आविर्भाव, एव तदनुगत निःसीम व्यामोहन-भार से ही सम्भाविता विमोहन-निवृत्ति—

विगृह्यकालमीमांसात्मक प्रस्तुत विस्तृत अर्थ में से हमने स्वयं अपने प्राहृत-विमोहन की उपशान्ति का ही प्रयासप्रयत्न किया है। इस महान् सम्पन्न से हमने अपने प्राहृत-बुद्धिव्यामोहन को और अधिक व्यामोहन से ही सम्पन्न किया है। क्योंकि अपने प्राहृत भार की अपेक्षा इतक अज्ञानभार से बने रहना ही हमारे उद्बोधन का किसी न किसी कर्म में तो कारण बन ही जानगा निरन्धेन बन ही वास्या उपशान्ति-त्मक अनन्तकारणात्मक महाकला की X माता कहाअसी के उद्वेग अगुपद से। अमीषित नहीं है हमें कालातीत

* अप-अन्य-व्यक्त्यां वाचि ।

— 'वाद्-अन्य-वितयता-हेत्वामास-इस-जातिनिग्रह-स्थानानां तच्छानान्नि-भेयसाधिगमः । (न्यासूत्र १।१।)

X-त्वं परा प्रकृति साधाद् ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
महत्तत्त्वादि-भूतान्तं स्वया सृष्टमिदं जगत् ॥१॥

स्वरूप । अतएव हमारे लिए जो कालातीत तत्त्व यह महाकाली ब्रह्ममाद्य ब्रह्ममात्मा ही है त्रिविक्रमिना न तो महायज्ञ का महाकालत्वं ही सुवर्द्धित रहस्यत्वा, न कालातीत अनन्तब्रह्म महिमारूप से अपने आपको 'स्वयं-भ्यापक' उपाधि से ही ममलच्छात्र कर सधवा । अतएव हम जो इस 'प्राकृतस्वरूप' को ही भ्रमना (मानव-ध) स्वरूप मानेंगे । एवं इसी को आभास बना कर पुनः उसी पृथक्च को गहरा गे कि—'स्वस्वरूप-का- (प्राकृतस्वरूप का) बोध ही इसे (प्राकृत मानव को) उस स्वरूप धर (नायातीत अनन्त ब्रह्म का) बोध करे वृत्ता है, जो कि यह स्वरूप (अनन्तब्रह्मरूप) हा इसस्य (प्राकृत मानव का) वास्तविक (प्रकृतिसमन्वित अनन्तब्रह्मात्मक) स्वरूप है" । स्वयं अनन्तारपुरुषान् मी इमी तव्य की आर द्माय प्यन आर्क्षित दिसा है—

देवी स पा गुणमयी मम 'माया' दुरत्यया ।

मामव च प्रपद्यन्ते मायामतां तरन्ति ते ॥ (सुकृतिन —इति यावत्)

—गीता ७.१४।

७.१—प्राकृत बुद्धि क द्वारा परिगृहीत दिग्-दश-काल-भावों की वास्तविक-अनन्तता से बुद्धि का पार्थस्य—

बुद्धिगम्या भ्याख्या के द्वारा मानव उस समझना चाहता था । उसके समझने के लिए मानव ने भिन्न मी प्रश्न किए थे वे सब अवरय ही बुद्धिगम्य प्रश्न थ । अतएव मानव के इन दिग्दशकालाद्यु-धकी-कामन्व्यवस्थासिद्ध अनन्तता ही महत्त्वपूर्ण बुद्धिगम्य प्रश्नों का शास्त्र ने समादर किया, एव समादरमात्र की रक्षा के लिए ही इसके सम्मुख बुद्धिगम्या भ्याख्या से ही अनुपाश्रित दिग्-देश-काल-भावों का स्वरूप उपरिधत किया गया जिस इत स्वरूप के माध्यम से अवरय ही इसकी बुद्धि न यह स्वीकार कर लिया कि काल का बोल गणनात्मक सीमित स्वरूप बुद्धि न समझ सकता था बल्कि इसके समके-समभ्यपे हुए दिग्-देश-काल-की अपवा काल-दिग्-देश नहीं अनन्त है । और यह अनन्त एव अनन्त है जो बुद्धिगम्य बनता हुआ भी बुद्धिमात्र नहीं है ।

निमित्तमात्रं तद्वृद्धं सवकारणकारणम् ॥

तस्यच्छामात्रमालम्ब्य त्व महायोगिनी परा ॥२॥

महामायाः कालिकाया कालमातुर्महाद्युते ॥

गुणक्रियानुसारस्य क्रियते रूपकल्पना ॥३॥

—तन्त्रशास्त्रे

—न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

मापयापहतज्ञाना आसुर मावमाभिताः ॥ (गीता)

४५२—बुद्धि के द्वारा अप्राप्ता, किन्तु बुद्धिगम्या अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के सम्बन्ध में बौद्धिक प्रयोगों की आत्यन्तिक असमर्थता, एवं प्राकृत दिग्देशकाव्यत्रयी के माध्यम से अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के साथ बुद्धि की अभिभवा—

बुद्धि उत्पन्न रूप से समझ लेती है उस अनन्तज्ञान को। किन्तु जिसप्रकार बुद्धि अपने समझ हुए साम्प्रसारिक दिग्-वेरा-काल का महत्त्व कर इस पर अपने आचार्यत्मक प्रयोग कर डालती है जैसे अपने हुए भी उस अनन्तकाल-दिग्-वेरा-पर बुद्धि अपना आचार्यत्मक प्रयोग नहीं कर सकती। खप ही बुद्धि यह भी स्वीकार कर लेती है कि, जिन सीमित दिग्-वेरा-कालों के माध्यम से इस के मौक्तिक-स्वरूप-प्रयोगात्मक आचार्य सम्बन्धस्थापूर्वक स्वनस्थित हैं सम्बन्धस्थात्मक, प्रयोगाचार्यत्मक यह दिग्देशकाल स्थितः उस अनन्तकाल-दिग्देश के समतुलन में समया ही यत्किञ्चिदर्थ ही है एवं वही इस का आचार्य है किन्ता वही अपने यत्किञ्चिदर्थ से यह बन रहा है। और अशील्य वही अर्थ इस का स्वयं स्वरूप है। अतएव यह अर्थ अर्थ यह अर्थ अभिभवा है। वही अर्थ यह अर्थ है किन्ता वही अर्थ यह अर्थ है। किन्ता 'वही और 'वही में कोई भी अन्तर नहीं है। अर्थात् बुद्धिगम्य बुद्धिगम्या-सापेक्ष बौद्धिक आचार्य-प्रयोगात्मक इस खादिसन्त दिग्देशकाल में तथा बुद्धिगम्य बुद्धिगम्या-सापेक्ष किन्तु बौद्धिक प्रयोगाचार्य से एकान्त-अर्थस्युद्ध उस अनाद्यनन्त कालदिग्देश में अन्तर्विगतता कोई भी मौक्तिक मेरु नहीं है। और सब कुछ ही अपने इस बौद्धिक-बुद्धिगम्य-प्राकृत-कालात्मक-स्वरूप से ही खादिसन्त कालात्मक ही प्राकृत मानव इस यथे से अन्तर से सामान्य से विवेक से ही कैसा अनन्त बन जाता है कैसा महिमामय बन जाय है वह जान-कर इस की खादिसन्त ही बुद्धि बना इस अपने ही आनन्द से प्रभावित नहीं हो जाती।। हम समझते हैं—हो जाती है और अन्तर ही हो जाती है। एवं अन्तर ही इस की यह बुद्धि अपने इस प्राकृत अज्ञानन्त्य के अन्तरमात्र से अपना सम्पूर्ण बौद्धिक ध्यानोद्देश छोड़ कर अपने ही उस महिमामय प्राकृत कालान्त्य के लिए—'कालाय तस्मै नमः' इस प्रकृतमात्र का समर्पण कर देती है।

४५३—शुद्धिमाषापञ्च समर्पण का मूलबीज, तदभिध स्वस्वरूपदर्शन, तद्वद्वारा काज्ञानन्त्य की अनुग्रहप्राप्ति, एवं तदानन्त्य से समन्विता मृतप्रपञ्चाधारभूता अनन्ता बुद्धि—

जैसे अभिभवा हुआ-मानव में यह शुद्धिमाषापञ्च समर्पण !। उधर है एकान्त-‘स्वस्वरूपदर्शन’। मानव की बुद्धि अत्यन्त ‘पर’ दर्शन को ही अपना अन्तर्मात्र बनाए रखती है अत्यन्त इसे स्वयं अपने अज्ञानन्त्यात्मक प्राकृतानन्त्य का भी शोध नहीं होपथा। और इस परदर्शन में मानवबुद्धि स्वयं विषयों की अपेक्षा अपने आत्मके बहुत श्रेष्ठ समझने लग पड़ती है, जबकि अत्यन्तविषय ठीक इस से विपरीत है। प्राकृत-अपेक्षित-बहु-सहार्थ मानव की प्राकृत-वेदन-बुद्धि की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है। मानव की बुद्धि में मृत प्रतिष्ठित है। अर्थात् मृतों में मानव की बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव बौद्धिक मृत (बुद्धि की धीमा में प्रकृत मृत) ही मानव बुद्धि की वृत्ति के कारण बनते हैं।

४५४-बौद्धिक-प्रानानुगत अस्तित्व क 'प्रत्ययकस्त्योपनिपत्' मूलक तथ्य का स्वरूप-

दिग्दर्शन-

वस्तुतः भूत, एवं भूतानुसंधी भौतिक दिग्देशकाल बुद्धि में समाहित नहीं होता, बुद्धि के गर्भ में नहीं आता, तदन्तः कदापि उन भूतों का कुछ भी महत्व नहीं है। यह सबागगुणी भव ही प्रमाणित कर रही है कि, बुद्धि का चर विद्याल है बाह्य भूतों की अपेक्षा। क्या बुद्धि के बिना इन भूतों का कोई अस्तित्व है?। क्यापि नहीं। 'आयतं अतः अस्ति'। 'हम जानते हैं' इसीलिए य भूत हैं'। शून्यधीमा से पृथक् होते ही नामरूपकम्पानक भूतों का अस्तित्व विस्तृत हो जाता है। किन्तु परभावता से मानवबुद्धि इस भ्रम में पड़ रही है कि, भूतों से ही, भूतानुगत दिग्देशकाल से ही उस ज्ञान होता है। अर्थात् भूत ही उस की बुद्धि का ज्ञानप्रदान करते हैं। तो फिर सुप्तावस्था में ये भूत बुद्धि को ज्ञान क्यों नहीं प्रदान करते?। क्योंकि बुद्धि वा मानव में सुप्तावस्था में भी रहती ही है। किन्तु देखते हैं, सुप्तावस्था में सम्पूर्ण बाह्य भूत अपना अस्तित्व ही विस्तृत किए रहते हैं। बुद्धि का व्यक्त होना ही, बुद्धि की सीमा में आते ही बौद्धिक अनुग्रह से भूतों का अस्तित्व अभिव्यक्त होपड़ता है। यही अवस्था अभिव्यक्त ऐन्द्रियक विषयों की है। भूताव्यक्त मानव मनस्कत है-बाह्य विषयों में मानन्द है, सुख है। जिनके साथ सम्पर्क स्थापित करके ही इन्द्रियाँ सुखी बनती हैं। किन्तु यहाँ भी भव टीका रह म उल्टी ही है। इन्द्रियानन्दकी सीमा में प्रविष्ट होकर ही विषय सुखरूप बनते हैं। यदि इन्द्रिय की सीमा में विषय प्रविष्ट नहीं होते, तो उनका कोई नूस्व नहीं है। इन्द्रियसीमा में प्रविष्ट विषयों में इन्द्रियानन्द मायात्मक से प्रविष्ट होजाता है। एवं इस इन्द्रियसुख से व्यन्तित होकर ही विषय सुखरूपक बनते हैं।

४५५-भौतिक-विषयसुखों का स्रष्टा भूतात्मा एवं तदनुग्रह से ही गौतिक विषयों की सुखरूपता-

हम विषयसुख के जनक हैं, कदापि विषय हमारा सुखक जनक नहीं है। जिन जिन भूत-भौतिक-विषयसुखों का हम भोग करते हैं, वे सम्पूर्ण भोग वे सम्पूर्ण विषय वे सम्पूर्ण सुखमात्राएँ पहिले से ही हमारी इन्द्रियों में विद्यमान हैं। हम अपने ही सुखका भोग करते हैं। कदापि विषय हमारे सुखभोग के कारण नहीं है। अतएव वस्तुतः हमारी इन्द्रियसुखमात्रा प्रकृतित्यक् बनी रहती है तभीतक इन की सीमा में प्रविष्ट विषय सुखमात्रा की प्राप्ति के अविद्यारी बने रहते हैं।

४५६-भूतात्मानुगता सुखराशि की अव्यक्त-महान्-बुद्धि-मन-इन्द्रिय-आदि अर्थाचीन भाषों में अज्ञानपरम्परा का स्वरूप-दिग्दर्शन-

जब हमारा इन्द्रियमात्रासुख अन्तर्मुक्त होजाता है, तो फिर कदापि इन्द्रियसीमा में आए हुए भी विषय अपनी सुखमात्रा सुखित नहीं एक लफटे। यही कारण है कि एक व्यक्ति जहाँ कालमरीचिका (मिर्च) खाते ही अर्धनों में आँसू मर जाता है तो जहाँ पुसुर सीत्कार भी नहीं करता। मानना पड़ेगा कि, विकृता मिर्च का स्वरूप नहीं है। अपितु यह तो इन्द्रियमात्रा है। जब इन्द्रियमात्र अन्तर्मुक्त हो जाते हैं तो वे ही विषय सुखरूपक से बंधित हो जाते हैं। फिरवात कीविय। इन्द्रियाँ जिन वैपयिक रतों का उपभोग करती हैं, वे

समूहों रस इन्द्रियों की प्रातिविक सम्पत्ति है। जिस इन्द्रिय में जो रसमात्रा जिस व्यक्त्यनुपात से रहती है, उसी अनुपात से विषयों को वे रसमात्राएँ श्रवण से मिलती हैं। विषय श्रवणी हैं इन्द्रियों के। किन्तु आत्मत्व है कि परद्रव्यमूला भावुकता से इन्द्रियोंमें विषयों का श्रवणी मान लिया है। भावुकता के आवेग से आदि एक उदारव्यक्ति अपनी समूहों सम्पत्ति श्रवण में प्रदान कर देता है। इस श्रवणदान से का स्तर में वह स्वयं वरिष्ठ बन जाता है। और आचर्यकत्व पकने पर यह उसी श्रवणप्रदीता के समीप जाता है। एवं वरिष्ठ का कुछ इसे मिल जाता है उसीसे यह स्नाष्टि का अनुभव करता है। एक इस अपने ही श्रवण के परापरत्व से यह अपने आप को इस ज्ञान्ति का अनुगामी मान बैठता है कि, मानो इसे वह अभिमर्षा (कर्षदार) हुए पहुँचा या है काम पहुँचा रहा है। वैयक्तिक मन्त्रा की भी ठीक यही अवस्था है। इन्द्रियसुगम या श्रवण लेकर तो विषय सम्पन्न करने हैं। और इनसे पुनराकर्षण कर यह इन्द्रियवर्ग ऐसा मान बैठता है कि, इन विषयों से ही मुझ कुछ मिल रहा है। एक व्यक्ति के मुझमें नीच के नामस्मरण से भी पानी आधाता है तो बूख नहीं चरलता मे इस का निगरण एक कर जाता है। विषय अपने स्वरूप से समाने विन्दु ऐन्द्रियक अनुभूतियों प्रत्येक की प्रथक् प्रथक्। ऐसा क्यों ! इसलिए कि इन्द्रियानुभूतियों स्वयं इन्द्रियों की अपनी सम्पत्ति है। इन का जैसा स्वल्प होता है, अनुपात से ही विषयों पर इन्द्रियों का अनुभव होय है। और यों सर्वात्मना बुध्दिगम्या इति मे ही प्रमाणित है कि इन्द्रियसुगम ही विषयसुगम का कारण है अर्थात् विषय इन्द्रियसुगम का कारण नहीं है।

४५७—सन्तानधाराकमसिद्धा सुखमात्राएँ, एव अन्तोपक्रम से अनन्तान्वेषण क लिए समस्तुर दार्शनिक का महान् बौद्धिक-ध्यामोहन—

अर्थात् इन्द्रियान्वेषण मन का सुख ही इन्द्रियसुगम का कारण है अर्थात् इन्द्रियों मानसिक सुख का कारण नहीं है। मानसिक सुखमात्रा का श्रवण लेकर ही इन्द्रियों सुखान्विता बन रही हैं। मन अर्थात् इन्द्रियों में नहीं है अस्तित्व समूहों इन्द्रियों मनोवर्ग में समाविष्ट है। अर्थात्-मनकी अन्वेषणमूला बुद्धि का सुख ही मानसिक सुखका कारण है। अर्थात् मानसिक सुख बौद्धिक सुखका कारण नहीं है। बौद्धिक-सुखमात्रा का श्रवण लेकर ही मन सुखान्वित बन रहा है। बुद्धि अर्थात् मन में नहीं है। अस्तित्व मन ही अन्वेषणमूला बुद्धि के गर्भ में समाविष्ट है। और ऐसी महिमाशक्तिनी बुद्धिकी वृत्त करने के लिए अन्त मानव न केवल मानसिक सुख को ही नापि केवल इन्द्रियसुख को ही अस्तित्व भूतों के प्रति अनुभावण करता रहता है जो इसकी महिमा के सम्पन्नन में अपना सुख भी तो महत्त्व नहीं रखे। और उन भूतों की व्याख्या को ही यह करने लग पड़ता है बुद्धिपम्या-व्याख्या। एवं ऊँपरि इन मूलावस्थाओंसे ही इसे यह भावित भी हो पड़ती है कि, 'मैं अब अचरक बुद्धिमान् हूँ' अर्थात् 'बुद्धि' नामक कोर्त लक्ष अवश्य मुझ में है। मानो इन भूतों ही बुद्धिका अस्तित्व स्थापित किया हो। अन्त से अनन्त को वृद्धि करने के ऐसे ही वा बुध्दिरव्याम भोगने पड़ता है दार्शनिक-बुद्धि को।

४५८—यद्यथावत् प्राकृत-खण्डात्मविवरणों के समतुलन में अनन्त-भावापन्न महान् मानव—

'अन्त' की भीमा अभी श्मन्त नहीं हुई है। बुद्धि का अन्वेषण है महत्त्व। यह प्राप्तेष्व महान् ही बौद्धिक सुख का कारण है। अर्थात् बुद्धि महत्त्वसुख का कारण नहीं है। महत्त्वका ही सुखमात्रा का श्रवण

संकर ही बुद्धि सुव्यक्तिका बन रही है। महान् कृपापि बुद्धि में नहीं है। अपितु बुद्धि स्वतन्त्रा महद्-गम में स्थापित है। आर आगे चलिए। महान् का अर्थ है अत्यन्तमान, विश्व के पुण्यहीराव्यक्त परोरजा-अव्यक्त, अर्थव्याव्यक्त, एवं सर्वान्त का अनन्त कालात्मक अव्यक्त, यं क्रमिक सोपाननाथ है, जिन इन सब की समष्टि ही हम यहाँ- अव्यक्त नाम से सम्बोधित कर लेते हैं। (कर लिया है महर्षि कृष्ण)। यह अव्यक्त मुझ ही महत्सुख का कारण है। कृपापि महत्सुख अव्यक्तमुख का कारण नहीं है। अव्यक्त-कालात्मक की मुख्यमात्रा संकर ही महान् सुगतमक बन रहा है। अव्यक्त कृपापि महान् में नहीं है। अपितु स्वयं महान् अव्यक्त के गम में स्थापित है। प्रार यहाँ आकर बुद्धिगम्या क्रम पदस्था उपरागत है। भाविक विषयरूप अर्थ, तदनन्तर इन्द्रियों तदनन्तर मन, तदनन्तर बुद्धि, तदनन्तर महान् तदनन्तर अव्यक्त इस बुद्धिगम्या क्रमभाष क सम-तुलन में सर्वान्त क अधरूप भाविक विषय का इस इन्द्रिय-मना-बुद्धि-महान्-अव्यक्त-रूप प्राकृत मानव के सम्पन्न में क्या महत्त्व शय रह जाता है? प्रश्न का अर्थ वा प्राकृत मानव को मम्म विदित हो ही जाना चाहिए, और हा ही गया होगा। क्योंकि अन्ततोगत्या मानव 'मानव' है। और निरर्थक्येन अनन्त है यह 'मानव' इन सम्पूर्ण भौतिक विज्ञान की तुलना में।

८५६ महाकाल कालास्वत्य, कालाव्यक्त, कालमहान्, कालबुद्धि, कालमन, कालेन्द्रियवर्ग, कालशरीर, आदि आदि यथावत् कालविवर्तों के समतुलन में प्राकृत-मानव का कालात्मिका अनन्तता का समन्वय—

अनन्त-अव्यक्त-अमृत-महाकालात्मक-प्रथम 'अव्यक्त' पर्व क गम में अर्थव्याव्यक्तव्यक्त, उद्गम में परोरजामूर्ति परमकालाव्यक्तव्यक्त उद्गम में पुण्यहीराव्यक्त-अव्यक्त-व्यक्त और यहाँ तक अनन्त-अमृत-अव्यक्त का ही साम्राज्य अतएव इन चारों अव्यक्त-व्यक्तवर्गों का 'अव्यक्त' नाम से ही समझ। इस अव्यक्त के गर्भ में पारमेष्ठ्य महान्, इस महान् क गर्भ में छेरी बुद्धि, इस बुद्धि के गर्भ में चान्द्र मन उद्गम में चान्द्रप्राणविभूतिकर इन्द्रियों उद्गम में चान्द्र-पार्थिव भूतात्मक बाह्य अर्थ (विषय)। बाह्य अर्थों की समष्टि का नाम ही 'शरीर' और यही प्राकृत मानव का महत्त्वमहीमान् प्राकृत स्वरूप। वैश्व महिमात्मक स्वरूप उस अनन्ताव्यक्तव्यक्त का वैश्व ही स्वरूप इस प्राकृत मानव का। 'वही' 'यह' है। जो 'यह' अनन्त कालाव्यक्त वक्ष है वही 'यह' प्राकृत मानव है। और अन्तर ही बुद्धिगम्या कालविश्वेश्वरकालिका (विश्वेश्वरकालिका नहीं) व्याख्या से मानव की यह प्राकृत-अनन्तता सम्बन्धित हो रही है समझ में आ रही है प्राकृत मानव के। यदि अब भी समझ में नहीं आ रही तो अब बहना पड़ेगा कि, कि न वा मानव 'मानव' ही है एव न इस की वधि 'बुद्धि' ही है।

४६०-चक्षुरिन्द्रियानुगत-प्रत्यक्षभूतमात्र के प्रति व्याप्तुष्य बुद्धिमान् मानव की बुद्धि के प्रति प्रथमाञ्जलियाँ समर्पित, एवं तन्माध्यम स तत्रति 'विद्वि नष्टानयेतम' का संस्मरण—

वधि चक्षुरिन्द्रिय क ठीक सामने रख कर स्थूल भूतविषय का ही मानव अपनी बुद्धि के प्रयोगात्मक आचार का धन मानता है एकमात्र इस प्रत्यक्षमान पर ही मानव ने अपनी बुद्धि का क्रिया मानवस्वरूप

अस्मिन्नर्थे सूकरदृष्टान्तः प्रदर्शयते—

वङ्गदेशेक्षितिप्रतिष्ठितनगरेऽरिर्मर्दननामा वृषो बभूव । तस्य सप्त कन्यका
आसन् । स भूपतिस्तासा कन्यकाना यौवने वयसि प्राप्ते ता एकैकक्रमेण विवा-
हिताः । तत्रैका कन्यका कर्मयोगतो विवादानन्तरमचिरेणैव कालेन पतिहीना
जाता । एकदा सा गवाक्षे स्थिता कुतश्चित् समागता समुता मूर्खी दृष्ट्वा चिन्त-
यामास—अहो ! घन्यमस्या जन्म, यदिय बहुमिरपत्यै सार्धं विचरन्ती सुखमनु-
भवति । इति विचिन्त्य सा स्वदासीमग्रवीत्—अग्रैक सूकरश्शिथु समानय । तदाज्ञया

को सेवता है । अज्ञान की महिमा अपार है । समस्त अनर्थों की जड़
एक अज्ञान ही तो है । अज्ञान आते ही पहिले वह विवेक पर ही कुठारा
घात करता है । जिस आत्मा से विवेक का लोप हो जाता है उस
आत्मा में विविध कष्टरूपी काँटे भुँडे हो जाते हैं । यह अज्ञान अनेक
प्रकार के दुर्गुणों को उत्पन्न करता है । तथा तप और सयम का विना-
शक है, यह प्रमाद को उत्पन्न करनेवाला है, तथा स्वर्ग और मोक्ष के
सुखोंका विघातक है ॥ इस पर सूकर का दृष्टान्त इस प्रकार है—

यंगदेश में क्षितिप्रतिष्ठित नामका एक सुन्दर नगर था । अरिर्मर्दन
नामका राजा उसका शासक था । इसके सात कन्याएँ थीं । राजा ने
इनका क्रमशः जब वे तरुण अवस्थावाली हो चुकीं विवाह कर दिया ।
कर्मकी विचित्रतावश एक लड़की विवाह के बाद ही विधवा हो गई ।

ते अविनात त्याग करी अपकारक दुःशीलने सेवे छे अज्ञाननी महिमा अपार
छे समस्त अनर्थोनी नउ अेक अज्ञान न छे अज्ञान आवतानी साथे न
ते सुहु प्रथम विवेक उपर न धा करे छे न आत्माभायी विवेकनो लोप धर
अथ छे अे आत्माभा नाना प्रकारना कष्टरूपी काटाओ भीछावाध अथ छे
अे अज्ञान अनेक प्रकारना दुर्गुणोने उत्पन्न करे छे तथा तप अने सयमनो
विनाश करे छे अे प्रमादने उत्पन्न करनार छे तथा स्वर्ग अने मोक्षना
सुखोनो नाश करनार छे

आ उपर सूकरनु दृष्टान्त आ प्रकारे छे

यंगदेशमा क्षिति प्रतिष्ठित नामनु अेक सुन्दर नगर इत्तु अरिर्मर्दन
नामना राजानु शासन इत्तु, तेने सात कन्याओ इती राजाअे तेना क्रम प्रमाअे ।
नेम नेम उभर लायक धती गध तेम तेम तेना विवाह करी आअ्या कर्मनी
विचित्रतावश अेक पुत्री विवाह पछी विधवा भनी अेक दिवसनी वात छे के

क लिए ही 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' अभिप्रेत हुई है बुद्धिनिष्ठ सद्यमानता क सम्मुख । इस मीमांसान मानव क सम्मुख इसके महतामहीयान् प्राकृत स्वरूप का ही विश्लेषण किया है । अथर्व ही मानव इस प्राकृत कालदिग्देशकालस्वरूप के माध्यम से बुद्धिपूर्वक अपन महतामहीयान् स्वरूप को सर्वमाना पहिचान सक्षम है, बान लेता है । एवं इसी प्राकृत स्वरूपको से इसके दिग्देशकालात्मक सम्पूर्ण प्राकृत-आचार- (कच व्य) अभ्यन्तस्थापूर्वक मुख्यस्थित होजाते हैं । इसी का नाम है प्राकृत मानव का अभ्युत्थय, ऐहिकी- किं पुरुषाय पितृस्वरूपाणुगता सुख-ममृदि ।

४६३-प्रकृति से अतीत अनन्त ब्रह्म की अनुग्रह प्राप्ति क लिए अनिवार्यरूपण अप चिंता प्राकृतकालात्मक-आचारसूक्ष्म-कार्त्वि्य की अनुगति, तथा आचार क पूवबोधोत्पत्तिक 'शाब्दज्ञान' क 'ज्ञानच' का, एवं तदुत्तरबोधोत्पत्तिक 'आचारज्ञान' क 'कर्मच' का समन्वय

अब गहर रह जाता है-अनन्त प्राकृत विश्वाधारभूत कालातीत अनन्तब्रह्म को प्रकृति से अतीत है । और इसीका सम्भन्ध में प्राकृत मानव की बुद्धि कुम्भित होजाती है । इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाकर श्रुति इस यह उद्घोषण प्रदान करते हैं कि 'गुह्यारी यह कुम्भित मनोवृत्ति तमीतक है बरतक कि तुम अपने प्राकृत स्वरूप को पहिचान कर उदनुसार कच व्य में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त नहीं हो जाते । कच व्यवहित प्राकृतबोध कस्तुतः प्राकृत बोध है ही नहीं । मिथी का कितना ही बुद्धिगम्य वर्णन क्यों न कर दिया जाय । बरतक उम रजनेन्द्रिय से सम्बन्धित नहीं कर लिया जाता, तबतक क्वापि वर्णनस्यस्वात्मक बोधमयज्ञी से मी मिथी की सक्षम मधुरता से रजनेन्द्रिय परिचित नहीं होसकती । यही शब्दात्मक बोध तथा आचारोत्पत्तिक बोध में महान् विभेद है । इसका यह सारम्य क्वापि नहीं है कि, शब्दात्मक बोध का क्षेत्र महत्त्व नहीं है आचारोत्पत्तिक बोध के सम्बन्धन में । कस्तुमिथि तो कुछ देखी है कि बिना शब्दात्मक बोध के आचारोत्पत्तिक बोध उपरान्त ही नहीं होता । उत एक ही आचार के पूवबोध का नाम शाब्दबोध है एवं उत्तरबोध का नाम आचारबोध है । शाब्दबोध का नाम ही 'ज्ञान' है एवं आचारबोध का नाम ही 'कर्म' है । शाब्दबोधोत्पत्तिक प्राकृतज्ञान ही आचारबोधोत्पत्तिक कर्म की मूलप्रतिष्ठा है । और इस दृष्टि से 'ज्ञानपूर्वक कर्म' को ही प्रशस्त माना जायगा माना गया है * । अतएव एव इसी दृष्टि से यह मी क्या और मान लिया जासकता है कि 'बिना समके क्वापि कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये' । क्या तत्पर्य है इस वाक्य का ? ।

४६४-बौद्धिक तर्कजाल से व्यामृग्य बुद्धिमान् मानव के अभिनिवेश से 'सवित्' रूपा 'ममक', तथा कार्त्वि्य 'कर्म' भाषो की पराह्मुखता—

परन इसलिये उपस्थित हो पका कि, इस वाक्य के तत्पर्य का सम्भन्ध न करसकने के कारण ही आब मानव की शोक्बुद्धि में एक वैद्य व्यमोहन उत्पन्न हो गया है किन्तु न ता मानव को कुछ सम्भन्ध

*-ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत नाम्नात्वा कर्म आचरेत् ।

अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्थलनं स्यात् पदे पदे ॥

का अवलोकन मान सकता है जो फिर हमें कुछ भी कहना सुनना नहीं है एवं तात्कालिक-प्रत्यक्षकारी-मृत-
मानवादी बुद्धिमान् । मानव के सम्बन्ध में कुछ भी । एवं शास्त्रन कुछ भी नहीं कहा है ऐसे मानव के लिए ।
शास्त्र बना ही नहीं है ऐसे यथाभाव मानवों के लिए, जो अपने प्रत्यक्षदृष्ट मीथिक कर्म में
ही स्वार्थमना अपने मीथिक स्वरूप का स्पष्ट करते रहते हैं सर्वत्र-स्वतन्त्र-पूर्ण, जैसे कि अन्य बातों
के प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ भी वैदिक माप-एव-आवृत्त बना ही नहीं है, बा अन्य प्राणी स्वर्ग अपनी ही
प्राकृत बुद्धि से केवल प्राकृत-दिग्देशकालानुसंधी प्रत्यक्षदृष्ट-भुक्त-उपस्थित-मूर्तों की उपासना करते
हए ही स्वप्नरूप से आहारविहारपर्याप्त करते हुए सुखपूर्वक ! जीवन व्यतीत करते रहते हैं-सबज्ञान
विमूर्द्धस्तान् विद्वि नष्टानचेतसः । अज्ञानं तस्य शरणात् । ऐसे ही यथाभाव मानवों का पारिप्रेक्षिक
नाम है-“किंपुरुषमानव किं वा सन्तत्प्रमापति अपने साम्प्रतिक ज्ञानयत्न की प्रतिपूर्ति के लिए
ही उपशेय करते रहते हैं । प्रमापति के निरस्त-धृ-मृत माग की पूर्ति ही इन यथाभाव 'मृतमानवों'
(बद्धमानवों) का एकमात्र महान् उपयोग माना है मारुतों 'यद्यथात्' ने इत्यास्तप्यात्ममेव ।

४६१-प्रकृतिसिद्ध-कर्त्तव्यात्मक-धर्माचरण के महान् उद्देश का सम्मरण, एवं तत्-
द्वारा मानव के अभिनिवेश की उपशान्ति—

किन्तु जिस की दृष्टि में प्रत्यक्षमृत ही मृत की परिणामि नहीं है इस से भी आगे कुछ और है,
एक वह 'और' ही जिस की बुद्धि का क्षेत्र बना रहता है स्वयं प्रकृतिपरीक्षक परीक्षामार्गक उस बुद्धिमान् के
लिए तो पूर्णक प्राकृत-अनन्त स्वरूप सहकरुपेण शास्त्रस्वाध्यायनिष्ठा कि माध्यम से अमरयमेव विज्ञान बन
जाता है । और जब प्रत्यक्षविमोहनात्मक वैदिक व्यामोहन से थोड़ा ऊपर उठ कर मानव की प्रकृति
के रहस्यविरक्षेपण में महत्त होता है, तो स्वयं इस की यह श्रुतबुद्धि ही इस के अनन्तमहिमाशाली प्राकृत
अनन्त स्वरूप को अभ्यक्तकालस्वरूप को इस के लिए अभिव्यक्त कर देती है • । "तत्स्वयं योगसिद्ध-
अन्तेन-अभ्यक्तकालमाध्यमेन-आत्मनि-प्राकृतस्वरूपे-विन्दति" (गीता) । बुद्धियोगसिद्ध-
इति यावत् । प्रकृतिसिद्ध-कृतम्या मक धर्माचरण का यही तो वह महान् उद्देश है, जिस धर्मा-
चरण से ही मानव की बुद्धि का अभिनिवेशात्मक प्राकृत व्यामोहन उपशान्त हुआ करता है ।

४६२-अनन्तप्रज्ञा, एवं अनन्त प्राकृत-विरव के तमयात्मक आनन्त्य से समन्वित
मानव का महान् पुरुषार्थ, तन्मूल्यपूर्ति-विज्ञासा, तथा तत्समाधानानुगता दिग्-
दशकालस्वरूपमीमांसा—

उक्त सम्यक् स्थिति से अब हमें उद्दिष्टपूर्वक इत निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, मानव के सम्मुख
अनन्तप्रज्ञा अनन्तप्राकृतविरव के दो किन्तु अनुपस्थित हैं किन्तु इन दोनों को ऐसे शक्य बना लेना है और
परी मानव का सम्यक् पुरुषार्थ माना गया है । जैसे वे दोनों कल्प नहीं हैं, इस महान् परन के समाधान

॥-उतो स्वस्मै तन्नं विसन्नं चायेव पत्ये उग्रवी मुवासाः ।
—श्रुत्सं० १०७१।४।

बुद्धिबुद्धिकराण्याश्च धन्यानि च हितानि च ॥
 नित्यं शास्त्राप्यवघेत निगमांस्त्वेव वेदिकान् ॥३॥
 यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ॥
 तथा तथा विजानाति विद्वान् चास्य रोचते ॥४॥

—मनु ४।१६, २०।

४६७—'विधि' लक्षण धर्म की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'आचार परमो धर्म' का सस्मरण—

ज्ञानपूर्वक कर्म करते रहने से वा अर्थ है—'शब्दज्ञानपूर्वक कर्तव्यनिष्ठ बने रहने से'। यही प्रारम्भिक 'समम्' का अर्थ है, वा कर्तव्यनिष्ठ ही मूलप्रतिष्ठा बनती हुई कालान्तर में स्वयं ही उस 'बुद्धिनिष्ठा' के रूप में परिणत हो जाया करती है, जिसे हमने पूर्व में—'सचित्' नाम की 'समम्' कहा है। 'समम्-पूर्वक कर्म करते रहने से कालान्तर में स्वयं ही समम् आजाया करती है इस लाक्षणिक का यही समन्वय-निष्कर्ष है। सर्वथा 'समम्' होने का व्यामोहन न तो समझने ही देता, न कर्तव्यनिष्ठ ही बन देता। अतएव समम् लेना और समम्भङ्गना क्यापि यहाँ धर्म नहीं माना गया। अहित करना और कृत्या ही यहाँ धर्म माना गया है। आचरणगतक आचार ही भारतीय वह 'परमधर्म' है जिसकी मूलप्रतिष्ठा शब्दशास्त्रानुगता आस्थापूर्णा 'डा' ही मानी गई है— भद्रामयोऽयं पुरुष—यो यच्छुद्धः, स एव सा। अतएव—भद्रापानेव ज्ञानं लभते*। यही यहाँ के 'आचार' परमो धर्म' इस महान् घट का श्रेष्ठिक रहस्य है।

४६८—कलाव्यात्मक आचारधर्म की अनुगति से कालान्तर में 'अमयमम' की अनुग्रह प्राप्ति, एवं तदनुगता 'किञ्चित्' (कुछ) रूपा अभिन्नता का सस्मरण—

कर्तव्याचारनिष्ठ बुद्धिरीति मानव अवरय ही इस कर्तव्य के माध्यम से ही कालान्तर में अपने महान् प्राकृत स्वरूप का लोप प्राप्त कर लेता है। एवं यही कर्तव्य इसे कालान्तर में कालातीत अनन्त से समन्वित कर देता है जिसे 'अमयमम' कहा गया है। यों मानव का प्राकृत स्वरूप बर्हा महतोमहीत्यान् आधिदैविक प्राकृत स्वरूप का 'कुञ्ज' बन रहा है वहाँ इसी मानव का अप्राकृत स्वरूप महतोमहीत्यान् उठ अप्राकृत स्वरूप का 'कुञ्ज' बन रहा है एवं अन्त में पुनः पुनः आलोचित-विलोचित इस 'कुञ्ज'—'कुञ्ज' का कुञ्जस्वरूप और समन्वित कर लेना है जिस 'कुञ्ज' के समन्वय के बिना तत्कुञ्ज निस्वर ही प्रमाणित होजाता है उसके ही 'कुञ्ज' रूप ही इस मानव का।

* भद्रावान्त्वमते ज्ञानं तत्परः सपतन्त्रिय ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमधिरेषाधिगच्छति ॥

—गीता ४।३६।

ही दिया है एवं न कुछ करने ही दिया है। अर्थात् एवमात्र—‘हम सो समझेंगे, तब मानेंगे तमी करेंगे’ इसी अभिनवेश का सर्वान्वय मानवबुद्धि समझ, और काम, दोनों से उत्पन्न बन गई है। एवकार के लक्ष्य उपस्थित कर अपने कर्तव्य की इतिभी मान बैठने वाले बुद्धिब्यासुग्रह महातुभाव अन्तर्दोषका ऐसे सम्भस्त होजाते हैं अपने इस दग्ध में कि फिर न वो समझ से ही इनका कोट्य सम्बन्ध रह्य न कर्तव्य से ही।

४६५—कर्मोत्तिर्कर्मव्यतात्मक शाब्दबोध, एवं तदभिन्न ‘संवित्’ से मानव की स्वकर्तव्य प्रवृत्ति का समन्वय—

अतएव इस कथ ब्यासुग्रह शाब्दज्ञान की सीमा केवल शाब्दज्ञान’ पर्यन्त ही व्यवस्थित हुई है आचार पद्धति में। शब्द के आक्षरार्थज्ञानमात्र से सम्बन्ध रखने वाली समझ ही पर्याप्त है कथ ब्यसेन में, किं शाब्दबोध में क्यों! केसे ६, न च—नुच आदि लक्ष्य कुल्लं कर्मणा ही असंयुक्त माने हैं स्वयं शास्त्रन ही। आचारकथ ब्य की पद्धति का इतिरूप स्यात् का बोध ही शाब्दबोध की सीमा है एवं यही कथ ब्यासुग्रहा ‘समर्थ’ की सीमा है विद्यमें सीमित रह कर ही मानव कथ ब्यनिष्ठ बन सकता है। यदि कथ ब्यारम्भ से पूर्व ही मानव अपने बुद्धिब्यासोहन में आकर रक्ष्यबोध की इच्छा व्यक्त कर बैठता है तो शाब्दशास्त्र तत्काल उत्कण्ठ निष्कन्ध ही कर देता है—‘स साधुमिर्षाहृष्यन्त्यै—नास्तिक्ये वेदनिम्बकः।

४६६—आदेशालुगता कर्तव्यनिष्ठा की अनुगति से ही मानव के प्राकृत कर्तव्य का संरक्षण, एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय आदेशों का स्मरण—

शुक्त वैद्य। यदि एक बालबुद्धि आक्षरारम्भ से पूर्व ही—‘इसे प्रकार ही क्यों कहा जाता है ६, में लिखें ही क्यों! क्यों आक्षरव्यास करूँ!। मुझे वो इस क्यों का रहस्य समझ दिना बापगा तमी लिखेंगा पाँचों ग पाँचों ग करूँगा’—इसप्रकार के कुल्लं करने लग पड़ेगा तो न तो इसे उत्तर ही मिल सकेगा न यह कुछ कर ही सकेगा। इस आरम्भ-दशा में तो सर्वत्र समी लोकेषु में ही आक्षरार्थ शब्द-बोधात्मक-आदेशबलित-ज्ञान ही कर्तव्य की आधारभूमि बना करता है। और यही—‘समर्थ कर करने खगपङ्कना’ का अर्थ है। इस कर्तव्य में स्वयं में ही ऐसा बल है जो स्वस्वस्वनिष्ठ के साथ साथ उदनुष्मता से ही शनैः शनैः कर्तव्य-रहस्य का बोध भी कर्तव्यनिष्ठ मानव को कराया जाता है। निम्न लिखित बचन इसी लक्ष्य का निरूपण शब्दों में विरलेपन कर रहे हैं जिसे आधार बनाए बिना मानव क्वापि कर्तव्यनिष्ठ बन ही नहीं सकता—

ब्रह्मचारी, गृहस्थश्च, वानप्रस्थो, पतिस्तथा ॥

एते गृहस्थप्रमवाश्चश्चारः पृथगाधमाः ॥१॥

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वैते ‘यथाशास्त्र’ नियेषिताः ॥

‘यथोक्तकारिण’ त्रिषु नयन्ति परमां गतिम् ॥२॥

—समुः ६।२०।२२ ।

४७२-दिग्देशकालात्मक-प्राकृत सृष्ट पदार्थों से सम्यक् अनुरूपशिल्प, प्रतिरूपशिल्प, नामक दो शिल्पविवर्च, एवं तत्स्वरूप-दिग्दर्शन—

भारतीय वैशालिकोंने सृष्टपदार्थों के सम्बन्ध में अनुरूप प्रतिरूप भन् से शिल्प क दो महिमामय विषय माने हैं। अत्र रूप, अतएव अपूर्णभावापन्न अपूर् शिल्प का नाम है—‘अनुरूपशिल्प’, एवम् ‘अङ्गी’ अथ अतएव पूर्णभावापन्न पूर्ण शिल्प का नाम है—‘प्रतिरूपशिल्प’। शिल्प’ शब्द का अर्थ है—‘प्रतिकृत’। मूलवृत्ति का रूपान्तर ही ‘प्रतिकृति’ है, जिस अर्थात् लोकादृष्टना समझने के लिए ‘नकल’—‘नमूना’—(मॉडल) कह सकते हैं आत्र के युग की भाषाओं में। कृति का प्रति’ भाव ही ‘प्रतिकृति’ है। और अनन्त-काल में उत्पन्न कितने भी चर-अचर पदार्थ हैं वे सब कृति’ रूप काल की प्रतियों (प्रति) बनते हुए काल की ‘प्रतिकृति’ (काल का शिल्प काल की कृतिगण, काल की नकल, काल का नमूना) ही प्रमाशिवत हो रहे हैं। एवं इस ‘प्रतिकृति’ रूप शिल्प के ही अनुरूपा प्रतिकृति प्रतिरूपा प्रतिकृति भेद सं दो भेद निष्पन्न होकर हैं। ‘उस से अभिव्यक्त, और उसके जैसा ही’ इस का नाम है—‘अनुरूपशिल्प’ (अर्थात् वैद्य या तेजा) एव—‘उस से अभिव्यक्त, किन्तु उस का प्रतिद्वन्द्वी इस का नाम है—‘प्रतिरूपशिल्प’ (अर्थात् अपने सङ्गठन में भी अन्तर्गतत्वा परस्पर कर देने वाला अर्थात् सङ्गठन को भी अभिभूत कर देने वाला लोकमान्यानुसार मात्र कर देने वाला उस का पुत्र बन कर भी उस का पिता बन जान वाला—‘पितासीत-प्रजापतेः—अर्थात् नर्मानयुग की नान्यभाषा के अनुसार बाप का भी बाप—‘पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति’। यैभी प्रतिकृति (यैसी नकल) को अकल से मिलती जुलती हो, उधी का नाम है—‘अनुरूपशिल्प’। एवं यैभी प्रतिकृति या अकल को भी जुला दे स्वयं ही अकल बन बैठे, उधी का नाम है—‘प्रतिरूपशिल्प’। निष्कर्षतः अपूर्ण से अपूर्णरूपीय अभिव्यक्त होने वाले शिल्प का नाम है—‘अनुरूपशिल्प’ एव अपूर्ण से पूर्णरूपेण व्यक्त होने वाले शिल्प का नाम है—‘प्रतिरूपशिल्प’।

४७३-मूचा-मांतिक-रेखाचिह्नों के द्वारा समयविषय शिल्पों का स्वरूप-समन्वय—

टहरिए ! मांतिक चिह्नों के माध्यम से पहिले स्थिति का समन्वय कर लीजिए। विविध रंग-रश्चित कर्तों के रेखाङ्कनात्मक शिल्प आप के सामने हैं, जिन्हें आप ‘बेलयूट’ कहा करते हैं। कर्तों पर ही नहीं, पापाख मिथियों पर, नैरिकमुष्टिकाभितियों पर कर्तों (कलाओं) पर, एड्यारों, वोरण्यारों कीर्तिस्वप्ना, सुषर्ष—रत्न-स्यन्नादि मुद्राओं मन्दिरों, मूर्तियों आदि आदि में सर्वत्र भारतीय शिल्पों में रेखाङ्कनात्मक विविध शिल्प माप उपलब्ध कर रहे हैं। इन शिल्पों में जो शिल्पपरम्परा पूर्व-पूर्व-शिल्प के अनुरूप होती है उसे ही कहा जाता है—‘अनुरूपशिल्प’। एव विषय शिल्प के पूर्व तथा उत्तर कर्तों में परस्पर प्रतिरूपण-समसाम्युत्तर होना है उसे ही कहा जाता है ‘प्रतिरूपशिल्प’। निम्न लिखित रेखाङ्कनों से जेना का अर्थ परिलक्षित है—

४६६-प्राकृत-व्यामोहनासक्त-प्रत्यक्षवादी मानव की नम्रता, एवं तदनुबन्धनैव परो-
चमावापन्न मी 'क्लिञ्चित्' (कुञ्च) भाव की नम्रता का उपक्रम—

कालकाल के माध्यम से 'कुञ्च' का अर्थ आरम्भ में हमने 'प्रतीक' ही समझा था। किन्तु काल के
स्वरूपने ही अन्ततोगत्या हमारा यह प्रतीकव्यामोहन समाप्त कर दिया। एतन् तस्मै स प्रतीक के स्थान
में हमने 'कुञ्च'—'कुञ्च' कह देना आरम्भ कर दिया था कि अतीतक पर्यन्त ही बना रहा है। इच्छा तो यही
थी कि इस 'कुञ्च' की मीमांसा को तो परोक्ष ही बना रहने दिया जाता। तभी इस का अर्थ कुञ्चकुञ्च अर्थ
में आ भी सकता था। किन्तु वर्तमानयुग वैसा आपदधर्मात्मक युग है जिस में परोक्षता कदापि धम्म नहीं है,
आप के बुद्धिमान् की अस्मत्ता नम्रता की वृथा से। आज का मानव सन्कुञ्च नम्रप्रदर्शन ही अतीत
मानता है। अब कि मारवीय धर्मपद्धति में सन्कुञ्च परोक्षपद्धति के आचार पर ही व्यतिथत हुआ है—
'परोक्षप्रिया इव हि वेषः, प्रत्यक्षप्रिया'। तो लीकिए। युगधर्मात्मक आपदधर्मक कालधर्म के समुक्त
धर्मपद्धति को परोक्ष बनाते हुए अन्त में उक्त 'कुञ्च' का मी नम्रप्रदर्शन कर लेने की वृथा करली जाती है
परोक्षप्रिय देवताओं से आमा नाञ्चा करते हुए ही।

४७०-कुञ्च के महतोमहीयान् स्वरूप की अभिव्यक्तिमूला महती घृष्टता—

यह 'कुञ्च' भाव है उस मानव की, जिसे मानवशरीर से ही आज हमें निवेदन करना पड़ रहा है।
अपनी रात अपने मुक्त से कभी अन्वी नहीं बना करती। अतएव हम अपने आपको तो कर लेते हैं सर्वथा
परोक्ष। एवम हम से अतिरिक्त परममर्द्वेय ब्रह्मनिभूतिकरुण किरण के यन्त्रयाकत् पठित-अपठित सभी मानव-
भेषों को अन्वि तथा अन्विक्त से बना लेते हैं। दृष्टान्तात्मक उदाहरण। एवम उन ब्रह्मरूप मानवों की
उदाहरणविधि से ही उन्हीं के समुक्त-स्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये' न्याय से उन्हीं के
'कुञ्च' रूप का 'नम्र' किन्तु महतोमहीयान् स्वरूप रख देने की घृष्टता करली जाती है प्रकान्ता दिग्प्रेराकाल-
स्वरूपमीमांसा के माध्यम से ही।

४७१-अभिव्यक्तित्व के मूलाधारभूत 'प्राजापत्यशिल्प' का संस्मरण—

सर्वप्रथम आप के प्राकृत स्वरूप के माध्यम से ही 'कुञ्च' का महत्वपूर्ण इतिहास आपके समुक्त
रखता जा रहा है। अनाद्यनन्त • कलिलारूप महाकालात्मक महाशिल्प एक ओर है एवम आप का प्राकृत स्वरूप
एक ओर है। इन दोनों महान् स्वरूपों में कैसी और क्या समता है?, क्या ताव्य है?, यही आपको स्वर्ग
आपने प्राकृत-स्वरूप से जान लेना है। क्या आप उस अनाद्यनन्त-प्राकृत-महाकाल के 'प्रतीक' हैं?। नहीं।
क्योंकि 'प्रतीक' का अर्थ तो अन्वय-अज्ञ-माग-अरा-पर्य-एकार-हीठा है। क्या आप उस के अज्ञ
हैं?, नहीं। तो फिर आप उस के 'प्रतीक' तो नहीं हो सकते हैं। अन्वय ही कुञ्च न कुञ्च आप उसके।
तो अब आपका ध्यान 'प्राजापत्यशिल्प' (प्रजापति की कारीगरी) की ओर ही आकर्षित किया जा रहा है इस
'कुञ्च' के अन्वय के लिए।

• सूत्रमार्तिसूत्रम् कलिञ्चित्य मध्ये (श्वेता० उप ४।१४।)।

अनाद्यनन्तं कलिञ्चित्य मध्ये (श्वेता० उप ४।११।)।

श्री अनिम्यद्विषा है, उठी क शिष्य है, उठी क पुत्र है उठी श्री सम्पत्ति है अर्थात् उठी श्री प्रतिद्वन्द्विता है। और यही अब आपका स्वयं यह समझ लेना है कि, आप तथाकथ दानों प्रभार के शिष्या में स धन में 'शिष्य है'। क्या है, क्या इसके भी अधिक नमन भाष्य था अनुगमन किया जाय'। अनिम्यत्क।

४७५-प्रतिरूपशिष्यात्मक मानव की स्रष्टाप्रजापति में प्रतिद्वन्द्विता, एवं प्रतिद्वन्द्विता में मानव का विजयार्थी क द्वारा सम्मरण—

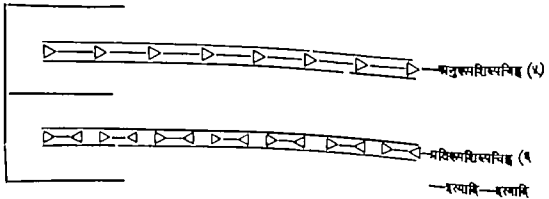
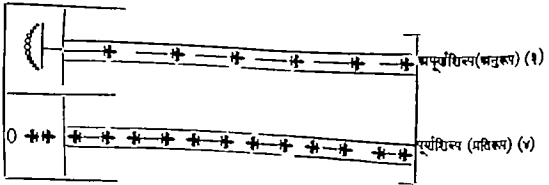
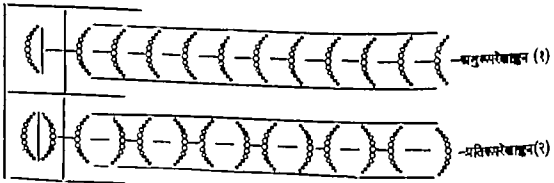
हा, वा आप है उसक 'प्रतिरूपशिष्य' अर्थात् 'पूर्णशिष्य' अर्थात् 'प्रतिद्वन्द्वी' अर्थात् उसक अनिम्यत्क होकर उठी श्री भीमा का अन्ततागत्या उल्लापन कर जान वाले 'पुरुषाध्यायी मानवभेद'। मानवेतर यथायावत् प्रानसग (श्रुत्य-वितर अनुसन्धान-आदि आदि प्राणविवर्त), यथायावत् प्राणीमग (पशु-पक्षी-मृग-मत्स्य-सर्प) तथा यथायावत् अर्द्धचतन (आधि-वनस्पति-जला गुण्यानि) अर्द्धचतन (वायु-वायुणाणि) सर्प व सम्पूर्ण बर्हा अपूर्णशिष्यात्मक अनुसृष्टशिष्य है उस अर्द्धक-अन्ततागत्याप्रजापति (स्रष्टाप्रजापति) के, बर्हा एवमान मानव ही उसका वैसा पूर्णशिष्यात्मक प्रतिरूपशिष्य है, वा अपन (प्राकृतिक) स्रष्टा-विधाता स्वयं अलप्रजापति के साथ वृत्ती की महाशक्ति महारानी को मध्यस्थ बनाता हुआ न कमल प्रतिद्वन्द्विता ही करता रहता है अर्थात् अपनी कालिकमर्यादा में कल्पित्व भी स्वरहित न होता हुआ एक दिन उस प्रतिद्वन्द्विता में विजयभी ही उपलब्ध कर लेता है चाकि उपलम्बि किया विजयावस्था ही उसकी अलाठीय अवस्था कहलाइ है।

४७६-मानवतर सम्पूर्ण प्राकृत-भावों की अशात्मिक प्रतीकता, किन्तु मानव की मरिमारूपा प्रतिरूपता—

विजयभी की बात छोड़ते हैं अभी। अभी तो ऐसे विहित पराकृत मान कर ही प्रतिज्ञात इनके 'बुद्ध' का समन्वय करते हैं। मानवेतर समस्त प्रपञ्च बर्हा अनुसृष्टशिष्यता स अल के 'बुद्ध' (असामान) बनते हुए बर्हा स्वस्वरूप स 'बुद्ध' भी नहीं है बर्हा यह मानव उसका प्रतिरूपशिष्य बनता हुआ उसका मध्यबुद्ध' बन गया है। दूसरे शब्दों में-मानवतर प्रपञ्च बर्हा तत्त्व विभिन्न अलविधियों के अर्थ-प्रयोज्य बनते हुए, उसके अत्र-प्रत्यङ्गात्मक अनुसृष्टशिष्य बनते हुए अज्ञात्मक प्रतीक' बन रहे हैं बर्हा यह प्राकृत मानव अन्ततागत स (अर्द्धक से) आरम्भ कर आन्तरसम्भारअल (अर्द्धकअल) पर्यन्त के सम्पूर्ण अलपकों की साक्षात्-पूर्ण प्रतिमा बनाता हुआ असद्वय स्वयं 'अज्ञा' प्रमाणित होता हुआ उसका प्रतिरूपशिष्य ही प्रमाणित हो रहा है। श्रुत्य-अधि' ही है वितर 'पितर' ही है अमुर 'अमुर' ही है दयान्तक 'वैष्वदेयता ही है स्वयम्भ 'म्ययम्भ' ही है परमेष्ठी परमेष्ठी ही है। और यो ये सभी विषय पर्याप्त-अज्ञात्मक-अन्ततागत हुए उसके प्रतीक ही हैं। किन्तु मानव'। मानव बन रहा है। दक्षिण सम्पुष्ट है कि, मानव अलाठीय भी है एक काल का भी सर्वात्मक प्रतिरूपशिष्य है। ऐसा है यह कालिक मानव ऐसी है इनके प्राकृत स्वयम्भ की महत्ता। और यही है इसके कालानुसूची उस 'बुद्ध' का चिन्तन इतिहास, निम लक्ष्य बना कर दो पुण्यपुरुष के गुणपञ्च से यह पलित्वत हा ही तो पका है सर्वस्व स ही कि—

गुण स्रष्टा तदिदं भ्रवीमि न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।

—महाभारत



४७४—मानव की प्राज्ञापत्या शिल्पता, एष तत्सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न—

आप की भी अभिम्यक्ति उची अनन्तकालपुरव्य से हुई है एवं आपसे आतिरिक्त अनन्तकाल से आरम्भ कर इसके अभिधानपर्यन्त (यदि आप इल्का कोई अभिधान मान बैठते हैं आपनी अभिधान में वो) कितने भी चर-आचर प्रचार्य हैं, उन कल्पी अभिम्यक्ति मी उची अनन्तकाल से हुई है। यी दोनों ही उची

४७७-शाश्वतब्रह्ममूर्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिक्रियात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिक्रियात्मक
 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिक्रियो बभूव' का संस्मरण—

सचमुच मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक निरव में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना
 लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिक बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ? एवमत्र
 उच्यते यह 'मनु' तत्र जो शारत्तत्रब्रह्ममूर्ति 'रवोऽधीयन्-अभ्यपमनो रूप इत्यतल से अभिन्न है। वह
 केन्द्ररूप-शारत्तत्ररूप मनुतत्र सम्पूर्ण निरव में विरहेऽरप्रबापति, तथा सद मम, तद्रूप अमुक प्राकृत
 प्राणी इन दो स्थलों में ही पूर्वरूपेण स्वस्वरूप से अभिम्यक्त है। इत्य मनु का वही रूप 'यह' कहलाता
 है एव उच्यते इत्य 'मनु' का अमुक-प्राणी-रूप 'यह' कहलाता है जोकि 'यह अमुक' इन मनु की अभि-
 म्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह 'मनु' है, उक्त कालिकरूप मन्वन्तररूपक अनन्तकाल
 है तो यह उस मनु से अभिन्न होवा हुआ 'मानव' है, एवं उस कालिकरूप अनन्तकालात्मक इत्य
 अभ्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' ही मानव की उत्पत्त्या का महान् मूल है। एवं इत्य
 ब्रह्माक्षर प्रतीकत्मक-अनुक्रमप्रतिस्पात्मक प्राण तथा प्राणी बुद्धिगम्य आत्म्यापेक्षया उस अनन्त के 'ब्रह्म'
 ही एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्य कालिक आत्म्या से कालावस्था भी प्रतिक्रिया, तो कालावस्था इत्या भी
 प्रतिक्रिया। अर्थात् 'ब्रह्मी' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इन्ही प्रतिक्रिया की लक्षण बना कर भक्ति
 ने क्या है—

रूप रूपं प्रतिक्रियो बभूव तदस्य प्रतिक्रियं प्रतिघटयथाय ।

इन्द्रो मायामि पुरुरूप ईपते युक्ता हस्य हरयः शता दश ॥ (श्रुत्सं० ११४७।१२)

४७८-प्रतिक्रियात्मिक-मनु-इन्द्रात्मिक-मानव की आत्मस्वरूपाभिम्यक्तिबभूव
 परिपूर्वता—

विद्यते मानव उद्यते ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उद्यता प्रतिक्रिया। अर्थात् प्रत्येक मानवसम लक्ष-
 णना उस अनन्तकाल का कालिक प्रतिक्रियात्मिक बनता हुआ स्व स्व स्वस्वामिम्यक्ति से परिपूर्व है अतएव
 'प्रतिक्रिया' है। कौन इन प्रतिक्रियाभावों में परिकट हो रहा है ? मन्व बुद्धिगम्य यह-आत्म्या के द्वारा इत्य
 प्रत्येक समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण निरव का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है वेदिक
 पूर्वपरिच्छेदों में किस्तर से बढलाया था हुआ है।

४७९-इन्द्र-प्राण-अग्नि-रूपमाम-मायायम मनु, एवं तदग्निमानव—

और महत्त्वमय से जो निरव का मनुसम कालात्मक (अक्षरप्रकृतिक-अक्षोरधीमान्) केन्द्र है,
 वही औरमन्वक का भी केन्द्र है। अतएव औरकाल को अनन्त-मनु-कालात्मक-मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान
 लिया है पुराणपुराण में (पुराणशास्त्र ने)। और विरह्यतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रूपमाम' कहलाता

✽ प्रशासितार सर्वेषामशीयांसमक्षोरपि ।

रूपमामं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्सुखं परम् ॥

—मनु। ११।१२२

सह भुक्तवत्य । सा दुर्भगाऽपि सूकरशिशुना सह भोक्तु प्रवृत्ता स्वर्णस्थाले रत्न-
कटोरकेषु च स्थापित प्रशस्त पथ्य रुचिकर वातपित्तकफहरं विविधमशन पान
खाद्य स्वाद्य च चतुर्विधमाहारमभ्यवहरन्ती भेम्गा प्रथमग्रास सूकरशिशुमुखे दत्त्वा
तदनु सानन्दं स्वयमश्नाति, तदाऽरुस्मादेकस्या भगिन्या, शिशुना आसन्नप्रदेशे
पुरीपोत्सर्गं कृतं, तमालोक्य तेन सूकरशिशुना प्रशस्तमशन परित्यज्य पुरीप-
भक्षणं कृतम् । पुरीपमश्नन्त सूकरशिशु विलोक्य सर्वा भगिन्यः सपरिहासमद्युवन्-

विधवा राजपुत्रीने कहा कि यदि आप सब जनों मेरे इस सूकर शिशु के
साथ जो भोजन करने के लिये तैयार हों तो ही मैं आपके साथ भोजन
करने में सम्मिलित हो सकती हूँ अन्यथा नहीं । उसकी इस बात को
सुनकर उसकी अन्य बहिनोंने मजूर नहीं किया । अतः उन सबने
अपने-अपने बच्चोंके साथ पृथक्-पृथक् रूप में ही भोजन करना प्रारम्भ
किया । और पति विना की राजपुत्री भी अपने सूकर शिशु के साथ
भोजन करने में प्रवृत्त हुई । खाने के पहिले उसने जो भोजन सुवर्णके
थालों में परोसा हुआ था और सुवर्णकी कटोरियों में अलग-अलग
रूपमें रखा गया था और जो प्रशस्त, पथ्य, रुचिप्रद तथा वात पित्त
एव कफ हारक था ऐसे उस विविध भोजन के अशन-हलुआ पुरी आदि,
पान-दुध शरबत आदि, ग्वाद्य-द्राक्षा आदि, खाद्य-चूरण आदि, षड्
चार प्रकार के भोजन में से एक-एक ग्रास अपने प्रिय उस सूकर
शिशु के मुखमें देती हुई आनन्द के साथ भोजन करने लगी । जब यह
भोजन करने में प्रवृत्त थी कि इतने में ही एक अपनी बहिन के बच्चे

भारा सूकरना भन्त्यानी साथे भोजन करवा तैयार हो, तो न हूँ आपनी
साथे भोजन करवामा आभीष्ट थकी शकु अे सिवाय नहीं तेनी आ वातने
भीलु अडेनाअे मबुन न करी अेटवे ते अधीयोअे पोतपोताना भाणके।
साथे बुदी बुदी रीते भोजन करवानो आरभ कर्यो अने विधवा राजपुत्री
पञ्च पोताना सूकर भन्त्यानी साथे भोजन करवा लागी. भावा अेसता पडेवा
अेअे अे भोजन सेनाना थाणमा पीरसेव इतु, अे नानी वाटकीअोमा अलग
अलग रीते गोडववामा आवेव इतु अे भोजन प्रशस्त, पथ्य, इयीप्रद तथा
वातपित्त अने कश् इरनार इतु अेवा विविध प्रकारना भोजनमा उडवा
पुरी आदि, पान-दुध शरबत विगेरे भाद्य-द्राक्ष वगेरे, स्वाद्य-चूरु वगेरे
आवा चार प्रकारना भोजनमाथी अकेक ठाणयो पोताना प्रिय सूकरना भन्त्याना
भाडामा देती देती विधवा राजपुत्री भुशी साथे भोजन करवा लागी. न्यारे
अे भोजन करवामा प्रवृत्त इती त्यारे तेनी अेक अडेनना भाणके थोडे छे

४७७-शाश्वतब्रह्ममूर्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव' का सस्मरण—

उक्तपुत्र मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक विरव में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठाभिन्न बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इन केन्द्रनिष्ठा का, एकप्रकार उत्तर है वह 'मनु' उक्त जो शाश्वतब्रह्ममूर्ति 'शरीरधीयम्-ब्रह्मममना रूप इत्यतत्त्व से अभिन्न है। वह केन्द्ररूप-शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व धर्म्युर्ण विरव में विश्वेश्वररूपभाषति तथा उक्त मध, उरूप अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वतन्त्र रूप से अभिम्ब्यक है। इत्य मनु का वही रूप 'वह' कृतत्व है एवं उही इत्य 'मनु' का अमुक-माणी-रूप यह' कृतत्व है, जोकि 'यह अमुक' इन मनु की अभिम्ब्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उक्त का कालिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तत्व है तो यह उक्त मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उक्त कालिकरूप अनन्तकालात्मक रक्त अम्ब्यक प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेविष्टम्' ही मानव की उरूपता का महान् मूल है। एवं इतर स्वभावात् प्रसोक्तस्वक-अनुरूपप्रतिस्वात्मक प्राण तथा प्राणी बुद्धिगम्या ब्याख्यापेक्षया उक्त अनन्त के 'अज्ञ' हैं तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या कालिक ब्याख्या से अज्ञातता मा मी प्रतिकर, तो कालातीत इत्या मी प्रतिकर। अर्थात् 'अज्ञ' ही प्रमाणित हो रहा है उक्त अनन्त का। इसी प्रतिकरता को लक्ष्य बना कर बलि ने कहा है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिकरूप प्रतिषद्यथाय ।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता यस्य हरयः शृता दश ॥ (ऋक्सं० ६।४।१०)

४७८-प्रतिरूपशिष्पात्मक-मनु-इन्द्राभिन्न-मानव की आत्मस्वरूपामिम्ब्यक्तिब्रह्मज्ञान परिपूर्वता—

जिन्हें मानव, उतर्ने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उक्त प्रतिकर। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप कर्तव्यता उक्त अनन्तकाल का कर्त्तात्मक प्रतिकरमिष्प बनता हुआ स्व स्व स्वरूपामिम्ब्यक्ति से परिपूर्ण है अथवा 'प्रतिकर' है। और इन प्रतिकरमात्रों में परिणत हो रहा है, मन्त्र बुद्धिगम्या सहज-ब्याख्या के द्वारा शरीर परत का उभाधान कर रहा है। उन्मूर्ण विरव का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जैसा पूर्णपरिष्केदी में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९-इन्द्र-प्राण-अग्नि-रुक्माम-भाषापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महामाय से जो विरव का मनु रूप अज्ञातक (अध्वर्युप्रतिकर-अशोरणीमान्) केन्द्र है वही शीघ्रकाल का मी केन्द्र है। अथवा श्वेतकाल को अनन्त-मनु-अज्ञातक-मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुराण ने (पुराणशास्त्र ने)। और हिरण्यतेज के धर्म्य से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माम' अज्ञातक

* प्रशासितार सर्वेषामर्षीयांसमस्योरपि ।

रुक्मामं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥

—मनु। १।१।२२।

हैं। साग प्राण का ही नाम 'इन्द्र' है। सारस्वतिरतेज का ही नाम अग्नि है। अतएव इन सार-भावानुक्रमों से ही अनन्तकालात्मक इन्द्रमनु इन्द्र-प्राण-अग्नि-आदि अनेक यज्ञ नामों से प्रसिद्ध हो गए हैं + ।

४८०-गतिरूप कालाक्षर, तदभिन्न इन्द्र, तत्सहयोगी विष्णु, एवं तद्द्वारा मायायुतात्मक 'पुरमावों' की स्वरूपाभिव्यक्ति—

इयत् रूप गतिभाव ही कालाक्षर का महत्त्वार्थ है नहीं चम्प इन्द्र का है। आगति नहीं विष्णु चर कहलाया है, नहीं गति इन्द्राक्षर कहलाया है। सम्पूर्ण शिव कालात्मक है काल मनु है, मनु इन्द्रस्वैत गतिचरमां है, गतिरक्षर ही सृष्टि का मूल है। यही कारण है कि मनुमूलक सृष्टिविज्ञान के प्रतिपादक श्रुत्यों में अन्यान्य प्राणों के समतुलन में इन्द्र का ही प्रधानरूपण यद्योवर्णन हुआ है, जैसा कि तद्विज्ञा को मनी-भक्ति विहित है। अथर्ववेद का 'काल' म इन्द्र एवं यही का 'पुरुष' इयत् एक ही अर्थ व्यक्त कर रहा है। इन्द्र ही गति है, यही कालाक्षर है और यही मायायुतात्मक पुरमावों का अभिव्यक्त है।

४८१-मायायुतों की छ-शोमयी दिग्रूपता, तत्र प्रतिष्ठित 'दश शतानि', एवं-मह-मवा महिमान सहस्रम्' लक्ष्य दश-प्रदशात्मक महिमामण्डल—

छन्दामय इती का नाम ही 'मायायुत' है जिन्हें 'दश' कहा गया है क्योंकि इन्द्रस्वैत इन्द्ररूप मनु के ही महिमामय स्वरूप हैं। देखा है यह मायायुत? किंवा देखा है यह महिमामण्डल? जिसमें कि 'दश-शतानि' भाव प्रतिष्ठित है। अर्थात् 'सहस्र रश्मियों' प्रतिष्ठित हैं। सहस्र का अर्थ गणनसम्पन्नतमक 'हजार' नहीं है। अपितु-पूर्ण ये 'सहस्रम्' ही यहाँ 'शता दश' का अर्थ है जिसका-सहस्रभा महिमानः सहस्रम्' रूपेण निरूपण हुआ है। अपनी सहस्रमायाभिन्न इती पूर्णता से यह इन्द्राक्षररूप अनन्त मनु रूप अनन्तकाल प्रत्येक मानव रूप में 'प्रतिरूप' बन रहा है। प्रत्येक मानव उसी का प्रतिरूपशिव्य है अर्थात् सहस्रमायात्मक है। अर्थात् पूर्णशिव्य है और यही मन्त्र का सच्चिदानन्द तत्त्वार्थ-सम्भव है।

४८२-मानवसर्गानुबन्धिनी अद्द घृगलात्मिका प्रतिक्रमता, एवं तद्रूप मानव की दाम्य त्पलक्षणा प्रतिक्रमता का समन्वय —

मानव की प्रतिक्रमिनी परिपूर्णता के सम्बन्ध में क्रिश्चिस्तिन प्रासङ्गिक निवेदन और। मानव प्रतिक्रम है अपन प्राकृत स्वरूप से (अभ्युत्थान, शरीरगत स्वरूप से) उस अनन्तकालादि-बान्द्रसम्बन्धकालान्त प्राकृत कालपुरुष का जिसकी यह प्रतिक्रमता अद्द घृगलात्मिका ही कहलाई है। प्रतिक्रमशिव्यत्मक द्वितीय (२)

— एतमेक खदन्त्यग्नि मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेक परेप्राश्मपपर घृगलात्मिका ॥

—मनु १२।१२१।

हैं। शर प्राण का ही नाम 'इन्द्र' है औरखाविवर्तक का ही नाम अग्नि है। अतएव इन खीर-भाषानुसूची से ही अनन्तरालात्मक हृद्यमनु इन्द्र-प्राण-अग्नि-आदि अनेक यज्ञी नामा से प्रसिद्ध हो गए हैं +।

४८०-गतिरूप कालाचर, तदभिन्न इन्द्र, तत्सहयोगी विष्णु, एवं तद्द्वारा मापायुतात्मक 'पुरमावों' की स्वरूपामिव्यक्ति—

इयत् रूप गतिभाव ही कालाचर का महत्त्वधर्म है यही धर्म 'इन्द्र' का है। आगति वहाँ विष्णु धर कहलाया है, वहाँ गति इन्द्राचर कहलाया है। सम्पूर्ण विरव कालात्मक है काल मनु है मनु इन्द्रत्वेन गतिधम्मा है, गतिरधर ही खल का मूल है। यही कारण है कि मनुमूलक सङ्घिविज्ञान के प्रतिपादक ऋग्वेद में अन्यान्य प्राणी के समतुलन में 'इन्द्र' का ही प्रधानरूपेण यज्ञोत्थान हुआ है जैसा कि तद्विज्ञो का भसी-भक्ति विहित है। अयमग्निक का काल स इयत्, एवं वहाँ का 'पुररूप इयते एक ही अर्थ व्यक्त कर रहा है। इन्द्र ही गति है यही कालाचर है, और यही मापायुतात्मक पुरमावा का अभिम्बक है।

४८१-मापायुषों की छ-दोमयी दिग्रूपता, तत्र प्रतिष्ठित 'दश शतानि', एव-'सहस्रभा महिमान सहस्रम्' लक्ष्य दश-प्रदशात्मक महिमामयबल—

छन्दोमय हृत्वा का नाम ही 'मापायुष' है जिन्हें 'विश' कहा गया है जोके हृद्यम्य हृद्यरूप मनु के ही महिमामय स्वरूप है। जैसा है वह मापायुष !, किंवा कैसा है वह महिमामयबल ! जिसमें कि 'दश-शतानि' भाव प्रतिष्ठित है। अर्थात् 'सहस्र रश्मियों' प्रतिष्ठित हैं। सहस्र का अर्थ गणनसम्पत्कारक 'हजार' नहीं है। अपितु-पूर्ण धे सहस्रम्' ही यहाँ 'शता दश' का अर्थ है जिसका-सहस्रभा महिमानः सहस्रम्' रूपेण निरूप्य हुआ है। अपनी सहस्रभावात्मिका हृत्वा पूर्णता से वह इन्द्राचररूप अनन्त मनु रूप अनन्तकाल मत्केक मानवरूप में 'प्रतिरूप' बन रहा है। मत्केक मानव उठी का प्रतिरूपधिस्य है अर्थात् सहस्रभावात्मक है। अर्थात् पूर्णधिस्य है और यही मन्त्र का सङ्घिष्यस्य लक्ष्यार्थ-अमन्वय है।

४८२-मानवसर्गानुबन्धिनी अर्द्धधृगलात्मिका प्रतिरूपता, एवं तद्वरूप मानव की दाम्पत्यलक्षणा प्रतिरूपता का समन्वय —

मानव की प्रतिरूपारिभ्य परिपूर्णता के सम्बन्ध में किञ्चिद्विषय प्राचीनिक निवेदन और। मानव प्रतिरूप है अपने प्राकृत स्वरूप से (अम्भ्यादि, शरीरजन्त स्वरूप से) उस अनन्तरालादि-बान्द्रसम्भररूपालान्त प्राकृत कालपुरुष का चित्तकी यह प्रतिरूपता अर्द्धधृगलात्मिका ही कहलाई है। प्रतिरूपधिस्यात्मक द्वितीय (२)

— एतमेके स्रन्त्यग्नि मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेके परेप्राणमपरे ब्रह्मशारवतम् ॥

—मनु १२।१२१।

४७७-शास्वतप्रज्ञामूर्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिकृपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिकृपात्मक 'मानव', एवं 'स्य रूपं प्रतिकृपो बभूव' का सस्मरण—

स्वप्नमनुष्य मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक अस्तित्व विरम में महान् है जिसे बुद्धिगम्य रूप सेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिक बुद्धियोगनिष्ठा पर ही प्रकलान्वित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ? एकप्रकार उत्तर है यह 'मनु' तत्त्व, जो शास्वतप्रज्ञामूर्ति 'श्रीवहीवन्-सम्यग्मती रूप इत्यतल से अभिन्न है। वह केन्द्ररूप-शास्वतप्रज्ञारूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विरम में निरवेररप्रजापति तथा तद मनु, तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिम्बक है। इत्य मनु का वही रूप 'बह' प्रकृत है एवं उसी इत्य 'मनु' का अमुक-माणी-रूप 'यद्' कहलाया है, बोकि 'यद् अमुक' इन मनु की अभि-भक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उद्यम अस्तित्वरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उद्य मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उद्यम अस्तित्वरूप अनन्तकालात्मक इत्य अस्तित्व प्राकृत स्वरूप है। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेविद्युम् ही मानव की त्वरूपता का महान् मूल है। एवं इत्य स्यादात् प्रतीकतत्त्व-अनुरूपप्रित्यात्मक प्राण तथा प्राणी बुद्धिगम्य व्याख्यापेक्षया उद्य अनन्त के 'अद्' है जो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्य अस्तित्व व्याख्या से अलङ्कारणी प्रतिक्रम तो कालातीव इत्य ही प्रतिक्रम। अर्थात् 'अद्' ही प्रमाणित हो रहा है उद्य अनन्त का। इत्य प्रतिक्रमता की तत्त्व क्या कर वधि ने क्या है—

रूपं रूपं प्रतिकृपो बभूव तदस्य प्रतिक्रमं प्रतिचक्षयाय ।

इन्द्रो मायामि पुरुषरूप ईयते युक्ता हस्य हरयः शता दश ॥ (श्रुत्वं ० ६१७०।१०)

४७८-प्रतिरूपशिष्पात्मक-मनु-इन्द्राभिन्न-मानव की आत्मस्वरूपाभिष्पक्तिअपूर्णा परिपूर्णाता—

जिधनें मानव उद्यनें ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उद्यका प्रतिक्रम। अर्थात् प्रत्येक मानवतत्त्व व्य-धना उद्य अनन्तकाल का व्यस्तिक प्रतिक्रमप्रित्य व्यथा हुआ स्व स्व स्वस्वामिभक्ति से परिपूर्ण है, अतएव 'प्रतिक्रम' है। और इन प्रतिक्रममाणी में परिप्लव हो रहा है, मन्त्र बुद्धिगम्य यद्-व्याख्या के द्वारा एवं परन्त का उभाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विरम का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिक्रम है केन्द्र ही पूर्वपरिष्केदों में विस्तार से बल्लाना का पुत्र है।

४७९-इन्द्र-प्राण-अग्नि-रुक्माम-मात्रापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महत्त्वम्य से जो विरम का मनुस्व अलालत्मक (अक्षर्यठित्वरूप-अलोपणीयान्) केन्द्र है, वही क्षेत्रमयबल का भी केन्द्र है। अद्यपय क्षेत्रकाल को अनन्त-मनु-अलालत्मक-मन्वन्तरात्मक का प्रतीक मन्त्र शिष्या है पुराणपुराण ने (पुराणशास्त्र ने)। और विरुक्तेष के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माम' अस्तित्व

✽ प्रशासितार सर्वेषामधीयांसमञ्चोरपि ।

रुक्मामं स्वप्नधीमाम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥

—मनुः १२।१२२

हैं। सार प्राण का ही नाम 'इन्द्र' है और स्वविग्रह का ही नाम अग्नि है। अतएव इन सौर-भावाभ्युत्थानों में ही अनन्तकालात्मक इन्द्र-प्राण-अग्नि-आदि अनेक यशो नामों से प्रसिद्ध हो गए हैं -।

४८०-गतिरूप का ज्ञात्वर, तदभिन्न इन्द्र, उत्सहयोगी विष्णु, एवं तद्द्वारा मायावृत्तात्मक 'पुरमावों' की स्वरूपामिव्यक्ति—

इयते रूप गतिभाव ही कालाचर का सहस्रधर्म है यही धर्म इन्द्र का है। आगति यहाँ विष्णु चर कहलाया है, यहाँ गति इन्द्राचर कहलाया है। सम्पूर्ण विरव कालात्मक है काल मनु है मनु इन्द्रत्वेन गतिधर्मा है, गतिरचर ही सृष्टि का मूल है। यही कारण है कि मनुमूलक सृष्टिविज्ञान के प्रतिपादक ऋग्वेद में अन्यान्य प्राणों के समतुलन में 'इन्द्र' का ही प्रधानरूपण यशोवर्णन हुआ है जैसा कि तद्विज्ञा को मली-भक्ति विहित है। अर्थात्काल का काल' स इत्यन्त, एवं यहाँ का 'पुरुरूप इत्यते एक ही अर्थ स्पष्ट कर रहे हैं। इन्द्र ही गति है यही कालाचर है और यही मायावृत्तात्मक पुरमावा का अभिन्नरूप है।

४८१-मायावृत्तों की छन्दोमयी दिग्गुरुपता, तत्र प्रतिष्ठित 'दश शतानि', एवं-सहस्रधा महिमान सहस्रम् लक्ष्य देश-प्रदशात्मक महिमामण्डल—

छन्दोमय वृत्तों का नाम ही 'मायावृत्त' है जिन्हें विरा' करा गया है जोकि इन्द्रस्य इन्द्ररूप मनु के ही महिमामय स्वरूप हैं। जैसा है वह मायावृत्त !, किंवा जैसा है वह महिमामण्डल !, जिसमें कि 'दश-शतानि' भाव प्रतिष्ठित है। अर्थात् 'सहस्र रश्मियों' प्रतिष्ठित हैं। सहस्र का अर्थ गणनसंख्यात्मक 'हजार' नहीं है। अपितु-पूर्व से सहस्रम् ही यहाँ 'शता दश' का अर्थ है जिसका-सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' क्लेश निरूपण हुआ है। अपनी सहस्रभावात्मिका इसी पूर्णता से वह इन्द्राचररूप अनन्त मनु रूप अनन्तकालात्मक मानव रूप में प्रतिरूप बन रहा है। प्रत्येक मानव उसी का प्रतिरूपधिय है अर्थात् सहस्रभावात्मक है। अर्थात् पूर्णधिय है और यही मन्त्र का सक्षिप्तम तात्पर्यार्थ-समन्वय है।

४८२-मानवसर्गानुबन्धिनी अर्द्धदृगलात्मिका प्रतिरूपता, एवं तद्वरूप मानव की दाम्य त्यलक्षणा प्रतिरूपता का समन्वय —

मानव की प्रतिरूपामिका परिपूर्णता के सम्बन्ध में किञ्चिद्विषय प्राथमिक निवेदन और। मानव प्रति रूप है अपने प्राकृत स्वरूप से (अन्विकादि, शरीरान्त स्वरूप से) उक्त अनन्तकालादि-धान्यसम्पत्तरकालान्त प्राकृत कालपुरुष का चित्तकी यह प्रतिरूपता अर्द्धदृगलात्मिका ही कहलाई है। प्रतिरूपधिय्यात्मक द्वितीय (२)

— एतमेके खवन्त्यग्नि मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परेप्रास्यमपरे ब्रह्मशास्वतम् ॥

—मनु १२।१२१।

४७७-शाश्वतब्रह्ममूर्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिक्रियात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिक्रियात्मक 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिक्रियो बभूव' का संस्मरण—

सबभूव मानव का प्राकृत्य स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक विरव में महान् है, जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है हम केन्द्रनिष्ठा का ई, एकमात्र उत्तर है वह 'मनु' उक्त श्री शाश्वतब्रह्ममूर्ति 'श्रीबलीयम्-अभ्ययमना रूप इत्यतल से अभिन्न है। यह केन्द्ररूप-शाश्वतब्रह्मरूप मनुगत सम्पूर्ण विरव में विरवेरवरप्रज्ञापति, तथा उक्त मन्त्र उक्त रूप अमुक प्राकृत्य प्राप्ति इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वल्परूप से अभिव्यक्त है। इय मनु का वही रूप 'बह' कहलाया है एवं उसी इय 'मनु' का अमुक-प्राप्ति-रूप 'यह' कहलाया है, जोकि 'यह अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उक्त कालिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो यह उक्त मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है एवं उक्त कालिकरूप अनन्तकालात्मक इत्यत्र अभिव्यक्त प्राकृत्य स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नैविष्ठम्' ही मानव की उत्कृष्टता का महान् मूल है। एवं इतर यथापत् प्रतीकत्मक-अनुरूपमिन्न्यात्मक प्राण तथा प्राणी बुद्धिगम्या भ्यास्यापेक्षया उक्त अनन्त क 'अज्ञ' है तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या कालिक भ्यास्या से कालात्म्या भी प्रतिक्रम, वी कलातीत इत्या भी प्रतिक्रम। अर्थात् 'अज्ञी' ही प्रमाणित हो रहा है उक्त अनन्त का। इसी प्रतिक्रमता की लक्ष्य बना कर मति ने कहा है—

रूपं रूपं प्रतिक्रियो बभूव तदस्य प्रतिक्रियं प्रतिचक्ष्याय ।

इन्द्रो मायामिः पुरुरूप ईयते युक्ता अस्य हरयः शता दश ॥ (श्रुत्सं० ६।४।१।२०)

४७८-प्रतिक्रियात्मिकात्मक-मनु-इन्द्राभिन्न-मानव की आत्मस्वरूपामिन्न्यात्मिकात्मिका परिपूर्वता—

चित्तने मानव उठने ही उक्तके रूप एवं प्रत्येक रूप उक्तका प्रतिक्रम। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप सर्व-धना उक्त अनन्तकाल का स्वार्थक प्रतिक्रियात्मिक बनता हुआ स्व स्व स्वकालामिन्न्यात्मिका से परिपूर्व है अतएव 'प्रतिक्रम' है। और इन प्रतिक्रममात्रों में परिचित ही रहा है ई, मन्त्र बुद्धिगम्या उक्त-भ्यास्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विरव का वी केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिक्रिय है जैसाकि पूर्वपरिच्छेदी में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९-इन्द्र-प्राज्ञ-अग्नि-रुक्माम-माधापन मनु, एवं तदभिन्न मानव—

श्री महत्प्रम्य से जो विरव का मनु रूप कालात्मक (अज्ञानरूपीरुक्म-अयोरीशीयान्) केन्द्र है वही शैर्यमरुत का भी केन्द्र है। अतएव शैर्यमरुत को अनन्त-मनु-कालात्मक-मन्वन्तरात्मक का प्रतीक मान लिया है पुरुरूपमने (पुरुराशास्त्र ने)। और हिरण्यकेश के रूपक से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माम' कहलाया

* प्रशासितारं सर्वेषामशीर्षांसमञ्जोरपि ।

रुक्मामं स्वप्नपीगम्यं तं त्रिधातुर्ल परम् ॥

—मनु। १।२।२०

वदन्नुत्पत्तिनी प्रतिरूपता का, एवं स्वरूपा परिपूर्णता का कार्य भी सम्बन्ध नहीं है। ममस्त आचारधर्म का मूल दाम्पत्य-प्रतिरूपात्मक एहस्थाभ्रम * ही माना गया है, जिसके बिना इतर किसी भी आभ्रम का कोई भी तो महत्त्व नहीं है। जिस आचारधर्मक क्वच व्यङ्ग्यम का हम आरम्भ से ही यशोगान करते आरब्ध हैं उसकी मूलप्रतिष्ठा यही दाम्पत्य-जीवन है, यही एहस्थाभ्रम है, जिसकी दारानिककगत् में उपेक्षा ही हुई है शुष्कतत्वमीमांसन क आर्गुमिद्वयमग्न के द्वारा। तभी तो न तो दार्शनिक महानुभाव आचारधर्ममूला एहस्थाधर्मनिकम्बना आधि-
 वैदिकी प्राकृत-परिपणता का ही अनुगमन करके एवं न कन्मूला अप्राकृता कालातीव्य अनन्तपरिपूर्णता का ही व सम्बन्ध कर सक।

४८५-अनन्तकालानुगता प्राकृत-प्रतिरूपता से अतीता अनन्तप्रज्ञानुगता कालातीता अप्राकृत-प्रतिरूपता की अविद्येयता ही तद्विद्येयता—

हाँ तो अनन्तकालानुगत प्राकृत मानवानुबन्धी उस 'कुछ' के, अर्थात् 'प्रतिरूप' मात्र के दिग्-
 दर्शन का प्रयास हुआ। अत्र शेष रह जाता है वह कालातीव्य अनन्तप्रज्ञ एम शेष रह जाता है कालातीव्य मानवानुबन्धी 'कुछ' का इतिरूप जिसके सम्बन्ध में क्याकि सभी प्राकृतमात्र उदस्य है। अतएव उस कालातीव्य 'कुछ' के सम्बन्ध में तो हम कुछ भी निवेदन नहीं कर सकते। उस से सम्बन्ध रखने वाले इस के 'कुछ' के सम्बन्ध में क्वचन का उपक्रम करना ही इतका सबकुछ समाप्त कर देना है। अतएव अनन्त प्राकृत-
 कालातीव्य उस अनन्तप्रज्ञ के 'कुछ' (प्रतिरूप) का इन अप्राकृत 'अहम्' रूप आत्ममानव के सम्बन्ध म लोकातीव्य मानव के सम्बन्ध में इतके महामहिमामय-अनन्तानन्त (अनन्तकाल में भी अनन्त) ब्रह्मस्वरूप क सम्बन्ध में कुछ न रहना ही उनके लिए सबकुछ कर देना है।

४८६-अधिन्य-अनन्त-कालातीव्य प्रज्ञानुगता मानवीया प्रतिरूपता से अनुप्रासित यथायावत् समाधानाभासों की सम्प्ररन्ता, एवं उदानन्त्य के सम्बन्ध में परम्प रया भ्रुतोपभ्रुत आप्तपुल्लों की आर्प-धारणार्थ—

क्योंकि इस अधिन्य के लिए भी कुछ भी कहा जायगा वह सब 'सम्प्ररन्' मात्र बन कर ही रह जायगा प्राकृत-शुष्कानुगता वाच्यवृत्ता के अनुबन्ध से। मुनते यह है इस 'कुछ' रूप 'अह' प्रत्यय के सम्बन्ध में (अनन्तप्रज्ञ के प्रतिरूप-रूपात्मक अप्राकृत मानव के सम्बन्ध में किंवा प्राकृत मानव के अप्राकृत स्व रूप के सम्बन्ध में) अपने आप्तपुल्लों से परम्परण यही कुछ कि अनन्तकाल अनन्तकाल के सम्पूर्ण अवा न्तर विषय एवं स्वयम्पू परमेष्ठी सर्वे बन्धमा, पुषिषी नद्यत्र प्रह आदि आदि यथायावत् प्राकृत विषय,

*-सर्वेषामपि चैतपां वेद-स्मृति-विधानतः।
 'गृहस्य' उच्यते भेष्ट स श्रीनेवान विमर्षि हि ॥
 यथा नवी-नवाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
 तथैवात्रमिण सर्वे गृहस्ये यान्ति संस्थितिम् ॥

—मनुः १/८२, ९

आहुतियों पर अन्नदानपूर्वक सन्न दीक्षित, जिन में (॥) इस रूप से प्रतिरूपता का सम्भवय हुआ है।

तिन्मपशिस्यात्मक द्वितीय रेखाहुतियों में पूर्व के (॥) इस अन्न वृत्त का तो क्या अर्थ है?, उत्तर के (॥) इस

अन्न वृत्त का क्या अर्थ है? इस क्या अर्थ है पूर्व-उत्तर-भावात्मिका (॥) इस लक्षित का?। सम्भव

दीक्षित। अपनी दाम्पत्यप्रज्ञा से ही इस प्ररनास्सी का। पूर्वभावात्मक (॥) इस अन्न वृत्त का अर्थ है 'मानव'

उत्तरभावात्मक पूर्व-अन्न' के पूरक (॥) इस अन्न वृत्त का अर्थ है 'मानवी' एव (॥ १२) इन दोनों

पूर्वोत्तरवृत्तों की सम्निष्ठावस्थारूप पूर्ववृत्त का अर्थ है मानव-मानवी-का 'दाम्पत्य'। अन्वयकालानुक्रम से पूर्वाक्षयात्मक-पूर्वप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव अन्वय-सम्बन्धकालानुक्रम से अर्द्धाक्षयात्मक बनता हुआ 'अर्द्धवृत्त' है प्रतिरूपाह' है प्रतिरूप की पूर्वाक्षया है आचार-प प्रतिरूप है। इसके दोष अन्न वृत्तलात्मक-अर्द्धाक्षय की पूर्ति अन्न वृत्तलात्मिक मानवी से ही हुई है जो कि मानव का प्रतिरूपाह है, इसकी उत्पत्त्या है आधेयरूप प्रतिरूप है।

४८३-सौर-चान्द्र-सम्बन्धरगुणलक्षणी से सम्पन्ना कृतरूपा मानव-मानवी की दाम्पत्य रूपा प्रतिरूपता, एव तदनुगता वंशानुगविलक्षणा रूप-रूप-भावात्मिका महिमान्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों वृत्तों, दोनों अन्वयवृत्तों के अन्वय से ही मानव की प्रतिरूपता पूर्वसम्बन्धकालिक पूर्वसम्बन्धकालिक बनती है, और यह दाम्पत्यरिणी-पूर्व-प्रतिरूपता (मानव, और मानवी का दाम्पत्यरूप गृहस्थाधम) ही अनन्तकालानुगता पूर्वा-प्रतिरूपता की अभिव्यक्ति बनती है। और धार्मिक-परिणामानुगता इत्यन्य दाम्पत्यपरिपूर्णा (जो कि अन्तपुरवर्णानुगता उत्पन्नता की प्रवृत्ति बनती हुई वंशानुगतिरूप से प्रतिरूपता को अन्वयस्मरण आचारविकल्प से अभिव्यक्ति बनती हुई-‘रूप-रूप-प्रतिरूपता बभूव’ का आचरण चरितार्थ बनती रहती है) मानवेतर किसी भी रूप में नहीं है।

४८४-मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अज्ञानज्ञानरूपा प्रतीकता, एवं प्रतिरूपभावात्मिका, शुद्धव्यवर्त्मनिबन्धना मानवीय-दाम्पत्य की अज्ञातीता अनन्तपूर्वता-सृष्ट्या-प्रतिरूपता का समन्वय—

यहाँ की अनुक्रमशिस्यात्मिका प्रतीकता 'शरीरेण शरीरोत्पत्ति' - 'प्राणान्-मास्रोवक' - 'अज्ञानं ज्ञानं सम्भवति' स्तोत्र तत्रैव परिष्कार्य है। अर्थात् मानवेतर जल मातृका, तथा प्राणीरूप में उत्पन्नता का

अनुसन्धिनी प्रतिरूपता का एव स्वरूपा परिपूर्णता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अस्तव आचारधर्म का मूल स्वरूप-प्रतिरूपतात्मक एकरथाभम ० ही माना गया है जिसके बिना इतर किसी भी आधम का कोई भी तो महत्त्व नहीं है। बिम आचारधर्मक क्वच व्यङ्ग्यं का एम आरम्भ से ही यशोगान परते आरह है उसकी मूलप्रतिष्ठा यही दाम्पत्य-जीवन है, यही एकरथाभम है, जिसकी अत्यधिकब्रह्म में उपेक्षा ही कुछ है शुष्कत्वमीमांसन क अर्थात् अरम्भक द्वारा। तभी वा न वा दायनिक महानुभाव आचारधर्ममूला एकरथाभमनिष्पन्ना अधि-देशिकी प्राकृत-परिपणता का ही अनुगमन करके एन न तन्मूला अप्राकृता कालातीता अनन्तपरिपूर्णता का ही सम्बन्ध कर मठ।

४८५-अनन्तकालानुगता प्राकृत-प्रतिरूपता से अतीता अनन्तब्रह्मानुगता कालातीता अप्राकृत-प्रतिरूपता की अविद्ययता ही तद्विद्येयता—

हाँ तो अनन्तरानानुगत प्राकृत मानवानुसन्धी उस 'कुछ' के, अर्थात् प्रतिरूप माय के दिग्दर्शन का प्रयत्न हुआ। अब शेष रह जाता है वह कालातीत अनन्तब्रह्म एम शेष रह जाता है कालातीत मानवानुसन्धी 'कुछ' का इतिवृत्त जिसके सम्बन्ध में क्योंकि सभी प्राकृतमाय उत्पन्न हैं। अतएव उस कालातीत 'कुछ' क सम्बन्ध में तो हम कुछ भी निवेदन नहीं कर सकते। उस से सम्बन्ध रखने वाले इस के 'कुछ' क सम्बन्ध में क्वचन का उपक्रम करना ही इतका उचित समझ कर देना है। अतएव अनन्त प्राकृत कालातीत उस अनन्तब्रह्म क 'कुछ' (प्रतिरूप) रूप एन अप्राकृत अहम् रूप आममानव के सम्बन्ध में कालातीत मानव के सम्बन्ध में हमके महामहिमामय-अनन्तानन्त (अनन्तब्रह्म मे भी अनन्त) ब्रह्मस्वरूप क सम्बन्ध में कुछ न रहना ही उनके लिए उचित कह देना है।

४८६-अचिन्त्य-अनन्त-कालातीत-ब्रह्मानुगता मानवीया प्रतिरूपता से अनुप्राणित यथायावत् समाधानामासों की सम्प्रदानता, एव तदानन्त्य क सम्बन्ध में परम्य रया भूतोपभूत आप्तपुरुषों की आर्ष-धारणार्थ—

क्योंकि इस अनन्त्य के लिए भी कुछ भी कहा जायगा वह सब 'सम्प्रदान' मात्र बन कर ही रह जायगा प्राकृत-ब्रह्मानुगता वाच्यार्थता के अनुसन्ध से। मुनते यह हैं हम 'कुछ' रूप अह प्रत्यय के सम्बन्ध में (अनन्तब्रह्म के प्रतिरूप-रूपात्मक अप्राकृत मानव के सम्बन्ध में किंवा प्राकृत मानव के अप्राकृत रूप के सम्बन्ध में) अपने आप्तपुरुषों से परम्यरया यही कुछ कि अनन्तब्रह्म अनन्तराल के सम्पूर्ण अन्तर विवत एम स्वयम् परमेठी सूर्य चन्द्रमा, पृथिवी, नक्षत्र मह आदि आदि यथायावत् प्राकृत विवत

- सर्वेषामपि शैतेषां वेद-स्मृति-विधानतः।
 'गृहस्थ' उच्यते भेष्ट स त्रीनदान विमर्षि हि ॥
 यथा नदी-नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
 तथेषामभियं सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम् ॥

—मनुः १।१८२,३

एरुदाऽरिमर्दनस्य भवने कचिदुत्सव निमिचीकृत्य सर्वा' कन्यकाः
समायाताः । प्रेम्णा परस्पर ता ऊचु—अद्यास्माभिः सर्वाभि सहैव भोजनं
कर्तव्यम्, तदाऽसौ दुर्मगा राजपुत्री जगाद—यद्यनेन मम प्रियशिष्टुना सह यूयं
भोजनं कुरुत, तर्हि गुप्ताभिः साकं मया भोक्तव्यं नान्यथा, ततोऽन्याभिस्तस्या'
सर्वमग्निनीमिस्तद्वचनं नास्तीकृतम् । तदा पृथक् पृथगेव सर्वा' स्व-स्व-शिष्टुभिः

कमी उसको स्नान कराती । और स्नान कराकर फिर उसका शरीर भी
पोंछती । कमी कमी यह उसके शरीर पर लगी हुई घूलीका मार्जन
करती । विविध मिष्टान्न खिलाती । नरम-मृदुल-शय्या पर उसे अपने
ही पास सुलाती । इतने मात्र से ही वह राजपुत्री सतुष्ट नहीं रहती
किन्तु वह उस बच्चे के गले में और पैरों में सुवर्ण रचित बहुमूल्य
आभरणों को भी पहिराती । जिनमें छोटी-छोटी यजती हुई घंटियां
लगी रहती थी । उसकी पीठ पर वह झूल भी ओढ़ाती जो बहुत कीमती
होती तथा अनेक प्रकार के रगविरंगे रंगों से रजित रहा करती । और
जिस झुलमें सुनहरी काम घना रहता । इस प्रकार वह राजपुत्री उस
सूकर के बच्चे का लालन पालन करने में तत्पर रहने लगी । एक समय
की बात है कि राजा अरिमर्दनने अपनी समस्त कन्याओं को किसी उत्सव
के समय आमंत्रित किया और कन्यायें आयीं, बहुत समय के बाद उन
सबको परस्पर मिलने से बहुत ही आनंद हुआ । सपने विचार किया
कि आज हम सब मिलकर एक ही साथ भोजन करें । यह सुनकर उस

अने नवदासी तेना शरीरने साक्ष करती, क्यारेक क्यारेक तेना शरीर उपर
छडेकी धुणने साक्ष करती, विविध मिष्टान्न भवडावती अने सुवाणी ज्येवी
शेया उपर पोतानी पासे सुवाडती आठसाथी ज राजपुत्रीने सतोष न थतो
परतु ते भय्याना गणाभा अने पजेभां सोनाना बहु सुत्य अलकारे। पक्ष
पडेरावती जेभा नानी नानी टोकरीजे-धुवरीजे लगाडवामा आवती जेनी
पीठ उपर कुष पक्ष ओढाडती जे धष्ठी किमती हुती तेभज अनेक प्रकारना
रगवेरणी रगोवाणी हुती जेभा सोनेरी तारनी कसब कणा पक्ष करवामा
आवेव हुती. आ प्रकारे राजपुत्री जे सूकरना भय्यानु दासन पालन
करवामा तत्पर रहेती. जेक समये राज अरिमर्दने पोतानी समस्त
कन्याज्येने केाई उत्सवना प्रसंगे आभत्रक्ष आपी गोडावी, कन्याज्ये आवी.
पक्ष समये पछी जेक वीलयेने परस्पर भगतं धजे। ज आनड थये।
धष्ठी भडेनोजे भणी विचार कर्यो के आने धष्ठी भडेनो साथे ज्येने दोजन
करीजे. आ सावणी जे विधवा राजपुत्रीजे कक्ष के जे तमे धष्ठी भडेनो

तदनुबन्धिनी प्रतिक्रिया का, एव उद्भूता परिपूर्णाता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ममस्त आचारधर्म का मूल दाम्पत्य-प्रतिक्रियात्मक एहस्याभम ० ही माना गया है, जिसके बिना इतर किसी भी आश्रम का कोई भी तो महत्व नहीं है। जिस आचारधर्मक क्लृप्त धर्म का हम आरम्भ से ही यथोगान करते आ रहे हैं, उसकी मूलप्रतिष्ठा यही दाम्पत्य-जीवन है, यही एहस्याभम है, जिसकी दार्शनिकसंगत में उपेक्षा ही हुई है शुद्धत्वमीमांसन के वाग्विबुधमण के द्वारा। तभी तो न तो दार्शनिक महानुभाव आचारधर्ममूला, एहस्याधर्मनिकषणा आधि-
देविकी प्राकृत-परिपूणता का ही अनुगमन करके, एम न कन्यूला अप्राकृता कालातीव अनन्तपरिपूर्णाता का ही वे समन्वय कर सक।

४८४-अनन्तकालानुगता प्राकृत-प्रतिक्रिया से अतीता अनन्तश्रद्धानुगता कालातीव
अप्राकृत-प्रतिक्रिया की अविद्येयता ही तद्विद्येयता—

हां, तो अनन्तकालानुगत प्राकृत मानवसुखी उक्त 'कुछ' के, अर्थात् 'प्रतिक्रिया' मास के दिग्-
दर्शन का प्रयास हुआ। अत्र शेष यह जाता है वह कालातीव अनन्तकाल, एतं शेष यह जाता है कालातीव
मानवानुसंधी 'कुछ' का इतिरित्त जिसके सम्बन्ध में क्योंकि सभी प्राकृतभाव तदर्थ हैं। अतएव उक्त
कालातीव 'कुछ' के सम्बन्ध में तो हम कुछ भी निवेदन नहीं कर सकते। उक्त से सम्बन्ध रखने वाले इस के
'कुछ' के सम्बन्ध में कहने का उपक्रम करना ही इसका सकल्य समाप्त कर देना है। अतएव अनन्त प्राकृत
कालातीव उक्त अनन्तकाल के 'कुछ (प्रतिक्रिया) का हम अप्राकृत अहम् हम आत्ममानस के सम्बन्ध में
लोकतीव मानव के सम्बन्ध में इनके महामहिमामय-अनन्तानन्त (अनन्तकाल में ही अनन्त) प्रत्यक्षरूप
क सम्बन्ध में कुछ न करना ही उनके लिए तदकुछ कर देना है।

४८५-अचिन्त्य-अनन्त-कालातीव-श्रद्धानुगता मानवीया प्रतिक्रिया से अनुभाषित
यथायावत् समाधानाभासों की सम्प्ररता, एवं तदानन्त्य के सम्बन्ध में परम्प
रया श्रुतोपभूत आप्तपुरुषों की आर्य-धारणाएँ—

क्योंकि इस अनन्त्य के लिए भी कुछ भी कहा जायगा, वह सब 'सम्प्ररता मात्र बन कर ही रह
जायगा प्राकृत-श्रद्धानुगता धार्यावता के अनुसंध से। सुनते यह है इस 'कुछ' रूप का प्रत्यक्ष के सम्बन्ध
में (अनन्तकाल के प्रतिक्रिया-रूप का अप्राकृत मानव के सम्बन्ध में किन्तु प्राकृत मानव के अप्राकृत रूप
रूप के सम्बन्ध में) अपने आशुपुत्री से परम्परया यही कुछ कि, अनन्तकाल, अनन्तकाल के सम्पूर्ण अवा-
न्तर विवक्ष एतं स्वयम् परलोठी, स्वयं, चन्द्रमा श्रुतिनी नक्षत्र मह आदि आदि यथायावत् प्राकृत विवक्ष,


● सर्वेषामपि चितेषां बद्ध-स्मृति-विधानतः।



'गृहस्थ उच्यते भेष्ट स श्रीनतान विभर्ति हि ॥


यथा नदी-नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।


तथैवाभिमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥


—मनु १।८२,२

रेखाङ्गनों पर अक्षतानपूर्वक लक्ष्य दीक्षिण, चिन मे  इस रूप से प्रतिरूपता का समन्वय हुआ है।

प्रतिरूपशिखात्मक द्वितीय रेखाङ्गनों में पूर्व के  इस अक्षतान का लो न्या अर्थ है, उत्तर के  इस

अक्षतान का न्या अर्थ है, एम न्या अर्थ है पूर्व-उत्तर-माहात्मिका  इस समष्टि का ! समन्वय

दीक्षिण ! अपनी दाम्पत्यप्रज्ञा से ही इस प्ररनाम्नी का । पूर्वमाहात्मक  इस अक्षतान का अर्थ है 'मानव'

उत्तरमाहात्मक पूर्व-अक्ष के पूरक  इस अक्षतान का अर्थ है 'मानवी' ५

पूर्वोत्तराक्षी की समन्वयस्थायक्य पूर्णरूप का अर्थ है मानव-मानवी-का से पूर्णाक्षरात्मक-पूर्णप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव हुआ 'अक्षतान' है प्रतिरूपता है प्रतिरूप की पूर्णास्था है अक्षतान-अक्षराक्षी की पूर्ण अक्षतानिका मानवी से ही है, इच्छी उत्तराक्षी है आभेयक्य प्रतिरूप है।

४८३-सौर-चान्द्र-सम्बन्धरङ्गलक्ष्यी से सम्यक्का
रूपा प्रतिरूपता, एवं सद्गुणता
त्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों रङ्गलक्ष्यी दोनों अक्षतानों के समन्वय से ही पूर्णरूपमाहात्मिका बनती है और यह साम्बन्धरङ्गी-पूर्वा-परमात्मन) ही अनन्तमाहात्मिका पूर्वा-प्रतिरूपता की इत्यन्त्या दाम्पत्यपरिपूर्णता (जो कि सत्प्रबन्धानुगता ही प्रतिरूपता को सन्वितस्तेण भागवाहिकरूप से अभिनिष्ठ अक्षररः परिष्कार्य करती रहती है) मानवेतर किसी भी अर्थ में

४८४-मानवेतरसंगानुपन्धिनी अज्ञादज्ञाद्वरूपा
गृहस्थधर्मनिबन्धना मानवीय-दाम्पत्य
प्रतिरूपता का समन्वय—

यहाँ की अनुसन्धितस्तेण प्रवीक्या 'शरीरेण जगत् ज्ञात् सम्भवति' स्तेषु शरीर परिष्कार्य है। अतएव मानवेतर उक्त

प्राकृतमानव
(प्रकृते प्रतिक्रम) { ६-आत्मीयाधस्तात, आत्मोपरिष्ठात आत्मा परचात, आत्मा पुरस्तान,
आत्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत । आत्मवद सधम ।

प्राकृतमानव
(कलम्) { ७-म या प्य प्य परयन्, एवं मन्वान, एवं विज्ञानम-आत्मरति, आत्म
कीङ्गः, आत्ममिधुन आत्मानन्द -म स्तराद्-भषति । तस्य सर्वेषु
लोकेषु कामचारो भषति ।

प्राकृत कालसर्ग { ८-तस्य इ या एतस्य-एव परयत, एवं मन्वानस्य एवं विज्ञानत आत्मत
प्राण । आत्मत आरा । आत्मत आक्षराः । आत्मत-तेजः । आत्मत
आप । आत्मतः-आधिर्भाव-तिरोभाषी । आत्मत-संकर्यः । आत्म
त -मन । आत्मतो वाक् । आत्मतो नाम । आत्मतः-मन्त्राः । आत्मत
कर्मोषि । आत्मत एवदं सर्वम् ।
—छांदोग्योपनिषद् ७ अध्याय, २५-२६ खण्ड

असमर्थ है हम दिग्देशपालमीमांसेनुगत मानव के प्रतिरूपामक स्वरूप से सम्बन्ध रखन वाले उक्त बचनों के असुरार्यमान-समन्वय में भी । अब तो इस समन्वय का भार मानव की उद्भव प्रज्ञा पर ही क्षात्रते हुए 'दिग्देशपालमीमांसे से अनुप्राणित अभयं ये ब्रह्म मा मैयीः इव उद्बोधनस्य का मीमांसोक्त-त्यक स्वरूप ही और कर लिया जाय है ।

४८८-अद्वि-समृद्ध्यादि विविध प्राकृत इन्द्रों के प्रति आकर्षित मानवीय मन, तदनुप्राणित मानवीय मापदण्ड, एवं तदनुगत मानव का महान् प्राकृत स्वरूप—

अद्वि-युद्धि, सुख शान्ति तुष्टि-युति समृद्धि-आनन्द भूमा अभय ही 'मानव के प्रमुख लक्षण हैं । मानव की सम्पूर्ण शिक्षाश्री का सम्पूर्ण प्रतीकों का सम्पूर्ण उचरों का सम्पूर्ण लोकना-दुष्यों का सम्पूर्ण दारानिक-मीमांसक्री का सम्पूर्ण वैज्ञानिक विन्युम्णों का सम्पूर्ण शास्त्रीय आचार्य कथम्कर्मों उपासनाश्रीं मस्त्रिमागों ज्ञानयतों का, किरहुना सभी प्रभृतिश्रीं का, और सभी निवृत्तियों का एकमात्र मूल 'सुख-शान्ति-कामना' ही है एवं यही एकमात्र एक वैसा मापदण्ड है जिस के माध्यम से मानव की उद्वेकप्रवृत्तियों का कथम्कार्यम्भाषीं का शुभाशुभपरिणामों का पुण्य-पाप-इन्द्रों-का प्राप्ति आदि का मूल्याङ्कन सम्भव बना करता है । महान् है मानव । उस सीमापर्यन्त महान् है जिस सीमापर्यन्त सम्पूर्ण विश्व में तो मानव से महान् और कोई भी नहीं है । अतएव महान ही नहीं, अपितु महतामहीव्यान् है मानव अपने प्राकृत स्वरूप से भी एवं अपने अप्राकृत स्वरूप से भी ।

रक्षाद्वानो पर अन्नपानपूर्वकं लक्ष्म दीक्षित, त्रिन मे (॥) इस रूप से प्रतिस्मृता का समन्वय हुआ है।

प्रतिस्मृतिस्वात्मक द्वितीय रक्षाद्वानो में पूर्व के (इस अन्न हृत का वो क्या अर्थ है?, उत्तर के) इस

अन्न हृत का नवा अर्थ है? एवं क्या अर्थ है पूर्व-उत्तर-भाषात्मिक (॥) इस समष्टि का? समन्वय

कीर्ति। अपनी दाम्पत्यप्रथा से ही इस प्रश्नात्मी का। पूर्वभाषात्मक (इस अन्न हृत का अर्थ है 'मानव'

उत्तरभाषात्मक पूर्व-अन्न के पूरक) इस अन्न हृत का अर्थ है 'मानवी' एम् (१।२) इन दोनों

पूर्वोत्तरद्वयी की समन्वित्यवस्थास्य पूर्वहृत का अर्थ है मानव-मानवी-का 'दाम्पत्य'। अन्वित्यवस्थानुसंग से पूर्वाश्रयात्मक-पूर्वाप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव व्यक्त-सम्बन्धव्यवस्थानुसंग से अर्थाश्रयात्मक बनता हुआ 'अन्न हृत' है प्रतिस्मृता है प्रतिरूप की पूर्वावस्था है आधार-प प्रतिरूप है। इसके शेष अन्न हृतलात्मक-अर्थाश्रय की पूर्ण अन्न हृतलात्मिका मानवी से ही हुई है जो कि मानव का प्रतिस्मृता है, इसकी उत्पत्त्या है आधेयरूप प्रतिस्मृ है।

४८३-सौर-चान्द्र-सम्बन्धरगुणलक्षणी से सम्पन्न कृतरूपा मानव-मानवी की दाम्पत्य रूपा प्रतिरूपता, एव तदनुगता यशानुगतिस्वभावा रूप-रूप-भावात्मिका महिमान्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों गुणों, दोनों स्वकल्पों के समन्वय से ही मानव की प्रतिस्मृता पूर्वाश्रयव्यवस्थानुसंग पूर्वाश्रयात्मिका बनती है और वह स्वकल्पकी-पूर्वा-प्रतिरूपता (मानव, और मानवी का दाम्पत्यरूप गृहस्थाश्रम) ही अनन्तव्यवस्थानुगता पूर्वा-प्रतिरूपता की अभिव्यक्ति बनती है। और धार्मिक-परिणामानुगत इत्यमृत्य दाम्पत्यपरिपूर्वता (जो कि अन्तर्गुणानुगता अविद्यता की प्रवर्धिका बनती हुई यशानुगतिक्रम से प्रतिस्मृता को अन्तर्गुणस्य प्रायवाहिकक्रम से अभिव्यक्ति बनती हुई-रूप-रूप-प्रतिस्मृता बभूव' को अक्षरगत परिहार्य कथी खती है) मानवेतर किसी भी स्तर में नहीं है।

४८४-मानवेतरसर्गानुषन्धिनी अज्ञादज्ञावरूपा प्रतीकता, एवं प्रतिरूपभाषात्मिका, गृहस्थधर्मनिर्बन्धना मानवीय-दाम्पत्य की कालातीता अनन्तपूर्वता-सप्तका-प्रतिरूपता का समन्वय—

वहाँ की अनुक्रमधिस्यविका प्रतीकता शरीरेण शरीरोत्पत्ति-‘प्राणात्-प्राणोद्युक्-’-‘अज्ञात्-ज्ञात्-सम्भवति-कथेय-तदेव-परिभ्राष्ट-हे। कदापि मानवेतर उक्त प्रकल्प तथा प्राणीस्तर में अविद्यता का

बीजन पर आत्मनः करने की कल्पना का भी अद्यत्त अणुपर कर बैठते हैं, महान् मानव, 'अभय वे
 मल' का प्रतिकल्प मानव, 'मा भेषी' देता पर प्रदान करने वाला मानव भयप्रवृत्त न-दुःखप्रवृत्त क-स्युद्धि
 प्रवृत्त क, उन पर आ-उत्तापी-होहा-अधुर-राक्षसों को अपनी कल्पकालात्मिक महीयसी दुर्गन्ता विग्रहण-प्रा
 में ही सृष्टि कर डालता है, और यों प्रकृत्य महान्, तथा पौरुष पर महोमहीयान् बना हुआ मानवभेद
 'अभयप्रद भाव से सम्पूर्ण प्राणियों को 'मा भेषी' ! (मत करो) ! यही उद्बोधन प्रदान करता हुआ अपने
 अस्तित्व, अदम्यत्वक स्वरूप से यह चतुःपत्नी नी देता या रहा है उन दुष्टों को, जो मानव के इन विरव
 यधों को सन्त करने की ही यात्राएँ बनाते रहते हैं कि—

योऽस्मान् द्रष्टि, यच्च वय द्विष्म त जन्मे दुष्म ।

४८२-स्वस्वरूपानुगता करालद्वारा से आततायी को वृथित कर देने में सक्षम भी
 मानव की मायुक्तापूर्णा भयप्रस्तता क सम्बन्ध म महान् प्रश्न—

विरिध-पुराणपुरक भगवान् व्यास के ही-गुण मल तविद् ब्रवीमि-न हि मानुषत भेदतर हि
 किञ्चिन् इव उद्बोधन से अपने प्राकृत स्वरूप से महान् तथा अपने अप्राकृत स्वस्वरूप से महोमहीयान
 कभयप्रदायक (अभयप्रदायक) दुःख शर्षों में अपने महान् प्राकृतस्वरूप से निभय, तथा महोमहीयान
 अप्राकृत स्वरूप से अभय प्रमाणित होने वाला मानवभेद अपनी प्राकृत निर्मयता से समस्त प्राणिय
 त्त को 'निर्भय' स्थान में सक्षम मानवभेद भयप्रवृत्त दुष्टों को अपनी करालद्वारा से सृष्टि कर देने
 की क्षमता रखने वाला मानवभेद निरवस्वरूपक प्राकृत-अनन्तमालावर का प्रतिकल्प तथा अनय-
 स्वकपालक-अनन्तमालावर का प्रतिकल्प मानवभेद है, इस, स्यां आत्र इत्यप्रकार अपनी इस महद्य का इन
 गरिमात्मिका को, इस सर्वभद्रता की सर्वोत्तमा हो विस्मृत कर मयमपि नचरल बन रहा है, एक अपने इन
 मयी से अपने उमान-प्रतिकल्प मानव को भी मयप्रस्त प्रमाणित करता धारता है, और परम्परया प्राकृत
 प्राणियों को भी मयासे ही बनाता या रहा है ! सचमुच से प्रत्येक आत्र प्रत्येक प्रकाशित मानवभेद का ता
 अपनी धार आकर्षित करत ही या रहा है ।

४८३-दिग्देशकालात्मक, मायुक्तापूर्ण युगधर्मा से प्रभावित मानव, तन्मानव के
 प्राप्त के मूलकारण, तदनक स्वयं मानव, एषं तद्द्वारा ही मयनिवारणार्थ विविध
 प्ररतों का उत्पान—

आकर्षण धर नवीन नहीं है । सद्य है मानव का यह आकर्षण । उदा से ही मानव प्राकृत-मयी के
 मोक्षिक-मेरी की धार आकर्षित होता आरहा है । किन्तु पुरातन मानवभेदने अपनी स्वस्था तथा
 प्रकृतिया प्रता को इस आकर्षण-समस्या-के आलोचन-विशोचन-पर ही समाप्त नहीं कर डाला है ।
 अपितु इस आकर्षण के सम्भवदियेकरमल में ही उनके प्रतिप्रती महान् आकर्षणक से इस मय-मद
 आकर्षण की सर्वथा निम्न ही बना दिया है इन्ने जबकि दिग्देशकालात्मिकी आत्र का बही मानवभेद स्वयं हा
 की देते मयाकर्षणों का 'सहा' बन रहा है स्वयं ही अपने प्राय सद्य इन मयाकर्षणों को तत्प्रमानवर्मा अय-
 थित मयाकर्षणों से क्लप्रदान करता या रहा है, इस क्लप्रदानप्रक्रिया से यों स्वयं ही यह अपने आकर्षणमय

इन सब अक्षयिपथों तथा अक्षिक-विक्रों का मूलाधारभूत रूप मनुस्मृत्य, सप्तसुक्त मानव के 'अहं' रूप अप्राकृत-अलाठीय-स्वरूप की सीमा में ही अन्तर्मुक्त है। और ऐसे अहं का प्रतिरूप किंवा 'अहं' रूप मानव ही विश्वम्भर के विश्व में ऐसी महती विभूति है जिसके सस्तरणमात्र से माहेश विह्वल-मानव का क्या हो जाय है, यह भी तो यह विह्वल मानव ही जान रहा। अर्थात् मानव का महतोमहीवान् विभूतिमय अनन्त स्वरूप और अर्थात् उही विभूतिराही मानव का यह बुद्धिम्यमोहन जिससे आपादमन्तक व्यापार कनधा हुआ ही यह विह्वल मानव आब मानव बैसी अनन्तविभूति के उद्बोधन की न केवल चहल ही कर रहा है अरिष्ट दिग्द्वाराकस्तस्वरूपमीमांसा' नामक महान् सुक्त का आशय तोय हुआ स्वयं अपने विह्वल-स्वरूप को और भी अधिक विह्वल ही प्रमाणित कर रहा है।

४८७-वाग्बिष्ममन्त्रविस्मृतिपूर्वक-“अमयं वै ब्रह्म, मा मैवीः’ मूलक उद्बोधनस्य क प्रति आत्मसमर्पण, एवं श्रौत मूलश्रौतों का सम्मरण—

अतएव अन्तवोगत्वा अपने इस समस्त वाग्बिष्ममन्त्र को सर्वभूता विस्मृत करने हुए, प्रतिरूप्यत्मक अप्राकृत-श्रुतिमानव के निम्नलिखित उद्बोधनवर्षों का माहलिक स्मरण करते हुए—“अमयं वै ब्रह्म। मा मैवीः । योऽप्रमाणश्चि सन्न कयं द्विष्मः सं अन्मे वृष्मः इत वरदा-अमवा-बाणी के समन्वय दिग्दर्शन के अम्बहितीपरकाल में ही कालखर्ची में प्रस्तुत दिग्द्वाराकालमीमांसा उपरत हो रही है।

मूलश्रौतानि

- १-अहमिदि पितृभरि मेवाऽमृतस्य अग्रम ।
अहं सूर्य इषाजनि । (श्रुत् सं० ८।१०) ॥
- २-अहं गमेमवधामोपवीज्वाहं विश्वेषु सुवनेष्वन्तः ।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं अग्निभ्यो अपरीषु पुत्राव ॥
—श्रुत् सं १।२२।३।
- ३-अहं मनुरमयं सूर्यरवाहं कषीर्यो अपरिस्मि विप्र ।
अहं कुत्समाजुनेयं न्यूनोऽहं अविश्राना परस्ता मा ॥
—श्रुत् सं ४।२२।१।

अनन्तब्रह्म

४-स बाधस्ताव, स उपरिष्टान्, स परवान्, स पुरस्तात्, स इक्षिण्यत्,
स अक्षरत् । स पवेद् सवाम् ।

अप्राकृतमानवः
(ब्रह्मस्य प्रतिरूपः)

५-अहमेवावस्ताव, अहमुपरिष्टान्, अहं परवान्, अहं पुरस्तात्, अहं इक्षि
ण्यत् अहमुक्षरत् । अहमेवेदं सवाम् ।

मीन पर आक्रमण करने की इत्थना का भी अद्यत्म अपराध कर बैठते हैं, महान् मानव, 'अभय वै ब्रह्म' का प्रतिरूप मानव, 'मा भेषी' जैसा धर प्रदान करने वाला मानव मयप्रसक्त क-नु-सप्रसक्त-क-न्यादि प्रसक्त, उन सब आत्तापी-द्वेषा-असुर-पक्षों को अपनी क्यलकालामिका महीयवी उद्गन्ता विष्णुल-प्रा में ही चूर्णित कर डालता है, और यी प्रकृता महान्, तथा पोरुषेय च महतोमहीयान् बना हुआ मानवभेद 'अमयप्रसक्त भाव से सम्पूर्ण प्राणियों को 'मा भेषी' ! (मत करो) ! यही उद्घोषण प्रदान करता हुआ अपने आलात्मक दण्डमयप्रसक्त स्वरूप से यह पक्षपती भी देता जा रहा है उन दुष्टों को, जो मानव के इन विनय मार्गों को अप्रसक्त करने की ही योजनाएँ बनाते रहते हैं कि—

योऽस्मान् द्वेषि, यश्च वय द्विष्म त जम्मे दधम ।

४६२—स्वस्वरूपानुगता करालद्वेषा से आततापी को चूर्णित कर देने में सक्षम भी मानव की भावुकतापूर्णा मयप्रसक्तता का सम्बन्ध म महान् प्ररन—

वदि य-युगणपुरुष मगवान् म्यास के ही-शुद्ध ब्रह्म तद्विद् प्रवीमि-न हि मानुषत् भेष्टतर हि किञ्चिन् इस उद्घोषण से अपने प्राकृत स्वरूप से महान्, तथा अपने अप्राकृत स्वस्वरूप से महतोमहीयान्, अनन्यप्राप्तक (अभ्ययत्रदात्मक) दूर शम्भु में अपने महान् प्राकृतस्वरूप से निभय, तथा महतोमहीयान् अप्राकृत स्वस्वरूप से अभय प्रमाणित होने वाला मानवभेद अपनी प्राकृत निर्भयता से समस्त प्राणियों तक को निर्भय नाना में सक्षम मानवभेष्ट मयप्रसक्त दुष्टों को अपनी क्यलकाला से चूर्णित कर देने की समया मन्ते वाला मानवभेष्ट निमयस्वरूपप्रसक्त प्राकृत-अनन्तआलाजर का प्रतिरूप तथा अभय-स्वरूपामक-अनन्तान्ययत्रदा का प्रतिरूप मानवभेष्ट है, जैसे कभी आज इक्ष्मकार अपनी इस महत्ता का इन गरिमानहिमा को, इस सर्वभ हतों को सर्वप्रना हो विस्मृत कर दण्डमयि मयप्रसक्त बन रहा है एवं अपने इन मयों से अपने समान-प्रतिरूप मानवों की भी मयप्रसक्त प्रमाणित करता चरता है, और परम्परया प्राकृत प्राणियों को भी मयात् ही बनाता जा रहा है ? सचमुच वे प्ररन आज प्रत्येक प्रमाणित मानवभेष्ट को तो अपनी आर आकर्षित करते ही जा रहे हैं ।

४६३—दिग्देशकालात्मक, भावुकतापूर्णा युगधर्मों से प्रभावित मानव, तन्मानव का प्राप्त का मूलकारण, तज्जनक स्वयं मानव, एके तद्द्वारा ही मयनिशारस्वार्थ विविध प्ररनों का उत्थान—

आकर्षण को नही नही है । उद्भूत है मानव का यह आकर्षण । उदा से ही मानव प्राकृत-मयों के मोलिक-मेहों की ओर आकर्षित होय आरहा है । किन्तु युगजन मानवभेष्टने अपनी स्वस्था तथा प्रकृतितया प्रा को इस आकर्षण-समस्या-के आलोचन-विशोचन-पर ही ख्यात नहीं कर वाला है । अतएव इस आकर्षण के अन्वयविशोचन-काल में ही इसके प्रतिबन्धी महान् आकर्षणकाल से इस मया मक आकर्षण को सर्वथा निर्मूल ही बना दिया है इन्ने जबकि दिग्देशकालमयी आर का वही मानवभेष्ट स्वय ही तो ऐसे मयाकर्षणों का 'सहा' बन रहा है स्वयं ही अपने द्वारा सृष्ट इन मयाकर्षणों को तत्सम्मानधर्मा अय-थित मयाकर्षणों से न्हाप्रदान करता जा रहा है इस न्हाप्रधानप्रकिया से या स्वयं ही यह अपने आकर्षणमय

४८६—स्वानुगत-कारणातीत-अनन्तब्रह्म से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्-
अप्राकृत-अनन्त-स्वरूप, एवं मानव की गुणवत्ता संबंध्येच्छता-भेच्छता—

अपने प्राकृत स्वरूप से यही महान् प्राकृत मानव वहाँ प्रकृत्या ही स्वरूप से ही अग्नि, सुख, सुष्टि सृष्टि, मूला, आदि आदि अम्युदयमानो से नित्य सम्निवृत्त है स्वरूपमेवैव, वहाँ वही मानव अपने अगाहन महतोमहीयान् - महान् प्राकृत स्वरूप से ही मी कहीं महीयान्) स्वरूप से बुद्धि शान्ति तृप्ति आनन्द अभय आदि आदि निःश्रेयस् मार्गों से नित्य सम्निवृत्त है स्वरूप से ही। अपनी इस उभयमायानिका स्वरूपता से ही मानव महान् है प्रकृत्या (महान् चर-रूपात्मक प्रकृति-मय महतोमहीयान् है प्रकृति से सम्निवृत्त, किन्तु प्रकृति से अतीत पुरुषेय (अव्ययपुरुषेय)। अन्वयपुरुषात्मक अभय-भाव जिस महतोमहीयान् अप्राकृत मानव की 'स्वरूपप्रतिष्ठा' ही महान् चर-रूपात्मक प्रकृति-मय जिस महान् प्राकृत मानव का स्वरूप हो। इहं शब्दों में-अनन्ता महदद्यत्प्रकृति जिस का 'अनन्त-प्राकृत-स्वरूप' हो अनन्त महतोमहीयान् पुरुष जिस का 'अनन्त-पौरुष-स्वरूप' हो, ऐसे प्रकृत्यैव महान्, पुरुषेवैव च महतोमहीयान् मानव से अतिरिक्त सच्चमुच ही वो सम्पूर्ण विरव में ओर कहीं भी बँध नहीं है।

४६०—इतर प्राकृत-परिखामात्मक-अज्ञातिक सर्गों के समतुल्यन में अप्राकृत-कालातीत प्रमाथित महिमात्मक-मानव-सर्ग की 'महत्ता' के कतिपय प्राकृत निदर्शन—

महत्त्व का इस से अधिक ओर क्या प्रमाथ होण कि, वहाँ मानकेतर सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं नष्ट होने के लिए ही वहाँ मानव अपने महान् प्राकृत स्वरूप से अभिमुख होता है अपने अविनाशी अक्षर अक्षर स्वरूप को अक्षरयत् परिश्रय करने के लिए ही। मानकेतर प्राणियों का अन्न होता ही है प्रकृति के महत्त्वमयक महान् दयक का अनुभव न करने के लिए, वन कि मानव का स्वरूप से आविर्भाव होता ही है इसी प्राकृत स्वरूप के माध्यम से प्रकृति की वरदा अमथा कृपण्यता से अर्कज-स्वतन्त्रता-पूर्वक निर्भवस्वैव अन्नमय का अन्नर्प बनाने के लिए। मानकेतर प्राकृत (वैश्वरिक) प्राणी उत्पन्न होते ही हैं वहाँ प्रकृति के क्षीमाक्षीमाक्षयक अनुखन के लिए, वरकि मानव अविनाश होता ही है प्रकृति के क्षीमाक्षीमाक्षी से अपने प्राकृतभाव का अनुखन करने के लिए। मानकेतर प्राणी वरक्य महत्त्व की प्रवर्तिका क्षयप्रकृति से प्राकृत क्षयदयक से वहाँ क्या भयवत्त्व वने रहते हैं, वहाँ महान् मानव, महतोमहीयान् मानव इस प्राकृत क्षयवत्त्वमय को अपने महान् अज्ञातिक प्राकृत स्वरूप से अभिन्न प्रमाथित करता हुआ अतएव च इस दयकमय से अपने स्वरूप का सर्वथा ही मयातीत प्रमाथित करता हुआ 'अभय-वै श्रद्धा' का ही प्रतिस्व बनता हुआ समस्त प्राणियों का 'मा मैपीः - 'मा-करिषत्-नु-अभागभवेत्' - 'सर्वे भवन्तु सुखिनः - 'सर्वे सन्तु निरामया' यह आरधन ही प्रदान करता रहता है अममदयक।

४६१—मानवस्वरूप को संवस्त करन वाले आवतायी-यग के प्रति अविमानव का प्रचण्ड उन्मोष, एवं तच्छ्रयसमाय से आवतायीवर्ग का इविकल्पन—

आर दाय ही को इहदुष्टि हिंसक पशुमात्र एवं अनुर यदक-गिराच-यव-अम्यादि माय मानव के इस अमयप्रकृति स्वरूप पर, मानव के द्वारा प्राप्त वर से अमयपशुपत निर्भव प्राकृत प्राणियों के निर्भव-

जीवन पर आक्रमण करने की क्षमता का भी अक्षम्य अपराध कर बैठते हैं, महान् मानव, अभय धी प्रह्ला' का प्रतिकरूप मानव, 'मा भैषी' जैसा वर प्रदान करने वाला मानव मयप्रवच क-बु-सप्रयच क-भ्यदि प्रवच क, उन सब आत्तापी-दोषा-अमुर-राक्षस का अपनी कयालकालामिका महीयती दुःखान्ता विफलादद्या में ही चूर्णित कर डालता है और यों प्रहृत्वा महान्, तथा पोरुषेण च महतोमहीयान् बना हुआ मानवभेद 'अभ्यप्रस माय से सम्पूर्ण प्राणियों का 'मा भैषी' ! (मठ डरो) ! यही उद्घोषण प्रदान करता हुआ अपन आत्तात्मक, दयकमयात्मक स्वरूप से यह चेलापनी भी देता च रहा है उन दुष्टों को, जो मानव के इन विरव भावी को सप्रस्त करने की ही याचनाएँ बनाने खत हैं कि—

योऽस्मान् द्रेष्टि, यञ्च वय द्विष्म त जम्मे दध्म ।

४६२—स्वस्वरूपानुगता करालदृष्ट्रा से आततायी को चूर्णित कर देने म सक्षम भी मानव की मायुक्तापूर्णा मयप्रस्तता क सम्बन्ध म महान् प्रश्न—

तदित्य-पुराणपुरष भगवान् म्यास के ही-गुह्य प्रह्ला तदिवं श्रवीमि-न हि मानुषत् भ्रेष्टतर हि किञ्चिन् इष उद्घोषण से अपने प्राकृत स्वरूप से महान् तथा अपने अप्राकृत स्वस्वरूप से महोमहीयान अभयप्रदात्मक (अभ्ययप्रदात्मक) दूषर शष्पी में अपने महान् प्राकृतस्वरूप से निभय तथा महोमहीयान अप्राकृत स्वस्वरूप से अभय प्रमाणित होने वाला मानवभेद, अपनी प्राकृत निर्मक्ता से सप्रस्त प्राणियों सके को निर्मय बनाने में सक्षम मानवभेष्ट मयप्रवचक दुष्टों को अपनी कयालदृष्ट से चूर्णित कर देने की उमता करने वाला मानवभेष्ट, निमयस्वरूपात्मक प्राकृत-अनन्तकालाञ्जर का प्रतिकरूप तथा अभय-स्वरूपात्मक-अनन्तकालयजस्र का प्रतिकरूप मानवभेष्ट है, कस कयी मात्र इसप्रकार अपनी इस महत्ता का इन गरिमामहिमा को, इस सर्वभ द्रव्य को सर्वात्मना ही निस्मृत कर क्षयमपि मयप्रस्त बन रहा है एष अपन इन मयी से अपने समान-प्रतिकरूप मानवी को भी मयप्रस्त प्रमाणित करता शरदा है, और परम्परया प्राकृत प्राणिया को भी मयाच ही बनावा बा रहा है ? सचमुच ये प्रश्न आब प्रत्येक प्रजाशील मानवभेष्ट को ता अपनी आर आकर्षित करते ही बा ख हैं ।

४६३—दिग्देशकालात्मक, मायुक्तापूर्णा युगधम्मों से प्रभावित मानव, तन्मानव के प्राप्त के मूलकारण, तज्जनक स्वयं मानव, एगं तद्द्वारा ही मयनिवारणार्थ विविध प्रश्नों का उत्थान—

आकर्षण कीर्ण नवीन नहीं है । स्रष्ट है मानव का यह आकर्षण । सदा से ही मानव प्राकृत-मयी के मोलिक-मेदों की आर आकर्षित होता आर रहा है । किन्तु पुराठन मानवभेष्टने अपनी स्वस्या तथा प्रकृतिस्था प्रजा की इस आकषण-समस्या-के आलोडन-विशोडन-पर ही समाप्त नहीं कर डाला है । अष्टि इस आकर्षण के अभ्यवहितोत्तरकाल में ही इसके प्रतिद्वन्द्वी महान् आकर्षणकला से इस मयात्मक आकर्षण को सर्वथा निम्नू ल ही बना दिया है इन्ने जबकि दिग्देशकालयोमी आब का बही मानवभेष्ट स्वय ही सो ऐसे मयाकर्षणों का 'स्रष्टा' बन रहा है स्वयं ही अपने द्वारा स्रष्ट इन मयाकर्षणों को कलमानधर्मा मय-णित मयाकर्षणों से नजप्रदान करता बा रहा है इस नजप्रधानप्रक्रिया से बा स्वयं ही यह अपन आकषणमय

४८६—स्वानुगत-कारणातीत-अनन्तब्रह्म से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्-
अप्राकृत-अनन्त-स्वरूप, एवं मानव की गुह्यतमा सञ्ज्येष्ठता-भेष्टता—

अपने प्राकृत स्वरूप से यही महान् प्राकृत मानव वहाँ प्रकृत्या ही स्वस्वरूप से ही श्रद्धि सुख
तुष्टि समृद्धि, मूमा आदि आदि अभ्युदयमार्गों से नित्य समन्वित है सद्ब्रह्मस्यैव वहाँ यही मानव
अपने अशाकृत महतोमहीयान् -महान् प्राकृत स्वरूप से ही मी करी महीयान्) स्वस्वरूप से वृद्धि
शान्ति तुष्टि आनन्द अमय आदि आदि निःभेद्यत्वात् माओ से नित्य समन्वित है सद्ब्रह्म से
ही। अपनी इस उमयमानान्विता स्वस्वरूपता से ही मानव महान् है प्रकृत्या (महद्गुरुप्रकृत्या) एव
महतोमहीयान् है प्रकृति से समन्वित, किन्तु प्रकृति से अतीत पुरुषेण (अव्ययपुरुषेण)। अव्ययपुरुषात्मक
अमय-माव विच महतोमहीयान् अप्राकृत मानव की 'स्वरूपप्रतिष्ठा' हो महद्गुरु-रूपत्मक प्रकृति-
मय विच महान् प्राकृत मानव का स्वरूप हो। वृत्त शब्दों में-अनन्त महद्गुरुप्रकृति विच का 'अन-
न्त-प्राकृत-स्वरूप' हो अनन्त महतोमहीयान् पुरुष विच का 'अनन्त-पौरुष-स्वरूप' हो, ऐसे प्रकृत्यैव
महान्, पुरुषेयैव च महतोमहीयान् मानव से अतिरिक्त सचमुच ही ठो सम्पूर्ण विरय में ओर ओर मी भेष्ट
नही है।

४६०—इतर प्राकृत-परिणामात्मक-कालिक सर्गों के समतुल्य में अप्राकृत-कलातीत
प्रमाणित महिमात्मक-मानव-सर्ग की 'महत्ता' के कतिपय प्राकृत-निदर्शन—

महत्ता का इस से अधिक और क्या प्रमाण होगा कि, वहाँ मानवेतर सम्पूर्ण प्राणी व्यपन्न होते हैं
नष्ट होने के लिए ही वहाँ मानव अपने महान् प्राकृत स्वरूप से अभिव्यक्त होता है अपने अविनाशी अवर
अमर स्वरूप को अक्षर-व्यतिरिक्त करने के लिए ही। मानवेतर प्राणियों का अन्त होता ही है प्रकृति के महद्-
मयमात्मक महान् दयक का अनुभव करने के लिए, जब कि मानव का स्वस्वरूप से आविर्भाव होता ही है
इसी प्राकृत स्वरूप के माध्यम से प्रकृति की वरदा अमया कृत्रन्त्या से सर्वजन-स्वजनता पूर्वक निर्मलस्वय
अमयमाव की अन्वय बनाने के लिए। मानवेतर प्राकृत (वैकल्पिक) प्राणी व्यपन्न होते ही हैं वहाँ प्रकृति के
जीवामिमायात्मक अनुत्पन्न के लिए, जबकि मानव आविर्भाव होता ही है प्रकृति के जीवामिमाया से
अपने प्राकृतमाव का अनुत्पन्न करने के लिए। मानवेतर प्राणी कल्पम महद्गुरु की प्रवर्तिका कल्पप्रकृति
से प्राकृत कल्पदयक से वहाँ छा मयस्व न्ने रहते हैं वहाँ महान् मानव महतोमहीयान् मानव इस
प्राकृत कल्पदयक की अपने महान् कालिक प्राकृत स्वरूप से अभिव्यक्त प्रमाणित करता हुआ अत्यन्त च हत
दयकमय से अपने स्वरूप को सर्वथा ही भवतीत प्रमाणित करता हुआ अमय-वै कल्प का ही प्रतिरूप
कला हुआ समस्त प्राणियों का 'मा मीपी'—'मा-करिषत्-तु-समाप्तमवेत्'—'सर्वे भयन्तु सुजिताः—
'सर्वे सन्तु निरमयाः यद् आरवास्त ही प्रान्त करता यदा है अमयप्रकल्प।

४६१—मानवस्वरूप को सप्रसन्न करने वाल आतवापी-वर्ग के प्रति श्रुपिमानव का
प्रचण्ड उद्घोष, एव तच्छ्रवणमात्र से आतवापीवर्ग का हृदयिकमय—

और अथ ही जो वृद्धतुष्टि हिंसक पशुमाव एवं असुर राक्षस-पिशाच-यव-अप्यादि माव मानव के
इस अमयप्रसन्न स्वरूप पर, मानव के द्वारा प्राप्त कर से अमयपशुपुत्र निर्मल प्राकृत प्राणियों के निर्मल-

उक्तार्थमुपसहरन् कर्तव्यमुपदिशति—

मूलम्—सुणिर्याऽभावे साणस्स सूयरस्स नरस्स यं ।

विण्णं ष ठविज्ज अप्पाण इच्छंतो हियमप्पणो ॥६॥

छाया—

श्रुत्वाऽभाव शुन्या. सूकरस्य नरस्य च ।

विनये स्थापयति आत्मानम् इच्छन् हितमात्मनः ॥ ६ ॥

टीका—

‘सुणिया’ इत्यादि—शुन्याः=पूतिकर्णशुन्या’ सूकरस्य च एतदुभय-
दृष्टान्तस्य, तथा च=पुन नरस्य=पुरुषस्य-दाष्टान्तिकतया कथितस्य दुःशीलशिष्य-
अग्नि जलाकर उसको अग्नि में भून दिया । इस कुमौत से उसको
मारा । इस लिये सूत्रकार कहते हैं कि-दुःशील का त्यागकर शील
सदाचार का सेवन करना चाहिये ॥ ५ ॥

इसी कथित अर्थका उपसहार करते हुए सूत्रकार कर्तव्य का उप-
देश अगली गाथा द्वारा करते हैं—‘सुणिया इत्यादि’

अन्वयार्थ—(साणस्स-शुन्या.) पूतकर्णी कुत्ती के (सूयरस्स
नरस्स य-सूकरस्य नरस्य च) सूकर के और दाष्टान्तिक रूप में प्रदर्शित
किये गये दुःशील शिष्य के (अभाव-अनादर) अर्थात् दुर्दशाख्य
अवस्था को (सुणिया-श्रुत्वा) सुनकर (अप्पणो हिय इच्छंतो-आत्मनः
हितम् इच्छन्) आत्मा के हित के अभिलाषी शिष्य (अप्पाण-
आत्मान) अपनी आत्माको (विण्णं ष ठविज्ज-विनये स्थापयेत्) विनय

संगाल्यो अने तेमा तेने भूछ नाभ्यु आ रीते कभोतथी तेने मायुं
आ माटे सूत्रकार कहे छे के दुःशीलने त्याग करी शील-सदाचारनु सेवन
करवुं ओधये. (५)

आ कहेवायेछा अर्थने उपसहार करीने सूत्रकार कर्तव्यने उपदेश
आ गाथा द्वारा कर छे—‘सुणिया माव’ इत्यादि.

अन्वयार्थ—(साणस्स-शुन्या) पूतकर्णी कुत्तीना (सूयरस्स नरस्स य-
सूकरस्य नरस्य च) सूकरना अने दृष्टान्तिक रूपमा प्रदर्शित करायेछ दुःशील शिष्यना
(अभाव-अनादर) अर्थात् दुर्दशाख्य अवस्थाने (सुणिया-श्रुत्वा) साधणीने
(अप्पणो हिय इच्छंतो-आत्मनः हितम् इच्छन्) आत्माना हितना अभिलाषी
शिष्य (अप्पाण-आत्मान) पेताना आत्माने (विण्णं ष ठविज्ज-विनये स्थापयेत्)

को, मयाकर्षण को उत्तरेतर पुम्भित पस्त्वित करता बा रहा है और यों मय से इति पर्यन्त स्वयं रही ही एकमात्र मानव ही, महान् मानव ही बुद्धिमान् मानव ही अपने आपको सम्पूर्ण प्राणियों के समुत्थान में श्रेष्ठ मानने बासा मानव ही तो आब मय के विविध आकर्षण उत्पन्न करता बा रहा है और वही अपने समानधर्मा ही मयाकर्षण के जनक-प्रभव का से यह प्रश्न भी करता बा रहा है कि, - 'मानव आज इसप्रकार भयत्रस्त क्यों बनता जा रहा है ?, एवं अपने साथ सम्पूर्ण विश्व को भी भयत्रस्त क्यों करता जा रहा है' ? ।

४६४-स्वोत्पन्न मयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानवों के द्वारा अनुदिन मयसम्पर्कभावों का सखन-अनुगमन, एवं तस्सहैव मयनिवृत्त्यर्थं प्रश्नों का पारस्परिक आदान प्रदान, और मानवप्रज्ञा का विहम्बनापूर्व-महान् विमोहन—

बिह्वप्रकार एक शूरकर्मा-ईसाहृत्पिपराया-मन्त्र-आततायी-दस्तुयव स्वयं विविध मय पर-म्पराओं का सम्बन्ध करता हुआ एक दूसरे दस्तुयव को उत्सोचन प्रदान करता रहता है ठीक वही रहा आब मानवने अपनी करली है । मय से सभी उत्पन्न किन्तु काम सभी वैसे ही करते जा रहे हैं बिनका मय से इति पर्यन्त परिणाम केवल 'मय' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । इन्का अन्वय मय से परित्रया की है । किन्तु इन्का तो उस खचारण प्राणी की भी ऐसी ही है जो मय से ज्ञान प्राप्य करने के लिए उपाय ढूँढ करता है । और कमी कमी ऐसा उपाय ढूँढ निष्फल होता है वह प्राणी बिह उपाय से उत्पन्न सभी कुछ समाप्त हो जाता है । अतएव मान लेना पड़ेगा कि, 'इन्का' करना ही कोई उपकार्य नहीं है । क्योंकि इन्का के अनुरूप प्रयास किए बिना तो इन्काएँ सफल नहीं होनामा करती । और आब तो मानव मानो मानव से मूकमाध में वही प्रश्न कर रहा है कि 'मित्र ! क्या संशुभ तुम विरव में शान्ति के इच्छुक हो ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि, इस शान्ति-मैत्री-साहायिण्य-के मूख में तुम किसी अधिक भय की ही योजना का निर्माण करते जा रहे हो' ? ।

४६५-वशाविच विमोहन क सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एवं महान् मानव के प्रति तत्सम्बन्ध में प्रथमभाव स किञ्चिदिव भावेदन--

ऐसा सबकह क्यों हो रहा है ? । सर्वश्रेष्ठ भी, महान् भी मानव आज क्यों यों मानवस्वरूप के सम्बन्ध में मानव के उदात्त चरित्र के सम्बन्ध में इसकी सर्वश्रेष्ठ मानवता के सम्बन्ध में शङ्काशील बनता बा रहा है ? । क्या आजके शोकचक्र मानवने अपनी तो रजनीतिनिपुण मानवने अपनी तो विज्ञानपुरीय वैज्ञानिक मानवने इन प्रश्नों के वास्तविक-सर्वों की मीमांसा का प्रयास किया है ? । किया है करता बा रहा है करता ही रहेगा । क्योंकि मानव अन्तर्गतता मानव है महान् है श्रेष्ठतम है । अतएव क्यापि हमें तो किसी भी मानवश्रेष्ठ के प्रयास पर कोई भी शङ्का नहीं है । अन्वय ही मानव अपनी इस धृष्टि में सप्रयास में एक दिन सफल भी होगा ही । और अन्वय ही यह रस ही 'नहि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चिद्' का पुनरावचन करेगा ही । अनेकित है आजके मयासों में 'अकिञ्चित्' अयोग्य । और अन्वय प्रयासमात्र से 'दिग्भूरास्त्रमीमांसा' रूपेण वही अयोग्य विरवमानव के प्रति समर्पित है-उत्तरी महत्ता का अन्वयण से अभिनन्दन करते हुए ही ।

४६६-निरूपिता 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' के सम्यन्ध में तद्विन्मृतिरूप 'यत्किञ्चित्' मशोधन, एवं दिग्देशकालनिबन्धन-युगधर्मों के प्रति जागरूकता का दिग्दर्शन-

और उस 'यत्किञ्चित् मशोधन का एकमात्र अर्थ' है-मानव अपने महान् स्वरूप से दिग्देशकालमीमांसा का मथया ही बहिष्कार हा करे। यही इस महारम्भा दिग्देशकालमीमांसा का एकमात्र 'संशोधित संस्करण' माना जायगा। "यह हमारी विराट है-हमारी सीमायिन्दु है। यह हमारा वंश है, हमारा प्रवंश है, हमारा प्रान्त है, हमारा राष्ट्र है और सर्वोपरि यह हमारा कल है, हमारा सत्ताकाल है हमारा भोग्यकाल है हमारा समय है (हमारा जमाना है) इस प्रकार सर्वथा सीमित, परिच्छिन्न दिग्-देश-काल-भाष ही दिग्देशकालमीमांसाएँ ही आज सर्वभेद मी, महान मी मानव को मयाकर्षणी से विमुक्त न ही इन देखी। अपने दिग्देशकालानुबन्धी-वर्तमान-भूतभावानु बन्धी-भौतिक विज्ञानन ही वैज्ञानिक मानवी को मानव की महत्ता का, दिग्देशकालातीता अन-उत्ता को आज इसी दिग्देशकाल की सीमा में आबद्ध कर लिया है। भूविज्ञान के पाठ्यपाठ स आबद्धा मानव की बुद्धि अपनी महिमा म पराङ्मुख बन कर आज इन प्रत्यक्ष-मू। भौतिक-दिग्देशकालों में ही सीमित हो गई है।

४६७-व्यक्तिचरित्रमोहनात्मिक 'व्यक्ति' की एपशाओं स अनुप्राणिता दिग्देशकाल विमूढ़ता, तदनुगता वैयक्तिक-स्वार्थमयी मलीमता दानवता-सूचणा मानवता—

ठीक यही स्थिति उन लोकचतुर-लोकनिष्ठ-मानवी की है, जिन की दृष्टि में मी इस प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक दिगादि क प्रतिरिक्त मानव का और कोई मी स्वरूप है ही नहीं। अतएव वह लोकमानव मी अपनी वैयक्तिक सीमा (दिक्) अपने वैयक्तिक देश (पर-भूमि न प्रायः-संपत्ति) एवं अपने वैयक्तिक काल (आयुर्भोगकाल) को ही 'मानव' का स्वरूप मान बैठे है। अतएव इस में मी यही वादवचारात्मक वैयक्तिक मोह जागरूक हो पड़ा है कि, "मैं अपनी सीमा में अपने लिए अपने जीवनकाल में जो कुछ चाँहत-सञ्चित-करलूँगा वही मेरे लिए, और अधिक से अधिक मेरे परिवार के लिए पर्याप्त होगा"। वैयक्तिक-स्वार्थमलक इस वैयक्तिक दिग्देशकालकननन इत्यन्तर इन लोकमानव का मानव के अनन्त-स्वरूप स अभिमित कर आज दानव कोटि म ही ला पड़ा किया है। अपने इस वैयक्तिक-दिग्देशकाल के रक्षण-भ्यामोहन में यदि आज इसे सम्पूर्ण मानवी का कर्म कर देना पड़े तो इसे मी यह अपना लोकचतुर्भ्य ही मान बैठेगा है। इस से अधिक व्यक्तिवारी के इस वैयक्तिक दिग्देशकालभ्यामोहन का तदनुगता क्रमव्यवस्थाओं का एव तदनुप्राणिता मानवता? क्या दानवत्व का और क्या मलीमस-बपन्व इतिवच होगा ?।

४६८-राष्ट्रवादी मानव क 'राष्ट्र' की दिग्देशकालनिबन्धना स्वरूप-भ्याख्या, एवं तस्मिन् बन्धन महसोमहीयान् कल्पित-विजम्भस—

अब उस राष्ट्रवादी मानव को लक्ष्य मनाइए, जिसे मी 'राष्ट्र' का अर्थ 'दिग्देशकाल' ही मान सकता है। अनुक्त पर्वतों नद-नदियों चारुपचातों खनिज प्रदों औषधि-वनस्पतियों पशु-पक्षि-हृमि-कीटों, आदि आदि अस्वरूप अगणित अनुकामुक मत्त-भौतिक-परिधियों के मार से माराकन्त बने रहने वाले

को भयाङ्ग्यं को उत्तरोत्तरं पुष्पितं पल्लवितं कृत्यं वा रक्षा है और यो अथ से इति पर्यन्त स्वयं यदी ही एकमात्र मानव ही, महान् मानव ही, बुद्धिमान् मानव ही अपने आपकी सम्पूर्ण प्राणियों के समग्रेशन में श्रेष्ठ मानने वाला मानव ही तो आब मम के विविध आङ्ग्यं उक्तं करता बारहा है और वही अपने समानधर्मी ही भयाङ्ग्यं के बनक-पनक को से यह प्रश्न भी करता बारहा है कि 'मानव आज इसप्रकार भयत्रस्त क्यों बनता जा रहा है ? एवं अपने साथ सम्पूर्ण विश्व को भी भयत्रस्त क्यों करता जा रहा है ?' ।

४६४—स्वोत्पन्न मयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानवों के द्वारा अनुदिन मयसम्पर्कभावों का सर्जन-अनुगमन, एवं तत्सहैव भयनिवृत्त्यर्थं प्रश्नों का पारस्परिक आदान प्रदान, और मानवभङ्गा का विदम्बनापूर्व-महान् विमोहन—

विषयकार एक कूर्कमा—हिंसावृत्तिपरकण-मधरह-आतवायी-दस्युराज स्वयं विविध मय पर-म्पराओं का सर्जन करता हुआ एक दूसरे दस्युराज को उन्नेषण प्रदान करता रहता है ठीक वही दशा आब मानकने अपनी करती है । मय से सभी सम्बन्ध किन्तु काम सभी जैसे ही करते जा रहे हैं बिनका अथ से इति पर्यन्त परिणाम केवल मय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । इच्छा अथय मय से परित्राण की है । किन्तु इच्छा तो उस खषारण प्राणी की भी ऐसी ही है जो मय से आज प्राप्त करने के लिए उपाय ढूँढ करता है । और कभी कभी ऐसा उपाय ढूँढ निकाल लेता है वह प्राणी जिस उपाय से उक्त सभी कुछ समाप्त हो जाता है । अतएव मान लेना पड़ेगा कि, 'इच्छा' करना ही कोई पुरुषार्थ नहीं है । कभी-क इच्छा के अनुरूप प्रयास किए बिना तो इच्छाएँ उक्त नहीं होनाया करतीं । और आज तो मानव मानो मानव से मुक्तमाया में बही प्रश्न कर रहा है कि 'मित्र ! क्या संचयुक्त तुम विश्व में शान्ति के इच्छुक हो ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि, इस शान्ति-मैत्री-सहायित्व-के मूख में तुम किसी अधिक भय की ही योजना का निर्माण करते जा रहे हो ?' ।

४६५—वयाविध विमोहन के सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एवं महान् मानव के प्रति तत्सम्बन्ध में प्रणतभाव से किञ्चिद्विध आवेदन--

एला सबकुछ क्यों हो रहा है ? । सर्वश्रेष्ठ भी महान् भी मानव आज क्यों यो मानवस्वरूप के सम्बन्ध में मानव के उत्पत्त चरित्र के सम्बन्ध में इसकी सर्वश्रेष्ठ मानकता के सम्बन्ध में शङ्काशील बनता बारहा है ? । क्या आजके लोकपट्टर मानकने अथवा तो एबनीतिनिपुण मानकने अथवा तो विद्वानधुरीण वैज्ञानिक मानकने इन प्रश्नों के अस्वयिक-वर्णों की मीमाणा का प्रयास किया है ? । किना है करता जा रहा है करत ही जेग्य । क्योंकि मानव अन्तर्गतता मानव है महान् है श्रेष्ठतम है । अतएव अथि हमें तो किसी भी मानवश्रेष्ठ के प्रयास पर कोई भी शङ्का नहीं है । अथय ही मानव अपनी इस अदिच्छा में सम्प्रयास में एक दिन उक्त भी होगा ही । और अथय ही यह स्वयं ही 'नहि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' का पुनरावचन करेग ही । अपेक्षित है आजके प्रयासों में 'मनाधिष्ठित्' उद्योग । और अत्यन्त प्रणतभाव से 'त्रिगुणराज्यमीमांसा' रूपेण वही उद्योग विरवमानव के प्रति समन्वित है—उक्तो महत्वा का अन्त-करण से अभिनन्दन करते हुए ही ।

आपि उक्त उक्त भूतएव का 'राष्ट्र' उपाधि से सम्मानित नहीं किया जा सकता, नहीं किया गया। मानवशून्य, प्रदीप्तित्व मानवशून्य, उत्पीड़ित मानवयुक्त, एवं उत्पीड़क मानवयुक्त सभी भूतएव अराष्ट्र हैं, मर्त्य-शशरवीरमात्र हैं वहाँ के उपास्यदेवता मान गए हैं 'अराजकता' 'विद्रोह' 'पिपिच रोग' अकाल 'तुष्काल' 'स्वार्था-न्वता'—'पदप्रतिष्ठान्यामोहन', किन्तु इन देवताओं की गणना तो त्रिशक्तिकोटिमित्य 'कगणना' की सीमा का भी आप उल्लंघन ही कर दिया है।

५०१—आज के बुद्धिमान् मानव के द्वारा 'राष्ट्र' के स्थान में 'विश्व' का प्रतिष्ठापन, राष्ट्रीयता के प्रति आक्रोश, तथा तत्स्थान में 'विश्वमैत्री', 'विश्वबन्धुत्व' आदि नवीन भावों का आविर्भाव—

सुनते हैं—आज के बुद्धिमान् मानवने 'राष्ट्र' के स्थान में विश्व का प्रतिष्ठित कर अपनी विद्या-लता का परिचय देना आरम्भ कर लिया है, और इसी अनुक्त के माध्यम से आज 'राष्ट्र' 'राष्ट्रवाद'—रूप में परिणत होता हुआ एक प्रकार की प्रान्तीयता का ही स्वरूप बन गया है। एव उपकोटि के बुद्धिमान् आज राष्ट्रीयता को भी एक हीनता ही मानने लग पड़े हैं। तत्स्थान में प्रतिष्ठित शब्द हैं आज- विश्वमैत्री 'विश्वबन्धुत्व' 'विश्वहित' इत्यादि शब्द। स्वागत ही करना चाहिए था हमें इन विद्यालता अनुक्तों का। किन्तु एकमात्र मानव की महाका के संरक्षण-न्यामोहन से ही हम तो इस विद्यालता का पद अस्वीत्ती तो अर्थ समन्वित नहीं कर पाये। इस 'विश्वमैत्री' का कुछ भी तो अर्थ हमारी समझ में नहीं आ रहा। इसलिए समझ में नहीं आ रहा कि दिग्देशकालानुक्तमिनी बुद्धि का तो सङ्केत हुआ है 'मानवशास्त्र' में। किन्तु वैसी समझ का दिग्देशकाल सीमा की दृष्टि से मानवशास्त्र में कहीं भी वर्णन नहीं उपलब्ध न कर सके हम आसक्त, जो 'समस्त' वह प्रमाणित करते कि- विश्व' भूतएव से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र चेतन-विकसित-पदार्थ तत्व है जिसे तथाकथित परिमाणा के अनुसार 'राष्ट्र' लक्षण राष्ट्र की उपाधि से अलङ्कृत कर लिया जाय ?। और तब तो हमारा यह स्पष्टमोहन अर्थया ही विफल हो जाना चाहिए, जबकि अब तो 'भूविश्व' की सीमा के 'चन्द्रलोक' के द्वारा कहीं अधिक बढ़ी हो जाने के अनुक्त रूप लिए जाये हैं।

५०२—भूतव्याप्तिकिमूला भ्यापकता के माधुकरापूर्व मलीमम इतिहास से अनुप्रायिता विश्वमैत्रीलक्षणा राष्ट्रीयता का स्वरूप—विस्फोटन—

सुना है—विज्ञाननिष्ठ ज्ञान में तो चन्द्रलोक के प्रवेशों का रूप-विश्व-भी आरम्भ हो गया है। बहोतक सोरन्केय का सम्बन्ध है वैज्ञानिक की बुद्धि की कितनी प्रशंसा की जाय पोगी है। क्योंकि इन से भूमात्र ही की अनुगति हुई है। किन्तु उस लोक में रहने का आकर्षण वहाँ देश प्रान्तों के रूप-विश्व का आकर्षण अब वैज्ञानिक के सम्मुख आ लडा होता है तो हम स्वप्न होकर हैं उसके उस दिग्देशकाल-न्यामोहन का वेद (सुन) कर। और देख-ता ही नहीं, अग्नि यही अर्थ है विश्वामिका राष्ट्रीयता का भी जिसमें दिग्देशकालात्मक भूविकस ही (मूलरूप ही) लक्ष्य बन रहा है। यही है उस विश्वबन्धुत्व का विश्वमैत्री का निदात लक्ष-पूर्ण मिथ्या प्रहरण जिसके गम में प्रत्येक भूखण्डाधिपति को भूखण्डाधिपति बुद्धि ही प्रदान करस्य वनी हुई है। दृष्टि के समस्त दिग्देशकालाधीत अनन्त मानव नहीं है अग्नि दिग्देश

अस्य मूलशब्द का नाम ही क्या—'राजते' सञ्चय 'राष्ट्र' है। उर्ध्वया बहु उर्ध्वया निष्पाद्य मूर्त्तिसिद्धात्मक मूर्त्तिस्य के एक प्रत्ययसम मान का नाम ही क्या 'राष्ट्र' है, जिसके रचने के लिए उद्देश्यहीन मानव आद्यजन्य मन्त्रणियों के मानवी का रक्षण कर देने का नाम ही—'राष्ट्र' के लिए बहिर्वान' मान रहे हैं एवं इसी को 'राष्ट्रसेवा'—'वैरासेवा'—'वैराहित्य' आदि अभिवाचो से सम्बन्धित करते आये हैं। क्यों मानव में ऐसा ब्यामोहन हुआ है, उल्लेख नहीं 'विग्वैराशक्तमीमांसा' ।

४६६—मानवाविर्भाव से पूर्व का विश्व, और 'राष्ट्र' शब्द के वाच्यार्थ का अन्वेषण, एवं 'मानवस्वरूप की अभिव्यक्ति से समन्वित 'राष्ट्र' शब्द के 'राष्ट्रत्व' की अन्वर्थता—

छट्टिनमोणानुपनिषदी उक्त पुरातना—अतिपुरातना—स्थिति की ओर अपना ध्यान आकर्षित कीजिए, जबकि भूभाग पर मानव नाम की सर्वभ्रष्टा विमूर्ति स्वस्वरूप से अभिव्यक्त नहीं हुई थी। क्या उस आरम्भिक दशा में वह मूर्त्तिस्य 'राष्ट्र' उपाधि से समलङ्कित था ?। अथवा जाने दीजिए उस उदाहरण को। क्योंकि वह उदाहरण आपके प्रत्यक्षदृष्ट वर्तमान दिग्देशकाल की सीमा से अतिशय दूर बन जाने के कारण सम्भव है आपके लिए प्रामाणिक न हो। यही तो मानव का वह महान् ब्यामोहन है जिस 'वर्तमान' सञ्चय ब्यामोहन के कारण ही मानव अपने त्रैकालिक महान् स्वरूप को विलसूत कर बैठा है। हाँ तो आपन के उस वर्तमान मूलरजदेश को लक्ष्योद्धारण बना लीजिए, जिसे आपने अपने जीवन में यदि देख नहीं लिया तो भी ऐसे इतिहासों के सखा समानवर्तियों के अनुग्रह से झुन कर भी विरवास तो कर ही लिया होगा कि पटना किंवा भोरपोरठमा दुर्घटना उर्ध्वया तत्पूर्या ही थी। दिग्देशकालमें भी किसी वैज्ञानिक मानव की विमल ! बुद्धि ! से आविष्कृत अस्य विश्व वरदान ('बमराष्ट्र' नहीं अस्ति 'प्रसन्नकर वन') के निःसीम अनुग्रह से पक्षीय का वह सुष्ठुय मममा उदा उदा के लिए 'निष्कृतिवेक्य' का ही लीलात्मिकावचेन बन गया। अब आप भी देखिए उस प्रान्तविशेष को दिग्—कालानुगत उसी देशविशेष को बाहर। क्या अब भी आप मूर्त्तिसिद्धात्मक मूलशब्द को ही 'राष्ट्र' कहेंगे ?। क्या मानव की अभिव्यक्ति के अस्तित्व भी 'राष्ट्र' की उर्ध्व स्वरूप-व्याख्या है ?। दीन्यर्थक 'राजू' शब्द से निष्पन्न 'राष्ट्र' के दीन्यभाव प्रकाशमान आलोकमान के अनुबन्ध से एकमात्र 'मानव' को (ऐसे मानव को, जो स्वस्वरूप से स्वमानयोचित्य विमूर्तियों से प्रदीप्त है प्रकाशित है) ही 'राष्ट्र' कहा गया है। जिस मूलशब्द में ऐसा 'राष्ट्र' रूप (आलोककर्म) मानवभ्रष्ट—'राजते' अर्थात् स्थितमान है उस मूलशब्द को ही 'मानवस्वरूप राष्ट्र' की उपाधि का सम्मान प्राप्त हुआ करता है ।

५००—'राष्ट्र'-रूप मानव के सम्बन्ध से ही भूखण्ड—विशेषों की राष्ट्रीयता 'राष्ट्र' स्व रूपव्याख्यात्मक मानव, एवं तद्ब्यापकता का समन्वय—

'राष्ट्रमानव' से ही भूखण्ड 'राष्ट्र' कहलाया है न कि भूखण्ड से मानव को 'राष्ट्र' उपाधि मिली है। निष्कर्षक मानव स्व ही 'राष्ट्र' की स्वरूप-व्याख्या है जिसे कदापि किसी भूखण्ड—भूखण्ड-देश—विशेषक मूर्त्तिसिद्ध की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। जिस जिस भूखण्ड में राष्ट्ररूप मानव उत्पन्नित है वहाँ वहाँ राष्ट्रमानव अपनी 'राजते' क्या प्रदीप्ति को बलाकृति समर्पित कर मानवी के लिए उत्पन्निक बन गया है

चण में बरों पर मुनव है कि, "अमुक दश में अमुक सम्मेलन में अमुकने अमुक की मैत्री के लिए हाथ बढ़ाया", तो उत्तर चण में ही दिग्देशकालात्मक विषयमूषों के प्रचार-प्रसार में धुरीण समाचारपत्रों में यह इतिवृत्त उद्धृत मुन लिया जाय है कि—"मैत्रीपूर्ण वात्ता के विफल हो जाने से अमुक ने अमुक दशपर गोल परसाना आरम्भ क दिया"। धन्य है यह मैत्री ! और तदपचय भी चम्प है हम की यह भङ्ग-भङ्गिमा ! (अबाम्-मैत्रीविषय)

५०५-दिग्दशकाल का प्राधान्य, एवं मानव का गौखन्व, तदनुगत एक रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का स्मरण, तथा भारतीय-सांस्कृतिक-अनुष्ठानों के आधारभूत काल की स्वरूप-परिभाषा—

तथासहित सभी दिग्दशकालनामों में दिग्देशकाल बन रह है प्रबल एवं मानव उदय बन रहा है यद्यपि एक अथवा 'नारतयत्र' के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण के प्रति आब दिग्देशात्मक यत्रवाचिनी, तथा विरवादिनी का ध्यान और आकर्षित कर लिया जाय है। दिग्देशकालातीया 'मानव-संस्कृति' के आधार पर प्रतिष्ठित होने अपनी दिग्देशकालातीया ही नायकता की 'राष्ट्रीय-संस्कृति' की उस परिमानदिमा की दिग्देशकालातीया को देय-मुन कर अणुमात्र मी आरचय्य रक्षित नहीं हो रहा कि हमारे सभी संस्कृतिक अनुष्ठान (आचार) आचोक्त-मात्रि आत्रि किरी अत्य-देश-अल से अनुप्राणित न हो कर इन मूल-भौतिक-व्यक्त-दिग्-देश-कालों से अत्यन्त अमूर्त-अर्थात्मक-अव्यक्त अतएव महोत्तरीयान् अनन्तकाल अनन्तदिग् अनन्तदेश भावों के आधार पर ही व्यवस्थित हुए हैं। बस्तुस्थिति क्योंकि अनन्तप्रापकाल से सम्बन्ध रखन वाली है अतएव धात्री वृत्त अथय है। किन्तु है अद्वैतस्थैयैय बुद्धिगम्य। क्या हम प्रत्यक्ष-दृष्ट भूत-उपनिर्णित-बन्ध सम्बन्ध-वर्ग-कालात्मक सादि-यन्त काल का अपने सांस्कृतिक-अनुष्ठानाचारों में 'काल' (समय) रहते हैं? नहीं। अतितु हमारे प्रत्येक अनुष्ठान का आधारभूत संस्कृतिक काल वह 'संस्कृतिककाल' होता है जो 'आद्यकाल' नाम से प्रसिद्ध है जिस का परिचायक-समाहक-बन्ध है अद्यभूत वह मन्वन्तरकाल जो उस प्राय अनन्तकाल का अद्यमान कला हुआ मी अत्य-व्यावहारिक-वर्षात्मक काल से तो सरथा अनाद्यनन्त की बना हुआ है त्रिमता कि अद्य-राम में ही प्रणतमात्र से संस्मरण किया जायुका है। अन्तम वैश्वत मन्वन्तरकाल आद्यकाल ही, वह अनन्तकाल ही भारतीय मानव का संस्कृतिककाल है और वही इसके अन्त प्राकृत विधि-विधानों का गात्री बन रहा है।

५०६-तत्त्वात्मक मन्वन्तरकालात्मक काल से अनुप्राणित दिग्मात्र की स्वरूप-परिभाषा—

वही अथवा यहाँ के 'दिग्मात्र' की है। अतएव हम अन्वित आचारमात्र को इन सादिसान्त अद्यमान भाषा का दिग् (दिशा) नहीं करते जो कि मूला दिग् वाचिसान्त नहीं की परिचायिका बनी रहती है। किन्तु हम उसे प्राची प्रवीची-उचीची-दक्षिणा-अर्था-अध-दिग् करते हैं या अमरा इन्तु पर्याण सोन यम अद्या अनन्त आदि अमूर्त-अनन्त-मात्रमात्रों से अमिम अनन्त पारमप्य अन्तोदेवता ही है। कालदेवता वैश्वमात्रात्मक से दिशाएँ भी हमारे लिए पुण्या हैं आराध्य हैं उपास्या हैं किन का हमारे आधारभूमों में

अलात्मक सादिसन्त विरव ही इस मैत्री का किवा फलुत्व का आभारस्तम्भ बन रहा है किवा कलपूर्वक कान्या आर्या है । इस दिग्देशकालानुष्णताने ही वो आब मानव से 'मानव' को परेष कर दिया है ।

५०३-अन्तराष्ट्रीयस्याविविमोहनमूला आब की मैत्री, तदनुप्राणित सहास्तिष्वादि भावों का आटोपपूर्ण स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी दिग्देशकालात्मक वैयक्तिक स्वार्थ—

अतएव आब स्व अमेरिका से मित्रता चाहता है वो भारत स्व की मित्रता के लिए आतुर होय आर्या है वो मुस्लिमस्तान (पाकिस्तान) अमेरिका का अजल पामे हुए है । मानव मानव की मित्रता आब सर्वत्र अनपेक्षित है । मैत्री अपेक्षित है-देश-ही देश के साथ किवा दिक् की दिक् के साथ अथवा तो काल की अजल के साथ । प्रत्येक देश अर्थात् प्रत्येक दिग्देशकाल अन्य सभी दिग्देशकालों से लाभ उठाने के लिए मित्रता की उद्देशपरम्पराओं के माध्यम से नवीन नवीन वैश्विक-कालिक-आनुष्णों (आब की माया में-उत्कृष्ट-दिक्-आमोहनों) के आकर्षणों में छलीन बनता आरहा है जैसेकि एक घाराजाना अपने इ यभूत आयोहनों से परम्पत्ति के प्रति निश्चिन्त-निश्चेष किए रहती है । कही भी तो न उपक्रम में ही तयाकथित मैत्री में फलुत्व में 'मानव का सम्भार न उपसहार में ही मानव का समावेश । एक देश वृष्ट देश से मिल कर रहता है-वैश्विक-कालिक-भूतमौलिक पदाथी के पारस्परिक आदान प्रदान का रूप-विकल्प का समन्वैत । यदि इस समन्वैते में रोधा नहीं पटता तो फिर ल-वस्तु परिग्रह के अभाव में तद्देश के मानव भले ही शरीर ही विचरितव कनों न करई कदापि किना समन्वैते अर्थात् दिग्देशकालात्मक लाभ की तात्कालिक अथवा तो मायी-आर्या के समन्वैते अन्वयन में परित्यक्त नहीं होते । ऐसी निश्चिन्ता क्यों ? उच्च बही दिग्देशकाल का आमोहन । इस आमोहन की निष्पन्नता में तो वैयक्तिक स्वार्थ-पारिवारिक स्वार्थ-समाजिक स्वार्थ-राष्ट्रीयस्वार्थ-एवं सर्वत्र का विरक्तस्वार्थ अर्थात् वैयक्तिकवि विरवान्त मैत्री इन सब का एक ही अर्थ है । और उही अर्थ का नाम है-'दिग्देशकालात्मक' अर्थात् मानवस्वरूप के समग्रजन में अरमसीमा का अंतराष्ट्रम 'अनर्थ' ।

५०४-तथाविध अनर्थात्मक स्वार्थ के पोषक व्याजघर्मात्मक आब के मानवता-अहिंसा-सत्य-दया-करुणा-नैतिकता आदि आदि वाग्भिक्षुमन्त्र, एवं तदनुगता विलक्षण भावमङ्गिमा—

इसी 'अनर्थ' की सीमा में आब की वे 'मानवता-दया-करुणा-अहिंसा-मैत्री-सहास्तिष्क-पञ्चशक्ति-सत्यभाषण-शरोपकार-स्वाग-उपस्थ-वस्त्रिदान-सयम-नैतिकता-राष्ट्रसेवा-मामसेवा-रचनात्मक कार्य-विकासयोजनाएँ— आदि आदि समस्त जरायु शब्दपोषणएँ मात्र अन्तर्गमित है जिन में सर्वत्र 'मानव' उपस्थित है, एवं दिग्देशकाल ही प्रमुख है । दिग्देशकालानुष्णों स्वार्थ की अतिअत भी हानि की सम्भावना-माय से भी वे सभी शब्द क्रमशः दानपदा-कूटा-पूया हिंसा-शत्रुता-सहविरोध पञ्चनिग्रयलोनुपवा-मिथ्याभाषण-स्वस्वार्थ-स ग्राह-विश्राम-संरक्षण-स्त्रजन-मौलिकता-राष्ट्ररोह-मामत्रोह-रचनाविध्वंस-संकोप योजनाएँ— आदि आदि निपर्व्यमानी में परित्यक्त हो बात है । पूर्व-

वर्ष में वहाँ यह सुनत है कि, "अमुक देश में अमुक सम्मेलन में अमुकने अमुक की मैत्री के लिए हाथ बढ़ाया, तो उत्तर वर्ष में ही दिग्देशकालात्मक विन्मूर्तियों के प्रचार-प्रसार में पुरीष्ण समाचारपत्रों में यह इतिवृत्त उद्धृत सुन लिया जाता है कि—“मैत्रीपूणा वार्त्ता के बिप्लव हो जाने से अमुक ने अमुक देशपर गोज वरसाना आरम्भ क दिया। धन्य है यह मैत्री! और तत्रपक्ष भी बन्म है हम को यह भङ्ग-भङ्गिमा! ! (अर्थात् मैत्रीविच्छेद)

५०५—दिग्देशकाल का प्राधान्य, एव मानव का गौखन्व, तदनुगत एक रहस्यपूष्ण दृष्टिकोष्ण का संस्मरण, तथा भारतीय-सांस्कृतिक-अनुष्ठानों क आधारभूत काल की स्वरूप-परिभाषा—

तथाकथित सभी दिग्देशकालमात्रों में दिग्देशकाल बन रहे हैं प्रबान, एवं मानव सर्वत्र बन रहा है गौष्ण एव अर्धव 'मात्तपद्म' के स्वर-व में एक मन्वन्त ही रहस्यपूर्ण दृष्टिकोष्ण के प्रति आब दिग्देशकालक यद्गुणधियों तथा विरवाधियों का ध्यान और आकर्षित कर दिया जाता है। दिग्देशकालातीव्य 'मानव-संस्कृति' क आधार पर प्रतिष्ठित हनें अपनी दिग्देशकालातीव्य ही मारखराष्ट्र की 'राष्ट्रीय-मस्कृति' की उत यरिनामाहिमा की दिग्देशकालातीव्य को देख-सुन कर अणुमात्र मी आरचर्य्य इवलिप नहीं हो रहा कि हमारे सभी संस्कृतिक अनुष्ठान (आधार) आयोवन-आणि आदि किरी ब्यक्त-देश-काल से अनुप्राणित न हो कर इन मूर्त्-मीथिक-ब्यक्त-दिक्-देश-कालों से अर्धन अमूर्त् अमीथिक-अब्यक्त अतएव महतोमहीयान् अनन्तकाल अनन्तदिक् अनन्तदेश-मायी के आधार पर ही व्यवस्थित हुए हैं। बस्तुस्थिति क्योकि अनन्त प्राणमगत से सम्बन्ध रखन बाकी है अतएव योही सूत्रम अन्वय है। किन्तु है खड्गकवेष्टैव बुद्धिगम्य। क्या हम प्रत्यक्ष दृष्ट भूत-उपवर्धित-बान्त्र सम्बन्ध-वर्ष-प्रलापक सादि-यान्त काल को अपने सांस्कृतिक-अनुष्ठानान्वायी में 'काल (समय) कहते हैं ?! नहीं। अन्ति हमारे प्रत्येक अनुष्ठान का आधारभूत संकल्पित काल वह 'संकल्पकाल' होता है जो 'आत्मकाल' नाम से प्रसिद्ध है किन्तु का परिचामक-संभाहक-बनता है तद्वरभूत वह मन्वन्तरकाल जो उत नाम अनन्तकाल अ अशमात्र बनता हुआ भी ब्यक्त-मानवहारिक-वर्षात्मक काल से जो सबथा अनाद्यनन्त की बना हुआ है किन्तु कि लक्ष्य-रम्भ में ही प्रकृतमात्र से सम्तरण किया जानुका है। सधम वैषल्यत मन्वन्तरकाल नामकाल ही वह अनन्तकाल ही भारतीय मानव क सकल्पकाल है, और यही इसके समस्त प्राकृत विधि-विधानी अ सची बन रहा है।

५०६—तत्त्वात्मक मन्वन्तरकालात्मक काल से अनुप्राणित दिग्मात्र की स्वरूप-परिभाषा—

यही अस्तव्या यहाँ के 'दिग्मात्र' की है। कदापि हम कल्पित आधारभाव को इन सादिकन्त अवस्थान मात्रों को दिक् (दिशा) नहीं करते जो कि मूर्त्ता दिक् सादिसान्त देशों की परिचामिक बनी रहती है। किन्तु हम उसे प्राची-प्रदीची-उदीची-रक्षिणा-ऊर्ध्वा-अध-दिक् करते हैं जो कर्मण इन्द्र पक्ष्य साम यम मरुता, अनन्त आदि अमूर्त्-अनन्त-मात्रमात्रों से अमिन्न अनन्त पारमेष्ठ्य इन्द्रोदेवता ही हैं। कालदेवकत वक्ष्याणात्मिक के दिशाएँ भी हमारे लिए पूष्ण हैं आराध्य हैं उपस्था हैं किन्तु का हमारे आचारधर्मों में

विस्तार से पूरुन-अनुष्ठान विहित है जो कि प्राची-प्रतीची-उदीची-आदि दिग्देख्य दशावयव विष्णु-प्रवापति, अनन्त प्रवापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपस्थापित है ।

५०७-काल, तथा दिक् सं अनुप्रासित देशभाव की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'भारतदेश' का 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का तत्त्वदृष्ट्या मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस देश को, जिस की धारि-अन्वयान ही मानव को अखण्ड-दिग्भिन्नु-अन्वये हुए आद्य देशभिन्नु बना रखा है एक इस देशभिन्नुता के माध्यम ने ही विश्वे राष्ट्रप्रेम विरचनधनुस्त्व आदि देशानुष्ठी-युक्तयन्त्रुष्ठी निदान्त-अस्वित-अ्यामोद्गीतौ अ सम्बन्ध कर वाला है । भारतीय परिभाषामें वेगसम्प्राप्त नाम (देशों के नाम) की कदापि व्यक्त-मूर्त-भू-भयों को प्रधानता नहीं देते । अस्वित सम्पूर्ण देशनाम अनन्त-अमूर्त-मात्र-मायो के माध्यम से ही समन्वित हैं, जिन देशनामों की अनन्तता का तत्त्वविश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है । केवल एक समष्ट्यात्मक नाम की अनन्तता-अमूर्तता की और ही खड्डेसमाह कर देना है, जिस के माध्यम से स्थानीयुक्ताभ्यासेन सभी नामों की अनन्तता का सम्भव्य गतार्थ बन जाया है । और यह पवित्रतम नाम है- 'भारत' जिस 'भारतदेश' का कदापि मूल्यव्यक्तक अस्ति-अन्त-मर्त्य- 'देश' भाव से स्थापित नहीं हो सक्य नहीं है । नही वह स्वयंपूर्ण विन्नु सर्वथा बुद्धिगम्य दृष्टिकोण है, जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से ही कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का तो दिग्देशावल-निर्देशन सम्भवेना उपरान्त ही जाना चाहिए । जिस मूल्यव्यक्तक भारतीय मानव आवास-निवास करते हैं क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है ? क्या इसी राष्ट्रीय का सर्वोपान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय-साहित्य-अस्ति-स्मृति-पुस्तक-शास्त्रों में ? कदापि नहीं । न ही इस मूल्यव्यक्तक का नाम 'भारतदेश' ही है न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है न यहाँ के अनन्तभावानुगत अनन्तरास्त्र में इस राष्ट्रीयता का सर्वोपान ही हुआ है ।

५०८- 'भारत' रूप दिव्य-हव्यवाद्-सम्पत्तराग्नि का धिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रीति-माध्यम से एतदेश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपि 'भारतदेश' नाम है उस प्राणाग्नि-असूर्वाग्नि-वेधाग्नि-अनन्ताग्नि का जो प्राणाग्निदेव 'भारत' नाम से प्रथित है । परिष्कृत-भोक्ति-वेद्य का नाम कदापि मात्र नहीं है । अपि 'भारत' नाम ही उस प्राणाग्नि का है जो 'महद्योमहीपन्' है । ऐस्य महद्योमहीपन् है जिसके गर्भ में न केवल यह भूस्वय विरोध ही अपि सम्पूर्ण धर्मिय ही एक बुद्धि विवना ही स्वस्व रत्न रहा है । यह वह 'भारत-अग्नि' है जो ब्रह्मवीर्यमक कया हुआ माण्डेक्यानुगत प्रकृतिक नित्य वाद्यसर्वमे 'ब्रह्मराज्य' माने गए हैं । यह वह 'ब्रह्मराज्य' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूमि के भूतों का भी वीमल-प्रदेश-देशों का भी मरण-पौरण ही रहा है, एवं इसी के अर्धवित्त प्राणमक विवान से पार्थिव वीमल्य के पृथोकीय

- सध्यां वरा भारीर्वरा वसिष्ठा वरा प्रतीचीर्वरोष्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु (यजुः सं० १६।१५) । प्राची एव मर्गा (गा० पू० ७।१५) । प्रतीची-एव मह (गो० पू० ५।५५) । उदीची-एव पशु (गा० पू० ५।१५) । वसिष्ठी सर्वम् (गा० पू० ५।१५) इत्यादि ।

अन्तर्गतिक प्राणदेवदेवता आमी (पार्थिव हृत्वि के प्रधान से, इविधधना नामक इस आधिदैविक यज्ञ से) भरण प्राप्त होता रहता है। इत्यभूत ज्ञानात्मा इस भरण-योग-धर्म से ही 'भारत', किंवा 'भरत' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। प्राणियों के लिए इहम् (धोनाहुति) बहन करने के कारण ही ये भारतानि 'हृद्यवाद्' नाम से भी प्रसिद्ध हो रहे हैं। सम्युक्त भूविषय क्योंकि इस भारतानि से ही अनुप्राणित है, अतएव सम्युक्त-भूविषय का उस भारतानि का प्रतीक होने से 'भारत' नामसे व्यवहृत किया जासकता है इस अनन्तदृष्टिकरण से। और इन समझ में, जिस दिन मानव की त्रिगुणकालानुबन्धिनी सीमित प्रथम प्रकृति के इस अनन्त रहस्य को वास्तव में समझ लेगी उस दिन सभी भूगण्डों के मानव अपने अपने सादि-शान्त-दैहिक-प्राणिक-व्यवहार-पृथिवी-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर एकमात्र 'भारत' नाम ही रख लेगें इसी अप्रामाण्य (नाम) को अन्तःकरण से प्रकृतिसिद्ध मान लेंगे तैसके इस भूगण्ड की अनन्तप्राणिना श्रुतिमान-व्यवहार न इसी त्रैलोक्यव्यापक भारतानि के नाम से अपने देशविशेषात्मक समुक्त भूगण्ड का प्रतीकविधि न नामकरण करते हुए इस-भारतदेश नाम से अन्तर्भवत सम्बन्धित कर लिया है।

१०६-त्रिगुणकालव्यवधानात्मिका 'अनार्यता', एवं सर्वव्यापकप्रदामूला 'आर्यता', तथा 'कृपवन्तो विरवमार्यम्' का तात्त्विक-समन्वय—

जिस पापन शुभ पक्षों में मानव अपने सीमित त्रिगुणकाल-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर देगा, उसी दिन त्रिगुणकालव्यवधानात्मिका इस ही अनार्यता (वैश्वरिह्य) क्षमात्र में विलीन होजायगी। और उस अनस्था में वह अपने सहस्रसिद्ध-आर्यत्व से अभिन्नक होजायगा जिस की इन भारतदेश के आर्यब्रह्म में अपने आर्यसाहित्य में-कृपवन्तो विरवमार्यम् रूपन गुरुकर्म से महत्कामना अभिन्नक की है। निरन्तर उस अनस्था में सम्युक्त भूगण्डन बन जायगा 'भारत' एव इत 'अनन्त भारतदेश' के उपायक अखिलभूगण्डन के मानवमात्र बन जायेंगे आर्य्य अर्थात् सम्पर्शानुगत अन्तर्निष्ठ मानवब्रह्म जिस इस सीमित त्रिगुणकालात्मिका किन्तु अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्त-देशानुगत-अनन्ता समदर्शनता (माहतात्मसमदर्शनता) के आधार पर व्यवस्थित संस्कारों के सिद्धि भी त्रिगुणकालानुबन्धी कर्तव्य-धर्म अर्थात् संघर्ष के कारण नहीं बन पायेंगे।

५१०-अखिल भूगण्डलानुगत 'भारत' शब्द, तत्रप्रतीकात्मक 'आर्य्यवर्षा' रूप 'भारत-खण्ड', तदनुप्राणित भारतवर्ष, तत्र प्रतिष्ठित भारतीय ब्राह्मण्य, एवं तद्द्वारा सम्युक्त विरव की आर्य्यता का संरक्षण—

त्रिगुणकालानुबन्धी-स्व-स्व-विभिन्न दैहिक-बालिक-विश्व (परस्पर विभिन्न) कर्तव्य-धर्मों में स्व-स्व-वर्तियों में प्रवृत्त सभी भूगण्डों के मानव स्व-स्व विशेषताओं को अपने अपने विशेष कर्तव्यों से सुरक्षित रखते हुए त्रिगुणकालातीत अनन्त भारतदेशानुगत-अनन्त्या समदर्शनता से निर्विशेष सम्बन्धित होते रहेंगे इसीको कहा जायगा आत्मगुणक 'साम्य' एव यही माहानुगत 'साम्यवाद' की रहस्यपूर्वा व्याख्या होगी, जिसका पृथिवीखण्ड में विस्तार से संशोधान किया जानुचा है। एव जिस अन्तर्मूलक साम्यवाद नहीं, अपितु साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित स्व-स्व-धरित की शिष्टा उस 'आशयमानव' से ही सम्युक्त विरव के मानवों के

भगिनि ! पश्य तवाय शिशुः किं करोति ! विष्टा भक्षयति । अनेनैव साक्रमस्मान् भोजयितु समीहसे, एव सर्वभगिनीना वचन ध्रुत्वा लज्जिता सा राजपुत्री सूकर- शिशु तत्याज । तदनन्तरमितस्ततो भ्रमन्त दृष्टपृष्ठाङ्ग त सूकरशिशु विलोक्य चाण्डालः स्वगृह नीत्वा चरणेषु वदध्वा वद्वी प्रक्षिप्य कुत्सित मृत्युना इतवान् । तस्मात् दुःश्रील परित्यज्य शीलमासेवनीयम् ॥ ५ ॥

ने धोड़ी दूर पर जाकर अशुचि कर दी । यह देवकर उस सूकर शिशु ने उस प्रशस्त मधुर सुस्वादु सुगन्धि पथ्य भोजन का परित्याग करके कन्या के मना करते भी शीघ्र ही दौड़कर अशुचि के पास जाकर उसका भक्षण करने लगा । सूकर शिशु को अशुचि खाते देखकर बेसमी बहिनें मजाक करती हुई अपने बहिन से योलीं कि हे बहिन ! देखो तो सही आपका यह प्यारा पुत्र क्या कर रहा है । कितने आनदसे अशुचि खाने में मग्न हो रहा है । इसी के साथ आप हम सबको भोजन करने के लिये प्रेरित करती हैं ? इस प्रकार बहिन को उन सब बहिनों ने उलाहना दिया । उलाहनेके वचन सुनकर वह उनके समक्ष अधिक लज्जित हुई और उस सूकर शिशु को घर से बाहिर निकाल दिया । घरसे बाहिर होजाने पर यह इधर उधर फिरने लगा । इतने में चाण्डाल ने इसे पकड़ लिया और घर ले जाकर चारों पैर घाँघकर जमीन पर डाल दिया और उस पर घास डालकर फिर अग्नि जलाई और

जधने अशुचि करी, आ जेध ते सूकर भक्ष्याये प्रशस्त, मधु, सुस्वादुध, सुगंधी भोजनने परित्याग करीने विधवा शब्दभक्ष्याना शोका छता न शोकाता उडपधी होडी जध अशुचि पासे पडोव्यी तेनु भक्षय करुनु शरु कथुं सूकर भक्ष्याने अशुचि भातु जेध भधी भडेने भक्षरी करता पेवी विधवा भडे नने कडेवा वागी के हे भडेन ! बुज्यो तो भरा तभारे जे भ्याशे पुत्र शु करी रहेल छे केटवा आनदधी अशुचि भावाभा भज्ज भनी गयेल छे आनी साथे तभे भज्जने भोजन करवानु कडेता इतां. आ प्रकारे पेवी भधी भडेनेजे तेने भडेलु देता भडेलानु वचन साभणीने ते जेभनी समक्ष पुष शरभाध गध अने जे सूकर भक्ष्याने धरभाधी भडार काडी भूकथु धरधी भडार धध जता ते ब्या त्या भटकवा वाज्यु जेटवाभा अडाजने हाध ते पडी गथु जेने पकडी ते पोताने बेर लध गयो अने त्या लध जध यारे पज भांधी जमीन उपर पछाडथु, अने तेना उपर घास नापीने पडी अग्नि

अमूर्तरिक प्राणदेवदेवतामात्राणी (पार्थिव हवि के प्रदान से हविःप्रदानामक इव आधिदैविक यज्ञ मे) मरण प्राण होता रहता है। इत्यभूत् तन्नाश्रयं भारताग्नि इव भरण-पोषण-धर्मसं ही 'भारत', किंवा 'भरत' नाम मे प्रसिद्ध हो रहा है। प्राणदयों के लिए इह्य (अमाहुति) वहन करने के कारण ही ये भारताग्नि 'हृदयवाद्' नाम से भी प्रसिद्ध हो रहा है। मनुष्य भूषियह स्वोकि इत्य भारताग्नि से ही अनुमाश्रित है अतएव सम्पूर्ण-भूषियह को उस भारताग्नि का प्रतीक होने से 'भारत' नामसे व्यवहृत किया जासकता है इस अनन्तदृष्टिकाल से। और हम समझते हैं जिस दिन मानव की दिग्देशकालानुबन्धिनी सीमित प्रकाश प्रकृति के इस अनन्त रहस्य को वास्तव में समझ लेगी, उस दिन सभी भूषियहों के मानव अपने अपने आदि-सान्-दैविक-प्राण-व्यवस्था-संस्थित-संस्थित-नामों के व्यामोहन का परिहारा कर एकमात्र 'भारत' नाम ही रख लेंगे, इसी आर्य अग्नि (नाम) का अन्त-करण से प्रकृतिसिद्ध मान लेंगे जैसेकि इस भूषियह की अनन्तोपागिका अग्निमान-व्यवस्था न इसी पैलास-व्यापक 'भारताग्नि' के नाम से अपने देशविशेषामक अमुक भूषियह का प्रतीकविधि से नामकरण करते हुए इस- 'भारतदेश' नाम से व्यवस्थित सम्बन्धित कर लिया है।

४ ६-दिग्देशकालव्यवधानात्मिका 'अनार्यता', एवं सर्वव्यापकब्रह्ममूला 'आप्यता', तथा 'कृषन्तो विश्वमाप्यम्' का तात्त्विक-समन्वय—

जिस पानन शुभ पक्षी में मानव अपने सीमित दिग्देशकाल-नामों के व्यामोहन का परिहारा करेगा, उसी दिन दिग्देशकालव्यवधानात्मिका इस की 'अनार्यता' (वैदिकरिक्तता) एकमात्र में निश्चीन होजायेगी। और उस अवस्था में वह अपने सहस्रसिद्ध-आप्यत्व मे अमिष्यक्त होजायेगा जिस की 'भारतदेश' के आर्यभ्रंष्ट ने अपने आर्यतादित्य में- 'कृषन्तो विश्वमाप्यम्' रूपम मुक्तकरण मे महत्त्वकामना अमिष्यक्त की है। निश्चयन उस अवस्था में सम्पूर्ण भूमण्डल का जायेगा 'भारत' एव इस 'अनन्त भारतदेश' के उपाकक अखिलभूमण्डल के मानवमानव नन जायेंगे 'आर्य' अथवा 'सर्वानुगत' अतमनिष्ठ मानवभ्रंष्ट जिस इस सीमित दिग्देशकालात्मिका किन्तु अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्त-देशानुगता-अनन्ता समर्थनता (प्राकृत्यात्मसमर्थनता) के आधार पर व्यवस्थित तत्त्वदेशों के विभिन्न भी दिग्देशकालानुबन्धी कर्तव्य-धर्म कदापि संघर्ष के कारण नहीं बन पायेंगे।

५१०-अखिल भूमण्डलानुगत 'भारत' शब्द, तत्प्रतीकात्मक 'आप्यावर्ष' रूप 'भारत-स्वरूप', तदनुप्राणित भारतवर्ष, तत्र प्रतिष्ठित भारतीय ब्राह्मण्य, एवं तद्वद्वारा सम्पूर्ण विश्व की आर्यता का मरघस—

दिग्देशकालानुबन्धी-स्व-स्व-विभिन्न दैविक-कालिक-कियम (परस्पर विभिन्न) काल्य-कर्मों में स्व-स्व-परिधियों में प्रवृत्त सभी भूषियहों के मानव स्व-स्व विशेषताओं को अपने अपने विशेष कर्तव्यों मे मुगधित रखते हुए दिग्देशकालातीत अनन्त भारतदेशानुगता-अनन्ता समर्थनता से निर्भिरोध समन्वित होते रहने वाली को बड़ा वाक्या आत्ममूलक 'साम्य' एव यही भाषानुगत 'साम्यवाद' की रहस्यपूर्ण व्याख्या होगी जिसका 'वृतीयसंस्था' में विस्तार से मरोगान क्रिया जानुका है। एव जिस आत्ममूलक साम्यवाद नहीं, अपितु 'साम्य' के आधार पर प्रतिष्ठित स्व-स्व-वैभिन्न की शिक्षा उस 'ब्राह्मण्यमानव' से ही सम्पूर्ण विश्व के मानवों के

विस्तार से पूजन-अनुष्ठान विहित है जो कि प्राची-मतीची-उदीची-आदि दिग्देवता दयावन्त विष्णु-प्रभापति, अनन्त प्रभापति श्री अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपस्थित हैं ० ।

५०७-कास, तथा दिक् स अनुप्राणित देशराश की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'भारतदेश' क 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का तत्त्वदृष्टया मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की व्यदि-सन्तताने ही मानव को अस्तमित-दिग्भिन्नु-कनाते हुए आब देशभिन्नु बना रक्खा है एव इस देशभिन्नुता के माध्यम न ही बिना राष्ट्रमेव विश्वबन्धुत्व आदि देशानुबन्धी-भूराज्यबन्धुत्व नीचान्त-कस्यत-स्यामोहीनी का सम्बन्ध कर डाला है । भारतीय परिभाषामें देशस्यार्थक नाम (देशों के नाम) भी क्यापि व्यक्त-पूर्व-भूत-मात्रों की प्रधानता नहीं देखे । अस्तित्व सम्पूर्ण देशनाम अनन्त-अमूर्त-प्राण-मात्रों के माध्यम से ही समन्वित हैं, जिन देशानामों की अनन्तता का तत्त्वविकल्पण यहाँ सम्भव नहीं है । केवल एक सम्बन्धमक नाम की अनन्तता-अमूर्तता की ओर ही सङ्केतनाम कर देना है जिस के माध्यम से स्वास्तीपुलाकन्यायेन सभी नामों की अनन्तता का समन्वय गठार्थ बन जाता है । और वह पवित्रतम नाम है—'भारत', जिस 'भारतदेश' का क्यापि भूराज्यमक व्यदि-कन्त-मर्त्य-देश' भाव से व्यक्तिक्रि' भी तो सम्भव नहीं है । यही वह रहस्यपूर्ण विन्दु सर्वथा बुद्धियन्म दृष्टिकोण है जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से भी कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का जो दिग्देशकाल-सिमीहन सर्वमाना उपस्थान हो ही जाना चाहिए । जिस मूलरूपपर भारतीय मानव आवास-निवास-करते हैं क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है ? क्या इसी राष्ट्रीयता का बयोमान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय-साहित्य-अधि-सृष्टि-पुरण-शास्त्रों में ? । क्यापि नहीं । न तो इस मूलराज्यविशेष का नाम 'भारतदेश' ही है न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है न यहाँ के अनन्तभावानुगत अनन्तरास्त्र में इस राष्ट्रीयता का बयोमान ही हुआ है ।

५०८-'भारत' रूप दिव्य-हृष्यवाट्-सम्बत्सराग्नि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक-माध्यम से एतदेश की साक्ष्यिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अस्तित्व 'भारतदेश' नाम है उस प्राणानि-अमूर्तानि-वैश्वानि-अनन्तानि का जो प्राणानिवेष 'भारत' नाम से प्रथित हैं । परिदृष्टि-भौतिक-देश का नाम क्यापि भारत नहीं है । अस्तित्व 'भारत' नाम जो उस प्राणानि का है जो 'महतीमहीमान्' है । ऐश्व महतीमहीमान् है जिसके गर्भ में न केवल यह मूलराज्य विशेष ही अस्तित्व सम्पूर्ण भूविषय भी एक बुद्धि-चित्तना ही स्वरूप रख रहा है । यह वह 'भारत-अग्नि' है जो ब्रह्मवीर्यमक बनता हुआ प्राणदेवतानुगत मरुतिविश्व निरल वाद्यसर्वमें 'ब्रह्मवाच्य' माने गए हैं । यह वह 'ब्रह्मवाग्नि' किंवा 'ब्रह्मअग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूविषय के भूतों का भी सीमित-प्रदेश-देशों का भी मरण-पोषण हो रहा है एव इसी के ऊर्ध्वविलत प्राणमक चित्तन से पार्थिव वैश्वानि के सुलोकानि

- ० तेज्यो बरा प्राचीर्वरा बहिया बरा प्रतीचीर्वराः । तेज्यो नमो अस्तु (अशुः सं० १९।६५) । प्राची एव सर्गः (गो० पू० ५।१५) । प्रतीची-एव महः (गो० पू० ५।४५) । उदीची-एव यश (गो० पू० ५।१५) । बहियौव सर्गम् (गो० पू० ५।१५) इत्यादि ।

व्याप्तनरिक्त प्राण्यदेशदेवताओं का भी (पार्ष्विण्य हवि के प्रदान से, हविःप्रदानानामक इव आभितैविक यज्ञ मे) मरण प्राण्य होता रहता है। इयंभूत आदरात् भारताग्नि इव भरण-पोषण-धर्मं स ही 'भारत', किंवा 'भरत' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। प्राण्यदियों के लिए इम्य (शामान्युक्ति) महान् करने के कारण ही ये भारताग्नि 'हृदयवाद्' नाम से भी प्रसिद्ध हो रहा है। सम्पूर्ण भूविषय क्योंकि इन भारताग्नि से ही अनुप्राणित है अतएव सम्पूर्ण-भूविषय का उस भारताग्नि का प्रतीक हान से 'भारत' नामसे व्यपहृत किंवा आचरता है इस अनन्तदृष्टिकाय से। अतः हम समझते हैं जिस दिन मानव की दिग्देशकालानुबन्धिनी सीमित प्रज्ञा प्रकृति के इस अनन्त एतस्य को वास्तव में समझ लेगी, उस दिन सभी भूविषयों के मानव अपने अपने सादि-सान्त-देशिक-प्रान्तीय-वस्ति-राष्ट्रीय-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर एकमात्र 'भारत' नाम ही रख लेंगे, इसी आर्ष-अभिधा (नाम) का अन्त-करण से प्रकृतिसिद्ध मान लेंगे तैरेकि इव भूविषय की अनन्तप्राणिना श्रुतिमान-वप्राज्ञान इसी प्रैलाङ्गम्यापक 'भारताग्नि' के नाम से अपने देशविशेषात्मक अमुक भूविषय का प्रतीकविधि से नामकरण करते हुए इसे—'भारतदेश' नाम से व्यपस्थित सम्न्वित कर लिया है।

५ ८-दिग्देशकालव्यवधानात्मिका 'अनार्यता', एवं सर्वव्यापकब्रह्ममूला 'आर्यता', तथा 'कुषधन्तो विश्वमार्यम्' का तात्त्विक-समन्वय—

जिस पान्न शुभ पद्धि में मानव अपने सीमित दिग्देशकाल-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर लेगा, उसी दिन दिग्देशकालव्यवधानात्मिका इव की 'अनार्यता' (वैश्वरिक्त्या) धम्ममात्र में निष्पत्ती होनायगी। और उस अवस्था में वह अपने सहजसिद्ध—'आर्यत्व' से अभिन्न्यक्त होनायगा जिस की हम भारतदेश के आर्यधर्म ने अपने आर्यताहित्य में—कुषधन्तो विश्वमार्यम्' रूपमे मुक्तकण्ठ मे महत्प्रशंसा का अभिव्यक्त की है। निरन्तर उस अवस्था में सम्पूर्ण भूविषय बन जायगा 'भारत' एव इस अनन्त भारतदेश' के अपासक अस्मिन्भूविषय के मानवमात्र वन आर्यत्व, अतएव समदर्शनानुगत साम्यनिष्ठ मानवधर्म जिस इस सीमित दिग्देशकालात्मिका किन्तु अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्त-देशानुगत-अनन्ता समदर्शनता (प्राकृत्यात्मसमदर्शनता) के आधार पर व्यवस्थित तत्त्वदेशों के विभिन्न भी दिग्देशकालानुबन्धी कर्तव्य-धर्म अथवा संघर्ष के कारण नहीं बन पाएँगे।

५ १०-अखिल भूविषयानुगत 'भारत' शब्द, तत्प्रतीकात्मक 'आर्यत्व' रूप 'भारत-राज्य', तदनुप्राणित भारतवर्ष, तत्र प्रतिष्ठित भारतीय शासक, एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण विश्व की आर्यता का संरक्षण—

दिग्देशकालानुबन्धी-स्व-स्व-विभिन्न देशिक-अस्मिक-विषय (परस्पर विभिन्न) कृतव्य-धर्मों में स्व-स्व-वर्तियों में प्रवृत्त सभी भूविषयों के मानव स्व-स्व विशेषताओं को अपने अपने विशेष कर्तव्यों से सुरक्षित रखते हुए दिग्देशकालात्मिक अनन्त भारतदेशानुगत-अनन्ता समदर्शनता से निर्भिन्न सम्न्वित होते रहने इसीको कहा जायगा आत्ममूलक 'साम्य' एव यही भारतानुगत 'साम्यवाद' की रहस्यपूर्ण व्याख्या होगी जिसका 'पृथिव्यस्य' में किन्तार से यथोक्त किन्ना जाना है। एव जिस आत्ममूलक साम्यवाद नहीं, अपितु 'साम्य' के आधार पर प्रतिष्ठित स्व-स्व-वर्तित की शिवा उस 'व्यवस्थामानव' से ही सम्पूर्ण विश्व के मानवों के

विस्तार से पूजन-अनुष्ठान विहित है, जो कि प्राची-प्रतीची-उदीची-आदि दिग्देवता दशास्यम विष्ट
प्रजापति, अनन्त प्रजापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपस्थापित हैं • ।

५०७-काल, तथा दिक स अनुप्राणित देशभाव की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'भारतदेश'
के 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का तत्त्वदृष्टया मूलोच्छेद—

अप लक्ष्य बनाएष उव 'देग' को, बिस की यादि-सान्त्वाने ही मानव को अक्षयिभूट-दिग्भिभूट-
बनावे हुए आब देशभिभूट बना रस्ता है एव इव देशभिभूटता के माध्यम ने ही बिस्में राष्ट्रप्रेम
विरचयन्मुत्सव आदि देशानुबन्धी-भूखबहानुबन्धी निवन्त-कल्पित-म्यामोहेनी का सम्बन्ध कर इस्ता है ।
माखीय परिभाषामें देगव्याहक नाम (देशों के नाम) भी कदापि व्यक्त-मूर्त-भूत-मात्रों का प्रभानव्य नहीं
देखे । अपिष्ट सम्पूर्ण देशनाम अनन्त-समूत-प्राथ-मात्रों के माध्यम से ही समन्वित हैं अिन देशनामों की
अनन्तता का उल्लेखकेपण यही सम्भव नहीं है । केवल एक समन्वयप्रमक नाम की अनन्तता-समूर्तता की
धीर ही वझेतमात्र कर दना है बिस के माध्यम से एषास्त्रीपुलाक्यायेन सभी नामों की अनन्तता का समन्वय
गठार्थ बन जाता है । और वह पवित्रतम नाम है-'भारत' बिस 'भारतदेश' का कदापि मूलव्यक्तक यापि-
अन्त-मूर्त-'देश' भाव से काफिक्रिप् मी तो सम्भव नहीं है । यही वह रहस्यपूर्ण विन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य
दृष्टिकोण है बिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से मी कम से कम माखीय उद्गमानव का वो दिग्देशवास-
विमोहन सार्वभानु उपरान्त हो ही जाना चाहिए । बिस मूलव्यक्तक माखीय मानव आवास-निवास-करो है,
क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है ? क्या इसी उद्गीम्या का यथोमान हुआ है माखीयों के
उद्गीम्य-साहित्य-कवि-स्मृति-पुराण-शास्त्रों में ? कदापि नहीं । न तो इस मूलव्यक्तकिये का नाम 'माखदेश'
ही है न इसका नाम 'माखराष्ट्र' ही है न यहाँ के अनन्तमाखानुगत अनन्तशास्त्र में इस उद्गीम्यता का
यथोमान ही हुआ है ।

५०८-'भारत' रूप दिव्य-इष्यवाट्-सम्प्रसरामि का धिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक-
माध्यम से एतदेश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपिष्ट 'माखदेश' नाम है उव प्राणाग्नि-अमूर्ताग्नि-देवाग्नि-अनन्ताग्नि का वो प्राणामिवेव
'भारत' नाम से प्रविष्ट है । परिक्रिप्त-सीतिव-देश का नाम कदापि माख नहीं है । अपिष्ट 'माख' नाम तो
उव प्राणामि का है जो 'महोमहीयान्' है । ऐस्य महोमहीयान् है बिसके गर्म में न केवल यह भूखब
विशेष ही अपिष्ट सम्पूर्ण भूमिबह मी एक बुदुत्त विठना ही स्वल्प एत रहा है । यह वह 'भारत-अग्नि' है
जो ब्रह्मवीर्यमक बनाठा हुआ प्राणदेवतानुगत प्रकृतिस्थित निव्य कालवर्षमें 'ब्राह्मणव्यस्य' माने गए हैं ।
यह वह 'ब्राह्मणाग्नि' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है बिस से सम्पूर्ण भूमिबह के भूतों का मी, सीमित-प्रदेश-देशों
का मी भरख-योग्य हो रहा है एवं इसी के ऊर्ध्वविठत प्राणधमक विठान से पार्थिव प्रीतीत्य के पुञ्जोनीव

- तन्व्यो बरा प्राचीदेशा इक्षिणा देश प्रतीचीर्षयोष्याः । तन्व्यो नमो अस्तु (यजुः सं०
१६।६५) । प्राची एव सर्गः (गो० पू० ५।१५) । प्रतीची-एव मह (गो० पू० ५।४५) ।
उदीची-एव यश (गा० पू० ५।१५) । इक्षिण्योव सर्गम् (गा० पू० ५।१५) इत्यादि ।

अथर्व ही अभिव्यक्त की है। सम्पूर्ण मानवों के लिए इस दश की श्रुतिप्रज्ञान, जो विभिन्नप्रकृतिक मनी विभिन्न मानवों का अभिविन्न-सामान्य-आत्मधर्म माना गया है-। और यही-‘कृष्यन्तो विश्वनाप्यम्’ का स्वरूप है। व्यापक है आत्म्यय, एवं सीमारूपेण व्यवस्थित है वर्णाभ्रमधर्म। अनन्तब्रह्मानुगत है आर्य्यत्न एवं अदि-शान्ता प्रकृति से सम्बन्धित है वर्णाभ्रमधर्म। आत्म्यत्व व्यापकधर्म है, सामान्य धर्म है, जबकि वर्णाभ्रमाचार केवल इस विश्व दश भारत के मानव से ही अनुप्राणित है। षडशान्त्र का अनन्तात्ममूलक आत्म्यत्व ही सम्पूर्ण विश्व से अनुप्राणित माना गया है, जिसका भी प्रचार कदापि अभीष्ट नहीं है। केवल वर्णाभ्रमिति का विरक्षण ही अभीष्ट है, और यही ‘कृष्यन्ता विश्वनाप्यम्’ का अन्वय है।

५१२-मानवमात्र की प्रकृतिमिद्धा ‘आर्य्यता’, एवं दिग्वेशकालव्याप्याह्न से ‘अनार्य्यता’ का उद्गम, और एतद्देशीय मानवों की भी सम्भाविता ‘अनाप्यता’, तथा अयदेशीय मानवों की भी सम्भाविता-‘आप्यता’-

आर्य्य किसी का नयनरूप से बनाया नहीं जाता। अपितु मानवमात्र मूलतः सहजरूपेणैव आर्य्य ही है। अनन्तात्ममात्र ही तो ‘यत्न’ रूप मानव का वह स्वरूप है। दिग्वेशकाल के निमाह्न से वह मानव अपनी इस आत्मानुगत आर्य्यता को अभिभूत कर होता है, तो यही मानव अपने इस प्राकृतिक ध्यमीह्न से ‘अनाप्य’ बन जाता है। कदापि आर्य्यता-अनाप्यता-मूलक-विशेषां म सीमित नहीं है। भारतवर्ष वर्यो क मानवभेद भी आर्य्यभेद होसकते हैं, तो भारतवर्ष क मानव भी अनाप्य बन सकत है, और बन गए हैं आज।

५१३-प्रकृत्यनुगत सीमित वर्णाधर्म, तथा प्रकृत्यनीता असीमा आर्य्यता, एवं भारतीय मानव की उभयसम्पत्ति का वर्णमान युग म आत्यन्तिक-अभिभव-

भारतीय ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-नामक सभी मानवों की आत्मानुगत आत्ममात्रमूला ‘आर्य्यता’ भी आज अभिभूत है। साथ साथ ही स्वधर्माभिन्नता यथात् भी अभिभूत है। न तो प्रकृतिनिष्पन्न विशेष धर्मात्मक ‘वर्णाभ्रमधर्म’ ही आज मुखियत है यहाँ के वर्णमानवों का एव न प्रकृत्यनीत आत्मानुगत ‘आर्य्यधर्म’ ही व्यवस्थित है। जबकि आर्य्यत्वमूलक कतिपय सामान्यधर्मों में तो आज भारतवर्ष कतिपय देशों क मानवभेद ही कहीं अधिक अग्रणी माने जायेंगे। जिन के समतुलन में आज के भारतीय मानव को यदि ‘अनाप्य’ कह दिया जायगा तो भी असुविधा न होगी। विश्वानुभवनी आर्य्यता न रही उन में। किन्तु स्वयन्तुगत ‘आर्य्यता’ तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी उन की। जबकि यहाँ यज्ञानुभवनी आर्य्यता भी आज प्रकृत्य है। भारतीय मानव का वैश्वकिक सुदस्वार्थ आज अपनी इस यज्ञीया आर्य्यता से भी पराङ्मुख हो

— अविमक्त च भूतेषु विमक्तमिब च स्थितम् ।

भूतभर्त् च तज्ज्ञेय प्रसिष्यु प्रमधिष्यु च ॥

—गीता

सदा से ही मिलती रही है, जिसकी दृष्टि में 'भारत' अनन्त है, मात्रात्मक है, केवल भूखण्डविरोध ही नहीं *। जिस इस प्रतीकभूत भरतस्यस्य किंवा भारतस्यस्य (सम्पूर्ण भूखण्डस्य अनन्त भारतदेश का एक प्रतीक) मङ्ग सुप्रसिद्ध 'भारतवर्ष' नामक देश) में अभिव्यक्त होने वाले अनन्तभारतदेश के द्वारा भारतीय मानवने अपने अनन्त 'भारताग्निशास्त्र' अपौरुषय ब्रह्माग्निमूलक वेदशास्त्र के आधार पर सदा इतर भूखण्डों के मानवों को उन उन के चरित्र-कर्तव्यों को सुस्पष्टीकृत करने हुए ही उनके लिए 'आर्य्यस्व' की महत्त्वप्रदाना की है। क्यापि इन्ने अपने भारतस्यस्य के विरोध परिश्रमपूर्ण उस वर्णाश्रमधर्मरूप 'स्वधर्म' के प्रति दूसरे भूखण्डों के विभिन्नप्रकृतिक-मानवों के लिए आग्रह-दुःख सह्य किंवा ही नहीं जैसे कि अनन्तता के इस व्यापक तथ्य से अपने आप को पूर्य्य करने वाले अन्य भूखण्डों के प्राकृत मानव अपने अपने विशेष कर्तव्यों को ही सर्वभेद प्रमापित करते हुए उहीं का सर्वत्र-प्रचार-करने का प्रयास करते रहते हैं। और निरश्चयेन इसी अस्मन्-विशेषप्रकृति विरुद्ध-प्रयासे मानव को उस संघर्ष पर ला लड़ा किया है जिससे अनन्तपुरुषमूला (अभ्ययब्रह्ममूला) 'मानवता' तथा अनन्तप्रकृतिविशेष 'आर्य्यस्व' आन सर्वथा ही अन्त मूल बनती बारी है।

५११-स्वधर्मात्मक औलस्यार्ण-विशेषधर्म का भावुकतापूर्णा विश्वप्रचार-ध्या मोहन, तत्त्व्यामोहन से भारतीय आर्यधर्म की अन्तर्मुखता, एव विशेषधर्म तथा आर्य्यस्व के पार्य्यक्य का तात्त्विक-समन्वय—

सर्वभयानुसार-कमी इस भारतदेश न प्रकृतिविशेष स्वधर्मात्मक अपने वर्णाश्रमधर्म के 'विश्व प्रचार' का आमोहन किंवा ही नहीं, बल्कि आज आन्तिका उन्ना जाने लगा है परन्तुकरण के माध्यम से। 'वेदधर्म का इस सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करवेंगे वर्धधर्म से ही सम्पूर्ण विश्व सुखी-शान्त हो सकेगा' इत्यादिसूत्र गतानुसक्ति-अन्वयानुकरण के अनुग्रह से इसप्रकार धर्मात्मक-कृत्य प्राकृतिक-कर्तव्य के प्रचार प्रसार के लिए आग्रह भारतीय आन के अतिनव वेदधर्मात्मक यह किस्मृत कर देते हैं कि, क्यापि यह भारतीय दृष्टिकोण नहीं है। क्यापि यहाँ 'धर्म' प्रचार की वस्तु रहा ही नहीं। और क्यापि इस का प्रकृतिनिबन्धन स्वधर्मात्मक यह 'वर्णाश्रमधर्म' (वर्णानुगत कर्तव्यधर्म) भारतीय विरुद्ध भूखण्डों के प्रति आकर्षित हुआ ही नहीं। यही नहीं, स्वयं यहाँ भी परस्पर व्यतिक्रम रहन नहीं किया इस वर्णधर्म का भारतीय मानवों के केवल अवधारणकों के अतिरिक्त X। हाँ उक्त 'आर्य्यस्व' की महत्त्वप्रदाना

* एतद्देशप्रसूतस्य सफाशाब्दप्रजननः ।

स्व स्वं चरित्रं शिषेरन् पृथिव्यां सर्षमानवाः ॥

—रुतः

X-धम्मव्यतिक्रमो दृष्टः, ईश्वराणां च साहसम् ।

तेजियसां न दोषाय बह्वे सपद्यो यथा ॥

—भीमवृत्तभाष्यतः

५१६-अखण्ड भारत अग्नि से समन्वित भारतदेश की अखण्डता, एवं प्रयी मूलक भारत अग्नि के विध्वंस से अखण्डता भी खण्ड-खण्डरूप में परिणति —

यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, अन्तर्गत भारतीय मानव अपने इस अनन्तप्राणरूप-‘भरताग्नि’ का उदनुप्राणित प्राणमन्त्ररूप ‘प्रयीशास्त्र’ का, ऊमूला अनन्तारमसंरक्षति’ का निष्ठापूर्वक अनुगामी बना रहा तब तक इच्छा यह क्षीणित अखण्ड संपूर्ण भूजोका का समाहक कता हुआ संपूर्ण विश्व को अपनी ‘भारत’ उपाधि से ‘अखण्डभारतस्य’ से अनुप्राणित करता रहा। जिस दिन सं इसने अपनी इस ‘भारतप्राणमन्त्रिका’ (‘भारताग्निरूपा’) प्राणप्रतिष्ठा को विस्मृत कर लिया उही दिन से इसरी यह अखण्डता लयक-लयक-रूप में ही परिणत होने लग पड़ी जिस लयकता का अपक्षन अन्तःसोमत्वा कहा होगा, इस प्रश्न का उत्तर तो व अखण्डभारत प्राणी आब के राष्ट्रपती ही सम्भक्त मलीमांति कर सकेंगे जिन की दृष्टि में न भारतीय संस्कृति का कोड महत्त्व, न संस्कृति-आचार का ही कोड स्वरूप एवं नापि संस्कृति-आयोधनी की सम्भंगा का ही सम्भरण ?। अर्थात् जिन की संस्कृति-आयोधन-भक्ति का एकमात्र आधारकिन्तु क्त हुए हैं-आब के व कर्मगत आयोधन जिन के दुःखपूर्व इतिहास के सिध ही हमें एक स्वतन्त्र निष्क उपनिबन्ध का दना पड़ा है।

५१७-वर्तमान राष्ट्रवादी की कल्पिता अखण्डता का नग्नचित्रण, तदनुषंगी प्रान्तीयता-ध्यामाह्वन, तद्दुष्परिणाम और भारत का सम्भाषित मीषण अविष्य-

पुनश्च वे ही अपनी इस कल्पित अखण्डता का समाधान करसकेंगे जिन की दृष्टि में राष्ट्र के द्वारा प्रान्त, तद्द्वारा प्राम उद्धार परिवार, और सर्वान्त में ‘व्यक्ति’ ही ‘अखण्डभारत’ की मौलिक परिमाणा बन गई है। इसी दिग्देशकतासम्भान से जमी तो महाराष्ट्र-पञ्जाब आदि कर्तव्य प्रान्त ही अपने प्राणको ‘अखण्ड भारत’ मानने-मनवान के लिए आनुर हो रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कालान्तर में प्रत्येक भारतीय मानव अपने अपने घर को ही ‘अखण्डभारत’ कह देना आरम्भ करे। संस्कृति-मलनिष्ठाओं के प्रारम्भिक स्वजन के उस ही तो दुष्परिणाम हुआ करते हैं। भाषादेशमूला-परदर्शनानुगता-अन्तर्यद्रीय-व्याप्तिमा मोहनमला-दिग्देशकतासम्भानिता मातृकता के द्वारा ही पढ़ने वाली लयकता (विभाजन) कदापि आब की इन अनेक-लयक-लयक-मातृकप्रवृत्तियों का उदत्क निष्कर्ष-निरोध कर ही नहीं सकती बल्कि अखण्ड भारत की मौलिक अखण्डता के आचारमत्त ‘महान् भारत अग्निदेश’ की मूलसंस्कृतिनिष्ठा को इन मातृकीयों की आचारमति नहीं बना दिया जायगा। आब स तीन छह वर्ष के आरम्भ में दिग्देशकतासम्भानिमोहनमला उत्पत्तिकी क्या-क्या आह्वाने का संस्कृतिनिष्ठता जिस ‘शुश्रूषण’ का आविर्भाव कर डाला था इसी देश के एक मातृक मानव ने उही के द्वारा भारतीय-संस्कृतिनिष्ठात्मिका ऐक्यमनिष्ठा अन्तर्मु स्व बन गई। और तभी से अखण्डभारत आत्मसाम्यियों के द्वारा लयक-लयक-रूपेण तदुदरी में पिलीन होता गया। जही कल्पित अहिंसावाद के व्यामोहनने उही संस्कृतिनिष्ठा दिग्देशकतासम्भानि ने अन्तःसोमत्वा तो वैसी अखण्डता का कर्तव्य का ही हो जाता जिसका प्राणविषय भी आब भारतीय मानव के लिए अस्मत्त्व कताय चारहा है।

उक्त है। नामधेयता अथर्व है राष्ट्रप्रेम की। किन्तु मानकानुसन्ध से राष्ट्र के प्रति व्यक्तिगत भी निष्ठा नहीं है आब भारतीय व्यक्तिमानव की। राष्ट्र-समाज-आदि राज्य आब केवल वहाँ कृतपूर्ण ही प्रमाणित हो रहे हैं। आब ही नहीं, आब से तीन खस कर्त्तव्य से अथावधि-पर्यन्त।

५१४-वर्षाघयाव्यवस्थाओं, आर्या-अनार्या भार्यों के व्यतिक्रम के तापिक कथरण का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ऐसा क्यों? उत्तर वही दिग्देशकाल का विमोहन। अपने अपने देश प्रदेश-पर-परिवार-की सीमाओं में अपना अपना काम उठाने के महान् ब्यामोहन ही आब उक्त भारतीय मानव को 'राष्ट्रीयता' से परवृत्त ही कर दिया है जिस की राष्ट्रीयता तीन सहस्रकर्म पूर्व के नैष्ठिक युगों में विस्मानुगत ही बनी हुई थी। प्रकृत में इस आर्यत्व-अनार्यता के प्रसङ्ग से यही निवेदन कर देना था कि, आर्यत्व व्यापकधर्म है ब्राह्मणात्वादि व्यापकधर्म है। ब्राह्मण्य 'अनार्य' कहला सकता है, जबकि इतर दशक मानव भी 'आर्य' कहला सकता है। कहला रहा है आब के अनार्य-ब्राह्मण्य के समग्रलन में। किन्तु इतर-देशीय 'आर्य' कदापि ब्राह्मण नहीं कहला सकता। क्योंकि ब्राह्मण राज्य वर्णाधमानुगत विशेषधर्म का ही स्मारक है जिसका एतद्देशीय विशेषधर्म के साथ ही समन्वय हुआ है जिस इस दुरधिगम्य प्रकृतिसंज्ञा ('नत्वाकृतिमूला') वर्ण विशेष्य का समन्वय मानव तमी कर सकेगा जबकि वह अपने दिग्देशकाल से थोड़ा ऊपर उठ जायगा। तमी वह वह समझ सकेगा कि एक भारतीय ब्राह्मण्य 'आर्य' ही हो सकता है, किन्तु इतर देशीय आर्य भी मानव कदापि ब्राह्मण नहीं बन सकेगा। एवमेव अग्नि-वैश्व-राष्ट्र-अथर्वण्यदि सभी विभाग इती व्यापक-व्यापक-मावाशुक्ल से सुम्पवस्थित बने हुए हैं प्राकृतिक प्रायःकाल-प्राचीनकाल-एवं मृतकाल में। केवल मानवने ही इन प्रकृतिसंज्ञा वर्णावर्ण्यकरणाओं का व्यतिक्रम कर लिया है दिग्देशकालध्यामीहनों से।

५१५-भारतदेश के मूल अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) त्रैलोक्य-व्यापक दिव्य 'भारत' नामक अग्निदेव का संस्मरण—

हैं तो इस देश मातृ के इस 'भारत' नाम की आचार्यभूमिस्वयं वह सीमित देशविशेष कदापि नहीं है। अपितु अनन्तप्रमाणमूर्ति-अमूर्त 'भारत-अग्नि' ही इस देश की 'भारत' अमिथा का एकमात्र कथरण है। ही अस्तित्व भरत की ही अस्तित्व और ही अनेक शासकों को भरतसत्त्वम्! भरतपम! भारत! आदि आदि क्लेश 'भारत' अमिथा के कथरण माना जासक्य है। किन्तु यह मान्यता केवल यशोऽनुभविनी ही माननी जायगी, जबकि आस्था का सम्बन्ध ही 'भारतअग्नि' के से ही माना जायगा। और यही इस देश के नाम अथर्व का अतिरन्त इतिहास माना जायगा जो कि निम्नलिखित मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों से सर्वप्रथम अमिथ्यक हुआ है—

'अग्ने! महीं २॥ ऽ अग्नि ब्राह्मण भारत' इति। (निगदमन्त्रः)। (अथ मन्त्रव्याख्या) ब्रह्म अग्निः, तस्मादाह- 'ब्राह्मण्य' इति। स हि देवैर्म्यो इव्यं भरति, तस्मात्- 'भरतो' 'ऽग्नि' रित्याहुः। एष उ वा ऽ इमाः प्रजा प्राप्सो भूष्वा विमत्ति, तस्माद्वाह- 'भारते' ति। (रात० ब्रा १।४।२५)।—की० ब्रा० ३।२५ (वे० ब्रा० ३।४।३।१)।

प्राणों के दिग्-देश काल-श्री मीमांसा में मवात्मना सुप्त पड़ते हैं। इस महान् मशीरथप्रयास का नाम ही है 'आज की भांग में विशोधन' और इसी का नाम है 'पुरातत्त्वानुसंधान'। सोमाम्य ही माना जायगा यह इन पुरातत्त्वविदों का कि, आज का सत्तातन्त्र भी न केवल इस कार्य में अभिरुचि ही ले रहा है, अपितु इन सब पण्डितों के रक्षण के लिए, मगर्म में निकले हुए उन टूट फूट भूत-मौतिल-परिमर्ही की ध्वस्तथा के लिए मृत्तहस्तता का भी परिचय प्रदान कर रहा है। एवं अब भी कहीं बाहिर से कोई सम्मान्य अतिथि आते हैं तो समाप्रमुख व्यक्ति अथर्वय ही इन अपन विभविमाया के दर्शन करा देने में अपन प्राणको गौरवान्वित ही मानते रहते हैं।

५२०-वर्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा भूत-भविष्यदनुगत 'पुरातन' का प्रथम विरोध, तस्यान में 'नवीनता' का उद्घोष, एवं तदपि महान् ध्यामोहनान्त्मक ज्ञानाव शेषों के साथ सत्तातन्त्र का समालिङ्गन—

स्मरण रहे यह यही सत्तातन्त्र है जो अपनी प्रत्येक नैतिक-व्यथा में पुरान-मङ्गे-गले-समी पण्डितों के मुक्तकण्ठ से विरोध करता रहता है। 'पुराना सब सड़-गला-खुक है। अतएव आज इसी युग के अनुपाल से सब कुछ नया ही बनाना चाहिये' यही आज का यह महान् उद्देश्य है, जो सत्तातन्त्र का तथा तदनुसंधानों जनकत्वं का दर्शन का ही मूल-आदर्शरूप बना हुआ है। और स्पष्ट ही हम मूलसूत्र के द्वारा एकाग्रता उस प्रायः भारतीय सांस्कृतिक-बोया मङ्क-गण्डराद्य की ओर ही संकट हो रहा है, जिस शास्त्र के नामभ्रमण से भी आज का सत्तातन्त्र उद्विग्न हो पड़ता है। कहीं, कभी भूल में भी 'पुरातनसाहित्य' के आधार पर किसी के मुन्स कुछ निकल जाता है तो तत्काल हमारे कार्यभार अभिरुच-वायुरच हो पड़ते हैं। 'अर फिर न ही पुरानी बात। जमाना बदल गया। सब कुछ बदल गया। और तुम वही पुराणपन्थी बन हुए हो। दि'। दि'। तभी तुम प्रगति नहीं कर सक। पुराना सबकुछ भूल जाओ। पहिल तो हम यही नहीं मानते कि उन असभ्य युगों में कुछ 'अच्छा' भी था। यदि कुछ होगा भी तो उस जमाने के लिए होगा। आज तो ...इत्यादि-इत्यादि'।

५२१ दिव्यदृष्टि से समन्वित महामानवों की बौद्धिक मनातन कृतियों का जीर्ण-शीर्ष स्व-प्रतिपादन, तथा दिग्दशकालानुबन्धी भौतिक-ज्वालाशेषों का सांस्कृतिक प्रतिपादन, एवं भारत का आत्यन्तिक सांस्कृतिक-अध पतन—

तत्पर्य क्या निकला ?। तत्पर्य निकला यही कि, पुरातन मानवों की प्राणारिभक्त 'बुद्धि' से चिरन्तन अस्वभाविक के द्वारा विनिश्चित शब्दशास्त्र तो है-सर्वा सङ्ग-गला अतएव निदान अनुपयुक्त। एव उन्नी पुरातन मानव के भौतिक-शरीर से भौतिक द्रव्यों-भूतों के द्वारा बनाए हुए स्वयं-स्वयिष्ठ-ध्वस्तप्रयोग है-पुरातत्त्व अर्थात् प्राचीन सांस्कृतिक वस्तु सङ्कलित के महान्-प्रतीक। तभी तो सङ्कलित विद्वानों का अथवा पुरातत्त्वविदों का भी इसी ओर आकर्षण है। तो सत्तातन्त्र भी इसी कार्य का महान् सांस्कृतिक कार्य मान रहा है। कैसा है यह भित्तिका विभिन्न विधान ?। जेवन की कृति सङ्ग-गला बुकी एव अचेतनकृतियाँ (अस्व-स्वय) सङ्ग-गला कर की 'तत्त्व' अतएव अस्वयं प्रमाणित होना। कहीं ? कहीं प्रतीकमामोहन तदनुगत दिग्

इसलिए अस्मन्मन् बनना आया है कि, जिस मूलसंस्कृतिनिष्ठा से प्रायश्चित्त सम्भव बना करते हैं दर्शनस्य आत्र भारतीय सत्तात्मन के साथ ही उसी दिग्देशकालन्वामोहन से सवत्तना निरपेक्षता ही व्यक्त हो रही है भारतयज्ञ की मूलसंस्कृति के प्रति इति तु महद्भूमिगन्ध-मारवाग्निप्रतीकमूतस्व-इशुस्थायस्य ज्येष्ठ मन्वन्तरमकस्य-मारवत्स्यति आत्रघाययमेष ।

५१८-भारत की अखण्डता के मूलाधारभूत सांस्कृतिक-आगरब के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधान में प्रतीक, और प्रतिकूप-शब्दों का संस्मरण, एवं प्रतीक-भाषानु-बन्धी शब्द की मध्यस्थता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्या किञ्च उद्यम से भारतीय मानव की तथाविधा सांस्कृतिक-आगरबका सम्भव बनागी? कन सकेगी?, एकमात्र इस प्रश्न के समाधानान्केस्य के लिए ही तो 'दिग्देशकालन्वामीमात्र' प्रवृत्त हुई है जिसके मूलाधार दो शब्द बने हुए हैं-एक तो 'प्रतीक' और दूसरा 'प्रतिकूप'। जिस दिन मी भारतीय मानव इन दोनों शब्दों के चिरन्तनेच्छिप्त का सवत्तना सम्भव्य कर लेया उही दिन और उसी क्षण इतनी प्रसुप्ता भी सांस्कृतिक-निष्ठा अकस्मक होपड़ेगी। संस्कृतिक-मारवाग्नि की प्रतीकताने ही इसे सांस्कृतिनिष्ठा से परवन्मुक्त बना दिया है। अथस्व ही यह भूलवत्-यह मारवभूमि उस मारवाग्नि की प्रतीकभूता है। तभी तो इसल-भारत नामकत्व हुआ है। किन्तु 'प्रतीक' क्या ही 'बड़' 'अचेतन' हुआ करत है। प्रतीकों का उपयोग एकमात्र यही है कि उद्धार लक्ष्य की ओर निष्ठा आमत हो जाय। किन्तु जब प्रतीकत्मक उद्धान्त ही सिद्धान्त बन जाते हैं तो लक्ष्य विहीन होजाया है एवं उल्लसता अचेतन-बड़-भौतिक-प्रतीकों से सम्बन्ध रखने वाले सादि-छन्त-मूर्ध-स्पर्क-दिग्देशकालन्वामीमोहन आगरब होपड़ते हैं। एत प्रतीक-माध्यमेन लक्ष्य की उपासना करने वाले चेतनपुरुष (मानव) का अस्वैस्व लक्ष्य प्रतीक मक दिग्देशकालन्वामीमोहन ही बन जाता है। उस समय चेतन विस्मृत हो जाता है अपने ही चैतन्य से यह स्वयं मी सर्वथा बड़माप में ही परिणत होजाया है एवं इसके संपूर्ण लक्ष्य मी बड़ात्मक प्रतीक ही बन जाते हैं। इसी प्रतीकमण्डि ने आत्र सर्व-मलयक की 'भारतराष्ट्र' मान लिया है जबकि यह तो केवल 'भारतयज्ञ' का बड़-माध्यम-प्रतीक-मात्र ही है।

५१९-जड़माध्यमों के विरोधक पुरातन्त्रविदों के द्वारा अन्वेषण, सद्नुप्राप्ति 'पुरातन्त्रानुसंधान', एवं तद्द्वारा ही भारत के अतीत गौरव का संरक्षण-प्राप्त—

अत भोजी समन्ते वैश्वी है। भारतीय इतिहास के, तथा पुरातन्त्रों के विरोधक-संशोधक सांस्कृति-निष्ठ ! विद्वान् आत्र आत्र हो रहे हैं मूर्धस्थ तथा मूर्धस्थ अथवाशरीर-अरियक-इशाकशरीर-मूर्धस्थ-उदरायशरीर-सर्वशरीरों (टीकरी)-सुख्य-उदर-वात्र-आदि की प्रशाशरीरों के अन्वेषण-माध्यम के लिए। कर्ता कि इसी अन्वेषण के आधार पर वे भारतीय सांस्कृति का मूल-शुद्ध-कम अन्वेषित कर देने के लक्ष्य स्वयं बन रहे हैं। कर्ता मी, बन मी जो मी कुछ दृश्य-शुद्ध-सर्व-गणा-वीर्य-शीर्य-मूठ-भौतिक पदार्थ हन्त उपलब्ध ही जाता है वीह पड़ते हैं य उतनी ओर, एवं अपने परिकल्पित माध्यमों के अनुयाय से इन

उक्तार्थमुपसहरन् कर्तव्यमुपदिशति—

मूलम्—सुगियाऽभावं साणस्स सूयरस्स नरस्स यं ।

विणंए ठविज्ज अप्पाण इच्छतो हियमप्पणो ॥६॥

छाया—

श्रुत्वाऽभाव शुन्या. सूकरस्य नरस्य च ।

विनये स्थापयति आत्मानम् इच्छन् हितमात्मनः ॥ ६ ॥

टीका—

‘सुगिया’ इत्यादि—शुन्या =पूतिकर्णशुन्या’ सूकरस्य च एतदु-
दृष्टान्तस्य, तथा च=पुन. नरस्य=पुरुषस्य-दाष्टान्तिकतया कथितस्य दुःशीलशि-

अग्नि जलाकर उसको अग्नि में भून दिया । इस कुमौत से उस
मारा । इस लिये सूत्रकार कहते हैं कि—दु शील का त्यागकर
सदाचार का सेवन करना चाहिये ॥ ५ ॥

इसी कथित अर्थका उपसहार करते हुए सूत्रकार कर्तव्य का
देश अगली गाथा द्वारा करते हैं—‘सुगिया इत्यादि’

अन्वयार्थ—(साणस्स-शुन्या.) पूतकर्णी कुसी के (सूयर
नरस्स य-सूकरस्य नरस्य च) सूकर के और दाष्टान्तिक रूप में प्रदर्शित
किये गये दु शील शिष्य के (अभाव अनादर) अर्थात् दुर्वशा
अवस्था को (सुगिया-श्रुत्वा) सुनकर (अप्पणो हिय इच्छतो-आत्म
हितम् इच्छन्) आत्मा के हित के अमिलायी शिष्य (अप्पा
आत्मान) अपनी आत्माको (विणंए ठविज्ज-विनये स्थापयेत्) वि-

सुगयाव्यो अने तेमा तेने भूछ नाञ्छु आ शीते कुमोतथी तेने भायु
आ माटे सूत्रकार कहे छे के दु शीलने त्याग करी शील-सदाचारनु सेव
करुं नेछन्ने (५)

आ कहेवायेछा अर्थने उपसहार करीने सूत्रकार कर्तव्यने उपदे
आ गाथा द्वारा करे छे—‘सुगिया भाव’ इत्यादि.

अन्वयार्थ—(साणस्स-शुन्या) पूतकर्णी कुतरीना (सूयरस्स नरस्स य
सूकरस्य नरस्य च) सूकरना अने दष्टान्तिक रूपमा प्रदर्शित करायेल दु शील शिष्य
(अभाव-अनादर) अर्थात् दुर्वशा रूप अवस्थाने (सुगिया-श्रुत्वा) आभाणी
(अप्पणो हिय इच्छतो-आत्मनः हितम् इच्छन्) आत्माना हितना अमिलायी
शिष्य (अप्पाण-आत्मान) पौताना आत्माने (विणंए ठविज्ज-विनये स्थापयेत्)

वेदब्रह्मसामोहन, सर्वोपरि त्रिवैषणार्गमिता लोकेयना । वहाँ से, कैसे यह एषया, ये—पुरातत्वविद्यम्बुय इत मायतयुद्ध की स्वस्था—मकृदिस्या मी प्रका में सहस्य प्रविष्ट हो पड़े ?, परन का एकमात्र प्रधान उतर तो है— 'संस्कृति—साहित्य की सत्तासापेक्षता', और वृत्त कारण है 'प्रतीक्या भूतदृष्टि का आचानुकरण' । प्रतीक्य-दृष्टि के सम्पूर्ण अर्थकलाप भूत से ही उपकन्त होते हैं । सर्वभ्यपक-अनन्तब्रह्म, तदनुपाधित अनन्तब्रह्म अनन्तादिक-अनन्त-वेदा-नामक कोरं तत्त्व वहाँ आबतक स्पष्ट ही नहीं होसका है । अफितु उनके सम्पूर्ण-परीक्ष्य भूत से ही उपकन्त हैं एवं भूतपर ही परिष्मान्त है । अथर्व ही शास्त्रकालनिकषणा 'सम्भवा' के परिषत्त नात्मक इतिहासो का मापदण्ड के अन्तबोधो ही बनते आए हैं । किन्तु 'संस्कृति का कदापि इन मौलिक प्रतीकों से कोरं मी तो सम्भव नहीं है । वहाँ सम्भवा ही संस्कृति है, जबकि वहाँ—संस्कृति के एषारा में ही सम्पूर्ण सम्भवा समाधिष्ट है ।

५२२—भारत, तथा भारतदेशदेशों के संस्कृति-सम्भवा-शब्दों के समन्वय में महान् अन्तर एवं तदनुपाधेनैव मारतीय संस्कृति-सम्भवा-शब्दों के चिरन्तन इतिहास का समन्वय-प्रयास—

उन की संस्कृति का आधार सम्भवा है एवं सम्भवा का आधार दिग्देशकाल है जब कि मारतीय सम्भवा का आधार संस्कृति है तथा संस्कृति का आधार दिग्देशकालादीत अनन्तब्रह्म है । उन की सम्भवा-संस्कृति 'अल के गर्म' है, एग वहाँ का नाम 'संस्कृति-सम्भवा' के गर्म में है । उन को अल लिए अलता है एम वहाँ की श्रुतिप्रका अल पर आरुह है । उन की आधारभूमि-कालो अलत्तो बह्वृति है तो इन की आधारभूमि 'तमसाइन्ति कालो विपरिषत्तः है । उनका उदरेय दिग्देशकाल तथा तदनुपकनी मूत है तो इनका उदरेय दिग्देशकाला दीत अनन्त ब्रह्म है । अतएव उनके लिए अलत्तो ही तत्त्व मान्यतत्त्व-पुरातनत्व-पुरातनत्व है तो ह्यारे लिए संस्कृति का अन्वेषावाहक दिग्देशकालादीत अतएव समैकालिक श्रुतियात्त्व ही 'तत्त्व' है, वही पुरातनत्व है, वही प्राचीनत्व है । उन की दृष्टि में श्रुतियात्त्व लक्षणहर है अज्ञा गला है अतएव निस्त्व है तो वहाँ की दृष्टि में अलभुत्त में 'अलत्तो' नाम से ही उदापित अतएव मानव के प्राकृतिक-मौलिक-अभरिषत्त-जीवन के लिए मी—उनकी दृष्टि में मी अनुपयुक्त—ने सब मूत—मौलिक शेषपरिषत्त निस्त्व ही है गले-सके ही हैं । और आब पुर्माप्यवरा श्रुतिदृष्टि के स्वरूप को निम्नत कर देनेवाले सब ही प्रतीक्या दिग्देशकालानुपदिष्टनी मूतदृष्टि को ही अपना सर्वाध्य मान बैठने वाले हम मारतीयों में मी उनकी मन्थवाधी को उनकी की माया में इन अलत्तहर-अदरान एवं निगल्प-अर्थवात्मक गौराहीं को ही 'पुरातत्व' अना कल्लवाना आरम्भ कर दिया है । त्रिष अर्थानिष्ठ वेद्य भौतिक-मौलिक्यामोहन पुरातुगी में अलत्त कर बल्ला या उली को आब के इस प्रतीक्या के मौलिक निष्ठानवादाने अलत्तना पुष्पित-अलत्तित ही कर दिया है । अतएव आब 'तत्त्व' नाम से 'वर्तमानकाल' तथा 'पुरातत्व' प दो ही तत्त्व मारतीय-प्रका में प्रधान को हुए हैं, जबकि दोनों का ही मारतीय-आचारानुपकनी अलत्तित तत्त्व से तो अलत्त मी नहीं है ।

५२३ ऋषिशास्त्र की प्रतीकता के सम्यन्व में प्रतिरूप—मान का सस्मरण, ष्यं प्रतिरूप शब्द क ताच्चिक-चिरन्तन-इतिष्ठत का स्वरूप—दिग्दर्शन—

ऋषिशास्त्र क्या है ?। अनुरय ही ये भी हैं तो प्रतीक ही। किन्तु किसके, आर कैसे प्रतीक ?। इस प्रश्न के समाधान के लिए ही दूसरा 'प्रतिरूप' शब्द हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जिसका यशोवर्गन पूर्व में किया जा चुका है। जिस भारतदेश को हमने जिस प्राणमूर्ति अनन्त-दिम्ब-माख्याग्नि का प्रतीक बतलाया था, यह प्राणामि-माग्नि प्रतीक है क्षीरसमुद्रराग्नि का। यह क्षीरसमुद्रराग्नि प्रतीक है परमेष्ठी का। परमेष्ठी प्रतीक है अनन्तारागरूप स्वयम्भू का, आर यहाँ आकर प्राकृतिक प्रतीकमाप समाप्त है। स्वयं मानव अर्थात् मानव का प्राकृत स्वरूप क्या है इस प्रकृति में ?, उत्तर दिया जा चुका है। प्राणामि-माग्नि (पार्ष्णिवाग्नि) जैसे क्षीरराग्नि का प्रतीक है ० तथा मानव भी वैसा ही प्रकृति के स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्र-पृथिवी-अग्नि-आदि किसी प्राकृत पद का प्रतीक (अङ्ग) है ?। नहीं। स्वतन्त्रा संपूर्ण प्रकृति के तमुर प्रतिद्वन्द्वी स्वरूप का दक्षी पूर्णस्वरूप का साङ्केतिक नाम है—'प्रतिरूप'—'रूप-रूप प्रतिरूपो वभूव'।

५२४-अनन्ता प्रकृति और अनन्त प्राकृत मानव का समतुलन—

जैसी अनन्तप्रलम्ब-अनन्तदिक्-अनन्त-दशाग्नि-स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्र-पृथिवी-रूपण-पञ्चपथा अनन्ता प्रकृति तीक वैसा ही यहाँ अनन्त-प्रलम्बदिग्देशात्मक-अव्यक्त-महान्-बुद्धि-मन-शरीर-रूपण पञ्चपथा अनन्त-प्राकृत मानव। यदि उस अनन्ता प्रकृति के सम-तुलन में भारतप्राणामि छोटा या प्रतीकमान है तो अनन्त प्राकृत मानव के समतुलन में भी इस की प्रतीक का वही अर्थ माना जाना चाहिए था। किन्तु माना इसलिए नहीं गया नहीं ही माना जाना चाहिए कि, मानव कदापि सादि-खान्त-माथों का अनुगामी नहीं है। अर्थात् मानव तो है 'अनन्त का उपासक'। अतएव समी उस की दृष्टि में अनन्त है महान् है, पूव है आग्रथ है। इस उदात्त के कारण ही वो

॥-(१)-प्र ब्रह्मंतु सदनाद्वस्य वि रश्मिभि ससृजे सूर्यो गा ।

वि सातुना सन्न उर्वी पृथु 'प्रतीक'-मध्येष्ये अग्निः ॥

—ऋक्सं० ७।३६।१।

(२)-स आहुतो वि रोषतेऽग्निरीलेन्यो गिरा ।

सु, वा 'प्रतीक'-मज्यते ॥

(३)-स त्वमग्ने 'प्रतीकेन' प्रत्योप यातुषान्य ।

उरु यषेपु दीयव् ॥

—ऋक्सं० १०।११।३८, ।

इस में 'अनन्तता' अभिव्यक्त हुई है। आचार का अर्थोरणीयान् भाव ही इस मानव के महतोमाही-
वान-भावं का एकमात्र महान् बीज (महत्पदरूप बीज) है।

५२५-भूवाधिष्ठिता वैश्वानराग्निं की सांस्कृतिकता, और हमारी गृहस्थाचारपद्धति—

आप प्राण्यग्नि की बात करते हैं। माखीव मानव ही अग्नि-परिपाककर्ता प्रसिद्ध भूवाग्नि (पूरे
के अग्नि) की भी वैश्वानर' का प्रतीक मान कर उसे स्मृत करना (वैश्वानरकर्म-वैश्वानर विमाने को +)

+ स्वीम्नत्रिलोकी के पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नामक त्रिदत् (९)-पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१)
स्वोमात्मक इन तीन पार्विक विर्यों के क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-नामक तीन 'नर' (नायक-अभि-
ष्टता देवता) माने गए हैं। इन तीनों नरों के 'दानूनपूत्र' शब्द अन्तर्ग्राम सम्बन्ध से उत्पन्न षाण्णमर्मा
वैश्वानरनायक विमूर्ति अग्नि का ही नाम-'विरवभ्यः-पृथिव्यन्तरिक्षद्यौ-लोकेभ्यः-नरभ्यः-अग्नि-
वाय्वादित्येभ्यः-उत्पन्ना-अग्निरेव-वैश्वानर'-इत्यदि निर्बचन के अनुसार वैश्वानर है, वैश्विक
निम्नलिखित बचन से स्पष्ट है—

"स वा स वैश्वानर-इमे स लोकाः । इयमेव पृथिवी विरवम्, अग्निर्नर । अन्तरिक्षमेव
विष्णुः, वायुर्नरः । द्यौरिव विश्वम् आदित्यो नरः । (शतपथब्रा० ६।३।१।३) ।

'आ यो धां मात्वापृथिवी वैश्वानरो यस्तो सुर्व्यस्य' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार मन्त्रों से सुर्व्यलोक
पर्यन्त आप्त त्रेलोक्यप्राप्त्यूर्ध्वि वही वैश्वानराग्नि आधिदैविक-वैश्वानर' है। किन्तु ही प्राणियों के उठ
'आम्पादित्य-वैश्वानर' की अभिव्यक्ति हुई है जो 'जात्राग्नि' रूप से चतुर्विध मुक्त अन्न का परिपाक करता
रहता है एवं जिस इस आम्पादित्य वैश्वानराग्नि का ही सम्बन्ध ने निम्नलिखितरूप से स्वरख किया है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राग्निनां देहमाश्रितः ।

प्राश्यापानसमापुक्त पशाम्यन्न चतुर्विधम् ॥

—गीता १५।१।१।

आधिदैविक-आम्पादित्य-वैश्वानराग्नि का ही मूर्त-भक्त मौक्तिक-देवोपरिमनुष्य वह तीसरा
'आधिभौतिक-वैश्वानर' है जिसे लोकसामान्य में 'अग्नि' कहा गया है किन्तु कि सुर्व्यस्त पर व्योम्नि-
मर्त्यी परिमर्ता प्रत्यक्षरूप से अभिव्यक्त होती रहती हैं। भूवाग्निशब्द ही आधिभौतिक वैश्वानर अग्नि का
स्वरूप-विरलेयण करते हुए अग्नि ने कहा है—

अग्निं त मन्ये यो 'वस्तु' रस्तं यं यन्ति घेनवः (रश्मयः) ।

अस्तमर्वन्त आश्वोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्वीदम्य आमर ॥

—ऋक्सं० १।१।१।

अपना महान् सांस्कृतिक कचम्य मानता आरहा है। कभी इसने अपनी इस सांस्कृतिक आचार्यप्रदति का सही-सही मानन की आन्ति नहीं की। जिस दार्शनिक भारतीय ने भी, उस का आचार्यमक समस्त प्राकृत-स्यन्दम्य ही उद्दिष्ट माना। बना रह गया वैसा दार्शनिक फेनल शून्यवाणी-तत्त्ववाणी बुद्धिवादी-विष्-देशकालान्त यथावत मानवामाव। यही अनन्तभावना प्रणामि के प्रतीकभूत मन्वण्डात्मक किंवा सम्पूर्ण भारतदेश (पृथिवी) के सम्बन्ध में नियमान है। मृत्युनिवृत्तमात्र ही नहीं है यह पृथिवी। अपितु यह 'मही है, अमृता है, अनन्ता है, माता है, और हम हैं इस के पुत्र +। पृथिवी किंवा तदवयवरूप मातृपुत्र भी बहुत बड़ा है। हम तो अपने अन्तमान्त को भी यही सम्मान प्रदान करते हैं—'जननी जन्म-भूमिरश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

५२६—अनन्तप्रश्न से समन्विता, 'सत्यं शिशु-सुन्दरम्'-लक्षणा अनन्ता प्रकृति से अनु-प्राणिता भारतीय संस्कृति, और सभ्यता के आत्म-द्वेष-भावनिबन्धन अनन्त महिमामय मातृल्लिक विषय—

यही नहीं, अपितु जिस क्षेत्र में हम रहते हैं जिस प्रायः में रहते हैं वह भी हमारे लिए केवल भूतपियव ही नहीं है। अपितु वह तो हमारे लिए साक्षात् 'वास्तुदेयता' है। बिना इस 'देषप्राण-प्रतिष्ठा' के, इस अनन्त प्राणायान के पर भी हमारे लिए आवास निवास-योग्य नहीं बना करता। और इस दृष्टि से तो आवासलात, मा व लोका लोकात् आसिपीलिका-कीटपत्र-म्य आविश्रमन-मूर-आचल बृह-मर्यन्त, सभी कुछ हमारे लिए अनन्त के ही

तरिष्य-अभिदैवत-अप्याम अभिभूत-मे से वैश्वानरानि क तीन महिमाविक्रम हो जाते हैं, जो उपाधिदृष्ट्या पृथक् पृथक् रहते हुए भी तत्त्वतः अभिन्न हैं। फलतः हमारे दैनन्दिनीय मोहनपरिपाक के अभि-प्राय आभिमीतिक-वैश्वानर अग्नि का भी स्वरूप उस दैविक-आत्मिक-वैश्वानर अग्नि से अनिमिष ही प्रमाणित हो जाता है। उसी का यह प्रतीक है भूतानि-लक्षम वैश्वानर। प्रत्येक आस्तिक भारतीय सृष्ट्युद्देश्य रत अग्नि से मोहनद्रव्यों को सम्पन्न कर सर्वप्रथम इस मृताग्नि का उषी देवमाजना से स्वर्पण कर देना अपना महान् मातृल्लिक दैविक आचार मानता है। हमारी प्रान्तीयभाषा में यह 'वैश्वानरसन्तपणकम्म' ही—'वैसन्वर जिमाना' नाम से प्रसिद्ध है। सृष्टिहीन बन्तक 'वैसन्वर' (वैश्वानर) नहीं बिना बेटी तत्कत किसी को भी मोहनद्रव्य का उपयोग नहीं करने बेटी इसको महत्त्वमायशाशिनामाचारनिष्ठाना परमवैश्वानरानि-माखीयाना-गरिमामहिमामयी महामातृल्लिकी अन्तना वैश्व-आचार्यप्रदतिः।

- (१)—पृथिवीं मातरं महीम् (तै० ब्रा० २।४।६।८)।
- (२)—इयं वै पृथिवी अदितिः (शत० ५।३।१।४।)।
- (३)—अदितिर्घोरदितिरन्तरिषमदितिम्माता स पिता स पुत्रः ।
त्रिवेदेना अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनिष्वम् ॥

—अक्षरसंहिता १।२।१०

प्रतिरूप हैं अनन्त के ही महामहिमामव विवचन हैं, अतएव नमस्य हैं प्रथम्य हैं, स्वयं-शिव-सुन्दरम् हैं । अनन्त्या महासानुगति ही इस अनन्तमहिमानुगति की एकमात्र आधारभूमि है जिस का अनामवादी केवल-भूतवाणी अतएव शून्यवादी के साथ तो अस्मिन्भिन्नत् भी सम्पर्क नहीं है । मले ही ऐसा शून्यवादी परवश्वकर्ता-मात्र के लिए, मानवता-मानवधर्म-विरचित-अहित्य-क्य-कल्या-द्या-सितिष्ठा-नीतरगता-मार्ग के मौखिक शामिक प्रदर्शन-करवा करता रहे, क्यापि उसे बर्थाभमाचारके अन्तात्मानुगत महिमात्मक स्वयं-शिव-सुन्दरम्-के लो अस्मरय का भी अधिकार नहीं मिलसकता बन कि हम तो ऐसे शून्यवादी मानवधर्मों को भी एकमात्र अपनी आस्था-महा-के संरक्षण के लिए अपनी ओर से उन्हें भी अनन्त महा के ही महिमामव 'अब' तर मान लेते हैं । मान लिया है हमारे पूर्वपुरुषों ने जिस इस हमारी अदाभूला अथकारमानवता को देख चुन कर भी तो अमिनिष्ठ महातुमाव भारतीय अस्मिन्कृति के संस्मरण की कतकता ने अपने आप की विमुक्त ही बनते रहते हैं जिन ऐसा को भी हम तो गुरुगुरु अपनी अदाशक्तियों ही समर्पित करत रहेंगे एव उन के लिए भी-मा करिचव-तु सभाम् मवेत् वैरी मङ्गलकामना ही अन्त करते रहेंगे ।

५२७-प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव सं अमिन्वस्त बौद्धिक शब्दात्मक प्रतीक, तथा मौखिक-अथात्मक प्रतीक—

यस्वरिधत्वा-प्राहत मानव अनन्तप्रकृति का प्रतीक नहीं, अस्तु 'प्रतिरूप' है । ऐसे प्रतिरूप अनन्त-मानव का प्रतीक है प्राणाग्निरूप मायामि एव प्राणाग्निप्रतीक से समन्वित अनन्त प्राकृतिक मानव की दिग्देशकसादीया अनन्ता सहस्रकृति से सहस्ररूपैव विनिर्गता प्रतीकात्मिक शब्दात्मिका का नाम है—'शब्दशास्त्र' एव इसी अनन्तमानवादि के प्रथमरूप-उच्छिन्नरूप-भूतमात्रा-मात्रा का नाम है प्रतीकरूप-सूक्ष्म-भूमसह एव व्यवहार्य मायामि । ये अनन्ता प्रकृति के प्रतिरूपात्मक अनन्तमानव से बौद्धिक प्रतीक, तथा मौखिक प्रतीक मेद से दो प्रतीकरूप अमिन्वस्त हो रहे हैं । प्राणाग्निप्रधान-बौद्धिक प्रतीक का नाम है—'शब्दप्रतीक' एवं सूक्ष्मप्रधान मौखिक प्रतीक का नाम है—'अर्थप्रतीक' । अतित्य अनन्तमानवक प्राकृतिक के शब्द अर्थ-रूप से दो प्रतीक निष्पन्न हो जाते हैं ।

५२८-प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव, तथा प्रतीकात्मक सादिसान्त मानव के स्वरूपमेद का दिग्देशन, एवं उदनुगत उभयात्मक प्रतीकमात्रों का पाथक्य, और अग्नि मानव-सौकमानव के विभिन्न-स्वरूप—

अनन्तप्रकृति के अनन्तप्रतिरूप मानवों तथा सादिसान्त प्रतीकमानवों अहोरात्र का अन्तर है । दोनों ही मानव 'प्राकृत' हैं दोनों ही शब्दप्रतीक, तथा अर्थप्रतीक के अमिन्वस्त, किंवा सखा हैं, इस में दो अर्थ अन्वेष्ट नहीं । अन्तर दोनों में है केवल अनन्तता एव अन्तता का । अनन्ता प्रकृति अन्त 'प्रतिरूपमानव' (आत्म-शक्ति-मन-शरीरत्मक मानव) अनन्त अस्मिन्कृति के मायम से अनन्त शब्दों का तथा अनन्त मायात्मक अर्थों का अमिन्वस्तक बनता है । एवं अनन्तप्रकृति का सादिसान्तक प्रतीकमानव (मनःशरीर-मात्र मानव) सादिसान्त-दिग्देशकाल के मायम से सादिसान्त शब्दप्रतीकों का तथा तथापि ही अथप्रतीकों

प सारक स्मृता है । उस क शब्द वैय्यक्तिक नहीं है अतएव उन के अर्थ भी वैय्यक्तिक नहीं है । अर्थात्
 प्रकृति की ही ता माता वापता है (बापता नहीं है, अर्थात् स्वयं बुलती है वह माता), एव तानुपात में ही
 प्रकृत अथ अस्थित हेतु है अनन्तकाल के लिए । जब कि इस प्रतीकमानव के शब्द भी वैय्यक्तिक है
 तन्मुक्त अर्थ भी वास्तविक ही है । अतएव हमें है इस का शब्दायमपन्न, जैसे कि पशु-पक्षी-आदि
 शब्दायमपन्न मन्वा वास्तविक ही स्ने रहते हैं । अतएव इन क शब्द और अर्थ का परस्पर कोई
 सम्बन्ध नहीं है । शब्दों में भी यदव्युत्पत्ता, ता अर्थों में भी यदव्युत्पत्ता । अतएव द्विगुणकालानुबन्धी इस के मनी
 मान कल्पनिक है मनी रूप कल्पित है वा मनी कल्प कल्पनाप्रसूत है । उपर श्रुतिमानव के शब्द स्व
 शब्दाय अथ का धरने गग में रखते हैं जैसा कि- भारत - 'मानव' - 'अनन्त - प्रकृति' विचार 'इत्यर्थ' -
 मादि शब्दानक नामों के चिन्तन-इतिहास से प्रमाणित है । अतएव तब शब्दाय अथ 'आत्मिक' सम्बन्ध
 ही माना गया है जब कि अथ उत्पन्न-सृष्टि सम्बन्ध ही मुख्य बना रहता है । अस्तन्त ही दुरवियम्-है यह
 शब्दार्थ-सम्बन्ध-सम्बन्ध जिस का अर्थ अन्तः प्रकृत है । द्विगुणकाल की नभ्यपक्ष म समन्वितता प्राकृत-
 मादि शब्द अन्तः प्रकृत द्विगुणकालातीत इस सम्बन्ध-सम्बन्ध को व्यञ्जन कर ही नहीं सकती ।

५२६-संस्कृति, और सम्यता का स्वरूप-द्विगुणकाल -

अनन्तप्रकृति के प्रतिकल्पक मानव क अनन्त प्रतीकरूप शब्दकाल का नाम ही है- 'शास्त्र' और यही
 है इस की- 'अनन्ता संस्कृति का चिरन्तन इतिहास' । एवं अनन्त प्रतीकरूप अर्थकाल का नाम ही है
 अनन्त विरह, एव उस के अनन्त पदाय और पत्नी है इस की- अनन्ता सम्यता का चिरन्तन इतिहास' ।
 शास्त्रसिद्ध सिद्धान्त एव सिद्धान्तानुगत कर्त्तव्यपरण ही संस्कृति और सम्यता है । संस्कृति का
 अर्थशास्त्रक पक्ष ही 'संस्कृति' है, संस्कृति का भाषाशास्त्रक पक्ष ही सम्यता है, एव इन दोनों प्रतीक
 शब्दों में अर्थशास्त्रक पक्ष आधार है तथा भाषाशास्त्रक पक्ष आशेष है । अर्थ में भाषाशास्त्र प्रतिकल्पित है, एव
 शब्द में अर्थ समाधिष्ठ है । जैसा शब्द वैसा ही अर्थ । न कि जैसा अर्थ वैसा शब्द । यही
 अर्थशास्त्र तथा श्लोकशास्त्र में वह अर्थान्तर है जिस का मातृपी लोकोक्ति अर्थात् सम्बन्ध नहीं कर
 सकती * ।

*-लौकिकानां हि साधूनां-अर्थो वागनुवर्तते ॥

श्रुतीनां पुनराधानां वाचमर्थोऽनुवावति ॥

-भवन्ति-उधरे रामपरित

५३०—चिरपुरातन प्रतीकात्मक शास्त्र की चिरनूतनता, एवं इस की शारद- उपयोगिता—

इसी समस्य के माध्यम से अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, अनन्त मानव के माध्यम से विनिर्मुक्त सद्ब्रह्म-नित्यब्रह्म का नाम ही 'अनन्त राज्द्वारा' है, इसी का नाम है 'अनन्त वेदशास्त्र' (अनन्ता वा वेदा-ये वा) । प्रतिक्रमात्मक मानव का प्रथम-आधार वेदशास्त्र ही 'संस्कृति' नामक विषय है, वही भारतीय परिभाषा में प्राण्यत्व-पुरातनत्व किंवा पुरातत्व है, जिसके माध्यम से ही भारतीय सांस्कृतिक-आधार, सांस्कृतिक-आयोजन सांस्कृतिक-सम्भवा आदि आदि व्यवहार-विधियों की व्यवस्था हुआ करती है । ज्ञानि वेदा-राज्द्वारा स्वतन्त्र आचार्यत्मक कथन्य गन्ता सक्ता-नही करता । चिरपुरातन ही यह समन्वयात्मक प्रतीक (राज्यार्थप्रतीक, तत्व और आचार) चिरनूतन ही प्रमाणित होता रहता है प्रकृति के सूर्य-चन्द्र-पृथिव्यादि प्राकृत प्रतीकों की भाँति । राउ-सहस्रादि ही दिग्देश-आचार्यिकमय इस चिरपुरातन-चिरनूतन 'तत्व को नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकते । सनातनता है प्रकृति सनातन है उस के निम्न खनातन है-तन्मिष्य-व्यवस्थात्मक शास्त्र एवं सनातन है तत्तुप्राणित आचार्यत्मक धर्म ।

५३१—मौक्तिक-संसावशेषों की सांस्कृतिक ? प्रतीकता, एवं पुरातनतात्मकता ? का महान् व्यामोहन—

छूटते गलते-बदलते-नष्ट-होते रहते हैं वे प्रतीकशाब्द, जो दिग्देश-काल की सीमा में 'अस रूप 'स्वार्थ-वैयर्थिक-स्वार्थ' की आधार बनाकर ही बोले और बुलवाए जाते हैं । अस होता है उन अर्थो-व्यवस्था अति-निकमों का जो तत्कालिक स्वार्थ के लिए ही लक्ष्मीभूत बना करते हैं । ऐसे अर्थ-व्यवस्थाओं को वे ही प्राचीन तत्व किंवा पुरातत्व कहा-जुना करते हैं जो वेदमनानव की अर्थ-व्यवस्थाओं को ही संस्कृति के प्रतीक मानते रहते हैं । जिन की दृष्टि में मानव का कोई मूल नहीं है मानव की X वैदिक रचनाओं का कोई महत्व नहीं है । अतिसु जिन इन पुरातनवादियों की दृष्टि में महत्व है उन-वीर्य शीर्ष-मन-व्यवस्थाओं का जिन का आचारशास्त्र की दृष्टि से कुछ भी तो उपयोग नहीं है परदांन-उत्पादन माध्यम-व्यामोहनी के अतिरिक्त ।

५३२—मानवीया सनातन-संस्कृतिका 'प्रतिरूप' मानव, एवं तत्- 'प्रतीक' सनातनशास्त्र, तथा मानव के द्वारा स्वप्रतिरूपता की अभिव्यक्ति—

'सत्किञ्चित्-संरक्षण' से सम्बन्ध रखने वाले 'अर्थ' के समन्वय-सम्बन्ध में ही प्रतीक तथा 'प्रति-रूप' मेर से प्राचीनक इतिभूत उपबन्ध हो पड़ा, जिस अर्थपूर्ण लक्ष्मीभूत अतिरिक्त की ओर पुनः पाठकों

X—सुद्विपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (वर्तमानकृत)

यथा ध्यान आर्क्षितं क्रिया वा रदा है । मानव की संस्कृति का प्रतिकरूप यहाँ स्वयं मानव है यहाँ इस की संस्कृति का प्रधान तथा प्रथम प्रतीक इस का वास्तविक 'राजशास्त्र' ही है, एवं दूसरा गण्य प्रतीक इस का आचार्यमक अथवास्त्र (दिग्देशकालानुबन्धिनी कर्तव्यनिष्ठा) ही है, यही इस का 'सम्भ्यता' रूप प्रतीक है, यथा कि 'शान्दिकसंस्कृति' (शास्त्र) से ही नियन्त्रित रहता है । दिग्देशकाल का दिग्देशकालात्मक स्वरूप में नियन्त्रित रहते हुए ही दूसरे शब्दों में—अनन्तकालदिग्देशकाल शब्दवत् शब्दशास्त्र से खादि-मान्य-दिग्देशकालों का नियन्त्रित रहते हुए ही, या अनन्तकाल से सात्त्विक काल को पीड़यन्नेव मानव अपने इस यत्किञ्चित् प्रयास में अपनी गुणवत्तारूपा सर्वभेदा 'मानव-प्रतिरूपता' को अन्वय प्रमाणित कर जाता है ।

५३३—'यत्किञ्चित्' संशोधन से पराङ्मुख मानव की दिग्देशकालचिम्बुद्धता, एवं महान् भी मानव की तन्मूला अन्यता का दिग्दर्शन—

यदि दुर्मान्यवत् यह इस संशोधन की अपेक्षा कर अन्तर्गत दिग्देशकालों के ही व्याप्तीहीन में आसक्त बना रह जाता है तो फिर यह भी उस प्रतीकभाव में ही परिणत हो जाता है, जिस प्रतीकता के अभावकाय भी शेष नहीं रह जाते—'भस्मान्त-शरीरम्' रूपेण । मानवोत्तर भूत-भौतिक-प्रतीक यहाँ मानवीय भूत (शरीर) की अपेक्षा चिरकालिक है, यहाँ स्वयं मानव के ये भौतिक प्रतीक तो इन भूतप्रतीकों के समतुलन में भी नगण्य हैं । क्या मानव का यही स्वरूप है ? यही इच्छा है ? और इस वास्तविक शरीर के परिमाणबद्ध विरोधन-अभिनन्दन-का नाम ही क्या मानवस्वरूप का अभिनन्दन है ? क्या यही मानव का अस्तित्व है ? जिस समय-चौड़े-मस्तशरीर को देख-देख कर तो एक 'बलीवार्ड' (बैद्य) भी ड्रकार करता दिखाए । अच्युत दिग्देशकालम्यामोहेन के कारण ही प्रकृत्या महान् भी मानव आत्म इसप्रकार छोटा और बहुत ही छोटा बन गया है जबकि अपने मानवस्वरूप से यह सभी अस्तित्वों में तत्त्वतः सर्वतः महान् ही है ।

५३४—अनन्ताकाशात्मक मानव की अनन्तता में दिग्देशकाल के द्वारा व्यवधान, तद्वद्वारा मनुकेन्द्र का विचक्षण, तदनुगत भय, एवं तन्निग्रहेष्य अनन्त-अमयप्रज्ञ के महिमात्मक अनुग्रह की अन्तर्मुखता—

मनुकेन्द्ररूप मानव इस अपने केन्द्रभाव से विच्युत ही हो जाता है तथाकथित दिग्देशकालाम्यामोहेन से इसलिए कि, खादि-अन्त ये दिग्देशकाल मानव के केन्द्रानुगत-महिमारूप अस्वरूप स्वरूप में व्यवधान उत्पन्न कर देते हैं जो व्यवधान अष्टौषभाया में—'चन्द्र' नाम से व्यञ्जित हुआ है । 'मय का एकमात्र अर्थ है केन्द्रविच्युति, किन्ना स्तरान । मानव किन्ती अन्तुमार्ग (सीपी चक्र-समय) से बाहर है । यदि मार्ग सम ही जाता रहता है, तो इस की चरखगति केन्द्राम्यामोहेनगामिनी बनी रहती हुई अविच्युति है अन्त्य है । मार्गव्युत्थि (पुटकाय) से यदि ही चार अष्टौष नीचे के गर्त-लव-आदि में भी इस का पैर चला जाता है तो इत्यस्यम्य विकल्पित हो जाता है और इथी विकल्पन का नाम है भय' जिसका अर्थ है—किञ्चित्प्रधान ।

५३५—मयानुगत मृत्युभाव, तन्मूला विषमता, तदनुगता अराष्ट्रीयता, एवं समदर्शन मूलक महिमाभाव के प्रति मानव को उत्सोषण-प्रदान—

इस मय की उपावस्था का नाम ही है दुःख, दुःख की उपावस्था का नाम ही है शोक, एव शोक की उपमाकथा का नाम ही है हृद्गत-का अन्वेषण अर्थात् 'मृत्यु'। यी प्रारम्भिक मय ही इस अन्तिम मृत्युपथ का अन्तःकन बाधा कथा है। प्रारम्भिक मय का एकमात्र अर्थ है-हृदयस्थान का अभाव, इस साम्यभाव का नाम है विषमता एव विषमता का ही नाम है दिग्देशकालम्बामोहन। निरचयेन अनन्तब्रह्म की अनन्त-प्रकृतिप्रवृत्तिया अनन्तकालदिग्देशात्मिका अनन्त महिमा में इस अस्तव्यस्त-अन्तःपरीक्ष-वृत्त में उस अन्त-व्यस्त-व्यस्त ही आविर्भूत हो जाती है अर्थात् उत्पत्तिकर मानव स्वयं-अस्तव्यस्त दिग्देशकालमात्रों का प्रतीक बनता हुआ उस में अन्वेषण उत्पन्न कर देता है। यही अन्तःकन विषमभाव है यही अन्तःकन 'द्वितीयता है और-द्वितीयाद्वै अर्थ भवति। यदुदरमन्वरं कुरुते अथ अर्थ भवति' का यही अन्वेषणार्थ है। 'अपना और पराया' यह द्वैतभाव दिग्देशकालनिबन्धन ही माना गया है। यह मेरा और यह तेरा यह मेरा राष्ट्र, मेरा वंश मेरा समय एवं यह वृक्ष का राष्ट्र उस का देश उस का समय यह 'मेरा-तरा' ही 'मेरे-तेरे' लक्षण मयात्मक कथा ही की मूलनिधि बनता है। 'सभी मेरा है, सभी उस का है' मैं भी वही हूँ, वह भी वही है। सब उसी एक के महिमात्मक अनन्त विषय हैं। सभी अनन्त है स्व-स्वरूपेण। कहीं किसी के लिए किसी का अभाव नहीं है। सब परस्पर अपने अपने महिमाभावों के पूरक हैं।

५३६—परिशामबादात्मक सर्वविनाशक कार्याकारणभाव तन्मूलक बुद्धिवाद, एवं तद्द्वारा महिमाभाव की अन्तःसृष्टता—

परिशामबादने सर्वविनाशक कार्याकारणभावने उपाधारमत् दिग्देशकालानुष्ठी बुद्धिवादाने ही मानव के अनन्तमहिमाभाव में उदात्तक अन्वेषण उत्पन्न किया है। और यह बुद्धिवाद ही अन्तःकन से मानव को महिमानन्त का स्वयं अन्वेषण ही नहीं देता। वह भी यह अन्वेषण के लिए अपने महिमात्मक साम्य-केन्द्र पर आता है अन्वेषण में ही इस की वार्तनिकबुद्धि पुनः कार्याकारण के अन्वेषण में प्रवृत्त हो-जाती है। एव अन्तःकन महिमात्मक अन्तःसृष्टकन बाधा है। नहीं। इसलिये कि इस की बुद्धि आचारनिष्ठा से परवृत्त मूल कन गई है। आचार में ही वैद्य अन्तःकन जो इस की बुद्धि को निष्पन्न नहीं होने देता। आचारहीन की बुद्धि में ही वैद्य अन्तःकन नहीं करणते-आचारहीन न पुनन्निधेदा। अन्तःकन ही सभी आचार ही दिग्देशकालानुष्ठी ही हैं। किन्तु वे अन्तःकन उस अनन्तब्रह्म से ही निष्पन्न हैं। अन्तःकन यह बुद्धि ही वे आचारानुष्ठी दिग्देशकाल मानवबुद्धि को अन्वेषण से अन्वेषण नहीं होने देते। यही अन्तःकन आचार, तथा अन्तःकन आचारमात्रों में यह महात्त्व अन्तःकन है अन्तःकन को अन्तःकन से भारतीय अन्तःकन अन्तःकन अन्तःकन से ही अन्तःकन अन्तःकन का अन्तःकन किया एवं उपाधारमत् अन्तःकन मूलक आन्तःकन अन्तःकन अन्तःकन, और यही अन्तःकन की दिग्देशकालमात्रों का अन्तःकन अन्तःकन, अन्तःकन आचार पर ही इस मानव अन्तःकन के मूल से अन्तःकन से ही-अन्तःकन वे अन्तःकन। मा मेरी' वेदा उदात्त-उदात्त विनिःसृत हुआ अन्तःकन अन्तःकन वे उस उपाधारमत् 'अन्तःकन' अन्तःकन पर ही अन्तःकन है

विषय का सम्बन्धनगुण्यमक प्रभुत्व निरूपण क मूलाधारमत निष्ठा, भार भावुकता-शक्तों के नीरक्षीरविवक-
माध्यम से भी दो शब्दों में प्रासंगिक समन्वय कर ही लेना चाहिए ।

५३७-दिग्दशकालनिबन्धन-आचारात्मक-कर्तव्यकर्मों के सम्बन्ध में कर्मत्याग मूला मयावहा भ्रान्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन—

मग्नत्व है और विगत तीन तरह क्यों से चली जाने वाली 'मात्रता' के अरण्य भारतीय मात्रक हिन्दू
मानव के लिए तो यही बहुत सम्भव है कि निर्दिष्ट तथाकथित 'यत्किञ्चित्' स्थापन से हमारी प्राकृत-विमूढता
जमा कुछ समझ बैठे मान बैठे कि 'मानव को अपने अभ्युदय नि भेयस् की संसिद्धि के लिए 'यत्त-
मानवलात्मक दिग्-दश-काल-भारों की सवथा उपस्था कर किसी अचिन्त्य दिग्दशकालातीत
दिक्कालाधानवच्छिन्न अप्रतक्य अनिर्हरय व्यापक सथातीत अनन्तब्रह्म के अनुभ्यान-अनुशालन
में ही सयतोभावन प्रयुक्त होजाना चाहिए । त्रिवा वर्मानयुग के कान्त की माया के अनुसार देख
कुछ समझ बैठे मान बैठे कि- दिग्दशकालात्मक सम्पूर्ण वर्तमान संसार को इस के समसाम
यिक लौकिक-नियमापनियमा को एकान्तता मिथ्या मान कर मानव को इन सय लौकिक-वैदिक-
दिग्दशकालानुयधी यत्कथायत् कर्मों पर परित्याग कर परिवार-समाज-राष्ट्रदि के व्यामोहनों
का छाड़ छाड़ कर अपने परलोक के अन्यतम शत्रु इन सब जन्जलों को तोड़ताड़ कर यहाँ
तक कि अपने शरीर-मन-बुद्धि-जीव-मात्र को भी विमूल्य कर कर्मत्यागमूला विशुद्धा वैराग्यनिष्ठा
में ही मानव को प्रयुक्त हो जाना चाहिए । यही इस के मानवजीवन पर पद्मपुरुषार्थ है,
किया अन्तिम पुरुषार्थ है ।

५३८-अग्निमिथ्याचानुगता-कर्मत्यागात्मिक महता भ्रान्ति फ निग्रह से ही भारतराष्ट्र क विद्या-पौरुष-अथे-शिन्पादि-वैभवों की अन्तमुत्थता—

आर यदि हम मल नहीं कर रहे (निरुत्थेन नहीं ही कर रहे) तो हमें यह कह देने आर मान लेने
में अब यत्किञ्चित् भी ऐसी मल नहीं करनी चाहिए, किंतु इस 'महामल' में ही भारतीय मानव का विगत
तीन तरह क्यों से अनवरत निरन्तर मलपरम्पराओं का ही संचार, तथा दुष्परिणाम-मलत्र बनाए रक्खा
है । अपनी प्राकृत विमूढता में सत्कार का दिग्दशकालानुष्धी सीमाओं का तदनुमाणिक कथम्य-कर्मों
का कुछ एसा ही स्वरूप समझ बैठने वाले मान बैठने वाले पियेशकालभ्रान्त प्राकृत मानवों में अपनी
दिग्दशकालानुबन्धिनी राष्ट्रीयता समाविकता (बातीयता) पारिवारिकता एवं व्यक्तिनिष्पना कर्तव्य
निष्ठाओं को हनी भाषादेश में आकर छोड़ते हुए, तथा मातादेश में ही छुड़वाते हुए विगत तीन तरह क्यों
से भारत के सम्पूर्ण साम्राज्यवैभव समाजवैभव कागमिक सौन्दर्य, तथा सर्वप्रतिष्ठात्मक वैयक्तिक-उत्तर
प्राप्ति को उत्प्रेषण अभिभूत ही प्रमाणित कर लिया है ।

५३९-एक व्यक्ति की मूल से घटित-विघटित परिवार, समाज, तथा राष्ट्र-विक्रम्यन क एतिहासिक-तथ्य—

इस तथ्य से किसी भी युग का प्रहाशील मानव कदापि गवनिमीलिका नहीं कर सकता कि, अनक
व्यक्तियों के अर्ध-समन्वयत्मक एक परिवार के किसी एक व्यक्ति की भी महामल से सम्पूर्ण परिवार की मुक्त-

स्येत्ययः, अभावं-कृत्सितो भावः अभावः दुर्दशाक्षणः, स चेह भवे सर्वतो निष्कासनादिरूपः, परभवे गुरोराशातनया अवोधिः, अवोऽस्तपःसयमासमवः, सयमभावेन मोक्षमार्गानाराधनम्, तेनानन्तससारपरिभ्रमणम् त तथाविधमभावं तपः श्रुत्वा=गुरुसनिधौ निशम्य आत्मनः=स्वस्य, हित=कल्याणम् इच्छन् आत्मान धर्म में स्थापित करता है। अथवा-भाव यह है कि कुत्ती सूकर और अविनीत शिष्यका स्वरूप सूत्रकर आत्महितैपी विनय शील बनें।

भावार्थ—इस गाथा द्वारा सूत्रकार यह उपदेश दे रहे हैं कि जो शिष्य आत्मकल्याण का अभिलाषी है उसका कर्तव्य है कि वह इस विनयधर्मके आचरण करने में थोड़ा भी प्रमाद न करे। कारण कि अविनीत शिष्य की वह दुर्दशा होती है जो पूतिकर्णी शूनी की तथा सूकर शिशु की हुई है। अविनीत के ऊपर किसी का भी विश्वास नहीं रहता वह इस भवमें गुरु की अकृपाका भाजन बनता हुआ जगह-जगह अपमान आदि दुःस्थिति को सहन करता है—और गच्छ से बाहर भी कर दिया जाता है तथा परभव में गुरु की आशातना से बोधि के लाभ से भी वंचित रहता है बोधिलाभ के बिना कमी भी श्रेयस्कर मुक्ति का मार्ग उसे प्राप्त नहीं हो सकता है। क्यों कि बोधि के अभाव में सम्यक् तप और संयम नहीं होता है। सम्यक् तप संयम के अभाव से मोक्षमार्ग की आराधना नहीं होती है और मोक्ष-

विनय धर्ममा स्थापित करे छे अथवा भावार्थ अे छे छे—कुत्ती, सूकर अने अविनीत शिष्यनु स्वरूप साक्षणी आत्महितैपी विनयशील अने

भावार्थ—आ गाथा द्वारा सूत्रकार अेवा उपदेश आपे छे छे अे शिष्य आत्म कल्याणने अभिलाषी छे, अेनु कर्तव्य छे छे ते आ विनय धर्मनु आचरण करवाभा यैठा पख प्रमाद न करे. कारण छे अविनीत शिष्यनी आवी दुर्दशा थाय छे अे पूतिकर्णी शूनीनी तथा सूकर (शूडलना अन्वानी) आजकनी धर छे, अविनीतने केर पख विश्वास करतु नथी ते आ भवमा शूनी अकृपाने साजन अनी करेक स्थले अपमान आदि दुस्थितने सहन करे छे अने गच्छी पहार करी देवाभा आवे छे अने परभवमा शूनी आशातनाधी बोधिना लाभधी पख वंचित रखा करे छे बोधि लाभ बिना कही पख श्रेयस्कर मुक्तिने मार्ग अेने प्राप्त धर शकते नथी. केभके बोधिना अभावमा सम्यक् तप अने संयम छेतु नथी सम्यक् तप संयमना अभावधी मोक्ष मार्गनी आराधना अनी शकती नथी अने मोक्षमार्गनी

५४२ मानवव्यक्ति क व्यक्तित्वाधारभूत अनन्तपुरुष, अनन्तप्रकृति, नामक दो विवर्त, एवं तन्मूलक एकत्व-अनकत्व का सम्मरण—

व्यक्ति के वैयक्तिक स्वरूप में महतामहीयान् दा पञ्च प्रतिष्ठित-सम्बन्धित हैं जो अनन्तपुरुष, अनन्तप्रकृति इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्तिमानव अपने पुरुषभाव से भी अनन्त है, महान् है। एव प्रकृतिमानव में भी अनन्त है महान् है। पुरुषात्मिका महता अ नाम ही है 'मवित्'—'ममक', किंवा 'घोष'। एव प्रकृत्यनुगत महता का नाम ही है—'अनुमृति'—'ज्ञान'—किंवा 'बुद्धि'। इन दोनों में पुरुष की अनन्तता दिग्देशान्धलातीव 'एकत्व' से अनुप्राणित है तो प्रकृति की अनन्तता 'दिग्देश-आत्मात्मक 'अनेकरव' से अनुप्राणित है।

५४३—मानवव्यक्तित्वानुगत-पुरुषात्मक दिग्देशकालातीव आनन्त्य, तथा प्रकृत्यात्मक सखानुगत आनन्त्य का स्वरूप दिग्दर्शन—

ये दोनों के आनन्त्य में ('अनन्तता' रूप धम्म के विद्यमान रहत हुए भी) स्वरूपतः अन्त ही विवेक है। दिग्देशकाल से 'अनन्त' किन्तु अन्त्या में 'एक' यही 'पुरुष' का स्वरूप-परिचय है। एवं दिग्देशकाल से सादिसान्त किन्तु अन्त्या में अनन्त यही 'प्रकृति' का स्वरूप-परिचय है। इन दोनों भाषा की सम्बन्धितावस्था का नाम ही है पूण्य मानव अनन्त मानव महान् मानव पुरुषेण च प्रकृत्या च। मानव के पुरुषान्त्रानुगत सम्पूर्ण अन्त्र 'सवित्' को आधार बना कर ही प्रवृत्त होते हैं होने चाहिये। एव मानव के प्रकृत्यानुगत सम्पूर्ण अन्त्र 'अनुमृति' को आधार बनाकर ही प्रवृत्त होते हैं होने चाहिये। यदि ऐसा होता है तो यह मानव है। मानव ही नहीं उन अनन्त अ महान् प्रतिरूप ही है, जिसे अधिक महान् अष्ट सम्पूर्ण विरव में वृष्य आर को नहीं है।

५४४—मानव की 'महता', तथा 'अधमता' की आधारभूता शक्तिद्वयी—

आर यही मानव की उत महती समस्या के समाधाननोन सुचिंतित हैं जिनसे अपरिचित रह जाने के कारण किना परिचित होखने पर भी उपयोगिता में साहचर्य-विपर्यय कर देने के कारण महान् भी मानव अधमता का अर्थक बनता हुआ स्वयं भी अपनी इसी अधमता से अधम बन जाता है एवं अपने पारिवारिक-समाजिक-आदि आदि या अवस्था को भी अधम बना डालता है। पुरुषमूला सविम्व और प्रकृतिमूला अनुमृति, दोनों ही मानव की बंधी प्रकृत शक्तियाँ हैं जो ठीक ठीक व्यवस्थित होकर बड़ा मानव को सर्व-अष्ट प्रमाणित कर देती हैं वहाँ अव्यवस्थित दशा में आकर ये ही दोनों महान-शक्तियाँ मानव को सर्व-निकृष्ट बना डालती हैं।

५४५—सवि मूला निष्ठा, तथा अनुभूतिमूला 'माधुक्ता' का स्वरूप दिग्दर्शन—

सवि-शक्ति का आचारधर्मक व्यवहारकमक स्वरूप है— निष्ठा एव अनुभूतिशक्ति का आचारधर्मक स्वरूप है 'माधुक्ता'। समर्थ का निष्ठा से एवं 'ज्ञान' का माधुक्ता से सम्बन्ध है। 'आध' ही निष्ठा है, एव 'बुद्धि' ही माधुक्ता है। अपने सवित्-धम्मक-बोध-निष्ठा-रूप पुरुषभावों से बड़ी मानव नैतिक है एव अपने

शान्ति समृद्धि-शुद्धि-शुद्धि दुःखदुःखदुःख में परिणत हो जाती है, एवं असुख व्यक्तिविरोध की मूल से ही सर्वसम्पन्न-सुसम्पन्न मी परिवारी को धूलधूलधूल होना देखा गया, और सुना गया है। ठीक वही स्थिति 'समाज की है, तो यही स्थिति सम्पूर्ण 'राष्ट्र' की है बिना स्थिति का पर्यायस्थान अन्ततोगरगा सम्पूर्ण विरव पर ही होता है। अधिपति तो इस वैयक्तिक-विकल्पन को व्यक्ति की मूल को आगे खल कर 'त्रैलोक्य' विस्तार का भी कारण मान लेती है। हुआसुर-दारुणसुर-विद्युन्मासी-शालकटकुट-रावण बाबासुर-कल-आदि आदि एक एक ही व्यक्ति व बिना की मलासे त्रैलोक्य विकल्पित हो पड़ा वा। अतएव व्यक्ति वहाँ अपनी इस अपरिमिता शक्ति से 'महान् है वहाँ इस शक्ति की उपयोगिता में मल करता हुआ यही महान् व्यक्ति सवार में शीम उत्पन्न करता हुआ 'अधम उपाधि से मी समन्वित हो बाधा है। सशक्त-सशक्ता-व्यक्त-प्रचयबा-विद्यवाहिनी सेना का प्रत्येक सैनिक महान् है। इन सब महानों की महत्ता के सुपरिमाण-स्वरूप ही प्रखिलनी आततायी परामृत होते हैं एवं अराष्ट्र दुःख-शान्ति का अनुगामी बन जाता है। विन्दु वह स्वस्मिता विरवस्नीय है कि, इन सबसौ महान् सैनिकों में से किसी मी एक मी सैनिक की महत्त्वपूर्ण एक ही मूल से विद्यवेनुल मी सैन्यज पराधित हो जाता है। और यी केवल एक व्यक्ति की अधमता से सम्पूर्ण राष्ट्र को अधमावस्था में आबाना पड़ता है।

५४०-एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से विकल्पन-शान्ति, समृद्धि, शैमवोदय, एवं मानव व्यक्ति के महान्, तथा अधम-विषय--

उदाहरण के नियमन मी मानव के सम्पूर्ण उपस्थित होते रहे हैं और दो रहे हैं। एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से निकृष्ट परिवार मी उत्कृष्ट बन जाता करते हैं एक व्यक्ति की योग्यता से समाज का मी अनुदय सम्भव बन जाता है तो एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का अग्रगण्य बन देता है सम्पूर्ण विरव की शान्ति का कारण बन जाता है जैसे कि सेना के एक सैनिक की शक्तिशालि कमजूर से पराजय विध्वंस मी परिणत हो जाती है। देखें यह व्यक्ति का व्यक्तित्व और ऐसी है इस की महत्ता एवं अधमता। क्या रहत्य है इन दोनों प्रखिलनी पम्पों का? वही व्यक्तिमानव महान् और अधम-इन दोनों विकल्प मावों का अनुगामी कैसे बन जाता है? 'विद्युत्-शालकटकुट-रूपमीमांसा' केवल इस समस्या के चिन्तनमात्र के लिए ही तो प्रवृत्त हुई है बिल्के माध्यम से स्वयं मानव को ही इन परतों का सम्मरणात्मक उपाधान प्राप्त कर लेना है अपने अन्तर्गत में ही।

५४१-सवित्-मूला 'महत्ता' एवं अनुभूतिमूला 'अधमता', तथा सुख-शुभ, समझ-ज्ञान, बोध-शुद्धि, इत्यादि इन्द्रों का सम्मरण--

इन दोनों विकल्प-भावों के अर्थव्यक्त्य के लिए ही 'सवित्, और अनुभूति से दो शब्द अस्वीर्य हुए हैं राष्ट्रराज्य के अनन्तपरिमाणव माहस में लोकप्रिया में बिनके लिए, 'सुख-शुभ' राष्ट्र प्रयुक्त हुए हैं, बोधि- 'समझ- ज्ञान'- बोध- 'शुद्धि' इत्यादि अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं, एवं बिन इन दोनों भावों के लिए ही पर्य में- 'समझ बिना सुख पापकी- इस लोकप्रिया के व्यक्त्य की चेष्टा हुई है।

प्रतिष्ठा, किंवा स्वरूप माना गया है। यह श्रुतता, कृतकृत्यता गत्युपशान्तिरूपा स्थिति नित्य स्थितिलक्षण निष्ठा ही इसका स्वरूप है, और यही इसकी परिपूर्णता है। किन्तु इस परिपूर्णता की अभिव्यक्ति सम्भव बना लयी जाती है चरकि इसके श्लोक में प्राकृत-भाष्यता का समावेश होजाता है। भाष्यत्वके समावेश से ही नैष्ठिक पुरुष में स्वानुगत श्रुतता की अभिव्यक्ति होती है, जिस इस दिग्देशकालातीव नैष्ठिक पुरुष के सम्बन्ध में अब इससे अधिक भाष्यतापूर्ण तात्पर्यान्वेषण की अपेक्षा करना निष्ठानुग्रह से अपने आपको वञ्चित ही कर लेना होगा। अतएव—'मातिप्राप्ति । अन्यथा 'मूर्ता' तं विपातप्यति । जिसप्रकार भाष्यता के मूल में आधाररूप स निष्ठा है वधैव कदापि निष्ठा के मूल में भाष्यता प्रतिष्ठित नहीं है। शक्तिमान् मं शक्ति गृह करनी है, रहती है। किन्तु कदापि शक्ति में शक्तिमान् समाधिष्ट नहीं होता। पुरुष में प्रकृति है, कदापि प्रकृति में पुरुष नहीं है। अथवा पुरुष ही आधार है सर्वत्र सन अबस्थाओं में अपनी दिग्देशकालातीव्य अनन्तता से—'न त्वहं तपु अपितु त मयि । तौ तिर इस विपर्यय का क्या अर्थ हुआ ?। नवित से ही उतर पूर्वदिग्दि क क्या उतर हा मरता है इसका ।।

४४८—भाष्यता की आधारभूता अनुभूति का निष्ठाधारभूता मवित् में अपेक्ष-समर्पण, एव निग्रह-अनुग्रहों से असस्पृष्ट अनन्तपुरुष—

भाष्यता का निष्ठा के प्रति प्रयत्नमान से समपण प्रकृति का पुरुष में अपेक्षा युक्ति का वाच में शान का समझ में, अनुभूति का वक्ति में समझ समर्पण। यही तो यह महान् अर्थ है जिससे प्रकृति को दिग्देशकालातीव अनन्तपुरुष का आश्रय ही उपलब्ध हो जाता है एवं यह स्वयं ही पुरुष की निष्ठायात्र स अपने आप पर (भाष्यता पर) नियन्त्रण करने में समर्थ बन जाती है। दिग्देशकालातीव अनन्तपुरुष, कालातीव पुरुष न तो प्रकृति पर अनुग्रह ही करता न निग्रह ही करता। अपनी अनन्तता से वह इन दोनों ही प्राकृत-धर्मों से वृथक है।

४५०—निग्रह-अनुग्रह-प्रवर्तिका भाष्यतास्मिका अनन्ता प्रकृति का अनन्तपुरुष क प्रति समर्पण, एव समपण की स्वरूप-परिभाषा—

निग्रहानुग्रह, स्वात्म्य-प्रात्म्य स्वयं प्रकृति के भाष्यता के ही धर्म हैं निष्ठा के नहीं, पुरुष के नहीं। यदि अनुग्रह और निग्रह उसी के धर्म होते तो फिर कहना ही क्या था। क्योंकि प्रकृति उसकी धीमा से तिरि है कहीं। उस अनन्त के एकाग्र में ही तो प्रकृतिदेयी विराजमाना है। आश्रय तो ही तो रहता है प्रकृति ने पुरुष का। सकल्य प्राकृत विषय उसी में तो बुद्धुष्ट्य समाधिष्ट हैं। तिर क्या मय है प्रकृति का पुरुष के आश्रित होबाने का ?। इस प्रश्न का उत्तर पुरुष कदापि नहीं देता। न तो यह विधि करता न निषेध करता। विधि और निषेध, हों और ना दोनों इस प्रकृति के ही धर्म हैं। यह अनुकूलता में स्वयं ही विधिरूपा बन जाती है एवं प्रतिकूलता में स्वयं ही निषेधरूपा बन जाती है। प्रतीकता में सर्वत्र प्रकृति नियन्त्रण हा है, एवं प्रतिकूलता में सर्वत्र प्रकृति विधिरूपा ही है। वही तो हमन मानव को प्रतिकूल ही माना है इसका।

अनुभूति-ज्ञान-बुद्धि-मातृकता-रूप प्रकृतिमात्रों से बही मानव 'मातृक' है और दोनों ही मानवस्वरूप विरहेत्सक से समन्वित किरण की महती विभक्तियाँ हैं स्व-स्व-स्थान-क्षेत्रों में व्यवस्थित-प्रतिष्ठित खती हुई। पुरुषानुभव निष्ठा दिग्देशकालातीव्य है तो प्रकृत्यनुगता मातृकता दिग्देशकालानिष्कचना है। तात्पर्य-निष्ठा का क्षेत्र दिग्देशकालातीव्य 'पुरुष' है एवं मातृकता का क्षेत्र दिग्देशकालात्मिक 'प्रकृति' है। क्या तात्पर्य निष्ठा इस 'तात्पर्य' शब्द का ? स्वयं अपनी 'अर्थ' से ही समन्वय कर लीजिए। क्योंकि तात्पर्य के तात्पर्य का को। भी तात्पर्य कदापि बाकी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है, तो वह प्राकृत मातृकता-मान है।

५४६-प्रकृत्यनुगता मातृकता, तथा पुरुषानुगता निष्ठा क सरस्यक्षेत्र, एवं विभिन्न क्षेत्रों में दोनों की समादरशीलता का समन्वय—

इस मातृकता की दृष्टि से ही तात्पर्य शब्द का यही 'तात्पर्य' मान लिया जा सकता है मातृकतासरस्यक्षेत्र के लिए कि-मातृकता क क्षेत्र में मातृकता को स्वतन्त्र न बनने देना ही प्राकृत-मातृकता का क्षेत्र सरस्यक्षेत्र है। एवमत्र निष्ठा के क्षेत्र में निष्ठा को स्वतन्त्र न बनने देना ही पौरुष-निष्ठा का क्षेत्र सरस्यक्षेत्र है। क्या तात्पर्य के पुत्रमूत इस दृष्टि तात्पर्य क भी पुत्र का अर्थात् पोषण का भी अनुरोध करना पड़ेगा ?। कर लीजिए। क्योंकि यही तो मातृकता की स्वस्व-महिमा है जो आरम्भ करना तो अन्तही है किन्तु समाप्त करना नहीं जानती। हाँ वो समन्वय कीजिए इस 'तात्पर्य' के पोषण का। दिग्देशकालात्मिक प्रकृति के क्षेत्र में खानास्य तो मातृकता का अर्थात् पुष्टि का अर्थात् ज्ञान का अर्थात् अनुभूति' का ही है।

५४७-सविन्मूला अनुभूति का, सर्वरूपा निष्ठासमन्वितता मातृकता का प्राकृत-क्षेत्र में महान् विजय, एवं प्रकृतिमूला मातृकता के प्रति ही भेयोऽर्थ—

अनुभवविहित-संस्काररूप ज्ञान एवं उपपन्न बुद्धि ही प्राकृत किरण के धर्म्य प्राकृतिक कच स्व-कर्मों की प्रबलिका बनेगी बनती ही है। अतएव प्रकृति के दिग्देशकालात्मिकी सभी कर्म्य हैं तो मातृकतापूर्व ही। किन्तु इनकी वह पूर्णता सम्भव नहीं बना करती है बल्कि इनके मूल में आचाररूप से पुरुषमूला निष्ठा को, अर्थात् पोषण को अर्थात् समर्थ करे, अर्थात् संविद्धि को अपिष्ठित-प्रतिष्ठित-कर किया जाता है तो। शक्तिमान के नियन्त्रण से प्रथम ही जाने वाली शक्ति सर्वप्रथम शक्तिमान का ही संहार कर डालती है, तदनन्तर बही अनियन्त्रिता स्वतन्त्रशक्ति सम्पूर्ण शक्तिमानों का संहार कर दिया करती है। अतएव अनशक्तिरूपा प्राकृतमातृकता शक्तिमान् पुरुष की निष्ठा से किना निष्ठात्म्य से नियन्त्रित होकर ही आरम्भ कर्मों का साक्षात्कारपूर्व पूर्ण-सम्पन्न करने में समर्थ बना करती है। भेय सर्वकुल मातृकता की ही है मातृकता का ही है, दिग्देशकाल का ही है बुद्धि का ही है ज्ञान का ही है, अर्थात् प्रकृति का ही है। किन्तु !। इस किन्तु का उत्तर स्पष्ट है।

६४८-दिग्देशकालातीव्य पुरुष के क्षेत्र में सविन्मूला निष्ठा का साक्षात्कार, किन्तु वदाचार से अनुप्रायिता मातृकता का ही आचारपक्ष में प्राधान्य, तथा तद्द्वारा ही नैष्ठिक-पुरुष में श्रुतता का आधिमाय—

दिग्देशकालातीव्य पुरुष के क्षेत्र में खानास्य तो 'निष्ठा' का ही है अर्थात् 'पोषण' का ही है अर्थात् 'समर्थ' का ही है अर्थात् 'संविद्धि' का ही है। दिग्देशकालातीव्य श्रुतता ही अकर्ममार्गक रसातलपुरुष की

अनुन की, मातृक अनुन की मातृकता को निष्ठा का ही वर्णन मिला था भगवान् के द्वारा जिसके कल पर इन्ने गिरते पड़ते कृत्यनिष्ठा का निपाद निमा था। अर्जुनन अपनी इस तात्कालिकी मातृक-प्रकृति का कृत्यनिष्ठात्मिका चात्रप्रकृति से नियन्त्रण किया। इस नियन्त्रण से (कृत्यनिष्ठा से) नियन्त्रिता यही मातृकता निष्ठा रूप में परिणत होगी। यही नियन्त्रण अपेक्षित है प्रकृति के सामान्य में, जिसमें मानव के तालकालिक अनुभवों का कोष्ठ भी महत्व स्वीकार नहीं किया गया, बल्कि सम्पूर्ण उचस्था का निर्वाह इन अनुभवों से ही हुआ करता है। यदि दुर्भाग्यवश अनुन की यह प्राकृत मातृकता यह कृष्णा-दया-अहिंसा प्राप्ति लक्षणा कृत्यत-मानवता निष्ठावतार भगवान् के द्वारा नियन्त्रित होकर कृत्यनिष्ठ न बन जाती, तो क्या होगा?। हाता यही जो गीतेपदेशकाल के दोहवार वष के अनन्तर, एव तीन हजारवर्षपूर्वार्ध में हो पड़ा था एव जिस होपड़ने क महान् पाप से आबतक भी नैतिक भी मारतयज्ञ का परिणाम नहीं हात्का है।

५५४-नियन्त्रण व अभाव से ही भारतीय-मानवों की मातृकता के द्वारा त्रिमहस्र वपात्मिका अवधि में उत्तरोत्तर-परामव—

स्योकि तब से आबतक जो उद्बोधक आविर्भाव हुए मारतयज्ञ में, वन अपनी अपनी अनुभवितियों, लक्ष्णों मातृकताओं के प्रचार-प्रसार को ही मानवता-मानवधर्म का प्रचार-प्रसार-अनुमूत मात्र किया अपने मानस-बल में। यदि य महानुभाव अंतर उठाकर, अपने अनुभवारित काल्यनिक बल से घरागात्र के लिए भी बाहिर आवि उठाकर यज्ञ पर दृष्टि बालने का अनुभव कर लेते तो 'नकी इन अनुभवितियों के रूपनाम्नी के अनुभव से समाधा चत-विबल होशे रहने वाले यज्ञ की बुद्धि पर अवश्य ही इनका प्यान चला जाता। किन्तु चला कैसे जाय?। अनुमति जो 'नके साथ थी वो कृत्य की दृष्टि सर्वथा ही खीन लिया करती है। इनका ईश्वर भी केवल इन्हीं का होता है। यह केवल इन्हीं को उपचाप आकर सत्य 'अहिंसा' प्राप्ति का वास्तविक मर्म समझ जाता है। और यों य अपनी अनुमति के कल पर ही भगवान् के समसम्बन्धी बनकर अनुन की मांशि स्वयं ही निर्णायक बन बैठते हैं जिन निर्णयों की अन्वयानुधारणी मातृक प्रवा क कष्ट कम होने के स्थान में उत्तरोत्तर कृत्य ही प्राप्त हैं भगवान् के नाम पर एव मातृक महर्षी की मक्ति के नाम पर।

५५५-'कर्तव्यनिष्ठा' चात्रय के 'कृत्यव्य' पर्व की प्रकृतिपरायणता, एव 'निष्ठा' पर्व की पुरुषपरायणता, तथा कर्तव्य, और निष्ठा के साहचर्य से 'अहन्ता' का उद्घ—

अब उक्त निष्ठा का भी विचार करल जो केवल दिग्देशकालादीय अनन्तपुरुष का ही 'वन' है एवं बिस्पर मानवप्रकृति का कोई भी स्वत्वाधिकार नहीं है। 'कृत्यव्यनिष्ठा' में 'कर्तव्य' और 'निष्ठा' ये दो पर्व विभाग हैं। 'कृत्यव्य' प्रकृति की सम्पत्ति है तो 'निष्ठा पुरुष' की सम्पत्ति है। यदि पुरुषात्मिका निष्ठा के साथ प्रकृत्यात्मक कर्तव्य का सम्बन्ध होजाता है तो कर्तव्य तो अवश्य सम्पन्न होजाता है। किन्तु इस कर्तव्य में 'अहन्ता' का उद्घ होजाता है। अनन्तपुरुष का जो यत्किञ्चिदर्थ प्राकृतभाव से सम्न्वित होकर-'अहं' रूप जीव बनता है यह वन निष्ठा-मातृकता का विवेक करने में असमर्थ बनता हुआ (जिस अत्यमर्त्य का मूल अरण्य प्रत्यक्षप्रभाकमूला मातृकता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है) प्रकृति के कर्तव्य को 'च पुरुषात्मक

५५१—पुरुषसूक्त-‘स्व’ तन्त्र’ में समर्पिता प्रकृति की ‘सर्गतन्त्रस्वतन्त्रता’ का तात्त्विक दिग्दर्शन—

प्रतिरूपता से होता यही है कि, प्रकृति की दिग्देशकलासिमिष्य मातृकता भी सुरक्षित रह जाती है एक अनुसूक्त पुरुष की निष्ठा से इसकी यह मातृकता कृत्स्ननिष्ठा से भी नियंत्रित बनी रहती है। एक यही ‘पर कन्त्रानुगत (अभ्यन्तपुरुषतन्त्रानुगत) यह ‘परतन्त्रता’ है जिससे प्रकृति ‘स्व- (अद्वयव्यपुरुष क) तन्त्र’ में निष्ठापूर्वक प्रतिष्ठित रहती हुई ‘सर्गतन्त्रस्वतन्त्रता’ बनी रहती है। यही प्राकृत मानव की सर्वत्र स्वतन्त्रता का चिह्नवनेतिष्ठ है। उसका आश्रय लेने से मानवप्रकृति की मातृकता में श्रुतता को अक्षर्य बन जाती है। और इस श्रुतता से आश्रित मानव महान् भी अक्षर्य ही बन जाता है।

५५२—पुरुषानुशीलनात्मक समर्पण, अनुभूत्यात्मक संस्मरण, एवं दोनों क तारतम्य से अनुप्रायिता वास्तविक-वस्तुस्विति का स्वरूप-समन्वय—

किन्तु बिना इस आश्रयता के समर्पण के इसकी इस श्रुतमातृकता में निष्ठा का उदय नहीं हो पाता। फलतः ऐसा केवल महान् मातृक अन्तःसोक्तवा अनुभूतिपरमण ही बना रह जाता है। इसका संस्मरण बुरा पक्ष है, किन्तु उसका अनुशीलन अन्त्य पक्ष है। संस्मरणत्मक प्रत्यर्पण में निष्ठा का उदय सम्भव ही नहीं है। क्योंकि इसमें सर्वथा मरुत की अनुभूति, किंवा मातृकता ही प्रधान बनी रहती है। और यहाँ मरुत ही मग्नान से बड़ा मानता रहता है अपने आपकी मग्नान् का शुभसुवाद करता हुआ भी। इसी मग्नान-मातृकता से सम्पूर्ण कृत्स्ननिष्ठा सर्वथा ही अमिष्य हो जाती है ऐसे मातृक मरुतपक्ष की जिसका सर्वत्रोद उदाहरण मातृक अशुन से बड़ा बुरा और बौन होगा। ठीक इसके विपरीत अनुशीलनमरुत संस्मरण में उन्मुख ही निष्ठा का उदय हो जाता है। क्योंकि अनुशीलन में अनुशीलनकर्ता कृत्स्ननिष्ठ मानव का ‘कृत्स्न स्व’ ही प्रधान बना रहता है। यहाँ अनुशीलनमरुत उपरदासिस्वपूर्ण कृत्स्न का ही अर्पण होता है जिसमें अनुशीलन कर्ता की मग्नान-मातृकता कल्पना-का स्पर्श भी नहीं है। कृत्स्न का निर्धारण यह स्वयं अपनी अनुभूति से नहीं करता। अर्पित राश्र के द्वारा स्वतास्विक निर्धारित कृत्स्नकर्म के माध्यम से ही अनुशीलन-परमण बना रहने वाला यह कृत्स्ननिष्ठ मानव अपनी मग्नान-अनुभूति-बैरी को ही वस्तुतः अपने कोच में नहीं रखता।

५५३—मग्नान् के मातृक मरुतों, और नैष्ठिक-मरुतों का संस्मरण, तथा-सहज मातृक अशुन की मातृकता का स्वरूप-दिग्दर्शन और मग्नान् के द्वारा अभियन्त्रण—

“मग्नान्-मरुत-आर मातृकता एवं “मग्नान्-मरुत-और निष्ठा’ दोनों में जो अन्तर है यही मातृकमरुत में एवं नैष्ठिकमरुत में अन्तर है। अशुन निष्ठा-मातृक मरुत या अतएव महान् या। किन्तु इस महत्ता से ही तो मानक्य अमिष्यक नहीं हो जाती। मात्राबंध में आकर अभुषाव करने से नाच-ग-पहन से ही तो कृत्स्ननिष्ठा का उदय नहीं हो जाता। अतएव क्या हुआ अशुन के लिए मग्नान् का आश्रय, बैरी मरुत का बरदान मिला अशुन को, गीतामरुतों से प्ररनी के उन्मुख परमण नहीं है।

५५८—मोहासक्त, अतएव 'मूढ' उपाधि-विभूषित, परदुःखकातर भावुक-मानवधेर्त्ता के सम्यन्ध में श्रुति क उद्गार—

इस किन्तु 'परन्तु' का समाधान तो भगवान् ही कर सके थे, बिनके अवतार की आज्ञा भी हम मात्र वाली वैसी ही, किंवा उस से भी अधिक आपदायकत्व अनुभूत कर रहे हैं। इसलिए विशेषकर से कर रहे हैं कि, उन का प्रतिरूपतमक सर्वमूढन्य आचारनिष्ठा मङ्ग-गीतारात्र भी आज भावुक भक्तों की मायुक्ता का उल्लेख ही प्रमाणित होना जा रहा है, किंवा होना ही है। अतः न क मायुक्तापूर्ण उद्गार ही आज गीतारात्र के विद्वान्त्वपक्ष माने, और मनवाए जा रहे हैं अपनी अपनी अनुभूतियों के मूल पर उठी मायुक्ता के आवेश में जिन इश्वरपरायण एते भावुक भक्तों को ही गीतारात्र में—'मूढ' उपाधि मिली है, जैसाकि उसी श्रुति और स्मृति (गीता) शास्त्र के निम्नलिखित यत्नों से प्रमाणित है—

- (१)—दन्त्रम्यमाथा परियन्ति मूढाः । ध्याननि -पपिठता ब्राह्मणाः—(ऋग्वेद ० १५)
- (२)—तदिमे मूढा उपजीवन्ति (लोकचतुरा -आस्तिका -सत्त्वान्यामुग्धाः-क्षत्रियाः)
- (३)—प्रमाद्यन्त विचमोहेन मूढम् (भगवद्भक्ता धनिन -वैश्या) —(ऋग्वेद ० २५)
- (४)—यथा मुग्धा अधिर्वांसो मनसा (यथाजाताः आस्तिका शूद्राः)—(शु ष ६।१।११)
- (५)—'कवयोऽप्यत्र मोहिता (१) (गीता ४।१६) —'मूढोऽय नाभिजानाति' (२) (२।२५) —'अवजानन्ति मां मूढाः' (३) (६।११) —'तेन मुह्यन्ति जन्तवाः' (४) (५।१५) —'मूढा-जन्मनि-जन्मनि' (१६।२०) ।

५५९—कर्णव्यविस्मृतिरूपा 'मूढावस्था', हीनकर्णव्यरूपा 'विमूढावस्था', एवं 'मा ते व्यथा'—'मा च विमूढभाव' का संस्मरण—

कर्णव्य की विस्मृत्यरूपा का नाम है 'मूढता' जिस में मानव शीघ्रविमनमानस बन जाया करता है। एवं कर्णव्यविस्मृतिरूपा ब्रह्मा एवं इस ब्रह्मा की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होपड़ने वाली बचन्य-कुर्मप्रवृत्ति से अभिव्यक्ता शोक-व्यथा-विस्मृति-रूपा आत्मवृत्तक ब्रह्मा का नाम है—विमूढता जिसमें सभी कुछ समाप्त होजाता है। 'मा ते व्यथा'—यह पूर्वज्ञान्य शोकानुभूतिरूपा 'मूढता' की ओर संकेत कर रहा है एवं 'मा च विमूढभावः' यह उत्तरवाक्य तदुत्तरभाविनी कुर्ममूला आत्यन्तिक-ब्रह्मा-लक्षणा 'विमूढता' की ओर संकेत कर रहा है।

५६०—धर्ममोह-आस्तिक-मायुक की आद्यन्ता दुःखनिमग्नता, एवं तदनुगामी-भक्तों का तथागतत्व, किंवा 'तथागतत्व'—

निवेदन का यही करता है कि, ईश्वर-परलोक-आत्मा-धर्म-कर्म-आदि आदि सभी शास्त्रीय मार्गों के प्रति आस्था रखने वाला, किन्तु परदर्शनमूला मायुक्ता के कारण धम्मनिष्ठ-शास्त्रनिष्ठ-कथव्यनिष्ठ

'अह (धीव)' का कर्तव्य मान बैठने की महाममानक भूल कर बैठता है, तो इस अह रूप चैतन्य में प्रकृति की 'बढ़ता' का समावेश होनाता है। और देख मानव इस अवस्था में आकर केवल ब्रह्मप्रकृति ही प्रकृति बना रहनाता है। स्वयं प्रकृति का अनन्तकालिक विस्तार भी इस की अहकारविमूढा विकृतितत्त्व प्रकृति से परोक्ष ही बन जाता है०।

५५६—अहन्तामूला—प्रत्यक्षप्रभावात्मिका भूतबद्धता के द्वारा कर्तव्यासक्त कुनैष्ठिक की 'विमूढता', एवं कर्तव्यव्युत् की—'मूढता'—

स्वाहावृत्ति—मावलुगत प्रत्यक्ष इह भूत—भौतिक पदार्थों का 'स्वार्थ' ही इच्छा इस 'बढ़ता' का आचर-
स्वयं बन जाता है। यह अपने सामने की भूतवस्तु को छोड़ कर फल—परती का भी विचार करने में असमर्थ बन जाता है। इसी को सम्मूढ कहा गया है विमूढ कहा गया है जब कि केवल मातृक 'मूढ' नाम से ही व्यक्त होने योग्य है (नैष्ठिक की अपेक्षा विमूढ बनता हुआ भी)। 'अहङ्कारविमूढात्मा' (गीता १।२७।)—
'प्रकृतेः गुणसम्मूढा' (गीता १।२९।)—'सर्वज्ञानविमूढास्तान्०' (गीता १।३२।)—'इन्द्रियार्थविमूढस्व' (मैत्रुपनिषत् १।१४।)—'चेतैर्विमोहयत्येषः' (गीता १।४।)—'इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा' (गीता १।१।)
'विमूढा नानुपरयन्ति' (गीता १।५।१।)—इत्यादि श्रौत—स्मार्त बचन शास्त्रात्मिक स्वार्थपरायण—इन्द्रियलोष्टप-
सर्वज्ञानविमूढ—सम्मूढ—अज्ञानता के इस स्वरूप का ही यथोक्तान् ! कर रहे हैं किन्तु इन अपनी व्यवहारमात्र में 'कुनैष्ठिक'—'बुद्ध'—'हृत्'—'आध्यात्मि'—'असुर'—'राक्षस'—'नराचम' पिशाच'—आदि आदि सम्मानित !
उपाधिर्वा प्रदान करते रहना अपना मानवोचित कर्तव्य ही मानते आरहे हैं।

५५७—परदुःखकातर, अतएव विगदेशकालविमूढ अर्जुन—समतुलित कर्तव्यव्युत् मातृक मानधों का प्रशंसात्मक, किन्तु दयनीय स्वरूप—

अर्जुन—सदृश कर्तव्यविमूढ मातृक मानवभेष्ट तो केवल मातृक हैं निरपराध—सौम्य जैसे मानव हैं, जो सब कुछ स्वयं करने के लिए अहोरात्र सज्ज ही सज्जे रहते हैं। परदुःख से कातर बन रहने वाले परोपकार की भावनामात्र से सम्निवृत् ऐसे धर्मनीच मातृक मानव ही अपनी मातृकतापूर्वा अनुभूतिनी उद्वेगों से गर्दभ करते रहते हैं स्वसमानवर्मा मातृक प्राणियों का। अतएव ऐसे मानवभेष्ट मातृक महामानवी से अज्ञान के अतिवृत्ति की कल्पना भी सम्भव नहीं है। अतएव वे जो अज्ञान के 'अज्ञानार्थ' की ही कामना किया करते हैं—निजिब दुःख-
त्यन्तनिवृत्तिब्रह्म पुत्रधर्म का उच्छ उद्वेग करते रहने वाले भीतरण सम्पाधियों की भाँति किंवा दार्शनिकों की भाँति। मानवकुलम इन का स्वैक्य, इन की गरिमादिमानवी बाणी परदुःखप्रभवकामात्र से अज्ञानपूर्वाकुलबुद्ध बन जाने वाली इन की मातृक—आकारक—आहृति इव परदुःख—निवारण—अमना से ही अपने आप को, परिवार को, समाज को एव सर्वान्त में उन्न को ही बलिबेदि पर हैंछते हैंछते बढ़ा देने वाले ऐसे परोपकारी अन्व—ब्रह्मणा—दया—अहिंस—क पुत्रारी मानवभेष्ट अर्जुन की अितनी प्रशंसा की जाय, भोजी है। भिन्तु !।

* प्रकृतेः कियमाणानि गुणैः कृष्णाणि सर्वत्र ।

अहङ्कारविमूढात्मा कृत्वाहमिति मन्यते ॥

—गीता १।२७।

पुरुष ने अर्जुन को धर्मोपदेश करने के लिये इन दोनों को कथनों से नरदत्तवाच्य शिवा नरदत्तवाच्य मान कर रखते हैं। वा उच्यते सुग क समभ्रेष्ठ धम्मनाक, एव उच्यते धम्मनाक ही क्त हुए य किन्तु धम्मनी नापुष्ट्या तथा कुमिप्या उ ननक रैठ य वा धम्मन आरका धम्मना धम्मनिष्ठ एवं कसन्वनिष्ठ ही।

५६४-धम्म, तथा नीति का व्यवच्छेदात्मक भीषणतम महामारतपूग, एव धमामिनिविष्ट भावुक अर्जुन, तथा नीत्यमिनिविष्ट कुनैष्टिक दुर्योधन—

एक (अर्जुन) धम्म का आचाप्य बनता हुआ मानवता-स्व नैष्ठिक-रूप का म्यास्तान म्भइ रण था धर्मों में धर्म नर नर कर, वा दूनय रात्रीति का यनावाप्य कतल हुआ दशबाज का पूज गता कने का धम्म कथा हुआ धर्मनी उच्यनिप्या के मरुत में प्रयत्नरूप कता हुआ या अ-धम्म-उच्यनिप्या का कलमनिप्या मानता हुआ। दो धम्म और धम्म-विषय धम्म और नीति तथा ही विनक्त होए य उच्य पु नें। धम्मनिष्ठ विधिष्ट नापुष्ट पराधी अर्जुनन नीति को बनाउने धम्म करवाणी थी वा नैष्ठिकनिविष्ट कुनैष्टिक धर्मो दुर्योधनन धर्म का बनाउने प्रान कर ी था। धर्म-गदना का उच्य क्य था धम्म और रात्रीति का मया पा नापुष्ट्या, और उच्यनिप्या की प्रविष्ट्या थी। धम्म कने विषयी हुआ इत उच्य नें। का अर्जुनन धम्म नापुष्ट्याय धर्मिक-व्यास्तानी, मानवाचित अहिंसा-रूप धम्मों की वास्तविकी उ उच्यनिप्या धर्मोपदेश का लन कर जाता।। स्व ही उच्य प्राय कर लीचिउ उठी म्भइरास्व के नाप्यन व।

५६५-‘इस्वरनिप्यामिक्का’ सहज कर्त्तव्यनिप्या का स्वरूप दिग्देशन तदमिक्का शास्त्रनिप्या, तद्रूपा ‘धम्मनिप्या’ एव तदनुगत पुरुष-प्रकृति-समन्वयात्मक इन्द्रों का निषिरोध-व्यवस्थापन—

धम्मनिप्या का इत्यन पय प्रकृति क उच्य नें ही निरन्तर रहना चाहिये, एवं ‘निप्या’ एवं पुरुष के उच्य नें ही, म्भइरूप स ही उच्य खना चाहिये। इन स कथाति धम्म, उच्यनिप्या नोह (नृप्य) एव धम्मोपदेश का प्रकाश करन का धर्मनर ही नहीं मिलता। दिग्देशकालानुगत कतल धम्म को दिग्देशकालादीय निप्या म निरन्तर स्वन पर जो उच्यनिप्याक उच्य मन्वय होय हे उची का नाम हे-‘धम्मनिप्या’ यही हे ‘इस्वरनिप्या’ यही हे ‘शास्त्रनिप्या’ एव यही हे ‘धम्मनिप्या’ धित की ध्यामि क उच्यन के लिए ही नगवन्ध कवर्त्तय हुआ कथा हे। धित निप्या में पुरुष-प्रकृति मधिम-अनुभूति ‘मनक-मान’—‘धोव’—‘नुदि’—‘धम्म’—‘नीति’—‘परलोक’—‘इल्लोक’—‘अन्नुदय’—‘निभेपत्’—‘निप्या’—‘भावुक्ता’ दिग्देशकालादीयप्र-दिग्देशकालात्मक धितय द्यति दोनों नाम स्यान्ना अन्वयनरूपेण तथा धितवचनरूपा निरिष्टेय धम्मनिष्ठ रखते हैं। एव एते ही नानकभेष्ट को बरा शाय हे-‘नैष्टिक’ धित का धर्म हे-‘अन्तभावुक्तागमिष्ठ निप्यावाच्य धैतिक निष्प के अर्जुन परिशिष्ट-धर्मों में लोच्यनरन्वय क नाप्यन से विस्तार से कताया जाने वाला हे।

५६६-दिग्देशकालधर्मों का समाहर, एवं तदनुगत ‘यत्किञ्चित्’ सशोधन—

इन धर्ममान करते हैं कि, धर्म उच्य ‘यत्किञ्चित्’ का धर्म उच्यनिष्ठ होय हे इत्या-उच्य उच्यन-धम्मों के। धर्म ही इन दिग्देशकालधर्मों का उच्येय अर्जुननिष्ठ नहीं मानते। कथं क शास्त्रनिप्या पर

'अहं' (बीय) का कर्तव्य मान बैठने की महामयानक भूल कर बैठवा है तो इस 'अहं रूप बैठने में प्रकृति की 'बद्धता' का समापन होबाता है। और ऐंघ मानव इस अवस्था में आन्तर केवल बद्धप्रकृति ही प्रकृति बना रहबाता है। स्वयं प्रकृति का अनन्तनासिक विस्तार भी इस की अहंकारविमूढा विरहितव्यवस्था प्रकृति से परीच ही बन बाधा है० ।

५५६-अहन्तामूला-प्रत्यक्षप्रभाषात्मिका भूतबद्धता के द्वारा कर्तव्यासक्त कुनैष्टिक की 'विमूढता', एष कर्तव्यव्युत्त की-'मूढता'—

एषाहृष्टि-माभावगत प्रत्यक्ष दृष्ट भूत-मौलिक पदार्थों का 'स्वार्थ' ही इच्छा इस 'बद्धता' का आचार-स्तम्भ बन बाधा है। यह अपने सामने की भूतवस्तु को छोड़ कर कल-परती का भी विचार करने में अक्षम्य बन बाधा है। इसी को 'सम्मूढ' कहा गया है 'विमूढ' कहा गया है जब कि केवल मातृक 'मूढ' नाम से ही व्यक्त होने योग्य है (नीष्टिक की अपेक्षा विमूढ बनता हुआ भी)। 'अहङ्कारविमूढात्मा' (गीता ११२७) - 'प्रकृतेशु'वासम्मूढा' (गीता ११२८) - 'सर्वज्ञानविमूढास्ताम्०' (गीता ११२९) - 'इन्द्रियार्थविमूढत्वं' (मैत्रयुपनिषत् १।१४७) - 'पैतृर्विमोहयत्येषः' (गीता ११४८) - 'इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा' (गीता ११४९) 'विमूढा ननुपरबन्धि' (गीता ११५१) - 'इयानि भीत-स्मार्तं बन्धनं तत्प्रकाशिकं स्वार्थपरयथा इन्द्रियलोहप-रुपज्ञानविमूढ-सम्मूढ-अज्ञमानवी के इस स्वरूप का ही व्याख्यान ? कर रहे हैं 'विह' हम अपनी व्यवहारमार्ग में 'कुनैष्टिक'-'बुद्ध'-'भ्रू'-'आलतापी'-'असुर'-'राक्षस'-'नराधम' पिशाच -आदि आदि सम्मानित । अपाधिया प्रदान करते रहना अपना मानवचित्त कर्तव्य ही मानते आरह है ।

५५७-परदुःखकतर, अक्षयव दिग्देशकालविमूढ अर्जुन-समतुलित कर्तव्यव्युत्त मातृक मानवों का प्रशंसात्मक, किन्तु दयनीय स्वरूप—

अर्जुन-कतर कर्तव्यविमूढ मातृक मानवकेष्ठ तो केवल मातृक है निरपराध-सौम्य ऐसे मानव हैं, जो सब दुःख स्वयं धरने के लिए आहोयत्र समझ ही कहे रहते हैं। परदुःख से कातर बने रहने वाले परेकपर की माननामात्र से सम्पन्नित ऐसे धर्ममीर मातृक मानव ही अपनी मातृक्यपूर्ण अर्जुनभूमियों उच्चारी से मग्न करते रहते हैं स्वसमानधर्मा मातृक मालिनी को। क्वापि ऐसे मानवकेष्ठ मातृक महामानवी स जगत् के अनित की कल्पना भी सम्भव नहीं है। अरिष्ट ने तो क्या जगत् के 'कल्पयाम्य' की ही कामना किया करते हैं-विश्व-दुःख-सन्तनिवृत्तिव्यव पुस्तार्थ का अर्थ उपपन्न करते रहने वाले नीचरग घन्यास्थियों की मूर्ति किंवा शरीरानि की मूर्ति। मानवसुलभ इन का लौकिक, इन की गविमामहिमामनी बाणी परदुःखअवपमान से अर्जुनपूर्णकुलौघड बन जाने वाली इन की मातृक-आकर्षक-आकृति इस परदुःख-निवारण-अधमना से ही अपने आप की, परिवार को, समाज को एवं अन्त में राज को ही बलिबेहि पर हैंछते हैंछते पड़ा देने वाले ऐसे परेककारी व्यव-कल्या-दय-अहिंस-के पुकारी मानवकेष्ठ अर्जुन की कितनी प्रशंसा की जाय योग्य है। किन्तु !।

० प्रकृते क्रियमाथानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहङ्कारविमूढात्मा कथाइमिति मन्यते ॥

—गीता ११२७

विनये=अभ्युत्थानादिगुरुशुश्रूषालक्षणे स्थापयति । उक्त च—

विणया होइ य गाण, गाणाओ दसण तओ चरण ।

चरणार्हितो मोक्खो मोक्खे, सोक्ख निरावाइ ॥ १ ॥

उया—

विनयाद् भवति च ज्ञान, ज्ञानाद् दर्शन ततश्चरणम् ।

चरणाद् मोक्षो, मोक्षे सौख्य निरावाधम् ॥ १ ॥ इति ॥ ६ ॥

अथोपसहरञ्चाह—

मूलम्—तम्हा विणयमेसिज्जा सीले पडिल्लभेज्जओ ।

बुद्धपुत्ते नियागट्ठी न निक्कसिज्जइ कणहुइ ॥ ७ ॥

छाया—

तस्माद् विनयमेपयेत् शील प्रतिलमेत यत् ।

बुद्धपुत्रो नियागार्यो न निष्कास्यते कृतञ्चित् ॥ ७ ॥

टीका—

‘तम्हा इत्यादि ।—तस्मात्=दृशीलस्य सर्वतो निष्कासनादिरूपा दुर्गति र्भवतीत्युक्तरूपात् कारणात् साधुर्विनयम् एपयेत्=कुर्यात् धातूनामनेकार्यत्वात् ।

मार्ग के आराधना के अभाव में अनत ससार परिभ्रमण करना पड़ता है, उसलिये शिष्य को अपने परमोपकारी गुरु महाराज का विनय सदा करना चाहिये । वे जय कहीं से अपने स्थान पर आवें तो शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह उनके समक्ष जावें—उन्हें देखकर अपने आसनसे उठ खड़ा होवे । उनकी शुश्रूषा आदि करता रहे । इससे विनय धर्मकी आराधना होती है । कत्ता भी है—विनय से ज्ञान होता है । ज्ञान से दर्शन और दर्शन से चारित्र्यका लाभ होता है चारित्र्य से मोक्ष और मुक्ति होने से इस जीव को अव्यायाध सुख की प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

आराधनाना अभावथी अनत ससार परिभ्रमण करवुं पडे छे आ माटे शिष्ये पोताना परोपकारी गुइ महाराजने सहा विनय करवो ब्बेधये तेओ न्यारे कथायथी पोताना स्थान उपर आवे त्यारे शिष्यनु ओ कर्त्तव्य छे के ते तेमनी आमे ब्य—ओमने ब्बेध पोताना आसन उपरथी उठी उवा रहे अने ओमनी सेवा करवाभा लागी ब्य, आधी विनय धर्मनी आराधना धाय छे विनयथी ज्ञान धाय छे, ज्ञानथी दर्शन अने दर्शनथी चारित्र्यने लाभ धाय छे चारित्र्यथी मोक्ष अने मुक्ति यवाथी आ एवने अव्यायाध सुभनी प्राप्ति धाय छे ॥६॥

के स्थान में धर्म्ममीरु-शास्त्रमीरु-कर्त्तव्यमीरु-वन जानेवाला परतुःपरावृत्त्यात् मानवभेद ही 'भावुक' कहलाया है, जो परतुःलों की चर्म्मणा में ही आपन्त का दुःखी बना हुआ एक दिन इन दुःखों में ही समाप्त हो जाता है एवं उदन्तर उसके आच-अनुवायी उदके माधुक्यापूर्ण इन त्याग-तपस्व-विवृम्भणों के स्थापानमात्र से अपने आपको भी उठी माधुक्यापूर्ण पथ के पथिक बनाए रहते हैं ।

५६१-ईश्वर-धर्म्म-शास्त्र-मीरु, मान्यतामात्रों में नितान्तमीरु भाषुक-मानवों की परम्परा से ही अनेक शताब्दियों से उत्पीड़ित भारतराष्ट्र—

सचमुच धर्म्ममीरु-शास्त्रम रु-ईश्वरमीरु-सर्वापरि क्त्य, आर्हिष, दया, कृपा-मानकता-आदि में नितान्त मीरु ऐसे माधुक मानवों की परम्परिक-सृष्टि-परम्पराने ही तीन सहस्र वर्षों से भारत की धर्म्म-शास्त्र कर्त्तव्य-ईश्वर आदि विमल-निष्ठाओं को विस्तृति के गर्भ में ही जिलीन बनाए रखा है । इन की इस माधुक्य के ही अनुग्रह से निःसंशय एकमात्र अनुमक्तिमूला इस विशुद्धा माधुक्य से ही उन किन्हु उग्रदुर्मि-सं-स्वार्थी-कुनैष्ठिकों को ही उत्तरेतर इस राष्ट्र में अन्तर्धर्म्मसम्भव से हकूमल बनाया है जिनके कारण ही संस्कृत विद्यमान रहते भी भारतराष्ट्र भी-समुद्धि-विद्या-योग्य-यशो-विहीन ही बनता आया है विगत तीन सहस्र वर्षों से ।

५६२-कर्त्तव्यनिष्ठासक्तिमूलक व्यामोहन से व्याप्तुग्व मानव की तमोगुहान्विता अज्ञता, एवं त्वद्वारा भीषण-अज्ञान-तापद्वय—

निवेदन किया गया है कि 'कृत्तव्यनिष्ठा' शब्द के 'कृत्तव्य' पूर्व का प्रकृति से तथा 'निष्ठा' पूर्व का 'पुत्र्य' से सम्भव है । जब कर्त्तव्यात्मक प्रकृतिमान निष्ठात्मक पुत्र्य के क्षेत्र में जाता हुआ पुत्र्य की सम्पत्ति बन जाता है तो प्राकृत मानव का वैश्वपुत्र्यमात्र (भीवमात्रा मन्-अहभाव) 'आहं करोमि' (मैं करता हूँ) इस सिध्दात्म में आकर कालान्तरमें निश्चित कृत्तव्य से परतुःमूल ही होजाता है । यही अकर्म्मवयता कालान्तर में इसे तमोगुहप्रधान जैसे अकर्म्मों की ओर ही प्रवृत्त कर देती है किन्तु एकमात्र उद्देश्य बना रहता है हिंसक विद्या-आदि प्राकृत जीवों के उग्रकर्म्मपर किरी भी उपाय से-हृत्त-कल-कफ-हिंसा-स्तेय-दस्य-वृत्ति आदि से स्वार्थप्रेषण करते रहना । यों आरम्भ की 'भावुकता' ही कालान्तर में 'अचमता' की बननी बन जाती है । माधुक्य ही यों परम्परया अपने गर्भ में से ही मानवाचम उत्पन्न करदेती है । जैसे तो मानवता के क्षेत्र में मूलतः सभी मानव ही हैं । कृत्तु इन मानवों की प्राथमिक माधुक्यताले ही सभी राष्ट्रों में अपनी मानवता के गर्भ से ही दानक-दस्युओं को उत्पन्न कर जाता है जो दानक-दस्यु अपनी बननी मानवता को ला-ला कर ही अपनी अयत्निक करते रहते हैं । कर्त्तव्य-जो जिस से उत्पन्न होता है वह कृती को आकर जीवित रहा करता है' इस प्राकृतिक-नियम का अतिक्रमण कदापि सम्भव नहीं है-निष्ठा के अतिरिक्त ।

५६३-धर्म्ममीरु माधुक अज्ञान, तथा कर्म्ममीरु कुनैष्ठिक दुर्ग्रोचन, एवं इन का धर्म्म निष्ठा-कर्त्तव्यनिष्ठा-रूपा महती आन्ति—

अमन्ते मात्र के लिए माधुक की पूर्वानस्था को बहा इन 'माधुक' कह लिये हैं बहा इनी की अन्तिम-अज्ञानस्थाका सिन्दास्ता (उत्तरवस्था) को 'कुनैष्ठिक' कह लिये हैं, एव काल से पाँच वर्ष पूर्व के

५६६-दिग्देशकालस्यकर्ममूल, अवसरवादी दुर्योधन की धर्मशून्या नैतिक-कुशलता, एवं तद्द्वारा सामान्वित दुर्योधन क लोकवृत्त का नीरवीरविक्रम—

तो क्या दुर्योधन का पक्ष ठीक था ? नहीं। यह तो अनुनय भी अधिक बुद्धिमान् ! बन गया था। अनुनय की बुद्धिमानी एक सीमा में तो थी। पर अपनी इस मातृकापूर्णा बुद्धि का लक्ष्य बूखी को तो नहीं बनाना चाहता था। केवल परनाचाप ही कर लिया था इतन अपने आप में ही दुर्योधनादि के लिए—। धिन्तु कुनैदिक दुर्योधन तो इस सीमा का भी अधिकमप कर बैठ था। उसने तो कण ब्रैत महान् परिष्कृत कर को अपने जैसा बना ही जा लिया था। उसने भीष्म जंस धम्मज का विवश कर लिया, शोषाचार्य बंस नाकणभेष्ट को भैतिक बना डाला। और क्या क्या दुष्कर्म नहीं करवाले इस दुष्टबुद्धिने अपने राजनीतिक-संवदन के लिए ? अवश्य ही हमने उन सभी अवसरो से लाभ उठा लिया था भी अवसर इसके सम्मुख दिग्देशकालानुगत उपस्थित हात गए। यही नहीं, इस बाणासुर-कालाक-देशक-महान् मनायकानिक-नाक नैतिक विहालाचन को उन पापदण्डाणवियों से (शल्याणि से) भी स्वयं ही उनकी मातृका से लाभ उठाते हुए पाददवों को नृप ही प्रमाणित कर लिया। और उस समय तो हम सर्वमना स्तम्भ ही बने रह जाते हैं दुर्योधन की साधनिका क हम दृष्टिगत को मुनकर कि, जो मगवान् वास्तव कृष्ण इस के उद्घाटित शत्रु थे, बिन का शोकसमा में अराध्य-आ-कृते हुए भी बिल निर्लज्ज पामर की बिहा दण्ड नहीं इनाद थी, जो इस दिग्देशकालस्य काली कालन तक के लिए कष्टम्य आदर कर बैठेया पर अपने प्रचण्ड शत्रु भीष्म से भी हमने उन ही 'गापसेना' महायता क लिए प्राप्त कर ही तो ली थी इस अवसरकाली बल तक भौतनीविशियार बाणासुर भूय दुर्योधनने।

५७०-आतलापी दुर्योधन के द्वारा प्राप्त 'पुद्गमहायता' क सम्यन्त्र में धर्मशील-मानसों का विकम्पन—

अवश्य ही अपनी सद्म मातृका से कमी कमी हम मगवान् के इस परिज से विकम्पित हो पड़ते थे, जो कि विकम्पन उली कालातीत मगवान् वास्तव कृष्ण के अनुग्रह से सम्भवतः धन शान्त होया हुआ प्रतीत हो रहा है इस 'दिग्देशकालमीमांसा' के निमित्तानुक्रम से। मगवान् जैसे नैतिक अपकार भी क्या दुर्योधन जैसे लोकनिष्ठ के सम्मुख हार मान गए ?, बिल के कारण दुर्योधन जैसे वह आतलापी भी उन मगवान से सहायता प्राप्त कर लेने में सक्षम होगया जो मगवान् अवकीर्ण ही हुए थे ऐसे दुष्टों का मूलोन्मोद करने के लिए ही ?। यही वह विकम्पन था और बहुत सम्भव है-वास्तविक क्रमेण कृतार कर लेने पर भी हमारे मातृकापूर्णा विकम्पन की सर्वमना उपशान्त न कर सके हम अपनी इस मातृका-बुद्धि से।

— यद्यप्ये त न पश्यन्ति सोमोपहतचेतसः ।

कृच्छापकृतं दोष मिशत्रोहे च पातकम् ॥

कथ न श्रेयस्सामिः पापादस्माभिर्षितुम् ।

फुलक्षपकृतं दोष प्रपश्यन्मिर्जनाह्न ॥

—गीता १।३३ ३३,

प्रमाणित कर रही है कि, अनन्तकाल की अनन्तकालविभूति के महिमात्मक दिग्देशकालविकृत भी तत्काल अनन्त ही हैं। संशोधन अपेक्षित है संभवतः यत्किञ्चि—सा ही, जिसे लक्ष्य बना लेने में महान् मानव-ब्रह्म को कदापि आपत्ति नहीं होगी, ऐसी हमारी मान्यता ही नहीं, अपितु पूर्ण आस्था है।

५६७—दिग्देशकालनिबन्धना तात्कालिकता से आविर्भूत व्यामोहन, एवं तद्वद्वारा अनर्घपरम्पराओं की अभिव्यक्ति—

दिग्देशकाल के व्यामोहनने ही मानव की महत्ता में तथान्विता अनर्घपरम्पराओं का उद्भव किया है। दिग्देशकालनिबन्धना कृत व्यतिष्ठत अन्य पक्ष है, जो दिग्देशकालनिबन्धना स्वार्थनिष्ठा (कुनिष्ठा) विभिन्न पक्ष है। सम्मुख अवस्थित मोक्षिक साम को इस वचमान दिग्देशकाल—निबन्धन तात्कालिक स्वार्थ को देखकर हमारी तात्कालिक बुद्धि अक्षीत और मतिमत् को विस्मृत कर बैठती है। और ऐसा कुछ मान बैठती है इस परस्परानुला—विमोहनात्मिक मातृशब्द के आवेग में कि, यदि हमारी हठी धृष्ट किठी मी उपाय से छलसे—स्ता से हमने इसे अपने अपने अभिचार में नहीं कर लिया, तो आगामी कल में हमें दुःखी ही होबाना पड़ेगा। यही तात्कालिकी दिग्देशकालता हमें जैसे अनन्त संग्रह में प्रवृत्त कर देती है जो उग्र अपने छद्म आचरणधर्म से संग्रहपरम्परा को कर्म देता हुआ इस संग्रह में ही इसे ठन्डीन कर देता है। और वही ठन्डीनता इसे आराममूलक समदर्शन एवं तदुगुता महती महानता से परह-मुक्त करती हुई महतोमहीनान् भी इसके 'मानवत्वम्' को ऐसा क्षोभ्य बना डालती है, जिसे क्षोभ्य में आकर वह अपने सम्मुख विद्यमान मोक्षिक अर्थों के साथ हिंसक सिंह-स्वात्मादि की मोक्षि ही नहीं, अहित शुभालकत् ही विपट जाता है। और दुर्भाग्यवत् राक्षसीरगतक कल्याणमाच्छे समप्रकृत इन निष्प्राण अर्थों की सिन्धु में ही यह अपनी बुद्धिमत्ता समाप्त कर देता है।

५६८—दिग्देशकालाश्रयतापूर्वक की मानव का कुव्यामोहन से सम्भावित आत्मप्रा —

शून्य मत्ता करता है इसे दिग्देशकाल से काम उठाने के क्षिप, जबकि दिग्देशकाल की सीमा से बाहिर काम उठाने बैध कुछ भी हो नहीं है। असक मानव शरीरी है फिर मले ही वह श्रुति है, देवता ही पश्चिदवराह हो, सिंहा वपसी भीतरग छायाही हो अक्षय ही सभी को दिग्देशकालात्मिक शरीरव्याप्रा के निर्वाह के क्षिप दिग्देशकालात्मक वचमान का ही आश्रय लेना पड़ेगा *। जो समय से काम उठता है, वही बुद्धिमान् है वही विद्वान् है। कदापि इस प्रकृतिविद्व शरवत स्नातन निष्प का अतिक्रमण सम्भव ही नहीं है। जो इस निष्प का अतिक्रमण कर जाता है कश्चित् जगन्निष्पात्तवाप के व्यामोहन में अपनी दार्ढ्य-निष्ठा में अपनी विद्वता में अभिनिष्ठ होकर, उसे 'शून्यम्' शून्यम्' के अतिरिक्त और क्या मिलता है !। दिग्देशकाल—निबन्धना बुद्धिमानी की माहावेग में उपेक्षा करने ही ही अज्ञान मयापिचारविद्व रज्यवैभव से वञ्चित कर बैठे या अपने आसक्तों।

* नियतं कुरु कर्म स्वं कर्म ज्ञायो वाकर्मसाः ।

शरीरयात्रायि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मसः ॥

—गीता ३।८

५७४-मानवता-सुलभ चणिक उद्बोधन की उपचा कर बैठने वाले दुष्टबुद्धि कुनैष्टिक का अन्ततोगत्ता बुद्धिशून्यता-लक्षण नाशवेष्ट पर ही अवसान—

अहा ! यदि यह दुष्ट बुद्धि आरम्भ में ही, क्षणमात्र के लिए ही यह अनुभव कर लेता कि, रूपभूत मलीमस-प्रयत्नापूर्ण पथ में अमेसर होते ही अन्तर्ध्यामी के द्वारा प्राप्त हान वाली "अर ! काम तो बुरा कर रहे है, बुरा हो रहा है" इस पंच-सूचना पर ध्यान दे लता (बैसा-कि पारबोधम पापिष्ट मानव में भी यथाकाम चणनाय क लिए उस क अन्त-करण से ही उसे तथाविधा चेतवनी मिलती रहती है, निरचयन मिलती ही रहती है), ता सम्मग्तः वह आरम्भ में ही अपनी मानवता का संरक्षण कर ले जाता। किन्तु परदशन मूना भावुकता उत्तरचण में ही इस उस चणिक इश्वरीय उद्बोधन से घृणक कर देती है। मी बुद्धिन्यामुष्य यह पृष्ट उत्तरांतर अधिकाधिक उस उद्बोधनबाणी क अन्त-भयन से दूर-बहुत दूर ही होया जाता है। अन्तत-गथा 'नास्ति धम्म नास्ति या इश्वर' इस बुद्धिशून्यता पर ही इस का पम्पवसान हो जाता है।

५७५-भौतिकदण्ड के समतुलन म बौद्धिक दण्ड विधान की महती मयावहता—

बुद्धि का यह अपहरण तो वैसा दण्ड-विधान है इस भूतवाणी के लिए, जिस दण्ड के समतुलन में भूतदण्ड का कुछ भी ता महत्त्व नहीं है। और त्रिन में बुद्धि का शताय-सहस्राय भी शेष रह जाता है (मार अपश्य ही रह जाता है क्योंकि मगवान् के सम्राज्य में किसी भी वस्तु का अत्यन्तिक अभ्याप नहीं होता, केवल अभिमय ही होता है) तो वह स्वयं अपने अन्तर्मग्न में ही यह समतुलन कर सकता है कि, बुद्धि के इस महसारा के समतुलन में उस अन्यायोपाहित सङ्घ एवं नङ्गवामिदक, अतएव अहागत विविध-विन्ता-स्नानि-सार्द्धक-भूतपरिग्रह का वैसा स्वल्पतम (अत्यन्त नगस्य) महत्त्व है ?।

५७६-भौद्धिक-दण्डानुभूति से अपरिचित जड़भूतवादी मानव की अन्तिम अवस्थानुगत 'ग्राहि माम्' लक्षणा करुणागाथा—

घात केसह इतनी सी है कि, चिरकालिक बङ्ग-भूताम्मासङ्घों की कृपा से शैष्टिक दण्ड की अनुभवित का अन्याय ही इस बङ्गवादी को नहीं रहता। इसे तो तत्काल प्रभावित करता है कर सकता है केवला भौतिक दण्ड ही। वह फिर शारीरिक हो, अथवा तो आर्थिक। तभी तो ऐसे वर्ग के लिए शास्त्रने भौतिक दण्ड का ही विधान किया है बन्कि प्रशापचपबध भूल कर जाने वाले धार्मिक पुष्पों के लिए सामान्य-प्रकारणादि दण्ड ही पम्प्यस्त मान लिए गए हैं। किन्तु सर्वान्त में अब सर्वत्र के ही अपहरण का समय आया है बन्कि इस के प्रायः कण्ठ में अवबद्ध हो जाते हैं तो उस समय अपश्य ही इस 'ग्राहि मां ग्राहि माम्' ही पुष्पर उठना पड़ता है त्रिन की प्रामाणिकता इस के जीवनकाल में मी योगादि-स्वबननिषनाणि अक्षरों पर अभिम्यक्त होती रहती है।

५७७-दुष्पोंचन, तथा अर्जुन को प्रदत्ता सहायता के सम्बन्ध में दिग्देशकालमावानु बन्वी उद्वापोहों का तथ्यात्मक-स्वरूप समन्वय—

मगवान् क्यों नहीं तन्त्राल भौतिक-दण्ड प्रदान कर देते ?, क्यों अतव्यपी दुष्पोंचन जैसे को भी मगवान् ने भौतिक सहायता प्रदान कर दी ? और कैसे बुद्धबुद्धि दुष्पोंचन का साहस हो पड़ा अपने महान् शत्रु भी

५७१—ईश्वर के द्वारा प्राप्त बल से सर्वप्रथम ईश्वरसत्ता पर ही प्रहार के ऐतिहासिक निर-
दर्शन, एवं अनीश्वरवादियों के संहारकर्म—

इसका हम चिन्तन करने लग पड़ते हैं कि, सृष्टि के आरम्भ से आनन्दक इस पराधाम पर स्थित
मी अमुर—उद्यम—दस्यु—आदि कर्त्रं वृष्ट मानव उत्पन्न हुए, उन्हने इत निरन की शक्तियों से ही वो निरन
को विकसित किया है । भगवान् के छात्रात्म्य से ही वो इन सब को सम्पुष्ट मिला है । उन्ही के बल से वो
इन्होंने उस पर प्रहार करने में भी कोर् न्यूनता नहीं की है । यही नहीं, अपितु सर्वप्रथम तो इन के प्रहार
का स्थल भगवान् ही बने हैं । ईश्वरसत्ता के विरोध से ही तो इन के प्रचण्ड दुष्कर्म उत्पन्नान्त करते हैं ।
उत्ते न मान कर ही वो ये स्वयं को ब्रह्मा मान बैठते हैं अपने प्राकृत स्वरूप से । और यह अनीश्वरवादी ही तो हैं
संहारकर्मों की ओर प्रवृत्त करती है । उस अनन्तता से अपरिचित रह जाने के कारण हा तो वे आदिवाहन
दिग्देशकालों से वास्तविक लाभ उठा लेना ही अपना परमपुरुषार्थ मान बैठते हैं ।

५७०—‘कृत्वास्तु भगवान् स्वयम्’ का सस्मरण, प्रकृतिपरिपाकावुगत मौक्तिक-दण्ड, एवं
उत्सम्बन्ध में कुनैष्टिकों की भ्रान्ति—

और अब हम देखें मी अनुभव कर रहे हैं अपने मानस में ही कि, यदि भगवान् दुर्घोषन की
भूतपरिग्रह की सहायता नहीं देते तो सम्भवतः सख इतिहास के सध्य-ब्रह्म पुण्यपुरुष भगवान् आत के
मुक्तपदक से आदि प्रकृत्यापूर्वक उन्मूलकदण्ड से—‘कृत्वास्तु भगवान् स्वयम्’ वैसी नैष्टिकी मार्तवाणी निनि
व्य ही न होती । भगवान् आदि अपनी भूतमथा की मौक्तिक दण्ड उन्मूलक ही नहीं दे दिया करते ।
अपितु मौक्तिक दण्ड ही उन की ओर से प्रकृतिपरिपाक के उचर्याभिल पर ही लौक दिया गया है । उन्ही की
भूवाचक बक मानव यह भ्रान्ति कर बैठता है कि—‘मेरे ऐसे पदकन्त्रों से भी अब कि मुझे भूतसमृद्धि
अनायासेनैव उपसम्भव ही रही है, तो उन्मूर्त्त है धर्म का भय और निरर्थक है ईश्वरसत्ता का
ध्यामोहन’ ।

५७२—धर्माचार्यों के द्वारा कुनैष्टिकों की भ्रान्ति परम्पराओं का स्वरूप विच्छेद—

यह क्यों ऐसी भ्रान्ति कर बैठता है ? स्वयं धर्माचार्यों ने ही तब का और मी अधिक उदात्तता से
समाधान किया कि—“जो प्राकृत-बक मानव दिग्देशकालनिश्चयन स्वार्थ में अन्य कन कर धर्मोपय का परि-
त्याग करता हुआ धर्मनिष्ठा ईश्वर की उपेक्षा करता हुआ अधर्मापय का अनुगामी बन जाता है उन्कास
यह मानो बहने ही लगता है (आब की भाषा में ‘तरफकी’ ही करने लग पड़ता है) । अपने इस ‘बहान’ से
(परप्रतिष्ठा-धर्मसंस्थायादि से) यह भूतसमृद्ध (सम्पन्न) मानव निव नूतन मद्र अनुष्ठान (उत्सवाभोजन) मनाने
लगता है । अपने इन लोकायोगियों के बल पर, तथा समृद्ध धर्मसंस्था पर ही यह नगपम अपने प्रतिद्वन्द्वियों को
लोकसर्वप में परतल भी करवा जाता है । किन्तु स्वार्थ में ? । वो न करना ही अच्छा है * ।

ॐ-अधर्मोर्षोषते तावत्, ततो भद्राखि परयति ।

तव सपत्नाञ्जपति, समूहस्तु विनश्यति ॥

—मनु ५।१०४।

धर्मनिष्ठ से महायत्ना लनी होती है ता वह उसके सम्पूर्ण धार्मिक-भाग्य का ही हृदय उन्मथित कर देता है अहतापूयक । साथ ही मन्त्र-मन्त्र मुक्तभाव-हैच्छा हुआ सा ही अपना अग्रिप्राय इसप्रकार करना आरम्भ करता है कि माना इस सहायता का प्रयावन ही नहीं है । अपितु यह ता धामने वाल का धर्म-वचन नाम करने की प्रेरणामात्र ही देने आया है) ।

५७८-कुनैष्टिक की घृतापूर्णा अवसरवाणी का मूलोच्छेद, एवं भगवान् क द्वारा उभय पक्ष को माहात्म्य-प्रदान—

दुष्टबुद्धि दुष्प्रोचन की इस अवसरवाणी का माना मूलोच्छेद ही कृत हुए भगवान् न यही उच्चर किया कि, 'दुष्प्रोचन' आप अवश्य ही यहाँ पक्ष आप है । मन्त्रमुक्त आपके इस प्रथमागमन म ता कोड ता कन्ध नहीं है (किन्तु आप यह भी जान गए होंगे कि) दण्ड मेरी सवप्रथम अत्रुन पर ही पड़ी है । हाँ आप पहिले आप है, और अत्रुन पर पहिले दण्ड पड़ी है । अतएव सहायताप्राप्ति के लिए आप आग्रमनरूप प्राथम्य से तथा अत्रुन दण्डप्राथम्य से दोनों ही स्मानापिकायी हैं । अवश्य ही दोनों को ही सहायता दी जायगी । इसप्रकार दोनों ही अव आगमन और दण्डरूप से प्रथमभेदित म आगप ता तुम पूँछ सकते हो कि, दोनों में किसके प्राथम्य का प्रथम माना जाय ? । सा तुम स्वयं कह चुके हा कि, हम लोकस्माक में भोष्ट हैं । और तुम्हारे जैसे बुद्धि-मान का यह चलाना भी निरर्थक ही होगा कि, हमारी यह भोष्टता धर्ममूला ही है । हम भक्तिविद्ध आग मे ही भोगधर्म के परिपालन स ही तो तुम्हारी दण्ड म क्त बने हुए हैं । और निश्चयेन तुम जैसे धम्ममम्मज्ज से सम्पन्न. यह भी परोक्ष नहीं होगा कि एकस्यय अपना प्राथम्य व्यक्त करने वाले वक्त्र-स्मर्य-बुद्धिमान्, तथा बालाकभाषक अतएव लोकवाच्युर्ण से शून्य-दोनों में से बालमावाभुगत व्यक्ति को अत पर ध्यान देने पर ही अति ने बन दिया है—'प्रारण्यं तु यापान्त्य पूषकाप्यमिति अति' (सप्रत्या में भी धार लोकेन्द्रिकारी की परिपक्वता में भी अत्रुन आपसे छोट हैं शक्य हैं) । इसप्रकार अपने आपको लोकचतुर मायकभाषा-कुशल-मान बैठन बाल दुष्टबुद्धि कुनैष्टिक घृष्ट दुष्प्रोचन के घृतापूर्णा बालकृष्ण का निरतिगायरूपेय मान महान ही जो कर हाला भगवान् ने । और अन्ततोगत्या परिणामस्वरूप सवप्रथम अत्रुन से ही पूँछा गया कि, एक आर हम निरस्त्ररूप से सहायता क लिए स्वयं हैं ता वृत्ती और सकारणास्त्रमुक्त-वता हमारी 'गोपसना' है । बोला अत्रुन ! तुम दोनों में से क्या लेना चाहते हो ? । प्रश्न का उत्तर सर्वज्ञ स्व है * ।

* हमन दिग्देशबलानुक्त से स्थितिसमन्वयमात्र के लिए 'मातृकता' के प्रसङ्ग में 'अत्रुन' का नाम स्मरणा किया है आक्रोशपूर्वक । किन्तु यह अतिस्मरणीय है कि-यह आक्रोश केवल उदाहरणविधि से ही अत्रुन-निष्ठ है । वस्तुतया उक्त अत्रुन के समान भाग्यशाली और हृदय कौन होगा बिसे भगवान् 'बालक' कह कर रक्षा का उच्छेदाधिक्य स्वयं से रहे हैं । साथही में प्रकृत्या मातृक भी अत्रुन वैद्य ईश्वरनिष्ठ भी वृत्त और कौन हामा विठन अपने सम्पूर्ण वैदिक दम्भी को भगवान् के प्रति ही सर्वतोभावेन स्मरित कर दिया था । मातृकता का यही अर्थ ता अपेक्षित है प्रत्यक्ष नैष्टिक के लिए । लोकानुगत्य मातृकता यहाँ सर्वनाशकारिणी है यहाँ इष्टवचानुगत्य बरी मातृकता मानव को स्वत ही बालान्तर में लोककृत स्मरिष्ठा प्रदान कर देती है । भगवन् स्मरिष्ठा का यह अर्थ मान बैठना कि स्मरिष्ठाकर्ता के शयन-भोजन-पठन-स्वाध्याय-आचारानि सब धर्म नी भगवान् ही कर बाँटेंगे स्वप्नानन्तर भक्तपक्ष को कुछ भी करना करना नहीं पड़ेगा कदापि भगवत्-स्मृत नहीं है । यदि एष्य ही हस्त्य ता अपने प्रियभक्त अत्रुन को भगवान् कनीमी घृत-विद्यत हन के लिए यत्नचत्र

मगवान् धामुदेव से छायाता यथा कर बैठने का ।, जैसे इससे ऐसी मञ्जुष्या पृथ्वा हा पड़ी, इत्यादि प्रश्न उत्तर हैं उक्त स्वप्नीकरण के माध्यम से ही । किन्तु जैसा कि हमने निवेदन किया है अलासित मगवन्धरिणी के सम्बन्ध में हमारी प्रथा सर्वथा मातृक ही है । अतएव अन्ततोगत्वा पुनः यह मातृकता और भागरूक हो ही तो पड़ती है इसी ऐश्वर्य-मटना के सम्बन्ध में कि,—मगवान् न अपनी पूर्णव्यतिरिक्तमना मगवत्ता के अर्थ दुर्मोचन को मौलिक-छायाता दे दी, यहाँतक तो अमुक दृष्टि से नाव समझ में आई । किन्तु उसी अर्थपर पर सहायता की क्षमता अभिव्यक्त करने मगवान् के अत्यन्त प्रियकरता अत्रु न भी आप हुए ब । दिग्देशकाल के महान् परिचित आत्माशिक साम उठान में अत्यन्त कुशल नैष्ठिक (कुनैष्ठिक) राजा दुर्मोचन के गुन्धर पादद्वी के गुन्ध से गुन्ध भी प्रसिद्ध के समाचार दुर्मोचन को पहुँचा रहे थे । अपनी इसी छावधानी से प्रसिद्ध कामरूक बने खने वाले दुर्मोचन ने अत्यन्तान्यत्र बहाँ वृत्त मेरे + बहाँ शारिक्रमे स्वयं पहुँचे । उधर बत्र पादद्वी बह सुना कि, दुर्मोचन मगवान् से छायाता लेने शारिका बा रहे हैं तो दिग्देशकालमिद पादद्वी को तब नहीं स्वय भी बहाँ पहुँचने की क्षमता । उन्मूल अत्रु नने भी अनुभावन किमा दुर्मोचन का तत्र गमन सुन कर । संभाव्य से दोनों के प्रवेश में अन्तर थोड़ा ही रहा । पूर्णव्यति में दुर्मोचन मगवान् के शयनकक्ष में पहुँचे तो तदुत्तर क्षय में ही अत्रु न पहुँच गए * । दुर्मोचन अपनी वैयक्तिक प्रतिष्ठा के अत्रु रूप मगवान् के मस्तक की और रखे हुए बहुमूल्य सिंहासन पर राजोचित सम्मान से सज्ज बने कर बैठ गए जबकि अत्रु न मगवान् के शरणा के स्वीय प्रभवदास से शम्भलिकरूप से ही लड़े हो गए + । कुशल-समानन्तर बोले सर्वप्रथम दुर्मोचन ही इत बर्म्भुदि ! के साथ मन्दाहालपूर्वक ही कि,—‘इत मुझ में आप को हमें सहायता देनी चाहिए (१) । क्योंकि आप के लिए हम और अत्रु न दोनों सम्मानरूप से मित्र हैं । और फिर (मित्रता न भी मानी थाम लो भी) हम दोनों आप के सम्मान-सम्बन्धी तो हैं ही । (और हाँ, यह स्मरण रखिए कि) हम अत्रु न से पहिले आप हैं आप के सन्निहित । उन्मूलको का यह निश्चय है कि, पहिले आने वाले की बात पर वे पहिले ध्यान देते हैं (२) । और आप बतमान समाच में एक भ्रष्टव्यम फन्त व्यक्ति हैं । अतएव आप को उन्मूलगत उद्घृष्ट का पालन करना ही चाहिए । (अत्रुद्ययम् ! अत्रुद्ययम् !) । (उद्घृष्टि को बत्र किती

—धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रविष्टितैस्परैः ।

*—ततः किरीटी तस्यानुप्रमिवेश महामन ।

—उच्छीर्षतश्च कृष्यारुप निपसद् धरातने (दुर्मोचन) ।

परसाश्चैव स कृष्यस्य प्रहोऽतिष्ठत्कृताम्बलिः (अत्रुन) ॥

(१)-विप्रहोऽस्मिन् मवान् ! साध मम दातुमिहाहति ।

—अत्यन्त पृथ्वार्थ बाल्य

(२)-अहं चाभिगतं पूर्वं त्वामद्य मधुप्रदान ! ।

पूर्वं चाभिगतं सन्ता मञ्जन्ते पूर्वसारिणः ।

—कैसी धर्ममावना है ?

चाहिए, किन्तु 'प्रज्ञा, शक्ति', तथा 'समिष्टा' से उन्हें अवश्य ही विमुक्त बना देना चाहिए' तो फिर भगवान् को यह आराधना ही क्यों पड़ी कि—'यही दुस्योपन हमें न माँग बैठे वर्योग में, जबकि हमारा 'अपना स्वरूप' तो एकमात्र धर्मोद्दिष्टि अस्तु न क लिए ही सुवर्धित है?' । क्या एही आराधना से भगवान् ने पहिले अस्तु न का समाधान करना आवश्यक समझा ? । यदि ऐसा है तब तो यह भगवान् की भगवत्त्वा पर ही आक्रमण माना जायगा युगधर्म का । इस मातृकता पूर्णा आराधना का समाधान स्वयं भगवान् के उत्तरतमक कतिपय शब्दों से ही होशाय है । भगवान् अपने स्वरूप से भगवान् ही हैं । नात्र सन्देह । अवश्य ही इस भगवत्स्वरूपानुसन्ध से भगवान् यदि अस्तु न का प्राथम्य देते हुए मी प्रथम दुस्योपन की ही इच्छा जानना चाहते तो कदापि भगवदिच्छा के विपरीत भगवत्स्वरूप से अपमिचित मी बुद्ध दुस्योपन मौक्तिक-सैन्य-सद्योग के अतिरिक्त निरस्त भगवान् की स्वप्न में मी कामना नहीं ही करता । यदि दुस्योपन में एही ही सद्बुद्धि होती तो फिर महाभारत धर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती । क्या भगवान् की दृष्टि से दुस्योपन का भूतैषणामक यह मनामात्र पराध या त्रिसस भगवान् को आराधना ही पड़ी ? । अत्रस्ययम् ! अत्रस्ययम् ! । भगवान् अपने स्वरूप में सत्ताभाव न भगवान् ही है । न इन्हें अस्तु न का अनुत्पन्न कर । है न दुस्योपन का । अस्तिदोनों का ही उत्थापन प्रदान करना है भगवान् को अपने भगवत्स्वरूप से । दुस्योपन को 'भूतवान् करते हुए भगवान् उसे यही पराध उत्थापन प्रदान कर रहे हैं कि, 'मूर्त्त ! त्रिस मौक्तिक-सत्तावल से तू निबन्धी के सुख-स्वप्न देख रहा है कदापि तू हम बल पर तो निबन्धी लाभ न कर सकेगा । लेना हम मी युक्त अपना भूतवल प्रदान कर देते हैं त्रिस एकमात्र भूतवल को ही तैर्न 'त्रिसयमी' का आभार मान लिया है' । यदि दुस्योपन में योही मी प्रज्ञा शेष होती तो भगवान् का उन्मुक्तहृदय से मी सैन्यतल प्रदान कर देना ही हमके उत्थापन क लिए पर्याप्त था । किन्तु त्रिगुणेश्वरालम्बित दुस्योपनन इस सद्योग को भी अपना साकृत्कार्य ही समझ लिया और इस साकृत्कार्य ही इसका अन्तोगत्वा समल विनाश किया ।

५८०-भगवत्सत्ता के समान-दायाद मोक्षा दस्ता, और अस्तु, एम तत्त्वेश्वरानुगता भगवत्सत्ता का स्वाभाविक अनुग्रह का समन्वय—

अब प्रश्न रह गया अस्तु न का । अस्तु न निःसन्देह भगवान् के प्रति वहाँ पूर्व आस्था रखने वाला था वहाँ स्वयं मातृकता के कारण प्रत्यक्ष-दृष्ट-पटनाओं से यह विशम्भित मी हो पड़ता था । कई बार भगवान् ने अस्तु न की इस मातृकता का सवरथ किया है और सँमाला है ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाणावसरों पर इसे । यह निश्चित था कि, भगवान् के सम्मूल प्रणामाङ्गलिपूर्वक टुप्पी सहायता के लिए 'साधमान मातृक अस्तु न से पहिले यदि भगवान् दुस्योपन की इच्छा पूरी कर देते तो निश्चयेन वे सौम्य अस्तु न उन्मना बन ही तो जाते । और बहुत सम्भव था कि, इस सामान्य सी पटना से अस्तु न की ऐसा विमोहन होशाय कि—'ओ अब तो भगवान् न मी हमारी उपेक्षा करती, बिनके बल पर ही हम पायबल युद्ध में प्रवृत्त हो रहे हैं' । युद्ध सन्निष्ठ आरम्भ था । भगवान् पायबलों को निष्ठात्मक उत्थोपन प्रदान करते जा रहे थे । ऐसे अवसर पर मातृक अस्तु न का उत्थोपित हो पड़ना कदापि उस पायबलपक्ष के लिए हितप्रद नहीं था धम्मपदानुसन्ध से बिनका हित ही भगवान् को प्रत्येक दशा में रह था । एकमात्र अस्तु न की इस मातृकता के सरदाय के लिए ही भगवान् ने अस्तु न को प्राथम्य दिया देखकि—'प्रकारणं हि वास्तानां पूर्वकार्यमिति श्रुति के—'वास्तानाम्' शब्द से स्पष्ट है । इस 'वास्तानाम्' से एक और वहाँ दुस्योपन की उपेक्षा है वहाँ अस्तु न के प्रति अपेक्षा

५७६- कुनैष्टिक दुष्टबुद्धि मानवों के लोकचातुर्य्य स ही अन्ततोगत्वा इन का सम्पूर्ण विनाश—

इतिहास का केवल एक अग्र मीमांस्य प्रवीत हो रहा है हमें अपनी मातृकण्य का वीर्य से बही कि, जब भगवान् की भगवत्वा का यह निर्यायत्मक स्वरूप है कि- 'कुनैष्टिक दुष्टबुद्धियों को भूत से तो बञ्चित नहीं करना

में प्रवृत्त नहीं करते। सम्पूर्ण दुष्मा भगवत्प्रदक्ष्य निष्ठा से ही, अतएव सब कुछ किमा भगवान्ने ही, सभी कुछ भगवत्सत्त्वा से ही तो हो रहा है। इस तथ्य को कचम्यनिष्ठा के उत्तरदायित्व से पूषक मान बैठना क्यापि भगवत्सम्मत तो नहीं ही है। नैष्टिकी सकिदुद्धि भगवान् का ही तो स्वरूप है जो कचम्यनिष्ठा की ही अविष्ठात्री मानी गई है। इस सत्य-धर्म-ही आश्रय-रूपा स्वनिष्ठा के माध्यम से ही भगवत्प्रद-मह प्राप्त हुआ करता है। अतु न में लोकदृष्ट्या सभी मातृकण्य ही मातृकण्य ही। किन्तु भगवान् के प्रति इसकी अनन्वनिष्ठा थी। समझे, विना समझे मी-‘करिष्ये धर्म्मं तव जैसी समर्पकमूला निष्ठा थी, बित आवेशमूला निष्ठा का नाम ही ‘शास्त्र’ माना गया है। जब वृत्तार्थ बार बार पायद्वी की सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में छद्म से प्रश्न करने लग पड़े थे तो छद्मयने अन्ततोगत्वा यही कहा या कि-यवन् पायद्वी के सम्पूर्ण सैन्यकण्य का एकमात्र रहस्य बही है कि, वे स्वय-धर्म-ही-आर्जवादि भगवत्प्रतिभितियों से ही सम्बन्धित हैं। अतएव स्वयं भगवान् उनकी रक्षा कर रहे हैं। अत्यन्त ही प्रिय है वहाँ का प्रसङ्ग बिते निम्नलिखित रूपेण स्मरण कर हम मी अपनी मातृकण्य उपरान्त कर लेते हैं—

सञ्जय उवाच-भूया भूयो हि यवराजन् ! पृच्छसे पाण्डवान् प्रति ॥

सारासारवर्त्तं ज्ञातु तत्समासेन मे शृणु ॥१॥

एकतो वा जगत्कृत्स्नं, एकतो वा जनादनः ।

सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनादनः ॥२॥

मस्मकुर्याज्जगदिदं मनसैव जनादनः ॥

न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं मस्म कर्तुं जनादनम् ॥३॥

यतः सत्यं, यतो धर्म्मः, यतो ह्यीः, आर्जवं यतः ॥

ततो भवति गोविन्दः, यतः कृष्णस्ततो जयः ॥४॥

अधर्म्मनिरतान्-मूढान्दग्धुमिच्छति वे सुतान् ।

कालचक्रं-अगाधकं-युगचक्रं च केशव ।

आत्मयोगेन भगवान् परिषर्षयतेऽनिशम् ॥

—महाभारत-उद्योगपर्व ६८ अध्याय

आस्था-भ्रष्टा-शीला पाठकों से हम आग्रह करेंगे कि वहाँ का सम्पूर्ण प्रकरण एकबार के अक्षर ही देख लेने का कर करें, किन्में सञ्जय के मुख से पुण्यपुण्य ने भगवत्कला के सम्बन्ध में महान् व्यूहोपन प्रदान किया है मादय पाण्डव-वद-वीरों के लिए ।

मानव का प्राकृत स्वरूप का सरक्षण ही सम्भव एवं न प्राकृत-मातृकता के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाला सहज मिमांसन से परिचाय प्राप्त कर लेने का उपाय ही प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि में विद्यमान । क्या कर मानव इस महती विषमा परिस्थिति में ! ।

५२३-विषमावस्था की उपक्रममूला मूढ़ता, उपसहाररूपा विमूढ़ता का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं दोनों क समतुलन में 'मूढ़ता' का ही प्राचुर्य—

एसी विषमा परिस्थिति मानव में आती कब है ? प्रश्न का एकमात्र उत्तर है-जब कि मानव अपनी प्राकृतबुद्धि के अपने प्राकृत अनुभव तात्कालिक-वेदिक-अनुभव के आधार पर ही कृतव्य-अकृतव्य का निर्णय कर डालता है तात्कालिक हानि-लाभ-क समतुलन से । इसी तात्कालिकता का नाम रख लिया गया है मूढ़ता एवं विमूढ़ता । विषमा परिस्थिति की पूर्वावस्था-अपरिपक्वता का नाम है-मज्जता जिस में मानव कृतव्य से पराङ्मुख ही बन जाता है । दिग्देशकालात्मिका परिस्थितियों के सम्मुख में असमर्थ ऐसे प्रकृतिपरायण अनुभूतिपरायण मानव की कृतव्यगति सदैव कुण्ठित हो जाती है वह रक्षा नसक पाता रह जाता है । शीर सपनामय, उच्छ्वासितपूर्ण सभी प्राकृत-कर्मों से इसे भय वा लज्जा लगता है । यही दम की भावुकतापूर्णा मूढ़ता प्राकृत अवस्था है । एवं ६६ प्रतिशत मानव इसी मज्जता की उपा-म्ना ! में कन्धीन बन रहते हैं । न इन का अपना कोई निश्चित मन्तव्य ही रहता न निर्णयत्मक कृतव्य ही सुनिश्चित रहता । अकिन्तु दिग्देशकालप्रवाह क अनुपात से य उतीप्रकार कालमापन करते रहते हैं जैसेकि प्रचयव्यवेगात्मिका नदी के प्रवाह से प्रवाहित तृण-अष्टादि नदीवेगानुपात से ही कालमापन करते रहते हैं ।

५२४-मूढ़ मानव की मूढ़ता की 'विमूढ़ता' में परिणति, तत्परिणामभूता उपक्रमानु गति—

एक ही मूढ़ मातृक मानवों में से कोई सा मातृक मानव अपनी मूढ़ता से विमूढ़ता में आ जाता है । मूढ़ की उपायवृद्धि आरम्भ में मज्ज को गतानुगतिक बना देती है । इस गतानुगतिकता से घट कर यही मज्ज (अथवा मूढ़ ही) का जन्तव में गतिगन्तव्य-सर्वथा अकर्मस्य ही बन जाता है । इसी का नाम है 'जड़ता' जिस में आत्यन्तिकरूप से गत्यवरोध है । इसी जड़ताका नाम है मूढ़ता की उच्छ्वासिता जिसे मूढ़ता की परिपक्वता और इसी का नाम है विमूढ़ता । 'मातृकता में जो एकप्रकार की प्रकृतता उच्छ्वासिता रहा करती है जो कि मूढ़ मानवों का एकमात्र प्रत्यक्ष धन बना रहता है इस विमूढ़ता में वह मातृकता-उच्छ्वासिता भी सर्वथा अस्मिभूत ही हो जाती है । एवं यही से उस क गन्तव्य-हिसस्यता-मत्स्यता-का अन्त हो पड़ता है जिससे यह अकर्मस्य विमूढ़ जड़ मानव सदैव अपने गत्यवरोध को प्रचयव्य रूप से गत्यामय ही बना देता है ।

५२५-लोकक्षोभप्रवर्धिका-जड़तानिबन्धना-कुनिष्ठा से अनुप्राणित महान् साहस, एवं तत्समुद्बन्ध में एतिस उदाहरण—

किन्तु इस की यह आत्यन्तिक अकर्मस्यता-जड़ता ही इसे जैसे असम-साहसों की धार (प्रतिक्रिया के रूप में) प्रकृत कर देती है जिससे लोक में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है । मातृकता अनिष्ट मूढ़ता की परिधा

स्येत्यर्थः, अभाव-कृत्सितो मायः अभाव दुर्देशालक्षणः, स चेह भवे सर्वतो निष्कासनादिस्वप्नः, परमवे गुरोराशातनया अवोधिः, अगोपेस्तपःसयमासभवः, सयमभावेन मोक्षमार्गानाराधनम्, तेनानन्तसारपरिभ्रमणम् त तथाविधमभाव तपः श्रुत्वा=गुरुसनिर्घो निश्चम्य आत्मनः=स्वस्य, हित=कल्याणम् इच्छन् आत्मान

धर्म में स्थापित करता है। अथवा-भाव यह है कि कुत्ती सूकर और अविनीत शिष्यका स्वरूप सूनकर आत्महितैषी विनय शील बनें।

भावार्थ—इस गाथा द्वारा सूत्रकार यह उपदेश दे रहे हैं कि जो शिष्य आत्मकल्याण का अभिलाषी है उसका कर्तव्य है कि वह इस विनयधर्मके आचरण करने में थोड़ा भी प्रमाद न करे। कारण कि अविनीत शिष्य की वह दुर्वशा होती है जो पूतिकर्णी शुनी की तथा सूकर शिशु की हुई है। अविनीत के ऊपर किसी का भी विश्वास नहीं रहता वह इस भवमें गुरु की अकृपाका भाजन बनता हुआ जगह-जगह अपमान आदि दुःस्थिति को सहन करता है—और गच्छ से बाहर भी कर दिया जाता है तथा परभव में गुरु की आशातना से बोधि के लाभ से भी वंचित रहता है योधिलाभ के बिना कभी भी श्रेयस्कर मुक्ति का मार्ग उसे प्राप्त नहीं हो सकता है। क्यों कि बोधि के अभाव में सम्यक् तप और सयम नहीं होता है। सम्यक् तप सयम के अभाव से मोक्षमार्ग की आराधना नहीं होती है और मोक्ष-

विनय धर्ममा स्थापित करे छे अथवा भावार्थ अे छे छे—कुत्ती, सूकर अने अविनीत शिष्यनु स्वरूप साभणी आत्महितैषी विनयशील अने.

भावार्थ—आ गाथा द्वारा सूत्रकार अेवो उपदेश आपे छे छे शिष्य आत्म कल्याणको अभिलाषी छे, अेनु कर्तव्य छे छे ते आ विनय धर्मनु आचरण करवामा थोडा पल प्रमाद न करे. कारण छे अविनीत शिष्यनी आवी दुर्वशा थाय छे अे पूतिकर्णी शुनीनी तथा सूकर (बूडलुना भय्यानी) भाणकनी यछ छे, अविनीतने कोछ पल विश्वास करतुं नथी. ते आ भवमा शुनी अकृपाको भाजन अनी इरेक स्थणे अपमान आदि दुस्थितिने सहन करे छे अने गच्छथी अहार करी देवामा आवे छे अने परभवमा शुनी आशातनाथी बोधिना लाभथी पल वंचित रह्या करे छे बोधि लाभ विना कही पल श्रेयस्कर मुक्तिने मार्ग अेने प्राप्त यछ शकतो नथी. केभके बोधिना अभावमा सम्यक् तप अने सयम होतु नथी. सम्यक् तप सयमना अभावथी मोक्ष मार्गनी आराधना अनी शकती नथी. अने मोक्षमार्गनी

मानव के प्राकृत स्वरूप का संरक्षण ही सम्भव, एवं न प्राकृत-मातृश्रुता के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले सहज विमोहन से परित्राय प्राप्त कर लेने का उपाय ही प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि में विद्यमान। क्या कर मानव इस महती विपत्ता परिस्थिति में !।

५२३-विपत्तावस्था की उपक्रममूला मूढ़ता, उपसहाररूपा विमूढ़ता का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं दोनों के समतुलन में 'मूढ़ता' का ही प्राचुर्य—

ऐसी विपत्ता परिस्थिति मानव में आती जब है, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—जब कि मानव अपनी प्राकृतबुद्धि के अपने प्राकृत अनुभव तात्कालिक-प्रेन्द्रियक-अनुभव के आभार पर ही कृतव्य-कृतव्य का निर्णय कर डालता है तात्कालिक ज्ञानि-ज्ञान-के समतुलन से। इसी तात्कालिकता का नाम रख लिया गया है मूढ़ता एवं विमूढ़ता। विपत्ता परिस्थिति की पूर्ववस्था-अपरिपक्ववस्था का नाम है—मूढ़ता जिस में मानव कृतव्य से पराङ्मुख ही बन जाता है। दिग्देशकालादिपरिस्थितियों के सम्बन्ध में असमर्थ ऐसे प्रकृतिपरमण, अनुभूतिपरमण मानव की कृतव्यगति सहसा कुण्ठित हो जाती है वह एकका बनना या न हो रहा जाता है। और स्वर्णामक, उत्तरदायित्वपूर्ण सभी प्राकृत-कर्मों से इसे मय सा लगने लगता है। यही न की भावुकतापूर्ण मूढ़ा प्राकृत अवस्था है। एवं एत प्रतिशत मानव इसी मूढ़वस्था की उपा-मना में उल्लूकित हो रहते हैं। न इन का अपना कोई निश्चित मन्तव्य ही रहता न निर्णयात्मक कृतव्य ही सुनिश्चित रहता। अतः दिग्देशकालप्रवाह के अनुपात से न उचितप्रकार कालयापन करते रहते हैं जैसेकि प्रचक्रवेगान्तरिका नदी के प्रवाह से प्रवाहित वृक्षकाष्ठादि नदीवेगानुपात से ही कालयापन करते रहते हैं।

५२४-मूढ़ मानव की मूढ़ता की 'विमूढ़ता' में परिस्थिति, तत्परिग्रामभूता उपक्रमानु गति—

ऐसे ही मूढ़ मातृक मानवों में से कोई सा मातृक मानव अपनी मूढ़ता से विमूढ़ावस्था में आ जाता है। मूढ़ की संशयवृत्ति आरम्भ में मूढ़ को गतानुगतिकता देती है। इस गतानुगतिकता से यह कर यही मूढ़ (कोई सा मूढ़ ही) काजान्तर में गतिशून्य-सर्वथा अकर्मण्य ही बन जाता है। इसी का नाम है 'जड़ता' जिस में आत्मनिकरूप से गत्यवरोध है। इसी जड़तावस्था का नाम है मूढ़ता की उत्पत्तवस्था किंवा मूढ़ता की परिपक्ववस्था और इसी का नाम है 'विमूढ़ता'। 'मातृकता में जो एकप्रकार की प्रवृत्ति का उद्भव होता रहा करती है जो कि मूढ़ मानवों का एकमात्र प्रत्यक्ष बन बना रहता है इस विमूढ़ता में यह मातृकता-उद्भवता भी सर्वथा अभिभूत ही हो जाती है। एवं यही से उस करता-दिकृष्टता-मत्स्यव्या-का बनन हो पकता है जिससे यह अकर्मण्य विमूढ़ जड़ मानव स्वयं अपने गत्यवरोध को प्रचक्र रूप से गत्यात्मक ही बना देता है।

५२५-लोकचोमप्रवर्तिका-सङ्गतानिबन्धना-कुनिष्ठा से अनुप्राणित मवान् साहस, एवं तत्सम्बन्ध में एतिहा उदाहरण—

किंवा इस की यह आत्मनिक अकर्मण्यता-जड़ता ही इसे जैसे असम-वाहकों की आर (प्रतिक्रिया के रूप में) प्रवृत्त कर देती है जिससे लोक में चोम उत्पन्न होता है। मातृकता अनिता मूढ़ता की परिपक्व

है। अतएव क्यापि मगधमात्रों में मातृकतापूर्ण किसी भी आराधना-कुर्यात् वा कोर्ष भी सम्भव नहीं है। मगधान् के साम्राज्य में सुसुदि, दुसुदि, दानों ही बीजित रहते हैं। दोनों को ही मगधन् का अर्थापित सहयोग मिलता रहता है। वेपथा, और असुर, दोनों ही प्रजापति की स्तन हैं। प्रजापति की प्रसम्पति के दोनों ही समानरूप से बाधरमद्वय हैं। अन्तर केवल 'दृष्टि' का है। दुष्ट-असुरसुदि-स्तन केवल 'भौतिक वायाव' की ही अभिभारिणी बनती है जबकि प्रजापति पिता की सक्षिमर्त्यादा वा धर्मपूर्ण निर्बाह करने वाली सन्सुदिसुक्ता-सुधन्तति की भूखापाद के साथ साथ पिताप्रजापति की 'अनुमहदृष्टि' भी अर्थापित करनेयोग्य प्राप्त हो जाती है। और ऐसा ही स्वर्गमना ऐसा ही दुष्टा है विरवम्बर-विपटप्रजापति मगधान् वासुदेव भीष्म्य के प्राङ्गण में इन की इन दोनों स्तुतियों के लिए। एक (दुर्भावन) को केवल 'मूठ' मिला तो दूसरे को दृष्टि-अनुमह-माध्यम से स्वयं 'भूतपति' प्राप्त हो गए। दृष्टि वा अनुमह पातस्वपूर्ण अनुमह तो परममागधेय भास्वराज्ञी उद्य मालुक् अनुन को ही प्राप्त हुआ जिसने मरुमात्र से प्रवृत्तिपुरस्वर मगधान् के धरकण्डूक में स्वर्गमना स्मरित ही कर दिया या अपने आप को जिस इस उद्य वा सुधन्सुध की- 'दृष्टस्तु प्रथमं राजन् । मया पार्श्वं जनकज्यः इत् दिव्यं शशी के 'दृष्टः (दृष्टि) अनुमहदृष्टिसुध) इत् शब्द से स्वर्गमना अन्वय होता है।

५८१-संवित्-मूला निष्ठा, एवं अनुभूतिमूला मातृकता से समन्वित महान् मानव के प्रकृति-पुरुष-निबन्धन स्वरूपों का समन्वय—

नात पक्ष रही है उक्त 'सन्सुदित्' संशोधन की जो 'विग्देशकालस्वरूपमीमांसा' से वाञ्छित है। इसी सन्सुदित् संशोधन के प्रकृति की अपेक्षा से पुरुषभाव से अनुप्राणित सन्सु-मूला निष्ठा तथा प्रकृतिभाव से अनुप्राणित अनुभूतिमूला मातृकता इन दोनों उन महान् स्तनों का सन्सुदित् समन्वय उप-अन्व हो पड़ा जो अगदकण्टकप्रस्तुत निम्न का मुख्य लक्ष्य है। विग्देशकालातीया पुरुषानुप्राणित 'निष्ठा' भी मानव का ही स्वरूप (स्वरूप) है एव विग्देशकालात्मिक प्रकृतिसुप्राणित 'मातृकता' भी मानव का ही स्वरूप है। क्योंकि प्रकृति-पुरुष के समन्वितरूप का ही नाम महान् मानव है। मानव का निष्ठास्वरूप पुरुषभाव इसी का लोकातीया है। उपरुक्तेनैव मानव अप्राकृत-अलौकिक-मानव है एवं यह 'महत्तोमहीयान्' (प्रकृतिस्व महान् किंवा महत्वरुपा प्रकृति से भी महान्) है। तथा मानव का मातृकतास्व प्रकृतिभाव इसी का लोकात्मकभाव है तदनुक्तेनैव मानव प्राकृत लौकिक मानव है एवं यह 'महत्' है। पुरुषस्व लोकातीया क्षेत्र में मानव विग्देशकालातीया ही बना रहता है एवं प्रकृतिस्व लोकात्मक क्षेत्र में मानव विग्देशकालात्मक ही बना रहता है। यो मानव के दोनों स्वरूपों के दोनों क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं। और यही मानव उक्त सन्सुदित् से संशोधन की अपेक्षा कर अपनी सर्व मानकता किंवा महत्ता से परब-मूल बन जाता है। अतएव यही वह सन्सुदित् संशोधन वाञ्छित बन रहा है।

५८२-प्रकृतिभावनिबन्धना मानव की विपदा समस्या—

विग्देशकालात्मक प्राकृत क्षेत्र मातृकतापूर्ण है, इत में तो कोर्ष कन्देह नहीं। अतएव इत में मानव का मूठ, किंवा किन्हु बन जाना भी अप्रत्यापित नहीं कहा जासकता। न तो प्राकृत-मातृकता के क्षेत्र के बिना

वेद्यकि दोनों के-‘न योत्स्ये’*, ‘नेष दास्यामि’ - इन सुप्रसिद्धा नियम-वाक्यान्तों से स्पष्ट प्रमाणित है। एक (अनु न) विद्वांसोःशालानुवृता स पुरुषानुगत अस्तित्व को विसृत कर बैठा था, तो दूसरा (दुष्योःन) विद्वांसोःशालानुवृता स पुरुषानुगत अस्तित्व को यतु बन गया था। एक अत्यन्त आस्तिकता में प्रभावित था तो दूसरा अत्यन्त नास्तिकता के वाङ्मय में आन्द हो चुका था। यों तत्काल दोनों ही महत्त्वा भावुक ही स लक्षणविहीन ही स। भगवान् न समानरूप स दोनों को ही उद्धारण प्रदान करना चाहा था। किन्तु दूसरा उद्धारण की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था जबकि अनु न उद्धारण की सीमा में ही विद्यमान था। अतिसिद्ध संशोधन के लिए भगवान् न दुष्योःन को भी अन्तिम क्षण पर्यन्त समझने में काद कमी नहीं की थी। किन्तु भावुकता की चरमसीमा-परिपाकावस्था-रूपा कुनित्याने दुष्योःन का परित्रास हान ही नहीं दिया जबकि भावुकता की अपरिपक्वावस्था से सम्बन्धित अनु न इस उद्धारण से रक्षित गया। कहत है-कन्व पडे पर ही संस्कार सम्भव है। अपरिपक्वा भावुकता की ही निश्चिन्ता सम्भव है। यदि वह समय निश्चल बाता है तो फिर मनी उपाय निरर्थक ही प्रमाणित हो जाते हैं।

तत्प यही है कि भावुकता की अपरिपक्वावस्था से सम्बन्ध रखने वाली मूढावस्था में मूढ मानव के मन में ‘अभिभूता भद्रा (जिसे अन्वभद्रा कहा गया है) विद्यमान रहती है जिस इस अद्वारण के कारण ही एका अपरिपक्व मूढ भावुक आशिक्षणवश धर्मभावनाओं से सम्बन्धित रहता है जिसे हम ‘धर्म भीकृता’ ही कहा करते हैं। अथवा ही मणिप्राज्ञता उदय नहीं होने पाता इस धर्मभीकृता में। किन्तु धर्म-विरर-आस्तिकता-आदि आदि की प्रतिद्वन्द्विनी कुनित्या को भी प्रवश नहीं होवाता एसे धर्मभीकृता भावुक मूढ मानव में। अतएव इती धर्मभावना के कारण यह दुराभाव (हठधर्म) रूप अवनाशक एव ‘अभिनिवेश’ स बना रह जाता है धर्मभावनाविरोधी धर्माचरणप्रतिद्वन्द्वी जिस अभिनिवेश को मुनैष्टिक आचार्यों ने ‘अधिचिह्नित्य ही माना है X जिसका सम्बन्ध उदाहरण ही प्रमाणित हो रहा है महाभारतयुग का अभिनिवेश विमूढ अतएव मुनैष्टिक दुष्योःन तथैव च बहुमानयुग के उत्तमान धर्मा के समी मानव जिन्होंने धर्माचरणपद्धतियों से अपने आपको निरवेद्य किया पराह्म्य अपथा वा प्रतिद्वन्द्वी बनाते हुए अपने आपको सर्वांगीना ‘लाभमिनिवेश’ ही प्रमाणित कर लिया है।

*-एवमुक्त्वा हपीकेशं गुडाकश पातप ।

‘न योत्स्ये’-इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्णं नभूत् ह ॥

-गीता २४।

-मूल्यग्र नैव दास्यामि बिना युद्धेन कशच । (महाभारत) ।

Xलमत सिद्धतासु तलमपि यन्तस पीडयन्, पिबथ मृगतृप्षिकामु सल्लि पिपामार्हित ॥
 कदाचिदपि पर्यटञ्छशविपाशमामादयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमृखजनचित्तमाराधयत् ॥१॥
 प्रसयमशिमुद्धरेन्मकरवक्रदप्राङ् राव, समुद्रमपि सन्तरत्प्रचलद्दम्भिमालाकुलम् ॥
 सुवक्रमपि शिरसि पुष्पबद्धारयत्, न तु प्रतिनिविष्टमृखजनचित्तमाराधयत् ॥२॥ (मठ्टइति)

परधारणा विमूढता—सद्यथा बहुतामिभित्वा प्रसिक्त्यास्मिन्न इत उचरावस्था वा नाम ही रत्न क्रिया अथवा ई-
'कुनिष्ठ' जो प्रचयज्ञ साहच से ही सम्बन्ध रखती है। अपने आरम्भ के भीमन में (अनुचित विदुष्य-सम्बन्ध के
कारण) बार बार कूट पढ़ने वाला मचलाने वाला मुँह बिगाड़ लेने वाला, इसस्तव, पलायित होत खने
वाला निदान्त मातृक वही मूढ दुर्व्योचन वासान्तर म शकुनि-बिसे कुनैष्टिकों के उन्नरीय में आबर अन्तरे-
गत्ता वेद्य 'विमूढमानष' ही बन गया था, जिस को इस आत्यन्तिक बड़वाने ही ऐसे उस युग का सम्बुद्ध-
कुनैष्टिक ही जो प्रमाणित कर दिया था।

५८६—आत्ममूढ भाषुक अर्जुन का भगवान् के द्वारा परिश्राव, तब एव अर्जुन का
विमूढता से सरधस्य—

एव कि मातृक अत्रएव मूढ—अपरिपक्व अर्जुन को महत्वाम्य से भगवान् कृप्य जैसे नैष्ठिक महा-
पुरुष का अनुग्रह प्राप्त हो गया था। अत्रएव अर्जुन की मातृकता आसान्तर में सन्निष्टा की ही अनुसामिनी
बन गई थी। यह एवं मान लीजिए कि, यदि अर्जुन की मातृकता को भगवान् की निष्ठा का प्रभव न
मिलता तो यह प्रथम जो स्वयं अपनी मातृकता से अपना स्वरूप ही लोभैठवा। यदि दुर्व्योचनता ऐसे
शकुनि जैसा कोई कुनैष्टिक परामर्शदाया मिल जाता, तो यह दुर्व्योचन से भी बड़ी अधिक ही कुनैष्टिक
प्रमाणित होजाता। क्योंकि अर्जुन आरम्भक के मातृक दुर्व्योचन की अपेक्षा भी बड़ी अधिक मातृक थे।

५८७—मातृकता, तथा निष्ठा के प्रतिरूपात्मक महान् उदाहरण—

जो बितनी ही अधिक मातृक होता है अधिक अनुसृष्टिपरयण होता है केवल कान्यनिक विचारों में
ही डूबा रहता है यह अवसर मिलने पर उठना ही अधिक कुनैष्टिक बन जाता है—यदि मातृकता के आवेश में
यह मर लप नहीं जाता तो। आरम्भ का मातृक बिल आवेश से परोपकार की परतुल्यहरण की बितनी
अधिक पोषका कर्या है उचर का बही कुनैष्टिक उठी उच्च पोषणा के अनुपात से उठना ही अधिक
वेपथिक—बन्धन स्वार्थक्षिप्तु बन जाता है। और यों निश्चित कृतम्यपय की विन्युक्ति से आनिर्गुत हो पड़ने
वाली मूढतामूला मातृकता की रूप से ही इस प्राकृत विरव में कृतम्यनिष्ठवर्षित—स्वानुसृष्टिपरयम्य—प्राकृत
मातृक—मानवी के ही मातृकमानष कुनैष्टिकमानष से दो बर्ग बन आते हैं किन में प्रथमबर्ग अधिक
सम्बन्धों से अनुप्राणित है बरकि दूसरे बर्ग में सम्बन्ध लीभित ही रहा करती है। एव इन दोनों के ही प्रति-
रूपात्मक उदाहरण क्रमशः अर्जुन और दुर्व्योचन बने हुए हैं।

५८८—अभ्ययात्मनिषघ्न अस्तिष के स्वरूप से अपरिचित महान् अर्जुन, एवं अभ्य-
यास्तिष के प्रति आकुष्ट महान् दुर्व्योचन, और दोनों पात्रों के माच्यम से
विक्रितस्य—अपिचिक्रितस्य—भावों का दिग्दर्शन—

यदि अर्जुन अपनी मातृकता में महान् था तो दुर्व्योचन अपनी कुनिष्ठा में महान् था। दोनों ही
लोकोचर के अपने अपने अनुसृष्टि-जेशों में। दोनों ही महतिनिष्कनन—'निषेध' के परमाचार्य बने हुए थे

बैशाकि दोनों के 'न योत्स्ये' * , 'नैव दास्यामि' - इन सुप्रसिद्धा निषेध-वाक्यांशों से स्पष्ट प्रमाणित है। एक (अनुन) विग्वेशकालमूढता से पुरुषानुगत अस्तित्व को विस्मृत कर बैठता था, सो ब्रूय (दुष्योभन) विग्वेश कालयिमूढता से पुरुषानुगत अस्तित्व को शत्रु मन गया था। एक अत्यधिक आस्तिकता में प्रवाहित था, वो ब्रूय अत्यधिक 'नास्तिकता' के कारणपण में आनन्द हो चुका था। यों तत्काल दोनों ही प्रकृत्या मायुक्त ही य लक्ष्यविहीन ही थे। भगवान् ने समानरूप से दोनों को ही उद्बोधन प्रदान करना चाहा था। किन्तु ब्रूय उद्बोधन की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था जबकि अनुन उद्बोधन की सीमा में ही विद्यमान था। अनिश्चित उद्बोधन के लिए भगवान् ने दुष्योभन को भी अन्तिम क्षण पर्यन्त समझने में कोर कमी नहीं की थी। किन्तु मायुक्तता की चरमसीमा-परिपाकावस्था-रूपा कुनिष्ठाने दुष्योभन का परिश्राण होने ही नहीं दिया जबकि मायुक्तता की अपरिपक्वावस्था से समन्वित अनुन इस उद्बोधन से हैमल गया। कहते हैं-कन्चे पड़े पर ही संस्कार सम्मन है। अपरिपक्वा मायुक्तता की ही चिकित्सा सम्मन है। यदि वह समय निकल जाता है तो फिर सभी उपाय निरर्थक ही प्रमाणित हो जाते हैं।

तब्य यही है कि मायुक्तता की अपरिपक्वावस्था से सम्बन्ध रखने वाली मूढावस्था में मूढ मानव के मन में 'अभिभूता भद्रा' (जिसे अन्धभद्रा कहा गया है) विद्यमान रहती है, जिस इस अद्वारक के कारण ही एतद् अपरिपक्व मूढ मायुक्त आशिकरूपेण धर्मभावनाओं से समन्वित रहता है जिसे हम 'धर्म भीरुता' ही कहा करते हैं। अथर्व ही सन्धिष्ठा को तो उदय नहीं होने पाता इस धर्मभीरुता में। किन्तु धर्म-ईश्वर-आस्तिकता-आदि आदि की प्रतिद्वन्द्विनी कुनिष्ठा का भी प्रवेश नहीं होपाता ऐसे धर्मभीरु मायुक्त मूढ मानव में। अतएव इली धर्मभावना के कारण यह पुराणमह (इठधम्म) रूप सबविनाशक उस 'अभिनिवेश' से बना रह जाता है धर्मभावनाविरोधी, धर्मान्तरणप्रतिद्वन्दी जिस अभिनिवेश को मुनैष्टिक आचार्यों 'अविचिकित्स्य ही माना है X जिसका अन्तन्त उदाहरण ही प्रमाणित हो रहा है महाभारतयुग का अभिनिवेश विमूढ अतएव कुनैष्टिक दुःखार्थन सयैव च बच मानयुग के उत्थमान धर्मां ये सभी मानव किन्हीं धर्मान्तरणप्रदलियों से अपने आपको निरपेक्ष, किन्ना परब्रह्मण, अप्रथा तो प्रसिद्धी बनाते हुए अपने आपको स्वर्तमना 'लोअभिनिवेश' ही प्रमाणित कर लिया है।

*-एवमुक्त्वा हपीकेशं गुहाकेश' पठप ।

'न योत्स्ये'-इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्ण्यी बभूव ह ॥

—गीता २४॥

—सूत्रग्र नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव ! (महाभारत) ।

Xलमेत सिक्तासु वैलमपि यत्नत पीडयन्, पिबेव मृगतृष्णिकासु सलिल पिपासार्हितः ॥

कदाचिदपि पर्यटन्स्त्वश्विपाशमासादयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥१॥

प्रसङ्गमशिक्षदरेन्मकरवक्त्रदन्द्राङ्कुरात्, समुद्रमपि सन्तरेत्प्रचलदूर्म्मिमालाङ्कुरम् ॥

सुवक्त्रमपि शिरसि पुष्पवद्दारयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥२॥ (अर्द्धहरि)

वत्पारुषा विमूढता—सचचा नङ्गतामिभित्वा प्रतिक्रियामिभ्य इव उच्यते इत्यादि का नाम ही रत्न खिया जाता है—
'कुनिष्ठा' भी प्रचण्ड शाहस से ही सम्बन्ध रखती है। अपने आरम्भ के जीवन में (अनुचित विदुषात्मक के
अर्थ) बार बार रुठ पड़ने वाला मखलाने वाला, मुँह बिगाड़ लेने वाला, इतस्तव पलायित होते जाने
वाला निष्ठान्त मातृक नही मूक दुष्प्रेषन का समन्तर में शकुनि—जैसे कुनैष्ठिकी के उद्घाटन में आकर अन्तर्-
गत्ता वैसा 'विमूढमानव' ही बन गया या बित्त ही इस आत्यन्तिक बदलाने ही इसे उस युग का सम्बन्ध न
कुनैष्ठिक ही तो प्रमाणित कर दिया था।

५८६—आत्ममूढ भावुक अर्जुन के द्वारा परित्राण, तब एव अर्जुन का विमूढता से सरसवा—

जब कि मातृक, अपरिपक्व अर्जुन को महद्भाग्य से भगवान् रूप से नैष्ठिक महा
पुरुष का अनुग्रह प्राप्त हो गया था। अतएव अर्जुन की मत्तवृत्ता अज्ञान्तर में सन्निष्ठा की ही अनुयायिनी
बन गई थी। यह सब मान लीजिए कि यदि अर्जुन की मातृकता को भगवान् की निष्ठा का प्रभव न
मिलता तो यह प्रथम तो स्वयं अपनी मातृकता से अपना स्वरूप ही खो बैठता। यदि दुर्म्ममनसा इसे
शकुनि वैसा कोई कुनैष्ठिक परमार्थदाता मिल जाता, तो यह दुष्प्रेषन से भी नहीं अधिक ही कुनैष्ठिक
प्रमाणित हो जाता। क्योंकि अर्जुन आरम्भ के मातृक दुष्प्रेषन की अपेक्षा भी कभी अधिक मातृक न।

५८७—भावुकता, तथा निष्ठा का प्रतिरूपात्मक महान् उदाहरण—

जो कितना ही अधिक मातृक होता है अधिक अनुभूतिपरमण होता है केवल आत्यन्तिक विचारों में
ही डूबा रहता है वह अक्षर मिलने पर उठना ही अधिक कुनैष्ठिक बन जाता है—यदि मातृकता के आवेश में
वह मर लप नही जाता तो। आरम्भ का मातृक विष आवेश से परेषकार की परतुल्यहरण की कितनी
अधिक पोषणा करता है उतर का नही कुनैष्ठिक उसी उच्च पोषणा के अनुपात से उठना ही अधिक
वैय्यक्तिक—अपन्य स्वार्थशिष्टु बन जाता है। और यों निश्चित कल म्पय की विन्दुति से आविर्भूत हो पड़ने
वाली मूढतामूला मातृकता की कृपा से ही इस प्राकृत विरव में कल म्पनिहायकत्व—स्वानुभूतिपरमण—प्राकृत
मातृक—मानवों के ही भावुकमानव कुनैष्ठिकमानव ये दो वर्ग बन जाते हैं। किन्तु में प्रथमवर्ग अधिक
सम्पदाओं से अनुप्राणित है जबकि दूसरे वर्ग में सम्पदा सीमित ही रहा करती है। एवं इन दोनों के ही प्रति-
रूपात्मक उदाहरण म्पण अर्जुन और दुष्प्रेषन के हुए हैं।

५८८—अभ्ययात्मनिवर्धन अक्षिण के स्वरूप से अपरिचित महान् अर्जुन, एवं अभ्य याक्षिण के प्रति आक्रुष्ट महान् दुष्प्रेषन, और दोनों पात्रों के माध्यम से चिकित्स्य—आविचिकित्स्य—मावों का दिग्दर्शन—

यदि अर्जुन अपनी मातृकता में महान् था तो दुष्प्रेषन अपनी कुनिष्ठा में महान् था। दोनों ही
लोहोत्तर के अपने अपने अनुभूति—वेगों में। दोनों ही प्रकृतिनिष्पन्न—'नियेष' के पर्याचार्य्य के हुए थे

५६१-दिग्देशकालात्मक-लौकिक-बुद्धिवादात्मक-‘बुद्धियोग’, तथा दिग्देशकालातीत-
अलौकिक-अबुद्धियोगात्मक-‘बुद्धियोग’ क स्वरूप का तात्त्विक-निदर्शन—

दुष्योपन में भी ‘बुद्धियोग’ था। उसका भी प्रत्येक कार्य्य बुद्धिपूर्वक ही होता था, जबकि अबुन का प्रत्येक कार्य्य आरम्भदशा में बुद्धिव्यामोहना से ही सम्बन्धित रहता था। फिर क्या बात थी कि, बुद्धिमान्नी पूर्वक, पूर्ण कौराल-पूर्वक नवत आगच्छ रहते हुए, अत्रियोचित कचव्यनिष्ठा (युद्धकर्म) में प्रवृत्त रहने वाले भी दुष्योपन को विनयभी नही मिली। इत ‘कौराल’ शब्द के गन में ही इस प्रश्न का उत्तर सुस्पष्ट है। दुष्योपन की बुद्धि का योग तात्त्विक-स्वार्थ के ही साथ था, ‘अर्थ’ पूर्ण वा स्वार्थ ‘अकर्म’ कहलाया है। फलाश में ही उसकी बुद्धि निमज्जित थी। कचव्य की अपेक्षा कचव्य का ‘फल’ उसकी दृष्टि में प्रशुन बना हुआ था। तभी तो बाबा सा भी परब्रह्म होते देव्य कर यह मीम्य जैसे सर्वभ्रष्ट सम्मान्य सेनापति पर भी स्मिर पड़ता था। फलाश की यत्निकित् वी भी नियशा इसे इसके वास्तविक भावुक-स्वरूप (प्राप्तव्य) पर ला पड़ा कर देती थी। उस आहुरता के आशेष में वो यह एसा अनर्गल प्रलाप करने लग पड़ता था, बौद्ध अमर्षान्ति-अदृष्ट अम्र अमङ्गल-अशुचि प्रलाप कमी अबुन ने भी नहीं किया। अबुन की भावुक-बुद्धि उद्बोधन से पूव वहाँ कचव्य स अबुक्त थी, वहाँ दुष्योपन की बुद्धि प्रधानरूप से फल से ही युक्त थी। अबुन का वो किसी से योग ही नहीं था। न उस साम्ना-फलभाग की ही दृष्टा थी, न ऐसे फल के सम्बन्ध कचव्य (युद्ध) में ही उसकी बुद्धि का योग हो रहा था। अत्रियु यह तो आचारपारीवक्येय ‘भावुक’ ही प्रमाणित हो रहा था। किन्तु दुष्योपन तो फल के साथ दृष्टरूप से आसक्त हो रहा था। इस अन्वयनिष्ठा के लिए वह अम्हा-तुण पाप-पुण्य सरदुल्ल कर डालने के लिए उग्रद बना रहता था। कचव्यविवक से उसकी बुद्धि का कर्म सम्बन्ध कोई योग नहीं था। अत्रियु योग या केवल फल से। इसी फलासक्ति ने फलयोग ने इसकी कचव्यनिष्ठा में शिपिलता उत्पन्न करदी। इसी एष्याने इसके हितैशियो की भी इसकी ओर से उदासीन बना दिया, जिस उदासीनता के मुपरिणाम ? स्वरूप ही इसे अनन्तयोगत्वा परामूय ही हो बना पड़ा। फल के साथ बुद्धि का आसक्त्यात्मक योग हो नहीं, कचव्य के साथ बुद्धि का अनन्त योग रहे इस योग का नाम ही ‘कचव्यकौराल’ माना गया है जिसका एकमात्र नमलभ्र अम्भयपुरुष के साथ योग कर लेना ही है। अस्तक नदि (प्रकृति) उस पुरुष के साथ योग नही कर लेती तबतक इसमें योग सम्भ्र ऐसे कौराल का योग हो ही नहीं सक्य जिसके द्वारा कि, यह कचव्यनिष्ठ मी कमी रहे फल का भी आगमन होता रहे एवं प्राप्त फल में यह बुद्धि आसक्त मी न हो।

५६२-कर्षाव्यनिष्ठात्मक-बुद्धियोगात्मक-‘बुद्धियोग’ से अनुप्रायिता कालातीता स्थिति,
अनन्तकालगति, एवं अनन्तकालस्थितिरूपा भावप्रयी का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय-

‘कर्षाव्य कर्म’ है, कर्म क्रिया है, क्रिया ‘गति’ है, गति ‘प्राय’ है। प्राय्य अमूर्त्त है एवं इस अमूर्त्तवत्त्व का ही नाम है ‘अचरकाल’ जिसे हम अनन्तकाल’ कहा करते हैं। प्रायाचरमूर्त्ति अनन्तकालात्मक गतिभाव से ही कचव्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। अचरम्य भासिक-चर का ही नाम है धीमित-दिग्देशकाल जिसे हम ‘वान्त्रसम्भ्रस्तरकालात्मक-वर्षकाल’ कहा करते हैं। यही अचरम्य स्पर्क-मूर्त्त काल है जिसका नाम है-मूर्त्तिरूप मौसिक पदार्थ इन्हीं को कचव्य का ‘फल’ कहा गया है।

५८६-कालातीत के द्वारा काल का नियन्त्रण, एवं तदनुग्रहस्यैव मातृक की सन्निष्ठाप्रवृत्ति

क्या था वह अनिश्चित था संशोधन ?। अर्जुन की मातृक्या-दिग्देशकालानुबन्धिनी चर्यात्मिकी अनुभूति-बुद्धिमानी का उत्तरदायित्व अर्जुन की प्रकृति से हट कर भगवान् ने इसके पुत्र्यमात्र पर ही इस के उत्तरदायित्व का समपण कर दिया। अर्थात् प्राकृत-मातृक्या का आचार पोषण-निष्ठाकल बना दिया गया। अर्थात्-पुरुष से प्रकृति को निबन्धित कर दिया गया। अर्थात् कालातीत से काल को मर्यादित कर दिया गया। अर्थात् अनुभूति को संकित के आश्रय में, ज्ञान को धर्मक के आश्रय में, बुद्धि को बोध के आश्रय में छा लका किया। मीमांसे के शब्दों में-मातृक-मातृक-बुद्धि को प्रकृत्यतीत नैष्ठिक अभ्ययपुरुष से युक्त कर दिया, वनकि इसकी यह बुद्धि प्राकृत-दिग्देशकालमात्रों से युक्त होखी थी इसके पूर्व।

५६०-नियन्त्रयात्मक संशोधन से समन्वित लोकोत्तर-‘बुद्धियोग’-

यही संशोधन अभ्यय-पुरुषानुगतिक्या से ‘बुद्धियोग’ (बुद्धि का अभ्ययपुरुष से योग) कहलाया इसी बुद्धियोगात्मिक अभ्ययनिष्ठा से अर्जुन के दिग्देशकालानुबन्धन-प्राकृत-आचरकत्व में ‘निष्ठाकल’ (निरन्ध्यात्मिक बुद्धि) अभिव्यक्त होगया। इसी अभ्ययपुरुषनिष्ठा के अनुग्रह से इसी बुद्धियोगनिष्ठा के नियन्त्रय से नियन्त्रितवा इसकी दिग्देशकालानुबन्धिनी प्राकृतबुद्धि ने निबन्धनी का उचरण कर लिया अपने आपकी दिग्देशकालानुबन्धिनी-मातृक्या के ध्यामोहनी में बचाते हुए।

हासाहर्षं कश्चु पिपासति कौतुकेन काञ्चानलं परितुष्णित्पति प्रकामम् ॥

व्यासादिभिं च यत्ते परिरम्भुमदा यो दुर्जनं वरायितु वनुते मनीषाम् ॥३॥

—भामिनीविद्यासे

अरबबकवितं कृतं शबरारीरमुदापितं स्यसेऽञ्जनबरोपित सुभिरमूपरे वर्पितम् ॥

स्वपुच्छमवनामित बचिरकर्षावातः कृताः कृताल्पसुसमयकना यत्तुषो जनसेवित ॥४॥

ज्ञानी समुत्थत सहस्र में पर जिन नर अभिमान ॥

मन रञ्जन तिन का कमी सम्भव नाहि सुजान ॥५॥

धन्य वैष्णव । मानव प्रवाल करने पर बाह्य मिट्टी से पैदा निकाल उठता है मृगमुष्णाकल से विपाद (प्यास) अपनी प्यास बुझ सकता है । मृगते किरते शरशब्द (झूठे का शींग) की मिला उठता है, मयानक मकर (मगर) की कण्ठप्रदा से मणि मी निकाल ली जाकती है प्रचयद उरहामित समुद्र को मी घेर कर पार किया जाकता है विपथर प्रचयद स्व को मी पुष्पकट शिरोमूषण बनाया जाकता है और मी इन सभी असम्भव मी चेनी को छो धम्मव बनाया जाकता है किन्तु भामिनिभिद-किन्तु-कुनैष्टक-आवेशाकि-अभिमानि-कृकर्म-पुष्टबुद्धि को क्वासि प्रसन्न नहीं किया जाकता वेसाकि वयाकिप बुध्यो-धन किंही मी उपाय से उठान न हावा हुआ ‘कूल-किनाय’ का ही निमित्त बन गया था हायकप्याहनेव ।

सद्व रियर माय से अकर्म है। यों वा अकर्म मानवके सम्मुख उपस्थित हैं। पुरुषसङ्ग इसे फलसङ्ग बना देता है, तो फलसङ्ग इसे पुरुषसङ्ग बना देता है। पुरुषसङ्गता का नाम ही मुनिष्ठा है एवं फलसङ्गता का नाम ही मुनिष्ठा, किंवा भावुकता है। कैसे मानव को पुरुषसङ्गता प्राप्त हो?, कैसे इसमें मुनिष्ठा उदित हो?, परन्तु अ एक मात्र उत्तर है—'कालं कालेन पीडयन्'।

५६५—'कालं कालेन पीडयन्' सूत्र क तद्भात्मक समन्वय-विवर्ण—

काल से काल को पीड़ित करता हुआ ही मानव कालान्तर में 'युद्धियोगनिष्ठा' प्राप्त कर सकता है। कालातीत अनन्ताव्यय-पुरुष की साक्षी स अनन्तकालरूपा प्रकृति स सादिसान्तकालरूपा विकृति को संघर्ष से आशुत करता हुआ ही मानव 'अभ्युदय-निश्चय' का अधिकारी बन सकता है। कालातीत-सर्वातीत-सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता में पूर्ण आस्था-श्रद्धा रखने वाला मानव अपने मुनिश्चित (शास्त्रसिद्ध) कर्णव्य स कर्णफल को पीड़ित करता हुआ ही 'सुखी, एव शान्त' बना रह सकता है। कालदिग्देश स दिग्देशकाल को पीड़ित करता हुआ ही मानव 'प्रकृतिस्य' बना रह सकता है। अनन्त स अन्त को नियन्त्रित रखता हुआ ही मानव 'नियन्ता' बना रह सकता है। एक से अनेक का संवरण करता हुआ ही मानव 'अभिव्यक्त' होसकता है। ज्ञान से विज्ञान का अनुगमन करता हुआ ही मानव 'विज्ञाता' बन सकता है। अमृत से मृत्यु का अनुगमन करता हुआ ही मानव 'अमृतताम' कर सकता है। सम्भूति से विनाश को आनन्द रखता हुआ ही मानव 'भूति' का अनुगामी बन सकता है। भूत से भवत् (वर्तमान) का समतुलन रखता हुआ ही मानव 'भविष्यत्' का निर्माण कर सकता है। स्रष्टा से सृष्टि को समन्वित रखता हुआ ही मानव 'ससृष्टि' का प्रवर्णक बन सकता है। निष्ठा से मायुकता को नियन्त्रित रखता हुआ ही मानव 'मायुकता' से लाभ उठा सकता है। यों सर्वात्मना काल से काल को पीड़ित करता हुआ ही मानव 'कालातीत' बना रहता हुआ सम्पूर्ण कालिक-मावों की समृद्धि का असफल उपमोक्षा बन जाता है—अमयरूपेण।

५६६—दिग्देशकालप्रथी से उत्पन्नित भूत-मौतिक-पदार्थ, एवं तद्द्वारा मायुक-मानव का कालिक-वृत्तीकरण—

स्मरण रहिये! 'उत्पन्नितता' ही आपको उत्पीड़क बनाती है। उत्पीड़न से पहिले आप स्वयं उत्पीड़ित हो जाते हैं। यही उत्पीड़ितता आगे चलकर प्रतिक्रियाक्रम से आपका उत्पीड़क बना देती है जिससे

अमृत गति से मूर्धभूत ही अभिमन्यु कहते हैं। कर्त्तव्यरूप अनन्तकाल प्रकृति है, कत व्यक्तस्व सादिसान्ताकाल 'विकृति' है। अनन्ता है प्रकृति, सावि-सान्त है विकृति। साविसान्त विकृति का आभार है अनन्ता प्रकृति। एवं इस अनन्ता प्रकृति का आत्मजनन है अनन्तान्ययपुरुष। यह अनन्तपुरुष भी स्थितिरूप है एव अनन्ता विकृति भी स्थिति रूपा है। दोनों के मध्यम में अनन्ता प्रकृतिकया गति प्रतिष्ठित है। इत उक्त स्थिति को समन्वित किए बिना 'यत्किञ्चित्' उद्योगन को यत्किञ्चिद्रूप से भी समन्वित नहीं किया जासकता। अन्त्य पुरुषरूपा स्थिति चिद्रूपता है, अनन्तप्रकृतिरूपा मध्यस्था गति 'घटना' है एव सादिसान्तविकृतिरूपा अन्तस्था स्थिति 'अपेक्षना' है। इन तीनों का नाम रख लेते हैं क्रमशः—कालातीवासिधिति, अनन्तकालसावि-सान्तकालशिविति ये। तत्त्वभाषा में ये ही तीनों हैं क्रमशः—अव्ययपुरुष आहरपराप्रकृति आहरपरा-प्रकृति। व्यवहारभाषा में ये ही तीनों हैं—'कर्त्तव्यसाक्षी, कर्त्तव्य कर्त्तव्यफल'। कर्त्तव्यफल एवं कर्त्तव्यफलफल इन दोनों के माध्यम से ही मानव के माय्य का (प्राकृत जीवन का) अन्त्य-रूप निर्याय हुआ करता है। कर्त्तव्य यदि फल का दास बन जाता है तो कर्त्तव्य का बल शिथिल हो जाता है फल की प्रधानता हो जाती है। फलता फल की सम्मानना निश्चल प्रमाणित हो जाती है फलरूपा आसक्ति बढ़ता और उत्पन्न कर देती है। ठीक इसके विरीत—यदि फल कर्त्तव्य का दास बन जाता है, तो फल का आसक्तिरूप शिथिल हो जाता है कर्त्तव्य प्रधान बन जाता है। फलता कर्त्तव्य की फलानुगति भी निरचित बन जाती है एव फल अपनी बढ़ता से कर्त्तव्य को प्रभावित भी नहीं कर पाता। और यही यत्किञ्चित् उद्योगन की स्वस्वभावा का उपसंहारनिष्कर्ष है बिकल्प निम्नलिखित शब्दा में उद्घोर हुआ है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गीता) ।

५६३—आत्मानुगता स्थिति, तथा कालात्मिका गति का स्वरूप—समतुलन—

एक 'स्थिति' के साथ कर्त्तव्य का सङ्ग ही इसे दूसरी स्थिति से असङ्ग बनाए रहता है। पुरुषाभ्यय भी स्थितिरूप है जिसे हमने चिद्रूपन कर्त्तव्यसाक्षी कहा है। आरभूत-विरत भी स्थितिरूप है जिसे हमने अपेक्षन कर्त्तव्यफल कहा है। कर्त्तव्यफल भी 'स्थिति' रूप 'अकर्मभाव' है तो कर्त्तव्यसाक्षी भी स्थितिरूप 'अकर्मभाव' है। यदि मानव (आर्यर प्राकृत जीवन) अपने कर्त्तव्य को अकर्मरूपा—कर्त्तव्य-फलात्मिका स्थिति से समन्वित कर देता है, तो फलान्विताकाल यह मानव अकर्मभाव में जाता हुआ कुनैष्ठिक बन जान जाता है दुर्योगनकर्त्ता। यही यदि अपने कर्त्तव्य को अकर्मरूपा—कर्त्तव्यसाक्षिकया स्थिति से समन्वित कर लेता है तो साक्षीस्थितानुगत यह मानव चिद्रूपनभाव से समन्वित होता हुआ कुनैष्ठिक बन जाता है उत्पन्न अनुनकर्त्ता।

५६४—सुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, एवं—'कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' के 'अकर्मणि' का अर्थ है 'फले से सङ्गो मास्तु'। कर्म का फल 'अकर्म' ही तो होगा। अतएव कर्मफल की तरह उठा 'अकर्म' बन गई है। उपर कर्मसाक्षी अव्ययपुरुष भी अपने

मालम्बनम् । यथा श्रीखण्डचन्दनतरुः समस्तमलयाचलकाननगतान् वृक्षान् सुर-
मयति, यथा वा अमृतमयशीतलचन्द्रकिरणससर्गतो विकसत् कुमुदवनमनोज्ञमृगन्ध
शीतलपवनमनोहरचन्द्रिकाभिर्जनमनप्रसादक भवति, यथा वा क्षीरसागरनिर्झरी
स्वासन्नवर्तिनो वृक्षगुण्डगुल्मलतावल्लीप्रभृतीन् नानाविधान् वनस्पतीन् रसप्रदानेन
वर्धयन्ती मोदयति, एव विनयविभूषितं खलु शीलेन कुलगणगच्छान् मोदयन्
लोके चिन्तामणिरिव समन्यते, कल्पतरुरिव सेव्यते, निधिरिव समाद्रियते, सुधेव
परिपूज्यते ॥ ७ ॥

फर लेती है कि मुझे अपना कल्याण करना है—अतः वह नियागार्थी-
मोक्षामिलापी बन जाता है । और उस स्थिति में उसकी प्रत्येक क्रिया
एँ मोक्षप्राप्ति की ओर ही उसे ले जाने वाली होती रहती हैं, अतः वह
किसी भी कुल, गणगण-गच्छ से नहीं निकाला जाता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार श्रीखण्डचन्दन का वृक्ष समस्त मलयाचल
के जगल में रहे हुए वृक्षों को अपनी अपार सुगन्धि से सुरमित करता
रहता है । अथवा जिस प्रकार अमृतमय शीतलचन्द्र की किरणों के
ससर्ग से विकसित कुमुदवन, मनोज्ञ, शीतल एवं सुगन्धित वायु एवं
मनोहर चादनी के द्वारा प्रत्येक जन के मन को आल्लाहित करता है ।
अथवा—जिस प्रकार क्षीर सागर की निर्झरी अपने निकट रहे हुए वृक्षों
को उनके गुच्छों को गुल्मों गण लतावल्ली आदि को रसप्रदान से वृद्धि-
गत अर्थात् बढ़ाती हुई उन्हें विकसित करती है इसी तरह विनय से

भारे पोतानु कल्याण करवु छे—आधी ते नियागार्थी—मोक्ष अखिलापी बनी
बय छे अने अे स्थितिमा अेनी प्रत्येक क्रियाआ मोक्ष प्राप्तिनी तरक्ष
अेने लक्ष ञवावाणी यती रहे छे अेटवे ते काष्ठपक्ष कुण, गुण अने गन्ध
द्वर करवाभां आवता नथी भतवण आने अे छे के ने प्रकारे श्रीप उ
य इननु वृक्ष समस्त मलयाचलना जगलमा रहेवा अथा वृक्षाने पोतानी
अपार सुगन्धी सुरमित करवु रहे छे अथवा ने प्रकारे अमृतमय शीतल
किरणाना ससर्गधी विकसित कुमुदवन, मनोज्ञ, शीतल अने सुगन्धित वायु
अेवी मनोहर चादनी द्वारा प्रत्येक जनना मनने आल्लाहित करे छे अथवा—
ने प्रकार क्षीर सागरनी निर्झरी (अरुणा) पोतानी निकट रहेवा वृक्षाने
अेनी ठाणे विजरेने तथा कुलकुणादि, पाइडा वगेरेने रसप्रदानधी वृद्धिगत
अर्थात् वधादे छे अने विकसित करे छे आ रीते विनयधी विभूषित अने

अमृत गति से मूर्तमृत ही अभिव्यक्त होते हैं। कर्तव्यरूप अनन्तमूल 'प्रकृति' है, कर्तव्यरूपरूप धारित्वकाव 'विकृति' है। अनन्ता है प्रकृति, सावि-सान्त है विकृति। साविसान्त विकृति का आचार है अनन्ता प्रकृति। एवं इस अनन्ता प्रकृति का आच्छन्वन है अनन्तामप्यपुरुषः। यह अनन्तपुरुष भी स्थितिरूप है एवं अनन्ता विकृति भी स्थिति रूपा है। दोनों के माध्यम में अनन्ता प्रकृतिरूपा गति प्रतिष्ठित है। इत लब्ध स्थिति को धमन्वित किए किना 'यत्किञ्चित्' संशोधन को यत्किञ्चित्प्रकार से भी समन्वित नहीं किया जा सकता। अमृत पुरुषरूपा स्थिति चित्प्रधाना है, अनन्तप्रकृतिरूपा मध्यस्था गति 'धवतना' है एवं धारित्वविकृतिरूपा अनन्तस्था स्थिति 'अचेतना' है। इन तीनों का नाम रख लेते हैं क्रमशः—कालातीतास्थिति अनन्तप्रकृति-सान्तकालातिविति ये। उत्तमाधा में ये ही तीनों हैं क्रमशः—अन्वयपुरुष आचरपराप्रकृति आचरपरा-प्रकृति। व्यवहारमाधा में ये ही तीनों हैं—'कर्तव्यसाक्षी कर्तव्य कर्तव्यफल'। कर्तव्यफल एवं कर्तव्यफलफल इन दोनों के माध्यम से ही मानव के मान्य का (प्राकृत जीवन का) अन्वय-वृत्त निर्णय हुआ करता है। कर्तव्य यदि फल का दास बन जाता है तो कर्तव्य का मूल शिथिल हो जाता है फल की प्रधानता ही जाती है। फलता फल की सम्मानना निष्कृत प्रमाणित हो जाती है फलरूपा आच्छिन्न बहता और उत्पन्न कर देती है। ठीक इसके विरुद्ध—यदि फल कर्तव्य का दास बन जाता है तो फल का आवर्तित्व शिथिल हो जाता है कर्तव्य प्रधान बन जाता है। फलतः कर्तव्य की फलानुगति भी निश्चित बन जाती है एवं फल अपनी बहता से कर्तव्य को प्रमाणित भी नहीं कर पाता। और यही यत्किञ्चित् संशोधन की स्वस्वमाया का उपलक्षणनिष्कर्ष है जिसका निम्नलिखित शब्दों में उल्लेख हुआ है—

कर्मयोग्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुभूर्ः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गीता) ।

५६३—आत्मानुगतता स्थिति, तथा कालात्मिका गति का स्वरूप—समतुलन—

एक 'स्थिति' के साथ कर्तव्य का सङ्ग ही इसे दूसरी स्थिति से असङ्ग बनाने रहता है। पुरुषाख्य भी स्थितिरूप है जिसे हमने चित्प्रधान कर्तव्यसाक्षी कहा है। आचर-विरव भी स्थितिरूप है जिसे हमने अचेतन कर्तव्यफल कहा है। कर्तव्यफल भी स्थिति'रूप 'अकर्ममात्र' है तो कर्तव्यसाक्षी भी स्थितिरूप 'अकर्ममात्र' है। यदि मानव (आचर-प्राकृत जीवन) अपने कर्तव्य को अकर्मरूपा—कर्तव्य-फलात्मिका स्थिति से धमन्वित कर देता है तो फलस्थित्यासक्त यह मानव बहमान में जाता हुआ कुनैष्ठिक बन जान जाता है दुर्योगनकर। यही यदि अपने कर्तव्य को अकर्मरूपा—कर्तव्यसाक्षिरूपा स्थिति से धमन्वित कर लेता है तो साक्षीस्थित्यनुगत यह मानव चित्प्रधानमात्र से धमन्वित होता हुआ कुनैष्ठिक बन जाता है उपद्रव अर्जुनकर।

५६४—मुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, एवं—'कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' के 'अकर्मणि' का अर्थ है 'फले त सङ्गो मास्तु'। कर्म का फल 'अकर्म' ही हो होगा। अतएव कर्मफल की वृद्ध तथा 'अकर्म' बन गई है। उपर कर्मसाक्षी अन्वयपुरुष भी अपने

एवमात्र आभार है—इन प्राणियों के मान्यम से मानव की प्रवृत्तियों का अभ्ययन—ज्यामाह्न, विमस
 पत्रा बुद्धिम्यामाह्न मानव का आर पुष्ट हो ही नहीं सकता। तनी तो दिग्देशकालमत्त इन अन्यजनों
 मानव की विद्यवशील—माणीमान ही मान लिया है, इति नु अत्रद्वयम् ! अत्रद्वयम् !

६००—पशुसर्गासक्त भावुक मानवों क द्वारा मानव के स्वरूप-समतुलन की महती भ्रान्ति,
 एव तस्मिंश्चि की मङ्गलकामना—

तनी तो इनकी दृष्टि में मानवन् प्राकृत पशु—पक्षी—आदि प्राणियों से ही नहीं, अपितु ओगधि—
 वनस्पति—सतागुन्म—पर्वत—नदी—नगर आदि आदि बड़ भूतों से भी प्रेरणा ले लेकर ही क्रमशः अपनी मान
 क्या ? का विकास किया है। और मात्र तो मृगभक्ष्य—मम युक्ति—मृगमय माण्डानि, बीर्ण—शीर्ण कन्यादि
 की मानव की बुद्धि के प्रेरक प्रमाणित कर लिए गए हैं पुरतत्त्वविचारों के द्वारा। सचमुच इस पशुसर्ग—
 व्यामाह्नन कदनुन्धी वचमानकालविमाह्न ने ही वा मानव का उम भय पर ला गया किया है जिसका
 मूलतः सत्रन हुआ था इसी देश के अन्तर्दृष्टियादी दार्शनिक के अनुभव से एवं बा पुनित फलवित हुआ
 आरके भूवर्षिहान की रूपा से तथा सत्ययानुभवों विरोधनों के विरोधना से और इनके वास्तविक परिणामों
 से। इसीलिए हम मानव से अत्यन्त प्रथमभाव से यही निकलन करने की श्रुता कर लेनी पड़ी कि, वह मानव
 की 'मानवता' पर अनुभव कर अपनी दिग्देशकालानुबन्धिनी मापुक्तापूर्ण—पशुसर्गानिबन्धना मान्यताओं म
 तथाकथित 'मन्त्रिभित्त' सरोधन कर ही शाले अविलम्ब कर डाले। अन्यथा जिस साम्यनिक भय का उत्पन्न
 केवल अपने प्रसारण में न्त दिग्देशकाल क द्वारा सत्रन कर डाला है यह महद्वय 'से आसान्तर में
 निःशेष ही बना डालेगा। और महत्तामाय है यह मानवता का कि अब मानवने अद्यत अपनी यह भूल
 स्वीकार करना उपबन्ध कर दिया है। क्योंकि अन्तता गत्या मानव 'मानव' ही है 'महान्' ही है
 दिग्देशकालातीत सनातनतत्त्व ही है। अतएव न यह उत्पीड़ित ही रह सकता न उत्पीड़ित ही
 बना रह सकता अधिक समय पर्यन्त। अतएव ही इसे स्वीय अपना निष्ठा से ही (बिना ही
 पशु—पक्षी—आदि की प्रेरणा के) अपना यह कल्पित भय निम्नूँच बना ही डखना होगा।

६०१—अनन्तकालात्मक महान् भय क स्वरूपबोध से ही सादि-सान्त दिग्दशकालभया
 से सम्भावित आत्मप्राणा, एव 'महद्वय' का माङ्गलिक सस्मरण—

और इस मययाव के लिए मानव की सर्वप्रथम स्वय अपने उस 'महान् भय' का ही स्वरूप मयन्
 लेना होगा जिस महान् भय के गम में ही दिग्देशकालात्मक अणोरमीयान् भय बना रहा है। उस महान् भय
 के स्वरूपबोध पर ही इसका यह दिग्देशकालानुबन्धी स्वयमय पलापित हीसकेगा उनी प्रकार, जैसे कि सिंहमय
 के सामने शृगालादि मय अशमान में बिलीन होजाया करते हैं। आपके उस महान् भयस्वरूप का ही नाम
 है अनन्तकाल अनन्तदिक्, और अनन्तारा जिस इस अनन्तकालदिक्वेरा क सम्मुख यह मादि
 समन्तदिक्द्वाराकालभय अद्यमात्र भी तो नहीं ठहर सकता। सम्भरकालात्मक-वच मानदिग्देशकाला
 म्क पशुमय आपका स्वरूप (प्रकृति) नहीं है बल्कि अपने भूतदृष्टिमूला मापुक्ता से भ्रान्तिकरा मान लिया
 है। अपितु आपका प्राकृत स्वरूप तो है महद्वयरूप वह अनन्तकाल विरके आप सर्वभयक प्रतिकरूप है

आप वृत्तों को उत्पीड़ित करने लग पड़ते हैं। अतः आप न तो उत्पीड़क ही हैं, न उत्पीड़ित ही। उत्पीड़ित हैं दिग्देशकशास्त्र के मूल-भूतमीतिक अङ्गपर्याय, एवं अङ्गताप्रधान के पशु-पक्षी-आदि भौतिक प्राणी जो उत्पीड़नरूप इन मूलमात्रों से पहिले तो स्वयं उत्पीड़ित बनते हैं। उदन्तर प्रतिक्रियात्मक से अपने समानपरमां प्राणत प्राणियों को उत्पीड़ित करते रहते हैं। और यों सम्युक्त भूतमीतिक परमादि प्राणी अपनी सीमित दिग्देशकशास्त्र से, इस उत्पीड़नपरम से हठी की प्रयोग उपायना करते हुए परस्पर उत्पीड़ित-उत्पीड़क ही बने रहते हैं।

५६७-अमूर्चकाल के द्वारा उत्पीड़ित मूर्चकाल—

क्या वे परमादि प्राणी उत्पीड़ित, तथा उत्पीड़क बने रहते हैं?, इस प्रश्न पर क्या कमी आपने विचार विमर्श किया है? नहीं तो अब कर लीजिए। इस पशुसर्ग के लिए वर्तमानकाल के अतिरिक्त न तो कोई मूलकाल है न भविष्यकाल बिना भूतमविष्यत्काल को अम्पत्त-महद्वाररूप अन्तकाल कहा जाता है। उस अन्तकाल से उदा ही उत्पीड़ित यह आदिसात्व सम्बन्ध-मूर्च-अम्पत्त-वच मानकाल ही पशुसर्ग का सर्वस्व बना रहता है। उत्पीड़न ही इसका प्रभवरूपान है उत्पीड़करूप उस अन्त-मूर्च-मविष्यत्-आधारकाल से उक्त उत्पीड़ित यह पीड़ितकाल ही तो इस पशुसर्ग का प्रभव है यही प्रतिष्ठा है यही परायण है। अन्वयानात्मक मय ही इस उत्पीड़ित काल का स्वरूप है।

५६८-मूर्चकाल से निरन्तर उत्पीड़ित-मयप्रस्त-शङ्कताङ्कितमानस-मूर्च-भौतिक-कालिक-पशुसर्ग—

अतएव महत्त्वयुक्त इस पीड़ितकाल से उत्पन्न अनेक प्रतिष्ठित एवं अनेक लीन होबाने वाले पशुसर्ग को उत्पत्तिव्यय से आरम्भ कर विज्ञानचक्र पर्यन्त उदा सब और से शङ्कताङ्कितमानस बन कर ही उदा मयमात्रों से उक्त-विश्रमित रहते हुए ही जीवनबापन करते रहना पड़ता है। शान्ति-निर्ममता-अमन-स्थिरता-वैरा-कीर्ति भी आरम्भ स्थिरपरम आप इनमें उपलब्ध नहीं कर सकते। इनका गमन-शुभन-आशन-पान-आदि आदि सम्युक्त भौतिक कर्मकलाप उदा शङ्का-मय-आश्रय-विकल्पन-आदि मयमात्रों से ही आरम्भ रहता है, बिना आब के पशुविज्ञानवेद्य प्राणीशास्त्रविद् को मलौमति धान ही रहे होंगे, बिना इस उक्त मय उक्त उत्पीड़न को ही सम्भवत वे-आत्मरक्षा की सङ्घ स्फूर्ति नाम से अम्पत्त कर रहे होंगे जबकि उक्त न इस पशुसर्ग में माखीय-पशुविज्ञान की दृष्टि से आत्मस्वरूप ही अमिष्यत् है, न उदरवा जैसी विकलातुवन्विनी बागरूपता का ही इनके धाय कोई सम्भव है।

५६९-आत्मस्वरूपामिष्यत्किञ्च से असंसृष्ट, अतएव आत्मरक्षाधम्म से पराङ्मुख पशु सर्ग की दिग्देशकशास्त्र-निबन्धना भयातुरता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अपि अन्तकाल से उदायना वच मानदिग्देशकालनिकम्पन उक्त उत्पीड़न-उक्त मय ही इनका सम्युक्त इतिहास है बिना इस मय के विविध परिवर्तनों के ही आब के भूतद्विप्रधान प्राणशास्त्र ने सैतन्-आत्म-आत्मना-रक्षा की स्फूर्ति-आदि आदि विविध कल्पित नाम रख लिए गए हैं। इस कल्पना का

६०३-मानव के आत्मबुद्धिनिष्ठ महान् मानव-स्वरूप के द्वारा सम्पूर्ण भूलों का शरद-
भ्रत-विलयन—

क्या मानव को यह समझने में बहुत बड़ा प्रयास करना पड़ेगा कि, केवल मन, और शरीर का ही नाम मानव नहीं है? मानसिक क्रम, तथा शारीरिक भोग ही मानव की मानवता के मापदण्ड नहीं है? किंवा अपने मानसिक-शारीरिक-भोगों की इयत्ता-पर्याप्तता ही मानव का चिरन्तन इतिहास नहीं है? क्या मानव ने कुछ ऐसा मान लिया है कि, केवल इष्ट एक मानव के आगे पीछे भूत-भविष्य-वत् मान में और कोई मानव है ही नहीं? किंवा अपनी क्षमतागपर्यायता की सिद्धि के लिए अपने उमान को, रात्र को, किंवा सम्पूर्ण विरत को एक महा भयानक गत में डाल देना ही इसका चरम सुख है? हम समझते हैं, मानवमात्र समझ रहे हैं कि, इस 'यत्किञ्चित्' भी ब्रह्म ही भूल को समझने वैधी प्रकाश तो आद्य भी मानव में शेष है ही। अक्षर्य ही इस यत्किञ्चित् भी भूल को समझ कर तथास्यित यत्किञ्चित् से संशोधन से मानव अक्षर्य ही निर्यमानवता का परिचायक कर सकता है करेगा ही, करता ही आया है क्या छा से ही। कदापि कोई भी भयाशङ्का नहीं है महान् मानव के उस क्षम्य-अनन्तरूप महान् प्राकृतस्वरूप के लिए, एवं अनन्त पीत्यस्वरूप के लिए, त्रिषु अनन्तस्वरूप के बोधार्थ पर सम्पूर्ण भूल-भ्रान्तियाँ-विमोहन-मूढताएँ-निमूढताएँ-शरदभ्रत-वत्मान में ही विहीन हो जाया करता है। और तब सत्य मानव ही यह उद्घोष करने लग पड़ता है कि—

न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित् ।

६०४-सगात्मक-पशुसर्ग, तथा असर्गात्मक मानवसर्ग के तत्त्वविवेकानुग्रह से आत्म-
बोधोदय, तदनुग्रह से अमयप्रदा का सस्पर्श, एवं-‘अमर्य वै ब्रह्म’ का सस्मरण—

और तब मानव स्वयं ही यह मान लेता है कि, कच मानकालात्मक दिग्देशकालम्यमोहन वो पशुसर्ग का ही चर है मन और शरीर तो प्राकृत (वैकारिक) प्राणियों की ही स्वरूप-म्यग्न्य है अम-भोग-पर्यायता वो विशुद्ध पशुसर्ग ही है इष्टि के सम्मुख उपरिपत भौतिक लाभ से अभिमन् होबाना तो प्रत्यक्षदृष्टिपरचयन पशु पक्षी-आदि प्राणियों का ही सहाय स्वभाव है भूत-भविष्य के शुभाशुभ परिणामों से अपरिचयत बन रहते हुए कच मान को ही सत्य मान बैठना वो पशुसर्ग का ही बीभन्तवृत्त है तात्कालिक लाभ की सिद्धि के लिए अपने परिचरों को, सामूहिक म्पक्रियों को चिर-पाङ्क उँचना वो पशुसर्ग का ही तात्कालिक धर्म है। मानव ही मानव ऐसा नहीं है कदापि नहीं है ऐसा रह ही नहीं सकता मानव। अपेक्षित है-केवल यत्किञ्चित् सा संशोधन। और अब उस यत्किञ्चित् से संशोधन का निष्कर्षार्थ है—‘मन-शरीरानुबन्धी-दिग्देशकालात्मक-वर्षमानकालात्मक अपने पशुरूप वैकारिककक्ष को बुद्धि आत्मानुबन्धी-अपने पशुपरिवरुप प्राकृत कक्ष से अनन्तब्रह्म से सदा ही उत्पीडित करते रहना। एक क्षण के लिए भी इस दिग्देशकालात्मक मन-शरीररूप ‘काल’ को उस आत्मबुद्धिरूप महाकाल के निमन्त्रणपारा से प्रयत्न न होना। वृत्ते शब्दों में शारीरिक अर्थ तथा मानसिक क्रम का क्रमण वैदिक धर्म तथा आत्मिक मोक्ष से निष्करण करते रहना ही यह यत्किञ्चित् सा संशोधन है। यही काल से काल का उत्पीडन है यही मानव की मानवता का एक मात्र रक्षावृत्त है यही अक्षर्यवैधीय कक्षसूक्त का आपातरत्मक समन्वय है, यही

विलम्ब पशुसर्ग तो अक्षिण् प्रतीकमात्र ही बना हुआ है। अक्षी से अक्ष उत्कीर्णित हुआ करते हैं। एवं अक्षी अपि अक्षी से उत्कीर्णित नहीं होता। प्रतीकमात्रक, अतएव अक्षरूप पशुसर्ग उक्त अक्षी से अक्षरूप ही उत्कीर्णित, मन्त्रस्त है। किन्तु आप तो उसके अक्ष किंवा प्रतीक नहीं है, जो उक्त अक्षी अनन्तकाल से पशुसर्ग आप उत्कीर्णित होते रहे। आप तो उसके प्रतिरूप हैं, स्वयं अक्षी हैं। अतएव वही हैं। आप से आपकी निपति से, दृग्बन्ध से तो सम्पूर्ण विरह मयसूत्रक सञ्जातित है *। आप स्वयं महाकालरूप हैं, शिखररूप हैं। आप सब को अमयपर देने वाले हैं अपने इस अनन्तकालस्वरूप से। फिर आपको मन्त्र केता। अमय ही आपका मौलिक स्वरूप है अनन्त प्रकृति की दृष्टि से भी एवं अनन्तपुरुष की दृष्टि से भी।

६०२—प्राकृत—विश्व से अनुप्रायिता—माधुकरापूर्वा—भूत के विविध-शाखा-प्रशाखा-विवर्तों का स्वरूप—दिग्दर्शन, एवं 'यत्किञ्चित्' संशोधन के द्वारा तन्निवृत्तुपाय-प्रदर्शन—

भूल कहाँ हो पड़ी आप से। वस 'तना अक्ष अक्षिण्' का ही समझ लेना है आपको बुद्धि से नहीं, अपितु समझ से जिस समझ का गुणानुवाद पूर्व में किया जा चुका है। साहित्यव्यक्तिकृति को अपनी प्रकृति मान बैठना पड़िगी भूल इस प्रत्यक्षदृष्टा विकृतिरूपा दिग्देशकालामिमांसा मूर्धा भूतप्रकृति के विकृति-तम-वैकारिक-पशुसर्ग के, विकारकृत्यत्मक बहुसर्ग के माध्यम से अपनी भूतप्रकृति के स्वकल्पान्वेषन में प्रवृत्त हो जाना दूसरी भूल इन दो भूलों से प्रकृतिविमूढ (विकृतिविमूढ) बनते हुए अपनी इस अज्ञान मानव्य में ही अमिनिष्ठ हो जाना तीसरी भूल, अमिनिवेश के निवारक चर्म के प्रति निरपेक्ष बन जाना चौथी भूल अमिनिवेशव्यवस्थात्मक अत्यधिक अनुभवों के अक्षपूर्वक (अध्यात्ममाध्यम से) प्रचार-प्रसार करने के लिए आह्वार हो पड़ना पाँचवीं भूल इस आह्वार से मानव के मौलिक अनन्त-स्वरूप के प्रति विवर्धी बनते हुए, प्रतिस्मिवादी बनते हुए अपने आपको ही सर्वत्र मान बैठना छठी भूल इस अत्यधिक सर्वत्रता के अमीजन से एकमतव्य व्यक्तिस्वविमोहन का अनुगामी बन जाना सातवीं भूल मानवसुलभ उद्बोधन का अपने अन्तर्बन्ध में अनुभव करते हुए भी अपने व्यक्तिस्वविमोहनरूप इत्येभूत अत्यधिक 'अक्षिण्' के पतनमय से जानते हुए भी नहीं जानना आठवीं भूल आठवीं भूल महाभूल ओर ओर भी हास-अज्ञात परराता छोटी बड़ी भूलपरम्पर्यासे आपादमस्तक ओद्योत मानव ने इस अक्षिण् ही भूल से अपने महान् प्राकृतस्वरूप को कैसा छोटा कर लिया है, किना छोटा कर लिया है, इस अत्यन्त-मात्र से भी मानव की मानकता अक्ष विवर्णित हो पड़ी है। 'यत्किञ्चित्' ही भूल दृक्षिण् कि, अक्षमात्र ही तो लगता है अपने इस अत्यधिक व्यक्तिस्वविमोहन का पेशा उठार देकर मैं। अक्षिण् ही ही तो श्रुतवा-दरलवा-अवस्था अपेक्षित है अपने आपकी इस अत्यधिक इच्छा के अक्षिण् से स्वरूप से उद्बोधन प्राप्त करने के लिए।

* मीपास्माद्गतोदेति, मीपोदेति धर्म्यः।

मीपाद्मिन्स्व वायुरस्व मृत्युर्घाति पञ्चमः॥

उपनिषत्

६०७-प्रज्ञास्त्र-चारुणाक्ष-आग्नेयास्त्र वायव्यास्त्रादि महाभारतयुगीय सहायक-महो-
महोयान् प्राकृतिक-विज्ञान-गो से अप्रभावित शक्तिमय महात्मानव-

हमार समय के वैज्ञानिक चमत्कार' वैसी दम्पपूर्ण पाठ्या करन बाल अपन चमत्कारों
'मानवता' को अभिभूत करने का व्यर्थ-प्रयास करते रहने बाल वचमानयुग के भूतविज्ञानवादी दम्पतः
ही क्यों निश्चयनेन यह विस्मृत ही कर बात है कि श्रीर किसी मन्वन्त क मानव के लिए मले ही मूर्ख
विज्ञान कय विज्ञानग्य अदृष्ट-अभूत-पूर्व ही हों। अतएव सम्भव है-उन मन्वन्तों के प्राकृत मानव इन वैज्ञा-
निक विज्ञानगो से प्रभावित, अतएव प्रियमित हाणए हों। किन्तु विज्ञानगोमूर्ख 'भारत अग्निवृष' क
प्रतीकरूप इस अतएवग्य आग्नेयास्त्र नानक मन्वन्त के आमा-वेद्याणप्रधान अतएव आग्नेयास्त्र-
भारतीय मानव की दृष्टि में ता इन भूतविज्ञानों का यन्त्रि अर् मी ता महत्त्व नहीं है। क्योंकि इसन अपन पय
युगी में आत्र क भरासमा म नी कहीं अत्रिक शक्तिगानी प्रयास-यारुणास्त्र-वायव्यास्त्र-आग्नेयास्त्र-
अथ मन्वन्तसहायक शस्त्रास्त्रा का न करल नाम ही मुन ग्यता है यन्त्रि निष्कृत्य के पांच महत्त्व वय के
युनक्ति महाभारतयुग में इन का आचारणक उपयोग मी कर लिया है एवं इनक मानवव्यवस्था मी परिवर्ण
परिणामी अ साक्षात्कार मी कर लिया है।

६०८-सामविमान इत्यंश्वविमान नगरविमान आदि द्रवयुगीय भौतिक-वैज्ञानिक-
आविष्कारों का भी उपहास करने वाला चिरपुरातन, चिरनूतन महान् नैष्ठिक
मानवध्वंश-

एकमेव सामविमान इत्यंश्वविमान नगरविमान पुष्पकविमान-अनु-विभ्या-यात्र-नामक मुपकिड
भारतीय वैज्ञानिकों के द्वारा आन्विकृत अतएवग्य विद्युत् चमत्कार विद्युत् नौका विधि व युधिष्वय्याहृतगतियुक्त
अग्नेयुगम आदि आदि पर-युग भौतिक आविष्कारों का भी साक्षात्कार कर लिया है इस दश की मानवतान ।
व्याप्तशास्त्र के परपारग्यो विज्ञान मयासुर क नवीन चन्द्र-सूर्य-निष्माण के युग मी दंतक लिए है इस दश की
मानवतान । निष्कर्ष-आत्र विद्युत्-अदभुत-असम्भव-विज्ञान-चमत्कार माना और मनबाने का प्रया-
कर्म क्रिया वा रहा है इही दम्पों क माध्यम से त्रिष निष्ममता के साथ आत्र 'मानव की 'मानवता' का
विज्ञमित करने के मुख्य-व्यय दंतक जा रह है एतद्देशीय मानव की मानवतान अपने पूर्वयुगी में एते दर्प-दम्पों
से मी कहीं महत्तमहोयान् दण्डमों का साक्षिण्य प्राप्त कर रखता है बिन की महत्ताकी ता कल्पना करने
में मी आत्र के भूतविज्ञानवादी को अमी अनेक शक्तियों ही लयसकती है। उन वषयक्य वैज्ञानिक विज्ञानगो
की मानवतान सबसुख मही होने दिया एकमात्र मानवता के हितानुबंध में ही। अन्तु इन भौतिक-
अधिक-आमकारिक-विज्ञानगो पर 'महात्मासाहित्यक' 'मानवता' का निष्कर्ष ही रहा इस दश की अन्वियज्ञा-
क हाण। क्वापि यह उन्मुक्तता से इन विज्ञानगो की आधुनिक बनाने की अनुज्ञा प्रदान नहीं करसकी
एकमात्र मानवता' के अनुयोग से ही। भारतीय-महाविज्ञान-प्रतिमान बिन निश्चिततम शिष्य-साक्षकमया-आत्र
य-य-व्यवस्थाओं का सर्वत्र क्रिया यथाशास्त्र यथाकाल जैसा नियमन-व्यवस्थापन क्रिया इन लोका-
युक्तों अ अथ ही इन सब महान्-असम्भवों अ सर्वत्र करत हुए मी रहने अपनी 'मानवता' म त्रिष

मन्त्रस्मृत्यल का अर्थ उदक है एवं यही है दिग्देशकसमीमांसायाम् वाग्बिभृम्भय का एकमात्र वह लक्षण, विद
 काय की मूलप्रतिष्ठा है—'अभयं वै ब्रह्म', मा मेयीः, योऽस्मान् द्वेषि यश्च बर्षं द्विष्म—तं जस्मे वष्माः ।

६०४—दिग्देशकशास्त्रात्मक मयों से असस्पृष्ट अभयमूर्ति महान् मानव, एवं महान्
 मानव की दिग्देशकशास्त्रातीता अनन्तता का माङ्गलिक-संस्मरण—

ब्रह्म अभय है। अतएव मानव को कदापि कमी मी, कहीं मी किसी से मी कुछ मी भय नहीं करना
 चाहिए। कदापि किसी मी दिग्देशकशास्त्र के प्रभाव में नहीं आना चाहिए। कदापि किसी मी युगधर्मनिगता
 अर्थकर्मनिगता, एवं कालधर्मनिगता • प्रत्यक्षप्रभासमूला तात्कालिकी भावकताओं, प्रशनों आयेषना
 योजनाओं आदि से प्रभावित होकर अपना अनात्म कच स्पनिष्ठात्मक लक्षण विस्मृत नहीं कर देना चाहिए।
 दिग्देशकशास्त्रनिष्पन्न सर्वविनाशक भूत-मौक्तिक संहायकों से कदापि मानव को विक्रमित नहीं होना
 चाहिए। दिग्देशकालनिष्पन्न, गन्धर्वनगरयोकात्मप्रसिद्ध तात्कालिक बलकारपूर्व तत्कालिक-अनु-
 हृष्टता-कुल-सुविधा-बनक, हिन्दु परिषामय मानवीय बीकरत के सर्वविनाशक भौतिक आधिपत्य से
 कदापि मानव को प्रभावित नहीं होना चाहिए। क्योंकि मानवता अजर है अमर है शारद है, अनात्म है
 एवं है अजातीत है। अतएव किसी मी प्रकर का दिग्देशकशास्त्र-विभ्रमण उसे विक्रमित नहीं कर सकता
 नहीं कर अथ आबतक नहीं कर सकेगा कमी मी। उस अनायतन्या दिग्देशकशास्त्रातीता 'मानवता' का ही हम
 पुन पुन माङ्गलिक संस्मरण कर रहे हैं।

६०५—सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त विरोधी शक्तों को निष्फल प्रभावित करते
 रहने वाले महान् मानव की महती निष्ठा का एतिहासिक-संस्मरण—

दिग्देशकशास्त्रात्मकी अतएव मनःशरीरप्रधान 'मानवेतिहास' ही इस दिशा में अत्यन्त प्रभाव
 है कि, सृष्टि के आरम्भ से कच मानवण पर्यन्त उच्च विभिन्न सृष्टिकालों सत्कालों सम्बन्ध-संस्कृति-युगी
 में मानव की मानवता के अन्ततम शत्रु बिन बिन मी आततावी-वर्षर-इत्युचोर्न जैसे जैसे मी प्रचरद-
 र्वास-आक्रमण किए इस मानवता पर, उन सब योऽयोरुत्तम पातक आक्रमणों से केवल अपने बाध-
 दिग्देशकशास्त्रात्मकी मनःशरीरमाओं को ही सर्व अन्वित करते हुए 'मानवता' में अपने का मनुक्ति-निष्पन्न
 मौक्तिक-'मानवता' पर्य को तो अक्षुण्ण ही बनाए रखा। और वे पाराधार्मिक मी व्रास आक्रमण मानव
 की आत्मसुक्तिनिष्पन्ना 'मानवता' का अर्थ मी नहीं कर सके आबतक। अथर्व ही लक्ष्य मी लक्ष्य मी
 के आत्मिक प्रभावों, अनुभवों से मानव की मनःशरीरनिष्पन्ना स्पष्टता यथासुगुणता से प्रभावित मी
 होती रही। किन्तु कदापि किसी मी युग में आत्मसुक्तिनिष्पन्ना निष्ठा उदमिधा 'मानवता' का किञ्चित् मी तो
 प्रभावित नहीं हो सकी किसी मी तात्कालिक युगधर्म से।

•-कात्तचक्र-अगचक्र-युगचक्र च केशवः ।
 आत्मयोगेन भगवान् परिसर्वयत्तऽनिशम् ॥
 —महाभारत उद्यो० ६८ अ० ।

६०७-ग्रन्थास्त्र-चारुणास्त्र-आग्निपास्त्र वायव्यास्त्रादि महाभारतयुगीय सहायक-महतो-
महोयान् प्राकृतिक-विजृम्भणों से अप्रभावित अविकम्पित महान् मानव—

हमारे समय के वैज्ञानिक चमत्कार' वैश्वी दम्पपूर्ण धारणा करन वाले अपने चमत्कारों से 'मानवता को अभिभूत करने का व्यर्थ प्रयास करते रहने वाले पतमानयुग के भूतविज्ञानवादी सम्भवतः ही नहीं, निश्चयनैव यह विस्मृत ही कर सकते हैं कि आरंभिकी मन्वत्वं के मानव के लिए मले ही भौतिक विज्ञान के विजृम्भण अरुह-अभूत-पूर्व ही हों। अतएव सम्भव है-उन मरत्युगों के प्राकृत मानव इन वैज्ञानिक विजृम्भणों से प्रभावित, अतएव विकम्पित हुए हों। किन्तु पिछले प्राकृतिक 'भारत अग्निवृक्ष' के प्रतीकरूप इन मरत्युगों के आध्यात्मिक नामक मन्वत्वं के आमान-वैवसायिकप्रधान अतएव आत्मसुदृढिष्ठ भारतीय मानव की दृष्टि में तो इन भूतविज्ञानों का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है। क्योंकि इन्होंने अपने पंच युगों में आरंभ के भवत्वं से भी कहीं अधिक शक्तिशाली मन्वत्वं-चारुणास्त्र-वायव्यास्त्र-आग्निपास्त्र-ब्रह्म सर्वस्वशक्ति शक्तियों का न करन नाम ही सुन गन्ता है अष्टि निष्कण्ठ के पांच स्रष्टा कर्तव्य के सुप्रसिद्ध महाभारतयुग में इन आमानाचलक उपयोग भी कर लिया है एवं इनके मानवताविरोधी भयंकर परिणामों का साक्षात्कार भी कर लिया है।

६०८-सोपविमान, इत्यंश्वविमान नगरविमान आदि देवयुगीय भौतिक-वैज्ञानिक-
आविष्कारों का भी उपहाम करने वाला चिरपुरातन, चिरनूतन महान् नैष्टिक
मानवश्रेष्ठ—

एकमेव सोपविमान इत्यंश्वविमान नगरविमान पुष्पकविमान-श्रुतु-विभ्या-वाय-नामक सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिकों के द्वारा प्राकृतिक कामगर्भी दिव्य चमत्कार विजृम्भणों का विविध सुविचित्रमाहृतगतियुक्त अमृतयुगम आदि आदि पृथगत भौतिक आविष्कारों का भी साक्षात्कार कर लिया है इस देश की मानवतान । अग्रेषुशास्त्र के परवारणों विद्वान् मयासुर के नवीन चन्द्र-सूर्य-निर्माण के युग भी देख लिए हैं इस देश की मानवताने । निष्कर्षतः-आरंभ-विज्ञ-अद्भुत-असम्भव-विलक्षण-चमत्कार माना और मनवाने का प्रयत्न-सदम्भ किया जा रहा है इन्हीं दम्भों के माध्यम से त्रिभु निर्ममता के साथ आरंभ 'मानव की मानवता की विकम्पित करने के सुप्र-स्वप्न देखे जा रहे हैं, एतद्देशीय मानव की मानवतान अपने पूर्वयुगों में ऐसे सर्व-दम्भों से भी कहीं महत्त्वमहीयान् दर्पणों का साक्षिण्य प्राप्त कर रखता है किन्तु की महत्त्वकी तो कल्पना करने में भी आरंभ के भूतविज्ञानवादी को अभी अनेक शताब्दियाँ ही लग सकती हैं। उन यथावाक् वैज्ञानिक विजृम्भणों का, अनुभवित सहायकों की अनुकूलता-सुवसुविधा इनके आविष्कारों की कदापि अपने युगों में इस देश-की मानवतान सर्वसुलभ नहीं होने दिया एकमात्र 'मानवता' के हितानुसंध से ही। अष्टि इन भौतिक-वास्तविक-व्यावहारिक-विजृम्भणों पर 'महाउत्साहिक' 'मानवता' का निष्कर्ष ही रहा इस देश की अष्टिप्रकाश के द्वारा। कदापि वह उन्मुक्तता से इन विजृम्भणों की सार्वजनिक बनाने की अनुज्ञा प्रदान नहीं करसरी एकमात्र 'मानवता' के अनुरोध से ही। भारतीय-महर्षिप्रकाश-प्रतिमाने किन विविधत्वम शिष्यों-साक्यैवमहा-साक्षात्-स-य-न-व्यक्तियों का सर्जन किया, यथाशास्त्र यथाशाल वैना नियमन-व्यक्त्यापन किया इन शास्त्र-शुक्लों का साथ ही इन सब महान्-कार्यों का सर्जन करते हुए भी इन्होंने अपनी 'मानवता' को बिल

कौरव से शत्रुतापूर्वक अनुकूल बनाए रखता उन सब महत्वाची के, तथापि समन्वय मक कौरवों के समदलन में वो यत्किञ्चित् भी वो महत्त्व नहीं है आब की स्वस्वतमा नगयया इन मौखिक-विमीयिकायो का ।

६०६—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीडक मूर्खकाल, एवं नियन्त्रित-मूर्ख कालानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर जहाँ—'कालं कालेन पीडयन्' के माध्यम से भीतिक विग्रहणों को नियन्त्रित-सीमित रक्ता वो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अलङ्काररूप उन आत्मसरसक-ब्रह्मविज्ञानोंका, उदनुबन्धी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का अर्बननिकरूप से विस्तार भी किया, जिस ब्रह्मविज्ञान-मक ब्रह्मविज्ञान के नलापर ही भारतवर्ष की समूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्थतापूर्वक प्रकल्पत रही। अतएव वरधक को ब्रह्मविज्ञान प्रया के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा * । विश्वचक्र सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही नियन्त्रित रहे, तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ सदा अमावस्यायीय रहे, बनकि प्रभावित यह कमी भी दोनों से ही नहीं हुआ । इसकी 'मानवता' तथाकथित मूर्खविज्ञानों, तथा प्राण्यविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी खी-न कदापि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी मौखिक-प्राण्यमक-अनुकम्प से प्रभावित नहीं हुई । अस्तस्वरूप कदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न करसके । दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इनकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे । कदापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्मों के गर्भ में अमाश्रित न होसकी । दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इन्से कमी दिग्देशकाल का अतिथ्य स्वीकार नहीं किया ।

६१०—कालातीत अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्मयन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायिण्य से समन्वित पुरासन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आच के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुकम्प से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रका के प्रतिरूपा मक अति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, अस्तसिद्ध सत्त्वब्रह्म के प्रति उदनुप्राणित आचारधर्मिक कर्त्तव्यनिष्ठताओं के प्रति पूर्ण आस्था अथा सुरक्षित रखने वाला शरवत-सनातन-ब्रह्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव आर्यावर्षीय मानवभ्रष्टों के हाथ सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' उपाधि से सम्बद्ध त यह भारतीय हिन्दू-मानव दिव्यप्राणिकरूप भारत अग्नि के प्रतिरूपात्मक परम धन्य पावन भारतवर्ष का यह आर्ष रानतन मानव सुध्यारम्भ से अद्यपर्यन्त 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इसी सनातन-मानवता का समूर्ण भिन्न

* सह यज्ञाः प्रजाः सृष्टा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यन्मपेपयोऽस्त्वष्टकामधुक् ॥

—गीता

— पुरा षोडशे अष्टा यज्ञरूपाः (ऋग्वेदनिषत्)

में उद्घोष ही करता हुआ अपनी 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' इस निष्ठा की अक्षरशः अन्वय ही प्रमाणित करता आरंभ है जब कि द्रव्यभूता मनक व मानवजातियों तत्परिगृह्यकालानुबन्धिनी तत्त्व-सामायिक-मातृध्वाम्नी क प्रवाह में प्रवाहित होती हुई, तत्त्व गीय भौतिक निष्कम्भों क प्रभाव से अपनी मानवता को प्रभावित करती हुई अममय में ही प्रिस्मृति क गम में ही मिलीन हो गई, विनका नाम भी इतिहास के पत्रा से पुल-पुँछ गया है। मानते हैं-अपनी मानवतानुबन्धिनी सद्बन्धिनी की सनातनता क साथ निगल वीन सदस्य बर्तों में भारतीय हिन्दूमानव भी अपनी 'मानवता' को मातृध्वता की अनुगामिनी पनाठा आ रहा है। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही हमें इस बात की इस आस्था पर भी पूर्ण निष्ठा है कि मातृध्वता की अममयीमा पर पहुँचते ही इस बात की मानवतानुबन्धिनी सनातननिष्ठा सद्बन्धिनी प्रचरद्वय से प्राप्त हो ही ता पड़ती है जिसका आरम्भपूर्व क राष्ट्रीय आन्दोलनों में हमें अपने वर्तमान भौतिक काल में ही प्रत्यक्ष दृशन हो चुका है।

६१-आत्मवृत्तिपरायण, सुसाम्कृतिक भारतीय 'हिन्दू-मानव' क सम्बन्ध म दिग्देशकालभ्रान्ता-प्रज्ञामा की भ्रान्तिपूर्णा कल्पनाएँ, तन्निकारण, एवं इनकी महती मक्षिष्ठा का सम्मरण—

मानवता क साथ अपनी निष्ठा का अन्तर्ग्रामकम्ब से इन्मूल नाए रखने वाले भारतीय हिन्दू-मानव के आममदर्शनमूलक अन्वय का भी कभी कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित होन वाले मन्दप्रज्ञ इसे निय मातृक ही मान बैठने की अपानक भूल कर बैठते हैं। इससे यह सद्बन्ध अन्वय सन्भूतविवरति विरवहितविति ही कभी कभी इसके निर्वल पक्ष मान लिए जाते हैं दिग्देशकालविमूढ दुष्मोहन-उदर कुनैष्टिओं के द्वारा। इसी भ्रान्ति से यह बात उन्नीहित-उपेक्षित भी मान ली जाती है कालविमूढ लोचकतुर-साधाओं के द्वारा। वैवाकिक विद्विषयसत्तात्परने एसा ही कुछ मानन मनमाने की भ्रान्ति कर डाली थी विव भ्रान्ति के दुष्परि-साम उस शीघ्र ही माग होने पड़े। और हम भूल नहीं कर रहे, तो उस विद्विषयसत्तात्परने के दिग्देशकालात्मक-तात्कालिक-भौतिक विधि विधानों को ही अपना 'संविधान' मानने मनवान क लिए प्रतिक्षण आतुर बन रहने वाला भारतरष्ट्र का वर्तमान 'सत्तात्पर भी 'मानवता' के एक मात्र सन्वरायाहक किन्तु कुछ समय से वहिभावुक बन रहने वाले 'हिन्दूमानव' के प्रति वैसी सी ही कुछ भूल करता जा रहा है, जिस वहिभावुक, किन्तु अन्तर्निष्ठ इस हिन्दूमानव के सधस्य वान से ही जो वर्तमान सत्तात्पर का जन्म हुआ है, जिसके अनुमहवान से ही जो सत्तात्पर जावित है एवं जिसकी कृपा से ही जो जीवित रह सकता है, जीवित रहेगा निरक्षयेन जीवित रहेगा ही।

६२-सनातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की सनातन-संस्कृति, सनातन शिष्टता, तद-नप्राप्तिता वृत्ति, एवं तदनुग्रह से ही इसके सांस्कृतिक-कालातीत-स्वरूप का सुरक्षित सनातन प्रवाह—

हमारी आस्था है कि, यह सनातन हिन्दूमानव वर्तमान सत्तात्पर की द्रव्यभूता निरपेक्षता से अपनी मानवता को ही उद्बुद्ध करेगा। कदापि यह अपनी उस मानवता को इत दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक

વિનયસ્ય ફલમાહ—શીલમિત્યાદિ । યત' વિનયાત્, શીલ=મૂલોત્તરગુણલક્ષ્ણ
 પ્રતિલભેત=પ્રાપ્નુયાત્ । અનેન વિનયસ્ય ફલ શીલપ્રાપ્તિરિત્યુક્તમ્ । શીલસ્યાપિ
 ફલ પ્રદર્શયન્નાહ—' બુદ્ધપુત્ર ' ઇત્યાદિ । બુદ્ધપુત્ર.—બુદ્ધસ્ય=આચાર્યસ્ય પુત્ર ઇવ
 પુત્રઃ—શીલધારી શિષ્યઃ, પુત્રશિષ્યયો' શિક્ષણીયતયા સામ્યાત્ ; અતएव નિયાગાર્થી—
 નિયાગો=મોક્ષસ્તમર્થયતીતિ નિયાગાર્થી—મોક્ષાભિલાષી કુતશ્ચિત્=કુલગણગચ્છતઃ
 ન નિષ્કાસ્યતે=ન વહિષ્ક્રિયતે । અય માવ'—વિનીત' કુલગણગચ્છાનાં સર્વેષા-

અય ઉપસહાર કરતે હૈ—' તમ્હા ' ઇત્યાદિ ।

અન્વયાર્થ—અત (તમ્હા-તસ્માત્) અવિનીત શિષ્ય કી સર્વ જગહ
 બુર્વશા હોતી હૈ સાધુ કા કર્તવ્ય હૈ કિ વહ (વિણય-વિનયમ્) વિનયરૂપ
 ધર્મકા (એસિઝ્ઞા-એપયેત્) પાલન કરે । ઇસ વિનય ધર્મ કે પાલન
 કરનેકા ક્યા ફલ હૈ—ઇસ યાતકો (શીલ પશ્ચિલભેજ્જઓ—શીલ પ્રતિ
 લભેત યત) ઇસ પદ ઠારા સૂત્રકાર પ્રકટ કરતે હુઞ કહતે હૈ કિ
 યહ વિનયધર્મ, આચરિત હોને સે આચરણ કરને વાલે સાધુ કે લિયે
 મૂલગુણ ઓર ઉત્તરગુણોકી પ્રાપ્તિ કરાતા હૈ । શીલ કી પ્રાપ્તિ હોને સે
 વહ શીલધારી શિષ્ય (બુદ્ધપુત્રે નિયાગદ્વી—બુદ્ધપુત્ર નિયાગાર્થી) ગુરૂજનો
 કી દ્રષ્ટિ મેં અપના પુત્ર જૈસા હો જાતા હૈ । ક્યોં કિ પુત્ર શિક્ષણીય
 હોતા હૈ ઓર વૈસે શિષ્ય મી શિક્ષણીય હોતા હૈ । ઇસી વિચાર સે
 શિષ્ય કો યહા પુત્ર જૈસા ઘતલાયા ગયા હૈ જય વહ ગુરુ કૃપા કા પાત્ર
 હર તરહ સે હો જાતા હૈ તથ યહ ઘાત મી સ્વત' ડસકે હૃદય મેં સ્થાન

હવે ઉપસહાર કરે છે—' તમ્હા ' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—એટલા માટે (તમ્હા-તસ્માત્) અવિનીત શિષ્યની સર્વ સ્થળે બુર્વશા
 યાય છે સાધુને કર્તવ્ય છે કે તે (વિણય-વિનયમ્) વિનયરૂપ ધર્મનું (એસિઝ્ઞા-
 એપયેત્) પાલન કરે. આ વિનય ધર્મનું પાલન કરવાનું શું ફળ છે આ વાતને
 (શીલ પશ્ચિલભેજ્જઓ—શીલ પ્રતિ લભેત યતઃ) આ પદ દ્વારા સૂત્રકાર
 પ્રગટ કરતા કહે છે કે આ વિનય ધર્મ આચરિત હોવાથી આચરણ કરવાવાળા
 સાધુને માટે મુળશુભ અને ઉત્તર શુભોની પ્રાપ્તિ કરાવે છે શીલની પ્રાપ્તિ
 થવાથી એ શીલધારી શિષ્ય (બુદ્ધપુત્રે નિયાગદ્વી—બુદ્ધપુત્રઃ નિયાગાર્થી)
 ગુરૂજનોની દ્રષ્ટીમા પોતાના પુત્ર જેવો બની બંધ છે કેમકે પુત્ર શિક્ષણીય
 હોય છે અને આવા શિષ્ય પણ શિક્ષણીય હોય છે આ વિચારથી શિષ્યને
 અહિં પુત્ર જેવો બતાવવામા આવેલ છે બ્યારે તે ગુરૂકૃપાને પાત્ર રહેકરીતે
 બને છે ત્યારે આ વાત પણ સ્વત એના દિલમા સ્થાન કરી બંધ છે કે

में उर्ध्वोप ही करता हुआ अपनी 'अमृतस्य पुत्रा अमूम' इस निश को अक्षरशः अन्वर्थ ही प्रमाणित करता आ रहा है जब कि दत्तभूता अनरु वे मानवजातियाँ तत्परिग्रेषकालानुबन्धिनी तत्पु-सामाधिक-मातृधत्तामी क प्रवाह में प्रवाहित होती हुई, तत्तय गीय भौतिक विदग्धभा के प्रभाव से अपनी मानवता को प्रभावित करती हुई अममय में ही त्रिस्मृतिक गन में ही विलीन हो गई, जिनका नाम भी इतिहास के पत्रा में पुल-पुँछ गया है। मानते हैं-अपनी मानवतानुबन्धिनी सङ्गनिष्ठा की 'सनातनता के साथ बिगत वीन सदस्य बनों से भारतीय हिन्दूमानव भी अपनी 'मानवता को मातृधत्ता की अनुगामिनी बनाता आ रहा है। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही हमें इस बात की इस आस्था पर भी पूर्ण निष्ठा है कि मातृधत्ता की चरमसीमा पर पहुँचते ही इस बात की मानवतानुबन्धिनी सनातननिष्ठा सङ्घा पुनः प्रचर्यरूप से आप्रत हो ही ता पड़ती है जिसका आसन्नपूर्व क राष्ट्रीय आन्दोलनों में हमें अपने वक्षमान भौतिक काल में ही प्रत्यक्ष दृशन हो चुका है।

६११-आत्मभृतिपरायण, सुसांस्कृतिक भारतीय 'हिन्दू-मानव' के सम्यन्ध में दिग्देश कालभ्रान्ता-प्रज्ञामा की भ्रान्तिपूर्णा कल्पनाएँ, तस्मिकारण, एव इमकी महती मन्दिष्ठा का सम्मरण—

मानवता क साथ अपनी निष्ठा का अन्तर्मांसमन्ध से दन्मूल नाए रखने वाले भारतीय हिन्दू-मानव के आ मनमदर्शनमूलक धाम्य का भी कमी कमी प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाले मन्तप्रज्ञ इसे निय मातृक ही मान बैठने की मयानक भूल कर बंठते हैं। इससे यह सङ्घ संकल्प सबभूतहितरति, विरवाहितैषिता ही कमी कमी इसके निर्बल पक्ष मान लिए जाते हैं दिग्देशकालकिमुद्द दुष्मोधन-सदृश कुनैष्टिकों के दार। इसी भ्रान्ति से यह बात उन्वीहित-उपेक्षित भी मान ली जाती है कालविमुग्ध लोभचतुर-आण्यक्षों क द्राय नैवाकि त्रिष्टिसवात्प्रने एसा ही कुछ मानने मनवाने की भ्रान्ति कर डाली थी जिस भ्रान्ति के दुष्परि-णाम उस शीघ्र ही भोग लेने पड़े। और हम भूल नहीं कर रहे, तो उस त्रिष्टिरासत्तत्प्रने के दिग्देशकालकात्मक-तात्कालिक-भौतिक धिधि विधानों को ही अपना 'संविधान' मानने मनवाने के लिए प्रतिक्षय आतुर बने रहने वाले भारतराष्ट्र का वक्षमान 'सत्तावत्र भी 'मानवता' के एक मात्र सन्देशवाहक किन्तु कुछ समय से बहिर्भावुक बने रहने वाले 'हिन्दूमानव' के प्रति वैसे ही ही कुछ भूल करता जा रहा है, जिन बहिर्भावुक किन्तु अन्तर्निष्ठ इस हिन्दूमानव के सर्वस्य वान से ही तो वर्धमान सत्तावत्र का जन्म हुआ है, जिसके अनुभववान से ही जो सत्तावत्र जावित है एवं जिनकी कृपा से ही जो जीवित रह सकता है, जीवित रहेगा निरक्षयेन जीवित रहेगा ही।

६१२-सनातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की सनातना-सस्कृति, सनातना-शिष्टता, तद्-नप्राप्तिता घृति, एव तदनुग्रह से ही इसके सांस्कृतिक-कालातीत-स्वरूप का सुर वित सनातन-प्रवाह—

हमारी आस्था है कि, यह मनसहन-हिन्दूमानव' वक्षमान सत्तावत्र की दरमभूता निरपेक्षता से अपनी मानवता को ही उद्बुद्ध करेगा। कदापि यह अपनी उस मानवता को इस दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक

कौरव से ऋतुवापुर्णक अनुकूल बनाए रखा, उन सब महवाची के तथापि सम्बन्धात्मक कौरवों के सम्बन्धन में तो ऋषिभिः भी तो महत्त्व नहीं है आब की स्वल्पमा नगव्या इन मौखिक-निरीक्षणों का।

६०६—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीड़क मूर्च्छाल, एवं नियन्त्रित-मूर्च्छालानुबन्धी इष्टकामधुक् विरवशान्तिरर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक और बर्हा—'फाल्गु' अन्तर्गत पीडयन् के माध्यम से मौखिक विमुग्धों की नियन्त्रित-धीमित रक्ता धो हूकी और मानव की 'मानवता' के अन्तर्गत रूप उन आत्मसरसक-मूर्च्छालानुबन्धी उदनुबन्धी लोकतरणक यज्ञविज्ञानों का सर्ववर्णिकरूप से विस्तार भी किया किन्तु यज्ञविज्ञान-मन्त्र यज्ञविज्ञान के अन्तर्गत ही मारुतरण की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्वतापूषक प्रकल्प रही। अतएव सर्वकर्मों को यज्ञविज्ञान प्रवा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा। विमूर्च्छक सभी विज्ञान यहाँ खदा से ही निकलप्रत रहे, तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ खदा अन्तर्गत ही रहे जबकि प्रमाहित यह कमी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित मूर्च्छालानुबन्धी तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी यज्ञ-श्रद्धाएँ इत देव की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी मौखिक-प्राणप्रमक-अनुकूल से प्रमाहित नहीं हुई। फलस्वरूप श्रद्धाएँ दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' की विमोहित न करके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। श्रद्धाएँ इत की 'मानवता' दिग्देशकालधर्मों के गर्भ में अन्तर्गत न होकर। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इतने कमी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०—कालातीत अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्मयन्त्रिता कालप्रकृति के उच्चरदायिष्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आब के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इत मानवता के अनुकूल से ही यह भारतीय मानव ऋषिप्रका के प्रतिरूपात्मक अति स्वस्ति-पुराण-शास्त्र के प्रति उच्चस्थित सत्ताब्रह्म के प्रति उदनुप्रकृति आभायतिमा कर्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था मन्दा दुरधित रखने वाला शास्त्र-सनातन-ब्रह्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव आर्याभारतीय मानवधर्मों के साथ सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' तथापि से अन्तर्गत यह भारतीय हिन्दू-मानव दिग्देशकालात्मिक मातृ अति के प्रतिरूपात्मक परम अन्तर्गत मारुतरण का यह आर्ष एतन्तन मानव उच्चारम्भ से अन्तर्गत 'पाता यज्ञार्पणसम्पन्न' अपनी इसी सनातन-मानवता का सम्पूर्ण अन्तर्गत

★ सह यज्ञाः प्रजा सृष्टा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यन्मेषोऽस्तिष्ठकामधुक् ॥

—गीता

— प्लवा होते अट्टा पद्धरूपाः (उदोपनिषत्)

में उत्पन्न ही करता हुआ अपनी 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' इस निष्ठा को अक्षरशः अन्वर्थ ही प्रमापित करता आ रहा है जब कि इत्यभूता अनेक व मानवजातियाँ तत्तदिग्देशकालानुबन्धिनी तत्त-सामासिक-मातृत्ववादी क प्रवाद में प्रपाहित होती हुई, तत्तय गीय भौतिक-यिज्ञानमणों क प्रभाव स अपनी मानवता की प्रमापित करती हुई असमय में ही शिम्बुति के गम में ही पिलीन हो गई, बिनका नाम भी इतिहास के पत्रों से पुल-पुँछ गया है । मानते हैं-अपनी मानवतानुबन्धिनी सहवनिष्ठा की स्नातनता के साथ विगत वीन सहस्र शतों से भारतीय 'हिन्दूमानव भी अपनी 'मानवता का मातृत्व की अनुगामिनी जनाता आ रहा है । किन्तु इन मान्यता के साथ साथ ही हमें इस बात की इस आस्था पर भी पूर्ण निष्ठा है कि मातृत्व की धरमधीमा पर पहुँचत ही इस बात की मानवतानुबन्धिनी स्नातननिष्ठा सहसा पुनः प्रबन्धरूप से प्राप्त हो ही वा पढ़ती है जिसरा मासप्रपूष क राष्ट्रीय-मान्यताओं में हमें अपने वक्षमान भौतिक काल में ही प्रत्यक्ष दशन हो चुका है ।

६) १-आत्मभृतिपरायण, सुसाम्भृतिक भारतीय 'हिन्दू-मानव' क सम्बन्ध में दिग्देश कालभ्रान्ता-प्रज्ञामा की भ्रान्तिपूर्णा कल्पनाएँ, तथिकारण, एव इसकी महती मत्पिष्ठा का सम्मरण—

मानवता क साथ अपनी निष्ठा की अन्तर्ध्यांसम्बन्ध से हन्मूल नाए रखने वाले भारतीय हिन्दू-मानव के आत्ममदर्शनमूलक साम्य का भी कमी कमी प्रत्यक्ष स प्रभावित होन वाले मन्त्रप्रज्ञ इसे निय मातृत्व ही मान बैठने की प्रयत्नक भूल कर बैठते हैं । जसस यह सहस्र सौवन्ध सबभूतहितरति विरवाहितेपिता ही कमी कमी इसक निर्बल पक्ष मान लिए आते हैं दिग्देशकालनिभूत दुष्योचन-ग्रहण कुनैपिठकों क द्वारा । इसी भ्रान्ति से यह बात उन्नीकित-उपेक्षित भी मान ली जाती है कालविग्रहण शोच्यतुर-जालाचों के द्वारा वैसाकि ब्रिटिशसत्ताकल्पने एसा ही कुछ मानने मनवाने की भ्रान्ति कर गयी थी जिस भ्रान्ति के दुष्परि-णाम उसे शीघ्र ही भाग लेने पड़े । और इन भूल नहीं कर रह, तो उस ब्रिटिशसत्तातन्त्र के विग्रहकालात्मक-सात्त्विक-भौतिक विधि विचारना को ही अपना 'संविधान' मानने मनवान के लिए प्रतिच्छय आतुर बन रहन वाला भारतराष्ट्र का वक्षमान 'सत्तातन्त्र' भी 'मानवता' के एकमात्र सन्वरावाहक किन्तु कुछ समय से बहिर्भावुक बने रहने वाले हिन्दूमानव के प्रति यैसी सी ही कुछ भूल करता जा रहा है, जिस बहिर्भावुक किन्तु अन्तर्निष्ठ इस हिन्दूमानव के सर्वस्व धान से हो तो वत्त मान सत्तातन्त्र का जन्म हुआ है जिसके अनुग्रहदान से ही जो सत्तातन्त्र जायित है एवं जिसकी कृपा से हो जा जीवित रह सकता है, जीवित रहेगा निश्चयेन जीवित रहेगा ही ।

६) २-सनातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की सनातन-संस्कृति, सनातन शिष्टता, तद-नप्राणिता भृति, एवं तदनुग्रह से हा इसके सांस्कृतिक-कालातीत-स्वरूप का सुरचित सनातन-प्रवाह—

हमारी आस्था है कि, यह सनातन-हिन्दूमानव' वक्षमान सत्तातन्त्र की इत्यभूता निरपेक्षता से अपनी मानवता को ही उत्पन्न करेगा । कदापि यह अपनी उस मानवता को इत्य दिग्देशकालानुबन्धी तात्त्विक

कौरव से शत्रुतापूर्वक आक्षुण्ण बनाए रक्खा, उन सब महत्वाओं के तथाभिष सम्भवतमक कौरवों के समतुलन में तो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आर्य की स्वल्पतमा नगस्या इन मीथिक-विमीरिकाओं का।

६०६—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीड़क मूर्च्छकाल, एवं नियन्त्रित-मूर्च्छकालालुबन्धी इष्टकामयुक् विरवशान्तिकर इसका यद्भवविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक और नहीं—'कर्म' कालेन पीड़यन् के माध्यम से यौथिक विदुम्भणों को नियन्त्रित-सीमित रक्खा, वो दुखी और मानव की 'मानवता' के असङ्करणरूप उन आत्मसरङ्क-अज्ञापि ज्ञानोंका, उदुम्बन्धी शोकररङ्क यद्भवविज्ञानों का सर्वबनिकरूप से विस्तार भी किया, जिस यद्भवविज्ञानात्मक यद्भवविज्ञान के क्लपर ही माखयद्भ की सम्पूर्ण शोकरनामानाएँ प्रकृतिस्थतापूर्वक प्रकल्पत रही। अतएव सरङ्क को यद्भवविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामयुक्' ही बना रहा * । विष्णुसङ्क सभी विज्ञान यद्भ सदा स ही निबन्धित रहे सो रङ्क सभी विज्ञान यद्भ सदा समादरणीय रहे, बरुकि प्रमावित यह कमी मी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित मूवविज्ञानार्थ, तथा प्रमयविज्ञानों (यद्भवविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी यद्भिन क्वापि इव हेरा की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी यौथिक-प्रस्थात्मक-अनुकल्प से प्रमावित नहीं हुई। फलस्वरूप क्वापि दिग्देशकालालुबन्ध इस्की 'मानवता' की विमोहित न करसके। दिग्देशकाल इस्की 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इभकी 'मानवता' से निबन्धित ही रहे। क्वापि इव की 'मानवता' दिग्देशकालभर्मों के गर्भ में समाविष्ट न होसकी। दिग्देशकाल इस्के अविधि बने रहे, किन्तु इस्के कमी दिग्देशकाल का आविष्य स्वीकार नहीं किया।

६१०—काष्ठातीत अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्त्रियन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायिष से समन्वित पुरातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग् देशकाष्ठासक्त आर्य के मानवों का समतुलन—

और एरुमात्र इव मानवता के अनुकल्प से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रजा के प्रतिष्ठा मय अवि स्वुति-पुराण-शास्त्र के प्रति, उरुस्थित सत्ताब्रह्म के प्रति उरुप्रमाथिता आचार्यत्मिक करार्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था भद्रा सुरक्षित रखने वाला शारवत-सनातन-ब्रह्म का अनुगामी यह आश्रितक भारतीय मानव आर्याभिरुचौ मानवभ्रंशों के दारु सम्मान में मात्र 'हिन्दू' तथापि से उम्सङ्कत वह भारतीय हिन्दू-मानव दिग्प्रमाथानिक्रम मात्र आग्नि के प्रतिष्ठात्मक परम पन्थ पालन भारतीय श्रुति का यह आर्य सनातन मानव उरुप्रारम्भ से अरुप्रभृति 'पाठा यथापूर्वमकल्पयन्' अपनी इसी सनातन-मानवता का सम्पूर्ण विरव

* सह यद्भाः प्रजा सृष्टा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमपथोऽस्तिकृष्टकामयुक् ॥

—गीता

— प्लवा द्यो वे अट्टा यद्भरूमाः (ऋग्वेदनिपत्)

में ही अन्तर्लान होगाया । “उक्तं तन्मूर्त्तं त्रिवं का उत्तरं कियं मनु को आश्रितं त्रिवं, उक्ती न वाजं मे कालं च पीडितं किं, आरं यद् वरं त्रिवि-विधानं व्यस्तितं च वद् स्वयं पराजं वनं गया” स्यात्त्वर्थं निश्चला !। इस रहस्यपूर्ण सूक्ति क सम्भव क लिए ही वा ‘दिग्गुणकालस्वरूपनीमाद्य’ का आश्रय लिखा गया है । कालात्मक इस त्रिवं का अर्थ जो कोई भी कालातीत अन्तःतत्त्व है वही अचिन्त्यपराक्रम वाली वह अचिन्त्य-अप्रतस्य-अप्रहात-अलक्षण-अनविलक्षण-तत्त्व है त्रिवं का हम अपनी सापेक्षा भाषा में ‘प्रजापति’ नाम रख सकते हैं वरकिं ‘प्रजासापेक्ष प्रजापति’ नाम से भी कदापि उक्त अर्थ सम्भव नहीं है । अतएव अन्तःतत्त्वका उसका नाम ‘स’ (‘वह’) ही रख लिया जाता है जो ‘स’ शब्द अन्तःतत्त्वका अर्थान्त कापेक्ष बना हुआ भी अत्युक्त सीमापस्यन्त निरवयव भी बन रहा है । त्रिवंवातीत-निर्दिष्टोपान्त रूप स्वनिरवयव तत्त्व ही ‘वह (त्त्वं)’ है त्रिवं मनु, आरं त्रिवं यं दो भाग अभिव्यक्त हुए । अतीतपराक्रमी रूप हय तत्त्व का ही नाम ‘मनु’ है, त्रिवं नाम है मूलप्रकृति इतीत्यं नाम है परमकालान्तक परमद्वय एव यही है परावृत्तिरूप ‘अक्षरकाल’ । इस अक्षरकालात्मक मनु की व्यक्तावस्था का नाम ही है अक्षरकाल यही है अक्षरकाल त्रिवंरूप अक्षरकाल यं दो त्रिवं ही आश्रितं हुए । इन दोनों को उत्तरं चर इन दोनों क लिए उक्तं स्यात् वा व्यस्तया की !, एवं स्वयं अपने लिए उक्तं स्यात् निरवयव कियं इनको उत्तरं करने के अन्तः !-‘आत्मन्यस्यैव भूय कालं पालेन पीडयन्’ यह उत्तर-वाक्य इती प्रश्न का समाधान कर गया है । ‘मनुरूप अक्षरकालात्मक अन्तः-अन्यक-अमूर्त्तकाल अपनी अन्तःमहिमात्मककालात्मिका महिमा के एक दश में महिमा के एककारण से अभिव्यक्त होन वाजं मन्वन्तररूप अक्षरकालात्मक मादिसान्ता व्यक्त-मूर्त्त-विरयकाल को पीडित करता रहे’ यह व्यस्तया वह त्रिवि-विधान तो उक्त अन्तःतत्त्व की आरं मे मनु, आरं त्रिवं (मनु, आरं मन्वन्तर अन्तःकाल, अर्थ त्रिवंकाल) इन दोनों प्राकृत त्रिवं के लिए व्यस्तितं हुआ एवं स्वयं अपने आप के लिए उक्ती की आरं से यह विधान व्यस्तितं हुआ कि-‘आत्मन्यन्तर्वं’ । अर्थात् ‘वह स्वयं अपनी महिमा में ही विलान रहे ।

६१५-मानवीय-वचन क ‘स’ ‘माम्’ ‘इद् सर्वम्’-पदों का तत्त्वार्थ समन्वय—

उक्त मनुवचन में स’ ‘माम्’ ‘इद् सर्वम्’ इन तीन त्रिवं की ओर उक्तं हुआ है स’ की यार्थि ने ‘अचिन्त्य (अचिन्त्यपराक्रमः) कलाया है । ‘इद् सर्वम्’ का उक्तिरूप ‘अव्यक्तत्त्व’ (सृष्टेर्द् सर्वम्) कलाया है माम् का अर्थ तो स्वतः ही ‘मनु’ है ही त्रिवं अन्तः स्वयं यार्थि अर्थात् यममणोरपि अव्यक्त का है । वीं व्यक्त-अव्यक्त से अतीततत्त्व अव्यक्तत्त्व व्यक्तत्त्व, ये तीन त्रिवं निश्चरं निश्चरं आते हैं अक्षरकाल से ही सः-मां-इद् सर्वम्-इन तीन शब्दों से । स्वयं ही ‘काल-कालेन’ का अर्थ ‘अक्षर-अव्यक्त’ से अन्तः प्रमाण होता है । क्योंकि ‘महान्’ ही ‘अन्तः’ का उक्तीक बना करता है । अव्यक्त मनु ‘महान्’ है, व्यक्त त्रिवं (इद् सर्वम्) स्वल्पतम है-अव्यक्तमनुरूप मां के सममुखन में । अतएव उक्तीकाल अव्यक्तमनुकाल ही ही अर्थ है एवं उक्तीकाल अव्यक्तत्रिवंकाल ही अर्थ है । फलतः ‘कालेन’ का अर्थ ‘मनुरूपणाव्यक्तकालेन’ होता है एवं ‘कालं’ का अर्थ त्रिवंरूप-अव्यक्तकालम्’ होता है । इस प्रकिया का अर्थ, इस अर्थ का पूरक वही अचिन्त्यपराक्रम-व्यक्ताव्यक्तातीत-

श्रीराम से श्रुतुतापूर्वक अनुकूल बनाए रक्खा उन सब महत्वाओं के, तथाविच छम्बन्ध्यात्मक शीतलों के समतुलन में तो परास्मिन्निवृत्त भी दो महत्त्व नहीं है आन की स्वस्वतन्त्रा नगण्या इन मौलिक-विमीलिकवाओं का ।

६०६—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीड़क मूर्च्छकाल, एवं नियन्त्रित-मूर्च्छकालानुषन्धी इष्टकर्मधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक धोर बर्हा—'काल' कालेन पीड़यन् क माध्यम से मौलिक विदुग्भर्मी को नियन्त्रित—सीमित रक्खा, ता वृत्ती धोर मानव की 'मानवता' के अक्षररूप उन अक्षरसंरक्षक-व्यक्ति-ज्ञानों-अनुकूलनी शोकरसरक्षक यज्ञविज्ञानों का सर्ववर्तिकरूप से विस्तार भी किया जिस ब्रह्मविज्ञान-त्मक यज्ञविज्ञान के रूपपर ही माख्यराज की उन्मूर्च्छ शोकरामनाएँ प्रकृतिस्वतापूर्वक प्रकल्प रही । अतएव सरक्षक को यज्ञविज्ञान प्रथा के लिए 'इष्टकर्मधुक्' ही बना रहा * । विषयक सभी विज्ञान बर्हा सदा से ही नियन्त्रित रहे, दो रक्षक सभी विज्ञान बर्हा सदा समादरणीय रहे बरकि प्रमाविध यह कमी भी दोनों से ही नहीं हुआ । इसकी 'मानवता' तथाकथित मूठविज्ञानों तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रखी-न कहायि इस देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी मौलिक-प्राणायमक-अनुकूल से प्रमाविध नहीं हुई । फलस्वरूप अद्यापि दिग्देशकालानुकूल इसकी 'मानवता' को विमोहित न करधके । दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में खते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे । अद्यापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालभर्मी के गर्भ में समाविध न होसकी । दिग्देशकाल इसके अतिथि धने रहे, किन्तु इसने कमी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया ।

६१०—कालातीति अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्मयन्त्रिता कालप्रकृति के उच्चरदायिष्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आन के मानवों का समतुलन—

धोर एकमात्र इस मानवता के अनुकूल से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रथा के प्रतिरूप-त्मक अति स्वुति-पुराण-शास्त्र के प्रति, तदुपस्थित सत्ताब्रह्म के प्रति तदनुपस्थिता आचार्यमिका कर्षाभ्यनिष्ठताओं के प्रति पूर्ण आस्था भया सुपुधित रखने बाह्य शारकत-सनातन-ब्रह्म का अनुगामी यह आतिथ्य भारतीय मानव आर्यावर्णीय मानवभेदों के द्वारा छम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' तथापि से समलङ्कृत यह भारतीय हिन्दू-मानव विश्वप्राच्यानिकरूप मात्रक अग्नि के प्रतिरूप-त्मक परम धन्व पावन माख्यराज का वह आर्य सनातन मानव सृष्ट्यारम्भ से अद्यपर्यन्त 'धस्ता यथापूर्वमकल्पयत्' अपनी इत्ती सनातन-मानवता का सम्पूर्ण विश्व

* सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रथापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेपवोऽस्तिवष्टकामधुक् ॥
—गीता
— प्त्वा होते अष्टदा यज्ञरूपाः (ऋगोपनिषत्)

में ही अन्तर्लान्न होगया । "उसने उभूर्ण शिव को उत्पन्न किया, मनु को आविमत किया उषी ने
 अन्न से अन्न को पीकित किया, और यह सब विधि-विधान व्यवस्थित कर यह स्वयं पराव बन गया,
 क्या तापस्य निष्कला !। इस रहस्यपूर्ण सृष्टि के अन्तव्य के लिए ही वो 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' का आविषय
 लिया गया है । कालात्मक इस विश्व का सञ्चक को कीर्त्तनी कालातीत अनन्त तत्व है वही अचिन्त्यपराक्रम
 वाली यह अचिन्त्य-अप्रसन्न-अप्रज्ञात-अलक्षण-सञ्चरितक्षण-उत्त है जिसका हम अपनी सापेक्षा माया
 में 'प्रजापति' नाम रख लेते हैं जबकि प्रजासापक्ष 'प्रजापति' नाम से भी कदापि उसका स्मरण सम्भव
 नहीं है । अतएव अन्ततागत्वा उसका नाम 'स' ('सह') ही रख लिया जाता है, जो 'सः' शब्द अमुक
 शीमापस्यन्त सापेक्ष जनता हुआ भी अमुक शीमापस्यन्त निरपेक्ष भी बन रहा है । विश्वतीत-निर्विशेषानन्त
 रूप सर्वनिरपेक्ष तत्व ही यह (सः) है जिससे मनु, और विश्व ये दो भाष अमिष्यन्त हुए । अपीयात्मणो-
 रूप हुए तत्त्व का ही नाम 'मनु' है जिसका नाम है मूलप्रकृति, इक्षीक नाम है परमकालात्मक परमद्य,
 एवं वही है पराहृतिरूप 'अक्षरकाल' । इस अक्षरकालात्मक मनु को व्यक्तापस्था का नाम ही है क्षरकाल यही
 है व्यक्तकाल एवं इक्षी का नाम है विश्व । इसप्रकार उक्त विश्वतीत-कालातीत अनन्तप्रणुरूप से मनुरूप
 अक्षरकाल, विश्वरूप क्षरकाल ये दो विषय ही आविमत हुए । इन दोनों को उत्पन्न कर इन दोनों
 के लिए उन्नत क्या ता व्यवस्था की ? एवं स्वयं अपने लिए उसने क्या निरन्तर किया इनकी उत्पन्न करने के
 अनन्तर !- आत्मन्यस्तवच भूय कालं कालेन पीङ्गयन्' यह उत्तर-वाक्य इक्षी प्रश्न का समाधान कर
 रहा है । 'मनुरूप अक्षरकालात्मक अनन्त-अव्यक्त-अमूर्त्तकाल अपनी अनन्तमहिमाव्यङ्गकालात्मक
 महिमा के एक वरा में महिमा के एककारूप से अभिन्यक्त होन वाज मन्व-वररूप क्षरकालात्मक
 साक्षिसान्त व्यक्त-मूर्त्त-विश्वकाल को पीकित करता रह' यह व्यवस्था यह विधि-विधान तो उक्त
 अनन्तप्रण को धार से मनु, और विश्व (मनु, और अनन्तर अनन्तकाल एवं विश्वकाल) इन
 दोनों प्राकृत विवर्तों के लिए व्यवस्थित हुआ एवं स्वयं अपने आप के लिए उन्नी की धार से यह विधान
 व्यवस्थित हुआ कि- धारमन्यन्तर्वच' । अर्थात् वह स्वयं अपनी महिमा में ही बिलीन रह ।

६१५-मानवीय-वचन क 'स' 'माम्' 'इद् सर्वम्'-पदों का तन्मार्थ समन्वय—

उक्त मनुवचन में 'स' 'माम्', 'इद् सर्वम्' इन तीन विवर्तों की ओर उद्धृत हुआ । हे 'स' का
 उद्गर्भ ने 'अचिन्त्य' (अचिन्त्यपराक्रम) बतलाया है । 'इद् सर्वम्' का सक्रिय 'अव्यक्तवत्त्व'
 (सृष्टेर्षं सधम) बतलाया है 'माम्' का अर्थ तो स्वयं ही 'मनु' है ही जिसे अन्त्य स्वयं उद्गर्भने अर्थात्-
 वांसमणोरपि अव्यक्त कहा है । जो व्यक्त-अव्यक्त से अतीततत्त्व अव्यक्तवत्त्व, व्यक्तवत्त्व, ये तीन
 निष्कर्ष निष्कृत आते हैं सञ्चरूप से ही 'सा-मा-इदसर्वम्'-इन तीन शब्दों से । स्पष्ट ही 'काल-कालेन'
 का अर्थ 'व्यक्त-अव्यक्त' से मन्वन्व प्रमाप्ति होजाता है । क्योंकि 'महान्' ही 'अत्य' का उत्पीङ्गक बना
 करता है । अव्यक्त मनु 'महान्' है, व्यक्त विश्व ('इद् सर्वम्') स्वल्पतम है-अव्यक्तमनुरूप मां के समनु-
 खन में । अतएव उत्पीङ्गकाल अव्यक्तमनुरूप ही हो सकता है, एवं उत्पीङ्गकाल व्यक्तविश्वकाल ही
 होसकता है । फलतः 'कालेन' का अर्थ मनुरूपेणान्यक्तकालेन' होता है एवं- 'कालं' का अर्थ विश्वरूप-
 व्यक्तकालेन' होता है । इत प्रक्रिया का सर्वक, इत अपेक्षा का पूरक वही अचिन्त्यपराक्रम-व्यक्ताव्यक्तातीत-

विद्यमान्य से विकम्पित न होमे देगा, जिस मानवताने ही इसे 'अमृतपुत्र' की उपाधि से आर्यक सम्पन्न रक्ता है। कदापि इसे धातुशिक्षण उन प्रतिक्रियामात्रों का संस्मरण ही नहीं होना होगा, जो उच्च बनापूर्णा प्रतिक्रिया 'मानवता' के लिए अभिग्राह्य ही मानी गई है। अर्थात् अपने इस मानसिक-शारीरिक उत्थान को मगवान् का वरदान ही मानते हुए अपनी उस भावुकता का परित्याग ही कर देना चाहिए इसे जिस साधुत्वाने ही इसे शिवा तन सहस्र वर्षों से उत्थीकृत कर रक्ता है। तर्क्य इसे अपने उर्ध्वान को अपने निष्ठाकल के आग्रम में ही समर्पित कर देना है एव तर्क्य दिग्देशकालासुक्ती का संरक्षण करते हुए दिग्देशकालातीता उस 'मूलसंस्कृति' के ही अनुशीलन में इसे अविश्व ही प्रवृत्त हो ही जाना है जिसके स्वरूपबोधामात्र से ही यह आत्र इतर वास्तव्यो की भाँति समझना नहीं हो अत्रातः हो तात्कालिक दुर्ग-प्रभावों से अभिभूत हो ही पड़ा है। यही अभिभूति इसे आत्र उत्थीकृत किए हुए है। अपने इस उत्थान को उत्थीकृत वच मान कल के प्रति ही अवन्यवाद समर्पित करते हुए इसे उस अनन्तकाल अनन्त दिक् अनन्त देशरूप महाकाल को ही अपना लक्ष्य बना लेना है जिसके निष्पन्न से नियंत्रित कालिक उत्थीकृत कदापि नैतिक मानव को उत्थीकृत नहीं करसकता। दिग्देशकालमीमांसा के माध्यम से—'भारतीय हिन्दूमानव और उसकी भावुकता' नामक उत्थीकृतकालिक सामयिक निष्पन्न के प्रस्तुत चतुर्थलक्ष्य के द्वारा भारतीय आस्तिक धनातन हिन्दूमानव की महती मानवता का ध्यान हम अत्यन्त प्रयत्नमात्र से इसी तयाकथित 'यत्किञ्चिद्-संशोधन की ओर आकषित करना चाहते हैं जिस संशोधनका रहस्या मात्र समन्वय मानवता-नुकम्पी महान् मानवधर्म के सर्वश्रेष्ठ विधाया मगवान् मनु के—'कालं कालेन पीडयन्' इस महान् उत्थीकृतसूत्र के गर्भ में ही पिनय-सुरक्षित है। इस सूत्र के समन्वय की भावुकतापूर्णा प्रवृत्ता करने के लिए ही हमें 'दिग्देशकालशस्त्ररूपमीमांसा जैसे गहन-गम्भीर वास्तविक विषय में प्रवृत्त होना पड़ा है उसी महान् कल की प्रेरणा से।

६१३—'आत्मन्यन्तर्दधे भूय कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'कालं कालेन पीडयन्' यह यत्किञ्चिद्-संशोधन व्यपेक्ष्य बन रहा है। 'काल' से काल को पीडित करता हुआ' अन्व अपनी व्यपेक्षा से 'कौन पीडित कर रहा है काल से काल को ! इस व्यपन्न का ही प्रेरक बन रहा है जिस इस व्यपन्ननात्मक व्यपेक्षामात्र के समन्वय के लिए हमें एकबार पुनः रजर्षि मनु की उस वृत्ति का समझना संस्मरण कर लेना चाहिए, निम्न लिखितरूप से जिसके स्वतः ही मानव की व्यपेक्षया उपरान्त हो जाती है—

एवं सर्वं स सुष्टेदं मां वाचिन्यपराक्रमः ॥

आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥

—मनु १।१।१

६१४—'आत्मन्यन्तर्दधे' वाक्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

भोक् का अक्षरप यही है कि—अचिन्य पराक्रमशास्त्री यह प्रजापति इस सम्पूर्ण विश्व को व्यपन्न कर तथा मुझे (मनु को) व्यपन्न कर काल से काल को पीडित करता हुआ स्वयं अपने आप

स श्वरसम्पत्तयश्चाल पीडित हे मर्यादित हे । परमेष्ठिकात्तु मी महिमा स अनन्त बने रहने वाले अतएव विश्व इत्यत्रात्तामक मन्यन्तरात्तल' नाम स प्रसिद्ध होवाने वाले सौरसम्पत्तयश्चाल स पार्थिवसम्पत्तयश्चाल पीडित हे मर्यादित हे । अनन्त श्वरकाल की महिमा स अनन्त बने रहने वाले अतएव विराट्काल नाम स प्रसिद्ध होवाने वाले पार्थिवसम्पत्तयश्चाल स 'चान्द्रसम्पत्तयश्चाल पीडित हे । अनन्त पार्थिवकाल की महिमा स महान् बने रहने वाले, अतएव 'महान्काल' • नाम से प्रसिद्ध 'चान्द्रसम्पत्तयश्चाल' से अयन-श्वर-मास-पक्ष-ग्रहोरात्र-निर्माणादि सब कालपर्यन्त अग्निमा-महिमारूपेण-पूर्व-पूर्व स उत्तर-उत्तर उत्पीडित हैं । एव इन चान्द्रकालात्पर्यन्त की ही अन्तिम परिधाम है-भूत-भौतिक पाप वा इस पारम्परिक पीडन के रहस्य-समन्वय के माध्यम स वहाँ मानव के लिए अनन्त क महिमारूप बनेते हुए अनुत्पीडित हैं, वहाँ इनके इसी मर्यादा-सीमारूप स इन्हीं में आसक्त-स्यासक्त होवाने से ही भूत-भौतिक काल अयन इस मर्यादा परिणामभाव स मानव के लिए सबथा उत्पीडित, ऊँचाव ही बने जाया करते हैं । अतएव मानव को अपने प्रकृत भौतिक जीवन में उन सब भूतों को व्यक्त-कालों को उस अनन्तकाल से पीडित करते हुए ही कष्टव्यनिष्ठ बना रहना चाहिए कालाताव-अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में सतत जाग रूप रहते हुए ही ।

६१८--'अनन्त' से सतत उत्पीडित 'अन्त' की 'अन्ततोगत्वा' अनन्तता में परिणति, एव तत्सम्बन्ध स आचारात्मक पक्ष का स्वरूप दिग्दर्शन—

'अन्त' जब अनन्त' से त्यक्त होता रहता है तो उस द्वारा स अन्ततोगत्वा अन्त को 'अनन्त' ही बन जाना पड़ता है । स्वतः निरन्तर अक्षय्य अमृत अक्षर-अमृत-से प्रभावित स्यात्-मर्त्य-सुर-मृत-को अक्षय ही एक दिन अक्षय्यक्षरामृत-नन्तामृतरूप में परिणत हो ही जाना पड़ता है । विद्या से स्वतः उत्पीडित अविद्या को अक्षय ही कालान्तर में विद्यारूप में परिणत हो ही जाना पड़ता है । सम्भूति से निरन्तर उत्पीडित विनाश को एक दिन विश्व बन कर सम्भूतिरूप में परिणत हो ही जाना पड़ता है । अन्त स कदाहि अनन्त का उत्पीडन सम्भव नहीं है क्योंकि सीमित अन्त की दृष्टि स अनन्त असीम है । म मं यह है, किन्तु यह उसे कदापि स्वमीमा स सीमित नहीं कर सकता अतएव कदापि उस उत्पीडित नहीं कर सकता अतएव कदापि अन्त से अनन्त ही प्राप्ति नहीं हो सकती । अपितु अन्त से ही अन्त क अनन्तरूप स परिणति हो जाना करती है अन्तपरिपाकद्वारा में । इस 'अन्तपरिपाक' का एकमात्र अर्थ है अनन्त से निरन्तर अन्त को उत्पीडित पीडित करते रहना । इस 'पीडित करते रहना' का अर्थ है अनन्त की साक्षी में अन्त को मर्यादित बनाए रखना । अर्थात् अन्त को अन्त न मान कर कायकक्षरणात्मक न मानकर दिग्देशकालात्मक न मान कर उस अनन्त का महिमामय विश्व मानते हुए इसे मर्यादित-बनाए रहना । अर्थात् मर्यादापूर्वक-दिग्देशकालात्मक-व्यवस्थापूर्वक-यथाज्ञ-यथाविष्-यथादश-तद्वरूप से ही कष्टव्यनिष्ठ बने रहते हुए उस अनन्तकाल के माध्यम से अनन्तानन्त ब्रह्म के अनुशीलन में प्रवृत्त रहना । अर्थात् यही कि-सम्पूर्ण बुद्धिव्याप्तोद्देशात्मक

*-चन्द्रमा वै महान्-दृष (भुक्ति)

अज्ञातीत अज्ञातवत्त्व है। आर्यों मनुष्यके के इन तीनों शब्दों से क्रमशः अद्वयवपुरुष, तत्पराप्रकृति-रूप अक्षरब्रह्म (मनु) तदपराप्रकृतिरूप अक्षरब्रह्म (मन्वन्तररूप विश्व) ये तीन निष्कर्ष निकल जाते हैं। अज्ञातीत अद्वयवत्त्व अज्ञातवत्त्व किंवा अद्वयव, अक्षर, अक्षर, किंवा खोवसीसंस्मन मनु, मन्वन्तर किंवा * पुरुष-प्रकृति विकृति, किंवा अनन्त अद्वयव, अद्वयव, किंवा सा-मा-इह सृष्टम् किंवा-अचित्त्य-अज्ञेन-अज्ञम् इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है।

६१६-‘काल कालेन पीडयन्’ का रहस्यरूपक समन्वय—

अब प्रश्न शेष रह जाता है-‘पीडयन्’ का। उस अचित्त्यने मगुलंसृष्ट कालेन’ रूप काल के लिए तथा मन्वन्तरकालके ‘काल’ रूप काल के लिए यह व्यक्त्या की कि ‘काल काल को पीडित क ता रहे’। इस पीडन का क्या अर्थ? इसी अर्थ का नाम है वह ‘यत्किञ्चित्-संशोधन’ किञ्चित् पूर्व में अनन्त प्रकार से संशोधन किया जाना है। पीडन का एक ही अर्थ है-‘अन्वेषण मर्त्यादा’। ‘महान्’ के गर्भ में प्रतिष्ठित अस्य’ अपन आपको ‘महान्’ के गर्भ में ही अनुभूत करता हुआ सर्वात्मना अपने आपको महान् में ही समर्पित रखे’ वही पीडन का अर्थ है। इस से होता क्या है? होता वही है कि इस मर्त्यादात्मक समर्पण से अस्य का स्वरूप भी सुरक्षित रह जाता है अस्वताप्रयुक्त अस्य स्वरूप भी सम्पन्न हो जाते हैं एक अस्वताप्रयुक्त सीमात्मक-अनन्तमात्र-मर्त्यादाय भी इस अस्वता में नहीं रहने पाते-महान् के प्रति समर्पण से। जो दिग्देशकालात्मक अस्वताय उस अनन्त-अज्ञमहिमा से सीमाबद्ध रहते हुए, उसकी अनन्तमहिमा को छोड़ी बनाते हुए स्वानुगत तात्कालिक उद्देश्य भी पूरे कर लेते हैं एक अज्ञाती के अनुकूल से इनकी अस्वता से भी वे अस्वताय बन जाते हैं। और ऐसा ही कुछ कालपर्यायक सम्युक्तसंशोधन का अर्थ है कि जिस रूप का ही नाम है-‘महिमाविषय’। अज्ञाती कालातीत अनन्तात्म्यवत् काल-साक्षी (विरवसाक्षी) अस्वताक्षररूप अनन्तब्रह्म इन दोनों अक्षियों के साक्षर्य में सीमारूपेण-मर्त्यादा-रूपेण-अवस्थित स्व-स्व-ब्रह्मकालमात्रों में मर्त्यादित्त के रहने वाले मूल ब्रह्मभाव व्यक्तकालमात्र स्व-स्व-मूल व्यक्त-दिग्देशकालानुबन्धी-नास्तिक-देशिक-स्वकीर्णों को भी अवस्थित बनाए रखने में समर्थ हो जाते हैं, एक उस अनन्तब्रह्ममहिमा तथा अनन्तानन्ता ब्रह्ममहिमा के महिमात्मक अनुभव से इनका वरुन् बन्धी अनन्तमहिमाभाव भी सुरक्षित बना रह जाता है एक यही ‘अपीडयन्’ का एकमात्र अर्थ है।

६१७-कालपुरुष के प्रकृति-निबन्धन विविध महिमा-विवशों का तात्त्विक-संस्मरण—

कालातीत अनन्तब्रह्म की साक्षी के अनुभव से अनन्तमहिमारूप में परिणत रहने वाले अनन्त-अस्वता-अक्षरब्रह्म से (परमाक्षरात्मक स्वयम्भूकाल से) परमेष्ठीकाल पीडित है। स्वयम्भूकाल की अनन्तमहिमा से अनन्त बने रहने वाले, अतएव ‘महत्तक्षरब्रह्म’ नाम से प्रसिद्ध हो जाने वाले परमेष्ठीकाल

*-यत्तत्कारयमव्यक्त नित्यं सदसदारमकम् ।

तद्विसृष्टं स पुरुषो लोको ब्रह्मोति कीर्त्यते ॥

मनु १।१।१।

યુક્તાનિ-અર્ચ્યંતે=પ્રાર્ચ્યંતે મુમુક્ષુમિર્યંસોડર્યં' અવ્યાવાયમુલ્લરૂપો મોક્ષસ્તેન
 યુક્તાનિ તત્પ્રતિવોધકાનિ । યદ્વા-અર્થો=હેયોપાદેયરૂપસ્તેન યુક્તાનિ-તત્પ્રતિપાદ
 કાનિ વીતરાગશાસ્ત્રાણિ શિક્ષેત=અભ્યસ્યેત્ । અર્થ માવઃ-મોક્ષમાર્ગપ્રદર્શકાનિ
 શાસ્ત્રાણ્યેત્ર ઉપાદેયાનિ પારમાર્થિકસ્વરૂપપ્રતિપાદકત્વાત્, યથા સિન્ધુસ્તરૈર્વિલસતિ
 તથા સ્યાદ્વાદૈર્વિલસિતાનિ રાગદ્વેપદોપપરિવર્જિતાનિ અવ્યાવાયમુલ્લજનકાનિ
 ઉત્પાદવ્યયપ્રૌવ્યસ્વરૂપનિરૂપકાણિ ભગવદ્વચનાનિ, તસ્માત્ તાન્યેવામ્યસેદિતિ ।

કે સમીપ (સયા-સદા) સદા-કાલ (અઠ્ઠજુક્તાનિ-અર્થયુક્તાનિ) મોક્ષ-
 પ્રતિવોધક-અથવા હેયોપાદેય તત્ત્વ પ્રતિપાદક-એસે વીતરાગો-પદિષ્ટ
 શાસ્ત્રોંકા (સિખિલ્લજ્ઞા-શિક્ષેત) અભ્યાસ કરે । તથા (નિરદ્વાણિ ડ
 વજ્જળ-નિરર્થાનિ તુ વર્જયેત્) ઇનસે વિપરીત અન્ય શાસ્ત્રોંકા વર્જન કરે ।

નાવાર્થ—વસ્તુકા પારમાર્થિક સ્વરૂપ પ્રતિપાદન કરને વાલે હોને
 સે મોક્ષમાર્ગકે પ્રદર્શક શાસ્ત્ર ઠી ઉપાદેય હે । જિસ પ્રકાર સમુદ્ર અપની
 તરફમાલાઓસે શામિત હોતા હે ડસી તરહ પ્રભુ કે વચન સ્વરૂપ
 આગમશાસ્ત્ર ઠી સ્યાદ્વાદ-શૈલી સે સુશોમિત હોતે હે । ઇનમેં રાગ ઁવં
 દ્વેપકો યદ્વાને વાલી-કથાઁ ચિલકુલ નહોં હે । ડનસે યે સદા વર્જિત હે ।
 અવ્યાવાય સુલ્લ કે યે જનક હે । ઉત્પાદ વ્યય ઁવ પ્રૌવ્ય કે યથાર્થ
 સ્વરૂપ કા યે નિરૂપક હે । ઇસલિયે મોક્ષામિલાપિઓ કો વીતરાગ
 પ્રણીત શાસ્ત્રકા ઠી અભ્યાસ કરના ઁહાલિયે । જિન મેં ઇસ પ્રકાર કી
 પાતે નહોં હે જો સર્વથા ઁકાન્તવાદ કે પોષક અસર્વજ્ઞોપદિષ્ટ શાસ્ત્ર હે

(અઠ્ઠજુક્તાનિ-અર્થયુક્તાનિ) મોક્ષ પ્રતિવોધક-અથવા હેયોપાદેય તત્ત્વ પ્રતિપાદક
 એવા વિતરાગોપદિષ્ટ શાસ્ત્રોંકા (સિખિલ્લજ્ઞા-શિક્ષેત્) અભ્યાસ કરે તથા
 (નિરદ્વાણિ ડ વજ્જળ-નિરર્થાનિ તુ વર્જયેત્) એનાર્થી વિપરિત અન્ય શાસ્ત્રોંકા
 ત્યાગ કરે.

નાવાર્થ—વસ્તુકા પારમાર્થિક સ્વરૂપ પ્રતિપાદન કરવાવાળા હોવાર્થી
 મોક્ષમાર્ગના પ્રદર્શક શાસ્ત્ર ઁ ઉપાદેય છે જે પ્રકાર સમુદ્ર પોતાની તરફ
 માળાઓથી શોમિત હોયાય છે એ જ રતિ પ્રભુના વચન સ્વરૂપ આગમ-
 શાસ્ત્ર પણ સ્યાદ્વાદશૈલીથી સુશોમિત હોય છે તેમાં રાગ અને દ્વેશને વધા
 રનારી કથાઓ ળીલકુલ હોતી નથી એનાર્થી એ સદા વર્જિત છે અવ્યાવાય
 મુખના એ જનક છે ઉત્પાદ વ્યય, અને પ્રૌવ્યના યથાર્થ સ્વરૂપના એ નિરૂપક છે
 આ માટે મોક્ષામિલાપિઓએ વિતરાગ પ્રણીત શાસ્ત્રનો જ અભ્યાસ કરવો
 એકએ જેમ આ પ્રકારની વાતો નથી, જે સર્વથા એકાન્તપાદને પોષનાર

आत्म से अक्षयक के विग्वेशाकज्ञ-स्वरूप मीमांसात्मक व्यासोद्घनों से एकान्त प्रसंग्य होने रहते हुए स्व स्व-प्रकृतिसिद्ध-शास्त्रसिद्ध-कर्तव्यकर्मों में बागसकता-पूर्वक वाक्यजीवन प्रवृत्त रहना ।

६१६-प्रकृतिसिद्ध-उत्तरदायित्वपूर्व-स्वधर्म्यात्मिक कर्तव्यकर्म के द्वारा राक्ष कालो-त्पीडन से ही उत्पीडक काल की पीडाप्रवृत्ति का उपशम—

अर्थात् कभी एक क्षण के लिए भी इस वर्तमान-भौतिक काल को विभ्रम नहीं लेने देना । अपितु सदा ही काल को कर्तव्य से पीडित ही करते रहना । यह मुनिचिन्त है कि, ईश्वरस्यैवमात्मबुद्धया अपने भौतिक जीवनात्मक व्यक्तकाल को कर्तव्यरूप अनन्तकाल से जो मानव छत पीडित करता रहता है उसका कभी अन्त नहीं होता । वह मानव अपने कालातीत स्वप्न से अन्तर-अन्तर है-अनात्म है -वहाँ भी और वहाँ भी बिच इस श्लोकसीत तप्य का 'लोकबुद्धि' से कल्पि अमन्वय नहीं किया जासकता । बौद्धिक तर्क, विचार-मीमांसा शास्त्रार्थ विचारपरामर्श प्ररनोत्तरविमर्श व्यर्थ्यकारणविमर्श आदि आदि किसी भी बौद्धिक विबन्धन से वह तप्य अमन्वित नहीं होसकता । इस तप्य के अमन्वय का तो एकमात्र उद्यमार्ग है—'कालं कालेन पीडयन्' । अर्थात्-ईश्वरसाक्षी में-अनन्तकालात्म्य से साविसान्त भौतिक जीवन को सतत-अप्यीकित करते रहना । अकर्मण्यया ही शैक्षिक-दार्शनिक-विचारों की उद्यमभूमि बन बाग करती है बिच दार्शनिकता में कर्तव्यनिष्ठात्मिक आचारनिष्ठा का अर्थार्थ भी नहीं है । तत्त्वमीमांसा के परपादरशी उस महान् दार्शनिक की अपेक्षा तो उस अर्थार्थ्य को ही 'महान्' माना जावगा जो उत्तरदायित्व-पूर्वक एवं कर्तव्यनिष्ठा से हृदयकक्षमरपूर्वक अपने लोकजीवन का निर्वाह करता हुआ दार्शनिक की मति अर्थ्य के लिए आर्थिक-उत्पीडन का कारण तो नहीं बनता ।

६२०-कर्तव्य-कर्म की स्वरूपरिमाया—

आचार्यत्मक कर्तव्य का नाम ही धर्म है जो अथ अनन्त-पारवत्तया का प्रतिरूप बनता हुआ 'शाश्वतधर्म' बन रहा है अतएव वो—'सनातनधर्म'—'आर्यधर्म' आदि नामों में प्रसिद्ध है । धर्म-त्मक कर्तव्य ही महाकर्म है । इस कर्म से जो अपने मीतिक कर्म को उत्पीडित करने के क्रोशाल से परिचित हो जाता है, निरचयेन धर्म उदय रथक बन जाता है -यथोधर्मस्यतो अर्थः । इन अनुमान करते हैं कि—'कालं कालेन पीडयन्' से अनुप्राणित 'यत्किञ्चित्-संशोधन का अर्थात् स्वधीकरण होसुक्त । यदि धर्म भी अन्तरे न हुआ हो तो हमें कुछ एक देते ह।। का निरन्तर अनुशोधन करते रहना चाहिए, बिनके माध्यम से अपनी कर्तव्यनिष्ठा के अनुग्रह से अन्तर ही विग्वेशाकज्ञानुष्ठी उद्य 'कर्तव्य-संशोधन उ हमारी लोकबुद्धि की अर्थार्थना नहीं, तो अर्थार्थ' तो अन्तर ही अमन्वित ही बावनी ।

६२१-कार्त्तव्यकर्मस्वरूपपरिचापिका-‘काल कालेन पीडयन्’ मूला अनुशीलनात्मिका-
नितान्तमवधेया-‘शतधरी’-

१-‘अचिन्त्य’	की साक्षी में	‘माम्’ स ‘इदं सृष्ट’ को पीडित-नियन्त्रित-मय्यादित ही रचना चाहिये	
२-‘अव्यय’	”	‘अक्षर’ स ‘क्षर’ का	
३-‘पुरुष’	”	‘प्रकृति’ स ‘विकृति’ को	”
४-‘अनन्त’	”	‘अनन्त’ स ‘अन्त’ को	”
५-‘कालातीत’	”	‘अमृताकाल’ स ‘मृताकाल’ को	”
६-‘सनातन’	”	‘अभ्यक्त’ स ‘व्यक्त’ को	”
७-‘परात्पर’	”	‘पुरुष’ स ‘प्रकृति’ को	”
८-‘प्रकृति’	”	‘विकृति’ स ‘विक्षर’ को	”
९-‘विकृति’	”	‘विक्षर’ से ‘भूतों’ को	”
१०-‘सुवचम’	”	‘सूचम’ स ‘स्थूल’ को	”
११-‘सत्ता’	”	‘मन’ स ‘प्राण’ को	”
१२-‘मन’	”	‘प्राण’ स ‘वाक्’ को	”
१३-‘वाक्’	”	‘नाम’ स ‘रूप’ को	”
१४-‘काम’	”	‘तप’ स ‘धम’ को	”
१५-‘अव्यक्त’	”	‘महान्’ स ‘बुद्धि’ को	”
१६-‘महान्’	”	‘बुद्धि’ स ‘मन’ को	”
१७-‘बुद्धि’	”	‘मन’ स ‘इन्द्रियवर्ग’ को	”
१८-‘मन’	”	‘इन्द्रियप्राणों’ स ‘विषयों’ को	”
१९-‘इन्द्रिय’	”	‘विषयों’ स ‘भौतिक जीवन’ को	”
२०-‘अनुपाख्यतम’	”	‘अनिरुक्ततम’ स ‘निरुक्ततम’ को	”
२१-‘विश्वातीत’	”	‘विश्वक्षर’ स ‘बिरव’ को	”
२२-‘कालातीत’	”	‘काल’ स ‘दिक्’ को	”
२३-‘काल’	”	‘दिक्’ स ‘देश’ को	”
२४-‘दिक्’	”	‘देश’ स ‘प्रदेश’ को	”
२५-‘शास्वतधर्म’	”	‘प्राकृतधर्म’ स ‘अमिनिवेश’ को	”

४-समानी व आकृति समाना हृदयानि व ।

समानमस्तु वो मनो यथा व - सुसहासति' ॥

—श्रुक्संहिता १०।१६१ अन्तिमसूक्त ।

उक्ता मन्त्र-षड्विंशती के-‘संसममिद्युषसे’ इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा श्रुति ने उन माहात्मिक अग्निदेव’ का ही उल्लेख किया है जिन के स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सीर देवाग्नि पार्ष्णि-मृताग्नि, इन तीन महिमायुक्त विषयों से ही स्वर्गोत्थान-त्रैलोक्य-विलोकीरुप महान् प्राकृत-विरव का विराट् स्वरूप व्यक्तियुक्त है एवं जो कि अग्निदेव अपने न्योक्तस्ता ० सोम के सम्बन्ध से अग्नीशोमात्मक यज्ञ के प्रकृत क करते हुए वही यज्ञ के द्वारा यन्त्रयावत् इहाँ अमनाश्री के पूरक + हैं। इसी कामकर्षण के कारण जो अग्निदेव ‘शृपन्’ (कामधर्षक, इष्टकामयुक्त) अग्निभा से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण लोको के अग्निपति होने से ही जो अग्निदेव ‘अय्य नाम से प्रसिद्ध हैं। ‘इहा नाम से प्रसिद्धा महिमाशुषिधीरुपा उदरवेदि में अन्तरिक्ष यज्ञ सोम की आहुति से प्रचर्यकरूप से प्रख्यलित हो पकने वाले इही अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण पाकृतिक भूत अपनी स्वच्छिन्नचया धम्मिभयभक्षया ‘आत्मात्मिका’ सृष्टि के रूप में परिरक्षित हो रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण मौक्तिक अगत ‘अग्नीशोमात्मक’ ही कहलाना है वैसा कि-‘अग्नी-शोमात्मकं जगत्’ इत्यादि बृहदारण्यकसूक्ति से प्रमाणित है। ये ही अग्नि उदरवीर्यमूल हमारे “व पावन माख्यगृह के माय्यविधाता हैं। ‘अग्नेर्महो असि ब्राह्मण्य भारतेति’ इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकप्रियतावा ने ही ‘भारत अग्नि’ हमारे इस ‘आय्यवर्षस’ नामक पवित्रतम-बन्धुतम-परास्वतम-‘भारतधर्म’ की ‘भारत’ अग्निभा के सर्वाचार प्रमाणित हो रहे हैं। श्रुवेद के द्रव्य महर्षिर्वाग्ने-‘अग्निमीसे पुरोहितम्’ इत्यादि उक्तमात्मक मन्त्र (१ मयवत् १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर ‘सूर्याचन्द्रमसौ धत्वा यथापूर्वकल्पयत्’ इत्यादि उपसंहारयुक्त मन्त्र (१ मयवत् १६ सूक्त, १ मन्त्र) पर्यन्त सम्पूर्ण श्रुवेद में महामहिमराक्षी सोमगमित स्वमूर्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिका महिमा का यशोगान किया है। इत्थन्मूल सृष्टिविज्ञान के मूलाधाररूप उही अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने ‘संसमिद्युषसे’ इत्यादि मन्त्र से महान् माहात्मिक संस्मरण करते हुए ऋ-सूक्त में इसी मायात्मिक के प्रतीकमूल माख्यगृह के आर्य्य मानवमंड के लिए आचारारम्भक जो माहात्मिक उपसोचन प्रदान किया है स्वतः के-‘सङ्गम्यज्यन्मन्’ इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उही ‘रष्ट्रीय आचार’ का माहात्मिक उपसोचन हुआ है जिस का राष्ट्रमाया में वचमान राष्ट्रमानव के लिए इत्थन्सोचन सम्बन्ध समीचीन होगा कि—

४-अग्निर्वागार तमूषः कामयन्ते, अग्निर्वागार तसु सामानि यन्ति ।

अग्निर्वागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सक्य न्योक्ताः ॥

—श्रुक्सं० १।४४।१५।

—सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।

अनन प्रसविष्यध्वमेपवोऽस्त्विएकमधुक् ॥

—गीता

- (१)-हमारे राष्ट्र का-गन्तव्यपथ' एक ही ! (सङ्कल्पम् !) ।
 (२)-हमार राष्ट्र की-'भाषा' एक ही ! (संबन्धम् !) ।
 (३)-हमारे राष्ट्र के-'विचार' एक ही ! (सं वा मनीषि बानधम् !) ।
 (४)-हमार राष्ट्र की-'मननशैली' एक ही ! (स्मानो मन्त्रः !) ।
 (५)-हमारे राष्ट्र की-'विवानसमिति' एक ही ! (समितिः स्मानी !) ।
 (६)-हमारे राष्ट्र के-'मनोभाव' एक ही ! (स्मानं मन !) ।
 (७)-हमारे राष्ट्र की-'प्रज्ञा' एक ही ! (सह चिन्तमेधाम् !) ।
 (८)-हमारे राष्ट्र की 'गुणमन्त्राणां' एक ही ! (स्मान मन्त्रमयिमन्त्रमे वा !) ।
 (९)-हमारे राष्ट्र के 'आन्व्यन्तर संकल्प' एक ही ! (स्मानी व आकृति !) ।
 (१०)-हमारे राष्ट्र का 'केन्द्रचिन्दु' एक ही ! (स्माना हृदयानि वा !) ।
 (११)-हमारे राष्ट्र का 'अन्तर्जगत्' अमिष हो ! (स्मानमस्तु नो मन !) ।

सर्वतन्त्रान्तिमूला उक्ता 'एकाधरासूत्री' की 'राष्ट्रीय घोषणा' के माध्यम से ही हम सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र की प्राणप्रथिा करते हुए सम्पूर्ण राष्ट्रीय-मानवां के लिए उन की मन-घट्टिनिष्क-ना योग चेमास्मिन्न 'हवि' (अन्न-स्त्र) की समानरूप से ही व्यक्तता करते हुए आत्ममूलक-अमर्दानमूलक उस- 'साम्यवाद' पथ के ही पथिक बने रहें जिस आत्मसाम्य के महिमामय विशाल प्राङ्गम में विभिन्न प्रकृति-विभिन्न गुणकम्मात्मक-'स्यधर्म'-अध्वय विभिन्न भी प्राकृतिक कर्तव्य-कर्म निर्विरोध समन्वित हैं । स्मान-हृदिःप्रदान से सम्भव रहने वाले इसी 'सहास्तिस्व-रूप माहात्मिक-विधान का सर्वान्त में प्रचण्ड उद्घोर करते हुए ही महर्षि ने कहा है—

‘समानेन वो हविषा जुहोमि-यथा व सुसुहासति’

सर्वान्ते च भारत्यग्न की इसी 'मङ्गल-कामना' के साथ 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-तुगत यह पञ्चांगशासन कथाशुनित-अमनसैव उफरत हो रहा है कि—

दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम् ! वेदा सन्ततिरेव च !

अद्वा च नो मा व्यगमत् ! बहुदेयं च नो ऽस्तु !

अक्षुच नो बहु भवेत् ! अतिर्याश्च तमेमहि !

पाषितारस्व नः सन्तु ! मा च पाषिष्म कञ्चन !

४-समानी व आकृतिः समाना इदयानि व ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः-‘सुसहासति’ ॥

—श्रुक्संहिता १०।१३। अन्तिमसूक्त ।

उक्ता मन्त्र-ब्रह्मणी के-‘संसमिषु बसे’ इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा श्रुति ने उन माहात्मिक ‘अग्निदेव’ वा ही उत्तरण किया है बिन के स्वात्मन्मुख ब्रह्माग्नि सौर देवाग्नि, पार्ष्णि-मृताग्नि इन तीन महिमामय किशोरों से ही उत्तमोत्तम-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विरच्य अ विष्णु स्वरूप व्यबसिधत है एतन्मो कि अग्निदेव अपने न्योक्तता ७ सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक वर के प्रकृतक बनते हुए इही यज्ञ के द्वारा यन्त्रयाकर्त हों, कामनाओं के पूरक + हैं । इही कामकर्म्य के कारण वो अग्निदेव ‘वृषम्’ (कामधर्पक, इष्टकामयुक्त) अग्निषा से प्रसिद्ध हैं । सम्पूर्ण लोभों के अधिपति होने से ही वो अग्निदेव ‘अप्य’ नाम से प्रसिद्ध हैं । ‘इडा’ नाम से प्रसिद्ध महिमाशुचिबीरुपा उत्तरवेदि में आन्तरिक्य वाद्य सोम की आहुति से प्रचस्यरूप से प्रकल्पित हो पकने वाले इही अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक मृत अग्नी उच्छ्रितब्रह्मा धमिभयलक्षणा ‘यागात्मिका सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे हैं । अतएव सम्पूर्ण मोक्षिक ब्रह्म ‘अग्नीषोमात्मक’ ही कहलाया है वैया कि-‘अग्नी-यामात्मकं जगत् इत्यादि बहव्यायसमृति से प्रमाथित है । वे ही अग्नि उद्वर्तीकृत हमारे दस पावन माखण्ड के साम्प्रिवाता हैं । ‘अग्नेर्माहो असि ब्राह्मण मारतेति’ इत्यादि श्रुति के अनुन्धर लोकप्रसिद्धता ने ही ‘मारत अग्नि’ हमारे इस ‘आप्यावर्त्त’ नामक पवित्रतम-कन्यकम-वरास्पतम-‘भारतवर्ष’ की ‘भारत’ अग्निषा के सर्वोपर प्रमाथित हो रहे हैं । श्रुवेद के इत्य महर्षियोंने-‘अग्निमीने पुरोहितम्’ इत्यादि उपक्रमतमक मन्त्र (१ मण्डल १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर ‘सूर्यापन्नमसी पाता कभार्पूर्वकश्यवत्’ इत्यादि उपसहारमक मन्त्र (१ मण्डल १६ सूक्त, १ मन्त्र) पर्यन्त सम्पूर्ण श्रुवेद में महामहिमशाली सोमगमित स्मर्त्ति इन अग्निदेव की ही शानतिशानात्मिक महिमा का यथोभान किया है । इत्यभूव सृष्टिविज्ञान के मूलाधाररूप उची अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने ‘संसमिषु बसे’ इत्यादि मन्त्र से महान् माहात्मिक संस्मरण करते हुए उर-उरु में इही मारुतानि के पटीकृत माखण्ड के आर्य्य मानवभेद के लिए ‘आचाररत्मक’ वो माहात्मिक उरुषोभ प्रधान किया है यस्त के-‘सज्ञक्यभ्यम् ० इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उची ‘उरुषीव आचार’ का माहात्मिक उरुषोभ हुआ है बिध का राष्ट्रमाया में वर्तमान राष्ट्रमानव के लिए इत्यस्मैवेक सम्बन्ध समीचीन होगा कि—

७-अग्निर्जागार तमृच कामयन्ते, अग्निर्जागार तसु सामानि यन्ति ।

अग्निजागार तमर्य सोम आह तवाहमस्मि सरुष्य न्योद्ध ॥

—श्रुक्सं० १।४।१३।

—सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।

अनन प्रसविष्यध्वमेपवोऽस्तिष्टकामयुक् ॥

—गीता

- (१)—हमारे राष्ट्र का—‘गन्तव्यपथ’ एक ही ! (सङ्गच्छन्वम् !) ।
 (२)—हमारे राष्ट्र की—‘भाषा’ एक ही ! (संबदध्वम् !) ।
 (३)—हमारे राष्ट्र के—‘विचार’ एक ही ! (स वो मनासि जानताम् !) ।
 (४)—हमारे राष्ट्र की—‘मननशीली’ एक ही ! (ध्मानो मन्त्रः !) ।
 (५)—हमारे राष्ट्र की—‘विज्ञानसमिति’ एक ही ! (समितिः ध्मानी !) ।
 (६)—हमारे राष्ट्र के—‘मनोभाव’ एक ही ! (ध्मानं मनः !) ।
 (७)—हमारे राष्ट्र की—‘प्रज्ञा’ एक ही ! (सह चिन्तमयाम् !) ।
 (८)—हमारे राष्ट्र की ‘शुष्वमन्त्रणा’ एक ही ! (ध्मान मन्त्रमयिमन्त्रये वः !) ।
 (९)—हमारे राष्ट्र के ‘आभ्यन्तर संकल्प’ एक ही ! (ध्मानी व आकृति !) ।
 (१०)—हमारे राष्ट्र का ‘केन्द्रयिन्तु’ एक ही ! (ध्माना हृदयानि वः !) ।
 (११)—हमारे राष्ट्र का ‘अन्तर्जगत्’ अमिष हो ! (ध्मानमल्ल वो मनः !) ।

श्वेतकान्तिमूला उक्ता ‘यशस्वरासूत्री’ की ‘राष्ट्रीय घोषणा’ के माध्यम से ही हम सर्वोच्च-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र की प्राणप्रतिष्ठा करते हुए सम्पूर्ण राष्ट्रीय-मानसों के लिए उन की मनःशरीरनिष्पन्नता योग्य-धैर्यात्मिक ‘हविः’ (अन्न-वस्तु) की समानरूप से ही व्यवस्था करते हुए आत्ममूलक-धर्मदर्शनमूलक उस-‘साम्यवाद’ पथ के ही पथिक बने रहें जिस आत्मसाम्य के महिमामय विशाल प्राङ्गण में विभिन्न प्रकृतिक विभिन्न गुणकम्पात्मक—‘स्वधर्म’-अक्षय विभिन्न मी प्राकृतिक कष्ट-स्य-कर्म निर्विरोध समन्वित हैं । समान-हविः-प्रदान से सम्बन्ध रखने वाले इसी ‘सहास्तिस्व-रूप माङ्गलिक-विधान का सर्वान्त में प्रचयक उद्दीपक करते हुए ही महर्षि ने कहा है—

‘समानेन वो हविषा जुहोमि-यथा व सुसुहासति’

सर्वान्ते च भारतराष्ट्र की इसी ‘भङ्गल-आमना’ के साथ ‘दिग्देशाक्षरस्वरूपमीमांसा’—जुगत यह बाह्योपसालन उपायानुष्ठित-कामनयैव उपरत हो रहा है कि—

दातारो नोऽमिषद्धन्ताम् ! वेदाः सन्ततिरेष च !

अद्धा च नो मा व्यगमत् ! बहुदेयं च नो ऽस्तु !

अक्षञ्च नो बहु भवेत् ! अतिथीरथ क्षमेमहि !

याचितारश्च नः सन्तु ! मा च याचिष्म कञ्चन !

४-समानी व आकृति समाना इदयानि व ।

समानमस्तु वो मनो यथा षः- सुसहासति' ॥

—ऋक्संहिता १०।१६। अन्तिमसूक्त ।

उक्त मन्त्र-वृद्धी के-‘संसममिषु षसे’ इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा ऋषि ने उन माहत्मिक ‘अग्निदेव’ का ही उल्लेख किया है किन्तु के स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौर वेदाग्नि, पार्ष्णि-मूलाग्नि इन तीन महिमामय किशोरों से ही उत्पन्नोद्भवत्-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरुम महान् प्राकृत-विरह का विप्लव स्वरूप व्यक्तित्व है एवमो कि अग्निदेव अपने न्योक्तवत्ता * सोम के सम्बन्ध से आग्नीषोमात्मक यज्ञ के प्रयत्नक बनते हुए इसी यज्ञ के द्वारा यन्त्रयाक्त् इहाँ कामनाधी के पूरक + है । इसी कामकर्षण के कारण जो अग्निदेव ‘वृषन्’ (कामवर्षक, इष्टकामपुष्क) अग्निषा से प्रसिद्ध है । सम्पूर्ण लोको के अविपत्ति होने से ही जो अग्निदेव ‘अभ्य’ नाम से प्रसिद्ध है । ‘इवा’ नाम से प्रसिद्ध महिमाशुभिवीरुपा उत्तरवेदि में आन्तरिकतः तथा सोम की आहुति से प्रचर्यकरूप से प्रकल्पित हो पकने वाले इही अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक भूत अपनी सखिलबद्धया समिभरणलब्धया ‘यमात्मिका’ सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे है । अतएव सम्पूर्ण मौखिक जगत् ‘अग्नीषोमात्मक’ ही कहलाया है जैसा कि-‘अग्नी-षोमात्मकं जगत्’ इत्यादि पदव्याख्यालभुति से प्रमाणित है । ये ही अग्नि तथ्यतीकभूत हमारे दृढ पानन मारुतयज्ञ के माध्यमिवाद्य है । ‘अग्नेर्माहो असि ब्राह्मण भारतेति’ इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकप्रसिद्धाये ही ‘भारत अग्नि’ हमारे इस ‘आन्याभिर्त्स’ नामक पवित्रतम-बन्धुतम-यशस्वतम-‘भारतवर्ष’ की ‘भारत’ अग्निषा के स्वाभार प्रमाणित हो रहे है । ऋग्वेद के इष्य महर्षियोंने-‘अग्निमीजे पुरोहितम्’ इत्यादि उषकामात्मक मन्त्र (१ मन्त्र १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर ‘सूर्याभ्यन्मसौ घाता यथासर्व्यकल्पयत्’ इत्यादि उपसहायक मन्त्र (१ मन्त्र १६ सूक्त १ मन्त्र) फर्कत सम्पूर्ण ऋग्वेद में महामहिमशाली सोमगमित सर्वभृति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानाभिभवा महिमा का यशोमान किना है । इत्यभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधाररूप उसी अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने ‘सममिषु षसे’ इत्यादि मन्त्र से महान् माहत्मिक संस्मरण करते हुए जगत्-स्रष्टी में इसी मारुताग्नि के प्रतीकमय मारुतयज्ञ के आर्य्य मानवभेद के लिए ‘आचारतस्मिन्’ जो माहत्मिक उद्घोषन प्रदान किना है सूक्त के-‘सङ्गच्छन्ममं’ इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उसी ‘राष्ट्रीय आचार’ का माहत्मिक उद्घोषन हुआ है किन्तु का राष्ट्रभाषा में बधमान राष्ट्रमानव के लिए इत्यंस्मेयैव समन्वय समीचीन होगा कि—

ॐ-अग्निर्जागार तमुष कामयन्ते, अग्निर्जागार तसु सामानि यन्ति ।

अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सरुये न्योक्ताः ॥

—ऋक्सं० १।४२।१।

—सह यद्वा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनन प्रसविष्यधमेपवोऽस्तिष्ठेकामपुक् ॥

—गीता

दिग्देशकालानुबन्धी-ध्याचारात्मक
तृतीयप्रकरण उपरत

—३—

उपरता चेय दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा—
(ककारविभागात्मिका)

चतुर्थखण्डानुगता—प्रथमस्तम्भात्मिका (१)

(पूर्वक्रमानुगतस्तु—एकादशस्तम्भः (११)

प्रीयतामनया परमकालदेवोऽनन्त परमाकाशलक्षणा
ओं—शमित्येतत्

अर्थात्—हमारे राष्ट्र में 'दाता' मानवों की अभिवृद्धि हो !

हमारे राष्ट्र में 'वेदतत्त्व', एव तदनुगता 'सुसन्तति' अभिष्यक्त हो !

हमारे राष्ट्रीय-अनमानस से 'भद्रा' कमी पलायित न हो !

हमारे राष्ट्रीय कोश में दान के लिये 'प्रभूतसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !

हमारे राष्ट्र में प्रचुरमात्रा में 'अन्नसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !

हमारा राष्ट्र सदा सम्मानित 'अतिथि' प्राप्त करता रहे !

हमारे राष्ट्र से सभी इतर राष्ट्र सदा 'मागते' ही रहे !

किन्तु

हमारा भारतराष्ट्र कदापि किसी से भी कुछ भी याचना-अभिलाषा न करे !

आ ब्रह्मन् ! मासो ब्रह्मवर्षसी जायताम् !

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इष्व्योऽतिष्प्याधी महारथो जायताम् ।

दोग्धी वेनुः, बोढानह्वान्, आशुः सपिः, पुरंधियोपा, क्षिप्त्स्व रथेष्ठाः !

समेयो युषाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम् !

निकामे निकामे न फर्जन्यो वर्षतु !

फलवत्यो न भोपभयं पम्पन्ताम् !

योगधेमो नः कल्पताम् !

अग्निर्जागार तमूचः कामयन्ते

अग्निर्जागार तमु सामानि पन्ति ॥

अग्निर्जागार तमयं सोम आह—

तवाहमस्मि सस्ये न्योक्ता ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादप्रबन्मनः ।

स्वं स्व चरित्रं शिषेरन् पृथिव्यो 'सर्वमानवाः' ॥

सर्वे मवन्तु सुखिनः ! सर्वे सन्तु निरामयाः !

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ! मा करिचद् दुःखमागमेवत् !

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा , स्वस्ति नः पूषा निरयवेदाः ।

स्वस्ति नस्तार्षणोऽरिष्टनमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्वृषासु ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः ! ! शान्तिः ! ! !

दिग्देशकालानुबन्धी-ध्याचारात्मक
तृतीयप्रकरण उपरत

—३—

उपरता चेय दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा—
(ककारविभागात्मिका)

चतुर्थखण्डानुगत-प्रथमस्तम्भात्मिका (१)

(पर्यक्रमानुगतस्तु-एकदशस्तम्भः (११)

प्रीयतामनया परमकालद्वोऽनन्तं परमकाशलक्षणः
ओं-शमित्येतत्

विनय' कथमेपणीय इत्याह—

मूलम्—निसंते सिंयाऽमुहरी बुद्धाण अतिपे सयां ।

अट्टजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जेपे ॥८॥

छाया—

निशान्तः स्यात् अमुत्वारिः बुद्धानाम् अन्तिके सदा ।

अर्थयुक्तानि शिक्षेत निरर्थानि तु वर्जयेत् ॥ ८ ॥

टीका—

‘निसंते इत्यादि’—निशान्तः=नितरां शान्तः, उपशमयुक्तः—अन्तः क्रोध-

परिवर्जनेन वहिश्च सौम्याकारेण प्रशान्तः स्याद्=भवेत्, अमुत्वारिः=अविरुद्धभाषी प्रियभाषी सन् बुद्धानाम्=आचार्याणाम्, अन्तिके=समीपे, सदा=सर्वकालम् अर्थ-

विमूषित घना शिष्य भी शील से कुल, गण एव गच्छ को प्रमुदित करता हुआ लोक में चिन्तामणि रत्न के समान माना जाता है कल्प-वृक्षके समान सेवित किया जाता है, निधिके समान आदरीणय होता रहता है और सुधा (अमृत) के समान पूजा जाता है ॥ ७ ॥

विनय पालन कैसे करना चाहिये इसे सूत्रकार इस निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट करते हैं—‘निसंते’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(निसंते-निशान्त) जो उपशम भाव से युक्त है—भीतर में जिसके क्रोध का उद्रेक नहीं होता है—तथा बाहिर से जिसका सदा सौम्य आकार घना रहता है ऐसा शिष्य (अमुत्वारि) अविरुद्ध-भाषी-प्रियभाषी-होता हुआ (बुद्धाणं अतिपे-बुद्धाना अन्तिके) आचार्यों

शिष्य पक्ष शीलधी कुल, गण ओटके गच्छने प्रमुदित करीने लोकमा चिन्ता मधी रत्न समान मानवामा आवे छे कल्पवृक्षना समान सेवित करवामा आवे छे निधिनी भाक्षक आहत धता रहे छे अने सुधानी (अमृत) भाक्षक पूजय छे ॥७॥

विनय पालन केवी रीते करवुं ओछे तेने सूत्रकार आ निधि वतावेछ गाथाधी स्पष्ट करे छे निसंते इत्यादि.

अन्वयार्थ—(निसंते-निशान्तः) जे उपशम भावधी मुक्त छे—जेने अहर क्रोधने उपद्रव धता नधी. तथा भाक्षरधी जेना सदा सौम्य आकार वन्थे रहे छे जेवा शिष्य (अमुत्वारि) अविरुद्धभाषी-प्रियभाषी वनीने (बुद्धाणं अतिपे-बुद्धाना अन्तिके) आचार्योंनी समिप (सया-सवा) वनेथा

श्रीः

सप्तषट्पयात्मक

‘भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता’

नामक

उपबोक्तात्मक सामयिक-निबन्धान्तर्गत

‘दिग्देशकालस्वरूपमीमासात्मक’

‘क’ द्वारविभागात्मक-११ स्तम्भात्मक

चतुर्थस्वग्रह

उपरत

श्रीः

सप्तषष्ट्यात्मक

‘भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता’

नामक

उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धान्तर्गत

‘दिग्देशकालस्वरूपमीमासात्मक’

‘क’ प्रकारविभागात्मक-११ स्तम्भात्मक

चतुर्थसंग्रह

उपरत

प्रशमसर'शोषणे प्रचण्डमार्तण्डकिरणरूपाणि, भ्रमोत्पादने मृगतृष्णास्वरूपाणि,

श्रद्धा जाग्रत हुए बिना जीवको आत्म कल्याण का मार्ग दिखलाई नहीं देता है। अतः वह पतित होकर अनत ससारी हो जाता है। इसीलिये लौकिक शास्त्रोंका अध्ययन वर्जनीय घतलाया गया है यदि इस भावना से उनका अध्ययन किया जाय कि देखु कि वीतराग प्ररूपित शास्त्रों में और इनके उपदेश में कितना भेद है तो इस स्थिति में ज्ञानी को अनेकान्त शासन पर और अधिक हृद श्रद्धा बढ़ जाती है। क्यों कि सच्चे मणिकी कीमत तो झूठे मणि के देखने से ही होती है। सच्चे मणिका परिचायक झूठामणि ही हुआ करता है। इसीलिये टीकाकार ने इन्हें महावत रूप पर्वत के भेदन करने में वज्रकी उपमा दी है। दावानल जिस प्रकार वन को भस्म करने में डील नहीं करता उसी प्रकार निरर्थक शास्त्रों का अध्ययन भी मोक्षामिलापियों के तप और समयरूप उद्यान को नाश करता है। जिस प्रकार ग्रीष्मकाल का प्रखर आतप-धूप सरोवर को शोषण करता है उसी प्रकार ये मोक्षमार्ग के उपदेश से विहीन शास्त्र भी मोक्षामिलापी के प्रशमभावको शुष्क करने में जरा सी भी कसर नहीं रक्वते हैं। मृगतृष्णा जिस प्रकार मृगों को

बिना छपने आत्मकल्याणको मार्ग भगतो नहीं खेटके ते पतित अपनी अनत ससारी यर्ष बय छे आ भाटे लौकिक शास्त्रोनु अध्ययन वर्जनीय भताववामा आवेव छे ने जे भावनाधी तेनु अध्ययन करवामा आवे के जेउ वितराग प्ररूपित शास्त्रोमा अने जेमना उपदेशमा केटवो भेद छे तो आ स्थितिमा ज्ञानीने अनेकान्त शासन पर वधु द्रव श्रद्धा जेसी बय छे केभके साया भक्षिनी किंमत तो बुढा भक्षिने जेवाधी न थाय छे साया भक्षिने जोगभावनार जोटो भक्षी न होय छे आ भाटे टीकाकारे तेने महाप्रतज्ञप पर्वतनु भेदन करनारा वज्रनी उपमा आपी छे दावानल जे रीते वनने भस्म करवामा डील करतो नथी, तेवी न रीते निरर्थक शास्त्रोनु अध्ययन पखु मोक्षामिलापिजोना तप अने समयरूप उद्यानने नाश करे छे जे प्रकार ग्रीष्मकालने प्रखर आतप सरोवरनु सोशखु करे छे तेवा प्रकारे मोक्षमार्गना उपदेशधी विहीन शास्त्र पखु मोक्ष अभिलाषिना प्रशमभावने शुष्क करवामा कसर राभतो नथी। मृगतृष्णा जेवा प्रकारे मृगोने

निरर्थकानि मोक्षार्थवर्जितानि, यद्वा-हेयोपादेयरूपाधानमिधायकानि वैशेषिकादीनि वात्स्यायनप्रणीतकामशास्त्राणि तु वर्जयेत्-परिहरेत् । अयं भाव-लौकिकशास्त्राणि तु-महाव्रतपर्वतमेदने वन्नोपमानि, तपःसयमकाननविनाशने दावानलसमानि, वे निरर्थक शास्त्र हैं । उनका अभ्यास नहीं करना चाहिये । क्यों कि वे अपने अभ्यासियोंके लिये मोक्षमार्ग के यथार्थ स्वरूप से वचित एवं अपरिचित हैं । अथवा-निरर्थक वे शास्त्र हैं कि जिनके अध्ययन करने से जीवोंको हेय और उपादेय रूप अर्थका भान न हो सके, जो इस प्रकार के मोक्ष अर्थ के अभिधायक नहीं हैं ऐसे वैशेषिक आदि-आदि द्वारा प्रणीत शास्त्र तथा वात्स्यायनद्वारा प्रणीत काम शास्त्रों का अध्ययन कभी भी मोक्षामिलापिओं को नहीं करना चाहिये । लौकिक-असर्वज्ञ-द्वारा उपदिष्ट लौकिक शास्त्र सत्सार बढ़ाने वाली ही शिक्षाओं से परिपूर्ण हैं । इनसे साधुओं को अपने महाव्रतों को पालन करनेकी शिक्षा यथार्थतया प्राप्त नहीं होती है । अतः उनका अध्ययन अर्थात्-अध्ययन करने वाला भद्रपरिणामी साधुजन अपने व्रतों से भी च्युत हो जाता है । इसलिये ऐसे शास्त्रों का अध्ययन महाव्रतरूप पर्वत को नष्ट करने के लिये घञ्जका काम करता है । सम्यग्दर्शन की पुष्टि जयतक जीव की नहीं होती है-तयतक उसे समस्त द्रव्यों से भिन्न आत्मद्रव्य में दृढ श्रद्धा जाग्रत नहीं होती है । इस प्रकार के

असर्वज्ञोपदिष्ट शास्त्र छे ते निरर्थक शास्त्र छे, तेना अभ्यास नहीं करवो न्नेछं अने केभके ते आपज्जा अभ्यासियो भाटे मोक्षभागना यथार्थ स्वरूपथी वचित अने अपरिचित छे अथवा-निरर्थक ते शास्त्र छे के जेनु अध्ययन करवाथी लुवने हेय अने उपादेयरूप अर्थनु भान यद्य शकतु नथी, के आ प्रकारना मोक्ष अर्थना अभिधायक नथी जेवा वैशेषिक आदि आदि द्वारा प्रणीत शास्त्र तथा वात्स्यायन द्वारा प्रणीत कामशास्त्रांनु अध्ययन कही पज्ज मोक्षना अभिलाषीथीके करवुं न न्नेछं अने, लौकिक-असर्वज्ञ-द्वारा उपदिष्ट लौकिक शास्त्र सत्सार वधारनारी शिक्षाओथी परिपूर्ण होय छे तेनाथी साधुज्जोने पोताना महाव्रतांनु पालन करवानी शिक्षा यथार्थ तथा प्राप्त यती नथी, अटवै जेनु अध्ययन करवावाणा भद्रपरिणामी साधुजन पोताना मतोथी पज्ज च्युत गनी बलय छे आ भाटे जेवा शास्त्रांनु अध्ययन महाव्रतरूप पर्वतने नष्ट करनार पज्जनु काम करे छे सम्यग्दर्शनी पुष्टि ज्यथा सुधी लुवने यती नथी, तथा सुधी तेने समस्त द्रव्योथी भिन्न आत्मद्रव्यमा दृढ श्रद्धा जाग्रत यती नथी, आ प्रकारनी श्रद्धा जाग्रत यथा

गुरु परुपवचनानि ग्रीष्मर्तुसहस्रकिरणकिरणावलीसमानि तथापि स्वल्पेनैव समयेन सजला जलद्रावलीसमुत्थितसमीरसहचारिनीरकणिका इव परिणमन्तीति गुरुणां परुपवचनानि अनन्तहितविधायकानि मोक्षपयमदर्शकानि सावधकर्म-निवर्तकानि अमृतमयानि आसेवनाग्रहण शिक्षारूपाणि भवन्तीति मन्यमानः सन् सदेव । उक्त च—

शास्त्र किस तरह से सीखे सो मतलाते हैं—‘अणुसासिओ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—शिष्यजन यदि कदाचित् गुरुओं द्वारा कठोर वचनों से भी (अणुसासिओ-अनुशासित) अनुशासित-शिक्षापाते हों तो भी उन्हें चाहिये कि वे (न कुप्पिज्जा-न कुप्पेत्) अपने शिक्षाप्रदाता गुरुजन पर कभी भी कुपित न हों । प्रत्युत ऐसी अवस्था में सत् और असत् के विवेक करने में (पण्डित-पण्डित) कुशलमति वह शिष्य (स्वति सेविज्ज-क्षान्ति सेवेत्) परुपभाषणको सहन करने रूप शांतिभावका ही सेधन करे । तथा (खुड्ढेहिं सह ससग्ग हास क्रीड च वज्जण-क्षुद्रे सह ससग्ग हास क्रीड च वर्जयेत्) क्षुद्रजनों-याल अथवा पार्ष्वस्थ अघसन्न-कुशील ससक्त-स्वेच्छाचारी साधुओं का सग वर्जन करें । तथा-हास्य प्रीडा का भी वर्जन करें ।

भावार्थ—यद्यपि गुरु महाराजके वचन उस समय शिष्य को ग्रीष्मर्तुके प्रखर सूर्यकी किरणों के समान मालूम पड़ते हैं परन्तु

शास्त्र कथं रीते शीघ्रवा ते भतावे छे—अणुसासिओ धत्यादि.

अन्वयार्थ—शिष्यजन के कदाचि गुरुओं द्वारा कठोर वचनोधी पक्ष

(अणुसासिओ-अनुशासित) अनुशासित-शिक्षा भेजवता होय तो पक्ष तेमझे विचारतुं भेधये के ते (न कुप्पिज्जा-न कुप्पेत्) पताना शिक्षा प्रदाता गुरुजन उपर कही पक्ष बोधन करे. परतुं ऐवी अवस्थाभा सत् अने असतने विवेक करवाभा (पण्डित-पण्डित) कुशलमति ते शिष्य (स्वति सेविज्ज-क्षान्ति सेवेत्) (कठोर) परुप भाषणने सहन करवाइय शांतिभावतुं न सेवन करे तथा (खुड्ढेहिं सह ससग्ग हासं किंढं च वज्जण-क्षुद्रे सह ससग्ग हास क्रीडं च वर्जयेत्) क्षुद्रजनों, १ भाण अमवा २ पार्ष्वस्थ, ३ अवसन्न, ४ कुशील, ५ ससक्त-स्वेच्छाचारि साधुओंने सग वर्जन करे तथा हास्य क्रिडानुं पक्ष वर्जन करे.

मतवण तेने ये छे के कदाचि गुरु महाराजतु वचन, ते समये शिष्यने उनाजाना प्रखर सूर्यना किरणो समान मालुम पडे छे परतु परिणामभा

સકલાપત્તિદાયકવિપયવિલાસપ્રવર્તકાનિદીપાધ્વચતુર્ગતિકસસારપરિભ્રમણકારણાનિ
સન્તિ, તસ્માદ્ વિપમવિપધરમુજઙ્ગવત્ તાનિ દૂરત પરિવર્જનીયાનિ ॥૮॥

અર્થયુક્તાનિ કય શિક્ષેત ? इत्याह—

मूलम्—अणुसोसिओ न कुपिज्जा, खतिं सेविज्जं पडिष् ।

खुँडुहिं सह ससर्ग, हास क्रीड' चं वज्जपे ॥ ९ ॥

छाया—

अनुशासितः न कुप्येत्, क्षान्तिं सेवेत पण्डितः ।

धुद्रैः सह ससर्ग, हास क्रीडा च वर्जयेत् ॥ ९ ॥

टीका—

‘अणुसासिओ’ इत्यादि—अनुशासित—गुरुभिः कठोरवचनैस्तर्जि-
तोऽपि न कुप्येत्=कोपं न कुर्यात् । किं तर्हि ? इत्याह—‘खतिं’ इत्यादि । पण्डितः=
सदसद्विवेकवान् सन् क्षान्तिं=परुपभाषणसहनरूपा सेवेत । अयं भावः—यद्यपि

जलका भ्रમ ઉત્પન્ન કરતી છે उसी तरह मिथ्या शास्त्र भी मोक्षामिला-
षिओंके लिये यथार्थस्वरूप का ज्ञान न कराकर केवल वस्तु के स्वरूप
में भ्रमोत्पादक होते हैं । समस्त आपत्ति—एवं विपतियों को देने वाले
विषय कषायोंकी ही इनसे केवल वृद्धि होती रहती है अत इनसे
संसार का अन्त न आकर जीवों के अनन्त संसार के मार्ग की ही पुष्टि
होती है और इसी वजह से यह जीव इस चतुर्गति स्वरूप संसार में
हतस्ततः परिभ्रमण किया करता है । इस लिये जिस प्रकार जहरीले
सर्पका दूर से ही परिहार कर दिया जाता है उसी प्रकार मोक्षामिला-
षियों को इन निरर्थक शास्त्रोंका परिहार कर देना चाहिये ॥ ८ ॥

જળને ભ્રમ ઉત્પન્ન કરે છે, તેવી રીતે મિથ્યાશાસ્ત્ર પણ મોક્ષ અભિલાષીઓ
માટે યથાર્થ સ્વરૂપનું જ્ઞાન ન કરાવતા કેવળ વસ્તુનો સ્વરૂપમાં ભ્રમેદ્વિપાકક
બને છે સમસ્ત આપત્તિ અને વિપત્તિને ડેવાવાળા વિષય કષાયોની જ તેનાથી
દૃઢ વૃદ્ધિ થતી રહે છે જેથી તે વડે સંસારનો અંત ન આવતા છતાં
અનંત સંસારના માર્ગમાં લઇ બંધ છે, અને એ કારણે આ છવ આ ચતુ
ર્ગતિરૂપ સંસારમાં અર્ધિ તર્ધિ ભટકતો રહે છે આ માટે જે પ્રકારે જહેરીલા
સાપનો દુસ્થી જ ત્યાગ કરવામાં આવે છે, તેવી રીતે મોક્ષના અભિલાષીઓએ
આવા નિરર્થક શાસ્ત્રનો ત્યાગ કરવો બેધબે. ॥૮॥

ननु बालपार्श्वस्थादिसर्गो सत्यपि साधो का हानिः ? दृश्यते हि वैदूर्यमणिः काचसहयोगेऽपि काचधर्मं नामोति, एवमात्मार्थिनो मुनेर्बालपार्श्वस्थादिसर्गो सत्यपि स्वाचारपरिवर्तनं न स्यात् ? अत्रोच्यते—जीवो हि ससर्गदोषानुभावतो बालपार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादादिभावनाभावितत्वात् द्रुतमेव तद्भावमाप्नोति यथा—निम्बोदकवासिताया भूमौ क्वचिदाश्रयक्षः समुत्पन्नः, पुनस्तत्राश्रयस्य निम्बस्य च द्वयोरपि मूले मिलिते, ततश्च ससर्गदोषादाश्रो निम्बत्वं प्राप्य

कठोर अक्षरों से युक्त गुरुजनों के वचनों से तिरस्कृत हुए शिष्यजन महत्त्व को प्राप्त करते हैं। जयतक मणी शाण पर नहीं चढ़ाया जाता है तयतक वह अपने उत्कर्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है और न राजाओं के मुकुटों में भी जड़ा जाता है। साधु यदि बाल एव पार्श्वस्थ आदि की सगति करे तो उसकी इससे क्या हानि है। क्यों कि देखा जाता है कि वैदूर्यमणि काचमणि के साथ रहते हुए भी उसके धर्मको अर्थात् काच के गुण को ग्रहण नहीं करता है इसी प्रकार पार्श्वस्थ आदि की सगति में रहा हुआ आत्मार्थी साधु भी अपने आचार विचार से परिचलित नहीं हो सकता ? प्रश्न ठीक है—परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि अद्रपरिणामी आत्मा निमित्ताधीन होता है। निमित्त मिलने पर निमित्त के अनुसार शीघ्र ही उसका परिणामन हो जाता है। जिस प्रकार जिस भूमि में नीमके वृक्ष लगे हुए होते हैं और उसी भूमिमें यदि आम का भी वृक्ष लगा दिया जावे तो वह नीमके मूल के

कठोर अक्षरों से युक्त गुरुजनों के वचनों से तिरस्कृत बने हुए शिष्यजन महत्त्वने पाते थे क्या मुझी मझीने सरास्य उपर यथावतामा आवते। नथी त्या मुझी ते पोताना उत्कर्षने प्राप्त करी शकते नथी। अने न तो अने राक्षसोंना मुगटोमा लडाय छे साधु अने भाव अने पार्श्वस्थ आदिनी सगति करे तो अथी अने कर्षण नुकसान यतु नथी। केभडे जेध शक्य छे के वैदूर्यमझी काय मझीनी साथे रहेवा छता पक्ष अने कायना शुष्य भ्रष्ट करतो नथी। आ रीते पार्श्वस्थ आदिनी सगतिमा रहेवा आत्मार्थी साधु पक्ष पोताना आचार विचारथी परिवर्धित यता नथी ? प्रश्न ठीक छे—परन्तु अने ध्यानमा राखण जेधअने के अद्रपरिणामी आत्मा निमित्त आधिने अने छे निमित्त भणवाथी निमित्ताना अनुसार लक्ष्मीथी तेतु परिवर्धन यथं वाय छे अने प्रकारे जे भूमिमा लीमठाना वृक्षो लागेवा होय छे अने अने जे भूमिमा जे आभातु वृक्ष वाववामा आवे तो लीमठाना भूज साथे तेना भूज भणवाथी

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिः—

स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।

अलब्धज्ञानोत्कपणा नृपाणा,

न जातु मौलौ मणयो वसन्ति ॥ १ ॥

च=પુનઃ સુત્રૈઃ=ચાલૈઃ, અથવા પાર્શ્વસ્થાવસન્નકુશીલસસક્તયયાચ્છન્દૈઃ
સહ સસર્ગી=સક્ત વર્જયેત્ ।

પરિણામ મેં વે જલ સે ભરે છુદ્ધ મેઘ કે સમય ઉત્પન્ન વાયુ કે સાથ જલ કણિકા કે સમાન હિતવિધાયક હોતે હૈં । જિમ પ્રકાર વર્ષાકાલ મેં જબ આકાશ મેં ઘટાળે ઘિર આતી હૈં તો ઉસસમય વાયુ કા ખી સચાર હોને લગતા હૈ—આંધી ઉઠને લગતી હૈ ઓર ઉસકે ઉઠતે હી વે ઘટાળે વરસને લગતી હૈં । ઇસસે આતપતપ્ત—ગરમીસે પીડિત આત્માઓં કો શીતલતા કા અનુભવ હોને લગતા હૈ । ઇસી પ્રકાર ઉસ સમય ગુરુજનોં કે વચન કઠોર પ્રતીત હોતે હૈં પરન્તુ ભવિષ્ય મેં વે શિષ્યોં કે લિયે આત્મકલ્યાણ કે સાધક હોને સે અનત શીતલતાપ્રદાન કરને વાલે હો જાતે હૈં । શિષ્યજન કો ગુરુ કે વચન અનતહિત વિધાયક, મોક્ષપથપ્રદર્શક, સાધકકર્મનિવર્તક અમૃતસ્વરૂપ જાનકર સહતે રહના ચાહિયે । ક્યોં કિ ઇનસે શિષ્યોંકો આસેવનશિક્ષા ષઠ ગ્રહણ શિક્ષા પ્રાપ્ત હોતી હૈ ત્રતોં કો ગ્રહણ કરના ષઠં ઉનકા સમ્યગ્રીતિ સે પાલન કરના યહ શિક્ષા ગુરુ કે વચનોંસે હી શિષ્યોં કો મિલતી હૈ । કહા ખી હૈ—ગીર્ભિર્ગુરુણાં૦ ઇત્યાદિ—

તે જળથી ભરેલા મેઘના સમયે ઉત્પન્ન થતા વાયુની સાથે જળકણિકાના જેવા હિત વિધાયક હોય છે જે પ્રકારે વર્ષાકાળમાં જ્યારે આકાશમાં ઘટાળો ઘેરાય છે એ સમયે વાયુનો પણ સચાર થાય છે અને આંધી ઉઠવા લાગે છે અને આંધીના આગમનથી તે ઘટાળો વરસવા લાગે છે એનાથી (તડ ઠાથી તથેલ) આતપતપ્ત આત્માઓને શીતળતાને અનુભવ થવા લાગે છે આ પ્રકારે એ સમયે ગુરુજનેનું વચન કઠોર જણાય છે પરન્તુ ભવિષ્યમાં તે શિષ્યોને માટે આત્મ કલ્યાણનું સાધક હોવાથી અનત શિતળતા આપનાર બને છે શિષ્યજને ગુરુનાં વચન અનત હિત વિધાયક, મોક્ષપથ પ્રદર્શક, સાધક કર્મ નિવર્તક અમૃત સ્વરૂપ બાણીને સહી લેવાં એમજ્યે કેમકે તેનાથી શિષ્યોને આસેવન શિક્ષા અને બ્રહ્મજ્ઞાનશિક્ષા પ્રાપ્ત થાય છે ત્રતોનું બ્રહ્મજ્ઞાન કરવું અને તેને સમ્યગ્રીતિથી પાલન કરવું આ શિક્ષા ગુરુના વચનોથી જ શિષ્યોને મળે છે કહ્યું પણ છે—ગીર્ભિર્ગુરુણાં ઇત્યાદિ—

तथा-हास=हसन, क्रीडा=कन्दुकादिकां च वर्जयेत्, ज्ञानावरणीयाद्यष्टविध-
कर्मवन्धजनकत्वादिति भावः ।

उक्तच—“जीवे ण भते ! हसमाणे वा उस्त्यमाणे वा कइ कम्मपगढीओ
वणइ ? । गोयमा ! सत्तविहवधए वा अट्टविहवधए वा ”

छाया-जीव खलु भदन्त ! हसन् वा उत्सुकन् वा कति कर्मप्रकृतीर्ष-
ध्नाति, गौतम ! सप्तविधवन्धको वा अष्टविधवन्धको वा इत्यादि । क्रीडाविषये-
ऽप्येवमेवागमोऽनुसन्नेय ॥ ९ ॥

के महत्त्व को भी विनष्ट कर देता है एव दशविध धर्मको ध्वस्त कर देता
है । इसलिये क्षुद्रों का तथा बालकों का ससर्ग सदा परिहार्य यतलाया
गया है । तथा बालआदिजनोंकी सगति से निंदा होती है एव पापकार्यों
में अनुमति देने की भी आदत पड़ जाती है । इसी तरह ज्ञानावरणीय
आदि अष्टविध कर्मोंके घघ के जनक होने से साधुजन को बालोंके साथ
हैसी करना, फीड़ा करना आदि अकर्तव्योंका भी परिहास कर देना
चाहिये । प्रभुका स्वयं भी ऐसा ही उपदेश है—“जीवे ण भते ! हसमाणे
उस्त्यमाणे वा कइ कम्मपगढीओ वधइ ? गोयमा ! सत्तविहवधए वा
अट्टविहवधए वा ” इत्यादि—प्रभु से गौतमने प्रश्न किया है भदन्त !
यह जीव जय हँसी करता है अथवा उत्सुक होता है तब कितने कर्मकी
प्रकृतियों का घघ करता है ? तब प्रभु ने उत्तर दिया कि हे गौतम ! इस
अवस्था में यह जीव सात प्रकार के या आठ प्रकारके कर्मोंका वध करता

सयमना महत्त्वना पणु नाश करी नाभे छे अथ ञ दशविध धर्मना
पणु ध्वस्त करी नाभे छे आ भाटे क्षुद्रोना तथा बालकोना ससर्ग सदा
परिहार्य भताववाभा आवेद छे तथा पाण आदि ञनोन्नी सगतिथी निहा
थाय छे तेमञ पापकार्योना अनुमति देवानी पणु आदत पडी नथ छे
आ रीते ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मना अधनोना ञनक होवाथी साधुञनोअ
हासी करवी, छिडा करवी आदि अकर्तव्योना परिहार करी देवे अथअ
प्रभुना स्वयं आवे ञ उपदेश छे “जिवेण भंते ! हसमाणे वा उस्त्यमाणे वा
कइ कम्मपगढीओ वधइ ? गोयमा ! सत्तविह वधए वा अट्टविह वधए वा०”
इत्यादि—प्रभुथी गौतमे प्रश्न कर्यो छे भदन्त ! आ एव न्यारे कुसे छे
त्यारे केटवा कर्मनी प्रकृतियोना अध करे छे ? प्रभुअ उत्तर आप्यो के छे
गौतम ! आ अवस्थाभा आ एव सात प्रकारना अथवा आठ प्रकारना कर्मोना

कटुकफलो भवति । अपर च बालपार्श्वस्थादिससर्गो लोके गर्हा जनयति, सर्व
 एवैते साधव एवभूता इति, तथा पापेऽनुमतिमुत्पादयति । अयं भावः—यथा—
 रजःपुञ्जो मणिगण मलिनयति, राहुश्चन्द्रमण्डलप्रभामपकर्षयति, लोभः सर्वगुण-
 गण विनाशयति, हेमन्तः कमलवनं प्रलीनयति, तथा—ध्रुवससर्गः शान्त्यादिगुणगणं
 मलिनयति, लब्ध्यादिप्रभावमपकर्षयति, तपःसयमजनितमहत्त्वं विनाशयति, दश-
 विधधर्मं प्रलीनयति, तस्मात् ध्रुवससर्गः परिवर्जनीय इति ।

साथ अपने मूल से मिला रहने पर कटुकफल देने लगता है । यह बात
 प्रसिद्ध है । इसलिये ससर्ग के दोष से जैसे आम्र निम्बभाव को प्राप्त
 होकर कटुवे फल देने लगता है उसी प्रकार आत्मार्थी साधुजन भी
 बाल पार्श्वस्थादि के सगति से स्वाचार भ्रष्ट हो जाते हैं । आम्र पर
 नीमका ही प्रभाव पड़ता है—नीम पर आम का नहीं—कारण कि बुरी
 वस्तु का ही अधिक प्रभाव पड़ा करता है और वही वस्तु दूसरों को
 जल्दी अपने अनुरूप परिणाम लेती है—यह एक स्वाभाविक बात है ।
 यह तो आँखोंदेखी बातें हैं कि घूलि का पुत्र मणिगणको भी मलिन
 बना देता है । राहुचन्द्रमण्डल की प्रभा का अपकर्षक होता है, लोभ
 समस्त सदगुणोंका लोपक होता है । हेमन्त ऋतु कमलवन को दग्ध कर
 देता है । इसी तरह यह भी मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि ध्रुव-
 जनों का ससर्ग भी साधुजनों के शांति आदि गुणगणों को मलिन
 बना देता है । उनके प्राप्त-प्रभाव को कम कर देता है । तप एवं सयम

कटुवा क्षण आपवा लागे છે આ વાત પ્રસિદ્ધ છે આ માટે સસર્ગના
 दोषથી जेम आपवा हीमडाना भावने पामी कटुवा क्षण आपनार बने છે
 એ જ રીતે આત્માર્થી સાધુજન પણ બાળ પાર્શ્વસ્થાદિના સગથી સ્વાચારભ્રષ્ટ
 બની બચ છે આખા ઉપર હીમડાને જ પ્રભાવ પડે છે, હીમડા ઉપર
 આખાને નહી કારણ કે ખરાબ વસ્તુને અધિક પ્રભાવ પડે છે અને વસ્તુ
 બીજાઓને જલ્દી પોતાના જેવી બનાવે છે આ એક સ્વાભાવિક વાત છે આ
 તે આખે એવેલી વાત છે કે ધુળને વટીળ મહીઓને પણ મહીન બનાવી
 કે છે રાહુ ચંદ્ર મઠળ તેજને ઢાકી કે છે લોભ સમસ્ત સદ્ગુણોને લોપનાર
 હોય છે હેમન્ત ઋતુ વનને બાળી નાખે છે આ રીતે એ માનવામા કોઈ
 અચુક્તિ નથી કે ધ્રુવજનોના સસર્ગ પણ સાધુજનોના શાન્તી આદિ ગુણોને
 મહીન બનાવી કે છે એના પ્રાપ્ત પ્રભાવને ઓછા કરે છે, તપ અને

क्रोध के आवेश से मृपाभाषण मत करो । (बहुय माय आलवे-यहुक माच आलपेत्) व्यर्थ आलजालरूप वचनोंका उच्चारण मत करो-अनर्थ प्रलाप मत करो-अधिक मत बोलो । (कालेण य अहिज्जित्ता-कालेन चाधीत्य) प्रथम पौरुपी में स्वाध्याय करके (तओ ण्गओ झाइज्ज-तत. एकाकी ध्यायेत्) द्वितीय पौरुपी में एकाकी होकर सूत्रार्थका चिन्तन करो । उपलक्षण से तृतीय पौरुपी में भिक्षाचर्या, एव चतुर्थी पौरुपी में भण्डोपकारण की प्रतिलेखना के बाद पुनः स्वाध्याय करो । यह बात स्वयं सूत्रकार छाईस वें अध्ययन में कहेंगे ।

भावार्थ—इस सूत्र द्वारा प्रकारान्तर से विनय धर्मका शिष्य-जनों को उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि हे शिष्यों यदि तुम इस विनय धर्मको पालन करने के अभिलाषी हो तो तुम्हारा यह कर्तव्य है कि तुम क्रोध के आवेशमें आकर कभी भी मृपाभाषण मत करो । क्यों कि इस प्रकार करनेसे विनयधर्मकी पालना नहीं होती है मृपाभाषण के निषेध से उसके साथ-साथ मान, माया, लोभ, एव हास्यादि कों का भी विनयवान को त्याग कर देना चाहिये । मृपाधादादि को त्याग करने का कारण यह है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाला

मृपाभाषण न करे (बहुय माय आलवे-यहुक माच आलपेत्) आणप पाण उप वचनेनो व्यर्थ उच्चारण न करे-अनर्थ प्रलाप न करे-वधारे न बोले (कालेण य अहिज्जित्ता-कालेन चाधीत्य) प्रथम पौरुपीमा स्वाध्याय करी (तओ ण्गओ झाइज्ज-तत एकाकी ध्यायेत्) पीअ पौरुपीमा एकाकी यधने सूत्रार्थनु चिन्तन करे उपलक्षणधी त्रीअ पौरुपीमा भिक्षा चर्या अने बोथा पौरुपीमा भण्डोपकरणनी प्रतिलेखना पछी इरी स्वाध्याय करे आ वात सूत्रकार पोते २६ भा अध्ययनमा कहेथे ।

भावार्थ—आ सूत्र द्वारा प्रकारान्तरधी विनय धर्मने शिष्यजनेने उपदेश आपता सूत्रकार कहे छे के छे शिष्यो ! जे तमे आ विनयधर्मनु पालन करवाना अभिलाषी हो तो तमाइ जे कर्तव्य छे के तमे क्रोधना आवेशमा आवी कही पण मृपाभाषण करे नही केमके आ प्रकारे करवाथी विनय धर्मनी पालना यती नथी । मृपाभाषणना निषेधधी जेनी साथे मान, माया, लोभ अने हास्यादिकेने पण विनयवाने त्याग करी देवे जेधजे मृपाधादादिकेने त्याग करवानु कारण आ छे के आ प्रकारनी प्रवृत्ति करवा

पुनरपि प्रकारान्तरेण विनयमुपदिशन्नाह—

मूळम्—मां यं चंडालिय कांसी, बहुय मां यं आलवे ।

कालेण ये अहिजिंत्ता, तंओ झाइजं एगंओ ॥ १० ॥

छाया—

मा च चण्डालीक कार्पीत्, बहुक मा च आलपेत् ।

कालेन चाधीत्य, ततो ध्यायत् एककः ॥ १० ॥

टीका—

‘मा य’ इत्यादि—च शब्द समुच्चयार्थकः । चण्डालीक—चण्डः=क्रोष-
स्तद्वशादलीक=मृपामापण मा कार्पीत्=मा कुर्यात्, इदमुपलक्षण मानमायालोम-
मपहास्यादीनाम् । उक्तच—

मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहि गरिहिओ ।

अविस्सासो य भूयाण, तम्हा मोस विक्ज्जए ॥ (दशवै ६ अ १३ गा)

छाया—

मृपावादस्तु लोके, सर्वसाधुभिर्गर्हितः ।

अविश्वासश्च भूतानां, तस्माद्मृपा विषर्जयेत् ॥

च=पुन बहुक-वहेव बहुकम्-अतिशयम् आलजालरूप मा आलपेत्=मा
वदेत् । बहुमापणे वद्वो दोषा भवन्ति । उक्त च—

हे । इसी तरह क्रीडाके विषय में भी समझ लेना चाहिये ॥ ९ ॥

दूसरे प्रकार से भी इसी विनयधर्मका सूत्रकार उपदेश करते
हैं—‘ माय ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—शिष्यजनों को संबोधित करते हुए सूत्रकार कहते
हैं कि हे शिष्यो ! तुम (चण्डालिय माम कासी—चण्डालीक मा चकार्पीत्

अथ अरे हे आ रीते हीडाओना विषयमा पञ्च समल्ल देवु ओधओ ॥ ६ ॥

पीडा प्रकारथी पञ्च आ विनय धर्मना सूत्रकार उपदेश अरे हे—
माय० धत्तादि ।

अन्वयार्थ—शिष्यजनों ने संबोधन करतां सूत्रकार अहे हे हे हे
शिष्यो ! तमे चण्डालिय माम कासी—चण्डालीक मा चकार्पीत्) बोधना आवेशधी

પાલને કા આદેશ હૈ । ઘટ્ટુભાપણ મૈ અથવા વિના વિચાર કિયે ભાપણ મૈ ન તો સાધુ કે મૂલગુણરૂપ ઇસ સમિતિ કા હી પાલન હોતા હૈ ઓર ન ગુપ્તિ કા હી । ઇસીલિયે ઘટ્ટુભાપણ મૈ “ ઘટ્ટુત ડોપ હૈ ” અન્યત્ર મી પેસા હી કહા હૈ—

ઘટ્ટુભાપણમુન્માદ સ્વાધ્યાયધ્યાનમજન કુરુતે ।

અહિતમનર્થકર તત્, મવતિ ચ પીઢાકર નિતરામ્ ॥ ૧ ॥

ઘટ્ટુભાપણાત્ ઢિતીય નશ્યતિ, તાવન્મહાવ્રત તસ્માત્ ।

સ્પાદેવ કર્મવઘસ્તસ્માદ્ ઢીર્ઘાધ્વસસાર. ॥ ૨ ॥

ઘટ્ટુત આલજાલરૂપ ઘકવાદ કરને વાલોંકે ઉન્માદ રોગ હો જાતા હૈ । સાધુ કે સ્વાધ્યાય ણ્વ ધ્યાન મૈ વિઘ્ન પઢતા હૈ—સ્વાધ્યાય ધ્યાન નષ્ટ હો જાતે હૈ । ઘટ્ટુભાપણ સે અનેક અનર્થ હોતે હૈ । જ્યાદા ઇસ વિષય મૈ ઓર ક્યા કહા જાય સાધુ કા ઇસ ઢાલત મૈ ઢિતીય સત્ય-મહાવ્રત મી ઝહિત હો જાતા હૈ અતઃ ઘટ્ટુભાપીકે કર્મ ઘટ્ટુત ઘન્ધતે હૈ ઓર વહ ઢીર્ઘ સસારી હોકર સસાર મૈ પરિભ્રમણ કરતા હૈ ।

“ કાલેણ ” ઇસ પદ સે સૂત્રકાર સાધુ કા ક્યા કર્તવ્ય હૈ યહ વાત દિમ્બલાતે હૈ । વે કહતે હૈ કિ સાધુ કો પ્રથમ પૌરુષી મૈ સ્વાધ્યાય

સમિતિ અને વચનશુપ્તિ પાળવાનો આદેશ છે બહુ ભાષણમા અથવા વિચાર કર્યા વગરના ભાષણમા ન તો સાધુના મુળશુષ્ક ૩૫ એ સમિતિનુ પાલન થાય છે અને ન શુપ્તિનુ પણ આ માટે બહુ ભાષણમા “ ઘણે ઢોપ છે ” બીબામા પણ તેમજ કહ્યું છે

ઘટ્ટુભાપણમુન્માદ સ્વાધ્યાયધ્યાનમજન કુરુતે ।

અહિતમનર્થકર તત્ મવતિ ચ પીઢાકરં નિતરામ્ ॥૧॥

ઘટ્ટુભાપણાત્ ઢિતીયં નશ્યતિ તાવન્મહાવ્રત તસ્માત્ ।

સ્પાદેવ કર્મવઘસ્તસ્માત્ ઢીર્ઘાધ્વસસાર ॥૨॥

આલ બલરૂપ વધુ બકવાહ કરવાવાળાને ઉન્માદ રોગ થઇ આવે છે સાધુના સ્વાધ્યાય અને ધ્યાનમા વિઘ્ન પડે છે—સ્વાધ્યાય ધ્યાન નષ્ટ થઇ બાય છે બહુ ભાષણથી અનેક અનર્થ થાય છે આ વિષયમા વધુ શુ કહેવાય સાધુનુ આ ઢાલતમા બીબુ સત્ય મહાવ્રત પણ ખડિત થઇ બાય છે એટલે બહુભાષીના કર્મ વધુ બધાય છે અને તે ઢીર્ઘ સસારી બની સસારમા પરિભ્રમણ કરે છે

“ કાલેણ ” આ પઢથી સૂત્રકાર સાધુનુ શુ કર્તવ્ય છે આ વાત બતાવે છે, તેઓ કહે છે કે સાધુને પ્રથમ પૌરુષીમા સ્વાધ્યાય કરવો બેઠએ પછી

વહુમાપણમુન્માદં, સ્વાધ્યાયધ્યાનમઙ્ગન કુરુતે ।

અદિતમનર્થકરં તદ્, ભવતિ ચ પીડાકરં નિતરામ્ ॥૧॥

વહુમાપણાદ્ દ્વિતીય, નશ્યતિ તાવન્મહાત્રત તસ્માત્ ।

સ્યાદેવ કર્મવન્ધ, -સ્તસ્માદ્ દીપાન્વસંસાર. ॥ ૨ ॥

તર્હિં કિં કુયાત્ ? इत्याह—‘कालेण’ इत्यादि । ‘कालेण’—इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया; काले=प्रथमपौरुष्यां तु, चकारस्त्वर्थवाचकः, अर्थात्=स्वाध्याय कृत्वा ततः=तदनु द्वितीयपौरुष्याम् एरुः.-एनाकी सन् भावतो रागादिरहित’, द्रव्यतो विविक्तश्चयनासनादिसस्य’ ध्यायेत्-सूत्रार्थं चिन्तयेत् । उपलक्षणमेतत् तृतीयचतुर्थ-पौरुष्योरपि, तथा च-तृतीयपौरुष्या भिक्षाचर्यं चतुर्थ्या पुन स्वाध्याय कुर्या-दित्यर्थः । वक्ष्यति पद्विंशोऽध्ययने-

સાધુ સાધુ નહીં હૈ વહ સાધ્વાનાસ હૈ । કહા મી હૈ કિ—

मुसावाओ उलोगम्मि सव्वसाहृहिं गरिहिओ ।

अविस्सासो य भूयाण तम्हा मोस विवज्जए । (दशवे० ६ अ १३ गाथा)

यह मृषावाद सर्व-साधुओं अर्थात् तीर्थंकर आदि महापुरुषों द्वारा गर्हित-निन्दित है, दूसरे मृषावादी पर जगत का कोई भी प्राणी विश्वास नहीं करता है, अर्थात् यह सब के लिये अविश्वास्य होता है । इसी प्रकार बहुत बोलने से भी विनय धर्म यथावत् पालित नहीं हो सकता है । क्यों कि इस अवस्था में ऐसे भी कई शब्द निकल जाते हैं जो व्यर्थ होते हैं एव सुनने वाले के लिये भी कष्टप्रद होते हैं । जो मन में आया सो बोल देना-यह प्रवृत्ति साधु मार्ग की नहीं है । इसमें तो पड़ी साधवानी रखनी पड़ती है । इसी लिये भाषासमिति एव वचनगुप्ति

વાળા સાધુ સાધુ નથી તે સાધ્વાનાસ છે કહ્યું પણ છે કે—

मुसावाओ उ लोगम्मि सव्वासाहृ हिं गरिहिओ ।

अविस्सासो य भूयाण तम्हा मास विवज्जए । दशवे० ६ अ १३ गाथा

આ મૂષાવાદ સર્વ સાધુઓ અર્થાત્ તીર્થંકર આદિ મહાપુરુષોદ્વારા અદિત છે ધીબા મૂષાવાદી ઉપર જગતના કોઈપણ પ્રાણી વિશ્વાસ કરતા નથી તે બધાને માટે અવિશ્વાસ હોય છે આ પ્રકારે બહુ બોલવાથી પણ વિનયધર્મ યથાવત્ પાલિત નથી થઈ શકતા. કેમકે એ અવસ્થામાં એવા પણ કોઈ શબ્દ નિકળી બાય છે, જે વ્યર્થ હોય છે, અને સામળવાવાળાને માટે પણ દુઃખદાયક હોય છે જે મનમાં આવ્યું તે બોલી નાખ્યું—આ કામ સાધુનું નથી. એણે તો ખૂબજ સાધવાની શખવી પડે છે આ માટે ભાષા

च-पुनः, अकृतम्=अनाचरित चण्डालीकादिः, नो कृतमिति=मृषाभाषण मया न कृतमित्येव भाषेत । अयं भावः-गुरुशुभ्रूपाकारिणोऽपि शिष्यस्य कथंचिदतीचार-समवे गुरुसनिधौ तदालोचना करणीया । आलोचना हि-मोक्षमार्गविघातकानाम-नन्तससारवर्धकाना माया-निदान-मिथ्यादर्शनशल्याना निष्कर्षणी, ज्ञानावरणीया-घटविधर्ममलापकर्षणी, शुद्धात्मस्वरूपदर्शनी, तच्चातच्चविमर्शनी, अव्यावाध-सुखवर्षिणीति ॥ ११ ॥

(आहूच-कदाचित्) यदि अकस्मात् (चडालिय कट्टु-चडालीक कृत्वा । क्रोध के आवेश से अकस्मात् झूठ बोला गया हो तो भी उसे (कयावि न निन्दुविज्ज-कदापि न निह्नुवीत) कभी भी किसी भी परिस्थिति में छिपाना नहीं चाहिये । (कड कडेत्ति मासेज्जा-कृत कृतमिति भाषेत) ऐसा नहीं कहना चाहिये कि मैंने क्रोधादिक के आवेश से असत्य भाषण नहीं किया है-किन्तु ऐसा ही कटना चाहिये कि मेरे द्वारा क्रोधादिक के आवेश से असत्यभाषण अवश्य-अवश्य हुआ है, (अकड नो कडेत्ति य-अकृत नो कृतमिति च) और जो क्रोधावेशसे असत्य नहीं बोला गया हो तो ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि मैंने असत्य भाषण किया है ।

भावार्थ-यदि क्रोधादिक कषायों के आवेश से सहसा असत्य भाषण हो भी जाय तो उसे यह नहीं कहना चाहिये कि मैंने असत्य भाषण नहीं किया है । जैसे रक्त से दूषित वस्त्र रक्तसे धोने

आहूच-कदाचित्-कदाच यवि-अकस्मात् चडालिय कट्टु-चडालीककृत्वा क्रोधना आवेशधी अकस्मात् एतुं बोली जवायु डोय तो पण तेने कयावि न निन्दु-विज्ज-कदापि न निह्नुवीत कटी पण डोय पण परिस्थितिमा छुपावतुं नही नेधये कड कडेत्ति मासेज्जा-कृत कृतमिति भाषेत येम न कडेवुं नेधये के मे क्रोधा डिकना आवेशमा असत्य-भाषण करेव नथी-परतुं येवुं कडेवुं नेधये के माराधी क्रोधना आवेशमा असत्य भाषण जइराजइर थयुं छे अकड नो कडे त्तिय-अकृत नो कृतमिति च अने ने क्रोधावेशना धीधे असत्य न बोलायु डोय तो येवुं पण न कडेवुं नेधये के मे असत्य भाषण कथुं छे

मतसम आने ये छे के ने क्रोधादिक कषायाना आवेशधी सहसा असत्य-भाषण थधं वय तो येवुं न कडेवुं नेधये के मे असत्य-भाषण नथी कथुं ने रीते बोलीधी परायेवुं दूषित वस्त्र बोलीधी धोवाधी शुद्ध थतु

“पद्म पोरिसि सञ्ज्ञाय धीय ज्ञाण क्षियायई ।

तइयाए भिक्खायरिय पुणो चउत्थीइ सञ्ज्ञाय ” इति ॥ सू० १० ॥

यदि कयञ्चिदसत्यमापण भवेत्तदा तन्न गोपयेदित्याह—‘आहच्च’ इत्यादि ।

मूलम्—आहच्च चंडालिय कट्टु, नं निन्हुविज्ज कयाइवि ।

कंड कंडेत्ति भासेज्जो, अकडे नो कंडेत्ति ये ॥११॥

छाया—

कदाचित् चण्डालीक कृत्वा, न निह्नुवीत कदाचिदपि ।

कृत कृतमिति मापेत, अकृतं नोकृतमिति च ॥ ११ ॥

टीका—

‘आहच्च’ इत्यादि—कदाचित्=अकस्माद् चण्डालीक=क्रोधादिवशाद्-
नृतमापणं कृत्वा कदाचिदपि—यदा परेण ज्ञात नोज्ञात वा तदापि न निह्नुवीत=न
गोपयेत्—अनृतमापणं मया न कृतमित्यपलापं न कुर्यात् । किं तर्हि ? इत्याह—कृत
चण्डालीकादि, कृतमिति=क्रोधादिवशादनृतमापणं मया कृतमित्येव मापेत, तथा

करना चाहिये । पश्चात् द्वितीय पौरुषी में रागादिक भावों से रहित
होकर सूत्रार्थका चिन्तन करना चाहिये । उपलक्षण से तृतीय ‘एष
चतुर्थ पौरुषी का ग्रहण हुआ है जिसका भाव इस प्रकार है कि तृतीय
पौरुषी में वह शिक्षाचर्या करे और चतुर्थ पौरुषी में पुन स्वाध्याय करे
इसी बात को इसी सूत्र के छाईस २६ वें अध्यायन में भगवानने कहा है—

पद्मं पोरिसि सञ्ज्ञाय धीय ज्ञाणं क्षियायई ।

तइयाएभिक्खा यरिय पुणो चउत्थीइ सञ्ज्ञाय ॥ इति ॥ सू० १० ॥

अगर किसी कारण वशा असत्य बोलाजाय तो उसे छिपावे
नहीं, इसी बातको कहते हैं—‘आहच्च’ इत्यादि ।

जीवन पौरुषीमा राजादिह भवोन्मी रहित अनी सूत्रार्थनु चितवन करवुं
जेधजे उपलक्षणी त्रीन अने बोधा पौरुषीनु ग्रहण यथेव छे जेने भाव
आ प्रकारे छे के त्रीन पौरुषीमा ते भिक्षा चर्या करे अने बोधा पौरुषीमां
हरी स्वाध्याय करे आ बात आन सूत्रना २६मा अध्यायनमां भगवाने कही छे—

पद्मं पोरिसि सञ्ज्ञाय धीयं ज्ञाणं क्षियायई ।

तइयाए भिक्खायरिय पुणो चउत्थीय सञ्ज्ञाय इति ॥ सू० १० ॥

आ बातने आ सूत्रना २६ मा अध्यायनमां भगवाने कही छे

जे केछे कश्चिदसत्य बोलाय तो जेने छुपाववुं नहिं जेन
बात ने कहे छे आहच्च० इत्यादि ।

वाले अष्टविध कर्मोंका इस आलोचना के प्रभाव से विनाश होता है आत्मिक शुद्ध स्वरूप के दर्शन करानेवाली यह आलोचना है और तत्त्व एव अतत्त्व के विवेक को जाग्रत करती हुई अन्यायाध सुख को प्रदान करनेवाली यही आलोचना है ॥ ११ ॥

शिष्यको सभी काम गुरुमहाराजके अभिप्रायसे ही करना चाहिये सो दिखलाते हैं—‘ मा गलियस्सेव०’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(गलियस्सेव कस-गलित्ताश्व इव कशा) जिस प्रकार अविनीत घोड़ा बारबार कशा (चावुक) के प्रहार की इच्छा करता है, उसी प्रकार (पुणो पुणो मा वयणमिच्छे-पुन पुन मा वचन इच्छेत्) पुन पुन प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप गुरुके आज्ञा की शिष्य को वाछ नहीं करनी चाहिये, अर्थात्-उपदिष्ट अर्थको ही बारबार कहलवाने के लिये गुरु महाराज को कष्ट नहीं देना चाहिये । किन्तु (आइन्ने कस वदद्दु-आकीर्ण कशाम् इव दृष्ट्वा) जिस प्रकार आकीर्ण अर्थात् जाति मान् सुशिक्षित विनीत घोड़ा चावुक को देखकर अपनी अधिनीतता का परिहार कर देता है, उसी तरह विनीत शिष्य भी (पावग परिचञ्चण-पापक प्रतिवर्जयेत्) गुरु के इंगित आकार को जानकर पापमय अनुष्ठान का परित्याग करे ।

इस श्लोकका भावार्थ शत्रुमर्दन राजा के दृष्टान्त से कहते हैं— वह इस प्रकार है—

स्वप्नुं दर्शनं कशावनात् आ आलोचना छे अने तत्त्व तेमज्ज अतत्त्वना विवेकने जाग्रत करीने अन्यायाध सुख आपनारी आ ज आलोचना छे ॥११॥

शिष्ये अधा काम गुरुमहाराजना अभिप्रायशी ज करवा जेधये, ते भताववाभा आवे छे ‘ मा गलियस्सेव०’ इत्यादि.

गलियस्सेव कस-गलित्ताश्व इव कशा जे प्रकारे घोड़ा बार बार चावुकना प्रहारनी इच्छा करे छे जे प्रकारे पुणो पुणो मा वयणमिच्छे-पुन पुन मा वचन इच्छेत् करी करी प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप गुरुनी आज्ञानी शिष्ये इच्छा न करवी जेधये-अर्थात् उपदिष्ट अर्थने बार बार कहेवडाववा माटे गुरुमहाराजने कष्ट न आपवु जेधये. परतु आइन्ने कस वदद्दु-आकीर्ण कशाम् इव दृष्ट्वा जे प्रकारे आकीर्ण अर्थात् जातिमान केणवायेल घोड़ा चावुकने जेध पोतानी अविनीत ताने त्याग करे छे जेवरीते विनीत शिष्य पण पावग परिचञ्चण-पापक प्रतिवर्जयेत् गुरुना इंगित-आकारने जेध पापमय अनुष्ठानने परित्याग करे.

आ श्लोकने भावार्थ शत्रुमर्दना दृष्टान्तशी समभववाभा आवे छे, जे आ प्रकारे छे

શુરોરભિપ્રાયેણૈવ સર્વ કર્તવ્યમિત્યાહ-

મૂલ્મ-માં ગલિયંસ્સેવ કંસ વંચનામિચ્છે પુળો પુળો ।

કંસ વં દેદ્દુમાહન્ને', પાવેગ પરિવેર્જજણ ॥૧॥

છાયા—

મા ગલિતાશ્ચ ઇવ કશા, વચનમ્ ઇચ્છેત્ પુન. પુનઃ ।

કશામ્ ઇવ દ્વદ્વા આફીર્ણા, પાપક પરિવર્જયેત્ ॥ ૧૨ ॥

ટીકા—

‘મા ગલિયસ્સેવ’ इत्यादि—इव=यथा, गलिताश्वः=अविनीततुरङ्गः, पुन पुनः कशां=कशामहारं वाञ्छति, तथा पुन पुन वचन=प्रवृत्तिनिवृत्तिपरं शुरोरुपदेशं मा इच्छेत् । उपदिष्टार्थमेव पुन पुनर्वक्तुं शुरवे परिश्रमो न देय इति भावः ।

પર શુદ્ધ નહીં હોતા, उसी प्रकार झूठ की शुद्धि पुन झूठ धोलने से नहीं होती है यह विश्वास रखना चाहिये । फलितार्थ यह है कि वास्तविक स्थिति को साधु के लिये छुपाना नहीं चाहिये, और अवास्तविक स्थिति को कल्पना के तूलिका से सजाकर प्रकट नहीं करना चाहिये । शिष्य चाहे गुरुजन की शुश्रूषा करनेवाला भी क्यों न हो तो भी उसे कथंचित् अतीशर लगने पर गुरु के समीप आलोचना अवश्य करनी चाहिये । कारण कि आलोचना से आत्मा की शुद्धि होती है एव मोक्ष-मार्ग के विघातक तथा अनंत संसार के वर्धक ऐसे माया, मिथ्या एवं-निदान इन तीन शक्तियों का अभाव होता है । आत्मा को मलिन करने-

નથી એજ રીતે ભુઠની શુદ્ધિ કરી ભુઠ બોલવાથી થતી નથી, આ વિશ્વાસ રાખવો બેધએ. આનો અર્થ એ છે કે વાસ્તવિક સ્થિતિને સાધુએ ઠદી પણ છુપાવવી ન બેધએ, અને અવાસ્તવિક સ્થિતિને કલ્પનાથી સજાવીને પ્રકટ ન કરવી બેધએ. શિષ્ય ગુરુજનની શુશ્રૂષા કરવાવાળો પણ કેમ ન હોય તો પણ તેને કથચિત્ અતીશર લાગવાથી ગુરૂની પાસે તેણે આલોચના જરૂર કરવી બેધએ. કારણ કે આલોચનાથી આત્માની શુદ્ધિ થાય છે અને મોક્ષ માર્ગના વિઘાતક તથા અનંત સાગરને વધારનાર એવા માયા, મિથ્યા અને નિદાન આ ત્રણ શક્ત્યોનો અભાવ હોય છે આત્માને મલિન કરવાવાળા અલ્પ વિદ્ય કર્મોનો આ આલોચનાના પ્રભાવથી વિનાશ થાય છે આત્મિક શુદ્ધ

स च तुरङ्गम कशया पुन पुनस्ताडितोऽपि नेच्छति शत्रुमभिगन्तुम् । अत्रान्तरे शत्रु-
सैनिका अस्य सन्तानपि सैनिकान् अनाथानिव अशरणानिव मन्वाना अचिरेणैव
विजित्य निजवाद्य वादयामासुः, शत्रुमर्दन स्ववाहनेन गलिताश्वेन पराजित. श्री
इतो यावत्प्रायितु वाञ्छति, ताम् “गृहता गृहताम्”—इति वदन्त’ शत्रुसैनिकास्त
निग्रहीतु पश्चाद्वावमाना’ शत्रुमर्दन निगृह्य लाहपिञ्जरे स्थापितवन्त । एव गलिता-
श्वसदृश. शिष्यो महतेऽनर्थाय भवति । किं तर्हि कृयादित्याह—कशा—‘चावूक’
इति भाषाप्रसिद्धा दृष्ट्वा, अकीर्ण’=जात्याश्व’, विनीताश्व इव शिष्यो गुरोरिक्लि-
तमाकार दृष्ट्वा पापकृ=पापानुष्ठानम्—अविनीततामित्यर्थः, परिमर्जयेत्=सर्वथा परि-
हरत् । अयं भाव—यथा जात्याश्व’ कशा दृष्ट्वाश्वारूढस्याशयं विज्ञाय कशाताडन

घोड़े को चावुकसे ताड़ना करता था वह घोड़ा त्यों त्यों पीछे हटता
जाता था और शत्रु के सन्मुख जाने में अच्छकचाता था। इसके बाद शत्रु
सैनिकों ने इस राजा के सैनिकोंको अशरण एवं अनाथ जैसा मानकर
बहुत जल्दी पराजित कर दिया। और अपनी विजयकी बुद्धु भी बजा दी।
शत्रुमर्दन नरेश ज्यों ही अपने को उस अड़ियल घोड़े की बजर से
पराजित समझकर एवं श्रीविहीन होकर युद्धभूमि से पलायन करने को
तैयार हुआ कि इतने में ही “ इसको पकड़ लो पकड़ लो ” इस प्रकार
बोलते हुए शत्रुसैनिकों ने उसका पीछा किया और उसको पकड़कर
उन्होंने लौहनिर्मित एक पीजर के अन्दर बन्द कर दिया।

इस कथा से यह साराश निकलता है कि गलिताश्व—अड़ियल
घोड़े की तरह अविनीत शिष्य भी महान् अनर्थकारी होता है। तथा
जिस प्रकार विनीत घोड़ा अपने स्वामी के अभिप्रायानुसार चलता

था तेने इतकारवानुं शत्रुं कथुं परतु गमे तेदला व्यायुक्त पडवा छता पधु
घोडा पाछणज डकतो गयो, शत्रुनी सामे जवामा ते अचकचतो हुतो आ
परिस्थितिनो बाब लध शत्रु सेनाये शत्रुमर्दन राजना सैन्यमा डाडाकार वर्तावी
दीधो अने शत्रुओये छत भणवी पोताना विजयना बाब वगाउया शत्रुमर्दन
राबओ, आ पोताना अडीयल घोडाने कारणे पराजित धवु पडयु छे ते बाबो
सुद्धभूमिधी पलायन करवानी तैयारी करी अेटवामा “आने पकडी ल्यो, पकडी
ल्यो ” आ प्रकारे बोलता शत्रुसैनिको तेनी पासे आवी पडोम्या अने तेने
पकडी बोडाना मज्जुत सणीयावाणा पाजराभा पुरी दीधो

आ वार्ताधी अे साराश निकले छे के गलिताश्व—अड़ियल घोडानी
भाइक अविनीत शिष्य पधु महान् अनर्थकारी होय छे अे प्रकारे विनीत

अत्र शत्रुमर्दनदृष्टान्तः, तथाहि—

आसीदद्देशे चम्पापुरी नाम नगरी, तत्र नरवीरः समरधीरः शूरः शत्रु-
मर्दनो नाम नृपतिर्यभूव । स चेकदा युद्धमसक्तेन तुरङ्गमारुह्य हस्त्यश्चरथपदातिभिः
परिवृतः सग्रामभूमौ गतः । तत्प्रतिपक्षनृपसैनिका दुर्बला अपि ससैन्यं शत्रुमर्दनं
सस्त्रास्त्रवर्षणैः पीडयन्ति । अयं शत्रुमर्दनः सोत्साहः शत्रुसैनिकान् मर्दयितुं स्ववाहन
वैरिसनाया प्रवेशयन् प्रेरयति स्म । तेन तुरङ्गमेन विलोमत पथात् गमनं समार-
ब्धम् । ततः शत्रुमर्दनः कशया स्ववाहनं ताडयन् पुनः पुनरग्रे धावयितुमिच्छति,

अगदेश में चम्पापुरी नामकी एक नगरी थी । उसका शासक
शत्रुमर्दन नामका एक राजा था । वह मनुष्यों में श्रेष्ठ, युद्धकला में
निपुण एवं शूरों में वीर था । एक दिन की बात है कि वह नरेश युद्ध
के प्रसंग से घोड़े पर सवार होकर हस्ति, अश्व, रथ एवं पदातियों से
परिवृत होकर सग्राम भूमि में गया । उसके प्रतिपक्षभूत राजा की
सेनाने जो कि एक प्रकार से दुर्बल थी तो भी ससैन्य उस शत्रुमर्दन
नरेश को शस्त्र एवं अस्त्रों के प्रहारों से जर्जरित कर दिया । शत्रुमर्दन
ने जब इस प्रकार की अपनी स्थिति देखी तो उसने उत्साहित होकर
शत्रु के सैनिकों को मर्दन करने के लिये अपने घोड़े को शत्रुकी सेनाके
भीतर प्रविष्ट होने के लिये आगे प्रेरित किया । परन्तु वह घोड़ा उस
सेना के भीतर न घुसकर उल्टा पीछे ही हटने लगा । तब शत्रुमर्दन ने
कोड़े से बारंबार अपने उस घोड़े की ताड़ना करना प्रारंभ की जिससे
कि उस घोड़े द्वारा वह शत्रुसेना हट सके । परन्तु ज्यों-ज्यों नरेश उस

अगदेशमा चम्पापुरी नामनी एक नगरी હતી. ત્યાં શત્રુમર્દન નામના
રાજા રાજ્ય કરતા હતા તે મનુષ્યમા શ્રેષ્ઠ, યુદ્ધકળામા નિપુણ અને શૂરવીર
હતા. એક દિવસની વાત છે કે રાજા શત્રુમર્દન યુદ્ધના પ્રસંગે ઘોડા ઉપર
સ્વાર થઈ હાથી, ઘોડા, રથ અને સૈનિકોના સમુદાય સાથે સગ્રામ ભૂમિ
ઉપર ગયા. એના પ્રતિપક્ષી રાજાની સેના એક પ્રકારથી ઘણી ઓછી હતી,
છતાં પણ શત્રુમર્દન રાજાના સૈન્યને તથા ખુદ શત્રુમર્દનને પણ શસ્ત્ર અસ્ત્રના
પ્રહારોથી વિહ્વળ બનાવી દીધા. શત્રુમર્દને પોતાની આ પ્રકારની સ્થિતિ
બોધ ત્યારે એક સાચા વીર પુરુષને શોભે એ રીતે શત્રુસૈન્યને શિક્ષસ્ત
આપવા અને પોતાના સૈન્યનો નિકળતો કમ્પરબાણ બચાવવા પોતાના ઘોડાને
શત્રુસૈન્યની વચ્ચેવચ્ચે લઈ જવા પ્રયત્નશીલ બન્યા, પરંતુ તે ઘોડા શત્રુ
સેનાની વચ્ચે ન જતા પાછો હટવા લાગ્યો. ત્યારે શત્રુમર્દને કારડાથી વાર

भो ! मन्त्रिण ! मिथुना करणीय, प्रवलवैरिणश्चतुर्दिगी सेना चतुर्षु खलु भागेषु
 नगरी-मावेष्ट्य तिष्ठति। मन्त्रिण ऊचुः-प्रभो ! अलमनया चिन्तया, वयमल्पसख्यका
 अपि भवदीयतेजः समुपलभ्य शात्रवल्चिजये प्रस्वरतरशक्तिशालिनो भवामः ।
 भवत्यतापादेव सर्वे रिपुवल प्रणष्ट भविष्यति । देव ! जात्याश्वमारुह्य भवान्
 सन्नद्धः सन्नग्रतः शत्रुममिसरतु, वयमपि सन्नद्धाः सन्तो भवन्तमनुगच्छामः । एव
 विचार्य स्वकीयसेनापरिवृतः स मणिनाथो योद्धुं निःसृतः । अल्पवल मणिनाथ-
 मवलोक्य शत्रुसैनिका केचिदसिचर्महस्ताः केचिद्गल्लहस्ताः केचिदनुर्षाणधराः
 साथ विचार किया, बोला-हे मंत्री महाशयो ! कहो अथ क्या करना
 चाहिये । देखो, प्रवलशत्रुकी चतरगिणी सेना नगरी को चारों ओर से
 घेर कर पड़ी हुई है । सुनकर मंत्रियोंने कहा प्रभो ! चिन्ता मत करो ।
 हम मय लोग आपके प्रवल तेज से उधीस होकर शत्रुसेना को पराजय
 करने में प्रवर शक्तिशाली होंगे । आपके प्रताप से ही समस्त रिपुदल
 प्रणष्ट होगा । स्वामिन् ! सजघज कर आप जात्याश्व पर सवार होकर
 पहिले से ही शत्रु के सन्मुख जाइये । हम लोग भी सन्नद्ध होकर आपके
 पीछे-पीछे आते हैं । इस प्रकार विचार कर मणिनाथ नरेश सेना से
 परिवृत होकर युद्ध करने के लिये निकल पडे । अल्पवलवाले नरेश को
 देखकर शत्रु के सैनिकोंने उसे घेर लिया । सैनिकों में किन्हीं-किन्हीं
 के हाथों में तलवारें थीं । किन्हीं-किन्हीं के हाथों में भाले थे । किन्हीं-
 किन्हीं के हाथों में धनुष एव बाण थे । किन्हीं-किन्हीं के हाथों में

आ बाण मंत्रीआ साथे विचार किये, मंत्रीआने उदेशीने तेहे कहुं-हे मन्त्रि-
 महाशयो ! कहे उवे शु करवुं जेधये प्रणण शत्रुनी चतुरगिषी सेना
 नगरने आरे तरक्षी घेरे धावीने पडेल छे आ प्रकारनुं राबनुं कडेवुं आबणी
 मत्रियोआ कहुं, प्रभो ! चिन्ता न करे। अमे अधा आपना प्रणण तेजधी
 उदीप्त यध शत्रु सेनाने पराजय करवामा प्रपर शक्तिशाली यधशुं आपना
 प्रतापधी शत्रुनुं सैन्य डारी नथे। स्वामिन ! आप तैबार यध आत्याश्व पर
 सवार यध पहिलेन शत्रुआनी सन्मुख पडोआ, अमे पखु तैबार यध
 आपनी पाछण पाछण आवीआ छीये आ प्रकारे विचार करी मणिनाथ राब
 सेनाधी परिवृत यध युद्ध करवा भाटे निकणी पडथा थोडा भणवाणा राबने
 जेध शत्रुसेनाआ तेभने घेरी लीधा। सैनिकोआ कोध कोधना डायभा तरवार
 डती, कोधना डायभा बाबा डता कोधनी पासे धनुष्य बाण डता कोधना

त्रिनैव तदभिप्रायानुसारं चेष्टते, तथा सुशिष्योऽपि गुरोरिद्विधाकारं दृष्ट्वा तदाश्रयं विश्रय "गुरोर्वचनायासो माभूदिति"—वचनेनापेरित एव तदभिप्रायानुसारं कुर्यात् ।

अथ मणिनाथदृष्टान्तः—तथाहि—

आसीदजितनाथजिनशासने वङ्गदेशे रङ्गपुर नाम नगरम् । तत्र प्रजापालनतत्परः स्वजनपदहितकरः प्रशान्तमानसः सुजनहसमानसः समाश्रितनीति-सरणिः सकलसद्गुणसरोजतरणिर्मणिनाथनामको वृषति । स चैकदा दुरात्मभिः प्रवलरिपुभिः परितो वेष्टिता स्वनगरीमालोक्य मन्त्रिभिः सह विचारितवान्—भो है उसी प्रकार सुशिष्य भी गुरु के इंगित आकार को समझ कर उनकी आज्ञा के अनुसार चलता रहता है ।

इस विषय में मणिनाथराजा का दृष्टान्त है और वह इस प्रकार है—

द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ स्वामी के समय में बंगाल देश के अन्दर रंगपुर नामका एक नगर था । यहाँ के नरेश का नाम मणिनाथ था । यह प्रजापालन करने में सदा तत्पर रहा करता था । इससे देश भर में आनन्द मंगल छा रहा था । राज्यकार्य से इसका मन कभी भी कायर नहीं बनता था । सुजनरूपी हस्तों को रमने के लिये यह मानसरोवर जैसा माना जाता था । राजनीति के पालन करने में यह सर्वदा वृत्तविवेक रहा करता था । सद्गुणरूपी कमलों को विकसित करने के लिये यह सूर्य जैसा था । एक दिन की बात है कि इसकी नगरी को इसके प्रबल शत्रु ने आकर घेर लिया । राजाने यह देखकर मन्त्रियोंके

बोडा पोताना भावीकना कहेवा मुज्जब यावे छे, जे जे रीते सुशिष्य पबु गुरुना ईंगित आकारने समझे जेभनी आशा प्रभावे यावतो रहे छे

आ अगे मन्त्रिनाथ राजनु दृष्टत छे जे आ प्रकारनु छे

जिन तीर्थंकर श्री अजितनाथ स्वामीना समयमा बंगाल देशमा रंगपुर नामना जेक नगरमा मन्त्रिनाथ नामना राजा राज्य करता हता. जे प्रजापालन करवाभा सदा तत्पर रहेनार हता. आशी देशभरमा आनन्द मंगल परताई रहेछ हतो. राज्यकार्यमा जेनु मन कही पबु कायर बननु नही मुजनरूपी हस्ताने रमवा भाटे ते मानसरोवर जेवा गबुता हता. राजनीतिनु पालन करवाभा ते सर्वदा वृत्तविवेक रहेता हता. सद्गुणरूपी कमलाने विकसित करवा भाटे ते सूर्य जेवा हता. जेक द्विपसनी बात छे जे जेना नगरने जेना प्रबल शत्रुजे, जैन्यसाथे आवी घेरी हीनु राजाजे

टीका—

‘अणासवा’ इत्यादि—अनाश्रवाः=अनाशाकारिणः, उच्छृङ्खलत्वात्, स्थूलवचसः=अविचारितमापिणः, अभिमानीत्वात्, कुशीला=कृत्सिताचारवन्तः दुष्टस्वभावा उभयलोकाभयरहितत्वादित्यर्थः । शिष्या. मृदुमपि=कोमलहृदयमपि गुरु, चण्ड=सरोप प्रकुर्वन्ति । पूर्वार्धेनाविनीतशिष्याचरणं प्रदर्शितम् ।

का आराधन करता हुआ स्व और पर का कल्याण करनेवाला होता है ॥ १२ ॥

फिर भी सूत्रकार अविनीत एव घिनीत के स्वरूप को कहते हैं— ‘अणासवा०’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(अणासवा-अनाश्रवा.) अविनीत होने से आज्ञानुसार नहीं चलने वाले (थूलवया-स्थूलवचस) अभिमानी होने से बिना विचारें बोलनेवाले, (कुशीला-कृशीला) हृलोक एव परलोक के भय से रहित होने के कारण दुष्ट स्वभाववाले ऐसे (सीसा-शिष्या) शिष्य (मिउंपि-मृदुमपि) कोमल हृदयवाले गुरु को भी (चण्ड पकरति-चण्ड प्रकुर्वन्ति) कोपयुक्त करते हैं । एवं जो शिष्य (चित्ताणुया-चित्तानुगा) आचार्य महाराजकी आराधना तप एवं संयम की हेतु होती है ऐसा जानकर आचार्य महाराज की मनोवृत्तिका अनुसरण करनेवाले होते हैं अर्थात् उनके आज्ञा के आराधक होते हैं, तथा (दक्षस्रोववेया-दाक्ष्योपपेताः) गुरु महाराज की सुख शाता के अभिलाषी होने से

इरकावी आ प्रकारे सुशिष्य पक्षे गुरु महाराजनी आज्ञानु आराधन करता पीतानु अने भीजन कल्याण करवावाणा होय छे ॥१२॥

सूत्रकार वधुभा अविनीत अने विनीतना स्वरूपने कहे छे अणासवा० इत्यादि अन्वयार्थ—अणासवा-अनाश्रवा अविनीत जनवाथी आज्ञानुसार नयाव वावाणा थूलवया-थूलवचस अभिमानी होवाथी वगर विद्यायुं मोलवावाणा कुशीला-कृशीला आलोड अने परलोडना भयथी रहित होवाना कारणे दुष्ट स्वभाववाणा अेवा शिष्य होमण हृदयवाणा गुरुने पक्षे कोप युक्त करे छे अथवा ने सीसा-शिष्याः शिष्य मिउंपि-मृदुमपि । होमण हृदयवाणा गुरुने पक्षे चण्ड पकरति-चण्ड प्रकुर्वन्ति कोप युक्त करे छे आचार्य महाराजनी आरा धना तप अने संयमना हेतुथी होय छे अेवुं ज्यो आचार्य महाराजनी मनोवृत्तिनुं अनुसरण करवावाणा होय छे, अर्थात् अेमनी आज्ञाना आराधक होय छे तथा दक्षस्रोववेया-दाक्ष्योपपेता गुरु महाराजनी सुखशाताना अभिलाषी

चिद् यष्टिधारिणः केचित्तोमरकरा अनेकानेकशस्त्रधारिणः परितो मणिनाथ
 धितवन्तः । एव विविधसकटेषु समुपस्थितेषु स मणिनाथस्तेन जात्याश्चवाहनेन
 ध्रुसैनिकरचितविधिव्यूहेषु मृगेषु सिंह इव निःशङ्क प्रविश्य सर्पानुचरैः सहाय्यतो
 गवमानः शत्रुसैनिकेषु विजय प्राप्तवान् । एव मृशिप्यः स्वगुरुमारापयन् स्वपर-
 ल्याणाय भवति ॥ १२ ॥

पुनरविनीतविनीतयोराचरणमाह—

मूलम्—अणासंवा थूलवया कुसीला, मिंडापि चंड पकरति सींसा ।

चित्ताणुया लंहु दकंखोववेया, पसार्यंते ते हुं दुरासंयपि ॥१३॥

छाया—

अनाभवाः स्थूलवचसः कुशीलाः, मृदुमपि चण्ड प्रकुर्वन्ति शिष्या ।

चित्तानुगा लघु दास्योपपेता , प्रसादयन्ति ते हु दुराशयमपि ॥ १३ ॥

लकडियां थीं । किन्हीं-किन्हीं के हाथों में तोमरजाति के शस्त्र थे । इस प्रकार अस्त्र एव शस्त्रों से सुसज्जित उस शत्रुसेना ने चारों ओर से मुझे घेर लिया है, यह देखकर नरेश ने अपने उस घोड़ेको उस सेना के रचित विविध प्रकार के व्यूह में आगे बढ़ाया । जिस प्रकार मृगों के टोले में निःशक होकर सिंह घुस जाता है उसी प्रकार मणिनाथ नरेश भी उस घोड़े पर बैठे हुए उस शत्रु की सेना में घुस पड़े और अपनी एवं अपने अनुचरों की उनसे रक्षा करते हुए आगे बढ़ते गये । शत्रु सेना भी इनसे ज्यों-ज्यों ये आगे बढ़ते जाते थे परास्त होती जाती थी । इस प्रकार शत्रुसेना को पराजित कर मणिनाथ ने अपनी विजय पताका बहा फहराई । इसी प्रकार सुशिष्य भी गुरु महाराज की आज्ञा

हाथमा हाकडीयो हती, काधना हाथमा तोमर नामना शस्त्र हता आ प्रकारना शस्त्र-अस्त्रधी सुसज्जन्नेवी शत्रुसेनाये भने घेरी वीधिव छे, जेवुं जेध मन्थिनाथ राज्जे पोताना बोडाने जे सेनाये रथेला व्यूहनी वन्थे आगण वधार्यो जे रीते मृगोना टोणाभा नि शक वनी सिंह भूमतो होय, आ रीते शत्रुसेनानी वन्थे घुशी जेध पोतानुं भने पोताना सैनिकानुं रक्षक करता करता आगण वधवा भाउयु आधी शत्रुसेनामा बगालु पउयु आ प्रकारे शत्रुसेनाने पराजित करी राज्ज मन्थिनाथे पोतानी विजयपताका

श्रण्डनामकं शिष्यो मिलितः । अथैरुदा भिक्षाचर्या गच्छतस्तस्याचार्यस्य मार्गेऽ-
कस्मादज्ञानतो मृतमण्डूकछेत्रोपरि चरणतल सलग्नम् । तदनुगतोऽसौ चण्डस्तदानीं-
गुरुमब्रवीत्-अहह ! भवता चरणाघातेन मण्डूको मारितः, तदा गुरुः शिष्यवचन श्रुत्वा
दुःशीलोऽयमिति मत्वा समतामवलम्ब्य मौनमास्थाय स्वस्थानमागत्य स्वाध्याय-
ध्यानसलग्नो जातः । तदानीं चण्डेन मनसि विचारितम्-मामयं प्रतिदिनं प्रतिक्षणं
ब्रह्मणासेवनाशिक्षाया प्रेरयति-मा प्रमाद्यताम्, मा प्रमाद्यताम् । इति कार्यमार

छिद्रोंका अन्वेषण करना ही एक उसका काम था । इसी से गुरुमहाराज
जैसे परमोपकारी के साथ भी यह सदा अपनी छेप मरी दृष्टि रखा
करता था । एक दिन की बात है कि जब गुरु महाराज स्वयं गोचरी के
लिये जा रहे थे-तब मार्ग में इनका पैर एक मृतक मण्डूक के कलेवर
के ऊपर अनजान से पड़ गया । साथ में यह क्रोधी शिष्य भी था ।
जो गुरुमहाराज के पीछे-पीछे चल रहा था । उसने ज्यों ही यह देखा,
सहसा योल उठा कि गुरु महाराज आप के पैर के आघात से मण्डूक की
विराधना हुई है । इस प्रकार शिष्य का वचन सुनकर और यह दुःशील
है ऐसा जानकर समता का अवलम्बन करके खुपचाप गुरु महाराज अपने
स्थान पर वापिस लौट आये और वहाँ आकर स्वाध्याय एवं ध्यान में
लीन हो गये । ऐसा देखकर उस समय चण्ड-(क्रोधी शिष्य) ने मनमें
विचार किया-देखो गुरु महाराज तो मुझे प्रतिदिन एवं-प्रतिक्षण
“प्रमाद मत करो, प्रमाद मत करो” इस प्रकार से ब्रह्मण शिक्षा और

महाराजना छिद्रोनु अन्वेषण करुं ओ न ओनु काम इतु ओधी गुरु
महाराज नेवा परमोपकारीना साथे पक्ष सदा पोतानी द्वेशभरी दृष्टी राख्या
करतो इतो ओक द्विषन्ती वात ठे के, न्यारे गुरुमहाराज पोते गोचरी
भाटे लई रह्या इता, त्तारे मार्गमा तेमनो पग ओक मरेवा डेडकाना
कलेवर उपर अनजसुथी पडी गये। ते क्रोधी शिष्य पक्ष साथे इतो ने गुरु
महाराजनी पाछण पाछण आवतो इतो न्यारे तेणे आ जेसु तो तुर्तव
पोली उठयो के गुरु महाराज आपना पगना आघातधी डेडकानु मृत्यु स्यु
छे आ प्रकारना शिष्यना वचन साभणीने अने ते दु शील छे, तेवुं बल्यीने
समतानु अवलम्बन करीने गुरु महाराज खुपचाप पोताना स्थान उपर पाछा
करी गया। अने त्या आवीने स्वाध्याय तेमन ध्यानमा लीनणनी गया। आवुं
ओध अन्ठे (ते क्रोधी शिष्ये) मनमा विचार कर्यो। लुष्यो गुरु महाराज तो
अने प्रतिदिन तेमन प्रतिक्षण “प्रमाद न कर्ये, प्रमाद न करे” आ प्रका

અત્ર ચણ્ડશિષ્યદષ્ટાન્તઃ, તથાહિ—

एकः सरलहृदयः सदयस्तपस्वी तेजस्वी रत्नत्रयसम्पन्न. कोमलान्त' फरणः सुभद्रनामको वृद्धाचार्य आसीत् । तस्यातिविद्वेपी गुरुच्छिद्रान्वेपी मचण्ड-चतुरार्ह से युक्त होते हैं वे शिष्य (दुरासयपि-दुराशय अपि) कुपित भी अपने गुरुमहाराज को (हु) निश्चय से (लटु-लघु) शीघ्र ही (पसायप-प्रसीदयन्ति) प्रसन्न करते हैं ।

अविनीत शिष्य का आचरण चण्ड अर्थात् क्रोधी शिष्य के दृष्टान्त से वर्णन किया जाता है—

एक वृद्ध आचार्य थे । जिनका नाम सुभद्र था । हृदय इनका कषाय निर्मुक्त होने से बहुत ही सरल था । और दयालु थे । वे बहुत ही अधिक तपस्या किया करते थे, अतः “तपस्वी” इस नाम से प्रसिद्ध थे । जैसे थे तपस्वी थे वैसे ही वे तेजस्वी भी थे । इसी से रत्नत्रय से सुशोभित इनका अन्त करण घना हुआ था । आर्जव (सरलता) धर्मकी प्राप्ति हो जाने से जो मनमें एक प्रकार की नरमाई आजाती है उसका नाम कोमलता है । यह कोमलता इनके अन्तःकरण में पूर्णतया भरी हुई थी । इनका एक शिष्य था । इसका नाम चण्डथा । यह यथा नाम तथा गुणवाला था । जितने गुरु महाराज कोमल परिणामी थे उतना ही अधिक यह कठोर था । अपने गुरु महाराज के

હોવાથી ચતુરાઈથી યુક્ત હોય છે તે શિષ્ય દુરાસયપિ-દુરાશયપિ ક્રોધાયમાન થયેલા પોતાના ગુરુ મહારાજને હુ નિશ્ચયથી લટુ-લઘુ જલ્દી પસાયપ-પ્રસીદયન્તિ પ્રસન્ન કરે છે

અવિનીત શિષ્યનું આચરણ ચંડ અર્થાત્ ક્રોધી શિષ્યના દષ્ટાન્તથી વર્ણન કરવામા આવે છે

એક વૃદ્ધ આચાર્ય હતા, જેમનું નામ સુભદ્ર હતું એમનું હૃદય કષાય નિર્મુક્ત હોવાથી બહુજ સરળ હતું અને દયાળુ હતા. તેઓ યુગ અધિક તપસ્યા કર્યા કરતા હતા. જેથી તપસ્વી નામથી પ્રસિદ્ધ હતા. જેવા એ તપસ્વી હતા એવા એ તેજસ્વી પણ હતા. તેજસ્વીપણાને લીધે રત્ન ત્રયથી સુશોભિત એમનું અંત કરણ હતું. આર્જવ (સરલતા) ધર્મની પ્રાપ્તિ થઈ જવાથી જે મનમાં એક પ્રકારની નરમાઈ આવી જાય છે, એવું નામ કોમળતા છે. આ કોમળતા એમના અંત કરણમા પૂર્ણતયા ભરી હતી. એમને એક શિષ્ય હતો જેનું નામ ચંડ હતું. તે યથા નામ તથા ગુણવાળો હતો. જેટલા ગુરુ મહારાજ કોમળ પરિણામી હતા એટલો જ એ કઠોર હતો. પોતાના ગુરુ

वशगतोऽसौ वृद्धाचार्यः शरीरं त्यक्त्वा सर्पदेहं प्राप्तवान् । स च विषमविषधरो नाम्ना चण्डकौशिकः सर्पं जातः । एव चण्डशिष्यवदविनीतशिष्या मृदुमपि गुरु प्रकोपयन्ति, दुर्गतिमपि प्रापयन्ति ।

अथ विनीतशिष्याचरण प्रदर्शयति—‘चिचाणुया’ इत्यादि । चित्तानुगा= आचार्यमनोवृत्त्यनुसरणशीला, आचार्याराधनस्य तपःसयमहेतुत्वात्, दाक्ष्योपेता=दाक्ष्य=वातुर्यं तेनोपेता=युक्ता, गुरुगताभिलाषित्वात्, ते शिष्या हु=निश्चयेन, दुराशयमपि=सक्रोपमपि गुरु, लघु=शीघ्र प्रसादयन्ति=प्रसन्न कुर्वन्ति । अथ चण्डकूटाचार्यशिष्योदाहरणम्—तथाहि—

कदाचिदुज्जयिनीनगर्यां शिष्यपरिवारसहितं स्वभावतश्चण्डश्चण्डकूटनामक आचार्यः समवसत् । स च साधूनां ग्रहणासेवनाशिक्षायां न्यूनातिरिक्तादिदोष-जो अन्धकार होने की वजह से दिखलाई नहीं पड़ रहा था । उससे उनका माया टकराया और फूट गया विशिष्ट आघात होने से उनके चित्त में आर्त्तध्यान उत्पन्न हुआ । इससे वे वृद्ध आचार्य आर्त्तध्यान में मरकर विषम-विषधर चण्डकौशिक सर्पकी पर्याय में उत्पन्न हुए । इस प्रकार चण्डशिष्यकी तरह अविनीत शिष्य कोमल हृदयवाले भी अपने गुरु महाराज को क्रुपित करते हैं और दुर्गति तक पहुँचाते हैं—

विनीत शिष्यका आचरण कैसा होता है, यह घात चण्डकूटाचार्यके शिष्य के उदाहरण से स्पष्ट की जाती है—

किसी समय उज्जयिनी नगरी में शिष्य परिवार सहित चण्डकूट नामक एक आचार्य जो स्वभावतः क्रोधी थे आये । वे एकान्त स्थान में बैठकर स्वाध्याय एवं ध्यान इस अभिप्राय से किया करते थे कि कहीं

तेमनु मायु टकरायु अने कुटी गयु विशिष्ट आघात होवायी तेमना चित्तमा आर्त्तध्यान उत्पन्न थयु, नेनाधी ते वृद्ध आचार्य आर्त्तध्यानमा मरीने विषम विषधर चण्डकौशिक सर्पनी पर्यायमा उत्पन्न थया. अ प्रकारे चण्ड शिष्यनी माक्ष अविनीत शिष्य कोमल हृदयवाणा पोताना गुरुने पक्ष क्रोधीत बनावे छे, अने दुर्गतिमा पहुँचावे छे

विनीत शिष्यनु आचरण केवु होय छे तेवात चण्डकूटाचार्यना शिष्यना उदाहरणुधी स्पष्ट करवामा आवे छे

काल अेक समय उज्जयिनी नगरीमा शिष्य परिवार सहित चण्डकूट नामना अेक आचार्य ने स्वभावे क्रोधी हुता ते पधार्या ते अेकान्त स्थानमा बैसीने स्वाध्याय तेमन ध्यान अेवा अभिप्रायधी करता हुता के कभारेक

दत्त्वाऽनेन विश्रामाय मद्म समयो न प्रदीयते, अथ तु स्वयमेव प्रमादवशं गत ।
प्रतिक्रमणसमये सायकाले सर्ववैरनियान्तनं क्रूरिष्यामि । तदनु सायकाले दैवसिद्ध
प्रतिक्रमणे कृते सति स चण्डो वन्दन समये श्रावकसंघसमक्षं ब्रवीति-गुरो !
मण्डूकविराधनायाः प्रायश्चित्तं कथं न गृह्यते, एव पुनः पुनः शिष्येणोक्तं सन्
गुरुः क्रोधवशेन तं शिष्यं ताडयितुं सवेगमुत्थितो यावत् तदभिमुखं गच्छति ताव-
दुपाश्रये तमसि पापणमयस्तम्भं सघट्टितं तस्य शिरः स्फुटितम् । तदाऽऽर्तध्यान

आसेवन शिक्षा देते रहते हैं । तथा मेरे ऊपर इतना अधिक कार्यभार
रख दिया है कि जिससे मुझे विश्राम करने का भी समय नहीं मिलता
है । और आप स्वयं प्रमाद का सेवन करते हैं । आज सायकाल के
समय प्रतिक्रमण करने के अवसर पर मैं उनसे समस्त वैर भाव का
घदला लूंगा । इस प्रकार विचार कर उसने सायकाल के समय प्रति-
क्रमण कर चुकने पर वन्दना के समय श्रावकसंघ के समक्ष गुरुमहाराज
से कहा कि हे गुरो ! आज आपने मण्डूक की विराधना का प्रायश्चित्त
क्यों नहीं लिया । शिष्य की इस बात को गुरु महाराज ने लक्ष्य में नहीं
दिया । अतः शिष्य को बुरा मालूम दिया और ईर्ष्यावश उसने फिर से
वही बात धारधार कही । गुरुमहाराज को सुनकर क्रोध का आवेश हो
आया । इससे वे उस शिष्य को मारने के लिये खड़े हुए और उसकी
तरफ आगे बढ़े । बीच में उस उपाश्रय में एक पापाण का स्तम्भ था

रथी अरुण शिक्षा अने आसेवन शिक्षा आपे छे अने भारा उपर ओटवो
अधिक कार्यभार राख्यो छे के जेथी अने विश्राम करवाने समय भणतो
नथी, अने पोते प्रमादनु सेवन करे छे आज सायकाल वधते प्रतिक्रमण
करवाना अवसर उपर ई तेमनाथी समस्त वेरभावने अटवो अथशः अ
प्रकारे विचार करी तेजे सायकालनु प्रतिक्रमण करी वीधा पछी वदना
समये श्रावक संघनी समक्ष गुरु महाराजने कहुं के हे गुरु ! आज आपे
हेउकानी विराधनानु प्रायश्चित्त केम न वीधु ? शिष्यनी आ वातने गुरु
महाराजे लक्षमां वीधी नहीं आथी शिष्यने पराण वाज्यु अने ईर्ष्यावश
हरीथी तेने ते वात वारवार कही. गुरु महाराजे साभणीने तेमना मनमा
कोधने आवेश आवी गयो जेथी ते पोताना शिष्यने भारवा उभा यथा
अने तेनी तरङ्ग आगण पथ्या, वयमा ते उपाश्रयमां ओक पथरने स्तम्भ
हते जे अधकार होवाना कश्ये देणवामा आवतो न हते ते स्तम्भ साभे

निर्विण्णोऽयं गृहवासेन, भार्ययाऽप्यय परित्यक्त अतः प्रसीदत, ससारदुत्तारयत, साधुमिरुक्तम्—अत्रास्माकं गुरुस्ति स प्रजाजयिष्यति, वयमनधिकारिणोदीक्षा-दानस्य, तस्मात् तत्समीपं गच्छत, तदनु मित्रवर्गस्तमिभ्यपुत्र चण्डरुद्राचार्यस्य समीपं नीत्वा त प्रणम्य सपरिहासमुक्तवान्—भदन्त ! दीयतामस्मै दीक्षा । तवस्त-त्परिहासवचनं श्रुत्वा सजातक्रोपेन चण्डरुद्राचार्येण कथितम्—भस्मानयेति, तदानी-मेकेन मित्रेण हास्यादेव भस्मानीत, ततश्चण्डरुद्राचार्यो भस्म गृहीत्वा बलादेव तत्केशुलञ्चन चकार, तदा तद्वयस्याः सर्वे प्रव्रज्यामयात्पलायिता ।

उन्होंने हँसी में कहा कि महाराज ! इस नव परिणीत श्रेष्ठ पुत्र को आप दीक्षा दीजिये । क्यों कि यह गृहस्थावास से उदासीन हो रहा है । इस की धर्मपत्नी ने भी इसका परित्याग कर दिया है । अतः प्रसन्न होकर इसे ससार से पार उतारिये । मुनिराजों ने सुनकर उनसे कहा कि यहा हमारे गुरुमहाराज विराजमान हैं—वे ही दीक्षा देंगे—हम लोग उनके समक्ष दीक्षा देने के अधिकारी नहीं हैं । इसलिये आप लोग इन्हें उनके ही पास ले जाइये । साधुओंके इस प्रकार के कहे गये वचनों को सुनकर वे लोग अपने उस मित्र को चण्डरुद्र आचार्य के समीप ले गये । आचार्य महाराज को वन्दना कर वे उनसे भी परिहास पूर्वक यही कहने लगे कि हे भदन्त ! इसको आप दीक्षा दीजिये । उनकी हँसी के वचन सुनकर क्रुपित होते हुए चण्डरुद्र आचार्य बोले—ठीक है—भस्म लाओ मैं इसे दीक्षा देता हूँ । इतना सुनते ही किसी एक मित्र ने हसी-हसी में शीघ्र ही भस्म लाकर वहा उपस्थित कर दी । चण्डरुद्राचार्य ने उस भस्म

तेमझे कछुं के महाराज ! आ नवपरिणीत श्रेष्ठ पुत्रने आप दीक्षा आपो केभके अे गृहस्थावासधी उदासीन भनी रहेल छे आनी धर्मपत्निअे पक्षु तेने त्याग कर्यो छे आथी प्रसन्न धधने आने ससार सागरधी पार उतारे । मुनिराज्जेअे अे साभणीने तेभने कछु के अडि अमारा गुरु महाराज भिराजे छे ते दीक्षा आपये । अये तेभनी सामे दीक्षा आपवाना अधिकारी नहीं । भाटे आप लोग तेने गुरु महाराज पासै लई अब साधुअेना आ प्रकारे कहेवामा आवेल वचनधी तेअे तेभना मित्रने य उद्द्र आचार्य पासै लई गया । आचार्य महाराजने वदना करी तेअे तेभने पक्षु परिहासपूर्वक अेलुं न कहेवा लाया के छे भदन्त ! आने आप दीक्षा आपो । तेभना हासीना वचन साभणीने कधीत थता य उद्द्र आचार्य बोल्या ठीक छे—भस्म लाये, हूँ तेने दीक्षा आपु छु आ साभणता कौछ अेक मित्रे उसता उसता तुरतअे भस्म लावीने हालर करी य उद्द्राचार्ये अे भस्मने हाथमा

दर्शनात् कोपोत्पत्तिर्माभूदिति मनसि कृत्वा रहसि स्वाध्यायध्यानं कुर्वन्नन्यसाधुभ्यः पृथगवतिष्ठते । अनन्तरे उज्जयिनीवास्तव्य इभ्यपुत्रं कोऽपि नवपरिणीतः सुहृत्परिवृतं कृतकुटुम्बरागं मवरनेपथ्यं साधुना वन्दनार्थं तत्रागतः, साधूनां सन्निधिं यन्दनं कृत्वा तत्र स्थितः । अथ तन्मित्रैः कैश्चित् सोपहासमुक्तम् भो साधवः । धर्मं श्रूतं । ते साधवस्तेषामुपहासवचनं विदित्वा किमपि नोक्तवन्तः, किंतु स्वाध्यायं कुर्वन्त आसन् । पुनस्तैः सपरिहासमुक्तम्—हे भगवन्त ! दीयतामस्मै दीक्षा,

साधुओं की ग्रहण शिक्षा एवं आसेवन शिक्षा में न्यूनातिरिक्त दोषों के देखने से उनके प्रति मेरे चित्त में क्रोध की उत्पत्ति न हो जाय, अतः वे साधुओं से सदा अलहदा ही एकान्त में रहा करते थे । और वहा स्वाध्याय एवं ध्यान करते-करते अपना समय व्यतीत करते । एक समय की बात है कि उसी उज्जयिनी नगरी का रहने वाला कोई एक सेठ का पुत्र कि जिसका उसी समय विवाह हुआ था अपनी मित्रमंडली सहित सजबज के साधुओंको वन्दना करनेके लिये आया ! उसके पैरों का माहुर अमी दीला भी नहीं पड़ा था और हाथोंकी मेंहदी भी अमी पूरी तरह से सुखी नहीं थी । वह सविधिवन्दना कर एक ओर बैठ गया । इतने में उसके मित्रों ने मुनिराज से उपहास करके कहा कि हे महाराज ! आप लोग धर्मका उपदेश दीजिये । साधुओंने उनके हास्य मिश्रित वचन सुनकर उन्हें धर्मका उपदेश नहीं दिया और न कुछ कहा भी किन्तु अपने स्वाध्याय करने में ही तल्लीन रहे । पश्चात् फिर भी

साधुओंकी ग्रहण शिक्षा एवं आसेवन शिक्षामा न्यूनातिरिक्त दोषोंने बेवाधी तेमना प्रति मारा चित्तमा कोधनी उत्पत्ति न थई बल्य, आधी तेओ साधु ओधी सहा अलायदा ओकान्तमा व रहना करता हुता, अने त्या स्वाध्याय अने ध्यान करता करता पोताने समय व्यतीत करता, ओक समयनी बात छे के, ओ उज्जयनी नगरीमा रहेनार ओक सेठने पुत्र के लेने तुरतमाव विवाह थयो हुतो, ते पोताना मित्र मंडल साथे जनी ठनीने साधुओंने वन्दना करवा आये, ओना पगत माहुर (माहुर) पगना तणीयाने लाव रग) हुणु दीक्षुं थयेव न हुतु तेम हाथमानी मेंही पणु सुकाई न हुती ते सविधि वन्दना करी ओक जाणु ओठे, ओ वपतेतेना मित्रोओ मुनिराजने उपहास करी कणु के महाराज ! आप धर्मने उपदेश आपे, साधुओंओ तेमनु हास्य मिश्रीत वचन साबणीने उपदेश न आये, अने न काई पणु कणु, पोताने स्वाध्याय करवाभाव तस्वीन रहना, करीथी हुसता हुसता

षान्वा उपद्रव करिष्यन्ति । गुरुगोक्तम्—अहो शिष्य ! सप्रति रात्रिर्जाता, अह रात्री न पश्यामि । ततस्तेन शिष्येण स्वकीयस्कन्धे गुरुरारोपित, मार्गे उच्च- नीचप्रदेशे वहनेन गुरुचेतसि खेद समुत्पन्नः, तेन चण्डरुद्राचार्येण शिष्यशिरसि रजोहरणदण्डप्रहारो दत्त', असी शिष्यो मनस्येयं विचारयति—अहो ! ममाराधनीयो गुरुं मयदृशीमवस्था प्रापित. इति । एव सम्यग्भावनाया तस्य शिष्यस्य केवल-

पन्धुजन यश आकर उपद्रव करेंगे। शिष्यकी यह बात सुनकर आचार्य महाराज ने कहा—ठीक है परन्तु इस समय तो अथ रात्रि हो चुकी है तथा मुझे रात्रि में दिखता भी नहीं है—अतः जाना ठीक नहीं है। आचार्य महाराज की बात सुनकर शिष्य ने कहा कि आप इसकी चिन्ता नहीं करें। मैं आप को अपने कंधे पर बैठा लूंगा। ऐसा कह कर उस शिष्य ने गुरु महाराज को अपने कंधे पर बैठा लिये और उस स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुँचने के लिये प्रयाण प्रारंभ कर दिया। मार्ग सम विपन्न था। अतः गुरु महाराज को अचानक हिलने डुलने की वजह से कष्ट हुआ और इससे उनके चित्तमें अशांति उत्पन्न हो गई। उन्होंने धैरे-धैरे ही अपना रजोहरण दंड उसके मस्तक पर दे मारा। चोट लगते ही शिष्य ने चित्त में चिन्तन किया कि हे मन जिनकी मुझे सेवा करनी चाहिये उन गुरु महाराज को इस समय मेरे द्वारा कितना कष्ट पहुँच रहा है। गुरु महाराज की इस कष्टावस्था का कारण मैं ही बन रहा हूँ। इस प्रकार की मक्तिरूप हार्दिकभावना के प्रभाव से क्षपक श्रेणी

जन अहिया आपीने उपद्रव करे। शिष्यनी आ वात साभणीने आचार्य महाराजने कष्ट, ठीक छे परन्तु आ समये रात्रीनु आगमन यद्य युक्त्यु छे तेम मने रात्रीमा सुखतुं पद्य नहीं, आधी ननु ठीक नहीं आचार्य महा राजनी वात साभणी शिष्ये कष्ट, आप जेनी चिता न करे हूँ आपने मारा भला उपर जेसाडी लक्षि जेवुं कही ते शिष्ये गुरु महाराजने पोताना भला उपर जेसाडी वीधा अने जे स्थानधी पीन स्थान तरङ्ग प्रयास कर वाने प्रारंभ कर्ये। मार्ग सम विपन्न छेता आधी गुरु महाराजने अचानक डलवा डालवाने कारणे कष्ट ययुं अने तेथी जेभना चित्तमा अशान्ती उत्पन्न यद्य तेजोजे जेठा जेठा न पोताने खेडखुं कड जेना माथा उपर भार्ये, चोट लागतान शिष्ये मनमा चिन्तायुं क छे मन ! जेनी मारे सेवा करवी जेधजे जे गुरु महाराजने आ समय मारा तरङ्गी कटहुं कष्ट यद्य रक्षु छे गुरु महाराजनी कष्ट अवस्थानु कारणे तुं न जनी रहेल छु आ प्रकारनी भक्तिरूप हार्दिक भावनाना प्रभावथी क्षपक श्रेणी प्राप्त करी घातक जेनीना

ततः स इभ्यपुत्रो भाग्यवशेन लघुकर्मणा च भावश्रमणो जातः, तदानीं तस्येभ्यपुत्रस्य लोचे कृते सति "मम प्रव्रज्यैमास्तु" इति परिणामः सम्पन्नः, ततो रजोहरणसदोररुमुखवस्त्रिकादिभिः साधुवेष धृत्वा द्रव्यभावतः सयतो जातः । ततोऽसौ गृहीतप्रव्रज्यः शिष्यो गुरुमव्रवीत्—मदन्त ! अन्यत्र व्रजामः, अत्र मम

को हाथ में लेकर जयर्दस्ती उसके केशों का लुचन कर दिया । मित्रों ने यह देखकर समझा कि कहीं हमारी भी यही हालत न हो जाय—हमें भी जयर्दस्ती से दीक्षित न बना दिया जाय—इस डरसे वे सब के सब वहाँ से शीघ्र भाग गये ।

उस समय वह श्रेष्ठिपुत्र भाग्य के उदय से एवं लघुकर्म के प्रभाव से भावश्रमण बन गया था । क्यों कि जिस समय आचार्य-महाराजने उसके केशोंका लुचन किया था उस समय उसके चित्त में यही परिणाम हो गया था कि मेरी दीक्षा ही हो जाय तो सर्व सुन्दर है । " इस परिणाम विशिष्ट-भाव श्रमण अवस्था सपन्न-उस इभ्यपुत्र के लिये आचार्य महाराज ने केशालुचन करने के बाद ही रजोहरण एवं सदोरक मुखवस्त्रिका प्रदान करदी-इससे वह यथार्थ में द्रव्यरूप से भी साधु वेषसे सुशोभित होने लगा । इस प्रकार द्रव्य एव भाव से संयत अवस्था को धारण किये हुए-उस नवीन शिष्य ने गुरुमहाराज से कहा कि हे मदन्त ! चलो अब यहाँ से दूसरी जगह चलो । नहीं तो मेरे

वहाँने जबरजस्तीथी तेना वाणनेो होय क्योँ । मित्रो आ जेँधने ओवु सभन्था के अमारी पखु आवी हाँवत न थँ वय अमने पखु जबरजस्तीथी दीक्षीत न बनावाय आवा उरथी तेओ सभणा त्याथी तुरतज बागी गया ।

ते समय श्रेष्ठी पुत्र भाग्यना उदयथी तेमज लघु कर्मना प्रभावथी भावश्रमणु भनी गयो हतो केभके जे समय आचार्य महाराजने तेना वाणनेो होय क्योँ त्तारे ते सभये तेना चित्तमा ओज परिष्ठाभ थँ गमु हतु के मने दीक्षा अपाय तो ते सर्व सुन्दर छे आ परिष्ठाभ विशिष्ट-भावश्रमणु अवस्था सपन्न-ते इभ्य पुत्र भाटे आचार्य महाराजने केशनेो होय क्योँ पछी रजोहरणु अने डोरा साधेनी सुभवस्त्रिका आपी । आथी यथार्थमाँ द्रव्य रूपथी पखु साधु वेशथी सुशोभित भनी रह्यो आ प्रकारे द्रव्य अने भावथी संयत अवस्थाने धारणु करीने ओ नवीन शिष्ये गुरुमहाराजने कहु के छे मदन्त ! चलो अब यहाँसे आँधुथी जीव स्थणे जँधे नही तो मारा पखु

वान्त्रवा उपद्रव करिष्यन्ति । गुरुगोक्तम्—अहो शिष्य ! सप्रति रात्रिर्जाता, अह रात्रौ न पश्यामि । ततस्तेन शिष्येण स्वकीयस्क्रन्दे गुरुरारोपित, मार्गे उच्च- नीचप्रदेशे वहनेन गुरुचेतसि खेद समुत्पन्न, तेन चण्डरुद्राचार्येण शिष्यशिरसि रजोहरणदण्डप्रहारो दत्तः, असां शिष्यो मनस्येव विचारयति—अहो! ममाराधनीयो गुरुं मयदृशीमवस्था प्रापित. इति । एव सम्यग्भावनाया तस्य शिष्यस्य केवल-

घन्धुजन यहा आकर उपद्रव करेगे । शिष्यकी यह घात सुनकर आचार्य महाराज ने कहा—ठीक है परन्तु इस समय तो अय रात्रि हो चुकी है तथा मुझे रात्रि में दिखता भी नहीं है—अत जाना ठीक नहीं है । आचार्य महाराज की घात सुनकर शिष्य ने कहा कि आप इसकी चिन्ता नहीं करें । मैं आप को अपने कंधे पर बैठा लूंगा । ऐसा कह कर उस शिष्य ने गुरु महाराज को अपने कंधे पर बैठा लिये और उस स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुँचने के लिये प्रयाण प्रारम्भ कर दिया । मार्ग सम विषम था । अत गुरु महाराज को अचानक हिलने डुलने की वजह से कष्ट हुआ और इससे उनके चित्तमें अशांति उत्पन्न हो गई । उन्होंने थैठे—थैठे ही अपना रजोहरण दंड उसके मस्तक पर देमारा । चोट लगते ही शिष्य ने चित्त में चिन्तवन किया कि हे मन जिनकी मुझे सेवा करनी चाहिये उन गुरु महाराज को इस समय मेरे द्वारा कितना कष्ट पहुँच रहा है । गुरुमहाराज की इस कष्टावस्था का कारण मैं ही बन रहा हूँ । इस प्रकार की भक्तिरूप हार्दिकभावना के प्रभाव से क्षपक श्रेणी

जन अडिया आवीने उपद्रव करेगे. शिष्यनी आ वात आभणीने आचार्य महाराजने कष्ट, ठीक छे परंतु आ समये रात्रीनु आगमन थछ सुकसु छे तेम भने रात्रीमा सुजतु पसु नथी, आथी जवु ठीक नथी. आचार्य महाराजनी वात आभणी शिष्ये कष्ट, आप जेनी चिता न करे हुँ आपने मारा भला उपर मेसाडी लथि जेवु कही ते शिष्ये गुरु महाराजने पोताना भला उपर मेसाडी लीधा अने जे स्थानथी जीव स्थान तरक्ष प्रयाज्य कर वाने प्रारम्भ कर्ये. मार्ग सम विषम छेतो. आथी गुरु महाराजने अचानक डडवा डोडवाने कारखे कष्ट थयु अने तेथी जेमना चित्तमा अशांती उत्पन्न थछ तेज्याजे जेठा जेठा ज पोताने र्खेडसु कड जेना भाया उपर भार्ये, चोट लागताज शिष्ये मनमा विचार्युं के छे मन! जेनी मारे सेवा करवी जेधजे जे गुरु महाराजने आ समय मारा तरक्षी केटहुं कष्ट थछ रसु छे गुरु महाराजनी कष्ट अवस्थानु कारखु हुं ज जनी रडेव छु आ प्रकारनी भक्तिरूप हार्दिक भावनाता प्रभावथी क्षपक श्रेणी प्राप्त करी घातक क्रमेनि

ततः स इभ्यपुत्रो भाग्यवशेन लघुकर्मणा च भावश्रमणो जातः, तदानीं तस्येभ्यपुत्रस्य लोचे कृते सति "मम प्रत्रयैवास्तु" इति परिणामः सम्पन्नः, ततो रजोहरणसदोरकमुखवस्त्रिकादिभिः साधुवेष भूत्वा द्रव्यभावतः सयतो जातः । ततोऽसौ गृहीतमत्रज्यं, शिष्यो गुरुमब्रवीत्-भदन्त ! अन्यत्र व्रजामः, अत्र मम को हाथ में लेकर जयवर्दस्ती उसके केशों का लुंचन कर दिया । मित्रों ने यह देखकर समझा कि कहीं हमारी भी यही हालत न हो जाय-हमें भी जयवर्दस्ती से दीक्षित न बना दिया जाय-इस डरसे वे सब के सब वहा से शीघ्र भाग गये ।

उस समय वह श्रेष्ठिपुत्र भाग्य के उदय से एव लघुकर्म के प्रभाव से भावश्रमण बन गया था । क्यों कि जिस समय आचार्य-महाराजने उसके केशोंका लुंचन किया था उस समय उसके चित्त में यही परिणाम हो गया था कि मेरी दीक्षा ही हो जाय तो सर्व सुन्दर है ।" इस परिणाम विशिष्ट-भाव श्रमण अवस्था सपन्न-उस इभ्यपुत्र के लिये आचार्य महाराज ने केशलुंचन करने के बाद ही रजोहरण एवं सदोरक मुखवस्त्रिका प्रदान करदी-इससे वह यथार्थ में द्रव्यरूप से भी साधु वेषसे सुशोभित होने लगा । इस प्रकार द्रव्य एव भाव से संयत अवस्था को धारण किये हुए-उस नवीन शिष्य ने गुरुमहाराज से कहा कि हे भदन्त ! चलो अब यहा से दूसरी जगह चलें । नहीं तो मेरे

वर्धने जपरजस्तीधी तेना वाणनेो वीच्य कथ्ये । मित्रे आ लोष्ठ ने जेवुं सम्बन्धा के अमारी पक्ष आवी हावत न थछ जय अमने पक्ष जपरजस्तीधी दीक्षीत न बनावाय आवा उरथी तेज्जे सम्पणा त्याधी तुरतज बागी गया ।

ते समय श्रेष्ठी पुत्र भाग्यना उदयधी तेमज लघु कर्मना प्रभावधी भावश्रमण बनी गयो हतो केमके जे समय आचार्य महाराजने तेना वाणनेो वीच्य कथ्ये त्यारे ते समये तेना चित्तमा जेज परिणाम थछ गमु हतु के मने दीक्षा अपाय तो ते सर्व सुन्दर छे आ परिणाम विशिष्ट-भावश्रमण अवस्था सपन्न-ते इभ्य पुत्र भाटे आचार्य महाराजने केशनेो वीच्य कथ्ये पछी रजोहरण एवं सदोरक मुखवस्त्रिका आपी । आधी यथार्थमा द्रव्य रूपधी पक्ष साधु वेषधी सुशोभित बनी रह्यो आ प्रकारे द्रव्य अने भावधी संयत अवस्थाने धारण करीने जे नवीन शिष्ये गुरुमहाराजने कक्षु के हे भदन्त ! चलो अब यहा से दूसरी जगह चलें । नहीं तो भाग्य जय

पुनस्तत्सामण कुर्वन् सोऽपि केवलज्ञान प्राप्तवान् । एव विनीतशिष्यैर्मवितव्यम् ॥१३॥
 कथं गुरुचित्तानुगामी भवेदित्याह—

मूलम्—'नापुट्टो' वागरे किंचि, पुट्टो वा नालियं वए ।

कोह असत्त्वे कुंठिविज्ञा, धारिज्जो पिर्यमापियं ॥१४॥

छाया—

नापुट्टो कुर्यात् किंचित्, पृष्टो वा नालीकवदेत् ।

क्रोधम् असत्यं कुर्यात्, धारयेत् प्रियमप्रियम् ॥ १४ ॥

टीका—'नापुट्टो' इत्यादि—

अपुष्ट = गुरुणाऽनुक्त किंचित् न व्याकुर्यात् = न वदेत् पृष्टो वा = गुरुणा कार्स्मि-
 थिद् विषये पृष्ट सन् अलीकम् = अनृत न वदेत्, क्रोधं = केनापि कारणेन समुत्पन्न
 क्रोधम् असत्य = निष्फल कुर्यात् ।

कर धार धार अतिशय पश्चात्ताप करने लगे । पश्चात् उनसे अपने दोष
 खमाने लगे । इस प्रकार पश्चात्ताप करते करते विशुद्ध भावना से गुरु
 ने भी केवलज्ञान प्राप्त किया । इस दृष्टान्त का सार यही है कि विनीत
 शिष्य अपनी विशुद्धि के साथ-साथ गुरु महाराज की भी विशुद्धि का
 कारण घनता है । अतः शिष्य को इसी तरह विनीत होना चाहिये ॥१३॥

गुरु-चित्तानुगामी शिष्य के चिन्हों को इस गाथा द्वारा सूत्रकार
 पतलाते हैं—' नापुट्टो ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(अपुट्टो किंचि न वागरे-अपुष्ट किञ्चित् न व्या-
 कुर्यात्) गुरुमहाराज जब तक कोई बात नहीं पूछें तब तक शिष्य का
 कर्तव्य है कि वह किसी भी विषय में कुछ न कहे । (पुट्टो वा

अतिशय पश्चात्ताप करवा लाया पछी तेनाथी पोतानो होय भभाववा लाया
 आ प्रकारे पश्चात्ताप करता करता विशुद्ध भावनाथी गुरुने पद्य केवली ज्ञान
 प्राप्त थयु

आ दधातनो सार ओ छे के विनीत शिष्य पोतानी विशुद्धिनी साथे
 साथे गुरु महाराजनी पद्य विशुद्धिनु कारयु भने छे ओटले शिष्योओ आ
 रीते विनीत थयु ओधओ ॥१३॥

गुरु-चित्तानुगामी शिष्यना चिन्होने आ गाथा द्वारा सूत्रकार पतावे
 छे नापुट्टो इत्यादि,

अन्वयार्थ—अपुट्टो किंचि न वागरे-अपुष्ट किञ्चित् न व्याकुर्यात् गुरु
 महाराज न्या सुधी कोठ वात न पूछे त्या सुधी शिष्यनु कर्तव्य छे के ते
 कोठ पद्य विषयभा कथ न कहे. पुट्टो वा नालिय वए-पृष्टो वा अलीकवदेत्

ज्ञानमुत्पन्नम्, ततः केवलज्ञानप्रभावादसौ समप्रदेश इव यद्गुरुणा प्रोक्त-
मार एव सारः, अधुना कीदृशः समप्रदेशो इव वह्मसि ? शिष्येणोक्त-युष्मत्प्र-
सादान्मम वह्न सम भवति । पुनर्गुरुणोक्तम्-किं रे ! ज्ञानं समुत्पन्नं तव । शिष्ये-
णोक्तम्-एवम् । पुनर्गुरुणा प्रोक्तम्-प्रतिपाति, अप्रतिपाति वा ज्ञानमुत्पन्नम् ? ।
तेनोक्तम्-अप्रतिपाति । ततो गुरुः पश्चात्तापं कुर्वन् वदति-हा ! मया केवली आश्चा
तितः-इत्युक्त्वा शिष्यशिरसि रजोहरणदण्डप्रहारजनित रुधिर प्रवाह पश्यन् पुनः

प्राप्तकर घातक कर्मोका नाशकर उस शिष्य ने केवलज्ञान को प्राप्त
किया । केवल ज्ञान के प्रभाव से यह गुरुको इस प्रकार अय लेजाने लगा
कि मानो सम प्रदेशमें ही वह चल रहा हो । गुरुजीने कहा कि मार ही
सार है, इतना मार ने पर अब तू सीधा चलने लगा है । शिष्यने कहा
महाराज आपके प्रभावसे ही यह सब कुछ हो रहा है-अर्थात् पहिले चलते
समय ऊँची नीची जगह में मेरा पैर पड़ता था सो आपको कष्ट होता था ।
पर अब नहीं पड़ता है अतः समभूमि में चलने की तरह मैं चल रहा
हूँ । गुरु महाराज ने कहा तो क्या तुझे ज्ञान उत्पन्न हो गया है ? शिष्यने
कहा हा ! पुनः गुरु महाराज ने कहा वह ज्ञान प्रतिपाति उत्पन्न हुआ है
या अप्रतिपाति उत्पन्न हुआ है । शिष्यने उत्तर दिया महाराज ! अप्रति-
पाति ज्ञान उत्पन्न हुआ है । बाद गुरु ने कहा ! हाय ! मैं ने केवली की
इस समय आशातना की है । इस प्रकार कह कर गुरु जी शिष्य के
शिर पर रजोहरण के दण्ड के प्रहार से घटते हुए रुधिर को देख-देख

नाश करी ते शिष्ये केवल ज्ञानने प्राप्त क्युं केवलज्ञानना प्रभावथी ते
गुरुने जेवा प्रकारे लई जेवा लाज्ये के लजे ते समप्रदेशमा याही रक्षा
होय. गुरुलजे कस्यु के " मार ज सार छे " आटहुं भारवाथी हवे तू
सीधा याववा लाज्ये छे, शिष्ये कस्यु महाराज ! आपना प्रभावथी ज आ
सबहु जनी रक्षु छे अर्थात् पहिले यावती वपते ऊँची नीची जज्यामा
भारा पग पडता छता जेनाथी आपने कष्ट थतु छतु पस्यु हवे पडता नथी.
जेटवे समभूमिमा याववानी भाकक कुं याहुं छ गुरु महाराजने कस्यु के
शु तने ज्ञान उत्पन्न थई जस्यु छे ? शिष्ये कस्यु हा ! करी गुरु महाराजने
कस्यु, ते ज्ञान प्रतिपाति उत्पन्न थस्यु छे के अप्रतिपाति शिष्ये कस्यु
महाराज ! अप्रतिपाति ज्ञान उत्पन्न थस्यु छे आथी गुरुजे कस्यु, अहाहा !
जे केवलीनी आ समये आशातना करी छे आ प्रकारे कहीने गुरुलजे
शिष्यना शीर उपर रजोहरणना डटना प्रहारथी वहेता इधीरने जेई वारवार

उक्तच—लोभी पश्येद्धनप्राप्तिं, कामिनीं कामुस्तथा ।

भ्रान्त पश्येदयोन्मत्तो न किञ्चिच्च क्रुधाकुलः ॥१॥

अन्वच—अपकारिणि चेत् क्रोध क्रोत्रे क्रोध. कथ न ते ।

धर्मार्थकाममोक्षाणा चतुर्णां परिपन्थिनि ॥ २ ॥

क्रोधस्यासत्यकरणे उदाहरणम् । यथा—कस्यचित् कुलपुत्रस्य भ्राता वैरिणा हतः ।

“लोभी आत्मा धनकी प्राप्ति की चिन्ता में ही मस्त बना रहता है । कामुक कामिनी में मस्त है । उन्मत्त सर्वत्र भ्रान्ति युक्त बना रहता है । परन्तु क्रोध से आकुल हुआ आत्मा देवता हुआ भी अन्धा बना रहता है ॥१॥”

इस क्रोध को निवारण करना हो तो इस प्रकार की भावना माननी चाहिये जैसे—

“हे आत्मन् ! तू अपने अपकार करनेवाले पर जिस प्रकार क्रोध करता है उसी प्रकार इस अपकार करने वाले क्रोध पर क्रोध क्यों नहीं करता । क्यों कि यह तेरा बड़ा भारी अपकारी है । कारण कि इसके सद्भाव में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का सर्वथा विनाश हो जाता है । अतः चतुर्वर्गका विनाश करने वाला होने से यह तेरा सपसे अधिक अपकारी है । क्रोध पर क्रोध करना इसका मतलब है कि क्रोध कभी नहीं करना चाहिये ॥ २ ॥”

क्रोध को असत्य करने में दया देने में—दृष्टान्त इस प्रकार है—

किसी कुलपुत्र के भाई को उसके वैरी ने मार डाला । वह कुल-

वोशी आत्मा धनकी प्राप्तिनी चिन्तामा न मन्त भनी रहे छे, कामुक कामिनीमा मन्त छे, उन्मत्त सर्वत्र भ्रान्ति युक्ता भनी रहे छे परंतु क्रोधधी व्याकुल भनेल आत्मा जेवा छता पणु आधणो भनी रहे छे ॥१॥

आ क्रोधनु निवारणु करुं होयतो आ प्रहारनी भावना करवी जेधजे के छे आत्मा ! तु तारा उपर अपकार करवावाणा उपर जे प्रकारे क्रोध करे छे जे प्रकारे ते अपकार करवावाणा क्रोध उपर क्रोध केम नधी करतो केमके जे तारे भुण भोटो अपकारी छे कारणु के तेना सद्भावमा धर्म, अर्थ, काम अने मोक्षने सर्वथा विनाश थाय छे जेधी चतुर्वर्गना विनाश करवावाणो होवाधी जे तारे पधाधी वधु अपकारी छे क्रोध पर क्रोध करवो जेने मतलब छे के क्रोध करी न करवो जेधजे.

क्रोधने हभावी देवामा दृष्टात् आ प्रकारे छे—

क्रोधं क्रुणपुत्रना साधने तेना वैरीजे भारी नाभ्येत् ते क्रुणपुत्र भरषु

અવ ભાવઃ—ગુરુગા નિર્ભર્ત્સને કૃતે સતિ કદાચિત્ ક્રાધોત્પત્તાં સત્યા તસ્ય કદુકવિપાકમનુચિન્ત્ય ક્ષમયા ત પરિહરેત્, ક્રોધો હિ સર્વાનર્થકરઃ સકલશુભહરઃ તપઃ સયમોદ્યાનદાવજ્વલન સમમાત્રજલદપટછીવિક્રિણમ્વષ્ટપવન શાન્તિસુધા-
કરતમ ' સકલસદ્ગુણસરોજવનહિમઃ ચિતોદ્વેજક ગ્નુતાર્થકઃ સકલવિપદા-
માસ્યદ જનપદં વિપ્લવયતિ ।

૧—તમઃ=રાહુ ।

નાલિયવળ—શૃષ્ટો વા અલીક ન વદેત્) યદિ પ્રસંગ વશ કિસી વિષય મેં ગુરુ મહારાજ પૂછે મી તો ઉસ મેં કૂઠ નહીં ઘોલના ચાહિયે । (કોહ અસચ્ચ કુલ્વિજ્ઞા—ક્રોપ અસત્ય કુર્યાત્) કિસી નિમિત્ત સે ઉત્પન્ન હુણ ક્રોધ કો શીઘ્ર હી દવા દેના ચાહિયે ।

ભાવાર્થ—કિસી કારણ વશ યદિ કદાચિત્ ગુરુ મહારાજ શિષ્ય કો કઠિન વચન સે શિક્ષા દેં તો ઉસ સમય ક્રોધ કા કદુઆ ફલ સમક્ષકર ઉત્પન્ન હુવે ક્રોધ કો ક્ષમા સે દવા દેવે । કારણ કિ ક્રોધ સમસ્ત અનર્થોં કી ઈક મજબૂત જડ હૈ । સકલ કલ્યાણોં કા વિનાશક હૈ । સયમરૂપી ઉદ્યાન કો ભસ્મ કરને કે લિયે યહ દાવાનલ કી જ્વાલા જૈસા ભયકર હૈ । સમતારૂપી મેઘઘટાઓં કો વિક્ષિપ્ત કરને કે લિયે યહ ક્રોધ પ્રવષ્ટ પવન કે જૈસા હૈ । શાન્તિરૂપી ચન્દ્રમહલ કે ગ્રસને કે લિયે રાહુ જૈસા, સકલ સદ્ગુણરૂપી કમલવન કો દગ્ધ કરને કે લિયે હિમ-
પાત જૈસા કહા હૈ । ક્રોધ સે ચિત્ત મેં ઉદ્વેગ ઉત્પન્ન હોતા હૈ ઓર ક્રોધ સે હી શત્રુતા કી વૃદ્ધિ હોતી હૈ । જિસ જનપદ (દેશ) મેં હિસ ક્રોધ કા આવાસ હો જાતા હૈ વહ સકલ વિપત્તિઓં કા સ્થાન ઘનકર દેશ આદિ કો નષ્ટ કર દેતા હૈ । કહા મી હૈ—

એ પ્રસંગવશ કોઈ વિષયમા ગુરુ મહારાજ પૂછે તો પણ એમા બુદ્ધિ નહીં ઘોલવું એઈએ. કોહ અસચ્ચકુલ્વિજ્ઞા—ક્રોપ અસત્ય કુર્યાત્ કોઈ નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થયેલા ક્રોધને જલહીથી ઠભાવી દેવો એઈએ.

ભાવાર્થ—કોઈ કારણવશ એ કદાચ ગુરુ મહારાજ શિષ્યને કઠીન વચ નથી શિક્ષા આપે તો તે સમયે ક્રોધનું ઠડવું ફળ સમજી ઉત્પન્ન થયેલ ક્રોધને ક્ષમાથી ઠભાવી દે કારણ કે ક્રોધ સમસ્ત અનર્થોની એક મજબૂત જડ છે બધા કલ્યાણોના વિનાશક છે સયમરૂપી ઉદ્યાનને ભસ્મ કરવા માટે દાવાનળની જ્વાળા જેવો ભયકર છે સમતારૂપી મેઘ ઘટાઓને વેરવિખેર કરવા માટે આ ક્રોધ પ્રવૃત્તિ પવન જેવો છે શાન્તિરૂપી ચન્દ્રમહળને ગ્રસવા માટે રાહુ જેવા સકળ સદ્ગુણરૂપી કમળવનને દગ્ધ કરવા માટે હિમપાત જેવો કહેલ છે ક્રોધથી ચિત્તમા ઉદ્વેગ ઉત્પન્ન થાય છે અને ક્રોધથીજ શત્રુતાની વૃદ્ધિ થાય છે જે જનપદ (દેશમાં) આ ક્રોધનો આવાસ થાય છે તે સકલ વિપત્તિઓનું સ્થાન બની દેશ આદિને નાશ કરે છે કહ્યું પણ છે—

ततस्तेन कुलपुत्रेण कथितम्—तर्हि कय स्वरोप सफलीकरोमि ? जनन्या प्रोक्तम्—वत्स ! सर्वत्र न रोप सफलीक्रियते । मातृवाक्यात् कुलमित्रेण स वन्द्युघातको मुक्तः । ततोऽसौ तयोश्चरणेषु निपत्य स्वापराध क्षामयित्वा गतः । एव कुलपुत्रवत् क्रोधमसत्य कुर्यात् ।

तथा—अप्रिय=शिक्षार्थं गुरोः, कदुवचन, प्रिय=प्रियमिव द्रितमित्यर्थः, धारयेत्=

माता के इस प्रकार वचन सुनकर कुलपुत्र ने कहा—टीका है यह अवध्य है परन्तु हे जननि ! यह रोप जो मुझे उत्पन्न हुआ है उसे कैसे अय सफल करूँ ? माता योली प्रिय पुत्र ! उत्पन्न रोप सर्वत्र सफल ही किया जाय ऐसा कोई नियम नहीं है । माता के इन वचनोंसे सन्तुष्ट होकर कुलपुत्र ने रोप को शांत करते हुए उस अपने वन्द्यु के घात करने वाले वैरी को बिना किसी तकलीफ दिये छोड़ दिया । उस वैरी ने भी उन दोनोंके चरणों में गिरकर अपने अपराध की क्षमा मागी और खुश होते हुए अन्त में वह अपने घर चला गया । प्रत्येक मुनि का कर्तव्य है कि वह कुलपुत्र की तरह अपने उत्पन्न हुए क्रोध को विफल बनाने में सचेष्ट रहे ।

(अप्रिय प्रिय धारिञ्जा—अप्रिय प्रिय धारयेत्) शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह गुरु महाराज के द्वारा कहे गये अप्रिय वचनों को भी प्रियवचन ही मानकर हृदय में धारण करे । गुरु महाराज के वचन

ओभना उपर भडापुत्र प्रहार करता नथी, परतु तेनी रक्षा करे छे
माताना आ प्रकारना वचन साक्षणीने कुणपुत्रे कक्षुं ठीक छे आ अवध्य छे परतु छे माता । आ शैप ने माराभा उत्पन्न थये छे तेने दुं कर्षीते शान्त करे ?

माताओ कक्षुं प्रिय पुत्र ! उत्पन्न थयेव शैप भधी रीते सङ्ग करवामा आवे ओवो डोछ नियम नथी, माताना आवा वचनोधी सतुष्ट भनी कुणपुत्रे शैपने शान्त करीने तेबे पोताना भधुने घात करनार वैरीने डोछ तकलीक्ष आध्या वगर छोडी दीधे। मारनार वैरीओ पक्षु भन्नेना चरखोभा पडीने पोताना अपराधनी क्षमा मागी अने शुश थतो ते पोताना धर तरक्ष खावी गये। प्रत्येक मुनितु कर्तव्य छे छे कुणपुत्रनी माक्षक पोतानामा उत्पन्न थयेव कोधने इभाववामा सचेष्ट रहे।

(अप्रिय प्रिय धारिञ्जा—अप्रिय प्रिय धारयेत्) शिष्यतु कर्तव्य छे छे ते गुरु महाराज द्वारा कहेवामा आवेव अप्रिय वचनोने पक्षु प्रिय वचन भानी इइयमा धारण करे। गुरु महाराजना वचन परिष्कारमा सतापने

पुत्रमरणार्त्तध्यानयुक्ता जननीं विलोक्य स कुलपुत्रस्त वैरिणं गृहीत्वा मातुः
समिपमानीयाद्यवीत्—अरे ! वन्द्युघातक ! अनेनासिना त्वा कुत्र हन्याम्, तेनातिमी
तेन कथितम् यत्र शरणागता न हन्यन्ते तत्र । एतद्वचन श्रुत्वा कुलपुत्रेण जननीमुख
विलोकितम् । जनन्या च मध्यस्थभावमवलम्ब्य सजात—करुणया निगदितम्—हे
पुत्र ! शरणागता न हन्यन्ते । यतः—

शरणागता य वीस,—त्या पणया वसणपत्ता य ।

रोगी अजगमा य, सप्पुरिसा णेव पहरंति ॥

छाया—शरणागताश्च विश्वस्तान् प्रणतान् व्यसनप्राप्ताश्च ।

रोगिणः अजङ्गमाश्च सत्पुरुषा नैव प्रहरन्ति ॥

पुत्र पुत्रमरण जनित दुःख से आर्त्तध्यान करती हुई माता को देखकर
शीघ्र ही अपने भाई के उस घातक को पकड़ कर माता के सन्मुख
उपस्थित कर कहा अरे वन्द्यु घातक ! बोल तुझे इस तलवार के द्वारा
कहाँ पर मारूँ । उसने डरते हुए कहा—जहा शरण में आये हुए प्राणी
नहीं मारे जाते हैं वहाँ पर आप मुझे मारें । वन्द्यु घातक के इस प्रकार
वचन सुनकर कुलपुत्र ने माता के मुखकी ओर देखा । माता ने धैर्य
धारण कर व्यायुक्त होते हुए कहा कि हे बेटा ! शरण में आये हुए को
वीर पुरुष मारा नहीं करते हैं । क्यों कि इतने प्राणी अवध्य होते हैं—

शरणागता य वीस—त्या पणया वसणपत्ता य ॥

रोगी अजंगमा य, सप्पुरिसा णेव पहरंति ॥ १ ॥

गाथार्थ—शरणागत, विश्वासपात्र, कष्ट में पडा हुआ, रोगी
और अपंग, इनके ऊपर महा पुरुष प्रहार नहीं करते हैं अर्थात् इनकी
रक्षा करते हैं ॥

जनीत दुःखी आर्त्तध्यान करती माताने जेठ तुरतज पोताना बाधना जे
घातकने पकडीने मातानी सन्मुख उलो राभी कहु, अरे वन्द्यु घातक !
बोल तने आ तशवार कये स्थणे भाइ तेजे डरीने कहु—व्या शरणागता
आवेला प्राणीने भास्वामा नथी आवता जे स्थणे आप भने मारे। वन्द्युने
भारनारना आ प्रकारना वचनने साबणी कुणपुत्रे माताना मुखनी सामे
जेसु माताजे धैर्य धारण करी व्यायुक्त जनी कहु के छे जेटा ! शरणागता
आवेदाने वीरपुत्रे कही भारता नथी केमके आटला प्राणी अवध्य होय छे

शरणागता य वीस,—त्या पणया वसणपत्ता य ।

रोगी अजगमा य, सप्पुरिसा णेव पहरंति ॥ १ ॥

गाथार्थ—शरणागत, विश्वासपात्र, कष्टमा पडेला, रोगी अने अपंग,

इदमत्र बोध्यम्—यथा गुरोराज्ञया भिक्षाचर्या गत शिष्य श्रावकगृहं
प्रविष्ट, तत्र मद्रमात्रसपन्नो धार्मिको धर्मानुगो धर्मसेवी धर्मिष्ठो धर्मख्यातिधर्मा-
नुरागी धर्मप्रलोकी धर्मजीवी धर्मप्ररञ्जनो धर्मशील श्रावको मुनिं दृष्ट्वा सप्ताष्टपदानि
तदभिष्टुखमागच्छन् हृष्टस्तुष्ट प्रसन्नचित्त प्रीतमना परमसौमनस्ययुक्तो मुनिद-
र्शनजनितहर्षवशत्रिमर्षमानसस्त वन्दित्वा नमस्कृत्य पुन पुन स्तुवन् वदति—

लाम में, अलाम में, सुख में, दुःख में, जीने में मरणे में, मान
में, अपमान में तथा निंदा और प्रशंसा में एक साधु ही ऐसा है जो
समान रहता है। यहाँ इस प्रकार समझना चाहिये—गुरु की आज्ञा प्राप्त
कर ही तो शिष्य भिक्षाचर्या के लिये गृहस्थों के घर जाता है। गृहस्थ
भी अपने घर पर पधारें हुए साधु के दर्शन कर अपने आपको बहुत
ही पुण्यशाली मानता है। क्यों कि ऐसे गृहस्थजन प्रकृति से मद्रपरि-
णामी एव धर्मानुग-धर्मका अनुसरण करने वाले होते हैं। धर्म सेवी
होते हैं और धर्मिष्ठ होते हैं। धर्मख्याति-धर्मका उपदेश देनेवाले एव
धर्मानुरागी-धर्म में अनुराग रखने वाले होते हैं। धर्मप्रलोभी और
धर्मजीवी होते हैं। धर्मप्ररञ्जन और धर्मशील होते हैं। ये मुनि को
घर पर आते हुए देखकर सर्व प्रथम उनका विनय करने के निमित्त
सात आठ पग उनके समक्ष जाते हैं। हर्ष से सतुष्ट चित्त होकर ऐसे
फल जाते हैं कि मानों कोई अपूर्व निधि का डी इन्हें लाम हुआ है।

लाममा, अलाममा, सुखमा, दुःखमा, जीवामा, मरणमा, मानमा,
अपमानमा, तथा निंदा अने प्रशंसामा ओक साधुज ओवा छे जे समान
रहे छे अहि ओ प्रकारे समजवु ओधओ-गुरुनी आज्ञा भेगवीने पछीज
शिष्य भिक्षाचर्या भाटे अहस्थाने घेर ब्य छे अहस्थ पञ्च पोताना घेर
पधारैवा साधुना दर्शन करी पोताने अहुज पुष्यशाणी माने छे डेभडे
ओवा गृहस्थजन प्रकृतिथी मद्र परिणामी तेमज धर्मतु अनुसरवु करवावाणा
होय छे, धर्म सेवी होय छे अने धर्मिष्ठ होय छे धर्मख्याति-धर्मने उपदेश
देवावादा ओटवे धर्मानुरागी-धर्ममा अनुराग राखवावाणा होय छे धर्मप्रलोकी
अने धर्मजीवी होय छे धर्म प्ररञ्जन अने धर्मशील होय छे मुनिने घेर
आवता ओधने सर्व प्रथम तेना विनय करवा निमित्त सात आठ पगवा ओमनी
सामे ब्य छे अपूर्वी नतुष्ठ चित्त जनीने ओवा कुडाता होय छे के बखे
डेध अपूर्व निधिने ओमने लाम थयो होय, यहेरो प्रसन्न यध ब्य छे, मनमा

मनसा भावयेत् । गुरोर्वचनं हि परिणामे तापोपश्रमक रत्नत्रयपरिशोधक शान्तिमुष्णा
समृत् परमहितम्, आम्रफलमिवादी कटुक, मध्येऽम्लरसयुतम्, अन्ते चापूर्वास्वाद-
जनकं भवतीति मत्वा प्रियमेव मन्येतेति भाव ।

यद्वा-प्रिय=प्रीतिजनक स्तुत्यादि, अप्रियम्=अप्रीतिकारक निन्दादि, धारयेत्=
सम जानीयात् । भिक्षाचर्यादौ प्रियमप्रिय वा वचन श्रुत्वा समभावनया तत् वितिक्षत,
तत्र राग द्वेष वा न कुर्यादित्यर्थः । उक्त च भगवता—

लामालामे सुहे दुक्खे, जीविण मरणे तहा ।

समो निंदापससासु, तहा माणावमाणओ ॥ (उत्त० १९अ)

परिणाम में सताप को मिटाने वाले रत्नत्रय को परि शुद्ध करने वाले,
शान्तिरूपी अमृत के समुद्र परम हितकारी तथा आम्रफल के समान
आदि में कटुक, मध्य में आम्लरसयुक्त एव अन्त में अपूर्व रस का
आस्वाद कराने वाले होते हैं । इसलिये गुरु महाराज के वचन को प्रिय
मानकर ही उनका सेवन करते रहना चाहिये यही विनीत शिष्य का
कर्तव्य है । अथवा—“ धारिञ्जा पियमप्पिय ” इसका अभिप्राय यह भी
है कि साधु जब भिक्षाचर्या आदि के लिये जावे तब उस समय यदि
कोई छोटे मीठे वचन भी कहे—निंदा एव स्तुति भी करे तो भी उसमें
इसे पक्षपाती नहीं होना चाहिये—दोनों पर साधु का समान भाव ही
होना चाहिये । उस पर राग एव द्वेष करना साधुका कर्तव्य नहीं है ।

लामालामे सुहे दुक्खे । जीविण मरणे तहा ॥

समो निंदा पससासु । तहा माणा व माणओ ॥ (उ १९अ)

भटाडवावाणा रत्नमयने परिशुद्ध करवावाणा शान्तिरूपी अमृतना समुद्र परम
हितकारी तथा आम्रफल जेवा शश्र्मातमा तुश, मध्यमा आम्लरस युक्त
तथा अतमा अपूर्व रसनो आस्वाद करवावाणा डोय छे आ भाटे गुरु
महाराजना वचनने प्रिय भाणीने तेनु सेवन करता रहेवु भेधजे ते विनीत
शिष्यनु कर्तव्य छे अथवा—“ धारिञ्जा पियमप्पिय ” आनो अभिप्राय जेवो
पद्य छे के साधु ज्यारे भिक्षा चर्या वजेरे भाटे बय त्यारे ते समये केध
केध साइ नरसु वचन कहे—निंदा अगर स्तुति पद्य करे तो पद्य जेमा
तेभजे पक्षपाति न बनवु भेधजे अजे पर साधुनो समानभाव डोवो भेधजे
जेना पर राग अगर द्वेष करवो जे साधुनु कर्तव्य नथी ।

लामालामे सुहे दुक्खे, जीविण मरणे तहा ।

समो निंदापससासु, तहा माणावमाणओ ॥ (उत्त० १९ अ)

तथा—केचिदधार्मिका अनाया म्लेच्छा अधर्मजीविनोऽधर्मानुरागिणोऽधर्म-
शीला विवेकविकला साधु दृष्टा निन्दन्ति हीलन्ति खिसन्ति—‘अयं वराको
ने सत्त्व. कातरो दाम्मिको भिक्षामात्रोपजीवी कुक्षिमरिर्भूमिभारस्वरूपो गृहे गृहे
गृहपाल इव भ्रमति’ इत्यादि वचन श्रुत्वा मुनि स्वात्मान नापकर्षयेत् ।

अत्रोदाहरणम्—कश्चिद् वृद्धो महात्मा भिक्षार्थमेकस्मिन् गृहे गत्वा तद्गृहस्वा-
मिनीं प्रति किं सच्चित्रलादिस्पर्शरहिताऽसि न वेत्याशयेन पृष्टवान्—भगिनि !

तथा कितनेक ऐसे भी अधार्मिक, म्लेच्छ, अनार्यजन हैं कि
जिनका जीवन सत्य धर्म की वासना से विलकुल विहीन घना हुआ
है, अधर्म में ही जिन्हें बड़ा भारी अनुराग है, प्रकृति भी जिनकी
अधर्मशील हैं, विवेक से जो सर्वथा पराङ्मुख हैं वे साधुजन को देखते
ही अपनी नाक माँहें सिकोड़ने लगते हैं और जो मन में आता है वही
बकने लग जाते हैं—निन्दा करते हैं, हीलना करते हैं—खिसाते हैं—कहते
हैं कि देखो तो सही यह विचारा कितना अपने आपको भूलता है तथा
कितना कायर घना हुआ फिर रहा है कैसे—कैसे दम रच रहा है जो
यह बड़ा से भिक्षा मागकर अपना निर्वाह करता है। अपना ही पेट
भरना इसने सीखा है। ऐसे जनों से ससार की क्या भलाई हो सकती
है। ये तो केवल इस पृथिवी के भारभूत हैं जो कुसेकी तरह घर घर में
प्रतिदिन भ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार के वचन सुनकर साधु को
चाहिये कि वह अपनी आत्मा को हल्की न समझे। इसी विषय को
एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

तथा केटलाक जेवा पञ्च अधार्मिक म्लेच्छ, अनार्यजन छे के जेभनु
एवन सत्य धर्मनी वासनाथी पीलकुल विहीन अनेल डोय छे अधर्माभां ज
जेने भारे अनुराग छे, प्रकृति पञ्च जेनी अधर्मशील छे, विवेकथी जे सर्वथा
पराङ्मुख छे ते साधुजनने लेधनि पोतानां नाक तथा भेडोनि भगाडे छे
अने मनमा आवे तेवुं अकवा लागी बय छे निदा करे छे, हीलना करे छे—
भिसाय छे, कडे छे के बुज्यो तो अरा आ पीयाशे केटवो पोतानी अतने
बुद्धे छे तथा केवा कायर अनीने इरी रक्षा छे केवा केवा इम रयी रडेल छे,
जे अडिं तडिथी भिक्षा मागीने पोताने निर्वाह करे छे पोतानुं ज पेट
भरवानुं जे शीजेल छे आवा साधुथी ससारनी शु अलाथ यध शकवानी
छे आ तो केवण आ पृथ्वी उपर भार जेवा छे जे कुतरानी भाइक घेर
घेर इशेज भमता रडे छे आ प्रकारनां पचन सांभणी साधुजे पोताना
आत्माने इलके मानता न अतवुं जेधजे आ विषयने जेक उदाहरण द्वारा
स्पष्ट करवामां आवे छे—

‘ધન્યોઽસ્મિ, કૃતપુણ્યોઽસ્મિ, કૃતલક્ષ્ણોઽસ્મિ મવદર્શનેન, મવદાગમન દરિદ્રસ્ય ગૃહે સ્વર્ણવૃષ્ટિરિવ કામધેનુરિવ મમ સર્વસૌભાગ્યજનકમ્” इत्युक्त्वा स्वगृहं सादर मानीय विपुलमशनं पानं खाद्यं स्वाद्यं ददाति, दत्त्वा च पुनः पुनः स्तौति, तत्र मुनिः स्वात्मानं नोत्कर्षयेत् ।

चेहरा प्रसन्न हो जाता है । मन में एक प्रकार का विलक्षण सतोष आ जाता है, उस समय उसे यद्वा भारी आनन्द आता है । उस आनन्द में तल्लीन होता हुआ वह श्रावक उस समय एक प्रकार से अपने आपको भी भूल सा जाता है और वन्दना एव नमस्कार कर भक्ति के आवेश से स्वयं अपने गुरु महाराज की स्तुति करता हुआ कहता है हे नाथ ! आज मैं धन्य हुआ हूँ कृतपुण्य हुआ हूँ और मेरी यह पर्याय सफल हुई है जो आपके दर्शन पाये । दरिद्र के घर में सुवर्ण की वर्षा के समान एवं कामधेनु के समान आप का मेरे घर पधारना मेरे परम सौभाग्य का उत्पन्न करने वाला एव वृद्धि करनेवाला है । इसलिये पधारिये और घर को पावन कीजिये—इस प्रकार कह कर वह महात्मा को अपने घर लाता है और सादर उन्हें विपुल अशन, पान, खाद्य एव स्वाद्य चार प्रकार का आहार देता है । फिर धारम्यार उनकी स्तुति करता है । ऐसी प्रशंसा सुनकर गृहस्थकी ऐसी विनय भक्ति देखकर साधु को फूल नहीं जाना चाहिये ।

એક પ્રકારનો વિલક્ષણ સતોષ આવી બંધ છે એ સમયે એને ઘણોજ આનંદ થાય છે એ આનંદમાં તલ્લીન થતાં થતાં તે શ્રાવક એ સમયે એક પ્રકારથી પોતે પોતાને પણ ભૂલી બંધ છે અને વંદના એવ નમસ્કાર કરી ભક્તિના આવેશથી સ્વયં પોતાના ગુરુ મહારાજની સ્તુતિ કરતાં કરે છે કે હે નાથ ! આજ હું ધન્ય બન્યો છું, કૃત પુણ્ય બન્યો છું, અને મારી આ પર્યાય સફળ બની છે એ આપના દર્શન થયાં. દરિદ્રના ઘરમાં સોનાના વરસાદ સમાન તેમ કામ ધેનુ સમાન આપનું મારે ઘર પધારવું મારા પરમ સૌભાગ્યને ઉત્પન્ન કરવાવાળું અને વૃદ્ધિ કરનાર છે આ માટે પધારો અને ઘરને પાવન કરો આ પ્રકારે ઠીકે તે મહાત્માને પોતાને ઘર લાવે છે અને આહર માનથી તેમને વિપુલ અશન, પાન, ખાદ્ય અને સ્વાદ્ય એમ ચાર પ્રકારનો આહાર આપે છે પછી વારવાર તેની સ્તુતિ કરે છે એવી પ્રથમા સાંભળી, ગૃહસ્થની એવી વિનય ભક્તિ એક, સાધુએ કુલાઈ જવું ન જોઈએ

यति-स्थूलस्य दृष्टपुष्टाङ्गस्य तत्र कथमल्पेनोदर भरिष्यति ? इत्यादि परिमवचन युत्वाऽपि स महात्मा समभाव समालम्ब्य स्वात्मान हीन न मन्यते स्म, तदा स उचितभिक्षा गृहीत्वा प्रतिनिष्ठ । एव सर्वैर्भूनिभिर्भाव्यम् ॥ १४ ॥

आत्मनो दमने सत्यत्र क्रोधवैफल्य कर्तुं शक्यते तस्मात् तदुपदेश तत्कल चाह-
मूलम्—अर्ष्यां चैवं दमेयं चो अर्ष्यां हुं खलु दुर्दमो ।

अर्ष्या दंतो सुंही होई अर्सिस लोर्षे परंत्य ये ॥ १५ ॥

छाया—आत्मा एव दमितव्य. आत्मा हु खलु दुर्दम ।

आत्मान दाम्यन् सुखी भवति, अस्मिन् लोके परत्र च ॥ १५ ॥

स्वामिनि ने कहा—चाह स्वयं कहा इतने सडमुसड तो होरहे हो फिर भी थोडा आहार देने के लिये कह रहे हो थोडे से दिये गये आहार से भला इस दृष्टपुष्ट शरीर की तृप्ति कैसे हो सकेगी । इत्यादि उसके अपमान जनक वचन सुनकर मी वे महात्मा समभावशाली ही बने रहे और उन्होंने उसके वचन से अपने आपको हीन नहीं समझा । वहा से उचित भिक्षा लेकर फिर वे अपने स्थान पर वापिस आगये । इसी प्रकार कहने का मतलब यह है कि समस्त मुनिजनोंको अपने आपको प्रतिकूल सयोग में हीन नही मानना चाहिये ॥ १४ ॥

जो आत्मा का दमन करता है वही क्रोध को निष्कलकर सकता है इस लिये सूत्रकार आत्मा-अर्थात्-मन को दमन करने का उपदेश देते हैं एव उसका फल भी कहते हैं—‘अर्ष्याचेव०’ इत्यादि ।

पाठ प्र० कर्षु, आटवा अटमस्त जेवा ते बनी रहेव छे छता पक्षु थोडा आहार देवानु कही रक्षा छे थोडा आहारथी भला आ अटमस्त शरीरनी तृप्ति कर्षु रीते कर्षु शक्ये. इत्यादि जेना अपमान जनक वचन साभणीने पक्षु ते महात्मा समभावशाली व बनी रक्षा बने तेनां तेवा वचनोथी पोतानी बलने हीन नहि समन्या त्याथी उचित भिक्षा कर्षुने पछी ते पोतानु स्थान उपर आवी गया. आ प्रकार कहेवानो मतलब छे छे छे समस्त मुनि जनोअे पोत पोताने प्रतिकूल सयोगमां पक्षु हीन मानवु न कर्षु ॥ १४ ॥

जे आत्मानु दमन करे छे ते क्रोधने निष्कल करी शके छे आ भाटे सूत्रकार आत्मा-अर्थात्-मनने दमन करवानो उपदेश आवे छे बने तेनु कषु पक्षु कहे छे—अर्ष्याचेव० इत्यादि

स्वस्थाऽसि, तथा कथितम्-स्वमेवासि रोगी, अहं तु स्वस्थैवारिम भिक्षादानार्थं महात्मना प्रोक्ता सा गृहस्वामिनी वदति-किमत्र तत्र पित्रोपार्जनं कृत्वा स्थापित, तद् ग्रहीतुमागतोऽसि, एतद् वचनं श्रुत्वा स महात्मा परावृत्तः । ततो गृहस्वामिनी वदति-ओहो ! भिक्षार्थिनोऽपि त्वैतावान् मद, एहि, एहि, ददामि भिक्षाम्, एव तथाऽभिहितः सन् स महात्मा पुनस्तद्गृहं भिक्षां ग्रहीतुमागतः । स्थूला स्थूलाश्च तस्यो रोटिकास्तया समानीता, महात्मना प्राक्तम्-स्तोरु देहि, गृहस्वामिनी कथं

कोई एक घृद्ध महात्मा भिक्षाके लिये किसी एक घर पर पहुँचे। वहाँ जाकर गृहस्वामिनि से “ सचित्त जलादिक के स्पर्श से रहित हो कि नहीं ” इस अभिप्राय से पूछा कि यह न! स्वस्थ तो हो? महात्मा जी की बात सुनकर गृहस्वामिनी कहने लगी कि मैं तो स्वस्थ ही हूँ-रोगी तो तुम ही हो। महात्माजी ने फिर उससे भिक्षा देने के लिये कहा तो वह बोली कि यहाँ क्या तुम्हारा बाप कमाकर रख गया है जो लेने के लिये दौड़े आये हो? इन वचनोंको सुनकर महात्माजी वहाँ से पीछे लौटे। महात्माजी को पीछा लौटा हुआ देखकर गृहस्वामिनि घड़बड़ाती हुई कहने लगी-ओहो! भिक्षार्थी होकर के मीड़तना अभिमान। अच्छा आओ आओ और भिक्षा ले जाओ। मैं भिक्षा देती हूँ। इस प्रकार जब उस गृहस्वामिनि ने कहा तो महात्मा उसके घर भिक्षा लेने के लिये पीछे आये। वह जब उन्हें मोटी-मोटी चार रोटी देने लगी तो महात्माजीने पुनः कहा वहिन थोड़ा आहार दो-यह तो अधिक है। तब गृह

कोई एक घृद्ध महात्मा भिक्षा माटे कोई एक घर पहुँचा तब वहाँ गृहस्थनी ने “ सचित्त जलादिक के स्पर्श से रहित हो कि नहीं ” का अभिप्राय ही पूछा, के, भड़न! स्वस्थ है ने? महात्माजीने बात सावधानीने गृहस्थनी से कहेवा लागी के हु तो स्वस्थ है छु-रोगी तो तबेव है महात्माजीने पछी तेने भिक्षा मापवा कहे तो ये बोली के, अच्छी क्या तमारे बाप कमाधने राभी गयेव छे, के देवा माटे होडी आव्या छे? आ वयनेने सावधानीने महात्माजी त्वाथी पाछा कया, महात्माजीने पाछा कहेवा के छे गृहस्थनी से भडभडाट कस्तां कहेवा लागी, ओहो! भिक्षार्थी होवा छता पक्षु आटहुं अभिमान। आवो भिक्षा लई नव हु भिक्षा आयु छु आ प्रकारे ये गृहस्थनी से कहे तो महात्मा जेने घर भिक्षा देवा पाछा गया ते ज्यारे तेने मोटी मोटी चार रोटी देवा लागी तो महात्माजीने कहे भड़न थोड़ा आहार आपो-आ तो पक्षु छे त्वारे गृहस्थनी से -

उक्तंच—जओ जओ सचरइ, मणो चचलमस्थिर ॥

तओ तओ नियमिय, कुज्जा अप्पमि त थिरं ॥१॥

छाया—यतो यतः सचरति मनः चचलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्य कुर्यात् आत्मनि तद् स्थिरम् ।

सूर्योदये सति शीतवेदना निवृत्तवन्मनोविजये सति सकलदुःखानामात्यन्तिक निवृत्तिर्भवति । अविज्ञित मनस्तत्त्वज्ञान विनाशयति तपः सयमशिखरादात्मान

जाग्रत हो सकती है। आत्मा शब्द का अर्थ यहाँ पर मन है। क्यों कि इसीका दमन किया जाता है। जीव आत्मा इसका दमन करने वाला है। दमन करने से आत्मा को सब से बढ़ा भारी लाभ यह होता है कि जिस प्रकार सूर्यके उदय होने पर शीतवेदना की निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार मनको जीत लेने पर आत्मा से सकल दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इसीलिये शास्त्रकारों का यह उपदेश है कि “जओ जओ सचरइ मणो चचलमस्थिरं। तओ—तओ नियमिय कुज्जा अप्पमि त थिर ॥ यह अस्थिर चचल मन जिन-जिन पदार्थोंकी ओर झुके-उनमें चले-उसे वहा से खेंचकर मोक्षाभिलाषी का कर्तव्य है कि वह उसे अपनी आत्मा में सलग्न करे। जयतक मन स्थिर नहीं होगा उसका निग्रह नहीं होगा-तय तक तत्त्वज्ञान आत्मा में उत्पन्न नहीं हो सकता है। तत्त्वज्ञान की जागृति हुए बिना आत्मा को हेय एवं उपादेय पदार्थोंका वास्तविक भान नहीं हो सकता। मनकी ही तो यह चचलता

७ आत्माभा शांती लगी शकें छे आत्मा शब्दने अर्थ अही मन छे केम के आत्मानु ७ इमन करवाभा आवे छे ७७ आत्मा अेनु इमन करवावाणा छे इमन करवाथी आत्माने मोटाभा मोटो वाक तो अे थाय छे के ने प्रकारे सुखने उदय यवाथी ठडीनी वेदानानी निवृत्ति थाय छे अेव रीते मनने अ्ती वेवाथी आत्माना सकण दुःखोनी निवृत्ति यर्ष लय छे आ भाटे शास्त्रकारेने आ उपदेश छे के -

“जओ जओ सचरइ, मणो चंचलमस्थिर ।

तओ तओ नियमिय, कुज्जा अप्पमि त थिर ॥”

आ अस्थिर अथल मन ने ने पदार्थोनी तरङ्ग ढणे-अेभा यावे-अेने त्याथी जेथीने मोक्षाभिलाषीअे पोताना आत्माभा सकण करी देवु अेर्ष अे न्यां सुधी मन स्थिर नही होय-त्यां सुधी अेने निश्चल धनार नथी-त्या सुधी तत्वज्ञान आत्माभा उत्पन्न यर्ष शकतु नथी। तत्वज्ञाननी अगृति यथा वयर आत्माने हेय अने उपादेय पदार्थोनु वास्तविक भान यर्ष शकतु नथी।

ટીકા—‘અપ્પા ચેવ૦’ ઇત્યાદિ—

આત્મૈવ=મન એવ, દમિતવ્ય. —વશી કર્તવ્યો જેતવ્ય ઇત્યર્થઃ, ઇહાત્મશબ્દેન મનો ગૃહ્યતે તસ્યૈવ દમનીયત્વાત્ । આત્મા તુ દમકો વોષ્યઃ । શબ્દાદિ વિષયેષુ પ્રવર્તમાન મનસ્તત પ્રત્યાહત્ય સ્વાત્મનિ સ્થાપનીયમિતિ ભાવઃ ।

અન્વયાર્થ—(અપ્પાચેવ દમેયવ્યો—આત્મા એવ દમિતવ્ય.) મન હી દમન કરને યોગ્ય હૈ । (અપ્પા હુ સ્વલ્લુ દુદ્ધમો—આત્મા હુ સ્વલ્લુ દુદ્ધમ) ક્યોં કિ મન હી દુદ્ધમ હૈ । (અપ્પા દત્તો અસ્સિ લોણ પરત્થ ય સુહી હોઈ—આત્માનં દામ્પ્યન્ ઇહ લોકે પરત્ત ચ સુહી ભવતિ) મનકો દમન કરને વાલા જીવ નિયમ સે ઇસ લોક મેં તથા પરલોક મેં સુહી હોતા હૈ ।

ભાવાર્થ—સૂત્રકાર ઇસ ગાથા ઘારા ઇન્દ્રિયોં કે વિષયોં મેં પ્રવર્તમાન મન કે નિગ્રહ કરનેકા ઉપદેશ દે રહે હૈં । વે કહતે હૈં કિ ઇસલોક એવ પરલોક મેં યદિ સુહી હોના ચાહતે હો—તો મનકા નિગ્રહ કરો ઉસે અપને વશ મેં કરો । જય તક ઇસકો વશ મેં નહીં કિયા જાયગા તથ તક ઇસકા અધીન ઘના હુઆ આત્મા કમી મી કિસી મી ભવ મેં સુહ શાન્તિ નહીં પાયેગા । આત્મા હી મન કા દમન કર સક્તા હૈ । દમન કરનેકા મતલબ યહ હૈ કિ જો મન ઇન્દ્રિયોંકે વિષયોં મેં ગૃહ્ય યના હુઆ હૈ ઉસકો ઉનમેં ગૃહ્ય નહીં યનને દેતા । યહી મનકા દમન કરના હૈ । મનકો વિષયોંસે હટાકર આત્મામેં સ્થાપિત કરના ચાહિયે । તમી આત્મા મેં શાન્તિ

અન્વયાર્થઃ—અપ્પા ચેવ દમેયવ્યો—આત્મા એવ દમિતવ્યઃ—

મનવ્વ ઇમન કરવા યોગ્ય છે

અપ્પા હુ સ્વલ્લુ દુદ્ધમો—આત્મા હુ સ્વલ્લુ દુદ્ધમઃ—

કેમકે મનવ્વ દુદ્ધમ છે

અપ્પા દંતો અસ્સિ છોણ પરત્થ ય સુહો હોઈ ।

આત્માનં દામ્પ્યન્ ઇહ લોકે પરત્ત ચ સુહી ભવતિ ।

મનનુ ઇમન કરવાર એવ આલોક અને પરલોકમાં સુખી થાય છે

ભાવાર્થ—સૂત્રકાર આ ગાથા ઘારા ઇન્દ્રિયોના વિષયોમાં પ્રવર્તમાન મનને નિગ્રહ કરવાનો ઉપદેશ આપી રહ્યા છે તેઓ કહે છે કે, આ લોક અને પરલોકમાં જો સુખી થવાં ચાહતા હો તો—મનને નિગ્રહ કરો, જોને પોતાના વશમાં રાખો જ્યાં સુખી મનને વશ કરવામાં ન આવત્યાં સુખી જોના આધીન બનેલો આત્મા ક્યારેય પણ—કોઈ પણ ભવમાં સુખ શાન્તિથી રહી શકવાનો નથી. આત્મા જ મનનુ ઇમન કરી શકે છે ઇમન કરવાનો હેતુ જો છે કે મન ઇન્દ્રિયોના વિષયમાં વ્યાપ્ત બન્યું છે જોને એમાંથી દૂર કરવું જોઈ મનનુ ઇમન કરવું છે મનને વિષયોથી હટાડી આત્મામાં સ્થાપિત કરવું જોઈ જો. આરે

दृष्टवले उपविष्ट आसीत् तदा तेन महात्मना ध्यानावस्थायामेक श्वापदमंकुल
व्यालाकुल विशाल महारण्य दृष्टम् । तत्रैको पुरुपस्तेन दृष्टः, स च सहस्रसृजो
विस्तृतकायः सहस्रहस्तधृतैः सहस्रसृशलैः स्वदेह ताडयन् भीतमीत इव चीत्कारं
कुर्वन्भितस्ततः पलायमानः शतयोन्नानि धावमानः भ्रमेण शिथिलावयवः परवशः
सन् पातालवद्गम्भीरे गाढा अकारे महान्धकूपे निपतितः । पुनरसौ तस्मादन्धकूपाद्
वह्निर्निःसृत पूर्ववत् सहस्रसृशलैः स्वदेह ताडयति तदनु महत्यामग्निज्वालायां
शलम श्वासौ प्रविष्टः । पुनरसौ ततोऽपि वह्निर्निःसृत्यकण्टकाकीर्णं महारण्ये
इतस्ततो धावति, तदनु पुनः स्वदेशेपरि पूर्ववत्सहस्रसृशलप्रहारं कुर्वन् स दृष्टः ।

पैठे हृण थे । मुख पर सदोरक मुन्ववन्निका घँधी छुई थीं, उन्हें उस ध्यान
में एक विशाल जगल दिग्बलाई पडा । जो श्वापदोंहिसक प्राणीयों से संकीर्ण
एव व्याप्त था । उस में उन्होंने एक महाकाय व्यक्ति जिसके हजार
हाथ थे देखा । उसके सब ही हाथों में मुसल थे । वह इधर उधर भागता
हुआ मुसलको शरीर पर मारता हुआ भयकर चीत्कार शब्द करता
था । वह भागता भी इतना अधिक कि सौ योजन तक निकल जाता ।
जय वह थक जाता और उसका शरीर जय ढीला हो जाता तय वह
पाताल के समान गभीर एक महान्धकूप में कि जिसमें गाढ अंधकार
ही अंधकार था उसमें गिर जाता था । पीठे बहासे निकलना और इसी
तरह अपने शरीर को हजारों मुसलोंसे पीटता, घाद में शलम—(पतग)
की तरह एक महती अग्निज्वाला में प्रविष्ट हो जाता । पश्चात् वहा से
भी निकल कर वह एक कण्टकाकीर्ण अरण्य में घुस जाता और वहा
इधर उधर दौड़ता हुआ अपने शरीर को सहस्र मुसलों से पूर्वकी तरह

वेष्ट होता । मोटा उपर दोरासाथे मुणवन्निका बांधिल इती जेभने जे ध्यानभां
जेठ विशाल जगल देखायु, जे अनेक प्रकारना हिसक प्राणीजोधी बरिहु
इत्तु, तेभा जेभजे जेठ महाकाय व्यक्ति जेने इन्तर हाथ छे तेवी जेठ, जेना
अधा हाथेभा मुखण इता, ते अडिथी तकी होउता होउता मुसदोने पोताना
शरीर पर मारतो इतो अने भयठर चित्कार शब्द करतो इतो, जे जेटका
नेरथी होइतो इतो के सो योजन मुधी निकणी जतो थाठ लागतो अने शरीर
न्भारे ढीलु यध जतु त्तारे ते भुणज उडा अने गाढ अंधकारथी छवायेव
कुषामां कुडी पडतो, पाछो त्यांथी निकणतो अने जेव रीते इन्तरा मुसदोथी
पोताना शरीरने पीपतो णइमां शलम (पतग)नी भाइठ जेठ महती अग्नि
व्याणामां पडतो अने त्यांथी पखु नीकणीने ते महान हांटाजोवाणा
जगलमां घुसी जतो त्या पखु आभ तेम होउतो अने पछेवानी जेभ पोताना

પાતયતિ ઉન્માર્ગં પ્રાપયતિ ચતુર્ગતિકસસારચક્રે ભ્રામયતિ નરકનિગોદાધનન્તદુ સ
ર્ગતે નિપાતયતિ રત્નત્રય લુપ્તયતિ આત્મગુણાન્ પાતયતિ જ્ઞાનાવરણીયાષ્ટવિધં
કર્મોપાર્જયતિ । તસ્માન્મનો નિગ્રહ ક્રયાત્ ।

અષ્ટોદાહરણમ્—

તથાહિ—एकौ लब्धिसंपन्नो महात्मा यदसदोरकमुखवस्त्रिक, ध्याननिष्ठः सन्

है जो अच्छे-अच्छे ज्ञानीजन भी समयरूपी शिखर से इकदम पतित हो जाते हैं और नहीं सेवन करने योग्य मार्ग में भी प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे उनकी चतुर्गतिरूप ससार में परिभ्रमणरूप दुर्दशा ही होती रहती है। नरक एव निगोद के अनंत दुःखों को वे भोगते हैं। इन समस्त दुःखों से आत्मा का संरक्षण करनेवाला जो रत्नत्रय धर्म है—यह उनका लुटा जाता है। वे पिलकुल निर्धन बन जाते हैं। इन निर्धनता में और भी अनेक जो आत्मा के सदगुण हैं उनका विकास नहीं होते पाता है इस स्थिति में इस आत्मा की इतनी दयनीय स्थिति हो जाती है, कि ज्ञानावरेणादिक अष्ट प्रकार के कर्म इस पर रात दिन अपना प्रहार करते रहते हैं। इसको उस समय बचानेवाला कोई नहीं होता है। इस लिये मोक्षाभिलाषी का कर्तव्य है कि यह मन का निग्रह करे।

इस विषय को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

कोई एक महात्मा जो लब्धिसंपन्न थे, एक वृक्ष के नीचे ध्यानमें

મન એવું ચચળ છે કે ભલભલા જ્ઞાનીજનને પણ સમયરૂપી શિખર ઉપરથી એકદમ નીચે ઝબડાવી મુકે છે, અને સેવન ન કરવા યોગ્ય માર્ગમાં પ્રવૃત્ત બનાવી દે છે આથી તેમની ચતુર્ગતિરૂપ સસારમાં પરિભ્રમણ રૂપ દુઃશા બ થતી રહે છે નરક અને નિગોદના અનંત દુઃખો તે ભોગવે છે આ સમસ્ત દુઃખોથી આત્માનું સંરક્ષણ કરનાર જે રત્નત્રય ધર્મ છે—તે એની પાસેથી લુપ્ત થાય છે, આથી બિલકુલ નિધન બની બાય છે આ નિર્ધનતામાં આત્માના જે બીજા સદ્ગુણ હોય છે એનો પણ વિકાસ થતો નથી આ પરિસ્થિતિમાં આત્માની એટલી દયામય હાલત થઈ બાય છે, કે જ્ઞાનાવરણાદિક આઠ પ્રકારનાં કર્મ રાત અને દિવસ એના પર પ્રહાર કરવા રહે છે આ સમયે એને આમાથી કોઈ બચાવનાર હોતું નથી આ માટે મોક્ષાભિલાષીનું કર્તવ્ય છે કે, તે મનનો નિગ્રહ કરે

આ વિષયને એક ઉદાહરણ દ્વારા સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે—

કોઈ એક મહાત્મા જે લ્બિધસંપન્ન હતા, એક વૃક્ષની નીચે ધ્યાનમાં

अहमन्यो नास्मि किं तु मनोनाम्ना प्रसिद्धोऽस्मि इष्टानिष्टशब्दादिविषये प्रवर्तमानोऽहं तृष्णारज्ज्वा प्राणिन बन्धामि, ततस्तमारम्भपरिग्रहाऽऽसक्त ससारचक्रे भ्रामयन् कदाचिद्देवजातो कदाचिन्नरजातो कदाचित्तिर्यग्जातो कदाचित् पृथिव्यादिस्थावरयोनिषु द्वीन्द्रियादि-त्रसयोनिषु अनन्तदुःख प्रापयामि। यदा तु भवाद्देशेन महात्मना निगृहीतो भवामि तदा रत्नत्रयाराधन कारयामि, मोक्षमार्गं स्थापयामि, क्षपकश्रेणिमारोहयामि। शनैः शनैर्निग्रहाभ्यासप्ररूपं सति शास्त्रसदृशि-

नहीं हूँ-मेरा नाम मन है। इष्ट अनिष्ट शब्दादिक विषयों में प्रवृत्ति करना और तृष्णारूपी रस्सी से प्राणियों को जकड़ना यही मुझे प्रिय है। मुझे आनंद भी इसी में आता है कि जय प्राणी आरंभ परिग्रह में आसक्त होकर ससार चक्रमें घूमता है। मैं ही तो उनकी इस स्थिति का मूल कारण घनता हूँ। कभी मैं जीवों को देवजाति में, कभी मनुष्य योनि में कभी तिर्यग्जाति में, कभी पृथ्व्यादिक स्थावर योनि में, कभी द्वीन्द्रियादिक त्रस पर्यायों में घुमाता रहता हूँ और वहाँके अनंत कष्टों का उन्हें पात्र घनाता हुआ बड़ा खुशी होता रहता हूँ। आप जैसे महात्माओं पर दुःख है कि मेरा बंध नहीं चलता। कारण कि आपके सामर्थ्य के आगे मेरी शक्ति सर्वथा सकुचित हो जाती है। वह इस दिशा में न वह कर दूसरी दिशा तरफ यहने लग जाती है। इसलिये मैं निगृहीत होकर आप जैसे से रत्नत्रय की आराधना करवाता हूँ। मुक्ति के मार्ग में लगा देता हूँ तथा क्षपकश्रेणि पर भी षडा देता हूँ। जय साधुजनों का मुझे निग्रह करने

हुँ पीछे कोई नहीं-भाई नाम मन है इष्ट अनिष्ट शब्दादिक विषयों में प्रवृत्ति करनी और तृष्णारूपी रस्सी से प्राणियों को बांधना जो मन पसंद है मन आनंद पक्ष को वातमा आवे है के लिये प्राणी आरंभ परिग्रह में आसक्त बनी ससार चक्र में घूमे है हुँ पीछे तेनी आ स्थिति में भूषण करण अनु हूँ, कोई वधत हुँ लोको देव जातीमा, क्यारेक मनुष्य योनीमां, क्यारेक तिर्यग्जातिमां, क्यारेक पृथ्वी आदि स्थावर योनीमां, क्यारेक वे द्वीन्द्रियवाजा त्रस पर्यायों में घूमते रहें हूँ और त्यांता अनेक कष्टोंको पात्र बनावी हुँ खुशी बतो रहें हूँ आप जेवा महात्माओं उपर भारी प्रभाव पडी सकते नहीं जो वातनु मनै दुःख है करण के आ आपना सामर्थ्य आगण भारी शक्ति सर्वथा सकुचित बनी बल्य है ते आ विद्यामा न वहेतां पीछे दिशा तर्क वहेती होय है आ भाटे हुँ निगृहीत बनीने आप जेवाओंकी रत्नत्रयनी आराधना करवुं हूँ मुक्तिमा मार्गमा बजाडी रहें हूँ, अने क्षपक

अथासौ दूरं गत्वाऽष्टाहास कुर्वन् धावमानश्चन्द्रकिरणशीतल कदलीवन प्रविष्टः ।
 क्षणादेव ततोऽपि वह्निर्निःसृत्य पुनः स्वदेहोपरि सहस्रमुशलैः महारं कुर्वन् धावमान
 इतस्ततो भ्राम्यति । पुनः श्रमेण शिथिलावयवः सन् महान्धकूपे निपतितः । तत्-
 धिरेण निःसृत्य पुनः कदलीवन प्रविष्टः, ततोऽपि निर्गत्य लतावनं गतः, लता
 यनाद् वह्निर्भूत्वाऽन्धकूपे पतितः, तदनु कृपाग्निःसृत्य कुसुमवनं गतस्तत्रैतस्तथो
 धावमानः स्वदेहोपरि मुशलैः महारं करोति ततोऽपि निःसृत्य फलवनं प्रविष्टः,
 तत्रापि धावमानः स्वदेहोपरि पूर्ववत् सहस्रमुशलैः महारं करोति । एवविधं पुरुषं
 स महात्मा ज्ञान दृष्ट्या विलोक्य स्वलब्धि वलेन तस्य प्रतिरोधं कृत्वा पृथगान-
 कस्त्वम् ? किमर्थमेवं क्रियते ? तव किं मियमस्ति ? एव शृणोऽसौ पुरुषोऽब्रवीत्-

ही प्रहारित करता । फिर दूर जाकर वड़े जोर से हँसता और चन्द्रकिरण
 के समान शीतल कदलीवन में प्रवेश कर वहाँ विश्राम करने लगता ।
 क्षण एक विश्रामित होकर वहाँसे बाहर आते ही फिर वही अपनी चाल
 शुरू करता, जब यह इस चाल से थक जाता था तो गाढ़ अधकार वाले
 कूर्पे में गिर जाता था, वहाँ से निकल कर फिर कदली वनमें जाता, वहाँ
 से बाहर होते ही लतावन में वहाँसे फिर अधकूप में वहाँसे कुसुमित
 वन में, वहाँसे फल वाले वन में इस प्रकार भ्रमण करता-करता वह
 अपने शरीर को मूसलों के प्रहारोंसे कूटता रहता । महात्मा ने जब इस
 प्रकार की इसकी स्थिति देखी तो उन्हें यज्ञ ही अचरज हुआ । उसकी
 इस स्थिति को उन्होंने अपने लब्धिवलसे स्थमित कर दिया और उससे
 पूछा—तुँ कौन है और क्यों इस प्रकार की चेष्टाएँ करता है ? तुझे क्या
 प्रिय है ? महात्माकी इस बात को सुनकर उसने कहा कि मैं और कोई

शरीर उपर मुशलोंना दृष्टक लाभावतो पछी योऽऽ आभ्रण वधी जेर जेरभी
 दुसतो अने चन्द्रकिरण समान शीतल डेणोना वनमां प्रवेश करी त्यां आशम
 करवा लावतो योऽऽ समथ विश्रान्ति लक्ष-अभ रहित जनी त्यांभी लक्षार
 नीकणी पूववत् दोऽऽ दोऽऽ अने शरीर उपर मुशलना प्रहारनी प्रवृत्ति, अभ
 कारवाञ्च कुवाभां पडवु, करी पाछो डेणोना वनमां प्रवेश, त्यांभी लता वनमां,
 त्यांभी करी कुवाभां, त्यांभी नीकणी करी डेणोना वनमां, आ प्रकारे अभलु करतो
 अने पोताना शरीरने मुसलोंभी भारतो आ स्थिति न्यारे महात्माजे जेध
 त्यारे तेमने बारे अचरज यध, जेनी जे स्थितिने पोताना लब्धिवलभी स्थमित
 जनावी लक्ष महात्माजे तेने पूछयु-तु कोणु छो अने आ प्रहारनी चेष्टाजे
 या भाटे करे छे ? तने शु प्रिय छे ? महात्माणी बात जालणी तेजे

यद्वा—आत्मा=वाग्नेन्द्रिय दमितव्य एव वाग्नेन्द्रिय पञ्चविध श्रोत्रचक्षुर्घ्राण रसनस्पर्शनभेदात् । वाग्नेन्द्रियाणां दमनाकरणे आत्मनो विनाशः स्यात् । उक्तच—

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने के पहिले उसका आलोक-प्रकाश प्रसृत हो जाता है उसी प्रकार समस्त रूपादिक पदार्थोंको विषय करने वाला यह प्रतिभज्ञान, केवलज्ञानरूप सूर्यके उदित होने के पहिले उसकी प्रभा सरीखा प्रकट हो जाता है । जिससे यह बात निश्चित हो जाती है कि अच इस आत्मा में केवलज्ञान का उदय होनेवाला है । जय मनो-निग्रह का अभ्यास सर्वोत्कृष्ट अवस्था संपन्न हो जाता है तब उस समय आत्मा में केवलज्ञान की उद्भूति हो जाती है । इसके समस्त पदार्थोंका स्पष्ट प्रतिभास होने लग जाता है । कोई भी रूपी अथवा अरूपी पदार्थ ऐसा नहीं बचता जो केवलज्ञान का विषय नहीं बनता हो । यह ज्ञान अनुपम है—ऐसा कोई और ज्ञान नहीं है—कि जिससे इसे उपमित किया जा सके । इसके द्वारा प्रकाशित पदार्थों में किसी भी प्रकार से बाधा नहीं आती है । इस प्रकार महात्मासे कहकर वह मन नामका पुरुष अन्तर्हित हो गया ॥

आत्मा शब्द का अर्थ वाग्नेन्द्रिया भी हैं । वे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण के भेद से ५ प्रकार की हैं । मोक्षाभिलाषी आत्मा

ज्ञानकी अपेक्षा रहती नहीं जेम् सूर्यनो उदय यथा पडेला तेनो आववानो प्रकाश प्रसार पावे छे, भास प्रस्तुत बने छे ते प्रकारे समस्त रूपादिक पदा र्थनो विषय करवावाणा आ प्रतिभा ज्ञान देवण ज्ञानरूप सूर्यनो उदय यथा पडेला तेनी प्रभारूपे प्रकट थाय छे जेथी ओ वात निश्चय बने छे के हवे आ आत्माभां देवलज्ञाननो उदय यवानो छे न्यारे मनोनिग्रहने अभ्यास सर्वोत्कृष्ट अवस्था संपन्न बनी जाय छे, त्यारे ते समय आत्माभां देवलज्ञानकी उद्भूति यथ जाय छे आधी समस्त पदार्थनो स्पष्ट प्रतिभास यवा लागी जाय छे केछि पञ्च रूपी अथवा अरूपी पदार्थ ओवो नहीं बचतो जे देवलज्ञाननो विषय न बनतो होय, आ ज्ञान अनुपम छे ओवु भीलु केछि ज्ञान नहीं के जेनाधी आने उपमित करी शके तेना द्वारा प्रकाशित पदार्थीभां केछि पञ्च प्रकारनी बाधा आवती नहीं आ प्रकारे महात्माने कहीने ते मन नामनो पुरुष अन्तर्हित यथ गये।

आत्मा शब्दने अर्थ वाग्नेन्द्रियो पञ्च छे, जे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, बने कानना वेदधी पाय प्रकारनी छे मोक्षाभिलाषी आत्मा ओवु मन

तोपायाः वचनगोचरातीताः, निग्रहाभ्यासप्रकर्षरहितप्राणिगणसंवेदनयाग्राभ्याः सिद्धिपदसपञ्जनकाः सूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थविषया मनाद् समुल्लसत्कुटप्रतिभासा ज्ञानविशेषा उत्पद्यन्ते। ततः किञ्चिद्नात्पन्तप्रकर्षनिरपेक्षमत्यादिज्ञान प्रकर्षपर्यन्तोत्तरकालभाविकेवलज्ञानादयाक्तन सवितुरुदयात् प्राक् तदागोकरूपम् अन्वेषरूपादिवस्तुविशेष प्रातिभ ज्ञानमुदयते, पश्चात् सर्वोत्कृष्टप्रकर्षे सति सुस्पष्टप्रतिभाससकललोकालोकविषयमनुपममवाध्य कवलज्ञानमुत्पद्यत। एवमुक्त्वाऽसौ तिरोहितो जातः। तस्मादात्मैव दमनीय ।

का अभ्यास धीरे-धीरे प्रकर्ष अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब इस अभ्यास की प्रकर्षता की कृपा से उन्हें ज्ञानविशेषोंकी प्राप्ति हो जाती है। इनसे वे शास्त्र प्रतिपादित उपायों का निरीक्षण किया करते हैं। उन ज्ञानविशेषों का कथन ऐसा तो नहीं है जो आपके समक्ष वचनों द्वारा कथित हो सके। यह यात तो वे ही जान सकते हैं जो इस अवस्था पर पहुँच चुके होते हैं। जिनकी आत्मा इस निग्रह के अभ्यास के प्रकर्ष से विहीन है मला वे इनके स्वाद को क्या जानें। ये ज्ञान विशेष सिद्धिपदरूपी सपत्ति के जनक होते हैं। सूक्ष्म, सूक्ष्मतर भी पदार्थोंके ये निर्णायक होते हैं। इनसे जीवोंका कुछ-कुछ पदार्थोंका स्पष्ट प्रतिभास होने लग जाता है। जब मनोनिग्रह करनेका अभ्यास किञ्चित् न्यून अत्यत प्रकर्ष अवस्था तक पहुँच जाता है तब उस समय आत्मा में प्रातिभ नामका एक ज्ञानविशेष उत्पन्न होता है। यह ज्ञान केवलज्ञानसे पहिले होता है। इसमें मत्यादिक परोक्ष ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रहती है।

श्रेष्ठी पर पक्ष यथावी ४७ ४८ व्यास साधुजनने निग्रह करवाने मने अभ्यास धीरे धीरे प्रकर्ष अवस्था प्राप्त थाय छे, त्पारे आ अभ्यासनी प्रकर्षतानी कृपाधी तेने ज्ञान विशेषानी प्राप्ति यर्ष जाय छे, तेनाथी ते शास्त्र प्रतिपादित उपायानु निरीक्षण कर्षा करे छे जे ज्ञान विशेषानु कथन जेवु तो नथी जे आपनी साभे वचनथी कही शक्याय, ते वात तो तेज बाणी शके छे जे आ अवस्थाने पहोखे छे जेनी आत्मा आ निग्रहना अभ्यासना प्रकर्षथी विहित छे आवा एव जे स्वादने कर्षाथी बाजे, आ ज्ञान विशेष सिद्धि पदरूपी सपत्तिना जनक होय छे सूक्ष्मथी सूक्ष्म पदार्थाना पक्ष जे बाजकार होय छे जेमनाथी एवोने कर्ष कर्ष पदार्थाना स्पष्ट प्रतिभास यवा लागे छे मने निग्रह करवाने अभ्यास व्यास बाँटा अशे अत्यत प्रकर्ष अवस्था सुधि पहोखी जाय छे त्पारे जे समथे आत्माभा प्रातिभ नामनु जेक ज्ञानविशेष उत्पन्न थाय छे, आ ज्ञान केवल ज्ञानथी पहोख थाय छे, तेभां अत्यादिक

अयं भावः—मनोनिग्रहेण वाक्षेन्द्रियनिग्रहेण चात्मा उपशमभावे नेतव्य इति भावः ।

हु=निश्चयेन, खलु-यतः आत्मा दुर्दमः=दुर्जय ।

अत्रोदाहरणम्—

'अप्पा हु खलु दुर्दमो' इति भगवद्वचनं भद्राचार्यसन्निधौ श्रुत्वाऽऽत्मक-
ल्याणसाधक उपशमोत्पन्न उग्रनामा नृपः प्रव्रज्यां गृहीतवान् । स्वकल्याणार्थं मनो
निग्रहीतुं प्रवृत्तः । किन्तु मनः पारदवत् परमचञ्चलम्, तेन तत्स्वायत्तं न जातम्,
असौ मुनिव्रतधारी नृपधिन्यति-अहो ! एकेनापि कोपकटाक्षमात्रेण सर्वे जना
ममाज्ञा शिरसि धृत्वा ममायत्ताः सन्तो मम चरणशरणीकृत्य तिष्ठन्ति स्म । परन्तु

विषयों की ओर अर्थात् असंयम मार्ग में प्रवृत्ति करते हैं । संयमरूपी
लगाम से संयमित करे जिससे उनकी असंयम में प्रवृत्ति रुक जाय । कहने
का भाव यही है कि पांच इन्द्रिय एव मन इन छह को निगृहीत करने से
आत्मा अपने उपशम भावमें स्थित होता है । अतः इनके निग्रह करनेका
प्रयत्न प्रत्येक मोक्षाभिलाषी आत्मा को करना चाहिये । “अप्पा हु
खलु दुर्दमो ” इस प्रभु कथित वचन को भद्राचार्य के पास सुनकर उग्र-
वशीय उग्र नामका राजा दीक्षित हुए । उन्होंने हर तरह से अपने मन
को निग्रह करने का खूब प्रयत्न किया, परन्तु पारे एव पवन के समान
अति चंचल होने से उसका वह निग्रह नहीं कर सके । उसी मुनिव्रत-
धारी राजा ने विचार किया—बड़े आश्चर्यकी बात है कि एक कोपकुटिल
भ्रुकुटीमात्र से भी समस्त मेरे प्रजाजन मेरी आज्ञाको शिर पर धारण
कर लिया करते थे और चरण की शरण में आ जाते थे—परन्तु—यह

भाग्यभां प्रवृत्ति करे छे जेने संयमरूपी लगामधी संयमित भनावे जेनाधी
तेनी असंयमनी प्रवृत्ति रोकथि बन्ध. मतलब कहेवाने छे छे के, पांच इन्द्रिय
अने मन, आ छे ने निगृहीत करवाधी आत्मा पोताना उपशम भावमा स्थित
थाय छे आधी जेने निग्रह करवाने प्रयत्न करे छे मोक्षाभिलाषी आत्माजे
करवे जे छे “अप्पाहु खलु दुर्दमो” आ प्रभुजे कहेवा वचनने भद्राचार्य नी
पासेधी सावणीने उग्रवशीय उग्र नामना राजा दीक्षित थया तेजोजे करे छे
प्रकारे पोताना मनने निग्रह करवाने पुण प्रयत्न कर्यो, परतु पवनना समान
अति चंचल होवाधी तेनाधी निग्रह करी शकथे नही छे मुनिव्रतधारी राजाजे
विचार कर्यो—अप्पा आश्चर्यनी बात छे के, जे क कोप कुटिल भ्रुकुटी मात्रधी मारा
समस्त प्रजाजने मारी आज्ञाने भाषा उपर धारण करता हता अने चरणुना
शरणभां आवी जाता हता परतु आ मन केटहुं भणवाणु छे जे मारा वशभां

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग,—

मीना इताः पञ्चभिरेव पञ्च ।

एकः प्रमादीस न इत्यते किं,

यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥ १ ॥

अन्यच्च—इन्द्रियाणां हि चरतां, विषयेष्वपहारिषु ।

संयमे यत्नमातिष्ठेद्, विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ १ ॥

अयमर्थ—विद्वान्=तत्त्वज्ञ अपहारिषु=भारकपकेषु=तच्चदिन्द्रियविषयेषु चरतां=गच्छताम् इन्द्रियाणां संयमे=संयमने यत्नम् आतिष्ठेत्=कुर्यात्, क इव ? इत्याह-वाजिनाम्=अश्वानां यन्तेव=सारथिरिवेति ।

यदि इनका दमन नहीं करता है तो वह मुक्तिमार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता है और न साधक ही बन सकता है । इन्द्रियों का यदि दमन न किया जाय तो शास्त्रकारों ने यहा तक कह दिया है कि आत्मा का भी विनाश हो जाता है । कहा भी है—देखो—जय क्रमश एक एक इन्द्रिय के विषय में लोलुप होने से कुरंग-हिरण, मातंग-हस्ती, पतंग, अमर एवं मीन-मछली, ये प्राणी अपने प्राणों से रहित होते हैं तब जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियोंके विषय में लोलुप यनेगा क्या वह विनष्ट नहीं होगा ? परंतु अवश्य विनष्ट होगा—दुर्गति को प्राप्त करेगा । अतः जिस प्रकार यन्ता-अश्वरोही-बुढ़सवार-इच्छित मार्ग पर चलाने के लिये घोड़े को लगाम द्वारा अपने आधीन बना लेता है उसी प्रकार आत्महितैषी का कर्तव्य है कि वह भी इन इन्द्रियरूपी घोड़ों को कि जो अपने-अपने

न ठरे तो ते मुक्ति मार्गमां प्रवर्त नहीं सकते नही. तेमज साधक पञ्च अपनी सकते नही इन्द्रियों के दमन न करवाना आवे तो शास्त्रकारोंके त्यां मुधी ठहेले छे के, आत्मानो पञ्च विनाश बर्ध अत्य कहुं पञ्च छे—बुद्धो-आदरे कभधी कोक कोक इन्द्रियना विषयमा लोलुप होवाधी कुरंग-हिरण, मातंग-हस्ती, पतंग, अमर, तेमज मछली, आ प्राणी पोताना प्राणोंकी रहित अने छे तो पञ्च माणस आदरे पांचे इन्द्रियोंना विषयमा लोलुप अनी रहे तो तेना नाश न आय ? अरेअर नाश यवानो—दुर्गतिने प्राप्त करे कोधी के रीते बोडेस्वार इच्छित मार्ग पर असाववा आटे बोलने लगाम द्वारा पोताना आधिन अनावी ले छे कोक प्रकारे आत्महितैषीनु कर्तव्य छे के, ते पञ्च आ इन्द्रियरूपी घोड़ाने के के पोत पोताना विषयानी तरक अर्थात् असाववा

नियमयति, ततोऽपि निःसृत पुनरुपशममावे समारोहयति, ततोऽपि निःसृत धृष्टा स चिन्तयति—अहो ! मनो हि दुर्दमम् तदपि ज्ञानक्रियाभ्यां वशीकरिष्यामि, इति विचिन्त्य क्षपकश्रेण्यामारुह्य मनो निगृह्य शुक्लध्यानद्वितीयपादं समाप्य केवलज्ञान प्राप्तवान् । आत्मानं दाम्यन् अस्मिन् लोके परत्र च सुखी भवति ।

अत्रोदाहरणम्—

एको धर्मघोपनामाऽऽचार्य शिष्यसहितो प्रामानुग्राम विहरन् विस्मृतमार्गः पञ्चशतचौराधिष्ठितायां चौरपत्न्यां गत । मार्गविस्मरणादेव चातुर्मास्यकरणार्थं

जय यह रहा भी नहीं ठहरा तो सूत्रार्थचिन्तनरूप ध्यान में लगा दिया । तब यह रहा सूत्रार्थ के चिन्तन करने में लग गया । परंतु यह बहुत काल तक स्थित नहीं रह सका । तो फिर उसको उपशम भाव में लगाया । जिससे उसको शांति मिले, फिर भी यह स्थिर नहीं रहा और निकला तो मुनि विचारने लगे अहो ! मन बड़ा ही दुर्दम है उसको ज्ञान एवं क्रिया में लगा दिया । ज्ञान क्रिया से इसको वश में करूँगा ऐसा निश्चित विचारकर क्षपक श्रेणी का आश्रयण किया, फिर मन स्थिर हो गया, और शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाद के अवलम्बन से केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया और सिद्धिपद पाये, तात्पर्य कहनेका यह है कि आत्मा को दमन करने वाला साधु इस लोक एवं परलोक में सुखी होता है ।

धर्मघोष नाम के कोई एक आचार्य थे । वे शिष्यों सहित विहार करते हुए किसी दूसरे ग्राम को पधार रहे थे । चलते-चलते वे मार्ग

तक जवानो प्रयत्न करीं के, रात्रिपिछे तुरतज स्वाध्यायमा निस्त करी द्विधु ब्यारे ते त्यां पक्ष न टक्यु त्यारे सूत्रार्थं चित्तनरूप ध्यानमा लगावी द्विधु अने ते सूत्रार्थना चित्तनमां त्यां लागी गया परतु त्या पक्ष ते लागेो समय स्थिर न रही शक्या. आ पछी उपशम भावमां लगाववामां आवता जेमांथी शांति भणे छतां पक्ष जे स्थिर न रह्यु त्यारे मुनि वीचारवा लाग्या के, मन बहुत व्ययण छे तेने ज्ञान वजेरनी क्रियामा लगाववामां आव्यु, ज्ञानक्रियाथी तेने वश करीश जेवे। निश्चिंत विचार करी क्षपक श्रेणीना आश्रय लीधि, पछी मन स्थिर थ्यु अने शुक्ल ध्यानना भीज पठना अवलम्बनथी केवलज्ञानने प्राप्त कर्युं अने सिद्धी पद पाय्या. तात्पर्यं कहेवानु जे छे के, आत्माने दमन करवावाणा साधु आ लोक अने परलोकमां सुधी थाय छे आने उदाहरण द्वारा समयन करवामा आवे छे—

धर्मघोष नामना कोठि जेक आचार्यं छता, ते शिष्येो सहित विहार करीने कोठि जामे जई रह्या छता, आसतां आसतां ते मार्गं भुली गया अने

इदमेकमेव मनः शतधा मां नर्वपति, अहं जातिसम्पन्नः कुलसम्पन्न उग्रवंशीय क्षत्रियोऽस्मि, येन केनापि प्रकारेणातिचञ्चलमिदं मनः स्वायत्तीकरिष्यामि तपसा सयमेन वा स्वाध्यायध्यानादिना वा यथातथा मनः सुस्थिरं करिष्यामि, इति मनसि निश्चित्य समितिषु मनः सयोजयति, ततो निःसरति तदनु गुप्तिषु नियोजयति ततोऽपि निःसृतं स्वाध्याये, ततोऽपि निःसृतं मूर्त्तार्थचिन्तनलक्षणेषु ध्याने

मन कितना चलिष्ठ है जो मेरे वशमें नहीं आता है—उल्टा मुझे ही अनेक तरह से नचाता है। मैं जाति सपन्न हूँ, कुल सपन्न हूँ और उग्रवंशीय क्षत्रिय हूँ, अतः मेरा कर्तव्य है कि इसका विजय करने के लिये मैं अपनी शक्ति का परिचय दूँ। मैं कोई ऐसा वैसा व्यक्ति तो हूँ नहीं जो इसके वश में पड़ जाऊँ। अतः जैसे भी हो सकेगा हर एक उपाय से चाहे यह कितना भी चंचल क्यों न हो इसे अपने अधीन बनाकर ही रहूँगा। यदि यह तप से वश में होना चाहेगा—तो तप करूँगा—संयम से वश में होना चाहेगा—तो संयम मार्ग अराधुंगा, यदि स्वाध्याय एवं ध्यान से वश में होना चाहेगा—तो स्वाध्याय, ध्यान करूँगा, परंतु इसे अपय छोडूँगा नहीं। इस प्रकार दृढ प्रतिज्ञा होकर सर्वप्रथम उसने पाँच समितियों के पालन करने में मनको नियुक्त किया, परन्तु यह तो बड़ा ही चंचल था, इसलिये ज्यों ही बड़ा से निकला की गुप्तियों में नियुक्त किया, फिर भी यह बड़ा कुछ ही देर ठहर कर जब इसने इधर उधर जानेका प्रयत्न किया कि राजशक्ति ने शीघ्र ही स्वाध्याय में निरत कर दिया।

आवतु नथी उलटु भनेअ अनेक रीते नचावे छे हुं अति संपन्न हूँ, कुल संपन्न हूँ, अने उग्र वंशीय क्षत्रिय हूँ आधी भाइ कर्तव्य छे के, अने तप पर विवश करवा भाटे हुं भारी शक्तिने परिचय करवतु हुं कौन केवे नभणा मनने भाखस नथी के अने वशमां पडी अठि आधी नेम अने तेम दरेक उपायथी चाहे ते केटहुं पख चंचल केम न होय तेने भारी अधिन बनावीने अ पीछे के ते तपथी वश अनथे तो हुं तप करीश—संयमथी वश थथे तो संयम भाअनुं आराधन करीश, के स्वाध्याय अने ध्यानथी वशमां आवथे तो स्वाध्याय, ध्यान करीश परतु आने हुं छेअनार नथी आ प्रकारनी दृढ प्रतिज्ञा लई सर्व प्रथम तेजे पाँच समितिअनुं पालन करवामां मन पशेअनु परतु मन तो आरे चंचल अतु आ कारणे नेम त्याधी निकलु के अतिअभा नियुक्त थयु छता पख ते त्यां थोडीवार रही अथे तेजे अदि

मेघां पिपीलिका हति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ॥
 कुर्वते मक्षिका वान्ति, कुष्ठरोग च कोलिकः ॥ १ ॥
 कण्टको दाहखण्ड च, वितनोति गलव्ययाम् ।
 व्यञ्जनान्तर्निपतित, -स्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥ २ ॥
 विलग्नस्तु गले बालः, स्वरभगाय जायते ।
 इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशिभोजने ॥ ३ ॥
 तथैव परलोकेऽपि, दुर्गतिर्जायते ध्रुवम् ।
 तस्मात् रात्रौ न भुञ्जीत प्रोक्त भगवता सदा ॥ ४ ॥

लिये उनके पीछे २ गये । वहा आचार्य ने उन्हें रात्रिभोजन न करने का उपदेश दिया । उस समय में उन्होंने ने बतलाया कि रात्रिभोजन में अनेक दोष हैं, क्यों कि सूर्यास्त हो जाने से उस समय अनेक सूक्ष्म जीवों का प्रचार और उत्पत्ति होती है तथा यदि भोजन में पिपीलिका-कीड़ी खाने में आ जावे तो खाने वाले की बुद्धि नष्ट हो जाती है । जू यदि भोजनमें खाने में आ जावे तो जलोदर नामका रोग हो जाता है । भोजनमें मक्षिका आ जानेसे बमन होता है, भोजनमें कौलिक करोळिया के खाने से कुष्ठरोग होता है, काटा तथा लकड़ी की फास से गले में घोर बु ख होता है, विह्व खाने में आ जाय तो तालु का मेदन होता है, केश-खाने में आ जावे तो स्वर का भग होता है इत्यादि अनेक दोष रात्रिभोजन में हैं । तथा परलोक में रात्रिभोजन करने वाले को दुर्गति की प्राप्ति होती है । इसलिये किसी को रात्रिभोजन नहीं करना चाहिये ।

महाराजने पड़ोयाउवा तेमनी पाछण पाछण गया त्यां आचार्ये तेमने रात्री खोजन न करवाने उपदेश आभ्यो, ते वभते तेमजे जख्वाव्यु के रात्री खोजनमा अनेक दोष छे केभके, सूर्यास्त बर्ध जवाथी अनेक सूक्ष्म लुवेने प्रचार अने उत्पत्ति थाय छे अने खोजनमा ने पीपीलीका-कीड़ी भावामां आवी बय तो पुद्दिने नाथ थाय छे लु वगेरे ने भावामां आवी बय तो जलोदर नामने रोग थाय छे, माभी आवी जवाथी उदटी थाय छे, ने केशीभो भावामा आवी बय तो केश थाय छे, कांटा तेमज लाकडीनी झांस जेवुं भावामा आवी बय तो गणामां अटकाई बय छे अने मखु दुग्ध थाय छे, विंछी ने भावामा आवी बय तो ताणवु तोडी नाथे छे, भोवाणे भावामां आवी बय तो स्वरने भग थाय छे इत्यादि अनेक दोष रात्री खोजनमां छे अने रात्री खोजन करनारने दुर्गतिनी प्राप्ति थाय छे आ माटे केईजे रात्री खोजन न करवु ।

निश्चितस्थान गन्तुमक्षमो भूत्वा चौरपत्न्यामेव चातुर्मास्येऽवस्थातुं चौर-
पत्नीनायकमुपाश्रय याचितवान् चौरपत्नीनायकेन प्रोक्तम्—अत्र भवता देशना न
कर्तव्या, सर्वे वय तस्करवृत्तिजीविनः । मुनिना तद्वचन स्वीकृत्य स्वाध्यायस्थाना-
दिना चातुर्मास्यं यापितम् । चातुर्मास्यावसाने विहारसमये सर्व तस्कराः किञ्चिद्दूर
मुनिमनुगताः तदा मुनिना तेष्यो रात्रिमोजनप्रतिषेधरूपा दशना दत्ता। तथा चोक्तम्—

मूल गये और चौरोंकी पत्नी में जा पहुँचे । वहाँ ५०० चौर रहते थे,
चौमासे का समय पिलकुल नजदीक आ पहुँचा था । इतना समय था
नहीं कि किसी और दूसरे स्थान पर वहाँ से चलकर चौमासे में रहने
का निश्चय किया जा सके । अतः आचार्यने वहाँ पर चतुर्मास व्यतीत
करने के अभिप्राय से चौरों के नायकसे चतुर्मास में ठहरने के लिये
उपाश्रयकी याचना की । आचार्यकी बात सुनकर पत्नीपति ने उनसे कहा
कि आप यहाँ ठहरें—हमें इसमें कुछ हरकत नहीं है परंतु आप यहाँ
धार्मिक उपदेश देने का कष्ट न करें । कारण कि हम सब यहाँ के
निवासी चोरी करके अपना निर्वाह करते हैं कहीं ऐसा न हो कि
आपकी देशना से हमारा व्यापार धदाषद हो जाय । आचार्य ने उसकी
बात मान ली और स्वाध्याय एव ध्यान से वहाँ पर रहते हुए अपना
चौमासे का समय व्यतीत किया । जब विहार करने का समय आया
तो उस वक़्त सब चौर मिलकर आचार्य को पहुँचाने के लिए इकट्ठे
हुए और कुछ दूर तक सब के सब आचार्य महाराज को पहुँचाने के

देशना नेसस्रमां अर्धपट्टेभ्या त्वां ५०० चौर रहता होता, चौमासाने समथ
नञ्च आवी रहो होता, जेटेसो समथ न होता है त्याभी जीव स्थाने पट्टेभ्योने
त्वां चौमासानां रहवनेो निश्चय ठरी शक्य। आधी आचार्ये के स्थान उपर
चतुर्मास व्यतीत करवाना अभिप्रायभी देशना नायकभी चतुर्मास शक्या भाटे
आश्रय स्थाननी याचना ठरी। आचार्यनी बात सांभली देशना नायके ठहुरे के
बदे आप अर्द्ध रहो अभने जेमां ठांठ वाधा नथी परतु आप अर्द्ध
धार्मीक उपदेश आपवानो विहार न राशरो कारख के अभे सधणा अर्द्धना
निवासी चोरी ठरीने पोतानो निर्वाह ठरीजे छीये। शक्य जेवुं न जने के
आपना उपदेशभी आमारो धधी वध यर्ध नय, आचार्ये तेनी बात भाणी
लीधी जने स्वाध्याय जने ध्यानधी त्वां रहीने पोतानो चौमासानो समथ व्यतीत
ठरीे न्यारे विहार करवानो समथ आव्यो ते वपते जथा देशने भणी आया
रने पट्टेवाठवा भाटे जेठठा यथा जने मोडे इर सुधी आ जथा

निर्विषा । पाकप्रवृत्ता अपि एवमेव विचार्य स्वभोजनार्थमर्थं मांसं पृथक् निधाय
अर्थं मांसं विषमिश्रितं कृतवन्तः । सर्वं भोजनार्थमुपस्थिता पल्लीनायकः प्रोक्तवन्तः ।
पल्लीपतिनोक्तम्—इदानीं रात्रिः सजाता, मया रात्रिभोजनस्य प्रत्याख्यानं कृतम्,
सर्वैर्भुज्यताम्, ततः पल्लीनायकाङ्गया सर्वे चौरा भोक्तुमुपविष्टाः । तत्र सार्धद्वय-
सख्यकाश्चोरा सविषमदिरापानेन मृताः, अन्ये सार्धद्वयसख्यका सविष
मांसमङ्गणेन मृताः । एतत् सर्वं दृष्ट्वा पल्लीनायकेन मनसि चिन्तितम्—

से आधी मदिरा में विष मिला दिया जाय । ऐसा विचार कर उन्होंने
आधी मदिरा में विष मिला दिया और आधी मदिरा अपने लिये बिना
विष की अलग रख ली । उधर जो मांस आदि पकाने में लगे हुए थे
उन्होंने भी यही विचार किया और जैसा काम इन लोगोंने किया वैसा
ही उन्होंने ने किया—अर्थात् उन लोगों ने भी आधे भोजन में विष मिला
दिया और आधा भोजन अपने लिये बिना विष का अलग रख लिया ।
जय सय भोजन के लिये बैठने लगे तब सब ने पल्लीपति को भोजन
करने के लिये बुलाया । परतु पल्लीपति ने उस समय भोजन करने से
यह कह कर मना कर दिया कि देखो भाईयों इस समय रात्रि हो चुकी है—
मैं ने रात्रिभोजन का त्याग किया है, अतः आप लोग ही इस समय
भोजन करें ! पल्लीपति की इस प्रकार आज्ञा प्राप्त कर वे सय के सय
भोजन करने के लिये बैठ गये । उनमें आधे तो विष मिश्रित मदिरा
के पान करने से मर गये और आधे विषमिश्रित मांस के खाने से
मर गये । इस प्रकार सर्व विनाश देखकर पल्लीपति ने मन में विचार

आवे जेवो विचार करी तेजोजे अरधा इइमा विष भेजवी हीधु अने अरधी
इइ पोताना भाटे अलग राभीये। अदि, पखु जे मांस वगेरे पकाववाभा
खेखे छता तेमजे पखु जेवो विचार करी जेवु काम आ होकेजे कथुं
अर्थात् जे होकेजे पखु अरधा खोजनभा विष भेजवी हीधु अने अरधु पोताना
भाटे अलग राभी हीधु ब्यारे जधा जभवा भाटे जेसवा मांसया त्यारे जधाजे
तेना आगेवानने जभवा भाटे जेखोव्या परतु आगेवाने जेम कही ना कही
के जेजे बाधजे आ सभये रात्रीने सभय थर्ध बुकथे छे जे रात्री खोज
नने त्याग करेख छे आधी आप होकेज्ज जभी ह्ये। आगेवानगी आ प्रकारे
आज्ञा भगत्य ते जधा जभवा भाटे जेसी गया, अने अरधा तो विष भेजवेख
इइतु पान करवाधी भरी गया अने अरधा विष मिश्रीत मांसना भावाधी
भरी गया. आ प्रकारे सब विनाश जेधने आगेवाने मनमां विचार करी के

देशनां श्रुत्वा तेषु केवलमेकेन पत्नीपतिना रात्रिभोजनप्रत्यारयान कृतम् । एकदा पञ्चशतसख्यैश्चौरैः सह पत्नीपतिः स्तंभं कर्तुं गतः । एकस्या नगर्यां बहुतरुं धनं चौर्येण प्राप्तं, तदुपादाय ते सर्वे महारण्ये समागत्य तत्र सर्वं सस्थिताः । तत्र तत्रायकेन कथितम्—अत्र भुज्यतां सर्वे, तदा सार्धद्वयसन्ध्यकां पाककरणार्थं प्रवृत्ताः, सार्धद्वयसख्यैश्च सुरादिकमानेतु समीपस्थं ग्रामं गताः । मदिरादिकमानेतु प्रवृत्तैस्तैश्चिन्तितम्—चौर्येणोपार्जितं सर्वं धनमस्माकं मरिष्यति, यद्यर्थमदिरां त्रिपमिथ्रिता नीयते । एवं विचिन्त्यार्धमदिरां त्रिपमिथ्रितां तैरानीता, अर्धां तु स्वार्थं आचार्यं महाराजं कीं इत्थं प्रकारं कीं धर्मदेशनां सुनकरं उनमें से केवल एक पत्नीपति ने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया । एक समय की बात है कि यह पत्नीपति उन पाचसौ चोरों के साथ चोरी करने के लिये याहर गया । किसी एक नगर में चोरी करने से उन्हें बहुत सा द्रव्य मिला । उसे लेकर वे सब के सब वहाँ से चल दिये और किसी एक जगल में आकर ठहर गये । पत्नीपति ने सब से कहा कि अब सब लोग भोजन की तैयारी करो । पत्नीपति के इस आदेश को पाकर उनमें से आधे अर्थात् अठाइसौ चौर तो भोजन करने की तैयारी में लग गये और अठाइसौ चौर सुरा मदिरा आदि को लेने के लिये पास के गावों में गये । मदिरादिक लानेके लिये गये हुए इन व्यक्तियों ने मनमें विचार किया कि चोरी में जितना भी द्रव्य हाथ लगा है वह सब का सब हम सब लोगों को ही मिल जाये तो बहुत ही उत्तम बात है, इसलिये ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जो लोग भोजन बना रहे हैं वे सब के सब मर जायें—अतः उन्हें मारने की तरकीब एक यही है कि इस मदिरा में

आचार्य महाराजनी आ प्रकारनी धर्म देशना सांभलीने तेभांधी कृष्ण ओठ शेरना आगेवाने रात्री सोळनने त्याग कथे. ओठ वधते ते शेरना आगेवान ओ पावसे सोशनी साथे सोरी करवा भाटे अहार गये, केळ ओठ नजरमां सोरी करवाधी तेने धरु द्रव्य भणु ओने वरु ते अधा त्यांधी सांभला यया अने केळ ओठ अजमां पडोव्यी त्या शैकाया शेरना आगेवाने अधाने सोळननी तैयारी करवानु कर्णु तेना आदेशने सांभली अरध ओटवा शेर तो सोळननी तैया रीमां लागी गया अने अरधा धरु विगेरे देवा भाटे पासेना जाभमा गया, धरु विगेरे देवा अयेवा ओ सोरोओ मनमां विचार कथे के, सोरीमा भणु सभणु द्रव्य अधु अभने भणी अय तो धरु सांर याय आ भाटे ओवेा प्रयत्न करवेा ओधओ के के ओके। सोळन अनावे छे ते अधा भरी अय तेमने भारवांनी तरकीब देवण ओठ व छे के आ धरुमां अरधा धरुमां विष

लक्षणैः सप्तदशविधैः, तपसा अनश्ननादिद्वादशविधैः च दान्तः=वशीकृतः स्यात्
 तर्हि वर=श्रेयः शोभन भवेदित्यर्थः, सयमो हि आसन्नविरोध जनयति, सपकश्रेणि
 समारोहयति, कर्म निर्जरयति केवलज्ञानमुत्पादयति, शैछेद्यवस्थां प्रापयति सिद्धा-
 वस्था प्रकटयति । तपश्च रागद्वेषादिदोषमलिनात्मसशोधकं, तेजोछेद्यादिविधि-
 धलधिजनक पूर्वसंचितसकलकर्मदाहरक नवकर्मानुत्पादकम् । पुनर्मनस्येव चिन्त-
 येत्-अहं परैः=अन्यैः वन्धनैः शृङ्खलादिभिः, वधैः=लगुडचपेटादिभिः, दमितः=
 निगृहीतः-वद्ध्वा ताडयित्वा च स्वाधीनीकृत इत्यर्थः, मा भवेयम् ।

अयं मान् -यदाऽन्ये मम वन्धन ताडनैर्दमन करिष्यन्ति तदा मम श्रेयो नास्ति,
 परवशत्वात्, तथाहि-वधवधनैः परवशस्य मम चित्तसमाधि न सम्भवति तदभावे
 कर्मनिर्जराभावः, तदभावे दीर्घाघससारपरिभ्रमण भविष्यतीति ।

एव मन का दमन करूँ यह सर्वोत्तम है । अगर ऐसा नहीं करूँ तो
 कदाचित् मुझे (यद्यणेहिं यहेहिं परेहिं दम्नं तो अह मा वर-वधनैः
 वधैः परैः दमितः अह मा वर) वधनों-शृंखला आदि के द्वारा बाधना
 रूप क्रियाओं से तथा वध-चपेटा आदि प्रहारों से जो मैं दूसरों के
 द्वारा दमित होऊँ । अथवा यदि मैं इन्द्रियो एव मनका जो तप तथा सयम
 द्वारा दमन कर लूँगा तो यह इसलिये उत्तम है कि मैं भविष्य में अन्य
 व्यक्तियों द्वारा वधन एव वध से निगृहीत नहीं हो सकूँगा । कहने का
 तात्पर्य यह है कि जब मुझे अन्यजन वधन एव ताडन आदि द्वारा
 निगृहीत करेंगे तो इसमें मेरी कोई भी भलाई नहीं है कारण कि यह
 अवस्थाएँ अनिच्छापूर्वक वश होने की वजह से सहन करनी पड़ती हैं ।
 इसमें चित्त की समाधि तो होती नहीं है । चित्त में समता भावरूप

सयम अने तप द्वारा जे हु आत्मानो-इन्द्रियो अने मननु इमन करे जे
 सर्वोत्तम छे जे तेम न करे तो कदाचित् मने यद्यणेहिं यहेहिं परेहिं दम्नतो
 अह मा वर-वधनैः वधै परै दमित अह मा वर वधनो अथवा आदि द्वारा
 बाधवारूप क्रियाओधी तथा वध-चपेटा आदि प्रहारोधी जे हु भीलजोधी
 दमित अनु अथवा-जे हु इन्द्रियो अने मननु तप तथा सयम द्वारा इमन
 करी लउ तो ते जे भाटे उत्तम छे ते हु भविष्यमां अन्य व्यक्तियो द्वारा
 वधन अने वधधी निगृहीत नही यद्य शत्रु कहेवानो मतलब जे छे ते व्यापे
 मने भील भाषुतो वधन अथवा ताडन आदि द्वारा निगृहीत करे तो आमां
 भारी कौर् पबु बलाधि नधी कारखु के, आ अवस्थाओ अनिच्छाओ परवश
 यवाने कारखे सहन करवी पडे छे तेमा चित्तनी समाधि घती नधी चित्तमा

रात्रिमोजनप्रत्याख्यानेन रसनेन्द्रियमात्रदमनस्य फलमेतद् यन्मया जीवन्
लब्धम्, यदि पुनः सर्वथाऽऽत्मदमनं कुर्या तर्हि कथं न ध्रुव नित्यमचलमव्यापारं
शिवसौख्यं लभेयम् । एव विचिन्त्य चौरपत्नीनायकेन मुनिसमीपं गत्वा प्रश्रज्यां
पृथीत्वा स्वात्मकल्याणं साधितम् ॥ १५ ॥

आत्मदमनार्थमेव चिन्तयेदित्याह—

मूलम्—वरं मे अप्पां दंतो सजमेणं तवेणं ये ।

मोऽहं परेहिं दमंतो, वधेणेहिं वेहेहिं ये ॥ १६ ॥

छाया—वरं मे आत्मा दान्तं सयमेन तपसा च ।

माऽहं परैर्दमितं वन्यनैर्वधेषु ॥ १६ ॥

टीका—‘वरं मे०’ इत्यादि ।

मे=मया, आत्मा=मनोरूप पञ्चेन्द्रियरूपश्च सयमेन=सावधानुष्ठानविरति

किया कि रात्रिमोजन त्याग करने का, जिसमें एक मात्र रसनेन्द्रिय
का दमन किया जाता है, यह फल है जो मैं अकेला जीवित बच सका
हूँ । यदि सर्व प्रकार से मैं आत्मा-इन्द्रियों एव मन का दमन करूँ तो
क्यों नहीं ध्रुव, नित्य, अचल और अव्यापार मुक्ति सुख का अधिकारी
बनूँ । इस प्रकार विचार कर उस पत्नीपति ने उसी समय मुनिकी पास
जा कर वीक्षा धारण कर आत्मकल्याण के मार्ग का साधन करना
प्रारंभ कर दिया ॥१५॥

आत्मा को दमन करने के लिये मोक्षामिलायी को इस प्रकार विचार
करना चाहिये—‘वरं मे०’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(मे अप्पा संजमेण तवेण य दंतो वरं—संयमेन तपसा
मया दान्तः वरं) संयम एवं तप के द्वारा जो मैं आत्मा का-इन्द्रियों

रात्री लोभन त्याग करवाधी मात्र ओह रसनेन्द्रियनु दमन करवाभां आवे छे
तेनु आ कृण छे जे हुं ओकहो छवतो रक्षी शक्यो जे हुं सर्व प्रकारधी
आत्मा-इन्द्रियो अने मननु दमन करे तो ध्रुव, नित्य, अचल अने अव्यापार
मुक्ति सुभनो अधिकार केम न भनु ? आ प्रकारनो विचार करी ते चारना
आगेवाने ओह वधते मुनि पासो वधने वीक्षा धारण करी आत्म कल्याणना
मार्गनु साधन करवानो प्रारंभ करी दीधि ॥ १५ ॥

मोक्षना अधिकारीओ आ प्रकारे आत्मनु दमन करवानो विचार
करवे ओहओ—वरं मे० इत्यादि ।

अन्वयार्थ—मे अप्पा संजमेण तवेण य वधेवरं—सयमेन तपसा मया दान्तः वरं

चिन्तयति, यदा कथमपि मे बालको भविष्यति तदाऽग्नेन हनिष्यते । ततः सा हस्तिनी यूथादपसरति, क्रमेण प्रहर प्रहरद्वयमन्तरितं कृत्वा यूथमध्ये मिलति, क्रमशः सा द्वितीये दिवसे यूथमध्ये गत्वा मिलति एव कुर्वत्या तथा प्रसवसमये समागते सति तापसाश्रमो दृष्टः, सा तत्राऽऽलीना गुप्तस्थाने प्रमृता, बालकः सजात । स बालकस्तत्र यथा तापसकुमारा घटादिभिरुद्यानगतान् वृक्षान् सिञ्चन्ति, तथा जलाशय गत्वा स्वगुण्डाया जल भृत्या वृक्षान् सिञ्चति । ततस्तापसैस्तस्य

निवास करता था । वहा जितने भी नवीन बच्चे पैदा होते थे सय को मार डालता था । एक समय की बात है कि एक हस्तिनी गर्भवती हुई । गर्भावस्था में हस्तिनी ने विचार किया कि जय मेरी कुक्षि से बच्चा पैदा होगा तो यह निश्चय है कि यह दुरात्मा गज उसे बिना मारे नहीं रहेगा, अतः अच्छी अय यही है कि मैं इस यूथ से अलग ही होकर रहूँ । ऐसा विचार कर यूथ से अलग रहने लगी-परन्तु यह अलग रहने का भेद प्रकट न हो जाय इस ख्याल से पहिले तो वह यूथ में एक २ दो २ प्रहर के बाद आती जाती रही, फिर १-१-२-२ दिन के बाद मिलती रही । इस प्रकार करते २ जय उसके प्रसव का समय नजदीक आ गया तो वह किसी तापस के आश्रम में जा पहुँची । वहा पर गुप्तस्थान में प्रच्छन्न होकर उसने बच्चे को जन्म दिया । बच्चा क्रमशः बढने लगा । वहा पर जिस तरह तापस कुमार घड़ों में पानी भरकर उद्यान के वृक्षों को सींचा करते थे उसी प्रकार यह हाथी का बच्चा भी जलाशय से अपनी सूड़ में पानी भर कर उद्यान के वृक्षों

(हाथी) निवास करते होते । त्यां नेटवां नवां बन्ध्यां जन्मतां इतां ते भधाने ते भारी नाभतां ज्येष्ठ समयणी वात छे ज्येष्ठ हाथणी गर्भावती यथ, गर्भावस्थाभां हाथणीजे विचार कथे के ब्यारे भने बन्धु अवतरणे त्यारे जे वात निश्चित छे के आ दुरात्मा हाथी तेने भारी नाभ्या वजर रहेणे नडी आथी साइ तो जे छे के, आ लुधथी लुधा पडीने रहु आवो विचार करी ते लुधथी लुधी रहेवा लागी परंतु अवग रहेवानो वेद प्रगट न थथ बय जे भाटे ते लुधभां अवार नवार आवती जती भने धीरे धीरे ज्येष्ठ दिवस भने बन्धे दिवसना अतरे आवती जती. आ प्रकारे करतां करतां ब्यारे तेना प्रसव समय नञ्जक आव्यो त्यारे ते केाई तपस्वीना आश्रमभां जई पहोच्यी भने त्यां गुप्त स्थानभां प्रच्छन्न-छुपाई ने बन्ध्याने जन्म आभ्यो बन्धु भोटु यवा भाउजु त्या जे रीते तापस कुमार घडाभां पाणी भरिने उद्यानना वृक्षाने पाता इता ते रीते आ हाथीनु बन्धु पञ्ज जलाशयथी पोतानी सुदभां पाणी भरिने

અથ દૃષ્ટાન્તઃ સેચનકદસ્તી યથા—

एकस्यामटव्यां बहुतरहस्तिनीभिः सह महागजो निवसन्भासीत् । स च जातं जातं फरिशावकं विनाशयति । एकदा तत्रैका हस्तिनी सगर्भा जाता, सा चैवं समाधि की प्राप्ति नहीं होगी—यह भी निश्चित है कि कर्म की निर्जरा नहीं होगी । कर्म की निर्जरा के अभाव में इस अनन्तससार का परिभ्रमण भी नहीं रुक सकता है । १७ प्रकार के सयम से एव १२ प्रकार के अनशन आदि तप से जो मैं आत्मा का दमन कर लूंगा उससे मेरा एकान्त हित होगा । कारण कि सयम से ही आश्रव का निरोध होता है । इसकी सहायता से ही आत्मा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होता है । अनन्तगुणी कर्मों की निर्जरा इसके ही सद्भाव से होती है । केवलज्ञान की प्राप्ति जीव को इसी के फल पर होती है । शैलेशी अवस्था का लाभ एवं सिद्धावस्था की प्रकटता इसी तप सयम से मिलती है । रागद्वेष आदि से मलिन आत्मा का शोधन तप से होता है । तेजोलेश्या आदि विविध लब्धियों का जनक तथा पूर्व में संचित समस्त कर्मों का नाशक एवं नवीन कर्मों का आगमन का निरोधक तप होता है । अतः इस अवस्था में एकान्ततः आत्मा का हित भरा हुआ है ।

अथ सेचनकदस्ती के दृष्टान्त से इस विषय को स्पष्ट करते हैं—

કિમી એક અટવીમેં અનેક હસ્તિનીકે સાથ એક મદોન્મસ મહાગજ

સમતાભાવરૂપ સમાધીની પ્રાપ્તિ થયે નહીં આ પણ નિશ્ચીત છે કે, કર્મની નિર્જરા પણ થયે નહીં કર્મની નિર્જરાના અભાવમાં આ અનંત સસારનું પરિભ્રમણ પણ રોકી શકાવાનું નથી ૧૭ પ્રકારના સયમથી અને ૧૨ પ્રકારના અનશન આદિ તપથી જે હું આત્માનું દમન કરી લઉં તો તેનાથી મારું એકાન્ત હિત થયે કારણ કે, સયમથી જ આશ્રવનો નિરોધ થાય છે, તેની સહાયતાથી જ આત્મા ક્ષપક શ્રેણીએ પહોંચે છે અનંતગુણી કર્મોની નિર્જરા એનાજ સદ્ભાવથી થાય છે કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ એવને એના જ બળથી મળે છે શૈલેશી અવસ્થાનો લાભ તેમજ સિદ્ધાવસ્થાની પ્રગટતા એજ તપ સયમથી મળે છે રાગદ્વેષ આદિથી મલીન આત્માનું શોધન તપથી થાય છે તેજે લેશ્યા આદિ વિવિધ લબ્ધિઓના જન્મ તથા પૂર્વનાં સંચિત સમસ્ત કર્મોનો નાશ કરનાર અને નવીન કર્મોને રોકનાર તપ હોય છે આથી આ અવસ્થામાં એકાન્તવત આત્માનું હિત સમાચેતું છે.

(સેચનક કાથીના દર્શાવથી સૂત્રકાર આ વિષયને સ્પષ્ટ કરે છે)

કેમકે એક વનમાં અનેક હાથણીઓની સાથે એક મદોન્મસ

आलानस्तम्भे लौहशृङ्खलाभिः स निबद्धः । तापसास्तनागत्य सेचनक मर्त्सयन्ति-
अरे गजराज ! अधुना क्व ते पराक्रम , अविनयस्य फलमिदानीं लब्धम् । एतद्वचन
श्रुत्वा सेचनकः क्रुद्धः स्तम्भं भक्त्वा पुनर्वनं प्रविष्टस्तेषामावासभूमौ दृक्षान् विध्व-
सितवान् । पुनः श्रेणिक सेचनक गजं निगृहीतुं तद्वनं गतः । अत्रान्तरे पूर्वभव
मित्रदेवेन सेचनकसमीपमागत्य प्रोक्तम्—हे वत्स ! परेभ्यो दमनात् स्वयं दमन
वरम् , ततस्तद्वचं श्रुत्वाऽसौ स्वयमागत्यालानस्तम्भनिकटे स्थितः ।

रहा है । हमारे आश्रम का समस्त वन उसने नष्ट भ्रष्ट कर दिया है ।
तापसों की इस प्रकार यात सुनकर श्रेणिक ने यही सेना के साथ वन
में जाकर उस सेचनक हाथी को पकड़ लिया । और उसे लाकर आलान-
स्तम्भ में लौहे की साकलों से बांध दिया । तापस आकर अब उसे
भर्त्सित करने लगे । कहने लगे—अर ! सेचनक गजराज ! कह अब वह
तेरा पराक्रम कहा चला गया, देख तेरी कैसी बुद्धिशा हुई है । समझा
यह अविनय करने का फल है, जिसे तू भोग रहा है । तापसों के
इस प्रकार भर्त्सना भरे वचनों को सुनकर सेचनक को बहुत ही क्रोध
आया और उस आवेश में आलानस्तम्भ को तोड़ मरोड़ कर वह सीधा
वन में जा पहुँचा । वहाँ पहुँचकर उसने पहिले की तरह ही उनकी
आवासभूमि के वृक्षों का विध्वंस करना प्रारंभ कर दिया । राजा श्रेणिक
पुनः उसे पकड़ने के लिये वन में आये । इतने में पूर्वभव के मित्र देवने
आकर सेचनक से कहा—जो तुम धार २ दूसरों के द्वारा दमित किये
जाते हो—उसकी अपेक्षा तो यही अच्छा है कि तुम अपने आपको

आश्रमनां सघर्णां वृक्षानो ज्येष्ठे नाशं करोति नाभ्योऽथ तापसोऽपि वातसंभोजी
श्रेणिक राजाज्येष्ठे भारे सेना साधे वनमां ज्येष्ठे सेचनक हाथीने पकडी वीधो
अने तेने राजधानीमा बावी ज्येष्ठे पूज्य मन्वन्तु स्तस्य साधे वीधानी साकणोथी
भांधी वीधो तापसोऽपि आसभये तेनी साधे ज्येष्ठे तेनी भश्करी शङ्करी अने
कहेवा बाव्या—अहो ! सेचनक गजराज कहे हवे तमाङ् पराक्रम कथां आद्यु
गम्भु ? ज्येष्ठे तारी देवी बुद्धिशा यथी ? अविनयतु आ कृणुते, जे तु वोगवी रहेल ते
तापसोऽपि आ कहेवानुं सांभोजी सेचनकने पूज्य ज्येष्ठे कोष आऽप्ये अने ते
ज्येष्ठेऽपि ज्येष्ठे स्तस्यने तोडी नाभी वीधानी साकणोने कृणवी कथं वनमां
ज्येष्ठे पडोऽप्ये । त्या पडोऽप्येने चारे बावुथी वनना वृक्षानो विन्धेह कश्वातु
शङ्करी वीधु राजा श्रेणिक इरी तेने पकडवा भाटे वनमा पडोऽप्ये आ सभये
सेचनकना पूर्वभवना मित्र देवे आवी सेचनकने कहे—तमे वीधे द्वारा पडी
पडी डेरान थाव छे—आधी साङ् तो ज्येष्ठे ते कहे तमे तमासी बते पोतातु ज्येष्ठे

‘सेचनक’ इति नाम कृतम् । स सेचनकस्तापसवालकानां वयस्यो जातः । कदाचिद् भ्रमन्त यूथाधिपतिं दृष्ट्वा सेचनकस्त मारितवान् । स्वयं यूथाधिपतिर्जातः । स च तापसाश्रमे वृक्षाणां विध्वंसनं कृतवान्, काऽप्यन्या मन्मानेव प्रच्छन्ना मां विष्टु इति विचारितवांध । ततस्ते तापसा रुष्टाः पुष्पफलपूर्णहस्ताः श्रेणिकनृपस्य समीपं गत्वा तमद्भुवनं-एकं सेचनकनामाहस्तीं यने विष्टुति, स चास्माकं वासस्थाने वनं विनाशयति । ततः श्रेणिकेन महत्या सेनया सह वनं गत्वा सेचनकं निष्कृतं

को सिंचने का काम करने लगा । सिंचनरूप कार्य को करने से तापसों ने इसका नाम “सेचनक” रख दिया । तापस यालक इस पर पड़े प्रसन्न रहा करते, अतः उन सबके साथ यह खूब हिलमिल कर रहने लगा, यहाँ तक कि उनके साथ इसकी पूर्ण मित्रता हो गई । जब यह खूब बलिष्ठ हो चुका-तो एक समय की बात है कि उसने अवसर पाकर यूथाधिपति हाथी को घूमते समय जान से मार दिया और स्वयं यूथ का अधिपति हो गया । इसने ऐसा विचार किया कि मेरी माता के समान कोई भी इधिनी छुप कर न बच्चा उत्पन्न करे और न छुप कर ही रहे, इस अभिप्राय से इसने आश्रम के समस्त वृक्ष उखाड़ डाले । इसके इस प्रकार के कार्य से तापस लोग रुष्ट हो गये । वे सब के सब पुष्प फलादिकरूप में लेकर राजा श्रेणिक के पास पहुँचे । वहाँ पहुँचकर उन्होंने राजा को अपनी सारी कथा सुनाई । कहा महाराज ! एक सेचनक नामक हस्ती वनमें रहता है वह बहुत ही उपद्रव कर

उद्यानना वृक्षोने पाणी पावानु काम करवा वस्यु, तापसोऽप्ये वा प्रहारानु काम करवाथी ते हाथी भणकनु नाम ‘सेचनक’ राष्यु तापस भणक तेना पर भूष प्रसन्न रथा करता, ज्येथी ते ज्येभनी साथे भूष उणी भणीने रहेवा वास्यु, ते त्यां सुधी के ज्येभनी साथे तेनी पूर्ण मित्रता यथं यथं ज्येथी ते हाथी वस्यु भूष भणवान वस्यु त्यारे ज्येथ समये ते सशक्त ज्येथ भणवान ज्येथ हाथी ज्येथ महाभणवान ज्येथ घातक ज्येथ हाथी जुठपतिने ज्येथसर भणवी लुवथी भारी नाथ्ये ज्येथ पोते जुठपति वस्ये। तेखे विचार कर्ये के भारी माताणी माकथ केथं पक्ष हाथवी छुपाथने ज्येथाने ज्येथ न ज्येथ ज्येथ न तो छुपाथने रहे. ज्येथ अभिप्रायथी तेखे आश्रमनां ज्येथ वृक्षोने ज्येथमुणथी ज्येथेडी नाथ्यां हाथीना ज्येथ प्रहारना कार्यथी तपस्वीज्येथाना दिवसां भारे दुःख यथु ज्येथ तेज्येथ पुष्प फल वगेरे खेट वथं राजा श्रेणिकनी पासे पडोऽप्या ज्येथ त्या ज्येथ राजने ज्येथी वात कही स भणवावी ज्येथ कस्यु, महाराज ! सेचनक नामने ज्येथ हाथी वनमां रहे छे ते भूष उपद्रव करे छे, आशा

समागता प्रजा समिलन्ति । तस्य प्राज्यराज्यसुख, प्रतिदिवस नव नवमिव यौवनम्, नवनीतमिव शिरीषकुसुममिव सुकुमार शरीरम्, नयनलोभकरं रूपलावण्यम्, सर्वत्राभ्याहतगतिक यानम्, दिङ्मण्डलविजयिनी चतुरङ्गिणी सेना, शीतलसुगन्धमन्दमारुतमनोविनोदन, नन्दनवनमिव सर्वर्तुसुखद रमणीयसुधानम्, चन्द्रमण्डलावधीरणगगनस्पर्शिधवलप्रासादाः, सर्वे कामभोगा अनुकूला आसन् । असौ दौण्डकदेव इव सर्वं सुखमनुभवन्नास्ते । तत्रैकदा धर्मचन्द्रनामक आचार्यं शिष्यगणपरिराज्य का उसे अधिक से अधिक सुख था । यौवन भी इसका प्रति दिन नवीन नवीन रूप में खिलता रहता था । शरीर इसका नवनीत एव शिरीष पुष्प से भी अधिक सुकुमार था । रूप लावण्य नयनों को लुभावे ऐसे थे इसे कहीं पर भी चले जाने में कोई रुकावट नहीं होती थी । इसकी चतुरंगिणी सेना दिङ्मण्डल को विजय करने वाली थी । इसके एक रमणीय उद्यान था जो नन्दनवन के समान समस्त ऋतुओं में सुखदायक था । जिसमें शीतल, मद एव सुगन्धित पवन यहाँ करता था उससे मन का अच्छा विनोद होता था । जिस महल में राजा का निवास था वह चंद्रमण्डल से भी रमणीय था तथा इतना ऊँचा था कि आकाश को जैसे स्पर्श करता हो । समस्त कामभोग इसके अनुकूल थे । दौण्डक देव की तरह यह समस्त प्रकार के सुखों को भोगता हुआ अपना समय निश्चितरूप से व्यतीत करते थे । इतने में एक दिन की यात है ग्रामानुग्राम विचरते हुए धर्मचन्द्र नामके आचार्य

द्विशाब्दाभांथी बोधो द्वाडीने आपता इता राव्यनु ज्येभने साइ ज्येवु सुष इतु, यौवन पञ्च ज्येभनु प्रतिदिन अपनवीन रीते भीवतु रडेतु इतु, शरीर ज्येभनु नवनीत (भाभञ्ज) ज्येभने शिरीष पुष्पथी पञ्च अधिक सुकुमार इतु, इय लावण्य नयनाने बोभावे तेषु इतु, डैध पञ्च स्थजे ज्वाभा ज्येभने डैध इकावट न इती, ज्येभनी चतुरंगिणी सेना दिङ्मण्डलने विजय करनार इती, ज्येभनु ज्येभ सुइर ज्येभु उद्यान इतु जे नन्दनवन समान इरेक इतुमां सुष आपतार इतु जेमां शीतल, मद, ज्येभने सुगन्धित पवन पञ्च करतो इतो, ज्येभनी मनने सारि आनइ भणतो जे भडेवमां राजानो निवास इतो ते यद्रमण्यथी पञ्च रमणिय इतो ज्येभने ज्येभने उद्ये इतो के जे आकाशने अडीने उद्ये डैध ज्येभ लागतु ज्येभ कामभोग ज्येभ अनुकूल इता दौण्डक देवनी माइक ज्येभ समस्त प्रकारना सुजेने भोगवता पातानो समय निश्चित रीते व्यतीत करता इता ज्येभने द्विसती वात छे के ग्रामानुग्राम विचरता पञ्चयद्र

स्वयमागत स्तम्भसमीपे त्रिचरणेनावस्थित सेचनक दृष्ट्वा त्रेणिकट्टपस्ते
मिष्टाहारै स्वर्णभूषणै. करस्पर्शादिभिध नितरा लालयति स्म । एव सेचनकइ-
स्तिवत् स्वयमात्मनो दमनेन लोके सर्वनादर लभमान मुखी भवति । तथैव
परलोकेऽपि सुखी भवति ' तत्रोदाहरणम्—

अष्टमतीर्थकरस्य श्रीचन्द्रप्रभस्य शासने चन्द्रपुरीनगर्यां तद्वशपरपरायां सुद-
र्शनो नाम नरपतिरासीत् । स चैव पूर्वोपार्जितपुण्यपराशिरासीत्-येन तस्य दर्शनात्
प्रजानामिष्टलामो भवति, अतस्तद्दर्शनार्थमनुदिवस तत्र चतसृभ्यो दिग्भ्य

दमन करो । देव के इस प्रकार वचन सुनकर सेचनक आलानस्तम्भ के
पास स्वयं आ कर खड़ा हो गया । राजा सेचनकको आलानस्तम्भके
पास खड़ा देखकर यड़ा प्रसन्न हुआ । उसने मिष्ट आहार से तथा स्वर्ण
के आभूषणों से उसका खूब सत्कार किया । बारबार उसके ऊपर हाथ
फेरा और पुचकारा । मतलब कहने का यही है कि जो व्यक्ति सेचनक
हाथी की तरह अपना स्वयं दमन करता है वह सर्वत्र आदरणीय बन
कर इस लोक में खूब सुखी हो जाता है । तथा परलोक में आनन्दका
भोक्ता बनता है, इस विषय में उदाहरण इस प्रकार है—

अष्टमतीर्थकर श्री चन्द्रप्रभु स्वामी के शासन में चन्द्रपुरी नाम की
नगरी में सुदर्शन नामका एक राजा थे । यह चन्द्रप्रभुस्वामी की वशपर-
परा में ही उत्पन्न हुए थे । उसकी पूर्वोपार्जितपुण्यपराशि इतनी प्रबल थी कि
जो कोई प्रजाजन इसका दर्शन करते थे उसे अवश्य ही इष्ट का लाभ
होता था । इसी से उसके दर्शन के लिये हरएक दिशा से दौड़ २ आते थे ।

देवना आ प्रकारनां वचन साधनी सेचनक पोतानी अते व राजधानीमा
पडेभ्यो अने प्रथम के स्थले तेने पांषवामां आवेव डतो ते स्थले वड ठवो
रुडी अथो सेचनकने आ रीते पाछे आवेवो जेठ राज् अखिउक भुथी अया
अने तेने साडु अेवु भीष्ट खोजन आपी सोनाना अड काये पडेशवी तेना
शरीर उपर प्रेमधी डाय देस्ववा लाज्या कडेवाने मतलब अे छे डे के व्यक्तित
सेचनक दाखीनी भाइक स्वय पोतानु इमन करे छे ते सर्वत्र आडरने पात्र
अनी आ डोअभां भूष सुभी अर्ष परडोअभां पखु आनडना खोगवनार अने छे
आ विषयमा ठेडाकरखु आ प्रकारनु छे—

आठमा तीर्थकर श्री चन्द्रप्रभुस्वामीना शासनमा चन्द्रपुरी नामना नग
रमा सुदर्शन नामना राज् डता ते चन्द्रप्रभु स्वामीना वशना व डता अेनी
पूर्वोपार्जित पुण्यपराशि अेठवी प्रबल डती डे के डोअ प्रबलजन अेमनां दर्शन
करतो तेने छेडने डाय अवश्य भणी अतो, आधी अेमना इथन माटे इथे

अनशनवमौदरिकाभ्या तपोभ्या रूपलावण्य सपन्न सुकुमारं शरीरं कृशयति,
 तथाहि—चतुर्भक्तं कृत्वा तत्पारणायामन्तप्रान्तरुक्ष, तदपिसामिग्रह, तदपि स्वल्प,
 तदप्यवमौदरिकानुकूल गृह्णाति । तदनन्तरं पष्ठभक्तमष्टमभक्त दशमभक्त द्वादशभक्त
 पाचमासक्षण तपः कृत्वा सर्वपारणामु अवमौदरिक तपः कुर्वन्नेव शरीरं कृशतरं
 कृतवान् । एव तीव्रतरतपश्चणाव घटनमानगारवत् शुष्कमासशोणितं सन् परि-
 चिन्तयति—आचार्यदेशनानुसारेण मया सर्वथाऽऽत्मा दमितः, धर्मध्यानेनात्मबल
 प्राप्य पुष्टोऽरिम्, अतः परं शुकुध्यानाय सर्वथा यतिभ्ये, एव सोत्साहं त्रिशुद्धभाव-
 नया क्षपक्रेणि समाख्यान्तर्मुहूर्तमात्रेण केवलज्ञानं प्राप्तवान्, एव वर्षमात्रेण तीव्र-
 तपसा स्वात्मानं दमयन् सिद्धो जातः । तस्मात् स्वयमेव स्वात्मा दमनीय इति ॥१६॥

होकर दीक्षित हो गये । उन्होंने ने अपने रूपलावण्ययुक्त सुन्दर सुकुमार
 शरीर को अनशन एव अवमौदरिक तप द्वारा कृश करना प्रारंभ कर
 दिया । कभी वह चतुर्भक्त उपवास करते और पारणा के समय अन्त,
 प्रान्त एवं रुक्ष आहार लेते, उसमें भी अभिग्रह, अभिग्रह में भी स्वल्प,
 उसमें भी अवमौदरिकानुकूल लेते । बाद में पष्ठ भक्त, अष्टमभक्त,
 द्वादशभक्त, से लेकर एक मासक्षण तक भी तपश्चर्या करते । और
 इन सब तपस्याओं के पारणा के दिन वह अवमौदरिक तप करते ।
 इससे इनका शरीर अतिशय दुर्बल हो गया । इस प्रकार तीव्र तपश्चर्या
 के करने से इनका शरीर घन्य नामक अनगार के शरीर की तरह शुष्क
 मांस शोणित वाला होकर केवल अस्थिपजर मात्र अवशिष्ट रहा ।
 उस समय उन्होंने विचार किया—कि मैं ने आचार्य महाराज की देशना
 अनुसार सर्व प्रकार से अपनी आत्मा का दमन किया तथा इस अवस्था

सुकुमार शरीरने अनशन अने अवमौदरिक तपधी कृश करवाने प्रारंभ करी
 दीषी। क्षयरेक तेजो चतुर्भक्त उपवास करता अने पारखाना समये अन्त,
 प्रान्त अने रुक्ष आहार लेता हत्ता। जेमां पञ्च अभिग्रह, अभिग्रहमा पञ्च
 स्वल्प, जेमां पञ्च उनेादरिक तप करता आइमा पष्ठभक्त, अष्टमभक्त, दश-
 मभक्त, द्वादशभक्त, यी लक्ष जेक मासक्षणपञ्च सुधीनी पञ्च तपश्चर्या करता अने
 जे लक्षी तपश्चर्याना पारखाना द्विसे उज्ज्वेादरिक तप करता आधी जेमनु शरीर
 अतिशय दुर्बल बनी गयु, आ प्रकारनी तीव्र तपश्चर्या करवायी तेमनु शरीर
 घन्य नामना अनगारना शरीरनी भाइक बोडी भांस वगारनु यक्ष गयु, अने
 इक्ष्वाकारकाने भाणजे व लक्षी रक्षी जे समये तेमजे विचार कर्यो हे—जे
 आचार्य महाराजनी देशना अनुसार सब प्रकारधी भारा आत्मानु दमन कर्यु

दृतो ग्रामानुग्राम विहरन् चन्द्रपुरीनगर्यां बहिरुद्याने सहस्राऽऽघ्रयने समवसृतः ।
 तद्वन्दनार्थं सुदर्शनो नृपः सपरिवारः समायात । आचार्येण सुदर्शननृपस्य नामा
 नुरूप रूपलावण्यादिकं त्रिलोक्य धर्मदेशनादत्ता-सुदर्शननृपो निशम्य मुनिदर्शनां
 मनसि चिन्तयति-अहो ! यः स्वात्मानं स्वयं न दमयति, स परं बंधवन्धनादिभिः
 दमितः सन् स्वात्मानः कर्म निर्जरयितुं न प्रभवति अपितु ज्ञानायरणीयाद्यष्टविध
 कर्मरजोभिः स्वात्मानं गुरुतरीकृत्य चतुर्गतिकससारगर्भं निपतति जन्मजराम
 रणाघनन्तदु खं प्राप्नोति । इति चिन्तयन् सर्वेभ्यः कामभोगेभ्यो विरज्य मव्रजितः ।

महाराज अपने शिष्यगण सहित उस चन्द्रपुरी नगरी के बाहिर यगीचे
 में सहस्राघ्रवन में पधारे । उनको वन्दन करने के लिये वे सुदर्शननरेश
 परिवारसहिक वहा गये । आचार्य महाराज ने नाम के अनुरूप उनके
 रूपलावण्य को देखकर धर्म देशना प्रारभ की । सुनकर नरेश बहुत
 ही आनदित हुए और विचारने लगे-जो व्यक्ति अपनी आत्मा को स्वयं
 दमन नहीं करता है वह दूसरों द्वारा बंध बधनादिक से दमित होकर
 अपने कर्मों की निर्जरा करने में शक्ति शाली नहीं होता है किन्तु दुष्यां
 होने से उस समय वह आत्मा चतुर्गतिक ससाररूप गर्भ में निपातन
 हेतु जो ज्ञानायरणीयादिक अष्टविध कर्म का बंध है उसे हट करता है ।
 उस कर्मरूपी रज से मलिन घना वह आत्मा झूटना मारी हो जाता है
 कि उसका पतन ससाररूपी गर्भ में अवश्यंभावी होता है । और वहां
 पडा हुआ वह जन्ममरण आदिके अनंत दु खों को भोगता रहता है ।
 इस प्रकार विचार कर वह नरेश समस्त कामभोगों से विरक्त

नामना आचार्य पौताना शिष्यगण सहित के चन्द्रपुरी नगरना पधारना पत्री
 आभां पधायो राव सुदर्शन तेभने व इन करवा परिवार साथे त्यां गया आचार्य
 महाराजे नामना जेवाज तेना रूप लावण्यने जेध धर्म देशना प्रारभ करी
 सांभणी राव भूजज पुशी गया अने मनमां विचारवा लाव्या के जे व्यक्ति
 पौताना आत्मातु स्वयं दमन नहीं करते ते जीव द्वारा बंध बधनादिकधी
 दमित बंध पौताना कर्मोनी निर्जरा करवाभां शक्तिशाणी पनी शकते नहीं.
 परतु दुष्यां होवाधी जे समय ते आत्मा चतुर्गतिक ससाररूप पाठामां
 अवश्य पडे छे अने जेभां पडये रही ते जन्म मरण आदिना अनंत
 दुःखो भोगवतो रहे छे आ प्रकारने विचार करी राव सुदर्शन समस्त काम
 भोगोधी विरक्त पनी दीक्षित बंध गया तेभजे पौताना रूपलावण्य सुक्त सुंदर

कर्मयोग्यानाम् आचायादीनामित्यर्थः, पक्षतः=पार्श्वतः, न उपविशेदिति शेषः । पार्श्वभागोपवेशने गुर्वादिपक्षौ समावेशात् तत्साम्यं स्यात्, किंच शिष्यं प्रति वक्रावलोकने गुरो स्क्रुधादिवाचासम्भवः तथा चाविनयः प्रसज्येत, तस्मादाचार्यादिवाहुना सह ब्राह्म कृत्वा शिष्यो नोपविशेदिति भावः । पुरतो न=गुर्वादीनामग्रतोऽपि नोपविशेत्, तयोपवेशने वन्दनार्थमागतानां जनानां गुर्वादिसुखावलोकनेऽन्तरायः स्यात्, पृष्ठतोऽपि नैवोपविशेत्, गुरुशिष्ययोरुभयोरपि मुखोदरधने वाचनादीनामानन्दो न स्यादिति भावः । ऊरुणा=जहुया ऊरु=जहुवा न युञ्ज्यात्=न सघटयेत्, अत्यासन्नोपवेशनादिभिः शिष्य स्वकीयेनोख्या गुरोरुह न स्पृशेदित्यर्थः । तथाकरणे सति गुर्वादीनामविनयः स्यात् । तथा-शयने=शय्यायां शयित आसीनो वा न प्रतिशृणुयात् । अयं भावः-शय्यागतः शिष्यो यदि गुरुणाऽऽहृतः

आसन विनय को सूत्रकार कहते हैं—'न पक्खओ०' इत्यादि ॥

अन्वयार्थ (किञ्चाण पक्खओ-कृत्यानां पक्षतः " न उपविशेत् " कृतिकर्म-अथात् घटनादि के योग्य-आचार्य तथा अपने से बड़े के पास में सघटा करते हुए बराबर नहीं बैठे । (पुरओ न पिट्ठओ न-पुरतः न पृष्ठतः न) गुरु महाराज के आगे नहीं बैठे । पीछे सघटा करता हुआ नहीं बैठे । (ऊरुणा ऊरु न जुंजे-ऊरुणा ऊरुं न युञ्ज्यात्) उनके ऊरु-घुटना से घुटना लगाकर नहीं बैठे । (सपणे नो पडिस्सुणे) तथा जिस समय आचार्य आदि किसी काम करने के लिये बुलायें अथवा कहें उस समय अपने आसन पर बैठे ही बैठे उत्तर नहीं दे ।

कृतिकर्म का अर्थ वन्दन विशेष है । इसका वर्णन मेरे द्वारा रचित आवश्यक सूत्र की टीका में किया गया है । अतः यह विषय वहाँ से जान लेना चाहिये । इस कृतिकर्म के योग्य आचार्य आदि होते हैं ।

आसन-विनय विषे सूत्रकार कहे छे—न पक्खओ० इत्यादि

अन्वयार्थ—किञ्चाण पक्खओ-कृत्यानां पक्षतः " न उपविशेत् " कृतिकर्म अथात् वन्दनादिने श्रेष्ठ आचार्य तथा पीतानाथी मोटाओनी पासै तेमनी अठोअठ थर्धने भेसवु नहीं, पुरओ न पिट्ठओ न-पुरत न पृष्ठत न गुरु महाराजनी आगण भेसवु नहीं, पाछण अठोअठ थर्ध न भेसै ऊरुणा ऊरु न जुंजे-ऊरुणा ऊरु न युञ्ज्यात् तेमना घुटवुधी घुटवु लगादीने न भेसै सयवे नो पडिस्सुणे तथा ने सभये आचार्य आदि ठोडि काम करवा भाटे मोलावे अथवा कहे ते सभये पीताना आसन उपर भेकां भेकां बवात्र न आपे

भावार्थ—कृति कर्मना अर्थ वन्दन विशेष छे । नेनुं पक्षुंन भासदी शयित आवश्यक सूत्रनी टीकाभा करवाभा आवेस छे, आधी आ विषय आधी

आसनविनयमाह—

मूलम्—नं पक्खओ नं पुरंओ, नेव किच्चंण पिट्ठंओ ।

नं जुजे' उरुणा ऊरु, सयंणे नो' पडिस्सुणे ॥१८॥

छाया—न पक्खतो न पुरतो, नैव कृत्यानां पृष्ठत' ।

न युञ्ज्याद् उरुणा ऊरु, शयने नो प्रतिश्रुणुयात् ॥ १८ ॥

टीका—'न पक्खओ' इत्यादि ।

कृत्यानाम्=कृतियोग्या कृत्या., अत्र कृतिशब्दन कृतिकर्म गृह्यते, कृतिकर्म-
वन्दनविशेष', तद्वर्णनभावश्यकसूत्रस्य मत्कृतमुनितोपिणीटीकायां द्रष्टव्यम्, कृति-

सुन्दर लता को प्रत्यनीकभाव नष्ट कर देता है। इसलिये मोक्षाभिलाषी विनयवान शिष्य का कर्तव्य है कि वह स्वप्न में भी अपने गुरु महाराज का प्रत्यनीक न घनें ।

श्लोक में "वाचा कर्मणा" जो पद दिये गये हैं उसका मतलब यह है कि गुरु के प्रति शिष्य ऐसा न कहे कि "आप भी क्या कुछ जानते हैं" । इस प्रकार का व्यवहार घाचनिक प्रतिकूल आचरण में गर्भित होता है । इसी तरह वे जिस संस्तारक पर बैठते हों उसका कमी भी शिष्य को उल्लंघन नहीं करना चाहिये । उससे पैर का सघर्षण या सघट्टन न हो इसकी सदा सावधानी रखनी चाहिये । तथा आचार्य महाराज के समक्ष कमी भी शिष्य को उच्च आसन पर नहीं बैठना चाहिये और उनके आने पर अपने आसन से उठकर गुरु महाराज को बंदन आदि करना उचित है ॥ १७ ॥

लतानो प्रथनिकभाव नाश करी नाये छे आ भाटे मोक्षाभिलाषी विनयवान शिष्युं कर्तव्य छे के ते स्वप्नाभां पक्ख पीताना गुरु महाराजने प्रत्यनिक न घने-

श्लोकभां (वाचा कर्मणा) के पद आपवाभां आवेस छे तेना मतलब के छे के गुरुना प्रति शिष्य केवुं न कहे के "तमे पक्ख शुं कर्त्तं आये छे ।" आ प्रकारने वहेवार वाचनिक प्रतिकूल आचरणभां गर्भित घाय छे आ रीते ते के आसन उपर भिसता होय तेउ शिष्ये कडि पक्ख उल्लघन करवुं न लेईके, के आसनने तेना पग न लागे तेनी तेले सावयेती राभयी लेईके तथा आचार्य महाराजनी सामे कडी पक्ख शिष्ये उचा आसन पर भिसवुं न लेईके अने तेमना आपवाधी पीताना आसन उपरधी उका कर्त्त गुरु महाराजने बंदन वगेरे करवुं उचित छे ॥ १७ ॥

मूलम्—नेव पल्हत्थिय कुज्जा, पक्खपिण्डं च सजए ।

पाएँ पँसारिए वाविं नँ चिट्ठे' गुरुणतिए ॥ १९ ॥

छाया—नेव पर्यस्तिकां कुर्यात्, पक्षपिण्डं च सयत ।

पादां प्रसार्य वापि, न तिष्ठेद् गुरुणामन्तिके ॥ १९ ॥

टीका—'नेव पल्हत्थिय' इत्यादि ।

सयत.—मुनि, पर्यस्तिकाम्—द्वे जानुनी उत्थाप्य वक्षेण पृष्ठ समारम्भ्य पार्श्वद्वय जानुद्वयं च संवेष्ट्योपवेशन पर्यस्तिका, यद्वा—त्रह्वाद्वय वक्षेण सवेष्ट्यो-

उन्हें प्राप्त नहीं हो सकेगा । तथा गुरु महाराज की जघा से जघा अङ्काकर भी शिष्य को इसलिये नहीं बैठना चाहिये कि इस प्रकार की क्रिया से गुरु महाराज का अविनय होता है । गुरु महाराज जब किसी कार्य करने के लिये शिष्य को बुलावे तो उस समय उसका कर्तव्य है कि वह 'तहेति तहेति' कहकर आसनसे उसी वक्त सभ्रान्तचित्त होकर आसन का परि त्यागकर देवे और घड़ी भक्तिसे विनयके साथ गुरुके समक्ष जाकर हाथ जोड़ घन्दना करके पूछे कि हे भदत ! आज्ञा दीजिये—किस कार्य के लिये आपने मुझे याद किया है । इस प्रकार का व्यवहार भी विनयधर्म में परिगृहीत हुआ है ॥ १८ ॥

'नेव पल्हत्थियं०' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(सजए संयतः) मुनि शिष्य को (गुरुणतिए—गुरुणामन्तिके) अपने गुरुजनों के समक्ष (पल्हत्थियं नेव कुज्जा—पर्यास्तिका नेव कुर्यात्) पैरों पर पैर रखकर—पालरथी मारकर—पद्मासन माङ्कर—कमी नहीं बैठना चाहिये । इस प्रकार बैठने से आशातना दोष लगता है ।

जोने प्राप्त यह शकते नहीं तेम गुरु महाराजना गोठषुभी गोठषु भीठावीने शिष्ये जेठला भाटे न भेसवुं जेठं जे, कारषु के आ प्रकारनी द्वियाभी गुरु महाराजने अविनय थाय छे, गुरु महाराज काँठ काम भाटे शिष्यने भोलावे तो ते सभये जेनु कर्तव्य छे के पोटाना आसन उपरथी जेज वधते स्वस्थ चित्त धनी गुरु भोलावे त्यारे तछेत कही आसनने त्याग करी भक्तिपूर्वक विनय साथे गुरुनी साथे जध हाथ जेडी वइना करी पूछे के छे भदन्त । आज्ञा आपो क्या काम भाटे आपे भने याइ करैल छे आ प्रकारने वडेवार पखु विनय धर्म' भदषु करवामां आवेल छे ॥ १८ ॥

नेव पल्हत्थियं इत्यादि,

अ-वयार्थ—सजए—सयत' मुनि शिष्ये गुरुणतिए—गुरुणामन्तिके पोटाना गुरुजनोंनी साथे पल्हत्थिय नेवकुज्जा—पर्यास्तिका नेव कुर्यात् पञ्च उपर पञ्च शभी—पक्षांडी लभावी—पद्मासन लगाडी, कडि पखु भेसवुं न जेठं जे आ

किंचित्कार्यकरणाय प्रोक्तो वा स्यात्, तदा शिष्येण शय्याया स्थितेनैव न श्रोतव्यम्, किं तु गुरुचनश्रवणसमनन्तरमेव सभ्रान्तचेता, सप्रियः कृताञ्जलिः सन् गुरोः समीपमागत्य चरणारविन्दं वन्दमानः, 'अनुगृहीतोऽहम्' इति मनसि मन्यमानो वदेत्—'मदन्त ! आज्ञापयतु किं विधेयं मया' इति ॥ १८ ॥

मोक्षाभिलाषी शिष्य का कर्तव्य है कि वह आचार्यादिक को दायें पायें न बैठे । कारण कि इस प्रकार बैठने से गुर्वादिक की पक्ति में उसका समावेश होता है । दर्शनार्थी लोग शिष्य को समझेंगे कि यही गुरु महाराज है । तथा शिष्य के प्रति जय गुरु को देखने की इच्छा होगी तो वे अपनी गर्दन को मोड़कर उसको देखेंगे, इससे उनकी गर्दन में तथा स्कन्ध आदि फिराने में तकलीफ होगी, तथा गुरु महाराज का सघटा आदि होने से शिष्य को आशानना आदि दोष लगने का सम्भव है । इसलिये गुरु महाराज की यरायरी में नहीं बैठना चाहिये । गुरु महाराज के आगे भी इसी तरह से नहीं बैठना चाहिये । कारण कि इस प्रकार से बैठने में गुरु महाराज को वन्दना निमित्त आने वालों को उनके दर्शनों में अन्तराय होती है । इसी प्रकार गुरु के पीछे भी शिष्य को नहीं बैठना चाहिये—क्यों कि इस प्रकार से बैठने पर गुरु को शिष्य का मुख नहीं देख सकेगा और शिष्य को गुरु का मुख नहीं देख सकेगा, इससे वाचन पृच्छना आदि में अन्तराय होने से उनका आनन्द

बन्धु देवो ब्रह्मणे, आ कृत्तिकर्माना योऽप्य आचार्य आदि होय छे मोक्षा भिलाषी शिष्यनु कर्तव्य छे के ते आचार्य आदिही उभा-बभन्धु न भेसे ठारख के, आ प्रकारे भेसवाधी गुरु आदिनी पक्तिमा तेना समावेश थाय छे. दर्शनार्थी लोक शिष्यने व गुरु महाराज मानी वे शिष्य तरहे न्यारे गुरु महाराजने भेवानी धम्मा थाय त्यारे ते पोतानी गरहन भरडीने तेना तरहे भेसे आधी केमनी गरहनमा तथा भभा वगेरे इस्ववाभा तकलीफ थये तथा गुरु महाराजनु सधकु आदि थवाधी शिष्यने अशातना आदि दोष वाजवाने संभव छे आ भाटे गुरु महाराजनी भरोभरीमा भेसवु न भेधजे तेम गुरु महाराजनी आगण पखु आ रीते भेसवु न भेधजे. ठारख के आ प्रकारेना भेसवाधी गुरु महाराजनी वदना भाटे आवनारने तेमना दर्शनमा अतसम थाय छे आ प्रकारे गुरुनी पाछण पखु शिष्ये भेसवु न भेधजे केम के आ रीते भेसवाधी गुरु शिष्यनु सुभ भेध शकता नथी अने शिष्य, गुरुनु सुभ भेध शकता नथी अने गुरु शिष्यनु सुभ भेध शके नही आधी वाचन पृच्छना आदिमा अन्तराय थवाधी केने ।

प्रेक्षितु शीलमस्येति तथा, अमीं गुरुणां प्रसाद.-यदन्येषां शिष्याणां सद्भावेऽपि गुरवो मामाज्ञापयतीति विचारशील इत्यर्थः । यद्वा-केन विधिना गुरु. प्रसन्नो भवेदिति भावनाभावितः, गुरुप्रसादलामार्थी इति यावत् । उक्तञ्च—

जो नखि मग्गसाली, नो सो गुरुद्वेषण इह लमए ।

धारामियस्स निवडइ, जंणेणो पुनहीणाण ॥ १ ॥

छाया—यो नास्ति भाग्यशाली, नासौ गुरुदेशनामिहालभते ।

धाराऽमृतस्य निपतति, अङ्गे नो पुण्यशोनानाम् ॥ १ ॥

तथा नियागार्थी=मोक्षार्थी शिष्य. गुरु=धर्माचायादिक, सदा उपतिष्ठेत्= 'मत्पण वदामि' इत्यादि वदन् सविनय गुरुसमीपे तिष्ठेदित्यर्थः ॥१०॥

जावे, अथवा किसी कार्य करने के लिये कहा जावे-तब वह (कयाइवि-कदाचिदपि) कभी भी (तूसणीओ न-तूष्णीकः न भवेत्) उत्तर दिये बिना नहीं रहे चाहे यीमार भी होवे तो भी चुपचाप न रहे । (पसाय-पेही-प्रसादप्रेक्षी) यह समझे कि मेरा बड़ा भारी सौभाग्य का उदय है, जो अन्य शिष्यों के होने पर भी गुरु महाराज मुझे ही आज्ञाप्रदान कर रहे हैं । अथवा-यह विचार करे कि गुरु महाराज जिस उपाय से मेरे पर प्रसन्न हों वही उपाय मुझे करते रहना चाहिये । इस प्रकार की भावना से भावित होकर गुरु के प्रसाद का लाभार्थी बने । क्यों कि कहा भी है-जिस प्रकार हीन पुण्यवालों के शरीर ऊपर अमृत रस की धारा नहीं पड़ती है-उसी प्रकार जो शिष्य भाग्यशाली नहीं होता है वह गुरु की देशना का पात्र नहीं होता है । इसी तरह (नियागद्वी) मोक्षामिलापी शिष्य का कर्तव्य है कि वह (सया गुरु उवचिद्वे-सदा गुरु

व्यारे तेने जेसाववामां आवे अथवा डैधं काम भाटे ठडेवामां आवे त्यारे कयाइवि कदाचिदपि ते ढडि पखु तूसणीओ न-तुष्णीक न भवेत् उत्तर आभ्या वजर न रहे याडे ते भीमार डाय तो पखु चुपचाप न रहे पसायपेही-प्रसादप्रेक्षी ते जेवुं समजे के, भारा सौभाग्यने मोटे उदय छे के, भीम शिष्यो डेवा छता पखु गुरु महाराज भने व आज्ञा आपे छे अथवा जेवे विचार करे के गुरु महाराज जे उपायधी भारा उपर प्रसन्न रहे तेवे व उपाय भारे करता रहेवु जेधंजे आ प्रकारनी भावनाधी भावित बनने गुरुना प्रसादने लाभार्थी बने केभके, कहुं छे के-जे प्रकारे दुर्भागिना शरीर उपर अमृतरसनी धार पडती नथी, जे प्रकारथी जे शिष्य भाग्यशाली नथी छेते। ते गुरुनी देशनाने पात्र बनते नथी आ रीते नियागद्वी मोक्षामिलापी शिष्यनु कर्तव्य छे के ते सया गुरु उवचिद्वे-सदा गुरु उपतिष्ठेत् ढभेशां

पवेशनं, पर्यस्तिका, ताम्, पक्षपिण्ड-वाहृदयेन कायवेष्टन च नैव कुर्यात् । अपि वा=अपि च गुरुणाम् अन्तिके=सनिधौ पादौ=चरणौ प्रसारितौ कृत्वा न तिष्ठेत् । इदमुपलक्षणम्—एकजङ्घोपरि अपरचरण निधायापि न तिष्ठेत् । तथासत्यविनयः स्यादिति भावः ॥ १९ ॥

मूलम्—आयरिएहिं वाहितो, तुसिणीओ न कयाई वि ।

पंसायपेही नियांगट्टी, उवचिष्टे गुरु सया ॥२०॥

छाया—आचार्यव्याहृत तूष्णीको, न कदाचिदपि ।

प्रसादप्रेक्षी नियोगार्थी, उपतिष्ठेत् गुरु सदा ॥ २० ॥

टीका—‘आयरिएहिं०’ इत्यादि ।

आचार्यः=गुरुभिः, व्याहृत—आहृतः, यद्वा—उक्तं सन् तूष्णीक—मौनावलम्बी, कदाचिदपि=ग्लानाद्यवस्थायामपि न भवेदिति शेष । किंतु प्रसादप्रेक्षी=प्रसाद

(पक्षपिण्ड च नैव कुञ्जा-पक्षपिण्ड च नैव कुर्यात्) इसी प्रकार दोनों हाथों से घुटने बांधकर तथा पीठ भाग से छेकर दोनों घुटनों को बन्ध बांधकर भी बैठना गुरु महाराज की आज्ञातना है । (पाए पसारिए बाबि न चिष्टे-पादौ प्रसार्ये वापि न तिष्ठेत्) अर्थात् गुरु महाराज के सामने पैरों को पसार कर भी शिष्य को बैठना उचित नहीं है । इसी तरह अर्थ पद्मासन के रूप में भी उनके समक्ष नहीं बैठना चाहिये । ऐसा करने से अविनय दोष लगता है ॥ १९ ॥

‘आयरिएहिं०’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—शिष्य को चाहिये कि वह (आयरिएहिं वाहितो-आचार्यं व्याहृतं सन्) आचार्य तथा अपने से बड़ों द्वारा जब बुलाया

प्रकारे भेसवाधी अज्ञातनाने दोष लागे छे पक्षपिण्ड च नैव कुञ्जा-पक्षपिण्ड च नैव कुर्यात् आ प्रकारे भन्ने हाथोने जोडबु उपर लगानी. तथा वासना भागशी बंध भन्ने घुटबुने पक्षशी बांधी भेसवाधी पक्ष गुरु महाराजनी अज्ञातना याय छे पाए पसारिए बाबि न चिष्टे-पादौ प्रसार्ये वापि न तिष्ठेत् अर्थात् गुरु महाराजनी सामे पज लागे करीने पक्ष शिष्ये भेसबु उचित नथी आ रीते अर्थ पद्मासनना रूपशी पक्ष भेमनी सामे भेसबु न लेध भे भेम करवाधी अविनय दोष लागे छे ॥ १९ ॥

‘आयरिएहिं०’ इत्यादि

अन्वयार्थ—विवेकी शिष्य भाटे के बहरी छे के ते आयरिएहिं वाहितो-आचार्यः व्याहृतः सन् आचार्य तथा पोटानाशी भेटाये

आसनावस्थितं शिष्य वदति, तदा शिष्यो व्याख्यानादिकालेपि पट्टाघासने नोप-
 विष्टः स्याद्, किंतु आसनं त्यक्त्वा धीर' = बुद्धिमान्, शिष्यः यतः = यत्नवान् एका-
 ग्रचित्तं सन् यत् = यत् कार्यं, गुरुणोक्तं सुकरं दुष्कर वा, तत्तत् प्रतिशृणुयात्,
 'अवश्यकरणभावोऽस्ति' इत्युक्त्वा स्वीकुर्यात् । अत्र-धीर इति विशेषण व्याख्या-
 नादिकाले, तथा स्वशरीरादिकार्यवशाद् व्यग्रस्यापि शिष्यस्य गुरुविनयाराधनार्थं
 क्षमत्व सावधानत्व च सूचयति । 'यतः' इति विशेषणेन समितिगुप्तिसमाराधन-
 पूर्वकं गुरो सकलकार्यसपादनाभिरुचि सूचिता । प्रतिशृणुयादिति पदेन गुरुव
 चनभ्रवणसमनन्तरमविलम्बेन तत्कार्यसपादनार्थं स्वीकृतिवचनमुक्त्वाऽन्यत् सर्वं
 स्वकीयकार्यं विहाय प्रथम सर्वथा गुरुकार्यसाधने सादरा प्रवृत्तिः सूचिता ॥२१॥

यैठा हो तो भी उस समय शीघ्र उठकर उसे गुरु महाराज की आज्ञा
 का पालन करना चाहिये । ऐसा नहीं करना चाहिये कि गुरु महाराज
 की बात सुनकर भी पुन आसन पर बैठ जावें । अर्थात् उस समय
 व्याख्यान आदि का समय हो तो भी गुरु महाराज की आज्ञा का
 आराधन करना चाहिये । इसी बात को उत्तरार्ध में सूत्रकार ने स्पष्ट
 किया है—(चङ्गण आसण धीरो जओ जप्त पडिस्सुणे—त्यक्त्वा आसन
 धीर यत्तत् प्रतिशृणुयात्) चाहे वह कार्य सरल हो चाहे कठिन हो तो
 भी सर्वप्रकार के सकल्प विकल्प से रहित होकर गुरु महाराज कथित
 कार्य को “ अवश्य करने का भाव है ” ऐसा कहकर शिष्य को स्वीकार
 करना चाहिये । सूत्र में जो धीर विशेषण दिया गया है उससे सूत्रकार
 का यह अभिप्राय सूचित होता है कि जिस समय गुरु महाराज कार्य
 करने के लिये शिष्य से कहें उस समय वह शिष्य चाहे व्याख्यान देने

आसन उपर भेसेव डोय तो पञ्च त्याधी तुरत व उठीने तेवे गुरु महाराजनी
 आज्ञानु पालन करवुं भेधजे जेवु नही करवु भेधजे के, गुरु महाराजनी
 वात सांभलीने पञ्च आसन उपर पाठो भेसी जय अर्थात् जे वपते व्याख्यान
 आदिने समय डोय तो पञ्च गुरु महाराजनी आज्ञानु आराधन करवु
 भेधजे. आ वातने उत्तरार्धधी सूत्रकारे स्पष्ट करैव छे

चङ्गण आसण धीरो जओ जप्त पडिस्सुणे—त्यक्त्वा आसनं धीर' यतो यत्तत् प्रति
 शृणुयात् आडे ते काम स्रण डोय, आडे उठीने डोय तो पञ्च सर्व प्रकारना
 सकल्प विकल्पधी रहित धर्धने गुरु महाराजे कहेवा कामने “ अवश्य करवु
 भेधजे तेवा भाव छे ” जेवु उठीने शिष्ये तेना स्वीकार करवे भेधजे.
 सूत्रमां ने धीर विशेषेण अपायेव छे तेनाथी सूत्रकारने जे अभिप्राय लखाय
 छे के, ने समये गुरु महाराज काम करवा भाटे शिष्यने कहे ते समये शिष्य

आसनस्थितस्य शिष्यस्य विनयमाह—

मूलम्—आलवते लवते वा, न निसिज्जं कयाइवि ।

चइर्जण आसँण धीरो, जेओ जँत्त” पडिँसुणे ॥२१॥

छाया—आलपति लपति वा, न निपीदेत् कदाचिदपि ।

त्यक्त्वा आसन धीरो, यतो यत्त् प्रतिशृणुयात् ॥ २१ ॥

टीका—‘आलवते’ इत्यादि ।

गुरौ आलपति=सकृद् वदति सति, कार्यस्य लघुत्वात्सकृत्कथनमिति भावः, यथा—आसनमानीयताम्, पारण क्रियताम्, इत्यादि, वा=अथवा गुरौ लपति=पुनः पुनः कथयति सति ग्रहणासेवनाशिक्षायां स्वपरवैयाघ्रस्यकार्ये च, कार्यस्य गृहणादत्यावश्यकत्वाच्च पुनः पुन कथनमिति भावः, शिष्यः कदाचिदपि न निपीदेत्=आसनाऽऽसीनो न भवेत् । अयं भावः—यदि गुरु किञ्चित् कार्यं सकृद् वा, पुनः पुनर्वा,

उपतिष्ठेत्) “मत्थे ण वंदामि” इस प्रकार विनयश्लोक शब्द का व्यवहार करता हुआ सदा अपने गुरु के समक्ष उपस्थित होवे ।

भावार्थ—गुरुमहाराज जिस तरह अपने ऊपर प्रसन्न हो उसम शिष्य का कर्तव्य है कि वह उस प्रकार प्रयत्नशील रहे ॥ २० ॥

‘आलवते०’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(आलवते लवते वा कयाइ वि न निसिज्जा—आलपति लपति वा कदाचिदपि न निपीदेत्) उत्तमशिष्य—विनयशीलशिष्य का कर्तव्य है कि जब गुरु महाराज किसी कार्य को करने के लिये एक ही बार में कहें या बार २ भी कहें तौ उस समय उसे कभी उस कार्य को करने के लिये आना कानी नहीं करनी चाहिये । अर्थात्—उस समय वह शिष्य चाहे अपने आसन पर भी

पीताना शुरुनी समक्ष वती वपते मत्थे ण वंदामि आ प्रकारेना विनय श्लोक शुरुने पडेवार कर्ते रहे

भावार्थ—शुरुदेव ने रीते पीताना उपर प्रसन्न थाय जेवो प्रयत्न करवानु उत्तम शिष्यनु कतव्य छे, जने जे प्रकारे ते प्रयत्नशील रहे ॥ २० ॥

आलवते० इत्यादि

अन्वयार्थ—आलवते लवते वा कयाइ वि न निसिज्जा—आलपति लपति वा कदाचिदपि न निपीदेत् उत्तम शिष्य—विनयशील शिष्यनु कतव्य छे के ज्यारे शुरु महाराज कौछ काम करवा भाटे जेक व वपते कडा हे अथवा बारबार कहे ते समये तेहे कहि पखु जे कायने करवा भाटे आनाकानी कर्णी न जेछे जे अर्थात्—जे वपते जे शिष्य कडे पीताना

कृत्वा स्थितः सन् प्राञ्जलिपुटः=हताभ्रलिः, सूत्रादिकं पृच्छेत् । यद्वा-कदाचिदपि
=बहुश्रुतत्वेऽपि आसनगत शय्यागता वा न पृच्छेत् सूत्रादिकमित्यर्थः ।

‘ आसनगओ ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—उत्तम शिष्य को, चाहिये कि वह (आसनगओ
-आसनगत) आसन पर बैठे २ अथवा (सेज्जागओ-शय्यागत.)
सस्तारक पर बैठे २ या सोये २ (रोगादिक अवस्था को छोड़-
कर) (कपाइवि-कदाचिदपि) कभी भी (न पुच्छिज्जा-न पृच्छेत्)
गुरु महाराज से सूत्र का अर्थ अथवा उनकी कुशलता न पूछे । किन्तु
(आगम्मुक्कुडुओ सतो पजली उडो पुच्छिज्जा-आगम्य उत्कुडुक सन्
प्राञ्जलिपुटः पृच्छेत्) उनके समीप आकर और उत्कुडुकासन-उकडु
आसनसे बैठकर दोनों हाथजोड़ फिर उनसे सूत्र आदि का अर्थ पूछे ।
शिष्य कितना ही बहुश्रुती क्यों न हो तो भी अपने गुरु से
सूत्रार्थ की प्रच्छना अथवा सुख शाता की पृच्छना आसन पर
बैठे २ या विस्तर पर लेटे २ नहीं करनी चाहिये । यद्यपि सूत्रार्थ की
पृच्छना संशय होने पर ही की जाती है । बहुश्रुत होने पर भी संशय
हो सकता है । अब ऐसी स्थिति में शिष्य का धर्म है कि उस संशय की

आसनगओ इत्यादि

अन्वयाथ—उत्तम शिष्यनी ओ इरव छे डे ते आसनगओ-आसनत
आसन उपर जेठा जेठा अथवा सेज्जागओ-शय्यागतः शय्याभा जेठ जेठा
डे सुता सुता (रोगादिक अवस्थाने छोडीने) कपाइवि-कदाचिदपि कही पख
शुरु महाराजथी सूत्रनो अर्थ अथवा जेमनी कुशलता न पुच्छिज्जा-न पृच्छेत्
न पुछे परतु आगम्मुक्कुडुओ सतो पजलि उडो पुच्छिज्जा-आगम्य
उत्कुडुक सन् प्राञ्जलिपुटः पृच्छेत् तेमनि सामे आवी जने उत्कुटासनथी
जेसी जने हाथ जेठी त्पारपछी जेमने सूत्र आदिना अर्थ पुछे जने सुभ
शाताना सभाचार पुछे शिष्य गमे तेवे बहुश्रुत केम न होय तो पख पोताना
शुरुथी सूत्राथना अर्थ अथवा सुभशाताना सभाचार आसन पर जेठा जेठ
अथवा तो पधारी पर सुवा सुता न पुछना जेछजे जे डे सूत्रार्थ आदिना
अर्थ संशय थवाथी व पुछाय छे बहुश्रुत होवा छता पख संशय
थाय छे आवी आवी स्थितिमा शिष्यनो धर्म छे डे, जे संशयनी निवृत्ति
भाटे ते शुरुनी समक्ष जाय जने सुभ विनयनी साथे जे संशयनी निवृत्ति

मूलम्—आसणगओ नै पुच्छिज्जा, नैव सेज्जागओ कयाइ वि ।

आगम्मुक्कुडुओ सतो, पुच्छिज्जा पजलीउडो ॥२२॥

उाया—आसनगतो न पृच्छेत्, नैव शय्यागतः कदाचिदपि ।

आगम्योत्कुडुकः सन्, पृच्छेत् प्राञ्जलिपुटः ॥ २२ ॥

टीका—‘आसणगओ’ इत्यादि । आसनगतः=आसनोपविष्ट सन् न पृच्छेत् सूत्रार्थं कुञ्जळादिक वा किमपि न पृच्छेदित्यर्थः । तथा—कदाचिदपि कस्मिन्नपि काले शय्यागतः सरतारफस्थित नैव पृच्छेत् रोगाद्यवस्थां विना शयानः सन् किमपि नैव पृच्छेदित्यर्थः । किंतु आगम्य=गुरो समीपे आगत्य, उत्कुडुकः=उत्कुडुकासनं

के लिये भी तैयार रहा हो—वह काल उसके व्याख्यान करने का भी हो अथवा अपने शारीरिक कार्य के वश से वह शिष्य व्यग्रचित्त बाला भी हो तौ भी विनय धर्म की आराधना निमित्त उसे गुरु महाराज कथित कार्य करने की क्षमता एव उस कार्य करने में विशेष सावधानी रखनी चाहिये । “जओ—यत ” यह पद यह प्रकट करता है कि शिष्य को समिति गुप्ति के आराधनपूर्वक ही गुरु महाराज के समस्त कार्यों के सम्पादन में रुचि शील होना चाहिये । “प्रतिश्रृणुयात् ” यह क्रियापद इस विशेषता का सूचक है कि गुरु वचन के श्रवण के अनन्तर ही बिना किसी विलम्ब के उनके कार्य को करने के लिये प्रतिज्ञा वचन कहकर और अपने निज कार्य को भी छोड़कर शिष्य का कर्तव्य है कि वह सब प्रकार से उनके कार्य के साधन करने में सादर प्रवृत्ति करे ॥२१॥

बाहे व्याख्यान आपवा भाटेनी तैयारीमां होय—ते समय तेने व्याख्यान करवानो होय, अथवा पोताना शारीरिक कामना वशधी ते शिष्य व्यग्र चित्त वाणो होय तो पणु विनय धर्मनी आराधना निमित्त तेनामां गुरु महाराजे कहेला कामने करवानी क्षमता वने ओ काम करववामां विशेष सावधानी राखवी ओर्धओ. जओ—यत ओ पद ओवु प्रकट करे छे के, शिष्ये समिति गुप्तिना आराधन पूर्वक ओ गुरु महाराजना वरैक कामेनु सपाठन करवामां रुची देणववी ओर्धओ. प्रतिश्रृणुयात् ओ क्रियापद ओ विशेषतानु सूचक छे के गुरुवचनने सांभणतां ओ केर्ध प्रकारना विलम्ब विना ओमना कामने करवा भाटे प्रतिज्ञा वचन कहीने वने पोतानु काम होय तेने छोडीने शिष्यनु कर्तव्य छे के, ते सब प्रकारधी गुरु महाराजना कामने पूर करवामां पोतानी सादर प्रवृत्ति करे ॥ २१ ॥

कृत्वा स्थितः सन् प्राञ्जलिपुट = उवात्रलिः, सूत्रादिकं पृच्छेत् । यद्वा-कदाचिदपि = बहुश्रुतत्वेऽपि आसनगतः शय्यागतो वा न पृच्छेत् सूत्रादिकमित्यर्थः ।

‘ आसनगओ ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—उत्तम शिष्य को, चाहिये कि वह (आसनगओ-आसनगत) आसन पर बैठे २ अथवा (सेजजागओ-शय्यागत,) सस्तारक पर बैठे २ या सोये २ (रोगादिक अवस्था को छोड़कर) (कयाइवि-कदाचिदपि) कभी भी (न पुच्छिज्जा-न पृच्छेत्) गुरु महाराज से सूत्र का अर्थ अथवा उनकी कुशलता न पूछे । किन्तु (आगम्मुक्कुडुओ सतो पजली उओ पुच्छिज्जा-आगम्य उत्कुदुकः सन् प्राञ्जलिपुट, पृच्छेत्) उनके समीप आकर और उत्कुदुकासन-उक्कु आसनसे बैठकर दोनों हाथजोड़ फिर उनसे सूत्र आदि का अर्थ पूछे । शिष्य कितना ही बहुश्रुती क्यों न हो तौ भी अपने गुरु से सूत्रार्थ की प्रच्छना अथवा सुख शाता की पृच्छना आसन पर बैठे २ या विस्तर पर छेदे २ नहीं करनी चाहिये । यद्यपि सूत्रार्थ की पृच्छना सशय होने पर ही की जाती है । बहुश्रुत होने पर भी सशय हो सकता है । अब ऐसी स्थिति में शिष्य का धर्म है कि उस सशय की

आसनगओ इत्यादि

अन्वयाय—उत्तम शिष्यनी के इरज छे के ते आसनगओ-आसनत आसन उपर भेठां भेठां अथवा सेजजागओ-शय्यागतः शय्याभा भेठां भेठां के सुतां सुतां (शिष्यादिक अवस्थाने छोडीने) कयाइवि-कदाचिदपि कही पक्ष गुरु महाराजकी सूत्रने अर्थ अथवा ओमनी कुशलता न पुच्छिज्जा-न पृच्छेत् न पुछे परतु आगम्मुक्कुडुओ सतो पजलि उओ पुच्छिज्जा-आगम्य उत्कुदुक सन् प्राञ्जलिपुटः पृच्छेत् तेमनि सामे आपी अने उत्कुटासनथी भेसी अने हाथ जोडी त्पारपडी ओमने सूत्र आदिना अर्थ पुछे अने सुभ शाताना समाचार पुछे शिष्य अमे तेवो बहुश्रुत केम न होय तो पक्ष पोताना गुरुथी सूत्रार्थना अर्थ अथवा सुभशाताना समाचार आसन पर भेठां भेठां अथवा तो पधारी पर सुता सुतां न पुछना लेछये. के के सूत्रार्थ आदिना अर्थ सशय यवाथी अ पुछाय छे बहुश्रुत होवा छता पक्ष सशय माय छे आथी आपी स्थितिमां शिष्यने धर्म छे के, के सशयनी निवृत्ति भाटे ते गुरुनी समक्ष ब्रह्म अने सुभ विनयनी सामे के सशयनी निवृत्ति

અય માત્રાઃ—ચતુશ્રુતોઽપિ શિષ્ય સશયે સતિ ગુરુ પૃચ્છતિ સૂત્રાર્થમ્, તત્ર વિનયપૂર્વિકૈવ પ્રચ્છના કરણીયા યથા ગુરોરાશાતના ન ભવેદિતિ । ઉત્કુટુક ઇતિ વિશેષણેન—ઇન્દ્રિયદમનશીલત્વં વિનીતત્વ ચ સૂચિતમ્, પ્રાઞ્જલિપુટ ઇત્યનેન સર્વવિધવિનયત્ત્વં જાતિકુલસમ્પન્નત્વ ચ સૂચિતમ્ ॥ ૨૨ ॥

મૂલમ્—એવ વિણયજુત્તસ્સ, સુત્ત અર્થ ચ તદુભય ।

પુચ્છમાંગસસ સીસસસ, વાગરિજ્જ જહાસુય ॥૨૩॥

છાયા—એવ વિનયયુક્તસ્ય, સૂત્રમ્ અર્થ ચ તદુભયમ્ ।

પૃચ્છતઃ શિષ્યસ્ય, વ્યાકુર્યાદ્ યથાશ્રુતમ્ ॥ ૨૩ ॥

ટીકા—‘ એવ વિણયજુત્તસ્સ ’ ઇત્યાદિ । એવ=ઉક્તપ્રકારેણ વિનયયુક્તસ્ય-વિનયવત્, સૂત્રમ્-કાલિકોત્કાલિકાદિ, અર્થ—તદ્વોઘ્ય, સૂત્રાભિપ્રાયમિત્યર્થ ।

નિઘૃત્તિકે લિયે ગુરુકે સન્નુત્ત્વ જાવેઔર વદે વિનયકે સાથ ઉત્ત સશય કી નિઘૃત્તિ કરે । ગુરુ મહારાજ કા વિનય ભક્તિ મેં યદિ જરા સી મી ષ્ટિ હો જાયગી તો શિષ્ય આશાતના દોષ કા ભાગી હોગા । “ ઉત્કુટુક ” ઇસ વિશેષણ સે સૂત્રકાર યહ સૂચિત કરતે હેં કિ જો ઇસ આસન સે યેઠતા હૈ વહ સાધુ ઇન્દ્રિય દમન શીલ તથા વિનીત હોતા હૈ । “ પ્રાઞ્જલિપુટ ” ઇસ વિશેષણ સે શિષ્ય મેં સમી પ્રકાર કે વિનયગુણ તથા જાતિસમ્પન્નતા એવં કુલ સમ્પન્નતા સૂચિત હોતી હૈ ॥ગા ૨૨॥

‘ એવ ’ ઇત્યાદિ ।

અન્યયાર્થ—(એવ—એવ) પૂર્વોક્ત પ્રકાર સે (વિણયજુત્તસ્સ-વિનયયુક્તસ્ય) વિનયધર્મ સે યુક્ત હોકર (સુત્ત અથ્થ ચ તદુ-ભયં પુચ્છમાંગસસ-સૂત્ર અર્થ તદુભયં પૃચ્છત) સૂત્ર-અર્થ ઔર સૂત્ર અર્થ દોનોં કો પૂછને ઘાલે (સીસસસ-શિષ્યસ્ય) શિષ્ય કો (જહાસુયં

કરી છે એ શ્રુત મહારાજની વિનય ભક્તિમાં જરા પણ ભૂલ થાય તો શિષ્ય આશાતના દોષનો ભાગી બને છે “ ઉત્કુટુક ” આ વિશેષણથી સૂત્રકાર એ એ સૂચિત કરે છે કે, એ આ આસનથી બેસે છે તે સાધુ ઇન્દ્રિયત્વ દમન કરનાર તથા વિનિત હોય છે “ પ્રાઞ્જલિપુટ ” આ વિશેષણથી શિષ્યમાં સર્વ પ્રકારના વિનયશુભ તથા જાતિસમ્પન્નતા અને કુળસમ્પન્નતા દેખાઈ આવે છે ॥૨૨॥
એવ ઇત્યાદિ

અન્યયાર્થ—એવ-એવ પૂર્વોક્ત પ્રકારથી વિણયજુત્તસ્સ - વિનયયુક્તસ્ય વિનય ધર્મથી યુક્ત બની સુત્ત અથ્થ ચ તદુભય પુચ્છમાંગસસ-સૂત્ર અર્થ તદુભય પૃચ્છતઃ સૂત્ર-અર્થ અને સૂત્ર અથ્થ બન્નેને પુછવાવાળા

सक्तञ्च—

जो सुत्ताभिप्पाओ, सो अत्यो अज्जए य जम्हा । (स्था २ ठा १ उ०)

छाया—य. सूत्राभिप्राय. सोऽर्थ, अर्पते च यस्मात् ।

व्याख्या—य सूत्रस्य अभिप्रायः स एव अर्थः । यस्मात्=यत् करणादसा-
वर्थः सूत्रात् अर्पते गम्यते । तदुभय=सूत्रार्थद्वयं च पृच्छत =पृच्छां कुर्वत शिष्यस्य
गुरु' यथाश्रुत-गुरुपरपरातो यथा ज्ञात तथा सूत्रम्, अर्थं तदुभयं च व्याकुर्यात्
=कथयेत्, न तु स्वधुदया कल्पित कृत्वा बोधयेदिति भावः । इह तावत् सूत्रज्ञा-
नाय सूत्रस्य शब्दार्थं तल्लक्षणं तद्भेदं तद्वाचनादिकं च निर्दिशामः, तथाहि—

वागरिज्जा—यथाश्रुतं व्याकुर्यात्) गुरु महाराज उन समय का शास्त्रविहित
विधि के अनुसार प्रतिपादन करे ।

कालिक उत्कालिक आदि सूत्र है । सूत्र का जो अभिप्राय है वही
अर्थ है । कहा भी है—जो सुत्ताभिप्पाओ सो अत्यो अज्जए य जम्हा—
सूत्र के अभिप्राय को अर्थ कहा गया है । क्यों कि यह अर्थ सूत्र से ही
निश्चित किया जाता है । इस तरह केवल सूत्र को अथवा उसके अर्थ
को एव इन दोनों को जब शिष्य अपने आचार्य महाराज से पूछे तो
आचार्य महाराज को चाहिये कि वे उसको गुरु परपरा से यथाज्ञात
सूत्र-अर्थ एवं दोनों को अच्छी तरह समझावें । ऐसा न करे कि अपनी
निजी कल्पना से मिश्रित कर उन्हें समझावें । सूत्रज्ञान के लिये उपयोगी
समझकर सूत्र का शब्दार्थ, उसका लक्षण, उसके भेद, एव उसकी
वाचना आदि के विषय में कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है ।—

शिष्यने जहासुय वागरिज्जा—यथाश्रुतं व्याकुर्यात् गुरु महाराज ओ अध्याने शास्त्र
विहित विधि अनुसार प्रतिपादन करे

कालिक उत्कालिक आदि सूत्र है, सूत्रने ओ अभिप्राय छे ते ओ अर्थ
छे कथं पथु छे,—जो सुत्ताभिप्पाओ सो अत्यो अज्जए य जम्हा—सूत्रना अभिप्रायने
अर्थं कथेवामा आवेव छे केम के, आ अर्थं सूत्रधी निश्चित करवामा आवे
छे आ रीते केवण सूत्रने अधवा तेना अधने अधवा ओ भन्नेने न्यारे
शिष्य पोताना आचार्य महाराजने पूछे तो आचार्य महाराजने तेने गुरु
परपराधी यथाज्ञात सूत्र-अर्थं अने भन्नेने सारी रीते समझवे ओवु न
करे के पोतानी ओ कथपनाधी मिश्रित करी तेने समझवे. सूत्र जानने माटे
उपयोगी समझने सूत्रने शब्दार्थं, तेनु लक्षणं, तेना भेदं, अने तेनी वाचना
आदिना विषयमां कथं स्पष्टीकरवु करवामा आवे छे—सूत्रयतीति सूत्रम्—

અય માત્રઃ—વદુશ્રુતોઽપિ શિષ્ય સશયે સતિ ગુરુ પૃચ્છતિ સૂત્રાર્થમ્, તત્ર વિનયપૂર્વિકૈઃ
પચ્છના કરણીયા યથા ઘુરોરાશાતના ન ભવેદિતિ । ઉત્કુટુક ઇતિ વિશેષણેન—
ઇન્દ્રિયદમનશીલત્વં વિનીતત્વ ચ સૂચિતમ્, પ્રાઞ્છિપુટ ઇત્યનેન સર્વવિધવિનયવત્સ
જાતિકુલસમ્પન્નત્વ ચ સૂચિતમ્ ॥ ૨૨ ॥

મૂલમ્—એવ વિણયજુત્તસ્સ, સુત્ત અર્થ ચ તદુભય ।

પુચ્છમાણસ્સ સીસસ્સ, વાગેરિજ્જ જહાસુય ॥૨૩॥

છાયા—એવ વિનયયુક્તસ્ય, સૂત્રમ્ અર્થ ચ તદુભયમ્ ।

પૃચ્છતઃ શિષ્યસ્ય, વ્યાકુર્યાદ્ યથાશ્રુતમ્ ॥ ૨૩ ॥

ટીકા—‘ એવ વિણયજુત્તસ્સ ’ ઇત્યાદિ । એવ=ઉક્તપ્રકારેણ વિનયયુક્તસ્ય-
વિનયવત્, સૂત્રમ્-કાલિકોત્કાલિકાદિ, અર્થ—તદ્વોધ્ય, સૂત્રાભિપ્રાયમિત્યર્થઃ ।

નિષ્ટુત્તિકે લિયે ગુરુકે સન્મુસ્વ જાવેઔર ઘટે વિનયકે સાથ ઉસ સશય
કી નિષ્ટુત્તિ કરે । ગુરુ મહારાજ કા વિનય ભક્તિ મેં યદિ જરા સી મી
ક્રુટિ હો જાયગી તો શિષ્ય આશાતના ઘોષ કા ભાગી હોગા । “ ઉત્કુટુક ”
હસ વિશેષણ સે સૂત્રકાર યહ સૂચિત કરતે હેં કિ જો હસ આસન સે
બેઠતા હૈ ઘહ સાધુ ઇન્દ્રિય ઘમન શીલ તથા વિનીત હોતા હૈ । “ પ્રાઞ્છ
લિપુટ ” હસ વિશેષણ સે શિષ્ય મેં સમી પ્રકાર કે વિનયગુણ તથા
જાતિસમ્પન્નતા ઇવં કુલ સમ્પન્નતા સૂચિત હોતી હૈ ॥ગા ૨૨॥

‘ એવ ’ ઇત્યાદિ ।

અન્વયાર્થ—(એવ—એવ) પૂર્વોક્ત પ્રકાર સે (વિણયજુત્તસ્સ-
વિનયયુક્તસ્ય) વિનયધર્મ સે યુક્ત હોકર (સુત્તં અર્થ ચ તદુ-
ભયં પુચ્છમાણસ્સ—સૂત્રં અર્થ તદુભય પૃચ્છતઃ) સૂત્ર—અર્થ ઔર સૂત્ર
અર્થ ઘોનો કો પૂછને ઘાલે (સીસસ્સ—શિષ્યસ્ય) શિષ્ય કો (જહાસુયં

કરી છે શુરુ મહારાજની વિનય ભક્તિમાં જરા પણ ભૂલ થાય તો શિષ્ય
આશાતના ઘોષનો ભાગી બને છે “ ઉત્કુટુક ” આ વિશેષણથી સૂત્રકાર એ
એ સૂચિત કરે છે કે, જે આ આસનથી બેસે છે તે સાધુ ઇન્દ્રિયનું ઘમન
કમનાર તથા વિનિત હોય છે “ પ્રાઞ્છલિપુટ ” આ વિશેષણથી શિષ્યમાં સર્વ
પ્રકારના વિનયગુણ તથા જાતિસ પત્તા અને કુળસ પત્તા હેખાઈ આવે છે ॥૨૨॥
એવ ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—એવ—એવ પૂર્વોક્ત પ્રકારથી વિણયજુત્તસ્સ—વિનયયુક્તસ્ય
વિનય ધર્મથી યુક્ત બની સુત્ત અર્થ ચ તદુભય પુચ્છમાણસ્સ—સૂત્ર અર્થ
તદુભય પૃચ્છતઃ સૂત્ર—અર્થ અને સૂત્ર અર્થ બન્નેને પુછવાવાળા

उक्तञ्च—

जो सुत्ताभिप्याओ, सो अत्यो अज्जए य जम्हा । (स्या २ ठा १ उ०)

छाया—य सूत्राभिप्राय. सोऽर्थः, अर्थते च यस्मात् ।

व्याख्या—यः सूत्रस्य अभिप्रायः स एव अर्थः । यस्मात्=यत् करणादसा-
वर्थं सूत्रात् अर्थते गम्यते । तदुभय=सूत्रार्थद्वयं च पृच्छत=पृच्छा कुर्वत शिष्यस्य
गुरु. यथाश्रुत—गुरुपरपरातो यथा ज्ञात तथा सूत्रम्, अर्थं तदुभयं च व्याकुर्यात्
=कथयेत्, न तु स्वबुद्ध्या कल्पितं कृत्वा बोधयेदिति भावः । इह तावत् सूत्रज्ञा-
नाय सूत्रस्य शब्दार्थं तल्लक्षणं तद्भेदं तद्वाचनादिकं च निर्दिशामः, तथाहि—

वागरिज्जा—यथाश्रुतं व्याकुर्यात्) गुरु महाराज उन सब का शास्त्रविहित
विधि के अनुसार प्रतिपादन करे ।

कालिक उत्कालिक आदि सूत्र हैं । सूत्र का जो अभिप्राय है वही
अर्थ है । कहा भी है—जो सुत्ताभिप्याओ सो अत्यो अज्जए य जम्हा—
सूत्र के अभिप्राय को अर्थ कहा गया है । क्यों कि यह अर्थ सूत्र से ही
निश्चित किया जाता है । इस तरह केवल सूत्र को अथवा उसके अर्थ
को एवं इन दोनों को जय शिष्य अपने आचार्य महाराज से पूछे तो
आचार्य महाराज को चाहिये कि वे उसको गुरु परपरा से यथाज्ञात
सूत्र-अर्थ एवं दोनों को अच्छी तरह समझावें । ऐसा न करें कि अपनी
निजी कल्पना से मिश्रित कर उन्हें समझावें । सूत्रज्ञान के लिये उपयोगी
समझकर सूत्र का शब्दार्थ, उसका लक्षण, उसके भेद, एवं उसकी
वाचना आदि के विषय में कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है ।—

शिष्यने जहासुय वागरिज्जा—यथाश्रुतं व्याकुर्यात् गुरु महाराज ओ अधाने शास्त्र
विहित विधि अनुसार प्रतिपादन करे.

कालिक उत्कालिक आदि सूत्र छे, सूत्रने ओ अभिप्राय छे ते ओ अर्थ
छे कश्चु पक्ष छे,—जो सुत्ताभिप्याओ सो अत्यो अज्जए य जम्हा—सूत्रना अभिप्रायने
अर्थ ठडेवाभां आवेव छे केम के, आ अर्थ सूत्रधी निश्चीत करवामा आवे
छे आ रीते ठेवण सूत्रने अथवा तेना अर्थने अथवा ओ भन्नेने न्यारे
शिष्य पोताना आचार्य महाराजने पूछे तो आचार्य महाराजने तेने गुरु
परपराधी यथाज्ञात सूत्र-अर्थ अने भन्नेने सारी रीते समझवे जेवु न
करे के पोतानी ओ कल्पनाधी मिश्रित करी तेने समझवे. सूत्र जानने भाटे
उपयोगी समझने सूत्रने शब्दार्थ, तेनु लक्षण, तेना भेद, अने तेनी वाचना
आदिना विषयभां कश्चु स्पष्टिकरण करवामा आवे छे—सूत्रयवीति सूत्रम्—

અય માનઃ—વદુશ્રુતોઽપિ શિષ્યઃ સશયે સતિ ગુરુ પૃચ્છતિ સૂત્રાર્થમ્, તત્ર વિનયપૂર્વિક્તેન પ્રચ્છના કર્ણીયા યથા ગુરોરાશાતના ન ભવેદિતિ । ઉત્કુદુક ઇતિ વિશેષણેન—ઇન્દ્રિયદમનશીલત્વ વિનીતત્વં ચ સૂચિતમ્, પ્રાજ્ઞલિપુટ ઇત્યનેન સર્વવિધવિનયવર્ત્તં જાતિકુલસમ્પન્નત્વ ચ સૂચિતમ્ ॥ ૨૨ ॥

મૂલમ્—એવ વિણયજુત્તસ્સ, સુત્ત અર્થ ચં તદુભય ।

પુચ્છમાણસ્સ સીસસ્સ, વાંગરિજ્જ જહાસુય ॥૨૩॥

છાયા—એવ વિનયયુક્તસ્ય, સૂત્રમ્ અર્થ ચ તદુમયમ્ ।

પૃચ્છતાઃ શિષ્યસ્ય, વ્યાકુર્યાદ્ યથાશ્રુતમ્ ॥ ૨૩ ॥

ટીકા—‘ એવ વિણયજુત્તસ્સ ’ ઇત્યાદિ । એવ=ઉક્તમકારેણ વિનયયુક્તસ્ય-વિનયવત્, સૂત્રમ્-કાલિકોત્કાલિકાદિ, અર્થ-તદ્વોદ્ય, સૂત્રાભિપ્રાયમિત્યર્થ ।

નિષ્કૃષ્ટિકે લિયે ગુરુકે સન્મુસ્થ જાવે ઓર ઘડે વિનયકે સાથ ઉસ સશય કી નિષ્કૃષ્ટિ કરે । ગુરુ મહારાજ કા વિનય ભક્તિ મેં યદિ જરા સી મી ઝુટિ હો જાયગી તો શિષ્ય આશાતના દોષ કા ભાગી હોગા । “ ઉત્કુદુક ” ઇસ વિશેષણ સે સૂત્રકાર યહ સૂચિત કરતે હેં કિ જો ઇસ આસન સે ઘેઠતા હૈ વહ સાધુ ઇન્દ્રિય દમન શોલ તથા વિનીત હોતા હૈ । “ પ્રાજ્ઞલિપુટ ” ઇસ વિશેષણ સે શિષ્ય મેં સમી પ્રકાર કે વિનયગુણ તથા જાતિસમ્પન્નતા ઇષં કુલ સમ્પન્નતા સૂચિત હોતી હૈ ॥ગા ૨૨॥

‘ એવ ’ ઇત્યાદિ ।

અન્યયાર્થ—(એવ-એવ) પૂર્વોક્ત પ્રકાર સે (વિણયજુત્તસ્સ-વિનયયુક્તસ્ય) વિનયધર્મ સે યુક્ત હોકર (સુત્ત અર્થ ચ તદુ-ભયં પુચ્છમાણસ્સ-સૂત્ર અર્થ તદુમય પૃચ્છત) સૂત્ર-અર્થ ઓર સૂત્ર અર્થ દોનોં કો પૂછને ઘાલે (સીસસ્સ-શિષ્યસ્ય) શિષ્ય કો (જહાસુયં

કરી છે એ અરુ મહાસજ્જની વિનય ભક્તિમા જરા પણ ભૂલ થાય તો શિષ્ય આશાતના દોષનો ભાગી બને છે “ ઉત્કુદુક ” આ વિશેષણથી સૂત્રકાર એ એ સૂચિત કરે છે કે, જે આ આસનથી બેસે છે તે સાધુ ઇન્દ્રિયવદ્ દમન કરનાર તથા વિનિત હોય છે “ પ્રાજ્ઞલિપુટ ” આ વિશેષણથી શિષ્યમાં સર્વ પ્રકારના વિનયશુભ તથા બલિસ પન્નતા અને કુળસ પન્નતા હેખાઈ આવે છે. ॥૨૨॥

એવ ઇત્યાદિ

અન્યયાર્થ—એવ-એવ પૂર્વોક્ત પ્રકારથી વિણયજુત્તસ્સ - વિનયયુક્તસ્ય વિનય ધર્મથી યુક્ત બની સુત્ત અર્થ ચ તદુમય પુચ્છમાણસ્સ-સૂત્ર અર્થ તદુમય પૃચ્છત સૂત્ર-અર્થ અને સૂત્ર અર્થ બન્નેને પુછવાવાળા સીસસ્સ-

सूत्रपदनिक्षेपनामक द्वितीय द्वारम्—

अथ—सूत्रपदनिक्षेप । द्रव्यसूत्र—कार्पासादिकम् । भावसूत्र तु—अस्मिन् ज्ञाना-
धिकारे सूचक ज्ञान श्रुतज्ञानम्, तस्यैव स्वपरार्थसूचकत्वात्, श्रूयते यत् तत् श्रुत
ज्ञापतेऽनेनेति ज्ञान, श्रुत च तद् ज्ञान श्रुतज्ञानम् । तच्च—एकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकानि,
दृष्टिवादश्च । तदुक्तम्—

“ एकारसमगाह, पद्मग दिद्विवाओ य ” इति । (उ २८ अ २३ गा)

॥ इति द्वितीय सूत्रपदनिक्षेपद्वारम् ॥

अथ तृतीय सूत्रलक्षणद्वारम्—

यत् सूत्र सूत्रलक्षणोपेत तदेवोच्चारणीयम्, लक्षणरहित हि सूत्र चित्रितमर्थं
न साधयति, तस्माच्छ्रवणयुक्तमेव सूत्रमिष्यते, अतः सूत्रलक्षण वाच्यम् । तद् यथा—
अप्यस्वर महत्य, वचीसदोसविरहियं ज च ।

लक्षणयुक्तं सूत्रं, अद्विष्टं य गुणेहि उववेय ॥

जिसके सेवन से—उपासना करने से—उसके द्वारा प्रतिपादित मार्ग का
अनुसरण करने से—अष्टविध कर्मों का आत्मा से निर्गमन हो जाय
उसका नाम सूत्र है । १ ।

सूत्र पद निक्षेप नामक दूसरा द्वार कहते हैं—

सूत्र के दो भेद हैं—१ द्रव्यसूत्र, २ भावसूत्र । कपास आदि से बना
हुआ द्रव्यसूत्र है । भावश्रुत का नाम भावसूत्र है । इससे ही स्वरूप
और परस्वरूप का सूचन—अर्थात् बोध होता है । जो सुना जाय वह
श्रुत एव जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है । श्रुतरूप जो ज्ञान है उस
का नाम श्रुतज्ञान है । ११ अंग प्रकीर्णक (पद्मगा) एव दृष्टिवाद ये सय
श्रुतज्ञान स्वरूप हैं । कहा भी है—“एकारसमगाह पद्मगं दिद्विवाओय” । ३ ।

हरवाची तेना द्वारा प्रतिपादित मार्गनु अनुसरण करवाची आठ प्रकारना
कर्मोनु आत्माची निर्गमन थळ जाय तेनु नाम सूत्र छे ॥ १ ॥

सूत्रपद निक्षेप नामनु भीष्णु द्वार छडे छे—

सूत्रना छे दोह छे—१ द्रव्यसूत्र, २ भावसूत्र कपास वगैरेशी अनेह
द्रव्यसूत्र छे, भावश्रुतनु नाम भावसूत्र छे आनाथी न स्व स्वरूप अने पर
स्वरूपनु सूचन—अर्थात् बोध थाय छे न संभगी शक्य ते श्रुत अने तेनाथी
बाष्ठी शक्य ते ज्ञान छे श्रुतस्वरूप न ज्ञान छे जेनु नाम श्रुतज्ञान छे ११
अंग प्रकीर्णक (पद्मगा) अने दृष्टिवाद जे अथा श्रुतज्ञान स्वरूप छे कर्णु पञ्च
छे छे—एकारसमगाह पद्मग दिद्विवाओ य

નનુ કઃ સૂત્રશબ્દાર્થઃ ?-ઉચ્યતે-સૂચયતીતિ સૂત્રમ્, યથા સૂચી સૂત્રેણ સૂચ્યતે, સૂચીસલગ્ન યત્ સૂત્ર તદવ સૂચ્યાઃ સૂચકં પ્રયોધક ભવતિ, તથાર્થસવદ્ સૂત્ર, વાચ્યવાચકભાવસમ્યન્ત્રેન યાવાનર્થઃ સૂત્રે વિદ્યમાનસ્તસ્ય તસ્યાર્થસ્ય સૂચક સૂત્રમ્। એવમર્થસ્ય સૂચનાત્ સૂત્રમ્ ॥ ૧ ॥ અથવા-સીવ્યતીતિ સૂત્રમ્ । યથા-સૂત્ર-તન્તુઃ અક્ષરશિક્ષિકાદીનિ સીવ્યતિ, એવમર્થ ચ પદ સીવ્યતિ=યોજયતિ-એવ ચ સીવનાત્ સૂત્રમિતિ ॥ ૨ ॥ અથવા-સરતીતિ સૂત્રમ્ યથા-ચન્દ્રાન્તમણિ ચન્દ્રકિરણસનિધાનાજ્જલં સ્ત્રવતિ-પ્રાદુર્ભાવયતિ । એવ સૂત્રમપ્યાચાર્યસનિધાનાદર્થ પ્રસ્ત્રવતિ તથા ચ સ્ત્રવણાત્ સૂત્રમિતિ ॥ ૩ ॥ અથવા-સરતીતિ સૂત્રમ્, અટ્ટવિધ કર્મ સરતિ-નિર્ગચ્ચતિ યેન તત્ સૂત્રમ્ ॥ ૪ ॥

॥ ઇતિ પ્રથમ સૂત્રશબ્દાર્થદ્વારમ્ ॥ ૧ ॥

સૂચયતીતિ સૂત્રમ્—

સૂત્ર શબ્દ કા અર્થ-જિસ પ્રકાર સૂઈ સલગ્ન સૂત્ર સૂઈ કા પ્રબોધક હોતા હૈ ડસી તરહ અર્થ સયદ્ધ સૂત્ર વાચ્ય વાચકભાવ સયંઘ સે જિતના ૨ અર્થ અપને મેં વિદ્યમાન હોતા હૈ ડતને ૨ અર્થ કા સૂચક હોતા હૈ, ઇસ તરહ “સૂચયતીતિ સૂત્રમ્” અર્થ કા સૂચક હોને સે સૂત્ર કહા ગયા હૈ । યહ વ્યુત્પત્તિલભ્ય અર્થ હૈ । અથવા-“સીવ્યતીતિ સૂત્રમ્”—જિસ પ્રકાર ઢોરા અંગરશિક્ષિકા-કુર્તા-આદિ વસ્ત્રોં કો સીતા હૈ પરસ્પર મેં જોડ દેતા હૈ-ડસી તરહ સૂત્ર મી અર્થ કો યોજિત કર દેના હૈ । અથવા-“અવતીતિ સૂત્રમ્”—જિસ પ્રકાર ચન્દ્રકાન્તમણિ ચન્દ્ર કિરણોં કે સંપર્ક સે દ્રવિત હો જાતા હૈ-પાની છોડતા હૈ-ડસી પ્રકાર સૂત્ર મી આચાર્ય કે સંનિધાન સે અર્થ કો અપનેમેં પ્રકટ કર દેતા હૈ । અથવા-“સરતીતિ સૂત્રમ્”—

સૂત્ર શબ્દનો અર્થ—જે રીતે સોય સલગ્ન સૂત્ર સોયનો પ્રબોધક બને છે તેવી રીતે અર્થ સબદ્ધ સૂત્ર વાચ્ય વાચક ભાવ સબબધી બેટલા બેટલા અર્થ તેનામાં વિદ્યમાન હોય છે, બેટલા બેટલા અર્થનો સૂચક હોય છે “સૂચયતીતિ સૂત્રમ્” અર્થનો સૂચક હોવાથી જ સૂત્ર કહેવામાં આવેલ છે આ વ્યુત્પત્તિલભ્ય અર્થ છે અથવા-સીવ્યતીતિ સૂત્રમ્ જે રીતે ઢોરા અમનુ રક્ષણ કરનાર કુર્તા આદિ વસ્ત્રોને સીવે છે, પરસ્પરથી બેડી દે છે બેડી જ રીતે સૂત્ર પણ અર્થને યોજનાર હોય છે અથવા અવતીતિસૂત્રમ્ જે રીતે ચ દ્રકાન્ત મણી ચ દ્રકિરણોના સંપર્કથી દ્રવિત બને છે યાથી બેડે છે-તે પ્રકારે સૂત્ર પણ આચાર્યના સંનિધાનથી અર્થને કે જે પોતાનામાં સમાયેલ છે તે પ્રકટ કરી દે છે અથવા સરતીતિ સૂત્રમ્ જેના સેવનથી—

‘महाक्षर महार्थं’ यथा-दृष्टिवाद. ॥ ४ ॥ यच्च द्वात्रिंशदोषविरहित-
अलीकादिभिर्द्वात्रिंशदोषैर्वर्जितं तथाऽष्टभिर्गुणैरुपेतं सूत्रं तल्लक्षणयुक्तं सूत्रं भवति
तत् सूत्रं पठनीयमित्यर्थः ।

अथ-सूत्रदोषाः—

अथ सूत्राणां द्वात्रिंशदोषा उच्यन्ते—

अलियमुवधायजणय, गिरत्थगमत्रत्थय छल दुहिल ।
निस्तारमहियमूण, पुणरुत्त वाहयमजुत्त ॥ १ ॥
कमभिन-वयणभिन्ने, विभक्तिभिन्नं च लिंगभिन्नं च ।
अणमिहियमपयमेव य, समावहीणं ववहियं च ॥ २ ॥
काल-जति-च्छवि-दोसो, समयविरुद्धं च वयणमित्तं च ।
अत्थावत्ती दोसो, हवइ य अत्तमासदोसो य ॥ ३ ॥

उवमा रूवगदोसो, निद्वेसपयत्थसधिदोसो य ।
एय य सुत्तदोसा, वचीस हुति नायन्वा ॥ ४ ॥

छाया—अलीकम् १, उपघातजनक २, निरर्थक ३, अपार्थक ४, छल ५,
दुहिलम् ६, निस्तारम् ७, अधिकम् ८, ऊनम् ९, पुनरुक्त १०, व्याहृत ११,
अयुक्तम् १२, ॥ १ ॥

क्रममिन्न १३, वचनभिन्ने १४, विभक्तिभिन्नं च १५, लिङ्गभिन्नं च १६,
अनभिहित १७, अपदमेव च १८, स्वभावहीन १९, व्यवहितं च २० ॥ २ ॥

तथा दृष्टकल्पादि सूत्र २ । महाक्षर वाला हो पर अर्थ अल्प हो जैसे-
ज्ञाताध्ययन आदि ३ । महाक्षर वाला हो और अर्थ भी जिसका महान्
हो जैसे दृष्टिवाद ४ । ३२ यत्तीस दोष सूत्र के ये हैं—

३२ दोष सूत्र के—अलीक १, उपघातजनक २, निरर्थक ३, अपार्थक ४,
छल ५, दुहिल ६, निस्तार ७, अधिक ८, ऊन ९, पुनरुक्त १०,
व्याहृत ११, अयुक्त १२, क्रममिन्न १३, वचनमिन्न १४, विभक्तिमिन्न १५,
लिङ्गमिन्न १६, अनभिहित १७, अपद १८, स्वभावहीन १९, व्यवहित

रथादि सूत्र २ वधु अक्षरवाणा होय पधु अर्थ नानो होय वेवा ज्ञाताध्ययन
आदि ३ वधु अक्षरवाणा होय अने अर्थ पधु अने महान होय वेवा
दृष्टिवाद ४ सूत्रना अत्तीस दोष आ छे

अलीक १, उपघातजनक २, निरर्थक ३, अपार्थक ४, छल ५,
दुहिल ६, निस्तार ७, अधिक ८, ऊन ९, पुनरुक्त १०, व्याहृत ११, अयुक्त
१२, क्रममिन्न १३, वचनभिन्न १४, विभक्तिभिन्न १५, लिङ्गभिन्न १६, अन-
भिहित १७, अपद १८, स्वभावहीन १९, व्यवहित २०, शालदोष २१, यति-
३० १९

યદ્ અલ્પાક્ષરં, તથા-મહાર્થં ચ ભવતિ, અત્ર “અલ્પાક્ષરં મહાર્થમ્” શ્લોક વિશેષણદ્વયે ચત્વારો મદ્ધા ભવન્તિ, યથા—‘અલ્પાક્ષરમલ્પાર્થમ્’ યથા કાર્પાસા-
દિકમ્ ॥ ૧ ॥ ‘અલ્પાક્ષરં-મહાર્થમ્’ યથા-સામાયિક બૃહત્કલ્પાદિ ચ ॥ ૨ ॥
‘મહાક્ષરમલ્પાર્થમ્’ । યથા—જ્ઞાતાખ્યયનાનિ, અન્યથ યદસ્યાં કોટી વ્યવસ્થિતમ્ ।

અય સૂત્રલક્ષણ નામ કા તીસરા દ્વાર કહતે હૈ—જો સૂત્ર સૂત્રલક્ષણ
સે યુક્ત હૈ વહી ઉચ્ચારણ કરને કે યોગ્ય હોતા હૈ । ઓર ઉસીસે અપને
વાસ્તવિક અર્થ કા યોધ હોતા હૈ । ઇસસે ચિપરીત સૂત્ર દ્વારા વિવક્ષિત
અર્થ કી પ્રતિપત્તિ-જ્ઞાન નહીં હો સકતી હૈ ક્યોં કિ ઉસસે યથાર્થ અર્થ
કા પ્રકાશન નહીં હોતા હૈ । ઇસ લિયે “સૂત્ર કા કયા લક્ષણ હૈ” ઇસ
પ્રકાર કે પ્રશ્ન કે સમાધાન નિમિત્ત ઉસકા લક્ષણ કહા જાતા હૈ ।

“અલ્પક્ષર મહત્થ, ઘણીસદોસ, વિરહિય જ જ ।

લક્ષણયુક્ત સુત્રં, અટ્ટહિય ગુણેહિ ઉચ્ચેય” ॥ ૧ ॥

જિસમેં અલ્પ અક્ષર હોતે હૈ ઓર મહાન્ જિસકા અર્થ હોતા હૈ એવં
ઘણીસ વોર્ષો સે જો રહિત હોતા હૈ તથા આઠગુણોં સે જો યુક્ત હોતા હૈ
વહ સૂત્ર હૈ “અલ્પ અક્ષર વાલા હો એવ અર્થ જિસકા મહાન્ હો” ઇસ
પ્રકાર કે સૂત્ર કે વિશેષણ સે યે ૪ મંગ હોતે હૈ—અલ્પ અક્ષર વાલા હો
એવં અલ્પ અર્થ વાલા હો જૈસે કપાસ આદિ કા ઘના હુઆ સૂત ૧ ।
અલ્પ અક્ષર વાલા હો, પર જિસકા મહાન્ અર્થ હો જૈસે સામાયિક સૂત્ર,

હવે સૂત્ર લક્ષણ નામનું ત્રીજું દ્વાર કહે છે—

જે સૂત્ર સૂત્રલક્ષણથી યુક્ત છે તે જ ઉચ્ચારણ કરવા માટે યોગ્ય છે,
અને એનાથી પોતાના વાસ્તવિક અર્થનો યોધ થાય છે એનાથી વિપરીત
સૂત્રથી વિવક્ષિત અર્થની પ્રતિપત્તિ-જ્ઞાન થઈ શકતું નથી, કારણ કે, એનાથી
યથાર્થ અર્થનું પ્રકાશન થતું નથી.

અલ્પક્ષર મહત્થ ઘણીસ વોસવિરહિયં જ જ ।

લક્ષણયુક્ત સુત્ર અટ્ટહિયયેએહિ ઉચ્ચેય જેના અક્ષર યોગ્ય હોય છે અને
અર્થ મહાન હોય છે જે બનીસ દોષોથી રહિત હોય છે તથા આઠ ગુણોથી
જે યુક્ત હોય છે તે સૂત્ર છે. “ઘોડા અક્ષરવાળા હોય અને અર્થ જેનો
મહાન હોય”

આ પ્રકારના સૂત્રના વિશેષણથી આ ચાર ભાગ થાય છે ઘોડા અક્ષર
વાળા હોય અથવા અલ્પ અર્થવાળા હોય. જેમ કે કપાસ આદિથી બનેલ સૂતર
૧. ઘોડા અક્ષરવાળા હોય પણ જેનો અર્થ મહાન હોય, જેવાં સામાયિક

यया- 'अ, आ, इ, ई,' इत्यादि । डित्यादिवद्वा ॥ ३ ॥ अपार्थकम्-असवद्दार्थकम्, यया-"दश दाडिमानि पडपूपा, सप्त गर्दमपुच्छा., इत्यादि ॥ ४ ॥

छल-यत्रानिष्टप्रार्थान्तरस्य सभवाद् विवक्षितार्थोपघातः कर्तुं शक्यते तच्छब्दम्, यया-"नवकम्बलो देवदत्त" इत्यादि, अत्र-नूतनकम्बलस्य विवक्षितार्थस्य नवसल्यककम्बलविषयकबोधसभवादुपघात कर्तुं शक्यते ॥ ५ ॥

दुबिल-जन्तुनामहितोपदेशकत्वेन पापव्यापारपोषकम्, यया-

जनुदुपुच्छन्द -पताचानेव लोकोऽय, यावानिन्द्रियगोचर. ।

भद्रे! दृरुपद पश्य, यद् वदन्त्यवदुश्रुता. ॥ १ ॥

वियोगिनी छन्द.-पिव खाद् च चारुलोचने, यदतीत वरगात्रि ! तन्न ते ।

नहि भीरु ! गत निवर्तते, समुदयमात्रमिद कलेवरम् ॥ २ ॥

नहीं पड़ता; जैसे-अ आ इ ई इत्यादि ॥ ३ ॥ असवद्द अर्थ जिस सूत्र द्वारा कहा जाता है वह अपार्थक दोष वाला सूत्र माना जाता है-जैसे दशदाडिम, छह मालपुए, सात गधे की पूठे इत्यादि ॥ ४ ॥ ये सब सूत्र असवद्द अर्थ के प्रतिपादक हैं । जहां अनिष्ट अर्थान्तर की सभावना से विवक्षित अर्थ का अपलाप किया जा सकता है वह छलदोष है जैसे किसी ने कहा कि "नव कम्बलोऽयं देवदत्त." देवदत्त नवकम्बल वाला है-यहां नव शब्द का अर्थ नूतन है, और इसी अर्थ में नव शब्द विवक्षित हुआ है, परंतु इस अर्थ को उपघात करने वाला यह कह देता है कि ९ सख्या युक्त कम्बल इसके पास कहा है एक ही कम्बल तो है । इस प्रकार के अर्थ की सभावना नव शब्द से हुई है । अतः विवक्षित अर्थ का उपघात जिस शब्द से युक्त सूत्र का होना, उपघात दोषावशिष्ट माना जाता है

७ भगते नथी, जेम अ आ ए ई इत्यादि (३) असवद्द अर्थ के सूत्र द्वारा उद्धेधामां आवे छे ते अपार्थक दोषवाण्य सूत्र मानवामां आवे छे जेम इस दाडम, छ पुष्पा, सात गधेअनी पूछ इत्यादि. (४) आ जधा सूत्र असवद्द अर्थनां प्रतिपादक छे ज्यां अनिष्ट अर्थान्तरनी सभावनाथी विवक्षित अर्थनो अपलाप करवामां आवे छे ते छलदोष छे जेम देवदत्ते उल्लेख छे, "नव कम्बलोऽय देवदत्त" आ देवदत्त नव कम्बलवाणा छे-अहि नव शब्दने अर्थ नूतन छे अने आब अर्थना नव शब्द विवक्षित थयेल छे परंतु आ अर्थने उपघात करवावाण्य जेवुं ठही छे छे छे, नव सख्या युक्त कम्बल जेमनी पाले कथां छे जेक न कम्बल छे आ प्रकारे अर्थनी सभावना नव शब्दथी धरि छे विवक्षित अर्थनो उपघात के सूत्रमां थाय छे जे शब्दथी युक्त सूत्रनु छेवुं उपघात दोषावशिष्ट मानवामा आवे छे (५)

કાલ-યતિ-છવિદોષ. (કાલદોષ: ૨૧, યતિદોષ: ૨૨, છવિદોષ: ૨૩) સમયવિરુદ્ધ ચ ૨૪, વચનમાત્ર ચ ૨૫, । અર્થાપત્તિર્દોષો ૨૬, ભવતિ ચ અસમાસ દોષઃ ૨૭ ॥ ૩ ॥

ઉપમા ૨૮, -રૂપકદોષો ૨૯, નિર્દેશ ૩૦, -પદાર્થ ૩૧, -સધિદોષશ્ચ ૩૨, एते तु सूत्रदोषा द्वात्रिंशद् भवन्ति ज्ञातव्याः ॥ ૪ ॥

વ્યાસ્યા—અલીકમ્—અતૃતમ્ તદ્વ દ્વિધા—અમૂતોદ્ભાવન ભૂતનિહ્વચ । યયા— ‘ઈશ્વરકર્તૃક જગત્’ ઇત્યાદિ—અમૂતોદ્ભાવનમ્ । ‘નાસ્તિ આત્મા’ ઇત્યાદિકસ્તુ ભૂતનિહ્વ ॥ ૧ ॥ ઉપઘાત —સત્ત્વઘાતાદિ , તજ્જનક યયા—‘વેદવિહિતા હિંસા-ઘર્માય’ ઇત્યાદિ ॥ ૨ ॥ નિરર્થક—યત્ર ઘર્ણાના ક્રમનિર્દેશમાત્રપુલભ્યતે ન ત્વર્યો

૨૦, કાલદોષ ૨૧, યતિદોષ ૨૨, છવિદોષ ૨૩, સમયવિરુદ્ધ ૨૪, વચનમાત્ર ૨૫, અર્થાપત્તિ ૨૬, અસમાસદોષ ૨૭, ઉપમા ૨૮, રૂપક ૨૯, નિર્દેશ ૩૦, પદાર્થ ૩૧, એવ સધિદોષ ૩૨ । કહા મી હૈ—

‘અલિય મુષઘાયજગય’ ઇત્યાદિ—

इन ३२ दोषों का स्वरूप इस प्रकार है—अलीक नाम असत्य का है यह दो प्रकार का होता है—अमूतोद्भावन १ । भूतनिह्वच है २ । जैसे—“ ईश्वर कर्तृक जगत् इत्यादि ” जगत् को ईश्वर ने बनाया है—इस प्रकार का प्रतिपादक सूत्र अमूतोद्भावनक है नास्ति आत्मा—आत्मा नहीं इस प्रकार जमाली द्वारा कथित सूत्र भूतनिह्वच स्वरूप है ॥१॥ उपघात शब्द का अर्थ है प्राणियों की हिंसा आदिका प्ररूपण करना । इस बात के प्ररूपक सूत्र उपघात दोषवाले माने जाते हैं—जैसे कहना कि वेदविहिता हिंसा घर्माय ” वेदविहित हिंसा घर्म के लिये है ” ॥ २ ॥ जिसमें सिर्फ घर्णों का क्रम ही निर्दिष्ट हो वह निरर्थक दोष है—इसमें अर्थ का पता

દોષ ૨૨, છવિદોષ ૨૩, સમયવિરુદ્ધ ૨૪, વચનમાત્ર ૨૫, અર્થાપત્તિ ૨૬, અસમાસ દોષ ૨૭, ઉપમા ૨૮, રૂપક ૨૯, નિર્દેશ ૩૦, પદાર્થ ૩૧ અને સધિદોષ ૩૨, તદુક્ત—“ આલિયમુષઘાય જગય૦ ” ઇત્યાદિ ।

આ બન્ને સ દોષોનું સ્વરૂપ આ પ્રકારે છે—અલીક નામ અસત્યનું છે આ ધે પ્રકારે છે, ૧ અમૂતોદ્ભાવન, ૨ ભૂતનિહ્વચ, જેમ—‘ઈશ્વર કર્તૃક જગત્ ઇત્યાદિ’ જગતને ઈશ્વરે બનાવ્યું છે—આ પ્રકારે પ્રતિપાદિત સૂત્ર અમૂતોદ્ ભાવક છે, નાસ્તિ આત્મ—આત્મા નથી, આ પ્રકારના જમાલી દ્વારા ઠહેવાયેલ સૂત્ર ભૂતનિહ્વચ સ્વરૂપ છે ઉપઘાત શબ્દનો અર્થ છે પ્રાણીઓની હિંસા આદિનું પ્રરૂપણ કરવું, આ વાતને રૂપક સૂત્ર ઉપઘાત દોષવાળા માનવામાં આવે છે— જેમ ઠહેવું કે, વેદવિહિતા હિંસા ઘર્માય (૨) ” વેદ વિહિત હિંસા ઘર્મના માટે છે ” જેમાં ફક્ત વર્ણોના ક્રમનોજ નિર્દેશ હોય તે નિરર્થક દોષ છે,—આમ અર્થ

ऊनम्—अक्षरपदादिभिर्हीनम् । अथवा—हेतुदृष्टान्ताभ्यामेव हीनम् ऊनम् । यथा—अनित्य शब्दो घटवदिति । अत्र हेतुर्नास्ति, यथा वा ‘अनित्य. शब्द कृतकत्वाद्’ इत्यादि, अत्र-घटादिरूपो दृष्टान्तो नास्ति ॥ ९ ॥

पुनरुक्त त्रिधा—शब्दतोऽर्थतश्च । तथा—अर्थादापन्नस्य पुनर्वचन-पुनरुक्त । तत्र शब्दतः पुनरुक्त यथा—घट, घट, इत्यादि । अर्थतः पुनरुक्त यथा—घटः, कुट, कुम्भ इत्यादि । अर्थादापन्नस्य पुनर्वचन यथा—पीनोऽय देवदत्तो, दिवा न भुङ्क्ते इत्युक्ते अर्थादापन्न-‘रात्रौ भुङ्क्ते’ इति, तत्रार्थादापन्नमपि ‘रात्रौ भुङ्क्ते’ इति यो ब्रूयात् तस्य पुनरुक्तता ॥ १० ॥

व्याहृत—यत्र पूर्वेण पर विहन्पते । यथा—

“कर्म चास्ति फल चास्ति क्त्वा न त्वस्ति कर्मणाम्” इत्यादि ।

अक्षर एव पद आदि से हीन होता है वहा ऊन नामक दोष माना जाता है । अथवा हेतु एव दृष्टान्त से जो हीन होता है वहा भी यह दोष माना जाता है । जैसे “अनित्य. शब्द घटवत्” यह वाक्य हेतु से हीन है ॥९॥ पुनरुक्त दोष शब्द, अर्थ एव प्रसगादि से प्राप्त अर्थ के पुनः कथन से होता है । घट घट यहां शब्द की अपेक्षा, घट कुम्भ कुट यहां अर्थ की अपेक्षा तथा “पीनोऽय देवदत्त. दिवा न भुक्ते” यहां अर्थात् प्रसक्त अर्थ रात्रि में भोजन करना है फिर भी “रात्रौ भुङ्क्ते” रात्रि में खाता है यह कहना पुनरुक्ति दोष से दूषित माना जाता है ॥ १० ॥ पूर्व से पर जहा विरोध होता है, वहा व्याहृत दोष माना जाता है—जैसे—किसी ने कहा कि कर्म हैं फल हैं परन्तु कर्मों का कर्त्ता कोई नहीं है । यह धाम्य पूर्वापर में

अने એ દષ્ટાંત નહી (૮) જે અક્ષર અને પદ આદિથી હીન હોય છે ત્યાં ઉન નામનો દોષ માનવામાં આવે છે અથવા હેતુ અને દષ્ટાંતથી જ હીન હોય છે, ત્યાં પણ એ દોષ માનવામાં આવે છે જેવી રીતે અનિત્ય શબ્દઃ ઘટવત્ આ વાક્ય હેતુથી હીન છે અનિત્ય શબ્દ કૃતકત્વાત્ અહિં દષ્ટાંતથી વિહિનતા છે (૯) પુનરુક્ત દોષ શબ્દ, અર્થ અને પ્રસંગ આદિથી પ્રાપ્ત અર્થના પુનઃ કથનથી ધાય છે ઘટ ઘટ અહિં શબ્દની અપેક્ષા ઘટ કુમ્ભ કુટ અહિં અર્થની અપેક્ષા તથા “પીનોઽયં દેવદત્ત દિવા ન ભુક્તે” અહિં અર્થાત્ પ્રસક્ત અર્થ રાત્રીમાં ભોજન કરવું એ છે છતાં પણ એ કહેવું છે કે રાત્રી ભુક્તે એ રાત્રીમાં ખાય છે, આમ કહેવું પુનરુક્તિ દોષથી દુષિત માનવામાં આવે છે (૧૦) પૂર્વથી પરને બંધા વિરોધ છે, ત્યાં વ્યાહૃત દોષ માનવામાં આવે છે, જેમ કે, ઠોઈ એ કહ્યું કે, ઠમ છે, ક્ષણ છે, પરંતુ કમોનો કર્તા ઠોઈ નથી આ વાક્ય

इत्यादि ॥ ६ ॥

नि सार=तयाधिषयुक्तिरहित परिफल्गु, यथा-सौगतादिशास्त्रम् ॥ ७ ॥

अधिकम्-अक्षरपदादिभिरतिमात्रम् । अथवा हेतोर्दृष्टान्तस्य वाऽऽधिक्ये सति अधिक, यथा-अनित्यः शब्दः, कृतकत्व प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्यां घटपटवदित्यादि। एकस्मिन् साध्ये एक एव हेतुर्दृष्टान्तश्च वक्तव्य । अत्र च प्रत्येक द्रव्याभिधानादाधिक्यमिति भावः ॥ ८ ॥

॥ ૬ ॥ જનુઓં કો અહિત કા ઉપદેશક હોને સે જો પાપવ્યાપાર કા પોષક સૂત્ર હોતા હૈ વહ ટુહિલ દોષવાલા સૂત્ર માના જાતા હૈ । જૈસે-ષાર્ધાક કા યહ કહના કિ-યહ લોક જિતના પ્રત્યક્ષ સે વિચિત્રતા હૈ ઉતના હી હૈ ઇસસે આગે નહીં । પુણ્ય પાપ ઇયં સ્વર્ગ નરક યહ મી નહીં હૈ । ઇસ લિયે સ્વાઓ પીઓ મસ્ત રહો ઓર આનદ સે અપને સમય કો નિકાલો ॥ ૬ ॥ યુક્તિ રહિત જો સૂત્ર હોતા હૈ વહ નિસ્સાર દોષ વાલા માના જાતા હૈ, જૈસે સૌગત આદિ કા શાસ્ત્ર ॥ ૭ ॥ જિસમૈં અક્ષર પદ આદિ આવ શ્યકતા સે અધિક હોતે હૈં વહ સૂત્ર અધિક દોષ સયુક્ત જાનના ચાહિયે, અથવા-જિસમૈં એક હેતુ ઓર દૃષ્ટાન્ત કે અતિરિક્ત હેતુ ઓર દૃષ્ટાન્ત હોં વહ મી અધિક દોષવાલા સૂત્ર માનના ચાહિયે-જૈસે-“અનિત્યઃ શબ્દઃ કૃતકત્વપ્રયત્નપ્રયત્નનન્તરીયકત્વાત્ ઘટપટવદિતિ” શબ્દ અનિત્ય હૈં ક્યોં કિ વહ કૃતક હૈ એવ પ્રયત્નપૂર્વક હોતા હૈ જૈસે ઘટ ઓર પટ ॥ ૭ ॥ ઇસ અનુમાન મૈં એક હેતુ ઓર ૧ દૃષ્ટાન્ત અધિક હૈ । એક સાધ્ય મૈં ૧ હી હેતુ ઓર ૧ હી દૃષ્ટાન્ત હોતા હૈ । ઘો હેતુ ઓર ઘો દૃષ્ટાન્ત નહીં ॥ ૮ ॥ જો

જનુઓના અહિતના ઉપદેશક હોવાથી તે પાપ વ્યાપારને પોષક સૂત્ર હોય છે, તે ટુહિલ દોષવાળા સૂત્ર માનવામાં આવે છે જેમ ચાવોક કહે છે કે-આ દોષ જે રીતે પ્રત્યક્ષથી દેખાય છે એટલું જ છે બીનાથી આગળ નથી, પુણ્ય, પાપ અને સ્વર્ગ નરક એ પણ નથી, આ માટે ખાઓ પીઓ અને મસ્ત રહો તમા આનદથી સમયને પસાર કરો, (૬) યુક્તિ રહિત જે સૂત્ર હોય છે તે નિસ્સાર દોષવાળા મનાય છે જેમ સૌગત આદિ શાસ્ત્ર, (૭) જેમા અક્ષર પદ આદિ આવ સ્મૃત્તાથી અધિક હોય છે તે સૂત્ર અધિક દોષ સયુક્ત બાણુ બેઈએ. અથવા જેમાં એક હેતુ અને દૃષ્ટાન્તના અતિરિક્ત હેતુ અને દૃષ્ટાન્ત હોય તેને પણ અધિક દોષવાળા સૂત્ર માનવા બેઈએ જેમ-“અનિત્યઃ શબ્દઃ કૃતકત્વપ્રયત્નપ્રયત્નનન્તરીયકત્વાત્ ઘટપટવદિતિ” શબ્દ અનિત્ય છે, કેમ કે, તે કૃતક છે અને પ્રયત્નપૂર્વક થાય છે, જેમ ઘટ અને પટ આ અનુમાનમા એક હેતુ અને એક દૃષ્ટાન્ત અધિક છે એક સાધ્યમાં એક જ હેતુ અને એક જ દૃષ્ટાન્ત હોય છે એ

शब्दरूपगन्धरसस्पर्शा इति वक्तव्ये रूपगन्धरसस्पर्शरसा इति द्रूयाद्' इत्यादि ॥१३॥

वचनमिन्न—यत्र वचनव्यत्ययः, यथा—' वृक्षा ऋतौ पुष्पित. ' इत्यादि ॥१४॥

विभक्तिमिन्न—यत्र विभक्तिव्यत्ययः, यथा—' वृक्ष पश्य ' इति वक्तव्ये ' वृक्ष पश्य ' इति द्रूयात् ' इत्यादि ॥ १५ ॥

लिङ्गमिन्न—यत्र लिङ्गव्यत्ययः, यथा—' इयं स्त्री ' इति वक्तव्ये ' अय स्त्री ' इति द्रूयात्, इत्यादि ॥ १६ ॥

अनभिहित—स्वसिद्धान्तोपदिष्टाधिककथनम् । यथा—राशिद्वयमिति वक्तव्ये राशिद्वयकथनम्, इत्यादि ॥ १७ ॥

का दोष आता है । क्यों कि सूत्र में जिस क्रम से उन्त्रियों का वर्णन किया गया है उसी क्रम से उनके विषय का भी वर्णन करना चाहिये ॥ १३ ॥ जहाँ वचन का व्यत्यय होता है वहाँ वचनमिन्न नामका दोष होता है जैसे " वृक्षा. ऋतौ पुष्पित " यहा वचन व्यत्यय है । क्यों कि " पुष्पित. " की जगह " पुष्पिता. " ऐसा बहुवचन होना चाहिये ॥१४॥ जहा विभक्ति का व्यत्यय होता है वहाँ विभक्तिमिन्न दोष माना जाता है जैसे " वृक्षः पश्य " यहा पर विभक्ति मिन्न दोष है यहाँ, ' वृक्ष ' की जगह ' वृक्ष ' ऐसा होना चाहिये ॥ १५ ॥ जहाँ स्त्रीलिङ्ग आदि का व्यत्यय होता है वह लिङ्गमिन्न दोष है जैसे; " अय स्त्री " यहा द्रुआ है । ' अय ' की जगह ' इय ' होनी चाहिये सो ' इय ' की जगह ' अयं ' कर दिया यह लिङ्गव्यत्यय है ॥ १६ ॥ जो बात सिद्धान्त में प्रतिपादित नहीं है उसे भी मानना अर्थात् सिद्धान्तकथित बात से भी

मिन्न नामने दोष आवे छे ठेभ के, सूत्रमा ले कभरी उन्त्रियोनु वरुन करवाभां आबु छे जे कभरी जेना विषयनु पबु वरुन करवु लेछे जे. (१३) ब्यां पचनने उवट-मुवट व्यत्यय थाय छे त्या पचनमिन्न नामने दोष लागे छे जेभ वृक्षा ऋतौ पुष्पित-अही पचनव्यत्यय छे, ठेभके पुष्पित नी जग्याजे " पुष्पिता " जेभ बहुवचन होवु लेछे जे (१४) ब्यां विभक्तिये व्यत्यय होय छे ते विभक्तिमिन्न दोष मानवाभा आवे छे जेभ " वृक्ष पश्य " अदि पद छे " वृक्ष पश्य " जे ठीक छे वृक्ष नी जग्याजे वृक्ष आ विभक्तिये व्यत्यय छे (१५) ब्यां स्त्रीलिङ्ग आदिने व्यत्यय अने छे ते लिङ्ग मिन्न दोष छे, जेभ अय स्त्री अही अयं नी जग्याजे इय होवु लेछे जे ते इय नी जग्याजे अय करी दीधु जे लिङ्गव्यत्यय छे, (१६) जे बात सिद्धान्तमा प्रतिपादित नहीं तेने मानवी, अर्थात् सिद्धान्त कथित वातधी पबु अधिक जे युक्ति

पूर्व-‘ कर्म चास्ति ’ इत्युक्तम्, तेन-कर्मणां कर्तानास्तीत्यस्य विघातो भवति ।
यथा वा—अयं बालको वन्ध्याप्रसूत, इत्यादि ॥ ११ ॥

अयुक्तम्—युद्धया चिन्त्यमानम्—अनुपपत्तिक्षमम् । यथा—

“ तेपा फटतटभ्रष्टै,—र्गजानां मदविन्दुभिः ।

भावर्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥ १ ॥

यथा वा—धावकस्य मुनिदर्शनहर्पाश्रुभिरुपाश्रयः संभृत ॥ १२ ॥

क्रमभिन्नं—यत्र क्रमो नाराध्यते । यथा—‘ भ્રોत्रचक्षुघ्राणरसनસ્पर्शनानા વિષયા

વિરોધી છે કારણ કિ જવ કર્મ છે તો કોઈ ન કોઈ ફનકા કર્તા મી હું—ફિર
યહ કહના કિ ફનકા કોઈ કર્તા નહીં છે યહ વ્યાહત દોષ છે । ઇસી તરહ
“ અયબાલકોવન્ધ્યાપ્રસૂતઃ ” અર્થાત્ યહ બાલક વન્ધ્યાપુત્ર છે યહ મી
સમજના ચાહિયે ॥ ૧૧ ॥ જો યુક્તિ સહ નહીં હોતા છે વહા અયુક્ત દોષ
આતા છે જૈસે—હાથિયોં કા વર્ણન કરતે સમય ઈસા કહા જાય કિ ઉનકે
હાથિયોં કે ગળ્હસ્યલ સે વ્યુત મદજલ કા ઇતના અધિક પ્રવાહ વહા
કિ વહાં ઈક ઘોર નદી હો ગઈ જિસમેં હાથી, અશ્વ ઈવ રથ સપ કે સબ
વહ ગયે । યહ ધુલ્લિકલ્પિત ચીજ યુક્તિ સહ નહીં છે । ઇસ લિયે યે
અયુક્ત નામકા દોષ છે । ઇસી તરહ યહ કથન મી “ કિ મુનિયોં કે
વર્શન સે શ્રાવકોં કી આશ્વોં સે ઇતને આનંદાશ્રુ નિકલે કિ ઉપાશ્રય
મર ગયા ” ॥ ૧૨ ॥ જહા ક્રમ વર્ણન પર વ્યાન નહીં રસા જાતા છે વહાં
ક્રમમિત્ર નામકા દોષ છે—જૈસે—શ્રોત્રચક્ષુઘ્રાણરસનસ્પર્શનાના વિષયાઃ
રૂપગંધશબ્દસ્પર્શરસાઃ, ઈસા કોઈ સૂત્ર બનાવે તો ઉસમેં ક્રમમિત્ર નામ

પૂવોપરમાં વિરોધી છે કારણ કે, બ્યારે કર્મ છે તે કોઈને કોઈતેને કર્તા પણ
હોવો એઈએ. પણ એ કહેવું કે એને કોઈ કર્તા નથી એ ‘વ્યાહત’ દોષ છે આ
રીતે “ અયં બાલકો વન્ધ્યાપ્રસૂત ” અર્થાત્ “ આ બાળક વન્ધ્યા પુત્ર છે ” એમ
કહેવું તે પણ સમજવું એઈએ. (૧૧) એ યુક્તિ પુર સર નથી ત્યાં અયુક્ત દોષ
આવે છે એમ હાથીયોં વર્ણન કરતી વખતે એમ કહેવામાં આવે કે તે
હાથીયોના ગળ્હસ્યલથી વ્યુત મદજળને એટલો વધુ પ્રવાહ નિકળ્યો કે, ત્યાં એક ઘોર
નદી થઈ ગઈ એમ હાથી, અશ્વ અને રથ આ બધાં તણાઈ ગયાં, આ ધુલ્લિ
કલ્પિત સિલ્લ યુક્તિ સહ નથી. આ માટે અયુક્ત નામનો દોષ છે એવી રીતે
“ મુનિયાના ઇશ નથી શ્રાવકોની આંખોમાંથી એટલાં આશ્રુ વહ્યા કે તેનાથી ઉપાશ્રય
ભરાઈ ગયો. આ કથન પણ અયુક્ત દોષવાળું છે (૧૨) બ્યાં ક્રમવર્ણન ઉપર વ્યાન
નથી રખાતું ત્યાં ક્રમમિત્ર નામનો દોષ છે—એમ શ્રોત્રચક્ષુઘ્રાણરસનસ્પર્શનાનાં
વિષયા—રૂપ-ગંધ-શબ્દ-સ્પર્શ-રસા એવું કોઈ સૂત્ર બનાવે તો એમાં ક્રમ-

कालदोषो यत्रातीतादिकालव्यत्यय, यथा ' रामो वन प्रविवेश ' इति वक्तव्ये ' रामो वनं प्रविशति ' इत्यादि ॥ २१ ॥

यतिदोषोऽस्थानविरतिः, सर्वथाऽविरतिर्वा । यथा—' घम्मो मगलमुक्किट्टु ' इत्यादौ ' घम्मो ' इत्यत्र विरामः । यद्वा—गाथाया अन्ते विरामकरणम् ॥ २२ ॥

छविः—अलंकारः, तेन शून्य छविदोषः । यथा—' बालो घावति ' इत्यादि ॥ २३ ॥ समयविरुद्ध—स्वसिद्धान्तविरुद्ध, यथा—स्याद्वादसिद्धान्ते तद्विरुद्धकथनम् ॥ २४ ॥

में सुयन्त तिङन्तात्मक पद का स्वरूप विस्तार से विवेचित करके अथवा अर्थशास्त्र का कथन करके पुन हेतु का कथन करने लग जाना । इसी तरह दया के वर्णन करते समय शील का विस्तृत वर्णन करना और पुन दया का वर्णन करना । इस प्रकार का वर्णन इस दोष वाला जानना चाहिये ॥ २० ॥ जहा अतीतादिकाल का व्यत्यय होता है वहा काल-दोष माना जाता है—जैसे—राम वन में प्रविष्ट हुए की जगह ऐसा कहना कि राम वन में प्रवेश करते हैं ॥ २१ ॥ अस्थान में विरति—' अर्थात्—विराम—रुकना ' होना अथवा सर्वथा अविरति—' नहीं रुकना ' होना उसका नाम यति दोष है । जैसे—घम्मोमंगल मुक्किट्टु " इत्यादि में घम्मो यहाँ विराम करना अथवा गाथा का अन्तमें विराम करना ॥ २२ ॥ अलंकार शून्यता में छविदोष होता है—जैसे—" बालो घावति " इत्यादि ॥ २३ ॥ जहा स्वसिद्धान्त से विरुद्ध कहा जाता है वहाँ समय विरुद्ध दोष लगता है—जैसे—स्याद्वादसिद्धान्त में उसके विरुद्ध प्रतिपादन करना

सुयन्त तिङन्तात्मक पदनु स्वरूप विस्तारथी विवेचित करीने अथवा अर्थ शास्त्रनु कथन करीने पुन हेतुनु कथन करवा लागी ज्यु आ रीते इयानु वरुण करती वपते शिवनु विस्तृत वरुण करवु अने इरीथी इयानु वरुण करवु आ प्रकारनु वरुण व्यपहित दोषवाणु लक्ष्यु लोभजे. (२०) न्या अतीतादि कारणे व्यत्यय थाय छे त्यां कारण दोष बनाय छे—जेभ राम वनमां प्रविष्ट थयानी ज्य्याजे ज्येवु ठहेवु के, राम वनमां प्रवेश करे छे (२१) अस्थानमां विरति—अर्थात्—विराम—रुकावु, यवु अथवा सर्वथा अविरति—' न रुकावु ' यवु, तेनु नाम यतिदोष छे जेभ—' घम्मो मगलमुक्किट्टु ' इत्यादिमां घम्मो ज्ये ज्य्याजे विराम करवो अथवा गाथाना अतमां विराम करवो (२२) अलंकार शून्यतामां छवि दोष थाय छे जेभ " बालो घावति " छेकरे होठे छे (२३) इत्यादि न्यां स्वसिद्धान्ताथी विरुद्ध ठहेवामां आवि छे त्यां समयविरुद्ध दोष लाजे छे जेभ स्याद्वाद सिद्धान्ताथी विरुद्ध प्रतिपादन करवु (२४) युक्तिशून्य कथन करवामां वचन मात्र नामनु दुष्यु आवे छे

અપદ—નિર્વિમક્તિકશબ્દોચારણરૂપમ્ । યથા—મુનિર્વિહરતીતિ ચક્તવ્યે મુનિ
વિહરતીતિ કથનમ્ ॥ ૧૮ ॥

સ્વમાવહીન—યત્ર વસ્તુસ્વમાવોઽન્યથા સ્થિતોઽન્યથાઽભિધીયતે તત્ । યથા
' શીતો વદ્ધિ. ' ' રૂપવદાકાશમ્ ' ઇત્યાદિ ॥ ૧૯ ॥

વ્યવહિત—યત્ર પ્રકૃતમુક્ત્વાઽપ્રકૃત વિસ્તરતોઽભિધાય પુનઃ પ્રકૃતમુચ્યતે તત્ ।
યથા—હેતુકથામધિકૃત્ય મુક્તિદ્વન્તપદલક્ષણપ્રપન્ચમર્થશાસ્ત્ર વા અભિધાય પુનર્હેતુવચ-
નમ્ । યથા વા—દયાં પ્રસ્તુત્ય શીલસ્ય વિસ્તરવર્ણન વિધાય પુનર્દયાવર્ણનમ્ ॥૨૦॥

અધિક જો યુક્તિયુક્ત નહીં છે—ઉસ કો માનના જૈસે—જીવરાશિ અજીવ
રાશિ યે દો હી રાશિયા હૈં । પર એસા કહના કિ “ નો જીવ નો અજીવ ”
ઇસ પ્રકાર તોસરા રાશિ કા વર્ણન કરના અનભિહિત દોષ હૈ ॥ ૧૭ ॥
વિમક્તિ રહિત શબ્દ વાલા સૂત્ર અપદ દોષ ઘાલા માના જાતા હૈ જૈસે
“ મુનિવિહરતિ ” યહાં હુઆ હૈ । કયોં કિ સુચન્ત એ તિહન્ત કી પદ
સંજ્ઞા હોતી હૈ । નિર્વિમક્તિક શબ્દ પદ સજ્ઞક નહીં હોતા । અતઃ ઇસ
પ્રકાર કા શબ્દ વાલા સૂત્ર ઇસ દોષ સે વિશિષ્ટ માના જાતા હૈ ।
“ મુનિર્વિહરતિ ” યહ શુદ્ધ હૈ ॥ ૧૮ ॥ જિસ સૂત્ર દ્વારા વસ્તુ કા યથા
વસ્તિ સ્વરૂપ નિરૂપિત ન હોકર અન્યથારૂપ મેં નિરૂપિત કિયા જાતા
હૈ વહાં સ્વમાવહીન દોષ હોતા હૈ । જૈસે—અગ્નિ કો શીત એવં આકાશ
કો રૂપી કહના ॥ ૧૯ ॥ જહાં પ્રકૃત અર્થ કો છોડકર અપ્રકૃત કા
વિસ્તાર સે વર્ણન કરકે પુનઃ પ્રકૃત અર્થ કા વર્ણન કિયા જાતા હૈ વહાં
વ્યવહિત નામ કા દોષ હોતા હૈ—જૈસે—હેતુ કે લક્ષણ કે કથન અવસર

યુક્ત નથી તેને માનવા જેમ—અવરાશી અલવરાશી એ જે રાશી છે, પણ
એમ કહેવું કે નો જીવ—નો અજીવ આ પ્રકારે ત્રીણ રાશીનું વર્ણન કરવું
અનભિહિત દોષ છે (૧૭) વિભક્તિરહિત શબ્દવાળા સૂત્ર અપદ દોષવાળા
મનાય છે જેમ “ મુનિવિહરતિ ” અદ્ધિ થયેલ છે કેમકે, મુનન્ત અને તિહન્તની
પદ સંજ્ઞા યાય છે નિર્વિમક્તિક શબ્દ પદ સજ્ઞક થતો નથી એટલે આ
પ્રકારના શબ્દવાળા સૂત્ર આ દોષથી વિશિષ્ટ માનવામાં આવે છે ‘મુનિર્વિહરતિ’
આ શુદ્ધ છે (૧૮) જે સૂત્રથી વસ્તુનું યથાવસ્થિત સ્વરૂપ નિરૂપિત ન થતાં
બીજા રૂપમાં નિરૂપિત કરવામાં આવે છે ત્યાં સ્વમાવહિત દોષ હોય છે જેમ
અગ્નિને શીત અને આકાશને રૂપી કહેવું (૧૯) જ્યાં પ્રકૃત અર્થને છોડીને
અપ્રકૃતનું વિસ્તારથી વર્ણન કરીને પુનઃ પ્રકૃત અર્થનું વર્ણન કરવામાં આવે છે
ત્યાં વ્યવહિત નામનો દોષ લાગે છે—જેમ હેતુ લક્ષણના કથન

પ્રિયવર્ણિની ટોફા ગા ૨૩ સૂત્રલોપ ૩૨

રૂપકલોપ = શ્રવ્યચિન્ત્યારોપયિતવ્યેઽવ્યવરોપણમ્ । યથા-પર્વતાદૌ રૂપયિ-
તવ્યે શિખરાદીંસ્તદવ્યવાન્ રૂપયતિ । ગજ પ્રતિ ઉચ્ચત્વાદિ ધર્મં નિરીક્ષ્ય પર્વતા-
ભેદમારોપ્ય પર્વતોઽયમિતિ વક્તવ્યે શિખરોઽયમિતિ કથનમ્ ॥ ૨૯ ॥

નિર્દેશલોપસ્ત્ર, યત્ર નિર્દિષ્ટપદાનામેકવાક્યતા ન ક્રિયતે, યથા-ઈહ શ્રાવક
ઉપાશ્રયે પ્રતિક્રામતીત્યમિધાતવ્યે પ્રતિક્રામતિ શબ્દ નામિધત્તે ॥ ૩૦ ॥

પદાર્થલોપ — યત્ર વસ્તુનિ પર્યાયોઽપિ સન્ પદાર્થાન્તરત્વેન કલ્પ્યતે, યથા-
'સતો માવ સત્તા' ઇતિ કૃત્વા વસ્તુપર્યાય एव सत्ता, सा च वैशेषिकैः पदसु
પદાર્થેષુ મલ્યે પદાર્થાન્તરત્વેન સ્વીકૃતા, તત્ત્વાયુક્તમ્-વસ્તુનામનન્તપર્યાયત્વેન
પદાર્થાનન્ત્ય-પ્રસગાદિતિ ॥ ૩૧ ॥

ઉપમા કરને મેં આતી છે વહા ઉપમા લોપ માના જાતા છે જેસે કહના કિ મેક
સર્પ કે સમાન છે અથવા સર્પ મેકે સમાન છે ॥૨૮॥ અવયવી કા જહા
આરોપણ કરના ચાહિયે વહા અવયવ કા આરોપણ કરના, જેસે-પર્વતકે
નિરૂપયિતવ્ય હોને પર ઉસ કે અવયવમૂત શિખરાદિકોં કા નિરૂપણ
કરના । ગજ મેં ઉચ્ચત્વ આદિ ધર્મ કા નિરીક્ષણ કર કે ઉસ મેં પર્વત કા
રૂપક ઘાઘકર ફિર એસા કહના કિ યહ શિખર છે ॥ ૨૯ ॥ જહા નિર્દિષ્ટ
પદો મેં એક વાક્યતા નહીં કી જાતી છે વહા નિર્દિષ્ટ લોપ માના જાતા
છે । જેસે-ઈસ ઉપાશ્રય મેં શ્રાવક પ્રતિક્રમણ કરતા છે એસે કહને કી
ગહ સિર્ફ ઇતના હી કહના । " ઇહ ઉપાશ્રયે શ્રાવકઃ " અર્થાત્ એક
વાક્યતા પ્રદર્શક ક્રિયાપદ કા પ્રયોગ નહીં કરના ॥ ૩૦ ॥ જિસ વસ્તુમેં
પર્યાય ઠી દૂસરે પદાર્થરૂપ મેં કલ્પિત કી જાવે વહા પદાર્થલોપ માના
જાતા છે । જેસે-સત્તા કા માવ હી સત્તા છે ઓર યહ સત્તા વસ્તુ કી હી

ત્યાં ઉપમાલોપ માનવામાં આવે છે જેમ કહેવું છે, મેરૂ સર્પવના જેવા છે
અથવા સર્પવ મેરૂના સમાન છે (૨૮) અવયવીનું બ્યાં આરોપણ કરવું
બેઠકે ત્યાં અવયવનું આરોપણ કરવું, જેમ પર્વતના નિરૂપયિતવ્ય કથન
કરવું બેઠકે ત્યાં એમના શિખરાદિકોનું નિરૂપણ કરવું, ગજમા ઉચ્ચત્વ
આદિ ધર્મનું નિરીક્ષણ કરી એમા પવતનું રૂપક બાધીને પછી એવું કહેવું છે
એ શિખર છે (૨૯) બ્યાં નિર્દિષ્ટ પદોમાં એકવાક્યતા કરવામાં નથી આવતી
ત્યાં નિર્દિષ્ટ લોપ માનવામાં આવે છે જેમ આ ઉપાશ્રયમાં શ્રાવક પ્રતિક્રમણ
કરે છે એમ કહેવાને બદલે કહત એટલું જ કહેવું છે, ' ઇહ ઉપાશ્રયે શ્રાવકઃ'
અર્થાત્ એક વાક્યતા પ્રદર્શક ક્રિયાપદનો પ્રયોગ કરવો નહીં (૩૦) જે વસ્તુમાં
પર્યાય પણ બીજા પદાર્થરૂપમાં કલ્પિત કરવામાં આવે ત્યાં પદાર્થ લોપ મનાય
છે, જેમ સત્તનો માવ જ સત્તા છે અને એ સત્તા વસ્તુની જ એક પર્યાય છે-

वचनमात्र-निर्हेतुक केवलवचनम्, यथा कश्चिद् यथेच्छया क्वचित् प्रदेशं लोक-
मध्यतया जनेभ्यः प्ररूपयति ॥ २५ ॥

अर्थापत्तिदोष-—यत्रार्थापत्त्याऽनिष्टमापतति तत्र, यथा-ग्रामकुक्कुटो न
इन्तव्यः, इत्युक्तेऽर्थापत्त्या शेषघातोऽदुष्ट इत्यापतति ॥ २६ ॥

असमासदोषः—यत्र समासविधिभात्तो समास न करोति, व्यत्ययेन वा
करोति तत्र । यथा-भगवतो नामनिर्देशे 'महावीरः' इति वक्तव्ये 'महान् वीरः'
इति कथनम् । यद्वा-समानाधिकरण्येन समासे कर्तव्ये व्यधिकरणेन तत्करणम् ।
यथा-महतो वीरो महद्वीर इति ॥ २७ ॥

उपमादोषो यत्र हीनोपमा क्रियते । यथा-मेरुः सर्पपोपमः । अधिकोपमा वा
क्रियते, यथा-सर्पपो मेरुसनिम । अनुपमा वा यथा मेरुः समुद्रोपमः, इत्यादि ॥२८॥

॥ २४ ॥ युक्ति शून्य कथन करने में वचनमात्र नामका दूषण आता है ।
जैसे-अपनी इच्छा से कल्पना करके कहना कि अमुक प्रदेश लोक के
मध्य में है ॥ २५ ॥ जहाँ पर अर्थापत्ति से अनिष्ट की प्रसक्ति होती,
वहाँ अर्थापत्तिदोष माना जाता है । जैसे-किसी ने कहा कि ग्राम का
कुक्कुट (सुर्गा) नहीं मारना चाहिये, तो इससे इस अनिष्ट का आपा-
दन होता है कि शेष जीवों का घात करना दोषावह नहीं है ॥ २६ ॥
जहाँ समासविधि प्राप्त हो भी तौ भी वहाँ समास नहीं करना, इसमें
असमासदोष माना जाता है अथवा व्यत्यय से समास करना इसमें
भी समासदोष माना जाता है । जैसे किसी ने पूछा कि अन्तिम तीर्थकर
का नाम क्या है ? वहाँ महावीर न कह कर महान् वीर ऐसा कह देना ।
अथवा-समानाधिकरण्य से समास कर्तव्य होने पर व्यधिकरण से समास
करना-जैसे-महतो वीरः महद्वीरः ॥२७॥ जहाँ हीन उपमा अथवा अधिक

लेभ पोटानी धृष्ट्याथी कल्पना करीने कहेषु हे, अमुक प्रदेश लोकना मध्यमां
छे (२५) न्यां अर्थापत्तिथी अनिष्टनी प्रसक्ति धाय छे त्यां अर्थापत्ति दोष
मानवामां आवे छे लेभ केशजे कहेषु हे, गाभनेो कुकटो भारवे न लेषजे,
तो आथी जे अनिष्टनु कथन आपादान धाय छे हे, शेष लवेनो घात करवे
ते दोषावह नथी (२६) न्यां समासविधि प्राप्त धाय तो पञ्च त्यां समास न
करवे जेमां असमास दोष मानवामा आवे छे, अथवा व्यत्ययथी समास करवे जेमां
पञ्च समास दोष मानवामा आवे छे, लेभ केशजे पूछ्यु हे अतिम तीर्थकर
नाम शुं छे ? त्यां महावीर न कहेता महान् वीर जेभ कही हेतु अथवा सामा
नाधिकरण्यथी समास कर्तव्य होवा छता व्यधिकरण्यथी समास करवे, लेभ
'महतोवीर' महावीर' (२७) न्यां हीन उपमा अथवा अधिक उपमा करवामा आवे छे

વ્યાખ્યા—નિર્દોષમ્—અલીકાદિદોષવર્જિતમ્ ॥ ૧ ॥ સારવત્—ભૂમિશબ્દવદ્
 વહુપર્યાયયુક્તમ્ ॥ ૨ ॥ હેતુયુક્ત—હેતવ -અન્વયવ્યતિરેકલક્ષણાસ્તૈર્યુક્તમ્ ॥ ૩ ॥
 અલકૃતમ્—ઉપમોત્પ્રેક્ષાઘલકારૈર્યુક્તમ્ ॥ ૪ ॥ ઉપનીતમ્—ઉપનયોપસદ્ધતમ્ ॥ ૫ ॥
 સોપચાર—ગ્રામ્યમણિતિરહિતમ્ ॥ ૬ ॥ મિત—વર્ણાદિનિયતપરિમાણમ્ ॥ ૭ ॥
 મધુર—શ્રવણમનોહરમ્ ॥ ૮ ॥

અચ સૂત્રકે ૮ ગુણ કૌન ૨ સે હૈં સો કહતે હૈં—નિર્દોષ ૧, સારવત
 ૨, હેતુયુક્ત ૩, અલકૃત ૪, ઉપનીત ૫, સોપચાર ૬, મિત ૭, એવ મધુર
 ૮, કહા મી હૈ—

“ નિર્દોષ સારવત ચ, હેતુયુક્ત મલકિય ।

ઉવણીય સોવાયાર ચ, મિય મહુરમેવ ચ ॥૧॥

જો સૂત્ર અલીકાદિ દોષો સે વર્જિત હોતા હૈ વહા નિર્દોષ યહ ગુણ
 માના જાતા હૈ ॥ ૧ ॥ જિસ પ્રકાર ભૂમિ શબ્દ કે અનેક પર્યાયવાચી
 શબ્દ હૈ, ઉસી પ્રકાર અનેક પર્યાયો સે યુક્ત જો સૂત્ર હોતા હૈ વહ
 “સારવત્” હિસ ગુણ સે વિશિષ્ટ માના જાતા હૈ ॥ ૨ ॥ અન્વય
 વ્યતિરેક લક્ષણ હેતુ સે યુક્ત હો વહ હેતુયુક્ત નામક તીસરા ગુણ હૈ
 ॥ ૩ ॥ ઉપમા ઉત્પ્રેક્ષા આદિ અલકારો સે સંપન્ન સૂત્ર કો અલકૃત ગુણ
 વાલા કહા ગયા હૈ ॥ ૪ ॥ ઉપનય પૂર્વક સે ઉપસદ્ધત—સમાસિ જો સૂત્ર
 હોતા હૈ વહ ઉપનીતગુણવાલા કહા ગયા હૈ ॥ ૫ ॥ ગ્રામ્યમણિતિ સે
 રહિત જો સૂત્ર હોતા હૈ અર્થાત્ જિસ સૂત્ર કી ભાષા સાધારણજનો કી
 ભાષા જૈસી નહીં હોતી હૈ વહ સૂત્ર સોપચારગુણ સે વિશિષ્ટ માના ગયા હૈ

હવે સૂત્રના આઠ ગુણ કયા કયા છે તે કહે છે—નિર્દોષ, સારવત્, હેતુયુક્ત,
 અલકૃત, ઉપનીત, સોપચાર, મિત, અને મધુર કહુ પહુ છે—

નિર્દોષ સારવત્ ચ, હેતુયુક્ત મલકિય ।

ઉવણીય સોવાયાર ચ, મિય મહુરમેવ ચ ॥ ૧ ॥

જે સૂત્ર અસત્ય અલીકાદિ દોષોથી વર્જિત હોય છે ત્યાં નિર્દોષ આ ગુણ
 માનવામાં આવે છે (૧) જે પ્રકારે ભૂમિ શબ્દ ને અનેક પર્યાયવાચી શબ્દ છે
 એ જ રીતે અનેક પર્યાયોથી યુક્ત ને સૂત્ર હોય છે તે “સારવત્” આ ગુણથી
 વિશિષ્ટ માનવામાં આવે છે (૨) અન્વય વ્યતિરેક લક્ષણ હેતુથી યુક્ત હોય તે
 હેતુયુક્ત નામનો ત્રીજો ગુણ છે (૩) ઉપમા ઉત્પ્રેક્ષા આદિ અલકારોથી સંપન્ન
 સૂત્રને અલકૃત ગુણવાળા કહેવામાં આવેલ છે (૪) ઉપનય પૂર્વકથી ઉપસદ્ધત
 સમાસિ ને સૂત્ર હોય છે તે ઉપનીત ગુણવાળા કહેવાયેલ છે (૫) ગ્રામ્યમણિ
 તિથી રહિત ને સૂત્ર હોય છે અર્થાત્ ને સૂત્રની ભાષા સાધારણ જનોની ભાષા
 જેવી હોતી નથી તે સૂત્ર સોપચાર ગુણથી વિશિષ્ટ માનવામાં આવેલ છે (૬)

सन्धिदोषः—यत्र सन्धिमाप्तौ त न करोति, दुष्ट वा करोति तत्र, यथा
 -“सयमाराधनम्” इति वक्तव्ये ‘सयम, आराधनम्’ इति कथनम् । यथा वा
 ‘मुनि एतौ’ इति वक्तव्ये ‘मुन्येतौ’ इति कथनम् ॥३२॥ एते द्वात्रिंशत् सूत्रदोषाः ।

अथ सूत्रगुणाः—

सूत्राणामष्टौ गुणास्त्वेवम्—

निदोस सारवत् च, हेउजुच मलकिय ।

उवणीय सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥ १ ॥

एक पर्याय है—फिर भी वैशेषिक सिद्धान्तकार इसे द्रव्यगुण आदि-पदार्थ से भिन्न पदार्थरूप से स्वीकार करते हैं । अतः उनके सूत्रों में यह दोष आता है । कारण कि इस प्रकार से पर्याय को यदि भिन्न पदार्थ तरीके माना जायगा तो प्रत्येक पदार्थ की अनंत पर्यायें हैं उन सयमें अनंत पदार्थता की प्रसक्ति माननी पड़ेगी, इस प्रकार छह ही भावात्मक पदार्थ है, यह कथनविरुद्ध मानना पड़ेगा ॥ ३१ ॥ जहाँ सधि की प्राप्ति होने पर भी सधि नहीं की जाय वहाँ सन्धिदोष होता है जैसे—“यह संयम का आराधन करता है” इस स्थानमें संयमाराधन न कह कर “सयम आराधनं” ऐसा कहना । इसी प्रकार “मुनी एतौ” इस जगह “मुन्येतौ” कहना । “मुनी एतौ” यहाँ व्याकरण सिद्धान्त के अनुसार द्विवचनान्त ईदन्त शब्दकी प्रगुण सज्ञा होती है और उससे सन्धिकार्य का अभाव हो जाता है ॥३२॥ इस प्रकार सूत्रके ये बत्तीस (३२) दोष हैं ।

वैशेषिक सिद्धान्तकार तेना द्रव्यगुण आदि पदार्थकी भिन्न पदार्थ रूपकी स्वीकार करे छे आथी तेभना सूत्राभां ओ दोष आवे छे ठारखु के, आ प्रकारकी पर्यायने ठदि भिन्न पदार्थ तरीके मानवाभा आवे तो प्रत्येक पदार्थनी अनंत पर्यायों छे ओ यथाभां अनंत पदार्थतानी प्रसक्ति मानवी ओठथे. आ प्रकारे छे भावात्मक पदार्थ छे, ओ ठहेवु विरुद्ध मानवु पठथे. (३१) व्यां सधिनी प्राप्ति होवा छदां पखु सधि न करवाभां आवे तो सधि दोष जने छे नेम—“आ सयमं आराधनं करे छे” आ स्थानभां सयमाराधनं न ठहीने “सयम आराधनं” ओम ठहेवु आ प्रकारे “मुनि एतौ” आ स्थणे मुन्येतौ ठहेवु व्याकरण सिद्धान्त अनुसार द्विवचनान्त ईदन्त शब्दनी प्रगुण सज्ञा बाय छे जने ओथी सधि कार्यने अभाव बर्ध बाय छे (३२) आ प्रकारे सूत्रना उर दोष छे

चत्वारोऽप्यनुयोगा व्याख्यायन्ते॥४॥ 'अस्तोमकम्, -स्तोमका' -निरर्थकतया प्रयुक्ता',
चकार-वा-शब्दादयो निपाता', वैर्वियुक्तम् ॥५॥ 'अनवद्य'-कोमादिपापव्यापार-
प्ररूपकम् ॥६॥ एवभूत सूत्र सर्वज्ञभाषितम् । इमे पद गुणाः पूर्वोक्तेष्वष्टसु गुणे-
ष्वन्तर्भूताः सन्ति, तथाहि-अल्पाक्षरस्य विश्वतोमुखस्य च मिते समावेशः, अस
न्दिग्धानवघास्तोभाना च निर्दोषेऽन्तर्भावः ।

एव सूत्रानुगमे समस्तदोषवर्जिते लक्षणयुक्ते सूत्रे उच्चारिते सति स्वसमयगत-
जीवाद्यर्थप्रतिपादकस्य स्वसमयपदस्य ज्ञान भवति तथा परसमयगत-प्रकृतीश्व-
राद्यर्थप्रतिपादकस्य परसमयपदस्य ज्ञान भवति । अनयोरेव मध्ये परसमयपद

जैसे " घम्मोमगलमुक्किट्ट " यह सूत्र है । इस सूत्र में चारों ही अनुयोग
का व्याख्यान है ॥ ४ ॥ जिस सूत्र में चकार, वकार आदि निरर्थक शब्दों
का प्रयोग नहीं किया जाता है वह सूत्र "अस्तोम" गुण वाला माना गया
है ॥ ५ ॥ जिस सूत्र द्वारा कामादिक व्यापारों की प्ररूपणा नहीं की जाती
है वह सूत्र "अनवद्य" गुण सपन्न है ॥६॥ सूत्र इसी प्रकार का होना चाहिये,
इससे विपरीत नहीं, ऐसा प्रश्न का आदेश है । ये छह गुण पूर्वोक्त
अष्टगुणों में अन्तर्भूत समझना चाहिये । अल्पाक्षर एव विश्वतोमुख,
इन दो गुणों का अन्तर्भाव " मित " इस गुण में तथा असदिग्ध, अनवद्य
एव अस्तोम इन गुणों का अन्तर्भाव "निर्दोष" इस गुण में हुआ है ।

इस प्रकार समस्तदोषवर्जित, एवं लक्षणयुक्त सूत्र के उच्चारित
होने पर जीवादिक अर्थ के प्रतिपादक स्वसमय-पद का ज्ञान तथा पर
समयानुसार प्रकृति ईश्वर आदिक अर्थ के प्रतिपादक परसमय-पद का

नेम-" घम्मो मगलमुक्किट्ट " आ सूत्र छे आभां थारे अनुयोग ने
व्याख्यान छे चकार, वकार आदि व्याख्यान छे आदि निरर्थक शब्दना प्रये न
नथी करवाभां आब्ये ते सूत्र अस्तोम शुद्धवाण्य भनाथेव छे (५) ने सूत्रद्वारा
कामादिक व्यापारोनी प्ररूपणा करवाभां नथी आवती ते सूत्र अनवद्य शुद्धस पन्न
छे (६) सूत्र आवा प्रकारनु छेवुनेछे जेनाथी विपरीत नहीं जेवे प्रश्नो आदेश
छे आ छ शुद्ध पूर्वोक्त आठ शुद्धमा अन्तर्भूत समज्जा जेछे जे अल्पाक्षर
तेमज्ज विश्वतोमुख आ छे शुद्धोना अन्तर्भाव " मित " आ शुद्धमा तथा अस दिग्ध,
अनवद्य अने अस्तोम शुद्धोना अन्तर्भाव " निर्दोष " आ शुद्धमा थयेव छे

आ प्रकार समस्त दोष वर्जित, अने लक्षणयुक्त सूत्रना उच्चारित
होवाथी एवादिक अर्थना प्रतिपादक स्वसमय पदनु ज्ञान तथा पर समयानु
सार प्रकृति, ईश्वर आदिक अर्थना प्रतिपादक परसमयपदनु ज्ञान थाय छे

કેચિત્તુ સૂત્રસ્ય પર ગુણાન્ વદન્તિ । તદ્ યથા—

અપ્પક્વરમસદિદ્ધ, સારવ વિસ્ત્રમોમુહ ।

અત્યોમમળવજ્જ ચ, મુચ સવ્વણ્ણુમાસિય ॥ ૧ ॥

ઝાયા—અલ્પાક્ષરમસદિગ્ધં, સારવદ્ વિશ્વતોમુલ્લમ્ ।

અસ્તોમમનવથ ચ, સૂત્ર સર્વમ્ભાપિતમ્ ॥ ૧ ॥

વ્યાख्या—‘અલ્પાક્ષરમ્’ મિતાક્ષર, યથા સામાયિકસૂત્રમ્ ॥ ૧ ॥

અસંદિગ્ધમ્—સૈન્ધવશબ્દવદ્ યહ્લઘ્ણ-વસન-તુરગાયનેકાર્થસશયકારિ ન ભવતિ, યથા—અહિંસા ॥૨॥ સારવત્ત્વ ચ પૂર્વવત્ ॥૩॥ ‘વિશ્વતોમુલ્લ’ પ્રતિસૂત્ર ચરણાનુયોગા-ધનુયોગચતુષ્ટયવ્યાખ્યાસમમ્, યથા—‘ઘમ્મોમગલ મુક્કિદ્ધ’ ઇત્યાદિ શ્લોકે

॥ ૬ ॥ ઘર્ણાદિક કા જિસમેં નિયત પરિમાણ હોતા હૈ વહ મિત ગુણ હૈ ॥ ૭ ॥ ઇષ કર્ણમનોહર જો હોતા હૈ વહ મધુર ગુણ સંયુક્ત સૂત્ર માના જાતા હૈ ॥ ૮ ॥ કિન્હીં ૨ કે મતાનુસાર સૂત્ર કે ૬ ગુણ મી માને ગયે હૈ—એ યે હૈ—

અલ્પાક્ષર ૧, અસંદિગ્ધ ૨, સારયુક્ત ૩, વિશ્વતોમુલ્લ ૪, અસ્તોમ ૫, અનવથ ૬ । હનમેં મિત અક્ષર જિસમેં હો વહ અલ્પાક્ષર ગુણ હૈ, યહ “અલ્પાક્ષર” પ્રથમ ગુણ હૈ । જૈસે સામાયિક સૂત્ર ॥ ૧ ॥ સૈન્ધવ શબ્દ કી તરહ જો લઘ્ણ, વસન, તુરગ આદિ અનેક અર્થો કે ઘોષ કા સશય-જનક નહીં હો વહ “અસંદિગ્ધ” ગુણ હૈ । જૈસે અહિંસા શબ્દ ॥ ૨ ॥ ભૂમિ શબ્દ કે સમાન અનેક પર્યાયોં સે યુક્ત જો સૂત્ર વહ “સારવત્” તીસરા ગુણ ઘાલા હૈ ॥ ૩ ॥ પ્રત્યેક સૂત્ર ચરણાનુયોગાદિક અનુયોગ-ચતુષ્ટય સે યુક્ત હૈ વહ “વિશ્વતોમુલ્લ” ગુણઘાલા સૂત્ર માના જાતા હૈ ।

વર્ણાદિકનુ જેમાં નિયત પરિમાણ હોય છે તે મિતગુણ છે (૭) જે કલ્પ મનોહર હોય છે તે મધુરગુણ સંયુક્ત સૂત્ર માનવામાં આવે છે (૮) કાઈ કાઈના મત અનુસાર સૂત્રના ૭ ગુણ પણ માનવામાં આવ્યા છે તે પ્રમાણે છે—

અલ્પાક્ષર ૧ અસંદિગ્ધ ૨ સારયુક્ત ૩

વિશ્વતોમુલ્લ ૪ અસ્તોમ ૫ અનવથ ૬

આમાં મિત અક્ષર જેમાં હોય તે અલ્પાક્ષર ગુણ છે, આ “અલ્પાક્ષર” પ્રથમ ગુણ છે, જેમ સામાયિક સૂત્ર (૧) સૈન્ધવ શબ્દની માર્ક લઘ્ણ, વસન, તુરગ આદિ અનેક અર્થોના ઘોષ જેમાં સશયજનક ન હોય તે “અસંદિગ્ધ” ગુણ છે જેમ અહિંસા શબ્દ (૨) ભૂમિ શબ્દની માર્ક અનેક પર્યાયોથી યુક્ત જે સૂત્ર હોય તે “સારવત્” ત્રીજા ગુણવાળા છે (૩) પ્રત્યેક સૂત્ર ચરણાનુયોગાદિક અનુયોગ ચતુષ્ટયથી યુક્ત છે તે “વિશ્વતોમુલ્લ” ગુણવાળા સૂત્ર માનવામાં છે

“ સુયનાણે દુવિહે પળ્ણત્તે, ત જહા-અંગપવિટ્ટે ચેવ, અગવાહિરે ચેવ ” ।
 સ્યા૦ ૨ ઠા૦ ૧

અક્ષપ્રવિષ્ટ દ્વાદશમેદા-આચારાદિમેદાત્, તત્ત દષ્ટિવાદવર્જં સર્વં કાલિકમ્, દષ્ટિવાદસૂત્ર તૂત્કાલિકમ્ । તત્ત યદ્ દિવમસ્ય પ્રથમપશ્ચિમપૌરુષીદ્વયે રાત્રેશ્ચ પ્રથમપશ્ચિમપૌરુષીદ્વય એવ પઠ્યતે, તત્ કાલિકમ્ । યત્તુ કાલવેલાવર્જં પઠ્યતે તદુત્કાલિકમ્ । અક્ષવાશ્ચ દ્વિવિધમ્, આવશ્યક, તદ્ વ્યતિરિક્ત ચ । તત્રાવશ્યક મૂત્કાલિક, તચ-પૃથ્વિધમ્-સામાયિક ૧, ચતુર્વિંશતિસ્તવ ૨, વન્દનકં ૩, પ્રતિક્રમણ ૪, કાયોત્સર્ગ ૫, પ્રત્યાહ્યાન ૬ ચ ।

અય સૂત્ર મેદનામ કે પાચવા દ્વાર કહતે હૈં—

યહ કહા હી જા ચુકા હૈં કિ મૂત્ર કા દૂસરા નામ શ્રુતજ્ઞાન મી હૈ, અત. યહ મૂલમેદ કી અપેક્ષા સે દો મેદવાલા હૈ—૧ અક્ષપ્રવિષ્ટ ૨ અગવાશ્ચ । કહા મી હૈ—“ સુયનાણે દુવિહે પળ્ણત્તે ત જહા-અગપવિટ્ટે ચેવ અગવાહિરે ચેવ ” ઇનમેં અગપ્રવિષ્ટ શ્રુતજ્ઞાન કે ૧૨ મેદ હૈં-આચારાગ સે લેકર દષ્ટિવાદ તક । ઇનમેં દષ્ટિવાદ કો ઊઢકર ઘાકી સય કાલિક હૈં । દષ્ટિવાદ ઉત્કાલિક હૈં । જો સૂત્ર વિચસ કે પ્રથમ પશ્ચિમ પૌરુષીદ્વય મેં તથા રાત્રિ કે પ્રથમ પશ્ચિમ પૌરુષીદ્વય મેં હી પઢા જાતા હૈં વહ સૂત્ર કાલિક જાનના ચાહિયે । જો સૂત્ર અકાલ કે સમય કો ઊઢકર પઢા જાતા હૈં વહ ઉત્કાલિક હૈં । અગવાશ્ચ શ્રુતજ્ઞાન મી આવશ્યક એવ તદ્વ્યતિરિક્ત કે મેદ સે દો પ્રકાર કા હૈં । ઇનમેં આવશ્યક સૂત્ર ઉત્કાલિક હૈ, ઓર વહ ૬ પ્રકાર કા હૈં જૈસે-સામાયિક ૧, ચતુર્વિંશતિસ્તવ ૨, વન્દનક ૩, પ્રતિક્રમણ ૪, કાયોત્સર્ગ ૫, એવં પ્રત્યાહ્યાન ૬ । કાલિક, ઉત્કાલિક કે મેદ

હવે સૂત્રમેદ નામનુ પાચમુ દ્વાર કહે છે —

એ કહેવાઈ ગયું છે કે, સૂત્રનું બીજું નામ શ્રુતજ્ઞાન પણ છે આથી તે મૂળ સેદની અપેક્ષાએ બે સેદવાળું છે અગ પ્રવિષ્ટ ને ૧ અગવાશ્ચ ૨ કહ્યું પણ છે કે સુયનાણે દુવિહે પળ્ણત્તે ત જહા-અગપવિટ્ટે ચેવ અગવાહિરે ચેવ તેમાં અગ પ્રવિષ્ટ શ્રુતજ્ઞાનના ૧૨ સેદ છે આચારાગમી તર્કને દષ્ટિવાદ સુધી એમ દષ્ટિવાદને ઊઠીને બાકી બધા કાલીક છે દષ્ટિવાદ ઉત્કાલિક છે, એ સૂત્ર દિવસના પ્રથમ અને પશ્ચિમ બે પૌરુષીયા તથા રાત્રીના પ્રથમ અને પશ્ચિમ બે પૌરુષીમાંજ વાચી શકાય છે, તે સૂત્રને કાલીક બાલુવાં એઈએ. એ સૂત્રને અકાલના સમયને ઊઠી વાંચી શકાય છે તે ઉત્કાલિક છે અગવાશ્ચ શ્રુતજ્ઞાન પણ આવશ્યક અને તદ્વ્યતિરિક્તના સેદથી બે પ્રકારે છે એમાં આવશ્યક સૂત્ર ઉત્કાલિક છે, અને તે છ પ્રકારનું છે, એમ સામાયિક ૧, ચતુર્વિંશતિસ્તવ ૨, વન્દનક ૩, પ્રતિક્રમણ ૪,

कुवासनाजनकत्वाद् बन्धपदम्, स्वसमयपद तु-सद्बोधकारणत्वान्मोक्षपद-
मिति बोध्यम् ।

इति तृतीय द्वारम् ।

अथ सूत्रपर्यायनामक चतुर्थ द्वारम् —

सुयसुत्तगयसिद्ध-त, सासणे आण वयण उवएसो ।

पण्णवणा मा गमइय, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥ १ ॥

श्रुतम्, सूत्रम्, ग्रन्थः, सिद्धान्त, शासनम्, आज्ञा, वचनम्, उपदेश, प्रज्ञापना, आगमः, इति दशपर्याया एकार्या ।

॥ इति चतुर्थ द्वारम् ॥

अथ सूत्र मेद नामक पञ्चम द्वारम्—

सूत्र नाम श्रुतज्ञानमित्युक्तम्, तत् खलु मूलमेदापेक्षया द्विमेदम्, अङ्गप्रवि-
ष्टम्, अङ्गवाङ्म च । तथा चोक्तम्—

ज्ञान होता है । कुवासना का जनक होने से परसमयपद बन्धपद है
एवं सद्बोध का कारण होने से स्वसमय-पद मोक्षपद है ॥

॥ इस प्रकार तीसरा द्वार सम्पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

अथ चौथा द्वार कहते हैं—

श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना
आगम, ये सब सूत्र के पर्यायवाची शब्द-नामान्तर हैं—

कहा भी है—“सुयसुत्तगयसिद्धंत सासणे आण वयण उवएसो ।

पण्णवणा-मागम इय, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥ १ ॥

॥ चौथा द्वार सपूर्ण ॥ ४ ॥

कुवासनाना जनक होवाची परसमयपद बन्ध पद छे अने सद्बोधना कारण
इय होवाची स्वसमयपद मोक्षपद छे

आ प्रकारची त्रील्लु द्वार स पूर्युं थयु

इवे सूत्रमेद नामनु योधु द्वार कहे छे —

श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना,
आगम, आ वधा सूत्रना पर्यायवाची शब्द-नामान्तर छे, कहुं पण्ण छे—

सुयसुत्तगयसिद्धंत सासणे आण वयण उवएसो ।

पण्णवणा-मागम इय एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥ १ ॥

॥ योधु द्वार स पूर्युं ॥

किंचिदर्थविशेष जानाति, यदा तु गुरुणाऽर्थेन सह सूत्र प्रमोहित भवति, तदा शिष्यस्त्वदन्तगताना सर्वेषा भावानां ज्ञाता भवति, यथा स एव कलाऽभिद्ध. पुरुषः प्रमोहित. सन् सर्वासा कलाना ज्ञाता भवति, अत. सूत्र गुरुसनिधान विना प्रसुप्त-समं भवति, तस्मात् सूत्र गुरुसनिधौ श्रुत्वा पठनीयम् ।

किंच-गुरुसनिधानामावे सूत्रोच्चारण स्वलितादिदोषदुष्टं स्यात् । तथा सति प्रायश्चित्तम्, अज्ञान, मिथ्यात्व, आत्मविराधना, सपमविराधनादयो दोषा भवन्ति तस्माद् गुरुसनिधौ सूत्रमुच्चारणीयम् ।

सूत्र का अर्थ यदि ज्ञात न हो तो पढ़ने वाला व्यक्ति उसके महत्त्व को नहीं जान सकता है । जिस समय शिष्य गुरु महाराज के पास अर्थ-सहित सूत्र का अध्ययन करता है, अथवा गुरु महाराज शिष्य को अर्थ-सहित सूत्र पढ़ा देते हैं उस समय शिष्य उसके अन्तर्गत समस्त भावों का ज्ञाता हो जाता है । जिस प्रकार ७२ कला के जानने वाला पुरुष जगने पर समस्त कलाओं का ज्ञाता होता है । इसलिये सूत्र गुरु महाराज के समीप सुनकर ही पढ़ना चाहिये, क्यों कि विना गुरु महाराज के पठित सूत्र कलानिपुण सोया हुआ पुरुष जैसा माना जाता है, पढ़ने वाले को उससे अर्थविशेष की प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

किञ्च-गुरुमुखसे यदि सूत्र का अध्ययन न किया जाय तो सूत्र के यथावत् उच्चारण करने में स्वलना आदि दोषों का सद्भाव हो सकता है । इससे अध्ययन करने वालों को लाभ के स्थान में प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है । अज्ञान, मिथ्यात्व, आत्मविराधना एव संयम की विराधना आदि दोषों का भाजन भी बनना पड़ता है । इसलिये गुरु महाराज के

व्यक्ति तेना महत्त्वेने बाध्नी शकता नथी जे समये शिष्य गुरुमहाराजनी प्राप्ते अर्थ सहित सूत्रनु अध्ययन करे छे अथवा गुरु महाराज शिष्यने अर्थ सहित सूत्र बाध्नी दे छे, ते समये शिष्य तेना अतर्गत समस्त भावोने ज्ञाता भनी बाध छे जे प्रकारे ७२ कलाने बाध्नुवावाण पुरुष अगवाथी समस्त कलाओना ज्ञाता भने छे आ भाटे सूत्र गुरु महाराजनी समीप साभणीने बाध्नु अर्थजे. कम के गुरु महाराज नगर बाध्नुवामा आवेत्त सूत्र कला निपुण सुतेवा पुरुष जेवुं मानवामा आवे छे बाध्नुवावाणाने जेनाथी अर्थ विशेषनी प्राप्ति यती नथी.

किञ्च द्वि-गुरु सुप्रथी सूत्रनु अध्ययन कदाय न करवामा आवे तो, सूत्रनु यथावत् उच्चारण करवामा रूपलना आदि दोषोने सद्भाव भने छे जेथी अध्ययन करवावाणजे लाभना स्थानमा प्रायश्चित्तना बागी बनवुं पडे छे, अज्ञान, मिथ्यात्व, आत्मविराधना अने संयमनी विराधना आदि दोषोना बाध्नु

आवश्यकव्यतिरिक्तं द्विविधम्—कालिकम्, उत्कालिकं च । तत्र—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
चन्द्रप्रज्ञप्तिर्निरयावलिकादीनि च पञ्च सूत्राणीति सप्तोपाङ्गानि, व्यवहारादीनि चत्वारि
छेदसूत्राणि, मूलसूत्रेषु—उत्तराध्ययन, समुत्थानसूत्रं च । एतत् सर्वं कालिकम् ।
उत्कालिकं तु दशवैकालिकसूत्रं नन्दीसूत्रम्, अनुयोगद्वारसूत्रं च—एतत्त्रयं मूलसूत्रम्,
औपपातिकं राजप्रश्रीयं जीवामिगमः प्रज्ञापना सूर्यप्रज्ञप्तिरिति पञ्चोपाङ्गानि च ।

॥ इति पञ्चमद्वारम् ॥

अथ सूत्रोच्चारणविधिनामकं षष्ठं द्वारम्—

सुविनीतेन शिष्येण सूत्रं गुरुसन्निधौ ग्रहीतव्यम् । यथा—द्वासप्ततिकलापण्डितो
मनुष्यः प्रसुप्तः सन् तासां कलानां न किञ्चित् जानाति, एवमर्थेनावोधिते सूत्रे न
से तद्व्यतिरिक्तं दो प्रकार का है । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और निर-
यावलिका आदि पाँच सूत्र—ये सातों उपांग, व्यवहार आदिक चार छेद
सूत्र, मूलसूत्रों में उत्तराध्ययन, और समुत्थानसूत्र, ये सब कालिक हैं ।
दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार ये तीनों मूलसूत्र, तथा-
औपपातिक, राजप्रश्रीय, जीवामिगम, प्रज्ञापना और सूर्यप्रज्ञप्ति ये
पाँचों उपांग उत्कालिक हैं ।

॥ पाचवा द्वार सपूर्ण ॥

अब छठे द्वार में सूत्र के उच्चारण की विधि कहते हैं—

सुविनीत शिष्य को सूत्र का अध्ययन गुरु महाराज के समीप
करना चाहिये । जिस प्रकार ७२ कलाओं का ज्ञाता मनुष्य प्रसुप्त
अवस्था में उन कलाओं के अर्थविशेष को नहीं जानता है, उसी प्रकार

हाथोत्सर्ग ५, अने प्रत्याभ्यान ६ हाविक, उत्काविकना सेदधी तद्व्यतिरिक्त ये
प्रकारे छे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति अने निरयावलिका आदि पाँच तथा
व्यवहारआविक चार सूत्र—ये साते उपांग, व्यवहार आविक चार छेद सूत्र,
मूलसूत्रोभा उत्तराध्ययन अने समुत्थान सूत्र अे अधां हाविक छे दशवैकाविक,
नदिसूत्र अने अनुयोगद्वार आ त्रये मूलसूत्र तथा—औपपातिक राजप्रश्रीय,
जीवामिगम, प्रज्ञापना अने सूर्यप्रज्ञप्ति आ पाँचे उपांग उत्काविक छे

॥ पाच्यमु द्वार सपूर्ण ॥

इसे छठे द्वार में सूत्रना उच्चारण की विधि कहे छे—

सुविनीत शिष्ये सूत्रनु अध्ययन गुरु महाराज की समीप करवु लेखके,
उ प्रकार ७२ कलाओंने ज्ञाता मनुष्य प्रसुप्त अवस्थाभा अे कलाओंना अर्थ
विशेषने नहीं जानता अे अ रीते सूत्रने अर्थ अे लखेव न होय तो पाँचनार

અત્ર ન જ્ઞાયતે સકલસાધારણશ્રોતૃભિઃ, યદિદ કાલિકમુત્કાલિક વા । યથા વા-સામાયિકપદે દશવૈકાલિકોત્તરાધ્યનપ્રમૃતીનામનેકાનિ પદાનિ મીલયતિ ।

૩ વ્યાવિદ્ધાક્ષરમ્—વ્યાવિદ્ધાક્ષર, વિપર્યસ્તરત્નમાલાગતરત્નાનીવ વિદ્ધાનિ વિપર્યસ્તાન્યક્ષરાણિ યત્ર તત્ । યથા-‘ઘમ્મો મગલ’ ઇત્યત્ર ‘લગમમ્મોઘ’ ઇત્યુચ્ચારણમ્ ।

૪ હીનાક્ષરમ્-અક્ષરેહીનમ્ । યથા-‘નમો અરિહતાળ’ ઇત્યત્ર ‘નમો અરિહંતા’ ઇત્યુચ્ચારણમ્ ।

૫ અધિકાક્ષર—સ્વબુદ્ધધાગધિકાક્ષરયોજન યત્ર તત્ । યથા-‘ઘમ્મો મગલ મુક્ષિટ્ઠ’ અત્ર-‘ ઘમ્મો મગલમુક્ષિટ્ઠ નરગ ’ ઇત્યુચ્ચારણમ્ । હીનાક્ષરે અધિકાક્ષરે વા

સર્વસાધારણ શ્રોતાજન યહ નહીં સમજ સકતે કિ યહ કાલિક હૈ અથવા ઉત્કાલિક હૈ । અથવા-જો ઉચ્ચારણ સામાયિક પદ મેં દશવૈકાલિક ઉત્તરાધ્યયન આદિકે અનેક પદોં કો મિલા વેતા હૈ વહા પર મી યહ દોષ હોતા હૈ ॥ ૨ ॥ વ્યાવિદ્ધાક્ષરમ્-જિસ ઉચ્ચારણ મેં ઉલ્ટે ઉલ્ટે કર અક્ષર યોલે જાવેં વહા વ્યાવિદ્ધાક્ષર નામકા દોષ હોતા હૈ-જૈસે-ઘમ્મો મગલ એસા ન ઘોલકર “લગમમ્મોઘ” એસા ઉચ્ચારણ કરના ॥૩॥ હીનાક્ષરમ્-જૈસા સૂત્ર હો વૈસા ઉચ્ચારણ ન કરના-હીનાક્ષર દોષ હૈ । જૈસે-“નમો અરિહતાળ” કી જગહ “નમો અરિહતા” એસા યોલના ॥૪॥ અધિકાક્ષર-જિસ ઉચ્ચારણ મેં અધિક અક્ષર ઉચ્ચરિત હોં વહાં અધિકાક્ષર નામકા દોષ જાનના ચાહિયે, જૈસે-ઘમ્મો મગલમુક્ષિટ્ઠ ” ઘોલતે સમય ઘમ્મો મગલમુક્ષિટ્ઠ નરગ ” એસા અધિક “નરગ” અક્ષર કા ઉચ્ચારણ કરના । હીનાક્ષર ઇવ અધિકાક્ષર, યે દોનોં દોષ ઉચ્ચારણ કે

સર્વ સાધારણ શ્રોતાજન એ નયાં સમજ સકતા કે, આ કાલિક છે કે ઉત્કાલિક છે એ ઉચ્ચારણ સામાયિક પદમાં હસ વૈકાલિક ઉત્તરાધ્યયન આદિના અનેક પદોને મેળવી કે છે ત્યાં પણ આ દોષ થાય છે (૨)

(૨) વ્યાવિદ્ધાક્ષરમ્—જે ઉચ્ચારણમાં ઉલટાવી ઉલટાવીને અક્ષર બોલવામાં આવે ત્યાં ‘વ્યાવિદ્ધાક્ષર’ નામનો દોષ બને છે જેમ ઘમ્મોમગલ એવું ન બોલીને લગમમ્મોઘ એવું ઉચ્ચારણ કરવું

(૩) હીનાક્ષરમ્—જેવા સૂત્ર હોય તે પ્રમાણે ઉચ્ચારણ ન કરવું અર્થાત્ એકાક્ષરથી ઉચ્ચારણ કરવું-‘હીનાક્ષર’ દોષ છે, જેમ-“નમો અરિહતાળ” ની જગ્યાએ “નમો અરિહતા” એવું બોલવું

(૪) અધિકાક્ષર—જે ઉચ્ચારણમાં વધુ અક્ષર ઉચ્ચારવામાં આવે ત્યાં અધિકાક્ષર નામનો દોષ બહુવે બેઈ એ જેમ “ઘમ્મો મગલ મુક્ષિટ્ઠ” બોલતી વખતે “ઘમ્મો મગલ મુક્ષિટ્ઠ નરગ” જેમ “નરગ” આ વધારાના અક્ષરણ ઉચ્ચારણ કરવું હીનાક્ષર અને અધિકાક્ષર આ બન્ને દોષ ઉચ્ચારણમાં

અયોચ્ચારણદોષાઃ સ્વલિતાદયો દશ મોચ્યન્તે—સ્વલિતમ્ ૧, મિલિતમ્ ૨, વ્યાવિદ્વાક્ષરમ્ ૩, હીનાક્ષરમ્ ૪, અધિકાક્ષરમ્ ૫, વ્યત્યાગ્રેઢિતમ્ ૬, અપરિપૂર્ણમ્ ૭, અપરિપૂર્ણઘોષમ્ ૮, અકળ્ઠોષ્ટવિપ્રમુક્ત ૯, અગુરુવાચનોપગતમ્ ૧૦, इति । तत्र—

૧ સ્વલિતમ્—યદ્ અન્તરાડન્તરા આલાપકાન્ મુચ્ચતિ, યથા—“ અર્હિસા ” “ દેવા વિ ત નમંસતિ ” ।

૨ મિલિતમ્—યદ્ અન્યસ્થાન્યસ્યોદ્દેશકસ્યાધ્યયનસ્ય વા આલાપકાન્ એકત્ર મીલયતિ ‘ સર્વે જિનવચનમ્ ’ इति कृत्वा, યથા—“ સવ્વે પાણા પિયાડયા ” (સર્વે પ્રાણા પિયાયુષ્કાઃ) (આચા ૧ શ્રુ ૨ અ ૩ ડ) “ સવ્વે જીવા વિ ઈચ્છતિ જીવિડં ન મરિજ્જિડં ” (સર્વે જીવા અપિ ઈચ્છન્તિ જીવિતુ ન મર્તુમ્) દશ વૈ ૬ અ ।

સમીપ હી સૂત્ર કા અધ્યયન યા ઉસકા ઉચ્ચારણ કરના સીસના ચાહિયે । ઉચ્ચારણ કે કિતને દોષ હૈં યહ અવ પ્રકટ કિયા જાતા હૈં—સ્વલિત ૧, મિલિત ૨, વ્યાવિદ્વાક્ષર ૩, હીનાક્ષર ૪, અધિકાક્ષર ૫, વ્યત્યાગ્રેઢિત ૬, અપરિપૂર્ણ ૭, અપરિપૂર્ણઘોષ ૮, અકળ્ઠોષ્ટવિપ્રમુક્ત ૯, એવં અગુરુવાચ નોપગત ૧૦, યે ૧૦ દોષ ઉચ્ચારણ સંબધી હૈં । સ્વલિત—ધીષ ૨ મેં સ્ક ૨ કર સૂત્ર કા ષોલના યહ સ્વલિત દોષ હૈ, જૈસે—અર્હિ સા, દેવા વિ ત નમં સતિ હ્યાદિ ॥૧॥ મિલિત—જહાં અન્ય ૨ ઉદ્દેશક અથવા અધ્યયન કે આલાપકો કો એકત્ર મિલા દિયા જાતા હૈ ઘહાં મિલિત દોષ હોતા હૈ, જૈસે—“ સર્વે જિનવચનં ” એસા ઠ્યાલકર “ સવ્વે પાણા પિયાડયા ” “ સવ્વે જીવા વિ ઈચ્છન્તિ જીવિડં ન મરિજ્જિડં ” હન સય કો એક સાય હી ષોલ દેના । હન સય કે એક સાય ષોલને મેં મિલિત દોષ હસલિયે આતા હૈ કિ

પણુ બનવું પડે છે માટે શુરુ મહારાજ સમીપજ સૂત્રજુ અધ્યયન બગર તેજુ ઉચ્ચારણ કરવું—સીખવુ એકજે ઉચ્ચારના કેટલા દોષ છે તે હવે પ્રગટ કરવામાં આવે છે (૧) સ્વલિત, (૨) મિલિત, (૩) વ્યાવિદ્વાક્ષર, (૪) હીનાક્ષર, (૫) અધિકાક્ષર, (૬) વ્યત્યાગ્રેઢિત, (૭) અપરિપૂર્ણ, (૮) અપરિપૂર્ણઘોષ, (૯) અક ઠોષ્ટવિપ્રમુક્ત, અને (૧૦) અગુરુવાચનોપગત આ દસ દોષો ઉચ્ચારણ સંબધી છે

સ્વલિત—વચમાં વચમાં શેકાઈને સૂત્રજુ બાલવું તે સ્વલિત દોષ છે જેમ— અર્હિસા દેવા વિ તં નમ સંતિ ઇત્યાદિ । (૧) મિલિત—અર્થા અન્ય અન્ય ઉદ્દેશક અથવા અધ્યયનના આલાપીને એકત્ર મેળવી અપાય છે ત્યાં મિલિત દોષ થાય છે જેમ “ સર્વે જિન વચનં ” એવો બ્યાલ કરી “ સવ્વે પાણા પિયા ડયા સવ્વે જીવા વિ ઈચ્છતિ જીવિડં ન મરિજ્જિડં આ બધાને એક સાથે જ બાલવુ આ બધાને એક સાથે બાલવામાં મિલિત દોષ એ માટે આવે છે કે,

द्रव्यभावतो व्यत्याम्नेडित सूत्रे कुर्वतोऽर्थस्य विसवादः इत्यादि विवक्षा प्रागिव, यथा दीक्षा निरर्थिका ।

७ अपरिपूर्णं—मात्राभिः, पदैश्चरणैर्विन्दुभिर्वर्णैश्च । मात्राभिरपरिपूर्णं 'धम्ममगलमुक्किट्ट' । पदैरपरिपूर्णं—यथा—“धम्म उक्किट्ट” । चरणैरपरिपूर्णं—यथा—‘धम्मो मगलमुक्किट्ट’ इत्यादि गाथाया कमपि चरण परित्यज्य पठनम् । विन्दुभिरपरिपूर्णं—यथा ‘धम्मो मगलमुक्किट्ट’ इति । वर्णैरपरिपूर्णं यथा—‘धम्मो ल उक्किट्ट’ इत्यादि । मात्राभिः पदैश्चरणैर्विन्दुभिर्वर्णैरपरिपूर्णं उच्चारिते तदेव प्रायश्चित्तं त एव दोषाश्च भवन्ति ।

में व्यत्याम्नेडित कर देता है तब उसके अर्थ में स्वभावतः विसवाद होने लगता है और इससे जो हानि होती है यह अधिकाक्षर तथा हीनाक्षर के दोष के स्वरूपनिरूपण में घटा चुके हैं ॥ ६ ॥ अपरिपूर्ण—जहां मात्राओं से, पदों से, चरणों से, विन्दुओं से, वर्णों से अपरिपूर्णता होती है वहां अपरिपूर्ण दोष माना जाता है, जैसे “धम्मो मगलमुक्किट्ट” की जगह “धम्ममगलमुक्किट्ट” इस प्रकार “ओकार” की मात्रा हीन कर पढ़ना । “धम्म उक्किट्ट” ऐसा मगलपद हीन कर पढ़ना । किसी चरण को-पाद को-हीन कर पढ़ना, किसी विन्दु को हीन कर पढ़ना, किसी वर्ण को हीन कर पढ़ना सो क्रमशः मात्रा आदिकों से अपरिपूर्ण दोष माना गया है । इस प्रकार के उच्चारण करने पर एक तो आगम की आशातना होने से प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है दूसरे विसवादादि अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं । इससे जीव को मुक्ति का लाभ नहीं हो सकता है । तथा दीक्षा में निरर्थकता की प्रसक्ति का प्रसंग प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

विसवाद यथा वागे छे अने अर्थी ने हानी थाय छे ते अधिकाक्षर तथा हीनाक्षरना दोषना निरूपयमा अताववाभा आवेव छे

(९) अपरिपूर्णं व्यां मात्राभ्योऽथी पदोऽथी, चरणैः, विन्दुभ्योऽथी, वर्णैः, अपरिपूर्णता इत्ये तया ‘अपरिपूर्णं’ दोष मानवाम् आवे छे “धम्मो मगलमुक्किट्ट” नी अथाये धम्ममगलमुक्किट्ट आ रीते, ओकार”नी मात्रा हीन करी वाचयुं, “धम्म उक्किट्ट”अेभ मगल पद हीन करी वाचयुं, केषं वषुंने हीन करी वाचयुं ते क्रमशः मात्रा आदिथी अपरिपूर्णं दोष मानवाम् आवेव छे आ प्रकारेण उच्चारणं करवाथी अेक तो आगमनी आशातना यवाथी प्रायश्चित्तना भागी यवु पठे छे वीद्यु विसवादादि वषु अनर्थ उत्पन्न थाय छे, आथी एवने मुक्तिने लाभ भणी शकते नथी. आथी दीक्षाम् निरर्थकतानी प्रसक्तिने प्रसंग प्राप्त थाय छे

उच्चारिते सति-अर्थस्य विसवादः, अर्थस्य विसवाद चरणस्य विसवादः, चरण-
विसवादात् मोक्षः, मोक्षामावे सर्वा दीक्षा निरर्थिका ।

६ व्यत्याग्नेडितं—नाम अन्यान्यशास्त्रपल्लवमिश्रण, यथा—“सर्वभूयस्य
भूयस्त सम्म भूयाइ पासओ । पिहियासवस्त वंतस्त, पावकम्म न बघई ॥”
अत्रेदमपि-घटते इति कृत्वा क्षिपति—अन्यशास्त्रवचनम्—

श्रूयता धर्मसर्वस्व, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥

इसलिये माने जाते हैं कि सूत्र में हीनाक्षर अथवा अधिकाक्षर उच्चरित
होने पर उसके अर्थ में विसवाद (विपरीतता) होता है। अर्थ में विसवाद
जहां हुआ कि चरण-आचार-चारित्र्य में भी विसवाद होने लगता है।
इससे मोक्ष का लाभ नहीं हो सकता। मोक्ष के अभाव में समस्त
दीक्षा निरर्थक हो जाती है ॥ ६ ॥ व्यत्याग्नेडित-मिन्न २ शास्त्रों के
पल्लव (अंश) का जिस उच्चारण में मिश्रण होता है वहा व्यत्याग्नेडित
दोष माना जाता है। जैसे—“सर्वभूयस्यभूयस्त सम्म भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्त वंतस्त पावकम्म न बघई”—यहा यह भी घटित
होता है ऐसा समझकर अन्य शास्त्र का वचन मिलाना, जैसे—

“श्रूयतां धर्मसर्वस्व, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ॥
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥१॥”

महामारत के इस वाक्य को मिश्रित करना। यह व्यत्ययाग्नेडित दोष
इस लिये माना गया है कि उच्चारण करने वाला द्रव्य एव भाव से जब सूत्र

के भाटे मानवाभा आवेले छे डे सूत्रमा हीनाक्षर अथवा अधिकाक्षर उच्चारवाधी
जेना अर्थमा विसवाद थाय छे विपरीत अर्थमा विसवाद न्यां थये डे,
अरबु-आचार आस्त्रिमा पबु विसवाद थवा लागे छे जेधी मोक्षना लाभ बर्ध
शकते नथी। मोक्षना अभावधी समस्त दीक्षा निरर्थक बर्ध जाय छे।

(५) व्यत्याग्नेडित जुहा जुहा शास्त्रोना पल्लववतुं जे उच्चारणमा मिश्रण
थाय छे त्यां “व्यत्याग्नेडित” दोष मानवाभां आवे छे जेभ सर्वभूयस्यभूयस्त
सम्म भूयाइ पासओ ” “पिहियासवस्त वस्तस्त पावकम्म न बघई” अडिं जे
पबु घटित थाय छे जेभ समस्त जीव शास्त्रनु वचन भेजवतुं जेभ—

“श्रूयतां धर्मसर्वस्व श्रुत्वा चैवावधार्यतां ॥
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥१॥

महामारतना आ वाक्यने भेजवतुं, आ “व्यत्याग्नेडित” दोष
जे भाटे मानवाभां आवेले छे डे, उच्चारण करवावाणा द्रव्य जे
भावधी न्यायै सूत्रमां व्यत्याग्नेडित वाधी जेना अर्थमां स्वभावतः

अथ वाचनानामक सप्तम द्वारम्—

अथ वाचनाविधिरुच्यते—तत्रैव वाचनाशब्दार्थः—वाचयतीति वाचना—पाठना, शिष्याय सूत्रादिदान । ननु वाचनायाः किं फलम् ? वाचनया जीवो निर्जरा जनयति श्रुतस्य चानाशातनायां प्रवर्तते, तत्र च प्रवर्तमानो जीवः श्रुतप्रदानरूप तीर्थधर्ममवलम्बते, एव तीर्थधर्ममाश्रयन् कृत्स्नकर्मसंपणेन महानिर्जरावान् भवति । ततो मुक्तिमाप्त्या तस्य सर्वथा भवपर्यवसानं भवति । वाचनादानग्रहणविधिस्त्वेवम्—

उवविसद् उवज्ज्ञाओ, सीसा विअरति वदण तस्स ।

सो तेसि सव्वसमय, वायइ सामइयप्पमुहं ॥ १ ॥

वाचना से जो विहीन होता है, अर्थात्—गुरुप्रदत्त वाचना से जो प्राप्त नहीं होता है वह अगुरुवाचनोपगत दोष है ॥ १० ॥

॥ यह छद्वा द्वार हुआ ॥ ६ ॥

सातवा वाचनाद्वार कहते हैं—

अथ वाचना की विधि घतलाते हैं—शिष्य को सूत्रादिक का देना-पढाना यह वाचना है । सूत्र की वाचना से कर्मों की निर्जरा होती है तथा उसकी अनाशातना में प्रवृत्ति होती है । उस वाचना में लगा हुआ जीव श्रुतप्रदानरूप तीर्थधर्म का आधार होता है । तीर्थधर्म का आधार होने से वह जीव समस्त कर्मों के क्षयण से महानिर्जरावाला होता है । महानिर्जरावाला होने से मुक्ति की प्राप्ति द्वारा उसके सर्वथा भय का क्षय हो जाता है । वाचना के देने की एवं उसके ग्रहण करने की विधि इस प्रकार है—

नाथी ने विद्धिन डोय छे, अर्थात्—गुरुप्रदत्त वाचनाथी ने प्राप्त भयेव नथी डोत्तु ते अशुक्क वाचनोपगत डोय छे (१०)

आ छद्दु द्वार थयु

सातवु वाचनाद्वार कहेवामा आवे छे—

हुवे वाचनानी विधि अताववामा आवे छे—शिष्यने सूत्रादिके कल्याणवा-सम्बलववा अे वाचना छे सूत्रनी वाचनाथी कर्मोनी निर्जरा थाय छे, तथा तेना अनाशातनानी प्रवृत्ति थाय छे अे वाचनामा लागेव एव श्रुतप्रदानरूप तीर्थ धमना आधार अने छे, तीर्थ धमना आधार थवाथी ते एव समस्त कर्मोना क्षयणथी महानिर्जरावाणा थाय छे महानिर्जरावाणा थवाथी मुक्तिनी प्राप्ति द्वारा अने एवन भरसुना इरानो अय भटी अय छे

૮ અપરિપૂર્ણઘોષમ્—ઘોષૈરેવાપરિપૂર્ણ નાક્ષરાદિમિ; ઘોષા-ઉદાત્તાદયઃ । તન્ન-ઉચ્ચૈરુદાત્તઃ, નીચૈરુદાત્તઃ, સમાહાર. સ્વરિત. । ઉચ્ચૈ'શબ્દેન યયા—“ ઉપ્પન્નેહ વા વિગમેહ વા, ધ્રુવેહ વા ” ઇત્યાદિ । નીચૈ'શબ્દેન યયા—“ જે મિક્ષુ વા મિક્ષુણી વા ” ઇત્યાદિ । અથ ઘોષૈર્યુક્તમુચ્ચારણ કુર્વતસ્તદેવ પ્રાયશ્ચિષ્ઠ ત યવ ચ ઘોષાઃ ।

૯ અકળ્ઠૌષ્ઠવિપ્રમુક્તમ્—કળ્ઠૌષ્ઠેન વિપ્રમુક્ત-વ્યક્ત-સુસ્પષ્ટ યન્ન મત્વતિ, બાલમૂકમાપિતવદવ્યક્તમિત્યર્થઃ ।

૧૦ અગુરુવાચનોપગતમ્, ગુરુમદત્તયા વાચનયા યન્ન પ્રાપ્ત તત્ ॥

॥ ઇતિ પૃથ્ઠદ્વારમ્ ॥

અપરિપૂર્ણઘોષ-ઘોષોં સે અર્થાત્-ઉદાત્તાદિક સ્વરોં સે-જો અપરિપૂર્ણ હોતા હૈ વહા અપરિપૂર્ણઘોષ નામ કા ઘોષ આતા હૈ । જો ઊંચે સ્વર સે બોલા જાય ઉસકા નામ ઉદાત્ત, નીચે સ્વર સે જો ઘોલા જાય ઉસકા નામ અનુદાત્ત, તથા જો ન અધિક ઊંચે સ્વર ઓર ન અધિક નીચે સ્વર સે કિન્તુ મધ્યમ સ્વર સે ઘોલા જાય ઉસકા નામ સ્વરિત હૈ । જૈસે-“ ઉપ્પન્નેહ વા, વિગમેહ વા, ધ્રુવેહ વા, ” ઇત્યાદિ ઊંચે સ્વર સે બોલે જાતે હૈ । નીચે સ્વર સે જૈસે-“ જે મિક્ષુ વા મિક્ષુણી વા ” ઇત્યાદિ સૂત્ર નીચે સ્વર સે ઘોલા જાતા હૈ । ઇસ કો ઘોષ ઇસલિયે માના હૈ કિ ઘોષોં સે અયુક્ત ઉચ્ચારણ કરને વાલે કો આગમ કી આશાતનાજન્ય ઘોષ કા ભાગી હોને સે પ્રાયશ્ચિષ્ઠ કા ભાગી હોના પડતા હૈ ॥ ૮ ॥ અકળ્ઠૌષ્ઠવિપ્રમુક્ત-બાલમૂકાદિક કે ઘોલને કી તરહ જો ઉચ્ચારણ વ્યક્ત-સ્પષ્ટ નહીં હોતા હૈ વહ અકળ્ઠૌષ્ઠવિપ્રમુક્ત ઘોષ હૈ ॥ ૯ ॥ અગુરુવાચનોપગતઘોષ-ગુરુમદત્ત

(૭) અપરિપૂર્ણઘોષ-ઘોષોં-અર્થાત્ ઉદાત્તાદિક સ્વરોં-જે અપરિ પૂર્ણ હોય છે, ત્યાં 'અપરિપૂર્ણઘોષ' નામનો ઘોષ લાગે છે, જે ઉચ્ચ સ્વરથી બોલાય તેનું નામ ઉદાત્ત, નીચા સ્વરથી બોલાય એનું નામ અનુદાત્ત તથા જે ન તો ઘણા ઉચ્ચ સ્વરથી કે ન તો ઘણા નીચા સ્વરથી પરંતુ મધ્યમ સ્વરથી બોલાય એનું નામ સ્વરિત છે જેમ-“ ઉપ્પન્નેહ વા, વિગમેહ વા, ધ્રુવેહ વા, ” ઇત્યાદિ ઉચ્ચ સ્વરથી બોલાય છે નીચા શબ્દથી જેમ-“ જેમિક્ષુ વા મિક્ષુણી વા ” ઇત્યાદિ સૂત્ર નીચા સ્વરથી બોલાય છે આનો ઘોષ જે માટે માનવામાં આવેલ છે કે, ઘોષોંથી અયુક્ત ઉચ્ચારણ કરવાવાળાએ આગમની આશાતના જન્ય ઘોષના ભાગી બનવાથી પ્રાયશ્ચિષ્ઠના ભાગી બનવું પડે છે (૮) અકળ્ઠૌષ્ઠ વિપ્ર મુક્ત-બાલ મૂકાદિકના બોલવાની રીતે જે ઉચ્ચારણ સ્પષ્ટ વ્યક્ત થતું નથી તે અકળ્ઠૌષ્ઠ વિપ્રમુક્ત ઘોષ છે (૯) અગુરુ વાચનોપગત ઘોષ-ગુરુ વાચ

निद्रारूपे प्रमादे, अप्रतिलेखने दुष्प्रतिलेखनादौ च सकृत् स्वचित्तस्य स्मरणा कर्तव्या भवति । यथा—“ भो आयुष्मन् ! प्रमादो वर्जनीयः ” इति पूर्वमेवास्मामि कथितम्, अतः प्रमादमाकुरु तपःसयमं च समाराधय, इत्येषा स्मरणा । अयं प्रतिस्मरणा—

पुनः पुनः सामाचार्या प्रमादं कुर्वन् शिष्यः पुनर्गुरुणा बोधनीयः—“ वत्स ! मा प्रमाद्यताम्, तपःसयमाराधनं क्रियताम् ” । इत्येषा प्रतिस्मरणा ।

इत्यमुक्तोऽपि यदि प्रमाद्यति, तदा दण्डना—लघुमायश्चित्तरूपा कर्तव्या ।

प्रतिलेखना नहीं करे अथवा दुष्प्रतिलेखना आदि करता है उस समय उसे स्मरणा वाचना देनी चाहिये, इसमें उसे यह समझाना चाहिये कि है आयुष्मन् ! तुम्हें यह पहिले पतला दिया गया है कि प्रमाद वर्जनीय है । इसलिये इस घात का कयाल करो, और प्रमाद का भासे-चन मत करो तथा तप एव सयम की अच्छी तरह आराधना करो, इसका नाम स्मरणा है । प्रतिस्मरणा वाचना शिष्य को उस समय दी जाती है जब शिष्य अपनी समाचारी में बार २ प्रमाद करता है । उस समय उसे यही समझाया जाता है कि है वत्स ! देखो यह प्रमाद ठीक नहीं है, इससे तप एव सयम की आराधना ठीक २ नहीं होती है । तुम्हें बार बार यह समझा दिया गया है अतः इसका परित्याग कर तप एव सयम की आराधना करो । इसी में आत्मा की भलाई है, इसका नाम प्रतिस्मरणा है । अयं दण्डना कहते हैं—इस प्रकार उपदेश, स्मरणा,

उपदेश छे निद्रारूप प्रमादमा पडेव शिष्ये जे प्रतिलेखना न करे अथवा दुष्प्रतिलेखना आदि करतो होयतो जे समये जेने स्मारणा वाचना आपवी जेष्ठजे जेमां जेने जे समभाववु जेष्ठजे के आयुष्मन् ! तमने जे पडेहुं गताव वामां आवेव छे के, प्रमाद छेउवा योग्य छे, जेयां जे वातने ज्यार करे ने प्रमादने ज्यार न करे, तथा तप अने सयमनी सारी रीते आराधना करे। आनु नाम स्मारणा छे प्रतिस्मारणा वाचना शिष्यने ते समये आपवामां आवे छे ज्यारे शिष्य जेतानी सामाचारीमा बारबार प्रमाद करे छे ते समये तेने जेवु समभाववु छे के हे वत्स ज्यजे आ प्रमाद करेवा ठीक नथी तेनाथी तप अने सयमनी आराधना सारी रीते यती नथी तमने वषतौ वषत जे समभाववामां आवेव छे, माटे तेने परित्याग करी सयम अने तपनी आराधना करे। तेमां आत्मानी भलाई छे, तेनु नाम प्रति स्मारणा छे जेवे इउना कहे छे—आ प्रकारने उपदेश स्मारणा, प्रतिस्मारणा इप तषु प्रका

छाया—उपविशति उपाध्याय', शिष्या वितरन्ति वन्दन तस्मै ।

स तेभ्यः सर्वसमय, वाचयति सामायिकप्रमुखम् ॥ १ ॥

वाचना—त्रिविधा भवति—उपदेशः, स्मरणा, प्रतिस्मरणा च । ये खलु गृहीत सामाचारीकाः शिष्यास्तेभ्य सूत्रार्थवाचना दातव्या । तेषा सामाचारीकरणे प्रमादं कुर्वता क्रमेण उपदेशः, स्मरणा, प्रतिस्मरणा च करणीया । तत्र गुरुस्तान् प्रति वदति—“ मुनीनामेपा सामाचारी यन्निद्राविकथादयः प्रमादा. परिहर्तव्या. ” एष उपदेशः ।

“उपविसद् उवज्जाओ, सीसा वियरति वदण तस्स ।

सो तेसिं सव्वसमय, वायइ सामाइयप्पमुह ॥ वाचना देने बाला उपाध्याय अपने आसन पर विराजमान जब हो जाय तब वाचना लेने बाला शिष्य सर्वप्रथम उन्हें वदना करे । फिर बाद में उनसे सामायिक आदि सर्व सूत्रों की वाचना लेवे । उपदेश १, स्मरणा २ एव प्रतिस्मरणा ३ के भेद से वाचना ३ प्रकार की है । जिन शिष्यों ने सामाचारी को ग्रहण कर लिया है उन शिष्यों को सूत्रार्थ की वाचना देना चाहिये । वे यदि सामाचारी के आचरण करने में प्रमाद करें तो गुरु का कर्तव्य है कि वे उन्हें क्रम से उपदेश, स्मरणा एव प्रतिस्मरणा रूप वाचना दें । उसमें वे उसे यह समझावे कि देखो यही मुनियों की सामाचारी-आचार है कि वे सर्वप्रथम निद्रा विकथा आदि प्रमादों को दूर करें । यह उपदेश है । निद्रारूप प्रमाद में पड़ा हुआ शिष्य यदि

वाचना देवानी अने तेने अढणु करवानी विधि आ प्रकारे छे—

उपविसद् उवज्जाओ, सीसा विअरति वदण तस्स ।

सो तेसिं सव्वसमय वायइ सामाइयप्पमुह ॥

वाचना आपवावाणा उपाध्याय न्यारे पोताना आसन उपर निराजमान अर्ध व्य न्यारे वाचना देवावाणा शिष्य सर्व प्रथम ज्येभने वदना करे अने पछी तेभनी पासैधी सामायिक आदि सर्व सूत्रोनी वाचना छे उपदेश, स्मारणा अने प्रति स्मारणा ना त्रणे खेदधी वाचना तत्र प्रकारनी छे जे शिष्योअे सामाचारीने अढणु करी लीपिठ छेय ते शिष्योने सूत्रार्थनी वाचना देवी जेअे ते करी सामाचारीनु आचरण करवामा प्रमाद करे ते अरुनु कर्तव्य छे के ते ज्येने अथी उपदेश, स्मारणा, अने प्रति स्मारणा रूप वाचना आये. ज्येमां तेजो शिष्यने ज्ये समझवे के, लुओ आळ मुनिओनी समाचारी आचार छे के जे सर्व प्रथम निद्रा, विकथा आदि प्रमादोने दूर आ

निद्रारूपे प्रमादे, अपतिलेखने दुष्प्रतिलेखनादौ च सकृत् स्वस्वित्स्य स्माराणां कर्तव्या भवति । यथा—“ भो आयुष्मन् ! प्रमादो वर्जनीयः ” इति पूर्वमेवास्माभिः कथितम्, अतः प्रमादमाकुरु तपःसयम च समाराधय, इत्येषा स्मारणा ।

अथ प्रतिस्मारणा—

पुनः पुनः सामाचार्या प्रमादं कुर्वन् शिष्यः पुनर्युष्णा बोधनीयः—“ वत्स ! मा प्रमाद्यताम्, तपःसयमाराधनं क्रियताम् ” । इत्येषा प्रतिस्मारणा ।

इत्यमुक्तोऽपि यदि प्रमाद्यति, तदा दण्डना—लघुप्रायश्चित्तरूपा कर्तव्या ।

प्रतिलेखना नहीं करे अथवा दुष्प्रतिलेखना आदि करता है उस समय उसे स्मारणा वाचना देनी चाहिये, इसमें उसे यह समझाना चाहिये कि है आयुष्मन् ! तुम्हें यह पहिले पतला दिया गया है कि प्रमाद वर्जनीय है । इसलिये इस यात का क्याल करो, और प्रमाद का आसेवन मत करो तथा तप एव सयम की अच्छी तरह आराधना करो, इसका नाम स्मारणा है । प्रतिस्मरणा वाचना शिष्य को उस समय दी जाती है जब शिष्य अपनी समाचारी में बार २ प्रमाद करता है । उस समय उसे यही समझाया जाता है कि हे वत्स ! देखो यह प्रमाद ठीक नहीं है, इससे तप एव सयम की आराधना ठीक २ नहीं होती है । तुम्हें बार बार यह समझा दिया गया है अतः इसका परित्याग कर तप एवं सयम की आराधना करो । इसी में आत्मा की भलाई है, इसका नाम प्रतिस्मारणा है । अथ दण्डना कहते हैं—इस प्रकार उपदेश, स्मारणा,

उपदेश छे निद्रारूप प्रमादमां पठेव शिष्ये ज्ञे प्रतिबोधना न करे अथवा दुष्प्रतिलेखना आदि करतो होयतो ज्ञे समये ज्ञेने स्मारणा वाचना आपवी ज्ञेज्ज्ञे ज्ञेमां ज्ञेने ज्ञे समन्वयवु ज्ञेज्ज्ञे के आयुष्मन् ! तमने ज्ञे पडेहुं पताव वामां आवेव छे के, प्रमाद छेउवा योग्य छे, जेथी ज्ञे वातने ज्ञेयाव करे ने प्रमादने ज्ञेयाव न करे, तथा तप ज्ञेने सयमनी सारी रीते आराधना करे । आनु नाम स्मारणा छे प्रतिस्मारणा वाचना शिष्यने ते समये आपवामां आवे छे ज्ञेयारे शिष्य पोतानी सामाचारीमा बारबार प्रमाद करे छे ते समये तेने ज्ञेवु समन्वयवु छे के के वत्स ज्ञेज्ज्ञे आ प्रमाद करवे । छिक् नथी तेनाथी तप ज्ञेने सयमनी आराधना सारी रीते घती नथी तमने वपतो वपत ज्ञे समन्वयवामां आवेव छे, भाटे तेने परित्याग करी सयम ज्ञेने तपनी आराधना करे । तेमां आत्मानी बवाध छे, तेवु नाम प्रति स्मारणा छे उवे उवना कडे छे—आ प्रकारने उपदेश स्मारणा, प्रतिस्मारणा इप त्रज्जु प्रडा

તવોડપિ યદિ પ્રમાદવતિ તર્હિ માસલઘુપ્રાયશ્ચિત્તરૂપા દણ્ડના કર્તવ્યા ।
 इत्य दण्डितोऽपि यदि प्रमादान्न विरमते तदा कुकुमदृष्टान्तो वक्तव्यः । यथा—अतीव
 पिष्टं कुकुમ 'केसर' इति भाषाप्रसिद्ध पापाणमिव कठोरं न भवति, भवान्
 महता प्रयासेन प्रतिनोद्यमानः कथं प्रमत्त सृष्टः । अत्र मासलघु दीयते ।

વાસ્તવપાદર્શનું યદિ પ્રમાદતો ન નિવર્તે તદા નિષ્કાસના કર્તવ્યા । અથાસી
 स्वयं परेण वा प्रघ्रापितः सन् पुनरागत्य प्रमादात् प्रतिनिवृत्तो वदति—भगवन् । क्षमस्व
 मदीयमपराधनिकुरस्वम्, न पुनरेव करिष्यामीति । तदा गुरुरेव वदेत्—यथा

प्रतिस्मारणारूप तीन प्रकार की वाचना के देने पर भी यदि शिष्य
 प्रमादपतित होता है, तो उसे एक मास का लघु प्रायश्चित्त देना चाहिये ।
 उस समय उससे यह कहना चाहिये कि देखो केशर जय धार २ रगड़
 कर पीसी जाती है तो वह भी पापाण जैसी कठोर नहीं रहती है किन्तु
 इकदम नरम पड़ जाती है परन्तु घड़े आश्चर्य की घात है कि तुम्हें धार २
 समझाया जाता है फिर भी तुम प्रमाद को नहीं छोड़ते हो । क्या बात
 है पता नहीं पड़ता कि तुम प्रमादी क्यों घन रहे हो ॥

આચાર્ય તથા અન્ય મુનિ દ્વારા ત્રીન ઘાર સમજાને પર મી યદિ
 शिष्य प्रमाद से पीछे नहीं हटता है, उस समय उसे सघ से बाहर
 करने रूप दण्ड देना चाहिये । उस समय यदि दूसरों के द्वारा समझाये
 जाने पर अथवा अपनी गल्ती अपने आप स्वीकार करने पर यह ऐसा
 गुरु महाराज के समक्ष कहे कि हे गुरु महाराज ! मेरे अभीतक के
 समस्त अपराध आप क्षमा करे, अथ आगे ऐसा नहीं करने का भाव

રની વાચના દેવા છતાં પણ એ શિષ્ય પ્રમાદ વશ બને, તો તેને એક માસનું
 લઘુ પ્રાયશ્ચિત્ત દેવુ ભેઈએ. તે સમય તેને એવુ કહેવુ ભેઈએ કે, કેશર
 ને વારવાર ઘુટાઈ ઘુટાઈને પીસવામાં આવે છે, તો પણ પરધરની
 માફક કઠોર નહિ બનતાં વધુ ને વધુ નરમ બને છે. ઘણુ જ આશ્ચર્યની
 વાત છે કે, તમને વારવાર સમજાવવા છતાં પણ તમે પ્રમાદને છોડતા નથી.
 કયુ કારણ છે તે સમજાતુ નથી કે તમે તમારો પ્રમાદ છોડતા નથી. આચાર્ય
 તથા અન્ય મુનિદ્વારા ત્રણવાર સમજાવ્યા છતાં પણ એ શિષ્ય પ્રમાદથી પાછો
 ન હોતો તો તેને તે સમયે સઘની બહાર કરવારૂપ હૃદ દેવો ભેઈએ. તે સમય
 કશાય બીજાઓ દ્વારા સમજાવવાથી અથવા પોતાની ભૂલ પોતે જ સ્વીકારીને તે
 ગુરુ મહારાજ સમક્ષ એવુ કહે કે, હે ગુરુ મહારાજ ! મારા આજ સુધીના
 બધા અપરાધ આપ માફ કરો, હવે આગળ હું આવુ નહિ કરું તે સમયે

ाम्बूलपत्र कुथित न परित्यज्यते चेत्, तर्हि शेषाप्यपि पत्राणि तत् कोषयति ।
 एव त्वमपि स्वयं विनष्टो मम अन्यानापि साधून् विनाशयिष्यसीति कृत्वा
 नष्कासितोऽस्माभिः । सप्रति पुनरप्रमत्तेन मवितव्यम्, मासगुरु च ते प्रायश्चित्तम् ।

अत्र राजदृष्टान्तो वर्णनीयः ।

कस्यचिद् राज्ञोऽक्षिरोगं सजातम् । तत्रत्यवैद्यास्तच्चिकित्सां कर्तुमशक्त्वा
 प्रभूवन् । अन्यथा कश्चिदागन्तुको वैद्यस्तत्रागत्याह—ममासिगृष्टिकास्तु
 अक्षिरोगप्रशान्त्यर्थम् । ताभिरञ्जितेषु असिषु तीव्रतरा दुःसहा वेदना भवति । सा तु
 मुहूर्तमात्रम् ।

है, उस समय गुरु महाराज उससे ऐसा कहें कि देखो, पान सड़ जाने
 पर यदि बाहर निकाल कर न फेंक दिया जाय तो वह जैसे अन्य पानों
 को सड़ा कर बिगाड़ देता है, उसी प्रकार तुम भी स्वयं विनष्ट होकर
 मेरे सघ के अन्य साधुओं को विनष्ट कर दोगे इस ख्याल से हम
 तुम्हें सघ से बाहर कर रहे हैं । यदि आगे ऐसा नहीं करोगे तो सघ में
 रख लिये जाते हैं । इसलिये जाओ १ मास का यह तुम्हें गुरु प्रायश्चित्त
 दिया जाता है । इस विषय में एक राजा का दृष्टान्त इस प्रकार है—

किसी एक राजा को आखों में रोग हो गया । नगर भर में जितने
 वैद्य थे उन सब ने खूब यत्नपूर्वक इलाज किया, परंतु उनके इलाज से
 राजा की आखों का रोग शमित नहीं हुआ । एक समय वहाँ बाहर
 गाव का एक वैद्य आया । उसने नरेश के पास जाकर कहा कि महाराज !
 हमारे पास ऐसी गोलियाँ हैं जो आखों में आजने पर थिलकुल रोग
 को नष्ट कर देती हैं । परन्तु उनके आजने पर १ मुहूर्त तक षड़ी दुःसह

गुरुमहाराज तेने जेवु कहे के ज्यो पान सड़ी जवाधी बहार कही देखी
 देवाभां न आवे तो ते जेभ भील पानने सडावी बगाडी हे छे ते व रीते
 तमे पख स्वयं विनिष्ट भनी भारा सधना भील साधुजोने पख विनिष्ट
 भनावी देखे आ ज्यावधी तमने सधधी बहार करवाभां आवे छे कदाय
 आगण जेवु नही करे तो सधभां राभवाम् आवेशे आ भटे तमने जेक
 भदिनातु शुभ प्रायश्चित्त आपवाम् आवे छे

आ विषयभां जेक राजने दाभवे आ प्रकारे छे —

कैड जेक राजनी आंभभां रोग धये, शकेशभां जेटवा वैध छटा ते
 सधजाधी भूष प्रयत्न पुरक धिवाज करवाभां आये परतु तेजोना धिवाजधी
 राजनी आंभोने रोग भटये नही जेक समये त्या बहार गामने जेक वैध
 आये तेजे राजनी पासे पडोधी कहु के, महाराज ! भारी पासे जेवी गोणीजे
 छे, जे आंभोभां आंजवाधी रोगने भीबहुव भटाडे छे परतु तेने आंजवाधी

यदि वेदनायां सत्यां मा प्राणदण्डं कर्तुं कर्मचारिभ्य आशां न ददासि, तर्हि तवा क्षिणी अन्नयामि । राज्ञा कथितम्—नाह तव प्राणदण्डं कर्तुमाज्ञापयिष्यामि । तदा राज्ञोऽङ्गोरञ्जनं वैद्यः कृतवान् । अञ्जितयोरक्ष्णोस्तीव्रतरा वेदना जाता । तदा राज्ञा निगदितम्—‘अनेनाक्षिणी मम पीडिते, अत एन मारय ’ इत्याज्ञा स्वकर्म-चारिणः प्रति दत्तवान् । तैः कर्मचारिभिस्तस्य राज्ञो हितकर विज्ञाय वैद्यः प्रच्छन्नः स्यापितः । गृह्वर्तान्तरेण राज्ञो वेदना उपशान्ताः, अक्षिणी रोगरहिते दिव्ये दिव्य-व्योतिष्मती सजाते । तदा राज्ञा वैद्यः स्मृत । राजकर्मचारिभिरानीय समर्पितो वैद्यः सत्कारितः समानितश्च । यथा तस्य राज्ञस्तत्कालद्रु सहमपि गुटिकाञ्जन क्रमेण चक्षुषो नैरुज्यकरणात् परिणामसुन्दर समजनि, एव भवतामपि स्मरणादिक खर-

पीडा होती है । यदि आप वेदना होने पर अपने कर्मचारियों को मुझे प्राणदण्ड देने की आज्ञा न करे तो मैं आपकी आंखों में उन गोलियों को आंज सकता हूँ । राजाने वैद्य की बात सुन कर उसे अमय करने का वचन दे दिया । वैद्य ने भी गोलियों को घिस कर राजा की आंखों में आंज दिया । आजते ही राजा की आंखों में तीव्रतर दुःसह वेदना होने लगी । उस वेदना से पीडित होकर राजा ने उसे मारने की आज्ञा दे दी । कर्मचारियों ने उसे राजा का हितकारी मान कर एक जगह छिपा दिया और मारा नहीं । कुछ समय के बाद वेदना शांत हो गई और आंखें रोग रहित हो गईं । राजा ने प्रसन्न होकर उस वैद्य को याद किया तब कर्मचारियों ने उस वैद्य को लाकर हाजर किया । राजा ने उसको खूब आदर सत्कार करके विसर्जित किया । मतलब इस इष्टान्त का यह है कि जिस प्रकार उस राजा के लिये दुःसह भी

એક બહી મુઠ્ઠી બણી જ અસહ્ય વેદના થાય છે વેદના થવાથી આપ આપના કર્મચારીઓ દ્વારા મને પ્રાણદંડ દેવાની આજ્ઞા ન કરો તો હું આપની આંખોમાં એ ગોળીઓ આંજવા ઇચ્છુ છું રાજાએ વેદની વાત સાંભળીને તેને અભય કરવાનું વચન આપ્યું વેદે પણ ગોળીઓને ધસીને રાજાની આંખમાં આંજી દીધી આંજતાં જ રાજાની આંખોમાં તીવ્રતર દુઃસહ વેદના થવા લાગી, આ વેદનાથી વ્યાકુળ બની રાજાએ તેને મારવાની આજ્ઞા આપી કર્મચારીઓએ તેને રાજાને હિતકારી માની એક જગ્યાએ છુપાવી દીધા અને માયો નહીં થાતા સમય પછી વેદના શાન્ત થઈ અને આંખો રાજ રહિત બની. રાજાએ પ્રસન્ન થઈને તે વેદને યાદ કર્યો ત્યારે કર્મચારીઓએ તે વેદને લાવીને હાજર કર્યો. રાજાએ તેને ખૂબ આદરસત્કાર કરીને વિદાય આપી. આ ઇષ્ટાંતનો સાર એ છેકે, રાજા માટે દુઃસહ એવી આંખોની પીડાનું શુટિકાનું અજનથી ચમન થયું

परुषत्वात् यद्यप्यापातमात्रदुःखजनक तथापि परिणामसुन्दरमेव द्रष्टव्यम्, इह परत्र च सकलकल्याणपरपराकारणत्वादिति ।

॥ इति सप्तम वाचनाद्वारम् ॥

सूत्रार्थयोः पौर्वापर्यनिरूपणनामकमष्टमद्वारम्—

अयं पूर्वं सूत्रम् अर्थो वा ? इति निरूप्यते—उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणोऽर्थस्तीर्थ-
करैः पूर्वमुक्तः, पश्चात् तमेवार्थं हृदये निधाय गणधराः सूत्रं रचयन्ति, तस्मादर्थतः
पश्चाद्भावि सूत्रम्, इति सिद्धान्तः । अत एव सूत्रम् अणु-छद्म भवति, अर्थस्तु महान्,

गुटिकाजन आखो की पीड़ा का शमक हुआ—पीडाजनक होने पर भी
परिणाम में हितविधायक हुआ, उसी प्रकार शिष्यों को भी गुरु
महाराज द्वारा प्रदत्त स्मारणादिक तीव्र कठोर होने पर भी आयति-
(उत्तरकाल) सुख कारक होने से एकान्त हितविधायक ही होते हैं ।
क्यों कि इनसे इस लोक में तथा परलोक में आत्मा का हित ही होता
है अहित नहीं ।

॥ सातवाँ द्वार समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अब आठवाँ द्वार कहते हैं—

सूत्र एवं अर्थ के पौर्वापर्य द्वार का निरूपण करते हैं—

अयं यहाँ यह पतलाया जाता है कि पहिले सूत्र होता है कि अर्थ
होता है । उत्पाद, व्यय, एव ध्रौव्य इस लक्षण से युक्त अर्थ-पदार्थ
होता है । अर्थ का यह लक्षण तीर्थकर प्रभुने कहा है । इसी अर्थ
को हृदय में अवधूत कर गणधर देवों ने सूत्रों की रचना की है । इस-

पीडा आपनार होवा छतां पक्षु परिव्रामभां हितकारक परिव्राम आण्यु
आ प्रकार शिष्येण्ये पक्षु गुरुमहाराज द्वाय प्रकृत स्मारणादिक तीव्र-कठोर होवा
छतां पक्षु अते शुषु करनार सुभकारक होवाथी अेकान्त हितविधायक न होय
छे केभके अेनाथी आदोठ तथा परलोकभां आत्मानु हित थाय छे, अहित नही

॥ सातमु द्वार समाप्त थयु ॥७॥

इवे आह्नु द्वार हडेवामां आवे छे—

सूत्र तथा अर्थना पौर्वापर्यद्वारनुं निरूपण करवामां आवे छे—

इवे अहि अे अताववामां आवे छे के, पडेवां सूत्र होय छे के अर्थ
होय छे उत्पाद, व्यय, अने ध्रौव्य आ लक्षणथी युक्त अर्थ पदार्थ अने छे
अर्थनु अे लक्षण तीर्थकर प्रभुअे हडेव छे ते अर्थने हृदयमां धारण करीने
गणधर देवाअे सूत्रनी रचना करी छे माटे अर्थनी पाछण सूत्र छे, अे सिद्धान्त

यदि वेदनायां सत्यां मां प्राणदण्डं कर्तुं कर्मचारिभ्य आज्ञां न ददासि, तर्हि त्वा-
 क्षिणी अन्नयामि । राज्ञा कथितम्—नाह तव प्राणदण्डं कर्तुमाज्ञापयिष्यामि । तदा
 राज्ञोऽङ्गोरञ्जन वैद्यः कृतवान् । अञ्जितयोरङ्गोस्तीव्रतरा वेदना जाता । तदा
 राज्ञा निगदितम्—‘अनेनाक्षिणी मम पीडिते, अत एन मारय ’ इत्याज्ञां स्वकर्म-
 चारिण प्रति वचवान् । तैः कर्मचारिभिस्त्वस्य राज्ञो हितकर विज्ञाय वैद्यः प्रच्छन्न
 स्यापितः । मृहूर्तान्तरेण राज्ञो वेदना उपशान्ता., अक्षिणी रोगरहिते दिव्ये दिव्य-
 ज्योतिष्मती सजाते । तदा राज्ञा वैद्यः स्मृतः । राजकर्मचारिभिरानीय समर्पितो
 वैद्यः सस्कारित समानितश्च । यथा तस्य राजस्वत्कालदुःसहमपि श्रुटिकाञ्जन क्रमेण
 चक्षुषो नैरुज्यकरणात् परिणामसुन्दर समजनि, एव भवतामपि स्मरणादिकं खर-
 पीडा होती है । यदि आप वेदना होने पर अपने कर्मचारियों को मुझे
 प्राणदण्ड देने की आज्ञा न करे तो मैं आपकी आंखों में उन गोलियों
 को आंज सकता हूँ । राजाने वैद्य की घात सुन कर उसे अभय करने
 का वचन दे दिया । वैद्य ने भी गोलियों को घिस कर राजा की आंखों
 में आंज दिया । आंजते ही राजा की आंखों में तीव्रतर दुःसह वेदना
 होने लगी । उस वेदना से पीड़ित होकर राजा ने उसे मारने की
 आज्ञा दे दी । कर्म चारियों ने उसे राजा का हितकारी मान कर एक
 जगह छिपा दिया और मारा नहीं । कुछ समय के बाद वेदना शांत हो
 गई और आंखें रोग रहित हो गईं । राजा ने प्रसन्न होकर उस वैद्य
 को याद किया तब कर्मचारियों ने उस वैद्य को लाकर हाजर किया ।
 राजा ने उसको खूब आदर सत्कार करके विसर्जित किया । मतलब
 इस दृष्टान्त का यह है कि जिस प्रकार उस राजा के लिये दुःसह भी

ज्येष्ठ धडी सुधी बणी व असह्य वेदना थाय छे वेदना यवाथी आप आपना
 कर्मचारीको द्वारा मने प्राणदण्ड देवानी आज्ञा न करे तो ई आपनी आंजोमां
 ज्ये जोगीको आंजवा धम्भु छु राजको वेदनी घात सांभणीने तेने अभय
 करवानु वसन आभ्यु वैवे पञ्च जोगीकोने धसीने राजनी आंजमा आंज
 दीधी आंजता व राजनी आंजोमां तीव्रतर दुःसह वेदना यवा लागी, आ
 वेदनाथी व्याकुण जनी राजको तेने मारवानी आशा आपी कर्मचारीकोको
 तेने राजने हितकारी मानी ज्ये वज्याको छुपावी दीषि अने माथी नही
 द्यास समय पछी वेदना शांत भइ अने आंजो राज रहित जनी. राजको
 प्रसन्न यधने ते वेदने याह कथी त्यारे कर्मचारीकोको ते वेदने लावीने दावर
 कथी. राजको तेने भूष आदरसत्कार करीने विज्ञाय आपी. आ दृष्टांतो मार ज्ये
 छेके, राजा माटे दुःसह ज्येवी आंजोनी पीडानु श्रुटिकाना अजनधी यमन भु

तत्र मान्ति स्म । एव पेटिकास्थानीये सूत्रे बहून्यर्थपदानि वर्तन्ते, तत्र सूत्रमेव चादर भवितुमर्हति नार्थ इति । किंचार्थस्य महत्त्वमेकान्ततो नास्ति, प्रथमे उत्क्षिप्तज्ञाते हि 'अनुकम्पा कर्तव्या' इत्यर्थो बहुमि सूत्रैर्वर्णित । तथा—अष्टादशे सुसुमादारिकाज्ञाते वर्णरूपबलादिदृढार्थं नाहारयितव्यम्, इत्यर्थो बहुमि सूत्रैर्वर्णित, तस्मादर्थो न महान् किन्तु सूत्रमेव महदिति चेत्—?

अत्रोच्यते—पूर्वं सूत्र पश्चादर्थः, इति न सम्भवति । अर्थस्य हि सूत्रतः पश्चाद्भावित्वं न युज्यते, अर्थं विना सूत्रं निधारयितुं सत् कीदृशं स्यात् ? असवद्ध

में अनेक वस्त्र रख दिये जाते हैं एतावता पेटि में ही चादरता आती है वस्त्रों में नहीं । क्यों कि उसके आधार से ही बहुत वस्त्र उसमें समा जाते हैं । इसी तरह पेटि के स्थानीय सूत्र में भी बहुत से अर्थपद रखा करते हैं इसलिये सूत्र को ही चादर होने का प्रसंग प्राप्त होता है अर्थ को नहीं । तथा—अर्थ में महत्ता भी एकान्त से स्थापित नहीं होती है । “प्रथमे उत्क्षिप्तज्ञाते” ज्ञातासूत्र के प्रथम उत्क्षिप्तज्ञात नामक अध्ययन में भगवान ने फरमाया है कि अनुकम्पा करनी चाहिये इस प्रकार का अर्थ बहुत सूत्र से वर्णित किया है । तथा “अष्टादशे सुसुमादारिकाज्ञाते” अर्थात् इसी ज्ञाता सूत्र के अठारवें सुसुमादारिकानामक अध्ययन में वर्ण, रूप, बल आदि की वृद्धि निमित्त मुनियों को आहार नहीं करना चाहिये यह अर्थ बहुत सूत्रों से वर्णित किया है । इसलिये अर्थ महान् नहीं है किन्तु सूत्र ही महान् है यही बात ज्ञात होती है ।

उत्तर—पहिले सूत्र होता है पश्चात् अर्थ यह कथन युक्तियुक्त नहीं है,

आवे छे, पश्चात्मा नहीं, केम के पेटिना आधारथी न बलुा वस्त्रो तेमा समाध शके, जेवी रीते स्थानीय सूत्रमा पलु बलुा अथ पह रथा करे छे भाटे न सूत्रने आदर होवानो प्रसंग प्राप्त थाय छे, अर्थने नहीं तेम अर्थमा महत्ता पलु एकान्तर्था स्थापित यती नहीं, ज्ञाता सूत्रना प्रथम उत्क्षिप्तज्ञात नामना अध्ययनमा भगवाने फरमाव्यु छे के, अनुकम्पा करवी जेधजे आ प्रकारने अर्थ बलुा सूत्रोथी वलु ववाभां आवेछ छे तथा “अष्टादशे सुसुमादारिका ज्ञाते” अर्थात् आ ज्ञाता सूत्रना अठारमा “सुसुमादारिका” नामना अध्ययनमा वलु, रूप, बल वजेरनी वृद्धि निमित्ते मुनियोजे आहार न करवो जेधजे आ अर्थ बलुा सूत्रोमा वलु ववाभां आवेछ छे आ भाटे अथ महान नहीं पलु सूत्र न महान छे आ वात ज्ञात थाय छे

उत्तर—पहिलां सूत्र होय छे पछी अर्थ आ कहेवुं युक्ति युक्त नहीं, कारण

एकैकस्य सूत्रस्वार्योऽनन्तः । स्तोत्रत्वात् पश्चादभिहितत्वाच्च सूत्रम् 'अणु' इत्युच्यते, तेन चाणुना सूत्रेण सहार्थस्य यः सम्बन्धो योगः स चानुयोग इत्युच्यते ।

ननु पूर्वमर्थः पश्चात् सूत्रमिति कथनमयुक्तम्, पूर्वं हि सूत्रपश्चादर्थः, सूत्रमावेत्तु अर्थः कस्य स्यात् । लौकिका अप्येवमेव वदन्ति-आधारे सत्येवाधेय तिष्ठतीति ।

यच्च सूत्रमणु, अर्थस्तु विस्तर इति, तदप्ययुक्तम् ? एकस्यां हि पेटिकायां बहूनि वस्त्राणि सन्ति, तत्र पेटिकाया एव वादरत्वं युज्यते, तद्वशाद् बहूनि वस्त्राणि

लिये अर्थ के पश्चात् सूत्र है यह सिद्धान्त निर्धारित हो जाता है । सूत्र अणु-लघु होता है । तथा-अर्थ सूत्र की अपेक्षा महान् होता है । एक सूत्र के अनन्त अर्थ होते हैं । सूत्र को अणु इसी अभिप्राय से कहा गया है कि एक तो वह अर्थ के पश्चात् भावी है और दूसरे वह स्तोक अर्थात् छोटा होता है । उस अणु सूत्र के साथ अर्थ का जो योग है-सयध है उसी का नाम अनुयोग है ।

प्रश्न-पहिले अर्थ होता है बाद में उसके सूत्र होता है यह कथन अयुक्त है । कारण कि सूत्र के बिना अर्थ नहीं हो सकता है । इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि पहिले सूत्र होता है और बाद में अर्थ होता है । लौकिक जन भी यही कहते हुए पाये जाते हैं । सूत्र आधार है और अर्थ आधेय है । सूत्र में अर्थ रहता है अर्थ में सूत्र नहीं । आधार के होने पर ही आधेय रह सकता है अन्यथा नहीं । दूसरे-अर्थ की अपेक्षा जो सूत्र को अणु कहा गया है वह भी ठीक नहीं मालूम पड़ता । कारण कि देखा जाता है कि एक ही सन्दर्भ

निर्धारित जनी जय छे सूत्र अणु-लघु होय छे तथा अर्थ सूत्रनी अपेक्षाधी महान होय छे, कोक कोक सूत्रना अनन्त अर्थ थाय छे सूत्रने अणु के अभिप्रायधी कहेवामा आवेद छे के, कोक तो ते अर्थना पश्चाद्भावि छे, (पाछण बनाइ) अने नीलु ते लघु होय छे, को अणु सूत्रनी साथे अर्थना के योग छे-सयध छे तेनु नाम अनुयोग छे

प्रश्न-पहिले अर्थ थाय छे अने को पछी सूत्र थाय छे, ते कहेवु अमुक्त छे कारण के सूत्र वगर अर्थ यथे शके नही आ भाटे समज्यु कोक के के पहेला सूत्र होय छे अने पछी अर्थ थाय छे सूत्र आधार छे अने अर्थ आधेय छे सूत्रमा अर्थ रहे छे अर्थमा सूत्र नही आधारना होवाधी व आधेय रही शके छे तेना वगर नही नीलु अर्थनी अपेक्षा के सूत्रने अणु कहेवामा आवेद छे ते पणु ठीक नही । कारण के, कोकमा आवे छे के, कोक पेटीमा वस्त्रा वस्त्र राखवामा आवे छे आधी ते पेटीमा आदरत्वा

પ્રિયવર્ણિની ટીકા અ૦ ૧ ગા૦ ૨૩ સુ ઈત્તદુમયેષુ યથોત્તરં પ્રાવલ્યમ્ । ૨૭

રચ્યન્તે । एव वक्षस्थानीयस्वार्थस्य इत्थम्, पेटिकास्थानीयस्य तु सूत्रस्याऽऽ-
त्वमेव । यदप्युक्तम्—अर्थो महानित्यस्यैकान्तत्वा नास्तीति तदप्यविचारितमापित-
—उत्क्षिप्तज्ञातादिषु सत्त्वानुकम्पादिकोऽस्तत्तदध्ययनमात्रस्य, अशेषस्य तु सूत्रस्य
तदतिरिक्ता अपि महवोऽर्था सन्ति ।

॥ इति अष्टम द्वारम् ॥

अर्थ के बिना सूत्र निश्चारित होता हुआ दशदाहिम आदि वाक्य
की तरह केवल असम्यक् और निरर्थक ही माना जाता है । २ । जो य
कहा है कि पेटि की तरह सूत्र वादर होता है तथा वस्त्रादिक की तर
अर्थ अणु होता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्यों कि जि
प्रकार उसी पेटि के किसी एक वस्त्र द्वारा उसी पेटि जैसी अनेक पेटि
लपेटि जा सकनी हैं उसी प्रकार एक अर्थ से अनेक सूत्र रचे जा सकते हैं
इस तरह वस्त्रस्थानीय अर्थ में महत्व जाता है और पेटि स्थानी
सूत्र में अणुत्व हो । एकान्तसे अर्थ में महत्व नहीं है क्यों कि उत्क्षि
आदि अध्ययनों में जो कहा गया है वह सत्त्वानुकपादिक रूप अ
उस अध्ययनमात्र का ही है, अर्थात् उनमें अनुकपादि अर्थों की
प्रधानता है । और अनुकपादि अर्थों को ही सिद्ध किया है । न कि
अवशिष्ट समस्त सूत्र का । उसके तो उससे अतिरिक्त और
अनेक अर्थ हैं ।

॥ यह आठवाँ द्वार संपूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

दशदाहिम आदि वाक्यनी भाङ्क केवल असम्यक् इति अने निरर्थक एव मानवामा
आवे છે એમ કહેવામાં આવે કે પેટીની ભાષક સૂત્ર બાહર હોય છે, તથા
વસ્ત્રાદિકની ભાષક અર્થ અણુ હોય છે તે તે કહેવું પણ ઠીક નથી. કેમ કે, એ
પેટીના કોઈ એક વસ્ત્રમાં આવી અનેક પેટીઓ બાધી શકાય છે એજ રીતે
એક અર્થથી અનેક સૂત્ર રચી શકાય છે આ રીતે વસ્ત્રનુ સ્થાનીય અર્થમાં
મહત્વ આવે છે અને પેટી સ્થાનીય સૂત્રમાં અણુત્વ જ એકાન્તથી અર્થમાં મહત્વ
નથી એવું જ કહેવામાં આવેલ છે તે પણ ઠીક નથી. કેમકે, ઉત્ક્ષિપ્ત વજેર
અધ્યયનમાં જે કહેવાયેલ છે તે સત્વાનુકપાદિક રૂપ અર્થ તે તે અધ્યયન
માત્રાના જ છે અર્થાત્ તેમાં અનુકમ્પાદિ અર્થોની જ પ્રધાનતા છે અને અનુ
કમ્પાદિ અર્થોને જ સિદ્ધ કરેલ છે ન કે અવશિષ્ટ બધા સૂત્રોને. એના તો એનાથી
બીજા ઘણા અર્થો છે

॥ આ આઠમું દ્વાર સંપૂર્ણ થયું. ॥ ૮ ॥

निरर्थक स्यात्, यथा नव पूषा दशदादिमानीत्यादिवाक्य सम्बन्धरहित निरर्थकं भवति। अपि च-लौकिका अपि शास्त्रार. प्रथमतोऽर्थं दृष्ट्वा सूत्रं कुर्वन्ति, अर्थमन्तरेण सूत्रस्थानिष्पत्तेः। तथा चोक्तम्--

“अथ भासइ अरिहा, तमेव सुचीकरेति गणधारी।

अथ विणा च सुत्त, अणिसिसयं केरिस होइ ॥ १ ॥

छाया—अर्थ भापतेऽर्हन्, तमेव सुचीकुर्वन्ति गणधारिणः।

अर्थं विना च सूत्रम्, अनिश्चित कीदृश स्यात् ॥ १ ॥

किञ्च—“अथ भासइ अरिहा, सुत्त गुफति गणहरा निउणा।”

अपरञ्च—सासणस्स हियद्वाए, ततो सुत्त पवत्तई ॥

यदप्युक्त—पेटिकावद् वादर सूत्रम्, अर्थस्तु अणुरिति तदप्यसत्, यतस्तस्या पेटिकाया एकं वक्ष्यमादाय तेनानेका पेटिका वध्यन्ते, तथैकेनार्थेन बहूनि सूत्राणि

कारण कि अर्थ के बिना निश्चरहित सूत्र हो ही नहीं सकता है। यदि वह होता है तो “नवपूषा दशदादिमा” आदि वाक्य की तरह निरर्थक और असंबद्ध ही होगा। लौकिक शास्त्र के जानने वाले भी तो प्रथम अर्थ को देखकर ही सूत्र की रचना किया करते हैं। क्यों कि अर्थ के बिना सूत्र की निष्पत्ति नहीं होती है। कहा भी है—

अथ भासइ अरिहा, तमेव सुची करेति गणधारी।

अथं विणा च सुत्त, अणिसिसयं केरिस होइ ॥ १ ॥

अथं भासइ अरिहा, सुत्त गुफति गणहरा निउणा।

सासणस्स हियद्वाए, ततो सुत्तं पवत्तई ॥ २ ॥

तीर्थंकर भगवान पहिले अर्थ की प्ररूपणा करते हैं और उसी अर्थ को गणधर भगवान सूत्ररूप में गुंथते हैं। १।

के अर्थना बिना निश्चर रहित सूत्र अर्थव्य शकतु नथी कडाए ते डोय छे, तो ‘नवपूषा दशदादिमा’ आदि वाक्यनी भासक निरर्थक अने स अर्थ वगरतु डोय लौकिक शास्त्रना अणुवावाणा पख प्रथम अर्थने जोधने सूत्रनी रचना कर्था करे छे केम के अर्थना वगर सूत्रनी उत्पत्ति यती नथी कहुं पख छे के—

अथ भासइ अरिहा, तमेव सुचीकरेति गणधारी।

अथ विणा च सुत्त, अणिसिसयं केरिस होइ ॥ १ ॥

अथ भासइ अरिहा, सुत्त गुफति गणहरा निउणा।

सासणस्स हियद्वाए, ततो सुत्तं पवत्तई ॥ २ ॥

तीर्थंकर भगवान पहले अर्थनी प्ररूपणा करे छे, अने अर्थ अर्थने अणुधर भगवान सूत्रना रूपमा गुंथे छे अर्थना वगर सूत्र निश्चर

रच्यन्ते । एव वक्षस्थानीयस्यार्थस्य इत्थम्, पेटिकास्थानीयस्य तु सूत्रस्याणु-
त्वमेव । यदप्युक्तम्—अर्थो महानित्यस्यैकान्तता नास्तीति तदप्यविचारितभाषितम्
—उत्क्षिप्तज्ञातादिषु सत्त्वानुकम्पादिकोऽस्तत्तदध्ययनमात्रस्य, अशेषस्य तु सूत्रस्य
तदतिरिक्ता अपि बहवोऽर्था सन्ति ।

॥ इति अष्टम द्वारम् ॥

अर्थ के बिना सूत्र निश्चरहित होता हुआ दशदाहिम आदि वाक्य
की तरह केवल असबद्ध और निर्गर्भक ही माना जाता है । २ । जो यह
कहा है कि पेट्टी की तरह सूत्र यादर होता है तथा वस्त्रादिक की तरह
अर्थ अणु होता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्यों कि जिस
प्रकार उसी पेट्टी के किसी एक वस्त्र द्वारा उसी पेट्टी जैसी अनेक पेट्टियाँ
लपेट्टी जा सकनी हैं उसी प्रकार एक अर्थ से अनेक सूत्र रचे जा सकते हैं ।
इस तरह वस्त्रस्थानीय अर्थ में महत्व आता है और पेट्टी स्थानीय
सूत्र में अणुत्व हो । एकान्तसे अर्थ में महत्व नहीं है क्यों कि उत्क्षिप्त
आदि अध्ययनों में जो कहा गया है वह सत्त्वानुकपादिक रूप अर्थ
उस अध्ययनमात्र का ही है, अर्थात् उनमें अनुकपादि अर्थों की ही
प्रधानता है । और अनुकपादि अर्थों को ही सिद्ध किया है । न कि
अवशिष्ट समस्त सूत्र का । उसके तो उससे अतिरिक्त और भी
अनेक अर्थ हैं ।

॥ यह आठवां द्वार संपूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

दशदाहिम आदि वाक्यनी भाङ्क ठेवण अस अद्वित्त अने निरर्थक व मानवामा
आवे छे अने कहेवामा आवे छे पेट्टीनी भाङ्क सूत्र बाहर होय छे, तथा
वस्त्रादिकनी भाङ्क अर्थ अणु होय छे ते ते कहेवु पञ्च हीक नथी । केमके, अने
पेट्टीना कोण अेक वस्त्रमा आवी अनेक पेट्टीमा बाधी शकय छे अने रीते
अेक अर्थथी अनेक सूत्र रची शकय छे आ रीते वस्त्रनु स्थानीय अर्थमा
महत्व आवे छे अने पेट्टी स्थानीय सूत्रमा अणुत्व व अेकान्तथी अर्थमा महत्व
नथी अेवुने कहेवामा आवे छे ते पञ्च हीक नथी । केमके, उत्क्षिप्त वनेरि
अध्ययनमा ने कहेवायेव छे ते सत्त्वानुकपादिक रूप अर्थ ते ते अध्ययन
मात्राना व छे अर्थात् तेमा अनुकम्पादि अर्थोनी व प्रधानता छे अने अनु
कम्पादि अर्थोने व सिद्ध करेव छे न के अवशिष्ट वधा सूत्रोने अेना तो अेनाथी
भीअ पञ्च अर्थो छे

॥ आ आठमु द्वार संपूर्ण थयु . ॥ ८ ॥

अथ नवम द्वारम्—सूत्रार्थतद्भयपु यथोत्तर प्राचल्यम्—

द्वादशाङ्गमधीयानानां वैयाघृत्ये क्रियमाणे तेषां वैयाघृत्यकराणां महती निर्जरा भवति तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयकरणात्, तेषां महापर्यारसान च भवति—पुनरन्य नवकर्मवधाभावात् । ननु यस्य कीदृशी निर्जरा भवति ?

अत्रोच्यते—सूत्रेऽर्थ च यथोत्तर प्रचलती निर्जरा । आवश्यकादियावच्चतुर्दश पूर्वाणि सूत्र, तद्वारा यथोत्तर महती महत्तरा निर्जरा भवति । इयमत्र भावना—एक आवश्यकसूत्रधरस्य वैयाघृत्य करोति, अपरो दशवैकालिकसूत्रधरस्य वैयाघृत्यक

सूत्र, अर्थ एव सूत्रार्थ में यथोत्तर प्रचलता का कथन नववें द्वार में करते हैं—

द्वारशाग को पढ़ते हैं और वे वैयाघृत्य करते हैं (अर्थात् आचार्य उपाध्याय की सेवा करते हैं) उनको श्रुतज्ञानावरणीय कर्मों की महा निर्जरा होती है तथा अन्य नवीन कर्म का बन्ध भी नहीं होता है । किसके कैसी निर्जरा होती है ? इस यात को स्पष्ट किया जाता है—सूत्र एव अर्थ को पढ़ने वालों की यथोत्तर महानिर्जरा होती है । आवश्यक सूत्र से लेकर १४ पूर्वतक के आगम सूत्र हैं । इनके द्वारा उत्तरोत्तर महानिर्जरा होती है सो तात्पर्य इसका इस प्रकार है कि कोई मुनि आवश्यक सूत्र को जानने वाले की वैयाघृत्ति (सेवा) करता है और कोई दूसरा दशवैकालिक सूत्र को जानने वाले की वैयाघृत्ति (सेवा) करता है । तो इनमें आवश्यक सूत्र को जानने वाले की वैयाघृत्ति करने वाले की निर्जरा की अपेक्षा जो दशवैकालिक को पढ़ाने वाले की वैया

सूत्र, अथ एव सूत्रार्थं यथोत्तर प्रचलतानुं कथन नवमा द्वारमा करे छे —

द्वादशाग बाह्ये छे अने ने वैयाघृत्य करे छे (आचार्य—उपाध्यायनी सेवा करे छे) अने श्रुतज्ञानावरणीय कर्मोनी मुहानिर्जरा थाय छे तथा नवा भील कर्मोना भय पण्य भतो नथी काने केवी निर्जरा थाय छे । आ वातने स्पष्ट करवाभा आवे छे—

सूत्र अने अर्थने भक्षुवावाणाने यथोत्तर मुहानिर्जरा थाय छे आवश्यक सूत्रथी वध १४ पूव सुधीना आभम सूत्र छे, अनेना द्वारा उत्तरोत्तर मुहानिर्जरा थाय छे भतवण केअ मुनि आवश्यक सूत्रने भक्षुवावाणानी वैयाघृत्ति (सेवा) करे छे अने केअ भील दशवैकालिक सूत्रने भक्षुवावाणानी वैयाघृत्ति (सेवा) करे छे तो अनेना आवश्यकसूत्रने भक्षुवावाणानी वैयाघृत्ति करवावाणानी निर्जराने पहिले ने दशवैकालिकना भक्षुवनारनी वैयाघृत्ति करवावाण छे,

रस्तस्यावश्यकसूत्रधरवैयावृत्त्यकरापेक्षया महती निर्जरा, आवश्यकसूत्रधरस्यैव दश
 वैकालिकाध्ययनेऽधिकारात् । एवम् अस्तनाधस्तनतरध्रुतधरवैयावृत्त्यकरापेक्षया
 उपर्युपरितनध्रुतधरवैयावृत्त्यकरो यद्योत्तर महानिर्जरावान भवति । एव प्रयोदश-
 पूर्वधरवैयावृत्त्यकरापेक्षया चतुर्दशपूर्वधरवैयावृत्त्यकरो महानिर्जराकारी भवति ।
 एवमर्थ-णि भावनीयम् । आवश्यकार्थधरस्य यो वैयावृत्त्य करोति, तदपेक्षया दश
 वैकालिकाधरस्य यो वैयावृत्त्यपरस्तस्य महती निर्जरा भवति, एव पूर्ववद्वोष्यम्
 यथा सूत्रे यद्योत्तर वलिष्ठता एवमर्थेऽपि भावनीया । तत्र विशेषस्तु-अधरवैया

वृत्ति करने वाला है उसके महानिर्जरा होती है । क्यों कि आवश्यक
 सूत्र को पढ़ चुकने वाले का ही अधिकार दशवैकालिक सूत्र के अध्ययन
 में होता है । इस प्रकार नीचे = ध्रुत को धारण करने वाले की वैया
 वृत्ति करने वालों की निर्जरा की अपेक्षा जो ऊपर = के ध्रुत को धारण
 करने वाले हैं उनकी वैयावृत्ति करने वालों की निर्जरा यद्योत्तर अधिक
 अधिकतर होती है । इसी तरह जो तेरहपूर्व के धारी हैं उनकी जो वैयावृत्त
 करने वाला है उसके जितनी निर्जरा होगी उसकी अपेक्षा जो १४ पूर्व
 के पाठियों की वैयावृत्ति करने वाला होगा उसकी महानिर्जरा होगी ।
 इसी तरह इनके अर्थ विषय में भी समझ लेना चाहिये । जैसे-जो आव
 श्यक सूत्र के अर्थ का पाठी है उसका जो वैयावृत्त्य करने वाला है उसके
 जितनी निर्जरा होगी उसकी अपेक्षा जो दशवैकालिक सूत्र के अर्थ का
 पाठी है उनकी वैयावृत्ति करने वाले की निर्जरा अधिकतर होगी । इस
 तरह पहिले की तरह अर्थ के विषय में लगा लेना चाहिये । जिस तरह

એને મહાનિર્જરા થાય છે કેમકે, આવશ્યક સૂત્ર પુરી રીતે શીખી લેનારનો જ
 અધિકાર દશવૈકાલિકસૂત્રના અધ્યયનનો હાય છે આ રીતે નીચે નીચેનાં શ્રુતને
 ધારણ કરવાવાળાની વैयाવૃત્તિ કરનારને નિર્જરાની અપેક્ષા જે ઉપર ઉપરના
 શ્રુતને ધારણ કરવાવાળા છે એની વैयाવૃત્તિ કરનારની નિર્જરા યદ્યોત્તર અધિક
 અધિકતર થાય છે આ રીતે જે તેરપૂર્વના ધારક છે એમની જે વैयाવૃત્તિ કરે
 છે, એને જેટલી નિર્જરા થાય એની અપેક્ષા જે ચૌદપૂર્વના ધારક છે એની વैयाવૃત્તિ
 કરવાવાળાને મહાનિર્જરા થાય છે આવી જ રીતે અર્થમા પણ સમજવું જોઈ એ
 જે આવશ્યક સૂત્રના અર્થના પાઠી છે, એનો વैयाવૃત્તિ કરનારની જેટલી નિર્જરા
 થાય એની અપેક્ષા જે દશવૈકાલિક સૂત્રના અર્થના પાઠી છે એમની વैयाવૃત્તિ
 કરવાવાળાની નિર્જરા અધિકતર થાય છે એજ રીતે પહેલાની માફક અથવા વિષ
 યમા સમજી લેવું જોઈએ. જે રીતે સૂત્રમા ઉત્તરોત્તર મહાનિર્જરા કહા છે એજ

વૃત્યકરેણુ નિશીથ-વૃહત્કલ્પ-વ્યવહારાર્થધરાણા વૈયાઘ્રવકરો મહાનિર્જરાવાન્
 ભવતિ । તથા દ્વાદશાઙ્ગીધરસ્ય વૈયાઘ્રવકર. । શેપાર્થેભ્યશ્ચેદ્ સૂત્રાર્થસ્ય વલ્લભ્ણે
 કિં કારણમિતિ ચેત્-ઉચ્યતે-સ્વલિતચારિત્રસ્ય છેદ્સૂત્રાર્થેન શોધિર્ભવતિ, તસ્માત્
 શેપાત્ સર્વસ્માદપ્યથાત્ છેદ્સૂત્રાર્થો વલ્લાન્ ।

સૂત્રેઽર્થે તથા યુગપત્ તદુભયર્થિમશ્ચિન્ત્યમાને યથોત્તર નિર્જરા પ્લવતી ભવતિ ।
 સૂત્રાપેક્ષયાઽર્થો મહદ્દિક, અર્થાપેક્ષયા તદુભયો મહદ્દિક, તત્ કિં કારણમિતિ
 ચેત્ ? અનોચ્યતે ગૃહનિષ્પત્તી યત્ સાધન-કાષ્ટ પાપાણાદિ, તત્સમ્રહે કૃતે સત્યેવ

સૂત્ર મેં ઉત્તરોત્તર મહાનિર્જરા કહી છેં ડસી તરહ અર્થ મેં ઉત્તરોત્તર
 મહાનિર્જરા સમજ્ઞની ચાહિયે । અર્થઘરોં કી વૈયાઘ્રવૃત્તિ કરને ચારોં મેં
 નિશીથ, સૂત્ર, વૃહત્કલ્પસૂત્ર, ણવ વ્યવહાર સૂત્ર કે અર્થઘરોં કી વૈયાઘ્રવૃત્તિ
 કરને ચારોં કે મહાનિર્જરા હોતો હૈ તથા-દ્વાદશાઙ્ગી કે પાઠી કી વૈયા
 ઘ્રવૃત્તિ કરનેચાલા મહાનિર્જરા કરતા હૈ । શેવ અર્થ કી અપેક્ષા છેદ સૂત્રોં
 કે અર્થો મેં અધિકતા ક્યો કહી ગઈ હૈ, ડસકા મમાધાન ડસ પ્રકાર
 હૈ । યદિ કોઈ સાધુ અપને ગૃહોત ચારિત્ર સે સ્વલિત હો જાતા હૈ તો
 ડસકી શુદ્ધિ છેદશુત કે અર્થ સે હોતી હૈ । ડસલિયે અવશિષ્ટ-સમસ્ત
 અર્થો કી અપેક્ષા છેદશુતોં કા અર્થ અધિક કહા ગયા હૈ ।

સૂત્ર કા, અર્થ કા તથા યુગપત્ સૂત્રાર્થ કા અભ્યયન કરને પર યથો-
 ત્તર અધિક ૨ નિર્જરા હોતી હૈ । સૂત્ર કી અપેક્ષા અર્થ મહાન્ હોતા હૈ
 ડર અર્થ કી અપેક્ષા તદુભય-સૂત્ર ણવ અર્થ-યે ડોનોં મહાન્ હોતે હૈ ।
 ડસમેં કારણ યહ હૈ કિ ડિસ પ્રકાર ઘર યનાને મેં જો કાષ્ટપાપાણ
 આદિ સાધન હૈ જય ડનકા સમ્રહ હો જાતા હૈ તય ઘર યનતા હૈ । ડસી

રીતે અર્થમા ઉત્તરોત્તર મહાનિર્જરા સમજ્ઞની એકએ અર્થધરની વૈયાઘ્રવૃત્તિ
 કરવાવાળામા નિશીથસૂત્ર, વૃહત્કલ્પસૂત્ર અને વ્યવહારસૂત્રના અધધરની
 વૈયાઘ્રવૃત્તિ કરવાવાળાને મહાનિર્જરા થય છે તથા દ્વાદશાઙ્ગીના પાઠીની વૈયાઘ્રવૃત્તિ
 કરનાર મહાનિર્જરા કરે છે શેવ અર્થની અપેક્ષા છેદ સૂત્રોના અર્થોમા અધિ
 કતા કેમ કહેવામા આવી છે, એનુ સમાધાન આ પ્રકારનુ છે-એ કોઈ સાધુ
 પોતે મહણુ કરેલા ચારિત્રથી સ્વલિત થઈ બય છે તો એની શુદ્ધિ છેદશુતના
 અર્થથી થાય છે આ માટે અવશિષ્ટ-સમસ્ત અર્થોની અપેક્ષા છેદશુતોને અધ
 અધિક કહેવાયેલ છે

સૂત્રનુ, અથનુ તથા યુગપત્ સૂત્રાર્થનુ અભ્યયન કરવાથી વધોત્તર અધિક
 અધિક નિર્જરા થાય છે સૂત્રની અપેક્ષા અર્થ મહાન્ હોય છે આમાં એ કારણ
 છે કે, એ રીતે ઘર બનાવવામાં પાણા લાકડાં વગેરે સાધન છે, અને તેના સમ્રહ

वृह निष्पद्यते, तथाऽर्थानुसन्धाने मत्वेव सूत्र निष्पद्यते, अतः सूत्रापेक्षयाऽर्थस्य प्राधान्यं भवति । किं च—सूत्रगणधर प्रोक्तम्, अर्थस्तु भगवद्बोधितस्तस्मात् सूत्रापेक्षयाऽर्थस्य प्राधान्यं भवति । तथाचोक्तम्—

तित्थगरद्वानो खलु, अर्थो सूत्रं तु गणहरद्वान् ।
अर्थेण य वज्रिज्जइ सुत्रं, तस्मा उ सो बलवं ॥ १ ॥

छाया—तीर्थंकरस्थान खलु अर्थः, सूत्रं तु गणधरस्थानम् ।

अर्थेन च व्यज्यते सूत्रं, तस्मात्तु स बलवान् ॥ १ ॥

व्याख्या—अर्थं खलु तीर्थंकरस्थानं, तस्य तेनाभिहितत्वात् । सूत्रं तु गणधरस्थानं तस्य तैर्ग्रथितत्वात् । अर्थेन च यस्मात् सूत्रं व्यज्यते=प्रकटोक्रियते, तस्मात् सोऽर्थं सूत्राद् बलवान् ॥ १ ॥

सूत्रापेक्षयाऽप्रापक्षया च सूत्रार्थोभयस्य प्राबल्ये दृष्टान्तं प्रदर्शयते । यथा जातमात्रं दधि मधुरं, तदपेक्षया शर्करा मधुरतरा, एकरूपं समिलिते दधिशर्करं शीखर-

तरह अर्थ का अनुसंधान जघ होता है तभी गणधर भगवान् सूत्रों की रचना करते हैं । अतः सूत्र की अपेक्षा अर्थ में प्रधानता आती है । तथा—सूत्र गणधरों ने कहे हैं और अर्थ प्रभु द्वारा प्ररूपित हुआ है इसलिये भी सूत्रकी अपेक्षा अर्थ में प्रधानता आजाती है । कहा भी है—अर्थ तीर्थंकर के स्थानापन्न है क्योंकि तीर्थंकर ही अर्थ की प्ररूपणा करते हैं । सूत्र गणधर के स्थानापन्न है क्योंकि वह उनके द्वारा ग्रथित होता है । अर्थ से ही सूत्र उत्पन्न होता है अतः अर्थ ही प्रधान है । सूत्र की अपेक्षा एव अर्थ की अपेक्षा सूत्रार्थ किस प्रकार प्रधान होता है यह बात दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट की जाती है—जैसे—ताजा दही मीठा होता है । दही की अपेक्षा शर्करा मीठी होती है । जय इन दोनों का परस्पर

करवामां आवे छे त्तारे व धर वने छे के व रीते अर्थनु अनुसंधान थाय छे, त्तारे गणधर भगवान् सूत्रानी रचना करे छे आधी सूत्रनी अपेक्षाके अर्थना प्रधानता आवे छे तथा—सूत्र गणधरोंके कहेल छे, अने अर्थ प्रभु द्वारा प्ररूपित थयेल छे आ कारणे पक्ष अर्थना प्रधानता आवे छे कस्य पक्ष छे—अर्थ तीर्थंकर प्रभुना स्थानापन्न छे केभके, तीर्थंकर व अर्थनी प्ररूपणा करे छे सूत्र गणधरना स्थानापन्न छे केभके, ते केभना द्वारा ग्रथित थाय छे अर्थयो व सूत्र उत्पन्न थाय छे आधी अर्थ व प्रधान छे सूत्रनी अपेक्षा अने अर्थनी अपेक्षा सूत्रार्थ कर्षरीते प्रधान होय छे, ते बात दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करवामा आवे छे—जैसे—ताजा दही मीठु होय छे, अने दही थी साकर मीठी होय छे, त्तारे के वने ने केके पीला साथे भेजवामा आवे छे त्तारे

ઘઠનામકં દ્રવ્ય ભવતિ, તત્ સ્વતુ ઉમાખ્યાં પૃથગાસ્થિતાખ્યાં દધિશર્કરાખ્યામધિકં
વિશિષ્ટાસ્વાદવ્રનક યથા ભવતિ, તથા સૂષાર્થાભયસ્ય સર્વમાવાધિગમકારજત્વેન
વિશિષ્ટભાવશુદ્ધિજનકૃત્યાત્ સર્વતઃ પ્રાધાન્યમ્ । અતસ્તદ્ભયધરસ્ય મહતી નિર્જરા
ભવતિ ॥ ૨૩ ॥

॥ इति नवमं द्वारम् ॥

પુન શિષ્યસ્ય વાગ્ધિનયમાહ—

मूलम्—मुस परिहरे भिस्वू, न र्य ओहंरणि वए ।

भासादोस परिहरे, मौय च वजेण सये ॥ २४ ॥

મેં સમિશ્રણ હો જાતા હૈ તો ઉસસે શ્રીમ્વઢનામ કા એક અપૂર્વ મધુર
પદાર્થ યનતા હૈ । ઉસકા સ્વાદ ન દહી જૈસા હોતા હૈ ઓર ન શક્કર
જૈસા હોતા હૈ । ફિન્તુ ઇન દોનોં સે વિલક્ષણ સ્વાદ હોતા હૈ । ઇસી
તરહ સૂત્ર અર્થ યે દોનોં જય સમ્મિલિત હોતે હૈ તય ઇનસે સમસ્ત ભાવોં
કા-પદાર્થોં કે સ્વરૂપ કા જ્ઞાન હોને લગતા હૈ જો ન કેવલ સૂત્ર સે સાધ્ય
હૈ ઓર ન કેવલ અર્થ સે । ઇસસે વિશિષ્ટ ભાવોં કી અર્થાત્-અન્યવસાયોં
કી વિશિષ્ટ શુદ્ધિ હોતી હૈ । ઇસલિયે સૂત્ર ઓર અર્થ ઇન દોનોં કી
અપેક્ષા તદુભય પ્રધાન કહા ગયા હૈ ઓર ઇસીલિયે કેવલ સૂત્રધારી
અથવા કેવલ અર્થધારી કો અપેક્ષા તદુભયધારી કી સેવા કરને વાલે
કે મહાનિર્જરા હોતી હૈ । ઇસ તરહ તેવીસઘોં ગાથા કા અર્થ સંક્ષેપ સે
સંપૂર્ણ હુઆ વિસ્તાર સે અર્થ અન્ય શાસ્ત્રોં સે સમજના ચાહિયે ॥ ૨૩ ॥

નવમા દ્વાર સમ્પૂર્ણ

એનાથી શ્રીમ્વઢનામનો એક અપૂર્વ મધુર પદાર્થ બને છે જેનો સ્વાદ ન દહી
જેવો હોય છે અને ન તો સાકર જેવો પરંતુ આ બંનેથી બુદ્ધિ જ બાતનો
સ્વાદ હોય છે આવી જ રીતે સૂત્ર અને અર્થ એ બંને વચ્ચે સમ્મિલિત હોય
છે ત્યારે એનાથી સમસ્ત ભાવોનું-પદાર્થોના સ્વરૂપનું જ્ઞાન થવા લાગે છે જે
ન કેવળ સૂત્રથી સાધ્ય છે અને ન કેવળ અર્થથી એનાથી વિશિષ્ટ ભાવોની
અર્થાત્-અન્યવસાયોની વિશિષ્ટ શુદ્ધિ થાય છે આ માટે સૂત્ર અને અર્થ આ
બંનેની અપેક્ષા તદુભય પ્રધાન કહેવામા આવેલ છે અને એજ માટે કેવળ સૂત્ર
ધારી અથવા કેવળ અર્થધારીની અપેક્ષા તદુભયધારીની સેવા કરવાવાગાની મહા
નિશ્ચય થાય છે આ રીતે તેવીસઘોં ગાથાનો અર્થ સંક્ષેપથી સંપૂર્ણ થયો
વિસ્તારથી અર્થ અન્ય શાસ્ત્રોથી સમજવો બેઈએ ॥ ૨૩ ॥

નવમું દ્વાર સંપૂર્ણ

जया—मृषा परिहरेद् मिश्रु, न चावधारणो वदेत् ।

भाषादोष परिहरेत्, माया च वर्जयेत् सदा ॥ २४ ॥

टीका—‘मुम परिहरे’ इत्यादि ।

मिश्रु=साधु, मृषा=मृषावादम्-असत्यवचन परिहरेत्=वर्जयेत् । मृषावाद संक्षेपेण द्विविध-लौकिको लोकोत्तरश्च । तत्र प्रत्येकद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-मेदा-द्युषा । द्रव्यतो लौकिकमृषावाद-विपरीतद्रव्यकथनम्, यथा-गाम् अश्व कथयति । क्षेत्रत-यथा-अन्यदीयक्षेत्र प्रति मदीयमिदं क्षेत्रम्, इति कथनम् । एवमेव कालेऽपि भूत भविष्यद् वर्तमानविषये विपरीतकथनम्, यथा—पूर्वाह्न प्रति-मध्याह्नकालोऽप्यमिति कथनम् इत्यादि ।

भावतो लौकिकमृषावाद-क्रोधादिकृपायनिमित्तक, तत्र क्रोधतो यथा-रुष्ट पुत्रो वदति नैप मम पिता, रुष्ट पिता वा वदति-नैप मम पुत्र इति । मानतो

शिष्य के वचनविनय के विषय में सूत्रकार समझाते झुग कहते हैं कि—‘मुस०’ इत्यादि ।

अन्वयाथ—(मिश्रु मुस परिहरे-मिश्रु मृषा परिहरेत्) मिश्रु-साधु का कर्तव्य है कि वह मृषावाद का परित्याग कर देवे । मृषावाद संक्षेप से दो प्रकार का है—एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर । ये दोनों द्रव्य, क्षेत्र, काल, एव भाव से चार २ प्रकार के हैं । विपरीत द्रव्य का कहना यह द्रव्य से लौकिक मृषावाद है जैसे गाय को घोड़ा कहना ॥ १ ॥ दूसरे के क्षेत्रको अपना क्षेत्र बनाना यह क्षेत्र की अपेक्षा मृषावाद है ॥ २ ॥ पूर्वाह्न को मध्याह्नकाल यतलाना यह काल की अपेक्षा मृषावाद है ॥ ३ ॥ जो क्रोधादि कृपाय निमित्तक होता है वह भाव की अपेक्षा मृषावाद कहलाता है ४ ॥ वह भी चार प्रकार का है—जैसे क्रोध के आवेश में

शिष्यना वचनविनयना विषयभां सूत्रकार समभावतां कहे छे के—मुस० इत्यादि

अन्वयाथ—मिश्रुमुस परिहरे-मिश्रु मृषापरिहरेत् मिश्रु-साधुनु कर्तव्य छे के ते मृषावादनो परित्याग करी हे मृषावाद संक्षेपधी जे प्रकार छे जेक लौकिक अने जेको लोकोत्तर आ अन्ने द्रव्य, क्षेत्र, काल अने भावधी चार प्रकारना छे विपरीत द्रव्यनु कहेवुं जे द्रव्यधी लौकिक मृषावाद छे, जेभ आवेशने घोडा कहेवे, ॥१॥ जेजाना क्षेत्रने पोतानुं क्षेत्र बनाववु ते क्षेत्रनी अपेक्षा मृषावाद छे ॥२॥ सवारने मध्यान काल कहेवे जे कालनी अपेक्षा मृषावाद छे ॥३॥ जे क्रोधादिक कृपाय निमित्त अने छे, ते भावनी अपेक्षा मृषावाद कहेवाय छे ॥४॥ ते पक्ष चार प्रकारधी छे जेभ क्रोधना आवेशभां आवेशने पुत्र कहे छे के आ मासे पिता नथी अथवा जे समय

ષ્ટનામકં દ્રવ્યં ભવતિ, તત્ સ્વરૂપં ઉમાખ્યાં પૃથગાસ્થિતાખ્યાં દધિશ્ચક્રાધ્યામખિકં
વિશિષ્ટાસ્વાદનનક યથા ભવતિ, તથા સૂત્રાર્થોભયમ્ય સર્વમાનાધિગમમારજત્વેન
વિશિષ્ટમાન્યુદ્ધિનનકત્વાત્ સર્વતઃ પ્રાધાન્યમ્ । અતસ્તદ્ભયધરસ્ય મહતી નિર્જરા
ભવતિ ॥ ૨૩ ॥

॥ इति नवमं द्वारम् ॥

પુન શિષ્યસ્ય વાગ્વિનયમાહ—

मूलम्—मुंस परिहरे भिक्खू, न यं ओहारणि वष ।

भासादोस परिहरे, मीय चे वज्रेण सयं ॥ २४ ॥

મેં સમિથ્રણ હો જાતા હૈ તો ઉસસે શ્રીસ્વડનામ કા એક અપૂર્વ મધુર
પદાર્થ યનતા હૈ । ઉસકા સ્વાદ ન દહી જૈસા હોતા હૈ ઓર ન શાકર
જૈસા હોતા હૈ । કિન્તુ ઇન દોનોં સે વિલક્ષણ સ્વાદ હોતા હૈ । ઇસી
તરહ સૂત્ર અર્થ યે દોનોં જય સમ્મિલિત હોતે હૈ તય ઇનસે સમસ્ત ભાવોં
કા-પદાર્થોં કે સ્વરૂપ કા જ્ઞાન હોને લગતા હૈ જો ન કેવલ સૂત્ર સે સાધ્ય
હૈ ઓર ન કેવલ અર્થ સે । ઇસસે વિશિષ્ટ ભાવોં કી અર્થાત્-અધ્યવસાયોં
કી વિશિષ્ટ શુદ્ધિ હોતી હૈ । ઇસલિયે સૂત્ર ઓર અર્થ ઇન દોનોં કી
અપેક્ષા તદુભય પ્રધાન કહા ગયા હૈ ઓર ઇસીલિયે કેવલ સૂત્રધારી
અથવા કેવલ અર્થધારી કી અપેક્ષા તદુભયધારી કી સેવા કરને બાલે
કે મહાનિર્જરા હોતી હૈ । ઇસ તરહ તેવીસવોં ગાયા કા અર્થ સંક્ષેપ સે
સંપૂર્ણ હુઆ વિસ્તાર સે અર્થ અન્ય શાસ્ત્રોં સે સમજના ણાહિયે ॥ ૨૩ ॥

નવમા દ્વાર સમ્પૂર્ણ

એનાથી શ્રીખડ નામનો એક અપૂર્વ મધુર પદાર્થ બને છે જેનો સ્વાદ ન દહી
જેવો હોય છે અને ન તો સાકર જેવો પરંતુ આ બંનેથી બુદ્ધિ જ નાતનો
સ્વાદ હોય છે આવીજ રીતે સૂત્ર અને અર્થ એ બંને બ્યારે સમ્મિલિત હોય
છે ત્યારે એનાથી સમસ્ત ભાવોનુ-પદાર્થોના સ્વરૂપનુ જ્ઞાન થવા લાગે છે જે
ન કેવળ સૂત્રથી સાધ્ય છે અને ન કેવળ અર્થથી એનાથી વિશિષ્ટ ભાવોની
અર્થાત્-અધ્યવસાયોની વિશિષ્ટ શુદ્ધિ થાય છે આ માટે સૂત્ર અને અર્થ આ
બંનેની અપેક્ષા તદુભય પ્રધાન કહેવામા આવેલ છે અને એજ માટે કેવળ સૂત્ર
ધારી અથવા કેવળ અર્થધારીની અપેક્ષા તદુભયધારીની સેવા કરવાવાગાની મહા
નિર્જરા થાય છે આ રીતે તેવીસમી ગાયાનો અર્થ સંક્ષેપથી સંપૂર્ણ થયો
વિસ્તારથી અથ અન્ય શાસ્ત્રોથી સમજવો એજ એ ॥ ૨૩ ॥

નવમું દ્વાર સંપૂર્ણ

गया—मृषा परिहरेद् मिश्रु, न चावधारणीं वदेत् ।

भाषादोष परिहरेत्, माया च वर्जयेत् सदा ॥ २४ ॥

टीका—‘मुस परिहरे’ इत्यादि ।

मिश्रु = साधु, मृषा = मृषावादम् - असत्यवचन परिहरेत् = वर्जयेत् । मृषावाद
 अपेण द्विविध - लौकिको लोकोत्तरश्च । तत्र मत्येक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भेदा-
 र्था । द्रव्यतो लौकिकमृषावाद - विपरीतद्रव्यकथनम्, यथा-गाम् अश्व कथयति ।
 त - यथा-अन्यदीयक्षेत्र प्रति मदीयमिद क्षेत्रम्, इति कथनम् । एवमेव कालेऽपि
 । मन्विष्यद् वर्तमानविषये विपरीतकथनम्, यथा—पूर्वाह्न प्रति-मध्याह्नकालो-
 मिति कथनम् इत्यादि ।

भावतो लौकिकमृषावाद - क्रोधादिक्रुपायनिमित्तक., तत्र क्रोधतो यथा-
 ट पुत्रो वदति नैप मम पिता, रुष्ट पिता वा वदति-नैप मम पुत्र इति । मानतो

शिष्य के वचनविनय के विषय में सूत्रकार समझाते हुए कहते
 कि—‘मुस०’ इत्यादि ।

अन्वयाग—(मिश्रु मुस परिहरे-मिश्रुः मृषा परिहरेत्) मिश्रु-
 धु का कर्तव्य है कि वह मृषावाद का परित्याग कर देवे । मृषावाद
 क्षेत्र से दो प्रकार का है—एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर । ये दोनों
 व्य, क्षेत्र, काल, एव भाव से चार २ प्रकार के हैं । विपरीत द्रव्य का
 हना यह द्रव्य से लौकिक मृषावाद है जैसे गाय को घोड़ा कहना ॥ १ ॥
 तरे के क्षेत्रको अपना क्षेत्र बनाना यह क्षेत्र की अपेक्षा मृषावाद है ॥ २ ॥
 र्वाह्न को मध्याह्नकाल बतलाना यह काल की अपेक्षा मृषावाद है ॥ ३ ॥
 क्रोधादि कषाय निमित्तक होता है वह भाव की अपेक्षा मृषावाद
 हलाता है ४ ॥ वह भी चार प्रकार का है—जैसे क्रोध के आवेश में

शिष्यना वचनविनयना विषयमा सूत्रकार समझवता कहे छे छे—मुस० क्रियादि

अन्वयार्थ—मिश्रुमुस परिहरे-मिश्रुः मृषापरिहरेत् मिश्रु-साधुः कर्तव्य
 छे छे ते मृषावादनो परित्याग करी हे मृषावाद सक्षेपथी के प्रकारे छे अेक
 लौकिक अने नीजे लोकोत्तर आ अन्ने द्रव्य, क्षेत्र, काल अने भावथी चार
 प्रकारना छे विपरीत द्रव्यनु कहेवुं अे द्रव्यथी लौकिक मृषावाद छे, जेभ
 भायने घोड़ा कहेवे ॥१॥ नीजना क्षेत्रने पोतानु क्षेत्र बनाववु ते क्षेत्रनी
 अपेक्षा मृषावाद छे ॥२॥ सवारने मध्यान काल कहेवे अे कालनी अपेक्षा
 मृषावाद छे ॥३॥ जे क्रोधादिक कषाय निमित्त अने छे, ते भावनी अपेक्षा
 मृषावाद कहेवाय छे ॥४॥ ते पबु चार प्रकारथी छे जेभ क्रोधना
 आवेशमा आवीने पुत्र कहे छे छे आ भाशे पिता नथी अथवा जे समय

यथा-अस्य कुटुम्बस्य भरणपोषणादिकार्यं फर्तुं को मा विहाय समर्थः ? । मायातो
 यथा-राजकरमाहक क्वचिद् व्यापारिण विक्रयवस्तु समादाय स्वस्थानमागतं प्रति
 पृच्छति- ' कस्येद वस्तुजातम् ' इति, एव शृणोऽसौ व्यापारी मायया कथयति-
 ' नास्ति ममेद वस्तुजातम्, अन्यदीयमेतत् सर्वम् ' इति ।

लोमतो यथा-व्यापारी लोभवशाद् वदति ग्राहक प्रति ' यावता मूल्येन मया
 कीर्तं, तावतैव तव हस्ते विक्रीणामि किञ्चिदप्यधिकं मूल्यं न गृह्णामी-' ति ।

लोकोत्तरमृषावादं प्रदर्शयते-तत्र द्रव्यतो यथा-जीवम् अजीव वदति, अजीव

आकर पुत्रं कृहता किं यह मेरा पिता नहीं है । अथवा जिस समय
 पिता रुष्ट होता है, उस समय वह कहता है कि यह मेरा पुत्र नहीं है,
 यह सय कथन क्रोध रूप भाव की अपेक्षा मृषावाद है (?) मन कषाय
 के वशवर्ती होकर ऐसा कहना कि यदि मैं न होऊँ तो इस कुटुम्ब का
 भरण पोषण कौन करे (२) माया के वश में होकर जाँ ऐसा कहता
 है कि यह वस्तु मेरी नहीं है यह तो दूसरों की है, तात्पर्य इसका
 यह है जब कोई व्यापारी किसी राजा का कर लेने वाले के पूछने पर
 कि यह विक्रय वस्तु किसकी है तब वह माया वश कहता है कि यह
 तो दूसरों की है मेरी नहीं है (३) लोभ के वश होकर जो झूठ वचन
 बोला जाता है वह लोभ कषाय की अपेक्षा मृषावाद है-जैसे व्यापारी
 लोग ग्राहकों को ऐसा कहते हैं कि भाई हमने जितने मूल्य में यह
 चीज खरीदी है उतने ही मूल्य में हम तुम्हें यह दे रहे हैं । कुछ भी
 अधिक नहीं ले रहे हैं ॥ ४ ॥ यह सय लौकिक मृषावाद है । चार प्रकार
 का लोकोत्तर मृषावाद इस प्रकार है-जीव को अजीव कहना, अजीव

पिता को धैतयने छे ते वधते ते कडे छे के, आ भाइ पुत्र नहीं, आ सबजो
 कथन भावनी अपेक्षा मृषावाद छे (१) मन कषायना वशवर्ति अनिने जेवुं कडेवुं
 के जेहुं नहीछे तो आ कुटुम्बनु भरषु पोषषु डेखु करे (२) भाषाना वशमां
 आवीने जे जेम कडे छे के आ वस्तु मारी नहीं पखु भीजानी छे भलवण आनी
 जे छे के, भाइ के छे शब्दना कर्माचारी, कर वसुल भागे आवे अने तेना पुछ
 वाभी के छे वेपारी पोतानी वस्तु डेवा छेवां माया वश अनि पोतानी न डेवावुं
 कही भीजानी छेवानु अतावे (३) दोषना वश अनिने जे जेहुं वचन बोधवामां
 आवे छे ते दोष कषायनी अपेक्षा मृषावाद छे जेम-वेपारी दोष आडकाने
 जेम कडे छे के, भाई नेटली किमते आ वस्तु मारा घरमा पडेव छे तेव
 किमते हु तमोने आपु छु, काई पखु नशे लेतो नहीं (४) आ अधा
 लौकिक मृषावाद छे चार प्रकारना लोकोत्तर मृषावाद आ प्रकारे छे अने

वा जीवम्, इत्यादि । क्षत्रतो यथा-मनाक्षत्रम् परतक्षत्रम् वदति, परत
 भरतमिति । कात्रतो यथा-उत्सर्पिणीम् भ्रसर्पिणां वदति, तथा-भ्रसर्पि
 उत्सर्पिणीं वदति । भावतो लोकोत्तरमृपावाद क्रोधादिकपायनित, तत्र क्रो
 यथा-सत्यपि गुरुशिष्यसम्बन्धे ह्यो गुरुवदति-न त्वमसि मम शिष्य, क्रोधादि
 शिष्योऽपि वदति-' नाय मम गुरु ' इत्यादि । मानतो यथा-अहमेव गच्छधुर
 रणे समर्थाऽस्मि, यद्वा-अहमेव साधुनिवाहकोऽस्मि । मायातो यथा-कृताति
 शिष्य प्रति गुरु पृच्छति-त्वयाऽतिचार कृत किम् ? तदा शिष्यो मायया क
 न मयातिचार कृत ' इत्यादि ।

को जीव कहना । यह द्रव्य की अपेक्षा मृपावाद है १ । भरतक्षत्र
 गेरावत क्षेत्र कहना अथवा गेरावत क्षेत्र को भरत क्षेत्र कहना यह क्षत्र
 अपेक्षा लोकोत्तर मृपावाद है २ । उत्सर्पिणी काल को भ्रसर्पिणी व
 कहना अथवा भ्रसर्पिणी काल को उत्सर्पिणी काल कहना यह क्ष
 की अपेक्षा लोकोत्तर मृपावाद है ३ । भाव से लोकोत्तर मृपावाद को
 दिक कपाय को लेकर चार प्रकार का है । गुरु शिष्य संबध होने
 भी जिस समय गुरु किसी निमित्त को लेकर जय शिष्य के प्रति
 हो जाते हैं तब वे कहने लगते हैं कि तुम मेरे शिष्य नहीं हो । त्रि
 भी जय क्रोध के आवेश में आ जाता है तो वह भी इस तरह से
 के प्रति कहने लगता है कि आप हमारे गुरु नहीं हैं । यह क्रोध
 अपेक्षा लोकोत्तर भाव मृपावाद है (१) । मैं ही गच्छ की धुरा धा
 करने में समर्थ हूँ अथवा मैं ही साधुओं का निवाहक हूँ इस प्र
 कहना यह मान कपाय की अपेक्षा लोकोत्तर भाव मृपावाद है (२) ।

अथ एव उद्धेवु, अथवने एव उद्धेवो, अे द्रव्यनी अपेक्षा मृपावाद छे (१) वा
 नेत्रने अैरावतनेत्र उद्धेवु अने अैरावत क्षेत्रने वारतक्षेत्र उद्धेवु ते नेत्रनी अपे
 वोडोत्तर मृपावाद छे (२) उत्सर्पिणी क्षाणने अत्रसर्पिणी क्षाण उद्धेवो अथ
 अत्रसर्पिणी क्षाणने उत्सर्पिणी क्षाण उद्धेवो अे क्षाणनी अपेक्षा वोडोत्तर मृ
 वाद छे (३) भावथी वोडोत्तर मृपावाद क्रोधादिक कपायने वरि अार प्रकार
 छे शुरु कर्ष निमित्ते न्यारे शिष्य प्रत्ये क्रोधित अने छे त्यारे
 उद्धेवा लागे छे हे तु माशे शिष्य नथी, शिष्य पक्ष क्रोधना आवेशमां आवी व
 छे, त्यारे ते पक्ष पोताना शुरुने उद्धेवा लागे छे हे आप मारा शुरु नथी :
 क्रोधनी अपेक्षा वोडोत्तर भाव मृपावाद छे (१) हे अ गच्छनी धुरा धारण
 पामां समय धुँ अथवा हे अ साधुअोने निर्वाहक छे आ प्रकारे उद्धेवु
 मान कपायनी अपेक्षा वोडोत्तर भाव मृपावाद छे (२) ने समय शिष्य न्य

લોભતો યથા—અકલ્પ્યેઽપિ વસ્ત્રપાત્રાદી, 'મમેદ વસ્ત્ર કલ્પતે' ઇત્યાદિ કલ્પનમ્ ।
 યદ્વા-મૃપાત્રાદશ્વતુર્થિથ -સન્નાવપ્રતિપેથ' ૧, અસન્નાવોદ્નાવનમ્ ૨, અર્થા
 નન્તરમ્ ૩, ગર્હાં ચ ૪, । તત્ર સન્નાવપ્રતિપેથો યથા—નાસ્ત્યાત્મા, નાસ્તિ પુણ્યં,
 નાસ્તિ પાપમ્, ઇત્યાદિ । અસન્નાવોદ્નાવન યથા યસ્ત્યાત્મા સર્વગત, આત્મા સ્યામાક-
 ત્ત્વુલમાત્ર, ઇત્યાદિ । અર્થાન્તરં યથા—ગોવિષય—'અથોઽયમ્' ઇતિ । ગર્હાં તુ
 ત્રિધા—૯કા સાવધવ્યાપારપ્રવર્તની, યથા 'ક્ષત્ર કૃપ' ઇત્યાદિ । દ્વિતીયા—અપ્રિયા,

જિસ સમય શિષ્ય જય કોઈ અતિચાર લગા લેતા હૈ તો ગુરુ મહારાજ
 ઉસસે પૂછતે હૈ કિ ક્યા તુમને અતિચાર લગાયા હૈ તય શિષ્ય માયા
 કપાય કા અવલમ્બન કર કહતા હૈ કિ મેને કોઈ અતિચાર નહીં લગાયા,
 હસ પ્રકાર શિષ્ય કા યહ કથન માયા કપાય કી અપેક્ષા લોકોત્તર
 ભાવમૃપાત્રાદિ હૈ (૩) । જો વસ્ત્ર પાત્રાદિક અકલ્પનીય હૈં ઉનમેં યે મેરે લિયે
 કલ્પનીય હૈં હસ પ્રકાર કહના યહ લોભકપાય કી અપેક્ષા લોકોત્તર
 મૃષાવાદ હૈ । અથવા-મૃપાત્રાદિ ઇન અન્ય પ્રકારોં સે બી ચાર મેદ વાલા
 હૈ—૧ સન્નાવ કા પ્રતિપેથ, ૨ અસન્નાવ કા ઉદ્નાવન, ૩ અર્થાન્તર, ૪ ગર્હાં ।
 આત્મા નહીં હૈ પુણ્ય ઓર પાપ નહીં હૈં હસ પ્રકાર સત્ અર્થ કા અપલા-
 પક વચન સન્નાવ પ્રતિપેથ મૃપાત્રાદિ હૈ ૧ । આત્મા સર્વવ્યાપક હૈ અથવા
 શ્યામાક તન્દુલ કે સમાન આત્મા હૈ હસ પ્રકાર અસત્ અર્થ કા ઉદ્નાવક
 વચન અસન્નાવ કા ઉદ્નાવનરૂપ દ્વિતીય મૃપાત્રાદિ હૈ ૨ । ગો કે વિષય
 મેં યેસા કહના કિ યહ અશ્વ હૈ હસ પ્રકાર અર્થાન્તર કા કથક વચન
 તૃતીય અર્થાન્તર નામક મૃપાત્રાદિ હૈ ૩ । ગર્હાં ત્રીન પ્રકાર કી હૈ સાવધ

કોઈ અતિચાર લગાડી લે છે તેા ગુરુ મહારાજ એને પૂછે છે કે, શું તને અતિ
 ચાર લાગેલ છે, ત્યારે શિષ્ય માયા કપાયનું અવલમ્બન કરી કહે છે કે મે
 કોઈ અતિચાર લગાડેલ નથી. આ પ્રકારનું એ શિષ્યનું કથન માયા કપાયની
 અપેક્ષા લોકોત્તર ભાવ મૃષાવાદ (૩) જે વસ્ત્ર પાત્રાદિક અકલ્પનીય છે એમા
 એ મારા માટે કલ્પનીય છે એમ કહેવું તે લોક કપાયની અપેક્ષા લોકોત્તર મૃષા-
 વાદ છે. અથવા-મૃષાવાદ એ અન્ય પ્રકારથી પણ ચાર લોક વાળા છે ૧ સદ્
 ભાવનો પ્રતિપેથ, ૨ અસદ્ભાવનું ઉદ્ભાવન, ૩ અર્થાન્તર, ૪ ગર્હાં આત્મા નથી
 પુણ્ય અને પાપ નથી, આ પ્રકારનું સાચા અર્થનું અપલાપક વચન સદ્ભાવ
 પ્રતિપેથ મૃષાવાદ છે ૧ આત્મા સર્વ વ્યાપક છે, અથવા સ્યામાક ચોખાના જેવો
 આત્મા છે, આ પ્રકારનું અસત્ અર્થનું ઉદ્ભાવક વચન અસદ્ભાવનું ઉદ્ભાવ
 ન રૂપ બીજું મૃષાવાદ છે ૨ ગાયના વિષયમા એવું કહેવું કે તે ઘોડો છે
 આ પ્રકારે અર્થાન્તરનું કથન વચન ત્રીજે અર્થાન્તર નામનો મૃષાવાદ છે ૩ ગર્હાં

यथा-काण प्रति 'अय काण' इत्यादि । तृतीया-आक्रोशरूपा यथा-‘अरे वान्धकिनेय दासीपुत्र ?’ इत्यादि । पुनरय क्रोधादिभावोपलक्षितश्चतुर्विधः । अत्रेद गोघ्यम्-मृपावाद क्रोधमानमायालोभहास्यभयत्रीडाक्रीडारत्यरतिदाक्षिण्यमात्सर्यविपादादिभिः समवति । पीडाजनक सत्यवादोऽपि मृपावाद इति । मृपामापणे दोषा उक्ता —

धर्महानिरविश्वासो, देहार्थव्यसन तथा ।

असत्यभाषिणा निन्दा, दुर्गतिश्चोपजायते ॥ १ ॥ इति ।

व्यापार प्रवर्तिनी, अप्रिया, और आक्रोशरूपा । क्षेत्र का जोतो इत्यादिक सावग्न्यापार में प्रवर्तन कराने वाला वचन गद्दा का प्रथम भेद है । काने को काना कहना यह गद्दा का द्वितीय प्रकार है । ‘अरे कुलटा के पुत्र’ इत्यादि वचन गद्दा का तृतीय प्रकार है । क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, ब्रीडा-(लज्जा) क्रीडा, रति, अरति, दाक्षिण्य, मात्सर्य एव विपाद आदि निमित्तों को लेकर मृपावाद में मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है । जिस सत्यवचन से दूसरों की पीडा उपजे ऐसा सत्यवचन भी मृपावाद में अन्तर्हित जानना चाहिये । मृपावाद में अनेक दोष हैं-जैसे कहा है—

“ धर्महानिरविश्वासो, देहार्थव्यसन तथा ॥

असत्यभाषिणा निन्दा, दुर्गतिश्चोपजायते ॥ १ ॥ ”

मृपावाद से धर्म की क्षति होती है लोगों में विश्वास उठ जाता है देह और धन का नाश होता है । जो असत्य भाषी होते हैं उनकी अनेक

पक्ष प्रकारनी छे सावध व्यापार प्रवर्तिनी, अप्रिया अने आक्रोश रूपा क्षेत्रने भेदने इत्यादि छे सावध व्यापारमा प्रवर्तन कशवनार वचन गद्दिना प्रथम भेद छे कानेने काने कडेवे के गद्दिना भीले प्रकार छे ‘अरे कुलटाना पुत्र’ इत्यादि वचन गद्दिना त्राले प्रकार छे क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, लज्जा क्रीडा, रति, अरति, दाक्षिण्य, मात्सर्य अने विपाद आदि निमित्तोने मृपावादमा मनुष्योनी प्रवृत्ति थाय छे जे सत्य वचनथा भील्योने पीडा उपजे जेवु सत्य वचन पक्ष मृपावादमा अन्तर्हित जखवु भेद के मृपावादमा अनेक दोष छे जेवी रीते कहुं छे के—

“ धर्महानिरविश्वासो देहार्थव्यसन तथा ।

असत्यभाषिणा निन्दा दुर्गतिश्चोपजायते ॥ १ ॥ ”

मृपावादथी धर्मनी क्षती थाय छे, लोकाने विश्वास उठी जाय छे, देह अने धनने नाश थाय छे, जे असत्य भाषी छेय छे तेनी अनेक प्रकारथी

ચ-પુન, અધારણીમ્-નિશ્ચયાત્મિકાં ભાષા ન વદત્-‘ગમિષ્યામ્યેવ’
‘કરિષ્યામ્યેવ’ ઇત્યાદિકા ભાષાં ન વ્રૂયાદિત્યર્થઃ । યત —

“અન્નહ પરિચિત્તિજ્ઞઃ, કજ્જ પરિણમઃ અન્નહા ચેવ ।

વિહિવસયાણ જિયાણ, મુહુત્તમેત્ત પિ વહુવિગ્ધ ॥ ૧ ॥

છાયા-અન્યયા પરિચિન્ત્યતે, કાર્ય પરિણમત્યયથા ચૈવ ।

વિધિવશ્નગાના જીવાનાં મુહુર્તમાત્રમપિ વહુરિચ્નમ્ ॥ ૧ ॥

યદ્વા—અવધાર્યતે જ્ઞાયતેઽર્થોઽનયેત્યવધારણી અવબોધનનિકા ભાષા, સા
ચતુર્વિધા-સત્યા, મૃષા, સત્યામૃષા, અસત્યામૃષા ચ ।

પ્રકાર સે ઇમ લોક મેં નિન્દા હોતી હૈ ઓર પરલોક મેં ઉન્હેં દુર્ગતિ કી
પ્રાપ્તિ હોતી હૈ । અવધારણાત્મક (નિશ્ચયકારી) ભાષા કો ઘોલના યહ
મી એક અસત્ય કા પ્રકાર હૈ-જૈસે-‘ જાઝંગા હી, ’ ‘ કરૂંગા હી ’ ।
અથવા-‘ જાઝંગા ’ ‘ કરૂંગા ’ ઇસ પ્રકાર કો ભાષા ગણાતઃ મેં ઇમલિયે
સમ્મિલિત હો જાતી હૈ કિ—

“અન્નહ પરિચિત્તિજ્ઞઃ, કજ્જ પરિણમઃ અન્નહા ચેવ ।

વિહિવસયાણ જિયાણ મુહુત્તમેત્ત પિ વહુવિગ્ધ” ॥૧॥

ઘોલને વાલા વિચારતા કુછ હૈ ઓર હોતા કુછ હૈ । મન મેં અવ
ધારિત યાત કી પૂર્તિ નહીં હોતી હૈ । કયોં કિ કર્મ વશાવર્તી જીવોં કે
એક મુહુર્ત મેં મી અનેક વિચ્ન ઉત્પન્ન હો જાતે હેં । અથવા-“અવધારણ”
શબ્દ કા અર્થ અવબોધ જનક મી હૈ । યહ અવબોધજનક ભાષા
સત્યા ૧, મૃષા ૨, સત્યામૃષા ૩, એવં અસત્યામૃષા ૪, કે મેદ સે

આ લોકમા નિન્દા થાય છે, અને પરલોકમા તેને દુર્ગતિની પ્રાપ્તિ થાય છે
અવધારણાત્મક નિશ્ચયકારી ભાષા બોલવી એ પણ એક અસત્યનો પ્રકાર છે
જેમ-‘ જઈશ, કરીશ ’ અથવા-‘ જઈશ-કરીશ ’ આ પ્રકારની ભાષા મૂવાવાકમાં
એ માટે સમાય બાય છે,—

અન્નહ પરિચિત્તિજ્ઞઃ કજ્જ પરિણમઃ અન્નહા ચેવ ।

વિહિવસયાણ જીયાણ મુહુત્તમેત્ત વહુવિગ્ધ ॥ ૧ ॥

બોલવાવાળો વિચારે છે કાઈ અને બને છે કાઈ, મનમા અવધારિત
વાતની પૂર્તિ થવી નથી કેમકે, કમવશ વર્તી જીવોને એક વચ્ચીમા પણ અનેક
વિચ્ન ઉત્પન્ન થાય છે અથવા-“અવધારણ” શબ્દનો અર્થ અવ બોધજનક પણ છે
અવ બોધજનક ભાષા ૧ સત્યા, ૨ મૃષા, ૩ સત્યામૃષા અને ૪ અસત્યા
મૃષાના લેહી ચાર પ્રકારની છે તેશકાલાલિકની અપેક્ષા જેમાં કાઈ પ્રકારનો

तत्राराधनी सत्या । आराध्यते मोक्षमार्गोऽनयेत्याराधनी यथावस्थितवस्त्व-
भिधायिनी-या सर्वज्ञमतानुसारेण भाष्यते, यथा-अस्त्यात्मा सदसन्नित्यान-
ित्याद्यनेकधर्मयुक्त इत्यादि ।

या तु विराधनी विपरीतवस्त्वभिधायिनी सा मृषा । विराध्यते मोक्षमार्गोऽन-
येति विराधनी, सर्वज्ञमतप्रातिकूल्येन भाष्यते, यथा-‘नास्त्यात्मा’ यथा वा-
‘एकान्तनित्य आत्मा’ यथा वा-अचौरे ‘अय चौर’ इत्यादि । तथा-सत्याऽपि
परपीडोत्पादिका, मा परपीडाजनकत्वाद् मुक्तिविराधनाद् वा विराधनी, विराधनी
त्वाच्च मृषा । यथा चौर प्रति-‘अय चौर’ इति ।

चार प्रकार की हैं । देशकालादिक की अपेक्षा जिसमें किसी भी प्रकार
का विस्रवाद न आसके एव वस्तुका जो स्वरूप है उसे उसी
प्रकार से कहने वाली भाषा सत्य भाषा है । इस भाषा से मोक्षाभिलाषी
मोक्षमार्ग की आराधना करते हैं । जैसे-आत्मा है और वह न
सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है किन्तु कथञ्चित् नित्या-
नित्यात्मक है (?) इस प्रकार अनेक धर्मविशिष्ट वस्तु का कथन करने
वाली भाषा इस कोटि में परिगणित होती है १ । जो भाषा विराधिनी
है-वस्तु के विपरीत स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली है-वह मृषा भाषा
है । इसको बोलने वाला प्राणी कभी भी मुक्तिमार्ग का आराधक नहीं
हो सकता है । इस प्रकार की भाषा में सदा सर्वज्ञ मत से प्रतिकूलता
रहा करतो है । जैसे-आत्मा नहीं है । अथवा है भी तो वह सर्वथा
नित्य है या सर्वथा अनित्य है । अथवा जो खोर नहीं है उसको ‘यह
चौर है’ ऐसा कहना । जो भाषा सत्य भी हो-परन्तु यदि उससे दूसरों
को पीड़ा होती हो तो वह भी इसी मृषावाद में सम्मिलित जाननी चाहिये २ ।

विस्रवाद न आवी शके अने वस्तुनु के स्वरूप छे तेने तेवा प्रकारथी कहेवा
वाणी भाषा सत्य भाषा छे आ भाषाथी मोक्षाभिलाषी मोक्ष मार्गनी आरा
धना करे छे जेम आत्मा छे अने ते सर्वथा नित्य नथी तेम सर्वथा अनित्य
पक्ष नथी परन्तु कथञ्चिन नित्यानित्यात्मक छे आ रीते अनेक धर्म विशिष्ट
वस्तुनु कथन करवावाणी भाषा आ कोटिमां परिगणित थाय छे (१) जे भाषा
विराधिनी छे वस्तुना विपरीत स्वरूपने प्रतिपादन करवावाणी छे ते मृषा भाषा छे
जेने मोक्षनार प्राणी कही पक्ष मुक्ति मार्गने आराधक बनी शकते नथी
आ प्रकारनी भाषामा सदा सर्वज्ञ मतथी प्रतिकूलता रखा करे छे जेम-आत्मा
नथी, अथवा छे तो पक्ष ते सर्वथा नित्य छे या सर्वथा अनित्य छे, अथवा जे
चौर नथी जेने ‘आ चौर छे’ जेम कहेवु, जे भाषा सत्य पक्ष होय-परन्तु
जे जेनाथी जीबने पीडा यती होय तो ते पक्ष आ मृषावादमा सम्मिलित

યા તુ આરાધનવિરાધની સા સત્યમૃષા-આરાધની ચાસૌ વિરાધની ચ આરાધનવિરાધની, કર્મધારયત્વાત્ પુંવત્રાવ. । યયાસ્થિતવસ્તુતત્ત્વાભિધાયિની વિપરીતવસ્ત્રમિધાયિની ચેત્યુભયસ્પમાગા સત્યામૃષા । યયા-ઠ્ઠિસ્મિશ્ચિશ્રગરે પચ્ચસુ દારકેષુ જાતેષુ ઇવમભિધીયતે ' અસ્મિન્નગરેઽઘ દશ દારકા જાતા ' ઇતિ સા આરાધનવિરાધની । ઇય ઠ્ઠિ પચ્ચાના દારકાણા યજ્જમ, તાવતાંશેન સત્રાદન સંમવાદારાધની, દશ ન પૂર્યંતે ઇત્યેતાવતાંડશેન વિસવાદસમગાઁ વિરાધની ભવતિ । યદ્વા-ઘસ્તે શ્રુત ઠાસ્યામીત્યમિધાય પચ્ચાશત્ત્વપિ દત્તેષુ લોકે મૃષાત્વાદર્શનાત્, અદત્તેષ્વેત્ર ચ મૃષાત્વસિદ્ધે, સર્વથા પ્રદાનક્રિયાઽભાવેન સર્વથાચ્યત્યયાત્ ।

જો માયા આરાધની બી હો ઓર વિરાધિની હો વહ સત્યમૃષા માયા હૈ । સત્યમાયા કા નામ આરાધિની હૈ ઓર મૃષામાયા કા નામ વિરાધિની હૈ । ઇન દોનોં સ્વરૂપવાલી જો માયા હૈ વહ સત્યામૃષા માયા હૈ જૈસે યહ કહના કિ આજ ઇસ ગાવ મેં દશ ઘાલક ઉત્પન્ન હુણ હૈં । ઉસ ગાંઘ મેં પાચ હી ઘાલક ઉત્પન્ન હુણ યે । તય ઈસા કહના સત્યામૃષા સ્વરૂપ ઇસલિયે હૈ, કિ દશ કે કહને મેં પાચ કા અન્તર્ભાવ તો હો હી જાતા હૈ અતઃ ઇતને અંશકી અપેક્ષા યહ વચન સત્ય હૈ પરન્તુ દશ ઘાલક હુણ નહીં હૈં ઇતને અંશ મેં વહ મૃષા હૈ । અથવા ઈસા કહના કિ " ષ્વસ્તે શત ઠાસ્યામિ " મેં કલ તુમ્હેં સો (૧૦૦) રુપયે દૂગા । ઇસમેં સો રુપયે ન વેકર વહ યદિ પચાસ રુપયે હો વે વેતા હૈ તો ઇસપ્રકાર કે વ્યવહાર કો લોક મેં અસત્ય મેં પરિગણિત નહીં કિયા જાતા હૈ । જિતના ભાગ નહીં વિયા ગયા હૈ ઉસી મેં અસત્યતા આતી હૈ । હા યદિ ઘહ ઘિલકુલ ન વેતા તો યહ માયા

બાલુવી બેઈ બે. (૨) જે માયા આરાધની પણ હોય અને વિરાધની પણ હોય તે સત્યામૃષા માયા છે સત્યમાયાનું નામ આરાધિની છે અને મૃષા માયાનું નામ વિરાધિની છે આ બંને સ્વરૂપવાળી જે માયા છે તે સત્યામૃષા માયા છે જેમ બેલુ કહેલુ કે, આજ આ ગામમાં ૧૦ બાળક બન્મ્યાં છે ઠાઈ ગામમાં પાંચ જ બાળક બન્મ્યાં હતા ત્યારે બેલુ કહેલુ સત્યામૃષા સ્વરૂપ આ માટે છે કે, ઇશના કહેવામાં પાંચને અતર્ભાવ તો ષઈ જ બાંધ છે આથી ગાટલા અશની અપેક્ષા આ વચન સત્ય છે પરન્તુ ઇસ બાળક બન્મ્યા નથી બેટલા અશે બે મૃષા છે અથવા જેમ કહેલુ કે હું " કાલે તમને સો રૂપીયા આપીશ, " આમાં સો ન આપતા જે ૫૦ રૂપીયા પણ આવે તો આ પ્રકારના વ્યવહારમાં લોકોમાં અસત્ય ઘોલનાર ઠરીકેની ગણના નથી થતી, બેટલા માત્ર આપવામાં ન આવ્યાં બેટલા પુસ્તી બેમા અસત્યતા આવે છે, પણ

યા તુ નૈવાડસત્યા નાપિ સત્યા સા અમત્યામૃષા નામ ચતુર્થીભાષાવ્યવહારરૂપા ।
 તત્ર પ્રથમા ચતુર્થી ચ ભાષા ભાષણીયા । ચતુર્થી-અસત્યામૃષા ભાષા-આમન્ત્ર-
 પ્પ્યાદિમેદયુક્તા । તત્ર કોડસાવામન્ત્રપ્પ્યાદિમેદ ? ઉચ્યતે-અપમર્થો ભગવત્યામુક્તઃ ।
 યથા-“ અહં મતે ! આસદ્સામો સદ્સામો ચિદ્વિસ્સામો નિસીદ્સામો તુયદ્વિસ્સામો ।
 આમતણિ આણવણી, જાયણિ તદ્દ પુચ્છણી ય પપ્પણવણી ।
 પચ્ચક્કલાણી ભાસા, ભાસા ઇચ્છાણુલોમા ય ॥ ૧ ॥
 અણભિગ્ગહિયા ભાસા, ભાસા ય અભિગ્ગહમ્મિ યોદ્ધન્વા ।
 સસયવરણી ભાસા, વોયદ્ધમન્વોયદ્ધા ચેવ ॥ ૨ ॥
 પન્નવણી ણં એસા, ન એસા ભાસા મોસા ? ।

મૃષા મેં હી અન્તર્ભૂત સો જાનો (૩) । જો ન સત્ય છે, ઓર ન અસત્ય
 હૈ એમી ભાષા કા નામ અસત્યામૃષા-અર્થાત્ વ્યવહાર ભાષા હૈ ૪ ।
 ફનમેં પ્રથમ ણ્વ ચતુર્થ ભાષા વોલ્ને યોગ્ય છે । ચૌથી જો અસત્યામૃષા
 ભાષા હૈ વહ આમન્ત્રણી આદિ મેદોં સે અનેક પ્રકાર કી કહી ગઈ હૈ ।
 ફસી વિષય કો ભગવાન ને ભગવતીસૂત્ર મેં કહા હૈ-

અહ મતે ! આસદ્સામો સદ્સામો ચિદ્વિસ્સામો નિસીદ્સામો તુયદ્વિસ્સામો ।

આમતણિ આણવણી, જાયણિ તદ્દ પુચ્છણી ય પપ્પણવણી ।
 પચ્ચક્કલાણી ભાસા, ભાસા ઇચ્છાણુલોમા ય ॥ ૧ ॥
 અણભિગ્ગહિયા ભાસા, ભાસા ય અભિગ્ગહમ્મિ યોદ્ધન્વા ।
 સસયવરણી ભાસા, વોયદ્ધમન્વોયદ્ધા ચેવ ॥ ૨ ॥
 પન્નવણી ણં એસા, ન એસા ભાસા મોસા ? ।

ન દેત તે એ ભાષા મૃષામા જ અતર્ભૂત બની બાલ (૩) જે ન સત્ય છે અને
 ન અસત્ય છે એવી ભાષાનું નામ અસત્યામૃષા-અર્થાત વ્યવહાર ભાષા છે (૪)
 આમાં પ્રથમ અને ચોથી ભાષા બોલવા યોગ્ય છે ચોથી જે અસત્યામૃષા ભાષા
 છે, તેને આમન્ત્રણી આદિ બેદોથી અનેક પ્રકારની કહેવામા આવે છે આ વિષયને
 ભગવાને ભગવતી સૂત્રમા કહેલ છે-

અહ મતે આસદ્સામો સદ્સામો ચિદ્વિસ્સામો નિસીદ્સામો તુયદ્વિસ્સામો ।
 આમતણિ આણવણી, જાયણિ તદ્દ પુચ્છણી ય પપ્પણવણી ।
 પચ્ચક્કલાણી ભાસા, ભાસા ઇચ્છાણુ લોમાય ॥ ૧ ॥
 અણભિગ્ગહિયા ભાસા, ભાસા ય અભિગ્ગહમ્મિ યોદ્ધન્વા ।
 સસયવરણી ભાસા, વોયદ્ધમન્વોયદ્ધા ચેવ ॥ ૨ ॥
 પન્નવણી ણં એસા, ન એસા ભાસા મોસા ? ।

हता ! गोयमा ! आसइस्सामो त चेव० जात्र न एसा भासा मोसा ।

(भ० १० श० ३ उ० ४०३ सू०)

छाया—अथ भदन्त ! आशयिष्यामहे शयिष्यामहे स्थास्यामः निपत्स्यामः
त्वग्रपरिवर्तयिष्यामः ।

आमन्त्रणी आज्ञापनी याचनी तथा प्रच्छनी च प्रज्ञापनी ।

प्रत्याख्यानी भाषा, भाषा इच्छानुलोमा च ॥ १ ॥

अनभिगृहीता भाषा, भाषा चाभिग्रहे योद्धव्या ।

सशयकरणी भाषा, न्याकृता अव्याकृता चैव ॥ २ ॥

प्रज्ञापनी खलु एषा, नैषा भाषा मृषा ? ।

हत् । गौतम ! आशयिष्यामह तदेव यावत् नैषा भाषा मृषा ।

व्याख्या—'अथ' इति प्रश्नार्थक । भदन्त ! ह भगवन् इत्येव श्री महावीरं गौतमः

पृच्छति—आशयिष्यामहे=आश्रयणीयवस्तु स्वीकरिष्याम, शयिष्यामहे=विशेषतः

शयन करिष्यामहे, स्थास्यामः—ऊर्ध्वस्थानेन स्थास्याम, निपत्स्याम'=उपवेक्ष्याम ।

त्वग्रपरिवर्तयिष्याम'—सस्तारक पार्श्वपरिवर्तनं करिष्यामः, यद्वा—आशयिष्याम'=

आश्रयणीयं स्थानादिकं स्वीकरिष्यामः । इत्यादिका भाषा किं प्रज्ञापनी ? इत्यन्वय

इदमपलक्षणम् । एवजातीया भाषाविशेषा किं प्रज्ञापनीरूपाः ? इति भाव ।

हता ! गोयमा ! आसइस्सामो त चेव० जाध न एसा भासा मोसा

(भ० १० श० ३ उ० ४०३ सूत्र)

भगवान महावीर से गौतम पूछते हैं कि—हे भगवन् ! हम आश्रय

योग्य वस्तु का आश्रय लेंगे, शयन करेंगे, स्वप्ने रहेंगे, बैठेंगे, करघट बटलेंगे

इत्यादिक भाषा, तथा आमन्त्रणी आदि भाषा क्या प्रज्ञापनी भाषा है ? यह

भाषा मृषा नहीं है ? । आमन्त्रणी आदि भाषाओं के नाम ये हैं—१ आमन्त्रणी,

२ आज्ञापनी, ३ याचनी, ४ प्रच्छनी, ५ प्रज्ञापनी, ६ प्रत्याख्यानी, ७ इच्छा

नुलोमा, ८ अनभिगृहीता, ९ अभिगृह्यता, १० सशयकरणी, ११ व्याकृता,

१२ अव्याकृता । इस प्रकार गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् उत्तर

हता गोयमा ! आसइस्सामो त चेव० जात्र न एसा भासा मोसा (भ० १० श० ३ उ० ४०३ सूत्र)

भगवान महावीरने गौतम पूछे छे के छे भगवान ! अमे सुधंशु, वधुं

सुधंशु, उभा रद्धिंशु, वेसंशु करवट पडसंशु, धत्थादिक भाषा तथा आमन्त्रणी

आदि भाषा शुं प्रज्ञापनी भाषा छे ? आ भाषा मृषा नहीं ?

आमन्त्रणी आदि भाषाओंना नाम आ छे—१ आमन्त्रणी २ आज्ञापनी

३ याचनी ४ प्रच्छनी ५ प्रज्ञापनी ६ प्रत्याख्यानी ७ इच्छानुलोमा ८ अनभिगृहीता

९ अभिगृहीता, १० सशयकरणी, ११ व्याकृता, १२ अव्याकृता आ, > गौतम

तत्र-आमन्त्रणी-यथा 'हे साध' इत्यादि । एषा च किञ्च वस्तुनोऽविधायकत्वादिनिषेधकत्वाच्च सत्यादिभाषात्रयलक्षणप्रयोगतश्चाऽसत्यामृषा व्यवहाररूपा । १ ।

आज्ञापनी-कार्ये परस्य प्रवर्तनी यथा "इदं कुरु" "इदं मा कुरु" इत्यादि । एषा च निर्दिष्टकार्यप्रवर्तकत्वाददुष्टविवक्षासद्भावत्वाच्चाऽसत्यामृषा । एवमन्यत्रापि भावनीयम् ॥ २ ॥

याचनी-अनिर्दिष्टवस्तुविशेषस्य देहीत्येव याचनरूपा । यथा- "भिक्षा देहि" ॥ ३ ॥

प्रच्छनी-अविज्ञातस्य सदिग्धस्य वाऽर्थस्य ज्ञानार्थं प्रच्छनम् । यथा- "कथमेतत्" ? ॥ ४ ॥

देते हैं कि हे गौतम ! पूर्वोक्त प्रकार को भाषा प्रज्ञापनी भाषा है, किन्तु यह भाषा मृषा नहीं है । आमन्त्रणी आदि भाषाओं का अर्थ कहते हैं-

आमन्त्रणी-'हे साधो !' इत्यादि । यह किसी वस्तु की अविधायक एव अनिषेधक होने से, तथा सत्यादि तीन भाषा के लक्षण से रहित होने से असत्यामृषास्वरूप व्यवहार भाषा है । आज्ञापनी-दूसरे को कार्य में प्रवृत्त कराने वाली भाषा आज्ञापनी भाषा है । जैसे-'यह करो, यह मत करो' इत्यादि । यह भाषा निर्दिष्टकार्य में प्रवर्तक होने से तथा निर्दोष विवक्षा के सद्भाव से असत्यामृषा-स्वरूप है २ । याचनी-"भिक्षा दो" इस प्रकार की याचनस्वरूप भाषा याचनी भाषा है ३ । प्रच्छनी-अविज्ञात-अर्थात्-विना जाने हुए विषय को, अथवा सदिग्ध अर्थात्-सदेह्युक्त विषय को जानने के लिये जो पूछना वह प्रच्छनी भाषा है ४ ।

स्वामीना पुछवाथी सगवान् उत्तर दे छे के छे गौतम पूर्वोक्त प्रकारनी भाषा प्रज्ञापनीभाषा छे परतु आ भाषा मृषा नथी । आमन्त्रणी वगैरे भाषाओना अर्थ कहे छे आमन्त्रणी-हे साधो ! इत्यादि । आ कौछ वस्तुनी अविधायक अने अनिषेधक छेवाथी, तथा सत्यादि भाषात्रयना लक्षणथी रहित छेवाथी असत्यामृषा स्वरूप व्यवहार भाषा छे १ आज्ञापनी-भीबाने कार्यमा प्रवृत्त करवावाणी भाषा आज्ञापनी भाषा छे नेम-आ करो, आ न करो, इत्यादि । आ भाषा निर्दिष्टकार्यमा प्रवर्तक छेवाथी तथा निर्दोष विवक्षाना सद्भावथी असत्यामृषा स्वरूप छे २ याचनी-"भिक्षादो" आ प्रकारनी याचना स्वरूप भाषा याचनीभाषा छे ३ प्रच्छनी-अविज्ञात, अर्थात् अप्या वगरना विषयनी अथवा -सदिग्ध अर्थात्-सदेह्युक्त विषयने लक्षवा भाटे ने पूछवु ते पुच्छनी भाषा छे ४ प्रज्ञापनी-शिष्यने उप-

પ્રજ્ઞાપની-વિનયસ્વોપદશદાનરૂપા, મર્યાદાપ્રિકા માયા, યયા-હિંસાપટ્વો
 ડનન્તદુ સ્વભાગી ભવતિ ” ઇત્યાદિ । યથા યા-પ્રાણિવધાન્નિવૃત્તા. પ્રાણિનો મરે
 મરે દીર્ઘાયુષો નીરોગાથ મવન્તિ । ઉક્તઃ--

પાણિવહાઝ નિયત્તા, હવતિ દીઠાઝ યા અરોગા ય ।

એસ મરૂં પન્નત્તા, પન્નવળી વીયરાગેહિં ॥ ૧ ॥ ૫ ॥

ઝાયા-પ્રાણિવધાઝ નિવૃત્તા, મવન્તિ દીર્ઘાયુષ અરોગાથ ।

એપા મતિ પ્રજ્ઞા, પ્રજ્ઞાપની વીતરાગે ॥ ૧ ॥

પ્રત્યાખ્યાનીભાષા-યાચમાનસ્ય પ્રતિપેઢ વચનમ્ । યથા-મર્યાદાતિરિક્ત વસ્ત્ર
 પાત્ર યા યાચમાન શિષ્ય પ્રતિ ગુરુર્વદતિ-“અધિક વસ્ત્ર પાત્ર યા ન દીયતે” ઇતિ ॥૬॥

પ્રજ્ઞાપનો-શિષ્ય કો ઉપદેશ દેને સ્વરૂપ જો માપા હોતી છે કિ જિસસે
 ઝસે અર્થ કા અવયોધ હોતા છે ઝસકા નામ પ્રજ્ઞાપની માપા છે । જૈસે-“જો
 હિંસા મેં પ્રવૃત્ત હોતા છે વહ અનત દુ ગ્વ કા ભાગી હોતા છે ” અથવા
 જો પ્રાણિવધ સે દૂર રહતે છે વે મત્ર મત્ર મેં દીર્ઘ આયુ પાતે છે તથા
 નિરોગ શરીર હોતે છે ૫ । ઉક્તઃ--

“પાણિવહાઝ નિયત્તા, હવતિ દીઠાઝયા અરોગા ય ।

એસ મરૂં પન્નત્તા, પન્નવળી વીયરાગેહિં ॥ ”

પ્રત્યાખ્યાની-ગુરુ મહારાજ કે પામ યાચના કરતે છુપ શિષ્ય કે
 લિયે જો નિષેધાત્મક માપા કા પ્રયોગ હોતા છે વહ પ્રત્યાખ્યાની ભાષા છે,
 જૈસે-મર્યાદા સે અતિરિક્ત વસ્ત્ર ગ્વ પાત્ર કો યાચને વાલે શિષ્ય કો
 ગુરુ મહારાજ કહતે છે કિ-મર્યાદા સે અધિક વસ્ત્ર વ પાત્ર નહીં દિયા
 જાતા છે ” ઇત્યાદિ ૬ । ઇચ્છાનુલોમા-પ્રતિપાદન કરને વાલે કી અર્થોત્

દેશ આપવા સ્વરૂપ જે ભાષા હોય છે તે જેનાથી તેને અર્થનો અવબોધ થાય છે
 એનું નામ પ્રજ્ઞાપનીભાષા છે જેમ-“જે હિંસામાં પ્રવૃત્ત બને છે તે અનત
 દુ ખનો ભાગી થાય છે ” અથવા જે પ્રાણી વધથી દૂર રહે છે તે ભવોભવમા
 દીર્ઘાયુ લેખવે છે તથા શરીરે નિરોગી રહે છે ૫ કહ્યું છે કે--

“પાણિવહાઝ નિયત્તા, હવતિ દીઠાઝ યા અરોગા ય ।

એસ મરૂં પન્નત્તા, પન્નવળી વીયરાગેહિં ॥ ”

પ્રત્યાખ્યાની-ગુરુ મહારાજની પાસે યાચના કરનાર શિષ્યને માટે જે
 નિષેધાત્મક ભાષાનો પ્રયોગ હોય છે તે પ્રત્યાખ્યાની ભાષા છે જેમ-મર્યાદાથી
 અતિરિક્ત વસ્ત્ર અને પાત્રની યાચના કરનાર શિષ્યને ગુરુ મહારાજ કહે છે કે
 મર્યાદાથી વધુ વસ્ત્ર અને પાત્ર દેવામાં આવતું નથી. (૨) ઇત્યાદિ । ઇચ્છાનુલોમા-

इच्छानुलोमा—प्रतिपादपितुर्या इच्छा तदनुलोमा—तदनुकूल। यथा शुभकार्ये प्रेरितस्य “ एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतत् ” एव रूपा, यथा वा कश्चित् किञ्चित् शुभ कार्यमारम्भमाण क्वचन पृच्छति, स प्राह—‘ भवान् करोतु ममाप्येतदभिप्रेतम् ’ इति। यथा वा केनचित् कश्चिदुक्त—“ साधुमकाश गच्छाम ” स वदति—एवमस्तु इति॥७॥

अभिगृहीता—अर्थमनभिगृह्य योच्यते ‘ इत्यादिवत् ’। अथवा—अनभिगृह्य यत्र न प्रतिनियतायावधारणम्। यथा—बहुपुण्यार्थेष्ववस्थितेषु कश्चित् क्वचन पृच्छति—किमिदानीं करोमि?, स प्राह—‘ यत् रोचते तत् कुरु ’ इति ॥ ८ ॥

अभिगृहीता—अर्थमभिगृह्य योच्यते—इद वस्त्रपात्रादिक धर्मोपकरणम्, अथवा

प्रेरक की इच्छा के अनुकूल जो भाषा बोली जाती है वह ‘इच्छानुलोमा’ भाषा है—जैसे कोई किसी को किसी शुभ कार्य में प्रेरणा करे तब वह कहे कि ‘ठीक है यत् मुझे भी अभिलषित है’। अथवा कोई किसी शुभ कार्य का प्रारम्भ करते हुए किसी को पूछे तो वह कहे कि—करो यह मुझे भी पसन्द है। अथवा—कोई ऐसा कहे—‘मैं साधु के पास जा रहा हूँ’ तो सुनने वाला कहता है कि अच्छा जाओ ७। अनभिगृहीता—अर्थशून्य—इत्थद्वित्यादि शब्दों का बोलना। अथवा जिसमें किसी एक अर्थ का निश्चय न हो जैसे—बहुतसे कार्यों के उपस्थित होने पर कोई किसी से जब यह पूछता है कि—‘कहो मैं इस समय कौनसा काम करूँ?’ तो वह कहता है कि—जो तुम्हें मचे सो करो’। इस प्रकार की भाषाका नाम अनभिगृहीता भाषा है ८। अभिगृहीता—अर्थ को लक्ष्य करके जिस भाषाका प्रयोग किया जाता है वह अभिगृहीता भाषा है—जैसे ये वस्त्र पात्रादिक धर्म के उपकरण हैं’। अथवा ‘इस

प्रतिपादन करवावाणानां अर्थात्—प्रेरकनीं छिडाने अनुकूल ने भाषा बोलाय छे ते ‘इच्छानुलोमा’ भाषा छे नेम—कोई कोई ने कोई शुभ कार्य भा प्रेरणा करे त्यारे कहे के शीक छे अे भारी पक्ष अलिवाया छे अथवा—कोई शुभ कार्यने प्रारम्भ करता कोछने पूछे तो ते कहे के—करो अे मने पक्ष पसन्द छे अथवा कोछ अेम कहे के हु साधुनी पास जध रह्यो छु तो सासगनार कहे के, साइ अथ ७ अनभिगृहीता—अर्थशु य—‘इत्य उवित्यादि’ शब्द बोलेवा अथवा नेमा कोछ अेक अथने निश्चय न होय, नेम—बहुता कामे उपस्थित यता कोछ भीजाने त्यारे अे पूछे छे के, कहे हु आ वधते कयु काम करे, तो ते कहे छे के ने तमने इथे ते करे। आ प्रकारनी भाषातु नाम अनभिगृहीता भाषा छे ८ अभिगृहीता—अर्थनु लक्ष करीने ने भाषाने प्रयोग करवाभा आवे छे ते ‘अभिगृहीता’ भाषा छे नेम—‘आ वस्त्र पात्रादिक धर्मना उपकरण छे’ अथवा ‘आ समये

પ્રજ્ઞાપની-વિનયસ્યોપદશદાનરૂપા, મર્થચોષ્ટિકા માયા, યથા-હિંસાપ્રવૃત્તો
 ઽનન્તદુ સ્વભાગી ભવતિ " इत्यादि । यथा मा-प्राणिवधान्निवृत्ता. प्राणिनो ममे
 भवे दीर्घायुषो नीरोगाश्च भवन्ति । उक्तञ्च--

पाणिब्रह्माउ नियत्ता, ह्यति दीहाउ या अरोगा य ।

एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरामेहिं ॥ १ ॥ ५ ॥

छाया-प्राणिवधाद् निवृत्ता, भवन्ति दीर्घायुष अरोगाश्च ।

एषा मति प्रज्ञता, प्रज्ञापनी वीतरागे ॥ १ ॥

પ્રત્યાખ્યાનીભાષા-યાચમાનસ્ય પ્રતિપદ્ય વચનમ્ । યથા-મર્યાદાતિરિક્ત વસ્તુ
 પાત્રં યા યાચમાન શિષ્ય પ્રતિ ગુરુર્વદતિ--"અધિક વસ્તુ પાત્ર યા ન દીયતે" ઈતિ ॥૬॥

પ્રજ્ઞાપનો-શિષ્ય કો ઉપદેશ દેને સ્વરૂપ જો ભાગા હોતી છે કિ જિસસે
 ઉસે અર્થ કા અવયોધ હોતા છે ઉમકા નામ પ્રજ્ઞાપની ભાષા છે । જેસે--" જો
 હિંસા મેં પ્રવૃત્ત હોતા છે વહ અનન્ત દુ સ્વ કા ભાગી હોતા છે " અથવા
 જો પ્રાણિવધ સે દૂર રહતે હેં વે ભવ મત્ર મેં દીર્ઘ આયુ પાતે હેં તથા
 નિરોગ શરીર હોતે હેં ૫ । ઉક્તચ--

" पाणिब्रह्माउ नियत्ता, ह्यति दीहाउया अरोगा य ।

एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरामेहिं ॥ "

પ્રત્યાખ્યાની-ગુરુ મહારાજ કે પામ યાચના કરતે હૂણ શિષ્ય કે
 લિયે જો નિષેધાત્મક ભાષા કા પ્રયોગ હોતા છે વહ પ્રત્યાખ્યાની ભાષા છે,
 જેસે-મર્યાદા સે અતિરિક્ત વસ્તુ ણ્વ પાત્ર કો યાચને વાલે શિષ્ય કો
 ગુરુ મહારાજ કહતે હેં કિ-મર્યાદા સે અધિક વસ્તુ વ પાત્ર નહીં દિયા
 જાતા છે " इत्यादि ६ । इच्छानुलोमा-प्रतिपादन करने वाले की अर्थात्

દેશ આપવા સ્વરૂપ જે ભાષા હોય છે તે જેનાથી તેને અથનો અવયોધ યાય છે
 એવું નામ પ્રજ્ઞાપનીભાષા છે જેમ--" જે હિંસામા પ્રવૃત્ત બને છે તે અનન્ત
 દુ ખનો ભાગી યાય છે " અથવા જે પ્રાણી વધથી દૂર રહે છે તે ભવોભવમાં
 દીર્ઘાયુ લોભવે છે તથા શરીરે નિરોગી રહે છે ૫ કલ્પ છે કે--

" पाणिब्रह्माउ नियत्ता, ह्यति दीहाउ या अरोगा य ।

एस मई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरामेहिं ॥ "

પ્રત્યાખ્યાની-ગુરુ મહારાજની પાસે યાચના કરનાર શિષ્યને માટે જે
 નિષેધાત્મક ભાષાનો પ્રયોગ હોય છે તે પ્રત્યાખ્યાની ભાષા છે જેમ-મર્યાદાથી
 અતિરિક્ત વસ્તુ અને પાત્રની યાચના કરનાર શિષ્યને ગુરુ મહારાજ કહે છે કે
 મર્યાદાથી વધુ વસ્તુ અને પાત્ર દેવામાં આવતું નથી. (૬) ઇત્યાદિ ! ઇચ્છાનુલોમા-

इच्छानुलोमा-प्रतिपादयितुर्था इच्छा तदनुलोमा=तदनुकूला । यथा शुभकार्ये प्रेरितस्य “ एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतत् ” एव रूपा, यथा वा कश्चित् किञ्चित् शुभ कार्यमारभमाण क्वचन पृच्छति, स प्राह-‘ भवान् करोतु ममाप्येतदभिप्रेतम् ’ इति । यथा वा केनचित् कश्चिदुक्त -“साधुसकाश गच्छाम ” स वदति-एवमस्तु इति॥७॥

अभिगृहीता-अर्थमनभिगृह्य योच्यते ‘ हित्यादिवत् ’ । अथवा-अनभिगृह्य यत्र न प्रतिनियतार्थावधारणम् । यथा-बहुपुकार्येष्ववस्थितेषु कश्चित् क्वचन पृच्छति-किमिदानीं करोमि ?, स प्राह-‘ यत् रोचते तत् कुरु ’ इति ॥ ८ ॥

अभिगृहीता-अर्थमभिगृह्य योच्यते-इदं वस्त्रपात्रादिक धर्मोपकरणम्, अथवा

પ્રેરક કી ડચ્છા કે અનુકૂલ જો માપા ઘોલી જાતી હૈ વહ ‘इच्छानुलोमा’ માપા હૈ-જૈસે કોઈ કિસી કો કિમી શુભ કાર્ય મેં પ્રેરણા કરે તય વહ કહે કિ ‘ ઠીક હૈ યહ મુક્ષે મી અમિલપિત હૈ ’ । અથવા કોઈ કિસી શુભ કાર્ય કા પ્રારમ કરતે હૂગ કિસી કો પૂછે તો વહ કહે કિ-કરો યહ મુક્ષે મી પસદ હૈ । અથવા-કોઈ ઈસા કહે-‘ મેં સાધુ કે પાસ જા રહા હૂ ’ તો સુનને બાલા કહતા હૈ કિ અચ્છા જાઓ ૭ । અનભિગૃહીતા-અર્થશુન્ય-હિત્યહવિત્યાદિ શબ્દો કા યોલના । અથવા જિમમેં કિસી ઈક અર્થ કા નિશ્ચય ન હો જૈસે-પહૂતસે કાર્યો કે ઉપસ્થિત હોને પર કોઈ કિસી સે જવ યહ પૂછતા હૈ કિ-‘ કહો મેં ઈસ સમય કૌનસા કામ કરૂં ? ’ તો વહ કહતા હૈ કિ-જો તુમ્હેં રુચે સો કરો ’ । ઈસ પ્રકાર કી માપાકા નામ અનભિગૃહીતા માપા હૈ ૮ । અભિગૃહીતા-અર્થ કો લક્ષ્ય કરકે જિસ માપાકા પ્રયોગ ક્રિયા જાતા હૈ વહ અભિગૃહીતા માપા હૈ-જૈસે યે વસ્ત્ર પાત્રાદિક ધર્મ કે ઉપકરણ હૈ ’ । અથવા ‘ ઈસ

પ્રતિપાદન કરવાવાળાના અર્થાત્-પ્રેરકના ઈચ્છાને અનુકૂળ જે માપા બોલાય છે તે ‘ઇચ્છાનુલોમા’ માપા છે જેમ-કોઈ કોઈને કોઈ શુભ કાર્ય મા પ્રેરણા કરે ત્યારે કહે કે ઠીક છે એ મારી પણ અભિલાષા છે અથવા-કોઈ શુભ કાર્યને પ્રારમ કરતા કોઈને પૂછે તો તે કહે કે-કરો એ મને પણ પસદ છે અથવા કોઈ એમ કહે કે હું સાધુની પાસે જઈ રહ્યો છું તો સાધુગનાર કહે કે, સાડ બાવ ૭ અનભિગૃહીતા-અર્થશુન્ય-‘ હિત્ય હવિત્યાદિ ’ શબ્દ બોલવો અથવા જેમા કોઈ એક અર્થનો નિશ્ચય ન હોય, જેમ-બધા કામો ઉપસ્થિત થતા કોઈ બીજાને બન્યારે એ પૂછે છે કે, કહો હું આ વખતે કયુ કામ કરૂં, તો તે કહે છે કે જે તમને રુચે તે કરો આ પ્રકારની માપાનુ નામ અનભિગૃહીતા માપા છે ૮ અભિગૃહીતા-અર્થનુ લક્ષ કરીને જે માપાનો પ્રયોગ કરવામા આવે છે તે ‘અભિગૃહીતા’ માપા છે જેમ-‘ આ વસ્ત્ર પાત્રાદિક ધર્મના ઉપકરણ છે ’ અથવા ‘ આ સમયે

પ્રજ્ઞાપની-વિનયસ્યોપદેશદાનરૂપા, અર્થત્રોધિકા માપા, યયા-હિંસાપ્રવૃત્તો-
જન્તદુઃસ્વભાગી ભવતિ ” ઇત્યાદિ । યથા ત્રા-પ્રાણિવધાન્નિવૃત્તા પ્રાણિનો મથે
મથે દીર્ઘાયુપો નીરોગાશ્ચ ભવન્તિ । ઉક્તશ્ચ--

પાણિવહાઝ નિયત્તા, હવતિ દીહાઝ યા અરોગા ય ।

એસ મઈ પન્નત્તા, પન્નવળી વીયરાગેહિં ॥ ૧ ॥ ૫ ॥

છાયા-પ્રાણિવધાદુ નિવૃત્તા, ભવન્તિ દીર્ઘાયુપઃ અરોગાશ્ચ ।

એપા મતિ પ્રજ્ઞા, પ્રજ્ઞાપની વીતરાગે ॥ ૧ ॥

પ્રત્યાભ્યાની-માપા-યાચમાનસ્ય પ્રતિપેઠ વચનમ્ । યથા-મર્યાદાતિરિક્ત વસ્ત્ર
પાત્રં ત્રા યાચમાન શિષ્ય પ્રતિ ગુરુર્હવતિ-“અધિક વસ્ત્ર પાત્ર વા ન દીયતે” ઇતિ ॥૬॥

પ્રજ્ઞાપનો-શિષ્ય કો ઉપદેશ દેને સ્વરૂપ જો માપા હોતી હૈ ફિ જિસસે
ઉસે અર્ગ કા અવધોધ હોતા હૈ ઉમકા નામ પ્રજ્ઞાપની માપા હૈ । જૈસે-“ જો
હિંસા મેં પ્રવૃત્ત હોતા હૈ વહ અનત દુઃસ્વ કા ભાગી હોતા હૈ ” અથવા
જો પ્રાણિવધ સે દૂર રહતે હૈ વે મથ મથ મેં દીર્ઘ આયુ પાતે હૈ તથા
નિરોગ શરીર હોતે હૈ ૫ । ઉક્તશ્ચ—

“ પાણિવહાઝ નિયત્તા, હવતિ દીહાઝયા અરોગા ય ।

એસ મઈ પન્નત્તા, પન્નવળી વીયરાગેહિં ॥ ”

પ્રત્યાભ્યાની-ગુરુ મહારાજ કે પામ યાચના કરતે છુદ્ધ શિષ્ય કે
લિયે જો નિપેઠાત્મક માપા કા પ્રયોગ હોતા હૈ વહ પ્રત્યાભ્યાની માપા હૈ,
જૈસે-મર્યાદા સે અતિરિક્ત વસ્ત્ર એવ પાત્ર કો યાચને વાલે શિષ્ય કો
ગુરુ મહારાજ કહતે હૈ ફિ-મર્યાદા સે અધિક વસ્ત્ર વ પાત્ર નહીં દિયા
જાતા હૈ ” ઇત્યાદિ ૬ । ઇચ્છાનુલોમા-પ્રતિપાદન કરને વાલે કી અર્થાત્

દેશ આપવા સ્વરૂપ જે ભાષા હોય છે તે જેનાથી તેને અથનેા અવધોધ થાય છે
એનું નામ પ્રજ્ઞાપનીભાષા છે જેમ-“ જે હિંસામા પ્રવૃત્ત બને છે તે અનત
દુઃસ્વનેા ભાગી થાય છે ” અથવા જે પ્રાણી વધથી દૂર રહે છે તે ભવોભવમાં
દીર્ઘાયુ યોગ્ય છે તથા શરીરે નિરોગી રહે છે ૫ કહ્યું છે કે—

“ પાણિવહાઝ નિયત્તા, હવતિ દીહાઝ યા અરોગા ય ।

એસ મઈ પન્નત્તા, પન્નવળી વીયરાગેહિં ॥ ”

પ્રત્યાભ્યાની-ગુરુ મહારાજની પાસે યાચના કરનાર શિષ્યને માટે જે
નિપેઠાત્મક ભાષાનેા પ્રયોગ હોય છે તે પ્રત્યાભ્યાની ભાષા છે જેમ-મર્યાદાથી
અતિરિક્ત વસ્ત્ર અને પાત્રની યાચના કરનાર શિષ્યને ગુરુ મહારાજ કહે છે કે
મર્યાદાથી વધુ વસ્ત્ર અને પાત્ર દેવામા આવતું નથી. (૨) ઇત્યાદિ । ઇચ્છાનુલોમા-

इच्छानुलोमा—प्रतिपादपितुर्या इच्छा तदनुलोमा—तदनुकूला । यथा शुभकार्येति प्रेरितस्य “ एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतत् ” एव रूपा, यथा वा कश्चित् किञ्चित् कार्यमारभमाणे कचन पृच्छति, स प्राह—‘ भवान् करोतु ममाप्येतदभिप्रेतम् ’ इति । यथा वा केनचित् कश्चिद्भक्त —“साधुसकाशं गच्छाम् ” स वदति—एवमस्तु इति ।

अभिगृहीता—अर्थमनभिगृह्य योच्यते ‘ इत्यादिवत् ’ । अथवा—अभिगृह्य यत्र न प्रतिनियतार्थावधारणम् । यथा—बहुपुण्यैश्चरितस्थितेषु कश्चित् कश्चित् पृच्छति—किमिदानीं करोमि ?, स प्राह—‘ यत् रोचते तत् कुरु ’ इति ॥ ८ ॥

अभिगृहीता—अर्थमभिगृह्य योच्यते—इदं वस्त्रपात्रादिकं धर्मोपकरणम्, अथ

प्रेरक की इच्छा के अनुकूल जो भाषा बोली जाती है वह ‘इच्छानुलोमा’ भाषा है—जैसे कोई किसी को किसी शुभ कार्य में प्रेरणा करे तब वह कहें कि ‘ठीक है यह मुझे भी अभिलषित है’ । अथवा कोई किसी शुभ कार्य का प्रारंभ करते हुए किसी को पूछे तो वह कहें कि—‘क्या यह मुझे भी पसंद है’ । अथवा—कोई ऐसा कहें—‘मैं साधु के पास जा रहा हूँ’ तो सुनने वाला कहता है कि अच्छा जाओ ७ । अनभिगृहीता—अर्थशून्य—इत्थद्वित्थादि शब्दों का बोलना । अथवा जिसमें किसी एक अर्थ का निश्चय न हो जैसे—पहुँचने से कार्यों के उपस्थित होने पर कोई किसी से जब यह पूछता है कि—‘कहाँ मैं इस समय कौनसा काम करूँ?’ तो वह कहता है कि—‘जो तुम्हें रुचें सो करो’ । इस प्रकार की भाषा का नाम अनभिगृहीता भाषा है ८ । अभिगृहीता—अर्थ लक्ष्य करके जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है वह अभिगृहीता भाषा है—जैसे ये वस्त्र पात्रादिक धर्म के उपकरण हैं’ । अथवा ‘इ

प्रतिपादन करवावाणानां अर्थात्—प्रेरकनीं धिष्ठाने अनुकूलने भाषा ज्ञेयाय छे ते ‘इच्छानुलोमा’ भाषा छे जेभ—कोई कोईने कोई शुभ कार्य मा प्रेरणा करे त्याः कहे के ही छे जे भारी पक्ष अभिवाषा छे अथवा—कोई शुभ कार्यने प्रारंभ करता कोईने पूछे तो ते कहे के—करे जे भने पक्ष पसंद छे अथवा कोई जेभ कहे के हुं साधुनी पास जे रक्षो छुं तो साभगनार कहे के, साइं भाव । अनभिगृहीता—अर्थशून्य—‘इत्य उचित्यादि’ शब्द ज्ञेयवे अथवा जेभा कोई जेक अर्थने निश्चय न होय, जेभ—बहु भाषा उपस्थित यता कोई जीबने व्याः जे पूछे छे के, कहे हुं आ वषते कसु काम करे, तो ते कहे छे के जे तभने रथे ते करे । आ प्रकारनी भाषानु नाम अनभिगृहीता भाषा छे ८ अभिगृहीता—अर्थ लक्ष्य करीने जे भाषाने प्रयोग करवाभा आवे छे ते ‘अभिगृहीता’ भाषा छे जेभ—‘आ वस्त्र पात्रादिक धर्मना उपकरण छे’ अथवा ‘आ समये

પ્રજ્ઞાપની-વિનયસ્યોપદશ્ચદાનરૂપા, અર્થબોધિકા માપા, યયા-હિંસાપ્રવૃત્તો-
જનન્તદુઃસ્વમાગી ભવતિ ” ઇત્યાદિ । યથા વા-પ્રાણિવધાન્નિવૃત્તા, પ્રાણિનો મને
મને દીર્ઘાયુષો નીરોગાથ ભવન્તિ । ઉક્તચ--

પાણિવહાઝ નિયત્તા, હવતિ દીઠાઝ યા અરોગા ય ।

એસ મઈ પન્નત્તા, પન્નવળી વીયરાગેહિં ॥ ૧ ॥ ૫ ॥

છાયા-પ્રાણિવધાવ્ નિવૃત્તા, મયન્તિ દીર્ઘાયુષઃ અરોગાથ ।

એપા મતિ પ્રજ્ઞા, પ્રજ્ઞાપની વીતરાગે ॥ ૧ ॥

પ્રત્યાખ્યાની-માપા-યાચમાનસ્ય પ્રતિપદ વચનમ્ । યથા-મર્યાદાતિરિક્તં વસ્ત્ર
પાત્રં વા યાચમાન શિષ્ય પ્રતિ ગુરુર્વદતિ-“અધિક વસ્ત્ર પાત્ર વા ન દીયતે” ઇતિ ॥૬॥

પ્રજ્ઞાપની-શિષ્ય કો ઉપદેશ દેને સ્વરૂપ જો માપા હોતી છે કિ જિસસે
ઉસે અર્થ કા અવબોધ હોતા હૈ ઉમકા નામ પ્રજ્ઞાપની માપા હૈ । જૈસે-“ જો
હિંસા મેં પ્રવૃત્ત હોતા હૈ વહ અનન્ત વુ ત્વ કા માગી હોતા હૈ ” અથવા
જો પ્રાણિવધ સે દૂર રહતે હૈં વે મત્ર મત્ર મેં દીર્ઘ આયુ પાતે હૈં તથા
નિરોગ શરીર હોતે હૈં ૫ । ઉક્તચ—

“ પાણિવહાઝ નિયત્તા, હવતિ દીઠાઝયા અરોગા ય ।

એસ મઈ પન્નત્તા, પન્નવળી વીયરાગેહિં ॥ ”

પ્રત્યાખ્યાની-ગુરુ મહારાજ કે પામ યાચના કરતે છુદ્ડ શિષ્ય કે
લિયે જો નિષેધાત્મક માપા કા પ્રયોગ હોતા હૈ વહ પ્રત્યાખ્યાની માપા હૈ,
જૈસે-મર્યાદા સે અતિરિક્ત વસ્ત્ર ણવ પાત્ર કો યાચને વાલે શિષ્ય કો
ગુરુ મહારાજ કહતે હૈં કિ-મર્યાદા સે અધિક વસ્ત્ર વ પાત્ર નહીં દિયા
જાતા હૈ ” ઇત્યાદિ ૬ । ઇચ્છાનુલોમા-પ્રતિપાદન કરને વાલે કી અર્થાત્

દેશ આપવા સ્વરૂપ જે ભાષા હોય છે તે જેનાથી તેને અર્થનો અવબોધ થાય છે
એવું નામ પ્રજ્ઞાપનીમાપા છે જેમ-“ જે હિંસામાં પ્રવૃત્ત બને છે તે અનન્ત
દુ ખનો ભાગી થાય છે ” અથવા જે પ્રાણી વધથી દૂર રહે છે તે બવોભવમાં
દીર્ઘાયુ ભોગવે છે તથા શરીરે નિરોગી રહે છે ૫ કહ્યું છે કે—

“ પાણિવહાઝ નિયત્તા, હવતિ દીઠાઝ યા અરોગા ય ।

એસ મઈ પન્નત્તા, પન્નવળી વીયરાગેહિં ॥ ”

પ્રત્યાખ્યાની-ગુરુ મહારાજની પાસે યાચના કરનાર શિષ્યને માટે જે
નિષેધાત્મક માપાનો પ્રયોગ હોય છે તે પ્રત્યાખ્યાની માપા છે જેમ-મર્યાદાથી
અતિરિક્ત વસ્ત્ર અને પાત્રની યાચના કરનાર શિષ્યને ગુરુ મહારાજ કહે છે કે
મર્યાદાથી વધુ વસ્ત્ર અને પાત્ર હોવામાં આવતું નથી. (૨) ઇત્યાદિ । ૭

इच्छानुलोमा-प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा=तदनुकूला। यथा शुभकार्ये प्रेरितस्य “ एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतत् ” एव रूपा, यथा वा रुश्चित् किञ्चित् शुभ कार्यमारभमाण. कंचन पृच्छति, स प्राह-‘ भवान् करोतु ममाप्येतदभिप्रेतम् ’ इति। यथा वा केनचित् कश्चिदुक्त -‘साधुसकाशं गच्छाम् ” स वदति-एवमस्तु इति॥७॥

अ अभिगृहीता-अर्थमनभिगृह्य योच्यते ‘ हित्यादिवत् ’। अथवा-अनभिगृह्य यत्र न प्रतिनियतार्थावधारणम्। यथा-बहुपुमार्येष्ववस्थितेषु रुश्चित् कचन पृच्छति-किमिदानीं करोमि ?, स प्राह-‘ यत् रोचते तत् कुरु ’ इति ॥ ८ ॥

अभिगृहीता-अर्थमभिगृह्य योच्यते-इदं वस्त्रपात्रादिक धर्मोपकरणम्, अथवा

प्रेरक की इच्छा के अनुकूल जो भाषा बोली जाती है वह ‘इच्छानुलोमा’ भाषा है-जैसे कोई किमी को किमी शुभ कार्यमें प्रेरणा करे तब वह कहे कि ‘ठीक है यह मुझे भी अभिलषित है’। अथवा कोई किसी शुभ कार्य का प्रारंभ करते हुए किसी को पूछे तो वह कहे कि-करो यह मुझे भी पसंद है। अथवा-कोई ऐसा कहे-‘मैं साधु के पास जा रहा हूँ’ तो सुनने वाला कहता है कि अच्छा जाओ ७। अनभिगृहीता-अर्थशून्य-हित्यद्वित्यादि शब्दों का योलना। अथवा जिसमें किसी एक अर्थ का निश्चय न हो जैसे-पहुनसे कार्यों के उपस्थित होने पर कोई किमी से जब यह पूछता है कि-‘कहो मैं इस समय कौनसा काम करूँ?’ तो वह कहता है कि-जो तुम्हें मचे सो करो’। इस प्रकार की भाषाका नाम अनभिगृहीता भाषा है ८। अभिगृहीता-अर्थ को लक्ष्य करके जिस भाषाका प्रयोग किया जाता है वह अभिगृहीता भाषा है-जैसे ये वस्त्र पात्रादिक धर्म के उपकरण हैं’। अथवा ‘इस

प्रतिपादन करवावाणानां अर्थात्-प्रेरकनी धर्मिणो अनुकूल ने भाषा बोलाय छे ते ‘इच्छानुलोमा’ भाषा छे जेभ-कोई कोई ने कोई शुभ कार्य भा प्रेरणा करे त्यारे कहे के कहे छे जे भारी पक्ष अभिवाषा छे अथवा-कोई शुभ कार्यना प्रारंभ करता कोईने पूछे तो ते कहे के-करे जे भने पक्ष पसंद छे अथवा कोई जेभ कहे के दु साधुनी पास जे रक्षो छुं तो सावगनार कहे के, साइं जव ७ अनभिगृहीता-अर्थशून्य-‘हित्य द्वित्यादि’ शब्द बोलावे अथवा जेभा कोई जेठ अर्थना निश्चय न होय, जेभ-वस्त्रा कामे उपस्थित यता कोई भीजने ब्यापे जे पूछे छे के, कहे दु आ वभते कयु काम करे, तो ते कहे छे के जे तभने जे ते करे. आ प्रकारनी भाषानु नाम अनभिगृहीता भाषा छे ८ अभिगृहीता-अर्थनु लक्ष करीने जे भाषानो प्रयोग करवामा आवे छे ते ‘अभिगृहीता’ भाषा छे जेभ-‘आ वस्त्र पात्रादिक धर्मना उपकरण छे’ अथवा ‘आ समय

—પ્રતિનિયતાર્થાવધારણમ્ । યથા—ઇદમિદાર્ની કર્તવ્યમ્, ઇદ્ ન કર્તવ્યમિતિ ॥૧॥

સશયકરણી—યાઽનેકાર્થપ્રતિપત્તિરૂપી સા । યા માપા અનેકાર્યામિધાયિ તયા પરસ્પ સશયમુત્પાદયતિ, યથા—સૈન્ધવમાનયેત્યત્ર સૈન્ધવશબ્દો નરજ્ઞવળ વાજિવાચકત્વેન સશયોત્પાદક ॥ ૧૦ ॥

વ્યાકૃતા—યા પ્રકટાર્થા । યથા—અહિંસા—સર્વકલ્યાણકારિણી ॥ ૧૧ ॥

અવ્યાકૃતા—અતિગમ્બીરશબ્દાર્થા, અવ્યક્તાક્ષરપયુક્તા વા, યથા—
“સયત-સ્ય મહત્પાપ પ્રતિક્રમણકર્મણા” । ઇત્યાદિ, યથા વા મમ્મગાદિ વાલમાપા ॥ ૧૨ ॥ ઇપા=આમન્ત્રણ્યાદિકા માપા પ્રજ્ઞાપની સ્વલુ-પ્રજ્ઞાપ્યતે પ્રક્ટી ક્રિયતેઽર્યોઽનયેતિ પ્રજ્ઞાપની અર્થકથની, સા માપણીયા ઇત્યર્થ । નૈપા માપા મૃપા

સમય યદ્ કરના ચાહિયે, યદ્ નહીં કરના ચાહિયે ’ ૦ । સશયકરણી-
જિસ માપા સે સુનને વાલેકો અનેક અર્થો કી પ્રતિપત્તિ હોને લગે ઉસ માપા કા નામ સંશયકરણી માપા હૈ, જૈસે-કિસી ને કહા કિ-‘સૈન્ધવ લાઓ’ યદ્ સૈન્ધવ શબ્દ પુરુષ, લવણ ઓર ઘોઢે રૂપ અર્થો કા પ્રતિપાદક હૈ, અતઃ સુનને વાલે કો સશય જનક હો જાતા હૈ ૧૦ । વ્યાકૃતા-
જિસકા અર્થ સ્પષ્ટ હોતા હૈ વદ્ વ્યાકૃતા માપા હૈ જૈસે-“અહિંસા સર્વ પ્રકાર સે કલ્યાણ કરને વાલી હૈ” ૧૧ । અવ્યાકૃતા-અતિગમ્બીર શબ્દાર્થવાલી માપા અવ્યાકૃતા માપા હૈ । અથવા-જો અવ્યક્ત અક્ષર સે યુક્ત હોતી હૈ વદ્ માપા અવ્યાકૃતા માપા હૈ જૈસે-“સયત-સ્ય મહત્પાપ પ્રતિક્રમણકર્મણા” પ્રતિક્રમણ કર્મ સે સયત કો ઘઠા મારી પાપ લગતા હૈ । યદ્ યાં પર જય “સ્ય” કો ક્રિયાપદ માન લિયા જાતા હૈ તય્ ઇસકા

આ કરવું જોઈએ આ ન કરવું જોઈએ ” ૯ સશયકરણી-જે માપામાં સાબગ નારને અનેક અર્થોનો આભાસ થવા લાગે તે માપાનું નામ સશયકરણી માપા છે જેમ ઠોઠએ ઠહુ ઠ—“સૈન્ધવ લાઓ” આ સૈન્ધવ શબ્દ પુરુષ મીઠું અને ઘોઠારૂપ અર્થોનો પ્રતિપાદક છે આથી સાબળવાવાળાને પ્રકરણાદિના અભાવમાં સશયજનક બને છે એ માટે પ્રકરણ સમજાને આ માપા બોલવામાં દોષ નથી કેમકે, તે વ્યવહારૂ માપા છે ૧૦ વ્યાકૃતા-જેનો અર્થ સ્પષ્ટ થાય છે તે વ્યાકૃત માપા છે જેમ-“અહિંસા” સર્વ પ્રકારથી કલ્યાણ કરવાવાળી છે ” ૧૧ અવ્યાકૃતા અતિ ગમ્બીર શબ્દાર્થવાળી માપા અવ્યાકૃતા માપા છે અથવા-જે અવ્યક્ત અક્ષરથી યુક્ત હોય છે તે માપા અવ્યાકૃતા માપા છે જેમ—

સયત-સ્ય મહત્પાપ પ્રતિક્રમણા કર્મણા—

પ્રતિક્રમણ કર્મથી સયતને મીઠું ભારે પાપ લાગે છે, અહિં વ્યાપે “સ્ય” ને ક્રિયાપદ માનવામાં આવે ત્યારે એનો અર્થ એવો થાય છે કે, છે

-एषा भाषा मृषा अवक्तव्या नेत्यर्थः । प्रश्नकर्तुरयमभिप्राय - 'आशयिव्यामहे' इत्यादिका भाषा भविष्यत्कालविषया, साच्चान्तरायसमवेन कदाचिदर्थ्याभिधायिनी न स्यात् । तथा एकार्थविषयाऽपि बहुवचनान्ततयाऽभिहिता तस्मादयथार्था । तथा-आमन्त्रणीप्रभृत्तिका, सत्यभाषावदर्थे नियता नास्ति विधिप्रतिषेधबोधकत्वात् भावात्, अतः किमिय वक्तव्या स्यात्, उत न ? इति ।

अर्थ ऐसा होता है कि हे सयत ? प्रतिक्रमण कर्म से तुम अपने पापोंका क्षय करो । यह बोध शीघ्र नहीं हो सकता है, अतः इसे अव्याकृत भाषा कहा है । अथवा-बालककी भाषाको अव्याकृत भाषा कहते हैं १२ । ये सय भाषायें प्रज्ञापनी हैं, यह प्रज्ञापनी भाषा मृषास्वरूप नहीं है । प्रश्न करने वालेका कहने का हेतु यह है-जब यह कहा जाता है कि हम 'शयनकरेंगे' इत्यादि, तब यह भाषा भविष्यत् काल को विषय करने वाली होने से अर्थकी पूर्ति में असमर्थ जान पड़ती है, कारण कि अन्तराय कर्म के उद्देश्य की सभावना होने से उस विवक्षित अर्थकी कदाचित् पूर्ति न भी हो सके तो फिर जिस प्रकार मृषाभाषा अर्थको कहनेवाली नहीं मानी जाती है उसी प्रकार यह भाषा भी अनर्थाभिधायिनी मान लेना चाहिये तथा "हम शयनकरेंगे" इस कथनमें "मैं शयनकरूँगा" इस एक वचन के ही प्रयोग में बहुवचन का प्रयोग किया गया है । जैसे एक को अनेक कहनेवाली भाषा अयथार्थ मानी जाती है । उसी प्रकार यह भी अयथार्थ मानी जानी चाहिये । इसी तरह आमन्त्रणी भाषाएँ भी सत्य भाषाकी तरह अर्थ में नियत नहीं हैं, क्योंकि इनमें विधि एव प्रतिषेध की बोधकता का अभाव है, इसलिये यह सदेह होता है कि यह धोलने के योग्य है अथवा नहीं है । इस प्रकारकी आशंका का यह उत्तर है कि

सयत । प्रतिक्रमण कर्मधी तमे तमारा पापानो क्षय करे । आ बोध अवधी धर्ष शकते नथी आधी आने अव्याकृता भाषा कडेवाभा आवे छे अथवा-
प्राणकनी भाषाने अव्याकृत भाषा कडेवाभा आवे छे १२ आ अधी भाषा प्रज्ञापनी छे आ प्रज्ञापनी भाषा मृषा स्वरूपनी नथी । प्रश्न करनारना कडेवानो मतवध ओ छे के, न्यारे ओम कडेवाभा आवे छे के, "अमे सुधं ओ छीजे" आ कथनमां "हुं सुठं हुं" आ ओठ वचनना प्रयोगमां बहु वचनने प्रयोग करवाभा आवे छे जेम ओकने अनेक कडेवावाणी बारा अयथार्थ मानवाभा आवे छे ओ रीते पञ्च अयथार्थ मानवी बोधं ओ आ रीते आमन्त्रणी भाषाओ पञ्च सत्य भाषानी जेम अर्थमा नियत नथी केभके, ओनामां विधि आने प्रतिषेधनी बोधकतानो अभाव छे आ भाटे ओ सदेह थाय छे, ओ बोधवाने योग्य छे,

अभोत्तरमाह—हंता । इत्यादि । ' इन्त ' इति स्वीकारार्थकः, अय भावः—
 ' आशयिष्यामहे ' ' शयिष्यामहे ' इत्यादिका भाषा निश्चयात्मकशब्दप्रयोगा
 भाषान्नास्ति निश्चयात्मिका, या तु—' आशयिष्यामहे एव ' ' शयिष्यामहे एव '
 इत्यादिका निश्चयात्मिका सैवान्तरायसमवाद् भविष्यत्कालविषया भाषा सृषा
 भवितुमर्हति । ' आशयिष्यामहे ' इत्यादी तु-श्रयनादिक्रियायां वक्तुरभिमायः
 "श्रयनादिक्रियाकरणस्य भावो मम वर्तते" इत्यादि रूप सत्य एवास्तीति भवति
 प्रज्ञापनी । एकार्थविषये बहुवचनाभिधानमपि आत्मनि गुरौ च शास्त्रानुमत,
 तस्माद् बहुवचनान्ततया प्रयुक्ताऽपि प्रज्ञापन्येव भवति । एवमामन्त्रण्यादिकाऽपि ।

' आश्रयिष्यामहे ' इत्यादिक भाषाएँ निश्चयात्मक शब्द के प्रयोग के
 अभाव से निश्चयात्मक नहीं हैं । ये निश्चयात्मक जब ही मानी जाती
 हैं कि जब इनके साथ निश्चयात्मक शब्दका प्रयोग किया हुआ होता है ।
 जैसे—आश्रयिष्यामहे एव, शयिष्यामहे एव" इस प्रकारकी निश्चया-
 त्मक भाषा में जो कि भविष्यत् कालको विषय करनेवाली हो अन्तराय
 कर्म के उदय से अपने अर्थकी पूर्ति की निश्चितता सदिग्ध रहती है अत
 वही भाषा मृषावाद रूप मानी जाती है । " आश्रयिष्यामहे " इत्यादि
 भाषा में तो शयनरूप क्रिया करने का भाव ही केवल वक्ता का रहा
 हुआ है अत उस अपेक्षा वह सत्य ही है । इसी अर्थ को मन में रख
 कर मुनिराज भविष्यत्काल के अर्थ में भाव शब्द का प्रयोग करते हैं,
 जैसे—'कल स्वाध्याय करने का भाव है' अथवा—'तपस्या करने का
 भाव है' इत्यादि । एकवचन में भी व्याकरणसिद्धान्त के अनुसार

अथवा नथी अने प्रकारनी आश्रयिष्यामहे आ उत्तर छे के, " आश्रयिष्यामहे " इत्यादिक
 भाषाओं निश्चयात्मक नथी अने निश्चयात्मक ल्यारे अ मानवामा आवे
 के ल्यारे अनी साथे निश्चयात्मक शब्दने प्रयोग करवामा आवेस होय
 अने आश्रयिष्यामहे एव शयिष्यामहे एव—आ प्रकारनी निश्चयात्मक भाषामां
 के अ भविष्यत् कालने विषय करवावाणी होय अन्तराय कर्मना उदयथी
 तेना अर्थनी पूर्तिनी निश्चितता सदिग्ध रहे छे आथी ते भाषा मृषा
 वा रूप मानवामा आवे छे " आश्रयिष्यामहे " इत्यादि भाषामां ते कहेनारने
 सुवानी क्रिया करवाने भाव अ इच्छत रहेस छे आथी अने अपेक्षाथी ते सत्य
 अ छे आ अ अथने मनमा राथी मुनिराज भविष्यत्कालना अर्थमां भाव शब्दने
 प्रयोग करे छे अने—' कले स्वाध्याय करवाने भाव छे ' अथवा " तपस्या
 करवाने भाव छे " इत्यादि । अने अन्तराय अथ ल्याकरण सिद्धान्तनी

યા નિરવધપુરુષાર્થસાધની સા પ્રજ્ઞાપન્યેવ । યયા “ હે સાધો ! ” “ ઇદં કુર ” “ ઇદ મા કુર ” ઇત્યાદિકા । સા તુ માપણીયૈવેતિ ।

માપાદોષ=સાવધાનુમોદનાદિક, મૃપા-કર્કશાસમ્યશબ્દોચ્ચારણાદિક ચ, પરિહરેત્ । ચ-પુન., માયાં સદા=સર્વકાલ પરિવર્જયેત્ ।

અત્ર માયામિરયુપલક્ષણમ્, ક્રોધમાનલોભાના કપાયાણામ્ । સર્વાન્ કપાયાન્ પરિવર્જયેદિત્યર્થ । કપાયાણાં મૃપામાપણહેતુત્વાત્, કપાયવર્જને સતિ મૃપામાપણપરિહારઃ સુતરા સ્યાદિતિ માત્ર ॥ ૨૪ ॥

વહુવચન કા પ્રયોગ હો જાતા હૈ । વહા કહાગયા હ કિ અપને મેં ણ્વ ગુરુ મેં વહુવચન કા પ્રયોગ કરના નિર્દોષ હૈ, ઇસલિયે ણ્ક મેં મી વહુ વચનાન્તરૂપ સે પ્રયુક્ત માપા પ્રજ્ઞાપની હી માપા હૈ । ડસી તરહ આમન્વણી આદિ માપાં મી જો નિરવધ પુરુષાર્થ કી સાધક હોતી હૈં વે પ્રજ્ઞાપની હી હૈં । જૈસે—“ હે સાધો । ” “ યહ કરો યહ મત કરો ” ઇત્યાદિ ।

સાવધ કર્મ કી અનુમોદના આદિ કરના યહ માપા દોષ હૈ । ઇસી પ્રકાર કર્કશ ણ્વ કઠોર શબ્દ કા ઉચ્ચારણ કરના આદિ મી મૃપા માપા મેં હી અન્તર્હિત હૈ । માયા શબ્દ ઉપલક્ષણ હૈ । ઇસલિયે ક્રોધાદિક કપાય કે વિષય મેં મી સમક્ષ લેના ચાહિયે, ક્યોં કિ કપાય કે આવેશ સે હી મૃપામાપણ હોતા હૈ । ઇન્કે પરિવર્જન સે મૃપામાપાકા પરિવર્જન હો જાતા હૈ । અતઃ માપાદોષ ણ્વ માયા કા સદા કાલ પરિત્યાગ કર વેના ચાહિયે ॥ ૨૪ ॥

બહુ વચનનો પ્રયોગ યદ્ બલ્ય છે, આથી એ બતાવાયુ છે કે, પોતાનામાં અને ગુરુ મહારાજમાં બહુ વચનનો પ્રયોગ કરવો નિર્દોષ છે આ માટે એકમાં પણ બહુવચનાન્તરૂપથી પ્રયુક્ત ભાષા પ્રજ્ઞાપની ભાષા જ છે આ રીતે આમન્વણી આદિ ભાષાઓ પણ જે નિરવધ પુરુષાર્થની સાધક હોય છે તે પ્રજ્ઞાપની જ છે જેમ—“ હે સાધો ! ” “ આ કરો, આ ન કરો, ” ઇત્યાદિ ।

સાવધ—કર્મની અનુમોદના આદિ કરવી એ ભાષા દોષ છે આ પ્રકારે કર્કશ અને કઠોર શબ્દનું ઉચ્ચારણ કરવું આદિ પણ મૃપાભાષામાં જ અન્તર્હિત છે માયા શબ્દ ઉપલક્ષણ છે આ માટે ક્રોધાદિક કપાયના વિષયમાં પણ સમજવું એઈએ કેમકે, કપાયના આવેશથી જ મૃપાભાષણ થાય છે તેના ત્યાગથી મૃપા ભાષાનો ત્યાગ થાય છે આથી ભાષાદોષ અને માયાનો સહાકાળ પરિત્યાગ કરી દેવો એઈએ (૨૪)

મૂલમ્—ને લવેર્જજ પુટ્ટો સાવજ્જ, નં નિરેટ્ઠ ન મમ્મય ।

અપ્પણઠ્ઠા પરઠ્ઠા વો, ઉભયેસ્સતરેણે વો ॥ ૨૫ ॥

છાયા—ન છપેત્ પૃષ્ટ સાવઘ, ન નિરર્થ ન મર્મગમ્ ।

આત્માર્થ પરાર્થ વા, ઉભયસ્ય અન્તરેણ વા ॥ ૨૫ ॥

ટીકા—‘ન લવેર્જજ’ ઇત્યાદિ । પૃષ્ટઃ=કેનચિત્, સાવઘ-અવઘેન-પાપેન સહ વર્તેતે શ્વિ સાવઘ-સદોષ વચન ન લપેત્=ન વદત્, સાવઘ્યવચન હિ રાગદ્વે પાદિદુર્ગુણનિધાન સકલાસ્રવનિદાનમ્, આત્મમમાધિવિધુવિધુત્તદસ્વરૂપ, ગુણહ્રસ્ત-મૂલોન્મૂલને પ્રચ્છન્નજ્ઞાવાતરૂપ, કપાયધિવલ્લીવર્ધક, પશ્ચીવનિકાયોપમર્દકમ્ ।

ન લવેર્જજ ઇત્યાદિ—

અન્વયાર્થ—(પુટ્ટો સાવજ્જ ન લવેર્જજ-પૃષ્ટઃ સાવઘ ન લપેત્) કિસી કે દ્વારા પૂછે જાને પર સાવઘ-પાપયુક્ત વચન નહીં યોલના યાહિયે । (ન નિરેટ્ઠ ન મમ્મય-ન નિરર્થક ન મર્મગ) નિરર્થક વચન નહીં યોલના યાહિયે । મર્મ ઉદ્ઘાટક વચન નહીં યોલના યાહિયે । (અપ્પ ણઠ્ઠા પરઠ્ઠા વા ઉભયેસ્સતરેણ વા સાવજ્જં ન લવેર્જજ-આત્માર્થ પરાર્થ વા ઉભયસ્યાન્તરેણ વા સાવઘ ન લપેત્) અપને નિમિત્ત અથવા પર કે નિમિત્ત તથા ઉભય-સ્ય પર કે નિમિત્ત ઓર વિના પ્રયોજન કે (વ્યર્થ) મી સાવઘ વચન નહીં યોલના યાહિયે । ક્યોં કિ-સાવઘ વચન રાગ દ્વેષ આદિ દુર્ગુણોં કા નિધાન હૈ, સમસ્ત આસ્રવોં કા નિદાન-કારણ હૈ, આત્મસમાધિરૂપ ચન્દ્રમા કો ઘસન કરને મેં રાહુસમાન હૈ, ગુણરૂપ વૃક્ષોં કો જહ સે ઉચ્ચાહ ને મેં પ્રચ્છન્ન જ્ઞાણવાત સમાન હૈ, તથા કપાય

ન છવેર્જજ ઇત્યાદિ—

અન્વયાથ—પુટ્ટો સાવજ્જ ન છવેર્જજ-પૃષ્ટ સાવઘ ન લપેત્—કેનચિત્ પુછવાથી પાપયુક્ત સાવઘ વચન યોલવું જોઈએ નહીં ન નિરેટ્ઠ ન મમ્મય-ન નિરર્થક ન મર્મગ નિરર્થક વચન યોલવું ન જોઈએ અને મર્મઉદ્ઘાટક વચન યોલવું ન જોઈએ.

અપ્પણઠ્ઠા પરઠ્ઠાવા ઉભયેસ્સતરેણ વા સાવજ્જ ન લવેર્જજ—

આત્માર્થ પરાર્થ વા ઉભયસ્યાન્તરેણ વા સાવઘ ન લપેત્—

ચોતાના નિમિત્ત અથવા બીજાના નિમિત્ત તથા અરસપરસના નિમિત્ત અને વગર પ્રયોજન (વ્યર્થ) સાવઘ વચન ન યોલવા જોઈએ

કેમકે, સાવઘ વચન રાગ દ્વેષ આદિ દુઃખોવું નિધાન છે, સમસ્ત આસ્રવોતુ કારણ છે, આત્મસમાધિરૂપ ચન્દ્રમાનું શ્લેષ્ય સ્થિત કરવામાં શકું સમાન છે, શુભરૂપ વૃક્ષને જડથી ઉખેડવામા પ્રચ્છન્ન જ્ઞાણવાત સમાન છે તથા

सावयवचनभाषणदृष्टान्त—

निरवयवापानमिज्ञ' कश्चिदश्वपतिर्ऽत्रमूल्यकमद्य विक्रेतु कस्मिंश्चिन्नगर-
जगाम । तत्राकस्मादश्वपतिदस्तादश्वो निर्मुक्त सन् धावति । धावन्तमश्व परिग्रहीतु
तत्पृष्ठतोऽश्वपतिरपि धावति । त परिग्रहीतुमशक्तोऽसौ धावनात् परिश्रान्त कोपा-
वशेन तदानीं स्वाभिमुखमागच्छन्त रचिद् भाषादोपानमिज्ञ दण्डहस्त पुरुषम-
ग्रवीत्-भो ! अश्वोऽयं धावति, एन मारय मारय, एवमुक्तोऽपौ दण्डेन तमश्व
मर्मस्थाने ताडितवान् । तदाऽसौ दण्डाघातेन मृत । अथाश्वपतिस्त तुरगघातक
रूप विपलताओं को यदाने में मेषममान है, एव पट्टजीवनिकायों का
उपमर्दन करने वाला है ।

सावयव चन के घोलन में जीव को क्या हानी उठानी पड़ती है,
इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है

एक अश्वपति था जो निरवयव भाषा घोलने का अनभिज्ञ था । वह
एक लाव रुप्या की कीमत वाले अपने घोड़े को बेचने के लिये किसी
नगर में आया । वहाँ आते ही उसके हाथ से वह घोड़ा छूटकर भाग
निकला । भागते हुए उस घोड़े का पीछा करने पर भी वह पकड़ नहीं
सका । जब वह दौड़ते र धक गया तो क्रोधके आवेश में आकर इंसने
एक पुरुष से जो हाथ में दंडा लिये हुए इसकी ही ओर आ रहा था ।
तथा भाषा के दोष से अनभिज्ञ था कहा कि हे माई देखो यह घोड़ा
जो भाग रहा है इसे मारो मारो । इस प्रकार अश्वपति के कहने पर
उस व्यक्ति ने एक दंडा ऐसा मारा जो उस घोड़े के मर्मस्थान में लगा ।

कथयत्तु वि० वत्ताञ्जोने वधारनार छे, प२ एवनाकाथोनु उपमर्दन करनार छे
सावयव वचन ओववाधी शु अनथ' थाय छे, ते आ द्रष्टात द्वारा स्पष्ट
करवाभा आवे छे—

એક અશ્વપતિ હતો, જે નિરવયવ ભાષા બોલવામાં અનભિજ્ઞ હતો તે
એક લાખ રૂપીયાની કિંમતના ચેતાના ઘોડાને વેચવા માટે કોઈ એક નગરમાં
ગયો ત્યાં પહોંચતા જ તેના હાથમાંથી તે ઘોડો છુટીને ભાગી ગયો, ભાગી
રહેલા તે ઘોડા પાછળ તેને હાથ કરવા તે ખૂબ દોડ્યો છતાં પકડી શકાય
નહીં ત્યારે તે દોડતા દોડતા થાકી ગયો ત્યારે ક્રોધના આવેશમાં આવી એણે એક
પુરુષ, કે જે હાથમાં દંડો લઈને તેની સામે આવી રહ્યો હતો અને તે ભાષાના
દોષથી અબ્બણ હતો, તેને કહ્યું કે હે ભાઈ ! આ ઘોડો જે ભાગી રહ્યો છે તેને મારો
આ પ્રકારે એ અશ્વપતિના કહેવાથી તેણે માણસે એક દંડો ઘોડાને એવો માર્યો
કે જે મર્મસ્થાનમાં લાગવાથી તેના પ્રહારના કારણે ઘોડો એજ વખતે મરી ગયો

गृहीत्वा न्यायालय गत । तत्र स न्यायाध्यक्षसनिधौ वदति—अनेन मम लक्ष्म
 व्यक्तस्तुरगो दण्डाघातेन मारितः। तदा न्यायाध्यक्षण कथितम्—‘कथय कस्ते साक्षी’
 इति । अश्वपतिर्घृते—अस्यैव पुत्रो मम साक्षी । न्यायाध्यक्षेण पृष्टस्तपुत्रोऽवदत्—
 अनेनाश्वपतिना मम पिता निगदित —“ भो ! तुरगोऽयं धावति, एनं मारय मारय ”
 इति । तदा मम पिता दण्डेनास्य तुरगो मारित । एव साक्षिभाषण श्रुत्वा न्याया-
 धीशो मनसि विचारयति—अहो ! सावद्यभाषादोषानभिज्ञतयाऽनेनाश्वपतिना ‘ मारय
 मारय ’ इत्युक्तम् दण्डताडनभय प्रदर्श्य तुरगं निर्वर्तयेत्याशयेनानेन प्रोक्तमेतत् ।

घोडा दंडा के प्रहार से शीघ्र मर गया । जब अश्वपति ने अपने घोड़ेको
 मरा हुआ दग्वा तो वह उस मारने वाले को पकड़कर न्यायालय ले
 गया । न्यायधीश के समक्ष उसके ऊपर अभियोग (आरोप) लगा ने के
 अभिप्राय से इसने कहा कि इसने मेरा एक लाख रुपये की कीमत का
 घोडा दंडे के प्रहार से मार दिया है । यह सुनकर न्यायधीश ने कहा
 ठीक है । परंतु इसका साक्षी कौन है कहो ! अश्वपतिने कहा कि साहेब !
 इसका पुत्र ही मेरे इस विषय में साक्षी है । न्यायधीश ने उसके पुत्र
 से पूछा—तब पुत्र ने कहा कि स्वयं इस अश्वपति ने ही मेरे पिता से
 घोड़े को मारने के लिये कहा था । अतः मेरे पिता ने दंडे के प्रहार से
 इस के घोड़े को मारा है । इस प्रकार साक्षी के भाषण को सुनकर
 न्यायधीश ने मन में विचार किया मालूम पड़ता है कि घोड़े का यह
 स्वामी भाषा दोष से अनभिज्ञ है । इसलिये इसने “मारो मारो”
 ऐसा कहा है । इसके कहने का अभिप्राय केवल उस समय इतना ही
 था की यह दण्डे का भय दिखलाकर उस घोड़े को लौटा देवे । इस

न्याय अश्वपतिने पोताना घोडाने मरवु पायेवे जेथे त्यारे ते मार
 नारने पकडी न्यायालयमा लई जेथे, न्यायाधधीशनी सामे तेना उपर आरोप
 लगाववाना भाषधी तेखे कहु के, आ भाषसे मारा जेक लाख रुपयानी किंम
 तना घोडाने डडाना प्रहारधी मारी नायेव छे आ सांभणीने न्यायाधीशे कहु
 डीक छे परंतु आने साक्षी केवु छे ते कहेल अश्वपतिने कहु के, साहेब !
 तेना पुत्र ज मारा आ विषयमा साक्षी छे न्यायाधीशे तेना पुत्रने पूछु त्यारे
 पुत्रे कहु के, आ अश्वपतिने पोते ज मारा पिताने घोडाने मारवानु कहु कहु
 आधी मारा पिताने डडाना प्रहारधी तेना घोडाने मारव छे आ प्रहारे साक्षीनु
 भाषवु सांभणी न्यायाधीशे मनमा विचार कये के घोडाने आ स्वामी भाषा
 दोषधी अनभिज्ञ छे तेवु ज्ञाय छे, आ भाटे तेखे मारो, मारो । जेभ
 कहेल छे आभ कहेवाने अभिप्राय केवण ते समय जेटेवे ज कते के, डडाने

ઇત્ય મનસિ વિમૃશ્ય ન્યાયાધીશ સાવધમાપામાપિગમન્વપતિ પ્રાહ—ત્વયા સાવધ-
માપા પ્રોક્તા, તત્કલમેતત્ પ્રાપ્તમ્ । પુનરેવ કદાપિ કથમપિ સાવધમાપા ન
ચાગ્યા ॥ ઇતિ । તથા નિરર્થમ્=અર્થરહિત ન લપેત્, યથા—

एष वन्द्यासुतो याति, खपुष्पकृतशेखर ।

मृगतृष्णाम्मसि स्नात, शशश्रृगधनुर्धर ॥ ૧ ॥

પ્રકાર વિચાર કર સાવધ માપા માપી उस अश्वस्वामी से न्यायधीशने
કહા કિ इसका क्या अपराध है ! अपराध तो तेरा ही है । जो तूने
मारो २ इस प्रकारकी सावध भापा द्वारा इसे मार ने के लिये उत्साहित
क्रिया, उसीका यह फल है । अब आगे इस यात का ध्यान रखो कि
इस प्रकारकी सावध भापा न बोली जाय ।

इसी प्रकार निरर्थक भापा भी नहीं बोलनी चाहिये । जिस भापा
का कोई अर्थ नहीं होता हो ऐसी भापा का प्रयोग करना भी वर्जित
पतलाया गया है—जैसे—

एष वन्द्या सुतो याति । खपुष्पकृतशेखर ।

मृगतृष्णाम्मसि स्नात । शशश्रृग धनुर्धर ॥ ૧ ॥

यह वन्द्या पुत्र जा रहा है । इस के शिर पर आकाश के पुष्पों को
माला है, तथा यह मृग तृष्णा के जल में स्नान किया हुआ है, इस के
हाथ में शशले के सींग का धनुष है । इस प्रकार के वचन निरर्थक
होते हैं । क्योंकि न तो वन्द्या का कोई पुत्र होता है, न आकाश का

અવ દેખાડી તે ઘોડાને પાછો ફેરવી દે આ પ્રકારને વિચાર કરી સાવધ ભાવ-
માપી તે અશ્વસ્વામીને ન્યાયાધીશે કહ્યુ આને શુ અપરાધ છે, અપરાધ તો તારોજ
છે, જે તે મારો, મારો ! આ પ્રકારની સાવધ ભાષા દ્વારા તેને મારવા માટે
ઉત્સાહિત બનાવ્યો તેનું આ ક્ષણ છે, હવે પછી એ વાત ધ્યાનમાં રાખો કે આ
પ્રકારની સાવધ ભાષા બોલવામાં ન આવે

આજપ્રકારે—નિરર્થક ભાષા પણ ન બોલવી જોઈએ જે ભાષાને કોઈ
અર્થ ન થતો હોય એવી ભાષાને પ્રયોગ કરવો એ નિરર્થક બતાવવામાં
આવેલ છે જેમ—

“एष वन्द्या सुतो याति ख पुष्प कृत शेखरः ।

मृगतृष्णाम्मसि स्नातः शशश्रृग धनुर्धर” ॥ ”

આ વધ્યાપુત્ર જઈ રહ્યો છે, તેના માથા ઉપર આકાશના પુષ્પોની માળા છે,
તથા એણે મૃગતૃષ્ણાના જળમાં સ્નાન કરેલ છે, એના હાથમાં શશલાના
સીંગનું ધનુષ્ય છે, આ પ્રકારનાં વચન નિરર્થક હોય છે, કેમકે, ન તો વધ્યા

મુદ્રીત્યા ન્યાયાલય ગત । તપ્ત સ ન્યાયાધ્યક્ષસનિધૌ વદતિ—એનેન મમ લક્ષ્મ
વ્યકસ્તુરગો દણ્ડાઘાતેન મારિત્ । તદા ન્યાયાધ્યક્ષેણ કથિતમ્—‘કથય કસ્તે સાક્ષી’
ઈતિ । અશ્વપતિર્વૃત્તે—અસ્યૈવ પુત્રો મમ સાક્ષી । ન્યાયાધ્યક્ષેણ પૃષ્ટસ્તત્પુત્રોઽવદત્—
એનેનાશ્વપતિના મમ પિતા નિગદિત —“ મો ! તુરગોઽય ધાવતિ, એન મારય મારય ”
ઈતિ । તદા મમ પિત્રા દણ્ડેનાસ્ય તુરગો મારિત । એવ સાક્ષિમાપ્ત્તં શ્રુત્વા ન્યાયા-
ધીશ્ચો મનસિ વિચારયતિ—અહો ! સાવધમાપાદોપાનમિશ્નતયાઽનેનાશ્વપતિના ‘ મારય
મારય ’ ઇત્યુક્તમ્ દણ્ડતાઢનમય પ્રદર્શ્ય તુરગ નિવર્તયેત્યાશ્ચયેનાનેન પ્રોક્તમેતત્ ।

ઘોઢા દંડા કે પ્રહાર સે શીઘ્ર મર ગયા । જય અશ્વપતિ ને અપને ઘોઢેકો
મરા હુઆ ઢસ્વા તો વહ્ ઉસ મારને વાલે કો પકડકર ન્યાયાલય લે
ગયા । ન્યાયધીશ કે સમક્ષ ઉસકે ઉપર અભિયોગ (આરોપ) લગા ને કે
અભિપ્રાય સે ઇસને કહ્યા કિ ઇસને મેરા ણક લાલ્હ રુપયે કી કીમત કા
ઘોઢા દંડે કે પ્રહાર સે માર દિયા હૈ । યદ્ સુનકર ન્યાયધીશ ને કહ્યા
ઠીક હૈ । પરતુ ઇસકા સાક્ષી કૌન હૈ કહો ! અશ્વપતિને કહ્યા કિ સાહેબ !
ઇસકા પુત્ર હી મેરે ઇસ વિષય મેં સાક્ષી હૈ । ન્યાયધીશ ને ઉસકે પુત્ર
સે પૂછા—તપ્ત પુત્ર ને કહ્યા કિ સ્વયં ઇસ અશ્વપતિ ને હી મેરે પિતા સે
ઘોઢે કો મારને કે લિયે કહ્યા થા । અતઃ મેરે પિતા ને દંડે કે પ્રહાર સે
ઇસ કે ઘોઢે કો મારા હૈ । ઇસ પ્રકાર સાક્ષી કે માપણ કો સુનકર
ન્યાયધીશ ને મન મેં વિચાર કિયા માલૂમ પહતા હૈ કિ ઘોઢે કા યહ
સ્વામી માયા દોષ સે અનભિજ્ઞ હૈ । ઇસલિયે ઇસને “મારો મારો”
એસા કહ્યા હૈ । ઇસકે કહને કા અભિપ્રાય કેવલ ઉસ સમય ઇતના હી
થા કી યહ્ દણ્ડે કા મય વિસ્ત્રલાકર ઉસ ઘોઢે કો લૌટા દવે । ઇસ

ન્યાયે અશ્વપતિએ પોતાના ઘોડાને મરણ પામેલો જોયો ત્યારે તે માર
નારને પકડી ન્યાયાલય લઈ ગયો, ન્યાયાધીશની સામે તેના ઉપર આરોપ
લગાવવાના ભાવથી તેણે કહ્યું કે, આ માણસે મારા એક લાખ રૂપિયાની કિંમ
તના ઘોડાને ઠડાના પ્રહારથી મારી નાખેલ છે આ સામળીને ન્યાયાધીશે કહ્યું
કીક છે, પરંતુ આનો સાક્ષી કોણ છે તે કહો અશ્વપતિએ કહ્યું કે, સાહેબ !
તેનો પુત્ર જ મારા આ વિષયમાં સાક્ષી છે ન્યાયાધીશે તેના પુત્રને પૂછ્યું ત્યારે
પુત્રે કહ્યું કે, આ અશ્વપતિએ પોતે જ મારા પિતાને ઘોડાને મારવાનું કહ્યું હતું
આથી મારા પિતાએ ઠડાના પ્રહારથી તેના ઘોડાને મારેલ છે આ પ્રકારે સાક્ષીનું
બાધણ સાંભળી ન્યાયાધીશે મનમાં વિચાર કર્યો કે ઘોડાને આ સ્વામી માયા
દોષથી અનભિજ્ઞ છે તેવું જણાય છે, આ માટે તેણે મારા, મારા ! એમ
કહેલ છે. આમ કહેવાનો અભિપ્રાય કેવળ તે સમય એટલો જ હતો કે, ઠડાનો

મૂર્ત્યો, એકસ્તુ માણ્ડનિર્માણકલામિજ્ઞોઽપિ નૈવ નિર્માતિ । યસ્તુ નાસ્તિ માણ્ડનિ
માતા, તેન ગ્રીણિ માણ્ડાનિ નિર્મિતાનિ । તત્ર દ્વે સ્ફુટિતે, એક ન યુજ્યતે । અયો
જિતે માણ્ડે ત્રયસ્તણ્ડુલા રન્ધિતા, તત્રોપી તણ્ડુલાવામરૂપૌ, એકો ન સિન્ધ્યતિ । તે
ત્રયો વ્રાહ્મણા મોજિતા. તત્રોમૌ વુમુશ્ચિતૌ, ણ્કોન મુહુચ્ચતે, એવમેઠ કશ્ચિદાસીત
મૂર્તિર્યં આસીદાસીન્નચાસીત્ ।

તથા-મર્મગ=મર્મવાચક વચન ન લપેત્ । રહસ્યોદ્ઘાટક વચન ન વ્રૂયાદિત્યર્થ.
મર્મગ વચન દ્વિ હૃદયે શરાઘાતવેદનામિત્ર વેદનાં જનપતિ, વચ્ચાઘાત ઇવ મૂર્છપતિ

નિવાસ કા હી અભાવ ધા । જો ગાવ્ર જનોં કે નિવાસ સે વિહીન થ
ઉસમેં તીન કુમાર થે । ડન મેં દો મૂર્ગ થે ઓર એક વર્તન વનાને કી
કલા મેં નિપુણ ગ । પરતુ યહ વર્તન નહીં વનાતા ધા । જો વર્તન વનાને
વાલા નહીં ધા-ઉસને તીન વર્તન વનાયે । દો ફૂટે ઓર એક એસા જો
જુદતા નહીં ધા । અર્થાત્ કપાલ માલા જિમકી જુદી ૨ થી । ઇસ મેં તીન
ચાવલ પકાયે ગયે । ઇન મેં દો ચાવલ કચ્ચે રહે ઓર એક ચાવલ સીધા
નહીં । ઉસસે તીન વ્રાહ્મણો કો મોજન કરાયા ગયા । દો વ્રાહ્મણ તો
નૂચે રહે ઓર એક ને સ્વાયા નહીં । ઇસ પ્રકાર ઇસ કથા મેં કેવલ
નિરર્થક શબ્દોં કા હી પ્રયોગ હુઆ હૈ । ઇસ પ્રકાર કે નિરર્થક વચન
નહીં ધોલના ચાહિયે ।

જિનસે દુસરોં કે મર્મ કા ઉદ્ઘાટન હોતા તો એસે વચન મી નહીં
ધોલના ચાહિયે । જો મર્મોદ્ઘાટક વચન હોતે હૈં વે જિસ પ્રકાર ધાણ
હૃદય મેં આઘાત પહુંચાતા હૈં, ઉસી તરહ આઘાત પહુંચાતે હૈં । વજ્ર કે

વિહીન હંતુ તેમા ત્રણ કુમાર રહેતા હતા, જેમાં બે મૂર્ખ હતા અને
એક વાચણ બનાવવાની કળામાં નિપુણ હતો, પરંતુ તે વાચણ બનાવતો ન
હતો જે વાચણ બનાવનાર ન હતો, તેણે ત્રણ વાચણ બનાવ્યાં જે કુર્ણાં
અને એક એવું કે જે ભેડાતુ ન હતું અર્થાત્ કપાલમાળા જેની જુદી જુદી
હતી, એમાં ત્રણ ચોખા પકવવામાં આવ્યાં, જેમાં બે ચોખા કાચા રહ્યાં અને
એક ચોખો ચડયો નહીં — જેનાથી ત્રણ પ્રાણીને વોજન કરાવવામાં આવ્યું
બે પ્રાણી તો મુખ્ય રહ્યાં અને એકે ખાધું નહીં આ રીતે આ કથામાં કેવળ
નિરર્થક શબ્દોને જ પ્રયોગ થયો છે આ પ્રકારનાં નિરર્થક વચન
ન ધોલવા ભેદએ

જેનાથી ખીજના મમતુ ઉદ્ઘાટન થાય એવા વચન પણ ન ધોલવા
ભેદએ જે મર્મોદ્ઘાટક વચન હોય છે, તે જેમ બાણ હૃદયમાં આઘાત
પહોંચાડે છે એજ રીતે આઘાત પહોંચાડે છે વજ્રના આઘાતથી જે રીતે મૂર્ખાં

निरर्थक वचन हि वक्षिषत् सकलगुणभस्मकारक, सद्भूतायापलापक, मिथ्या प्रतिषोधक, भवाटवीध्रामक, विरुलजालजनक, वैराग्यलताविनाशक, विवेक चन्द्रमच्छादकम् ।

अत्र दृष्टान्त प्रदर्श्यते यथा—

आसीत् कश्चिदसौ रसतिनिर्मापको नृपति, स ग्रामोदासीन्न चासीत् । असद्भाव प्राप्तेन तेन भूपतिना त्रयो ग्रामा निर्मापिताः । तत्र वसतिनिवासिना जनानां निर्वासनाद् द्वौ ग्रामौ निर्मासितौ, परुत्र जननिवासाभावादव वसति नाभूत् । अथ यत्र जनाना चासौ नाभूत् तत्र त्रय कुम्भकारा आसन् । तेषु द्वौ

कोई पुष्प होता है, न मृगतृष्णा रूप जल कोई भावात्मक पदार्थ है, और न शशधृग कोई वस्तु है । निरर्थक वचन अग्नि की तरह सकलगुणों को भस्म करने वाले सद्भूत अर्थ के अपलापक एवं मिथ्या अर्थ के प्रतिषोधक होते हैं । इनके प्रयोग से प्रयोक्ता भवाटवों में ही भ्रमण करता रहता है । अनेक प्रकार के विकल्पों का ताता इन निरर्थक वचनों से आत्मा में उद्भूत होता रहता है । वैराग्यरूपी लता के ये विनाशक तथा विवेक रूपी चन्द्रमा के आच्छादक ये माने गये हैं । इस विषय में दृष्टांत इस प्रकार है—

कोई एक राजा था जो वस्ति का निर्माण किया करता था । वह होकर भी नहीं था । उसने अपनी गैर मौजूदगी अवस्था में तीन ग्रामों की रचना की । दो गाँवों को उमने वहाँ के निवासियों को निकाल कर यिलकुल उजड़ कर दिये । एक इसलिये ऊजड़ था कि उसमें जनो के

अग्नि पुत्र होय छे, न आकाशनु ठोई पुष्प होय छे, भूगतृष्णरूप वण न तो ठोई भावात्मक पदार्थ छे, अने न तो सखलाना शि ग ठोई वस्तु छे निरर्थक वचन अग्नि भाईके सधगा सुखेने भस्म करवावागा सद्भूत अर्थने अपलापक अने मिथ्या अर्थ करवावागा होय छे आवा प्रयोअर्थी प्रयोक्ता भवाटवीभाव भ्रमण करता रहे छे अनेक प्रकारना विकल्पेना ताता आवा निरर्थक वचनेधी आत्माभा उद्भवता रहे छे, वैराग्यरूपी लताना के विनाशक तथा विवेकरूपी चन्द्रमानु आच्छादन करनार भान्या गया छे

आ विषयभा अ प्रकारे द्रष्टांत छे —

कोई एक राजा હતો, જે વસ્તીનું નિર્માણ કરતો હતો, તે હોવા છતાં ન હતો, તેણે પોતાની ગેરમોજુદગી અવસ્થામાં ત્રણ ગામોની રचना કરી જે ગામોને ત્યાંના રહેવાસીઓને ત્યાંથી કાઢી સુકી ઉજાડ બનાવી દીધાં. એક એ માટે ઉજાડ હતું કે ત્યાં કોઈ વસ્તી જ ન હતી જે ગ્રામ લોકોના નિવાસથી

श्वशुरग्रामसमीपस्य कूपस्य तटे विश्रामार्थमुपविष्ट । तत्र तद्रार्यया चिन्तितम्-विदेशे
नानाविधकष्ट मया कय सोढव्यम् ? इति विमृश्य सा पतिमब्रवीत्-प्राणनाथ ! मा
पिपासा वाधते । ततोऽमौ श्रेष्ठी भार्यावचन निशम्य तत्र कूपादुदङ्गमुद्गच्छुं कूपा-
भिमुख शिरोऽवनतीकरोति यावत्, तावदेव भार्यया पृष्ठे हस्ताघातेन कूपे निपा-
तित । तदनन्तर सा पितुर्गङ्ग गत्वा पितरमब्रवीत्-तत्र जामाता गृहात् क्वचिन्नि-
र्गतस्तस्य नास्ति वार्ता, अतस्त्व समीपे समागताऽस्मि ।

उसे अपने श्वशुर का ग्राम मिला । वह वहा गाम के बाहर कुए के
पास विश्राम करने के लिये एक तरफ ठहर गया । इतने में उसकी
पत्नी ने विचार किया कि-‘ये विदेश जा रहे हैं और मैं भी इनके
साथ जा रही हूँ । विदेश में अनेक प्रकार के कष्ट प्राणियों को सहन
करने पड़ते हैं मैं उन कष्टों को कैसे सहन करूँगी’ ऐसा विचार कर
उसने अपने पति धनगुप्त से कहा कि हे प्राणनाथ ! मुझे इस समय
बड़े जोरकी प्यास लग रही है, पति पानी लेने को उद्यो ही कुए पर
पहुँचा और पानी भरने लगा कि इतने में पीठे से उस पत्नी ने आकर
उसे धक्का मारकर कुए में पटक दिया । याद में फिर वह अपने पिता
के घर जाकर कहने लगी कि हे पिता ! तुम्हारे जमाई न मालूम घर से
कहा निकल कर चले गये हैं । मैं ने बहुत तपास कराई परन्तु अभीतक
उनकी कोई खबर नहीं मिली है, सो मैं तुम्हारे पास आई हूँ ।

जवा नीकल्या सावता सावता भागभा तेना ससरानु गाम आव्यु ते त्यां
गाम बहार जेक कुवा पासे आराम करवा राकाया जे समये तेनी श्रीजे
विचार कथी के, “शेक परदेश जाय छे अने हु पक्ष तेमनी साथे जा छे
परदेशमा अनेक प्रकारना दु जो प्राणीयोजे सहन करवा पडे छे, हु जे हु जोने
कम करीने सहन करी सकीश ” जेवो विचार करी तेजे पोताना पति धनगुप्तने
कहुँ के, हे प्राणनाथ ! मने अत्यार प्रमज तरस लागी छे, पति पाणी लेवा
भाटे ज्यां कुवा पर पहुँचाया, अने पाणी भरवा लाया के जेठलाभा तेनी श्रीजे
पाछणथी आवीने तेने धक्को मारी कुवाभा डडसेली दीधी आ पछी ते पोताना
पियर पहुँचायी अने त्या जेठ कहेवा लागी के, हे पिता ! तभारा जमाई कथा
वजर कालु जेके कम घेरथी साव्या जया छे, मे पाणी तपास करावी छतां जेवु सुधी
तेनी कौछ बाण भणी नथो भाटे हु तभारी पासे आवी छुं

द्वेषानि प्रज्वलयति, शोरुमुत्पादयति, चारिघ्न ध्वसयति, गुणगण सहारयति, नरकनिगोदादिदुःखगते निपातयति, निश्चितकृपाणधारामर्माणि कर्तयति ।

मर्मगवचनभाषणस्य दृष्टान्तस्त्वेवम्—

आसीद् धनशुभ्रनामा कश्चिदेक श्रेष्ठी । स चैकदा भार्यामब्रवीत्-प्रिये ! धनार्जनाय विदेशं प्रजामि । तथा प्रोक्तम्-नाथ ! भवान् मामपि तत्र नयतु । स श्रेष्ठी सहगमनार्थमनुमतिं पत्न्यै प्रदत्तवान् । ततोऽर्त्ता पत्न्या सह गच्छन् मार्ग

आघात से जिस प्रकार मूर्च्छा आजाती है उसी प्रकार इन वचनों से भी प्राणी भ्रूँछित हो जाता है । ये वचन सदा द्वेष रूपी अग्नि को प्रज्वलित करते रहते हैं और शोक परम्परा के सवर्द्धक होते हैं । इन के सद्भाव में चरित्र का सर्वथा विनाश होता रहता है । गुणगण का सहार करके ये वचन प्राणी को नरक एव निगोदादिक के दुःख रूपी खड्गों में गिराते हैं । जैसे तीक्ष्ण धार वाली तलवार हर एक वस्तु को छेदनमेदन करती है उसी प्रकार ममग वचन भी प्राणी के मर्मस्थानों को छेदनमेदन करते हैं ।

इस विषय में दृष्टान्त इस प्रकार है—

कोई एक धनशुभ्र नाम का सेठ था । उसने एक दिन अपनी पत्नी से कहा कि हे प्रिये ! मैं धन कमाने के लिये परदेश जाना चाहता हूँ । सुनकर उसने कहा कि हे नाथ ! आप मुझे भी साथ ले ले चलिये । पत्नी की बात सुनकर धनशुभ्र ने उसे अपने साथ चलने की अनुमति दे दी । धनशुभ्र पत्नी को साथ लेकर परदेश निकला । चलते-चलते मार्ग में

आवी जाय छे, जे ज रीते आवा वचनोधी पक्ष प्राणी भ्रूँछित बध जाय छे आवां वचनो उदेशां द्वेषरूपी अग्निने प्रज्ज करवा रह्ये छे अने शोक परपराने उत्तेजन करनार निषेध छे अपना सहभावमां अस्त्रिनो सवथा विनाश यतो रह्ये छे शुष्क समूहको संहार करीने जे वचनो प्राणीने नरक अने निगोदादि कता हू अरुपी आठामा पाठे छे जेभ तीक्ष्ण धारवाणी तरवार हरजेक वस्तुनु छेदन सेहन करे छे जेभ रीते भासिक वचन पक्ष प्राणीना मर्मस्थानोनु छेदन सेहन करे छे

आ विषयमा आ प्रकारनु दृष्टान्त छे—

कोई जेक धनशुभ्र नामे शोक उता, जेहे जेक विषय पोतानी अने कहु के, हे प्रिये ! हे धन कमावा माँ परदेश जवा भ्रूँछ हूँ सबणीने तेहे कहु के हे नाथ ! आप अने पक्ष साथे बेता जाव, अनीनी बात साबणी धनशुभ्र शोक तेने पोतानी साथे आशवानी अनुमति आपी. धनशुभ्र अने साथे बध

व्यजनव्यजन कुर्वती पुरोऽवतिष्ठते । अकस्माद् भास्करकिरणास्तद्भवतजालान्त
गता, श्रेष्ठिमुखोपरि निपतन्तस्तया दृष्टा । पत्पुर्मुखे भास्कर क्व स्पर्शजनितस्तापो
मा भूदिति भावनया सा सत्वर निजकरद्वय भास्कर किरणसमुत्प्रेक्ष्वा श्रेष्ठिमुखो
परि मूर्यकिरणान् निवारयति ।

अकस्मात्तदैव पत्नीकृत पूर्ववृत्त श्रेष्ठिना स्मृतम् । श्रेष्ठी मनसि चिन्तयति—
“अहो ययाह कूपे निपातित सैवेयमधुना मम सूर्य करस्पर्शजनित ताप निवारयति”
इत्येव विचारयतस्तस्य श्रेष्ठिनो मुखे हास्य समजनि । तदा तत्पुत्रवधूर्हसन्त श्रेष्ठि-
नमकस्मादपश्यत् । सा पत्यु समीपमागत्य वदति—नाथ ! मन्वत पिता श्वभूतमक्षं

कि घनगुप्त अपने रगभवन में बैठा हुआ भोजन कर रहा था । और
पत्नी उस के ऊपर पखा कर रही थी । घनगुप्त के चहरे पर अकस्मान्
सूर्य की किरणों मकान की छत के छिट्टों में से आकर पड़ने लगी, पत्नी
ने ज्यों ही यह देखा कि शीघ्र ही उसने ‘पति को ताप न लगे’ इस
ख्याल से अपनी दो नों हथेलियों को सूर्य के साम्हने कर दिया । इससे
घनगुप्त के मुख पर पड़ती हुई वे किरणें धम गईं—मुख पर हथेलियों की
छाया हो गई । पत्नी द्वारा इस प्रकार की गई सेवा का अवलोकन कर
घनगुप्त को पहले का वह कुएँ में डाल ने का घृसान्त याद आ गया ।
घनगुप्त ने विचार किया, देखो—जिसने मुझे पहिले कुएँ में पटकवा वही
अब मुझे ‘सूर्यजनित सताप न हो’ इस ख्याल से उस संताप का
निवारण कर रही है । ऐसा ख्याल कर घनगुप्त को कुछ हँसी आगई ।
घनगुप्त को अकस्मात् हँसता हुआ उस समय उसकी पुत्रवधू ने देख
लिया था, इसलिये वह अपने पति के पास आकर कहने लगी कि नाथ,

अने तेनी श्री पत्नी तेने हवा नाथी रही हता ऐ वभते घनशुप्तना बहेरा
उपर भकानना छतना काष्ठाभाथी सूर्यना किरणो अकस्मात् पडवा लाया तेनी
श्रीजे नेवु आ जेयु के तुस्त व जेजे “पतिने ताप न लागे” जेवा भ्यावधी
पोताना भन्ने हाथनी हथेलीजोने स्यना ऐ किरणोनी आठे धरी दीधी. आथी
घनशुप्तना बहेरा उपर पडतो किरणोना ताप अटकी गयो, मुअ उपर
हथेलीजोनी छाया थई गई, श्री तरक्षी आ रीते करवाभा आवेली सेवा
भेईने घनशुप्तने पडेवाने कुवावाणे प्रसंग याठ आवी गयो, घनशुप्ते विचार
क्यो, जुज्या ! जेजे भने पडेवा कुवाभा नाथी दीधी हता ते हवे भने सूर्यना
किरणोना ताप न लागे जेवा भ्यावधी ऐ सतापनु निवारण करी रही छे आ
विचारधी घनशुप्तने जरा हसवु आव्यु घनशुप्तने अकस्मात् हसता तेनी पुत्र
वधुजे भेई दीधीव, आथी ऐ पोताना पति पासे जई कडेवा लागी छे—

इतथासौ श्रेष्ठी कूपे पतन् भाग्यशशात् रूपमितिगत पापाणं प्राप्य तमवश्र-
म्य स्थित । तदनु तत्रागतैर्जलाधिजनैरनुकम्पयाऽसौ रूपान्नि सारितः । ततोऽसौ
शिवेशं गत्वा पुण्यप्रभावात् प्रचुर धन समुपाज्यं श्वशुरगृहे समायात । तदा तस्य
पत्नी प्रसन्ना जाता, तथा सह श्रेष्ठी स्वगृह गतः । अथैकदा श्रेष्ठिनः पुत्रो जातः
तस्य यौवने धयसि प्राप्ते श्रेष्ठिना विवाहः कारितः । पुत्रप्रभूरागता । किञ्चिदि-
वसेषु व्यतीतेषु सत्सु श्वश्रूवध्वोर्मध्ये कलहः प्रवृत्तः । श्वश्रून्तित्य श्वश्रूच्छिद्रान्वेषण-
परा जाता । एकदाऽसौ श्रेष्ठी रत्नमन्त्रे भोजनं कुर्वन्मासीत्, तत्पत्नी तदानीं बाल-

धनगुप्त ज्यों ही कुण में गिरा कि भाग्यचक्ष से उसे कुण की भित्ति
में पास ही एक पत्थर का टुकड़ा लगा हुआ दिखलाई पड़ा । यह भित्ति से
कुछ अधिक बाहर की ओर निकला था । पड़ते ही धनगुप्त ने उसको पकड़
लिया । जप पानी भरने वाले बड़ा पानी भरने के लिये आये तब
उन्होंने धनगुप्त को कुण से बाहर निकाला । स्वस्थ होकर यह बिना कुछ
कहे परदेश की ओर चल दिया । वहाँ पहुँच कर उसने पुण्यकर्म के
उदय से खूब धन कमाया । कमाकर यह वहाँ से अपने घर वापिस
हुआ । रस्ते में इस के श्वसुर का गाम आया और यह श्वशुर के घर
पहुँचा । पत्नी ने पति को देखकर बहुत आनन्द मनाया । वहाँसे अपनी
पत्नी को साथ लेकर घर आ गया । कालान्तर में धनगुप्त के एक पुत्र
हुआ । समय पर उसका विवाह कर दिया गया, यह घरमें आई । रहते २
सास और बहु में झगडा होने लगा । यह ने सास को दबाने के लिये
उस के छिद्रों का अन्वेषण करना प्रारंभ कर दिया । एक दिनकी बात है,

धनगुप्त कुवामा पडयो के भाज्यवश कुवानी भीतमा तेनी पासे अ ओक
पत्थर योटायेतो नखरे पडयो अ भीतयी योडा अडार बिहजेतो हते। कुवामा
पडतांनी साथे अ धनगुप्ते ते पत्थर पकडी लीथी अ्यारे पाखी भरवावाणा कुवा उपर
पाखी भरवा आव्या त्यारे तेमखे धनगुप्तने कुवामांथी अडार कडयो स्वस्थ मनी
हाथ पखु ओल्या सिवाय ते परदेश अवा आवी निकल्यो त्यां पडोखी ते पूर्य
कम ना उडयथी पूत्र धन कमायो। पूत्र धन कमाथ ते पोताने घेर आववा निकल्यो,
रस्तामां सासरानुं गाम आव्यु त्यारे ते सासराने घेर पडोख्यो। पत्निअे पतिने
ओक आनद मनाव्यो त्यांथी अे पोतानी अीने लधने पोताने आम पोताने घेर
पडोख्यो। समय अतां अे धनगुप्तने त्या ओक पुत्र कयो। समय उपर तेनां लज
करी, बहु घेर आवी, रडता रडता सासु अने बहु वखी विभववा अवा लाज्यो,
वडअे सासुने इभाववा भाटे तेनां गुप्त छिद्रोनां अन्वेषण करवानो प्रारंभ करी
लीथी। ओक दिवस धनगुप्त पोताना रजशवनमां अेसी सोजन करी रडेल हते।

पुनरकदा श्रेष्ठिपत्न्या पुत्रवध्वा सह फलहो जात , तस्मिन्नवसरे पुत्रवध्वा
वदत्-जानामि तव चरित्रम्, पतिं कूपे निपात्य, समति पतिव्रता भवितुमुद्यताऽसि।
एतमार्मिक वचन निशम्य श्वश्रू परमदुःखिता जाता, उहृगो रुराद, रुदित्वा च
मनसि चिन्तयति मम-श्रुना मम जीवन धूलिरिषि निरर्थकम् अय ममय वार्ता
लोके प्रसारिष्यति, मा लोका किं वदिष्यति। इत्यव विचिन्त्य सा सवनस्य द्वितीय-
भूमिमामारोह। तत्र गत्वा गले पाण मयोज्य रज्ज्या लम्बिता प्राणान्
परित्यक्तवती ।

हंसी का जो कुछ कारण था वह अपने पुत्र को कह दिया। मांका पाकर
श्रेष्ठि पुत्र ने भी जो कुछ जैसी बात थी वह अपनी पत्नी से कह दी।

एक समय सासु बहू में परस्पर जब कलह हुआ तो पूत्रवधू ने
सासु से कहा कि " आप ज्यादा मन बोलो मैं जानती हूँ कि आप बही
हैं जिन्होंने ने अपने पति को क्राण में डाल दिया था, अथ पतिव्रता
बनती हैं। " इस प्रकार बहू के मार्मिक वचनों को सुनकर सासु के
हृदय में अपार दुःख हुआ, वह बार बार रोने लगी, विचार किया कि
अथ मेरा जीना बिलकुल निरर्थक है। बहू ने मेरी सब शान धूलि में
मिला दी है। यदि मेरी यह बात लोक में फैल गई तो लोग क्या कहेंगे ?
इस प्रकार सोचकर वह अपने मकान के दूसरे मजिल पर गई, और
वहाँ उसने गले में फासी डालकर आत्मघात कर लिया।

वाणा शेठे डान्नीतु ने ठाई ठारवु इतु ते अथशु पोताना पुत्रने कडी हीधु
अवसर भेणवीने शेठ पुत्रे पधु ने ठाई वात उती ते पोतानी पत्नीने
कडी हीधी

सासु बहूमा परस्पर ब्यारे ककन थये। त्यारे पुत्रवधुजे सासुने कधुं
के " तमे वधु न ज्योतो, दु बलु उ के, तमे जे न छो के जेणे पोताना
पतिने कुवामा धडेवो हीधेव, इवे प्रतिव्रता बनो छो " आ प्रकारना वहुना
माभांठ वचनेने साबाणी सासुना हृदयमा अपार दुःख उपवसु अने ते बोधान
आसुजे रडवा लागी, तेणे मनमाने मनमा जेणे निश्चय कथो के, इवे भाड
एपवु भीधकुल नीरर्थक छे, वहुजे भारी जधी शान पुणया भेणवी हीधी छे जे
भारी आ वात बोडोमा इवाध जय तो बोडो शुं कडेये ? आ रते विस्तर
ठरी ते पोताना मकानना भीज भाण उपर पडोवो अने त्या जेठ गणामा
हाजे नाभी आत्मघात कथो

इसन् मया दृष्ट, किं तत्र हासस्य कारणमभूदित्यावद्यताम् । श्रेष्ठिपुत्र' प्राह-
पतिपत्न्योर्द्वैतमवेद्य भवति । पत्नी यदति-भवता यावदतद्वृत्त नानेभ्यते, न वा
वृत्तानयनवयन दास्यते, तावन्मयाऽन्नपान परित्याज्यम् । प्रेमपरवशेन विस्मृतविव-
क्तेन श्रेष्ठिपुत्रेण 'हास्यकारणं कथयिष्यामी' ति वचन प्रदानेन पत्नी परितोषिता ।

एकदा श्रेष्ठिपुत्र पितृशरणगतमहर्षं कुर्यान् पृच्छतिस्म आर्य ! तस्मिन् दिवसे
केनकारणेन भवता हसितम्, इत्येव पृष्टोऽसौ सरलहृदय भेष्टो सर्वं पूर्ववृत्त
पुत्राय कथितवान् । श्रेष्ठिपुत्र सर्वं पूर्ववृत्त विज्ञाय पत्न्यै कथयामास ।

आज मैं ने आप के पिता को सासुजी के समक्ष हँसते हुए देखा है
अतः हे नाथ ! आप मुझे बतलाईं ये कि इस अकारण हँसी का क्या
कारण है । सेठ के पुत्र ने अपनी पत्नी को समझाया कि पति और पत्नी
का घृत्त अवेद्य हुआ करता है । अतः इस विषय को जानने की चेष्टा
करना व्यर्थ है । पत्नी न पति के मुख से यह बात सुनकर कहा है नाथ !
जब तक आप मुझे इसका कारण नहीं बतलावेंगे, तबतक मैं अन्नजल
ग्रहण नहीं करूँगी । पत्नी का इस प्रकार घृत्त को जानने का अधिक
आग्रह देखकर पति ने उसके प्रेम से पागल जैसे बनकर उसे इस
बात का आश्वासन दिया कि वह कुछ समय बाद इसका वास्तविक
कारण उसे बतला देगा । इस प्रकार रुष्ट हुई पत्नी सतुष्ट हो गई । एक
समय की बात है कि श्रेष्ठि पुत्र ने पिता के चरणों को दाबते हुए उनसे
पूछा कि हे तात ! आप एक दिन भोजन करते समय किस कारण से
हँसे थे ? पुत्र की इस बात को सुनकर सरल हृदय वाले सेठ ने समस्त

हे नाथ ! आज मैं तमारा पिताने सासुजी सारे हसता ज्येथा तो आप को
बतावो ते तेभना अकारण हसवानु तुं कारण छे ? सेठ पुत्रे पितानी अने
समबल्यु के, पति पत्नीने स अथ अवेद्य होय छे आ विषयने बलुवानी
चेष्टा करी व्यथ छे पत्नीके पतिना मुअथी आवी बात सांभणीने कछुं के,
हे नाथ ! ज्या सुधी तमे भने तेनुं कारण नही बतावो त्या सुधी हुं अन्न
बल्यु अरुषु करीश नही पत्नीने आ प्रकारे वृत्तान्त बलुवानी अधिक आग्रह
बलुणीने पतिके तेना प्रेममा पागल जेम अनीने तेने आ बातनु आश्वासन
आभ्युं के, थोडा समयमा पोते तेनु वास्तविक कारण बतावथे आधी इष्ट
अनेख पत्नीने सतोष यथे केक समयनी बात छे के, सेठ पुत्रे पिताना पिताना
पत्र बलवा बलवां जेभने पूछ्यु के, हे तात ! आप केक दिवस सोअन
करता करता था भाटे हस्या होता ? पुत्रनी आ बातने सांभणीने सरण

तदाऽमौ पुत्रोऽपि मातापित्रोर्वियोगेन शोकात् सन् भविष्यदनिष्ट चिन्तयन् मृत पितर पाशबन्धनाद् विमुच्य स्वगले त पाशं बद्ध्वा मृत ।

तदनन्तर पुत्रवधू. ' इमे त्रय खलु मिलित्वा ममैव दुर्दशा भावयन्ति ' इति विचिन्त्य क्रोधावेशेन धमधमायमाना उपरि गता । तत्र सा पश्यति-श्वश्रूः श्वशुर-श्रोभौ मृतौ निपतितौ, पतिरपि गले बद्धपाशो मृत पाशरज्ज्वा लम्बित इति । तदा विनिवृत्तक्रोपा निवृत्तदुःखार्ता सा चिन्तयति स्म-अत पर कीदृशी दशा मम भविष्यति, लोका किं वदिष्यन्ति, क स्यान्मम शरणम्, इत्यादि। तदनन्तर-मसौ सगर्भा पुत्रवधू पत्युर्गले सलग्न पाशबन्धन विमुच्य स्वगले संयोज्य लम्बिता माणान् त्यक्तवती ।

गले में फासी लगाकर मरे हुए लटक रहे हैं । इस परिस्थिति से उसे बहुत ही दुःख हुआ । माता पिता के वियोग ने उसे पागल बना दिया, अन्त में उस विचारे ने भी अपने पिता के गले से फासी उतार कर अपने गले में लगा ली । जब पुत्रवधू ने यह विचारा कि " देखो ये तिनों के तिनों मिलकर मेरी दुर्दशा कर ने की भावना कर रहे हैं । अतः ऊपर जाकर देखूं, कि इन सबकी क्या राय हो रही है ' इस प्रकार क्रोध के आवेश से धम धम करती हुई वह ऊपर गई । जाते ही उसने देखा कि सास श्वशुर मरे पड़े हुए हैं पति भी गले में फासी लगाकर मरे हुए लटक रहे हैं । उस दुर्घटना को देखकर उसके शरीर में सघाटा छा गया, कोप जाता रहा । अत्यंत शोक से वह विह्वल हो गई । विचारा कि अब ससार में मेरा कौन है, कि जिस के लिये इन प्राणों की रक्षा करूं । लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे । इस प्रकार विचार कर वह भी अन्त में

गणना क्षुब्धे लगाडी भरेखी डालतभा लट्टी रक्षा छे आ परिस्थिति लेखे तेने भूम दुःख थयुं, माता पिताना वियोगे तेने पात्रल बनावी दीधा अते अने विचारले पक्षु योताना पिताना गणनाथी क्षुब्धे काडी योताना गणनामां लगावी आत्मघात कथे अथरे पुत्रवधुअने अने विचारुं के, " आ त्रणे अण्डा भणी भारी दुर्दशा करवानी योचना बडी रक्षा करे आथी उपर अछे लेखे तो भरी के अथा केवे विचार करी रक्षा छे " आ रीते क्रोधना आवेशथी धम धम करती वहु उपर पडोथी ने गुअे छे तो सासु अथरा भरेल पडथा छे अने पति पक्षु गणनामां क्षुब्धे लगावी भरेल लट्टी रहेल छे आ दुर्घटनाने लेखे अना शरीरमां कपारी वधुटी, क्रोध अतो रक्षो अने शोकथी विह्वल भनी गछे विचारुं के अवे ससारमा मारुं केअे छे के अना माटे आ प्राणनी रक्षा करे लोके अणुथे तो शुं कहेथे ? आ विचार करी तेखे योताना

अथ श्रेष्ठी गृहमागत, पत्नीमनवलोक्ष्य पुत्रग्रभू पृष्टवान्-आयुष्मति! तव
 भ्रथू क्वास्ति?, पुत्रग्रभू करवेष्टयाऽऽवदयति-भानोपरिमाणे गता इति। श्रेष्ठी
 गृहोपरिमाणभूमिनां गत्वा श्रेष्ठिनां गच्छे पाशवर्द्धां मृतां पश्यति। तदाऽसौ श्रेष्ठी
 विषादम्रुपगतः सन् विचिन्तयति-श्रनया विना मम कीदृशी दशा भविष्यति,
 इत्यादि। तदनु सश्रेष्ठो पत्नीगलगत पाशं विमुच्य स्त्रगले सयोज्य प्राणांस्त्यक्तवान्।
 पुत्रोऽपि गृहमागत, स पितरमदृष्ट्वा पत्नीं पृष्टवान्-'स्वारित मम ताव'।
 पत्नी प्राह-उभौ ममानिष्ट कर्तृम्रुपरि वर्तेते। पुत्र पत्नीवचनमाकर्ण्य तत्र गत्वा
 पश्यति-माता मृता निपविताऽस्ति, पिताऽपि पाशवर्द्धो मृत प्रलम्बितो वर्तते, इति।

धनशुभ्र जय घर आया तो उसने सेठानी को न देवकर वह से
 पूछा आयुष्यमती! तुम्हारी सास कहा है? उसने हाथ के इशार से
 कहा कि वे मकान के दूसरे मजिल पर हैं। धनशुभ्र वहाँ पहुँचा और
 देखा कि वह गले में फाँसी लगा कर मर गई है। धनशुभ्र ने यह दशा
 देखकर बहुत ही शोच विचार किया और अन्त में यह निर्णय कर कि
 सेठानी के बिना मेरी क्या दशा होगी, पत्नी को फाँसी से उतार कर
 वह स्वयं फाँसी लटक गया। पुत्र ने पिता को घर पर आकर जय नहीं
 देखा तो पत्नी से पूछा कि पिताजी कहाँ पर हैं। उसने यात को बना
 कर कहा कि माता-पिता दोनों ही दूसरे मजिल पर मेरा अनिष्ट कर
 ने की विचारणा करने के लिये गये हुए हैं। पत्नी की यात सुनकर
 वह मकान के ऊपर गया। देखा कि माता मरी पड़ी है और पिताजी

धनशुभ्र व्याधे घेर आये तो तेजे पोतानी स्त्रीने न बोला वहुने पूछ्यु,
 आयुष्मती! तमारी सासु कथां छे? तेजे साधना ध्याराधी कहुँ के, भीज भाज
 उपर (मेडी उपर) छे धनशुभ्र त्या पछोआये अने बुजे छे तो अणामा कसे
 नाथी ते मरी जयेव छे आ रीते पोतानी पतिनी इथा बोध धनशुभ्रते पूबब
 मनोम मन साथे विचार कथे अने अते के निर्णय कथे के, पतिना ज्वा
 पछी हवे मारी शुं इथा कथे? कसाधी लटकती पतिने नीजे उतारी के
 दोरअने। कसो पोताना अणामा नाथी लध पोते पबु अत्मघात कथे।

कोठ तरह पतिपतिने केक व दोरडाना कसाधी आत्मकला करी लवमुक्त
 अन्या के समये पुत्रे घेर आवतां पोताना पिताने न बोवाधी पतिने पूछ्यु,
 पिताल कथा अया? स्त्रीजे वातने बनावीने कहुँ के, माता-पिता अन्ने कबु
 माइ अनिष्ट करवानी विचारवुा करवा मेडी उपर जयेव छे पतिनी वात
 आसणी ते मेडी उपर जये। बोयु तो मा नीजे मरधी पडी छे, अने पिताल

लक्षणं संवेपां स्थानानाम्, कुत्रापि स्त्रिया सदावस्थान समापण च न कुर्यादित्यर्थ
एकब्रह्मणमप्युपलक्षणम् तेनानेकस्त्रीभिरपि सदावस्थान समापण च वर्जनीयम्,
पुरुष. साक्षी नास्ति तत्र स्त्रिया सदावस्थान समापण च परिहरेदिति मूत्राशय
उक्त च श्रीदशकैकालिक सूत्रे—

जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्च कुललाओ मय ।

पव सु वमयारिस्स, इत्थीविग्गहओ मय ॥ (अ ८ गा ५४)

छाया—यथा कुक्कुटपोतस्य, नित्य कुललाद् मयम् ॥

एवमेव ब्रह्मचारिणः, स्त्रीविग्रहाद् भयम् ॥

स्वगत दोष का निरूपण कर के अथ अन्य के ससर्ग से होने वा
दोषोंका घर्णन करते हैं—‘समरेसु-इत्यादि

अन्वयार्थ—(समरेसु-समरेपु) लुहारकी शाला में (अगारेसु-अग
रेपु) घरों में, (सधीसु-सध्रिपु) दो घरों के अंतराल में तथा (महापहेसु
महापथेपु), राजमार्ग में (एगिस्थिएसद्धि-एकस्त्रियासार्ध) अकेली
के साथ (नेवचिट्ठे न सलवे-नैवतिष्ठेत् नैव सलपेत्) न खड़ा हो
और न उससे बातचीत करे ।

इस श्लोक में समरादिक चार पद उपलक्षण हैं, इससे समझन
चाहिये कि किसी भी जगह में जब तक पुरुष साक्षीभूत न हो तब तक
अकेली स्त्री से अथवा अनेक स्त्रियों से ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि वा
न बोले और न वहाँ खड़ा रहे । दशकैकालिक सूत्र में भगवाने कहा ।

आ प्रकारे पोतानाम् इहेव दोषोत्तु वल्लु न ठरी इवे पीलना ससर्गथी
थयेव दोषोत्तु वल्लु न ठरे छे समरेसु इत्यादि

अ-वयार्थ—समरेसु-समरेपु लुहारनी ठाठभा, अगारेसु-अगारेपु धरोभा,
सधेसु-सधेपु जे धरैना अतराजभा तथा महापहेसु-महापथेपु राव भागभा,
एगिस्थिएसद्धि-एकस्त्रिया साथ ऐठली अनी साथे, नेव चिट्ठे न सलवे-नैव तिष्ठेत्
नैव सलपेत् छिभा न रहेवुं अने अनाथी बातचीत ठरवी नही

आ श्लोकभा समरादिक चार उपलक्षण छे, ऐथी जे समज्जुं जेधजे
ठे, ठाठ पल्लु रमजे अया सुधी पीजे पुरुष साक्षीभूत न होय त्या ऐठली
अथवा अनेक अज्या साथे ब्रह्मचारीजे जेठवुं न जेधजे, अने त्यां
उल्लुं पल्लु न जेधजे इत्येकालिक सूत्रभां भगवाने कथुं छे ठे, जे रीते
ब्रह्मचारी अन्वयाने पिटाडीने भय रहे छे, जे रीते अनाथरीने ब्रह्मचारीने
पल्लु भय रह्या ठरे छे

अस्मिन् दृष्टान्ते-सकृत्कृत्वापि मर्मवचनात् पण्णां जीवानां प्राणव्यपरोपणं जातम्, यत् पुत्रभ्रूगर्भं द्वयमपत्यमागीत् । तस्मान्मार्मिकं वचनं न मापणीयम् ।

सावध-निरर्थक-मर्मग-वचनमापणस्य मर्मथा प्रतिषेध बोधयितुमुत्तरार्धमाह-
'अप्यण्डा' इत्यादि । भात्मार्यं=स्वार्थं, परार्थं वा, तथा उभयस्य आत्मनः परस्य च अर्थे, वा-अथवा, अन्तरेण=अनुभवार्थे स्वपरप्रयोजनाभावेऽपि सावधं न लपेत्= न निरर्थकं लपेत्, न मर्मगं लपेत्, इति सम्बन्धः ॥ २५ ॥

अयान्यससर्गकृतदोषपरिहारमाह—

मूलम्—समरेसु अगारेसु, सधिषु र्थं महापदे ।

एगो एगित्थिए सँद्वि, नैव चिद्वे' नै सल्लेवे ॥२६॥

छाया—समरेषु अगारेषु, सधिषु च महापदे ।

एकः एकस्त्रिया सार्धं, नैव तिष्ठेत् न सल्लपेत् ॥२६॥

टीका—'समरेसु' इत्यादि—

समरेषु=त्रौहकारशालासु तथा-अगारेषु=गृहेषु, तथा सधिषु=गृहद्वयान्तरालेषु तथा-महापदे=राजमार्गे, एक=एकाको, एकस्त्रिया=एकाकिन्या स्त्रिया, सार्धं=सह, नैव तिष्ठेत्=ऊर्ध्वस्थानावस्थितो नैव भवेत् । न सल्लपेत्-तया=सह समरादिषु स्थानेषु क्वाऽपि समापणं न कुर्यादित्यर्थः । अत्र समरादिचतुष्पस्थानेषु

पति के गले से फांसी निकाल कर अपने गले में फांसी डालकर मर गई यह उस समय गर्भवती थी । उस के गर्भ में दो बालक थे ।

इस दृष्टांत से यह बात स्पष्ट होती है कि देखो एक बार भी कहे गये मार्मिक वचन से छह प्राणियों का दाखल आपघात हुआ । इसलिये मार्मिक वचन नहीं कहना चाहिये । अपने अथवा पर के निमित्त तथा दोनों के निमित्त एवं जहां स्व और पर का कुछ भी प्रयोजन न हो वहां पर भी व्यर्थ ही मनुष्य को सावध, निरर्थक एवं मर्मग वचन नहीं बोलना चाहिये ॥ २६ ॥

पतिना गणामाथी कृसे कादी पोताना गणामां नाथी भरी जध ते अे समये जभ वती इती, अेना जभमा अे आणक इतां

आ दृष्टांतथी अे वात स्पष्ट थाय छे के, अेक वपत पक्षु कडेवाभा आवेला मार्मिक वचनथी छे प्राणीअेना कइए आपघात थये। आ माटे मार्मिक वचन न बोलवा अेधअे पोताना अथवा जीवना निमित्त तथा अन्नेना निमित्त अने अ्या पोतानु के जीवतु कौध पक्षु प्रथेअन न डोअत्वां पर पक्षु मनुष्यने सावध, निरर्थक अने मार्मिक वचन बोलवा न अेधअे। (२५)

रणम्, लाभ-अप्राप्तस्य सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र्यलक्षणरत्नप्रयत्न
प्राप्तिस्तस्य कारणमस्ति, इतिप्रेक्षया=इतिपर्यालोचनात्मिकया बुद्ध्या प्रयतः=प्रयत्ने
पेण यतनावान् सहनशील सन् शिष्य तत्=अनुशासन गुरो शिक्षावचन प्रति
शृणुयात्=कर्तव्यतयाऽङ्गीकुर्यात्।

अथ भाव —

यथा—वर्षाकाले सूर्यकिरणा प्रचण्डतरा भवन्ति, परतु परिणामे द्वित्रदिने
साम्यन्तर एव ते जलदावलीसमागमनशीतलपवनजलधारासपातजनितशीतस्पर्श
सुखमादुर्भावयन्ति। “यथा वा-नालिकेर वहि कर्कशं भवति तथापि तदी-
शीतलमधुरनीरगमितमाम्यन्तरिक्षभागमुपलभ्य लोकस्तदास्वादानेन तृष्टिं पु-
ष्टिं प्राप्तिं प्राप्नुते।”

इससे अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र्य की सुष्टि
प्राप्ति होती है। (स्ति पेक्षाए-इति प्रेक्ष्य) इस प्रकार पर्यालोचनात्मक बुद्धि
से विचार कर (पयओ त पडिस्सुणे-प्रयत त प्रतिश्रुणुयात्) सहनशील
पना हुआ शिष्य गुरु के शिक्षात्मक वचनों को कर्तव्य समझकर
अंगीकार करे।

तात्पर्य-जिस प्रकार वर्षाकाल में सूर्यकी किरणें प्रचण्डतर हो जाती
हैं और हम से वे प्राणियों को असहनीय बनती हैं परन्तु परिणाम में
दो तीन दिन के भीतर ही वे घरसात के समागमन से पवन को शीतल
पना देती हैं उस से जलघृष्टि खूब होकर शीतस्पर्श के सुख का उन्हें
अनुभव कराती हैं। अथवा जैसे-नारियल ऊपर से फटोर होता है
परन्तु उसका भीतर का भाग शीतल, मीठे जल से भरा रहता है, उसको

अधुं भारे भारे वाभकारकं छे केम के, जेनाथी अप्राप्त सम्यग् दर्शन सम्यग्ज्ञान,
अने साम्यक् चारित्र्यनी भने प्राप्ति थाय छे त्तिपेक्षाए-इतिप्रेक्ष्य आ प्रकारे पर्या
लोचनात्मक बुद्धिथी विचार करी, पयओ त पडिस्सुणे-प्रयत तत् प्रतिश्रुणुयात्
सहनशील अनेव शिष्य गुरुना शिक्षात्मक वचनेने कर्तव्य समञ्ज अंगिकार करे.

आतु तात्पर्य जे छे के, जेवी रीते वर्षाकालमां सूर्यनां किरणो
प्रचण्डतर थर्ष थाय छे, अने तेथी ते प्राणीओ भारे असहनीय अनी थाय छे
परतु परिष्कारे जे प्रयत्न डिबसनी अइर ते घरसातना समागमधी पवनने
शीतल अनावी हे छे, जेथी जलघृष्टि पूज थाय छे अने ठडीने स्पर्श सुभने
अनुभव करवे छे अथवा जेम नाजियेर डपरथी फटोर होय छे परतु जेनी
अइरने भाग शीतल भीडा जलधी भरैहो होय छे जेने जेजवी बोडो तुष्टि-सतोप

उक्त चान्यत्र-सता सुता सुता माया, एयाहिं रि न सलवे ।

एगते नेव चिट्ठेजा, अप्पट्टी सजए सया ॥ १ ॥

छाया—स्वसा सुता स्नुपा माता, एतामिरपि न सलपेत् ।

एकान्ते नेव तिष्ठेत्, आत्मार्थी सयत सदा ॥ १ ॥ इति ॥ २६ ॥

अयं विनीतशिष्यकर्तव्यमाह—

मूलम्—जं मे' बुद्धोऽणुसासति, सीएणं फरुसेणं वा ।

मम लाभो त्ति' पेहाए, पयओ त' पडिस्सुणे ॥ २७ ॥

छाया—यन्मा बुद्धा अनुशासति, शीतेन परुषेण वा ।

मम लाभ इति प्रेक्षया, प्रयतस्तत् प्रतिभृणुयात् ॥ २७ ॥

टीका—'ज मे' इत्यादि ।

बुद्धाः=आचार्याः, यन्माम् शीतेन=शीतलषचनेन मृदुवचनेनेत्यर्थः, वा=अथवा परुषेण=कठोरवचनेन अनुशासति शिष्ययन्ति, इदमनुशासनं मम लाभः=ममलाभः

-कि-जिस प्रकार मुर्गे के पच्चेको कुलल-यिलाबी से भय बना रहता है वसी तरह ब्रह्मचारी को भी स्त्री के शरीर से सदा भय रहा करता है । इसलिये चाहे अपनी सासारिक पहिन भी हो, चाहे पुत्री हो, बहू हो, माता भी हो, तो भी एकान्तमें ब्रह्मचारी को इनके साथ उठना बैठना नहीं चाहिये और न बातचीत ही करनी चाहिये ॥ २६ ॥

अब विनीत शिष्य का कर्तव्य कहते हैं—'जमे' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—विनीत शिष्य को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि (जमे बुद्धा-यन्मा बुद्धा) जो मुझे आचार्य महाराज (सीएण-शीतेन) मीठे वचनों से, वा अथवा (फरुसेण-परुषेण) कठोर वचनों से (अणुसासति-अनुशासति) अनुशासित करते हैं अर्थात् शिक्षा देते हैं सो (मम लाभो-मम लाभ) यह मेरे लिये एक बड़ा भारी लाभ है, क्योंकि

आ माटे सहे पोतानी ससारीक भडेन होय, चाहे पुत्री होय, बहु होय, अथवा माता होय तो पक्ष जेकांतमा जेमनी साथे जेसवु उठवु के वातचित पक्ष ब्रह्मचारीजे करवी न नेधजे ॥ २६ ॥

इवे विनीत शिष्यनु कर्तव्य कहे छे—जमे इत्यादि

विनीत शिष्ये आ प्रकारने विचार करवे नेधजे के,

अ-वयार्थ—जमेबुद्धा-यन्माबुद्धा भने आचार्य महाराज, सीएण-शीतेन

मीठा वचनेवादी, वा अथवा फरुसेण-परुषेण कठोर वचनेवादी, अनुशासति-अनुशासति अनुशासित करे छे, अर्थात् शिक्षा आपे छे ममलाभो

रणम्, लाभ-अप्राप्तस्य सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र्यलक्षणत्वनत्रयस्य
प्राप्तिस्तस्य कारणमस्ति, इति प्रेक्षया=इति पर्यालोचनात्मिकया बुद्ध्या प्रयत.=प्रक-
र्षेण यतनात् सदनशील सन् शिष्य, तत्=अनुशासन गुरो, शिक्षावचन प्रति-
शृणुयात्=कर्तव्यतयाऽनीकुर्यात्।

अथ भाव —

यथा—वर्षाकाले सूर्यकिरणे प्रचण्डतरा भवन्ति, परंतु परिणामे द्विप्रदिवस-
साम्यन्तर एव ते जलदावलीसमागमनशीतलपवनजलघातासपातजनितशीतस्पर्श-
सुखभादुर्भावयन्ति। “यथा वा-नालिकेर बहि कर्कशं भवति तथापि तदीय-
शीतलमधुरनीरगर्भितमाम्यन्तरिकभागमुपलभ्य लोकस्तदास्वादनेन तुष्टिं पुष्टिं

इससे अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र्य की सुझे
प्राप्ति होती है। (त्ति पेहाण-इति प्रेक्ष्य) इस प्रकार पर्यालोचनात्मक बुद्धि
से विचार कर (पयओ त पबिस्सुणे-प्रयत त प्रतिशृणुयात्) सहनशील
यना हुआ शिष्य गुरु के शिक्षात्मक वचनों को कर्तव्य समझकर
अभ्योकार करे।

तात्पर्य-जिस प्रकार वर्षाकाल में सूर्यकी किरणें प्रचण्डतर हो जाती
हैं और हम से वे प्राणियों को असहनीय बनती हैं परन्तु परिणाम में
दो तीन दिन के भीतर ही वे घरसात के समागमन से पवन को शीतल
बना देती हैं उस से जलवृष्टि खूब होकर शीतस्पर्श के सुख का उन्हें
अनुभव कराती हैं। अथवा जैसे-नारियल ऊपर से कठोर होता है
परन्तु उसका भीतर का भाग शीतल, मीठे जल से भरा रहता है, उसको

अधुं भारे भारे वाजकारक छे केम के, जेनाथी अप्राप्त सम्यग् दर्शन सम्यग्ज्ञान,
अने साम्यक् चारित्र्यी भने प्राप्ति थाय छे त्तिपेहाण-इतिप्रेक्ष आ प्रकारे पथा
दोयनात्मक बुद्धिधी विचार करी, पयओ त पबिस्सुणे-प्रयत सत् प्रतिशृणुयात्
सहनशील भनेल शिष्य गुरुना शिक्षात्मक वचनेने कर्तव्य समल अ गिहार करे

आनु तात्पर्यं जे छे के, जेवी रीते पथाकाणमां सूर्यनां किरणो
प्रय उत्तर धर्ष बय छे, अने तेथी ते प्राणीओ भारे असहनीय बनी बय छे
परंतु परिणामे जे त्रक्ष दिवसनी अहर ते वरसादना समागमथी पवनने
शीतल बनावी के छे, जेथी जलवृष्टि भूष थाय छे अने ठडीने स्पर्श सुभने।
अनुभव करवे छे अथवा जेभ नाणियेर उपरथी कठोर होय छे परंतु जेनी
अ हरने भाग शीतल मीठा जलथी भरवे होय छे जेने जेजवी होके तुष्टि-सतोष

उक्त चान्यत्र-सता सुता सुता माया, एषाहिं पि न सलवे ।

एगते नेव चिट्ठेजा, अप्पट्टी सज्जए सया ॥ १ ॥

छाया—स्वसा सुता स्तुपा माता, एतामिरपि न सलपेत ।

एकान्ते नेव तिष्ठेत्, आत्मार्थी सयत सदा ॥ १ ॥ इति ॥ २६ ॥

अथ विनीतशिष्यकर्तव्यमाह—

मूलम्—जं मे' बुद्धोऽणुसांसति, सीएण फरुसेण वा ।

मम लाभो त्ति' पेहाए, पेयओ त' पडिस्सुणे ॥ २७ ॥

छाया—यन्मा बुद्धा अनुशासति, शीतेन परुषेण वा ।

मम लाभ इति प्रेक्षया, प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात् ॥ २७ ॥

टीका—'ज मे' इत्यादि ।

बुद्धाः=आचार्याः, यन्माम् शीतेन=शीतलवचनेन मृदुवचनेनेत्यर्थः, वा=अथवा परुषेण=कठोरवचनेन अनुशासति शिक्षयन्ति, इदमनुशासनं मम लाभः=ग्रामका-

-कि-जिस प्रकार मुर्गे के घच्चेको कुलल-पिलाडी से भय पना रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी को भी स्त्री के शरीर से सदा भय रहा करता है । इसलिये चाहे अपनी सासारिक यहिन भी हो, चाहे पुत्री हो, बहू हो, माता भी हो, तो भी एकान्तमें ब्रह्मचारी को इनके साथ उठना बैठना नहीं चाहिये और न यातचीत ही करनी चाहिये ॥ २६ ॥

अथ विनीत शिष्य का कर्तव्य कहते हैं—'जमे' इत्यादि ।

अन्वयार्थ— विनीत शिष्य को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि (जंमे बुद्धा-यन्मां बुद्धा) जो मुझे आचार्य महाराज (सीएण-शीतेन) मीठे वचनों से, या अथवा (फरुसेण-परुषेण) कठोर वचनों से (अणुसासति-अनुशासति) अनुशासित करते हैं अर्थात् शिक्षा देते हैं सो (मम लाभो-मम लाभः) यह मेरे लिये एक बड़ा भारी लाभ है, क्योंकि

आ भाटे भवे पोतानी ससारीक जहेन होय, याडे पुत्री होय, बहु होय, अथवा माता होय तो पशु जेठांतमा जेमनी साथे जेसबुं ठठबुं के वातबित पशु ब्रह्मचारीजे करवी न जेधजे ॥ २६ ॥

हवे विनीत शिष्यनुं कर्तव्य कहे छे—जमे धत्थादि विनीत शिष्ये आ प्रकारने विचार करवे जेधजे के,

अ-वयाध—जमेबुद्धा-यन्मांबुद्धा भने आचार्य महाराज, सीएण-शीतेन मीठा वचनेधी, वा अथवा फरुसेण-परुषेण कठोर वचनेधी, अनुसासति-अनुशासति अनशासित करे छे. अर्थात् शिक्षा आपे छे ममलाभे जे

रणम्, लाम -अप्राप्तस्य सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र्यलक्षणरत्नत्रयस्य
प्राप्तिस्त्वस्य कारणमस्ति, इतिप्रेक्षया=इतिपर्यालोचनात्मिकया बुद्ध्या प्रयत.=प्रक
र्षेण यतनावान् सहनशील सन् शिष्य तत्=मनुशासन गुरो शिक्षावचन प्रति
श्रुणुयात्=कर्तव्यतयाऽङ्गीकुर्यात्।

अथ भाव.—

यथा—वर्षाकाले सूर्यकिरणा प्रचण्डतरा भवन्ति, परंतु परिणामे द्वित्रिविध-
साम्यन्तर एव ते जलटावलीसमागमनशीतपवनजलधारासपातजनितशीतस्पर्श-
सुखमादुर्भावयन्ति। “यथा वा-नालिकेर वहि कर्कशं भवति तथापि तदीय
शीतलमधुरनीरगर्भितमाभ्यन्तरिकभागमुपलभ्य लोकस्तदास्वादानेन तुष्टिं पुष्टिं

इससे अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र्य की सुक्ष्मे
प्राप्ति होती है। (त्ति पेद्याप-इति प्रेक्ष्य) इस प्रकार पर्यालोचनात्मक बुद्धि
से विचार कर (पयओ त पढिस्सुणे-प्रयत त प्रतिश्रुणुयात्) सहनशील
पना हुआ शिष्य गुरु के शिक्षात्मक वचनों को कर्तव्य समझकर
अंगोकार करे।

तात्पर्य—जिस प्रकार वर्षाकाल में सूर्यकी किरणें प्रचण्डतर हो जाती
हैं और हम से वे प्राणियों को असहनीय बनती हैं परन्तु परिणाम में
दो तीन दिन के भीतर ही वे उरसात के समागमन से पवन को शीतल
पना देती हैं उस से जलघृष्टि खूब होकर शीतस्पर्श के सुख का उन्हें
अनुभव कराती हैं। अथवा जैसे—नारियल ऊपर से कठोर होता है
परन्तु उसका भीतर का भाग शीतल, मीठे जल से भरा रहता है, उसको

अधु मांरे माटे वाभकारक छे केम के, जेनाथी अप्राप्त सम्यग् दर्शन सम्यग्ज्ञान,
अने साम्यक् चारित्र्यनी अने प्राप्ति थाय छे त्तिपेद्याप-इतिप्रेक्ष आ प्रकारे पर्या
लोचनात्मक बुद्धिची विचार करी, पयओ त पढिस्सुणे-प्रयत तत् प्रतिश्रुणुयात्
सहनशील अनेव शिष्य गुरुना शिक्षात्मक वचनाने कर्तव्य समल अंगिकार करे.

आजु तात्पर्य अे छे के, जेवी रीते वर्षाकालमां सूर्यना किरणें
प्रच उतर थरि जाय छे, अने तेथी ते प्राणीजो मांरे असहनीय अनी जाय छे
परंतु परिष्णामे जे त्रक्ष दिवसनी अहर ते वरसादना समागमथी पवनने
शीतल अनावी हे छे, जेथी जलघृष्टि भूष थाय छे अने ठायेना स्पर्श सुअने
अनुभव करवे छे अथवा जेम नाजियेर ऊपरथी कठोर होय छे परंतु जेनी
अहरनेा भाग शीतल भीडा जणथी भरहो होय छे जेने जेणवी बोडो तुष्टि-सतोय

उक्त चान्यत्र-सता सुता नुता माया, एयाहिं वि न सलये ।

एगते नेव चिट्ठेज्जा, अप्पट्ठी सजए सया ॥ १ ॥

छाया—स्वता सुता स्नुपा माता, एतामिरपि न सलपेत् ।

एकान्ते नेव विष्ठेत्, आत्मार्थी सयत् सदा ॥ १ ॥ इति ॥ २६ ॥

अथ विनीतशिष्यकर्तव्यमाह—

मूलम्—जं मे' बुद्धोऽणुसांसति, सीएण फरुसेणं वा ।

मम लाभो त्ति' पेहाए, पेयओ त' पडिस्सुणे ॥ २७ ॥

छाया—यन्मा बुद्धा अनुशासति, शीतेन परुषेण वा ।

मम लाभ इति प्रेक्षया, प्रयत्नस्तत् प्रतिनृणुयात् ॥ २७ ॥

टीका—'ज मे' इत्यादि ।

बुद्धाः=आचार्याः, यन्माम् शीतेन=शीतलवचनेन मृदुवचनेनेत्यर्थः, वा=अथवा परुषेण=कठोरवचनेन अनुशासति शिक्षयन्ति, इदमनुशासनं मम लाभः=भामका

-कि-जिस प्रकार मुर्गे के बच्चेको कुलल-पिलाडी से भय बना रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी को भी स्त्री के शरीर से सदा भय रहा करता है । इसलिये चाहे अपनी सांसारिक यहिन भी हो, चाहे पुत्री हो, बहू हो, माता भी हो, तो भी एकान्तमें ब्रह्मचारी को इनके साथ उठना बैठना नहीं चाहिये और न बातचीत ही करनी चाहिये ॥ २६ ॥

अथ विनीत शिष्य का कर्तव्य कहते हैं—'जंमे' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—विनीत शिष्य को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि (जमे बुद्धा-यन्मा बुद्धा) जो मुझे आचार्य महाराज (सीएण-शीतेन) मीठे बचनों से, वा अथवा (फरुसेण-परुषेण) कठोर बचनों से (अणुसासति-अनुशासति) अनुशासित करते हैं अर्थात् शिक्षा देते हैं सो (मम लाभो-मम लाभ) यह मेरे लिये एक बड़ा भारी लाभ है, क्योंकि

आ माटे भत्ते पोतानी स साशिक बडेन होय, चाहे पुत्री होय, बहु होय, अथवा माता होय तो पक्ष्येकांतमा ब्येमनी साथे बसवु उठवु के वातचित पक्ष्ये प्रकथारीब्ये करवी न लेई ब्ये ॥ २६ ॥

हुवे विनीत शिष्यनु कर्तव्य कहे छे—जमे इत्यादि

विनीत शिष्ये आ प्रकारने विचार करवे लेई ब्ये के,

अ-वयार्थ—जमे बुद्धा-यन्मा बुद्धा मने आचार्य महाशय, सीएण-शीतेन मीठा वचनोधी, वा अथवा फरुसेण-परुषेण कठोर वचनोधी, अनुसासति-अनुशासति अनुशासित करे छे, अर्थात् शिक्षा आपे छे ममलाभो-मेरे लिये

रणम्, लाम्.—अप्राप्तस्य सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रलक्षणरत्नत्रयस्य प्राप्तिस्तस्य कारणमस्ति, इतिप्रेक्षया=इतिपर्यालोचनात्मिकया बुद्ध्या प्रयत.=प्रकर्षेण यतनावान् सहनशील सन् शिष्य. तत्=प्रतुशासन गुरो शिक्षावचन प्रतिश्रुणुयात्=कर्तव्यतयाऽङ्गीकुर्यात्।

अथ भाव —

यथा—वर्षाकाले सूर्यकिरणा. प्रचण्डतरा भवन्ति, परतु परिणामे द्विन्दिव साम्पन्तर एव ते जलद्रावलीसमागमनशीतपवनजलधारासपानजनितशीतस्पर्श सुखप्रादुर्भावयन्ति। “यथा वा-नालिकेर बहि. कर्कशं भवति तथापि तदीय शीतलमधुरनीरगर्भितमाम्यन्तरिकभागमुपलभ्य लोकस्तदास्वादनेन तुष्टिं पृष्टिं इससे अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र की मुझे प्राप्ति होती है। (त्ति पेहाण-इति प्रेक्ष्य) इस प्रकार पर्यालोचनात्मक बुद्धि से विचार कर (पयओ त पंडिस्तुणे-प्रयत त प्रतिश्रुणुयात्) सहनशील बना हुआ शिष्य गुरु के शिक्षात्मक वचनों को कर्तव्य समझकर अंगीकार करे।

तात्पर्य—जिस प्रकार वर्षाकाल में सूर्यकी किरणें प्रचण्डतर हो जाती हैं और इस से वे प्राणियों को असहनीय बनती हैं परन्तु परिणाम में दो तीन दिन के भीतर ही वे धरसात के समागमन से पवन को शीतल बना देती हैं उस से जलवृष्टि खूब होकर शीतस्पर्श के सुख का उन्हें अनुभव कराती हैं। जधया जैसे-नारियल ऊपर से कठोर होता है परन्तु उसका भीतर का भाग शीतल, मीठे जल से भरा रहता है, उसको

अधुं भारे भाटे वाबकारक छे केम के, जेनाथी अप्राप्त सम्यग् दर्शन सम्यग्ज्ञान, अने साम्यक् चारित्रनी भने प्राप्ति थाय छे तिपेहाण-इतिप्रेक्ष आ प्रकारे पथो बोधनात्मक बुद्धिथी विचार करी, पयओ त पंडिस्तुणे-प्रयत तत् प्रतिश्रुणुयात् सहनशील अनेव शिष्य गुरुना शिक्षात्मक वचनेने कर्तव्य समल अंगिकार करे

आतु तात्पर्य अे छे के, जेवी रीते पयोकाजभां सूर्यनां किरणो प्रच उतर बर्ध जाय छे, अने तेथी ते प्राणीओ भाटे असहनीय अनी जाय छे परतु परिष्णामे जे प्रशु दिवसनी अकर ते धरसादना समागमथी पवनने शीतल अनावी हे छे, जेथी जलवृष्टि पूज थाय छे अने ठडीने स्पर्श सुभने अनुभव करवे छे अथवा जेभ नाजियेर ऊपरथी कठोर छेय छे परतु जेनी अकरने भाव शीतल मीठा जलथी अरेहो छेय छे जेने जेजवी बोके तुष्टि-सतोय

उक्त चान्यत्र-समा मुया नृसा माया, एयार्हि वि न सलय ।

एगते नैव चिद्वेज्जा, अप्पट्टी राजए सया ॥ १ ॥

छाया—स्वसा मुता स्नुषा माता, एतामिरपि न सलपेट् ।

एकान्ते नैव तिष्ठेत्, आत्मार्थी सयत सदा ॥ १ ॥ इति ॥ २६ ॥

अय विनीतशिष्यकर्तव्यमाह—

मूलम्—जं मे' बुद्ध्वाऽणुसांसति, सीएण फरुसेण वा ।

मम लाभो त्ति' पेहाए, पेयओ त' पडिस्सुणे ॥ २७ ॥

छाया—यन्मां बुद्ध्वा अनुशासति, शीतेन परुपेण वा ।

मम लाभ इति प्रेक्षया, प्रयतस्तत् प्रतिनृणुयात् ॥ २७ ॥

टीका—'ज मे' इत्यादि ।

बुद्ध्वाः=आचार्या, यन्माम् शीतेन=शीतलवचनेन मृदुवचनेनेत्यर्थ, वा=अथवा परुपेण=कठोरवचनेन अनुशासति शिक्षयन्ति, इदमनुशासनमम लाभः=आमका

-कि-जिस प्रकार मुर्गे के पच्चेको कुलल-पिलाडी से भय बना रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी को भी स्त्री के शरीर से सदा भय रहा करता है । इसलिये चाहे अपनी सांसारिक यहिन भी हो, चाहे पुत्री हो, बहू हो, माता भी हो, तो भी एकान्तमें ब्रह्मचारी को इनके साथ उठना बैठना नहीं चाहिये और न बातचीत ही करनी चाहिये ॥ २६ ॥

अब विनीत शिष्य का कर्तव्य कहते हैं—'जंमे' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—विनीत शिष्य को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि (जंमे बुद्ध्वा-यन्मां बुद्ध्वा) जो मुझे आचार्य महाराज (सीएण-शीतेन) मीठे वचनों से, वा अथवा (फरुसेण-परुपेण) कठोर वचनों से (अणुसांसति-अनुशासति) अनुशासित करते हैं अर्थात् शिक्षा देते हैं सो (मम लाभो-मम लाभ) यह मेरे लिये एक बड़ा भारी लाभ है, क्योंकि कि

आ माटे बडे पोतानी ससारीक भडेन होय, याडे पुत्री होय, बहु होय, अथवा माता होय तो पक्ष जेकातमां जेभनी साथे जेसबु ठठबु के वातचित पक्ष ब्रह्मचारीजे करवी न लेईजे ॥ २६ ॥

इवे विनीत शिष्यनु कर्तव्य ठडे छे—जंमे इत्यादि

विनीत शिष्ये आ प्रकारने विचार करवे लेईजे के,

अ-वयाध—जंमेबुद्ध्वा-यन्मामुद्ध्वा भने आत्माय भडासाम्, सीएण-शीतेन भीडा वचनेशी, वा अथवा फरुसेण-परुपेण कठोर वचनेशी, अनुसांसति-अनुशासति अतशासित करे जे अर्थात् शिक्षा आपे जे ममलायो-ममलाय जे

गया—अनुशासनमापाय, दुष्कृतस्य च नोदनम् ।

हितं तत् मन्यते प्राज्ञः, द्वेष्यं भवति असाधो ॥ २८ ॥

टीका—‘अणुसासन’ इत्यादि—

प्राज्ञः=प्रज्ञावान् मेधावी शिष्यः, औपायम्-उपाय=शीतपरुषभाषणरूपे भवम्, कठोरभाषणसमन्वितम् अनुशासन=गुरो शिक्षावाच्यं, च-पुन दुष्कृतस्य=भक्तिरस्य निवारणार्थं नोदन=प्रेरण, ‘इति हिमिदमकल्प्य त्वया कृतम्’ इत्यादिरूपम् वचनं हित-लोकद्वयफल्यकरणकारकं, मन्यते । असाधो अविनीतशिष्यस्य तदेव न द्वेष्य=द्वेषजनकं भवति ।

यथा—इक्षुक्षेत्रे दत्तं जलं मधुररसरूपेण परिणतं भवति, निम्बतरुमूले तु तदत्र सकलं कल्याणं करनेवाली मी गुरुशिक्षा किस को किस रूप में प्रेरणन होती है सो कहते हैं—‘अणुसासन’-इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(पन्नो-प्रज्ञः) बुद्धिमान् मेधावी शिष्य (ओवाय-औपाय) कठोर भाषण से मुक्त (अणुसासन-अनुशासन) गुरु के शिक्षारूप वचनों को कि जो (दुष्कृतस्य च नोदनम्) दुष्कृतस्य च नोदनम् अतिचारना निवारण के लिए प्रयुक्त किये गये हैं—‘यद्यत् तुमने नहीं करने योग्य काम क्यों कर दिया है’ इत्यादिरूप से जो कहे गये हैं वे हित मन्त्रण-तत् हित मन्यते उसको अपना हितकारक मानता है । (असाधुणो-असाधो) परन्तु जो अविनीत शिष्य होता है वह उन्हीं शिक्षावचनों को (द्वेष्यं भवति) अहितकारी मानता है । मेधावी शिष्य गुरु के मृदुकठोररूप वचनों को अपना हितकारक, एवं असाधु शिष्यात् अविनीत शिष्य उन्हीं वचनों को वृत्तवाचक मानता है ।

अत्र कल्याणं करववाणी गुरु शिक्षा देने का रूपमा परिष्कृत थाय छे ते कहेवाभा आवे छे अणुसासन इत्यादि

अन्वयार्थ—पन्नो-प्रज्ञः बुद्धिमान् मेधावी शिष्य ओवाय-औपाय का मग अथवा कठोर भाषणधी मुक्त अणुसासन-अनुशासन गुरुना शिक्षा स्वयं वचनाने के ने दुष्कृतस्य च नोदनम् अतिचारना निवारण भाटे प्रयुक्त करवामा आवेल छे आ न करवा योग्य काम तमे शा भाटे क्यु ?” इत्यादि रूपधी ने कहेवाय छे वेहिय मन्त्रण-तत् हित मन्यते अने चोतनां हितकर माने छे असाधुणो-असाधो परतु ने अविनीत शिष्य होय छे ते अ शिक्षा वचनाने द्वेष्यं भवति अहितकारी माने छे

ચ લભતે । પરમાચાર્યાનાં શીત પરુષ ચેત્યુભયવિથ શિક્ષાપત્રનં પરિણામે સુલગ્ન
નક્ષત્રેવ । આચાર્યવચન દ્વિ-પરિણામતસ્તપઃસંયમારાધનપવર્તકં, મિથ્યાત્વાદિપચ્ચ
ધાસ્રવનિવર્તક, જ્ઞાનાવરણીયાદિકર્મગ્ન પટલાપસાણપરમમીપણસમીરણાત્મકં, ના
નાવિધઠ્ઠિસાધક, નિશ્ચિન્મયાવસ્થાભાગ્યમાસક્રમલાલોકપ્રદશક, શાશ્વતિક્ષુલ
સમર્પક ચ મયતિ ” ઇત્યેવ પર્યાલોચ્ય ગુરો શિક્ષાવચનમત્તીકુર્યાદિતિ ॥ ૨૭ ॥

સકલક્રુયાણકારિણ્યપિ ગુરુશિક્ષા કસ્મૈ કીદશી પરિણમતીત્યાદ—

મૂલમ્—અણુસાસનમોવાય, દુઃકલ્પસ્સ ય ચોયં ।

હિર્ય તં મન્નપ પન્નો, વેસંસ હોઈં અસોદુણો ॥૨૮॥

પ્રાપ્ત કર લોક તુષ્ટિ ગ્વ પુષ્ટિ કો પ્રાપ્ત કરતે હું । ઇસી તરહ આચાર્ય
મહારાજ કે કોમલ ઈવં કઠોર, દોનો પ્રકાર કે શિક્ષાપ્રદ વચન શિષ્ય
કો પરિણામ મે સુખજનક હોતે હું । શિષ્ય કો આચાર્ય મહારાજ કે
વચન હી અન્ત મેં તપ ગ્વ સયમ કી આરાધના કરને મેં પ્રવૃત્ત કરાને
વાલે હોતે હું । મિથ્યાત્વાદિ પાચ પ્રકાર કે આસ્રવ કે વે નિરોધક હોતે
હું । જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મરજ કે પટલ કો હટાને મેં વે પ્રવળ પવન
કે વેગતુલ્ય હોતે હું । શિષ્યજનોમેં અનેક પ્રકાર કી લલ્ચિયોં કી
જાગૃતિ કરાને વાલે હોતે હું । સમસ્ત પદાર્થોં કે સ્વભાવ કા જિસ મેં
અવભાસન હોતા હું એસે કેવલજ્ઞાનરૂપ પ્રકાશ કે પ્રદર્શક ઈવં શાશ્વતિક
સુખ કે દેનેવાલે હોતે હું । ઇસ પ્રકાર ગુરુ મહારાજ કે શિક્ષા વચનોં કો
હિતકારક જ્ઞાનકર શિષ્યકા કર્તવ્ય હું ફિ વહુ ઝુંઝેં અંગીકાર કરે ॥૨૭॥

અને પુષ્ટિ પ્રાપ્ત કરે છે આ રીતે આચાર્ય મહારાજના કામળ અથવા કઠોર
બંને પ્રકારના શિક્ષાપ્રદ વચન શિષ્યને પરિણામમાં સુખજનક બને છે આચાર્ય
મહારાજના વચનજ અતમા શિષ્યને તપ તથા સયમની આરાધના કરવામાં
પ્રવૃત્ત કરાવનાર હોય છે મિથ્યાત્વાદિ પાચ પ્રકારના આસ્રવના એ નિરોધક હોય
છે જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મરજના આવરણને દૂર કરવામાં તે પ્રમુક પવનના
વેગ જેવાં હોય છે શિષ્યજનોમાં અનેક પ્રકારની લલ્ચિયોની જાગૃતિ કરાવનાર
હોય છે, સમસ્ત પદાર્થોના સ્વભાવનું જેનામાં અવભાસન હોય છે એવા કેવળ
જ્ઞાન રૂપ પ્રકાશના પ્રદર્શક અને શાશ્વતિક સુખને દેવાવાળા હોય છે આ પ્રકારે
ગુરુ મહારાજના શિક્ષા વચનોને હિતકારક બાણીને શિષ્યનું એ કર્તવ્ય છે કે
તે જેનો અંગિકાર કરે ॥ ૨૭ ॥

टीका—‘ हिय ’ इत्यादि—

विगतभया = भयरहिता, भय सप्तविधम्—इहलोकभयम् १, परलोकभयम् २, आदानभयम् ३, अकस्माद्भयम् ४, आजीविकाभयम् ५, मरणभयम् ६, अश्लोकभय च ७, एतैर्विर्वर्जिता, बुद्धा = द्वाततत्रा मेधाविन इत्यर्थः, एवभूता शिष्याः परुषमपि = कठोरमपि, अनुशासनम् = गुरुणा शिक्षावचनम् हित = पथ्य मन्यन्ते इति शेष । किन्तु क्षान्तिशोधिकर-क्षान्ति = क्षमा, शोधि = शुद्धिः आत्मशुद्धिः, तयो करम् = उत्पत्तिजनक, यथा-वर्षाऋतुनिमित्त प्राप्य जलधरा गर्जन्ति, वसन्तं प्राप्य वृक्षा नूतनपल्लवकुसुमप्रियोपेता भवन्ति, चन्द्र प्राप्य चन्द्रकान्तमणय प्रस्रवन्ति, सूर्य प्राप्य कमलानि विक्रमन्ति, तथा ध्रुमां प्राप्य निर्भोभतादिगुणा प्रादुर्भवन्ति । शोधिश्च दुःखमेघनाशने पवनरूपा, सुखोत्पादने कल्पतरुरूपा भवसिन्धुपारकरणे नौकारूपा, अज्ञानान्धकारनाशने प्रभारूपा । एवभूतयो क्षान्तिशोधयोर्जनकम्, इदमप्यलक्षणम् तेन आज्ञाविकरमपि, पद = धानादि गुणाना स्थानम् । तत् = अनुशासन, मूदानां = कुशिष्याणां द्वेष्य = द्वेषजनक भवति । उक्त च—

पुनरप्याह—‘ हिय ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(विगतभया-विगतभया) इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्माद्भय, आजीविकाभय, मरणभय, एव अश्लोकभय ये सात भय हैं । इनसे जो रहित हैं तथा (बुद्धा-बुद्धा) : तस्वों के जो जानकार हैं—मेधावी हैं वे शिष्य (परुषमपि-परुषमपि) कठोर भी (अणुसासन-अनुशासनं) गुरु महाराज के शिक्षात्मक षषणों को (हिय-हित) पथ्य-हितविधायक मानते हैं । किन्तु (स्वति सोहिकरं-क्षान्तिशोधिकरं) क्षमा और शुद्धि के विधायक तथा (पय-पदम्) ज्ञानादिक गुणों के स्थानभूत (तत्) गुरु के वे ही अणुशासनरूप

पुनरप्याह हिय - इत्यादि.

अन्वयार्थ—विगतभया-विगतभया आ दोहने भय, परदोहने भय, आदान भय, अकस्मात् भय, आजीविका भय, मरण भय अने अश्लोक भय आ सात भय छे जेनाथी जे रहित छे तथा (बुद्धा-बुद्धा) तत्वेने जे अणुकार छे, मेधावी छे, ते शिष्य परुषमपि-परुषमपि कठोर पद्य अणुसासन-अनुशासन गुरु महाराजना शिक्षात्मक पथ्यनेने हिय-हित पथ्य हित विधायक माने छे, स्विसोहिकर-क्षान्तिशोधिकर क्षमा अने शुद्धिना विधायक, पय-पदम् ज्ञानादिक

કદુકરસરૂપેણ, યથા ચા સિતોપલ—‘મિસરી’ ઇતિ ભાવાપસિદ્ધે સર્વેણાં મધુરા
સ્વાદજનકં ભવતિ તદેવ પિત્તદૂષિતરસનસ્ય નિમ્યાદિત્ કદુક, ગર્દભાણાં તુ વિષ-
મેવ ભવતિ, યથા ચા શુદ્ધ ઘૃત સર્વેણાં પૃષ્ટિકર ભવતિ, તદેવ જ્વરાક્રાન્તાનાં જનાના
રોગવર્ધકમ્ । एव गुरुवचन सविनयस्य हिताय जायते, त्रिनगरद्वितस्य शिष्यस्य तु
द्वेषाय इति भाव ॥ २८ ॥

ઉક્તમર્થે વિશ્વદયન્નાહ—

મૂલમ્—હિય ત્રિગયંભયા વુદ્ધા, ફરુસ પિ અણુસાસણ ।

વેસ્સ ત્ હોઈ મૂઢાણ, સંતિસોહિકર પંચ ॥૨૯॥

છાયા—હિત ત્રિગતભયા વુદ્ધા, પરુપમપિ અનુશાસનમ્ ।

દ્રેષ્ય તત્ ભવતિ મૂઢાનાં, જ્ઞાન્તિશોધિકર પદમ્ ॥ ૨૯ ॥

તા-પર્યં इसका इस प्रकार का है कि जिस प्रकार श्क्षु के खेन में दिया
गया पानी मधुर रसरूपसे परिणत होता है और वही पानी जब निम्बवृक्ष के
मूलमें दिया जाता है तो कड़ुवे रूपमें परिणत हो जाता है, अथवा जैसे मिथी
सय के लिये मधुर आस्वाद देती है परन्तु जिस की जीभ पिस से दूषित
हो रही है उसके लिये वह मिथी कड़ुवी नीम जैसी मालूम होती है,
तथा गधों को तो वह विष जैसी ही मालूम होती है । अथवा जैसे शुद्ध
घृत समस्तजनों को पुष्टि करने वाला होता है परन्तु वही घृत ज्वरबाधे
के लिए रोगवर्द्धक होता है, इसी प्रकार जो विनयी शिष्य हैं उनके
लिये गुरु महाराज के वचन हितकारक होते हैं और वे ही वचन अवि-
नीम शिष्य के लिये द्वेषकारक होते हैं ॥ २८ ॥

તેનું વાત્પર્યં આ પ્રકારનું છે, કે જે પ્રકારે પ્રાક્ષના ખેતરમા આપવામા
આવેલ પાણી મધુરસરૂપમાં પરિણીત બને છે અને તેજ પાણી જ્યારે વિભડાના
વૃક્ષના મૂળમા આપવામા આવે છે તો કદુરસ રૂપમા પરિણમે છે જેમ-સાકર
બધા માટે મધુર આસ્વાદ આપે છે પરંતુ જેની જીભ પિત્તથી દુષિત થયેલ
હોય છે, તેને માટે સાકર કડવા વિમઢા જેવી માલુમ પડે છે અને બધાને
તો તે અકેર જેવી બને છે અથવા જેમ ચોખ્ખુ શી સબળા માટે પુષ્ટ
કરવાવાળું હોય છે પરંતુ તે શી વાવવાળા માટે રોમને વધારનાર બને છે
એ જ રીતે જે વિનયી શિષ્ય છે તેને માટે ગુરુ મહારાજનું વચન હિતકારક
હોય છે અને તે જ વચન અવિનીત શિષ્ય માટે દ્રેષકારક હોય છે ॥ ૨૮ ॥

टीका—‘ हिय ’ इत्यादि—

विगतभया = मयरहिता, मय सप्तविधम्—इहलोकभयम् १, परलोकभयम् २, आदानभयम् ३, अकस्माद्भयम् ४, आजीविकाभयम् ५, मरणभयम् ६, अश्लोकभय च ७, एतैर्विवर्जिता, बुद्धा = ज्ञातवत्त्वा मेधाविन इत्यर्थः, एवभूता शिष्या परुषमपि = कठोरमपि, अनुशासनम् = गुरुणा शिक्षावचनम् हित = पथ्य मन्यन्ते इति शेष । किन्तु क्षान्तिशोधिकर-क्षान्ति = क्षमा, शोधि. = शुद्धि आत्मशुद्धि, तयो करम् = उत्पत्तिजनक, यथा-वर्षाऋतुनिमित्तं प्राप्य जलधरा गर्जन्ति, वसन्त प्राप्य वृक्ष नूतनपल्लवकुसुमत्रियोपेता भवन्ति, चन्द्र प्राप्य चन्द्रकान्तमणय प्रस्रवन्ति, सूर्य प्राप्य कमलानि विक्रमन्ति, तथा क्षमां प्राप्य निर्दोषतादिगुणाः प्रादुर्भवन्ति । शोधिश्च दुःखमेघनाशने पवनरूपा, सुखोत्पादने कल्पतरुरूपा भवसिन्धुपारकरणे नौकारूपा, अज्ञानान्धकारनाशने प्रमारूपा । एवभूतयो क्षान्तिशोधयोर्जनकम्, इदमप्यलक्षणम् तेन आज्ञादिकरमपि, पद = ज्ञानादि गुणानां स्थानम् । तत् = अनुशासन, मूदानां = कुशिष्याणां द्वेष्य = द्वेषजनक भवति । उक्तं च—

पुनरप्याह—‘ हिय ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(विगतभया-विगतभया) इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्माद्भय, आजीविकाभय, मरणभय, एवं अश्लोकभय, ये सात भय हैं । इनसे जो रहित हैं तथा (बुद्धा-बुद्धा) तत्त्वों के जो जानकार हैं—मेधावी हैं वे शिष्य (परुषमपि-परुषमपि) कठोर भी (अणुशासन-अनुशासन) गुरु महाराज के शिक्षात्मक वचनों को (हिय-हित) पथ्य-हितविधायक मानते हैं । किन्तु (त्वति सोहिकर-क्षान्तिशोधिकर) क्षमा और शुद्धि के विधायक तथा (पयं-पदम्) ज्ञानादिक गुणों के स्थानभूत (तत्) गुरु के वे ही अणुशासनरूप

पुनरप्याह हिय - इत्यादि

अन्वयार्थ—विगतभया-विगतभया आ डोकने भय, परडोकने भय, आदान भय, अकस्मात् भय, आजीविका भय, मरण भय अने अश्लोक भय आ सात भय छे जेनाथी जे रहित छे तथा (बुद्धा-बुद्धा) तत्त्वोने जे लखकार छे, मेधावी छे, ते शिष्य परुषमपि-परुषमपि कठोर पथ्य अणुशासन-अनुशासन गुरु महाराजना शिक्षात्मक वचनेने हिय-हित पथ्य हित विधायक माने छे, त्विसोहिकर-शोधिशोधिकर क्षमा अने शुद्धिना विधायक, पय-पदम् ज्ञानादिक

ફડુકરસરૂપેણ, યથા વા સિતોપલ—‘મિસરી’ ઇતિ ભાષાપ્રસિદ્ધં સર્વેણાં મધુરા સ્વાદજનકં ભવતિ તદેવ પિત્તદૂષિતરસનસ્ય નિમ્બાદિત્ ફડુક, ગર્દભાણા તુ વિષમેવ ભવતિ, યથા વા શુદ્ધ ઘૃત સર્વણાં પૃષ્ટિકરં ભવતિ, તદેવ જ્વરાક્રાન્તાનાં જનાનાં રોગવર્ધકમ્ । एव गुरुवचन मविनयस्य हिताय ज्ञायते, पिनगरहितस्य शिष्यस्य तु द्वेषाय इति भाव ॥ २८ ॥

ઉક્તમર્થે વિશ્વદયન્નાહ—

મૂલમ્—હિયં ત્રિગયંભયા વુદ્ધા, ફરુસ પિ અણુસાસણ ।

વેસ્સ ત્ હોઈ મૂઢાણ, સ્વંતિસોહિકર પંચ ॥૨૯॥

છાયા—હિત ત્રિગતભયા વુદ્ધા, પરુપમપિ અણુસાસનમ્ ।

દ્રેષ્ય તત્ ભવતિ મૂઢાનાં, સાન્તિશોધિકર પદમ્ ॥ ૨૯ ॥

તાત્પર્યે इसका इस प्रकार का है कि जिस प्रकार इक्षु के खेनमें दिया गया पानी मधुर रसरूपसे परिणत होता है और वही पानी जब निम्बवृक्ष के मूलमें दिया जाता है तो कड़ुये रूपमें परिणत हो जाता है, अथवा जैसे मिश्री सब के लिये मधुर आस्वाद देती है परन्तु जिस की जीभ पित्त से दूषित हो रही है उसके लिये वह मिश्री कड़ुवी नीम जैसा मालूम होती है, तथा गर्वों को तो वह विष जैसी ही मालूम होती है । अथवा जैसे शुद्ध घृत समस्तजनों को पुष्टि करने वाला होमा है परन्तु वही घृत ज्वरवाले के लिए रोगवर्द्धक होता है, इसी प्रकार जो विनयी शिष्य हैं उनके लिये गुरु महाराज के वचन हितकारक होते हैं और वे ही वचन अविनीत शिष्य के लिये द्वेषकारक होते हैं ॥ २८ ॥

તેનું તાત્પર્ય આ પ્રકારનું છે, કે જે પ્રકારે દ્રાક્ષના ખેતરમાં આપવામાં આવેલ પાણી મધુરસરૂપમાં પરિણીત બને છે અને તેજ પાણી જ્યારે વિનયાના વૃક્ષના મૂળમાં આપવામાં આવે છે તો કડુરસ રૂપમાં પરિણમે છે જેમ—સાકર બધા માટે મધુર આસ્વાદ આપે છે પરંતુ જેની જીભ પિત્તથી દુષિત થયેલ હોય છે, તેને માટે સાકર ઠડવા વિનયા જેવી માલુમ પડે છે અને ગર્વકાને તો તે ગર્વ જેવી બને છે અથવા જેમ યોગ્યુ ધી સબળા માટે પુષ્ટી કરવાવાળું હોય છે પરંતુ તે ધી તાવવાળા માટે રોગને વધારનાર બને છે એ જ રીતે જે વિનયી શિષ્ય છે તેને માટે ગુરુ મહારાજનું વચન હિતકારક હોય છે અને તે જ વચન અવિનીત શિષ્ય માટે દ્વેષકારક હોય છે ॥ ૨૮ ॥

मूलम्—आसणे उवंचिट्ठिजा, अणुञ्चे अकुए थिरे^१ ।

अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएजप्पकुर्क्कुए ॥३०॥

छाया—आसने उपतिष्ठेत्, अनुच्चे अकुचे स्थिरे ।

अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निपीदेत् अल्पकौकुच्य. ॥ ३० ॥

टीका—‘आसणे’ इत्यादि—

अनुच्चे—द्रव्यतो गुर्वासनाग्रीचे, भावत स्वल्पमूल्यके, अकुचे अकम्पमाने, यद्वा चटकारादिश्चन्द्ररहिते, स्थिरे=समपादवत्त्वेन निश्चले, आसने उपतिष्ठेत् पीठादौ वर्षासु उपतिष्ठेत्=उपविशेत् । ईदृशेऽप्यासने साधु^१ किमवस्यः सस्तिष्ठे-दित्याह—‘अप्पुट्ठाई’ इति जल्पोत्थायी-कार्ये सत्यपि इपदुचिष्ठतीत्येवशीलः, एककार्येणोत्थित सन् बहुकार्यसंपादक इत्यर्थः । अत-एव-कीदृश सन्नित्याह—

अथ शिष्य के लिये आसन की विधि कहते हैं—‘आसणे’—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—शिष्य (अणुच्चे-अनुच्चे) द्रव्यकी अपेक्षा गुरुमहाराज के आसनसे नीचा भावकी अपेक्षा अल्पमूल्यवाला (अकुए-अकुचे) तथा चटचट इत्यादि शब्द से रहित, अथवा हिलनेवाला नहीं ऐसा जो (थिरे-स्थिरे) स्थिर-चारों पाये जिसके समान हों ऐसे (आसणे-आसने) आसन - पीठ फलक पाट पाटले आदि, उन पर वर्षाकाल में (उवंचिट्ठिजा-उपतिष्ठेत्) बैठे । शिष्य जिस आसन पर बैठे वह गुरु के आसन की अपेक्षा नीचा होना चाहिये । तथा अल्प मूल्यवाला एव हिलने डुलने वाला नहीं होना चाहिये । शिष्य अपने आसन पर जम कर बैठे, कारण बिना न उठे, यही घात (अप्पुट्ठाई-अल्पोत्थायी) इस पद द्वारा प्रदर्शित की गई है । उठने का काम यदि

इसे शिष्य भाटे आसननी विधि कहे छे, आसणे-इत्यादि

अन्वयार्थ—शिष्य अणुच्चे-अनुच्चे द्रव्यनी अपेक्षा गुरुमहाराजना

आसनथी नीचा, भावनी अपेक्षा अल्पमूल्यवाला, अकुए-अकुचे तथा चटचट इत्यादि शब्दथी रहित अथवा हलवावाला नहीं जेना जे थिरे-स्थिरे स्थिर-चारै पाया जेना जेक सरभा डोय तेवा, आसणे-आसने आसन-पीठ इक पाट पाटला आदि जेना उपर वर्षाकालमा उवंचिट्ठिजा-उपतिष्ठेत् जेसे शिष्य जे आसन उपर जेसे ते गुरुना आसनथी नीचु डोवुं जेधजे, तथा इहे यहे नहीं तेवुं डोवुं जेधजे शिष्य पोताना आसन उपर स्थिर भधने जेसे, ठारषु वगर न उठै, अप्पुट्ठाई-अल्पोत्थाई आ वात आ पद द्वारा प्रदर्शित करवामां

સદ્બોધ વિદધાતિ હન્તિ કુમતિ મિથ્યાદ્રશં ચાષતે,
 ધત્તે ધર્મમતિ તનોતિ પરમે સવેગનિર્વેદને ।
 રાગાદોન્ વિનિહન્તિ નીતિમમલા પુષ્પાતિ હન્ત્યુત્પથ,
 યદ્વા કિં ન કરોતિ સદ્ગુણ્મુખાદમ્યુદ્ગતા ભારતી ॥૧॥ ક્ષિતિ ॥ ૨૯ ॥

ધવન (મૂઢાણ વેસ્સ હોઈ-મૂઢાના દ્વેષ્ય ભવતિ) મૂર્લ-અવિનીન શિષ્યોં
 કે લિયે દ્વેષજનક હોતે હેં । કલા ની હૈ—

“સદ્બોધ વિદધાતિ હન્તિ કુમતિ મિથ્યાદ્રશ ચાષતે,
 ધત્તે ધર્મમતિ તનોતિ પરમે સવેગનિર્વેદને ।
 રાગાદોન્ વિનિહન્તિ નીતિમમલા પુષ્પાતિ હન્ત્યુત્પથં,
 યદ્વા કિં ન કરોતિ સદ્ગુણ્મુખાદમ્યુદ્ગતા ભારતી ” ॥ ૧ ॥

સદ્ગુણ કે મુગ્ધસે નિકલી હુઈ વાણી પ્રદાસ્ત ધોધકી-સમ્યગ્જ્ઞાન કી
 જનક હોતી હૈ, કુમતિ કી વિદારક હો-ની હૈ, મિથ્યાત્વરૂપી દષ્ટિ કી
 વિષ્વંસક હોતી હૈ, ધર્મ મેં મતિ ઉત્પન્ન કરને વાલી હોતી હૈ, સવેગ,
 ણધ નિર્વેદ ગુણ કી ઉત્કર્ષક હો-ની હૈ, રાગાદિકોં કી વિનાશક હોતી હૈ,
 નિર્મલ નીતિ કી પોષક હોતી હૈ, કુમાર્ગ કી વિદ્રાવક હોતી હૈ । એસે
 ઓર કોન સે સદ્ગુણ વચતે હેં જો ગુરુદેવ કી વાણી સે જીવોં કો પ્રાપ્ત
 ન હોતે હોં ॥ ૨૯ ॥

શુભોના સ્થાનભૂત, સ્તુ તે શુરુ કે જ્ઞેઓના અનુચાસના રૂપ વચન મૂઢાણ
 વસ્સ હોઈ-મૂઢાનાં દ્વેષ્ય ભવતિ અવિનીત શિષ્ય માટે દ્વેષ જનક બને છે
 ઠમ્મુ પશુ છે કે—

સદ્બોધ વિદધાતિ હન્તિકુમતિ, મિથ્યાદ્રશં ચાષતે ।
 ધત્તે ધર્મમતિ તનોતિ પરમે સવેગનિર્વેદને ॥
 રાગાદોન્ વિનિહન્તિ નીતિમમલાં પુષ્પાતિ હન્ત્યુત્પથ ।
 યદ્વા કિં ન કરોતિ સદ્ગુણ્મુખાદમ્યુદ્ગતા મારતી ॥૧॥

સદ્ગુણના મુખથી નીકળેલી વાણી પ્રશસ્ત યોધની સામ્યગ્જ્ઞાનની જનક
 હોય છે, કુમતિની વિદારક હોય છે, મિથ્યાત્વરૂપી દષ્ટિની વિષ્વંસક હોય છે,
 ધર્મમા મતિ ઉત્પ ન કરવાવાળી હોય છે સવેગ અને નિવેગ શુભનો ઉત્કર્ષક
 કરવાવાળી હોય છે, રાગાદિકોના વિનાશ કરનારી હોય છે, નિમળ નિતીની
 પોષક હોય છે કુમાર્ગની વિદ્રાવક હોય છે એવા અને બીલા કયા સદ્ગુણ
 બાકી રહે છે કે જે શુરુદેવની વાણીથી શુભને પ્રાપ્ત ન થતા હોય

मूलम्—आसणे उवंचिद्विजा, अणुञ्चे अकुण् थिरे ।

अंपुट्टाई निरुट्टाई, निसीपंजप्पकुम्कुण् ॥३०॥

छाया—आसने उपतिष्ठेत्, अनुञ्चे अकुचे स्थिरे ।

अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निपीदेत् अल्पकौकुच्यः ॥ ३० ॥

टीका—‘आसणे’ इत्यादि—

अनुञ्चे—द्रव्यतो गुवांसनाभीचे, भावत स्वल्पमूल्यके, अकुचे अकम्पमाने, यद्वा चटत्कारादिशब्दरहिते, स्थिरे=समपादवचनेन निश्चले, आसने उपतिष्ठेत् पीठादौ वर्षासु उपतिष्ठेत्=उपविशेत् । ईदृशेऽप्यासने साधुः किमवस्थः सस्तिष्ठेदित्याह—‘अप्पुट्टाई’ इति अल्पोत्थायी—कार्ये सत्यपि ईषदुत्तिष्ठतीत्येष्वशीलः, एककार्येणोत्थित सन् बहुकार्यसंपादक इत्यर्थः । अत—एव—कीदृश सन्नित्याह—

अथ शिष्य के लिये आसन की विधि कहते हैं—‘आसणे’—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—शिष्य (अणुञ्चे-अनुञ्चे) द्रव्यकी अपेक्षा गुरुमहाराज के आसनसे नीचा भावकी अपेक्षा अल्पमूल्यवाला (अकुण्-अकुचे) तथा चटचट इत्यादि शब्द से रहित, अथवा हिलनेवाला नहीं ऐसा जो (थिरे-स्थिरे) स्थिर-चारों पाये जिसके समान हों ऐसे (आसणे-आसने) आसन - पीठ फलक पाट पाटले आदि, उन पर वर्षाकाल में (उवंचिद्विजा-उपतिष्ठेत्) बैठे । शिष्य जिस आसन पर बैठे वह गुरु के आसन की अपेक्षा नीचा होना चाहिये । तथा अल्प मूल्यवाला एव हिलने कुलने वाला नहीं होना चाहिये । शिष्य अपने आसन पर जम कर बैठे, कारण बिना न उठे, यही बात (अप्पुट्टाई-अल्पोत्थायी) इस पद द्वारा प्रदर्शित की गई है । उठने का काम यदि

हुवे शिष्य भाटे आसननी विधि ठडे छे, आसणे-धत्यादि

अन्वयार्थ—शिष्य अणुञ्चे-अनुञ्चे द्रव्यकी अपेक्षा गुरुमहाराजना आसनकी नीचा, भावकी अपेक्षा अल्पमूल्यवाला, अकुण्-अकुचे तथा चटचट इत्यादि शब्दकी रहित अथवा हिलनेवाला नहीं जेवा जे थिरे-स्थिरे स्थिर-चार पाया जेना जेठ सरभा डोय तेवा, आसणे-आसने आसन-पीठ इठठ पाट पाटला आदि जेना उपर वर्षाकालमां उवंचिद्विजा-उपतिष्ठेत् जेसे. शिष्य जे आसन उपर जेसे ते गुरुना आसनकी नीचु डोवु जेधजे, तथा हुवे थडे नहीं तेवु डोवु जेधजे शिष्य पोताना आसन उपर स्थिर धधने जेसे, ठारणु पगर न उठे, अप्पुट्टाई-अल्पोत्थाई आ बात आ पठ द्वारा प्रदर्शित करवाभां

સવ્ધોષં વિદધાતિ હન્તિ કુમતિ મિથ્યાદ્રશં વાધતે,
 ધત્તે ધર્મમતિં તનોતિ પરમે સવેગનિર્વેદને ।
 રાગાદોન્ વિનિહન્તિ નીતિમમલા પુષ્પાતિ હન્ત્યુત્પથ,
 યદ્વા કિં ન કરોતિ સદ્ગુરુશ્વાદમ્યુદ્ગતા ભારતી ॥૧॥ ઇતિ ॥ ૨૯ ॥

વચન (મૂઢાણ વેસ્સં હોઈ-મૂઢાના દ્રેષ્ય ભવતિ) મૂર્ખ-અધિનીન શિષ્યોં
 કે લિયે દ્રેષ્યજનક હોતે હૈં । કહ્તા મી હૈ—

“સવ્ધોષ વિદધાતિ હન્તિ કુમતિં મિથ્યાદ્રશં વાધતે,
 ધત્તે ધર્મમતિં તનોતિ પરમે સવેગનિર્વેદને ।
 રાગાદોન્ વિનિહન્તિ નીતિમમલા પુષ્પાતિ હન્ત્યુત્પથં,
 યદ્વા કિં ન કરોતિ સદ્ગુરુશ્વાદમ્યુદ્ગતા ભારતી ” ॥ ૧ ॥

સદ્ગુરુ કે મુખ્વસે નિકલો હુઈ વાણી પ્રશસ્ત વોધકી-સમ્પગ્જ્ઞાન કી
 જનક હોતી હૈ, કુમતિ કી વિદારક હોમી હૈ, મિથ્યાત્વરૂપી દ્રષ્ટિ કી
 વિષ્વસક હોતી હૈ, ધર્મ મેં મતિ ઉત્પન્ન કરને ઘાલી હોતી હૈ, સવેગ,
 ંવ નિર્વેદ ગુણ કી ઉત્કર્ષક હોની હૈ, રાગાદિકોં કી વિનાશક હોતી હૈ,
 નિર્મલ નીતિ કી વોષક હોતી હૈ, કુમાર્ગ કી વિદ્રાવક હોતી હૈ । ંસે
 ંર કૌન સે મદ્ગુણ વચતે હૈં જો ગુરુદેવ કી વાણી સે જીવોં કો વ્રાસ
 ન હોતે હોં ॥ ૨૯ ॥

શુદ્ધોના ંધાનમૂત, સત્ તે શુર કે જ્ઞોના અનુશાસના રૂપ વચન મૂઢાણ
 વેસ્સ હોઈ-મૂઢાનાં દ્રેષ્ય ભવતિ અધિનીન શિષ્ય માટે દ્રેષ્ય જનક બને છે
 કષ્ટુ પશુ છે કે—

સવ્ધોષ વિદધાતિ હન્તિકુમતિ, મિથ્યાદ્રશં વાધતે ।
 ધત્તે ધર્મમતિં તનોતિ પરમે સવેગનિર્વેદને ॥
 રાગાદોન્ વિનિહન્તિ નીતિમમલાં પુષ્પાતિ હન્ત્યુત્પથ ।
 યદ્વા કિં ન કરોતિ સદ્ગુરુશ્વાદમ્યુદ્ગતા ભારતી ॥૧॥

સદ્ગુરુના મુખથી નીકળેલી વાણી પ્રશસ્ત વોધની સામ્યગ્જ્ઞાનની જનક
 હોય છે, કુમતિની વિદારક હોય છે, મિથ્યાત્વરૂપી દ્રષ્ટિની વિષ્વસક હોય છે,
 ધર્મમા મતિ ઉત્પન્ન કરવાવાળી હોય છે સવેગ અને નિર્વેગ શુદ્ધનો ઉત્કર્ષક
 કરવાવાળી હોય છે, રાગાદિકોના વિનાશ કરનારી હોય છે નિમળ નીતિની
 વોષક હોય છે. કુમાર્ગની વિદ્રાવક હોય છે, જ્ઞેવા અને જીવા કયા સદ્ગુણ
 બાધી રહે છે કે જ્ઞે શુરુદેવની વાણીથી જીવોને વ્રાસ ન થતા હોય. ૨૮ ॥

मूलम्—आसणे उवंचिट्टिजा, अणुञ्चे अकुण्ण थिरे' ।

अण्णुट्टाई निरुट्टाई, निसीएज्जप्पकुर्म्मकुण्ण ॥३०॥

छाया—आसने उपतिष्ठेत्, अनुञ्चे अकुचे स्थिरे ।

अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निपीदेत् अल्पकौकुच्य' ॥ ३० ॥

टीका—'आसणे' इत्यादि—

अनुञ्चे—द्रव्यतो गुर्वासनाग्नीचे, भावत स्वल्पमूल्यके, अकुचे अकम्पमाने, यद्वा चटत्कारादिशब्दरहिते, स्थिरे=समपादवस्त्रेण निश्चले, आसने उपतिष्ठेत् पीठादौ वर्षासु उपतिष्ठेत्=उपविशेत् । ईदृशोऽप्यासने साधु किमवस्थ. सस्तिष्ठे-दित्याह—'अण्णुट्टाई' इति अल्पोत्थायी-कार्ये सत्यपि ईषदुत्तिष्ठतीत्येवशीलः, एककार्येणोत्थित. सन् बहुकार्यसंपादक इत्यर्थ । अत-एव-कीदृश. सभित्याह-

अयं शिष्य के लिये आसन की विधि कहते हैं—'आसणे'—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—शिष्य (अणुञ्चे-अनुञ्चे) द्रव्यकी अपेक्षा गुरुमहाराज के आसनसे नीचा भावकी अपेक्षा अल्पमूल्यवाला (अकुण्ण-अकुचे) तथा चटचट इत्यादि शब्द से रहित, अथवा हिलनेवाला नहीं ऐसा जो (थिरे-स्थिरे) स्थिर-चारों पाये जिसके समान हों ऐसे (आसणे-आसने) आसन - पीठ फलक पाट पाटले आदि, उन पर वर्षाकाल में (उवंचिट्टिजा-उपतिष्ठेत्) बैठे । शिष्य जिस आसन पर बैठे वह गुरु के आसन की अपेक्षा नीचा होना चाहिये । तथा अल्प मूल्यवाला एव हिलने झुलने वाला नहीं होना चाहिये । शिष्य अपने आसन पर जम कर बैठे, कारण बिना न उठे, यही बात (अण्णुट्टाई-अल्पोत्थायी) इस पद द्वारा प्रदर्शित की गई है । उठने का काम यदि

इसे शिष्य भाटे आसनकी विधि ठहरे, आसणे-इत्यादि

अन्वयार्थ—शिष्य अणुञ्चे-अनुञ्चे द्रव्यकी अपेक्षा गुरुमहाराजना आसनकी नीचा, भावकी अपेक्षा अल्पमूल्यवाला, अकुण्ण-अकुचे तथा चटचट इत्यादि शब्दरहित अथवा हिलनेवाला नहीं ऐसा जो थिरे-स्थिरे स्थिर-चारों पाया होना अथवा सूर्या होय तेवा, आसणे-आसने आसन-पीठ इव च पाट पाटला आदि होना उपर वर्षाकालमें उवंचिट्टिजा-उपतिष्ठेत् जैसे शिष्य ने आसन उपर जैसे ते गुरुना आसनकी नीचा होवुं ओर्ध्वे, तथा इदं यद्वे नहीं तेवुं होवुं ओर्ध्वे शिष्य पीठाना आसन उपर स्थिर यधने जैसे, कश्चि उपर न उठे, अण्णुट्टाई-अल्पोत्थायी आ वात आ पद द्वारा प्रदर्शित कश्चिमां

‘निरुद्धाई’ इति निरुत्थायी-प्रयोजनेऽपि न पुन, पुनरुत्थानश्लोः पुनः कीदृशः
समित्याह-‘अप्पकुक्कुए’ इति अल्पकौकुच्यः-अल्प कौकुच्य यस्य स तथा-
अत्राल्पशब्दो नजर्ये वर्तते तथाच-ऊरचरणभ्रूभ्रमणाद्यशिष्टचेष्टारहित इत्यर्थः
निपीदेत्=उपविशेत् ।

‘अनुच्चे’ इति विशेषणेन विनयः प्रदर्शितः ।

‘अकुच्चे’ इत्यनेन द्वीन्द्रियादिप्रसजीवयतना सूचिता ।

‘स्थिरे’ इत्यनेन वायुकाययतना सूचिता ।

‘अल्पोत्थायी’ इत्यनेन निषद्यापरिपहविजय, सूचितः ।

‘निरुत्थायी’ इत्यनेन आम्पन्तरिकव्युत्सर्गतपसः समाराधनाऽऽवेदिता ।

पडे भी तौ भी जय उठे तय जिस काम के लिये उठा हो उस समय
और भी जो काम करना हो वे भी कर लेवे । तथा (अप्पकुक्कुए-अल्प
कौकुच्यः) हाथ तथा पैर एवं भ्रू आदि का अशिष्ट सञ्चालन न करे,
तात्पर्य यह कि यदि वह पाट आदि आसनपर जमकर बैठे तो भी ऐसी
हालत में जिस प्रकार ससारी जन बैठे २ ही हाथ पैर आदि हिलाया
डुलाया करते हैं वैसी अशुभ चेष्टाएँ नहीं करनी चाहिये । सूत्रकार ने
‘अनुच्चे’ इस पद द्वारा विनयगुण प्रदर्शन किया है । ‘अकुच्चे’ इस
विशेषण द्वारा द्वीन्द्रियादि जीवों की यातना का सूचन किया है ।
‘स्थिरे’ इस शब्द द्वारा वायुकाय की यातना का ‘अल्पोत्थायी’ इस
पद द्वारा निषद्यापरिपह के विजय का ‘निरुत्थायी’ इस द्वारा आम्पन्तर

आवेक छे उठवानु काम जे पडे तो पञ्चव्याहे उठे त्यारे जे काम माटे उठेक
डोय तेनी साथे भीलु पञ्च जे काम करवानु डोय ते करी ले । तथा
अल्पकुक्कुए-अल्पकौकुच्य तथा हाथ अने पग तथा भ्रू वगैरेनु अशिष्ट सञ्चालन
न करे । तात्पर्य जे छे के, जे ते पाट आदि आसन उपर स्थिर भैसे तो पञ्च
जोवी हासतमां जे प्रकारधी ससारी जन जेठां जेठां जे हाथ पग वगैरे हलाव्या-
डोलाव्या करे छे ते रीते अशुभ चेष्टाको करवी न जेछे जे सूत्रकारे “अनुच्चे” आ
पड द्वारा विनयगुण प्रदर्शन करेक छे अकुच्चे आ विशेषण द्वारा द्वि द्वीन्द्रियादि
जीवानी यतनानु सूचन करेक छे स्थिरे आ पड द्वारा वायुकायनी यतनानु
सूचन करेक छे । “अल्पोत्थायी” जे पड द्वारा निषद्या परिपहना विषयनु
सूचन करेक छे निरुत्थायी जे पड द्वारा आम्पन्तर व्युत्सर्ग त

‘अल्पकौक्कुच्य.’ इति विशेषणेन समयलज्जा सूचिता ॥ ३० ॥

सप्रति एषणासमितिचिपय विनयमाह—

मूलम्—कालेण निर्वखमे भिक्खू, कालेण यं पडिक्कमे ।

अर्काल च विवज्जित्ता, काले काल समायरे ॥३१॥

छाया—कालेन निष्कामेद् भिक्षु, कालेन च प्रतिक्रामेत् ।

अकाल च विवर्ज्य, काले काल समाचरेत् ॥ ३१ ॥

टीका—‘कालेण’ इत्यादि—

कालेन—काले—देशकालानुसारेण भिक्षायोग्यसमये एव भिक्षुः=साधुनिष्कामेत्=भिक्षार्थं निर्गच्छेत्—अकाले भिक्षार्थं निर्गमने सनिवेशनिन्दास्वात्मक्लेशादि दोषसम्भवात् । च—पुन कालेन=काले उचित समय एव प्रतिक्रामेत्=भिक्षाटनात् प्रति-निवर्तते, अल्पलामे अलामे वा लामाशया कालमतिक्रम्य न चिरकालमटेदिति भाव ।

व्युत्सर्ग तपका तथा ‘अल्पकौक्कुच्य’ इस पद द्वारा समय की लज्जा के निर्वाह का सूचन किया है ॥ ३० ॥

अथ एषणासमितिचिपयक विनयधर्मका सूत्रकार कथन करते हैं—‘कालेण’ इत्यादि

अन्वयार्थ—(कालेण—कालेन) देश काल के अनुसार भिक्षायोग्य समय में ही (भिक्खू—भिक्षु) साधु को (निक्खमे—निष्कामेत्) भिक्षा के लिये अपने स्थान से जाना चाहिये । अकाल में भिक्षा के लिये निकलने में सनिवेश—गौव की तथा साधु की निन्दा होती है, इस से आत्मा को क्लेशादिक दोषों की संभावना रहती है । तथा (कालेण य पडिक्कमे—कालेन च प्रतिक्रामेत्) उचित समय में ही वह वापिस भिक्षाटन से लौट आये, ऐसा नहीं करना चाहिये कि भिक्षा का अल्पलाम हो अथवा

अल्पकौक्कुच्य. अथ ५६ द्वारा समयनी लज्जाना निर्वाहनु सूचन करेव छे ॥३०॥

उवे अेषणासमितिचिपयक विनयधर्मनु सूत्रकार कथन करे छे कालेण० इत्यादि

अन्वयार्थ—कालेण—कालेन देशकाल अनुसार भिक्षाना योग्य समयेन, भिक्खू—भिक्षु साधुअे निक्खमे—निष्कामेत् भिक्षा भाटे पोताना स्थानथी वरुं अेधअे षड्भागं भिक्षा भाटे निकणवाभां गामनी तथा साधुनी निहायाय छे अेधी आत्माने क्लेशादिक दोषोनी संभावना रहे छे, तथा कालेण य पडिक्कमे—कालेन च प्रतिक्रामेत् उचित समयभां व ते भिक्षाटनथी पाछा करे. अेषु न केषु अेधअे के भिक्षानो अल्प लाम होय अथवा अलाम होय तो ते लामनी

उक्त च—अलामो त्ति न सोइज्जा, तवोत्ति अहियासए ॥

छाया—अलाम इति न शोचेत्, तप इत्यध्यासीत् ॥

च—पुनः अकाल-प्रतिक्रमण-प्रतिलेखनाऽऽपृच्छना-स्वाध्याय भिक्षाचरीमपृति-कार्याणामयोम्य समय च विवर्ज्य=परित्यज्य, काले—यस्य कार्यस्य य. कालस्तस्मिन्नेव, काल-तत्तरकालोचित प्रतिक्रमण प्रतिलेखनादिकं कार्यं समाचरेत्=कुर्यात् ।

अय भाव.—यो यस्य अङ्गप्रविष्टादे ध्रुतस्य काल उक्तस्त्वस्य ध्रुतस्य तस्मिन्नेव काले स्वाध्याय कार्यं, नान्यदा, विघ्नसमगात्, तीर्थकराणां विरोधान्च ।

अलाम हो तो वहीं लाभ की आशा से समय को उल्लंघन कर बहुत समय तक घूमता ही रहे । भगवान ने कहा भी है—

“अलामो त्ति न सोइज्जा, तवोत्ति अहिया सए”

साधु को जब अपने समयानुसार भिक्षा का लाभ न हो तो उस समय उसे शोच नहीं करना चाहिये किन्तु ऐसा समझना चाहिये कि यह एक पक्षे भारी तप का लाभ हुआ है । प्रतिक्रमण, प्रतिलेखना, अपृच्छना, स्वाध्याय तथा भिक्षाचर्या का जो समय नियत है उस समय के अतिरिक्त (अकाल च विवर्जिता-अकाल च विवर्ज्य) शेष उनका अकाल का समय है अतः उसे छोड़कर (कालं) जोर, कार्य जिसर समय में किये जाने चाहिये उन्हें (काले) उसी समय में (समाचरे-समाचरेत्) करे ।

भाषार्थ—जिस अङ्गप्रविष्ट आचाराङ्ग आदि सूत्रों के स्वाध्याय करने का जो समय नियत है उस समय में उसी ध्रुत की स्वाध्याय

आशाधी समयमें उल्लंघन करीने वल्लु समय सुधी करता रहे भगवाने कहु छे के अलामोत्ति न सोइज्जा तवोत्ति अहियासए साधुने ब्यारे पोटाना समय अनुसार भिक्षाने लाभ न पाय तो ते समये तेहु सोच न करवे ओछे परतु ओम समयवु ओछे के, आ ओछे भादे तपने लाभ भवे, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखना अपृच्छना स्वाध्याय तथा भिक्षाचर्याने ने समय नियत छे के समय सिवाय, अकाल च विवर्जिता-अकाल च विवर्ज्य शेष तेना अकालने समय छे, आधी ओने छोडी, काल ने ने कार्य ने ने समयमां करी देवां ओछे ओने के के काले समयमा समाचरे-समाचरेत् करे.

भाषार्थ—अङ्ग प्रविष्ट आचाराङ्ग आदि सूत्रोने स्वाध्याय करवाने के समय नियत छे के समयमां केव ध्रुतने स्वाध्याय करवे ओछे के. श्री

दृश्यते च लोकेऽपि काल एव कृष्यादिकरणे धान्यादिनिष्पत्तिरूप फल भवति, विपर्यये तु विपर्ययः । यथा काल एव वनस्पतीनामङ्कुरा प्रादुर्भवन्ति, काल एव वृक्षा कुमुमिता भवन्ति, फलान्तश्च, काल एव पद् ऋतव समापान्ति, काल एव तीर्थकराश्चक्रिणो बलदेवा वासुदेवा जायन्ते, काल एव श्रुक्तिकाया मुक्ता उत्पद्यन्ते, काले आवश्यककारिणस्तीर्थकरगोत्र कर्मोपार्जयन्ति ।

यतः—कालमि कीरमाण, किसिकम्म बहुफल जहा होइ ।

इय सव्वच्चिय किरिया, निय-निय-कालमि विन्नेया ॥ १ ॥

छाया—काले क्रियमाण, कृपिकर्म बहुफलं यथा भवति ।

इति सर्वैव क्रिया, निज निज-काले विज्ञेया ॥ १ ॥

करनी चाहिये, भिन्न समय में नहीं, कारण कि अकाल में विघनों के आने की सम्भवा रहती है। तथा तीर्थकर प्रभुकी ऐसी आज्ञा नहीं है, अत उनकी आज्ञा के विरुद्ध प्रवृत्ति करने से स्वच्छदता का दोष लगता है। लोकमें भी यही पात देखी जाती है—खेती आदि करने का जो काल नियत है उसी में उस के करने से धान्यादिक फल की निष्पत्ति होती है, अन्य समय में नहीं। समयानुसार ही वृक्षों में पत्र पुष्प फलादिक आया करते हैं। तथा वनस्पतियाँ अङ्कुरों को उत्पन्न करती हैं। अपने अपने समय में छह ऋतुएँ आती हैं। तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, ये सब अपने २ समय पर ही होते हैं। सीप में मोती, समयानुसार ही होते हैं। आवश्यक क्रियाओं को करने वालों जीव समय पर ही तीर्थकर गोत्र का उपार्जन किया करते हैं। कहा भी है—

समयमां नही धारणु के अकारमा विघ्नो आववाणी सभावना रहे छे तथा तीर्थकर प्रभुनी जेवी आज्ञा नथी भाटे जेभनी आज्ञानी विरुद्ध प्रवृत्ति करवाथी स्वच्छदतानो दोष लागे छे बोडोभा पणु आवी वात डेभाय छे— जेवी वजेरे करवानो जे ठाण नियत छे जे समये न करवाथी धान्यादिक कृषनी उत्पत्ति थाय छे अन्य समयमां नही समयानुसारण वृक्षोभा पत्र पुष्प कृषादिक आव्या करे छे तथा वनस्पतिजो अङ्कुराने उत्पन्न करे छे पीताना समयमां छ ऋतुजो आवे छे तीर्थकर, चक्रवर्ति, बलदेव; वासुदेव जे भधा पीत पीताना समय उपर थाय छे सिपमा मोती समयानुसार न थाय छे आवश्यक क्रियाजोने करवावाणा एव समय पर न तीर्थकर प्रभुतिनो भक्ष क्यो करे छे कहु पणु छे के—

तस्मात् साधुभिः कालेन सर्वा प्रतिक्रमणप्रतिलेखनादिक्रिया कर्तव्येति ।
सूत्रे 'कालेन' इत्यत्र तृतीया सप्तम्यर्थे ॥ ३१ ॥

मूलम्—परिवाहीणं न चिद्वेजा, भिक्खू दत्तेसणं चरे ।

पंडिरूवेण एसित्ता, मिय' कांलेण भक्खेण ॥३२॥

छाया—परिपाट्यां न तिष्ठेत्, मिश्रुः दत्तैषणां चरेत् ।

प्रतिरूपेण एपित्वा, मित कालेन भक्षयेत् ॥ ३२ ॥

टीका—'परिवाहीण' इत्यादि—

मिश्रुः=साधुः, परिपाट्यां—गृहस्थगृहे भुञ्जानाना जनानां पङ्क्तौ न तिष्ठेत् ।
किं च—दत्तैषणा=दत्त-दान तस्मिन् गृहस्थेन दीयमाने, एषणा—तद्गतशक्ति-

“कालमि कीरमाण, किसिकम्म बहुफल जहा होइ ।

इय सम्बच्चिय किरिया, निय-निय-कालमि विन्नेया ॥ १ ॥

छाया—काले क्रियमाण, कृपिकर्म बहुफल यथा भवति ।

इति सर्वा चैव क्रिया निज-निज-काले विज्ञेया ॥ १ ॥

इस लिये साधुओं को चाहिये कि वे समस्त अपनी प्रतिक्रमण
प्रतिलेखनादिक क्रियाओं को नियत समय पर ही करते रहें ॥ ३१ ॥

'परिवाहीण' इत्यादि

अन्वयार्थ—(भिक्खू-मिश्रु) साधु (परिवाहीण न चिद्वेजा-
परिपाट्यां न तिष्ठेत्) गृहस्थ के घर में भोजन करती हुई जीमणवार
की जनपंक्ति में न खड़ा रहे । (दत्तेसणं चरे-दत्तैषणां चरेत्)

“कालमि कीरमाणं, किसिकम्म बहुफल जहा होई ।

इय सम्बच्चिय किरिया, निय-निय-कालमि विन्नेया ॥ १ ॥

छाया—कालेक्रियमाण, कृपिकर्म बहुफल यथा भवति ।

इतिसर्वैवक्रिया, निज-निज-काले विज्ञेया ॥१॥

आ भाटे साधुदु कर्तव्य छे के तेखे पोतानी समस्त क्रियाओं प्रतिक्रमण
प्रतिलेखनादिक नियत समय उपर करवी जेधजे ॥ ३१ ॥

परिवाहीण—धत्पादि

अन्वयार्थ—भिक्खू-मिश्रु साधु, परिवाहीण न चिद्वेजा-परिपाट्यां न तिष्ठेत्
गृहस्थनागरभां लोकन करवी न भक्षुवाएनी जनपंक्तिभां उभा न रहे. दत्तेसणचरे—
दत्तैषणां चरेत् गृहस्थ द्वारा प्रदत्त दानभां शक्ति, भिक्षु आदिदोषोनी जवेपणु इप

પ્રસિત્તાદિદોષાન્વેષણાસ્મિકા દત્તપણા તા, ચરેત્=આસેવેત । અનેન ગ્રહણૈષણા સૂચિતા ।
 કિં કૃત્વા દત્તૈષણાં ચરેદિત્યાદ-‘પદ્ધિરૂષેણ’ ઇત્યાદિ । પ્રતિરૂષેણ=મુનિવેષેણ,
 વદ્વસદોરકમુખવલ્લિકત્વ, રજોહરણપાત્રધારકત્વ, શ્વેતવસ્ત્રપરિધાયકત્વં ચ મુનિ-
 વેષસ્તેન, ઇપિત્વા=ગવેષપિત્વા, અનેન ઉદ્ગમોત્પાદનાવિયયા ગવેષણૈષણા પ્રોક્તા ।
 મિત્=પરિમિત કાલેન-કાલે-આગમોક્તસમયે દેશકાલાનુસારેણ મક્ષયેત્-શુક્ષીત ।
 અનેનામ્પવહરણવિપયા ગ્રાસૈષણાઽઽવેદિતા ।

અન્ન ‘પરિવાહીય ન ચિદ્દેઝ્જા’ ઇત્યનેન અપ્રીતિઃ, રસલોલુપતાવર્જનં
 ચ સૂચિતમ્ । ‘દત્તૈષણ’ ઇત્યનેનાદત્તાદાનનિષ્ઠિતિઃ સૂચિતા । ‘પદ્ધિરૂષેણ’
 ઇત્યનેન નિષ્કપટતા પ્રદર્શિતા । ‘મિય’ ઇત્યનેનાધિકમ્બોજનનિવૃત્તિરાવેદિતા ॥૩૨॥

ગહસ્થદ્વારા પ્રદત્ત દાન મેં શક્તિ, પ્રક્ષિત આદિ વૌષોં કી ગવેષણા રૂપ
 દત્તૈષણા અર્થાત્ ગ્રહણૈષણા કા ધ્યાન રચે । (પદ્ધિરૂષેણ-પ્રતિરૂષેણ)
 પ્રતિરૂપસે-મુનિ કે વેષ સે-મુખ પર દોરાસહિત મુહપત્તિ યાંધના
 રજોહરણ ઇવં પાત્રોં કા ધારણ કરના, યહ મુનિવેષ હૈ ઇસ વેષ સે
 (ઇસિત્તા-ઇપિત્વા) ગવેષણા કર (કાલેણ-કાલેન) આગમન મેં કથિત
 સમયમેં દેશ કાલ કે અનુસાર સમય પર મિલે હુપ અન્ન આદિકા (મિય-
 મિત) પરિમિત (મક્ષય-મક્ષેત્) આહાર કરે । ‘ઇસિત્તા ઇપિત્વા’ ઇસ પદ
 સે ઉદ્ગમ, ઉત્પાદન આદિ વૌષોં સે વર્જિત ગવેષણૈષણા, તથા ‘શુક્ષીત’ ઇસ
 ક્રિયાપદ દ્વારા ગ્રાસૈષણા પ્રકટ કી ગઈ હૈ । ‘પરિવાહીય ન ચિદ્દેઝ્જા’ ઇસ
 પદ દ્વારા અપ્રીતિ ઇવ રસ મેં લોલુપતાકા પરિહાર સૂચિત હુઆ હૈ ।
 ‘દત્તૈષણ’ સે અદત્તાદાન સે નિષ્ઠિતિ, ‘પદ્ધિરૂષેણ’ સે નિષ્કપટતા, ‘મિય’
 ઇસ સે અધિક મ્બોજનકી નિવૃત્તિ સૂચિત કી ગઈ હૈ ॥ ૩૨ ॥

ઇતૈષણા અર્થાત્ શ્રદ્ધૈષણાનુ ધ્યાન રાખે. પદ્ધિરૂષેણ-પ્રતિરૂષેણ પ્રતિરૂપથી-મુનિના
 વેશથી મોઢા ઉપર દોરાસહિત મુહપત્તિ યાંધવી, રસોહરણ તથા પાત્રોનું ધારણ
 કરવું તથા શુકલ વસ્ત્રોને ધારણ કરવાં એ મુનિવેશ છે આ વેશને, ઇસિત્તા-
 ઇપિત્વા ધારણ કરી, કાલેણ-કાલેન આગમના કહેલા સમયમાં દેશકાળ સમય અનુ-
 સાર સમય ઉપર મળેલા અન્ન આદિને મિય-મિત પરિમિત મક્ષય-મક્ષયેત્ આહાર
 કરે. ઇસિત્તા-ઇપિત્વા એ પદથી ઉદ્ગમ, ઉત્પાદન આદિ દોષોથી વર્જિત ગવેષણૈષણા
 તથા “શુક્ષીત” આ ક્રિયા પદ દ્વારા ગ્રાસૈષણા પ્રકટ કરવામાં આવેલ છે
 પરિવાહીય ન ચિદ્દેઝ્જા આ પદ દ્વારા અપ્રીતિ એવ રસમાં લોલુપતાનો
 પરિહાર સૂચિત થયેલ છે. દત્તૈષણ આ પદથી અદત્તાદાનની નિવૃત્તિ, સૂચિત
 કરવામાં આવી છે. પદ્ધિરૂષેણ આ પદથી નિષ્કપટતા સૂચિત કરે છે. મિય
 એ પદથી અધિક મ્બોજનની નિવૃત્તિ સુચવવામાં આવેલ છે (૩૨)

। મિષ્ણાચર્યા કુર્વતા સાધુના ગૃહસ્થગૃહે પૂર્વસમાગતમિષ્ણુસન્નાથે યત્
કર્તવ્ય તદાહ—

મૂલમ્—નાહ્દૂરમણાસન્ને, નન્નેસિં ચર્વેવુષાસઓ ।

પંગો ચિટ્ટેઝ્ઞ મત્તંઢ, લઘિન્તા ત' નૌઝ્કમે ॥૩૩॥

છાયા—નાતિદૂર અનાસન્ને, નાન્યેષા ચક્ષુ.સ્વર્ગત ।

-- ઇકસ્તિત્ષેદ્ મક્તાર્થમ્, લઘ્યયિત્વા ત નાતિક્રમેત્ ॥ ૩૩ ॥

ટીકા—'નાહ્દૂર૦' ઇત્યાદિ—

। અતિદૂરમ્=અતિદૂરે ન તિષ્ઠેત્, મિષ્ણાચર્યા કુર્વન્ સાધુ ગૃહસ્થગૃહે પૂર્વસમાગત
મિષ્ણુક દૃષ્ટા તવોઽતિ દૂરે ન તિષ્ઠેત્, અતિદૂરાવસ્થાને મિષ્ણુનિર્ગમન ણાટુમશ્ચ્ય
સ્યાત્, ઇપણા શુદ્ધચસમથ્યેતિ ભાવ । તયા આસન્ને=અતિનિકટેઽપિ ન તિષ્ઠેત્,

જિસ સમય સાધુ મિષ્ણાચર્યા કર રહ્યા હો ઉસ સમય યદિ ગૃહસ્થ
કે ઘર મેં કોઈ દૂસરા મિષ્ણુ મિષ્ણાચર્યા કે લિયે આયા હુઆ હો તો
સાધુ કા કયા કર્તવ્ય હૈ? ઇસ વિષય કો ઇસ ગાથાદ્વારા સ્પષ્ટ કિયા
જાતા હૈ—'નાહ્દૂર૦' ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—મિષ્ણા કરતા હુઆ સાધુ (નાહ્દૂરમણાસન્ને—નાતિદૂર
અનાસન્ને) જય યહ દેલે કિ ગૃહસ્થ કે ઘર પર પહિલે સે કોઈ દૂસરા
મિષ્ણુ આદિ મિષ્ણાનિમિત્ત આયા હુઆ હૈ, યા મિષ્ણા ગ્રહણ કર રહ્યા હૈ
તો યહ ઉસ સમય યહુત દૂર જાકર સ્વચ્છા ન હોવે ઓર ન અતિ સમીપ
સ્વચ્છા હોવે । ક્યોં કિ અતિદૂર સ્વચ્છે હોને પર મિષ્ણુ કા નિર્ગમન ઉસે
જ્ઞાત નહીં હો સકતા હૈ, તયા અતિ સમીપ સ્વચ્છે રહને પર ઉસસે પૂર્વમત

ને સમય સાધુ મિષ્ણા ચર્યા કરવા હોય એ સમયે ગૃહસ્થને ઘર કોઈ
બીજા મિષ્ણુ મિષ્ણાચર્યા માટે આવેલ હોય તો સાધુનું શું કર્તવ્ય છે આ
વિષયને આ સૂત્રદ્વારા સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે—નાહ્દૂર—ઈત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—મિષ્ણા માટે નિકળેલ સાધુ, નાહ્દૂરમણાસન્ને—નાતિદૂર અનાસન્ને
એ ભુએ કે ને ગૃહસ્થને ત્યાં પોતે જઈ રહેલ છે, ત્યા તેની પહેલાં કોઈ બીજા
મિષ્ણુ મિષ્ણા નિમિત્ત ગયેલ છે, અથવા મિષ્ણા બ્રહ્મણ કરી રહેલ છે, તો તે
એ સમયે ઘણું આવે જઈ ઊભા ન રહે તેમ અતિ સમીપમાં પણ ઊભા ન
રહે કેમ કે, અતિ દૂર ઊભા રહેવાથી મિષ્ણાચર્યા ગયેલા મિષ્ણુનું નિર્ગ
મન બાધી શકાતું નથી તથા અતિ સમીપ રહેવાથી પહેલાં મિષ્ણા માટે

वत्र स्थिते सति पूवागतमिक्षुकस्य द्वेष. स्यादिति भाव. । अन्येषां=मिक्षुकापे-
क्षया=येऽन्ये सन्ति गृहस्थास्तेषां, चक्षु स्पर्शत =चक्षु स्पर्शं दृष्टिगोचरे न तिष्ठेत्,
'अय मिक्षु. पूर्वागतमिक्षुनिष्क्रमण प्रतिधत्ते इति यथा गृहस्था न जानन्ति तथा
तिष्ठेदिति भाव । एक =रागद्वेष रहित सन्, भक्तार्थम्-आहारार्थं तिष्ठेत् ।
तम्=पूर्वागतमिक्षुक, लङ्घयित्वा=अनाहत, नातिक्रमेत्= न गृहमध्ये गच्छेत्,
पूर्वागतमिक्षुकस्य मद्भावे गृहस्थस्यगृहे गमने तदप्रीतिशासनलघुनादिदोषाणा समव
इति भाव ॥ ३३ ॥

सम्पत्ति ग्रहणैपणाविधि सूत्रकार प्रदर्शयति—

मूलम्—नाङ्उच्चे न नीर्ष वा, नासण्णे नाङ्दूरेओ ।

फासुय परैकड पिंड, पडिगांहिज्ज सजेण ॥३४॥

छाया—नात्युच्चे न नीचे वा नासन्ने नातिदूरतः ।

प्रामुक् पररुत पिण्ड, प्रतिगृहीयात् सयत ॥ ३४ ॥

मिक्षु को द्वेष हो सकता है । इसी प्रकार (नन्नेसिं चक्खुफासओ
चिट्ठेज्ज-नान्येषा चक्षु स्पर्शत तिष्ठेत्) गृहस्थ के नजर में आवे ऐसा
भी खडा न होवे (एगो-एक.) एक तथा राग-द्वेष रहित होकर (मत्तङ्क-
मक्तार्थम्) आहार के लिये (चिट्ठेज्ज) खडा रहे और (लघित्ता त नाइक्कमे-
लङ्घयित्वा त नातिक्रमेत्) पहले वाला मिक्षु जय तक बाहर न निकले
तय तक मुनि को उस गृहस्थ के घर में आहार निमित्त प्रविष्ट नहीं
होना चाहिये । पहले आये हुए मिक्षु के सद्भाव में गृहस्थ के घर जाने
पर गृहस्थ को उस के प्रति अप्रीति हो सकती है एवं शासन की लघुता
आदि दोषों की सम्भावना हो सकती है ॥ ३३ ॥

गयेवा मिक्षुना मनमा द्वेष लागवा जेवु भने छे तेम नन्नेसिं चक्खु
फासओ चिट्ठेज्ज-नान्येषां चक्षु स्पर्शत तिष्ठेत् गृहस्थनी दृष्टि पडे ओ रीते पक्ष
जिभा न रहे एगो-एक ओक तथा राग द्वेष रहित बनीने भक्त-मकार्यम्
मिक्षा भाटे चिट्ठेज्ज जिभा रहे अने लघित्ता त नाइक्कमे-लघयित्वा त नातिक्रमेत्
पडेवा मिक्षा भाटे गयेव मिक्षु न्या सुधी अहार न नीकणे त्या सुधी मुनिओ
ते गृहस्थना घरमा आहार निमित्त प्रवेश न करवे ओधओ पडेवा गयेवा
साधुना सद्भावमां गृहस्थने त्यां न्वाथी गृहस्थने तेना तरक् अप्रीति थाय
अने शासननी लघुता आदि दोषोनी सम्भावना थाय छे ॥ ३३ ॥

टीका—‘नाइउच्चे’ इत्यादि—

सयत=साधुः, प्रासुक=पनकादिजतुरहित, निर्दोष=नवकोटिविशुद्ध, परकृत=परेण गृहस्थेन स्वार्थं कृतं न तु साधुर्म, पिण्डम्=चतुर्विधमाहारम्, अत्युच्चे गृहोपरिभूमिकादौ षष्ठकाष्ठनिर्मितचर निश्रेणिकारोहणं कृत्वा, न प्रतिगृहीयात् प्रतिगृहीयादित्यस्य नीचादावपि सम्यन्धः । नीचे=अतिनीचे-भूमिगृहादौ वा न प्रतिगृहीयात् तथा-आसन्ने=अत्यासन्ने, अतिसमीपे स्थितः सन् न प्रतिगृहीयात्, अतिदूरत-अतिदूरे स्थितः सन् न प्रतिगृहीयात् ।

अथ-‘अत्युच्चे’ इति-आरोहणेऽवरोहणे च स्वपरविराधनासम्भव सूचयति ।

अथ ग्रहणैपणा की विधि कहते हैं—‘नाइउच्चे’ इत्यादि

अन्वयार्थ—(सजए-सयत) साधु (फासुय-प्रासुक) पनक-नीलन-फूलन-आदि जीवों से रहित-निर्दोष-नवकोटि से विशुद्ध तथा (परकृत-परकृत) गृहस्थ द्वारा अपने निमित्त बनाये गये-न कि साधु के निमित्त बनाये गये, ऐसे (पिंड-पिण्ड) चतुर्विध आहार को (अइउच्चे न पडिगाहिज्ज-अत्युच्चे न प्रतिगृहीयात्) घर के ऊपर की भूमि कादि पर वाँस अथवा काष्ठ की निसरणी से चढकर न लेवे इसी तरह जो आहार (नीए-नीचे) अत्यंत नीचे तलघर आदि में हो उसको (न) नहीं लेवे । तथा (नासण्णे नाइदूरओ-नासन्ने नातिदूरतः) न अति नजदीक से लेवे और न अतिदूर से ही लेवे ।

‘अत्युच्चे’ इस पद द्वारा सूत्रकार यही सूचित करते हैं कि ऊँचे स्थान पर चढने एवं उतरने में स्व और पर को विराधना होने की

दो गृहशेषणानी विधि ठडेवाभां आवे छे नाइउच्चे-इत्यादि

अन्वयार्थ—सजए-सयतः साधु, फासुय-प्रासुक पनक, नीलन, फूलन, आदि जीवों से रहित निर्दोष-नव कोटी से विशुद्ध तथा पडकृत परकृत गृहस्थने त्यां योताना निमित्त बनाववाभां आवेड न के साधुना निमित्त बनावेड अवा विंड पिण्ड अतुर्विध आहारने आइउच्चे न पडिगाहिज्ज-अत्युच्चे न प्रतिगृहीयात् घरनी उपरनी भूमि उपर वांस के बाडरानी निसरणी उपर चडीने न डे आ रीते ने आहार नीए-नीचे अत्यंत नीचे तलघर आदिभां डोय तेने पडु न डे तथा नासण्णे नाइदूरओ-नासन्ने नातिदूरत अती नजदीकी न डे तेभअ अति दूरती पडु न डे

अत्युच्चे आ पड द्वारा सूत्रकार अवे सुचित करे छे के, अवा स्थाने चढवा अउर उतरवाभां स्व अने परनी विराधना भवानी सभावना रहे छे

‘નીચે’ ઇતિ તપ્તોક્ષેપનિષ્ણેપનિરીક્ષણાસમ્ભવ સ્વપરવિરાધનાસમ્ભવથેતિ ઘોતયતિ ।

‘આસન્ને’ ઇતિ પશ્ચાત્કર્માદિસમ્ભવ જ્ઞાપયતિ ।

‘અતિદૂરે’ ઇતિ ઇપ્પનાશુદ્વચસમ્ભવ વોધયતિ ॥ ૩૪ ॥

અથ પ્રાસૈપનાવિધિમાહ—

મૂલ્મ—અપ્પપાણેઽપ્પવીયમ્મિ, પઠિચ્છન્નમ્મિ સવુઢે ।

સમય સજ્ઞે ભુજે, જંય અર્પરિસાહિય ॥૩૫॥

છાયા—અલ્પપ્રાણેઽલ્પવીજે, પ્રતિચ્છન્ને સઘૃતે ।

સમકં સયતો શુઙ્ગીત, યતમાનોઽપરિશ્ચાટિતમ્ ॥ ૩૫ ॥

ટીકા—‘અપ્પપાણે’ ઇત્યાદિ—

અલ્પપ્રાણે=અવસ્થિતાગન્તુકદ્વીન્દ્રિયાદિજીવરહિતે, અલ્પવીજે=શાલ્યાદિ-
વીજરહિતે, ઇદમ્મુપલક્ષણમ્-પૃથ્વીયાદ્યેકેન્દ્રિયજીવરહિતે ઇત્યર્થઃ, પ્રતિચ્છન્ને=સપા-
તિમજીવા યથા ન પતન્તિ તથોપરિકૃતપ્રાવરણયુક્તે, સઘૃતે=પાર્શ્વતઃ કટકુલ્લયા

સમાધના રહતી હૈ । ‘નીચે’ ઇસ પદ સે ખી યહી યાત ઉનકી લક્ષિત
હોતી હૈ । ‘આસન્ને’ પદ સે પશ્ચાત્કર્માદિક કી સમાધના રહતી હૈ, તથા
‘અતિદૂરે’ પદ સે ઇપ્પનાશુદ્ધિ કી ઠીક તરહ પાલના નહીં હોતી હૈ વહ
યાત પ્રદર્શિત કી ગર્હ હૈ ॥૩૪॥

અથ પ્રાસૈપના કા વિધિ કહતે હું—‘અપ્પપાણ’ ઇત્યાદિ

અન્યથાર્થ—(અપ્પપાણે અપ્પવીયમ્મિ પઠિચ્છન્નમ્મિ સવુઢે—અલ્પ-
પ્રાણે અલ્પવીજે પ્રતિચ્છન્ને સઘૃતે) અવસ્થિત ઇવ આગન્તુક દ્વીન્દ્રિ-
યાદિક જીવોં સે રહિત તથા શાલી આદિ વીજોં સે રહિત, ઇસી તરહ
પૃથ્વી આદિ ઇકેન્દ્રિય જીવોં સે વર્જિત ઓર સપાતિમ જીવ ન પણ સકે
ઇસ ક્યાલ સે ડપર સે તથા ચારોં તરફ સે છાપે હુણ્ એસે ઉપાશ્રય

‘નીચે’ આ પદથી પણ એ જ વાત એને લક્ષિત છે “આસન્ને” આ પદથી
પશ્ચાત્કર્માદિકની સમાધના રહે છે તથા “અતિદૂરે” આ પદથી એપણા શુદ્ધિની
ઠીક ઠીક પાલના થતી નથી એ વાત પ્રદર્શિત કરવામા આવી છે ॥ ૩૪ ॥

હવે પ્રાસૈપણાની વિધી કહેવામાં આવે છે અપ્પપાણે—ઈત્યાદિ.

અન્યથાર્થ—અપ્પપાણે અપ્પવીયમ્મિ પઠિચ્છન્નમ્મિ સવુઢે—અલ્પપ્રાણે અલ્પવીજે
પ્રતિચ્છન્ને સઘૃતે અવસ્થિત અને આગતુક દ્વીન્દ્રિયાદિકે ઇવોથી રહિત તથા શાલી
આદિ વીજોથી રહિત, એજ રીતે પૃથ્વી આદિ એકેન્દ્રિય ઇવોથી વર્જિત અને
સપતિમય ઇવ ન પડી શકે આ ખ્યાલથી ઉપરથી તથા ચારે બાજુથી

दिना समापृते उपाथयादारित्यर्थः, सयतः=साधु, यतमान-चप्पड चप्पडादि शब्दमकुर्वन् सन् अपरिशाटित=परिशाटरहित। सिस्यपातनेन रहित यथा स्यात्, यथा एकोऽप्यन्नकणः करान्मुखतो वाऽथ. पतितो न भवेत्तवेत्यर्थः, समकम्-समोगि साधुभिः सह न त्वेनाक्येन आहार भुञ्जीत ॥ ३५ ॥

सप्रति वाग्यतनामाह—

मूलम्—सुकडेत्ति सुपेक्केत्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।

सुनिष्ठिए सुलष्टेत्ति सावज्ज वज्जेण सुणी ॥३६॥

छाया—सुकृतमिति सुपकमिति, सुच्छिन्नं सुहृत मृतम् ।

सुनिष्ठित सुलष्टमिति, सावद्यं वर्जयेन्मुनि ॥ ३६ ॥

टीका—‘सुकडेत्ति’ इत्यादि—

मुनि=साधुः, सावद्य=सपाप वचनं वर्जयेत्=न वदेत्। कीदृशं तत्सावद्यमित्याह

आदि में (सजए-सयत) साधु (जय-यतमान) चप्पड चप्पड आदि शब्द के तथा चिना (अपरिसाडिय-अपरिशाटितम्) हाथ से या मुंह से एक भी सीध-अन्न का कण-नीचे न गीरे, इस रूप से (समय-समक) समोगी साधुओं के साथ (भुजे-भुञ्जीत) आहार करे ॥३५॥

अथ वचन की यातना कहते हैं—‘सुकडेत्ति’ इत्यादि

अन्वयार्थ—(मुणी सावज्ज वज्जेण-मुनिः सावद्य (वचनं) वर्जयेत् मुनि का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के सावद्य-सपाप वचन के बोलने का परित्याग करे। ये वचन ये हैं—(सुकडेत्ति सुपक्केत्ति, सुच्छिन्ने, सुहडे मडे सुनिष्ठिए, सुलष्टेत्ति, सुकृतमिति, सुपक्वमिति सुच्छिन्नं सुहृत मृतम् (सुमृतम्) सुनिष्ठित सुलष्टमिति, ‘सुकडे’

छवायेल ओवा उपाथय आदिमां संख्ये-सयतः साधु जय-यतमान २२५४ २२५४ आदि शब्द वगर अपरिसाडिय-अपरिशाटितम् तथा हाथधी तथा मोठाधी ओठ पक्ष सीध अन्नो कण नीचे न पडे ओ रीते समय-समक समोगी साधुओंनी साथे भुजे-भुञ्जीत आहार करे ॥ ३५ ॥

हवे वचनणी यतना कडेवामां आवे छे सुकडेत्ति०-इत्यादि।

अन्वयार्थ—मुणीसावज्ज वज्जेण-मुनि सावद्य वचन वर्जयेत् मुनि कर्तव्य छे के ते आ प्रकारना सावद्य-सपाप वचनने ओठवानो परित्याग करे ते वचन आ छे सुकडेत्ति सुपक्केत्ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे सुनिष्ठिए सुलष्टेत्ति-सुकृतमिति, सुपक्वमिति, सुच्छिन्नं सुहृत मृतम् (सुमृतम्) सुनिष्ठितम् सुलष्टमिति

—‘મુકડેતિ’ ઇત્યાદિ । મુઠ્ઠતમિતિ—ઇદ મુપમિઠાન્નાદિક હિદ્ધગુજીરકાદિવ્યા ધારૈ. મુપ્પુ સસ્કૃતમિતિ, તથા—મુપમ્મમિતિ—ઇદ ઘૃતપૂરાદિક ઘૃતાદિના મુપ્ક-મસ્તીત્યાદિક, તથા મુચ્છિન્નમિતિ—ઇદ શાકપત્રાદિ દાત્રાસિપુત્રાદિશ્ચૈ. મુપ્પુ છેદિત મસ્તીત્યાદિક, તથા—મુહૃત્=‘કારવેલ્લાદિશાકસ્થ કુટુક્ત્વ મુપ્પુ હૃત=નિવારિત તદુત્કાલનેન’ ઇત્યાદિકમ્, તથા—‘મહે’ ઇત્યનેન પૂર્વાપર—સાહચર્યાત્ ‘મુમહે’ ઇતિ ધોષ્યતે, મૃત=મુમૃતમ્—પારદાદિઘાતુજાતમ્, ઇત્યાદિક, તથા—‘મુનિદ્વિપ’ મુનિપ્લિતમ્—‘ઇદમન્નાદિક સમ્યગ્ નિષ્ઠા રસપ્રકર્પાત્મિકા પ્રાપ્ત, મુપ્પુ રસવત્કૃત-મસ્તિ’ ઇત્યાદિક, તથા—‘મુલટ્ટેતિ’ મુલ્પટ્ટં—મુપ્પુ કમનોયમ્ ‘ઇદમન્નાદિક મનોહરમસ્તિ’ ઇત્યાદિક સાવધ વર્જયેદિતિ સવન્ધ ।

યહ દાલ વગેરહ હીંગ જીરે આદિ કે વચાર સે ઘઠ્ઠ અચ્છી ઘની છુઈ હૈ, તથા ‘મુપ્પે’ યહ કચોરી ઝાજા માલપુઆ ઘેવર આદિ ઘી મેં ઘઠ્ઠ અચ્છી તરહ સે પકાયે ગયે હૈ, તથા—‘મુચ્છિને’ યહ શાક આદિ ચાકુ છરિ આદિ સે ઘઠ્ઠ હી ઉત્તમ રીત સે કાટા ગયા હૈ, તથા ‘મુહૃટે’ યહ કરેલા કા શાક દેઘો તો સહી ફિતના સ્વાદિષ્ટ ઘના હૈ કિ ઇન કા કહુઆપન સર્વથા હરલિયા હૈ અર્થાત્ ઇન મેં જરા મી કહુઆપન નહીં રહા હૈ, । તથા—‘મહે’ યહ પારદાદિક ઘાતુએ ફિતની અચ્છી તરહ સે નાર કર દવા કે ઉપયોગ લાયક ઘના દી ગઈ હૈ । તથા—‘મુનિદ્વિપ’ યહ આહાર ઘઠ્ઠ હી સ્વાદિષ્ટ ઘનાયા ગયાહૈ । ‘મુલટ્ટે’ યહ મોજન જય દેઘને મેં હી મનોહર લગ રહા હૈ તો ફિર ઇસ કે ઝાને મેં ફિતના આનદ આવેગા ? ઇત્યાદિ, યે સમસ્ત સાવધ વચન હૈ, ઇસ લિયે સાધુ કો ઇસ પ્રકાર કે સાવધ ઘચન નહીં ઘોલના ચાહિયે ।

આ ઠાળ વગેરે ઢિંગ છરા વગેરેના વધારથી ઘણી સારી ઘની છે, તથા મુપ્પે આ કચોરી, ખાલ, માલપુવા, ઘેવર વગેરે ઘીમા ઘણી સારી રીતે પકવવામા આવેલ છે, તથા મુચ્છિને આ શાક વગેરે ચાકા છરીથી ઘણી ઉત્તમ રીતે મુધારવામાં આવેલ છે, તથા મુહૃટે આ ઠારેલાંનું શાક બુઓ તો ખરા ઠેવું સ્વાદિષ્ટ બન્યું છે કે એવું ઠડવાપણું પણ ફર યયેલ છે અર્થાત એમાં જરા પણ ઠડવાપણું રહેલ નથી મહે આ પારદાદિક ઘાતુઓ ઠેવી સારી રીતે મારીને ઘવાના ઉપયોગ લાયક બનાવવામાં આવી છે તથા મુનિદ્વિપ આ આહાર ઘણે જ સ્વાદિષ્ટ બનાવવામાં આવેલ છે મુહૃટે આ મોજન બ્યારે બેવાથી જ મનોહર લાગે છે તો પછી એને ખાવામાં કેટલો આનદ આવશે ? ઇત્યાદિ આ સવળ સાવધ વચન છે સાધુએ આ પ્રકારનાં વચન ન ઘોલવા બેધએ

યદ્વા-મુકૃત-‘મુપ્કૃત યદનેન શ્ચુ પ્રતિ પ્રતિક્રિયા કૃતા’ ઇતિ, મુપન્નમ્, શ્દમપૂપાદિકઃ ઘૃતાઘતિશયેન પાચિતમિતિ, મુચ્છિન્નોડ્ય ટ્સો વટપિપ્પલાદિરિતિ, મુદ્ધતં-કૃપણસ્ય ધન તસ્કરૈરિતિ, મૃત.-મુપ્તુ મૃતોડ્ય દુષ્ટ ઇતિ । મુનિષ્ઠિત - ‘મુપ્તુ નટ્ટોડ્ય માસાદ’, કૂપો વા’ ઇતિ, યદ્વા-‘મુપ્તુ નિર્મિતોડ્યં માસાદ., કૂપો વા’ ઇતિ, યદ્વા-‘મુપ્તુ નટ્ટમસ્યદુષ્ટસ્ય દ્રવિણાદિક’ મિતિ । મુલ્લટ-‘મુપુટ્ટોડ્ય ગજસ્તુર-ક્રમો વા’ ઇતિ, યદ્વા-‘મુલ્લટા રુચિરાવપવેય રાજકન્યે’-તિ સાવઘ વર્જયેત્ ।

અથવા-ઇસ પ્રકાર સાધુ કો કમી નહીં કરના ચાહિયે, કિ જો -‘મુકૃદે’-ઇસને શ્ચુ કો માર મગા દિયા હૈ, યહ યદ્ધૃત અચ્છા કામ ક્રિયા । ‘મુપકૃદે’ યે અપૂપાદિક અધિક ઘૃત મેં સૂચ અચ્છે પકાયે ગયે હૈં ઇસ લિયે મુપકૃદે હૈં સ્વાને મેં યદ્ધૃત અચ્છે લગતે હૈં । ‘મુચ્છિદે’ ઇસ વૃક્ષ કો આસાની સે સૂચ અચ્છા કાટા હૈ । ‘મુહૃદે’ અચ્છા હુઆ જો ઇસ કંજૂસ કા દ્રવ્ય ચોરોં ને ચુરા લિયા । ‘મદે’ યહ યદ્ધા વુષ્ટ યા મરા સો અચ્છા હી હુવા । ‘મુનિષ્ઠિય’ યહ મકાન અથવા કુઆ ગિર ગયા યહ અચ્છા હુઆ, અથવા-યહ મકાન યા કુઆ વહુત હી સુન્દર ધનાયા ગયા હૈ, યા એસા કહના કિ મલા હુવા ઇસ વુષ્ટ કી સપત્તિ જો લૂટ ગઈ । ‘મુલ્લટ’ યહ હાથી અથવા ઘોઢા વહુત અચ્છા પુષ્ટ હુઆ હૈ । યહ રાજકન્યા યદ્ધી સુન્દર હૈ । યે સઘ વચન સાવઘ હૈં, અત સાધુ કે કહને યોગ્ય નહીં હૈં ।

અથવા-આ પ્રકારના વચનો પણ સાધુએ ઠઠી ઉચ્ચારવાં ન બેઈએ કે જે મુકૃદે આજે શ્ચુને મારી બખાડી દીધી છે, એ કામ ઘણુ સાડુ ઠમુ મુપકૃદે આ મિઠાઈએ, અપૂપ-માલપુડા વગેરે સારા ધીમાં ઘણી જ સારીરીતે પકાવવામાં આવેલ છે તેથી એ મુપકૃદ છે, ખાવામા બહુ લીભ્યત આપે છે મુચ્છિન્ને આ વૃક્ષને બોધી મહેનતે સારીરીતે કાપવામાં આવ્યું છે મુહૃદે સાઈ યયું કે, આ ઠલુસનું ધન ચોર લપાડી ગયા મદે એ ઘણો દુષ્ટ હતો મયોં તે સાઈ યયું, મુનિષ્ઠિય આ મકાન અગર કુવો પાડી અથવા છુરી નાખવામા આવતા સાઈ યયું અથવા આ મકાન અગર કુવો ખૂબ સુદર બનાવવામાં આવેલ છે તથા આ દુષ્ટની સપત્તિ લૂટાઈ ગઈ તે સાઈ યયું મુલ્લટે આ હાથી અથવા ઘોડા ખૂબ સારીરીતે પુષ્ટ બનેલ છે, આ રાજકન્યા ખૂબ સુદર છે, આ બધાં વચનો સાવઘ વચન છે આથી તે સાધુએ બોલવા ચોખ્ય નથી.

‘सुकृतम्’ इत्यनेन सुपनिष्ठानादिसपादने लवणलक्षणपृथिवीकायादिजल-
तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियादिप्रसजीवपर्यन्त हिंसानुमोदन सूचितम् । एष सुप
कृतमित्यपि हिंसानुमोदन बोध्यम् ।

सुच्छिन्नमित्यनेन-वनस्पतिद्वीन्द्रियादिहिंसानुमोदन सूचितम् । सुहृतमित्य
नेन कारवेष्टादिपक्षे वनस्पत्यादिहिंसानुमोदनम्, धनहरणपक्षेऽदत्तादानपरपीडोत्पा-
दनाधनुमोदन सूचितम् । मृतमित्यनेन पारधादिधातुपक्षे पृथिवीकायादि हिंसानु-

‘सुकृतम्’ इस पद से सूत्रकार यह प्रकट करते हैं कि जय साधु
ऐसा कहता है कि यह दाल आदि घट्टत ही अच्छी यनी हैं तय उसे
लवणरूप पृथिवीकाय तथा जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पति-
काय एव द्विन्द्रियादिक प्रस काय, इन सयकी हिंसा की अनुमोदना
करने का दोष लगना है । इसी प्रकार सुपक कहने में भी यही दोष
लगते हैं ।

‘सुच्छिन्नम्’ इस पद से सूत्रकार यह यात सूचित करते हैं कि
यदि मुनि ‘ये शाकपत्रादि चाकू आदि से अच्छी तरह काटे गये हैं’
ऐसा कहता है तो उसे वनस्पति काय की एव द्वीन्द्रियादिक प्रसकाय
की हिंसा की अनुमोदना करने का दोष लगता है । ‘सुहृतम्’ यदि
यही यात धन हरण आदि के पक्ष में जय बोलने में आती है तो उस
समय उसे अदत्तादान की अनुमोदना करने का तथा पर को पीड़ा
उत्पन्न कर ने आदि की अनुमोदना का दोष लगता है । ‘मृतम्’ इस

“सुकृतम्” आ पदधी सूत्रकार ओ प्रकट करे छे के, साधु ब्यारे ओम
कहे छे के, आ हाण वजेरे पूष स्वादिष्ट भनेल छे त्यारे तेने लवणु इपी
पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय अने द्विन्द्रियादिक
प्रसकाय आ भधानी हिंसामा अनुमोदना करवानो होय लागे छे आ रीते
सुपकृतम् कहेवाधी पक्ष आ होय लागे छे

सुच्छिन्नम् आ पदधी सूत्रकार आ यात सूचित करे छे के, मुनि ओ शाक
पत्रादिक साधु वजेरेयी सरस रीते कापवाभां आवेल छे ओबु कहे तो तेने
वनस्पति काय अने द्वीन्द्रियादिक प्रसकायनी हिंसा करवाभां अनु
मोदन करवानो होय लागे छे सुहृतम् आवी ज रीते धन हरण वजेरेनी
भाषतभां मोलवाभां आवे त्यारे तेने अदत्ता दाननी अनुमोदन करवानो तथा
पीलने पीडा उत्पन्न करवी वजेरेनी अनुमोदनने होय लागे छे मृतम् ओ पदधी

મોદન સૂચિતમ્, દુષ્ટપક્ષે તુ પ્રાણઘાતાનુમોદન ગોચ્યમ્ । સુનિષ્ઠિતમિત્યનેન પટ્કાય
 હિંસાનુમોદન સૂચિતમ્ । મુલ્લપ્તમિત્યત્રાપિ તથૈવ ચોધ્યમ્ ।

‘સાવઘ વર્જયેત્’ इत्यनेन उक्तमेव भाषण निरवघ चेत् तत्र न प्रतिषेध इति ध्वन्यते, तथा च पक्षद्वयमनया गाथया गम्यते । तत्र सावघपक्षो व्याख्यातः,

પદ સે સૂત્રકાર કા યહ અભિપ્રાય હૈ કિ જય સાધુ ‘સુમૃત’ હસ પદ કા
 ખુશ હોકર પ્રયોગ કરતા હૈ ઓર વહ પ્રયોગ યદિ ઉસકા પારદાદિક
 ઘાતુઓં કે મારણ કરને કે પક્ષ મેં હોતા હૈ તો ઉસ સમય ઉસે પૃથિવી
 કાયાદિક ંકેન્દ્રિય જીવ કી ઠિંસા કરને કી અનુમોદના કા સમર્થક
 માના જાતા હૈ । જય વહી પ્રયોગ સાધુ કી ઓર સે કિસી દુષ્ટ કે પક્ષ
 મેં કિયા ગયા હોતા હૈ તો વહ પ્રાણઘાત કા અનુમોદક માના જાતા હૈ ।
 ‘સુનિષ્ઠિતમ્’ હસ પદ સે સૂત્રકાર યહ સૂચિત કરતે હૈં કિ જય સાધુ
 ‘યહ અન્નાદિક સામગ્રી સરસ તૈયાર હુઈ હૈ’ હસ પ્રકાર કા પ્રયોગ કરતા
 હૈ તો ઉસે અન્નાદિક સામગ્રી કી તૈયારી મેં જો પટ્કાય કે જીવોં કી
 ઘિરાઘના હુઈ હૈ ઉસકી અનુમોદના કરને કા ઘોષ લગતા હૈ । હસી
 તરહ ‘મુલ્લપ્તમ્’ હસ પદ કે ઉઘારણ કરને મેં મી હસી ઘોષ કા માગી
 હોના પઢતા હૈ ।

‘સાવઘ વર્જયેત્’ હસ પ્રકાર કે કથન કા યહ અભિપ્રાય હૈ કિ
 યદિ યહ સુકૃત આદિ ભાષણ નિરવઘ હોતા હૈ તો ઉસ સમય સાધુ કો

સૂત્રકારનો એ અભિપ્રાય છે કે, બ્યારે સાધુ “ સુમૃત ” આ પદનો ખુશ ઘઈ
 પ્રયોગ કરે છે અને તે પ્રયોગ પારદાદિક ધાતુઓતુ મારણ કરવાના પક્ષમાં
 હોય છે તો એ સમયે એને પૃથવીકાયાદિક એકેન્દ્રિય જીવની હિંસા કરવાની
 અનુમોદનાના સમર્થક માનવામાં આવે છે બ્યારે એજ પ્રયોગ સાધુ તરફથી
 ઠાઈ દુષ્ટના પક્ષમાં કરવામાં આવ્યો હોય તો તે પ્રાણઘાતનો અનુમોદક માન
 વામાં આવે છે

સુનિષ્ઠિતમ્ આ પદથી સૂત્રકાર એ સૂચિત કરે છે કે, બ્યારે સાધુ “ આ
 અન્નાદિ સામગ્રી સરસ તૈયાર કરવામાં આવી છે ” આ પ્રકારનો પ્રયોગ કરે
 છે તો તેને અન્નાદિક સામગ્રીની તૈયારીમાં જે પટ્કાય જીવોની ઘિરાઘના
 ઘઈ છે એની અનુમોદના કરવાનો ઘોષ લાગે છે આ રીતે “ મુલ્લપ્તમ્ ” એ
 અર્થેના પદનુ ઉચ્ચારણ કરવામાં પણ એ ઘોષના ભાગી બનવું પડે છે

“ સાવઘ વર્જયેત્ ” આ પ્રકારના કથન અર્થે એ અભિપ્રાય છે કે, એ
 એ સુકૃત આદિ ભાષણ નિરવઘ હોય છે તો એ સમયે સાધુને ઠાઈ ઘોષ

નિરવધપક્ષો વ્યાખ્યાયતે-યથા-‘ સુકૃતમિતિ ’ સુષ્ટુ કૃતમનેન વૈયાટ્યમમયદાનં
 સુપાત્રદાનાદિક વેતિ, ‘ સુપક્વમિતિ ’ સુષ્ટુ પક્વમસ્ય વ્રહ્મચર્યાદિકમિતિ,
 ‘ સુચ્છિન્ન ’ સુષ્ટુ છિન્નમનેન સ્નેહવન્ધનમિતિ, ‘ સુહૃત ’ સુષ્ટુ હૃતં=સ્વાયત્તીકૃત
 જ્ઞાનાદિરત્નત્રયમિતિ, ‘ સુનિષ્ઠિતમ્ ’ સુષ્ટુ નષ્ટમસ્યામમત્તસાધો. કર્મજાલમ્,
 સુમૃત્=સુષ્ટુ મૃતોય પશ્ચિતમરણેન ઇતિ । સુલપ્તા=સુષ્ટુ મનોજ્ઞા ક્રિયાઽસ્ય સાધો.,
 યદ્વા-સુલપ્તા=દીક્ષાયોગ્યા કન્યેતિ વદત્ ॥ ૩૬ ॥

કોઈ દોષ નહીં લગતા, હસ પ્રકાર યહ સાવધ પક્ષ કા વર્ણન હુવા હૈ ।
 અય નિરવધ પક્ષકા અર્થ કહતે હૈ—નિરવધ પક્ષ મૈ જય સાધુ ‘સુકૃતં’
 ‘હસ ને વૈયાટ્ય, અમયદાન ણ્વ સુપાત્ર દાન આદિ સત્કર્મ જો કિયે
 હૈ વે યદ્વત અચ્છે કિયે હૈ’ હસ પ્રકાર યોલ ને મૈ કોઈ દોષ નહીં હૈ ।
 હસી પ્રકાર આગે સય જગહ સમજ્જલેના ચાહિયે,—જૈસે ‘સુષ્ટુ પક્વમસ્ય
 વ્રહ્મચર્યાદિક’ હસ કે વ્રહ્મચર્ય આદિ સદ્ગુણ અચ્છી તરહ સે પરિપક્વ
 હો ચુકે હૈ, ઇતિ ‘સુષ્ટુ છિન્નં અનેન સ્નેહવન્ધનમ્’ ઇતિ, હસ ને સ્નેહ
 કા યધન અચ્છી તરહ સે કાટ દિયા હૈ, ‘સુષ્ટુ હૃત સ્વાયત્તીકૃત અનેન
 જ્ઞાનાદિરત્નત્રય’ ઇતિ, હસ ને જ્ઞાનાદિક રત્નત્રય કો અચ્છી તરહ સે
 સ્વાધીન કર લિયા હૈ, ‘સુષ્ટુ નષ્ટમસ્યાઽપ્રમત્તસાધો કર્મજાલમ્’
 ઇતિ, હસ અપ્રમત્ત સાધુ કા કર્મજાલ અચ્છી તરહ સે નષ્ટ હો ચુકા હૈ;
 ‘સુષ્ટુ મૃતોઽય પશ્ચિતમરણેન’ ઇતિ, પશ્ચિત મરણ સે હસકી મૃત્યુ હુઈ
 યહ યદ્વત હી સુવર યાત હુઈ, ‘સુષ્ટુ મનોજ્ઞા અસ્ય સાધો ક્રિયા’ ઇતિ,

લાગતો નથી આ પ્રકારે આ સાવધ પક્ષનું વર્ણન થયું હવે નિરવધ પક્ષનું
 વર્ણન કરવામાં આવે છે —

નિરવધ પક્ષમા વ્યારે સાધુ “સુકૃત” આણે વૈયાટ્ય, અમયદાન, અને
 સુપાત્રદાન આદિ જે સત્કર્મ કર્યા છે તે ધણુ સારા કર્યા છે ” આ પ્રકારે
 બોલવામાં કોઈ દોષ નથી આ પ્રકારે આગળ કહેલ જગ્યાએ સમજી લેવું
 એમ એ જેમ—“સુષ્ટુ પક્વમસ્ય વ્રહ્મચર્યાદિક” એનો અર્થ આદિ સદ્ગુણ
 સારી રીતે પરિપક્વ થયેલ છે, ઇતિ, “સુષ્ટુ છિન્ન અનેન સ્નેહવન્ધનમ્” ઇતિ,
 એણે સ્નેહનું બંધન સારી રીતે કાપી નાખેલ છે “સ્વાયત્તીકૃત અનેન જ્ઞાનાદિરત્નત્રય”
 ઇતિ, એણે જ્ઞાનાદિક રત્નત્રયને સારી રીતે સ્વાધીન કરી લીધેલ છે ‘સુષ્ટુ નષ્ટમસ્યા
 પ્રમત્ત સાધો: કર્મજાલમ્” આ અપ્રમત્ત સાધુની કર્મબળ સારી રીતે નષ્ટ થઈ
 ચુકેલ છે, “સુષ્ટુ મૃતોઽય પશ્ચિતમરણેન” ઇતિ, પશ્ચિત મરણથી એનું મૃત્યુ
 થયું એ ધણુ જ સારું થયું, “સુષ્ટુ મનોજ્ઞા અસ્ય સાધો: ક્રિયા” ઇતિ યદ્વા—

વિનીતાવિનીતયોરુપદેશદાને યત્ ફલ ગુરોર્ભગતિ તદાહ—
મૂલમ્—રમણે પઢિંણે સાંસ, હ્યં મંદ્ર વં વાહંણ ।

વાલ સમ્મેઙ્ઙ સાસતો, ગલિયંસસ વં વાહંણ ॥૩૭॥

છાયા—રમતે પઢિતવાન્ શાસ્ત્ર, હ્ય મદ્રમિત વાહક ।

વાલ શ્રામ્યતિ શાસ્ત્ર, ગલિતાશ્રમિવ વાહકઃ ॥ ૩૭ ॥

ટીકા—‘ રમણ ’ ઇત્યાદિ—

અત્ર ગુરુરિતિ ફલ્ગુપદ પ્રકરણપ્રશાદ્વિજ્ઞેયમ્ । પઢિતવાન્=વિનીતશિષ્યવાન્, શાસત્
=શિક્ષયન્ ગુરુ, રમતે=સફલપ્રયત્નતયા પ્રસન્નો ભવતીત્યર્થ । ફલ્ગુ? મદ્ર=જ્ઞાણ
વિનીતં, હ્યમ્=અશ્ર વાહયન્, વાહક =અશ્રવાહ ઇવ, યથા જાત્યાશ્ર વાહયન્અશ્રવાહ

યદ્વા- ‘સુલષ્ટા વીક્ષાયોગ્યા કન્યેતિ’ ઇસી સાધુ કી ક્રિયા મનોજ્ઞ હૈ
અથવા યહ કન્યા વિક્ષા યોગ્ય હૈ ।

આવાર્થ—સુદૃઢ આદિ શબ્દો કો પ્રયોગ યદિ સાધુ સાસારિક કાર્યો
કો લક્ષ્ય મેં રક્ષ કર કરતા હૈ તો વહ દોષ કા ભાગી હોતા હૈ ઓર
ઈન્હી શબ્દો કા પ્રયોગ યદિ વહ ધાર્મિક કાર્યો કો લક્ષ્ય મેં રક્ષકર
કરતા હૈ તો ઉસકો કોઈ દોષ નહીં લગતા હૈ ॥૩૬॥

વિનીત ઓર અવિનીત શિષ્ય કો ઉપદેશ દેને મેં ગુરુ મહારાજ કો જો
ફલ પ્રાપ્ત હોતા હૈ ઉસે ઇસ ગાથાદ્વારા સૂત્રકાર કહ્તે હૈ—‘રમણ’ ઇત્યાદિ
અન્વયાર્થ—ગુરુ મહારાજ (પંઢિણ-પઢિતાન્) વિનીત શિષ્યો કો
(સાંસ-શાસત્) શિક્ષા દેતે હુણ (રમણ-રમતે) સફલ પ્રયત્નવાલા
હોને સે પ્રસન્ન હોતે હૈ । જૈસે—(મદ્ર હ્યં ય વાહંણ-મદ્રં હ્યં હ્ય વાહક)

સુલષ્ટા વીક્ષાયોગ્યા કન્યેતિ” આ સાધુની ક્રિયા મનોજ્ઞ છે અથવા આ કન્યા
વિક્ષા યોગ્ય છે

આવાર્થ—સુદૃઢ આદિ શબ્દોનો પ્રયોગ બે સાધુ સસારીક કાર્યોને લક્ષ્ય
રાખીને કરે છે તો તે દોષનો ભાગી બને છે અને બે જ શબ્દોનો પ્રયોગ બે
તે ધાર્મિક કાર્યોને લક્ષ્ય રાખીને કરે છે તો તેને કોઈ દોષ લાગતો નથી ॥૩૬॥

વિનીત અને અવિનીત શિષ્યને ઉપદેશ દેવામાં ગુરુ મહારાજને જે ફળ
પ્રાપ્ત થાય છે એને આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર કહે છે—રમણ ૦ ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—ગુરુ મહારાજ પંઢિણ-પંઢિતાન્ વિનીત શિષ્યોને સાંસ-શાસત્
શિક્ષા આપતાં રમણ-રમતે સફળ પ્રયત્ન વાળા હોવાથી તેના ઉપર પ્રસન્ન

પ્રસીદ્ધિ તદ્વદિત્યર્થ. । ગાલ=વિનયરહિત શિષ્ય, શાસ્ત્=શિક્ષણન્ ગુરુ' શ્રામ્યતિ=સ્વિક્ષતે, ક ઇવ? ગલિતાશ્વ=દુર્વિનીતમશ્વં પ્રહુશ કશયા તાડનેડપિ વિપરીતગત્યા પશ્ચાદ્ગમનાદિકારિણમશ્વ વાહયન્ વાહક ઇવ । યયા દુર્વિનીતમશ્વ વાહયન્ વાહક સ્વલુ નિષ્ફલપ્રયત્નતયા સ્વેદ પ્રાપ્નોતિ તદ્વદિત્યર્થ ॥ ૩૭ ॥

વિનીત ઘોડે કો ઇચ્છિત માર્ગ પર ચલાને રૂપ શિક્ષા સે ઘુઝસવાર પ્રસન્ન હોતા હૈ । (ગાલ-ગાલ) વિનયરહિતશિષ્યકો (શાસ્તો-શાસ્ત) શિક્ષા વેતે ક્ષુપ ગુરુ મહારાજ (સમ્મદ્-શ્રામ્યતિ) સ્વેદસ્વિન્ન હોતે હૈ । જૈસે- (ગલિયસ્સ વ વાહપ-ગલિતાશ્વ ઇવ વાહક) દુર્વિનીત અશ્વકો વાર ૨ કશા સે તાડિત કરને પર સવાર દુ સ્વિત હોતા હૈ, ક્યોં કિ દુર્વિનીત અશ્વ કો જ્યોં ૨ ચાલુક લગાતે હૈ ત્યોં ૨ વહ પીઠે ઊલટા હટતા હૈ । ઇસસે સવાર કા પ્રયત્ન નિષ્ફલ હોતા હૈ ।

માવાર્થ-વિનીત શિષ્ય કો દી ગઈ શિક્ષા સફલતા કા સાધક હોને સે ગુરુ કી પ્રસન્નતા કા કારણ હોતી હૈ । અવિનીત શિષ્ય કો દી ગઈ વહી શિક્ષા અસફલ હોતી હૈ । અત ઊસ સે ઊલટા ગુરુ મહારાજ કો સ્વેદસ્વિન્ન હી હોના પદ્ધતા હૈ । જૈસે-વિનીત અશ્વ ઇચ્છિત માર્ગ પર ચલ કર અપને માલિક કો પ્રસન્ન કરતા હૈ ઓર અવિનીત અશ્વ કશાદ્વારા તાડિત હોને પર સી વિપરીત હી માર્ગ પર ચલતા હૈ, ઇસ સે સવાર કો ઊલટા કષ્ટ ઊઠાના પર્વતા હૈ ॥ ૩૭ ॥

જેમ મદ્ ઇવ ધવાહપ-મદ્ઇવ ઇવ વાહક -વિનીત ઘોડાને ઇચ્છિત માર્ગ ઉપર ચલાવવા ડુપ શિક્ષાર્થી ઘોડેસ્વાર પ્રસન્ન થાય છે વાલ-વાલ વિનય રહિત શિષ્યને સાસતો-શાસ્ત શિક્ષા આપતા ગુરુ મહારાજ સમ્મદ્-શ્રામ્યતિ ખેડ ખિન્ન બને છે, જેમ ગલિયસ્સેષ વાહપ-ગલિતાશ્વ ઇવ વાહક અવિનીત ઘોડાને ઘડી ઘડી આબખાથી મારવાની આબતમા સ્વારનું મન દુ ખીત બને છે કેમ કે અવિનીત ઘોડાને જેમ જેમ આબુક મારવામાં આવે છે તેમ તેમ તે પાછે પડે છે આથી સવારને પ્રયત્ન નિષ્ફળ બને છે

માવાર્થ -વિનીત શિષ્ય ને આપવામા આવેલ શિક્ષા સફળતાની સાધક બનવાથી ગુરુ મહારાજની પ્રસન્નતાનુ કારણ બને છે, અવિનીત શિષ્યને આપ વામા આવતી એ જ શિક્ષા અસફળ બને છે, આથી ગુરુ મહારાજે ખેડ ખિન્ન બનવુ પડે છે જેમ-વિનીત ઘોડો ઇચ્છિત માર્ગે ચાલી પોતાના માલિકને પ્રસન્ન કરે છે, અને અવિનીત ઘોડો આબુકથી પીટવામાં આવવા છતાં પણ વિપરીત માર્ગ પર જ ચાલે છે જેનાથી સવારને ઉશ્કારું કષ્ટ જ ભોગવવુ પડે છે ॥૩૭॥

વિનીતાવિનીતયોરુપદેશદાને યત્ ફલં ગુરોર્ભવતિ તદાહ-
મૂલમ્—રમણે પઢિંણ સાંસ, હ્યં ભદ્રં વં વાહંણ ।

વાલ સમ્મંઙ સાસતો, ગલિંયેસ્સ વં વાહંણ ॥૩૭॥

છાયા—રમતે પઢિતવાન્ શાસ્ત્ર, હ્ય મદ્રમિવ વાહક ।

વાલ શ્રામ્યતિ શાસ્ત્ર, ગલિતાશ્ચમિવ વાહકઃ ॥ ૩૭ ॥

ટીકા—‘રમણ’ ઇત્યાદિ—

અન ગુરુરિતિ ફર્ટ્વપદં પ્રકરણગદ્વિદ્વેયમ્ । પઢિતવાન્=વિનીતશિષ્યાન્, શાસત્
=શિક્ષયન્ ગુરુઃ, રમતે=સફલપ્રયત્નતયા પ્રસન્નો ભવતીત્યર્થ । કઙ્ચ ? મદ્ર=જાત્યર્થ
વિનીતં, હ્યમ્=અશ્ચ વાહયન્, વાહક’=અશ્ચવાહ ઙ્ચ, યથા જાત્યાશ્ચ વાહયશ્ચશ્ચવાહ

યદા- ‘મુલ્કષ્ટા વીક્ષાયોગ્યા કન્યેતિ’ ઇસી સાધુ કી ક્રિયા મનોઙ્ગ હૈ
અથવા યહ કન્યા વિક્ષા યોગ્ય હૈ ।

માવાર્થ—મુદ્ધત આદિ શબ્દોં કો પ્રયોગ યદિ સાધુ સાસારિક કાર્યોં
કો લક્ષ્ય મેં રલ્લ કર કરતા હૈ તો વહ દોષ કા ભાગી હોતા હૈ ઓર
ઈન્હીં શબ્દોં કા પ્રયોગ યદિ વહ ધાર્મિક કાર્યોં કો લક્ષ્ય મેં રલ્લકર
કરતા હૈ તો ડસકો કોઈં દોષ નહીં લગતા હૈ ॥૩૬॥

વિનીત ઓર અવિનીત શિષ્ય કો ઉપદેશ દેને મેં ગુરુ મહારાજ કો જો
ફલ પ્રાપ્ત હોતા હૈ ડસે ઇસ ગાથાદ્વારા સૂત્રકાર કહ્તે હૈ—‘રમણ’ ઇત્યાદિ
અન્વયાર્થ—ગુરુ મહારાજ (પઢિણ-પઢિતાન્) વિનીત શિષ્યોં કો
(સાંસ-શાસત્) શિક્ષા દેતે હુણ (રમણ-રમતે) સફલ પ્રયત્નવાલા
હોને સે પ્રસન્ન હોતે હૈ । જૈસે—(મદ્રં હ્યં વ વાહંણ—મદ્રં હ્ય ઙ્ચ વાહકઃ)

મુલ્કષ્ટા વીક્ષાયોગ્યા કન્યેતિ” આ સાધુની ક્રિયા મનોઙ્ગ છે અથવા આ કન્યા
વિક્ષા યોગ્ય છે

માવાર્થ—મુદ્ધત આદિ શબ્દોંનો પ્રયોગ જો સાધુ સસારિક કાર્યોંને લક્ષ્યમાં
રાખીને કરે છે તો તે દોષનો ભાગી બને છે અને જો જ શબ્દોંનો પ્રયોગ જો
તે ધાર્મિક કાર્યોંને લક્ષ્યમાં રાખીને કરે છે તો તેને કોઈં દોષ લાગતો નથી ॥૩૬॥

વિનીત અને અવિનીત શિષ્યને ઉપદેશ દેવામાં ગુરુ મહારાજને જો ફળ
પ્રાપ્ત થાય છે અને આ ગાથા દ્વારા સૂત્રકાર કહે છે—રમણં ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—ગુરુ મહારાજ પઢિણ-પઢિતાન્ વિનીત શિષ્યોંને સાંસ-શાસત્
શિક્ષા આપતાં રમણ-રમતે સફળ પ્રયત્ન વાળા હોવાથી તેના ઉપર પ્રસન્ન થાય છે,

अयं भाव.—दुर्विनीतशिष्यः स्वल्बेव चिन्तयति-अयं गुरुर्मां केवल स्वदुःखुकादिभिः
पीडयति न तु किमपि ममहितं चिन्तयतीति ॥ ३८ ॥

सविनयशिष्यस्य भावनामाह—

मूलम्—पुत्रो मे' भायं णांइत्ति, साहू कल्लोण मन्नइ ।

पावदिट्ठी उ अप्पोण, सोंस दौसेत्ति' मन्नइ ॥ ३९ ॥

छाया—पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति, साधु कल्याण मन्यते ।

पापदष्टिस्तु आत्मान, शास्यमान दास इति मन्यते ॥ ३९ ॥

टीका—'पुत्रो मे' इत्यादि—

अयं शिष्य, मे=मम, पुत्रतुल्य इति, भ्राता=भ्रातृतुल्य इति, ज्ञाति'=ज्ञाति

भावार्थ—उभयलोकसमधी हितकारक उपदेश देने पर भी अविनीत शिष्यकी दृष्टिमें वह गुरु महाराज के शिक्षावचन हितकारक प्रतीत न होकर केवल कष्टप्रद चपेटा आदिरूप ही प्रतीत होते हैं । वह ऐसा मानता है कि ये मुझे इस पहाने केवल पीडित ही करना चाहते हैं । क्यों कि इन्होंने मेरी भी मेरे हित का विचार ही नहीं किया है तो फिर ये मेरे हित की वृद्धि से अच्छी बात कहेंगे भी कैसे ॥ ३८ ॥

विनीत शिष्य की भावना कैसी होती है ! इसको इस गाथाद्वारा सूत्रकार प्रकट करते हैं—'पुत्रो मे' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—जब गुरुमहाराज शिष्यों को शिक्षा देते हैं तब उनमें जो (साहू-साधु) विनीत शिष्य होता है वह इस प्रकार विचार करता

भावार्थ—उभयलोक समधी हितकारक उपदेश देना छटा पक्ष अविनीत शिष्यनी दृष्टीमा गुरु महाराजनु ते शिक्षा वचन हितकारक न गणुता केवल दुःखदायक तेमज सुखवनार आदिरूप न लाजे छे ते जेवु माने छे के, आ भद्वाना तजे तेज्जा केवल पिडवाज भागे छे केमके, तेमजे कही पक्ष भारा हितने विचार कथो नथी. तो तेज्जा भारा हितनी भावनाभी सारी बात केवी रीते कहे ॥ ३८ ॥

विनीत शिष्यनी भावना केवी होय छे-जेने आ गाथा द्वारा सूत्रकार प्रकट करे छे पुत्रो मे इत्यादि

अन्वयार्थ—ज्यारे गुरु महाराज शिष्यने शिक्षा आपे छे, त्यारे जेनामां जे साहू-साधुः विनीत शिष्य होय छे ते जे प्रकारने विचार करे छे के, आ गुरु

गुरोः शिक्षावचने कुशिष्यस्य दृमावनामाह—

मूलम्—खड्गुया मे' चवेडा मे, अक्रोसा ये वहा ये मे' ।

कल्लाणमणुसासतो, पावदिट्टित्ति मन्नई ॥ ३८ ॥

छाया—खड्गुका मे चपेटा मे, आक्रोशाश्च वधाश्च मे ।

कल्याणमनुशासत्, पापदृष्टिरिति मन्यते ॥ ३८ ॥

टीका—' खड्गुया ' इत्यादि—

कल्याण=लोकद्वयहितम्, अनुशासत् = शिक्षयन् गुरुः कुशिष्येण पापदृष्टिः=
पापा=पापमयी दृष्टिर्यस्य स तथा, इति मन्यते—अयं गुरुर्मम हिंसकोऽस्तीति
मन्यते । यतोऽनेन—मे=मम, खड्गुका.=टफरा आघाता दीयन्तेऽनेनेति श्लेष । तथा
मे=मम, चपेटा =करतलाघाता दीयन्ते । च=पुन, आक्रोशा =परुषभाषणानि,
च=पुनः, मे=मम, वधा =दण्डादिघाता क्रियन्ते ।

जो कुशिष्य होता है उसे जय गुरु महाराज शिक्षा देते हैं तब उसकी क्या भावना होती है यह बात इस गाथा द्वारा प्रकट की जाती है—

' खड्गुया ' इत्यादि

अन्वयार्थ—अविनीत शिष्य (कल्लाणमणुसासतो—कल्याण अनुशा-
सत्) उभयलोकसंबंधी हित शिक्षा देने वाले गुरु महाराज को (पाव-
दिट्टी—पापदृष्टिः) यह पापदृष्टि वाले मेरे घातक हैं (त्ति-इति) इस प्रकार
समझता है । क्यों कि वह गुरु महाराज की शिक्षा सम्यन्धी बातों को
इस प्रकार मानता है कि (खड्गुया मे चवेडा मे अक्रोसा ये वहा ये मे—
खड्गुका मे चपेटा मे आक्रोशाश्च वधाश्च मे) ये मेरे लिये आघातस्वरूप
हैं यत्पदस्वरूप हैं, परुषभाषण—गाली—स्वरूप हैं, प्रहारस्वरूप हैं ।

ये कुशिष्य होय छे अने गुरु महाराज शिक्षा आपे छे, त्यारे तेनी देवी
भावना होय छे ते बात आ गाथा द्वारा प्रकट करवायां आवे छे खड्गुयांभत्यादि

अन्वयार्थ—अविनीत शिष्य कल्लाणमणुसासतो—कल्याण अनुशासत् उभय
लोक संबंधी हित शिक्षा देवावाणा गुरु महाराजने पावदिट्टी—पापदृष्टिः अ पाप
दृष्टीवाया मारा घातक छे त्ति इति अ प्रकारना समझे छे डेम डे, गुरु महाराजनी
शिक्षा संबंधी बातोंने अ प्रकार माने छे डे, खड्गुया मे चवेडा मे अक्रोशा च
वहा च मे—खड्गुका मे चपेटा मे आक्रोशाश्च वधाश्च मे आ मारा भाटे आघात
स्वरूप छे, यत्पद स्वरूप छे, प्रहार स्वरूप छे

अथ विनयसर्वस्वमुपदिशति—

मूलम्—ने कोवण आयेरिय, अप्पाण पि न कोवण ।

बुद्धोवघाई न सिया, ने सिया तोत्तगवेसए ॥४०॥

छाया—न कोपयेत् आचार्यम्, आत्मानमपि न कोपयेत् ।

बुद्धोपघाती न स्यात्, न स्यात् तोत्तगवेसक ॥ ४० ॥

टीका—‘न कोवण’ इत्यादि—

आचार्यं न कोपयेत्=कोषाविष्ट न कुर्यात्, आचार्यमित्युपलक्षणं तेन विनया ईशुपाध्यायादिक्रमपि न कोपयेदित्यर्थ । आत्मानमपि न कोपयेत्—आचार्येण परम भाषणादिभिः शिक्ष्यमाणमात्मानमपि कोपयुक्तं न कुर्यात् । अपिनाऽप्यस्यापि सग्रह अन्यं क्रमपि न कोपयेदित्यर्थ ॥

यत —मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्य,

ध्यानं करोतु विदधातु वहिर्निवासम् ।

ब्रह्मत्रत धरतु भैक्षरतोऽस्तु नित्य,

रोप करोति यदि सर्वमनर्थकं तत् ॥ १ ॥

कश्चित् कोषावेशेऽपि बुद्धोपघाती न स्यात्—आचार्योपघातको न भवेत् ।

अथ विनय का सारांश कहते हैं—‘न कोवण’ इत्यादि

अन्वयार्थ—(आयरिय न कोवण—आचार्यं न कोपयेत्) विनीत शिष्य का कर्तव्य है कि वह आचार्य को कभी भी कुपित न करे । (अप्पाण पि न कोवण—आत्मानमपि न कोपयेत्) आचार्य महाराज जय कोई शिक्षा देवे उस समय अपनी आत्मा को भी कुपित न करे । यदि कदाचित् कोप का आवेश आ भी जावे तो उस समय (बुद्धोवघाई न सिया—बुद्धोपघाती न स्यात्) अपने आचार्य महाराज का उपघातक नहीं

हुवे विनयने सारांश कहे छे—न कोवण इत्यादि.

अन्वयार्थ—आयरिय न कोवण—आचार्यान् न कोपयेत् विनीत शिष्यनु अ कर्तव्य छे के, ते आचार्यने कही पद्य कोपित न करे. अप्पाणं पि न कोवणे—आत्मानमपि न कोपयेत् आचार्य महाराज व्यापरे कोष शिक्षा आये त्यारे पोताना आत्माने पद्य कोपित न करे. कदाचित् अने कोपने आवेश आवी पद्य लय तो ते सभये बुद्धोवघाई न सिया—बुद्धोपघाती न स्यात् पोताना आचार्य महाराजनु

તુલ્ય ઇતિ ગુરુર્જાનાતિ, ઇત્યેવ સાધુ = પિનયવાન્ શિષ્ય કલ્યાણ = શુભ મન્યતે-
 'અય ગુરુ, પુત્રાદિભાવેન મામનુશાસ્તિ' ઇતિ શુભમાત્ના કરોતીત્યર્થ । કૃષ્ણિષ્વ.
 પુનઃકિંમન્યતે ? ઇત્યાહ—' પાવદિદ્વીઉ' ઇત્યાદિ । પાપદષ્ટિ = ત્રિનયરહિત શિષ્યસ્તુ
 શાસ્યમાનમ્ આત્માન = માં દાસ ઇતિ ગુરુર્જાનાતિ, ઇત્યેવ મન્યતે । 'અય ગુરુર્નાચ-
 દષ્ટ્યાઽવમાનયન્માં દાસમિવ તર્જયતિ' ઇત્યશુભમાત્નાં કરોતોત્યર્થ ।

અન્યે તુ સુવૃવિમક્તિવ્યત્યયાત્ 'પુત્તો' ઇત્યસ્ય 'પુત્રમિવ' 'માય'
 ઇત્યસ્ય—'બ્રાતરમિવ' 'ણાહ' ઇત્યસ્ય 'જ્ઞાતિમિવ' ઇતિ દ્વીતીયાન્તાર્થ કલ્પયન્તિ
 'મે' ઇતિ દ્વિતીયાન્તાર્થક ચ કલ્પયન્તિ તત્સર્વમનુચિતમ્—આગમોક્તપાઠેઽર્થસગતૌ
 સત્યા તદ્વિપરીતાર્થકલ્પનાયા ભગવદ્વચનવિરાધનાઽપ્પત્તે. ॥ ૩૧ ॥

હૈં કિં યે ગુરુ મહારાજ સુક્ષ્ણે (પુત્તો મે—પુત્રઃ મે) યહ શિષ્ય મેરે પુત્રતુલ્ય
 હૈં (માય—બ્રાતા) માર્હૈં કે સમાન હૈં (ણાય—જ્ઞાતિ) જ્ઞાતિજનતુલ્ય હૈં,
 એસા સમક્ષકર શિક્ષા દેતે હૈં, (ત્તિ—ઇતિ) હસ પ્રકાર વિનીત શિષ્ય
 (કલ્લાણ—કલ્યાણ) શુભ (મન્નહ—મન્યતે) માનતા હૈં, અર્થાત્ વિનીત
 શિષ્ય ગુરુ મહારાજ કે પ્રતિ કલ્યાણ ભાવના કરતા હૈં । ઓર (પાવદિદ્વી
 ય—પાપદષ્ટિસ્તુ) જો અવિનીત શિષ્ય હોતા હૈં વહ હસ પ્રકાર વિચારતા
 હૈં કિં યે ગુરુમહારાજ (સાસ અપ્પાણ—શાસ્યમાનમાત્માનમ્) શિક્ષાપાઠે
 હુપ સુક્ષ્ણકો (વાસે—વાસઃ) યહ દાસ હૈં, હસ પ્રકાર સમક્ષકર શિક્ષા દેતે
 હૈં (ત્તિ—ઇતિ) હસ પ્રકાર (મન્નહ—મન્યતે) અશુભ માનતા હૈં, અર્થાત્
 અવિનીત શિષ્ય ગુરુ મહારાજ કે પ્રતિ અશુભ ભાવના કરતા હૈં । હસ
 ગાથા મેં વિનીત ઓર અવિનીત શિષ્ય કી ભાવના પ્રવર્શિત કી હૈં ॥૩૧॥

મહાશ્વ અને પુત્તો મે—પુત્ર મે આ શિષ્ય મારા પુત્ર તુલ્ય છે માય—બ્રાતા ભાઈની
 તુલ્ય છે ણાય—જ્ઞાતિ જ્ઞાતિ તુલ્ય છે એવું સમજીને શિક્ષા આપે છે ત્તિ—ઇતિ આ
 પ્રકારે વિનીત શિષ્ય કલ્લાણ મન્નહ—કલ્યાણ—મન્યતે ઠલ્યાણકારક અને શુભકારક
 માને છે અર્થાત્ વિનીત શિષ્ય ગુરુ મહારાજ તરફ ખૂબ ઉચી ભાવના રાખે છે અને
 પાવદિદ્વીય—પાપદષ્ટિસ્તુ જે અવિનીત શિષ્ય હોય છે તે એવા પ્રકારનું વિચારે છે કે,
 ગુરુ મહારાજ સાસ અપ્પાણ—શાસ્યમાનમાત્માન શિક્ષા આપતી વખતે મને વાસે—વાસ
 આ દાસ છે, એવી રીતે સમજીને શિક્ષા આપે છે. ત્તિ ઇતિ આ પ્રકારે મન્નહ—મન્યતે
 અશુભ માને છે અર્થાત્ કૃષ્ણિષ્વ, ગુરુ મહારાજ તરફ અશુભ ભાવના ભાવે છે
 આ ગાથામાં શિષ્યની વિનીત અને અવિનીત ભાવના પ્રવર્શિત કરેલ છે ॥૩૧॥

बुद्धोपघाती न स्यादिति यदुक्तं तत्र दृष्टान्तो वर्णयते—

अङ्गदेशे चम्पापुरीनगर्या गणिगुणसमन्वित. प्रक्षीणप्रायकर्मा क्षीणजङ्घावल
कृतैकशिष्यप्रतिज्ञ कश्चिद् वीर्योच्छ्वासनामक आचार्य. क्षुद्रमतिनाम्नैकेनैव शिष्येण
जो विनय के योग्य हैं उन्हें भी क्रुपित नहीं करना चाहिये, क्यों कि
कोप अनेक अनर्थों की जड़ एव समस्त उत्तम क्रियाओं का विनाशक
माना गया है, कहा भी है—

“मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्य,
ध्यान करोतु विदधातु बहिर्निवासम् ।
ब्रह्मव्रत धरतु भैक्षरतोऽस्तु नित्य,
रोप करोति यदि सर्वमनर्थक तत्” ॥ १ ॥

कोई भी व्यक्ति यदि मास मास खमण भी पारणा करता हो, सदा
सत्य योलता हो, ध्यान करता हो, वन में भी निवास करता हो, ब्रह्म-
चर्यव्रत का पालन करता हो, भिक्षावृत्ति करता हो परन्तु यदि रोप
-कोप करता है तो उसकी ये समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं ॥ १ ॥

‘बुद्धोपघाती नहीं होना चाहिये’ ऐसा जो कहा है उसको
दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

अगदेश में चपा नामकी नगरी थी । उसमें गणिगुणों से युक्त
४२वां भेईअ. ४३के, ४४प अनेक अनर्थोनी ७४ तेमअ समस्त उत्तम
क्रियाओने नाथ ४२ना२ बनायेछ छे ४४प पञ्च छे —

मासोपवास निरतोऽस्तु तनोतु सत्य
ध्यान करोतु विदधातु बहिर्निवासम् ।
ब्रह्मव्रत धरतु भैक्षरतोऽस्तु नित्य,
रोप करोति यदि सर्वमनर्थक तत् ॥ १ ॥

४४प पञ्च व्यक्ति कदाच ते भद्धिना भद्धिनाना अपवाच करे, सदा सायु
भोवतो होय, ध्यान करतो होय, वनमां पञ्च रहेतो होय, प्रक्षययप्रतनु
पालन करतो होय, भिक्षावृत्ति करतो होय, परतु ते जे क्रोध करतो होय तो
तेनी अे सधणी क्रियाओ व्यर्थ छे

बुद्धोपघाति न यवु भेईअ, जेवु जे कडेवाभा आवे छे जेने दृष्टां
तथी स्पष्ट ४२वांमां आवे छे —

अ ग देशमां यपापुरी नामनी नगरी छती, तेमां गष्ठीशुद्धोथी युक्ता
४० ३२

तथा तोत्रगवेपको न स्यात्-तोत्र=तोदन तत्सद्यस्य पीडोत्पादकस्य परुषभाषणा
 ऽऽर्देर्गवेपकः=अवेपको न भवेदित्यर्थ । अयं भाष-यया-दृष्टस्तुरङ्गमो विपरीत
 गत्या प्रचलन् तोदनमन्वेपयति तद्वत् शिष्य आचार्यस्य प्रेरणाऽसंगवचनस्य
 गवेपको न भवेदिति ।

होना चाहिये । तथा-(तोत्तगवेसण न सिया-तोत्रगवेपक' न स्यात्)
 तोत्रगवेपक भी नहीं होना चाहिये-अर्थात् गुरु महाराज को बार २
 प्रेरणा करने की आवश्यकता नहीं होने दे । तात्पर्य इसका यह है
 कि शिष्य को यह चाहिये कि जिस समय आचार्य महाराज अपने
 लिये परुष भाषण आदि रूप में भी यदि शिक्षात्मक वचन कहें तो
 उस समय वह उनके प्रति ऐसा व्यवहार न करे कि जिससे वे कुपित
 हो जावें, तथा स्वयं भी अपनी आत्मा को उनके व्यवहार से अप्र-
 सन्न न रखे । तथा ऐसी चेष्टा भी उसको नहीं करना चाहिये कि जिसमें
 आचार्य महाराज का उपघात हो । जिस प्रकार बृष्ट घोड़ा विपरीत चाल
 से चलता हुआ अपने मालिक को पद २ पर दुःखित किया करता है
 उसी प्रकार उनकी इच्छा के विरुद्ध चलकर शिष्यको उन्हें कमी भी
 दुःखित नहीं करना चाहिये । सूत्र में जो अपि-शब्द आया है वह इस
 घात का सूचक है कि शिष्य को अपने आचार्य महाराज से अतिरिक्त
 और भी किसी को व्यथित नहीं करना चाहिये । तथा उपाध्याय आदि

अपमान करना न सवे। ओं ओ तथा तोत्तगवेसण न सिया-तोत्रगवेपक' न स्यात्
 तोत्रगवेपक पक्ष न बनवु ओं ओ अथवा-गुरु महाराज के बार बार प्रेरणा करनी
 पडे तेषु न सवा हे के समये आचार्य महाराज पोताना भाटे पक्ष भाषण
 आदि रूपभी पक्ष कदाय शिक्षात्मक वचन कहे तो ते वभते ते तेमना प्रत्ये
 ओवो वहेवार न करे के, ओधी गुरु महाराज के ओधित बनवु पडे तथा तेमना
 वहेवारधी पोतानी बनवने पक्ष अप्रसन्न न राये तथा ओवी ओष्टा पक्ष तेके
 न करवी ओं ओ के केभा आचार्य महाराजनु अपमान होय, के प्रकार दुष्ट
 घोडा विपरीत आवधी आधीने पोताना भाटीकने पगवे पगवे दुःखित कया करे
 छे तेवी रीते, तेमनी धम्भानी विरुद्ध आधीने शिष्ये तेमने कही पक्ष दुःभी
 न करवा ओं ओ सूत्रमा के 'अपि' शब्द आवेष्ट छे ते आ वात सूचन करे
 छे के शिष्ये पोताना गुरु महाराज के भीका देाधने पक्ष दुःभ न पहेंआउवु
 ओं ओ तथा उपाध्याय आदि के विनयने योग्य छे तेमने पक्ष पित न

पथ्य चतुर्विधमशनादिकं श्रावकजनैस्त्वारमावैरनुदिनं दीयमानमुपादाय तस्मै नार्पयति स्वयमेव तदश्नाति ।

अन्त प्रान्त रूक्ष शुष्क कुपथ्यमशनादिकमानीय गुरवे प्रयच्छति । वदति च-
किमिह कुर्मो वयम् । ईदृशीं दशामुपगतानां भवता योग्यमशनादिकं विद्यमानमपि
नामी विवेकविकला श्रावका दातुमिच्छन्ति । श्रावकान् कथयति च-ममाचार्या
खलु परमनिःस्पृहतया स्वशरीरयात्रामप्यचिन्तयन्तः प्रणीतं भक्तपानं ग्रहीतुं नेच्छन्ति

और दूसरी जगह भी चल फिर सकें। इस प्रकार विचार कर उसने
ऐसा काम करना प्रारंभ किया कि-श्रावकों से जो आचार्य की अवस्था
अनुरूप स्निग्ध, मधुर, मनोज्ञ, सरस चतुर्विध आहार इसे भिक्षा में
मिलता वह स्वयं खा जाता और गुरु महाराज को अन्तप्रान्त, रूक्ष
शुष्क एवं कुपथ्यरूप आहार लाकर देता। जब गुरु महाराज पूछते तो
कहने लगता कि महाराज हम इस में क्या करें। यहां के श्रावक आप-
की ऐसी अवस्था को देखकर असंतुष्ट हो गये हैं, इसी लिये वे अपने
घर में होते हुए भी योग्य अशनादिक को देना नहीं चाहते। जब
श्रावक उससे पूछते तो कहता कि हमारे ये आचार्य महाराज अय
पिलकुल शिथिलशरीर हो रहे हैं इसलिये उन्हें अपने शरीरमें अय
कोई ममत्वपरिणति नहीं रही है। उन्हें तो जैसा भी आहार मिलजाता
है वे उसे ले लेते हैं। वे नहीं चाहते कि हमारा यह शरीर अय और

रही नहीं है जो एक स्थण उपरथी भील स्थणे जरा पक्षु छाटी यावी शके
आ प्रकारने विचार करी तेणे जेवा कामने प्रारंभ कथी है, श्रावकाथी
आचार्यनी अवस्था अनुरूप जे स्निग्ध, मधुर, मनोज्ञ, सरस यात्र प्रकारने
आहार तेने भिक्षामा मणतो ते स्वयं भाई जेतो अने गुरु महाराजने
अन्त, प्रान्त, रूक्ष, शुष्क अने कुपथ्यरूप आहार दावी आपतो गुरु महा
राजना पूछवाथी ते कहेतो है, महाराज हुं जेभा शुं कउं अडीना श्रावका
आपनी आवी अवस्था जोधने असंतुष्ट भनी गया छे आ भाटे तेजो पोताना
धरमा होवा छां पक्षु योज्य आहार आपवा धिच्छता नथी. न्यारे श्रावक
तेने पूछता तो कहेतो है, मारा आचार्य महाराज उवे भीलकुव शिथिल
शरीरना भनी गया छे आ भाटे तेभने उवे पोताना शरीरमा काई ममत्व
परिच्छुती रही नथी तेभने जेवा आहार मणी जाय छे तेवो ते ज्ये छे ते
नथी आहता है भाउं आ शरीर उवे वधु वधत टकथु रहे. आ भाटे प्रचीत

सह कृतस्थिरवास आसीत् । तत्रासीं शिष्य प्रतिदिस ससारसागरोत्तारक जन्ममरणोच्छेदक सकलकर्मविघ्नसक तीर्थरुगोत्रोपार्जनं गुरुवैयावृत्य कुर्वाणो गुरुकर्म-कत्वाद् दुर्लभयोधित्वाच्चैकदा मनसि चिन्तयति—‘प्रक्षीणबल स्थविरोऽयमस्माभिः क्विपत्कालमनुपालनीय ’ इत्येव विमृश्यासीं तद्वयोऽनुरूप स्निग्ध मधुर मनोज्ञ सुरसं

वीर्योद्धास नाम के आचार्य अपने प्रिय क्षुद्रमति नामक शिष्य के साथ स्थिरवास रहते थे । विशेष घृद्ध होने के कारण हलन—चलन आदि क्रियाएँ इनकी क्षीणप्राय हो चुकी थी । जघा पल भी कम हो गया था । “मैं एक ही शिष्य करूँगा ” ऐसी उनकी प्रतिज्ञा थी । उस के अनुसार उन्होंने क्षुद्रमति नामक एक ही शिष्य किया था, और उसी के साथ वे बहा रहा करते थे । शिष्य भी अपने गुरु महाराज की ठीक २ रीत से वैयावृत्य किया करता था । वैयावृत्य करना यह एक तप है इसके प्रभाव से प्राणी ससार समुद्र से पार हो जाता है । जन्म, मरण और जरा से विमुक्त हो जाता है । अष्ट कर्मों का विनाश भी इस वैयावृत्य के बल पर प्राणी कर देता है । इससे तीर्थकरनामगोत्र का उपाजन भी करता है । शिष्य गुरु कर्मा था । इस लिये वैयावृत्य करने पर भी इसे बोध का लाभ दुर्लभ हो रहा था । एक दिन शिष्य ने विचार किया कि हम इनकी अथ कषतक वैयावृत्य करते रहेंगे । यह तो पिलकुल स्थविर हो चुके हैं । इन में तो अथ इतनी भी शक्ति नहीं रही है जो ये यहाँ से

कोठ विर्योद्धास नामना आचार्य पोताना क्षुद्रमति नामना शिष्य साथे स्थिर वास रहेता हता पूब वृद्ध यर्ष ज्वाना कश्चे छलन चलन आदि क्रियाको तेको करी शकता नहीं शरीरनु तेमज्ज बजेनु गण पञ्च क्षिप्य यर्ष मनु हतु “हुं कोठज्ज शिष्य करीश ” जेवी तेमनी प्रतिज्ञा हती जे अनुसार तेमजे कोठ ज्ज शिष्य करैव हतो. जेनु नाम क्षुद्रमति हतु ते शिष्यनी साथे ते अ पापुरीमां रहेता हता शिष्य पञ्च पोताना गुरुमहाराजनी योग्य रीते आठरी भरहास करतो हतो वैयावृत्य कश्चु जे कोठ तप छे तेना प्रभावधी प्राप्ती ससार समुद्रधी पार साथ छे जन्म मरण्ज्ज अने जराधी विमुक्त यर्ष अथ छे आठ कर्मोना विनाश पञ्च आ वैयावृत्यना गण उपर प्राप्ती पुरी दे छे तेनाभी तीर्थकर नाम ओत्रनु उपालन पञ्च करे छे शिष्य गुरु कर्मा हतो आ भाटे वैयावृत्य कश्चा छतां पञ्च जेने आधनो लाभ दुर्लभ हतो हतो कोठ द्विपथ शिष्ये विचार कथो के, हुं कथां सुधी आभनी सेवा आठरी करतो रहीश आ तो षीद्वेष स्थविर जनी अथा छे जेभनामा कोठवी पञ्च शक्ति हवे

રસ્માભિર્મનન્ત શિષ્યશ્ચ પીડનોયા ? इति निवेद्य भक्त प्रत्यारयाय स प्राणरहितो
જાત । एव क्षुद्रमतिशिष्यवत् साधुर्युद्धोपघाती न भवेत् ॥ ४० ॥

આચાર્ય ક્રુપિતે શિષ્યકર્તવ્યમાહ—

म्लम्—आयरिय कुविय नच्चा, पत्तिर्पण पसायैए ।

विज्झविज्ज पज्जलीउडो, वपेज्ज न पुणुत्ति च ॥४१॥

છાયા—આચાર્ય ક્રુપિત જ્ઞાત્વા, પ્રીતિકેન પ્રસાદયેત ।

विध्यापयेत् मात्रलिपुट, वदेत न पुनरिति च ॥ ४१ ॥

ટોઝા—‘ આયરિય ઇત્યાદિ ।

શિષ્ય કેનચિત્ સ્વાપરાપ્તેન આચાર્ય ક્રુપિતમ્=અપરિતૃપ્ત જ્ઞાત્વા પ્રીતિકેન=
પ્રીતિરેવ પ્રીતિક્ તેન-પ્રીતિજનકેન વિનયભાવેન યદ્વા-‘પ્રીતિકેન’ इतिच्छाया,
પ્રીતિકેન-વિશ્વાસજનકન વાક્યેન ત પ્રસાદયેત્=પ્રસન્ન કુર્યાત્ । ‘પ્રીતિકેન’

कहा तक कष्ट दिया जाय, अत यही सर्वसुंदर मार्ग है कि सलेखना
घारण करलो जाय । ऐसा कह कर उन्होंने भक्तप्रत्याख्यान कर दिया
और कुछ समय के बाद वे समाधिमरण को प्राप्त कर अपना कल्याण
किया । इस कथा से शिष्य को यह शिक्षा लेनी चाहिये कि क्षुद्रमति
शिष्य की तरह वह गुरु महाराज का प्राणप्रहारी न घने ॥४०॥

આચાર્ય મહારાજ કે ક્રુપિત હોને પર શિષ્ય કા કયા કર્તવ્ય હૈ સો
કહતે હૈ—‘ આયરિય ’ ઇત્યાદિ

अन्वयार्थ—शिष्य (कुविय आयरिय नच्चा-कूपित आचार्य ज्ञात्वा ।
जय यह ममझे कि आचार्य महाराज कूपित है उस समय वह (पत्ति-
एण पसायए-प्रीतिकेन प्रसादयेत्) प्रीतिजनक-विनयभाव से अथवा

સર્વ સુદર માર્ગ છે કે, સલેખના ધારણ કરી કષ્ટ એવું કહીને તેઓએ ભક્ત
પ્રત્યાખ્યાન કરી લીધું અને થોડા સમય બાદ સમાધી મરણને પ્રાપ્ત કરી. પોતાનું
કલ્યાણ કયું આ કથાથી શિષ્યે એ શિક્ષા લેવી એઈએ કે, ક્ષુદ્રમતિ શિષ્યની
માફક તે પોતાના ગુરુ મહારાજના પ્રાણ હરનાર ન બને ॥ ૪૦ ॥

આચાર્ય મહારાજના ક્રોધિત થવાથી શિષ્યનું શું કર્તવ્ય છે તે કહેવામા
આવે છે—આયરિય-ઇત્યાદિ

अन्वयार्थ—शिष्य कुविय आयरिय नच्चा-कूपित आचार्य ज्ञात्वा अयारे એવું
સમજે કે આચાર્ય મહારાજ ક્રુપિત છે તે સમય તે પત્તિપણ પસાયए-પ્રીતિકેન
પ્રસાદયેત્ પ્રીતિજનક-વિનય ભાવથી અથવા વિશ્વાસ જનક વાક્યથી તેને પ્રસન્ન

किन्तु सलेखनामेव कर्तुं व्यवस्यन्ति । तत शिष्यपत्रचन निशम्य शोकार्थचेत्स ।
 श्रावकास्तमुपमृत्य सगद्गद उदन्ति-भगवन् ! कथमत्र भवद्भिरकाल एव सलेखना
 विधिरारब्ध ? न च वय निर्देहेतव', इति मन्तव्यम् यतः शिरःस्थिता अपि
 मवन्तो न भारमस्माक कुर्वन्ति । इत्थ श्रावकाणां पत्रचन श्रुत्वाऽऽचार्येण विचारि
 तम्—सर्वमेतच्छिष्यदुश्चरितम्—भ्रलमस्य शिष्यस्याप्रीतिकरण मम प्राणधारणेन,
 इति मनसि विचिन्त्य तेन श्रावकाणां शिष्यस्य च पुरस्तादुक्तम्—क्रियच्चिरमजह्रमे

अधिक समय तक टिका रहे । इस लिये प्रणीत रस वाले भक्त पान को
 लेने की वे अथ चाहना ही नहीं करते है, किन्तु सलेखना धारण
 करने के लिये उद्यत हो रहे है, श्रावक जनों ने जब शिष्य के इन वचनों
 को सुना तो वे बहुत शोकार्थ चिन्त हो चिन्तित हुए और गुरु महाराज
 के समीप पहुँच कर गद्गद वाणी से कहने लगे कि-महाराज ! अकाल
 में आप सलेखना क्यों धारण कर रहे है ? हम लोग तो आपके लिये
 निर्वेद के कारण है नहीं-हमारे तो आप माथे पर भी बैठें तो भी आपका
 हमें कोई भार नहीं लग सकता है । आचार्य ने जब श्रावकों के इन
 वचनों को सुना तो वे बड़े विचार में पड़ गये और मन में कहने लगे
 कि यह सब करतूत हमारे शिष्य की है, मालूम पड़ता है इस को मैं
 बहुत भारी हो रहा हू । इस प्रकार सोच समझकर आचार्य ने शिष्य
 एवं श्रावकों के समक्ष कहा कि महानुभाव ! अथ हम से चलना फिरना
 पनता नहीं है, अतः ऐसी स्थिति में आप सब को एव शिष्य को

रसवाण्य भक्त पानने देवानी चाहना हवे तेज्ये करता नथी. परतु स देवना
 धारण करवामां प्रयत्नशील बनी रह्या छे शिष्यतु आ कहेतु सांभणी श्रावक
 बने भूल शोकातुर बन्या अने गुरु महाराज पासे कर्धने गद्गद वाणीधी
 कहेवा लाग्या के, महाराज ! अकालमा आप स देवना केम धारण करी रह्या
 छे ? अमे दोके तो आपना भाटे निर्वेदना केळ धारण नथी ? आप आभारा
 भाया उपर बेसो तो पणु अमने आपने केळ भार लागतो नथी. आचार्ये
 श्रावकोतु न्यारे आ प्रकारतु कहेतु सांभण्यु तो ते विचारमां पडी गया अने
 मनमां कहेवा लाग्या के, आ अधु करतुत मारा शिष्यतु छे, कोने हुं भूल धार
 ण्य बनी रह्यो छु आ प्रकारतु समष्ट विद्यार्थीने आचार्ये शिष्य तेमज
 श्रावकोनी समक्ष कहे के, माराधी हावीयावी शकतु नथी, आधी आवी
 स्थितीमां आप अधाने तथा शिष्यने कथां सुधी कष्ट आचार्ये कइ आधी कोव

रस्मामिर्भवन्त शिष्यश्च पीडनीया ? इति निवेद्य भक्त प्रत्याख्याय स प्राणरहितो जात । एव क्षुद्रमतिश्चिष्यवत् साधुर्द्वोपघाती न भवेत् ॥ ४० ॥

आचार्यं कुपिते शिष्यकर्तव्यमाह—

म्लम्—आयरिय कुंविय नच्चा, पत्तिरण पसायण् ।

विज्झविज्ज पजंलीउडो, वपेज्ज न पुणुत्ति च ॥४१॥

छाया—आचार्यं कुपित ज्ञात्वा, प्रीतिकेन प्रसादयेत् ।

विध्यापयेत् माञ्जलिपुटं, वदेत् न पुनरिति च ॥ ४१ ॥

टीका—‘आयरिय इत्यादि ।

शिष्य केनचित् स्वापराधेन आचार्यं कुपितम्=अपरितुष्ट ज्ञात्वा प्रीतिकेन=प्रीतिरेव प्रीतिकेन तेन-प्रीतिजनकेन विनयभावेन यद्वा-‘प्रीतिकेन’ इतिच्छाया, प्रीतिकेन-विश्वासजनकेन वाक्येन त प्रसादयेत्=प्रसन्नं कुर्यात् । ‘प्रीतिकेन’

कहा तक कष्ट दिया जाय, अत यही सर्वसुंदर मार्ग है कि सलेखना धारण करलो जाय । ऐसा कह कर उन्होंने भक्तप्रत्याख्यान कर दिया और कुछ समय के बाद वे समाधिमरण को प्राप्त कर अपना कल्याण किया । इस कथा से शिष्य को यह शिक्षा लेनी चाहिये कि क्षुद्रमति शिष्य की तरह वह गुरु महाराज का प्राणप्रहारी न बने ॥४०॥

आचार्यं महाराज के कुपित होने पर शिष्य का क्या कर्तव्य है सो कहते हैं—‘आयरिय’ इत्यादि

अन्वयार्थ—शिष्य (कुषिय आयरिय नच्चा—कुपित आचार्यं ज्ञात्वा । जब यह समझे कि आचार्यं महाराज कुपित है उस समय वह (पत्तिरण पसायण्-प्रीतिकेन प्रसादयेत्) प्रीतिजनक-विनयभाव से अथवा

सर्वं सुदर मार्गं छे के, सलेखना धारण करी छे जेवु कहीने तेजोजे भक्त प्रत्याख्यान करी लीधु अने थोडा समय बाद समाधी भरखुने प्राप्त करी. पोतानु कल्याण कथुं आ कथाथी शिष्ये जे शिक्षा लेवी जेछे जेके, क्षुद्रमति शिष्यनी भाइके ते पोताना गुरु महाराजना प्राणु हरनार न बने ॥ ४० ॥

आचार्यं महाराजना क्रोधित धवाथी शिष्यनु शु कर्तव्य छे ते कहेवाभा आवे छे—आयरिय-इत्यादि

अन्वयार्थ—शिष्य कुषिय आयरिय नच्चा—कुपित आचार्यं ज्ञात्वा ज्यारे जेवु समझे के आचार्यं महाराज कुपित छे ते समय ते पत्तिरण पसायण्-प्रीतिकेन प्रसादयेत् प्रीतिजनक-विनय भावथी अथवा विश्वास जनक वाक्यथी तेने प्रसन्न

इत्यत्र रूढ्या नपुसकत्वम् । प्राञ्जलिपुटः=कृताञ्जलिः सन् विध्यापयेत्=रुचिन्दुत्थित
कोपवर्द्धिं प्रसन्नयेत् । च=पुन 'न पुनरेव करिष्यामि' 'सन्तव्योऽयमपराध' इति
वदत् । मानसिक-कायिक वाचिकोपायै गुरुः प्रसादनीय इति भावः ॥४१॥

अथ येन गुरोः कोप एव नोत्पद्येत तमुपायमाह—

मूलम्—धम्मज्जिय चं ववंहार, बुद्धेहायेरिय सया ।

तमायरतो ववंहार, गरह नेभिगच्छइ ॥४२॥

छाया—धर्माजितश्च व्यवहारः बुद्धेः आचरित सदा ।

तमाचरन् व्यवहार, गर्हां नाभिगच्छति ॥४२॥

टीका—' धम्मज्जिय ' इत्यादि- -

यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् य धर्माजितः=धर्मेण क्षान्त्यादिना अजित =उपा
जित , च=पुनः सदा=सर्वकाल बुद्धेः=तत्त्वविद्भिः आचरित =सेवितः, व्यवहारः=

-धिश्वासजनक वाक्य से उन्हें प्रसन्न करे । और (पजलीउडो विज्जविज्ज
-प्राञ्जलिपुट विध्यापयेत्) दोनों हाथ जोड़कर उनकी कथंचित् उत्थित
कोपाग्नि को बुझावे । उस समय वह ऐसा (वपज्ज-वदेत्) कहे कि (न
पुणुत्ति य-न पुनरिति च) हे गुरु महाराज अय ऐसा व्यवहार नहीं करने
का भाव है अतः अय यह मेरा अपराध आप क्षमा करें । मन से बचन से
एवं काया से जैसे भी यने उस प्रकार के उपायों से गुरु महाराज को
प्रसन्न कर लेना चाहिये ॥ ४१ ॥

अथ सूत्रकार ' गुरु महाराज को कोप ही न उत्पन्न हो सके ऐसा
उपाय बतलाते हैं—'धम्मज्जिय इत्यादि

अन्वयार्थ—जो (धम्मज्जिय-धर्माजितः) उत्तम क्षमा आवि धर्मो

करे पजलिउडो विज्ज विज्ज-प्राञ्जलिपुट विध्यापयेत् अने अन्ने हाथ लोडीने
तेमनी कथंचित् उत्थित कोपाग्निने बुझावे । ओ समय ते ओवु वपज्ज-वदेत् कहे के,
न पुणुत्ति य-न पुनरिति च हे गुरु महाराज अवे हु ओवु कही नही करू आशी
हुवे आप आ भारे अपराध क्षमा करे । मन वचन अने कायाशी ओवु पणु
अने ओ प्रकारना उपायोशी गुरु महाराजने प्रसन्न करी देवा ओधोओ ॥ ४१ ॥

हुवे सूत्रकार ' गुरु महाराजने कोप न उत्पन्न भाव ' ओवे उपाय
बतावे छे -धम्मज्जिय इत्यादि ।

अन्वयार्थ—ओ धम्मज्जिय-धर्माजितम् उत्तम क्षमा आवि धर्मोशी अल्लोत् करे-

मोक्षार्थी कर्त्तव्यः प्रतिलेखनादिरूप, अस्ति, त व्यवहारम्—आचरन् साधुः, गर्हा-
निन्दाम्—‘अविनीतोऽयम्’ इत्यादिरूपा नाभिगच्छति=न प्राप्नोति। एव कृते श्रोः
कोपोत्पत्तिर्न भवतीति भावः।

‘धम्मज्जिय’ इत्यादीं प्रथमार्थे द्वितीया आर्पत्वात्। ‘धम्मज्जिय’ इति
विशेषणं प्रतिलेखनादिव्यवहारस्य श्लाघानुकूलतां दमसमानाद्यर्थं कृतव्यवहारस्य
परिहार्यता च बोधयति। ‘बुद्धेहायरिय’ इति विशेषण व्यवहारस्य शासनसम्प्रदा
यानुगतत्व सूचयति ॥ ४२ ॥

मूलम्—मंगोगय वक्कगय, जाणिँत्तायँरियस्स उ।

‘त परिगिँज्ज वार्याए, कम्मुणा उववाँयए ॥४३॥

के द्वारा अर्जित किया है, तथा (सया—सदा) सर्व काल (बुद्धेहायरियं-
बुद्धैः आचरितः) तीर्थकर गणधारों के द्वारा आचरित—सेवित हुआ है
ऐसा यह (व्यवहार—व्यवहारः) प्रतिलेखनादिरूप कर्त्तव्य है। (त व्यवहार
आयरतो—त व्यवहारम् आचरन्) उस व्यवहार को अपने आचरण में
लाने वाला साधु (गरह—गर्हा) ‘यह अविनीत है’ इत्यादिरूप निन्दा को
(नाभिगच्छइ—नाभिगच्छति) प्राप्त नहीं करता है। “धम्मज्जिय” यह पद
यह सूचित करता है कि प्रतिलेखनादिकरूप जो व्यवहार है वह शास्त्रानु
कूल है, तथा दम एव सम्मान आदि के निमित्त जो व्यवहार किया
जाता है वह परिहार्य है। “बुद्धेहायरिय” यह पद ‘यह व्यवहार तीर्थ-
कर एव गणधारों की परंपरा से चला आ रहा है अतः प्रामाणिक है’
यह सूचित करता है ॥ ४२ ॥

વામાં આવેલ છે તથા સયા-સદા સર્વ કાળ બુદ્ધેહાયરિય-બુદ્ધ આચરિતઃ તીર્થંકર
ગણધરાથી સેવિત થયેલ છે એવા આ વ્યવહાર-વ્યવહાર પ્રતિલેખનાદિરૂપ કર્તવ્ય
છે આ વ્યવહારને પોતાના આચરણમાં લાવનાર સાધુ ગરહ-ગર્હા ‘આઅવિનીત
છે’ ઇત્યાદિ રૂપ નિન્દાને નાભિગચ્છઈ-નાભિગચ્છતિ પ્રાપ્ત કરતા નથી ધમ્મજ્જિય
આ પદથી એ સૂચિત થાય છે કે પ્રતિલેખનાદિરૂપ જે વ્યવહાર છે તે શાસ્ત્ર
વુદ્ધ છે તથા દમ અને સમ્માન આદિ નિમિત્ત જે વ્યવહાર કરવામાં આવે
છે તે પરિહાર્ય છે “બુદ્ધેહાયરિય” આ પદથી આ વ્યવહાર તીર્થંકર તેમજ
ગણધરાની પરંપરાથી આવેલ છે આથી તે પ્રમાણીક છે એવું સૂચિત
કરવામાં આવે છે ॥ ૪૨ ॥

गया—मनोगत वाक्यगत, ज्ञात्वा आचार्यस्य तु।

तत् परिगृह्य वाचा, कर्मणा उपपादयेत् ॥४३॥

श्लोका—‘मणोगय’ इत्यादि—

आचार्यस्य मनोगत=मनसि वर्तमान, तथा वाक्यगत=वचसि स्थित तु शब्दात् वाक्यगतमपि काय पूर्वं ज्ञात्वा, पश्चात् तत्=कार्यं वाचा परिगृह्य=अङ्गीकृत्य, ‘अहं तत् कार्यं करोमि’ इत्युक्त्वा शिष्यः कर्मणा=काम्यक्रिया क्रियया, उपपादयेत्=उत्पन्नं कुर्यात् । यत् कार्यं गुरोर्मनसि विद्यमान, ‘कार्यमिदं क्रियताम्’ इत्यादिना वचसा वाऽभिहित, गुरुणा क्रियमाणं वा यत् कार्यं तद् गुरुहस्तादुपादाय स्वरितमेव शिष्येण सपादनीयमिति भावः ॥४३॥

‘मणोगय’ इत्यादि

अन्वयार्थ—(आयरियस्स मणोगय वक्ष्यगय—आचार्यस्य मनोगत वाक्यगत) आचार्य महाराज के मनोगत एव वाक्यगत “तु” शब्द से वाक्यगत कार्य को (जाणिता-ज्ञात्वा) पहिले जानकर पश्चात् (त-तत्) उस कार्य को (वाचाए-वाचा) वाणी से (परिगिज्ज-परिगृह्य) अङ्गीकार करके शिष्य (कम्मणा-कर्मणा) कायसघधी क्रिया द्वारा (उववायए-उपपादयेत्) उस कार्य को कर देवे। जो कार्य गुरु के मन में स्थित हो-गुरु ने जिस कार्य को करने का विचार किया हो ‘इदं कार्यं क्रियताम्’ यह काम करो’ इस प्रकार जिस कार्य को करने के लिये उन्होंने कहा हो, अथवा गुरु महाराज जिस कार्य को स्वयं अपने हाथ से कर रहे हों तो विनयी शिष्य का कर्तव्य है कि वह उस कार्य को शीघ्र ही स्वयं सपादित करे। और गुरु महाराज करते हों तो उनके हाथ से लेकर स्वयं करने लग जाय ॥ ४३ ॥

मणोगय-इत्यादि

अन्वयार्थ—आयरियस्स मनोगय वक्ष्यगय—आचार्यस्य मनोगत वाक्यगत आचार्य महाराज के मनोगत एव वाक्यगत “तु” शब्दसे वाक्यगत कार्य को जाणिता-ज्ञात्वा पहिले जानकर पश्चात् त-तत् से वाक्यगत कार्य को वाचाए-वाचा वाणीसे परिगिज्ज-परिगृह्य अङ्गीकार करीने शिष्य कम्मणा-कर्मणा कायसघधी क्रिया द्वारा उववायए-उपपादयेत् से वाक्य करी देवे। जो वाक्य गुरुना मनमां स्थित होय, गुरुसे जो वाक्य करवानेो विचार करीं होय, “आ काम करे।” आ प्रकार से कार्यने करवा माटे पोते पोताना हाथसे करी रहा होय तो विनयी शिष्यनु कर्तव्य छे के के से ते वाक्यने तुरत से पोते उपाडी दे अने गुरु महाराज करता होय तो तेमना हाथसे करीने पोते करवा लगी अथ ॥ ४३ ॥

मूलम्—वित्ते' अचोइए निच्च, खिप्प हवइ सुचोइए ।

जहोवइष्ट सुकय, किच्चाइ कुवई सया ॥४४॥

छाया—वित्त. अनोदित. नित्य, क्षिप्र भवति सुनोदित ।

यथोपदिष्ट सुकृत, कृत्यानि करोति सदा ॥ ४४ ॥

टीका—' वित्ते ' इत्यादि—

वित्त.=विनयादिगुणेन प्रसिद्ध. शिष्य., अनोदित'=अप्रेरित एव गुरुकार्येषु

नित्य=सर्वदा, प्रवर्तते। कदाचित् स्वयमेव कार्यं कुर्वाण सुनोदित =गुरुणा सुष्ठु

प्रेरितश्चेत् स विनयवान् शिष्य क्षिप्र=क्षिप्रकृद् शीघ्रमेव-कार्यकारी भवति।

अथ भाव -कार्यं कुर्वन् आचार्यण प्रेरितश्चेद् एव न व्रूते-' अहं तु कार्यं करोम्येव, किं

' वित्ते ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(वित्ते-वित्त) विनय आदि गुणों से प्रसिद्ध शिष्य

(अचोइए-अनोदित) विना कहे ही-प्रेरणाकिये विना ही-अपने

गुरु महाराज के कार्यों में (निच्च-नित्य) सर्वदा प्रवृत्ति शील रहा

करता है। (सुचोइए-सुनोदित) गुरु महाराज अपने कार्य को करने की

प्रेरणा करे तो विनयवान् शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह (खिप्प हवइ-

क्षिप्र भवति) गुरु महाराज का कार्य यतनापूर्वक शीघ्र करे। ऐसा

शिष्य गुरु महाराज जब कार्य करने के लिये कहते हैं तब ऐसा नहीं

कहता है कि ' मैं तो कार्य कर ही रहा हूँ आप क्यों कहते हैं ' । वह तो

(सया-सदा) सर्वदा जो कुछ भी करने को कहा जाता है उसे ही कहने

के अनुसार (सुकय-सुकृत) जैसे वह अच्छी रीति से हो सकता है उसी

वित्ते इत्यादि-

अन्वयार्थ—वित्त-वित्त विनय आदि गुणोधी प्रसिद्ध शिष्य अचोइए-

अनोदित कथा अगर प्रेरणा कर्त्ता अगर-पिताना गुरु महाराजना कार्योमा निच्च-

नित्य सदा सर्वदा प्रवृत्तिशील रहा करे छे सुचोइए-सुनोदित गुरु महाराज

पिताना कार्य करवा भाटे प्रेरणा करे तो विनयवान शिष्यनु कर्त्तव्य छे के ते

खिप्प हवइ-क्षिप्र भवति गुरु महाराजना ते कार्योने यतनापूर्वक गुरुत व करवा

भाडे विनयी शिष्य गुरु महाराजना तरक्षी काम भाटेनु सूचन यतां ज्ये

कही पक्षु कहेतो नही के, हु काम तो करी रखी छु, आप था भाटे कहे

छे ते तो समा-सदा सर्वदा ज्येने जे कर्त्त कहेवाभा आवे ते काम ते कहेवा अनु

सार सुकय-सुकृत जेभ ते सारी रीते यर्ध शके जे रीते किष्वाइ कव्यइ-कृत्यानि

भवद्भिः प्रलप्यते?' इति। ययोपदिष्टम्=उपदिष्टमनतिक्रम्य सर्वमुपदिष्ट कार्यं, सुष्ठं =सुष्ठु कृत, यथा स्यात्, तथा कार्याणि=सर्वाणि गुरुकार्याणि, सदा=सर्वकाल, करोति=सपादयति। गुरुकार्येष्वालस्य न विधेय प्रसन्नभावेन तदेव कार्यं सत्वरं करणीयमिति भावः ॥ ४४ ॥

अध्ययनार्थमुपसहरन्नाह—

मूलम्—नच्चा नमइ मेहावी, लोए किंती से जायए ।

हवइ किर्च्चाण संरण, भूयांण जगेई जहो ॥४५॥

छाया—ज्ञात्वा नमति मेघावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायते ।

भवति कृत्याना शरणं, भूतानां जगती यथा ॥ ४५ ॥

टीका—'नच्चा' इत्यादि—

मेघावी=मर्यादावर्ती शिष्य, ज्ञात्वा=अनन्तरोक्त सर्वमभ्ययनार्थमवगम्य, नमति=नम्रीमवति विनयवान् भवतीत्यर्थः, स्वकर्तव्यकरण प्रति सादरमुपगतो भवतीति यावत् । विनयस्य फलमाह—'लोए' इत्यादि । लोके तस्य कीर्तिः—

रीति के माफिक (किच्चाइ कुब्बइ—कृत्यानि करोति) उन सब कार्यो को सुसंपादित करता है। गुरु महाराज के कार्यो में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिये प्रत्युत प्रसन्नचित्त से जो कुछ भी करने को कहा जाय वह शीघ्र ही कर देना चाहिये ॥ ४४ ॥

अब अध्ययन के अर्थ का उपसहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—'नच्चा' इत्यादि।

अन्वयार्थ—(मेहावी—मेघावी) मर्यादावर्ती शिष्य (नच्चा—ज्ञात्वा) अनन्तरोक्त इस समस्त अध्ययन के अर्थ को जानकर (नमइ—नमति) अवश्य विनयी होता है। अर्थात् अपने कर्तव्य को निभाने के लिये सादर उद्यत हो जाता है। (से लोए किंती जायए—तस्य लोके कीर्ति

करोति ते अथा कामे सारीरीते कर्ते रहे छे गुरु महाराजना कामेमां कही पबु आणस शिष्ये न कही बेधके. ने कर्हि कर्वानु कहेवामां आवे ते प्रसन्न चित्ते शीघ्र करी देवु बेधके ॥ ४४ ॥

इवे अध्ययनना अर्थने उपसहार कर्ता सूत्रकार कहे छे—नच्चा इत्यादि—अन्वयार्थ—मेहावी—मेघावीमर्यादावती शिष्य नच्चा—ज्ञात्वा अनन्तरोक्त समस्त अध्ययनना अर्थने आश्रिने नमइ—नमति अवश्य विनयी अने छे अर्थात् पौताना कर्तव्यने निभाववा भाटे सादर उद्यत रहे छे से लोए किंति

'अनेन सफलीकृत जन्म, छिन्न च दुश्छेद्य कर्मवन्धन निस्तीर्णश्च दुस्तर. ससार-सागर' इत्यादिरूपा, जायते=मादुर्मवति, अपि च-स कृत्याना=आचार्याणा शरणम्=आश्रयो भवति, यथा जगती=पृथिवी, भूतानां=प्राणिना शरणम्=आधारो ऽस्ति तद्वत् ॥ ४५ ॥

मूलम्—पुञ्जां जसंस पंसीयति, संबुद्धा पुवंसयुया ।

पसन्नां लाभइस्सति, विउल अट्टिय सुयम् ॥४६॥

छाया—पूजा यस्य प्रसीदन्ति, संबुद्धा पूर्वसस्तुता ।

पसन्ना लाभयिष्यन्ति, विपुलम् आर्थिक युतम् ॥ ४६ ॥

टीका—'पुञ्जा' इत्यादि—

संबुद्धा =सम्पगृह्णानवन्तः, पूर्वसस्तुता.=पूर्व सम्पक् प्रकारेण स्तुता, धुतवा-

जायते) जो साधु अपने कर्तव्य को निभाता है उसका उसे यह फल मिलता है कि उसकी कीर्ति इस लोक में फैल जाती है। लोग कहने लग जाते हैं कि इसने अपने जन्म को सफल बना लिया है। दुश्छेद्य कर्मवन्धन इसने छेद डाला है। दुस्तर ससार सागर इसने पार कर लिया है। (जहा-यथा) जैसे-(जगई-जगती) पृथिवी (भूयाण सरण ह्वइ-भूताना शरण भवति) प्राणियों के लिये आधारभूत होती है, इसी तरह वह शिष्य मी (किच्चाण सरण ह्वइ-कृत्यानां शरण भवति) अपने आचार्य महाराज का आधार बन जाता है ॥ ४५ ॥

'पुञ्जा' इत्यादि ।

अन्ययार्थ—(संबुद्धा-सयुद्धा) पहिले-धुतदान के पहिले ही विनय-

लोकें कीर्ति जायते जे साधु पोताना कर्तव्यने निभावे छे अने तेवु अे इण भणे छे के, तेमनी क्विती आ लोकमां इलाछ नय छे, लोकें कछेवा लागे छे के, आबे पोताना जन्मने सक्षण बनावा लीधे छे कर्मना अधनने अबे तोही नाप्पा छे, दुस्तर ससार सागर अबे पार करा लीधे छे जहा-यथा जेभ-जगई-जगती पृथ्वी भूयाण सरण ह्वइ-भूतानां शरण भवति प्राणीअेने भाटे आधारभूत होय छे, अबे रीते ते शिष्य पबु पोताना आचार्य महाराजने आश्रय अनी नय छे ॥ ४५ ॥

पुञ्जा-इत्यादि—

अन्ययार्थ—सयुद्धा-सयुद्धा पछेवा सुतदानना पछेवा-विनयशुश्रुशी

भवद्भिः प्रलप्यते' इति। यथोपदिष्टम्=उपदिष्टमनतिक्रम्य सर्वमुपदिष्ट कार्यं, सुकृतं=सुष्ठु कृत, यथा स्यात्, तथा कार्याणि=सवाणि गुरुकार्याणि, सदा=सर्वकाल, करोति=सपादयति। गुरुकार्येष्वालस्य न विधेय प्रसन्नभावेन तदेव कार्यं सत्त्वं करणीयमिति भावः ॥ ४४ ॥

अध्ययनार्थमुपसहरन्नाह—

मूलम्—नच्चा नमइ मेहावी, लोए किंती से जायए ।

हवइ किर्च्चाण सरण, भूयांण जगेई जहो ॥४५॥

छाया—ज्ञात्वा नमति मेधावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायते ।

भवति कृत्याना श्रणं, भूताना जगती यथा ॥ ४५ ॥

टीका—'नच्चा' इत्यादि—

मेधावी=मर्यादावर्ती शिष्य, ज्ञात्वा=अनन्तरोक्तं सर्वमध्ययनार्थमवगम्य, नमति=नम्रीभवति विनयवान् भवतीत्यर्थः, स्वकर्तव्यकरणं प्रति सादरमुपगतो भवतीति यावत् । विनयस्य फलमाह—'लोए' इत्यादि । लोके तस्य कीर्तिः—रीति के माफिक (किच्चाइ कुब्बइ—कृत्यानि करोति) उन सब कार्यो को सुसंपादित करता है । गुरु महाराज के कार्यो में कमी भी आलस्य नहीं करना चाहिये प्रत्युत प्रसन्नचित्त से जो कुछ भी करने को कहा जाय वह शीघ्र ही कर देना चाहिये ॥ ४४ ॥

अथ अध्ययन के अर्थ का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—'नच्चा' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(मेहावी-मेधावी) मर्यादावर्ती शिष्य (नच्चा-ज्ञात्वा) अनन्तरोक्त इस समस्त अध्ययन के अर्थ को जानकर (नमइ-नमति) अवश्य विनयी होता है । अर्थात् अपने कर्तव्य को निभाने के लिये सादर उद्यत हो जाता है । (से लोए किंती जायए—तस्य लोके कीर्तिः

करोति ते अर्थात् कामे सारीरीते करते रहे छे गुरु महाराजना कामेमां कही पक्ष आणस शिष्ये न करवी नेछिजे. जे कर्हि करवातु कहेवामा आवे ते प्रसन्न चित्ते शीघ्र करी देतु नेछिजे ॥ ४४ ॥

इवे अध्ययनना अर्थने उपसंहर करवा सूत्रकार कहे छे—नच्चा इत्यादि—अन्वयार्थ—मेहावी-मेधावीमर्यादावर्ती शिष्य नच्चा-ज्ञात्वा अनन्तरोक्त आ समस्त अध्ययनना अर्थने जानीने नमइ-नमति अवश्य विनयी भवे छे अर्थात् पौताना कर्तव्यने निष्ठाववा अठे सादर उद्यत रहे छे से लोए किंती जायए—तस्य

अनेन सफलीकृत जन्म, छिन्न च दुश्छेद्य कर्मवन्धन निस्तीर्णश्च दुस्तर ससार-
सागर.' इत्यादिरूपा, जायते=मादुर्भवति, अपि च-स कृत्याना=आचार्याणा शर-
णम्=आश्रयो भवति, यथा जगती=पृथिवी, भूताना=प्राणिना शरणम्=आधारो
स्ति तद्वत् ॥ ४५ ॥

मूलम्—पुज्जां जस्स पंसीयति, सबुद्धा पुव्वंसयुया ।

पसन्नां लाभइस्सति, विउल अट्टिय सुयम् ॥४६॥

छाया—पूजा यस्य प्रसीदन्ति, सबुद्धा पूर्वसस्तुता ।

पसन्ना लाभयिष्यन्ति, विपुलम् आर्थिकं भुवम् ॥ ४६ ॥

टीका—'पुज्जा' इत्यादि—

सबुद्धा =सम्पद्गज्ञानवन्तः, पूर्वसस्तुता.=पूर्वं सम्पद् प्रकारेण स्तुता, भुवदा-

जायते) जो साधु अपने कर्तव्य को निभाता है उसका उसे यह फल
मिलता है कि उसकी कीर्ति इस लोक में फैल जाती है। लोग कहने लग
जाते हैं कि इसने अपने जन्म को सफल बना लिया है। दुश्छेद्य कर्मवन्धन
इसने छेद डाला है। दुस्तर ससार सागर इसने पार कर लिया है।
(जहा-यथा) जैसे-(जगई-जगती) पृथिवी (भूयाण सरण हवइ-भूताना
शरण भवति) प्राणियों के लिये आधारभूत होती है, इसी तरह वह शिष्य
भी (किच्चाण सरण हवइ-कृत्याना शरण भवति) अपने आचार्य
महाराज का आधार बन जाता है ॥ ४५ ॥

'पुज्जा' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(सबुद्धा-सबुद्धा) पहिले-भुवदान के पहिले ही चिनय-

कोफे कोर्ति जायते जे साधु पोताना कर्तव्यने निभावे छे अने तेनु अे इण
भजे छे के, तेमनी द्विती' आ दोकमा इलाध अय छे, दोको कछेवा वाजे छे
के, आबे पोताना जन्मने सक्षण बनावां वीधो छे कर्मना अधनने अबे तेडी
नाम्ना छे, दुस्तर ससार सागर अबे पार करी वीधो छे जहा-यथा जेभ-
जगई-जगती पृथ्वी भूयाण सरण हवइ-भूतामां शरण भवति प्राणीअेने माटे
आधारभूत होय छे, अबे रीते ते शिष्य पबु पोताना आचार्य महाराजने
आश्रय अनी अय छे ॥ ४५ ॥

पुज्जा-इत्यादि—

अन्वयार्थ—सबुद्धा-सबुद्धा पहिले भुवदानना पहिले-चिनयशुचयी



कार्यं रुचिरिच्छा यस्य स मनोरुचिः—गुरुमनोऽनुवर्ती न तु स्वैच्छाचारी तिष्ठति=
 आस्ते तथा-तप समाचारीसमाधिसमृत -तपसोऽनशनानादेर्द्वादशविधस्य समाचारी च
 समाधिश्च तप.समाचारीसमाधी, ताभ्या सधृतः=निरुद्धासन., पञ्च व्रतानि=प्राणा
 तिपातविरमणादीनि पञ्चमहाव्रतानि पालयित्वा=निरतिचार समाराध्य महाधुतिः
 =महती धुति यस्य स महाधुतिः=तपस्तेज समन्वित , तेजोलेदयापुलाकलञ्चिदि
 सहितो भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

कार्य को सपादन करने की जिसकी इच्छा पनी रहती है—गुरु महा-
 राज की इच्छानुसार चलने वाला, स्वैच्छाचारी नहीं। एव (तवोसमा
 यारिसमाहिसवुडे-तपःसमाचारीसमाधिसधृतः) अनशन आदि बारह
 प्रकार के तप के अनुष्ठान से, तथा चित्तकी शुद्धिरूप समाधि से जिसने
 आस्रघ के द्वारको निरुद्ध कर दिया है (पञ्चषाड् पालिया-पञ्चव्रतानि
 पालयित्वा) पांच प्राणातिपातविरमण आदि महाव्रतों का निरतिचार
 पालन करके (महज्जुई चिट्ठइ-महाधुति तिष्ठति) तपस्तेज से समन्वित
 होता हुआ तेजोलेदया एवपुलाकलञ्घि आदि से सहित होता है।

भावार्थ—गुरु महाराज के प्रसाद से जिसने श्रुतज्ञान प्राप्त कर
 लिया है ऐसा शिष्य शास्त्रसमत अर्थ में विगतसशयहोकर जनता द्वारा
 प्रसशनीयज्ञानवाला माना जाता है। उसके वचन को जनता निस्सदेह
 अंगीकार कर लेनेमें निस्सकोचित हो जाती है। उसकी विनयादि

पोतानी गुरु महाराजना मनोनुकूल कार्य स पादन करवानी छम्भा जेनी जनी
 रहे छे जेवा गुरु महाराजनी छम्भानुसार आस्रवावाणा स्वेच्छाचारी नहि जेवा
 शिष्य छे जेजे तवोसमायारिसमाहिसवुडे-तप समाचारीसमाधिसधृत अनशन
 आदि बार प्रकारनातपना अनुष्ठानधी तथा चित्तनी शुद्धिरूप समाधीधी जेजे
 आस्रवना द्वारने निरुद्ध करी दीधां छे, पञ्चषाड् पालिया-पञ्चव्रतानि पालयित्वा पञ्च
 प्रजातिपात विरमण आदि महाव्रताने निरतिचार पालन करी महज्जुई चिट्ठइ-
 महाधुति तिष्ठति तपस्तेजधी समन्वित यध तेजे लेदया जेव पुलाकलञ्घि
 आदिधी सहित जने छे

भावार्थ—गुरु महाराजना प्रसादधी श्रुतज्ञान जेजे प्राप्त करी लीधु छे
 जेवा शिष्य शास्त्रीय समत अर्थ मां विगतसशय जनीने जनता द्वारा प्रश
 सनीय ज्ञानवाणा मानवाभा आवे छे जेवा वचनने जनता नि सदेह अंगीकार
 करवामां सकेअरहित जनी अर्थ छे जेनी क्रिया-सपत्तिधी गुरु महाराज

મૂલમ્—સે દેવગંધર્વમણુસ્સપૂઙ્ણ, ચર્ડેત્તુ દેહ મલપકપૂઙ્ણય ।
સિદ્ધે વા હર્વઙ્ણ સાસંણ, દેવે વા અપ્પરેણ મહિદ્ધિદ્ધેણ-ત્તિ વૈમિ ॥૪૮॥

[સ સિદ્ધે વા હર્વ ય સાસં, મુરેય વા અપ્પરેણ મહિદ્ધિદ્ધેણ-ત્તિવૈમિ]

॥ ઉત્તરજ્ઞયણસ્સ પદમજ્ઞયણ સમત્ત ॥

ગ્રાયા—સ દેવ ગન્ધર્વમનુષ્યપૂજિત , ત્યક્ત્વા દેહ મલપકપૂતિકમ્ ।

સિદ્ધો વા ભવતિ શાશ્વત, દેવો વા અલ્પરજા મહર્દિક્ક ઇતિ ત્રવીમિ ॥૪૮॥

[સ સિદ્ધો વા ભવતિ ચ શાશ્વત, મુરશ્ચ વા અલ્પરજા મહર્દિક્ક-ઇતિ ત્રવીમિ]

ટીકા—‘ સ દેવગંધર્વ૦ ’ ઇત્યાદિ—

સ:=પૂર્વોક્તલક્ષણવિશિષ્ટો વિનયવાન્ શિષ્ય, ઇહ લોકે દેવગંધર્વમનુષ્ય-
પૂજિત:=દેવૈ =વૈમાનિક્ક જ્યોતિષ્કૈ , ગંધર્વૈ -ગંધર્વનિકાયો-પલક્ષિતૈર્વ્યન્તર-
ભવનપતિમિ , મનુષ્યૈ:=ચક્રવર્ત્યાદિમિ પૂજિત સમાનિતો ભવતિ । યયા મલપકપૂ-
તિક્ક=મલ=વિષ્ણુઆદિક, તદેવ પદ્મ કર્દમસ્તેન પૂતિક્ક=દુર્ગન્ધિયુક્તદેહમ્=ઔદારિક

ક્રિયાસપતિ સે ગુરુ મહારાજ ઉસ પર સદા પ્રસન્ન રહ્યા કરતે હૈં । ઘાદશ
પ્રકાર કી તપસ્યા સે વહ કર્મોં કૈ આશ્રવ કો રોકને વાલા હો જાતા હૈ ।
પાચ મહાવ્રતોં કી આરાધના સે ઉસકા આત્મિક યલ વિશિષ્ટ હોકર
ઉસકો તપસ્તેજ કી લબ્ધિ સે સપત્ર યના દેતા હૈ ॥ ૪૭ ॥

‘ સદેવ ’ ઇત્યાદિ ।

અન્વયાર્થ—(સ-સ) પૂર્વોક્ત લક્ષણોં સે વિશિષ્ટ વિનયશાલી શિષ્ય
(દેવગંધર્વમણુસ્સપૂઙ્ણ-દેવગંધર્વમનુષ્ય પૂજિત) દેવ વૈમાનિક જ્યોતિષ્ક
દેવોં સે ગંધર્વ-ગંધર્વનિકાય સે ઉપલક્ષિત વ્યન્તર દેવોં સે, ઇષ ભવનપતિ
દેવોં સે, તથા મનુષ્યોં-ચક્રવર્તી આદિ સે પૂજિત હોતા હૈ । તથા (મલપ

એના પર સદા પ્રસન્ન રહ્યા કરે છે બાર પ્રકારની તપસ્યાથી તે કર્મના
આશ્રવને રોકનાર બની બાધ છે અને પાંચ મહાવ્રતોની આરાધનાથી એનું
આત્મિક બલ વિશિષ્ટ બને છે અને આથી તેને તપસ્તેજની લબ્ધિ સપન્ન
બનાવે છે ॥ ૪૭ ॥

“ સ દેવ ઇત્યાદિ—

અન્વયાર્થ—સ-સ: પૂર્વોક્ત લક્ષણની વિશિષ્ટ વિનયશાળી શિષ્ય દેવ ગંધર્વ
મણુસ્સપૂઙ્ણ-દેવ ગંધર્વ મનુષ્ય પૂજિત દેવ-વૈમાનિક જ્યોતિષ્ક દેવો, ગંધર્વ-ગંધર્વ
નિકાયથી ઉપલક્ષિત વ્યન્તર દેવ અને ભવનપતિ દેવો તથા મનુષ્યો-ચક્રવર્તી
આદિથી પૂજિત બને છે તથા મલપક પૂજ્ય દેહ પદ્મ-મલપકપૂતિક્ક દેહ ત્યક્ત્વા

મનુષ્યશરીર, ત્યજ્વા, શાશ્વતઃ=સર્વકાલાવસ્થાયી જામરણરહિત' સિદ્ધો ભવતિ ।
 વા=અથવા, સાવશેષકર્મા તુ અલ્પરના =અલ્પકર્મા મહર્દિકઃ=મહતી=દિવ્યા ઋદ્ધિ'=
 વિમાનાદિસમ્પત્, ઉપલક્ષણેન દિવ્યાનિ ધૃતિયશોર્વર્ણવલ્લીયાંદીનિ ચ યસ્ય સ
 મહર્દિકઃ, તત્ર=ધૃતિ.-શરીરાભરણકાન્તિ', યશ્ચ.=કીર્તિ, વર્ણ =શુક્રાદિઃ, વલ્=
 શારીરિકપરાક્રમઃ, વીર્યમ્=આત્મવલમ્, આદિપદેન-ઇતોઽન્યદપિ સંગ્રાહમ્, ઇમિ
 સપન્ન, દેવો ભવતિ ।

કપૂહ્ય દેહં ચહ્સુ-મલપકપૂતિક દેહ ત્યજ્વા) શુક્રશોણિત સે જન્ય હસ
 ઔદારિક શરીર કા પરિત્યાગ કર (સાસણ સિદ્ધે હવહ્-શાશ્વત સિદ્ધો
 વા ભવતિ) અનત કાલ તક સદા સિદ્ધિ સ્થાન મેં રહને વાલા સિદ્ધ
 પરમાત્મા હો જાતા હે । (વા) અથવા યદિ વહ સિદ્ધ નહીં બને તો
 (અપ્પરપમહિદ્વિષ્ણુ દેવે વા હવહ્-અલ્પરજાઃ મહર્દિક દેવો વા ભવતિ)
 અલ્પકર્મા મહર્દિક દેવ હો જાતા હે ।

ભાવાર્થ — પૂર્વોક્તલક્ષણવિશિષ્ટ વિનીત શિષ્ય દેવાદિક દ્વારા
 પૂજ્ય હોતા હે, એવં હસ અપવિત્ર ઔદારિક શરીર કા પરિત્યાગ કર
 સિદ્ધ હો જાતા હે । યદિ કર્મ શેષ રહ જાય તો વહ મહાઋદ્ધિશાલી દેવ
 હોતા હે । યહાં ઋદ્ધિસે ધૃતિ, યશ, વર્ણ, ષલ, વીર્ય હન સઘકા
 ગ્રહણ હુવા હે । વિમાન આદિ સપત્તિ કા નામ ઋદ્ધિ હે । શરીર એવં
 આભરણ કી કાન્તિ કા નામ ધૃતિ હે । કીર્તિ કા નામ યશ હે । શરીર
 કા જો શુકલ આદિ વર્ણ હે - ઉસકા નામ વર્ણ હે । શારીરિક
 પરાક્રમ કા નામ ષલ એવ આત્મજન્ય શક્તિ કા નામ વીર્ય હે ।

શુક શોણિત જન્ય આ ઔદારિક શરીરને પરિત્યાગ કરી સાસણ સિદ્ધે હવહ્-
 શાશ્વત સિદ્ધો ભવતિ અનન્તકાળ સુધી સદા સિદ્ધિ સ્થાનમાં રહેવાવાળા સિદ્ધ
 પરમાત્મા બની બાય છે વા અથવા બે તે સિદ્ધ ન બને તો, અલ્પકર્મા મહ
 ર્દિક દેવ બની બાય છે

ભાવાર્થ—પૂર્વોક્ત લક્ષણવિશિષ્ટ વિનીત શિષ્ય દેવાદિક દ્વારા પૂજ્ય બને
 છે અને આ અપવિત્ર ઔદારિક શરીરને પરિત્યાગ કરી ઠાં તે સિદ્ધ બની
 બાય છે બે કર્મ શેષ રહી બાય તો તે મહાઋદ્ધિ શાળી દેવ બને છે ઋદ્ધિથી
 ધૃતિ, યશ, વર્ણ, બળ, વીર્ય, આ બધાનુ ગાથામાં ગ્રહણ કરેલ છે, વિમાન
 આદિ સપત્તિનુ નામ ઋદ્ધિ છે શરીર અને આભરણની કાન્તિનુ નામ
 ધૃતિ છે, કીર્તિનુ નામ યશ છે શરીરને બે શુકલ આદિ વર્ણ છે-દ્રવ્ય દેશ્યા
 છે-બેનુ નામ વર્ણ છે શારીરિક પ્રસન્નમનુ નામ બળ છે અને ✓

इति शब्द समाप्तिबोधकः, अथवा 'इति' एवम्-अमुना प्रकारेण एतद् विनयश्रुतारयमध्ययनं व्रवीमि यथा भगवता कथितं तथा कथयामि न तु स्वबुद्ध्या परिकल्प्य किञ्चिद् व्रवीमीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

इति श्रीविश्वविख्यात-जगद्गुरु-मसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-
कलितकलितकलापालापक-प्रवि-शुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्माय-
कवादिमानमर्दक-श्रीशाहछत्रपति-कोल्हापुरराजमदक-
" जैनशास्त्राचार्य " -पदभूषित-कोल्हापुर-राजगुरु-
चालग्रन्थचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्य-
श्रीपासीलालप्रतिविरचिताया श्रीमदुत्तराध्ययन-
सूत्रस्य मियदर्शिन्याख्याया व्याख्यायां
विनयसमाधिनामक प्रथममध्ययन
सम्पूर्णम् ॥ १ ॥

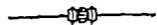


('सिद्धेमि' इति व्रवीमि) यह पद अध्ययनकी समाप्ति का सूचक है, इसका यह अर्थ है कि-श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! यह विनयश्रुत नाम का अध्ययन जैसा भगवान से सुना है उसी तरह का मैंने कहा है। इसमें अपनी बुद्धि से कल्पित कुछ नहीं कहा गया है ॥ ४८ ॥

विनयश्रुतनामक प्रथम अध्ययन सम्पूर्णम् ॥ १ ॥



श्रुतिनाम वीथं छे "सिद्धेमि" 'इति व्रवीमि' आ पठ अध्ययननी समाप्तिना सूचक छे तेनो अर्थ आ छे के-श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीने कहे छे के छे जम्बू! आ विनयश्रुत नामना अध्ययन जेवु भगवानथी सांभोजु छे तेज प्रकारे मे कस्यु छे आमां पोतानी बुद्धिथी कल्पित काई नथी कस्यु ॥ ४८ ॥
॥ आ विनयश्रुत नामना प्रथम अध्ययन सम्पूर्णम् ॥ १ ॥



द्वितीयाध्ययनम् ।

विनयश्रुताख्यं प्रथममध्ययनं वर्णितम्, श्दानीं द्वितीयमध्ययनं प्रारभ्यते । अस्य चायमभिसम्बन्ध—इहानन्तराध्ययने विनयः सन्निस्तरं वर्णित, स चानुकूलप्रतिकूलपरीपहजनशीलैरेव कर्तुं शक्यते इति द्वितीय परीपहाख्यमध्ययनप्रारम्भते—
यद्वा—विनयाराधकाः प्रायः परीपहभाजो भवन्त्येवेति द्वितीय परीपहाख्यमध्ययनं प्रारभ्यते, तस्येदमाद्यं सूत्रम्—

मूलम्—सुय मे आउस । तेण भगवया एवमक्खाय—इह खलु वावीस परीसहा समणेणं भगवया महावीरेण कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥१॥

छाया—श्रुत मे आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु द्वाविंशतिः परीपहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता, यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्त्येत् ॥१॥

द्वितीय अध्ययन ।

विनयश्रुत नाम के प्रथम अध्ययन का वर्णन हुआ, अब सूत्रकार द्वितीय अध्ययन का वर्णन करते हैं । प्रथम अध्ययन के साथ इसका संबन्ध इस प्रकार है—प्रथम अध्ययन में विस्तारपूर्वक विनयधर्म का वर्णन करने में आया है । उस विनयधर्म की आराधना परीषहों को जीतने वाला ही कर सकता है, और विनयशील को प्रायः परीषह उत्पन्न होते ही हैं इसलिए अब परीषहाध्ययन कहते हैं जिसका यह प्रथमसूत्र है—“सुयमे” इत्यादि ।

पीलु अध्ययन

विनय श्रुत नामना प्रथम अध्ययननु वर्णन पुरं यशु ढवे सूत्रकार पीलु अध्ययननु वर्णन करे छे प्रथम अध्ययननी साथे जेने सन्ध आ प्रधारणे छे प्रथम अध्ययनमां विस्तार पूर्वक विनय धर्मनु वर्णन करवाभां आवे छे ते विनय धर्मनी आराधना परिषदने छत्तवावाणा ज करी शके छे अने विनयशीलने परिषद भवे भागे उत्पन्न बाय ज छे, आ भाटे ढवे “परिषदाध्ययन” कहेवाभां आवे छे जेनुं आ प्रथम सूत्र छे सुयमे

टीका—श्रीसुधर्मा स्वामी श्रीजम्बूस्वामिन प्रति कथयति—‘सुय मे आउसं!’ इत्यादि । हे आयुष्मन् ! भगवता=ज्ञानादियुक्तेन, तेन=तीर्थकरेण, एवम्=वक्ष्यमाणप्रकारेण, यत् आख्यात=सकलजीवभाषापरिणामिन्या भाषया कथितम्, उक्तञ्च—

देवा दैवीं नरा नारीं, श्वराश्चापि शश्वरीम् ।

तिर्यञ्चोऽपि हि तैश्चो, मेनिरे भगवद्विरम् ॥ १ ॥

तत्, मे=मया, श्रुतम् । भगवत्कथितमेवार्थं तवाग्रे वर्णयामीति भाव । अस्य सविस्तरं व्याख्यान जिज्ञासुभिराचाराङ्गसूत्रस्य मत्कृताचारचिन्तामणिटीकायां द्रष्टव्यम् । यद्वा—‘आउसतेण’ इत्येक पद, ‘मया’ इत्यस्य विशेषणम् ।

श्री सुधर्मा स्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं—(आउस-आयुष्मन्) कि हे आयुष्मन् ! जम्बू ! (तेण भगवया एवमक्त्वाय-तेन भगवता एव आख्यातम्) ज्ञानादि गुणों से युक्त उन तीर्थकर भगवान् श्री महावीर स्वामी ने वक्ष्यमाण प्रकार से कहा है यह (मे सुय-मया श्रुतम्) मैंने सुना है वही मैं कहता हूँ । प्रभु की भाषा सर्वभाषामय होती है, कहा भी है—“देवा दैवी” इत्यादि ।

प्रभु की वाणी को देव, मनुष्य, आर्य, अनार्य, तिर्यञ्च, सभी अपनी अपनी भाषा में समझते हैं ।

इस सूत्र का विस्तृत विवेचन आचारांग सूत्र की आचारचिन्तामणि टीका में किया गया है, इसलिए जिज्ञासु को वहाँ से देख लेना चाहिये । “आउसं तेण” इस पद की संस्कृत छाया “आयुष्मन् तेन” ऐसी न

श्री सुधर्मास्वामी, श्री जम्बूस्वामीने कहे છે કે આઠતા-આયુષ્મન્ ‘હે આયુષ્મન્ જમ્બૂ! તેણ ભગવતા એવમક્ત્વાય-તેન ભગવતા એવ આખ્યાતમ્ જ્ઞાનાદિ ગુણોથી યુક્ત એવા તીર્થ કર ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીએ વક્ષ્યમાણ પ્રકારથી કહ્યું છે મે સુય-મયા શ્રુતમ્-તે મે સાંભળ્યું છે એ હું કહું છું પ્રભુની ભાષા સર્વભાષામય હોય છે કહ્યું પણ છે—‘દેવા દૈવી’ ઇત્યાદિ.

પ્રભુની વાણીને દેવ, મનુષ્ય, આર્ય, અનાર્ય, તિર્યંચ, સઘળા પોત પોતાની ભાષામાં સમજે છે

આ સૂત્રનું વિસ્તૃત વિવેચન આચારાંગસૂત્રની આચારચિન્તામણી ટીકામાં કરેલ છે માટે જિજ્ઞાસુએ ત્યાંથી બેઈ લેવું બેઈએ. “આઉસ તેણ” એ પદની સંસ્કૃત છાયા “આયુષ્મન્ તેન” એવી ન થતાં આઉસતેણ” “આખ્યાતા”

મનુષ્યશરીર, ત્યક્ત્વા, શાશ્વતઃ=સર્વકાલાનસ્થાયી જન્મમરણરહિત સિદ્ધો ભવતિ ।
 ધા=અથવા, સાવશેષકર્મા તુ અલ્પરજા' = અલ્પક્રમા મહદ્દિક્ક. = મહત્તી=દિવ્યા ઋદ્ધિ =
 વિમાનાદિસમ્પત્, ઉપલક્ષણેન દિવ્યાનિ ધૃતિયશોર્ણવલ્ગીયાદીનિ ચ યસ્ય સ
 મહદ્દિક્ક, તત્ત્વ=ધૃતિઃ-શરીરાભરણકાન્તિ, યશ્ =કીર્તિ, વર્ણ. =શુક્રાદિ, વલ્ =
 શારીરિકપરાક્રમ, વીર્યમ્=આત્મવલમ્, આદિપદેન-ઇતોઽન્યદપિ સમ્રાણમ્, ઇમિ'
 સપન્નઃ, દેવો ભવતિ ।

કપૂહ્ય દેહ ચહ્તુ-મલપરુપૂતિક દેહ ત્યક્ત્વા) શુક્રશોણિત સે જન્યે સ્વ
 ઔદારિક શરીર કા પરિત્યાગ કર (સાસળ સિદ્ધે હ્વઙ્-શાશ્વતઃ સિદ્ધો
 ધા ભવતિ) અનત કાલ તક સદા સિદ્ધિ સ્થાન મેં રહને વાલા સિદ્ધ
 પરમાત્મા હો જાતા હૈ । (વા) અગ્રયા યદિ વહ સિદ્ધ નહોં બને તો
 (અપ્પરેમહિદ્ધિદેવ દેવે વા હ્વઙ્-અલ્પરજા મહદ્દિક્ક દેવો વા ભવતિ)
 અલ્પકર્મા મહદ્દિક્ક દેવ હો જાતા હૈ ।

માવાર્થ — પૂર્વોક્તલક્ષણવિશિષ્ટ વિનીત શિષ્ય દેવાદિક દ્વારા
 પૂજ્ય હોતા હૈ, એવં સ્વ અપવિત્ર ઔદારિક શરીર કા પરિત્યાગ કર
 સિદ્ધ હો જાતા હૈ । યદિ કર્મ શેષ રહ જાય તો વહ મહાઋદ્ધિશાલી દેવ
 હોતા હૈ । યહાં ઋદ્ધિસે ધૃતિ, યશ, વર્ણ, વલ, વીર્ય સ્વ સબકા
 ગ્રહણ હુવા હૈ । વિમાન આદિ સંપત્તિ કા નામ ઋદ્ધિ હૈ । શરીર એવં
 આભરણ કી કાન્તિ કા નામ ધૃતિ હૈ । કીર્તિ કા નામ યશ હૈ । શરીર
 કા જો શુક્લ આદિ વર્ણ હૈ — ઉસકા નામ વર્ણ હૈ । શારીરિક
 પરાક્રમ કા નામ વલ એવ આત્મજન્ય શક્તિ કા નામ વીર્ય હૈ ।

શુક શેષિત અન્ય આ ઔદારિક શરીરને પરિત્યાગ કરી સાસળ સિદ્ધે હ્વઙ્-
 શાશ્વત સિદ્ધો ભવતિ અનન્તકાળ સુધી સદા સિદ્ધિ સ્થાનમાં રહેવાવાળા સિદ્ધ
 પરમાત્મા બની બાય છે વા અથવા બે તે સિદ્ધ ન બને તેા, અલ્પકર્મા મહ
 દ્દિક્ક દેવ બની બાય છે

માવાર્થ—પૂર્વોક્ત લક્ષણવિશિષ્ટ વિનીત શિષ્ય દેવાદિક દ્વારા પૂજ્ય બને
 છે અને આ અપવિત્ર ઔદારિક શરીરને પરિત્યાગ કરી ઠાં તેા સિદ્ધ બની
 બાય છે બે કર્મ શેષ રહી બાય તેા તે મહાઋદ્ધિ શાળી દેવ બને છે ઋદ્ધિથી
 ધૃતિ, યશ, વર્ણ, બળ, વીર્ય, આ બધાનુ ગાથામાં ગ્રહણ કરેલ છે, વિમાન
 આદિ સંપત્તિનુ નામ ઋદ્ધિ છે શરીર અને આભરણની કાન્તિનુ નામ
 ધૃતિ છે, કીર્તિનુ નામ યશ છે શરીરને બે શુક્લ આદિ વર્ણ છે-અન્ય દેશ્યા
 છે-એનુ નામ વર્ણ છે શારીરિક પરાક્રમનુ નામ બળ છે

टीका—श्रीसुधमा स्वामी श्रीजम्बूस्वामिन प्रति कथयति—‘सुय मे आउस!’ इत्यादि । हे आयुष्मन् ! भगवता=ज्ञानादियुक्तेन, तेन=तीर्थकरणे, एवम्=वक्ष्यमाणप्रकारेण, यत् आख्यात=सकलजीवभापापरिणामिन्या भाषया कथितम्, उक्तञ्च—

देवा दैवीं नरा नारीं, श्वराश्चापि शवरीम् ।

तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्वीं, मेनिरे भगवद्विरम् ॥ १ ॥

तत्, मे=मया, श्रुतम् । भगवत्कथितमेवार्थं तवाग्रे वर्णयामीति भावः । अस्य सविस्तर व्याख्यान जिज्ञासुभिराचाराङ्गसूत्रस्य मत्कृताचारचिन्तामणिटीकायां द्रष्टव्यम् । यद्वा—‘आउसतेण’ इत्येक पद, ‘मया’ इत्यस्य विशेषणम् ।

श्री सुधर्मा स्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं—(आउस-आयुष्मन्) कि हे आयुष्मन् ! जम्बू ! (तेण भगवया एवमक्खाय-तेन भगवता एव आख्यातम्) ज्ञानादि गुणों से युक्त उन तीर्थकर भगवान् श्री महा वीर स्वामी ने वक्ष्यमाण प्रकार से कहा है वह (मे सुय-मया श्रुतम्) मैंने सुना है वही मैं कहता हू । प्रभु की भाषा सर्वभाषामय होती है, कहा भी है—“देवा दैवीं” इत्यादि ।

प्रभु की वाणी को देव, मनुष्य, आर्य, अनार्य, तिर्यञ्च, सभी अपनी अपनी भाषा में समझते हैं ।

इस सूत्र का विस्तृत विवेचन आचारांग सूत्र की आचारचिन्तामणि टीका में किया गया है, इसलिए जिज्ञासु को वहाँ से देख लेना चाहिये । “आउस तेण” इस पद की संस्कृत छाया “आयुष्मन् तेन” ऐसी न

श्री सुधर्मास्वामी, श्री जम्बूस्वामीने कहे थे हे आउस-आयुष्मन् ‘हे आयुष्मन् जम्बू ! तेण भगवया एवमक्खाय-तेन भगवता एव आख्यातम् ज्ञानादि शुद्धेर्था युक्त एवा तीर्थकर भगवान् श्री महावीर स्वामीने वक्ष्यमाण प्रकार्शी कहुं थे मे सुय-मया श्रुतम्-ते मे सांभस्युं थे ये हुं कहुं छु प्रभुनी भाषा सर्वभाषामय होय छे कहुं पवुं छे—देवा दैवीं इत्यादि ।

प्रभुनी वाणीने देव, मनुष्य, आर्य, अनार्य, तिर्यञ्च, सधण्य चेत चेतानी भाषाभां समझे छे

आ सूत्रनु विस्तृत विवेचन आचारांगसूत्रनी आचारचिन्तामणि टीकाभां करेव छे माटे लज्ञासुञ्जे त्यांथी जेधं देवु जेधं जे “आउस तेण” जे पदनी संस्कृत छाया “आयुष्मन् तेन” जेवी न थतां आउसतेण” “आवसता”

द्वितीयाध्ययनम् ।

विनयश्रुताख्य प्रथममध्ययन वर्णितम्, इदानीं द्वितीयमध्ययन प्रारभ्यते । अस्य चायमभिसम्बन्ध - इहानन्तराध्ययने विनयः सविस्तर वर्णितः, स चानुकूलप्रतिकूलपरीपङ्कजनशीलैरेव कर्तुं शक्यते इति द्वितीय परीपङ्कहाख्यमध्ययनप्रारभ्यते-
यद्वा—विनयाराधकाः प्रायः परीपङ्कमात्रो भवन्त्येवेति द्वितीय परीपङ्कहाख्यमध्ययनं प्रारभ्यते, तस्येदमाद्य सूत्रम्—

मूलम्—सुय मे आउस । तेण भगवया एवमक्खाय—इह खलु वावीस परीसहा समणेणं भगवया महावीरेण कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खा यरियाय परिव्वयतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥१॥

छाया—श्रुत मे आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु श्राविश्रति परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता, यान् भिद्ध भुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत ॥१॥

द्वितीय अध्ययन ।

विनयश्रुत नाम के प्रथम अध्ययन का वर्णन हुआ, अब सूत्रकार द्वितीय अध्ययन का वर्णन करते हैं । प्रथम अध्ययन के साथ इसका संबंध इस प्रकार है—प्रथम अध्ययन में विस्तारपूर्वक विनयधर्म का वर्णन करने में आया है । उस विनयधर्म की आराधना परीषहों को जीतने वाला ही कर सकता है, और विनयशील को प्रायः परीषह उत्पन्न होते ही हैं इसलिए अब परीषहाध्ययन कहते हैं जिसका यह प्रथमसूत्र है—“ सुयमे ” इत्यादि ।

पीठु अध्ययन

विनय श्रुत नामना प्रथम अध्ययनतु वर्णितं पुं श्रुतं इवे सूत्रकार पीठु अध्ययनतु वर्णनं करे छे प्रथम अध्ययननी साथे जेना संबंध आ प्रकारेण छे प्रथम अध्ययनमां विस्तार पूर्वक विनय धर्मतु वर्णनं करवामां आवेत्त छे ते विनय धर्मनी आराधना परिषदने छत्तवावाणा व करी शके छे अने विनयशीलने परिषदं बखे भागे रूपत भाय व छे, आ भाटे इवे “ परिषदाध्ययन ” कहेवामां आवे छे जेनुं आ प्रथम सूत्र छे सुयमे १

एव श्रीसुधर्मस्वामिना प्रोक्ते सति श्री जम्बूस्वामी पृच्छति—

मूलम्—कयरे ते खलु द्वावीस परीसहा समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइया जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिब्बयतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा? ॥२॥

छाया—कतरे ते खलु द्वाविंशति परीपहा धमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता । यान् भिक्षुं थुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्याया परिग्रजन् स्पृष्टो न विनिहन्येत ? ॥२॥

टीका—‘कयरे ते’ इत्यादि ।

कतरे=किनामकास्ते=अनन्तरसूत्रोक्ता खलु द्वाविंशतिः परीपहा, अत्र खलु शब्दो वाक्यालकारे, शेषपदानां व्याख्या पूर्ववत् ॥

तदा श्रीसुधर्मा स्वामी श्रीजम्बूस्वामिन प्रति प्राह—

मूलम्—इमे ते खलु द्वावीस परीसहा समणेणं भगवया

इस तरह श्री सुधर्मास्वामिका कहने पर श्री जम्बू स्वामी पूछने लगे—‘कयरे’ इत्यादि ।

(कासवेण) काश्यपगोत्री (समणेणं भगवया महावीरेण) भ्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जिन २२ परिषदों का (पवेइया-प्रवेदिता) वर्णन किया है और जिनके सुनने आदि से भिक्षाचर्या में घुमता हुआ मुनि उन परिषदों से स्पृष्ट होने पर भी समयमार्ग से चलित नहीं होता है उन परिषदों के नाम क्या २ हैं ? ।

सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी के २२ परिषदों के नामों को जानने विषयक प्रश्न का उत्तर देने के लिये कह रहे हैं कि हे जम्बू! सुनो—

आभमाब्धे श्री सुधर्मास्वामीके कथं त्यादे जम्बूस्वामी इत्थं पृच्छ्वा तावथा कयरे इत्यादि

कासवेण काश्यपगोत्री “समणेणं भगवया महावीरेण” श्रमण भगवान् महावीर स्वामीके जे २२ परिषदोनु पवेइया-प्रवेदिता वखुं न करेव छे अने जेना सांभ जणा आदिथी भिक्षाचर्यामा करी रहेव मुनि के परिषदोथी स्पृष्ट थया पछी पखु समयम मार्गथी चलित बनता नथी. के परिषदोना नाम क्यां क्या छे ?

सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीने २२ परिषदोना नामने बखुवा अजिना भ्रमणे उत्तर आपता कहे छे के, के जम्बू! सांभणे “इमे” इत्यादि ।

કદાચિત્ સ્પૃષ્ટ =પરીપહેરાકાન્ત. સન્, ન વિનિહન્યેત=મોક્ષમાગાત્ પ્રપ્તુતો ન મવેદિત્યર્થ' । 'મિક્ષાચરિયા' ઇત્યનેન મિક્ષાટને પ્રાય. પરીપહા. પ્રાદુર્ભવન્તિ, ઇતિ સૂચિતમ્ ॥

નહીં હોવે । "મિક્ષાચરિયા" ઇસસે યહ પ્રકટ હોતા હૈ કિ મિક્ષુ કો મિક્ષાટન કરતે સમય પ્રાય. પરીપહ ઉત્પન્ન હોતે હૈ ।

ભાવાર્થ—ઇસ સૂત્ર દ્વારા મુધર્મા સ્વામી જમ્બૂસ્વામી કો સમજાતે હુણ્ણ યહ કહ રહે હૈ કિ હૈ જમ્બૂ ! મૈં ઇસ અધ્યયન મેં ૨૨પરીપહોં કો સંબંધ મેં જો કુછ મી વિવેચન કરૂંગા વહ સવ જૈસા મૈને પ્રમુ વર્ધમાનસ્વામી કો મુખ સે મુના હૈ વૈસા હી કરૂંગા । મગવાન ને ઘાઈસ પરીપહ ફરમાયે હૈ—જો મિક્ષુ ઇન પરીપહોં સે સ્વય પરાજિત ન હોકર ઇનકો જીતતા રહતા હૈ વહ મોક્ષમાર્ગ સે કમી મી વિચલિત નહીં હોતા હૈ । મિક્ષા ચર્યા કરતે સમય પરીપહોં કો આને કો અર્થાત્ ઉત્પન્ન હોને કી પ્રાયઃ અધિક સમાચના રહતી હૈ, અત સાધુ કો ડનસે વિચલિત નહીં હોના યાહિયે । પરીપહ સાધુ કો કસૌટી હૈ । ઇનકે દ્વારા કસા જાને પર જો સાધુ મોક્ષમાર્ગ સે ચલાયમાન નહીં હોતા હૈ, એવ વીર્યોહ્લાસ પ્રકટ કર ઇનકા સામ્હના કરતા હૈ વહ કર્મોં કી નિર્જરા કરતા હુઆ અપના કલ્યાણ કરતા હૈ ॥

પદ્ધી પ્રગટ યાય છે કે, મિક્ષુને મિક્ષાટન કરતી વખતે પ્રાય પરિષદ ઉત્પન્ન થાય છે

ભાવાર્થ—આ સૂત્ર દ્વારા મુધર્મા સ્વામી જમ્બૂસ્વામીને જે સમજાવીને કહે છે કે, હે જમ્બૂ ! હું આ અધ્યયનમાં ૨૨ પરિષદનાં સબંધમાં જે કાર્ય પણ વિવેચન કરીશ તે મે પ્રમુ વર્ધમાનસ્વામીથી જે રીતે સાંભળ્યું છે તે કરીશ. ભગવાને બાવીસ ૨૨ પરિષદ કરમાવ્યા છે જે મિક્ષુ આ પરિષદોથી સ્વય પરાજિત ન બની તેને છોડે છે તે મોક્ષ માર્ગથી કદી પણ વિચલિત થતો નથી. મિક્ષાચર્યા કરતી વખતે પરિષદોના આવવાની અર્થાત્ ઉત્પન્ન થવાની પ્રાયઃ અધિક સમાચના રહે છે આથી સાધુએ તેનાથી વિચલિત ન બનવું એક જ પરિષદ સાધુની કસૌટી છે તેના દ્વારા કસાયા પછી સાધુ મોક્ષમાર્ગથી ચલાયમાન નથી થતા તેમજ વિર્યોહ્લાસ પ્રગટ કરી એને સામને કરે છે તે કમોની નિર્જરા કરીને પિતાનું કલ્યાણ કરે છે.

टीका—तद् यथा—क्षुधापरीपहः दिग्गिच्छाशब्दो दशीय. क्षुधार्थे वर्तते ।
 सैव परीपहः परिपद्यते इति परीपहः, ॥ १ ॥ पिपासापरीपहः—पिपासा
 =तृषा, सैव परीपहः, एव सर्वत्र परीपहार्थेन समानाधिकार्य बोध्यम् ॥२॥ शीत
 परीपहः—शीत=हेमन्तशिशिरयोर्जात शीतस्पर्श, तदेव परीपहः शीतपरीपहः
 ॥३॥ उष्णपरीपहः—उष्ण—ग्रीष्मवर्षासु जातस्तापरूप उष्णस्पर्श, तदेव परीपहः ॥४॥
 दशमशकपरीपहः—दशमशका. प्रसिद्धा, त एव परीपहः. दशमशकपरी-
 पहः, दशमशका परीपहत्ववन्त इत्यर्थ, तत्र परीपहत्वगतैकत्वत्रिवक्ष्या परीपह
 इत्येकवचनम् ॥ ५ ॥ अचैल=चैलाभाव जिनकल्पिकविशेषणाम् । स्थविरक-
 ल्पिकानां तु जीर्णं खण्डितमल्पमूल्य प्रमाणोपेत च चैल सदप्यचैलमेव । तदेव

“इमे”—इत्यादि । श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जिन २२ परीपहों को
 सहन करने के लिए भिक्षुको आदेश दिया है वे २२ परीपह ये हैं—

दिग्गिच्छाशब्द देशीय शब्द है, इसका अर्थ क्षुधा है । दिग्गिच्छारूप
 परीपह का नाम दिग्गिच्छापरीपह है । १। पिपासा—शब्द का अर्थ तृषा है ।
 इसरूप जो परीपह है वह पिपासापरीपह है । २। हेमन्त एव शिशिर
 ऋतु में उत्पन्न शीतस्पर्श का नाम शीत है । इसरूप जो परीपह है
 उसका नाम शीतपरीपह है । ३। ग्रीष्म ऋतु एवं वर्षा ऋतु में उत्पन्न हुए
 ताप का नाम उष्णस्पर्श है । इसरूप परीपह का नाम उष्णपरीपह है । ४।
 डास, मच्छर, चिच्छू, चिउटी आदि का नाम दशमशक है । इनके
 काटने की वेदनारूप जो परीपह है वह दशमशकपरीपह है । ५। वस्त्रका
 सर्वथा अभाव अचैल है, यह जिनकल्पियों को होता है । स्थविरकल्पियों
 के जीर्ण, खण्डित, अल्पमूल्यवाले एवं प्रमाणोपेत वस्त्र होते हैं तो भी उनको

श्रमण भगवान् महावीर स्वामीने ने २२ परीपहोने सहन करवाने भिक्षुने
 आदेश आयेले छे ते २२ परिपह आ छे

दिग्गिच्छारूप परिपहणु नाम दिग्गिच्छपरीपह छे (१) “दिग्गिच्छा”
 ज्येते भूष पिपासा शब्दने अर्थ तृषा छे, आ रूप ने परीपह छे ते पिपासा-
 परीपह छे (२) हेमन्त अने शिशिर ऋतुमां उत्पन्न यतां ठडा स्पर्शनुं नाम शीत
 परीपह छे (३) ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतुमा उत्पन्न यता ताप रूप उष्ण स्पर्शनुं नाम
 उष्णपरीपह छे (४) डास, मच्छर, चीछी, भाकड, आडितु नाम दशमशक छे तेना
 करवानी वेदना रूप परीपह ते दशमशकपरीपह छे (५) वस्त्रने सदा अभाव तेअथैल
 छे ज्ये अनकल्पिज्योने थाय छे स्थविरकल्पिज्योना लक्ष्, अजित अल्पमूल्यवाणा
 ज्येवां प्रमाणोपेत वस्त्र होय छे तो पणु तेने अथैलज मानवा जेधज्ये ज्येवे।

महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा
अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयतो पुटो नो विनिहन्नेजा ॥३॥

छाया—इमे ते खलु द्वाविंशतिः परीपदाः श्रमणेन भगवता महावीरेण
काश्यपेन प्रवेदिता, यान् मिक्षु भ्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय मिसाचर्याणां
परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत ॥३॥

‘इमे ते’ इत्यादि ।

ये द्वाविंशतिः परीपदाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितास्ते
खलु इमे=अग्रे वक्ष्यमाणा सन्ति, अनन्तरमेव वक्ष्यमाणत्वात् इति वर्तमानाः परी-
पदाः ‘इदं’ शब्देन निर्दिष्टाः। यान् मिक्षु भ्रुत्वा ज्ञात्वेत्यादि पदाना व्याख्या पूर्ववत्।
अथ तानेव नामनिर्देशपूर्वकं दर्शयति—

मूळम्—त जहा—दिगिंछापरीसहे १, पिवासापरिसहे २, सी
यपरीसहे ३, उसिणपरीसहे ४, दसमसयपरीसहे ५, अचेल-
परीसहे ६, अस्सेइपरीसहे ७, इत्थीपरीसहे ८, चरियापरीसहे ९,
निसीहियापरीसहे १०, सेज्जापरीसहे ११, अक्कोसपरीसहे १२,
वहपरीसहे १३, जायणापरीसहे १४, अलामपरीसहे १५,
रोगपरीसहे १६, तणफासपरीसहे १७, जल्लपरीसहे १८,
सक्कारपुरक्कारपरीसहे १९, पद्दापरीसहे २०, अग्घाणपरीसहे २१,
दसणपरीसहे २२ ॥४॥

छाया—उद् यथा—धुघापरीषहः १, पिवासापरीषहः २, सीतपरीषहः ३,
उष्णपरीषहः ४, दंशमञ्जकपरीषहः ५, अचैलपरीषहः ६, अरतिपरीषहः ७, सी
परीषहः ८, चर्यापरीषहः ९, नैषेधिकीपरीषहः १०, शय्यापरीषहः ११, आक्कोस-
परीषहः १२, वधपरीषहः १३, याचनापरीषहः १४, अलामपरीषहः १५,
रोगपरीषहः १६, तणस्यर्षपरीषहः १७, जल्लपरीषहः १८, सक्कारपुरक्कारपरीषहः १९,
प्रद्दापरीषहः २०, अग्घानपरीषहः २१, दसणपरीषहः २२ ॥ ४ ॥

॥ १५ ॥ रोग=वातपित्तश्लेष्मणा वैपम्येण समुत्पन्नः कुष्ठादिः, स एव परीपहो रोगपरीपह ॥ १६ ॥ तृणस्पर्श-दमादिस्पर्शः, स एव परीपह. तृणस्पर्शपरीपहः ॥ १७ ॥ जल्ल=मल, स एव परीपह जल्लपरीपह ॥ १८ ॥ सत्कारो वस्त्रपात्रादिदानेन समाननम्, पुरस्कारोऽभ्युत्थानासनप्रदानवन्दनाद-सपादनम्, तावेव परीपह. सत्कारपुरस्कारपरीपह' ॥ १९ ॥ प्रज्ञा=स्वयंविमर्श-पूर्वको वस्तुपरिच्छेद, 'सैव परीपह' प्रज्ञापरीपहः ॥ २० ॥ अज्ञानपरीपह'—ज्ञान=मत्यादि, तदभावस्तु अज्ञानम् तदेव परीपह ॥ २१ ॥ दर्शनपरीपह—दर्शन=सम्यग्दर्शन, तदेव क्रियादिवादिना नानाविधमतध्वणेऽपि निश्चलतया ध्रिय-माणत्वात् सम्यक् परिपद्यमाण सत् परिपहो भवति ॥ २२ ॥ ४ ॥

एव श्रीसुधर्मा स्वामी परीपहाणा नामान्यभिधाय तेषां स्वरूप वक्तुकामः प्राह—

मूलम्—परीसंहाण पविभेत्ती, कासवेण पवेईया ।

ते भे उदाहरिस्सामि, आणुपुविं सुणेहे मे ॥१॥

कफ की विषमता से समुत्पन्न कुष्ठादिरूप परीपह रोगपरीपह है । १५।
दर्म आदि का स्पर्शरूप परीपह तृणस्पर्शपरीपह है । १७। मेल आदिरूप परीपह जल्लपरीपह है । १८। अन्यद्वारा वस्त्र, पात्र आदि के देने रूप सत्कार, एव अभ्युत्थान, आसनप्रदान तथा वदना आदि करने रूप पुरस्कार, इन दोनोंरूप परीपह सत्कारपुरस्कार परीपह है । १९। स्वयं विमर्शपूर्वक वस्तु के परिच्छेद करनेरूप परीपह प्रज्ञापरीपह है । २०। मत्यादिज्ञान के अभावरूप अज्ञानपरीपह है । २१। क्रियावादी भादि के अनेकविध सिद्धान्तों के श्रवण करने पर भी सम्यग्दर्शन को निश्चल रूप से धार रखने के परिपह का नाम दर्शनपरीपह है ॥ २२ ॥

रूप-न्न धयेव कुष्ठादिर्ऽप परीपह रोगपरीपह छे (१६) वल आदिना स्पर्शर्ऽप परीपह तृणस्पर्शपरीपह छे (१७) मेल आदिर्ऽप परीपह जल्लपरीपह छे (१८) अन्यद्वारा वस्त्र, पात्र आदिना देवार्ऽप सत्कार, अने अभ्युत्थान, आसनप्रदान तथा वदना आदि करवार्ऽप पुरस्कार आ अन्ने र्ऽप परीपह सत्कार-पुरस्कारपरीपह छे (१९) स्वयं विमर्शपूर्वक वस्तुने निश्चय-परिच्छेद करवार्ऽप परीपह प्रज्ञापरीपह छे (२०) मत्यादि ज्ञानना अभावर्ऽप परीपह अज्ञानपरीपह छे (२१) क्रियावादी आदिना अनेकविध सिद्धान्ताने श्रवण करवाथी पणु सम्यक् दर्शनने निश्चय र्ऽपधी धारी राभवान्ना परीपहत्तु नाम दर्शनपरीपह छे ॥ २२ ॥

પરીપઠઃ અચેલપરીપઠઃ ॥ ૬ ॥ અરતિપરીપઠઃ-રતિઃ=સયમવિષયિકા પ્રીતિઃ ।
 તદ્વિપરીતા ત્વરતિ , સૈવ પરીપઠઃ, અરતિપરીપઠ ॥૭॥ સ્ત્રી=નારી સૈવ કર્વચિદ્
 દષ્ટા સતી તદ્વતરાગપૂર્વકગતિવિલાસઠાસચેષ્ટાચ્ચુર્વિકારાઘવલોકનેડપિ તદ્મિ-
 લાપનિવર્તનેન પરિપદ્માણત્વાત્ પરીપઠ સ્ત્રીપરીપઠ ॥ ૮ ॥ ચર્યા=ગ્રામાનુમામ
 વિહારરૂપા, સૈવ પરીપઠ' ચર્યાપરીપઠ ॥ ૯ ॥ નૈવેધિકી-સ્વાધ્યાયભૂમિઃ, સૈવ
 પરીપઠ'-નૈવેધિકીપરીપઠઃ ॥ ૧૦ ॥ શય્યા=વસતિ', સૈવ પરીપઠઃ શય્યાપરી
 પઠઃ ॥૧૧॥ આક્રોશઃ=અસમ્યમાષણરૂપ., સ એવ પરીપઠ આક્રોશપરીપઠ' ॥૧૨॥
 વધઃ-તાદનં, સ એવ પરીપઠ. વધપરીપઠઃ ॥૧૩॥ યાચનાૈવ પરીપઠ યાચનાપરી-
 પઠ. ॥૧૪॥ અલામ -અમિલપિતવસ્તુનોડપ્રાપ્તિ , સ એવ પરીપઠ , અલામપરીપઠ

અચેલ હી જાનના ચાહિયે । હસ રૂપ પરીપઠ હી અચેલ પરીપઠ હૈ ।૬।
 સયમવિષયક અપ્રીતિ કા નામ અરતિ હૈ હસ અપ્રીતિરૂપ હી અરતિ
 પરીપઠ હૈ ૭। સ્ત્રી કે રાગપૂર્વક ગમન, વિલાસ, હાસ્ય, ચેષ્ટા, તથા ચ્ચુ
 કે ધિકાર કટાક્ષ-આદિ કે અવલોકિત હોને પર ધી ઉસ વિષય કી કોઈ
 ધી અમિલાયા નહીં કરના-વહ સ્ત્રી પરીપઠ હૈ ।૮। ઇક ગ્રામ સે ઢસરે ગ્રામ
 મેં વિહાર કરના હસકા નામ ચર્યા હૈ હસરૂપ પરીપઠ ચર્યાપરીપઠ હૈ ।૯।
 સ્વાધ્યાય કરને કે સ્થાન કા નામ નૈવેધિકી હૈ । હસરૂપ જો પરીપઠ હૈ
 વહ નૈવેધિકી પરીપઠ હૈ ।૧૦। વસતિ રૂપ પરીપઠ શય્યાપરીપઠ હૈ ।૧૧।
 અસમ્યમાષણરૂપ પરીપઠ આક્રોશપરીપઠ હૈ ।૧૨। તાદનરૂપ પરીપઠ
 વધપરીપઠ હૈ ।૧૩। યાચનારૂપ પરીપઠ યાચનાપરીપઠ હૈ ।૧૪। અમિ
 લપિત ઘસ્તુ કી અપ્રાપ્તિરૂપ પરીપઠ અલામપરીપઠ હૈ ।૧૫। વાત પિત્ત

પરીપઠ અચેલપરીપઠ છે (૬) સયમવિષયક અપ્રીતિનુ નામ અરતિ છે, એ
 અપ્રીતિરૂપ પરીપઠ અરતિપરીપઠ છે (૭) સ્ત્રી તરફના રાગપૂર્વક ગમન, વિલાસ,
 હાસ્ય, ચેષ્ટા તથા ચ્ચુનો વિહાર-કટાક્ષ આદિના અવલોકન એકને પણ
 એ વિષયની કોઈ અમિલાયા ન કરવી તેવો પરીપઠ તે સ્ત્રીપરીપઠ છે (૮)
 એક ગ્રામથી ધીબ ગામે વિહાર કરવો એનુ નામ ચર્યા છે, આ રૂપ જે પરીપઠ તે
 અર્થપરીપઠ છે (૯) સ્વાધ્યાય કરવાના સ્થાનનુ નામ નૈવેધિકી છે તેવા રૂપનો
 જે પરીપઠ તે નૈવેધિકીપરીપઠ છે (૧૦) વસતિનુ પરીપઠ શય્યાપરીપઠ છે
 (૧૧) અસમ્યમાષણ સહન કરવું તે આક્રોશપરીપઠ છે (૧૨) તાદનરૂપ પરીપઠ
 વધપરીપઠ છે. (૧૩) યાચનારૂપ પરીપઠ તે યાચનાપરીપઠ છે (૧૪) અમિલપિત
 વસ્તુની અપ્રાપ્તિરૂપ પરીપઠ તે અલામપરીપઠ છે. (૧૫) વાત, પિત્ત, કફની વિષમતાથી

तस्मादादौ द्वाभ्यां गाथाभ्यां क्षुधापरीपहजय ग्राह—

मूलम्—दिर्गिच्छापरिगण देहे, तवस्सी भिम्स्रू धाम्ब ।

न छिंदे न छिर्दावण, न पपे न पयोवण ॥ २ ॥

छाया—क्षुधापरिगते देहे, तपस्वी भिक्षु स्यामवान् ।

न छिन्द्यात् न उदयेत्, न पचेत् न पाचयेत् ॥ २ ॥

टीका—‘दिर्गिच्छापरिगण०’ इत्यादि ।

तपस्वी=पष्ठाष्टमभक्तादितपोऽनुष्ठानवान् स्यामवान्=मनोबल समन्वित, भिक्षु=साधु, देहे=शरीरे, क्षुधापरिगते=तुमुक्षया व्याप्ते सति, न छिन्द्यात्=कलादिक स्वयं न चोटयेत्, न उदयेत्=नाप्ययै फलार्दीना छेदन कारयेदित्यर्थ, न पचेत्=स्वयं पाक न कुर्यात्, न च पाचयेत्=अयै पाक न कारयेत् । इदमुपलक्षणम्—

पथसमा नत्थि जरा, दारिद्र्य समो य परिभवो नत्थि ।

मरणसम नत्थि भय, खुहासमा वेयणा नत्थि ॥ १ ॥

मार्ग के समान जरा कोई नहीं है अर्थात्—निरन्तर चलनेवाला मार्ग गामी जराजनित दुःखों का अनुभव करता है । तथा दारिद्र्य के समान अथ कोई भी परिभव—अर्थात् अनादर नहीं है, तात्पर्य यह है—अन्य गुण के रहने पर भी दारिद्र्य के अस्तित्व में मनुष्य अनादर पाता है । तथा—मरण के समान भय नहीं है और न क्षुधा से बढ़कर कोई वेदना है, अर्थात् मनुष्य मरण के भयसे जितना डरता है उतना अन्य से नहीं । तथा—क्षुधाजनित वेदना जितनी दुःखदायी होती है उतनी अन्य वेदना नहीं ॥ १ ॥

पथसमा नत्थि जरा, दारिद्र्यसमो य परिभवो नत्थि ।

मरणसम नत्थि भय, खुहासमा वेयणा नत्थि ॥ १ ॥

मार्गना समान जरा कोई नहीं, अर्थात् निरन्तर चलनेवाला मार्गगामी जराजनित दुःखों का अनुभव करे छे तथा दारिद्र्यना जेवुं अन्य कोई पथ परिभव—अर्थात् अनादर नहीं । तात्पर्य ये छे के, अन्य गुणना होवा छतां दारिद्र्यना अस्तित्वमां मालुस अनादर पावे छे तथा मरणना समान भय नहीं अने क्षुधाधी वधुं कोई वेदना नहीं अर्थात् मनुष्य मरणना भयधी जेटवो उरे छे, जेटवो जीवधी नहीं उरतो, तथा—क्षुधाजनित वेदना जेटवी असह्य होय छे, तेवी जीवुं कोई वेदना नहीं ॥ १ ॥

छाया—परीपहाणा प्रविभक्ति, काश्यपेन प्रवेदिता ।

ता युष्माकम् उदाहरिष्यामि, जानुपूर्व्यां नृणुत मे ॥ १ ॥

टीका—‘ परीसहाण ’ इत्यादि ।

हे शिष्या ! परीपहाणां प्रविभक्ति=पृथक् पृथक् विभाग, काश्यपेन=कश्यप=गोत्रोत्पन्नेन, श्रीमहावीरवर्धमानस्वामिना प्रवेदिता, प्ररूपेण बोधिता द्वादशपरिपदि, तां=परीपहाणां प्रविभक्तिम्, जानुपूर्व्यां=अनुक्रमेण, यथानिर्दिष्टक्रमेण युष्माकम् उदाहरिष्यामि=कथयिष्यामि, मे=मत्, मम सकाशात्, नृणुत=सावधानतया श्रवणगोचरी कुरुत । ‘ सुणेह ’—अत्र बहुवचनमादरार्थम् ॥ गा. १ ॥

इह सर्वेषु परीपहेषु क्षुधापरीपह एव दुस्सह । उक्तञ्च—

पयसमा नत्थि जरा, दारिद्रसमो य परिभवो नत्थि ।

मरणसम नत्थि भयं, सुहासमा वेयणा नत्थि ॥ १ ॥

छाया—पयसमा नास्ति जरा, दारिद्र्यसमश्च परिभवो नास्ति ।

मरणसम नास्ति भयं, क्षुधासमा वेदना नास्ति ॥ १ ॥ इति

इस प्रकार सुधर्मा स्वामी परीपहों के नामोंका कथन करके अब उनका प्रत्येक का स्वरूप प्रकट करते हैं—परीसहाण—इत्यादि

हे शिष्य ! (परीसहाण प्रविभक्ती—परीपहाणा प्रविभक्ति) परीपहों का यह पृथक् २ विभाग (काश्यपेण—काश्यपेन) काश्यपगोत्रोत्पन्न श्री वर्धमान स्वामीने (प्रवेद्या—प्रवेदिता) समवसरण में प्रकट किया है । मैं (तं मे उदाहरिस्सामि—तां युष्माकं उदाहरिष्यामि) उस परीपहों के पृथक् २ विभाग को तुम को कहूंगा (मे आणुपूर्व्वि सुणेह—मे जानुपूर्व्व्यां नृणुत) अतः मेरे से उस को यथा क्रम तुम सुनो । इन समस्त परीपहों में क्षुधापरीपह ही दुस्सह है । कहा भी है—

आ प्रकारे सुधर्मा स्वामी परीपहोना नामेणु कथन करीने हवे ते हरेकनु स्वरूप प्रकट करे छे—परीसहाण इत्यादि

हे शिष्य ! ‘ परिसहाण प्रविभक्ती ’—परीपहाणा प्रविभक्ति परिपहोना प्रथक् प्रथक् विभाग काश्यपेण प्रवेद्या—काश्यपेन प्रवेदिता काश्यपगोत्रोत्पन्न श्री महावीर वर्धमान स्वामीने समवसरणमां प्रकट करे छे व मे उदाहरिस्सामि—तां युष्माकं उदाहरिष्यामि हूँ छे परीपहोना प्रथक् प्रथक् विभाग तमोने कहीश. मे आणुपूर्व्वि सुणेह—मे जानुपूर्व्व्यां नृणुत आभी यथाक्रम तेने सांभगे। भाशणी आ समस्त परिपहोना क्षुधा परिपह हूँ करे छे कहुँ छे छे—

किञ्च —

मूलम्—कालीपव्वगसकासे, किंसे धमणिसतत् ।

मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥३॥

छाया—कालीपर्वसकाशाङ्ग, कृश' धमनिसततः ।

मात्रज्ञः अशनपानस्य, अदीनमनाश्चरेत् ॥ ३ ॥

टीका—' कालीपव्वग० ' इत्यादि ।

कालीपर्वसकाशाङ्ग.—काली=काकजङ्घा वनस्पति, तस्या. पर्वणि मध्ये तन्नूनि, अन्त्ये स्थूलानि भवन्ति तत्सकाशानि=तत्सदृशानि बाहुजङ्घादीन्यङ्गानि यस्य स तथा, यस्य साधोस्तपश्चर्यया जानुकूर्परादयोऽवयवा काकजङ्घावत् प्रतला' सन्ति स इत्यर्थः । अत एव कृश' =कृशशरीरः, धमनिसतत =धमनिभि नाडीभिः सतत = व्याप्त शोणितमासादीना शुष्कतया दृश्यमाननादीयुक्त इत्यर्थः । तथा—अशनपानस्य = अशनम् = ओदनरोटिकादि, पान = दुग्धादि, तयो समाहारः अशनपान, तस्य, मात्र ज्ञः = परिमाणज्ञानसम्यक् । यावताऽऽहारेण स्वकीयोदरपूरण भवेत् तावत्प्रमाणये-वाहारं गृह्णाति, न तु रसास्वादादिव्योमादधिकं गृह्णातीति भावः । तथा—अदीनमना' तात्पर्यं यद् है कि साधु को भूखसे पीडित होने पर भी नवकोटि से विशुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये ॥ २ ॥

फिर मी—' कालीपव्वग० '—इत्यादि ।

(कालीपव्वगसंकासे—कालीपर्वगसकाशः) काली—काकजघा (वन-स्पति विशेष)के पर्व जैसे अगवाला अत एव (किसे—कृश) कृशशरीरयुक्त, (धमणिसंतत्—धमनिसन्ततः) नसाजाल से व्याप्त, एव (असणपाणस्स मायन्ने—अशनपानस्य मात्रज्ञः) अशन पान की मात्रा का ज्ञाता साधु

तात्पर्यं आ छे के, साधुं च भूखसे पीडितं होवा छतां पक्षु नवप्रकारना विशुद्ध आहारने च ग्रहणं करवे जेधं च ॥ गा २ ॥

इरी पक्षु कडे छे कालिपव्वग० इत्यादि

कालिपव्वगसकासे—कालीपर्वगसकाश काली—काकजघा पर्व जेवा अज-पाण अतयेव किसे—कृश' कृश शरीरयुक्त, धमणिसतत्—धमनिसततः नसाजाली व्याप्त अने असणपाणस्स मायन्ने—अशनपानस्य मात्रज्ञ अशन पाननी मात्राना प्रता साधु अदीणमणसो—अदीनमना' अदीन मन वनी यथमना भाग'भ'

अन्यं छिन्दन्त पचन्त वा नानुमोदयेत् । उपलक्षणत्वादव-न स्वय क्रीणीयात्,
नाप्यन्यैः क्रापयेत्, न चान्य क्रीण तमनुमोदयेत् । न स्वय हन्यात्, न चान्यै
घातयेत्, न चान्य घ्नन्तमनुमोदयेत् । बुध्नया पीडितोऽपि नवकोटिशुद्धमेवाहारं
गृह्णीयादिति भावः ॥ गा २ ॥

क्षुधा से अधिक कोई वेदना नहीं है इस लिये सय से पहिले सूत्रकार
प्रथम क्षुधापरिपह का जय कहते हैं—' दिग्गिच्छापरिगण '—इत्यादि.

(तवस्सी-तपस्वी) पष्ठाष्टमभक्तादि तर्पोंका अनुष्ठान करने वाला
एव (धामव-स्थामवान्) मनोपल से समन्वित (भिक्षू-मिक्षु)
-साधु (देहे) शरीर (दिग्गिच्छापरिगण-क्षुधापरिगते) क्षुधा से
व्याप्त होने पर भी (न छिन्दे-न छिन्यात्) फलादिक को स्वय छेदे
नहीं-तोड़े नहीं (न छिंदावए-न छेदयेत्) न दूसरों से तुडवावे (न पए
न पयावए-नपयेत् न पाचयेत्) न स्वय पकावे और न दूसरों से पक
वावे । उपलक्षण से (अन्य छिन्दन्त पचन्त वा नानुमोदयेत्, न स्वय
क्रीणीयात् नाप्यन्यै क्रापयेत् न चान्य क्रीणन्तमनुमोदयेत्, न स्वय
हन्यात् न चान्यैघातयेत् न चान्य घ्नन्तं अनुमोदयेत्) इन पदों का भी
यहां समग्र करलेना चाहिये, अर्थात् छेदन करने वाले तथा पकाने वाले
व्यक्ति की अनुमोदना न करे, न स्वयं खरीदे न दूसरों से खरीदवावे
और न खरीदने वाले की अनुमोदना करे, न स्वयं हणे न दूसरों से
हणावे और न हणते हुए की अनुमोदना करे ।

क्षुधाधी अधिक कोई वेदना नहीं, छेदना माटे सूत्रकार बोधी पछेवां
क्षुधा परीपहने अथ करवा कछे छे दिग्गिच्छापरिगण-इत्यादि

तवस्सी-तपस्वी छोट अहुम बकतादि तर्पेनु अनुष्ठान करवावाणी तथा
धामव-स्थामवान् अने मनोपलधी समन्वीत भिक्षू-मिक्षु भिक्षु-साधु दिग्गिच्छा
परिगण-क्षुधापरिगते शरीर भूषधी व्याकुण होवा छतां पञ्च न छिन्दे-न छिन्यात्
हूण हूणादिकने स्वय छेदु नछि, तोडु नछि, न छिंदावए-न छेदयेत् भीलाधी
तोडावपु नछि नपए न पयावए-नपयेत् न पाचयेत् न स्वय पकावे, अने न
भीलाधी पकावे उपलक्षणधी अन्यं छिन्दन्त पचन्त वा नानुमोदयेत् छेदन कर
वावाणी तथा पकववावाणी अहितनी अनुमोदना न करे न स्वय क्रीणीयात् नान्यै
क्रापयेत् न चान्य क्रीणन्तमनुमोदयेत् न स्वय खरीदे न भीलाधी खरीदावे के
न तेनी अनुमोदना करे न स्वय हन्यात् न चान्यैघातयेत् न चान्य घ्नन्तमनुमोदयेत्
न स्वय छेदे, न डेअधी छेदावे के न तेनी अनुमोदना करे.

अत्र ध्रुवापरीपहविजये दृष्टान्त प्रदर्शयते—

आसीदुज्जयिन्या गजमित्रनामा श्रेष्ठी । तस्य दृढवीर्यनामकः पुत्रोऽभवत् । एकदा गजमित्रश्रेष्ठिनो भार्या मृता । ततः ससारासारतां विज्ञाय सजातवैराग्यो ऽसौ दृढवीर्यपुत्रेण सह प्रयत्नितः । स च गजमित्रमुनिं स्वशिष्येण दृढवीर्येण सह ग्रामानुग्रामविचरस्वत्र तत्र धर्मदेशनां कुर्वन् सयमेन तपसाऽऽत्मानमात्रयन् विहरति । स चैकदा विहार कुर्वन् विस्मृतमार्गं सन् महारण्यं प्रविष्टः ।

तत्र क्वचिन्मृगाणां यूथा इतस्ततो धावन्ति । क्वचिज्जम्बूकाः स्वपरिवारैः सह शब्दायन्ते । क्वचिद् व्यात्रा उत्प्लवन्ति । क्वचित् सिंहा गजेन्ति, येषां नादानुपश्रुत्य

ध्रुवापरीपह के विजय करने में दृष्टान्त इस प्रकार है—उज्जैनी नगरी में गजमित्र नामका एक सेठ रहता था। उसका एक पुत्र था जिसका नाम दृढवीर्य था। एक समय की बात है कि सेठ की पत्नी का देहान्त हो गया। इससे सेठ को ससार, शरीर एवं भोगों से विरक्ति आ गई और अपने पुत्र के साथ उन्होंने दीक्षा धारण कर ली। साधुचर्या की विधि के अनुसार सशिष्य वे विहार करने लगे। वे जनता को धर्म के उपदेश से वासित करते और संयम एवं तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते थे। एक समय की बात है कि ये विहार में मार्ग भूल गये और भयंकर किसी अटवी में जा पहुँचे। वहाँ पहुँच कर ये देखते क्या हैं कि कहीं पर इधर उधर मृगों का झुण्ड दौड़ रहा है, कहीं पर भ्रूगाल फिफार कर रहे हैं

ध्रुवा परिपहने लतवानी उपर हृष्टांत आ प्रकारे छे—

उज्जैनी नगरीमां गजमित्र नामनो एक सेठ रहेतो हुतो तेने एक पुत्र हुतो तेनु नाम दृढवीर्य हुतु एक समयनी बात छे के, सेठनी पत्नीने देहांत भई गयो तेकी सेठने ससार शरीर अने भोगोधी विरक्ति आवी गई अने पोताना पुत्रनी साथे तेजे दीक्षा ग्रहण करी लीधी। साधु चर्यानी विधी अनुसार सशिष्य तेजो विहार करवा लाज्या तेजो जनताने धर्मने उपदेश आपतां आपता संयम अने तपधी पोताना आत्माने भावित करवा ग्रामानुग्राम विचरवा लाज्या एक समयनी बात छे के विहारमा जे मुनिराज भाग भूली गया अने भयंकर जगदमा जई पडोआ त्यां पडोआतां तेमजे जेवु जेसु के, न्यां त्या भ्रूगोना टोणा होडी रखा छे, कथांक शिष्याणयां लाणी करी रखां छे, वाघ भ्रूमी रखा छे, सिंह जल रखा छे, कथांक सिंहाजनना भयधी

=अन्याकुलचित्तः, अज्ञानादेरप्राप्ती दैन्य विपाद च न कुर्वन्नित्यर्थः, चरेत्=सयममार्गे विचरेत् । प्राकृतत्वात्- 'सकास' इति विशेषणस्य परनिपात ।

(अदीणमणसो-अदीनमनाः) आदीनमन होकर सयम के मार्ग में (चरे-चरेत्) विचरण करे।

भावार्थ-विशिष्ट तपस्याओं के अनुष्ठान करते २ जिसके शारीरिक अवयव काक की जघा के पर्व समान बीच में पतले तथा अन्त में स्थूल हो गये हैं, और इससे जिसका शरीर अत्यन्त क्रुश हो गया है, तथा शरीर में कृशता होने की वजह से ही जिसके शरीर के नसाजाल स्पष्ट दिखलाई दे रहा है ऐसा साधु इतना ही आहार ग्रहण करे की जिन से सयमयात्राका निर्वाह हो सके। रसास्वाद के लोभ से अधिक आहार न लेवे। तथा जिस समय तपस्या का पारणा करने का अवसर आवे उस समय यदि आहार प्राप्त न हो तो भी चित्त में किसी भी प्रकार का विपाद न करे और सयममार्ग में सदा सावधान बने रहने की चेष्टा करता रहे। काक की जघा के पर्व बीच में पतले एव अन्त में स्थूल होते हैं, तपस्या करते २ साधु के भी जघा आदि अंग इसी तरह हो जाते हैं।

चरे-चरेत् विचरञ्च ४३

भावार्थ-विशिष्ट तपस्याञ्छानु अनुष्ठान करता करता जेनां शारीरिक अवयव काकनी जघाना पर्व समान वयमां पातण तथा अतमा स्थूण यथ गयेत डोय अने तेनाधी जेनु शरीर अत्यन्त क्रुश यथ गयेत डोय तथा शरीरमां कृशता आवी ज्वाना कारणे जेना शरीरनी नाडीओ स्पष्ट देखाथ आवे छे, जेवा साधु ज्येठो ज आहार अरुणु करे के, जेनाधी सयम भाजना निर्वाह यथ शके रस स्वादना दोषधी अधिक आहार न ले तथा जे समय तपस्यानु पारणु करवाने समय आवे ते वपते कदाच आहार न भणी शके तो पञ्च चित्तमां केथ पञ्च प्रकारने विपाद न करे अने सयम भाजनां सदा सावधान भनी रहेवानी चेष्टा करता रहे काकनी जघानु पर्व वयमां पातण अने छेडे स्थूण डोय छे, तपस्या करता करता साधुनी जघा आदि अंग आ प्रकारना यथ जय छे

तत्र वने गच्छतस्तस्य गजमित्रमुनेश्वरणतल विपमविपमरेण कष्टकाग्रेण विद्ध-
मभवत् । ततो गन्तुमसमर्थोऽसौ निजायुरल्पमवगम्य चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यानं
कर्तुमद्यत सन् शिष्यमवदत्-इतोऽन्यत्र गम्यताम्, अत्र दुःसह खलु क्षुधापरीपह-
स्त्व सोढव्यं स्यात् । शिष्योऽवदत्-भदन्त ! यथा छाया शरीरं विहाय नापस-
रति, तथाऽहमपि भवदीयचरणयुगलं परित्यज्य नैव गमिष्यामि । इत्युक्त्वाऽसौ

उधर फैले हुए हैं, लताप्रतानों द्वारा ग्रथित होकर एक जैसे बन गये हैं ।
इस प्रकार यह अटवी अनेक हिंसक जीवों से परिपूर्ण होती हुई जनों
के लिये सर्वथा दुर्गम थी । कुश काश आदि घास से भरे हुए रहने के
कारण यहाँ के मार्ग घड़े ही विकट बने हुए थे । यहाँ की भूमि ऊँची नीची
और काटों से व्याप्त थी ।

इस अटवीमें चलते हुए गजमित्र मुनिराज के पैरों में विपम
वेदना कारक चिपैले काटे चुमने लगे तथा उनके पैरों के तलिये
काटों से विंध गये, इससे ये आगे विहार नहीं कर सके । इन्होंने उस
समय अपनी अवशिष्ट आयु बहुत अल्प जानकर चतुर्विध आहार के
परित्याग करने के अभिप्राय से अपने शिष्य से कहा—तुम यहाँ से
किसी दूसरी जगह चलेजाओ नहीं तो यहाँ पर मेरे साथ रहने से
तीव्र क्षुधापरीपह तुम्हें सहन करना पड़ेगा । गुरु की इस बात को सुनकर
शिष्य ने कहा, भदन्त ! जिस प्रकार छाया वृक्ष को नहीं छोड़ती है उसी
तरह मैं भी आप के चरणकमलों को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकता ।

आधी आ अधा वृक्षे अकश्चि जनी गया देभाय छे, आ प्रकारे ते जगल
अनेक हिंसक जीवोधी परिपूर्ण हतु, भाषसे आटे करेकरीते भयकारक हतु,
जमीन उपर उठेवां घास वगेरेने कारखे काँ सरण भाग देभातो नधी, भूमि
उथीनीअने अने काँटाधी भरेकी हती

आ जगलमां आसता आसता गजमित्र मुनिराजना पगोमां धरु
वेदना उपजने तेवा काँटा बागवा बाग्या आधी तेना पगोना तणीयां काँटाधी
विधाई अथां जेधी ते आगण विहार करी शक्या नही तेभखे ते समय पोतानी
भाकी रहेल आयु मरुी दुकी बखीने आर प्रकारना आहारना त्याग करवाना
भावधी पोताना शिष्यने कहुं, तमे अहिधी काँ अन्ध स्थले विहार करे, आ
स्थले भारी साथे रहेवाधी तमारै भूमिना तीव्र परिपह सहन करवे पडये,
शुभनी आ वातने सासणीने शिष्ये कहुं-भदन्त ! जे प्रकारे छाया वृक्षने छोडती
नधी तेवी रीते हुं पखु आपना चरण कमलने छोडीने अन्यत्र अई शकते नधी

ક્વચિદ્વ્યમીતાશ્ચક્રિતા હસ્તિનઃ પલાયતે । ક્વચિથ વિપમવિપધરા મયક્રગઃ
 ફગિનિ સ્વકીયવિસ્તૃતફળાટોપમૃત્યાપ્ય સમૃત્તિષ્ઠન્તિ । તથા વૃહદ્વિપાણધારિણઃ
 સ્થૂલકાયાઃ શ્યામવર્ગા મહિષા ક્વચિત્ સજ્જલપદ્મિલે ગર્ત શરીરપરિવર્તનેન પદ્મલિપ્ત-
 વેશઃ સન્તિ । ક્વચિત્ તથૈવ મૂકરાણા યુવાઃ પરિભ્રમન્તિ । ક્વચિદ્વાનરા ક્વચિત્
 ઋક્ષા અત્યુત્પ્લવન્તિ । લતાવહ્ણીસમાવૃતા નિન્નિડચ્છાયા વિટપિન, પરિત સમૃદ્ધ-
 સન્તિ । ક્વચિન્નાનાવિધાનિ નિકૃજ્ઞાનિ ભનનાનોત્ર ત્રિભમન્તિ । ક્વચિત્ કષ્ટકિનો
 વૃક્ષાઃ પરિતઃ પરસ્પર છતાવિતાનૈરુદ્ગ્રથિતા સન્તિ, યેર્વા કષ્ટકા ઇતસ્તતો વિ-
 કીર્ણાઃ સન્તિ । એવ વહુદ્ભિસસકુલા કુશકાશાદિવૃળપરિપૂર્ણા નિમ્નોન્નતા કષ્ટ
 કિતા જનાનાં દુર્ગમા યનસ્યલી વર્તતે ।

કહીં પર વ્યાગ્ર ધૂમ રહે હૈં, કહીં પર સિંહ ગર્જ રહે હૈં, કહીં
 પર સિંહ કી ગર્જના કો સુનકર મય સે ઘ્રસ્ત ગજરાજ ચિંધાર
 કરતે હુપ ઇધર ઉધર ભાગે ફિર રહે હૈં, કહીં પર વિપમ વિષધર
 સર્પ અપને ફળોં કો ડપર ઉઠાકર યૈઠે હુપ હૈં, કહીં પર જગલી
 મૈસે કિ જિનકા શરીર ઘિલકુલ કાલા હૈ, તથા સીંગ મી જિનકે ષહે ર
 હૈં ઓર જો શરીર મૈં વિશેષ સ્થૂલ હૈં, સજલગર્ત મૈં કિ જિસમૈં કાદબ
 હો રહા હૈ અપને શરીર કો ઇધર સે ઉધર કરતે હુપ કીચક્ર સે લિપ્ત બને
 હુપ હૈં । ઇસી તરહ કહીં ૨ શૂકરોં કા યૂથ મી ઇધર ઉધર ભાગ રહા
 હૈ । કહીં ૨ પર ઘાનર ઓર કહીં પર ઋક્ષ-રીંછ-ઉછલકૂદ કર રહે હૈં ।
 ઇસ ઘન મૈં ઘારોં ઓર લતાઓં સે વેષ્ટિત યદુત ગહરી છાયા ઘાલે વૃક્ષોં
 કે મુઢ હૈં । કહીં ૨ પર વૃક્ષોં કા મુઢ એસે માલૂમ પડતે હૈં એસે માનો
 મકાન હી સ્વહે હુપ હૈં । કહીં ૨ પર કાટેવાર વૃક્ષ કિ જિનકે કાંટે ઇધર

ત્રાસીને હાથી ચિત્કાર કરતાં અહિ તહિ નાસભાગ કરી રહ્યા છે, કયાંક
 વિષમ વિષધરો પોતાની ક્ષેત્રોને ઈચ્છી કરીને બેઠા છે, કયાંક જગલી સેસો કે
 બેનાં શરીર એકદમ ઠાળાં છે અને બેનાં શીંગ લાંબા છે અને શરીર બેના
 અલભસ્ત છે તે બળથી ભરેલા ખાડાઓમાં બેમાં કાદવ ભરેલ છે તેમા આબોટી
 પોતાના શરીરને કીચક્રથી ખરડાવી રહેલ છે, આવી રીતે કુકરોનાં બુધો પણ
 અહિ તહિ ભાગવતાં નજરે પડે છે, કયાંક કયાંક વાનર અને શીછ કુશક્રમ
 કરતાં દેખાય છે એ જગલ ચારે તરફથી મોટાં વૃક્ષો અને તેની ડાળીઓ
 તથા અન્ય વેલા પાનથી છવાઈ રહેલ છે, કોઈ વૃક્ષના કુડ એવાં અરસપરસ
 મળી ગયાં દેખાય છે કે બહુ તેની નીચે મહાન બેવુ બની ગયેલ છે, કોઈ
 સ્થળે કાંટાવાળા વૃક્ષોથી તેના કાંટા બનીને ઉપર બ્યાં ભ્યાં પડ્યા વેલા

या सा रूपविनाशिनी स्मृतिहरी पञ्चेन्द्रियाकर्षिणी,
चक्षु धोत्रललाटदीनकरणी सकलेशसपादिनी ।
बन्धूना त्यजनी विदेशगमनी धैर्यस्य विष्वसिनी,
सेय तिष्ठति सर्वभूतदमनी प्राणापहारिष्णुधा ॥ १ ॥

अपर च—

विवेको ह्रीर्दया धर्मो, विद्या स्नेहश्च सौम्यता ।
सत्त्वं च जायते नैव, क्षुधार्तस्य शरीरिणः ॥ २ ॥ इति ॥

तथापि स दृढवीर्यशिष्यः कस्मिन्नपि निजात्मप्रदेशे कातरता नाश्रयति किं
जो आत्माके प्रतिप्रदेशमें व्यास होकर अपना प्रयत्न प्रताप दिखलाती है,
जैसे कहा भी है—

यह क्षुधा रूप को विनष्ट कर देती है, स्मृति को ध्वस्त कर
देती है, पाचों इन्द्रियों की शक्ति का हास कर देती है, चक्षु में
ओत्र में एव ललाट में दिनता के निशानेचना देती हैं सकलेश
परिणामों को जागृत करती रहती है, बन्धुओं का वियोग करा देती है,
विदेश में वास करा देती है, धैर्य को जड़मूल से उखाड़ देती है,
अधिक क्या कहा जाय यह क्षुधा प्राणियों के प्राण का भी हरण करने
वाली है ॥ १ ॥

और भी कहा है—क्षुधार्त्स प्राणी के विवेक, लज्जा, दया, धर्म, विद्या
स्नेह, सौम्यता, धल आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

मुनि दृढवीर्य शिष्य की आत्मा के प्रतिप्रदेश में यद्यपि क्षुधा की
तीव्र वेदना जागृत हो रही थी तौ भी वह कभी भी कायर नहीं बना ।

अ इतरना भागमां प्रवेश करीने पोताना प्रबल प्रभाव पतावे छे कर्षुं पक्षु छे—

आ भूभ रूपेना नाश करे छे, स्मृतिने ध्वस्त करे छे, पाच
इन्द्रियनी शक्तिओने क्षिप्तु बनावी हे छे, आंभ, डान अने कपाजभा दिनतानी
निशानी जगाडे छे कदेषना परिष्णुओने अश्रत करे छे, बंधुओने वियोग करवे
छे, विदेशमां वास करवे छे, धैर्यने जठमुण्ठी उपेडी नापे छे, छेस्ते छेस्ते
आ भूभ प्राणीओना प्राणोत्त पक्षु हरषु करे छे ॥ १ ॥

इरी पक्षु कर्षुं छे भूभधी पीडाता प्राणीमां विवेक, लज्जा, दया, धर्म
विद्या, स्नेह, सौम्यता, भल, आदि सभजा सद्गुणो नाश पावे छे ॥ २ ॥

मुनि दृढवीर्य शिष्यना आत्माना उडासुमां ओ के, भूभनी तीव्र
वेदना यर्षु हती तो पक्षु कर्षुं वभत कायर न बन्यो पोताना

तत्रैव निवसति स्म । गुरुश्च चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यानं कृतवान् । स च शिष्य-
स्वगुरुं परितस्तदङ्गरक्षणार्थं परिभ्रमस्तिष्ठति, तत्र विधिधेयु मनोभेयु रुचिरेषु फलेषु
सत्स्वपि न तानि श्रोतयितुमिच्छति, वृथापस्तले पतितान्यपि फलानि सचिपतया
केनाप्यदत्तया च नैव गृह्णाति । आहारार्थं किञ्चिद् गत्वा गत्वा प्रतिनिवर्तते ।
वसतेरभावात् क्वचिदाहारो न लभ्यते । मार्गस्य दुर्गमतया कश्चित् पथिकोऽपि
नायाति, यस्मादन्नं गृह्णीयात् । पुनरुज्ज्वलभावेन गुरोर्वयावृत्त्य करोति । यद्यपि
तदा क्षुधाया बलं वर्धमानमात्मन प्रतिप्रदशं व्याप्तुं प्रवर्तते । यतः—

शिष्य की इस प्रकार बात को सुनकर गुरु महाराज ने चारों प्रकार के
आहार का परित्याग कर दिया । शिष्य ने इस परिस्थिति में अपने गुरु
महाराज की सेवा करना प्रारंभ कर दिया । उस अटवी में यद्यपि अनेक
प्रकार के मनोज्ञ सरस फल थे तौ भी उन्हें तोड़ने का शिष्यने स्वप्न में
भी विचार नहीं किया । वृक्षों के नीचे टूटे हुए फल पड़े रहते थे उनको
भी सचिप होने की वजह से ग्रहण नहीं किया । तथा किसी २ फल के
अचिप होने पर भी दाता के अभाव से वे अदत्त होने से नहीं लिये ।
शिष्य आहार के लिये जाता है और कुछ दूर जा जाकर पीछे वापिस
लौट आता है, क्यों कि एक तो वहाँ वसति नहीं थी, इस लिये वहाँ
आहार का कोई जोग नहीं मिलता था । दूसरे—मार्ग अत्यन्त दुर्गम होने
से उस रास्ते कोई भी पथिक प्रायः नहीं आता जाता था । परन्तु शिष्य
अनन्य भाव से गुरु की सेवा करता था । क्षुधा एक ऐसी वस्तु है कि

शिष्यनी आ प्रकारनी बात साधनीने गुरु महाराजने चार प्रकारना आहार
रने ल्याग करी दीधी। शिष्ये आ परिस्थितिमा घेताना गुरु महाराजनी सेवा
करवाने प्रारंभ कर्ये ते अ गवर्धमां ले के, अनेक प्रकारना सुखर अने स्वा
दिष्ट अेषां क्षुधा उता तो पक्ष तेने तोडवाने शिष्ये स्वप्नामां पक्ष विचार न
कर्ये वृक्षानी नीचे तूनीने पडेवां ले क्षुधा देभावां तेने पक्ष सचिप माननीने
अक्षुध कयो नही तथा केध केध क्षुधा अचिप होवा छवा आपनारना अभा
वधी ते अक्षुध होवाधी दीधी नही शिष्य आहार भाटे जते अने मोडे दूर
जई ल्याधी पाछे करी आवतो केभके, अेक तो त्यां वस्ती उती नही भाटे
त्यां आहारने केध अेग भणतो न उतो, वीजु भाज अत्यन्त दुर्गम होवाधी
ते रस्ते केध पक्ष पटेभाजु आवतो जते न उतो. परंतु शिष्य अनन्य
भावधी गुरुनी सेवा करतो उतो भूप अेक अेवी वस्तु छे के ले आत्मानी

या सा रूपविनाशिनी स्मृतिहरी पञ्चेन्द्रियाकर्षिणी,
चक्षु श्रोत्रललाटदीनकरणी सक्लेशसपादिनी ।
वधूना त्यजनी विदेशगमनी धैर्यस्य विष्वसिनी,
सेय तिष्ठति सर्वभूतदमनी प्राणापहारिक्षुधा ॥ १ ॥

अपर च—

विवेको शीर्दया धर्मो, विद्या स्नेहश्च सौम्यता ।

सत्त्व च जायते नैव, क्षुधार्तस्य शरीरिणः ॥ २ ॥ इति ॥

तथापि स दृढवीर्यशिष्य कस्मिन्नपि निजात्मप्रदेशे कातरता नाथयति किं
जो आत्माके प्रतिप्रदेशमें व्यास होकर अपना प्रयत्न प्रताप दिखलाती है,
जैसे कहा भी है—

यह क्षुधा रूप को विनष्ट कर देती है, स्मृति को ध्वस्त कर
देती है, पाचों इन्द्रियों की शक्ति का हास कर देती है, चक्षु में
श्रोत्र में एव ललाट में दिनता के निशानेंचना देती हैं सक्लेश
परिणामों को जागृत करती रहती हैं, यन्धुओं का वियोग करा देती है,
विदेश में वास करा देती है, धैर्य को जड़मूल से उखाड़ देती है,
अधिक क्या कहा जाय यह क्षुधा प्राणियों के प्राण का भी हरण करने
वाली है ॥ १ ॥

और भी कहा है—क्षुधार्त्त प्राणी के विवेक, लज्जा, दया, धर्म, विद्या
स्नेह, सौम्यता, यत्न आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

मुनि दृढवीर्य शिष्य की आत्मा के प्रतिप्रदेश में यद्यपि क्षुधा की
तीव्र वेदना जागृत हो रही थी तौ भी वह कभी भी कायर नहीं बना ।

अहरना भागमा प्रवेश करीने पोतानो प्रभण प्रभाव भतावे छे कर्णु पखु छे—

आ भूभ ३पनो नाथ करे छे, स्मृतिनो भ्वस करे छे, पाय
धन्द्रियनी शक्तिअने सिष्य भनावी दे छे, आप, कान अने कपाणमां दिनतानी
निशानी लगाठे छे कक्षेना परिव्रामोने लभत करे छे, यधुअनो वियोग करावे
छे, विदेशमा वास करावे छे, धैर्यने लउमुणधी छेजेडी नाथे छे, छेखे छेखे
आ भूभ प्राणीअना प्राणोनु पखु हरखु करे छे ॥ १ ॥

हरी पखु कर्णु छे भूभधी पीडाता प्राणीमा विवेक, लज्जा, दया, धर्म
विद्या, स्नेह, सौम्यता, भण, आदि सपणा सङ्गुणो नाथ पाथे छे ॥ २ ॥

मुनि दृढवीर्य शिष्यना आत्माना उडाखुमां ले के, भूभनी तीव्र
वेदना यधु उती तो पखु केरि वपत कायर न भन्यो पोताना

तु कर्मनिर्जरार्थं क्षुधापरीपहं त्रिजित्यं गुरुसेवापरायणं पयासीत् । ततो गजभिक्षु-
मुनिः कण्टकजनितामसह्यवेदनां सहमानः समाधिभावेन निनायुः समाप्य प्रथम-
कल्पे वैमानिकदेवत्वं प्राप्तः । अथासौ देवः स्वकीयपूर्वभवमवधिना विज्ञाय,
स्वदिव्यशक्त्या शिष्यरक्षार्थं तत्समीपप्रदेशे वसतिं निर्माय स्वयं मनुष्यरूपः सन्
दृढवीर्यशिष्यं प्राह—मुने ! इतः समीपे वसतिर्दृश्यते, अशनपानमानीयताम् ।
शिष्यो वदति—अयमस्ति कश्चिद्देवमपञ्चः, इह हि नासात् पुरा कापि वसतिः, भूमि-

अपने वीर्योल्लास से उसने इस परीपह को खूब सहन किया ।
और गुरु महाराज की सेवा भक्ति की, क्यों कि शिष्य को यह पूर्ण-
श्रद्धा थी कि कर्मनिर्जरा के लिये क्षुधापरीपह को सहन करना ही
चाहिये । पैर में लगे हुए काटे की असह्य वेदना प्रतिक्षण बढ़ने लगी,
अपनी आयु के अन्त समयमें समाधिभाव से कालधर्म को प्राप्त होकर
प्रथमकल्प में वैमानिक देव हुए । इन्होंने देव की पयाय में अपने पूर्वभव
को अवधिज्ञान से जानकर अपने शिष्य की प्राणरक्षा निमित्त दिव्यशक्ति
से उसके समीप प्रदेश में एक वसति का निर्माण किया और स्वयं
मनुष्य के रूप में प्रकट होकर शिष्य से कहने लगे कि यहाँ से नजदीक
ही एक वसति दिखाई देती है अतः यहाँ से आप आहार पानी ले आइये ।
देव की इस प्रकार बात को सुनकर शिष्य ने चिन्त में विचार किया—यह
कोई देव छलना करता है । मैं पहिले यहाँ कई बार आया हूँ परन्तु
मुझे तो कोई वसति नजर नहीं आई, इसलिये यहाँ से आहार पानी

विर्योद्वासाद्यी तेष्ते आ परीपहने पूज सहन कर्यो अने गुरु महाराजकी
सेवा भक्ति करी. केमके, शिष्यने जे पूज श्रद्धा करती हे, कर्मनिर्जर
भाटे क्षुधा परिपह सहन करवा जेभजे पयमां लायेवा हांटाज्योनी वेदना
शेव अशेव वधवा लागी, पोताना आयुना अतसमयमां समाधीभावधी गुरुज
हाण धर्मने पामी प्रथम कल्पमा वैमानिक देव अन्या. तेज्योजे देवनी पथां
यमां पोताना पुर्वभवने अवधिज्ञानधी बधीने पोताना शिष्यनी प्राणरक्षा
निमित्त दिव्य शक्तियी तेना समीपप्रदेशमा जेठ वस्तिनु निर्माण कर्युं अने
पोते मनुष्यना रूपमा प्रकट जनीने शिष्यने कहेवा लाज्या हे, अहिधी नजिक
ज जेठ वस्ति देभाय छे भाटे त्याधी तमे आहार पाणी लई आवे, देवनी
आ प्रकाशनी वातने सांजानीने शिष्ये चिन्तमा विचार कर्यो हे, आ कौछ देव
भारी छलना करे छे हूँ पहेलां कटलीजे वधत गयो छ परंतु मने कौछ
वस्ती देभाछ नधी, भाटे त्याधी आहार पाणी लाववे उचित नधी. शिष्यनी आ

रत्रत्या प्रागेव दृष्टाऽस्माभि, अतोऽत्राश्ननपान न ग्रहीष्यामि। ततोऽसौ प्रसन्नमनसा साक्षाद्देवरूप धृत्वा दृढवीर्यमुनिं प्रशसति-धन्योऽसि दृढव्रतोऽसि' इत्यादि। पुनरसौ दृढवीर्यमुनिर्दुःसह क्षुधापरीपह सहमान' क्षपकश्रेणीमारूढ प्रशस्तध्यानेन शुभाध्यवसायेन केवलज्ञान प्राप्य मोक्षं प्राप्तवान्। स च देवस्तस्य केवलोत्सव निर्वाणोत्सव च कृत्वा स्वस्थान गतः। एव सर्वमुनिभिरपि दृढवीर्यमुनिवत् क्षुधापरीपह' सोढव्य ॥ ३ ॥

क्षुधां सहमानस्यैपणीयाहारार्थं भिक्षाचर्यां पर्यटतो मुनेर्यदि श्रमादिजनिता पिपासा स्यात्तर्हि साऽपि सोढव्येत्याशयेन पिपासापरीपहजय प्राह—

मूलम्—तेओ पुंठो पिवासाए, दोंगुच्छी लजंसजए ।

सीओदग नं सेविजा, वियडस्सेसणं धेरे ॥ ४ ॥

ग्रहण करना उचित नहीं है। शिष्य की इस प्रकार दृढ विचारधारा को देखकर वह देव बहुत ही प्रसन्न हुआ और साक्षात् रूप में प्रकट होकर शिष्य की पकृत प्रशसा करने लगा, घोला-आप धन्य हैं व्रत के पालन करने में अतीव दृढप्रतिज्ञ हैं। शिष्य ने दुःसह क्षुधापरीपह को सहन करने से क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर प्रशस्त-ध्यान एव शुभाध्यवसाय के यत्न पर केवलज्ञान का लाभ कर मोक्ष को प्राप्त किया। इनके गुरु महाराज का जीव जो देव था उसने अपने पूर्वपयाय के शिष्य को प्राप्त हुए केवलज्ञान के एवं निर्वाण के उत्सव को मनाकर अपने स्थान गया। इसी तरह प्रत्येक मुनिका कर्तव्य है कि वह दृढवीर्यमुनि की तरह क्षुधापरीपह को सहन करे ॥ ३ ॥

प्रकारनी दृढ धारणा नोदने ते देवने एव भूषण प्रसन्न भयो. अने प्रसन्न भवने शिष्यनी भूषण प्रसन्नता करवा लाज्या. तेभ्यो कष्ट-आपने धन्यवाद छे, अतनु पालन करवामां दृढ प्रतिज्ञ छे। शिष्ये दुःसह भूषणे परिपह सहन करवामी क्षपकश्रेणी उपर आरूढ भनी प्रशस्त ध्यान अने शुभ अध्यवसायना भण उपर केवणज्ञानना लाभ करी मोक्षने प्राप्त कर्यो देव के ने तेना गुरु महाराजने एव भने। तेभ्यो पोताना पूव पयायना शिष्यने प्राप्त भयेव केवणज्ञानना अने निर्वाणना उत्सवने मनावीने पोताने स्थाने गया. आवी रीते प्रत्येक मुनिनु कर्तव्य छे के, ते दृढवीर्य मुनिनी भाक्ष क्षुधा परिपहने सहन करे ॥ ३ ॥

छाया—तत' स्पृष्ट पिपासया, जुगुप्सी लज्जासयतः ।

शीतोदकं न सेवेत विकृतस्य एषणां चरेत् ॥ ४ ॥

टीका—' तओ पुट्टो ' इत्यादि ।

ततः=क्षुधापरीपहानन्तरं, पिपासया=वृषया, स्पृष्टः=व्याप्तः सन्, जुगुप्सी =जुगुप्सकः अनाचारविरत इत्यर्थं तथा—लज्जासयतः—लज्जायां=सयमे सम्यग् यत्नवानित्यर्थः । साधु' शीतोदकं=सचिचं जल ' न सेवेत ' न व्यापृणयात् किं तु विकृतस्य=यवतण्डुलद्राक्षादिधावनोत्कालनादिना वर्णगन्धरसस्पर्शैरन्यधाभाव प्राप्स्य प्रासुकस्य जलस्य, प्रासुकजल त्वेकविंशतिविध भवतीत्याचाराङ्गमूत्रे द्वितीयश्रुतस्कन्धे नवमाध्ययने निगदितम्—

क्षुधापरीपह को सहन करने वाला मुनि को आहार की गवेषणा करते हुए पिपासा लगे, तथा अहार करने के बाद पिपासा लगे तो उसको सहन करना चाहिये, इस आशय से अथ सूत्रकार पिपासापरीपह को कहते हैं—“ तओ पुट्टो ” इत्यादि ।

(तओ-तत) क्षुधापरीपह के अनन्तर (पिपासाए पुट्टो-पिपासया-स्पृष्ट) पिपासा से व्याप्त होने पर भी (दोगुच्छी-जुगुप्सी) अनाचार विरत तथा (लज्जासजए-लज्जासंयत) सयम की रक्षा करने में प्रयत्नशील साधु (शीतोदकं न सेवेत-शीतोदकं न सेवेत) सचित्त जल का सेवन नहीं करे । किन्तु (वियदभसेसण चरे-विकृतस्य एषणां चरेत्) विकृत-यव, तण्डुल, एवं द्राक्षा आदि के घोने से अथवा उनके उकालने से जिनके वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श का परिवर्तन हो चुका है ऐसे प्रासुक जल की गवेषणा करे । तात्पर्य यह है कि पिपासा से पीडित होने

क्षुधा परिपह सहन करने वाला मुनिने आहार किया पछी तरस लागे तेने सहन करवी ओठ ओ आ आशयधी सूत्रकार पिपासा परिपह कहे छे तओ पुट्टो-इत्यादि ।

तओ-तत' क्षुधा परिपहना अनन्तर पिपासाए पुट्टो-पिपासयास्पृष्ट' तरसभी व्यापृत होवा छतां अनाचार विरत तथा दोगुच्छी-जुगुप्सी अनाचार विरत तथा लज्जासंयत-लज्जासंयत सयमनी रक्षा करवाभां प्रयत्नशील साधु शीतोदकं न सेवेत-शीतोदकं न सेवेत सचित्त जलसेवन न करे किंतु वियदभसेसण चरे-विकृतस्य एषणां चरेत् विकृत (अचित्त)-यव, आभा, द्राक्षा वगैरना धावाधी अथवा ओने उकालवाधी तेना वषुं, गंध, रस तथा स्पर्शनु परिवर्तन घट चुक्यु छे ओवा प्रासुक जलनी गवेषणा करे । तात्पर्य ओ छे छे, तरसधी पीयाता होवा छतां पछ साधुओ सचित्त

- (१) उस्सेइम-उत्स्वेदिम-पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदकम् । रोटिकाया कृताया येनोदकेन पिष्टस्थाल्यादिधावन क्रियते तदित्यर्थ ।
- (२) ससेइम-ससेस्मि-उत्कालिताना पत्रशाकादीनामनपगतवित्कादिरसापसारणार्थं शैत्यार्थं वा येनोदकेन धावन क्रियते, तदित्यर्थ ।
- (३) चाउलोदग-तण्डुलोदक-तण्डुलधावनोदकम् ।
- (४) तिलोदग-तिलोदक-तिलधावनोदकम् ।
- (५) तुसोदग-तुपोदक-तुपधावनोदकम् ।
- (६) जवोदग-यवोदक-यवधावनोदकम्, अत्र 'यव' इत्युपलक्षण तेन व्रीक्षादिधावनोदकस्यापि ग्रहणम् ।

पर भी साधु को चाहिये कि वह कभी भी सचिस्त अनेपणीय जल का उपयोग न करे। प्रासुक जल इक्कीस २१ प्रकार का होता है यह घात आचारागसूत्र में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के नवम अध्यायन में कही गई है-

- १ उस्सेइमं-भोजन घन चुकने के बाद आटे की धाली आदिका धोवन ।
- २ ससेइम-शाकपत्रादिकों के उचालने पर उनका कद्दुआपन आदि निकालने के लिये अथवा उन्हें ठंढे करने के लिये जो जल ऊपर से डाला जाता है वह ।
- ३ चाउलोदकं-चावलों का धोवन ।
- ४ तिलोदग-तिलों का धोवन ।
- ५ तुसोदग-तुपों को घोने से निकला हुआ जल ।
- ६ जवोदगं-जौ आदि का धोया हुआ जल ।

जाने। उपयोग कही पक्ष न करवे। अर्धजे प्रासुक जल अर्धवीस प्रकारनु होय छे आ वात आचारागसूत्रमां भीन श्रुतस्कन्धना नवमा अध्यायनमां कहेवामां आवे छे

- | | |
|----------|--|
| उस्सेइम- | १ भोजन घनी चुकया पछी आटानी धाली विगेरेनु धावषु |
| ससेइम- | २ शाक पत्रादिकने उकाणवाथी तेना कठवा पक्षु वगेरेने कठवा भाटे अथवा तेने कडा कराववा भाटे जे पक्षी उपरथी नाप वामां आवे छे ते |
| चाउलोदग- | ३ चावानु धावषु |
| तिलोदग- | ४ तिलनु धावषु |
| तुसोदग- | ५ तुपोने धावाथी निकलेष पक्षी |
| जवोदग- | ६ जव आदिने धावा निकलेष पक्षी |

छाया—ततः स्पृष्ट पिपासया, जुगुप्सी लज्जासयतः ।

शीतोदकं न सेवेत विकृतस्य एषणां चरेत् ॥ ४ ॥

टीका—‘ तओ पुट्टो ’ इत्यादि ।

ततः=क्षुधापरीपहानन्तरं, पिपासया=वृषया, स्पृष्टः=व्याप्तः सन्, जुगुप्सी =जुगुप्सक अनाचारविरत इत्यर्थं तथा—लज्जासयतः—लज्जायां=सयमे सम्यग् यत्नवानित्यर्थः । साधु. शीतोदकं=सचिचं जल ‘ न सेवेत ’ न व्यापृणुयात् किं तु विकृतस्य=यवतद्भूलद्राक्षादिधावनोत्कालनादिना वर्णगन्धरसस्पर्शैरन्यथाभाव प्राप्तस्य प्राप्तस्य जलस्य, प्राप्तुं जल त्वेकविंशतिविधं भवतीत्याचाराद्गम्ये द्वितीयश्रुतस्फुटेषु नवमाभ्ययने निगदितम्—

क्षुधापरीपह को सहन करने वाला मुनि को आहार की गवेषणा करते हुए पिपासा लगे, तथा अहार करने के बाद पिपासा लगे तो उसको सहन करना चाहिये, इस आशय से अथ सूत्रकार पिपासापरीपह को कहते हैं—“ तओ पुट्टो ” इत्यादि ।

(तओ-सतः) क्षुधापरीपह के अनन्तर (पिषासाए पुट्टो-पिपासया-स्पृष्टः) पिपासा से व्याप्त होने पर भी (दोगुच्छी-जुगुप्सी) अनाचार-विरत तथा (लज्जासंजए-लज्जासंयत) सयमकी रक्षा करने में प्रयत्नशील साधु (शीतोदकं न सेवेत-शीतोदकं न सेवेत) सचित्त जल का सेवन नहीं करे । किन्तु (विकृतस्य एषणां चरेत्-विकृतस्य एषणां चरेत्) विकृत-यव, तण्डुल, एवं द्राक्षा आदि के घोने से अथवा उनके उकालने से जिनके वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श का परिवर्तन हो चुका है ऐसे प्राप्तुं जल की गवेषणा करे । तात्पर्य यह है कि पिपासा से पीड़ित होने

क्षुधा परिषद सहन करना मुनिने आहार कर्त्वा पछी तरस वाजे तेने सहन करवी ओर्धजे आ आशयधी सूत्रकार पिपासा परिषद कहे छे तओ पुट्टो-इत्यादि.

तओ-ततः क्षुधा परिषदना अनन्तर पिषासाए पुट्टो-पिपासयास्पृष्टः तरसधी व्यापृत होवा छता अनाचार विरत तथा दोगुच्छी-जुगुप्सी अनाचार विरत तथा लज्जासंजए-लज्जासंयत सयमनी रक्षा करवाभां प्रयत्नशील साधु शीतोदकं न सेवेत-शीतोदकं न सेवेत सचित्त जलनु सेवन न करे किंतु यवतद्भूलद्राक्षादिधावनोत्कालनादिना वर्णगन्धरसस्पर्शैरन्यथाभाव प्राप्तस्य प्राप्तस्य जलस्य, प्राप्तुं जल त्वेकविंशतिविधं भवतीत्याचाराद्गम्ये द्वितीयश्रुतस्फुटेषु नवमाभ्ययने निगदितम्—

- (१) उस्सेइम-उत्स्वेदिम-पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदकम् । रोटिकायां कृतायां, येनो-
दकेन पिष्टस्थाल्यादिधावन क्रियते तदित्यर्थः ।
- (२) ससेइम-ससेकिम-उत्कालितानां पत्रशाकादीनामनपगतवित्कादिरसाप
सारणार्थं शैत्यार्थं वा येनोदकेन धावन क्रियते, तदित्यर्थः ।
- (३) चाउलोदग-तण्डुलोदक-तण्डुलधावनोदकम् ।
- (४) तिलोदग-तिलोदक-तिलधावनोदकम् ।
- (५) तुसोदग-तुपोदक-तुपधावनोदकम् ।
- (६) जवोदग-यवोदक-यवधावनोदकम्, अत्र 'यव' इत्युपलक्षण तेन व्रीह्या-
दिधावनोदकस्यापि ग्रहणम् ।

पर भी साधु को चाहिये कि वह कभी भी सच्चित्त अनेपणीय जल का
उपयोग न करे। प्रासुक जल इक्कीस २१ प्रकार का होता है यह यात
आचारागसूत्र में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के नवम अण्ययन में कही गई है-

- १ उस्सेइम-मोजन यन चुकने के बाद आटे की धाली आदिका धोवन।
- २ ससेइम-शाकपत्रादिकों के उचालने पर उनका कडुआपन आदि
निकालने के लिये अथवा उन्हें ठंडे करने के लिये जो
जल ऊपर से डाला जाता है वह ।

- ३ चाउलोदक-घावलों का धोवन।
- ४ तिलोदग-तिलों का धोवन।
- ५ तुसोदग-तुपों को धोने से निकला हुआ जल।
- ६ जवोदग-जौ आदि का धोया हुआ जल।

अण्णो उपयोग क्खी पसु न करवो लेअं अे प्रासुक अण्ण अेकवीस प्रकारु
होय छे आ वात आचारांगसूत्रमां णीअ श्रुतस्कधना नवमां अण्ययनमां
ठडेवामां आवेअ छे

- | | |
|----------|--|
| उस्सेइम- | १ दोअण्ण अनी चुकया पछी आटानी भाणी विगेरेनु धावसु |
| ससेइम- | २ शाक पत्रादिकने उकाणवाथी तेना ठठवा पसु वगेरेने ठाठवा
भाटे अथवा तेने ठ ठा करववा भाटे ने पासु उपरथी नाथ
वामां आवे छे ते |
| चाउलोदग- | ३ भाअणु धावसु |
| तिलोदग- | ४ तलनु धावसु |
| तुसोदग- | ५ तुपोने धावाथी निकणेअ पासु |
| जवोदग- | ६ अण्ण आदिकने धावा निकणेअ पासु। |

अथ ग्रामनगरादिभ्यो वहि क्वचिदटव्यादिमार्गे विहरन् मुनिर्पदि पिपासाया
पीडितः स्यात् तदाऽपि तत्परीपह, सोढव्य इत्याह—

मूलम्—छिन्नावापसु पथेसु, आउरे सुपिवासिण् ।

परिसुक्कमुहादीणे, तं तित्तिक्खे परीसह ॥५॥

छाया—छिन्नापातेषु पथिषु आतुर. सुपिपासित ।

परिशुष्कमुखादीन् त तित्तिक्खे परीपहम् ॥ ५ ॥

टीका—‘ छिन्नावापसु ’ इत्यादि ।

छिन्नापातेषु=छिन्नः=अपगतः, आपातः—जनानां गमनागमनरूपः संचारो
यत्र तेषु, पथिषु=मार्गेषु गच्छन्निति शेषः, आतुर. तृपया व्याप्तकाय, अत एव
सुपिपासितः=अतिशयेन तृपितः, अत एव परिशुष्कमुखादीन् =परीशुष्कमुखः गत
निष्ठीवनतया शुष्कतालुरसनोष्ठः, स चासावदीनश्च परिशुष्कमुखादीन्, परिशुष्क

ग्राम नगर आदि से बाहर किसी अटवी आदि के मार्ग में बिचरते
हुए साधु को यदि पिपासा से आकुलता उत्पन्न हो जावे तो भी उसे
उस द्वितीय क्षुधापरीपह को सहन करना चाहिये यह बात इस नीचे
की गाथा द्वारा सूत्रकार प्रकट करते हैं—‘ छिन्नावापसु ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(छिन्नावापसु-छिन्नापातेषु) जिन मार्गों में जनो का आवाग
मनरूप संचार छिन्न हो गया है अर्थात्—नहीं होता है ऐसे (पथेसु-पथिषु)
मार्गों में संचरण अर्थात्—विचरण करता हुआ साधु (सुपिवासिण्
आउरे-सुपिपासितः आतुरः) यदि पिपासा से व्याप्त होकर आतुर-
अत्यंत पीडित हो जाता है और इसीसे (परिसुक्कमुहादीणे-परिशुष्क-
मुखादीन्) जिसके मुख का चूक तक भी सूख चुका है और ऐसी

ग्राम, नगर वगैरेशी बहारना रस्ता उपर विचरता साधुने मार्गभां तर
सनी आकुलता रूपत थाय तो पथ तेथे जे नीचे क्षुधापरीपहने सहन करये
कोषके आ वात नीचेनी गाथा द्वारा सूत्रकार प्रकट करे छे छिन्नावापसु-इत्यादि

अन्वयार्थ—छिन्नावापसु-छिन्नापातेषु जे मार्गभां आवागमनरूप
संचार अथ अर्थ गये होय अर्थात् नथी थतो जेवा पथेसु-पथिषु मार्गभां संचारण
अर्थात् विचारण करनार साधु सुपिवासिण् आउरे-सुपिपासित आतुरः पाणीनी
तरसथी आकुल अनी अत्यंत पीडित थथ अथ छे अने जेथी परिसुक्कमुहादीणे
-परिशुष्कमुखादीनः जेना मोटाभांतु सुठ पथ सुकाथ अथ छे जेवी

મુલ્તોઽપિ સન્નદીન इत्यर्थ. । त=तृपापरीपह, तितिक्षेत=सहेत । अयं भावः-निर्जन-स्थानस्यितोऽपि तृपाव्याकुलितोऽपि सन् सच्चित्तमनेपणीय जल न पिबेदिति ।

‘ छिन्नावाणसु पथेषु ’ इत्यनेन मुनीना चरणविहार मूचित ।

‘ आउरे ’ इत्यनेन-परीपहवस्थायामपि समाधिभावेन वर्तितव्यमिति बोधितम् ।

‘ सुपिवासिण ’ इत्यनेन पिपासात्रिक્ષેઽપિ સચિત્તમનેપણીયમુદક ન ગ્રહીત-વ્યમિતિ મૂચિતમ્ ।

‘ परिमुक्तमुहादीणे ’ इत्यनेन कष्टवस्थायामपि परीपहो जेतव्य एवेति-मूचितम् ।

‘ तितिक्षे ’ इत्यनेन परीपहोपस्थितौ सहिष्णुता समाश्रयणीया, इति बोधितम् ।

हालत में तालु, रसना एव ओष्ठ भी यिलकुल शुष्क हो चुका है फिर भी अदान बना हुआ मुनि (त परीसह तितिक्षे-त परीपह तितिक्षेत) इस तृपापरीपह को जीते । तात्पर्य इसका यह है कि निर्जनस्थान में रहने पर भी यदि साधु तृपा से पीछित होता है तो भी उसे सच्चित्त अनेपणीय जल का पान नहीं करना चाहिये ।

गाथा में रहे हुए “ छिन्नावाणसु पथेषु ” इस विशेषणगर्भित पद द्वारा मुनियों का चरण विहार मूचित किया है । “ आउरे ” इस पद द्वारा परीपह अवस्था में मुनियों को समाधिभावपूर्वक रहना यतलाया गया है । “ सुपिवासिण ” पद द्वारा पिपासा की तीव्र अवस्था में भी सच्चित्त अनेपणीय उदक नहीं लेना चाहिये, यह प्रकट

તાલુ રસના અને ઠોઠ પણ તદન મુકા બની જાય છે, એવી પરિસ્થિતિમાં મુકાવા છતાં પણ અદ્દીન અનેક મુનિ ત પરિસહ તિતિક્ષે-ત પરિપહ તિતિક્ષેત એ તૃપા પરીપહને છતે એવું તાત્પર્ય એ છે કે, નિર્જન સ્થાનમાં રહેવા છતાં પણ સાધુ તરસથી પીડિત હોય તો તેણે સચિત્ત અનેપણીય જળનું પાન ન કરવું જોઈએ

ગાથામાં રહેલા “ છિન્નાવાણસુ પથેસુ ” વિશેષણ ગર્ભિત પદ દ્વારા મુનિ-યોનો ચરણ વિહાર મુચવવામાં આવેલ છે આઉરે-આપદથી પરીપહ અવસ્થામાં મુનિયોએ સમાધિ ભાવ પૂવક રહેવાનું બતાવેલ છે સુપિવાસિણ આ પદથી તરસની તીવ્ર અવસ્થામાં પણ સચિત્ત અનેપણીય પાણી ન લેવું જોઈએ,

अत्र दृष्टान्त.—

आसीदुज्जयिन्या धनमित्रनामक श्रेष्ठी, स धनप्रियनाम्नाऽष्टत्रयवयस्केन स्वपुत्रेण सह मित्रगुप्ताचार्यसमीपे प्रव्रजितः । स धनप्रियशिष्यः सपरिवारेणाचार्येण सह कदाचिन्मार्गे विहरन् पिपासातर्तोऽभवत् । अन्यैः साधुभिः सहाचार्यमग्रे गत दृष्ट्वा धनमित्रमुनिना नदीमालोक्य पुत्रानुरागेण कथितम्, वत्स! जल पिव, पश्चादालोचनया शुद्धिर्भविष्यति । इत्युक्तोऽपि शिष्यो जलपानं कर्तुं न वाञ्छति । ततो

क्रिया गया है। “परिसुक्तमुहादीणे” इस पद से सूत्रकार यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि कष्ट की अवस्था में भी परीपहों को जीतना ही चाहिये। “तितिक्षे” पद से यह ज्ञात होता है कि परीपह की उपस्थिति में घबड़ाना नहीं चाहिये किन्तु सहिष्णुता धारण करनी चाहिये।

इस विषय को अब दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट किया जाता है—

उज्जैनी नगरी में धनमित्र नाम का एक सेठ रहता था। वैराग्य पाकर उसने अपने आठवर्ष के धनप्रिय नामक पुत्र के साथ मित्रगुप्त आचार्य के पास मुनिदीक्षा धारण करली। एक समयकी बात है कि वे धनप्रिय मुनि सपरिवार आचार्य के साथ जय विहार कर रहे थे तब मार्ग में उन को प्यास की वेदना जागृत हुई। अन्य साधुओं के साथ आचार्य को आगे गये हुए जान कर धनमित्र मुनि ने नदी को देखते ही पुत्रानुराग के वशावर्ती धन धनप्रिय से कहा कि वत्स! जल पीलो, पीने आलोचना से इसकी शुद्धि कर लेना। इस प्रकार धनमित्र मुनि के वचन

श्लेषु प्रगट करेत्ते षे परिसुक्तमुहादीणे आपहथी कष्टनी अवरथामां पशु परि पशोने लतवा नोथञ्जे. श्लेषु सूत्रकार प्रदर्शित करे छे “तितिक्षे” आपहथी परिपहनां आपवथी अथरावु न नोथञ्जे परतु सहिष्णुता धारणु करवी नोथञ्जे आ विषय उपर नोथ इष्टांत कहेवामा आवे छे—

उज्जैनी नगरीमां धनमित्र नामे नोथ शैठ रहेतो हतो वैराग्य पाशीने तेथे पोताना आठ वर्षना धनप्रिय नामना पुत्र साथे मित्रगुप्त नामना आचार्य साथे मुनि दीक्षा धारणु करी. नोथ समयनी बात छे के, धनप्रिय मुनि सपरिवार आचार्यनी साथे न्यारे विहार करी रहेत्ते हतो, त्यारे मार्गमां तेने तरस लागी. थीन साधुञ्जे साथे आचार्यने आजण गयेत्ते नोथीने धनमित्र मुनिञ्जे नदीने नोथने पुत्रप्रभने वश बनी धनप्रियने कणु, वत्स पाणी पीछे हो। पछी आलोचनाथी नोथी शुद्धि करी लेन्ने. आ प्रकारनां धनमित्र

घनमित्रमुनिश्चिन्तयति—मम समक्षे नाय जल पिवतीति, एव विचिन्त्य शुष्कमार्गेण सत्वर नदीमुत्तीर्याग्रे गतः, तदनन्तर घनप्रियमुनिर्जलपानार्थं नद्या प्रविश्याञ्जलीं जल भृत्वा सद्य सजातकारुण्यश्चिन्तयति—कथमह जल पिवामि । यतः—

एगमि उदगर्धिदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहि पन्नत्ता ।

ते सरिसवपरिमित्ता, जम्बुद्वीपे न मायति ॥ १ ॥

छाया—एकस्मिन्नुदकचिन्दो, ये जीवा जिनवरै प्रज्ञप्ताः ।

ते सर्पपपरिमात्राः जम्बूद्वीपे न मायेयुः ॥ १ ॥

व्याख्या—एकस्मिन् जलचिन्दो ये जीवा सन्ति, ते यदि सर्पपप्रमाण शरीर धृत्वा वर्तेयुस्तर्हि जम्बूद्वीपे न मायेयुरित्यर्थः ॥ १ ॥

मुनकर घनप्रिय ने पानी पीने की जरा भी इच्छा नहीं की। इस परिस्थिति को देखकर घनमित्र मुनि ने विचार किया कि यह मेरे साम्हने जल नहीं पीवेगा अतः यहाँ से चल देना चाहिये, सो वे शुष्कमार्ग से नदी को पार कर आगे चले गये। इसके बाद घनप्रियमुनि जलपान करने के लिये नदी में प्रविष्ट हुए और अजलि में पानी भर कर दयाभाव से विचारने लगे कि इस अकल्पनीय सच्चित्त जल को मैं कैसे पीऊँ ? क्यों कि—

“ एगमि उदगर्धिदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहि पन्नत्ता ।

ते सरिसवपरिमित्ता, जम्बुद्वीपे न मायति ॥ १ ॥ ”

एक जल के चिन्दु में जितने जीव जिनेन्द्र भगवान ने वतलाये हैं वे यदि सरसों के आकार को धारण करलें तो इस जंबूद्वीप में नहीं समा सकते हैं ॥१॥

मुनिनां पश्यन् सावणीने घनप्रियमुनिचे पाष्ठी पीवान्नी जरा पञ्च धमिष्ठा न करी आ परिस्थितिने लेध घनमित्रमुनिजे विचार कर्यो के, आ भारी आगे पाष्ठी पीये नदी भाटे अही थी आलवु लेध जे जेथी तेजो सुका भागेथी नहीने पार करीने आगण आख्या। आ पछी घनप्रियमुनिजे जणपान करवा भाटे नदीमां प्रवेश कर्यो अने हाथमा पाष्ठी लक्ष इथा भावथी विचारवा वाच्या के, आ अकल्पनीय सच्चित्त पाष्ठी दुं केवी रीते पीछ केमके कञ्चु छे के—

एगमि उदगर्धिदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहि पन्नत्ता ।

ते सरिसव परिमित्ता, जम्बुद्वीपे न मायन्ति ॥ १ ॥

जणना जेक दीपामां जेटवा एव एनेन्द्र भगवाने वताव्या छे ते कदाच ससपना

आक्षरने धारण करीक्ष्ये तो आ जम्बूद्वीपमां समाध न शके ॥१॥

જત્ય જલ તત્ય વળ, જત્ય ષળં તત્ય ણિચ્છિયો તેજ ।

તેજ વાઠસહગઘો, તસા ય પચ્ચક્ષયા ચેવ ॥ ૨ ॥

છાયા—યત્ર જલ તત્ર વન, યત્ર વન તત્ર નિશ્ચિત તેજ ।

તેજો વાયુસહગર્વ પ્રસાધ પ્રત્યક્ષકા એવ ॥ ૨ ॥

વ્યાખ્યા—યત્ર જલ તત્ર વન=વનસ્પતિ., યત્ર વનસ્પતિસ્તત્ર નિશ્ચયેન તેજો=
વહ્નિઃ, યત્ર તેજસ્તત્ર વાયુ સહયોગિત્વાત્, પ્રસાસ્તુ પ્રત્યક્ષા એવ સન્તિ ॥૨॥

હતૂળ પરપ્પાણે, અપ્પાણ જો કરેહ સપ્પાણં ।

અપ્પાણં દિવસાણં, કપ્પ ય નાસેહ સપ્પાણ ॥ ૩ ॥

છાયા—હત્વા પરમાણાન્, આત્માન ય કરોતિ સપ્રાણમ્ ।

અલ્પાનાં દિવસાનાં, કૃતે નાશયતિ સ્વાત્માનમ્ ॥ ૩ ॥

વ્યાખ્યા—તસ્માત્ પરમાણાન્ હત્વા યઃ આત્માનં સપ્રાણ=સબલ કરોતિ, સ
અલ્પાના દિવસાના કૃતે સ્વાત્માન નાશયતિ ॥૩॥

“ જત્ય જલં તત્ય વળ, જત્ય વળ તત્ય ણિચ્છિયો તેજ ।

તેજવાઠ સહગઘો, તસા ય પચ્ચક્ષયા ચેવ ॥ ૨ ॥ ”

જહાં જલ હૈ ઘહાં નિશ્ચિત વનસ્પતિ હૈ । જહાં વનસ્પતિ હૈ ઘહાં
નિશ્ચિત તેજ-અગ્નિ હૈ । જહા તેજ હૈ ઘહાં નિશ્ચિત વાયુ હૈ । અસકાય
તો પ્રત્યક્ષ હી હૈ ॥૨॥

“ હંતૂળ પરપ્પાણે, અપ્પાણ જો કરેહ સપ્પાણ ।

અપ્પાણં દિવસાણ, કપ્પ ય નાસેહ સપ્પાણ ॥ ૩ ॥ ”

જો ઢૂસરે જીવોં કે પ્રાણોં કા હનન કર કુછ હી દિનોં કે લિપે
અપને આપકો સબલ ઘનને કી ષેષ્ટા કરતા હૈ ઘહ અપને આપકા
ઘિનાશ કરતા હૈ ॥૩॥

જત્યજલં તત્ય વળ, જત્ય ષળં તત્ય ણિચ્છિયો તેજ ।

તેજ વાઠસહગઘો, તસાય પચ્ચક્ષયા ચેવ ॥ ૨ ॥

અર્થાં જળ છે ત્યાં વનસ્પતિનુ હેણુ નિશ્ચિત છે, અર્થા વનસ્પતિ છે ત્યાં તેજ અગ્નિ
નિશ્ચિત છે અર્થાં તેજ છે ત્યાં વાયુ નિશ્ચિત છે અસકાય તો પ્રત્યક્ષ છે ॥૨॥

હંતૂળ પરપ્પાણે, અપ્પાણ જો કરેહ સપ્પાણ ।

અપ્પાણં દિવસાણં, કપ્પ ય નાસેહ સપ્પાણ ॥ ૩ ॥

જે ખીલ અવેના પ્રાણોની વિરાધના કરીને ઘેઠા દિવસો માટે પોતે પોતાની
જાતને સબળ બનવવાની ષેષ્ટા કરે છે તે પોતે પોતાની જાતને વિનાશ કરે છે ॥૩॥

अहो! दुर्लभा सयमप्राप्ति, ततोऽपि सयमरक्षणं दुर्लभतरं, तच्चापूकायविराधनाया पटूकायविराधनाया सत्या न भवितुं शक्यते, सयमरक्षणाभावे सर्वेषां महाव्रतानां भङ्गः स्यात्, ततश्च चतुर्गतिकससारपरिभ्रमणं मत्प्रियति। यस्मान्नेदं जलं पास्यामीति निश्चित्यासौ मुनि रञ्जलितो जलं नद्यामेव यतनया मुमोच। स लघुवपस्करोऽपि महनीयैर्यं शुष्कमार्गेण तां नदीमुत्तीर्य तत्तीरं एव पिपासया गन्तुमक्षमं सन् भूमौ निपतितः।

इस प्रकार विचार कर घनप्रियनामक लघुमुनिने यह भी विचार किया कि इस ससार में जीवों को एक तो संयम की प्राप्ति होना दुर्लभ है, और उसकी अपेक्षा सयम की रक्षा महान् दुर्लभ है। मैं कच्चा पानी पीऊँ तो अपूकाय की विराधना होती है अपूकाय की विराधना में पटूकाय की विराधना अवश्य होती है, पटूकाय की विराधना से सयम की रक्षा नहीं हो सकती। जहाँ सयम की रक्षा नहीं है वहाँ समस्त महाव्रतों का भंग है। इनके भंग से ससारपरिभ्रमण अवश्य होता है, अतः मैं तो इस जलको नहीं पीऊँगा। इस प्रकार निश्चय कर लघुमुनि ने यही ही यतना से अजलि में लिये हुए जल को उसी नदी में छोड़ दिया। उस समय उनकी आयु कोई अधिक नहीं थी परंतु धैर्य की मात्रा हृदय में यही हुई थी इस लिये यथा कथञ्चित् वे शुष्कमार्ग से होकर नदी को पार करके दूसरे तीर पर आगये। परन्तु प्यास ने इतनी प्रयत्नता धारण की कि वे आगे मार्ग पर नहीं चलसके और

आ प्रकारने विचार करी घनप्रिय नामना नाना मुनिये अये। विचार कथी के, आ ससारमा लवेने अठ तो सयमनी प्राप्ति थवी दुर्लभ छे अने तेनी अपेक्षा सयमनी रक्षा महान दुर्लभ छे हुं हायु पाखी पीउ तो अपू कायनी विराधना थाय छे, अपूकायनी विराधनामा पटूकायनी विराधना अवश्य अने छे पटूकायनी विराधनाधी सयमनी रक्षा थती नथी न्या सयमनी रक्षा नथी त्यां समस्त महान्वतोने भग छे तेना भगधी ससार परिभ्रमण अवश्य थाय छे भाटे हुं तो आ नजने पीछि नही आ प्रकारने निश्चय करी लघु मुनिये यतनाथी जोषामां क्षीयैव पाखीने ते नदीमां छेटी हीधु आ समये तेनी छंभर काँ मोटी न छती परंतु धैर्यनी मात्रा हृदयमां वषैकी छती। आ कारखे आगण दहेवामां आन्मा प्रभाखे सुका मार्गथी नहीने पार करी सामा काँके पछेवायी गया परंतु तरस अयेवा ओरथी लागी छती के आने

अथ पिपासाविवशोऽपि धर्मे निश्चलमतिरसौ पञ्चनमस्कारस्मरणपूर्वकं समाधिभावेन देह विहाय प्रथमकल्पे वैमानिकदेवत्वेन समुत्पन्न । ततोऽवधिज्ञानेन स्वपूर्वभव विज्ञाय तेन धनप्रियेण देवेन सर्वेणा मुनीनामनुग्रहार्थं वैक्रियशक्त्या पथि गोकुल निर्मितम् । अथ सपरिवारो मित्रगुप्ताचार्यं पुरतो गोकुल दृष्ट्वा तत्र शुद्ध तक्रादि गृहीत्वा पिपासा निवार्यं चलितः । अथ तेन देवेन स्वपरिचयार्थमेकस्य साधोरासनं विस्मारितम् । येन मुनिनाऽऽसनं विस्मृतम्, स च स्वासनान्वेषणार्थं पुनर्गोकुलस्थानमागत्य गोकुलमपश्यन् प्रत्यावृत्त सर्वान् मुनीनग्रवीत्-नास्ति तत्र

वहीं पर गिर पड़े । पिपासा से विवश होने पर भी इनकी मति धर्म में निश्चल बनी रही, पचनमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए इन्होंने समाधिभाव से काल को प्राप्त किया । पिपासापरीपह को सहन करने के प्रभाव से ये प्रथमकल्प में वैमानिक देव हुए । अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव को जानकर उस लघुमुनि के जीव देव ने समस्त मुनियों की रक्षा के लिये अपनी वैक्रियिक शक्ति से मार्ग में गोकुल की रचना कर दी । सपरिवार मित्रगुप्ताचार्य ने आगे गोकुल देखा ।

वहा से शुद्ध तक्र आदि को लेकर अपनी पिपासा को शांत किया, एवं आगे विहार करना प्रारंभ कर दिया । किसी ने भी यह नहीं जाना कि यह सब देवकृत माया है, अतः देव ने अपने परिचय के निमित्त एक साधु को अपना आसन विस्मृति करा दिया । जो मुनि वहां पर आसन भूल गया था वह उस आसन को छेने के लिये पीछे उस स्थान पर आया तो क्या देखता है कि वहां पर तो कोई

वर्ष ते आगण भागे' याही शक्या नही अने त्या व पडी अथा. तरसही विवश बनवा छतां पक्ष तेनी मति धर्ममा निश्चल बनी रही. पचनमस्कार मन्त्रनु स्मरण करीने तेमझे समाधी बावधी हाणधर्म प्राप्त क्यो तरसना परीषदने सदन करवाना प्रभावधी ते प्रथम कल्पमां वैमानिक देव थया. अवधिज्ञानधी पाताना पूर्वभवने लक्ष्मीने ते लघुमुनिना एव देवे समस्त मुनिभाना अनुग्रह भाटे पातानी वैक्रियिक शक्तिधी भाअंभा जोडुणनी रचना करी. सपरिवार मित्रगुप्ताचार्ये आगण जोडुण ज्येसु अने बाधी शुद्ध छाश आदि लईने पातानी तरसने छिपावी अने आगण विहार करवा लाग्या. कोईजे जे न लक्ष्यु के आ मधी देवकृत माया हवी. आधी देवे पाताना परिचय निमित्त जोडु साधुने तेनु आसन सुहावी डीधु जे मुनि आसन सुही गया हता ते मुनि त्या आसन देवा भाटे पाछा आव्या तो शु हेजे जे के त्या कोडु जोडुण

पूर्वदृष्ट गोकुलम् । तदा तद्वचनेन सर्वैरपि साधुभिर्ज्ञातगोकुलाभावैस्तत्र काचिरेव शक्तिर्विदिता । सर्वैस्तत्पिण्डभोजनस्य प्रायश्चित्त कृतम् । ततस्तत्रागत्य तेन देवेन ससारावस्थायां तात स्वगुरु मुक्त्वा सर्वे साधवो वन्दिताः । किं कारणं त्वया नायं वन्दितः ? एवमाचार्येण पृष्टोऽसौ सर्वं स्ववृत्तान्तं सच्चित्तजलपानार्थं पितुः प्रेरणं च सर्वेषां साधूनां पुरस्ताद् कथयित्वा देवलोको गतः । एवमन्यैरपि मुनिभिस्तृपापरीपहः सोढव्यः ॥ ५ ॥

शुधापिपासापरीपहसहनेन कृशशरीरस्य साधोः शीतकाले शीतमपि बहु धा-
घते, इति शीतपरीपहजयं प्राह—

गोकुल नहीं है । वह शीघ्र ही पीछे वहा से वापिस लौटा और अपने आचार्य के पास आकर इस घात को कहा कि अद्य तो वहा पर कोई गोकुल नहीं है । साधुओं ने जय यह बात सुनी तो उन्होंने ने यह निश्चित किया कि अवश्य इसमें कोई देव की माया थी। सय ने मिलकर इसका प्रायश्चित्त लिया, क्यों, कि इन सय ने वहा से पहिले तक्रादि को ग्रहण किया था। घाद में दब ने आकर अपने ससार अवस्था के पिता-घन-मित्र मुनि को छोड़कर बाकी के समस्त साधुओं को वदना की। आचार्य ने पूछा घनमित्र मुनि को वदन क्यों नहीं किया? तब उस देव ने समस्त पहिले का वृत्तान्त जो घनमित्र मुनि ने सच्चित्त जल को पीने के लिये अपने शिष्य घनप्रिय को मुनि की अवस्था में कहा था आचार्य के समक्ष कह दिया। कह कर फिर यह स्वर्ग को वापिस चला गया। इसी प्रकार अन्य मुनियों को भी तृपापरीपह का विजय करना चाहिये ॥ ५ ॥

नथी ते जेव वभते पाछ इयां अने पोताना आचार्यनी पास आवीने कहु
के, त्यां तो काठ जोडुण नथी साधुजोअे न्यारे आ वात सांभणी तो तेजोअे
जेवु नकी कहुं के, अवस्थ आभा काठ देवनी माया इती, सहुअे भणीने
तेवु प्रायश्चित्त दीधुं कारषु के, ते सहुअे त्याथी छस आदि वस्तु ग्रहणुं करेव
इती. आहमां देवे आवीने पोताना ससार अवस्थाना पिता घनमित्र मुनीने
छोडीने आकीना समस्त साधुजोअे वदना करी, आचार्ये पूछुं के, घनमित्र
मुनिने वदना केम न करी ? त्यारे ते देवे पहिलेअे समस्त वृत्तांत जे घन
मित्र मुनिये सच्चित्त पाषी पीवा भाटे पोताना शिष्यने मुनि अवस्थामा कहुं इतुं
ते आचार्य समक्ष कही दीधुं आ कहीने ते पोताना मुणधाम स्वर्गांमा वस्था
गया. आ प्रकारे अ यमुनियेअे पबु तृपापरीपहने विजय करवे अेछेअे. ॥५॥

મૂલમ્—ચરત વિરયં લૂહ, સીય ફુસદ્ એગ્યા ।

નોંડ વેલ” મુંગી ગેચ્છે, સોચા ણ જિણંસાસણં ॥૬॥

ઘાયા—ચરન્ત વિરત સ્થં, શીત સ્પૃશતિ એકદા ।

નાતિવેલ મુનિર્ગેચ્છેત્ શ્રુત્વા લલ્લ જિનશાસનમ્ ॥ ૬ ॥

ટીકા—‘ચરત’ ઇત્યાદિ ।

ચરન્ત=મોક્ષમાર્ગે, ગ્રામાનુગ્રામ વા વિહરન્ત, વિરત=સાવધયોગતો નિશ્ચલમ્-
અગ્નિપ્રજ્વાલનાદિમ્યો નિવૃત્તમિત્યર્થ, સ્થં=સ્નિગ્ધાહારતૈલામ્પરિહારેણ ધૂસરાદ્
મુનિમ્, એકદા=શીતકાલે, શીત સ્પૃશતિ=પીડયતિ ।

શીતકાલે હિ વનસ્પતયો હિમનિપાતેન પરિત* પરિશુષ્કા ભવન્તિ, પશિકાઃ
સકોચિતપાણય પદૈકમપિ ગન્તુમસમર્થાઃ પદ્મગુપ્ત તપ્ર તૈૈવ તિષ્ઠન્તિ, કેચિત્
ક્ષવણદન્તવીણિકાઃ કમ્પમાનગાત્રા કુશ્માનુસેવનાય તદમિમુલ્ક શલમા ઇવાપતન્તિ ।

શુધા એવં પિપાસા પરીપહ્ કે સહન કરને સે મુનિ કા શરીર કૃશ
હો જાતા હૈ ઇસસે શીતકાલ મેં શીત કી પીડા યહૂત હોતી હૈ ઇસલિયે
તીસરે શીતપરીપહ્ કો જીતના ચાહિયે; યહી યાત ઇસ નીચે કી ગાથા
સે સૂત્રકાર પ્રકટ કરતે હૈ—

‘ચરતં વિરયં’ ઇત્યાદિ

અન્યયાર્થ—(ચરતં વિરયં—ચરન્ત વિરત) મોક્ષ માર્ગ મેં અથવા એક
ગ્રામ સે ઘૂસરે ગ્રામ મેં વિહાર કરને વાલે તથા સાવધયોગ સે વિરક્ત એવં
(લૂહ—સ્થમ્) સ્નિગ્ધાહાર તૈલમર્દન આદિ કે ત્યાગ સે ધૂસર શરીર વાલે
એસે મુનિ કો (એગ્યા—એકદા) શીતકાલ મેં (સીયં ફુસદ્—શીતં સ્પૃ
શતિ) શીત પીડિત કરતા હૈ । ડસ સમય યહ મુનિ (ણં—લલ્લ) નિશ્ચ

ભૂખ અને તરસ સહન કરનારા મુનિનું શરીર ડુર્બળ બની બાય છે, અને
ડુર્બળ શરીરવાળાને ઠડિથી બહુ પીડા થાય છે. આથી ત્રીજો ઠડિના પરિપહને
મુનિએ છૂટવો બેઠાંએ એવી વાત સૂત્રકાર નીચેની ગાથાથી પ્રગટ કરે છે

ચરતં વિરય ઇત્યાદિ

અન્યયાર્થ—ચરત વિરય—ચરત વિરત મોક્ષમાર્ગ અથવા એક ગ્રામથી બીજા
ગ્રામે વિહાર કરવાવાળા તથા સાવધ યોગથી વિરક્ત અને લૂહ—સ્થમ્ સ્નિગ્ધાહાર
તૈલમર્દન આદિના ત્યાગથી ધૂસર શરીરવાળા એવા મુનિને એગ્યા—એકદા શીતકાળમાં
સીય ફુસદ્—શીત સ્પૃશતિ શીતકાળ પીડિત કરે છે તે સમયે તે મુનિ જ—લલ્લ

वायव्य तुपारासारसगादतिशय शिशिराः प्राणिना शरीराणि परित् सातिशय पीडयन्ति । अनवरतशीतपातजनितच्यथावारणाय बालका. फाष्टलण्डादीनि समाहृत्यैकत्र वह्निं प्रज्वाल्य प्रसारितपाणयस्तापमासेवन्ते । यत्र प्रतिक्षण प्राणिना प्राणा प्रखर शीतवेदनाभिरुद्विग्ना भवन्ति ।

तदा स मुनि. खलु=निश्चयेन, जिनशासनं जिनवचनरहस्य भुत्वा 'अनेन ममात्मना नरकनिगोदादीं तीव्रतरा अनन्तवेदना अनन्तवारमनुभूता' इति विभाव्य, अतिवेल=वेलाऽतिक्रमण न गच्छेत्=न प्राप्नुयात्-प्रतिलेखनादे र्थ कालस्त शीतभयाद्गुह्युद्घ्याऽन्यस्मिन् काले प्रतिलेखनादिक न कुर्यादित्यर्थः । यद्वा-शीतभयात् पूर्वोपविष्टस्थान विहाय स्थानान्तरं न व्रजेदिति ।

'चरत' इत्यनेन कारण विना एकत्रावस्थान न करणीयमिति सूचितम् ।

'विरय' इत्यनेन यतनावत्त्व सूचितम् ।

यसे (जिणसासण सोच्चा-जिनशासन भुत्वा) जिन शासक को-' इस मेरी आत्मा ने नरक निगोद आदि स्थानों में तीव्रतर अनन्त वेदनाएँ अनन्तवार भोगी हूँ उस वेदना के सामने यह शीतवेदना क्या अधिक है ? ' इस बात को सुनकर-समझकर (अइवेल-अतिवेलम्) समय को उल्लंघन करके-प्रतिलेखना आदि के समय को टालन करके (न गच्छे-न गच्छेत्) प्रतिलेखना आदि का जो समय है उसके सिवाय अन्य समय में प्रतिलेखनादिक क्रियाओं को न करे । तथा शीत के भय से पूर्वाधिष्ठित स्थान का परित्याग कर दूसरे स्थान में भी न जावे ।

गाथा में रहे हुए "चरत" इस पदद्वारा सूत्रकार यह प्रदर्शित करते हैं कि मुनि को कारणविशेष विना एक जगह स्थिररूप से नहीं

निश्चयथी जिणसासण सोच्चा-जिनशासन भुत्वा एन शासनने आ भारा आत्माओ नरक निगोद आदि स्थानेमा तीव्रतावाणी अनन्त वेदनाओ धरुी वपत बोगवी छे ते वेदनाओ सामे आ शीत वेदना क्या डिंसाभमां छे ? ' आ वातने साबणी समए अइवेल-अतिवेल समयनु उल्लंघन करी प्रतिलेखना आदिना समयने टालने न गच्छे-न गच्छेत् प्रतिलेखना आदिने ले समय छे तेना सिवाय पीब समयमा प्रतिलेखनादिक क्रियाओने न करे तथा ठडीना भयथी पूर्वाधिष्ठित स्थानने त्याग करीने पीब स्थानमा न जाय

गाथाभां रहेला "चरत" ओ पदद्वारा सूत्रकार ओ प्रदर्शित करेछे के, मुनिने कारण विशेष विना ओठ ब्याओ स्थिर रूपथी राठवु न लेछे ओ.

‘लूह’ इत्यनेन तपश्चरणशीलत्व प्रवेदितम् ॥ ६ ॥

‘मुणी’ इत्यनेन सावयकार्ये मौनत्वमिति घोषितम् ।

मूलम्—न मे’ निवारणं अतिथ, छविताणं न विज्ञेय ।

अहं तु अग्निं सेवेमि, इह भिक्षुं न चिन्तये ॥७॥

छाया—न मे निवारणम् अस्ति, छवित्राण न विद्यते ।

अहं तु अग्निं सेवे, इति भिक्षुं चिन्तयेत् ॥ ७ ॥

टीका—‘न मे’ इत्यादि ।

मे=मम, निवारण=शीतनिवारक स्थान नास्ति, तथा—छवित्राण=शरीराच्छादनक वस्त्रकम्बलादिक न विद्यते । तु=पुन, अग्निं सेवे=अग्निं प्रज्वाल्य तत्रापमाश्रयेय, इति=एवं, भिक्षुं चिन्तयेत्=मनसापि न प्रार्थयेत् । चिन्ताप्रतिषेधेन तत्सेवनं तु दूरत एव निराकृतम् ।

ठहरना चाहिये। “विरय” इससे मुनिको यतनावान् होना चाहिये यह सूचित किया गया है। “लूह” पद से तपश्चरण शीलता एव “मुणी” इस पद से सावयकार्य में मौन रखना यह सूचित किया गया है ॥ ६ ॥

‘न मे निवारण’ इत्यादि

अन्वयार्थ—(मे-मम) मेरे पास (निवारण निवारणम्) शीत को दूर करने वाला स्थान (न अतिथि-नास्ति) नहीं है (छविताणं न विज्ञेय-छवित्राणं न विद्यते) शरीर को आच्छादान करने वाला वस्त्र एवं कम्बल आदि भी नहीं है अतः (अहं तु अग्निं सेवामि-अहं तु अग्निं सेवे) मैं अग्नि का सेवन करूँ (इह-इति) इस प्रकार (भिक्षु-भिक्षु) साधु (न चिन्तये-न चिन्तयेत्) मन से भी विचार न करे, उसके सेवन की बात तो दूर रही।

“विरय” अनाधी मुनिये यतनावान् अन्वु अर्थ अर्थ अर्थ सूचित करवाभा आन्वु छे “लूह” पदधी तपश्चरण शीलता अने “मुणी” आ पदधी सावय कार्यभा मौन शब्द अर्थ सूचित करवाभा आवेत् छे

नमे निवारण इत्यादि

अन्वयार्थ—मे-मम भाषी पासे निवारण-निवारणम् ठहीधो अन्वयी शब्दे तेषु स्थान न अतिथि-नास्ति नधी, छविताणं न विज्ञेय-छवित्राणं न विद्यते शरीर उपर अनाधवा भाटे वस्त्र ताथा कम्बल वगैरे पञ्च नधी, आधी अहं तु अग्निं सेवामि-अग्निं सेवे अग्निं तु सेवन करे इह-इति आ प्रकारने मनधी पञ्च भिक्षु-भिक्षु मुनि न चिन्तये-न चिन्तयेत् विचार न करे तेना सेवननी बात तो दूर रही।

अयं मात्र — शीते महत्यपि पतति सति जीर्णवसन परित्राणवर्जितो नाक-
ल्पानि वसनानि गृह्णीयात् शीतत्राणाय । आगमविहितेन विधिना एषणीयमेव
यथाकल्पं गवेपयेत् परिभुञ्जीत वा । नापि शीतार्तोऽग्निं ज्वालयेत्, अन्यज्वालितं
वा नासेवेत् । एवमनुतिष्ठता शीतपरीपहजयः कृतो भवतीति ।

अत्र ' भिक्खू ' इत्यनेन निरवद्यभिक्षाग्रहणशीलत्व सूचितम् ।

अत्र दृष्टान्तः—

चतुर्वारके—राजगृहे नगरे चत्वारः कुबेरदत्तश्रेष्ठिपुत्राः कुबेरसेन—कुबेरमित्र-
कुबेरवल्लभ—कुबेरप्रियनामानो भद्रगुप्ताचार्यसमीपे जिनोक्त धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजिताः ।

इस का भाव यह है कि जय शीतकाल में शीत पड़ता है उस
समय जीर्णवस्त्र वाला एवशीत की रक्षा के साधनों से रहित साधु
अकल्पनीय वस्त्रों को शीत की रक्षा निमित्त ग्रहण नहीं करे । आगम
में विहित विधिके अनुसार जो एषणीय हों तथा साधु के लिये कल्प-
नीय हों उन्हें ही ग्रहण करें । ठंड से पीड़ित होने पर भी अग्नि को न
जलावे तथा दूसरों द्वारा जलाई गई अग्नि का भी सेवन नहीं करें ।
ऐसा करने से ही साधु शीतपरिपहविजयी माना जाता है । गाथा में
रहे हुए—भिक्खूपद से सूत्रकार ' भिक्षु को निरवद्य भिक्षा ही ग्रहण
करना चाहिये ' यह सूचित करते हैं ।

इस विषय पर यहाँ दृष्टान्त दिया जाता है—राजगृह नगरमें कुबेर-
दत्त नामक एक सेठके कुबेरसेन, कुबेरमित्र, कुबेरवल्लभ, कुबेरप्रिय

आने का भाव ये थे, आर्य शीतकालमें ठंडी पड़े थे वे अपने लक्ष्मण वस्त्र
वाण्ये अपने ठंडीनी रक्षाना साधनेथी रहित साधु अकल्पनीय वस्त्रोंने ठंडीनी रक्षा
निमित्ते ग्रहण न करे । आगममें कहेवायेले विधि अनुसार वे एषणीय होय
तथा साधु भाटे कल्पनीय होय तेने न ग्रहण करे ठंडीथी पीडीत होवा छतां
पक्षे अग्निने प्रगटावे नहीं तथा भीलये द्वारा प्रगटाववामां आवेले अग्निनु
पक्षे सेवन न करे आ शीतनु वर्तन राधनार साधु शीतपरीपहविजयी
मानवामा आवे छे गाथाभा रहेला " भिक्खू " पठथी सूत्रकार येम सूचित
करे छे छे, ' भिक्षुके निरवद्य भिक्षा न ग्रहण करवी होयये '

आ विषय उपर अही दृष्टान्त कहेवामां आवे छे

गाथा आशामा—राजगृह नगरमा कुबेरदत्त नामने अके श्रेष्ठे छेते नेने
कुबेरसेन, कुबेरमित्र, कुबेरवल्लभ अने कुबेरप्रिय नामे आर पुत्र छेता आ

ते श्रुतमधीत्यान्यदा कदाचिदेकाकित्वविहारख्यप्रतिमां स्वीकृतवन्तः । तदनन्तर
मेकाकित्वप्रतिमया विहरन्तस्ते पुनरपि राजगृहनगरसमीपवर्तिनि वैभारगिरिप्रदेशे
वसतेर्यथाकल्पमवग्रहमवग्रष्ट्य सयमेन तपसाऽऽत्मान भावयन्तो विहरन्ति स्म । तथा
हेमन्तर्तुस्तुपारासारैर्जनान् पीडयन्, वनस्पतीन् परिम्लानयन्, पशुपक्ष्यादीन् का-
ष्ठवज्जडतां प्रापयन्, सर्वप्राणिप्राणानुद्वेजयन्नासीत् । तस्मिन् समये ते चत्वारो
ध्रुवपञ्चमीयामे भिक्षाचर्यां वैभारगिरिप्रदेशे, तत्र भिक्षां गृहीत्वा कृता-
नामके चार पुत्र थे । उन चारों पुत्रों ने मद्रगुप्त आचार्य के समीप धर्म
का श्रवण कर मुनिदीक्षा धारण की । शास्त्रों का अच्छी तरह से
अध्ययन किया ।

एक समय की बात है उन्होंने ने एकाकित्वविहार नाम की भिक्षु
प्रतिमा स्वीकार की इससे वे एकाकी होकर विहार करने लगे । विहार
करते-ते वे किसी समय पुन राजगृह नगर के समीपवर्ती वैभारगिरि
की तलहटी में वसी हुई एक वस्ती में आये और वहाँ यथाकल्प अव-
ग्रह-आज्ञा लेकर उतरे और सयम एव तप से आत्मा को भाते हुए
विहरने लगे । यह समय हेमन्तऋतु का था । तुषार-हिम के छोटे-
कणों से इस समय मनुष्यों को अधिक कष्ट होता है । वनस्पतियाँ हिम
कणों के निपात से दग्ध हो जाती हैं । पशु पक्षी काष्ठ जैसे जड़ हो
जाते हैं । तात्पर्य यह कि इस ऋतु में ठंड की अधिकता से हर एक
प्राणी को अधिक कष्ट का अनुभव होता है । ऐसे समय में ये चारों ही

चार पुत्रोंके मद्रगुप्त आचार्य पासैथी धर्मनु अवग्रह करी मुनिदीक्षा धारण
करी शास्त्रोनु सारी रीते अध्ययन कयुं ओक समयनी बात छे, तेओके
ओकाकित्व विहार नामनी भिक्षु प्रतिमा स्वीकारी आथी तेओके चार ओकके
गनीने विहार करवा लाओया विहार करवा करवा कौठ समये राजगृह नगर
समीप रहैवी वैभारगिरिनी तलेटीमा वसेवी ओक वस्तीमा आओया अने त्यां
यथाकल्प अवग्रह आज्ञा लईने उतर्या सयम अने तपसी आत्माने भावता
विहरवा लाओया आ समये हेमन्त ऋतु हती तुषार हिमनां नानां नानां
कणोओ आ समये मनुष्यो अधिक कष्ट पावे छे वनस्पतिओके हिम कणोओ
पक्ष्यादी गणी बय छे, पशु पक्षीओके काठकां केवा बड बड बय छे मतलब
ओके, आ ऋतुमा ठंडीनी अधिकतासी हरेक प्राणीने वधु कष्टने अनुभव
थाय छे ओवा समयमां ओके चारैय मुनि विवसना त्रीज भागमां भिक्षाचर्या

हारास्ते सर्वे स्वयसतिं गन्तु पृथक् पृथगेन प्रतिनिवृत्ता तेपामेकस्य कुवेरसेनमुने
 वैभारगिरिकन्दरान्तिकमुपगतस्य रात्रि' सनाता, अतस्तत्रैव सोऽतिष्ठत् । द्वितीयस्य
 कुवेरमित्रमुनेरुद्याने रात्रि समननि, अतस्तत्रैव सोऽतिष्ठत् । तृतीयस्य कुवेरवल्ल-
 भमुनेरुद्यानसमीपे, चतुर्थस्य कुवेरप्रियमुनेस्तु नगरसमीपे । तत्र वैभारगिरिकन्दरा-
 द्वारसमीपावस्थितस्य मुनेर्निपतत्तुपारसपर्कशीतलै, शैलमारुतै प्रकम्पितशरीरस्यापि
 मनो मेरुरिवनिष्कम्प मासीत् । यथा यथा शीत प्रवर्धते, तथा तथा ऽऽत्मिकवल-
 प्रकाशयन् मन सुस्थिर कुर्वन् रणे वीर इव शत्रु शीत विजेतु प्रोत्साहसपन्नः सुधीर
 शीतवेदना सहमानोऽसौ मुनि' समाधिभावेन रात्रे प्रथमयाम एव काल गतः ।

मुनि दिवस के तृतीय प्रहर में भिक्षाचर्या के लिये राजगृहनगर में
 आये। वहाँ पर मिले हुए एपणीय आहार करके वे सब फिर वहाँ से
 एक पीछे एक वैभारगिरि के समीप जहाँ उतरे हुए थे वहाँ पहुँचने के
 लिए चले। इनमें कुवेरसेन मुनि को मार्ग में ही जब वे वैभारगिरि का
 कन्दरा के पास पहुँचे तो रात्रि हो गई, इसलिये वह वहाँ पर ठहर गये।
 दूसरे कुवेरमित्रमुनि रात्रि हो जाने से यगीचे में ठहरे। जैसे ही तीसरे
 कुवेरवल्लभमुनि यगीचे के पास ठहरे। चौथे कुवेरप्रियमुनि रात्रि होने
 से राजगृह नगर के पास ही ठहर गये। वैभारगिरि की कन्दरा-गुफा के
 द्वार पर ठहरे हुए मुनिराज ने पढ़ते हुए शीत के सपर्क से अत्यन्त
 शीतल पर्वतीय वायु के वेग से कम्पितशरीर होने पर भी अपने मनको
 मेरु के समान निष्कम्प बनाते हुए उस शीत को प्रचलता का सामना
 किया। जैसे २ शीतकी अधिकता होती जाती थी, उस उस रूप से

भाटे राजगृह नगरमा आव्या। त्यांथी भजेव ज्येष्वीय आहार करीने ते सधणा
 इरी पाछा ज्येष्ठ पछी ज्येष्ठ वैभारगिरीनी समीप ज्यां तेज्या उतयो छता त्यां
 पछोच्चया भाटे आली नीकल्या तेभांथी कुवेरसेन मुनिने मार्गभांज रात्रि पडी
 ज्यथाथी वैभारगिरीनी कन्दरानी पासै शैकार्थ गया। धीम कुवेरमित्र मुनि रात्रि
 यथाथी भगीयामा शैकार्थ गया, जेवी ज रीते त्रीज कुवेरवल्लभ मुनि भगी
 यानी पासै शैकार्थ गया, जेथा कुवेरप्रियमुनि रात्रि यथ ज्यथाथी राजगृह
 नगरनी पासै ज शैकार्थ गया। वैभारगिरि कन्दरानी मुप द्वार पासै शैकार्थ
 जयेवा, मुनिराजे ठडीना सपकथी अत्यन्त शीतल पर्वतीय वायुना वेगधी कपीत
 शरीर छेवा छता पद्य पोताना मनने मेइ समान अज्ज शशी ठडीनी प्रभजतानो
 सामनो कथो जेम जेम ठडीनी अधिकता वधनी गथ ते ते इपथी तेमनु आत्म

उद्यानस्थ तु नीचप्रदेशवर्तित्वाद् द्वितीययामे प्रचलतर शीत बाधते स्म, क्वा सोऽपि पूर्वोक्तमृनिप्रक्षिद्यलेन मनसा शीतवेदनां सहमानः समाधिभावेन द्वितीययामे कालगतोऽभवत् । एवमुद्यानसमीपस्थितस्तु तृतीययामे, एव नगरासक्तस्तु-उनका आत्मिककयल भी अधिकर विकसित होता जाता था। जिस प्रकार कोई उत्तम वीर रणाङ्गण में वैरी का सामना करता है, उसी प्रकार ये भी उस शीत का ढटकर सामना कर रहे थे। सद्भावना में जरा सी भी क्षिणिलता इन्होंने ने नहीं आने दी। साम्हना करते २ ही वे मुनि समाधिभाव से कालधर्म को पाये १ ।

जो मुनिराज उद्यान में ठहरे हुए थे उन्हें शीत की वेदना ने द्वितीयप्रहर में सताया। जिस प्रकार प्रथम मुनिराज ने शीत की वेदना सहन करने में निश्चलता धारण की, उसी प्रकार इन्होंने भी उसके सहन करने में निश्चलता धारण की। अन्त में समाधिभाव से ये भी कालधर्म पा गये २ ।

जो मुनिराज उद्यान के समीप ठहरे हुए थे, उन्हें शीत की वेदना रात्रि के तृतीय प्रहर में सताने लगी, और नगर के पास ठहरे हुए मुनिराज को शीत वेदना ने रात्रि के चतुर्थ प्रहर में सताना शुरू किया। इस प्रकार ये दोनों मुनिराज भी शीतपरीषद् को जीतते २ ही समाधिभाव से अन्त में कालधर्म को प्राप्त हुए ४। ये चारों के चारों ही अनुत्तर

एव पञ्च अधिक इपथी विकसतु चतु इतु ने रीते केर्ध उत्तम वीर रजुगजुभां वैरीना सामने करे छे तेवा प्रकारे मुनि पञ्च ठडीना जेवी च रीते सामने करी रखा इता सद्भावनाभा जरा पञ्च शिथिलता तेमजे आववा न हीभी सामने करवां करवां ते मुनि समाधि भावथी काल धर्म पाभ्या

ने मुनि जगीयाभां रखा इता. तेमने ठडीनी वेदना जीव प्रहरभां यध. ने प्रकारे प्रथम मुनिराजे ठडीनी वेदना सहन करवाभां अउरता धारण करी तेवी च रीते आवजे पञ्च अउरता हाथवी अने छेवटे समाधिभावथी कालधर्म पाभ्या

ने मुनिराज जगीयानी जहार शक्या इता तेमने ठडीनी वेदना रात्रीना जीव पहारभां यवा लागी अने नजरनी पासै शक्येवा मुनिराजने ठडीनी वेदना जेथा पहारै सताववा लागी. आ प्रकारे आ जने मुनिराज पञ्च ठडीना परीषदने छतता छतवां समाधि भावथी अते कालधर्मने पाभ्या. आ रीते

चतुर्थयामे । सर्वेऽप्येते विज्रितशीतपरीपहा. काल कृत्वाऽनुत्तरविमानेषु एकमवा-
वतारित्वेन समुत्पन्ना । एवमन्यैरपि मुनिभिः शीतपरीपह' सोढव्यः ॥ ७ ॥

शीतकालानन्तर ग्रीष्मागमो भवतीत्यतः शीतपरीपहानन्तरमुष्णपरीपह
जय प्राह—

मूलम्—उसिणपरियावेण, परिदाहेण तज्जिष् ।

घिसुं वां परियावेण, साय नो परिदेवष् ॥ ८ ॥

छाया—उष्णपरितापेन, परिदाहेन तज्जितः ।

ग्रीष्मे वा परितापेन, सात नो परिदेवयेत् ॥ ८ ॥

टीका—'उसिण०' इत्यादि ।

ग्रीष्मे=उष्णकाले, यत्र द्वि-भास्कर किरणनिकरैर्दहन किरन्निव धरातलेऽङ्गार-
प्रकरमास्तृणन्निव जीवजात परितापयति, तरुगण परिशोपयति, शुष्कयति च ।

विमानों में एकमवावतारी रूप से उत्पन्न हुए । इसी प्रकार अन्य मुनियों
को भी शीतवेदना के सहन करने में अपना पराक्रम फोड़ना चाहिये ॥७॥

शीतकाल के बाद ही ग्रीष्मऋतु का आगमन होता है अतः शीत
परीपह को सहन करने के बाद चौथा उष्णपरीपह भी मुनिराज को
सहन करना चाहिये, यह बात इस नीचे की गाथा द्वारा सूत्रकार प्रद-
र्शित करते हैं—'उसिण०' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(घिसु ग्रीष्मे) ग्रीष्मकाल में कि जिसमें सूर्य अपनी प्रखर
किरणों के निकर से इस समस्त भूमण्डल पर प्रबल ताप की वर्षा किया
करता है, समस्त जीव जिसमें मानों अग्नि तापसे जलते हों, वृक्षसमूह
जिस में शुष्क जैसा हो जाता है। पिचारे प्यासे भोले मृगों के झुण्ड के

के बारे मुनिराज अनुत्तर विमानमा केकव अवतारी रूपथी उत्पन्न यथा आ
प्रकारे अन्य मुनियोके पक्षु शीतवेदना सहन करवाभा पोतानु पराक्रम
पतावतुं केधके ॥७॥

ठंडीना वधत पछी छनाजाने वधत आवे छे अही शीतपरीपहने
सहन कयो पछी बोथे गरमीना परीपहने पक्षु मुनिराजे सहन करवे केधके
के वात नीचेनी गाथाधी सूत्रकार प्रगट करे छे—“उसिण०” इत्यादि.

अन्वयार्थ—घिसु-ग्रीष्मे ग्रीष्म ऋणमा के बारे सूर्य पोतानां प्रखरकिरणोधी
समस्त भूमण्डल उपर प्रबल तापनी वर्षा वरसावे छे समस्त एव केभा
अग्निना तापनी भाक्षक भगता होय छे, वृक्ष समूह शुष्क बनी जाय छे

મૃગતૃષ્ણાભિરારચિતજલતરંગમાલાભિરિવ પ્રચલન્નજલધારા ત્રિશ્રમમુપગતા મૃગમૃગ
 યુવા પિપાસયા પરિતઃ પ્રધાવન્તિ। મનુષ્યા સ્વલુ પ્રાયસ પ્રચન્ડમાર્તન્ડકરનિક્ક-
 રસપર્કમસ્વરરજઃકળોપેતવાત્યાપરિષદ્વિતાઃ પ્રતપ્તભૂતલનિપવિતાઃ પિપાસયાડ્ડસ
 ઋમૃત્યવ ઇવ ભવન્તિ। યત્ર સ્વલુ વનસ્થલી પિપાસાનશ્ચત્રિશ્રમત્રિવિવિધપશુપક્ષ્યા
 વિભિઃ પરિશુષ્કતાલ્હરસનરૂપૈ સમાકુલા, નમસ્તલ ચ નાનાવિધ પત્રકાપ્તૃગકચ
 વરોદ્ધૂલનકરમતિકૂલમારુતધ્વનિસમાકુલ ભવતિ। તસ્મિન્નુષ્ણકાલે, વા શ્વન્દન-
 શ્વરદિ વર્ષાસુ વા, ઉષ્ણપરિતાપેન=ઉષ્ણમ્-સૂર્યકિરણસયોગાચ્છ-ભૂમિધૂલિપાપાના

મુખ્ધ જિસમેં “યહ જલધારા યહ રહી હૈ” ઇસ પ્રકાર અમોત્પાવક
 મૃગતૃષ્ણા સે પાગલ જૈસે યને હુષ્ ઇધર ઉધર દૌડને લગતે હૈં। જિસ
 ક્રતુ મેં સૂર્ય કી પ્રચન્દ કિરણોં સે ઘૂપ સૂચ પડ્ગતી હૈ જિસસે રેતી તપ
 જાતી હૈ ઓર લૂ ચલને લગતી હૈ। સતસ રજકળ સે મિશ્રિત ઉસ લૂકે
 વેગ સે વ્યાકુલ હોકર મનુષ્ય મી ઉસ તપી હુઈ મૂમિ પર ગિર ગિર કર
 વ્યાસ કે મારે મૂર્છિત હો આસન્નમૃત્યુ જૈસે દિસ્વાઈ વેને લગતે હૈં। જિસ
 ગ્રીષ્મ કાલ મેં પિપાસા કે વશ જિનકે તાલૂ ઓષ્ઠ ઇવ કંઠ સૂચ રહે હૈં
 ગર્મોં કે મારે મુંહ જિન કે ફટે હુષ્ હૈં ઓર જીમ લટક રહી હૈં ઇસે
 પશુ પક્ષિયોં સે અટવી વ્યાસ હો જાતી હૈ। તથા જિસમેં આકાશ
 નાનાવિષપત્ર, કાષ્ઠ, તૃણ, કૂહા-કચરા આદિ કો ઉઢાને ચાલી પ્રતિકૂલ
 વાયુ કી સનસનાહટ ધ્વનિ સે વ્યાસ હો જાતા હૈ ઇસે ઉષ્ણકાલ મેં।
 (ઉસિણપરિયાવેણં-ઉષ્ણપરિતાપેન) ઉષ્ણપરિતાપ સે-સૂર્ય કિરણોં કે

તરસથી બીચારા શોળાં હરણુનાં ટોળાં ‘આ જળધાર વહી રહી છે’ આ
 પ્રકારના પ્રમથી પાગલની માફક મૃગજળ રૂપી જળના આભાસ તરફ
 દોડતાં રહે છે જે ક્રતુમાં સૂર્યના પ્રચંડ કિરણોથી ખૂબ તાપ પડે છે તેનાથી
 રેતી તપે છે, અને લૂ ચાલવા લાગે છે, સતપ્ત સ્વજલથી મિશ્રિત તે લૂના
 વેગથી વ્યાકુળ બની મનુષ્ય પણ તે તપેલી ભૂમી ઉપર તરસના માથો પડી
 જઈ મૂર્છિત થઈ આસન્ન મૃત્યુ જેવા રેખાય છે જે ગ્રીષ્મકાળમાં અટવીમાં પીપા
 સાને વશ જેનું તાળવું, કોઠ અને કંઠ સુકાઈ બચે છે, ગરમીના માથો ગોડું જેવું
 કાઠી રહે છે અને ભ્રમ લટકી બચે છે એવા પશુ પક્ષિઓથી વ્યાપ્ત થઈ બચે છે
 તથા જેમાં આકાશ જુદી જુદી બાતના પાંદડા, લાકડું, ઘાસ, કચરા, પુલ વગેરેને
 ઉઠાવવાવાળા પ્રતિકૂળ વાયુના મુસવાટા કરતા ધ્વનિથી વ્યાપ્ત થઈ બચે છે એવા
 ઉષ્ણકાળમાં “ઉસિણ પરિયાવેણ-ઉષ્ણપરિતાપેન” ઉષ્ણ પરિતાપથી

दिक, तेन परिताप.—उष्णपरितापस्तेन तर्जित, अत्यत पीडित.सन्, तथा-
परिदाहेन=सूर्यकिरणसतत्प्राप्त्या 'लू' इति भाषासिद्धेन, दाहज्वरादिकृता
न्तरिकतापेन वा, तर्जित, तथा परितापेन=सूर्यकिरणादिजनिततापेन-तर्जित,
सात=सुख प्रति न परिदेवयेत्=हा! कदा मम चन्द्रचन्दनशीतलानिलादिभि
सह सयोगो भविष्यति येन मम शान्ति स्यादिति ॥ ८ ॥

उपदेशान्तरमाह—

मूढम्—उपहाहिततो मेहोवी, सिंहाण नो वि' पत्थेण ।

गाय नो परिसिंचेज्जा, न वीपेज्जा य अप्पेय ॥९॥

छाया—उष्णामित्तः मेघावी, स्नान नो अपि प्रार्थयेत् ।

गात्र नो परिपिञ्चेत्, न वीजयेच्च आत्मानम् ॥९॥

सयोग से तस ऐसे जो भूमि, धूलि, एव पापाण आदि हैं उनके द्वारा
जो परिताप—कष्ट होता है उससे, तथा (परिदाहेण) सूर्य की किरणों
द्वारा गर्म हुई वायु से—लूसे, अथवा दाहज्वर आदि से होने वाले
आन्तरिकताप से (परियावेण-परितापेन) एव सूर्य की किरणों से उत्पन्न
हुई अत्यत गर्मी से (तज्जिए-तर्जित) अतिशय पीडित साधु
(साय नो परिदेवए-शात नो परिदेवयेत्) सुख की वाञ्छा न
करे-हा! किस समय मुझे चन्द्र अथवा चंदन के समान शीतल पवनादि
का सयोग मिलेगा कि जिस से मुझे शांति मिले। अर्थात्—साधु का
कर्तव्य है कि वह हरएक अवस्था में उष्णपरीपह को जीते किन्तु इस से
घबरावे नहीं ॥ ८ ॥

संयोगी तपेव जेवी जे भूमि धूलि अने पापाणवाणी छे तेना द्वारा जे कष्ट थाय
छे, जेनाथी तथा “परिदाहेण” सूर्यना किरणो द्वारा गरम थयेवा वायुधी वथी,
अथवा दाहज्वर आदिथी धनार आंतरिक तापथी परियावेण-परितापेन अने सूर्यना
किरणोधी उद्भववेव अत्यत गरमीधी तज्जिए-सर्जित अतिशय पीडित साधु
“साय नो परिदेवए-शात नो परिदेवयेत्” सुभनी वाञ्छना न करे-मने कया समये अत्र
अथवा अइतनी जेवी शीतल पवन आदिने संयोग भजे छे जेथी मने
शान्ती थाय. अर्थात्—साधुनु कर्तव्य छे छे ते इरेक अवस्थामा उष्ण परीपहने
छेते, परंतु तेनाथी गभराय नही (८)

टीका—‘उष्णाहित्तो’ इत्यादि ।

मेघावी=आगमोक्तमर्यादानुसर्ती मुनि, उष्णामित्त=उष्णेन-उष्णस्पर्शेन, अभित्तः=तापाकुल सन् स्नान नो प्रार्थयेत्=नैवाभिलषत् । अपि च गात्र-शरीर, नो परिपिबेत्=न जलैराद्र्द्रीकुर्यात् । च=पुन. आत्मान-स्वदेहं न बीजयेत्=व्यजनादिना शरीरे वायु नोदीरयेत् ।

अयं भाव.-उष्णतप्तोऽपि मुनिर्जलावगाहनस्नानव्यजनवातादि र्जयेत्, न च जलैर्गात्रं सिञ्चेत् । आतपवारणाय स्वदेहोपरि रजोहरणादिना छायां न कुर्यात् । न चापि छात्रादिकं धारयेत् । मनसाऽपि न प्रार्थयेत् किं तु उष्णापरीपहं सम्यक् सहेतेषि ।

‘उष्णाहि०’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ-(मेघावी-मेघावी) आगमोक्त मर्यादा का अनुसरण करने वाला मुनि (उष्णाहित्तो-उष्णामित्तः) उष्णस्पर्श से संतप्त होता हुआ भी (सिसाण नो विपत्थए-स्नान नोऽपि प्रार्थयेत्) स्नान की अभिलाषा न करे । तथा (गात्र नो परिस्निचेज्जा-गात्र नो परिपिबेत्) अपने शरीर ऊपर पानी न छींटे तथा उसको गोला भी न करे और न गीले कपड़े से ही पोंछे । तथा (अप्ययं न बीजयेत्-आत्मान न बीजयेत्) शरीर पर बीजना आदि से हवा भी न करे ।

इसका भाव यह है-उष्ण से संतप्त भी मुनि अचिरं जल का भी अयगाहन करना-उससे स्नान करना, बीजनादि से-पस्त्रा आदि से हवा करना इन समस्त शीतलोपचारकारक क्रियाओं का परित्याग कर देवे । अपने शरीर पर गर्मी की वेदना को दामन करने के लिए शीतल जल के

“उष्णाहि” इत्यादि

अन्वयाथ-मेघावी-मेघावी आगमभां कहेल मर्यादानु अनुसरण करवावाण मुनि उष्णाहित्तो-उष्णामित्त उष्ण स्पर्शशी संतप्त यवा छतां पक्षु सिसाण नो विपत्थए-स्नाननोऽपि प्रार्थयेत् स्नाननी अभिलाषा न करे गात्रं नो परिस्निचेज्जा-गात्रं नो परिपिबेत् पोताना शरीर उपर पाष्णी न छींटे तेम ज्जेने भीनु पक्षु न करे के न तो बीना कपडाथी छुछे, तथा “अप्ययं न बीजयेत्”-आत्मान न बीजयेत् शरीर उपर बीजना वजेरेभी हवा पक्षु न नाथे

आने भाव जे छे-उष्णताथी संतप्त अनेक मुनिजे पाष्णीने आशय देवे, जेनाथी स्नान करु, पथा आदिथी हवा भावी आ समस्त शीतल उपचार करके क्रियाज्जेने परित्याग करवे । पोताना शरीर उपर अरभीनी वेदना अनु दामन करवा भाटे शीतल ज्जेने छीठे पक्षु न देवे, आतप धारण

अत्र दृष्टान्तः—

आसीत् तगरानगर्या दत्तनामकः श्रेष्ठी । तस्य भद्राभार्यायामरहन्नक नामक पुत्रो जातः । एतदाऽसौ दत्तश्रेष्ठी भार्यापुत्राभ्या सहार्हन्मिनाचार्यसनिधौ धर्मदेशना निश्चम्य विरक्त सन् प्रव्रज्या गृहीतवान् । स दत्तमुनि स्नेहवशादरहन्नकदाचिदपि भिक्षार्थं न प्रेषयति, स्वयमेव भिक्षामानीय त पोषयति, न च ते किमपि कार्यं कारयति, अतोऽसौ सुकुमारो जातः । अन्यदा कदाचित् तस्य पित

छींटे भी न दे, तथा आतप को वारण करने के लिये रजोहरणादिक से शरीर पर छाया भी न करे। छत्र-छाता-आदि को भी धारण न करे और न इस प्रकार की क्रियाओं को करने की भावना ही रखे। जैसे भ्रमने उष्णपरीपह को सहन करे ।

दृष्टान्त—तगरा नाम की नगरीमें दत्त नाम का एक सेठ रहता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम भद्रा था। भद्रा से एक पुत्र हुआ, जिसका नाम अरहन्नक था। एक समय सेठ ने अपने स्त्री पुत्र के साथ जाकर अर्हन्मित्र नामके किसी आचार्य के पास धर्म का उपदेश सुना। सुनकर वे सत्सार से विरक्त हो गये और स्त्रीपुत्रसहित उसने दीक्षा अंगीकार करली, पुत्र से प्रेम होने के कारण वे कभी भी अपने पुत्र को भिक्षा लाने के लिये नहीं भेजते थे, किन्तु स्वयं जाकर भिक्षा लाते और पुत्र को भी आहार कराते। पुत्र से कुछ भी कार्य नहीं कराते। इस तरह दत्तमुनि का वह पुत्ररूप शिष्य बहुत ही सुकुमार प्रकृति के

करवा भाटे रनेहरषुदिकधी शरीर उपर छाया पक्ष न करवी, छत्र-छत्री वगेरे पक्ष धारण न करवां अने आ प्रहारनि क्रियाये करवानी भावना पक्ष न राषवी। नेम अने तेम उष्णपरीपहने सहन करवा

दृष्टान्त—तगरा नामकी नगरीमा दत्त नामना अेठ सेठ रहेता हता, तेनी धर्मपत्निनु नाम भद्रा हतु भद्राथी अेठ पुत्र थये। तेनु नाम अरहन्नक हतु अेठ समय सेठ पोताना स्त्री पुत्रनी साथे अर्हन्मित्र नामना अेठ आचार्य पास धर्मने उपदेश सांभाये। अे उपदेशथी सत्सारथी विरक्तभाव आये। अने स्त्री पुत्र साथे तेखे दीक्षा अंगिकार करी थीधी पुत्रथी प्रेम होवाने मरखे थी पक्ष पोताना पुत्रने भिक्षा लाववा भाटे मोठवता न हता परतु पोते अे अर्थने भिक्षा लावता अने पुत्रने पक्ष आहार करावता। पुत्रथी कंठ पक्ष कार्य करावता नही आ रीते दत्त मुनिना अे पुत्ररूप शिष्य वसी अे सुकुमार प्रकृतिवाला

दक्षमुनिर्मृत. तदनन्तरं साधुभिः प्रेरित सन्नरहन्नको ग्रीष्मकाले भिक्षायं गतः ।
स पूर्वमकृतधर्मोऽतीवमुकुमाराद्गुरुर्यकिरणोत्तरेणुनिकरणचरणतले, तपनाशुभि-
र्मस्तके च तापामिभूतसृपाशुष्ण्टोऽरहन्नकः कस्यचित् श्रेष्ठिनः प्रोचुङ्गमवनस्य
च्छायामाश्रित्य तिष्ठति ।

तदा त मुकुमार रूपसौन्दर्यं लावण्यगुणैर्मन्मयावतारं मुनिमरहन्नककुमार इ-
त्तु कश्चित् प्रोपितमर्तृका वणिग्माया दास्या त समाहूय गृहमानयति । ततः सा त
पृच्छति—भवान् किं याचते ? अरहन्नकः प्राह—भिक्षां याचे । ततः सा कामवशगता
धन गये । कालान्तर में दक्षमुनि का स्वर्गवास हो गया । अब क्या धा-
साधुओं से प्रेरित होकर वह एक समय भिक्षा लाने के लिये ग्रीष्म
काल में गये । सुकुमार प्रकृति के तो थे ही, पिता के समय पहिले
इन्होंने ने कुछ परिश्रम भी नहीं किया था, अतः उस ग्रीष्मकाल में
सूर्य की प्रचण्ड किरणों से संतप्त भूमि पर चलने से उनके पैरों में छाले
पड़ गये । माथा गरम हो गया । कंठ गर्मी के मारे सूख गया गर्मी की
इनको अधिक वेदना हुई । पास में किसी एक सेठकी बहुत ऊँची इबेली
थी सो वे गर्मी के मारे उसकी छाया में आकर ठहर गये । ठहरे हुए इन
मुनि को एक प्रोपितमर्तृका—विरहिणी—स्त्री ने देखा । यह शारीरिक रूप,
लावण्य एवं सौन्दर्य से ऐसे मालूम पड़ते थे कि जैसे मानो साक्षात् देव
ही हो । देखते ही सुकुमार इस अरहन्नक मुनि को उस विरहिणी वणि-
ग्मार्या ने अपनी दासी द्वारा मकान ऊपर बुलवाया । मकान ऊपर पहुँचते

गयी । कालान्तर इत्तमुनिने स्वर्गवास धर्ये आ पछी साधुओंनी प्रेरणाधी
प्रेरित गनी ते सुकुमारमुनि श्रीमहागमा भिक्षा लेवा भाटे गया सुकुमार
प्रकृति तो હતી જ, પિતાની હાજરીમા તેણે જરા નેટલો પણ પરિશ્રમ કરેલ ન
હતો આથી શ્રીમहागमा सूर्यना प्रचण्ड किरणोंधी संतप्त अनेल भूमि ઉપર
આલવાથી એના પગમાં છાલા પડી ગયાં, માથુ ગરમ થઈ ગયું, જળુ ગર-
મીના કારણે સુકાઈ ગયું, ગરમીની એને અધિક વેદના થઈ, પાસે જ ઠાઈ એક
શેઠની ઘણી જ ઉચી હવેલી હતી—આથી તે એ હવેલીની છાયામાં જઈને
ઉભા રહ્યા ઉભેલા મુનિને એઈ એક વિરહણી સ્ત્રીને એ તરફ લક્ષ્ય ખેલાયું જે
શારીરિક રૂપ, લાવણ્ય અને સૌંદર્યથી તેની દ્રષ્ટિએ દેવ તુલ્ય દેખાયા આ
અરહન્નક સુકુમાર મુનિને એઈને તે વિરહણી વણિક સ્ત્રીએ પોતાની ઠાસી માર
હત મકાન ઉપર બોલાવ્યા મકાન ઉપર પહોંચતાં જ મુનિ અરહન્નકને તેણે

त प्रलोभ्य स्वमन्त्रे स्थापितवती । अथ तन्माता भद्रासाध्वी मुनीनां निवासस्थाने
वन्दनार्थमागता । सा तत्र तमपश्यन्ती अर्हन्मित्राचार्यमपृच्छत्-भदन्त ! अरहन्न
कमुनि' क्व वर्तते ? अर्हन्मित्राचार्य, माह-अरहन्नको भिक्षार्थं गत , किं तु न पुनः
परावृत्तः, अतस्तमन्वेपयन्ति मुनय , इति तदनुपलब्धिवचनं वज्राघातमिवकठोर
श्रुत्वा व्याकुला सती भद्रा साध्वी पुत्रमोहेन अरे अरहन्नक ! अरे अरहन्नक !
इत्युच्चैर्विलपन्ती नयननिःस्रवदश्रुधारा पातयन्ती मोहेन पदे पदे प्रस्खलन्ती प्रति-

ही मुनि अरहन्नक से उसने पूछा आप क्या चाहते हैं ? अरहन्नक ने कहा
भिक्षा चाहता हूँ । काम के वशगत हुई उस स्त्री ने भिक्षा का लोभ देकर
अरहन्नक मुनि को अपने घर पर ठहरा लिया । उधर अरहन्नक मुनि की
माता भद्रा साध्वी मुनियों को वन्दना करने के लिये आई । अरहन्नक
मुनि को ज्यों ही वहा साध्वी ने नहीं देखा त्यों ही वह अर्हन्मित्रा
चार्य को पूछने लगी कि भदन्त ! अरहन्नक मुनि कहा हैं । आचार्य
महाराज ने कहा कि वे भिक्षा लेने के लिये बाहर गये थे, परन्तु अभी-
तक वापिस नहीं आये हैं अतः अन्यमुनिजन उनकी तलाश कर रहे
हैं । माता भद्रा साध्वी ने ज्यों ही यह बात सुनी त्यों ही उसके हृदय
में वज्र के आघात जैसा एक कठोर आघात हुआ और उसी समय
उसका चित्त विक्षिप्त-हो गया । वह पुत्र के मोह से बहुत ही आकुल-
व्याकुल होने लगी, और अपने आप बड़-बड़ाने लगी-अरे अरहन्नक !
तू इस समय कहा है, कह तो सही । इस प्रकार ऊँचे स्वर से विलाप
करती और आँखों से आँसुओं की धारा बहाती हुई वह स्थान स्थान पर

पूछ्यु आप शु-र्हन्ना-ओ ? अरहन्नक-कह्यु-के, हु-भिक्षा-आहु-छ-कामने
वश-अनेव-ते-स्त्री-भिक्षानो-दोष-आपीने-अरहन्नक-मुनिने-पेताने-घेर-शेकी-
वीधा-अहि-अर्हन्नक-मुनिनी-माता-भद्रा-साध्वी-मुनियेने-व-कषा-करवा-आवी-
अरहन्नक-मुनिने-ब्यारे-ते-साध्वी-भ्या-न-जोया-त्यारे-आचार्य-ने-पूछ्यु-के, 'छे-
भद-त-अरहन्नक-मुनि-कथां-छे ? आचार्य-भदरा-ने-कह्यु-के, भिक्षा-देवा-भाटे-ते-भ्ये-
अहार-गया-छे, पर-तु-हृष्ट-मुधी-पाछा-करेव-नथी-जेथी-अन्य-मुनिजन-तेनी-
वपास-करी-रहेव-छे-माता-भद्रा-साध्वी-भ्या-वात-साक्षणी-त्यारे-तेना-हृद-
यमा-वज्रना-धा-जेवो-ज्येक-आघात-थयो-अने-भ्ये-वभते-भ्येतु-चित्त-व्याकुण-अनी-
गयु-ते-पुत्रना-शेहथी-बषा-आकुण-व्याकुण-थवा-दाज्यां, अने-पोताना-मनमांज-
अरहन्नक-दाज्या-के, अरे-अरहन्नक ! तु-आ-सभये-क्या-छो, कहे-तो-अशे-
आ-प्रकारे-उया-स्वरथी-विलाप-करता-अने-आपोधी-अश्रुधारा-वहावतां, ते-

स्यल भ्राम्यति, सा यत्र यत्र गच्छति तत्र तत्र पुनः पुनर्लोकान् पृच्छति-मम प्राणवल्लभः पुत्रोऽरहन्नकः क्वापि दृष्टो भवद्भिः? । इत्येव पृच्छन्ती रुदती यं क्वपि दृष्टवती, त प्रति-अयमरहन्नक इति मत्वा हर्षमुद्वहन्ती, पुनस्तमनालोक्य स्वती विलम्बन्ती एकदा यत्रारहन्नक आसीत् तद्भवनसमीप समागता । तदा गवाक्षवर्तिनाऽरहन्नकेन तादृशवस्थापन्ना माता दृष्टा, सजातात्पन्तसवेगः स गवाक्षादुचीर्य चरणयोः पतित्वा मातरमेवमाह-हे मात ! सोऽरहन्नकः । इति तद्वचनं श्रुत्वा माता स्वस्यमानसा जाता, तदनु सा पुत्र माह-वत्स ! मन्व्यकुलोत्पन्नस्य तव कथमीदृशी

गिरती पडती इधर उधर घूमने लगी । जहा जहा चल् जाती वहां २ पूछती कि हे महानुभावो ! कहो तो सही तुम लोगों ने मेरे पुत्र अरहन्नक को कहीं देखा भी है ? । इस प्रकार पूछती, विलाप करती, रोती हुई वह भद्रा साध्वी जिस किसी को भी देखती हर्ष के भावावेश में आकर कहने लगती 'यह रहा मेरा अरहन्नक' । परन्तु जब उसमें उसे अरहन्नक दिखाई नहीं पड़ता तो पुनः रोने लगती । इस प्रकार अत्यंत विह्वल बनी हुई एक दिन वह वहां पहुँची जिस मकान में स्वयं अरहन्नक थे । जब यह वहां पहुँची थी उस समय अरहन्नक उस मकान की खिड़की में बैठे हुए थे । उसने रोती हुई अपनी माता को ज्यों ही देखा त्यों ही उसे संवेग के भाव अतिशय रीति से जागृत हो उठे । वह इकदम झरोखे से नीचे उतर कर माता के दोनों चरणों में पड़ गये और बोला कि हे मात मैं अरहन्नक हूँ । इस प्रकार उनके वचन को सुनकर माता का चित्त शान्त हो गया और बोली-वत्स ! तुम तो कुलवान् हो जातिमान हो फिर लुम्हारी

स्थणे स्थणे अथश्रुतां अहं तदि इरवा वाज्यां ने ते स्थणे ते अहं पूछतां हे हे महानुभावो । कहे तो भद्रा तमोझे मारा पुत्र अरहन्नकने कयाँई देखा छे ? आ प्रकारे पूछतां अने विलाप करतां अने शतां ते भद्रा साध्वी ब्यारे ठाँई ने लुके तो दर्शना भावावेशमां आवीने कहेवा लागता हे आ रह्यो मारि अरहन्नक ! परन्तु ब्यारे तेने अरहन्नक न देआतो त्यारे ते इरीशी शिवा वाजर्ता आ प्रकारे अत्यंत विह्वल बनी अके द्विसे ते अने मकान उपर पहुँचियां हे ब्यां अरहन्नक इतो । ब्यारे ते त्या पहुँचियां ते वपते अरहन्नक ते मकाननी अके आरीमां बैठेव इतो तेजे पीतानी माताने शती अके त्यारे तेनामां संवेगने भाव अतिशय जागृत धयो । ते अकेभम अर्जेथी नीचे उतरिने माताना चरणोमां पडी गयो अने बोदयो हे हे माता ! हे अरहन्नक हूँ आ प्रकारेनां तेनां वचन आशनीने मातानु अिच शान्त अनी गभु अने बोली, वत्स ।

दशा ? सोऽवदत्—हे मातश्चारित्र पालयितुमसमर्थोऽस्मि । सा प्राह—तर्हि अनशनं कुरु । यत—

वरं पवेसो जल्लिणं हुयासणे,
न यावि भग्गं चिरसच्चियं वयं ।

वरं हि मच्चू सुविशुद्धकम्मओ,
न यावि सीलक्खलियस्स जीवणं ॥ १ ॥

छाया—वरं प्रवेशो ज्वलिते हुताशने,
न चापि भग्नं चिरसंचितं व्रतम् ।

वरं हि मृत्यु सुविशुद्धकर्मतो,
न चापि शीलस्खलितस्य जीवनम् ॥ १ ॥

सुविशुद्धकर्मतः—निरवघक्रियाऽऽचरणतः, मृत्युः=मरण, वर=प्रेषः, न तु शीलस्खलितस्य=चरित्रपतितस्य जीवनम् । अन्यत् सुगमम् ।

ऐसी दशा क्यों हुई ? अरहन्नक योले—मात ! इस दशा के होने का कारण चारित्र्य को पालन करने की असमर्थता है । माता बोली—यदि तुम चरित्र पार करने के लिये असमर्थ हो तो अनशन करो । जैसे कहा है—

“ वरं पवेसो जल्लिणं हुयासणे,
न यावि भग्गं चिरसच्चियं वयं ।

वरं हि मच्चू सुविशुद्धकम्मओ,
न यावि सीलक्खलियस्स जीवणं ॥ १ ॥ ”

घघकती हुई अग्नि में प्रवेश करना तो ठीक है परन्तु चिरसंचित व्रत का भंग करना ठीक नहीं है । सुविशुद्ध कर्म—शील आराधन करते

तमि तो हुणवान् छे, अतिवान् छे, छत्ता तभारी आवी इशा डेम धर्ष ? अरहन्नके कब्बु, मात्ता । आ इशा थवान् ठारब्बु चारित्र पालन करवानी अस्स भर्षता छे मात्ताके कब्बु, जे तमे चारित्र पालन करवा माटे अस्सभर्षे छे ते अनशन करे जेम कब्बु छे—

“ वरं पवेसो जल्लिणं हुयासणे,
न यावि भग्गं चिरसच्चियं वयं ।

वरं हि मच्चू सुविशुद्धकम्मओ,
नयावि सीलक्खलियस्स जीवणं ॥ १ ॥ ”

भक्षकती जेवी अग्निभा प्रवेश करवो ठीक छे, परन्तु चिरसंचित व्रतको भंग करवो ठीक नथी. सुविशुद्ध कर्मशील आराधना करवा करवां मृत्यु थर्षु ठीक छे,

एव मातृवचः श्रुत्वा स सजातवैराग्यः सर्वसावधयोग प्रत्याख्याय पुनः संवर्त
 गृहीतवान् । तत उत्कृष्टाचारेण ग्रामानुग्रामं विहरन् उष्णपरीपहं सहमानः नवचित्त
 पापाणमयप्रदश माप्य चिन्तयति—'प्रदेशोऽयं प्रचण्डमार्त्तण्डकिरणसयोगाद् बहि
 षत्प्रतप्त , उष्णतरश्च वायु प्रवहति, अत्र पदमपि गन्तुमसमर्थोऽस्मि,' एव विचिन्त्य
 परित मत्सभूमीतल विलोक्य परीपहोऽय मया सोढव्य इत्यवधार्य तप्तशिलोपरि

करते मृत्यु होना ठीक है, परन्तु शील से स्वलित व्यक्ति का जीवन
 ठीक नहीं है। निरवध क्रिया का नाम सुविशुद्धकर्म एव चारित्र से
 पतित होने का नाम शील से स्वलित होना है।

इस प्रकार जननी के वचन मुनकर उसका मुस वैराग्य जग उठा,
 पश्चात् उसने सर्वसावध योग का प्रत्याख्यान कर पुनः समय लिया।
 माता के वचन से उद्योषित होकर उसने फिर उत्कृष्ट चरित्र का
 आराधन किया और चारित्र की आराधनापूर्वक ही ग्रामानुग्राम विहार
 करते हुए उष्णपरीपह को सहन किया। एक समय की बात है कि ये
 विहार करते २ ऐसे प्रदेश में पहुँचे कि जहाँ पत्थरों की बहुलता थी।
 यहाँ पहुँच कर उन्होंने विचार किया कि यह प्रदेश सूर्य की किरणों से
 अधिक संतप्त बना हुआ है। यह तो ऐसा तप रहा है कि जैसे मानों
 अग्नि ही जल रही हो। वायु भी इतनी गर्म चल रही है कि जिससे
 एक पैर भी सुखपूर्वक चला नहीं जा सकता है। इस प्रकार विचार
 करते हुए अरहन्नक मुनि ने अपने आसपास की समस्त भूमि को

परतु शीलधी स्थलित यथैव व्यक्तिनु लवन ठीक नथी निरवध क्रियानु नाम
 सुविशुद्ध कर्म, चारित्रधी पतित यवानु नाम शीलधी स्थलित भनवु ते

आ प्रकारना भातानां वचन सांभलीने तेना सुतेवो वैशम्य लगी
 उठयो अने तेवो सर्व सावध योगनु प्रत्याख्यान करी पुन समयने धारण
 कयो. भाताना वचनधी उद्योषित भनी तेवो यधी उत्कृष्ट चारित्रनु आराधन
 कयु अने चारित्रनी आराधना पूर्वक ए आमनुग्राम विहार करीने उष्ण
 परीपहने सहन कयो अक समये अे विहार करता करता जेवा प्रदेशमा
 पत्थरानी अया के, अन्या पत्थरानो मोटा प्रमाणमा हुता त्यां पछोचीने तेजोअे
 विचार कयो के, आ प्रदेश सूर्यना किरणोधी अधिक संतप्त भनेवो छे आ
 तो जेवा तपी रक्षा छे के अवे अग्नि ए सजगी रही छे वायु पख अटवी
 ए रीते गरम हु काठ रहेव छे आधी अेक उगर्तु पख सुभपूर्वक चाली थकारु
 नथ. आ प्रकारना विचार करता करता अरहन्नक मुनिने पातानी आसपासनी

समुपविशति । तत्र—प्रत्याख्याताष्टादशपाप कृतदुष्कृतगर्ह क्षामितसकलसत्त्व-
स्वीकृतचतुर्विधशरण , परित्यक्तसर्वसग पुन पुन. कृतपचनमस्कारोऽनशन कृत्वा
समाधिभावसम्पन्न पादपोपगमनेन मुहूर्तमात्रेण सुकुमारशरीरो नवनीतपिण्डइवोष्णेन
विलीन सौधर्म मुरलोऋ गत , एव मुनिमिरुष्णपरीपह सोढव्य ॥९॥

ग्रीष्मफालान्तर वर्षाकाले दशमशकादिकृतपीडा प्राप्तेन साधुना तत्परीपहः
सोढव्य इत्याह—

मूलम्—पुंढो ये दसैमसएहिं, संम रेवं मर्हामुणी ।

नागो सगामसीसे वा, सूरुो अभिहैणे पर ॥१०॥

उाया—सृष्टक्ष दशमशकै. सम एव महासुनि. ।

नाग समामशीर्षे वा, शूरोऽमिह्न्यात् परम् ॥ १० ॥

अत्यत उष्ण देखा और पुन. विचार करने लगे कि यह उष्णपरीपह
मुझे साधु के नाते अवश्य सहन करना चाहिये, ऐसा निश्चित कर वह
एक तप्त शिला के ऊपर बैठ गये। वहा उन्होंने १८ पापस्यानों का
प्रत्याख्यान किया, अपने दुष्कृतों की गर्हा की, समस्त जीवों से स्वमत
खामणा किया। चार प्रकार के शरणों को स्वीकार किया, समस्त ममता
का त्याग किया, एव पचपरमेष्ठी को बार बार नमस्कार किया। पश्चात्
अनशन धारण कर समाधिभाव से युक्त अरहन्नक मुनि ने पादपोपगमन
संधारा किया। एक मुहूर्तमात्र में ही उनका सुकुमार शरीर मक्खन के
पिंड की तरह गर्मी से विलीन हो गया और वे मर कर सुधर्मदेवलोक
में देव हुए। इसी तरह अन्य मुनि जनों को भी उष्णपरीपह सहन
करना चाहिये ॥ ९ ॥

समस्त भूमीने अत्यत उष्ण ढोई अने पाछा विचार करवा लाख्या ठे उष्ण
परीपह भारे साधुना धर्मधी अवश्य सहन करवाे ढोईजे जेवा निश्चय करी
जेक तपेही शीला उपर जेसी गया न्या तेजोजे १८ पापस्थानोतु प्रत्याख्यान
कथुं, पोताना दुष्कृत्यानी माई मागी, समस्त एवोधी भमत प्रामञ्जा वीधां,
बार प्रकारना शरखुनो स्वीकार कथीं अने समस्त ममतानो त्याग कथीं तेमज
पचपरमेष्ठीने बार बार नमस्कार करवा लाख्या पछी अनशन धारखु करी समाधि
भावधी युक्त अरहन्नक मुनिजे पादपोपगमन संधारा कथीं. जेक मुहूर्त मात्रमाज
तेमनु सुकुमार शरीर माभञ्जना पीडनी माइक गरभीधी जोगणी गथुं अने ते मरीने
सुधर्म देवलोकां देव थया आरीते अन्य मुनिजनोंजे पखु उष्णपरीपह सहन
करवाे ढोई जे. ॥ ९ ॥

एव मातृवचः श्रुत्वा स सजातवैराग्यः सर्वसावधयोग प्रत्याख्याय पुनः सर्वम
 गृहीतवान् । तत उत्कृष्टाचारण ग्रामानुग्राम विहरन् उष्णपरीपह सहमानः क्वचित्
 पाषाणमयप्रदशं प्राप्य चिन्तयति—‘प्रदेशोऽय प्रचण्डमार्चण्डकिरणसयोगाद् बहि-
 वत्प्रतप्त, उष्णतरश्च वायु प्रवहति, अत्र पदमपि गन्तुमसमर्थोऽस्मि,’ एव विचिन्त-
 परित प्रतप्तभूमीतल विलोक्य परीपहोऽय मया सोढव्य इत्यर्थार्थं तप्तशिलोपरि

करते मृत्यु होना ठीक है, परन्तु शील से स्वल्पित व्यक्ति का जीवन
 ठीक नहीं है। निरवध क्रिया का नाम सुविशुद्धकर्म एव चारित्र से
 पतित होने का नाम शील से स्वल्पित होना है।

इस प्रकार जननी के वचन सुनकर उसका मुत्त वैराग्य जग उठा,
 पश्चात् उसने सर्वसावध योग का प्रत्याख्यान कर पुन समय लिया।
 माता के वचन से उद्बोधित होकर उसने फिर उत्कृष्ट चरित्र का
 आराधन किया और चारित्र की आराधनापूर्वक ही ग्रामानुग्राम बिहार
 करते हुए उष्णपरीपह को सहन किया। एक समय की बात है कि ये
 बिहार करते २ ऐसे प्रदेश में पहुँचे कि जहाँ पत्थरों की बहुलता थी।
 वहाँ पहुँच कर उन्होंने विचार किया कि यह प्रदेश सूर्य की किरणों से
 अधिक संतप्त बना हुआ है। यह तो ऐसा तप रहा है कि जैसे मानों
 अग्नि ही जल रही हो। वायु भी इतनी गर्म चल रही है कि जिससे
 एक पैर भी सुखपूर्वक चला नहीं जा सकता है। इस प्रकार विचार
 करते हुए अरहन्नक मुनि ने अपने आसपास की समस्त भूमि को

પરતુ શીલથી સ્ખલિત થયેલ વ્યક્તિનુ ભવન ઠીક નથી નિરવધ ક્રિયાનુ નામ
 સુવિશુદ્ધ કર્મ, ચારિત્રથી પતિત થવાનુ નામ શીલથી સ્ખલિત બનવું તે

આ પ્રકારનાં માતાના વચન સાંભળીને તેનો સુતેલો વૈરાગ્ય બગી
 ઉઠ્યો અને તેણે સર્વ સાવધ યોગનુ પ્રત્યાખ્યાન કરી પુન સયમને ધારણ
 કર્યો. માતાના વચનથી ઉદ્બોધિત બની તેણે પછી ઉત્કૃષ્ટ ચારિત્રનુ આરાધન
 કર્યું અને ચારિત્રની આરાધના પૂર્વક જ આમનુગ્રામ વિહાર કરીને ઉષ્ણ
 પરીપહને સહન કર્યો એક સમયે એ વિહાર કરતાં કરતાં એવા પ્રદેશમાં
 પહોંચી ગયા કે, બધાં પથરાઓ મોટા પ્રમાણમાં હતા ત્યાં પહોંચીને તેઓએ
 વિચાર કર્યો કે, આ પ્રદેશ સૂર્યના કિરણોથી અધિક સંતપ્ત બનેલો છે આ
 તો એવા તપી રહ્યા છે કે બધું અગ્નિ જ સળગી રહી છે વાયુ પણ એટલી
 જ રીતે ગરમ કુઠાઈ રહેલ છે આથી એક ઠગલું પણ સુખપૂર્વક ચાલી શકાતું
 નથી. આ પ્રકારનો વિચાર કરતાં કરતા અરહનક મુનિયે પોતાની આસપાસની

समुपविशति । तत्र-प्रत्याख्याताष्टादशपाप कृतदुष्कृतगर्ह' क्षामितसफलसत्त्वः
स्वीकृतचतुर्विंशशरण , परित्यक्तसर्वसग, पुन पुन कृतपचनमस्कारोऽनशन कृत्वा
समाधिभावसम्पन्न पादपोपगमनेन मुहूर्तमात्रेण सुकुमारशरीरो नवनीतपिण्डद्वोष्णेन
विलीन सौधर्मं सुरलोक गत , एव मुनिभिरुष्णपरीपह सोढव्य' ॥९॥

ग्रीष्मकालान्तर वर्षाकाले दशमशकादिकृतपीडा प्राप्तेन साधुना तत्परीपहः
सोढव्यः इत्याह—

मूलम्—पुंठो ये दसैमसएहिं, संम रेवं महामुणी ।

नागो सगामसीसे वा, सूरुो अभिहणे 'पर ॥१०॥

छाया—सृष्टश्च दशमशकैः सम एव महामुनि' ।

नाग. समामशीपे वा, शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥ १० ॥

अत्यत उष्ण देखा और पुन विचार करने लगे कि यह उष्णपरीपह
मुझे साधु के नाते अवश्य सहन करना चाहिये, ऐसा निश्चित कर वह
एक तप्त शिला के ऊपर बैठ गये। वहा उन्होंने १८ पापस्यानों का
प्रत्याख्यान किया, अपने दुष्कृतों की गर्हा की, समस्त जीवों से स्वमत
खामणा किया। चार प्रकार के शरणों को स्वीकार किया, समस्त ममता
का त्याग किया, एव पचपरमेष्ठी को बार बार नमस्कार किया। पश्चात्
अनशन धारण कर समाधिभाव से युक्त अरहन्नक मुनि ने पादपोपगमन
सधारा किया। एक मुहूर्तमात्र में ही उनका सुकुमार शरीर मक्खन के
पिंड की तरह गर्मी से विलीन हो गया और वे मर कर सुधर्मदेवलोक
में देव हुए। इसी तरह अन्य मुनि जनों को भी उष्णपरीपह सहन
करना चाहिये ॥ ९ ॥

समस्त भूमीने अत्यत उष्ण ज्येष्ठ अने पाछा विचार करवा लाज्या के उष्ण
परीपह भारे साधुना धर्मधी अवश्य सहन करवे ज्येष्ठ ज्ये. ज्येवा निश्चय करी
ज्येष्ठ तपेही शीला उपर ज्येसी गया ज्येवा तेज्येज्ये १८ पापस्थानोनु प्रत्याख्यान
क्युं, पोताना दुष्कृत्योनी भाई भागी, समस्त लोकोधी भमत भामखा वीधा,
बार प्रकारना शरखुने स्वीकार कर्यो अने समस्त भमतानो त्याग कर्यो तेमज
पचपरमेष्ठीने बार बार नमस्कार करवा लाज्या पछी अनशन धारखु करी समाधि
भावधी युक्त अरहन्नक मुनिजे पादपोपगमन स धारी कर्यो ज्येष्ठ मुहूर्त' मात्रमा ज
तेमनु सुकुमार शरीर भाखुना पीठनी भाइक गरभीधी ज्योगणी ग्यु अने ते मरीने
सुधर्म देवलोकमां देव धया आ रीते अन्य मुनिजनेजे पखु उष्णपरीपह सहन
करवे ज्येष्ठ ज्ये. ॥ ६ ॥

एव मातृवचः श्रुत्वा स सजातवैराग्य. सर्वसावधयोग प्रत्याख्याय पुनः संक
 गृहीतवान् । तत उत्कृष्टाचारेण ग्रामानुग्रामं विहरन् उष्णपरीपह सहमान. स्वचित्
 पापाणमयप्रदेशं प्राप्य चिन्तयति—'प्रदेशोऽयं प्रचण्डमार्तण्डकिरणसयोगाद् बहि
 वल्गुतस, उष्णतरश्च वायु प्रवहति, अत्र पदमपि गन्तुमसमर्थोऽस्मि,' एव विचिन्त्य
 परितः प्रतप्तभूमीतल विलोक्य परीपहोऽय मया सोढव्य इत्यप्यर्थं तप्तश्लोपा

करते मृत्यु होना ठीक है, परन्तु शील से स्वलित व्यक्ति का जीवन
 ठीक नहीं है। निरवध क्रिया का नाम सुचिश्चुद्धकर्म एव चारित्र्य से
 पतित होने का नाम शील से स्वलित होना है।

इस प्रकार जननी के वचन मृनकर उसका मुक्त वैराग्य जग उठा,
 पश्चात् उसने सर्वसावध योग का प्रत्याख्यान कर पुन सयम लिया।
 माता के वचन से उद्योधित होकर उसने फिर उत्कृष्ट चरित्र का
 आराधन किया और चारित्र्य की आराधनापूर्वक ही ग्रामानुग्राम विहार
 करते हुए उष्णपरीपह को सहन किया। एक समय की बात है कि ये
 विहार करते २ ऐसे प्रदेश में पहुँचे कि जहाँ पत्थरों की यहलता थी।
 वहाँ पहुँच कर उन्होंने विचार किया कि यह प्रदेश सूर्य की किरणों से
 अधिक संतप्त बना हुआ है। यह तो ऐसा तप रहा है कि जैसे मानों
 अग्नि ही जल रही हो। वायु भी इतनी गर्म चल रही है कि जिससे
 एक पैर भी सुखपूर्वक चला नहीं जा सकता है। इस प्रकार विचार
 करते हुए अरहन्नक मुनि ने अपने आसपास की समस्त भूमि को

परतु शीलथी स्भक्षित धयेव व्यक्तितु लवन ठीक नथी निरवध क्रियानु नाम
 सुचिश्चुद्ध कर्म, चारित्र्यथी पतित धवानु नाम शीलथी स्भक्षित धनवु ते
 आ प्रकारना भातानां वचन सांभणीने तेना सुतेलैः वैराग्य लगी
 उठयो अने तेखे सर्व सावध योगनु प्रत्याख्यान करी पुन सयमने धारण
 कथी भाताना वचनधी उद्बोधित भनी तेखे पछी उत्कृष्ट चारित्र्यनु आराधन
 कथु अने चारित्र्यनी आराधना पूर्वक व ग्रामानुग्राम विहार करीने उष्ण
 परीपहने सहन कथी. जेठ समये जे विहार करता करता जेवा प्रदेशमा
 पहुँची गया के, जया पत्थराजो मोटा प्रमाणमा हुता त्या पहुँचीने तेजो
 विचार कथी के, आ प्रदेश सयना किरणधी अधिक सतप्त बनेलै छे आ
 तो जेवा तपी रखा छे के जेखे अग्नि व सजगी रही छे वायु पखु जेटली
 व रीते अरम कुठार्थ रहेव छे जया जेठ उगलु पखु सुभपूर्वक जया रक्षार्थ
 नथ। आ प्रकारने विचार करता करता अरहन्नक मुनिने योतानी आसपासनी

समुपविशति । तत्र-प्रत्याख्याताष्टादशपाप कृतदुष्कृतगर्ह क्षामितसकलसत्त्व-
स्वीकृतचतुर्विधशरण', परित्यक्तसर्वसग पुन पुन कृतपचनमस्कारोऽनशन कृत्वा
समाधिभावसम्पन्न पादपोपगमनेन मुहूर्तमात्रेण सुकुमारशरीरो नवनीतपिण्डइवोप्येन
विलीन सौधर्म मुरलोक गत , एव मुनिमिरुष्णपरीपह सोढव्य ॥९॥

ग्रीष्मकालान्तर वर्षाकाले दशमशतदिकृतपीडा प्राप्तेन साधुना तत्परीपह'
सोढव्य. इत्याह—

मूलम्—पुंष्टो ये दसंससएहिं, संम रेवं महामुणी ।

नागो सगामसीसे वा, सुरो अभिहैणे 'पर ॥१०॥

छाया—सृष्टृष दशमशकै' सम एव महामुनिः ।

नाग. सप्रामशीर्षे वा, शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥ १० ॥

अत्यत उष्ण देखा और पुन विचार करने लगे कि यह उष्णपरीपह
मुझे साधु के नाते अवश्य सहन करना चाहिये, ऐसा निश्चित कर वह
एक तप्त शिला के ऊपर बैठ गये । वहा उन्होंने १८ पापस्यानों का
प्रत्याख्यान किया, अपने दुष्कृतों की गर्हा की, समस्त जीवों से खमत
खामणा किया । चार प्रकार के शरणों को स्वीकार किया, समस्त ममता
का त्याग किया, एव पचपरमेष्ठी को धार धार नमस्कार किया । पश्चात्
अनशन धारण कर समाधिभाव से युक्त अरहन्नक मुनि ने पादपोपगमन
सधारा किया । एक मुहूर्तमात्र में ही उनका सुकुमार शरीर मक्खन के
पिण्ड की तरह गर्मी से विलीन हो गया और वे मर कर सुधर्मदेवलोका
में देव हुए । इसी तरह अन्य मुनि जनों को भी उष्णपरीपह सहन
करना चाहिये ॥ ९ ॥

समस्त भूमिने अत्यत उष्ण जेई अने पाछा विचार करवा लाग्या हे उष्ण
परीपह भारे साधुना धर्मधी अवश्य सहन करवा जेईजे. जेवे निश्चय करी
जेक तपेही शिला उपर जेसी गया न्या तेजोजे १८ पापस्थानोनु प्रत्याख्यान
क्यु', पोताना दुष्कृत्योनी भाई भागी, समस्त एवेधी अमत आभवा वीधां,
आर प्रकारना शरणोने स्वीकार क्यो अने समस्त ममतानो त्याग क्यो तेमज
प अपरमेष्ठीने वार वार नमस्कार करवा लाग्या पछी अनशन धारण करी समाधि
भावधी युक्त अरहन्नक मुनिजे पादपोपगमन स धारे क्यो. जेक मुहूर्त' मात्रमा ज
तेमनु सुकुमार शरीर भाभणुना पीडनी भाईक गरभीधी जोगणी गयु अने ते मरीने
सुधर्म देवलोका भा देव थया आ रीते अन्य मुनिजोनेजे पख उष्णपरीपह सहन
करवा जेईजे ॥ ९ ॥

ટીકા—‘ પુટ્ટો ય ’ इत्यादि ।

च=अपर च सम पर=उपकार्यपकारिणु तुल्यभावधारक, महासुनि.=उग्र-
तपश्चरणशीलः दशमशकैः, इदमुपलक्षणम्, तेन मत्कुणयूकादिभिरपि स्पृष्ट.—पीडित.
सन्, सग्रामशिरसि=रणमस्त्वक, सूरः=पराक्रमी, नागो वा=इस्तीव पर=शत्रु-
रागद्वेषलक्षण भावशत्रुम्, अभिहन्यात्=पराजयेत् । ‘ समरेव ’ इत्यत्रार्पित्वात्प्रेकः ।

अय भावः—यथा—सूरः=करी शराघातैर्व्यथितोऽपि रणे शत्रु जयति, तद्वत्
साधुरपि दशमशकादिभिः पीड्यमानोऽपि कषाय शत्रु जयेदिति ॥ १० ॥

ગ્રીષ્મ કાલ કે વાદ વર્ષા કાલ આતા હૈ, उसमें दशमशक आदि का
परीपह उत्पन्न होता है । साधु का कर्तव्य है कि वह इस दशमशकरूप
पाचवे परीपह को सहन करे, इस यात को सूत्रकार आगे की गाथा
द्वारा बतलाते हैं—‘ पुट्टो य ’ इत्यादि ।

અન્વયાર્થ—(સમરે વ-સમણ્વ) ઉપકારી ઓર અપકારી મેં તુલ્ય ભાવ
ધારણ કરને વાલા (મહાસુણી-મહાસુનિ) ઉગ્રતપસ્ચરણશીલ મહાસુનિ
(વસમસપદિ-દશમશકૈ) દશમશકોં કે દ્વારા, ઉપલક્ષણ સે મત્કુળ-
સ્વદમલ, યૂકા-જૂ આદિ દ્વારા મી (પુટ્ટો-સ્પૃષ્ટઃ) પીડિત હોને પર (સગામ-
સીસે-સંગ્રામ શીર્ષે) યુદ્ધ કે થીચ મેં (સૂરો-શૂર) પરાક્રમી (નાગો વા-
નાગ ઇવ) હસ્તી કી તરહ (પર અભિહણે-પરં અભિહન્યાત્) શત્રુ ક્રો-
રાગદ્વેષરૂપ ભાવશત્રુ કો પરાસ્ત કરે ।

ગરમશત્રુ પછી ચોમાસાનો સમય આવે છે આમાં દશમશક વજેરે પરી
પહની ઉત્પત્તિ થાય છે, સાધુને એ કર્તવ્ય છે કે દશમશકરૂપી પાચવો પરીપહ
સહન કરે આ વાતને સૂત્રકાર આજળની ગાથાથી બતાવે છે

“ પુટ્ટો ય ” इत्यादि

અન્વયાર્થ—(સમરેવ-સમણ્વ) ઉપકારી અને અપકારીમાં સમભાવ ધારણ
કરવાવાળા મહાસુણી-મહાસુનિ ઉગ્ર તપસ્થ કરનાર શીલવાન મહાસુનિ વસમસપદિ-
વસમશકૈઃ શંસ, મચ્છર દ્વારા ઉપલક્ષણથી માફક, જૂ, આદિ દ્વારા પણ પુટ્ટો-સ્પૃષ્ટઃ
પીડિત હોવા છતાં “ સગામસીસે-સંગ્રામશીર્ષે ” યુદ્ધની વચ્ચે (સૂરો-શૂર) પરાક્રમી
(નાગો વા-નાગઇવ) હાથીની માફક (પરં અભિહણે-પરં અભિહન્યાત્) શત્રુને-રાગ દ્વેષ
રૂપ ભાવશત્રુને પરાસ્ત કરે. એનો ભાવ આ છે જેમ પરાક્રમી હાથી બાણોના
આઘાતથી વ્યથિત હોવા છતાં પણ રણમાં શત્રુઓને હરાવે છે તેવી રીતે સાધુ પણ
શંસ, મચ્છર આદિ દ્વારા પીડિત હોવા છતાં પણ કષાયરૂપી શત્રુને પરાસ્ત કરે

केन प्रकारेण भावशत्रु जयेदित्याह—

मूलम्—ने सतसे ने वारेज्जा मंगापि न पओसए ।

उवेहे ने हेणे पीणे, भुजेन्ते मससोणिय ॥ ११ ॥

छाया—न सत्रसेत् न वारयेत्, मनोऽपि न प्रदूषयेत् ।

उपेक्षेत न हन्यात् प्राणान्, भुञ्जानान् मास शोणितम् ॥ ११ ॥

टीका—‘ न सतसे ’ इत्यादि ।

महामुनिर्दशमशकैरुपद्रुत सन् न सत्रसेत्=नोद्विजेत्-दशमशकादिभिर्दशमा-
नोऽपि न तत्. स्थानादपगच्छेदित्यर्थ । न वारयेत्, इस्त्वस्त्रादिना नापसारयेत्-
मनोऽपि न प्रदूषयेत्=न क्लृप्तं कुर्यात् अपि-शब्दाद्वचनादिकमपि न प्रदुष्टं

इसका भाव यह है—जैसे पराक्रमी हस्ती बाणों के आघात से व्यथित होने पर भी रण में शत्रु को परास्त कर देता है, उसी तरह साधु भी दशमशक आदि द्वारा पीडित होने पर भी कपायरूपी शत्रु को परास्त करे ॥ १० ॥

भावशत्रु को किस तरह परास्त करना चाहिये इसको इस गाथा द्वारा स्पष्ट किया जाता है—न सतसे इत्यादि

अन्वयार्थ—महामुनि दशमशक आदि से पीडित होने पर भी (न सतसे-न सत्रसेत्) कभी भी चित्त में उद्विग्न न होवे-दशमशक आदि से पीडित होने पर भी मुनि एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जावे (न वारेज्जा-न वारयेत्) दशमशक को अपने शरीर पर बैठ जाने पर हस्तअथवा वस्त्र आदि से नहीं हटावे । (मंगं पि न पओसए-

आने। भाव अे छे हे-जेम पराक्रमी हाथी आघातना आघातभी पीडित होवा छतां पक्षु रक्षुभां शत्रुने परालत करे छे, तेवी ज रीते साधु पक्षु दशमशक आदि द्वारा पीडित होवा छतां पक्षु कपायरूपी शत्रुने पराजय करे ॥१०॥

भावशत्रुने देवी रीते लतवा जेध अे, अे उदीकत आ गाथा द्वारा प्रजट करवाभां आवे छे नसससे-इत्यादि.

अन्वयार्थ—हांस अने भन्धरथी पीडित अनवा छता पक्षु न सससे-न सत्रसेत् महामुनि चित्तभां उद्वेग न आवे,—हांस भन्धरना करडवाथी मुनिअे जेक स्थानधी पीड्य स्थाने न जसु, न वारेज्जा-न वारयेत् हांस भन्धरने पीताना शरीर पर बैठेस जेधने हाथ अने वस्त्र आदिथी तेने हटावे नही, मंगपि न पओसए-

टीका—' पुट्टो य ' इत्यादि ।

च=अपरं च सम एव=उपकार्यपकारिणु तुल्यभावधारकः, महामुनिः=उग्र-
तपश्चरणशीलः दशमशकैः, इन्द्रपलक्षणम्, तेन मस्कुणयूमादिभिरपि स्पृष्टः—पीडित-
सन्, सग्रामशिरसि=रणमस्तके, शूरः=पराक्रमी, नागो वा=हस्तीव परं=शत्रु-
रागद्वेषलक्षण भावशत्रुम्, अभिह्न्यात्=पराजयेत् । ' समरेव ' इत्यत्रार्थत्वात्प्रेकाः ।

अयं भावः—यथा—शूरः=करी शरापातैर्व्यथितोऽपि रणे शत्रुं जयति, तद्वत्
साधुरपि दशमशकादिभिः पीड्यमानोऽपि कषाय शत्रुं जयेदिति ॥ १० ॥

ग्रीष्म काल के बाद वर्षा काल आता है, उसमें दशमशक आदि का
परीपह उत्पन्न होता है । साधु का कर्तव्य है कि वह इस दशमशकरूप
पाचवे परीपह को सहन करे, इस बात को सूत्रकार आगे की गाथा
द्वारा पतलाते हैं—' पुट्टो य ' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(समरे व-समएव) उपकारी और अपकारी में तुल्य भाव
धारण करने वाला (महामुणी-महामुनि) उग्रतपश्चरणशील महामुनि
(वसमसपहिं-दशमशकै) दशमशकों के द्वारा, उपलक्षण से मस्कुण-
खटमल, यूका-जू आदि द्वारा भी (पुट्टो-स्पृष्टः) पीडित होने पर (सग्राम-
सीसे-संग्राम शीर्ये) युद्ध के बीच में (शूरो-शूर) पराक्रमी (नागो वा-
नाग इव) हस्ती की तरह (पर अभिह्नो-परं अभिह्न्यात्) शत्रु को-
रागद्वेषरूप भावशत्रु को परास्त करे ।

अशक्तपु पक्षी योमासानो समय आवे छे आमा दशमशक वजेर परी
पहनी छत्थति थाय छे, साधुनु जे कर्तव्य छे छे दशमशकपक्षी पाचवे परीपह
सहन करे. आ वातने सूत्रकार आगणनी जायाथी बतावे छे

“ पुट्टो य ” इत्यादि

अन्वयार्थ—(समरेव-समएव) उपकारी जने अपकारीमां समभाव धारण
करवावाणा महामुणी-महामुनिः उग्र तपस्थ करतार शीलवान महामुनि वसमसपहिं-
दशमशकै अंस, मच्छर द्वारा उपलक्षणपक्षी भाठठ, जू, आदि द्वारा पक्षु पुट्टो-स्पृष्टः
पीडित होवा छतां “ संग्रामसीसे-संग्रामशीर्ये ” युद्धनी वचमां (शूरो-शूर) पराक्रमी
(नागो वा-नागइव) हाथीनी भाठठ (पर अभिह्नो-परं अभिह्न्यात्) शत्रुने-राज द्वेष
रूप भावशत्रुने परास्त करे जेना भाव आ छे जेभ पराक्रमी हाथी जायेना
आघातधी व्यथित होवा छतां पक्षु रक्षमां शत्रुजोने हरावे छे तेवी रीते साधु पक्षु
अंस, मच्छर आदि द्वारा पीडित होवा छतां पक्षु कषायपक्षी शत्रुने परास्त करे

कृत्वा समुत्तस्यी । तत्र प्रथमयामे लघुकाया मूच्यप्रतीक्षामुखा' दशमशका' सह-
स्रश. परित समागत्य मुने' शरीर दशन्ति । तदनु-द्वितीययामे तदपेक्षया
स्थूलाकारा दशमशका घनघनघ्वनि कुर्वन्त परितस्तद्वपुस्तीक्ष्णतर दशन्ति, तदनु
तृतीयचतुर्थयामयोस्तदपेक्षयापि स्थूलतरा. स्थूलतीक्ष्णामुखा विविधजातीया
दशमशकास्त सातिशय दशन्ति । तत सूर्योदये सति पञ्चमप्रहरे अकस्मात् त्रैवो-
द्गीयमाना मधुमक्षिका सहस्रशस्तद्वपु सलग्नास्त मुनिं दशन्ति । मधुमक्षिकाभि-
राच्छादित सकल तद्वपु श्यामवर्णं सजातम् । तस्य मुखोपरि सदोरफमुखवद्विक्राञ्जिपि

एक समय की बात है कि इन्होंने एक अटवी में रात्रि के समय पांच
प्रहरका कायोत्सर्ग धारण किया । उस अटवी में कायोत्सर्ग में रहे हुए
इन सुदर्शन मुनि के शरीर को प्रथम प्रहर में लघुकायवाले हजारों दशम-
शकों ने सूची के अग्रभाग के समान अपने २ तीक्ष्ण मुखों से चारों ओर
से आ आकर खूब डसा । फिर द्वितीय प्रहर में इनकी अपेक्षा स्थूला-
कार वाले दशमशकों ने घन घन शब्द करते हुए सब तरफ से आकर
पहुत बुरी तरह उनके शरीर को डसना प्रारंभ किया । बाद में तृतीय
चतुर्थ प्रहर में द्वितीय याम में आये हुए दशमशकों की अपेक्षा घलिष्ट
एव स्थूलतर विविध जाति के दशमशकों ने काटना शुरू किया । इस
प्रकार जब रात्रि के चार प्रहर समाप्त हो चुके और सूर्योदय हुआ तब
पंचमप्रहर में-अर्थात् दिवस के प्रथमप्रहर में-अकस्मात् उड़ी हुई हजारों
मधुमक्षिकाओं ने उन मुनि के शरीर में बिपट कर उन्हें काटना प्रारंभ

तेजोऽन्ते ऋषे गलमां रात्रिना सभये पाच्य प्रहरने कायोत्सर्ग कथ्ये ते
गलमां कायोत्सर्गमा रडेहा आ सुदर्शन मुनिना शरीरने प्रथम प्रहरमा
नाना शरीरवाणा डबरे। हास, मच्छरेऽन्ते सोयनी अष्ठी जेवा पोत पीताना
तीक्ष्ण सुजोधी आरे षाबुधी आवीने पूष उभ भार्या पाछा पीळ प्रहरमां
तेनी अपेक्षा स्थूल आकारवाणा हांस, मच्छरेऽन्ते गलु गलु शण्ड करीने आरे
तरक्षधी आवीने धष्ठी भराभ रीते तेभना शरीरने उभ भारवा लाव्या लार
पछी त्रीळ अने सोथा प्रहरमा आवेहा हांस मच्छरेऽनी अपेक्षा नाना मोटा
विविध जातना हांस मच्छरेऽन्ते उभ भारवा शर् कथ्ये. आ प्रकारे ल्यादे
रात्रीना आर प्रहर पुरा यथा अने सूर्योदय यथे ल्यारे पांचमा प्रहरमां
अर्थात् दिवसना प्रथम प्रहरमां अकस्मात् उडेही डबरे। मधमाभीऽन्ते ते
मुनिना शरीर उपर थोटी पडीने करडवुं शर् कथुं मधमाभीऽन्ते आच्छा

कुर्यादित्यर्थ । किं तु उपेक्षेत-मध्यस्यमायमाश्रयेत् । अत एव-मांसशान्तिं
सृजानान् प्राणान्=प्राणिनः, न हन्यात्=न मारयेत् ।

अत्र सुदर्शनमुनेर्दृष्टान्तः—

चम्पानगर्यां रिपुमर्दननामको भूपतिरासीत् । तस्य पुत्र सुदर्शननामकः
सजातः । स धर्मघोषाचार्यसमीपे धर्मदेशना निश्चम्य कामभोगेभ्यो विरक्तः
प्रव्रजितः । स सुदर्शनो मुनिगुरुप्रसादात् श्रुतज्ञानसम्पन्नो दृढसच्चतया एकाकित्त
विहाराख्यप्रतिमया विद्वन् फदाचित् महादृष्या निधि पञ्चप्रहरात्मक कायोत्सर्ग
मनोऽपि न प्रदूषयेत् । अपने मन में उनके काटने पर अपने मन में कलुषित
विचार नहीं करे। अथवा उनके काटने पर मन को कलुषित नहीं करना
चाहिये। अपि शब्द से वचन आदिक को भी प्रदुष्ट नहीं करे। किन्तु उस
समय(उवेहे-उपेक्षेत) मध्यस्थभाव का ही आश्रय करे। अतः साधु का
कर्तव्य है कि वह (मस सोणिय भुजते पाणे न हणे-मांस शोणितं सृजानान्
प्राणिन न हन्यात्) मांस खाते एव शोणित को पीते हुए प्राणियों को
कमी भी न मारे ।

दृष्टान्त—चम्पानगरी में रिपुमर्दन नामक एक राजा था। उसका एक
पुत्र था, जिसका नाम सुदर्शन था। उसने धर्मघोष आचार्य के पास धर्म-
देशना सुनकर काम भोगों से विरक्त बन मुनिदीक्षा धारण की।
इन सुदर्शन मुनि ने अपने गुरु महाराज के प्रसाद से श्रुतज्ञान की प्राप्ति
कर दृढ प्रराक्रमशाली होने की वजह से एकाकी विहार करने रूप
प्रतिमा को धारण किया। अथ ये उस प्रतिमा से विचरने लगे।

मनोऽपि न प्रदूषयेत् तेना हरदवाधी पोताना मनमां कलुषित विचार पक्ष न करे,
अथवा तेना हरदवाधी मनने कलुषित न करे अरे शब्दधी वचनादिकने पक्ष प्रदुष्ट
न करे, परंतु ते समये उवेहे-उपेक्षेत मध्यस्थ भावने आश्रय करे आधी साधु
कर्तव्य है कि ते मससोणिय भुजतेपाणे न हणे-मांसशोणित सृजानान् प्राणिनः न हन्यात्
मांस खाता अने ढोही पीता प्राणीकोने कटी पक्ष न मारे

दृष्टान्तः—चम्पानगरीमा रिपुमर्दन नामना एक राजा होता तेमने एक पुत्र
होता, अत्र नाम सुदर्शन हतु तेसे धर्मघोष आचार्यनी पास धर्मदेशना
संभोगी कामभोगधी विरक्त बनी मुनिदीक्षा धारण करी आ सुदर्शन
मुनिसे पोताना श्रुतज्ञानना प्रसादधी श्रुतज्ञाननी प्राप्ति करी, दृढ पराक्रम
शाली बवाना हरदवाधी एकैकी विहार करवा रूप प्रतिमाने धारण करी
अने तेको के प्रतिमाधी विचरवा लाज्ये एक समथनी वात है,

वेदना जायते ततोऽप्यनन्तगुणा वेदना नरकेऽनन्तवार मया सोढा, एव निगो-
देऽपि, यत्र सूच्यग्रपरिमितकन्दादौ असख्याता श्रेणय. सन्ति, एकैकश्रेण्या
मसख्यातानि प्रतराणि, एकैकप्रतरे असख्याता गोला, एकैकगोले असख्यातानि
निगोदशरीराणि, एकैकशरीरे अनन्ता जीवाः, एकैकनिगोदजीवः प्रत्येकश्वासो-
च्छ्वासे सार्धसप्तदश जन्ममरणानि करोति, एवविधनिगोदेऽपि अनन्तजन्ममर-
णाना दाख्यद्दु खानि अनन्तवार परवशेन मया सोढानि । किं पुनरेतत्, यतस्त-
त्तद्दुःखसागरैकविन्दुमात्रमपि नैतत्, एव दशमशकपरीपह प्रकृष्टपरिणामेन सहमानः

इससे भी अनन्तगुणी वेदना नरक में अनन्तवार तूने भोगी है। इसी तरह
निगोद में भी सही है। सूची-सुई-के अग्रभाग प्रमाण कन्द आदि में
असख्यात श्रेणियाँ होती हैं एक एक श्रेणी में असख्यात प्रतर होते हैं।
एक एक प्रतर में असख्यात गोले होते हैं। एक एक गोले में असख्यात
निगोद शरीर हुआ करते हैं। एक एक निगोद शरीर में अनन्त जीव रहा
करते हैं। एक एक निगोदराशि का जीव एक २ श्वासोच्छ्वास में १७॥
साढासग्रह धार जन्मता है और १७॥ साढा सग्रह धार ही मरता है। इस
प्रकार के स्वरूप वाले निगोद में भी है आत्मन्! तूने अनन्तवार अनन्त
जन्म और मरण के दुःखों को परवश होकर सहन किया है। उन दुःखों
के सामने यह दशमशक आदि से होने वाला दुःख कितना सा है। उन
दुःखों के सामने तो यह एक लेश मात्र भी नहीं है। इस प्रकार दशमशक
परीपह को प्रकृष्ट शुभाध्यवसाय से सहन करते हुए सुदर्शन मुनिराज

अग्निथी पाणवाथी जेवी वेदना एवोने थाय छे, तेथी अनन्तगुणी वेदना नरकमा
अनन्तवार ते भोगवी छे आरीते निगोदमा पलु सहन करैव छे सोयना अग्रभाग
प्रमाणतां कन्द आदिमा असख्यात श्रेणियो डोय छे ओकेक श्रेणीमा असख्य
प्रतर डोय छे अने ओकेक प्रतरमा असख्य गोणा डोय छे अने ओकेक जोगामा
असख्यात निगोद शरीर डोय छे ओकेक निगोद शरीरमा अनन्त एव रहा करै छे
ओकेक निगोद शरीरे एव ओक श्वासोच्छ्वासमा साऽसत्तरवार जन्मे छे अने
साऽसत्तरवार भरे छे आ प्रकारमा स्वप्नपाणा निगोदमा पलु छे आत्मन्! ते
अनन्तवार अनन्त जन्म अने मरणता दुःखोने परवश जनी सहन कर्या छे
जे दुःखोनी सामे आ ऽस मच्छरीथी यत्तुं दुःख केवडु छे? ते दुःखोनी
सामे तो आ दुःख लेश मात्र पलु नथी आ प्रकारे ऽस मच्छरीना परी
पहने प्रकृष्ट शुभाध्यवसायथी सहन करतां सुदर्शन मुनिराजे प्रथस्त

मक्षिकाभिराच्छादितत्वात्तलक्ष्यते। एवं दशमशकमक्षिकाकृतवेदनां प्राप्यापि स
सुदर्शनमुनिर्दशादीन् न निवारयति चिन्तयति च—दुःखमेतत् कियत्, इताऽनन्तगुण-
वेदनाऽनन्तवार नरकेषु मया प्राप्ता, असिपत्रेण क्षुरपत्रेण कदम्बचीरिकापत्रेण छिद्य-
माने शक्यपत्रेण कुन्तापत्रेण शरापत्रेण शूकापत्रेण छुरिकापत्रेण, सूचीकलापत्रेण, कपिक-
च्छुना, वृश्चिककण्टकेन भिद्यमाने, अङ्गारेण, प्रज्वलज्ज्वालया दग्माने च यादृशी

कर दिया। मधुमक्षिकाओं से आच्छादित सुदर्शन मुनि का गौर शरीर
उस समय श्यामवर्णवाला मालूम देने लगा। उनके मुख के ऊपर बड़े
से जो मुखवस्त्रिका घधी हुई थी वह भी मक्षिकाओं से आच्छादित होने
की वजह से दिखलाई नहीं पड़ती थी। इस प्रकार दशमशकों द्वारा तीव्र
वेदना को पाकर भी सुदर्शन मुनि ने उन दशमशकों का अपने हाथ
आदि से निवारण नहीं किया। प्रत्युत उस समय यही विचार किया
कि हे आत्मन् ! यह जो वर्तमान में हुआ मिल रहा है वह तेरे द्वारा
पहिले भोगे हुए नरक एव निगोद के दुःखों के समक्ष कितना सा है।
अरे ! तूने पहिले भवों में इस वेदना से भी अनन्तगुणी वेदनाएँ अन-
ंतवार नरक में भोगी हैं। असिपत्र, क्षुरपत्र एव कदम्बचीरिका पत्र से
छेदे जाने पर, शक्ति के अग्रभाग से कुन्त-भाला के अग्रभाग से, बाणके
अग्रभाग से, छुरिका के अग्रभाग से, सूचिकलाप के अग्रभाग से,
कपिकच्छु कोंचकीफली से और विच्छु के बंक से मेदे जाने पर, तथा
जलती हुई अग्नि से जलाये जाने पर जैसी वेदना जीवों को होती है

द्वि तनेव सुदर्शन मुनिश्च और शरीर ते समये श्याम वक्षु वाणु देखावा
वाञ्छु, तेभना मुञ्ज उपर दोराशी ने मुञ्जपत्ति भधायेव हती ते पक्ष
भाभीआशी आच्छादित होवाना कारखे जेवामा आवती न हती. आ प्रकारे
शंस, मच्छरेशी तीव्र वेदना पाभीने पक्ष सुदर्शन मुनिजे जे उंस, मच्छर,
वगैरेने पोताना हाथ आविशी इर न कथा परतु जे वधते जेवोव विचार
कथे के हे आत्मन् ! वर्तमानभा जे प्रकारतु आ दुःख भणी रह्यु छे ते
ताशशी पहेलां जोगववामा आवेव नरक अने निगोदना दुःखो पाखे शुं
दिसावमां छे, अरे ! ते पहेलाना भवोमां आ वेदनाशी पक्ष अनंतगुणी
वेदनाजो अनंतवार नरकमां जोगवी छे असिपत्र, क्षुरपत्र, अने कदम्बचीरिना
पत्रशी छेदाई जवाशी, शक्तिना अग्रभागशी हुत बावाना अग्रभागशी,
बाणना अग्रभागशी, क्षुरिना अग्रभागशी, सुचि कलापना अग्रभागशी, कपि-
कच्छु-कोंचकी इणीशी, अने वीछीना उभशी, छेदाई जवाशी तथा जजती

ऋक्=नूतनवस्त्रवान् भविष्यामि, इति मिथुर्न चिन्तयेत्, अय भाव'-जीर्णवस्त्र-साधुवस्त्राभावसमावनया स्वात्मनि विपाद न कुर्याद्, नापि च नूतनवस्त्र-समावनया हर्षं कुर्यादिति ॥१२॥

उक्तार्थमेव दृढीकर्तुमाह—

एम्—एगंया अचेलेष होई, संचेले योंवि एगयां ।

एय धम्माहिय नचंचा, नांणी 'नो परिदेवेष ॥१३॥

उया—एकदा अचेलको भवति, सचेलश्चापि एकदा ।

एतद् धर्महितं ज्ञात्वा, ज्ञानी नो परिदेवयेत् ॥१३॥

टीका—'एगया' इत्यादि ।

एकदा=कदाचित्, कल्पनीयजीर्णस्वण्डितमलिनास्पवस्त्रस्य सद्भावे मुनिः,

भाव न करे । (अदुवा-अथवा) अथवा (सचेलए होक्ख-सचेलको भविष्यामि) नवीन वस्त्रों से "उनकी अधिक स्थिति होने से" सचेलक-वस्त्र सहित हो जाऊंगा (इति) इस प्रकार (मिक्खु) साधु (न चिंतए-न चिन्तयेत्) विचार न करे ।

इस का भाव केवल यही है कि साधु जिस समय जीर्ण वस्त्रों का परिधान करे उस समय मुनि "ये फटे पुराने वस्त्र कितने दिन तक चलेंगे इनके फट जाने पर मैं निर्धर हो जाऊंगा" इस प्रकार कभी भी अपनी आत्मा में विपाद न करे । "ये नवीन वस्त्र हैं अधिक दिन तक चलते रहेंगे अतः मैं सवस्त्र ही रहूंगा" इस प्रकार कभी हर्ष भाव को प्राप्त न हो । अथवा 'अय नूतन वस्त्रों की मुझे प्राप्ति होगी, इस बात की समावना से भी साधु कभी भी हर्षित न होवे ॥ १२ ॥

सचेलए होक्ख-सचेलको भविष्यामि नवीन वस्त्रोथी "ते वधु प्रभासुभा ढोवाथी" सचेलक वस्त्र सहित यथं जर्घश आ प्रकारने पखु "मिक्खु" साधु नचिंतए-न चिन्तयेत् विचार न करे.

आने भाव देवण ओ व छे के, साधु ने समये लखु वस्त्रो परिधान करे ओ समये आ शूटयां तूटया वस्त्रो केंटा हा दिवस आदये, आना शूटी जवा पछी हु वस्त्र वगरनेो अनी जर्घश आ प्रकारनेो विपाद कही पखु योत्ताना आत्माभा न करे आ नवा वस्त्र छे, बखु समय सुधी आलतां रहये, अने आथी हु सवस्त्र रहीश आ प्रकारनेो हर्षभाव पखु कही न लावे. अथवा हवे अने नवां वस्त्रनी प्राप्ति यथे आ वातनी समावनाथी पखु साधु कही हर्षित न धाय (१२)

प्रशस्तध्यानेन शुभाभ्यवसायेन प्राप्तकेवलज्ञान-केवलदर्शनः सुदर्शन साधनन्तम
व्यावायं शाश्वत शिवपद लब्धवान् । एवमन्यैरपि मुनिभिर्मध्यस्थभावेन दंशमश-
कपरीपह. सोढव्य ॥ ११ ॥

अयाचेलपरीपहजय प्राह—

मूलम्—परिजुन्नेहिं वंत्येहिं, होक्खामि त्ति अचेलए ।

अदुवा सचेलए, होक्ख, इति भिक्खू नं चित्तंए ॥१२॥

छाया—परिजीर्णैर्वस्त्रै, -भविष्यामि इति अचेलक ।

अथवा सचेलको भविष्यामि, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥१२॥

टीका—‘ परिजुन्नेहिं ’ इत्यादि ।

परिजीर्णैः=पुरातनैः, वस्त्रै, अचेलकः=वस्त्ररहित, भविष्यामि, तेषा स्वल्प-
कालस्यापिस्वात्, इति—एतद्रूप दैन्य, भिक्षुर्न चिन्तयेत्= न कुर्यात् । अथवा

ने प्रशस्तध्यान से और शुभ परिणामों को धारा से केवलज्ञान और
केवलदर्शन प्राप्त कर लिया । पश्चात् आयु के अंत में सादि अनंत,
अध्यायाद्य एव शाश्वत पद जो मुक्तिपद है उस को प्राप्त कर लिया ।
सुदर्शन मुनि की तरह अन्यमुनिजनों को भी मध्यस्थभाव से दंशमशक
परीपह सहन करना चाहिये ॥ ११ ॥

अथ सूत्रकार छठे अचेल परीपह को जीतने का उपदेश करते हैं—
परिजुन्नेहिं—इत्यादि

अन्वयार्थ—(परिजुन्नेही -परिजीर्णैः) पुराने (वत्येहिं—वस्त्रैः) वस्त्रोंसे
(अचेलए होक्खामि—अचेलकः भविष्यामि) मैं उनकी अल्पकाल
स्थिति होने से अचेल वस्त्र रहित हो जाऊंगा । (त्ति—इति) इस प्रकार का

ध्यानभी अने शुभ परिजुन्नेही धाराधी केवलज्ञान अने केवलदर्शन प्राप्त
क्युं पछी आयुना अतमां आदि अनंत, अध्यायाद्य अने शाश्वत पद के
मुक्तिपद छे तेने प्राप्त क्युं सुदर्शन मुनिनी भाइठ अन्य मुनिअनोअने
पह मध्यस्थ भावधी अस अने मध्यस्थना परीपहने सहन करवे अर्थअ ॥११॥

इवे सूत्रकार छठे अचेल परीपहने एतवाने उपदेश करे छे परिजुन्नेहिं इत्यादि.

अन्वयाथ—परिजुन्नेहिं—परिजीर्णैः अनां “ वत्येहिं—वस्त्रैः ” वस्त्रोंसे अचेलए
होक्खामि—अचेलकः भविष्यामि इति तेनी अल्पकाल स्थिति होवाभी अचेल वस्त्र
रहितपद अर्थ त्ति—इति अथ प्रकारने दैन्यभाव न करे अदुवा—अथवा अथवा

नवीनवस्त्रसद्भावे तन्निमित्तक इपं न कुर्यात्, तथा एपणीयप्रमाणोपेतवस्त्राणा-
ममहामूल्यकत्वादल्पत्वादशोमनत्वाच्च त्रिपाद न कुर्यात् शीतस्पर्शादिना वाधितोऽपि
प्रमाणाधिकवस्त्राकाङ्क्षा च न कुर्यादित्यर्थः । तथाचोक्तमाचाराङ्गसूत्रे—

“जे भिक्खू तिहि वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं, तस्स ण णो एव भवइ,
चउत्थ वत्थ जाइस्सामि ।” (आचा. १ शु ८ अ ४ उ)

छाया—यो भिक्षुभिर्बस्त्रैः पर्युपित पात्रचतुर्थं, तस्य खलु नो एव भवति
चतुर्थं वस्त्रं याचिष्ये । पर्युपित.=व्यवस्थित । अनेन स्थविरकल्पिकस्य चतुर्थवस्त्र
प्रतिषेधोऽवगम्यते । अपर च—तत्रैवोक्तम्—

“जस्स ण भिक्खुस्स एवं भवइ-पुट्ठो खलु अहमसि नालमहमसि सीयफास

भाव नहीं करना चाहिये—और ये नवीन वस्त्र हैं इनसे शीत आदिक
की रक्षा बहुत अच्छी तरह हो जायगी” इस प्रकार कभी हर्षित भी
नहीं होना चाहिये । शीतस्पर्शादिक से पीडित होने पर प्रमाण से
अधिक वस्त्रों की आकाङ्क्षा करना साधुमार्ग में निषिद्ध है । आचारांग
सूत्र (१ शु ८ अ ४ उ) में यही यात यतलाई गई है “जे भिक्खू
तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं तस्स णं णो एव भवइ चउत्थ
वत्थ जाइस्सामि” जो भिक्षु तीन वस्त्रों से एव चौथे पात्र से व्यवस्थित
रहता है उसे चतुर्थ वस्त्र के याचन की आवश्यकता नहीं होती है उस
के चित्त में यह यात नहीं आती है कि मैं चतुर्थ वस्त्र की याचना करूँ ।
इस कथन से स्थविरकल्पी साधु को चतुर्थवस्त्र का प्रतिषेध सिद्ध होता है ।
और भी आचारांग सूत्र (१ शु ८ अ ४ उ) में कहा है “जस्स ण
भिक्खुस्स एव भवइ-पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमसि सीयफास

नवीन वस्त्र छे, तेनाथी ठडी वज्जेरेनी रक्षा सारी रीते यशे, आ प्रकारे ठडी
दुर्वित पक्षु न थपु जेधजे ठडीना स्पर्शथी पीडित थवाथी अधिक वस्त्रोनी
आकाङ्क्षा करवी ते साधु मार्गमा निषेध छे आचारांगसूत्र (१ शु. ८ अ. ४ उ)
मां जेवी वात पताववाभा आवेक्ष छे के, जे भिक्खू तिहि वत्थेहिं परिवुसिए पाय
चउत्थेहिं तस्स णं णो एव भवइ चउत्थ वत्थं जाइस्सामि जे भिक्षु त्रय वस्त्र अने
बोधा पात्रथी व्यवस्थित रहे छे तेने बोधा वस्त्रनी याचना करवानी आवश्यकता
यती नथी जेना चित्तमा जे वात आवती नथी के हुं बोधा वस्त्रनी याचना
करे आ कथनथी स्थविरकल्पी साधुने बोधा वस्त्रोना प्रतिषेध सिद्ध थाय छे

भीष्णु पक्षु आचारांग सूत्र (१ शु ८ अ. ४ उ) मां कस्यु छे—

जस्स णं भिक्खुस्स एव भवइ-पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफास

अचेलकः=वस्त्ररहित इव, भवति-तथाविधवस्त्रस्य तनुप्रायकत्वामानात् । एकदा कदाचित्-नूतनवस्त्रसद्भावे, सचेलकोऽपि=नवीनवस्त्रानां भवति । एतद्=अचेत कस्व सचेलकत्व चेति द्वय, धर्मरहित=धर्माय हित-श्रुतचारित्र्यधर्मोपकारक, ज्ञानी=मेधावी, नो परिदेवयेत्=जीर्णवस्त्रसद्भावे विपाद न कुर्यात्,

‘एगया अचेलण’ इत्यादि.

अन्वयार्थ—(एगया-एकदा) कभी किसी समय कल्पनीय जीर्ण वस्त्ररहित मलिन एव अल्प वस्त्रों के सदृश भाव में मुनि (अचेलण होई-अचेलको भवति) वस्त्र रहित जैसा ही होता है । क्यों कि जो जीर्णादि वस्त्र उसके होते हैं उनसे यथावत् शरीर की रक्षा नहीं होती है । (एगया) कभी किसी समय-नूतन वस्त्रों के सदृश भाव में (सचेले यावि होई-सचेलकोऽपि भवति) सचेल भी-नवीन वस्त्र वाला भी होता है । (एव-एतत्) ये दोनों ही अवस्थाएँ साधु की उसके (धम्महियं-धर्महितम्) श्रुतचारित्र्य रूप धर्म की उपकारक हैं । ऐसा (नञ्चा-ज्ञात्वा) जानकर (नाणी नो परिदेवए-ज्ञानी नो परि देवयेत्) ज्ञानी मुनि किसी भी अपनी अवस्था में चाहे वस्त्र सहित अवस्था हो चाहे वस्त्र रहित अवस्था हो उसमें हर्णविपाद न करे ।

भावार्थ—साधु को “ ये वस्त्र जो मेरे पास हैं वे बहुत ही जीर्ण क्षीर्ण हैं, तथा हलके पोतके हैं, ये बहुत थोड़े हैं, सुन्दर भी नहीं हैं इनसे शीत आदिक की रक्षा कैसे होगी ” इस प्रकार कभी विपाद

‘एगया अचेळण’ इत्यादि

अन्वयार्थ—एगया-एकदा कभी वस्त्र कल्पनीय लघु वस्त्ररहित मलिन एव अल्पवस्त्रोना सदृश भाव में मुनि अचेळण होई-अचेळको भवति वस्त्र रहित जैसा ही होता है, कभी कभी, कभी लघु जैसा वस्त्र तेनी पासे होता है तेनाथी यथावत् शरीर की रक्षा थती नहीं एगया कभी वस्त्ररहित नवा वस्त्रोना सदृश भाव में सचेले यावि होई-सचेलकोऽपि भवति सचेल पञ्च-नवीन वस्त्रवाणा पञ्च होता है एव-एतत् आवी अन्ने अवस्थाओं साधुनी धम्महियं-धर्महित श्रुतचारित्र्य रूप धर्मों उपकारक है अथवा नञ्चा-ज्ञात्वा जानकर नाणी नो परिदेवए-ज्ञानी नो परिदेवयेत् ज्ञानी कभी पञ्च अवस्थाओं में चाहे वस्त्रसहित अवस्था हो, चाहे वस्त्ररहित अवस्था हो उसमें हर्ण-विपाद न करे

भावार्थ—साधु को “ आ वस्त्र जे मारी पासे छे ते बहुत लघु शीर्ण छे, तथा हलका पोतना छे अन्ने भूषण शीर्ण छे, सुन्दर पञ्च नहीं, जेनाथी ठीकी वस्त्रेथी रक्षा केम भये ” आ प्रकारने विपादभाव कही न करवे जेठ जे आ

नवीनवस्त्रसद्भावे तन्निमित्तक इपं न कुर्यात्, तथा एषणीयप्रमाणोपेतवस्त्राणा-
ममहामूल्यकत्वादल्पत्वाद्दशोभनत्वाच्च विपाद न कुर्यात् शीतस्पर्शादिना वाधितोऽपि
प्रमाणाधिकवस्त्राकाङ्क्षा च न कुर्यादित्यर्थः । तथाचोक्तमाचाराङ्गसूत्रे—

“जे भिक्खु तिहि वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं, तस्स ण णो एव भवइ,
चउत्थ वत्थ जाइस्सामि ।” (आवा १ शु ८ अ ४ उ.)

छाया—यो भिक्षुस्त्रिभिर्वस्त्रैः पर्युषित पात्रचतुर्थं., तस्य खलु नो एव भुवति
चतुर्थं वस्त्र याचिष्ये । पर्युषित = व्यवस्थितः । अनेन स्थिरकल्पिकस्य चतुर्थवस्त्र
प्रतिषेधोऽत्रगम्यते । अपर च—तत्रैवोक्तम्—

“जस्स ण भिक्खुस्स एवं भवइ—पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफास

भाव नहीं करना चाहिये—और ये नवीन वस्त्र हैं इनसे शीत आदिक
की रक्षा बहुत अच्छी तरह हो जायगी” इस प्रकार कभी हर्षित भी
नहीं होना चाहिये । शीतस्पर्शादिक से पीडित होने पर प्रमाण से
अधिक वस्त्रों की आकाक्षा करना साधुमार्ग में निषिद्ध है । आचारांग
सूत्र (१ शु ८ अ ४ उ) में यही बात यतलाई गई है “जे भिक्खु
तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं तस्स ण णो एव भवइ चउत्थं
वत्थ जाइस्सामि ” जो भिक्षु तीन वस्त्रों से एव चौथे पात्र से व्यवस्थित
रहता है उसे चतुर्थ वस्त्र के याचन की आवश्यकता नहीं होती है उस
के चित्त में यह बात नहीं आती है कि मैं चतुर्थ वस्त्र की याचना करूँ ।
इस कथन से स्थिरकल्पी साधु को चतुर्थवस्त्र का प्रतिषेध सिद्ध होता है ।
और भी आचारांग सूत्र (१ शु ८ अ ४ उ) में कहा है “जस्स ण
भिक्खुस्स एव भवइ—पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं

नवीन वस्त्र छे, तेनाथी ठडी वजेरेनी रक्षा सारी रीते धरो, आ प्रकारे कही
हर्षित पक्ष न धरु ओईओे ठडीना स्पर्शथी पीडित धवाथी अधिक वस्त्रोनी
आकांक्षा करवी ते साधु मार्गमा निषेध छे आचारांगसूत्र (१ शु ८ अ ४ उ)
मां ओवी बात यताववामां आवेल छे के, जे भिक्खु तिहि वत्थेहिं परिवुसिए पाय
चउत्थेहिं तस्स ण णो एव भवइ चउत्थ वत्थ जाइस्सामि जे भिक्षु त्रय वस्त्र अने
ओथा पात्रथी व्यवस्थित रहे छे तेने ओथा वस्त्रनी याचना करवानी आवश्यकता
यती नथी जेना चित्तमा जे बात आवती नथी के हु ओथा वस्त्रनी याचना
कर आ कथनथी स्थनिरकल्पी साधुने ओथा वस्त्रो प्रतिषेध सिद्ध थाय छे

धीनु पक्ष आचारांग सूत्र (१ शु. ८ अ. ४ उ) मां कहु छे—

जस्स ण भिक्खुस्स एव भवइ—पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफास

अहियासिचए, से वसुम सव्वसमन्नागयपन्नाणेण अप्पाणेण केइ अकरणयाए आउट्टे, तवस्सिणो हु ते सेय ज एगे विहमाइए । तत्थ वि तस्स कालपरियाए । से वि तत्थ विअतिकारए । इच्चेय विमोहायतण हिय सुह खम णिस्सेयस अणुगामिय । (आचा. १ थु ८ अ ४ उ.)

छाया—यस्य खलु भिक्षोः एवं भवति—स्पृष्टः खलु अहमस्मि, नालमहमस्मि शीतस्पर्शम् अध्यासितुम्, स वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना कोऽपि अकरणतया आवृत तपस्विन. खलु तच्छ्रेय यदेकं वैहायसादिकम् । तत्रापि तस्य कालपर्यायः । सोऽपि तत्र व्यन्तकारक । इत्येतत् विमोहायतन हितं सुखं क्षम निश्रेयसम् आनुगामिकम् ।

व्याख्या—यस्य भिक्षोः खलु एवम्=ईदृशी विचारणा भवति—अहं खलु परीपहै स्पृष्टः=वाधितोऽस्मि, अहं शीतस्पर्शम् अध्यासितुं=सोऽहम्, अल=पर्याप्तं, नास्मि । स—ईदृशभावनाभावितः, कोऽपि वसुमान्=सयमी, सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन=पूर्णापयोग्युक्तेन, आत्मना=अन्तःकरणेन अकरणतया=उपसर्गप्रतीकारस्या

अहियासिचए, से वसुम सव्वसमन्नागयपन्नाणेण अप्पाणेण केइ अकरणयाए आउट्टे, तवस्सिणो हु ते सेय ज एगे विहमाइ ए । तत्थ वि तस्स कालपरियाए । से वि तत्थ विअतिकारए । इच्चेत विमोहायतणं हिय सुह खम णिस्सेयसं अणुगामिय ॥ ”

जिस भिक्षु के हृदय में ऐसी विचारणा होती है कि मैं परीपहों से पीड़ित हूँ अतः शीतपरीपह को सहन करने के लिये समर्थ नहीं हूँ । इस प्रकार के विचार से युक्त होकर वह सयमी मुनि प्रमाणाधिक यत्नों को ग्रहण करने रूप, तथा अग्नि को जलाने रूप सावध व्यापारों को कभी भी न करे । किन्तु वैहायस (फांसी)

अहियासिचए से वसुम सव्वसमन्नागयपन्नाणेण अप्पाणेण केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु ते सेयं जं एगे विहमाइए । तत्थ वि तस्स कालपरियाए । से वि तत्थ विअतिकारए । इच्चेत विमोहायतणं हियं सुहं खम णिस्सेयसं अणुगामिय ॥

ये भिक्षुना हृदयमां जेवी विचारणा याय छे डे, “ हुं परीपहोशी पीडित हूँ आशी ठडीना दुःखेने सहन करवामां समर्थ नहीं ” आ प्रकाशना विचारणी अक्षुत्त अनी ते सयमी मुनि प्रमाणाधिक यत्नोने अक्षुत्त करवा इप, तथा अज्जिने जहाववा इप सावधव्यापारोने ठडी पखु न करे पखु ते वैभदावध

करणभावनया आवृत = व्यवस्थितस्तिष्ठेत् । तपस्विनः खलु तच्छ्रेयः = तदेव श्रेयस्कर
 भवति, यत्-एक वैहायसादिक-वैहायसत्रिपभक्षणज्ञपापातादिमरणेषु किमप्येक
 मरणम् । तत्रापि = वैहायसादिषु तस्य कालपर्याय = भक्तपरिज्ञादिवत् कालमृत्युरेव नत्व-
 कालमृत्यु, अत एव सोऽपि तत्र = चतुर्थवद्वानाकाहाविषये, व्यन्तकारक = पर्यवसान
 मृत्युकारक, ससारान्तकारक इत्यर्थः । इत्येतत्-इति = अत-अस्मात् कारणात्,
 एतन्मरण विमोहायतनम्-विमोहानां = परीपहसहिष्णुनाम्, आयतन = स्थान-मो-
 क्षपददायकमितिभाव, हितम् = उपकारकम्, सुख = सुखकर, क्षम = योग्य, निःश्रे-
 यस = निश्चित-निश्चल, श्रेय - शुभम्, आनुगामिकम् = गच्छन्त पुरुषम् आ-समन्तात्,
 अनुगच्छतीत्येव शील आनुगामि, तदेव-आनुगामिकम्, मोक्षपदपर्यन्तानुगमन-
 शीलमित्यर्थः ।

अयं भाव - एषणीयवस्त्रत्रयधारणे शीतस्पर्शवेदनामसहिष्णुश्चतुर्थवस्त्राकाहाया
 अकरणेन त्रिवस्त्रस्वरूपमचेल परीपह सहमानो मुनिर्वैहायसादिष्वेक किमपि
 मरणमुपगतश्चेत्तर्हि तादृशमरणजन्य-प्रकृष्टधर्मस्तस्य मुनेस्तस्मिन्नेव भवे ससारान्त
 करोति, मोक्षपद च प्रापयति ।

इहाचेलरुत्वं प्रवचनोक्तरीत्या ग्राह्यम् । तीर्थकरोपदिष्टाचारसेविनो मुनयः प्रव
 चनानुसारेण कल्पनीयाल्पजीर्णखण्डितमलिनवस्त्रपरिधाना प्रमाणोपेतवस्त्रधारिण-
 श्चाप्यचेलका एव । यथा-परिहितकौपीना अपि तापसा लोके नग्ना उच्यन्ते,
 आदि मरणों में से किसी एक मरण को धारण कर अपने प्राणों का
 व्युत्सर्ग कर देवे । इस प्रकार के मरण से होने वाला जो प्रकृष्ट धर्म है
 वह उस मुनि को उसी भव में ससार का अन्त करता हुआ मोक्ष का
 प्रदायक होता है ।

प्रवचन में कथित रीति के अनुसार यहा अचेलकता का ग्रहण
 किया गया है । तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट आचार का सेवन करने
 वाले मुनि प्रवचन के अनुसार कल्पनीय, अल्प, जीर्ण, एवं

हासी वज्रे भरज्जोभाधी केष्ठ अेष्ठ भरज्जुने धारज्जु करी योताना आज्जुने त्याग
 करी हे आ प्रकारना भरज्जुधी यन्तार ने प्रकृष्ट धर्म छे ते अे मुनिने अे
 शवभां ससारने अत करवायार मोक्षदायी अने छे

प्रवचनमा कहेल रीत अनुसार अदि अचेलकतानु प्रदेषु करवाभा आवेस छे
 तीर्थ करे द्वारा उपदिष्ट आचारनु सेवन करवावाणा मुनि प्रवचन अनुसार कल्पनीय,
 अल्प, लघु अने अ उदित मलिन वस्त्रने, प्रभाज्जोपेत वस्त्रोने, धारज्जु करेस होवा छत्ता

યથા વા યસ્યાદ્ગરક્ષિકા જીર્ણાં સજાતા, સ પરિજ્ઠતાદ્ગરક્ષિકોઽપિ સૌવિક્રાન્તિકં
 ગત્વા વદતિ—અનાદૃતોઽસ્મિ, અદ્ગરક્ષિકા દદ્ધીતિ, યથા વા કાચિન્નારી પરિહિત-
 પરિજીર્ણશાટિકાઽપિ વસ્ત્રકારતન્તુચાયવદતિ—‘નમ્ના> હમસ્મિ, દેહિ મે શાટિકામ્’
 શ્ત્યાદિ, એવ સાધવોઽપ્યમહાલ્પમૂલ્યાનિ લ્ખણ્ડિતાનિ જીણાનિ પ્રમાણોપેતાનિ
 પ્રમાણતો ન્યૂનાનિ વા વસ્ત્રાણિ શ્રુતોપદશાદ્ ધર્મચુદ્વયા ધારયન્તોઽવેલકા એવ ।
 અવેલકસહશા અપ્પવેલકા ઉચ્યન્તે ।

લંઘિત મલિન વસ્ત્ર કો પ્રમાણોપેત વસ્ત્રોં કો ધારણ કરતે હુએ મી
 અવેલક હી માને જાતે હૈં । જિસ પ્રકાર લોક મેં લગોટીમાત્ર કો ધારણ
 કરને પર મી તાપસ લોગ “યે નમ્ન હૈં” ઇસ પ્રકાર કહે જાતે હૈં ।
 અથવા જૈસે કિસી પુરુષ કા અગરલા જીર્ણ હો જાય ઓર વહ ઉસે
 પહિર કર મી જવ ડર્જીં કે પાસ ડસરે અગરલે કો સિલાને કે લિયે
 જાતા હૈ તો કહતા હૈ કિ માઈં દેલ્લો જલ્દી ઇસે સીકર વે વેના મૈ
 ઉઘાઢા ફિરતા હુ, મેરે પહિરને કો અગરલા નહીં હૈ । અથવા—જૈસે
 કોઈ સ્ત્રી કિ જિસકી શાટિકા—સાઢી પરિજીર્ણ હો ચુકી હૈ જવ તન્તુ
 ઘાય—કપડે ઘુનનેવાલે કે પાસ જાતી હૈં તો કહતી હૈં કિ મુક્ષે સાઢી
 વે મેં ઘિના સાઢી ફિર રહી હુ । ઇસી તરહ સાધુ મી પ્રમાણોપેત લંઘિત
 જીર્ણ એવ અત્યંત અલ્પમૂલ્યવાલે વસ્ત્રોં કો શ્રુતોપદેશ કે અનુસાર ધર્મ
 ઘુદ્ધિ સે ધારણ કરતે હુએ મી અવેલક હી હૈં, એસા સમજ્ઞના ઘાહિયે ।
 જો અવેલક કે તુલ્ય હોતે હૈં વે મી અવેલક હી માને જાતે હૈં ।

પણ અવેલક જ માનવામાં આવે છે જે પ્રકારે લોકમાં તાપસ લોકો લગોટી
 ધારણ કરે છે પણ “આ નમ્ન છે” આ પ્રકારથી કહેવામાં આવે છે અથવા જેમ-
 કોઈ પુરુષનું અગરખું લાંબું થઈ બાંધ અને તે તેને પહેરીને પણ ત્યારે ઘરની
 પાસે ખીલું અગરખું શીવડાવવા માટે બાંધે છે તે કહે છે ભાઈ બુદ્ધો અને
 જલ્દીથી શીવી આપને હું ઉઘાડો કરું છું મારે પહેરવાને અગરખું નથી
 અથવા જેમ-કોઈ સ્ત્રી કે જેની સાઢી પરિલાંબુ થતાં તે કપડાં બનાવનાર
 પાસે બાંધે છે અને કહે છે કે મને સાઢી આપ હું સાઢી વગરની કરી રહી
 છું આ રીતે સાધુ પણ પ્રમાણોપેત લંઘિત લાંબું અને અત્યંત અલ્પમૂલ્યવાળા
 વસ્ત્રોને શ્રુત ઉપદેશ અનુસાર ધર્મ ઘુદ્ધિથી ધારણ કરતા હોવા છતાં અવેલક
 જ છે એવું સમજવું જોઈએ. જે અવેલક તુલ્ય હોય છે તે પણ અવેલક જ
 માન્યા બાંધે છે

आगमे हि द्विविध कल्प—स्थविरकल्प, जिनकल्पश्च । तत्र गच्छप्रतिबद्धाना मुनीनामाचार स्थविरकल्पः ।

ननु कस्तावत् स्थविरकल्पक्रमः ? उच्यते—प्रथम श्रुतचारित्रकल्पधर्मश्रवणम्, तत सम्यक्त्वलाभ, तदनुआलोचनापूर्विका प्रव्रज्याप्रतिपत्ति, तत शिक्षाधिकारो भवति शिक्षा च द्विविधा—ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च । तत्र ग्रहणशिक्षा—सूत्राध्ययनरूपा, आसेवनाशिक्षा—प्रतिलेखनादिरूपा । तत सूत्राणामर्थग्रहणम् । तत्पश्चादनियतवास । स च तादृशयोग्यतासपन्नस्य मूने साधुसहायस्य ग्राम-नगरसन्निवेशादिषु देशान्तरे वा गुरोराप्त्या पर्यटनम् ।

आगम मे स्थविरकल्प और जिनकल्प के मेद से दो कल्प भगवान ने कहे हैं । उनमें गच्छप्रतिबद्ध मुनियों का जो आचार है वह स्थविर-कल्प है । स्थविरकल्प का क्रम इस प्रकार है—प्रथम श्रुतचारित्ररूप धर्म का श्रवण, उससे सम्यक्त्व का लाभ, याद में आलोचनापूर्वक प्रव्रज्या की प्रतिपत्ति, उससे ग्रहणशिक्षा एव आसेवनशिक्षा के अधिकार का लाभ । सूत्र के अध्ययन करने रूप ग्रहणशिक्षा एव प्रतिलेखनादिकरूप आसेवनशिक्षा है । इसके याद सूत्रों का अर्थ ग्रहण करना, पश्चात् अनियत वास । अनियतवास का तात्पर्य है गुरु की आज्ञा से ग्राम, नगर एव सन्निवेश आदिकों में अथवा देशान्तर में विचरण करना । यह विचरण, विचरण करने की योग्यता सपन्न जो साधु होता है उसी का होता है । फिर भी यह एकाकी विहार नहीं कर सकता किन्तु अन्य साधुओं के साथ ही विहार करता है ।

आगममां स्थविरकल्प अने लुनकल्पना सेदोधी मे कल्प भगवाने कथा छे जेमां गच्छप्रतिबद्ध मुनियोने आचार छे, ते स्थविरकल्प छे स्थविर कल्पने कर्म आ प्रकारने छे—प्रथम श्रुतचारित्ररूप धर्मनु श्रवण, जेनाधी सम्यक्त्वने लाभ, पछी आलोचयना पूर्वक प्रव्रज्यानी प्राप्ति जेधी अहणु शिक्षा अथवा आसेवनशिक्षाने लाभ, सूत्रनु अध्ययन करवा रूप अहणु शिक्षा अने प्रतिलेखनादिक रूप आसेवनशिक्षा छे जे पछी सूत्रेना अर्थ समन्त्या पछी अनियतवास, अनियतवासनु तात्पर्य जे छे के, गुरुनी आज्ञाधी ग्राम-नगर अने सन्निवेश वगेरेमां अथवा देशान्तरमा विचरण करवु आ विचरण करवानी योग्यता सपन्न जे साधु होय छे, तेने जे गुरु महाशय जेवी आज्ञा आपे छे आमां ते जेकाकी विहार करी शकता नथी परतु अन्य साधुजोनी साथे जे विहार करे छे

નવું ફિં પ્રયોજનં દેશાન્તરપર્યટનસ્ય ? ઉચ્યતે—નાનાસ્થાનેષુ મહુશ્રુતાનાના ચાર્યાદીનુ પચ્યતસ્તસ્ય સૂત્રાર્થેષુ સમાચાર્યા ચ વિશેષપ્રતિપત્તિર્ભવતિ, નાનાદેશભાષા-જ્ઞાન ચ । તેનાસી તત્તદેશીયભાષયા તથ તથ ધર્મદેશના દ્વાતિ પ્રગ્ન્યા ગ્રાહ્યતિ ચ । ગચ્છાન્તરીયા અયદેશીયા સાધવઃ ‘અયમસ્મદ્વાપાજ્ઞાનવાનુ’ ઇતિ મત્વા તદન્તિકમાગત્ય શાસ્ત્રામ્યસનરૂપા તદુપસપદં પ્રતિપચન્તે, તેપા પ્રીતિશ્ચ તદુપરિ જાયતે । એવમનિયતગાસેન પર્યટવસ્તસ્ય નિષ્પત્તિર્ભવતિ । નિષ્પત્તિર્નામ સદ્ગુણવસ્તેન પ્રભૂતશિષ્યાણાં તદન્તિકે સસિદ્ધિ ।

દેશાન્તર મેં ધ્રમણ કરને કા પ્રયોજન યહ હૈ કિ જય સાધુ દેશાન્તર મેં ધ્રમણ કરતે હૈ, તથ ડનકા અન્યદેશ કે અનેક મહુશ્રુત આચાર્ય આદિકોં કે સાથ સપર્ક વડતા હૈ । ડસસે ડનકો સૂત્રમેં અર્થ મેં એવ સાધુ સમાચારી મેં વિશેષ પ્રતિપત્તિ-જાનકારી હોતી હૈ । તથા નાના દેશકી ભાષાઓં કા જ્ઞાન મી હો જાતા હૈ । ઇસસે સાધુ કો ધર્મપ્રચાર કરને મેં વઢી મારી સહાયતા મિલતી હૈ । ક્યોં કિ વહ ડસ ૨ દેશમેં ડસ ૨ દેશ કી ભાષા સે ડપદેશ દેકર વહા કી જનતા કો ધાર્મિક ઘાસના સે વાસિત કરતે હૈ । એવ લોગોં કો ડીક્ષા ગ્રહણ કરને કી માવના જાગૃત કરતે હૈ । લોગ ડનસે પ્રતિવોધ પાકર ડીક્ષા ધારણ કરતે હૈ । ડસરે ગચ્છ કે અથવા અન્ય દેશ કે સાધુ “ યે હમારી માયા માષી હૈ ” યહ સમજકર ડનકે પાસ આવે જાતે હૈ ઓર ડનસે શાસ્ત્રોં કા અભ્યાસ કરતે હૈ । ઇસસે ડસરે ગચ્છ કે મુનિરાજોં કી ડન પર અધિક પ્રાતિ મી હો જાતી હૈ । શિષ્યપરપરા કી મી વૃદ્ધિ હોતી હૈ । ક્યોં કિ લોગ જબ

દેશાન્તરમાં જમણ કરવાનુ પ્રયોજન એ છે કે, બ્યારે સાધુ દેશાન્તરમાં જમણ કરે છે ત્યારે તેને બીજા દેશના બહુશ્રુત આચાર્ય વગેરે સાથે સપર્ક થાય છે આથી તેને સૂત્રમાં અર્થમાં અને સાધુ સમાચારીમાં વધુ બહુવાનુ મળે છે અને જુદા જુદા દેશની ભાષાઓનુ પણ જ્ઞાન થાય છે આથી સાધુને ધર્મ પ્રચાર કરવામા સારી એવી સહાયતા મળી રહે છે કેમ કે, તે જે તે દેશમાં જે તે દેશની ભાષાથી ત્યાની જનતાને ધાર્મિક ભાવનાથી ભાવનાશુદ્ધ બનાવી શકે છે, અને લોકોમાં ડીક્ષા શ્રદ્ધજુ કરવાની ભાવના જાગૃત કરે છે બીજા ગચ્છના અથવા બીજા દેશના સાધુ “ આ અમારા ભાષાભાષી છે. ” એમ સમજ એની પાસે આવે છે સપર્ક વધારે છે અને એની પાસેથી શાસ્ત્રોને અભ્યાસ કરે છે આથી બીજા ગચ્છના મુનિરાજોની પણ તેના પર પ્રીતિ થવા લાગે છે આથી શિષ્ય પરપરાની વૃદ્ધિ થાય છે, કેમ કે

एव शिष्यप्राप्त्यनन्तर स्व परोपकारकरणेन गच्छकार्ये संपादिते दीर्घे पर्याये च प्रतिपालिते सति अभ्युद्यतमरण स्वीकरणीयम् । अभ्युद्यतमरण त्रिविधम्—पादपोषगमन, इक्षितम्, भक्तप्रत्याख्यान च ।

अभ्युद्यतमरणे सलेखनादिरूपा समाचारी प्रदर्श्यते—सलेखना आगमोक्तेन विधिना शरीरादे कृशीकरणम्, सा त्रिविधा—उत्कृष्टा, मध्यमा, जघन्या च । तत्रो-

उनको गुणगणशाली समझने लगते हैं तो उनके अधिक परिचय में आने से लोगों पर उनके ज्ञानादिक गुणों का प्रभाव पड़ता है । इससे प्रभावित होकर वे उनको अपना हितकारक जान उनके समीप दीक्षित भी हो जाते हैं । इससे शिष्यपरपरा घटती है । इस प्रकार अनियत वास से पर्यटन करने वाले साधु को ये अनेक लाभ होते हैं ।

शिष्यप्राप्ति के अनन्तर स्व एव पर का उपकार करने से गच्छ का कार्य संपादित होने पर तथा साधु अवस्था की पयाय दीर्घकालतक पालीजाने पर उन साधुओंको अभ्युद्यतमरण स्वीकार करना चाहिये । यह अभ्युद्यतमरण ३ तीन प्रकार का है १ पादपोषगमन, २ इक्षित, ३ भक्तप्रत्याख्यान ।

इस अभ्युद्यतमरण में अथ सलेखनादि रूप समाचारी दिखलाई जाती है — आगमोक्तविधि के अनुसार शरीर आदि का कूश करना इस का नाम सलेखना है । यह उत्कृष्ट, मध्यम एव जघन्य के

बोको न्याये तेने शुभशाणी समजता थाय छे त्याये तेना अधिक परिचयभा आवे छे आधी बोको उपर जेना ज्ञानादिक शुभोना प्रभाव पठे छे जेथी प्रभावित यई तेने पोताना हितकारी बाणी तेनी समीप दीक्षित पणु यई जाय छे आधी शिष्यपरपरा वधे छे आधी आ प्रकारने अनियतवास जने पर्यटन करवावाजा साधुने अनेक लाभ थाय छे

शिष्य प्राप्ति उपरांत स्व जने परना उपकारक जनवाधी गच्छनु कार्य संपादित थवाधी तथा साधु अवस्थानी पर्याय लाभा समय सुधी पाणवामा आववाधी जे साधुजोअे अभ्युद्यतमरण स्वीकारवुं जेई जे आ अभ्युद्यतमरण त्रय प्रकारना छे (१) पादपोषगमन (२) इक्षित (३) भक्तप्रत्याख्यान

आ अभ्युद्यतमरणमा हवे सलेखनादि रूप समाचारी जताववागं आवे छे आगममा जतावेव विधि अनुसार शरीर वगेरेने कूश करवुं, जेनु नाम सलेखना छे जे उत्कृष्ट, मध्यम जने जघन्यना बोधी त्रय प्रकारनी

લ્કૃષ્ટા દ્વાદશવર્ષમમાણા, મધ્યમા-સપ્તસરમમાણા, જયન્યા-પાખ્યાસિક્કી । ત્ત્રો
 લ્કૃષ્ટા તાવદેવમ્-પ્રથમ ચત્વારિ વર્ષાણિ વિચિત્ર તપ. કૃત્વા પારણકે વિકૃત્તિપરિ
 ત્યાગ કરોતિ । તતઃ પર ચત્વારિ વર્ષાણિ વિચિત્રતપાસિ કરોતિ । નનુ કિં નામ
 વિચિત્ર તપ ? ઉચ્યતે-કદાચિચતુર્થમ્ કદાચિત્ પૃષ્ઠમ્, કદાચિદષ્ટમમ્, એવં દશમ
 દ્વાદશાદીન્યપિ કરોતિ, પારણ ચ સર્વકામગુણિતેન ઉદ્ગમાદિ શુદ્ધેનાહારેણ વિષ્ણુ
 તતઃ પર દ્વે ચ વર્ષે એકાન્તરિતમાચામ્લ કરોતિ । એકાન્તર ચતુર્થં કૃત્વા આચામ્લન
 પારણ કરોતીત્યર્થઃ । એવ દશવર્ષાણિ વ્યતીત્યૈકાદશેવર્ષે આઘાન્ પખ્યાસાન્ ચતુર્થ

મેદ સે ત્રીન પ્રકાર કી હોતી હૈ । ઉલ્કૃષ્ટસલેખના ચારહ ૧૨ વર્ષ કી,
 મધ્યમ મલેખના એક ૧ વર્ષ કી એવ જયન્ય સલેખના છહ ૬ માસ કી
 હોતી હૈ । ઉલ્કૃષ્ટસલેખના કી વિધિ હસ પ્રકાર હૈ-સય સે પહિલે જો
 ઉલ્કૃષ્ટસલેખના ધારણ કરતા હૈ વહ પ્રથમ કે ચાર વર્ષ લગાતાર
 વિચિત્ર તપ કરકે પારણા મેં વિકૃતિ-વિગય કા ત્યાગ કરે । દૂસરે ચાર
 વર્ષોં મેં વિચિત્ર તપ અર્થાત્ કમી વહ ચતુર્થ કરતા હૈ કમી છટ્ટ કરતા
 હૈ કમી અઠ્ઠમ કરતા હૈ કમી દશમ કરતા હૈ ઓર કમી દ્વાદશ આદિ
 કરતા હૈ । પારણા સર્વકામગુણિત સય હન્ધિયોં કે અનુકૂલ તથા ઉદ્ગમ
 આદિ દોષોં સે વિશુદ્ધ એસે આહાર સે કરતા હૈ । હસકે વાદ ફિર વહ
 દો વર્ષોં મેં અર્થાત્ નવમેં દશમેં વર્ષ મેં એકાન્તરિત આચામ્લ (આયચિલ)
 વ્રત કી આરાધના કરતા હૈ । યહ આરાધના ઉસકી દો ૨ વર્ષ તક
 ચલતી રહતી હૈ । અર્થાત્-દો વર્ષ એકાન્તર ચતુર્થ કરકે આચામ્લ
 (આયચિલ) સે પારણા કરતા હૈ । હસ પ્રકાર કરતે ૨ ઉસકે દસ ૧૦

હોય છે ઉલ્કૃષ્ટસલેખના બારવર્ષની, મધ્યમ સલેખના એકવર્ષની, અને
 જયન્યસલેખના છ મહિનાની હોય છે ઉલ્કૃષ્ટ સલેખનાની વિધિ આ પ્રકારની
 છે, સકુદી પહેલાં જે ઉલ્કૃષ્ટ સલેખના ધારણ કરે છે, તેણે પ્રથમના ચાર
 વર્ષ સુધી વિચિત્ર તપ કરી પારણામા વિકૃતિ વિજયનેા ત્યાગ કરે, બીજા
 ચાર વર્ષોમાં તે વિચિત્ર તપ અર્થાત્ કમી ચોથ કરે છે કમી છટ્ટ
 કરે છે કમી અઠ્ઠમ કરે છે અને ક્યારેક દ્વાદશ વર્ષે કરે છે પારણું સર્વ
 કામ શુષ્ટિત બધી ધન્ધિયોને અનુકૂળ તથા ઉદ્ગમ આદિ દોષોથી રહિત
 આહારથી કરે છે આ પછી તે બે વર્ષમાં અર્થાત્ નવમા દશમા વર્ષમાં
 એકાન્તરિત આયચિલ વ્રતની આરાધના કરે છે આ આરાધના બે વર્ષ સુધી ચાલે
 છે અર્થાત્ બે વર્ષ એકાન્તર ચોથ કરી આયચિલથી પારણું કરે છે, આ રીતે
 કરતાં કરતાં એના કશ વર્ષ વ્યતિત થઈ જાય છે ક્યારે અગ્નિચારમાં વર્ષની

पष्टं वा तप' करणीय नाष्टमादिकम् । तत' परमन्यान् पण्मासान् अष्टमदशम-
द्वादशादिभ्युत्कृष्ट तप. करोति । अस्मिन्नेकादशेवर्षे पारणके तु परिमित-स्वल्प-
सख्यकमाचाम्ल करोति । कदाचित् करोति कदाचिन्नकरोतीति भाव' । द्वादशे
तु वर्षे कोटिसहित निरन्तरमाचाम्ल करोति । अत्र कोटिसहितमित्यस्यायमर्थः-
कोटिभ्या सहितम्-विवक्षितदिने आचाम्ल कृत्वा पुनर्द्वितीयेऽह्नि आचाम्लमेव
प्रत्याख्याति, तत प्रथमस्य पर्यन्तकोटिः, द्वितीयस्य प्रारम्भकोटिः, इमे द्वे मिलिते
भवतस्तत्कोटिसहित भवति, इदमाचाम्ल निरन्तर भवतीत्यर्थः । तत्रापि मासाद्धेन
मासिकेन वाऽऽहारत्यागेन तपश्चरणीयम् । अनशन करणीयमित्यर्थः । अनेन क्रमेण
द्वादशवर्षिकीमुत्कृष्टा सलेखनां कृत्वा गिरिगह्वरं वा पट्टकायोपमदर्दरहित निर्जन

वर्ष व्यतीत हो जाते हैं और जब ग्यारह ११वा वर्ष प्रारभ होता है तो
उसमें आदि के छह ६ मास तक वह चतुर्थ, पष्ट, तपस्या की आराधना
करता है, अष्टम आदि की नहीं । पाकी ऊपर के छह ६ महिनों में
अष्टम, दशम एव द्वादश आदि उत्कृष्ट तप करता है । इस वर्ष में
पारणा के दिन परिमित आययिल करता है । अर्थात् कमी आययिल
करता है कमी नहीं करता । बारह १२वे वर्ष में कोटिसहित-निरन्तर
आययिल करता है । जहा पहिले आययिल का अन्त हो और दूसरे
आययिल का प्रारभ, इसका नाम कोटि है । इन दोनों कोटियों से
सहित जो आययिल होता है उसका नाम कोटिसहित आययिल है ।
ये आययिल निरन्तर होता हैं, अन्त में मासार्ध-एक पक्ष और
मासिक-एक मास का अनशन करता है । इस क्रम से बारह १२
द्वादश वर्ष की उत्कृष्ट सलेखना होती है । इस उत्कृष्ट सलेखना को

शुद्धात् डाय छे छ मास सुधी ते धोष, छठु तपस्यानी आराधना करे छे.
अष्टम वगेरेनी नही छे पछीना छ महिनामा अष्टम, दशम, अने द्वादश
आदि उत्कृष्ट तप करे छे आ वर्षमां पारणाना द्विसे परिमित आययिल
करे छे अर्थात् कोठ वषत आययिल करे छे कोठ वषत करता नथी.
बारमा वर्षमा कोटि सहित निरन्तर आययिल करे छे ज्या पछेलां आय
यिलने अत आवे अने जीव आयवीवने प्रारभ थाय जेनु नाम कोटि
छे आ अने कोटिया सहित जे आययिल डाय छे जेनु नाम कोटि
सहित आययिल छे आ आययिल शैव थाय छे अतमा मासाद्ध-जेठ
पक्ष अने मासिक-जेठ मासनु अनशन करे छे आ कभधी बार (द्वादश)
वर्षनी उत्कृष्ट सलेखना थाय छे आ उत्कृष्ट सलेखना करीने साधु का तो

સ્થાન વા ગત્વા પાદપોપગમનમ્, રૂઙ્ગિત ભક્તપ્રત્યાખ્યાનં વા મરણ યથાશક્તિ પ્રપદ્યતે ।

મધ્યમા તુ સલેખના પૂર્વોક્તપ્રકારેણ દ્વાદશભિર્માસિર્ભવતિ । તત્ર વર્ષસ્થાને માસા સ્થાપનીયાઃ ।

જઘન્યા તુ દ્વાદશભિઃ પક્ષૈઃ પૂર્વોક્તપ્રકારેણ ભવતિ । પક્ષાનેવ વર્ષસ્થાનીયાત્ કૃત્વા તપશ્ચરણ કર્તવ્યમ્ ભવતિ । ગિરિકન્દરાદિગમન મધ્યમત્રઘન્યયોરપિ ।

કરકે સાધુ યા તો કિસી પર્વત કી ગુફા મેં ચલા જાતા હૈ, યા ષટ્કાય કે ઉપમર્દન સે રહિત નિર્જીવ કિસી નિર્જનસ્થાન મેં ચલા જાતા હૈ । ઘાં પહુંચ કર પાદપોપગમન, ઇંગિત, ભક્તપ્રત્યાખ્યાન ઇન તીનોં મેં સે કિસી ઇક કો જૈસી શક્તિ હોતી હૈ ઉસકે અનુસાર સ્વીકાર કર લેતા હૈ ।

મધ્યમા સલેખના ઇક ૧ વર્ષ કી હોતી હૈ । જો વિધિ ધારહ ૧૨ વર્ષ કી સલેખના મેં પ્રદર્શિત કરને મેં આઈ હૈ વહ વિધિ ઇસકી ધી હૈ ઘાં જહાં વર્ષ કા પ્રમાણ ગ્રહણ કિયા ગયા હૈ ઇસમેં ઉસ જગહ માસ રૂપ પ્રમાણ સમજાના ચાહિયે । જૈસે વહા ૪ વર્ષ આદિ કહા હૈ ઇસમેં ૪ માસ સમજાના ચાહિયે ।

જઘન્ય સલેખના ૧૨ પક્ષો-૬ માસ-કે પ્રમાણ વાલી હોતી હૈ । ઇસકી ધી વિધિ વહી હૈ જો ઉત્કૃષ્ટ સલેખના કી હૈ । વર્ષ કે સ્થાન મેં ઘાં પક્ષો કો ગ્રહણ કિયા જાતા હૈ । મધ્યમ સલેખના ઇવં જઘન્ય સલેખના ઇન દોનોં મેં ધી ગિરિકન્દરા આદિ મેં જાના આવશ્યકીય હૈ ।

કોઈ પર્વતની શુદ્ધિમાં ચાલ્યા બાય છે અથવા ષટ્કાયના, ઉપમર્દનથી રહિત નિર્જીવ એવા નિર્જન સ્થાનમાં ચાલ્યા બાય છે ત્યાં પહોંચી પાદપોપગમન ઇંગિત, ભક્તપ્રત્યાખ્યાન આ ત્રણમાંથી પોતાની શક્તિ પ્રમાણે કોઈ એક મરણનો સ્વીકાર કરી લે છે,

મધ્યમા સલેખના એક ૧ વર્ષની હોય છે જે વિધિ ધાર ૧૨ વર્ષની સલેખ નામાં પ્રદર્શિત કરવામાં આવી છે તે વિધિ આની પણ છે બન્યાવર્ષનું પ્રમાણ ગ્રહણ કરવામાં આવ્યું છે ત્યાં મહિનાનું પ્રમાણ મધ્યમા સલેખના માટે સમજવું એક એમ ત્યાં ધાર ૧૨ વર્ષ આદિ કહેલ છે ત્યાં આમાં ધાર મહિના સમજવા એક છે

જઘન્ય સલેખના ૧૨ પક્ષ-૬ માસ ના પ્રમાણવાળી હોય છે આની વિધિ પણ એ જ છે જે ઉત્કૃષ્ટ સલેખનાની છે મધ્યમ સલેખના અને જઘન્ય સલેખના આ બનેમાં પણ ગિરિકન્દરા આદિમાં જવું જા

सखेखनायामसमर्थेन मुनिना सलेखनां विनाऽपि यथाशक्ति सस्तारक कृत्वाऽ-
भ्युद्यतमरण स्वीकरणीयम् ।

अभ्युद्यतमरणाङ्गीकरणात् प्रागिद चिन्तनीयम्-मया विशुद्धचारित्रानुष्ठानेन
स्वपरहित सपादितम् , शिष्याद्युपकारतः परहितं च, निष्पन्नाश्च सम्प्रति मम ग-
च्छपरिपालनक्षमा शिष्या , अथ विशेषेण ममात्महितमनुष्ठेयमिति विचिन्त्य
स्वपरिज्ञाने सति स्वकीयमायु शेष स्वयमेव पर्यालोचयति, तदभावेऽन्य विशिष्ट
माचार्यादिक पृच्छति । स्वायुषिस्तोकतया ज्ञाते भक्तप्रत्याख्यानादि मरण यथा-
शक्ति प्रतिपद्यते । यदि स्वायुर्दीर्घतया ज्ञात बहुबलमात्र परिक्षीण तदा स्थिरवासं

जो साधु सलेखना करने में असमर्थ है उसे सलेखना के विना भी
यथाशक्ति सधाराकर अभ्युद्यतमरण स्वीकार करना चाहिये । इस अभ्यु-
द्यतमरण को अंगीकार करने के पहिले साधु को इस प्रकार विचार
करना चाहिये कि मैंने विशुद्ध चारित्र के अनुष्ठान से स्व हित सपादित
कर लिया है । शिष्यादिकों के उपकार से पर का उपकार भी कर दिया
है । इस समय गच्छ का परिपालन करने में समर्थ मेरी शिष्यादि संपत्ति
भी सर्व प्रकार से शक्तिशाली हो चुकी है । अथ मुझे निश्चिन्त होकर
विशेष रीति से अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिये “ मेरी अव-
शिष्ट आयु कितनी है ” इस प्रकार स्वयं जान कर अथवा यदि स्वयं
नहीं जान सके तो अन्य विशिष्ट आचार्य आदि से पूछकर निश्चित
करले । यदि आयु अल्प ज्ञात होवे तो यथाशक्ति उसे भक्तप्रत्याख्या-
नादि मरण स्वीकार कर लेना चाहिये । यदि आयु दीर्घ ज्ञात होवे और

जो साधु सलेखना करवाभां असमर्थं छे, जेखे सलेखना वगर पख
यथाशक्ति सधारे करी अभ्युद्यत मरणुने स्वीकार करवे जेधंजे आ अभ्यु-
द्यत मरणुने अंगिकार करता पहिलां साधुजे जे प्रकारने विचार करवे जेधंजे
के, जे विशुद्ध चारित्रना अनुष्ठानथी स्वहित सपादित करी लीधु छे, शिष्या-
दिकेना उपकारनी साधोसाध नील उपर पख उपकार कर्यो छे आ समय
गच्छनु परिपालन करवाभां समर्थ जेवी भारी शिष्यादिसंपत्ति पख सर्व
प्रकारथी शक्तिशाली भनी चुकी छे ऊवे भारे निश्चिन भनीने विशेष रीतथी
भारा आत्मानु कल्याणु करवु जेधंजे. “ भारी अवशिष्ट आयु केटली छे ” आ
वात पोते बखीने अथवा जे पोते न बखी शके तो नील शुद्धसपल
आचार्य आदिथी पूछीने नखी करी छे जे आयुष्य अल्प होय तो; यथाशक्ति
तेखे भक्तप्रत्याख्यान आदि मरणुने स्वीकार करवे जेधंजे जे आयु लामी

સ્વીકરોતિ તત્રૈવ ક્ષેત્રે વસત્રપિ વસતિદો પૈરુપધિદો પૈશ્ચ રહિતો મગતિ । શક્તૌ પુષ્ટાબ્ધ
તુ અસ્મિન્ પશ્ચમારકે જિનરૂપપ્રતિપત્તિવિધાનાભાવાત્ સ્થવિરકલ્પનેન સ્વપ-
રોપકારકરણેન દીર્ઘપર્યાય પ્રતિપાલનીય. ।

॥ ઇતિ સ્થવિરકલ્પિકસામાચારી ॥

ચતુર્ધાર્શ્વકાપેક્ષયા જિનરૂપાદિપ્રતિપત્તિરૂપે અમ્યુષ્યતવિહારે મર્યાદા પ્રદર્શ્યતે
-ત્વ જિનરૂપાદિ પ્રતિપિત્તુના પ્રથમમેવ ' મયા વિશુદ્ધચારિત્રાનુષ્ઠાનેન સ્વપ-
રિત ' ઇત્યાદિ વિચિન્ત્ય, તપ' સત્વાદિ ભાવનામિરાત્મા ભાવનીય ।

સાથ મેં જઘાવલ ક્ષીણ હુઆ માલ્મ પઢે તો ઉસે સ્થિરવાસ અંગીકાર
કરલેના ઘાહિયે । ઓર ઇસી સ્થિરવાસ સે ઉસી ક્ષેત્ર મેં રહતે હુણ મી
વહ ઘસતિ કે દોપોં સે એવ ઉપાધિ કે દોપોં સે રહિત હો જાતા હૈ । યદિ
શક્તિ પુષ્ટ હોવે તો મી ઇસ પશ્ચમ આરે મેં જિનકલ્પ કી પ્રતિપત્તિ કે
વિધાન કા અભાવ હોને સે સ્થવિરકલ્પ કી હાલત મેં હી રહતે હુણ સ્વ
પર કા ઉપકાર કરતે ૨ દીર્ઘપર્યાય કો પાલતે રહના ઘાહિયે ।

॥ યહ સ્થવિર કલ્પ કી સમાચારી હૈ ॥

અય-ચૌથે આરે કી અપેક્ષા સે જિનકલ્પ આદિ કી પ્રતિપત્તિ સ્વી
કૃતિ રૂપ અમ્યુષ્યત વિહાર મેં કૈસી કયા મર્યાદા હોતી હૈ યહ ઘાત પ્રકટ
કી જાતી હૈ-જો સાધુ જિનકલ્પ આદિ કો પ્રાપ્ત કરને કા અમિલાપી હૈ
ઉસે ઘાહિયે કી વહ સર્વ પ્રથમ એસા વિચાર કરે કિ મૈને વિશુદ્ધ ચરિત્ર
કે અનુષ્ઠાન સે અપના ઓર પર કા હિત તો સાધિત કિયા । અબ હમ કો
તપ એવં સત્વાદિ પાચ ભાવનાઓં સે આત્મા કો ભાષિત કરના ઘાહિયે ।

હોય અને સાથે જ ધ્યાન ક્ષીણ જણાય તો તેણે સ્થિરવાસ અંગિકાર કરી
દેવો બેઠકો આ સ્થિરવાસથી તે ક્ષેત્રમાં રહેવા છતાં તે વસ્તીના દોષોથી
અને ઉપાધીના દોષોથી રહિત અને છે કદાચ શક્તિ ચારી હોય તો પણ આ
પર્યાયમાં આશામાં અનકલ્પની પ્રતિપત્તિના વિધાનનો અભાવ હોવાથી સ્થવિર
કલ્પની હાલતમાં રહીને સ્વ અને પરનો ઉપકાર કરતા કરતાં ઠીક પર્યાયનું
પાલન કરતા રહેવું બેઠકો.

॥ આ સ્થવિરકલ્પની સમાચારી છે ॥

હવે ચોથા આશાની અપેક્ષાથી અનકલ્પ આદિની પ્રતિપત્તિ સ્વીકૃતિરૂપ
અમ્યુષ્યત વિહારમાં કેવી અને કેટલી મર્યાદા હોય છે આ ઘાત પ્રકટ કરવામાં
આવે છે-જે સાધુ અનકલ્પ આદિને પ્રાપ્ત કરવાનો અભિલાષી છે તેણે અમ્યુષ્ય
બેઠકો કે, મે વિશુદ્ધ ચારિત્રના અનુષ્ઠાનથી પોતાનું અને પરનું હિતવે સામ્યુ-
હવે મારે તપ અને સત્વાદિપાંચ ભાવનાઓથી આત્માને ભાષિત કરવા બેઠકો

तथाचोक्तम्—

तवो सत्त च मुत्त च, एगत्त बलमप्पणो ।

पदम पच भावित्ता, जिणकप्प पवज्जइ ॥ १ ॥

छाया—तप सत्त्व च मूत्र च, एकत्व बलमात्मनः ।

प्रथम पत्र भावयित्वा, जिनरूप्य प्रपद्यते ॥ १ ॥

अयं भाव—जिनरूप्यप्रतिपित्तुस्तपोभावनयात्मानं भावयन् द्वादिकृतोपसर्गादिनाऽनेपणादिकारणतो वा यदि पण्मासपर्यन्तमाहारं न लभते तथापि न वाध्यते ॥ १ ॥ सत्त्वभावनायां मयः पराजयते ॥ २ ॥ सूत्रभावनायां मूत्रं स्वनामवत् पश्चित् करोति ॥ ३ ॥ एकत्व भावनया चात्मानं भावयन् साधर्मिकसाध्यादिना सह मियं कथादिव्यतिकरान् सर्वानपि परिवर्जयति । ततो वाक् कथा भी है ।

तवो सत्त च मुत्त च, एगत्त बलमप्पणो ।

पदम पच भावित्ता, जिणकप्प पवज्जइ ॥ १ ॥

इसका भाव यह है कि—जिनकल्प को धारण करने का इच्छुक साधु तप भावना से आत्मा को भावित करता हुआ यदि देव मनुष्य आदि द्वारा होने वाले उपसर्ग से अथवा अनेपणादि रूप कारण से छह मास तक आहार प्राप्त न कर सके तो भी भावित नहीं होता है । सत्त्व भावना से वह भय पर विजय प्राप्त करता है । एकत्व भावना से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ साधर्मिक साधु आदिकों के साथ परस्पर में कथा वार्ता आदि समस्त वार्ता का परित्याग कर देता है । जय

४६ पक्ष छे—

तवो सत्तं च मुत्तं च, एगत्तं बलमप्पणो ।

पदम पच भावित्ता, जिणकप्प पवज्जइ ॥ १ ॥

आने भाव ज्ये छे डे—अनङ्कपने धारण करवाणी छिछावाणा साधु तप भावनाथी आत्माने भावित करीने देव मनुष्य आदि द्वारा थनार उपसर्गथी अथवा अनेपणादि रूप कारणथी छ भङ्गिना सुधी आहार भेगवी न शके तो पक्ष पीडा घामतो नथी. सत्त्वभावनाथी ते मय उपर विजय प्राप्त करे छे सूत्र भावनाथी पोताना नामनी माङ्क सूत्रने परिमय प्राप्त करे छे, अकेत्व भावनाथी पोताना आत्माने भावित करीने साधर्मिक साधु आदिनी साथे परस्परमा कथावार्ता आदि समस्त वार्ताने परित्याग करी डे छे ब्यारे वाक्कमां तेनु भअत्व

મમત્વે મૂલત ઇચ્છેદિતે પથાદ્ દેહાદિભ્યોઽપિ મિત્રમાત્માન પश्यन् सर्वथा तेष
 नासक्तो भवति ॥ ४ ॥ यलभावनाया यल द्वित्रिधं-शरीर, मानस च । तत्र शरी
 रमपि यल जिनकल्पप्रतिपत्तियोग्यस्य शेषजनातिशायिकं स्यात्, तप' प्रभृतिभिः
 शुष्यमाणस्य यद्यपि शरीरं यल तादृश न भवति तथापि स्वात्मा घृतिवलेन तथा
 भावयितव्यो यथा महद्भिरपि परीपहोपसर्गेर्ननाघ्यत ।

આમિઃ પન્નમિર્માવનામિર્માવિતાત્મા જિનકલ્પાદિ પ્રતિપિત્સુર્ગંચ્છે પ્રતિ
 પસન્નાહારાદિપરિકર્મ પ્રથમમેવ કરોતિ । આહારાદાવન્યસાધ્વપેક્ષયાન્તપ્રાન્તાદિ

યાદ્ય મેં મમત્વ મૂલતઃ ઉસકા ઉચ્છેદિત હો જાતા હૈ તય અન્ય દેહાદિ
 પદાર્થો સે મિન્ન સ્વ આત્મા કો જાનતા હુઆ વહ ઉન મેં સર્વથા અના-
 સક્ત હી રહતા હૈ । ઉનમેં આસક્ત નહીં હોતા । યલભાવના મેં ચલ લો
 પ્રકાર હૈ ઇક શરીર સયધી ઓર દુસરા મનસયધી । જો સાધુ જિન
 કલ્પ કી પ્રતિપત્તિ કે યોગ્ય હોતા હૈ ઉસકા શારીરિક ચલ મી યદ્યપિ
 સાધારણજન કી અપેક્ષા અતિશય ચિશિષ્ટ હોતા હૈ પરન્તુ તપભ્યૌ
 આદિ કે કારણ ઉનકા શરીર જય કુશ હો જાતા હૈ તય વહ વૈસા નહીં
 રહતા હૈ તૌ મી ઉનકી આત્મા ઘૃતિચલ દ્વારા વ્રતની અધિક ભાવિત
 રહતી હૈ કિ જિસકી વજહ સે ષે અધિક સે અધિક પરીપહ ઓર ઉપ
 સર્ગો સે આક્રાન્ત હોને પર મી અપને કર્તવ્યમાર્ગ સે જરા મી
 વિચલિત નહીં હોતે ।

इन पाच भावनाओं से भावितात्मा जिनकल्पादिक को ग्रहण
 करने की इच्छा से गच्छ में रहता हुआ आहारादि परिकर्म को सब

સુલતા નાશ પામે છે ત્યારે ધીજ દેહાદિ પદાર્થોથી મિત્ર યોતાના આત્માને
 ભાળીને તેમાં સર્વથા અનાસક્ત બ રહે છે એમાં આસક્ત બનતા નથી
 બળભાવનામા બળ બે પ્રકારના છે એક શરીર સયધી અને ધીજુ મન
 સયધી બે સાધુ અનકલ્પની પ્રતિપત્તિને યોગ્ય હોય છે તેનુ શારીરિક બળ
 પણ બે કે, સાધારણ જનની અપેક્ષા અતિશય બલવાન હોય છે પરંતુ તપ
 ક્ષયી આદિના કારણથી તેનુ શરીર બ્યારે કુષ બને છે ત્યારે તે તેવા રહેતા
 નથી તેા પણ તેની આત્મા ઘૃતિબળ દ્વારા એટલી અધિક ભાવિત રહે છે કે,
 જેનાથી તે અધિકથી અધિક પરીપહ અને ઉપસર્ગોથી આક્રાંત થતા હોવા છતાં
 પણ યોતાના કર્તવ્યમાર્ગથી જરા પણ અલિત થતા નથી

આ પાંચ ભાવનાઓથી ભાવિતાત્મા અનકલ્પાદિને પ્રકલ્પ કરવાની ઇચ્છાથી
 અચ્છમા સ્થીને આહારાદિ પરિકર્મને બધાથી પહેલાં કરી લે છે, આહારાદિમા

ग्रहणादुत्कृष्टतासम्पादनम्-परिकर्म । यथा-तृतीयपौरुष्यामवगाढायां वल्ल-चण-
कादिकमन्त्र मन्त्र रूपं च गृह्णाति ।

“सप्तमसप्तम्या, उद्धड तह होइ अप्पलेवा य ।

उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥ १ ॥”

आसां सप्तविधानां पिण्डैपणानां मध्ये आद्यद्वय विहाय पञ्चाना मध्यादन्य-
तरैपणाद्वयाभिग्रहणाऽऽहार गृह्णाति एक्यैपणया भक्त, द्वितीयया तु पानकम् ।
एवमागमोक्तविधिनाऽऽत्मान भावयित्वा गच्छप्रतिबद्ध एव जिनकल्प प्रतिपित्तु-
श्चतुर्विधसद्य समेलयति, तदभावे स्वर्गण ततस्तीर्थंकरस्य समीपे, तदभावे गण

से पहिले ही कर लेता है आहार आदि में अन्य साधु की अपेक्षा
अतप्रात आदि ग्रहण से उत्कृष्टता का संपादन करना परिकर्म है ।
जैसे तृतीय पौरुषी में वल्ल, चना आदि का आहार करना एवं अन्त-
प्रान्त रक्ष आहार करना ।

सप्तमसप्तम्या, उद्धड तह होइ अप्पलेवा य ।

उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥१॥

इन सात प्रकार की पिण्डैपणाओं के मध्य में आदि की दो एप-
णाओं को छोड़कर बाकी घसी पाच एपणाओं में से अन्यतर एपणा दो
के अभिग्रह से वह आहार को ग्रहण करता है । एक एपणा से भक्त
को और द्वितीय एपणा से पान को । इस प्रकार आगमोक्त विधि के
अनुसार आत्मा को भावित करके गच्छ में रहता हुआ ही जिनकल्प
को अंगीकार करने का अभिलाषी साधु चतुर्विध सद्य को एकत्रित

अन्य साधुनी अपेक्षा अतप्रात आदि ग्रहणार्थी उत्कृष्टतानु संपादन करवु
परिकर्म छे जेम-नील पौरुषीमा वाव, अल्लु आदिना आहार करवे अने
अन्तप्रान्त रक्ष आहार करवे।

सप्तमसप्तम्या, उद्धड तह होइ अप्पलेवा य ।

उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥ १ ॥

ये सात प्रकारनी पिण्डैपणाओना मध्यमा पडेवाणी छे जेपल्लुओने
छोडीने बाकी अवेव पाच जेपल्लुओमाथी अन्यतर जेपल्लु वेना अभिग्रहथी
ते आहार ग्रहण करे छे, जेठ जेपल्लुथी भक्तने अने पील जेपल्लुथी पानने
आ प्रकारे आगममां छेव विधि अनुसार आत्माने भावित करीने गच्छमा
रहीने व एनकल्पने अंगीकार करवाना अभिलाषी साधु चतुर्विध सद्यने जेठ-

ધરસ્ય, તદભાવે ચતુર્દશપૂર્વધરસ્ય, તદભાવે દશપૂર્વધરસ્ય, તદભાવે વટાશ્વત્યાશોક-
 વૃક્ષાણાં સનિધૌ સિદ્ધસાક્ષિક જિનકલ્પ સ્વીકરોતિ । તદા સગાલવૃદ્ધ ગચ્છ
 ક્ષામયતિ । તતો નિ શલ્યો નિષ્કયાયોડસૌ સ્વગણસાધ્વાદીનનુશસ્તિ । એવમેષ
 યુષ્માભિરપ્યાચરણીયમ્ નાત્ર પ્રમાદઃ કાર્યઃ । ગણમર્યાદા નોહ્યહુનીયા । ક્ત્યાદિ
 શિક્ષા વત્વા ગચ્છાદ્ વિનિર્ગતો ભવતિ । તસ્મિન્ ચક્ષુર્નિપયાતિક્રાન્તે સતિ સાત્રવ
 મતિનિવર્તન્તે ।

કરતા છે । ફસકે અભાવ મેં અપને ગણ કો, ઇકત્રિત કરતા છે શાદ મેં
 તીર્થકર કે સમીપ મેં, ફનકે અભાવ મેં ગણધર કે સમીપ મેં, ફનકે
 અભાવ મેં ચૌદહપૂર્વધારી કે સમીપ મેં, ફનકે અભાવ મેં દશપૂર્વધારી કે
 સમીપ મેં, ફનકે મી અભાવ મેં વટવૃક્ષ, અશ્વત્ય-પીપલ વૃક્ષ, અથવા
 અશોક વૃક્ષ કે સમીપ સિદ્ધ પરમાત્મા કો સાક્ષી કરકે જિનકલ્પ કો
 સ્વીકાર કરતા છે । ઉસ સમય યહ અપને ગચ્છ મેં રહને વાલે શાલવૃદ્ધ
 સાધુઓં સે સ્વમત સ્વામણા કરતે હેં । પશ્ચાત્ નિઃશલ્ય એવ નિષ્કલાય
 હોકર અપને ગચ્છ કે સાધુ આદિકોં કો યહ શિક્ષા વેતા છે કિ આપ
 લોગ મી ફસી તરહ સે કરે ફસમેં પ્રમાદ કરના ઠીક નહીં છે । ગગ કી
 જો મર્યાદા છે ઉસકા ઉલ્લઘન નહીં કરના । ક્ત્યાદિ શિક્ષા વેકર ફિર
 યહ ગચ્છ નિર્ગત હો જાતા છે । સાધુ વર્ગ જય તક વહ દિશ્વતા રહતા
 છે તયતક ઉસકે પીંછે ર ચલતા રહતા છે ઓર જય વહ દિશ્વલાઈ નહીં
 પડતા તય સય પીંછે વાપિસ લોટ આતે હેં ।

ત્રીત ઠરે છે એના અભાવમા પોતાના ગણને એકત્રીત ઠરે છે બાહમાં તીથ
 ઠરની સમીપમાં, એના અભાવમા ગણધરની સમીપમાં, તેના અભાવમાં ચૌદ
 પૂર્વધારીની સમીપમાં, તેના અભાવમાં દશપૂર્વધારીની સમીપમાં, તેના પણ
 અભાવમાં વડવૃક્ષ, આશોપાલવ, પીપળો અથવા અશોકવૃક્ષના સમીપ સિદ્ધ
 પરમાત્માને સાક્ષી રાખીને જિનકલ્પનો સ્વીકાર ઠરે છે આ સમયે તે પોતાના
 ગચ્છમાં રહેલા ણાળ-વૃદ્ધ સાધુઓથી ખમત ખામણા ઠરે છે પછી નિઃશલ્ય અને
 નિષ્કલાય થઈને પોતાના ગચ્છના સાધુ આદિને એવી શિખામણ આપે છે કે,
 આપ લોકોએ પણ આજ રીતે ઠરવું તેમાં પ્રમાદ કરવો ઠીક નથી ગણની જે
 મર્યાદા છે તેવું ઉલ્લઘન ઠરવું નહીં ક્ત્યાદિ શિખામણ આપીને પછી તે ગચ્છ
 નિર્ગત થઈ જાય છે. ન્યા સુધી તે દેખાય છે ત્યાં સાધુવજ તેની પાછળ પાછળ
 આવતા રહે છે અને ન્યારે તે દેખાતા બંધ થાય છે ત્યારે સમણા પાછા ઠરે છે

અથ જિનકલ્પિકમર્યાદા—

અનયા મર્યાદયા જિનકલ્પ સ્વીકૃતયાસૌ યત્ર ગ્રામે માસકલ્પ. કરિષ્યમા
ણસ્તત્ર પદ્ મારગાન્ કર્ણયતિ, તતથ્થ યસ્મિન્ ભાગે એકસ્મિન્ દિને મિક્ષાચર્યા-
કૃતા, તત્ર પુનરપિ સત્તમ એવ દિને પર્યટતિ । મિક્ષાચર્યા ગ્રામાન્તરગમન ચ તૃતીય-
પૌરુષ્યામેવ કરોતિ । યત્ર ચતુર્યપૌરુષી પ્રાપ્તા ભવેત્, તત્રૈવાવતિષ્ઠતે, નાન્યત્ર ગ-
ચ્છતિ । ભક્ત પાનક ચ પૂર્વોક્તૈષ્ણાદ્વયામિગ્રહેણાલેપકૃદેવ ગૃહ્ણતિ । એષણાદિ-
વિષયમન્તરેણ ન કેનાપિ સાથે માપતે । એકસ્યાં ચ વસતૌ યદ્યપિ ઉત્કૃષ્ટત સત્ત
જિનકલ્પિકા પ્રતિવસન્તિ તથાપિ તે પરસ્પર સમાપણ ન કુર્વન્તિ । સમાપન્નાન્ ઉપ
સર્ગપરીપહાન્ સર્વાન્ સહત એવ । રોગેષુ ચિકિત્સા ન કારયત્યેવ તદ્દેદના તુ

અથ જિનકલ્પી કી મર્યાદા કહતે હૈ—

હસ મર્યાદા સે જિનકલ્પ કો સ્વીકાર કર યહ્ જિસ ગ્રામ મેં માસ-
કલ્પ કરતા હૈ વહા છહ માર્ગોં કી કલ્પના કરતા હૈ । જિસ ભાગ મેં
એક દિન મેં મિક્ષાચર્યા કરલી ગઈ હો વહા ફિર યહ્ સાતવે દિન હી
મિક્ષાચર્યા કરતા હૈ । મિક્ષાચર્યા કરના અથવા એક ગ્રામ સે દુસરે ગ્રામ
મેં જાના યહ્ તૃતીય પૌરુષી મેં હી કરતા હૈ । જહા ચતુર્ય પૌરુષી આ
જાતી હૈ વહ્ વહીં પર ઠહર જાતા હૈ । અન્યત્ર નહીં જાતા હૈ । પૂર્વોક્ત દો
એષણાઓં કે અમિગ્રહ સે અલેપકૃત-લેપરહિત જિસકા લેપ ન લગે એસે
ભક્ત પાન કો ગ્રહણ કરતા હૈ । એષણાદિ વિષય-કે વિના કિસી કે મી
સાથ યાતચીત નહીં કરતા હૈ । એક વસ્તી મેં યદ્યપિ અધિક સે અધિક
સાત જિનકલ્પી સાધુ રહ્ સકતે હૈ તૌ મી વે પરસ્પર સમાપણ નહીં
કરતે હૈ । જો મી ઉપસર્ગ યા પરીષહ્ આપહે તો ઉસે સહતે હી હૈ । રોગ

હવે જનકલ્પીની મર્યાદા કહેવામાં આવે છે—

આ મર્યાદાથી જનકલ્પનો સ્વીકાર કરી તે સાધુ જે ગામમાં માસ કલ્પ
કરે છે ત્યાં છ ભાગોની કલ્પના કરે છે જે ભાગમાં એક દિવસમાં મિક્ષાચર્યા
કરી લેવામાં આવી હોય ત્યાં તે ફરી સાતમાં દિવસે જ મિક્ષાચર્યા કરે છે
મિક્ષાચર્યા કરવી અથવા એક ગામથી બીજા ગામે જવું એ ત્રીજા પૌરુષીમાં જ
કરે છે જ્યાં એથી પૌરુષી આવે ત્યાં તે શિકાર્ધ બંધ છે આગળ વધતા નથી
પૂર્વોક્ત જે એષણાના અમિગ્રહથી (અલેપકૃત) જેનો લેપ ન લાગે એવા ભક્ત
પાનને ગ્રહણ કરે છે એષણાદિ વિષય વગર કોઈની સાથે વાતચિત્ કરતા નથી,
એક વસ્તીમાં એ કે, વધુમાં વધુ સાત જનકલ્પી સાધુ રહી શકે છે તો પણ
તેઓ પરસ્પર સમાપણ કરતા નથી. જે પણ ઉપસર્ગ અને પરીષદ્ આવી પડે

सम्यगेव सहते । आपातसलोकादिदोषरहिते स्थण्डिले उच्चारार्दीन् करोति, नत्वस्थण्डिले । परिकर्मरहिताया वसतौ तिष्ठति । यद्युपविशति तदा नियमादुत्कटुक एव, न तु निपद्यायाम्, औपग्रहिकोपकरणस्यैव भावात् । मत्तमातङ्गसिंह्या घ्रादिके समुखे समापवति सति उ मार्गगमनादिना ईयांसमिति न भिनत्ति ।

जिनकल्पिसोऽपवाद नासेवते, जड्वाग्लपरिधीणस्तु अविहरमाणोऽप्याराधका लोच च करोत्येव, दशविषयसामाचार्या पञ्च समाचार्यो जिनकल्पिकाना, आपञ्चना,

में ये किसी भी प्रकार चिकित्सा नहीं कराते हैं किन्तु जैसे भी बनता है उस रोग को सहन ही करते हैं । जहा मनुष्यों का आवागमन नहीं होता है ऐसे स्थण्डिल में ही ये उच्चार आदि के लिये जाते हैं । अस्थण्डिल में नहीं । परिकर्म रहित-घठारी मठारी चिना की वस्ती में ये रहते हैं जय बैठते हैं तो नियम से उत्कटुक आसन से ही बैठते हैं । निपद्या से नहीं क्यों कि औपग्रहिक उपकरण आसन आदि का ही इनके पास अभाव है । मत्तमातङ्ग, सिंह, एव व्याघ्र आदि इन्हें मार्ग में चलते हुए साम्हने मिल जाय तो भी ये उसीमार्ग से चलकर अपनी ईयांसमिति को खडित नहीं करते हैं ।

ये जिनकल्पी साधु अपवाद मार्ग का सेवन नहीं करते हैं । इनका जंघाबल यदि परिक्षीण भी हो जावे और उसकी वजह से ये बिहार न भी करे तो भी आराधक ही माने गये हैं । ये केशों का लोच करते हैं । दश प्रकार की समाचारी में से पांच प्रकार की समाचारी इन जिनकल्पियों

तेने तेजो सङ्गन करे छे शैजभां डोर्ध पञ्च प्रकारनी चिकित्सा तेजो करवता नथी पञ्च जेभ अने तेभ ते शैजने सङ्गन करे छे ज्यां मनुष्योनुं आवाजमन छोटु नथी जेवा उल्लङ्घन स्थानोभां जे तेजो शौचादिक ठमं मटे बस छे अवशवशरता स्थाने नही परिकर्म रहित-घठारी मठारी वजरनी-वस्तीभा रडे छे ज्यारे भेसे छे तो नियमथी उत्कटुक (उल्लङ्घन पगे भेसवु) आसनथी भेसे छे, निपद्याथी नही डेमके, औपग्रहिक उपकरण आसन आदिने तेनी पासे अभाव छे मत्त मातङ्ग, सिंह, अने वाघ आदि तेने मार्गभां चलतां सभा भणे तो पञ्च ते ते मार्गथी खडीने पोतानी ईयांसमितिने खडित करवा नथी.

जे अनकल्पी साधु अपवाद मार्गे जाता नथी, तेभनु जे बाणज जे क्षिपु पञ्च यथं बस अने जे डारजे ते पोतानी ज्यो जेथी विहार न पञ्च करे तो पञ्च आराधक जे मानवामां आवे छे ते केशोने लोच करे छे दश प्रकारनी समाचारीभांथी पांच प्रकारनी समाचारी अनकल्पीयोनी छे ते आ प्रकारे छे १ आभ

मिथ्याकार, आवश्यकी, नैपेधिकी, गृहस्थोपसपद्, इति। आवश्यकीप्रभृतयस्तिस्त्रो वा सामाचार्यस्तेषाम्। तेषां श्रुतज्ञान जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु, उत्कर्षतस्तु दशपूर्वाणि भिन्नानि, न तु सम्पूर्णानि। सहनन च शारीर-वज्रर्षभना-राचाख्य, मानस वज्रकुड्यसमाना धृतिः च।

स्थितिरपि तेषां क्षेत्रादिका अनेकविधा। क्षेत्रतस्तावज्जन्मना सद्भावेन च पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु, सहरणत कदाचित् कर्मभूमौ, अकर्मभूमौ वा सद्भावापे की है। वह इस प्रकार है—१ आप्रच्छना, २ मिथ्याकार, ३ आवश्यकी, ४ नैपेधिकी, ५ गृहस्थोपसपदा गृहस्थ की आज्ञा लेकर उतरना, बैठना। अथवा आवश्यकी, नैपेधिकी, गृहस्थोपसपत्, यह तीन प्रकार की सामा-चारी इन जिनकल्पियों के होती है। इनका श्रुतज्ञान जघन्य की अपेक्षा नवमपूर्व की तृतीय आचार वस्तुतक, उत्कृष्ट की अपेक्षा भिन्न दशपूर्व-तक ही सीमित रहा करता हैं सपूर्ण नहीं। इनका शारीरिक सहनन वज्र ऋषभ नाराच नामक है और मानसिक सहनन वज्रकुड्य-वज्रकी भीत के तुल्य धैर्य है अर्थात् इनका धैर्य वज्रभित्ति के समान अमेघ होता है और वही इनका मानसिक बल है।

क्षेत्र आदि की अपेक्षा इनकी स्थिति अनेक प्रकार की है। इनका १५ कर्मभूमियों में ही जन्म होता है इस अपेक्षा १५ कर्मभूमियों में इनकी स्थिति जन्म और सद्भाव की अपेक्षा मानी जाती है। सहरण की अपेक्षा कदाचित् कर्मभूमिमें कदाचित् अकर्मभूमिमें भी इनकी स्थिति हो सकती है।

१ मिथ्याकार, २ आवश्यकी, ३ नैपेधिकी ४ गृहस्थोपसपद् गृहस्थनी आज्ञा लधने उतरवु, जेसवु अथवा आवश्यकी, नैपेधिकी, गृहस्थोपसपत्, आ तसु प्रकारनी समाचारी ते एनकदपीओने होय छे तेमनु श्रुतज्ञान जघन्यनी अपेक्षा नवमा पूवना त्रीब आचार वस्तुतक, उत्कृष्टनी अपेक्षा भिन्न दशपूर्व सुधी ज सीमित रखा करे छे, सपूर्ण नही तेनु शारीरिक सहनन वज्र वृषभ नाशय नामनु छे अने मानसिक सहनन वज्र कुड्य-वज्रनी भीत जेवु धैर्य छे अर्थात् तेनु धैर्य वज्रभीत समान अमेघ होय छे ते तेनु मानसिक बल छे

क्षेत्र आदिनी अपेक्षा ज्येमनी स्थिति अनेक प्रकारनी छे, ज्येमने १५ कर्मभूमिओमाज् जन्म थाय छे आ अपेक्षा १५ कर्मभूमिओमां तेनी स्थिति जन्म अने सद्भावनी अपेक्षा मानवाभां आवे छे सहरणनी अपेक्षा कदाचित् कर्म भूमिमां, कदाचित् अकर्म भूमिमां पसु ज्येनी स्थिति होई शकै छे आ

ક્ષયા સ્થિતિ । કાલ્પ. ઉત્સર્પિણ્યાં, વ્રતાપેક્ષયા તૃતીયચતુર્થારકયોરેવ, જન્મમાત્રેણ તુ દ્વિતીયારકેડપિ । અવસર્પિણ્યાં તુ જન્મના ઠતીયચતુર્થારકયોરેવ । પૂર્વપ્રતિપન્નવ્રતાપેક્ષયા તુ પન્ચમારકેડપિ । સહરણતસ્તુ મહાવિદેહક્ષેત્રાપેક્ષયા સર્વસ્મિન્નપિ કાલે પ્રાપ્યતે । ચારિવ્રત - પ્રતિપદ્યમાનાનાં સામાયિકે, છેદોપસ્થાપનોયે ચ આસ્ત્રિ સ્થિતિ. । મધ્યમતીર્થકર-વિદેહતીર્થકરતીર્થવર્ત્યપેક્ષયાડ્ય સામાયિક, પ્રથમચરમતીર્થકરતીર્થવર્ત્યપેક્ષયા તુ છેદોપસ્થાપનીયચારિવ્રમ્ । પ્રતિપદ્યાનાં તુ મૂસ્મંસંપરાયે,

યહ સદ્ભાવ કી અપેક્ષા કથન હૈ । કાલ કી અપેક્ષા-ઉત્સર્પિણી કાલ્પ કે ઠતીય ઓર ચતુર્થ આરે મેં ઉનકી સ્થિતિ માની ગઈ હૈ । સો યહ વ્રત કી અપેક્ષા જાનના ચાહિયે । વૈસે તો જન્મમાત્ર કી અપેક્ષા સે દ્વિતીય આરે મેં મી ઇનકી સ્થિતિ હૈં । અવસર્પિણીકાલ મેં જન્મ કી અપેક્ષા તૃતીય ઓર ચોથે આરે મેં હી, તથા પૂર્વપ્રતિપન્ન વ્રત કી અપેક્ષા અર્થાત્ -ચોથે આરે કે વ્રત કો લેકર પન્ચમ આરે મેં મી ઇનકી સ્થિતિ જાનના ચાહિયે । યદિ કોઈ દેવ ઇન્હેં હરણ કર મહાવિદેહ ક્ષેત્ર સે અન્યત્ર પહુંચા દેવે તો ઉસ અપેક્ષા ઇનકી સ્થિતિ સય કાલ જાનની ચાહિયે । ચારિવ્ર કી અપેક્ષા જો પ્રતિપદ્યમાનચારિત્રી હૈં ઉનકો સામાયિક ઇવં છેદોપસ્થાપનીય ચારિવ્ર મેં સ્થિત માનના ચાહિયે, ક્યોં કિ જો મધ્યમતીર્થકર ઇવં વિદેહ ક્ષેત્ર મેં રહે હુપ તીર્થકર કે તીર્થ મેં રહને વાલે હૈં વે સામાયિકચારિવ્ર મેં, ઇવ જો પ્રથમ ઇવ ચરમતીર્થકર કે તીર્થવર્તી હૈં વે છેદોપસ્થાપનીય ચારિવ્ર મેં સ્થિત રહતે હૈં । જો

સદ્ભાવથી અપેક્ષતુ કથન છે ઠાળની અપેક્ષા-ઉત્સર્પિણી ઠાળના ત્રીબ્લ ચોથા આરામ સ્થિતિ માનવામાં આવેલ છે આને ત્રતની અપેક્ષાથી બાલુવું બેઠબે. બેમ તો જન્મ માત્રની અપેક્ષાથી બીબ્લ આરામ પણ તેની સ્થિતિ છે અવ સર્પિણી ઠાળમાં જન્મની અપેક્ષા ત્રીબ્લ અને ચોથા આરામ, તથા પૂર્વપ્રતિપન્ન ત્રતની અપેક્ષા અર્થાત્ ચોથા આરામ ત્રતને લઈ પાંચમા આરામ પણ બેની સ્થિતિ બાલુવી બેઠબે. કઠાચ કોઈ દેવ આદિ બેનુ હરણ કરી મહાવિદેહ ક્ષેત્રમાં બીબે પહોંચાડી હે તો બે અપેક્ષા બેની સ્થિતિ બધા ઠાળમાં બાલુવી બેઠબે. આસ્ત્રિની અપેક્ષા બે પ્રતિપદ્યમાન આસ્ત્રિ છે તે સામાયિક અને છેદે પસ્થાપનીય આસ્ત્રિમાં સ્થિત માનવા બેઠબે કેમકે, બે મધ્યમ તીર્થકર અને વિદેહ ક્ષેત્રમાં રહેતા તીર્થકરના તીર્થમાં રહેવાવાળા છે તે સામાયિક આસ્ત્રિમાં, અને બે પ્રથમ ઇવ ચરમતીર્થકરના તીર્થવર્તી છે તે છેદોપસ્થાપનીય આસ્ત્રિમાં સ્થિત રહે છે બે પ્રતિપદ્ય આસ્ત્રિ છે તેની

यथाख्याते च चारित्रे उपशमश्रेण्याम् । तीर्थतस्तु जिनकल्पिकाना स्थितिर्नियमत-
स्तीर्थ एव भवति न तु तीर्थे व्यवच्छिन्ने । पर्यायागमवेदाख्या. स्थितिभेदा
अप्यवगन्तव्या ।

स्थविरकल्पिकाना जिनकल्पिकाना च कल्पो दशविधः—आचैलक्यम् १, औद्देशिक २, शय्यातरपिण्डत्याग ३, राजपिण्डत्याग ४, कृतिकर्म ५, महाव्रतम् ६, पुरुषज्येष्ठत्वम् ७, प्रतिक्रमणम् ८, मासकल्प ९, पर्युपणकल्प १० (वर्षाकल्प) श्रेति । तेषु मध्यमतीर्थकरतीर्थवर्तिना साधूनां चत्वार कल्पाः अवस्थिता नियमेन पालनीया—शय्यातरपिण्डत्याग १, कृतिकर्म २, महाव्रतम् ३, पुरुषज्येष्ठत्वम् ४ चेति । इतरे पट् कल्पास्तु तेषामनवस्थिताः ।

प्रतिपक्षचारिणी ह्ये उनकी स्थिति उपशमश्रेणी में सूक्ष्मसांपराय, एव यथाख्यातचारित्र में होती है । तीर्थ की अपेक्षा जिनकल्पियों की स्थिति नियम से तीर्थ में ही होती है, तीर्थ के व्यवच्छिन्न होने पर नहीं । पर्याय आगम एवं वेद, ये भी स्थिति के भेद हैं ।

स्थविरकल्पियों का एव जिन कल्पियों का कल्प दश प्रकार का है—

१ आचैलक्य, २ औद्देशिक, ३ शय्यातरपिण्डत्याग ४ राजपिण्ड-
त्याग, ५ कृतिकर्म, ६ महाव्रत, ७ पुरुषज्येष्ठता ८ प्रतिक्रमण ९ मास
कल्प १० पर्युपणकल्प (वर्षाकल्प) इन कल्पों में मध्यमतीर्थकर के तीर्थवर्ती साधुओं के चार कल्प अवस्थित होते हैं—नियम से पालनीय होते हैं । वे चार ये हैं—शय्यातरपिण्डत्याग, कृतिकर्म, महाव्रत, पुरुष-
ज्येष्ठता । बाकी के ६ कल्प उनके लिये अनवस्थित हैं ।

स्थिति उपशम श्रेणीमां सूक्ष्मसांपराय, एवा यथाख्यात चारित्रमां थाय ऐ तीर्थनी अपेक्षा अनकल्पियेनी स्थिति नियमभी तीर्थमां वा थाय ऐ, तीर्थना व्यवच्छिन्न थावाथी नही पर्याय, आगम अने वेद आ पक्ष स्थितिना खेद ऐ स्थविरकल्पियेना अने अनकल्पियेना कल्प दश प्रकारना ऐ—

१ आचैलक्य, २ औद्देशिक, ३ शय्यातरपिण्डत्याग, ४ राजपिण्ड-
त्याग, ५ कृतिकर्म, ६ महाव्रत, ७ पुरुषज्येष्ठता, ८ प्रतिक्रमण ९ मासकल्प, १० पर्युपणकल्प (वर्षाकल्प) आ कल्पेमां मध्यमतीर्थकरना तीर्थवर्ती साधुना चार कल्प अवस्थित होय ऐ—नियमभी पालवाना होय ऐ ते चार आ ऐ—
शय्यातरपिण्डत्याग, कृतिकर्म, महाव्रत, पुरुष ज्येष्ठता बाकीना छ कल्प अने भाटे अनवस्थित ऐ

આચરમતીર્થકરતીર્થર્તિનાં સાધૂનામેષ દસવિધ કલ્પોઽવસ્થિત एव । तत्रा-
 चैलक्य द्विविधम्-मुख्यम्, औपचारिक च । अविग्रमानचैलकस्वरूपं मुख्यमाचै-
 लक्यं प्रायशो जिनकल्पिकविशेषाणाम् । औपचारिकमाचैलक्यं स्थविरकल्पिका-
 नाम्, स्थविरकल्पिका हि-कल्पनीयमेपणीय जीर्णं खण्डितं मलिनं तथैव नूतन-
 मपि स्वल्पमूल्यकं वस्त्रं गृह्णन्ति, लोकस्वप्रकारादान्यप्रकारेण च तदासेकन्ते ।
 अतस्ते चेलसद्भावेऽप्युपचारतोऽचेलका व्यपदिश्यन्ते ।

प्रथमतीર્થकर एव अन्तिमतीर्थकर के तीर्थ में रहनेवाले जो साधु
 हैं उनके लिये तो यह १० प्रकार का कल्प अवस्थित ही हैं-अवश्य
 पालने योग्य ही है । आचैलक्य जो प्रथम कल्प है वह दो प्रकार का है ।

१ मुख्य २ औपचारिक, कटिघन्यन-रजोहरण-और सदोरकमुख-
 क्लिका के सिवाय अन्य वस्त्र का परित्याग करना यह मुख्य आचैलक्य
 है । यह जिनकल्पिक विशेषों के होता है । औपचारिक जो आचैलक्य
 है वह स्थविरकल्पिकों के होता है । क्योंकि जो स्थविरकल्पी साधु
 होते हैं वे कल्पनीय, एपणीय, जीर्ण खंडित एव मलिन वस्त्र रखते
 हैं । जो नवीन वस्त्र भी ले तो वह भी अल्पमूल्य वाला ही छेते हैं ।
 लौकिकजन जिस पद्धति से वस्त्रों का परिधान करते हैं वे उस पद्धति
 से वस्त्रों का परिधान नहीं करते हैं, किन्तु अन्य प्रकार से ही उन्हें
 पहिन्ते हैं । इस लिये चेल के सद्भावमें भी वे अचेलक ही कहे जाते हैं ।

प्रथम तीર્થ'कर અને અતિમ તીર્થ' કરના તીર્થ'માં રહેવાવાળા એ સાધુ છે,
 તેમને માટે તો આ ૧૦ પ્રકારના કલ્પ અવસ્થિત જ છે-અવશ્ય પાળવા
 યોગ્ય જ છે આચૈલક્ય એ પ્રથમ કલ્પ છે તે બે પ્રકારના છે

૧ મુખ્ય, ૨ ઔપચારિક, કટિઝન રજોહરણ અને સદોરકમુખવસ્ત્ર-
 કાના સિવાય અન્ય વસ્ત્રનો પરિત્યાગ કરવો આ મુખ્ય આચૈલક્ય છે, આ
 જિનકલ્પિક વિશેષોમાં હોય છે ઔપચારિક એ આચૈલક્ય છે તે સ્થવિરકલ્પ
 બોલે હોય છે કેમકે, સ્થવિરકલ્પી સાધુ હોય છે તે કલ્પનીય, એપણીય,
 જીર્ણ, ખડિત અને મલિન, વસ્ત્ર રાખે છે એ નવીન વસ્ત્ર મળે તે પણ
 બોધા મૂલ્યવત્ હોય તે જ લે છે લૌકિકજન એ પદ્ધતિથી વસ્ત્રોનું પરિધાન કરે
 છે એ પદ્ધતિથી તેઓ વસ્ત્ર પરિધાન કરવા નથી પરંતુ અન્ય પ્રકારથી જ બને
 પહેરે છે આ માટે ચેલના સદ્ભાવમા પણ તે આચૈલક જ કહેવાય છે

ननु—जीर्णखण्डितादिवस्त्रसद्भावे मृनीनामचेलकत्वे दरिद्रा अपि—अचेलका कथं न कथ्यन्ते ? उच्यते—नवव्यूतसदृशमहामूल्यकादीनां वस्त्राणामन्नामे दरिद्रा परिजीर्णादीनि वासासि धारयन्ति न तु धर्मयुद्ध्या । अतो भावतस्तद्विषयकमूर्च्छा-परिणामस्यानिवृत्तत्वात् परिजीर्णवस्त्रसद्भावे दरिद्राणामचेलकत्वव्यपदेशो न भवति । मृनयस्तु—केनचिद्दीयमानान्यपिमहामूल्यकानि प्रमाणवद्भिर्भूतानि वस्त्राणि

शका—जीर्ण, खण्डित आदि वस्त्रों के सद्भाव में यदि मुनियोंको अचेलक माना जाय तो जो दरिद्री जन हैं, जिनके पास जीर्ण खण्डित आदि वस्त्र हैं वे भी अचेलक कहे जाने चाहिए ? परन्तु वे तों अचेलक नहीं कहे जाते हैं ?

उत्तर—दरिद्री जो जीर्ण शीर्ण आदि वस्त्र धारण करते हैं वे धर्म-युद्धि से नहीं करते हैं किन्तु उन्हें नवीन महामूल्यवाले वस्त्र मिलते नहीं हैं—उनका उनके पास अभाव है—अत उनके अभाव में उन्हें वे पहिनने पडते हैं परन्तु पहिनना नहीं चाहते, इसलिये वे अचेलक नहीं कहे जाते हैं। क्यों कि उनके भाव से तद्विषयक मूर्च्छापरिणाम की अनि-वृत्ति है, इसलिये परिजीर्ण वस्त्र के सद्भाव में दरिद्रियों में अचेलकत्व का व्यवहार नहीं होता है। मुनियों को तद्विषयक मूर्च्छा नहीं है, क्यों कि यदि कोई दाता उन्हें बहुमूल्यवस्त्र प्रदान करता है और वस्त्र यदि प्रमाणोपेत नहीं है—प्रमाण से यहिर्भूत है तो वे उस को ग्रहण नहीं करते हैं, किन्तु जीर्ण खण्डित ही वस्त्र ग्रहण करते हैं। यदि कोई नवीन

शका लुब्धं अहित, आदि वस्त्रोना सदृभावमां जे मुनियोने अचेलक मानवाभा आवे तो जे हरिद्री जन छे, जेनी पासे लुब्धं अहित आदि वस्त्र छे तेने पक्ष अचेलक कहेवा नोछं जे ? परतु तेने तो अचेलक नथी कहेवामां आवता ?

उत्तर—हरिद्री जे लुब्धं शीर्षं वस्त्र धारण करे छे, ते धर्म युद्धिधी नही, परतु तेने नवीन सारा भूख्यवाणा वस्त्रो भणतां नथी,—जेना जेनी पासे अभाव छे तेथी जेना अभावमा तेजे ते पडेखां पडे छे, परतु पडेखां आहता नथी. आ भाटे ते अचेलक कहेवाता नथी केम के तेने भावधी तद्विषयक मूर्च्छा परिष्ठाभनी अनिवृत्ति छे भाटे परिष्ठा वस्त्रोना सदृभावधी हरिद्रीयोमां अचेलकत्वनेो व्यवहार यतो नथी. मुनियोने तद्विषयक भभता-मूर्च्छा नथी केम के, केछं हाता तेमने बहुमूल्य वस्त्रप्रदान करे छे जेने ते वस्त्र जे प्रमाणोपेत नथी छेतु—प्रमाणधी अहिर्भूत छेय छे तो ते तेने अहण करता नथी परतु लुब्धं अहित वस्त्र जे अहण करे छे जे केछं

પરિવર્જયન્તિ, ઝીર્ણલ્પિડતાનિ નૂતનાન્યપ્યમહામૂલ્યકાનિ વસનાનિ પ્રમાણોપે-
તાન્યેવ ધારયન્તિ । તાન્યપિ શ્રુતચારિત્રધર્મોપકરણવૃદ્ધયઃ, ન તુ તત્ર ઘ્નીકાં
મૂર્છાપરિણામો ભવતિ । અતસ્તેપામચૈલક્રત્વેન વ્યપદેશઃ સમ્યગેવ ।

મધ્યમતીર્થકરતીર્થવર્તિના ઘ્નીનામાચેલમયમનવસ્થિતમ્ અતસ્તેપાં રક્ષીતાપિ
રાગરન્નિતમહામૂલ્યકાદિવહ્નરર્જનનિયમો નાસ્તિ, મમત્વરહિતતત્વાત્ તેષામ્ ।
પ્રથમચરમતીર્થકરતીર્થવર્તિનાં ઘ્નીનાં તુ ધર્મવુદ્ધયા સ્વલ્પમૂલ્યકપ્રમાણોપેત-
શ્વેતવહ્નાણામેવ ધારકત્વાદાચેલક્યમ્ ભવતિ ।

વહ્ન વેતા મી હો તો વહ્ન યદિ અલ્પમૂલ્ય વાલા ણવ પ્રમાણોપેત હૈ તો હી
લેતે હૈ । ઉસકા લેના મી વે હસીલિયે આવશ્યક સમજતે હૈ કિ વહ્ન
ઉનકે શ્રુતચારિત્રરૂપ ધર્મ કા ઉપકરણ હૈ । મૂર્છાપરિણામ સે ઉસકા વે
ગ્રહણ નહીં કરતે હૈ, ક્યોં કિ ઉનકે તદ્વિપયક મૂર્છા કા અભાવ હૈ ।
હસલિયે મુનિયો મેં અચેલકત્વ કા વ્યવહાર વાસ્તવિક હી હૈ ।

જો મધ્યમ તીર્થકરોં કે તીર્થવર્તી સાધુ હૈં ઉનમેં અચેલકત્વ અનવ
સ્થિત હૈ । હસલિયે ઉન્હેં લાલપીલે આદિ રગ સે રગે હુય, તથા મહામૂ
લ્યવાલે વહ્નોં કે પરિવર્જન કા કોઈ નિયમ નહીં હૈ, ક્યોં કિ યે મમતા
સે રહિત હોતે હૈં । પ્રથમ ચરમ તીર્થકર કે તીર્થવર્તી મુનિયોં કે તો પ્રમા-
ણોપેત તથા સ્વલ્પમૂલ્યવાલે શ્વેતવહ્નોં કે પરિવાન કરને કા હી નિયમ
હૈ, સો મી ઉન કા ગ્રહણ કેવલ ધર્મવુદ્ધિ સે હી હૈ । મૂર્છાપરિણામ સે
નહીં, અતઃ વહ્નોં કે સન્નાય મેં મી હનમેં અચેલકતા હી હૈ ।

નવીન વહ્ન આપે છે તો તે અલ્પમૂલ્યવાળું અને પ્રમાણોપેત હોય તો જ તે
છે એ લેવાનું પણ તેઓ એ ખાતર આવશ્યક માને છે કે, એના શ્રુત
ચરિત્ર રૂપ ધર્મનું ઉપકરણ છે મૂર્છા પરિણામથી તેને એ શ્રદ્ધ છૂટવા નથી
કેમ કે એનામાં એના માટેની ભાવનાનો અભાવ છે આ માટે મુનિયોમાં
અચેલકત્વનો વ્યવહાર વાસ્તવિક જ છે

જે મધ્યમ તીર્થકરોના તીર્થવર્તી સાધુ છે એમનામાં અચેલકત્વ અન-
વસ્થિત છે આ માટે તેને લાલ, પીળા આદિ રંગથી રંગેલા તથા બહુમૂલ્ય
વહ્નોના પરિવર્જનનો કોઈ નિયમ નથી, કેમ કે એ મમતાથી રહિત હોય છે
પ્રથમ ચરમ તીર્થકરના તીર્થવર્તી મુનિ છે એને તો પ્રણોપેત તથા સ્વલ્પ
મૂલ્યવાળાં શ્વેત વહ્નો પરિવાન કરવાનો જ નિયમ છે અને તે શ્રદ્ધ છૂટવાનો
નિયમ કેવળ ધર્મ વુદ્ધિથી જ છે મૂર્છા પરિણામથી નહીં આથી વહ્નોના
સંસ્થાવના પણ એમનામાં અચેલકતા છે જ

स्थविरकल्पिकाना वस्त्रधारणमाचाराङ्गवृहत्कल्याद्यागमेषु व्यवस्थितम् (आचाराङ्गसूत्रे द्वितीयश्रुतस्कन्धे चतुर्दशाध्ययने) (वृहत्कल्पसूत्रे तृतीयोपदेशके) ।

स्थानाङ्गसूत्रे भगवताऽचेलकस्य पञ्चमि स्थानै प्रशस्तत्व प्रतिबोधितम्, तथाहि—

पचर्हि ठाणेर्हि अचेलए पसत्ये भवइ । त जहा—“अप्पा पडिछेहा, लाघविए पसत्ये, रूवे वेसासिए, तवे अणुण्णाए, विउले इदियनिग्गहे ।”

पञ्चामि स्थानै =कारणै, अचेलक प्रशस्त—तीर्थंकरादिभि. प्रशसित इत्यर्थ । स च जिनकल्पिकविशेष, स्थविरकल्पिकश्च । तत्र वस्त्राभावादेव जिनकल्पिकवि-

स्थविरकल्पियों के लिये वस्त्रों को धारण करने की व्यवस्था का उल्लेख आचारागसूत्र एवं वृहत्कल्पसूत्र आदि आगमों में पाया जाता है । इसके लिये आचारागसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध का १४ वां अध्ययन देखना चाहिये । तथा वृहत्कल्पसूत्र का तृतीय उद्देश देखना चाहिये ।

स्थानाङ्गसूत्रमें भगवान् ने पांच कारणों को लेकर अचेलकता को प्रशस्त प्रतियोधित की है, जैसे—

“पचर्हि ठाणेर्हि अचेलए पसत्ये भवइ । त जहा—अप्पा पडिछेहा १, लाघविए पसत्ये २, रूवे वेसासिए ३, तवे अणुण्णाए ४, विउले इदियनिग्गहे ५ ॥”

पांच कारणों से भगवान् ने अचेलकता की प्रशंसा की है । जिनकल्पिकविशेषों में जो अचेलकता कही गई है वह वस्त्र के अभाव से

स्थविरकल्पीयाने माटे वस्त्राने धारण करवानी व्यवस्थाने उल्लेख आचारागसूत्र अने वृहत्कल्पसूत्र आदि आगमोभा वल्ली शक्य छे आने माटे आचारागसूत्र वीज श्रुतस्कंधना १४ भा अध्ययनने लेई देवु लेईअे तथा वृहत्कल्पसूत्रना त्रीज उद्देशने लेई देवे । लेईअे

स्थानाङ्गसूत्रमां भगवाने पाच कारणेने लई अचेलकताने प्रशस्त प्रतियोधित करेव छे

पचर्हि ठाणेर्हि अचेलए पसत्ये भवइ । त जहा अप्पा पडिछेहा, १ लाघविए पसत्ये २ रूवे वेसासिए ३ तवे अणुण्णाए ४ विउले इदियनिग्गहे ५ ॥

पांच कारणेयी भगवाने अचेलकतानी प्रशसा करेव छे अनकल्पी विशेषेमां ले अचेलकता कडेवामां आवी छे ते वस्त्रना अभावधी जे

शेषोऽचेलकः, स्थविरकल्पिकस्तु अल्पमूल्यसप्रमाणजीर्णमलिनरसनत्वादिति विज्ञेयम
तानि स्थानानि प्रदर्शयति—

‘त जहा’ इत्यादि। ‘अप्पा पडिछेहा’ जल्पा प्रत्युपेक्षा प्रतिलेखनीयत्व
वस्त्रस्याल्पत्वात्, अल्पप्रतिलेखनया म्याध्यापादेरन्तरायो न भवतीति भावः।
तथा ‘लाघविए पसत्ये’ लाघविक प्रशस्तम्—लघोर्भावो लाघव तदेव लाघविकम्,
यद् वस्त्रस्य परिमाणतो मूल्यत संख्याया चाल्पतरत्वाल्लघुत्व, तदेव द्रव्यतो
लाघवम्, भवतोऽपि तत्र रागाद्यभावादित्यचेत्कस्य लाघविक प्रशस्तम्—अन्त-
राम्। ‘रुवे वेसासिण’ रूपवैश्वासिकम्—तत्र रूप-वेपः, तच्च साधुना मुत्सवदृश्येत

ही कही गई है। तथा स्थविरकल्पियों में जो अचेलकता कही गई है
वह केवल अल्पमूल्यवाले प्रमाणोपेत जीर्ण, मलिन वस्त्रों के ग्रहण
करने की अपेक्षा से कही गई है। यह बात तीर्थंकरों की परम्परा से
प्रशसित होती हुई चली आ रही है। कल्पित नहीं है। वे पांच स्थान-
कारण ये हैं—अल्पप्रतिलेखना—प्रतिलेखनीय वस्त्रों की अल्पता से प्रति-
लेखना भी अल्प ही होगी—अल्पसमयसाध्य होगी, इस से स्वाध्याय
आदि में अन्तराय नहीं आ सकती है। इस अपेक्षा अचेलकता प्रशस्त
कही गई है। १। इसी तरह लाघव की अपेक्षा भी अचेलकता प्रशस्त
कही गई है, क्यों कि वस्त्रों में जो लघुता है वह परिमाण, मूल्य एवं
संख्या की अपेक्षा से है। यह द्रव्य की अपेक्षा लघुता है। भाव की
अपेक्षा लघुता उनमें साधु के रागादिक का अभाव है। २। वैश्वासिक
रूपकी अपेक्षा अचेलकता इसलिये प्रशसित हुई है कि जब कोई ऐसा

ठडेवमां आवी छे तथा स्थविरकल्पियेमां ले अचेलकता ठडेवमां आवी
छे ते केवण अल्पमुत्सवाणा प्रमाणोपेत लघु, मदीन वस्त्रोने अक्षु
ठरवानी अपेक्षाधी ठडेवामा आवेल छे आ वात तीर्थंशेनी परपराकी
प्रशसित वती आवी आवेल छे कल्पित नथी. आ पांच स्थान-कारण आ
छे अल्पप्रतिलेखना प्रतिलेखनीय वस्त्रोनी अल्पताधी प्रतिलेखना यत्तु अल्प
ले यथे अल्प समय साध्य यथे आवी स्वाध्याय आदिमा अन्तराय
आवी शकते नथी. आ अपेक्षाधी अचेलकता प्रशस्त ठडेवामां आवेल छे
(१) आ रीते लाघवनी अपेक्षा यत्तु अचेलकता प्रशस्त रही छे ठेम ठे,
वस्त्रोमां ले लघुता छे ते परिष्कार मूल्य अने सध्यानी अपेक्षाधी छे आ
द्रव्यनी अपेक्षा लघुता छे भावनी अपेक्षा आ लघुतामां साधुना रागादिकने
अभाव छे (२) वैश्वासिक रूपनी अपेक्षा आ अचेलकता ले माटे प्रशसनीय यत्तु

सदोरकमुखवस्त्रिक परिहितश्वेतचोलपट्टक परिधृतश्वेतवस्त्रमावरण परिगृहीतप्र
मार्जिकारजोहरण, भिक्षाधानीसमाधृतपात्रहस्तम्, अनावृतमस्तकम्, पादत्राण-
रहितचरणम्, ईर्यादिपञ्चसमितिसमित गुप्तित्रयगुप्तम्, जिनकल्पिकाना तु-मुख-
वदश्वेतसदोरकमुखवस्त्रिकं परिगृहीतरजोहरणं, उदकटिवन्धनवस्त्र च । एतादृश
साधुना रूप वैश्वासिक=जनाना विश्वासजनकं भवति नि स्पृहतामूचकृत्वात् । तथा
' तत्रे अणुण्णाए ' तप अनुज्ञात=तप सक्लेन्द्रियसगोपनरूपम् अनुज्ञात=मिना-

वेप देवता है कि "मुख पर सफेददोरासहित मुखवस्त्रिका बधी हुई है,
सफेद चोलपट्टा पहिरा हुआ है, सफेद चादर ओढी हुई है, रजोह-
रण धारण किया हुआ है, भिक्षाधानी-झोली-से ढके हुए पात्र हाथ में
हैं, मस्तक खुला हुआ है, पैरों में पगरखी मोजा आदि नहीं है, ईर्या-
समिति आदि पांच समितियों से युक्त हैं, तीन गुप्तियों से गुप्त हैं"
यही साधु का वेप है और इस वेप वाला "यह साधु है" ऐसा शीघ्र ही
समझाजाता है, तथा जिनकल्पियों का यह वेप है कि वे अपने मुख पर
दोरे से सफेद मुखवस्त्रिका बांधे रहते हैं, रजोहरण लिये रहते हैं और
कटिवन्धन वस्त्र रखते हैं । जय कोई इस वेपको देखता है देख-
कर वह यह समझ जाता है कि यह जिनकल्पि साधु है । इस प्रकार का
यह साधु का वेप लोगों में विश्वासजनक होता है और वह इसलिये
होता है कि यह वेप निःस्पृहता का सूचक होता है । ३। तप की अपेक्षा
यह अचेलकता इसलिये प्रशंसित हुई है कि इसमें सकल इन्द्रियों का

छे के, न्यारे ठाँव जेवो वेश लुजे छे " सुभ उपर दोरा सायेनी सुभ
वस्त्रिका बांधेल छे सहेद चोलपट्टो पहरेल छे सहेद चादर ओढेल छे, रजो
हरण धारण करेल छे भिक्षा भाटेना पात्र झोणीमां ढकायेल हाथमा छे
मस्तक खुल्लं छे पगरमा पगरभा, मोला आदि नथी, धियां समिति आदि
पांच समितिजोधी युक्त छे त्रय गुप्तिजोधी गुप्त छे " साधुने आन वेश
छे अने आवा वेशवाजा आ साधु छे, जेवुं तुरत न समलछं लय छे
तथा अनकल्पिजोने जे वेप छे के ते पोताना मोटा उपर दोराधी सहेद
सुभवस्त्रिका बांधे छे रजोहरण राभे छे, अने कटिवन्धन वस्त्र राभे छे
अने जेतानी साथे न जनार समल लय छे के जे अनकल्पि साधु छे, आ
प्रकारने साधुने वेप दोडोमां विश्वास जनक होय छे अने ते जे भाटे
के, आ वेप निःस्पृहताने सूचक होय छे (३) तपनी अपेक्षा आ आये
लकता जे भाटे प्रशसनीय जनी छे के जेमां सकल इन्द्रियोना सगोपन

सुमत भवति । तथा—' चित्ते इन्द्रियनिर्गमे ' विपुल,=महान्, इन्द्रियनिर्गमे भवति, उपकरणं विना स्पर्शनप्रतिकूलशीतवातातपादिसहनात् ।

अत्र दृष्टान्त प्रदर्शयते—

आसीदशपुरनाम्निनगरे सोमदेवनामा ब्राह्मणः । तस्य जिनाशाराधिका स्त्र-
सोमानाम्नी भार्याऽभवत् । तस्यां भार्यायां सोमदेवस्य द्वौ पुत्रौ जातौ । तत्र जेठे
आर्यरक्षितनामक, द्वितीय फल्गुरक्षितनामकः । आर्यरक्षित पितृ सनिधौ शक-
मधीत्याधिकविद्यालामार्थं पाटलिपुत्रनगरं गतः । तत्र तेन साङ्गोपाङ्गभक्त्या
वेदा अधीताः, चतुर्दशविद्यास्थानानि गृहीतानि । ततोऽसौ दशपुरं नगरं समायात् ।

सङ्गोपनरूप तप जनेन्द्र भगवान् का अनुज्ञात है। तथा इसमें महान् इन्द्रिय निग्रह होता है, क्यों कि उपकरण के विना स्पर्शन इन्द्रिय के प्रतिकूल शीत वात आतप आदि का सहन होता है। इससे इन्द्रियां काबू में रहती हैं।

दृष्टान्त—दशपुर नामके नगरमें एक सोमदेव नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम रुद्रसोमा था। यह जनेन्द्र भगवान् की आज्ञा की आराधिका थी। सोमदेव के दो पुत्र थे। जेठे पुत्र का नाम आर्यरक्षित था और छोटे पुत्र का नाम फल्गुरक्षित। आर्यरक्षित पिता के पास शास्त्रों का अध्ययन करके अधिक विद्या की प्राप्ति की अभिलाषा से दशपुर से पाटलिपुत्र नगर को खाना हुआ। वहाँ पहुँचकर इसने साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों का एवं १४ चौदह विद्याओं का सूक्ष्म अध्ययन किया। जब यह पढ़ पन चुका तब वहाँ से वापिस दशपुर नगर की

इयं तप जनेन्द्र भगवान् की अनुज्ञात है (४) तथा तेषां महान् इन्द्रिय निग्रह भाव्य है केम के उपकरणे वगर स्पर्शन इन्द्रियने प्रतिकूल शीतवात, आतप, आदि सहेवां पठे है, आनाथी इन्द्रिये कालुभां रहे है

दृष्टान्त—दशपुर नामका नगरमें जेठे सोमदेव नामका ब्राह्मण रहते, तैनी श्रीजु नाम इन्द्रसोमा इत्यु ते जनेन्द्र भगवान् की आज्ञानी आराधिका रहती। सोमदेवने दो पुत्रो रहता। जेठे पुत्र का नाम आर्यरक्षित अर्थात् नान्य पुत्र का नाम फल्गुरक्षित इत्यु आर्यरक्षित पितृनामि पासै शास्त्रोनु अध्ययन करीने अधिक विद्याप्राप्तिनी अभिलाषायां दशपुरी पाटलीपुत्र स्थाना यथा, त्वां पठोन्मीने तेषु साङ्गोपाङ्ग चारै वेदोनु अने चौद विद्यानु पूज अध्ययन कर्तुं न्याये ते पारजत वनी चक्रे त्वाये ते पाटलीपुत्री पोताने

तन्नगरनरेशस्त नगरसमीपे समागत विज्ञाय तदभिमुख गत्वा गजोपरि
 वसुपवेश्य बहुसमानपुरस्सरं नगरे प्रावेश्य तस्य रूप्यस्वर्णमणि प्रभृतिभिः प्रामृतैः
 समान कृतवान् । एव तन्नगरनिवासिभिः प्रवेशोत्सव कृत्वा समानित स्वगृहमा
 गतः पितरौ प्रणतवान् । प्राप्तविद्य लोकसमानितमार्यरक्षित विलोक्य पिताञ्जीव
 ह्यो जातः, किंतु माता हर्षं न दर्शितवती । आर्यरक्षितस्तदा मातरमजातहर्षा दृष्ट्वा
 प्राह—हे मात ! किमिदानीं मदवलोकनेन दृष्टा न भवसि ? सा प्राह—किमनेन

ओर प्रस्थान किया । दशपुर के राजा को जब इसके आने का समाचार
 मिला तो उसने इसके स्वागत की खूब तैयारी की । जब आर्यरक्षित
 आते २ नगर के समीप पहुँचा तो राजा इन्हें नगर में प्रवेश कराने के
 लिये इसके समुख गया । हाथी पर बैठा कर बहुत सन्मानपूर्वक राजा ने
 इसको नगर में प्रवेश कराया । रूप्य, सुवर्ण और मणि आदि के नज-
 राने से राजा ने इसका खूब सत्कार किया । इसी तरह नगरनिवासियों
 ने भी राजा का साथ दिया । सब से अच्छी तरह संमानित होकर आर्य-
 रक्षित अपने घर पर आया । मातापिता को नमस्कार किया । विद्या की
 प्राप्ति से राजा तथा अन्य नगर निवासियों द्वारा समानित अपने पुत्र
 को देखकर पिता तो चिन्त में बहुत ही हर्षित हुआ, परन्तु माता ने इस
 विषय में अपना हर्ष नहीं प्रकट किया । जब आर्यरक्षितने अपनी माता
 की इस प्रकार परिस्थिति देखी तो वह बोला हे माता ! क्या घात है
 तुम्हें क्यों नहीं इस समय मेरी इस परिस्थिति के अवलोकन से हर्ष

गाम पाछे आब्यो दशपुरना राजाने न्यारे तेना आववाना सभायार भन्या
 ओटहे तेजे तेना स्वागतनी भूष तैयारी करी. आर्यरक्षित न्यारे नगरनी
 समीप पडोअ्यो, ते समये राज तेने नगरमां प्रवेश करववा तेनी साथे
 गया. हाथी उपर बैसादीने बखान सन्मान पूर्वक राजाजे तेना नगरमां
 प्रवेश करव्यो इयु, सोनु विगेरेना नगराबुथी राजाजे तेना भूष सत्कार
 क्यो. आ रीते नगर निवासीओजे पक्षु राजाने साथ आभ्यो. सारी रीते
 आहर सत्कार भेजवीने आर्यरक्षित पोताने घेर पडोअ्यो. माता पिताने
 नमस्कार क्यो विद्यानी प्राप्तिथी राज तथा अन्य नगरवासीओधी सन्मानित
 पोताना पुत्रने ओध पिता तेना द्विदमां भूष व हर्षित भन्या, माताजे आ
 विषयमा पोतानो हर्ष प्रकट क्यो नही न्यारे आर्यरक्षिते मातानी आ
 प्रकारनी स्थिति ओध तो ते बोदयो हे, हे माता ! शुं करव छे के तमे आ

जीवघातादिहेतुकेन बहुशास्त्राध्ययनेन ? किं त्वया दृष्टिवाद' पठितः ? न न हर्षः स्यात् । मातुरेतद् एव न भुक्त्वाऽऽर्यरक्षित' पृच्छति-न्यास्ति दृष्टिवादः । जनन्या निगदितम्-इत्यादिनामकं ग्रामे विद्यमानस्य तोसलिपुत्राचार्यस्य स्मीपेऽस्ति, तदासेवनया तदाज्ञापरिपालनया तत्सन्निधौ दृष्टिवादोऽभ्यसनीयः । आर्यरक्षितेनोक्तम्—हे मातः ! श्वस्तत्राईं गमिष्यामि दृष्टिवादपठनार्थम् । रात्रौ सुप्तो-

हो रहा है। पुत्र के वचन सुनकर माताने कहा कि बेटा ! मुझे जो हर्ष नहीं उमड़ रहा है उसका कारण यह है कि तुम्हें जीवघात की हेतुभूत अनेक वेदादि शास्त्रों की इस पढ़ाई से क्या लाभ ? बेटा ! तुम हमें यह पतलाओं कि क्या तुमने दृष्टिवाद का भी अध्ययन किया है ? मुझे तो तभी हर्ष हो सकता है कि जब तुम दृष्टिवाद का ज्ञाता हो जाओ। जननी के इस प्रकार के वचन सुनकर आर्यरक्षित ने माता से पूछा मातः ! जिसके लिये तुम मुझे पढ़ने के लिये कह रही हो वह दृष्टिवाद शास्त्र कहा है। माता ने कहा—सुनो ! इक्षुवाटक नाम का एक ग्राम है। उस में तोसलिपुत्र नामके एक आचार्य ठहरे हुए हैं, उनके पास यह शास्त्र है सो तुम वहा जाओ और उनकी खूब सेवा करो तथा उनकी आज्ञानुसार रहो तो वे तुम्हें इस शास्त्र का अध्ययन करा देंगे। आर्यरक्षित ने माता के ये सीखभरे वचन सुनकर कहा—मातः ! मैं कल उनके समीप इस शास्त्र का अध्ययन करने के लिये जाऊंगा। रात्रि में

अभये भारी आ प्रकारनी स्थितिभी रूपित यता नथी ? पुत्रनु वचन सांभलीने माताजे कहु, हे हे पुत्र ! मने हर्ष यतो नथी तेतु कारणु जे छे के, एवमघातना हेतुभूत अनेक वेदादि शास्त्रो भक्षुवाधी तने शु लाभ भरी ? बेटा ! तु मने जे तो यताव के ते दृष्टिवादन पक्षु अध्ययन कहुं छे ? मने त्वारे न हर्ष धाय के न्यारे तु दृष्टिवादनो ज्ञाता जने मातानु आ प्रभाजेतु वचन सांभलीने अर्थरक्षिते माताने पूछ्यु, माता ! तु मने जे भक्षुवानु कहे छे ते दृष्टिवाद शास्त्र क्या छे ? माताजे कहु, सांभण ! जेक इक्षुवाटक नामनु ग्राम छे, तेमा तोसली पुत्र नामना जेक आचार्य विचरे छे तेमनी पासे आ शास्त्र छे, जेथी तु त्या न जने तेनी पूज सेवा कर तथा जेनी आज्ञानुसार रहे तो तेजो तने आ शास्त्रनु अध्ययन करावी देशे. आर्थ रक्षिते मातानु आपु हितवाणु वचन सांभलीने कहुं, मा ! तु आवटी हाडे आ शास्त्रनु अध्ययन करवा माटे तेमनी पासे जउश, रात्रे न्यारे अर्थरक्षित सुवा

त्थितेन तेन मनस्येव चिन्तितम्-दृष्टिवादनामैव तस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञानबोधकत्वं ज्ञायते । ततोऽसौ प्रभाते प्रस्थित । मार्गे दशपुरनगरनिकटवर्तिग्रामनिवासी पितृमुद्बुद्बुत्वात्प्राप्तं, सार्धनवेद्भुदण्डान् गृहीत्वा समागच्छन् मिलित । स आर्यरक्षित दृष्ट्वा परस्पर कुशलप्रश्नं कृत्वाऽवदत्-एते मया सार्धनवसरूपका इक्ष्वो भवदर्थमा-नीता, गृह्णातु भवान् । आर्यरक्षितो वदति-इदमिधुरूपं प्राभृतं मम मातुर्हस्ते भवताऽर्पयित्वा कथनीयम्-एते इक्ष्वो मयाऽऽर्यरक्षिताय समानीता, तेन तुभ्यं प्रेषिता, इति । कथितं च-अहमेव मार्गे प्रथमं मिलितं, इत्यपि तदग्रे कथनीय-

आर्यरक्षित सोने के लिये अपने स्थान पर गया और शांति से सो गया । जब वह उठा तो उसने विचार किया-माता ने जो कुछ कहा है वह बिलकुल ठीक है, कारण कि वह शास्त्र तत्त्वज्ञान का बोधक है यह बात तो उसके नाम से ही ज्ञात होती है । प्रातःकाल होते ही वह घर से इक्षुवाटक ग्रामकी ओर चल दिया । मार्ग में इस को दशपुर नगर के पास के ग्राम में रहने वाला एक ब्राह्मण जो इनके पिता का मित्र था मिला । वह ९॥ साढे नौ इक्षु दण्डों को लेकर आ रहा था । कुशल प्रश्न के बाद उसने आर्यरक्षित से कहा कि भाई ! ये ९॥ साढे नौ इक्षुदण्ड मैं आप के लिये ही लाया हूँ-अतः आप इन्हें लीजिये । आर्यरक्षित ने कहा ठीक है आप इस मंड को मेरी माता के हाथ में देकर कहना कि ये ९॥ साढे नौ इक्षुदण्ड मैं आर्यरक्षित के लिये लाया था । वे मुझे मार्ग में मिल गये हैं । उन्होंने ने ही ये तुम्हारे पास भेजे हैं । और

माटे पोताना स्थान उपर गये अने शांतिथी सुध गये । न्यारे ते उठये । न्यारे तेजे विचार कथीं के, माताजे ने कथं कथुं छे ते अक्षरशः सत्य छे । धारणुं के ते शास्त्र तत्त्वज्ञानने बोध आपनार छे, अने उद्विगत तेना नाम उपरथीं जे जेवार्थ आवे छे सवार थवां ते धरथीं बहार नीकणीं धिषुवाटक गाभनी तरश् आबते थये । मार्गमां तेने दशपुरनगरनी पासनेना गाभमां रहेवा वाणे अने पोताना पिताने मित्र अके ब्राह्मण भणी जये । ते ब्राह्मण हाथमां द्वादश धिषुदण्ड बधने आपते । इतो कुशल सम्प्रसार पूछथा बाद तेजे आर्यरक्षितने कथुं के, भाई ! आ एता धिषुदण्ड तारा माटे जे लाये । धुं माटे तु तेने स्वीकार कर आर्यरक्षिते कथुं, कीक छे आप आ इठ मारी माताना हाथमा आपीने कडेले के, हुं आ एता धिषुदण्ड आर्यरक्षित माटे लाये । इतो, ते अने मार्गमा भये । इतो अने तेजे आ इठ तमने आप

मिति । अथासौ तद्वचनात्तथैव कृतवान् । ततो मातास्तीव इष्टा तुष्टा संजाता,
चिन्तयति च । मार्गे सार्धनवसख्यका इक्षयो मिलिता अतोऽसौ सार्धनवपूर्वाणि
अभ्येष्यते । आर्यरक्षितोऽपि शुभं शकुनं मत्प्रेक्षुवाटकं गत । उपाश्रये प्रविशन्
तोसलिपुत्राचार्यस्य वन्दनं कृत्वा तत्रोपविष्टः । तोसलिपुत्राचार्यणं पृष्टम्—तव किं
नामा, किं च प्रयोजनम् ? । आर्यरक्षितेन स्वनामं कथयित्वा प्रयोजनं कथितम्—
दृष्टिवादमध्येतुमहमत्रगतोऽस्मि, मामध्यापयन्तु दृष्टिवादं भवन्तः । आचार्यः

यह भी कहना कि मार्ग में उनको पहले पहल मैं ही मिला था । आर्य-
रक्षित के वचनानुसार उस ब्राह्मण ने वैसा ही किया । माता ने ९॥ साढे
नौ इक्षुदंड प्राप्तकर इस शकुनसे ऐसा अनुमान लगाया कि इसे जो ये
९॥ साढे नौ इक्षुदंड मार्ग में चलते समय मिले हैं उससे ऐसा ही ज्ञात
होता है कि यह ९॥ साढे नौ पूर्वों का अभ्ययन कर सकेगा । आर्यरक्षित
ने भी “इसकी प्राप्ति शुभ शकुन स्वरूप है ” ऐसा जानकर बड़े आनंद
के साथ इक्षुवाटक की ओर अधिक तेजी से चलने लगा । वहाँ पहुँचते
ही वह उपाश्रय में गया । तोसलिपुत्र आचार्य को वन्दन कर फिर वहीं
बैठ गया । आचार्यश्री ने पूछा तुम्हारा क्या नाम है ? यहाँ किस प्रयो-
जन से आये हो । ? आर्यरक्षित ने अपना नाम कह कर प्रयोजन भी
स्पष्ट कर दिया । आचार्यश्री ने जब यह जाना कि “ यह दृष्टिवाद के
अभ्ययन के लिये यहाँ आया है ” तब आचार्यश्री ने उससे कहा कि

वाचुं शकुनं ते अने जे पक्षु शक्ये के भाजंभां अने पक्षेवपक्षेवो दुं व
मन्वो कृतो आर्यरक्षितना पथनानुसार ते ब्राह्मणे तेव व शकुनं माताजे
९॥ इक्षुदंड प्राप्त करी जे शुकनथी जेवुं अनुमान लग्गन्तु के, तेने जे आ
सा इक्षुदंड रस्तामां आलवा समये भजेव छे ज्येथी जेवुं ज्ञात थाव छे के,
साडानव पूर्वनु अभ्ययन करी शक्ये आर्यरक्षिते पक्षु आनी प्राप्ति शुभ शुकन
स्वरूप छे तेवुं ज्येथीने जेवुं आनदनी साथे इक्षुवाटकनी तरफ उडयथी आलवा
भांड्यु त्या पक्षेवतां व ते उपाश्रयमां गथे तोसलीपुत्र आचार्यने वन्दन करी
त्या ज्येथी गथे आचार्यश्रीजे तेने पूछ्यु, तमाइ नाम शुं छे ? शुं शारवथी
अदि आव्या छे ? आर्यरक्षिते पोतावु नाम आथीने आववाचु प्रयोजन
ज्येथी वीधु आचार्यश्रीजे ज्येथी जेवुं ज्येथु के, “ आ इक्षुवादन अभ्ययन
भाटे अदि आवेव छे त्यारे आचार्यश्रीजे तेने शकुन के, दृष्टिवादनु अभ्ययन ज्येथी

माह—यदि ममान्तिके प्रव्रज्या पृष्ठासि, तर्हि त्वां दृष्टिवादमध्यापयाम् । आर्यरक्षितेन प्रव्रज्याग्रहण स्वीकृतम्, तदनन्तरमसौ श्रावकेण दत्त साधुवेपयोग्य सदो रकमुखवस्त्रिका—रजोहरणवस्त्रपात्रादिक लब्ध्वा साधुवेपेण मातुरनुमत्या च प्रव्रजित सभाचार्यस्य समीपे ष्कादशाङ्गानि सोपाङ्गानि पठित्वा दृष्टिवादस्य प्रथम परिकर्माख्य द्वितीय सूत्राख्यमध्ययनमधीतवान् । अथात पर दृष्टिवाद पठितु तोसलिपुत्राचार्याश्रया स वज्रस्वामिसमीप गन्तुकाम पथि गच्छन्नवन्त्यां भद्रगुप्ताचार्यस्यान्त्यक्रियारूपा निर्यापनां कृतवान् । तेन चान्त्यसमये प्रोक्तम्—त्वया रात्रं

दृष्टिवाद का अध्ययन हम तुम को तय ही करायेगे कि जय तुम मेरे पास दीक्षा धारण करोगे । आर्यरक्षित ने दीक्षाग्रहण करना मजूर कर लिया माताने उन्हें दीक्षा लेने की अनुमति पहले दे दी थी । आर्यरक्षितने मुनिदीक्षा धारण कर ली । श्रावकों ने मिलकर उनके लिये मुनिवेप के योग्य सदो रक मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण तथा वस्त्रपात्रादिक प्रदान किये । आचार्य के पास रह कर आर्यरक्षित ने उपाङ्गसहित ग्यारह अंगों का अध्ययन कर दृष्टिवाद का प्रथम परिकर्म नाम का अध्ययन तथा द्वितीय सूत्र नाम का अध्ययन पढ़ लिया । अवशिष्ट दृष्टिवाद को पढ़ने के लिये फिर वे वहा से तोसलिपुत्राचार्य की अनुमति से वज्रस्वामी के समीप जाने को इच्छुक हुए । जय ये उनके पास जा रहे थे तो मार्ग में इन्होंने उज्जैनो नगरी आई । वहा उस समय भद्रगुप्ताचार्य की उन्होंने अन्त्यक्रिया रूप निर्यापना की । आचार्यने अत समय में इनसे यह कहा कि

तमे भारी पासे दीक्षा धारण करयो त्पारे व करवावामा आवथे. आर्यरक्षिते दीक्षा श्रद्धु करवानु स्वीकृतुं, माताये पञ्च तेने दीक्षा खेवानी अनुमति पडेवाधी आपी, इती आर्यरक्षिते मुनिदीक्षा धारण करी श्रावकोये मणीने तेने भाटे मुनिवेपने योग्य सदो रकमुखवस्त्रिका, रजोहरण तथा वस्त्रपात्रादिक प्रदान कया आचार्यनी पासे रहीने आर्यरक्षिते उपांग सहित अभ्यार अ जेनु अध्ययन करी दृष्टिवादानु प्रथम परिकर्म नामनु अध्ययन तथा द्वितीय सूत्र नामनु अध्ययन शीभी वीधु आधीना दृष्टिवादाने शीभवामा भाटे पछी ते त्याधी तोसलीपुत्राचार्यनी अनुमतिथी वज्रस्वामी समीप जवा भाटे धमज करी ज्यारे ते तेनी पासे जड रक्षो इतो त्पारे पथमां मार्गमां उज्जैनि नगरी आवी त्या जे समये भद्रगुप्ताचार्यनी अत्यक्रिया रूप निर्यापना करी आचार्ये अत समये तेने जे कहु के, तमे रात्रीमां वज्र

वज्रस्वामिना सह न स्यात्तव्यम् यतस्तेन सह रात्रौ सवसन् प्रियते । एतद्वचन इति
निधाय स ततो निगत्यावन्तीनगर्या अदूर एव ग्रामाद् वहिक्याने रात्रौ स्थित ।
वज्रस्वामिना रात्रिशेषे स्वप्नो-दृष्ट केनदिदागन्तुकेन शिष्येण मत्वाश्वस्य सा
शेष पयः पीतमिति । अथार्यरक्षित प्रभाते क्वचिदन्यस्मिन्नुपाश्रये वसति कृत्वा
वन्दनार्थं वज्रस्वामिनोऽन्तिकं गत । तदानीं स वज्रस्वामी रात्रिशेषदृष्ट स्वप्नं
चिन्तयन्नासीत् । वज्रस्वामिना कुशलप्रश्नानन्तर रात्रापन्यत्रानस्थानस्य कारणं दृष्ट्वा
आर्यरक्षितः प्राह-भद्रगुप्ताचार्यस्यानुशासनादहमन्यस्मिन्नुपाश्रये निवसामि,
वज्रस्वामी तु तदा पूर्वं निजोपयोगं दत्त्वा आर्यरक्षितकृतस्य रजन्यामन्यत्रोपाश्रयः

तुम रात्रि में वज्रस्वामी के साथ नहीं रहना, क्योंकि रात्रि में उनके
साथ रहने वाले की मृत्यु हो जानी है । आचार्य के इन वचनों को हृदय
में रखकर ये वहाँ से निकले और जाकर पास के किमी ग्राम के बाहिर
उद्यान में रात्रि में ठहर गये । उधर वज्रस्वामीने रात्रिके शेषभाग में एक
ऐसा स्वप्न देखा, कि किसी आनेवाले शिष्य ने मेरे पात्र का सावशिष्ट
(कुछ याकी रखकर) क्षीरको पी लिया है । उधर आर्यरक्षित प्रभात काल में
किसी अन्य उपाश्रयमें अपने उपकरण रखकर एव स्थान निश्चित कर बंदना
निमित्त वज्रस्वामी के पास पहुँचे । उस समय वज्रस्वामी रात्रि के शेष-
भाग में दृष्ट स्वप्न का विचार करने में मग्न हो रहे थे । वज्रस्वामी ने
कुशलप्रश्न के बाद रात्रि में अन्यत्र ठहरने का कारण आर्यरक्षित से पूछा,
आर्यरक्षित ने कहा कि मैं भद्रगुप्ताचार्य के अनुशासन से अन्य उपा-
श्रय में ठहर गया हूँ । उस समय वज्रस्वामी ने अपने उपयोग के बलसे

स्वामीनी साथे रहेथो नही करणु के, रात्रे तेनी साथे रहेवावाणानु मृत्यु
थाय छे आचार्यना आ वचनने हृदयमा रात्रीने त्यांथी नीकणी पासेना केछ
गामे नहर नगीत्यामां रात्री रोकाये। आ तरक्ष वज्रस्वामीजे रात्रीना छेत्वा
प्रहरे ओठ ज्येनु स्वप्न देण्यु के, केछ आवी रहेत्वा शिष्ये मारा पात्रमाथी
सावशिष्ट(कछके नकी रात्रीने) भीर पीछ लीधेव छे आ तरक्ष आर्यरक्षित प्रभातका
णमां केछ नील उपाश्रयमां पोतानु उपकरणु रात्रीने अने स्थान निश्चित करीने
वदना निमित्त वज्रस्वामी पासे पहुँचे। ओ समये वज्रस्वामी रात्रीना छेत्वा
प्रहरे ज्येत्वा स्वप्नना विचार करवामां मग्न हुत्वा वज्रस्वामीजे कुशल प्रश्न नाह
रात्रीमां नील स्थणे रोकावानु करणु आर्यरक्षितने पूछ्यु आर्यरक्षिते कहु के छु
भद्रगुप्ताचार्यना अनुशासनसी नील उपाश्रयमां रोकाये। छु ते समये वज्र-
स्वामीजे पोतानु उपभोजना नगधी “ आर्यरक्षितनु नील उपाश्रयमां

वस्यानस्य कारण ज्ञात्वाऽऽर्षीत्-युक्तमेतदुक्त भद्रगुप्ताचार्येणेति । अथार्यरक्षितेन वज्रस्वामिसनिधौ नव पूर्वाणि पठितानि, दशमपूर्वस्य कतिचिदधिकारास्तेन यावत् पठितास्तावद् दशपुरात् फल्गुरक्षितो भ्राता चिरविरहार्तमात्रादिभिः प्रेरितस्वस्या कारणाय तत्रागत । आर्यरक्षितस्त प्रतिबोध्य तत्रैव प्रव्रज्या ग्राहयति स्म ।

एकदाऽऽर्यरक्षितो वज्रस्वामिन पृच्छति-भगवन् ! मम पठनार्थं दृष्टिवादे दशमं पूर्वं कियदवशिष्टमस्ति ? वज्रस्वामी प्राह-वत्स ! त्वया दशमपूर्वस्य विन्दुमात्रं पठितं समुद्रोपमं दशमं पूर्वमस्ति । ततोऽसौ भ्रान्तमना प्राह-नाहमत' पर पूर्वपाठं कर्तुं

'आर्यरक्षित का अन्य उपाश्रय में रात्रि में ठहरने का क्या कारण है' यह बात अच्छी तरह जानकर आर्यरक्षित से कहा भद्रगुप्ताचार्य ने जो कहा वह युक्त ही कहा है । याद में आर्यरक्षित ने वज्रस्वामी से नव पूर्व का अध्ययन आनन्द से कर लिया । परन्तु दशम पूर्व के कितनेक अधिकार जय ये पढ़ रहे थे कि इतने में इनका छोटा भाई फल्गुरक्षित दशपुर से चिरविरहार्त माता आदि द्वारा प्रेरित होकर इन्हें बुलाने के लिये चहा आपहुँचा । आर्यरक्षित ने उसे समझाकर-प्रतिबोधितकर-वहाँ दीक्षा दिलवा दी । एक दिन की बात है कि आर्यरक्षित ने वज्रस्वामी से पूछा कि भगवन् ! दृष्टिवाद में दशमपूर्व, पढ़ने के लिये अथ मेरा कितना याकी रहा है । यह सुनकर वज्रस्वामी ने कहा कि वत्स ! दशम पूर्व तो समुद्र के समान है तुमने तो अभीतक उसको विन्दुमात्र ही पढ़ा है । वज्रस्वामी की यह बात सुनकर इनका मन कुछ भ्रान्त सा

शेकवातु शुं क्षरषु छे" आ वात सारी रीते ळक्षीने आर्यरक्षितने कहुं भद्र गुप्ताचार्ये ने कहुं छे, ते युक्त व कहुं छे भाइभा आर्यरक्षिते वज्रस्वामीथी नव पूर्वनु अध्ययन आनन्दथी शीभी वीधु परतु दशमा पूवना डेटवाक अधिकार न्यारे ते शीभी वदो हते त्यारे ते अरसाभां तेना नानेभाषं इत्यु रक्षित दशपुरथी पुत्रने विरह अनुभवती भाता दान्त प्रेरित भनी तेने जेवा ववा भाटे त्या आवी पछेअथे आर्यरक्षिते तेने समझवीने प्रतिबोधित करी त्यां व रक्षित भनाव्ये। अेक दिवसनी वात छे डे, आर्यरक्षिते वज्रस्वामीने पूछ्यु डे भइत दृष्टीवाइभा इससु पूर्व पुरं यवा भाटे हवे डेटवो समय भाकी छे। आ साकणीने वज्रस्वामीअे कहुं डे, वत्स ! दशसु पूर्व तो समुद्र समान छे, आमाथी ते तो मात्र हल्यु भीडु जेटहु व शीजेव छे वज्र स्वामीनी आ वात साकणीने तेनु मन काकं भिन्न थछं जसु अने कहेवा

शक्रोमि । वज्रस्वामी तु दशमपूर्वस्य स्वस्मिन्नेवागम्यान शाला मौनमकम्प्य
स्थितः । आर्यरक्षितो वज्रस्वामिगुरोरनुज्ञया फल्गुरक्षितेन सह दशपुरनगर समागतः ।
वज्रस्वामिना स्वायुरल्पं ज्ञात्वा तस्मै सुशिष्यापार्यरक्षिताय विहारसमये आचार्य-
पदं प्रदत्तम् । आर्यरक्षिताचार्यः स्वमातृभगिनीप्रमुखसांसारिकवर्गं प्रतिबोध्य
प्रव्रज्यां ग्राहयामास । सोमदेवस्तु प्रतिबोधितोऽपि साधुवेषे नैव वृद्धान्ति, आर्य-
रक्षिताचार्यस्त दीक्षाग्रहणार्थं बहुश कथयति । ततस्तस्य पिता सोमदेवः प्रा-
वक्ष्युगमं, यज्ञोपवीतं, कमण्डलु, छत्र, पादुका चापरित्यज्यैः मया दीक्षा ग्राह्या ।

हो गया और कहने लगे—मदन्त ! अब मैं इससे आगे बढ़ने के लिये
समर्थ नहीं हूँ । वज्रस्वामी दशमपूर्व “मेरे हृदय में ही अवस्थित रहेगा”
ऐसा जानकर पश्चात् चुप हो गये । आर्यरक्षित वज्रस्वामी गुरु की आज्ञा
से फल्गुरक्षित के साथ विहार करके दशपुर नगर को आये । वज्रस्वामी
ने अपनी आयु अल्प जानकर उन सुशिष्य आर्यरक्षित के लिये विहार
के समय में आचार्य पद दे दिया था । आचार्य आर्यरक्षित ने अपनी माता
यहिन आदि सासारिक जनों को प्रतियोधित कर उन्हें दीक्षा से दीक्षित
कर दिये । अपने ससारी पिता सोमदेव को भी समझाया पर उन्होंने
प्रतियोधित होने पर भी दीक्षा धारण नहीं की । आचार्य आर्यरक्षित ने
उनको अनेक बार बहुत २ भी कहा कि ‘आप दीक्षा स्वीकार कर लो’
परन्तु उन्होंने साधुवेष अंगीकार नहीं किया । कहने लगे कि वक्ष्युगम,
यज्ञोपवीत, कमण्डलु, छत्र एवं पादुका नहीं छोड़कर ही मैं दीक्षा ग्रहण

लाओ, मदन्त ! हवे हूँ आनाथी आंगण शीष्पी शक्र तेम नहीं वज्रस्वामी
दशम पूर्व पोताना हृदयमां व अवस्थित रहेंगे तेतु जायने सुप रक्षा आर्य
रक्षित वज्रस्वामी गुरुनी आज्ञायी इत्युरक्षितनी साथे विहार करी दशपुर
नगरमां आया वज्रस्वामीजे पोतानी आयु अल्प जायने विहार करवाना
समये सुशिष्य आर्यरक्षितने आचार्य पद अभी दीक्षु आचार्य आर्यरक्षिते
पोतानी माता, भडेन, वगेरे ससारी सभाधीजाने प्रतियोधित करीने तेज्जाने
दीक्षा अभी दीक्षित कथो. पोताना ससारिक पिता सोमदेवने पक्ष समजाया पक्ष
तेज्जाने प्रतियोध करवा छतां पक्ष तेमखे दीक्षा ग्रहण न करी आचार्य आर्यरक्षिते
तेमने अनेकवार पक्ष पक्ष कहुँ के, तमे दीक्षा लक्ष हो परतु तेज्जाने साधुवेष
अंगिकार व न करी कहेवा लाया के, वज्रनी जेदी, यज्ञोपवीत, - हल,

आर्यरक्षिताचार्येण स्वपितुर्वृद्धावस्थायां तारणबुद्ध्या पूर्वज्ञाने उपयोग दत्त्वा तथैवासौ प्रजाजित ।

अन्यदा कदाचिद् गृहस्थबालका साधूनां वन्दनार्थं तत्र मढल्यां समागता, आचार्यं क्वचिदन्यत्र तदानीं गतश्चासीत्, तत्र साधुभिरिङ्गितेन प्रतिबोधितास्ते बालका वदन्ति—इमं छत्रधरं मुक्त्वाऽन्यान् सर्वान् साधून् वन्दामहे । इत्युक्त्वा ते बालका एकं छत्रधरं तं विहाय सर्वान् साधून् वन्दन्ते । ततः सोमदेवमुनिः प्राह—एते मम पुत्रनपत्रादयः सर्वे युष्माभिर्वन्दिताः, अहं कस्मान् वन्दितः ? किं मया दीक्षान

करूंगा । अपने पिता सोमदेव की यह बात सुनकर आर्यरक्षित आचार्य ने उन्हें वृद्धावस्था में तारण की भावना से पूर्वज्ञान में उपयोग देकर अपने आगमविहारी होनेसे उसीरूप से दीक्षित कर लिया ।

किसी एक समय की बात है कि गृहस्थों के बालक साधुओं को वंदना निमित्त वहाँ मढली में आये । आचार्य आर्यरक्षित कहीं दूसरी जगह उस समय गये हुए थे । साधुओंके इशारे से प्रतियोधित किये गये वे सय बालक कहने लगे कि—हम लोग इस छत्रधारी साधुको छोड़कर पाकी समस्त साधुओं को वदना करते हैं । इस प्रकार कह कर वे सयके सय एक छत्रधारी मुनिको छोड़कर सबको वंदना करनेलगे । सोमदेव मुनिने जब यह बालकों का व्यवहार देखा तो बोले—क्यों बालको !—तुमने हमारे इन पुत्रों एव नातियों को तो वदना की पर मुझे वदना क्यों नहीं की ? क्या मैंने

छत्र, अने पादुका छोड्या शिवायज् हु दीक्षा ब्रह्मण करीश पोताना पिता सोमदेवनी आ वात सामणीने आर्यरक्षित आचार्ये तेमनी वृद्धावस्थाभा तारवानी भावनाधी पूर्वज्ञानने उपयोग आपी पोताना आगम विहारी होवाधी तेवा इथी दीक्षित भनाव्या ।

कौछि जेठ समयनी वात छे के गृहस्थेनां बाणके साधुजेनी वदना निमित्ते साथे मणीने आव्या आचार्यं जे समये कौछि षील ज्य्याजे मया हुता साधुजेजे धराराधी इरेकने वदना करवा भाटे ते बाणकेने कहु ते ते सभणा बाणके कहेवा लाग्या के, अमे भधा आ छत्रधारी मुनिने छोडीने भाकी समस्त साधुजेने वदना करीजे छीये जेम कहीने ते सभणा बाणके छत्रधारी महाराजने छोडीने षील भधाने वदना करवा लाग्या सोमदेव मुनिजे बाणकेने ज्यारे आ प्रभारने वहेवार ज्येये ते भादिया के छे बाणके । तमे भाश आ पुत्रे तेमज् सबधीजेने वदना करी ते भने केम वदना करी

गृहीता ?, चालका ऊचुः-किं दीक्षिताञ्छत्रधारिणः स्युः । एवमुक्त्वा गतेषु वाञ्छेदेषु
 आर्यरक्षिताचार्यंस्त्वत्र समायात । तदाऽसौ सोमदेवमुनिस्तत्समीपमागत्य वदति-
 पुत्र ! चालका अपि मां हसन्ति, अलमनेन छत्रेण, इत्युक्त्वा तेन छत्र परित्यक्तम् ।
 एवमेकैकं क्रमेण परित्यजता तेन धौतिक्रमन्तरेण सर्वं यज्ञोपवीतादिकं परित्य-
 क्तम्, बहुशस्तया वन्दनाकरणैरुपहासादि प्रयोगैश्चापि स धौतिकं न मुञ्चति ।

मुनिदीक्षा धारण नहा की है ? चालकों ने उनकी इस यात को सुनकर
 शीघ्र ही निस्सकोच से उत्तर दिया कि जो मुनिदीक्षा से दीक्षित हुआ
 करते हैं क्या वे छत्रधारी होते हैं ? चालक ऐसा कह कर चले गये इतने
 में ही वहा याहर से आर्यरक्षित आचार्य आ पहुँचे । आचार्य को आगे
 देखकर सोमदेव मुनि ने उनके पास जाकर कहा पुत्र ! देखो तो सही-
 चालक भी मेरी हँसी मजाक करते हैं-कहते हैं कि मुनि कहीं छत्रधारी
 भी होते हैं । अत इस छत्र की मुझे अब जरूरत नहीं है । ऐसा कहकर
 सोमदेव ने छत्रका परित्याग कर दिया । इसी तरह क्रमश और भी
 गृहीत वस्तुओंसे अपनी मुनिअवस्था में हँसी होती हुई जानकर उन्होंने
 धोतीजोड़े के सिवाय अन्य समस्त जनेऊ आदि वस्तुओं का परित्याग
 कर दिया । यद्यपि धोती के रखने से लोग उनका उपहास भी करते थे
 तौ भी वे उसे नहीं छोड़ सके ।

नहीं ? शुभे मुनिदीक्षा धारण नहीं करी ? आण्डोको तेनी आ वात
 सांभलीने तस्व अ निःशङ्काव्यधी अवाभ हीषा हे, जे मुनिदीक्षा वे छत्रेको
 छत्रधारी होय छे भरा ? आण्डो आ प्रभाजे कहीने आत्यां जयां कोवा समने
 लदार अयेवा आर्यरक्षित आचार्य आवी पछोआ आचार्यने आवेवा जेधने
 सोमदेव मुनिजे तेमनी पासे अधने कहु पुत्र बुज्यो तो भरा । आण्डो
 पक्ष मारी दांसी भबक करे छे कहे छे हे, मुनि कयांय छत्रधारी होय छे
 भरा ! आधी आ छत्रनी हवे भने अदरत नहीं जेम कहीने सोमदेवे ते छत्रने
 परित्याग करी हीषा आ प्रभाजे कहे कहे तेमजे अकषु करेवी वस्तुकोही
 पोतानी मुनि अवस्थाभां दांसी यती लण्ठीने तेमजे धोतीजेटा सिवाम
 बील समस्त जनेऊ आदि वस्तुकोने परित्याग करी हीषा जेम छतां पक्ष
 धोतीना राभवाधी दोडे तेमने उपहास करता हता छता पक्ष तेजे तेने
 छेदी शक्या नहीं

अन्यदा कदाचिदेक. साधुरनशनतपश्चरणेन स्वर्गं गतः । तत आर्यरक्षिताचार्येण तस्य सोमदेवघ्नेर्घांतिकपरित्याजनार्थं साधवोऽभिहिता.-य एनं साधुमृतक स्कन्धेन वहति तस्य महती निर्जरा भवति । तदनन्तर स सोमदेवघ्निर्वदति-पुत्र ! अत्र निर्जरा भवति किम् । आर्यरक्षिताचार्य आह-सत्यम्, तत. स वदति-अह वहामि । आचार्य. माह-अप्रोपसर्गा बहवो जायन्ते, कतिचिद् बालकास्तस्य सलग्ना भवन्ति, तत्र तूष्णीभाव आश्रयणीयः, कोपो न करणीयः, स्वीकृतकार्यं सर्वथा स-पादनीयम्, यदि सकला उपसर्गा शक्यन्ते सोऽपि, तदा श्रेय, अन्यथाऽस्माकम-

कोई एक दिन की घात है कि एक साधु अनशन से कालघर्म पाये। आर्यरक्षित आचार्य ने सोमदेव घृनि की घोंटी छुड़ाने के अभिप्राय से साधुओं से कहा कि जो इस मृतक साधु को अपने कंधे पर आरोपित कर ले जायगा उसके लिये महान् निर्जरा होगी। यह घात सुनकर सोमदेव घृनिने कहा कि पुत्र! क्या इस कार्य के करने में निर्जरा होती है? आचार्य ने कहा-हा होती है। सोमदेव ने कहा तो इसे कंधे पर रखकर मैं ले जाऊंगा। आचार्य ने कहा कि देखो-ऐसा करने में बहुत विघ्न आते हैं-कितनेक बालक देखते ही उसके पीछे लग जाते हैं, हँसी उढ़ाते हैं सो उसमें शांतिभाव रखना पड़ता है। क्रोध नहीं करना पड़ता है। तथा जिस कार्य को करने का आरम्भ किया जाता है उसे अन्ततक निभाना पड़ता है। यदि इन सब विघ्नों को सहन करने के लिये अपने को शक्तिशाली समझते हो तो ही इसमें श्रेय है अन्यथा हमसब लोगों का

अधक वज्रते अधक साधु अनशनधी कालघर्म पाया, आर्यरक्षित आचार्ये सोमदेव घृनिने घाती छेडाववाना भावधी साधुओने कष्टु के, जे काल आ मृत्यु पायेवा साधुने घातानी काल उपर बर्धने ज्ये तेमना भाटे महान निर्जरा धरे. आ घात साधुनीने सोमदेव घृनिजे कष्टु के छे पुत्र। शु आ कार्य करवाभां निर्जरा थाय छे? आचार्ये कष्टु के, हा। थाय छे सोमदेवे कष्टु के, तो छु ओने काल उपर उपादीने बर्ध जर्धश आचार्ये कष्टु के, बुज्यो। आरम्भ करवाभा भदु विघ्न आवे छे कटवाक आणके देषतां ज तेमनी पाछण पडे छे, हसी उधवे छे, तो आभां शान्ती भाव राषवो पडे छे क्रोध आववो न ओधजे तथा जे कार्य करवाने आरम्भ कथी छे तेने अन्त सुधी नभाववुं पडे छे जे आ अधा विघ्नोने सहन करवा भाटे आप आपने शक्तिशाली मानता छे तो ज तेभां श्रेय छे नहिंतर अमारा सभजा होकेनु तेभां अनिष्ट

शुभं भविष्यति। एव प्रवर्तितोऽसौ मृतक साधु स्कन्धे समारोप्य साधुभिः स्र
वहति। मार्गे मृतक रहतस्तस्य धौतिक गालकैराचार्यसक्रेति तैराकर्णितम्। स लम्बा-
वशात् मृतक स्कन्धादतरापति तावदन्यं साधुभिरुक्तम्-मा मुञ्च, मा हृष्य,
तदा तस्य कट्यां केलचित्साधुना स्वसार्धमानीतशोलपट्टको वद्ध, स तु लज्जया तं
शय वहन् निर्जने वने प्रासुकस्यण्डिले त व्युत्सृज्याचार्यसमीपमागतो हृते-रे

इसमें अनिष्ट हो जायगा। इस प्रकार समझाने पर जब सोमदेव
समल गये तो उन्होंने ने उस शय को उठाकर अपने कंधे पर रख लिया
और साधुओं के साथ चले। मार्ग में मृतकसाधु को वहन किया हुए
सोमदेव को देखकर बालकों ने उनकी आचार्यआर्यरक्षित के सक्रेत
करने पर धोती खींच ली। अपनी धोती उतारी हुई देखकर उन्हें नग्न
होने की वजह से बड़ी लज्जा का अनुभव होने लगा। उन्होंने ने चाहा कि
इस मृतकसाधु के शय को कंधे से नीचे उतार कर बालकों से अपनी
धोती छुटा ली जाय। ज्यों ही वे ऐसा करने को उद्यत हुए कि इतने
में ही साधुओं ने कहना प्रारम्भ कर दिया कि इसे नीचे मत उतारो
मत उतारो। और इसी के भीतर ही किसी साधु ने जो शोलपट्टा उनके
पहिराने के लिये पहिले से साथ ले आया था उन्हें पहिरा दिया। लज्जा
से उस साधु के शय को वहन करते हुए सोमदेव ने निर्जन वन में
उस शय को प्रासुक भूमि पर उतार दिया, और आचार्य महाराज के

थरु ज्ये. आ प्रभाषे समभववाधी व्यारे सोमदेव समल गया आरे तेमडे
ते शयने उद्यवी पोतानी धाध उपर राभी वीधु अने साधुजोनी साथे
आव्या. मार्गमा भरेवा साधुने उपाडी जता सोमदेवने जेधने भाजकेके
आचार्य आरक्षितना धसाराधी तेमनी धोती जेवी वीधी पोतानी धोती
नीकणी जयेवी जेधने तेमने नञ भवाना धाधे धषी लज्जाने अनुभव भवा
वाज्ये तेजोके धिधु के, आ भरेवा साधुना शयने धाधधी नीचे उतारी
भाजके पासेधी मारी धोती छोडवी लठ व्यां तेजो जेवु करवाने उद्यत
अन्या जेटवाभा ज साधुजोके कहेवाने प्रारंभ कये के, तेने नीचे न उतारी
जेक तरुधी आम कहेवायु जेव वधते जे साधुजोभाधी जेक साधुजे
जोतपट्टे तेने पहरेवावा भाटे अजाडधी ज साथे राभेव ते पहरेवावी वीधी
लज्जाधी जे साधुना शयने वहन करवां सोमदेवे निज्जन वनमा जे शयने
प्रासुक भूमि उपर उतारी वीधु अने आव्याज महाशयनी समीप आवीने

पुत्र ! अद्य महानुपसर्गो जात , तथापि सर्वं कार्यं भवत्कथनानुसारेण मया सम्पादितम् । आचार्योऽन्य मुनि प्रति प्राह-धौतिकमानीयास्मै दीयताम् तदा स वृद्धोज्वदत्-इदानीमल धौतिकवस्त्रेण, यद् द्रष्टव्य तद् दृष्टमेव, अत परमय चोलपट्टक एव मम देहे तिष्ठतु । अद्यप्रभृति नवीनवसन नैव परिधास्यामि, अन्यसाधुव्याप्तमेव वस्त्र ग्रहीष्याम, एकेनैव प्रावरणेन, एके नैव चोलपट्टकेन सयमयात्रा निर्वाहं करिष्यामि । एवमेवासौ विहरन् नवीनवस्त्रानाकाङ्क्षया द्वितीयप्रावरणचोलपट्टानाकाङ्क्षया च जीर्णशीर्णवस्त्रहेतुकदैन्याद्यकरणेन चाचेलपरीषहं सहेते स्म । एकदा

समीप आकर कहने लगे-हे पुत्र ! आज बड़ा भारी उपसर्ग उपस्थित तो हुआ था, परन्तु आपके कथनानुसार मैंने सब कार्य यथावस्थित संपादित कर दिया है । आचार्य ने उसी समय एक मुनि से कहा कि-घोती लाकर इन्हें दे दो । आचार्य महाराज की बात सुनकर सोमदेव ने कहा कि अय घोती से घस करो । इसकी अय आवश्यकता नहीं रही है । जो कुछ देखना था वह देख लिया है, इस लिये यह चोलपट्टा ही अय मेरे शरीर पर रहे यही भावना है, तथा मैं आज से नवीन वस्त्र नहीं पहिरेगा, तथा अन्य साधुओं द्वारा उपसुक्त वस्त्र ही ग्रहण करूँगा, एक ही प्रावरण से एक ही चोलपट्टक से सयम यात्रा का निर्वाह करूँगा । इस प्रकार सोमदेव मुनि विहार करते हुए नवीन वस्त्र की अनाकाङ्क्षा से तथा द्वितीय प्रावरण (चादर) एव द्वितीय चोलपट्टक की अनिच्छा से जीर्णशीर्णवस्त्र हेतुक दीनता के नहीं करने से अचेलपरीषह को सहते

कहेवा लाग्या हे पुत्र ! आज घड्या भारी उपसर्ग उपस्थित झये હતો, પરતુ તમારા કથન અનુસાર મે સમગ્ર કાર્ય યથાવસ્થિત સંપૂર્ણ કરેલ છે આચાર્યે એજ વખતે એક મુનિને કહ્યુ કે, ધોતી લાવીને આમને આપી દો. આચાર્ય મહારાજની વાત સાંભળીને સોમદેવે કહ્યુ કે, હવે ધોતીથી બસ કરો. મારે હવે તેની આવશ્યકતા નથી. જે કાંઈ એવુ હતું તે એઈ લીધુ છે જેથી આ ચોલપટ્ટોજ મારા શરીર ઉપર રહે એજ ભાવના છે તથા હું આજથી નવીન વસ્ત્ર પહેરવાનો નથી. અને બીજા સાધુઓ દ્વારા વપરાયેલા વસ્ત્રોને હું અંગિ કાર કરીશ. એક જ પ્રાવરણથી, એક જ ચોલપટ્ટાથી સયમ યાત્રાનો નિર્વાહ કરીશ આ પ્રકારે સોમદેવ મુનિ વિહાર કરતા કરતા નવા વસ્ત્રોની આકાંક્ષા વગર તથા બીજા પ્રાવરણ આદર અને બીજા ચોલપટ્ટાની અનિચ્છાથી લજ્જા શાષ્ટ વસ્ત્રથી દિનતા ન બતાવતા અચેલપરીષહ સહન કરતા રહ્યા એક

ऽतिशयित हिम समापतितम् तथाप्येकमात्र प्रावरणमसौ दधाति न तु द्वितीयं
 यद्वाति, तस्मिन्नेव जीर्णशीर्णे प्रावरणे प्रोत्साहसम्पन्नेन मनसाऽचेलपरीषदं
 सहमान' समाधिभावेन कालधर्मं प्राप्य देवलोकं गत' । एवं तेन यथा—अचेलपरीषदः
 सोदस्तथैवान्यैरपि साधुभिः सर्वदाऽचेलपरीषदं सोदव्य एव ॥१३॥

अचेलकस्य शीतादिभिः स्पृष्टस्यारति स्यात्, अतस्तत्परीषदत्रय प्रा—
 मूलम्—गामाणुगाम रीयंत, अर्णगार अकिंचेण ।

अरंई अणुपंपवेसेज्जा, त तितित्खे परीसह ॥१४॥

छाया—ग्रामानुग्राम रीयमाणम्, अनगारम् अकिञ्चनम् ।

अरति अनुप्रविशेत्, त वितिक्षेत परीषदम् ॥ १४ ॥

टीका—' गामाणुगाम ' इत्यादि ।

ग्रामानुग्रामम्—ग्रामम् अनु, ग्रामात् पथात्, ग्रामानन्तरवर्ती यो ग्राम' स

रहे। एक दिन की घात है कि शीतकालमें अत्यन्त हिम गिरा तो भी
 इन्होंने ने द्वितीय प्रावरण धारण करने की स्वप्न में भी इच्छा नहीं की
 किन्तु एक ही प्रावरण से उस हिम का सामना किया। जीर्ण शीर्ण
 उस प्रावरण में ही प्रोत्साहसंपन्न चित्त से अचेलपरीषद को सहन
 करते हुए उन सोमदेव महात्माने समाधिभाव से कालधर्म पाकर देव
 लोक को प्राप्त किया ।

इस कथा के कहने का केवल एक यही प्रयोजन है कि देवों
 सोमदेव मुनिराज ने पहिले अचेलपरीषद नहीं सहा, पश्चात् प्रतिबोधित
 होने पर उस परीषदको अधिक प्रोत्साह के साथ सहन किया । इस तरह
 अन्य साधुओं को भी अचेलपरीषद सहन करना चाहिये ॥ १३ ॥

दिवसनी वात छे के, ठडीना समये अत्यत हिम पडयुं तो पखु तेज्जोले नील
 प्रावरणु ठरवानी स्वप्नमां पखु छम्छा न ठरी परतु जेक व प्रावरणुमां व उत्साह
 सपत्त चित्तधी अचेल परीषदने सहन ठरीने ते सोमदेव महात्माजे समाधि
 भावधी कालधर्मं पायी देवलोक ने प्राप्त कथे।

आ कथा ठडेवानु ठेवण जेक व प्रयोजन छे के, बुजो, सोमदेव मुनिजे
 पहिलां अचेलपरीषद न सहो पाछणधी प्रतिबोध पावतां तेमजे जे परीषदने
 अधिक उत्साहधी सहन कथे अन्य साधुजोले पखु जेमनी भाइ
 अचेलपरीषद सहन ठरवे जेधजे (१३)

ग्रामानुग्रामस्तम् । नगराद्युपलक्षणमेतत्, नगरादिक चेत्यर्थः । रीयमाणं=विहार
माणम्, अकिञ्चन=निष्परिग्रहम्, अनगारं=मृनिम् अरति.=सयमविपयिकाऽधृतिः
मोहनीयकर्मोदयजनिता सयमारुचिरूपाऽऽत्मपरिणतिः अनुप्रविशेत्=प्रविष्टा भवेत्-
मृनेर्मनसि प्राप्ता भवेत्, तम्=अरतिरूप परीपह तितिक्षत=अरतिरूपस्य मनः
परिणामस्य कटुकफल चिक्कणकर्मबन्धन चतुर्गतिकससारपरिभ्रमण च विज्ञाप
मनसस्तन्निराकरणेन सहेत ॥

अचेलक के शीत आवि द्वारा सताये जाने पर अरति भी हो सकती
है इसलिये सातवें अरतिपरीपह को सहने के लिये सूत्रकार कहते हैं ।

‘ गामाणुगाम ’ इत्यादि

अन्वयार्थ—(गामाणुगाम रीयत-ग्रामानुग्राम रीयमाणम्) एक गाँव से
दूसरे गाँव तथा उपलक्षण से एक नगर से दूसरे नगर विहार करते हुए
तथा (अकिञ्चन-अकिञ्चनम्) अकिञ्चन-परिग्रहरहित ऐसे (अणगार-
अनगारम्) मुनि को (अरई अणुप्पवेसेज्जा-अरति अनुप्रविशेत्) यदि
अरति-सयम में अरुचि अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाली जो
संयमअरुचिरूप आत्मपरिणति, तथा सयम में अधृति जाग्रत हो जावे
तो मुनि का कर्तव्य है कि वह (तं परीपह तितिक्षे-त परीपहं तिति-
क्षेत) उस परीपह को शांति के साथ सहन करे । “ अरतिरूप इस मान-
सिक परिणति का फल चिक्कणकर्मबन्धरूप है और उससे जीव का

अचेलकमुनीने शीतआदि सतावे आरे अरति पक्ष थवानो सभव छे
तेथी उभा अरतिपरीपहने सहन करवा भाटे सूत्रकार कहे छे

‘ गामाणुगाम ’ इत्यादि

अन्वयार्थ—गामाणुगाम रीयत-ग्रामानुग्राम रीयमाणम् अेक गाभथी भीअ गाम
तथा उपलक्षणथी अेक नगरथी भीअनगर विहार करवा अकिञ्चन-अकिञ्चनम् तथा
अकिञ्चन-परिग्रह रहित अेवा अणगार-अनगारम् मुनिने कइअ अरई
अणुप्पवेसेज्जा-अरति अनुप्रविशेत् अरति-सयममा अइथि अर्थात् मोहनीय कर्मना
उदयथी थनारी अे सयम अइथि इप आत्मपरिष्पति-तथा सयममा अधृति, अग्रति
थई अय तो मुनिनु कर्तव्य छे के, ते मुनी संपरिग्रह तितिक्षे-त परीपह तितिक्षेत
अे परिपहने शान्तीनी साथे सहन करे “ अरति इप आ मानसिक परिष्पतिनु
क्षण अिकखा कर्मअध इप छे अने तेनाथी एवनु चतुर्गतिइपे ससारमा

‘गामानुगाम रीयत’ इत्यनेन रागादिनिवृत्ति सूचिता ।

‘अकिंचण’ इत्यनेन ममत्वरहितत्व प्रवेदितम् ।

‘अरईअणुप्पवेसेज्जा’ इत्यनेन शब्दादित्रिपयाणां प्रबलता प्रदर्शिता ।

‘तित्तिक्खे’ इत्यनेनानागरस्य परीपहसद्विष्णुता सूचिता ॥ १४ ॥

उक्तमर्थं द्रव्यभाह—

मूलम्—अरई पिट्ठओ किच्चा, विरओ आयरंक्खिए ।

धम्ममारामे निरारम्भे, उव्वसते, मुंणी चरे ॥ १५ ॥

छाया—अरतिं पृष्ठत कृत्वा, विरतः आत्मरक्षितः ।

धम्मरामे निरारम्भः, उपशान्तं मुनिश्चरेत् ॥ १५ ॥

टीका—‘अरइ’ इत्यादि ।

विरतः=हिंसादिभ्यो निवृत्तः, आत्मरक्षित—आत्मा रक्षित नरकनिगोदादि

चतुर्गतिक ससार में परिभ्रमण होता है” यह समझकर इस संयम विषयक अरति को साधु मनसे भी हटाते रहे ।

सूत्रकार ने “गामानुग्रामं” इस पद से रागादिक की निवृत्ति सूचित की है । “अकिंचण” इस पद से मुनि को ममत्वरहित प्रदर्शित किया है ॥ “अरई अणुप्पवेसेज्जा” इस पद से शब्दादिक विषयों की प्रबलता प्रकट की है । “तित्तिक्खे” इससे ‘अणागर को परीपह सहिष्णु होना चाहिये’ यह कहा है ॥ १४ ॥

इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—‘अरई पिट्ठओ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(विरओ विरतः) हिंसादिक पापोंसे विरक्त तथा (आयरंक्खिए—आत्मरक्षितः) नरकनिगोदादिकके दुःखोंके जनक अष्टम ध्यानसे

परिभ्रमण थाय छे जेवुं समलने आ संयम विषयक अरतिने साधुके मनधी पणु हटाववी जेधं जे

सूत्रकारे गामानुग्रामं आ पइथी रागादिकनी निवृत्ति सूचित करेव छे अकिंचण—आ पइथी मुनिने ममत्व रहित प्रदर्शित करेव छे अरईअणुप्पवेसेज्जा आ पइथी शब्दादिक विषयानी प्रबलता प्रकट करेव छे “तित्तिक्खे” आधी अणुगारे परीपह सहिष्णु बनवुं जेधं जे तेम कहु छे ॥१४॥

आ अर्थने द्रढ करवा सूत्रकार कहे छे अरइ पिट्ठओ धत्वादि।
अन्वयार्थ—विरओ-विरत हिंसादिक पापोंसे विरक्त तथा आयरंक्खिए—आत्मरक्षित नरकनिगोदादिकना दुःखना जनक जेवा अष्टम ध्यानधी पोताना आत्मानधी रक्षा

दुःखजनकादशुभघ्यानाद् येन स तथा, यद्वा-आयरक्षित इतिच्छाया, आय-
रत्नत्रयस्य लाभः, रक्षितो येन स तथेत्यर्थ । निरारम्भ.=सावधक्रियावर्जितः, तथा
उपशान्तः=क्रोधादिकपायोपशमाद् मनोवाक्कायविकारवर्जित मुनिः, अर्ति पृष्ठत.
कृत्वा=इय धर्मविराधिकेति मत्वा परित्यज्य धर्मारामे चरेत्, इत्यग्रेण सम्बन्धः ।

अरतिर्हि धृष्टिर्वात्मान मलिनयति, जलदपटलावळीसकुला गाढतिमिरपरि-
व्याप्ता रजनीव विवेक सहरति, अविवेक वर्धयति, वज्रमिव ज्ञानादिगुणानुपघात-
यति, अविवेकिनमन कानननिवासिनी कृष्णसर्पिणीव छिद्रान्वेषणपरा मुनीनां

अपनी आत्मा की रक्षा करने वाला अथवा “आयरक्षित ” रत्नत्रय
लाभरूप आय-आवक की रक्षा करने वाला-सभाल रखनेवाला, तथा
(निरारमे-निरारम्भ) सावध क्रिया के सेवन से वर्जित, तथा (उचसत्ते
-उपशात) क्रोधादिक कपाय के उपशम से मन वचन एव काय
सषधी विकारों से रहित (मुणी-मुनि.) साधु (अरह पिढुओ किच्चा-
अरति पृष्ठत कृत्वा) अरति का परित्याग कर (धम्मारामे-धर्मारामे)
धर्मरूपी उद्यान में (चरे-चरेत्) सदा लवलीन रहे-उस में सर्वदा
विचरता रहे ।

यह अरतिभाव धुली की तरह आत्मा को मलिन करता है ।
बादलों के समूह से सकुल एवं गाढ अन्धकार से व्याप्त रात्री के
समान यह विवेकरूपी सूर्य को आच्छादित करदेता है, एव अविवेक
रूपी अन्धकार की वृद्धि करता है । वज्र की तरह ज्ञानादिक गुणरूप
पर्वत का मेदन करता है । यह अरतिभाव अविवेकी जन के मनरूप

हरवावाणा अथवा “आयरक्षित ” रत्नत्रय लाभरूप आय-आवकनी रक्षा करवा
वाणा-सभाण राभववावाणा निरारमे-निरारम्भ तथा सावध क्रियाना सेवनधी
वर्णित उचसत्ते-उपशात क्रोधादिक कपायना उपशमधी मन वचन अने काय
सषधी विकारधी रहित मुणी-मुनि साधु अरह पिढुओ किच्चा-अरति पृष्ठतः
कृत्वा अरतिने त्याग करी धम्मारामे-धर्मारामेधर्मरूपी उद्यानमां चरे-चरेत्
ओभां सदा विचरता रहे.

आ अरतिभाव धुली की तरह आत्माने मलीन करे छे वाङ्गोना समूहधी
छवायेत अने गाढ अधकारधी व्याप्त रात्रिना समान ओ विवेकरूपी सूर्यने
आच्छादित करे छे, अने अविवेकरूपी अधकारनी वृद्धि करे छे वज्रनी भाङ्ग
ज्ञानादिक गुणरूप पर्वतनु मेदन करे छे आ अरतिभाव अविवेकी भावुसना

સયમપ્રાણાનપદરતિ, કુઠાર इव श्रुतचारित्रधर्मतरुन् सगुण्येइयति, कुपध्वारा इ कर्मव्याधि वर्धयति । एव विचिन्त्य धर्माराम=धर्म एव निरन्तरानन्दहेतुतया प्रतिपाल्यतया चारामः धर्मारामः, यद्वा-धर्म आराम इव कर्मसतापोपल्लानां जन्तुनां निर्धृतिहेतुतया स्वाभिलषितफलप्रदानतथेति धमारामः, यत्र सम्यक्त्व भूमिः,

घन में विहार करने वाला है, हृष्णसर्प की तरह छिद्रान्वेषण में तत्पर रहता है, एव मुनियों के सयमरूपी प्राणों का हरण करने वाला है। कुठार की तरह श्रुतचारित्ररूपी वृक्ष को यह मूलसे उच्छेदन करता है। कुपथ्य आहार की तरह कर्मबन्धरूपी व्याधिको बढ़ाने वाला है। इस प्रकार विचार करके साधु को इस धर्मरूपी उद्यान में विचरण करते रहना चाहिये। उद्यान जिस प्रकार अपने में विचरण करने वालों को आनन्द का हेतु होता है, उसी प्रकार यह धर्म भी अपने आराधकों को आनन्द का कारण होता है, तथा उद्यान जिस प्रकार प्रतिपाल्य-रक्षण करने के योग्य होता है उसी प्रकार जीवन को सुन्दर बनाने वाला होने से धर्म भी प्रतिपाल्य-करने योग्य होता है। अथवा घूप से संतप्त प्राणियों के लिये उद्यान जिस प्रकार शीतलता प्रदान करता है उसी प्रकार कर्मरूपी आताप के सताप से संतप्त प्राणियों को शान्ति का हेतु होने से एवं अभिलषित फल का देनेवाला होने से धर्म भी एक उच्चम उद्यान के समान यहा प्रकट किया गया है। इस उद्यान

મનરૂપી વનમાં વિહાર કરનાર છે કાળા સાપની માફક ડથ દેવામાં તત્પર રહે છે, અને મુનિયોના સયમરૂપી પ્રાણોનું હરણ કરનાર છે કુઠારાડારૂપે મુત આશ્ત્રિરૂપી વૃક્ષનું એ મૂળસાયે ઉચ્છેદન કરે છે, કુપથ્ય આહારની માફક કર્મ બધરૂપી વ્યાધિને વધારનાર છે આ પ્રમાણે વિચાર કરીને સાધુએ ધર્મરૂપી ઉદ્યાનમાં વિચરણ કરવા રહેવું જોઈએ

ઉદ્યાન જેમ તેની અંદર ફરનારઓને આનંદ આપવાવાળું છે તેજ પ્રમાણે ધર્મ પણ પોતાના આધારરૂપ સાધુ માટે આનંદનું કારણ હોય છે તથા ઉદ્યાન જેમ પ્રતિપાલ્ય-રક્ષણ કરવાને યોગ્ય છે તેજ પ્રમાણે જીવનને સુદર બનાવવાળા ધર્મને પણ પ્રતિપાલ્ય-પાલન કરવાને યોગ્ય છે અથવા ધૂપથી સંતપ્ત બનેલા પ્રાણીયોને ઉદ્યાન જેમ શીતળતા આપે છે તેજ પ્રમાણે કર્મરૂપી આ તાપથી સંતપ્ત થયેલા પ્રાણીઓને માટે શાંતિના હેતુ હોવાથી અભિલષિત ફળને દેનાર ધર્મને જોઈ ઉદ્યાન રૂપથી અહિ બતાવવામાં આવેલ છે આ ઉદ્યાનમાં સમ્યક્ત્વ

गुप्तिरालवालः, समितिः पाली, क्षान्त्यादयो धर्मा एव वृक्षाः, विनयस्तेषा
मूलम्, भावना सलिलम्, श्रुतमेव स्कन्ध धर्मशुक्लध्यानरूपाः शाखाः, ध्यान
मेदाः प्रशाखाः, योगसग्रहाः पत्राणि, ज्ञानादिगुणा पुष्पाणि, स्वर्गापवर्गप्राप्तिः
फलम्, तद्गतं सुख रसः, तस्मिन् धर्मारामे चरेत्=विचरेत्, अरतिं निराकृत्य
स्वाध्यायध्यानेषु परायणो भवेदित्यर्थः ॥

‘अरइ पिठ्ठओ किच्चा’ इत्यनेन मुनेरात्मवलसपन्नत्वं सूचितम् ।

‘विरए’ इत्यनेन मुनेवैराग्यदशा प्रदर्शिता ।

में सम्यक्त्व तो भूमि है, गुप्तिया क्यारिया हैं, समितिया ही पालिया
हैं, क्षान्त्यादिक धर्म वृक्ष है, एव उन वृक्षों का मूल विनय है। भावना
रूपी जल से वे सदा हरे-भरे रहते हैं। श्रुतज्ञान उनका विस्तृत स्फुट है।
धर्मध्यान एव शुक्लध्यान उनकी शाखाएँ हैं, ध्यान के मेद उनकी
प्रशाखाएँ हैं। यत्तीस योगसग्रह उनके पत्र, ज्ञानादिकगुण उनके पुष्प,
स्वर्ग एव मोक्ष की प्राप्ति उनके फल, स्वर्गमोक्षसयंधी सुख ही उनका
रस है। इतने मनोहर इस धर्मरूपी उद्यान में साधु का कर्तव्य है कि वह
अरति को दूर कर विचरण करता रहे। स्वाध्याय एवं शुभध्यान में सदा
आत्मपरिणति को लगाता रहे।

‘अरइ पिठ्ठओ किच्चा’ इस पद से यह सूचित किया गया है कि
मुनि को आत्मयत्न से युक्त होना चाहिये। “विरए” इस पद से यह
ज्ञात होता है, कि मुनि में इस प्रकार के घल की जागृति विना वैराग्य
दशा के नहीं हो सकती है, अतः वैराग्यदशा दृढ बनानी चाहिये।

तो भूमि है गुप्तियो क्यारिया है, समितियो पालिया है, क्षान्त्यादिक धर्मवृक्ष
है, अने ओ वृक्षोनु मूल विनय है, भावनारूप जलथी ते सदाय हर्याभर्या रहे
है श्रुतज्ञान ओना विशाण रस है, धर्मध्यान तेमज् शुक्लध्यान ओनी शाखाओ
है, ध्यानने मेद ओनी प्रशाखाओ है, उर योग सग्रह तेना पान, ज्ञानादिक
गुण तेना पुष्प, स्वर्ग अने मोक्षनी प्राप्ति ओना फल स्वर्ग मोक्ष सयंधी सुख
ते ओना रस है, आवा मनोहर धर्मरूपी उद्यानमें साधुनु ओ कर्तव्य है ते
तेओ अरतिने दूर करी विचरण करता रहे. स्वाध्याय अने शुभ ध्यानमा
थोताना आत्मपरिणती ने लगावता रहे

अरइ पिठ्ठओ किच्चा—आ पदथी ओ सूचित करवामा आवे है ते, मुनिये
आत्मभणथी युक्त रहेतुं ओछओ “विरए” आ पदथी मुनिमां जणनी जागृती
विना वैराग्यदशा आवी शकती नथी. आथी वैराग्यदशा दृढ जनाववी ओछओ.

- ‘आयरक्खिण’ इत्यनेन मुनेरास्त्रनिरोधः प्रदर्शित ।
- ‘निरारमे’ इत्यनेन मुनेरतिपरीपहविजययोग्यता सूचिता ।
- ‘उवसते’ इत्यनेन कपायनिग्रहस्य सूचितम् ।
- ‘मुणी’ इत्यनेन प्रवचनरहस्यमननशीलत्व प्रतिबोधितम् ।
- ‘धम्मारामे’ इत्यनेन सयमस्य रमणस्थानत्वं सूचितम् ।
- ‘चरे’ इत्यनेन मुने. सयमविषये प्रमादवर्जितत्व प्रवेदितम् ।

“आयरक्खिण” इससे यह सूचित किया है कि मुनि को आलस का निरोध करते रहना चाहिये। “निरारमे” पद से यह ज्ञात होता है कि अरतिपरीपह को जीतने की योग्यता विना मुनिअवस्था आती नहीं है, क्योंकि उसी अवस्था में निरारभता रहती है। “उवसते” पद से यह सूचित होता है कि विना कपाय के निग्रह हुए आत्मा में मुनिजल पालने की योग्यता नहीं आती है, अतः कपाय का निग्रह अवश्य करना चाहिये। ‘मुणी’ पद से कपाय का निग्रह करने वाला तभी हो सकता है कि जब वह प्रवचन के रहस्य का मनन करने वाला होता है। बिना ऐसा किये आत्मा कपायों का निग्रह नहीं कर सकता है। “धम्मारामे” इससे यह सूचित किया गया है कि कपायों का निग्रह करने का वही आत्मा परिणामशाली होगा—जो संयम में रमण करने की भावना रखता होगा, इसके बिना नहीं। इसी लिये सयम को रमण का स्थान बतलाया गया है। “चरे” इस क्रियापद से मुनि को संयम के विषय में प्रमादरहित होना चाहिये यह बतलाया गया है।

आयरक्खिण आ पडधी ज्जेम सूचित करवामां आब्भुं छे के, आअवने निरोध करीने रहेनुं जेधं ज्जे निरारमे आ पडधी अरति परीपहने एतवानी भोज्यता प्राप्त कथां सिवाय मुनिअवस्था आवती नधीं करखुं के, आ अवस्थाभां निरा रभता रहे छे एवसते आ पडधी सूचित थाय छे के, कपायने निग्रह कथां सिवाय आत्माभां मुनिजल पाणवानी भोज्यता आवती नधीं जेधीं कपायने निग्रह अवश्य करवे। जेधं ज्जे. “मुणी” पडधी कपायने निग्रह करवावाला त्थारे वं जनीं थके छे के, त्थारे प्रवचननुं रहस्य मनन करनार जनीं रहे ज्जेम कथां सिवाय आत्मा कपायने निग्रह करीं थकते नधीं. धम्मारामे आ पडधी सूचित करवामां आवेल छे के—कपायने निग्रह तेज आत्मा करवाने परिष्कार शाणीं जने छे जे संयमभां रमण करवानी भावना राभता ज्जेम, तेनां वजर नधीं आधीं संयमने रमणनुं स्थान जतावेल छे चरे आ पडधी मुनिजे संयमना विषयभां प्रमाद रहित जनुं जेधं ज्जे ज्जेम जतावेल छे

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्शयते—

अचलपुरे जितशत्रुनाम्नो राज्ञः पुत्रोऽपराजितनामा रोहाचार्यस्य समीपे दीक्षितोऽभवत् । एकदा रोहाचार्यः स्वशिष्यपरिवारैः सह ग्रामानुग्राम विहारं तगरानगरीं समवस्रत् । तदानीं रोहाचार्यस्य स्वाध्यायशिष्य आर्यरोहनामाऽऽचार्यं उज्जयिन्यामासीत्, तस्य ज्येष्ठ शिष्यः श्रुतकीर्तिनामको मुनिः शिष्यपरिवारैः सह ग्रामानुग्राम विहारमाणस्तगरानगरीं समागतः । रोहाचार्यः शिष्टाचारानन्तरं श्रुतकीर्तिमुनिं पृच्छति—उज्जयिन्यां साधवो निरूपसर्गं तिष्ठन्ति किम्, ? श्रुतकीर्तिमुनिः प्राह—भदन्त ! सर्वे तत्र कुशलम्, किन्तु राजपुत्र पुरोहितपुत्रश्च

दृष्टान्त—अचलपुर में जितशत्रु राजा का अपराजित नामका पुत्र था । वह धर्मश्रवण कर रोहाचार्य के समीप दीक्षित हो गया । एक समय की यात है कि रोहाचार्य अपनी शिष्यमंडली सहित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए तगरानगरी पधारे । उस समय इन रोहाचार्य के स्वाध्याय शिष्य आर्यरोह नामके आचार्य उज्जयिनी नगरी में विराजमान थे । उन आर्यरोह आचार्य के मुख्य शिष्य श्रुतकीर्ति भी अपने शिष्यपरिवार के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए इसी तगरा नगरी में रोहाचार्य के पास पधारे । रोहाचार्य ने शिष्टाचार के अनन्तर श्रुतकीर्ति मुनि से पूछा—कहो उज्जयिनी नगरी में साधु मंडल तो सुखशाता में विराजमान है न ? सुनकर श्रुतकीर्ति मुनि ने उत्तर में कहा—भदन्त ! सब सुखशाता में विराजमान तो हैं, परन्तु वहां के राजा का एक पुरोहित का पुत्र

दृष्टान्त—अचलपुरमा लुतशत्रु राजने अपरालुत नामनो पुत्र इतो । तेष्वाध्याय शिष्यपरिवारैः सह ग्रामानुग्राम विहारं तगरानगरीं समागतः । रोहाचार्यः शिष्टाचारानन्तरं श्रुतकीर्तिमुनिं पृच्छति—उज्जयिन्यां साधवो निरूपसर्गं तिष्ठन्ति किम्, ? श्रुतकीर्तिमुनिः प्राह—भदन्त ! सर्वे तत्र कुशलम्, किन्तु राजपुत्र पुरोहितपुत्रश्च

મુનીનુદ્વેજયતઃ । શ્રુતકીર્તેરેતદ્વચન શ્રુત્વા રોહાચાર્યાઽપરાજિતમુનિ કમ્પયતિ-ત્વ
 સાસારિકમાતૃપુત્રોઽસૌ રાજકુમાર સાધુવ્રજનમુદ્વેજયતિ, ત પ્રતિવોધયિતુમ્જ્જયિન્ના
 ત્વયા ગન્તવ્યમ્ । આચાપનિદશેન શિષ્યપરિવારેણ સદાપરાજિતમુનિરુઝ્જયિન્ના
 ગતઃ । તત્રાર્યરોહાચાર્ય પ્રણમ્યાપરાજિતમુનિર્મિહાવેલાયાં રાજકુલં પ્રચ્છાઃ ।
 તત્રાપરાજિતમુનિ રાજપુત્ર-પુરોહિતપુત્રો સોપઠાસ વન્દન કુસ્તઃ । મુનિવર ગતે સઠિ
 તસ્મિન્નેવ સમયે મુનેરુપહાસાઞ્જઞ્ઞરે વેદના સમુત્પન્ના, ઉચ્ચૈ સ્વરેણ તો રોહં

મુનિયોં કો દુ સ્વિત કિયા કરતે હં । શ્રુતીકર્તિ કે વચનોં કો સુનકર
 રોહાચાર્ય ને અપને શિષ્ય અપરાજિત મુનિ સે કહા કિ ઉજ્જયિની
 નગરી કા જો કુમાર હૈ વહ તુમ્હારે સાસારિક માઈ કા પુત્ર હૈ । ઇસ
 સમય વહ સાધુઓં કો ઉજ્જયિનીનગરી મેં કષ્ટ પહુંચા રહા હૈ અત
 તુમ ઉસકો સમજાને કે લિયે વહાં જાઓ । આચાર્ય કે આદેશ સે
 અપરાજિત મુનિ તગરાનગરી સે શિષ્યમહલી સહિત વિહાર કર ઉજ્જ-
 યિની નગરી મેં આર્યરોહ આચાર્ય કે પાસ પહુંચે, ઓર ઉનકો વંદન
 નમસ્કાર કિયે । યાદ ભિક્ષા કે સમય આચાર્ય કે નિવેશ સે બે અપરા-
 જિત મુનિ રાજમહલ મેં પ્રવિષ્ટ હુપ । વહા ઉન અપરાજિત મુનિ કે
 સાસારિક માઈ કા પુત્ર રાજકુમાર ઇવં પુરોહિત પુત્ર ને ઉન મુનિ કો
 ઉપહાસપૂર્વક વદના કિ । અપરાજિત મુનિ કે વહાં સે ચલે જાને પર
 મુનિ કે ઉપહાસ સે ઉન દોનોં કે પેટ મેં યદે જોર સે પીઢા હોને લગી ।

મુનિયોને દુ ખિત ઠ્યા કરે છે શ્રુતકીર્તિનું વચન સાંભળીને રોહાચાર્યે પોતાના
 શિષ્ય અપરાજિત મુનિને કહ્યું કે, ઉજ્જયેની નગરીના જે રાજકુમાર છે તે તમારા
 સાસારિક ભાઈના પુત્ર છે આ સમયે તેઓ ઉજ્જયેની નગરીમાં સાધુઓને કષ્ટ
 પહોંચાડી રહ્યા છે જેથી તમે તેને સમજાવવા માટે ત્યાં બવ. આચાર્યના
 આદેશથી અપરાજિત મુનિ તગરાનગરીમાંથી શિષ્ય મહલી સાથે વિદાર કરી
 ઉજ્જયેની નગરીમાં આચાર્યરોહાચાર્યની પાસે આવી પહોંચ્યા અને તેમને વંદન
 નમસ્કાર કર્યા બાદ ભિક્ષાના સમયે આચાર્યના આદેશથી અપરાજિત મુનિને
 રાજમહેલમાં પ્રવેશ કર્યો ત્યાં તે અપરાજિત મુનિના સાસારિક ભાઈના પુત્ર
 રાજકુમાર તેમજ પુરોહિતપુત્રે તે મુનિને ઉપહાસપૂર્વક વદના કરી અપરા-
 જિત મુનિના સાંધી બવા બાદ મુનિને ઉપહાસ કરવાથી આ બન્નેના પેટમાં
 એકદમ પીડા ઉત્પન્ન થઈ બન્ને બહુ ખૂબ બેરથી રાડો પાડવા

कृतवन्तौ । राजा पुरोहितश्च पुत्रयोर्दुरवस्था परिवारवचनाद् विज्ञाय आर्यरोहा-
चार्यस्य समीपं गतवन्तौ । तत्रार्यरोहाचार्यं प्रणम्य तौ सरोदनं प्रार्थितवन्तौ,
भदन्त ! प्रसीदतु भवान्, अस्मद्वालकौ रक्षणीयौ, इत्यादि । आर्यरोहाचार्यं आह-
राजन् ! अस्मिन् विषये न किञ्चिज्जानामि, इमं प्राधुणकं महामुनिं प्रसादय ।
ततस्तद्वचनाद्राजा पुरोहितेन सहापराजितमुने पार्श्वं गत्वा तं प्रणम्य ब्रवीति-
हे भदन्त ! स्वभ्रातृपुत्र जीवितं कुरु, मुनिं प्राह—साधुपीठकस्य पुत्रस्यापि
शिक्षा दातुं न शक्नोषि?, नीतिमार्गानुसारिणा राज्ञाऽन्यस्यापि कस्यचिदपराधे
कृते तु पुत्रो निग्रहणीयः किं पुनर्यं साधुवाचकः ? नृपेणोक्तम्—भदन्त ! ममापराध-

दोनों जने खूब जोर २ में चिल्लाने लगे । राजा एव पुरोहित दोनों ही
परिवार जनों के कहने से अपने २ पुत्रों की दुरवस्था जानकर साथ २
आर्यरोहाचार्य के पास आये । आचार्य महाराज को वदन कर वे दोनों
के दोनों उनके समक्ष रोते २ प्रार्थना करने लगे, कि भदन्त ! आप हमारे
ऊपर प्रसन्न होइये—कृपा कीजिये—हमारे बालकों की रक्षा कीजिये इत्यादि ।
आर्यरोहाचार्य ने कहा कि राजन् ! मैं इस विषय में कुछ नहीं जानता हूँ ।
यह जो महेश्वररूप में महामुनि आये हुए हैं उनके पास जाओ और उनसे
कहो । राजा आर्यरोह के वचन से पुरोहित को साथ लेकर अपराजित
मुनि के पास गया और उनको वदन कर कहने लगा कि—हे भदन्त !
अपने भाई के पुत्र को जीवित करो । मुनि ने कहा कि—हे राजन् राजनीति
इस प्रकार की है कि जय अपना पुत्र साधारण जनता का भी अपराध करे
तो उसके लिये शिक्षा है तो फिर जो मुनिजनों को पीड़ा पहुँचावे

राज्य अने पुरोहित अने पोताना परिवार जनोना कहेवाथी पोताना पुत्रोनी
दुःख अवस्था बलुनी आथ रोहाचार्यनी पास आब्या आचार्य महाराजने
वदना करीने अने तेमनी समक्ष शतां शता प्रार्थना करवा बाब्या के, के
बदन्त ! अमारा ऊपर प्रसन्न थाये, कृपा करे, अमारां बाण्डोनी रक्षा करे,
विजेरे आर्यरोहाचार्ये कहुं, के राजन् ! आ विषयमा दुं कंठि बलुतो नथी, भडेभा
नरुपमा महामुनि पधायो छे तेमनी पास आब्ये अने तेमने कहे आर्यरोहना
वचन सांभणी राज पुरोहितने साथे लधने अपराजित मुनिनी पास गया, अने
तेमने वदना करीने कहेवा बाब्या के, के बदन्त ! तमारा बाधना पुत्रने लवतडान
आपो मुनिजे कहुं के, के राजन् ! राजनीति जेवा प्रकारनी छे के, ब्यारे आपने
पुत्र साधारण जनताना पबु अपराध करे तो तेने माटे शिक्षा छे तो मुनिराजने

समस्त, बालकौ महाकष्ट प्राप्ता, अनुकम्पस्य भगवन् । स्वस्थावस्थासम्पन्नौ तौ
 मुनिवेशनया प्रव्रज्यां स्वीकृतवन्तौ । तत्र राजपुत्रः शुद्धभावेन चारित्रपालनं कृ-
 पान्, पुरोहितपुत्रस्तु जातिमदं कृत्वा पूर्वपीडास्मरणेन गुरुं प्रति सामर्थ्यं प्राप ।
 द्वावपि चारित्र्यपालयन्तौ मृत्वाऽन्ते देवलोकं गतौ ।

इत्थं कौशाम्बीनगर्यां तापसनामकः कोऽपि धनिक आसीत् । स स्वर्ग-
 मृत्वा लोभावेशेन सूक्तो जातः, स स्वभवनादिकं दृष्ट्वा जातिस्मरणं प्राप्तवान् ।

उसके लिए राजा को चाहिये कि जरूर ध्यान रखे । अपराजित मुनि
 की बात सुनकर राजाने समझकर कहा कि महाराज ! आजपीछे ऐसा
 नहीं हांगा, आप मेरे इस अपराध को क्षमा करे । तथा राजकुमार
 और पुरोहित पुत्र ने भी अपराजित मुनि से क्षमा मागी । फिर उपदेश
 सुनकर वे दोनों प्रव्रजित हो गये । प्रव्रज्या छे ने पर राजपुत्र ने तो
 शुद्ध भाव से चारित्र्य का पालन किया परन्तु जो पुरोहित का पुत्र था,
 वह जाति मद से समय का आराधन पूरा नहीं करता था और अपने
 पेट की पीड़ा को याद करता हुआ अपने गुरु अपराजित मुनि पर रुद्ध
 भाव रखता था । अन्त में ये दोनों ही चारित्र्य की पालना करते हुए
 काल घर्म को पाकर देव लोक में देव हुए ।

इधर—कौशाम्बी नामकी एक नगरी थी । उसमें तापस नामका एक
 हिंसक धनिक व्यक्ति रहता था । वह लोभ के बश होकर मरा तो
 अपने ही घर पर सूअर की योनि में उत्पन्न हुआ । अपने पूर्व के भवना-

पिडा पहोन्वाकनाशाओ भाटे राबको जइर ध्यान राभवु जेठ जे. अपराजित
 मुनिनी बात सांभलीने राबको समल जेठने ठहूँ के, मडाराव । इवेधी जेवु
 नही भने. आप भासा आ अपराधने क्षमा करे। राजकुमार जने पुरोहित
 तना पुत्रे पखु अपराजित मुनिनी क्षमा मागी. त्सार भाइ उपदेश सांभलीने
 ते भने प्रव्रजित भन्ना. प्रव्रज्या लीधा पछी राजपुत्रे शुद्ध भावधी आश्रित पालन
 ठहूँ परतु जे पुरोहितने पुत्र इतो ते जातीना भइना कश्छे समयमडु आस
 धन पूछुँ रीते कश्छे न इतो जने पोताना पेटनी पीडाने याद कश्छे कश्छे
 अपराजित मुनि उपर कोषभाव राभतो इतो जतमां जे भन्ने आश्रित पालन
 : कश्छे कश्छे कालघर्मने पाभीने देवलोकां देव भया

आ तरइ कौशाम्बी नामनी जेठ नगरी इती. जेमां तापस नामने
 जेठ हिंसक धनवान भावस रहतेो इतो ते दोबवधे कश्छेने पोताना
 -धरमां सुवर (३७८) । इपे जन्मेो पोताना पूर्वना भइना आदि जेठने

एकदा तत्पूर्वभवपुत्रास्त तस्यैव श्राद्धदिने हतवन्तः, ततः स्वगृह एवासौ सर्पो जातः, तस्मिन्नपि भवे तस्य जातिस्मरण सजातम् । पुनस्तः एव पूर्वभवपुत्रास्त सर्पं गृहान्तर्भ्रमन्त दृष्ट्वा जघ्नुः । तदनन्तरमसौ स्वपुत्रस्य पुत्रोऽभवत्, पित्रा तस्य 'अशोकदत्त' इति नाम कृतम् । स तत्रापि जन्मनि जातिस्मरण प्राप्य मूकत्वमङ्गी-चकार । पूर्वभवीया पुत्रवधूरिदानीं माता जाता, कथमेना मातेति ब्रवीमि । पुत्रोऽपि पिताभवत् कथमेनं 'तातः' इति संबोधयामि, इत्येव मनसि विचार्य समूकोऽभवत् । मातापितृभ्या तन्मूकत्वापनयनार्थं बहवः प्रयत्नाः कृतास्तथापि तस्य मूकत्वं नाप-गतम्, अतो लोकास्त मूकनाम्नाऽऽह्वयन्ति ।

दिकको देखकर उस सूअर के बच्चे को जातिस्मरण ज्ञान हो गया । एक दिन की घात है कि पुत्रोने अपने बाप के श्राद्ध के निमित्त उस सूअर को मार डाला । यह मर कर अपने ही घर में सर्प हुआ । इस भव में भी इसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया । पुत्रों ने अपने घर में, इधर उधर घूमते हुए सर्प को जप देखा तो उसको मार डाला । मर कर यह तृतीय भव में अपने पुत्र का पुत्र हुआ । पिताने इसका नाम अशोकदत्त रक्खा । इस अवस्था में भी इसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, अतः इसने मूकपना अङ्गीकार कर लिया । जो पूर्वभव में मेरी पुत्रवधू थी वह इस भव में माता हो गई है अतः कैसे तो इसे माता कह कर पुकारूँ तथा जो पुत्र था वह भी अब मेरा बाप बन गया-है-इसलिये अब इसे पिता कैसे कहूँ, ऐसा मन में विचार कर उसने अपना

आ सूअरना अवस्था में जाति स्मरण ज्ञान यद्युं अथ द्विवसनी वात छे । पुत्रोञ्चे पोताना बापना श्राद्ध निमित्ते आ सूअरने भारी नाभ्युं त्यांथी भरीने क्षीथी पोताना अथ घरमा सर्पं थयो । आ भवमां पञ्च तेने जाति स्मरण ज्ञान यद्युं पुत्रोञ्चे पोताना घरमा आभ तेभ धुमता सर्पने न्यारे ज्यो त्यारे तेने भारी नाभ्यो । भरीने त्रीबलभवमा पोताना पुत्रना पुत्र (पौत्र) तरीके जन्थो । पिताञ्चे तेनु नाम अशोकदत्त राभ्युं आ अवस्थांमां पञ्च तेने जातिस्मरण ज्ञान यद्युं आथी तेणे भौनप्रत धारण करी वीधु पडेवा भवमां ने भारी पुत्रवधू उती ते आ भवमां भारी माता थर्छ छे तो देवी रीते हुं माता कहीने गोवाधुं ने भाये पुत्र उती ते अत्याये भारो पाप थर्छ अथेव छे तेथी उवे तेने पिता तरीके केम संबोधन करे ? अथ मनमां विचार

एकदा चतुर्भानधराः स्थविरा स्वज्ञानोपयोगेन मूक विज्ञाप तं प्रति-
बोधयितुं तत्र शिष्यपरिवारैः सह समवष्टता, तैश्च मूकगृहे द्वी भ्रमणौ प्रेषितौ
तत्रैकेन मूकस्य पुत्र स्थविरशिक्षिता गाथा पठिता ।

“ तावस ! किमिणा ? मूअब्बयेण पडिवज्ज जाणित्थं धम्म ।
मरिऊण सूअरोरग, जाओ पुत्तस्स पुत्तोत्ति ॥ १ ॥ ”

मूकभाव (गुंगापन) रचना ही अच्छा समझा । माता पिता ने अपने
पच्चे की जप ऐसी स्थिति देखी तो उसकी मूकता दूर करने के लिये
उन्होंने अनेक प्रयत्न किये, परन्तु उसकी मूकता दूर नहीं हुई, इसलिये
लोगों ने उसका नाम “ मूक ” रख दिया, और इसी नाम से उसे
बुलाने लगे ।

एक समय कि घात है कि चार ज्ञान के धारी स्थविर मुनि अपने
ज्ञानोपयोगसे उस मूक की परिस्थितिको जानकर उसे प्रतियोधित करनेके
लिये वहा शिष्यमबलीसहित आये । उन्होंने उस मूकके घर पर दो
मुनियों को भेजा । उनमेंसे एक मुनिने उस मूक के आगे स्थविरशिष्या
से युक्त एक गाथा पढ़ी । वह गाथा इस प्रकार है—

तावस ! किमिणा ? मूअब्बयेण पडिवज्ज जाणित्थं धम्म ।
मरिऊण सूअरोरग, जाओ पुत्तस्स पुत्तोत्ति ॥ १ ॥

हरिने ते भाणके भूजापखु राभवानु योअ्य भान्यु माता पिताअे न्यारे भाणकणी
आ स्थिति अेअं त्यारे तेनु भूजापखु इर करवा भाटे अनेक प्रयत्नेअं कर्मा परहु
तेनु भूजापखु इर न थयु आथी दोआअे तेनु नाम “ भूजा ” राअ्यु अने
अेअं नाभधी तेने आवाववा वाअ्या

अेअं वअत आर ज्ञानना धारी स्थविरने पोताना ज्ञानना उपभोगअी
आ भूजानी परिस्थिति अखीने तेने प्रतियोधित करवा भाटे शिष्य
मअणी साथे त्यां पधार्थां तेअेअे आ भूजाना घेर के मुनिअेअेने भाअेअ्या
आभांथी अेअं मुनिअे आ भूजानी आगण स्थविरनी शीअवेअी अेअं आभा अअं
ते गाथा आ प्रकारनी अे

तावस ! किमिणा ? मूअब्बयेण, पडिवज्ज जाणित्थं धम्म ।
मरिऊण सूअरोरग, जाओ पुत्तस्स पुत्तोत्ति ॥ १ ॥

छाया—तापस ! किमनेन मूकप्रतेन प्रतिपद्यस्व ज्ञात्वा धर्मम् ।

मृत्वा सूकर उरगो जात पुत्रस्य पुत्र इति ॥ १ ॥”

मूकस्ता गाथा श्रुत्वाऽऽश्चर्यं गतस्तौ प्रणम्य पृच्छति - भवद्भिरेतत् कथं ज्ञातम् ? तौ ब्रूवन्-इहोद्यानेऽस्मद्गुरव समवसृतास्ते खलु जानन्ति । ततोऽसौ मूकस्ताभ्यां श्रमणाम्या सह गत्वा नगरोद्याने स्थविराणा वन्दनं कृत्वा तद्देशनां श्रुत्वा धावको भूत्वा मूकत्व परित्यक्तवान् ।

इतश्च कृतजातिमदं पुरोहितपुत्रजीवदेव' कृताञ्जलि' सन् महाविदेहे तीर्थकर-समीपे पृच्छति-भगवन् ! किमहं सुलभवोधिस्तदितरो वा ? भगवता प्रोक्तम्-त्वं दुर्लभवोधिकोऽसि । दव' पुनरपृच्छत्-इतश्च्युत' सन् कुप्राहमुत्पन्नो भविष्यामि ?

इस गाथा को सुनकर मूक को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ । उसने उन दोनों को नमस्कार कर पूछा-आपने हमारी सूअर की पर्याय से लेकर यहाँ तक की समस्त परिस्थिति कैसे जानली ? उन्होंने कहा-कि इस नगर के उद्यान में हमारे गुरु महाराज पधारें हुए हैं वे तुम्हारी इस समस्त स्थितिको जानते हैं । मूकने जय यह सुना तो वह उन दोनों मुनियों के साथ उद्यान में आया । उसने सब मुनियों को नमस्कार एवं वदन किया । पश्चात् उनसे धर्मका उपदेश सुनकर श्रावक हो गया और मूकता का परित्याग कर दिया ।

जातिमद करने वाला जो पुरोहितपुत्र का जीव था कि जो मरकर देव की पर्याय से उत्पन्न हुआ था उसने हाथ जोड़ कर महा विदेह क्षेत्र में तीर्थकर श्री सीमधर स्वामी के पास ऐसा प्रश्न किया

आ गाथा सांख्यीने ते भूगाने भारे आश्चर्यं यसु तेष्वा भन्ने स्थविराने नमस्कार करीने पूछ्यु, “ तत्रोच्चे भारी सूअरनी स्थितिथी भाषीने आञ् सुधीनी समस्त परिस्थिति केम जाषी ?” तेष्वाच्चे कञ्चु के, “आ नगरना भगीयामां अमारा गुरु महाराज पधारथी छे अने तेष्वा तभारी सबणी भीना जाच्चे छे” भूगाच्चे ब्यारे आ जाष्यु त्यारे ते अन्ने मुनिष्वाणी साथे भगीयामा आब्ये, अने तेष्वा भधा मुनिष्वाणे नमस्कार अने वदना करी त्यार पछी तेभनी पासेथी धर्मने उपदेश सांख्यीने ते श्रावक भनी गये अने भूगापद्याने छोडी दीधु

जातिमद करवावाणा पुरोहित पुत्रने एव जे भरीने देवनी पर्यायमा उत्पन्न थयो हुतो तेष्वा जाय जेरीने महाविदेह क्षेत्रमा तीर्थ कर श्रीमधर स्वामी नी समक्ष ज्येवो प्रश्न करी के, “ छे भगवत ! हु सुलभवोधि छु के दुर्लभ वोधि छु ?” भगवाने जवाभमां कञ्चु के, तमे दुर्लभवोधि छे देवे करी प्रश्न

भगवता कथितम्-कौशाम्बीनगरीं मूकभ्राता भविष्यति । धर्मप्राप्तिश्च मूकदेव
 तव भविष्यति । इत्येव भगवद्वचनं श्रुत्वाऽसौ देवस्तं प्रणम्य कौशाम्बीनगरीं
 मूकोपान्तिरुमागत्य तस्मै यद्द्रव्यं दत्त्वा प्रोक्तवान्-स्वर्गात् प्रच्युतस्य मम जन्म
 स्वन्मातुर्गर्भे भविष्यति, तदा तस्या अकालेऽप्याम्रदोहदो भविष्यति । तदर्थं सर्व्वं
 फलवानाम्रद्वृक्षं कौशाम्ब्याः समीप एव पर्वतस्य निर्जनप्रदेशे मया रोपितः ।
 यदा सा ददोहदाकुलाऽऽम्रं याचते तदा तस्या पुरस्त्वया वाच्यम् । यदि जनि-
 ष्यमाणं बालकं मया ददासि, तदाऽऽम्रफलमानीय तुभ्यं ददामि ।

किं हे भगवान् ! मैं सुलभयोधि हूँ कि दुर्लभयोधि हूँ ? भगवान् ने
 इसके उत्तर में कहा कि तुम दुर्लभयोधि हो । देव ने पुनः प्रश्न किया
 कि मैं यहाँ से च्यवकर कहा उत्पन्न होऊँगा ? भगवान् ने कहा कि
 कौशाम्बी नगर में मूक के भाई होंगे । वहाँ तुम्हें धर्म की प्राप्ति मूक से
 ही होगी । इस प्रकार भगवान् की वाणी सुनकर वह देव उन्हें नमन
 कर के कौशाम्बी नगरी में मूक के पास आया और उसे बहुत सा द्रव्य
 देकर कहने लगा कि मैं स्वर्ग से च्यवकर तुम्हारी माता की कुक्षि में
 जन्म धारण करूँगा । उस समय उसे अकाल में आम खाने का दोहला
 उत्पन्न होगा । उस दोहले की पूर्ति के लिये सर्व्वभ्रतुओं में फल देने-
 वाला आम का वृक्ष मैंने पहिले से ही कौशाम्बी नगरी के समीप के
 पर्वत के निर्जन प्रदेश में आरोपित कर दिया है । जिस समय वह
 दोहद से आकुलित होकर आम की याचना करे तो तुम उससे ऐसा
 कहना कि जो बालक उत्पन्न होगा उसे यदि तुम मुझे देना अंगीकार
 करो तो मैं तुम्हें लाकर आम देता हूँ ।

कथं, इति अर्थे अथैव कथां उत्पन्नं यद्यत् ? भगवान् कथं के, कौशाम्बी
 नगरीमां भूयानो भाव यद्यत्, त्यां तमने धर्मनी प्राप्ति भूयार्थी यथे. आ
 प्रकाशनी भगवाननी वाणी सांभलीने ते देव, नमस्कार करीने कौशाम्बी नगरीमा
 ते भूयानी पासे आव्या अने तेने भूय द्रव्य इधने कहेवा लाया के इ
 स्वर्गधी अथैव तेनारी मातानी कुजे जन्म धारण करीथ जे वभते तेने
 अभागे करी आवानो भाव (दोहद) उत्पन्न यथे. आ दोहदनी सहजता भाडे
 सर्व, इत्युभोमां इण, देनार आवाना वृक्षने पहेलेथी, कौशाम्बी नगरीनी पासे
 आवेवा पर्वतना निर्जन प्रदेशमां मे वाणी दीधिल छे अथारे ते दोहदनी
 व्याकुण यद्यने करीनी आगणी करे अथारे तारे तेने, जे प्रभावे कहेव के,
 जे, अणक जने तेने, भने सांपवाव स्वीकारे तो, इ तमने करी लावी आयु ।

एवमुक्त्वा तव माता यदि गर्भस्यपुत्रदान स्वीकुर्यात् तर्हि तस्यै त्वया महर्षि-
ताऽऽन्नफल दातव्यम् । जातस्य मम यथा जैनधर्मप्राप्तिर्भवेत् तथा प्रयत्नस्त्वया
कर्तव्यः । एवमुक्त्वा स पुरोहितपुत्रजीवदेवो गतः ।

अन्यदा कदाचिदसौ द्रवो देवलोकान्व्युत्स्तस्या गर्भे समुत्पन्नः, तदा तस्या
आम्रदोहदः समुत्पन्नः । मूकेन पूर्वोक्तव्यवस्थां कारयित्वाऽऽन्नदोहदः पूरितः ।
पुत्रो जातः । तस्यार्हद्दत्त इति नाम मातापितृभ्यां कृतम् । तदनन्तरमसौ मूक
स्तं बालसोदर कालयन् साधूना समीप तद्वन्दनार्थं नयति, परन्त्वसौ दुर्लभबोधि-

तुम्हारी माता जब तुम्हारे इस कथन को मजूर कर ले अर्थात्-
गर्भस्य पुत्र का तुम्हे देना स्वीकार कर ले-तो तुम उसके लिये मेरे
द्वारा घताये हुए आम के वृक्ष से आम लाकर दे देना । तथा तुम इस
प्रकार का प्रयत्न भी करते रहना कि जिस से मुझे जैनधर्म की प्राप्ति हो ।
इस प्रकार कह कर वट पुरोहित के पुत्र का जीव देव तिरोहित हो गया ।

किसी समय अपनी आयु के समाप्त होने पर यह स्वर्गलोक से
च्यवकर मूक की माता के गर्भ में अवतरित हो गया । उस की माता
को आम खाने का दोहला उत्पन्न हुआ । मूक ने पूर्वोक्त व्यवस्था करवा
कर उस के आम के दोहले की पूर्ति की । पुत्र का जन्म हुआ । उसका
नाम अर्हद्दत्त रक्खा गया । अर्हद्दत्त को जो कि अपना बालसोदर या
मूक ने घड़े चाव से लाड़ प्यार से रखा । कभी २ यह उसे साधुओं के
समीप भी बचना कराने के लिये ले जाता था, परन्तु यह ता दुर्लभ-

तमारी माता न्यारे तमारी आ भागधरिने मज्जुर करे अर्थात्
गर्भमां रहेवा पुत्रने तमने सोपी देवाने स्वीकार करे त्यारे तमारि मे तमने
पतावेवा आंभाना वृक्ष उपरथी करी बापीने तेने आपवी तथा तमारि जेवा
प्रकारना प्रयत्न करता रहेवु के जेनाथी मने जैनधर्मनी प्राप्ति धाय.
आ प्रमाणे कहीने ते पुरोहित पुत्रने एव-देव अलोप बर्ध गयो...केटवाक
समय आइ पोताना आयुष्यनी समाप्ति बवाथी ते देव स्वर्गलोकाथी व्यधीने
मूगानी माताना गर्भमां उत्पन्न यथा तेनी माताने करी आवावु मन थयु मूगण्णे
पहेलेथी न व्यवस्था करिने तेनी करी आवावनी धर्मिने पूखु करी. समय जतां
पुत्रने जन्म थयो तेनु अर्हद्दत्त नाम राभवामा आणु अर्हद्दत्त के जे पोताने
नाने भाई थतो इतो तेने मूगण्णे पूण वाड प्यारथी राभ्यो. केई केई वार
ते तेने साधुज्जोनी पासे वड्या करवा भाटे बर्ध जतो इतो परतु आ तो

त्वेन साधुन् दृष्ट्वा रोदिति । एयमाचल प्रतिभोषितोऽप्यसौ न बोधि क्वये ।
तवस्तद्भाता मूकः प्रव्रजितो भूत्वा सयम परिपाल्य देवलोक गतः ।

अथ तेन मूकजीवदवेनासौ दुर्लभबोधिर्नाटकः प्रतिबोधार्थं जलोदरव्याधि-
युक्तः कृतः, स्वयं च वैद्यरूपं कृत्वा तत्समीपमागत्याह—अहं सर्वरोगोपशमनं करोमि ।
जलोदरी वदति—मम जलोदरव्याधिं प्रशमय । वैद्यनोक्तम्—असाध्योऽयं त्वं रोगः,
तथापि तत्प्रतीकारं करोमि, यदि मर्मोपधकोत्थलकं स्क्रन्धे समारोप्य मामनुगच्छसि ।
जलोदरिणोक्तम्—एवमस्तु । ततो वैद्येन स जलोदरी निर्व्याधिं कृतः ।

बोधि था, इसलिये साधुओं को देगते ही रोने लग जाता । इस प्रकार
पाल्य अवस्था से प्रतिबोधित करने पर भी यह बोधि को प्राप्त नहीं
कर सका । इसके बाद उसके घड़े भाई मूकने दीक्षा धारण कर ली और
सयम का पालन कर अन्तमें वह देवलोक में जा कर उत्पन्न हो गया ।

अपने सहोदर को प्रतिबोधित करने के लिये मूक के जीव देव ने
उसके शरीर में जलोदर की व्याधि उत्पन्न कर दी । यह उसने इस लिये
की कि देखे यह दुर्लभबोधि कैसे है । तथा स्वयं वैद्य का रूप ले कर
उसके पास आ कर कहने लगा कि मैं समस्त रोगों को दूर करने का
इलाज करता हूँ । उस जलोदरी पालक ने कहा कि ठीक है आप मेरे
इस रोग का इलाज करें । वैद्य ने प्रत्युत्तर में कहा कि यद्यपि तुम्हारा
यह रोग असाध्य है तौ भी इस शर्त पर प्रयत्न करता हूँ कि यदि तुम
मेरे इस कोथले को कि जिस में औषधियाँ भरी हैं अपने कंधे पर

दुर्लभ बोधि हतो अटवे साधुजाने बोधने शैवा लागी जते आ प्रभावे
आस्थावस्थाधी ज तेने प्रतिबोधित करवा छतां पञ्च ते बोधने प्राप्त करी शक्या
नही आ याद तेना मोटाभाई भूगाये दीक्षा धारण करीने, सयमनु पालन
करीने, अतमा देव होकमा उत्पन्न भये। पोताना सहोदरने प्रतिबोधित करवा
भाटे भूजाना एव देवे तेना शरीरमां जलोदरनी व्याधि उत्पन्न करी ते व्याधि
अटवा भाटे उत्पन्न करी के, अठ तो भरी के ते दुर्लभ बोधी देवे छे ? पञ्च
पोते वैद्यनु रूप लधने तेनी पासे आवीने कहेवा लाया के, समस्त शरीरने
निवारवानो धवाज भारी पासे छे ते जलोदरवाणा आणके कष्ट के, आप
भारा आ शरीरने धवाज करी। वेडे प्रत्युत्तरमां कष्ट के ले के तमाशे आ
शरीर असाध्य छे तो पञ्च अवेनी शरत उपर प्रयत्न करे के, तमे भारी आ
हाथजाने जेमां औषधीआ भरी छे तेने तमाशे कधि उपर शरीरने भारी पाछे

अथ तेन वैद्येनौपधकोत्पलकस्तस्मै वाहनार्थं समर्पितः । स चार्हद्दत्तः
 कोत्पलकमुत्थाप्य स्कन्धोपरि वहन् वैद्यपृष्ठतश्चलति । तथा स कोत्पलको देवमा
 ययास्तीवमारकारकं संजातं, तेनातिमारेण स भ्रान्तोऽपि तद्भ्रुत्सृग्य गन्तु न शक्नोति,
 चिन्तयति च-अहं वचनवद्भोऽस्मि, कथमिमं भार परित्यजामि, कोत्पलकं वहतो
 ममैतत्पृष्ठतो गमनेन पुनर्जलोदरव्याधिर्न स्यादतो वज्रसारं तुल्यमिव भारं वहन् यदहं
 स्वज्ञो भवामि तन्मे योग्यं भवतीत्येष विचिन्त्य स कोत्पलकं वहन् वैद्यमनुगच्छति ।

रख कर मेरे पीछे चलो तो । जलोदरी ने कहा इस में कौन सी बड़ी
 बात है । ' यह मेरा कोथला उठायेगा ' ऐसा जानकर वैद्य ने इलाज के
 द्वारा उसको व्याधिमुक्त कर दिया । वैद्यने अपना औषधि का कोथल
 उठा कर चलने के लिये दे दिया । अर्हद्दत्त उस कोथले को कन्धे पर
 रख कर वैद्य के पीछे चलने लगा । कोथला देव की माया से ले जाते
 छे जाते मार्ग में बहुत वजनदार बन गया । उससे वह बहुत थक गया ।
 परन्तु फिर भी उसकी हिम्मत उसे छोड़कर आगे जाने की नहीं हुई ।
 विचारमे लगा कि मैं वचन पढ़ हो चुका हूँ अतः अब इस भार को कैसे
 छोड़सकता हूँ । तथा यदि कोथले को लाद कर इस वैद्य के पीछे जो न
 चले तो फिर जलोदर हो जानेकी आशंका है, अतः जैसे भी बनें वज्र-
 समान भारी इस कोथले को लेकर ही चलने में श्रेय है, चाहे मेरे सिर के
 बाल भी क्यों न घिस जायें । इस प्रकार विचार कर वह कोथले को
 सिर पर लिए हुए वैद्य के पीछे चलता रहा ।

पाछण आठो ज्योहर वाणाये कसु के, तेमां कर्ध भोटी वात छे 'आ भारी
 कोथलो उठावये' जेवुं बाष्पी ने वेदे धियाज द्वारा तेने व्याधिमुक्त करी दीधो
 वेदे पोतानी कोषधीने कोथलो उठावीने आलवा भाटे तेने आप्थे। अर्हद्दत्त
 ते कोथलाने कंधे उपर राष्पीने वेदनी पाछण पाछण आलवा लाव्ये। कोथलो
 देवनी मायाधी आलतां आलतां भारीभां बल्लो वज्रसार धनी जये, आधी
 ते बल्लो व याही जये अने आगण आलवानी तेनामां छि भत न रही छतां
 यषु ते विचारवा लाग्ये के हुं वचनधी प धायेल छु भाटे हवे आ भारने
 हुं केवी रीते छोडी यधु ? अने जे कोथलाने उपाडीने हुं आ वेदनी पाछण पाछण
 न आहुं तो करी पाछो ज्योहरने उपद्रव कर्ध जवा सभव छे जेम अने
 तेम वज्र समान भारे आ कोथलाने उपाडीने आलवामां व श्रेय छे भारी
 माधाना वाण बसार्ध जय तो यषु भारे कोथलाने उपाडीने आलवु जेधजे। आ
 भ्रमरने विचार करी भासा उपर कोथलो लधते वेदनी पाछण पाछण आलतो रहो।

एकदा स मायिको वैद्यस्तं मुनिसनिधौ नीत्या यदति यदि त्व दीक्षो वृत्तसि,
 तर्हि त्वां मुञ्चामि । स भाराक्रान्तो यदति प्रहीष्याम्येव दीक्षाम् । ततोऽसौ मायिकं
 वैद्यस्तस्मै दीक्षां प्रदाप्य स्वयं देवलोकं गतः । दवे स्वस्थानं गते स 'दुर्लभोपि'
 त्वादरतिपरीपहेणाभिभूतः सन् सयमं त्यक्तुं समुद्यतः । ततो दवेनावधिना ज्ञात्वा
 पुनरपि तथैव जलोदरं कृत्वा वैद्यरूपेणागत्य पुनरसौ प्रतिबोधितः । पुनर्गते च देवे
 'परीपहाभिभूतेन तेन दीक्षात्पागो मनसि भृतः । तदाऽसौ वैद्यरूपो 'देवसूती'
 चारं प्रतिबोध्य व्रते स्थिरीकरणार्थमर्हद्वत्तसमीप एव तिष्ठति ।

अप वह मायिक वैद्य उस जलोदरी को मुनि के पास ले गया
 और कहने लगा कि यदि तुम दीक्षा धारण करलो तो मैं तुम्हें छोड़
 दूँ। भार से हेरान होकर उसने विचार किया कि—'अच्छा है दीक्षा
 लेने से इस वजन को उठाने के बुख से तो बच जाऊँगा', और बोला
 दीक्षा ही ले लूँगा। वैद्य उसको सयम दिला कर अपने स्थान देवलोक को
 चला गया। देव को अपने स्थान पर गया हुआ जानकर, वह दीक्षा का
 परित्याग करने को उद्यत हुआ। देवने पुनः उसे जलोदर रोग से
 पीड़ित किया और वैद्य के रूप से आकर प्रतिबोधित किया। फिर भी
 वह अरतिपरीपह से उद्विग्न होकर सयम छोड़ने की इच्छा करने
 लगा। फिर भी देव आकर उसको प्रतिबोधित किया, और "यह
 संयम में स्थिर बना रहे" इस कयाल से वह देव स्वयं इसके पास
 रहने लगा।

१ ओ भायाधारी वैद्य ओ जलोदरवाणने मुनिनी पास ले गया अने
 कहवा बाज्या के अने तमे दीक्षा धारण करी ल्यो। ते हु तमने छोडी इठ भारभी
 हेरान अनेवा तेखे विचार क्यो के,—'ठीक छे दीक्षा देवाधी आ वजनने उठान-
 घाना हु अथी ते अथी अर्थि' आभ विचारी तेखे कहु के'अवे। हु दीक्षा लभ्य
 ते पछी तेने दीक्षा अयावी वैद्य पाताना स्थाने देवदोठभां आल्या गया देवने पाताना
 स्थान उपर अयेवा बाध्नीने ते दीक्षाने परित्याग करवा तैयार क्यो देवे इरीधी
 तेने जलोदरना रोगधी पीडित अनाये। अने वैद्यना स्वइपधी आवीने प्रति
 बोधित क्यो। इरीधी ते अरतिपरीपहधी उद्वेग पाभीने सयम छोडवानी
 इच्छा करवा लये। इरी पाछा देवे आवीने तेने प्रतिबोधित क्यो अने "आ
 संयमभां स्थिर अनी रहे" अयेवा अयाधी ते देव पाते तेनी पास रहेवा बाज्या।

एकदा स, देवो मनुष्यवेपेण तृणमार गृहीत्वा कस्मिंश्चित् प्रज्वलति ग्रामे प्रविशति, तदा सयमारतिं कुर्वन्नर्हद्वचमुनि, माह—ज्वलति ग्रामे तृणमार नयन्, कथं प्रविशसि? किं मूढोऽसि? देवेनोक्तम्—त्वं तु, महामूढोऽसि, यतः सकलकल्याणकारणं संयमं विहाय क्रोधमानमायालोभवद्विप्रज्वलिते, सकलानर्थकरे गृह्णासे पुत्रः पुनर्वार्यमाणोऽपि प्रवेष्टुमिच्छसि?। स एतद्वचनं श्रुत्वाऽप्यरतिं सर्वया न मुञ्चति ।

एक दिन की यात है कि वह देव मनुष्य का वेप, धारण कर, घास का गट्टा लेकर एक गाव में कि जिसमें आग लगी हुई थी जाने लगा । उस समय अरतिभाव को धारण करने वाले उस अर्हदत्त मुनि ने उस से कहा कि तुम कितने मूर्ख हो जो आग से जल रहे इस ग्राम में घास का भारा लेकर जा रहे हो । इस स्थिति में तो कोई मूर्ख भी इस गाँव में घास का भारा लेकर जाने को तैयार नहीं हो सकता है, अतः तुम्हारे जैसे समझदार व्यक्ति को ऐसा काम करना इस समय, सर्वथा अनुचित है । अर्हदत्त मुनि की इस यात को सुनकर देव ने कहा कि—परोपदेश में पाखित्य प्रदर्शन करने वाले दुनिया में अनेक मनुष्य हैं तुम भी उन्हीं में से एक हो । मैं तो समझता हू कि मेरी अपेक्षा अधिक मूर्ख तुम हो जो कल्याण के कारणभूत इस ग्रहण किये हुए समय में अरतिभाव धारण करते हुए क्रोध, मान, माया एवं लोभ—रूपी अग्नि से प्रज्वलित एवं सकल अनर्थों के उत्पादक ऐसे गृहस्थाश्रम में जाने के लिये धारण मना करने पर भी संयम छोड़ने की इच्छा करते हो ।

એક સમય તે દેવે મનુષ્યનેા વેશ ધારણ કરીને ઘાસની ગાંસડી લઈ એક ગામમાં ઠે જ્યાં આગ લાગી હતી ત્યાં જવા લાગ્યા તે સમયે અરતી ભાવના ધારણ કરવાવાળા તે અહંદત્ત મુનિએ તેમને ઠણું, ઠે, તમે ઠેવા મૂખ છે કે, આગથી બળી રહેલા ગામમાં ઘાસનેા ભારે લઈને જાવ છે? આ સ્થિતિમાં તેા ઠાઈ મૂખ પશુ તે ગામમાં ઘાસનેા ભારે લઈને જવાની તૈયારી ન કરે. માટે તમારા જેવી સમજદાર વ્યક્તિએ એવું કામ કરવું આ સમયે સવ ધા અનુચિત છે અહંદત્ત મુનિની આ વાતને સાંભળીને દેવે ઠણું ઠે, પારકાને ઉપદેશ આપવામાં પંડિતાઈનું પ્રદર્શન કરવાવાળા દુનિયામાં અનેક મનુષ્યો છે તેમાંના તમે એક છે હું તો સમજું છું કે મારી અપેક્ષાએ તમે અધિક મૂખ છે ને ઠલાણુના કારણભૂત એવા લીધેલા સયમમાં અરતી ભાવ ધારણ કરીને, ક્રોધ, માન, માયા, લોભ રૂપી અગ્નિથી પ્રજ્વલિત એવા સકળ અનર્થોના ઉત્પાદક એવા ગૃહસ્થાશ્રમમાં જવા માટે વારવાર મના કરવા છતાં પણ સયમ છોડવાની ઈચ્છા કરે છે આ પ્રમાણે તે દેવના

अन्यदा कदाचित् तेन सह पुरः पुराधलमसौ देवः पन्थानं विहाय कष्ट
काकीर्णोत्सपेनाटवीं गच्छति । ततोऽसौ दुर्लभबोधिरर्हत्तः साग्रं वदति जन्मानं
दित्वा कथमुत्सपेन गच्छसि ? देवोक्तम्—त्वमपि विशुद्ध मोक्षमार्गं परित्यज्याऽपि-
व्याधिरूपे कष्टकाकीर्णे ससारमार्गे कस्माद् व्रजसि ? एवमुक्तोऽप्यर्हत्तो बोधिक-
ग्या वदति—कस्तवम् । ततो देवः स्वपूर्वभवसम्बन्धिनं मूकरूप दर्शयित्वा वा-
हे भ्रातः ! मृगु, भवता पूर्वजन्मनि देवभवं प्राप्य ममं निगदितम्—यथा स्मृ-

इस प्रकार उस देव के वचन सुनकर अर्हत्त मुनि अरतिपरीषद्
को सर्वथा नहीं त्याग सका । देवने और भी उपाय उसे समझाने
के लिये किये जैसे—कोई एक दिन जब अर्हत्त बाहर जा रहे थे तब
देव भी इनके आगे २ चलने लगा और रास्ता छोड़कर कुरास्ते जाने
लगा । वह मार्ग कष्टकाकीर्ण था एव अटवी की ओर जानेवाला था ।
उसकी इस प्रकार चाल देखकर अर्हत्त मुनि ने कहा कि—तुम कैसे
आदमी हो जो मार्ग का परित्याग कर कुमाग से जा रहे हो । तब देव
ने भी अर्हत्त से कहा कि तुम भी कैसे आदमी हो जो विशुद्ध मोक्षमार्ग
का परित्याग कर आधिब्याधिरूप कटकों से आकीर्ण संसारमार्ग में जाने
को तैयार हो रहे हो । इस प्रकार जब देव ने कहा तो वह अर्हत्त करने
लगा कि—सच तो कहो तुम कौन हो । देवने अर्हत्त की इस प्रकार
बात सुनकर अपना पूर्वभवसवधी मूक रूप दिखा कर कहा—हे मित्र !
सुनो आपने पूर्वभव में देवभव प्राप्त कर मुझ से कहा था कि यदि मैं

वचन सांभलीने पक्ष अर्हत्त मुनिसे अरतिपरीषद्देना त्याग सर्वथा न
करीं। देवे भीष्म पक्ष उपाय तेने समझववा भाटे क्वां। जेभ कर्ष जेके
दिवस अर्हत्त गदार जर्ष रथा उता त्पारे देव पक्ष तेनी ज्ञाज्ज ज्ञाज्ज
आइवा लाज्या अने रस्ते छोडीने कुरस्ते ज्वा लाज्या ते भाज्ज कर्षाभी
भरेल उता। अने वार जगद तरक्ष ज्वा उता तेनी ज्ञा प्रकारनी आ
जेधने अर्हत्त मुनिसे कर्षु तमे केवा माज्जस छे के भाज्जने त्याज करी
कुभाजे जर्ष रथा छे। त्पारे देवे पक्ष अर्हत्तने कर्षु के, तमे पक्ष केवा
आइभी छे के, विशुद्ध मोक्ष मार्गने परित्याज करी आधि व्याधि रूप
कर्षाभी भरेल। ससारमार्गमां ज्वाने तैयार यर्ष रथा छे। आ प्रकार
देवे कर्षु जेठले अर्हत्त कहेवा लाज्या के, आज्ज कहे। तमे कर्षु छे ? देवे
अर्हत्तनी ज्ञा वात सांभलीने पीताना पूर्वभव सवधी मूज्जत्त स्वरूप देजाडीने
कर्षु के, हे मित्र ! सांभला आपे पूर्वभवमां देव भव प्राप्त करी अने - उर्षु के,

त्पच्युत स्याम्, तदा तव सहोदरभ्राता भविष्यामि, ततस्त्वया सुरालयगते-
नाऽप्यहं जैनधर्मं प्रतिवोधनीय, इति त्वद्वचन मया स्वीकृतम्, अतस्त्वां प्रतिवो-
धयितुमहमत्रागतोऽस्मि, तस्माद् धर्मं स्वीकृत्य गृह्णुर्गृह्णुररतिं मा सेवस्व, इत्येवं
मूकदेववचन निशम्यार्हहृत्तोऽग्रवीत्-पूर्वमवेज्ज देव आसमित्यत्र किं प्रमाणम् ? ततो
मूकदेवस्तद्विश्वासार्थं देवमवे तेन रोपितमाग्रवृक्षं प्रदर्श्य सर्वं पूर्ववृत्तमवदत् । ततस्त-
स्य जातिस्मरणमभूत् । तेनाऽस्य चारित्रदृढता जाता । अस्य पूर्वमरति', पश्चात्सय-
मे रति समुत्पन्ना । एवमन्यैरपि मुनिभिररतिपरीपहस्तन्निराकरणेन सोऽव्ययः ॥१५॥

देवभव से च्युत हुआ तो तुम्हारा सहोदर होऊगा, इसलिये तुम देवलोग
में देव होते हुए भी मुझे जैनधर्म का प्रतिवोध देना । तुम्हारे इस कथन
को उस समय मैंने स्वीकार कर लिया था । इसलिये मेरी प्रतिज्ञा के
अनुसार मैं तुम्हें प्रतिवोधित करने के लिये यहाँ आया हुआ हूँ; अतः
सयमको अगीकार कर फिर उसमें बार बार अरति का सेवन नहीं करना
चाहिये । इस प्रकार मूक देव के वचन सुनकर अर्हहृत्त ने कहा कि
इस में क्या प्रमाण है कि मैं पूर्वमव में देव था । मूकदेव ने अर्हहृत्तकी
बात सुनकर उसके विश्वास के लिये देवमव में आरोपित आग्रवृक्ष को
दिखलाकर समस्त पूर्व का वृत्तान्त कह दिया । इस सय को सुनकर
उसे जातिस्मरण हो गया । इससे इसके चारित्र में दृढता आगई ।
इस का साराश यही है कि देखो अर्हहृत्त को पहिले चारित्र में अरति
थी पश्चात् प्रतियोधित होने पर उसे चारित्र में रति आ गई इस बात को

ने हुं देव भवथी च्युत यदृश तो तभारो सखोदर जनीश आ भाटे
देव बोकभां रहेवा छतां पक्षु तमे मने जैनधर्मने प्रतिवोध आपता
तभारा जे कथनने। मे जे समये स्वीकार करी छीषा छतो। जेथी भारी
प्रतिज्ञा अनुसार हुं तमेने प्रतिवोधित करवा भाटे अदि आब्यो। हु
आथी सयमने। अंगिकार करी तेभा वारवार अरतिनु सेवन न करवुं
जेधजे। आ प्रकारे ते भूगा देवनां वचन सांभजीने अर्हहृत्ते कहु के,
आभां कयु प्रमाण छे के, हुं पूर्वभवमां देव छतो। भूगा देवे अर्हहृत्तनी
वात सांभजीने तेना विश्वास भाटे देव भवभा छमाउछु आग्रवृक्ष देपाडीने
अत्राउनु सबण वृत्तांत कही सभजावु आ पक्षु जेध जेधजीने तेने अति
स्मरण ययु आने। सारांश जे छे के, अर्हहृत्तने पडेवां अरित्रमां अरति
छती पछी प्रतिवोधित यवाथी तेना अरित्रमां रति आनी। आ वातने जेधजीने

अरतिसद्भावे धीप्मिलापः स्यादत. श्रीपरीपद्मजय प्राह—
मूलम्—संगो एस मणुस्साण, जाओ लोगमि इतिथओ ।,
जँस्स एया परिणयाया, सुकँड तस्स सामण्ण ॥१६॥

छाया—सग एण मनुष्याणा, याः लोक स्त्रिय ।

यस्य एता. परिज्ञाताः, गुरुत तस्य धामण्यम् ॥ १६ ॥

टीका—'सगो' इत्यादि ।

लोके=अस्मिन् ससारे याः स्त्रिय. सन्ति, एण मनुष्याणा-पुरुषाणां सग=सगच्छते=वशीभवति जीवो, यस्मात्. स सगो=बन्धनम्-यथा मृगाणा वधन बाध रादि, यथा वा मक्षिकाणां श्लेष्मसगो बन्धन, तथा पुरुषाणा स्त्रियो बन्धनमित्यर्थः। स्त्रियो द्वि भावभावादिभि. पुरुषाणा विषयासक्तिलक्षणं रागमुत्पादयन्ति, रागो जानकर, सय मुनियो को चाहिये कि वे आते हुए अरतिपरीपद्म को निवारण कर समय में रति रखे ॥ १५ ॥

अरति के सद्भाव में मुनि को स्त्रीपरीपद्म उत्पन्न होने का समझ है, इस लिये, अथ सूत्रकार आठवें स्त्रीपरीपद्मजय को कहते हैं—

'सगो एस'-इत्यादि

अन्वयार्थ—(लोगमि-लोके,) इस ससार में (जाओ इतिथओ-याः स्त्रियः) जो स्त्रियां हैं (एस मणुस्साण सगो-एष, मनुष्याणा संगः) यह मनुष्यों का बन्धन है, जिस प्रकार मृगों का बधन बागुरा-जाल-आदि, मक्षिका का बंधन श्लेष्म आदि हैं उसी प्रकार स्त्रिया भी पुरुषों का बंधनरूप हैं, क्यों कि ये स्त्रिया हाव, भाव, आदि से, पुरुषों में विषयासक्तिरूप राग उत्पन्न करती हैं। तद्विषयक राग की उत्पत्ति होने पर

समया मुनियोऽप्ये वाच्युं वेधये के, आवेत् अरतिपरीपद्मने निवारी समयमं रति राधे, -॥ १५ ॥

अरतिना सद्भावात्तस्य मुनिने श्रीपरीपद्म उत्पन्न भवानो स भव छे तेशी सूत्रकार आठवें श्रीपरीपद्म एतवानु कहे छे सगोएस—इत्यादि

अन्वयार्थ—लोगमि-लोके या ससारमं जाओ-इतिथओ-या स्त्रिया वे स्त्रियो छे, एस मणुस्साण सगो-एषः मनुष्याणा संग ते मनुष्योनु बधन छे केम मृगोनु बधन बाण आदि माओओनु बधन गणेश आदि छे, ते प्रकार स्त्रियो पद्म पुरुषोने बधनरूप छे केम के, स्त्रियो भावभाव आदिथी पुरुषोमा विषयासक्ति रूप राग उत्पन्न करे छे, ते विषयराग उत्पत्ति. भावाथी पुरुष तेने वशीभूत भती बध छे

स्वर्चौ च तद्वशीभूताना पुरुषाणा नरकनिगोदादिदुर्गतिकससारपात, तस्मात् स्त्रिय पुरुषाणां बन्धनमिति व्यपदेशः ।

अतः किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—'जस्स' इत्यादि ।

यस्य—अत्र सम्बन्धसामान्ये पृष्ठी, येन मुनिनेत्यर्थ, एता स्त्रियः परिज्ञाताः परि—सर्वथा ज्ञाता इ—परिज्ञयाऽस्मिन् भवे परमवे चानन्तदु खकारणतया विज्ञाताः प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिवर्जिता, तस्य मुने श्रामण्य=चारित्र्यम्, अत्र श्रामण्येन सह परिपाल्यपरिपालकभावसम्बन्धे पृष्ठी । सुकृतं=सुष्ठु आचरितं भवति, सफलं भवतीत्यर्थ ॥ १६ ॥

पुरुष उत्रके वशीभूत हो जाता है । उनके वश में हो जाने से उसका नरक निगोद आदि दुर्गतिरूप ससार में पतन अवश्यमावी है । इस लिये ये स्त्रिया पुरुषों का बधन है । इसलिये (जस्स—यस्य) जिस मुनि द्वारा (एया परिणयाया—एता परिज्ञाताः) ये सर्वथा ज्ञ—परिज्ञा से इस भव में तथा परमव में अनन्त दु खों के कारणरूप जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से परिवर्जित कर दी जाती हैं (तस्स सामण्य सुकृतं—तस्य श्रामण्य सुकृतम्) उस मुनि का साधुपना सफल है ।

भावार्थ—जिस प्रकार मृगादि पशुओं को पकड़ कर रखने के लिये बागुरा (जाल) आदि बन्धन प्रसिद्ध हैं क्यों कि इन द्वारा परतन्त्र किये वे स्वतन्त्र विहार से रहित हो जाते हैं, और अनेक प्रकार की यातनाएँ सहन करते हैं इसी प्रकार पुरुषों का बधन ये स्त्रियाँ हैं । इनके वश में पड़ा हुआ प्राणी परतन्त्र होकर अपनी स्वतन्त्रता—चारित्र्य

तेना वश बधनी तेनु नरक निगोद आदि दुर्गति रूप ससारमा पतन अवश्यमापि छे माटे स्त्रियो पुद्घोनु बधन छे, आ माटे जस्स—यस्य ये मुनिद्वारा एयापरिणयाया—एता परिज्ञाता ये सर्वथा ज्ञ—परिज्ञाथी आ भव तथा परमवमां अनन्त दुःखाना कारण रूप बध्नीने प्रत्याख्यान परिज्ञाथी परिवर्जित करी देवांमा आवे छे तस्स सामण्य सुकृतं—तस्य श्रामण्य सुकृतम् अवा मुनिनु साधु पशु सङ्ग छे

भावार्थ—ये प्रकार मृग आदि पशुओंके पकड़ी राखवा माटे बाग आदि बधन प्रसिद्ध छे केम के, तेना द्वारा परतन्त्र कथीथी ते स्वतन्त्र विहारथी रहित बनी बन्ध छे अने अनेक प्रकारकी यातनाओ सहन करे छे आ शीते पुद्घोनु बधन स्त्रीओ छे तेना वशमां पडेवो प्राणी परतन्त्र बनीने

अथ मात्र - धर्ममर्यादानुवर्ती मुनिः-स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गसस्थानहस्तिविभ्रता-
घाथिचविक्षेपकारिणीयेष्टा' यदापि न चिन्तयेत्, नापि काममुद्रया मोक्ष-
मार्गकर्मकल्पासु तासु चशुरपि निक्षिपेत् किंवात्मानमेव पर्यालोचयेत्। एवं स्त्री-
परीपहजय. स्यादिति ।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्शयते—

द्वादशतीर्थस्वामिपूज्यशासने चम्पानगर्यां तद्वशीयो रूपलावण्यसम्पन्नः,
सुजातसर्वाङ्गसुन्दर, शशिसीम्याकार, इष्ट, इष्टरूपः, कान्त, कान्तरूपः, शिवः,

इस का भाव यह है—धर्म मर्यादा अनुवर्तन करने वाला मुनि जिस
को विक्षिप्त करने वाली स्त्रियों के अंग, प्रत्यग की आकृति का, तथा
उनकी हासी आदि क्रियाओं का एव ह्राव विभाव आदि विलासों का
कमी भी विचार तक न करे, और न मोक्षमार्ग में कर्मस्वरूप
इनको विकारदृष्टि से देखे। जहा तक हो मुनिका यही कर्तव्य है कि
वह अपनी आत्मा का जिस तरह से कल्याण होता रहे, तथा जिन
विचारधाराओं से वह अहर्निश अपने गृहीत पथ पर अग्रगामी बना
रहे, इस प्रकार का ही प्रयत्न साधु को करते रहना चाहिये। यही
अपनी पर्यालोचना है ॥

दृष्टान्त—याह्र वै तीर्थकर श्री वासुपूज्य स्वामी के शासन काल में
चम्पानगरी में इन्हीं का वंशज लावण्यपूर नामका एक राजा रहता था।

वह सुजातसर्वाङ्गसुन्दर—अर्थात् आकार से सर्वाङ्ग सुन्दर था,

आने भावाद्यं ज्येष्ठे के-धर्म मर्यादानु अनुवर्तन करवावाणा मुनि जितने
विक्षिप्त करवावाणी स्त्रियोना अंग प्रत्यगनी आकृतितु तथा तेनी हासी आदि
क्रियाओनु, अने ह्रावभाव आदि विवासेनो कही विचार सुद्धां पक्ष न करे
मोक्षमार्गमां कर्मस्वरूप ज्येष्ठी आ भावनाने विकार दृष्टिशी न ज्येष्ठी ज्येष्ठ
कर्तव्य ज्येष्ठे, अथ सुधी अनी शक्ये त्यां सुधी पोताना आत्मानु कल्याण भव
रहे अने जे विचारधाराओधी ते कर्ममेश पोते अक्षय करेव मार्ग उपर
अग्रगामी अनी रहे. आ प्रकारनो जे विचार प्रयत्न साधुज्ये करेवो ज्येष्ठे
ज्येष्ठे जे तेमनी पथविचयना ज्येष्ठे

दृष्टान्त—यारभा तीर्थकर श्री वासुपूज्य स्वामीना शासनकालमां यथा
नगरीमां तेमना जे वंशना लावण्यपूर नामना ज्येष्ठ राजा राज्य करेता हता.
ते सुजातसर्वाङ्गसुन्दर अर्थात् आकारधी सर्वाङ्ग सुन्दर हता, ते अक्षयभावना
भनोरथ पूज्य करवावाणा देवाधी यधाने इष्ट हता, तेमनी आकृति भनोरथ

प्रियदर्शिनी टीका अ० २ गा० १७ स्त्रीपरीपदत्रये लाघण्यपूरसुनिदधान्त ३

प्रियरूप., मनोज्ञ., मनोहररूप, सौम्य., सुमग., प्रियदर्शन, सुरूपो. लाघण्य नामको नृप आसीत् । असीं नृप. सुभूमनामकस्य वासुपूज्यतीर्थकृतप्रथमगणध समीपे धर्मदेशनां श्रुत्वा दीक्षितो जाव. ।

स चैकदा भिक्षाचर्यां पर्यटन् श्रावणगृहं मत्वा वेश्यागृहं प्रविष्टः, तत्र सा क

वह सकल समाज का मनोरथ पूर्ण करनेवाला होने से सच को इष्ट इसकी आकृति मनोहर होने से इष्टरूप था, तथा वह सचका सहा होने से कान्त अभिलषणीय था । वह कान्तरूप रूप से भी कान्त व कमनीय था । वह सच जनों के उपकार करने में परायण होने से सच लिये प्रिय था । वह रूप से भी प्रिय होने से प्रियरूप था । सब के रि कारी होने से यह मनोज्ञ था । इसके देखने वाले के लिये यह चि कर्षक होने से मनोज्ञ रूप था । दु खियों का दु ख दूर करने वाला ह से मनोऽम सचके मन में बसने वाला था । सकल जनमन के अनु आकृति वाला होने से मनोऽमरूप था, इसलिये वह सौम्य- स्वभाव होने से समस्त जन का आहादक था । तथा कल्या मार्ग पर चलने वाला होने से सुमग था । वह प्रियदर्शन था अथ जो व्यक्ति इसे एकपार भी देख लेता तो पुनः उसे देखनेकी लाल उस के घनी रहती थी । वह सुरूप-लाघण्य की राशिसे भरपूर थ राजा ने सुभूम नाम के गणधर के पास जो वासुपूज्यतीर्थकर के प्र गणधर से धर्मदेशना सुनकर दीक्षा धारण करली ।

होवाथी इष्टरूप हवा. तथा तेजो अधाने सहायकरवावाणा होवाथी कान्त अभि वषण्यीय हवा. ते कान्तरूप इपथी पञ्च कान्त-कमनीय हवा. तेजो इरेक भुजु पर उपकार करवाभा पशयञ्च होवाथी इरेकने प्रिय हवा. ते इपथी पञ्च प्रि होवाथी प्रियरूप हवा. इरेकना हितचित्त होवाथी ते मनोज्ञ हवा. तेभे जेनारने तेजो चित्ताकर्षक होवाथी मनोहररूप हवा, दुष्पीण्येना दुष्प इ करवावाणा होवाथी मनोऽम अथोत् इरेकना मनभा वास करवावाणा हवा सकल जनमननी अनुकूल आकृतिवाणा होवाथी मनोऽमरूप हवा, जे भाटे तेजो सौम्य भद्रस्वभाव होवाथी समस्तजनना आह्लादक हवा. तथा कल्याण मार्ग पर आहवावाणा होवाथी सुमग हवा तेजो प्रियदर्शनीय हवा, अथोत् जे कान् तेने जेकवाप लुञ्जे तो इरीथी तेने जेवानी वाहसा उत्पन्न यथा करती ते सुरूप- उपवावपयथी भरपूर हवा राजा जे सुभूम नामना गणधरनी पासै के जे वासुपूज्य तीर्थकरना प्रथम गणधर हवा तेभनी धर्मदेशना साभणीने दीक्षा धारण करी लीथी.

मञ्जरीनाम्नी वेश्या छावण्यपूरमुर्नोर्मनोहर त्रयोरूपलावण्यसस्थानादिक किञ्चिन्न
मोहिता जाता । अथ सा लावण्यपूरमुनिं प्रणम्य दृष्टिति द्वारदेशमागत्य सर्वाणि
निर्गमद्वाराणि पिधाय पुनस्तस्य समीपमागत्य सानुराग पश्यन्ती सस्मितं वदति-
महात्मन् ! स्वल्पमेव कालं भवानग्रं तिष्ठतु, यावन्निक्षामानयामि । तद्विनयवचनं
निश्चम्य लावण्यपूरमुनिस्तत्रैव तिष्ठति । सा च पृथगभ्यन्तरगता मुनिसगमाम्बिलापित्री
भिक्षोपयोगिवस्तुग्रहणव्याजेन नृत्यन्तीव भवने चलन्ती, बाहुविधेवै-

एक समय की यात है कि जय ये निक्षाचरी के लिये निकले तो वे श्रावक का घर जानकर वेश्या के घर में आहार पानी के लिये पहुँच गये । वहाँ वेश्या ने जय इन्हें आया नृआ देखा तो वह इन पर इनके सुन्दरातिमुन्दररूप को देखकर मोहित हो गई । वेश्या का नाम काममजरी था । अथ क्या या रूप का निधान जय घर के भीतर स्वयं आ गया है तो उसने विचार किया कि यह वापिस न हो जाय इस ख्याल से उठ कर उसने शीघ्र ही याद्विर निकलने के जितने भी द्वार थे वे सब द्वार घट कर दिये । पश्चात् वह उन मुनिराज के पास आई और सानुराग उनकी ओर निहार कर मुस्कराती मुस्कराती कहने लगी कि-हे महात्मन् ! आप कुछ देर तक यहाँ ठहरिये-जब तक मैं भिक्षा लेकर आती हूँ । मुनिराज उसके विनीत वचन सुनकर वे वहीं पर ठहरे रहे और वह मुनि के साथ सगम की अभिलाषा से घर के भीतर रही हुई आहार पानी लाने के पहाने से मकान में ऐसी चलने लगी कि जैसे मानो नाश्वती हो । कामराग के प्रकट

येक समयनी वात छे हे, ब्यारे ते भिक्षाचर्या भाटे अहार नीकण्य
त्यारे श्रावकतु घर बलुनीने येक वेश्याना घरभां आहार पाणी भाटे अथ
थठभा ब्यारे वेश्याके मुनिने आवेवा बोया त्यारे ते तेना रूपलावण्यने अर्थ
तेना उपर मोहित भनी गध वेश्यानु नाम काममजरी इतु रूपतु निधान
ब्यारे घरनी अहर आवेव इतु पछी जाधी रहे थु ? अथे विचार कथे हे,
मुनि पाछा न करी अथ के वातना ज्यावधी छीने तेखे तरतव अहार
नीकणवाना नेटवा रस्ता इता ते अथा अथ करी हीथा पछी ते मुनिराजनी
पासे आवी अने विवेकपूर्वक इसती इसती साभे आवी अने मुनिराजनी
साभे अर्थ कहेवा लागी हे, हे महात्मन् ! आप बोडीवार शकथं अथ त्वा ई
भिक्षा लक्ष्मि आवुं छु मुनीराज तेना विनीत वचन सांभलीने इरवाव पासे
उवा रथा अने ते वेश्या मुनिराजनी साभे सजमनी अभिलाषाची वस्ती
अहर थावी अर्थ आहारपाणी लाववाना अहाने ते मकानभां अर्थेते आलव

प्रावरणवसनापगमव्यक्तीकृताङ्गप्रत्यङ्गाच्छादनपरा कामराग प्रदर्शयति । भोगामि
लापप्रकाशक मदनधनु कल्पभ्रुकुटिविलाससहकृतशिथिलारुणनयननिपातैर्लावण्यपूर-
मुनेर्मनो हरन्तीव, रूपयौवनसौन्दर्यसम्पन्नसुकुमाराङ्गलीलाप्रदर्शनपरा कोकिला
रावमधुरस्वरेण गायति । तदनु तनुनूतनविविधवर्णचित्रितरुचिरवसनाञ्चल-
स्फालन प्रकुर्वती भूषणध्वनिमनोहरैश्वर्यमचारणैर्मुने समीपमागत्य सा मृङ्गावलि-
समाश्लिष्टकमलापमानलावण्यमरविद्योतितसुषुप्तरागोपगतकपोलपालो समाल-
म्बितालकावलिबिभ्रूपितसमुज्ज्वम्भमाणवदना भुजादिनिजगात्राणि मोटयन्ती
स्मरमदोन्मादेनापहृतकृत्याकृत्यविवेकविज्ञाना गद्गदस्वरेण मुनिमभ्यर्थयति काम

करने के अभिप्राय से अपने अग एव प्रत्यङ्ग को साडी के गिर जाने
के छल से प्रकट कर फिर उन्हें चार२ ढकने लगी । मानों मुनि के मन
को हरती हो इस प्रकार वह उनके ऊपर, भोगामिलाप सूचक एवं
काम के धनुष जैसी भ्रुकुटी के विलास के साथ२ कुछर झुके हुए
अरुण नयनों के विक्षेपों से प्रहार करने लगी । रूप, यौवन, एव सौन्दर्य
से सपन्न अपने सुकुमार अगोंकी लीला के प्रदर्शन में तत्पर घनी हुई
उसने फिर कोकिल के शब्दसमान मीठे स्वर से गाना गाना भी
प्रारंभ कर दिया । पश्चात् शरीर पर पहिरे हुए नवीन बहुमूल्य रग
विरंगे वस्त्र के अञ्चल को हिलाती एव भूषणों की ध्वनि से मनोहर पैरों
को ठुमक ठुमक कर रखती हुई वह मुनि के समीप आकर गद्गद स्वर
से कहने लगी । कहते हुए उसे जरा भी संकोच जो नहीं हुआ उसका
कारण इसके ऊपर चढ़ा हुआ काम का उन्माद था, इससे कृत्य और
अकृत्य का विवेक विलुप्त हो चुका था । भारों से युक्त कमल जिस

लागी है, बाँधे ते नाचती होय कामराग प्रगट करवानी छिछरी चोताना
इरेक अग प्रत्यगने साडीना पडी जवाना बहानाथी प्रगट करी क्षीथी ते शरीरने
चारवार बाँधवा लागी बाँधे मुनिना मनने दशती होय ! आ प्रकारे ते मुनि
ऊपर, बाँधविलासना सूचक जेवां कामना धनुष जेवी भ्रुकुटिना विलासनी साथे
साथे नयनोना बाँधे इठवा लागी रूप, यौवन अने सौन्दर्यथी सपन्न चोताना
सुकुमार अगोनी लीलाणा प्रदर्शनमा तत्पर बनेही ते वेश्याज्जे ठोकिवकठ जेवा
भीडा स्वरथी गायन गावानी शङ्कात करी पडी शरीर ऊपर पहिरेखा नवीन
रगजेरगी वस्त्रोना छेडाने उठावती तेमज धरेबाजोनी ध्वनीथी भनेदर पगेाही
ठुमक ठुमक नाचती ते मुनिनी साथे आवीने ते गद्गद स्वरें कहेवा लागी,
कहेती वभते तेने जरा पखु सकेय न थये। तेनु कश्यु तेना ऊपर कामना
उन्मादनी जया इबाध गड्ढती साथी कृताकृत्यना बानने। विवेक ते सुधी

મોગાય—“ મહાત્મન્ ! કામજ્વરભરેણ સંતપ્તમિદ મદદ્રમધુના, દયસ્વ મમ શા
શાન્ત્યૈ ” ઇત્યાદિવિવિધપ્રાર્થનાવચનૈર્વિવિધકામચેષ્ટામિથ સા મુનિ ચારિત્રાખ્યા-
છપિતુ પ્રયુક્તા । તદા મુનિચિન્તયતિ—

ગણિકાસ્ત્રિયો હિ ચલુ નામ્નાઽચલા ૧, કાર્યેણ સવલા ૨, પ્રકૃતિવિપમા ૧,
કપટપ્રેમગિરિનદયઃ ૪, અપરાધસહસ્રગૃહા. ૫, પ્રભવ (ઉત્પત્તિસ્થાન) શોકસ્વ ૧,

પ્રકાર સુંદર માલૂમ પડતા હૈં ઉસકા મુગ્ધકમલ મી કૈશવકિ સે
વિરાજિત હોને સે ઠીક ણેસા હી સુંદર માલૂમ પડતા ધા । મુલ્લ કી
કપોલપાલી લાવણ્ય કૈ પ્રકર્ષ સે ચમક રહી ધી । લલાઈ કો લિયે કુણ
ધી । કામ કૈ આવેશ સે યહ ક્ષણ૨ મેં જભાઈ સેતી ઓર ક્ષણ૨ મેં
આલસ્ય મોઢતી છુઈ ઘોલી-મહાત્મન્ ! મેરા યહ શરીર ઇસ સમય
કામજ્વર સે સતપ્ત હો રહા હૈં । અત દયા કરો ઓર ઇસ કામજ્વર કો
શાન્ત કરો । ઇત્યાદિ વિવિધ પ્રાર્થના કૈ વચનોં ઇવ અનેકવિધ કામ
કી ચેષ્ટાઓં સે ઉસને મુનિ કો ઉનકૈ પવિત્ર ચારિત્ર સે ચલાયમાન
કરને કૈ લિયે કોશિશ કી, પરન્તુ મુનિરાજ ને ઉસ સમય મી યહી
વિચાર કિયા કિ—

યે વેશ્યા સ્ત્રિયા કેવલ નામ સે હી અચલા હૈં કાર્યસે નહીં ૧ । કાર્ય મેં
તો યે ઘણી મારી સચલ હૈં ૨ । પ્રકૃતિ સે યે વિપમ હોતી હૈં ૩ । કપટ પ્રેમ
કી યે પહાઠી નદિયા હૈં જો શીઘ્ર હી શુષ્ક હો જાતો હૈં ૪ । હજારોં
અપરાધોં કી યે સ્થાન હૈં ૫ । શોક કી ઉત્પત્તિ કા યે સ્થાનમૂત હૈં ૬ ।

અર્થ હતી ભમરાથી શુભતુ ઠમળ જે રીતે સુદર દેખાય છે તેવી રીતે એવું
મુખ ઠમળ પણ કૈશવ પકિતથી વિરાજીત હોવાથી એવું જ સુદર દેખાતું
હતું તેના મોઠા ઉપરની લાલીમા લાવણ્યથી ચમકી રહેલ હતી કામના
આવેશથી એ ક્ષણ ક્ષણમાં અટકતી અને આગસ મરડતી બોલી મહાત્મન્ !
હું આ સમયે કામજ્વરથી પીડાઈ રહી છું આથી દયા કરી આ કામજ્વરને
શાંત કરો. ઇત્યાદિ વિવિધ પ્રાર્થના વચનોથી તેમજ અનેકવિધ કામચેષ્ટાથી
તેણે મુનિને તેના પવિત્ર ચારિત્રથી ચલાયમાન કરવાની ઠાશિષ કરી. આ સમયે
મુનિરાજે એ વિચાર કર્યો કે,—

આ વેશ્યા સ્ત્રીઓ કેવળ નામથી જ અખળા છે, કાર્યથી નહીં ૧ કાર્યમાં
તો એ ઘણી ભારે સખળ છે ૨. પ્રકૃતિથી એ વિપમ હોય છે ૩ કપટ પ્રેમની એ
પહાઠની નદીઓ જેવી છે, જે વહેલી સુકાઈ બાધ છે ૪ હજારોં અપરાધોં
એ સ્થાન છે ૫. શોકની ઉત્પત્તિને જગાવનાર છે ૬ ખળનો વિનાશ કરનાર

विनाशो वलस्य, (वलह्वारकत्वात्) ७, सूना (वधस्थान) पुरुषाणाम् ८, नाशो लज्जाया - (लज्जारहितत्वात्, अस्या' सगे पुरुषस्य लज्जानाशाच्च) ९, मूलमविनयस्य १०, गृह मायानाम् ११, खनिर्वरस्य १२, भेदो मर्यादानाम्, (सयममर्यादाया विनाशहेतुत्वात्) १३, आश्रयो रागस्य, (आश्रय स्थानं) १४, गृह दुश्चरित्राणाम् १५, स्वल्लनाः ज्ञानस्य १६, विध्वंसन ब्रह्मचर्यस्य १७, विघ्नो-धर्मस्य १८, अरि' साधूनाम् (मोक्षमार्गसाधकाना चारित्रप्रमाणविनाशकत्वात्) १९ दूषण ब्रह्मचारिणाम् २०, कारण कर्मरजस २१, अर्गला मोक्षमार्गस्य २२, भवन दुर्गुणस्य २३, मत्तगजवन्मदनपरवशाः २४, व्याघ्रीवद् दुष्टहृदया २५ तृणच्छन्न-कूपवद् अप्रकाशान्त करणा २६, कारीपाग्निवदन्तर्दहनशीला २७, अन्तर्दुष्टव-

षल को विनाश करने वाली हैं ७। पुरुषों के मन की हत्या करने के लिये ये वधस्थान हैं ८। लज्जा की विनाशक हैं ९। अविनय की ये मूल कारण हैं १०। माया का तो यहा खजाना ही भरा रहता है ११। वैर विरोध आदि जितने भी अनर्थ दुनिया में होते हैं उन सब में ये प्रधान रहा करती हैं अतः ये उनकी खान हैं १२। सयममर्यादा का भंग करने वाली हैं १३। राग का ये स्थान हैं १४। दुश्चरित्रों की तो ये पेटी हैं १५। ज्ञान की स्वलना करनेवाली हैं १६। ब्रह्मचर्य की आखे कैसे फोड़ी जाती हैं इस घात में ये पड़ी होशियार होती हैं १७। धर्म की विघ्नभूत हैं १८। साधुओं के लिये शत्रुसमान हैं १९। ब्रह्मचारियों के लिये दूषणरूप हैं २०। कर्मरज की कारण २१, एव मुक्तिमार्ग की ये आर्गला हैं २२। ये दुर्गुणों के भवन हैं २३। मत्तगजराज के समान हैं २४। व्याघ्री के समान दुर्हृदयवाली हैं २५। तृण से ढके हुए कूप के समान हैं २६। कारीपाग्नि के समान अन्तर्दहन

छे ७ पुरुषोना मननी हत्या करनार छे ८ लज्जानो नाश करनार छे ९, अविनयतु छे मूल छे १० मायानो तो छे भवनो छे ११ वैर विरोध आदि नेटवा अनर्थ दुनियाभां छे ते सधण अनर्थोनु उद्गम स्थान छे १२ आश्री ते छे अनर्थोनी भासु छे, सयममर्यादानो भंग करनार छे १३ रागतु छे स्थान छे १४ दुश्चरित्रोनी तो छे पेटी छे १५ ज्ञानो नाश करनार छे १६ ब्रह्मचर्यनी आण हैठनारी छे १७ छे भङ्गा यपण डोय छे, धर्मभां विघ्न करानारी छे १८ साधुओ माटे शत्रु समान छे १९ ब्रह्मचारियो माटे दूषण छे २० कर्मरजतु कारण छे २१ मुक्ति मार्गभां आर्गला छे २२ दुर्गुणोनी भासु छे २३ मत्त गजराज समान छे २४ व्याघ्र जेवी हया वगरनी छे २५ कारीपाग्नि वदयेवा कुवा जेवी छे २६ दुष्टा

મોગાપ—“ મહાત્મન્ ! કામજ્વરભરેણ સંતપ્તમિદ મદક્રમધુના, દયસ્વ મમ ક્ષા
શાન્સ્યૈ ” ઇત્યાદિવિવિધપ્રાર્થનાવચનૈર્વિનિષ્પ્રકામચેષ્ટાભિથ સા મુનિ ચારિષ્ણા-
ષ્યયિતુ પ્રયુક્તા । તદા મુનિચિન્તયતિ—

ગણિકાસ્ત્રિયો હિ સ્વલુ નામ્નાઽવલા ૧, કાર્યેણ સવલાઃ૨, પ્રકૃતિવિપમાઃ ૩,
કપટપ્રેમગિરિનયઃ ૪, અપરાધસદ્સમૃદ્ધાઃ ૫, પ્રભર (ઉત્પત્તિસ્થાન) શાકસ્વ ૬,

પ્રકાર સુંદર માલૂમ પદ્મતા છે તેવું કામજ્વર ભી કેશપતિ સે
ધિરાજિત હોને સે ઠીક ગેસા હી સુંદર માલૂમ પદ્મતા ધા । મુલ્ક કી
કપોલપાલી લાવણ્ય કે પ્રકર્ષ સે ચમક રહી થી । લલાઈ કો લિયે હુણ
થી । કામ કે આવેશ સે યહ ક્ષણ૨ મેં જમાઈ લેતી ઓર ક્ષણ૨ મેં
આલસ્ય મોઢતી છુઈ ચોલી-મહાત્મન્ ! મેરા યહ શરીર ઇસ સમય
કામજ્વર સે સતસ હો રહા હૈ । અત દયા કરો ઓર ઇસ કમજ્વર કો
શાન્ત કરો । ઇત્યાદિ વિવિધ પ્રાર્થના કે વચનોં ણવ અનેકવિધ કામ
કી ચેષ્ટાઓં સે ઉસને મુનિ કો ઉનકે પવિત્ર ચારિત્ર સે ચલાયમાન
કરને કે લિયે કોશિશ કી, પરન્તુ મુનિરાજ ને ઉસ સમય ધી યહી
વિચાર કિયા કિ—

યે વેદ્યા સ્ત્રિયા કેવલ નામ સે હી અવલા હેં કાર્યસે નહોં ૧ । કાર્ય મેં
તો યે ઘડી ભારી સવલ હેં ૨ । પ્રકૃતિ સે યે વિપમ હોતી હેં ૩ । કપટ પ્રેમ
કી યે પહાડી નદિયાં હેં જો શીઘ્ર હી શુષ્ક હો જાતો હેં ૪ । હજારોં
અપરાધોં કી યે સ્થાન હેં ૫ । શોક કી ઉત્પત્તિ કા યે સ્થાનમૂત હેં ૬ ।

અર્થ હતી ભમરાથી શુભૃત કમળ જે રીતે સુદર દેખાય છે તેવી રીતે એવું
મુખ કમળ પણ કેશ પદ્ધિતથી વિશાલત હોવાથી એવું જ સુદર દેખાતું
હતું તેના મોઠા ઉપરની લાલીમા લાવણ્યથી ચમકી રહેલ હતી । કામના
આવેશથી એ ક્ષણ ક્ષણમા અટકતી અને બાળસ મરડતી બોલી મહાત્મન્ !
હુ આ સમયે કામજ્વરથી પીઠાઈ રહી છુ આથી કયા કરી આ કામજ્વરને
શાંત કરેા. ઇત્યાદિ વિવિધ પ્રાર્થના વચનોથી તેમજ અનેકવિધ કામચેષ્ટાથી
તેણે મુનિને તેના પવિત્ર ચારિત્રથી ચલાયમાન કરવાની કોશિષ કરી. આ સમયે
મુનિરાજે એ વિચાર કર્યો કે,—

આ વેશ્યા સ્ત્રીઓ કેવળ નામથી જ બળળા છે, કામથી નહીં ૧ । કાર્યમાં
તો એ ઘણી બારે સબળ છે ૨ । પ્રકૃતિથી એ વિપમ હોય છે ૩ । કપટ પ્રેમની એ
પહાડની નદીઓ જેવી છે, જે વહેલી સુકાઈ બાધ છે ૪ । હજારો અપરાધો
એ સ્થાન છે ૫. શોકની ઉત્પત્તિને જાવાનાર છે ૬ । બાળનો વિનાશ કરનાર

४७, परदोषप्रकाशिकाः ४८, अरज्जुका. पाशाः (रज्जुक विना बन्धनरूपाः)
 ४९, कृतपापपश्चात्तापवर्जिता ५०, अकार्यप्रवृत्तिशीला. ५१, अनामका व्याधयः
 ५२, अरूपा उपसर्गा (अनुकूलोपसर्गभूताः) ५३, चित्तविक्षेपकारिका ५४,
 अनभ्रका विद्युत्. ५४, समुद्रवेगा., (केनापि निरोद्धमशक्यत्वात् ५६ । उक्तञ्च—

न तथाऽस्य भवेमोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।

योपित्तगाद् यथा पुंसो यथा स्त्रीसगिसगत ॥ १ ॥

पदाऽपि युवतीं मिथुर्न स्पृशेद्दारवीमपि ।

स्पृशन् करीव वध्येत करिण्या अङ्गसगतः ॥ २ ॥

के दोषों को प्रकाशित करने वाली है ४८ । ये विना दोरी के पाशातुल्य
 है ५९ । किये हुए पापों के पश्चात्ताप से वर्जित ५०, एव अकार्य में
 प्रवृत्ति करने वाली होती है ५१ । विना नाम की ये व्याधिया है ५२ ।
 विना आकृति के उपसर्ग समान है ५३ । चित्तको विक्षेप करने वाली
 है ५४ । विना बादलों की ये विद्युत् है ५५ । किसी से भी इनका वेग रोकना
 नहीं जा सकता, इसलिये ये समुद्र के वेग जैसी हैं ५६ । कहा भी है—

न तथाऽस्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।

योपित्तगाद् तथा पुंसो, यथा स्त्रीसगिसगत ॥ १ ॥

पदाऽपि युवतीं मिथुर्न स्पृशेद्दारवीमपि ।

स्पृशन् करीव वध्येत, करिण्या अङ्गसगतः ॥ २ ॥

अर्थात्—पुरुष को स्त्री के संग से तथा विषयविलासी के संग से
 जिस प्रकार का मोह और बन्ध होता है उस प्रकार का मोह और

स्वप्नभां तेमञ्च भिन्नाभां छेदं वेदं क्वापनारी छे ४७, पीबना दोषेने प्रका
 शीत क्वावावाणी छे ४८, दोरी वजरना क्वासला जेवी छे ४९, क्वावा पापोना
 पश्चात्तापथी द्वर रडेनारी छे ५०, अकार्यभां प्रवृत्ति करनार होय छे ५१, नाम
 वगरनेो अे शोण छे ५२, आकृति वगरनेो उपसर्गो छे ५३, चित्तने व्यग्र भन्ना
 वनार छे ५४, वादण वगरनी विज्जणी जेवी छे, क्वाधथी तेनेो वेग शोकी
 शकतेो नथी आ क्वाखे ते समुद्रना वेग जेवी छे क्वा छे ५६—

न तथाऽस्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्य प्रसगतः ।

योपित्तगाद् तथा पुंसो, यथा स्त्री सगिसगत ॥ १ ॥

पदाऽपि युवतीं मिथुर्न स्पृशेद्दारवी मपि ।

स्पृशन् करीव वध्येत, करिण्या अङ्ग सगतः ॥ २ ॥

पुरुषने चिन्ना सगथी तेमञ्च विषय विलासीना सगथी जे प्रकारनेो मोह
 अने अंधे थाय छे, ते प्रकारनेो मोह अने अंधे पीबथी थतेो नथी आ

णवत्कृषितहृदया' २८, सप्यारागसमान २९, समुद्रीचिचखलस्वभावाः ३०, कृष्णसर्पचित्रनुकम्पा' ३१, सलिलान्निम्नगामिन्य. ३२, कृपणवदुत्तान हस्ता' ३३, नरकयत् प्रासोत्पादिका' ३४, दुष्टाभ्यम् दुर्दमा ३५, बालक कृष्ण रुष्टतुष्टाः ३६, अन्धकारवद् दुष्प्रवेशा ३७, विपवल्लीवद् अनाश्रयणीयाः ३८, किंपाकफलतुल्यमुरवमधुरा ३९, राक्षसीवद् अकालचारिण्य. ४०, दुरुपचाराः ४१, अगम्भीरा ४२, अविश्वसनीया. ४३, अरतिकरा ४४, रूपसौभाग्यमत् मत्ता.-(रूप-सुन्दराकृति, सौभाग्य-स्वकीर्तिश्रवणादिरूप, मदी-मन्मथजगर्भ, तैर्मत्ता) ४५, भुज्रगगतिवत् कुटिलहृदयाः ४६, कुलस्वजनमित्रभेदनकारिका

शील है २७। भीतर के घाय की तरह कृषित हृदयवाली है २८। सप्यारागसमान है २९। समुद्र की तरङ्ग के समान चखल स्वभाव वाली है ३०। कृष्णसर्प के समान भयकर हैं ३१। जल के समान नीचे की ओर जाने वाली हैं ३२। कृपण की तरह उत्तान हाथोंवाली अर्थात् हर समय 'लाय-लाव' करने वाली है ३३। नरक के तुल्य कष्ट देनेवाली है ३४। दुष्ट घोड़े की तरह दुर्दम हैं ३५। बालक के समान क्षण में रुष्ट एव तुष्ट होनेवाली है ३६। अन्धकार की तरह दुष्प्रविश्य है ३७। विपवल्ली की तरह आश्रय लेने योग्य नहीं है ३८। किंपाक फल की तरह आवि में मधुर है ३९। राक्षसी की तरह अकाल में चलने वाली हैं ४०। दुरुपचार ४१, अगमीर ४२, अविश्वसनीय ४३, और अरतिकर हैं ४४। रूप, सौभाग्य तथा मद् से सदा उन्मत्त हैं ४५। सर्प की गति के समान कुटिल मनवाली है ४६। कुल में, स्वजन में, एव मित्रों में छेद-भेद करने वाली है ४७। दूसरों

येका छावना अग्नि भाइक आणवावाणी छे २७ अहरना धाना लेवी दुर्गभीमां
 कृषित लेवा हृदयवाणी छे २८ संध्याना रम लेवी छे २९ सयु
 दना तरगेनी भाइक यखल स्वभाववाणी छे ३० हाणा सर्प लेवी अककर
 छे ३१ अणनी भाइक नीचे जनारी छे ३२ कृपणनी भाइक उत्तान हाथवाणी
 अर्थात् हर समय लाव लाव करवावाणी छे ३३ नरकना लेवा दु जो जनारी
 छे ३४ दु घोखना लेवी दुर्दम छे ३५ आणकनी भाइक बडीमां रीसानार
 अने बडीमां हसनार छे ३६ अधकारना लेवी वीहामल्ली छे ३७ विपवेलना
 लेवी आश्रय लेवाय लेवी नथी ३८ किंपाक क्षणी भाइक मधुमां मधुर छे ३९
 राक्षसीनी भाइक अकालमां आणवावाणी छे ४० दुरुपचार छे ४१, अगमीर
 छे ४२, अविश्वसनीय छे ४३, अरतिकर छे ४४, ३५, सौभाग्य तथा मदी
 सदा उन्मत्त छे ४५, सर्पनी गती समान कुटिल मनवाणी छे ४६

मगिनि ! इदमब्रह्मचर्यं महापुरुषैरनाचरितं, जन्मजरामरणदायकं कातरपुरुषसेवित
प्रमादबहुल तप सयमविघ्नभूतमधर्मद्वारम्, पङ्कपनकपाशजालतुल्यम् । अस्य स्वच्छ
अब्रह्मचर्यस्य फलविपाकोनरकनिगोदाद्यनन्तदुःखरूपो महादारुणः, पल्योपमसाग-
रोपमकालेनाप्यमुच्यमानाऽशातवेदनारूप, तस्माद् विरम्यतामस्मात्पापाचरणात्,

फिर अपनी अमृततुल्य वाणी से समझाना प्रारम्भ किया । कहा—हे
देवानुप्रिये ! तुम क्या करने के लिये उद्यत हो रही हो । तुम्हें क्या
मालूम नहीं है कि कुशीलसेवन का मार्ग महापुरुषों से अनाचरित
है । इस में ऐसा कोई भी लाभ नहीं है जो आत्मा को हितकारक
हो । इस से जन्म जरा एव मरण व कष्टों को भोगने के सिवाय कुछ
नहीं मिलता है । ब्रह्मचर्य में जो कायर हैं वे ही इसमें आनन्द मानते
हैं । ये विषयभोग प्रमादबहुल एव तप तथा सयम के पालन में
प्रयत्न अन्तरायस्वरूप हैं । अधर्म के प्रधान मार्ग है । यह
कुशीलसेवन पक—कीचड़, पनक—काई तथा जाल के समान है ।
अर्थात् इसमें मनुष्य गड़ जाता है, फिसल जाता है, और घब जाता है ।
इस अब्रह्मचर्य सेवन का फल जीवों को नरक निगोद के अनन्त दारुण
दुःखों के भोगने के रूप में प्राप्त होता है ।

इसके सेवन के फलस्वरूप अशातवेदनाएँ पल्योपम सागरोपम
तक भोगनी पड़ती हैं, इस लिये इस पापाचरण से विरक्त होने में ही

आरम्भ कर्यो, अने कहुं ! हे देवानुप्रिये ! तु श्रु करवा माटे प्रवृत्त भनी छै ?
तने श्रु अणर नथी छै, कुशील सेवनने भाग महापुरुषे आचरवा योज्य
नथी तेमा केछ ओवे दाब नथी जे आत्माने छितकारक होय, जेनाथी जन्म,
जरा अने मरखुना हु जे भोगववा सीवाय भीखु केछ भणतु नथी प्रद्वय
यमां जे कायर होय छे तेज आमां आनन्द माने छे आ विषयभोग प्रमाद
तप तथा सयमना पालनमा प्रभण अतश्य स्वरूप छे अधर्मने प्रधान
मार्ग छे, आ कुशील सेवन क्रियक, भाई, तथा बाण समान छे अर्थात्—
मनुष्य तेमां गणडी लय छे, इसाई लय छे, अधाई लय छे आ अब्रह्मचर्य
सेवननु क्षण एवने नरक निगोदना अनन्त दुःखे दुःखेने भोगववाना रूपमां
प्राप्त याय छे आना सेवनना क्षण स्वरूप आशातवेदनाओ पल्योपम
सागरोपम सुधी भोगवनी पडे छे माटे आ पापाचरवुधी विरक्त थवामां ज

તથૈવ પુરુપસગઃ સાધ્વીનામપિ । ઉક્તઞ્ચ—

ઘૃતકુમ્ભસમા નારી તપ્તાદ્ધારસમઃ પુમાન્ ।

તસ્માદ્ ઘૃત ચ વહ્નિ ચ, નૈકત્ર સ્થાપયેદ્ બુધ ॥ ૧ ॥

इत्येव विचिन्त्यासौ मुधाधारासारया प्रवचनसारया गिरा तां प्रतिबोधयति

બન્ધ વૂસરે સે નહીં હોતા હૈ ॥ ૧ ॥ इसलिये मुनि को चाहिये की काष्ठ की पुतली को भी पैर से भी स्पर्श न करे, अगर स्पर्श करे जिस प्रकार हथनी के अगस्पर्श से हाथी बन्ध जाता है उसी प्रकार मुनि भी कामराग में बंध जाता है ॥ २ ॥

इसी प्रकार साध्वियों के लिये भी पुरुषों का सग वर्जनीय है क्योंकि—पुरुष का सग साध्वी के ब्रह्मचर्य के नाश में असाधारण है। कहा भी है—

“ ઘૃતકુમ્ભસમા નારી, તપ્તાદ્ધારસમઃ પુમાન્ ॥

તસ્માદ્ ઘૃત ચ વહ્નિ ચ, નૈકત્ર સ્થાપયેદ્ બુધ ॥ ૧ ॥

अर्थात्—स्त्री धी के भरे हुए घड़े के समान है और पुरुष प्रज्वलित अद्धार के समान है। इसलिये विद्वान् को चाहिये कि घृत और अग्नि को एक जगह नहीं रखे ।

इस प्रकार उन लावण्यपूर मुनिराज ने विचार किया। विचार करने के पश्चात् काम से अति विहल बनी हुई उस वेश्या को उन्होंने

માટે મુનિઓએ ઠાકઠાની પુતળીનો પગથી પણ સ્પર્શ ન કરવો એક જો. કારણ કે, સ્પર્શ કરવાથી જેમ હાથી હાથણીના અગસ્પર્શથી બંધાઈ બંધ છે, એક રીતે મુનિ પણ કામ રાગમા બંધાઈ બંધ છે

કહ્યું છે કે—આ પ્રકારે સાધ્વિઓને માટે પણ પુરુષોનો સગ તબક્કો યોગ્ય છે, કારણ કે પુરુષોનો સગ સાધ્વિને બ્રહ્મચર્યના નાશમાં અસાધારણ હેતુ છે કહ્યું પણ છે—

ઘૃતકુમ્ભસમા નારી, તપ્તાદ્ધારસમઃ પુમાન્ ।

તસ્માદ્ ઘૃતં ચ વહ્નિં ચ નૈકત્ર સ્થાપયેદ્ બુધઃ ॥ ૧ ॥

શ્રી ધીના ભરેલા ઘડા સમાન છે અને પુરુષ પ્રજ્વલિત અગ્નિ સમાન છે, માટે વિદ્વાને બાણવું એક જો કે ધી અને અગ્નિને એક સ્થળે ન રાખે આ પ્રકારે તે લાવણ્યપૂર મુનિરાજે વિચાર કર્યો વિચાર કરીને પશ્ચીમ કામવિહળ બનેલી તે વેશ્યાને પોતાની અમૃતવૃત્ત્ય વાણીથી સમબંધવાને

टीका—‘ एग ’ इत्यादि ।

लाढः=अय देशीय शब्द, लाढ=प्रासुकैपणीयाहारेणात्मनिर्वाहको मुनिः
परीपहान्=क्षुत्पिपासादीन् अभिमूय=विजित्य, ग्रामे=अल्पजननिवासस्थाने, वा=
अथवा नगरे=प्राकारवेष्टितेऽपि, वा=अथवा निगमे=त्रिणिगजनस्थाने, वा=अथवा
राजधान्याम्=राजस्थाने, उपलक्षणमेतत् तेन मडम्बादिषु वा, एषु ग्रामादिषु यत्र
कुत्रापि स्थाने, एकः=रागद्वेपरहित, यद्वा-योग्यसहायस्योलामे एकः=एकाकी,
चरेदेव=अप्रतिपद्विहारेण चर्यां कुर्यादिव ।

मुनि का एक जगह रहतेर अरति आदि प्रसंग प्राप्त हो सकता है इसलिये उसे ग्रामानुग्रामविहाररूप चर्या करनी चाहिये । इस प्रकार चर्याके करने से ही नौवें चर्यापरीपह पर विजय पाई जाती है, इसी बात को इस गाथा द्वारा सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—‘ एग एव चरे’—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(लाढे—लाढ) ‘लाढ’ यह देशीय शब्द है । ‘प्रासुकैपणीय आहार से अपना निर्वाह करने वाला मुनि’ ऐसा इसका अर्थ है, अतः ऐसा मुनि (परीसहे—परीपहान्) क्षुत्पिपासा आदि परीपहों को (अभिमूय—अभिमूय) जीतकर (ग्रामे वा नगरे वापि निगमे वा राय हाणिषु—ग्रामे वा नगरे वाऽपि निगमे वा राजधान्याम्) थोड़े जनों का जिसमें निवास है ऐसे ग्राम में, अथवा प्राकार से जो वेष्टित है ऐसे नगर में, अथवा व्यापारी जनोंके स्थानभूत ऐसे निगम में, अथवा राजा का जहा रहना हो रहा है ऐसी राजधानी में, उपलक्षण से मडय आदि

मुनिने एक जगह रहवाथी अरति वगेरेना प्रसंग प्राप्त यर्क शक्ये छे तेथी तेजे एक गाभथी थीळ गाभ विहार इपी चर्या करवी लेछे जे आ प्रहारणी चर्याने करवाथी ज नवभा चर्यापरीपह छपर विजय प्राप्त थाय छे आ वातने सूत्रकार आ गाथा द्वारा प्रदर्शित करे छे—एग एव चरे—इत्यादि

अन्वयार्थ—लाढे—लाढ “ लाढ ” जे देशीय शब्द छे ‘प्रासुकैपणीय आहारथी पोताने निर्वाह करवावाणा मुनि’ जेवो आने अर्थ छे, जेठे आवा मुनि परीसहे—परीपहान् क्षुत्पिपासा आदि परीपहोने अभिमूय—अभिमूय अतीने ग्रामे वा नगरे वापि निगमेवा रायहाणिषु—ग्रामे वा नगरे वाऽपि निगमे वा राजधान्याम् थोडा मासुसे जेभा रहैत छे तेषा गाभभा, अथवा ठाटथी बेरायेछे छे तेषा नगरभा, अथवा वेपारी जनोने जेभा वास छे तेषा निगमभा, अथवा राजा जे रहैते छे तेषा राजधानीभा, उपलक्षणथी मडय आदि स्थानोभा आवा

एव मुनिवचनं श्रुत्वा सा वेश्या इतमनोरथा जाता, तदनन्तरमसौ क्रोधा-
वेशेन यष्टिमृष्टादिभिर्मर्मणि गात्रमहारं कृतवती । तदाऽसौ मुनिर्निर्गमनोपायम-
वलोक्य ब्रह्मचर्यं परिरक्षयन् वामुज्ज्वलवेदनां शुभाध्यवसायेन सहमान, हृष्य-
धेणिमारुद्रोऽन्तर्मुहूर्तं नैव प्राप्तकेवलज्ञानं कालं कृत्वा मोक्षं प्राप्तवान् । एवमन्यैरपि
मुनिभिः स्त्रीपरीपहः सोढव्यः ॥ १७ ॥

एकत्र स्थितस्य मुनेररत्यादिप्रसङ्गः स्यात्, अतो ग्रामानुग्रामश्चित्तव-
चर्यां कारयति चयाकरणेनैव चर्यापरीपहः सोढव्यः इत्याह—

मूलम्—एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसंहे ।

गांमे वा नंगरे वावि, निगमे वां रायहोणिय ॥१८॥

छाया—एक एव चरेत् लाढ, अभिभूय परीपहान् ।

ग्रामे वा नगरे वाऽपि, निगमे वा राजधान्याम् ॥ १८ ॥

तेरा कल्याण है । इस प्रकार मुनि के वचनों को सुनकर वेश्या बड़ी
लज्जित हुई । कोप के आवेश में आकर वह मुनिराज पर घोर उपसर्ग
करने लगी । उन मुनि को यष्टि एव मुष्टि आदि के प्रहारों से मर्म स्थलों में
आघात पहुँचाया । मुनि महाराज ने वहाँ से निकलना चाहा परन्तु
निकलने के जितने भी दरवाजे थे वे सब पहिले से ही बंद किये जा
चुके थे, अतः वहाँ से निकलने का जय उन्हें कोई उपाय नहीं सूझा तो
अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा में शुभाध्यवसाय से जीवन को समर्पित करते हुए
उन्होंने क्षपकश्रेणिपर आरोहण किया और अन्तर्मुहूर्त में केवल ज्ञान
की प्राप्ति कर मुक्ति का लाभ कर लिया । इसी प्रकार अन्यमुनिजनों
को भी इस स्त्रीपरीपह को जीतना चाहिये ॥ १७ ॥

ताड कल्याण छे आ प्रकारनां मुनिना वचनाने साबणी वेश्या पूण लज्जवार्ध
अर्ध अने टोपना आवेशमां आवीने ते मुनिराज ने घोर उपसर्ग आपवा लाजी
मुनिना मर्मस्थानेमां मुठीबोधी अने पजनी दातोधी आघात पहुँचावो
मुनिराजे त्याधी नीकणवा आहुं परन्तु नीकणवाना नेटवा रस्ता उता ते पह-
लेधी न बंध करी देवामां आव्या उता आधी जे स्थलेधी नीकणवाना के
पक्ष भाग न सुब्बो त्यारे पोताना ब्रह्मचर्यनी रक्षा माटे तेमजे शुभ अर्थ
वसायधी उपननु समर्पण करीने क्षपकश्रेणी पर आरोहण करुं अने अत
मुहूर्तमां केवलज्ञाननी प्राप्ति करी मुक्तिने लाभ लीषा आ रीते अन्य मुनि-
जनोके पक्ष श्री परीपहने उपवे लेखे ॥ १७ ॥

टीका—' एग ' इत्यादि ।

लाढः=अय देशीय शब्द, लाढ =प्रासुकैपणीयाहारेणात्मनिर्वाहको मुनिः
परीपहान्=क्षुत्पिपासादीन् अभिभूय=विजित्य, ग्रामे=अल्पजननिवासस्थाने, वा=
अथवा नगरे=प्राकारवेष्टितेऽपि, वा=अथवा निगमे=त्रिगिजनस्थाने, वा=अथवा
राजधान्याम्=राजस्थाने, उपलक्षणमेतत् तेन महम्वादिषु वा, एषु ग्रामादिषु यत्र
कुत्रापि स्थाने, एक=रागद्वेपरहित, यद्वा-योग्यसहायस्योत्तमे एकः=एकाकी,
चरेदेव=अप्रतिवद्धविहारेण चर्या कुर्यादिव ।

मुनि का एक जगह रहतेर अरति आदि प्रसंग प्राप्त हो सकता है
इसलिये उसे ग्रामानुग्रामविहाररूप चर्या करनी चाहिये । इस प्रकार
चर्याके करने से ही नौवें चर्यापरीपह पर विजय पाई जाती है, इसी बात
को इस गाथा द्वारा सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—' एग एव चरे'—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(लाढे—लाढ) 'लाढ' यह देशीय शब्द है । 'प्रासुक एपणीय
आहार से अपना निर्वाह करने वाला मुनि' ऐसा इसका अर्थ है,
अतः ऐसा मुनि (परीसहे—परीपहान्) क्षुत्पिपासा आदि परीपहों को
(अभिभूय—अभिभूय) जीतकर (गामे वा नगरे वाधि निगमे वा राय
हाणिष्—ग्रामे वा नगरे वाऽपि निगमे वा राजधान्याम्) थोड़े जनों का
जिसमें निवास है ऐसे ग्राम में, अथवा प्राकार से जो वेष्टित है ऐसे
नगर में, अथवा व्यापारी जनोंके स्थानभूत ऐसे निगम में, अथवा राजा
का जहा रहना हो रहा है ऐसी राजधानी में, उपलक्षण से मध्य आदि

मुनिने एक जगह रहेवाथी अरति वगैरेना प्रसंग प्राप्त धर्ष शक्ये छे
तेथी तेछे एक गाभथी थील गाभ पिहार र्थी चर्या करवी जेठ जे आ
प्रकारनी अथाने करवाथी ज नवभा अर्थापरीपह उपर विजय प्राप्त धाय छे
आ वातने सूत्रकार आ गाथा द्वारा प्रदर्शित करे छे—एग एव चरे—इत्यादि

अन्वयार्थ—लाढे—लाढ " लाढ " जे देशीय शब्द छे 'प्रासुक ऐपणीय
आहारथी पोताने निर्वाह करवावाणा मुनि' जेथे आने अर्थ छे, जेठे आवा मुनि
परीसहे—परीपहान् क्षुत्पिपासा आदि परीपहोने अभिभूय—अभिभूय अतीने
गामे वा नगरे वाधि निगमेवा रायहाणिष्—ग्रामे वा नगरे वाऽपि निगमे वा राजधान्याम्
थोडा भासुसे जेभां रहेवा छाय तेवा गाभभां, अथवा केठथी घेरायेल छाय
तेवा नगरभा, अथवा वेपारी जनोने जेभा वास छाय तेवा निगमभा, अथवा राज
अर्थां रहेतो छाय तेवी राजधानीभां, उपलक्षणथी मउव आदि स्थानोभां आवा

तथा चाग्रे वक्ष्यति—

न वा लभिज्जा निउण सहाय, गुणाहियं वा गुणओ सम वा ।

एगो वि पावाइँ विवज्जयतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १ ॥

(उत्त ३२ अ. ५ गा)

छाया—न वा लभत् निपुण सहाय, गुणाधिकं वा गुणत. सम वा ।

एकोऽपि पापानि विवर्जयन्, विहरेत् कामेषु असज्ज ॥

उक्तमन्यत्रापि—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जितः ।

चर्यामेकोऽपि कुर्यात्, विविधामिग्रहैर्युत ॥ १ ॥ इति ।

स्थानों में जहा कहा भी वह (एग एव चरे—एकाकी एव चरेत्) राग द्वेष से रहित होकर समुदाय के साथ अथवा योग्य सहाय के अभाव में अप्रतिषध विहार से अकेला ही विचरे । कहा भी है—

न वा लभिज्जा निउण सहाय, गुणाहिय वा गुणओ सम वा ।

एगो वि पावाइँ विवज्जयतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥

(उत्त० ३२ अ ५ गा)

तात्पर्य इसका यह है कि साधु को जय योग्य सहायक (शिष्य आदि) की प्राप्ति न हो तो वह निष्पाप होकर, तथा इच्छाओं को जीतता हुआ अकेला भी विहार करे । अन्यत्र भी यही बात कही है—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जित ।

चर्यामेकोऽपि कुर्यात्, विविधामिग्रहैर्युत ॥ १ ॥

कै० पक्ष स्थानों से एग एव चरे—एकाकी एव चरेत् राग द्वेषही रहित अनी समुदायनी साथे अथवा योग्य सहायता अभावमां अप्रतिषध विहारही अकेला व विचरे कर्तुं छे—

न वा लभिज्जा निउण सहाय, गुणाहियं वा गुणओ सम वा ।

एगो वि पावाइँ विवज्जयतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ उ ३२ अ ५

आनु तात्पर्य अे छे के, साधुने न्यारे योग्य सहायक शिष्य आदिनी प्राप्ति न होय तो ते निष्पाप अनीने इच्छाओंने छतीने अकेला पक्ष विहार करे अन्यत्र पक्ष आर वात कहेल छे—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जितः ।

चर्यामेकोऽपि कुर्यात्, विविधामिग्रहैर्युतः ॥ ॥

अयं भावः—यथाकल्प ग्रामनगरादावनियतवास कुर्वता मुनिनाऽऽलस्यपरिवर्जनेन तत्र तत्रानासक्त्या च ग्रामानुग्रामविहरणात्मकचर्याकरणादेव चर्यापरीपहः सोढो भवति । यस्तु परिक्षीणनह्यालस्तेन स्थिरवासे कृते भिक्षाचर्यायां कथंचित् स्वयं प्रवृत्त्याऽपि स परीपहः सोढो भवतीति ।

ननु—चर्यापरीपहो न भवत्यागन्तुकः, कथं तर्हि स्वयमुदीरितायाश्चर्यायाः परीपहत्वमिति चेत्, उच्यते—कल्पस्यापि कस्यचित् कष्टकारित्वेन सन्नमानत्वात्

यथाकल्प ग्राम नगर आदि में अनियतवास करने वाला अप्रतिपन्ध विहारी मुनि नाना प्रकार के अभिग्रहों से युक्त होकर अकेला अर्थात्—सम्प्रदाय में रहते हुए भी रागद्वेष रहित विचरे ॥१॥

प्रमाद का परिहार करते हुए ग्रामनगरादि में आसक्ति रहित होकर ग्रामानुग्राम विचरणरूप चर्या के करने से ही यह चर्यापरीपह जीता जाता है । जिसका जघायल क्षीण हो चुका है उस साधु को भी स्थिरवास करने पर भिक्षाचर्या में कथंचित स्वयं प्रवृत्ति से यह परीपह सहन किया जाता है । आये हुए कष्ट का नाम परीपह है । चर्या तो आनेवाली नहीं है यह तो स्वयं उदीरित की जाती है अतः चर्या को परीपहरूप कैसे माना जा सकता है ? इसका समाधान इस प्रकार है—यद्यपि चर्या साधु का कल्प है तो भी किसी२ कल्प को कष्टकारी होने से वह सहन करना ही पड़ता है । चर्या भी इसी प्रकार है । अतः भगवानने इसको परीपहरूप फरमाया है । अपने कल्प का प्रमाद से

यथाकल्प ग्राम नगर आदिमां अनियतवास करवावाण्ण अप्रतिपन्ध-विहारी मुनि विविध प्रकारना अभिग्रहोधी युक्त भनी ज्येठला, अर्थात्—सम्प्रदायमां रहेवा छ्तां पक्ष रागद्वेष रहित विचरे प्रमादने त्याग करीने ग्राम नगर आदिमां आसक्ति रहित भनीने ग्रामानुग्राम विचरणरूप यथां करवाधी न्ण आ यथां परीपह छ्ताय छे जेनु न्ण धामण क्षीण भनी गयेल छे ज्येवा साधुज्ये पक्ष स्थिरवास करवाधी भिक्षाचर्यामां कडेवामां आवेल स्वयं प्रवृत्तिधी आ परीपह सहन करवाभा आवे छे आवेवा दुःखेने सहन करवां तेनु नाम परीपह छे यथां आवती नथी परंतु स्वयं उदीरित करवाभा आवे छे आधी यथोने परीपहरूप केम मानवाभा आवे छे ? तेनु समाधान आ प्रकारधी छे—कदाच यथां साधुने कल्प छे तो पक्ष कष्ट कष्ट कल्प कष्टकारी होवाधी ते सहन करवाण्ण पडे छे यथोने पक्ष आण्ण प्रकार छे भाटे भगवाने तेने परीपहरूप फरमावेल छे योताना कल्पनु प्रमादधी आचरण न कस्तु ते परीपह

तथा चाग्ने वक्ष्यति—

न वा लभिज्जा निउण सहाय, गुणाहिय वा गुणओ सम वा ।

एगो वि पावाइँ विवज्जयतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १ ॥

(उक्त ३२ अ. ५ गा)

छाया—न वा लभत्त निपुण सहाय, गुणाधिक वा गुणतः सम वा ।

एकोऽपि पापानि विवर्जयन्, विहरेत् कामेषु असज्जन् ॥

उक्तमन्यत्रापि—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जित ।

चर्यामेकोऽपि कुर्यात्, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ १ ॥ इति ।

स्थानों में जहा कहा भी वह (एग एव चरे—एकाकी एव चरेत्) रा
बेप से रहित होकर समुदाय के साथ अथवा योग्य सहाय के अभाव
में अप्रतिषध विहार से अकेला ही विचरे । कहा भी है—

न वा लभिज्जा निउण सहाय, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।

एगो वि पावाइँ विवज्जयतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥

(उक्त० ३२ अ ५ गा)

सात्पर्य इसका यह है कि साधु को जब योग्य सहायक (शिष्य
आदि) की प्राप्ति न हो तो वह निष्पाप होकर, तथा इच्छाओं को
जीतता हुआ अकेला भी विहार करे । अन्यत्र भी यही बात कही है—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जितः ।

चर्यामेकोऽपि कुर्यात्, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ १ ॥

ठोई पक्ष स्थले ते एग एव चरे—एकाकी एव चरेत् राग द्वेषधी रहित अनी समु
हायनी साथे अथवा योग्य सहायता अभावमा अप्रतिषध विहारधी अकेला
वियरे कहुं छे—

न वा लभिज्जा निउण सहायं, गुणाहियं वा गुणओ सम वा ।

एगो वि पावाइँ विवज्जयतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ उ ३२, अ ५

आनु सात्पर्यं अे छे के, साधुने न्यारे योग्य सहायक शिष्य आदिनी
प्राप्ति न होय तो ते निष्पाप अनीने छिछाओने अतीने अकेला पक्ष विहार
करे अन्यत्र पक्ष आन वात कहेल छे—

ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानबन्धविवर्जितः ।

चर्यामेकोऽपि कुर्यात्, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥ १ ॥

छाया—असमानश्चरेद् मिधुः, नैव कुर्यात् परिग्रहम् ।

अससक्तो गृहस्थैः, अनिकेतः परित्रजेत् ॥ १९ ॥

टीका—‘असमाणो’ इत्यादि ।

मिधुः=मुनिः, असमान = गृहस्थैरन्यतीर्थिकैश्चासदृश, तत्राप्यमूर्छारहितत्वेन गृहस्थैरसदृशः, अनियतविहारादिनाऽन्यतीर्थिकैरसदृश इति भावः । यद्वा—मानस-रहितं समानं, न तथेत्यसमानं, अभिमानवर्जित इत्यर्थः, यद्वा—‘असमाणे’ इत्यस्य ‘असन्निति’ छाया, असन्निव-असन्, यत्र विद्यते तत्राप्यविद्यमान इव, अल्पतरकालस्यापित्वेन तत्र तत्र तत्सत्ताया अनियतत्वात्, तत्र तत्र विद्यमानत्वेऽपि तत्तद्ग्रामोपाश्रयादिषु ममत्वाभिमानाभावाच्च । इममेवार्थं प्रकटयन्नाह—‘नैव कुञ्जा’ इत्यादि । परिग्रहम्=तत्तद्ग्रामोपाश्रयादिषु स्थानेषु द्रव्यभावपरिग्रहं नैव कुर्यात्= न धारयेत् । उक्तञ्च—

“ गामे कुले वा नयरे य देसे, ममति भाव न कर्हिचि कुञ्जा ” ॥ इति ॥

‘असमाणे’—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(असमाणे-असमान) गृहस्थरूपआधार की मूर्च्छा से रहित होने के कारण गृहस्थों के समान नहीं, तथा अनियत विहार आदि द्वारा अन्यतीर्थिकों के समान नहीं, अथवा-असमान-मान से वर्जित, या “असमाणे-असन्”—अल्पतर काल तक ग्राम नगरादिमें रहने वाला होने की घजह से वहां नहीं जैसा ऐसा (मिक्खू-मिधुः) मुनि (परिग्रह-नेव कुञ्जा-परिग्रहं नैव कुर्यात्) उनर ग्राम एव उपाश्रयादिकों में द्रव्य एव भावरूप परिग्रह से नहीं बचे-उनमें ममत्व भाव न करे । कहा भी है—

“ गामे कुले वा नयरे य देसे, ममति भाव न कर्हिचि कुञ्जा ॥ ”

असमाणे इत्यादि

अन्वयार्थ—असमाणे-असमानः गृहस्थरूप आधारणी मूर्च्छाधी रहित होवाने कारणे गृहस्थेना समान नही, तथा अनियतविहार आदि द्वारा अन्य तीर्थी ज्ञाना समान नही, अथवा-असमान-मानधी वलत्, या असमाणे-असन् अल्पतर काल सुधी ग्राम नगर आदिमां रहैवावाणा होवाना कारणे त्या नही जेवा जेवा मिक्खू-मिधुः मुनि परिग्रहं नेव कुञ्जा-परिग्रहं नैव कुर्यात् जे जे ग्राम अने उपाश्रय आदिमां द्रव्य अने भावरूप परिग्रहधी न अधाय-तेमा ममत्वभाव न राणे कहु छे छे—

“ गामे कुले वा नयरे य देसे, ममति भाव न कर्हिचि कुञ्जा ॥ ”

परीपहरूपत्व भवति, तत्र प्रमादेन स्वकल्पानाचरणमेव परीपहकृत' पराजयः, तस्मात् प्रमादवर्जितेन यथाकल्पचर्याराधनेनैव चर्यापरीपह सोढो भवतीति ॥१८॥

उक्तमर्थं हठीकुर्वन्नाह—

मूलम्—असमाणे चरे भिक्खू, नेवं कुज्जा परिग्गह ।

असत्सत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥ १९ ॥

आचरण नहीं करना ही परीपहजनित पराजय है। इसलिये प्रमाद वर्जित होकर यथाकल्प चर्या के आराधन से ही चर्यापरीपह सहन किया जाता है। तभी चर्यापरीपहजयी साधु कहलाता है।

भावार्थ—चतुर्मास कल्प को छोड़कर मुनि के लिये एकत्र स्थिर रहना जैनशासन की आज्ञा से बाहिर है। कोई खास कारण हो तो मुनि एकत्र वास कर सकता है, अन्यथा नहीं। अतः आत्मकल्याण की भावना से अथवा 'जनता में धर्म का प्रचार होता रहे' इस शुभ अभ्यवसाय से मुनि को नगर ग्राम आदि स्थानों में विचरते रहना बाहिये। एक स्थान पर रहने वाले साधु को स्थानजन्य मोह सता देता है, अतः वह चाहे एकाकी रूप में विहार करे चाहे योग्य सहायकों के साथ विहार करे, परन्तु विहार अवश्य करे। विहार में सदा अपने संयम की पूरी दृढता रक्खे। क्षुत्पिपासा आदि परीपह सतावें तो भी उनकी परवाह न करे। इसका नाम चर्यापरीपहजय है ॥ १८ ॥

जनित पशव्य छे भाटे प्रमादथी इर रहीने यथाकल्प चर्याना आराधनाथी व चर्यापरीपह सहन करी शक्य छे जेव चर्यापरीपह एतेव साधु कहेवाय छे

भावार्थः—चतुर्मास कल्पने छोड़ने मुनि भाटे जेठ स्थले स्थिर रहेवु जैनशासननी आज्ञाथी भङ्गार छे ठोडि भास करवु छेय तो मुनि जेठ स्थले वास करी शके छे, ते सीवाय नही आथी आत्मकल्याणनी भावनाथी अथवा 'जनतामां धर्मना प्रचार यतो रहे जेवा शुभ आशयथी मुनिजे नगर ग्राम आदि स्थानेमां विचरता रहेवु जेठजे. जेठ स्थान उपर रहेवावाणा साधुने स्थानजन्य मोह सतावे छे आथी भडे ते जेठकी रूपमां विहार करे जगर योज्य सहायकेनी साथे विहार करे, परतु विहार अवश्य करे. विहा रमां पोताना सधमनी सदा पूरी द्रढता राजे, क्षुत्पिपासा आदि परीपह सतावे तो पशु तेनी परवा न करे. आनु नाम चर्यापरीपहने विवक्ष छे ॥

छाया—असमानश्चरेद् भिक्षु, नैव कुर्यात् परिग्रहम् ।

असक्तो गृहस्थैः, अनिकेतः परित्रजेत् ॥ १९ ॥

टीका—‘असमानो’ इत्यादि ।

भिक्षुः=मुनिः, असमानः=गृहस्थैरन्यतीर्थिकैश्चासदृश, तत्राप्यमूर्च्छारहितत्वेन गृहस्थैरसदृश, अनियतविहारादिना अन्यतीर्थिकैरसदृश इति भावः । यद्वा—मानस-हितं समानं, न तथेत्यसमानं, अभिमानवर्जितं इत्यर्थः, यद्वा—‘असमानो’ इत्यस्य ‘असन्निति’ छाया, असन्नित्वात्-असन्, यत्र विद्यते तत्राप्यविद्यमान इव, अल्पतरकालस्यापित्वेन तत्र तत्र तत्सत्त्वात्, तत्र तत्र विद्यमानत्वेऽपि तच्चव्यामोपाश्रयादिषु ममत्वाभिमानाभावाच्च । इममेवार्थं प्रकटयन्नाह—‘नैव कुञ्जा’ इत्यादि । परिग्रहम्=तच्चव्यामोपाश्रयादिषु स्थानेषु द्रव्यभावपरिग्रहं नैव कुर्यात्= न धारयेत् । उक्तञ्च—

“ गामे कुले वा नयरे य देसे, ममति भाव न कर्हिचि कुञ्जा ” ॥ इति ॥

‘असमानो’—इत्यादि ।

अन्वयार्थः—(असमानो-असमानः) गृहस्थरूप आचार की मूर्च्छा से रहित होने के कारण गृहस्थों के समान नहीं, तथा अनियत विहार आदि द्वारा अन्यतीर्थिकों के समान नहीं, अथवा-असमान-मान से वर्जित, या “असमानो-असन्”—अल्पतर काल तक ग्राम नगरादिमें रहने वाला होने की वजह से वहा नहीं जैसा ऐसा (भिक्षु-भिक्षुः) मुनि (परिग्रह-नैव कुञ्जा-परिग्रह नैव कुर्यात्) उन २ ग्राम एव उपाश्रयादिकों में द्रव्य एव भावरूप परिग्रह से नहीं धरे-उनमें ममत्व भाव न करे। कहा भी है—

“ गामे कुले वा नयरे य देसे, ममतिभाव न कर्हिचि कुञ्जा ॥ ”

असमानो इत्यादि

अन्वयार्थः—असमानो-असमानः गृहस्थरूप आचारकी मूर्च्छांती रहित होवाने कारणे गृहस्थानां समान नही, तथा अनियतविहार आदि द्वारा अन्य तीर्थी-जाना समान नही, अथवा-असमान-मानती वशत, या असमानो-असन् अल्पतर काल मुधी ग्राम नगर आदिमां रहेवावाणा होवाना कारणे त्यां नही जेवा जेवा भिक्षु-भिक्षुः मुनि परिग्रह नैव कुञ्जा-परिग्रह नैव कुर्यात् जे जे ग्राम अने उपाश्रय आदिमां द्रव्य अने भावरूप परिग्रहती न अ धार्य-तेमा ममत्वभाव न राये । कथं छे क—

“ गामे कुले वा नयरे य देसे, ममति भाव न कर्हिचि कुञ्जा ॥ ”

ममत्वाभावः कथं स्यादित्याह—गृहस्थैः=श्रावकैः, असंसक्त=रागसंसर्गवर्जित इत्यर्थः, अनिकेत=गृहवर्जितः नैकत्र प्रतिबद्धस्थितिक इत्यर्थः, परिव्रजेत्=सर्वतो विहरेत् न तु नियतदेशादावेव । अयं भावः—गृहस्थैः सह रागसंसर्गकरणे, एकत्र प्रतिबद्धास्पदस्त्वे, नियतदेशग्रामनगरादिविहारिताया वा ममत्वबुद्धिः स्यात् । तस्मादात्मस्य निरस्य ग्रामनगरकुलादिष्वनियतवसतिनिर्ममत्वः सन् यथाकल्पमा सक्तिरहितव्यामाचरेदिति ।

अर्थात्—ग्रामादि में कहीं भी ममत्व नहीं करे । तथा (गृहस्थेहि असंसक्तो-गृहस्थै असंसक्त) गृहस्थों के साथ राग के संसर्ग से वर्जित उनमें मोहरूप परिणाम से रहित होकर वह (अणिएओ-अनिकेतः) स्थानादि की ममतारहित होता हुआ (परिव्रज्य-परिव्रजेत्) ग्राम नगरादि में विहार करता रहे । इसका भाव यह है कि गृहस्थों से रागात्मक परिणति करने पर साधु को एक ही जगह प्रतिबद्ध होकर रहने का प्रसंग प्राप्त हो सकता है, इस परिस्थिति में नियत देश, ग्राम आदि में ही उसका विहार होगा, अतः उसमें ममत्वबुद्धि का संशय हो जायगा । इसलिये प्रमाद का परित्याग कर ग्राम नगर आदि में अनियतरूप से विचरने वाले मुनि में निर्ममत्वभाव रहता है । इसलिये साधु को चाहिये की वह गृहस्थों से असंसक्त होकर यथाकल्प अनियतविहाररूप व्यापक करता रहे ।

भाषार्थ—इस गाथा द्वारा सूत्रकार १८वीं गाथा में कहे हुए ही

अर्थात्—ग्रामादिमां कथांय पक्ष ममत्व न करे तथा गृहस्थेहि असंसक्तो-गृहस्थै-असंसक्त. गृहस्थेनी साथे रागना संसर्गाधी रहित-तेमां मोहद्रूप परिष्ठाभधी रहित मनीने ते अणिएओ-अनिकेत स्थानादिकनी ममता रहित धर्धने, परिव्रज्य-परिव्रजेत् आम नगर आदिमां विहार करता रहे. तेना भावार्थे अे अे के, गृहस्थे साथे रागात्मक परिष्ठाती कस्वाधी साधुने भाटे अेक अज्याअे प्रतिबद्ध धर्धने रहेवाने प्रसज प्राप्त थाय अे आ परिस्थितिमा नियत आमनगर आदिमाअे ते विचरये, आधी अेनामां ममत्वनी भावना अल्पन थाये. भाटे प्रमादने परित्याग करी आमनगर आदिमां अनियत रूपधी विचरनार मुनिमां निर्ममत्वभाव रहे अे आटला भाटे अ साधु भाटे ते गृहस्थेधी असंसक्त मनी यथाकल्प अनियत विहारस्वरूपी अर्थ करता रहे ते अइरी अे भाषार्थ—आ गाथा द्वारा सूत्रकार १८ भी गाथां कहेल

अथ दृष्टान्त—

कोल्लाकसनिवेशे बहुश्रुत शान्तो दान्तः परीपहोपसर्गसहने सुधीरः क्षमा-
दिगुणगम्भीरः कर्मधूलिनिवारणे समीरः, श्रुतचारित्र्यमाराधनपरः क्षीणजह्वा-
वलो निःसङ्गनामक आचार्य आसीत् । एकदा तत्र दुर्भिक्षे जातेऽसौ स्वशिष्य

अर्थ की पुष्टि कर रहे हैं । जब गृहस्थ जनों का सामान्य भी परिचय मनुष्य को उनमें ममत्वबुद्धि से जकड़ देता है तो फिर साधु की आत्मा को वह भाव वहाँ जकड़ न देगा यह कैसे हो सकता है । इसी-
लिये साधु को अनियत विहार कहा गया है । इसमें गृहस्थों के ससर्ग से साधु बचा रहता है । ससक्तिभाव उसका उनमें नहीं हो पाता है । सामान्य परिचय में ससक्ति नहीं आती है । अधिक परिचय से यह दोष पैदा होता है । मूर्च्छापरिणति का नाम ही परिग्रह है । यह परि-
ग्रह द्रव्य एव भाव के भेद से दो प्रकार का होता है । साधु इन दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित होता है । रागादिकभाव भावपरिग्रह, एव क्षेत्र वस्तु आदि द्रव्य-परिग्रह है । अनियत विहार करने वाले साधुमें यह दोष नहीं हो सकता है । इसीलिये उसको सदा यथाकल्प अनियत विहार करना भगवान ने कहा है ।

दृष्टान्त—कोल्लाक नाम के सन्निवेश में बहुश्रुत, शान्त, दान्त परीपह एवं उपसर्ग के सहन करने में धीर धीर क्षमादि गुणों से गम्भीर, कर्म धूलि के निवारण करने में पवनतुल्य निःसङ्ग नाम के एक आचार्य थे ।

ठरे छे ब्यारे गृहस्थ जेना साथे सामान्य परिचय पबु मनुष्यने तेनी साथे ममत्व बुद्धिथी जकडी डे छे तो पछी साधुना आत्माने ते भाव त्या न जकडे ते केम जनी शके आटला भाटेज साधुने अनियत विहार सुखवायेछ छे आमा गृहस्थना वधु पठता ससर्गथी साधु जथी जय छे, ससक्तिभाव तेना तेमा आवतो नथी, सामान्य परिचयथी ससक्तिभाव ऊपन्न यता नथी अधिक परिचयथी आ डोयो पेदायाम छे मूर्च्छापरिणतीनु नाम ज परिग्रह छे आ परिग्रहना द्रव्य अने भाव जेम जे प्रकारना वेद छे साधु आ जन्ने प्रकारना परिग्रहोथी पर छोय छे रागादिकभाव भावपरिग्रह अने क्षेत्र वस्तु आदि द्रव्य परिग्रह छे अनियत विहार करनार साधुमा आ डोष आवतो नथी आटला भाटे साधुने सहाय यथाकल्प अनियत विहार करवानु भगवाने कहु छे

दृष्टान्त—कोल्लाक नामका सन्निवेशमा बहुश्रुत, शान्त, दान्त, परीपह अने उपसर्ग सहन करवाभा धीरवीर, क्षमादि गुणोधी गम्भीर, कर्मरजनु

विक्रमाचार्यं गच्छसहितं दूरदेशे प्रेषितवात् । स्वयं तु एकेन शिष्येण सह बसन् तत्रैव नगरे नव भागान् कल्पयित्वा यथाकल्पमज्ञातकुले रूपशुष्कमन्तप्रान्तमन्नादिकं गृहीत्वा विहरति स्म । जराक्रान्तोऽपि चर्यापरीषद् सोढुकामः कृताभिमिहत्वात् स्वयमिक्षार्थमटति स्म । एव चर्यापरीषद् सहमानस्तमभिषद् यावज्जीवं निर्वाणालोचितप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा स्वकल्याण साधितवान् ।

श्रुतचारिग्ररूप धर्म की आराधना करने में ही इनका जीवन का अधिक से अधिक समय निकलता था । अवस्थाप्राप्त होने से इनका जंघायल क्षीण हो गया था । एक समय की बात है कि वहाँ पर भयंकर दुर्मिक्ष पड़ गया । आचार्य ने परिस्थिति का अवलोकन कर अपने विक्रमाचार्य शिष्य को गच्छसहित दूर देश में विहार करा दिया और स्वयं एक शिष्य के साथ उसी नगरी में रहे । यहाँ नौ भागों की कल्पना कर वे यथाकल्प अज्ञातकुल में स्वस्थ, शुष्क, अन्त प्रान्त आहारादिक ग्रहण कर वहाँ विचरण करते रहे । यद्यपि इनकी वृद्धावस्था थी चलने में पूरी शक्ति नहीं थी तो भी चर्यापरीषद् को सहन करने की अभिलाषा से वे विविध अभिग्रह ग्रहण करते और स्वयं शिक्षा के लिये जाते । इस प्रकार चर्यापरीषद् को सहन करते-ते-उन्होंने अपने अभिग्रहों का अच्छी तरह से निर्वाह किया । अन्त में अपने कर्तव्यों की आलोचना कर उनके प्रति निवृत्त होकर आत्मकल्याण कर लिया ।

निवारण करवाभां पवनतुल्य ज्येष्ठ, ज्येष्ठ नि स्रज नामना आचार्यं इति श्रुतश्चरि
रूप धर्मनी आराधना करवाभां ज तेमना लवननो मोटे। बाज तेजो गणता
इति अवस्था यवाधी तेमनु ज धावण क्षीण गनी अजुं इतु ज्येष्ठ समझनी
वात छेके, त्यां भयकर ज्येष्ठे दुहाण पड्यो, आचार्ये परिस्थितिनु अवलोकन
करी पोताना विक्रमाचार्यं नामना शिष्यने ज्येष्ठ साथे इर देशभां विहार
करावराज्ये। अने पोते ज्येष्ठ शिष्यनी साथे ते नगरभा रक्षा। त्यां नव भागेनी
कल्पना करी तेज्ये यथाकल्प अज्ञात कुर्णभांधी रक्ष, शुष्क अन्तप्रान्त आहार आदि
ग्रहण करी त्यां विचरता रक्षा ज्येष्ठे तेमनी वृद्धावस्थाने कारखे तेमनामांवाहवानी
पूरी शक्ति न इती तो पद्य चर्यापरीषदने सहन करवानी अभिलाषाधी तेज्ये
विविध अभिग्रह करता अने स्वयं शिक्षा भाटे जता आ प्रकारे चर्यापरी
षदने सहन करता करता पोताना अभिग्रहोने सारी रीते निर्वाह करी अत
समय उपर पोताना कर्तव्योनी आहोवना करी तेनाही निवृत्त बर्ध
आत्मकल्याण प्राप्त कथुं

अघ्नान्योऽपि दृष्टान्तः—

उज्जयिन्यां वैश्रवणनामक आचार्य समवसत । स स्वशिष्यपरिवारैः सह चर्यापरीपह सहमानो ग्रामानुग्राम विहारं कदाचिदटव्यां प्रविष्ट । आचार्य इव शिष्या अपि चर्यापरीपहसहिष्णव आसन् । तत्र सर्वे धूमिभिरकस्माद् मार्गो विस्मृतः । तत्रैव शर्करामभृथिवीवद् विकीर्णतीक्ष्णरूपकिते निम्नोन्नतशिलाखण्डदुर्गमे भयङ्करे विपिने गच्छता तेन दिवसो यापित , रात्रौ च वृक्षाधस्तच्छे निवास कृत , एव शिष्यपरिवारैः सहासौ भ्रमन्नटव्या अन्त न प्राप, नापि कश्चिद् ग्रामो दृष्टि-

द्वितीय दृष्टान्तः—

उज्जैनी नगरी में वैश्रवण नाम के आचार्य पधारे । वे अपने शिष्यपरिवार के साथ चर्यापरीपह को सहन करते हुए ग्रामानुग्राम विहार करते-कदाचित् मार्ग भूल जाने से एक अटवी में जा पहुँचे । इनके समान ही चर्यापरीपह सहन करने में समर्थ इनके शिष्य भी थे । अकस्मात् वे सब के सब ही मार्ग भूल गये । समस्त दिवस उन सबका शर्करा पृथ्वी के समान, इधर उधर फैले हुए तीक्ष्ण काटों वाले तथा नीचे ऊँचे शिलाखड्डों से दुर्गम उस भयकर अटवी में ही समाप्त हो गया । रात्रि का समय आ गया । दूसरा कोई उपाय नहीं होने से सभी ने वहीं एक वृक्ष के नीचे ठहर कर रात्रि व्यतीत की । प्रातः काल हुआ । सूर्य की किरणें निकली । मार्ग की तलाश करने लगे परन्तु मार्ग का पता नहीं चला । अटवी कितनी पड़ी थी इसका कुछ अन्त ही नहीं जात हो सका, और न “ यद्वा से ग्राम कितनी दूर है ”

दृष्टान्त षीञ्ज-उज्जैनी नगरीमा वैश्रवण नामना आचार्य पधारे। तेजो पोताना शिष्य परिवारनी साथे चर्यापरीपह सहन करता करता ग्रामानुग्राम विहार करता करता मार्ग भूलवाधी अमानक जेठ ज गलमा जठ यठया। चर्यापरीपह सहन करवामा तेमना समान ज समर्थ तेमना शिष्ये। पञ्च इता जोगानुजोग तेजो पधा मार्ग भूली गया शर्करामभृथिवीनी समान, आडी तांडी शोभेर तीक्ष्ण कांटाओधी पधराओली तथा उंची नीची शिलाओधी दुर्गम जेवी भयानक अटवी-ज गलमा आओजे दिवस वीती गयो। रात्रीने समय आवी पडोअतां षीञ्जे डोअ पञ्च उपाय न होवाधी सवणाओ जेठ आड नीचे रडीने रात वितावी सवार पठयुं, सूर्यना किरणो देआया, मार्गनी तपास करी परंतु अडार नीक जवाने। मार्ग न जठयो ज गल मोदु इतु तेना अतनी पञ्च पधर पडती न इती अने गाम आ श्यगेधी डेटु दर छे ते पञ्च जण्णी शकतुं न

पथे समायातः। स च तस्मिन्नेव विपमरूपकितपर्वतीयमार्गं चलन्नपि श्यापरीपदैः पराजितो नाभूत्। आचार्यो यदति-अस्मिन् वने चलतामस्माकं त्रयो दिवसा अतीताः, अचिदाहारो न लब्धो नापि पानीयम्।

एतदभ्यन्तरे केनचिद्देवेन वैक्रियशक्त्या तत्र शोभनो राजमार्गो निर्मितः। तत्र कस्यचिन्नृपस्य चतुरङ्गिणी सेना गच्छति, बह्वथ शिपिका नैर्वाप्तमाना

इस घात का पता ही चल सका। आचार्य महाराज शिष्यमडली सहित उसी जंगल में घूमते रहे। कभी २ चलते २ विपम एव कटकित पर्वत के मार्ग पर पहुँच जाते तो भी इनके चित्त में खेदखिन्नता नहीं आती। 'श्यापरीषद् सहन करना यह साधु की कर्तव्य कोटि में है' इस ख्याल से ये उसको शांति के साथ सहन करते रहे। चलते २ जब ठीक तीन दिन व्यतीत हो चुके तब आचार्य महाराज ने शिष्यों से कहा कि देखो-इस घन में लगातार अपने लोग तीन दिन से चल रहे हैं फिर भी मार्ग नहीं मिल रहा है। आहार पानी का भी ठिकाना नहीं पड़ा, अतः समस्या विकट घन रही है।

आचार्य महाराज जय इस प्रकार अपने शिष्यों से कह रहे थे कि इतने में ही किसी देवने अपनी वैक्रियिक शक्ति के द्वारा उस अटबी में एक सुन्दर राजमार्ग बना दिया, और इस प्रकार का दृश्य दिख लाया कि उस पर होकर किसी राजा की चतुरङ्गिणी सेना जा रही है।

इतु आचार्य महाराज शिष्य भङ्गी साथे जे जगलमां प्रभु भटक्या-
यावता यावतां ठाई वेणु स्थणे विषम जेवा हांटाणा टेकरावाणा रस्ते
अधी जाता तो पञ्च तेमना चित्तमा भेड-भिन्नता आवती नही "अभ्यापरीषद्
सहन करवे जे साधुनी कर्तव्य हाटीमा छे आ ज्यावथी तेजो आवता परीषदोने
शान्ती साथे सहन करता रखा यावतां यावतां न्यारे त्रक्षु त्रक्षु द्विसो वीती
गया त्यारे आचार्यमहाराजे शिष्योने कक्षु के, बुज्यो आ वनमां आपखे त्रक्षु
त्रक्षु द्विसोथी भटकीजे छीजे छतां पञ्च पहाड नीकणवानो हाई मार्ग देखातो
नही। आहार पाणीनु पञ्च ठेकाळु पठतु नथी जेटले आपखी समक्ष विकट
समस्या ठली थई छे

आचार्यमहाराज आवुं न्यारे पोताना शिष्योने कही रखा इता जे
वभते हाई देवे पोतानी वैक्रियिक शक्ति द्वारा ते जगलमां जेक सुहर राज
मार्ग बनानी दीया अने जे प्रकारनु ध्य ठबु करी दीक्षु के ते मार्ग उपरथी
अखे हाई राजानी चतुरङ्गिणी सेना जई रही छे तेमां अनेक प...

आसन् । तत्र सेनापति कानने भ्राम्यमाणमाचार्यं ब्रवीति-भगवन् ! सन्त्यत्र
 वह्नि शिविकादीनि यानानि, यदत्र रोचते भवद्गुणस्तत्रारक्ष्य गम्यताम् । आचार्यणो-
 क्तम्-यानेन गमन नास्माक कल्पते, इत्युक्त्वा तेन 'सर्गोऽय देवप्रपञ्च' इति विज्ञा-
 तम् । राजसैनिके गते सति स आचार्यः शिष्यान् पृच्छति-किमिदानीं कर्तव्यम्, ।
 शिष्या आहुः-आर्येण यदनुष्ठेय, तदेवास्माभिरपि कर्तव्यम्, आचार्यः पादपो-
 पगमनार्थं प्रतिज्ञातवान्, तदनु तदीयशिष्या अपि पादपोपगमनार्थं सस्तारकं
 कृतवन्तः । सर्वे समाधिभावेन कालं कृत्वाऽऽत्मनः कल्याण साधितम् । एवमन्यै-
 रपि मुनिभिश्चर्यापरीपहः सोढव्य ॥ १९ ॥

उस में अनेक पालकिया को घहन करते हुए मनुष्य चले जा रहे हैं ।
 यह सब दृश्य आचार्य महाराज के देखने में आ रहा था । इसी समय
 एक सेनापति ने अटवी में भ्रमण करते हुए आचार्य महाराज से कहा
 है भदन्त ! यहा घट्ट से पालकिया आदि वाहन हैं आप जिन्हें पसद करें
 उनपर चढकर चलें । आचार्यश्रीने सेनापति की बात सुनकर कहा कि-
 यान पर चढकर चलना यह हमारे कल्प से बाहर है । तथा साथ २ में
 आचार्यमहाराज ने यह भी जान लिया कि यह सब दैवी माया है । सेनापति
 के चले जाने पर फिर आचार्य महाराज ने शिष्यों से पूछा कि कहो इस
 समय क्या करना चाहिये । शिष्यों ने कहा जो आपको करना रुचे
 वही हमें मजूर है । शिष्यों की बात सुनकर आचार्य महाराजने पाद-
 पोपगमन धारण करने की विचारणा करली । शिष्यों ने भी ऐसा ही
 किया । सधने वहाँ समाधिभाव से सपन्न होकर पण्डितमरण किया,

उपाडीने मनुष्यो याही रक्षा छे आ सधणु द्य आचार्य महाराजना जेवामा
 आवा रक्षु छतु जेवामा जेठ सेनापतिजे जगलमा विचरी रहेला
 आचार्य महाराजने कहु, भइत ! अहि घण्टी पादपीजो विगेरे वाहन
 छे, आप जेने पसद करै तेमा जेहीने याही आचार्य सेनापतिनी
 वात सांजणीने कहु के, पादपीमा जेहीने विचरवु ते अमाश
 कदपी पहार छे साथे साथ आचार्य महाराजने जे पखु बाघी वीधु के आ
 सधणी दैवी माया छे सेनापतिना याही गया पछी आचार्य महाराजने शिष्योने
 पूछवु के, कहे ! आवे वपते कवे शुं करवु जेधजे ? शिष्योजे कहु के, आपने
 जे करवु रुचे ते अमने मजुर छे शिष्योनी वात सांजणीने आचार्य महाराजने
 पादपोपगमन करवानी प्रतिज्ञा धारवु करी वीधी शिष्यो जे पखु जेमज कहुं
 परिषुजे सप्रणा त्यां समाधी भावधी सपन्न जनी पडित भरवु पाभ्या अने

अथ नैपेधिकीपरीषद्वजय प्राह—

मूलम्—सुसाणे सुज्ञेगारे वां, रुक्खमूले वं एगंओ ।

अकुक्कुओ निसीएज्जा, न च वित्तासए पेरे ॥२०॥

छाया—श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले वा एकक ।

अकौकुच्य निपीदेत् न च वित्रासयेत् परम् ॥ २० ॥

टीका—‘सुसाणे’ इत्यादि ।

श्मशाने—शवस्थाने, वा=अथवा, शून्यागारे=निर्जनगृहे, वा=अथवा, वृक्षमूले=वृक्षापस्तले, मुनि एककः=द्रव्यत एकाकी प्रतिमाऽपेक्षया, भावतो—मुनि गणस्थितोऽपि रागद्वेषरहित, अकौकुच्यः=अशिष्टचेष्टारहित—विषयचेष्टावर्जितः सन्नित्यर्थ, निपीदेत्=मयरहित यतनापूर्वकमुपश्लेषित्यर्थ । च—पुनः मुनिस्तत्रोपनिष्ट. सन्, परम्—अन्य जीव द्वीन्द्रियादिक, न वित्रासयेत्=तत्रस्य जीव स्थानभ्रष्टादिकं

और आत्मकल्याण की सिद्धि की । इसी तरह समस्त साधुओं को चर्यापरीषद पर विजय पाने में प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥१९॥

अब दसवें नैपेधिकीपरीषद को जीतने के लिये सूत्रकार कहते हैं—‘सुसाणे’—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—मुनि को (सुसाणे—श्मशाने) श्मशानमें (वा) अथवा (सुसाणे—शून्यागारे) शून्य घर में (वा) या (रुक्खमूले—वृक्षमूले) वृक्ष के नीचे (एगंओ—एककः) एकाकी द्रव्य—से प्रतिमा की अपेक्षा अकेले, तथा भाव की अपेक्षा मुनि समुदाय में रहते हुए भी रागद्वेषरहित एवं (अकुक्कुओ—अकौकुच्य) अशिष्ट चेष्टा से रहित होते हुए (निसीएज्जा—निपीदेत्) मयशून्य होकर यतनापूर्वक रहे । (च—च) तथा वहाँ पर

आत्मकल्याणकी सिद्धि भेगवी आ प्रभावे सर्व साधुओंके चर्यापरीषद उपर विजय भेगववा प्रयत्नशील रहेवु ओधजे. ॥१९॥

इसे सूत्रकार इसभा नैपेधिकीपरीषदने छतवा भाटे ठडे छे—‘सुसाणे’ इत्यादि

अन्वयाथ—मुनिके सुसाणे—श्मशाने श्मशानमें “वा” अथवा सुसाणे—शून्यागारे सूता केवा घरमें “ वा ” अथवा रुक्खमूले—वृक्षमूले वृक्षनी नीचे एगंओ—एकक केकाकी द्रव्यथी प्रतिमानी अपेक्षाके ओठवा तथा भावनी अपेक्षाके मुनि समुदायमें रहेतां छतां पक्ष रागद्वेष रहित अने अकुक्कुओ—अकौकुच्य अशिष्ट चेष्टाकी रहित अनीने निसिएज्जा—निपीदेत् मय रहित यथ यतनापूर्वक च—च

न कुर्यादित्यर्थ । इदमत्र-चोध्यम्-आदावस्मिन्नध्ययने 'निसीहियापरीसहे' इति
 पदुक्त तस्य छाया 'नैपेधिकीपरीपह' इति । निपेधः=प्राणातिपातादि निवृत्तिः,
 स प्रयोजनमस्या इति नैपेधिकी । यद्वा निपेधः=पापकर्मणां गमनादिक्रियायाश्च
 निवृत्तिः, स प्रयोजनमस्या इति नैपेधिकी, निपघा=उपवेशनस्थानम् कायोत्सर्ग-
 भूमिः । स्वाध्यायभूमिश्चेत्यर्थ । सैव च परिपहो नैपेधिकीपरीपहः उपवेशनस्थान
 परीपहः, तत्र श्मशानादिषु स्थानेषु स्थितेन मुनिना भयकरोपसर्गसमापतने सति
 न भैतव्यम्, नापि स्वरविकारादिभिरन्येषां भयमुत्पादनीयमिति ॥ २० ॥

रहे हुए उस मुनि को चाहिये की वह (पर न वित्तासए-पर न वित्रा-
 सयेत्) वहा पर पहिले से रहने वाले द्वीन्द्रियादीक जीवों को स्थान-
 भ्रष्ट न करे, यहा यह समझना चाहिये कि पहिले इस अध्ययन में
 "निसीहिया परीसहे" ऐसा कहा गया है उसकी सस्कृत छाया
 नैपेधिकीपरीपह " ऐसी की गई है । उसका अर्थ इस प्रकार है-
 "प्राणातिपातादिक क्रियाओं से निवृत्ति करने का जिसका प्रयोजन हो
 वह नैपेधिकी है, अथवा पापकर्मों की एवं गमनादिक्रिया की निवृत्तिरूप
 निपेध जिसका प्रयोजन हो वह नैपेधिकी है, अथवा निपघा उपवेशन
 स्थान का नाम है, वह या तो कायोत्सर्ग की भूमिस्वरूप होगा या स्वाध्याय
 की भूमिस्वरूप । उस निपघारूप जो परीपह उसका नाम नैपेधिकीपरीपह
 है । इसका फलितार्थ उपवेशनस्थान सम्बन्धी परीपह नैपेधिकीपरीपह
 है । श्मशान आदिक स्थानों में रहे हुए मुनि को भयंकर उपसर्ग के

तथा त्यां रहेता ये मुनिनु कर्तव्ये छे के ते पर न वित्तासए-परं न वित्रासयेत् त्या
 पडेवाधी रहेवावाणा द्विधन्द्रियादिके लोपेने स्थानभ्रष्ट न करे, अही ये समजनु
 लेधजे के, पडेवा आ अध्ययनमां निसीहिया परीसहे जेवुं ठडेवायु छे केनेनी सस्कृत
 छाया " नैपेधिकी परीपह " जेम करवामां आवेल छे जेनेो अर्थ आ प्रकाशनेो छे-
 " प्राणातिपातादिक क्रियाज्योधी निवृत्ति करववानु जेनुं प्रयोजन होय ते नैपे
 धिकी छे, अथवा पापकर्मोनी अने गमनादि क्रियाज्योनी निवृत्तिरूप निपेध जेनुं
 प्रयोजन होय ते नैपेधिकी छे, अथवा निपघा उपवेशन स्थाननु नाम छे ते
 यातो कायोत्सर्गनी भूमि स्वरूप होय या स्वाध्यायनी भूमिस्वरूप जे निप
 घारूप जे परीपह तेनुं नाम नैपेधिकीपरीपह आनो तो इतीतार्थ उपवेशन
 स्थान सम्बन्धी परीपह नैपेधिकीपरीपह छे, श्मशान आदि स्थानोमा रहेनाश
 मुनिजे भयंकर उपसर्गोना आववा छता पखु भयभीत न बनवु जेधजे

उक्तमर्थं विशदीकुर्वन्नाह—

मूळम्—तत्थं से चिद्वमाणस्स, उवसंग्गा भिधारण ।

सकांभीओ नं गच्छेज्जी, उट्टित्तां अन्नमासेण ॥ २१ ॥

उाया—तत्र तस्य तिष्ठतः, उपसर्गा अभिधारयेत् ।

शङ्कामीत' न गच्छेत्, उत्थायान्यदासनम् ॥ २१ ॥

टीका—'तत्थ' इत्यादि ।

तत्र=श्मशानादौ, तिष्ठतः=उपविष्टस्य तस्य मुनेः उपसर्गा.—द्वमनुष्यतिर्यं कृता उपद्रवाः, यदि भवेयुस्तर्हि स मुनिस्तानुपसर्गान् अभिधारयेत्—'ममाकल चेतसः किमेते करिष्यन्तीति चिन्तयन् सहेत । परन्तु शङ्कामीतः=उपसर्गकृतोपद्रव संशयादुद्देशवान् सन्, उत्थाय—ततः स्थानादपसृत्य, अन्यत्=परम्, आसनम्=आस्यते—उपविश्यतेऽस्मिन्नित्यासन=स्थानम्, न गच्छेत् ।

आने पर भी भयभीत नहीं होना चाहिये और न अपने अर्गों को विकृत करके दूसरों को भयभीत करना चाहिये ॥ २० ॥

इसी अर्थ को विशद करते हुए सूत्रकार समझाते हैं—
'तत्थ से'—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(तत्थ—तत्र) श्मशान आदि स्थान में (चिद्वमाणस्स से—तिष्ठतस्तस्य) स्थित उस साधुके ऊपर (उवसंग्गा—उपसर्गा) देव, मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग यदि आवे तो उस मुनि का कर्तव्य है कि वह उन उपसर्गों को (अभिधारण—अभिधारयेत्) "ये उपसर्ग मेरा क्या कर सकते हैं" निश्चलचित्त से ऐसा विश्वास कर सहन करे। परन्तु (शङ्कामीओ—शङ्कामीत) उपसर्गकृत उपद्रव के सन्देह से उद्देशवान्

अथवा तो चोचान् अ ओने विकृत अनावी धीअने अथभीत करवा न ओधजे ॥ २० ॥

आव अक्षविशे सूत्रकार विषयस्थी अथअवे छे 'तत्थ से' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(तत्थ—तत्र) श्मशान आदि स्थानमें चिद्वमाणस्स से—तिष्ठत तस्य रहनेवाले साधुनी उपर उपसर्गा—उपसर्गाः देव, मनुष्य तिर्यञ्च अथअधी उपसर्ग आवे त्तारै अे मुनिनुं कर्तव्य छे के ते अे उपसर्गोनि अभिधारण—अभिधारयेत् आ उपसर्ग भाइ शुं करी शकवान् छे "निश्चल" चित्ते अेवो विश्वास करी सहन करे परन्तु शङ्कामीओ—शङ्कामीत उपसर्गकृत उपद्रवना अदेकधी छे

स्वाध्यायकरणार्थं कायोत्सर्गकरणार्थं वा स्त्रीपशुपण्डकविर्वर्जिते स्थाने निप-
 ष्णेन मुनिना अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसपातेऽनुद्वेगकरणेन निपद्याऽपरनामको
 नैपेधिकीपरीपहः सोऽव्य इति भावः ।

अत्र दृष्टान्त प्रदर्शयते—

हस्तिनापुरे कुरुदत्तनामा भेष्टिपुत्रः प्रयत्नितो भूत्वैकाकिविहारप्रतिमया
 प्रामानुग्राम विहरन्नयोध्यानगर्वा ईपद्दूरप्रदेशे कायोत्सर्गम् कृत्वा स्थित । तत्र
 होकर (उद्विक्ता-उत्थाय) उठकर (अन्नमासण-अन्यद् आसन) दूसरे
 किसी स्थान पर (न गच्छेज्जा-न गच्छेत्) नहीं जावे ।

तात्पर्य इसका यह है कि स्वाध्याय करने के लिये अथवा कायो-
 त्सर्ग करने के लिये स्त्री पशु पण्डक से वर्जित स्थान में बैठे हुए मुनि को
 चाहिये कि वह अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग के आने पर अनुद्विग्न
 चित्त होकर निपद्यापरीपह कि जिसका दूसरा नाम नैपेधिकीपरी-
 पह है उसको सहन करे । अर्थात्-श्मशान आदि स्थान में बैठने पर
 उपसर्ग आदि का आना स्वाभाविक है । अतः ऐसी स्थिति में मुनि का
 कर्तव्य है कि वह तिर्यञ्चादिकून उन उपसर्गों को अविचलितचित्त
 होकर सहन करे । भयभीत न होवे, और न एक स्थान से दूसरे
 स्थान पर अपनी रक्षा के अभिप्राय से जावे ।

दृष्टान्त-हस्तिनापुर में कुरुदत्त नाम का एक सेठ का पुत्र रहता था ।
 उसने धर्म का उपदेश सुनकर दीक्षा धारण करली । जय वे श्रुतवा-

उद्विक्ता-उत्थाय त्पार्थी उठीने धन्नमासण-अन्यत् आसन भील ठैल स्थान उपर
 न गच्छेज्जा-न गच्छेत् न जाय

आने भाव से छे के, स्वाध्याय करवा भाटे अथवा तो कायोत्सर्ग
 करवा भाटे स्त्री, पशु, पण्डकी वज्जत जेवा स्थानमा जेकेवा मुनिजे गमे तेवा
 अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग आववाथी उद्विग्न चित्त न अनर्ता निपद्यापरीपह के
 लेनु भीलु नाम नैपेधिकीपरीपह छे जेने सहन करे अर्थात्-श्मशान आदि
 स्थानमा जेसवाथी उपसर्ग वगेरेनु आववु स्वाभाविक छे आथी जेवी
 स्थितिमा मुनिनु कर्तव्य छे के, तिर्यञ्च आदि द्वारा यता जे उपसर्गेनि अवि
 चलीत चित्त अनि सहन करे अनेभयभीत न थाय. पोताना रक्षयुना अकि
 प्रायथी जेक स्थानथी भील स्थान उपर न जाय

दृष्टान्त-हस्तिनापुरमा कुरुदत्त नामे जेक सेठने पुत्र रहते। कतो जेजे
 धर्मने उपदेश सभणी दीक्षा धारण करी लीधी. ज्यारे ते श्रुतवाचित्र इय

रात्रेश्वरुर्ध्वपौरुष्यां कुतश्चिद् ग्रामाद् गोधनापहारं कृत्वा चौराः क्रुद्धस्तमुनेः पार्श्वं
 स्थेन मार्गेण सवेगं गताः । पश्चाद् गोस्वामिनस्तदन्वेपकास्तत्रापाता, द्वौ मार्गौ
 तत्र दृष्ट्वा ते क्रुद्धस्तमुनिं पृच्छति-भदन्त ! ब्रूहि चौराः केन पथा गताः । तद्वचनं
 श्रुत्वाऽपि स मुनिर्न किञ्चिदुक्तवान् ततस्ते गोस्वामिनः कोपावेशेन मुनेः शिरसि
 आर्द्रमृच्चिकालेपेन पालीं कृत्वाऽङ्गारा सिप्ताः मुनिस्तु तदुपसर्गकृतवेदनां सहमानो

रिचरूप धर्म के पालन करने में पूर्ण निष्णात हो गये तो उन्होंने ने
 एकाकीविहारप्रतिमा लेकर ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे विहार
 करते २ वे अयोध्यानगरी के समीप कुछ दूर प्रदेश में कायोत्सर्ग
 धारण कर रहे । रात्रि के चतुर्थ प्रहर में किसी ग्राम से गायों को चुरा
 कर चौर क्रुद्धस्त मुनि के पास के मार्ग से जल्दी २ बड़े वेग के साथ
 निकले । इनके निकल जाने के बाद ही गायों के स्वामी उनकी तपास
 करते हुए वहाँ पर आ पहुँचे । वहाँ से दो रास्ते जाते थे । उन्हें देख-
 कर उन लोगों ने क्रुद्धस्त मुनि से पूछा कि भदन्त ! यहाँ से चौर किस
 रास्ते होकर गये हैं । मुनि ने उनकी यात सुनकर कुछ भी उत्तर नहीं
 दिया । वे सबके सब मुनि के ऊपर रुष्ट हुए । क्रोध के आवेशमें
 आकर उन लोगों ने मुनिराज के माथे ऊपर मिट्टी की क्यारी बनाकर
 उसमें जलते हुए अंगार रख दिये । मुनि ने उनके द्वारा किये गये इस

धर्मनु पालन करवाभा पूर्य पञ्चे निष्णात गनी अथा त्यारे जेभजे जेकाही
 विहार प्रतिमा लई ग्रामानुग्राम विचरण करवा भांड्यु विहार करता करता ते
 अयोध्या नगरीनी पासे थोडा दूरना प्रदेशभां कायोत्सर्ग धारण करी रखा
 शरीना थोधा प्रहरना समये कौं गाभधी गये। चोरीने चौर क्रुद्धस्त मुनिनी
 पासेना मार्ग उपरधी उतावणधी निकणी गया। गये। चोरीने बाजेला जे चोरनी
 पाछा जेना नीकणी जवा पछी थोड़ीवारे गये। जेनी चोरायेली ते जेनी
 तपासभां नीकल्या अने क्रुद्धस्त मुनि जे स्थाने बैठेला हता त्या पछोऽभां ज्य
 स्थानेधी लुटी लुटी पाणु जता जे रस्ता कुटवा होवाधी गये। ना भाबीकेजे
 मुनिने बैठेला जेध तेनी पासे आवी पूछ्यु के, भदन्त ! अदिधी चोरा कौं
 पाणुजे गया ? मुनिजे ज्ञाने कौं प्रत्युत्तर न आपता ते थोडे मुनि उपर
 पीज्या अने क्रोधना आवेशभां आवी जध ते थोडेजे मुनिशजना भाभा उपर
 भाटीनी क्यारी बनावी तेभा गण गणता अजारा भूरी हीधा जे थोडे द्वारा
 करायेला उपसर्गधी मुनिने पूज वेदना यध परतु तेने पूज्य शत विजे

निरुद्धेगः सन् तत्र स्थित एव समाधिभावेन काल कृत्वा सिद्धिं प्राप्तवान् । एव
मन्यैरपि मुनिभिर्नपेधिनीपरीपहः सोढव्यः ॥ २१ ॥

अथ शय्यापरीपहजय प्राह—

मूळम्—उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खु थामेव ।

नाइवेल विहन्नेजा, पावंदिट्ठी विहन्नई ॥ २२ ॥

छाया—उच्चावचामि. शय्यामि., तपस्वी भिक्षुः स्थामवान् ।

नातिवेल विहन्यात्, पापदष्टिर्विहन्त्यते ॥ २३ ॥

टीका—‘उच्चावयाहिं’ इत्यादि ।

स्थामवान्=स्थाम=बल तद्वान्, शीतोष्णादिसहनशक्तिमानित्यर्थ, तपस्वी=
अनशनदिविधतपश्चरणशीलः, भिक्षुः=मुनि, उच्चावचामिः=उत्कृष्टापकृष्टाभिः

उपसर्ग की वेदना को यद्ये ही शान्त परिणामों से सहन किया । चित्त
में जरा भी उद्वेग नहीं आने दिया । ध्यान में ही वे समाधिभाव से
स्थिर रहे । अन्त में कालधर्म को प्राप्तकर क्रुद्धत्तमुनिने सिद्धि प्राप्त की ।
इसी प्रकार अन्य मुनियों को भी इस कथासे यही शिक्षा लेनी चाहिये
कि निपद्यापरीपह में यदि इस प्रकार के विघ्न आवे तो उन्हें सहन
करना चाहिये ॥ २१ ॥

अथ ग्याहरवे शय्यापरीपहजय के विषय में सूत्रकार कहते हैं—

‘उच्चावयाहिं’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(थामव—स्थामवान्) शीत उष्ण आदि परीपहों को सहन
करनेकी शक्तिवाला, तथा (तवस्सी—तपस्वी) अनशन आदि विविध तपों
का अनुष्ठान करने वाला (भिक्खु—भिक्षु) साधु (उच्चावयाहिं
सेज्जाहिं—उच्चावचामि शय्यामि) अनुकूल जैसे हेमन्त शिशिर

सहन करी. चित्तमां जरा पञ्च उद्वेग आववा न हीषा अने ध्यानमां समाधि
भावमां स्थिर रह्या. अन्ते काण धर्मने पाभी जेमखे सिद्धि प्राप्त करी. आ
प्रकारे अन्य मुनियोजे पञ्च आ कथाथी जेवी शिक्षा लेवी जेधजे के, निपद्या
परीपहमां कथाय आ प्रकारनां विघ्न आवे तो जेने सहन करवां जेधजे ॥२१॥

इवे सूत्रकार शय्यापरीपह एतवाने कहे छे ‘उच्चावयाहिं’ इत्यादि.

अन्वयार्थ—थामव—स्थामवान् क हीना अने गरभीना परीपहोने सहन करवाना
शक्तिवाणा तथा तपस्वी—तपस्वी अनशन आदि विविध तपोनु अनुष्ठान करवावाणा
भिक्खु—भिक्षु साधु उच्चावयाहिं सेज्जाहिं—उच्चावचामि शय्यामिः अनुकूल—जेवी के,

उच्चा' = उत्कृष्टा, अनुकूला - हेमन्तशिशिरयो. शैत्यरहिताः उष्णस्पर्शवत्यो वा, ग्रीष्मवर्षासु उष्णस्पर्शवर्जिता, शीतस्पर्शवत्यो वा, द्रव्यत उच्चप्रदेशस्थिता वा उच्चाः, सुधामि' - 'चूना, सिमेन्ट' इत्यादिमायाप्रसिद्धाभिः, उपलिप्ततलादीना मूलक्षण चैतत् । अवचाः = अपकृष्टाः प्रतिकूला - हेमन्तशिशिरयो. शीतस्पर्शयुक्ताः ग्रीष्मवर्षासु उष्णस्पर्शवत्य, द्रव्यत. अधोभागस्थिता वा अवचाः, उच्चाश्च अवचाथेति, उच्चावचास्ताभिः, शय्याभिः शेरते यामु साधवस्ता शय्याः = वसतय उपाश्रया, पट्टकादिरूपा सस्तारकाश्च उच्यन्ते, तामिर्हेतुमि, अतिवेळम् - वेला मतिक्रम्य, स्वाध्यायादिकं न विहन्यात् = न परित्यजेत् । यद्वा - अतिवेळाम् - इति छाया । वेलाशब्दो मर्यादावाचक, अतिशयिता वेला अतिवेला, अन्यमर्यादाऽपेक्षयाऽतिशयिनीं मर्यादां समतारूपां न विहन्यात् = रागद्वेषजनिताभ्या हर्षविषादाभ्यां

ऋतु में शैत्यरहित, अथवा - उष्णस्पर्शसहित, ग्रीष्म वर्षाऋतु में उष्ण स्पर्शरहित, अथवा शीतस्पर्शसहित, अथवा द्रव्य की अपेक्षा उच्च प्रदेश में स्थित, उपलक्षण से चूना सिमेंट आदि की घनाई गई ऐसी उच्चशय्या - उपाश्रय अथवा पाटला सस्तारकको लेकर, अथवा अवच उच्च से प्रतिकूल - हेमन्त शिशिर में शीतस्पर्शयुक्त, ग्रीष्मवर्षा में उष्णस्पर्शयुक्त तथा द्रव्य की अपेक्षा अधोभाग में स्थित ऐसी शय्या को - उपाश्रय, पाटला, सस्तारक को - लेकर (अश्वेल न विहन्ने उच्चा - अतिवेळं न विहन्यात्) वेला का उल्लंघन करके स्वाध्याय आदि को न छोड़े, अर्थात् कालोकाल प्रतिलेखनादि करे । अथवा रागद्वेष-जनित हर्षविषादरूप परिणामों के द्वारा अन्यमर्यादा की अपेक्षा अति शयविशिष्ट समतारूप मर्यादा का उल्लंघन न करे । उच्चशय्या -

हेमन्त शिशिर ऋतुभा शैत्य रहित, अथवा उष्णस्पर्शवाणी ग्रीष्म, वर्षा ऋतुभा उष्णस्पर्श रहित अथवा शीतस्पर्श सहित अथवा द्रव्यकी अपेक्षाधी उष्ण प्रदेशभा रहित. उपलक्षणयुक्ती चूना, सिमेन्ट आदिधी जनाववामां आवेव उष्ण शैला, उपाश्रय, अथवा पाटला सस्तारकने वध अथवा अवच उष्णयुक्ती प्रतिकूल हेमन्त शिशिरभा ठडीवाणी, ग्रीष्म वर्षाभा उष्ण स्पर्शवाणी तथा द्रव्यकी अपेक्षा अधोभागभा स्थित जेवी अवचशय्याने - उपाश्रय, पाटला, सस्तारकने वध अश्वेल न विहन्ने उच्चा - अतिवेळं न विहन्यात् वेलातु उल्लंघन करी स्वाध्याय आदिने न छोड़े, अर्थात् कालोकाल प्रतिलेखनादि करे अथवा - रागद्वेष जनित वध विषादरूप परिणामे द्वारा अन्य मर्यादाकी अपेक्षा अतिशय विशिष्ट समतारूप मर्यादातु उल्लंघन न करे उष्ण शय्या - अनुकूल वस्तुने लाभ भणतां जेवे विचार

न लङ्घयेत् । उच्चशय्या प्राप्य 'अहो ! भाग्यवानऽहं यन्मम सर्वकालमुखदा वसति मिलिते'ति हर्षं, अचशय्या प्राप्य तु 'अहो ! कीदृशी मम मन्दभाग्यता, यत शय्याऽपि शीतादिनिवारिणा न लभ्यते' इति विपाद । एतभूताभ्यां हर्षविपादाभ्यां मध्यस्थभावरूपा मयादां नोच्छृङ्खनीयेत्यर्थः । यस्तु मुनिः पापदृष्टिः=पूर्वोक्त मर्यादादोषदृष्टकः स चिन्हिन्यते, परीपहं पराजितोऽत एव साधुमर्यादास्खलितो मुनिः सयमात्पतितो भवतीत्यर्थः । तस्मादुपाश्रयादीं रागद्वेषपरिवर्जनेन शय्यापरीपहः सोढव्य इति भावः ॥ २२ ॥

अनुकूल वस्ति को पाकर ऐसा विचार न करे कि "अहो ! मैं पढ़ा ही भाग्यशाली हूँ जो मुझे सर्वकाल में सुख देनेवाली वसति मिली है" तथा अचशय्या प्रतिशूल वस्ति को पाकर ऐसा विचार न करे कि-अहो ! मैं कैसा मन्दभागी हूँ जो मुझे शीतादि निवारण करने वाली वस्ति भी नहीं मिली । इस प्रकार अनुकूल प्रतिशूल वसति की प्राप्ति को लेकर मुनि को हर्षविपादात्मक परिणामों द्वारा मध्यस्थभावरूप मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये । जो मुनि (पावदिष्टी विहन्नर्द-पापदृष्टिः विहन्यते) अनुकूल प्रतिशूल वसति में रागद्वेष करता है वह पापदृष्टि मुनि इस समताभावरूप मर्यादा का नाश करता हुआ सयम से पतित हो जाता है । इसलिये मुनिका कर्तव्य है कि वह उपाश्रय आदि में रागद्वेष के परिवर्जन से शय्यापरीपह सहन करे ॥ २२ ॥

न कश्चिद्, "अहो ! तु भूय ए भाग्यशाली हूँ ने भने सर्वकाल सुख देवावाणी वस्ति भणी छे" तथा "अवय" शय्या प्रतिशूल वस्तिथी ज्येथो विचार न कश्चिद्, तु कश्चिद् भववाणी हूँ ने भने ठी आदिनु निवारण करवावाणी वस्ति न भणी, आ प्रकार अनुकूल प्रतिशूल वस्तिनी प्राप्तिने लक्ष मुनिज्ये लक्ष विहात्मक परिणामो द्वारा मध्यस्थ भावरूप मर्यादातु उल्लंघन करतु न ज्येथो ज्ये ने मुनि पावदिष्टी विहन्नर्द-पापदृष्टिः विहन्यते अनुकूल प्रतिशूल वस्तिमां रागद्वेष कश्चिद् छे ते पापदृष्टि मुनि आ समता भाव रूप मर्यादानो नाश करी सयमथी पतित लक्ष भय छे आ माटे मुनिनु कर्तव्य छे के ते, उपाश्रय आदिमां रागद्वेषना परिवर्जनथी शय्या परीपह सहन कश्चिद् ॥ २२ ॥

शय्यापरीपह. कया रीत्या सोढव्यः ? इति प्रदर्शयति—

मूलम्—पङ्क्तिमुवेस्सय लङ्घु, कल्लाण अदुव पावग ।

किमेगराय करिस्सइ, एव तेरेयऽहियासए ॥ २३ ॥

छाया—प्रतिरिक्तमुपाश्रय लङ्घा, कल्याणम् अथवा पापकम् ।

किमेगरात्र करिष्यति एव तत्राध्यासीत ॥ २३ ॥

‘पङ्क्ति’ इत्यादि ।

साधुः, कल्याणम्=शातरूप सुखदायकम्, अथवा पापक-पापरूप दुःखजनकम्, प्रतिरिक्त=स्त्रीपशुपण्डकादिवर्जितम् - उपाश्रय=वसति, लङ्घा=माप्, एकरात्रम्-एकस्यां रात्रौ अयमुपाश्रय, किं सुख दुःखं वा करिष्यति न किञ्चित् करिष्यति' एवम्=ईदृशेन विचारेण तत्र=उपाश्रये अध्यासीत=अभिवसेत्-रात्रं द्वेष वा न कुर्यादित्यर्थः । अयं भाव-कश्चित्-समभूमिक सुशोभन सर्वतुमुल्लङ्घं,

शय्यापरीपह किस तरह सहना चाहिये। इस बातको सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—‘पङ्क्ति०’-इत्यादि

अन्वयार्थ—साधु (कल्लाण-कल्याणम्) शातरूप-सुखदायक (अदुव-अथवा) या (पावग-पापकम्) अशातरूप-दुःखजनक ऐसे (उवस्सय उपाश्रय) उपाश्रय-वसति को जो (पङ्क्ति-प्रतिरिक्तम्) स्त्री पशु एव पण्डक आदि से रहित है (लङ्घु-लङ्घा) प्राप्त कर ऐसा विचार करे कि (एगराय-एकरात्रं) यह उपाश्रय एकरात्रभर ठहरने वाले मेरे लिये क्या तो सुख दे सकता है और क्या दुःख दे सकता है (एवं तरेयऽहियासए-एव तत्राध्यासीत) इस प्रकार विचार कर के बसा रहे - उपाश्रय के विषय में वह रागद्वेष न करे। तात्पर्य यह कि साधु के लिये कहीं पर समभूमि

शय्यापरीपह कर्ष रीतधी सहन करवे ? आ वातने सूत्रकार प्रदर्शित करे छे ‘पङ्क्ति’ इत्यादि

अन्वयार्थ—साधु कल्लाण-कल्याणम् शातरूप-सुखदायक अदुव-अथवा या पावग-पापकम् अशातरूप-दुःखजनक एवा उवस्सय-उपाश्रय उपाश्रय-वसति के ये पङ्क्ति-प्रतिरिक्तम् स्त्री पशु अने पण्डक आदिधी रहित छे, कोवी वसति लङ्घु-लङ्घा प्राप्त करी विचार करे के, एगराय-एकरात्रम् अ उपाश्रय अके रात रोकवावाणा भारा भाटे शुं सुख आपनार छे के शुं दुःख आपनार छे. एव तरेयऽहियासए-एवं तत्राध्यासीत अ प्रकारने विचार करी त्यां रके उपाश्रयना विषयमां ते रागद्वेष न करे तात्पर्य अ छे के, साधुने भाटे कर्ष स्थले समभूमि ।

वचिद्विपमभूमिक पांसुमचुर शर्कराशकलसकुल शीतकालेऽतिशीतं ग्रीष्मे बहुधर्मक दुःखद सुखद वा स्न्यादिरहितमृपाश्रय, मृदुरुठिनादिभेदेनोच्चावचं पट्टकादिरूपं सस्तारक च प्राप्य, तत्र तत्र रागद्वेषाकरणेनानुद्दिग्गो भवेत् । एवं शय्यापरीपहः साधुना विजितो भवतीति ।

बाला उपाश्रय मिले या विपम भूमिवाला, चाहे तो वह ऋतु के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल हो, चाहे वह ककर पत्थर से युक्त भूमिवाला हो चाहे सिमेंट आदि से यनी हुई भूमिवाला हो—कैसा भी क्यों न हो परन्तु स्त्री पशु आदि से यदि वह रहित है तो साधु को उस में किसी भी प्रकार का हर्षविपाद नहीं करना चाहिये । इसी तरह सस्तारक भी चाहे मृदुगुणयुक्त हो चाहे कठिन हो कैसा भी हो उसको प्राप्तकर साधु को उस विषय में भी रागद्वेषपरिणति नहीं करनी चाहिये । इस तरह करने से साधु के द्वारा शय्यापरीपह जीता जाता है ।

माथार्थ—शय्यापरीपह पर यदि साधु को विजय पाना है तो उसकी विचारधारा ऐसी कभी नहीं होनी चाहिये कि यह शय्या, उपाश्रय अथवा पाट पाटला आदि सुन्दर हैं या असुन्दर है? ऋतु के अनुकूल हैं या प्रतिकूल हैं । साधु के लिये क्या तो अनुकूल और क्या प्रतिकूल? सपके ऊपर उसकी समान दृष्टि होनी चाहिये । यह तो दृष्टि की विषमता है जो साधुके लिये उसकी समाचारी से उचित नहीं मानी जाती है। संयम का निर्विघ्नरूप से निर्वाह जैसे भी हो सके उस रूप से

भजे अथवा विपमभूमिवाले, तो ऋतुने अनुकूल होय अथवा प्रतिकूल होय, याडे ते कठका पत्थरनी भूमिवाले होय के, याडे सीमेंट आदिनीभूमिवाले भजे तेवे होय. परन्तु स्त्री पशु आदिसे जे ते रहित होय तो साधुजे तेमां कौध प्रकारने दुर्ष विपाद नही करवे. जेधजे जे व रीते सस्तारक पञ्च याडे तेव सुवाण होय अथवा तो कठक होय गमे तेव होय तेने प्राप्त करी साधुजे ते विषयमां पञ्च रागद्वेष परिषृति राखवी न जेधजे आवी रीते करवाथी साधु शय्यापरीपह लती जय छे

माथार्थ—शय्यापरीपहने कठकाय साधुजे लतवे होय तो तेनी विचार धारा जेवी कही न होय के, आ शय्या उपाश्रय—पाटला आदि सुन्दर छे के असुन्दर, ऋतुने अनुकूल छे के प्रतिकूल साधु माटे क्यु अनुकूल अने क्यु प्रतिकूल भधा उपर तेनी समान दृष्टि होवी जेधजे. जे तो दृष्टिनी विषमता छे जे साधु माटे तेनी समाचारीधीउचित मानवामां आवती नथी संयमने निर्विघ्न

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

एकदा भावितात्मा शुभचन्द्रनामाचार्यः सुविनीतशिष्यपरिवारैः सरं ग्रामानु
ग्रामं विहरन् आवस्तीनगर्यां बहिरशोकनामके नन्दनवनतुल्ये उद्याने समस्यतः।
तस्य बहुमध्यदेशभागे केलिप्रियभूपस्य प्रासाद आसीत्। स च प्रासादः प्रासादीयः
मददर्शनीयोऽभिरूपः प्रतिरूपो मणिकुट्टिमतलः समरमणीयभूमिभाग आदर्शतल्लोचनः
कोमलस्पर्शः सर्वतुसुखदः सर्वथाऽनुकूलो रुचिरपीठफलकसंस्तारकयुक्त आसीत्।
तत्रासौ तपःसयमाराधको मुनिनिवसन् विशुद्धभावेन तमनुकूलशय्यापरीपङ्क मध्य
स्थभावेन सहमानध्वन्तपति-अत्रैकरात्रमात्र ममावस्थानं, किमनेन शय्यासुत्नेन।

करते रहना चाहिये इसी में साधु की शोभा है।

दृष्टान्त-एक समय की बात है-शुभचन्द्र नाम के आचार्य सुविनीत
अपने शिष्यपरिवार के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आवस्ती
नगरी के बाहिर रहे हुए नन्दनवनतुल्य अशोकनामक उद्यान में पधारे।
उस उद्यान के ठीक मध्यभाग में केलिप्रियभूप का प्रासाद था।
यह प्रासाद बहुत ही सुन्दर था। इसका कुट्टिमतल मणिमय था।
इसका भूमिभाग सम एवं रमणीय था। वह ऐसा चलकता था कि
मानो दर्पण का तल हो। स्पर्श उसका सुकुमाल था। यह महल सब
ऋतुओं के अनुकूल था। रुचिर पीठ फलक संस्तारकों से युक्त था।
तथा प्रासादिय दर्शनीय अभिरूप और प्रतिरूप था। तप और सयम
के आराधक ये आचार्य महाराज उस प्रासाद में एक तरफ ठहर गये।
उस में इन्हे सब बात की सुविधा थी। परन्तु फिर भी आचार्य ने
उस विषय में अनुकूलता के विचार से हर्षभाव धारण नहीं किया।

इथी निवाह जेभ धर्ष शकं तेवा इपे करतु रहेवु जेभजे तेभां साधुनी शोभा छे

दृष्टान्त—जेठ समये शुभचन्द्र नामना आचार्य सुविनीत पाताना शिष्य
परिवार साथे ग्रामानुग्राम विहार करता करता आवस्ती नगरीनी बहार रहेवा
नन्दनवन तुल्य अशोक नामना उद्यानभां पधायो, ते उद्यानना मध्य भागभां
केलिप्रिय राबनु निवास स्थान इतु, ते महालय भूज ज सुन्दर इते, जेनु
आगळु भविष्यति इतु भूमिभाग सम अने रमणीय इते ते जेवे मण
काट भासते इते के बाजे अरिसे होय। जेने स्पर्श भूज सुवाणे वाजते।
आ महेल सधणी ऋतुजोभां अनुकूल इते। इथी उपलवे तेवा पीठ, इलक,
शय्या, संस्तारक आदि युक्त इते तप अने सयमना आराधक शुभचन्द्र
आचार्य ते महेलनी जेठ भागु उतयो जेभां तेमने इरेक प्रकारनी सजवठता
इती छतां पबु आचार्ये ते अनुकूलताना विचारणी दर्पभाव था न करे।

ईदृशसुखावहशय्यानुराग. किमात्मकल्याणाय मम भविष्यति ?, कदापि नैव । एष विचिन्त्य शुभपरिणामेन प्रशस्ताध्यवसायेन शिष्यसहितः शुभचन्द्राचार्यस्त-
दाज्यधिज्ञान प्राप्तवान् । स च द्वितीयदिवसे शिष्यपरिवारैः सह विहारं कृत्वा
क्वचिद् लघुग्रामे वसतीं निवसति स्म ।

सा च वसतिरुन्दरुकृतानेकविलयुक्तभित्तिका, भूतसृजगमादिमयोत्पादिका
प्रचुरपांसुशर्करासकुला विषमभूमिका जीर्णशीर्णा पीठफलकादिरहिता चासीत् । तत्र
प्रमार्जनं कृत्वा सयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन्नसौ विहरति स्म । तत्र रात्रौ

किन्तु विशुद्ध भाव से युक्त होकर उस अनुकूल शय्यापरीपद को
मध्यस्थ भाव से सहन किया । विचार किया कि-यह एक रात्रि
भर के लिये तो मेरी स्थिरता है । इस शय्या के सुख से मुझे क्या
लाभ । इस शय्या का सुख मेरे आत्मकल्याण का कोई साधक नहीं
है कि जिससे इस में मेरी उपादेय बुद्धि हो । पर ब्रह्म के शुभाशुभ
परिणामन से मैं अपने में शुभाशुभरूप परिणामन क्यों होने दू । इसका
परिणामन इसके साथ है और मेरा परिणामन मेरे साथ । इस प्रकार
विचार कर शुभ परिणाम एव प्रशस्त अध्यवसाय के प्रभाव से शिष्य
सहित उनको अथधिज्ञान उत्पन्न हो गया ।

दूसरे दिन उन्होंने ने वहाँ से विहार कर दिया । विहार कर वे एक
छोटे से ग्राम में आये । जहाँ ये ठहरे वहाँ का स्थान पहाड़ी भयानक
था । उस में अनेक चूहों के घिल थे । भूत, सृजगम आदि का वहाँ
उपद्रव भी था । घूलि एवं ककर से वहाँ की भूमि सम विषम थी ।

पक्ष विशुद्ध भावशी युक्त गनी तेमझे अनुकूल शय्यापरीपदने सहन कर्यो विचार्युं
के अह्नि ज्येष्ठ रात्रि माटे भारी स्थिरता छे आ शय्याना सुप्रथी मने शे लाभ ?
शय्यानुं आ सुप्र भारा आत्मकल्याणुं ठोर्ष साधक नथी के जेनाथी तेमां भारी
उपादेय बुद्धि धाय परद्रव्यना शुभाशुभ परिविभनथी हुं पोतानामां शुभाशुभ
रूप परिविभन शा माटे थवा इठे तेनु परिविभन तेनी साथे जने माइ
परिविभन भारी साथे आ प्रहारने विचार करी शुभ परिविभन जने प्रशस्त
अध्यवसायना प्रभावशी शिष्य सहित तेमने अवधिज्ञान उत्पन्न थयु

धीजे द्विवसे तेज्येजे त्यांथी विहार कर्यो. विहार करीने तेज्ये ज्ये
नाना आमदामां आब्या ज्ये तेज्ये शक्याया कृता ते स्थान धरुं व लया
नक इतुं तेमां अनेक ठहरनां बोधुं कृतां, भूत, सृजगम वगेरेने उपद्रव
त्यां कृते. पूण अने ठाकराथी त्यांनी भूमि ज्ये निथी कृती, लघुं शीक्षुं

स्वाध्याय ध्यानं च कृत्वा शुभचन्द्राचार्यस्तदाज्ञया सर्वे मुनयश्च स्वस्वसस्तारको-
परि श्रयनार्यमुद्यताः । तदा तत्रैको भुजङ्गमः स्वाहारमन्त्रेपयन् समागतः । तमक्लोक्य
सर्वे मुनयोऽनुद्विग्ना एव तस्युः । स च भुजङ्गमः कचिन्मूपकमनुभावमानस्तस्मिन्
दृष्टिपयातिक्रान्ते मुनीन् पश्यति । तस्य दृष्टी विपमासीत् अतस्तेन दृष्टमात्रा एव
सन्तस्ते मुनयो विपाक्रान्ता जाताः । अथ शुभचन्द्राचार्यस्तदीपश्लिष्याश्च सर्वे मुनयः
समाधिभावमवलम्ब्य क्षुपकश्रेणिं समाह्वय्य भुक्कध्यानानलेन सकल कर्म भस्मसात्
कृत्वा केवली भूत्वाऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण शिवपद प्राप्तवन्तः । एव सर्वमुनिभिः श्रय्या-
परीपहः सोदव्यः ॥ २३ ॥

जीर्ण शीर्ण सस्तारक तक भी इसमें कोई नहीं था । उस भूमि का
प्रमाणन कर आचार्य महाराज ने वहाँ पर अपनी साधुमंडलीसहित
निवास किया । तब एव समय से आत्मा को भावित करते हुए उन
आचार्य महाराज ने रात्रि में स्वाध्याय और ध्यान करने के पश्चात्
समस्त अपने शिष्यों को अपने २ संस्तारकों पर शयन करने की
आज्ञा दी । आज्ञा पाते ही सब के सब अपने २ सस्तारक पर सोने
लगे । इतने में वहाँ एक सर्प अपने आहार की खोज में आया । देखकर
समस्त मुनिमंडली अनुद्विग्न ही रही । वह सर्प एक चूहेके पीछे पड़ा हुआ
था । जब वह चूहा उसे दिखा नहीं तो उसने मुनिमंडली की तरफ अपनी
दृष्टि लगाई । उसकी दृष्टि में ही विष था, इसलिये उसके द्वारा देखे
गये वे आचार्यसहित मुनिराज विष से आक्रान्त हो गये । सब ने
मिलकर समाधिभाव का आलम्बन किया, और उसके प्रभाव से वे
सबके सब क्षुपकश्रेणी पर आरूढ होकर शुक्लध्यान की प्राप्ति से सम-

संस्तारक पशु न इत्तु आ भूमिने साक्ष करीने आचार्य महाराज्जे ते शिष्ये,
पैताना शिष्यो साक्षे निवास कर्ये तप अने समयधी आत्माने भावित
करीने ते आचार्य महाराज्जे रात्रिमां स्वाध्याय अने ध्यान कर्या पछी पैताना
वधा शिष्येने पीतपैताना संस्तारक उपर शयन करवानी आज्ञा आपी
आज्ञा भगवां व सधजा पीतपैताना संस्तारक उपर सुवा वाग्धा जेटेलाभां
जेक सर्प पैताना आहारनी शोधमां नीकल्ये, जेने जेई समस्त बाधु
अधु अनुद्विग्नश्च रक्षुं ते सर्प जेक उदरनी पाछण पडेव इतो न्यारे ते उदर
तेना जेवामां न आये तो तेके आ मुनि अधु तरक जेनी दृष्टि ईश्वरी-
जेनी दृष्टिमां व जेर इत्तु, जेटेले जेनी दृष्टिजे पडेला आचार्य सकित
मुनिराज्जे विषधी आकुणव्याकुण जनी अया सधजाजे भगिने सभाधि साधु
आर्धवन कर्षुं अने तेना प्रभावधी तेजा सधजां क्षुपकश्रेणी पर आरूढ

अयाऽऽक्रोशपरीपहजय प्राह—

मूलम्—अक्रोसिज्जं परो भिक्खुं, न तसि पडिसज्जले ।

सरिसो होइं वालाण, तम्हा भिक्खुं न सज्जले ॥२४॥

भाषा—आक्रोशेत् परो भिक्षु, न तस्मिन् प्रतिसज्जलेत् ।

सदृशो भवति वालानां, तस्माद् भिक्षुर्न सज्जलेत् ॥ २४ ॥

टीका—‘अक्रोसिज्ज’ इत्यादि ।

परः=अन्य, यदि भिक्षु=पुनिम् आक्रोशेत्=दुर्वचनेन वर्जयेत्, तर्हि मुनि-
तस्मिन् न प्रतिसज्जलेत्=न प्रतिक्रियेत् । अवाच्यभाषयाऽऽकुप्टः सन् कोपावे

स्त कर्मों को नाशकर केवली हो गये, तथा अन्तर्मुहूर्त में शिवपद को
प्राप्तकर सिद्ध हो गये । इस कथा से यही शिक्षा मिलती है कि
शय्यापरीपह पर विजय पानेवाला मुनि आत्मकल्याण कर मुक्त हो
जाता है, अतः शय्यापरीपह पर विजय प्राप्त करना चाहिये ॥ २३ ॥

अथ सूत्रकार धारहर्षे आक्रोशपरीपह का जय कहते हैं—

‘अक्रोसिज्ज’—इत्यादि

अन्वयार्थ—यदि (परो—परः) कोई अज्ञानी मनुष्य (भिक्षु—भिक्षुम्)
साधुको (अक्रोसिज्ज—आक्रोशेत्) दुर्वचन से तर्जित करे तब वह साधु
(तसि—तस्मिन्) उसके उपर (न पडिसज्जले—न प्रतिसज्जलेत्)
क्रोधित न हो—अर्थात् जय कोई अशिष्ट भाषा से साधु के साथ
असम्य व्यवहार करे—गाली आदि दुर्वचन कहे तो साधु को उसके
प्रत्युत्तररूप में क्रोध के आवेश से उसके प्रति गाली वगैरह अशिष्ट

अथ शुकव्याख्याननी प्राप्तिथी समस्त कर्मभणना नाश करी देवलीपदने प्राप्त करुं
तथा अतर मुहूर्तमां शिवपदने प्राप्त करी सिद्ध अनी गया आ कथाथी के शिक्षा
प्राप्त थाय छे के, शय्यापरीपह पर विजय भेणवनार मुनि आत्मकल्याण करी
मुक्तिने पाये छे, भाटे शय्यापरीपहने विजय प्राप्त करये लेखले ॥ २३ ॥

इवे सूत्रकार धारभा आक्रोश परीपहना जय ने कहे छे ‘अक्रोसिज्ज’—इत्यादि,

अन्वयार्थ—यदि परो—परः के कोई अज्ञानी मनुष्य भिक्षु—भिक्षु साधुने अक्रो-
सिज्ज—आक्रोशेत् धाराण वचनथी अपमानित करे तो पक्ष ते साधु तसि—तस्मिन्
तेना उपर न पडिसज्जले—न प्रतिसज्जलेत् क्रोधित न थाय अर्थात् के कोई अशिष्ट
भाषाथी साधुनी साथे असम्य वहेवार करे, गण आदि दुर्वचन कहे तो साधुके
तेना प्रत्युत्तररूपे क्रोध आवेशथी तेना प्रति गाल वगैरे अशिष्ट भाषाने प्रयोग

शेन प्रत्याक्रोशरूप गालीदुर्वचनादिक न वदेदित्यर्थः । ननु प्रतिसज्ज्वलने का हा-
निरित्याशङ्क्याह—‘ सरिसो होइ चालाण ’ इति । प्रतिसंज्वलन् बालानाम्-
अज्ञानिनां सदृशो भवति, तस्माद् भिक्षुः=मुनिः न सज्ज्वलेत्=आक्रुष्टोऽपि क्रोधं
न कुर्यादित्यर्थः ।

इदमत्र बोध्यम्—मिथ्यादर्शनोद्भूतमुखनिर्गतानि कोपानलोदीपनानि दुर्वचनानि
श्रुत्वा तत्प्रतीकारं कर्तुं समर्थोऽपि मुनिः—“ दुरन्तः क्रोधकषायोदयनिमित्तपापकर्म
विपाकः ” इति चिन्तयन् स्वहृदये क्रोधायानवकाशदानेनाक्रोशपरीपह सहेत ।

उक्तञ्च—

भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्यों कि गाली देने वाले को
गाली देनेवाला साधु—जैसे के साथ वैसा बनने वाला मुनि—(बालाण
सरिसो होइ—चालानां सदृशो भवति) अज्ञानियों के सदृश ही माना
जाता है । (तस्मात्—तस्मात्) इसलिये (भिक्षु न सज्ज्वलेत्—भिक्षुः न
सज्ज्वलेत्) भिक्षु क्रोध न करे ।

तात्पर्य इसका यह है कि—अज्ञान से मन्दोन्मत्त हुए व्यक्तियों के
मुख से निकले हुए दुर्वचनों को जो कि क्रोशरूप अग्नि के उदीपक होते
हैं, मुनिकर उनके प्रतिकार करने में समर्थ श्री मुनि “ क्रोध कषाय के
उदय के निमित्त से पापकर्म का विपाक दुरन्त होता है ” ऐसा विचार
कर अपने हृदय में क्रोध को स्थान न दे । इससे मुनि आक्रोशपरीपह
पर विजय पाता है । कहा श्री है—

न करवे क्रोधे. डम डे, आणे. डेनारने आभी आण डेनार साधु—बेवानी
साथे तेवा बनार—मुनि बाळण सरिसो होइ—बाळानां सदृशो भवति अज्ञानी
बेवानी भाळू व मानवाभां आवे छे तुम्हा—तस्मात् आ साटे भिक्षु न सज्ज्वले-
भिक्षु न सज्ज्वलेत् भिक्षु क्रोध न करे.

तात्पर्य आणु अे छे डे, अज्ञानशी मन्दोन्मत्त अनेव व्यक्तियेवानी
अज्ञानांशी निकरिवा दुर्वचने डे वे क्रोध रूपी अग्नि उत्पन्न करनार
होय छे, ते आणणी तेना प्रतिकार करवाभां समर्थ होय पणु मुनि “ क्रोध
कषायना उदय निमित्तशी पापकर्मना विपाक दुरन्त होय छे ” अवे, विचार
करी पालाना हृदयभां क्रोधने स्थान न आवे आधी तेवा मुनि आक्रोश
परीपह पर विजय प्राप्त करे छे कहु पणु छे—

नाकृष्टो मुनिराक्रोशेत्, सम्यग्ज्ञानाद्यवर्जकः ।
अपेक्षेतोपकारित्वं, न तु द्वेष कदाचन ॥ १ ॥

अन्यथ—

घाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः,
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा ।
इत्यस्वल्पविकल्पजालमुखरैः संभाष्यमाणो जनै-
र्नो रुष्टो नहि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ॥ २ ॥

इति विचार्य समत्वेन तिष्ठेत् ॥ २४ ॥

नाकृष्टो मुनिराक्रोशेत्, सम्यग्ज्ञानाद्यवर्जकः ।
अपेक्षेतोपकारित्वं, न तु द्वेष कदाचन ॥ १ ॥

सम्यग्ज्ञानादिक का परिहार नहीं करनेवाला, अर्थात् सम्यग्ज्ञाना-
दिक गुणों के उपार्जन करने में कुशलमति भिक्षु अपमानित होने पर भी
कभी भी अपमान करने वाले के प्रति अशिष्ट भाषा का प्रयोग न करे ।
प्रत्युत अपने प्रति इस प्रकार का व्यवहार करने वाले व्यक्ति को अपना
वपकारी ही माने, किन्तु इसके प्रति द्वेषभाव कभी न रखे । और भी—

घाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः,
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा ।
इत्यस्वल्पविकल्पजालमुखरैः संभाष्यमाणो जनै,
र्नो रुष्टो नहि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ॥ २ ॥

नाकृष्टो मुनिराक्रोशेत्, सम्यग्ज्ञानाद्यवर्जकः ।

अपेक्षेतोपकारित्वं, न तु द्वेष कदाचन ॥ १ ॥

सम्यग्ज्ञानादिकेना परिहार न करवावाणा—अर्थात् सम्यग्ज्ञानादिक
शुद्धोत्तु उपार्जन करवाभा कुशलमति भिक्षु अपमानित थावा छत्ता पक्ष कही
पक्ष अपमान करवावाणा तर्क्ष अशिष्ट भाषाना प्रयोग न करे. पेटाना
तर्क्ष आ प्रकारनेा वडेवार करवावाणी व्यक्तितने पेटाना उपकारी व माने.
तेम तेना तर्क्ष द्वेष भाव कही पक्ष न राजे. पीगु पक्ष—

घाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः,
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा ।
इत्यस्वल्प विकल्पजालमुखरैः संभाष्यमाणो जनै,
र्नो रुष्टो नहि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ॥ २ ॥

मुनिको देख कर कोई उनको चाण्डाल कहे, कोई ब्राह्मण कहे, कोई शूद्र कहे, कोई तपस्वी कहे, कोई विशिष्ट ज्ञानी तो कोई योगीश्वर कहे, इस प्रकार कहने वाले व्यक्तियों के मुख से निकलते हुए लज्जता व श्रेष्ठतासूचक वचनों को सुनकर मुनि न तो रुष्ट होता है न तुष्ट होता है किन्तु समभाव से चला जाता है।

भावार्थ—अशिष्ट भाषा का प्रयोग साधु जैसे सन्त पुरुषों के प्रति वे ही व्यक्ति करते हैं जो मिथ्यात्व के कीचड़ से लिप्त होते हैं। अतः उनके द्वारा अपमानित होने पर भी साधु को उनके प्रति रुष्ट न होकर प्रत्युत दयावान् ही होते रहना चाहिये। यह उस समय विचार करना चाहिये कि देखो ये कितने अज्ञानी हैं जो खोटी सरी घस्तु के यथार्थ बोध से विकल हो रहे हैं। ये जो कुछ कहते हैं उनमें इनका अपराध नहीं है, यह तो मिथ्यादर्शन का ही प्रभाव है, अतः इनकी आत्मा सम्पगुणान से वासित बनें और ये उत्तम मार्ग पर आरूढ हो जायें, ऐसी भावना साधुको रखनी चाहिये। तथा इस समय यदि मैं इनके साथ असभ्य व्यवहार इन्हीं जैसा करने लूँ तो इनमें और मुझ में क्या अन्तर हो सकता है। ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा में आसमान पाताल जैसा अन्तर जो बतलाया गया है वह यहाँ लुप्त हो

मुनिने जेठे ठाँठे जेने थडाव ठडे, ठाँठे ब्राह्मण ठडे, ठाँठे शूद्र ठडे, ठाँठे तपस्वी ठडे, ठाँठे विशिष्ट ज्ञानी तो ठाँठे योगीश्वर ठडे, आरीते ठडेवा वाणी अक्षित्वाना मुपथी निकणता लधुता अने श्रेष्ठता सूचक वचनाने सांभणी मुनि न तो क्रोधित जने छे के न तो तुष्टमान थाय छे परंतु समभावधी विचर छे

भावार्थ—अशिष्ट भाषाने प्रयोग साधु जेवा सत पुरुष तरेक जेव व्यक्तित ठरे छे के जे मिथ्यात्वना क्रिबडमां लपटायेवा होय छे, आधी जेमना द्वारा अपमानित थावा छटां पछु साधुजे तेना तरेक न इठटां प्रत्युत्तरमां दयावान् जे रहेतुं जेठेजे जे समये जेवा विचार करवे जेठेजे के, लुजे। आ ठेटवा अज्ञानी छे जे जेटी भरी वस्तुना यथाथं भाषधी विकण जनी रहेल छे जे जे ठाँठे ठडे छे जेमां जेना अपराध नहीं, मिथ्यादर्शनने जेव आ प्रभाव छे आधी जेना आत्मा सम्पगुणानधी वसित जनी उत्तम मार्ग उपर आरूढ भई जय जेवी भावना साधुजे राभवी जेठेजे आ समय जे हुं जेना जेवा जे असभ्य व्यवहार करवा लागु तो जेनामां जेने भाशमां मु अन्तर रहूँ? ज्ञानी जेने अज्ञानीनी चेष्टामां आकाश पाताल जेटहु अन्तर बताववामां आव्यु छे ते आधी सुप्त भई जय छे ज्ञाना आ

उक्तार्थमेव विशदीकुर्वन् प्राह—

मूलम्—सोच्चाण फरुसा भासा, दारुणा गामकटगा ।

तुसिणीओ उवेहेज्जा, ने ताओ मणेसी कैरे ॥२५॥

छाया—श्रुत्वा खलु परुपा भापा, दारुणा ग्रामकष्टकाः ।

तूष्णीकः उपेक्षेत, न ता मनसि कुर्यात् ॥ २५ ॥

टीका—'सोच्चाण' इत्यादि ।

दारुणाः—दारयन्ति=विदारयन्ति सयमथैर्यमिति दारुणाः=दुःसहाः, मनसि वज्रा-
पातकारिका इत्यर्थः, ग्रामकष्टकाः=ग्रामः=इन्द्रियाणां समूहस्तस्य कष्टका इव कष्टकाः
=दुःखोत्पादकत्वेन प्रतिकूलाः, परुपा=रूक्षाः, कठोराः, भापा=वचनानि, श्रुत्वा खलु
तूष्णीकः=मौनावलम्बी सन्, उपेक्षत=ता भापा अवधीरयेत्-नाद्रियेत । 'उवेहेज्जा'

जाता है । इनके इस व्यवहार को मुझे समताभाव से सहन करना
चाहिये, क्यों कि इससे मेरे अधिक कर्मों की निर्जरा होगी, इस निर्जरा
में यह मेरा उपकारी है । अतः इस उपकारी के प्रति मैं ब्रेष करूँगा
यह मेरी कितनी अज्ञानता होगी । ऐसा विचार कर साधु आक्रोश-
परीपह पर विजय प्राप्त करे ॥ २४ ॥

उपरोक्त अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'सोच्चाण'-इत्यादि

अन्वयार्थ—(दारुणा-दारुणा) सयमरूपी धैर्यको विदारणकरने वाली
मन में वज्र के तुल्य दुस्सह आघात पहुँचाने वाली तथा (गामकटगा-
ग्रामकटका) इन्द्रियों को कटकतुल्य दुःख की उत्पादक होने से प्रतिकूल
(फरुसा-परुपा) रूक्ष-कठोर ऐसी (भासा-भापाः) लोगों की-असभ्य
व्यक्तियोंकी भापाओं-वचनों को (सोच्चाण-श्रुत्वा खलु) सुनकर मुनि
(तुसिणीओ उवेहेज्जा-तूष्णीकः उपेक्षेत) चुपचाप रहा हुआ-मौन धारण

समताभावधी सहन करवे जेध जे हेमके जेधी भने अधिक धर्मोनी निर्जरा
धरे. जेवे विचार करी साधु आक्रोश परीपह उपर विषय प्राप्त करे. ॥२५॥
उपरोक्तअर्थने स्पष्ट करतां कहे छे—'सोच्चाण' इत्यादि,

अन्वयार्थ—दारुणा-दारुणा सयमरूपी धैर्यने विदारण करवावाणी दुःसह-मनभा
वले तुल्य आघात पहुँचावावाणी ग्रामकटगा-ग्रामकटकाः तथा इन्द्रियोने
कटक समान दुःखने उत्पादन करनार होवाधी प्रतिकूल फलसा, परुपाः रूक्ष कठोर
जेधी भासा-भापा असभ्य दोषोना वचनोने सोच्चाण-श्रुत्वा खलु सुनिणीने
मुनि सुनिणीओ उवेहेज्जा-तूष्णीकः उपेक्षेत चुपचाप रही, मौन धारण करी ते

इत्यस्यैवार्थं विश्वदीकुर्वन् प्राह—‘न ताओ मणसी करे’ इति । ताः भाषा मनसि न कुर्यात्—न स्थापयेत् । ‘अज्ञानवशादनेन सयमधैर्यापहारिण्यो भाषा उक्ता अत्र नास्त्यस्य दोषः किं तु ममैव पूर्वार्जितकर्मण फलमेतत्’ इति विचार्य तादृशभाषाया अनावरणेन तद्भाषिणि द्वेषं न कुर्यादिति भावः ।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्शयते—

एकदा क्षमाधरनामकः कश्चिदुत्तरतपश्चर्यापरायणो मुनिरासीत् । तद्गुणानुरागेण कश्चिद्देवः प्रीत्या तमभिवन्द्याद्यवीत्—मम योग्य कार्यमावेदनीय भवति ।

अन्यदा कदाचिन्मार्गं गच्छन् मुनिः स्वामिमुखान्नागतेन केनचिच्छाण्डालेन सोपहासमुक्तः—अहो ! अकर्मण्य ! मिथुक ! क्व गच्छसि ? । एतद् दुर्वचन निश्चय्य

करता हुआ—उस तरफ उपेक्षाभाव धारण करे, किन्तु (ताओ मणसी न करे—ताः मनसि न कुर्यात्) उन वचनों को अपने मन में स्थान न देवे । “अज्ञानवशासे ही इसने सयम धैर्य को अपहरण करने वाली भाषा का प्रयोग किया है सो इस में इसका दोष नहीं है किन्तु मेरे ही पूर्वोपार्जित पापकर्मों का यह फल है” । यह समझकर उस पुरुष भाषा बोलने वाले पर द्वेषबुद्धि न करे ।

दृष्टान्त—दुश्चरतपश्चर्या करने में लीन क्षमाधर नामक एक मुनि थे । उनके गुणों में अनुरागी होने से कोई एक देव वदनाकर उनसे बोला कि यदि मेरे योग्य कोई कार्य हो तो आप मुझ से अवश्य कहें, यह मैं आप से हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ ।

एक समय की बात है कि वे मुनि कहीं जा रहे थे । रास्ते में सन्मुख भ्राता हुआ उन्हें एक शाण्डाल मिला । उसने मुनिराज को

तरह उपेक्षाभाव धारण करे परंतु ताओ मणसी न करे—ताः मनसि न कुर्यात् तेना वचनेने पेटाना मनसा स्थान न आप्ते । अज्ञानवशात्तापी तेखे सयम धैर्यनु अपमान करनार भाषाने उपयोत्र कर्था छे तो तेभां जेना दोष नहीं परंतु भाषा पूर्वोपार्जित पाप कर्मानु अ जे फल छे । आपु सभलने जे असभ्य भाषा बोलवावाणु उपर द्वेषबुद्धि न करे

दृष्टान्त—क्षमाधर नामका दुश्चर तपश्चर्या करवासां लीन जेवा जेठ मुनि छेता । तेभना सुखेना अनुरागी जेवा केठ जेठ देवे वदना करीने जेभने कहु के, भाषा योग्य केठ कार्य होय तो आप भने अवश्य कहे जेभ हु आपने हाथ जोडी प्रार्थना करी कहु छु जेठ वधत ते मुनि कर्थाक कर्ष रथा छेता । रस्ताभां साभेधी आपते जेठ शठाल भज्ये । तेखे मुनिराजने

जातकोपः सन् मुनिरत्रिवीत्—उन्मत्तस्त्वमसि किम् ? । ततस्तेन प्रचण्डकोपावेशे
चाण्डालेन कथितम्—अरे भिक्षुक ! किं प्रलपसि ? कोऽन्यस्त्वत्समो मलिनदेहः क्षु-
-पिपासादिवेदनाप्रस्तो लुञ्चितशिरा गृहे गृहे गृहपाल इवाहारमन्वेपयन् भ्रमसि
अरे ! अकर्मण्य ! पूर्वकृतकर्मणो विपाकमनुभवन्नपि न लज्जसे । कृपिवाणि
ज्यादिकर्म कर्तुमसमर्था एव मुखोपरिवद्धमुखवस्त्रिका पात्रहस्ताः बहवो भिक्षु-
कास्त्वादृशा उदरपूरणकामा ग्रामानुग्राम पर्यटन्ति । अरे दुर्मग ! पुत्रदारादिभि-

देखते ही हँसी करते हुए कहा कि—हे अकर्मण्य भिक्षुक ! तू कहा ज
रहा है । मुनि ने ज्यों ही इस प्रकार के उसके दुर्वचन सुने तो मुनि
को क्रोध आ गया, और कहने लगा—क्या तू इस समय उन्मत्त हो
रहा है । मुनि के वचन सुनकर चाण्डाल के भी कोप का ठिकाना न
रहा । उसने चिढ़कर मुनिको कहा—“अरे भिक्षुक ! क्या यकता है ?
तेरे जैसा मलिन देह वाला और कौन होगा ? खाते कमाते नहीं बना
सो मूढ़ मुडाकर मुनि घन गया और घर घर में कुत्ते की तरह भीख
मागने के लिये फिरने लगा है । शरम नहीं आती, करते धरते कुछ
नहीं घनता सो निकल गये साधु बनने को । पूर्व में दान नहीं दिया
सो तो उसका यह फल भोगना पड़ रहा है कि दर दर के भिखारी बन
रहा है, फिर भी अकड़ से ऐंठता है ? जरा शर्म कर, तुम्हारे
जैसे बहुत से कार्य करने में असमर्थ होकर मुह याघ कर पेट भरने के
लिये गांव गांव भटकते हैं । ऐसा कह कर जब यह चला गया तो कोप

भेधने ढासी करता ठहृ के, हे अकर्मण्य भिक्षुक ! तू क्या जठ रक्षो छे
मुनिजे न्यारे तेना आवा दुर्वचन सांभल्या त्यारे तेने क्रोध आवी गये अने
ठडेवा लाया के, शु तु आ समये उन्मत्त बनी रक्षो छे ? मुनिनु पयन
सांभलीने याडलना क्रोधनु ठेकाए न रक्षु अने तेजे चिडाधने मुनिने ठहृ
अरे भिक्षुक ! तूं शु पके छे ? तारा जेवा महीन डेढवाणे पीजे ठेका छे ?
भावा कभातां न आवड्यु जेटवे मुठे मुंडावीने मुनि बनी गया, अने घर
घरमा कुतरानी भाकठ बीभ भागवा लाये छे, शरम नथी आवती ? कंठ
काम करतां आवडतु नथी जेटवे साधु बनवा निकणी पडये. पूर्वभावमा हान
नहीं बीधु होय जेटवे तो जेनु आ क्षण बेगवपु पडे छे अने घरघरने
भिभारी बनी रक्षो छे छता पञ्च अक्षड यधने हरे छे जरा लाव !
तारा जेवा अनेक कार्य करतां असमर्थ होधने में पांधीने पेट भरवा
भाटे गाम गाम भटके छे. आम कही न्यारे ते याहये गये त्यारे क्रोधना

परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः मद्रज्यामभ्युपगताः । इत्युक्त्वा तस्मिन् गतवति सति
कोपावेशादन्तर्दग्धमान इव मुनिः स्वस्थान गतः । क्रमेण कोपप्रथमे सति मुनिना
पश्चात्तापः कृतः ।

तदनन्तरमसौ देवस्तस्य मुनेः समीपे समागत्य तममित्रव्य तत्पुरोञ्जस्विंशो
षदति-भवत सयमयात्रा मुखेन निर्वहति किम् ? शान्तात्मना मुनिना तस्मिन्
प्रोक्तम्—यदा सयमयात्रा चाण्डालेन याचिता, तदा क्व गतस्वमासीः ? देवेन
कथितम्—यदा युवयोः कलहो जातस्तदाऽहमलक्षित कौतुकं द्रष्टुकामस्तत्रैवास्मि ।
किं तु तदा मया विशेषः कोऽपि नोपलब्धः, यथाऽसौ चाण्डालस्तथैव भवान् ।

के आवेश से वे मुनि भी भीतर ही भीतर जलते हुए अपने स्थान पर आ
गये। जब कोप शांत हुआ तो उनको इस विषय का यद्वा ही पश्चात्ताप हुआ।

इस के बाद वह देव मुनि के पास आकर नमस्कार करके बैठ
गया और बोला—आपकी सयमयात्रा तो सुखपूर्वक है ? शान्तात्मा मुनिने
मुस्कराते हुए प्रत्युत्तर में कहा कि जिस समय इस सयमयात्रा में
चाण्डाल ने विघ्न डाला था उस समय तुम कहा गये थे। देवने जबाब
दिया—जब आप दोनोंका कलह हो रहा था उस समय मैं अदृश्य होकर वहीं
पर था। मुनिने कहा फिर आपने उस परिस्थिति में मेरी सहायता क्यों
नहीं की ? इस प्रकार मुनि के कहने पर प्रत्युत्तरमें देवने कहा कि—मुझे उस
समय सहायता करने लायक कोई विशेषता आप में लक्षित नहीं हुई।
उस समय जैसा वह चाण्डाल मुझे प्रतीत हुआ वैसे ही आप भी मुझे
प्रतीत हो रहे थे फिर सहायता किसकी करना। देव के इस उत्तर से

आवेशधी ते मुनि अडरने अडर भणता भणता पोताना स्थान उपर अथा
आपरे तेमने। कोष शांत थये। त्यारे तेमने आ विषयमां बारे पश्चात्ताप थये।

आ पछी चेला देव मुनिनी पासे आवीने नमस्कार करीने केडा अने
कहुं, आपनी सयमयात्रा तो सुखपूर्वक छे ने ? शांत आत्मा मुनिने
अडरधी हसतां हसतां प्रत्युत्तरमां कहुं के, ने समये आ सयमयात्रामां
क्षयले विभ्र नाभ्यु ते समये तमे कथां अथा देवा ? देवे आभा आभी
आपरे आप अनेने। केहल आली रकी हतो त्यारे हुं अदृश्य रुपे त्यां के
हते। तो पछी के परिस्थितिमां तमे भारी सहायता केम न करी ? आ प्रकारे
मुनिना केहवाधी प्रत्युत्तरमां देवे कहुं, अने ते समये सहायता करवा लायके
कोष विशेषता आपनामां न देआथि के वपते केवे। ते आंश्रव अने देआथे। तेवा के
आप भारी हृष्टिमां देआता हता पछी सहायता केनी करवी ? देवना।

मुनिनोक्तम्—तेन मम तुल्यता कथं ज्ञाता? । देवेनोक्तम्—एकेन कोपेनैव, अतस्तस्य शिक्षा न कृता, इदानीमाज्ञापयतु कीदृशी शिक्षा तस्मै कर्तव्या । मुनिः प्राह—नासौ दण्डनीयः, किंतु—सर्वथोपेक्षणीय, यतः साधूनामय धर्मः—आक्रोशपरीपहः सोढव्य इति । एवमुक्तोऽसौ देवस्तस्य मुनेः सेवाया सानुरागं तस्यौ । एवमन्यैरपि मुनिभिराक्रोशपरीपहः सोढव्यः ॥ २५ ॥

मुनि को बड़ा ही विस्मय हुआ और कहने लगे कि मुझ में और चांडाल में समानता का अनुभव कैसे किया ? । देव ने कहा—एक क्रोध से आपके अन्दर उस समय क्रोधरूप चांडाल प्रविष्ट होया हुआ था, और वह तो चांडाल था ही, अतः सहायता करने जैसी घात उस समय मुझे उचित प्रतीत नहीं हुई इसलिये सहायता नहीं की, और न उसे भी कुछ दण्डादिरूप शिक्षा ही दी, हां ! अब कहिये उसे कैसी शिक्षा दी जाय । मुनिराज ने कहा कि अब क्या आवश्यकता है जो अज्ञानी होते हैं वे उपेक्षा के ही पात्र हैं इसलिये उसको दण्डादिरूप शिक्षा प्रदान करने की कोई जरूरत नहीं है । मुनियों का तो यह आचार ही है कि वे आक्रोशपरीपह को सहन करे । मुनि की इस घात को सुनकर देव बड़ा ही अनुरागी होकर उनकी सेवा में रहने लगा । इस कथा से मुनियों को यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि आक्रोशपरीपह सहन करना यह मुनिराजों का कर्तव्य है ॥ २५ ॥

मुनिने मनु आश्रयं ययुः अने ठडेवा लाग्या भाराभां अने य ठावभां सभा नतानो अनुभव तमाने देवी रीते थयो ? देवे ठलु जेठ क्रोधथी—आपनी अदर ते सभये क्रोध रूथी य ठाव प्रविष्ट थयो हतो अने ते तो य ठाव हतो ए आधी सहायता करवा जेथी वात मने ते सभये उचित न लागी जे माटे सहायता न करी अने तेने पळु इठ आदि रूप माध शिक्षा न करी हा । ठडेो अने ठध रीते शिक्षा करवाभां आवे । मुनि महाराजे ठलु के, हवे शु आवश्यक्ता छे जे अज्ञानी होय छे ते उपेक्षाने पात्र ए छे आ माटे तेने इ ठाठिकरूप शिक्षा आपवानी केाध ए इरत नथी मुनिज्योने ते आवारण छे के, तेजो आक्रोशपरीपहने सदन करे. मुनिनी आ वात सांभाणीने देव पळु अनुरागी जनी तेनी सेवामां रहेवा लाग्या आ कथाधी मुनिज्यो जे ए शिक्षा ग्रहण करवी जेठजे के, आक्रोशपरीपह सदन करवे ते मुनिज्येनु कर्तव्य छे ॥ २५ ॥

कश्चिदाक्रोशमात्रेणास्तुष्टो दुष्ट सयतस्य वधमपि कुर्यादतो वधपरीषद्माह-
मूलम्—हँओ नँ सजले भिक्खू, मणपि नँ पओसए ।

तित्तिक्ख परंम नँच्चा, भिक्खेखुधम्म विचिंतए ॥२६॥

छाया—इतो न सज्वलेद् भिक्षुः मनोऽपि न प्रद्वेषयेत् ।

तित्तिक्षां परमां ज्ञात्वा, भिक्षुधर्मं विचिन्तयेत् ॥ २६ ॥

टीका—‘ हँओ ’ इत्यादि ।

भिक्षुः=मुनिः, इतः=केनापि दुष्टेन मुष्टियष्ट्यादिना ताडितः सन्, न सज्वलेत्=न क्रुध्येत्, तथा मनोऽपि न प्रद्वेषयेत्=द्वेषयुक्तं न कुर्यात्, तित्तिक्षां=ज्ञान्ति,

कोई दुष्ट पुरुष आक्रोशमात्र से सतुष्ट नहीं होकर मुनि का वध भी करने लगता है इसलिये अथ तेरहवें वधपरीषद् को कहते हैं—‘ हँओ न सजले ’-इत्यादि

अन्वयार्थ—(भिक्खू-भिक्षुः) मुनि (हँओ-इत) किसी भी दुष्टके द्वारा यष्टि मुष्टि आदि से ताडित हो जाय तौ भी (न सजले-न सज्वलेत्) क्रोध से तपायमान नहीं होवे । तथा (मणपि न पओसए-मनोऽपि न प्रद्वेषयेत्) मन को भी दूषित नहीं करे, किन्तु (तित्तिक्खं-तित्तिक्षाम्) उत्तम क्षमा को (परंम-परमाम्) दशविध धर्मों में सर्वोत्कृष्ट (नच्चा-ज्ञात्वा) जानकर (भिक्खू-भिक्षुः) यह साधु (धम्मं विचिंतए-धर्मं विचिन्तयेत्) उत्तम क्षमादिरूप साधु के कर्तव्य का, अथवा अपने आत्मस्वरूप का विचार करे कि-क्षमामूलक ही धर्म है । यह जो मुझे निमित्त बना कर के कर्मों का उपसर्ग कर रहा है उस में मेरा ही

ठोड दुष्ट भाषुअ आक्रोश मात्रधी सतोअ न पाअवाधी मुनिनो वध पधु करुआ आजे छे ओ भटे हवे तेरमा वधपरीषदने ठले छे ‘ हँओ न संजले ’-इत्यादि-

अन्वयार्थ—भिक्खू-भिक्षुः मुनि हँओ-इत ठोड पधु दुष्ट द्वारा आठवीं जठथापुदुधी ताडित धर्म अथ तो पधु न सजले-न सज्वलेत् क्रोधधी तपी न अथ मणपि न पओसए-मनोऽपि न प्रद्वेषयेत् मनने पधु दूषित न करे पधु तित्तिक्ख-तित्तिक्षां उत्तम क्षमाने परम-परमां दशविध धर्मोंमें सर्वोत्कृष्ट नच्चा-ज्ञात्वा आधीने भिक्खू-भिक्षुः ते साधु धम्मं विचिंतए-धर्मं विचिन्तयेत् उत्तम क्षमादिरूप साधुना कर्तव्यनो तथा पीतान्ना आत्मस्वरूपनो विचार करे के, क्षमा ओ व धर्म छे आगे भने निमित्त आधीने धर्मनो उपसर्ग करी

परमा=दशविधेषु धर्मेषु प्राधान्यात् प्रकृष्टा, ज्ञात्वा मुनि, मिक्षुधर्म=शान्त्यादिकं
 स्वात्मस्वरूपं वा विचिन्तयेत्, यथा-क्षमामूल एव धर्म, यच्च मां निमिचीकृत्याय
 कर्मोपचिनोति, तत्र ममैव पूर्वधर्म कारणमिति ममैव दोषः, तस्मादेन प्रति कोपो
 नोचित इति ॥ २६ ॥

पूर्वोपार्जित कर्म कारण है अतः इसमें मेरा ही दोष है इसलिये इसके
 प्रति कोप करना मुझे उचित नहीं है ।

भावार्थ—मुनि जनों की यह विचारधारा कितनी सुन्दर है ।
 षष्पदय वाला शत्रु भी इस विचार के सामने नतमस्तक होकर
 अपनी क्रूरता का परित्याग कर देता है । एक तरफ ताड़ना मारणा
 आदि क्रियाएँ हो रही हैं तो दूसरी ओर उस पर प्रतिकार न करते
 हुए अपने पूर्वोपार्जित कर्म को ही चलवान माना जा रहा है कि—पूर्वो-
 पार्जित कर्मों का यह फल मुझे मिल रहा है, इस बेचारे का क्या दोष है।
 अफसोस केवल उस मुनि आत्मा में इसी घातका हो रहा है कि जो
 यह प्राणी मेरा निमित्त लेकर नवीन कर्मों का षष्क बन रहा है ।
 इस प्रकार मन तक में भी जहाँ प्रतिकार करने की भावना का उदय
 निषिद्ध घतलाया गया है वहाँ और अन्य प्रतिकारों के करने की तो
 बात ही क्या हो सकती है । महात्मा का यहाँ कितना अच्छा उपदेश
 है कि वह ताड़ित होने पर भी अपनी उत्तम क्षमाको न छोड़े । कुम्हाडा

रहेल छे तेमां मारा व पूर्वोपार्जित कर्म कारणरूप छे आधी तेमां मारीव
 दोष छे माटे तेना प्रति दोष करवे मने उचित नथी,

भावार्थ—मुनिजनों की आ विचारधारा डेटली सुन्दर छे वज लुइयवाणे
 शत्रु पख आ विचार सामे नतमस्तक जनी पोतानी कुरताने त्यागी डे छे
 ओठ तरक्ष धाकधमकी मने मार मारवानी डड सुधीनी क्रियाओ थाय छे,
 त्यारे पीछ तरक्ष आने प्रतिहार न करावां पोताना पूर्वोपार्जित कर्मोने व
 जणवान मानवामां आवे छे “ पूर्वोपार्जित कर्मोनु क्षण मने मणी रसु छे
 ओ विचाराने दोष नथी ” मुनिना आत्माभां अफसोस इक्षव ओ वातने
 थाय छे डे, आ प्राणी मने निमित्त जनावीने नवा कर्मोने षष्क जांधी रहेल
 छे आ प्रभावे मनमां पख प्रतिकार करवानी भावनाना उदयने निषेध जता
 पवामां आवेल छे, त्या अन्य प्रतिकार करवानी तो वात व' कथां रही ?
 महात्माने आ डेवे सुन्दर उपदेश छे डे तेने धाकधमकी डोडना तरक्षी
 अपाय अथवा मार मारवामां आवे तो पख पोतानी उत्तम क्षमाने न

વક્તમેઘાર્થે પ્રકારાન્તરેણાહ—

મૂલમ-સમૈળ સંજય દત્તે, હજોજો કોઈ કત્યંક ।

નંતિય જીવસ્સ નોસોત્તિ”, ઇંવ પેહેજે સંજય ॥૨૭॥

છાયા—શ્રમણં સયત્ વાન્ત, હન્યાત્ કોઽપિ કુપ્રાપિ ।

નાસ્તિ જીવસ્ય નાશ ઇતિ, ઇવં પ્રેક્ષેત સયતઃ ॥ ૨૭ ॥

ટીકા—‘સમણ’ ઇત્યાદિ

કોઽપિ=કશ્ચિન્મનુષ્યઃ, કુપ્રાપિ-પ્રામાદૌ, સંયતં=પટ્કાયયતનાવન્તં, વાન્તમ્

વદન વૃક્ષ કો ફાટ મી ફાલે પર વદનવૃક્ષ કા જો વસકે મુલ્લ કો મી સુવાસિત કરને કા કામ હૈ વહ ઉસે નહીં છોડતા । નહીં તો વહ વંદન હી જરી । મહાત્મા મી અપને શત્રુ કે પ્રતિ ઇસી કર્તવ્ય કા નિર્વાહ કરતે હૈ નહીં તો વે મહાત્મા હી નહીં હૈ । ધન્ય હૈ મહાત્મા ! તેરે ઇક્ષુ માધ્યવસાય કો । ન્યોછાવર હૈ પ્રૈલોક્ય કા રાજ્ય ઇસ પવિત્ર સાવજ્ઞા પ્રર । કયા હી સુન્દર વિચાર ઘારા હૈ । ઇસી વિચારઘારા કે વલ પર મહાવીર પ્રમુ કે શાસન મેં સર્વોત્કૃષ્ટતા રહી હુઈ હૈ । પ્રત્યેક મોક્ષાભિલાષી કો યહ અમિનંદનીય વદનીય વિચારઘારા અપનાને યોગ્ય હૈ ॥૨૬॥

વધપરીપહકો કિસ ભાવના સે સહન કરે સો કહતે હૈ—‘સમણ’—ઇત્યાદિ
 અન્વયાર્થ—(કોઈ—કોઽપિ) કોઈ અજ્ઞાની (કત્યંક—કુપ્રાપિ) કહીં પર મી (સંજય—સયતમ્) વટ્કાય કે જીવોં કી જતના કરનેવાલે (વન્ત—વાન્તમ્)

છોડે કુઢાઠો ચ હન વૃક્ષને ઠાપી નાખે છતાં ચન્દન વૃક્ષમાં જે સુવાસિતવાને ઉત્તમ શુભ છે તે પોતાને ઠાપનાર કુઢાઠાને પણ આપે છે જે એમ ન હૈ તો તે ચ હન શેતુ ? મહાત્મા પણ પોતાના શત્રુ વરહ આણું જ વતન રાખે છે નહીં તો એ મહાત્મા શાના ? ધન્ય છે મહાત્મા ! તમારા આ શુભ વ્યવસાયને । આ પવિત્ર સાવજ્ઞા પર ત્રણ લોકનું રાજ્ય પણ ન્યોછાવર છે, કેવી સુન્દર વિચારઘારા છે ! આ વિચાર પ્રાશના બળ ઉપર મી મહાવીર પ્રમુના શાસનમાં સર્વોત્કૃષ્ટ રહેલ છે પ્રત્યેક મોક્ષાભિલાષીએ આ અભિ. નંદનીય વદનીય વિચારધારાને અપનાવવી બેધએ ॥ ૨૬ ॥

કેવા ભાવથી વધપરીપહને સહન કરવાને કહે છે—સમણ ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—કોઈ—કોઽપિ કોઈ અજ્ઞાની કત્યંક—કુપ્રાપિ કોઈ અજ્ઞાએ પણ સંજય-સંજયમ્ મદકાસ છપ્રોતુ જ વન કરનારા વન્ત—વાન્તમ્ પાંચ ધનિત્રય

=इन्द्रियनोइन्द्रिय दमनशीलम्, भ्रमण=तपस्विन मुनिं हन्यात्=मुष्टियष्टयादिना
 वाडयेत्, तदा सयत'=मुनि, जीवस्य=आत्मनज्ञानरूपस्य नाश नास्ति=न
 भवति शरीरस्यैव नाशात्, इत्येव प्रेक्षेत=चिन्तयेत् ॥

पाच इन्द्रिय एव मन को निग्रह करने वाले (समण-भ्रमणम्) भ्रमण-तपस्वी मुनि को (हणेज्जा-हन्यात्) यष्टि मुष्टि आदि द्वारा मारे। उस समय (सजण-सयत) वह मुनि (जीवस्स नासो नत्थि-जीवस्य नाश नास्ति) "ज्ञानस्वरूप आत्मा का नाश नहीं होता है किन्तु उसका पर्यायान्तर होता है अतः शरीरका ही नाश होता है" (एव पेहेज्ज-एव प्रेक्षेत) ऐसा विचार करे।

भावार्थ—आत्मा को क्रोधी तब होना चाहिये कि जब उसकी तिज वस्तु का विनाश हो। जैसे ससारी लोग अपनी वस्तु के विनाश होने पर क्रोधी या दुःखी हुआ करते हैं, दूसरों की वस्तुओं के विनाश में नहीं। इसी प्रकार महात्मा को भी किसीके द्वारा ताड़ित होने पर या मारे जाने पर यह विचार करना चाहिये कि यह शरीर पुद्गल का है अतः यह मेरी निजवस्तु नहीं है परवस्तु है। इसके धिनष्ट होनेपर मैं क्यों क्रोधी या दुःखी बनूँ? मेरी निज की वस्तु जो ज्ञानादिक गुण हैं वे तो इस के आघात से नष्ट नहीं होते हैं, वे तो सदा अक्षय ही रहते हैं इस लिये क्रोधी या दुःखी होने की मुझे किञ्चित्मात्र भी आवश्यकता नहीं है।

ठरनारा समण-भ्रमणम् भ्रमणु तपस्वी मुनिने हणेज्जा-हन्यात् ठासा पाडु वजे-
 रेथी मारे अे सभये सजये-संयत ते मुनि जीवस्स नासो नत्थि-जीवस्य नाश नास्ति
 ज्ञान स्वरूप आत्मानो नाश यतो नथी परतु अे पर्यायान्तरित होय अे, आधी
 शरीरने अे नाश थाय अे एव पेहेज्ज-एव प्रेक्षेत अेवो विचार करे,

भावार्थ—आत्माके क्षोभित तो त्पारे यवु अेध अे के, अ्यारे तेनी
 पोतानी वस्तुने विनाश यतो होय अेभ ससारी ठोके पोतानी वस्तुअेने
 विनाश यतां क्षोभित अने दुःभी यथा करे अे, भीबनी वस्तुअेना विनाशभां
 नही आ प्रकारे महात्माने पखु केध तरक्षी मार मारवामां आवे के धाक
 धमकी आपवामा आवे त्पारे तेखे विचार करवो अेधअे के, आ शरीर पुह
 शवनु अे, आ हाण्णे ते भारी पोतानी वस्तु नथी, पारकी वस्तु अे अेने
 विनाश यवाधी दुःश माटे क्षोधी अथवा दुःभी अणु ? मारी पोतानी अे वस्तु
 ज्ञानादिके अुखु अे ते अेना आघातधी नाश पाभती नथी अे तो सदाय अक्षय अे
 रहे अे आधी क्षोधी अथवा दुःभी यवानी मारे ठेश मात्र पखु आवश्यकता नथी

अत्र दृष्टान्त प्रदर्शयते—

श्रावस्तीनगर्या रिपुमर्दननाम्नो राज्ञः पुत्रो धारिणीदेव्या अङ्गजातः स्कन्दक-
नामक कुमार आसीत् । अस्य भगिनी पुरन्दरयशा नाम्नी । सा कुम्भकारकटक
नामके पुरे दण्डकिनाम्ने नृपतये पित्रा प्रदत्ता । तस्य दण्डकिभूपस्य पुरोहितः
पालकनामा ब्राह्मणो मिथ्यादृष्टिरासीत् ।

एकदा मुनिसुव्रतस्वामी विंशतितमस्तीर्थकर श्रावस्तीनगर्या समवसूत, तस्य
देशना श्रुत्वा स्कन्दककुमार श्रावको जातः । एकदा कदाचिदसौ पालकपुरोहितः
श्रावस्तीनगर्यामागतः । स राजसभायामार्हतसिद्धान्त खण्डयितुं प्रवृत्तः तदा

दृष्टान्त—श्रावस्ती नगरी में रिपुमर्दन नाम का एक राजा राज्य
करता था । उसकी धर्मपत्नी का नाम धारिणी था । धारिणीदेवी से राजा
के एक कुमार का जन्म हुआ, जिसका नाम स्कन्दक था । स्कन्दक के एक
बहिन भी थी । उसका नाम पुरन्दरयशा था । कुम्भकारकटक नाम के
पुर में दण्डकी नामक राजा के साथ उसका विवाह हुआ था । दण्डकी
राजा का एक ब्राह्मण पुरोहित था । इसका नाम पालक था । यह
मिथ्यादृष्टि था ।

एक समय की बात है कि वे तीसरे तीर्थकर श्री मुनिसुव्रतस्वामी
श्रावस्ती नगरी में पधारे । उनकी देशना को सुनकर स्कन्दककुमार
ने श्रावकधर्म अंगीकार किया । किसी समय पालक पुरोहित श्रावस्ती
नगरी में आया । राजसभा में बैठकर उसने जैनसिद्धान्त को खण्डन
करने वाली बात प्रारम्भ की । जब वह बोल चुका तब उसकी बात को

दृष्टान्त—श्रावस्ती नगरीमें रिपुमर्दन नामने एक राजा राज्य करते
हते। तेने धारिणी नामनी एक राणी हती धारिणीदेवीथी राजने एक कुमा
रने जन्म भयो, जेनु नाम स्कन्दक हतुं, स्कन्दने एक बहिन पक्ष हती। तेनु
नाम पुरन्दरयशा हतुं कुम्भकारकटक नामना नगरना इठकी नामना राजनी सा
तेने विवाह करवाभां आवेह हते। इठकी राजने एक ब्राह्मण पुरोहित हते
तेनु नाम पालक हतुं ते मिथ्यादृष्टी हते।

आ एक समयनी बात छे के ज्यारि तीसरा तीर्थकर श्री मुनिसुव्रत
स्वामी श्रावस्ती नगरीमें पधारे। तेमनी देशना सावणीने स्कन्दकुमार
श्रावकधर्म अंगिकार कर्यो। केटकेक वपते पालकपुरोहित श्रावस्ती नगरीमें
आव्या राजसभाभां गेसीने जैन सिद्धांतनु खंडन करवावणी बातनी शुरु
आत करी। ज्यारि तेखे बात पुरी करी त्यारि ते बात सावणीने तां गेह्ये।

भावकव्रतधारी स्कन्दककुमार आर्हतसिद्धान्त समर्थयन् त निरुत्तर कृतवान् । तेन कारणेन पालकपुरोहितस्य स्कन्दककुमार प्रति महान् विद्वेषो जात ।

एकदाऽसौ स्कन्दककुमार पञ्चमि शतैः कुमारैः सह भगवतो मुनिसुव्रतस्वामिनः समीपे देशना ध्रुत्वा दीक्षा गृहीतवान् । भगवता ते पञ्चशतकुमारकास्तस्य शिष्यत्वेन निश्चिताः कृताः । ततोऽसौ स्कन्दकाचार्योऽन्यदा भगवन्त पृच्छति— भगवन् ! कुम्भकारकटकपुराभिमुखं विहर्तुमिच्छामि, भगवानाह—वर तत्र गम्यताम्, किंतु तत्रोपसर्गो मारणान्तिकः । पुनस्तेनोक्तम्—भगवन् ! वयमाराधकाः, किं वा विराधकाः ? । भगवता कथितम्—एकं वा विना सर्व आराधकाः सन्ति ।

सुनकर वहाँ पर बैठे हुए आवकव्रतधारी स्कन्दककुमार ने जैन सिद्धान्त का समर्थन करते हुए उसको निरुत्तर कर दिया, इससे पालक स्कन्दककुमार का महान् विद्वेषी बन गया ।

कुछ काल के बाद स्कन्दककुमार ने पाचसौ कुमारों के साथ भगवान् मुनि सुव्रतस्वामी के समीप धार्मिकदेशना सुनकर दीक्षा ली । उन पाचसौ कुमारोंको भगवान् ने उनकी नेत्राय (अधीनता) में कर दिया । अब वे स्कन्दक मुनि स्कन्दकाचार्य हो गये । स्कन्दकाचार्य ने एक दिन भगवान् से पूछा कि भगवन् ! मैं यहाँ से कुम्भकारकटक पुर की तरफ विहार करना चाहता हूँ यदि आपकी आज्ञा हो तो । भगवान् ने कहा जैसा तुम्हें सुग्व हो वैसा करो परन्तु तुम को वहाँ मरणान्तिक उपसर्ग का साम्हना करना पड़ेगा । फिर इस बात को सुनकर स्कन्दक ने प्रभु से पूछा कि प्रभो ! हम सब आराधक हैं या विराधक ? भगवान् ने कहा तुम्हारे सिवाय सब ही आराधक हैं । भगवान् के मुख से इस

आवकव्रतधारी स्कन्दककुमार जैनसिद्धांतने समर्थन करतां तेने निरुत्तर जनाची द्वेषी आर्थी पालक स्कन्दककुमारने महान विद्वेषी जनी गये।

केटवाठे समय पछी स्कन्दककुमार पांचसो कुमारोनी साथे भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी पासोथी धार्मिक देशना सांजणीने दीक्षा आगीकार करी, जे पांचसो कुमारोने भगवाने स्कन्दककुमारनी देपरिभ नीचे राख्या, आधी ते स्कन्दकमुनि स्कन्दकाचार्य जनी गया, स्कन्दकाचार्ये जेक द्विस भगवानने पूछ्युं के, के भगवत । हुं अदिथी आपनी आज्ञा होय तो कुम्भकारकटकपुर तरफ विहार करवाणी छ्छा शशु छ भगवाने कहुं, जे रीते तमने सुभ थाय जे रीते करे परतु तमादे त्या मरणांतिक उपसर्गने सामने करवे पडथे ते वात सांजणीने स्कन्दके प्रभुने पूछ्युं, के के प्रभो ! अमे जे आराधक छीजे के विराधक ? भगवाने कहुं, के तमासा शिवाय जे आराधक छे भगवानने

एष भगवता कथितोऽपि स्कन्दकाचार्यो भाविशशात् पञ्चशतशिष्यपरिवारसहितः
 कुम्भकारकटकपुर प्रति विहार कृतवान् । पालकब्राह्मणेन तद् विहारवार्ता श्रुता-
 “अत्रागच्छति स्कन्दकाचार्यं ” इति । ततोऽसौ पूर्ववैरमनुस्मृत्य तर्भियातनां
 यप्रोद्याने स्कन्दकाचार्यं आगन्तुकस्तत्परितो विविधशस्त्रास्त्राणि प्रच्छन्नीत्या भूमौ
 निखन्य राक्ष. समीपमागत्य द्यूते-स्वामिन् ! स्कन्दकाचार्य. पञ्चशतशिष्यपरिवारैः
 सह साधुवेपेण इह समायाति, स भवदीपराज्य हर्तुमिच्छति, यतोऽसौ भवदीयोद्या
 नस्य चतुर्विंशु रात्रौ मञ्छन्नो भूत्वाऽस्त्रशस्त्राणि भूम्यन्तर्निहितानि, तद्दृष्टं कथचि
 न्मया ज्ञातम्, तत्र गत्वा पश्यन्तु भवन्तः । पुरोहितवचन श्रुत्वा राज्ञ तत्र गत्वा

भविष्यत् को सुनकर भी स्कन्दकाचार्य ने भाविशशात् पांचसौ शिष्यों
 के साथ कुम्भकारकटकपुर की ओर विहार कर दिया । पालक
 पुरोहितने उनके विहार की वार्ता सुनी तो उसको ज्ञात हो गया कि
 स्कन्दकाचार्य विहार कर यहां आरहे हैं । उसने उनके साथ अपना पूर्ण
 वैर याद कर “ बदला लेने का अवसर आगया है ” इस अभिप्राय से
 उसने जिस उद्यान में स्कन्दकाचार्य आकर उतरे थे उस में जमीन
 खुदवाकर नीचे विविध शस्त्र एवं अस्त्र गुप्तरीति से गड़वा दिये । पञ्चात्
 राजा के पास आकर फिर वह कहने लगा कि हे स्वामिन् ! यहां पांच
 सौ शिष्यों के परिवार से स्कन्दकाचार्य साधु के वेश में आये हुए हैं ।
 वे आप के राज्य को हरण करना चाहते हैं । इस लिये उन्होंने गुप्त
 रीति से उद्यान में चारों ओर अस्त्र शस्त्र भूमि में गड़वा दिये हैं । यह
 बात रात्रि में मैंने छुपकर देखी है । आप को जो विश्वास न हो तो

મોહાથી આ ભવિષ્યવાણી સાંભળીને પણ સ્કંદકાચાર્યે ભાવિશશાત્ ૫૦૦ શિષ્યોની
 સાથે કુમ્ભકારકટકપુરની તરફ વિહાર કરી દીધા. પાલકપુરોહિતે તેમના
 વિહારની વાત સાંભળીને અણુ સ્કંદકાચાર્ય વિહાર કરતા કરતા આ
 તરફ આવી રહ્યા છે તેણે યોતાનું અગાઉનું તેમની સાથેનું વેર યાદ કરીને
 “ અહીં દેવાને અવસર આવી ચુક્યો છે ” આવા અભિપ્રાયથી જે અગ્નીઆર્મ
 સ્કંદકાચાર્ય આવીને ઉતર્યા હતા તેની અહરની જમીન મોહાવીને તેની નીચે
 ભુદી ભુદી બાતનાં શસ્ત્ર અસ્ત્ર ઠાટી દીધાં પછી રાજાની પાસે આવીને તે
 કહેવા લાગ્યો કે, પાચસો શિષ્યોના પરિવાર સાથે સ્કંદકાચાર્ય સાધુના વેશમાં
 અહિં આવ્યા છે તે આપનું રાજ્ય લઇ લેવા ઇચ્છે છે કેમકે, તેમણે ગુપ્ત
 રીતે અગ્નીઆર્મ ચારે બાજુ શસ્ત્ર અસ્ત્ર ઠાટી રાખ્યાં છે આ વાત મેં રાત્રિના
 વખતે છુપી રીતે જોઈ લીધી છે આપને જે વિશ્વાસ ન હોય તો આપ ખુદ

भूम्यन्तर्गतानि तानि शस्त्रास्त्राणि त्रिलोकितानि। ततोऽसौ नृप कोपावेशेन पुरो
हितमत्रवीत्-हे पालक ! सर्वानेतान् साधूनह तवाधीनान् करोमि, यथेच्छसि
तथा कुरु। एवमुक्तोऽसौ दुष्टभावसमन्वितः पुरोहितः समान् मुनीन् परितः समा-
क्रम्य एकैकं मुनिं तिलादिपीडनयन्त्रे सस्थाप्य पीडयितुं प्रवृत्तः। ते स्वात्मक-
स्यागार्थिनो मुनयस्त वधपरीपहं सम्यक् परिपद्धान्तसमयं केवलज्ञानं प्राप्य मोक्षं
गताः। तत्र ४९८ चतुःशताष्टनवतिसंख्यका मुनयः पीडनयन्त्रे पीडितास्त-
थापि स्कन्दकाचार्येण समभावं समालम्ब्य तत्र स्थितम्। तदा स्वस्मादन्य एक एव
मुनिरवशिष्टः, तमपि पीडनयन्त्रे स्थापयितुं प्रद्यतस्तदा स्कन्दकाचार्येणोक्तम्—

स्वयं चलकर देख सकते हैं। पुरोहित की घात सुनकर राजा उद्यान में
आया और वहा उसने भूमि के भीतर गढे हुए अनेक अस्त्र शस्त्र देखे।
इस स्थिति से राजा को यद्वा ही कोप यद्वा और उसने कोप के ही
आवेश में तन्मय होकर पुरोहित से कहा, पालक ! इन सब साधुओं
को मैं तुम्हारे आधीन करता हू। तुम जैसा भी समझो इनके साथ
वैसा करो। राजा ने जब ऐसा कहा तब पुरोहित के आनन्द का पार
न रहा। उसने शीघ्र ही चारों ओर से सब मुनियों को घिरवा दिया और
एक एक मुनि को कोल्हू (घाणी) में पीलने लगा। चारसोअठानवे(४९८)
मुनियोंने समभाव से वधपरीपहको सहन करके अत समयमें केवलज्ञान
प्राप्तकर मुक्ति को प्राप्त किया। स्कन्दकाचार्य और एक बालमुनि पीलनेके
लिये अवशिष्ट रहे। जब पालक ने उस मुनि को पीलने के लिये कोल्हू
में रखने को उद्यत हुआ तो इतने में स्कन्दकाचार्य ने उससे कहा कि

जधने जेध शके छे। पुरोहितनी वात सावणीने राजा जगीयाभा जया अने
त्यां जभीननी अडर हाटेवा अनेक शस्त्र अस्त्र जेया आधी राजाने भूम कोष
अठये अने कोषना आवेशभां आवीने तेजे पुरोहितने ठभुं, पालक ! आ
जया साधुजोने हुं तमारो डवाडे ठइं हुं तमोने हीक हागे तेम तेना हे सवो तमे
ठरे। राजाजे ब्यारे आ प्रभाजे ठभुं त्यारे पुरोहितना आन इनेो पार न रवो। तेजे
तरत ज आरे तश्की ते मुनिजोने धेरी लठ पकडीने जोऽपछी जेठ मुनिने
घाषीभा पीलवातु शइं ठभुं ४९८ मुनिजोजे समभावधी वधपरीपहने सहन
ठरीने अत समये केवलज्ञानने प्राप्त करीने मुक्तिने प्राप्या स्कंदाचार्य अने
जेठ मुनि पीलवा भाटे जाकी रवा। ब्यारे पालके ते मुनिने पीलवा भाटे
घाषीभा नापवा प्रवृत्त यथा त्यारे स्कंदाचार्ये तेने ठभुं के, आ तो ठेभण

अयमस्ति कोमलकायो बालकः, तस्मादयं त्वया न इन्तव्यं. मम समक्षं पीडनं त्वेऽस्य स्थापने पीडा मम जायते, मृञ्चैनम् । स्कन्दकाचार्यवचनं श्रुत्वाऽसौ रामपुरोहितः. पालकब्राह्मणो यदति-राजसभायां त्वया पराजितोऽहम्, अतो यावदधिकं त्वया दुःखं तव स्यात् तदेव कार्यं मम कर्तव्यम् । इत्युक्त्वाऽसौ तं बालमनगारं स्कन्दकाचार्यस्य समक्षमव पीडनयन्त्रे संस्थाप्य तत्पीडनं कृतवान् । स बालोऽप्यनगारस्तत्र वधपरीषद् सम्यक् परिपद्य केवलज्ञानं प्राप्य मोक्षं गतः ।

तदा स्कन्दकाचार्यो रोपावेशेन निदानं कृतवान्—“यदि मम तपःसयमस्य फलं भवेत्, तदा एतेषां सर्वेषां दुःखदायको भवेयम्” इति । अयाऽसौ स्कन्दका

यह इस समय कोमलकाय बालक है अतः तुम इसे छोड़ दो । इसे कोल्डू में रखते हुए देखकर मुझे पीड़ा होती है, अतः यह मारने योग्य नहीं है । स्कन्दकाचार्य के इस प्रकार वचन सुनकर पालक उनसे कहने लगा—सुनो—तुमने मुझे पहिले राजसभा में परास्त किया था, अतः उसके उपलक्ष में अधिक से अधिक जो कष्ट हो सकता है वह मैं तुमको दूँ ऐसा ही मेरा निर्णय है । इस में जरा भी इधर उधर नहीं करना चाहता हूँ । इस प्रकार कह कर उसने उस बालक मुनि को भी स्कन्दकाचार्य के सामने ही कोल्डू में रखकर पील दिया । उस बालक अनगार ने भी खुशी खुशी से वधपरीषद् सहन करके अतः में केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त कर लिया । उस समय स्कन्दकाचार्य ने रोश के आवेश में आकर यह निदान किया कि “यदि मेरे तप एव संयम का फल होता हो तो मैं इन सब को दुःख देने वाला हूँ ।”

हाय भाण्ड छे, भाटे जेने छोडी दे। जेने बाष्पीभा राखेव जेईने मने पीडा
 बाय छे भाटे ते मारवाने योग्य नथी स्त इकाचार्यनु सा प्रभाज्जेनु वचन
 सुनिज्जिने पावठ पुरोहित ठडेवा बाज्जे के, सांभणो । तमे मने अभाउ राव
 सभाभा पराजित करेव इतो जेथी तेना उपलक्षभा हु अधिकभा अधिक कष्ट
 जे होय ते हु तमने आपीश जेवे मारी निलुंय छे तेभा कर पव हु
 हेरक्षर करवा धम्मितो नथी सा प्रभाज्जे ठडीने तेजे ते भाण्ड मुनिने स्त इका
 चार्यनी सांभे बाष्पीभा नाभीने पीडी नाज्जे। सा भाण अनगार
 पव्ज्जुशीषी वधपरीषद् सहन करीने अतुमा केवज्जान भ्रम करीने मुक्ति
 प्राप्त्या सा समये स्त इकाचार्ये शिवना आवेशभा आवीने सा प्रभाज्जे
 निदानं क्खुं के, जे भास तप जेने संयमनु क्खण यत्तु होय तो हु सा
 अधाने हु भा देवावाणे अनु पावठे जेवटे स्त इकाचार्यने पव्ज्जु पीडीने

चापे तत्र यन्त्रे निपीड्य हतवान् । स स्कन्दकाचार्यो मृत्वाऽग्निकुमारदेवत्वेन-
समुत्पन्नो भूत्वाऽवधिज्ञानेन स्वपूर्वभववृत्तं ज्ञात्वा योगवेशेन नृपपुरोहितामात्यादि-
सहितं कुम्भकारकटकपुरं सदश भस्मसात् कृतवान् । दण्डकिभूपस्य स दशो दण्ड-
कारण्यनाम्ना पश्चात् प्रसिद्धो जातः । एवमथैरपि मुनिभिर्वधपरीपहं सोढव्य एव,
न तु स्कन्दकाचार्यवत् कोपाविष्टैर्भवेत्तव्यम् ॥ २७ ॥

अथ याचनापरीपहजय प्राह—

मूलम्—दुष्कर खलु भो ! निञ्च, अणंगारस्स भिक्खुणो ।

संठ्व सें जाइय होइ, नेत्थि किञ्चि' अजाइय ॥२८॥

छाया—दुष्करं खलु भो ! नित्यम्, अनंगारस्य भिक्षो ।

सर्वं तस्य याचितं भवति, नास्ति किञ्चिद् अयाचितम् ॥ २८ ॥

टीका—'दुष्कर' इत्यादि ।

खलु=निश्चयेन भो ! इति सम्बोधनम्, हे जन्मू ! अनंगारस्य=गृहरहितस्य

पालक ने अत में स्कन्दकाचार्य को भी कोल्हू में पील कर नष्ट कर
दिया । स्कन्दकाचार्य मर कर निदान के प्रभाव से अग्निकुमार जाति
के देव हुए । देवपर्याय में अथधिज्ञान द्वारा अपने पूर्वभव का वृत्ता-
न्त जानकर उस देवने क्रोध के आवेश में आकरके नृप पुरोहित एवं
अमात्य आदि सहित समस्त कुम्भकारकटकपुर को भस्मसात् कर
दिया । दण्डकीभूप का वह देश दण्डकारण्य नाम से प्रसिद्ध हुआ ।
इस कथा से मुनियों को यही शिक्षा लेना चाहिये कि वे वधपरीपह
को समभाव से सहन करे । जिस प्रकार उनमुनियों ने वधपरीपहको
सहा उसी प्रकार अन्य मुनियोंको भी वधपरीपह सहन करना चाहिये ।
स्कन्दकाचार्य की तरह कोपाविष्ट नहीं होना चाहिये ॥ २७ ॥

तेना'नाथ' ठर्यो' स्ठ'ठकाचार्य' भरीने निदानना प्रभावधी अग्निकुमार देव आनीभां
उत्पन्न यथा 'देवपर्याय'भां पोताना अवधीज्ञानधी पोताना पूर्वभवनु वृत्तांत आणीने
ते देव क्रोधना आवेशभा आणीने शब्द पुरोहित अने आमात्य सहित समस्त
कुम्भकारकटकपुरने भस्मीभूत जनापी वीधु उडकी राबने ते देव पछीधी
उठकारण्य' तरीके प्रसिद्ध यथे आ कथाधी मुनिओअे शिक्षा अरुणु करवी लेध'अे'
के, वधपरीपहने समभावधी सहन करे अे प्रकारे मुनिओअे वधपरीपहने सहन
ठर्यो अे प्रकारे सहन करे स्ठ'ठकाचार्य'नी भाइठ ठापायमान थवु न लेध'अे ॥२७॥

भिक्षो = मुने. नित्य = सर्वदा - यावज्जीवमित्यर्थ, दुष्कर = दुःखेन क्रियमाणं कठिनं भवति । किं दुष्कर भवति ? इत्याह— 'सन्ध' इत्यादि, तत् सर्वम् = आहारोप-
कणादिकं वस्तु तस्य याचित = याचितमेव भवति, किञ्चिदपि दन्तशोभनादिकमपि
अयाचित नास्ति - न गृह्यते तस्मात् कष्टं मुनिजीवनमिति ॥ २८ ॥

उक्तार्थमेव सविशदं वर्णयति—

मूलम्—गोयरंगगपविट्टस्स, पाणी नो सुप्पसारण ।

सेओ अगारवासोत्ति, ईइ भिक्खू ते चित्तेण ॥ २९ ॥

छाया—गोचराग्रमविष्टस्य, पाणिः नो मुमसार्यं ।

श्रेयान् अगारवासः इति, इति मिथुर्न चिन्तयेत् ॥ २९ ॥

टीका—'गोयररग०' इत्यादि ।

गोचराग्रमविष्टस्य = गोचर. गौरिव चरण गोचर भिक्षार्थम्, यथा - द्वाताद्वात्-
विशेषमपहायैव गौः प्रवर्तते, तथा साधुरपि द्वाताद्वात्कुलेषु भिक्षार्थम् । तस्याग्रं
= प्रधानं, यतोऽसौ एषणायुक्तो गृह्णाति, न तु गौरिव यथा कथञ्चित्, तस्मिन् गो-
चराग्रे प्रविष्टस्य, मुने पाणिः = इस्तः नो मुमसार्यः = नैव मुखेन प्रसारयितुं

अथ सूत्रकार चौदह वें याचनापरीषद् को सहन करने का उपदेश
करते हैं—'दुष्कर खलु'—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय से (भो-भोः) हे जन्म! (अणगारस्स
भिक्षुणो-अणगारस्य भिक्षोः) गृहरहित भिक्षुको (सन्ध जाइयं होइ-सर्वं
याचितं भवति) समस्त वस्तुएँ याचित ही होती हैं। (किञ्चि अजाइयं
नत्थि-किञ्चित् अयाचितं नास्ति) कोई भी वस्तु अयाचित नहीं होती है।
इसलिये मुनिजीवन (दुष्कर-दुष्करम्) बड़ा ही दुष्कर है। बिना दिखे
तो वह दन्तशोभनादिक भी मृण तक भी नहीं ले सकते हैं ॥ २८ ॥

इवे चौदहो याचनापरीषद् सहन करवाने उपदेश सूत्रकार ठके —
'दुष्कर खलु' इत्यादि

अन्वयार्थ—खलुनिश्चयथी भो-भोः हे जन्म! अणगारस्स भिक्षुणो-अणगारस्य
भिक्षो गृह रहित भिक्षुनी सन्ध जाइयं होइ-सर्वं याचितं भवति समस्त वस्तुओं
याचितं है केवल है किञ्चि अजाइयं नत्थि-किञ्चित् अयाचितं नास्ति केवल वस्तु
अयाचित नहीं, भाटे मुनिजवन दु र-दुष्करम् वस्तु है दुष्कर है केवल लाम्भ
वस्तु ते इतिने आइ करण भाटे वस्तुअर्ह पक्ष अर्ह शक्य नहीं

शक्यः, नहि मुनि कस्यापि गृहस्थस्य सम्बन्धीति भावः। इति-अतो हेतोः, अगारवासः=गार्हस्थ्यम्, श्रेयान्=श्रेष्ठः, इति=एतद्, भिक्षु=मुनिर्न चिन्तयेत्, किंतु गृहवासो हि बहुसावद्ययुक्तस्तथा ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मन्वस्य कारणम्, स कथमपि श्रेयस्करो न भवतीति विचारयेत्।

फिर सूत्रकार पूर्वोक्त अर्थको ही विशद करते हैं—'गोचरग०'—इत्यादि।

अन्वयार्थ—(गोचरगपविद्वस्स-गोचराप्रप्रविष्टस्य) ज्ञात अज्ञातकुलों में गोचरी के लिये प्रविष्ट हुण साधु का (पाणी-पाणि) हाथ (नो सुप्पसारए-नो सुप्रसायं) सुप्रसार्य नहीं है, क्योंकि मुनि किसी गृहस्थ का सपधी नहीं है, इसलिये (अगारवासो सेओ-अगारवास श्रेयान्) इसकी अपेक्षा गृहस्थ जीवन श्रेष्ठ है, ऐसा (भिक्षु न चिंतण-भिक्षु न चिन्तयेत्) भिक्षुको नहीं विचारना चाहिये, क्योंकि गृहवास बहुसावद्ययुक्त तथा ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों के घघ का कारण है अत वह किसी प्रकार श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता है।

भावार्थ—गोचरी के लिये ज्ञात अज्ञात कुलों में गये हुए साधु को ऐसा नहीं विचार करना चाहिये कि यहाँ मैं किसके सामने हाथ फैलाऊँ—कोई मेरा सपधी तो है नहीं। सपधी से मागने में कोई शर्म की बात नहीं है। इससे तो अच्छा गृहवास ही है कि जिसमें हर एक से हर एक चीज मागने में कोई सकोच नहीं होता है। साधु का ऐसा

सूत्रकार पूर्वोक्त अर्थने व क्षरी समझवे छे—'गोचरमा' इत्यादि

अन्वयार्थ—गोचरगपविद्वस्स-गोचराप्रप्रविष्टस्य अथेवा अगार अन्नस्था कुणमां गोचरी भाटे अनारा साधुने पाणी-पाणिः हाथ नो सुप्पसारए-नो सुप्रसायं सुप्रसायं नथी डेभके, मुनि केछ गृहस्थना सपधी नथी तेधी अगारवासो सेओ-अगारवास श्रेयान् ते अपेक्षाये गृहस्थ एवन श्रेष्ठ छे ज्येवा भाव भिक्षु न चिंतण-भिक्षु न चिन्तयेत् भिक्षुजे दाववे न जेधजे. डेभके, गृहवास बहु सावद्य युक्त तथा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मोना पधनु कारण छे आधी ते केछ प्रकारे श्रेयस्कर मानवाम् आवेध नथी.

भावार्थ—गोचरी भाटे अक्षीता के अन्नस्था कुणमां जता साधुजे ज्येवा विचार न करवे जेधजे के, हुं त्या केनी सामे हाथ दाणे कइ ? केछ भाशे सपधी तो नथी सपधी पासे मागवाम् केछ शरमनी बात नथी. आधी तो गृहस्थाप्रम साधे के जेमां जेक जीअधी थीअ मागवाम् स'केअ यतो नथी

अत्र दृष्टान्त प्रदर्शयते—

दशमवीर्यंकरश्रीशीतलनाथस्वामिशासने तद्वशीयो वज्रप्रियनामा भूपति-
र्नभूव । स दीक्षां गृहीत्वा मासमासक्षणस्य पारण करोति स्म । स प्रथममास
क्षणपारणे भिक्षाचर्यायां प्रविष्टश्चिन्तयति—कथमद्य याचयामि, वज्रप्रियनाम-
धारकोऽहमिदंशुक्रवशीर्नभूवपि अग्रसरस्तथा जातिकुलसपन्नोऽस्मि, पुनरुच्चनी-
चमध्यमकुलेषु हस्तमसारण ममासिधारावत् कठिनम् । यस्य चरणे राज्ञां मुकुटको
टय परिलसन्ति स्म, यस्याज्ञा मन्दारकुसुममालामिव जना सादरं धारयन्ति स्म,

विचार इसलिये प्रशस्य नहीं है कि गृहस्थाश्रम बहूसावद्य कर्मों से
युक्त होता है तथा उससे ज्ञानावरणीयादिक अष्टविध कर्मों का बंध
होता है ।

दृष्टान्त—दशयें तीर्थंकर श्रीशीतलनाथस्वामी के शासनकाल में
इनका ही वंशज एक वज्रप्रिय नामका राजा था । उसने धार्मिक उपदेश
अखणकर वीक्षा धारण कर ली थी । मुनि बनकर उन्होंने खूब तपश्चर्या की।
मास-र खमण की तपस्या करने लगे । एक समय की बात है कि जब
उनके प्रथम मासक्षण का पारणा था तो स्वयं भिक्षाचर्या के लिये
गये । उस समय उन्होंने विचार किया कि मैं आज कैसे याचना करूँगा?
मेरा वंश तो ऐसा नहीं है कि जिसमें किसीने याचना की हो । मैं तो
इक्ष्वाकुवंशजों में अग्रसर हूँ । मैं जातिकुलसपन्न हूँ । उच्च नीच एवं
मध्यम कुलों में हाथ फैलाना मेरे लिये तो असिधारा के समान कठिन
प्रतीत होता है । जिन मेरे चरणों में राजाओं के मुकुट नमते रहे थे,

साधुने आवे विचार ओटला भाटे छिठ नहीं के, गृहस्थाश्रम बखु सावव
ठभोधी भरैल छे तथा जेनाथी ज्ञानावरणीय आवि आठ ठभेनि भ ध धाय छे.

दृष्टान्त—दशमा तीर्थंकर श्री शीतलनाथ स्वामीना शासन कालमां तेमना
व वशने जेक वज्रप्रिय नामने राजा हुतो तेजे धार्मिक उपदेश साधुनीने
वीक्षा अखणु करी मुनि बनीने तेजे पूज तपश्चर्या करी भास मास अमखुनी
तपश्चर्या करवा लाज्या जेक समयनी वात छे, ब्यारे तेमनु पहिला मास
अमखुनु पासु हुतु ओटले ते अगे पोते भिक्षाचर्या भाटे जया ते समये तेमजे
विचार कर्ये के, हु आळ कानी पासे याचना करीश ? भाशे वश तो जेवे
नहीं के जे याचना करे हु तो छिवाहुवशने अग्रसर छु अतिकुल सपन्न
छु उच्च नीच मध्यम कुलोमा हाथ फैलावेवे जे भासा भाटे तरवारनी धार
भादक कठिन छे भासा अखणुमां जे राजाजोना मुकुट नमता हुना जेनी

यस्य दर्शनेन च स्वजन्म सफल मन्यन्ते स्म, येन मया राज्ञां पुरतः कदापि हस्तो न प्रसारित, सोऽहमिदानीं तेषां कुले तथा हीनदीनकुलेषु च कथं करं प्रसारयामि । यदि गृहवासमङ्गीरुमि, तदा तु खलु मम वीरप्रतिज्ञैव नष्टा भवति ज्ञानदर्शनचारित्र्येभ्यश्च पतितो भवामि, ततश्चानन्तससारवृद्धिः स्यात्, तथापि नरकनिगोदप्यनन्तदुःखभोगानन्तरमपि रत्नत्रयं दुर्लभं स्यात् । तत्र रत्नत्रये-दर्शनेन विना ज्ञानं नास्ति, ज्ञानेन विना चारित्र्यं न भवति, चारित्र्येण विना भोगो न लभ्य, तस्माद् याचनापरीपद सर्वथा मया सोढव्य, इति त्रिचिन्त्यं प्राप्तुकैपणीयमिहा

जिसकी आज्ञा ऋत्पवृक्ष के फूलोंकी माला के समान मनुष्य सादर मस्तक पर धारण किया करते थे, जिसके देखने से लोग अपने को सफल जन्ममाला मानते थे-आज वही मैं उन लोगों के घरों में जाकर कैसे मागने के लिये हाथ फैलाऊंगा । मैंने आजतक तो किसी राजा के भी सामने हाथ नहीं फैलाया । फिर सयमके विषय में विचारने लगे कि-यदि इस सकोच से मैं गृहवास को स्वीकार कर लेता हू तो मेरी सावधत्यागरूप वीरप्रतिज्ञा नष्ट होती है । ज्ञान दर्शन एवं चारित्र्य से भी पतित हो जाता हू । इसका फल यह होगा कि मेरा अनन्त ससार बढ़ेगा । अनन्तससारी होने पर नरक निगोद के अनंतदुःखों को भोगने के बाद भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र्यरूप रत्नत्रय की प्राप्ति मुझे दुर्लभ ही रहेगा, क्यों कि दर्शन के विना ज्ञान नहीं और ज्ञान के विना चारित्र्य नहीं, तथा चारित्र्यके अभाव में मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है । इसलिये याचनापरीपद मुझे सर्वथा सहन करना ही चाहिये । इस प्रकार विचार

आज्ञा कल्पवृक्षोना कुक्षोनी भाणा समान मनुष्ये आहर सामे माया उपर धारणु करता हता, जेने बंधने दोके पोताने सकुण जन्मवाणा मानता हता आज तेज दु अे दोकाना प्ररोमा बंध बीक्षा भागवा माटे देवी रीते डाय बाणो कइ ? मे आब सुधी कथं राब सामे पणु डाय बाणो कथो नथी. पछी सयमना विषयमां विचार करवा बाआ के-अे आ स केचथी दु गृहवासने स्वीकारी लई तो भारी सावध त्यागरूप वीरप्रतिज्ञा नाश पावे छे तेनु कुण अे आवशे के, भारी अनंत ससार वधसे. अनंत ससारं भनावथी नरक निगोदनां अनंत दु जेने बागव्या पछी पणु ज्ञान, दर्शन चारित्र्यरूप रत्नत्रयनी प्राप्ति मने दुलभाव रहेसे. केभके, दर्शन विना ज्ञान नही, अने ज्ञान पगर चारित्र्य नहा, अने चारित्र्यना अभावमां मुक्तिनी प्राप्ति नही माटे याचनापरीपद भारे सर्वथा सहन करवा जे बंधअे आ प्रकारने विचार

मुपादाय समययात्रां निर्वहन् कालमासे काल कृत्वा स्वस्व्याण साधितवान् ।
पञ्चमन्यैरपि मुनिभिर्याचनापरीषद् सोढव्य ॥ २९ ॥

याचनायां प्रवृत्तस्य मुने कदाचिच्छामान्तरायोदयात् मिश्राया अलाम,
स्यात्, इत्यलामपरीषद्भय प्राह—

मूलम्—परेसुं घासमेसेज्जा, भोजणे परिनिष्ठिण् ।

लङ्गे पिण्डे अलङ्गे वा, नानुत्पयेज्जं पडिण् ॥३०॥

छाया—परेषु ग्रासम् एषयेत्, भोजने परिनिष्ठिते ।

लङ्गे पिण्डे अलङ्गे वा, नानुत्पयेत् पण्डित ॥ ३० ॥

टीका—‘परेसु’ इत्यादि ।

पण्डित=भिक्षुधर्ममर्म्म सयत्, भोजने=ओदनादी, परिनिष्ठिते=निष्पन्न
सस्येष परेषु=गृहस्थेषु ग्रास=पिण्डम् एषयेत्=गवेषयेत् । ततश्च पिण्डे=आहारेऽ

कर उसने प्राप्तुक एषणीय आहार की याचना की। याचना में प्राप्त आहार
को लेकर अपनी समययात्राका निर्विघ्न रीतिसे निर्वाह करतेर अन्तमें वे
आयुके समाप्त होनेपर कालधर्मको प्राप्तकर आत्माका कल्याण किया ॥२९॥

याचना में प्रवृत्त मुनि को कदाचित् लामान्तराय के उदय से
मिक्षा का लाम न हो सके तो उसे पन्द्रहवें अलामपरीषद् को जीतना
चाहोये अथ यह बात सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं—‘परेसु’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(पडिण्-पण्डित) भिक्षुधर्म के मर्म का ज्ञाता सयमी
साधु (भोजने-भोजने) ओदनादिक भोजन (परिनिष्ठिण्-परिनिष्ठिते)
निष्पन्न होने पर ही (परेसु-परेषु) गृहस्थों के घर घिये (घासं-ग्रासम्)
पिण्डकी (एसेज्जा-एषयेत्) गवेषणा करे (पिण्डे लङ्गे अलङ्गे वा-

ठरीने तेभञ्जे प्राप्तुक ओषणीय आहारनी याचना करी, जने याचनाधी प्राप्त
धयेवा आहारने वधने पातानी समययात्रानु निर्विघ्ने निर्वाह करता करता अतमा
तेभ्यञ्जे आयुनी समाप्ति यतां, काणधर्म पाभी आत्मानु कल्याणु कथुं ॥२९॥

याचनाभा प्रवृत्त मुनिने कदाचित् लामान्तरना उदयधी मिश्राने लाम
भणी शकते न होय तो तेधी लवे पन्द्रमा अलामपरीषदने लतवे लेधञ्जे
जे वात लवे सूत्रकार प्रदर्शित करे छे—‘परेसु’ इत्यादि

अन्वयार्थ—पडिण्-पण्डित भिक्षुधर्मना भर्म्मा ज्ञाता सयमी साधु भोजने-
भोजने ओदनादिके लोवन परिनिष्ठिण्-परिनिष्ठिते निष्पन्न होवाधी अ परेसु-परेषु
गृहस्थाना धेर लध घास-ग्रास पिण्डनी एसेज्जा-एषयेत् गवेषणा करे पिण्डे लङ्गे

निष्टे स्वल्पे वा लब्धे सति, अलब्धे वा नानुत्प्येत= 'भाग्यहीनोऽस्मि, भिक्षाऽपि न लभ्यते' इत्यादिरूप सताप न कुर्यादित्यर्थः । 'परिनिद्धिष्ट' इति विशेषणमभोजनकाल एव गच्छेदिति सूचितम् । 'घास' इत्यनेन भ्रमरवृत्त्या ग्राह्यमिति बोधितम् ॥ ३० ॥

तर्हि किं कुर्यादित्याह—

मूलम्—अज्जेवाह नं लब्धमामि, अत्रि लामो सुंए सिंया ।

जो एंव पडिसचिंखे, अलामो त' नं तज्जेण ॥३१॥

छाया—अज्जेवाह न लभे, अपि लाम श्वः स्यात् ।

य एव प्रतिसमीक्षते, अलामस्त न तर्जेयत् ॥ ३१ ॥

पिण्डे लब्धे अलब्धे वा) उस समय यदि थोड़ा आहार मिले अथवा विलकुल भी न मिले तो भी वह (नाणुत्प्येज्ज-नानुत्प्येत) 'मैं भाग्यहीन हूँ मुझे भिक्षा भी नहीं मिली' इत्यादिरूप सताप न करे । "परिनिद्धिष्ट" इस विशेषणद्वारा सूत्रकार की साधु के लिये यह सूचना है कि वे गोचरी के लिये भोजनकाल में ही निकले । "घास" इस पद से गृहस्थों के यहाँ से जो भी आहार ग्रहण किया जाय वह भ्रमरवृत्ति से किया जाय, यह सूचित किया है ।

भावार्थ—साधु को गोचरी के लिये भोजनकाल में ही निकलना चाहिये, उस समय यदि भोजन अल्प मिले या विलकुल भी न मिले तो इस विषय में किसी भी प्रकार का उसे मन में सताप नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

षड्दे वा-पिण्डे लब्धे अलब्धे वा अथे समये तेने थोडु बोवन भजे अथवा पीवहुव न भजे पखु ते नाणुत्प्येज्ज-नानुत्प्येत हु भाग्यहीन हु भने भिक्षा न भणी "अथे वी रीते सताप न करे परिनिद्धिष्ट अथे विशेषणद्वारा सूत्रकार साधु भाटे अथे सुखन करे छे ठे, ते गोचरी भाटे बोवन समये अथे निकले घास अथे पडथी गृहस्थोने त्यांथी अथे ठर्थ आहार ग्रहण करवाभां आवे ते भ्रमरवृत्तिथी स्वीकार करवे अथे अथे सुखना आपवाभां आवे छे

भावार्थ—साधुअथे गोचरी भाटे बोवनक्षणमा अथे निकणवु अथे ते समये अथे थोडु भजे अथे न भजे तो पखु अथे विषयमा तेना मनभां ठेठ प्रकारने सताप थवे न अथे ॥ ३० ॥

ટીકા—‘ અજ્જેવાહ ’ इत्यादि ।

અહમ્, અઘૈય=અસ્મિન્નેય દિને ન લમે=ન પ્રાપ્નોમિ અપિ=સમ્પ્રાવયામિ
શ્વ.=આગામિદિને, દ્વમ્પુલક્ષણમ્ તેન અન્યસ્મિન્ કસ્મિશ્ચિદાગામિનિ દિને इत्यશ્વ,
લામ સ્યાત્=આહારાદિપ્રાપ્તિર્મવિષ્યતિ, એવમ્=અનેનોક્તપ્રકારેણ, ય. સાધુ પ્ર
વિસમીક્ષતે=ચિત્પતિ-અજ્ઞાપે સત્યનુદ્વિગ્ન સન્ સયમયાત્રા નિર્વેદ્વીત્યર્થ । તં
મુનિમ્-અલામ =અલામપરીપહઃ, ન તર્જયત્=ઋયમપિ પરાજય કર્તુ ન શ્વનુયા-

‘ અજ્જેવાહ ’-इत्यादि ।

અન્વયાર્થ-(અહ-અહમ્) મુદ્દે (અજ્જેવ ન લમ્પ્રામિ-અઘૈવ ન લમે)
આજ યદિ આહાર કા લામ નહીં હુઆ હૈ (અવિ-અપિ) તો (સુપ-શ્વઃ)
આગામી દિન મેં ઉપલક્ષણ સે ઓર મી કિસી અન્ય દિવસ મેં (લામો
સિયા-લામ સ્યાત્) ઉસકા લામ હો જાયગા । (એવ-એવમ્) ઇસ
પ્રકારસે (જો-ય) સાધુ (પહિસચિક્ષે પ્રતિસમીક્ષતે) વિચાર લેતા હૈ,
(તં-તમ્) ઉસકે લિયે (અલામો - અલામ) અલામપરીપહ (ન
તર્જય-ન તર્જયેત્) કમી મી સતાપિત નહીં કર સકતા હૈ । ઇસકા
તાત્પર્ય યહ હૈ-યાચના કરને પર મી યદિ ગૃહસ્થ-દાતા કી ઇચ્છા હોગી
તાં હી દેગા, નહીં હોગી તો નહીં દેગા । યદિ વહ નહીં દેતા હૈ તો ઇસમેં
સાધુ કે લિયે અપરિતુષ્ટ હોને કી યાત હી કૌન સી હૈ । જો સાધુ ઇસ
પ્રકાર કી વિચારધારા સે યુક્ત હોતા હૈ વહ મિશ્રા કા લામ ન હોને
પર મી સમચિત્ત ઘના રહતા હૈ, ઉસકે મન મેં વિકૃતિ નહીં આતી હૈ ।
इसी से वह अलाभपरीपह का विजेता बन जाता है ।

‘ અજ્જેવાહ ’ इत्यादि

અન્વયાર્થ-અહ-અહમ્ અને અજ્જેવ ન લમ્પ્રામિ-અઘૈવ ન લમે અશ્વ નો લોજનને
લામ થયો નથી અવિ-અપિ તો સુપ-શ્વ આગામી દિવસમા ઉપલક્ષથી બીજા પણ
કોઈ દિવસે લામો સિયા-લામઃ સ્યાત્ બનેા લામ મળશે. એવ-એવમ્ આ પ્રકારે
જો-ય સાધુ પહિસચિક્ષે-પ્રતિસમીક્ષતે વિચારી લે છે ત-તમ્ તેને માટે અલામો-
અલામ અલામપરીપહ કહી પણ સતાપ આપનાર મનતો નથી. આનુ તાત્પર્ય એ છે
કે, યાચના કરવા છતાં પણ ને ગૃહસ્થ દાતાની ઇચ્છા હશે તો આપશે નહીં
હોય તો નહીં આપે. જો તે આપે નહિ તો સાધુ માટે તેમા અસંતોષ લાવવાની
વાત જ કયા છે, જે સાધુ આ પ્રકારની વિચારધારાથી યુક્ત છે તે મિશ્રાને
લામ ન થવાથી પણ સમચિત્ત બની રહે છે તેના મનમાં વિકૃતિ આવવી નથી.
તેનાથી તે અલામપરીપહને વિજેતા બની રહે છે

दित्यर्थ । अयं भाव — याचितं सति गृहस्थ स्वेच्छया दद्यात् न वा दद्यात्, तत्र कोऽस्त्यसतोपो न यच्छति सति । एव भावनया लाभभावेऽपि धृतिना सम-
चेतसैव अत्रिहृतस्यान्ते नैव भवितव्यमित्यलाभपरीपहो विजितो भवतीति ।

भावार्थ—अलाभपरीपह पर विजय पाने के लिये साधु की विचारधारा कैसी होनी चाहिये यह बात इस गाथा द्वारा सूत्रकार ने प्रदर्शित की है । वे कह रहे हैं कि साधु जब गोचरी के लिय किसी मद्गृहस्थ के यहा जाता है और आहारादिककी याचना करता है तो उसकी इच्छा की पूर्ति होना न होना यह साधु के हाथ की बात नहीं है । गृहस्थ की भावना होगी तो वह देगा—नहीं होगी तो नहीं देगा । साधु की कोई इस में जयर्दस्ती तो है नहीं, अतः ऐसी परिस्थिति में जब कि साधु को आहार का लाभ न हो तो उसका कर्तव्य है कि वह अपनी आत्मा को व्यर्थ में क्लेशित न करे, और न उस पर रुष्ट परिणति ही धारण करे । विचार यह करे कि—आज नहीं मिला तो कल मिल जायगा, कल भी न मिला तो परसों मिल जायगा, इसमें सोच फिकर करने की बात ही कौन सी है । दाता फा भाग्य होगा तो देगा, नहीं होगा तो नहीं देगा । इस तरह जो साधु चर्तता रहना है वह धीर मुनि अलाभ परीपह को अवश्य जीत लेता है ।

भावार्थ—अलाभपरीपह उपर विजय भेगववा भाटे साधुनी विचारधारा कवी होवो जेध जे जे वात आ गाथा द्वारा सूत्रकारे प्रदर्शित करैल छे तेज्जे कहे छे के, साधु न्यारे गोचरी भाटे कौध गृहस्थने बेर बथ अने आहा रादिकनी याचना करे तो तेनी धम्भानी पूर्ती कवी के न कवी ते साधुना हाथनी वात नथी गृहस्थनी भावना होय तो आपे, नही होय तो आप पाना नथी साधुनी कौध जबरजस्ती कौध शके नहि आथी आवी परिस्थि तिमां कौध साधुने आहारने लाभ न भय तो तेनु कर्तव्य छे के ते पोटाना आमाने नकामे क्लुपित न करे अने न तो तेना उपर गुस्से करे विचार जे करे के, अज न भयु तो कौबे भग्ये कौबे नही भग्ये तो परम त्रिबस भग्ये आभा किकर चिता करवानी होय ज नहि हाताने भाव ह्ये तो आपये, नही होय तो नही आपे आ प्रकारे जे साधु वतता रहे छे ते धीर मुनि अलाभपरीपहने जवस्थ लती वे छे

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्शयते—

विन्ध्याचलप्रदेशे हुण्डनामके ग्रामे निर्धन कृषशरीरः कुटुम्बबहुल सौवीर नामा कृषीचल आसीत् । तत्र विन्ध्याचलप्रतिना गिरिसेननृपतिना पञ्चाशत्सख्यकानि हलानि वाहयितु वारकेण पञ्चाशत्सख्यका हलवाहका नियोजिताः । तत्रैकदा सौवीरकृषीचलस्य वारकः समायातः । तस्मिन् दिने क्षेत्रे दृष्टमान्नीत्वा हलेषु योजयित्वा क्षत्र कर्षितवान् । दृष्टमाः श्रान्ता अतिस्वग्ना क्षुत्पिपासाव्याकुला ग्रीष्मातपसतप्ता हलमुक्तावस्थां प्रतीक्षमाणा स्वाहारमभिलषन्ति, पश्यन्ति च पुनः

दृष्टान्त—विन्ध्याचल प्रदेश में एक हुण्ड नाम का ग्राम था । उस में एक निर्धन सौवीर नाम का किसान रहता था । कुटुम्ब बहुत होने की वजह से उसे सदा इसके लालन पालन की चिन्ता घेरे रहती थी इसलिये चिन्ता के मारे इसका शरीर कृश हो गया था । विन्ध्याचल-वर्ती गिरिसेन राजाने यारीर से पाचसी हलों को जोतने के लिये पांचसौ हलवाहक-हाली-नियुक्त कर रखे थे । सौवीर कृषीचल (किसान) की भी एक दिन यारी आई । उस दिन उसने खेत में बैल ले जाकर और उन्हें हल में नियुक्त कर उस खेत को जोतना प्रारम्भ कर दिया । खेत जोतते-र बैल थक गये थे भीचर में खड़े भी होने लगे । ग्रीष्मकाल के ताप से अतिशय सतप्त होकर वे क्षुत्पिपासा से अत्यन्त व्याकुल हो गए और इस बात की प्रतीक्षा करने लगे कि कब हम हल से मुक्तहोयें और कब घास आदि खाकर अपनी क्षुधा को शांत करें । इसी अभिप्राय से वे बेचारे धार धार अपने हाली सौवीर के मुखकी ओर भी

हलवाहक—विन्ध्याचल प्रदेशमें एक हुण्ड नामनु ग्राम हुतु तेभा एक निर्धन सौवीर नामने जेहुत रहेते हुने । कुटुम्ब बहुत होवाना कारणे तेने सदा तेना पालन पोषणनी चिन्ता रक्का करती हुती । आ चिन्ताना कारणे तेनु शरीर बसार्थ जमु हुतु विन्ध्याचल प्रदेशना गिरिसेन राजाके वारा पाडीने पाचसो हुणे जेठवा भाटे पाचसो जेहुतेने नियुक्त करी राज्ये हुता सौवीर जेहुतेने पखु एक वषत वारे आव्ये । के दिवसे तेखे जेतरेभा जण्ड लर्ब ल्छने हुण तैयार करी जेठवानु शङ्क कसु जेतरे जेठतां जेठतां जण्ड याही गया अने वषर्मा वषर्मा हुवा रहेवा लाख्या । हुनाजाना सप्त वाषधी अतिशय सतप्त गर्धने भूप तरसधी ते बषा व्याकुल जनी गया । अने जे वातनी प्रतीक्षा करवा लाख्या के, क्यारे अभने हुणभी मुक्त करवार्मा आवे अने क्यारे घास वगेरे भाई भूषने शांत करीजे, आवा लावधी ते पीपारा बारवार चिताना भाडीक सौवीरना भाडा तरक जेवा हुता ।

पुनः सौवीरमुखम् । परतु सौवीरस्तान् न मुञ्चति । तेन भक्तपानवेलायामेकश्चासौ-
ऽधिकः कर्पितस्तेन वृषभाणा भक्तपानान्तरायो जात , ततश्चान्तरायकर्म सौ-
वीरेण बद्धम् । अथाऽसौ मृत्वा बहुकाल ससारे परिभ्रम्य, कदाचिद् गोपालदारक
भवे चने गाथारयन् कस्मिश्चित्काले बद्धसदोरकमुखवस्त्रिक पट्कायपालक मुनि
दृष्टवान् । तत्र तद्देशना निश्चय्य स सौवीरस्त्वस्मिन् गोपालदारकभवे प्रव्रजितः ।
तदनन्तर कालमासे काल कृत्वा सौधर्मकल्पे देवत्वेन समुत्पन्न । ततश्च्युतोऽसौ द्वा-

देखने लगते थे, परन्तु सौवीर ने उनकी इस परिस्थिति पर जरा भी
ध्यान नहीं दिया और न उन्हें छोड़ा ही । प्रत्युत उनके म्वाने पीने के
समय में उसने एक चाम (हलरेखा) और अधिक जोता । इससे
सौवीर को प्रचल अतराय कर्म का यध हुआ । कुछ काल के बाद मर
कर उस पयाय से पर्यायान्तरित हुआ । बहुत काल तक इसने ससार
परिभ्रमण किया । ससारपरिभ्रमण करते-र किसी समय यह गवाल
के घर में जन्मा । बड़ा होने पर गायों को चराता था । एक दिन जगल
में इसकी दृष्टि वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक मुनिराज पर जो पट्काय के
जीवोंकी यतना करने में तत्पर थे, तथा मुख पर जिनके दौरासहित
मुखवस्त्रिका यधी हुई थी उन पर पड़ी । उनके पास पहुँचकर इसने
उनसे धर्मदेशना मुनी । उसका प्रभाव इसकी आत्मा पर इतना पड़ा
कि यह उसी समय दीक्षित हो गया । साधुचर्या का ठीकर तरह
निर्वाह करते हुए यह मृत्यु के अवसर में कालधर्म पाकर सौधर्म देव-

परिस्थिति उपर सौवीर ने तो जरा પણ ध्यान आभ्यु के नते तेमने धुसरीधी छेडया
वधाराभां तेमने भावा पीवाना समयने वभते ओक आस वधारे जेडांये। आधी
सौवीरने प्रभण अतरायकर्मने अध थयो। मोडा समय पछी सौवीर जेडुत मरीने
पयोयधी पर्यायान्तरित थयो धबु। काण सुधी तेणे ससारभा परिभ्रमणु कथुं
ससारपरिभ्रमणु कर्त्ता कर्त्ता काणातरे ते ओक गोवाणने त्या बनभ्ये।
मोटा कर्त्ता ते गायेने चरावते। हते। ओक द्विवस जगलभां तेनी दृष्टी जाडनी नीचे
जेडेवा ओक मुनिराज उपर पडी, जे पटकायना लुवानी रक्षा कर्त्तवामां तत्पर
हता तेमना मोटा उपर डोरा साथे ओक मुभवस्त्रिका पाधिडी हती। तेनी
पासे पछेयने तेमनी पासेधी धर्मदेशना सावणी जेने। प्रभाव तेना आत्मा
पर जेवा पठयो के ते जेव समये दीक्षित भनी गयो। साधुचर्याने ठीक ठीक
निर्वाह कर्त्ता कर्त्ता ते मृत्युना अवसरै काणधर्म पाभ्ये जने ते सौधर्म देव

कायां श्रीकृष्णवासुदेवग्रहे पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । स च ददणनाम्ना मसिद्रो मातः ।

अथैकदा स ददणकुमारः श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरस्य समीप प्रव्रजितः । भिक्षा-
चर्याया प्रवृत्तोऽसौ श्रीकृष्णस्य पुत्रोऽपि त्रिजगद्गुरोस्तीर्थंकरस्य शिष्योऽपि स्वर्ग-
लक्ष्मीजित्वरसपत्समन्वितायां विशालायां द्वारकाया नगर्यां महेश्यानां भवनेष्वपि
पर्यटन् लामान्तरायवशात् किंचिदपि प्राप्तुष्यैषणीय न लभते । ततोऽसौ ध्रुवा-
पिपासया शुष्कशरीरः श्रीनेमिनाथस्वामिन तदलामकारणं पृष्टवान् श्रीनेमिनाथ
स्वामिना कथितम्—वत्स ! अस्माद् पूर्वं नवनवतिलस-नवनवतिसहस्र-नवशत-नवनवति
९९,९९,९९९ तमे भवे त्वं विन्ध्याचलप्रदेशे हुण्डकग्रामे सौवीरनामा कृषीवल

लोक में देवपने से उत्पन्न हुआ । वहा की स्थिति समाप्त होने पर यह
बहा से च्यवकर द्वारिकानगरी में श्रीकृष्ण वासुदेव के घर पुत्ररूप
से उत्पन्न हुआ और वहा इसका नाम ददणकुमार रक्खा गया ।

इस ददणकुमार ने श्रीनेमिनाथतीर्थंकर के समीप धर्मदशना सुन
कर दीक्षा अगीकार की । भिक्षाचर्या करने को वे स्वयं जाते थे ।
श्रीकृष्ण के पुत्र एव त्रिजगद्गुरु तीर्थंकर नेमिनाथ प्रभु के शिष्य होने
पर भी उस विशाल द्वारिका नगरी में इनको यड़ेर सेठ साहूकारोंके घरों
में जाने पर भी लामान्तराय कर्म के उदय से थोड़े से भी प्राप्तुक
एषणीय आहार का लाभ नहीं होता, अत ये दिन प्रतिदिन शुष्क
शरीर होने लगे । भगवान् नेमिनाथ के पास जाकर एकदिन इन्होंने
आहार के अलाम का कारण पूछा तो भगवान् ने कहा कि वत्स ! तू
इस भव से पहिले निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौ सो निन्यानवे
९९,९९,९९९ भव में विन्ध्याचल प्रदेश में हुण्डक ग्राम में सौवीर नाम

लोक में देवपने से उत्पन्न भयो । त्यांनी स्थिति समाप्त यत्ता ते त्यांची नवीने
द्वारिका नगरीमा श्री कृष्ण वासुदेवने घेर पुत्र रूपे उत्पन्न भयो । अने त्यां
तेमनु नाम ददण कुमार नाम आनु ।

आ ददणकुमार श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर पास धर्मदशना सावणी दीक्षा प्रहस्य
करी भिक्षाचर्या करवा माटे ते स्वयं जाता होता श्रीकृष्णना पुत्र तेमळ श्रीजगद्गुरु
तीर्थंकर नेमिनाथ प्रभुना शिष्य होवा छत्ता पण ते विशाल द्वारिका नगरीमा तेने
भोटा भोटा सेठ साहूकाराना प्रशोभा जवा छत्ता पण लाभान्तराय कर्मना उदयशी
शेअ पण प्राप्तुक लाभान्तरायना लाभ भगतो न होता आशी जे दिनप्रतिदिन शुष्क
शरीरवाणा बनवा लाज्यां भगवान् नेमिनाथ पासे जठने अकठिवस तेमझे आठो
रना अलामनु कारण पूछनु, भगवाने कहु के, हे वत्स ! तू आ भवशी पहिले
नवाखु लाख नवाखु हजार नवसो नवाखुना ९९,९९,९९९ भवमा । व प्रहे

आसीः। तत्र भवे हलयोजितवृषभाणा भोजनपानान्तरायस्त्वया कृतः। तदन्तरायकर्म-
 ऽस्मिन् भवे इदानीमुदितम्, अतोऽयमलामपरीपहृस्त्वया सोढव्य । तदनु दंडणकु-
 मारेण स्वपूर्वभववृत्तान्तं श्रुत्वा तदन्तरायकर्म क्षपयितुं गाढसवेगेन सोत्साहमभिग्र-
 हो गृहीतः-अद्यमभृति मया परलामो न ग्राह्य इति । तदनन्तरमभिग्रहमुपादाय स
 प्रतिदिनं भिक्षार्थमटति, परन्तु-लामान्तरायोदयात् किञ्चित् प्राप्नोति, तथापि नो
 द्विग्नो भवति, नापि चान्यं निन्दति किन्तु, नित्यमदीनमानसं सन् स्व कर्मवाचिन्तयत्।

के एक किसान की पर्याय में था। उस समय तूने हल में जुते हुए
 बैलों के भोजन पान में अन्तराय डाला था। वह अन्तराय कर्म इस
 भव में तुम्हारे इस समय में उदय में आया है इसलिये इस अलाम
 परीपहृ को तुझे सहन करना चाहिये। भगवान् द्वारा इस प्रकार कहे
 गये अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को सुनकर दंडणकुमार मुनिने उस घट्ट
 अन्तराय को नष्ट करने के निमित्त यद्ये ही उत्साह के साथ गाढ
 वैराग्य से युक्त अन्त करण होकर ऐसा अभिग्रह ग्रहण किया कि
 “आज से लेकर मैं परलाम को ग्रहण नहीं करूँगा” अर्थात् दूसरे
 के निमित्त से मिला हुआ आहार पानी नहीं ग्रहण करूँगा। इस प्रकार
 अभिग्रह ग्रहण कर वे प्रतिदिन भिक्षाचर्या को जाते परन्तु लामान्त-
 राय कर्म के उदय से उनको किञ्चित् भी आहार का लाभ नहीं होता,
 परन्तु फिर भी इस परिस्थिति में भी उनके चेहरे पर उद्विग्नता के
 चिह्न जरा भी दिखलाई नहीं पड़ते-वे उद्विग्नचित्त नहीं होते और न

शर्मां हुंठक गाभर्मां सौवीर नाम्नी ज्येष्ठ जेडुतना पथोयभा हते। ते सभये
 ते हणमां जेडेला भणहने बोधन पानमां अतराय नाम्नी हते। ते अतराय
 कर्म आ भवमा तमाशा भाटे आ सभये उदयमा आवेस छे भाटे आ अलाम
 परीपहृने तमाशे सहन करवे। ज्येष्ठ ज्ये, भगवान् तरक्षथी कहेवामा आवेस
 आ प्रकारना पेताना पूर्वभवना वृत्तान्ते लक्ष्मी दंडणकुमार मुनिजे आ अस
 भद्र अतरायने नाश करवा भाटे भूषण उत्साहथी गाढ वैराग्ययुक्त अत्
 कश्चवाणा पनी ज्येष्ठ अभिग्रह धारण थयो के, “आजधी हु परलामने अरुण
 नही करे” अर्थात् भीजाना निमित्तथी भजेस आहार पाणी अरुण नही
 करे आ प्रकारने अभिग्रह अरुण करी ते प्रतिदिन भिक्षाचर्या भाटे जता
 परन्तु लामान्तराय कर्मना उदयथी तेभने बोधे पण आहारने लाभ भणतो नही

અથાન્યદા શ્રીકૃષ્ણવાસુદેવઃ શ્રીનેમિનાથસ્વામિનં પૃષ્ટવાન્-મગવન્ ! અપ્તા
 વશસહસ્રેષુ શ્રમણેષુ કોઽસ્તિ દુષ્કરકારક ? , શ્રીનેમિનાથસ્વામિના પ્રોક્તમ્-સર્વે
 શ્રમણદુષ્કરકારકા , દ્વઢગમુનિસ્તુ અતિદુષ્કરકારકઃ । શ્રીકૃષ્ણેનોક્તમ્—કથમ્ ? ,
 શ્રીનેમિનાથસ્વામી ગ્રાહ—અભામપરીપહસ્ય સમ્યક્ સહનેન । તતો મક્તિમરેણ
 સંજાતરોમાઞ્ચ શ્રીકૃષ્ણોઽવદત્—પ્રમો ! મહાત્મા દ્વઢગમુનિઃ ક્વ વિચતે ? । શ્રી
 મગવાનાહ—મિક્ષાર્થં દ્વારકાપુરિં ગતઃ, નગર્યા માવિવ્રન્નેવ ત દ્રક્ષ્યસિ । તદ્વર્તન
 શ્રુત્વા શ્રીકૃષ્ણ શ્રીનેમિજિનં પ્રણમ્ય ચલિતઃ । તતઃ પુરદ્વારે પ્રવિશન્ શ્રીકૃષ્ણઃ

કિસી દૂસરે કી નિન્દા હી કરતે । નિન્દા કરતે મી તો અદીનમન
 હોકર અપને અશુભ કર્મ કી ।

एक दिन की बात है कि श्रीकृष्ण वासुदेव ने श्रीनेमिनाथप्रभु से
 पूछा कि भगवन् ! इन अठाहर हजार मुनियों में इस समय दुष्कर
 कारक कौन है । प्रभु ने कहा सब ही श्रमण दुष्करकारक हैं परन्तु
 द्दवणमुनि विशेष रीति से दुष्करकारक है । वासुदेव ने कहा यह क्यों ?
 प्रभुने कहा अलाभपरीपह के सम्यक् सहन करने से । यह सुनते ही
 श्रीकृष्ण का समस्त शरीर भक्ति के आवेश से रोमांचित हो गया ।
 श्रीकृष्ण ने कहा—प्रमो ! महात्मा द्दवणमुनि इस समय कहां विराजमान
 हैं ? प्रभु ने उत्तर में कहा कि वे इस समय भिक्षा के लिये द्वारिका
 में गये हैं । तुम्हें वहां जाते ही वे मिल जावेंगे । भगवान् की बात सुनकर
 वासुदेव श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान् को खंडना करके वहांसे चलेगये ।

આ પરિસ્થિતિમાં પણ તેમના ચહેરા ઉપર ઉદ્દીગ્નતાનું ચિહ્ન દેખાતું નહીં
 એ ઉદ્દીગ્નચિત્ત ન બનતા અને બીબા કોઈની નિંદા પણ કરતા નહીં નિંદા
 કરવા તો તે શકત પોતાના અશુભ કર્મની

એક દિવસની વાત છે કે, શ્રી કૃષ્ણ વાસુદેવે શ્રી નેમીનાથ પ્રભુને પૂછ્યું
 કે, ભગવન્ ! આ અઠારહજાર મુનિઓમાં આ સમયે કુશ્કર સ્થિતિ કેવળ
 લોગવે છે ? પ્રભુએ કહ્યું કે, બધા શ્રમણ કુશ્કર કષ્ટ લોગવે છે છતાં હવે
 મુનિ આ બધાથી વધુ કુશ્કર સ્થિતિમાં છે વાસુદેવે કહ્યું એમ કેમ ? પ્રભુએ કહ્યું કે,
 અલાભપરીપહને સમ્યક્ સહન કરવાથી આ સાબળતા જ શ્રી કૃષ્ણનું શરીર
 ભક્તિના આવેશથી રોમાચિત બની ગયું અને કહ્યું, પ્રભુ ! મહાત્મા હવે મુનિ
 આ સમયે કયા બિરોજે છે ? પ્રભુએ ઉત્તરમાં કહ્યું કે તે આ સમયે દ્વારિકામાં
 ભિક્ષા માટે ગયા છે, તમને ત્યાં જતાં જ લોટો મઈ જશે ભગવાનની આ વાત
 સાંભળી વાસુદેવ શ્રીકૃષ્ણ નેમીનાથ ભગવાનને વંદના કરી ત્યાંથી આવી નીકળ્યા.

कृशशरीर शान्तचेतस दढणमुनिं दृष्टवान् । ततस्तद्गुणाकृष्टोऽतिगुदित, श्रीकृष्णो
 हस्तिस्कन्धादवतीर्य महीतलमिलनमौलिस्त धवन्द । तदा तेन वन्द्यमानोऽसौ दढणमुनिं
 केनचिदिभ्येन दृष्ट । तदा तेनेभ्येन चिन्तितम्—अहो ! एष महात्मा श्रीकृष्णेन
 वन्द्यते । एव चिन्तयत एव तस्येभ्यस्य गृहे दढणमुनि, प्रविष्ट । तेनोत्कृष्टभावेन
 मोदकै प्रतिलम्बित ।

ततोऽसौ दढणमुनिः श्रीनेमिनाथस्वामिनः समीप गत्वा भिक्षां प्रदर्श्य पृच्छति-
 भगवन् ! मम लाभान्तराय क्षीणः किम् ? श्रीनेमिनाथस्वामिना प्रोक्तम्—न तव

उस समय उन्होंने ने कृशशरीर एव शान्तचित्त दढणमुनि को
 पुरदार में प्रवेश करते हुए देखा । देखते ही वे अपने गजराज से नीचे
 उतरे और झुककर उनको वदना करने लगे । कृष्णवासुदेव को वदना
 करते हुए उस समय किसी सेठ ने देख लिया । देखते ही उसने
 विचार किया कि जिस महात्मा को वदना ये वासुदेव कर रहे हैं वह
 कोई साधारण साधु नहीं हैं, ऐसा विचार कर ही रहा था कि दढणमुनि
 इतने में उसी सेठ के घर में प्रविष्ट हुए । उसने पढ़े ही उत्कृष्टभावों
 से सम्पन्न होकर दढणमुनि को मोदकों की भिक्षा दी । भिक्षा लेकर वे
 वापिस अपने स्थान पर आ गये और जो कुछ भिक्षा में उनको मिला
 था वह उन्होंने ने श्रीनेमिनाथ भगवान् को दिखलाया । दिखलाकर फिर
 भगवान् से उन्होंने ने पूछा कि हे भगवान् ! मेरा लाभान्तराय कर्म क्षीण
 हो चुका है क्या ? भगवान् ने कहा अभी नहीं, भिक्षा में जो ये

ये समये तेभ्ये कृशशरीरवाणा अने शान्तचित्त दढण मुनिने द्वारिकापुरीना
 द्वारभा प्रवेश करती वधते जेया. जेता व पोताना हाथी उपरथी नीचे
 उतरी दढणमुनि पासे जे पडोव्या अने नीचा नभी वदना करी कृष्ण वासुदे-
 वने वदना करता कांश शेक जोध गया अने मनमां विचार कर्यो के, जे महात्माने
 वासुदेव वदना करी रक्ष्य छे ते कांश साधारण साधु न होवा जेधजे त्यां शेक जेवो
 विचार करी रक्ष्य छेता त्यां दढणमुनि जे शेकने घेर भिक्षा माटे जे पडोव्या.
 जे जे पूष व आहर भावथी दढणमुनिने बाडुनी भिक्षा आपी भिक्षा जेध
 ते पोताना स्थान उपर पडोव्या अने पोताने जे कांश भिक्षामा मज्यु छेते ते
 तेभ्ये भगवान श्री नेमीनाथने जताव्यु भगवानने जतावीने पछी तेभ्ये
 पूछ्यु के, भगवन् ! मांई लाभान्तराय कर्म क्षीण जेध गयु के केम ? भगवाने कहु,

અયાન્યદા શ્રીકૃષ્ણવાસુદેવઃ શ્રીનેમિનાથસ્વામિનં પૃષ્ટવાન્-મગવન્! અપ્તા
 વશ્સહસ્રેષુ શ્રમણેષુ કોઽસ્તિ દુષ્કરકારક ? , શ્રીનેમિનાથસ્વામિના પ્રોક્તમ્-સર્વ
 શ્રમણદુષ્કરકારકા , દઢગમુનિસ્તુ અતિદુષ્કરકારક । શ્રીકૃષ્ણેનોક્તમ્—કથમ્ ? ,
 શ્રીનેમિનાથસ્વામી પ્રાહ—અભામપરીપહસ્ય સમ્યક્ સહનેન । તતો મક્તિમરેણ
 સજાતરોમાશ્ચ શ્રીકૃષ્ણોઽવદત્—પ્રમો ! મહાત્મા દઢગમુનિ. ક્વ વિઘટે ? । શ્રી
 મગવાનાહ—મિક્ષાર્થં દ્વારકાપુરોં ગત , નગર્યાં પ્રાવિશન્નેવ ત દ્રક્ષ્યસિ । તદ્વચનં
 શ્રુત્વા શ્રીકૃષ્ણઃ શ્રીનેમિજિનં પ્રણમ્ય ચલિત । તત પુરદ્વારે પ્રવિશન્ શ્રીકૃષ્ણઃ

કિસી દુસરે કી નિન્દા હી કરતે । નિન્દા કરતે મી તો અદીનમન
 હોકર અપને અશુભ કર્મ કી ।

एक दिन की बात है कि श्रीकृष्ण वासुदेव ने श्रीनेमिनाथप्रभु से
 पूछा कि भगवन्! इन अठाहर हजार मुनियों में इस समय दुष्कर
 कारक कौन है । प्रभु ने कहा सब ही श्रमण दुष्करकारक हैं परन्तु
 दढगमुनि विशेष रीति से दुष्करकारक है । वासुदेव ने कहा यह क्यों ?
 प्रभुने कहा अलाभपरीपह के सम्यक् सहन करने से । यह सुनते ही
 श्रीकृष्ण का समस्त शरीर भक्ति के आवेश से रोमांचित हो गया ।
 श्रीकृष्ण ने कहा—प्रमो! महात्मा दढगमुनि इस समय कहा विराजमान
 हैं ? प्रभु ने उत्तर में कहा कि वे इस समय भिक्षा के लिये द्वारिका
 में गये हैं । तुम्हें वहा जाते ही वे मिल जावेंगे । भगवान् की बात सुनकर
 वासुदेव श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान् को खंदना करके वहासे चलेगये ।

આ પરિસ્થિતિમાં પણ તેમના ચહેરા ઉપર ઉદ્દીબ્નતાનું ચિહ્ન દેખાતું નહીં
 એ ઉદ્દીબ્નચિત્ત ન બનતા, અને ધીબા ડોહની નિદ્રા પણ કરતા નહીં નિદ્રા
 કરવા તો તે ક્ષત પોતાના અશુભ કર્મની

એક દિવસની વાત છે કે, શ્રી કૃષ્ણ વાસુદેવે શ્રી નેમીનાથ પ્રભુને પૂછ્યું
 કે, ભગવન્! આ આઠારહાસર મુનિઓમાં આ સમયે કુહર સ્થિતિ કેણું
 લોગવે છે ? પ્રભુએ કહ્યું કે, બધા શ્રમણ કુહર કષ્ટ લોગવે છે છતાં દઢણ
 મુનિ આ બધાથી વધુ કુહર સ્થિતિમાં છે વાસુદેવે કહ્યું એમ કેમ ? પ્રભુએ કહ્યું કે,
 અભામપરીપહને સમ્યક્ સહન કરવાથી આ સાબળતા જ શ્રી કૃષ્ણનું શરીર
 ભક્તિના આવેશથી રોમાંચિત બની ગયું અને કહ્યું, પ્રભુ! મહાત્મા દઢણ મુનિ
 આ સમયે કયા બિરાજે છે ? પ્રભુએ ઉત્તરમાં કહ્યું કે તે આ સમયે દ્વારિકામાં
 ભિક્ષા માટે ગયા છે, તમને ત્યાં જતાં જ એટો યઈ જશે ભગવાનની આ વાત
 સાંભળી વાસુદેવ શ્રીકૃષ્ણ નેમીનાથ ભગવાનને વહના કરી ત્યાંથી આવી નીકળ્યા.

छाया—ज्ञात्वा उत्पत्तित दुःख, वेदनया दुःखार्तित ।

अदीन स्थापयेत् प्रज्ञा, स्पृष्टस्तत्र अधिसहेत ॥ ३२ ॥

टीका—“ नच्चा ” इत्यादि ।

वेदनया=वेदनीयकर्मणा दुःख=श्वासकासादिषोडशविधरोगसम्बन्धिक कष्टम्
उत्पत्तितम्=उत्पन्न भवतीति ज्ञात्वा दुःखार्तित = भाविदुःखशङ्कयाऽऽर्त्तभाव
गत. अदीन* = दैन्यभावरहित सन् प्रज्ञा=बुद्धि स्थापयेत्=भाविदुःखशङ्कया
चलन्तीं बुद्धिं स्थिरीकुर्यात् । तथा यदि साधु स्पृष्ट* = श्वास-कास-ज्वर-दाह-
कुक्षिशूल-भगन्दरा-शोऽर्जीर्ण-दृष्टिरोग-मूर्धशूल-रुच्य-क्षिशूल-कर्णशूल-कण्ठ-

आहार के अलाभ से अथवा अन्तप्रान्त आहार के लाभ से शरीर
में रोग उत्पन्न हो जाता है इसलिये सोलहवां रोगपरीषह साधु को
जीतना चाहिये, यह बात सूत्रकार कहते हैं—‘नच्चा’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(वेद्यणाए-वेदनया) वेदनीय कर्म के उदय से (दुःख-
दुःख) श्वास कास आदि सोलह प्रकार के रोग संबधी दुःख (उत्पन्न-
उत्पत्तितम्) उत्पन्न होता है ऐसा (नच्चा-ज्ञात्वा) जानकर (दुःखदृष्टि-
दुःखार्तितः) भावी दुःख की आशङ्का से आर्त्त भाव को प्राप्त हुआ
मुनि (अदीनो-अदीन) दैन्यभाय से रहित होकर (पन्न ठावए-प्रज्ञां
स्थापयेत्) भावी दुःख की आशङ्का से चलित होती हुई अपनी बुद्धि
को स्थिर करे । यदि साधु (पुष्टो-स्पृष्टः) श्वास, कास, ज्वर, दाह,
कुक्षिशूल, भगन्दर, अर्श, अर्जीर्ण, दृष्टिरोग मूर्धशूल, अरुचि, नेत्रशूल

आहारना अलाभथी अथवा अहितकर्ता (अपभ्य) आहारथी शरीरमां
रोग यथा स भव छे तेषी ज्ञानमे रोगपरीषह साधुजे एतवे जेभजे जे
वात सूत्रकार कहे छे—‘नच्चा’ इत्यादि

अन्वयार्थ—वेद्यणाए-वेदनया वेदनीय कर्मना उदयथी दुःख-दुःखम् श्वास कास
आदि सोलह प्रकारना रोग स भधी दुःख उत्पन्न-उत्पत्तितम् उत्पन्न शाय छे जेवु
नच्चा-ज्ञात्वा अर्थने दुःखदृष्टि-दुःखार्तितः भावी दुःखनी आशङ्कथी आर्त्तभा
वने प्राप्त करतार मुनि अदीनो-अदीन दैन्य भावथी रहित भनी पन्न ठावए-प्रज्ञा
स्थापयेत् भावी दुःखनी आशङ्कथी चलीत थती पेतानी बुद्धिने स्थिर करे
अगर जे साधु पुष्टो-स्पृष्ट १ श्वास, २ कास, ३ ज्वर, ४ दाह, ५ अर्श, ६
भगन्दर, ७ अर्श, ८ अर्जीर्ण, ९ दृष्टिरोग, १० मूर्धशूल, ११ अरुचि,

કર્મ ક્ષીણમ્, અય તુ વાસુદેવસ્ય લાભઃ, યત શ્રીકૃષ્ણસ્ત્વાં વન્દિતવાન્, અતસ્તે મોદકાન્
 શ્રેષ્ઠી વક્તવાન્ । તદ્વચન ધ્રુત્વા ઢઢળમુનિ ' પરલામો ન કલ્પતે ' ઇત્યુક્ત્વા રાગદ્વેષ-
 વર્જિતો મૂર્છારહિતઃ સન્ નગરાદ્ વહિર્ગત્વા પ્રાસુકસ્થણ્ડિલે મોદકાન્ યત્નવા
 પરિષ્વાપ્ય, તાપદૈન્યાદ્યકરણેન લાભાન્તરાયકર્મ ક્ષપયન્ ક્ષપકશ્રેણિમાસ્સ કેવલી
 જાત । એવમન્યૈરપિ મુનિભિરલામપરીપદઃ સોઢવ્યઃ ॥ ૩૧ ॥

અલામાદન્તમાન્તાઘાહારલામાદ્ વા શરીરે રોગા उत्पद्यन्ते, अत पाठयं
 रोगपरीपदजय प्राद—

मूलम्—नच्चो उप्पइय दुक्ख, वेयणाए दुहट्ठिणं ।

अंदीणो ठारवए पंत्त, पुट्ठो तेत्थऽहियासेण ॥ ३२ ॥

મોદકોં કા લામ તુમ્હેં હુઆ હૈ વહ લામ તુમ્હારા નહીં હૈ કિન્તુ યહ
 લામ વાસુદેવ કા હૈ, કારણ કિ તુમ કો કૃષ્ણ ને વંદના કી ઇસલિયે
 સેઠ ને તુમકો યે મોદક વહરાયે, અત તુમ્હારે ઇસ લામ મેં નિમિત્ત
 કૃષ્ણ હૈં । ઢઢળમુનિ ને ભગવાન્ કે ઇન વચનોં કો સુનકર " પરલામ
 મુક્ષે કલ્પતા નહીં હૈ " એસા કહકર રાગદ્વેષ સે એવ મૂર્છાં સે વર્જિત
 હોતે હુએ નગર કે ઘાહર આકર કિસી પ્રાસુક મૂમિ મેં उन मोदकों को
 યતનાપૂર્વક પરિઠવદિયા । તાપ એવ વીનતા કે નહીં કરને સે લામાન્ત
 રાયકર્મ કો નષ્ટ કરતે હુએ उन ढढणमुनिने क्षपकश्रेणी पर आरोहण कर
 કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કર લિયા । ઇસી તરહ અન્યમુનિયોં કો મી અલામ પરિ-
 વહ કો સહન કરના ચાહિયે ॥ ૩૧ ॥

હબ્ધુ સમય યાઠી છે બિક્ષામાં લાડવાનો લાભ તમને થયો છે તે લાભ તમારો નથી
 પરંતુ એ લાભ વાસુદેવનો છે કારણ કે કૃષ્ણે તમારી વંદના કરી આ બોધને
 શેઠે તમને લાડવા વહોરાવ્યા છે આથી તમારા આ લાભમાં નિમિત્ત કૃષ્ણ બન્યા છે
 ઢઢળમુનિએ ભગવાનનાં આ વચન સાંભળી " ધીબનો લાભ મને કલ્પતો
 નથી " એમ કહી રાગદ્વેષ અને મૂર્છાંથી વહીંત રહી નગરની બહાર બધે કોઈ
 પ્રાસુક ભૂમિમાં એ લાગવાને યતનાપૂર્વક ઊંડી ઊંધા તપ અને બિક્ષામાં વીનતા ન
 કરવાથી લામાન્તરાય કર્મને નષ્ટ કરતાં એ ઢઢળમુનિએ ક્ષપકશ્રેણી પર આરો-
 હણ કરી કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યું આ રીતે અન્ય મુનિઓએ પણ અલાભ
 પરીપદને સહન કરતા રહેવું બોધ્યું છે ॥ ૩૧ ॥

छाया—ज्ञात्वा उत्पत्तित दुःख, वेदनया दुःखार्तित ।

अदीन स्थापयेत् प्रज्ञा, स्पृष्टस्तत्र अधिसहेत ॥ ३२ ॥

टीका—“ नच्चा ” इत्यादि ।

वेदनया=वेदनीयकर्मणा दुःख=श्वासकासादिपोडशविधरोगसम्बन्धिकं कष्टम् उत्पत्तितम्=उत्पन्न भवतीति ज्ञात्वा दुःखार्तित = भाविदुःखशङ्कयाऽऽर्त्तभावंगतः अदीन = दैन्यभावरहित सन् प्रज्ञा=बुद्धि स्थापयेत्=भाविदुःखशङ्कया चलन्तीं बुद्धिं स्थिरीकुर्यात् । तथा यदि साधु स्पृष्ट = श्वास-कास-ज्वर-दाह-कुक्षिशूल-भगन्दरा-शोऽर्जीर्ण-दृष्टिरोग-मूर्धशूल-रुच्य-क्षिशूल-कर्णशूल-कण्ठ-

आहार के अलाभ से अथवा अन्तप्रान्त आहार के लाभ से शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है इसलिये सोलहवा रोगपरीपह साधु को जीतना चाहिये, यह घात सूत्रकार कहते हैं—‘नच्चा’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(वेयणाए-वेदनया) वेदनीय कर्म के उदय से (दुःख-दुःख) श्वास कास आदि सोलह प्रकार के रोग सघधी दुःख (उत्पन्न-उत्पत्तितम्) उत्पन्न होता है ऐसा (नच्चा-ज्ञात्वा) जानकर (दुःखदृष्टि-दुःखार्तितः) भावी दुःख की आशङ्का से आर्त्त भाव को प्राप्त हुआ मुनि (अदीणो-अदीन) दैन्यभाव से रहित होकर (पन्न ठावए-प्रज्ञा स्थापयेत्) भावी दुःख की आशङ्का से चलित होती हुई अपनी बुद्धि को स्थिर करे । यदि साधु (पुट्टो-स्पृष्ट) श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, अर्श, अर्जीर्ण, दृष्टिरोग मूर्धशूल, अरुचि, नेत्रशूल

आहारना अलाभधी अथवा अहितकर्ता (अपथ्य) आहारधी शरीरमां रोग यवा स भव छे तेधी सोणयो रोगपरीपह साधुजे एतयो अर्थजे जे वात सूत्रकार कहे छे—‘ नच्चा ’ इत्यादि

अन्वयार्थ—वेयणाए-वेदनया वेदनीय कर्मणा उदयधी दुःख-दुःखम् श्वास कास आदि सोण प्रकारना रोग सघधी दुःख उत्पन्न-उत्पत्तितम् उत्पन्न थाय छे जेवु नच्चा-ज्ञात्वा भावीने दुःखदृष्टि-दुःखार्तितः भावी दुःखनी आशङ्काधी आर्त्तभा पने प्राप्त करनार मुनि अदीणो-अदीन दैन्य भावधी रहित अपनी पन्न ठावए-प्रज्ञां स्थापयेत् भावी दुःखनी आशङ्काधी यतीत यती यतानी बुद्धिने स्थिर करे अगरे जे साधु पुट्टो-स्पृष्टः १ श्वास, २ कास, ३ ज्वर, ४ दाह, ५ भगगांठ, ६ भगन्दर, ७ दर्श, ८ अर्जीर्ण, ९ दृष्टिरोग, १० मूर्धशूल, ११ अरुचि,

कर्म क्षीणम्, अयं तु वासुदेवस्य लाभः, यत् श्रीकृष्णस्त्वां वन्दितवान्, अतस्ते मोदकान्
 श्रेष्ठी दत्तवान् । तद्वचनं श्रुत्वा दंडणमुनि ' परलामो न कल्पते ' इत्युक्त्वा रागद्वेष-
 वर्जितो मूर्छारहितः सन् नगराद् वहिर्गत्वा प्रासुकस्थण्डिले मोदकान् यत्नवा
 परिष्ठाप्य, तापदैन्याद्यकरणेन लाभान्तरायकर्म क्षपयन् क्षपकश्रेणिमास्त्र केवली
 जात । एवमन्यैरपि मुनिभिरलामपरीपहः सोढव्यः ॥ ३१ ॥

अलामान्तप्रान्ताद्याहारलामाद् वा शरीरे रोगा उत्पद्यन्ते, अतः पाठ्य
 रोगपरीपहनय प्राह—

मूलम्—नच्चो' उपप्लेय दुक्ख, वेयणाए दुहट्टियं ।

अदीणो ठार्वए पंन्न, पुटो तेत्थऽहियासेए ॥ ३२ ॥

मोदकों का लाभ तुम्हें हुआ है वह लाभ तुम्हारा नहीं है किन्तु यह
 लाभ वासुदेव का है, कारण कि तुम को कृष्ण ने वदना की इसलिये
 सेठ ने तुमको ये मोदक वहराये, अतः तुम्हारे इस लाभ में निमित्त
 कृष्ण हैं । दंडणमुनि ने भगवान् के इन वचनों को सुनकर " परलाम
 मुझे कल्पता नहीं है " ऐसा कहकर रागद्वेष से एव मूर्च्छा से वर्जित
 होते हुए नगर के पाहर जाकर किसी प्रासुक भूमि में उन मोदकों को
 यतनापूर्वक परिठवदिया । ताप एवं दीनता के नहीं करने से लाभान्त
 रायकर्म को नष्ट करते हुए उन दंडणमुनिने क्षपकश्रेणी पर आरोहण कर
 केवलज्ञान प्राप्त कर लिया । इसी तरह अन्यमुनियों को भी अलामपरि-
 पह को सहन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

कृष्ण समय आधी छे बिक्षामां वाउवाने वासु तमने धयो छे ते वासु तमाशे नथी
 परतु जे वासु वासुदेवने छे कारखु छे कृष्णे तमाशे वदना करी आ जेछेते
 रेछे तमने वाउवा वखेराव्या छे आथी तमाशे आ वासुमा निमित्त कृष्ण जन्माछे
 दंडणमुनिजे सभवाननां आ वचन साबणी " जीवने वासु मने कल्पते
 नथी " जेम ठही रागद्वेष जने मूर्च्छाथी वल्लत रही नभरनी जहार जर्धेठेठ
 प्रासुक भूमिमां जे वाउवाने यतनापूर्वक छेयी दीधा. तप जने बिक्षामां दीनता न
 करवाथी वासान्तराय कर्मने नष्ट करतां जे दंडणमुनिजे क्षपकश्रेणी पर आशे-
 कृष्ण करी केवणज्ञान प्राप्त करुं आ रीते अन्य मुनिजोके पखु अलाम
 परीपहने सहन करता रहेवु जेछे जे. ॥ ३१ ॥

छाया—ज्ञात्वा उत्पत्तिं दुःख, वेदनया दुःखार्ति ।

अदीन' स्थापयेत् प्रज्ञा, स्पृष्टस्तत्र अधिसहेत ॥ ३२ ॥

टीका—“ नच्चा ” इत्यादि ।

वेदनया=वेदनीयकर्मणा दुःख=श्वासकासादिषोडशत्रिविधरोगसम्बन्धिक कष्टम
उत्पत्तिम्=उत्पन्न भवतीति ज्ञात्वा दुःखार्ति = भाविदुःखशङ्काऽऽर्त्तभाव
गतः अदीन = दैन्यमावरहित सन् प्रज्ञा=बुद्धि स्थापयेत्=भाविदुःखशङ्का
चलन्तीं बुद्धिं स्थिरीकुर्यात् । तथा यदि साधु स्पृष्ट' = श्वास-कास-ज्वर-दाह-
कुक्षिशूल-भगन्दरा-शोऽर्जीर्ण-दृष्टिरोग-मूर्धशूल-रुच्य-द्विशूल-कर्णशूल-कण्ठ-

आहार के अलाभ से अथवा अन्तप्रान्त आहार के लाभ से शरीर
में रोग उत्पन्न हो जाता है इसलिये सोलहवा रोगपरीपह साधु को
जीतना चाहिये, यह बात सूत्रकार कहते हैं—‘नच्चा’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(वेद्यणाए-वेदनया) वेदनीय कर्म के उदय से (दुःख-
दुःख) श्वास कास आदि सोलह प्रकार के रोग समधी दुःख (उष्ण-
उत्पत्तिम्) उत्पन्न होता है ऐसा (नच्चा-ज्ञात्वा) जानकर (बुद्धि-
दुःखार्तिः) भावी दुःख की आशङ्का से आर्त्त भाव को प्राप्त हुआ
मुनि (अदीणो-अदीन) दैन्यभाव से रहित होकर (पन्न ठावण-प्रज्ञा
स्थापयेत्) भावी दुःख की आशङ्का से चलित होती हुई अपनी बुद्धि
को स्थिर करे। यदि साधु (पुट्टो-स्पृष्ट) श्वास, कास, ज्वर, दाह,
कुक्षिशूल, भगन्दर, अशु, अर्जीर्ण, दृष्टिरोग मूर्धशूल, अरुचि, नेत्रशूल

आहारना अलाभथी अथवा अहितकर्ता (अपभ्य) आहारथी शरीरमा
रोग यथा स भव छे तेथी सोणमे रोगपरीपह साधुञ्जे एतत्ते नेधञ्जे जे
पात सूत्रकार कहे छे—‘नच्चा’ इत्यादि

अन्वयार्थ—वेद्यणाए-वेदनया वेदनीय कर्मणा उदयथी दुःख-दुःखम् श्वास कास
आदि सोण प्रकारना रोग स भधी दुःख उष्ण-उत्पत्तिम् उत्पन्न भाव छे जेपु
नच्चा-ज्ञात्वा ज्ञात्वा बुद्धि-दुःखार्ति भावी दुःखानी आशङ्काथी आर्त्तभा
वने प्राप्त करनार मुनि अदीणो-अदीन दैन्य भावथी रहित जनी पन्न ठावण-प्रज्ञा
स्थापयेत् भावी दुःखानी आशङ्काथी अक्षीत यती येतानी बुद्धिने स्थिर कहे
अत्र जे साधु पुट्टो-स्पृष्ट १ श्वास, २ कास, ३ ज्वर, ४ दाह, ५ भङ्गांठ,
६ भगन्दर, ७ दरस, ८ अशु, ९ दृष्टिरोग, १० मूर्धशूल, ११ अरुचि,

કર્મ ક્ષીણમ્, અપ તુ વાસુદેવસ્વ લાભઃ, યત શ્રીકૃષ્ણસ્ત્વાં વન્દિતવાન્, અતસ્તે મોદકાન્
 શ્રેષ્ઠી વચ્ચવાન્ । તદ્વચનં શ્રુત્વા ઢંઢણમુનિ ‘ પરલામો ન કલ્પતે ’ ઇત્યુક્ત્વા રાગદ્રેષ-
 વર્જિતો મૂર્છારહિતઃ સન્ નગરાદ્ વહિર્ગત્વા પ્રામુકસ્થણ્ડિલે મોદકાન્ યત્નવા
 પરિષ્ઠાપ્ય, તાપદૈન્યાદ્યકરણેન લાભાન્તરાયકર્મ ક્ષપયન્ ક્ષપકશ્રેણિમાસ્સ કેવલી
 જાત । ઇવમન્યૈરપિ મુનિભિરલામપરીપઠઃ સોઢ્ય ॥ ૩૧ ॥

અલામાવન્તપ્રાન્તાઘાહારલામાદ્ વા શરીરે રોગા વ્ત્પદ્યન્તે, અતઃ પાંડચ
 રોગપરીપહજય પ્રાહ—

મૂલ્મ—નચ્ચાં ઉપ્પઙ્ગય દુક્ષ્વ, વેયળાણ દુહટ્ટિણ ।

અંદીળો ઠાવર્ષ પૈન્ન, પુટ્ટો તેરયઽહિયાસેણ ॥ ૩૨ ॥

મોદકોં કા લામ તુમ્હે હુઆ હૈ વહ લામ તુમ્હારા નહીં હૈ કિન્તુ યહ
 લામ વાસુદેવ કા હૈ, કારણ કિ તુમ કો કૃષ્ણ ને વદના કી ઇસલિયે
 સેઠ ને તુમકો યે મોદક વહરાયે, અત તુમ્હારે ઇસ લામ મેં નિમિત્ત
 કૃષ્ણ હૈં । ઢંઢણમુનિ ને ‘ મગવાન્ ’ કે ઇન વચનોં કો સુનકર “ પરલામ
 મુક્ષે કલ્પતા નહીં હૈ ” ઇસા કહકર રાગદ્રેષ સે ઇવ મૂર્છાં સે વર્જિત
 હોતે હુણ નગર કે ઘાહર જાકર કિસી પ્રામુક ભૂમિ મેં ડન મોદકોં કો
 યતનાપૂર્વક પરિઠવદિયા । તાપ ઇવ દીનતા કે નહીં કરને સે લાભાન્ત
 રાયકર્મ કો નષ્ટ કરતે હુણ ડન ઢંઢણમુનિને ક્ષપકશ્રેણી પર આરોહણ કર
 કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કર લિયા । ઇસી તરહ અન્યમુનિયોં કો ડી અલામ પરિ-
 પહ કો સહન કરના ઘાહિયે ॥ ૩૧ ॥

હજી સમય યાકી છે બિજ્ઞામાં લાડવાને લાભ તમને થયો છે તે લાભ તમારો નથી
 પરંતુ એ લાભ વાસુદેવનો છે કારણ કે કૃષ્ણે તમારી વદના કરી આ ભોધને
 શેઠે તમને લાડવા વહોરાવ્યા છે આથી તમારા આ લાભમાં નિમિત્ત કૃષ્ણ બન્યા છે
 ઢંઢણમુનિએ ભગવાનનાં આ વચન સાંભળી “ ધીબને લાભ મને કલ્પતો
 નથી ” એમ કહી રાગદ્રેષ અને મૂર્છાથી વળત રહી નગરની બહાર બધે કોઈ
 પ્રામુક ભૂમિમાં એ લાડવાને યતનાપૂર્વક છેડી દીધા તપ અને બિજ્ઞામાં દીનતા ન
 કરવાથી લાભાન્તરાય કર્મને નષ્ટ કરતાં એ ઢંઢણમુનિએ ક્ષપકશ્રેણી પર આરો-
 હણ કરી કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યું આ રીતે અન્ય મુનિઓએ પણ અલાભ
 પરીપઠને સહન કરતા રહેવું ભોધ એ ॥ ૩૧ ॥

रोगाक्रान्तस्य मुने कर्तव्यमाह—

मूलम्—तेगिच्छ नाभिनदिज्जा, सचिक्खेत्तगवेसए ।

एयं खु तस्स सामन्न, जं न कुज्जेना नं कारेण ॥३३॥

छाया—चिकित्सा नाभिनन्देत्, सतिष्ठेत् आत्मगवेपक ।

एतत् 'सु' तस्य भ्रामण्य, यन्न कुर्यात् न कारयेत् ॥३३॥

टीका—'तेगिच्छ' इत्यादि ।

मुनि, चिकित्सां=रोगप्रतीकारं, नाभिनन्देत्=नानुमोदेत् । अनुमतिनिषेधा-
धिक्रिसायां करण कारण तु दूरत एव प्रतिषिद्धम् । किं तु आत्मगवेपक =आत्मान-
नम्—आत्मकल्याण गवेपयति—सपमरसणेनेति आत्मगवेपकः स्वात्मकल्याणार्थं चारि-
प्रपालकं सन् सतिष्ठेत्=समाधिना तिष्ठेत् । 'खु'=यस्मात्, एतत् तस्य=भ्रम-

कुछ मुझे रोगादिक हो रहे हैं वे सय मेरे ही अशुभ कर्मोंके फल हैं" ॥३२॥

रोगाक्रान्त मुनि के कर्तव्य को सूत्रकार इस गाथाद्वारा कहते हैं—
'तेगिच्छ' इत्यादि ।

अन्यथार्थ—मुनि (तेगिच्छ-चिकित्साम्) रोग के प्रतीकार की (नाभि-
नदिज्जा-न अभिनन्देत्) अनुमोदना नहीं करे । मुनि जय चिकित्सा तक
की अनुमोदना नहीं करता है तो उसकी चिकित्सा करना और कराना तो
बहुत दूरकी बात है । किन्तु (असगवेसए-आत्मगवेपक) जो सयम
की रक्षा से आत्मकल्याण का गवेपक है उसका कर्तव्य है कि वह
(सचिक्खे-सतिष्ठेत्) रोगादिक अवस्था में भी समाधि भाव से रहे ।
(खु-यस्मात्) क्योंकि (तस्स-तस्य) उस मुनि का (एय-एतत्) यही

“आ जे ठाई भने राज आदि यथेस छे ते पधां मारा अशुभ कर्मोनु
क्षण छे” ॥ ३२ ॥

रोगाक्रान्त मुनिनु कर्तव्य शुं छे ते सूत्रकार आ गाथा द्वारा कहे छे
'तेगिच्छ' इत्यादि

अ-वथाथ—मुनि तेगिच्छ-चिकित्साम् राजना प्रतिकारनी नाभिनदिज्जा-
न अभिनन्देत् अनुमोदना न करे मुनि व्यापारे चिकित्सा मुधीनी अनुमोदना नथी
करता त्यारे तेनी चिकित्सा करी अथवा करायवी धरणी दुःखी वात् छे असगवेसए
-आत्मगवेपक जे सयमनी रक्षाद्वारा आत्मकल्याणना गवेपक होय छे तेनु कर्तव्य
छे के, सचिक्खे-सतिष्ठेत् रोगादिक अवस्थाभा समाधीभावथी रहे खु-यस्मात्
कर्म के, तस्स-तस्य जे मुनिनु एय-एतत् जेव सामण्य-भ्रामण्यम् अभयुपक्षु छे

दररोगं—कुष्ठे—ति पोडशपिपरोगातद्धैराक्रान्तो भवेत्, तर्हि तत्र=तस्मिन् समये स साधुः तान् रोगातङ्गान् अधिसहेत्—“ यदधुनाऽहं व्याधिना बाध्यमानोऽस्मि तदेतन्मम स्वस्यैव पूर्वकृतकर्मण फलम् ” इति समभावमवलम्ब्य रोगपरीषह सहन कुर्यादित्यर्थः ॥ ३२ ॥

कर्णशूल, कण्ठ—खजुहट, उदररोग, और कुष्ठ, इन सोलह प्रकार के रोगों से आक्रान्त हो, तो (तत्र-तत्र) उस समय वह साधु (अहियासप-अधिसहेत) उन रोगों को शान्तिपूर्वक सहन करे अर्थात्— ‘मैं जो इस समय व्याधि से आक्रान्त हूँ यह मेरे पूर्वभय में किये हुए कर्मों का फल है’ ऐसा विचार कर मुनि रोगपरीषहको समभाव से सहन करे ॥ ३२ ॥

भावार्थ—इस गाथा के द्वारा सूत्रकार साधु को रोगपरीषह सहन करने का उपदेश दे रहे हैं। वे कहते हैं कि—ससारी एव मुनियों में रोगों को सहन करने की विचारधारा में बड़ा अन्तर रहता है। ससारी तो प्रायः रोगों के उत्पन्न होते ही अधीर हो जाते हैं तब समयी जन उनका साम्हना यद्दे ही धैर्य से करते हैं। रोगों से पीडित होने पर भी साधु को अपनी बुद्धि अस्थिर बनानी नहीं चाहिये—प्रत्युत अस्थिर होने पर उसे मानसिक बल द्वारा स्थिर कर धर्मध्यान में लीन बनाये रखना चाहिये। तथा विचार भी ऐसा करना चाहिये—“ये जो

१२ नेत्रशूल, १३ कर्णशूल, १४ भयंखजुहटी, १५ उदररोग, अने १६ कुष्ठ आ सोण प्रकारना रोगधी व्याकुण्ठा थाय तो तत्र-तत्र अ समये ते साधु अहियासप-अधिसहेत अ रोगने शान्तिपूर्वक सहन करे अर्थात्—‘हूँ आ समय अ व्याधिधी पीडित धर्म रक्षो हूँ अ मारा पूर्वभयनां करेकां कर्मना पहलो छे’ अवे विचार करी मुनि रोगने समभावधी सहन करे ॥ ३२ ॥

भावार्थ—आ गाथा द्वारा सूत्रकार साधुने रोगपरीषह सहन करवाने उपदेश आये छे, तेअो कहे छे के,—ससारीअो अने मुनिअोने रोगाभां तेने सहन करवाने विचारधाराभां भार अंतर होय छे ससारी तो रोगने उत्पन्न यतां अ अधिरा धर्म जाय छे त्तारे समयी जन तेने अत्यंत धैर्यधी सामने करे छे रोगधी पीडित होवा छवां पण साधुअे पोतानी बुद्धिने अस्थिर नही यवा देवी अेधअे परतु अस्थिर थाय त्तारे तेने मानसिक बलद्वारा स्थिर करीने लीन बनावी शपवी अेधअे अने विचार पण अवे अेधअे

કૃતમ્ । તસ્ય કલ્પવૈશિકસ્ય જ્યેષ્ઠા મગિની જિતશત્રુભૂપતિના મુદ્ગશૈલનામસ્નગરા-
ધિપાય હતશત્રુનામ્ને નૃપાય પ્રદત્તા ।

અન્યદા કદાચિત્ સ કાલવૈશિકકુમારો નિગ્નિ શૃગાલશબ્દ શ્રુત્વા સ્વસેવકાન્
પૃચ્છતિ—કસ્યાય શબ્દ શ્રૂયતે ? , સેવકા અનુવન્-શૃગાલસ્ય, તત્ કુમારો તૂતે ત
શબ્દ્વા મત્મમીપે સમાનયત, તૈ શૃગાલ આનીત' । ક્રીડનમિયોઽસૌ કુમારસ્ત
યપ્તયા પુન પુનસ્તાડયતિ । કાલવૈશિકકુમારેણ તાદ્યમાનોઽસૌ શૃગાલ 'લિન્વી'
શબ્દ કુર્વન્નુચ્ચૈરાક્રન્દતિ । ત શબ્દ શ્રુત્વાઽસૌ સહયં દસતિ । एव ताडित शृगालः
કાલં કૃત્વા અકામનિર્જેરયા વ્યન્તરદેવો જાત ।

जाय कालवैशिक की एक बड़ी बहिन थी जिसका ब्याह राजा ने मुद्ग-
शैल नामक नगर के अधिपति हतशत्रु के साथ किया था ।

एक दिन की बात है कि कालवैशिककुमार ने रात्रि में शृगाल
का शब्द सुनकर अपने सेवकों से पूछा कि यह शब्द किसका सुनाई
दे रहा है ? नौकरों ने कहा कि यह शब्द शृगाल का सुनाई पड़ रहा है ।
कुमार ने कहा उसको बाधकर मेरे पास ले आओ । तब वे शृगाल
को बाधकर ले आये और कालवैशिककुमार को सोंप दिया । कुमार
खेलने का शोकिन था इसलिये वह शृगाल को वार-वार लकड़ी का घोदा
मारता था । जैसे-जैसे कुमार उसको लकड़ी का घोदा मारता था तैसे-
तैसे वह दुःखित होकर “ ल्वी ल्वी ” शब्द करता हुआ जोर से चिल्लाता
था । उसके शब्द को सुनकर कुमार बड़ा हर्षित होता था और वह
खूब हँसता था । इस प्रकार कुमारसे ताडित वह शृगाल मर कर अकाम
निर्जरा से व्यन्तरदेव हो गया ।

એની લોકોને બહુ માય. કાલવૈશિકને એક મોટી બહેન હતી જેનો વિવાહ
રાજાએ મુદ્ગશૈલ નગરના અધિપતિ હતશત્રુ રાજા બેઠે ઠયે હતો.

એક સમયની વાત છે કે કાલવૈશિક કુમારે રાત્રિના વખતે શીયાળનો
શબ્દ સાંભળી પાતાના સેવકોને પૂછ્યું કે, આ શબ્દ જેનો સંભળાઈ રહ્યો છે ?
સેવકોએ કહ્યું કે, આ શબ્દ શીયાળનો સંભળાય છે કુમારે કહ્યું કે તેને બાધીને મારી
પાસે લઈ આવો સેવકો તેને બાધીને કુમાર પાસે લઈ આવ્યા અને કાલવૈશિક
ને સોંપી દીધું કુમાર ખેલવાનો મારે શોખીન હતો એટલે તે શીયાળને વાર વાર
લાકડીના ગોદા મારવા લાગ્યો. જેમ જેમ કુમાર તેને લાકડીના ગોદા મારવા
લાગ્યો તેમ તેમ તે દુઃખી થઈને ખી ખી શબ્દ કરીને બેરથી ચીડાવા
લાગ્યું તેના શબ્દો સાંભળીને કુમાર ધણું ખુશી થતો હતો અને બેરથી હસતો
હતો. આ પ્રમાણે કુમારથી મારવામા આવેલ તે શૃગાલ મરીને અકામ નિર્જ
રાથી વ્યતરદેવ થઈ ગયું.

णस्य, श्रामण्य=श्रमणधर्म, यत्-चिकित्सां स्वयं न कुर्यात्, अन्येन वा न कारयेत्, उपलक्षणत्वात् कुर्वन्तमन्यं नानुमोदत, इत्यपि बोध्यम् । इदं जिनकल्पिकापेक्षयाऽभिहितम् । स्वविरकल्पापेक्षया तु सावधचिकित्सा वर्जिता, निरवधचिकित्साया अपि ऐच्छिकं वर्जनम् ।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्शयते—

मथुरानगर्यां शत्रुविनासी जितशत्रुनामा भूपतिरासीत् । तेन सर्वाङ्गसुन्दरी कालानाम्नी वेश्या स्वान्तःपुरे स्थापिता । तस्यां राज्ञः पुत्रो जातः । तेन जितशत्रु भूपतिना कालावेश्याया अज्ञातोऽयमिति हेतोस्तस्य “कालवैशिक” इति नाम

तो (सामण्य-श्रामण्यम्) श्रमणपना है (ज न कुज्जा न कारए-यत् न कुर्यात् न कारयेत्) जो वह स्वयं भी चिकित्सा न करे और न दूसरों से करावे । तथा उपलक्षण से करने वाले दूसरे की अनुमोदना न करे । यह जो इस प्रकार कहा गया है वह जिनकल्पी साधुओं की अपेक्षासे कहा गया है । स्वविरकल्पियों की अपेक्षा तो सावध चिकित्सा ही वर्जित है । निरवधचिकित्सा चाहे तो वे करावे न चाहें नहीं करावे यह उनकी इच्छा पर निर्भर है ।

दृष्टान्त—मथुरा नगरी में शत्रु को प्राप्त पहुँचाने वाला जितशत्रु नाम का एक राजा था । उसने काल नाम की एक सर्वाङ्ग सुन्दरी वेश्या को अपने अन्तःपुर में रखी थी । उस वेश्या के एक पुत्र उत्पन्न हुआ । राजाने इस पुत्र का नाम इस ख्याल से कालवैशिक रखा कि लोगों में इसकी प्रसिद्धि “यह कालवेश्या से पैदा हुआ है” इस रूप से हो

जे ते अ नकुज्जा न कारए-यत् न कुर्यात् न कारयेत् स्वयं चिकित्सा न करे अगर भीलज्जे पासे न करावे, तथा उपलक्षणस्य भील करवावाणज्जेनी अनुमोदना न करे जे प्रभाजे कहेवाभा आवेल छे ते अनकथपी साधुज्जेनी अपेक्षायी कहेवाभा आवेल छे स्वविरकल्पिज्जेनी अपेक्षाजे तो सावध चिकित्सा न वलैत छे निरवध चिकित्सा जाहे तो ते करावे अने न जाहे तो न करावे. ते तेनी इच्छा पर निर्भर छे

दृष्टान्त—मथुरा नगरीमा शत्रुज्जेने प्राप्त पहुँचाववाणा उत्तशत्रु नामना जेक राजा छता तेजे काल नामनी जेक सर्वाङ्ग सुन्दर वेश्याने पोताना अन्तःपुरमा राखेल छती. ते वेश्याची तेने जेक पुत्र उत्पन्न भये. राजाजे जे पुत्रनु नाम जे ख्यालशी कालवैशिक राज्या के जे काल वेश्याची पैदा भयेतछे

भिवार्यं र्पट्टं हृद्यन्नृन्म्य भवन प्रसिष्ट । उत्र उत्स कम्पैरिह्नराहने
 स्पर्शो न्नानाग्निनगिनी दात्वाऽशोहसौपथनिधा निष्ठां परसौ । तेन
 चावानता ना निजा गृहीता । आहारमनये कुत्राऽऽगारेव तेन हृद्ये तनौ र्भे प्राता
 वावाहुगानन चिन्दिन्म् 'अद्ये' अवानता मयाऽनुपितनेऽहृद्यम् रक्षितेऽस्सासवि
 च्छवा नया नौवनिश्चा निना गृहीता मुक्ता ३ । ईदशादासदिनां दुःखी सव
 यनिप्रस्य नद्वेन्द्रिचिद्रास्य ब्रह्म च स्यात् तस्मादयस्येति अदारनेन परित्य
 जानि " इति त्रिविन्त्य मुद्गशैलनारतो निर्गत्य गिरिमारुपत्नरत्नतम्बुजो मुनिः
 पादपोषगमनं चतुं व्यसमित ।

वात है कि जय वे भिक्षा के लिये पर्यटन करते हैं हतशत्रु राजा के
 महल में जा पहुँचे तो उनकी ससारी पहिन ने उनके भयासीर रोग
 उत्पन्न हुआ जानकर औषधमिश्रित उनको भिक्षा दी कि जिससे भया
 सीर का रोग मिट जाय । अनजानपनमें इन्होंने वे वह भिक्षा लेली ।
 आहार करते समय इनको मालूम हुआ कि यह आहार औषधमिश्रित
 है । मुनि को इस बात का पढ़ा पश्चात्ताप हुआ । विचार करने लगे कि
 यह काम अच्छा नहीं हुआ, जो मुझे चिकित्सातः क फारवाये फी भावना
 से रहित होकर भी औषधमिश्रित आहार लगा जोर था भी लगा ।
 इस प्रकार के आहार से मुनियोंके अभिग्रह का भंग अवश्य होता है,
 अतः आज से मैं अथ आहार ही नहीं लूंगा । इस प्रकार विचार कर वे
 मुनिराज मुद्गशैल नगरसे निकल कर किसी पर्यत पर भले गये और यहाँ
 आत्मवलयपत्र होकर पादपोषगमन सधारा करने फी तैयारी करने लगे ।

એક દિવસની વાત છે કે, બ્યારે ભિક્ષાને માટે પર્યટન કરતાં કરતાં તત્કાલે જ રાજાના
 મહેલમાં જઈ પહોંચ્યા ત્યાં તેની સસારી બહેને તેને ખરસાની ખીચારી યગેવ
 છે એમ બાણીને ઔષધથી મિશ્રીત એવી ભિક્ષા આપી કે જેથી તેનો હરસનો
 રોગ મટી બાય. અબાણુ પછે તેમણે એ ભિક્ષા લઈ લીધી આહાર કરતાં વખતે
 તેમને ખબર પડી કે, આ આહાર તે ઔષધી મિશ્રીત છે મુનિને આ જાણ
 તેનો ઘણો પશ્ચાત્તાપ થયો વિચાર કરવા લાગ્યા આ કાગ ઠીક નથી થયુ
 જે હું ચિકિત્સા કરાવવાની ભાવનાથી રહિત હોવા છતાં ઔષધમિશ્રીત આહાર
 મે લીધો અને ખાઈ પણ લીધો. આ પ્રકારના આહારથી મુનિજ્ઞાના અભિગ્રહનો
 અવરથ ભંગ થાય છે આથી હું આજથી આહાર જ નહીં લઉં, આ પ્રમાણે
 વિચાર કરીને તે મુનિસજ્જ મુદ્ગશૈલ નગરથી નીકળી ઠાઈ પહાડપર ગયા અને ત્યાં
 આત્મબળથી સ પત્ર થઇને પાદપોષગમન સધારા કરવાની તૈયારી કરવા લગ્યા

क्रमेण यौवने यस्यसि प्राप्ते स फाल्गुणैश्चक्रुष्टमार कदाचित् प्रभासनामकाचार्यस्य समीपे धर्मं ध्रुत्वा जातवैराग्यः प्रव्रज्यां गृहीतवान् । स चैकदा एकाकिविहारप्रतिमा प्रतिपद्यो ग्रामानुग्राम विहारन् मृद्गशैशव्य नगरं गतः । तदा तस्य महासुनेरर्शोरोग समुत्पन्नः । स तेन व्याधिना पीड्यमानोऽपि भीरमानसो मनमाऽपि चिकित्सां नेच्छति । चिकित्साया फरण कारण तु तेन दूरात् पत्र निराकृतम् । 'व्याधि' रुदा निवर्तिष्यते ' इत्यपि न चिन्तितम्, किंतु 'स्वकृत कर्मण फलमेव' इति भास्यजसौ रोगजनितवेदना सहते स्म । एकस्मिन् दिने

जय कुमार यौवन अवस्था में आया तो उसने प्रभास नामक आचार्य के पास धार्मिक उपदेश सुनकर विषयों से विरक्त हो दीक्षा धारण करली । श्रुतज्ञानका खूब अभ्यास किया । जय वे मुनि आगमिक ज्ञान से विशिष्ट ज्ञानी बन चुके तो उन्होंने ने एकाकिविहार की प्रतिमा को अंगीकार कर ग्रामानुग्राम विहार करना प्रारंभ किया । विहार करते-ते ये एक दिन मुद्गशैल नामक नगरी में आये । वहाँ इन्हें पचासीर की भीमारी उत्पन्न हो गई इससे इन्हें अधिकाधिक कष्ट हुआ तो भी उस व्याधि की चिकित्सा के लिये इनका मन भी नहीं हुआ । 'इस व्याधि की निवृत्तिकय होगी' इतना तक भी सकल्प उनके दिल में नहीं उठा, पर यह विचार अवश्य हुआ कि यह स्वकृत-अपने किये हुए कर्म का फल है । इस प्रकार के दृढ अध्यवसाय से उन्होंने ने रोगजनित वेदना को बड़ी ही शूरीरता से सहन किया । एक दिन की

कुमार व्याधि यौवन अवस्थामा आभ्यो त्यागे प्रभास नामना आचार्यनी पासेषी धार्मिक उपदेश साभजीने विषयोषी विरक्त धर्मने दीक्षा धारण करी श्रुतज्ञानने पूर्य अभ्यास कर्यो व्याधि ते मुनि आगमिकज्ञानधी विशिष्ट ज्ञानी अनि सुक्या त्यागे तेमखे ऐकाकी विहारनी प्रतिभाने अंगीकार करी ऐक आभधी जीने जाम विहार करवाने प्रारंभ कर्यो विहार करतया करतया ऐक दिवस मुद्गशैलनगरमा आभ्या त्यां तेमने दरसनी भीमारी उत्पन्न धर्म तेनाधी तेमने जत्यत कष्ट ययु परंतु आ व्याधिनी चिकित्सा करायवानी धम्या पक्ष तेमने धर्म नही आ व्याधि क्यारे भटये, जेवो सुकल्प पक्ष तेना दिवसां उठयो नही परंतु जे विचार तेमना मनमां अवश्य थयो के, पोताना करेला कर्मंतु आ कृण छे आ प्रभाखे दृढ अध्यवसायधी तेज्यो शूरधी उत्पन्न थयेली वेदनाने पूर्य शूरीरताधी सहन करता कंता.

मुनेर्घोरमुपसर्गं कर्तुं कर्णकठोर नीरस शब्दमहर्निश निरन्तर करोति । स च व्यन्त-
देवस्त मुनिं शृगालवधरूप पाप स्मारयति । तदा स ता शृगालीकृतां तथाऽर्शोरो-
कृतां च घोरा दुःसहामुज्ज्वलां वेदना धैर्येण समभावेन च सहमान आसीत्
एव पञ्चदश दिनानि घोरपरीपहोपसर्गं परिपद्य स कालवैशिकमुनि शुक्लध्याने
केवली भूत्वा कर्मक्षय कृत्वा मोक्षपद प्राप । एवमन्यैरपि मुनिभिः समभावेन रोग-
परीपह सहनीयः ॥ ३३ ॥

अथ सप्तदश तृणस्पर्शपरीपहजय प्राह—

मूलम्—अचेलगस्त लूहस्त, सजयस्तं तर्वस्सिणो ।

तणेसु सयमाणस्त, होर्जा गायविराहणा ॥३४॥

छाया—अचेलकस्य रूहस्य, सयतस्य तपस्विन ।

तृणेषु शयानस्य, भवति गात्रविराधना ॥ ३४ ॥

तीक्ष्ण वातों द्वारा काटने लगी, तथा काट खाने के बाद फिर वह
उनके चारों ओर घूमर कर कर्णकटुक विरस शब्द करने लगी । इस
प्रकार वह तब तक करती रही कि जय तक उनका मृत्यु न हुआ । उस
व्यन्तरदेव ने भी मुनि के लिये शृगाल को घघ करने रूप पाप का
स्मरण करा कर दुःखित करने की भी स्वीयर चेष्टा की । इस प्रकार
उन मुनिराज ने उस शृगाली की की हृद्, व्यन्तरदेव की की हृद्, तथा
बवाजोर की घोर दुःसह वेदना को धैर्यपूर्वक समभाव से सहते हुए
पन्द्रह दिन व्यतीत कर दिये । पश्चात् शुक्लध्यान के प्रभाव से केवली हो
कर सर्व कर्मक्षय कर के मुक्ति को प्राप्त किया । इसी तरह अन्य मुनिजनों
को भी समभाव से रोगपरीपह को सहन करना चाहिये ॥ ३३ ॥

तेनी चारे अब्बुञ्जे धुभीने डानने अप्रिय जेवा ककथ शण्डो जेखवा वाग्गुं आ
प्रकारे ते त्यां सुधी करतु रहु के, न्या सुधी तेनु मृत्यु न मसु, जे व्यतर-
देवे पञ्च मुनि भाटे शृगालना वध करवाइप पापतु स्मरण करी, करवीने
दुःभीत करवाणी पूण जेथा करी, आ प्रकारे ते मुनिराजे शृगालीनी मारकत
थयेली अने व्यतरदेवे करेली अने करसनी घोर दुःसह वेदनाने धैर्यपूर्वक
समभावधी सहेत्वा १५ दिवस व्यतित कर्या पछी शुक्लध्यानना प्रभावधी
केवली जनी सर्वं कर्म क्षय करी मुक्ति पाव्या आवी रीते अन्य मुनिज-
नोञ्जे समभावधी रोगपरीपह सहन करवे जेथजे ॥ ३३ ॥

अथ यः शृगालजीरो कालवैशिकेन सतारावस्थायां इत, तस्य व्यन्तरदेवस्य प्राप्तस्य तदानीं विमाने गच्छतस्तत्र पादपोपगमनाय सस्यितस्य मुनेरुपरि गगने विमानगतिः प्रतिक्रिया, तदा स व्यन्तरदेवोऽवधिना पूर्वभववृत्तं ज्ञात्वा वैरनिर्पातनेच्छया तत्र कालवैशिकमुने समीपे विकुर्वणशक्त्या स शिशुका शृगाली विकुर्विता । सा शृगाली 'खि-खि' इति शब्दं कुर्वती तस्य महामुनेर्गात्रं दन्तैर्दंशति । तस्य

इतने में एकव्यन्तरदेव - जो पूर्वभवमें शृगाल था, जिसका इन मुनि ने अपनी कुमारावस्था में ताड़न तर्जन आदि किया था, और जो इनके ताड़न तर्जन आदि के कारण अकामनिर्जरा से मर कर व्यन्तर हो गया था, वह व्यन्तरदेव-विमानमें पैठ कर कहीं दूसरी जगह जा रहा था उसका विमान वहा जा पहुँचा, जहा ये मुनिराज पादपोपगमन सधारा धारण क्रिये हुए थे । उनके ऊपर से होकर जाने में उस विमान को गति रुक गई । विमान को जातेर रुका हुआ देखकर व्यन्तरदेव को बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने अवधिज्ञान से विमान की गति के रुकने में कारण मुनिराज का वह समस्त पूर्व भव का वृत्तान्त जान लिया । उससे मुनि के ऊपर बहुत क्रोध उसका बढने लगा । अपने पूर्वभव में मृत्यु के कारण मुनि को जानकर उस व्यन्तरदेव ने बदला लेने के अभिप्राय से उन मुनिराज के समीप अपनी वैक्रिय शक्तिके द्वारा एक बच्चे सहित शृगाली बनाकर खड़ी कर दी । उस शृगालीने 'खी-खी' शब्द करते हुए उन मुनिराज के समस्त शरीरको अपने

अट्टाभां व्यन्तरदेव के ने पूर्वभवमा शृगाल इतो, नेनु आ मुनिराजे पोतानी कुमार अवस्थाभां ताडन तर्जन करैत अने अने ताडन तर्जनना परिष्णामे अकामनिर्जराधी मरीने व्यन्तर यथेव ते विमानमां मेधीने ठाठ पीने स्थिरे बर्त रहेत इता अने विमान त्यां आवी पडोअधु के ज्या मुनिराजे पादपोपगमन सधारे धारण करैत इतो । त्यांही पसार यता ते विमाननी अती अट्टी अर्ध विमानने अकडम अटकेलु अर्धने व्यन्तरदेवने भूष आश्रयं अधु तेजे अवधीज्ञानधी विमाननी गती रेखावाना कारणरूप मुनिराजने। पूर्वभवने समस्त वृत्तांत अवये। अनाथी मुनि ऊपर तेने क्रोध अकडम वधवा लाअये। पोताना पूर्वभवना मृत्युना कारणरूप मुनिराज अ छे तेम अक्षीने ते व्यन्तरदेवे भइले देवानी धम्माधी ते मुनिराजनी पासे पोतानी वैक्रियशक्ति द्वारा अकडम अन्धावाणी प्रवण शियाणने उत्पन्न अधु" अ शिमाण "भी भी" शब्द करीने पोताना तीक्ष्ण हांतीसी मुनिराजना शरीरने कापवा बाअधु करउवा पडी इरीधी

तृणस्पर्शपीडायां मुनिना यत् कर्तव्यं तद् बोधयितुमाह—
मूलम्—आयवस्स निवाणं, अउला हवैइ वेयंणा ।

एव नञ्चा न सेवति”, ततुंज तर्णतज्जिया ॥३५॥

छाया—आतपस्य निपातेन, अतुला भवति वेदना ।

एव ज्ञात्वा न सेवन्ते, तन्तुज तृणतर्जिताः ॥ ३५ ॥

टीका—‘ आयवस्स ’ इत्यादि ।

भावार्थ—अचेलक पद से यहा स्थविरकल्पिक को भी जो अचेलक कहा है वह इसी अभिप्राय से कि वे शास्त्रमर्यादा के अनुसार चस्त्र रखते हैं, उससे अधिक नहीं आगम में स्थविरकल्पिक के लिए अल्पमून्य वाले प्रमाणोपेत चस्त्रों का रखना मर्यादित है उनको ही धारण करते हैं। अत इस अवस्था में भी ये अचेलक ही माने जाते हैं, इस विषय का विशेषरूप से खुलासा छठे अचेलक परीपह के प्रकरण में किया जा चुका है। मुनि को तैलादिक कर्म मालिश करना वर्जित है। तथा ये तपश्चर्या करते रहते हैं, इसलिये इनका शरीर रूक्ष हो जाता है। रूक्ष शरीर में खून अल्प होने से तृणस्पर्श आदि की वेदना अधिक होती है, अतः ऐसी अवस्था में साधु का कर्तव्य है कि वह उस वेदना को समभाव से सहन करे ॥ ३४ ॥

जब तृणस्पर्श से पीडा हो तब मुनि को क्या करना चाहिये सो कहते हैं—‘ आयवस्स ’ इत्यादि ।

भावार्थ—अचेलक पदधी अहि स्थविरकल्पिकने जे अचेलक कथा छे ते जेवा अभिप्रायधी छे ते, शास्त्र मर्यादानी अनुसारव चस्त्र राभे छे तेनाधी अधिक नही आगमभां स्थविरकल्पिक भाटे अल्पमुन्यवाणा प्रमाणोपेत चस्त्रोने राभवा मर्यादित छे, जेने ज तेजो धारण करे छे आधी आ अल्प स्थामां पण ते अचेलक ज मानवाभा आवे छे आ विषयनो विशेषरूपधी खुलासा पडेवां छुवा अचेलकपरीपहना प्रकरणभां आपवाभा आवी गयेव छे मुनिजे तेल आदिनु मावीस करवुं पशुं त छे तथा तपस्या करता रहै छे आधी तेमनु शरीर रूक्ष यर्ष जाय छे रूक्ष शरीरभां बोही पूष जोधु होवाधी तृणस्पर्शनी वेदना अधिक थाय छे आधी जेवी अवस्थाभा साधुनु कर्तव्य छे के, ते वेदनाने समभावधी सहन करे ॥ ३४ ॥

अथरे तृणस्पर्शधी पीडा थाय त्यारे मुनिजे शु करवुं जेधजे ते सूत्रकार कहै छे—‘ आयवस्स ’-इत्यादि

ટીકા—‘ અચેલગસ્સ ’-इत्यादि ।

अचेलकस्य=सर्वथा वस्त्ररहितस्य जिनकल्पिकस्य, तथा शास्त्रमर्यादातिरिक्तवस्त्ररहितस्य स्थविरकल्पिकस्य चेत्यर्थः । आगमे हि अल्पमूल्यकाल्यवस्त्रस्य मर्यादितस्यैव धारणात् स्थविरकल्पिकोऽप्यचेलक एवास्तीति प्रागचेलकपरीषद्मकराद्ये निर्णीतम् । तथा उभयविधस्य मुनेस्तृणस्पर्शपरीषद्हेऽन्यान्यपि कारणानि सन्तीति प्रदर्शयितुमाह—‘ लूहस्स ’-इत्यादि । रूक्षस्य=तैलाम्पद्मादिवर्जनाद् अस्तिग्मशरीरस्येत्यर्थः, सयतस्य=निरतिचारसयमाऽऽराधनतत्परस्य, तपस्विन=तपश्चरणशीलस्य, अनश्ननादितपःसमाचरणात् कृशशरीरस्येत्यर्थं मुने, तृणेषु-दर्मादिषु तदुपरि शयानस्य उपलक्षणत्वादासीनस्य चेत्यर्थं, गात्रविराधना=शरीरे तृणस्पर्शजन्या पीडा भवति ॥ ३४ ॥

अथ सूत्रकार सतरहवा तृणस्पर्शपरीषद्द्वय का विवेचन करते हैं—
‘ अचेलगस्स ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(अचेलगस्स-अचेलकस्य) सर्वथा वस्त्ररहित जिन कल्पिक, तथा शास्त्र की मर्यादा के अतिरिक्त वस्त्र नहीं रखने वाले स्थविरकल्पिक मुनि के (लूहस्स-रूक्षस्य) कि जिन का तैल आदि की मालिश करना वर्जित होने से शरीर बिलकुल रूक्ष हो रहा है, एवं (सजयस्स-सयतस्य) जो निरतिचार सयमकी आराधना करने में तत्पर रहते हैं, तथा (तपस्सिणो-तपस्विन) अनशन आदि तपों के करनेवाले होने से कृश शरीर वाले हैं, और जो (तृणेषु सयमाणस्स-तृणेषु शयानस्य) दर्मादिक तृणों के ऊपर सोते हैं उपलक्षण से उपर बैठते हैं उनके (गात्रविराधना-गात्रविराधना) शरीर में तृणस्पर्शजन्य पीडा होती है ।

હવે સૂત્રકાર સત્તરમાં તૃણસ્પર્શપરીષદ્ અતવાનુ વર્ણન કરે છે
‘ અચેલગસ્સ ’-ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—અચેલગસ્સ-અચેલકસ્ય સર્વથા વસ્ત્ર રહિત જિનકલ્પિક, તથા શાસ્ત્રની મર્યાદાથી અતિરિક્ત વસ્ત્ર ન રાખવાવાળા સ્થવિરકલ્પિક મુનિ સૂક્ષ્મ-રૂક્ષસ્ય બેને તેલ આદિની માલીશ કરવાનું વર્જિત હોવાથી શરીર બીલકુલ રૂક્ષ બની ગયેલ છે સજયસ્સ-સયતસ્ય અને જે નિરતિચાર સયમની આરાધના કરવામાં તત્પર રહે છે તપસ્સિણો-તપસ્વિન તથા અનશન આદિ તપ કરનાર હોવાથી કૃશ શરીરવાળા છે અને જે તૃણેષુ સયમાણસ્સ-તૃણેષુ શયાનસ્ય દર્માદિક તૃણોની ઉપર સુવે છે, ઉપલક્ષણથી ઉપર બેસે છે, તેમના ગાત્રવિહારના-ગાત્ર વિરાધના શરીરમાં તૃણસ્પર્શજન્ય પીડા થાય છે

तृणस्पर्शपीडायां मुनिना यत् कर्तव्यं तद् बोधयितुमाह—
मूलम्—आयवस्स निवांपण, अउंला हवेइ वेर्यणा ।

एव नच्चा न सेवति”, तत्तुज तर्णतज्जिया ॥३५॥

छाया—आतपस्य निपातेन, अतुला भवति वेदना ।

एवं ह्यात्वा न सेवन्ते, तन्तुज तृणतर्जिता ॥ ३५ ॥

टीका—‘ आयवस्स ’ इत्यादि ।

भावार्थ—अचेलक पद से यहाँ स्थविरकल्पिक को भी जो अचेलक कहा है वह इसी अभिप्राय से कि वे शास्त्रमर्यादा के अनुसार ही वस्त्र रखते हैं, उससे अधिक नहीं आगम में स्थविरकल्पिक के लिये अल्पमूल्य वाले प्रमाणोपेत वस्त्रों का रखना मर्यादित है उनको ही ये धारण करते हैं। अतः इस अवस्था में भी ये अचेलक ही माने जाते हैं, इस विषय का विशेषरूप से खुलासा छठे अचेलक परीपह के प्रकरण में किया जा चुका है। मुनि को तैलादिक की मालिश करना वर्जित है। तथा ये तपश्चर्या करते रहते हैं, इसलिये इनका शरीर रूक्ष हो जाता है। रूक्ष शरीर में खून अल्प होने से तृणस्पर्श आदि की वेदना अधिक होती है, अतः ऐसी अवस्था में साधु का कर्तव्य है कि वह उस वेदना को समभाव से सहन करे ॥ ३४ ॥

जब तृणस्पर्श से पीडा हो तब मुनि को क्या करना चाहिये सो कहते हैं—‘ आयवस्स ’ इत्यादि ।

भावार्थ—अचेलक पदकी अर्द्धि स्थविरकल्पिकने के अचेलक कथा छे ते जेवा अभिप्रायकी छे ते, शास्त्र मर्यादाकी अनुसार वस्त्र राखे छे तेनाकी अधिक नही आगममां स्थविरकल्पिक भाटे अल्पमूल्यवाणां प्रमाणोपेत वस्त्रोने राखवा मर्यादित छे, जेने के तेजो धारण करे छे आथी आ अल्प स्थामां पणु ते अचेलक के मानवामां आवे छे आ विषयने। विशेषरूपकी खुलासा पड़ेवां छुट्टा अचेलकपरीपहना प्रकरणमां आपवामां आवी अथेव छे मुनिजे तेव आदिनु मावीस करवुं वल्लंत छे तथा तपस्या करता रहे छे आथी तेमनु शरीर रूक्ष बर्ध जाय छे रूक्ष शरीरमां बोधी भूष ज्योइ डोवाथी तृणस्पर्शकी वेदना अधिक थाय छे आथी जेवी अवस्थामां साधुनु कर्तव्य छे के, ते वेदनाने समभावकी सहन करे ॥ ३४ ॥

अ्यारे तृणस्पर्शकी पीडा थाय त्यारे मुनिजे शुं करवुं जेधजे ते सूत्रकार कहे छे—‘ आयवस्स ’—इत्यादि



ટીકા—‘અચેલગસ્સ’-इत्यादि ।

अचेलकस्य=सर्वथा वस्त्ररहितस्य जिनकल्पिकस्य, तथा शास्त्रमर्यादातिरिक्तवस्त्ररहितस्य स्पष्टिरकल्पिकस्य चेत्यर्थः । आगमे हि अल्पमूल्यकाल्पवस्त्रस्य सर्वादितस्यैव धारणात् स्पष्टिरकल्पिकोऽप्यचेलक एवास्तोति प्रागचेलकपरीषदप्रकरणे निर्णीतम् । तथा उभयविधस्य मुनेस्तृणस्पर्शपरीषद्हेऽन्यान्यपि कारणानि सन्तीति प्रदर्शयितुमाह—‘लूहस्स’-इत्यादि । रूक्षस्य=तैश्चाभ्यङ्गादिवर्जनाद् अस्तिग्भशरीरस्येत्यर्थः, सयतस्य=निरतिचारसयमाऽऽराधनतत्परस्य, तपस्विनः=तपभरणशीलस्य, अनशनादितप.समाचरणात् कृशशरीरस्येत्यर्थं मुने, तृणेषु-दर्भादिषु तदुपरिध्यानस्य उपलक्षणत्वादासीनस्य चेत्यर्थः, गात्रविराधना=शरीरे तृणस्पर्शजन्या पीडा भवति ॥ ३४ ॥

अथ सूत्रकार सतरह्वा तृणस्पर्शपरीषदजय का विवेचन करते हैं—
‘अचेलगस्स’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(अचेलगस्स-अचेलकस्य) सर्वथा वस्त्ररहित जिन-कल्पिक, तथा शास्त्र की मर्यादा के अतिरिक्त वस्त्र नहीं रखने वाले स्पष्टिरकल्पिक मुनि के (लूहस्स-रूक्षस्य) कि जिन का तेल आदि की मालिश करना वर्जित होने से शरीर बिलकुल रूक्ष हो रहा है, एवं (सजयस्स-सयतस्य) जो निरतिचार सयमकी आराधना करने में तत्पर रहते हैं, तथा (तपस्विणो-तपस्विन) अनशन आदि तपों के करनेवाले होने से कृश शरीर वाले हैं, और जो (तृणेषु सयमाणस्स-तृणेषु ध्यानस्य) दर्भादिक तृणों के ऊपर सोते हैं उपलक्षण से उपर बैठते हैं उनके (गायविराहणा-गात्रविराधना) शरीर में तृणस्पर्शजन्य पीड़ा होती है ।

હવે સૂત્રકાર સત્તરમાં તૃણસ્પર્શપરીષદ એતવાનુ વર્ણન કરે છે
‘અચેલગસ્સ’-ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—અચેલગસ્સ-અચેલકસ્ય સર્વથા વસ્ત્ર રહિત જિનકલ્પિક, તથા શાસ્ત્રની મર્યાદાથી અતિરિક્ત વસ્ત્ર ન રાખવાવાળા સ્પષ્ટિરકલ્પિ મુનિ લૂહસ્સ-રૂક્ષસ્ય જેને તેલ આદિની માલીશ કરવાનુ વર્જિત હોવાથી શરીર બીલકુલ રૂક્ષ બની ગયેલ છે સજયસ્સ-સયતસ્ય અને જે નિરતિચાર સયમની આરાધના કરવામાં તત્પર રહે છે તપસ્વિણો-તપસ્વિન તથા અનશન આદિ તપ કરનાર હોવાથી કૃશ શરીરવાળા છે અને જે તૃણેષુ સયમાણસ્સ-તૃણેષુ ધ્યાનસ્ય દર્ભાદિક તૃણોની ઉપર સુવે છે, ઉપલક્ષણથી ઉપર બેસે છે, તેમના ગાયવિહારણા-ગાત્ર વિરાધના શરીરમાં તૃણસ્પર્શજન્ય પીડા થાય છે

क्रिया सर्वदा सोपयोगाख्या च भवतीत्यागन्तुकद्वीन्द्रियादिजीवानां विराधना न समवत्यतस्ते वस्त्र न सेवन्ते । स्थविरकल्पिकास्तु सापेक्षसयमिनो भवन्त्यतस्ते तानि दर्मादीनि तृणानि भूमावास्तीर्य तत्रागन्तुककन्धुपिपीलिकादिजन्तुविराधना निवारणाय प्रान्तभागेषु वेष्टन यथा स्यात्तथा तदुपरि सस्तारकं निधाय शेते, आसते च । एव यः कठोरकुशदर्मादितृणसस्पर्शं सम्यक् सहते तेन मुनिना तृणस्पर्शपरीपहो विजितो भवति ।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

श्रावस्तीनगर्यां जितशत्रुनृपस्य भद्रनामक पुत्र आसीत् । स चैकदा पद्मनामकाचार्यस्य समीपे धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजित । क्रमाद् बहुश्रुतो भूत्वाऽन्यदा कदाचि-

उनके शरीर की हलनचलन आदि क्रिया उपयोगपूर्वक तथा अल्प होती है इससे उनके आगन्तुक द्वीन्द्रियादिक जीवों की विराधना का प्रायः सम्भव नहीं है इसलिये वे वस्त्र का सेवन नहीं करते हैं । स्थविरकल्पिकमुनि प्रायः ऐसे न होने से दर्मादिक तृणों को भूमि पर पिछा कर उसमें आगन्तुक कन्धु पिपीलिका आदि जन्तुओं की विराधना निवारण करने के लिये प्रान्त भागों में वेष्टन जिस प्रकार हो जाय इस रूप से उस के ऊपर सस्तारक पिछाकर सोते हैं और बैठते हैं । इस प्रकार जो कठोर कुशदर्मादिक तृणस्पर्श को अच्छी तरह सहन करता है वह मुनि तृणस्पर्शपरीपह का विजेता कहलाता है ।

दृष्टान्त—श्रावस्ती नगरी में जितशत्रु नाम के राजा का भद्र नाम का एक पुत्र था । पद्मनामक आचार्य के पास उसने एक समय धर्म का उपदेश सुनकर दीक्षा धारण करली । क्रम से आगमों का

अधन आदि क्रिया उपयोग पुरती अने अल्प होय छे तेनाथी आवनार द्विन्द्रियादिक श्रवोनी विराधना यवानो सम्भव नथी आ भाटे ते वस्त्रु सेवन करवा नथी. स्थविरकल्पिक मुनि जेवा न होवाथी इर्मादिक तृणोने भूमि उपर भीछावी तेमां आववावाणा कथवा, पीपीलीका, आदि जन्तुओनी विराधनानु निवारण करवा भाटे प्रान्त भागोमां छापा न पडे ते भाटे तेना उपर वस्त्रु भीछावीने सुवे छे अने जेसे छे आ प्रकारे जे कठोर कुश-दर्मादिक तृणस्पर्शने सारी रीते सहन करे छे ते मुनि तृणस्पर्शपरीपहन विजेता कहेवाय छे

दृष्टान्त—श्रावस्ती नगरीमां जितशत्रु नामना राजने भद्र नामना पुत्र छेते। पद्म नामना आचार्यनी पास तेजे जेक समय धर्मना उपदेश सांभली दीक्षा धारण करी लीधी इमथी आजभानो अभ्यास करी न्यारे ते पदुभुत

आतपस्य=घर्मस्य निपातेन=सपातेन, अतुला=महती दुःसहा वेदना भवति, आतपोत्पन्नस्वेदक्लेदघशात् तृणक्षते धारसेचनेन समुत्पन्ना वेदनेन वेदना भवतीति भावः,। एवम्=अनेन प्रकारेण ज्ञात्वाऽपि तृणतर्जिता=दर्मादितृणक्षता मुनयः तन्तुज-सूत्रनिर्मित कार्पासिकम्, उर्णातन्तुनिर्मित कम्बलादिक वा वस्त्रम्=आच्छादनवस्त्रं न सेवन्ते ।

अयं भावः—शयने आसने च शुषिरवर्जिततृणस्य दमदि. परिमोगोऽनुज्ञातो जिनकल्पिकानां स्थविरकल्पिकानां च । तत्र जिनकल्पिकानां मुनीनां दृढसहनन-पूर्वगतज्ञान - तीक्ष्णोपयोगनिद्राल्पत्वाद्यनेकप्रखरगुणसम्पन्नत्वेन स्पन्दनचलनादि

। अन्वयार्थ—(आयवस्स - आतपस्य) घाम-धूप के (निषाएण-निपातेन) पड़ने से जो शरीर में पसीना आता है, वह पसीना तृणक्षत अर्थात् शरीर में तृण के चुभने से उत्पन्न हुए घाव में लगता है, तब (अतुला वेयणा हवई-अतुला वेदना भवति) महावेदना होती है। (एव नच्चा-एव ज्ञात्वा) ऐसी वेदना का अनुभव करके भी (तृणतर्जिता-तृणतर्जिता) दर्मादिजन्य घाव वाले मुनि (तनुज-तन्तुजम्) कर्पादिक तन्तुओं से निर्मित कम्बलादिक तथा कपास से निर्मित वस्त्रादिकरूप आच्छादन वस्त्र का सेवन नहीं करते हैं।

इसका भाव यह है—शयन और आसन में निश्चिद्र दर्मादिक तृणों का परिमोग जिनकल्पिक तथा स्थविरकल्पिक दोनों के लिये अनुज्ञात है। जिस में जिनकल्पी मुनि दृढसहनन, पूर्वा का ज्ञान, तीक्ष्ण उपयोग तथा अल्पनिद्रा आदि अनेक प्रखर गुणवाले होने से

, अन्वयार्थ—आयवस्स—आतपस्य घाम तदक्षान्ता निषाएण-निपातेन पडवाभी शरीरमां के परसेवे। आवे छे ते परसेवे। तृणक्षत अर्थात् शरीरमां तृणना स्पर्शार्थी उत्पन्न भवेत्वा घावमां लागे छे त्परे वच्छा वेयणा हवई—अतुला वेदना भवति भारे वेदना भाव छे एव नच्चा—एव ज्ञात्वा ज्येनी वेदनाते। अनुभव करीने पञ्च तृणतर्जिता-तृण तर्जिता इशाद्विजन्य भाव वाणा मुनिजे तनुज-तन्तुजम् उनना तांतुजांजाभी अन वेस कम्बल आदि तथा कपासथी अनवेस वस्त्रादिकेनु आच्छादन न करवुं जेछेजि-

ज्येना भाव आ प्रभावे छे, शयन जने आसनमां छित्री वगरना इशं आदि जडने परिमोग अनकल्पिक तथा स्थविरकल्पिक जनेने माटे अनु ज्ञात छे, जेमां अनकल्पि मुनि तेने दृढताभी सकन करीने, पूर्वतु ज्ञान, तीक्ष्ण उपयोग, तथा अल्पनिद्रा आदि प्रखर शुषुवाणा होवाभी तेना शरीरतुं कलन

शरीरे प्रत्येकावयवस्य मांसे विदीर्यमाणेऽपि क्षोभवर्जितः शान्तरसनिमग्नो महामुनिः
क्षमानिधिः फलपुष्पानमकुर्वाणः समाधिभावेन प्रबलामुज्ज्वलां दुःसहां घोराति-
घोरवेदना सहते स्म । इत्य तृणस्पर्शपरीपह विजित्य क्षपकश्रेणिमारुह्य केवली
भूत्वा शिवपद प्राप । एवमन्यैरपि मुनिभिस्तृणस्पर्शपरीपह. सोढव्य. ॥ ३५ ॥

अथाष्टादश जलपरीपहजय प्राह—

मूलम्—किलिण्णगाए मेहावी, पकेण व रपण वा ।

घिसु वा परित्तावेणं, साय नो परिदेवेण ॥३६॥

छाया—क्लिन्नगात्र. मेघावी, पक्केन वा रजसा वा ।

ग्रीष्मे वा परित्तापेन, सात नो परिदेवयेत् ॥ ३६ ॥

टीका—‘ किलिण्णगाए ’ इत्यादि ।

मेघावी=स्नानपरित्यागमयादावर्ती मुनिः, ग्रीष्मे, वा शब्दात्-शरदि,

मास क्षारजल से विदीर्ण होने पर भी क्षोभ से वर्जित एव शांत
रस में निमग्न, ऐसे उन क्षमा के निधि मुनिराज ने फलपुष्पान नहीं
करते हुए समाधिभाव से उस घोरातिघोर प्रयत्न दुःसह वेदना को
सहन किया । इस प्रकार उन्होंने तृणस्पर्शपरीपह को जीतकर अन्त में
क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके केवलज्ञान की प्राप्ति से शिवपद
प्राप्त कर लिया । इसी तरह अन्य मुनियों को भी तृणस्पर्शपरीपह
सहन करना चाहिये ॥ ३५ ॥

अथ अठारवें जलपरीपह को जीतने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

‘ किलिण्णगाए ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(मेहावी - मेघावी) स्नानपरित्यागरूप मर्यादा में
रहने वाला मुनि (घिसु-ग्रीष्मे) ग्रीष्मकाल में (वा-वा) तथा शरत्काल

भारत पाष्ठीय विहीर्षु यवाधी, क्षोभधी वल्लत अने शांत रसमा निभन्न ज्येवा
ते क्षमानिधि मुनिराजे क्लृपभाव न राभतां समाधिभावधी ज्ये घोर अति घोर
इ सह वेदनाने सहन करी आ प्रकारे तेज्ये तृणस्पर्शपरीपहने अतीने
अवमां क्षपकश्रेणी पर यहीने केवणज्ञाननी आप्तिधी शिवपद प्राप्त करी
वीधु आ रीते अन्य मुनिराज्ये तृणस्पर्शपरीपह सहन करवे ज्ये ॥३५॥
उवे अठारवो जलपरीपह अतवा भाटे सूत्रकार कहे छे—

‘ किलिण्णगाए ’ इत्यादि.

अन्वयार्थ—मेहावी-मेघावी स्नान परित्यागरूप मर्यादा में रहेवावाणा मुनि घिसु-

देकाकिविहारप्रतिमा प्रतिपन्नः सन्नऽप्रतिबद्धविहार विहरति स्म । स चैकदा विह-
रन् क्वापि राज्यान्तरे गतः । राजपुरुषा, "हेरिकोऽय" -मिति ज्ञात्वा त गृहीत्वा
पमच्छु-ब्रूहि कस्त्व ? केन गुप्तचारत्वाय प्रहितोऽसि ? । स मद्रमुनिः प्रतिमा-
धारित्वात् किमपि नोचरं ददौ । ततस्ते कुपित्वास्त मद्रमुनिं क्षुरेण तक्षयित्वा
सिधारतुल्यै क्षुरधारतुल्यै कुन्ताप्रतुल्यैस्तीक्ष्णधारैर्दर्मगाढमावेष्ट्य धारवर्तितं
कृत्वा, गर्ते निपात्य स्वस्थान गतवन्तः । अतितीक्ष्णाग्रैः कुशैर्विध्यमाने धारजलेषु

अभ्यास कर जय वह बहुत श्रुत हो गया तय उसने एकाकिविहार
प्रतिमा अगीकार कर अप्रतिबद्ध विहार करना प्रारम्भ कर दिया । एक
दिन की यात है कि ये मुनिराज विहार करतेर दूसरे किमी राज्य में
जा पहुँचे । राजपुरुषों ने उन्हें " यह कहीं का गुप्तचर है " ऐसा समझ
कर पकड़ लिया, और पूछने लगे-कहो कौन हो ? किसने तुम्हें खुफिया
पुलिस के घतौर यहा भेजा है । राजपुरुषों की यह बात सुनकर प्रतिमा
धारी होने से मुनिराज ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया । मुनिराज की इस
मौन परिस्थितिका अवलोकन कर वे सय के सब उन पर बहुत अधिक
कुपित हुए । उन्होंने ने प्रकृतिभद्र उन मुनिराज को प्रथम क्षुरा से
घायल कर पश्चात् तलवार की धार के समान, क्षुरा की धार के समान,
एवं भाले की नोक के समान तीक्ष्ण अनीवाले दमों से गाढ़ वेष्टित
करके और ऊपर से नमक मिला हुआ जल छिड़ककरके एक लड्डे में
उनको डाल दिया, और वे सय के सय अपनेर स्थान पर चले गये ।
अति तीक्ष्ण अनीवाले कुशों से घींचे गये शरीर का प्रत्येक अवयवगत

अनी अथा त्वाशे तेमञ्जे अेकाक्षी विहार प्रतिमा अजिहार करी, अप्रतिबद्ध
विहार करवाने प्रारम्भ क्यो अेक द्विचरनी वात छे के, आ मुनिराज विहार
करता करता भीला केरु शब्दभां अेक पक्षोप्या शब्दपुरोअे तेने " आ केरु
शब्दने अुप्तचर छे " अेक समञ्जे पकड़ी वीधा अने अेने पुछवा लाग्या केरु
तमे केरु छे ? केरु तमने अुप्त वातभीहार तरीके अेदि मोठले छे ? शब्द
पुरोअेनी अे वात सांभणी प्रतिमा धारी केवाधी मुनिराज के केरु पक्ष उत्तर न
आअ्ये मुनिराजनी आ मौन परिस्थिति अेक समञ्जे तेना ऊपर पूछ अ
केरु अन्था तेअेअे प्रकृतिभद्र ते मुनिराजने प्रथम क्षुराधी धामल करी
पछी तरवारनी धार लेवा, क्षुरानी धार लेवा, अने भालानी अक्षी लेवा तीक्ष्ण
अक्षीवाणा इकोधी गाढ अघित करीने ऊपरअी भीडानु पाछी छांटी अेक आठमं
नाथी वीधा अने अथा शब्दपुरोअे वात पीताने स्थाने आठमा अथा अति
तीक्ष्ण अक्षीवाणा इकोधी पानधी वीधामेवा शरीरना अनेक अवयवभांधी अंघ,

मूलम्—वेपञ्ज निज्जरापेही, आरिय धम्मं णुत्तर ।

जाव सरीरभेओत्तिं, जल्ल काण्ण धारयेण ॥३७॥

छाया—वेदयेत् निर्जरापेक्षी, आर्य धर्मम् अनुत्तरम् ।

यावत् शरीरमेद , इति जल्ल कायेन धारयेत् ।

टीका—‘ वेपञ्ज ’ इत्यादि ।

निर्जरापेक्षी=आत्यन्तिककर्मक्षयाभिलाषी मुनिः, आर्य=हेयोपादेयस्वरूपनि-
रूपकम्, अनुत्तर=न विद्यते उत्तरम्—उत्कृष्टं यस्मात्सोऽनुत्तरस्त सर्वोत्तममित्यर्थः।
=श्रुतचारित्र्यरूप प्राप्त इति शेष । वेदयेत्—प्रक्रमात् जल्लजनित दुःख सहेत ।
मर्थं विशदीकुर्वन् प्राह—‘ जाव सरीरभेओ ’ इत्यादि । इति=अतो हेतो—
वत्—यावताकालेन शरीरमेदः=देहपात स्यात्, तावत्कालपर्यन्त, जल्ल=मलं,
येन=शरीरेण धारयेत् ।

रे कि—“ हा ! इस मेल के निवारण से मुझे साता अर्थात् सुख का
नुभव कय और कैसे होगा ? ” इस प्रकार विलाप न करे ॥ ३६ ॥

‘ वेपञ्ज ’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(निज्जरापेही—निर्जरापेक्षी) आत्यन्तिक रूप से कर्मों
क्षयका अभिलाषी मुनि (आरियं—आर्यम्) हेय एवं उपादेय के
रूप का निरूपक (अणुत्तर—अनुत्तरम्) सर्वोत्कृष्ट—जिससे श्रेष्ठ और
उर्ध्व वृत्तरा नहीं है—सर्वोत्तम ऐसे (धम्म—धर्मम्) श्रुतचरित्ररूप धर्म को
प्राप्त कर (वेपञ्ज—वेदयेत्) मेल के दुःख को सहन करे । उसका
तर्क्य है कि (जाव शरीरभेओत्ति—यावत् शरीरमेद इति) जब
क शरीर का मेद नहीं होता है—मृत्यु द्वारा शरीर का वियोग नहीं

परीपहजय छे साधु स्वप्नामां पल्ल सुप्पने अनुभव थयारे अने केम थये
आ प्रकारने विलाप न करे ॥ ३६ ॥

‘ वेपञ्ज ’—इत्यादि

अन्वयार्थ—निज्जरापेही—निर्जरापेक्षी आत्यन्तिक इच्छा कीनेना क्षय कर-
वाना अभिलाषी मुनि आरियं—आर्यम् हेय अने उपादेयना स्वप्पना निरूपक
अणुत्तर—अनुत्तरम् सर्वोत्कृष्ट नेनाधी श्रेष्ठ भावने केअ नधी सर्वोत्तम जेवा
धम्म—धर्मं श्रुतचारित्र्य धर्मने प्राप्त करी वेपञ्ज—वेदयेत् भवना दुःख अने सहन
करे तेनु, कर्तव्य छे के आष शरीरभेओत्ति—यावत् शरीरमेदः इति अर्था सुधी
शरीरने वेद नधी यतो—मृत्यु द्वारा शरीरने वियोग यतो नधी त्या सुधी

વર્ષામ્ વા, પરિતાપેન=ઉષ્ણસ્પર્શેન, હેત્વર્થે તૃતીયા । પક્ષેન વા=પ્રસ્વેદાદ્યાત્રીંધૃતેન
મલેન વા, રજસા વા=પરિશુષ્ય કાઠિન્ય પ્રાપ્તેન મલેન વા, યદ્વા-રજસા=પૂસ્વા,
ક્લિન્નગાત્રઃ=વ્યાસદેહઃ, સન્ સાત=સુલ સમાધિત્ય ન પરિદેવયેત્-“ હા ! મમ-
મલાપગમ કય કદા વા ભવિષ્યતી ” - તિ કૃત્વા ન વિલાપેત્, વિચાર્પ ન
કુર્વાદિતિ ભાવઃ ॥ ૩૬ ॥

મેં ઓર વર્ષાકાલ મેં (પરિતાપેણ-પરિતાપેન) ઉષ્ણસ્પર્શ દ્વારા આયે
હુણ (પંકેણ ઘ-પક્ષેન વા) પ્રસ્વેદ દ્વારા ગીલે હુણ મૈલ સે (રણ વા-
રજસા વા) યા પસીને મેં સસક્ત ધૂલિ સે (કિલિષ્ણગાણ-ક્લિન્નગાત્ર)
વ્યાસ શરીર હોને પર ખી (સાય નો પરિદેવણ-સાત નો પરિદેવયેત્)
“ હા મેરે હસ મૈલ કા નિવારણ કેસે ઓર કય હોગા ” એસા વિચાર
કર વિલાપ નહીં કરે । કિન્તુ ઉસ હાલત મેં ઉસ પરીષદ્ કો અચ્છી
તરહ સહન કરે, હસકા નામ જલ્પપરીષદ્ જય હૈ ।

ભાવાર્થ—ગ્રીષ્મકાલ મેં યા વર્ષાકાલ મેં અધિક ગર્મી પડને સે
શરીર મેં અધિક પસીના આયા કરતા હૈ । ઉસસે શારીરિક મૈલ ઢીલા
પડ જાતા હૈ । રગડને સે ઘહ ઘિપકા હુઆ મૈલ શરીર સે અલગ હો
જાતા હૈ । પુન ઉસી સ્થાન પર ડહી હુઈ રજ આકર લગ જાતી હૈ ।
ઉસસે શરીર મેં આકુલતા હોતી રહતી હૈ । હસ આકુલતા સે ન
ઘથરા કર જો મુનિ ઉસ મૈલ સે સંસક્ત હોને કા પરીષદ્ સહન કરતે
હૈ ઉસીકા નામ જલ્પપરીષદ્ જય હૈ । સાધુ સ્વપ્ન મેં ખી ઘહ વિચાર ન

ગ્રીષ્મે ઉનાળાની ઋતુમાં તથા વા-વા શરદઠાળ અને વર્ષાઠાળમાં પરિતાપેણ-પરિતાપેન
ઉષ્ણસ્પર્શ દ્વારા આવેલા પંકેણ ઘ-પક્ષેન વા પરસેવા દ્વારા પલળેલા મેલથી
રણ વા-રજસા વા અગર પરસેવામા ભળેલ ધૂળથી કિલિષ્ણગાણ-ક્લિન્નગાત્રઃ વ્યાપ્ત
શરીર બનવા છતાં પણ સાય નો પરિદેવણ-સાત નો પરિદેવયેત્ મારા આ મેંહનું નિવારણ
કેમ અને કયારે થશે ” એવે વિચાર કરી વિલાપ ન કરે. પરંતુ તેવી હાલતમાં
તે પરીષદને સારી રીતે સહન કરે તેનું નામ જલ્પમલ્લ પરિષદ્ જય છે

ભાવાર્થ—ગ્રીષ્મઠાળમાં યા વર્ષાઠાળમાં અધિક ગરમી પડવાથી શરીરમાં
અધિક પરસેવા વળે છે તેનાથી શરીર ઉપરનો મેલ ઢીલા પડે છે એળખાંથી
તે ચોટિલ મેલ શરીરથી છુટો પડે છે ફરી એજ સ્થળે ઠકતી રજ આવીને
ચોટિ છે તેનાથી શરીરમા આકુળતા થતી રહે છે આથી એ આકુળતાથી ન
અસહતાં એ મુનિ તે મેલને સ સહતપરીષદ્ સહન કરે છે એનું નામ જલ્પમલ્લ

अन्यच्च—अत्यन्तमलिनो देहो, देही चात्यन्तनिर्मलः ।

उभयोरन्तर ज्ञात्वा, कस्य शौचं विधीयते ॥ २ ॥ इति ।

अत्यन्तमलिनो देहो, देही चात्यन्तनिर्मलः ।

उभयोरन्तर ज्ञात्वा, कस्य शौचं विधीयते ॥ २ ॥

क्यों कि मातापिता के रजवीर्य से यह शरीर अपवित्र ही स्वभावत उत्पन्न हुआ है । जब कारण स्वयं अशुचिस्वरूप है तो उसका कार्यरूप यह शरीर शुचि कैसे हो सकता है । प्याज को या लहसुन को क्षीरसमुद्र के जल से प्रक्षालित करने पर भी जैसे उसमें निर्गन्धता नहीं आ सकती है उसी प्रकार हजारों बार स्नान करने पर भी इस अपवित्र शरीर में भी निर्मलता-शुचिता नहीं आ सकती है, क्यों कि यह निरन्तर नौ द्वारों से मल को घहाता ही रहता है । देह का जप स्वभाव ऐसा है तो फिर इसकी शुचिविधायक साधन ही यहा कौन से एकत्रित किये जा सकते हैं । जो मैं हू वह तो पवित्र हूँ अत्यन्त निर्मल हू । जिस प्रकार वस्तुस्थिति से विचार करने पर शौचालय में रखा हुआ आकाश अपवित्र न हो सकता है उसी प्रकार इस अपवित्र देह में निवास करने वाला यह आत्मा भी अपवित्र नहीं होता है, वह तो सदा अत्यन्त निर्मल है । इस प्रकार शरीर और आत्मामें अन्तर जानकर ज्ञानी सदा ऐसा विचार करता रहे की मैं अय

अत्यन्तमलिनो देहो, देही चात्यन्तनिर्मलः ।

उभयोरन्तर ज्ञात्वा, कस्य शौचं विधीयते ॥ २ ॥

केमके, माता पिताना रजविर्यंथी आ शरीर अपवित्र स्वभावतः उत्पन्न भवेत् छे व्यारे कारख स्वय अशुचि स्वरूप छे तो तेना कार्य रूप आ शरीर शुचिरूप कथी रीते जलुय, दुगणीने अथवा लसलुने समुद्रना पाणीथी धावाथी पखु तेमां निर्गन्धता आवी शकती नथी तेवी रीते देहारे वार स्नान करवा छर्ता पखु आ अपवित्र शरीरमां निर्मलता-शुचिता आवती नथी केमके, आ शरीर निरन्तर नव द्वारोथी भजने अहार काठया ज करे छे देहने व्यारे स्वभाव अवेो छे तो पछी अेना शुचि विधायक साधन ज कथांथी भेजवी शकथ जे हु छु ते तो सदा पवित्र ज छु, अत्यन्त निर्मल छु, जे प्रकारथी वस्तु स्थितिने विचार करवा छर्ता, शौचालयमां रहेलु आकाश अपवित्र अनी शकतु नथी तेवी ज रीते देहमा निवास करवावाणे आ आत्मा पखु अपवित्र हो तो नथी. ते तो सदा निर्मल ज छे आ प्रकारे शरीर अने आत्माभा अतर जखी ज्ञानी अवेो सदा

इश्यन्ते हि केचिद् दावानलदग्धस्थाणुवत् कालवर्णाः शीतघातादिभिरुपहृता
धूलिव्याप्ता मलिनदेहा मनुष्याः। तेषामकामनिर्जरया नास्ति कश्चिद् गुणः, मम तु
मलधारणेन महान् गुणः, इति मत्वा मन्नापनयनाय स्नानाद्यभिलाषमपि न कदा-
चित् कुर्यादित्यर्थः । उक्तञ्च—

न शक्य निर्मलीकर्तुं गात्रं स्नानशतैरपि ।

अथ्रान्तमिव स्रोतोमि,—नैवभिर्मलमुद्गिरत् ॥ १ ॥

होता है तब तक वह (काएण—कायेन , शरीर से (जल्ल धारण—जल्लं
धारयेत्) मेल को धारे । उसे यह विचार करते रहना चाहिये कि इस
संसार में ऐसे अनेक प्राणी—मनुष्य देखे जाते हैं । जो दावानल
से दग्ध स्थाणु की तरह बिलकुल कृष्णवर्ण होते हैं । उनका शरीर
शीतघात आदि से सदा पीडित होता रहता है । धूलि से व्याप्त होने
के कारण अत्यन्त मलिन होता है । परन्तु फिर भी इनको इसकी
चिन्ता नहीं होती है । अकाम निर्जरा से इनको इतना सब कुछ सहन
करने पर भी कोई लाभ नहीं । मेरे लिये तो इस मेल धारण करने से
महान् लाभ है, अतः इसके दूर करने के लिये मुझे स्नान आदि
साधयक्रियाओं की अभिलाषा स्वप्न तक में भी नहीं करनी चाहिये ।
कहा भी है—

न शक्य निर्मलीकर्तुं, गात्रं स्नानशतैरपि ।

अथ्रान्तमिव स्रोतोमि,—नैवभिर्मलमुद्गिरत् ॥ १ ॥

काएण—कायेन ते शरीरधी बल्ल धारण—जल्ल धारयेत् भेदने राणे तेबु जे
विचार करता रहेतुं जेधजे के, आ सस्यरमां जेवां अनेक प्राणी, मनुष्य
हेअवाभां आवे छे जे दावानलधी दग्ध पाणुानी जेवा तहन काणा स्वहपना
होय छे तेनु शरीर शीत, वात आदिधी सदा पीडित रहे छे पूणभी अरेतुं
होवाने धारजे अत्यन्त मलीन होय छे, छां पखु जेभने जेनी चिंता होटी
नधी. अकामनिर्जराधी जेभने जेठतुं अधु सहन करवा छता पखु होअ
लाभ नधी. मारा भाटे तो आ भेदने परीपठ सहन करवाधी महान लाभ
छे, आधी तेने दूर करवा भाटे मारे स्नान आदि साधयक्रियाजोनी अभि
लाषा स्वप्ने पखु न करवी जेधजे. कहु पखु छे—

न शक्य निर्मलीकर्तुं, गात्रं स्नानशतैरपि ।

अथ्रान्तमिव स्रोतोमि,—नैवभिर्मलमुद्गिरत् ॥ १ ॥

मुनिनिन्दया दुष्कर्म वदवान् । कालमासे काल कृत्वा यावत्त्वात् सौधर्मे कल्पे
देवत्व प्राप्तवान् । ततश्च्युतधासीं कौशाम्बीनगरे इभ्यस्य वसुचन्द्रश्रेष्ठिनः पुत्रोऽभवत् ।
स श्रेष्ठिपुत्रो विशुद्धमतिनाम्ना प्रसिद्धो जात ।

स चेन्मदा विशाखाचार्यसमीपे धर्मं ध्रुत्वा प्रव्रजितः । अन्यदा कदाचित् तस्य
विशुद्धमतिमुने, पूर्वभवकृतमलिनमुनिनिन्दोपाजितमर्मोदयाव् देहेऽतिदुर्गन्धः समु-
त्पन्न । शठितसर्पादिमृतकगन्धादप्यधिकं विशुद्धमतिमुनिदेहमव दुर्गन्धं कोऽपि सोऽ
नाशकत् । सर्वो लोकस्तद्वपुःस्पृष्ट्वायुनाऽपि व्याकुलीकृतः सन्नितस्तत् पलायते ।

कारण मेल से मरा रहता है । फिर भी ये लोग अपने को बहुत ऊँचा
समझते रहते हैं और इधर से उधर भटकते रहते हैं । इस प्रकार
मुनि की निंदा से उसने गाढ़ दुष्कर्म का षष् कर लिया, और श्रावक
होने की वजह से वह मर कर सौधर्म देवलोक में देवपर्याय से
उत्पन्न हुआ । वहा से च्यवकर यह कौशाम्बी नगरी में वसुचन्द्र नामक
इभ्य-शेठ का पुत्र हुआ । उसका नाम विशुद्धमति रक्खा गया ।

एक दिनकी यात है कि विशुद्धमति ने विशाखाचार्य के पास धर्म
श्रवणकर दीक्षा ले ली । कालान्तरमें विशुद्धमति मुनिके शरीरमें सुनद
वणिकूके भवमें की गई मुनिनिन्दासे उपाजित पापकर्म के उदय से अति
दुर्गन्ध आने लगी । सड़े हुए साँप आदिकी जैसी दुर्गन्ध होती है
उससे भी अधिक दुर्गन्ध इनके शरीर की थी, अत उस दुर्गन्ध को
सहन करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं हुआ । उसके शरीर को
स्पर्शकर जो वायु आता था लोग उस वायु से भी घबरा जाते थे ।

पक्षु आ बोडो। पोताने भूणव उवा समजे छे अने अही तही बटकता
रहे छे आ प्रभारनी मुनिनी निहाथी तेबे गाढ दुष्कर्मना भध करी बीधि
अने श्रावक होवाना कारखे ते मरीने सौधर्म देवलोकां देव पर्यायथी उत्पन्न
थयो। त्याथी खपीने ते कौशाम्बी नगरीना वसुचन्द्र नामना इभ्य-शेठना पुत्र
थयो। तेनु नाम विशुद्धमति राभवामां आऽयु

એક દિવસની વાત છે કે, વિશુદ્ધમતિએ વિશાખાચાર્યની પાસે ધર્મ શ્રવણ
કરી લીક્ષા લઈ લીધી કાળાન્તરમાં વિશુદ્ધમતિ મુનિના શરીરમાં સુનદ વણી
કના ભવમાં કરાયેલ મુનિ નિંદાથી ઉપાજીત પાપકર્મના ઉદયથી અતિ
દુર્ગંધ આવવા લાગી. સડેલા સર્પ વગેરેની જે દુર્ગંધ આવે છે તેનાથી પણ
અધિક દુર્ગંધ તેના શરીરની હતી. આથી એ દુર્ગંધને સહન કરવા કોઈ સમર્થ
ન બન્યું, તેના શરીરને સ્પર્શ કરીને જે પવન આવતો તે પવનથી પણ લોકો

अथ दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

चम्पानगर्यां सुनन्दनामा धनाढ्यो वणिक् श्रावक आसीत् । स बहुविधपद्मै-
र्ष्यवहारकरणेन जाताभिमानो विवेकरहितः कदाचिदेकदा साधु दृष्ट्वा निन्दति
स्म—अहो ! शरीरसस्कारवर्जिताः अभद्रवेपा धूलिधूसरा घर्मादिसमुत्पन्नमला
नपनयनेन मलिनशरीराः पुनरपि स्वेषु भव्यमेव मन्यमाना विहरन्ति । स वै

स्नानादिक से किसकी शुचि कहें ? जिस शरीरकी शुचि इन स्नानादि
क्रियाओं से करना चाहता हू वह तो स्वभाव से ही अपवित्र है, तथा
आत्मा पवित्र होने से उसकी शुचि करने का प्रयास व्यर्थ है । ऐसा
समझकर साधु जलपरीपह को सहन करे ।

दृष्टान्त—चम्पानगरी में सुनन्द नामका एक धनाढ्य वैश्य श्रावक
रहता था । इसका व्यापार खूब चलता था । अनेक चीजों का रोजगार
यह किया करता था । इससे दुकानदारी में इसको अधिक लाभ होता
था, इसलिये इसे अपनी दुकानदारी का बहुत कुछ अभिमान था ।
विवेक से रहित होने के कारण एक दिन की पात है कि इसने किसी
एक साधु को देखकर उसकी भारी निंदा की । कहने लगा—देखो तो
सही ये शरीर के सस्कार से बिलकुल वर्जित रहते हैं, इनका वेध भी
भद्रपुरुषों जैसा नहीं होता है, शरीर पर तो इनके घूल चढ़ी रहती है ।
ये नहाते घाते नहीं हैं । रात दिन पसीना आते रहनेसे कपड़े भी इनके
बुरी तरह से दुर्गन्ध देने लगते हैं । शरीर भी पसीने से तर हो जाने के

विचार करते रहे के, हु हुवे स्नान आदिधी केनी शुद्धि करे ? केनी शुद्धि
आनी स्नानादिक क्रियाओंकी करवा याहु हु ते तो स्वभावकी अ अपवित्र
छे तथा आत्मा पवित्र होवाकी केनी शुचि करवाने प्रयास व्यर्थ छे केतु समझने
साधु जलपरीपहने सहन करे

दृष्टान्त—चम्पानगरीमां सुनन्द नामको एक धनाढ्य वैश्य-श्रावक रहेतो
हते तो तेना व्यापार खूब चलतेो हते अनेक चीजे तो शे व्यापार ते करतेो हतेो
तेनाकी दुकानदारीमां तेने अधिक लाभ यतेो हतेो तेने चेतानी दुकानदारीतुं
बहु अभिमान हतु विवेककी रहित होवाना कारणे एक दिवसनी पात छे के,
तेके कौठके साधुने केधने तेनी पूज निंदा करी, कहेवा लाग्ये के, केतु
तो भरा ! आ शरीरना सस्कारकी तहन चलते रहे छे तेना वेध पक्ष भद्र
पुरुषो केवा नथी शरीर उपर तो पूज केटिही रहे छे, के नाता पाता नथी,
रात दिवस परसेवा आवतेो होवाकी तेभना कपड़ा पक्ष हुन ध मास्तां होव
छे अने शरीर पक्ष परसेवाकी तर होवाने कारणे भेदकी कारणे रहे छे तो

अथैकोनविंशतितम सत्कारपुरस्कारपरीपहजय ग्राह—

मूलम्—अभिवायमवमुद्गाण, सामी कुज्जा निमतण ।

जे ताइ पडिसेवति, ने तेसिं पीहेण सुणी ॥३८॥

छाया—अभिवादम् अभ्युत्थान, स्वामी कुर्यात् निमन्त्रणम् ।

ये तानि प्रतिसेवन्ते, न तेभ्यः स्पृहयेत् मुनिः ॥ ३८ ॥

टीका—‘अभिवाय०’ इत्यादि ।

स्वामी=राजादिक, अभिवादम्-अभिवादनम्-‘शिरोनमनचरणस्पर्शनादिपूर्व-
कमभिवादये प्रणमामी’त्यादिवचनरूप पुरस्कार, तथा-अभ्युत्थानम्=अभिमुखमु-
त्थानम्-ससभ्रममासनं परित्यज्योत्थानरूप पुरस्कार च, तथा-निमन्त्रणम्-
आहारादिग्रहणाय प्रार्थनम्, ‘अथ मद्दृष्टे भिक्षा ग्रहीतव्या’ इत्यादिवचनरूपं

जन्ममरण से सदा के लिये विमुक्त हो गये । इसी तरह अन्य मुनियों
को भी जल्लपरीपह सहन करना चाहिये ॥ ३७ ॥

अथ उद्गीसवा सत्कारपुरस्कारपरीपहजय को सूत्रकार कहते हैं-
‘अभिवाय’-इत्यादि ।

अन्वयार्थ—यदि (सामी-स्वामी) राजा आदि (अभिवाय अवमु-
द्गाण निमतण-अभिवादन अभ्युत्थानम् निमन्त्रण) अभिवादन-अपने
मस्तक को छुकाकर चरणस्पर्श करते हुए नमस्कार करें, तथा अभ्यु-
त्थान-मुनि को आते देखकर बड़े आदरभाव से अपने आसन का
परित्याग कर वे उठ खड़े हों और मुनि के सन्मुख जायें, तथा-निम-
न्त्रण-आहार आदि के ग्रहण करने के लिये प्रार्थना करें कि महाराज !
आज आप मेरे घर पर भिक्षा लें, इस प्रकार अभिवादन, अभ्युत्थान

इत्याद्यु साधीने जन्ममरणसुधी सहाने भाटे विमुक्ता गणी गया. आ रीते अन्य
मुनिओअये पद्यु जणपरीपहने सहन करवे जेध अये ॥ ३७ ॥

इवे ओगणीसवा सत्कारपुरस्कारपरीपह जतवाने सूत्रकार ठडे छे

‘अभिवाय’ इत्यादि

अन्वयाथ—यदि सामी-स्वामी राजा वगैरे अभिवाय अवमुद्गाण निमतण-अभिवादन
अभ्युत्थानम् निमन्त्रणम् पोताना मस्तकने जुकावी अर्धस्पर्श करी नमस्कार करे,
तथा अभ्युत्थान-मुनिने आवता जेधने पद्या आहारभावधी पोताना आसनने
परित्याग करी ते उधीने उठा रहे अने मुनिनी सामे जाय, तथा निमन्त्रण-
आहार आदि ग्रहण करवा भाटे प्रार्थना करे के, महाराज ! आज आप भाश
धरे भिक्षा ल्यो. आ प्रकारे अभिवादन, अभ्युत्थान तथा निमन्त्रण कुज्जा-कुर्यात्

यत्र यत्रासौ भिक्षाद्यर्थं याति तत्र तत्र लोकस्तद्वन्द्येन विमना भवति । मुनिश्च तिरस्कारं प्राप्नोति तथाप्यसौ जल्लपरीषदं सहते ।

तदनन्तरं विशाखाचार्यस्तमत्रवीत्-वत्स ! त्वरेद्दौर्गन्ध्याद् भृशमुद्देगो जनानां जायते, तस्मादुपाश्रय एव त्वया स्यात्वयं, न तु वद्विशुद्धस्यसनिधौ गन्तव्यम् । इत्थं तद्वचनं निश्चम्य विशुद्धमतिमुनिस्तस्मिन्नेवोपाश्रये स्थितः । अन्तप्रान्ताहारेण दुर्बलशरीरोऽसौ विशुद्धमतिमुनिः स्वगुरुं प्रार्थ्यं तदाज्ञामादाय पादपोषगमनं कृत्वा स्वकल्याणं साधयामास । एवमन्यैर्मुनिभिर्जल्लपरीषदः सोढव्यः ॥ ३७ ॥

जहा जहा ये भिक्षा के लिये जाते वहार लोग उनके शरीर की दुर्गन्ध से व्याकुल हो उठते । इस दुर्गन्ध के कारण मुनिराज का भी तिरस्कार होने लगा । फिर भी उन्होंने ने इस तर्फ ध्यान नहीं दिया और जल्लपरीषद को जीतने में ही वे अपनी सारी शक्ति लगाते रहे ।

विशाखाचार्य ने एक दिन इनसे कहा वरस ! तुम्हारे शरीर की दुर्गन्ध से लोगों में बड़ा असन्तोष फैल रहा है वे बड़े उद्विग्न होते हैं, इसलिये तुम अब कहीं न जाकर सिर्फ उपाश्रय में ही रहा करो । इस प्रकार गुरु महाराज के वचन सुनकर विशुद्धमति मुनिराज अब उपाश्रय में ही रहने लगे-याहर गृहस्थों के यहां आना जाना बंद कर दिया । अन्त प्रान्त आहार से इनका शरीर भी दुर्बल हो गया था, अतः अपने गुरु महाराज से प्रार्थना कर इन्होंने उनकी आज्ञानुसार पादपोषगमन सधारा धारण कर लिया और अपना कल्याण साध कर

अभराष्टं जता हता न्यां न्यां ये भिक्षा देवा जता त्या त्या बोडो जेना शरीरनी दुर्गंधनी व्याकुल भनी जता. जने आ दुर्गंधना कारणे न्यां त्यां मुनिशब्देना पक्षु तिरस्कार घवा लाग्यो तो पक्षुतेभक्षे जे तरेक ध्यान न आशु जने जल्लपरीषद जल्लपरीषां व पोतानी जधी शक्ति लगाडी रद्या

विशाखाचार्ये तेने जेठ द्विच कर्णु, जे वत्स ! तमाश शरीरनी दुर्गंधनी बोडोभां बक्षे असतोष हेलाई रद्या छे आधी पक्षु उद्विग्न जने छे, माटे तमे हवे कथांय न जतां इठव उपाश्रयभां व रद्या करी आ प्रकाशुं शुरुभंडारा जनु पथन सांभगीने विशुद्धमति मुनिशब् हवे उपाश्रयभां व रडेवा लाग्या भंडार गृहस्थीने त्यां जवा आववानु जष करी दीधु अन्त प्रान्त आहारनी तेमनु शरीर पक्षु दुबल घई जसु, जते पोताना शुरुभंडाराजने प्रार्थना करी तेमनी आज्ञा अनुसार पादपोषगमन सधारा धारण कर्यो

छाया—अनुत्कशायी अल्पेच्छ, अज्ञातैपी अलोलुप ।

रसेषु नानुगृध्येत्, नानुतप्येत प्रज्ञावान् ॥ ३९ ॥

टीका—‘अणुक्कसाई’ इत्यादि ।

अनुत्कशायी=अनुत्क -अनुत्कण्ठितः शेते, धातूनामनेकार्थत्वाद् वर्तते इत्येवं
शीलः सत्कारादिवाञ्छारहित इत्यर्थः, यद्वा-प्राकृतत्वाद्-‘अणुकपायी’ इति-
च्छाया । अल्पकपायी-कपायरहित इत्यर्थः-वन्दनादिकमकुर्वते न क्लुध्यति, वन्द-
नादौ कृते वा न मान कुरुते न वा तदर्थं शीतोष्णाऽऽतापनादिभिर्मायां करोति, न
चापि तत्र लोभ करोतीति भाव । अत एव-‘अल्पेच्छ, ’=धर्मोपकरणमात्रा-
मिलापी, न तु सत्कारपुरस्कारामिलापीत्यर्थः । अत एव-अज्ञातैपी-अज्ञातः=जाति
श्रुतादिभिरपरिचितो भूत्वा एपयति-गवेपयति पिण्डादिक, य स तथा, यद्वा-
अज्ञाते=अज्ञातकुले एपयति=गवेपयति पिण्डादिक यः स तथा, तत्र हेतु प्रदर्शयति

अय सूत्रकार इसी अर्थ को विशद करते हैं-‘अणुकसाई’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(अणुकसाई-अनुत्कशायी) सत्कार आदि की अभि-
लाषा रहित अथवा अल्पकपाय वाला-सत्कारादि विषयक कपायभाव
रहित, अर्थात्-वदना आदि नहीं करने वाले के प्रति क्रोध नहीं करने
वाला, तथा वन्दनादि करने पर अभिमान नहीं करने वाला, तथा मान
सन्मान आदि के निमित्त शीत, उष्ण, आतापना आदि द्वारा माया-
चार नहीं करने वाला तथा उस विषय में लोभ-कपाय भी नहीं करने
वाला, (अल्पेच्छे-अल्पेच्छ) तथा अल्पइच्छावाला धर्मोपकरणमात्र की
अभिलाषा वाला सत्कारपुरस्कार आदि की अभिलाषा वाला नहीं,
तथा (अज्ञातैपी-अज्ञातैपी) जाति एव श्रुत आदि से अपरिचित
होकर शुद्ध पिण्डादिक की गवेपणा करने वाला, अथवा-अज्ञातकुल में

इसे सूत्रकार आ अर्थने स्पष्ट करे छे—‘अणुकसाई’ इत्यादि

अन्वयार्थ—अणुकसाई-अनुत्कशायी सत्कार आदिनी अभिलाषायी रहित

अथवा अल्प कपायवाला-सत्कारादि विषयक कपायभाव रहित, अर्थात् वदना
आदि न करना तदर्थ क्रोध नहीं करवावाला तथा वदनादि करवायी अभिमान
नहीं करवावाला तथा मान सन्मान आदि निमित्त शीत, उष्ण, आतापना
आदि द्वारा मायाचार नहीं करवावाला तथा ये विषयमां लोभ कपाय पक्ष
नहीं करवावाला अल्पेच्छे-अल्पेच्छः तथा-अल्प इच्छावाला-धर्मोपकरण मात्रनी
अभिलाषावाला-सत्कार पुरस्कार आदिनी अभिलाषावाला नहीं तथा अज्ञातैपी-
अज्ञातैपी अति अजर श्रुत आदिनी अपरिचित जनीने शुद्ध पिण्डादिकनी गवेपणा

सत्कार कृपात्, तानि=अभिवादादीनि ये स्वयूथवर्तिन. अवसन्नपार्श्वस्थादय, परतीर्थिका दण्डिशाक्यादयो वा द्रव्यलिङ्गिन. प्रतिसेवन्ते=आगमनिषिद्धान्यपि स्वीकुर्वन्ति, तेभ्यः=ऋद्धिरससातगृद्धियुक्तेभ्यः, मुनि =अनगार. न स्पृहयेत्, राजादिकृतसत्कारपुरस्कारौ प्रतिसेवमानान् द्रव्यलिङ्गिनः साधून् विलोक्य—“अहो! पुण्यशालिनोऽमी पार्श्वस्थादय शाक्यादयश्च यदेतादृश वन्दनाभ्युत्थानादिसत्कारं प्राप्नुवन्ति, अतोऽहमप्येतादृशो भवामी”-ति मुनिस्तत्साम्यं न वाञ्छेदित्यर्थः ॥३८॥

अमुमेवार्थं विशदयति—

मूल्म् -अणुक्कंसाई अप्पिच्छे, अन्नाएँसी अलोल्लुए ।

रसेसु नाणुगिज्झिजा, नाणुतप्पिज्ज पेण्णव ॥३९॥

तथा निमग्न (कुञ्जा-कुर्यात्) करे और (ताइ-तानि) उनको (जे-ये) जो स्वयूथवर्ती अवसन्न पासत्य आदि, अथवा परतीर्थिक दण्डिशाक्यादिक द्रव्यलिङ्गी साधु (पडिसेवति-प्रतिसेवन्ते) सेवन करते हैं उनको स्वीकार करते हैं तो (मुणी तेसिं न पीहए-मुनि तेभ्यः न स्पृहयेत्) मुनि उन ऋद्धिरससातगृद्धियुक्तों की स्पृहा न करे राजा आदि द्वारा किये गये सत्कार पुरस्कार को प्रतिसेवन करने वाले अवसन्नपार्श्वस्थादि द्रव्यलिङ्गी साधुओं को देखकर “अहो! ये अवसन्न पार्श्वस्थादिक तथा शाक्यादिक यडे ही पुण्यशाली हैं जिससे ये इस प्रकार के वन्दन अभ्युत्थान आदि सत्कार को पाते हैं अत मैं भी इनके जैसा होऊ तो अच्छा हो” इस प्रकार अणगार-मुनि उनकी समानता की अर्थात् उनके जैसा होने की वाञ्छा नहीं करे ॥ ३८ ॥

४८६ अने ताइ-तानि जेभने जे-ये जे स्वयूथवर्ती अवसन्न पासत्य आदि अथवा परतीर्थी ४ ६ ४, शाक्यादिक द्रव्यलिङ्गी साधु पडिसेवति-प्रतिसेवन्ते सेवन करे जे-जेभने स्वीकार करे जे मुणी तेसिं न पीहए-मुनि तेभ्यः न स्पृहयेत् ते मुनि जे ऋद्धिरस सात गृद्धियुक्तोनी स्पृहा न करे राजा आदि द्वारा कियेला सत्कार पुरस्कारनु प्रतिसेवन करवावाणा अवसन्न पार्श्वस्थादि द्रव्यलिङ्गी साधुजोने जेभने “अहो” जे अवसन्न पार्श्वस्थादिक तथा शाक्यादिक यडा ए पुण्यशाली जे, जेथी ते आ प्रकारनां वदन अभ्युत्थान आदि सत्कार पावे जे जेथी हुं पबु जेभना जेवे ताई ते साइ थाय. आ प्रकारे अणुगार मुनि तेभनी समानतानी अर्थात् तेभना जेवा जवानी वाञ्छन्ना न करे. ॥ ३८ ॥

छाया—अनुत्कशायी अल्पेच्छ, अज्ञातैपी अलोलुप ।

रसेषु नानुगृध्येत्, नानुवप्येत प्रज्ञावान् ॥ ३९ ॥

टीका—‘अणुक्कसाई’ इत्यादि ।

अनुत्कशायी=अनुत्क—अनुत्कण्ठितः शेते, धातूनामने ऋथत्वाद् वर्तते इत्येव शीलः सत्कारादिवाञ्छारहित इत्यर्थः, यद्वा—प्राकृतत्वाद्—‘अणुकपायी’ इति-च्छाया । अल्पकपायी—कपायरहित इत्यर्थः—वन्दनादिकमकुर्वते न कुध्यति, वन्दनादौ कृते वा न मान कुरुते न वा तदर्थं शीतोष्णाऽऽतापनादिभिर्मायां करोति, न चापि तत्र लोभ करोतीति भाव । अत एव—‘अल्पेच्छः’=धर्मोपकरणमात्रा-मिलापी, न तु सत्कारपुरस्कारामिलापीत्यर्थः । अत एव—अज्ञातैपी—अज्ञातः=जाति-श्रुतादिभिरपरिचितो भूत्वा एषयति—गवेषयति पिण्डादिक, य स तथा, यद्वा—अज्ञाते=अज्ञातकुले एषयति=गवेषयति पिण्डादिक य स तथा, तत्र हेतु प्रदर्शयति

अथ सूत्रकार इसी अर्थ को विशद करते हैं—‘अणुक्कसाई’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(अणुक्कसाई—अनुत्कशायी) सत्कार आदि की अभिलाषा रहित अथवा अल्पकपाय वाला—सत्कारादि विषयक कपायभाव रहित, अर्थात्—वदना आदि नहीं करने वाले के प्रति क्रोध नहीं करने वाला, तथा वन्दनादि करने पर अभिमान नहीं करने वाला, तथा मान सन्मान आदि के निमित्त शीत, उष्ण, आतापना आदि द्वारा माया-चार नहीं करने वाला तथा उस विषय में लोभ—कपाय भी नहीं करने वाला, (अप्यिच्छे—अल्पेच्छ) तथा अल्पइच्छावाला धर्मोपकरणमात्र की अभिलाषा वाला सत्कारपुरस्कार आदि की अभिलाषा वाला नहीं, तथा (अज्ञाएसी—अज्ञातैपी) जाति एव श्रुत आदि से अपरिचित होकर शुद्ध पिण्डादिक की गवेषणा करने वाला, अथवा—अज्ञातकुल में

इसे सूत्रकार आ अर्थने स्पष्ट करे छे—‘अणुक्कसाई’ इत्यादि

अन्वयार्थ—अणुक्कसाई—अनुत्कशायी सत्कार आदिनी अभिलाषायी रहित अथवा अल्प कपायवाला—सत्कारादि विषयक कपायभाव रहित, अर्थात् वदना आदि न करना तरह क्रोध नहीं करना तथा वदनादि करवायी अभिमान नहीं करवावाला तथा मान सन्मान आदि निमित्त शीत, उष्ण, आतापना आदि द्वारा मायाचार नहीं करवावाला तथा ये विषयमां दोष कपाय पक्ष नहीं करवावाला अप्यिच्छे—अल्पेच्छ- तथा—अल्प इच्छावाला—धर्मोपकरण मात्रा की अभिलाषावाला—सत्कार पुरस्कार आदिनी अभिलाषावाला नहीं तथा अज्ञाएसी—अज्ञातैपी अति अगर श्रुत आदिनी अपरिचित जनीने शुद्ध पिण्डादिकनी अवेषणा

—‘અલોલુપ’ ઇતિ । અલોલુપાઃ=સરસાહારાદિષુ રસનેન્દ્રિયાદિલોલુપતાવર્જિતઃ, તથા—પ્રજ્ઞાવાન્=હેયોપાદેયવિવેચનનિપુણબુદ્ધિમાન્, રસેષુ=રસાદિષુ, નાનુગૃધ્યેત્=મનોહરસાદિભિઃ સત્કારે પુરસ્કારે ચ કૃતે તત્ર મૂર્છા ન કુર્યાત્ । નાનુતપ્યેત્=સત્કારપુરસ્કારયોરમાવે વિષાદ ન કુર્યાત્ ।

અર્થ માવ—મક્તપાનવક્ષપાત્રાદીનાં લાભઃ સત્કારઃ, ગુણોત્કીર્તન ઘન્દનામ્બુત્યાનાસનપદાનાદિવ્યવહારથ પુરસ્કારઃ । તત્ર—સત્કારપુરસ્કારમાત્તો સત્યાં શુદ્ધિ ન કુર્યાત્, તપોરમાવે દ્વેષ ન કુર્યાત્, નાપિ ચ મનસ્તાપેનાત્માન દૂષયેત્, કિંચુ દૈન્યવર્જનેન તદનાકાઠ્ઠયા ચ સત્કારપુરસ્કારપરીપઠ. સોઢવ્ય, ઇત્યેવ સઝ્ઞાનાસન્નાવમેદેન દ્વિવિધોઽય પરીપઠઃ સોઢવ્ય ઇતિ । ઉક્તઞ્ચ

ગવેષણા કરને ચાલા, તથા (અલોલુપ—અલોલુપ) સરસ આહારાદિક મેં રસના—ઇન્દ્રિય કી લોલુપના સે રહિત ઁસા (પળ્ણવ—પ્રજ્ઞાવાન્) હેય ઔર ડપાદેય કે ઘિવેચન કરને મેં નિપુણ બુદ્ધિચાલા મુનિ (રસેસુ નાણુ-ગિજ્ઞિજ્ઞા—રસેષુ નાનુગૃધ્યેત્) મનોજ્ઞ રસાદિ કે ઢારા સત્કારપુરસ્કાર હોને પર રસાદિ મેં મૂર્છા—શુદ્ધિ માવ નહીં કરે, તથા મનોજ્ઞ રસાદિ કે નહીં મિલને પર ઘિષાદ નહીં કરે ।

માવાર્થ—હસકા સારાશ યહ હૈ કિ—મક્ત, પાન, વક્ષ ઁવ પાત્રા-વિકકા લાભ સત્કાર હૈ, તથા ગુણોં કા કયનરૂપ તથા ઘન્દના અમ્બુત્યાન ઁવં આસનપ્રદાનરૂપ ડો વ્યવહાર હૈ વહ પુરસ્કાર હૈ । સાધુ કો સત્કારપુરસ્કાર કી પ્રાસિ હોને પર શુદ્ધિ ઔર હનકે અમાવ મેં દ્વેષ નહીં કરના ઘાહિયે, ઔર ન મનકે સંતાપ સે અપને આપકો દૂષિત હી

કરવાવાળા અથવા અજ્ઞાત કુળમાં આહારની ઝવેષણા કરવાવાળા તથા અલોલુપ—અલોલુપ સરસ આહારાદિકમાં રસનાઈન્દ્રિયની લોલુપતાથી રહિત એવી પળ્ણવ—પ્રજ્ઞાવાન્ હેય અને ડપાદેયનુ વિવેચન કરવામાં નિપુણ બુદ્ધિવાળા મુનિ, રસેસુ નાણુગિજ્ઞિજ્ઞા—રસેષુ નાનુગૃધ્યેત્ મનોજ્ઞ રસાદિ ઢારા સત્કારપુરસ્કાર હોવા છતાં રસાદિમાં મૂર્છા—શુદ્ધિભાવ ન કરે તથા મનોજ્ઞ રસાદિ નહીં મળવાથી ઘિષાદ ન કરે.

આનો સારાંશ એ છે કે—મક્ત, પાન, વક્ષ, અને પાત્રાદિકનો લાભ સત્કાર છે, તથા શુદ્ધિના કયનરૂપ, તથા ઘન્દના અમ્બુત્યાન અને આસનપ્રદાન રૂપ જે વહેવાર છે, તે પુરસ્કાર છે । સાધુને સત્કારપુરસ્કારની પ્રાસિ હોવાથી શુદ્ધિ અને તેના અભાવમાં દ્વેષ ન કરવો એઈએ । તેમ મનના સતા । પાતે

उत्थाने वन्दने दाने, न भवेदभिलाषुकः ।

असत्कारे न दीनः स्यात्, सत्कारे स्यान्न हर्षवान् ॥ १ ॥ इति ।

अत्र दृष्टान्तः प्रदर्शयते—

अरुणाचार्यः शिष्यपरिवारेण सह मथुरानगर्या समवसतः । तत्रारिर्मर्दनो नाम भूपतिरासीत्, इन्द्रदत्तनामकस्तस्य पुरोहितस्तत्र निवसति । स जिनशासनविरो-

करना चाहिये, किन्तु दीनता के परिहार से एव सत्कारपुरस्कार की अनाकाक्षा से सत्कारपुरस्कार इन दोनों को सहन करते रहना चाहिये । इस प्रकार सद्भाव और असद्भाव के भेद से दो प्रकारका यह परीपद्य साधु को सहन करने योग्य पतलाया गया है । कहा भी है—

उत्थाने वन्दने दाने, न भवेदभिलाषुकः ।

असत्कारे न दीनः स्यात्, सत्कारे स्यान्न हर्षवान् ॥ १ ॥

भावार्थ—वस्त्र पात्रादिक का लाभ हो चाहे न हो, कोई वन्दनाविक करे या न करे, इस तर्क लक्ष्य न देना और न इस विषयक हर्ष विषाद करना । चाहे कोई सत्कार करे चाहे न करे सच में समभाव रहना सो सत्कारपुरस्कारपरीपद्यजय है ।

दृष्टान्त—एक समय अरुणाचार्य अपने शिष्यपरिवार के साथ मथुरा नगरी में आये हुए थे । उस समय वहाँ अरिर्मर्दन राजा का राज्य था । राजा के पुरोहित का नाम इन्द्रदत्त था । यह उसी नगरी

पोताने इषित न करे, परंतु दीनताना परिहारथी अने सत्कारपुरस्कारनी अनाकाक्षाथी सत्कारपुरस्कार आ अन्ने ने सहन करता रहेवु लेईये आ प्रकारे सद्भाव अने असद्भावना लेईथी के प्रकारने आ परीपद्य साधुके सहन करवा योग्य पतावेव छे कथुं छे के—

उत्थाने वन्दने दाने, न भवेदभिलाषुकः ।

असत्कारे न दीनः स्यात्, सत्कारे स्यान्न हर्षवान् ॥ १ ॥

भावार्थ—वस्त्र पात्रादिकने लाभ होय अगर न होय, केई वदना आदि करे के न करे, के तरफ लक्ष न आपवु अथवा न आ विषयमां हर्ष विषाद करवे। चाहे केई सत्कार करे, चाहे न करे समणामां समभाव रहेवे। ते सत्कारपुरस्कार परीपद्य जय छे

दृष्टान्त—केछ समये अरुणाचार्य पोताना शिष्य परिवार साथे मथुरा नगरीमां विचरता हता के पभते त्यां अरिर्मर्दन राजाके राज्य हंतुं राजाना पुरोहितके नाम इन्द्रदत्त हंतु ते केज नगरीमां रहेता हता। अनशासन प्रत्ये

धित्वात् स्वगवाक्षस्यः सन्नधो ब्रजन्तमरुणाचार्यस्य शिष्य सुधर्मशीलनामक मुनि इत्या
धर्मद्वेपादचिन्तयत्—'अस्य मुने. शिरसि पाद निक्षिपामि' इति एवं विचिन्त्य,
स तन्मस्तकोपरि स्वपादमवलम्बित कृतवान् ।

यदा यदा भिक्षार्थं स्पण्डिलमूमौ वा मुनिस्तद्भवनाऽऽसन्नमार्गेण गच्छति,
तदा तदाऽसौ पुरोहित. स्वगवाक्षे उपविश्य मुनिमस्तकोपरि पादधारणबुद्ध्या
स्वपादौ तत्रावलम्बितौ कृत्वा दृष्टो भवति । एव निरन्तर कुर्वाण इष्टाऽपि श्रान्तर-
सप्तमुद्रोऽसौ मुनिर्मनसाऽपि नाकुप्यत् । एकदा मुनिमस्तकोपरि पाद निक्षिप्य स

में रहता था । जिन शासन के प्रति इसका विरोध सदा से चला आता
था । एक दिन की यात है कि जय यह अपने मकान के झरोखे में बैठा
हुआ था उसी समय इसने अरुणाचार्य के एक शिष्य को कि जिनका
नाम सुधर्मशील मुनि था दृष्टि को झुकाकर जाते हुए देखा । देखकर
धर्म के प्रति द्वेष होने की वजह से इसने उसी बख्त विचार किया कि
आज मैं इस मुनि के मस्तक पर पैर रखु । ऐसा विचार कर झरोखे के
पास से निकलते हुए मुनि के सिर के ऊपर अपने पैर लटका दिये ।

एक दिन उस नगर के सेठ ने कि जिसका नाम सुभद्र था इस
पुरोहित को मुनि के मस्तक के ऊपर पैर रखते हुए देख लिया । मुनि
के मस्तक ऊपर पुरोहित पैर इस तरह रखता था कि मुनि जब
भिक्षा के लिये या शौच के लिये उसके मकान की खिड़की के पास के
मार्गसे हो कर निकलते तब यह पुरोहित अपने मकानकी उस खिड़की
में बैठ जाता और चलते हुए मुनि के मस्तक ऊपर अपने दोनों पैर

तेना विशेध सहा आत्थे आवते। हते। ओक दिवसनी वात छे के, न्यारे ते
पोताना भगानना अरुणामां ओठेव हते। ते सभये तेखे अरुणाचार्यना ओक
शिष्यने के अनु नाम सुधर्मशील मुनि हतु तेने नीचे भाधु राभी जाता तेखे
ओथा. ओठेने धमना तरह देखे होवाना कारखे तेखे ते वजते विचार करी
के, आव हु आ मुनिना मस्तक छपर पज राधु ओवे। विचार करी अरु
आनी पासेधी निकलता मुनिना भाधा छपर पोताना पज लटकाव्या।

ओक दिवस ओ नगरना अ सुभद्र नामना सेठे आ पुरोहितने मुनिना
भाधा छपर पज राभता ओठे वीधा मुनिना भाधा छपर पुरोहित पज ओवी
रीते राभता के, मुनि न्यारे न्यारे भिक्षा माटे अजर शौच माटे तेना भगाननी
अठकीनी पासेना माओधी नीकणे न्यारे न्यारे ते पुरोहित पोताना भगाननी
अठकीभा ओसी रहेते, अने आवता मुनिना भाधा छपर पोताना पज राभते।

पुरोहितस्तन्नगरश्रेष्ठिना सुभद्रनामकेन श्रावकेण दृष्टः। स सुभद्रश्रावको गुरोरपमानम
सहमानोऽरुणाचार्यसमीप गत्वा वदति-मदन्त ! पुरोहितकृतो भवदपमानो मया
सह्यते, यतो भवदीयशिष्यस्य मस्तकोपरि इन्द्रदत्तपुरोहितेन पादो निक्षिप्तः
तस्मादस्य ययोचितशासनं कर्तुमिच्छामि । आचार्येणोक्तम्-देवानुप्रिय ! य
नृपादिभूते सत्कारे पुरस्कारे च न प्रमोद क्रियतेऽस्माभिः, तथा तदभावे द्वेष
दैन्यादिकमपि न क्रियते, जैनधर्मद्वेपादसौ तथा करोति । अस्मामिस्त्वेव परीप
सौदव्य एव ।

रखने की इच्छा से पसार देता इससे वे मुनि के माथे ऊपर हो जाते
थे । इस कार्य से पुरोहित को बड़ा मजा आता । पुरोहित की इस प्रवृत्ति
को देखकर भी मुनिके चित्त में जरा भी विकृति नहीं आती, क्योंकि वि
धे शान्तरस के समुद्र थे । किन्तु सुभद्र श्रावक को पुरोहित की यह या
सहन नहीं हुई । गुरु का अपमान देखकर उसका मन तिलमिला उठा
वह शीघ्र ही अरुणाचार्य के पास पहुँचकर कहने लगा-मदन्त ! पुरो
हित द्वारा होता हुआ आपका अपमान मुझसे सहन नहीं किय
जाता है, क्योंकि कि वह आप के शिष्य के मस्तक पर कई दिन से पै
जो रख रहा है, इसलिये मैं उसे इसका उचित उत्तर देना चाहता हूँ
सुभद्र सेठ की बात सुनकर आचार्यमहाराज ने कहा कि देवानुप्रिय
हम लोग जिस प्रकार नृपादिकद्वारा क्रियमाण सत्कारपुरस्कार में
प्रसन्न नहीं होते हैं उसी प्रकार उसके अभाव में द्वेष एव दैन्यादिक भी

आ दिया जैसी रीते करते थे, पग बांधा करी पसारते थे जैसी ते मुनिना
माथा उपर आवे आ हाथोंमा पुरोहितने पूष भव आवती. पुरोहितनी आ
प्रकारनी प्रवृत्तिने जेधने मुनिना मनमा जरा पक्ष विकृति आवती न हती
कारण के, तेजो शातरसना समुद्र हता परतु सुभद्रश्रावकधी पुरोहितनु आ
पर्वन सहन न थसु गुरुनु अपमान जेधने जेतु मन पूष व्यग्र धर्धगसु
ते तरत न अज्ञाचार्यनी पास पडोनीने कहेवा बाज्या, हे मदन्त ! पुरोहितधी
धनु आपनु अपमान माराधी सहन धनु नधी केमके, ते आपना शिष्यना
मस्तक पर केटकाक विवसधी पग रापी असातना करे छे हु तेने आना उचित
उत्तर आपवा आहुं छु सुभद्रसेठनी वात सांभलीने आचार्य महाराजे कसु के,
देवानुप्रिय। असे टोका जे प्रकारे नृपादिक द्वारा करायेवा सत्कारपुरस्कारमा
प्रसन्न नधी धता, तेवी रीते तेना अभावमा द्वेष अने दैन्य आदिक पक्ष

एकदा गुरोः समीपमागत्य सुमद्रभाक्को वदति-भदन्त ! पुरोहितेन मूलं भवन निर्मापित, तत्राश्वौ राजान भोजयितु निमन्त्रयति । तदा स आचार्यः स्वै उपयोग दत्त्वा कथयति-देवानुप्रिय ! यदा राजा भवने प्रवेश परिष्यति तदैव स्वया करं धृत्वा राजा भवनाद् घटिर्नि सारणीयः, तद्भवन कुमुद्वर्ते निर्मापितं, येन राज्ञ प्रवेशसमये निश्चयेन तत् पतिष्यति । एतच्छ्रुत्वा सुमद्रभाक्कस्तस्मिन् भवने

नहीं करते हैं। यह पुरोहित जो कुछ करता है वह जैनधर्म के प्रति अपने द्वेष से करता है। हमारा तो यही आचार है कि हमें यह परीषद् सहन करना ही चाहिये। आचार्य महाराज की बात सुनकर सेठ अपने घर चला गया। पुन, एक समय आकर सुमद्र आबक ने आचार्य महाराज को यह खबर सुनाई कि पुरोहित ने एक नूतन भवन बनवाया है सो आज उसके प्रवेश के उत्सव में उस ने राजा को भोजन के लिये आमन्त्रित किया है। मैं चाहता हू कि पुरोहित का यह व्यवहार जो उसने मुनिराज के साथ किया है वहां जाकर चुपके २ राजा को सुनाया जाय। आचार्य महाराज ने सेठ की इस बात पर ध्यान न देकर उसे इस बात से सचेत किया कि-देखो जब राजा पुरोहित के नूतन भवन में प्रवेश करने लगे तो तुम उसी समय उनका हाथ पकड़ कर मकान से बाहर निकाल लेना, क्यों कि वह भवन कुमुद्वर्त में बना है, और ज्यों ही राजा उसमें प्रविष्ट होगा त्यों ही वह उस समय गिर पड़ेगा। मरते को बचाना अपना काम है, आचार्य महाराज की बात

કરતા નથી. આ પુરોહિત ને કાંઈ કશું છે તે જૈનધર્મ તરફના તેના દેષને લઈને કરે છે અમારો તો એ આચાર છે જ કે, અમારે આ પરીષદ સહન કરવો જ બેઠકે. આચાર્ય મહારાજની વાત સાંભળીને શેઠ પોતાને ઘેર ચાલ્યા ગયા ફરીથી એક વખતે આવીને સુભદ્રાબાવડે આચાર્ય મહારાજને એવી ખબર આપી કે, પુરોહિતે એક નવું મકાન બનાવ્યું છે અને આજ તેના વાસ્તુ મુહૂર્તમાં તેણે રાત્રને બોજન માટે આમત્રણ આપેલ છે હું ચાહું છું કે, પુરોહિતને આ વહેવાર ને, તેણે મુનિરાજની સાથે કર્યો છે, તે ત્યાં જઈને રાત્રને ચુપકીટીથી ઠહોવામાં આવે. આ પ્રકારની શેઠની વાત ઉપર ધ્યાન ન આપતાં આચાર્ય મહારાજે બેઠકને કહ્યું કે એ મકાન એવા કુમુદ્વર્તમાં તૈયાર કરવામાં આવ્યું છે કે તે મુહૂર્તને કિવસે જ પડી જવાનું છે માટે રાત્ર ને સમયે એમાં દાખલ થવા બંધ તે સમયે તમે તેમને હાથ પકડીને બહાર ખેંચી લેજો મરતાને બચાવવા તે આપણો ધર્મ છે આચાર્ય મહારાજની આ વાત સાંભળી આવક સુભદ્ર શેઠ ત્યાંથી નિકળી પુરોહિતના નવા

राज्ञः प्रवेशसमये तद्रक्षार्थं गतः । तत्र भवने राजा यदैव प्रविशति, तदैव स कर घृत्वा वेगेन राजानमाहृष्य भवनाववर्हिर्निःसारयति, नृपे निःसारिते सत्पेव तद्भवन समूल निपतितम् । नृपेणोक्तम्—कथमेतद्भवता विदितम् । थावक प्राह—मम गुरु-देवेन केनचित् कथाप्रसङ्गेन बोधितम्—कुमुहूर्तनिर्मापित भवन नृपस्य प्रवेशकाष्ठे पतित भविष्यतीति । इत्युक्त्वा थावको नृपतिं निवेदयति—राजन् ! अयं पुरोहितः

सुनकर थावक सुभद्र सेठ प्रवेश होने के समय राजा की रक्षा करने के अभिप्राय से उस मकान पर गया। ज्यों ही राजा ने आकर उस भवन के भीतर प्रवेश करना चाहा कि सुभद्र सेठ ने उनका हाथ पकड़ वहाँ से शीघ्र ही राजा को बाहिर की ओर खेंच लिया। राजा के बाहर होते ही वह मकान पूरा का पूरा गिरपड़ा। राजा ने जय परिस्थिति देखी तो उसे यद्वा ही आश्चर्य हुआ। राजा ने हाथ पकड़ कर बाहिर निकालने का कारण पूछा तो सुभद्रसेठ ने सय घात उन्हें स्पष्ट कह सुनाई। राजाने प्रसन्न होकर सुभद्र सेठ से पूछा सुभद्र ! तुम्हें इस घात का पता कैसे पड़ा ? सुभद्र सेठ ने कहा महाराज ! किसी प्रसङ्ग पर आज मेरे गुरु महाराज ने मुझ से यह घात कही कि कुमुहूर्त में निर्मापित यह भवन नृप के प्रवेश करते समय गिर जायगा। राजा को इस पर बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने आचार्य महाराज के अतिशय ज्ञान की बहुत प्रशंसा की और वहीं से उन्हें परोक्ष वंदन किया। इतने में ही सुअवसर देख

मकाने पड़ोस्या अने राबना आववानी प्रतिक्षा करवा वास्या राबले आवी अने मकानमां प्रवेश करवा शङ्क कथे अेटवे राबने जयावीखेवाना अभिप्रायथी तेनी प्रतिक्षा करी रहेल सुभद्र शेठे राबनेो हाथ पकडी आभण वधता अटकावी वीधा अने थोडा पाछा जेथी वीधा राबना भडार जेयाई जवानी साथोसाथ जे अे आपुअे मकान कडउभुस करतु जमीनडोस्त जन्सु राबने आ परिस्थिति जेध पूजज आश्चर्य थसु तेजे सुभद्रशेठने तेनुं ठारख पूछसु त्पारे तेजे सधणी वात राबने कही स भणावी राबले प्रसन्न यता कहुं के, आ वातनी जसु कथ रीते यध ? सुभद्रशेठे जसुअु के, आज मारा शुरुदेव साथे वतचितभा आ प्रसजनी वात उपस्थित यतां तेजेक्षीअे कहुं के, पुरोहितना अे मकाननेो पाथे जेवा सुहूर्तमां नाभवामां आअे छे के राबनेो प्रवेश यतांअे अे आपुअे मकान जमीनडोस्त यवातु राबने आ वातथी बखोज सन्तोष यथे जेजे आचार्यमहाराजना अगाध जेवा ज्ञाननी पूजज प्रसशा करी अने त्वांथी जे अेभने परोक्ष वदन कसुं आ वभते सुअवसर जेध सुभद्र शेठे

कुसुहूर्तें भवन निर्माप्य भोजनाय भवन्तमामन्त्रितवान्, मम गुरुद्वयं चानेन एवा
गच्छन्तं दृष्ट्वा गवाधदेशवस्थितोऽयं प्रत्यहं तन्मस्तकोपरि धर्मद्वेषात् पादं निक्षि-
पति । एतद्वचनं श्रुत्वा नृपस्तस्य दुष्टभावसंपन्नस्य पुरोहितस्य पादच्छेदरूपं दण्डं
कर्तुं स्वमृत्यानाज्ञापयत् । इयं राजाज्ञानगरे तत्कालमेव प्रमृता, अरुणाचार्येणापि
श्रुता । ततः कर्णार्द्रचिचिः स मुनिः स्वशिष्येण नृपतिं प्रबोध्य तं पुरोहितमरक्षयत् ।
एवमन्यैरपि मुनिभिः सुधर्मशीलमुनिवत् सत्कारपुरस्कारपरीपहः सोढव्य इति ॥३९॥

कर सुभद्र सेठ ने राजा को मुनि के प्रति हुए पुरोहित का व्यवहार भी
आधोपान्त सय स्पष्ट कर के सुना दिया, कहा कि—हे राजन्! आपके
इन पुरोहित ने इस भवन का निर्माण कुसुहूर्त में कराया है और उसमें
प्रवेश के उत्सव पर आपको भोजन के लिये आमन्त्रित किया है । मेरे
गुरु महाराज इस भवन की झरोखे के पास से जब २ होकर निकलते
हैं तब २ यह धर्म के द्वेष से झरोखे में बैठ कर “मुनिके माथे ऊपर दोनों
पैर, मेरे रहे” इस भावना से पैर पसार दिया करता है । सुभद्र भाबक
की इस बात को सुनकर राजाने “यह पुरोहित दुष्टभाव संपन्न है”
यह जान लिया और अपने नौकरों को यह आदेश दिया कि इसके दोनों
पैर काट डालो । यह राजाज्ञा नगर में वायुवेग से फैल गयी । अरुणा
चार्य को भी यह बात मालुम हुई तो उन्होंने ने अपने शिष्य द्वारा राजा
को समझा बुझा कर पुरोहित को बचा लिया । इस कथा से यही शिक्षा

पुरोहितद्वारा मुनिप्रत्ये कथा अपमानित व्यवहारनी बात विगतभी राज
समक्ष शब्द करी अने कष्ट दे, के राजन्! आपना आ पुरोहिते आ भका
ननु निर्भीक कुसुहूर्तमा कथुं अने तेमां प्रवेशना उत्सव उपर आपने सोचन
भाटे आमत्रण आपेल छे भास शुकभद्वाराज आ भकानना उद्ग्राहसेभी
न्यारे न्यारे निकले छे त्यारे त्यारे पुरोहित धर्मना द्वेषधी उद्ग्राह्य लेखी
कोमना माथा उपर “भास अन्ने पग रहे” आ सावनाधी पग लांवा करी
दे छे सुभद्र शेठेनी बात सावणी राजके “आ पुरोहित दुष्ट भावनाधी
भरेल छे” आ बात बखुी लीधी, अने पीताना नेकरीने दुकम कथे के,
पुरोहितना अन्ने पग कापी नाजे आ प्रभाकेनी शब्दनी आसा वायुवेगधी
नगरमां फैलाई अछि अने ते उद्ग्राह्यार्थ मुनिना बखुवाभां आवता तेकोले पीताना
शिष्य भासकेत राजने समझवी पुरोहितने अन्नाधी लीधी. आ कथाधी लेखनी

अथ विंशतितम प्रज्ञापरीपहमाह—

मूलम्—से' य नूण मए पुँव्व, कम्मांऽणाणफला कंडा ।
 जेर्णांहे नाभिजाणांमि, पुँटो केणइ कणहुइ ॥ ४० ॥
 अहे पच्छां उइज्जति, कम्मांऽणाणफला कंडां ।
 एवमासासि अप्पांणं, नच्चा कम्मविवांगय ॥ ४१ ॥

छाया—अथ नून मया पूर्व, कर्माणि अज्ञानफलानि कृतानि ।
 येनाहं नाभिजानामि, पृष्ट' केनचित् कस्मिंश्चित् ॥ ४० ॥
 अथ पश्चाद् उदीयन्ते, कर्माणि अज्ञानफलानि कृतानि ।
 एवम् आश्वासय आत्मान, ज्ञात्वा कर्मविपाककम् ॥ ४१ ॥

टीका—'से य नूण' इत्यादि, 'अह पच्छा' इत्यादि ।

अथ च नून=निश्चयेन, मया पूर्व=पूर्वकाले-पूर्वभवे इत्यर्थः, अज्ञानफलानि=अज्ञानोत्पादकानि, कर्माणि=ज्ञानावरणीयकर्माणि, कृतानि=धर्माचार्यगुरुश्रुतज्ञाननिन्दाध्ययनवाधादिभिरुपाजितानि । उक्तञ्च—

मिलती है कि सुधर्मशील मुनि की तरह प्रत्येक मुनि को सत्कारपुरस्कार परीपह सहन करते रहना चाहिये ॥ ३९ ॥

अथ वीसवाँ प्रज्ञापरीपहको सूत्रकार घतलाते हैं—

'से य नूण' इत्यादि । 'अह पच्छा' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—प्रज्ञापरीपहको जीतनेके लिये साधु विचार करे कि (नूण-नूनम्) निश्चयसे (मए-मया) मैंने (पुँव्व-पूर्वम्) पूर्वभयमें (अण्णाणफला कम्मा कडा-अज्ञानफलानि कर्माणि कृतानि) धर्माचार्य गुरु महाराज और श्रुतज्ञान की निंदा करने से तथा किस के ध्यान अध्ययन में विघ्न डालनेसे अज्ञानोत्पादक ज्ञानावरणीय आदि - मों का उपार्जन किया है ।

शक्य छे के, सुधर्मशील मुनिनी जेभ प्रत्येक मुनिजे सत्कारपुरस्कारपरीपह सहन करता रहेवुं जेधजे. ॥ ३९ ॥

इवे वीसमा प्रज्ञापरीपहने सूत्रकार भतावे छे—

'से य नूण' इत्यादि 'अह पच्छा' इत्यादि

अन्वयाथ—प्रज्ञापरीपहने छतवा भाटे साधु विचार करे के, नूण-नून निश्चयथी मए-मया मे पुँव्व-पूर्व पूर्वभयमां अण्णाणफला कम्मा कडा-अज्ञानफलानि-कर्माणि कृतानि धर्माचार्य गुरुमहाराज अने श्रुतज्ञाननी निंदा करवामां तथा केधना ध्यान अध्ययनमां विघ्न नाभवानु, आशानोत्पादक ज्ञानावरणीय

नाणस्त नाणिणं चिय, निंदा पद्दोसमच्छरेहि य ।

उवघायणविग्घेहि, नाणग्घं वज्झए कम्मं ॥ १ ॥ ”

छाया-ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दाप्रद्रेपमतसरैश्च ।

उपघातनविघ्नैः, ज्ञानघ्नं वध्यते कम ॥ १ ॥

येन=यस्मात् कारणात्, केनचित्=जिज्ञासुना, कस्मिञ्चित्=जीवादितत्त्व-
वेपथे, पृष्टोऽहं नामिजानामि=अज्ञानवशात् प्रश्नस्योत्तरं कर्तुं न शक्नोमीत्यर्थः ।
त्वोपाजित-ज्ञानावरणीय-कर्मादयात् मया ज्ञानं न लभ्यते, अतः प्रश्नोत्तरं कर्तुं-
समर्थो भवामीति भावः । उक्तञ्च—

जेण-येन) जिसके कारण से (केणह-केनचित्) किसी जिज्ञासु
तः द्वारा (कणहुह-कस्मिञ्चित्) किसी भी जीवादिक तत्त्व के विषय में
(पुटो-पृष्टः) पूछे जाने पर (अहं) मैं (नामिजाणामि-नामिजानामि)
कुछ भी नहीं जान सकता हूँ, अर्थात् अज्ञानवश उसके प्रश्न का कुछ
भी उत्तर नहीं दे सकता हूँ । कहा भी है—

“नाणस्त नाणिणं चिय, निंदा पद्दोसमच्छरेहि य ।

उवघायण विग्घेहि, नाणग्घं वज्झए कम्मं ॥ १ ॥ ”

ज्ञान एवं ज्ञानियों की निंदा करने से, उनमें बेषबुद्धिरखने से, उनके
साथ मत्सरभाव रखने से, उनका उपघात करने से अथवा ज्ञान के
साधनों में अथवा ज्ञानियों के ज्ञानोपाजन में विघ्न करने से जीव
ज्ञाननाशक कर्म का पथ करता है ।

आदि कर्मोनु उपाज्जन करै छे जेण-येन जेना कएवाथी केणह केनचित् केह
अज्ञासु द्वारा कणहुह-कस्मिञ्चित् केह पखु अवाधिक तत्वना विषयमां पुटो-पृष्ट
पुछवाभां आववाथी अहं हुं नामिजाणामि-नामिजानामि केह पखु अशुतो नथी
अर्थात् अज्ञानवश जेभना प्रश्नो केह पखु उत्तर आपी शकतो नथी
कहु पखु छे छे—

“नाणस्त नाणिणं चिय, निंदा पद्दोसमच्छरेहि य ।

उवघायण विग्घेहि, नाणग्घं वज्झए कम्मं ॥ ”

ज्ञान अने ज्ञानीयोनी निंदा करवाथी, जेभनाभां द्वेषबुद्धि राभवथी,
जेनी साथे मत्सरभाव राभवथी, जेना उपघात करवाथी अथवा ज्ञानना साध
नोभां अथवा ज्ञानीयोना ज्ञानोपाज्जनभां विघ्न करवाथी अथवा ज्ञाननाशक कर्मोना
अथ करै छे

“सुहासुहाणि कम्माणि, सय कुव्वति देहिणो ।
सयमेवोवभुजति, दुहाणि य सुहाणि य ॥ १ ॥”

छाया—शुभाशुमानि कर्माणि, स्वय कुर्वन्ति देहिनः ।
स्वयमेवोपभुञ्जते, दुःखानि च सुखानि च ॥ १ ॥ ४० ॥

भावार्थ—साधु के ऊपर सब ही का विश्वास होता है। प्रत्येक व्यक्ति उनसे अपनी रजिज्ञासाका समाधान जानने का अभिलाषी तथा उत्सुक रहता है, इस परिस्थिति में यदि कोई जिज्ञासु पुरुष मुनि के पास आकर जीवादितत्त्वविषयक अपनी शका की निवृत्ति करना चाहे और वह साधु से इस विषय में प्रश्न करे, और मुनि उसका उत्तर नहीं दे सके तो उस मुनि को चाहिये कि अपनी आत्मा में सङ्घिष्य परिणाम न करे, किन्तु ममभाव से इस प्रकार सोचे कि मेरे ज्ञानावरणीयादिक कर्मों का कितना तीव्र उदय है जो ज्ञान के साधन होने पर भी मुझे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है। बुद्धि में इस प्रकार की मदता का कारण मेरे-पूर्व में गुर्वादिक की निंदा आदि से उपार्जित ज्ञानावरणीयादिक कर्म ही हैं। इस में किसी का दोष नहीं है। जैसे कहा भी है—

“सुहासुहाणि कम्माणि, सय कुव्वति देहिणो ॥
सयमेवोवभुजति, दुहाणि य सुहाणि य ॥ १ ॥”

देही—आत्मा—शुभ और अशुभ कर्मों को स्वयं उपार्जित करता है और उनके फल सुख दुःखादिक को स्वयं ही भोगता है ॥ ४० ॥

भावार्थ—साधुना ऊपर इरेकने विश्वास होय छे, प्रत्येक व्यक्ति पोत पोतानी ज्ञासा अनु समाधान ओमनी पासेधी भेणववाना अभिलाषी तथा उत्सुक रहे छे आ परिस्थितिमा जे केछ अज्ञासु पुरुष मुनिनी पासे आवी ज्ञासादित्व विषयक पोतानी शकानु निवारण करवा छिछे अने ते साधुने आ विषयमा प्रश्न करे अने मुनि ओना उत्तर न आवी शके तो ओ मुनि पोताना आत्मामा शकाशिल वृत्ति न लगवा दे परंतु समभावधी ओवु विश्वासे के, माया ज्ञानावरणीयादिक कर्मोना केटवो तीव्र उदय छे के जे ज्ञानना साधन होवा छता पण मने ज्ञाननी प्राप्ति यर्ष शकी नहीं। बुद्धिमा आ प्रकारनी मदतानु कारण मे-पूर्वमा शुरु आदिनी निंदा वगेरधी कपालत करेव ज्ञानावरणीयादिक कर्मो छे ओमा केछने होय नहीं जेम कहु पण छे—

“सुहासुहाणि कम्माणि, सय कुव्वति देहिणो ।
सयमेवोवभुजति, दुहाणि य सुहाणि य ॥ १ ॥”

आत्मा शुभ अने अशुभ कर्मोने स्वयं कपालत करे छे, अने ओने स्वयं सुख दुःखादिकने स्वयं भोगवे छे ॥ ४० ॥

‘अहं पच्छा’ इति ।

अथ अज्ञानफलानि=अज्ञानोत्पादकानि कर्माणि कृतानि तानि पश्चात्-अबा-
गोचरकालम्, ‘उदीयन्ते’=अज्ञानरूपेण अलर्क-मृषिकश्चिपविकारवद् उदितानि
स्वन्ति, एवम्=अमुना प्रकारेण कर्मविपाकक=कर्मणः फलं, ज्ञात्वा हे शिष्य ! आ-
मानम् आश्वासय=स्वस्थीकुरु, ‘स्वयं कृतानामेव ज्ञानावरणीयकर्मणां कुत्सितं
फलमेव, यदहं न जानामि-प्रश्नोत्तरमिति विज्ञाय स्वस्थो भव, न तु तन्निमि-
त्तं विपाद कुरु इत्यर्थः । ‘कम्मा’ इति बहुवचन कर्मवचनहतूना बहुत्वात् ।

अन्वयार्थ- (कदाऽज्ञानफला कम्मा-कृतानि अज्ञानफलानि कर्माणि)
प्रादिकोंकी निंदा आदिसे पूर्वभयमें उपार्जित तथा ज्ञानमें अंतराय डालने
वाले-ज्ञान के निरोधक-ऐसे ज्ञानावरणीयादिक कर्म अपने अबाधाकाल
के बाद (उद्भज्जति-उदीयन्ते) पागल कुचे अथवा पागल चूहेके विष के
वेकार की तरह अज्ञानरूप से उदय में आते हैं । (एव कम्मविवागयं-
एव कर्मविपाककम्) इस प्रकार कर्म के फल को (नच्छा-ज्ञात्वा)
जानकर हे शिष्य ! (अप्याण आसासि-आत्मानं आश्वासय) तुम
अपनी आत्मा को कुछ नहीं आने पर-दूसरों के प्रश्नों का उत्तर नहीं
दे सकने पर घैर्य घघामो-इस निमित्त को लेकर विपाद मत करो ।

भावार्थ-प्रज्ञापरीषद् को जीतने के लिये सूत्रकार साधुओं के
लिये शिक्षा देते हैं कि जो जैसा करता है उसे फल भी वैसा ही
मिलता है । बन्दुल का झाड़ योने पर कोई उससे आम्रफल प्राप्ति की
आशा करे तो व्यर्थ है । इसी प्रकार पूर्वभय में जिस जीव ने जिन २

अन्वयार्थ-कदाऽज्ञानफला कम्मा-कृतानि अज्ञानफलानि कर्माणि पूर्वभवमा
शुरुआहिनो निंदाधी उपाशुत तथा ज्ञानमा अतराय नाभवाइय-ज्ञानना निरोधक-
मेवा ज्ञानावरणीयादिके कर्म पोताना वितेवा काण पछी उद्भज्जति-स्वीयन्ते उडकाया
इतराना अथवा पकरेवा उदरना विषना विकारनी माइठ अज्ञान इपधी उडयमा
आवे छे एव कम्मविवागयं-एव कर्मविपाककम् आ प्रकारे कर्मना इजने नच्छा-ज्ञात्वा
अधी छे शिष्य ! अप्याण आसासि-आत्मानं आश्वासय तमे पोताना आत्माभा
कांठ न आववाधी भीजाना प्रश्नोना उत्तर आपी शक्या नभी के अधीने आ
अधाना निमित्तने लध विपाद न करे

भावार्थ-प्रज्ञापरीषदने एतवा भाटे सूत्रकार साधुओ भाटे शिक्षा
इपधी करे छे के ने नेपु करे छे, तेने तेपु इण भजे छे कांठ
आवणु आड वावीने तेमांभी आवाना इणनी आशा शजे तो ते अर्थ छे

इदं गायायुगं प्रज्ञाया अपरुर्णमाश्रित्य व्याख्यातम् । इदमुपलक्षण - यदि ज्ञानावरणीयकर्मणा क्षयोपशमात् प्रज्ञाया उत्कर्षः स्यात् तदा तन्निमित्तकं मयं न कुर्यादित्यपि बोध्यमिति । उक्तं हि ।

कारणों द्वारा जिन २ कर्मों का बन्ध किया है वे वे कर्म अयाथाकाल के बाद उस जीव के उदय आते रहते हैं । जब है आत्मन् ! गुर्वादिक की निंदा करने से, शास्त्रों का अवर्णवाद बोलने से, उपघात से अर्थात् ज्ञानादिक के साधनों का नाश करने से, ज्ञान की अन्तराय देने से तूने तीव्र ज्ञानावरणीयादिक कर्मों का बन्ध किया है, तो उनका फल भी तुझे वैसा ही भोगना पड़ेगा । इसमें कोई के हाथ की बात नहीं है । जिन ज्ञानावरणीयादिक कर्मों का तूने बन्ध किया है वे उन उन रूप में ही उदय आवेंगे । अतः यदि तेरे से कोई जीवादिक तत्त्वों के विषय में कुछ पूछता है और तुझे उस विषय का कोई उत्तर ज्ञान में नहीं झलकता है इससे तू आत्मा में हीनता की भावना मत कर, और न खेद ही कर, किन्तु अपने आत्मा को धैर्य बघा और इस प्रकार समझा कि यह तेरे ही किये हुए कर्म हैं अतः तुझे ही भोगना पड़ेगा । फिर इसमें हर्षविषाद करने की जरूरत क्या है ? । इस प्रकार इस परिणति से आत्मा प्रज्ञापरीपह को बहुत अच्छी तरह सहन कर सकता है ।

आ प्रकारे पूर्वभावमां नो लुपे नो नो कारणेन द्वारा नो नो कर्मोना यथ कथो
 होय ते ते कर्म अयाथाकालनी भाव ते ते लुपेने उदयमां आवे छे आथी
 छे आत्मन् ! शुक्र आदिनी निंदा करवाथी, शास्त्रोना अवर्णवाद बोलवाथी, उप-
 घातथी अर्थात् ज्ञानादिकनां साधनेना नाश करवाथी ज्ञानमां अतस्य नाशवाथी,
 ते तीव्र ज्ञानावरणीयादिक कर्मोना यथ कथो छे तो तेनु क्षण पक्ष तारे तेषु
 भोगवतु पडथे तेमां काष्ठना ह्यथनी वात नथी नो ज्ञानावरणीय कर्मोना ते
 यथ कथो छे, ते तेवा तेवा रूपमां उदयमां आवथे आथी नो तने काष्ठ लुपे
 दिक तत्त्वोना विषयमां काष्ठ पुछे छे तो तने नो विषयने काष्ठ ज्ञानभयो उत्तर
 नठतो नथी तो तेनाथी तु चोताना आत्माभा हिनतानी भावना अने जेह
 करीश नही परतु चोताना आत्माभां धैर्य राभ अने नो प्रकारे समभव के,
 आ तारां नो करेवां कर्म छे ज्येथी नो तारे नो भोगववां पडथे पछी आमां
 कर्म विषाद करवानी जरूर नुं छे ? आ प्रकारे आ परिब्रुतीथी आत्मा प्रज्ञा
 परीपहने भूषण सारी रीते सहन करी शके छे गायामां "कम्मा" नो जेह-

पूर्वपुरुषसिंहानां, विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।

श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः, कथं स्वबुद्ध्या मदं यान्ति ॥ १ ॥

यद्वा-इह तन्त्रेणार्थद्वयसमव भनेकार्थबोधनेच्छात, सकृदुच्चारण सम्प्रत् ।
अथ च-तन्त्रन्यायेनार्थद्वयस्य युगपत्समवः-तन्त्रं च दैर्घ्यप्रसारितास्तन्त्रं, ततो
यथा-दैर्घ्यप्रसारितमेकं सूत्रमनेकस्य तिरस्त्रीनस्य तन्तोः=सप्रादि, तथा-यदेकया

गाथा में " कम्मा " यह जो बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग किया गया है वह कर्मों के बंध के हेतु अनेक हैं, इस आशय को प्रगट करने के लिये किया है । चालीस और शकतालीसवी गाथा का जो इस प्रकार विवेचन किया गया है वह बुद्धि की मन्दता को लक्ष्य में लेकर किया है । यदि ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से प्रज्ञा का उत्कर्ष आत्मा में हो तो उस समय साधु को इस प्रज्ञानिमित्तक मद-अहकार नहीं करना चाहिये । यह बात भी उपलक्षण से समझ लेनी चाहिये । कहा भी है-

पूर्वपुरुषसिंहाना, विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।

श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषा, कथं स्वबुद्ध्या मदं यान्ति ॥ १ ॥

पहिले के श्रेष्ठ पुरुषों के असाधारण विज्ञान की बातों को सुनकर ऐसा कौन पुरुष होगा जो अपने ज्ञान का मद-अहकार करेगा । इस लिये बुद्धि की प्रकर्षता का भी मद नहीं करना चाहिये । तन्त्र न्याय से प्रज्ञा के उत्कर्ष अपकर्षरूप दोनों अर्थ भी युगपत् विवक्षित हो सकते हैं । जैसे एक लया फैला हुआ खोरा तिरछे फैले हुए अनेक

प्रत्यक्ष शब्दों का प्रयोग करेगा तो कर्मों का बोधना हेतु अनेक छे तबो आशय प्रतापवच साटे अ करेगा छे आणीस अने छेकताणीसवी गाथाभां के आ प्रकार विवेचन करेगा छे ते बुद्धिनी महताने लक्ष्मां लक्ष्मीने करेगा छे ने कवी ज्ञाना परस्त्रीय कर्मोना क्षयोपशमधी प्रज्ञानो उत्कर्ष आत्माभां होय तो ते समवे साधुने आ प्रज्ञा निमित्तक मद अहकार न करवे छेछे। आ वात पक्ष उपलक्षणस्य समस्त देवी छेछे। कर्ण पक्ष छे—

पूर्वपुरुषसिंहानां, विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।

श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः, कथं स्वबुद्ध्या मदं यान्ति ॥ १ ॥

पहिलां श्रेष्ठ पुरुषोनी असाधारण विज्ञाननी वातो सांभणीने जेवो कथो पुरुष कथो के के पोताना ज्ञाननो मह अहकार करये ? आशी बुद्धिनी प्रकर्ष वानो पक्ष मह न करवे छेछे।

तत्र न्यायधी प्रज्ञानो उत्कर्ष अपकर्षरूप अने अर्थ पक्ष युगपत् विवक्षित जनी शक्ये छे नेम छेक क्षिति हेलाओहो दोशे आसा अवगा ?

गाथया अनेकार्थस्यामिधान स तन्त्रन्यायः, तद्विवक्षया प्रज्ञाया उत्कर्षमाधित्यापि भगवता गाथाद्वयं कथितम्। उपलक्षणत्वे तु तात्पर्यग्राहकतया प्रमाणान्तरं श्रुतमपेक्षणीयं स्यात्, अतस्तन्त्राश्रयणादिह व्याख्याद्वयं क्रियते। तत्र प्रज्ञाया उत्कर्षपक्षे एवं गाथाद्वयं व्याख्यायते—

प्रज्ञोत्कर्षवता एव चिन्तनीयम्—अथ नूनं मया पूर्वं कर्माणि=ज्ञानप्रशंसा-ज्ञानिवैयावृत्त्यादिरूपाण्यनुष्ठानानि, ज्ञानफलानि = ज्ञानमिह विमर्शपूर्वको बोधस्तत्फलकानि, कृतानि, येन हेतुना-केनापि=अविवक्षितविशेषेण सर्वणापीत्यर्थः, कस्मिंश्चित्=यत्र कुत्रापि वस्तुनि विषये पृष्ट. अह, ना=मनुष्य, विशिष्टमनुष्यत्वमनुभवन् अभिजानामि।

तन्तुओं का चक्रादिक में समाहक होता है उसी प्रकार एक गाथा द्वारा युगपत् अनेक अर्थों का भी समग्र होता है, यही तन्त्र न्याय है। इस विवक्षा से इन दोनों गाथाओं द्वारा प्रज्ञा का उत्कर्ष लेकर भी प्रज्ञापरीपह का कथन हो सकता है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने ये दोनों गाथाएँ कही हैं। बुद्धि की प्रकर्षता को लेकर व्याख्यानइस प्रकार है—

मैंने पूर्वभव में ज्ञानप्रशंसा, ज्ञानियों की वैयावृत्त्य आदिरूप शुभ कर्म किये हैं इसलिये इनका फल मुझे विमर्शपूर्वक बोधरूप में मिला है। इसलिये इस के प्रभाव से मैं जब कोई मुझ से किसी भी विषय की अपनी जिज्ञासा समाधान करने के रूप में उपस्थित करता है उसकी उस जिज्ञासा का यथोचित समाधान कर देता हूँ, इससे उस पूछने वाले को सन्तोष हो जाता है। इसलिये सूत्रकार इक्ष्वालीसर्षी गाथा द्वारा ऐसे श्रुतशाली-साधु को यह समझाते हैं कि हे साधो!

अनेक तात्प्रावाच्यने वञ्चइपमां इरवनार भने छे, ते प्रकारे जेक गाथा द्वारा युगपत् अनेक अर्थोना पखु समग्र थाय छे आ तत्र न्याय छे आ विवक्षाशी आ भन्ने गाथाओ द्वारा प्रज्ञानो उत्कर्ष लखने पखु प्रज्ञापरीपहजु कथन भनी शक्ये छे, आ अभिप्रायशी भगवान सूत्रकारे आ भन्ने गाथाओ कही छे बुद्धिनी प्रकर्षता बतावनार व्याख्यान आ प्रकारनु छे

मे पूर्वभवमां ज्ञानप्रशंसा, ज्ञानियोनी वैयावृत्ति आदि रूप शुभ कर्म करेव छे जेनु इण भने विमर्शपूर्वक बोधइपमां भणेल छे आ कारजे जेना प्रभावशी न्यारे कोरि भारी पासे कोरि पखु विप्रयनी पोतानी लज्ञासा समाधान करवाना इपमां उपस्थित करे छे त्यारे हुं जे लज्ञासानु यथोचित समाधान करी हूँ छु आथी जे पूछवावाणाने सन्तोष थाय छे, आ माटे सूत्रकार जेकताणीसर्षी गाथाद्वारा जेवा श्रुतशाली-साधुने जेभ समभवै छे के, छे साधो!

तत्र-श्रुतमदो न कर्तव्य इति बोधयितुमाह-‘ अह पच्छा ’ इत्यादि । अह-
उत्कर्षभाषनानन्तरम्, एव विभावनीयम्-मया पूर्वमवे कृतानि ज्ञानफलानि कर्मानि
पश्चात्=अयाधोत्तरकालम्, इदानीम्, उदीयन्ते-उदितानि भवन्ति, एवं कर्म-
विपाकक इत्यात्वाऽऽत्मानम् आश्वासय-आत्मनि शान्तिं स्थापय, न तु तन्निमित्तकं
मदं कुरु । अय भावः-श्रुतमदो हि ज्ञानावरणीयकर्मणः कारणम्, तच्चावश्यवेद्यम्,
तदुदये च कुतो ज्ञानम्, तस्माच्छ्रुतमदो न कर्तव्यः ।

यतः—“ नाण मयदप्पहरं, मज्जइ जो तेण तस्स को वेज्जो ।
अमिय जस्स विसायइ, तस्स तिगिच्छा कइ किज्जइ ” ॥ १ ॥

छाया—ज्ञानं मददर्पहर, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः ।

अमृतं यस्य विपायते, तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ॥ १ ॥
इत्येव चिन्तनेन शान्तिं प्राप्नुहोति ।

वस्तुतस्तु—गाथाद्वयमिदं युग्मकम् । ‘ से ’ अथ नून=निश्चयेन मया पूर्व=पूर्व
मवे-अज्ञानफलानि कर्माणि कृतानि येन कारणेनाह केनापि जिज्ञासुना क-
स्मिंश्चित् जीवाजीवादिस्वरूपविषये पृष्ट. सन् नाभिजानामि=मन्दबुद्धित्वाच्ची-

तुमने यदि पूर्वमव मे ज्ञान के साधनों का अनुष्ठान करके यदि इस
मव में दूसरों की अपेक्षा कुछ विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तो
तुम इस ज्ञानरूप श्रुत का मद मत करो, किन्तु अपनी आत्मा में शान्ति
भाव से रहो-आत्मा को समझाते रहो कि कहीं ऐसा न हो जाय कि
मद करने से आत्मा ज्ञानावरणीय आदि कर्म का बन्ध करले । इस
कर्म के बंध में जब इसका उदय अपनी अयाधोत्तरकाल के बाद में
आता है तो जीव यथार्थ ज्ञान से रहित हो जाता है, इसलिये हे
शिष्य तू श्रुत का मद मतकर । तात्पर्य इन दोनों गाथाओं का यह है
कि जिस समय आत्मा में प्रज्ञा की हीनता हो तो मुनि को ऐसा

तमे कथं पूर्वमवमं ज्ञानना साधनेतु अनुष्ठान करी के आ वावमां पीबनी
अपेक्षाये कथं विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करेव छे तो तमे के ज्ञानरूप श्रुतने मव न
करे पञ्च तमारा आत्मासां शातिभावधी रहेव आत्माने समबलवता रहेव के
कथाय केवु न भनी बय के, मव करवाथी आत्मा ज्ञानावरणीय आदि कर्मोतु
अधन करी के के कर्मना अधमां न्यारे केने उदय चेतानी आभाषाकाणनी
पथी आवे छे त्पारे एव यथायं ज्ञानधी रहित कथं बय छे आ भाटे के
शिष्य । तुं श्रुतने मव न कर. आ भन्ने जायानु तात्पर्य के छे के, के समरे
आत्मासां प्रज्ञानी हीनता होय त्पारे मुनिके केवे विचार न करे केके

वादिस्वरूप निरूपयितु न समर्थोऽस्मि । एवम्=अमुना प्रकारेण कर्मविपाक-पूर्वो-
पार्जित-ज्ञानावरणीयकर्मफल ज्ञात्वा जात्मानम् आश्वासयेत्युत्तरगाथया सम्बन्धः
अयमर्थ - हे शिष्य ! बुद्धिमान्धविषये विपादमकृत्वा, तपः सयमाराधने प्रवृत्तो भव ।
तप सयमाराधनेन हि केवलज्ञानप्राप्तिरपि भवितुमर्हतीति सोत्साह तत्समाराधने
तत्सरो भवेति भावः ।

अथ-प्रज्ञाप्रकर्षे पश्चात्-ऋदाचित्तथाविधज्ञानावरणीयक्षयोपशमानन्तर ' कम्मा-
णाणफला ' इत्यस्य कर्माणि ज्ञानफलानि इति च्छाया तत्र - ज्ञानफलानि-
जीवाजीवादिस्वरूपनिर्णयजनकानि कर्माणि कृतानि=पूर्वमवोपार्जितानि उदीयन्ते
तदा एवम्=अमुना प्रकारेण कर्मविपाक ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजन्य प्रज्ञाप्रकर्षरूप
कर्मफल ज्ञात्वा हे शिष्य ! आत्मानम् आश्वासय=ज्ञानमद परित्यज्य स्वस्थीकुरु ।
पूर्वकृतशुभकर्मणा मम ज्ञानावरणीयकर्मण क्षयोपशमो जातस्तेन सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-
सूक्ष्मतममपि जीवादिस्वरूप सम्यग् जानामि, तथा केनापि पृष्ट सन् तस्मै
सम्यगवबोधयितु समर्थोऽस्मीति विचारणया प्रज्ञामद परिहरेत्यर्थः ।

विचार नहीं करना चाहिये कि मैं कुछ नहीं जानता हूँ-मूर्ख हूँ जहाँ
तहाँ मेरा परामर्श होता है । इस विचार से आत्मा में परिताप होता
है, इस प्रकार विचार नहीं करना यह प्रज्ञापरीपह है । अथवा
श्रुतज्ञान की विशिष्टता आत्मा में होने पर उस समय उस मुनि को
उसका मद नहीं करना चाहिये कि-मैं विशिष्टज्ञानसंपन्न हूँ, प्रत्येक
व्यक्ति मेरे पास अपनी २ जिज्ञासा का समाधान करने के लिये आते
हैं । प्रत्येक आत्मा को मुझ से कितना लाभ होता रहता है । इस
प्रकार का मद नहीं करना चाहिये । प्रज्ञा का मद करना इस लिये
निषिद्ध है कि यह जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह ज्ञानावरणीयकर्म के
क्षयोपशम से प्राप्त हुआ है । इसका मैं क्यों मद करूँ । इस प्रकार

हे, हुँ कुछ जानता नहीं, मूर्ख हूँ, जहाँ तहाँ मेरा परामर्श थाय है आ
विचारधी आत्माओं परिताप थाय है भाटे आ प्रकारने विचार न करवे ते
प्रज्ञापरीपह है अथवा श्रुतज्ञाननी विशिष्टता आत्माओं यवाधी ते समये ते
मुनिजे तेने मठ न करवे जेधजे हे हुँ, विशिष्ट ज्ञान संपन्न हूँ प्रत्येक
व्यक्ति मेरी पासे पोतपोतानी लसासार्नु समाधान करवा आवे है प्रत्येक
आत्माने मेराधी कटवे लाभ थाय है? आ प्रकारने मठ न करवे जेधजे.
प्रज्ञाने मठ करवाने आ भाटे निषेध है हे, जे ज्ञान प्राप्त थयु है ते ज्ञान-
परणीय कर्मना क्षयोपशमधी प्राप्त थयेव है आने हुँ कुछ रीते मठ करी

अस्य गाथाद्वयस्याय निष्कर्षः—प्रज्ञाया अपकर्षे 'नाहं किञ्चिज्ज्ञानामि, मूर्खोऽस्मि, यत्र तत्र पराजितो भवामि' इत्येव परितापो न कर्तव्यः उत्कर्षे भ्रमदो न कर्तव्यः । किन्तु कर्मविपाकोऽयमिति ज्ञात्वाऽऽत्मनः स्थिरीकरणेन द्विविधोऽपि प्रज्ञापरीपहः सोढव्यः ।

अत्र प्रज्ञापकर्षे दृष्टान्तः प्रदर्शयते—

पुष्पदन्ताचार्यः शिष्यपरिवारेण सह चम्पानगर्यां समवसत् । तेषु शिष्येषु भद्रमतिनामकः शिष्योऽतीवमन्दमतिरासीत् । स आवश्यकसमाप्स्यनन्तर इक्ष्वैकालिकसूत्राभ्यासार्थं प्रवृत्तः, परन्तु तदा तस्य प्रबलज्ञानावरणीयान्तरायकर्मोदयो जातस्तेनैकमप्यधरं न स्मरति, ततोऽसौ चिन्तयति—अहमस्मि पूर्वधराचार्यस्य शिष्यः, आचार्यो वात्सल्येन मामध्यापयति, अन्ये मुनयथापि प्रेम्णा मामहं आत्मा को अपने स्वभाव में स्थिर करते हुए प्रज्ञा के प्रकर्ष को सहन करना यह भी प्रज्ञापरीपह है । इस तरह प्रज्ञा के उत्कर्ष और अपकर्ष के भेद से यह परीपह दो प्रकार का हो जाता है । यह दोनों प्रकार का परीपह सहन करना मुनि के लिये आवश्यक है ।

प्रज्ञा के अपकर्ष में दृष्टान्त—किसी समय पुष्पदन्ताचार्य शिष्यपरिवार के साथ चम्पानगरी में आये । इनकी इस शिष्यमंडली में भद्रमति नाम का एक शिष्य अतीव मंदमति था । एक दिन की बात है कि उसने आवश्यक की समाप्ति के बाद दशवैकालिकसूत्र का अभ्यास करना प्रारंभ किया । परन्तु उस समय उसके प्रबल ज्ञानावरणीयकर्म का उदय होने से एक भी अक्षर उसको याद नहीं होता । इसने विचार किया कि पूर्वधर आचार्य का मैं शिष्य हूँ वात्सल्यभाष

शुद्ध ? आ प्रकारे आत्माने पोताना स्वभावमां स्थिर करीने प्रज्ञाने प्रकर्ष सहन करवे ते पणु प्रज्ञापरीपह छे, आवी रीते प्रज्ञाने उत्कर्ष अने अपकर्षना वेदधी आ परीपह छे प्रकारने अने छे आ अन्ने प्रकारना परीपह सहन करवा मुनिने भाटे आवश्यक छे प्रज्ञाना अपकर्षतु दृष्टत—

कै। छेक समये पुष्पदन्ताचार्य शिष्यपरिवार साथे चम्पानगरीमां आब्याट आ शिष्य मंडलीमां भद्रमति नामने छेक शिष्य धरु। भद्रमती कती। छेक द्विसन्ती वात छे के, तेखे आवश्यकनी समाप्ति बाद दशवैकालिक सूत्रने अभ्यास करवे शर् करी परतु ते समये तेने प्रबल ज्ञानावरणीय कर्मने उदय भवासी छेक पणु अक्षर याद रहेते। नही तेखे विचार करी के, हुं पूर्वधर आवा रीने शिष्य छु, वात्सल्यभावथी तेजे अने शास्त्राध्ययन करवे छे।

भारयति, तथापि मम तत् स्मृतिपथ नायाति, अत्र कश्चित् मुनिः सकृदेव ध्रुत्वा
भारयति, कश्चिद् द्विवार, कश्चित् त्रिवारम् ।

केनचित्-शत शत गाथा प्रत्यहमभ्यस्ताः, केनचित् द्वे द्वे शते । कश्चिदेक-
पूर्वधरः, कश्चिद् द्विपूर्वधरो यावच्चतुर्दशपूर्वधर संजातः, परन्तु महानिष्टुरोऽजीव
निर्बुद्धिरहमस्मि, शतशोऽभ्यासे कृतेऽपि धारणा न भवति । मम पूर्वजन्मोपार्जितं
ज्ञानावरणीय कर्म, तथा ज्ञानान्तरायरूप कर्म तीव्रतया समत्युदयावस्थां प्राप्तम् ;

से वे मुझे पढाते हैं, अन्य मुनि भी मुझ पर विशेष अनुग्रह रखते हैं,
वे भी समय २ पर मुझे पचवाते हैं-तो भी मुझ को याद नहीं होता ।
हमारे में कोई तो मुनिराज ऐसे हैं जो एक बार भी सुनकर याद
कर लेते हैं, कोई २ ऐसे हैं जिन्हें दो बार कहने से याद हो जाता
है । कोई २ ऐसे हैं जो तीन बार सुनकर विषय को अच्छी तरह याद कर-
छेते हैं । कितने ऐसे हैं जो एक ही दिन में सौ-सौ १००-१०० गाथाएँ
याद कर लेते हैं । कोई २ ऐसे हैं जो दो सौ २००-दो सौ २०० गाथाएँ तक
कठस्थ कर लेते हैं । कोई एक पूर्वधर हैं । कोई दो पूर्वधर हैं । कोई तीन,
कोई चार, कोई पाच, कोई छह, कोई सात और कोई आठ आदि
से लेकर चौदह पूर्वतक के पाठी हैं, किन्तु इन सब में एक में
ही प्रेसा मन्दबुद्धि है जिसको कुछ नहीं आता है । बुद्धिहीन यज्ञा
हूँ । सौ बार याद करने पर भी धारणा होती ही नहीं है ।
क्या कहें पूर्वोपार्जित ज्ञानावरणीयकर्म का ही इस समय तीव्र उदय

पक्ष भाग उपर विशेष भाव राजे छे जने समय समय उपर तेजो मने
पतावे छे, तो पक्ष मने याद रहेतु नथी । अमारामां डेटवाक मुनिराज जेवा
छे के, तेजो जेठवार साभणीने तेने कठस्थ करी खे छे, कोर् कोर् जेवा छे
के, तेमने जे वभत कहेवाधी याद यध बय छे, कोर् कोर् त्रय वार साभ
ज्याधी विषयने सारी रीते याद करी दे छे डेटवाक जेवा पक्ष छे के जे जेठ व
दिवसमा १००-१०० (सौ-सौ) गाथाजो याद करी दे छे कोर् कोर् २००-२००
(बसो-बसो) जायाजो कठस्थ करी खे छे कोर् कोर् पूर्वधर छे, कोर् जे
पूर्वधर छे, कोर् त्रय, कोर् चार, कोर् पाच, कोर् छ, कोर् सात, कोर् आठ
आदिधी बुधने चौद पूर्व सुधीना पाडी छे आ अधा वञ्छे हु जेठज जेजे
महबुद्धिने छ के मने कोर् पक्ष आवठतु नथी । हु बुद्धिदिन बनेवे छे जे
पुपत याद करवा छत्यां प्रकृष करी शकतो नथी शु करे ? पूर्वोपार्जित ज्ञाना
वरणीय कर्म आ समये तीव्र उदयमा आवेखे छे जेने जे आ प्रताप छे

अस्य गाथाद्वयस्यायं निष्कर्षः—प्रज्ञाया अपकर्षे 'नाह किञ्चिज्ज्ञानमि, मूर्खोऽस्मि, यत्र तत्र पराजितो भवामि' इत्येव परितापो न कर्तव्यः उत्कर्षे कुत मवो न कर्तव्यः । किन्तु कर्मविपाकोऽयमिति ज्ञात्वाऽऽत्मनः स्थिरीकरणेन द्वि-धोऽपि प्रज्ञापरीपह सोढव्यः ।

अत्र प्रज्ञापकर्षे दृष्टान्तः प्रदर्शयते—

पुष्पदन्ताचार्यः शिष्यपरिवारेण सह चम्पानगर्या समवसतः । तेषु शिष्येषु भद्रमेतिनामकः शिष्योऽतीवमन्दमतिरासीत् । स आवश्यकसमाप्त्त्यनन्तरं दश-वैकालिकसूत्राभ्यासार्थं प्रवृत्तः, परन्तु तदा तस्य प्रबलज्ञानावरणीयान्तरायकर्मी दयो जातस्तेनैकमप्यक्षरं न स्मरति, ततोऽसौ चिन्तयति—अहमस्मि पूर्वकाचार्यस्य शिष्यः, आचार्यो वात्सल्येन मामभ्यापयति, अन्ये मुनयश्चापि प्रेम्णा मामङ्गरं आत्मा को अपने स्वभाव में स्थिर करते हुए प्रज्ञा के प्रकर्ष को सहन करना यह भी प्रज्ञापरीपह है । इस तरह प्रज्ञा के उत्कर्ष और अप-कर्ष के भेद से यह परीपह दो प्रकार का हो जाता है । यह दोनों प्रकार का परीपह सहन करना मुनि के लिये आवश्यक है ।

प्रज्ञा के अपकर्ष में दृष्टान्त—किसी समय पुष्पदन्ताचार्य शिष्य-परिवार के साथ चम्पानगरी में आये । इनकी इस शिष्यमण्डली में भद्रमति नाम का एक शिष्य अतीव मन्दमति था । एक दिन की बात है कि उसने आवश्यक की समाप्ति के बाद दशवैकालिकसूत्र का अभ्यास करना प्रारंभ किया । परन्तु उस समय उसके प्रबल ज्ञाना-वरणीयकर्म का उदय होने से एक भी अक्षर उसको याद नहीं होता । इसने विचार किया कि पूर्वधर आचार्य का मैं शिष्य हूँ वात्सल्यमाध

शुद्ध ? आ प्रकारे आत्माने पोताना स्वभावमा स्थिर करीने प्रज्ञाने प्रकर्ष सहन करवे ते पक्ष प्रज्ञापरीपह छे, आवी रीते प्रज्ञाने उत्कर्ष अने अप-कर्षना लेखी आ परीपह के प्रकारने अने छे आ अने प्रकारना परीपह सहन करवा मुनिने माटे आवश्यक छे प्रज्ञाना अपकर्षे तु दृष्टांत—

कैध अेक समये पुष्पदन्ताचार्य शिष्यपरिवार साथे चम्पानगरीमा आन्वा. आ शिष्य मण्डलीमा भद्रमति नामने अेक शिष्य धरै मडमती हते. अेक द्विवसनी वात छे के, तेखे आवश्यकनी समाप्ति भाद दशवैकालिक सूत्रने अभ्यास करवे शू कर्षे परतु ते समये तेने प्रबल ज्ञानावरणीय कर्मने उदय भवाये अेक पक्ष अक्षर याद रहेते नही तेखे विचार करी के, हुं पूर्वधर आचार्यने शिष्य छु, वात्सल्यभावधी तेजे अने शास्त्राभ्यास करवे छे. पीन मुनिअे

प्रज्ञाप्रकर्षे दृष्टान्त. प्रदर्शयते—

एकदा—कालकाचार्य प्रमादवत्, स्वशिष्यानुज्जयिन्यां विहाय धारावासनगतं स्वशिष्यस्य सागरचन्द्रमुने समीपे समागतः । सागरचन्द्रस्त सामान्यसाधुबुद्धिजानाति कालकाचार्योऽपि न किञ्चित् परिचय ददाति ।

अथाऽन्यदा सागरचन्द्रमुनिनाऽऽगमनिर्णीततत्त्वस्वरूपव्याख्याने कृते सा लोकास्त प्रशंसन्ति, तदा सागरचन्द्रमुनिः कालकाचार्यं प्रति प्राह—मद्व्याख्या

सकेगा, इस गाथा को तो याद करके ही छोड़ने का भाव है । इस प्रकार निश्चय करके प्रज्ञापकर्षकरूप परीपह को सहन करते हुए उक्त भद्रमुनि ने शुभाध्यवसायजन्य प्रशस्त ध्यान से क्षपकश्रेणी को अरेक्षण कर केवलज्ञान को प्राप्त किया ।

प्रज्ञा के प्रकर्ष में दृष्टान्त इस प्रकार है—एक समय कालकाचार्य प्रमादशील अपने शिष्योंको उज्जयिनी नगरीमें छोड़कर धारावासनगरीमें स्वशिष्य सागरचन्द्रमुनि के पास आ गये । सागरचन्द्रशिष्यने उनके साथ सामान्य साधुके जैसा ही व्यवहार किया, गुरु जैसा नहीं । कालकाचार्यने भी इस बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और अपना परिचय भी नहीं दिया । एक दिन की बात है कि जब सागरचन्द्रमुनि ने आगमनिर्णीत तत्त्वों के स्वरूप को समझाते हुए व्याख्यान दिया तो सुनकर लोगों को अपार आनन्द आया,—सयने प्रवचन की मुक्तकंठ से प्रशस्त की । सागरचन्द्रमुनि ने अपरिचित गुरु के समीप आकर कहा—आपने

याह कथे न छुटके, तेवे मनोभाव छे आ प्रकारने निश्चय करिने प्रज्ञाप्रकर्षपरीपहने सहन करतां करतां ते भद्रमुनिजे शुभ अध्यवसाय जन्य प्रशस्त ध्यानधी क्षपकश्रेणी उपर रही केवलज्ञान प्राप्त कहुं

प्रज्ञाना प्रकर्षमां दृष्टान्त आ प्रकारनु छे—

एक समय कालकाचार्य प्रमादशील पोताना शिष्येने उज्जयिनी नगरीमां भूकीने धारावास नगरमा स्वशिष्य सागरचन्द्र मुनिनी पास आव्या सागरचन्द्र शिष्ये तेमनी साथे सामान्य साधु लेवे वडेवार कथे, गुरु शिष्य लेवे नही कालकाचार्ये आ बात उपर कांछ ध्यान न आभ्यु, अने पोताने परिचय पद्यु न आभ्ये। एक दिवसनी बात छे के, अन्यारे सागरचन्द्र मुनिजे आगमनिर्णीत तत्त्वोना स्वरूपने समझववानु व्याख्यान आभ्यु ते सावणीने बोडोने अपार आनन्द कथे। सबलाजे प्रवचननी मुक्तकंठे प्रशस्त करी. सागरचन्द्र मुनिजे अपरिचित गुरुनी समीप आवीने कहुं आपे आज भाइ तात्विक प्रवचन

तस्मान्मया प्रज्ञाया असद्भावरूपोऽयं परीषहः सोऽत्रव्यः, न तु कस्मिंश्चित् ईर्ष्या द्वेषो वा करणीयः, एव विचिन्त्य प्रत्यहं पठति, पुनः पुनरभ्यस्यति च, परं तु धारणा न भवति, 'घम्मो मंगलमुक्खिद्ध' इति गाथा द्वादशवर्षाणि अभ्यस्ता, परं तु तस्या एकस्या अपि गाथायाः स्मृतिस्तस्य नाभूत्, अभ्यासकाले धारितेषु सा तस्य भवति, परं त्वल्पकाल एव पुनस्ता विस्मरति । तदाऽऽत्तौ पुनरध्यवस्यति-पुनरपि द्वादशवर्षाणि कालमभ्यासार्थं यापयिष्यामि, येन केनापि प्रकारेण गाथा-मेता कण्ठस्थीकरिष्याम्येव । इत्येव निश्चित्य प्रज्ञाऽपकर्षपरीषहं सहमानः शुभा-ध्यवसायेन प्रश्नस्तध्यानेन क्षपकथेणिमारुह्य स भद्रमुनिः केवलज्ञानं प्राप्तवान् ।

हो रहा है, उन्हीं का यह काम है, अतः प्रज्ञा का असद्भावरूप यह परीषहं मुझे शांति के साथ सहन करना चाहिये, इसी में मेरा कल्याण है, किसी के साथ ईर्ष्या या द्वेष करने से कोई लाभ नहीं । इस प्रकार भद्रमति मुनि धार २ विचार करता और अपने पूर्वोपाजितकर्मों की निन्दा करता था, परन्तु उसने अपना पढ़ना और याद करना बंद नहीं किया । अकेले "घम्मो मंगलमुक्खिद्ध" इस गाथा को ही उसने लगा-तार धारह वर्षतक याद किया-रटा, परंतु भी उस को यह गाथा याद नहीं हुई । जिस समय यह याद करने बैठता उस समय तो यह याद हो जाती पर ज्यों ही यह याद करना बंद कर देता अथवा किया करने में उपयोग लगाता तो शीघ्र ही उस गाथा को भूल जाता था । यह फिर भी उसको याद करना और पढ़ना नहीं छोड़ता और विचार करता कि यदि यह गाथा इन धारह १२ वर्षों में कंठस्थ नहीं हुई तो अब आगे के १२ वर्षों में कंठस्थ हो जायेगी, क्या चिंता जैसे भी हो

आधी प्रज्ञानो आ असद्भावरूप परीषहं आरे शांतिद्यै सदनं करोति । अर्थ अ-
तेभ्यं च आरे कल्याणं छे कर्षणी आरे धर्षा अथवा द्वेषं करवाथी कर्षं वाक्य
नधी आ प्रकारे भद्रमति मुनि धार धार विचार करता अने पोताना पूर्वी
पाठित कर्षणी निहा करता पञ्च पोताना पठन-पाठन आदिने तेहे अथ न कर्षो ।
"घम्मो मङ्गलमुक्खिद्ध" अे अेक गाथाने अेकदां तेहे धार वष सुधी भाव करी जेपञ्च
छतां पञ्च तेने अे गाथा याह न यथं अे समय ते याह करवा जेसता तो ते वधते याह
रही अती पञ्च अे पछी भाव करवानु अथ करी किंभासां शुभात्तां ते आभा
बुद्धाई अती छतां पञ्च ते अेने याह करवानु छोडता नही अने विचार
करता हे, आ आरवर्षां याह न यथं तो आवता आरवर्षां अेधर याह यथं
अथे चिंता था आटे करवी अेधअे अे रीते अनरी ते रीते प आधाने

सहितः कालकाचार्य आगच्छति इति बुद्ध्या सागरचन्द्रमुनिस्तत्रागच्छतां कालका-
 चार्यशिष्याणां समुखे समागतः । स तत्र परितो विलोक्याचार्यमदृष्ट्वा, तान्
 समागतान् मुनीन् पृच्छति—मो मुनयः ! क्व वर्तन्ते पूज्यचरणाः, सागरचन्द्रमुने
 रेतद्रचन निश्चय्य हताशाः सर्वे मुनयः साधुनेत्राः सगद्गद प्रोक्तवन्तः—इतमाग्या-
 नस्मान् परित्यज्य गुरुचरणाः क्व गता इति वयं न विद्मः, भवता ज्ञायते किम् ? ।
 सागरचन्द्रमुनिनोक्तम्—त न विद्मो वयम्, किं तु एकः कोऽपि बृद्धः समतिं वर्तते
 उपाश्रये । ततः सर्वे गुरुमक्त्युद्रेकात् तद्विरहखिन्ना उपाश्रये आगताः । सागरमुनि-
 नाऽङ्गुल्या निर्देशेन प्रदर्श्य कथितम्—अयमागन्तुको महानुभावः । शिष्यास्तदैव

चल दिये । सागरचन्द्रमुनि को जय पता चला कि सशिष्य गुरु महा-
 राज कालकाचार्य विहार करते हुए यहा आरहे हैं तो वे उनका
 स्वागत करने के लिये सामने गये । वहाँ उन मुनियों में गुरु महाराज
 को नहीं देखा तब उसने उन अपने गुरुभाईओं से पूछा कि—पूज्य
 गुरु महाराज तो दिखते नहीं हैं कहां वे इस समय कहा हैं । तब
 मुनियों ने सागरचन्द्रमुनि के वचन सुनकर हताश एव आंसू डालते
 हुए गद्गद कंठ से थोड़े इतभाग्य हमलोगों को छोड़कर गुरु महाराज
 कहा चले गये हैं यह हम नहीं जानते हैं । कहां आप को मालूम है
 क्या ? सागरचन्द्रमुनि ने कहा उन्हें तो हम जानते नहीं हैं किन्तु एक
 कोई बृद्ध महात्मा इस समय उपाश्रय में अवश्य ठहरे हुए हैं ।
 सागरचन्द्रमुनि की इस घात को सुनकर समस्त शिष्य जो गुरु महा-
 राज के विरह से खेदखिन्न बने हुए थे गुरुभक्ति के उद्रेक से प्रेरित
 होकर उपाश्रय में पहुँचे । सागरचन्द्रमुनि ने भगुली के इशारे से

कहा जाया सागरचन्द्र मुनिने जो भयर भया है, गुरुमहाराज का कालाचार्य
 शिष्यो साथे विहार करता करता अही पधारे छे त्यारे ते तेमनु स्वागत
 कंथा साथे गया. त्यां जे मुनिज्योमा गुरुमहाराजने न जेथा त्यारे तेबे पातीना
 जे गुरुभाईज्योने पूछ्यु छे पूज्य गुरुमहाराज तो देभाता नथी कडो, तेँ व्या
 अभाये कथां छे ? सागरचन्द्र मुनिनां व्या वचन सांभजतां ते शिष्यो इतथा
 जनी गया अने आसुकरी आंजे भइगइ ठठथी गेल्या, इतभागी अंमे
 'पधाने छोडीने गुरुमहाराज कथां यादया जया छे जे अंमे लखुता नथी कडो
 कडो आपने भयर छे ? सागरचन्द्र मुनिजे कहुँ, जेभने हुँ आंजभतो नथी
 परतु जेठ बुद्ध महात्मा व्या वजते उपाश्रयमा रोकायेदा छे सागरचन्द्रनी
 आं वात सांभणीं सधणा शिष्यो जे गुरुमहाराजना विरहथी जेअभिन्न धनेछ
 इता, तेसधणा गुरुभक्तिना भावथी प्रेरित जनी उपाश्रयमा पडोअ्या सागर

श्रुत भवन्ति, कीदृश तत्, ? तेनोक्तम्-शोभनम्, कालकाचार्येण सह तस्य तर्क-
माश्रित्य वाद प्रवृत्तेः । सागरचन्द्रमुनिस्तस्य तुल्यतया प्रत्युत्तर कर्तुमसमर्थो अतः
स्ततोऽतीव चमत्कार स प्राप्तवान् ।

इतश्च कालकाचार्यस्य शिष्याः स्वगुरुपरिस्विकाश्रतुर्विकसयैस्तिरस्कारं प्राप्य,
लज्जिताः सन्त स्वगुरु गवेषयन्ति । ते ग्रामानुग्राम विहरन्त. कालकाचार्यवार्ता
प्रतिग्राम प्रतिनगर प्रतिस्थल पृच्छन्त. क्रमेण धारावासनगरं समागताः । शिष्य-

आज मेरा तात्त्विक प्रवचन तो सुना है ? वह कैसा हुआ । कालका-
चार्य ने कहा अच्छा हुआ, पातचीत के सिलसिले में ही गुरु शिष्य का
तर्कशास्त्र पर परस्पर में वादविवाद छिड़ गया । सागरचंद्रमुनि को
यह पता नहीं था कि ये मेरे गुरु महाराज कालकाचार्य हैं । सागरचंद्र
मुनि कालकाचार्य की तर्कणाओं का प्रत्युत्तर नहीं दे सका अतः वह
कालकाचार्य के अगाध ज्ञान से विशेष प्रभावित हुआ ।

उधर से जय अपने शिष्यों को उज्जयिनी में छोड़कर कालकाचार्य
आगये तो उन शिष्यों का वहाँ के चतुर्विधसघने बड़ा ही तिरस्कार
किया । वे सबके सब लज्जित होने लगे । सबने विचार किया कि
गुरु महाराज का पता लगाना चाहिये कि वे कहाँ पधारें हैं । विचार
निश्चित कर सबने वहाँ से गुरु महाराज की गवेषणा करने के लिये
विहीर कर दिया । ग्रामानुग्राम विचरते हुए उन्होंने प्रत्येक जगह में,
प्रत्येक ग्राम में, प्रत्येक शहर में कालकाचार्य का पता लगाया तब
उनकी खबर भी पड़ी । पछतौर ये सब के सब धारावास नगर की ओर

संश्लेष ? ते कस्य हतु ? कालकाचार्ये हतु, साइ हतु पातचीतनी शिष्यां
हं गुरु शिष्येने तर्कशास्त्र पर परस्परमा वादविवाद थयो सागरचंद्र मुनिने
को ज्ञात न हतो के आ मारा गुरुभेदाशब्द कालकाचार्ये छे सागरचंद्र मुनि
कालकाचार्यनी तर्क धारावासेना प्रत्युत्तर आपी शर्कचो नही आधी ते कालका
चार्यना अगाध ज्ञानधी प्रेम प्रभावित जनी गया

आ तस्य उल्लेखीमां रहेला ते शिष्येने तांता चतुर्विध सघे प्रभो
तिरस्कार थयो. ते सबणा आधी भूषण शरभाया. जने जधाजे भणी को विचार
थयो के, गुरुभेदाशब्दने पत्तो भेजववो जेधजे के तेजो कया विचरें छे विचार
नहीं करी को शिष्येजे गुरुभेदाशब्दनी तपास भाटे विचार थयो. आभ
मुग्राम विचरछु करता तेभजे प्रत्येक जग्याजे, प्रत्येक जाममां, प्रत्येक
शहरमां, कालकाचार्य भेदाशब्दनी पृच्छा करी. जने तेमनी जलर पृच्छी.
पृच्छा पृच्छा जलर भणी जता ते सबणा धारावास नगर विचार

‘निरद्वग’ इत्यादि ।

निरर्थकम्=व्यर्थम् मि=अह मैथुनात्=कामसुखाद् विरत.=निरुत्त.। प्राणातिपा-
दादिविरमण विहाय यन्मैथुनमात्रोपादान तत्तस्य दुस्त्यजत्वबोधनार्थम् । दुस्त्यज-
मैथुनात् प्रतिनिवर्तनेनाह दुष्कर कार्यं व्यर्थमेव कृतवानिति भावः । तथा-निरर्थकं
मुसंष्टव. = इन्द्रियनोइन्द्रियव्यापारनिरोधेन सुष्ठुसवरस्युक्त. । योऽह कल्याण=
शुभ, पापकम्=अशुभ, धर्म=वस्तुस्वभाव साक्षात्=परिस्फुटं यथा स्यात् तथा, ना-
भिजानामि=अवध्यादिद्वानाभावेन प्रत्यक्षतया सर्वथा न जानामीत्यर्थ. । इति
मिक्षुर्न चिन्तयेत् । ‘इह भिक्खू न चिंतए’ इत्युचरगाथा(४४)स्येन सह सम्बन्धः ।

मतिश्रुतरूप परोक्षज्ञान को आश्रित कर प्रज्ञापरीपह का सूत्रकारने
यह वर्णन किया है । अथ अवधि आदि रूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान हैं
उनके अभावरूप इक्षीसवा अज्ञानपरीपह का वर्णन किया जाता है—

‘निरद्वगमि’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(निरद्वगमि मेहुणाओ विरओ- निरर्थकमह मैथुनात्
विरत) व्यर्थ ही मैं कामसुख से विरक्त हुआ हू । (सुसवुषो-सुस-
वृतः) व्यर्थ ही मैंने इन्द्रियों एव मन को अपने अभिलपित विषयों से
हटाकर सुसवृत किया है । (जो-यः) जो मैं अभीतक भी (कल्याण पावग
धम्मं सक्खं नाभिजाणामि-कल्याण पापकं धम्मं साक्षात् नाभिजानामि)
शुभ तथा अशुभ वस्तुस्वभावरूप धर्म को अवधि आदि प्रत्यक्ष
ज्ञानों के अभाव में साक्षात्-स्पष्टरूप से नहीं जानता हू । इस प्रकार
मिक्षु विचार न करे । “इह भिक्खू न चिंतए” यह आगे गाथा
चौवालीस ४४वीं में कहा गया वाक्य यहाँ योजित कर लेना चाहिये ।

मतिश्रुत रूप परोक्षज्ञानने आश्रित करी प्रज्ञापरीपहनु सूत्रकारे आ
वर्णन करैल छे हुवे अवधि आदि रूप के प्रत्यक्षज्ञान छे तेना अभाव रूप
अक्षीसवा अज्ञानपरीपहनु वर्णन करवाभा आवे छे—‘निरद्वगमि’ इत्यादि

अन्वयार्थ—निरद्वगमि मेहुणाओ विरओ-निरर्थकमह मैथुनात् विरत कामसुखने
छेदीने हुं नकामे विरत अन्ये छे सुसवुषो-सुसवृत इन्द्रियो अने मनने तेना
अभिलपित विषयोथी हटावीने मे व्यर्थ सुसवृत करैल छे, जे आब सुधी पबु
हुं कल्याण पावग धम्म सक्खं नाभिजाणामि-कल्याण पापक धम्मं साक्षात् नाभि-
जानामि शुभ तथा अशुभ वस्तु स्वभाव रूप धर्मने अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञानना
अभावसे साक्षात्-स्पष्ट रूपसे न जानता नथी आ प्रकारने विचार भिक्षु न
करै इह भिक्खू न चिंतए आ आगेण अताववाभा आवे छे ४४ भी आधा

इष्टतुष्टाः ससभ्रमं हर्षवशविसर्पवृद्धयाः, ' इमे एव मम गुरवः ' इति वन्दितवन्तः । सागरचन्द्रमुनिस्तदा कालकाचार्ये परिचिते पश्चात्ताप कुर्वन् वदति-भगवन्! मया ध्रुतनिधीनां तत्रभवतां भवतामाज्ञातना कृता, क्षमस्व ।

कालकाचार्येणोक्तम्—हे वत्स ! ध्रुतमदो न कर्तव्यः । एवमन्यैरपि कालकाचार्यवत् प्रज्ञापकर्म मदाकरणेन प्रज्ञापरीपहः सोढव्यः ॥४१॥

मतिध्रुतरूपपरोक्षज्ञानमाधित्य प्रज्ञापरीपहो वर्णित । अधदानीमवध्यादिरूपमत्यक्षज्ञानमाधित्य तदभावरूप एकविंशतितमोऽज्ञानपरीपहः प्रोच्यते—

मूलम्—निरंठग मिं विरँओ, मेहुणांओ सुसवुंडो ।

जो सकेख नैभिजाणोंमि, धम्मं कळ्हाण पावग ॥४२॥

छाया—निरर्थकम् अहं विरतः, मैथुनात् सुसह्य ।

यः साक्षात् नाभिजानामि, धर्मं कल्याणं पापकम् ॥ ४२ ॥

पतलाकर कहा कि देखो ये हैं वे आगन्तुक महानुभाव । वे शिष्य सब के सब उसी समय अपार हर्ष से उत्फुल्लहृदय होकर इष्ट तुष्ट होते हुए यद्ये ही आदर से " यही है हमारे गुरु महाराज " कह कर उनके चरणों में गिर कर वदना करने लगे । सागरचन्द्रमुनि उस समय कालकाचार्य के परिचित होने पर पश्चात्ताप करता हुआ उनसे बोला भगवन् ! ध्रुतनिधि पूज्य आपकी मेरे द्वारा आशातना हुई है, अतः मैं उसकी क्षमा चाहता हूँ, आप क्षमा करें । कालकाचार्य ने कहा वत्स ! ध्रुतज्ञान का मद् नहीं करना चाहिये । इस कथा से यही शिक्षा मिलती है कि कालकाचार्य की तरह प्रज्ञा के प्रकर्ष में मद् नहीं करने से प्रज्ञापरीपह का जय होता है ॥ ४१ ॥

अथ मुनिञ्जे आंजणीना उच्चाराथी जतावीने कहु के, बुञ्जे आ छे ते आवेला महानुभाव ! आथी ते सभणा शिष्ये ते सभये अपार उषंथी प्रकुलित जनी पुथी यतां यता पूज्य आदरथी " आ ज छे जभारा गुरुमहाराज " कहीने तेभना अरधुमां पकीने वइन करवा लाज्या सागरचन्द्रमुनिञ्जे सभये कालकाचार्यना पस्थियथी पश्चात्ताप करतां करतां तेभने कहेवा लाज्या, जजवत ! ध्रुतनिधि पूज्य भाराथी आपनी अथातना यथ छे आथी हु तेनी क्षमा पाहुं हुं आप भने क्षमा कथे कालकाचार्ये कहुं, वत्स ! ध्रुतज्ञानने मद् न करवा जेथे जे आ कथाथी जे जसुवानु भजे छे के, कालकाचार्यनी मोहक प्रज्ञाना प्रकर्षमा मद् नही करवाथी प्रज्ञापरीपहने जय बाव ॥ ४१ ॥

टीका—‘तवोवहाणमादाय’ इत्यादि ।

तपः=यवमध्यचन्द्रप्रतिमा-वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमादिकम्, उपधान=साभिग्रह तपः
आदाय=स्वीकृत्य चरित्वेत्यर्थः, अभिग्रहविशेषरूपां मासिक्यादिकां, प्रतिपद्यमा-
नस्य=प्रतिपद्यमानस्य अङ्गीकृत्यतः, एवमपि=विशिष्टचर्ययाऽपि, विहरतः=निष्पत्तिव-
न्यं विचरतः, मे=मम, छद्म=छादयतीति छद्म-ज्ञानावरणीयादिक कर्म, न निवर्तते
=नापगच्छति, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्, इत्युचरगाथास्थेन सह सम्बन्धः ।

अयं भावः—अहं यवमध्यचन्द्रप्रतिमादिक तपः करामि, तथा साभिग्रहं तपः

किंच—‘तवोवहाणमादाय’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(तवोवहाणमादाय-तपउपघाम् आदाय) यवमध्य
चन्द्रप्रतिमा, वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा आदिक तप को तथा साभिग्रह तप
रूप उपधान को स्वीकार कर के, तथा उनका आचरण करके (पश्चिम-
पश्चिमज्जओ-प्रतिमा प्रतिपद्यमानस्य) अभिग्रहविशेषरूप मासिक्या
दिक प्रतिमा को अङ्गीकार करने वाले (मे-मम) मेरा जो कि (एवं
पि विहरओ-एवमपि विहरतः) इस प्रकार की विशिष्टचर्या से मुक्ति
के मार्ग में विचरण कर रहा हूँ (छद्म-छद्म) ज्ञानावरणीयादिक
कर्मों का आवरण तो भी (न नियच्छ-न निवर्तते) निवर्तित नहीं होता
है । इस प्रकार भिक्षु विचार नहीं करे ।

ये दो ४२-४३ गाथाएँ अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति के
विषय में कही गई हैं ।

तात्पर्य यह है कि मैं यवमध्यचन्द्रप्रतिमा आदिक तप करता हूँ

किंच—‘तवोवहाणमादाय’ इत्यादि

अन्वयार्थ—‘ तवोवहाणमादाय ’-तपउपधान आदाय यवमध्यचन्द्रप्रतिमा
-वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा आदिक तपने तथा साभिग्रह तपउपधानने स्वीकार करी
तथा तेषु आचरण करी पश्चिम पश्चिमज्जओ-प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य अभिग्रह विशेषरूप
मासिक्यादि प्रतिमाने अङ्गीकार करवावाणा मे-मम हुं के जे-एव पि विहरओ-
एवमपि विहरता आ प्रकारनी विशिष्ट चर्यायी मुक्तिना मार्गमा विचरण करी
रही छु छद्म-छद्म छतां ज्ञानावरणीयादिक कर्मोनु आवरण न नियच्छ-न निवर्तते
इर यत् नथी. आ प्रकारने विचार भिक्षु न करे

मेतालीस अने तेतालीस आ जे गाथाओ अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञाननी
अप्राप्तिना विषयमां कहेवाभा आवेले छे

तात्पर्य आ छे के,- हुं यवमध्य चन्द्रप्रतिमा आदिक तप करूँ छु तथा

अथ भावः — मया दृष्टा मैथुनविरमण कृतम्, इथैव चेन्द्रियाणि विवितामि
यदह शुभमशुभ वा वस्तुस्वभाव प्रत्यक्षरूपेण नामिजानामीत्येव चिन्तनैव मुनिर्वि-
पाद न कुर्यात् । ' मि ' इत्यार्षत्वात् प्रथमार्थे द्वितीया ॥ ४२ ॥

किञ्च—

मूळम्—तेवोवहाणंमादोय, पडिंमं पडिवज्जेओ ।

एव पि° विहरओ मे, छडेम ने नियंइइ ॥ ४३ ॥

छाया—तपउपधानमादाय, प्रतिमा प्रतिपद्यमानस्य ।

एवमपि विहरतो मे, छन्न न निर्वर्तते ॥ ४३ ॥

इस ग्रामा में एक मैथुन मात्र का ही ग्रहण इसलिये किया है कि अहिंसा
आदि सब की अपेक्षा यह बुल्यज्ञ होता है इसलिये मुनि विचारता
है कि ऐसे बुल्कर त्याग करने पर भी मुझे कुछ लाभ नहीं हुआ ।

भावार्थ—इसका भाव यह है कि अवधि आवि प्रत्यक्ष ज्ञानों की
प्राप्ति के अभाव में मिथु को अपनी आत्मा के लिये इस प्रकार के
विचार से विधावित नहीं करना चाहिये कि—मुझे ब्रह्मचर्य का पण्डित
तथा तपश्चर्या करते २ बहुत काल हो चुका है अजी तक भी मुझे
ब्रह्म का वास्तविक ज्ञानाशुभ स्वभाव स्पष्ट रीति से न जानने लगे
प्रत्यक्ष ज्ञानों में से एक भी किसी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है । यह
दीक्षा ब्रह्मचर्यव्रत और तपश्चर्या आवि मैंने स्वर्थ धारण किये । इसकी
अपेक्षा तो ससारवशा में ही आजन्म था ॥ ४२ ॥

वाक्य अहिंसा शीलत करी हेव जेधं जे. से जायाअ जेधं मैथुन भावतु
अदवा मदे अहंशु कर्वासां आवेव छे के, अहिंसा आवि अजानी अपेक्षा
जे दुइयव कोय छे आ मदे मुनि विचारता देख छे के, आवे इधर अपेक्षा
करता छतां पण्डितने कर्वासां यथे नुकी

भावार्थ—अजानाभाव जे छे के, अपधि आवि प्रत्यक्ष ज्ञानोपनी प्राप्तिना अभावमा
सिद्धको प्राप्ताना अजाना मदे आ अकारने विचार करी करी विधावितु अजान
न जेधं जे—के, भने अकारने पावत जने तपश्चर्या करतां करतां जेधो अजान
अज्ञे तेस छतां पण्डितने वास्तविक ज्ञानाशुभ स्वभाव स्पष्ट रीति अजान
नार प्रत्यक्ष ज्ञानोभायी कर्वा जेधं पण्डित ज्ञानो प्राप्ति यथा अजानी नुकी अ
दीक्षा, अकारनेव्रत अने तपश्चर्या वजेरे से नकारां प्रारब्ध करी छे अजानी
अपेक्षा तो अचार अकारां अजान छेते ॥ ४२ ॥

मया नोपलब्धम् । तदनुपलब्धो च दुस्त्यजमैथुनात् प्रतिनिवर्तनं मम व्यर्थम्
 तथा निरर्थकं सुसृजतः = इन्द्रियनोइन्द्रियव्यापारनिरोधेन सुष्ठुसवरयुक्तोऽभवत्
 योऽहं कल्याण पापक वा धर्म=वस्तुस्वभावं, साक्षात्=परिस्फुटं, नामिजानामि=अभि-
 -सर्वया निरवशेषविशेषपूर्वकं न जानामि । अयं भावः—“ जे एग जाणइ, से
 सब्ब जाणइ, जे सब्बं जाणइ, से एग जाणइ ” इत्यागमवचनाच्चक्षस्योऽह
 किमप्येकमपि वस्तुस्वरूपं न तत्त्वतो जानामि, यदि साक्षात् समस्तभावस्वभावाव-
 भासकं केवलालोकं न लब्धवान्, तर्हि किमनेनारूपेण मुकुलितवस्तुस्वरूपज्ञानेन,
 इत्येवं विपादं न कुर्यादिति ।

तथा—तपउपधानादिभिर्निर्जराहेतुभिरपि छद्मस्थावस्था न निवर्तते=निरवशेषं
 न क्षीयते, किं तर्हि ममानेन क्रियाकलापेन? इति विचिन्त्य मुनिर्विपादं न कुर्यात् ।

तथा इन्द्रिय नोइन्द्रिय का निग्रह भी किया है वे सब निरर्थक हैं ।
 क्यों कि अभीतक मुझे शुभाशुभ वस्तु का सपूर्णरूप से ज्ञान कराने
 वाला केवलज्ञान तो प्राप्त हुआ ही नहीं है । उसके न होने पर इस
 द्रव्य क्षेत्र काल एव भाव की मर्यादा को लेकर वस्तु के स्वरूप को
 प्रकट कराने वाले इन अवधिमनःपर्ययज्ञान से क्या लाभ है । इस
 प्रकार विचार कर साधु अपनी आत्मा को दुःखित नहीं करे ।

तथा—निर्जरा के कारण इन तप एव उपधान आदि के आचरण
 करने से मुझे लाभ ही क्या हुआ, क्यों कि अभीतक मेरी छद्मस्था-
 वस्था तो दूर नहीं हुई है । समस्त ज्ञानावरणीयकर्म नष्ट होकर जब
 तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता तबतक छद्मस्थावस्था रहती है । अतः
 केवलज्ञान की प्राप्ति का अभावस्वरूप अज्ञानपरीपह साधु को जीतना
 चाहिये । तथा तप एवं उपधान आदि जो निर्जरा के हेतु हैं उनसे मेरे

निश्चय पक्ष कथीं छे ते षधु निरर्थक छे हेमके, छल सुधी मने शुभाशुभ
 वस्तुनुं स पूर्वज्ञपथी ज्ञान करानेनार केवजज्ञान तो प्राप्त यधु नथी तेना न
 छेवाधी आ द्रव्य क्षेत्र काल मने भावनी मर्यादाने लधने वस्तुना स्वरूपने
 प्रकट करानेनार आ अवधिमन पर्ययज्ञानथी शु लाभ छे ? आ प्रकारने विचार
 करी साधु पोताना आत्माने दुषी न करे

तथा—निर्जरातु कारखु आ तप मने उपधान आदिनुं आचरण करवाधी
 मने लाभ शु यथी ? हेमके, छल सुधी मारी छद्म अवस्था मर यध नथी न्यां
 सुधी ज्ञानावरणीय कर्मने नारा यध केवजज्ञान प्राप्त न याय त्या सुधी छद्मस्थ
 अवस्था रहे छे आधी केवजज्ञाननी प्राप्तिना अभाव स्वरूप अज्ञानपरीपह
 साधुमे छतवे छे छे. तथा तप मने उपधान आदि ने निर्जराता छेतु छे

કરોમિ, પ્રતિમાં સમાચરામિ, એવ મોક્ષમાર્ગે વિચરામિ, તથાપિ-અવધિ-મનઃ પર્ય-યરૂપ-પ્રત્યક્ષજ્ઞાનવાન ન મવામિ' શ્ચિતિ ન ચિન્તયેત્ । ઇત્યેવમજ્ઞાનસ્ય સદ્ભાવે વિપાદાકરણેનાજ્ઞાનપરીપહ. સોદ્ભવ્ય શ્ચિતિ ।

યદ્વા-શ્ચાપિ તન્નન્યાયેન ગાથાયુગમસ્યાર્થદ્વય યોધ્યમ્ । તત્ર-અજ્ઞાનસદ્ભાવ પક્ષમાધિસ્ય વ્યાખ્યાઽમિહિતા । અથ જ્ઞાનસદ્ભાવપક્ષમાધિસ્ય વ્યાખ્યા પ્રદર્શયેત્- જ્ઞાનસદ્ભાવે-અવધિમનઃપર્યયજ્ઞાનસદ્ભાવેઽપિ કેવલજ્ઞાનાપ્રાપ્તી મિધુરેવં ન ચિન્તયેત્-યદહં વ્યર્થમેવ મૈથુનાદ્ વિરત.=નિવૃત્ત । પરમલક્ષ્યકેવલજ્ઞાનમઘાપિ

તથા અમિગ્રહ ધી કરતા હું એવ મિધુપ્રતિમા કા પાલન ધી કરતા હુ ઇસ પ્રકાર મેં મોક્ષમાર્ગ મેં હી વિચરણ કર રહા હું તો ધી મુક્તે અમીતક અવધિમનઃપર્યયરૂપ પ્રત્યક્ષ જ્ઞાનકી પ્રાપ્તિ નહીં દુર્ઘ હૈ ઇસ પ્રકારસે સાધુકો વિચાર નહીં કરના ચાહિયે । ઇસ તરહ અવધિમન'પર્યયરૂપ જ્ઞાનકી પ્રાપ્તિ કે અભાવ મેં વિપાદ નહીં કરના ઇસી કા નામ અજ્ઞાનપરીપહકા જીતના હૈ ।

અથવા તન્નન્યાય સે ધી ઇન દોનોં ગાથાઓં કા અર્થ જાનના ચાહિયે । ઉસ મેં અજ્ઞાન કે સદ્ભાવ પક્ષ કો લેકર પહલે વ્યાખ્યા કી ગઈ હૈ અથ જ્ઞાન કે સદ્ભાવ પક્ષ કો લેકર વ્યાખ્યા કી જાતી હૈ, અહ ઇસ પ્રકાર હૈ—

અવધિમન પર્યયજ્ઞાન કે સદ્ભાવ મેં કેવલજ્ઞાન કી પ્રાપ્તિ ન હોને પર સાધુ ઇસ પ્રકાર વિચાર નહીં કરે કિ-મૈને જો મૈથુન જૈસે દુષ્કર કાર્યોં કા પરિત્યાગ કિયા હૈ પ્રાણાતિપાતાદિક કા ચિરમણ કિયા હૈ

અમિશ્ચલ પશુ ઠરે હુ આ પ્રકારથી હુ મોક્ષમાર્ગમાં જે વિચરણ કરી રહ્યો હુ તો પશુ મને હલ મુધી અવધિમનઃપર્યયરૂપ જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ થઈ નથી. આ પ્રકારનો સાધુએ વિચાર ન કરવો જોઈએ. આ રીતે અવધિમન.પર્યયરૂપ જ્ઞાનની પ્રાપ્તિના અભાવમાં વિષાદ ન કરવો જોઈએ. આનુ જે નામ અજ્ઞાન પરીપહને લખવો એ છે

અથવા-તત્ર ન્યાયથી પશુ આ બન્ને ગાથાઓના અર્થ બાલુવા જોઈએ. જોમાં અજ્ઞાનના સદ્ભાવપક્ષને લઈ પહેલાં વ્યાખ્યા કરવામાં આવી છે હવે જ્ઞાનના સદ્ભાવ પક્ષને લઈ વ્યાખ્યા કરવામાં આવે છે, તે આ પ્રકારે છે

અવધિમન.પર્યયજ્ઞાનના સદ્ભાવમાં દેવજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ ન થવાથી સાધુ આ પ્રકારનો વિચાર ન કરે કે-મે મૈથુન જેવા દુષ્કર કાર્યોના પરિત્યાગ કર્યો છે, પ્રાણાતિપાતાદિકનું વિરમણ કર્યું છે, તથા ઇન્દ્રિય નો (મન) ઇન્દ્રિયનો

या नोपलब्धम् । तदनुपलब्धौ च दुस्त्यजमैथुनात् प्रतिनिवर्तन मम व्यर्थम् ।
 या निरर्थक सुसदृशः = इन्द्रियनोइन्द्रियव्यापारनिरोधेन सुषुप्तव्युक्तोऽभवम्,
 ओष्ठ कल्याण पापक वा धर्म=वस्तुस्वभाव, साक्षात्=परिस्फुटं, नामिजानामि=अभि
 सर्वथा निरवशेषविशेषपूर्वक न जानामि । अय भाव — “ जे एग जाणइ, से
 लब्ध जाणइ, जे सब्ब जाणइ, से एग जाणइ ” इत्यागमवचनाच्चद्वयोऽह
 क्रमप्येकमपि वस्तुस्वरूप न तत्त्वतो जानामि, यदि साक्षात् समस्तभावस्वभावाव-
 ासक केवलालोक न लब्धवान्, तर्हि किमनेनारूपेण मुकुलितवस्तुस्वरूपज्ञानेन,
 एव विपाद न कुर्यादिति ।

तथा-तपउपधानादिभिर्निर्जराहेतुभिरपि छद्मस्थावस्था न निवर्तते=निरवशेषं
 लीयते, किं तर्हि ममानेन क्रियाकलापेन? इति विचिन्त्य मुनिर्विपाद न कुर्यात् ।

या इन्द्रिय नोइन्द्रिय का निग्रह नी किया है धे सच निरर्थक हैं ।
 यों कि अभीतक मुझे शुभाशुभ वस्तु का सपूर्णरूप से ज्ञान कराने
 वाला केवलज्ञान तो प्राप्त हुआ ही नहीं है । उसके न होने पर इस
 व्य क्षेत्र काल एव भाव की मर्यादा को लेकर वस्तु के स्वरूप को
 कट कराने वाले इन अवधिमन.पर्ययज्ञान से क्या लाभ है । इस
 कार विचार कर साधु अपनी आरमा को दुःखित नहीं करे ।

तथा-निर्जरा के कारण इन तप एव उपधान आदि के आचरण
 करने से मुझे लाभ ही क्या हुआ, क्यों कि अभीतक मेरी छद्मस्था-
 ास्था तो दूर नहीं हुई है । समस्त ज्ञानावरणीयकर्म नष्ट होकर जब
 कि केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता तपतक छद्मस्थावस्था रहती है । अतः
 केवलज्ञान की प्राप्ति का अभावस्वरूप अज्ञानपरीपह साधु को जीतना
 चाहिये । तथा तप एव उपधान आदि जो निर्जरा के हेतु हैं उनसे मेरे

निग्रह पक्ष कथों छे ते पक्ष निरर्थक छे केभडे, हल सुधी भने शुभाशुभ
 वस्तुं स पूर्णरूपधी ज्ञान करवनार केवजज्ञान तो प्राप्त थयु नथी तेना न
 छेवाधी आ द्रव्य क्षेत्र हाण अने भावनी मर्यादाने लधने वस्तुना स्वरूपने
 प्रगट करवनार आ अवधिमन पर्ययज्ञानधी शु वास छे ? आ प्रकारने विचार
 करी साधु चोताना आत्माने दु षी न करे

तथा-निर्जरातु कारखु आ तप अने उपधान आदिनु आचरण करवाधी
 भने वास शु थयो ? केभडे, हल सुधी भारी छद्म अवस्था दर यध नथी न्या
 सुधी ज्ञानावरणीय कर्मने नाश यध केवजज्ञान प्राप्त न थाय त्यां सुधी छद्मस्थ
 अवस्था रहे छे आधी केवजज्ञाननी प्राप्तिना अभाव स्वरूप अज्ञानपरीपह
 साधुने लतवे लधने तथा तप अने उपधान आदि ने निर्जराता हेतु छे



अत्राऽज्ञानसद्भावपक्षे दृष्टान्त प्रदर्शयते—

एकदा चतुर्ज्ञानसम्पन्नो भद्रगुप्ताचार्यः शिष्यपरिवारेण सह ग्रामानुग्राम विस्तरान् श्रावस्तीनगरीं तिन्दुकोद्याने समवसृतः । तत्र वसुमित्रनामकं श्रेष्ठी तस्मिन् समीपे धर्मं ध्रुत्वा प्रव्रजितः । ततः स एकादशाङ्गान्यधीतवान् । स चानिच्छन् तपश्चरति, अग्रविहारं करोति, उत्कृष्टाचारं पालयति, यतनया चरति, यतनया तिष्ठति, यतनया उपविशति यतनया शेते, यतनया भुङ्क्ते, यतनया भाषते ।

तत्र सुवीरनामको नृपतिर्भद्रगुप्ताचार्यस्य सनिधाषागत्य तं वन्दित्वा पर्युपास्ते ।

ज्ञानावरणीयादिक कर्म सर्वथा नष्ट नहीं हूवे हैं तो इस क्रियाकलाप से मुझे क्या लाभ हुआ ? ऐसा विचार कर साधु विषाद नहीं करे ।

अज्ञान के सद्भाव पक्ष में दृष्टान्त—एक समय चतुर्ज्ञानसंपन्न भद्रगुप्त आचार्य शिष्यपरिवार के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए श्रावस्ता नगरी में तिन्दुक उद्यान में आये । वहाँ वसुमित्र नाम के एक सेठ ने उनसे धर्मकथा सुनकर दीक्षा धारण की । ग्यारह अंगों को पढ़कर उन्होंने ने अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त किया । सदा उग्र तपस्या करना, उग्र विहार करना, उत्कृष्ट आचार का पालन करना, यतना से उठना, यतनासे बैठना, यतनासे सोना, यतना से आहार करना और यतना से बोलना, चलना, इस तरह प्रत्येक क्रिया, इनकी यतना से होने लगी ।

श्रावस्ती नगरी का राजा कि जिनका नाम सुवीर था प्रतिदिन भद्रगुप्त आचार्य के पास वंदना एवं पर्युपासना करने के लिये आते थे ।

तेनाथी भारी ज्ञानावरणीयादिक कर्म सर्वथा नाश पावेन नहीं. तो आ किंचिद् भवति भवेत्तु लाभ भवेत् ? अथो विचार करी साधु विषाद न करे.

अज्ञानना सद्भाव पक्षमा दृष्टान्त—

एक समय चतुर्ज्ञानसंपन्न भद्रगुप्त आचार्य शिष्य परिवारणी साथ ग्रामानुग्राम विचरता श्रावस्ती नगरीनां तिन्दुक उद्यानमां आत्वा त्वां वसुमित्र नामना श्रेष्ठे शेटे तेभनो धर्म उपदेश सांभली दीक्षा धारण करी अजीवार अनेने बाष्पीने तेमझे सारी रीते ज्ञान प्राप्त क्युं सका उग्र तपस्या करवी, अग्रविहार करवी, उत्कृष्ट आचारनु पालन करवुं, यतनाथी उठवुं, यतनाथी बैठवुं, यतनाथी सोवुं, यतनाथी भाषवुं, यतनाथी बोलवुं, आ रीते तेमनी प्रत्येक क्रियाओ यतनापूर्वकं भवा लागी

श्रावस्ती नगरीना राजा के जेठ नाम सुवीर हतु ते दशदिवस भद्रगुप्त आचार्यनी पास वंदना अने पर्युपासना करवा भाटे आवता हता आचार्य

तदा मद्रगुप्तार्यस्तमत्रवीत्-राजन् ! बन्धमोक्षस्वरूपं प्रष्टुं समागतोऽसि किम् ? ।
 राज्ञा प्रोक्तम्-मदन्त ! सत्यं भवदीयवचनम् । ततोऽसौ मद्रगुप्ताचार्यश्चतुर्भिर्ज्ञानैस्त
 बन्धमोक्षस्वरूपोपदेशेन परितोपयति स्म । तदा सुवीरनृपतिर्जातवैराग्यः सन्
 मत्रज्यां गृहीतवान् ।

तदा वसुमित्रमुनिर्मद्रगुप्ताचार्यस्याद्भुतं चतुर्भिर्ज्ञानप्रभावमवलोक्य मनसि
 चिन्तयति-अहो ! आत्मनो वीर्यं महद्भुतम्-यदन्तर्मुहूर्तमात्रेणैव ज्ञानावरणीया-

आचार्य महाराज भी उन को धर्मदेशना देते थे । राजा के हृदय
 में एक दिन घघ और मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानने की जिज्ञासा
 हुई, वे शीघ्र ही आचार्य महाराज के पास आये और वदना एव
 पर्युपासना कर समीप बैठे । आचार्य महाराज ने उनसे कहा-कहो हे
 राजन् ! आज घघ और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप पूछने को आये हो
 क्या ? राजाने वदने विनय के साथ दोनों हाथ जोड़कर कहा-हाँ भदन्त ! ।
 चार ज्ञान के धारी आचार्य महाराज ने राजा को घघ और मोक्ष का
 यथार्थ स्वरूप अच्छी तरह समझाया । उपदेशमें स्पष्ट किये गये घघ और
 मोक्ष के स्वरूप को सुनकर राजा को बड़ा ही आनन्द आया । राजा अपनी
 वैराग्य भावना से आचार्य महाराज के पास दीक्षा धारण करली ।

वसुमित्र मुनि जिनका नाम ससारी अवस्था में वसुमित्र सेठ था,
 उन्होंने ने मद्रगुप्त आचार्य के चार ज्ञानों का प्रभाव देखकर मन में
 विचार किया-अहो ! आत्मा की शक्ति अचिन्त्य है, इसके बल से

महाराज पक्ष तेमने धर्मदेशना आपता इता राजाना हृदयमां ज्येष्ठ द्विवसु अंध
 अने मोक्षना यथार्थ स्वरूपने बलवान्नी लुशासा यथ ते तुरत एव आचार्यनी
 पासे आव्या अने वदना करी सासे ज्येष्ठ आचार्य महाराज तेमने कहु, कहे
 राजन् ! आज अंध अने मोक्षनु यथार्थ स्वरूप पुछवाने आव्या छे ने ?
 राजाने विनय साथे अने हाथ जोडीने कहु, हा । चार ज्ञानना धारक आचार्य
 महाराज राजाने ज्ञान अने अंधनु यथार्थ स्वरूप सासी रीते समबलव्यु
 उपदेशमा कहेवामा आवेल अंध अने मोक्षना स्वरूपने सांभलीने राजाने
 बल आनन्द यथे अने वैराग्य भावना बगुत यता राजाने आचार्य महा
 राज पासे दीक्षा अंगीकार करी

वसुमित्रमुनि के लेभनु ससारी अवस्थामां नाम वसुमित्र सेठ इतुं तेमने
 मद्रगुप्त आचार्यने चार ज्ञानने प्रभाव ज्येष्ठने मनमां विचार कर्ये, अहे ।
 आत्मानी यच्छि अचिन्त्य छे तेना अणथी आत्मा ज्येष्ठ अतमुं कूर्तमा एव ज्ञाना



ઘટવિષકર્મરજોઽપનીય, અયમાત્મા સર્વજ્ઞ. સર્વદર્શી ભવતિ । મયા તુ ઇકાદશજ્ઞા
 ન્યધીતાનિ, ઇવ નિરતિચાર શ્રુતજ્ઞાનમારાધિતમ્ । નિઃશક્તિ-નિષ્કાક્ષિતાદિ ભેદ
 દર્શનાચારોઽપ્યારાધિતઃ, સમિતિગુપ્તિભિઃ પ્રશસ્તયોગયુક્તો ભૂત્વા ચારિત્રાચાર
 સમારાધિતઃ, અગ્લાનતયા દ્વાદશવિધૈરનશનાદિતપોમિસ્તપઆચાર. સમારાધિતઃ ।
 ઇપુ જ્ઞાનાચારાદિપુ ચતુર્ણુ જ્ઞાનાચારઃ કાલવિનયાદિભેદૈરપ્ટવિધ , દર્શનાચારઃ સહ
 નિઃશક્તિ-નિષ્કાક્ષિતાદિ ભેદૈરપ્ટવિધ , ચારિત્રાચાર. સમિતિ-ગુપ્તિપાલનાત્મકોઽ-
 ષ્ટવિધઃ, તથાઽનશનાદિદ્વાદશવિધસ્તપઆચારસ્તેપુ સર્વપુ પટ્ટત્રિશદ્ધિષ્વેષ્વાચારેઽ

આત્મા એક અન્તર્મુહૂર્ત મેં હી જ્ઞાનાવરણીયાદિક આઠ પ્રકાર કી કર્મ
 રજ કો નષ્ટ કર સર્વજ્ઞ સર્વદર્શી હો જાતા હૈં । મેંને ગ્યારહ અગ પદે હૈં
 ડનકા સ્વૂષ મનન ક્રિયા હૈં ઇસ પ્રકાર નિરતિચાર શ્રુતજ્ઞાન કી આરા-
 ઘના કી હૈં । નિ શક્તિ ઇવ નિ કાક્ષિત આદિ ભેદોં સે યુક્ત દર્શના
 ચાર કા યથાવત્ પાલન ક્રિયા હૈં । સમિતિ ગુપ્તિયોં દ્વારા પ્રશસ્ત ઉપ
 યોગ યુક્ત હોકર ચારિત્રાચાર કા, ભી અચ્છી તરહ આરાધન ક્રિયા હૈં ।
 અગ્લાનમાથ સે અનશન આદિ ચારહ પ્રકાર કે તપોં કા અનુષ્ઠાન
 કરને સે તપ આચાર કો ભી અચ્છી તરહ પાલા હૈં । ઇસી તરહ કાલ
 વિનયાદિક કે ભેદ સે આઠ પ્રકાર કે જ્ઞાનાચાર, નિઃશક્તિ, નિઃકા
 ક્ષિત આદિ ભેદ સે આઠ પ્રકાર કે દર્શનાચાર, સમિતિ ગુપ્તિ આદિ
 કે પાલનસ્વરૂપ આઠ પ્રકાર કે ચારિત્રાચાર, ઇવં ષોવીસ તથા અન
 શનાદિ ચારહ પ્રકાર કા તપ, ઇસ પ્રકાર છત્તીસ ૩૬ ભેદવાલે ઇસ

વરણીયાદિક આઠ પ્રકારની કર્મરજને નાશ કરી સર્વજ્ઞ સર્વદર્શી બની બાથ છે
 મેં અગીયારઅજને અભ્યાસ કર્યો છે તેનું ખૂબ મનન કર્યું છે એ પ્રકારે
 નિરતિચાર શ્રુતજ્ઞાનની આરાધના કરેલ છે નિશક્તિ અને નિઃકાક્ષિત આદિ
 ભેદોથી મુક્ત દર્શનાચારનું યથાવત્ પાલન કર્યું છે સમિતિ ગુપ્તિઓ દ્વારા
 પ્રશસ્ત ઉપયોગમુક્ત બનીને ચારીત્રાચારનું પણ સારી રીતે આરાધન કર્યું છે.
 અગ્લાનભાવથી અનશન આદિ ૧૨ પ્રકારના તપોનું અનુષ્ઠાન કરવાથી તપ
 આચારને પણ સારી રીતે પાળેલ છે એવી રીતે કાલ વિનયાદિકના ભેદથી આઠ
 પ્રકારના જ્ઞાનાચાર, નિશક્તિ, નિઃકાક્ષિત, આદિ ભેદથી આઠ પ્રકારનો દર્શના
 ચાર, સમિતિગુપ્તિ આદિના પાલન સ્વરૂપ આઠ પ્રકારનો ચારિત્ર આચાર અને ષોવીસ
 તથા અનશન આદિ ચાર પ્રકારનું તપ આ પ્રકારે છત્તીસ ભેદવાળા આ આચારને

अगोपितवलवोर्येण, अर्थात्-परिपूर्णस्वशक्तिप्रयोगेण सोपयोग पराक्रमणेन वीर्याचारोऽपि समागधित । एतानि पट्टत्रिंशदाचाररूपोद्यानानि वीर्याचारवारिणा निरन्तरपरिसेचनेन हरितीकृतानि शुभभावनानिरीक्षणै शोभया भरितीकृतानि तथाप्यद्यावधि मम ज्ञानावरणीय-कर्मणां क्षयाभावादवध्यादिरूप प्रत्यक्षज्ञान न ज्ञातम् , अतोऽहमपि पुनस्तथा यतिष्ये, यथा तन्ममावश्य भविष्यत्येव । तस्मादधुना विपादाकरणेनाज्ञानपरीपह सहमानः पुनरपि वीर्याचार निरतिचार निरतिशय

आचार को परिपूर्ण अपनी शक्ति के प्रयोग से उपयोगपूर्वक तल्लीन होकर पालन किया है। इसीका नाम वीर्याचार है। मैंने इन पाशों आचारों का सम्यक् रीति से पालन किया है। छत्तीसभेदविशिष्ट इस आचाररूप उद्यान को वीर्यारूप निर्मल जल से मैंने निरन्तर सिंचित कर हरा-भरा रखा है। शुभ भावनाओं से इसे शोभित किया है। तो भी अभीतक ज्ञानावरणीयकर्मों के क्षय नहीं होने से मुझे अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है, इसलिये मैं फिर इस प्रकार का यत्न करूँ कि जिससे मुझे इस प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति अवश्य हो जाय। इस प्रकार सोचकर वसुभिन्न मुनि ने पुनः यह विचार किया कि प्रत्यक्षज्ञान की प्राप्ति नहीं होने का मुझे इस समय कुछ भी विपाद नहीं करना चाहिये, क्यों कि विपाद करने से अज्ञान परीपह विजित नहीं होता है, अतः विपाद को नहीं लाकर अज्ञान परीपह सहन करना यह साधुमार्ग है, इसलिये वीर्याचार की

परिपूर्ण ध्यातानी शक्तिना प्रयोगधी उपयोगपूर्व तल्लीन धनी पालन कथुं छे, तेनु नाम वीर्याचार छे मे आ पावे आचारनु सम्यक् रीतिधी पालन कथुं छे छत्तीस भेद विशिष्ट आ आचाररूप उद्यानने वीर्याचार रूप निर्माण व्रजधी मे निरन्तर सिंचित करी कथुं कथुं राष्ट्रु छे शुभ भावनाओधी तेने शोभित कथुं छे तो पञ्च कल मुधी ज्ञानावरणीयकर्मोना क्षय न यचाधी भने अवधि आदि प्रत्यक्षज्ञाननी प्राप्ति यथेव नधी आ भाटे हु करी के प्रकारनेा यत्न करे के, जेनाधी भने आ प्रत्यक्ष ज्ञाननी प्राप्ति अवश्य यथेव नय. आ प्रकारधी विचारिने वसुभिन्न मुनिके करीधी के विचार कथे के प्रत्यक्षज्ञाननी प्राप्ति न यवानेा भारे आ समये कांछ पञ्च विपाद न करवेा जेधके केभके, विपाद करवाधी अज्ञानपरीपहने छ्याते नधी आधी विपाद न लावतां अज्ञान परीपह सहन करवेा के साधुमार्ग छे आ भाटे वीर्याचारनी निरतिचार

सम्पगाराधयामि इत्येव विचिन्त्य प्रशस्तध्यानेन शुभाध्यवसायेन अवधि मनःपर्यय
संप्राप्य क्षपकश्रेणिमारुह्य केवली जातः । एतन्मैरपि मुनिभिरज्ञानपरीपहः सोढव्या

अथाऽज्ञानाऽसद्भाव(ज्ञानसद्भाव)पक्षे दृष्टान्त' प्रदर्श्यते—

उग्रविहारी चतुर्ज्ञानचतुर्दशपूर्वधारी जिनवचनानुगामी गौतमस्वामी शिष्य-
परिवारेण सह ग्रामानुग्राम विहरन् भास्करवदज्ञानान्धकार विध्वंसयन् स्याद्वाद-
सिद्धान्त स्यापयन् ज्ञानत्यादिषु प्रद्योतयन् चार्वाकादिपात्खण्डमत सध्वयन्
विचरति स्म । एव विहरन् गौतमस्वामी चम्पानगर्या पूर्णमद्रोद्याने समवसतः ।

निरतिचार सम्यक् आराधना करते २ प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति मुझे हो
जायगी । इस प्रकार विचार करके उसने प्रशस्तध्यान के हेतुभूत शुभ
अध्यवसाय से अवधि एव मन पर्यय ज्ञान को प्राप्त कर लिया, तथा
क्षपकश्रेणी पर आरोहण कर केवलिपद को भी प्राप्त कर लिया । इसी
तरह अन्यमुनियों को भी अज्ञानपरीपह सहन करना चाहिये ।

अज्ञान के असद्भाव (ज्ञान के सद्भाव) पक्षमें दृष्टान्त इस प्रकार है—

उग्र विहार करने वाले, मति, श्रुत, अवधि एव मन पर्ययज्ञान के
धारी, चौदह पूर्व के पाठी, एव जिनवचन के अनुसार चलने वाले
गौतमस्वामी शिष्यपरिवार के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए,
सूर्य के समान भव्यों के अज्ञानरूप अन्धकार को ध्वस्त करते हुए,
स्याद्वादसिद्धान्त की विजयपताका फरकाते हुए, क्षान्ति आदि धर्मका
उद्योत करते हुए एव भौतिकवादी चार्वाक आदि मत का निराकरण
करते हुए विहार करते २ चंपानगरी के पूर्णमद्र उद्यान में पधारे ।

सम्यक् आराधना करता करतां प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति होने गर्छे आ प्रकारने वि
चार करी तेजे प्रशस्त ध्यानना हेतुभूत शुभ अध्यवसायधी अवधि होने मनःपर्य
यज्ञानने प्राप्त कर्युं, तथा क्षपकश्रेणी उपर आरूढ गर्छे केवण पढने पक्ष प्राप्त करी
कीधु आ प्रकारे अन्य मुनियोंजे पक्ष अज्ञानपरीपह छतवे ओछजे—

ज्ञानना सद्भाव पक्षमें दृष्टान्त आ प्रकारनु छे—

उग्र विहार कर्वावाणा, मति, श्रुत, अवधि होने मनःपर्ययज्ञानना धारी,
चौद पूर्वना पाठी, अने अनवचन अनुसार चलवावाणा गौतमस्वामी शिष्य
परिवारनी साथे ग्रामानुग्राम विहार करता, सूर्यनी भास्क बन्धेना अज्ञानरूप
अधकारने दूर करता स्याद्वादसिद्धान्तनी विजयपताका कर्वावता, क्षान्ति आदि
धर्मना उद्योत करता करता अने भौतिकवादि चार्वाक आदि मतनु निश-
कर्वा करता करता विचारण करता करता, चंपानगरीना पूर्णमद्र उद्यान ' पधारी

एकदा सोमभद्रनामा कश्चिदधमानुयायी, अधर्मसेवी, अधर्मिष्ठः, अधर्माख्याति-
रधर्मानुरागी, अधर्मप्रलोकी, अधर्मजीवी, अधर्मप्रजनकः, अधर्मप्रचारकः, सकल
शास्त्रदर्शी तच्चाविमर्शी प्रकाण्डकुतर्ककेसरी शास्त्रार्थं कर्तुं तत्र गौतमस्वामिसंनिधौ
समागतः। तयोः शास्त्रार्थविषये विवादः प्रवृत्तः, परस्पर खण्डनमण्डनकरणे
प्रवृत्तयोस्तयोरेकस्य कस्यापि जयः पराजयो वा नाभूत्। गौतमस्वामी
शास्त्रार्थविषये स्वबुद्धिप्रतिभावालेन नास्तिकमत निराकर्तुमुद्यतः, सोऽपि नास्तिक
स्वबुद्धिकौशलेन गौतमस्वामिनः स्पर्धया धाग्जालवितन्वन् परिपदि तत्प्रदर्शितयुक्ति-

एक दिन की घात है कि सोमभद्र नामका कोई एक विशिष्ट विद्वान्
शास्त्रार्थ करने के लिये उनके पास आया। यह जैनधर्म से अतिरिक्त
धर्म का अनुयायी था, अधर्मसेवी था, अधर्मिष्ठ था, अधर्माख्यायी था,
अधर्मानुरागी था, अधर्मप्रलोकी था, अधर्मजीवी था, अधर्मप्रजनक था,
अधर्मप्रचारक था, सकलशास्त्रदर्शी होने पर भी तत्त्व-अविमर्शी था,
इसलिये प्रकाण्डकुतर्ककेसरी था। गौतमस्वामी एष सोमभद्र का
परस्पर शास्त्रार्थ के विषय में विवाद प्रारम्भ हुआ। एक दूसरे के
खण्डन मण्डन करने में प्रवृत्त हुए। इन दोनों में जय किसी का भी जय
और पराजय नहीं हुआ तब गौतमस्वामी ने शास्त्रार्थ के विषय में
अपनी प्रतिभा के बल पर नास्तिकमत का निराकरण करना प्रारम्भ
कर दिया। सोमभद्र ने भी जो नास्तिकमत का पक्षपाती था जब
अपने मत का खण्डन होते देखा तो उसने सिर्फ अपनी बुद्धि की ही
कुशलता से गौतमस्वामी की युक्तियों का स्पर्धा के बराबर समा के

ज्येष्ठ द्विपञ्चनी वाच छे के सोमभद्र नामने केछ अेक विशिष्ट विद्वान्
शास्त्रार्थ करवा भाटे तेमनी पासे आब्ये ते जैनधर्मी अतिरिक्त धर्मने
अनुयायी छते अधर्मसेवी छते, अधर्मिष्ठ छते, अधर्माख्यायी छते, अध
र्मानुरागी छते, अधर्मप्रलोकी छते, अधर्मजीवी छते, अधर्म प्रजनक छते,
अधर्म प्रचारक छते, सकल शास्त्र दर्शी होवा छता पखु तत्व-अविमर्शी छते
आ भाटे प्रकाण्डकुतर्ककेसरी छते गौतमस्वामी अने सोमभद्रने परस्पर
शास्त्रार्थना विषयमा विवाद श्छे यथे अेक णीबानु अउन मठन करवामां
प्रवर्त अन्या आ अनेमांभी ब्यारे केछने पखु ज्य अने पराज्य न यथे
त्यारे गौतमस्वामीअे शास्त्रार्थना विषयमा पोतानी प्रतिबाना अण उपर
नास्तिकमतनु निराकरण करवानु श्छे करी हीधु सोमभद्र के जे नास्तिक
मतने पक्षपाती छते तेबे ब्यारे पोताना मतनु अठन यत्तु ज्ये तो तेबे
कठव पोतानी बुद्धिनी कुशलताधी रूपधाने वश यथे गौतमस्वामीनी युक्तिअेने

सम्पगाराधयामि इत्येव विचिन्त्य प्रशस्तध्यानेन शुभाध्यवसायेन अवधि मनःपर्वणं च
सप्राप्य क्षपकश्रेणिमारुह्य केरुणी जातः । एवमन्यैरपि मुनिभिरज्ञानपरीपहः सोदृग्वाः ।

अथाऽज्ञानाऽसद्भाव(ज्ञानसद्भाव)पक्षे दृष्टान्तः प्रदर्श्यते—

उग्रविहारी चतुर्ज्ञानचतुर्दशपूर्वधारी जिनवचनानुगामी गौतमस्वामी शिष्य-
परिवारेण सह ग्रामानुग्राम विहरन् भास्करवदज्ञानान्धकार विध्वंसयन् स्याद्वाद-
सिद्धान्तं स्यापयन् ज्ञान्त्यादिधम प्रद्योतयन् चार्वाकादिपाखण्डमतं सध्वयन्
विचरति स्म । एव विहरन् गौतमस्वामी चम्पानगर्या पूर्णमद्रोद्याने समवसतः ।

निरतिचारं सम्पक् आराधना करते २ प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति मुझे हो
जायगी । इस प्रकार विचार करके उसने प्रशस्तध्यान के हेतुभूत शुभ
अध्यवसाय से अवधि एव मन पर्यय ज्ञान को प्राप्त कर लिया, तथा
क्षपकश्रेणी पर अरोहण कर केवलपद को भी प्राप्त कर लिया । इसी
तरह अन्यमुनियों को भी अज्ञानपरीपह सहन करना चाहिये ।

अज्ञान के असद्भाव (ज्ञान के सद्भाव) पक्षमें दृष्टान्त इस प्रकार है—
उग्र विहार करने वाले, मति, श्रुत, अवधि एव मन पर्ययज्ञान के
धारी, चौदह पूर्व के पाठी, एव जिनवचन के अनुसार चलने वाले
गौतमस्वामी शिष्यपरिवार के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए,
सूर्य के समान भव्यों के अज्ञानरूप अन्धकार को ध्वस्त करते हुए,
स्याद्वादसिद्धान्त की विजयपताका फरकाते हुए, क्षान्ति आदि धर्मका
उद्योत करते हुए एवं भौतिकवादी चार्वाक आदि मत का निराकरण
करते हुए विहार करते २ चम्पानगरी के पूर्णमद्र उद्यान में पवारे ।

सम्पक् आराधना करता करता प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति होने अर्ध वशे या प्रकारने वि-
चार करी तेजे प्रशस्त ध्यानना हेतुभूत शुभ अध्यवसायसे अवधि अने मनःपय
अज्ञानने प्राप्त क्युं, तथा क्षपकश्रेणी उपर आरुह्य अर्ध देवण पढ़ने पक्ष प्राप्त करी
दीधु या प्रकारे अन्य मुनिओजे पक्ष अज्ञानपरीपह लतवे लेधजे—

ज्ञानना सद्भाव पक्षमा दृष्टान्त या प्रकारनु छे -

उग्र विहार करवावाणा, मति, श्रुत, अवधि अने मनःपर्ययज्ञानना धारी,
चौदह पूर्वना पाठी, अने अनवचन अनुसार चलवावाणा गौतमस्वामी शिष्य
परिवारनी साथे आमानुग्राम विहार करता, सूर्यनी भास्क बन्धेना अज्ञानरूप
अन्धकारने हर करता स्याद्वादसिद्धान्तनी विजयपताका हरकावता, क्षान्ति आदि
धमने उद्योत करता करता अने भौतिकवादि चार्वाक आदि मतनु निर-
करण करता करता, विचारण करता करता, चम्पानगरीना पूर्णमद्र उद्यानमा पधारे

स्त्व हृदये जातो न वा ? । तदाऽसौ नास्तिकस्तद्वचन स्वीकुर्वन् वदति-भदन्त भवान् सत्य वदति मम मनस्ययमेव विचार प्रादुरासीत् । इत्युक्त्वाऽसौ गौतमस्वामिनः शिष्यो भूत्वा दीक्षितो जात । तेन शिष्येणान्यैश्च शिष्यपरिवारे सह ग्रामानुग्राम विहरन् गौतमस्वामी राजगृह्ननगरे गुणक्षिप्ते चैत्ये भगवत श्रीवर्धमानस्वामिनः सनिधौ समागत । भगवन्त वन्दित्वा नमस्कृत्य गौतमस्वामी चतुर्ज्ञानगर्वमकुर्वन् सविनय ब्रवीति-हे भगवन् ! अयं भगवत्प्रभावादेव सन्मार्गे समायातः । ततो भगवता श्रीवर्धमानस्वामिना ध्रमणनिर्ग्रन्थानाह्वय कथितम्-भो ! मुनयः ! गौतम-

भद्र से पूछा कि-कहो महानुभाव ! तुम्हारे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ या नहीं ? । तब सोमभद्र ने गौतमस्वामी के इस कथन को स्वीकार करते हुए कहा-भदन्त ! आपने बिलकुल ही यथार्थ कहा है, मेरे मन में ऐसा ही विचार उत्पन्न हुआ था । इस प्रकार अपने हृदयंगम अभिप्राय को प्रगट करते हुए उसने गौतमस्वामी के पास दीक्षा धारण करली और उनका शिष्य हो गया । मुनि सोमभद्र एव अन्य शिष्यों के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए गौतमस्वामी राजगृह नगर के गुणशिलचैत्य में भगवान् वर्धमान स्वामी के पास आये । वदना एवं नमस्कार कर के गौतमस्वामी ने अपने में रहे हुए चतुर्ज्ञान की विशिष्टता का गर्व न करके प्रभु से बड़े विनय के साथ कहा भगवन् ! यह सोमभद्र मुनि आपके ही प्रभाव से सन्मार्ग में आया है । भगवान् श्रीवर्धमान-स्वामी ने ध्रमणनिर्ग्रन्थों को घुलाकर कहा कि हे मुनियों ! देखो चार

उत्पन्न यथैव के नहीं ? त्परे सोमभद्रे गौतमस्वामीना आ कथनने स्वीकार करीने कहु, भदत ! आपे भीलकुल यथार्थ कहु छे मारा मनमा आवे अ विचार उत्पन्न यथै इतो आ प्रकारे पोताना इहयमाना अभिप्रायने प्रगट करीने तेखे गौतमस्वामीनी पासे दीक्षा अहस्य करी लीधी अने तेमना शिष्य भनी गया । मुनि सोमभद्र अने भील शिष्यो साथे ग्रामानुग्राम विहार करता करत गौतमस्वामी राजगृह्न नगरना गुणशिलचैत्यमा भगवान् वर्धमान स्वामीनी पासे आव्या वदना अने नमस्कार करी गौतमस्वामीजे पोतानामा धारज्ञान विशिष्टतानो गर्व न करता प्रभुने बस्य विनय साथे कहु, भगवन् ! आ सोमभद्रमुनि आपना अ प्रभावधी सन्मार्गमा अव्या छे भगवान् श्री वर्धमान स्वामीजे ध्रमणनिर्ग्रन्थाने गावावीने कहु के, के मुनियो ! अज्यो

खण्डनात् प्रतिनिवृत्तो नाभूत्, परंतु अन्ततस्तदुक्तयुक्तिप्रतियुक्तिस्वरूप सङ्घयितुम-
समर्थः सन् मनसि विचारयति—“सत्यम् अयमस्ति गौतमस्वामी महान् विद्या
निधिः, यदीदृश मम मनोगत भाव गौतमस्वामी कथयिष्यति तदाऽहमस्य शिष्यो
भविष्यामि ” इति ।

गौतमस्वामी मन पर्ययज्ञानधारकतया तदानीमेव परिपदि वदति—“अस्य
तर्ककेसरिणो मनसि सप्रति अय विचार समायात’—“सत्यमय गौतमस्वामी महान्
विद्यानिधि. परत्वेव मम मनोगत विचार गौतमस्वामी यदि कथयेत् तर्हि अस्य
शिष्यो भविष्यामी”ति। इत्युक्त्वा पुनस्त नास्तिक पृच्छति—कथय किमय विचार
धीच खड्गन करना प्रारंभ कर दिया, परन्तु गौतमस्वामी ने जब उसकी
युक्तियों का पूरे तोर से खड्गन किया तो वह उसको संभालने में समर्थ
नहीं हो सका। गौतमस्वामी के अगाध ज्ञान को देखकर उस समय
उसके मन में यही विचार आया कि वास्तव में ये गौतमस्वामी विशिष्ट
विद्यानिधान हैं, परन्तु यदि ये मेरे इस मनोगत भाव को बतला दें
तो मैं इनका शिष्य हो जाऊँगा ?

गौतमस्वामी मनःपर्ययज्ञान के धारी थे, अतः उसी समय वे
इसके मानसिक विचार को स्पष्टरूप से जान गये। उन्होंने ने उसी
समय सभा के धीच में कहा कि इस तर्ककेसरी सोमभद्र के मन में
इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ है कि “ये गौतमस्वामी महान्
विद्या के निधान हैं यदि ये मेरे इस अभिप्राय को बतला दें तो मैं
इनका शिष्य हो जाऊँगा”। गौतमस्वामी ने ऐसा कह कर उस सोम

सभानी वचनमां अठन ठरवानो प्रारंभ करी दीया। परंतु गौतमस्वामीके व्याख्ये
तेनी मुक्तिज्योतु पुरी रीते अठन कथु” त्याखे ते पोतानी अतने सभाणवामां
समर्थ न अन्थे। गौतमस्वामीना अगाध ज्ञानने जेठ ज्ये समय ज्येना मनमा ज्ये
विव्यार आब्ये के, वास्तवमां आ गौतमस्वामी विशिष्टविद्यानिधान छे परंतु
जे तेज्ये मारा आ मनोभावने अत्तवी आपे तो हु ज्येभने शिष्य अनी अठ

गौतमस्वामी मनःपर्ययज्ञानना धारी हत्ता. आधी ज्येव वचते तेभजे
ज्येना मानसिक विचारने स्पष्ट रूपी अर्थी दीया अने ज्येव वचते सभानी
वचनमां कथु के, आ तर्ककेसरी सोमभद्रना मनमा ज्ये प्रारंभने विचार उत्पन्न
थये छे के, “आ गौतमस्वामी महान् विद्यानिधान छे तेज्ये ज्ये मारा आ
अभिप्रायने अत्तवी आपे तो हु तेभने शिष्य अनी अठ ” गौतमस्वामीके
ज्येव कहीने सोमभद्रने कथु के, कथे महान्भाव । तमारा मनमां आ विचार

ટીકા—‘ નત્થિ નૂણ ’ ઇત્યાદિ ।

પરો લોક. = પરમવ. — જન્માન્તરમ્, નૂન = નિશ્ચયેન નાસ્તિ = ન ભવતિ । અર્થ માવ: — શરીર હિ ભૂતાત્મકં, તદિદેવ નશ્યતિ, શરીરે વર્તમાનસ્ય ચૈતન્યસ્યાપિ ભૂત- ધર્મત્વાદેવ શરીરેણ સહ નાશસમવાત્ । શરીરવ્યતિરેકેણ આત્મન પ્રત્યક્ષતોઽનુપ- લમ્યમાનત્વાચ્ચ જન્માન્તર ન ભવતીતિ નિશ્ચેતવ્યમિતિ । યદ્વા-નૂનમિતિ સમાવ- નાયામ્ પરલોક સ્વર્ગાદિનાસ્તીતિ સમાવયામિ, યત. પરલોકે ગતઃ કોઽપિ નાત્રા- ગત્ય વદતિ, તસ્માત્ પ્રત્યક્ષાભાવાભાસ્તિ પરલોક ઇતિ । ઘા = અથવા, અપિ = ઇહાપિ-

અય સૂત્રકાર ઘાઈસવાં દર્શનપરીપદ્ધજય કો યતલાતે હું—

‘ નત્થિ નૂણ ’— ઇત્યાદિ ।

અન્વયાર્થ— (પરે લોપ નૂણ નત્થિ—પર લોક નૂન નાસ્તિ) નિશ્ચય સે જન્માન્તર નહીં હૈ—યહ શરીર ભૂતાત્મક હૈ, હસલિયે યહ તો યહા હી વિનિષ્ટ હો જાતા હૈ । હસ શરીર મેં જો ચૈતન્ય વર્તમાન હૈ ઘહ મી ભૂતોં કા ઘર્મ હોને સે શરીર કે સાથ હી નાશ કો પ્રાપ્ત હો જાતા હૈ । ઘસરે—શરીર સે મિન્ન આત્મા—નામક કોઈ પદાર્થ હૈ, યહ કિસી મી પ્રત્યક્ષ પ્રમાણ સે સાચિત નહીં હોતા હૈ અતઃ પરલોકી (પરલોક જાને ચાલા આત્મા) કા અભાવ હોને સે પરલોક કા અભાવ સ્વતઃ સિદ્ધ હૈ, અર્થાત્ જન્માન્તર નહીં હૈ । અથવા “ નૂન ” યહ પદ સંભાવના મેં મી પ્રયુક્ત કિયા જાતા હૈ હસ અપેક્ષા પરલોક-સ્વર્ગાદિક જો માને જાતે હું સો વે મી નહીં હું, ઁસી સમાવના હોતી હૈ, ક્યોં કિ કોઈ ઁસા તો હૈ નહી જો પરલોક મેં જાકર પદ્માત્ યહા આકર યહ કહે કિ મેં અમુક

હવે સૂત્રકાર ધાવીસમા દર્શનપરીપદ્ધને છતવાનુ બતાવે છે—

‘ નત્થિ નૂણ ’ ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—પરે લોપ નૂણ નત્થિ—પરલોક નૂન નાસ્તિ નિશ્ચયથી જન્માન્તર નથી આ શરીર ભૂતાત્મક છે, આ માટે તે તો અહિ જ વિનિષ્ટ થઈ બાય છે આ શરીરમાં જે ચૈતન્ય વર્તમાન છે તે પણ ભૂતોનો ધર્મ હોવાથી શરીરની સાથેસાથ નાશ પામે છે, બીજુ શરીરથી વિજ્ઞ આત્મા નામનો કોઈ પદાર્થ છે, એ કોઈ પણ પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી ઝાળખી શકાતો નથી આથી પરલોકીનો (પરલોક જવાવાળો આત્મા) અભાવ હોવાથી પરલોકનો અભાવ સ્વતઃ સિદ્ધ છે અર્થાત્ જન્માન્તર નથી અથવા ‘ નૂન ’ આ પદ સંભાવનામાં પણ પ્રયુક્ત કરાય છે આ અપેક્ષા પરલોક, સ્વર્ગાદિક જે માનવામાં આવે છે તે પણ નથી એવી સંભાવના થાય છે કેમકે, કોઈ એવો તો છે જ નહી જે પરલોકમાં

अतुर्ज्ञानचतुर्दशपूर्वधारकः स्वज्ञानप्रभावादनेकयुक्तिप्रतियुक्तीः प्रदर्श्य, मत्तगन्धेन्द्रमिव सोमभद्र वशीकृत्य दीक्षितं कृत्वाऽऽनीतवान् । अयं गौतमस्य प्रयत्नेनैव मोक्षमार्गमाधितः, तथापि गौतमो विनयातिशयं कुर्वन् ज्ञानगर्भं न बहति, न च केवलज्ञानाप्राप्तौ विषादं करोति । यथा गौतमेनाऽवधिमनःपर्ययज्ञानपरीषद् तन्मदाकरणेन केवलज्ञानाप्राप्तिविषयकविषादाकरणेन च परिषद् तदुपरि विनयः प्राप्तस्तथाऽन्यैरपि मुनिभिरज्ञानाभावपरीषद् सोऽव्ययः ॥ ४३ ॥

अयं द्वाविंशतितमं दर्शनपरीषद् जय प्राह—

मूलम्—नेत्थि नूणं परे लोके ईड्ढी वा विं तवस्सिणो ।

अदुंवा 'वचिंओ सि-त्ति', ईइ भिक्खू ने चित्तं ॥४४॥

छाया—नास्ति नूनं परो लोकः ऋद्धिर्वाऽपि तपस्विनः ।

अथवा वञ्चितोऽस्मीति इति भिक्खुर्न चिन्तयेत् ॥ ४४ ॥

ज्ञानके धारी एव चतुर्दशपूर्व के पाठी गौतम ने अपने प्रभाव से ही मत्तगजराज की तरह इस सोमभद्र को अनेक युक्ति प्रयुक्तियों द्वारा वश में कर के दीक्षित किया है, और यहाँ ये इस को ले आये हैं, गौतम का ही यह प्रयत्न है जो यह मोक्षमार्ग में आ गया है, फिर भी गौतम को अपने विनयातिशय से इस बात का जरा भी गर्भ नहीं है । तथा केवलज्ञान की अप्राप्ति के विषय में विषाद भी नहीं है । जिस तरह गौतम ने अवधिमनःपर्ययज्ञान के परीषद् को उनका मद नहीं करने से तथा केवलज्ञान की अप्राप्ति में विषाद नहीं करने से जीता है उसी तरह तुम सब मुनियों को भी अज्ञानाभाव अर्थात् ज्ञान का सर्वभाव परीषद् जीतना चाहिये ॥ ४३ ॥

आर ज्ञानना धारी अने बोधपूर्वना पाठी गौतमे मत्त गजराजनी माइठ स्वैरविहारी अने सुद्धि प्रमुद्धिओना स्वाभी जेवा आमने पोताना ज्ञानवडे वश करीने दीक्षित करेले छे अने तेने अही वध आवेले छे गौतमने ज आ प्रयत्न छे के जे आ मोक्षमार्गमा आवेले छे छता पखु गौतमने पोताना विनय अतिशयभी आ वातने जरा पखु गर्व नथी तथा केवलज्ञाननी अप्राप्तिना विषयमा विषाद पखु नथी जेवी रीते गौतमे अवधिमनःपर्ययज्ञानना परीषदने मद नही करवाथी तथा केवलज्ञाननी अप्राप्तिमा विषाद नही करवाथी छतेले छे आ रीते तमे स्रवणा मुनिओजे पखु अज्ञान अभाव अर्थात् ज्ञानने अज्ञान छतेवे बोध जे ॥ ४३ ॥

टीका—‘ नत्थि नून ’ इत्यादि ।

परो लोक.=परमव.-जन्मान्तरम्, नून=निश्चयेन नास्ति=न भवति । अयं भाव-शरीरं हि भूतात्मकं, तदिहैव नश्यति, शरीरे वर्तमानस्य चैतन्यस्यापि भूतधर्मत्वादेव शरीरेण सह नाशसमवात् । शरीरव्यतिरेकेण आत्मन प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानत्वाच्च जन्मान्तरं न भवतीति निश्चेतव्यमिति । यद्वा-नूनमिति समावनायाम् परलोक. स्वर्गादिनांस्तीति समावयामि, यत्. परलोके गत. कोऽपि नात्रागत्य वदति, तस्मात् प्रत्यक्षाभावाच्चास्ति परलोक इति । वा=अथवा, अपि=इहापि-

अयं सूत्रकार चाईसवा दर्शनपरीपहजय को घतलाते हैं—

‘नत्थि नून’-इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(परो लोके नून नत्थि-परः लोक नून नास्ति) निश्चयसे जन्मान्तर नहीं है-यह शरीर भूतात्मक है, इसलिये यह तो यहा ही विनिष्ट हो जाता है । इस शरीर में जो चैतन्य वर्तमान है वह भी भूतों का धर्म होने से शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है । दूसरे-शरीर से भिन्न आत्मा-नामक कोई पदार्थ है, यह किसी भी प्रत्यक्ष प्रमाण से साधित नहीं होता है अतः परलोकी (परलोक जाने वाला आत्मा) का अभाव होने से परलोक का अभाव स्वतः सिद्ध है, अर्थात् जन्मान्तर नहीं है । अथवा “नून” यह पद सभावना में भी प्रयुक्त किया जाता है इस अपेक्षा परलोक-स्वर्गादिक जो माने जाते हैं सो वे भी नहीं हैं, ऐसी सभावना होती है, क्योंकि कोई ऐसा तो है नहीं जो परलोक में जाकर पश्चात् यहा आकर यह कहे कि मैं अमुक

इसे सूत्रकार आधीसवा दर्शनपरीपहजने छतवानु यतावे छे—

‘नत्थि नून’ इत्यादि

अन्वयार्थ—परो लोके नून नत्थि-परलोक नून नास्ति निश्चयधी जन्मान्तर नहीं आ शरीर भूतात्मक छे, आ भाटे ते तो अहि ज विनिष्ट यध अय छे आ शरीरमां जे चैतन्य वर्तमान छे ते पक्ष भूतोना धर्म होवाधी शरीरनी साधोसाध नाश पावे छे, धीनु शरीरधी भिन्न आत्मा नामनो केध पदार्थ छे, जे केध पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाणधी ओणधी शकतो नहीं आधी परलोकनी (परलोक जवावाणे आत्मा) अभाव होवाधी परलोकनो अभाव स्वतः सिद्ध छे अर्थात् जन्मान्तर नहीं अथवा ‘नून’ आ पद सभावनामां पक्ष प्रयुक्त करय छे आ अपेक्षा परलोक, स्वर्गादिक जे मानवामां आवे छे ते पक्ष नहीं ओधी सभावना याय छे केभके, केध ओवे तो छे ज नही जे परलोकमां

शब्दो भिन्नक्रमः अतोऽयमर्थः—तपस्विनोऽपि मम ऋद्धिः=आमर्शोपध्यादिलम्बि-
रूपा नास्ति=न विद्यते, तस्या अप्यनुपलभ्यमानत्वात् ।

प्रसङ्गादिह लन्घिभेदा उच्यन्ते—

१ आमर्शोपधिः, २ विप्रुडोपधिः, ३ खेलौपधि, ४ जल्लौपधि, ५ सर्वोपधिः,
६ संमिन्नश्रोतोलन्घिः, ७ अवधिलन्घिः, ८ ऋजुमतिलन्घि, ९ विपुलमतिलन्घिः,
१० चारणलन्घिः, ११ आशीर्विपलन्घिः, १२ केवलिलन्घि, १३ गणधरलन्घिः,
१४ पूर्वधरलन्घिः, १५ अर्हल्लन्घि, १६ चक्रवर्तिलन्घि, १७ बलदेवलन्घि,
१८ वासुदेवलन्घिः, १९/१ क्षीरास्रवलन्घिः, १९/२ मध्वास्रवलन्घिः,
१९/३ सर्पिरास्रवलन्घि, २० कोष्ठद्विलन्घि, २१ पदानुसारिलन्घि, २२

स्वर्ग से आया हू, इसलिये प्रत्यक्ष से उनकी उपलब्धि का अभाव होने
से परलोक नहीं है । (वा) अथवा (तवस्सिणो इद्दी अवि-तपस्विन
ऋद्धिः अपि) तपस्वी जन को ऋद्धिकी प्राप्ति हो जाती है यह भी बात
ठीक नहीं है, क्योंकि ऋद्धियों अर्थात् लन्घियों की सिद्धि भी प्रत्यक्षप्र-
माण से होती नहीं है । लन्घिया २८ प्रकार की हैं वे ये हैं—

आमर्शोपधि १, विप्रुडोपधि २, खेलौपधि ३, जल्लौपधि ४, सर्वो-
पधि ५, संमिन्नश्रोतोलन्घि ६, अवधिलन्घि ७, ऋजुमतिलन्घि ८, विपु-
लमतिलन्घि ९, चारणलन्घि १०, आशीर्विपलन्घि ११, केवलिलन्घि १२,
गणधरलन्घि १३, पूर्वधरलन्घि १४, अर्हल्लन्घि १५, चक्रवर्तिलन्घि १६,
बलदेवलन्घि १७, क्षीरास्रवलन्घि १९/१, मध्वास्रवलन्घि १९/२, सर्पि-
रास्रवलन्घि १९/३, कोष्ठद्विलन्घि २०, पदानुसारिलन्घि २१, बीजबु

जब पाछे ऋद्धि आनी ते जेभ ठडे ठे हु अमुक स्वर्गमां जेने आबो
हु आ भाटे प्रत्यक्षही तेनी उपलब्धीना अभाव होवाही परलोक नहीं. अथवा
तवस्सिणो इद्दी अवि तपस्वीज्येने ऋद्धियेनी प्राप्ति कथं जय छे जे वात पक्ष
हीठ नहीं. केभके, ऋद्धियेनी सिद्धि पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाणयो मती नहीं. ऋद्धिये
२८ प्रकारनी छे ते आ प्रमाणे छे

(१) आमर्शोपधि, (२) विप्रुडोपधि, (३) खेलौपधि, (४) जल्लौपधि,
(५) सर्वोपधि, (६) संमिन्नश्रोतोलन्घि, (७) अवधिलन्घि, (८) ऋजुमति-
लन्घि, (९) विपुलमतिलन्घि, (१०) चारणलन्घि, (११) आशीर्विपलन्घि,
(१२) केवलिलन्घि, (१३) गणधरलन्घि, (१४) पूर्वधरलन्घि, (१५) अर्हल्लन्घि,
(१६) चक्रवर्तिलन्घि, (१७) बलदेवलन्घि, (१८) वासुदेवलन्घि, (१९) क्षीरास्र-
वलन्घि, मध्वास्रवलन्घि, सर्पिरास्रवलन्घि, (२०) कोष्ठद्विलन्घि, (२१) पदानु

बीजबुद्धिलिखि, २३ तेजोलेइयालिखि, २४ आहारकलिखि, २५ शीतलेइयालिखि, २६ वैक्रियलिखि, २७ अक्षीणमहानसिकलिखि, २८ पुलाकलिखि ।

भव्यत्वाभव्यत्वविशिष्टानां पुरुषाणा च यावत्यो लब्धयो भवन्ति, ता एवम्—भव्यपुरुषाणामेता पूर्वोक्ता सर्वा अपि लब्धयो भवन्ति । अर्हक्षकवर्तिवासु-देवलदेवसभिन्नश्रोतधारणपूर्वधरगणधरपुलाकाऽऽहारकलिखिलक्षणा एतादश लब्धयो भव्यस्त्रीणां नैव भवन्ति । शेषास्त्वष्टादशलब्धयो भव्यस्त्रीणां भवन्ति ।

यद्य मल्लिस्वामिन स्त्रीत्वेऽपि तीर्थंकरत्वमभूत् तदाश्चर्यभूतत्वान्न गण्यते । तथा—अनन्तरोक्ता अर्हदाद्या आहारकपर्यन्ता दश लब्धयः, केवलि—श्रुजुमति—विपुलमति

द्विलिखि २२, तेजोलेइयालिखि २३, आहारकलिखि २४, शीतलेइया लिखि २५, वैक्रियलिखि २६, अक्षीणमहानसीकलिखि २७, पुलाकलिखि २८।

अयं भव्यत्वभावविशिष्ट एव अभव्यत्वभावविशिष्ट पुरुष को जितनी जितनी लब्धिया होती हैं वे कहते हैं—

भव्यत्वभावविशिष्ट पुरुषों के ये सभी लब्धिया होती हैं । भव्य स्त्रियों के अर्हल्लिखि १, चक्रवर्तिलिखि २, वासुदेवलिखि ३, धलदेव-लिखि ४, संभिन्नश्रोतोलिखि ५, चारणलिखि ६, पूर्वधरलिखि ७, गण-धरलिखि ८, पुलाकलिखि ९, एवं आहारकलिखि १०, ये दस लब्धिया नहीं होती हैं । याकी अवशिष्ट अठारह लब्धिया भव्य स्त्रियों के भी होती हैं । जो मल्लिस्वामी के स्त्रीपना होने पर भी तीर्थंकरत्व वहां हुआ वह अच्छेरा—आश्चर्य होने की वजह से गिना नहीं जाता है । ये १३ तेरह लब्धिया अभव्यपुरुषों के नहीं होती हैं—केवलिलिखि, ऋजु

सारिलिखि, (२२) धीश्रुद्विलिखि, (२३) तेजोलेइयालिखि, (२४) आहारकलिखि, (२५) शीतलेइयालिखि, (२६) वैक्रियलिखि, (२७) अक्षीणमहानसिकलिखि, (२८) पुलाकलिखि

इसे भव्यत्वभावविशिष्ट अने अभव्यत्वभाव विशिष्ट पुरुषोने जेटली जेटली लिखिओ थाय छे ते बतावे छे

भव्यत्वभाव विशिष्ट पुरुषोने आ षधी लिखिओ थाय छे भव्य स्त्रियोने १ अर्हल्लिखि, २ चक्रवर्तिलिखि, ३ वासुदेवलिखि, ४ धलदेवलिखि, ५ संभिन्नश्रोतोलिखि, ६ चारणलिखि, ७ पूर्वधरलिखि, ८ गणधरलिखि ९ पुलाकलिखि, अने १० आहारकलिखि आ इश लिखियो थती नथी। षाकीनी अठार लिखियो भव्य स्त्रीओने पञ्च थाय छे जेभ मल्लि स्वामीने श्रीपञ्च डोवा छतां पञ्च तीर्थंकरत्व तेभने श्रु ते अच्छेरा—आश्चर्य थवानी गञ्जनीभा गञ्जवामा आवतु नथी आ तेर लिखिओ अभव्य पुरुषोने थती नथी

—લઘ્યયથૈતાસ્યોદશ લઘ્યય પુરુષાણામપ્યભવ્યાના નૈવ ભવન્તિ, શેપાઃ પચ્ચદશ લઘ્યયસ્તુ ભવન્તિ । અમવ્યક્ષીણામપ્યેતાસ્યોદશ લઘ્યયો ન ભવન્તિ, મધુક્ષીરાસ્રવલ્લઘિરપિચતુર્દશી તાસાં નૈવ ભવતિ । શેપાશ્ચતુર્દશલઘ્યયસ્તુ તામામપિ ભવન્તિ ।

અથાસા વ્યાख्या પ્રદર્શયેતે—આમર્શોપધિ.—આમર્શો હિ હસ્તાદિના સ્પર્શ, સ એવ ઓપધિઃ, કરાદિસસ્પર્શમાપ્રાદેવ વ્યાધ્યપનપનસામર્થ્યમ્ ॥ ૧ ॥

વિપુલોપધિઃ—યન્માહાત્મ્યાન્મૂત્રપુરીપાવયવમાપ્રમપિ રોગરાશ્ચિમળાશ્ચ સપથતે મુરમિ ચ સા ॥ ૨ ॥

મતિલઘ્વિ, વિપુલમતિલઘ્વિ ત્રીન યે તથા અવ્ય સ્ત્રિયોં કે જિન દશ ૧૦ ઋદ્ધિયોં કા અભાવ વતલાયા ગયા હૈ વે । ઇસ પ્રકાર ૧૩ તેરહ લઘ્વિયોં કા અમવ્યપુરુષોં કે અભાવ રહતા હૈ । યાકી ૧૫ લઘ્વિયા હોતી હૈ । ઇસી તેરહ અમવ્યસ્ત્રિયોં કે મી યે હી ૧૩ તેરહ લઘ્વિયા નહી હોતી હૈ । તથા ક્ષીરાસ્રવ એવ મધ્વાસ્રવ નામકી મી લઘ્વિ અનેકે નહી હોતી હૈ । ઇસ પ્રકાર તેરહ ૧૩ પૂર્વોક્ત ઓર ૧૪ ચૌદહવી ક્ષીરાસ્રવ, મધ્વાસ્રવ સર્પિરાસ્રવરૂપ કા અનેકઅભાવ જાનના ચાહિયે । યાકી ૧૪ ચૌદહ લઘ્વિયાં અમવ્ય સ્ત્રિયોં કે હોતી હૈ ।

ઇન લઘ્વિયોં કી વ્યાख्या કી જાતી હૈ—હસ્ત આદિ દ્વારા સ્પર્શ હોને કા નામ આમર્શ હૈ । યહ સ્પર્શ હી જિનકા ઓપધિ કા કામ કરતા હૈ યહ આમર્શોપધિ હૈ । ઇસ લઘ્વિ કે ધારી કો જો રોગી અપને હસ્તાદિક સે છૂ લેતા હૈ ઉસકા વહ રોગ છૂતે હી નષ્ટ હો જાતા હૈ ૧, જિસ કે પ્રમાવ સે મૂત્ર, પુરીપ, આદિ મી રોગરાશિકે વિનાશ કરને મેં ઓપ

કેવલીલઘ્વિ, ઋણમતિલઘ્વિ, વિપુલમતિલઘ્વિ, ત્રણ આ તથા અવ્ય સ્ત્રિયોને જે દશઋદ્ધિઓને અભાવ બતાવેલ છે તે આ પ્રકારની તેર લઘ્વિઓને અલબ્ધ પુરુષોને અભાવ રહે છે બાકી ૫૪૨ લઘ્વિઓ યાચ છે આ રીતે અલબ્ધ સ્ત્રિઓને પણ આ તેર લઘ્વિઓ થતી નથી તથા ક્ષીરાસ્રવ અને મધ્વાસ્રવ સર્પિરાસ્રવ નામની પણ તેને થતી નથી આ રીતે તેર પૂર્વોક્ત અને ચૌદમી ક્ષીરાસ્રવ મધ્વાસ્રવ લઘ્વિને તેને અભાવ બહુવે બોધ્યે બાકી ચૌદ લઘ્વિઓ અલબ્ધ સ્ત્રિઓને યાચ છે

આ લઘ્વિઓની વ્યાખ્યા કહેવામાં આવે છે,—હાય આદિ દ્વારા મળતું નામ આમર્શ છે આ સ્પર્શ જ લેને ઓપધિનું કામ કરે છે તે આમર્શો ઓપધિ છે આ લઘ્વિના ધારીને જે રોગી પોતાના હાથથી ખડે છે એને જે રોગ અટકતાં જ નાશ પામે છે (૧) એના પ્રભાવથી મૂત્ર, પુરીપ, આદિ રોગ વિનાશ કરવામાં ઓપધિનું કામ કરવા લાગે છે તથા તેમાં આવ્યા

खेलौपधि - यत् प्रभावात् श्लेष्मा सर्वरोगापहारकं सुरमिषं भवति सा ॥३॥

जल्लौपधि - जल्लो = मल्ल' कर्णवदननासिकानयनजिह्वासमुद्भवः शरीरसमुद्भवः,

स एव ओपधिर्भवति यत्प्रभावात् सा ॥ ४ ॥

सर्वौपधि - यत्प्रभावात् सर्वे त्रिष्णूत्रकेशनखादय ओपधयो भवन्ति सा ॥५॥

समिन्नश्रोतोलब्धि - यत्प्रभावात् सर्वैरपि शरीरावयवेषु सुस्पष्टं शृणोति

सा । यद्वा - 'समिन्नश्रोतस्' इतिच्छाया । अत्र श्रोतस् शब्द इन्द्रियवाचकः, तेन यत्प्रभावात् - एकैकमिन्द्रियं सर्वेषामिन्द्रियाणां कार्यं संपादयति सा । यथा - कर्णे - नैव श्रवणदर्शनघ्राणरसनस्पर्शनकार्याणि लब्धिप्रभावात् संपादयति ॥ ६ ॥

अवधिलब्धि - अवधिज्ञानमेव लब्धि - अवधिलब्धि । अरूपिद्रव्यं विहाय

धिका काम करने लग जाते हैं, तथा उनमें सुगंध आने लगती है, इस का नाम विष्टुडोपधि है २ । जिसके प्रभाव से श्लेष्मा सर्वरोग का अप-हारक हो जाता है उस का नाम खेलौपधि है । इसके प्रभाव से श्लेष्म भी सुगंधवाला हो जाता है ३ । जिसके प्रभावसे कान, मुख, नासिका, नयन, एव जिह्वा का मैल, तथा शरीरका मैल औपधि जैसा परिणमित होता है उसका नाम जल्लौपधि है ४ । जिसके प्रभावसे विष्टा, मूत्र, केश, तथा नख आदिक औपधि जैसे हो जाते हैं उसका नाम सर्वौपधि है ५ । जिसके प्रभावसे समस्त शारीरिक अवयवों द्वारा सुना जाय, अथवा एक ही इन्द्रिय जिसके प्रभाव से अन्य इन्द्रियों का काम करने लग जाय उस का नाम समिन्नश्रोतोलब्धि है । जिसके यह लब्धि होती है वह एक कर्ण इन्द्रिय से ही अवशिष्ट इन्द्रियों के काम - दर्शनादिक करने की शक्ति-वाला हो जाता है ६ । जिसके प्रभाव से अमूर्तिक द्रव्य को छोड़ कर मूर्तिक द्रव्यको जानने की सामर्थ्य आत्मामें प्रकट हो जाती है उसका नाम

वागे छे तेनु नाम विष्टुड औपधि छे (२) जेना प्रभावधी श्लेष्मा सर्व रोगानो नाश करनार छे तेनु नाम जेलौपधि छे, तेना प्रभावधी श्लेष्म पक्ष सुगंधवाण्य यर्ष नाथ छे (३) जेना प्रभावधी कान, मोतु, नाक, नेषु अने लभनो भेद तथा शरीरनो भेद, औपधिनी जेम परिष्कृत भने छे तेनु नाम जल्ल औपधि छे (४) जेना प्रभावधी विष्टा, मूत्र, वाण, नय, आदि औपधि जेवा यर्ष नाथ छे तेनु नाम सर्वौपधि छे (५) जेना प्रभावधी शरीरनां तमाम अवयवो द्वारा सबणाय अथवा जेक न इन्द्रिय जेना प्रभावधी पीलु इन्द्रियोनु काम करवा लागी नाथ तेनु नाम समिन्नश्रोतोलब्धि छे जेने आ लब्धि डाय छे ते जेक कषु इन्द्रियधी न अवशिष्ट इन्द्रियोना

રૂપિદ્રવ્યવિવિયકમિન્દ્રિયનિરપેદ્ય મન.પ્રગિધાનવીર્યક પ્રતિવિશિષ્ટક્ષયોપશ્ચમનિમિ
ષ્કં દેવમનુષ્યતિર્યઙ્નારસ્વામિક જ્ઞાન મતિ યત્પ્રમાણાત્ સા ॥ ૭ ॥

ઋજુમતિલઘ્વિ—ઋજુઃ=સામાન્ય—વિશેષરહિત, દેસકાલાપનેકપર્ણાય-
ર્જિત, સઙ્ગિના ચિન્તિત, તદ્ગ્રાહિણી મતિઃ—ઋજુમતિ, સૈવ લઘ્વિઃ। સા-
ષ્ટોઽનેન ચિન્તિત, इत्येवं सक्षिमनोद्रव्यपरिच्छेदः ॥૮॥

વિપુલમતિલઘ્વિઃ—વિશુદ્ધતર. સર્પૂર્ણમનુષ્યક્ષેત્રવર્તિતસક્ષિપઠ્થેન્દ્રિયમનોદ્રવ્ય
પ્રત્યક્ષીકરણહેતુર્મનઃપર્યયજ્ઞાનવિશેષઃ। યથા—પરેણ ચિન્તિત ઘટ પ્રસંગતો વહુભિઃ

અવધિલઘ્વિ છે, યદ્ અવધિ, इन्द्रिय और मनकी सहायता से उत्पन्न
નહી હોતા છે। અવધિજ્ઞાનાવરણીય કર્મકે પ્રતિવિશિષ્ટ ક્ષયોપશમ
સે ઉત્પન્ન હોતા છે। દેવ, મનુષ્ય, નરક એ તીર્યઙ્ચ, इस प्रकार चारों
ગતિયોં કે જીવ હસ કે સ્વામી હો સકતે હું ७। जिस के प्रभाव से-
વેશ, કાલ આદિ અનેક પર્યાયોં સે યર્જિત પદાર્થ કા સામાન્ય જ્ઞાન
હોતા છે, और जो सज्ञी जीव के द्वारा चिन्तित पदार्थ को ग्रहण करता
है उसका नाम ऋजुमतिलघ्वि है। जैसे जिसने अपने मन के द्वारा
घट का विचार किया तो ऋजुमतिलघ्वि वाला उसे शीघ्र बतला देगा
कि इसने घट का विचार किया है ८। जिसके प्रभाव से मनुष्यक्षेत्र
વર્તી સમસ્ત સંજ્ઞી પચેન્દ્રિય જીવોં કે મનોદ્રવ્ય કો સાક્ષાત્ કરનેલા
જો વિશુદ્ધતર જ્ઞાન હોતા છે उसका नाम विपुलमतिलघ्वि है। यह
मनःपर्यय ज्ञान का एक भेद है। जैसे किसी ने घट का विचार किया

કામ ઇશનાદિક કરવાની શક્તિવાળા બની જાય છે (૬) જેના પ્રભાવથી અમુર્તિક
દ્રવ્યને ઓડીને મુર્તિક દ્રવ્યને બાણવાનું સમર્થ આત્મામાં પ્રગટ થાય છે
તેનું નામ અવધિલઘ્વિ છે આ અવધિ ઇન્દ્રિય અને મનની સહાયતાથી
ઉત્પન્ન થતા નથી અવધિ જ્ઞાનાવરણીય કર્મના પ્રતિવિશિષ્ટ ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન
થાય છે, દેવ, મનુષ્ય, નરક અને તિર્યંચ આ ચાર અતીના જીવો તેના સ્વામી
બની શકે છે (૭) જેના પ્રભાવ વેશ, કાલ આદિ અનેક પર્યાયોથી વર્ણીત સામાન્ય
જ્ઞાન થાય છે અને જે સંજ્ઞી જીવ દ્વારા ચિન્તિત પદાર્થને ગ્રહણ કરે છે.
અને તેનું નામ ઋજુમતિલઘ્વિ છે જેવો જેણે પોતાના મનની સાથે
વિચાર કર્યો તે તે ઋજુમતિ લઘ્વિવાળા તેને તુરંત બતાવી શકે છે કે આણે
મનમાં આ વિચાર કર્યો છે. (૮) જેના પ્રભાવથી મનુષ્ય ક્ષેત્રવર્તી સમસ્ત સંજ્ઞી
પચેન્દ્રિય જીવોના મનોદ્રવ્યોને સાક્ષાત્ કરવાવાળું જે વિશુદ્ધતરજ્ઞાન હોય
છે તેનું નામ વિપુલમતિલઘ્વિ છે આ મનઃપર્યયજ્ઞાનનો એક ભેદ છે
જેમ કેઈએ મનમાં વિચાર કર્યો હોય તે આ લઘ્વિવાળા તેને પ્રસવશ એવા

पर्यायैरुपेत जानाति, तत्र घटोऽय द्रव्यतः सौवर्ण, क्षेत्रतो मरुदेशीयस्तथा गृह-
म्यन्तरस्थ, कालतस्त्रैमासिक, भावतः-सुप्तस्थानचाक्रचिक्यादियुक्त, आकारेण
महान्, इत्यादि प्रचुरविशेषणविशिष्ट जानाति ॥ ९ ॥ चारणलब्धिः-आकाश-
गमनशक्तिः ॥ १० ॥ आशीर्विपलब्धिः-आशी-अनुग्रह, विप-निग्रहः, तद्रूपा
लब्धिः, निग्रहानुग्रहसामर्थ्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥ केवलिलब्धिः-केवलिन, केवल-
ज्ञानसिद्धिः ॥ १२ ॥ गणधरलब्धिः-गणधरत्वप्राप्ति ॥ १३ ॥ पूर्वधरलब्धि
-पूर्वधरत्वप्राप्ति ॥ १४ ॥ अर्हल्लब्धिः-अर्हत्वप्राप्ति ॥ १५ ॥ चक्रवर्तिलब्धिः-

है तो इस लब्धिवाला उसे प्रसगवश इस रूप से स्पष्ट जान लेता है
कि इसने द्रव्य की अपेक्षा सुवर्ण का, क्षेत्र की अपेक्षा मरुदेश का
अथवा घर के भीतर का, काल की अपेक्षा तीन मास का, एव भाव
की अपेक्षा अच्छे आकार का, अथवा चाक्रचिक्यादि रूप से युक्त घट
का चिन्तन किया है। इस प्रकार विपुलमतिलब्धि वाला घटको अनेक
विशेषणां से विशिष्ट जान सकता है तब कि ऋजुमतिलब्धि वाला
इस प्रकार से घट को नहीं जान सकता है वह तो उसे सामान्यरूप
से ही जानता है ९। आकाश में गमन करने की शक्ति जिस लब्धि
द्वारा उत्पन्न हो जाती है वह चारणलब्धि है १०। जिसके प्रभाव से
अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति प्रगट हो जावे वह आशीर्विप-
लब्धि है ११। केवलियों के जो केवलज्ञान की सिद्धि होती है उसका
नाम केवलिलब्धि है १२। गणधरपद की प्राप्ति होने में जो कारण
होती है वह गणधरलब्धि है १३। पूर्वधरत्व की प्राप्ति पूर्वधरलब्धि।
१४, अर्हत्व की प्राप्ति अर्हल्लब्धि १५, चक्रधरत्व की प्राप्ति चक्रवर्ति-

। तेवा रूपधी रूपत बाष्पी वे छे डे, तेखे द्रव्यनी अपेक्षा, सुवर्णना क्षेत्रनी
अपेक्षा, मरुदेशना अथवा घरनी अहरना ठाणनी अपेक्षा त्रसु भासनु अने
भावनी अपेक्षा सारा आकारनु अथवा अणकाट सक्यकाटादि रूपधी युक्त
घट बाष्पी छे आ प्रकारे विपुलमति लब्धिवाणा घटने अनेक विशेषणधी विशिष्ट
बाष्पी शक्ये छे त्तारे ऋजुमति लब्धिवाणा आ रीते घटने बाष्पी शक्यता नथी
ते तो अने सामान्यरूपधी न बाष्पी छे (९) आकाशभां उडवानी शक्ति ने लब्धि
द्वारा उत्पन्न थाय छे ते चारणलब्धि छे (१०) नेना प्रभावधी अनुग्रह
अने निग्रह करवानी शक्ति प्रगट थाय छे ते आशीर्विपलब्धि छे (११)
केवलीअने केवलज्ञानी लब्धि थाय छे तेनु नाम केवलिलब्धि छे (१२) गण
धर पदनी प्राप्ति यवाभां ने कारण डोय छे ते गणधरलब्धि छे (१३) पूर्वधर
त्वनी प्राप्ति पूर्वधरलब्धि (१४) अर्हत्वनी प्राप्ति अर्हत्वलब्धि (१५)

षक्रधरत्वप्राप्तिः ॥१६॥ यलदेवलन्धिः—यलदेवत्वप्राप्ति ॥१७॥ वासुदेवलन्धिः—वासुदेवत्वप्राप्तिः ॥१८॥ क्षीरास्रवलन्धिः—यत्प्रभावाद्बचनं क्षीरमधुपुरं भवति ॥ १९॥ १ ॥ मध्वास्रवलन्धिः—यत्प्रभावाद्बचनं मधुतुल्यं भवति ॥ १९॥ २ ॥ सर्पिरास्रवलन्धिः—यत्प्रभावाद्बचनं घृतवत् स्निग्धमरूक्षं भवति ॥ १९॥ ३ ॥

कोष्ठघुद्विलन्धिः—यथा कोष्ठके धान्यं प्रथितं तदवस्थमेव चिरमप्यवच्छिद्यते, न किमपि कालान्तरेऽपि गलति, एवं यस्मिन् पुरुषे श्रुतज्ञानं निश्चितं तदवस्थमेव चिरकालं तिष्ठति न कदापि विस्मरति यत्प्रभावात् सा ॥ २० ॥ पदानुसारिणी लन्धिः—यत्प्रभावात् पुनरेकमपि श्रुतपदमवधार्य शेषमश्रुतमपितदवस्थमेव श्रुतमवगाहते सा ॥ २१ ॥ बीजघुद्विलन्धिः—यथा—एकस्माद् बीजान्महातरूक्षपत्रेषु, लन्धि १६, यलदेव पद की प्राप्ति यलदेवलन्धि १७, वासुदेव पद की प्राप्ति वासुदेवलन्धि १८, क्षीर जैसे मीठे वचनों की प्राप्ति जिसके प्रभाव से हो वह क्षीरास्रवलन्धि, मधुतुल्य मधुर वचनों का होना वह मध्वास्रवलन्धि, सिग्ध एव अरूक्ष वचन जिसके प्रभाव से हो वह सर्पिरास्रवलन्धि है १९ । जिस प्रकार कोठे में रक्खा हुआ धान्य ज्यों का त्यों बहुत काल तक रहता है—बिगड़ता नहीं है, उसी प्रकार जिसके प्रभाव से प्राप्त श्रुत भी ज्यों का त्यों स्थिर रहे विस्मृत न हो उसका नाम कोष्ठघुद्विलन्धि है २० जिसके प्रभाव से श्रुत का एक पद भी अवधारित होने पर शेष नहीं सुना हुआ भी श्रुत अवधारित हो जाय इस का नाम पदानुसारिणीलन्धि है २१ । जिस प्रकार एक छोटे से भी बीज से विशाल काय वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार उत्पाद, व्यय,

अक्षयत्वानी प्राप्ति अक्षयत्वलन्धि (१६) अक्षयत्वपदानी प्राप्ति अक्षयत्वलन्धि (१७) वासुदेव पदानी प्राप्ति वासुदेवलन्धि (१८) क्षीर जैसा मीठा वचनानी जैसा प्रभावभी शायं ते क्षीरास्रवलन्धि मधुतुल्य मधुर वचनानी अनन्त ते मध्वास्रवलन्धि सिग्ध एव अरूक्षवचन जैसा प्रभावभी शायं ते सर्पिरास्रवलन्धि छे (१९) जैसी कीटीमां शोषणं अनाज जैसा तेम वषट्का समथ भुधी रहें छे छटा भजस्तुं नहीं ते प्रकारे जैसा प्रभावभी प्राप्त श्रुत पद ज्ञानानु त्यां स्थिर रहें, विस्मृत न जने, तेनु नाम कोष्ठघुद्विलन्धि छे (२०) जैसा प्रभावभी श्रुतनु कोठ पद पद अवधारित वषट्का आगण न सांभवेत पद श्रुत अवधारित वषट्का जय तेनु नाम पदानुसारिणीलन्धि छे (२१) जैसी कोठ नामा जीवभी विशालकाय वृक्ष उत्पन्न शायं छे ते प्रकारे उत्पाद,

तथा—उत्पादव्ययधौव्ययुक्त सदित्यादिरूपमर्थप्रधान पदमर्थपद, तदेकं बीजभूत
मर्थपदमनुसृत्य शेषमपि तथैव प्रभूततरमर्थपद जानाति यत्प्रभावात् सा ॥ २२ ॥

तेजोलेइयालब्धिः — यत्प्रभावादानेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनदक्षती
प्रवेजोनिर्जनशक्तिरुत्पद्यते सा । इह य खलु शमी—क्षमाशीलो मुनिर्निरन्तर
पानकं पठतप. कगेति, पारणकदिने च सनखकुम्भमापमुष्ट्या जलचुलुकेनै
एकेन आत्मानं यापयति, पुनरातापना करोति तस्य पम्मासान्ते तेजोलेइयालब्धि
रुत्पद्यते ॥२३॥ आहारकलब्धिः—आहारकशरीरकरणशक्तिः । आहारकशरीर च-
स्फटिकवदुज्ज्वल हस्तप्रमाणमेकस्मिन् भवे द्वि., ससारे चतुर्वार कृत्वा मोक्षमवश्य

एव धौव्य युक्त सत् है, इत्यादिरूप एक भी अर्थ प्रधानपद के अनु
सरण से शेष प्रभूततर अर्थपद भी इसी तरह ज्ञात हो जावे वह
बीजबुद्धिलब्धि है । २२ जिसके प्रभाव से अनेकयोजनप्रमाण क्षेत्र
में रही हुई वस्तु को जलाने वाले तेज को निकालने की शक्ति उत्पन्न
हो जाती है इसका नाम तेजोलेइयालब्धि है, जो शमी—क्षमाशीलमुनि
निरन्तर चौविहार पठ तप करता है, और पारणा के दिन सनख
कल्मापमुष्टि अर्थात्—सींशे हुए एक मुट्ठी भर उबड़ खाकर उसी
समय एक चुल्लू भर पानी पीता है, और आतापना लेता है, इस प्रकार
छह महिने तक लगातार करता रहता है तो उसके तेजोलेइयालब्धि
उत्पन्न हो जाती है । २३ आहारक—शरीर के उत्पन्न होने की लब्धि का
नाम आहारकलब्धि है । आहारक शरीर स्फटिकमणि के जैसा उज्ज्वल
तथा एक हाथ का होता है । एक भव में इसकी प्राप्ति जीव को दो वार,
तथा ससार अवस्था में चार वार तक होती है, पश्चात् वह जीव मुक्ति

व्यय, अने धौव्य युक्त सत् है ३५ अर्थ पक्ष अर्थ प्रधानपदना अनुसरण
शेष प्रभूततरमर्थ पक्ष पक्ष तेषी रीते ज्ञात यद्यप्य ते बीजबुद्धि लब्धि है (२२)
नेना प्रभावती अनेक योजन प्रमाणक्षेत्रमा रहेवी वस्तुअने लक्षणार तेजने
काठवानी शक्ति उत्पन्न थाय है तेनु नाम तेजोलेइयालब्धि है ने शमी—क्षमाशील
मुनि निरन्तर चौविहार पठ तप करे है अने पारणाना द्विसे पाइया अर्थ मुट्ठीभर
उबड़ भाई ने अर्थ वभते अर्थ आपवु पाशी पीये है अने आतापना ले है आ
प्रकार लगातार छ महिना मुधी करता रहे है तो तेने तेजोलेइयालब्धि उत्पन्न थाय
है (२३) आहारक शरीरना उत्पन्न यवानी लब्धिनु नाम आहारकलब्धि है, आहा
रक शरीर स्फटिकमणीना नेनु उत्पन्न अने अर्थ दोयनु होय है अर्थ भवमा तेनी
प्राप्ति एवने ले वार तथा ससार अवस्थाभा चार वार थाय है पक्षीभी अ

प्रयाति । कश्चित्तुर्दशपूर्वधारी ऋद्धिं प्राप्य, तीर्थं करसमीपे प्रपणार्थमाहारकशरीरं करोति । तत्र प्रेषणं निगोदादिसशयविच्छेदनार्थं, सूक्ष्मार्थनिर्णयार्थम् ऋद्धिदर्शनार्थं, प्राणिरक्षणार्थं, छद्मस्थोपग्रहार्थं च भवति । उक्तञ्च—

प्राणिदय-ऋद्धिदरिसण, छउमत्योवग्गहणहेउ वा ।

सुहुमत्य संसयच्छे,-पत्य गमण जिणस्सते ॥ १ ॥

इदमत्र बोध्यम्—आहारकशरीरं यत्र स्थाने लब्धिधारी मुनि प्रेषयति, तत्र भगवतोऽनुपस्थितौ तस्मादाहारकशरीराद्गहनहस्तं शरीरं नि सरति, तदेव भगवत्

को अचक्ष्य प्राप्त कर लेता है । चतुर्दश पूर्वका पाठी कोई मुनि आहारक लब्धि को प्राप्त कर तीर्थकर के समीप में भोजन के लिये आहारक शरीर की रचना करता है । निगोदादिसयधी सशय को दूर करने रूप सूक्ष्म अर्थ का निर्णय करने के लिये १ ऋद्धि के दर्शन करने के लिये २ प्राणियों की रक्षा करने के लिये ३ और छद्मस्थों का उपकार करने के लिये ४ इस शरीर का तीर्थकर के पादमूल में गमन होता है । कहा भी है—

“प्राणिदय-रिद्धिदसण,-छउमत्योवग्गहणहेउ वा ।

सुहुमत्यससयच्छेयत्य गमणं जिणस्सते ॥ १ ॥”

छाया—प्राणिदया-ऋद्धिदर्शन-छद्मस्थोपग्रहणहेतु वा ।

सूक्ष्मार्थसशयच्छेदार्थं गमनं जिनस्यान्ते ॥ ”

आहारक शरीर को जिस स्थान में लब्धिधारी मुनि भोजता है वहाँ यदि भगवान् न हों तो उस आहारक शरीर से एक हाथ से कुछ

एव अवश्य मुक्ति प्राप्त करी द्ये छे चौदपूर्वना पाठी कौछ मुनि आहारक लब्धिने प्राप्त करी तीर्थकरना समीपमा भोजकवा भाटे आहारक शरीरनी रचना करे छे निगोदादिसयधि सशयने दूर दूर करवा भाटे, सूक्ष्म अर्थने निर्णय करवा भाटे, ऋद्धिनां दर्शन करवा भाटे, प्राणियोंनी रक्षा करवा भाटे, अने छद्मस्थाना उपकार करवा भाटे आ शरीरनु तीर्थकरना पादमूलमां गमन शय छे कहु पवु छे—

“प्राणिदय-ऋद्धिदरिसण, छउमत्योवग्गहणहेउ वा ।

सुहुमत्य-संसयच्छेयत्य, गमणं जिणस्सते ॥ ”

छाया—प्राणिदया ऋद्धिदर्शन,-छद्मस्थोपग्रहणहेतु वा ।

सूक्ष्मार्थसंशयच्छेदार्थं, गमनं जिनस्यान्ते ॥

आहारक शरीरने के स्थानमां लब्धिधारी मुनि भोजते छे त्ना के भय पान न होय तो ते आहारक शरीरनी ओके हाथ ओछु (अु ठकाव) शरीर लावु

सनिधौ गत्वा स्वकार्यं सपाद्य हस्तप्रमाणशरीरे मविशति । तच्चाहारकशरीरं स्वमूल-
भूते शरीरे पुनर्लीनं भवति ॥२४॥ शीतलेक्ष्यालग्धि.—परमकारुण्यवशादनुप्राप्त
प्रति तेजोलेक्ष्याप्रशमनहेतुशीतलनेजोविशेषविमोचनसामर्थ्यम् ॥ २५ ॥ वैक्रिय-
लग्धि — वैक्रियशरीरकरणशक्ति । सा चानेकविधा—अणुत्व—महत्त्व—लघुत्व—
गुरुत्व—प्राप्ति—प्राकाम्ये—शित्व—वशित्वा—ऽप्रतिघातित्वा—अन्तर्धान—कामरूपित्वादि-
भेदात् ॥२६॥ अक्षीणमहानसीलग्धि.—महानसम्—अन्नपाकस्थानं, तदाश्रित-
त्वाद्दन्नमपि महानसमुच्यते, तच्च यत्प्रभावात् अक्षीण=स्त्रल्पमप्यन्न पात्रे पतितं
पुरुषशतसहस्रैरपि तृप्त्या भुक्तं न क्षीयते, यावत् स्वेन तदन्नं न भुज्यते सा ॥२७॥

कम शरीर और निकलता है, वही भगवान के पास जाकर अपने कार्य को
संपादित कर पूर्व के हस्तप्रमाण शरीर में समा जाता है, और वह पूर्व-
हस्त प्रमाण शरीर भी फिर वहाँ से लौट कर अपने मूल शरीर में समा-
जाता है २४। परम करुणा के वश से दया करने योग्य प्राणी के प्रति तेजो
लेक्ष्या के प्रशमन का हेतु जो शीततेजविशेष को निकालने की शक्ति है
उसका नाम शीतलेक्ष्यालग्धि है २५। वैक्रियशरीर को करने की
शक्ति का नाम वैक्रियलग्धि है। यह लग्धि अणुत्व, महत्त्व, लघुत्व,
गुरुत्व, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघातित्व, अन्तर्धान,
कामरूपित्व आदि के भेद से अनेक प्रकार की है २६। महानस-शब्द
का अर्थ यद्यपि रसोईघर है तो भी तदाश्रित होने से अन्न को भी
महानस कह दिया गया है इसलिये महानस शब्द से अन्न समझना

नीकले छे ते भगवाननी पासे जर्धने चेताना कार्यने सपादित करी पूर्वा ना हस्त
प्रमाण शरीरमा समाधि व्यथ छे अने ते पूर्वहस्त प्रमाण शरीर पक्ष त्याधी
पाक्ष करी चेताना मूल शरीरमा समाधि व्यथ छे (२४) परम करुणा वशथी दया
करीने चोअ्य प्राणी तरह तेओद्वैरयाना प्रशमनने हेतु, जे शीत तेज विशेषने ठाढ
वानी शक्ति छे तेनु नाम शीतलेक्ष्यालग्धि छे (२५) वैक्रियशरीरने जनाववानी
शक्तिनु नाम वैक्रियलग्धि छे आ लग्धि अणुत्व, महत्त्व, लघुत्व, गुरुत्व, प्राप्ति,
प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघातित्व, अन्तर्धान, कामरूपित्व आदिना वेदथी
अनेक प्रकारनी छे (२६) महानस शब्दने अर्थ जे के रसोई घर छे ते पक्ष
तदाश्रित होवाथी अन्नने पक्ष महानस कहैवायेछ छे माटे महानस शब्दथी अन्न
समज्जु जेथजे. आथी आ अन्न सोअन सामथी जेना प्रभावथी अक्षीण-स्वस्थ

पुलाकलब्धिः—तपःश्रुतहेतुका प्रवचनलाघवादिप्रयोजने जिनशासनविरोधिनाः सवलवाहनस्य चक्रवर्त्यादेरपि पुलाकवन्नि गारकरणे समर्था या शक्तिः सा ॥२८॥

अथवा—इति=अनेन-केशलुञ्चनेन पञ्चमहाव्रताङ्गीकारेण, यातनात्मकेनान-
शनादिना तपसा, पृथिवीकायादिसप्तदशविधसयमेन महाकष्टप्रदवीक्षाग्रहणेन
चेत्यर्थः, वञ्चितोऽस्मि=कामसुखादपवर्जितोऽस्मीत्यर्थः । उक्तं च—

चाहिणे अतः यह अन्न-भोजनसामग्री जिसके प्रभाव से अक्षीण-
स्वल्प भी अन्न पात्र में पड़े तो भी उससे हजारों मनुष्य भरपेट
आहार करले फीर भी सूटे नहीं, जय तक कि वह स्वयं आहार न
करले, ऐसी शक्ति का नाम अक्षीणमहानस लब्धि है २७ । प्रवचन
की लघुता के समय जिनशासन का विरोधी सेना और वाहनसहित
चक्रवर्ती भी होवे तो वह भी जिसके प्रभाव से पुलाक (दानारहित
घास का पुला) की तरह नि सार कर दिया जाता है ऐसी शक्ति का
नाम पुलाकलब्धि है, यह लब्धि तप एव श्रुत हेतुक होती है २८ ।

इस प्रकार ये अठारह लब्धियाँ जो यतलाई गई हैं वे, अथवा
इनमें से कोई एक लब्धि भी मुझे प्राप्त नहीं हुई है । इसी प्रकार केश
लुञ्चन करना पंचमहाव्रतों का पालन करना, यतनात्मक अनशनादिक
तपों का तपना, पृथिवीकायादिकों की रक्षा करने रूप सत्तरह १७
प्रकार के संयम का पालना, महाकष्टप्रद वीक्षा का ग्रहण करना, इन
सब बातों से मैं ठगा गया हूँ—अर्थात् सासारिक विलासता से मुक्त

पक्ष अन्न पात्रमा पडे तो पक्ष तेनाथी रुञ्जश मनुष्य चेटभरीने आहार करी वे
छतां पक्ष भूटे नडी न्यां सुधी ते पोते आहार न करी वे आवी शक्तिनु नाम
अक्षीणमहानसलब्धि छे (२७) प्रवचननी लघुताना समये अन शासनना विशधी
सेना अने वाहन सहित ठोर्ध चक्रवर्ति होय तो ते पक्ष तेना प्रभावथी पुला
कनी भाङ्क निसार करी देवामा आवे छे अवी शक्तिनु नाम पुलाकशक्ति
छे आ लब्धि तप अने श्रुत हेतुक होय छे (२८)

आ प्रकारे अे अठ्पावीस लब्धिये अे जनाववामा आवी छे ते अथवा
आभाधी अेक लब्धि पक्ष मने प्राप्त थयेव नथी. आ रीते केशना होय करये
पांथ महाव्रतानु पालन करवु, यतनात्मक अनशनादिक तपोने तपवा, पृथ्वी
कायादिकानी रक्षा करवाइप सत्तर प्रकारना संयमनु पालन, महाकष्टप्रद वीक्षाने
भङ्क करवी, आ सधणी वातोधी हुं आये छु अर्थात् सासारी

“તપાસિ યાતનાશ્ચિત્રાં સયમો મોગચચના” ઇત્યાદિ । ઇતિ=एतद्, મિષ્ટુ, ન ચિન્તયેત્=ન વિચારયેત્ । અસ્ય ચિન્તનસ્ય સયમઘાતકત્વેન તુચ્છત્વાત્ ।

તયાહિ-यदुच्यते-जन्मान्तर नास्ति, शरीरस्य भूतसमुदायात्मकत्वात् भूतधर्म-
स्वाद्यैतन्न्यरूपस्यात्मनः शरीरेण सदैव नाद्यात्, इति, तदसत्-न वय शरीरस्य जन्मा-
न्तराऽनुगामित्वमङ्गीकुर्म, किंत्वात्मन एव, स चात्मा नास्ति भूतधर्मः, तयाहि-

મોઢુ કર જો મેં જન કષ્ટપદ નિ'સાર કાર્યો' કી આરાધના મેં લગ ગયા
હુ વહ સય વ્યર્થ હૈ । કહા મી હૈ-

તપાસિ યાતનાશ્ચિત્રાં, સંયમો મોગચચના ” ઇત્યાદિ ।

અર્થાત્-તપ એક વિચિત્ર પ્રકાર કા કષ્ટ હૈ, સંયમ જો હૈ ઘા
મોગોં સે ઠગાના હૈ ।

ભૂતઘાદી ઘનકર મિષ્ટુ કો ઇસ પ્રકાર કા વિચાર નહીં કરના
ચાહિયે । ક્યોં કિ ઇસ પ્રકાર કી વિચારધારા સર્વથા તુચ્છ ઘતલાઈ
ગઈ હૈ । ઇસીકા વિચાર અથ ઘ્યાં સે કિયા જાતા હૈ ।

જો ભૂતઘાદી ઘહ કહતા હૈ કિ “જન્માન્તર નહીં હૈ ક્યોં
કિ ઘહ શરીર ભૂતોં કા સમુદાયસ્વરૂપ હૈ ઓર ચૈતન્યરૂપ આત્મા
મી ભૂત કા ધર્મ હૈ । ડસકા વિનાશ મી શરીર કે વિનાશ કે સાથ
હી હો જાતા હૈ ।” સો ઇસકા ઇસ પ્રકાર કા કહના ઠીક નહીં હૈ ।
ક્યોં કિ હમ લોગ અર્થાત્ જૈન-શરીર કો પરલોક મેં જાનેલાલા નહીં
માનતે હૈં, હમ તો પરલોક મેં જાનેલાલી એક આત્મા કો હી માનતે હૈં ।
વહ આત્મા ભૂતોં કા ધર્મ નહીં હૈ । જઘ મિલ્લ ૨ અવસ્થા મેં ભૂતોં સે

મોઢુ મરહીને હુ આ કષ્ટપદ નિ સાર કાયોની આરાધનામાં લાગી ગયો હુ
તે સઘણ વ્યર્થ છે કહ્યુ છે—

“ તપાસિ યાતનાશ્ચિત્રાં સયમો મોગચચના ” ઇત્યાદિ.

અર્થાત્ તપ એક વિશિષ્ટ પ્રકારનુ કષ્ટ છે સયમ જે છે તે લોગોને
ઠગનાર છે ભૌતિકવાદી બની બિહુએ આ પ્રકારનો વિચાર નહી કરવો એઈએ.
કેમકે, આ પ્રકારની વિચારધારા સર્વથા તુચ્છ ઘતાવવામાં આવી છે તેનો વિચાર
હવે અહી કહેવામાં આવે છે

પહેલાં જે ભૌતિકવાદીએ એવુ કહ્યુ છે કે, “જન્માન્તર નથી કેમકે આ
શરીર ભૂતોના સમુદાય સ્વરૂપ છે અને ચૈતન્યરૂપ આત્મા પણ ભૂતોનો ધર્મ
છે તેનો વિનાશ પણ શરીરના વિનાશની સાથે થાય છે ” તેનુ તેવા પ્રકારનુ
કહેવુ ઠીક નથી કેમકે, અમે લોક અર્થાત્ જૈનશરીરને પરલોકમાં જવા વાળુ
માનવા નથી અમે તો એક આત્મા ભૂતોનો ધર્મ નથી. ન્યારે જુદી જુદી

પુલાકલઙ્ઘિઃ—તપઃશ્રુતહેતુકા પ્રવચનભાષ્યાદિપ્રયોજને જિનશાસનવિરોધિના સવલવાહનસ્ય ચક્રવર્ત્યાદેરપિ પુલાકવદિ સારકરણે સમર્થા યા શક્તિ' સા ॥૨૮॥

અથવા—ઈતિ=અનેન-કેશલુચ્ચનેન પશ્ચમહાવ્રતાઙ્ગીકારેણ, યાતનાસ્મકેનાન-શ્ચનાદિના તપસા, પૃથિવીકાયાદિસત્ત્વદશવિધસયમેન મહાકષ્ટપ્રદદીક્ષાવ્રત્તેન વૈત્યર્થઃ, વચ્ચિતોઽસ્મિ=કામસુખાદપવર્જિતોઽસ્મીત્યર્થઃ. ઉક્ત ષ—

ચાહિષે અત' યદ્ અન્ન-મોજનસામગ્રી જિસકે પ્રભાવ સે અક્ષીણ-સ્વલ્પ ધી અન્ન પાત્ર મેં પહે તો ધી ઉસસે હજારોં મનુષ્ય ધરપેદ આહાર કરલે પીર ધી સૂટે નહીં, જય તરુ કિ ઘહ સ્વય આહાર ન કરલે, ઁસી શક્તિ કા નામ અક્ષીણમહાનસ લઙ્ઘિ હૈ ૨૭। પ્રવચન કી લઘુતા કે સમય જિનશાસન કા વિરોધી સેના ઓર વાહનસહિત ચક્રવર્તી ધી હોવે તો ઘહ ધી જિસકે પ્રભાવ સે પુલાક (દાનારહિત ઘાસ કા પુલા) કી તરહ નિ'સાર કર દિયા જાતા હૈ ઁસી શક્તિ કા નામ પુલાકલઙ્ઘિ હૈ, યહ લઙ્ઘિ તપ ઁવ શ્રુત હેતુક હોતી હૈ ૨૮।

ઇસ પ્રકાર ઁ અઠાઈસ લઙ્ઘિયાં જો ઘતલાઈ ગઈ હૈં ઁ, અથવા ઇનમેં સે કોઈ ઁક લઙ્ઘિ ધી મુક્તે પ્રાપ્ત નહીં હૈઈ હૈ। ઇસી પ્રકાર કેશ લુંચન કરના પશ્ચમહાવ્રતોં કા પાલન કરના, યતનાત્મક અનશનાદિક તપોં કા તપના, પૃથિવીકાયાદિકોં કી રક્ષા કરને રુપ સત્તરહ ૧૭ પ્રકાર કે સંયમ કા પાલના, મહાકષ્ટપ્રદ વીક્ષા કા ગ્રહણ કરના, ઇન સય વાતોં સે મેં ઠગા ગયા હૂ—અર્થાત્ સાંસારિક વિલાસતા સે મુક્ત

પણ અન્ન પાત્રમાં પહે તો પણ તેનાથી હલશ મનુષ્ય પેટભરીને આહાર કરી લે છતાં પણ પૂટે નહીં બન્યાં સુધી તે પોતે આહાર ન કરી લે આવી શક્તિનું નામ અક્ષીણમહાનસલઙ્ઘિ છે (૨૭) પ્રવચનની લઘુતાના સમયે જીન શાસનના વિરોધી સેના અને વાહન સહિત કોઈ ચક્રવર્તી હોય તો તે પણ જેના પ્રભાવથી પુલાકની માફક નિ:સાર કરી દેવામાં આવે છે એવી શક્તિનું નામ પુલાકશક્તિ છે. આ લઙ્ઘિ તપ અને શ્રુત હેતુક હોય છે (૨૮)

આ પ્રકારે જે અકષ્ણાવીસ લઙ્ઘિઓ જે બનાવવામાં આવી છે તે અથવા આમાંથી એક લઙ્ઘિ પણ અને પ્રાપ્ત થયેલ નથી. આ રીતે કેશનો લોભ કરવો પ્રાચ્ય મહાવ્રતોનું પાલન કરવું, યતનાત્મક અનશનાદિક તપોને તપવા, પૃથ્વી કાયાદિકોની રક્ષા કરવારૂપ સત્તર પ્રકારના સયમનું પાલન, મહાકષ્ટપ્રદ વીક્ષાને મહણ કરવી, આ સવળી વાતોથી હું ક્યારેય છુ અર્થાત્ ષસાની

વાયુવિશેષોઽનાર્તા તતોઽપ ત્વમ્મિત્યેતદ્, તર્હિ જીવ એવ નામાન્તરેણ સ્વીકૃતો
 ભવતિ, અસ્તુ યત્ કિચિદેતત્, કથમપિ મૂતસદૃદાયમાત્રેણ ન ચૈતન્યાવિર્ભાવ ઇતિ
 સિદ્ધમ્, પૃથિવ્યાદિપુ એકમ્ર વ્યવસ્થાપિતેષ્વપિ ચૈતન્યાનુપલબ્ધે. । અથ કાયાકાર-
 પરિણતૌ સત્યાં તદભિવ્યક્તિરિષ્યતે, તદપિ ન, યતો હેપ્યમયપુત્તલિકાયા
 સમસ્તમૂતસન્નાવેઽપિ જહત્વમેત્રોલમ્પતે, તદેવમન્વયવ્યતિરેકાભ્યામાલોચ્યમાનો

હવે આ સદ્ભાવો સજ્જના હો નહીં સકતા હૈં । યદિ હસ પર ઈ કહ્વા જાય
 કિ “ સૂક્ષ્મ વાયુ તથા અગ્નિ વહા સે અપગત હો જુકી હૈ અતઃ શરીર
 મેં મરણ કા વ્યવહાર હો જાયગા ” સો એસા કહ્ના આત્મા કે હી
 સદ્ભાવ કા હ્યાપક માના જાતા હૈ । તુમ જિસે સૂક્ષ્મ વાયુ યા અગ્નિ
 કહ્તે હો હમ ઉસે આત્મા કહ્તે હૈં । મૂતસદૃદાય સે ચૈતન્ય કા
 આવિર્ભાવ હસલિયે મી સિદ્ધ નહીં હોતા હૈ કિ એક હી જગહ્ હન
 ચારોં કો સ્થાપિત કરને પર મી ઉનસે ચૈતન્ય કી ઉપલબ્ધિ નહીં હોતી
 હૈ । યદિ મૂતવાદી હસ પર યોં કહે કિ “ જય યે મૂત કાયાકાર
 પરિણત હોતે હૈ તય હી જાકર હન સે ચૈતન્ય કી અભિવ્યક્તિ હોતી
 હૈ ” સો એસા કહ્ના મી હસ લિયે ઉચિત નહીં હૈ કિ હેપ્યમયપુત્તલિકા
 મેં સમસ્તમૂતોં કા સદ્ભાવ હોને પર મી વહાં ચૈતન્ય કી ઉપલબ્ધિ
 નહીં હોતી હૈ, કિન્નુ જહ્તા હી ઉપલબ્ધિ હોતી હૈ । કાર્યકારણભાવ
 અન્વયવ્યતિરેક કે સદ્ભાવ મેં હી યનતા હૈ । હસ પ્રકાર વહાં મૂત ઓર
 ચૈતન્ય કા અન્વયવ્યતિરેક ઘટિત નહીં હોતા હૈ, -અત મૂતોં કા કાર્ય

આંથી અપગત યઈ ગયેલ છે, આંથી શરીરમાં મરણનો વહેવાર થવાનો છે”
 તે એવું કહેવું તે આત્માના સદ્ભાવનો ખ્યાપક મનાય છે તમે સૂક્ષ્મ વાયુ
 અગરતો અગ્નિ કહો છો અને તેને આત્મા કહીએ છીએ મૂત સમુદાયથી
 ચૈતન્યનો આવિર્ભાવ એ માટે પણ સિદ્ધ નથી થતો કે, એકજ જગ્યાએ તે
 આરને લેણા કરવા છતાં પણ તેમા ચૈતન્યની ઉપલબ્ધિ થતી નથી એ કહાવ્ય
 મૂતવાદી આ ઉપર એવું કહે કે, “ આરે એ મૂતકાયમાકાર પરિણત હોય છે
 ત્યારે જ જઈને તેનાથી ચૈતન્યની અભિવ્યક્તિ થાય છે ” તે એવું કહેવું
 પણ એ માટે ઠીક નથી કે, હેપ્યમય પુત્તલીકામાં સમસ્ત મૂતોનો સ્વભાવ
 હોવા છતાં પણ ત્યાં ચૈતન્યની ઉપલબ્ધિ થતી નથી પરંતુ જડતાજ ઉપલબ્ધ
 થાય છે કાર્યકારણ ભાવ અન્વય વ્યતિરેકના સદ્ભાવમાં જ અને છે આ પ્રકાર
 અહિ મૂત અને ચૈતન્યનો અન્વય વ્યતિરેક ઘટિત થતો નથી માટે મૂતોનું
 કાર્ય ચૈતન્ય છે તે કોઈ પ્રકારે સિદ્ધ થતું નથી આ માટે આ ચૈતન્ય શુષ્

एकैकस्य पृथिव्यादेः पृथक्त्वे चैतन्योत्पत्तिर्न भवति चेत् तर्हि पृथिव्यादिसद्भावा
 अपि चैतन्य न भवितुमर्हति । यथैकस्मात् सिरुताकणात् तैल नोत्पद्यते, तेन सिक्ता-
 समुदायादपि न भवति तैलोत्पत्तिं किंच—चैतन्यस्य भूतधर्मत्वस्वीकारे मरणाभावः
 स्यात्, मृतकायेऽपि पृथिव्यादिभूतानां सद्भावात्, न च मृतकाये वायोस्तेजसो
 वा अभावान्मरणसद्भावः इति वाच्यम्, यत् मृतकाये शोफोपलब्धेर्न वायोरभावः ।
 पक्षिस्वभावस्य च कोयस्य (शटनस्य) दर्शनात्तान्नेभाव इति । अथ सूक्ष्मः कश्चिद्

चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होनी है तो उनके समुदाय में चैतन्य की
 उत्पत्ति कैसे हो सकती है, जैसे एक सिक्ता (रेती) के कण से जब
 तैल नहीं निकलता है तो समुदाय से तैल निकल सकेगा यह बात
 कौन बुद्धिमान मान्य कर सकता है । दूसरी बात यह भी है कि जब
 चैतन्य को भूतों का धर्म माना जायगा तो मरण का अभाव प्रसक्त
 होता है, क्योंकि मृतकाय में भी पृथिवी आदि भूतों का सद्भाव
 तो रहता ही है । यदि मृत शरीर में मरणसद्भाव स्थापित करने के
 लिये यह कहा जाय कि “वहाँ पर वायु एवं तेज का अभाव है
 इसलिये इन दो तत्त्वों का अभाव होने से वहाँ भी मरण का सद्भाव
 अंगीकार किया जाता है” सो ऐसा कहना इसलिये उचित नहीं है
 कि मृतकाय में भी शोफ (सूजन) की उपलब्धि होने से वायु का वहाँ
 असद्भाव नहीं माना जा सकता है । अग्नि तत्त्व का भी वहाँ इसी
 तरह अभाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसके अभाव में

अवस्था में भूतों की चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होती तो तेना समुदाय में चैतन्य की
 उत्पत्ति कैसे होती है ? जेम् रेतीना केक कणुभायी तैल नीकणी शकतु
 नथी तो रेतीना इकठामांशी तैल नीकणी शकते तेषु केलु कही शकते ? जील
 वात के पक्षु छे के, जे चैतन्यने भूताने धर्म मानवामां आवे तो मरणने
 अभाव प्रसक्त वायु छे केमके, मृतकायमां पक्षु पृथ्वी आदि भूताने सद्भाव
 तो रहेवे ज छे जे मरण शरीरमां मरण सद्भाव स्थापित करवा माटे जेम्
 कहेवामां आवे के, “त्वां वायु अने तेजने अभाव छे माटे आ अने तत्वाने
 अभाव होवाधी त्वां पक्षु मरणने सद्भाव अङ्गीकार करवामां आवे छे” तो जेम्
 कहेवु जे माटे उचित नथी के, मृतकायमां पक्षु सुखननी उपलब्धि होवाधी
 वायुने त्वां असद्भाव भांभी शकतो नथी. अग्नि तत्वने पक्षु त्वां तेवी रीते
 अभाव नथी मानवामां आवतो केमके तेना अभावमां जेनु सक्षु अनर्त
 नथी, जे इहायु जे उपर जेम् कहेवामां आवे के, “सूक्ष्म वायु त्वां अग्नि

वायुविशेषोऽर्था ततोऽप त इति मन्यते, तर्हि जीव एव नामान्तरेण स्वीकृतो भवति, अस्तु यत् किंचिदेतत्, कथमपि भूतसमुदायमात्रेण न चैतन्याविर्भाव इति सिद्धम्, पृथिव्यादिषु एकत्र व्यवस्थापितेष्वपि चैतयानुपलब्धेः । अथ कायाकार-परिणतो सत्यां तदभिव्यक्तिरिष्यते, तदपि न, यतो छेप्यमयपुत्तलिकाया समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोलम्पते, तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोच्यमानो

उसका सङ्गना हो नहीं सकता हैं । यदि इस पर टों कहा जाय कि “ सूक्ष्म वायु तथा अग्नि वहा से अपगत हो चुकी है अतः शरीर में मरण का व्यवहार हो जायगा ” सो ऐसा कहना आत्मा के ही सद्भाव का रूपापक माना जाता है । तुम जिसे सूक्ष्म वायु या अग्नि कहते हो हम उसे आत्मा कहते हैं । भूतसमुदाय से चैतन्य का आविर्भाव इसलिये भी सिद्ध नहीं होता है कि एक ही जगह इन चारों को स्थापित करने पर भी उनसे चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती है । यदि भूतवादी इस पर यों कहे कि “ जय ये भूत कायाकार परिणत होते हैं तय ही जाकर इन से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है ” सो ऐसा कहना भी इस लिये उचित नहीं है कि छेप्यमयपुत्तलिका में समस्तभूतों का सद्भाव होने पर भी वहा चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती है, किन्तु जड़ता ही उपलब्ध होती है । कार्यकारणभाव अन्वयव्यतिरेक के सद्भाव में ही घनता है । इस प्रकार यहाँ भूत और चैतन्य का अन्वयव्यतिरेक घटित नहीं होता है, -अतः भूतों का कार्य

लांथी अपगत यर्ध गयेव छे, आथी शरीरमा भरञ्जने वडेवार थवाने छे” तो जेवु कडेवु ते आत्माना सद्भावने ज्थापक मनाय छे तमे सूक्ष्म वायु अजरते अग्नि कडे छे अमे तेने आत्मा कड्डीये छीजे भूत समुदायथी चैतन्यने आविर्भाव जे भाटे पञ्च सिद्ध नथी थतो के, जेकज्ज ज्ज्याजे ते थारेने जेणा करवा छतां पञ्च तेमा चैतन्यनी उपलब्धि थती नथी जे क्हाय भूतवादी आ उपर जेवु कडे के, “ थ्यारे जे भूतकायआकार परिवृत होय छे थ्यारे ज्ज्ज ने तेनाथी चैतन्यनी अभिव्यक्ति थाय छे ” तो जेवु कडेवु पञ्च जे भाटे ठीक नथी के, छेप्यमय पुत्तलिकांमां समस्त भूताने सद्भाव होवा छतां पञ्च त्यां चैतन्यनी उपलब्धि थती नथी परतु जडताज्ज उपलब्ध थाय छे कार्यकारण भाव अन्वय व्यतिरेकना सद्भावमां ज्ज भने छे आ प्रकार अदि भूत भने चैतन्यने अन्वय व्यतिरेक घटीत थतो नथी भाटे भूतानु कार्य चैतन्य छे ते कौठ प्रकारे सिद्ध थतु नथी आ भाटे आ चैतन्य शुञ्ज

ननु न यं दृष्टिगोचरो भवतीत्यतो नास्तीत्युच्यते ? नायमप्येकान्तः, उक्त हि-
 “न च नास्तीह तत् सर्वं, चक्षुषा यन्न गृह्यते ।” अन्यथा चैतन्यमपि दृष्टि-
 गोचरीभवतीति भूतधर्मत्वेन, तदप्यसत् स्यात् । अथ यदि तत् स्वसंविदितम्, अत-
 सत्दित्युच्यते, तर्हि अप्यमात्माऽपि स्वसंविदित एव भवतीति विद्यमानो भवतु । यतः-
 अस्त्येव चात्मा प्रत्यक्षो, जीवो ह्यात्मानमात्मना ।
 अहमस्मीति सवेचि, रूपादीनि यथेन्द्रियै ॥ १ ॥ इति ॥

यदि इस पर यों कहा जाय कि-“यह आत्मा दृष्टिगोचर नहीं
 होता है इस लिये यह नहीं है” सो यह कथन एकान्तत सत्य नहीं
 माना जा सकता । “न च नास्तीह तत्सर्वं, चक्षुषा यन्न गृह्यते”
 जो चक्षु से गृहीत नहीं होता है वह नहीं है, ऐसा मत कहो, अर्थात्
 जो वस्तु चक्षु से नहीं दिखाई दे वह भी है ऐसा कहो । नहीं तो तुम्हारे
 मतसे चैतन्य भी दृष्टिगोचर नहीं होता है अतः वह भूत का धर्म है
 यह बात असत् माननी पड़ेगी । इस पर यदि यह कहा जाय कि “वह तो
 स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय है अतः उसे सत् मान लिया जावेगा” तो
 आत्मा भी स्वसंवेदित है इस लिये इसे भी सत् मानना चाहिये ।

यतः—“अस्त्येव चात्मा प्रत्यक्षो, जीवो ह्यात्मानमात्मना ।

अहमस्मीति सवेचि, रूपादीनि यथेन्द्रियै ॥ १ ॥

अर्थात् अत्मा प्रत्यक्ष से है क्यों कि जीव ही आत्मा से आत्मा को
 “मैं हूँ” इस प्रकार संवेदन (अनुभव) करता है, जैसे इन्द्रियों से रूपादिकका

“आत्मा दृष्टिगोचर यतो नथा भाटे आ नथी” तो आ कहेवुं ऐकान्ततः
 सत्य मानवामां आप्तु नथी “न च नास्तीह तत्सर्वं चक्षुषा यन्न गृह्यते” ने
 चक्षुषी गृहीत यत् नथी, ते नथी ऐवुं न कहे। अर्थात् ने वस्तु चक्षुषी
 न देखाय ते पक्षु छे ऐम कहे। नही तो तमारा मतधी चैतन्य पक्षु दृष्टिगोचर
 यत् नथी. भाटे ते भूतनो धर्म छे ऐ वात असत्य मानवी पठथे आ उपर
 ने कदाच ऐम कहेवाभा आवे के, “ते तो स्वसंवेदन प्रत्यक्षनो विषय छे
 आधी ऐने सासु भानी देवाभा आवे” तो आत्मा पक्षु स्वसंवेदित छे आ
 भाटे तेने पक्षु सत् मानवे। ऐधं ऐ कक्षु पक्षु छे—

“अस्त्येव चात्मा प्रत्यक्षो, जीवो ह्यात्मानमात्मना ।

अहमस्मीति सवेचि, रूपादीनि यथेन्द्रियै ॥ १ ॥”

अर्थात्—आत्मा प्रत्यक्षधी छे केमके, एवञ्च आत्माधी आत्माने “हूँ हूँ” आ
 प्रकारनो संवेदन (अनुभव) करे छे ऐम इन्द्रियोंधी रूप आदिनु संवेदन थाय छे

અલમધિકેન, યથા ચૈતન્યમસ્તીતિ મન્યતે, તથા ઽઽત્માઽસ્તીત્યપિ મન્તમ્યઃ ।
તથા ચોક્તમ્—

જ્ઞાન સ્વસ્થ પરસ્થ ધા યથા જ્ઞાનેન ગૃહ્યતે ।

જ્ઞાતા સ્વસ્થઃ પરસ્થો ધા, તથા જ્ઞાનેન ગૃહ્યતામ્ ॥ ૧ ॥

અથાઽઽત્મસત્ત્વે તદભાવે સર્વસમ્બન્ધ્યનુપલભ્યમસ્ય હેતુત્વ ન સમ્મત્તીત્યુચ્યતે,
યતોઽયમપ્યસિદ્ધો હેતુઃ, અહમસ્મીત્યનુમત્તસ્ય સદ્ભાવાત્, સર્વેઽપિ પ્રાણિનાં હિ સ્વસ્થ
સ્વસ્થાત્મન ઉપલભ્યઃ પ્રતિપેદ્ધમશ્વક્ય, કેવલિના ચ સર્વાત્મનામુપલભ પ્રતિપેદ્ધમશ્વક્યઃ ॥

સવેદન હોતા હૈ । જિસ પ્રકાર ઉક્ત કથન સે ચૈતન્ય કા સદ્ભાવ માના
જાતા હૈ ઉસો પ્રકાર આત્માકા ખી સદ્ભાવ માનના ચાહિયે । કહા ખી હૈ—

“ જ્ઞાન સ્વસ્થ પરસ્થ ધા, યથા જ્ઞાનેન ગૃહ્યતે ।

જ્ઞાતા સ્વસ્થો પરસ્થો ધા, તથા જ્ઞાનેન ગૃહ્યતામ્ ” ॥ ૧ ॥

જિસ પ્રકાર અપને મેં રહા હુઆ જ્ઞાન, તથા દૂસરે મેં રહા હુઆ જ્ઞાન,
જ્ઞાન સે જાના જાતા હૈ ઉસી પ્રકાર અપને ઓર દૂસરે મેં રહે હુવ જ્ઞાતા
(આત્મા) કો ખી જ્ઞાન સે ગ્રહણ કર લેના ચાહિયે ॥ ૧ ॥

આત્મા કે અભાવ મેં જો અનુપલભ્યમરૂપ હેતુ દિયા ગયા હૈ । સો
આત્મા કા અનુપલભ સય કો હોતા હૈ, યદિ એસા કહા જાય તો યહ હેતુ
અસિદ્ધ હો જાતા હૈ, ક્યોં કિ સવ કો આત્મા કા અનુપલભ્ય હૈ એક
તો યહ યાત ઈન્દ્રિયજન્ય પ્રત્યક્ષ સે જાન નહીં સકતે દૂસરે પ્રત્યેક પ્રાણી
કો “ અહમસ્મિ ” ઇત્યાકારક સ્વસંવેદનરૂપ પ્રત્યક્ષ સે ઉસ કી ઉપલબ્ધિ

એ રીતે આ કથનથી ચૈતન્યનો સદ્ભાવ માની લેવામાં આવે એવી રીતે
આત્માનો પણ સદ્ભાવ માનવો એક એ. કહ્યું પણ છે—

“ જ્ઞાન સ્વસ્થ પરસ્થ ધા, યથાજ્ઞાનેન ગૃહ્યતે ।

જ્ઞાતા સ્વસ્થો પરસ્થો ધા, તથા જ્ઞાનેન ગૃહ્યતામ્ ॥ ૧ ॥ ”

એ રીતે પોતાનામાં રહેલું જ્ઞાન તથા બીજામાં રહેલું જ્ઞાન જ્ઞાનથી બાધી
શકાય છે એવી રીતે પોતામાં અને બીજામાં રહેલા આત્માને પણ જ્ઞાનથી
સમજી લેવો એક એ.

આત્માના અભાવમાં જે અનુપલભ્યમરૂપ હેતુ આપેલ છે તે આત્માનો
અનુપલભ કરીને થાય છે તેવું એ કહેવામાં આવે તો આ હેતુ અસિદ્ધ બની
બંધ છે કેમકે, સમજાને આત્માનું અનુપલભ છે એક તો આ વાત ઈન્દ્રિય
જન્ય પ્રત્યક્ષથી બાધી નથી શકાતાં બીજા પ્રત્યેક પ્રાણીને “ અહમસ્મિ ” ઇત્યાદિ

यदपि-ऋद्धिर्वा तपस्विनो नास्तीत्युक्त, तदपि निष्पमाणम् । ऋद्धेरभावेऽनुपलम्भो हेतुरुक्त सोऽपि स्वसम्बन्धो, सर्वसम्बन्धी वा ? तत्र स्वसम्बन्धी नियतदेशकालापेक्षयाऽन्यथा वाऽनुपलम्भः स्यात्, तत्र प्रथमपक्षे क्वचित् कदाचित् पञ्चमारुपापेक्षया भरतक्षेत्रापेक्षया ऋद्धेरनुपलम्भस्योपलम्भस्य चास्माकमपि समत्वत् । द्वितीयपक्षे तु हेतोरनैकान्तिकता, यथा देशविप्रकृष्टाना मेरुप्रभृतीनां कालविप्रकृष्टाना पितामहादीनामनुपलम्भेऽपि सत्त्वात् । दृश्यते च क्वचित् कदाचि लुब्धिप्रभावाचरणधूलिस्पर्शादि मात्रेण व्याधि प्रशमनादि । तत्रश्चेहाऽपि भरतादौ होती है । केवलियोंको तो सब आत्माका उपलम्भ होता है, यह तो निषेध नहीं किया जा सकता ।

तथा लुब्धियों की असत्ता प्रकट करने के लिये भी आपने जो अनुपलम्भरूप हेतु कहा है सो वह भी ठीक नहीं है । यहाँ पर अनुपलम्भ स्वसंबंधी ग्रहण किया है या सर्वसंबंधी । स्वसंबंधी अनुपलम्भ भी कैसा ? नियतदेशकालापेक्ष, अथवा अनियतदेशकालापेक्ष ? प्रथमपक्ष में सिद्धसाधनता है । अर्थात् यह यात तो हम भी मानते हैं कि इस पंचमकाल के अंदर भरतक्षेत्र में लुब्धियों का अनुपलम्भ है । द्वितीयपक्ष में हेतु अनैकान्तिक है । देशविप्रकृष्ट मेवाँदिकों का, कालविप्रकृष्ट पितामह आदिकों का अनुपलम्भ होने पर भी उनका सद्भाव माना जाता है । कहीं २ कहीं २ लुब्धि के प्रभाव से चरणधूलि के स्पर्श आदि करने मात्र से व्याधि की शांति होती हुई देखी जाती है । उसी तरह यहाँ भरत आदि क्षेत्रों में भी पहिले समय में लुब्धियों का सद्भाव

कारण स्व सवेदन इय प्रत्यक्षयो तेनी उपलब्धि धाय छे डेवलीओने तो भधा आत्मानो उपलभ धाय छे आनो तो निषेध यर् थके तेम नथी

अर्थात्—ऋद्धिओनी असत्ता प्रकट करवा भाटे पक्ष आपे ले अनुपलभ इय हेतु ठहरे छे ते पक्ष हीक नथी आ स्थणे अनुपलभ स्व संधी अक्षय करे छे, के सब संधी ? स्व संधि अनुपलभ पक्ष डेवे ? नियत देशकाल अपेक्ष के अनियत देशकाल अपेक्ष प्रथम पक्षमा सिद्ध साधनता छे अर्थात् ओ वात अने पक्ष मानीओ छीये के, आ पंचमकालनी अंदर भरतक्षेत्रमा ऋद्धिओना अनुपलभ छे भील पक्षमा हेतु अनैकान्तिक छे देशविप्रकृष्ट मेवाँदिकेनु कालविप्रकृष्ट पितामह आदिकेनु अनुपलभ होवा छता पक्ष तेना सद्भाव मानवामा आवे छे काँठ काँठ स्थणे कही कही लुब्धिना प्रभावधी अरक्षरणेनो स्पर्श आदि करवा मात्रधी व्याधिनी शांति यती जेवामा आवे छे जेव रीते अदि भरत आदि क्षेत्रामा पक्ष पडेवा समयमा लुब्धि-

कालान्तरेऽवीते काले, महाविदेहेषु च सर्वकालमृद्धीनामपि सद्भावान् । सर्वसम्पन्धी अनुपलम्भस्तु असिद्ध एव ।

यदपि “ कामसुखाद् वञ्चितोऽस्मी ”-त्युक्त तदप्यसमीक्षितम्, विषयसुखं हि रागद्वेषमोहजननद्वारेण अतृप्तिकाक्षाशोकविपादादिभिविधियुक्तमन्वयेतुत्वेन च चतुर्गतिभ्रमणकारकत्वेन गुरुल्लङ्घनजनकत्वात् प्रेक्षायतां तत्त्ववेदिनामनुपादेयम् । विषयपृक्ताऽन्नसदृश कामसुख कस्य विवेकिनो मनो रमयेत्, न कस्यापि ।

यदपि-तपसो यातनात्मकत्वमुक्त, तदप्यसत्-सकलदुःखमूढकर्मक्षयहेतुत्वात्, मनइन्द्रिययोगानामहानिकारकत्वेन तपसो यथाशक्ति विधानात् । उक्तं हि—

था तथा विदेहक्षेत्रे मे सर्वदा लब्धियों का सद्भाव रहता है । सर्वसम्पन्धी अनुपलम्भ तो असिद्ध ही है अर्थात् सर्वसम्पन्धी अनुपलम्भ लब्धियों की अभावात्मकता प्रकट करने में असमर्थ है ।

“ मैं कामसुख से वञ्चित हो गया हूँ ” जो यह बात कही है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि विषयसुख रागद्वेष मोह की उत्पत्ति का कारण होने से, अतृप्ति, काक्षा, शोक एवं विपाद आदि को उत्पन्न करते रहते हैं, इनसे विविध कर्मों का घंघ होता रहता है, उस के उदय से जीव चारों गतियों में भ्रमण करता २ अनेक दुःखपरम्परा को वहाँ भोगता रहता है, अतः काम को सुख मानना यह भ्रम है । इसी लिये तत्त्वज्ञानियों के लिये ये उपादेय नहीं हैं । विचार किया जाय तो विषयमिश्रित अन्नकी तरह ये कामसुख किस विवेकी के मन को आनन्द पहुँचा सकते हैं, अर्थात् किसी को भी नहीं । तप को यातनात्मक कहना इसलिये अनु-

ज्जानो सद्भाव रहे છે સર્વસંપદિ અનુપલભ તે અસિદ્ધ એ છે અર્થાત સર્વસંપદિ અનુપલભ ઋદ્ધિજ્ઞાની અભાવાત્મકતા પ્રગટ કરવામાં અસમર્થ છે “ હું કામસુખથી વંચિત બની ગયો છું ” આ વાત ઠીક છે તે પણ ઠીક નથી. કેમકે, વિષયસુખ રાગદ્વેષ મોહની ઉત્પત્તિનું દ્વાર હોવાથી અતૃપ્તિકાંક્ષા સુખ શોક અને વિપાદ આદિને ઉત્પન્ન કરતાં રહે છે, તેનાથી વિવિધ કર્મોનો બંધ થતો રહે છે તેના ઉદયથી એવ ચારે ગતિઓમાં ભ્રમણ કરતાં કરતાં અનેક દુઃખ પર પડને ભાં લોગવતો રહે છે માટે કામને સુખ માનવું એ ભ્રમ છે આથી તત્ત્વજ્ઞાનીઓ માટે એ ઉપાદેય નથી. વિચારવામાં આવે તે વિષયમિશ્રિત અન્નની માફક એ કામ સુખ કયા વિવેકીના મનને આનંદ પહોંચાડી શકે છે ? અર્થાત કોઈને પણ નહીં તપને યાતનાત્મક કહેવું એ માટે અનુચિત છે કે, જ્ઞાનીથી કોઈને પણ કષ્ટ પહોંચવું નથી. — કારણે તે

મનઇન્દ્રિયયોગાના, -મહાનિઃ કથિતા જિનૈઃ ।

યતોઽન્ન તત્કથ તસ્ય, યુક્તા સ્યાત્ દુઃસ્વરૂપતા ? ॥ ૧ ॥

કેશલુંચનાદીનામપિ કિંચિત્ પીઠાજનકત્વેઽપિ સમીહિતાર્થમાપકત્વેન દુઃસ્વ
દાયકત્વ નાસ્તિ । તદુક્તમ્—

“દૃષ્ટા ચેષ્ટાર્થસસિદ્ધૌ, કાયપીઠાઽપ્યદુઃસ્વદા ।

સ્નાદિવિષણિગાદીનાં, તદ્વદન્નાપિ માન્યતામ્ ” ॥ ૧ ॥

ચિત્ત હૈ કિ ઉસ સે કિસી કો બી કષ્ટ નહીં પહુચતા હૈ પ્રત્યુત્ત યહ
સકલ દુઃસ્વોં કે મૂલ કારણ કર્મોં કા ક્ષય કરનેવાલા હૈ । મન, ઇન્દ્રિય
તથા, યોગ ઇન કો હાનિ ન પહુચને પાવે હસ રૂપ સે યથાશક્તિ તપસ્યા
કરને કા વિધાન હૈ । કહા બી હૈ—

મનઇન્દ્રિયયોગાના, -મહાનિઃ કથિતા જિનૈઃ ।

યતોઽન્ન તત્કથ તસ્ય, યુક્તા સ્યાત્ દુઃસ્વરૂપતા ॥ ૧ ॥

તપમેં મન ઓર ઇન્દ્રિયોં કે યોગોં કી હાનિ નહીં હોતી હૈ, એસા
ભગવાને ફરમાયા હૈ તો ફિર તપમેં દુઃસ્વરૂપતા કેસે માની જાય, અર્થાત્
તપ દુઃસ્વરૂપ નહીં હૈ કિન્તુ સુસ્વરૂપ હૈ ॥ ૧ ॥

યથાપિ કેશલુંચન આદિ ક્રિયાઈ કિંચિત્ પીઠાજનક હૈ તો બી
સમીહિત અર્થ કી સિદ્ધિકે કારણ હોને સે ઉનમેં સર્વથા દુઃસ્વદાયકતા
નહીં હૈ । કહા બી હૈ—

દૃષ્ટા ચેષ્ટાર્થસસિદ્ધૌ, કાયપીઠાપ્યદુઃસ્વદા ।

સ્નાદિવિષણિગાદીના, તદ્વદન્નાપિ માન્યતામ્ ॥ ૧ ॥

સકળ દ્વાષોનુ મૂળ કારણ અને કર્મોને ક્ષય કરનાર છે મન ઇન્દ્રિય તથા ચેત્ત એને
હાની ન પહેંચે તેવા રૂપથી યથાશક્તિ તપસ્યા કરવાતુ વિધાન છે કહ્યું પણ છે—

મનઇન્દ્રિયયોગાના, -મહાનિઃ, કથિતા જીનૈઃ ।

યતોઽન્ન તત્કથ તસ્ય, યુક્તા સ્યાત્ દુઃસ્વરૂપતા ॥ ૧ ॥

તપમાં મન અને ઇન્દ્રિયોના ચેત્તોની હાની થતી નથી એવું ભગવાને
ફરમાયું છે તો પછી તપમાં દુઃસ્વરૂપતા કેમ માનવામાં આવે ? અર્થાત્ તપ
દુઃસ્વરૂપ નથી પરંતુ સુસ્વરૂપ છે

કેશ લાંચન આદિ ક્રિયાઓ ભે કે પિઠાજનક કહેવાય છે તો પણ સમીહિત
સિદ્ધિનુ કારણ હોવાથી તેનામાં સર્વથા દુઃસ્વદાયકતા નથી કહ્યું પણ છે—

દૃષ્ટા ચેષ્ટાર્થ સસિદ્ધૌ, કાયપીઠાપ્યદુઃસ્વદા ।

સ્નાદિવિષણિગાદીનાં, તદ્વદન્નાપિ માન્યતામ્ ॥ ૧ ॥

इत्यमत्रानुमानप्रयोगः—यत् इष्टार्थप्रसाधक, न तत् कायपीडाकारत्वेऽपि दुःखदायकं, यथा रत्नवणिजामध्वधमादि । इष्टार्थप्रसाधक च तपः। न चाऽस्याप्यसिद्धता, प्रशम हेतुरेवेन तपसस्तत्परिपक्तितारतम्यात् परमानन्दतारतम्यस्यानुभूयमानत्वेन तत्प्रकर्षे तस्यापि प्रकर्षाऽनुमानात् । प्रयोगश्च—यचारतम्येन यस्य तारतम्य तस्य प्रकर्षे तत्प्रकर्षः, यथाऽग्नितापप्रकर्ष काञ्चनविशुद्धिप्रकर्षः, अनुभूयते च प्रशमतारतम्येन परमानन्दतारतम्यम्, लोफप्रतीतत्वाच्च ॥ ४४ ॥

इसलिये ऐसा अनुमान बनाना चाहिये कि जो इष्ट अर्थ का प्रसाधक होता है वह काय का पीड़ा कारक होने पर भी दुःखदायक नहीं होता है, जैसे रत्नव्यापारियों का मागश्रम देशाटन का परिश्रम, इसलिये तप भी इष्ट अर्थ का प्रसाधक है अतः यह भी दुःखदायक नहीं है । तप में इष्टार्थप्रसाधकता असिद्धि नहीं है, क्योंकि तप प्रशम का हेतु है । तप द्वारा प्रशमभाव की जैसी २ तरतमता आत्मा में होगी वैसी २ परमानन्द की तरतमता भी आत्मा में अनुभवित होगी इसलिये प्रशम के प्रकर्ष में परमानन्द का भी प्रकर्ष अनुभवित होता है । जैसे अग्नि के ताप के प्रकर्ष में काञ्चन की विशुद्धि का प्रकर्ष, प्रयोग से देखा जाता है । अतः परम्परा रूप से तप इष्ट अर्थ का प्रसाधक सिद्ध होता है, क्योंकि तप प्रशम का कारण, प्रशम परमानन्द का कारण इस प्रकार बनता है ॥ ४४ ॥

आ भाटे जेवु अनुमान बनववु जेधजे के, जे इष्ट, अथना प्रसाधक होय छे—ते कायाने पीडा कारक होवा छता पण दुःख दायक बता नथी। जेभके रत्नव्यापारीजोनो मागश्रम देशाटननो परिश्रम—आ भाटे तप पण इष्ट अर्थनो प्रसाधक छे भाटे जे पण दुःखदायक नथी। तपमां इष्टार्थ प्रसाधकता असिद्ध नथी, केभके, तप प्रशमनो हेतु छे तप द्वारा प्रशमभावनी जेवी जेवी तारतम्यता आत्मांमं करे तेवी तेवी परमानन्दनी तरतमता, पण आत्मांमं अनुभवित करे। आ भाटे प्रशमना प्रकर्षमां परमानन्दनो पण प्रकर्ष अनुभवित घाय छे जेभ अग्निना तापना प्रकर्षमां काञ्चननी शुद्धिनो प्रकर्ष प्रयोगधी देखाय छे आधी परपश इपधी तप प्रशमनु कारण, प्रशम परमानन्दनु कारण आ प्रकारधी बने छे ॥ ४४ ॥

તથા—

મૂલ્મ—અમૂ જિણા અત્થિ જિણા, અદુવા વિ° મવિસ્સંહ ।

મુસ તે° એવ મોહસુ, ઇંઈ મિક્કેવૂ ને ચિતંપં ॥ ૪૫ ॥

છાયા—અમૂવન્ જિના સન્તિ જિના, અથવાઽપિ મવિષ્યન્તિ ।

મૃષા તે એવમાહુ., ઇતિ મિશ્સુર્ને ચિન્તયેત્ ॥ ૪૫ ॥

ટીકા—‘અમૂ જિણા’ ઇત્યાદિ ।

જિના.—રાગાદિજ્ઞયિન°—કેવલિન, અમૂવન્ અતીતકાલે, ‘જિનાઃ સન્તિ’=

વર્તમાનકાલે જિના વિચિન્તે વિદેહેષુ ઇત્યર્થઃ । અથવા—જિના મવિષ્યન્તિ, મરતાદિષુ ઇત્યપિ । અપિ શુદ્ધો મિશ્સુક્રમ., તે=જિનાસ્તિત્વવાદિનઃ, એવમ્=ઉક્તીસ્યા મૃષા=મિથ્યા-અલીકમ્, અસત્યમર્થમ્, આહુ°=વદન્તિ, ઇતિ મિશ્સુર્ને ચિન્તયેત્, અનુમાનાદિ પ્રમાણૈર્જિનાનાં કાલત્રયવર્તિત્વસિદ્ધે ।

અર્થ માવ°—મિથ્યાત્વમોહનીયોદયપ્રમાવાત્ કચચિદસમ્યક્ત્વે સમુત્પન્ને પ્રત્યક્ષા-

તથા—‘અમૂ જિણા’ ઇત્યાદિ ।

અન્વયાર્થ—(જિણા-જિના) રાગાદિક કે જીતને ઘાલે કેવલી ભગવાન્ (અમૂ-અમૂવન્) અતીતકાલ મેં હુવે હું (જિણા અત્થિ-જિનાઃ સન્તિ) વર્તમાનકાલ મેં જિન હું (અદુવા વિ મવિસ્સંહ-અથવાઽપિ મવિષ્યન્તિ) અથવા મવિષ્યત્કાલ મેં હોંગે । (એવ-એવમ્) ઇસ પ્રકાર જો કહતે હું (તે ઇસ આહંસુ-તે મૃષા આહુ) વે મિથ્યા કહતે હું, (ઈહ મિક્કેવૂ ન ચિતંપં-ઈતિ મિશ્સુ ન ચિન્તયેત્) ઇસ પ્રકાર મિશ્સુ વિચાર નહીં કરે, કારણ કિ અનુમાનાદિક પ્રમાણોં સે જિનકા ત્રિકાલ મેં અસ્તિત્વ સિદ્ધ હોતા હૈ ।

માવાર્થ—આત્મામેં જય મિથ્યાત્વમોહનીયકા ઉદય રહતા હૈ તય ઉસકે

તથા—‘અમૂ જિણા’ ઇત્યાદિ

અન્વયાર્થ—જિણા-જિના રાગાદિનને છતનાર કેવલી ભગવાન અમૂ-અમૂવન્ અતીતકાળમાં થયા છે જિણા અત્થિ-જિનાઃ સન્તિ વર્તમાનકાળમાં છન છે અદુવા વિ મવિસ્સંહ-અથવાઽપિ મવિષ્યન્તિ અથવા મવિષ્યત્ કાળમાં થયે એવ-એવમ્ આ પ્રકારનુ જે કહેવામાં આવે છે તે મુસ આહંસુ-તે મૃષા આહુ તે મિથ્યા કરે છે ઇહ મિક્કેવૂ ન ચિતંપં-ઈતિ મિશ્સુ ન ચિન્તયેત્ આ પ્રકારનો વિચાર મિશ્સુ ન કરે કારણ કે, અનુમાનાદિક પ્રમાણોથી જેનુ ત્રિકાળમાં અસ્તિત્વ સિદ્ધ થયુ છે

માવાર્થ—આત્મામાં જય મિથ્યાત્વ મોહનિયને ઉદય હોય છે ત્યારે તેના

विममाणैः सद्भावनाया तन्निराकृत्य सम्यक्वरसंगे नैव दर्शनपरीपहः सोढव्य इति ।
अत्र दृष्टान्तः प्रदर्शयते—

अवन्तीनगर्या वैश्वानराचार्यः शिष्यपरिवारेण सह समवसृतः । तस्य इदमिति नामकः शिष्य आसीत्, स उग्रतपस्वी उग्रविहारी उत्कृष्टक्रियापाकभासीत्, अन्तमान्ताहारेणाबमोदरिकादि तपः करोति, वीरासनादिक करोति, ग्रीष्मकाले प्रचण्डसूर्यातापनां सेवते । शीतकाले शीतस्पर्शं सहते स्म, केवल चोलपट्टक, सुखो-

प्रभाव से सम्यक्त्व की प्राप्ति का अभाव होने पर जीव ऐसा मानता है कि जिन आदि परोक्षपदार्थ नहीं हैं । अतः उनका प्रत्यक्ष न होने पर भी अन्य अनुमानादिक प्रमाणों द्वारा उनकी सत्ता सिद्ध होती है, इसलिये उनकी सद्भावना से उनकी असभावतारूप मिथ्यात्व-परिणति का परिहार करते हुए साधु को अपने सम्यक्त्व का रक्षण करते रहना चाहिये । इसी का नाम दर्शनपरीपह जय है ।

दृष्टान्त—वैश्वानराचार्य अपने शिष्य परिवार के साथ बिहार करते हुए किसी समय अवन्ती नगरी में पधारे । उन शिष्यों में इदमिति नाम का एक शिष्य था जो उग्रतपस्वी, उग्रविहारी एवं उत्कृष्ट-रूप से प्रत्येक क्रिया का पालन करता था । अन्तःप्रान्त आहार से यह अबमोदरिका आदि तपों को तपता था । वीरासन आदि आसनों को करता था । ग्रीष्मकाल में प्रचण्ड सूर्य की अतापना लेता था । शीत-काल में शीतस्पर्श को सहता था । केवल चोलपट्टक तथा मुख पर

प्रभावधी सम्यक्त्वनी प्राप्तिने। अभाव होवाना कारणे एव कोषु माने छे के, एन आदि परोक्षपदार्थ नही। आधी ते प्रत्यक्ष न होवाधी अन्य अनुमानादिक प्रमाणा द्वारा तेनी सत्ता सिद्ध होय छे आ माटे तेनी सद्भावनाधी तेनी असभावताइय मिथ्यात्व परिणतीने परिहार करीने साधुजे पीताना सम्यक्त्व रक्षयु करेता रहेवु नेधुजे तेवु नाम दर्शनपरीपह जय छे

दृष्टान्त—वैश्वानराचार्य पीताना शिष्य परिवार साथे विहार करता करता कोठ समय अवन्ती नगरीमा पधारा तेमना शिष्योमां इदमिति नामे कोठ शिष्य छेते। ते उग्रतपस्वि, उग्रविहारी अने उत्कृष्ट रूपधी प्रत्येक क्रियाओउ पालन करेता छेते। अन्तःप्रान्त आहारधी ते अबमोदरिका आदि तप तपता छेते। वीरासन आदि आसने करेता छेते, ग्रीष्मकालमां प्रचण्ड सूर्यनी आतापना लेता छेते, शीतकालमां शीत स्पर्शने सहन करेता, केवल चोलपट्टे अने

परि सदोरकमुखवस्त्रिका च मित्रत्, सपूर्णशरीरमनावृत कृत्वा हमन्ते रात्री उत्थिता एव तिष्ठति, जिनवचने सम्यक् श्रद्धालुरासीत् ।

एकदा कश्चिन्मिथ्यात्वी देवस्तत्रागत्य वैक्रियिक नन्दनवनमिवोद्यान प्रदर्श्य, दृढमतिमुनिमत्रवीत् - हे मुने ! अस्यामातापनायां को लाभः, किं निरर्थकमेतत् कष्ट वहसि, नास्ति परलोकः, आगम्यताम्, मया सहाऽस्य नन्दनवनसमानोद्यानस्य सुखमनुभूयताम् । यदाऽसौ दृढमतिमुनिर्वीरासनमध्यास्ते, तदा वैक्रियपुष्पशय्य-प्रदर्श्य स देवो वदति-अत्रास्यताम्, किमर्थं कष्टमावहसि, नास्ति परलोकः । यदा-ऽसौ तपस्पति, तदा स देवः स्ववैक्रियशक्त्या विविध मिष्टान्न निर्माय तस्य बुभुक्षामु-

सदोरकमुखवस्त्रिका को धारण कर एव समस्त शरीर को अनावृत रख-कर हेमन्त ऋतु में रात्रि के समय को खड़े २ व्यतीत करता था । जिनवचन में इसे अप्रतिम श्रद्धा थी ।

एक समय की बात है कि कोई मिथ्यात्वी देव वहाँ आया और उसने अपनी वैक्रियशक्ति से नन्दनवनके समान एक उद्यान की रचना कर दृढमति मुनि से कहा हे मुने ! इस आतापना से क्या लाभ है । निरर्थक आप इस कष्ट को सहन करते हो । परलोक आदि कुछ भी नहीं है, अतः आओ और मेरे साथ इस नन्दनवन के समान उद्यान के सुख का यथेच्छ अनुभव करो । जिस समय दृढमति मुनि वीरासन से विराजते तो वह देव वैक्रियपुष्पशय्या की रचना कर उनसे कहता कि इस आसन में बैठने में क्या लाभ है इस पुष्प की शय्या पर आप विराजो । जिस को लक्षित कर यह आप कर रहे हो, हे मुनि वह कुछ भी नहीं है । इसी तरह जब यह तप तपते तो वह अपनी

सदोरकमुखवस्त्रिकाने धारण करी साराज्जे शरीरने शुद्ध राभी हेमन्त ऋतुमां रात भर उठे पगे रहेतो छेता, एन वचनमा जेने अप्रतिम श्रद्धा छती।
जेठ समयनी बात छे के, केछ मिथ्यात्वी देव त्या आयेो अने तेहे पोतानी वैक्रियशक्तिथी नन्दनवन जेवुं सुहर उद्यान बनानी वीधु अने दृढमति मुनिने कष्टु के, हे मुनि ! आ आतापनाथी शु लाभ छे ? निरर्थक आप आ कष्टने सहन करे छे ! परलोक वजेरे कांछ पखु नथी आधी भारी साथे आवेो अने आ नन्दनवन समान उद्यानना सुभनेो यथेच्छ अनुभव करे जे समये दृढमति मुनि वीरासनमां विराजत थता त्यारे ते देव वैक्रिय पुष्पशय्यानी स्थना करी जेनाथी कहेतो के, आ आसनधी जेसवामा कथेो लाभ ? आ पुष्पनी शय्या उपर आप बीराजे जेनुं लक्ष करीने आप आ गधु करी रक्षा छे तेवुं हे मुनि कांछ छे नही आ रीते तप तपता त्यारे पखु ते देव पोतानी

દિમમાણે. સદ્ભાવનયા તથિરાકૃત્ય સમ્યક્વરણે નૈવ દર્શનપરીપહઃ સોઢમ્વ ઇતિ ।
અમ્ર દષ્ટાન્તઃ પ્રદર્શયતે—

અવન્તીનગર્યાં વૈશ્રવણાચાર્યઃ શિષ્યપરિવારેણ સહ સમવસૃતઃ । તસ્ય હૃદમતિ
નામકઃ શિષ્ય આસીત્, સ ઉગ્રતપસ્વી ઉગ્રવિહારી ઉત્કૃષ્ટક્રિયાપાલકઆસીત્,
અન્તપ્રાન્તાહારેણાવમોદરિકાદિ તપ. કરોતિ, વીરાસનાદિક કરોતિ, ગ્રીષ્મકાલે
પ્રચન્ડસૂર્યાતાપનાં સેવતે । શીતકાળે શીતસ્પર્શ સહતે સ્મ, કેવલ ચોલપટકં, હસો

પ્રભાવ સે સમ્યક્ત્વ કી પ્રાપ્તિ કા અભાવ હોને પર જીવ ઁસા માનતા
હે કિ જિન આદિ પરોક્ષપદાર્થ નહીં હૈં । અત ઉનકા પ્રત્યક્ષ ન હોને
પર મી અન્ય અનુમાનાદિક પ્રમાણોં દ્વારા ઉનકી સત્તા સિદ્ધ હોતી
હે, ઇસલિયે ઉનકી સદ્ભાવના સે ઉનકી અસભાવતારૂપ મિથ્યાત્વ
પરિણતિ કા પરિહાર કરતે હુપ સાધુ કો અપને સમ્યક્ત્વ કા રક્ષણ
કરતે રહના ચાહિયે । ઇસી કા નામ દર્શનપરીપહ જય હે ।

દષ્ટાન્ત—વૈશ્રવણાચાર્ય અપને શિષ્ય પરિવાર કે સાથ બિહાર
કરતે હુપ કિસી સમય અવન્તી નગરી મેં પધારે । ઉન શિષ્યોં મેં
હૃદમતિ નામ કા ઁક શિષ્ય થા જો ઉગ્રતપસ્વી, ઉગ્રવિહારી ઁબં ઉત્કૃષ્ટ-
રૂપ સે પ્રત્યેક ક્રિયા કા પાલન કરતા થા । અન્ત પ્રાન્ત આહાર સે યહ
અવમોદરિકા આદિ તપોં કો તપતા થા । વીરાસન આદિ આસનોં કો
કરતા થા । ગ્રીષ્મકાલ મેં પ્રચન્ડ સૂર્ય કી અતાપના લેતા થા । શીત
કાલ મેં શીતસ્પર્શ કો સહતા થા । કેવલ ચોલપટક તથા મુખ પર

પ્રભાવથી સમ્યક્ત્વની પ્રાપ્તિને અભાવ હોવાના કારણે એવ એવુ માને છે કે, એન
આદિ પરોક્ષપદાર્થ નથી. આથી તે પ્રત્યક્ષ ન હોવાથી અન્ય અનુમાનાદિક
પ્રમાણો દ્વારા તેની સત્તા સિદ્ધ હોય છે આ માટે તેની સદ્ભાવનાથી તેની
અસભવતારૂપ મિથ્યાત્વ પરિણતિને પરિહાર કરીને સાધુએ પોતાના સમ્ય-
ક્ત્વ રક્ષણ કરતા રહેવું જોઈએ તેવું નામ દર્શનપરીપહ જય છે

દષ્ટાન્ત—વૈશ્રવણાચાર્ય પોતાના શિષ્ય પરિવાર સાથે વિહાર કરતાં કરતાં
એક સમય અવન્તી નગરીમાં પધાર્યા તેમના શિષ્યોમાં હૃદમતિ નામે એક
શિષ્ય હતો જે ઉગ્રતપસ્વી, ઉગ્રવિહારી અને ઉત્કૃષ્ટ રૂપથી પ્રત્યેક ક્રિયાઓનું
પાલન કરતો હતો. અન્તપ્રાન્ત આહારથી તે અવમોદરિકા આદિ તપ તપતો
હતો વીરાસન આદિ આસને કરતો હતો, ગ્રીષ્મકાળમાં પ્રચંડ સૂર્યની આતાપના
સહતો હતો, શીતકાળમાં ઠંડીના સ્પર્શને સહન કરતો, ફક્ત ચોલપટ્ટી અને

मधुर वारि, मिमात्मनः पिपासाऽऽकुलीकरणेन, नास्ति परलोकः । इत्येवं विविध-
परीपदानुत्पाद्य स देवस्तस्य मुने. सम्यक्त्वमपनेतु मयुक्त., तथापि स दृढमति-
मुनिस्तप सयमाराधनाद् लेशतोऽपि विचलितो नाभूत् । तदाऽसौ मेरुशिवाप्रकम्प-
सागर इव गम्भीर. सन् विचारयति-भगवत सर्वज्ञतया तद्वचन सत्य सदेहरहित ध्रुव
नित्य परमकल्याणसाधक अद्वेयमेवास्ति । एभ्य. पौद्गलिन्मुखेभ्य किमपि

कि हे मुनि ! देखो यह कितना सुन्दर तालाब मरा हुआ है । आपको
इस समय घोर पिपासा की वेदना हो रही है अत आप शीतल
मधुर जल का पान कर पिपासा को शान्त करो । व्यर्थ में पिपासा से
आत्मा को आकुलित करने से क्या लाभ है ? परलोक नहीं है । इस
प्रकार इस देव ने मुनिराज के लिये अनेक परीपहों को उत्पन्न कर उनको
सम्यक्त्व से पतित करने के निमित्त अनेक प्रयत्न किये तो भी वे
मुनिराज सम्यक्त्व से रचमात्र भी चलायमान नहीं हुए । प्रत्युत
सयम एव तप की आराधना करने में मेरु के समान अप्रकंप होकर
एवं सागर के समान गभीर बनकर अधिक से अधिक दृढ बनते रहे ।
साथ में यह भी इन्होंने विचार करने में कसर नहीं रखी कि भगवान्
वीतराग होने से, तथा सर्वज्ञ होने से कभी भी असत्य वचन बोल
नहीं हो सकते हैं, इनका प्रत्येक वचन सदेहरहित ध्रुव सत्य है ।
जिन वचनों की आराधना से ही जीवों को निःश्रेयस मार्ग की प्राप्ति
होती है, अत यही एकान्ततः परमकल्याणसाधक है, और इसी

आ समय पूज्य तरस लागी रही छे, आधी आ शितल मधुर जलनु पान
करीने तमारी तरसने छीपावे तरसथी आत्माने नकामे पीडीत करवाथी शु
बाध ? परबोद्ध छे नही आ प्रकारे ते देवे मुनिराज भाटे अनेक परीपहो
उत्पन्न क्यो अने तेभने सम्यक्त्वथी पतित बनाववा पूज्य प्रयत्ने क्यो तो
पञ्च जे मुनिराज देश मात्र पञ्च यथायमान थया नही अने पौताना सयम
अने तपनी आराधनाभां मेरुनी भाइक अउग रीते उभा रक्षा अने सागरनी
भाइक धीर गबिर बनी अधिक दृढ बनता गया साथे साथे तेभजे जे पञ्च
विचार करवाभां कसर न राभी के भगवान वीतरागी सर्वज्ञ होवाने
कारणे कही पञ्च असत्य वचनवाणा होई शकता नथी. जेभनु प्रत्येक वचन
सदेह रहित ध्रुव-सत्य छे अनवचनेनी आराधनाथी जे लवने निश्रेयस
(भोक्ष) भागनी प्राप्ति थाय छे जेथी तेना विद्यास करवाे योग्य छे. आधी
आज जेक मात्र परम कल्याणनु साधन छे आ पौद्गलिक सुभेधी लवोनु

ત્વાથ વદતિ-મુને ! કિં વુશુક્તયા પ્રાણાન્ ગમયસિ ! મુશુક્ત વિવિધાનિ મિષ્ટાન્નાનિ, યદર્થમેતત્ કષ્ટમશ્વીરોપિ સ નાસ્તિ પરલોક. । યદાઽસી મુનિરુગ્રવિહારં કરાતિ, તેન ચ શ્રાન્તો મવતિ, તદા સ દવઃ સ્વવૈક્રિયશક્તયા શિબિકા વાહકૈર્નીયમાર્ણા મદર્શ્ય વદતિ-મુને ! યાનમારુક્ષતામ્, અલમનેન કષ્ટકરેણ પાદચારેણ, નાસ્તિ પરલોકઃ । ઉષ્ણકાલે સ્વશક્તયા ઘોરપિપાસામુત્પાથ શીતલમુગન્ધિનિર્મલજલભૂજ-જલાશય તદીયદદિગોચરીકુર્વન્ સ દેવસ્ત મુનીમત્રયીત્-મુને ! પિત્ર શીતલમિર્

વૈક્રિયશક્તિ કે પ્રભાવ સે વિવિધ મિષ્ટાન્નોં કો તયાર કર ઓર ઉન્નેં વુશુક્તિત યનાકર કહને લગતા હે મુને ! ક્યોં ભૂજ સે વ્યર્થ મેં હન પ્યારે પ્રાણોં કો નષ્ટ કરના ચાહતે હો । જિસકે નિમિત્ત તુમ યહ કષ્ટ પરપરા સહ રહે હો વહ તો કુછ હૈ હી નહીં, અત વિવિધ હન મિષ્ટાન્નોં કો ભોગો । જપ મુનિરાજ ઉગ્રવિહારી હોતે ઓર શ્રાન્ત હો જાતે તો યહ વેષ ઉસ સમય શિયિકા કો રચના કર ઉન્નેં હસ પ્રકાર દિશ્વાતા કિ યહ શિયિકા અનેક પુરુષોં ઘારા અપને કંઘો પર ઉઠાઈ જા રહી હૈ, ઓર ફિર કહને લગતા કિ મહારાજ આપ થક શુકે હૈ અતઃ હસ શિયિકા પર ચઢકર ઘિહાર કરિયે । કષ્ટપ્રદ હસ પૈદલ ચલને સે ક્યા લાભ ? હસે છોઢિયે । ઉષ્ણકાલ મેં અપની શક્તિ કે પ્રભાવ સે મુનિ કો ઘોર પિપાસા ઉત્પન્ન કર ઓર શીતલ સુરભિ નિર્મલ જલ સે પરિપૂર્ણ જલાશય કી રચના કરકે મુનિ કો દિશ્વાતા છુઆ કહને લાગતા

વૈક્રિયશક્તિના પ્રભાવથી વિવિધ મિષ્ટાન્ન તૈયાર કરી તેને વિશુદ્ધિત બનાવી કહેવા લાગતો હે મુનિ ! શા માટે વ્યર્થમાં ભૂજ અને તરસથી આ ખ્યારા પ્રાણોને નષ્ટ કરી રહ્યા છો ? જે નિમિત્તથી તમે આ બધા કષ્ટો સહન કરો છો એવું કંઈ પણ નથી. આથી આ વિવિધ મિષ્ટાન્નોને આરોગો બ્યારે મુનિ શાજ ઉગ્ર વિહારી બનતા અને શ્રાન્ત બની જતા તો તે દેવ જે સમજે શિબિકા (પાદખી)ની રચના કરી એને બતાવતો અને કહેતો આ શિબિકા અનેક પુરુષોદ્વારા પોતાના ખલે ઉદ્ધવવામાં આવી રહી છે મહારાજ આપ યાદી ગયા છે જેથી આ શિબિકામાં ઘેસી બબ્બે અને વિહાર કરો. કષ્ટપ્રદ એવા પત્રપાળા ચાલવાથી શુ લાભ મળવાનો છે ? એને છોડી દો ઉષ્ણકાળમાં પોતાની શક્તિના પ્રભાવથી મુનિરાજ ને પાણીની ખૂબ તરસ ઉત્પન્ન કરાવી, શિતલ મુરથી નિર્મળ જળથી પરિપૂર્ણ જળાશયની રચના કરી મુનિને દેખા દીને કહેતો કે, હે મુનિ ! જુઓ આ કેવું સુહર તળાવ બહુ છે. આપને

अथ परीपहावतरणमाह—

एते धर्मस्यान्तरायकारणभूताः द्वाविंशतिपरीपहा सोढव्या इत्युक्तम् । तत्र-
ज्ञानावरणीय-वेदनीय-दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीयाऽन्तरायाणां कर्मणामुदयादेते
सर्वे परीपहाः प्रादुर्भवन्ति । चतसृषु कर्मप्रकृतिषु=ज्ञानावरणीय-वेदनीय-मोहनीया
-न्तरायेषु द्वाविंशतिः परीपहाः समवतरन्ति, इतरासु चतसृषु-दर्शनावरणीयाऽऽ-
युक्त-नाम-गोत्रेषु परीपहा नोत्पद्यन्ते । (भग० ८ । ८)

यः सूक्ष्म सपराय सूक्ष्मलोमपरमाणुसद्भावात् न वीतरागत्व प्राप्तः स दशमगुण
स्थानवर्ती उपशमश्रेणिसपन्नो वा क्षपकश्रेणिसपन्नो वा तस्य सयतस्य, तथा छद्मस्थवी-
तरागयोर्गुणस्थानभेदेन द्विविधयोरेकादशद्वादशगुणस्थानवर्तिनोश्च सयतयोश्चतुर्दश

अथ परीपहों का अवतरण कहते हैं—

यद्यपि धर्मके सेवन करने में ये बाईस परीपह अन्तरायरूप हैं साधु
को इन को सहन करते रहना चाहिये, यह बात बतलाई जा चुकी है ।
अब कौन २ से परीपह किस २ कर्म के उदय से होते हैं यह बतलाया
जाता है—ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय (दर्शनमोहनीय चारित्रमो-
हनीय) एव अन्तराय, इन चार कर्मों के उदय से ये २२ बाईस परीपह
उत्पन्न होते हैं । दर्शनावरणीय आयु नाम एवं गोत्र, इन चार कर्मों के
उदय में परीपह उत्पन्न नहीं होते हैं । (भग० श ८ उ० ८)

सूक्ष्मलोम परमाणु के सद्भाव से जो वीतरागता को प्राप्त नहीं
हुआ है ऐसा दशमगुणस्थानवर्ती जीव चाहे वह उपशमश्रेणी में स्थित
हो चाहे क्षपकश्रेणी में उसके तथा छद्मस्थ वीतराग के ११ ग्यारहवें एवं

द्वे परीपहोऽनु अवतरणं कथेवामां आवे छे—

धर्मनु सेवन करवामां कथय आ भावीस परीपह अन्तरायरूप धाय
छतां साधुञ्जे अने सहन करता रहेषु जेधञ्जे आ वातसमभववामां आवी.
द्वे कथा कथा परीपह कथा कथा धर्मना उदयधी धाय छे जे जताववामां आवे
छे-ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, (दर्शन मोहनीय चारित्र मोहनीय) अने
अन्तराय आ चार धर्मोना उदयधी आ भावीस परीपह उत्पन्न धाय छे दर्शनाव
रणीय, आयु, नाम, अने जोत्र आ चार धर्मोना उदयधी परीपह उत्पन्न भया नथी.
भग श ८, उ ८

सूक्ष्मलोम परमाणुना सद्भावधी जे वीतरागताने प्राप्त नथी धया जेव
दशगुण स्थानवर्ती एव आडे ते उपशम श्रेणीमां स्थित जेय, आडे क्षपक
श्रेणीमां तथा छद्मस्थ वीतरागता अगीयार अने भारमा शुद्धस्थानवर्ती एवोने

कल्याणं नास्ति । मयाऽनादिभवसमागत मिथ्यात्वमपनीय सम्यक्त्वं लब्धम् । तदेव पुनः पुनरात्मनि दृढीकृत्य ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मरजः समुत्सारणेन केवलित्वप्राप्तिपूर्वकं मोक्षपदं मम लब्धव्यमस्ति । अद्यमनेन तुच्छेन विषयसुखेन । इति विमृश्य तपःसमसमाराधनपूर्वकनिरतिचारसम्यक्त्वरक्षणेन दृढमति मुनिर्दर्शनपरीषद् परिषदा, क्षपकश्रेणिमारुह्य, केवलित्वं लब्ध्वा स्वात्मकल्याणं साधितवान् । एवमन्यैरपि मुनिभिर्दर्शनपरीषद् सोढव्यम् ।

का विश्वास करना योग्य है । इन पौत्रलिक सुखों से जीवों का कुछ भी आत्महित नहीं हो सकता है । मैंने बड़ी कठिनता से अनादि भवों से ससक्त मिथ्यात्व का अपनयन कर सम्यक्त्व का लाभ किया है । इसलिये यह दुर्लभता से प्राप्त होने वाली वस्तु (सम्यक्त्व) का नाश न होने पावे, इस प्रकार सचेष्ट होकर मुझे वार २ इसको निज आत्मा में दृढ करते रहना चाहिये, और ज्ञानावरणीय आदि अष्ट प्रकार कर्मरजके निवारण से केवलित्वकी प्राप्तिपूर्वक मुक्तिपदका लाभ करना चाहिये इसी में मेरा कल्याण है । इन तुच्छ वैषयिक सुखों के सेवन से कौनसा निज का लाभ हो सकता है । इस प्रकार विचार कर तप एव सयमकी आराधना करते हुए दृढमति मुनिराज ने निरतिचार सम्यक्त्वकी रक्षा से दर्शनपरीषद् को सहन किया और क्षपकश्रेणी पर आरोह हो कर केवलित्वका लाभ कर अपना आत्मकल्याण कर लिया । इसी प्रकार अन्य मुनिजनों को भी दर्शनपरिषद्जयी धनना चाहिये ।

हार्थं पक्षुः आत्महितं यद्यत् शक्यं नथी मे भारे कठिनतायै अनादि भवोक्तौ ससक्त मिथ्यात्वमु अपनयनं करी सम्यक्त्वनेो लाभं कथो मे आ माटे आ दुर्लभतायै प्राप्तं यथैव वस्तु सम्यक्त्वनेो नाशनं धायं ज्ञे रीते सञ्चितं जनीने भारे वारवारं ज्ञेने भारा पीताना आत्माभां दृढं कश्ता रक्षेवुं ज्येष्ठं ज्ञेने ज्ञानावरणीयं आदि अष्ट प्रकारणी कर्मरजना निवारणुथी केवलित्वनी प्राप्ति पूर्वकं मुक्ति पदनेो लाभं भेजवनेो ज्येष्ठं ज्ञेने आ करवामां ज्ञे माङ्गं कल्याणं ज्ञे तुच्छं ज्ञेवां वैषयिकं सुभेना सेवनथी ज्ञेने कथो लाभं यवानेो ज्ञे ? आ प्रकारनेो दृढं विचारं करी तपं ज्ञेने सयमनी आराधना कश्ता दृढमति मुनिराजे निरतिचार सम्यक्त्वनी रक्षायै दर्शनपरीषदं सहन करी क्षपकश्रेणी उपर आरोहं ज्ञेनी केवलीपदनेो लाभं करी पीताना आत्मानुं कल्याणं कथुं आ रीते अन्य मुनिजनेो ज्ञेने पक्षुः दर्शनपरीषदं ज्यथी जनवुं ज्येष्ठं ज्ञेने ।

નનુ આત્યન્તિકશીતસ્પર્શે સતિ ઘટ્વિસાન્નિધ્યે, તથા-શરીરસ્પૈકસ્મિન્ માગે છાયાશ્રિતેઽપરસ્મિન્ માગે સૂર્યકિરણપ્રતપ્તે સતિ એકસ્ય પુરુપસ્ય એકસ્યાં દિશ્ચિ શીતમ્, અન્યસ્યાં ચોષ્ણમિત્યેવ દ્વયોરપિ શીતોષ્ણપરીપહયોર્યુગપત્ સમવોઽસ્તીતિ વેત્, ઉચ્યતે-અત્ર પરીપહે કાલકૃતશીતોષ્ણયોર્ગ્રહણમ્, અતો નાસ્પેતલ્લભ્ના વક્ષાશ્ચ ઇતિ ।

શંકા—શીતસ્પર્શી ઓર ઉષ્ણસ્પર્શ કા જો આપને પરસ્પર વિરોધ યતલાયા હૈ વહ જચતા નહીં હૈ, ક્યોં કિ આત્યતિક શીતસ્પર્શ હોને પર ભી અગ્નિ કે સમીપ મેં, તથા શરીર કા એક ભાગ છાયાશ્રિત હોને પર, ઘૂસરા ભાગ સૂર્ય કી કિરણોં સે તસ હોને પર એક હી પુરુપ કો એક દિશા મેં શીત કા, અન્ય દિશા મેં ઉષ્ણ કા અનુભવ યુગપત્ હોતા હૈ, ઇસ પ્રકાર શીત ઓર ઉષ્ણસ્પર્શ કા એક હી પુરુપ મેં વેશાદિક કી અપેક્ષા એક સાથ સદ્ભાવ પાયે જાનેસે ઇનમેં આપ વિરોધ કૈસે કહતે હૈં ।

ઉત્તર—ઇસ પ્રકાર કી આશંકા યહાં નહીં કરના યાહિયે । ક્યોં કિ યહા જો શીત ઉષ્ણ પરીપહ કા યુગપત્ વિરોધ યતલાયા ગયા હૈ વહ કાલ કી અપેક્ષા સે યતલાયા ગયા હૈ । શીતકાલ મેં શીતપરીપહ કા ઉષ્ણકાલ મેં ઉષ્ણપરીપહ કા સદ્ભાવ રહતા હૈ । શીતકાલ મેં ઉષ્ણકાલ નહીં હોતા ઓર ઉષ્ણકાલ મેં શીતકાલ નહીં હોતા, અતઃ ઇસ અપેક્ષા સે યહા ઇસ પ્રશ્ન કે હોને કા અવકાશ હી નહીં હૈ ।

શંકા—શીતસ્પર્શ અને ઉષ્ણસ્પર્શને જે આપે પરસ્પર વિરોધ બતાવેલો છે તે બંધોબર નથી કેમકે, આત્યતિક ઠંડીને સ્પર્શ હોવાથી પણ અગ્નિના સાંનિધ્યમાં તથા શરીરને એક ભાગ છાયાશ્રિત હોવાથી, બીજો ભાગ સૂર્યનાં કિરણોથી તૃપ્ત હોવાથી, એકજ માણસને એક દિશામાં ઠંડીને અને બીજી દિશામાં ઉષ્ણને અનુભવ યુગપત્ થાય છે આ રીતે ઠંડી અને ઉષ્ણસ્પર્શને એકજ માણસમાં વેશાદિકની અપેક્ષા એક સાથ સદ્ભાવ દેખાતા આમાં આપ વિરોધ કેવી રીતે ઠહો છે ?

ઉત્તર—આ પ્રકારની આશંકા અહિ ન કરવી જોઈએ કેમકે, અહિ જે ઠંડી અને ઉષ્ણ પરીપહને યુગપત્ વિરોધ બતાવવામાં આવેલ છે તે કાળની અપેક્ષાથી બતાવવામાં આવેલ છે શીતકાળમાં ઠંડીને પરીપહ અને ઉષ્ણકાળમાં ઉષ્ણપરીપહને સદ્ભાવ રહે છે શીતકાળમાં ઉષ્ણકાળ હોતો નથી અને ઉષ્ણ કાળમાં શીતકાળ હોતો નથી. આથી આ અપેક્ષાએ અહિયા આ પ્રશ્ન થવાને અવકાશ જ નથી

अचेला-रति-स्त्री-निपद्या-ऽऽक्रोश-याचना-सत्कारपुरस्कारपरीषदाः मन्त्रिः ।
दर्शनमोहनीयोदये-एकः दर्शनपरीषहः-वेदनीयोदये-एकादश ध्रु-त्पिपासा-वीक्षे-
ष्ण दशमशक-चर्या-शय्या-वध-रोग-तृणस्पर्श-मलाख्याः परीषदाः उत्पन्नम् ।
लामान्तरायोदये-एकः अलामपरीषहः । अष्टविधकर्मबन्धकस्य, तथाऽऽर्चयित्वा-
सप्तविधकर्मबन्धकस्य च सयतस्य द्वाविंशतिः परीषदाः संभवन्ति, तत्र स उत्कर्षो
युगपद् विंशतिपरीषदान् वेदयति । यत्र समये शीतपरीषहं वेदयति न तदोष्ण-
परीषहम्, यदा घोष्णपरीषहं वेदयति, न तदा शीतपरीषहं, तयोः परस्परमत्व-
न्तविरोधेन एकदा एकत्रासम्भवात् । तथा यस्मिन् समये चर्यापरीषहम् वेदयति,
न तदा निपद्यापरीषहम्, यदा निपद्या परीषहं वेदयति न तदा चर्यापरीषहं,
चर्यानिपद्यापरीषहयोरपि परस्परमत्वन्तविरोधेन एकदा एकत्रासम्भवात् ।

ये दो परीषह होते हैं । चारित्रमोहनीय के उदय में अचेल १; अरति
२, स्त्री ३, निपद्या ४, आक्रोश ५, याचना ६, सत्कारपुरस्कार ७,
ये ७ सात परीषह होते हैं । दर्शनमोहनीय के उदय में एक दर्शनपरी-
षह, वेदनीय के उदय में ११ ग्यारह परीषह-ध्रुवा १, तृषा २, शीत ३,
उष्ण ४, दंशमशक ५, चर्या ६, शय्या ७, वध ८, रोग ९, तृणस्पर्श १०,
और मेल ११ होते हैं । लामान्तराय के उदय में एक अलाम
परीषह उत्पन्न होता है । आठों प्रकार के कर्म का बन्धक तथा आशु
शिवाय सात कर्मों का बन्धक जो संयत है उसके २२ बाईस परीषह
होते हैं । एक काल में जीव अधिक से अधिक २० बीस परीषहों का
वेदन कर सकता है, क्योंकि चर्या और निपद्या में से किसी एक का,
शीत एवं उष्ण में से किसी एक एक का ही वेदन होगा, दोनों का
युगपत् नहीं, कारण कि इनका परस्पर एक साथ रहने में विरोध है ।

परीषह के चारित्र मोहनीयना उदयमां अचेल, १ अरति, २ स्त्री, ३ निपद्या, ४
आक्रोश ५ याचना, ६ सत्कारपुरस्कार, ७ आ सात परीषह होय के दर्शनमोह-
नीयना उदयमां एक दर्शनपरीषह, वेदनीयना उदयमां ११ अर्चयित्वा परीषह,
ध्रुवा, १ तृषा, २ शीत, ३ उष्ण, ४ दंशमशक, ५ चर्या, ६ शय्या, ७ वध, ८ रोग,
९ तृणस्पर्श १० अने मेल ११ होय के लामान्तरायना उदयमां एक अलाम
परीषह उत्पन्न थाय के आठ प्रकारना कर्मना बन्धक तथा आशु शिवाय सात
कर्मना बन्धक के संयत के तेने २२ बावीस परीषह होय के. एक कालमां एक एक
अधिकमां अधिक २० बीस परीषहनु वेदन करी शके के कर्मके, अर्थ अने निप-
द्यामांभी केअनु कडी अने उष्णमांभी केअनु न वेदन मनु होय के
अन्नेनु युगपत् नही करण के, तेना परस्पर एक साथ रहेवामां विरोध के

वेदुच्यते — सूक्ष्मसपरायस्य चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय सत्तामात्र वर्तते, न तु परीपहहेतुभूत सूक्ष्मोऽपि मोहनीयोदयोऽस्तीति न मोहनीयजन्यपरीपहो भवति, ततश्च परविध्वन्धकस्य मोहनीयोदयाभावेन सर्वत्रौत्सुक्यनिवृत्तिर्भवति, औत्सुक्यनिवृत्त्या च विहारपरिणामाभाव, तेन शय्यापरीपहवेदनसमये चर्याया अभावः । अत्र तु—मोहनीयोदयाद् धादररागवचनेन औत्सुक्य विहारपरिणामरूपं समवति, तदा शय्यापरीपहवेदनसमये चर्यापरीपह परिणामरूपेण वेदयति, अतो विंशतिपरीपहान् वेदयतीति कथनं सम्यगेव ।

कि शय्या और निपद्यामें से एक फिर घट जाने से बीस की जगह १९ उन्नीस परीपहों के वेदना का ही सद्भाव कहना चाहिये ?

उत्तर—सूक्ष्मसपराय सयत के चारित्रमोहनीय एव दर्शनमोहनीय केवल सत्तामात्र है, परीपह का हेतुभूत थोड़ा सा भी मोहनीय का उदय वहा नहीं है कि जिससे वहा मोहनीय के उदय से होने वाला परीपह हो सके, अतः छह कर्मों का पंधक जो सयत है उसके मोहनीय कर्म के उदय के अभाव से सर्वत्र औत्सुक्य की निवृत्ति हो जाती है । औत्सुक्य की निवृत्ति से विहार करने के परिणाम की भी निवृत्ति हो जाती है, इससे शय्यापरीपह के वेदन के समय में वहाँ चर्या का अभाव है परन्तु जो सप्तविध कर्म का अथवा अष्टविध कर्म का पंधक है उसके मोहनीय का उदय है इससे धादर रागवाला होने से उसके विहारपरिणामरूप औत्सुक्यभाव सम्भविता होता है । उस समय वह शय्यापरीपह के वेदन के समय में चर्यापरीपह की परिणाम-

कारण के शय्या अने निपद्यामांशी ओठ घटि जवाधी वीसने षड्द्वे ओगच्छीस परीपहोना वेदनने ज सद्भाव कहेवो ओठ अे.

उत्तर—सूक्ष्म सांपराय सयतना चारित्र मोहनीय अने दर्शनमोहनीयनी हेवण सत्ता मात्र छे परीपहना हेतुभूत थोडा पखु मोहनीयने उदय त्यां नधी के जेनाधी त्यां मोहनीयना उदयधी आवनार परीपह यध शके आधी छ कर्मोना अंधक जे सयत छे तेना मोहनीय कर्मना उदयना अभावरधी सर्वत्र औत्सुक्यनी निवृत्ति यध जाय छे औत्सुक्यनी निवृत्तिधी विहार करवाना परिणामनी पखु निवृत्ति यध जाय छे आधी शय्यापरीपहना वेदनना समये त्यां चर्याने अभाव छे परंतु जे सात प्रकारना कर्मोना अथवा आठ प्रकारना कर्मोना अंधक छे तेने मोहनीयने उदय छे आ कारणे जादर राग वाणा होवाधी जेना विहार परिणाम रूप औत्सुक्यभाव सम्भवीत बने छे जे समये ते शय्यापरीपहना वेदन समयमा चर्यापरीपहने परिणामरूपधी वेदित

ननु भगवता ' आयुर्मोहनीयवर्जितपद्विषकर्मबन्धक सूक्ष्मसपरायसंयत उत्कर्षतो युगपद् द्वादश परीपहान् वेदयति ' इत्युक्तम्, तत्र यदा शय्यापरीपहं वेदयति, न तदा चर्यापरीपहम्, यदा चर्यापरीपहं वेदयति, न तदा शय्यापरीपहम्, इति कथितम्, कथं तर्हि—सातविषकर्मबन्धकोऽष्टविषकर्मबन्धकस्य सप्तो युगपद् विंशतिपरीपहान् वेदयेत् । यतश्चर्याया सह शय्यानिषद्योर्विरोधेन चर्यासङ्घाते शय्यानिषद्योरसम्भवात्, एकोनविंशतेरेव परीपहाणां वेदनसंभव इति

शका—भगवान् ने "आयु एव मोहनीय वर्जित छह कर्मों का बंध करनेवाला सूक्ष्मसपराय गुणस्थानवाला संयत उत्कर्षकी अपेक्षा युगपत् १२ बारह परीपहोंका वेदन करता है" ऐसा कहा है सो उसमें जिस समय वह शय्यापरीपहका वेदन करता है उस समय वह चर्यापरीपहका वेदन नहीं करता है, और जिस समय चर्यापरीपह का वेदन करता है उस समय शय्यापरीपह का वेदन नहीं करता सो इस प्रकार की विवक्षा से वहाँ चौदह परीपहों के सामान्य कथन में उत्कर्षक की अपेक्षा बारह परीपह का वेदन करना ठीक बैठ जाता है, परन्तु जो आयुवर्जित सात प्रकार के अथवा आठ प्रकार के कर्मों का बंधक संयत है उसके चर्या के साथ शय्या और निषद्या का विरोध होने से चर्या के सद्भाव में शय्या और निषद्या का संभव हो नहीं सकता है ऐसी परिस्थिति में इस संयत के जो उत्कर्षक की अपेक्षा २० बीस परीपहों का सद्भाव मतलाया है वह कैसे सगत हो सकता है, क्यों

शका—भगवाने "आयु एव मोहनीय वर्जित छह कर्मोंका बंध करवा वाणा सूक्ष्म सपराय संयत उत्कर्षकी अपेक्षा युगपत् बारह परीपहोंनु वेदन करे छे" जेवुं कह्यु छे तो तेमां के समय ते शय्यापरीपहोंनु वेदन करे छे. ते समय ते चर्यापरीपहोंनु वेदन करता नथी एवने के समय चर्यापरीपहोंनु वेदन करे छे ते समय शय्यापरीपहोंनु वेदन नथी करता. आ प्रकारनी विविक्षाधी ओइ प्रकारना परीपहोंना सामान्य कथनमां उत्कर्षकी अपेक्षा बारह परीपहोंनु वेदन करवुं अशोअर अथ भेसतु छे परतु आयुवर्जित के सात प्रकारना अथवा आठ प्रकारना कर्मोंना अथक संयत छे—जेनी अथो साथे शय्या एवने निषद्याना विशेष होवाधी अर्थात् सदुभावमां शय्या एवने निषद्याना संभव अर्थ शकते नथी जेवी परिस्थितिमां आ संयत के के उत्कर्षकी अपेक्षाजे बीस परीपहोंना सदुभाव अतावेळ छे. ते अर्थ शीते संयत अर्थ शकते ?

सम्यक्त्व-मोहनीयरूपस्य बृहति भागे उपशान्ते, शेषे चानुपशान्ते एव स्यात् । नपुसकवेद चासौ दर्शनत्रयस्य शेषांशेन सहोपशमयितुं प्रवर्तते, ततश्च नपुंसकवेदो-
पशमावसरे अनिवृत्तिवादरसपरायस्य सतो दर्शनमोहनीयस्य प्रदेशत उदयोऽस्ति, न तु दर्शनमोहनीयस्य सत्तामात्रम्, ततस्त्वन्निमित्तको दर्शनपरीपहस्तस्यास्ति, ततश्चा-
प्यावपि परीपहान् वेदयति ।

उत्तर—यह अनिवृत्तिवादरसपराय वाला समयम दर्शनसप्तक के उपशम होने के ऊपर ही नपुसकवेदादिक के उपशमकाल में होता है । इसके दर्शनमोहनीय का उदय प्रदेश की अपेक्षा से माना गया है । यह इस प्रकार - दर्शनसप्तक के अन्तर्गत जो मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्वमोहनीय, ये तीन दर्शन हैं, इनका अधिक से अधिक जब उपशमन हो जाता है तथा कुछ भाग अनुपशान्त रहता है तब नपुसक-
वेद को यह इसी अनुपशान्त दर्शनत्रय के भाग के साथ २ उपशात करने के लिये प्रवृत्त होता है, इसलिये नपुसकवेद के उपशमन के काल में इस अनिवृत्तिवादरसपराय वाले समय के दर्शनमोहनीय का प्रदेश की अपेक्षा से उदय माना गया है, अतः दर्शनमोहनीय का इसके केवल सत्तामात्र ही नहीं है, प्रदेशोदय भी है । इससे उसके दर्शनमोहनीय उदय जन्य परीपह है ऐसा मानना चाहिये इससे वहाँ यह आठ परीपहों का वेदन करता है ।

उत्तर—आ अनिवृत्ति भावर सपरायवाणा समयमदर्शनसप्तकने उप-
शम यवाना उपर ७ नपुसकवेदादिकना उपशम ठाणमां थाय छे जेना दर्शन
मोहनीयने उद्य प्रदेशनी अपेक्षाधी मानवामां आवेल छे ते आ प्रकारे-
दर्शन सप्तकना अतर्गत जे मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व मोहनीय आ दर्शनत्रय
छे जेमने अधिकधी अधिक भाग न्यारे उपशात यर्ध लय छे तथा थोडा भाग
अनुपशात रहे छे त्यारे नपुसकवेदने आ जे ७ अनुपशान्त दर्शनत्रयना
भागनी साथे साथ उपशात करवा भाटे प्रवृत्त थाय छे आ भाटे नपुसक
वेदना उपशमना ठाणमां आ अनिवृत्ति भावर सपरायवाणा समयतना दर्शन
मोहनीयना प्रदेशनी अपेक्षाधी उद्य मानवामां आवेल छे आधी दर्शन
मोहनीयने जेमा देवण सत्ता मात्र नहीं, प्रदेशोदय पक्ष छे आधी जेना
दर्शन मोहनीय उद्यजन्य दर्शनपरीपह छे जेम मानवु जेधजे आधी
त्यां ते आठ परिपहोनु वेदन करे छे

ननु अनिष्टिघादरसपरायस्य मोहनीयसम्भवानामष्टानामपि परीषद्वाणां क्व
समवः ? यतो दर्शनसप्तकोपशमे घादरफपायस्य दर्शनमोहनायोदयामावेन दर्शन-
परीषद्वाभावात् सप्तानामेव समो नाष्टानाम्, अथ दर्शनमोहनीयोदयामावेऽपि
दर्शनमोहनोपसत्ताऽपेक्षया दर्शनपरीषदोऽपि स्यादित्युच्यते, तर्हि उपसक्तत्वे
सूक्ष्मसंपरायस्यापि मोहनीयसत्तासद्भावात् कथं तज्जनिता सर्वेऽपि परीषदा न
भवन्तीति न्यायस्य समानत्वात् ? ।

अत्रोच्यते—दर्शनसप्तकोपशमस्योपर्येव नष्टकवेदाद्युपशमकाले अनिष्टि
घादरसंपरायो भवति, स च दर्शनसप्तकान्तर्गतस्य दर्शनत्रयस्य मिथ्यात्व-मिथ-

रूप से वेदित करता है। इस कारण वह २० वीस परीषदों का वेदन
करता है, यह कथन समीचीन ही है।

शका—जो सयत अनिष्टि घादर सपराय वाला है उसके मोह
नीय से सम्बन्धित आठ परीषदों की सम्भावना कैसे हो सकती है ?
क्यों कि दर्शनसप्तक के उपशम होने पर उस घादर कषाय वाले
सयत के दर्शनमोहनीय के उदय के अभाव से दर्शनपरीषद तो होगा
नहीं, इसलिये यहाँ आठ की जगह ७ सात परीषद ही सम्बन्धित होते
हैं, फिर आठ की सम्भावना कैसे कही गई है ? यदि दर्शनमोहनीय के
उदय के अभाव में भी दर्शनमोहनीय की सत्ता की अपेक्षा से दर्शन
परीषद भी है ऐसा कहा जाय तो उपशमक होने पर सूक्ष्मसंपराय
वाले के भी मोहनीय की सत्ता के सद्भावसे उसके उदय से होनेवाले
सर्व परीषद नहीं मानना चाहिये क्यों कि न्याय सर्वत्र समान होता है।

४२० छे आ ४२० छे ते वीस परीषदोनु वेदन ४२० छे आ ४२० समीचीन ४२० छे.

शका—जे सयत अनिष्टि घादर सपरायवाला छे तेना मोहनीयकी
सम्बन्धित आठ परीषदोनी सम्भावना देवी रीते जनी शके ? केभके दर्शनसप्तक
उपशम भवाची जे घादर कषायवाला सयतना दर्शन मोहनीयना उदयना
अभावकी दर्शनपरीषद तो जे नही आ भाटे त्या आठनी ज्येवाजे सात
परीषद जे सम्बन्धित भेलाय छे. छतां आठनी सम्भावना केम ठेकेवाछे छे ?
कषाय दर्शन मोहनीयना उदयना अभावभां पञ्च दर्शन मोहनीयनी सत्तानी
अपेक्षा दर्शनपरीषद पञ्च छे जेवु ठेकेवाभां आवे तो उपशमक होवा छतां
सूक्ष्म संपरायवालाते पञ्च मोहनीयनी सत्ताना अद्रुभावकी तेना उदयकी बनार
सर्व परीषद न मानवा जेछेके ४२० छे, न्याय सर्वत्र समान होय छे

तत्र प्रथम स्थानम्—उदितकर्मा । उदित प्रवल वा कर्म=मिथ्यात्वमोहनीयादि यस्य स तथा, खलु अय पुरुष उन्मत्तकभूतो मदिरादिना विप्लुतचित्त इवास्ति, तेन कारणेन ' मामयमाक्रोशति वा, अपहसति वा, निच्छोटयति=हस्तादीं गृहीत्वा पलात् क्षिपति वा, दुर्वचनैर्निर्भत्सयति वा, रज्ज्वादिना बध्नाति वा, कारागार-प्रवेशनादिना रूग्नि वा, छविच्छेद-छवे' शरीरावयवस्य हस्तादेः छेदं करोति वा, मारणस्थानं नयति वा, मारयति वा, अपद्रावयति वा, उपद्रव करोति वा, बद्धं,

अधिक से अधिक समय तक रखना चाहिये ताकि उनके सहन करने की क्षमता आत्मा में आती रहे । पांच स्थानों में सर्वप्रथम स्थान उदितकर्मा है—मिथ्यात्व मोहनीय आदि कर्म जिसका प्रयलरूप से उदय में आरहा है ऐसा जीव उदितकर्मा है । इस प्रथमस्थान को लेकर जब परीपह एव उपसर्गों का निपात सयत के ऊपर हो तब उसे यह विचार करना चाहिये कि यह पुरुष उदितकर्मा है—इसका मिथ्यात्वमोहनीयादिक कर्म प्रयलरूप से उदय में आरहा है, इसलिये यह उन्मत्त जैसा हो रहा है—मदिरा के पान से जिस प्रकार मनुष्य होश हवाश खो बैठता है उसी तरह का यह बना हुआ है, इसी कारण यह मेरे प्रति रुष्ट हो रहा है, मेरी हँसी मजाक करता है, हाथ पकड़ कर मुझे खेंचना है, दुर्वचनों से मेरा तिरस्कार करता है, रस्सी आदि से मुझे बाधता है, कारागार में मुझे बंध करता है, मेरे शरीर के अवयव को छेदता है, बधस्थान पर मुझे ले जाता है, मारता है, मुझे यहाँ

अधिक समय सुधी रहने के लिये तेने सहन करवाणी समता आत्मा आवती रहे. पांच स्थानोभा सर्वप्रथम स्थाने उदित कर्मा छे मिथ्यात्व मोहनीय आदि कर्म जेनु प्रबण रूपथी उदयमां आवी रहैल छे जेवो एव उदित कर्मा छे आ प्रथम स्थानने उदिते न्यारे परीपह मने उपसर्गोना निपात साधु सयतनी उपर होय त्यारे तेजे के विचार करवे के छे आ पुरुष उदित कर्मा छे तेनु मिथ्यात्व मोहनीयादिक कर्म प्रबण रूपथी उदयमां आवी रहैल छे आथी ज ते उन्मत्त जेवो अनी रहैल छे मदिराना पानथी जेवी रीते मनुष्य शुद्धि पुद्धि जोध जेसे छे जेवी रीतनु आ अनेल छे आ कारखुधी ते मारा तरह रूप अनी रहैल छे, मारी हांसी मजाक करे छे, हाथ पकडीने मने जेसे छे दुर्वचनोथी मारे तिरस्कार करे छे, दोरदा आदिथी मने बांधे छे, कारागारमां मने बंध करे छे, मारा शरीरना अवयवोने छेदे छे, बधस्थान उपर मने ले जाये छे, मारे छे, मने त्यांथी बजाडे छे, मारा उपर उपद्रव

१७ एते च परीपहा द्विविधाः—द्रव्यपरीपहा भावपरीपहाश्च । तत्र द्रव्यपरीपहा नाम ये इहलोक निमित्तका वधवन्धनादयः परवशादधिसम्बन्धे ते । भावपरीपहा के ससारोच्छेदनार्थमनाकुलेन मनसाऽधिसम्बन्धे । अत्र शास्त्रे भावपरीपहा नामैवाधिकारात् । अथ उद्यमस्थपरीपहाणां भेदाः—

ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मचतुष्टय उद्यम, तत्र तिष्ठतीति उद्यमस्य=कषायसहितम्, स पञ्चभिः परीपहादिसहनात्मनस्वरूपैः स्थानैरुदितान् परीपहोपसर्गान् सम्पन्नं तत्कषायोदयनिरोधाऽऽदिना सहेत=विचलितो न भवेत्, क्षान्त्या धमेत्, अतीतृया तितिक्षेत, अध्यासीत्=परीपहादावेव आधिक्येनासीत्, न चलेत् ।

ये परीपह दो प्रकार के हैं—एक द्रव्यपरीपह दूसरा भावपरीपह । इस लोकसमधी जो वध वधन आदिक परवशाता से सहन किये जाते हैं वे द्रव्यपरीपह हैं । ससार वधन को नष्ट करने के लिये भव्य समयमीजनों द्वारा जो बिना किसी आकुलता के सहन किये जाते हैं वे भावपरीपह हैं । इस शास्त्र में इन्हीं भावपरीपहों को सहन करने का उपदेश है, और उसी निमित्त यह अधिकार है ।

१. उद्यमस्थपरीपहों के भेद—ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकात्मक का नाम उद्यम है । इस उद्यम में जो रहता है उसका नाम उद्यमस्थ है । ऐसा संयमी जीव कषायसहित होता है । उसे पाँच स्थानों से उदित परीपहों एवं उपसर्गों को कषाय के उदय का निरोध आदि करते हुए सहन करना चाहिये । शान्तिभाव से अविचलित होकर उसे उस समय घबराना नहीं चाहिये । परीपह आदि के स्थान में ही अपने आपको

आ परीपह के प्रकारना छे—अथ द्रव्यपरीपह वीजे भावपरीपह आ दोह स मधी के वध वधन आदिक परवशातायी सहन करवाभा आवे छे ते द्रव्यपरीपह छे, ससार वधनने नष्ट करवा भाटे भव्य समयमी जनो द्वारा के दोह प्रकारनी व्याकुलता वजर सहन करवाभा आवे छे ते भावपरीपह छे आ शास्त्रमें ते भावपरीपहोने सहन करवानो उपदेश छे अने के निमित्ते आ अधिकार छे ।

उद्यमस्थपरीपहोना भेद—

ज्ञानावरणीय आदि चार घातिका कर्मनु नाम उद्यम छे आ उद्यमों के रहे छे तेनु नाम उद्यमस्थ छे जेवा समयमीलव कषाय सहित छे जेने पाँच स्थानोधी उदित परीपहो अने उपसर्गोने कषायना उदयना निरोध आदि सम्भलने सहन करवा जेध के शान्तिभावयी अविचलीव वनीने तेके के समय तेनाधी गबरानु न जेध के परीपह आदिना स्थानमें के चोते चोताने अधिकारी

તયા-પપ વાલઃ પાપમયરહિત્વાત્ કરોતુ નામ આક્રોશનાદિ, મમ પુનર સહમાનસ્ય=અક્ષમમાણસ્ય અતિતિક્ષમાણસ્ય=અનધ્યાસમાનસ્ય, સર્વથા અસાતાદિ પાપકર્મ સપઘટે । ઇતિ ચતુર્થ સ્થાનમ્ ।

તયા-પપ વાલઃ પાપમયરહિત્વાત્ કરોતુ નામ આક્રોશનાદિક, મમ પુનર સલુ સમ્યક્ સહમાનસ્ય યાવત્ અધ્યાસમાનસ્ય કિં સપઘટે, અય તાવત્ પાપ વખ્નાતિ મયા ચ એકાન્તેન નિર્જરા ક્રિયતે । ઇતિ પચ્ચમં સ્થાનમ્ ।

તૃતિય સ્થાન મેં એસા વિચાર કરેં કિ યહ તાં વાલ હે, પાપ કે મયે સે રહિત હોને કે કારણ મહે હી યહ આક્રોશ આદિ કરતા રહે, પરન્તુ મેરા કર્તવ્ય તો ઇનકો સહન કરને કા હી હે । યદિ મેં ઇનકો સહન નહીં કરતા હુ-સહન મેં સાહસ તો છોડૂ દેતા હુ, ઇનસે યદિ ઘવરા જાતા હુ તો મુક્ષે અસાતા આદિ પાપકર્મ કા નિયમત ઘઘ હોગા । ઇસ પ્રકાર યહ ચતુર્થ સ્થાન હે ।

પચમસ્થાન મેં સયમી કો એસા વિચાર કરના ચાહિયે, કિ યહ પરીપહ એવ ઉપસર્ગકારી વ્યક્તિ પાપ કે મય સે રહિત હોને કે કારણ વાલ હે, ઇસકી ઇચ્છા હે યહ આક્રોશાદિક કરે । ઇસસે મેરા વિગઢતા કયા હે? મુક્ષે તો ઉલ્ટા ફાયદા હી હે, કયોં કિ ઉપસર્ગ ઓર પરીપહ કો સમતાપૂર્વક સહન કરનેવાલે કે એકાન્તત કર્મોં કી નિર્જરા હોતી હે, પરન્તુ યહ ઉપસર્ગ પરીપહકારી પુરુષ પાપ કા ઘઘ કરતા હે । યહ પચ્ચમ સ્થાન હે ।

11 11-11

ત્રીજા સ્થાનમાં-એવો વિચાર કરે કે, આ તો બાળ છે, પાપના બયથી રહિત થવાના કારણે મને એ આક્રોશ અદિ કરતો રહે પરંતુ મારું કર્તવ્ય તો એને સહન કરવાનું જ છે એ હું તેને સહન કરતો નથી. તો સદિષ્ટતાનાં શુભથી વિરુદ્ધ થાઉ છું એ તેનાથી હું અભયાર્થ બહાણું, તો મને અસાતા આદિ પાપ કરનાં નિયમત બંધ થશે આ પ્રકારે આ ચોથું સ્થાન પણ છે ।

પાંચમ સ્થાનમાં-સયમીએ એવો વિચાર કરવો જોઈએ કે, આ પરીપહ અને ઉપસર્ગ કરનાર વ્યક્તિ પાપના બયથી રહિત હોવાના કારણે બાળ છે તેની ઇચ્છા છે કે, આ આક્રોશ અદિ કરે પણ તેથી મારું બગડે છે શું ? મને તો એથી ઉલટો ફાયદો જ છે કારણકે ઉપસર્ગ અને પરીપહને સમતા પૂર્વક સહન કરનારને એકાન્તત કર્મોંની નિર્જરા થાય છે પરંતુ ક્યાની વાત એ છે કે ઉપસર્ગ પરીપહકારી પુરુષ તો કેવળ પાપનો જ બંધ કરે છે આ પાંચમું સ્થાન છે

पात्र, कम्बल, पादमोच्छनं, सदोरुमुखवस्त्रिकां रजोहरण वा आच्छिनत्ति=
बलादुत्थलयति वा, विच्छिनत्ति=विच्छिन्नं करोति दूरे व्यरस्थापयति वा, अथवा
वस्त्रमीपच्छिनत्ति-आच्छिनत्ति, विशेषेण छिनत्ति-विच्छिनत्ति । भिनत्ति=वातं
स्फोटयति वा, अपहरति=चोरयति वा । इदं चाक्रोशादिकमत्र आक्रोशवधाभिधान-
परीपहद्वयरूपं मन्तव्यम् । उपसर्गविवक्षाया तु मानुष्यकमादेपिकाद्युपसर्गरूपमिति
मयम स्यान्म् ।

तथा—अथ परीपहोपसर्गकारी, मिथ्यात्वादिकर्मवशवर्ती पुरुषो यज्ञाऽऽभिष्टा
=देवाधिष्ठितः, तेन कारणेन मामाक्रोशतीत्यादि । इति द्वितीयं स्यान्म् ।

तथा—मम तद्भववेदनीयं कर्म उदितमस्ति, तेनैव मामाक्रोशतीत्यादि । तेनैव
मानुष्यकेण भवेन वेद्यते=अनुभूयते यत्तत्, तद्भववेदनीयम् । इति तृतीयं स्यान्म् ।

से भगता है, मेरे ऊपर उपद्रव करता है, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद
मोच्छन, दोरासहित मुखवस्त्रिका रजोहरण आदि मेरे छुड़ाता है,
और छुड़ाकर उन्हें दूर फेंक देता है, अथवा उन्हें झटकता है उन्हें फोड़ता
है, चुराता है । ये आक्रोश आदि यज्ञ पर आक्रोश एवं वधपरीपहरूप
मानना चाहिये । जिस समय उपसर्ग की विवक्षा में ये आक्रोशादिक
हों उस समय इनको मनुष्यकृत अथवा किसी द्वेषीकृत उपसर्ग में
परिगणित करना चाहिये । इस प्रकार यह प्रथमस्थान है ।

द्वितीय स्थान में यह विचार करना चाहिये कि मिथ्यात्वादिकर्म
वशवर्ती यह परीपह एव उपसर्गकारी पुरुष किसी देव से अभिष्ठित
हो रहा है । इसी कारण यह मुझे आक्रोश आदि से पीड़ित कर
रहा है । यह द्वितीय स्थान है ।

३३३ है, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादमोच्छन, दोरासहित मुखवस्त्रिका, रजोहरण
आदि भारी पासेधी जसेडे है, जसेडीने/तेने दूर डे डी डे है, अथवा तेने अटके
है, तेने डेडे है, चुरावे है, जे आक्रोश आदि सर्वने आ स्थणे आक्रोश अने वध
परीपहद्वयरूप मानवा जेध जे जे समये उपसर्गनी विवक्षाभा जे आक्रोश आदि
वश ते समये जेने मनुष्यकृत अथवा डेध द्वेषीकृत उपसर्गभा परिगणित
करवु जेध जे जे प्रकारे आ प्रथम स्थान है.

३३३ स्थानभा—जे विचार करवे जेध जे है, मिथ्यात्व आदि ठमना वशवर्ती
आ परीपह अने उपसर्गकारी पुरुष डेध देवधी अभिष्ठित वध करेव है आ
कारणधी अने आक्रोश वजेवधी पीडा आपी रहेव है आ ३३३ स्थान है.

तथा-एष बालः पापभयरहितत्वात् करोतु नाम आक्रोशनादि, मम पुनः सहमानस्य=अक्षममाणस्य अतितिक्षमाणस्य=अनध्यासमानस्य, सर्वथा असात्वात् पापकर्म सपद्यते । इति चतुर्थं स्थानम् ।

तथा-एष बालः पापभयरहितत्वात् करोतु नाम आक्रोशनादिक, मम पुनः खलु सम्यक् सहमानस्य यावत् अध्यासमानस्य किं सपद्यते, अयं तावत् पाप वध्नाति मया च एकान्तेन निर्जरा क्रियते । इति पञ्चमं स्थानम् ।

तृतीय स्थान में ऐसा विचार करें कि यह तो बाल है, पाप के भय से रहित होने के कारण भले ही यह आक्रोश आदि करता रहे, परन्तु मेरा कर्तव्य तो इनको सहन करने का ही है । यदि मैं इनको सहन नहीं करता हूँ-सहन में साहस को छोड़ देता हूँ, इनसे यदि घबरा जाता हूँ तो मुझे असाता आदि पापकर्म का नियमत पध होगा । इस प्रकार यह चतुर्थं स्थान है ।

पञ्चमस्थान में सयमी को ऐसा विचार करना चाहिये, कि यह परीपह एव उपसर्गकारी व्यक्ति पाप के भय से रहित होने के कारण बाल है, इसकी इच्छा है यह आक्रोशादिक करे । इससे मेरा विगडता क्या है? मुझे तो उल्टा फायदा ही है, क्योंकि उपसर्ग और परीपह को समतापूर्वक सहन करनेवाले के एकान्तत कर्मों की निर्जरा होती है, परन्तु यह उपसर्ग परीपहकारी पुरुष पाप का वध करता है । यह पञ्चम स्थान है ।

श्रील स्थानमां-अयेवो विचार करे के, आ तो बाल छे, पापना भयधी रहित यवाना करबे बले के आक्रोश आदि करतो रहे परंतु भाइ कर्तव्य तो अने सहन करवानु छे के के दु तेने सहन करतो नथी. तो सहिष्णुताना शुद्धी विमुक्त थाई छे के तेनाथी दु गभराई बडिछु, तो मने असाता आदि पाप कर्मना नियमत पध थये. आ प्रकारे आ योथु स्थानः पञ्च छे ।

पांचम स्थानमां-सयमीअे अयेवो विचार करवो केछेअे के, आ परीपह अने उपसर्ग करनार व्यक्ति पापना भयधी रहित होवाना करबे बाल छे तेनी इच्छा छे के, आ आक्रोश आदि करे पञ्च तेथी भाइ भजठे छे शु ? मने तो अथी उबटो क्षयदोअ छे करबुके उपसर्ग अने परीपहने समता पूर्वक सहन करनारने अेकान्ततः कर्मोनी निर्जरा याय छे परंतु इयानी वात अे छे के उपसर्ग परीपहकारी पुरुष तो केवळ पापनोअ पध करे छे आ पांचम स्थान छे

इत्येतैः पञ्चभिः स्थानैश्च ग्रन्थस्य सयत. उदितान् परीपदोपसर्गान् सम्यक् सहेत, क्षमेत, तितिक्षेत्, अध्यासीत् ।

अथ केवलीपरीपहाणां भेदा.—

पञ्चभिः स्थानैः केवली उदितान् परीपदोपसर्गान् सम्यक् सहेत यावत्-
अध्यासीत् । तद् यथा-सिप्तचित्तं=पुत्रशोकादिना नष्टचित्तं. खलु अयं पुरुषः,
तेन कारणेन-एष पुरुषो मामाक्रोशति वा तथैव यावत् अपहरति वा ।
इति प्रथम स्थानम् ।

तथा—अयं पुरुषो हर्षाधिक्याद् इप्तचित्तोऽस्ति, पुत्रजन्मादि जनितहर्षेण
गर्वितोऽस्ति, तेन कारणेन एष पुरुषो मामाक्रोशति यावत् अपहरति वा । इति
द्वितीय स्थानम् ।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त पांच स्थानों से उदित परीपद एवं उपसर्गों
को सम परिणाम से युक्त हो कर साधु को सहन करना चाहिये । उन
से घबराना नहीं चाहिये ।

केवलीपरीपदों के भेद—

केवली पांच स्थानों से उदित परिपदों को सहन करते हैं, यावत्
अध्यासित करते हैं—अर्थात् सम्यक् रूपसे सहन करते हैं । प्रथम
स्थानमें वे यह विचार करते हैं कि—यह पुरुष पुत्रशोक आदि से विक्षिप्त
चित्त है—इसका चित्त ठिकाने पर नहीं है इस कारण यह मेरे प्रति
आक्रोश आदि कर रहा है ।

द्वितीयस्थानमें वे, यह विचार करते हैं कि यह पुरुष हर्षातिरेकसे
हर्षित है—पुत्रोत्पत्ति, आदि जनित हर्ष से गर्वित हो रहा है इस
कारण यह मेरे प्रति आक्रोश आदि चेष्टाएँ कर रहा है ।

॥ अथ प्रथमस्थानं भूवेत्तु पांच स्थानां उदित परीपदं अने पञ्चस्योने सम्यक्
साधुभिः सुदत्तं अनीने साधुषु सहनं कर्त्वा ज्ञेयं ज्ञेयं ज्ञेयं न ज्ञेयं ।

॥ केवलीपरीपदोना भेद— ॥ १ ॥

केवली पांच स्थानां उदित परीपदोने सहन करे यावत् अध्यासित करे
प्रथमस्थानं ते विचार करे के आ पुरुष, पुत्रशोक आदि विक्षिप्त चित्त
अने चित्त ठेकावे नहीं ते कारणे ते भास उपर आक्रोश आदि करी रहे
अने स्थानं ते जेवा विचार करे के, आ पुरुष हर्षना आवेशमा
कुलात् जेव छे, पुत्रोत्पत्ति वनेने, कारणे ते हर्षं छे अने
कारणे ते भास तथे आक्रोश वनेने चेष्टाया करे छे

तथा—यक्षाविष्ट. खलु अप पुरुषः, तेन कारणेन एव पुरुषो मामाक्रोशति यावत्-अपहरति वा । इति तृतीय स्थानम् ।

तथा—मम पुन. खलु तद्भववेदनीयं कर्म उदितम् । तेन कारणेन एव पुरुषो मामाक्रोशति यावत्-अपहरति वा । इति चतुर्थ स्थानम् ।

तथा—मां पुनः खलु सम्यक् सहमानं क्षममाण तितिक्षमाणम् अध्यासमानं दृष्ट्वा बहवोऽन्ये छद्मस्थाः श्रमणा निर्ग्रन्था उदितान् परीपहोपसर्गान् एवं सम्यक् सृष्टिष्यन्ते यावत् अस्यासिष्यन्ते । इति पञ्चम स्थानम् ॥

इत्येतैः पञ्चमि. स्थानैः केवली उदितान् परीपहोपसर्गान् सम्यक् सहेत यावत् अन्यासीत् । एतत् स्थानाङ्गसूत्रे स्पष्टम् । (स्था ५ ठा. १ उ०) ॥ ४५ ॥

तृतीयस्थान में वे यह विचार करते हैं कि यह परीपह एव उपसर्गाकारी व्यक्ति यक्षाविष्ट हो रहा है इस कारण मेरे प्रति आक्रोश आदि कर रहा है ।

चतुर्थस्थान में वे ऐसा विचार करते हैं कि—मेरे इसी भव का वेदनीय कर्म उदित हो रहा है इस कारण यह पुरुष मेरे प्रति आक्रोशादिक कर रहा है ।

पचमस्थान में ऐसा विचार करते हैं—मुझे इन परीपह एवं उपसर्गों को अच्छी तरह सहन करते हुए देखकर अन्य अनेक छद्मस्थ श्रमण निर्ग्रन्थ उदितपरीपहों एवं उपसर्गोंको सहन करेंगे, उनके सहन करने में चलायमान नहीं होंगे—सहन करते समय धैर्य धारण करेंगे ।

इस प्रकार इन पांच स्थानों से परीपहों एवं उपसर्गों को सहन आदि करते हैं । यह स्थानाङ्गसूत्रमें स्पष्ट लिखा हुआ है । (स्था ५ उ १) ॥४५॥

त्रीण स्थानमां ज्येष्ठो विचार करे के, आ परीपह अने उपसर्ग करनार व्यक्ति यक्षाविष्ट यक्षरक्षे छे आ कारणे ते मारा तरक्ष आक्रोश वगेरे करी रहेल छे

चोथा स्थानमां ज्येष्ठो विचार करे छे के, मारां आ भवनां वेदनीय कर्म उदितमां आवेल छे, अने ते करवने लक्ष आ पुत्र्य मारा तरक्ष आक्रोश करी रहेल छे

पांचमा स्थानमां ज्येष्ठो विचार करे छे के, मने आवा परीपह अने उपसर्गोने सारी रीते सहन करतां जेधने अन्य अनेक छद्मस्थ निर्ग्रन्थ श्रमण उदित परीपहो अने उपसर्गोने सहन करथे तेना सहन करवामां चलायमान नही थाय अने सहन करती वपते धैर्य धारण करवा रहेथे.

आ प्रकारे जे पांचे स्थानोथी परीपहो अने उपसर्गोने सहन करे. आ स्थानाङ्गसूत्रमां स्पष्ट लजेल छे (स्था ५ उ०१) ॥४५॥

अध्ययनार्थं हुपसहरनाह—

मूलम—एए परीसहा संवे, कांसवेण पवेइया ।

जे भिर्वखू णं विहम्मज्जां, पुंठोकेणइ कणहुइ ॥४६॥ तिबेमि

॥ वीय परितहज्जयण समत्त ॥

छाया—एते परीपहा सवे, काश्यपेन प्रवेदिताः ।

यान् मिक्षुर्न विहन्येत, स्पृष्टः केनापि कस्मिञ्चित् ॥४६॥ इति ब्रवीमि ॥

टीका—‘एए’ इत्यादि ।

एते सवें परीपहाः काश्यपेन=काश्यपगोत्रोत्पन्नेन भगवता श्रीवर्धमानस्वामिना तीर्थकरेण प्रवेदिताः—प्रतिवोधिताः । यान्=परीपहान् ज्ञात्वा मिक्षु केनापि परीपहेण कस्मिञ्चित् स्थाने स्पृष्टः सन् ‘न विहन्येत’=न पराजितो भवेत्, सयमात्

अथ अध्ययन के अर्थ का उपसहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—
‘एए’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(एए परीसहा—एते परीपहाः) ये २२ बाईस परीपह (कास वेण-काश्यपेन) काश्यपगोत्रोत्पन्न तीर्थकर भगवान् श्रीमहावीर स्वामीने (पवेइया—प्रवेदिता) कहे हैं । (जे—यत्) जिनका जानकर (मिक्खू—मिक्षुः) मिक्षु (केणइ—केनापि) किसी भी परीपह से (कणहुइ—कुत्रचित्) किसी स्थान में आक्रान्त होने पर (ण विहम्मज्जां—न विहन्येत) पराजित नहीं

हवे अध्ययनना अर्थने उपसहार करता सूत्रकार कहे छे—

‘एए’ इत्यादि ।

अन्वयार्थ—एए परीसहा—एते परीपहाः आ आनीस परीपह कासवेण—काश्यपेन काश्यपगोत्रोत्पन्न तीर्थकर भगवान् श्री महावीर स्वामीने पवेइया—प्रवेदिता कहे छे छे जे—यत् जेने आधीने मिक्खू—मिक्षुः केणइ—केनापि परीपहसे कणहुइ—कुत्रचित् केण स्थानमें आक्रान्त भवाभी न विहम्मज्जां—न विहन्येत स यमभी मिक्षु पतित न भवय. “इति ब्रवीमि” आ प्रकारे छे अथु । भगवाने जेवुं कहुं छे तेवुं अ मे कहुं छे भारीपातानी बुद्धिनी कल्पनाभी कंधे ~ नभी

पतितो न भवेदित्यर्थः । इति ब्रवीमि=भगवता यथा प्रतिबोधित, तथा कथयामि
न तु स्वयुद्ध्या प्रकल्प्येति भावः ॥ ४६ ॥

इति श्रीविश्वविख्यात-जगद्गुरु-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषा-
कलितललितकलापालापक-प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मायक-
वादिमानमर्दक-श्रीशाहूछन्नपति-कोल्हापुरराजमदक-
“ जैनशास्त्राचार्य ”-पदभूषित-कोल्हापुरराजगुरु-
वालव्रामचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्य-
श्रीघासीलालप्रतिविरचितायां भीमदुत्तराध्ययन-
सूत्रस्य प्रियदर्शिन्याख्यायां व्याख्यायां
परीपहनामकं द्वितीयमध्ययनं
सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

—(०)—

होवे-सयम से पतित नहीं होवे। “ इति ब्रवीमि ” इस प्रकार हे जन्मू!
भगवान् ने जैसा कहा है मैंने वैसा ही कहा है। अपनी बुद्धि से कल्पित
कर कुछ नहीं कहा है।

भाषार्थ—अध्ययन की समाप्ति करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जो
साधु इन परीपहों से पराजित नहीं होता है वह सयम की ठीक २
आराधना करता है। ये पाईस परीपह मैंने नहीं कहे हैं, भगवान् महा-
वीरने कहे हैं। अतः इनका स्वरूप जानकर इनके सहन करने में प्रत्येक
संपत को सावधान रहना चाहिये ॥

॥ यह द्वितीय परीपहअध्ययन समाप्त हुआ ॥२॥

—००—

भाषार्थ—अध्ययनकी समाप्ति करता सूत्रकार कहे छ के, ने साधु
आ परीपहोधी परालत नथी यत्त, ते सयमनी ठीक ठीक आराधना करे छ
आ पावीस परीपह मे कथा नथी भगवान महावीर कथा छ आधी जेनु
स्वयं आधीने तेने सहन करवामा प्रत्येक सयते सावधान रहेवु जेधजे.

॥ आ पीनु परीपह नामनु अध्ययन समाप्त यथु ॥२॥

—००—

११ 'अश्ययनार्थमुपसहरनाह—

मूलम—एष परीसहा संव्वे, कांसवेण पवेइंया ।

जे भिर्वखू णं विहम्मज्जां, पुट्टोकेणइ कणहुइ ॥४६॥त्तिवोमि ॥

१२ ॥ वीय परिसहज्जयण समत्त ॥

छायो—एते परीपहाः सर्वे, काश्यपेन प्रवेदिताः ।

यान् भिक्षुर्न विहन्येत, स्पृष्टः केनापि कस्मिंश्चित् ॥४६॥ इति ब्रवीमि ॥

टीका—' एष ' इत्यादि ।

एते सर्वे परीपहा काश्यपेन=काश्यपगोत्रोत्पन्नेन भगवता भीवर्धमानस्वामिना तीर्थकरेण प्रवेदिता-प्रतिवोधिता । यान्=परीपहान् ज्ञात्वा भिक्षुः केनापि परीपहेण कस्मिंश्चित् स्थाने स्पृष्टः सन् ' न विहन्येत=न पराजितो भवेत्, सयमात्

अय अश्ययन के अर्थ का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—
'एष' इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(एष परीसहा—एते परापहाः) ये २२ ब्राह्मण परीपह (कास वेण-काश्यपेन) काश्यपगोत्रोत्पन्न तीर्थकर भगवान् श्रीमहावीर स्वामीने (पवेइया-प्रवेदिता) कहे हैं । (जे-यत्) जिनका जानकर (भिक्षु-भिक्षुः) भिक्षु (केणइ-केनापि) किसी भी परीपह से (कणहुइ-कुत्रचित्) किसी स्थान में आक्रान्त होने पर (ण विहम्मज्जा-न विहन्येत) पराजित नहीं

हवे अश्ययनना अर्थने उपसंहार कर्ता सूत्रकार कहे छे—

'एष' इत्यादि.

अन्वयार्थ—एष परीसहा—एते परीपहाः आ आवीस परीपह कासवेण-काश्यपेन काश्यपगोत्रोत्पन्न तीर्थकर भगवान् श्री महावीर स्वामीके पवेइया-प्रवेदिता कहेल छे जे-यत् जेने आधीने भिक्षु-भिक्षु कौण पक्ष भिक्षु केणइ-केनापि परीपहभी कणहुइ-कुत्रचित् कौण स्थानभा आकांत यवाभी ण विहम्मज्जा-न विहन्येत स यमभी भिक्षु पतित न थाय. "इति ब्रवीमि" आ प्रकारे के अनुसार भगवाने जेवु कहे छे तेवु अ मे कहे छे भारीपोतानी बुद्धिनी कल्पनाभी कौण पक्ष कहेल नथी.

मूलम्—चत्वारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जतुणो ।

माणुसत्त सुई सद्धा, सजमम्मि यं वीरिय” ॥१॥

छाया—चत्वारि परमाङ्गानि, दुर्लभानि इह जन्तोः ।

मानुपत्व श्रुति श्रद्धा, समये च वीर्यम् ॥ १ ॥

टीका—‘चत्वारि’ इत्यादि ।

इह=संसारे चत्वारि परमाङ्गानि-परमाणु=उत्कृष्टानि, अङ्गानि=साधनानि-
मुक्तिप्राप्तिकारणानि, जन्तोः=प्राणिनः, दुर्लभानि=दु खेन लभ्यानि, नरकनिगो-
दाधनन्तजन्ममरणानन्तरप्राप्यत्वात् । तानि धर्मप्राप्ते. प्रधानकारणानि चत्वारि ।
कानि ? इत्यत आह—‘माणुसत्त’ इत्यादि । मानुपत्व=मनुष्यजन्म, श्रुतिः=
धर्मस्य श्रवणम्, श्रद्धा=धर्मं रुचिः, च=पुनः समये आसन्नवविरमणरूपे विरतिलक्षणे
सप्तदशविधे वीर्यं विशेषेण ईरयति प्रवर्तयति आत्मानं तासु तासु क्रियासु इति
वीर्यं=सामर्थ्यम् । एतानि चत्वारि जीवस्य दुर्लभानि सन्तीति ।

अन्वयार्थ—(इह) इस संसार में (चत्वारि परमंगाणि-चत्वारि
परमाङ्गानि) मुक्तिप्रापक ये चार अंग (जतुणो-जन्तो) प्राणि को
(दुल्लहाणि-दुर्लभानि) महादुर्लभ हैं-नरक निगोदादिक में अनन्त
जन्म कर लेने के बाद जीवों को प्राप्त होते हैं । धर्मप्राप्ति के प्रधान
कारण चार अंग ये हैं (माणुसत्त-मानुपत्वम्) १ मनुष्यजन्म, (सुई-श्रुति) २
धर्म का श्रवण, (सद्धा-श्रद्धा) ३ धर्म में श्रद्धा रुचि (य-च) और
(सजमम्मि य वीरिय-संयमे वीर्यम्) ४ आसन्न का विरमणरूप जो १७
संग्रह प्रकार का संयम है उसमें विशेषरूप से शक्ति के अनुरूप प्रवृत्ति ।
ये चार बातें जीवके लिये प्राप्त होना महादुर्लभ हैं ।

अन्वयार्थ—इह आ संसारमां चत्वारि परमंगाणि-चत्वारि परमाङ्गानि मुक्ति
प्राप्तनार ये चार अंग जतुणो-जन्तो प्राणीने दुल्लहाणि-दुर्लभानि महा दुर्लभ
छे नरक निगोदादिकमां अनन्त जन्म करी वीधा पछी एवोने प्राप्त थाय
छे धर्म प्राप्तिनु प्रधान कारण आ चार अंग छे माणुसत्त-मानुपत्वम् १ मनुष्य
जन्म, सुई-श्रुति २ धर्मनु श्रवण सद्धा-श्रद्धा ३ धर्ममां श्रद्धा-रुचि य-च अने
सजमम्मि वीरिय-संयमे वीर्यम् ४ आसन्न विरमणरूप जे सत्तर प्रकारने संयम छे
तेमां विशेषरूपी शक्तिनी अनुरूप प्रवृत्ति आ अरे वातो एव भाटे प्राप्त
थयी महा दुर्लभ छे

॥ અથ તૃતીયમધ્યયનમ્ ॥

પરીપહનામક દ્વિતીયમધ્યયનમુક્તમ્ । અથ તૃતીયં ચતુરંગીયમધ્યયનં પ્રારમ્ભ્યતે ।
 અસ્ય ચાયમમિસમ્બન્ધઃ—શ્દાનન્તરાધ્યયને પરીપહાઃ સોદઘ્યા ઇત્યુક્તમ્, તથા
 ‘કિમાલમ્બન્ કૃત્વા તે સોદઘ્યાઃ ?’ ઇત્યાકાશ્ચ્યાયાં ચતુર્ણામિજ્ઞાનાં દુર્લભત્વમેવ
 તન્નાલમ્બનમિતિ ઘોષયિતુ ચતુરંગીયનામકમિદં તૃતીયમધ્યયનમુચ્યતે, તન્નાહૌ તેષાં
 નામાનિ નિર્દિશ્નન્નાહ—

તૃતીય અધ્યયન—

પરીપહનામક દ્વિતીય અધ્યયન કહા જા શુકા હૈ । અથ ચતુ-
 રંગીયનામક તૃતીય અધ્યયન પ્રારમ્ભ હોતા હૈ । દ્વિતીય અધ્યયન કે
 બાદ હસ અધ્યયન કો પ્રારમ્ભ કરને કા સૂત્રકાર કા યહ ઉદ્દેશ્ય હૈ કિ
 જો દ્વિતીય અધ્યયન મેં “પરીપહ સહન કરના ચાહિયે” એસા કહા હૈ
 સો ઘઠાં પર એસા પ્રશ્ન હોતા હૈ કિ: “ઇન પરીપહોં કો કિસકા અલમ્બન
 છેકર સહન કરના ચાહિયે” । હસકે સમાધાન નિમિત્ત હી હસ તૃતીય
 અધ્યયન કા પ્રારમ્ભ હૈ । હસમેં યહ યતલાયા જાયગા કિ ચાર પરમ-
 વસ્કૃષ્ટ અંગોં કી પ્રાપ્તિ મહાદુર્લભ હૈ । યે ચાર અંગ બહે પુણ્ય સે મિછે
 હૈ, એસા સમજકર મુનિ પરીપહોં કો સહન કરતે હૈ, યે હી ચાર અંગ
 યહાં અલમ્બન-આધાર-રૂપ હૈ અતઃ ડન ચાર અંગોંકો યહાં બતલાતે હૈ—
 ‘ચત્તારિ’—ઇત્યાદિ ।

અધ્યયન ત્રીણુ

પરીપહ નામનુ બીણુ અધ્યયન કહેવાઈ ગયુ હવે ચતુરંગિય નામનુ
 ત્રીણુ અધ્યયન શરૂ થાય છે બીજા અધ્યયન પછી આ ત્રીજા અધ્યયનનો
 પ્રારમ્ભ કરવાનો સૂત્રકારનો એ ઉદ્દેશ છે કે, બીજા અધ્યયનમાં “પરીપહ સહન
 કરવો બોધ્યો” એવુ કહેલ છે તેમાં એવો પ્રશ્ન ઉત્પન્ન થાય છે કે, આ
 પરીપહોને કેવું અવલન લઈને સહન કરવા બોધ્યો એ એના સમાધાન નિમિત્તે
 જ આ ત્રીજા અધ્યયનનો પ્રારમ્ભ છે આમાં એ વાત બતાવવામાં આવે છે કે,
 ચાર પરમ-ઉત્કૃષ્ટ અંગોની પ્રાપ્તિ મહા દુર્લભ છે એ ચાર અંગ ધરા પુન્ઘવી
 મળે છે. એવુ સમજીને મુનિ પરીપહોને સહન કરે એ ચાર અંગ બહી
 અવલન આધાર રૂપ છે આથી એ ચાર અંગોને બહી બતાવવામાં આવેલ છે.
 ‘ચત્તારિ’ ઇત્યાદિ.

मानुषत्वादिषु चतुर्षु कस्याप्येकस्यामावे मोक्षो न सम्भवतीत्यत उक्त 'चत्वारि' इति ।
 घर्मश्रवण विनाऽपि यस्य श्रद्धा दृश्यते सा जन्मान्तरीयश्रवणजन्यैवेति नास्ति
 शङ्कावसर' । मृद विना घट इव, तन्तून् विना पट इव, काष्ठ विना शकटमिव
 मानुषत्वादित्तुष्टय विना मोक्षो न भवति ।

निर्जरा की अपेक्षा ये चार अग सर्वप्रथम उपादेय होने के कारण
 मुख्य हैं । इसलिये उनमें ही उत्कृष्टता आती है । इन चारों में से यदि
 एक भी अग का अभाव रहता है तो मुक्ति का लाभ जीव को नहीं
 हो सकता है । यही बात "चत्वारि" इस विशेषण से पुष्ट की गई है ।

प्रश्न—घर्म के श्रवण से ही जीव को घर्म में श्रद्धा हाती है ऐसा
 ऐकान्तिक नियम नहीं है, क्यों कि प्रायः ऐसे भी जीव देखे जाते हैं
 कि जो घर्म का श्रवण तो नहीं करते हैं फिर भी उनकी घर्म में
 भट्ट श्रद्धा रहती है ।

उत्तर—प्रश्न ठीक है । परन्तु उसका उत्तर यह है कि—जो जीव
 ऐसे हैं कि घर्म श्रवण किये विना भी घर्म में श्रद्धाशाली होते हैं उन्होंने ने
 पहिले भव में घर्मश्रवण किया है, उसीका प्रताप है । मिट्टी
 के बिना जैसे घट उत्पन्न नहीं हो सकता है, तन्तुओं के बिना
 जैसे वस्त्र नहीं बन सकता है, काष्ठ के बिना जैसे शकट का निर्माण

चार अग सर्व प्रथम उपादेय यवाना कारणे मुख्ये छे आ कारणे तेनामां
 उत्कृष्टता आवे छे आ चारमांथी जे जेक पक्ष अगने अभाव रहे तो
 मुक्तिने लाभ लवने यह शकते नथी । आ बात "चत्वारि" जे विशेषणथी
 नक्षी करवामा आवे छे

प्रश्न—घर्मना श्रवणथी न लवने घर्ममां श्रद्धा याय छे जेवा जेकान्तिक
 नियम नथी । केभके, वज्रा जेवा लव जेवामां आवे छे के, जे घर्मनुं श्रवण
 करता नथी छता पक्ष जेनी घर्ममा अतूट श्रद्धा रहे छे

उत्तर—प्रश्न ठीक छे परंतु जेना उत्तर जे छे के, जे लव जेवा छे के
 जे घर्मनुं श्रवण थो वगर पक्ष घर्ममां श्रद्धावाणा छे, जेभजे आगला भवमा
 घर्म श्रवण करे छे होय छे आथी न आ भवमां घर्ममां जे श्रद्धा छे ते परलवने
 पीछे संलगेवा घर्म श्रवणने प्रताप छे भाटी वगर जेम भडा जनी शकते नथी,
 चतुष्टय वगर जेम वस्त्र जनी शकतुं नथी, काठडा वगर जेम शकटनुं निर्माण

પત્તદ્વચતુષ્ટય ઠિ ગિરિષુ મેરુરિવ, તરુષુ કલ્પતરુરિવ, ધાતુષુ મુવર્ણમિવ, પાનેષુ પીયૂષમિવ, મણિષુ ચિન્તામણિરિવ, પ્રામાણિકપુરુષુ તીર્થંકર ઇવ, ષેતુષુ કામધેનુરિવ, મનુષ્યેષુ ચક્રવર્તીવ, દેવેષુ શક્ર ઇવ પ્રધાનમસ્તીતિ સૂચનાર્થે 'પરમગાણિ' ઇત્યત્ર પરમેતિ ચિશેષણમ્ ।

નતુ માનુષત્વાદીનાં કથ પરમાકૃત્ત્વમ્ નિર્જરાયા ઇવ મુક્તિપ્રાપ્તૌ સાક્ષાત્ કારણત્વેન પ્રાધાન્યાદિતિ ચેત્ ? ઉચ્યતે—માનુષત્વાદિચતુષ્ટય વિના નિર્જરાયા જનુસ્પત્ત્યા તદપેક્ષયા માનુષત્વાદિચતુષ્ટયસ્ય પ્રયમોપાદેયતયા મુખ્યત્વાદુત્કૃષ્ટત્વમસ્તિ ।

યે ચાર અગ, પર્વતોં મેં જૈસે મેરુ પ્રધાન હૈ, વૃક્ષોં મેં જૈસે કલ્પવૃક્ષ પ્રધાન હૈ, ધાતુઓં મેં જૈસે મુવર્ણ પ્રધાન હૈ, પેય પદાર્થોં મેં જૈસે મધુત પ્રધાન હૈ, મણિયોં મેં જૈસે ચિન્તામણિ પ્રધાન હૈ, પ્રામાણિક પુરુષોં મેં જૈસે તીર્થંકર પ્રધાન હૈ, ગાયોં મેં જૈસે કામધેનુ પ્રધાન હૈ, મનુષ્યોં મેં જૈસે ચક્રવર્તી પ્રધાન હૈ ઓર દેવોં મેં જૈસે ઇન્દ્ર પ્રધાન હૈ ઁસી પ્રકાર યે ચાર અંગ પ્રધાન હેં । ઇસી યાત કો ઘોતન કરને કે લિયે સૂત્રકારને "પરમ" યહ ચિશેષણ દિયાં હૈ ।

† પ્રશ્ન—માનુષત્વ આદિ મેં પરમાકૃતા-પ્રધાનતા કેસે હો સકતી હૈ । ક્યોં કિ મુક્તિ કી પ્રાપ્તિ મેં નિર્જરા હી સાક્ષાત્કારણ હોતી હૈ અતઃ નિર્જરા કી પ્રધાનતા હૈ ।

ઉત્તર—યથપિ મુક્તિ કી પ્રાપ્તિ મેં સાક્ષાત્કારણ નિર્જરા હૈ પરંતુ નિર્જરા નિરાશ્રય તો હોગી નહીં, અતઃ માનુષત્વાદિ ચાર કે વિના જબ નિર્જરા નહીં ષન સકતી હૈ તો યહ યાત સ્વતઃ સિદ્ધ હોતી હૈ કિ

જેવી રીતે પર્વતોમા મેરુ પ્રધાન છે, વૃક્ષોમા જેમ કલ્પવૃક્ષ પ્રધાન છે, ધાતુમા જેમ મુવર્ણ પ્રધાન છે, પીવાના પદાર્થોમા જેમ મધુત પ્રધાન છે, મણીઓમા જેમ ચિન્તામણી પ્રધાન છે, પ્રામાણિક પુરુષોમા જેમ તીર્થંકર પ્રધાન છે, ગાયોમા જેમ કામધેનુ પ્રધાન છે, મનુષ્યોમા જેમ ચક્રવર્તી પ્રધાન છે, અને દેવોમા જેમ ઇન્દ્ર પ્રધાન છે, આવી રીતે આ ચાર અંગ પ્રધાન છે આ વાતને સમજાવવા માટે સૂત્રકારે "પરમ" એવું વિશેષણ આપેલ છે

પ્રશ્ન—મનુષ્યત્વ આદિમા પરમાંગતા-પ્રધાનતા કષ્ટ રીતે હોઈ શકે કેમકે, મુક્તિની પ્રાપ્તિમા નિર્જરા જ સાક્ષાત્ કારણ હોય છે આથી નિર્જરાની પ્રધાનતા છે

ઉત્તર—કહાવ્ય મુક્તિની પ્રાપ્તિમા સાક્ષાત્કારણ નિર્જરા છે પરંતુ નિર્જરા નિરાશ્રય તો રહે નહીં આથી માનુષત્વાદિ ચાર અંગ પરંતુ નિર્જરા અંગી શકતી નથી. આથી આ વાત સ્વતઃ સિદ્ધ થાય છે કે, નિર્જરાની અ

चुलन्यामासक्तो जातः । तयोर्दुश्चरित ब्रह्मदत्तेन विदितम् । ब्रह्मदत्तेन काकहृसी
युगलं पिष्टमय मैथुनपरायण निर्माय शूलप्रोतं कृत्वा ताभ्यां प्रदर्शितम् । तथा-
गोनस-पद्मनागिनीयुगल पिष्टमयं कृत्वा वाचा तर्जयति-रे दुष्ट ! दुराचारिन् !
गोनस ! किं पद्मनागिन्या सह रमसे ? तत्फलं मुद्गक्ष्व, इत्युक्त्वा तदुमय प्रज्वलज्ज्व-
लने प्रक्षिपति । एव दुष्कर्मनिवृत्त्यर्थं ब्रह्मदत्तप्रदर्शित दण्ड विलोकयापि तौ दुष्कर्म
करणान् निवृत्तौ । ततश्चुलन्या दीर्घपृष्ठनृपेण च परस्पर विचार्य ब्रह्मदत्तस्य विवाहः

तो वह दीर्घपृष्ठ चुलनी के मोह में फँस गया । चुलनी और दीर्घपृष्ठ
के दुश्चरित की बात ब्रह्मदत्त के कान तक भी पहुँच गई । ब्रह्मदत्त ने
उन दोनों को शिक्षा देने के अभिप्राय से आटे का एक, मैथुन में परा-
यण काक और हँसी का जोड़ा निर्मापित कर और उसे शूल में पिरो-
कर उन दोनों को दिखलाया । तथा गोनस (फणरहित सर्प) और
पद्मनागिनी का भी एक जोड़ा आटे से उसने तयार किया, और
उन्हीं के समक्ष कहने लगा रे-दुष्ट ! दुराचारी गोनस ! तुझे लज्जा नहीं
आती जो तू पद्मनागिनी के साथ रमता है ? अरे अधम ! तू अय
अपने किये हुए कर्म का फल भोग । इस प्रकार वाणी से तर्जित कर
उसने उन दोनों को जलती हुई अग्नि में डाल दिया । इस प्रकार
दुष्कर्म की निवृत्ति के लिये ब्रह्मदत्त के द्वारा प्रदर्शित दण्ड को देखकर
भी रानी और दीर्घपृष्ठ अपने अनर्थविधायक दुष्कर्म से पीछे नहीं हटा ।

समय विती गया आठ ते द्विर्पृष्ठ चुलनीना मोहमां इसाई गये। चुलनी
अने द्विर्पृष्ठनी आ दुश्चरित्रनी वात ब्रह्मदत्तना कान सुधी पछोन्धी अछ,
ब्रह्मदत्ते अने अन्नेने शिक्षा देवाना अभिप्रायधी आटाभाधी (दोहभांधी)
अछ मैथुनभां परायण ठाठ अने हसलीतु अछे निभांखु करी तेने शुल्यभां
परोवीने ते अन्नेने अताव्यु तथा इक्षु वगरने। साप अने पद्मनागखनु
पखु अछ अछे आटाभाधी (दोहभांधी) अनावी तयार कर्यु अने तेनी साथे
ठरेवा लाग्ये, रे दुष्ट ! दुराचारि गोनस (इक्षु रचित सर्प) । तेने लाज नधी
आवती छे तू, पद्मनागखनी साथे रमी रखी छे अरे अधम ! तू उवे पोताना
ठरेवा ठमनु इण बोगव आ प्रकारे कहीने अने अन्नेने तेखे बाठबाठवी
अग्निभां नाभी दीधा आ प्रकारे दुष्कर्मनी निवृत्ति माटे ब्रह्मदत्तद्वारा
प्रदर्शित हने अछेने राखी अने द्विर्पृष्ठ पोताना अनर्थ विधायक
दुष्कर्मधी पाछा न इयां अछे द्विचरनी वात छे छे, आ अन्नेअने अछातमां

मानुषत्व दुर्लभमित्यत्र दश दृष्टान्ताः प्रदर्श्यन्ते, तद् यथा—चोल्लुकः १, पाशकः २, धान्य ३, घृत ४, रत्न ५, स्वप्नः ६, चक्र ७, कूर्मः ८, युग ९, परमाणुः १० ।

अथ प्रथमचोल्लुकदृष्टान्तः—चोल्लुको=भोजन तदुपलक्षितो दृष्टान्तः। प्रोच्यते—कांपिल्यनगरे ब्रह्मनामको नृपतिरासीत्, तस्य भार्या सुलनीनाम्नी, पुत्रो ब्रह्मदत्तनामकः । तस्मिन् ब्रह्मनृपतौ मृते सति तत्पुत्रस्य ब्रह्मदत्तस्य बाल्यावस्था विलोक्य ब्रह्मनृपसुहृद् दीर्घपृष्ठनामको नृपस्तद्राज्यं रक्षति । तदनन्तरं स

नहीं हो सकता है उसी तरह इन मानुषत्व आदि चार अंगों की प्राप्ति हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति जीव को नहीं हो सकती है ।

“मानुषत्वं दुर्लभ” मनुष्यपन की प्राप्ति महादुर्लभ है, इस विषय में दश दृष्टान्त कहे जाते हैं, जैसे—चोल्लुक १, पाशक २, धान्य ३, घृत ४, रत्न ५, स्वप्न ६, चक्र ७, कूर्म ८, युग ९ परमाणु १० ।

चोल्लुक नाम भोजनका है । इससे उपलक्षित होनेसे चोल्लुकको भी दृष्टान्त कह दिया गया है । यह प्रथम चोल्लुकदृष्टान्त इस प्रकार है—

कांपिल्य नगर में ब्रह्म नाम का राजा था । इसकी स्त्री का नाम सुलनी और पुत्र का नाम ब्रह्मदत्त था । राजा ब्रह्म के काल प्रोप्त हो जाने के बाद ब्रह्मदत्त की बाल अवस्था देखकर “राज्य में अव्यवस्था न फैल जाय” इस दृष्टि से राजा ब्रह्म के मित्र दीर्घपृष्ठ नाम के राजा ने उसके राज्य को समाल लिया । जब कुछ समय व्यतीत हो गया

यर्धं शक्तुं नधी, ज्ये रीते आ मानुषत्व आदि चार अंगों की प्राप्ति बया बिना मुक्ति की प्राप्ति होने यर्धं शक्ती नधी।

मानुषत्व दुर्लभ मनुष्यपणानी प्राप्ति महादुर्लभ छे, आ विषयभां दश दृष्टांत कहेवामां आवे छे ज्ये—चोल्लुक १, पाशक २, धान्य ३, घृत ४, रत्न ५, स्वप्न ६, चक्र ७, कूर्म ८, युग ९, परमाणु १०

चोल्लुक नाम बोजननु छे ज्येथी उपलक्षित यवाधी चोल्लुकनु पक्षु दृष्टांत कहेवामां आवे छे आ प्रथम चोल्लुकदृष्टांत आ प्रकारनु छे—

कांपिल्य नगरभां ब्रह्मनामने राजा छतो तेनी स्त्रीनु नाम सुलनी जने पुत्रनु नाम ब्रह्मदत्त छतु राजा ब्रह्मनी काणप्राप्ति पछी, ब्रह्मदत्तनी बाल अवस्था ज्येधने “राज्यभा अव्यवस्था न हेवाधं नाम” आ इधीही राजा ब्रह्मना मित्र दीर्घपृष्ठ नामना राजाजे तेना राजाजने सबाणी बैसे

तत्समीपे प्रकोष्ठकान्तरे शयनार्थं गतः । तदाऽर्धरात्रे जनन्याऽग्निसयोजनात्
 तज्जतुगृहं प्रदीपितम् । ब्रह्मदत्त उत्थितः । तदा वरधनुर्ब्रह्मदत्तं वदति-नाथ !
 मासादः मज्ज्वलति, भवान् नि'सरतु । इति तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मदत्तो ब्रवीति-प्रदर्शय
 मार्गम्, तदा वरधनुर्वदति नाथ ! अयमस्ति सुरङ्गामार्गः, पादाघातेन सुरङ्गाद्वारवर्ति-
 शिलापट्टकं चूरय, ब्रह्मदत्तेन तथा कृते सति उभौ तेनैव सुरङ्गापथेन नि'मृत्य वदि-
 द्वांरावस्थिततुरङ्गमौ समारुह्य देशान्तरं गतौ ।

द्वारा प्रेरित होने पर ब्रह्मदत्त उस लाक्षागृह में जाकर सो गया । वर-
 धनु भी उसी के समीप एक प्रकोष्ठक में सो गया । जय आधी रात
 होने का समय आया तो चुलनी माता ने उस लाक्षागृह में आग
 लगा दी मकान जलने लगा । ब्रह्मदत्त एकदम उठा । वरधनु ने शीघ्र
 पास आकर ब्रह्मदत्त से कहा-नाथ ! महल जल रहा है, अपन यहाँ से
 शीघ्र चले जावें । वरधनु के वचन सुनकर ब्रह्मदत्तने कहा-वताओ मार्ग
 कहा है ? ब्रह्मदत्त के वचन सुनकर वरधनु ने कहा-नाथ ! यह रहा
 सुरंग का मार्ग । इसके द्वार पर जो यह पत्थर की शिला का ढक्कन
 लगा हुआ है इसे आप पैरों से हटा दीजिये और बाहर निकल जाईये ।
 ब्रह्मदत्त ने ऐसा ही किया । सुरंग के द्वार पर लगे हुए पत्थर को पैर से
 हटाकर वे और वरधनु दोनों सुरंगमार्गसे बाहर निकल आये और बाहर
 के द्वारपर खड़े हुए दोनों घोड़ोंपर चढ़कर वहाँसे दूसरे देशको चले गये ।

महेलमां भुवा भाटे गयो । मन्त्रीनां पुत्र वरधनुं पञ्च तेनी साथे ते महेलमां
 गयो अने तेनी साथे ओ महेलमां ते पञ्च ओक आसन उपर सुतो व्यारे
 अरधी रातने प्रारभ थपं युक्तयो त्पारे इभ्रभि'ष्टी ओवी कुभारणी माता
 युवनीओ ते वाभागृहमां आग लगाडी महेल सजगवा लाग्ये, प्रसङ्गत
 ओकइभ उठयो । वरधनुओ ओ वभते तेनी पासे आवीने ठह्यु, नाथ ! महेल
 सजगी रथी ओ आपणे अहीथी तुरत ओ नीकणी ओवु ओधओ । वरधनुना
 वचन सांभणीने प्रसङ्गते ठह्यु के मार्ग कथां ओ ? अतावे प्रसङ्गतनु वचन
 सांभणीने वरधनुओ ठह्यु, नाथ ! आ रथी अहार नीकणवाने रस्ते । अही ओ
 पत्थरनु दांकेषु लगाडेसु ओ तेने आप पगथी इर ठरे अने पथी बोयशनां
 उत्तरी अहार नीकणी ओओ । प्रसङ्गते ओ प्रभाषे कथुं बोयशनां मुभदारना
 पत्थरने इर ठरी कुभार प्रसङ्गत अने वरधनु अने बोयशाना रस्ते अहार
 नीकणी गया अने अहारना द्वार पासे तैयार राभवामां आवेवा घोडा उपर
 भेसी अने ओषु इर देशमां आव्या गया

कारितः । ततः कपटप्रवन्धेन ब्रह्मदत्तमारणार्थं जतुगृहं कारितम् । तथा धनुनामकं ब्रह्मनृपतेर्मन्त्री तत् कपटं ज्ञातवान् । स च नदीतीरात् तद्गृहस्यन्तरेऽप्यः पृथिव्यां सुरङ्गं निर्माय नदीतटे सुरङ्गाद्वारे तुरगमद्वयं स्थापयित्वा स्वपुत्रं वरधनुनामकं जतुगृहनिर्माणकारणं ज्ञापयति । ततो नि सरणार्थं निर्मापितां सुरङ्गां च दर्शयति । स वरधनुः स्वपित्राज्ञया ब्रह्मदत्तानुचरोऽभवत् ।

अन्यदा कदाचित् जनन्या प्रेरितो ब्रह्मदत्तस्तस्मिन् जतुगृहे सुप्ता, वरधनुश्च

एक दिन की बात है कि इन दोनोंने एकान्त में इस प्रकार की गुप्तमन्त्रणा की कि ब्रह्मदत्त का विवाह कर देना चाहिये । ऐसा ही हुआ ब्रह्मदत्त का विवाह कर दिया गया । तथा ब्रह्मदत्त को मारने के लिये कपट से एक लाक्षागृह-लाख का महल भी बनवा कर तयार कराया गया । राजा ब्रह्म के मंत्री को उनकी यह कपट रचना ज्ञात हो गई । मंत्री का नाम धनु था । उसने नदी के तीर से लेकर उस लाक्षागृह के भीतर तक पृथिवी के नीचे एक सुरंग बनवाई । जब सुरंग बनकर तयार हो चुकी तो नदी के तट पर कि जहाँ सुरंग से बाहर निकलने का द्वार था दो घोड़े खड़े करवा दिये और अपने पुत्र से कि जिसका नाम वरधनु था लाक्षागृह के निर्माण का कारण प्रकट कर दिया । तथा पहा से निकलने के लिये जो सुरंग बनाई गई थी उसका भी भीतरी दरवाजा उसे दिखला दिया । वरधनु अपने पिता की आज्ञा से ब्रह्मदत्त का अनुचर बन गया । एक दिन की बात है कि अपनी माता

कोषा प्रकारनी शुभ्त भत्रला करी के, ब्रह्मदत्तने विवाह करी देवे। अने अने प्रभावे ब्रह्मदत्तने विवाह करी देवाभां व्यन्धे। आ पछी ब्रह्मदत्तने कपटधी मारवा भाटे अके लाक्षागृह (लेगखीना महेल) अनावी तैयार करी। राजा ब्रह्मना मन्त्रीने तेमनी आ कपट रचना अखुवाभां आवी अछ मन्त्रीनु नाम धनु इतु तेखे नदीना कंठाधी लछने अे लाक्षागृहनी अहर सुभीतु अके खोयइ तैयार कराव्यु अ्यारे खोयइ तैयार अछ मयु त्यारे नदीना कंठा उपर के अ्यां खोयाइअथी अद्वार नीकणवाने रस्ते। राज्या इतो ते स्थणे अे घोड तैयार रभाव्या अने पिताना पुत्र के नेनु नाम वरधनु इतु तेने लाक्षागृहनी सभस्त वातधी अखुठार करी तेमांधी निकणवा भाटे अे खोयइ अनाववाभां आवे। इतु तेनी खण्णी भाडिती आपी नीकणवा भाटेने इशवाअे तेने अतावी दीधे। अके दिवसनी वात छे के, कुमार ब्रह्मदत्त तेनी माताना कहेवाधी, आवे।

तत्समीपे प्रकोष्ठकान्तरे शयनार्थं गत । तदाऽर्धरात्रे जनन्याऽग्निसयोजना
 तज्जतुगृहं प्रदीपितम् । ब्रह्मदत्त उल्लिख्य । तदा वरधनुर्ब्रह्मदत्तं वदति-नाथ
 मासादं प्रज्वलति, भवान् निःसरतु । इति तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मदत्तो ब्रवीति-पदर्श
 मार्गम्, तदा वरधनुर्वदति नाथ ! जयमस्ति सुरङ्गामार्गः, पादापातेन सुरङ्गादारवर्ति
 शिलापट्टकं चूरय, ब्रह्मदत्तेन तथा कृते सति उभौ तेनैव सुरङ्गापथेन निःसृत्य वदि
 द्बारावस्थिततुरङ्गमौ समारुह्य देशान्तरं गतौ ।

द्वारा प्रेरित होने पर ब्रह्मदत्त उस लाक्षागृह में जाकर सो गया । वर
 धनु भी उसी के समीप एक प्रकोष्ठक में सो गया । जय आधी रात
 होने का समय आया तो चुलनी माता ने उस लाक्षागृह में आग
 लगा दी मकान जलने लगा । ब्रह्मदत्त एकदम उठा । वरधनु ने शीघ्र
 पास आकर ब्रह्मदत्त से कहा-नाथ ! महल जल रहा है, अपन यहाँ से
 शीघ्र चले जावें । वरधनु के वचन सुनकर ब्रह्मदत्तने कहा-बताओ मार्ग
 कहा है ? ब्रह्मदत्त के वचन सुनकर वरधनु ने कहा-नाथ ! यह रह
 सुरग का मार्ग । इसके द्वार पर जो यह पत्थर की शिला का ढक्कन
 लगा हुआ है इसे आप पैरों से हटा दीजिये और बाहर निकल जाईये ।
 ब्रह्मदत्त ने ऐसा ही किया । सुरग के द्वार पर लगे हुए पत्थर को पैर से
 हटाकर वे और वरधनु दोनों सुरगमार्गसे बाहर निकल आये और बाहर
 के द्वारपर खड़े हुए दोनों घोड़ोंपर चढ़कर वहाँसे दूसरे देशको चले गये ।

महेलमां भुवा भाटे गयो । मन्त्रीना पुत्र वरधनुं पशु तेनी साथे ते महेलमां
 गयो अने तेनी साथे ओ महेलमां ते पशु ओक आसन उपर सुते । न्यारे
 अरधी रातने प्रारंभ थप युक्तये त्यारे दुष्कर्मिणी ज्येवी कुम्भारणी माता
 सुवनीजे ते बाभागृहमां आग लगाडी महेल सजगवा लाग्यो, प्रह्लादत्त
 ओकदम उठयो । वरधनुजे ओ वजते तेनी पासे आवीने कष्टु, नाथ ! महेल
 सजगी रघो छे आपजे अहीथी तुरत न नीकणी नपु ओधजे । वरधनुनां
 वचन सांभणीने प्रह्लादत्ते कष्टु के भाग क्यो छे ? भतावे । प्रह्लादत्तनु वचन
 सांभणीने वरधनुजे कष्टु, नाथ ! आ रघो पहार नीकणवानो रस्ते । अही ने
 पत्थरनु दंकेषु लगाडेसु छे तेने आप पगथी इर करे अने पछी बोयराभां
 इतरी पहार नीकणी नज्यो । प्रह्लादत्ते ओ प्रभाषे क्युं बोयराभां सुभद्वारना
 पत्थरने इर करे कुमार प्रह्लादत्त अने वरधनुं अने बोयराभां रस्ते पहार
 नीकणी गया अने पहारना द्वार पासे तैयार राभवामां आवेवा घोडा उपर
 जेसी अने नपु इर देशमां स्यात्वा गया ।

अत्यन्त दूर पथ भ्रमण जनित श्रमादश्वौ मृती । पादचारेण ब्रह्मदत्तो वरधेनुना सह पृथिव्यामटति । ततो दीर्घपृष्ठनृपस्य भयात् पृथक् पृथक् भूता तौ पर्यटतः । अथ ब्रह्मदत्तः पर्यटन् निर्धनवेपेण क्वचिद् वृक्षतले उपविष्टः । तदा केनचित् सामुद्रिकविद्यावता विप्रेण मार्गे ब्रह्मदत्तचरणन्यास इष्ट्वा मुदितचित्तः शीघ्रगत्या तत्र वृक्षतले समायातः । तत्र निर्धनवेपेण वर्तमान ब्रह्मदत्तमवलोक्य स विभो रोदिति । त ब्रह्मदत्तः पृच्छति—हे विप ! कथं रोदिषि ? , सामुद्रिकशास्त्रज्ञोऽसौ विप आह—अथ मम विद्या असदर्थबोधिका जाता, भद्राचरणलक्षण भवतश्चक्रवर्तित्वमात्रे

अत्यन्त दूर तक अधिक वेग से चलने के कारण उनके घोड़े बहुत थक गये थे इसलिये उनका पैदल फूल गया और दोनों घोड़े मर गये । ब्रह्मदत्त और वरधनु दोनों ही पैदल जगलमें घूमने लगे, पर दीर्घपृष्ठ राजा का भय हृदय में घना हुआ था । इसलिये उन्होंने ने अब अलग २ होकर चलना ही अच्छा समझा । ब्रह्मदत्त चलते २ एक किसी वृक्ष के नीचे आकर ठहर गया । इतने में वहाँ एक सामुद्रिक शास्त्र का वैसा ब्राह्मण जो उसी रस्तेसे होकर कहीं जा रहा था मार्गमें ब्रह्मदत्त के चरणचिह्नों को देखकर यज्ञ ही प्रसन्न हुआ, और चरणचिह्नों को लक्षित कर वह उस स्थान पर आपहुँचा जहाँ ब्रह्मदत्त वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था । ब्रह्मदत्त की निर्धन अवस्था देखकर ब्राह्मण को रोना आगया । ब्राह्मण को रोते देखकर ब्रह्मदत्त ने पूछा हे ब्राह्मण ! क्यों रो रहे हो ? सामुद्रिक शास्त्रज्ञ उस ब्राह्मण ने कहा कि मैंने जो सामुद्रिक

वस्तु वेगधी धात्री मन्त्र का पवाधी तेमना घोड़ा थाकी गया अने जोडी के घोड़ाजोनु चेट कुडी अतां अने घोड़ा मरी गया वरधनु अने ब्रह्मदत्त अने पञ्चपाणा अ गहमां इरवा लाज्या आ रीते इरवाधी दीर्घपृष्ठ राजा वरधधी भय आवी पठ्ये तेवी इहेशतधी अने अष्टाये लुडा लुडा याववातु राभ्यु ब्रह्मदत्त यावतां यावतां डैडि अके वृक्षनी नीचे अर्थ पडोअये अने त्यां शैकाई अने आ अमये सामुद्रिकशास्त्रज्ञानने अष्टकार अके ब्राह्मण के ने अे रस्तेधी अर्थ रधी इतो तेखे भाजैमां ब्रह्मदत्तनां चरणना धूणमां पडेवां पगलानां अिन्हेने अेधने धूण प्रसन्नता अनुभवती अने चरण अिन्हेने लक्षमां शपतो शपतो ते ने स्वजे कुमार ब्रह्मदत्त इतो त्यां आवी पडोअये ब्रह्मदत्तनी निधन अवस्था अेधने ब्राह्मणनी आपमां आसु आवी गयां ब्राह्मणने शतां अेडि ब्रह्मदत्त कहुं, हे ब्राह्मण या भाटे रडो छै ? सामुद्रिक शास्त्रना अष्टकार त ब्राह्मणे कहु के, मे आव सुधी

दयति किंतु भवान् निर्धनावतारो मिलित् । ब्रह्मदत्तो वदति—अहमस्मि चक्रवर्ती,
यदा मम राज्यप्राप्तिः स्यात्तदा भवता ममान्तिरुमागन्तव्यम् ।

कालान्तरे ब्रह्मदत्तेन चक्रवर्तिराज्य प्राप्तम्, द्वादश वर्षाणि राज्याभिषेको-
त्सवः प्रारब्धः । सामुद्रिकशास्त्रज्ञोऽसौ विमस्तदुत्सवसमाचार प्राप्य तत्रागतः ।

शास्त्र का अभीतक अध्ययन किया है वह आज बिलकुल गलत
साधित हो रहा है इसलिये मैं रो रहा हू। आपके चरणों में जो चिह्न
यने हुए हैं उनसे यह बात ज्ञात होती है कि आपको चक्रवर्ती होना
चाहिये पर आपकी तो यह दशा है कि इस समय आपके पास खाने
तक को अन्न भी नहीं है। आपका यह वेप दरिद्रियों जैसा है। अव-
स्था आपकी निर्धन है। ऐसे मालूम पड़ता है कि मानों आप में
निर्धनताने ही अवतार लिया है। ब्राह्मण की बात सुनकर ब्रह्मदत्त ने
कहा—तुम्हारा सामुद्रिक शास्त्र मिथ्या नहीं है दुःखी मत होओ, मैं
वास्तव में चक्रवर्ती ही हू। जय मुझे राज्य की प्राप्ति हो तो उस
समय तुम मेरे पास आना ।

कालान्तर में ब्रह्मदत्त को चक्रवर्तिपद की प्राप्ति हुई। ब्रह्मदत्त
चक्रवर्ती बन गये। बारह वर्ष का राज्याभिषेक यज्ञ हो ठाट घाट से
मनाया जाने लगा। इसी अवसर में उस ब्राह्मण ने जय यह समाचार
सुना तो वह भी वहाँ पर आगया पर वह ब्रह्मदत्तसे मिल नहीं सका ।

सामुद्रिक शास्त्र के अध्ययन किये थे ते आने भीवकुल नकामु मालूम पड्यु
थे आ भाटे हु शोध रक्षो हु आपना यरक्षोभां ने चिन्ह लेषाभां आवे
थे तेनाथी ज्येनी वात सिद्ध थाय थे के, आप चक्रवर्ती बनवा लेधिये परतु
आपनी तो ज्ये दशा थे के, आ समये आपनी पासे भावाने अन्न पक्षु
नथी. आपने आ वेश दरिद्रीज्येना ज्येने छे आपनी अवस्था निर्धन छे
ज्येनु मालूम पडे छे के, आपनाभां निर्धनताज्ये अवतार लीधो छे, ब्राह्मणनी
वात सानिणी ब्रह्मदत्ते कक्षु आ तमाइ सामुद्रिक शास्त्र मिथ्या नथी, दु भी न
भने हु वास्तवभां चक्रवर्ती ज्ये हु ज्येनारे भने राज्यानी प्राप्ति थाय ज्ये
समये तमे भारी पासे आवजे.

समयना वहेवा साथे ब्रह्मदत्तेने चक्रवर्ति पद प्राप्त य्यु राज्याभां १२
वर्ष सुधी तेना राज्याभिषेकने उत्सव ठामठाम मनावा ज्येने ज्ये ब्राह्मणे
ज्येनारे आ प्रसंगना शुभ समाचर ज्येनया तो ते पक्षु त्यां आवी पडेज्येने,
पक्षु ते ब्रह्मदत्तेने भणी शक्यो नही ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती साथे तेने भेजाय

ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिनो दर्शनं मम कथं स्यादिति पृष्टं, कथित् श्रेष्ठो तं विप्रमार्गं दर्शयति । अयोत्सवसमये चक्रवर्ती गजमालां वह्निनिःसरति । स विप्रस्तदा जनसमूहमध्ये वशाग्ने पादनागमालां संयोज्य तं वसमुत्थाप्य स्थितवान् । चक्रवर्ती स्वराज्येश्वर्यशोभा समन्ताद् विलोकयन् वशाग्रसलग्नामुपानद्मालामपश्यत् । ततः कोपाग्नेनेत्रचक्रवर्ती भृत्यैस्तमाहूय पृच्छति—किमेतत् त्वया मर्तुमाचरितम् ? । विप्रः प्राह—नहि मर्तुं, किंतु जीवितुम् । चक्रवर्ती वशोत्थापनकारणं विज्ञाय

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से अब मेरा मिलाप कैसे हो ? इस घात को उसने किसी वहाँ के सेठ से पूछा तो उसने उसे मिलाप का रस्ता भी बतला दिया । उत्सव के समय चक्रवर्ती हाथी पर चढ़कर आ रहे थे, भीड़ काफी थी । ब्राह्मण ने मिलाप का मार्ग सोचा, उसके अनुसार एक बांस पर जूतों की माला लटका कर और उस बांस को भीड़ के बीच में ऊपर उठा कर वह खड़ा हो गया । चक्रवर्ती अपने राज्य के ऐश्वर्य की शोभा का चारों ओर से निरीक्षण करते हुए चल रहे थे । उन्होंने इस दृश्य को ज्यों ही देखा इकदम देखते ही आँखों में क्रोध की लाली उतर आई, नौकरों के जरिये उस ब्राह्मण को बुलवाकर पूछा, अरे ! इस सुन्दर अवसर पर यह तूने क्या काम किया है ? मादूम पड़ता है तेरी मौत आ गई है । ब्राह्मण ने चक्रवर्ती को घात सुनकर कहा यह काम मैंने अपनी मौत को बुलाने के लिये नहीं किया है, किन्तु जीने के लिये किया है । जब चक्रवर्ती वशोत्थापन के कारण से

कई रीते शायद आ घात तेज्जु त्वांनो कौड शेटने पूछी तो तेज्जु गेजाप भाटेनो रस्तो भवाव्ये । उत्सवना समये चक्रवर्ती हाथी ऊपर गेली आवी रक्षा कटा बौड भूष कती, ब्राह्मणे गेजापने भाज विचार्यो, आ अनुसार ते अक वांस ऊपर लटकावेव लेडानी भाजा साथे ते दोडानी बीडभां हाथभां वांसडो उबो राभीने उबो रथो चक्रवर्ती पोताना राव्यनी अक्षयनी शोभाने आरे तश्क हथी इरवी अक रडेव कता, तेभजे आ ह्य लेयु अने लेतां अ अक इम आभेभा कोधनी लावीभा छवाड गड नोकरे द्वारा अे ब्राह्मणेने गेलावी पूछयु अरे ! आ सुडर अवसर ऊपर तु आवु काम केम करी रथो छे ? भाडुम पडे छे के ताड मोत आव्यु छे चक्रवर्तीनी वात सांभजी ब्राह्मणे कहुं, आ काम मे भास मोतना गेलाववाधी नथी कयुं, परतु एववा भाटे करेव छे आ पछी चक्रवर्ती वशोत्थापनना कारखुधी यथाथ इपधी

रेतुष्टो भूत्वा गजोपरि स्वपार्श्वे तमुपवेश्य ब्रवीति-हे विम! स्वामोष्ट ब्रूहि,
 अदत् भार्यां पृष्ट्वा कथयामि । ततस्तेन स्वगृहमागत्य भार्यां पृष्ट्वा । भार्या
 मसि चिन्तयति-धनागमे श्रीणि नश्यन्ति जीर्णं गृहं, जीणा भार्या, जिर्णं मित्रम् ।
 ते विचार्य सा प्राह - एकैकस्मिन् दिने एकैकगृहे पायसमोजनं भवतु, इत्येव
 र्थनीयम् । ततोऽसौ विप्रश्चक्रवर्तिसनिधौ समागत्य तदेव प्रार्थितवान् । चक्रवर्ती

धार्थरूप में परिचित हो चुके, तब वे घड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने ने उस
 ब्राह्मण को शीघ्र ही हाथी पर अपने पास बैठा कर कहा कि कहो
 प्रदेव ! तुम क्या चाहते हो ? उसने कहा महाराज ! मैं क्या चाहता
 यह बात तो अपनी भार्या से पूछकर आपसे कहूंगा । चक्रवर्ती से
 वह घर जाने की आज्ञा लेकर घर आगया । घर पर आकर उसने
 अपनी पत्नी से समस्त वृत्तान्त कह दिया । पत्नी ने मुनकर विचार
 किया कि यदि यह धनवान् घन जायगा तो मुझे अशुभ छोड़ देगा,
 क्यों कि धन के आने पर तीन चीजे छोड़ दी जाती हैं—१ जूना घर,
 २ जूनी भार्या और ३ जूना मित्र । इसलिये इससे कह दिया जाय कि
 मैं तो प्रतिदिन एक घर पर खीर का भोजन मिलता रहे, ऐसी व्य-
 स्था हो जानी चाहिये । इस प्रकार विचार कर ब्राह्मणी ने अपने
 पति से यही बात कही और कहा कि जाकर तुम राजा से यही मागो
 अपने लिये और वस्तु को क्या करना है । ब्राह्मण ने अपनी पत्नी की
 उलाह मान कर चक्रवर्ती से यही मागा । चक्रवर्ती ने ब्राह्मण से कहा

परिचित जनता पूज्य प्रसन्न यथा अने तेभ्ये ब्राह्मण्युने अने वपते पोताना
 हाथी उपर बैसाही लघने पूछ्यु, कहे विप्रदेव तमे शु आहो छो ? अवा
 भमां ते ब्राह्मणे कस्यु, महाराज ! हु शु आहु छु ते वात भारी अने
 पूछ्या पछी आपने कहीश. चक्रवर्तीनी आज्ञा लघ ते पोताने घेर गयो घेर
 पछोअी तेजे पोतानी अने सधणो वृत्तांत कही स भगवाओ. अनीअे सधणी भीना
 साभणीने विचार कयो के, भारी पति धनवान अनी अथे तो अे अने अवश्य छोडी
 देथे केभके, धनना आववाथी अणु अीअे सुवाधं अय छे अेक तो अुनां घेर,
 भीअु अी, त्रीअु अुनामित्र आ भाटे अेने अेभ भागवानु कहेवामां आवे के,
 अमने प्रतिदिन अेक अेक घेरथी पीरनु दोअन भगतु रहे अेवी व्यवस्था करवामां
 आवे आ प्रकरने विचार करी ब्राह्मणीअे पोताना पतिने अे वात कही अने
 कसुं के, तमे राअ पासे अधने अे प्रभाअे भागे। आपअे गीअ वस्तुनी शु अर
 छे ? ब्राह्मणे अीनी सवाअ मानीने राअ पासे अध तेनी अीना क्रीधा प्रभाअे अ माअु

प्राह—किमिद प्रार्थयसि ? ग्रामो, नगर, या कोशो वा याच्यताम् । स विप्रोऽब्रवत्—
 इदमेव ममेप्सितम्, ततश्चक्रवर्तिना तत्स्वीकृतम् । प्रथमदिने चक्रवर्तिनो भवने परम-
 सुस्वाद् पापस लब्धम् । तत्र काम्पिल्यनगरे चक्रवर्त्याज्ञयाऽसौ विप्रः प्रत्येकगृहे
 भोजनं क्रमेण प्रतिदिनं लभते, तथाप्यसौ गृहाणामन्त न माप, कथं तर्हि तस्य समस्त
 भरतक्षेत्रवर्तिषु गृहेषु एकैकगृहे क्रमेण प्रतिदिनं भोजनमाप्त्यनन्तरं पुनश्चक्रवर्तिभवने

यह तुमने क्या चीज मागी है, गाव मागो नगर मागो या कोश-
 खजाना मागो । सुनकर ब्राह्मण ने कहा हमें इन चीजों की आवश्यक-
 कता नहीं है । हमारी इच्छा तो जो है वह आप से निवेदित कर दी है ।
 चक्रवर्ती ने ब्राह्मणकी बात स्वीकार करली । चक्रवर्तीन स्वयं सबसे
 पहिले दिवस इसके लिये परम स्वादिष्ट यद्विया खीर अपने महलमें तैयार
 करवाई । ब्राह्मण ने घड़े आनन्द के साथ खाई । क्रमर से अब यह उस
 कांपिल्य नगर में सप के घर एकर दिन खीर के भोजन के लिये जाने
 लगा, परन्तु वहा इतने अधिक घर थे कि इसके जीवनभर तक भी
 जीमतेर घरों के घारे नहीं समाप्त हो सकते थे । तथा छह खंड की
 पृथिवी का अधिपति चक्रवर्ती होता है इसलिये यद्यपि उसके जीमने
 का नबर छह खंडों में नियत कर दिया गया था, पर जब कांपिल्य नगर
 के घरों की ही समाप्ति नहीं हा सकी तो भरतक्षेत्र भर के घरों का
 बारा उसके कैसे प्राप्त हो सकता था ? अतः वह पड़ा ही चिन्तित रहने
 लगा । वह विचारता रहता कि कथ समस्त घरों का बारा मेरा समाप्त

चक्रवर्तीके प्रादक्षिणे कक्षु के तमे आ शु भाग्यु ? ग्राम, नगर अथवा तो धन
 होत के अथ अते भागीद्वये प्रादक्षिणे कक्षु के, महाराज । अने अेवी केअ अीअनी
 अशरीआत नहीं अमारी के अथछा छे ते आपनी समक्ष रक्षु करी छे अक्षवर्तीके
 प्रादक्षिणी वातने स्वीकार करी अने पोतानाअ महोअमां तेने भाटे स्वादिष्ठ
 अेवी भीर तैयार करवी प्रादक्षिणे भूअ अ आनइशी ते भाधी कमे कमे ते
 कांपिल्य नगरमां अधाने त्यां अेठ अेठ दिवस भीरना बोअन भाटे अवा
 लाअे । परतु त्यां अेटवां अधां अशे अटा के अेना अवन सुधी अमतां अमतां
 अरने वाशे समाप्त अर्थ अके तेम न अतुं तेमांअणी अक्षवर्ती ते छ अठ
 अशतीने अधिपती अेय छे आधी तेना अमवाने नअर छ अठामां नअी
 करी आपेअ अते पक्ष अ्यारे अेठवां कांपिल्य नगरनां अ अशे ते पुरां करी
 अके तेम न अतुं त्यां अरतक्षेत्रना विस्तारनां अशेने वाशे ते अयांअी अ आपे
 आधी ते भूअ अ अिता करवा लाअे ते विचारवा लाअे के, अयारे अमअ

भोजन लघव्यम्, समस्तभरतक्षेत्रान्तर्गतवृक्षाणां वाहुल्यात् । एव यथा चक्रवर्तिनो
मवनेऽनुपम पायस प्राप्नुमिच्छतस्तस्य विमस्य तद् दुर्लभं तथा मनुष्यजन्म दुर्लभम् ।

अत्र सग्रहश्लोक — (शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

शुक्त स्वादुरस द्विजेन भवने श्रीब्रह्मदत्तस्य यत्,
क्षेत्रेऽस्मिन् भरतेऽखिले प्रतिगृहे भुक्त्वा पुनस्तद्गृहे ।
जात तस्य यथा मनोऽभिलषितं तद् भोजनं दुर्लभं,
ससारे भ्रमत पुनर्नरमयो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥
॥ इति प्रथमश्लोकहृष्टान्त ॥ १ ॥

हो, और कच मुझे पुन चक्रवर्ती के घर पर षड्विया खीर खानेको मिले,
परन्तु न समस्त उह खण्ड के घरों का धारा उसका समाप्त हो और
न पुन चक्रवर्ती के घर की खीर उसको मीले । जैसे इस ब्राह्मण को
पुन वह खीर भोजन दुर्लभ हो गया उसी प्रकार यह मनुष्यजन्म भी
बड़ा दुर्लभ है । यह प्रथम दृष्टान्त है । इस पर यह सग्रह श्लोक है—

शुक्त स्वादुरस द्विजेन भवने श्रीब्रह्मदत्तस्य यत्,
क्षेत्रेऽस्मिन् भरतेऽखिले प्रतिगृहे भुक्त्वा पुनस्तद्गृहे ।
जात तस्य यथा मनोऽभिलषितं तद्भोजनं दुर्लभं ।
ससारे भ्रमत पुनर्नरमयो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

इस श्लोक में इस कथा का सार पतलाया गया है । अर्थात् जिस
प्रकार ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती के घर पर एक धार षड्विया खीर का भोजन

धरिने। वारे। पुशे। थाय अने ठयारे अने अक्षवतीना मडावयमा करीधी उत्तम
अेवी भीर भावाने प्रसग भजे? आ रीते न तो समस्त छ भ उना धरिने।
तेने। वारे। पुशे। थाय अने न अक्षवतीने त्यां करीधी भीर भावा जवाने।
प्रसग भजे। आ रीते ते ब्राह्मणने करीधी अक्षवतीने त्यां भीर भावाने।
प्रसग प्राप्त न थये। तेवी ज रीते आ मनुष्य जन्म पक्ष धरे। दुर्लभ
छे आ प्रथम दृष्टान्त छे अेना उपर आ सग्रह श्लोक छे

शुक्त स्वादुरस द्विजेन भवने श्रीब्रह्मदत्तस्य यत् ।
क्षेत्रेऽस्मिन् भरतेऽखिले प्रतिगृहे भुक्त्वा पुनस्तद्गृहे ॥
जात तस्य यथा मनोऽभिलषितं तद्भोजनं दुर्लभं ।
ससारे भ्रमत पुनर्नरमयो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

आ श्लोकमां आ ठयाने सार पताववामा आवेव छे अर्थात् जे रीते
ब्रह्मदत्तचक्रवर्तीना धरे अेठवार उत्तम भीरनु बोजन करीने ते ब्राह्मणने

अथ द्वितीय. पाशकदृष्टान्तः प्रोच्यते—

पाशको घृतोपकरणविशेषः, स एव दृष्टान्तः-पाशकदृष्टान्तः, स चैतम्—
गोल्लदेशे चणकनामके ग्रामे बहु शीलव्रतगुणव्रतविरमणप्रत्याख्यानपौषघोषना
सादि श्रावकधर्म पालयन् चणकनामको ब्राह्मण आसीत् । स ब्रह्मसदोरुपुत्रवन्निकः
सन्नुभयकालं सामायिकपतिक्रमण कुर्वन्नासीत् । अन्यदा कदाचित् तस्य गृहे घृत

कर उस ब्राह्मण को उसी घरपर पुन. भोजन करने की अभिलाषा हुई
परन्तु उसकी पूर्ति होनी बड़ी ही मुश्किल थी क्योंकि जय तक उनके
साम्राज्यभर के घरों का बारा वह समाप्त नहीं कर लेता तब तक
उसको पुनः चक्रवर्ती के घर का नगर प्राप्त नहीं हो सकता । इसी
प्रकार इस ससार में भ्रमण करने वाले इस जीव को पुन नरमभ
मिलना पड़ा कुर्लभ है । यह प्रथम चोल्लकदृष्टान्त हुआ ॥ १ ॥

अथ दूसरा पाशकदृष्टान्त कहते हैं—

जुआ खेलने का जो उपकरण विशेष होता है जिसको हिन्दी में
पासा कहते हैं उसका नाम पाशक है । उसका दृष्टान्त इस प्रकार है—

गोल्लदेशस्थ चणक नाम के ग्राममें बहु शील व्रत गुण अर्थात् व्रत
प्राणातिपातादिविरमण, प्रत्याख्यान-पौषघोषवास आदि श्रावकधर्म
को पालन करने वाला चणक नाम का एक ब्राह्मण रहता था । यह
दोनों काल मुख पर खीरे से मुखपक्षि बाधकर सामायिक एवं प्रति
क्रमण किया करता था । एक दिन की बात है कि उसके घर पर एक

शकवर्तिने त्यां भीरु बोजन करीधी करवानी छिछा बगी परतु तेनी अे धम्म
पुष्पं धर्ष शकी नदी केभके, अेना साम्राज्यभरना बरोनेो वारी ते पुष्पं न
करी छे त्यां सुधी तेने करी शकवर्तिने त्यां भीर भावा माटे बवानेो वारी प्राप्त
थतो न छेतो. अे प्रकारे आ ससारमां भ्रमण करवावाणा आ छवने पुन भनुष्य
अवतार भणवेो महा दुर्लभ छे आ प्रथम बौद्धक दृष्टांत अतावेव छे

इवे भीष्म पाशकदृष्टांत कहेवामा आवे छे—

जुआर जेतवामां जेनेो उपयोग करवामां आवे छे तेने पासा कहे छे
तेनुं नाम पाशक छे तेनुं दृष्टांत आ प्रकारनुं छे—

बौद्ध देशमां अणुक नामना गाममा बणुा व शील व्रत शुष् स पल अने
व्रत प्राणातिपातादि विरमण प्रत्याख्यान पौषघोषवास वजेरेधी श्रावक धर्मनुं
पालन करवावाणेो अणुक नामनेो अेक ब्राह्मण रहतेो छेतो अे अन्ने वषट
भेदा उपर देरा साधेनी सुभवन्निका राभीने सामायिक अन्ने प्रतिक्रमण करतो
छेतो. अेक दिवसनी बात छे के, तेने घर सुव्रत नामना अेक

नामा मुनिर्मिक्षार्थं समागतः । तदा चणकप्राङ्गणस्य दन्तसहितः पुत्रो जातः ।
 बालक मुने समीपमानीयाऽनवीत्—'भदन्त ! अय दन्तसहितो जातः, किमस्य फल
 भविष्यति ।' मुनि प्राह—'अय दन्तसहित' समुत्पन्नस्तस्मादय राजा भविष्यति ।
 चणको मुनेर्वचन निशम्य चिन्तयति—'अय राजा भूत्वा नरक यास्यति । इत्येवं
 विचिन्त्य बालकस्य दन्तान् घृष्टवान् ।

पुनरेकदा कालान्तरे सुव्रतमुनिश्चणकस्य गृहे समागतः, ततश्चणकप्राङ्गणो
 मुनिं प्राह—भदन्त ! अस्य बालकस्य दन्ता घृष्टाः । मुनिर्वदति—दन्तेषु घृष्टेषु
 बालकोऽय राजा न स्यात्, किं तु सर्वाधिकारसपन्नः सचिवो भविष्यति । चणकेन

सुव्रत नाम के मुनिराज भिक्षा के लिये आये । उस समय उस प्राङ्गण
 के यहा दात सहित एक पुत्र उत्पन्न हुआ था । चणक ने उस बालक
 को मुनि के समीप लाकर कहा—भदन्त ! यह बालक दातसहित उत्प-
 न्न हुआ है इसका क्या फल होना चाहिये सो कृपा कर कहिये ।
 मुनकर मुनिराज ने कहा—यह जो दातोंसहित उत्पन्न हुआ है उसका
 यह फल है कि यह राजा होगा । चणक ने मुनि के वचन सुनकर
 विचार किया कि यदि यह राजा होगा तो दुर्गति का भागी हो
 जायगा इसलिये उसने उसके दातों को घिस दिया ।

कालान्तर में वे ही सुव्रतमुनि एक दिन चणक के घर पर पुन
 पधारे । मुनिराज को आये देखकर चणक ने उनसे कहा—भदन्त ! इस
 बालक के दातों को मैंने घिस दिया है । चणक की बात सुनकर
 मुनिराज ने कहा—दातों को घिसे जाने से यद्यपि यह बालक राजा नहीं
 हो सकेगा तो भी राजा जैसा होगा, अर्थात् राजा का सर्वाधिकार

भाटे आया। ते वधते अे प्राङ्गणने घेर जन्म वधते दांत सहित अेक पुत्र जन्म्ये।
 इतो, यषुक अे भाणकने मुनि पासे वध आये। अने कलु, लडत। आ
 भाणक दांत साथे उत्पन्न थये छे अेतु शु क्षण डोतु लोड अे ? सांभजी
 मुनिराजे कहुं के, दांत सहीत उत्पन्न थयेव आ भाणकतु क्षण अे छे के, ते
 राब थये यषुकें मुनिनु वधन सांभजीने मनमां विचार कर्यो के, ले आ भाणक
 राब थये तो दुर्गति बोअवनार अनथे आयी तेले ते भाणकना दांत बसी, नाभ्या

वधत जता ते सुव्रत मुनि अेक द्विवस यषुकने त्यां क्रीडी पधार्थ।
 मुनिराजने आवेवा लोडने यषुकें तेमने कहुं डे लडत। मे आ भाणकना
 दांतोने बसी नाभ्या छे यषुकनी वात सांभजीने मुनिराजे कहुं,—दांतोना बसी
 नाभवाधी ले के ते राब लडे न भनी शके तो पषु ते राब लेवो थये. अर्थात्

तस्य बालकस्य 'चाणक्य' इति नाम कृतम् । स चतुर्दश विद्या अधीतवान् । तस्य यौवने क्यसि विवाह' कारितः ।

चाणक्यस्य श्वशुरो घनाढ्य आसीत् । कदाचित् तस्य गृहे पुत्रस्य परिषो-
त्सव सजात । तद् वृत्तं विदित्वा चाणक्यस्य भार्या पितुर्भवनं गता । सा गच्छ-
न्ती पतिमवोचत्-भ्रताऽपि तत्रागन्तव्यम् । चाणक्यो वदति-अहं निर्धनोऽस्मि,
स घनाढ्योऽस्ति, स ममादरं न करिष्यति, मा निर्धनं मत्वा तेन नाहं निमन्त्रितः,

सपत्न्यं प्रधानं घनेगा । चाणक्ये ने उस बालक का नाम चाणक्य रखा ।
चाणक्य ने १४ चौदह विद्याएँ पढ़ी । पढ़कर जब चाणक्य योग्यता
सपत्न्य हो गया तब युवा होने पर पिताने इसका विवाह कर दिया ।

चाणक्य का श्वशुरपक्ष घनसपत्न्य था । किसी एक समय चाणक्य
के ससुराल में विवाह होनेवाला था । चाणक्य की भार्या को जब यह
घृत्सान्त ज्ञात हुआ तो वह विवाह में सम्मिलित होने के लिये पतिगृह
से अपने पिता के घर आई । जिस समय यह पतिगृह से पितृगृह
आई थी तब इसने अपने पति चाणक्य से चलते २ यह कहा था कि
आप भी सम्मिलित होने के लिये वहाँ आये । चाणक्य ने उसके
प्रत्युत्तर में उससे कहा कि मैं निर्धन हूँ-वे धनिक हैं वहाँ बिना
धुलाये आने पर मेरा कोई आवर नहीं होगा । यही कारण है कि
ससुरने मुझे विवाहका आमंत्रण तक भी नहीं भेजा है । चाणक्य की यह

राजने सर्व अधिकार सपत्न्ये सर्व अधिकारी प्रधान बनये । बलुके के
आणक्यु नाम आणक्ये राज्ये बौद्ध विद्याने अभ्यास कर्ते । आ पत्नी
ते विवाधी सपत्न्ये भवेत् । अने राज्ये वये पटोव्ये त्वाते तेना पिताने
तेने विवाह करी दीधे ।

आणक्यने श्वशुरपक्ष घन सपत्न्ये हते । ठाई के समय आणक्यने
श्वशुरपक्षमां वज्र प्रसज हते । आणक्यने पत्निके त्वाते आ हकीकत
बलुके त्वाते ते वज्र प्रसजमां साभेव ववा माटे पतिने त्यांभी नीकणी पोताना
पिताना घेर आवी । के समय ते पोताना पतिने त्यांभी नीकणेही त्वाते तेके
पोताना पति आणक्यने पक्ष वज्र प्रसजमां आपवानु ठडेहू केने प्रत्यु-
त्तरमां आणक्ये वखावेहुं के, हुं निर्धन हूँ के घनवान छे त्यां गेलाव्या
वज्र ववाभी भाई । राज्ये आहर न पक्ष थाय अने भारी निर्धन अवस्था के पक्ष
के करव छे के केने ठाई अने वज्रनु आमंत्रण पक्ष आपवामां आवेव नभी ।

चाणक्ये नैत्रमुक्ता भाया पुनस्तत्राऽऽगन्तुं प्रति प्रार्थितवती । ततः स्वभार्यानुरो-
रोधेन चाणक्योऽपि पश्चात् तत्र गतः । गामाद् वहिः, क्वचिद् वृक्षतले चाणक्यः
स्थित्वा श्वशुरं प्रति सदेशं प्रेषयति । श्वश्रूः श्वशुरश्च चाणक्यं प्रति तदुत्तरं दत्तवन्तौ
स्वयां दिवसेऽत्र नागन्तव्यम्, रात्रौ भवनस्य पश्चान्नागवर्तिना मार्गेणागन्तव्यम् ।
चाणक्यस्तच्छ्रुत्वा तथैव रात्रौ गतः । श्वश्रूः श्वशुरश्च भवनस्याधस्तनभूमिकाया
चाणक्यं भोजयतः । अन्धान् सम्बन्धिनस्तु भवनो गतितनभूमिकायाम् । श्वश्रूश्चा
णक्याय शुष्कं रुक्षं भोजनीयं परिवेषयति, अन्येभ्यस्तु विविधानि मिष्टानानि ।

यात सुनकर उसकी भार्या ने पुनः उनसे यही प्रार्थना की कि आप इस
यात का विचार न कर वहाँ अवश्य आवें । भार्या के इस प्रकार के
अनुरोध करने पर चाणक्य भी पीछे से वहाँ गया । उसने श्वशुर
गृह में पहुँचने के पहिले बाहिर ही किसी वृक्ष के नीचे ठहर कर श्वशुर
के पास अपने आनेका समाचार भेजा । सास ससुर ने चाणक्य के प्रति
उत्तररूप सदेश भेजा कि आप आये बहुत अच्छा किया परन्तु आप यहाँ
दिनमें नआवे, रात्रिमें आवे, सो भी मकान के पीछे के मार्ग से आवें
—साम्हनेके मार्ग से नहीं । चाणक्यने ऐसा ही किया । वे रात्रिमें श्वशुरगृह
पर पहुँचे । सास और श्वशुर त चाणक्य को भोंयरेमें बैठकर भोजन कराया।
घाकीजो और संघधीजन थे उन सबको मकान की छतपर बैठकर भोजन
कराया । चाणक्य के लिये सासुजी ने जो भोजन परोसा था वह इक-
दम पिलकूल शुष्क एवं रुक्ष था । दूसरे महेमानों के लिये जो भोजन
परोसा गया था वह विविध प्रकार के मिष्टान्तों से युक्त था । चाणक्य

आशुभ्यनु आ वयन सांभणी तेनी पत्निञ्जे ज्येवी प्रार्थना करी के, तमे आवी यातने।
विचार न करतां एवमा ज्ञरश्ची आवे। पत्निना आवा आअइने वश भनी पाछ
जथी आशुभ्य एग्न प्रस गमा साभेव थवा त्यां गया ज्येजे सासुराने त्या पडोयतां
पडोवां जाभनी भागोणे केअ ज्येक वृक्ष नीचे रेकाअने सासुराने पोताना आववाना
अभर मोडव्या सासु ससुराञ्जे तेना आववाना सभाभार बाष्ठी तेने धडेवराव्यु के,
तमे आव्या ते कीक क्यु परतु तमे दिवसना भागमा अहि आवथो नही रातना
वभते अने ते पञ्च भकानना पाछवा भाभमां थरने आवजे. आशुभ्ये ज्येभ
क्यु ते रातना वभते सासुराने घेर पडोव्या सासु ससुराञ्जे तेने भकानना
वोयतणीये जेसाअने बोव्जन करव्यु ज्यारे भाकीना भडेभानेने ज्येक साथे सभा
शेडमां उपरना भाणे बोव्जन करव्यु आशुभ्यने आपवामा आवेव बोव्जन
पञ्च साव निरस अने शुभ्र इतु ज्यारे भीना भडेभानेने स्वादिष्ट मिष्ट

एवमपमानितो भूत्वा समार्यथाणक्यः स्वगृह समागतः । तदा चाणक्येन चिन्ति-
तम्—श्वशुरेण मम निर्धनत्वादपमानः कृतः । इति विचिन्त्य धनमर्जयितुं चाणक्यः
पाटलिपुत्रनगरे नन्दनाम्नो नृपस्य समीपे योगवेधेण गतः । पूर्वाह्ने राज्यकार्या-
लये प्रविष्टः, तदा तस्य दासी कार्यालय समार्जयन्ती पश्यति—चाणक्य' सिंहासने
तुम्बीपात्रं स्वासनं च स्थापयति । नन्दनृपस्य भृत्याश्वागक्य तिरस्कृत्य बहिर्नि-
सारयन्ति । तदा चाणक्येन प्रतिज्ञा कृता—नन्दनृपस्य राज्यं समूल नाशयिष्यामि ।

अपना इस प्रकार का वहाँ निरादर देख कर भार्या को साथ में लेकर
अपने घर पर वापिस आ गया। आकर उसने विचार किया कि श्वशुर
ने जो मेरा निरादर किया है उसका कारण मेरी यह निर्धनता है,
अतः धन कमाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार विचार करने
के बाद यह धन कमाने के लिये पाटलीपुत्र नगर में नन्द नाम के राजा
के पास योगी का वेप धारण कर पहुँचा। पूर्वाह्न अर्थात् दिन के पूर्व
भाग में चाणक्य ने कचहरी में प्रवेश किया, एक उस कचहरी की
दासी ने जो उस समय उस कचहरी को झाड़ रही थी चाणक्य को
देखा, चाणक्य ने वहाँ एक ओर सिंहासन के ऊपर अपना तुम्बीपात्र
और आसन रख दिया। नन्द राजा के नौकरों ने यह देखकर चाणक्य
को घक्का देकर एव तिरस्कार कर के वहाँ से बाहिर निकाल दिया।
चाणक्य ने इस अपमान से क्रुद्ध होकर वहीं पर यह प्रतिज्ञा की, कि
मैं इस नन्दनृप के राज्य का समूल विनाश कर दूँगा। इस प्रकार कह

शोभन जभाठयु आषुअय आ प्रकारनी पोताना प्रयेनी वर्तुष्ठ ओधने
पोतानी पत्तिने लधने पोताने धेर पाछा ह्या धेर आवीने तेखे
भनभा ओवेो विचार कथी के, आसुअयराखे भाइ ले अपमान कथुं तेद
कारण भारी निर्धनता जे छे आधी धन कभावचाने भारे प्रयत्न करवेो ओधके
आ प्रभाखे विचार कथ्या पछी ते धन कभावा भाटे पाटलीपुत्र नगरमां नइ
राजानी पासो पोतीनेो वेश धारण करी पछोंची गया। द्विसना पछेला प्रहरमां
आषुअये राखकेरीमां प्रवेश कथी। जे वपते राखकेरीनी दासी कषेरीने
साक्षुअ करी रही डती तेखे आषुअयने जेया आषुअये त्यां जेक सिंहासन
ऊपर पोतातु तुभीपात्र अने आसन रापी हीपु नइ राजना नोकरांजे आ
ओधने आषुअयने घक्का भारीने तथा तेना तिरस्कार करीने गदार ठाडी सुकभा
आषुअये आ अपमानधीं होषित बधने त्यां प्रतिज्ञा करी के, छेवे कुं आ
नइराजना राखयेना समूलजोख विनाश करी नापीश आ प्रभाखे निषुअ करीने ते

ततश्चाणक्यस्तस्य नन्दनृपस्य राज्ये भ्रमन् मयूरनामकं लघुग्रामे समागतः, तत्र मयूरपालको निवसति । तत्र मयूरपालकस्य सगर्भायां भार्यायाश्चन्द्रपानदोहदो जातः। सा दोहदालाभेन कृशशरीरा खिन्ना सनाता । सन्यासिवेषेण चाणक्यस्तत्र भ्रमन् मयूरपालकस्य गृहे समायात । दोहदालाभेन मयूरपालकस्य भार्या कृशा दीर्णा विलोक्य चाणक्यो ब्रूते-भो! मयूरपालक ! जहमस्या दोहद पूरयिष्यामि, यदाऽस्या, पुत्रोऽष्टवर्षवयस्क स्यात् तदा मम शिष्यत्वेन भवता समर्पणीयः । मयूरपालकेन तद् वचन स्वीकृतम् । ततश्चाणक्य सच्छिद्र मण्डप कारयित्वा तस्यो-

कर वह चाणक्य वहा से चलकर नद राजा के राज्य के ही अन्तर्गत मयूर नाम के किसी एक छोटे से गाव में चला गया । वहा एक मयूरों को पालने वाला मयूरपालक नामक पुरुष रहता था । उसकी भार्या गर्भवती थी ! उसे चन्द्र को पीने का दोहला उत्पन्न हुआ था । दोहले की पूर्ति न हो सकने के कारण शरीर से वह विशेष कृश हो गई थी । तथा चिन्तित भी रहती थी । चाणक्य भी इधर उधर घूमता घामता मयूरपालक के घर आया । मयूरपालक की पत्नी को ज्यों ही उसने दोहद की पूर्ति न हो सकने के कारण कृश-शरीर एवं खेदखिन्न जाना तो कहने लगा हे मयूरपालक ! तुम्हारी धर्मपत्नी के चन्द्र पीने के दोहद की पूर्ति मैं कर सकता हू यदि तुम हमारी इस शर्त को कबूल कर सको तो, शर्त यह है कि जब इसका बालक आठ वर्ष का हो जाय तो तुम उसे मुझे दे देना, मैं उसे अपना शिष्य बना लूंगा । मयूरपालक ने चाणक्य की शर्त स्वीकार करली ।

आशुभ्य न इराबाना राब्यनी अवर अपवेद्या मयूर नामना अेक नानकडा गामर्भा आद्या जथा त्या भोरने पाणवावाणे मयूरपालक नामने अेक पुत्र्य रहेतो उतो तेनी श्री गर्भावती હતી तेने अद्र पिवाणी धम्भा उत्पन्न થઈ હતી તે ધ્મિછા પરિપૂર્ણ ન થઈ શકવાના કારણે તે શરીરે અત્યંત દુબળી થઈ ગઈ તથા ચિંતા તુર રહેતી હતી આશુક્ય પણ આમ તેમ કરતા કરતા મયૂરપાલકને ઘેર આવી પહોંચ્યા મયૂરપાલકની સ્ત્રીને તેની ધ્મિછા પરિપૂર્ણ ન થઈ શકવાના કારણે શરીરે દુબળી તેમજ ચિંતાતુર દેખીને તે કહેવા લાગ્યા, મયૂરપાલક તારી પત્નિને અદ્ર પીવાની જે ધ્મિછા થઈ છે તે હું પરિપૂર્ણ કરી શકુ તેમ છ પણ તુ મારી અેક શરતને કષ્ટુલ કરેતો જ શર્ત અે છે કે, બ્યારે તારી પત્નિને અવતરનાર બાળક આઠ વર્ષના થાય ત્યારે તે બાળક મને સોપી દેવો પડશે હું તેને મારો શિષ્ય બનાવીશ. મયૂરપાલકે આશુક્યની શર્તને સ્વીકાર કર્યો આશુક્યે

ध्वंभागे तच्छिद्राच्छादनार्थं कचिदकं पुरुषं गुप्तरीत्या नियोज्य छिद्रस्याभस्तात्
सितामिश्रणयः पूर्णं स्थालं स्थापितवान् । अयं मध्यरात्रे तच्छिद्रद्वारेण तत्र स्थाले
चन्द्रप्रतिबिम्बसपाते सति मयूरपालमार्या तत्र नीत्वा चाणक्यं स्थालगतं चन्द्र
प्रतिबिम्बं प्रदर्शयन् प्राह—अयं चन्द्रः पीयताम् । ततः सा चन्द्रप्रतिबिम्बसहितं
स्थालमुत्थाप्य दुग्धं पिवति, तस्मिन्नेव समये छिद्रसमीपस्य पुरुषं द्युने-
च्छिद्रमाच्छादयति ।

चाणक्य ने अब उसके चन्द्र पीने के दोहले की पूर्ति करने का प्रयत्न
प्रारंभ कर दिया । इसमें उसने एक सच्छिद्र मंडप तयार करवाया ।
उसके उर्ध्वभाग में गुप्तरिति से एक पुरुष की उसने नियुक्ति की,
जो उस छिद्र के पास जाकर बैठ गया । जहां छिद्र था ठीक उसी के
नीचे उसने मिश्री से मिश्रित कर एक दूध का भरा हुआ थाल रखा
दिया । मध्यरात्रि में उस छिद्र के द्वारा उस थाल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब
ज्यों ही पड़ा कि चाणक्य ने मयूरपालक की मार्या को वहां बुलवा
लिया । उसके आनेपर चाणक्य ने उसको उस थाल में रहे हुए प्रति-
बिम्ब को दिखाया और कहने लगा देखो यह रहा चन्द्र, पी जाओ ।
उस ने उसी समय चन्द्रप्रतिबिम्बसहित थाल को उठा कर उसमें का
दूध पीना प्रारंभ कर दिया । ज्यों २ यह दूध पीती जाती थी त्यों २
छिद्र के पास बैठा हुआ वह मंडप के ऊपर रहा व्यक्ति उस छिद्र को
धीरे २ घन्ट करता जाता था । जब यह पूरा दूध पी चुकी तो उसने भी
उस छिद्र को पूरा घन्ट कर दिया । इस प्रकार चाणक्य ने उसके चन्द्र

इदं चन्द्रं पीवानी मयूरपालकनी पत्न्याः पञ्चाने परिपूर्णां कश्चिन्ना प्रयत्नानी शङ्क
आत करी दीधी व्याभां तेष्ते अेक छिद्रवाणे मंडप तयार करान्ये तेना उर्ध्व
भाजभां गुप्त रीते अेक पुरुषने ते छिद्रं पासे वेसाडये। न्या छिद्रं इत्तु त्यां
अराणर तेनी नीचे साकरथी मिश्रीत करेव दूधधी अरेवे। अेक थाण राञ्जे।
मध्यरात्री अे आ छिद्रं द्वारा ते थाणभां चन्द्रं न्यारे प्रतिबिम्ब पडयु त्यारे
आच्छुडये मयूरपालकनी अीने त्यां बुलावी अने धाणीभा डेजाता चन्द्रने
अतावी कडु के, न्ये आ रडो चद्र । पी अे अे। तेष्ठी अे ते वअते चद्रना
प्रतिबिम्बवाणा थाणने उठावीने तेमानु दूध पीवानी शङ्कात करी नेम
नेम ते दूध पीवी गध तेम तेम ते छिद्रनी पासे अेठवे। तेमअ ते मंडपनी
ऊपर धुपाध रहेव ते अक्षित अे ते छिद्रने धीरे धीरे अध करवा भांडयु
न्यारे तेष्ठी अे अध दूध पी दीधु त्यारे तेष्ते पञ्च छिद्रने पुरेपुड अध करी दीधु

एव चाणक्येन तस्याश्चन्द्रपानदोहदः सफलीकृत' । तदनु चाणक्यो रसायनादिभिर्धनार्जनं कर्तुं प्रवृत्तः । इतश्च समये प्राप्ते सति सपूर्णदोहदायास्तस्या पुत्रो जातः । जनन्या दोहदपूर्तिसमये चन्द्रस्य गोपनात् पित्रा तस्य बालरुस्य 'चन्द्रगुप्त' इति नाम कृतम् । चन्द्रगुप्तः क्रीडनकाले बालकैः सह राजनीतिं प्रदर्शयन् क्रीडति । यदा चन्द्रगुप्तोऽष्टवर्षवयस्को जातः, तदा पुनश्चाणक्यस्तत्रागतः । ततो विदितं स्वजन्मवृत्तान्तोऽसौ चन्द्रगुप्तश्चाणक्यं प्राह-भो मृनीन्द्र ! भवान् स्वेन सह मां नयतु । चाणक्यो वदति-त्वत्पिता त्वा प्रतिपेत्स्यति । चन्द्रगुप्तो वदति-मम पिता

पीने के दोहले की पूर्ति करने में सफलता प्राप्त करली । वह भी अपने दोहले की पूर्ति से विशेष प्रसन्न हुई । इसके बाद चाणक्य ने रासायनिक क्रिया द्वारा धन का उपार्जन करना प्रारंभ कर दिया । इस तरफ जय पूरे नौ मास व्यतीत हो चुके तब दोहले की पूर्ति से प्रसन्न हुई उस मयूरपालक की पत्नी के पुत्र उत्पन्न हुआ । माता की गर्भावस्था में चंद्र को गोपन करने से पिताने उसका नाम चन्द्रगुप्त रखा । धीरे २ जय चन्द्रगुप्त बालकों के साथ क्रीडा करने के लायक हो गया तब वह उनके साथ खेलते समय राजनीति का प्रदर्शन करने लगा । जिस समय चन्द्रगुप्त की अवस्था आठ वर्ष की हो गई उस समय चाणक्य मयूरपालक के घर पर आया चाणक्य ने चंद्रगुप्त को उसकी उत्पत्ति के वृत्तान्त से विदित कर दिया । चन्द्रगुप्त को जय अपनी उत्पत्ति का वृत्तान्त विदित हो चुका तो उसने चाणक्य से कहा हे महात्मा ! आप मुझे अपने ही साथ ले चलिए । चाणक्य ने कहा तुम्हारा पिता

आ प्रभाषे आक्षुभ्ये तेष्मिणी अद्र पीवानी धम्भाने परिपूर्जं कस्वामां सङ्गता मेणवी पोतानी धम्भानी परिपूर्जताथी मयूरपालकनी पत्नि भूष प्रसन्नतामां रडेवा लागी. आ पछी आक्षुभ्ये रसायक्षीक क्रियाओ द्वारा धन मेणववानी शङ्खात करी हीधी आ तरक न्यारे पुरा नव भङ्गिना वीती गया त्यारे पोतानी धम्भानी पूर्तिथी प्रसन्न थयेही ते मयूरपालकनी पत्निओ पुत्रनो जन्म आथ्यो पिताओ तेनु नाम अद्रगुप्त राष्यु समय जता न्यारे अद्रगुप्त भाण्डेनी साथे रभवाने लायक थये। त्यारे तेजे भाण्डेनी साथे जेवती वभते राजनीतिनु शिक्षण आपवा भाक्षु यथा समये न्यारे अद्रगुप्त आठ वर्षना थये। त्यारे अक्षुभ्य मयूरपालकने घेर आवी पहेलिया आक्षुभ्ये अद्रगुप्तने तेना जन्म भाण्डे वृत्तांत कसु अद्रगुप्ते पोताना जन्मभाण्डे वृत्तांत भाष्यु त्यारे तेजे आक्षुभ्यने कसु, हे महत्प्रभा ! आप भने आपनी साथे लष लओ, आक्षुभ्ये

पूर्वमेव मां दत्तवान् । ततश्चाणक्यश्चन्द्रगुप्त सह नीत्वा प्राह—तव राज्यसामं करिष्यामि । ततश्चाणक्यो घन गत्या रसायनेन द्रव्य निर्माय तत्प्रमाणात् सेनां सगृहीतवान् । सैनिकैः सह स पाटलिपुत्रनगरे नन्दनृपतिमाक्रमते स्म । नन्दनृपतिश्चाणक्यस्य पराजयं कृतवान् । चन्द्रगुप्तेन सह चाणक्यस्ततोऽप्यस्यै क्वचित् प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । नन्दनृपतेः कश्चित् सैनिकोऽश्वमारुह्य चाणक्यं ग्रहीतुमागतः । चाणक्यस्त विलोक्य चिन्तयति—अयं तु मां ग्रहीतुं प्रत्यासन्नो भवति, वात्सकोऽयं चन्द्र

मेरे साथ चलने में तुम्हें निषेध करेगा । चन्द्रगुप्त ने कहा—निषेध क्यों करेगा ? पिता ने तो मुझे आपको पहिले से ही दे दिया है । चन्द्रगुप्त की बात सुनकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले लिया । कहा—चलो मैं तुम्हें राज्य की प्राप्ति कराऊँगा । चन्द्रगुप्त को साथ लेकर चाणक्य घन में पहुँचा । रसायन से उसने वहाँ द्रव्य को खूब इकट्ठा किया और उसके प्रभाव से उसने वहाँ पर सेना का संग्रह करना भी प्रारंभ कर दिया । जब सेना अच्छी तरह संगृहीत हो चुकी तो चाणक्य ने सेना को लेकर पाटलिपुत्र में जाकर राजा नन्द के ऊपर आक्रमण कर दिया । राजा नन्द ने चाणक्य को पराजित कर वहाँ से निकाल दिया । चाणक्य भी परास्त होकर चन्द्रगुप्त को साथ लेकर वहाँ से चला गया और किसी जगह गुप्तरूप से जाकर छिप गया । राजा नन्द ने चाणक्य को पकड़ने के लिये उसके पीछे एक अपना सुहस्रवार भेजा । सुहस्रवार को अपना पीछा करते हुए देखकर चाणक्य ने विचार किया

क्यों के तारा पिता तने भारी साथे मोठवामां अउयलु उली करये अद्रगुप्ते कहुं अउयलु शा भाटे करये ? पिताजे तो पडेवेथी अ मने आपने सुभत करेव छे अद्रगुप्तनी वात साबणीने आबुअये अद्रगुप्तने पोतानी साथे वध वीधो अने कहुं, आबो । हुं तमने राब्यनी प्राप्ति करावीथ। अद्रगुप्तने वध आबुअ वनमां जया रसायलु प्रयोअथी त्यां तेजे भूष द्रव्य अेकहुं कहुं अने अेनी सहायथी सेना अेकठी करवाने आरक करी वीधो सेनाने वधने पाटलीपुत्र पडेवेथी नइराअ उपर आकभलु कहुं सुद्धमां राब नडे आबुअने पराअ करीने अजादी भूअ आबुअ्य हारी अवाथी अद्रगुप्तने साथे वध त्यांथी आबो नीकअ्या अने कौध छुपा स्थजे अर्ह रहेवा वाअ्या राब नडे आबुअने पठठवा भाटे तेनी पाछण अेक बोठेस्वारने मोठवये। बोठेस्वार पोताने पीछे पठठी रहो छे। आबुअने आबुअ्य विचार करवा वाअ्या के ते , पठठवा

गुप्तः क्रुध मया सह गन्तु प्रभवति । इत्येव विचार्य स तत्र सरस्तटे वद्व घात्रमानस्य रजकस्यान्तिके गत्वा वदति—अरे रजक ! नन्दनृपते, सैनिकास्त्वां हन्तुमागच्छन्ति । रजकस्तद्वचन श्रुत्वा तद्गयात् ततः पलायितः । चाणक्यस्तानि वस्त्राणि घात्रमानस्त्र सस्थितः, चन्द्रगुप्तोऽपि तत्रैवान्यभागे जले प्रविश्य प्रच्छन्नोऽभवत् । अश्वारूढोऽसौ नन्दराजपुरुषस्तत्रागत्य पृच्छति—अरे रजक ! चाणक्य क्व गतः ? रजकवेषधारी चाणक्य प्राह—जले प्रविष्टं ततोऽसौ नन्दराजपुरुषस्तस्य कृतरज-

कि यह तो मुझे पकड़ने के लिये बिलकुल ही पास आ चुका है, यह चन्द्र-गुप्त बालक है मेरे साथ दौड़ सकता नहीं है अत एक उपाय करना चाहिये कि जो साम्हने के तालाय पर घोषी कपड़े धो रहा है उसको किसी घहाने से वहा से भगा देना चाहिये और स्वय को उसका काम करने लग जाना चाहिये तभी रक्षा हो सकती है। ऐसा विचार कर चाणक्य उस घोषी के पास आकर कहने लगा कि अरे घोषी ! तू देखता नहीं है राजा के सैनिक तुझे मारने के लिये आ रहे हैं । घोषी ने ज्यों ही चाणक्य की इस बात को सुना कि वह घहा से एकदम भग गया । चाणक्य ने अपनी नीति में सफलता प्राप्त की और उस घोषी के जो कपड़े वहा घोने के लिए पड़े हुए थे उन्हें घोना प्रारम्भ कर दिया । चन्द्रगुप्त भी वहीं पर एक किनारे पानी में जाकर छुप गया । वह आश्वारूढ राजपुरुष जो उनके पीछे पड़ा हुआ था वहाँ पर आ पहुँचा । उसने आते ही उससे पूछा कि अरे घोषी ! चाणक्य कहाँ गया है । रजकवेषधारी चाणक्य ने कहा कि वह अभी जल में घुस

भाटे तहन नल्ल आवी गयेव छे आ भाणक यद्रगुप्त भारी साधे डोडी शक्ये नही भाटे ज्येने कंधक उपाय करवे लोडजे साभा तणाव उपर धोणी कपडा धोई रक्षो छे, तेभने केड पक्ष भङ्गने त्यांभी भगाडी हे ज्ये पोते ते काम करवा लागी ज्ये के जेथी रक्षा याय आवे विचार करीने आखुज्ये ते धोणीनी पासे जधने कडेवा लाग्या, के छे धोणी । तु जेतो नही के राब्बने सैनिक तने मारवा भाटे आवी रक्षो छे । धोणी आखुज्येनी आ वात साभणीने त्यांभी जेकडम भागवा लाग्ये । आखुज्ये पोतानी नीतिने भणेवी सङ्गता लोडने ते धोणीना जे कपडां त्यां धोवा भाटे पठ्या इतां तेने धोवा लाग्ये यद्रगुप्त पक्ष किनारा उपर पाखीमां जधने छुपाई गये जेटकाभां वेवी घोडेस्वार राजपुरुष जे तेभनी पाछण पडये इतो ते त्यां आवी पछेज्ये तेजे आवीने पूछ्यु, अरे धोणी ! आखुज्ये कड भाबुजे गये ? धोणी वेशधारी आखुज्ये कडुं के, ते इमवा ज पाखीमा उतरी गये छे तेनी

पूर्वमेव मां दत्तवान् । ततश्चाणक्यश्चन्द्रगुप्त सह नीत्वा प्राह—तव राज्यलाम करिष्यामि । ततश्चाणक्यो वन गत्वा रसायनेन द्रव्य निर्माय तत्प्रमाणात् सेनां संगृहीतवान् । सैनिकैः सह स पाटलिपुत्रनगरे नन्दनृपतिमाक्रमते स्म । नन्दनृपतिश्चाणक्यस्य पराजयं कृतवान् । चन्द्रगुप्तेन सह चाणक्यस्ततोऽपसृत्य क्वचित् प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । नन्दनृपते कश्चित् सैनिकोऽश्वमारुह्य चाणक्यं ग्रहीतुमागतः । चाणक्यस्त विलोक्य चिन्तयति—अयं तु मां ग्रहीतुं प्रत्यासन्नो भवति, याल्लकोऽयं चन्द्र-

मेरे साथ चलने में तुम्हें निषेध करेगा । चन्द्रगुप्त ने कहा—निषेध क्यों करेगा ? पिता ने तो मुझे आपको पहिले से ही दे दिया है । चन्द्रगुप्त की बात सुनकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले लिया । कहा—बलो मैं तुम्हें राज्य की प्राप्ति कराऊँगा । चन्द्रगुप्त को साथ लेकर चाणक्य वन में पहुँचा । रसायन से उसने वहा द्रव्य को खूब इकट्ठा किया और उसके प्रभाव से उसने वहीं पर सेना का संग्रह करना भी प्रारम्भ कर दिया । जब सेना अच्छी तरह संग्रहीत हो चुकी तो चाणक्य ने सेना को लेकर पाटलिपुत्र में जाकर राजा नन्द के ऊपर आक्रमण कर दिया । राजा नन्द ने चाणक्य को पराजित कर वहाँ से निकाल दिया । चाणक्य भी परास्त होकर चन्द्रगुप्त को साथ लेकर वहाँ से चला गया और किसी जगह गुप्तरूप से जाकर छिप गया । राजा नन्द ने चाणक्य को पकड़ने के लिये उसके पीछे एक अपना बुद्धसवार भेजा । बुद्धसवार को अपना पीछा करते हुए देखकर चाणक्य ने विचार किया

कहूँ के ताश पिता तने मारी साथे मोठवामां अठयलु उभी करये अद्रगुप्ते कहुँ अठयलु शा माटे करये ? पिताअने तो पहेवेथी अ मने आपने सुप्रत करेव छे अद्रगुप्तनी वात सांभलीने याबुकथे अद्रगुप्तने पीतानी साथे वध दीधी अने कहुँ, आदी । हुँ तमने राब्यनी प्राप्ति करवीश । अद्रगुप्तने वध याबुकथ वनमां अया रसायलु प्रयोगथी त्यां तेजु भूष द्रव्य अेकहुँ कहुँ अने अनी सहायथी सेना अेकठी करवाने आरभ करी दीधी सेनाने वधने पाटलीपुत्र पछोथी नइराज उपर आक्रमलु कहुँ युद्धमां राज नइ याबुकथने पराब्य करीने बगादी भूकथ याबुकथ करी अवाथी अद्रगुप्तने साथे वध त्यांथी यादी नीठया अने ठोड छुपा स्थणे अर्ध रहेवा दाव्या राज नइ याबुकथने पठववा माटे तेनी पाछण अेक बोठेस्वारने मोठवसे बोठेस्वार पीतानी पीछे पठवी रह्यो छे । अण्णीने याबुकथ विचार करवा दाव्या के ते मने पठववा

वृद्धा प्राह-भोजने राज्यग्रहणे च प्रथम प्रान्तभागे हस्तो निक्षेपणीयः । एतद्वचनं श्रुत्वा चाणक्यो हिमगिरिं गतवान् । तत्र पर्वतनामको नृपतिरासीत् । तस्य समीप गत्वा चाणक्योऽवदत्-पाटलिपुत्रनगरे नन्दनृपतिना सह युद्धे भवान् सहयोग दद्यात् तर्हि तदर्थं राज्यं भवते दास्यामि । तदा पर्वतेन तस्य वचनं स्वीकृतम् ।

ततश्चाणक्यः पर्वतश्च चन्द्रगुप्तेन सह पाटलिपुत्रनगरमागत्य नन्दं विजित्य राज्यं गृहीतवन्तौ । तदा नन्दनृपतिर्धर्मद्वारेण निःसर्तुं प्रार्थयति, चन्द्रगुप्तेन तत्प्रार्थनं स्वीकृत्य कथितम्-एकस्मिन् रथे यावद् द्रव्यं समाविशति, तावद् द्रव्यमुपादाय

ने क्या अनुचित किया है ? । वृद्धा ने कहा भोजन एवं राज्यग्रहण में प्रथम प्रान्तभाग में हाथ डालना चाहिये । वृद्धा के वचन सुनकर चाणक्य हिमगिरि जाकर वहा के राजा पर्वत से मिला । उससे चाणक्य ने कहा पाटलिपुत्र नगर में नन्दनृपति के साथ यदि युद्ध में आप हमें सहयोग प्रदान करे तो वहा का आधा राज्य हम आपको देगे । चाणक्य की बात सुनकर पर्वत ने युद्ध में सहायता देना कबूल कर लिया ।

चन्द्रगुप्त को लेकर चाणक्य और पर्वत दोनों मिल कर पाटलिपुत्र आये । वहां नन्द राजा के ऊपर इन्होंने ने धावा बोल दिया । नन्द को परास्त कर उसका राज्य ले लिया । उस समय नन्द ने धर्मद्वार से निकलने के लिये प्रार्थना की । चन्द्रगुप्त ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए कहा-एक रथ में जितना द्रव्य हो सकता हो उतने द्रव्य को

अनुचित काम क्युं छे ? वृद्धाके कस्युं के, सोलन अने राज्य अहलुमा प्रथम अके छेडेधी हाथ नाभवे अकेअके. वृद्धातु आ वचन सांभणी तेने नमन करीने आलुक्य त्याधी आसता थया आ पछी आलुक्ये हिमगिरि वध त्याना राज पर्वतनी मुलाकात वीधी अने तेने कस्युं के, पाटलीपुत्रना राज नदनी सामे अमे युद्ध करवा छुअीये छीअे अे युद्धमां तमे अे अभने साथ आपरो तो ते अतेवा रान्यने अरपी भाग तमने आपवामां आवरो. आलुक्यनी आ वात सांभणी पर्वत राजके युद्धमां सहायता देवातु कसुल कसुं

अ द्रशुसने वधने आलुक्य अने पर्वत अनेअे पाटलीपुत्र उपर आक्रमलु कसुं सामसामी वडाध यध नेमां राज नद करी गया, तेना रान्यने अकेअे अ द्रशुपते सभाणी वीधी आ समये न दे धर्मद्वारथी निकलवा भाटे प्रार्थना करी अ द्रशुपे तेनी प्रार्थनने स्वीकार करीने कस्युं के, अके रथमां नेटहुं द्रव्य समाध

कवेपस्य चाणक्यस्य हस्ते स्व खड्गं इयं च दरया जले प्रविशति । तस्मिन्नेव समये रजकरूपश्चाणक्यस्तेन खड्गेन तस्य नन्दराजपुरुषस्य शिरश्चिन्देत् ।

ततश्चाणक्यश्चन्द्रगुप्तेन सह स्थानान्तरं गतः । कस्मिंश्चिद् ग्रामे मिथार्षी सुप्तस्य गृहे गत्वा पश्यति—एका वृद्धा स्यालके पायसं परिविप्य बालकाय भोक्तुं ददाति । तेन बालकेन स्यालकस्य मध्यभागे हस्तो निक्षिप्तः । प्रतप्तपायसस्पर्शेन तस्य हस्तो दग्धः, तेनासौ क्रन्दति । वृद्धा वदति—रे मूढ ! त्वं चाणक्य इव किमाचरसि । एतद् वचनं श्रुत्वा वृद्धा चाणक्यं प्राह—मातः ! किमनुचितं चाणक्येन कृतम्,

गया है । सवार ने ज्यों ही यह बात सुनी तो वह अपने घोड़े से नीचे उतर पड़ा और कहने लगा कि तुम मेरे इस घोड़े को और तलवार को पकड़े रहो, जबतक मैं जलमें घुस कर उसे पकड़ लाता हूँ । इतने में ही चाणक्य ने उसकी ही तलवार से उसको मार दिया ।

चाणक्य वहाँ से चन्द्रगुप्त को साथ लेकर किसी दूसरे स्थान पर चला गया । एक समय की बात है कि चाणक्य जब शिक्षा लेने के लिये किसी दूसरे गाँव में एक गृहस्थ के घर पर गया हुआ था तब उसने वहाँ देखा कि एक वृद्धा ने थाली में गर्म खीर परोस कर खाने के लिये किसी बालक को दी और उस बालक ने उस गर्म खीर से युक्त थाली के बीचोबीच हाथ डाल दिया सो गर्म खीर के उष्णस्पर्श से उस बालक का हाथ जल गया इससे वह रोने लगा । उसको रोता देखकर वृद्धा ने कहा कि रे मूढ ! तू चाणक्य की तरह क्यों होता जा रहा है । वृद्धा के ये वचन सुनकर चाणक्य ने उससे कहा हे माता ! चाणक्य

आ वात सांभण्णिने ते पोताना घोडा उपरधी नीक्षे इतथी अने ठडेवा हाउथे, मारा आ घोडाने अने तरवारने तमे साचवे। त्यांसुधीमां हुं उभवां व तेने पाष्ठी मांथी पकडी वापु छु घोडा अने तरवार हाथ ठरीने आबुद्धये तरवारधी पैवा स्वारने मारी नाथ्ये। अने मारीने आबुद्धये अद्रुसने साभे लक्ष ठोर्ष भील स्थणे यास्या जया। जेठ सभयणी वात छे के न्यारे आबुद्धये त्यां स्थिर लक्ष निष्का देवा माटे ठोर्ष भील गाभे जेठ गृहस्थने त्या गभा त्यां ते निष्का माटे पडोस्या जेव वअते जेठ वृद्धा याणीमां जरभा जरम भीर पीरधी आणकने अवशववानी तैयारी ठरी रडेव इती। आणके भीर आवानी उतावणमां ते जरम भीरधी नरेखी याणीनी वम्भे वम्भे हाथ नाथ्ये। जरम भीरना रपशंथी आणकने हाथ हाथ्ये अने शेवा हाउथे। आ जेठ वृद्धा जे ते आणकने कहुं, के अरे मूढ ! आबुद्धयना जेवे तू केम कतो लभ छे ? वृद्धानां आ वचन सांभणी आबुद्धये ते वृद्धाने पूछु के हे माता ! ॥ ४३

चाणक्यस्तदा नन्दराज्यस्य द्वौ भागौ कृत्वा पर्वताय चन्द्रगुप्ताय चैकैकं भागं
 मदत्तवान् । नन्देन स्वभवने विपकन्या स्थापिता । तत्र पर्वतनृपस्तां विचोक्य
 मोहितो जातः, तस्या स्पर्शमात्रेण पर्वतनृपो विपाक्रान्तः सजातः । तद्विपापहारार्थं
 चन्द्रगुप्तः प्रवृत्तः, स चाणक्येन प्रतिषेधितः, तदनन्तरं पर्वतनृपो मृतः । तदा
 चन्द्रगुप्तस्य राज्यमखण्डं सजातम् ।

अथ नन्दराज्यान्तर्गता, शुभ्रलोकाश्रौयादिभिरुपद्रव कुर्वन्ति । चाणक्यश्रीराणा

मगल है। चक्र के जो नव आरे टूट गये हैं उससे यह सूचित होता है कि
 नौ पीढ़ी पर्यन्त यह राज्य स्थिर रहेगा। इसके बाद चाणक्य, पर्वत
 और चद्रगुप्त राज्यभवन में प्रविष्ट हो गये।

चाणक्य ने उस मिले हुए नन्दराज्य के दो भाग किये। एक भाग
 पर्वत के लिये और दूसरा भाग चन्द्रगुप्त के लिये दिया। नद के भवन
 में एक विपकन्या पाली हुई थी। पर्वत इस कन्या को देखकर उस पर
 मोहित हो गया। ज्यों ही उसने उसका स्पर्श किया कि उसका समस्त शरीर
 विष से व्याप्त हो गया। पर्वत के समस्त शरीर में व्याप्त विष को दूर
 करने के लिये चद्रगुप्त ने प्रयत्न करना चाहा, परन्तु चाणक्य ने उसे
 इसके लिये मना कर दिया अतः वह उससे दूर रहने लगा। बाद में
 पर्वत मर गया। पर्वत के मरते ही चद्रगुप्त का एकछत्र राज्य हो गया।

राज्य परिवर्तित होने से अथ नन्दराज्यान्तर्गत लोकों ने चोरी
 आदि उपद्रव करना प्रारम्भ कर दिया। चाणक्य ने चोरों को दमन

गणरूप नहीं परन्तु भारे भगणरूप छे यकना जे नव आरा तूटी गया छे
 जेनाथी जे सूचित थाय छे के, तभारी नव पेढी सुधी आ राज्य अथय अने स्थिर
 रहेथे। पछी आखुअथ, राज पर्वत अने चद्रगुप्त भधा राज्यभवनमां गया

न इ राजानां जे राज्यना आखुअथे जे साम्राजा पाउथा जेक साम राज पर्वतने
 अने जेक चद्रगुप्तने सुभ्रत करवामा आये। न इना राज्यभवनमा जेक विपकन्या
 छेठेवामां आवी छती पर्वत जेने जेछे जेना उपर मोहीत अनी गये। तेजे
 जे कन्याना शरीरने स्पर्श कर्यो के तुरत जे तेना समस्त शरीरमा विष प्रसरी
 गयु पर्वतना शरीरमां प्रसरी गयेला विषने दूर करवा चद्रगुप्त तत्पर अन्थे।
 जेव वभते आखुअथे तेने तेम करतां अटकाये। आभी तेजे तेम करवु मांझी
 पावयु विषना भारे प्रकोपथी पर्वतनु मृत्यु ययु पर्वतना मृत्युने करजे
 राज न इनुं समभ्र राज्य चद्रगुप्तना जेक छत्र नीधि आवी गयु

राज्यनु परिवर्तन थवाथी राज्यनु शासन अइलाता केटलाक बोडोके चोरी
 आदि उपद्रवने प्रारंभ करी दीथे। आखुअथे थारी आदि उपद्रव करनाराजो सामे

भार्यापुत्रादिभिः सह भवान्निःसरतु । नन्देन तथैव कृतम् । तदा रथस्थिता नन्दस्य पुत्री निर्गच्छन्ती चन्द्रगुप्त सानुराग पश्यति, तदा नन्द स्वपुत्रीं प्राह-पुत्रि ! अमीढं चेच्चन्द्रगुप्त वरस्य । ततोऽसौ नन्दपुत्री चन्द्रगुप्तस्य रथे समारोहति, तदा नव सख्यका रथचक्रस्य अरा भग्नाः । चन्द्रगुप्तस्त्वद्भ्रममद्भ्रल विज्ञाय नन्दपुत्रीं प्रतिषेधयति । चाणक्यश्चन्द्रगुप्त वदति-इदं महन्मद्भ्रलम्, नवसख्यका अरा भग्ना इति नवपुरुषपर्यन्तं राज्यं स्थास्यति । ततश्चन्द्रगुप्त, पर्यतश्चाणक्यश्च सर्वे राजभवनं प्रविष्टाः ।

लेकर आप अपने स्त्रीपुत्रादिकसहित यहा से चले जाये । चन्द्रगुप्त की आज्ञानुसार नन्द ने वैसा ही किया । जिस समय नन्द राज्य से पाहर होकर पालषच्चेसहित चलने लगा उस समय रथ में बैठी हुई नन्द की पुत्री सुचन्द्रा ने चढे ही अनुराग से चन्द्रगुप्त की ओर देखा । चन्द्रगुप्त की ओर अनुराग से देखनेवाली अपनी पुत्री को देखकर नन्द ने कहा कि हे पुत्री ! यदि तेरी इच्छा हो तो तू इस चन्द्रगुप्त को बरले । पिता की बात सुनकर पुत्री चन्द्रगुप्त के रथ पर जाकर बैठ गई । जिस समय यह उसके रथ पर बैठी उसी समय चन्द्रगुप्त के रथ के पहिये के नौ आरे टूट गये । चन्द्रगुप्त ने ज्यों ही अपने रथ के पहिये की यह हालत देखी तो उसने इसमें अमंगल माना और नन्द की पुत्री को उस में बैठने से निषेध कर दिया । चाणक्य ने इस बात को देखकर चन्द्रगुप्त से कहा कि तुम जिसे अमंगल समझ रहे हो वह बडा भारी

शके तेदुलु लध आप आपना स्त्री पुत्रादिठने लध अहीथी ब्याख्या लव नडे अद्रशुसनी आज्ञानुसार ठशु ने समथे सल नड पोताना परिवार अहित शल्य छोडीने जवा लाभा ते समथे रथमा ठेठेठ नडनी पुत्री सुचन्द्राके अद्रशुसनी सामे बारे अनुरागथी द्रष्टि देडी । अद्रशुस तरु अनुरागथी लेध रहेव पोतानी पुत्रीने ठेरेधीने नडे ठशु के, डे पुत्रि ! ने तारी धम्भा लोथ तो तु पुत्रीथी अद्रशुसने वरी डे पितानी आ वात सांभणी सुचन्द्रा ते रथमांथी ठतरी अद्रशुसना रथ ठपर अही गध जेवी ते अद्रशुसना रथ ठपर लधने लेडी तेवा ज अद्रशुसना रथना पधडाना नव आरा तूटी जया अद्रशुसे पोताना रथनां पैडाने आ जनाव जेता तेना मनमां अभजणनी शठा जगणी अने जेथी नडनी पुत्रीने रथ ठपर अडवानी ना पाडी । आलुअये आ लेध अद्रशुसने समललये डे, वने जेने अभजण माने डे ते अभ

प्रियदर्शिनी टीका अ० ३ गा० १ अङ्गचतुष्टयदीर्घेभ्ये पाश्चात्पदान्तः २

चाणक्यस्तदा नन्दराज्यस्य द्वौ भागौ कृत्वा पर्वताय चन्द्रगुप्ताय चैकैयं
मदत्तवान् । नन्देन स्वभवने विपकन्या स्थापिता । तत्र पर्वतनृपस्ता वि
मोहितो जातः, तस्याः स्पर्शमात्रेण पर्वतनृपो विपाक्रान्तः सजात । तद्विपाप
चन्द्रगुप्तः प्रवृत्त, स चाणक्येन प्रतिपेधितः, तदनन्तरं पर्वतनृपो मृतः ।
चन्द्रगुप्तस्य राज्यमखण्डं सजातम् ।

अथ नन्दराज्यान्तर्गताः शत्रुलोकाश्चौर्यादिभिरुपद्रवः कुर्वन्ति । चाणक्यश्च

मगल है। चक्र के जो नव आरे टूट गये हैं उससे यह सूचित होता
नहीं पीढ़ी पर्यन्त यह राज्य स्थिर रहेगा। इसके बाद चाणक्य,
और चंद्रगुप्त राज्यभवन में प्रविष्ट हो गये।

चाणक्य ने उस मिले हुए नन्दराज्य के दो भाग किये। एक
पर्वत के लिये और दूसरा भाग चन्द्रगुप्त के लिये दिया। नद के
में एक विपकन्या पाली हुई थी। पर्वत इस कन्या को देखकर उस
मोहित हो गया। ज्यों ही उसने उसका स्पर्श किया कि उसका समस्त
विष से व्याप्त हो गया। पर्वत के समस्त शरीर में व्याप्त विष को
करने के लिये चन्द्रगुप्त ने प्रयत्न करना चाहा, परन्तु चाणक्य ने
इसके लिये मना कर दिया अतः वह उससे दूर रहने लगा। पर्वत
पर्वत मर गया। पर्वत के मरते ही चन्द्रगुप्त का एकछत्र राज्य हो ग

राज्य परिवर्तित होने से अथ नन्दराज्यान्तर्गत लोकों ने
आदि उपद्रव करना प्रारंभ कर दिया। चाणक्य ने चोरों को

गणत्रय नदी परतु भारे भगणत्रय छे अकंता ले नव आरा तूरी गया
अनेनाथी अने सूचित थाय छे के, तमारी नव पेढी सुधी आ राज्य अथल अने शि
रहेये. पछी आखुअये, राज पर्वत अने अद्रशुस भधा राजभवनमा गय

न इ राजाना अने राज्याना आखुअये जे भागला पाठमा अेक भाग राजा पव
अने अेक अद्रशुसने सुमत करवामा आये। न इना राजभवनमा अेक विपक
छेरेवामा आवी हती पर्वत अने अेक अेना छपर मोहीत भनी गये। त
अे कन्याना शरीरने स्पर्श कर्यो के तुरत अ तेना समस्त शरीरमा विष प्र
गयु पर्वतना शरीरमा प्रसरी गयेला विषने दूर करवा अद्रशुस तत्पर भ
अेक वपते आखुअये तेने तेम करता अटकाये। आथी तेजे तेम करवु म
पावसु विषना भारे प्रकोपथी पर्वतनु मृत्यु थयु पर्वतना मृत्युने का
राज न इनु समअ राज अद्रशुसना अेक छत्र नीये आवी गयु

राज्यनु परिवर्तन थवार्थ राज्यानु शासन भइलाता केटवाक लोकेअे अ
आदि उपद्रवने प्रारंभ करी दीये। आखुअये चोरी आदि उपद्रव करनाशको अ

दमनार्थं विचिन्तयन् कदाचिद् नगरतो वह्निर्निःसृतः सन् पश्यति-नलदामनामा
 कुविन्दः पुत्रं मत्कोटकैर्दष्टं दृष्ट्वा कोपाविष्टो भूत्वा तेषां विलमन्वेपयति ।
 चाणक्यस्तथाकुर्वन्त कुविन्दं दृष्ट्वा पृच्छति-कुविन्द ! किमन्वेपयसि ? कुविन्द
 माह-मत्पुत्रदशदायिना मत्कोटकानां गृहम्, एव तद्वृक्षं विदित्वा चाणक्यो मन्तसि
 विचारयति-योग्योऽयं कुविन्दो धैरनिर्यातनस्य । इति मनसि विचार्य तमेव
 नगराध्यक्षं कृतवान् ।

एकदा कोशपूरणार्थं चाणक्यः मुवर्णभाषिकामो देवाराधनं कृतवान् । देवः

करने का बहुत कुछ विचार किया पर समझ में नहीं बैठा । एक दिन
 इसी विषय का विचार करते २ चाणक्य नगर से बाहर जा पहुँचे ।
 पहुँचते ही वहाँ एक नलदाम नामक कुविन्द (जुलाहे) को देखा जो
 अपने पुत्र को काटने वाले मकोड़ों के विल की तलास करने में बड़े
 क्रोध से अभिमूत होकर इधर उधर फिर रहा था । चाणक्य ने इस
 प्रकार से तलाशी करने में प्रयत्न करते हुए देखकर कुविन्द से पूछा
 कि हे कुविन्द ! कहो क्या दृढ़ रहे हो ? कुविन्द ने कहा मेरे पुत्र को एक
 मकोड़े ने काट लिया है सो मैं उसके घर को देख रहा हूँ । इस प्रकार
 कुविन्द की घात सुनकर चाणक्य ने मन में विचार किया कि यह
 कुविन्द धैर का बदला लेने में योग्य है । इस प्रकार विचार कर
 चाणक्य ने उसे नगर का कोतवाल बना दिया ।

एक समय की घात है कि खजाने की पूर्ति करने के निमित्त
 चाणक्य ने किसी देव की आराधना की । चाणक्य की आराधना से

सप्त दशैः काम देवानो तेभ्यः हनन्ते किराडो वीजवानो विचार्य भ्यो । परतु
 तेभ्यः क्व अत्यारना सन्नेगोभां तेने उचितन वाग्नु कोठ द्विवस आब आब
 तनो विचार्य कर्ता कर्ता आबुक्थ नगरनी अदार जता इता, त्यां रस्ताभां कोठ
 स्थये कोठ नलदाम नामना कुविन्द (वजुकर)ने ज्येथे । जे पोताना पुत्रने कर्तनाश
 म कोडानु इर शोधी रक्षो इतो तेने आबुक्थे पूछनु, कुविन्द शु शोधी रक्षो छे ?
 बज्जा ब कोधना आवेशथी अही तही इरी रक्षो कुविन्दे कहुं, भाश पुत्रने
 कोठ म कोडको कर्दी आधिल छे, इ तेना धरने जाती रक्षो छ आ प्रकारनी
 कुविन्दनी वात सांभणी आबुक्थे विचारुं के, आ भाबुस अहलो देवाभां योज
 छे आम विचारी तेने सभबनी पछीथी आबुक्थे तेने नगरना कोतवाजानी
 बनाये नीभ्ये ।

कोठ समयनी वात छे-सभयना अजताने अरपुर जनाववा आबुक्थे

मसन्नो भूत्वा चाणक्याय जयप्रदानं पाशकान् ददौ । तदनन्तरं चाणक्येन
दीनारपूर्णस्थालेन सह पाशकान् दत्त्वा कश्चिद् घृतपटु पुरुषो घृतार्थं
नगरे प्रेषितः । दीनारपूर्णं स्थालं पाशकानपि गृहीत्वाऽसौ पुरुषः पुराम्बन्तरे
भ्रमन् वदति—यद्यहं जयामि, तर्हि दीनारमेकं गृह्णामि । यदि मामन्यो जयति,
तदा दीनारपूर्णमिदं स्थालं ददामि—इति । ततो वहवो जना घृतक्रीडार्थं समागताः ।
सर्वे तेन पुरुषेण पराजिताः, तं पाशकहस्तं पुरुषं विजेतुमसमर्था जाताः । यथा
तस्य पाशकहस्तपुरुषस्य पराजयो दुर्लभस्तथा सप्तारे खलु मनुष्यजन्म दुर्लभम् ।

देव प्रसन्न भी हो गया । प्रसन्न होकर देव ने चाणक्य के लिये जय
कराने वाले चार पासे वरदानरूप में दिये । इसके बाद चाणक्य ने
स्वर्णमुद्रा-सोनामुहर से परिपूर्ण एक थाली को उन पासों के साथ-किस्सी
घृतक्रीडा में निपुण पुरुष को देकर उसको नगर में जुआ खेलने के लिये
भेजा । सोनामुहरों से पूर्ण थाल को तथा पासों को लेकर वह पुरुष
नगर में यह अवाज देते हुए फिरने लगा कि यदि मैं जीत जाता हूँ
तो पराजित हुए व्यक्ति से सिर्फ एक ही सोनामुहर लेता हूँ, और
यदि हार जाता हूँ तो जीतने वाले को सोनामुहरों से पूर्ण यह थाल का
थाल दे देता हूँ । उसकी इस घोषणा को सुनकर अनेक जन घृतक्रीडा
के लिये आने लगे । जुआ खेलना प्रारम्भ हो गया । उस पुरुष ने सब
को जीत लिया, इस को कोई भी पराजित न कर सका । सारांश—जिस
प्रकार इस देवप्रदत्त पासों के प्रभाव से उस पुरुष का पराजित होना

कैर्ध देवनी आराधना करी, आलुअनी आराधनाथी प्रसन्न यर्ध देवे आलुअने
विजय अभावनार जेवा यार पासो तेने आध्या आ पछी आलुअने वरदा
नना रूपमां भजेवा जे पासोना प्रयोग करवातु विचारी जेक थाणमा सुवर्ण
मुद्राजो करी घृतक्रीडमा निपुण जेवा जेक पुरुषने पासो साथे ते थाण आपी
नअरीमां लुगार रमवा भोकरये सोनामहोरथी करेव थाण तथा पासो लध
ते पुरुष नगरमा घोषणा करतो करवा लाज्ये के जे कैर्ध मने हावमां करवे
तो सोनामहोरथी करेव आ थाण आपी इठ मने साथे आलुअ करे तो तेजे
मने कथ जेक जे सोनामहोर आपवी, जेनी आपी घोषणा सांभणीने
अनेक भाषसे लुगार रमवा आववा लाज्या लुगार रमवानो प्रारम्भ यर्ध
सुकरये तेजे रमवा आवनार इरेकने लती वीधा पक्ष तेने कैर्ध परालत करी
सकथु नदी सारांश—देवना आपेवा प्रसादरूप पासोना प्रभावथी जेवी रीते जे

दमनार्थं विचिन्तयन् फदाचिद् नगरतो वहिर्निःसृतः सन् पश्यति-नलदामनामा
 कुविन्दः पुत्र मत्कोटकैर्दष्ट दृष्ट्वा कोपाविष्टो भूत्वा तेषां बिलमन्वेषयति ।
 चाणक्यस्तथाकुर्वन्त कुविन्द दृष्ट्वा पृच्छति-कुविन्द ! किमन्वेषयसि ? कुविन्दः
 माह-मत्पुत्रदशदायिनां मत्कोटकानां गृहम्, एव तद्वृत्तं विदित्वा चाणक्यो मनसि
 विचारयति-योग्योऽयं कुविन्दो वैरिनिर्यातनस्य । इति मनसि विचार्य तमेव
 नगराध्यक्षं कृतवान् ।

एरुदा कोशपूरणार्थं चाणक्यः सुवर्णमाप्तिकामो देवाराधनं कृतवान् । देशः

करने का बहुत कुछ विचार किया पर समझ में नहीं बैठा । एक दिन
 इसी विषय का विचार करते २ चाणक्य नगर से बाहर जा पहुँचे ।
 पहुँचते ही वहाँ एक नलदाम नामक कुविन्द (जुलाहे) को देखा जो
 अपने पुत्र को काटने वाले मकोड़ों के बिल की तलास करने में बड़े
 क्रोध से अभिमूत होकर इधर उधर फिर रहा था । चाणक्य ने इस
 प्रकार से तलाशी करने में प्रयत्न करते हुए देखकर कुविन्द से पूछा
 कि हे कुविन्द ! क्यों क्या दूढ़ रहे हो ? कुविन्द ने कहा मेरे पुत्र को एक
 मकोड़े ने काट लिया है सो मैं उसके घर को देख रहा हूँ । इस प्रकार
 कुविन्द की बात सुनकर चाणक्य ने मन में विचार किया कि यह
 कुविन्द वैर का बदला लेने में योग्य है । इस प्रकार विचार कर
 चाणक्य ने उसे नगर का कोतवाल बना दिया ।

एक समय की बात है कि स्वजाने की पूर्ति करने के निमित्त
 चाणक्य ने किसी देश की आराधना की । चाणक्य की आराधना से

सप्त ढाँचे काम लेवाने तेमज्ज हसनने केरठा वीखवाने विचार क्ये। परतु
 तेम करवु अत्यारना सल्लेजेभां तेने छियित्तन बाग्गु जेक द्विचस आळ भाअ
 तने विचार करतां करतां आळुक्क नगरनी अकार जता हुता, त्या रस्ताभां जेक
 स्थये जेक नलदाम नामना कुविन्द (वज्जुकर)ने ल्येये। जे पोटाना पुत्रने करडनारा
 मकोडानु इर शोधी रड्यो हुतो तेने आळुक्कये पूछ्यु, कुविन्द शु शोधी रड्यो छे ?
 धण्णु ज् जोधना आवेशधी अही तही दरी रड्येवा कुविन्दे कहुं, भाश पुत्रने
 जेक मकोडाजे करडी पाधित छे, हु तेना धरने जेती रड्यो छु आ प्रकारनी
 कुविन्दनी वात सल्लिणी आळुक्कये विचारुं के, आ भाळुस अही देवार्भां भोज्ज
 छे आम विचारी तेने समजवी पछीची आळुक्कये तेने नगरना केरठवाणानी
 ज्जाजे नीभ्ये।

जेक समयनी वात छे-शब्भना भब्भनाने कश्युर जनावया आळुक्कये

ग्रीहि-कङ्कसु-कोद्रव-मकुष्ठका-वृकी-वल्ल-कुलत्थ-शृण-चीनक-ममूरा-तसी-
कलम्वपट्टिका-मक्का-वर्जरीत्यादिवहुभेदभिन्नान् सपूर्णभरतक्षेत्रमध्यगान् धान्य-
राशीन् फोऽपि देवः स्वशक्त्या समीलयाभ्रलिह तत्पुञ्जं कुर्यात् तत्र प्रस्थैकपरिमित-
सर्पप निक्षिप्य सर्वं धान्य संमिश्रयेत्, तदनन्तर जराजर्जरां विगलन्नेत्रां कम्पमा
नगाप्रामेकां वृद्धा तान् सर्पान् धान्यराशिम्य कणशः पृथक् कृत्य प्रस्य पूरयितुं
समादिशेत् तदा तस्यास्तत्पृथक्करण यथा दुष्कर भवेत् तथा मनुष्यमवात् प्रच्यु-
तस्य प्रमादिन पुनर्मनुष्यजन्म दुर्लभमिति ॥

उबड़, तिल, राजमाप (चौला), मटर, मोंठ, घाजरा आदि समस्त
धान्यों को दो देवों और वे जय अपने समय पर निरूपद्रवरूप से
पककर तैयार हो जावें तब कोई देव इस समस्त धान्यराशि की
उड़ावनी अर्थात्-तुप साफ-करके एक बहुत अधिक ऊँची जो मानो
आकाश को भी स्पर्श करती हो ऐसी ढेरी लगा दे। फिर उसमें एक
प्रस्थप्रमाण सर्पप मिलाकर किसी वृद्धा को कि जिसे कम दीखता हो
तथा शरीर भी जिसका कपित हो रहा हो यह आदेश दे कि तू इस
ढेरी में उस प्रस्थप्रमाण सर्पप को अलग २ छोट दे। तो जैसे ढेरी में
उस प्रस्थप्रमाण सर्पप का एक २ कण करके छोटना बड़ा मुश्किल है,
वही प्रकार मनुष्य मद्य के छूट जाने पर पुनः उसका मिलना जीव
को बड़ा दुर्लभ है।

शोभा, बड़, बल्ला, भग, अडक, तल, शोणा, भठ, कणधी, भावरी, बुवार
वगैरे समस्त धान्योंना वावेतर करवाना कामर्मा लागी बय छे ववायेव ते
समग्र धान्य तेना योग्य समये उपद्रवरुद्धात पाकीने तैयार भई बय त्पारे
ठोई देव अे समस्त धान्यराशीनी उडावणी अर्थात् तुल साइ करीने अेक
भूण अधिक उंचे माने के आकाशने पखु रूपश करी बय अेवठो भोटो अेक ढगवो
करी दे, पछी तेमा अेक प्रस्थप्रमाण सरसव मेणवीने ठोई वृद्धा के लेने कोऽर्धु
देभातु डोय तथा शरीर पखु लेनु कपतु डोय तेने कछेके, तु आ बगवा
मांथी अे प्रमाणप्रस्थ सरसवने भोणी भोणीने अलग पाठी आपतेने जेम अे
ढगवाभाथी अे प्रस्थप्रमाण सरसवने अेकेक कखु करीने बुडा पाडवा पखु मुशकेव
छे छतां पखु ते शक्य बने तो पखु मनुष्यभव पुरे यतां करीथी मनुष्य भव
पामवे आत्माने ध्ये ७ दुर्लभ छे

अत्र संग्रहः श्लोकः—(शार्दूल विक्रीडितवृत्तम्)

देवाराधनलब्धपाशकवरान् स्थालं च रत्नैर्मृतम्,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुष स्वीये पुरे प्रेषितः ।

सर्वेषां स च तत्पुराधिवासतां जातो यथा दुर्जय,
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥

इति वितीयः पाशकदृष्टान्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयो धान्यदृष्टान्तः प्रोच्यते—

भरतक्षेत्रे द्वात्रिंशत्सहस्रदेशसमन्वितेऽनेकग्रामनगरपचनादिसहिते प्रकृत
वृष्टौ सत्यां कृषिकर्मवृद्धेः कृषीवलैः सर्वधान्यबीजेपृष्ठेषु समुत्पन्नान् निरुद्धं
निष्पन्नान् शालि-गोधूम-चणक-सुद्ध-माप-तिलाणुकं-राजमाप-कलाय-य-

दुर्लभं यथा उसी प्रकार इस ससार में यह मनुष्यजन्म बड़ा दुर्लभ है ।

संग्रहः श्लोकः—

देवाराधनलब्धपाशकवरान् स्थालं च रत्नैर्मृतम्,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुषः स्वीये पुरे प्रेषितः ।

सर्वेषां स च तत्पुराधिवासतां जातो यथा दुर्जयः,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ २ ॥

यह दूसरा पाशकदृष्टान्त हुआ ॥ २ ॥

तृतीय धान्यदृष्टान्त इस प्रकार है—अनेक ग्राम, नगर, पत्तन
आदि से सहित इस ३२ यतीस हजार देशवाले भरतक्षेत्र में वृष्टि के
होने पर कृषि कर्म में वृद्ध किसान लोग शालि, गोधूम, चणक, सुद्ध,

पुश्पने पराश्रित बनाववे। मडादुर्लभ इतु जेवीर रीते आ ससारमां आ
मनुष्य जन्म मडादुर्लभ छे संग्रहः श्लोकः—

देवाराधनलब्धपाशकवरान्, स्थालं च रत्नैर्मृतम्,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुषः स्वीये पुरे प्रेषितः ।

सर्वेषां स च तत्पुराधिवासतां जातो यथा दुर्जय,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ २ ॥

आ भीष्म पाशकदृष्टान्त भु ॥ २ ॥

त्रीष्म धान्यदृष्टान्त आ प्रकारनु छे

अनेक ग्राम, नगर, जगल वगेरि हरिक स्थले उर उबर देशवाजा आ
भरतक्षेत्रमां परसाह वरसतां जेतीना काममां रथ्या पन्थ्य
जेतुते

ग्रीहि-कद्रुगु-कोद्रव-मकुष्ठम्-दकी-वह्ल-कुलत्थ-शृण-चीनक-ममूरा-तसी-
कलम्बपट्टिम्-मक्का-वर्जरीत्यादिवहुभेदमिज्ञान सपूर्णभरतक्षत्रमध्यगान् धान्य-
राशीन् फोऽपि देव स्वशक्त्या समील्याभ्रंलिहं तत्पुञ्जं कृपात् तत्र प्रस्यैकपरिमित-
सर्पप निक्षिप्य सर्वे धान्य संमिश्रयेत्, तदनन्तर जराजर्जरां विगलन्नेत्रां कम्पमा
नगाग्रामेकां वृद्धा तान् सर्पान् धान्यराशिभ्य कणशः पृथक् कृत्य प्रस्थ पूरयितुं
समादिशेत् तदा तस्यास्तत्पृथक्करण यथा दुष्कर भवेत् तथा मनुष्यभवात् पच्यु-
तस्य प्रमादिन पुनर्मनुष्यजन्म दुर्लभमिति ॥

उहद, तिल, राजमाप (चौला), मटर, मोंठ, बाजरा आदि समस्त
धान्यों को घो देवें और वे जब अपने समय पर निरूपद्रवरूप से
पककर तैयार हो जावें तब कोई देव इस समस्त धान्यराशि की
उड़ावनी अर्थात्-तुप साफ-करके एक बहुत अधिक ऊँची जो मानो
आकाश को भी स्पर्श करती हो ऐसी ढेरी लगा दे। फिर उसमें एक
प्रस्थप्रमाण सर्पप मिलाकर किसी वृद्धा को कि जिसे कम दीखता हो
तथा शरीर भी जिसका कपित हो रहा हो यह आदेश दे कि तू इस
ढेरी में उस प्रस्थप्रमाण सर्पप को अलग २ छाट दे। तो जैसे ढेरी में
उस प्रस्थप्रमाण सर्पप का एक २ कण करके छांटना बड़ा मुश्किल है,
उसी प्रकार मनुष्य भव के छूट जाने पर पुनः उसका मिलना जीव
को बड़ा दुर्लभ है।

घोआ, बड़, बाजरा, मग, अडक, तल, घोणा, मड, कणधी, भाबरे, लुवार
वगैरे समस्त धान्योंनां वावेतर करवाना काममां लागीं बय छे ववायेव ते
समभ्र धान्य तेना घोअ्य समये उपद्रवरुहात पाकाने तैयार बर्ध बय त्त्यारे
कैर्ध देव अे समस्त धान्यराशीनी उडावणी अर्थात् तुव साक्ष करीने अेक
पूव अधिक छे माने के आकाशने पक्ष स्पश करी बय अेवडा भोटो अेक ढगवा
करी दे, पछी तेमा अेक प्रस्थप्रमाण सरसव भेणवीने कैर्ध वृद्धा के नेने ओर्धु
देभातुं होय तथा शरीर पक्ष नेनु कपतु होय तेने कडे के, तु आ ढगवा
मांथी अे प्रमाणप्रस्थ सरसवने जोणी जोणीने अलग पाक्षी आपतो नेम अे
ढगवाभाथी अे प्रस्थप्रमाण सरसवने अेकेक कक्ष करीने लुध पाडवा पक्ष सुरकेव
छे छतां पक्ष ते शक्य भने तो पक्ष मनुष्यभव पुरे यतां इरीधी मनुष्य भव
पाभवे आत्माने पक्षो व दुर्लभ छे

अत्र समग्रः श्लोकः—(शार्दूल विक्रीडितवृत्ताम्)

देवाराधनलब्धपाशकवरान् स्थाल च रत्नैर्मृतम्,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुष स्वीये पुरे प्रेषितः ।
सर्वेषां स च तत्पुराधिवासतां जातो यथा दुर्जयः,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥

इति द्वितीय पाशकदृष्टान्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयो धान्यदृष्टान्तः प्रोच्यते—

भरतक्षेत्रे द्वात्रिंशत्सहस्रदेशसमन्वितेऽनेकग्रामनगरपत्तनादिसहिते मन्वस्त
वृष्टौ सत्यां कृषिकर्मक्षेत्रे कृषीवलैः सर्वधान्यबीजेषु समुत्पन्नान् निलुपन्नं
निष्पन्नान् शालि-गोधूम-चणक-मुद्ग-माप-तिलाणुक-राजमाप-कलाय-य-

दुर्लभ यथा उसी प्रकार इस ससार में यह मनुष्यजन्म बड़ा दुर्लभ है ।

समग्र श्लोक—

देवाराधनलब्धपाशकवरान् स्थाल च रत्नैर्मृतम्,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुषः स्वीये पुरे प्रेषितः ।
सर्वेषां स च तत्पुराधिवासतां जातो यथा दुर्जयः,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ २ ॥

यह दूसरा पाशकदृष्टान्त हुआ ॥ २ ॥

तृतीय धान्यदृष्टान्त इस प्रकार है—अनेक ग्राम, नगर, पत्तन
आदि से सहित इस ३२ यत्तीस हजार देशवाले भरतक्षेत्र में वृष्टि के
होने पर कृषि कर्म में दक्ष किसान लोग शालि, गोधूम, चणक, मुद्ग,

पुद्गने परालत बनाववे। मडादुर्लभ इतु जेवीर रीते आ ससारमा आ
मनुष्य जन्म मडादुर्लभ छे समग्र श्लोक—

देवाराधनलब्धपाशकवरान्, स्थाल च रत्नैर्मृतम्,
चाणक्येन वितीर्य कोऽपि पुरुषः स्वीये पुरे प्रेषितः ।
सर्वेषां स च तत्पुराधिवासतां जातो यथा दुर्जयः,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ २ ॥

आ वीर्यु पाशकदृष्टान्त यथु ॥ २ ॥

त्रीरु धान्यदृष्टान्त आ प्रकारनु छे

अनेक ग्राम, नगर, जगल वगेरे हरेक स्थले उर इन्कर देशवाजा आ
भरतक्षेत्रमं वरसाइ वरसता जेतीना काममा रथ्या जेउतो

अत्र सग्रह.—(शार्दूल विक्रीडितवृत्तम्)
 स्तम्भानां हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर ।
 कोणानां च सहस्रमेषु जयति घृते पितु र्यं सुतः ।
 साम्राज्य लभते स, तस्य विजयो घृते यथा दुर्लभं ।
 संसारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तो स्तथा दुर्लभं ॥ २ ॥
 इति चतुर्थो घृतदृष्टान्तः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमो रत्नदृष्टान्तः —

घनसमृद्धे पुरे रत्नकोटिमधुर्धनदनामा वणिक् प्रतिवसति स भूमौ रत्नानि
 निखन्य तदुपरि पर्यङ्क निधाय शयन करोति । स विश्वासामाषेन पुत्रानपि
 तानि न प्रदर्शयति । स्वधनानुरूप वेष भवनादिकं च न करोति, व्यापारकरणे
 धनानि हस्तादपगतानि भविष्यन्तीति बुद्ध्या व्यापारमपि न करोति ।

संग्रह श्लोक—

स्तम्भानां हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर,
 कोणानां च सहस्रमेषु जयति घृते पितु र्यं सुतः ।
 साम्राज्य लभते स तस्य विजयो घृते यथा दुर्लभं
 संसारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ ४ ॥
 यह चौथा घृतदृष्टान्त है ॥ ४ ॥

पाचवा रत्न दृष्टान्त इस प्रकार है—घनसमृद्ध नामका एक
 नगर था । उसमें एक करोड रत्नों का मालिक घनद नामका वणिक्
 रहता था । वह जमीन में गड़े हुए रत्नों के ऊपर पलंग बिछाकर
 सोया करता था । उसको अपने पुत्रों तक का भी विश्वास नहीं था

संग्रह श्लोक—स्तम्भानां हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर,
 कोणानां च सहस्रमेषु जयति घृते पितु र्यं सुतः ।
 साम्राज्य लभते स तस्य विजयो ते यथा दुर्लभं
 संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ ४ ॥
 आ चोथु घृतदृष्टान्त छे ॥ ४ ॥

पाचवसु रत्नदृष्टान्त आ प्रकारतु छे—

घनसमृद्ध नामका एक नगर छतु, तेमां एक करोड रत्नानो मालिक कोवे
 घनद नामको वणिक् रहतेो छते। ते जमीनमां बाटी राषेला रत्नो उपर पलंग
 पाचरीने सुध रहतेो छते। तेने पोताना पुत्रोने पक्ष विश्वास न छते, तेधी

ષરસહસ્રવાર વિજિતે સતિ તનેવ ક્રમેણ સર્વે સ્તમ્ભા પિજિતા ભવેયુઃ, તપ્રાપ્યષ્ટો
ષરસહસ્રવારવિજયકરણે દૈવાત્ તન્મધ્યે પરાજય. સ્યાત્ તદા સર્વે વિજિતાઃ
કોણા અવિજિતાઃ ભવન્તિ, સઠ્ઠદપિ વ્રત્તચર્યમંદ્રે સર્વે મહાવ્રતમિવ, અતઃ
પુનરાદિત एव सर्वे कोणा विजेतव्या, एव त्वमपि कुह। इति पितृवचन श्रुत्वा
वसुमित्रश्चिन्तयति—घूतादेव राज्यं लभ्य पुनः क्रिमर्थे पितर इन्मि, इति विचार्य
राज्ञ सह घूतक्रीडायां प्रवृत्तः, तथापि जयो दुर्लभो जात. तस्य वसुमित्रस्यैतत्
कार्यं यथा बुष्कर, तथा मनुष्यत्वमपि दुर्लभम्।

इनके जो प्रत्येक के एक हजार आठ १००८ कोने हैं उन कोनों में से एक २ कोने को एक हजार आठ १००८ बार जीत जाता है। इसी क्रम से ये समस्त खमे जय जीत लिये जाते हैं तब जाकर वह विजयी कहलाता है। यदि सब कोने जीत भी लिये जायें और एक भी कोना यदि जीता न जा सके तो जीते हुए भी सब कोने नहीं जीते समझे जा सकते हैं, और उन सब को पुनः जीतने के लिये शूत का आरंभ करना पड़ता है। जैसे एक बार भी यदि गृहीत ब्रह्मचर्य खंडित हो जाता है तो समस्त महाव्रत खंडित माना जाता है। इस प्रकार पिता के वचन को सुनकर वसुमित्र ने विचार किया कि जब घूत क्रीडा में जीत होने से राज्य मिलता है तो फिर पिता के मार ने से क्या लाभ। इस प्रकार विचार कर पिता के साथ जुआ खेलने में प्रवृत्त हो गया। परन्तु उसे विजय पूर्वोक्त प्रकार से जैसे बुष्कर बनी उसी प्रकार यह मनुष्यत्व भी पुन प्राप्त होना प्राणी के लिये दुर्लभ जानना चाहिये।

એ અને એ પ્રત્યેકને એકહજારઆઠ૧૦૦૮ ખુણા છે એ ખુણામાંથી એક એક ખુણાને
એકહજારઆઠ ૧૦૦૮વાર જીતવામાં આવે છે આ ક્રમથી તે સઘળા શાભલા ન્યારે
જીતવામાં આવે ત્યારે તે વિજયી કહેવાય છે કહાય બધા ખુણા જીતી લેવામાં આવે
અને એકાદ ખૂણા જીતવામાં બાકી રહે તો બધા ખુણા ન જીતાયેલા બ મનાય
છે અને એ બધાને જીતવા માટે ફરીથી જુગાર રમવો પડે છે એમ એક
વાર પણ પ્રહસું કરેલ બ્રહ્મચર્ય ખંડિત થઈ જાય તો સમસ્ત મહાવ્રત ખંડિત
માનવામાં આવે છે આ પ્રકારનાં પિતાના વચન સાભળીને વસુમિત્રે વિચાર
કર્યો કે, ન્યારે જુગાર રમવામાં જીત થવાથીજ એ રાજ્ય મળતું હોય તો પિતાને
મારવાથી લાભ શું થવાનો ? આ પ્રકારને વિચાર કરી વસુમિત્ર પિતાની સાથેજુગાર
ખેલવામાં પ્રવૃત્ત બન્યો. પરંતુ તેને ઉપરોક્ત પ્રકારથી વિજય મેળવવો દુષ્કર
બન્યો તેથીજ શીતે આ મનુષ્યત્વ પુનઃ પ્રાપ્ત થવો પ્રાણી માટે દુર્લભ બાજુવો એકબે

अत्र सग्रह — (शार्दूल विक्रीडितधृत्तम्)
 स्तम्भानां हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर ।
 कोणानां च सहस्रमेष्टु जयति घृते पितु र्यं सुतः ।
 साम्राज्यं लभते स, तस्य विजयो घृते यथा दुर्लभः ।
 ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तो स्तथा दुर्लभ ॥ २ ॥
 इति चतुर्थो घृतदृष्टान्तः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमो रत्नदृष्टान्तः —

धनसमृद्धे पुरे रत्नकोटिमधुर्धनदनामा वणिक् प्रतिवसति स भूमौ रत्नानि
 निखन्य तदुपरि पर्यङ्क निधाय शयन करोति । स विश्वासाभावेन पुत्रानपि
 तानि न प्रदर्शयति । स्वधनानुलूप वेप भवनादिकं च न करोति, व्यापारकरणे
 पनानि हस्तादपगतानि भविष्यन्तीति बुद्ध्या व्यापारमपि न करोति ।

सग्रह श्लोक—

स्तम्भानां हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर,
 कोणानां च सहस्रमेष्टु जयति घृते पितु र्यं सुतः ।
 साम्राज्यं लभते स तस्य विजयो घृते यथा दुर्लभ
 ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ ४ ॥
 यह चौथा घृतदृष्टान्त है ॥ ४ ॥

पाचवा रत्न दृष्टान्त इस प्रकार है—धनसमृद्ध नामका एक
 नगर था । उसमें एक करोड़ रत्नों का मालिक धनद नामका वणिक्
 रहता था । वह जमीन में गड़े हुए रत्नों के ऊपर पलंग बिछाकर
 सोया करता था । उसको अपने पुत्रों तक का भी विश्वास नहीं था

स अ० ६ श्लो० १—स्तम्भानां हि सहस्रमष्टसहित प्रत्येकमष्टोत्तर,
 कोणानां च सहस्रमेष्टु जयति घृते पितु र्यं सुतः ॥
 साम्राज्यं लभते स तस्य विजयो ते यथा दुर्लभ
 ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ ४ ॥
 आ चोथु घृतदृष्टान्त ॥ ४ ॥

पांचमो रत्नदृष्टान्त आ प्रकारतु छे—

धनसमृद्ध नामको एक नगर छतु, तेमां एक करोड रत्नानो भाविक केवो
 धनद नामको वणिक् रहेतो छते। ते जमीनमा बाटी राखेला रत्नो ऊपर पलंग
 पाचरीने मुर्छ रहेतो छते। तेने पोचाना पुत्रेने पञ्च विश्वास न छते, तेभी

ચરસહસ્રવારં વિજિતે સતિ તનૈવ ક્રમેણ સર્વે સ્તમ્ભા વિજિતા ભવેયુઃ, તપ્રાપ્યષ્ટો-
 ચરસહસ્રવારવિજયકરણે દૈવાત્ તન્મધ્યે પરાજય સ્યાત્ તદા સર્વે વિજિતાઃ
 કોળા અવિજિતાઃ ભવન્તિ, સઠ્ઠદપિ ત્રક્ષવયંભદ્રે સર્વં મહાવ્રતમિવ, અતઃ
 પુનરાદિત એવ સર્વે કોળા વિજેતવ્યા, એવ ત્વમપિ કુરુ । ઇતિ પિર્તુવચનં શ્રુત્વા
 યસુમિત્રશ્ચિન્તયતિ-ઘૂતાદેવ રાજ્ય લભ્ય પુનઃ ક્ષિમર્યે પિતર ઇન્મિ, ઇતિ વિચાર્ય
 રાક્ષા સહ ઘૂતક્રીડાર્યાં પ્રવૃત્તઃ, તથાપિ જયો દુર્લભો જાતઃ તસ્ય ત્વમિત્રસ્યૈતદ્
 કાર્યં યથા વુષ્કર, તથા મનુષ્યત્વમપિ દુર્લભમ્ ।

इनके जो प्रत्येक के एक हजार आठ १००८ कोने हैं उन कोनों में से
 एक २ कोने को एक हजार आठ १००८ बार जीत जाता है । इसी क्रम
 से ये समस्त खमे जब जीत लिये जाते हैं तब जाकर वह विजयी
 कहलाता है । यदि सब कोने जीत भी लिये जायें और एक भी कोना
 यदि जीता न जा सके तो जीते हुए भी सब कोने नहीं जीते समझे
 जा सकते हैं, और उन सब को पुनः जीतने के लिये शूत का आरंभ
 करना पड़ता है । जैसे एक बार भी यदि गृहीत ब्रह्मचर्य खंडित हो
 जाता है तो समस्त महाव्रत खंडित माना जाता है । इस प्रकार पिता
 के वचन को सुनकर यसुमित्र ने विचार किया कि जब शूत क्रीडा में
 जीत होने से राज्य मिलता है तो फिर पिता के मार ने से क्या लाभ ।
 इस प्रकार विचार कर पिता के साथ जुआ खेलने में प्रवृत्त हो गया ।
 परन्तु उसे विजय पूर्वोक्त प्रकार से जैसे वुष्कर यनी उसी प्रकार यह
 मनुष्यमथ भी पुन प्राप्त होना प्राणी के लिये दुर्लभ जानना चाहिये ।

છે અને એ પ્રત્યેકને એકહજારઆઠ૧૦૦૮ ખુણા છે એ ખુણામાંથી એક એક ખુણાને
 એકહજારઆઠ ૧૦૦૮વાર જીતવામાં આવે છે આ ક્રમથી તે સવળા શાંભલા ન્યારે
 જીતવામાં આવે ત્યારે તે વિજયી કહેવાય છે કદાચ અથા ખુણા જીતી લેવામાં આવે
 અને એકાદ ખુણા જીતવામાં બાકી રહે તો અથા ખુણા ન જીતેલા જ મનાય
 છે અને એ અથાને જીતવા માટે ફરીથી જુગાર રમવો પડે છે જેમ એક
 વાર પણ પ્રહણ કરેલ બ્રહ્મચર્ય ખંડિત થઈ બચે તો સમસ્ત મહાવ્રત ખંડિત
 માનવામાં આવે છે આ પ્રકારનાં પિતાના વચન સાંભળીને વસુમિત્રે વિચાર
 કર્યો કે, ન્યારે જુગાર રમવામાં જીત થવાથીજ એ રાજ્ય મળતું હોય તો પિતાને
 મારવાથી હાલ શું થવાનો ? આ પ્રકારનો વિચાર કરી વસુમિત્ર પિતાની સાથેજુગાર
 ખેલવામાં પ્રવૃત્ત બન્યો પરંતુ તેને ઉપરોક્ત પ્રકારથી વિજય મેળવવો વુષ્કર
 બન્યો તેવીજ રીતે આ મનુષ્યમથ પુનઃ પ્રાપ્ત થવો પ્રાણી માટે દુર્લભ બાબતે બેધબે

सन्तस्तभगरागतानामन्यान्यदेशवासिनां श्रेष्ठिना हस्ते रत्नानि विक्रीय वाणि-
 व्यार्थं पण्यत्ररत्नानि क्रीतवन्तः, तैर्वाणिज्यकार्यं प्रसारयन्ति स्म । ततस्तत्पुत्रा-
 कोटिष्वभा जाता । चिरेण तेषां पिता गृहमागतः । स स्वस्थापितानि रत्नान्य-
 द्वा वसुप्रिय पुत्रं पृच्छति-अरे ! केन मम रत्नानि गृहीतानि ? वसुप्रिय आह-
 सर्वैर्भ्रातृभिरपहृतानि । ततः पुत्रवाक्यं श्रुत्वा धनदः कोपाविष्टः सन्नमनीत्-रे
 लक्ष्मीकन्दकुशलकाः । यूयं मद्गृहान्निर्गच्छत, तानि विक्रीतरत्नानि समानीय
 मद्गृहे स्थापयन्तु, अथवा गृहे नागन्तव्यम् । यथा तेषां रत्नानां पुनरानयनं
 धनदपुत्राणां दुष्करं, तथा मनुष्यत्वमपि दुर्लभम् ॥

रत्नों को निकाल लिया । सर्पों को रत्न की प्राप्ति से अपार हर्ष हुआ ।
 जो दूसरे देश के वाणिज्जन व्यापार के लिये नगर में आये हुए थे
 उनके लिये वे सब रत्न उन लोगों ने बेच दिये और अपना पुजी बना-
 कर फिर वे सब के सब व्यापार करने में लग गये । इनका व्यापार
 कार्य खूब चला । सब के सब कोटिष्वज हो गये । कालान्तर में धनद
 घर पर वापिस आया । उसने अपने रखे हुए रत्नों की ज्यों ही
 संभाल की वे उसको नहीं मिले-तब उसने वसुप्रिय पुत्र से पूछा ।
 किसने मेरे रत्नों को लिया है । वसुप्रिय ने कहा-सब भाईओं ने ।
 वसुप्रिय की बात सुनकर धनद को बहुत ही अधिक क्रोध आ गया ।
 गुस्से में आकर उसने कहा-तुम सब के सब लक्ष्मीरूपी कन्द को
 उगवाड़ने के लिये कुशाली के समान हो अतः तुम्हारी अथ मलाई
 इसी में है कि तुम सब मेरे घर से निकल जाओ । नहीं तो बेचे हुए
 रत्नों को वापिस लाओ । जब तक रत्न नहीं आवे तब तक याद

रूप' श्यो. जीव देशना वल्लिकर्णो वेपार भाटे नगरमां आव्या इत्ता तेमने
 आ वीकोअे अथा रत्नो देयी डीधा अने पोतपोतानी पुछ अनावी वधने इरेक
 लु वेपार इरवा वाग्या तेमनो वेपार भूम आह्यो. अथा इरेउपती अनी
 अथा काणान्तरे धनद पाछे घेर आग्या, त्यारे तेजे पोते राणेवा रत्नोनी अे
 ते स्थजे तथास करी तो ते तेने मज्यां नही त्यारे तेजे वसुप्रियने पूछ्यु, काजे
 मारा रत्नोने वीधां छे ? वसुप्रिये कहु, अथा भाई ओअे रत्नो वडेयी वीधां छे
 वसुप्रियनी वात सांभलीने धनदने अेकहम कोध थउयो अने अुस्सामा आवीने
 तेजे कहु, तमे अथा लक्ष्मीरूपी कइने उणाउनारा कइवाणी अेवा छे आथी
 तमे अथा मारा घरमांथी आह्या जव अेमांज तमे सधगानी बलाई छे
 नडितर वेधेवां रत्नोने पाछां वावे अ्यां सुधी रत्नो पाछे नही आवे त्यां

कदाचित् सम्बन्धिन कार्यवशादामन्त्रणपत्र समागतम् । तत्र गन्तुं प्रस्थितो धनदस्तद्रत्नरक्षणाय वसुप्रिय स्वकनिष्ठपुत्र सूचयति । तदनन्तर धनदे गृहाभि. मृते सति वसुप्रियस्य भ्रातरः सर्वे गृहे समागताः । वसुप्रियः पितृसूचित रत्न स्थान भ्रातॄन् कथयति । तैर्भूमिं खनित्वा रत्नान्युद्धृतानि । सर्वे इष्टचित्ताः

इसलिये वह रत्नों को वे कहा २ रखे हुए हैं पुत्रों को नहीं बतलाया था । जैसा यह धनपति था उसके अनुरूप न इसका मकान था और न रहन सहन भी । व्यापार भी यह इसलिये नहीं करता था, यह मानता था कि व्यापार करने में जो धन लगाया जाता है वह हाथ से चला जाता है । उसकी पुन. प्राप्ति कोई निश्चित नहीं होती है ।

एक समय की बात है कि किसी सबधी का इसके पास बुलाने के लिये आमत्रण पत्र आया । जब यह वहाँ जाने को तयार हुआ तब रत्नों की रक्षा करने के लिये इसने सय से छोटे पुत्र को कि जिसका नाम वसुप्रिय था, नियुक्त कर दिया । तब कहाँ कितने २ रत्न रखे हुए हैं यह बात भी उसको बतला दी । धनद जब चला गया और वसुप्रिय रत्नाविक की रक्षा करने लगा तब सब भाई मिलकर वसुप्रिय के पास आये और बातों बार्ता में उसने उन अपने भाइयों को रत्न रखने के समस्त स्थानों को बतला दिया । उन्होंने ने जमीन खोद कर

रत्नोने तेझे कथा कथा राख्यां छे ते पोताना पुत्रोने पखु अतावतो न छतो जेवे ते धनपती छतो तेने अत्रुद्रप तेने रडेवानु मकान न छतु तेम तेनी रडेष्ठी-ठरष्ठी पखु तेने अत्रुद्रप न छती ते वेपार पखु करतो नही ठारखु के तेनी मान्यता-जेवी छती के, वेपारभां जे धन शकवाभां आवे ते डाधधी थाखु अथ छे अने अयेहुं धन इरीधी भणवानु निश्चित होतु नथी. --

जेठ समयनी वात छे के, ज्यारे तेने जेलाववा भाटे तेना डेठअण धीनु आमत्रण आव्यु ज्यारे ते त्यां जवा भाटे तैयार थये त्यारे तेजे रत्नोनी रक्षा भाटे पोताना सौधी नाने पुत्र के जेतु नाम वसुप्रिय छतु तेने नियुक्त कथे अने कठ कठ ज्यारजे केटलां रत्नो राख्यां छे, जे वात पखु तेने अतावी छीधी ते धनद ज्यारे अडारगाम अये त्यारे वसुप्रिय रत्ना डिकनी रक्षा करवा लाग्ये जथा बाधज्ये जेठका भगीने वसुप्रियनी पासे आख्या अने वात वातभ्य वसुप्रिये पोताना बाधज्येने रत्नना जधां ठेकाणां अतावी छीधां तेभजे जमीन जोधी रत्नो कही छीधां इरेकने रत्नोनी प्राप्ति जवाधी अपार

मिनवचनानुरागी धर्मे दृढमतिरासोत् । मूलदेवः कार्पटिकश्चोभौ काञ्चनपुरनगराद्वहि
 सरसस्तटे रात्रौ विपुतः । तत्र सुप्तेन मूलदेवेन रात्रिशेषे स्वप्नो दृष्टः—
 मुखे चन्द्रः प्रविष्ट इति । तदानीमेव तत्र सुप्तेन कार्पटिकेनापि तादृश एव स्वप्नो
 दृष्टः । स्वप्नदर्शनात्तन्तरं तौ विनिद्रौ जातौ । कार्पटिको वदति—स्वप्नावस्थायां मम
 मुखे चन्द्रः प्रविष्ट इति मया दृष्टः । मूलदेवः प्राह—अयं स्वप्नो रक्षणीयः, साधारण-
 जनानामग्रे नाय प्रमाशनीयः । स्वप्नोऽस्थितयोस्तयोर्मनः प्रसन्नमभवत् । सूर्योदया-
 नन्तरमेव तौ काञ्चनपुरनगरे प्रविष्टौ ।

वृद्धि के लिये दूसरे देश को घर से चला । मार्ग में जाते २ एक कार्प-
 टिक ने इसका साथ कर लिया । मूलदेव जिन वचन में श्रद्धालु था ।
 चलते २ ये दोनों कांचनपुर नगर के पहार रहे हुए किसी एक तालाब
 के तीर पर रात्रि को ठहर गये । मूलदेव को रात्रि के शेषभाग में एक
 स्वप्न दिखाई दिया । जिसमें उसने देखा कि मेरे मुख में चन्द्रमा
 प्रविष्ट हो गया है । उसी समय कार्पटिक ने भी इसी तरह का स्वप्न
 देखा । स्वप्न देखने के बाद दोनों जग गये । आपस में यातचीत होने
 लगी कार्पटिक ने कहा आज मैंने स्वप्न में चन्द्रमा को अपने मुख में
 प्रवेश करता हुआ देखा है । मूलदेव ने उसका स्वप्न सुनकर उससे
 कहा यह स्वप्न गोपनीय है, हर एक आदमी के सामने इसको प्रका-
 शित नहीं करना । जब प्रातः काल हो चुका तब ये दोनों उठे, उस समय
 वे वहे ही प्रसन्न मालूम दते थे, क्यों कि इनका मन बड़ा प्रसन्न था ।
 सूर्योदय के अनन्तर फिर इन दोनों ने कांचनपुर नगरमें प्रवेश किया ।

मार्गमां यावतां यावतां तेने एक सुवाने साथ धरि जये। मूलदेव एन
 वचनमां भूम श्रद्धालु इति यावतां यावतां अन्ने काञ्चनपुर नगरनी अहारात्
 एक तालावना काठा उपर रातना शकारि जया मूलदेवने रात्रीना पाछवा
 भागमां एक स्वप्न देखायु। नेमां तेजे जेसु के, जेजे तेना मोढाभां यद्रमाजे
 आवीने प्रवेश करी छे आब समये तेनी आलुमां सुतेवा सुवाजे पछ
 तेवुं ज स्वप्न जेसु स्वप्न जेया पछी अन्ने लागी जया आपसमां वातचीत
 करवा लाग्या सुवाजे कर्षुं, आजे ने स्वप्नमां यद्रमाने मारा मोढाभां प्रवेश
 करता जेये। मूलदेवे तेना स्वप्नातु कथन साभणीने कहु के, आ स्वप्न जानगी
 राभवा जेपु छे इरेक आइभीनी साथे आने प्रकाशित न करवुं जेधजे,
 न्यारे सवार थयु त्यारे अन्ने उकथा ते समये तेजे धरुा प्रसन्न माहुम
 पठवा इता केभके, तेमना मन धरुां प्रसन्न इतां सूर्योदय पछी अन्ने
 जेसुजे काञ्चनपुर नगरमां प्रवेश करीं।

अथ सग्रह—(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

तातेऽन्यत्र गते धराऽन्तरगतान्यादाय रत्नानि यद्,
विक्रीतानि सुतैर्विदेशिवणिजां हस्तेषु पश्चात् ततः ।
रत्नान्यानयतेति तातकथने, तत्प्रापणं दुष्करम्,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ ५ ॥
इति पञ्चमो रत्नदृष्टान्तः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः स्वप्नदृष्टान्तः—

आसीत् पाटलिपुत्रनगरे मूलदेवनामकः क्षत्रियः । स स्वाभ्युदयार्थं देशान्तरं
गन्तुं प्रस्थितः । मार्गं गच्छतस्तस्य पश्चित् कार्पाटिकः सहचरोऽभवत् । मूलदेवः सख्यं
रखना घर में तुम्हारे लिये स्थान नहीं है । इस दृष्टान्त से यह सम्प्रदाय
बाहिये कि जैसे वन विक्रीत रत्नों की प्राप्ति वन पुत्रों के लिये दुष्कर
हुई वसी तरह से हाथ से निकला हुआ मनुष्य जन्म भी महा दुर्लभ है ।

इस दृष्टान्त का सार प्रदर्शक श्लोक इस प्रकार है—

तातेऽन्यत्रगते धरान्तरगतान्यादाय रत्नानि यद्,
विक्रीतानि सुतैर्विदेशिवणिजा हस्तेषु पश्चात्ततः ।
रत्नान्यानयतेति तातकथने तत्प्रापणं दुष्करम्,
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥

यह पांचवां रत्नदृष्टान्त है ॥ ५ ॥

छठा स्वप्नदृष्टान्त इस प्रकार है—पाटलिपुत्र नगर में मूलदेव
नाम का एक क्षत्रिय रहता था । यह किसी समय अपने भारय की

मुझी याद राखे के, तमारा भाटे घरमां केछ स्थान नहीं जेटवा भाटे का
दृष्टांतकी ज्येभ समझवुं जेछ जे के, वेजेवा रत्नोनी प्राप्ति ते पुत्रोने भाटे ज्येभ दुष्कर
यह तेम हाथमांथी निकली गयेव मनुष्यजन्म पशुक्षरी प्राप्त भवेो महादुर्लभ छे.

स श्रद्ध श्लोक—तातेऽन्यत्रगते धरान्तरगतान्यादाय रत्नानि यद्,

विक्रीतानि सुतैर्विदेशिवणिजां हस्तेषु पश्चात्ततः ।
रत्नान्यानयतेति तातकथने तत्प्रापणं दुष्करम्,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥

आ पांचम रत्नदृष्टान्त छे ॥ ५ ॥

छठु स्वप्नदृष्टान्त का प्रकाशनी छे—

पाटलीपुत्र नगरमां मूलदेव नामनेो जेछ क्षत्रिय रहेतो कतो ते जेछ
समय पातानु बाग्यनी वृद्धि भाटे घरधी थीव देथमां नीकज्येव

लोकैः कथितम्—शुक्रस्य रात्रौ स्वप्नो दृष्टः, अद्य शनिवासरः, तेन कारणेन घृतगुडसहित रोटकं तैलं च मिलिष्यति। यत्र यत्र गुडस्थगृहे कार्पाटिको भिक्षार्थं गच्छति तत्र तत्र शनिदिवसे प्रचुरं तादृशं रोटरु तैलं च तेन लब्धम्।

अथ पुत्ररहितस्तन्नगरनृपः स्वायुषं क्षयेण मृतः। तस्मिन् मृते सति मनिप्रभृतपस्तदा व्यवस्था कृतवन्त—इयं राजहस्तिनी यस्य गले पुष्पमाला दद्यात्, एव राजा भविष्यति। इत्येव निश्चिते सति हस्तिनी स्वशुण्डया पुष्पमालां नीत्वा मनुष्यपरिवारैः सह नगरे प्रतिमार्गं भ्रमन्ती वनं गता। सा तत्र वृक्षच्छायायाम् पविष्टस्य मूलदेवस्य गले पुष्पमालां ददौ। ततो मनुष्यवृन्दैः सह राजमन्त्रिणो मूलदे-

तुमने शुक्र की रात्रि में यह स्वप्न देखा है, आज शनिवार है, इस कारण तुमको घृत गुड सहित रोट एव तैल मिलेगा। अब जिसर घरमें वह कार्पाटिक भिक्षा के लिये गया वहा २ उसको वही चीज खूब मिली

जब छह दिन पूरे हुए उसी रात में उस नगर का राजा मर गया राजा के कोई पुत्र नहीं था इसलिये जब वह मरा तब मन्त्रियों ने राज्य की व्यवस्था के लिये ऐसा विचार किया कि यह राजा की हथिनी जिसके गले में पुष्पमाला डाले वही राजा समझा जाय। इस प्रकार का विचार जब पूर्णरूप से निश्चित हो चुका तब हथिनी को अपनी सूड में पुष्पमाला देकर छोड़ा। नगर के प्रत्येक मार्ग में वह घूमती रही। उसके साथ मनुष्यों का समुदाय भी बहुत था। घूमते २ वह जगल में पहुँची। मूलदेव उस समय एक वृक्ष के नीचे छाया में बैठा हुआ था। हथिनी ने पहुँचते ही मूलदेव के गले में वह पुष्पमाला डाल दी

शुक्र के, शुक्रनी रात्रीमा आ स्वप्न देखायु छे आने शनिवार छे अने कारणे तमने श्री गण साथे शेटको आने तैल मणये छे अने न्या न्यां अने भिक्षा भाटे गये त्वां त्वा तेने अने श्रीअे भूष प्रभाषुमा मणी

न्यारे छे हिसस पुरा यथे अेक रात्रिअे ते नगरने राजा मरी गये। राजने केछ पुत्र न छेते। मत्रीअेअे राजनी व्यवस्था भाटे अेवी भसवत करी के राजनी छाथणी जेना मणामा पुष्पमाला पहरेअे तेने राजगारी सुप्रद करनी। आ प्रकारने न्यारे भूषपथी निषुय देवाये त्वारे छाथणीनी सुडमां पुष्पमाला आपीने तेने छुटी सुडी नगरना इरेक भाग उपर ते इरती छती, तेनी पाछा मालसेना समूह पक्ष थाअेओ आवते छते। धूमता धूमतां ते जगल वरद वणी भूणदेव आ वपते त्वां अेक वृक्षनी छायामां जेठा छते। छाथणीअे त्वा पहोअीने भूणदेवना

तत्र मूलदेवः स्वप्नपाठकस्य गृहे गत्वा विनयेन स्वप्नपाठकं पृच्छति-
मुखे चन्द्र प्रविष्ट इति स्वप्नो मया दृष्ट किमस्य फल भविष्यति ? । तेनोक्तम्-
प्रथम मम कन्यकया सह विवाहमङ्गीकरोपि चेत्तदाऽस्य स्वप्नस्य फलं वक्ष्यामि ।
मूलदेवेन तदङ्गीकृतम्, स स्वप्नपाठकः स्वपुत्रीं प्रदाय जामातृसम्बन्धं विधाय भोजनं
कारयित्वा मूलदेव वदति-इत्, सप्तमे दिवसे भवानस्य नगरस्य राजा भविष्यति ।
कार्पटिकस्तु स्वकीयस्वप्नवृत्तं तत्र नगरे साधारणलोकानां पुरः प्रकाशितवान्,

मूलदेव ने कहा स्वप्न के फल को कहने वाले विद्वान के घर की
तलाश की । जब उसको इसका पता लग गया तो वह बड़े ही विनय
के साथ स्वप्नपाठक के घर गया-और वहाँ विनीतभाव से उसने
स्वप्नपाठक से पूछा-महानुभाव ! आज मैंने रात्रि के पिछले पहर में
चन्द्रमा को मुख में प्रवेश करते हुवे देखा है इसका फल क्या होगा ।
कृपाकर कहिये । मूलदेव की बात सुनकर स्वप्नपाठक ने कहा कि-
यदि तुम पहिले मेरी कन्या के साथ अपना विवाह करना मजूर करो
तो मैं इसका फल तुम्हे पतला सकता हू । मूलदेव ने स्वप्नपाठक की
बात अङ्गीकार करली । स्वप्नपाठक ने अपनी पुत्री का विवाह उसके
साथ कर दिया । मूलदेव अब स्वप्नपाठक का जमाई बन गया । स्वप्न-
पाठक ने जमाई का आदरसत्कार किया और भोजन करा कर कहा
आज से सातवें दिन आप इस नगर के राजा हो जायेगे ।

इधर कार्पटिक ने अपना स्वप्न नगर के साधारण से भी साधारण
व्यक्ति को सुनाना शुरू कर दिया । लोगों ने भी उससे यही कहा कि

मूलदेवे त्यां स्वप्न इण्णा ठडेवावाणा विद्वान्ना धरणी तपास करी,
तेना पेतो भेजवी स्वप्नपाठकने घेर अये। अने त्यां विनीत भावणी तेणे स्वप्न
पाठकने पूछ्यु, महानुभाव ! आज मे रात्रिना पाछवा पडोशर्मा अद्रमाने सुभर्मा
प्रवेश करतो जेथे छे तेनु इण्ण शु ढरे ? तेकृपाकरीने ठडे। मूलदेवनी वात
साधणीने स्वप्नपाठके ठडुं के, जे तमे पडेवां भारी कन्यानी साथे तभारा विवाह
करवानु मजूर करे तोज हु तमने तेनु इण्ण पतलुं मूलदेवे स्वप्नपाठकनी वात
स्वीकरी दीधी। स्वप्नपाठके पोतानी पुत्रीने। विवाह तेनी साथे करी दीधी।
मूलदेव ढवे स्वप्नपाठकने। जमाध वनी गये। स्वप्नपाठके जमाईने।
आदरसत्कार करी अने खोजन जमाईने ठडुं के आजभी सातमे दिवसे तमे
आ नगरना राज धरे। नीछ पावु सुवाजे पोतानु स्वप्न नगरना साथे
रखुथी साधारण भावने पञ्च सभणावतु शर करी दीधु दोडेजे तेने जेम

अत्र सग्रहश्लोकः—(शार्दूलविकीर्णवृत्तम्)

१ स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्रं मुखान्तर्गतं,

२ दृष्ट्वा सर्वजनाप्रतो निगदितं लब्धं न राज्यफलम् ।

३ स्वप्नस्तस्य पुनः स तत्र शयितस्यासीद्यथा दुर्लभः,

४ संसारे भ्रमतः पुनर्नरमघो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

॥ इति पण्डितस्वप्नदृष्टान्तः ॥ ६ ॥

अथ स्वप्नमध्यदृष्टान्तः—चक्रोपलक्षितो दृष्टान्तः, राधावेधदृष्टान्तः

इत्यर्थः चैत्रम्—

मथुरानगया जितशत्रुनामज्ञो भूपतिरासीत् । इन्दिरानाम्नी तस्य पुत्री चतु-

वस स्वप्न की प्राप्ति पुनः दुर्लभ दुर्दै उसी प्रकार इस मनुष्यजन्म से प्रच्युत प्रमादी जीव को पुनः मनुष्यभव की प्राप्ति दुर्लभ है ।

इस कथा का भावदर्शक श्लोक इस प्रकार है—

१ स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्रं मुखान्तर्गतं,

२ दृष्ट्वा सर्वजनाप्रतो निगदितं लब्धं न राज्यफलम् ।

स्वप्नस्तस्य पुनः स तत्र शयितस्यासीद्यथा दुर्लभः,

३ संसारे भ्रमतः पुनर्नरमघो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

- यह छद्म स्वप्नदृष्टान्त है ॥ ६ ॥

सातवा चक्र दृष्टान्त इस प्रकार है—इसका दूसरा नाम राधावेध

दृष्टान्त भी है—मथुरा नगरी में जितशत्रु नाम का राजा रहता था ।

इसकी एक कन्या थी, जिसका नाम इन्दिरा था । यह चौंसठ कलाओं

प्राप्ति दुर्लभ पत्नी ते रीते आ मनुष्यजन्मधी प्रच्युत प्रमादीभवने क्षरी मनुष्यभवन् प्राप्ति दुर्लभ छे

आ कथानो भावदर्शक श्लोक आ प्रकारनो छे

स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्रं मुखान्तर्गतं,

दृष्ट्वा सर्वजनाप्रतो निगदितं लब्धं न राज्यफलम् ।

स्वप्नस्तस्य पुनः स तत्र शयितस्यासीद्यथा दुर्लभः,

संसारे भ्रमतः पुनर्नरमघो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

छद्म स्वप्नदृष्टान्त छे

सातवु चक्रदृष्टात् आ प्रकारनु छे आनु भीलु नाम राधावेध दृष्टान्त पद्य छे

मथुरा नगरीमा जितशत्रु नामनो ज्येष्ठ राजा राज्य करतो इतो तेने ज्येष्ठ

कन्या इती जेनु नाम इन्दिरा इतु ते चौंसठ कलाओमा कुशल इती ज्येष्ठ

वामेव हस्तिनीं सादरं समारोह्य नगरं प्रवेशयन्ति ।

५ कार्पटिकस्तु—मनुष्यवृन्दैः सह हस्तिनीसमारुह्यं प्राप्तराज्यं मूलदेवं किलोक्च चन्द्रपानस्वप्नाराधनेन मूलदेवस्य राज्यलाभो जातः, इति बुद्ध्या स्वात्मानं मिन्दयन् पश्चात्तापः करोति—धिगूमाम्, मन्व्लोकानां पुरस्तात् स्वप्नप्रकाशनेन मया स्वप्नो निष्फलीकृतः, तस्मात् पुनरहं तत्रैव सरस्तीरे शयिष्ये; तदा राज्यप्राप्तिकरं स्वप्नं पुनः पश्यामीति विचिन्त्य राज्यलक्ष्मीं काञ्चक्षमाणः पुनः पुनस्तत्र स्वपिति ।

६ यथा कार्पटिकस्य तस्वप्नदर्शनं दुर्लभं, तथा मनुष्यदेहात् प्रच्युतस्य ब्रह्मादिनः पुनर्मनुष्यत्वं दुर्लभम् ।

हथिनी ने पुष्पमाला मूलदेव के गले में डाली देखकर मन्त्रियों ने मूलदेव को उसी समय उस हथिनी पर बैठा कर पड़े आदर के साथ उनके नगर में प्रवेश कराया ।

कार्पटिक ने मनुष्यवृन्दों के साथ मूलदेव को हस्तिनी पर बैठा एव वहा का राजा बना हुआ देखकर " चन्द्रमापानरूप स्वप्न के आराधन के प्रभाव से मूलदेव को राज्य का लाभ हुआ है" इस विचार से अधिक से अधिक पश्चात्ताप किया—मुझ अभाग्य को धिक्कार है जो मैंने सब लोकों के सामने अपने स्वप्न को प्रकाशित कर निष्फल बनाया । अफसस पुनः इस विचार से राजलक्ष्मी की प्राप्ति की आशा से उस स्थान पर बार २ सोने लगा कि किय वह चन्द्रस्वप्न मुझे दिखलाई दे और कब मुझे राज्य की प्राप्ति हो ।

इस दृष्टान्त से यही समझना चाहिये कि जिस प्रकार कार्पटिक का गणामां पुष्पभागा पहिरावी हीथी हाथकी भूणदेवने पुष्पभागा पहिरावेही जेठने मत्रीको भूणदेवने ते समये ते हाथकी उपर जेसाहीने बसु आइर सत्कारनी साथे तेना नगरप्रवेश कराये।

सुवाके मनुष्यना टोणानी वस्ये भूणदेवने हाथकीपर जेठेते तेमज्ज्यानि राज्ज अनेही जेठने तेने बाज्यु के स्वप्नना आराधनना प्रभावथी भूणदेवने राज्जनेना बाज्ज थये छे आ विचारथी तेने बसु व पश्चात्ताप थये। अने मनमाने मनमां अठणठये के, अने अजागीने भीकार छे के, छे समणा जेठेनी साथे भारा स्वप्नने प्रकाशीत करी निष्फल अनाज्यु आ पथी न्थां तेने स्वप्न आज्यु' कंतु त्यां राज्जक्षमीनी अंशथी शैल'शरीना मुठ्ठ' ज्वा' बाज्ये क्यारे स्वप्नमां अने अइ देणाय अने क्यारे अने राज्जनी प्राप्ति साथे

आ हाताथी जे समज्जु जेठजे के, जे प्रकारे सुवाने ते स्वप्ननी

- अत्र सग्रहश्लोक — (शार्दूलपिकीबितवृत्तम्)

स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्र मुखान्तर्गत,

दृष्ट्वा सर्वजनाग्रतो निगदित लब्ध न राज्य फलम् ।

स्वप्नस्तस्य पुन स तत्र शयितस्यासीद् यथा दुर्लभः,

ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

॥ इति पष्ठ स्वप्नदृष्टान्त ॥ ६ ॥

अर्थ 'स्वप्नमभ्रकृष्टान्त — चक्रोपलक्षितो दृष्टान्त', राधावेधदृष्टान्त

इत्यर्थे 'सि चैवम्—

मथुरानगया जितशत्रु नामको भूपतिरासीत् । इन्दिरानाम्नी तस्य पुत्री- चतु-

उस स्वप्न की प्राप्ति पुन दुर्लभ हुई उसी प्रकार इस मनुष्यजन्म से

प्रच्युत प्रमादी जीव को पुन मनुष्यभव की प्राप्ति दुर्लभ है ।

इस कथा का भावदर्शक श्लोक इस प्रकार है—

स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्र मुखान्तर्गत,

दृष्ट्वा सर्वजनाग्रतो निगदित लब्ध न राज्य फलम् ।

स्वप्नस्तस्य पुन स तत्र शयितस्यासीद्यथा दुर्लभः,

ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

- यह छट्टा स्वप्नदृष्टान्त है ॥ ६ ॥

सातवां चक्र दृष्टान्त इस प्रकार है—इसका दूसरा नाम राधावेध

दृष्टान्त भी है—मथुरा नगरी में जितशत्रु नाम का राजा रहता था ।

इसकी एक कन्या थी, जिसका नाम इन्दिरा था । यह चौंसठ कलाओं

प्राप्ति दुर्लभ थी तेरी ते आ मनुष्यजन्मभी प्रच्युत प्रमादीजीवने की

मनुष्यभवकी प्राप्ति दुर्लभ है

आ कथानो भावदर्शक श्लोक आ प्रकारनो छे

स्वप्ने कार्पटिकेन रात्रिविगमे चन्द्र मुखान्तर्गत,

दृष्ट्वा सर्वजनाग्रतो निगदित लब्ध न राज्य फलम् ।

स्वप्नस्तस्य पुन स तत्र शयितस्यासीद्यथा दुर्लभः,

ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

छट्टा स्वप्नदृष्टान्त छे

सातवु चक्रदृष्टान्त आ प्रकारनु छे आनुंभीनु नाम राधावेध दृष्टान्त पञ्च छे

मथुरा नगरीमां एतश्चतु नामनो ज्येष्ठ राजा राज्य करते हुते तेने ज्येष्ठ

कन्या इती नेनु नाम इन्दिरा इतु ते चौंसठ कलाओमा कुशण इती ज्येष्ठ

पट्टिकलाभिज्ञा जाता । जितशत्रुनृपस्तस्या । विवाहयोग्य वयो विद्वोभ्य चिन्तयति
 —यः खलु राजकुमारो धार्मिकः कलाकुशल सकलनीतिशास्त्रनिपुणो राधावेधसाध
 नसमर्थ स्यात् स एव योग्यो वरः स्यादस्या इति विचिन्त्य, तेन राज्ञा स्वयंवर
 मण्डपः कारितः । तत्सनिधी चैकप्रघटत स्तम्भः स्थापितः । तस्य स्तम्भस्योर्ध्व
 भागेऽनुलोमेन चत्वारि, विलोमेन च चत्वारि लोहचक्राणि निवेशितानि । तेषां
 चक्राणांशुपरि राधानाम्ना प्रसिद्धा काष्ठमयी भ्रमन्ती पुत्तलिका स्थापिता । तथा
 घस्तात् तैलपूर्णकटाहश्च स्थापितः । य खलु राधाया वामनयन क्षरेण विध्येत् स
 एव मत्कन्यकाया इन्दिराया वरः स्यादिति जितशत्रुणा घोषणारूपेण प्रतिज्ञातम् ।

की ज्ञाता थी । जिस समय जितशत्रु ने विवाहयोग्य इसकी अवस्था
 देखी तो विचार किया कि—जो राजकुमार धार्मिक, कलाकुशल,
 सकलनीति शास्त्र में निष्णात एव साथ में राधावेधसाधन में भी
 समर्थ हो वही इस कन्या का पति होने योग्य है । इस प्रकार विचार
 कर राजा ने स्वयंवरमंडप रचाया और उसके पास ही एक ओर एक
 बड़ा ऊँचा खंभा भी खड़ा करवाया । पश्चात् उसने उस खंभे के उर्ध्व
 भाग में लोहे के चार चक्र अनुलोम—सुलटे फिरने वाले और चार
 चक्र विलोम—उलटे फिरनेवाले लगवा दिये । फिर उन चक्रों के भी
 ऊपर राधा नाम की एक काष्ठमयी घूमती हुई पुत्तली रखवा दी । खंभे
 के ठीक नीचे के भाग में तैल से भरा हुआ एक कटाह भी रखवा दिया ।
 जब इस प्रकार से स्वयंवरमंडप की पूर्ण तयारी हो चुकी तब उसने यह
 घोषणारूप में अपनी प्रतिज्ञा प्रकट करवाई कि जो व्यक्ति राधा के
 वामनयन को बाण से वेध देगा वही मेरी कन्या इन्दिरा का पति

समर्थे लतशत्रुणे तेनी विवाहयोग्य वय लेधने विचार करी के, जे
 राजकुमार धार्मिक, कलाकुशल, सकल नीतिशास्त्रमां निष्णात अने साथे साथ
 राधावेध साधनामां पक्ष समर्थ होय तेज् आ कन्याने पति बना योग्य छे
 आ प्रकारने विचार करी राजाके स्वयंवरमंडप रच्यो अने तेनी पासै जे
 ऊँच श्रृंखला बढो उँचो स्तंभ पक्ष उँचो करायो जे पछी तेजे ते स्तंभना
 उर्ध्व भागमा लोहाना चार चक्र सीधां इरवावाणां अने चार चक्र उलवाणां इरवा
 वाणां जोडवाय्या पछी ते अकोनी ऊपर पक्ष राधा नामनी इस्ती लाकडानी
 पुत्तली जोडवावी स्तंभना छेक नीचा भागमा तेलधी भरली छेक कटाह रचावी.
 अन्यारे आ प्रकारे स्वयंवरनी संपूर्ण तयारी बधुं चुकी त्पारे जे छेक बडे

तवस्तेन नृपतिना निमन्त्रिता बहवो राजानो राजकुमाराश्च देशाद् देशान्तरावपि
 तत्र सोत्साह समागताः । सर्वेषु राजसु राजकुमारेषु च मण्डपे समुपविष्टेषु त्रित
 श्रुत्वा नृपस्तप्रागत्य वदति-यो राधापुत्रलिकाया वामनेत्र शरेण विध्येत् तस्मै मया
 कन्यका दातव्येति । राज्ञो वचः श्रुत्वा एकैकमुत्थितो नृपादिस्तत्र राधावेधनाय
 शर धनुषि सयोज्य प्राक्षिपत् । स च शर कस्यचिदेकेन चक्रेणास्त्रालय भग्नः सन्
 भूमौ निपतितः, कस्यचिदेक चक्रमतिक्रान्तः, कस्यचित् द्वे, कस्यचित् त्रीणि,
 अन्येषां तु लक्ष्यादन्यत्रैव निर्गतः, कोऽपि राधावेध साधयितु नाशकत् ।

होगा । राजा ने इस प्रकार अपना भाव प्रकट कर सब राजाओं एवं
 राजपुत्रों के लिये स्वयंवरमण्डप में आनेका आमत्रण भेज दिया ।
 राजा से आमत्रित हो पड़े उत्साह से अनेक राजा और राजकुमार
 देश देशान्तर से उत्साहपूर्वक आये और स्वयंवरमण्डप में बैठ गये ।
 जय समस्त राजा और राजपुत्र अच्छी तरह अपने २ स्थानों पर बैठ
 गये तब राजा जितशत्रु वहा आये और कहने लगे कि जो इस भ्रमण
 करती हुई राधा पुत्रलिका के वामनेत्र को घाण से वेधित करेगा वही
 मेरी पुत्री का पति होगा-अपनी पुत्री में उसे ही परणाऊँगा । राजा
 के इस प्रकार वचन सुनकर वे राजा तथा राजकुमार आदि राधावेध
 साधने के लिये उठे और अपने २ धनुष पर घाण रख कर राधावेध
 साधने के अभिप्राय से घाण को छोड़ने लगे । इनमें से किसी का
 घाण एक चक्र से टकरा कर, किसी का दूसरे चक्र से टकरा कर और

बहार पाडी पोतानी भडेवछा प्रगट करी के के व्यक्ति राधाना डाणा नेत्रने भाषुधी
 वीधये ते भारी राजकन्या धन्दिशानो पति बनये. राजाके आ प्रकारे हठेरे
 पीटावीने सधणा राजाके अने राजपुत्राने स्वयंवर मंडपमा आववातु
 आभत्रषु मोहलाव्यु राजानु आभत्रषु भगता धणा उत्साहधी अनेक राजा
 अने राजकुमारो देश देशांतरधी उत्साहपूर्वक आव्या अने स्वयंवर मंडपमा
 बिराब्या न्यारे सर्व राजाके अने राजपुत्रो सारी रीते पोते पोताना
 स्थान उपर भेसी गया त्यारे राजा एतशत्रु त्यां आव्या अने हडेवा लाव्या
 के, के डोड व्यक्ति आ हस्ती राधा पुतणीना डाणा नेत्रने भाषुधी विधये तेने
 भारी पुत्री वरभाणा पहरेवये अने तेनेव हु भारी पुत्री परखावीथ राजानु
 आ प्रकारनु वयन सभिणीने मंडपमा बिरालत यजेला राजा तथा
 राजकुमार वजेरे राधावेध साधवा भाटे उठया अने पोतपोताना धनुष्य उपर
 भाषु सदावीने राधावेध साधवाना लक्ष्यधी भाषुने छोडवा लाव्या. तेजोभांशी डोडनु

अथेन्द्रपुराधीशस्येन्द्रदत्तनाम्नो - नृपस्य पुत्रो जयन्तकुमारः सोऽस्मान्प्रसिद्धिः
 लोकाः फरवालीप्रदानपूर्वकमुपहसन्तो वदन्ति-अहो ! इमे वीराः। धनुर्वीरा यत्र न
 समास्तत्रास्य कुमारस्य कीदृशं साहसम् ? किमनेन कर्तुं शक्यते ? एष वदसु वचन
 वास्वक्ष्येषु मनोह्ररूपलावण्यसंपन्नो जयन्तकुमारः स्तम्भस्वः सनिभ्रौ गत्वाः धनुषि पर
 सयोज्य, तैलपूर्णकटाहसक्रान्तधक्रप्रतिनिम्यान्तरालमार्गेण साधाधामनेत्रप्रतिवि-

फिसीका तीसरे चक्र से टकरा कर टूट कर नीचे गिर पड़ा। लक्ष्यस्वाभ
 तक फिसी का भी घाण नहीं पहुँच सका। फिसी २' का बाण तो लक्ष्य से
 भी बचकर आगे निकल गया। इस प्रकार राधावेध; फिसी के भी
 द्वारा साध्य नहीं हो सका। इतने में इन्द्रपुर का राजा इन्द्रवत्स का पुत्र
 जयन्तकुमार पड़े। वत्साह से अपने स्थान से उठा। उसके बटते ही
 लोगों ने करतलध्वनि से पहिले तो उसकी हँसी करने लगे; फिर करने लगे
 लगे देखो ये एक नवीन वीरपुरुष आये हैं, जहाँ से ये इन वीर
 धनुर्धारियों की भी नहीं चली घिहां विचारे। इस कुमार की क्या
 चलेगी जो यह साहस दिखला ने कौ खड़ा हुआ है। लोग जब इस
 तरह से जयन्तकुमार की हँसी करने में तत्पर हो रहे थे कि कुमार
 सय के देखते ही उस स्तम्भ के पास पहुँच गया। पहुँचते ही उसने
 पहिले अपने धनुष पर बाण चढ़ाया। चढ़ाकर फिर वह तैलपूर्ण
 कटाह में पड़े हुए चक्र के प्रतिबिम्ब को देखके लगा। देखते र चक्र के

बाण पड़ेवा चक्र साथे अथवा घने तो ठाँधु पीला चक्र साथे अथवा घने ठाँधु
 वीला चक्र साथे अथवा घने तुटीने नीचे पड़ी वत्स पक्ष लक्ष्य स्थान सुधी ठाँधु
 पक्ष बाण बर्ष शक्य नहीं। ठाँधु ठाँधुनां बाण तो लक्ष्य भी पक्ष उपर घने आरण
 निकली गया आ प्रकारे साधावेध ठाँधु भी पक्ष साथ न यर्ष शक्ये। अटका
 धद्रपुर नगरना राजा इन्द्रदत्तना पुत्र जयन्तकुमार पक्ष उत्साहधी चोतानास्थाने भी
 ठाँधु तेना ठाँधु व दोके अने तेनी दासी उठाववा भाँडी अने पछी कहेवा बाण
 पुष्पे आ अके नवीन वीरपुरुष आवेल छे अ्यां मोटा मोटा वीर धनुर्धा-
 रीअेनु पक्ष न यादु त्या आ विचारो कुमारनु शु आववानु छे
 आ साहस अठाववा ठाँधु छे दोके अ्यारे आवी रीते अ्यत कुमारनी दासी
 उठाववाभा तत्पर अनी रक्षा अता त्थारे कुमार अधाना अेतअेतामां ते स्तम्भी
 पासे पछेथी अया अने गहोअतां व तेजे पड़ेवा चोताना धनुष्य उपर बाण
 अठान्यु अने पछी तेवधी अरेव कठअभा पठता अकना प्रतिबिम्बने अेवा
 वाअे अेतां अेतां अकना अतरावभाअभी पछी तेजे त्या

मन्निवेशितदृष्टिरुर्ध्वमुष्टिर्भवति, तदा जयन्तकुमारस्य कलाचार्यस्त पृच्छति-
 पश्यसि, किं दृष्टिगतं भवति? जयन्तकुमार प्राह-केन पुत्तलिकाया वामनेत्रम्,
 न तु किंचिदन्यत् । तद्वचनं श्रुत्वा गुरुः परितुष्टो जातः । ततोऽसौ जयन्तकुमार-
 स्तैलपूर्णकटाहगतं प्रतिबिम्बितं वामनेत्रं पश्यन् निश्चयेन मनसा करं स्थिरीकृत्य
 हस्तलाघवं दर्शयन् सद्यः शरं व्यमुच्यत् । स शरश्चक्रान्तरालेन सवेगं निर्गच्छन्
 पुत्तलिकाया वामनेत्रकनीनिकामविध्यत् । ततस्तस्य करस्थैर्यलघुहस्तत्पादिकं वर्ण-
 यन्तो लोकाः प्रमुदिता जयनयध्वनिं प्रकुर्वन्ति । तदा जितशत्रुपुत्री इन्दिरा

अन्तराल मार्ग से फिर उसने राधा पुत्तली के वामनेत्र का प्रति-
 बिम्ब देखा । देवकर उसने फिर धनुष को चढ़ाने के लिये हाथ की
 मुट्टी ऊँची की । इतने में उसके कालाचार्य बीच ही में उससे पूछा
 जयन्त ! तुम्हें इस समय क्या दिख रहा है ? जयन्त ने कहा-गुरुमहा-
 राज ! मुझे इस समय पुत्तली के वामनेत्र सिवाय और कुछ नहीं
 दिख रहा है । जयन्तकुमार के वचन सुनकर कलाचार्य के हर्ष का
 ठिकाना नहीं रहा । जयन्त ने तैलपूर्ण कटाह में पड़े हुए पुत्तली के
 वामनेत्र के प्रतिबिम्ब को लक्ष्यकर शीघ्र ही निश्चल मन से हाथ को
 समालते हुए उस ओर धनुष से याण छोड़ दिया । छूटते ही याण ने
 चक्र के अन्तराल से निकलते हुए उस पुत्तली के वामनेत्र की कनी-
 निका को वेध दिया । उपस्थित जनताने जयन्तके लक्ष्यवेधकी निपुणता
 की एवं हस्तलाघवकी समुत्तम अधिक प्रशंसा की । सब के सब घड़े ही प्रसन्न
 हुए । जयन्त की चारों ओर से जयध्वनिपूर्वक वधाई होने लगी ।

आणनु प्रतिबिम्ब ज्ञेयु ज्ञेधने तेजे धनुष्यने चडाववा भाटे डाधनी मुठी
 उनी करी जे वधते तेना कणाचार्ये वयभा ज तेने पूछ्यु ज्यत तमने
 आ समये शु देभाय छे? ज्यते कस्यु गुरुमहाराज मने आ समये पुतणीनी
 डाणी आण सिवाय थीलु कछ देभातु नथी ज्यतकुमारनां वयन सांजणीने
 कलाचार्ये ज्यित भन्या ज्यते तेव बरेव कडाधमां पडता पुतणीना डाणा
 नेत्रना प्रतिबिम्बने लक्ष्य करी तरत ज निश्चल मनथी हाथने सभाणीने
 ते तरत जास्यु छोड्यु जास्यु छुटतां ज सकना अतरालथी नीकणीने
 पुतणीनी डाणी आणनी ठीकीनु वेधन क्युं खेणी थयेवी जनताजे ज्यत
 कुमारना लक्ष्यवेधनी प्रशसा करी जने हाथदुशणतानी धरुणी प्रशसा करी
 सधणा भूषण प्रसन्न थया ज्यतनी चारे जास्युथी ज्यध्वनी पूर्वक वधाई थवा
 डाणी इन्दिरा पस्यु योताना भाज्यने वभास्यती ज्यतना गणाभां वरभाणा

जयन्तकुमारस्य कण्ठे पुष्पमालां ददौ । यथा राधावेधो दुष्करस्तथा मनुष्यदेश-
च्युतस्य प्रमादिनः पुनर्मनुष्यत्व दुर्लभमिति ।

अत्र सग्रहश्लोकः—(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

राधायावदनादधः क्रमवशाच्चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद्वामाक्षिवेधो यथा ।
जातो दुष्करतां नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाक्षिणा,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

इति सप्तमधकदृष्टान्तः ॥ ७ ॥

अथाष्टम कूर्मदृष्टान्तः—

अगाधजलपरिपूर्णः सहस्रयोजनविस्तीर्णः सलिलजन्तुसभृतः सुशोभितः

इन्दिरा भी अपने भाग्य की सराहना करती हुई जयन्त के गले में
वरमाला डालकर अपने आपको धन्य मानने लगी । इस दृष्टान्त का भाव
केवल इतना ही है कि जिस प्रकार राधावेध साधना दुष्कर कार्य
है उसी प्रकार मनुष्य जन्मको द्वारा हुआ प्रमादी प्राणी को पुन मनुष्य
जन्मकी प्राप्ति दुर्लभ है । इस दृष्टान्तका भावप्रदर्शकश्लोक इस प्रकार है—

राधाया वदनादधः क्रमवशात् चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद्वामाक्षिवेधो यथा ।
जातो दुष्करतां नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाक्षिणाम् ;
संसारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

यह सातवा चक्रदृष्टान्त है ॥ ७ ॥

आठवाँ कूर्म (कच्छप) का दृष्टान्त इस प्रकार है—अगाधजल से

पहेरावीने पोते पोताने धन्य मानवा लागी, आ दृष्टान्तो भाव ज्येष्ठो छे छे,
जे रीते राधावेध साधना अत्यंत ठीन अने दुष्कर छे ज्येष्ठ रीते मनुष्य
जन्मने द्वारा अथेव प्रमादी प्राणीने पुन मनुष्यजन्मनी प्राप्ति दुर्लभ छे
आ दृष्टान्तो भावप्रदर्शक श्लोक आ प्रकारतो छे

राधाया वदनादधः क्रमवशात् चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद्वामाक्षिवेधो यथा ।
जातो दुष्करतां नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाक्षिणाम्,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

आ सातवु अष्टदृष्टान्त छे ॥ ७ ॥

आठवु कूर्म कायना (कच्छप) वु दृष्टान्त आ प्रकारतु छे—

अजधी परिपूर्ण ज्येष्ठो ज्येष्ठ (धरी) होव इतो,

एको हृद आसीत् । तदुदकं च परस्परसम्बद्धशैवालजालैश्चादितमभवत् । तत्र
स्वापत्यसततिसमन्वितं, कच्छपः प्रतिवसति । अन्यदा कदाचित् तत्र सान्द्र
शैवालमध्ये हृदोपान्तस्थितजम्बूविटपिनः, सुपक्वफलसपातेन शैवालतन्तु-
विच्छेदाच्छिद्रमभवत्, तस्मिन्नेव समये तत्रस्थिताऽसौ कूर्मस्तत्कालजातच्छिद्रमा-
धित्य ग्रीवां वहिष्करोति । तदनु खल्वसौ निर्मलगगनमण्डलमण्डनायमानं तारा-
गणसमन्वितसुपमासम्पन्नशरदपूर्णशशाङ्कनिम्बमवलोक्य साश्चर्यं मनसि चिन्तयति
-अहो ! किमिदं विलोक्यते । कीदृशमिदमदृष्टपूर्वं नयनान्दजनकम् ? इत्येव

परिपूर्ण एक द्रव्यं था । जिसका विस्तार एक हजार योजन का था ।
इसमें अनेक जलचर जीव रहते थे । यह बड़ा सुन्दर था । इसका जल
परस्पर सवद्ध शैवालसमूह से आच्छादित था । इसमें एक कच्छुआ
अपने घच्छों के साथ रहता था । एक समय की पात है कि उस द्रव्य
के किनारे पर जो जामुन के वृक्ष खड़े हुए थे उनके कुछ जम्बूफल
उस शैवालजाल के ऊपर गिरे । उनके गिरने से उस शैवालजाल के
बीच में शैवाल के तन्तुओं के टूट जाने से छिद्र हो गया । उसी समय
कच्छुए ने जो उस शैवालजाल के नीचे रहता था उस छिद्र से अपनी
गर्दन को बाहर निकाला । बाहर निकालते ही उसने स्वच्छ आकाश
में आकाश का मण्डनस्वरूप एव तारागणों से सुशोभित परमशोभा-
सपन्न ऐसे शरदकालीन पूर्णचन्द्रमा के चिम्ब को देखा । देखते ही उसे
बड़ा भारी आश्चर्य हुआ । विचार ने लगा-अहो ! यह क्या दिखाई
देता है ? मैंने तो आज तक ऐसा नेत्रों को अपूर्व आनन्द देने वाला

द्वार योजन केटको इतो तेमां अनेक प्रकारना जणथर एव रहेता इता। ते धरा
पूज्य सुदर इतो। तेनुं जण शेवाण समूहथी आच्छादित इतु अेमा अेक कायणे
पोतानां अन्धांशो साधे रहेतो इतो अेक समयनी वात छे के, ते धराना
कठिं अणुडाना वृक्षो हारभं छे अ्यां इतां ते पैडीना अेक वृक्ष उपरथी थोडा अम्भुक्षण
शेवाण उपर पडयां आ रीते अणुडाना पडवाथी जण उपर आच्छादित धयेवी
शेवाणमां छिद्र पडी गयां आ वभते अे शेवाणनी नीचे रहेता कायभाअे
अणुने लभने शेवाणमां पडेला छिद्रमाथी पोतानी ठाक अहार काडी। पोतानी
ठाकने शेवाणमांथी अहार काठवा ज कायभाअे स्वच्छ आकाशमा तारागणोथी
सुशोभित परम शेवासपन्न अेवा शरदकाणना पूर्य अद्रमाना प्रकाशने अेयो
अेतां ज तेने धलु ज आश्चर्यं यथु अने ते भनोभन विचारवा लाग्ये के,
आ शु शेभाध रक्षु छे ? अे आज सुधी नेत्रेने अानद देवावाणे आवे

जयन्तकुमारस्य कण्ठे पुष्पमालां ददौ । यथा राधावेधो दुष्करस्तथा मनुष्यदेहा-
च्युतस्य प्रमादिनः पुनर्मनुष्यत्वं दुर्लभमिति ।

अत्र सग्रहश्लोकः—(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)
राधायावदनादघः क्रमवशाच्चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद्वामाक्षिवेधो यथा ।
प्राप्तो दुष्करतां नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाङ्क्षिणां,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥
इति सप्तमश्चक्रदृष्टान्तः ॥ ७ ॥

अथाष्टम कूर्मदृष्टान्त —

अगाधजलपरिपूर्णं सहस्रयोजनविस्तीर्णः सलिलजन्तुसभृतः सुशोभितः

इन्दिरा भी अपने भाग्य की सराहना करती हुई जयन्त के गले में
वरमाला डालकर अपने आपको धन्य मानने लगी । इस दृष्टान्त का भाव
केवल इतना ही है कि जिस प्रकार राधावेध साधना दुष्कर कार्य
है उसी प्रकार मनुष्य जन्मको हारा हुआ प्रमादी प्राणी को पुनः मनुष्य-
जन्मकी प्राप्ति दुर्लभ है । इस दृष्टान्तका भावप्रदर्शकश्लोक इस प्रकार है—

राधाया वदनादघः क्रमवशात् चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद्वामाक्षिवेधो यथा ।
जातो दुष्करतां नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाङ्क्षिणाम् ;
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

यह सातवा चक्रदृष्टान्त है ॥ ७ ॥

आठवाँ कूर्म (कच्छप) का दृष्टान्त इस प्रकार है—अगाधजल से

पछेरावीने पोते पोताने धन्य मानवा लागीं या दृष्टान्तने भाव अर्थो छे छे,
जे रीते राधावेध साधना अत्यंत कठीन अने दुष्कर छे जेव रीते मनुष्य
जन्मने हारी अथेव प्रमादी प्राणीने पुनः मनुष्यजन्मनी प्राप्ति दुर्लभ छे
या दृष्टान्तने भावप्रदर्शक श्लोक या प्रकारने छे

राधाया वदनादघः क्रमवशात् चक्राणि चत्वार्यपि,
भ्राम्यन्तीह विपर्ययेण खलु तद्वामाक्षिवेधो यथा ।
जातो दुष्करतां नरेन्द्रतनयापाणिग्रहाकाङ्क्षिणाम्,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

या सातवु चक्रदृष्टान्त छे ॥ ७ ॥

आठवु कूर्म कावना (कच्छप) नु दृष्टान्त या प्रकारनु छे—
अगाध जलधी परिपूर्ण जेवो जेठ (धर) डाल केते,

शैवाले मिलिते यथैव शशिन सदर्शन दुर्लभ,
ससारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

इत्यष्टम' कूर्मदृष्टान्तः ॥ ८ ॥

अथ नवमो युगदृष्टान्त प्रोच्यते—

असख्ययोजनविस्तीर्णो बलयाकारः सहस्रयोजनगम्भीरः स्वयभूरमण
समुद्रोऽस्ति । तस्य प्राच्या दिशि कोऽपि देवो युग प्राक्षिपत् तस्य युगस्य कीलिका
पश्चिमायां दिशि । यथा तस्मिन् समुद्रे भ्राम्यन्त्यास्तस्या कीलिकायास्तेन युगेन

शैवाले मिलिते यथैव शशिनः सदर्शन दुर्लभम्,
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभ ॥ १ ॥

यह आठवा कूर्मदृष्टान्त हुआ ॥ ८ ॥

नौवा युगदृष्टान्त इस प्रकार है—यह दृष्टान्त कल्पना से सच
रखता है । असख्यात द्वीप और समुद्रों के बाद एक अन्तिम द्वीप
और समुद्र है । अन्तिम समुद्र का असख्यात योजन का विस्तार है ।
गहराई भी इसकी एक हजार योजन की है । इसमें कल्पना करो कि
कोई एक देव पूर्व दिशा की ओर एक जुआ-गाड़ी का अवयवविशेष
जो धैलों के कर्धों पर रखा जाता है—डाल दे, और पश्चिम दिशा की
ओर उसकी कीलिका-सेल-डाल दे । अब यह कीलिका उस समुद्र में
उस दिशा से बहती हुई चली आये और बहते हुए जुआ के साथ

शैवाले मिलिते यथैव शशिन सदर्शन दुर्लभम्,
ससारे भ्रमत पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

आ आठम कूर्मदृष्टान्त ॥ ८ ॥

नवम युगदृष्टान्त का प्रकारतु छे—

आ दृष्टान्त कल्पनाधी संध राधे छे असख्यात द्वीप अने समुद्रो
पही अेक छेत्वे। द्वीप अने समुद्र छे अे छेत्वे। समुद्रनो विस्तार असख्या
योजननो छे उडार्ध पखु तेनी अेक हजार योजननी छे आभा कल्पना कथ
के, उडार्ध अेक देव पूर्वदिशा तरक्ष अेक घासरे के ने गाडीमा षणठना कंध
छपर राधवामा आवे छे ते नाभी डे अने पश्चिम दिशा तरक्षी अे घास
रानी बाकडीअे नाभी डे पश्चिम दिशाअे नापेवी घासरानी अे साधेव
वसेतां वसेतां बावी आवे अने ते घासरी साथे भणी अथ ने रीते आ पात

विचिन्त्य स कूर्मः स्ववन्धूनपि तद् दर्शयितुं जले निमज्ज्य यावता काष्ठेन तैः सह पुनरायाति, तावत् पुनः समीरसयोजितशेवालैस्तच्छिद्रमाच्छादितम् । यथा तच्चन्द्रमण्डलदर्शनेन पुनस्तस्य कूर्मस्य दुर्लभं तथा मनुष्यदेहाच्च्युतस्य प्रमादिनः पुनर्मनुष्यत्व दुर्लभमिति ।

अत्र समग्रश्लोक — (शार्दूलचिक्रीडितघृत्तम्)

दृष्ट्वा कोऽपि हि कच्छपो ह्रवमुखे शैवालवन्धच्युते,
पूर्णेन्दुं मुदितं कुटुम्बमिह तं द्रष्टुं समानीतवान् ।

पदार्थ नहीं देखा है, यह कितना सुन्दर है। इस प्रकार विचार कर उसने इस अपूर्व वस्तु को अपने परिवार को भी दिखाने का विचार किया, अतः वह पानी में डुबकी लगाकर अपने परिवार के पास पहुँचा और उनको साथ में लेकर ज्यों ही यह वहाँ आया कि वह शैवालजाल हवा के लगने से फिर से ज्यों का त्यों परस्पर में मिल गया। इस दृष्टान्त से हम को यह शिक्षा मिलती है कि जिस प्रकार हवा के झोकों के लगने से शैवाल के तन्तु आपस में मिल गये और छिद्र का अभाव हो गया, अतः उस अभागे कच्छप को पुनः चन्द्रदर्शन होना दुर्लभ हुआ, उसी प्रकार मनुष्यजन्म को हारे हुए प्रमादी प्राणी को पुनः मनुष्यजन्म मिलना महा दुर्लभ है। इस दृष्टान्त का भाषसंग्रह श्लोक इस प्रकार है—

दृष्ट्वा कोऽपि हि कच्छपो ह्रवमुखे शैवालवन्धच्युते,
पूर्णेन्दुं मुदितं कुटुम्बमिह तं द्रष्टुं समानीतवान् ।

अपूर्व पदार्थ कही पक्षु ज्येथे नथी आ केवे सुदर छे ? आ प्रकारने विचार करी, जे अपूर्व वस्तु पोताना परिवारने पक्षु जताववाने विचार करी अने पाषुभिआ दुषकी भारी ते पोताना परिवारनी पासे पडोअथे अने तेने साथे छर्ध ते छपरेअत स्थणे पडोअथे त्तारे ते शेवाण के जेभां वा जुने छर्ध छिद्र पडयु छर्ध ते पवनने कारखे पुराअर् जतां शेवाणनी सपाटी करीथी स धाअ जर्ध तेकी काथणा अने तेना परिवारने करीथी अर्धनां छर्धन न थयां जे प्रकारे मनुष्य जन्मने करी अथेव प्रमादी प्राणीने मनुष्य जन्म भणवे महा दुर्लभ छे

आ दृष्टान्तने भावसंग्रह श्लोक आ प्रभाषे छे —

दृष्ट्वा कोऽपि हि कच्छपो ह्रवमुखे शैवालवन्धच्युते,

पूर्णेन्दुं मुदितं कुटुम्बमिह तं द्रष्टुं समानीतवान् ।

तुल्य तच्चूर्णं नलिकान्तर्निधाय मेरुशिखर समाख्य फूत्कृतसमीरणैस्तच्चूर्णं सकलं सर्वतः समुद्रापितम् ।

अथ तेन देवेन चिक्षिप्तास्ते परमाणवः प्रचण्डपवनोद्भूताः सर्वास्तु दिक्षु दूर गता एकैकशो विभिन्ना पतिताः ।

यथा तान् परमाणून् सर्वतः सचित्य तैः पुनः स्तम्भनिष्पादनं लोकस्य दुष्करं, तथा मनुष्यमवात् प्रच्युतरस्य प्रमादिनः प्राणिनो मनुष्यजन्म दुर्लभमिति ॥

दसवा परमाणु दृष्टान्त इस प्रकार है—यह दृष्टान्त भी कल्पना से सपथ रखने वाला है—जैसे क्रीडावश किसी देव ने माणिक्यनिर्मित एक स्तम्भ को वज्र के प्रहार से तोड़ा । पश्चात् उसे इतना पीसा कि उसका चूर्ण चूरा चूरा हो गया । चूर्ण जैसा जब वह घन चुका तब उस चूर्ण को उसने एक नलिका में भरा और सुमेरु पर्वत के शिखर पर खड़े होकर उसको सय तरफ फूक से उड़ा दिया । वे सय के सय उस स्तम्भके परमाणु जो उस देव ने अपनी फूक से इधर उधर उड़ा दिये हैं और वायुके प्रचल श्रोको ने उनकोप्रत्येक दिशा में ले जाकर और भी दूर फेंक दिये । उन सय के सय परमाणुओं को एकत्रित कर के फिर से जैसे उस स्तम्भ का उसी रूप से निर्माण करना दुष्कर है—उसी तरह मनुष्यमव से प्रच्युत जीव को मनुष्यमवकी पुनः प्राप्ति होना दुर्लभ है ।

इसमु परमाणुदृष्टान्त आ प्रकारनु छे

आ दृष्टान्त पक्ष कल्पनाथी सपथ सपथावाणु छे जेभ रमतना तोरथी डोर्ध देवे भाविकथथी बरेवा जेवा जेक स्तम्भने वज्रना प्रहारथी तोडी नाथ्यो पछी तेने जेटथी पिरथो डे, तेना चूरचूरा यर्ध गया. चूर्ण जेवा न्यारे ते यर्ध गयो. त्यारे ते बुकाने तेजे जेक नणीभा भयो अने सुमेरुपर्वतना शिखर उपर उवा रङ्गिने आरे आणु ते बुकाने कुकथी उडाडी दीधा जे स्तम्भना बुका रूपे भनेवा सपणा परमाणुजेने ते देवे पोतानी कुकथी आरे डोर उडावी दीधा अने वायुजे प्रणण वेगथी इरेक दिशाभां लर्ध जेधने दूर डेडी दीधा. इर इर न्यां त्यां डे डोर्ध गयेवा जे सपणा परमाणुजेने जेकत्रित करी करीथी स्तम्भनु निर्माण करवु दुष्कर छे तेवीज रीते आ मनुष्यभवने डारी जेटथो एव करी मनुष्य जन्मनी प्राप्ति करी शकतो नथी

सह सघटनमेव दुर्लभ, तस्य युगस्य छिद्रे पुनः प्रवेशस्तु तत्रापि दुर्लभस्तथा
मनुष्यभवात्प्रच्युतस्य प्रमादिनः पुनर्मनुष्यजन्म दुर्लभमिति ।

अत्र सग्रह— (शार्दूलविक्रीडितधृत्साम्)

प्राच्यन्धौ युगकीलिका विनिहिता क्षिप्त युग पश्चिमे,
यद्दुर्लभमेव तत्र वहतोः समीलन तद्द्वयोः ।
शम्यायास्तु पुनर्युगस्य विवरे तस्याः प्रवेशो यथा,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥
इति नवमो युगदृष्टान्तः ॥ ९ ॥

अथ दशमः परमाणुदृष्टान्तः—

केनाऽपि क्रीडापरेण देवेन मणिक्यमय स्तम्भं वज्रेण पूर्णिकृत्य परमाणु

मिल जावे तो जिस प्रकार यह यात बहुत दुर्लभ है और इससे भी
अधिक दुर्लभ यह है कि वह कीलिका वहते २ उस जुए के छेद में
प्रविष्ट हो जावे यह यात दुर्लभ है । इसी तरह मनुष्य भव से प्रच्युत
प्रमादी जीव को पुनः मनुष्यभव की प्राप्ति होना दुर्लभ है । इसका
भावप्रदर्शकश्लोक इस प्रकार है—

प्राच्यन्धौ युगकीलिका विनिहिता क्षिप्त युगं पश्चिमे,
यद्दुर्लभमेव तत्र वहतोः समीलनं तद्द्वयोः ।
शम्यायास्तु पुनर्युगस्य विवरे तस्याः प्रवेशो यथा,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥
यह नौवां युगदृष्टान्त है ॥ ९ ॥

धृष्टी ७ दुर्लभ छे अने तेनाही पद्य अधिक दुर्लभ तो छे छे छे, धीस्ररानी
ते सधिवे। वडेतां वडेतां ते धीस्रराना वीधमां जोअर्थ नय छे वात दुर्लभ
छे आ रीते मनुष्यभवधी प्रच्युत प्रमादी छवने हरीधी मनुष्यभवनी प्राप्ति
धनी दुर्लभ छे

तेना भावने दर्शावतो श्लोक आ प्रकारने छे—

प्राच्यन्धौ युगकीलिका विनिहिता क्षिप्त युग पश्चिमे,
यद्दुर्लभमेव तत्र वहतोः समीकनं तद्द्वयोः ।
शम्यायास्तु पुनर्युगस्य विवरे तस्याः प्रवेशो यथा,
संसारे भ्रमतः पुनर्नरभवो जन्तोस्तथा दुर्लभः ॥ १ ॥

आ नवमो युगदृष्टान्त छे ॥ ९ ॥

छाया—एकदा देवलोकेषु, नरकेष्वपि एरुदा ।

एकदा आसुर काय, यथा कर्मभिः गच्छति ॥ ३ ॥

टीका—'एगया' इत्यादि ।

जीवः, एकदा=एकस्मिन् काले शुभकर्मानुभवकाले देवलोकेषु=सौघर्मादिषु यथाकर्मभिः=तद्व्यत्यनुसूयैष्वेष्टितै सरागसयमदेशविरत्यकामनिर्जरावालतपःकर्मभि गच्छति । एकदा=अशुभकर्मोदयकाले, नरकेषु=रत्नप्रभादिषु यथाकर्मभिः=महा रत्नमहापरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधकुणपाहारैर्गच्छति । एकदा आसुरम्-असुरसम्बन्धिनं, काय=निकायम् असुरकुमारभावमित्यर्थः, यथा कर्मभिः=सरागसयमादिभिः, गच्छति=प्राप्नोति । उपलक्षणत्वाज्ज्योतिर्व्यन्तरयोरपि गच्छतीति बोध्यम् ॥ ३ ॥

उपरोक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'एगया'—इत्यादि ।

अन्वयार्थ—यह जीव (एगया—एकदा) कभी तो शुभ कर्म के अनुभवन काल में (देवलोकेषु—देवलोकेषु) सौघर्म आदि देव लोक में (अहाकस्मेहि—यथाकर्मभिः) 'सरागसयम, देशविरति, अकामनिर्जरा एवं यालतप आदिरूप उस गति के कर्म के कारणों से (गच्छद्—गच्छति) जन्म लेता है । (एगया—एकदा) कभी अशुभकर्म के अनुभवनकाल में (नरकेषु—नरकेषु) रत्नप्रभा आदिक नरकों में (अहाकस्मेहि—यथाकर्मभिः) महा 'आरभ, महापरिग्रह, पञ्चेन्द्रियवध कुणप (मास) आहार आदि करने से (गच्छद्—गच्छति) जाता है । (एगया—एकदा)

उपरोक्त कथनने वधारे स्पष्ट करवां ठडे छे—

“एगया” इत्यादि

अन्वयार्थ—आ एव एगया—एकदा कथारेक तो शुभकर्मना अनुभव कालमा देवलोकेषु—देवलोकेषु सौघर्म आदि देवलोकेषुमा अहाकस्मेहि—यथाकर्मभि सराग सयम, देशविरति, अकाम निर्जरा, अने यालतप आदि रूप ये गतीना कर्मोनां कालेषु गच्छद्—गच्छति जन्म ले छे एगया—एकदा कथारेक अशुभ कर्मना उदयमा नरकेषु—नरकेषु रत्नप्रभा आदिक नरकोमा अहाकस्मेहि—यथाकर्मभिः आरभ, महाआरभ, महापरिग्रह, पञ्चेन्द्रियवध कुणप (मास) आहार आदि करवाथी

(१) “अथ हि ठाणेहि जीवा देवालयत्ताए कम्म पगरेत्ति, स अहा—सराग संखमेण, सज्जमासजमेण, वासवोक्कस्मेण, अकामणिअराए” । (स्या स्या ४ व ४ एवं औपाधिक सूत्रेऽपि)

(२) “अथ हि ठाणेहि जीवा णेरइयत्ताए कम्मपकरेत्ति, स अहा—महारभाए महा-परिग्राहाए, पञ्चिन्द्रियवधेण, कुणिमाहारेण (स्या० स्या० ४ उ ४ एवम् औपा-दिकसूत्रेऽपि)

અય ભાવઃ—માનુષ જન્મ લઙ્ઘ્વાઽપિ પ્રમાદકૃતદુષ્કર્મપ્રમાનાદેકેન્દ્રિયાદિ
જાતિપ્રાપ્ત્યા ચક્રવર્તિપાયસાદિવત્ પુનર્માનુષત્વ દુર્લભમિતિ ॥ ૨ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मूलम्—एगया देवलोपसु, नरपंसुवि एगया ।

एगया आंसुर काँय, अहा कर्मोहिं गच्छइ ॥ ३॥

ને અપને જન્મ મરણ સે ન ભર દિયા હો । જીવ ને સૂક્ષ્મપૃષ્ઠિની
કાયાદિ સ્થાવર કાય મેં ઉત્પન્ન હોકર લોકાકાશ કા પ્રત્યેક પ્રદેશ કો
તેલ સે તિલ કી તરહ ભર દિયા હૈ । ફસલિયે મનુષ્યજન્મ પાકર મી
જો પ્રમાદી હોકર દુષ્કર્મો કા ઉપાર્જન કરતે હૈં બે ઉનકે પ્રમાભ સે
એકેન્દ્રિયાદિક જાતિ કી પ્રાપ્તિ સે ચક્રવર્તીં કે પાયસ આદિ કી તરહ
મનુષ્યમત્વ કી પ્રાપ્તિ કો દુર્લભ યનાલેતે હૈં—

ભાવાર્થ—મનુષ્યમત્વ પાકર મી પ્રાણી કા કર્તવ્ય હૈ કિ બહ
પ્રમાદી નહીં યને । પ્રમાદ કે કારણ જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મોં કા બંધ
હોને સે ફસ જીવ કા એકેન્દ્રિયાદિક યોનિયોં મેં જન્મ હોતા હૈ ।
ફસમેં ફસકા અનન્તકાલ નિકલ જાતા હૈ । અતઃ પુનઃ મનુષ્યમત્વ કી
પ્રાપ્તિ દુર્લભ યન જાતી હૈ । તાત્પર્ય કહને કા યહ હૈ કિ મનુષ્યમત્વ
સાર્થક કરને કા યહી ઉપાય હૈ કિ પ્રમાદી ન બના જાય ॥ ૨ ॥

જન્મમરણથી ન બરી રીધિા હોય. એવે સૂક્ષ્મ પૃથ્વી કાયાદિ સ્થાવર કાવર્મા
ઉત્પન્ન થઈ થઈને લોકાકાશના પ્રત્યેક પ્રદેશને તલના તેલની માફક બરી રીધિા
છે આ માટે મનુષ્યજન્મ મળવા છતાં પણ બે પ્રમાદી બની દુષ્કર્મોંનું ઉપાર્જન
કરે છે, તે એના પ્રભાવથી એકેન્દ્રિયાદિક બલીની પ્રાપ્તિથી ચક્રવર્તીના દુષ્કર્મ
વગેરેની માફક ફરી મનુષ્યમત્વની પ્રાપ્તિને દુર્લભ બનાવે છે

ભાવાર્થ—મનુષ્યમત્વ મેળવીને પણ પ્રાણીનું કર્તવ્ય છે કે, તે પ્રમાદી ન
બને પ્રમાદના કારણે જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મોંના બંધ યવાથી આ એવનો એકે
ન્દ્રિયાદિક જેવી યોનીઓમાં જન્મ થાય છે તેમાં તેનો અનન્ત કાળ નીકળી
બાધ છે આથી મનુષ્યમત્વની પ્રાપ્તિ દુર્લભ બની જાય છે તાત્પર્ય કહેવાનું
એ છે કે, મનુષ્યમત્વ સાર્થક કરવાનો એક માત્ર ઉપાય એ છે કે, આપણે
પ્રમાદી ન બની બને જ્યાં સુધી સુખિતની પ્રાપ્તિ ન થાય ત્યાં સુધી મનુષ્યમત્વની જ
ફરી ફરી પ્રાપ્તિ થતી રહે એવો પ્રયત્ન તો કરવો એકેએ. ॥ ૨ ॥

एव चतुरशीतिलसख्यका योनयस्तासु, इत्यर्थः । न निर्विघ्नन्ते=अस्मात् पर्यटनात् कदा मोक्षो भविष्यतीति नोद्विजन्ते=उद्वेग न प्राप्नुवन्ति । केपु क इव ? सर्वार्थेषु=सर्वे च ते अर्थाः, सर्वार्थास्तेषु हिरण्य-सुवर्ण-मणि-मुक्ताफल-वज्र वैदूर्य-ग्राम-नगर-कोश-कोष्ठागार-भूमि-गजाश्वादिषु सर्वविभवेषु प्राप्तेष्वपि, क्षत्रियाः=राजान इव । अय भाव —यथा सर्वेषु विषयेषु प्राप्तेष्वपि राजान सतोप नाप्नुवन्ति, किंतु तत्प्राप्त्यर्थमेव पुनः पुनः प्रवर्तन्ते । एव तासु तासु योनिषु पुनः पुनः रूपत्तिमनुभवन्तोऽपि जीवाः पुनः पुनः ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्म कुर्वन्तस्तच्चद् योनिप्राप्त्यर्थमेव प्रवर्तन्ते, तस्मान्मनुष्यजन्म दुर्लभम् इति ।

लाख, तथा मनुष्य की चौदह लाख, इस प्रकार इन चौरासी लाख योनियों-उत्पत्ति स्थानों में) (न निविज्जति-न निर्विघ्नन्ते) 'इम सप्ता-परिभ्रमणसे मेरा कच मोक्ष होगा' इस प्रकार कभी भी निर्वेद-उद्वेग को प्राप्त नहीं होते हैं । (व इव) जैसे(सबहुँसे खत्तिया-सर्वार्थेषु क्षत्रियाः)हिरण्य सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वज्र वैदूर्य, ग्राम, नगर, कोश एव कोष्ठागार, भूमि, गज अश्व आदि प्राप्त विभवोंमें क्षत्रिय लोग उद्वेग (उदासीनता) को प्राप्त नहीं होते हैं । तात्पर्य इसका यह है कि जैसे युद्ध कर २ के समस्त देशों का राज्य प्राप्त होने पर भी क्षत्रिय लोग उद्वेग (उदासीनता) को प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु उनकी प्राप्ति के लिये ही वे पार २ चेष्टा किये करते हैं उसी प्रकार उन उन योनियों में पार २ जन्म मरण के दु खों का अनुभव करते हुए भी ये जीव पुनः पुनः ज्ञानावरणीयादिक अष्ट-विध कर्मों का बन्ध करते हुए उन २ योनियों की प्राप्ति करने के लिये

तथा मनुष्योनी चौद लाख, आ प्रकार के चौरासी लाख योनीओमां 'न निविज्जति-न निर्विघ्नन्ते आ सप्ता परिभ्रमणशी भाशे क्यारे मोक्ष धरो?' के प्रकार तेने कोष्ठ अतनी चिता यती नथी व-इव जेभ सबहुँसे खत्तिया-सर्वार्थेषु क्षत्रियाः हीरा भाषुके, सुवर्ण, मणी, मुक्ताफल, वज्र, वैदूर्य, ग्राम, नगर, कोश आने कुष्ठागार, भूमि, गज, अश्व, आदि प्राप्त वैभवोमां रन्ध्यापन्था रहेता क्षत्रियोने कोष्ठ उद्वेग यती नथी. तात्पर्य' जेनुं के छे के, जेभ युद्ध करी करीने समस्त देशनुं राज्य प्राप्त यवा छतां पक्ष क्षत्रियोने कोष्ठ उद्वेग यती नथी परतु तेनी प्राप्त्तने भाटे व के वार वार प्रयत्न करता रहे छे जेवी रीते योनीओमां वार वार जन्म भरषुने अतुभव करवा छतां पक्ष के एव करी करी ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकारना कर्मोने बंध करीने ते ते योनीओनी प्राप्ति करवामां व क्षियाशील रहे छे

१ मूलम्—एवमावट्टजोणिसु, पाणिणो कम्मकिल्बिसा ।

नं निविज्जति ससारे, संवट्टेसु वं खत्तिया ॥५॥

छाया—एवम् आवर्तयोनिषु, प्राणिनः कर्मकिल्बिषा ।

न निर्विघ्नन्ते ससारे, सर्वार्थेषु इव सत्रियाः ॥ ५ ॥

टीका—‘ एवम् ’ इत्यादि ।

कर्मकिल्बिषा.—कर्मभिर्मलिनाः प्राणिनः ससारे=भवे एवम्=अमुना प्रकारेण, आवर्तयोनिषु=आवर्तेन—पुनःपुनःपरिभ्रमणेन स्पृष्टा योनय आवर्तयोनयस्तासु चतुरश्रीविलक्षप्रकारासु, तत्र पृथिव्यपतेजोवायुकायेषु प्रत्येक सप्त सप्त लक्षा, दश लक्षाः प्रत्येकवनस्पतिषु, निगोदजीवेषु च चतुर्दश लक्षा, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियेषु प्रत्येक द्वे द्वे लक्षे, तिर्यङ्नारकदेवेषु प्रत्येक चतस्रश्चतस्रो लक्षाः मनुजेषु चतुर्दश लक्षाः,

कमी तेन्द्रिय जीवों में और कमी चतुरिन्द्रिय जीवों में जन्म लेता है । इस प्रकार इस संसार में प्रमादी जीव भ्रमण करता ही रहता है । इस कीटादिक शब्द के उपलक्षणसे समस्त तीर्थञ्जजाति के वेदोपमेदों का ग्रहण जानना चाहिये ॥ ४ ॥

‘ एवम् ’—इत्यादि ।

१ अन्वयार्थ—(कम्मकिल्बिसा—कर्मकिल्बिषा) कर्मों से मलिन (पाणिणो—प्राणिनः) प्राणी (संसारे—ससारे) संसार में (एवं—एवम्) उक्त प्रकार से भ्रमण करते हुए (आवट्टजोणीसु—आवर्तयोनिषु) इन चौरासी लाख योनियों में (पृथिवीकाय की सातलाख, अपकाय की सात लाख, तेजस्काय की सात लाख, वायुकाय की सात लाख, प्रत्येक वनस्पति की दश लाख, निगोदजीवों की चौदह लाख, द्विन्द्रिय, तेन्द्रिय चतुरिन्द्रिय की दो दो लाख, तिर्यञ्च, देव एवं नारकी की चार चार

ले प्रकारे आ संसारमा प्रमादी एव भ्रमण करोता ही रहते छे आ कीटादिक शब्दना उपलक्षणसु समस्त तीर्थञ्ज जातीना वेदोपमेदसु ग्रहण जाननु लेउछे ॥ ४ ॥

१. १. “ एवम् ”—इत्यादि

१. अन्वयार्थ—कम्मकिल्बिसा—कर्मकिल्बिषाः कर्मोधी मलिन पाणिणो—प्राणिनः प्राणी संसारे—ससारे संसारमा एव—एवम् उक्त प्रकारधी भ्रमण करोतां करोतां आवट्टजोणीसु—आवर्तयोनिषु आ चौरासी लाख योनीनामा (पृथ्वीकायनी सात लाख, अपकायनी सात लाख, तेजस्कायनी सात लाख, वायुकायनी सात लाख, प्रत्येक वनस्पतिनी दश लाख, निगोद जीवोनी चौदह लाख, द्वे इन्द्रिय, त्रय इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, नी जेने लाख अने तीर्थञ्च, देव अने नारकीनी चार चार लाख,

एव चतुरशीतिलसख्यका योनयस्तासु, इत्यर्थः । न निर्विघ्नन्ते=अस्मात् पर्यटनात् कदा मोक्षो भविष्यतीति नोदिजन्ते=उद्वेग न प्राप्नुवन्ति । केषु क इव ? सर्वार्थेषु=सर्वे च ते अर्थाः, सर्वार्थास्तेषु हिरण्य-सुवर्ण-मणि-मुक्ताफल-वज्र वैदूर्य-ग्राम-नगर-कोश-कोष्ठागार-भूमि-गजाश्वादिषु सर्वविभवेषु प्राप्तेष्वपि, क्षत्रियाः=राजान इव । अय भावः—यथा सर्वेषु विषयेषु प्राप्तेष्वपि राजान सतोष नाप्नुवन्ति, किंतु तत्प्राप्त्यर्थमेव पुनः पुनः प्रवर्तन्ते । एव तासु तासु योनिषु पुनः पुनः रूपात्मि मनुभवन्तोऽपि जीवाः पुनः पुनः ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्म कुर्वन्तस्तच्चद् योनिप्राप्त्यर्थमेव प्रवर्तन्ते, तस्मान्मनुष्यजन्म दुर्लभम् इति ।

लाख, तथा मनुष्य की चौदह लाख, इस प्रकार इन चौरासी लाख योनियों-उत्पत्ति स्थानों में) (न निर्विज्जति-न निर्विघ्नन्ते) 'इस सत्सार परिभ्रमणसे मेरा कय मोक्ष होगा' इस प्रकार कभी भी निर्वेद-उद्वेग को प्राप्त नहीं होते हैं । (५ इव) जैसे(सवद्वेषु स्वत्तिया-सर्वार्थेषु क्षत्रिया)हिरण्य सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वज्र वैदूर्य, ग्राम, नगर, कोश एव कोष्ठागार, भूमि, गज अश्व आदि प्राप्त विभवोमें क्षत्रिय लोग उद्वेग(उदासीनता) को प्राप्त नहीं होते हैं । तात्पर्य इसका यह है कि जैसे युद्ध कर २ के समस्त देशों का राज्य प्राप्त होने पर भी क्षत्रिय लोग उद्वेग (उदासीनता) को प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु उनकी प्राप्ति के लिये ही वे पार २ चेष्टा किये करते हैं उसी प्रकार उन उन योनियों में पार २ जन्म मरण के दु खों का अनुभव करते हुए भी ये जीव पुनः पुनः ज्ञानावरणीयादिक अष्ट-विध कर्मों का बन्ध करते हुए उन २ योनियों की प्राप्ति करने के लिये

तथा मनुष्यानी चोद लाख, आ प्रकारे ये चौरासी लाख योनीओमां 'न निर्विज्जति-न निर्विघ्नन्ते आ सत्सार परिभ्रमणसुभी भाशे कथारे मोक्ष यथे?' ये प्रकारे तेने कोह अतनी चित्त यती नथी व-इव जेभ सवद्वेषु स्वत्तिया-सर्वार्थेषु क्षत्रिया हीरा भाषेक, सुवर्ण, मणी, मुक्ताफल, वज्र, वैदूर्य, ग्राम, नगर, कोश अने कुष्ठागार, भूमि, गज, अश्व, आदि प्राप्त वैभवोमां स्थापय्या रहेता क्षत्रियोने कोह उद्वेग यतो नथी । तात्पर्य जेनु जे छे के, जेभ युद्ध करी करीने समस्त देशनु राज्य प्राप्त यथा छतां पक्ष क्षत्रियोने कोह उद्वेग यतो नथी परतु तेनी प्राप्तने माटे व जे वार वार प्रयत्न करता रहे छे जेवी रीते योनीओमां वार वार जन्म मरणने अनुभव करवा छतां पक्ष जे एव करी करी ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकारना कर्मोने बंध करीने ते ते योनीओनी प्राप्ति करवामां व भीयाशील रहे छे

મનુષ્યાણામ્, તથા વિષયા અપ્યનુકૂલતયા મનો હરન્તિ સર્વેશામ્ । ચર્ષાકાસે
 જલધુદ્ધુદા ઇવ, કરાજ્જલિગતા આ ઇવ સમ્પદઃ ક્ષણનશ્વરાઃ સન્તિ । યથા—સ્વચ્છ-
 જલપરિપૂર્ણગમીરગર્તે પ્રતિવિમ્બમાધાપન્ન તત્તટવર્તિવૃક્ષ—ઝાયા લતા પત્ર-પુષ્પાદિકં
 કિમપિ કાર્યં સાધયિતુ ન શ્કનોતિ, તથા સતારાન્તર્ગત વસ્તુજાતમ્ કિમપિ સ્વા
 ત્મકલ્યાણાય ન ભવતિ । ઇવમનન્તદુ'સ્વસમૃતે સંમારેડનન્તાનન્તદુ'સ્વમનુભવન્તોઽપિ
 નોદ્વિજન્તે સર્વાર્થેષુ લબ્ધેષ્વપિ રાજાન ઇવ પ્રાણિનઃ । અતો મનુષ્યજન્મદુર્લભમ્ ।

વિષયસુખ મી અનુકૂલ હોને સે સય કો સુહાવને લગતે હૈં, સબ કે ચિન્ત
 લુભાતે રહતે હૈં । ચર્ષાકાલ મેં જૈસે જલ કા યુદ્ધુદા દેસતે ૨ નષ્ટ હો
 જાતા હૈ, ઓર અજલિ કા જલ જૈસે ક્ષણભર મેં ઘર આતા હૈ ઁસી
 પ્રકાર સે યહ વૈભવ મી ક્ષગવિનશ્વર જાનના ચાહિયે । જૈસે સ્વચ્છ
 જલ સે પરિપૂર્ણ ગમીર ગ્વહે મેં પ્રતિવિમ્બરૂપ સે પતિત ઁસકે તટવર્તી
 વૃક્ષ કી ઝાયા લતા પત્ર પુષ્પાદિક કુછ મી કાર્ય સાધક નહીં હો સકતે હૈં,
 ઁસી તરહ સસાર કે અન્તર્ગત વસ્તુઓં કા સમૂહ મી આત્મકલ્યાણ
 કા કુછ મી સાધક નહીં હોતા હૈ । ઇસ પ્રકાર અનન્ત દુઃખોં સે ભરે
 હુપ ઇસ સંસાર મેં અનન્ત દુઃખોં કા અનુભવ કરતે હુપ મી સંસારી
 જીવ પ્રાપ્ત અર્થ મેં અધિકતર લુભાને ઘાલે રાજા કી તરહ પ્રતિદિન
 ઁન્હીં સંસારવર્ધક વૈષયિક સુખોં મેં લુભાતે રહતે હૈં । આત્મકલ્યાણ
 કેસે હોગા ઇસકી ધોઢી સી મી ચિન્તા નહીં કરતે હૈં । ઇસલિયે યદિ
 મનુષ્યજન્મ પાયા હૈ તો કુછ કર લેના ચાહિયે, નહીં તો ઇસ મનુષ્ય

પ્રકારથી આ વિષયસુખ પણ અનુકૂળ હોતાં સમજાને સુખરૂપ લાગે છે
 બધાના ચિત્તને લોભાવે છે, વર્ષાઠાળમા પાણીના પરપોટાની જેમ ભેત ભેતામાં
 નાથ પામે છે અને હાથમાં લીધેલ પાણી જેમ કણુભરમા યાંત્રુ બંધ છે એવ
 પ્રકારથી આ વૈભવ પણ કણુભરમાં નાથ પામનાર સમજવો ભેદજે જેમ
 સ્વચ્છ જળથી ભરેલા છઠા ખાડમાં પ્રતિબિંબ રૂપથી પતિત તેની પાસેના
 વૃક્ષની ઝાયા, લતા, પાંદડાં, પુષ્પ વગેરે, કાંઈ પણ કાચંસાધક થતાં નથી.
 એવી રીતે સસારનો અતર્થ વસ્તુઓનો સમૂહ પણ આત્મકલ્યાણમાં કાંઈપણ
 સાધક બનતો નથી. આ પ્રકારનાં અનન્ત દુઃખોથી ભરેલા આ સસારમાં અનન્ત
 દુઃખોનો અનુભવ કરવા છતાં પણ સસારી છવ પ્રાપ્ત અર્થમાં અધિકતર
 લોભાવનારા શબ્દની માફક દરેકજ તેની સસારવધક વિષયી સુખોમાં લોભાતો
 રહે છે આત્માનુ કલ્યાણ કાંઈ રીતે થયે તેની યોદી પણ ચિન્તા કરતો નથી.
 આટલા માટેજ મનુષ્યજન્મ મયેલ છે તે તેનું કાંઈક સાધક કરી ભેદજે.

तस्मान्मनुष्यजन्म लब्ध्वा ससारस्वरूप भावयेत्—अहो ! ईदृशं दुःखस्थानमन्यत्
किमपि नास्ति यादृश ससारः ॥ ५ ॥

जन्म छुट जाने के बाद इसकी पुन प्राप्ति दुर्लभ है, अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मनुष्यजन्म प्राप्त कर मसार के स्वरूप का अवश्य विचार करता रहे, उसको सोचना चाहिये कि ऐसा दुःख का स्थान और कोई दूसरा नहीं है जैसा की यह ससार है ।

भावार्थ—कर्म से कदर्थित ये ससारी जीव चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करते हुए भी पुन उसी चक्कर में फँसने के अभिलाषी होते रहते हैं । यह चक्कर कैसे बंद होगा इसकी चिन्ता ही नहीं करते हैं । जैसे कोई क्षत्रिय बार बार युद्ध करने पर भी युद्ध से अरुचि नहीं लाता है । उसी प्रकार ये ससारो जीव भी सांसारिक अनंत दुःखों से अरुचि न लाकर ज्ञानावरणीय कर्मों को पुन. पुनः घटाने की ओर ही अग्रसर बने रहते हैं । इनको इस घात का पता नहीं कि इस मनुष्यभव से ही इन अनंत दुःखों का अंत होता है, अत इस भवसे यदि ये दुःख नहीं नष्ट किये गये तो फिर दूसरा कौन ऐसा भव है जो इन दुःखों का अन्त करनेवाला हो सकेगा, अत मिले हुए मनुष्य भव

नही तो आ मनुष्यजन्म पुरो यता तेनी प्राप्ति करी थवी दुर्लभ छे आधी मनुष्यनु कर्तव्य छे के, ब्यापे महादुर्लभ जेवो मनुष्यजन्म तेने प्राप्त थयो छे तो ससारना साया स्वइपने अवश्य अवश्य विचार करतो रहे तेखे विचारबु जेधजे के, जेवो आ ससार छे तेना जेवु इ अतु स्थान थीअु केध नथी

भावार्थ—कर्मधी कदाय ससारी एव चौरासी लाख योनीजोमां प्रभव करवा छता पक्ष करी जेअ बाकरभा क्साय—पूथी बय तेवां कार्योमां ते स्त रहे छे पक्ष जे यकर कर्षी रीते षष भाय तेनी चिंता करतो नथी जेम केध क्षत्रिय वारवार युद्ध करवा छता तेना द्विभा युद्धनी अइथी बगती नथी. तेवी रीते ससारी एव पक्ष ससारना अनत दुःखोने लखवा छता तेना प्रथे अइथी न लावतां ज्ञानावरणीय कर्मोने करी करी बधारवानी तरक्ष ज तेनी सुभ्य प्रवृत्ति बनी रहे छे तेने जे वातनो ज्याव पक्ष नथी आवतो के, आ मनुष्यभवद्वारा ज ते अनत दुःखोने अत लावी शक्य छे जे कारखे आ भवद्वारा ज जे ते दुःख नष्ट करवामां नही आवे तो करी जेवो कयो भव छे के, आ दुःखोने अत लाववामां उपयोगी भाय ? आधी महापुरुषयना कर्मधी अप्राप्य जेवा भजेवा मनुष्यभवने सकृण जनाववा तरक्ष लक्ष देवु

मूलम्—कम्मसंगेहिं समूढा, दुःखिया बहुवेयणा ।

अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मति पाणिणो ॥ ६ ॥

छाया—कर्मसंगै समूढा, दुःखिता बहुवेदना ।

अमानुषीषु योनिषु, विनिहन्यन्ते प्राणिनः ॥ ६ ॥

टीका—'कम्मसंगेहिं' इत्यादि ।

कर्मसंगैः=ज्ञानावरणीयादि कर्मसयोगैः, समूढा—तत्त्वातस्वविवेकरहिता, दुःखिता=विविधदुःखजालजनकरोगशोकादिसमाक्रान्ता, बहुवेदना=मन्द तीव्र तीव्रतर-पीडायुक्ताः प्राणिनः, अमानुषीषु=एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियमनुष्यमिश्रपञ्चेन्द्रियरूपासु च, योनिषु कर्मभिः विनिहन्यन्ते=पुनः पुनस्त्यजन्ते । अतो मानुषत्व दुर्लभमिति भावः ॥ ६ ॥

को सफल बनाने की ओर लक्ष्य देना यही सब से प्रथम कर्तव्य है ॥ ६ ॥

“कम्मसंगेहिं” इत्यादि

अन्वयार्थ—(कम्मसंगेहिं—कर्मसंगैः) ज्ञानावरणीयादिक कर्मों के संयोग से (समूढा—समूढा) तत्त्वातस्व के विवेक से विकल बने हुए अतएव (दुःखिया—दुःखिता) विविधदुःखजनक ऐसे रोग, शोक आदि से समाक्रान्त एव (बहु वेयणा—बहु वेदना) मन्द, तीव्र, तीव्रतर पीडाओं से युक्त ये (पाणिणो—प्राणिनः) ससारी प्राणी (अमाणुसासु जोणीसु—अमानुषीषु योनिषु) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं मनुष्यमिश्र पञ्चेन्द्रिय इन योनियों में (विणिहम्मति—विनिहन्यन्ते) पुनः पुनः जन्ममरणजनित दुःख पाते हैं । इसलिये मनुष्यमव दुर्लभ है ।

ओष्ठो जने ते प्राणीभानु ओष्ठ मात्र सो प्रथम कर्तव्य छे ॥ ५ ॥

“कम्मसंगेहिं”—इत्यादि

अन्वयार्थ—कम्मसंगेहिं—कर्मसंगैः ज्ञानावरणीय अर्थात् धर्मोना स योऽधी समूढा—समूढा तत्त्वातस्वना विवेकधी, विकल जनेवा तेभ्यः दुःखिया—दुःखिता विविध दुःखजनक जेवा रोग, शोक आदिधी समाक्रान्त जने बहु वेयणा—बहु वेदना मन्द, तीव्र, तीव्रतर, पीडाओधी युक्त आ पाणिणो—प्राणिन ससारी प्राणी अमाणुसासु जोणीसु—अमानुषीषु योनिषु ओकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, जने मनुष्यमिश्र पांचेन्द्रिय आ योनीओमां विणिहम्मति—विनिहन्यन्ते कुरी कुरी जन्म मरण जनीत दुःख पाते छे ओठवा भाटे मनुष्यमव दुर्लभ कधी छे

कथं तर्हि मानुषत्व प्राप्नोतीत्याह—

मूलम्—कम्माण तु पहाणाए, आणुपुर्व्वि कंयाइ वि ।

जीवां सोहिमणुप्वंत्ता, अययति मणुस्सय ॥ ७ ॥

छाया—कर्मणा तु प्रहाण्या, आनुपूर्व्या कदाचिदपि ।

जीवा शोधिमनुमाप्ता, आददते मनुष्यताम् ॥ ७ ॥

टीका—‘ कम्माण ’ इत्यादि ।

तु=पुन. आनुपूर्व्या=अनुक्रमेण, कर्मणां=मनुष्यगतिविधातकानामनन्तानु-
बन्धिक्रोधादिरूपाणाम्, प्रहाण्या=क्षयेण-अपगमेन, जीवा=पागिन, आनुपूर्व्या
=अनुक्रमेण पृथिवीकायादिक्रमेणेत्यर्थः, शोधिम्=अशुभकर्मोपगमरूपां शुद्धिम्,

भावार्थ—प्राप्त मनुष्यभव यदि प्रमादी होकर यों ही गुमा दिया जाता है तो फिर इस जीव को कर्मों के प्रभाव से तत्त्वातत्त्वविवेक रहित बनकर अनेक अमानुषीय योनियों में अनेक प्रकार के कष्टों का साम्हना करते हुए उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिये मिले हुए इस मनुष्य-
भव को व्यर्थ मत जाने दो, नहीं तो पुन इसका मिलना दुर्लभ है ॥ ६ ॥

मनुष्यभव प्राप्त कैसे होता है यह घात सूत्रकार घतलाते हैं—

“ कम्माण ” इत्यादि

अन्वयार्थ—(आणुपुर्व्वी आनुपूर्व्या) अनुक्रम से (कम्माणं-कर्मणाम्)
मनुष्यगतिविधातक अनन्तानुषधी क्रोधादि कर्मोंकी पहाणाए-प्रहाण्या
प्रहाणि-क्षयसे (जीवा जीवा) जीव (आणुपुर्व्वी-आनुपूर्व्या) पृथिवी-

भावार्थ—प्राप्त मनुष्यभव जे प्रमादी भनी जेभने जेभज गुभावी देवाय ते
पछी आ एवने कर्मोना प्रभावधी तत्त्वातत्त्वविवेक रहित भनी अनेक अभा
नुषिय योनीज्जेभा अनेक प्रकारनां कष्टोने सामने करतां करतां उत्पन्न घता
रहे छे पछु मनुष्यभव पाभवे दुर्लभ रहे छे माटे भजेवा आ मनुष्यभवने
व्यर्थ ज्वा न देवे जे छे एवने करी करी मनुष्यभव भजवे दुर्लभ छे ॥६॥

मनुष्यभव देवी रीते प्राप्त थाय छे ते सूत्रकार अतावे छे—

‘ कम्माण ’ इत्यादि

अन्वयार्थ—आणुपुर्व्वी-आनुपूर्व्या अनुक्रमधी कम्माण-कर्मणाम् मनुष्यगती
विधातक अनन्तानुषधी क्रोधादि कर्मोना पहाणाए-प्रहाण्याक्षयधी जीवा-जीवा एव
आणुपुर्व्वी-आनुपूर्व्यापृथिवीकायादिक्रमेणेत्यर्थः कर्मधी सोहि-शोधिम् अशुभ कर्मोना अपग

मूलम्—कम्मसंगेहिं समूढा, दुःखितया बहुवेयणा ।

अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मति पाणिणो ॥ ६ ॥

छाया—कर्मसंगै समूढा, दुःखिता बहुवेदना ।

अमानुषीषु योनिषु, विनिहन्यन्ते प्राणिनः ॥ ६ ॥

टीका—‘कम्मसंगेहिं’ इत्यादि ।

कर्मसंगै=ज्ञानावरणीयादि कर्मसयोगैः, समूढा=तत्त्वातस्वविवेकरहिता, दुःखिता=विविधदुःखजालजनरुगशोकादिसमाक्रान्ता, बहुवेदना=मन्द तीव्र-तीव्रतर-पीढायुक्ताः प्राणिन, अमानुषीषु=एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियमनुष्यमिश्रपञ्चेन्द्रियरूपासु च, योनिषु कर्मभिः विनिहन्यन्ते=पुनः पुनस्त्यघन्ते । अतो मानुषत्व दुर्लभमिति भावः ॥ ६ ॥

को सफल बनाने की ओर लक्ष्य देना यही सब से प्रथम कर्तव्य है ॥ ५ ॥

“कम्मसंगेहिं” इत्यादि

अन्वयार्थ—(कम्मसंगेहिं—कर्मसंगैः) ज्ञानावरणीयादिक कर्मों के संयोग से (समूढा—समूढा) तत्त्वातस्व के विवेक से विकल बने हुए अतएव (दुःखितया—दुःखिताः) विविधदुःखजनक ऐसे रोग, शोक आदि से समाक्रान्त एव (बहु वेयणा—बहु वेदनाः) मन्द, तीव्र, तीव्रतर पीडाओं से युक्त ये (पाणिणो—प्राणिनः) ससारी प्राणी (अमाणुसासु जोणीसु—अमानुषीषु योनिषु) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं मनुष्य मिश्र पञ्चेन्द्रिय इन योनियों में (विणिहम्मति—विनिहन्यन्ते) पुनः पुन जन्ममरणजनित दुःख पाते हैं । इसलिये मनुष्यमव दुर्लभ है ।

जोड़ते जाने ते प्राणीमात्रनु जोड़ मात्र सो प्रथम कर्तव्य छे ॥ ५ ॥

“कम्मसंगेहिं”—इत्यादि

अन्वयार्थ—कम्मसंगेहिं—कर्मसंगैः ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंना स योज्यो समूढा—समूढा तत्त्वातस्वना विवेकधी, विकल जानेवा तेमए दुःखितया—दुःखिता विविध दुःखजनक जेवा रोग, शोक आदिधी समाक्रान्त अने बहु वेयणा—बहु वेदना मड, तीव्र, तीव्रतर, पीडाओधी युक्त आ पाणिणो—प्राणिन ससारी प्राणी अमाणुसासु जोणीसु—अमानुषीषु योनिषु एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अने मनुष्य मिश्र पांय इन्द्रिय आ योनीओभां विणिहम्मति—विनिहन्यन्ते हरी हरी जन्म मरण जनीत दुःख पाते छे ओटवा भाटे मनुष्यमव दुर्लभ कसो छे

कस्यचिद् विशिष्टपुण्यस्योदयेन मानुषत्वलाभेऽपि श्रुतिदुर्लभेत्याह—
मूलम्—माणुस्स विग्गह लद्धु, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।

जं सोच्चा पडिव्वज्जति, तं व खतिमहिंसय ॥८॥

छाया—मानुष्य विग्रह लब्धा, श्रुतिधर्मस्य दुर्लभा ।

य श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिम् अहिंसताम् ॥ ८ ॥

टीका—'माणुस्स' इत्यादि ।

मानुष्य=मानुष्यभवसम्बन्धिन, विग्रह=शरीर, लब्धा=प्राप्य, धर्मस्य=श्रुतचारित्रलक्षणस्य, श्रुतिः=ध्रमण, दुर्लभा, य धर्मं श्रुत्वा, तपः=अनश्ननादि द्वादशविधम्, इन्द्रियजय वा, क्षान्तिः=क्रोधजयरूपा, उपलक्षणमेतन्मानादिजयस्यापि, अहिंसताम्=अहिंसकत्वम्, अनेन प्रथमव्रतमुक्तम्, इदमप्युपलक्षणम्—मृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहविरमणस्य, प्रतिपद्यन्ते=प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । धर्मस्य श्रवणं हि मिथ्यात्वविमिरप्रणाशकं, श्रद्धाज्योतिःप्रकाशकं, तच्चातत्त्वविवेचकं, पीयूषपानमिव

कहते हैं—“माणुस्स” इत्यादि ।

अन्वयार्थ—(माणुस्स विग्गह लद्धु मानुष्यक विग्रह लब्धा) मनुष्यभव संयधी शरीर को पाकर भी (धम्मस्स सुई दुल्लहा—धर्मस्य श्रुतिः दुर्लभा) श्रुतचारित्ररूप धर्मका श्रवण दुर्लभ है । (जं सोच्चा—यं श्रुत्वा) जिस धर्म को सुनकर प्राणी (तं व खतिमहिंसय—तप क्षान्तिम् अहिंसताम्) अनश्नान आदि चारह १२ प्रकार के तप को, अथवा इन्द्रियनिग्रह को, क्रोध जयरूप क्षान्ति को, उपलक्षण से मान आदि कषाय के विजय को, तथा अहिंसक भाव को, उपलक्षण से मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन एव परिग्रह से विरमणरूप व्रत को (पडिव्वज्जति—प्रतिपद्यन्ते) प्राप्त करते हैं । धर्म का श्रवण जीव के मिथ्यात्वरूप तिमिर का विनाशक, श्रद्धारूप ज्योति का प्रकाशक, तस्य अतत्त्व का विवेचक, अमृतपान के समान

'माणुस्स' इत्यादि

अन्वयार्थ—माणुस्स विनाह लद्धु—मानुष्यक विग्रह लब्धा मनुष्यभव संयधी शरीरने भेजवीने पक्ष धम्मस्स सुई दुल्लहा—धर्मस्य श्रुति दुर्लभा श्रुत चारित्ररूप धर्मनुं भवषु दुर्लभा छे ज सोच्चा—यं श्रुत्वा जे धर्मने सांभणीने प्राप्णी एव खतिमहिंसय—तप क्षान्तिम् अहिंसताम् अनश्ननादि चार १२ प्रकारना तपने अथवा इन्द्रियनिग्रहने, क्रोधजयरूप, क्षान्तिने उपलक्षणधी मान आदि कषायना विजयने तथा अहिंसक भावने उपलक्षणधी मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन अने परिग्रहधी वीरभक्षु रूप व्रतने पडिव्वज्जति—प्रतिपद्यन्ते प्राप्त करे छे धर्मनुं भवषु एवने मिथ्यात्वरूपी अंधकारने नाश करनार, श्रद्धारूप ज्योतिने प्रका

अनुमाप्ता सन्त, कदाचिदेव, न तु सर्वदा, अत्र तु-शब्द एवार्थकः । मनुष्यताम्
आददते-वृद्धन्ति-प्राप्नुवन्तीत्यर्थ । अयं भावः-प्रकृतिभद्रतया, प्रकृतिविनीततया,
सानुक्रोशतया (सद्यतया) अमत्सरितया मनुष्येषु प्राणिन उत्पद्यन्ते । अपि च-
विशिष्टशुद्धिहेतुमिस्तन्नरूपायत्यादिभिर्मनुष्यायुर्थन्धो भवति । उक्तम्—

पयईए तणुकसाओ, दाणरओ सीलसजमविहूणो ।

मज्झमगुणेहिं जुत्तो मणुयाउं वधए जीवो ॥ २ ॥

छाया-प्रकृत्या तनुकषायो, दानरतः शीलसयमविहीनः ।

मध्यमगुणैर्युक्तो मनुजायुर्वध्नाति जीवः ॥ १ ॥ इति ॥ ७ ॥

कायादिक के क्रमसे (सोहिं-शोधिम) अशुभ कर्मों के अपगमरूप
शुद्धि को प्राप्त होते हुए (कयाइ वि-कदाचिदपि) कभी कभी ही-
सर्वदा नहीं, (मणुस्मय आययति-मनुष्यता आददते) मनुष्यत्व
को प्राप्त करते हैं । प्राणी स्वाभाविक भद्रपरिणामी हो, स्वाभाविक
विनीत हो, दयालु हो, मत्सरभाव से रहित हो तो वह मरकर
मनुष्यपर्याय को प्राप्त करता है । विशिष्ट शुद्धि का कारण जो कषायों
की मंदता है उससे भी मनुष्यायुक्तता यद्यपि प्राणी को होता है । उक्तम्—

पयईए तणुकसाओ दाणरओ सीलसजमविहूणो ।

मज्झमगुणेहिं जुत्तो मणुयाउं वधए जीवो ॥ १ ॥

छाया-प्रकृत्या तनुकषायो दानरतः शीलसयमविहीनः ।

मध्यमगुणैर्युक्तो मनुजायुर्वध्नाति जीवः ॥ १ ॥ ७ ॥

विशिष्ट पुण्य के उदय से किसी जीव को मनुष्यत्व की प्राप्ति हो
भी जाय तो भी धर्म का सुनना दुर्लभ है इस बात को सूत्रकार

भद्रप शुद्धिने प्राप्त करीने कयाइ वि-कदाचिदपि कौंठ कौंठ वधए मणुस्मय-मनुष्यता-
मनुष्यत्वने आययति-आवृत्ते प्राप्त करे छे प्राणी स्वाभाविक भद्र परिणामी होय,
स्वाभाविक विनीत होय, दयालु होय, मत्सरभावशी रहित होय तो ते मरीने
मनुष्यपर्यायने प्राप्त करे छे विशिष्ट शुद्धिनु करण ने कषायोनी मंदता
छे तेनाभी पणु मनुष्य आयुने यद्यपि प्राणीना भाव छे कहुं पणु छे—

पयईए तणुकसाओ दाणरओ सीलसजमविहूणो ।

मज्झम गुणेहिं जुत्तो मणुयाउं वधए जीवो ॥ १ ॥

छाया-प्रकृत्या तनुकषायो दानरतः शीलसयमविहीनः ।

मध्यमगुणैर्युक्तो मनुजायुर्वध्नाति जीवः ॥ १ ॥ ७ ॥

विशिष्ट कर्मना उदयशी कौंठ कौंठ वधने मनुष्यत्वने प्राप्ति कहुं पणु अथ
तो पणु धर्मने सांभरणे दुर्लभ छे आ वातने सूत्रकार

ટીકા—‘ આહચ્ચ ’ ઇત્યાદિ ।

કદાચિત્ શ્રવણ=ધર્મશ્રવણ લઘ્વાઽપિ શ્રદ્ધા=ધર્મવિપયિકા રુચિઃ, પરમદુર્લ-
ભાઽસ્તિ । શ્રદ્ધા ઠિ સસારસાગરતરણતરણિ, મિથ્યાત્વતિમિરહરણદ્યુમણિઃ, સ્વર્ગાપ-
વર્ગામુલ્કચિન્તામણિ, ક્ષપકશ્રેણિસરણિ, ધર્મરિપુદમની, કેવલજ્ઞાનકેવલદર્શનજ-
નની । શ્રદ્ધાયા પરમદુર્લભત્વે દેતુમાહ—‘ ઘહવે ’ ઇત્યાદિ ।

વહ્વો મનુષ્યા નૈયાયિકા—ન્યાયે પञ्चસમવાયકારણે મવં નૈયાયિકં પञ્ચસમ-

ધર્મશ્રવણ કી પ્રાપ્તિ કે ઘાદ સૂત્રકાર અય શ્રદ્ધા કી દુર્લભતા વિલ્-
લાતે હૈ—‘ આહચ્ચ ’—ઇત્યાદિ ।

અન્વયાર્થ—(આહચ્ચ-આહત્ય) કદાચિત્ (સવળ લઘુ-શ્રવણ
લઘ્વા) ધર્મકા શ્રવણ મી પ્રાપ્ત હો જાય તો મી (સદ્ધા પરમદુર્લભા-
-શ્રદ્ધા પરમદુર્લભા) ધર્મ મેં શ્રદ્ધા-રુચિ-હોના પરમ દુર્લભ હૈ । યહ
શ્રદ્ધા સસારરૂપી સાગર સે પાર કરાને કે લિયે નૌકા જૈસી હૈ, મિથ્યા-
ત્વરૂપી તિમિર કો દૂર કરને કે લિયે દ્યુમણિ-સૂર્ય જૈસી હૈ । સ્વર્ગ
અવ મોક્ષ કે સુલ્લો કો દેને કે લિયે ચિન્તામણિરત્ન જૈસી હૈ । ક્ષપક
શ્રેણી પર આરૂઢ હોને કે લિયે નિસરણી જૈસી હૈ । ધર્મરૂપી શત્રુ કો
પરાસ્ત કરને વાલી હૈ, ંવ કેવલ જ્ઞાન કેવલ દર્શન કો ઉત્પન્ન કરને કે
લિયે જનની જૈસી હૈ । યહ શ્રદ્ધા પરમ દુર્લભકર્યો હૈ ? યહ ઘાત સ્વય સૂત્રકાર
કહતે હૈ (યહવે-યહવઃ) સંસારમેં ંસે મી કિતનેક મનુષ્ય હૈ જો

ધર્મ શ્રવણની પ્રાપ્તિ બાદ સૂત્રકાર હવે શ્રદ્ધાની દુર્લભતા સમબાવે છે -
‘ આહચ્ચ ’ ઇત્યાદિ.

અન્વયાર્થ—આહચ્ચ-આહત્ય કદાચિત્ સવળ લઘુ-શ્રવણ લઘ્વા ધર્મનુ
શ્રવણ પ્રાપ્ત થઈ બાય તો પણ સદ્ધા પરમદુર્લભા-શ્રદ્ધા પરમદુર્લભા ધર્મમા શ્રદ્ધા
રૂચી થવી એ પરમ દુર્લભ વાત છે આ શ્રદ્ધા સસારરૂપી સાગરથી પાર ઉતા
રનાર નૌકાનું કામ કરે છે મિથ્યાત્વ રૂપી ઘોર અધકારને દૂર કરી માણસના
હૃદયમા સૂચ તેજનાં કિરણો જેવો પ્રકાશ પહોંચાડે છે સ્વર્ગ અને મોક્ષના
મુખોને આપવા માટે ચિન્તામણીરત્ન જેવી છે ક્ષપકશ્રેણી ઉપર આરૂઢ થવા
માટે એ નિસરણી જેવી છે ધર્મરૂપી શત્રુનો નાશ કરવા માટે એ અતુલ
બળવાળી છે અને કેવળજ્ઞાનદર્શનને ઉત્પન્ન કરવા માટે એ જનની જેવી છે
આ શ્રદ્ધા પરમ દુર્લભ કેમ છે ? આ વાત સ્વય સૂત્રકાર બતાવે છે તેઓ
કહે છે કે, યહવે-યહવઃ સસારમાં એવા પણ કેટલાક મનુષ્યો છે જે નૈયાયિક

હિતાવહ, ચક્રચન્દ્રચન્દ્રિકેવ હૃદયાહારક, સ્વપ્નદૃષ્ટવસ્તુનઃ પુનર્જાગ્રદવસ્વાર્ષા તક્ષા
મવત્ પ્રમોદજનકં, ભૂમિગતનિધાનપ્રાપ્તિરિવ સુલ્બજનક, સકલસતાપહારકમ્ ।
તસ્માદ્ ધર્મ શ્રોતવ્ય ઈતિ માત્ર ॥ ૮ ॥

શ્રુતિલામેઽપિ શ્રદ્ધા દુર્લભેત્યાદ—

મૂલ્મ—આહૃચ્ચ સર્વેણ લદ્ધુ, સદ્ધા પરમદુલ્લહા ।

સોચ્ચા નૈયાંતય મર્ગ, વંહવે પરિભેસ્સઈ ॥ ૯ ॥

છાયા—ઋદાચિત્ શ્રવણ લબ્ધ્વા, શ્રદ્ધા પરમદુર્લભા ।

શ્રુત્વા નૈયાયિક માર્ગ, વહન. પરિભ્રમ્યન્તિ ॥ ૯ ॥

પ્રકાન્તત હિતવિધાયક, નિર્મલ ચાંદની કે સમાન હૃદય કો આનંદ
ઉત્પન્ન કરને ઘાલા, સ્વપ્ન મેં દૃષ્ટ પદાર્થ કી જાગૃત અવસ્થા મેં પ્રાપ્તિ
હોને કી તરહ પ્રમોદજનક, ભૂમિ મેં ગહે હુએ નિધાન કી પ્રાપ્તિ કે સમાન
સુલ્બજનક એ સમસ્ત સતાપ કા અપહારક હોતા હૈ, ઈસલિયે ધર્મ
અવશ્ય શ્રવણ કરને યોગ્ય હૈ ।

માવાર્થ—મનુષ્યમથ પાકર મી જીવ કો શ્રુતચારિત્રરૂપ ધર્મ કા
શ્રવણ યદે ભાગ્ય સે મિલતા હૈ । ધન્ય વે પુરુષ હૈ જો ઈસ પ્રકાર સે
અપને જીવન કો સફલ કરતે હૈ, ક્યોં કિ ધર્મ કે શ્રવણ સે હી યહ
જીવ કો માલૂમ હોતા હૈ કિ હમારા ક્યા કર્તવ્ય હૈ ક્યા અકર્તવ્ય હૈ ?
હિંસાદિક પાપ અકર્તવ્ય હૈ, તથા પ્રણાતિપાતાદિ વિરમણરૂપકર્તવ્ય હૈ ।
તપ પાલો યોગ્ય હૈ એ કષાયાદિક પરિત્યાગ કરને યોગ્ય હૈ ॥ ૮ ॥

ચક્ર, વત્વ આત્મવને વિવેચક અમૃત પાન સમાન, ક્ષેત્રાન્તતઃ હિત વિધાયક,
નિર્મળ ચાંદની સમાન હૃદયને ઉત્પન્ન કરવાવાળા, સ્વપ્નમાં દૃષ્ટ પદાર્થની અમૃત
અવસ્થામાં પ્રાપ્તિ થવાની માફક, પ્રમોદ જનક ભૂમિમાં ઘટાયેલા ધનની પ્રાપ્તિ
સમાન, સુખ જનક અને સમસ્ત સતાપનો અપહારક બને છે માટે ધર્મ
અવશ્ય શ્રવણ કરવા યોગ્ય છે

માવાર્થ—મનુષ્યમથ મેળવીને પણ જીવને શ્રુતચારિત્રરૂપ ધર્મનું શ્રવણ ભાગ્યના
ઉદયથી જ મળે છે એ પુરુષને ધન્ય છે કે જે આ પ્રકારથી યોગ્યતા જીવને
સફળ બનાવે છે કેમકે ધર્મનું શ્રવણ કરવાથી જ આ જીવને અબર પડે છે
કે મારૂ કર્તવ્ય શુ છે અને અકર્તવ્ય શુ ? છે હિંસાદિક પાપ એ અકર્તવ્ય
છે, અને બેનાથી પ્રાણાતિપાતાદિ વિરમણરૂપ કર્તવ્ય છે તપ પાળવા યોગ્ય
છે, અને કષાયાદિક પરિત્યાગ કરવા યોગ્ય છે ॥ ૮ ॥

यस्य स, सयतादिज्ञाने सदिग्धमुद्दि । ३ । अश्वमित्रचतुर्थ, सामुच्छेदिक, उत्पादानन्तरमेव वस्तुन समुच्छेद् - विनाशो भवतीति प्ररूपयति । ४ । गङ्गाचार्य पञ्चमो द्वैक्रिय - स एरुस्मिन् समये क्रियाद्वयानुभवो भवतीति प्ररूपयति । ५ । पङ्कजः पृष्ठमैराशिक, स जीरा-जीर-नोजीव-मेदात् त्रयो राशय सन्तीति प्ररूपयति । ६ । गोष्ठ माहिल स्थविर सप्तमोऽवदिक स च जीवेन स्पृष्ट कर्म अयद् प्ररूपयति । ७ ।

तत्र जमालेश्वरान्त प्रोच्यते—

क्षत्रियकुण्डपुरे भगवतः श्रीवीरवर्धमानस्वामिनो भगिन्याः सुदर्शनायाः पुत्रः क्षत्रिय

ऐसी मान्यता है कि सयत आदि का ज्ञान सदा सदिग्ध रहता है, कौन सयत है कौन नहीं इसका यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है, इस प्रकार ये अन्यक्तवादी हैं ३ । चतुर्थ निहव-अश्वमित्र हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि उत्पाद के अनन्तर ही वस्तु विनष्ट हो जाती है ४ । पंचम निहव गंगाचार्य हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव होता है ५ । छठवा निहव पङ्कज हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि जीव अजीव एवं नोजीव, इस प्रकार तीन राशि हैं ६ । गोष्ठ माहिल स्थविर सातवा निहव हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि जीव के स्पृष्ट कर्म सदा उससे अयद् रहता है ७ ।

जमालि का वृत्तान्त इस प्रकार है—जमालि भगवान् वर्धमान स्वामी की यहिन सुदर्शना के पुत्र थे । ये क्षत्रियकुण्डपुर का निवासी क्षत्रिय थे । भगवान् वीर प्रभु की पुत्री जो प्रियदर्शना थी उसका

स्वपुत्र थे (२) तृतीय निहव आपाद होता ऐमनी ऐवी मान्यता होती है, सयत आदिनु ज्ञान सदा सदिग्ध रहे थे कौन सयत थे ? कौन सयत नहीं ? ऐना यथार्थ निश्चय यह शकतो नहीं. आ प्रकारथी तेजो अव्यक्तवादी होता. (३) चतुर्थ निहव अश्वमित्र होता ऐमनी ऐवी मान्यता होती है, उत्पादना अनंतरव वस्तुने नाश यह नथ थे (४) पंचम निहव गंगाचार्य होता, ऐमनी ऐवी मा यता होती है, ऐक समयमा वे क्रियाऐने अनुभव थाय थे (५) छठा निहव पङ्कज होता ऐमनी ऐवी पञ्च मान्यता होती है, एव, अएव अने ने एव आ रीते त्रय प्रकारनी रागी थे (६) सातवा निहव गोष्ठमाहिलस्थविर होता ऐमनी ऐवी पञ्च मान्यता होती है, स्पृष्ट कर्म उमेशां तेनाथी अव्यक्त रहे थे

जमालिनु वृत्तान्त आ प्रकारे थे—जमालि भगवान् वर्धमान स्वामीनी अहेन सुदर्शनाया पुत्र होता तेजो क्षत्रिय होता अने क्षत्रियकुण्डपुरना निवासी होता भगवान् वीरप्रभुनी पुत्री के प्रियदर्शना होती, तेना तेजो

वायकारणवादरूप जैनदर्शन, यद्वा-न्याययुक्त मार्गं सम्यग्दर्शनादिरूपं मार्गं-
मोक्षमार्गं श्रुत्वा परिभ्रश्यन्ति-मोक्षमार्गात् प्रच्युता भवन्ति ।

अत्र दृष्टान्ता-जमालिप्रभृतयो निह्वाः ।

अथ के ते जमालिप्रभृतयः ? इत्युच्यते-जमालिप्रभृतयः सप्त प्रवचननिह्वाः-
मिथ्यात्वाभिनिवेशाज्जिनोक्ततत्त्वापलापकास्त्यक्तसम्यग्दर्शना अभूवन् । तत्र ज-
मालिः प्रथमा, स बहुरत -बहुषु समयेषु रतः=सक्तः, प्रभृतसमयैः कार्योत्पत्तिर्भ-
वति, नत्वेकेन समयेनेति प्ररूपयति ॥ १ ॥ त्रिप्यगुप्तो द्वितीय-स जीवप्रदेशिकः
-जीवः प्रदेश एव यस्य स जीवप्रदेशः, स एव जीवप्रदेशिकः, चरप्रदेश एव जीव
इति प्ररूपयति ॥२॥ तृतीय आपादः-स तु अव्यक्तिकाः, अव्यक्तम्-अस्फुटवस्तु

(नेयाउय मगं-नैयायिक मार्ग) पचसमवायकारणवादरूप जैनदर्शन
को, अथवा सम्यग्दर्शनादिरूप न्याययुक्त मार्ग-मोक्षमार्ग को (सोष्वा-
श्रुत्वा) सुनकर भी उसमें अज्ञानही होने से (परिमस्सइ-परिभ्रश्यन्ति)
उस मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं इसलिये अज्ञान को दुर्लभ मतलाई है ।

इस विषय में दृष्टान्तस्वरूप जमालि निह्व आदि समझना चाहिये ।
जमालि आदि कौन हैं ? इस विषय को यहाँ प्रदर्शित किया जाता है ।
ये जमालि आदि सात व्यक्ति निह्व-प्रवचन को छिपाने वाले हुए हैं-
मिथ्यात्व के अभिनिवेश से जिनोक्त तत्त्व के अपलापक-सम्यग्दर्शन
से रहित हुए हैं । इनमें सर्वप्रथम जमालि हुए हैं, इनकी मान्यता यह
है कि अनेकसमयों से द्रव्य की उत्पत्ति होती है, एक समय से नहीं ।
द्वितीय निह्व त्रिप्यगुप्त हुए हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि जीवका एक
अन्तिम प्रदेश ही जीवस्वरूप है । तृतीय निह्व आपाद हुए हैं, इनकी

ममा-नैयायिक मार्ग पाय समवायकारणवादरूप जैनदर्शनने अथवा सम्यग्
दर्शनादिरूप न्याययुक्त मार्ग-मोक्ष मार्गने सौंके सोष्वा-श्रुत्वा सविधाने पक्ष
जेनाभा अज्ञान होवाधी परिमस्सइ-परिभ्रश्यन्ति के मोक्षमार्गभी भ्रष्ट कई
व्यय छे आ भाटे अज्ञाने दुर्लभ अतावेव छे

आ विषयमा दृष्टान्तस्वरूप जमालि निह्व आदि समझना चाहिये ।
जमालि आदि कौन हैं ? इस विषय को यहाँ प्रदर्शित किया जाता है ।
ये जमालि आदि सात व्यक्ति निह्व-प्रवचननिह्व छिपाववावाण्य अता मिथ्यात्वना
अभिनिवेशधी अनोक्त तत्त्वना अपलापक-सम्यग्दर्शनधी रहित अता-
जेमां सर्व प्रथम जमालि अता जेमनी मान्यता के अती के अनेक समयेधी
द्रव्यनी उत्पत्ति थाय छे जेक समयधी नहीं । (१) द्वितीय निह्व त्रिप्यगुप्त
अता, जेमनी जेनी मान्यता अती के, अवनो जेक अन्तिम प्रदेश

स्य सः, सयतादिज्ञाने सदिग्धबुद्धिः । ३ । अश्वमित्रश्चतुर्थः, सामुच्छेदिकः, स उत्पादानन्तरमेव वस्तुन समुच्छेद - विनाशो भवतीति प्ररूपयति । ४ । गङ्गाचार्य पञ्चमो द्वैक्रिय - स एकस्मिन् समये क्रियाद्वयानुभवो भवतीति प्ररूपयति । ५ । पडुलूक' पृष्ठमैराशिकः, स जीवा-जीव-नोजीव-भेदात् प्रयो राशय सन्तीति प्ररूपयति । ६ । गोष्ठ.माहिल स्थविर सप्तमोज्ज्वदिक स च जीवेन स्पृष्ट कर्म अयद् प्ररूपयति । ७ ।

नत्र जमालेष्ट्वान्त. प्रोच्यते—

क्षत्रियकुण्डपुरे भगवत. श्रीवीरवर्धमानस्वामिनो भगिन्या सुदर्शनाया पुत्र' क्षत्रिया

ऐसी मान्यता है कि सयत आदि का ज्ञान सदा सदिग्ध रहता है, कौन सयत है कौन नहीं इसका यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है, इस प्रकार ये अव्यक्तवादी हैं ३ । चतुर्थ निहव-अश्वमित्र हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि उत्पाद के अनन्तर ही वस्तु विनष्ट हो जाती है ४ । पंचम निहव गंगाचार्य हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव होता है ५ । छठवा निहव पडुलूक हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि जीव अजीव एव नोजीव, इस प्रकार तीन राशि हैं ६ । गोष्ठ माहिल स्थविर सातवा निहव हैं, इनकी ऐसी मान्यता है कि जीव के स्पृष्ट कर्म सदा उससे अयद् रहता है ७ ।

जमालि का घृष्टान्त इस प्रकार है—जमालि भगवान् वर्धमान स्वामि की वहिन सुदर्शना के पुत्र थे । ये क्षत्रियकुण्डपुर का निवासी क्षत्रिय थे । भगवान् वीर प्रभु की पुत्री जो प्रियदर्शना थी उसका

स्वरूप छे (२) तृतीय निहव आयाद हता जेमनी जेवी मान्यता हती के, सयत आदिनु ज्ञान सदा सदिग्ध रहे छे केवल सयत छे ? केवल सयत नहीं ? जेने यथाथ' निश्चय यथ शकतो नहीं आ प्रकारथी तेजो अव्यक्तवादी हता. (३) चतुर्थ' निहव अश्वमित्र हता जेमनी जेवी मान्यता हती के, उत्पादना अनंतरव वस्तुने नाश यथ ब्य छे (४) पंचम निहव गंगाचार्य' हता, जेमनी जेवी भा यता हती के, जेक समयमां जे क्रियाजेने अनुभव याय छे (५) छठा निहव पडुलूक हता जेमनी जेवी पञ्च मान्यता हती के, एव, अएव अने नो एव आ रीते त्रय प्रकारनी राशी छे (६) सातवा निहव गोष्ठमाहिलस्थविर हता जेमनी जेवी पञ्च मान्यता हती के, स्पृष्ट कर्म' ह भेशां तेनाथी अयद् रहे छे

जमालिनु घृष्टान्त आ प्रकारे छे—जमालि भगवान वर्धमान स्वामीनी अहेन सुदर्शाना पुत्र हता तेजो क्षत्रिय हता अने क्षत्रियकुण्डपुरना निवासी हता भगवान वीरप्रभुनी पुत्री जे प्रियदर्शना हती, तेना तेजो



जमालिरासीत् । श्रीवीरवर्धमानस्वामिनः पुत्री प्रियदर्शना जमालः भार्याऽभवत् । एकदा कदाचित् भगवान् श्रोत्रोत्सर्धमानस्वामो तत्र क्षत्रियकुण्डपुरे समञ्जतः । जमालिर्भार्याया सह त वन्दितु समागतः । भगवद्देशनया जातवैराग्योऽसौ जमालिर्गृहमागच्छत् । पित्रोरनुज्ञां गृहीत्वा पञ्चशतक्षत्रियकुमारैः सह प्रग्रज्या गृहीतवान् । अयं भगवतः श्रोमहावीरस्य केवलज्ञानप्राप्त्यनन्तरं चतुर्दश वर्षे प्रव्रजितः । तदा तस्य भार्या प्रियदर्शनाऽपि भगवत् श्रीवीरवर्धमानस्वामिनः समीपं स्त्रीसद्वेषेण सह प्रव्रजिता । ततः पञ्चशतसख्यकान् साधून् जमालिमुनयः, तस्यै प्रियदर्शनासाध्व्यै च साध्वी-सहस्रं शिष्यतया भगवान् प्रददौ । अयं जमालिमुनिः श्रीवर्धमानस्वामिना सह विहरन् दुश्चरं तपस्तेपे, एकादशाङ्गानि चाधीतवान् ।

ये पति ये । एक दिन की यात है कि वीर श्रीवर्धमान स्वामी क्षत्रिय-कुण्डपुर में पधारे । जमालि अपनी पत्नी प्रियदर्शना के साथ उनको घटना करने के लिये आये । भगवान् ने इनको धर्मदेशना दी । दिव्य धर्मदेशना का पान कर जमालि को वैराग्य जागृत हो गया । घर पर आकर इन्होंने अपने माता पिता से आज्ञा लेकर पाचसौ क्षत्रिय-कुमारों के साथ वीक्षा अगीकार करली । उस समय भगवान् को केवल ज्ञान प्राप्त हुए को चौदह वर्ष व्यतीत हो चुके थे । पति को वीक्षित देखकर प्रियदर्शना ने भी एक हजार स्त्रियों के साथ वीक्षा अगीकार करली । प्रभु ने पांचसौ मुनियों को जमालिमुनि की नेस राय में करदिये, एवं एक हजार साध्वियों को प्रियदर्शना साध्वी की नेसराय में कर दी । पाचसौ जमालि के शिष्य और एक हजार साध्विया प्रियदर्शना की शिष्याएँ हुईं । जमालिमुनि ने श्री वर्धमान

पति होता ओक समयनी वात छे के, श्री वीर वर्धमानस्वामी वीक्षा वीधा पछी क्षत्रियकुण्डपुरमा पधायीं । जमालि पोतानी पत्नी प्रियदर्शनानी साथे तेमने वटना करवा भाटे आया भगवाने तेमने धर्मदेशना आयी । दिव्य धर्म देशनानु पान करवा जमालिने वैराग्य जागृत कये । घर आवी पोतानां मातापितानी आज्ञा लई तेमजे पाचसौ क्षत्रिय कुमारे सद्धित वीक्षा अजिकार करी । आ समये भगवाने केवलज्ञान प्राप्त कया ने चौद वष विती कयां हवां । पतिने वीक्षित कयेला ओछ प्रियदर्शनाजे पसु ओक हज्जर स्त्रीजे सद्धित वीक्षा अजीकार करी । प्रभुजे पाचसौ मुनिजोने जमालि मुनिनी नेसरायमां करी वीधा अने ओक हज्जर साध्वीजोने प्रियदर्शना साध्वीनी नेसरायमां करी वीधी । जमालिना पाचसौ शिष्य कया अने ओक हज्जर साध्वीजो प्रिय दर्शनानी शिष्या कई जमालि मुनिजे श्री वर्धमान स्वामीनी

अयान्यदा जमालिमुनिर्भगवत् श्रीवीरवर्धमानस्वामिन वन्दित्वा नमस्कृत्य कृताञ्जलिः सन् पप्रच्छ—भगवन् ! भवदाज्ञयाऽन्यत्र विद्वर्तुमिच्छामि ? तदा भगवता पृथग्विहारे जमाछेर्लाभादर्शनात् मौनमवलम्बितम् । जमालिस्तु अप्रतिपिद्धमनुमत भवतीति मत्वा भगवन्त वन्दित्वा नमस्कृत्य पञ्चशतशिष्यैः सह तदन्तिकत् प्रतिनिष्क्रामति ।

अथाऽसौ पञ्चशतैरनगारैः सह ग्रामानुग्राम विहरन् श्रावस्तीनगर्यां कोष्ठकनामक उद्याने समागतः । तत्र यथाप्रतिरूपमवग्रहं गृहीत्वा सयमेन तपसाऽऽत्मानमावपन् विहरति ।

स्वामी के साथ विहार करते २ खूय तो तपश्चर्या की और ग्यारह अर्गों का अध्ययन भी कर लिया ।

किसी समय जमालि मुनि ने भगवान श्री वर्धमानस्वामी को दोनों हाथ जोड़कर वन्दना एवं नमस्कार कर के पूछा कि हे भगवान् ! आपकी आज्ञा से मैं दूसरी जगह विहार करना चाहता हू । जमालि की बात सुनकर भगवान् ने इस अभिप्राय से कि इनका पृथग् विहार लाभकारी नहीं है, उनको कुछ भी उत्तर नहीं दिया किन्तु मौन रहे । भगवान् ने जय जमालि से कुछ भी नहीं कहा तो उन्होंने ने यह समझकर कि “अप्रतिपिद्ध अनुमतम्” अप्रतिपिद्ध अनुमत होता है, वहाँ से प्रभु को वन्दना नमस्कार करके अपने पाचसौ शिष्यों को साथ लेकर विहार कर दिया ।

पांचसो शिष्यो के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे श्रावस्ती

साथे विहार करतां करतां भूष तपश्चर्या करी अने अञ्जार अगोने अञ्ज्यास पञ्च करी दीधे।

ठाई अेठ समये जमालिमुनिअे भगवान श्री वर्धमान स्वामीने जे हाथ अेडीने वदना नमस्कार करीने पूछ्युं के, हे भगवत ! आपनी आज्ञाथी हुं थील जम्माअे विहार करवा छिष्ठु छु जमालिनी आ वात साभगीने भगवान अेमनो बुद्धो विहार लाभकारी नथी अेवा अ्भिप्रायथी मौन रथा अने उत्तर न आथे। भगवाने अ्यारे जमालिने ठाई कहु नही त्यारे तेभअे अेम समलु दीधुं के, “अप्रतिपिद्ध अनुमत भवति” मौन अे अनुमती छे, अेम समलने त्याथी प्रभुने वदना नमस्कार करीने पोताना पाचसो शिष्ये साथे प्रभुथी अलग विहार करी दीधे।

पाचसे शिष्योनी साथे ग्रामानुग्राम विहार करतां करतां तेअे श्रावस्ती

तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचित् पूर्वानुपूर्व्याकृतं यावत् सुखमुखेन विहरन् यत्रैव चम्पानगरी यत्रैव पूर्णभद्रनामकमुद्यानं तत्रैवापागतः, उपागत्य यथाप्रतिरूपमवग्रहं गृहीत्वा समयमेतत्पसाऽऽत्मानं भावयन् विहरति।

तत खलु तस्य जमाछेरनगरस्य शरीरेऽन्तप्रान्तरूपतुच्छाहारैरन्यदा कदाचित् विपुलरोगात्कृत्वा प्रादुर्भूतः। तदा स उपवेष्टुमशक्तः सन्ननगरान् प्राह—मम सस्तारकं शीघ्रं क्रियताम्। ते भुनय सस्तारकं कर्तुं मृत्वाः। जमालिस्तान् पुनः पुनः पृच्छति—सस्तारकं कृतो नो वा भवद्भिः ? त ऊचुः—सस्तारकं कृतो

नगरी के कोष्ठक नामक उद्यान में आये। वहाँ वनपाल से वसति की आज्ञा ग्रहण कर समय एव तप से अपनी आत्मा को भवित करते हुए विचरने लगे।

श्रमण भगवान् महावीर ने भी कोई समय पूर्वानुपूर्वी से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे चपानगरी के पूर्णभद्रनामक उद्यान में पधारै और यथाप्रतिरूप अवग्रह (वसति की आज्ञा) ग्रहण कर समय एव तप से आत्मा को भवित करते हुए विचरने लगे।

इधर जमालि के शरीर में अन्त प्रान्त रूक्ष एव तुच्छ आहार के लेने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये। इससे ये बैठने में भी अशक्त बन गये। इस स्थिति में इन्होंने अपने शिष्यों से कहा—मेरे लिए संस्तारक शीघ्र कर दो। मुनियों ने संस्तारक करना प्रारंभ कर दिया।

नजरीना केऽऽक नामना भागमा आवी पछेऽभ्या त्या वनपाल पासेशी आज्ञा लधने उतयो अने ते स्थले समय अने तपशी पोतानी आत्माने भावित करता करता विचरवा लाया।

अमखु भगवान् महावीर पखु केऽर्ध समय पूर्वानुपूर्वीशी ग्रामानुग्राम विहार करता करता चपानगरीना पूरुभद्र नामना भागमा पधार्या अने यथाप्रतिरूप अवग्रह (वसतीनी आज्ञा) लधने समय अने तपशी आत्माने भावित करता करता विचरवा लाया।

आ तश्च जमालिना शरीरमा अन्त, प्रान्त, रूक्ष तेमखु तुच्छ आहार लेवाशी अनेक प्रकारना रोगो उत्पन्न थया, आ रोगोना कारणे तेज्जो जेसवामां पखु अशक्ता भनी गय। आ स्थितिमा तेमखु पोताना शिष्योने कहुं के, भारे भाटेऽस्ती संस्तारक (पथारी) करी दे। मुनियो संस्तारकनी तिमारी करवा लाया जमालिके तेमने बारवार पूछवा भाऽखु के, संस्तारक नही ?

નાસ્તિ, ફિં તુ ક્રિયતે, પવમુક્તે સતિ સ જમાલિર્મિધ્યાત્વમોહનીયોદયાત્ સમ્ય-
ક્ષપરિષ્રપ્ત. સન્ વ્યચિન્તયત્-ક્રિયમાણ કૃતમિતિ જિનોક્ત સત્યં ન ભવિતુમર્હતિ,
યતોડય સસ્તારકઃ ક્રિયમાણો ન કૃત. સસ્તીર્યમાણોડપિ ન સસ્તૃત ઇત્યુચ્યતે ।
ઈતિ મનસિ વિચિન્ત્ય તત્ર સર્વાન્ મુનીનાહ્ય જમાલિ પ્રાહ—યત્ ક્રિયમાણ ત્
કૃતમ્, યચ્ચલત્ તદ્ચલિતમ્, યદુદીર્યમાણં તદુદીરિતમ્, ઇત્યાદિ શ્રીમહાવીરસ્વા-
મિના યદ્ ભાપિત તત્ સ્વલ્ મિધ્યા, ક્રિયમાણે સસ્તારકે શ્યનરૂપાર્થસાધકત્વા-
માવેન કૃતત્વાભાવાત્ ।

જમાલિ ને ડનસે ધાર ૨ પૂઠના શુરુ કિયા કિ સસ્તારક કિયા યા નહીં ?
ડન્હોં ને કહ્યા સસ્તારક અમી નહીં કિયા હૈ કર રહે હૈં । ઇસ
પ્રકાર જય ડન્હોં ને કહ્યા તય મિધ્યાત્વમોહનીય કે ડદય સે
સમ્યક્ત્વ સે પતિત હોકર જમાલિ ને વિચાર કિયા કિ “ક્રિયમાણં
કૃતમ્” જો કિયા જા રહ્યા હૈ વહ “કિયા ગયા” ઁસા જો જિન
મગવાન ને કહ્યા હૈ વહ સત્ય નહીં હો સકતા હૈ, ક્યોં કિ સસ્તારક
ક્રિયમાણ હૈ વહ “કૃતઃ” કિયા ગયા ઁસા નહીં કહ્યા જા સકતા હૈ ।
ડસી તરહ યહ તો અમી “સસ્તીર્યમાણ” હૈ વિઠાયા જા રહ્યા હૈ, ઇસે
“સસ્તૃત” વિઠ ગયા હૈ, ઁસે કૈસે કહ સકતે હૈં । ઇસ પ્રકાર વિચાર
કર ડન્હોં ને અપને સમસ્ત શિષ્યોં કો બુલાકર કહ્યા કિ ડેવ્વો મગવાન્
ધીર પ્રમુ જો ઁસા કહતે હૈં કિ “ક્રિયમાણં કૃતમ્” “યચ્ચલત્ તત્
ચલિતમ્” “યદુદીર્યમાણં તદુદીરિતમ્” જો ક્રિયમાણ હૈ વહ
કિયા ગયા હૈ, જો ચલ રહ્યા હૈ વહ ચલ શુકા હૈ, જો ડદય મેં આ

શિષ્યોએ કહ્યુ કે, સસ્તારક હલ્યુ કરેલ નથી પરંતુ કરીએ છીએ આ પ્રકારે
બ્યારે શિષ્યોએ કહ્યું, ત્યારે મિધ્યાત્વ મોહનીયના ઉદયથી સમ્યક્ત્વથી પતિત
થઈને બ્રહ્મવિષ્ણુ વિચાર કર્યો કે, “ક્રિયમાણ કૃત” ને કરવામાં આવે છે તે
“યઈ ચ્ચલ્યુ” એવું ને જીન ભગવાને કહ્યું છે તે સત્ય કરતું નથી કેમ કે
સસ્તારક ક્રિયમાણ છે તે “કૃત” યઈ ચ્ચલ્યુ છે એમ કહી શકાય નહિ
આ પ્રમાણે આ ને હમણાં “સસ્તીર્યમાણ” છે—બીલાવવામાં આવે છે એને
બીલાવી ઠીધલ છે એમ કેમ કહી શકાય ? આ પ્રમાણે વિચાર કરીને તેમણે
પોતાના સમસ્ત શિષ્યોને બીલાવીને કહ્યું કે, જુઓ ભગવાન ધીર પ્રમુ ને એમ
કહે છે કે, “ક્રિયમાણ કૃતમ્” “યચ્ચલત્ તત્ ચલિતમ્” “યદુદીર્યમાણ તદુ
દીરિતમ્” ને ક્રિયમાણ છે તે યઈ ચ્ચલ્યુ છે, ને ચાલી રહ્યુ છે, તે ચાલી

तत खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा पदाचित् पूर्वानुपूर्व्याचारं
यावत् सुखसुखेन विहरन् यत्रैव चम्पानगरी यत्रैव पूर्णभद्रनामकमुद्यानं तत्रैवापा
गतः, उपागत्य यथाप्रतिरूपमवग्रहं गृहीत्वा सयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन् विहरति ।

तत खलु तस्य जमाछेरनगारस्य शरीरेऽन्तप्रान्तरूक्षतुच्छाहारैरन्यदा कदा
चित् विप्लुरोगात्कृद्, प्रादुर्भूत् । तदा स उपवेण्डुमशक्तं सधनगारान् प्राह—मम
सस्तारकं शीघ्रं क्रियताम् । ते मुनयः सस्तारकं कर्तुं प्रवृत्ताः । जमालिस्तान् पुनः
पुनः पृच्छति—सस्तारकः कृतो नो वा भवद्भिः ? त ऊचुः—सस्तारकं कृतो

नगरी के कोष्ठक नामक उद्यान में आये । वहाँ वनपाल से वसति की
आज्ञा ग्रहण कर सयम एव तप से अपनी आत्मा को भवित करते
हुए विचरने लगे ।

श्रमण भगवान् महावीर ने भी कोई समय पूर्वानुपूर्वी से ग्रामा
नुग्राम विहार करते हुए वे चम्पानगरी के पूर्णभद्रनामक उद्यान में
पधारे और यथाप्रतिरूप अवग्रह (वसति की आज्ञा) ग्रहण कर सयम
एवं तप से आत्मा को भवित करते हुए विचरने लगे ।

इधर जमालि के शरीर में अन्त प्रान्त रूक्ष एव तुच्छ आहार के
छेने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये । इससे ये बैठने में भी
अशक्त बन गये । इस स्थिति में इन्होंने अपने शिष्यों से कहा—मेरे लिए
सस्तारक शीघ्र कर दो । मुनियों ने सस्तारक करना प्रारंभ कर दिया ।

नगरीना कौष्ठक नामना भागभां आवी पडोत्थ्या त्या वनपाल पासेधी आशा
वर्धने उत्थी। अने ते स्थणे सयम अने तपथी पोतानी आत्माने भावित
करता करतां विचरवा लाग्या।

श्रमणु भगवान महावीर पणु कौष्ठ समय पूर्वानुपूर्वाधी ग्रामानुग्राम विहार
करता करता चम्पानगरीना पूर्णभद्र नामना भागभा पधार्था अने यथाप्रतिरूप
अवग्रह (वसतीनी आज्ञा) वर्धने सयम अने तपथी आत्माने भावित करतां
करतां विचरवा लाग्या।

आ तरुं जमालिना शरीरमा अन्त, प्रान्त, रूक्ष तेमज्जं तुच्छ आहार
वैवाधी अनेक प्रकारना रोगो उत्पन्न थया, आ रोगोना कारणे तेज्जो
विसवार्थां पणु अशक्त भती गया। आ स्थितिमा तेमज्जं पोताना शिष्योने कहुं के,
भारे भाटे जल्दी सस्तारक (पधारी) करी दे। मुनियो सस्तारकनी तैयारी करवा
लाग्या जमालिजे तेमने वारवार पृच्छा माड्हु के, सस्तारक कर्तो के नहीं ?

इत्यादि, तत्सर्वमसन्नद्वमेवेति । एवं मिथ्यात्वमोहनीयोदयात् जमालिमुन्मार्गगत
 ज्ञात्वा स्वविरा अवदन्-जमाले । भगवत आशय न जानासि, भगवान् आप्तः,
 विगतदोषसत्यवक्ता, तन्मतमनेकान्तवादात्मकम्, एकोपि पदार्थः, अपेक्षामेदेन
 अनेकरूपो भवति, यथा एक एव पुरुषः अपेक्षामेदेन जामाता श्यालक. पुत्रः
 पिता च । तथैव प्रकृतेऽपि क्रियमाणत्वेपि सस्वारके कृतत्व. समवति । पटस्य
 क्रियमाणतायां कृत पट ' इत्यादिवत् । नतु कथं क्रियमाण पटादिकं कृतं स्यादिति
 चेतनोच्यते-पटस्योत्पद्यमानताकाळे प्रथमतन्तुप्रवेशे उत्पद्यमान एव पट उत्पन्नो

- 'इत्यादि' सो यह श्रद्धेय नहीं है । इस प्रकार आग्यदोष से
 जमालि को विपरीत मार्ग में जाते हुए देखकर स्वविरा ने कहा-हे
 जमालि ! आप भगवान के आशय को नहीं जानते हो । भगवान सर्व
 दोष-रहित धर्माव्यक्ता हैं । भगवान का मत अनेकान्तरूप है । एक
 ही पदार्थ अपेक्षा-मेद से अनेकरूप होता है । जैसे एक ही पुरुष शशुर
 की अपेक्षा से जामाता कहलाता है, यहनोई की अपेक्षा साला कहलाता है
 पिता की अपेक्षा से पुत्र कहलाता है, पुत्र की अपेक्षा से पिता कह-
 लाता है । उंसी प्रकार प्रकृत में आपका विस्तर हो भी रहा है, हो भी
 गया है, ऐसा कह सकते हैं । जैसे कि पट की क्रियमाणता में भी
 कृतत्व का व्यवहार होता है उसी तरह । पुन प्रश्न करता है कि जो
 क्रियमाण है वह कृत कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हैं-पट के
 उत्पत्तिकाल में प्रथम तनु के प्रवेश समय में भी वह उत्पन्न होता ही है

ते अद्यावर्तमेकियमाणकृतविपरीत भावे ज्ञा
 जमालीने जेठ ते स्वविशेषे तेजोने कहुं के-हे जमालि ! तमे भगवानना
 आशयने ज्ञातता नधी भगवान सर्वदोष रहित सायु कोलवावाणु छे
 भगवानना मत अनेकान्त रूप छे जेक ज पदार्थ अपेक्षा लेइधी अनेकरूप थाय
 छे जेभ जेक ज पुरुष ससरानी आगण जभाई कडेवाय छे अनेवीनी आगण साणे
 कडेवाय छे अने पिता आगण पुत्र कडेवाय छे अने तेज पुरुष पुत्र आगण
 पिता कडेवाय छे जेवी ज रीते प्रस्तुतभां आपनी पथारी धर रक्षी छे यध पञ्च
 जध छे जेवु कडेवाभां आवे छे जेवी रीते प्रदनी, क्रियमाणताभां कृतत्वने
 व्यवहार थाय छे तेवी ज रीते.

इसीप्रकार प्रश्न करे छे के-जे क्रियमाण छे ते कृत केवी रीते यध शके ?
 जेने उत्तर, आपतां कडे छे, के-पटना-उत्पत्तिकालभां प्रथम तन्तुना प्रवेश
 समये पञ्च ते उत्पन्न थाय छे, केभके प्रथमतन्तुप्रवेश कालधी ज " पट

કૃતે સસ્તારકે શયનાર્થક્રિયાકારિત્વ ધિયતે, કરણસમયે તુ નાસ્તિ તાઘ્નૌ અર્થક્રિયા, અતઃ ક્રિયમાણ કૃતમિતિ વ્યપદશઃ કથં સ્યાત્ ? । ક્રિચ્ચ-ક્રિયમાણમિથિ વર્તમાનવ્યપદેશઃ, કૃતમિતિ ચ ભૂતવ્યપદેશઃ, વર્તમાનત્વં ભૂતત્વ ચ પરસ્પરવિરુદ્ધમિતિ પરસ્પરવિરુદ્ધયોસ્તયોરેકતા ન સ્યાત્, વર્તમાનઘ્વસપ્રતિયોગિત્વસ્ય ભૂત-સ્વાદિતિ મહાવીરસ્વામિના યત્ પ્રતિપાદિતમ્-‘ કરેમાણે કઠે ચલમાણે ચલિચ્ચ ’

રહા હૈ વહ ઉદય મેં આચુકા હૈ ” સૌ વહ સય મિથ્યા હૈ, કારણ કિ ક્રિયમાણ સસ્તારક મેં શયનરૂપ અર્થક્રિયા કે પ્રતિ સાધકત્વ કા અભાવ હોને સે વહાં કૃતત્વ નહીં આ સકતા હૈ ।

સસ્તારક (ચિસ્તર) કરને કે યાદ હી ઉસમેં શયનાદિરૂપ અર્થ ક્રિયાકારિતા આતી હૈ, પરન્તુ સસ્તારક કરને કે સમય મેં ઉસમેં ઉસ પ્રકાર કી અર્થક્રિયાકારિતા નહીં હૈ, ફિર “ ક્રિયમાણ કૃતમ્ ”-ક્રિય માણ કૃત હોતા હૈ-યહ વ્યપદેશ કૈસે હો સકતા હૈ ? ।

ઔર ખી-“ ક્રિયમાણમ્ ” યહ વર્તમાન કાલ કા કથન હૈ ઔર “ કૃતમ્ ” યહ ભૂતવ્યપદેશ હૈ । ભૂત ઔર વર્તમાન પરસ્પર વિરુદ્ધ હૈ, ઔર પરસ્પર વિરુદ્ધ દો પદાર્થો કી એકતા નહીં હો સકતી હૈ, ધર્યો કિ વર્તમાન કાલ મેં વિચ્યમાન જો ઘ્વંસ ઉસકે વિરોધી કા નામ હૈ ભૂત, યતાદૃશ ભૂત ઔર વર્તમાન યે દોનોં એક અધિકરણ મેં નહીં રહ સકતે હૈ । ફિર જો મહાવીર સ્વામી ને કહ્યા હૈ કિ ક્રિયમાણ કૃતમ્ ચલત્ ચલિતમ્

ચુક્યુ છે, જે ઉદયમાં આવી રહેલ છે તે ઉદયમાં આવી ચુકેલ છે, એ બધુ સબળ મિથ્યા છે કારણ કે, ક્રિયાભાણુ સસ્તારકમાં શયનરૂપ અર્થ ક્રિયામાં સાધકત્વના અભાવથી ત્યાં કશું છે એમ આવી શકતું નથી.

સસ્તારક (પચારી) કયાં પછી જ તેમાં શયનાદિરૂપ “ ક્રિયાકારિતા ” આવે છે પરન્તુ સસ્તારક કરતી વખતે તો તેમાં તેવા પ્રકારની ‘ અર્થક્રિયા કારિતા ’ આવતી નથી તો પછી ક્રિયમાણ કૃતમ્-ક્રિયાભાણુ કૃત કાય છે, એવા વ્યવહાર કેવી રીતે થઈ શકે ?

વળી “ ક્રિયમાણમ્ ” એ વર્તમાનકાળનું કથન છે અને “ કૃતમ્ ” એ ભૂતકાળનો વ્યવહાર છે ભૂત (કાળ) અને વર્તમાન એ બન્ને પરસ્પર વિરુદ્ધ અર્થવાણાં છે એટલે પરસ્પર વિરુદ્ધ એવા એ પદાર્થોની એકતા થઈ શકતી નથી કેમકે વર્તમાનકાળથી વિરુદ્ધ ભૂત (કાળ) છે, એવા પ્રકારનો ભૂત અને વર્તમાન એ બન્ને એક અધિકરણમાં રહી શકતા નથી તો પછી મહાવીર સ્વામીએ જે કહ્યું છે કે, “ ક્રિયમાણ કૃતમ્ ” “ ચલત્ ” “ ચલિત્ ”

प्रवेशे पदस्योत्पत्तिरिति प्रथमसमयादारम्य किञ्चित् कार्यं सर्वैरपि क्षणैः कृतमिति मन्तव्यम् । यदि प्रथमक्रियया नोत्पन्नः पदस्तदा उत्तरक्रिययापि नोत्पन्नः स्यादिति सर्वदेव पदानुत्पत्तिप्रसंगः, स च न कस्यापि इष्टः, अतः प्रथमतन्तुप्रवेशकाले एव किञ्चिदुत्पन्नपदस्य यावान् अंशो नोत्पन्नः स एवांशः उत्तरक्रियया उत्पाद्यते यदि पुनरुत्पद्येत तदा एकदेशेनैव उत्पादनं क्रियाया इति स्वीकर्तव्यम् । यदि प्रथमा उत्पादननिरपेक्षा द्वितीयादिक्रिया तदैव द्वितीया फलवती स्यात्, नान्यथा, ततश्च यथा उत्पद्यमान एव पद उत्पन्नः, तथा क्रियमाणमेव सस्तरक कृतमिति—

अन्तिम तन्तु के प्रवेश होने पर पद की उत्पत्ति होती है इसलिये 'पद उत्पन्न'—ऐसा व्यवहार होता है, अतः ऐसा मानो कि प्रथम समय से लेकर कुछ २ कार्य सभी क्षणों में होता है। यदि कदाचिन् प्रथम क्रिया से पद उत्पन्न नहीं हुआ तो द्वितीय से भी उत्पन्न नहीं होगा, तृतीय से भी नहीं होगा, इस प्रकार अन्तिम क्रिया से भी नहीं होगा तो पद की कभी भी उत्पत्ति नहीं होगी। परन्तु यह किसी को भी इष्ट नहीं है। अतः प्रथमतनुप्रवेशकाल में भी थोड़ा पद उत्पन्न हुआ, और जो अदा अनुत्पन्न है वह द्वितीयादि क्षणों में होता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त होता है कि क्रिया को एक देवा से ही उत्पादकत्व है, और यह आपको भी मानना पड़ेगा। यदि प्रथम अंश के उत्पादन से निरपेक्ष द्वितीय क्रिया को मानोगे तभी द्वितीयादि क्रियायें सार्वक होंगी, अन्यथा नहीं। तब जैसे प्रथम क्रिया से उत्पन्न होते हुए पद की उत्पत्ति द्वितीयादि क्रिया से होती है उसी प्रकार

तन्तुना प्रवेश यत्नानी साथे न पदनी उत्पत्ति धाय छे अटवा भाटे "पदः उत्पन्न" जेणे। व्यवहार धाय छे अटवे जेवु मानवु जेधजे के प्रथम समयधी तधने इरेक क्षणे कथिक कथिक कार्य धाय छे न जे कथाम प्रथम क्रियाधी पद उत्पन्न न ययु तो नीलधी पद्य उत्पन्न यथे। नही अने नीलधी पद्य उत्पन्न यथे नहि तेवी न रीते अन्तिम क्रियाधी पद्य यथे नही, अने जे रीते तो पदनी कोध रीते उत्पत्ति यथे न नही परंतु जे वात कोध मानी यथे तेम नधी। अटवे प्रथमतनुप्रवेशकालमा पद्य पदना योडा भाज उत्पन्न यथे, अने जे अश उत्पन्न नधी यथे, ते नील नील विगेशे क्षणेभां धाय छे आ रीते जे वात सिद्ध धाय छे के क्रियाना जेक देशधी न उत्पादकत्व छे अने जे वात तमारै पद्य मानवी पडथे जे प्रथम अशना उत्पादनधी निरपेक्ष द्वितीय क्रियाने मानथे। तारे न द्वितीयादिक्रियाजो सार्वक यथे। अन्य रीते नही तो जेवी रीते प्रथम क्रियाधी उत्पन्न यथा पदनी उत्पत्ति द्वितीयादि

મન્વતિ, ઉત્પદ્યમાનતા ચ પટસ્ય પ્રથમતન્તુપ્રવેશયાગ્નાદારભ્યેવ મન્વતિ ત્વૈવ 'પટ ઉત્પદ્યતે
 ઇતિ વ્યવહારદર્શનાત્ । ઉત્પન્નત્વમપિ તસ્ય પટસ્ય તત્કાલે એવ, તથાદિ-ઉત્પત્તિ
 ક્રિયાકાલે-પ્રથમતન્તુપ્રવેશે યાસી ઉત્પન્નોઽભૂત્, અન્યયા ઉત્પત્તિક્રિયાકાલે યદિ
 તસ્ય પટસ્પોત્પત્તિર્ન સ્વીક્રિયેત તદા પ્રથમક્રિયા નિરર્થિકા સ્યાત્, કાર્યકરણમેવ
 ધર્મઃ ક્રિયાયાઃ । યદિ પ્રથમક્રિયા ઉત્પત્તિરુપ કાર્યં ન કુર્યાત્ તદા સા નિરર્થિકૈવ
 સ્યાત્, ઉત્પાદ્યોત્પાદનમેવ ક્રિયાયા ધર્મઃ । એવ યથા પ્રથમક્ષણે પટો નોત્પન્નસ્તથા
 દ્વિતીયક્ષણેઽપિ નોત્પન્ન એવ, તૃતીયાદાવપિ ક્ષણે નોત્પન્ન ઇતિ અંતિમક્રિયાયાપિ બ્રહ્મ
 ત્વન્ન એવ સ્યાત્, યુક્તેઃ સર્વત્ર સમાનેત્વાત્ । યદા તુ પ્રથમાદિક્રિયાયા ન ક્વિમપિ
 ફલમ્બુત્પાદિત તદા અન્યયા ફલ સ્યાદિતિ મત્યાશામાત્રમેવ, દૃશ્યતે ચાન્ત્યતન્તુ'

ક્યોં કિ પ્રથમતનુપ્રવેશ-કાલ સે હી 'પટ ઉત્પન્ન હોતા હૈ' એસા
 વ્યવહાર દેખને મેં આતા હૈ । તથા ઉત્પન્નત્વ મી ઉસ પટ મેં ઉસ કાલ
 સે હી હૈ, ક્યોં કિ ઉત્પત્તિક્રિયાકાલ મેં પ્રથમ તન્તુ કે પ્રવેશ હોને પર
 હી પટ ઉત્પન્ન હો ગયા, યદિ ઉસ પટ કી ઉત્પત્તિ સ્વીકાર નહોં કરેં તો
 યહ પ્રથમ ક્રિયા નિરર્થક હો જાયગી, કારણ કિ કાર્યોત્પાદ હી ક્રિયા
 કા ધર્મ હૈ । યદિ એમા માનેં કિ પ્રથમ ક્ષણ મેં પટ ઉત્પન્ન નહોં હુઆ
 તો હસી તરહ દ્વિતીય ક્ષણ મેં મી ઉત્પન્ન નહોં હોગા, તૃતીય ક્ષણ મેં
 મી ઉત્પન્ન નહોં હોગા, હસ તરહ સે અંતિમ ક્રિયા તક પટ કી ઉત્પત્તિ
 નહોં હોગી, ક્યોં કિ યુક્તિ સર્વત્ર સમાન હૈ ।

યદિ પ્રથમ ક્રિયા સે કુછ મી ફલ નહોં હુઆ તો અન્તિમ ક્રિયાસે
 મી ઉત્પાદરૂપ ફલ કા હોના અસમ્ભવ હી હૈ, પરન્તુ દેખને મેં આતા હૈ કિ

ઉત્પન્ન યાચ છે" એવો વ્યવહાર એવામાં આવે છે તથા 'ઉત્પન્ન યવાપદ્ય
 પદ્ય તે પટમાં તે કાળથી જ છે, કેમકે ઉત્પત્તિક્રિયાકાળમાં પ્રથમતન્તુના પ્રવેશ
 થતાની સાથે જ પટ ઉત્પન્ન થઈ ગયું, એ તે પટની ઉત્પત્તિનો સ્વીકાર ન
 કરીએ તો તે પ્રથમક્રિયા નિરર્થક થઈ જાયે. કારણ કે કાર્યની ઉત્પત્તિ જ
 ક્રિયાનો ધર્મ છે. કહાય એ એમ માનીએ કે પ્રથમ ક્ષણમાં પટ ઉત્પન્ન થયું
 નથી તો એવી જ રીતે બીજા ક્ષણમાં પણ ઉત્પન્ન નહિ થાય, તેમ જ ત્રીજા
 ક્ષણમાં પણ ઉત્પન્ન થયે નહીં એવી જ રીતે અંતિમક્રિયા સુધી પટની ઉત્પત્તિ
 થયે નહીં, કેમકે ક્રિયા સવત્ર એકસરખી હોય છે -

એ પ્રથમ ક્રિયાથી ઠઈ પણ ક્ષણ થયું તો અન્તિમ ક્રિયાથી પણ
 ઉત્પાદરૂપ ક્ષણ થવું અસમ્ભવ જ છે. પરન્તુ એવામાં આવે છે કે અન્તિમ

અથ યસ્મિન્નેવ સમયે ઘટ્ટાદિકાર્યં પ્રારમ્બ્યતે, તસ્મિન્નેવ સમયે નિષ્પદ્યતે, અતો નિષ્પદ્યમેવ તત્ ક્રિયતે-ઇતિ ચેન્નૈવમ્, યસ્માત્ ઘટ્ટાદિકાર્યાણામુત્પદ્યમાનાં નામસન્દયેયસમયરૂપો દીર્યં एव निर्वर्तनक्रियाकालो दृश्यते, अतो न यस्मिन्नेव

-અવસ્થા મેં અવિધમાન રહતા હૈ, ક્રુમકારાદિક કે વ્યાપાર કે ઘાટ હી વહ ઉત્પન્ન હુઆ માના જાના હૈ । ઇસલિયે જો અકૂન હોતા હૈ વહી ક્રિયા જાતા હૈ ક્રૂત નહીં ક્રિયા જાતા, એસા માનના ચાહિયે । યહ તીસરા પક્ષ હૈ ।

યદિ કોઈ “ ક્રૂત ક્રિયતે ” ઇસ વ્યવહાર કો સત્ય સાચિત કરને કે લિયે એસા કહે કિ-જિસ સમય મેં ઘટ્ટાદિક કાર્ય યનના પ્રારંભ હોતા હૈ વહ ઉસી સમય મેં નિષ્પદ્ય હો જાતા હૈ ઇસલિયે જવ નિષ્પદ્ય હી ઘટ્ટ ક્રિયા જાતા હૈ તય “ ક્રૂતમેવ ક્રિયતે ” ઇસ પ્રકાર કે વ્યવહાર મેં કૌનસી ઘાઘા આતી હૈ ? સો એસા કહના બી ઠીક નહીં હૈ, ક્યોં કિ ઉત્પદ્યમાન ઘટ્ટાદિક કાર્યો કી ઉત્પત્તિરૂપ ક્રિયા કા યહ સમય અસા રૂપાતસમયરૂપ યહુત ભારી કાલ હૈ । એસા નહીં હૈ કિ જિસ સમય ઘટ્ટ યનના પ્રારંભ હોતા હૈ વહ ઉસી સમય નિષ્પદ્ય હો જાતા હૈ । ઇસકે યનને મેં તો યહુત સમય લગતા હૈ । મિઠ્ઠી કા લાના, ઉસકા પિંચ યનાના, ઉસે શ્વક્ર પર રક્ષના શિવક આદિ પર્ચાય મેં ઉસે પરિણમિત કરના, ઈસ પ્રકાર ઘટ્ટ કી ઉત્પત્તિ હોને મેં યહુત અધિક સમય લગ જાતા હૈ,

અવસ્થામા ઘટ્ટ તરીકે તો અવિધમાન રહે છે ક્રુમકારાદિકના વ્યાપાર બાદ જ તે ઉત્પન્ન થયેલ માનવામાં આવે છે આ માટે ને અક્રૂત હોય છે તેજ કરવામા આવે છે ક્રૂત નથી કરાવું એવું માનવું એમએ આ ત્રીબે મુદ્દો છે ૫ ૩ ૥

એ કોઈ “ ક્રૂત ક્રિયતે ” આ વ્યવહારને સાચે સાબીત કરવા માટે એવું કહે કે ને સમયમાં ઘટ્ટાદિક બનાવવાના કાર્યનો પ્રારંભ થાય છે તે એ સમયમાં પુરે થાય છે માટે બ્યારે નિષ્પન્ન જ ઘટ્ટ કરવામાં આવે છે ત્યારે “ક્રિયતે” આ પ્રકારના વ્યવહારમાં કઈ બાધા આવે છે ? તેથી એમ કહેવું એ પણ ઠીક નથી. કેમકે, ઉત્પદ્યમાન ઘટ્ટાદિક કાર્યોની ઉત્પત્તિરૂપ ક્રિયાનો તે સમય અસા ખ્યાત સમયરૂપ ધણે ભારે કાળ છે એવું નથી કે, ને સમયે ઘટ્ટ બનાવના પ્રારંભ થાય છે તે તેજ સમયે નિષ્પન્ન થઈ જાય છે તેના બનાવમાં તો ધણે સમય લાગે છે માટીને લાવવી, તેને ઠચરીને તેનો પિંડ બનાવવો, તે પછી તેને ચાકડા ઉપર ચઢાવવો, તેને આકાર આપવો, આ રીતે ઘટ્ટની ઉત્પત્તિ થવામાં ધણે જ લાગે સમય લાગે છે આથી ને સમયે ઘટ્ટને બનાવવાનો

यदि कृतमपि क्रियते, तदाऽन्येऽपि दोषा. सन्ति, तथाहि—यदि कृतमपि क्रियते, अथात्—क्रियमाणं कृतं मन्यते तदा घटादिकार्योत्पादनार्थं वृन्मर्दनबद्ध भ्रमणादिकाया क्रियाया वैफल्यं स्यात्, तस्मिन् काले कार्यस्य घटस्य कृतत्वाभ्युपगमात्, तस्य प्रागेव सत्त्वात् ॥ २ ॥

किञ्च—कृतं क्रियते इति यन्मन्यते तत्र प्रत्यक्षविरोध, यस्मादुत्पत्तेः पूर्वं मृत्पिण्डावस्थायामविद्यमान, पश्चात् कुम्भकारादिव्यापारे घटादिकार्यं जायमानं दृश्यते उरपत्तिकाले, तस्मादकृतमेव क्रियमाणं भवति ॥ ३ ॥

संझાવ સે કમી મી વહાં મગન-હોને-રૂપ ક્રિયા કી પરિસમાપ્તિ નહીં હો સકને કે કારણ કિસી મી કાર્ય કી પૂર્ણરૂપ સે નિષ્પત્તિ નહીં હો સકેગો । યહ કાર્યઅનિષ્પત્તિરૂપ પ્રથમ દોષ હે ॥ ૧ ॥

यदि कृत मी “क्रियते” ऐसा माना जाय अर्थात् जो हो चुका है वह मी किया जाता है ऐसा ही पक्ष स्वीकार किया जाय तो इसका यह मी तात्पर्य होता है कि जो क्रियमाण है—हो रहा है—वह हो चुका ऐसा कहा जाता है तो इस पक्ष में यह सय से प्रबल दोष उपस्थित होता है कि घटादि कार्य की उत्पत्ति के लिये जो मिट्टा का मर्दन बाक का भ्रमण आदि क्रियाएँ की जा रही हैं ये सय निष्फल हो जाती हैं, क्योंकि क्रियमाण अवस्था में मी घट कृत तो हो चुका तब उसके कर्तमान होनेसे निष्पन्न करने की क्या आवश्यकता रही? यह दूसरा पक्ष है ॥ २ ॥

और भा—“कृतं क्रियते” यह व्यवहार इसलिये भी दूषित साबित होता है कि जयतक घट उरपन्न नहीं हो जाना है तब तक वह मृत्पिण्ड

તર ઘટોત્પત્તિરૂપ ક્રિયાના સદ્ભાવથી કહી પણ ત્યાં ભવન-ઘવારૂપ ક્રિયાની પરિસમાપ્તિ ન થઈ શકવાના કારણે કોઈ પણ કાર્યની પૂર્ણરૂપથી નિષ્પત્તિ થઈ શકશે નહીં આ કાર્ય અનિષ્પત્તિરૂપ પ્રથમ દોષ છે ॥ ૧ ॥

જો કૃત પણ “ક્રિયતે” એમ માનવામાં આવે અર્થાત્ જો બની અચેત છે તે પણ કરવામાં આવી શકું છે તેવો સ્વીકાર કરવામાં આવે તો તેનું જો તાત્પર્ય થાય છે કે, જે ક્રિયામાણ છે બની શકું છે તે બની ચુક્યું એમ કહેવામાં આવે છે તો આ પક્ષમાં જો બધાથી મોટો દોષ ઉપસ્થિત થાય છે ઘટાદિકાર્યની ઉત્પત્તિ માટે જો માટીનું મર્દન અને બાકનું ભ્રમણ આદિ ક્રિયાઓ કરવામાં આવે છે તે બધી નિષ્ફળ બની જાય છે કેમકે, ક્રિયામાણ અવસ્થામાં પણ ઘટ કૃત તો થઈ ગયો તો એનું વર્તમાન ઘવાથી નિષ્પન્ન કરવાની કઈ આવશ્યકતા રહી? આ બીજો મુદ્દો ॥ ૨ ॥

વળી—“કૃત ક્રિયતે” આ વ્યવહાર એટલા માટે પણ દૂષિત સાબિત થાય છે કે, જ્યાં મુખી ઘટ ઉત્પન્ન નથી થતો ત્યાં મુખી તે માટીના પિંડની

તદાનીમદર્શનાત્ । દીર્ઘક્રિયાકાલસ્પાન્તે તુ કાર્યં મવિતુમર્હતિ, તદાનીમેવ તસ્ય દર્શનાત્ । તદેવ ન નિર્વર્તનક્રિયાકાલે કાર્યમસ્તિ, અનુપલભ્યમાનત્વાત્, કિન્તુ તન્નિષ્ઠાકાલ એવ તદસ્તિ, તથૈવોપલભ્યમાનત્વાત્, ક્રિયાકાલનિષ્ઠાકાલયોત્પાત્યન્ત-મેદાત્, અત ક્રિયમાણ કૃત ન મવતિ । સર્વલોકપ્રત્યક્ષાનુમવસિદ્ધમેવૈતત્ ॥૫॥
 इति जमाले पूर्वपक्ष' ।

एव मार्गविच्युत जमालिं प्रति स्थविरा' प्रोचु —आर्य ! किं विरुद्धवचनं यदसि ? रागद्वेषपरहिताना सर्वज्ञानां जिनानां वचने दोषलेशोऽपि नास्ति, नहि ते मृषा मापन्ते । आर्य ! “ कृत न क्रियते, कृतत्वात्, कृतघटवत् ” इति कृतकमा-

नर्ही हो सकता है, अत “ अनुपलभ्यमानत्वात् निर्वर्तनक्रियाकाले विवक्षितघटरूप कार्यं नास्ति इति मन्तव्यम् ” जय यह यात निश्चित हो जाती है तो यह यात भी स्वत मान लेनी पड़ती है कि कार्य अपने निष्ठाकाल में ही बनकर तयार होता है, क्यों कि वहाँ पर उसकी उपलब्धि होती है । क्रियाकाल एव निष्ठाकाल इन दोनों में अस्यन्त मेव है इसलिये क्रियमाण कृत नहीं कहा जा सकता । यह यात सर्वजन साक्षिक भी है । यह पांचवा पक्ष है, यह छुवा जमालि का पूर्व पक्ष॥५॥

इस प्रकार जमालि द्वारा स्थापित इस पूर्वपक्ष का मुनकर स्थविरों ने उनको मार्ग से च्युत जाना और इसलिये वे उनसे कहने लगे कि—
 हे आर्य ! विरुद्ध वचन आप क्यों कहते हैं ? रागद्वेषपरहित सर्वज्ञ जिन भगवान के वचन अन्यथा नहीं होते हैं उनमें दोष का अंश भी सम्बन्धित नहीं हो सकता है । साधारण पुरुषों की तरह वे मिथ्याभाषी

“ अनुपलभ्यमानत्वात् निर्वर्तनक्रियाकाले विवक्षितघटरूपकार्यं नास्ति इति मन्तव्यम् ”
 व्यापारे आ निश्चित બની બાય છે તેો એ વાત પણ આપ મેળે માની લેવી પડે છે કે, કાર્ય પોતાના ચોખ્ખ વખતે જ બનીને તૈયાર થાય છે કેમકે, તે સ્થળે તેની ઉપલબ્ધિ થાય છે ક્રિયાકાળ અને નિષ્ઠાકાળ આ બન્નેમાં અત્યંત ભેદ છે આ માટે ક્રિયમાણ કૃત કહી શકાય નહીં આ વાત સર્વજનથી સાક્ષીભૂત છે આ પાત્રમે મુદ્દો આ થયો જમાલિનો પૂર્વપક્ષ ॥ ૫ ॥

આ પ્રકારે જમાલિ દ્વારા સ્થાપિત એ પૂર્વપક્ષને સાંભળીને સ્થવિરોએ બાણ્ય કે જમાલીમુનિ ભગવાનના માર્ગથી ચલિત થયા છે અને તે માટે તેઓ તેમને કહેવા લાગ્યા કે, હે આર્ય ! વિરોધ વચન આપ કેમ કહો છો ? રાગદ્વેષરહિત સર્વજ્ઞ જન ભગવાનનું વચન અન્યથા થતુ નથી તેમાં કોઈપણ અંશ પણ સંબન્ધિત થતો નથી સાધારણ પુરુષોની માફક તે મિથ્યાભાષી પણ નથી. આપે જે અસત્યાર્થવાદને

समये घटादि प्रारम्भ्यते, तस्मिन्नेव समये निष्पद्यते, हृदानयनतत्त्वविधान चक्रारोपणशिवकादिविधानादिभिधिरकालेनैव तदुत्पत्तिर्भवति ॥ ४ ॥

अस्तु दीर्घं कार्यनिर्वर्तनक्रियाकालः, क्रियाया प्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्यते, इति चेन्न, यदि क्रियाया प्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्येत, तर्हि तत् तत्रैवोपलभ्येत, न चारम्भसमय एव घटादिरूप कार्यं दृश्यते, नापि शिवक-स्यास-कोश-कुशलादिसमये दृश्यते । किंतु दीर्घक्रियाकालस्यान्ते घटादिरूप कार्यं दृश्यते, तस्मात् क्रियाया आरम्भकाले कार्यं निष्पद्यते, इति कथनं न युक्तम्, तस्य

अतः " जिस समय में घट का बनना प्रारंभ होता है वह, उसी समय में बन जाता है " यह कहना अनुचित है । यह चौथा पक्ष है ॥४॥

यदि कोई फिर भी ऐसा कहे, कि कर्म को निर्वर्तन करने वाली क्रिया का काल भले ही अधिक हो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु क्रिया से जो कार्य निष्पन्न होना होता है वह उस क्रिया के प्रथम समय में ही निष्पन्न हो जाता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । कारण कि यदि क्रिया के प्रथम समय में ही कार्य निष्पन्न हो जाता है तो वह उस समय ही दिखना चाहिये-परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, और न विवक्षित कार्य कोश कुशल शिवक स्यासके आदि समयों में प्रतीत होता है, किन्तु दीर्घक्रियाकाल के अन्त में ही निष्पन्न हुआ दिखलाई देता है । इसलिये ऐसा मानना कि क्रियाके आरंभकाल में ही घट बनकर तयार हो जाता है, यह कथमपि-किसी तरह भी युक्तियुक्त

प्रारंभ धाय छे 'जेव' समये ते वनी लय छे जेव कहेवु अतुचित छे आ यथै। मुरी छे ॥ ४ ॥

जे केरु हरी पय जेव कहे के, धर्मने निवतन करवावाणी क्रियाने काण भवे अधिक जेय जेमां अमने केरु वधि नथी, परतु क्रियाधी जे कार्यं निष्पन्न यवु जेधु जे ते जे क्रियाना प्रथम समयमां जे निष्पन्न वनी लय छे, तेम कहेवु पयु ठीक नथी ठारपु के, जे क्रियाना प्रथम समयमां जे कार्यं-निष्पन्न यधु लय छे, ते ते ते समये जे जेमां जेधु जे परतु जेवु ते वनतु नथी, अने विवक्षित कार्यं, कोश, कुशलाणी, आकार, स्यासक आदि समयोमां प्रतीत धते नथी, परतु दीर्घ क्रियाकाणना अन्तमां जे निष्पन्न यवेव जेमां छे 'आ' माटे 'जेवु' मानीजे के क्रियाना आरंभ काणमां जे घट वनीने तयार कयल लय छे 'ते' आ केरु पयु शीते 'वानी' मकाय तेव 'आधी

तदानीमदर्शनात् । दीर्घक्रियाकालस्यान्ते तु कार्यं भवितुमर्हति, तदानीमेव तस्य दर्शनात् । तदेव न निर्वर्तनक्रियाकाले कार्यमस्ति, अनुपलभ्यमानत्वात्, किंतु तन्निष्ठाकाल एव तदस्ति, तत्रैवोपलभ्यमानत्वात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्चात्यन्त-भेदात्, अतः क्रियमाणं कृतं न भवति । सर्वलोकप्रत्यक्षानुभवसिद्धमेवैतत् ॥ ५ ॥ इति जमाले पूर्वपक्षः ।

एव मार्गविच्युत जमालिं प्रति स्थविरा' प्रोचुः—आर्य ! किं विरुद्धवचनं पदसि ?, रागद्वेषपरहितानां सर्वज्ञानां जिज्ञानां वचने दोषलेषोऽपि नास्ति, नहि ते मृषा भाषन्ते । आर्य ! “ कृतं न क्रियते, कृतत्वात्, कृतघटवत् ” इति कृतकमा-

नहीं हो सकता है, अतः “ अनुपलभ्यमानत्वात् निर्वर्तनक्रियाकाले विवक्षितघटरूप कार्यं नास्ति इति मन्तव्यम् ” जब यह बात निश्चित हो जाती है तो यह बात भी स्वतः मान लेनी पड़ती है कि कार्य अपने निष्ठाकाल में ही बनकर तयार होता है, क्यों कि वहाँ पर उसकी उपलब्धि होती है । क्रियाकाल एव निष्ठाकाल इन दोनों में अत्यन्त भेद है इसलिये क्रियमाण कृत नहीं कहा जा सकता । यह बात सर्वजन साक्षिक भी है । यह पाचवा पक्ष है, यह छुवा जमालि का पूर्व पक्ष ॥ ५ ॥

इस प्रकार जमालि द्वारा स्थापित इस पूर्वपक्ष को सुनकर स्थविरों ने उनको मार्ग से च्युत जाना और इसलिये वे उनसे कहने लगे कि— हे आर्य ! विरुद्ध वचन आप क्यों कहते हैं ? रागद्वेषपरहित सर्वज्ञ जिन भगवान के वचन अन्यथा नहीं होते हैं उनमें दोष का अंश भी समचित नहीं हो सकता है । साधारण पुरुषों की तरह वे मिथ्याभाषी

“ अनुपलभ्यमानत्वात् निर्वर्तनक्रियाकाले विवक्षितघटरूपकार्यं नास्ति इति मन्तव्यम् ”
 व्यापारे आ निश्चित भनी अर्थ छे तो ओ बात पक्ष आप भेजे भानी लेनी पडे छे के, काय चोत्ताना योग्य वचते ज भनीने तैयार थाय छे केभडे, ते स्थणे तेनी उपलब्धि थाय छे क्रियाकाल अने निष्ठाकाल आ अन्नेमां अत्यन्त बेड छे आ भाटे क्रियमाण कृत कही शक्य नही आ बात सर्वजनधी साक्षीभूत छे आ पांचमो सुद्धो. आ थयो जभाखिनो पूर्वपक्ष ॥ ५ ॥

आ प्रकारे जभाखि द्वारा स्थापित ओ पूर्वपक्षने सांभलीने स्थविराओ अप्युं के जभाखीभुनि भगवानना मार्गधी अखित थया छे अने ते भाटे तेओ तेभने कडेवा लाग्या के, छे आर्य ! विशेष वचन आप केम कहेओ छे ? रागद्वेषपरहित सर्वज्ञ अन भगवाननुं वचन अन्यथा यतु नधी तेमां दोषने अंश पक्ष समचित थतो नधी. साधारण पुरुषोनी भाइके ते मिथ्याभाषी पक्ष नधी. आपे ओ असत्कार्यवाइने

समये घटादि प्रारम्भ्यते, तस्मिन्नेव समये निष्पद्यते, मृदानयनतत्पिण्डविधान चक्रारोपणशिवकादियिधानादिभिश्चिरकालेनैव तदुत्पत्तिर्भवति ॥ ४ ॥

अस्तु दीर्घं कार्यनिर्वर्तनक्रियाकालः क्रियायाः प्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्यते, इति चेन्न, यदि क्रियाया प्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्येत, तर्हि तत् तत्रैवोपलभ्येत, न चारम्भसमय एव घटादिरूप कार्यं दृश्यते, नापि शिवक-स्यास-कोश-कुशलादिसमये दृश्यते । किंतु दीर्घक्रियाकालस्यान्ते घटादिरूप कार्यं दृश्यते, तस्मात् क्रियाया आरम्भकाले कार्यं निष्पद्यते, इति कथनं न युक्तम्, तस्म

अतः " जिस समय में घट का पनना प्रारंभ होता है वह उसी समय में पन जाता है " यह कहना अनुचित है । यह सौधा पक्ष है ॥४॥

यदि कोई फिर भी ऐसा कहे, कि कर्म को निर्वर्तन करने वाली क्रिया का काल भले ही अधिक हो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु क्रिया से जो कार्य निष्पन्न होना होता है वह उस क्रिया के प्रथम समय में ही निष्पन्न हो जाता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । कारण कि यदि क्रिया के प्रथम समय में ही कार्य निष्पन्न हो जाता है तो वह उस समय ही विखना चाहिये-परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, और न विवक्षित कार्य कोश कुशल शिवक स्यासक आदि समयों में प्रतीत होता है, किन्तु दीर्घक्रियाकाल के अन्त में ही निष्पन्न हुआ दिखलाई देता है । इसलिये ऐसा मानना कि क्रियाके आरंभकाल में ही घट बनकर तयार हो जाता है, यह कथमपि-किसी तरह भी युक्तियुक्त

प्रारंभ थायुं च ज्येष्ठसमये ते जनी न्ययुं च ज्येष्ठकहेतुं अनुचितं च भाष्ये। मुनीं च ॥ ४ ॥

ज्येष्ठकहेतुं इति पक्षे ज्येष्ठकहेतुं, कर्मने-निर्वर्तन करवावाणी क्रियानो-क्षण भवेत् अधिक डेय ज्येष्ठां अभने कहेतुं वधि नशी. परतु क्रियाशी ज्येष्ठ कार्यं निष्पन्न यत्तु ज्येष्ठज्येष्ठे ते ज्येष्ठ क्रियाना प्रथम समयप्रारंभ निष्पन्न जनी न्ययुं च तेम कहेतुं पक्षे हीन नशी कहेतुं, ज्येष्ठ क्रियाना प्रथम समयप्रारंभ कार्यं-निष्पन्न यत्तु न्ययुं च, ते ते ते समये च ज्येष्ठकहेतुं ज्येष्ठकहेतुं परतु ज्येष्ठ ते अनतुं नशी. अभने विवक्षित कार्यं, कहेतुं, कहेतुं, आकार, स्यासक आदि समयप्रारंभ प्रतीतं यतो नशी. परतु हीन क्रियाक्षणना अतर्भां च निष्पन्न यत्तु ज्येष्ठकहेतुं च भाष्ये "भाष्ये" ज्येष्ठकहेतुं मानिज्येष्ठे क्रियाना प्रारंभ कहेतुं न्ययुं च घट जनीने तेषां यत्तु न्ययुं च "ते ज्येष्ठकहेतुं इति भाष्ये" संशयं तेषु "भाष्ये

चेति दोषद्वय यदुक्त, तद् भवन्मतेऽपि शक्यते वक्तुम्, यथाऽस्मत्स्वीकृते कृत-
पक्षे दोषा भवता प्रदीयन्ते, तथा भवदङ्गीकृते अप्यकृतपक्षेऽपि एते दोषा आप-
वन्ति । तथाहि—यद्यकृतम्—(अविद्यमान) क्रियते, तर्हि नित्यमेव क्रियताम्, शश
विषाणकल्पस्यासत् करण क्रयस्यपरमेत । तादृशे कार्ये समुत्पाद्ये क्रियाया वैफल्य-
मपि तत्र दुर्वारम्, असत्. कदाप्युत्पत्त्यभावात् ।

इससे प्रथम तो करण-क्रिया की वहां कमी भी समाप्ति नहीं हो
सकती है १, दूसरा वहा करणक्रिया की विफलता भी आती है २ ।
जय पदार्थ स्वय मौजूद है तो वहा करनेरूप क्रिया सफलित कैसे हो
सकती है ? इस प्रकार कृत करण मानने पर आपने ये जो क्रिया की
असमाप्ति ? और क्रिया की विफलता २ ये दो दोष दिये हैं सो ये दोनों
दोष आपके मन्तव्य में भी आते हैं, और वे इस प्रकार से—यदि
“ अविद्यमान ही क्रिया जाता है ” यह बात ही एकान्तत स्वीकार की
जाय तो उसको भी नित्य ही होते रहना चाहिये, क्यों कि जो शश
विषाण की तरह सर्वथा असत् है उसकी करनेरूप क्रिया का विराम
कैसे हो सकता है । दूसरे असत् की जय उत्पत्ति ही नहीं होती है तो
असत्कार्य की उत्पत्ति में क्रिया की सफलता भी कैसे हो सकती है ? ।
वह तो वहा बिलकुल निष्फल ही होगी, क्यों कि उसकी उससे
उत्पत्ति तो हो नहीं सकती है, कारण वह असत् है इसलिये ।

अति प्रसंग प्राप्त थाय छे तेनाथी प्रथम तो करण क्रियानी त्या ठही पक्ष
समाप्ति यती नथी भीञ्च त्यां करण क्रियानी विक्षणता पक्ष आवे छे ? अन्यारे
पक्षार्थ स्वय भोबुद्ध छे तो त्यां करवाञ्च क्रिया क्षणीभूत केम यर्ध शके ? आ
प्रकारधी कृतने करण मानवाधी आपे ने क्रियानी असमाप्ति अने क्रियानी
विक्षणताञ्च जे दोष आपेव छे तो आ अन्ने दोष आपना मतव्यमां पक्ष आवे
छे अने ते आ प्रकारधी—जे “ अविद्यमान ज करवामा आवे छे ” आ बात
ज एकान्तत स्वीकार करवामा आवे तो तेने पक्ष नित्य ज अनी रडेवु ओधञ्चि
केमके, जे शशविषाणनी (सखखाना शी ग) भाइठ सर्वथा असत् छे तेना
करवाञ्च करवानो विशम कर्ध रीते होध शके ? भीअ असत्नी अन्यारे उत्पत्ति
यती नथी तो असत् कार्यनी उत्पत्तिमां क्रियानी सक्षणता पक्ष केवी रीते होध
शके ? जे तो तहन निष्कण ज यवानी केमके, तेनाथी उत्पत्ति तो अनी शकती
नथी. करण ते असत् छे भाटे

ધિત્યાઽસત્કાર્યવાદિનો ભવતાઽભિધીયતે, અકૃત સ્વલુ ક્રિયમાર્ગં ભવતીતિ, ત્વ
 ઘય સત્કાર્યવાદિનો દૂમઃ-નિષ્પમાણમેતદ્ભવદીયત્રચનમ્ । અકૃતમ્ (અધિષમાર્ગ)
 ઘટાદિકાર્યં ન ક્રિયતે, અસન્નાત્, આકાશકુમ્ભવત્ । યદિ અકૃતમ્ (અધિષમા
 નમ્) અપિ ક્રિયતે, તર્હિ શશવિષાણમપિ ક્રિયતામ્, અકૃતત્વાવિશેષાત્ (અધિષ-
 માનત્વાવિશેષાત્) । અપિ ચ-યે નિત્યકરણાદયો દોષા સત્કાર્યવાદે પ્રદવાસ્તે
 સ્વસ્વસત્કાર્યવાદેઽપિ તવ સન્તિ । વિદ્યમાને વસ્તુનિ કરણક્રિયાયા અંગીકારે પુનઃ
 પુનરનવરત કરણક્રિયાયા અતિપ્રસન્નાત્, ક્રિયાયા અપરિસમાપ્તિઃ ક્રિયાયા વૈકલ્યં

નહીં હૈં । આપને જો અસત્કાર્યવાદ કો લેકર કૃતકર્ક કા આશ્રય કરતે
 હુપ એસા કહા હૈ કિ-‘ કૃત ન ક્રિયતે કૃતત્વાત્, કૃતઘટવત્ ’ અર્થાત્-
 કૃત હોનેસે કૃત કિયા નહીં જાતા હૈ જૈસે કૃત ઘટ, અકૃત સ્વલુ ક્રિયમાર્ગ
 ‘ભવતિ ’ અર્થાત્ અકૃત હી ક્રિયમાણ હોતા હૈ સો આપકા યહ કથન કર્પચિત્
 સત્કાર્યવાદી હમલોગોં કે ચિત્ત મેં ઉતરતા નહીં હૈ ‘ભલા આપ કો યહ
 વિચારના વાહિયે જો સર્વથા અસત્ હોતા હૈ-દ્રવ્ય દષ્ટિ સે ‘મી જિસકી
 સત્તા કાયમ નહીં હૈ એસા અસત્ પદાર્થ ક’મી ‘મી નિષ્પન્ન નહીં હો
 સકતા હૈ । યદિ હસ પ્રકાર કા ‘મી પદાર્થ નિષ્પન્ન હોને લગે તો શશ
 વિષાણ કો ‘મી ઉત્પન્ન હોના વાહિયે । દુસરે દ્રવ્ય કી અપેક્ષા સત્ કો
 કાર્ય માનને પર જો આપને નિત્યકરણ હોને કી પ્રસક્તિરૂપ દોષ દિયે હૈ
 સો યે સમી દોષ આપકે અસત્કાર્યવાદ મેં ‘મી આતે હૈં, આપને જો
 યહ કહા હૈ કિ વિદ્યમાન વસ્તુ મેં કરનેરૂપ ક્રિયા કો અંગીકાર કરને
 પર પુન પુનઃ અનવરત ઉસ કરનેરૂપ ક્રિયા કા અતિપ્રસન્ન પ્રાપ્ત હોતા હૈ

સ્વીકારી કૃતકર્નેનો આશ્રય લઈને એવું કહ્યું છે કે, કૃત ન ક્રિયતે કૃતત્વાત્,
 કૃત ઘટવત્ અર્થાત્ કૃત થવાથી કૃત કરેલ મનાતું નથી એવી રીતે કૃત ઘટ,
 અકૃત સ્વલુ ક્રિયમાણ ભવતિ અર્થાત્ અપરિ અકૃત જ ક્રિયમાણ હોય છે. એથી
 આપનું આ કથન કથચિત્ સત્કાર્યવાદી અમારા હોકોના કિલમાં ઉતરતું નથી
 આપે એ વિચારવું ભેદ એ કે, જે સર્વથા અસત્ હોય છે દ્રવ્યદષ્ટિથી પણ એની
 સત્તા કાયમ નથી એવા અસત્ પદાર્થ કહી તૈયાર થઈ શકતા નથી. એ કહી
 આ પ્રકારના પણ પદાર્થ પુરા થયેલા માનવામાં આવે તો ખરવિષાણ (અધિકારને
 શીગડાં) પણ ઉત્પન્ન થવાં ભેદભે. દ્રવ્યની અપેક્ષા સત્ને કાર્ય માનવાથી
 જે આપે નિત્યકરણ હોવાનો પ્રશસ્તીરૂપ દોષ આપ્યો છે, તે સમજા હોય આપના
 અસત્કાર્ય વાદમાં પણ આવે છે આપે જે કોમ કહ્યું કે, વિદ્યમાન વસ્તુમાં
 કરવારૂપ ક્રિયાને અંગિકાર કરવાથી કરી કરી અનવરત એ ઠ

दुर्वारः, तथाहि—यदि पूर्वम् (कारणावस्थायाम्) असत् (अविद्यमान) कार्यं जायते, तर्हि मृत्पिण्डाद् कुम्भवत्, शशशृङ्गमपि जायमानं किं न दृश्यते, असत्त्वा विशेषात्? । अथ शशशृङ्गमुत्पद्यमानमपि न दृश्यते, तर्हि घटोऽपि तर्प्यवास्तु, उत्पद्यमानत्वाविशेषात् । अथवा—मृत्पिण्डात् पटोऽपि उत्पद्यताम्, असत्त्वाविशेषात् ॥३॥

अपेक्षा भी कार्य असत् है, और वह उससे उत्पन्न होता है तो जिस प्रकार मृत्पिण्ड से घट उत्पन्न होता है उसी तरह शशशृङ्ग भी उससे उत्पन्न होते दिखना चाहिये, क्यों कि जिस प्रकार मृत्पिण्ड में घट विद्यमान नहीं है उसी प्रकार शशविषाण भी वहा विद्यमान नहीं है फिर अविद्यमान की अविशेषता होने पर भी मृत्पिण्ड से घट ही क्यों उत्पन्न होता है शशशृङ्ग क्यों नहीं? । यदि इसके ऊपर ऐसा कहा जाय कि शशशृङ्ग भी मृत्पिण्डसे उत्पन्न होता है परन्तु वह दिग्बता नहीं है तो हम भी यह कह सकते हैं कि इसी तरह उससे जायमान घट भी नहीं दिखना चाहिये, अतः यह मानना ही चाहिये कि अपने कारण में किसी अपेक्षा कार्य रहा हुआ है तभी जाकर वह उससे ही उत्पन्न होता है अन्य से नहीं । नहीं तो फिर क्या है चाहे जिससे चाहे जैसा पदार्थ उत्पन्न होने लगेगा । ऐसी स्थिति में मृत्तिका से पट की भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी ॥ ३ ॥

अपेक्षाधी कार्य असत् छे अने ते अनाधी उत्पन्न थाय छे तो ते रीते भाटीना पिंडधी घट उत्पन्न थाय छे अने रीते असत्वाने शी गडां पक्ष थतां देभावां लेछे अे देभके ते रीते भाटीना पिंडमां घट विद्यमान नथी अे अे रीते असत्वाने पक्ष शी गडां विद्यमान नथी पछी अविद्यमाननी अविशेषता डोवाधी पक्ष मृत पिंडधी अे अे देभ उत्पन्न थाय छे? असत्वानां शी ग देभ नही? अे आ अगे अेभ हडेवामां आवे के, असत्वाना शिग पक्ष भाटीना पिंडधी उत्पन्न थाय छे परतु ते देभता नथी तो अमे पक्ष अेभ हडी शकीअे के, अे रीते अनाधी तैयार थनार घट पक्ष न देभावो लेछेअे आधी अे मानवुं लेछेअे के, पोताना कारवुमां केअे अपेक्षा कार्य रडेव छे त्यारे अे ते तेभाधी उत्पन्न थाय छे भीअधी नही अेभ न डोय तो पछी गमे ते शीअधी गमे ते पदार्थ उत्पन्न थवा लागेअे आवी स्थितिमां भाटीधी परनी पक्ष उत्पत्ति मानवी पडथे ॥३॥

आयुष्कमपुद्गलानर्जरेण, 'भवस्वप्ण' भवक्षयेण=दशभवसम्प्राधकर्मणां गत्यादीनां निर्जरेण ठिइस्वप्ण' स्थितिक्षयेण=देवभवसम्प्राध श्रीरावस्थान क्षयेण, अनंतरं चय=देवभवसम्बन्धिश्चरीर त्यक्त्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोत्पत्स्यते ? हे गौतम ! महाविदेहे वर्षे=महाविदेहक्षेत्रे सिञ्जिह्मिह्मि' सेत्स्यति सकलकार्यकारितया सिद्धो भविष्यति, बुञ्जिह्मिह्मि' भोत्स्यते=विमलकेषला लोकेन सकललोकालोक ज्ञास्यति, 'मुञ्चिह्मिह्मि' मोक्षयति=सर्वकर्मभ्यो मुक्तो भविष्यति, 'परिनिव्वाह्मिह्मि' परिनिर्वास्यति=समस्तकर्मकृतविकाररहितत्वेन स्वस्थो भविष्यति, 'सञ्चदुःखाणमत करेह्मिह्मि' सर्वदुःखानामत करिष्यति=समस्तल्लेशाना नाश विधास्यति, अव्याघाघमुखमोगी भविष्यतीत्यर्थ । अन्य

देवे ताओ देवलोयाओ आउक्स्वप्ण भवक्स्वप्ण ठिइक्स्वप्ण अणतर चय चइत्ता कर्हि गच्छिह्मिह्मि कर्हि उचवज्जिह्मिह्मि ?) इस प्रकार प्रभु के मुखारविन्द से मेघकुमार की उत्पत्ति का स्थान सुन कर गौतमने पुन उनसे यह पूछा कि हे भद्र ! अब ये मेघकुमार देव उस देवलोकसे आयु के क्षय से, भव के क्षय से, स्थिति के क्षय से देवभव सम्बन्धी शरीर का त्याग कर कहाँ जावेगे । कहाँ उत्पन्न होंगे ! (गोयमा ! महा विदेहे वासे सिञ्जिह्मिह्मि, बुञ्जिह्मिह्मि, मुञ्चिह्मिह्मि, परिनिव्वाह्मिह्मि सञ्चदुःखाण मत करेह्मिह्मि) इस प्रकार गौतम द्वारा पुन पूछने पर प्रभुने उनसे कहा— गौतम ये मेघकुमार देव महाविदेह में उत्पन्न हो कर वहीं से सिद्ध होंगे विमल केषल ज्ञानरूप आलोक से समस्तलोक और आलोक का ज्ञाता होंगे समस्त ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों से रहित होंगे, कर्मकृत समस्त विकारों से

आगर जेट्ठी स्थिति क्खेवाभां आवी छ (पसणं भसे मेहे देवे ताओ देवलो याओ आउक्स्वप्ण भवक्स्वप्ण ठिइक्स्वप्ण अणतर चय चइत्ता कर्हि गच्छिह्मिह्मि कर्हि उचवज्जिह्मिह्मि ?) आ प्रभाञ्जे मेघकुमारणी उत्पत्ति विषेणा स्थानणी वात साभणीने जीतमे इत्थी प्रश्न कथो—के छे—वात । मेघकुमार देव ते देवलोक्थी आयुष्य क्षयथी, भवक्षयथी, स्थितिक्षयथी देवभवना शरीरने त्याग करीने कथा कथे ? कथा उत्पन्न कथे ? (गोयमा ! महाविदेहे वासे सिञ्जिह्मिह्मि बुञ्जिह्मिह्मि, मुञ्चिह्मिह्मि परिनिव्वाह्मिह्मि, सञ्चदुःखाणमते करेह्मिह्मि) आ प्रभाञ्जे जीतमना प्रश्नने साभणीने प्रभुञ्जे तेभने क्खुं के-के जीतम ! आ मेघकुमार देव महाविदेहमा उत्पन्न कथने त्याथी सिद्ध कथे विमण अने देवणज्ञानरूप आलोकथी समस्तलोक अने आ लोकना ज्ञानुत्तरा कथे तेञ्जे समस्त ज्ञानावरण वगेरे आठ कथों रहित कथे अने विकारा रहित कथने स्वस्थता पामथे तेञ्जे जणां दु ज्ञाने नाश करथे

यनार्थमुपसहरन् आसुधमास्वामा जम्बूस्वामनमाः-एव खलु इ जम्बू।
 श्रमणेन भगवता महावीरेण आदिकरण तीर्थकरेण यावत्सप्राप्तेन आत्मोपा
 लम्भनिमित्त-आप्तेन हितेन गुरुणेत्यर्थ , विनेयम्याविहितविधायिन उपालम्भ-
 आत्मोपालम्भ तनिमित्त=तदर्थः प्रथमस्य ज्ञाताध्ययनस्य अर्थ=पूर्वोक्त =
 मेघकुमारचरितरूपोऽर्थ प्रज्ञप्त =प्रथित । अविधिप्रवृत्तस्य शिष्यस्य गुरुणा मोक्ष
 मार्गं स्थापनाय हितसारगर्भितवचनेन प्रतिबोधनम् उपालम्भ स दातव्य ,
 यथा भगवता दत्तो मेघकुमाराय, इत्येवमर्थं प्रथममध्ययनमिति भाव ॥

रहित होकर स्वम्य होंगे, ममस्त दु खों का नाश करेंगे अन्यायाध सुख के
 भाक्तादने मे अब मूत्रकार श्री सुधर्मास्वामी इस अध्ययन के अर्थ का उपसहार
 करते हुए श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं । (एव खलु जंबू । समणे ण भगवता महा-
 वीरेण आङ्गरेण तित्थगरे ण जाव सपत्तेण अप्पोपालभनिमित्त पदमस्स नायज्ज
 णस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्तिव्वेमि) कि हे जंबू । आदिकर तीर्थकर श्री श्रमण
 भगवान् महावीरने कि जो सिद्धिस्थान को प्राप्त हो चुके हैं अविहित
 विधायी शिष्य को आत्मोपालभनिमित्त यह मेघकुमार के चरित्ररूप प्रथम
 ज्ञाताध्ययन का अर्थ प्रज्ञप्त (प्ररूपित) किया है । अविधि में प्रवृत्त हुए शिष्य
 को गुरु देव मोक्षमार्ग में म्यापन करने के लिये जो हित सारगर्भित वचनों
 द्वारा समझाया है। इसी का नाम आत्मोपालभ है । आत्मजन के द्वारा दिया
 गया उपालभ यही आत्मोपालभ का अर्थ है । मेघकुमार के साथ यही
 कार्य प्रसुन किया है। यही विषय इस अध्ययन द्वारा समझाया गया है।
 अत इस अध्ययन का नाम भी आत्मदत्त परोपलंभ है । स्वोपालभ परोपालंभ

अने अव्यायाध मुपने योगवनाश थये. अहीं हवे सत्कार श्री सुधर्मा स्वामी आ
 अध्ययनना अर्थेना उपसहार करता जम्बूवासीने कहे छ (एव खलु जंबू ! सम
 णेण भगवता महावीरेण आङ्गरेण तित्थगरेण जाव सपत्तेण अप्पोपालभ
 निमित्तं पदमस्स नायज्जणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्तिव्वेमि) हे जंबू आदिकर तीर्थ
 कर श्री श्रमण भगवान् महावीरने मेघे सिद्धिस्थानने मेणस्यु छ-जेवा तेमहे अवि-
 हित विधायी शिष्यने आत्मोपालभना भाटे आ मेघकुमारना आश्रित्त्तु प्रथम ज्ञाताध्य-
 यनने अर्थं प्ररूपित कथी छ अविधिमा प्रवृत्त थयेल शिष्यने गुरुदेव मोक्षमार्गमा
 वाणवा भाटे जे हितसार युक्त वचनेन दाश समजवे छ ते आत्मोपालभ कहेवाय छ
 आत्मजन वटे आपवाभां आवेले उपालभ जे जे आत्मोपालभने अर्थ छ मेघकुमारनी
 साथे पद्य भगवाने आ प्रभासे जे अवहार कथी छ आ अध्ययन द्वारा जे जे
 विषय समजववामां आव्ये छ जेथी आ अध्ययनतु नाम 'आप्तदत्त परोपालभ'

आयुष्कर्मपुद्गलानिर्जरणेन, 'भवस्वप्ण' भवक्षयेण=देवभवसम्पर्धाधिकर्मणां गत्यादीनां निर्जरणेन ठिक्स्वप्ण' ध्यितिक्षयेण=देवभवसम्पर्धाधिकशरीरावस्थानक्षयेण, अनन्तरं चय=देवभवसम्बन्धिश्चरीरं त्यक्त्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोत्पत्स्यते ? हे गौतम ! महाविदेहे वर्षे=महाविदेहक्षेत्रे सिञ्जिह्विह्वि' सेत्स्यति सकलकार्यकारितया सिद्धो भविष्यति, बुञ्जिह्विह्वि' भोत्स्यते=विमलकेशला लोकेन सकललोकालोक ज्ञास्यति, 'मुञ्चिह्विह्वि' मोक्षयति=सर्वकर्मभ्यो मुक्तो भविष्यति, 'परिनिष्वाह्विह्वि' परिनिर्वास्यति=समस्तकर्मकृतविकाररहितत्वेन स्वस्थो भविष्यति, 'सव्वदुःखाणमत करेह्विह्वि' सर्वदुःखानामन्त करिष्यति=समस्तकेशानां नाश विधास्यति, अव्याघाघसुखभोगी भविष्यतीत्यर्थ । अन्य

देवे तामो देवलोयाओ आउक्स्वप्ण भवक्स्वप्ण ठिक्स्वप्ण अणन्तर चय चइत्ता कर्हि गच्छिह्विह्वि कर्हि उव्वज्जिह्विह्वि ?) इस प्रकार प्रभु के मुखारविन्द से मेघकुमार की उत्पत्ति का स्थान सुन कर गौतमने पुन उनसे यह पूछा कि हे भद्र ! अब ये मेघकुमार देव उस देवलोकसे आयु के क्षय से, भव के क्षय से, स्थिति के क्षय से देवभव सन्धी शरीर का त्याग कर कहाँ जावेगे । कहाँ उत्पन्न होंगे ! (गोयमा' महा विदेहे वासे सिञ्जिह्विह्वि, बुञ्जिह्विह्वि, मुञ्चिह्विह्वि, परिनिष्वाह्विह्वि सव्वदुःखाण मत करेह्विह्वि) इस प्रकार गौतम द्वारा पुन पूछने पर प्रभुने उनसे कहा- गौतम ये मेघकुमार देव महाविदेह में उत्पन्न हो कर वहीं से सिद्ध होंगे विमल केशल ज्ञानरूप आलोक से समस्तलोक और आलोक का ज्ञाता होंगे समस्त ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों से रहित होंगे, कर्मकृत समस्त विकारों से

आन्तर अट्टथी स्थिति क्खेवाभा आवी छ (एसण मत्ते मेहे देवे तामो देवलो याओ आउक्स्वप्ण भवक्स्वप्ण ठिक्स्वप्ण अणन्तर चय चइत्ता कर्हि गच्छिह्विह्वि कर्हि उव्वज्जिह्विह्वि ?) आ प्रभाञ्जे मेघकुमारणी उत्पत्ति विपेणा स्था न्नी वात सावणीने औतमे इरी प्रश्न कथे-केहे-अठत् । मेघकुमार देव ते देवलोक्थी आयुष्य क्षयथी, भवक्षयथी, स्थितिक्षयथी देवभवन्ध शरीरने त्याग करीने कथा अथे ? कथा उत्पन्न अथे ? (गोयमा ! महाविदेहे वासे सिञ्जिह्विह्वि बुञ्जिह्विह्वि, मुञ्चिह्विह्वि परिनिष्वाह्विह्वि, सव्वदुःखाणमत ते करेह्विह्वि) आ प्रभाञ्जे गौतमना प्रश्नने सावणीने प्रभुञ्जे तेभने क्खुं केहे गौतम ! आ मेघकुमार देव महाविदेहमा उत्पन्न अथने त्याथी सिद्ध अथे विमण अने केवणज्ञानरूप आलोक्थी समस्तलोक्क अने आ लोक्कना वल्लुनारा अथे तेञ्जे समस्त ज्ञानावरण वगेरे आठ कर्मों रहित अथे अने विकारा रहित अथने स्वस्थता पाअथे तेञ्जे अथा दु जेने नाथ करथे

तदुभयोपालम्भो यथा—

अज्ञानिनोऽमी निजजीवितस्य,
हेतो किमर्थं बहु जीव कोटीः ।

संस्थापयन्तीह च दुःखगर्णे

किं जीवनं शाश्वतमस्ति तेषाम् ? ॥ ३ ॥

अत्र आसृजतपरोपालम्भाधिकारः—

अयमत्राभिप्रायः—मातरत्नत्रयक्षणस्य विचक्षणस्यापि विनेयस्य प्रमाद
वशतस्खलनाया सत्या त मन्मार्गे स्थापनाय भगवता मेघमुनेरिव गुरुणो
पालम्भो देय इति ।

परोपालभ में अविधि में प्रवृत्त हुए जीव को गुर्वादि आप्त जन सम-
झाते हैं—जैस हे वत्स । तुम्हारा जन्म विशुद्ध वश में हुआ है, और तुम
जिनेन्द्र प्रभु के धर्म में दीक्षितरूप हो । सदा तुम उत्तम ज्ञानादि गुणों से
युक्त हो रहे हो—तो फिर ऐसी क्या पात है जो तुम सइमा इस प्रकार
के अविहित कार्य में प्रवृत्ति करने की ओर झुक रहे हो । यह कार्य तुम्हें शोभा
नहीं देता है अतः इससे विरक्त होकर विहित कर्तव्य की ओर ही प्रवृत्ति करो ॥२॥

तदुभयोपालभमें इस प्रकार बोध दिया जाता है—ये अज्ञानी जीव
अपने स्वयं के जीवन के लिये अनेक जातों की कोटियों को दुःखरूपी
खड्के में न मालूम क्यों पटकते रहेते हैं । तो क्या वे अपने जीवन को
शाश्वत मान रहे हैं ॥ ३ ॥

मेघकुमार को महावीर प्रभुने जो यह उपालम्भ दिया है—वह परोपा-
लम्भ रूप है । जिस अपने सिष्यने रत्नत्रयरूप मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर

परोपालभ अविधिमा प्रवृत्त यदा एवने गुरु वगेरे आप्तजनो समभावे छे-
नेमडे छे जेदा । तमारो जन्म विशुद्ध वशमा यथे छे अने तमे जिनेन्द्र प्रभुनी
दीक्षा पाय्या छे इमेथा तमे श्रेष्ठज्ञान वगेरे गुणोधी मुक्त यथ रक्षा छे,
तो पछी जेवु शु यथ गयु छे अकदम तमे आ जातना न करवा योअ
(अविहित) कार्यमा प्रवृत्ति करवा तैयार यथा छे आ काम तमने शोभतु नथी
अटवे जेनाथी वि क्त यधने विहित (विहित) कर्तव्यमा प्रवृत्त याओ ॥२॥

तदुभयोपालभमा आ प्रभावे बोध अपाय छे—के आ अज्ञानी एवो योताना
एवने भाटे यथा एवोने दु अरुपी आश्रमां डेम नाभता रहे छे ? शु जेवा भासुओ
योताना एवनेने शाश्वत मानीने जेका छे ॥३॥

मेघकुमारने महावीर प्रभुजे ने उपालभ आय्ये छे ते परोपालभ छे जे सिष्ये
रत्नत्रय रूप मुक्तिमार्ग भेज्ये छे, अने इवे प्रभादवश यदा ते मुक्तिमार्गधी अष्ट

स्वोपालम्भो यथा—

लब्ध्वा जनुर्मानुपमघ्न दुर्लभ,

रे जीव ! कल्पदुर्मवत्तममोदम् ।

जिनेन्द्रधर्मं न करोपि सादर,

स्वस्यात्मन शृणु रहो ! परोऽस्तिकः ? ॥ १ ॥

परोपालम्भा यथा—

विशुद्धवशे च तवास्ति जन्म,

मिनेन्द्रधर्मं खल्व् दीक्षितोऽसि ।

सदोत्तमज्ञानगुणाढ्य ! वत्स ।

कथं त्वमेवं सदसा प्रवृत्तः ? ॥ २ ॥

तथा तदुभयोपालम्भ के भेद से उपालम्भ प्रकार का कहा गया है—स्वोपालम्भ में जीव अपने आपको उपालम्भ देता है—जैसे—जब किसी अविहित कार्य में प्रवृत्ति करता हुआ जिनेन्द्र धर्म में प्रवृत्ति नहीं करता है—तब अपने आप अन्तरात्मा से जो एसी आवाज आती है कि हे जीव इस परिश्रम रूप स्तार में किसी बड़े मारी पुष्प के उदय से तुझे यह मनुष्य भव प्राप्त हुआ है—सो इसमें यदि कोई प्रमोददायक वस्तु तुझे मिली है तो वह एक जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित धर्म ही है। तू जिस तरह अर्थ संसारिक कार्यों को बड़े आदर के साथ करता है उसी तरह इसे क्यों नहीं करता। याद रख यदि इसके करने से तू बचिब हो रहा है तो तू स्वयं निज का शत्रु है दूसरा नहीं है। (१॥

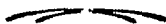
छ—स्वोपालम्भ, परोपालम्भ तेमल तदुभयोपालम्भना बोधधी उपालम्भना त्रषु प्रकार कहेवाभा आव्या छि. स्वोपालम्भमा मायुस पोतानी बतने उपालम्भ आपे छि जेभडे लव ल्यादे कोष्ठ अविहित (न कस्या योय्य) कर्धमा प्रवृत्ति करत जेनेन्द्र धर्ममा प्रवृत्त यतो नथी त्यादे पोतानी भेगेल अन्तरधी जे अवाज उठे छि के छे लर। आ परिश्रमवृत्त ससारमा कोष्ठ महा पुश्यना उदयधी तने मनुष्यभव मल्ये छि. आ भव जे कर्ध ल्येक प्रमोद आपनारी वस्तु तने मणी छि ते कर्ध जेनेन्द्र देव पठे प्रतिपादित धर्म ल छि तु जेस जीव संसारिक कामे बहुल पुरीधी करे छि तेम तु आ धर्ममा प्रवृत्त केम यतो नथी ? अरोअर याद राभने के आ धर्ममा तु प्रवृत्ति करीय नहि, तो तु पोते पोतानी बतने शत्रु जनी जये छि ताये जीवे कोष्ठ शत्रु नथी ॥१॥

जो यह सप्रह गाथा उद्धृत की गई है—उमरा अमिप्राय यह है—जो मृतके
अभिलाषी है उनका यह प्रधान कर्तव्य है कि वे श्रुतज्ञान का अविनय
न हो ऐसा सदा ध्यानमें रखें । अपने मनसे कल्पित कर आगम
की कोई बात न कहे वरों कि छप्रस्यावस्थामे दृष्टि शर्ण
रहती है यही विषय (त्तिवेमी) इन पदों से सूचित किया
गया है ।

जैनाचार्ये जैन धर्मद्विवाकर पूज्य श्री चासीलालजी महाराज कृत
प्राताधर्मरूपागमूनकी अनगारधर्माभंगिणीटीका के
उत्क्षिप्त नामक प्रथम अध्यायन सपूर्ण ॥ १ ॥

मे तमने कथ्ये छे आ अर्थ विषे ने आ अशङ्कगाथा टाकवाभा आवी छे तने
अभिप्राय आ प्रभाष्ये छे हे-ने सुजनी छ्यछा धरावे छे तेमनी आ सुष्य इये इरव
होय छे के तेआधी सुतज्ञानने अविनय थाय नहि आ विषयभा हभियां सावसेत
रहे. पोताना मनथी कन्धीने आगमनी दोध वात कहे नहि. केभके छप्रस्थावस्थाभा दृष्टि
अपूर्व रहे छे, अेव विषय (त्तिवेमि) पदोधी सूचववाभा आये छे.

जैनाचार्ये जैनधर्म द्विवाकर पूज्य श्री चासीलाल महाराज कृत
प्राता धर्मरूप अगमूनकी अनगारधर्माभंगिणी टीका
उत्क्षिप्त नामक प्रथम अध्यायन सपूर्ण ॥ १ ॥



ति वेमि' इति=उक्तं तत्र यत्रा तीर्थं रस्य भगवतो महावीरस्य
 सकाशान्मया श्रुतं न तु स्वचुद्धया कल्पितं, यतः स्वचुद्धया कथने भुव
 ज्ञानस्य चिनयो भवति, किं च छद्मस्थानां दृष्टयोऽप्यपूर्णा भवन्ति, तस्माद्
 यथा भगवत्प्रतिपादितमेव तत्रा व्रवीमि=उपदिशामीत्यर्थे इहार्थे च यः समग्रगाथा—

सुभ्रमणस्स अविणओ परिहरणिज्जो परिहरणिज्जो सुहाडिलामीदिं ।
 छउमत्याण दिट्ठी, पुष्णा णत्थिचि सइय इइणा ॥ इति ॥ सूत्र ५० ॥

॥ इति श्री विश्वधिरूपाय जगद्गुरुभक्तसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषाकल्पितकल्पित
 कलापालापक-प्रविशुद्धगद्यधनैः प्रग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक श्री

शाह छत्रपति कोरहापुरराजप्रदत्त-जैनशास्त्राचार्य'-पद
 भूषित-कोरहापुरराजगुरु घालब्रह्मचारि जैनाचार्य-

जैनधर्मदिवाकर=प्रज्यधी घासीलालप्रति-विर

चितायां श्री ज्ञानार्धकथासूत्रस्याऽनगार

धर्मासुखविणी टीकायाम् उक्ति

सनामक प्रथममध्ययन

समाप्तम् ॥१॥

लिया है, और यह अर्थ प्रमादधनवर्षी होकर उससे स्तुतित हो रहा है-
 या ही बुद्धा है- तो उसे पुनः सन्मार्ग में स्थापित करने के लिये गुरु
 महाराज का कर्तव्य है कि वे उसे उपालम्भ करें । जिस प्रकार महावीर
 प्रभुने मेघकुमार मुनिराज को दिया है (तिवेमि) इस प्रकार यह उक्त
 रूप तत्र जिस तरह तीर्थंकर भगवान महावीर प्रभुके पाससे मैंने सुना
 है, उसी तरह यह तुमसे कहा है । अपनी बुद्धिसे कल्पित कर यह नहीं
 कहा है । क्योंकि कि बुद्धिसे कल्पित कर कहनेमें भुव ज्ञान की आशा
 लना होती है दूसरी बात यह भी है कि छद्मास्थजिओं की दृष्टियां
 अपूर्ण होती हैं । अतः वे प्रभु का पूर्णरूप प्रतिपादित नहीं कर सकतीं
 हैं । इस लिये प्रभु प्रतिपादित अर्थ ही यह तुम से कहा है । इस अर्थमें

यद्य रक्षो छे, अथवा तो ते मुक्तिभागींथी अथ यद्य रक्षो छे जेवी व्यक्तिते
 करी सन्मार्गभा वाणवा भाटे शुभमहाराजनी इत्ये छे के तेने उपालभ आप्थे. ने
 प्रभाज्जे प्रभुज्जे मुनि । अ मेघकुमारने उपालभ आप्थे छे. (तिवेमि) अ रीते उक्त
 शक्त तत्र मे जेवी रीते तीर्थंकर भगवान महावीरनी पासेथी सालज्जु छे तेवी
 अ रीते मे तमने क्खुं छे मे पेतानी बुद्धिथी कथ्थना करीने क्खुं नथी केभके
 बुद्धिथी कल्पितकरीने कहेवाथी भूतज्ञाननी आशातना होय छे नील वाव जे छे
 के उचस्य लोवानी दृष्टिज्जे अप्पुल्लं होय छे जेटता भाटे प्रभु प्रतिपादित अर्थ अ

ज्ञाताध्ययनस्य कोऽर्थं पश्य १ । श्री सुधर्मास्वामी जम्बूध्वामिनमाह

‘एव खलु जम्बू’ ति-एव खलु जम्बू ! तस्मिन् काले त समये राजगृ नाम नगरमासीत् वर्णरु , तस्य खलु राजगृहस्य न वहिरुत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे गुणशिलक नाम चैत्यमासीत् वर्णरु , तस्य

इस अध्ययन का पढ़िछे अध्ययन के साथ इस प्रकार सपन्य रहा है-कि पढ़िछे अध्ययन में यह विषय समझाया गया है कि अनुचित म प्रवृत्त हुए शिष्य को गुरु का कर्तव्य है कि वह उसे उपालभ त इस अध्ययन में यह समझाया जावेगा कि मैं तथा अनुचित मार्ग में होते हैं उन्हें अपने अपने कृत कर्मानुसार अर्थ तथा अनर्थ की प्राप्ति पर भोगनी पड़ती है। इसी निमित्त से यह अध्ययन पढ़िछे के बाद प्र क्तिया गया है इस अध्ययन का यह प्रथम सूत्र है-‘जङ्घ मते ! इत्यादि

टीका—जंबू स्वामी सुधर्मा स्वामी से पूछते हैं—(मइ) यदि (ण) नि से (म ते) हे मइत ! (समणेण भगवया महावीरेण पढमस्स नायज्झयण अयमद्वे पण्णो) श्रमण भगवान् महावीरने प्रथम ज्ञाताध्ययन का यह पू अर्थ प्रदिपादित किया है तो (यीयस्सण मते ! नायज्झयणस्स के अद्वे पण्ण द्वितीय ज्ञाताध्ययन का उन्होंने क्या भाव अर्थ कहा है ? इस प्रकार स्वामी के पूछने पर श्री सुधर्मा स्वामीने उनसे कहा—(एव खलु ज हे जंबू मुनीं-इस प्रकार है—(तेण कालेण तेण सदण रायगिहे नाम न इत्या) उस काल उस समय में राजगृह नामका नगर था (वन्नओ) इस

अध्ययनने पढ़ेला अध्ययननी साथे सभंधे आ रीते छे-के पढ़ेला अध्ययनमा विषयतु स्पष्टीकरषु करवाभा आओ छे के अनुचित भागभा प्रवृत्त शिष्यने युदुनी करण छे के ते तेभने उपायस आये आ अध्ययन वडे सभभववामा आ के ने अनुचित अथवा तो उचित भागभा प्रवृत्त थाय छे, तेभने मोताना क कभो अनुसार अर्थ तेभण अनर्थनी प्राप्ति परप । लोगववी पडे छे आ करण आ अध्ययन पढ़ेला अध्ययन पछी आरभवामा आओ छे आ भीअ अध्यय पढ़ेछे सत्र आ छे—‘जङ्घ मते ! इत्यादि !

टीकाथ-जंबूस्वामी सुधर्मास्वामीने पूछे छे—(जइ) ओ (ण) निश्चित रूपे (मते) उभक्त । (समणेण भगवया महावीरेण पढमस्स नायज्झयणस्स अयमद्वे पण्ण श्रमण भगवान् महावीर पढ़ेला ‘ज्ञाताध्ययन’ ने अर्थ उपर कइया सुण्ण र क्यो छे, तो (यीयस्सण मते ! नायज्झयणस्स के अद्वे पण्णते) भीअ ज्ञाताध्ययन तेभण्णे कइ रीते भावार्थ सभभव्यो छे ? जंबूस्वामीने आ प्रश्नने प्रश्न सावण भी सुधर्मास्वामीने तेभने कइ के (एव खलु जंबू) के जंबू तपारा प्रश्नने जंबू

अथ द्वितीयमध्ययन प्रारभ्यते

व्याख्यात प्रथमोध्ययन, साम्प्रत द्वितीयमारभ्यते, अस्य पूर्वेण सहाऽ
यमसिम्बन्ध - पूर्वस्मिन्नध्ययने भगवताऽनुचितमार्गप्रवृत्तस्य शिष्यस्योपा
लम्भः प्रोक्तः, अथ तु अनुचितोचितमार्गप्रवृत्तानामनर्थावर्धमाप्तिपरम्परा
प्रोच्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायावस्यास्येदमादिमधुप्रम् ।

मूलम्—जइ ण भते ! समणेण भगवया महावीरेणं पढमस्स
नयज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते वीयस्स ण भते ! नायज्झयणस्स के
अट्ठे पन्नत्ते ? एव खल्लु ! जव्वु ! तेण कालेण तेण समएण रागगिहे
णाम नयरे, होत्था वन्नओ तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स वहिया
उत्तरपुरत्थिमे 'दिसीभाए गुणसिलए नाम चेइए होत्था वन्नओ,
तस्सणं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदुरसामते एत्थणं मह एगे जि
ण्णुज्जाणे यावि होत्था, विणट्ठेदेवउले परिसड्ढियतोरणघरे
नाणाविहगुच्छगुल्मलयावह्खिवच्छच्छाइए अणेगवालसयसकणिज्जे
यावि होत्था । तस्सणं जिन्नुज्ज णस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थण मह
एगे भग्गकूवए यावि होत्था, तस्सणं भग्गकूवस्स अदुरसामते एत्थणं
मह एगे मालुया कच्छए यावि होत्था, किण्हे किण्होभासे जाव रम्मे
महामेहनिरवभूए बहुहि रुक्खेहि य गुच्छेहि य गुम्मेहि य लय हि य
वह्खीहि य कुसेहि य खाणुएहि य सच्छन्ने पलिच्छन्ने अतो ह्खुसिरे बहि
गमीरे अणेग वालस सकणिज्जे यावि होत्था ॥सू०१॥

टीका—'जइण भते !' इत्यादि—यदि खल्लु भदन्त ! अमणेन भगवता
महावीरेण प्रथमस्य ज्ञाताध्ययनस्य, अयमर्थः प्रकृत द्वितीयस्य खल्लु भदन्त !

दूसरा अध्ययन प्रारम्भ

प्रथम अध्ययन संपूर्ण हो चुका है अब द्वितीय अध्ययन प्रारंभ

वीथु अध्ययन प्रारंभ

पछेले अध्ययन पुरे धरं जसु छे इवे वीथु अध्ययन शुरु कया छे आ

ज्ञाताध्ययनस्य कोऽर्थं प्रश्न १ । श्री सुधर्मास्वामी जम्बूध्वामिनमाह-

‘एव खलु जम्बू’ चि-एव खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृह नाम नगरमासीत् वर्णकः, तस्य खलु राजगृहस्य नगरस्य वद्विरुत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे गुणशिल्क नाम चैत्यमासीत् वर्णक, तस्य खलु

इस अध्ययन का पहिले अध्ययन के साथ इस प्रकार सन्ध रहा हुआ है-कि पहिले अध्ययन में यह विषय समझाया गया है कि अनुचित मार्ग में प्रवृत्त हुए शिष्य को गुरु का कर्तव्य है कि वह उसे उपालम्भ देवे । इस अध्ययन में यह समझाया जावेगा कि मैं तथा अनुचित मार्ग में प्रवृत्त होते हैं उन्हें अपने अपने कृत कर्मानुसार अर्थ तथा अनर्थ की प्राप्ति पर परा भोगनी पडती है । इसी निमित्त से यह अध्ययन पहिले के बाद प्रारम्भ किया गया है इस अध्ययन का यह प्रथम सूत्र है ‘जङ्घण मते ! इत्यादि ।

टीका—जयू स्वामी सुधर्मा स्वामी से पूछते हैं—(जङ्घ) यदि (ण) निश्चय से (मते) है मत्त ! (ममणेगं भगवया महावीरेण पद्मस्स नायज्जयणस्स अयमद्वे पण्णत्ते) श्रमण भगवान् महावीरने प्रथम ज्ञाताध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ प्रदिपादित किया है तो (वीयस्सण मते ! नायज्जयणस्स के अद्वे पण्णत्ते) द्वितीय ज्ञाताध्ययन का उन्होंने क्या भाव अर्थ कहा है ? इस प्रकार जयू स्वामी के पूछने पर श्री सुधर्मा स्वामीने उनसे कहा—(एव खलु जयू) हे जयू सुनों—इस प्रकार है—(तेण कालेणं तेण समएण रायगिहे नाम नयरे इत्या) उस काल उस समय में राजगृह नामका नगर था (वन्नओ) इसका

अध्ययनना पड़ेला अध्ययननी साथे सन्ध आ रीते छे-के पड़ेला अध्ययनभा आ विषयतु स्पष्टीकरखु करवाभा आव्यु छे के अनुचित भागभा प्रवृत्त शिष्यने भाटे थुनुनी करख छे के ते तेमने उपालम्भ आपे आ अध्ययन वडे समभववाभा आवये के ने अनुचित अथवा तो उचित भागभा प्रवृत्त थाय छे, तेमने पीताना करेलां कभो अनुसार अर्थ तेमज् अनर्थनी प्राप्ति परप । भोगववी पडे छे आ करखुथी के आ अध्ययन पड़ेला अध्ययन पछी आरभववाभा आव्यु छे आ भीज अध्ययनने पड़ेले सत्र आ छे—‘जङ्घण मते’ ! इत्यादि !

टीका—जम्बूस्वामी सुधर्मास्वामीने पूछे छे—(जङ्घ) जो (ण) निश्चित रूपे (मते) है मत्त । (समणेण भगवया महावीरेण पद्मस्स नायज्जयणस्स अयमद्वे पण्णत्ते) प्रथम भगवान् महावीर पड़ेला ‘ज्ञाताध्ययन’ ने अर्थ उपर कहेल मुज्ज्ज स्पष्ट क्यो छे, तो (वीयस्सण मते ! नायज्जयणस्स के अद्वे पण्णत्ते) भीज ज्ञाताध्ययनने तेमजे कर्ष रीते भावाध समभवयो छे ? जम्बूस्वामीने आ प्रश्नने प्रश्न सावणीने श्री सुधर्मास्वामीजे तेमने कहे के (एव खलु जयू) हे जयू तभारा प्रश्नने जवाब

गुणशितकस्य चै यस्य 'अदूरसामते' नातिदूर नात्यासन्न, अप्र म्वत्तु महदेक जीर्णोद्यानं चाप्यासीत्, तन्कीदृशमित्याह-'विणट्टदेवउळे' विनट्ट देवकुल-विनट्टव्यन्तरायतन, 'पडिसडियतोरणपरे' परिशटिततोरण पट्ट-परिशटिता नि नट्टप्रायाणि त्राणानि परिशरीराणि गृहाणि, माकार दारव्यन्तरायतनसम्भन्धीनि गृहाणि यत्र तत्तया । 'नाणविहगुच्छगुम्मलया वल्लिवच्छच्छाए' नानाविधगुच्छगुल्मलयावल्लीवृक्षच्छाया-त-नानाविधा ये गुच्छा =कार्पासी जपाकुसुमप्रभृतय, गुवना.=गुजानी प्रभृतय, लनाः अशोकलतादयः, वश्य =प्रपुपीप्रभृतय वृक्षा =आम्राद्य वैश्यादित उत्तया । 'अणेगवालमयसकण्डिज्ज' अनेकग्यालगतशङ्कनीयम्, अनेकै =नानाविधै व्याल श्वै =सर्पादि श्वापदशतै शङ्कनीय=मवावह चाप्यासीत् ।

वर्णन पहिले क्रिया गया है। (तस्स ण रायगिहस्स नयरस्स पहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए नाम चेइए हात्या) उस राजपट्ट नगर के बाहर की ओर उत्तर पूर्व के दिग्दिशा में अर्थात् ईशानदिशा में गुणसिलक नामका उद्यान था। (वन्नओ) इसका वर्णन पहिले क्रिया गया है। (तस्स ण गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामते एत्यण महएगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था) उस गुणशीलक उद्यान के न अति समीप और न अति दूर एक और भी बड़ा भारी जीर्ण उद्यान था। (विणट्टदेवउळे परिशडियतोरणपरे नाणाविहगुच्छगुम्मलयावल्लीवच्छच्छाए अणेगवालमयसकण्डिज्जे या वि होत्था) इसमें जो देवकुल या वह कमी का नष्ट हो चुका था।

आभये-(तेण काळेण तेण समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था) ते कामे अने ते समये राजकुल नामे ओके नगर इत्त (वन्नओ) ते नगरत्त वल्लिन पडेल्लां करवाभा आभु छे (तस्स ण रायगिहस्स नयरस्स पहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए नामं चेइए होत्था) राजकुल नगरत्ती अकार उत्तर पूर्व दिशाभा ओटले ईशानदिशाभा गुणशीलक नामे उद्यान इत्ते। (वन्नओ) आ उद्यानत्त वल्लिन पडेल्लां करवाभा आभु छे (तस्सगं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामते एत्यण महएगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था) गुणशीलक उद्यानत्ती वधारे पासे पल्लु नडि अने वधारे दूर पल्लु नडि ओवु ओके भीन्ने अत्त उद्यान इत्त (विणट्टदेवउळे परिशडियतोरणपरे नाणाविहगुच्छ गुम्मलयावल्लीवच्छच्छाए अणेगवालमयसकण्डिज्जे यावि होत्था) आभात्त देवकुल अतसयन क्यारत्त ओे नाथ पाभ्यु इत्त देवकुलने अर्धं अर्धी अन्तरत्त आयतन

तस्य खलु जीर्णोद्यानस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र खलु महानेको भग्नज्वाधामीन तस्य खलु भग्नरूपस्य अदूरसामते अत्र खलु महाने 'मालुया कच्छए' मालुया कक्षक मालुका एकास्थिफल वृषविशेषास्तेषा कवह = गन् वनम् चाप्यासीत् । मकोदश १ इत्याह—'किण्हे किण्हे भासे' कृष्ण कृष्णावभाम, तत्र—कृष्ण = कृष्णवर्ण-

देवकुल का अथ यहां व्यतर का आयतन है । इस व्यन्तरायतन संयन्धी जिनने घर थे उन सके भी यहाँ पहिर्द्वार नष्टप्राय हो चुके थे । यह जोर्ण उद्यान अनेक प्रकार के गुच्छों से कपास के जपा पुष्पों आदि के गुच्छों से—वसजाली आदि गुल्मी से अशोकलता आदि लनाओं से त्रयुगी (करुड़ो) आदि वेगैले, आम्र आदि वृक्षा से, आच्छादित हो रहा था । इसमें अनेक प्रकार के सँकड़ों सर्प इधर से ऊधर फिरते रहते थे अतः उनके द्वारा यह विशेष भयकर घना हुआ था । (तस्स ण जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्झदेशभाए एत्थ ण मह एगे भग्गकूवए यावि होत्था) इस जीर्ण उद्यान के ठीक मध्य भाग में एक बड़ा भारी भग्न जीर्ण हुआ कुआँ मौ था (तस्स ण भग्गकूवस्य अदूरसामते एत्थ ण मह एगे मालुया कच्छए यावि होत्था) उस भग्न कुएँ के न अति समीप और न अति दूर—पास में मालुका वृक्षों का बहुत बड़ा गहन वन था । एकास्थिरुत्त पाठे वृक्ष विशेषों का नाम मालुका है (किण्हे किण्हे भासे जाव रम्मे महामेहनिउरं वभूए यहूर्हि कक्खे हि य गुच्छे हि य गुम्मे

ॐ आ व्यन्तरायतनना बेटला घर इत्यां, ते उद्याना भङ्गारना इत्याना नष्टप्राय थथ गथा इत्या ब्बुत्त उद्यान धव्वी ज्ञानना गुच्छे—बेटले हे वल्लु अने ज्वापुष्प वगेरेना गुच्छे—वसजाली वगेरे गुम्मे अशोकलता वगेरे लताओ, त्रयुगी (करुडी) वगेरेनी वेवे, आम्र वगेरे वृक्षाथी ढक्खेवेला इतो. धव्वी ज्ञानना सेठये साप आ उद्यानमा आभथी तेम विचरता रहता इता ओथी आ उद्यान सविशेष भयकर लागतु इतु (तस्सण जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्झदेशभाए एत्थण एगे भग्गकूवए यावि होत्था) आ ब्बुत्ता उद्याननी ठीक वच्चोवच्च्य ओक्क मोटो भग्गकूप नामे ओक्क लुक्कं थयेवे। वूवेला इतो (तस्स ण भग्गकूवस्स अदूरसामते एत्थण मह एगे मालुया कच्छए यावि होत्था) ते भग्ग कूवानी वधारे इर पल्लु नडि अने वधारे नल्लक पल्लु नडि ठडेवाय ओवु पासे भाहुका वृक्षोत्त मोटु सधन वन इतु ओक्कस्थिरुत्त वृक्ष विशेषतु नाम भाहुक्क ॐ (किण्हे किण्हे भासे जाव रम्मे महामेहनिउरं वभूए यहूर्हि कक्खे हि य गुच्छे हि य गुम्मे

गुणशिलकस्य चै यस्य 'अदूरसामते' नातिदूर नात्यासन्न, अप्र स्वलु
 महदेक जीर्णोद्यानं चाप्यासीत्, तन्कीदृशमित्याह—'विणट्टदेवउळे' विनट्ट
 देवकुलं—विनट्टव्यन्तरायतन, 'परिसिद्धियतोरणघरे' परिसिद्धिततोरण
 गृह—परिसिद्धिता नि नट्टमायाणि त्राणानि वरिष्ठांराणि गृहाणि, प्राकार
 द्वारव्यन्तरायतनसम्बन्धीनि गृहाणि यद्य तत्तथा । 'नाणविहगुच्छगुम्मलया
 वल्लिवच्छच्छाए' नानाविधगुच्छगुम्मलयावल्लीघृतच्छायात—नानाविधा
 ये गुच्छा =कार्पासी जपाकुसुमप्रभृतय, गुन्ना=यशजाली प्रभृतय, लता
 भ्रशोकलतादय, वभ्य =प्रपुपीप्रभृतय वृक्षा =आम्रादय तैश्चादित यत्तया ।
 'अणेगवालमयसकणिज्ज' अनेकज्यालगुतशङ्कनीयम्, अनेकै =नानाविधै व्यात्
 सत्तै =सर्पादि श्वापदशतैः शङ्कनीय=मयावह चाप्यासीत् ।

वर्णन पहिले क्रिया गया है। (तस्स ण रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तर
 पुरत्थिमे दिस्सीभाए गुणसिलए नाम चेइए हात्या) उस राजगृह नगर के
 बाहर की ओर उत्तर पूर्व के दिग्दिशभाग में अर्थात् ईशानकोणमें गुणशिलक
 नामका उद्यान था। (वन्नओ) इसका वर्णन पहिले क्रिया गया है। (तस्स
 ण गुणसिलयस्स चैइयस्स अदूरसामते एत्थण मह एगे जिणुज्जाणे याचि
 होत्या) उस गुणशिलक उद्यान के न अति समीप और न अति दूर एक
 और भी बड़ा भारी जीर्ण उद्यान था। (विणट्टदेवउळे परिसिद्धियतोरणघरे
 नाणाविहगुच्छगुम्मलयावल्लीवच्छच्छाए अणेगवालसयसकणिज्जे या
 वि होत्या) इसमें जो देवकुल या घर कभी का नष्ट हो चुका था।

साभणे—(तेम काळेण तेण समएण रायगिहे नाम नयरे होत्या) तेक्षणे अने तेसभमे
 शब्दों के नामों के अर्थ नगर इतु (वन्नओ) ते नगरत्तु वल्लुन पळेदां करवाभां आणु छे
 (तस्स ण रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिस्सीभाए गुणसिलए
 नाम चेइए हात्या) शब्दों के नामों के अर्थ नगर उत्तर पूर्व दिशाभा ओटवे ईशानकोणभा
 अणुशीलक नामे उद्यान इतो. (वन्नओ) आ उद्यानत्तु वल्लुन पळेदां करवाभां आणु छे
 (नस्सग गुणसिलयस्स चैइयस्स अदूरसामते एत्थणमह एगे जिणुज्जाणे याचि होत्या)
 अणुशीलक उद्याननी वधारे पासे पणु नदि अने वधारे दूर पणु नदि ओतु ओके
 पीजे अणु उद्यान इतु (विणट्टदेवउळे परिसिद्धियतोरणघरे नाणाविहगुच्छ
 गुम्मलयावलिच्छच्छाए अणेगवालसयसकणिज्जे याचि होत्या) आभात्तु देवकुल
 अतश्चन क्कारत्तु ओ नाश पाणु इतु इवकुलोने अर्थ अर्थात् अन्तरत्तु आभतन

तस्य खलु जीर्णोद्यानस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र खलु महानेको भग्नज्ञाशामीन तस्य खलु भग्नरूपस्य अदूरसामते अत्र खलु महाने 'मालुया कच्छप' मालुया कच्छक मालुका एकास्थिफल वृक्षविशेषास्तेषां कच्छक = गन् वनम् चाप्यासीत् । मकोदश १ इत्याह—'किण्हे किण्हे मासे' कृष्ण कृष्णावभाम, तत्र—कृष्ण = कृष्णवर्ण-

देवकुल का अर्थ यहां व्यतर का आयतन है। इस व्यन्तरायतन संवन्धी जिनने घर थे उन सबके भी यहाँ पहिद्धार नष्टपाय हो चुके थे। यह जोर्ण उद्यान अनेक प्रकार के गुच्छों से फपास के जपा पुष्पां आदि के गुच्छों से—वशजाली आदि गुल्मों से अशोकलता आदि लताओं से त्रपुती (कहड़ो) आदि बेगैले, आम्र आदि वृक्षों से, आच्छादित हो रहा था। इसमें अनेक प्रकार के सँकड़ों सर्प इधर स ऊधर फिरते रहते थे अतः उनका द्वारा यह विशेष भयकर बना हुआ था। (तस्स ण जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्जदेशमाए एत्थ ण मह एगे भग्गकूवण यावि हो त्या) इस जीर्ण उद्यान के ठीक मध्य भाग में एक बड़ा भारी भग्न जीर्ण हुआ कुआँ भी था (तस्स ण भग्गकूवस्य अदूरसामते एत्थ ण महएगे मालुया कच्छप यावि होत्या) उस भग्न कुएँ के न अति समीप और न अति दूर—पास में मालुया वृक्षों का बहुत बड़ा गहन बन था। एकास्थिरूज वाण्डे वृक्ष विशेषों का नाम मालुका है (किण्हे किण्हे मासे जाव रम्मो महामेहनिउरं वभूए व्हूर्हि रुक्खे हि य गुच्छे हि य गुम्मे

ॐ आ व्यन्तरायतनना जेटवा घर इत्तां, ते पधाना पद्दारना इत्थाना नष्टप्राय थर्ष गथा इत्ता. ब्वु उद्यान धर्षी लानना शुब्धि—जेटवे के पक्षु अने जपापुष्प वगेरेना शुब्धि—वशजाली वगेरे गुल्मो अशोकलता वगेरे लताओ, त्रपुती (कहड़ो) वगेरेनी वेवो, आम्र वगेरे वृक्षोथी वृक्षओवो इतो. धर्षी लतना सेठो स्याप आ उद्यानमा आभग्गी तेम विथरता रहता इत्ता. ओथी आ उद्यान सविशेषभयकर लागतु इत्तु (तस्सण जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्जदेशमाए एत्थण एगे भग्गकूवए यावि होत्या) आ ब्वु उद्याननी ठीक वज्जोवज्ज ओक मोटो भग्गकूप नामे ओक लक्ष्णं थयेवो इवो इतो. (तस्सण भग्गकूवस्स अदूरसामते एत्थण मह एगे मालुया कच्छप यावि होत्या) ते भग्ग इथानी वधारे इर पक्षु नडि अने वधारे नल्लक पक्षु नडि कडेवाथ ओषु पासे भाहुअ वृक्षोत्तु मोटु सधन वन इत्तु ओकास्थिरूज वृक्ष विशेषतु नाम भाहुअ ॐ (किण्हे किण्हे मासे जाव रम्मो महामेहनिउरं वभूए व्हूर्हि रुक्खे हि य गुच्छे हि य

गुणशिलकस्य चै यस्य 'अदूरसामते' नातिदूरे नात्यासन्न, अप स्वल्
 महदेक जीर्णोद्यानं चाप्यासीत्, तन्कीदृशमित्याह—'विणद्वदेवउले' विनष्ट
 देवकुल—विनष्टव्यन्तरायतन, 'पदिसद्वियतोरणघरे' परिश्रुतितोरण
 गृह—परिश्रुतिता नि नष्टमायाण त्राणानि बह्विधाराणि गृहाणि, प्राकार
 द्वारव्यन्तरायतनसम्प्रधीनि गृहाणि यत्र तत्तथा । 'नागविहगुच्छगुम्बलया
 वल्लिवच्छच्छाए' नानाविधगुच्छगुम्बलयावल्लीधृषच्छाएत—नानाविधा
 ये गुच्छा = कापासी जपाकुसुमप्रभृतय, गुम्बा = वृक्षजाती प्रभृतय, लता
 अशोफलतादय, वन्य = वृषुपीप्रभृतय वृक्षा = आम्रादय तैश्चादित प्रतत्तया ।
 'अणेगवालमयसकणिज्जे' अनेकग्यालगतशङ्कनीयम्, अनेकै = नानाविधै व्याल
 स्रतै = सर्पादि श्वापदस्रतै शङ्कनीय = मयावह चाप्यासीत् ।

वर्णन पहिले क्रिया गया है। (तस्स ण रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तर
 पुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए नाम चेइए होत्या) उस राजगृह नगर के
 बाहर की ओर उत्तर पूर्व के दिग्घिभाग में अर्थात् ईशानकोणमें गुणशिलक
 नामका उद्यान था। (वन्नओ) इसका वर्णन पहिले क्रिया गया है। (तस्स
 ण गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामते एत्यण महएगे जिण्णुज्जाणे यावि
 होत्या) उस गुणशिलक उद्यान के न अति समीप और न अति दूर एक
 और भी बड़ा भारी जीर्ण उद्यान था। (विणद्वदेवउले परिसद्वियतोरणघरे
 नाणाविहगुच्छगुम्बलयावल्लीवच्छच्छाए अणेगवालसयसकणिज्जे या
 वि होत्या) इसमें जो देवकुल या वह कमी का नष्ट हो चुका था।

आभणे—(तेज काळेण तेण समएणं रायगिहे नाम नयरे होत्या) तेक्षणे अने तेअभये
 सञ्जुह नामे ओक नगर इत्तु (वन्नओ) ते नअरत्त वण्णं पडेवां करवाभा आब्भु छे
 (तस्स ण रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए
 नाम चेइए होत्या) सञ्जुह नअरत्ती अहारे उत्तर पूर्व दिशाभा ओटवे उद्यानकोणभा
 शुष्शीलक नामे उद्यान इत्ते। (वन्नओ) आ उद्यानत्तु वण्णं पडेवां करवाभा आब्भु छे.
 (नस्मजं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामते एत्यणमहएगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्या)
 शुष्शीलक उद्याननी वधारे पासे पणु नहि अने वधारे इर पणु नहि ओत्तु ओक
 भीजे वत्तु उद्यान इत्तु (विणद्वदेवउले परिसद्वियतोरणघरे नाणाविहगुच्छ
 गुम्बलयावल्लिवच्छच्छाए अणेगवालसयसकणिज्जे यावि होत्या) आभात्तु देवकुल
 अतरायन अरत्तु ओ नाम पाब्भु इत्तु इवदुण्णे अर्थे अही अ-तरत्तु आयतन

तस्य खलु जीर्णोद्यानस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र खलु महानेकां भग्नकूपधामीन् तस्य खलु भग्नरूपस्य अदूरसामते अत्र खलु महाने 'मालुया कच्छए' मालुया कच्छ मालुका एकास्थिकल वृक्षविशेषास्तेषां कवत = गत वनम् चाप्यासीत् । मरुदृश १ इत्याह—'किण्हे किण्हो भासे' कृष्ण कृष्णावभाम, तत्र—कृष्ण = कृष्णवर्ण-

देवकुल का अथ यहा व्यतर का आयतन है । इस व्यन्तरायतन संमन्धी जितने घर थे उन सबके भी यहाँ बहिर्द्वार नष्टप्राय हो चुके थे । यह जीर्ण उद्यान अनेक प्रकार के गुच्छों से कपास के त्रया पुष्पों आदि के गुच्छों से—वशनाली आदि गुल्मों से अशोकलता आदि लताओं से त्रयुती (ककड़ी) आदि वेगैले, आम्र आदि वृक्षों से, आच्छादित हो रहा था । इसमें अनेक प्रकार के सँकड़ों सर्प इधर से ऊधर फिरते रहते थे अतः उनके द्वारा यह विशेष भयकर बना हुआ था । (तस्स ण जिन्नुञ्जाणस्स बहुमज्झदेमभाए एत्थ ण मह एगे भग्गकूवए यावि हो त्या) इस जीर्ण उद्यान के ठीक मध्य भाग में एक बड़ा मारी भग्न जीर्ण हुआ हुआ था (तस्स ण भग्गकूवस्य अदूरसामते एत्थ ण मह एगे मालुया कच्छए यावि होत्या) उस भग्न कुएँ के न अति समीप और न अति दूर—पास में मालुया वृक्षों का बहुत बड़ा गहन वन था । एकास्थिकल वाले वृक्ष विशेषों का नाम मालुका है (किण्हे किण्हो भासे जान रम्मे महामेहनिउरं वभूए यहहिं रुक्खे हि य गुच्छे हि य गुम्मे

ॐ आ व्यन्तरायतनना जेट्ठा धर इत्तां, ते अधाना षडारना इत्थाअ नष्टप्राय थं गथा इत्ता ब्बुत्त उद्यान धल्ली अतना गुच्छे—जेट्ठे के वल्लु अने जयापुष्प वगेरेना गुच्छे—वशनाली वगेरे गुम्मे अशोकलता वगेरे इत्ताओ, त्रयुती (ककड़ी) वगेरेनी वेत्ते, आम्र वगेरे वृक्षोथी इच्छेत्ते इत्ते. धल्ली अतना सेकडे साप आ उद्यानमा आभथी तेम विचरत्ता रहत्ता इत्ता. जेथी आ उद्यान सविशेषलय कर लागतु इत्तु (तस्सण जिन्नुञ्जाणस्स बहुमज्झदेमभाए एत्थण एगे भग्गकूवए यावि होत्या) आ ब्बुत्ता उद्याननी ठीक वच्चोवच्च जेक भोटो अज्झप नामे जेक लुब्धं धयेत्ते इत्ते इत्ते. (तस्सण भग्गकूवस्स अदूरसामते एत्थण मह एगे मालुया कच्छए याविहोत्था) ते अज्झ इत्तानी वधारे इर पल्लु नडि अने वधारे नल्लक पल्लु नडि कडेवाय जेवु पासे भाइका वृक्षोत्त भोटु सधन वन इत्तु जेकास्थिकल वृक्ष विशेषतु नाम मालुका छे (किण्हे किण्हो भासे जान रम्मे महामेहनिउरं वभूए यहहिं रुक्खे हि य गुच्छे हि य गुम्मे

अञ्जनवत्, कृष्णावभास = कृष्णप्रभः स्वरूपेण कृष्णवर्णपयावभासते, यावद्
 रम्यः = सुन्दरः 'महामेघनिउरंगभूषण' महामेघनिकुरम्यभूतः, महाप्रभः = वर्षाकाल
 भाविमेघस्तस्य निकुरम्यः = समृद्ध तथाभूत - यनीभूत नूतनधनापम इत्यर्थ
 नीलधर्मसाभ्यात् । यहूभिर्हंसैश्च, गुच्छैश्च, गुल्मैश्च, लताभिश्च, वल्लीभिश्च,
 कुशैश्च = रम्यैश्च, स्याणुकैश्च = ऊर्ध्वकीलकैश्च 'दुठाइति भाषायाम्' सञ्जना =
 व्याप्त, परिच्छन्न = विशेषेण समाच्छादितः 'अतो जुसिरे' अन्तः = मध्ये
 सुशिर सावकाशत्वात् 'वर्हि गंभीरे' घर्हि गंभीर, अतिगहनत्वन दष्टेरपसृत
 स्वात्, अनेक व्यालशतशङ्कनीय - अनेक शतसर्पादिभि शङ्कनीय - मयजनकधा
 प्यासीत् ॥ सू १॥

मूलम्—तत्तथा रायगिहे नयरे धणणे नाम सत्थवाहे अहं दित्ते
 जाव विच्छड्डियविउलभत्तपाणे, तस्स ण धणणस्स सत्थवाहस्स
 भदा नाम भारिया होत्था, सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्णपर्चि

हि य लया हि य वल्लि हि य कुए हि य स्वाणुएहि य मच्छन्ने पमिच्छन्ने
 अतो सुसिरे घर्हि गंभीरे अणेगवालसयसकणिज्जे यात्रि होत्था) यह
 गहन वन कज्जल की तरह कृष्ण वर्णवाला या स्वरूप से ही इसकी प्रभा
 कृष्ण थी। यावत् यह सुन्दर था। वर्षाकाल भावी मेघ के समृद्ध जैसा
 यह नीला था। अनेक प्रकार के वृक्षों से, अनेक प्रकार के गुल्मों से, अनेक
 प्रकार की लताओं से, अनेक प्रकार की वल्लियाँ से, अनेक प्रकार के कुशों
 से, अनेक विध स्याणुओं से यह बहुत अधिक रूप में आच्छादित हो रहा था।

धीच में यह सावकाश होने से पोला था। बाहिर गहन होनेकी वजह
 से गभीर था। अनेक प्रकार के सैकड़ों सर्पों से यह भी महान भया
 नक था। सूत्र " १ "

शुम्भे हि य लया हि य वल्ली हि य स्वाणुएहि य मच्छन्ने पमिच्छन्ने अतो सुसिरे
 घर्हि गंभीरे अणेगवालसयसकणिज्जे यात्रि होत्था) आ सधनवन भेशनी
 नेम भाण रजत्त इत्त आनी प्रभा स्वइपथी व भाणी इती वरीभाणना मेव नेवा
 ते नीला रजत्त इत्त धणी अतनां दूसा, धणी अतना शुम्भे, धणी अतनी लताभ्ये
 धणी अतनी वल्लीभ्ये, धणी अतना इ'सो' धणी अतना स्याणुभ्योथी आ उधान
 सधन इपे इकायेह इतो. वथे भाटी ज्ज्या इती पव आणुणाणू धामेर वृक्षावली
 ने तीपे ते सधन इत्त धणी अतना सेठये सापोथी आ भूण व लक्षारी धाजत्त
 इत्त सूत्र ॥ १ ॥

दियसरीरा लक्खणउज्जणगुणोववेया माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्न-
सुजायसव्वगसुदरगा ससिसोमोगारा कता पियदसणा सुख्वा
करयल-परिमियतिवलिपमज्झा कुडल्लुछिहियगडलेहा कोमुइ-रय-
णियर-पडिपुण्णसोमवयणा सिंगारागारचारुवेसा जाव पडिख्वा
वज्जा आवयाउरी जाणुकोप्परमाया यावि होत्था ॥सू २॥

टीका- 'तत्थण रायगिहे' ति-तत्र खलु राजगृहे नगरं घन्यनामा
सार्थवाद = जनममूढनायक गरिम-धरिम-मेय, परिच्छेद्यरूप क्रयाणकद्रव्य
जात गृहीत्वा लाभार्थमन्यदेशं व्रजन् सहागतवणिगुजनस्य योगक्षेमचिन्तया
परिपालक इति भाव अर्द्धे 'आश्रय - क्रुद्ध्यादिपूर्ण 'दिसे' दीप्त - सच्चरित्रेण
उज्वल यावद् विच्छर्दितविपुलभक्तपान । यावच्छब्देनायमर्थो ग्रहीतव्य -
विस्तीर्णविपुल मवनशयनासनयानवाहनाकीर्ण , बहुघनपट्टजातरुपरजन , आयो

तत्थ ण रायगिहे नयरे इत्यादि

टीकार्थ- (तत्थ ण रायगिहे नयरे) उस राजगृह नगरमें (घन्नेनाम सत्थवा
हे) घन्य नाम के सार्थवाह थे। जब ये गरिम धरिम मेय एव परिच्छेद्य
रूप क्रयाणक द्रव्य समूह लेकर लाभप्राप्ति की इच्छा से परदेश जाते थे
तो इनके साथ जो और भी वर्णकजन होते उनके ये योगक्षेमकारक
होते थे। उनकी हर एक प्रकार की चिन्ता रखते थे। ये (अर्द्धे)
क्रुद्ध्यादि से परिपूर्ण थे। (दिसे) सच्चरित्र से उज्ज्वल थे। (जाव विच्छ
इयविउलभक्तपाणे) यावत् विच्छर्दित विपुलभक्तपानवाले थे—
यहा यावत् शब्द से इनके विषय में इतना और समझ लेना चाहिये कि
इनके मवन बहुवृत्त विस्तीर्ण थे, शयन, आसन, यान, वाहन, भी इनके

'तत्थण रायगिहे नयरे' इत्यादि ॥

टीकार्थ- (तत्थण रायगिहे नयरे) तत्र गृह नगरमां (घन्ने नाम सत्थवाहे)
घन्य नामे सार्थवाह इत्यादि व्याख्येते तत्रो गरिम, धरिम मेय अने परिच्छेद्य रूप क्रयाणक द्रव्य
निधि धरिने लाभार्थी धिच्छाधी विदेशं गता इत्यादि तत्रे अमनी साथे जे पीला वसुं कर्ण
रहेता तेमना भाटे तेघन्य सार्थवाह अधी रीते कुशण करनार इत्यादि तेमनी इरेक अतनी
संभण राभता इत्यादि अ (आहुं) क्रुद्धि वगैरथी सपुसुं पसे पुसुं इत्यादि
(दिसे) सच्चरित्रेण अधी उज्ज्वल इत्यादि, (जाव विच्छर्दियविउलभक्तपाणे) यावत्
विच्छर्दित विपुल भक्त पान वा । इत्यादि अर्द्धे जे यावत् शब्द आये छे तेने
अर्द्ध आ प्रभासे छे के अमना मवन बहुवृत्त विशाण इत्यादि शयन, आसन, यान,

अञ्जनवत्, कृष्णावभास = कृष्णमम स्वरूपेण कृष्णवर्णपद्मावभासते, यावद्
 रम्य = सुन्दरः 'महामेघनिउरंगभूष' महामेघनिकुम्भभूतः, महामघ = वर्षाकाल
 भावि मेघस्तस्य निकृश्वः = समूह तथाभूत - यनीभूत. नूतनधनापम इत्यर्थः
 नीलधर्मसाभ्यात् । बहुभिर्द्वैतैश्च, गुच्छैश्च, गुल्मैश्च, लताभिश्च, वल्लीभिश्च,
 कुशैश्च = रंभैश्च, स्थाणुकैश्च = ऊर्ध्वकीलकैश्च 'दुठाइति भाषायाम्' सउष्मा =
 व्याप्त, परिच्छन्न = विशेषेण समाच्छादितः 'अतो जुसिरे' अन्तः = मध्ये
 सुशिर सावकाशत्वात् 'वर्हि गंभीरे' यद्विर्गन्भीर, अतिगहनस्त्वन दष्टेरपसृत
 स्वात्, अनेक व्यालशतशङ्कनीय - अनेकशतसर्पादिभि शङ्कनीय - मयजनकभा
 प्यासीत् ॥ सू १ ॥

मूलम्—तत्थ णं रायगिहे नयरे धणणे नाम सत्थवाहे अहं दित्ते
 जाव विच्छड्डियविउलभत्तपाणे, तस्स ण धणणस्स सत्थवाहस्स
 भदा नाम भारिया होत्था, सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्णपचिं

हि य लया हि य वल्लि हि य कुए हि य स्वाणुएहि य मच्छन्ने पलिच्छन्ने
 अतो सुसिरे वाहिं गंभीरे अणेगवालसयसकणिज्जे यावि होत्था) यह
 गहन वन कज्जल की तरह कृष्ण वर्णवाला या स्वरूप से ही इसकी प्रभा
 कृष्ण थी। यावत् यह सुन्दर था। वर्षाकाल भावी मेघ के समूह जैसा
 यह नीला था। अनेक प्रकार के वृक्षों से, अनेक प्रकार के गुल्मों से, अनेक
 प्रकार की लताओं से, अनेक प्रकार की वल्लियों से, अनेक प्रकार के कुशों
 से, अनेक विध स्थाणुओं से यह बहुत अधिक रूप में आच्छादित हो रहा था।

बीच में यह सावकाश होने से पोला था। बाहिर गहन होनेकी वजह
 से गभीर था। अनेक प्रकार के सैकड़ों सर्पों से यह भी महान भया
 नक था। सूत्र " १ "

गुम्मे हि य लया हि य वल्ली हि य स्वाणुएहि य सच्छन्ने पलिच्छन्ने अतो सुसिरे
 वाहिं गंभीरे अणेगवालसयसकणिज्जे यावि होत्था) आ सधनवन भेशनी
 नेम हाणा रजत्त इत्त आणी प्रभा स्वइपथी व हाणी इत्ती वपाकाण्णा मेघ नेवा
 ते नीला रजत्त इत्त धल्ली अतनां इत्ते, धल्ली अतना गुम्मे, धल्ली अतनी लताग्गे
 धल्ली अतनी वस्तीग्गे, धल्ली अतना इत्ते धल्ली अतना स्थाणुग्गेथी आ उद्यान
 सधन इत्ते इत्ते इत्ते. वस्ती आती वस्ती इत्ती पल्लु आणुणाणू धामेर वृक्षावली
 ने तीथे ते सधन इत्त धल्ली अतना से इत्ते आपोथी आ भूज व लयकारी हागत्त
 इत्त सूत्र ॥ १ ॥

करेत्वारुपाणि, वजन' व्यञ्जनानि, व्यञ्ज्यन्त-सूच्यन्ते भागदया यन्मानि
 तिन्मवादीनि 'गुण' गुणा मीशील्यपातिव्रत्यादयस्तै उच्येया' उपपे ॥-
 समन्विता, तत्र उप अपडत्युपसर्गयो अप' इत्यघ्राघड कारस्य पृवादरादि
 त्वाशेष । 'माण्यमाण्यमाणपडिपुन्नसृजायसव्वगसु दरगा मानोन्मान
 प्रमाणपरिपूर्णसृजायवर्षाङ्गु इराशी तत्र= 'माग' मान=जलद्रोणप्रमाणता,
 तथाहि-परिपूर्णजळकण्डे यस्य पुरुषस्य यस्या स्त्रियो वा प्रवेशे एति यदि
 द्रोणपरिमित जल वह्निर्निस्सरति तदा स पुरुष सा स्त्री वा मानमाप्ता
 च्यते, मानपाप्ताया शरीरावगाहनाविषयो मानमित्युच्यते । 'उन्माण
 उ मानप्, अर्धभारप्रमाणता सावेत्यम्-तुलायामारोपितो नरो नारी वा यद्य
 धनारप्रमाणा भवति तदा स पुरुष सा स्त्री वा उमानपाप्ता निगद्यते
 'प्रमाण' प्रमाण स्त्राणुं वैरप्रोत्तरगोच्छ्राय , इत्यथ-मानं चोन्मा च प्रमाण
 युक्तं धा । (लम्बण) से विद्या, धन आदि की सूचक करस् श्रुम रत्ना रूप
 गिह्वों से, तथा भाग्योदय सूचक तिलमसा आदि रूप व्यजनों से यह
 समन्वित थी । सुशीलता तथा पातिव्रत आदि गुणों का यह घर थी ।
 (माण्यमाण्यमाणपडिपुन्नसृजायसव्वगसु दरगा) मान, उमान और प्रमाण
 इन के अनुसार इसके समस्त अंगपूर्ण थे । परिपूर्ण जळ कण्ड में प्रवेश
 करने पर द्राण परिमित जल यदि उस कुण्ड से बाहर निकल आवे
 तो वह पुरुष अथवा स्त्री मान वाली करी जाती है । अर्थात् इसके शरीर
 की अवगाहना इतने मान प्रमाण थी । तुला पर आरोपित होने पर जिम
 स्त्री अथवा पुरुष का वजन अर्धभार प्रमाण निकलता है । ता वह उन्मान
 प्राप्त कहलाता है । अने अंगुलींते १०८ अंगुल वाली घने दूर ऊंचाई
 धन वगेरेने सूच्यनारी ह्यथनी शुभरेभाओथी तेमञ्ज भाओहयना सूच्य तदमथा
 वगेरे इप व्यञ्जोथी ते सपत्त इती शाहीनता तेमञ्ज पातिव्रत्य वगेरे शुश्लु
 ते धर इती (माण्यमाण्यमाणपरिपूर्णसृजायसव्वगसु दरंगा) मान,
 उमान अने प्रमाण सहित तेना तथा अणो पूरुं इता स पूरुं इपथी भरेवा
 पाष्पीना कुडमा प्रवेत्या पाठ ने द्रोण परिमाण नेटु पाष्पी ते कुडमाथी भर
 नीकणे तो ते पुरुष अथवा स्त्री 'मान' वाणी कहेवासा आवे छि नेटवे के तेमना
 शरीरनी अवगाहना अमुक नेटवा मान प्रमाणवाणी इती. त्राज्वा उपर यदीने
 ने स्त्री अथवा पुरुष पोतान्त वजन करवता तेमत्त वजन अर्धभार प्रमाण नेटु
 थाय तो ते उन्मान प्राप्त कहेवाय छि पोताना आगणथी अ माप करवासा आवे
 अने ते पुरुष के स्त्री ओकसे आठ नेटवा आगणना माप नेटवी थाय तो ते
 प्रमाण प्राप्त कहेवाय छि ओवी रीते मान, उन्मान अने प्रमाण युक्त तेमना दरेडे

गमयोगसमयुक्त, आयोगेन द्विगुणादिभिस्त्वया प्रयोग अधमर्णानां सविरे
द्रव्यस्य चितरण, तेन युक्त । विच्छदितपिपुलभक्तपान = यस्य गृहे भोजना
वसिष्टैर्यद्भूमिरन्नपानैः सुधार्तानामनेकहीनदीनाना परिपोषणमभूदित्यर्थ ।

तस्य म्वलु धन्यस्य सार्धनाहस्य मद्रा नामभार्याऽभवत् सा कीदृशीत्याह-
'सुकुमालपाणिपाया' सुकुमारपाणिपादा, तत्र सुकुमारौ कोमलौ पाणी च पादौ यस्या
सा अतिकोमलकरचरणवतीत्यर्थ । 'अहीणपट्टिपुष्पा पंचिदियसरीरा' अहान
प्रतिपूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरा, तत्र-'अहीण' अहीनानि लक्षणस्वरूपाभ्याम् 'पट्टि
पुष्पा' प्रतिपूर्णानि, 'पंचिदिय' पञ्चेन्द्रियाणि यस्मिन् तादृश शरीर यस्या
सा तर्था'लक्षवज्रजणगुणोववेया' लक्षणवज्रजणगुणोपपेता, तत्र-'लक्षवज्र' लक्ष-
णानि लक्षयन्ते दृश्यन्ते प्रायन्ते यैस्तानि शुभचिह्नानि-करस्थविद्याधनादि सूच

पास नाना प्रकार के बहुत अधिक थे । गाय भैंस आदि घन तथा चाँदी
मोना भी इनके पास बहुत अधिक मात्रामें था । आयोग प्रयोग से ये युक्त
थे-अर्थात् कर्जदारों के लिये ये द्विगुणित छेने की अमिलापा स कर्ज दिया
करते थे । भोजन के बाद जो विविध प्रकार की भोजन सामग्री बचती
थी उसे ये पुस्तुक्षित, भूखे अनेक हीन प्राणियों में वितरित करवा दिया करते
थे । अथवा भोजन करते समय इनके यहाँ इतना अधिक खाना उच्छिष्ट
रूप में बचता था कि जिससे अनेक दीनहीनपुस्तुक्षित प्राणियों का पालन
पोषण हो जाता था (तस्स ण घण्णास्स सत्यवाहस्स मद्धानामं भारिया होत्था)
एन धन्य सार्यवाह की मद्रा नाम का धर्मपत्नी थी । (सुकुमाल पाणिपाया
अहीणपट्टिपुष्पा पंचिदियसरीरा लक्षवज्रजणगुणोववेया) इनका शरीर
सुकुमार हाथ चरण वाला था लक्षण एव स्वरूप इन दोनों स इनका शरीर

वाहन पशु ओमनी पासे धरती बतना अने पुष्पण प्रभासुभा इतां जय वेस
वज्रे, पशु धन तेम न्यादी सोत्त पशु तेमनी पासे पुष्पण प्रभासुभा इतु आयोग
प्रयोगथी तेज्यो मुक्त इत्ता ओटवे के नस्य आपता इत्ता अम्या पछी ने धरती
बतनी सोजननी सामग्रीज्यो वधती ते सामग्रीने तेज्यो भूष्या धरती हीन, हीन,
प्राणीज्योभा वडेव्यानी देत्ता इत्ता अथवा तो ओमने त्या ओटहु मधु प्राधा पछी
ओहु वधतु के नेथी धरती अरीज हीन, भूष्या प्राणीज्योत्त भरतु पोपसु यत्
अतु इतु (तस्स ण घण्णास्स सत्यवाहस्स मद्धानामं भारिया होत्था) ते धन्य
सार्यवाहनी मद्रा नामे धर्मपत्नी इती (सुकुमारपाणिपाया अहीणपट्टिपुष्पा
पंचिदियसरीरा लक्षवज्रजणगुणोववेया) ते सुकुमार हाथपज वाणी इती
तेम न लक्ष्य अने स्वल्प आ अनेथी तेमनु शरीर मुक्त इतु (विद्या,

करेत्वारूपाणि, वजन' व्यञ्जनानि, व्यञ्ज्यन्त-सूच्यन्ते भाग्योदया यन्तानि
 तिरुमपादीनि 'गुण' गुणा मौशील्यपातिव्रत्यादयस्तै उच्येया' उपपे ॥-
 समन्विता, तत्र उप अपडत्युपसर्गयो अप' इत्यत्राद्यड कारस्य पृषादरादि
 त्वाद्योप । 'माणुष्माणप्प्रमाणपडिपुन्नसुजायसव्रगसु दरगा मानान्मान
 प्रमाणपतिपूर्गनुतानपत्राङ्गु द्राही तत्र= 'माग' मान=जलद्रोणप्रमाणता,
 तथाहि-परिपूर्णजलकुण्डे यस्य पुरुषस्य यस्या स्त्रियो वा प्रवेशे एति यदि
 द्रोणपरिमित जल वह्निर्निस्सरति तदा स पुरुष सा स्त्री वा मानमाप्तो
 च्यते, मानमाप्ताया शरीरावगाहनाविशेषो मानमित्युच्यते । 'उन्मान
 उमानप्, अर्धमारप्रमाणा सावेत्यम्-तुलायामारोपितो नरो नारी वा यद्य
 धमारप्रमाणा भवन्ति तदा स पुरुष सा स्त्री वा उमानमाप्ता निगद्यते
 पत्राग' पत्राण स्वार्थुं केरप्रोत्तरगोच्छ्राय , इत्थ च-मान चोन्मान च प्रमाण
 युक्त धा । (लम्बण) से त्रिशा, धन आदि की सूचक करस्) शुभ रत्ना रूप
 गिहों से, तथा भाग्योदय सूचक तिलमसा आदि रूप व्यजनों मे यह
 समन्वित थी । सुशीलता तथा पातिव्रत आदि गुणों का यह घर थी ।
 (माणुष्माणप्प्रमाणपडिपुन्नसुजायसव्रगसु दरगा) मान, उमान और प्रमाण
 इनके अनुसार इसके समस्त अंगपूर्ण थे । परिपूर्ण जल कुण्ड में प्रवेश
 करने पर द्रवण परिमित जल यदि उस कुण्ड से बाहर निकल आवे
 तो वह पुरुष अथवा स्त्री मान वाली कही जाती है । अर्थात् इसके शरीर
 थी अवगाहना इतने मान प्रमाण थी । तुला पर आरोपित होने पर जिन
 स्त्री अथवा पुरुष का वजन अर्धमार प्रमाण निकलता है । ता यह उन्मान
 प्राप्त कहलाता है । अने अंगुलीते १०८ अंगुल वाली घने हूर ऊँचाई
 धन वगेरेने सूच्यन्तारी साधनी शुभरेषाम्योथी तेमञ्ज बाज्योदयना सूचक तद्वभया
 वगेरे इप व्यञ्जोथी ते सपन्न इती. शास्त्रीनता तेमञ्ज पातिव्रत्य वगेरे शुभेत्त
 ते धर इती. (माणुष्माणप्प्रमाणपरिपुन्नसुजायसव्रगसु दरगा) मान,
 उन्मान अने प्रमाण सहित तेना अधा अगो पूर्ण इत्ता सपूर्ण इपथी भरेवा
 पाष्ठीना कुडभा प्रवेश्या भाड जे द्रोणु परिभाषु जेटहु पाष्ठी ते कुडभाथी भडर
 नीकणे तो ते पुरुष अथवा स्त्री 'मान' वाणी कडेवाभा आवे छ जेटखे छ तेमना
 शरीरनी अवगाहना असुक जेटवा मान प्रमाणवाणी इती. त्रान्वा उपर यदीने
 जे स्त्री अथवा पुरुष पोताहु वजन कशावता तेमनु वजन अर्धमार प्रमाण जेटहु
 थाय तो ते उन्मान प्राप्त कडेवाय छ पोताना आगणथी न भाप करवाभा आवे
 अने ते पुरुष छे स्त्री जेकसे आठ जेटवा आगणना भाप जेटवी थाय तो ते
 प्रमाण प्राप्त कडेवाय छ जेवी रीते मान, उन्मान अने प्रमाण युक्त तेमना हरेछे

गमयोगसमयुक्त, आयोगेन द्विगुणादिनिप्सया प्रयोग अधमर्णानां सविधे
द्रव्यस्य वितरण, तेन युक्त । त्रिउर्दितविपुलभक्तपान = यस्य गृहे भोजना
वसिष्ठैर्यद्गुभिरन्नपानैः क्षुधातानामनेकहीनदीनाना परिपोषणमभूदित्यर्थ ।

तस्य खलु धन्यस्य सार्यवाहस्य मद्रा नामभार्याऽभवत् सा कीदृशीत्याह-
'सुकुमालपाणिपाया' सुकुमारपाणिपादा, तत्र सुकुमारो कोमलौ पाणी च पादौ यस्या
सा अतिकोमलकरचरणवतीत्यर्थ । 'अहीणपट्टिपुष्प पंचिदियसरीरा' अहीन
प्रतिपूर्णपञ्चेन्द्रियसरीरा, तत्र-'अहीण' अहीनानि लक्षणस्वरूपाभ्याम् 'पट्टि
पुष्प' प्रतिपूर्णानि, 'पंचिदिय' पञ्चेन्द्रियाणि यस्मिन् तादृश शरीर यस्या
सा तथा 'लक्ष्मणवज्रगुणोवत्रया' लक्षणव्यञ्जनगुणोपपेता, तत्र-'लक्ष्मण' लक्ष
णानि लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते द्वायन्ते यैस्तानि शुभचिह्नानि-करस्थविद्याधनादि स च

पास नाना प्रकार के बहुत अधिक थे । गाय भैंस आदि धन तथा चाँदी
सोना भी इनके पास बहुत अधिक मात्रामें था । आयोग प्रयोग से ये युक्त
थे-अर्थात् कर्जदारों के लिये ये द्विगुणित छेने की भूमिलापा स कर्ज दिया
करते थे । भोजन के बाद जो विविध प्रकार की भोजन सामग्री बचती
थी उसे ये पुस्तुक्षित, भूखे अनेक हीन प्राणियों में वितरित करवा दिया करते
थे । अथवा भोजन करते समय इनके यहां इतना अधिक खाना उच्छिष्ट
रूप में बचता था कि जिससे अनेक हीन हीनपुस्तुक्षित प्राणियों का पालन
पोषण हो जाता था (तस्मिन् ण घण्णास्स सत्यवाहस्स मद्रा नाम भारिया होत्या)
उन धन्य सार्यवाह की मद्रा नाम का धर्मपत्नी थी । (सुकुमाल पाणिपाया
अहीणपट्टिपुष्प पंचिदियसरीरा लक्ष्मणवज्रगुणोवत्रेया) इनका शरीर
सुकुमार हाथ चरण वाला था लक्षण एव स्वरूप इन दोनों से इनका शरीर

वाहन पशु जेभनी पासे बघी अतना अने पुष्पण प्रभासुभा इतां गाय बेस
वजेरे, पशु धन तेम च्याही सोतु पशु तेमनी पासे पुष्पण प्रभासुभा इतु आयोग
प्रयोगथी तेजो मुक्त इता कोटवे के लक्षु आपता इता. अथ्या पछी ने बघी
अतनी सोअननी सामग्रीज्यो वधती ते सामग्रीने तेजो भूष्या बघ्या हीन, हीन,
प्राणीज्योभा वहेआवी देता इता. अथवा तो जेभने त्या कोटहु अणु भाधा पछी
कोहु वधतु के नेथी बघ्या गरीभ हीन, भूष्या प्राणीज्योतु भरलु पोषलु यध
अणु इतु (तस्मिन् ण घण्णास्स सत्यवाहस्स मद्रा नाम भारिया होत्या) ते धन्य
सार्यवाहनी मद्रा नामे धर्मपत्नी इती (सुकुमारपाणिपाया अहीणपट्टिपुष्प
पंचिदियसरीरा लक्ष्मणवज्रगुणोवत्रेया) ते सुकोमल उभयपग वाणी इती
तेम च लक्षु अने स्वस्थ आ अनिथी तेमनु शरीर मुक्त इतु () विद्या,

करेस्वारुपाणि, वजन' व्यञ्जनानि, व्यञ्ज्यन्त-सूच्यन्ते भागोदया यन्मानि
 तिन्मपादीनि 'गुण' गुणा सौशील्यपातिव्रत्यादयस्तै उववेया' सपपे ॥-
 समन्विता, तत्र उप अपडृत्युपसर्गयो अप' इत्यत्राद्यड कारस्यपृषादरादि
 त्वाद्येप । 'माणुम्माणप्यमाणपडिपुन्नसुजायसन्वगसु दरगा मानोन्मान
 प्रमाणपनिर्गुणानुजायपराङ्मु दराक्षी तत्र= 'भाग' मान=जलद्रोणप्रमाणता,
 तथाहि-परिपूर्णजठकण्डे यस्य पुरुषस्य यस्या स्त्रियो वा प्रवेशे एति यदि
 द्रोणपरिमित जल पडिर्निस्सरति तदा स पुरुष सा स्त्री वा मानमाप्ता
 च्यते, मानमाप्ताया शरीरावगाहनाविशेषो मानमित्युच्यत । 'उन्मान
 उन्मानप्, अर्धभारप्रमाणता साचेत्थम्-तुलायामारोपितो नरो नारी वा यद्य
 धभारप्रमाणा भवति तदा स पुरुष सा स्त्री वा उन्मानमाप्ता निगद्यते
 धनाग' पमाण मत्राङ्कुत्रैट्रोत्तरगोच्छ्राय , इत्थ च-मान चोन्मान च प्रमाण

युक्त था । (लवण) से विद्या, धन आदि की सूचक करस्य शुभ रेखा रूप
 गिहों से, तथा भाग्योदय सूचक तिलमसा आदि रूप व्यजनों से यह
 समन्वित थी । सुशीलता तथा पातिव्रत आदि गुणों का यह घर थी ।
 (माणुम्माणप्यमाणपडिपुन्नसुजायसन्वगसु दरगा) मान, उन्मान और प्रमाण
 इनके अनुसार इसके समस्त अंगपूर्ण थे । परिपूर्ण जठ कण्ड में प्रवेश
 करने पर द्राण परिमित जल यदि उस कुड से बाहर निकल आवे
 तो वह पुरुष अथवा स्त्री मान वाली कही जाती है । अर्थात् उसके शरीर
 की अवगाहना करने मान प्रमाण थी । तुला पर आरोपित होने पर जिन
 स्त्री अथवा पुरुष का वजन अर्धभार प्रमाण निकलता है । ता यह उन्मान
 प्राप्त कहलाता है । अने अंगुलीत १०८ अंगुल वाली घने दूर ऊँचाई

धन वगेरेने सूचवन्तारी हाधनी शुभरेप्पाओथी तेमञ्ज बाओधधना सूचक तलमया
 वगेरे रूप व्यञ्जनेथी ते सपत्र हती. शादीनता तेमञ्ज पातिव्रत्य वगेरे गुह्योनु
 ते धर हती. (माणुम्माणप्यमाणपरिपुन्नसुजायसन्वगसु दरगा) मान,
 उन्मान अने प्रमाण सहित तेना अधा अगे पूर्ण हता सपूर्ण रूपथी भरेवा
 पाणीना कुडमा प्रवेश्या पाद ने द्रोण परिमाणु जेटहु पाणी ते कुडमाथी गडर
 नीकणे तो ते पुरुष अथवा स्त्री 'मान' वाणी कहेवाभा आवे छे जेटले के तेमना
 शरीरनी अवगाहना असुक जेटला मान प्रमाणवाणी हती. त्रञ्जवा उपर सदीने
 जे स्त्री अथवा पुरुष पोतानु वजन करावता तेमनु वजन अर्धभार प्रमाणु जेटहु
 थाय तो ते उन्मान प्राप्त कहेवाय छे पोताना आगणथी न भाप करवाभा आवे
 अने ते पुरुष के स्त्री जेकसे आठ जेटला आगणना भाप जेटवी थाय तो ते
 प्रमाण प्राप्त कहेवाय छे जेवी रीते मान, उन्मान अने प्रमाण युक्त तेमना हउडे

चेत्यपा द्वे मानान्मानपमाणानि तेः प्रातपूर्णाणि-सपनानि, अतएव
 मुजाम्- मुजातानि यथोचिताश्रयमन्निवेशयन्ति 'सव्य'
 सर्वाणि सकलानि, 'भग' अज्ञानि-अजयत व्यजयते प्रागो पैदानि मस्त
 कादारभ्य चरणान्तानि यस्मिस्तत् अतएव 'सुंदरगा' सुन्दराङ्गी-सुंदरमद्र
 वपुर्यस्याः सा तथा, 'ससिसोमागारा' शशिमाय्याकांग-शशी=चन्द्रस्तद्रत्
 सौम्यो-रमणीय आकार-स्वरूप यस्या सा 'कंता' कान्ता कमनीया। पिय
 दसणा' प्रियदर्शना प्रिय दर्शकजनमनोह्लादक दर्शनमवलोकनं यस्या सा, अत एव
 'सुरुवा सुरूपा सर्वातिशायिरूपभावव्यवतीत्यर्थ 'करयलपरिमिय-ति बलीय
 मज्जा' करतलपरिमितत्रिवलिकमध्या करतलपरिमित =मुष्टिग्रहः, त्रिवलिकम-
 वलिकप्रयोपेत रेखाश्रयवान् 'मज्जा' मध्यभागो यस्या सा कुशोद्री
 तनु कटिभ्येत्यर्थ 'कुडलुल्लिहियगडलेहा' कुण्डलोल्लिसितगण्डलेखा कुण्डलाभ्या-
 मुल्लिखिता उतृष्टागण्डलेखा-कपोलावस्थितचन्दनादि रेखा यस्याः सा, कुण्डल
 शोभासम्पन्नेत्यर्थ। 'कोमुद्-रयणियरपडि पुण्णसोम्मवयणा' कौमुदी=कार्तिकी

वाला जिस पुरुष अथवा स्त्री का शरीर होता है वह प्रमाण प्राप्त कहलाता
 है। इस तरह मान उन्मान एव प्रमाण के अनुसार इसके समस्त शारीरिक
 अवयव थे अतएव वे यथोचित सन्निवेश विशिष्ट थे। मस्तक से लेकर चरण
 पर्यन्त उपांग अवयव कहलाते हैं। इसी कारण इनका शरीर बहुत अधिक
 सुन्दर था। (ससिसोमागारा कता प्रियदसणा सुरुवा करयलपरिमिय तिर्वाल्य-
 मज्जा) चन्द्रमा के समान इसका आकार सौम्य था। अतः बहुत ही कमनीय
 थी। दर्शक जनों के मन को इनका अवलोकन आह्लादकारक था। यह सर्वातिशायी
 रूप लावण्य से युक्त थी इनका त्रिवली युक्त मध्य भाग इतना अधिक
 पतला था कि मुष्टि ग्राह्य हो जाता था। (कुडलुल्लिहिय गंडलेहा कोमुद्दरयणियर-
 पडिपुण्यसोम्मवयणा सिंगारागारवारुवेसा जाव पडिक्का वत्ता अविपाउरी
 इरेक अवयवो सप्रभाषु अने योज्य इत्ता मस्तकधी भाडीने पज सुधी उपाज
 अवयव डडेवाय छे अटली भाटे व् अेमनुं शरीर भूजव् सुदर इउ (ससि
 सोमगारा कता प्रियदसणा सुरुवा करयलपरिमियतिवलयिमज्जा)
 तेमनी आभूति चन्द्र जेवी सौम्य इत्ती अेथी ते भूज व् कमनीय इत्ती अेनास
 अे भाटे तेमनुं इयंन आह्लाड ठा ड इत्ते ते अतिशय इष अने लावण्य स पत्र
 इत्ती तेमनी त्रिवली युक्त कमर (मध्य भाग) अटली जधी पातणी इत्ती डे तेने
 सभावेश भूमीमां पवु थड थडते इत्ते (कुडलुल्लिहियगडलेहा कोमुद्द-
 रयणियरपडिपुण्यसोम्मवयणा सिंगारागारवारुवेसा जाव पडिक्का वत्ता

पौर्णिमासो तस्या रजनी करश्चन्द्रस्तद्वत् प्रतिपर्णा-सौम्य-आर्द्धादजनक वदन-
 मुख यस्या सा तथा 'सिंगारागारचारुवेसा,' गृद्धागारगारचारुवपा, शृङ्गाराख्य
 प्रथमरसस्य अगारमिव-गृहमिव चारुवेपो यस्या सा, यद्वा शृङ्गारो
 भूषणाटोपस्तत्प्रधान आकारो यस्या. सा तथा मनोहरनेपथ्या, अत्र पद
 द्वयस्य कर्मधारय । 'जाव' यावत् 'पडिरुवा' प्रतिरूपा 'वक्षा' वन्ध्या-
 अत्यक्तशपेक्षया निष्कृता, एहवार सनानमजाता ननरमपत्प्ररणेर्नापि
 फलतो वन्ध्या भवति, अतएव 'अत्रिया उरी' देशी शब्द, अविजनयित्री
 मर्वया सतानाऽजननशीला सतानजननशक्तिरदिता, इत्यत 'जाणु-
 शोप्परमाया' जानु कूर्परमाता, 'जाणु' जानुनी चरणया मध्यभागे 'कोप्पर'
 कर्परौ करयोर्मध्यभागे तेषामेव 'माया' माता-जननी चाप्यासीत् ॥ सू २ ॥

मलम्—तस्स ण धणस्स सत्थवाहस्स पथए नाम दासचेहे
 होत्था, सव्वगसुदरगे मसोवचिएवालकीलावणकुसले यावि होत्था,
 तएण से धणो सत्थवाहे रायगिहे नयरे वडूण नयरनियगसेट्ठि
 सत्थवाहाण अट्टारसण्ह य सेणिप्पसेणीण वसु कज्जेसु य कुडुवेसु य
 मतेसु य जाव चक्खुभूए यावि होत्था, नियगस्स विय ण कुडुवस्स
 वडुसु य कज्जेसु जाव चक्खुभूए यावि होत्था ॥ सू ३ ॥

जाणुशोप्परमाया यावि होत्था) उसके कपोल मञ्जल पर जो चन्दनादिक की
 रेखा लगी रहनी थी वह दोनों कानों के कुडुलों से वर्णित होना रहना
 थी। कर्त्तिकी पूर्णमासी क पूर्ण चंद्र मंडल के वपान इनका सौम्य-आर्द्धाद
 जनक-मुख था। इसका सुन्दर वेव धृगाररस के घर जैसा था। फिर भी
 यह इतनी त्रिभुवन सुन्दरी होने पर भी वन्ध्या थी। ऐसी वन्ध्या थी-कि
 इसके मारम स ही सतान नहीं हुई थी-समान जननशक्ति स यह बिलकुल
 रहित थी। यह तो केवल जानु और कूर्पर-करके मध्यभाग देखनी की
 माना थी। ॥ मत्र २ ॥

अत्रियाउरी जाणुकाप्परमाया यावि होत्था) तेमना कपोल उपर बनाववाभा
 आवेली चन्दन रेखाये, अने कनेभां पडरेखा कुडुगेथी घसाती હતી. કાર્તિક
 પૂનમના ચન્દ્રમડળની જેમ તેમનું મો સૌમ્ય અને આર્દ્ધાદમનક હતુ ત્રિભુવન
 સુદરી હોવા છતા તે વન્ધ્યા હતી. શરૂઆતથી જ તેને એકે સત્તાન થયુ ન હતુ
 સત્તાન જનન શક્તિ તેમનામા સદતર સમૂળ રુપે હતી નહિ એને તેા સત્તાન
 રુપે ક્ષત દીચ્છ અને કોણી જ હતા. ॥ सूत्र २ ॥

चेत्येषा इदं मानान्मानममागानि ते। प्रातपूर्णाणि-सप्तनानि, अतएव
 सुजायुः सुजातानि यथोचितावयवमन्निवेशयन्ति 'सर्व'
 सर्वाणि सकलानि, 'अग' अङ्गानि-अज्यते अजरते पागो यैस्वानि मस्त
 कादारभ्य चरणान्तानि यस्मिस्तत्, अतएव 'सुदरगा' सुन्दराङ्गी-सुंदरमद्र
 वपुर्यस्या सा तथा, 'ससिसोमागारा' शशिमौम्याकाग-शशी=चन्द्रस्तद्वत्
 सौम्यो-रमणीय आकार-स्वरूपं यस्या सा 'कंता' कान्ता कमनीया। 'पिय
 दसणा' प्रियदर्शना प्रिय दर्शकजनमनोह्लादक दर्शनमवलोकन यस्या सा, अत एव
 'सुरुवा सुरुवा सर्वातिशायिरूपप्लावण्यवतीत्यर्थ 'करयलपरिमिय-ति वलीय
 मज्झा' करतल परिमितत्रिवलिकमभाग करतलपरिमित =मुष्टिग्रह , त्रिवलिकम-
 वलिकप्रयोपेत रेखात्रयवान् 'मज्झा' मध्यभागो यस्या सा कुशोद्री
 तनु कटिञ्चेत्यर्थः 'कुडलुल्लिहियगडलेहा' कुण्डलोल्लितगण्डलेखा कुण्डलाभ्या
 मूल्लिविता उतृष्टागण्डलेखा-कपोलावस्थितचन्दनादि रेखा यस्याः सा, कुण्डल
 शोभासम्पन्नेत्यर्थः 'कोमुइ-रयणियरपडि पुण्णसोम्मवयणा' कौमुदी=कार्तिकी

वाला जिस पुरुष अथवा स्त्री का शरीर होता है वह प्रमाण प्राप्त कहलाता
 है। इस तरह मान उन्मान एव प्रमाण के अनुसार इसके समस्त शारीरिक
 अवयव वे अतएव वे यथोचित सन्निवेश विशिष्ट थे। मस्तक से लेकर चरण
 पर्यन्त उपांग अवयव कहलाते हैं। इसी कारण इनका शरीर बहुत अधिक
 सुन्दर था। (ससिसोमागारा कता प्रियदसणा सुरुवा करयलपरिमिय तिवलिय
 मज्झा) चन्द्रमा के समान इसका आकार सौम्य था। अत बहुत ही कमनीय
 थी। दर्शक जनों के मन को इनका अवलोकन आह्लादकारक था। यह सर्वातिशायी
 रूप लाक्षण्य से युक्त थी इनका त्रिवली युक्त मध्य भाग इतना अधिक
 पतला था कि मुष्टि ग्राह्य हो जाता था। (कुडलुल्लिहिय गडलेहा कोमुइरयणियर-
 पडिपुण्णसोम्मवयणा सिगारागारचारुवेसा जाव पडिस्वा बसा अत्रियाउरी

इरेक अवयवो सप्रभाष्य अने भोज्य इत्त। मस्तकधी भांडीने पण सुधी उपांग
 अवयव कहेवाय छि अटवा भाटे व अमनु शरीर पूणव सुइर उतु (ससि
 सोमगारा कंता प्रियदसणा सुरुवा करयलपरिमिय तिवलियमज्जा)
 तेमनी आधृति चन्द्र जेवी सौम्य इती अथी ते पूण व कमनीय इती जेनात
 ओ भाटे तेमनु इशान आह्लाद करक इतु ते अतिशय रूप अने लावण्य सपन्न
 इती तेमनी त्रिवली युक्त कमर (मध्य भाग) अटवी जभी पावणी इती के तेने
 सभावेश भूमीभा पवु यथ शकते इते। (कुडलुल्लिहियगडलेहा कोमुइ-
 रयणियरपडिपुण्णसोम्मवयणा सिगारागारचारुवेसा जाव पडिस्वा बसा

पमाननु च कुडुन्नेतु च परिवारपु च 'मनेमु' मन्त्रेषु-कर्तव्यनिश्चयाथ गुप्त
 विनारेतु यावत्तु ॥ मार्गदर्शकश्चाप्यामीत् 'नियगन्त्रि' नित्रहृत्पारि-स्वकी
 यस्यापि च खलु कुडुम्भस्य बहुषु च कार्येषु यावत्तुर्भूतश्चाप्यामीत् ॥ सू० ३॥

मृत्—तत्थ ण रायगिहे नयरे विज्ञए नाम तस्करे होत्था, पावे
 चडालरुवे भीमतररुइकम्मे आरुसियदित्तरत्तनयणे खरफरुस-
 महलविगयमीभत्थदाडिण असपुडिरउठ्ठे उद्धयपइन्नलवत्तमूद्रए
 भमरराहुवन्ने निरणुक्कोत्ते निरणुतावे दारुणे पइभए नितसइए
 निरणु ह्ये अहिब्ब एगतदिट्टिण खुरेय एगतधारए गिद्धेव आमिस
 तल्लिच्छेअग्गिमित्र सव्वभम्ब्वी जलमित्र सव्वगाही उक्कवण-वंच
 णमाया-नियडि-कूड-कवड-साइ-सपओग-वहुले, चिरनगर विणट्ट
 दुट्टुमीलायारचरित्ते जूयवसगी मज्जपमगी, भोजपसगी मसपसगी
 दारुणे हियवदारए साहसिय सविच्छेयए उवहिए पितभयाई आली-
 यगत्तिथभेयलहुहत्थसपउए परस्त दव्वहरणम्मि निच्च अणुवद्धे
 तिब्बवेरे, रायगिहस्त नयस्स वहुणि अइगमणाणि य निग्गमणा-
 णिय दाराणि य अत्रारणि य ठिठीओ य खडीओ य नगरनिद्धम
 णाणिय सव्वट्टणाणि य निवट्टणाणि य जूवखलयाणि य पाणागाराणि-
 वेस्सागाराणि य तकरट्टणाणि य तकरट्टाणाणि य तकरघराणिय सिंगाड
 गाणि य तियाणि य चउत्ताणि य चच्चगणि य नागराणि य भूयघराणि
 य जकव्हेउलाणि य सभाणि य पराणि य पणियसालाणिय सुन्न

प्रयेगी शब्द से यहाँ लो गई हैं। (नियगन्त्रियण कुडुयस्स बहुषु च
 कज्जेमु जाव चस्सुभूए यावि होत्था) तथा अरने नित्र कुडुम्भ के मी अनेक
 कार्यआदि में चसुभूत थे मार्गदर्शक थे। ॥ सूत्र ३॥

रियग कुडुवस्स बहुषु य कज्जेमु जाव चस्सुभूए यावि होत्था) तेभ
 पोत्तान्ना कुट्टणना यस्सु कम्मोभा तेस्से मार्गदर्शिन तस्सिंके हत्था ॥ सूत्र ३ ॥

टीका— तस्स ण ३।१-तस्य खलु धन्यस्य साधवाहस्य पन्थकनामा दासचेटक—दासपुत्र आसोत् सर्वाङ्गमुन्दराङ्ग, मासोपचित-पुष्टशरीर, बालकीवनकुशल—बालान् क्रीडयितु दक्षश्चाप्यभवत् । तदनु खलु स धन्यः सार्धवाहस्तस्मिन् राजगृहे नगरे बहूनां 'नयरनिगमसद्विस्त्यवाहाण' नगर निगमश्रेष्ठिसार्धवाहानाम्, तत्र 'नयर' नगरस्य=राजगृहस्य, 'निगम' निगमस्य=वणिग्ग्रामस्य 'सद्वि' श्रेष्ठिन—सार्धवाहाश्च, एतेषां च पुन 'अट्टारसण्ठ य' अष्टादशानाम् 'सेणिपसेणीय' श्रेणिप्रथेणीनाम्, तत्र सेणि' श्रेणय कुम्भ कारादिजातयः 'वसगो' प्रथेणय—अथान्तरजातयन्मानां वशुपु कार्येषु—

'तस्स ण धणस्स सत्यवाहस्स' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तस्स ण धणस्स) उस धन्य सार्धवाह के यथा (पयएणाम दासचेडे होत्या) पयक नामका एक दास पुत्र था (सन्वगसुदरगे) यह सर्वांग सुदर था । (मंसोवचिए) पुष्टशरीर वाला था । (बालकीलावणकुसले याचि होत्या) बालकों के खिलाने में बड़ा चतुर था । (तएण से धण्णे सत्यवाहे रायगिहे नयरे बहूण नयरनियगसेद्विस्त्यवाहाण अट्टारसण्ठ य सेणिपसेणीण बहुसु कज्जेसु य कुडुवेसु य मतेसु य जाव चक्खुमूए याचि होत्या) वह धन्य । सार्धवाह राजगृह नगर में अनेक नगर निवासी वणिकमनों को—श्रेष्ठिमनों को सार्धवाहों को तथा अट्टारह श्रेणी प्रथेणियों को बहुत से कार्यों में अनेक परिवारों में अनेक मंत्रणाओं में—गुप्त विचारों में यावत् चक्षुभूत बे मार्ग दर्शक थे । कुम्भकार आदि जातिया श्रेणी शब्द से और अथान्तरजातिया

तस्स ण धणस्स सत्यवाहस्स इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तस्स ण धणस्स)ते धन्य सार्धवाहने त्या (पयएणाम दास चेडे होत्या) पयक नामके एक दास पुत्र होते । (सन्वगसुदरगे) ते सर्वांग सुदर होते । (मंसोवचिए) सुश्रेण शरीर वाले होते । (बालकीलावणकुसले याचि होत्या) बालकोंके रमाउवामें ते बहुत चतुर होते । (तएण से धण्णे सत्यवाहे रायगिहे नयरे बहूण नयरनियगसेद्विस्त्यवाहाण अट्टारसण्ठ य सेणिपसेणीण बहुसु कज्जेसु य कुडुवेसु य मतेसु य जाव चक्खुमूए याचि होत्या) ते धन्य सार्धवाह राजगृह नगरमें बहू नगरमें वणिक्को, श्रेष्ठिमनों, सार्धवाहों तेममें अट्टार श्रेणी प्रथेणियोंके बहू कामेमें बहू कुटुंबोंमें, अनेक जातनी मंत्रणाओंमें, गुप्त विचारोंमें यावत् चक्षुभूत होता अट्टारके के मार्गदर्शक होता । कुम्भकार वगैरेनी जातने अट्टार श्रेणी शब्दमें अने जातने प्रथेण्य शब्द द्वारा जातववामें आवी छे (नियगस्स

कचवउड्डविगयीभ यसादेर' स्वररुयनहायिक्यादीभत्सदष्टिक', तत्र-
 'वापुरुपे=प्रतिरुक्ते 'मडल' महत्यो=प्रतिविशाले 'विगय' विकृते=शोभा
 वर्जिते 'पीमत्थ' वीमत्से=गुणजनके 'दादि' द्रष्टिके=दादिके हनुचद्वितकेशयु
 चरुपे वा यस्य स - फर्कायिकुनपृणितदादिकायुक्तः, खापहरमहायिक्यापीमत्स
 दन्तो वा । 'असपुडिपउडे' असपुडिनौठ, असपुडिनौ, असपुडिनी वा परस्पर
 रासामिजिनौ स्फाटितौ ओठलघु वाच्यनदीर्घत्वाद्धौठौ यस्य स स्फाटित
 सुच इत्यर्थ । 'उद्वेयपडन्नलवतमुद्रए' उद्वेय प्रकीर्णलम्बमानमूर्धन, तत्र-
 उद्वेय उद्वेना=सायुमप्यहात्प्रचलिता अत एव-'पड'न' प्रकीर्णा=इतस्ततो
 विक्षिप्ता' ल्यत' लम्बमाना=अत्र प्रसर्प तः 'मुद्रए' मूर्धजा'=केशा यस्य
 स तथा । 'भमरराहुवन्ने' भमरराहुवर्ण - भमरराहुवर्ण इव वर्णो यस्य स -
 अत्यन्तकृष्णवर्ण इत्यर्थ । 'निरणुकोसे' निरनुकोश=निर्देय, निरणुतावे'
 निरनुता = पाप कृत्वा पश्चात्तारहित अथवा 'दारुणे' दारुण = क्रूर । 'पड-

की अतिशय कठोर थी; बहुत विशाल थी, शोभा रहित थी, तथा गुण-
 जनक थी-अथवा इस की दाढ़ी के बाल कठोर थे, बहा-
 घने थे, शोभासे रहित थे और घृणा उत्पन्न थे। (असपुडिप
 उडे उद्वेय, पडन्नलवतमुद्रए, भमरराहुवन्ने, निरणुकोसे, निरणुतावे दारुणे
 पडमए) दोनों को दीर्घ होने के कारण इनके ओष्ठ परस्पर में मिळे हुए
 नहीं थे-किन्तु खुले हुए थे। इसके मस्तक पर जो केश थे-वे पवन में
 इधर उधर उड़ते, इसलिय फेले हुए थे पचे हुए नहीं थे। तथा बहुत
 पडे हुए थे। इसका शारीरिक वर्ण राहु तथा भमर जैसा अत्यन्त काला
 था। दया से यह, सर्वथा रहित था। पाप कारके भी इसके हृदय में
 पश्चात्ताप का भाव उत्पन्न नहीं होता था। इसलिये क्रूर प्रकृति का था।

महालय कर उती, तेनी हासे भूमज कठोर उती, यणी भेटी उती, येना वजरनी
 उती, तेमज घृष्णजनक उती, अथवा ते तेनी छदीना वाण कठोर उता, समन उता,
 येना वजरना उता अने घृष्णजनक उता (असपुडिपउडे उद्वेयपडन्नलवत
 मुद्रए, भमरराहुवन्ने निरणुकोसे, निरणुतावे दारुणे पडमए) तेना हात
 वाण उता तेथी अने ओठ ओठ पीजना स्थर वजर इर व रहेता उता, ते
 उमेयां (पुष्पा) व रहेता उता, तेना माथाना वाण पवनने लीधे अस्तव्यस्त यधने
 उता उता, ओभी तेओ हेवाध वता उता, तेना वाण भाषिवा रहेता व न उता
 अने ते बहु व वषिवा उता, तेना शरीरने रज राहु अने भमर जेवा कणे
 भेय जेवा उता, ते तदन निर्देय उता, पाप कृत्वा उता तेना भनभा पश्चात्ताप
 यतो न उता, ओठवा मटे ते कर प्रकृतिने उता, तेने जेतानी साथे व माणीयेना

घराणि य आभोषमाणीर मग्गमाणे गवेसमाणे बहुजणस्स छिद्वेसु य
 विसमेसु य त्रिहुरेसु य वसगोसु य अञ्जुदएसु य उस्सत्रेसु य पपत्रेसु य
 तिहीसुय छणेसुय जन्नेसु य पव्वणीसु य मत्त-पमत्तस्स य विक्खि
 त्तस्स य वाउलस्स य र हिस्स य दुक्खिदस्स विदेसत्थस्स य विप्प
 वसियस्स य मंगं च छिद्द च विरह च अतर च मग्गमाणे गवेस-
 माणे एव च ण विहरइ, वहि । वि य ण रायगिहस्स नगरस्स आरा
 मे नु य उज्जाणे नु य वावि पोक्खरिणा-दीहि गायुजालिया सरेसु य
 सत्पतिवासु य सरत्तरपतिवासु १ जिण्णुज्जाणेसु य भग्गहूवणु य
 माल्लुयोकच्छणु य सुसाणणु य गिरेकदालेगउवट्टाणेसु य
 बहुजणस्स छिद्वेसु य जाव एव च णं विहरइ ॥सु ४॥

टीका—‘तत्थ ण’ इत्यादि । तत्र खलु राजगृहे, नगरे विजयनामा
 तस्कर = चौर होत्या = आसीत् । स कीदृश ! इत्याह—‘पावे’ इति, पाप =
 पापकर्मा चाण्डालरूप = चाण्डालसदृशः, भीमतरकरकम्मे’ भीमतरकरकर्मा-
 चाण्डालकर्मापेक्षयाऽपि भीमतराणि = भयङ्कराणि रौद्रकर्माणि हिंसादिक्रूरकर्माणि
 यस्य स तथा, ‘आरुसियदित्तरत्तनयणे’ आरुषित दीप्तरत्तनयन, तत्र—आरुसिय’
 आरुषितमप्येव ‘दित्त’ दीप्ते = विकराळे ‘रत्त’ रक्त नयने यस्य स तथा, ‘त्तर

‘तत्थ ण रायगिहे नगरे विजय नाम तस्करे होत्या’ इत्यादि ।

टीका—(तत्थ ण रायगिहे नगरे) उसी राजगृह नगर में विजय नामकी
 चौर था (पावे चाण्डालरूपे भीमतरकरकम्मे आरुसियदित्तरत्तनयणे, त्वरफरस
 महत्तलविगयवीमत्थदाडिए) यह पापो था । चाण्डाल जैसा था । इसके हिंसा
 दिक्रूर कर्म चाण्डालके कार्य की अपेक्षा भी बहुत मयकर थे । इनके
 नेत्र क्रोधी पुरुष के नेत्र जैसे लाल थे, और मर्रा विकरान्त पो दावे इस

टीका—(तत्थ ण रायगिहे नगरे) ते तस्करजनयथा (विजयनाम
 तस्करे होत्या) विजय नामे चौर स्वेत्ये इत्ये । (पावे चाण्डालरूपे भीमतर
 करकम्मे आरुसियदित्तरत्तनयणे, त्वरफरस-महत्तल-विगय-वीमत्थ
 दाडिए) ते षष्ठी इत्ये । चरणे जेवो इत्ये । द्वितीया वजरे तेनां इर इत्ये । चरण
 इत्या पञ्च मयकर इत्या । तनीं क्रोधीं मयसना जेवी इत्या इती जने ते

कतत्र उड्डविगयीमथरादि' खरखरतहाक्रियायीभत्सदष्टिक', तत्र-
 'खापुरुषे=अतिक्रमणे 'मदल्ल' महत्यो=अतिविशाले 'त्रिमय' विकृते=शोभा
 वजिते 'चीमत्थ' वीमत्से=गुणजनके 'दादि' द्रष्टिके=दादिके तनुवर्द्धितकेशयु
 चरूपे वा यस्य स - कर्कशाविक्रमघृणितदादिकायुक्त, खरपरासहाक्रियाचीमत्स
 दन्तो वा। 'अमपुडियउद्रे' असुष्टिनौष्ठ, अमपुष्टिनौ, अमपुष्टी वा परस्य
 रासमिलिनौ स्फाटितौ ओष्ठलघु वाश्चनदीर्घत्वाच्चौष्ठौ यस्य सः स्फाटित
 मुख इत्यर्थः। 'उद्वेयपङ्गनलघतमुद्रे' उद्वेय प्रकीर्णलम्बमानमूर्धज, तत्र-
 उद्वेय उद्वेना=रायुमम्पर्षात्प्रचञ्चिता अत्र एव-'पङ्गन' प्रकीर्णा =इतस्ततो
 विक्षिप्ता 'लघत' लम्बमाना =अथ प्रमर्षित 'मुद्रेण' मूर्धजा.=केशा यस्य
 स तथा। 'भमरराहुवन्ने' भ्रमरराहुवर्ण -भ्रमरराहुर्वैग इव वर्णो यस्य स -
 अत्यन्तकृष्णवर्ण इत्यर्थः। 'निरणुकोसे' निरनुकाश =निर्देय, निरणुतावे'
 निरनुताव = पाप कृत्या पश्चात्ताररहित अत्र एव 'दारुणे' दारुण =क्रूर। 'इ-

धी अतिशय कठोर थीं, बहुत विशाल थी, शोभा रहित थी, तथा घृणा-
 जनक थी-अथवा इस की दाढ़ी के वाळ कठोर थे, बहू
 घने थे, शोभासे रहित थे और घणा उत्सादक थे। (अमपुडिय
 उद्रे उद्वेय, पङ्गनलघतमुद्रे, भ्रमरराहुवन्ने, निरणुकोसे, निरणुतावे दारुणे
 पहमए) दाढ़ी को दीर्घ होने के कारण इसके ओष्ठ परस्पर में मिले हुए
 नहीं थे-किन्तु खुले हुए थे। इसके मस्तक पर जो केश थे-वे पवन में
 झपर उधर उड़ते, इसलिये फैले हुए थे घड़े हुए नहीं थे। तथा बहुत
 घड़े हुए थे। इसका शारीरिक वर्ण राहु तथा भ्रमर जैसा अत्यन्त काला
 था।-दवा से यह सर्वथा रहित था। पाप करके भी इसके हरण में
 पश्चात्ताप का भाव उत्पन्न नहीं होता था। इसलिये क्रूर प्रकृति का था।

महाभयकर इती तेनी दादो भूमज कठोर इती, धक्षी मोठी इती, शोभा वमरनी
 इती, तेमज धृष्णाचनक इती, अथवा तो तेनी धदीना वाण कठोर इता, सधन इता,
 शोभा वमरना इता अने धृष्णाचनक इता (असपुडियउद्रे उद्वेयपङ्गनलघत
 मुद्रेण, भ्रमरराहुवने निरणुकोसे, निरणुतावे दारुणे पहमए) तेन्य हाव
 वाण्य इता तेथी जने ज्येष्ठ ज्येष्ठ वीजना स्थण वमर इर ए रडेता इता. ते
 उमेयां भुस्ता, ए रडेता इता. तेना मायाना वाण पवनने तीपि अस्तव्यस्त यधने
 उडता इता, ज्येथी तेज्जा हेवाध जता इता. तेना वाण जाधेवा स्हेता ए न इता
 अने ते जहु ए/वधेवा इता, तेना शरीरना रज राहु अने वमस जेवो जणे
 मेथ जेवो इतो. ते तदन निर्देय इतो. पाप करवा छता तेन्य मनभां चत्तावे
 वतो न इतो. ज्येठवां मटे ते क्रूर प्रकृतिने इतो तेने ज्येठानी साथे ए प्राक्षीज्येना

‘मग’ प्रतिमग = मगोत्पत्तकः । निससिप’ नृशसक । ‘निरनुकपे’ निरनु
 कम्पः = दयागुणवर्जित । ‘अहिन्वपगतदिद्विप’ अहिरिवैकान्तदृष्टिकः, सुजइ
 इव क्रूरकर्मकरणे एकाग्रतालक्षण एकाता = एक निश्चया दृष्टिः = विचारसरणि
 यस्य स तथा । खुरेव एगतधारए’ खुर इव एगन्तधारक, धुरो = नापित्त
 भ्रविशेष ‘उभतरा’ इति भाषायाम्, तद्वत् ‘एगत’ एगन्तेन = तीव्रत्वात्सर्व
 प्रकारेण परवस्तुपरणे ‘गारा’ धारा = परोपतापनरूपा परिणामधारा यस्य स,
 सर्वस्वापहारीत्यर्थ ‘गिद्वेव आमिसतल्लिच्छे’ गृह इव - आमिष तल्लिप्स गृह
 इव - गृहपतिवत् आमिष, आमिष = शब्दादिविषये ‘तल्लिच्छे’ तल्लिच्छ =
 तत्पर ‘तल्लिच्छे’ इति तत्परार्थो देशी शब्द । अथवा आमिषे = विषयभोगादिके
 सा = अत्युत्कटा लिप्सा यस्य स - कामभोगे तोत्रामिलापोत्यर्थ । ‘अग्निमिव
 सन्धमरुती’ अग्निरिव सर्वमक्षी = मक्ष्यामक्ष्यसर्वभोजी सर्वजनसृष्टको

इसे देखते ही जीर्ण के हृदयमें मग का संचार हो जाता था। (निसमइए
 निरनुकपे अहिन्वपगतदिद्विप, खुरेव एगतधारए, गिद्वेव आमिसतल्लिच्छे)
 यह स्वभावतः नृशसक (घातक) या निरनुकपे - दयागुण वर्जित था। सर्प
 की तरह क्रूर कर्म करने में इस की विचारसरणि एक निश्चयवादी होती
 थी, धुरो - उभतरा के समान वह सर्व प्रकार से परकीय वस्तुओं के हरण
 करने में परोपतापनरूप परिणाम धारावाला था। गिद्वेषकी की तरह यह
 शब्दादि विषयरूप आमिष में अथवा कामवासना में तत्पर रहा करता था।
 (अग्निमिव सन्धमरुती जलमिव मङ्गगाही उरकवण, वचग, माया नियदि,
 कूड, कवड, साइ, संजोग, बहुले धिरणपरविणदृष्ट सीलायारचरिणे,
 जूयपसगी, मज्जपसगी भोज्ज, पसगी, मंसपसगी दारुणे टियपधारए)
 अग्नि के समान यह सर्व भोजी था, अथवा लक्षणों से सर्व जीवों को

मन लयभीत शर्ष जाता हत्ता। (निसमइए निरनुकपे अहिन्व एगन्तदिद्विप
 खुरेव एगतधारए, गिद्वेष आमिसतल्लिच्छे) स्वभावधी ज ते नृशस अने
 घातक हते। (निरनुकपे) निर्दय हते आपनी जेम क्रूर कर्ममा प्रवृत्त यन्त्रा
 तेना विचारि ह निश्चयवाणा हत्ता अस्तान्नी जेम ते अभी रीने जीवज्योनी
 वस्तुज्योने हरी देवाभा परोपतापन इर पन्निम वाणे हते। जीधनी जेम शब्द
 वजेशे विषय इप आमिषमा अथवा कामवासना जेवी व्याभवता ते हमेयां तयार
 रहेते हते। (अग्निमिव सन्धमरुती जलमिव मङ्गगाही उरकवण, वचग,
 माया नियदि, कूड, कवड, साइसपभोग, बहुले, धिरणपरविणदृष्ट
 सीलायारचरिणे, जूयपसगी, मज्जपसगी माज्जपसगी मंसपसगी दारुणे टियप
 धारए) अग्निमा जेवे ते सर्वमक्षी हते अथवा ते अपा प्राणीज्योने हतनार

चा । 'जलमिव सन्वग्मादी' जलमिव सर्वग्राही-यथा जल स्वविययमाप्त
 सर्वं स्वान्वर्गन करोति तथैवापी सर्वं सर्वस्मादपहरति । 'उक्कचण
 चणनायानियडि कूडकथञ्चमाइसराओगवहुले' उत्कञ्चनञ्चनमाया-
 निकृति कूकपटमातिसप्रयोगचट्टल , तत्र-'उक्कचण' उत्कञ्चन=स्वपरगुणा-
 भावेऽपि गुणोत्कीर्त्तनम्, 'चण' वञ्चन-छल्करण, माया=परवञ्चनम्, 'नियडि'
 निकृति =मायाऽऽच्छादनार्थं पूनर्मायाकरण-घट्टल्या गर्तकघट्टित्तिरणम्,
 'कूड' कूटं परवञ्चनार्थं तुलादेन्युनाधिककरणम् 'कवड' कपटम्=वेपमा
 पात्रिपर्ययकरणम्, एभिरुक्कञ्चनादिभि सह 'साइसप्रभोग' सानिसप्र
 याग-अतिशयेन योगस्तेन यो वञ्चन =व्याप्तः सकृत्कूटकपटादि मण्डागार
 इत्यर्थः । 'चिरनगरविणडुदुडुमीलायारचरित्ते' चिरनगरविणष्टुष्टुशीलाचार-

लूटने वाला था। जल की तरह सर्वग्राही था अर्थात् जल जिस प्रकार
 अपने म पडे हुए पदार्थ को अपने भीतर ले जाता है-उसी प्रकार यह
 भी दूसरों के पास से समस्त चीजों का आहरण कर आने पास रख
 लेता था। अपने भीतर जो गुण नहीं थे उनकी भी यह अपने में हैं इस
 तरह की प्रशंसा किया करता था। वचना-छल करने में यह विशेषपटु-वतुर था,
 माया परवचन में बहुत होशियार था-निकृति अपने मायावारीकी दशाने में
 दुवारा माया करने में बड़ा ही सिद्धहस्त था। तुल्या आदि का न्यूनाधिक
 करना 'सका नाम व्युह है, वेप आदि को बदलना इसका नाम कपट है
 इन सबके करने में यह प्रहयान था। अर्थात् इन उत्कञ्चन माया, निकृति
 कू, कपट का यह मण्डार था। चिरकाल से यह नगर से बाहर रहता
 था। इसलिये इसका स्वभाव दुष्ट हो गया था। आचार-कुल मर्षादारूप

इतो पाष्णीनी नेम ते सर्वग्राही इतो- अेटवे के पाष्णी नेम तेमा पडी गयेवा
 तथा पडावो ते पोतानी अहर वध् व्यथ छि, ते प्रभाञ्चे व ते चोर पक्ष भीम
 ओनी पासेथी अभी वस्तुओ चोराने तेनी पासे सत्रही राभतो इतो. ने सुले
 तेमा इया तेमनी पक्ष भीमओनी सामे प्रथसा करते रहेतो इतो. भीमने छि-
 स्वाभां ते पावधी इतो. माया-अेटवे के भीमने क्यवामा ते भूम व कुशण इतो.
 निकृति-अेटवे के माया चोराने पराञ्चित करवामा ते भीम वभत माया (पर
 वचन) करवामा भु व चतुर इतो. गणवा वगेरेने आद्यादीथी न्यूनाधिक कणु
 तेनु नाम व्युह छि वेपभूया वगेरे भडववी ते कपट कडेवाय छि आ भाटे ते
 प्रष्पात इतो. अेटवे के छिअन, वचन, माया, निकृति, कूट, कपटने ते भजनो
 इतो. वाया वभतथी ते नअरनी भडार व रक्षा करते इतो. अेटवा भाटे स्वशावे

मय' प्रतिमय = मयोत्यादकः । निससिप्' नृशसकः । 'निरनुकपे' निरनु
 कम्पः = दयागुणवर्जित । 'अहिन्व एगतद्विष्टो' अहिरिपैकान्तदृष्टिः, सुनइ
 इव क्रूरकर्मकरणे एकाग्रवात्क्षण एकाता = एक निश्चया दृष्टि' = विचारसरणि
 यस्य स तथा । सुरेव एगतधारए' सुर इय एगानधारक, सुरो = नापितडा
 श्वविशेष 'उम्तरा' इति भाषायाम्, तद्वत् 'एगत' एकातेन = तीव्रत्वात्सर्व
 प्रकारेण परस्मापरणे 'गारा' धारा = परोपतापनरूपा परिणामधारा यस्य स ,
 सर्वस्वापहारोत्यर्थ 'गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे' गृह इव - आमिष तल्लिप्स गृह
 इव - गृहपभिवत् आमिम, आमिपे = शब्दादिविषये 'त' लिच्छे' तल्लिच्छ =
 तत्पर 'तल्लिच्छे' इति तत्परार्थो देशी शब्द । अथवा आमिपे = त्रिपयभोगादिके
 सा = अत्युत्कटा लिप्सा यस्य स - कामभोगे तोत्राभिलाषोत्यर्थ । 'अग्निमिव
 सव्यमवली' अग्निरि व सर्वमक्षी = मक्ष्यामक्ष्यसर्वमोजी सर्वजनलुष्टको

इसे देखते ही जीवों के हृदयमें मय का संचार हो जाता था। (निममइए
 निरनुकपे अहिन्वएगतद्विष्टोए, सुरेव एगतधारए, गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे)
 यह स्वभावतः नृशंसक (घातक) था निरनुकपे - दयागुण वर्जित था। सर्प
 की तरह क्रूर कर्म करने में इस की विचारसरणि एक निश्चयवादी होती
 थी, सुरा-उम्तरा के समान वह सर्व प्रकार से परकीय वस्तुओं के हरण
 करने में परोपतापनरूप परिणाम धारावाला था। गिद्धपक्षी की तरह यह
 शब्दादि विषयरूप आमिष में अथवा कामवासना में तत्पर रहा करता था।
 (अग्निमिव सव्यमवली जलमिव सव्यगगादी उष्कवण, वचग, माया नियद्धि,
 कूड, कवड, साइ, संजभोग, बहुले, चिरणारविणइदुद सीलायारचरिते,
 जूपसगी, मज्जपसगी मोज्ज, पसगी, मसपसंगी दावणे द्वियपदारए)
 अग्नि के समान यह सर्व मंत्री था, अथवा लक्षणों से सर्व जीवों को

मन अवधीत यथं ज्ञानं इत्या (निससइए निरनुकपे अहिन्व एगद्विष्टोए
 सुरेव एगतधारए, गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे) स्वभावधी ए ते नृशंस अने
 घातक इत्ये. (निरनुकपे) निर्दय इत्ये आपनी जेम इर कर्मभा प्रवृत्त यनाश
 तेना विव्याशे इह निश्चयवाणा इत्या अस्तशनी जेम ते अधी रीने जीवज्योनी
 वस्तुज्योने इरी देवाभा परोपतापन इय परियाभ वाणे इत्ये जीधनी जेम शब्द
 वगेशे विषय इय आमिषभा अथवा कामवासना जेवी व्याजतभा ते इमेया तेषार
 श्छेतो इत्ये. (अग्निमिव सव्यमवली जलमिव सव्यगगादी उष्कवण, वचग,
 माया नियद्धि, कूड, कवड, साइसपभोग, बहुले, चिरणारविणइदुद
 सीलायारचरिते, जूपसगी, मज्जपसंगी मोज्जपसगी मंसपसंगी दावणे द्वियप
 दारए) अग्निना ज्येते ते सर्वमक्षी इत्ये अथवा ते अपा प्राणीज्येते इत्ये

मान्तरु पद प्राकृतत्वात् 'नित्यभयलुहृत्थसपउच' तार्थभेदलघुहस्तसप्रयुक्तः,
 'नित्यभय' तीर्थभेदे=भर्मपध्वसने धर्मस्थानध्वसने वा लघुहस्तसप्रयुक्त =
 हस्तलाघवयुक्त अतिकुशल इत्यर्थ । 'परस्स दन्वहरणम्मि निच्च अणुपद्रे'
 परस्य द्रव्यहरणे नित्यमनुयद् =आसक्त । 'तिव्वेरे' तोत्रवैर.= उत्पट
 विरोधवान् स राजगृहस्य नगरस्य वह्नि 'अइगमणाणिय' अतिगमनानि=
 च प्रवेशमार्गा 'निग्गमणाणि' निर्गमनानि=निस्सरणमार्गा, 'दाराणि' दाराणि=
 नगरद्वाराणि, 'अइदाराणे' अइदाराणि=लघुद्वाराणि गुप्तद्वाराणि वा, 'छिड्डीओ'
 छिड्डीओ =श्रुतिछिद्रारूपा कण्ठरु प्राकारछिद्राणीत्यर्थः, 'खड्डीओ' खण्डी =
 दुर्गछिद्राणि, 'नगरनिद्धमणाणि' नगरनिद्धमनानि=नगरजलनिर्गमनद्वाराणि,
 'सवट्टणाणि' सवर्तनानि=अनेकमार्गसद्वमस्थानाणि 'निव्वट्टणाणि' निर्वननानि=
 नूतननिर्मितमार्गरूपाणि, 'जूअलयाणि' घृत्तखलफानि=घृतश्रीघास्थानानि,
 'पाणाणि' पानागाराणि' मदिरास्थानानि, 'वेस्सागाराणि' घश्यागाराणि=

तीर्थ भेद लघु हस्त सप्रयुक्त था-अर्थात् धर्मस्थान का नष्ट करने में यह
 भक्ति कुशल था। (परस्म दन्वहरणम्मि निच्च अणुपद्रे) दूसरों के द्रव्य
 हरण में यह आसक्त रहता था। (तिव्वेरे) तीव्र वैर वाला था।
 (रायगिहस्स नयरस्स वह्णि अइगमणाणि य निग्गमणाणि य दाराणि य भव रा
 गिय छिड्डीओ य खड्डीओ य नगरनिद्धमणाणि य) यह राजगृहनगरके अनेक
 प्रवेशमार्गों को जाने के मार्गों को वहाँ के अनेक द्वारों को छोटे-द्वारों
 को-अथवा गुप्त द्वारों को काँटों की लगी हुई बाड़के छिद्रों को जल के
 निकलने की नालियों को (सवट्टणाणि) अनेक मार्गों के सगमस्थानों को
 (निवट्टणाणि) नूतननिर्मित मार्गों को (जूअलयाणि) जूवा के खेलने के
 स्थानों को (पाणागाराणि) मदिरा पीने के स्थानों को (वेस्सागाराणि)

विचार पक्ष उत्पन्न यतो इतो के =। हु केवु कृत्य करी रह्यो छु ते ' तीर्थभेद
 लघुहस्त सप्रयुक्त ' इतो—जेटले के धर्मस्थानने नष्ट करवाभां ते अतिकुशल इतो
 (परस्सदन्व हरणम्मि निच्च अणुपद्रे) परअना द्रव्यने हरवाभा व ते आसक्त
 रह्य करतो इतो. (तिव्वेरे) ते अयहर रीते वेर (दुरभन्नावट) राधन्वर इतो
 (रायगिहस्स नयरस्स वह्णि अइगमणाणि निग्गमणाणि य दाराणिय अत्र
 दाराणि य छिड्डीओ य खड्डीओ य नगरनिद्धमणाणि य) राजगृह नगरस्था
 पक्ष प्रवेश भाजेने अवर अवरना रस्ताओने, तथा ना पक्ष इस्वाअओने, नान्य
 इस्वाअओने अथवा तो गुप्त इस्वाअओने, छोटेने, वाअन्य छिद्रोने, छिन्वान्य
 छिद्रोने 'पाणीनी नणीओने. (संवट्टणाणि) पक्षः रस्ताओ वेण्य यत्त होय तेव
 स्थानोने (निवट्टणाणि) नया अनापवाभा आवेदा रस्ताओने (जूअ खलयाणि)
 जूअरन्य अक्षओने, (पाणागाराणि) घडु पीवान्य स्थानोने, (वेस्सागाराणि)

चरित्रः, तत्र- चिर' चिर=बहुकाल यावत् 'नगर' नगरात् 'विणट्ट' विनट्ट =
 लीयित, अत एव 'दुट्ट' दृष्टं शील=स्वभाव, आचार कुलमयादालयण,
 चरित्र=जीवनव्यवहाररूप यस्य स तथा। 'जूयपसगी' घृतमसकी=घृतकीटा
 सक्त 'मज्जप्पसगी' मद्यप्रसङ्गी=मद्यपायी, 'भोज्जप्पसगी' भोज्यप्रसङ्गी=बण्ड
 खाद्यादिरसलोच्यप। 'भोगमसङ्गी' इति पाठ गणिकापरायण इति। 'मसपसगा'
 मांसप्रसङ्गी=मांसाहारी, उपलक्षणात् सप्तम्यसनसेवी। 'दारुणे' दारुण =फटोर
 हृदय। 'हिययदारए' हृदयदारक -भन्वेषां हृदयविदारक। साहसिण' साह
 सिण =मविचारकारी। सधिच्छेपए' सन्धिच्छेदक, -क्षत्रत्वानक =गृहादिभित्ति
 भेदक 'उवहिए' औपधिक'समायित्वेन प्रच्छन्नचारी। 'विस्समघाई' विस्रन्म
 घाती=विश्वामघातकः। 'आलीयग' आदीपक=ग्रामादिप्रज्वालकः लुप्रमथ

व्यवहार इसका बिलकुल नष्ट भ्रष्ट हो गया था, और चरित्र इसका विन
 कुल पतित बन गया था। यह घृत सगी-जुआ खेलने में आसक्त मद्य पाने
 में प्रसक्त भोज्य प्रसगी-मिष्टान्न आदिरस का लोचुनी, और गणिकाओं
 के सेवन करने में सदा तल्लीन रहता था। यह मांसाहारी था-उत्तमभग
 से सातों ही व्यसनों का सेवन करने वाला था। फटोर हृदय था-मन्य
 प्राणियों के हृदय विदारक था (माहसिए) बड़ा साहसिक था बिना विचारे
 हर एक काम कर डालता था। (सधिच्छेपए, उवहिए, विस्समघाई, आली
 यगतिरथमेयल्लुहृत्थसंपउए) मकानों में सेव (खाल) लगाने में उनकी
 भित्तिकोड़ने'में-यह प्रसथात था, औपधिक था-मायाचारी होने के कारण
 यह अपना वेत 'परिवर्तिग करे इधर उधर फिटा करता था। विश्वामघातक
 था। आदीपक-ग्राम आदि'के जमानेमें उसे कोई विचार नहीं होता था।

ते दुष्ट थर्ष अथो हतो। आन्धर-जेठके के दुण्णी भयोद्य इप तेने व्यवहार सधर
 नथ पाभ्यो हतो अने तेतु आरिन्ध सव भ्रष्ट थर्ष गयु हतु ते दुष्ट प्रसगी
 गुणरभां आसक्त, भत्रपी-धरु पीरभा प्रसक्त, खोन्ध प्रत्रगी-भिक्षान्न वनेरे
 गज्यु भावाभा खोखुप अने गल्लिअथो वनेरेना सेवनभा ते हमेथा तस्वीन रद्ध
 करतो हतो ते भास भ्रष्ट हतो। उपवधुस्येथी ते साते सात व्यसनेने आचरनार
 हतो। छोर हृदय वाणो हतो। पीन्ध भासुसेना हृदयने दुःपी गनावनार हतो
 (साहसिए) ते पूत्र ल साहसिक हतो। विवेक वरनेने थर्षने ते गमे ते काम
 करतो हतो। (सधिच्छेपए, उवहिए, विस्समघाई, आलीयगतिरथमेयल्लु
 हृत्थसंपउए) धरभां भावर पाडवाभां ते प्रख्यात हतो। ते औपधिक हतो-जेठके
 के भाया चारी खोवा भद्र ते पोतानो वेत भक्षीने आम तेम पडथा करतो
 हतो। ते विश्वास घात करनार हतो। आदीपक-जेठके के आम ने सगभावतां तेने

रूपेषु 'विहारेषु' विधुरेषु व्याकृलावधारूपेषु 'वसणेषु' व्यसनेषु-विपत्तु
 'अन्मुदपेषु' अन्मुदयेषु राज्यलक्ष्म्यादिमाप्तिरूपेषु 'उत्सवेषु' उत्सवेषु
 विवाहादिपञ्चरूपेषु 'पवत्रेषु' पवत्रेषु-पुत्रादिजन्मोत्सवेषु तिष्ठेषु 'तिथिषु-
 सांत्सरिकादिरूपासु' छणेषु क्षणेषु आनन्दजनकव्यापाररूपेषु 'जन्नेषु'
 यज्ञेषु नागाद्युत्सवेषु 'पञ्चणीसु' पर्वणीषु-कार्तिकपूर्णिमादिपर्वतिथिषु 'मत्त
 पमत्तस्म' मत्तपमत्तस्य तत्र 'मत्त' उन्मत्त 'पमत्त' प्रमत्त -प्रमादवान् य म
 तस्य 'विक्रियत्तस्स' विक्रियत्तस्य प्रयोगविशेषण भ्रान्तचित्तस्य 'वाउलस्स'
 वातुलस्य वातरोगयुक्तस्य अन्यमनस्कस्य वा 'सुहियस्स' सुखितस्य
 सकलेन्द्रियानुहूलविषयप्राप्तत्वात्सुखमग्नस्य 'दुखिव्यस्स' दुखितस्य उष्ट
 वियोगानिष्टसंयोगादिना दुःखनिमग्नस्य 'विदेसत्थस्स' विदेशस्यस्य परदेश
 स्थितस्य 'विण्वसियस्स' विप्रोपितस्य-इष्टजनवियोगिन इत्यादि यत्तुज

विहारेषु) व्याकृत अवस्था में होता था (वसणेषु) हिंसी और विाति से
 ग्रस्त होता था उस समय में तथा (अन्मुदपेषु) राज्यलक्ष्मी आदि का
 माप्तिरूप उत्सवों में (उत्सवेषु य पवत्रेषु य तिष्ठीषु य छणेषु य जन्नेषु य
 पञ्चणीसु य) विवाह आदि प्रसंगों में पुत्रादि जन्मोत्सवों में सांत्सरिक
 तिथियों में, आनन्द जनक व्यापाररूप क्षणों में नागादि उत्सवरूप यज्ञों म
 कार्तिक पूर्णिमा आदिरूप पर्वतिथियों में (मत्त-पमत्तस्स विक्रियत्तस्स वाउ
 लस्स य सुहियस्स य दुखिव्यस्स य विदेसत्थस्स य विण्वसियस्स य) जय
 कोई जन मत्त हो जाता था प्रमादवर्णन हो जाता था, प्रयोग विशेष
 से भ्रान्त चित्त बन जाता था, वातव्याधि से युक्त हो जाता था। या
 अन्यमनस्क हो जाता था सकल इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की प्राप्ति
 से आनन्द युक्त बन जाता था इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि से दुःख

(वसणेषु) पील डोस आक्षतमा क्षयवत्वे रहते, ते समये तेमज्ज (अन्मुदपेषु)
 राज्य लक्ष्मी वगेरेनी प्राप्तिरूप उत्सवेषुमा (उत्सवेषु य पवत्रेषु य तिष्ठीषु य
 छणेषु य जन्नेसु य पञ्चणीसु य) सज्ज वगेरेनी प्रसंगेषुमा, पुत्र वगेरेना जन्मे
 त्सवेषुमा, सांत्सरिक तिथियेषुमा आनन्दनी क्षणेषुमा, नाग वगेरेना उत्सव रूप
 यज्ञेषुमा कार्तिक पूनम वगेरेरूप पर्व तिथियेषुमा (मत्त पमत्तस्स विक्रियत्तस्स वाउलस्स य
 सुहियस्स, य दुखिव्यस्स य विदेसत्थस्स य पयत्तस्स विखयस्स विण्वसियस्स य)
 न्यारे डोस भाषुस गाडे यथंजते, प्रभादी यथंजते, (तत्र मत्तना) प्रयोग विशेषधी
 भ्रान्तचित्त यथंजते, वातना शैगधी पीडित यथंजते, सुख मनस्क यथंजते,
 मधी इन्द्रियेने सुख प्राप्ति थाय ज्येवे संयोग यथा न्यारे डोस आनन्द मज्ज
 यथंजते, इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग वगेरेधी दुःखी यथंजते, परदेशमा

गणिकागृहाणि 'तद्धारद्वाराणि' तद्धारस्थानानि=गाग हागृहाद्वाराणीत्यथ , 'नक्र
 रद्वाणाणि य' तस्करस्थानानि च=चोगनिवासस्थानानि, 'सिंघाडगाणि' श्रृङ्गा
 टकानि=श्रृङ्गाटफाकृतित्रिफोणस्थानानि, 'तियाणि' त्रिकाणि मार्गप्रयसमी
 लनस्थानानि, 'चउकाणि' चतुष्काणि=चतुष्फोणस्थानानि, चचराणि च घाणि=
 चतुष्पथरूपाणि 'नागघराणि' नागगृहाणि 'भूयघराणि' भूतगृहाणि 'जयम्बदे
 उलानि' यक्षदेवकुलानि= यक्षायतनानि 'सभाणि' समा 'पवाणि' प्रपा -
 पानीयशाला 'पणियसालानि' पणितशाळानि-क्यपिक्रयस्थानानि 'सुन्नघराणि'
 शून्यगृहाणि 'आभोपमाणेर' आभोगयन्-सोपयोगप्रेक्षमाण 'मग्गमाण'
 मार्गमाण-अन्विष्यन् । 'गवेसमाणे' गवेपमाण, मृक्षपरीत्या विलोक
 मान-बहुजनस्य 'छिरेसु' छिद्रेषु स्वल्बनारूपेषु 'विसमेसु' विप्रेषु-रोगाघवथा

वेश्याओं क गृहों को (तद्धारद्वाराणि) उनके दरवाजों को (नक्ररद्वाणाणि)
 चारों के निवासस्थानों को (सिंघाडगाणि) श्रृंगाटक जैसे त्रिफोण वाले
 स्थानों को (तियाणि) तीन मार्ग जहाँ मिले हों ऐसे स्थानों को (चउकाणि)
 चतुष्फोण वाले स्थानों को (चचराणि) चतुष्पथ रूप स्थानों को (नागघराणि)
 नागगृहों को, (भूयघराणि) भूतगृहों को, (जयम्बदेउलानि) यक्ष क दरवाजों को
 (पवाणि) सभाओं को (पवाणि) व्याकुलों को, (पणियसालाणि) क्रयविक्रय
 क स्थानों को (सुन्नघराणि) शून्य घरों को (आभोपमाणेर) उपयोग दफ्तर
 धारधार देखता था । (मग्गमाणे) उन्हें धारर तलाशता । (गवेपमाणे)
 मृक्षमहृष्टि से उन की गवेपणा करता था (बहुजनस्य छिरेसु य) जब कोई
 किसी प्रकार के कष्ट में होता था (विसमेसु) रोगादि अवस्था संनन

वेश्याओंना धरने, (तद्धारद्वाराणि) ते वेश्याओंना दरवाजोंने, (नक्ररद्वाणाणि)
 चारोंना अक्षओंने (सिंघाडगाणि) श्रृंगाटक-ओटले के त्रिषु रस्ता लेना थता होय
 तेवा स्थानेने, (चउकाणि) चतुष्फोणवाणा स्थानेने (चचराणि) चार रस्ताओ
 लेना थता होय तेवा स्थानेने, (नागघराणि) नागनां गृहोंने, (भूयघराणि)
 भूतिथं धरने, (जयम्ब देउलानि) यक्षोंना देवालयेने (सभाणि) सभाओंने
 (पवाणि) परनेने, (पणिय सालाणि-क्य विक्रयना स्थानेने, (सुन्नघराणि) आधी
 पडी रहेवा धरने, (आभोपमाणे) महतर आधीने चारे पडीओ लेता हते
 (मग्गमाणे) ते स्थानेने चारचार तपासता रहे ते हते। (गवेसमाणे) धरम
 हृष्टिथी तेभने लेता रहेता हते। (बहुजनस्य छिरेसु य) न्यारे कथ भाषुसु
 कथ पण आतना अन्विष्यती रहे छि (विसमेसु) रोग वनेरथी मुष्य रहेते,

रूपेण 'विह्वरसु' विधुरेषु व्याकूलान्धारूपेषु 'वसणेषु' व्यसनेषु-विपत्सु
 'अन्मुदपसु' अन्मुदयेषु राज्यलक्ष्म्यादिप्राप्तिरूपेषु 'उत्सवेसु' उत्सवेषु
 विवाहादिपत्ररूपेषु 'पमवेसु' प्रपत्रेषु-पुत्रादिजन्मोत्सवेषु तिहिसु 'तिथिसु-
 सावत्सरिकादिरूपासु 'छणेषु' क्षणेषु आनन्दजनकव्यापाररूपेषु 'जन्नेसु'
 यज्ञेषु नागाद्युत्सवेषु 'पव्वणीसु' पर्वणीषु-कार्तिकपूर्णिमादिपर्वतिथिषु 'मत्त
 पमत्तस्य' मत्तपमत्तस्य तत्र 'मत्त' उन्मत्त 'पमत्त' प्रमत्त-प्रमादवान् य स
 तस्य 'विक्रितस्य' विक्रितस्य पयोगविशेषेण भ्रान्तचित्तस्य 'वाडलस्य'
 वातुलस्य वातरोगयुक्तस्य अन्यमनस्कस्य वा 'सुहियस्य' सुखितस्य
 मरुलेन्द्रियानुहूलविषयप्राप्तत्वात्सुखमग्नस्य 'दुखिवस्य' दुःखितस्य इष्ट
 वियोगानिष्टसंयोगादिना दुःस्वनिमानस्य 'विदेस्यस्य' विदेशस्य परदेश
 स्थितस्य 'विपवसियस्य' विप्रोपितस्य-इष्टजनवियोगिन इत्यादि यहुज

विह्वरेषु व्याकूल अत्रह्या म होता था (राणेषु) हिंसी और विानि से
 प्रसन्न होता था उम समय में तथा (अन्मुदपसु) राज्यलक्ष्मी आदि को
 प्राप्तिरूप उत्सवों में (उत्सवेषु) य पत्रसु य तिहिसु य छणेषु य जन्नेषु य
 पव्वणीसु य) विवाह आदि प्रसंगों में पुत्रादि जन्मोत्सवों में सावत्सरिक
 तिथियों में, आनन्द जनक व्यापाररूप क्षणों में नागादि उत्सवरूप यज्ञों में
 कार्तिक पूर्णिमा आदिरूप पर्वतिथियों में (मत्त-पमत्तस्य विक्रितस्य वाड
 लस्य य सुहियस्य य दुखिवस्य य विदेस्यस्य य विपवसियस्य य) जब
 कोई जन मत्त हो जाता था प्रमादवशंगत हो जाता था, प्रयोग विशेष
 से भ्रान्त चित्त बन जाता था, वातव्याधि से युक्त हो जाता था। या
 अनपमनस्क हो जाता था सकल इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की प्राप्ति
 से आनन्द युक्त बन जाता था इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि से दुःख

(वसणेषु) पीछे कोष्ठ आक्षतमा ह्सायत्वे रहते, ते समये तेभ्य (अन्मुदपसु)
 राज्य लक्ष्मी वगेरेनी प्राप्तिरूप उत्सवेषु (उत्सवेषु य पत्रवेषु य तिहिसु य
 छणेषु य जन्नेसु य पव्वणीसु य) लभ्य वगेरेनी प्रसंगेषु, पुत्र वगेरेना जन्मे
 ल्येषु, सावत्सरिक तिथिषु, आनन्दनी क्षणेषु, नाग वगेरेना उत्सव रूप
 यज्ञेषु, कार्तिक पूनम वगेरे रूप पर्व तिथिषु (मत्तपमत्तस्य विक्रितस्य वाडलस्य य
 सुहियस्य य दुखिवस्य य विदेस्यस्य य विपवसियस्य य) अन्यरे कोष्ठ मासुस गांडो यथं भवेत्, प्रमादी यथं भवेत्, (तत्र मत्तना) प्रयोग विशेषथी
 भ्रांतचित्त यथं भवेत्, वातना शोथी पीडित यथं भवेत्, सुख मनस्क यथं भवेत्,
 मपी इन्द्रियेने सुख प्राप्ति यथं भवेत् संयोग यथा अन्यरे कोष्ठ आनन्द मत्त
 यथं भवेत्, इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग वगेरेथी दुःखी यथं भवेत्, परदेशमा

नस्य 'मग्ग' मार्गम् अवसरम् 'छिद्द' छिद्रम्-स्खलनारूपम् विरह' वियागम्
 'अतर' स्थानान्तरगमनरूप सायकालादिरूपं वा 'मग्गमाणे' मार्गवमाण
 विलोकमान 'गवेसमाणे' अन्विष्यन् 'एव च ण' उक्तरीत्या 'विहरइ'
 विहरति विजयतप्फरोऽवतिष्ठते इत्यर्थ, चकारः समुच्चयार्थ, ण वाक्या-
 म्बुद्धारे । 'बहिया वि य ण' बहिरपि च खलु राजगृहनगरस्य 'आरामेसु' आरा-
 मेषु-पुष्पफलादि समृद्धप्रसन्नतासकलक्रीडास्थानेषु 'उज्जाणेसु' उद्यानेषु=
 पत्रपुष्पफलच्छायोपशोभितनगरासन्नवर्चिक्रीडास्थानेषु 'वावीपोक्खरिणी-
 दीहियागु जालियासरेसु' वापीपुष्करिणीदीर्घिकागुञ्जालिकासरस्सु,
 तत्र 'वावी' वापी चतुष्कोणयुक्ता 'पोक्खरिणी' पुष्करिणी-कमल युक्तगो-
 लाकारा 'दीहिया' दीर्घिका=दीर्घाकार वापी 'गुंजालिया' गुञ्जालिका=त्रका
 कारवापी 'सर' = तडागः, 'सरपतियासु' सरःपार्श्वकासु=सरोवरभ्रमणेषु

मग्न हो जाता था, परदेश में गये हुए जनों का, इष्ट ननों से विपुक्त
 होता था-तब यह उनके (मग्ग च छिद्द च विरह च अतर च मग्गमाणे,
 गवेसमाणे एव च ण विहरइ) अवसर की, स्खलनारूप छिद्रको, वियाग को
 स्थानान्तर गमनरूप अथवा सायकाल आदिरूप अतर को ताकता रहता था-
 उनकी खोज में रहता था इस प्रकार से यह जब नगर में रहता था तब
 अपना समय व्यतीत करता था। तथा (बहियावि य ण रायगिहस्स नयरस्स
 आरामेसु य उज्जाणेसु य वाविपोक्खरिणी-दीहिया गुजालिया-सरेसु य
 सरपतियासु य सरसरपतियासु य मिण्णुज्जाणेसु य मग्गकूवेसु य माल्लया
 कच्छपसु य सुसाणपसु य गिरिकदल्लेणउच्चद्वारेणसु य बहुजणस्स छिरेसु य
 जाव एव च ण विहरइ) राजगृह नगरके बाहर वहाँ के आरामों में पुष्पफल

अथवा भावसेने तेमना भङ्गनेथी वियाग थरु जेतो त्थारे ते (धि) तेमना
 (मग्ग च छिद्द च विरह च अतर च मग्गमाणे, गवेसमाणे एवं च ण विहरइ)
 उपर आपत्ती नजर शभते। वियाग, स्थानान्तर गमन, सायकाल वजेरेना अव-
 सरनी तेमनी असावधानीनी भणभर उक्तेना धाम देवा तैयार रहेते। आवा अवसरैनी
 ते तथासभा रहे तो. आ रीते नगरभां रहीने, ते पेताने वपत पत्तार हस्ते।
 हते। तेम ज (बहिया वि य ण रायगिहस्स नयरस्स आरामेसु च उज्जाणेसु य
 वाविपोक्खरिणीदीहिया गुंजालिया,सरेसु य सरपतियासु य सरसर-
 पतियासु य मिण्णुज्जाणेसु य मग्गकूवेसु य माल्लया कच्छपसु य सुसाण-
 पसु य गिरिकदल्लेणउच्चद्वारेणसु य बहुजणस्स छिरेसु य जाव एवं च ण
 विहरइ) राजनगरनी पहार त्याना आशयेभा, पुष्पफलथी समुक्ति मुक्त तथा

सरसरपतियासु' स(सर पक्लिं कामु=परस्पर सलग्नेषु बहुषु तडागेषु येषु स(सु पङ्क्त्या च्यवस्थितेषु एरुसनात्सरसोऽन्वस्मिन् सरसि ततोऽन्वय, एव जलसवारदापाटकेन जल सवरति। अथवा ऊर्ध्वाध क्रमेण पक्लिंरूपेण च्यवस्थितेषु सरसु स्वन एव सुतरा जल सवरति, तत्रेत्यर्थः। 'जिष्णुज्जा णेषु' जीर्णोद्यानेषु=शुष्कप्रायतरुलतादियुक्तवनगण्डेषु 'मगकूपसु' मग्न कूपकेषु=खण्डितकूपकेषु 'मालुकाकच्छेषु' मालुकारुक्षकेषु सुभाणसु' इमशानकेषु गिरिकदरछेणोवद्वाणेषु' गिरिकन्दरलयनोपस्थानेषु=तत्र-गिरि कन्दरेषु=पर्वतरन्ध्रेषु 'लेण' लयनेषु=गिरिस्थितपापाणसृष्टेषु 'उवद्वाणेषु' उपस्थानेषु=लतादिमण्डपेषु बहुजनस्य=जनसमुदायस्य छिद्रेषु अथ आरभ्य यावत्-मनन्तर गवेषयमाणोऽसौ तस्कर एव प्रकारेण विचरति ॥ सू० ४ ॥

मूलम्—तण्ण तीसे भदाय भारियाए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि कुडुवजागरिय जागरमाणोए अयमे यारूवे अज्झत्थिए जाव समुपजित्था-अह धणणेण सत्थवाहेण सद्धि वडूणि वासाणि सद्धफरिसरसगधरूवाणि माणुस्सगाइ काम-

भादि से समृद्ध वृक्षों वाले तथा लता से युक्त ऐसे क्रीडास्थानों में-उद्यानों में नगरासन्नधर्ती ऐसे क्रीडा के स्थलों में जो पत्र पुष्प फल एव छाया वाले वृक्षों से शोभित होते हैं, पुष्करणियाँ में दीर्घिकाओं में गुजालि काओं में तालाब में सरोवरश्रेणियों में परस्पर सलग्न अनेक तालाबों में भीर्ण उद्यानों में, मग्नकूपों में, मालुकारुक्षकों में इमशानों में पर्वत की गुहाओं में पर्वत ऊपर रहे हुए पापाणसृष्टों में और लतादि मण्डपों में छुपर कर यह जन समुदाय के छिद्रों की निरह की अन्तर आदि की वाक में रहा करता था उन की गवेषणामें लगा रहता था। सू० ४।

एता वितानेथी द्वाजेता द्वीय स्थानेभा उद्वेनेभा--नगरनी पासैना पत्र, पुष्प ह्य अने छयद्यवाणा वृक्षेथी शोभित द्वीय स्थानेभा, पावेभा पुष्करणीयेभा, दीर्घिकायेभा 'जु लत्तिकायेभा, तथावेभां सशेवदेनी खेषुयेभा जेमना पाथी येक धर्ध रक्षां छे जेवा धसु तणावेभा गूना जगीयायेभा, अन्ना अन्न हूवायेभा, भाडुता क्येभा, अम्यानेभा, पर्वतनी शुक्ष्मयेभा, पर्वत उपरन्ना थिवा जेदेनी पथेना पापासु गृहोभा अने एता भउपेभा छुपाधने ते (शार) अन् समुदायनी अस्यपधानता तेभ अ तेये क्यारे पोताना धरथी विपूटा थाव छे तेनी शोधभा रहतेते इते, तेनी अशेवर तथास राभते इते ॥ सूत्र ४ ॥

नस्य 'मग्ग' मार्गम् अवसरम् 'छिद्द' छिद्रम्-स्वलनारूपम् विरह' त्रियोगम् 'अतर' स्थानान्तरगमनरूप सायकालादिरूपं वा 'मग्गमाणे' मार्गयमाण विलोकमानः 'गवेसमाणे' अन्विष्यन् 'एव च ण' उक्तरीत्या 'विहरइ' विहरति विजयतम्करोऽवतिष्ठते इत्यर्थ, चकारः समुच्चयार्थ, णं शक्या-
 लङ्कारे । 'बहिया वि य ण' बहिरपि च खलु राजगृहनगरस्य 'आरामेसु' आरा-
 मेषु-पुष्पफलादि समृद्धसलतासकलक्रीडास्थानेषु 'उज्जाणेषु' उद्यानेषु=
 पत्रपुष्पफलच्छायोपश्रीभितनगरासन्नवर्चिक्रीडास्थानेषु 'वावीपोक्खरणी-
 दीहियाणु जालियासरेसु' वापीपुष्करिणीदीर्घिकागुञ्जालिकासरस्तु,
 तत्र 'वावी' वापी चतुष्कोणयुक्ता 'पोक्खरिणी' पुष्करिणी-कमल युक्तगो-
 लाकारा 'दीहिया' दीर्घिका=दीर्घाकार वापी. गुंजात्रिया' गुञ्जालिका=त्रका-
 कारवापी 'सर' = तडाग, 'सरपतियासु' सरःपर्णिकासु=सरोवरभ्रमणेषु

मग्न हो जाता था, परदेश में गये हुए जनों का, इष्ट जनों से वियुक्त
 होता था-तब यह उनके (मग्ग च छिद्द च विरह च अतर च मग्गमाणे,
 गवेसमाणे एव च ण विहरइ) अवसर की, स्वलनारूप छिद्रको, त्रियोग का
 स्थानान्तर गमनरूप अथवा सायकाल आदिरूप अतर को ताकता रहता था-
 उनकी खोज में रहता था इस प्रकार से यह जब नगर में रहता था तब
 अपना समय व्यतीत करता था। तथा (बहियावि य ण रायगिहस्स नयरस्स
 आरामेसु य उज्जाणेषु य वाविपोक्खरिणी-दीहिया गुजालिया-सरेसु य
 सरपतियासु य सरसरपतियासु य जिण्णुज्जाणेषु य मग्गकूवेसु य मालया
 कच्छपसु य सुसाणपसु य गिरिकंदरणेणउच्चहाणेषु य बहुजणस्स छिरेसु य
 भाव एव च ण विहरइ) राजगृह नगरके बाहर वहाँ के आरामों में पुष्पफल

अथवा माल्यसेने तेभन्ना छल्लेणोधी विधेअ यं जतो त्वारे ते (धि) तेभन्ना
 (मग्गं च छिद्दं च विरहं च अंतरं च मग्गमाणे, गवेसमाणे एव च णं विहरइ)
 उपर थापती नजर सभतो. विधेअ, स्थानान्तर गमन, सायकाल पजेरेना अथ
 सरनी तेभन्नी असावधानीनी भशभर तकने धाअ देवा तैयार रहेते। आवा अवसशेनी
 ते तथासभा रहे तो अ शीते नजरभां रहने, ते पैलाने वअत पसार करते।
 उते। तेभं (बहिया वि य ण रायगिहस्स नयरस्स आरामेसु य उज्जाणेषु य
 वाविपोक्खरिणीदीहिया गुजालिया,सरेसु य सरपतियासु य सरसर-
 पतियासु य जिण्णुज्जाणेषु य मग्गकूवेसु य मालया कच्छपसु य सुसाण-
 पसु य गिरिकंदरणेणउच्चहाणेषु य बहुजणस्स छिरेसु य भाव एव च णं
 विहरइ) राजनगरनी अहार त्थाना आरामेभा, पुष्पफलधी समुद्धि सुकत तथा

अह देवाणुप्पिया । तुव्भेहिं सांइ बहुइ वासाइ जाव दे ति समुल्ला
वण सुमहुरे पुणे मजुलप्पभणिणए तण्णं अह अहन्ना अपुन्ना
अलक्खणा एत्तो एगमवि न पत्ता, त इच्छामि ण देवाणुप्पिया ।
तुव्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी विपुल असण ४ जाव अणुवुद्धेमि
(त्तिकट्टु) उवाइय करेत्तए । तण्ण धण्णे सत्थवाहे भव भारय
एव वयासी—समाप य ण खल्ल देवाणुप्पिया । एस चेव मणोरहे
—कह ण तुम दारग दारिग वा पयाएज्जसि ? भदाए सत्थवाहीए
एयमट्टमगुजाणइ । तएग सा भदा सत्थवाही धण्णेण सत्थवाहेण
अब्भणुन्नाया समाणी हट्टुतुट्टु जाव हियया विपुल असणपाण
खाइमसाइम उवक्खडावेइ उवक्खड्ढावित्ता सुवहु पुप्फगधवत्थम-
ल्लालकार गेण्हइ गेण्हित्ता सयाओ गिहाओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता
रायगिह नयर मज्झ मज्झेण निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव पोक्ख
रिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पुक्खरिणीए तीरे सुवहु
पुप्फजाव मल्लालकार ठवेइ, ठवित्ता पुक्खरिणिं ओगाहइ, ओगा
हित्ता जलमज्जण करेइ जलकीड करेइ, करित्ता ण्हाया कयवलिकम्मा
उल्लपडसाडिगा जाइ तत्थ उपलाइ जाव सहस्सपत्ताइ ताइ
णिण्हइ गिण्हित्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता जेणमेव
नागघरण य जाव वेसमणघरण य तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता
तत्थ ण नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य आलोए पणाम-
करेइ करित्ता ईसिं पच्चुन्नमइ पच्चुन्नमित्ता लोमहत्थग परामुसइ
परामुसित्ता नागपडिमाओ य जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थ

भोगाइ पञ्चणभवमाणी विहरामि, नो चेव ण अह दारग वा दारिग
 पयायामि, त धन्नाओ ण ताओ अम्मयाओ जाव सुलद्वेणमाणुस्सए
 जम्मजीवियफले तासिं अम्मयाण जासिं मन्ने णियगकुच्छिसभूयाइ
 थणदुडल्लु द्दयाइ महुरसमुत्तावगाइ मम्मणपयपियाइ यणमूलक-
 ष्वदेसभाग अभिसरमाणाइ मुद्धयाइ थणय पिवति, तओ य
 कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हऊण उच्छगे निवेसियाइ दे ति
 समुल्लावए पिए सुमद्धुरे पुणो२ मजुलप्पभणिए, त अहन्न अधन्ना
 अपुत्ता अलक्खणा अकयपुन्ना एत्तो एगमवि न पत्ता, त सेय मम
 क्ख पाउप्पभायाए रयणीए जाव जलते धणण सत्थवाह आपुच्छित्ता
 धणणेण सत्थवाहेणं अब्भणुन्नाया समाणी सुवहु विपुल असण
 पाणखाइमसाइम उवक्खडावेत्ता सुवहु पुप्फवत्थगधमल्लालकार
 गहाय बद्धुहिं मित्तनाइनियगसयण सवधिपरिजणमहिलाहिं सद्धिं सप
 रिवुडा जाइ इमाइ रायगिहस्स नयरस्स बहिया णागाणि य भूयाणि य
 ज्जक्खाणि य इदाणि य खदाणि य रुद्धाणि य सिखाणि य वेसमणाणि
 य तत्थ णं य बहूणं नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य मह
 रिह पुप्फञ्चणिय करेत्ता जाणुपायवडियाए एव वइत्तए—जइ णं अह
 देवाणुप्पिया । दारग वा दारिग वा पयायामि तो ण अह तुब्भ
 जायं च दाय च माय च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेमि ति कहु उव-
 याइय उवयाइत्तए, एव सपेहित्ता कल्ल जाव जलते जेणामेव धण्णे
 सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एव वयासी—एव खल्ल

अह देवाणुपिया । तुव्मेहिं सर्द्धि बहुइ वासाइ जाव दे ति समुल्ला
वए सुमदुरे पुणे मजुलप्पभणिए तण्णं अह अहन्ना अपुन्ना
अलक्खणा एत्तो एगमवि न पत्ता, त इच्छामि ण देवाणुपिया ।
तुव्मेहिं अब्भणुन्नाया समाणी विपुल असण ४ जाव अणुवड्ढेमि
(त्तिकट्टु) उवाइय करेत्तए । तण्ण धण्णे सत्थवाहे भद्द भारय
एव वयासी—ममाप य ण खल्ल देवाणुपिया । एस चेव मणोरहे
—कह ण तुम दारग दारिग वा पयाएज्जसि ? भद्दाए सत्थवाहीए
एयमट्टमणुजाणइ । तएग सा भद्दा सत्थवाही धण्णेण सत्थवाहेण
अब्भणुन्नाया समाणी हट्टतुट्ट जाव हियया विपुल असणपाण
खाइमसाइम उवक्खडावेइ उवक्खड्ढावित्ता सुवहु पुप्फगधवत्थम-
ल्लालकार गेण्हइ गेण्हित्ता सयाओ गिहाओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता
रायगिह नयर मज्झ मज्झेण निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव पोक्ख
रिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पुक्खरिणीए तीरे सुवहु
पुप्फजाव मल्लालकार ठवेइ, ठवित्ता पुक्खरिणि ओगाहइ, ओगा
हित्ता जलमज्जण करेइ जलकीड करेइ, करित्ता ण्हाया कयवलिकम्मा
उल्लपडसाडिगा जाइ तत्थ उ-पलाइ जाव सहस्सपत्ताइ ताइ
णिण्हइ गिण्हित्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता जेणमेव
नागघरए य जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता
तत्थ ण नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य आलोए पणाम-
करेइ करित्ता ईसिं पच्चुन्नमइ पच्चुन्नमित्ता लोमहत्थग परामुसइ
परामुसित्ता नागपडिमाओ य जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थ

भोगाइ पञ्चणुभवमाणी विहरामि, नो चेत्र ण अह दारग वा दारिग
 पयायामि, त धन्नाओ ण ताओ अम्मयाओ जाव सुलद्वेणमाणुस्सए
 जम्मजीवियफले तासिं अम्मयाण जासिं मन्ने णियगकुच्छिसभूयाइ
 थणदुड्लु छयाइ महुरसमुत्थावगाइ मम्मणपयपियाइ यणमूलक-
 क्खदेसभाग अभिसरमाणाइ मुद्धयाइ थणय पिवति, तओ य
 कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हऊण उच्छगे निवेसियाइ दे ति
 समुल्लावए पिए सुमदुरे पुणो२ मजुलप्पभणिए, त अहन्न अधन्ना
 अपुन्ना अलक्खणा अकयपुन्ना एत्तो एगमवि न पत्ता, त सेय मम
 क्ख पाउप्पभायाए रयणीए जाव जलते धण्ण सत्थवाह आपुच्छित्ता
 धण्णेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया समाणी सुवहु विपुल असण
 पाणस्वाइमसाइम उवक्खडावेत्ता सुवहु पुप्फवत्थगधमल्लालकार
 गहाय बहूहिं मित्तनाइनियगसयण सवधिपरिजणमहिलाहिं सद्धिसप
 रिवुडा जाइ इमाइ रायगिहस्स नयरस्स बहिया णागाणि य भूयाणि य
 जक्खाणि य इदाणि य खदाणि य रुद्धाणि य सिद्धाणि य वेसमणाणि
 य तत्थ णं य बहूणं नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य मह
 रिह पुप्फञ्चणिय करेत्ता जाणुपायवडियाए एव बइत्तए—जइ णं अह
 वेवाणुप्पिया ! दारग वा दारिग वा पयायामि तो ण अह तुब्भ
 जाय च दाय च माय च अक्खयणिहिं च अणुवट्ठेमि त्ति कहुं उव-
 याइय उवयाइत्तए, एव सपेहित्ता कल्ल जाव जलते जेणामेव धण्णे
 सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एव वयासी—एव खल्ल

आध्यात्मिक = आत्मनि विचार. यावत् समुदपघत—अहं स्वहृद धन्येन सार्धं वाहेन सार्धं यद्गुणि वर्षाणि तावत्—रहुवर्षार्यन्त शब्दस्पर्शरसस्वूपामकान् मानुष्यकान् कामभोगान् 'पञ्चणुभवमाणी' पर्यनुभवन्ती=परिसुज्ञाना विहरामि=विष्टामि किन्तु नोचैव खलु अहं दारकं वा दारिका वा प्रजनयामि, तत्-धन्या. खलु वा अम्वा यावत् सुलब्धं खलु मानुष्यकं जन्म-जीवितफलं तासामम्पानां यासां मन्ये निजककुक्षिसम्भूता स्तनदुग्धलुब्धा मधुरसमुल्लापका 'मम्मणपजपियाइ' मम्मणपजलियाः— 'मम्मण' इति स्वलत् प्रनल्पितं येषां ते 'तथा यणमूलकवत्तदेसभाग अभिसरमाणाइ' स्तनमूलकवत्तदेसभागमभिसरन्तः— स्तनमूलात्=स्तनमूलभागात् कक्षदेश

रुवे अज्जत्थिए जाव समुपज्जित्या) इस प्रकार यह आध्यात्मिक यावत् मनोगत सकल्प उत्पन्न हुआ कि (अहं) मैं (धन्येण सत्यवाहेण सार्धं) धन्य सार्धवाह के साथ (यद्गुणि) बहुत वर्षों से (सहपरिसरमगधरुवाणि माणुस्सगाइ कामभोगाइ पञ्चणुभवमाणी विहरामि) शब्द, स्पर्श, रस, गंध, और रूप स्वरूप मनुष्यभव सयन्धी काम भोगों को भोग रही हुई हूँ। (नो चैव ण अहं दारग वा दारिगां वा पयायामि) परन्तु अर्थात् मेरे न लक्षका ही हुआ है और न लक्षकी ही (त धन्नाओ ण ताओ अम्मयाओ जाव सुल्लदेण माणुस्सए मण्णे जम्मजी वियफलेत्तासिं अम्मयाओ) अतः मैं उन माताओं को धन्य मानती हूँ, उन्हीं का जीवन सफल समजती हूँ, और यह मानती हूँ कि उन्हींने अपने मनुष्य भव सम्बन्धी जन्म का और जीवन का फल पाया है। (जासि गियगकुच्छिसमूयाइ यणदुद्धल्लयाइ मधुरसमुल्लावगाइ मम्मणय पियाइ यणमूलकवत्तदेसभाग

धन्य सार्धवाहेणी सार्धे (यद्गुणि वासाणि) बहु वर्षोधी (सहपरिसरमगधरुवाणि माणुस्सगाइ कामभोगाइ, पञ्चणुभवमाणी विहरामि) शब्द, स्पर्श, रस, गंध अने रूपना मनुष्यभावना कामभोगो भोगवी रही हूँ (नो चैव ण अहं दारग वा दारिगां वा पयायामि) पञ्च अत्यार सुधी अहरे पुत्र के, पुत्रीकधरु यथु नथी (त धन्नाओ ण ताओ अम्मयाओ जाव सुल्लदेण माणुस्सए मण्णे जम्मजीवियफले तासिं अम्मयाओ) हूँ ते माताओंने धन्य समजु हूँ, तेमनां एवमने ए सहणं भातु हूँ, के अने मनुष्यभावना जन्म अने एवमनां सहणं इण मत्था छे (जासि गियगकुच्छिसमूयाइ यणदुद्धल्लयाइ मधुरसमुल्लावगाइ मम्मणय पियाइ यणमूलकवत्तदेसभाग अभिसरमाणाइ

एण पमज्जइ पमज्जित्ता उदगधाराए अम्भुक्खेइ, अम्भुक्खित्ता
 पम्हलसुकुमालाए गधकासाइयाए गायाइ लूहेइ, लूहित्ता महरिह
 वत्थारुहण च मल्लारुहण च गधारुहणं च चुन्नारुहण च करेइ, करित्ता
 जाव धूव ढहइ, ढहित्ता जाणुपायवडिया पजलिउडा एव वयासी
 जइण अह दारग वा दारिग वा पयायामि तो ण अह आय च जाव
 अणुवड्ढेमि त्तिकुट्टे उवाइय करेइ, करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव
 उवागच्छइ, उवागच्छित्ता विउल असणं आसाएमाणी जाव विह
 रइ, जिमेया जाव सुईभूया जेणेव सए गिहे तेणेव उवागया, अतु-
 त्तर च ण भद्दा सत्थवाही चाउइसट्टमुद्धिट्टुपुन्नमासिणीसु विउल
 असणं उवक्खहेइ, उवक्खडित्ता वहवे नागा य जाव वेसमणा य
 उवायमाणी जाव एव च णं विहरइ ॥सु० ५॥

टीका—‘तएण तीसे’ इत्यादि । ततःस्वच्छ तस्याः भद्राया भार्याया अन्यथा
 कदाचित् ‘पुञ्जरचावरत्तकालसमयेसि’ पूर्वात्रापरराप्रकालसमये=रात्रेः पश्चिमे
 मागे ‘कुडुवजागरिय’ कुडुम्पजागरिकां=कुडुम्पसम्बन्धिचिन्तया निद्रावयरूपां
 जागरणम् ‘जागरमाणीए’ जाग्रत्याः=कुर्वत्याः अयमेत इव ‘अज्झत्थिए’

‘तएण तीसे मद्याए मारियाए’ इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) इसके बाद (तीसे मद्याए मारियाए) उस भद्रा भार्या
 को (अन्नया कयाइ) किसी एक समय (पुञ्जरचावरत्तकाल समयसि) रात्रि
 के पूर्वभाग के बाद पश्चिमभाग में (कुडुवजागरिय जागरमाणीए) कुडुम्प
 की चिन्ता से निद्रा नहीं आने के कारण जगती हुई स्थिति में (अयमेया

‘तएण तीसे मद्याए मारियाए’ इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तएण) त्वात् आत् (तीसे मद्याए मारियाए) भद्रा भार्यायै
 (अन्नया कयाइ) कथं वण्ते (पुञ्जरचावरत्तकालसमयसि
 रात्रिन्तया पूर्वं भागन्ती पथी पश्चाद्भवन्त्या (कुडुवजागरि यंजागरमाणीए)
 कुट्टे भन्ती चित्ताने वीथिं खंभं न आवत्ता अत्रत्तवस्थाम् (अय
 मेयास्त्वे अज्झत्थिए नाव समुपजित्था) अयं भवन्ते आत्थानिक्कं आवत्त
 भनोअत्तं सकम्पं उइमन्ते के (अहं) इ (पन्नेण सत्थवाहेण सद्वि)।

सञ्चितपुण्याऽगिम 'एत्तो' इत, पूर्वमघावधि=एपा म याद् एकमपि शिशु
 चेष्टनकलापादेकमपि चेष्टनमेकमपि शिशु वा न प्राप्ता 'त तत्=तस्मात्का
 रणात् 'सेय' श्रेय=श्रेयस्कर शोभन मम कल्पे पादुप्रभाताया रजन्या
 यावत् 'जलति' ज्वलते'=सूर्योदये सति घन्य मार्यवाहमापृच्छय घन्येन सार्यवाहेन
 'अन्मणुन्नाया' अन्मनुज्ञाता=माप्तनिदेशा सती 'सुषहु' =प्रकारयहुल 'विउल'
 विपुल=पचुरम् अशनपाननाद्यस्वाद्यम् 'उवक्खडावेत्ता=उपस्कार्यं चतुर्विध
 माहार निष्पाय 'सुषहु' सुषहुम्=बहुप्रकारक पुष्पवद्यगन्धमार्यालकार गृहीत्वा
 बहुभिर्भिन्नज्ञातिनिजकरजनमम्बन्धिपरिजनमहिलाभि साद्धं सपरिवृता

है ऐसी हूँ जो अभी तक इन प्रकार की चेष्टा सपन्न बालों में से एक भी चेष्टा
 विशिष्ट और मीठी तोतली वाणी बोलने वाले शिशु को नहीं पा सकी हूँ। (त सेय
 मम कल्ल पाउप्पभायाएः रयणीए जाव जलते घण्ण सत्थवाह आपुच्छिसा
 घण्णेण सत्थवाहेण अन्मणुन्नाया समाणी सुवहु विपुल असणपाण-
 खाइमसाइम उवक्खडावेत्ता) तो अब सुझे यही श्रेयस्कर है कि मैं कल
 प्रभात होते ही— सूर्यके उदित होने पर घन्यमार्यवाह से पूछकर और
 उनकी आज्ञा प्राप्त कर अशन, पान, स्वाद्य और स्याद्य इस तरह चार
 प्रकार का आहार निष्पन्न करा कर (सुषहुं पुष्पवत्यगधमल्लालकार गहाय
 षहुहिं मित्त नाइ-नियग-सयण-सवधि-परिजनमहिलाहिं सद्धिं सपरिवुडा
 जाइ इमाइ रायगिइस्स नयरस्स घहिया णागाणि य भूयाणि य जक्खाणि य
 इदाणि य खदाणि य रुदाणि य) और पुष्प, वस्त्र, गंध, माला, एव
 अलकार को लेकर अपने अनेक मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन सयन्धी

इ छ, डेभडे इल्ले ओवी भाण वेष्टाओ करनार भाणडोभाथी ने ओके पधु भाण्ड
 भेणु नथी (त सेय मम कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव जल
 ते घण्ण सत्थवाह आपुच्छिसा घण्णेण सत्थवाहेण अन्मणुन्नाया समाणी
 सुवहु विपुले असणपाणग्वाइमसाइम उवक्खडावेत्ता) ओवी स्थितिमा
 भने ओए उचित लागे छे डे आवती काले सवारे सूरज उदय पामता घन्य
 सार्यवाहने पूछीने तेमनी आज्ञा भेणवीने अशन, पान भाद्य अने स्वाद्य आ रीते
 थार जतने आहार तैयारकरावअवीने (सुषहु पुष्पवत्यगधमल्लालकार
 गहाय षहुहिं मित्तनाइनियगसयणसवधिपरिजनमहिलाहिं सद्धिं
 सपरिवुडा जाइ इमाइ रायगिइस्स नयरस्स घहिया णागाणिय भूयाणि य
 जक्खाणि य दाणि य खदाणि य रुदाणि य वेसमणाणि य) अने पुष्प वस्त्र
 गंध भाण्ड अने धरेज्जाओ साथे लधने अनेक मित्र, ज्ञाति, निजक स्वजन सयन्धी



भागम् अभिसरन्तः=मममुख सञ्चरन्तः सतः मुद्रयाङ्' मुग्धाः=मनोहरा
 शिशव 'धणय' पिवति, स्तनज=दृग्ध पिवति स्तन्यपान कुर्वन्तीत्यर्थ ।
 ततश्च ते 'कोमलकमलोधमेहिं' कोमलकमलोपमाभ्यां=सुकुमालकमल
 सदृशाभ्यां हस्ताभ्यां गृहीरया 'उच्छगनिवसियाइ' उत्सङ्गनिवेशिताः=मङ्गे
 स्थातिता सन्त स्तनन्धया मातृभ्यः 'देति' ददति, किमित्याह— तस्य
 छावे' समुद्रापकान्, सजल्पान् कीदृशान् ? इत्याह—'पिप' मियान् प्रीति
 जनकान् 'सुमहुरे' सुमधुरान्=कर्णसुखजनकान् 'पुणो पुणो मज्जुलप्यमणिप'
 पुन पुनर्मञ्जुलप्रमणितान्=वारार कोमलाक्षरमयुक्तत्रन्पितान् ददति प्रियम
 झुलमापया मापन्ते धन्या इत्यर्थ । 'त' तन्-किन्तु अह खलु 'अधन्ना'
 अधन्या=अकृतार्या 'अपुण्या' अपुण्या=पुण्यहीना, 'अलक्षणा'='अभक्षणा
 =कुलक्षणा 'अकपपुष्पा' अकृतपुण्या=न कृत पूर्वभवे पुण्य यया सा पूर्वमशाऽ

अभिसरमाणाइ मुद्रया धणय पिवति) कि जिनकी कुक्षिसे उत्पन्न स्तन
 के दृग्ध में लुब्ध मीठी रसोत्तमी योन्ते हुए बालक शिशु स्तन के
 मूल भाग से क्लृप्त देश पर्यन्त सरक कर दृग्ध पीते हैं । (तओ य
 कोमलकमलोधमेहिं इत्येहिं गिष्किऊण उच्छगे निवेशियाइ) और माता
 उन्हे अपने सुकुमार तथा कमल जैसा दोनों हाथों से पकड़ कर उत्संग
 में बैठाती है । और वे स्तनन्धय-बालक (समुद्रलावण देति) उन अपनी
 माताओं को इस प्रकार के आलापों को देते हैं (पिप सुमहुरे पुणो
 मज्जुलप्यमणिप) जो मोति जनक होते हैं, कर्ण सुखजनक होते हैं
 और जिनमें वारर कोमल अक्षरवाली वाणी होती है । (तं अहन्नं अधन्ना
 अपुष्पा अलक्षणा अकपपुष्पा एतो एगमवि न पत्ता) किन्तु मैं तो अधन्य
 हू, पुण्यहीन हू कुलपणा हू अकृत पुण्या हू पूर्वभव में पुण्यजितने नहीं हिया

मुद्रयाइ धणय पिवति) जेवु भावु छे के जेमना ऊदरे जन्मेहु, स्तन पान
 भाटे छेळडित, भीहु भीहु अने तोवडु जेवतु भाणक स्तनो सुधी—पडभा सुधी
 धरी आवीने द्रव पीवे छे । (तओ य कोमलकमलोधमेहिं इत्येहिं
 गिष्किऊ उच्छगे निवेशियाइ) अने माता तेने कभण जेवा अने जामेभा
 छ्यहीने जेणामा जेसाडे छे ते भाणके पक्ष (समुद्रलावण देति) माताजेनी
 सामे जेवी रीते कछ कछ जेवे छे के (पिप सुमहुरे पुणो २ मज्जुलप्यमणिप)
 जे अत्यन्त प्रेम जनक छेव छे, कानेने सुभकर छेव छे तेनी वाणी केमछ
 अक्षरशेधी मुकव छेव छे (तं अहन्न अधन्ना अपुष्पा अलक्षणा
 अकपपुष्पा एतो एगमवि न पत्ता) पक्ष हु तो अभागी छे, पुण्य हीन छे
 कुलपण छे, अकृत पुण्य छे, जेजे पूर्वभव जन्ममा पुण्ये ज्यो न थी जेवी

दायच' दाय-दानम् अभयदानादन, पचदिवसादिदा वा, भायच' भागं
वर्द्धयामि-प्रभूतद्रव्यमर्पयिष्यामीत्यर्थ, तिषद्दु' इति कृत्वा=इत्युक्त्वा
'उवाच्य' उपयाचितम्=अपत्यमाप्तिप्रार्थनारूपा मान्यतां 'मनौती' इति
प्रसिद्धाम् 'उवाचइत्तर' उपयाचतु=कर्तुं अय' इति पूर्वेण सम्बन्ध । एवं
सम्प्रेभते, सम्प्रेक्ष्य खले यावज्ज्वलति यत्रैव धन्य सार्थवास्तुशैवापा-
गच्छति, उपागय एवमवादीत्--एव खलु अह देवानुपिया ! युष्मामि

अणुवद्भूमि) यदि मै हे देवानुपियो ! अपनी कुक्षिस पुत्र या पुत्री
का जन्म दृगी ता मै आपकी सेवा करूगी—आपक निमित्त अभय-
दानादिकका वितरण करूगी, अथवा पूज दिनों म दान आदि वाटने
की व्यवस्था करदूगी । अपने हिस्सेमें आपके लिये विभाग अलग
तथा आपके अक्षय कोष की वृद्धि करवादूगी—तापर्यं इसका यह है
कि मेरी मनो कामना पूर्णहोने पर मै प्रभूत द्रव्य आप सबके लिये
अर्पित करूगी । (त्ति क् उवाचइय उवाचइत्तर) इस तरह की मुझे
उनके पास मनौती—मानता—मनाने म मेरी मलाई है । (एवं सपेहेइ)
इस प्रकार का उसने विचार किया । (सपेहिता) और विचार कर (कल्ल
जावज्जलते जेणामेव धणणे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ) वह दूसरे दिन
(उसी दिन) प्रात काल हाते ही सूर्य के प्रकाशित होने पर जहा
अपने पति धन्य सार्थवाह य वहां गई । (उवागच्छिता एवं वयासी)
वहा जाकर उसने उनसे ऐसा कहा—एव खलु अह देवानुपिया !

याणिहिं च अणुवद्भूमि) हे देवानुपियो ! मे भारा उद्देश्यी पुत्र के पुत्री जन्मसे
तो हु आपनी पूज करीश. आपना निमित्ते अभयदान वगेरे करीश, अथवा
तो पढेखाना दिवसोभा दान वगेरे वहेखानी व्यवस्था करीश भारा हिस्साभा मे
कथ आवशे तेभाथी तभारे भाग जुहो भुक्षवक्षवीश. तेभज तभारा अक्षय निधिनी
पक्षु हु वृद्धि करीश. मतवण मे छे के मे भारी मनोकामना पूरी थये तो हु
प्रभूत द्रव्य तभारा खरबोभा बेट इमे अर्पण करीश. (त्तिकर्तु उवाचइय उवाच
इत्तर) आ बातनी मान्यतामां ज भने हुवे भाउ भेय ज्ञाय छे (एवं सपेहेइ)
आ प्रभावे तेखे विचार कथी (सपेहिता) अने विचार करीने (कल्ल जाव जलते
जेणामेव धणणे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ) भीने दिवसे खारे सूयेकथ
यता ज न्या पीताना पति धन्य सार्थवाह हुता त्या गथ (उवागच्छिता
एव वयासी) त्या ज्छने तेने आम कक्ष— (एवं खलु अह देवानुपिया !

યાનીમાનિ રાજગૃહસ્ય નગરસ્ય ષદ્ધિઃ 'નાગાણિ ચ' નાગાનિચ-નાગગૃહાણા
 ત્યર્થ, ણ્વ સર્વત્ર વિજ્ઞેયમ્ ભૂતાનિ ૪-ભૂતગૃહાણિ, ચખાણિ ચ ચક્ષુગૃહાણિ,
 ઇન્દ્રાણિ ચ-ઇન્દ્રગૃહાણિ, સ્કન્દાનિ ચ—સ્કન્દગૃહાણિ, રુદ્રાણિ ચ-રુદ્રગૃહાણિ
 શિવાનિ ચ-શિવગૃહાણિ, વૈશ્રમણાનિ ૪-વૈશ્રવણગૃહાણિ સ્મૃતિ, તત્ર સ્વલુ બહુના
 નાગપ્રતિમાનાંચ યાત્ વૈશ્રવણપ્રતિમાના ચ 'મહરિઠ' મહાર્હા
 વહુમૂલ્યા 'પુષ્કચણિય' પુષ્પાર્ચનિકાં=કુસુમસલા કૃત્વા ,જાણુવાયવદ્વિયાપ'
 જાણુપાદપતિતાયા —પાદયોઃ પતિતા-પાદપતિતા જાણુભ્યાં પાદપતિતા જાણુ
 પાદપતિતા=જાણુની ભૂમી વિન્યસ્ય પ્રણતેત્યર્થ તસ્યા મમ ઇયં વક્ષ્યમાણ
 પ્રકારેણ ચક્તુ=પાર્થયિતુ શ્રેય 'શ્રેય' ઇતિ પૂર્વેણ સમ્પન્ધ । તદેવ દર્શ
 યતિ—'જઈ ણં અહ' ઇત્યાદિના, -યદિ સ્વલુ અહ દેવાણુપિયા ! 'દારગ
 દારકં=નિજકુક્ષિસજાત પુત્ર દારિકાં વા=પુત્રીં વા ,પયાયામિ પ્રજનયામિ
 પ્રજનયિષ્યામીત્યર્થઃ 'તો ણ' તર્હિં સ્વલુ અહ યુષ્મભ્ય 'જાય યાગ=સેવાં

પરિજનોં કી મહિલાઓં કે સાથ મિલકર રાજગૃહનગર કે ઘાઠર જિતને
 મી નાગપર હૈં, જિતને મી ભૂત ઘર હૈં, જિતને મી ચક્ષુ ઘર હૈં,
 જિતને મી ઇન્દ્ર ઘર હૈં, જિતને મી સ્કન્દ ઘર હૈં, જિતને મી રુદ્રઘર
 હૈં, જિતને મી શિવઘર હૈં, જિતને મી વૈશ્રમણઘર હૈ— ઓર
 (તસ્થળ ચયણ નાગપરિમાણ ય જાય વેસમણપરિમાણ ય) ડનમેં જિતની
 નાગ દેવ કી પ્રતિમાઈ હૈં યાત્ત વૈશ્રવણ દેવ પ્રતિમાઈ હૈં ડન સવકો
 (મહરિઠ પુષ્કચણિય કરિના) વહુમૂલ્ય પુષ્પોં સે અર્ચા કરકે (જાણુવાય-
 વદ્વિયાપ ઇર્થ વદ્વર) ડનકે પૈરોં મેં ડોનોં છુટને છુકાકાર પઢજાઈ ઓર
 ડનસે પેસી પાર્થના કરુ (જઈણ અહ દેવાણુપિયા ! દારગ યા દારિગવા
 પયાયામિ તો ણ અહ તુમ્મ જાય ષ દાય ષ માય ષ અક્ષયણિઈ ષ

પરિજનોની મહિલાઓની સાથે રાજગૃહ નગરની બહાર જેટલા નાગ ઘરો છે, જેટલા
 ભૂતઘરો છે, જેટલા ચક્ષુ ઘરો છે જેટલા ઇન્દ્ર ઘરો છે, જેટલા ઇન્દ્ર ઘરો છે
 જેટલા ચક્ષુ ઘરો છે, જેટલાં રુદ્ર ઘરો છે, જેટલા શિવઘરો છે, અને જેટલા
 વૈશ્રમણ ઘરો છે તેમજ (તસ્થળ વહુમૂળ નાગપરિમાણ ય જાય વેસમણ
 પરિમાણ ય) તેઓમા જેટલા નાગ દેવથી માહીને વૈશ્રમણ દેવ સુધીની પ્રતિમાઓ
 છે, તે અધી પ્રતિમાઓની (મહરિઠ પુષ્કચણિય કરિના) બહુમૂલ્ય પુષ્પોથી પૂજા કરીને
 (જાણુવાયવદ્વિયાપ ઇર્થ વદ્વર) તેમના અરજોમા બને વૂટણ ટેકીને પડી
 બઈ અને તેમને વિનવી કરુ કે (જઈણ અહ દેવાણુપિયા ! દારગ યા
 દારિકાં વા પયાયામિ તો ણ અહ તુમ્મ જાય ષ દાયન માયય અક્ષ

दायच' दाय-दानम् अभयदानादान, पचादवसादिदान वा, भायच' भ्रा
 वर्द्धयामि-प्रभूतद्रव्यमर्पयिष्यामीत्यर्थ, तिवहु' इति कृत्वा=इत्युक्त्वा
 'उवाच्य' उपयाचितम्=अपत्यमाप्तिपार्थनारूपा मान्यता 'मनोनी' इति
 प्रसिद्धाम् 'उवाचइत्तर' उपयाचतु=कर्तुं 'अय' इति पूर्वेण सम्बन्ध । एव
 सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य ऋषे यावज्ज्वलति यत्रैव धन्य सार्थवाहस्तत्रैवोपा-
 गन्तुति, उपागन्त्य एवमवादीत्--एव खलु अह देवानुपिया ! युष्माभि

अणुवृमि) यदि मै हे देवानुपियो ! अपनी कुक्षिसे पुत्र या पुत्री
 का जन्म दूगी ता मै आपकी सेवा करूगी—आपके निमित्त अभय
 दानादिका प्रितरण करूगी, अथवा पूव दिनों म दान आदि वाटने
 की व्यवस्था करदूगी । अपने हिस्सेमें आपके लिये विभाग अलग
 तथा आपके अक्षय कोष की वृद्धि करवादूगी—तात्पर्य इसका यह है
 कि मेरी मनो कामना पूर्णहोने पर मै प्रभूत द्रव्य आप सबके लिये
 अर्पित करूगी । (सि कृ, उवाचइय उवाचइत्तण) इस तरह की मुझे
 उनके पास मनोती-मानता-मनाने म मेरी मलाई है। (एव सपेहेइ)
 इस प्रकार का उमने विचार क्रिया । (सपेहिता) और विचार कर (कल्ल
 जावज्जते जेणामेव धण्णे सत्यवाहे तेणामेव उवागच्छइ) वह दूसरे दिन
 (उसी दिन) मात काल होते ही सूर्य के प्रकाशित होने पर जहां
 अपने पति धन्य सार्थवाह य वहां गई । (उवागच्छिता एवं वयासी)
 चहा जाकर उसने उनसे ऐसा कहा—एव खलु अह देवानुपिया !

याणिहि च अणुवृमि) हे देवानुपियो ! मे भ्रा उदरथी पुत्र के पुत्री नभसे
 तो हु आपनी पूज करीश आपना निमित्ते अभयदान वगेरे करीश, अथवा
 तो पडेवाना द्विवेसाभा दान वगेरे वडेयवानी व्यवस्था करीश। भ्रा द्विस्वामा ने
 कथ आवरो तेभाथी तभारे भाग जुडो भूषावडवीश। तेमव तभारा अक्षय निधिनी
 पणु हु वृद्धि करीश। मतवण अे छे के ने मारी मनोकामना पूरी थथे तो हु
 प्रभूत द्रव्य तभारा चरखोभा खेट इपे अर्पणु करीश। (सि कर्तु, उवाचइय उवाच
 इत्तण) आ अतनी मान्यतामा व भने डवे भाडु अथ न्णुअ छे (एव सपेहेइ)
 आ प्रभाणु तेखे विचार कथो (संपेहिता) अने विचार करीने (कल्ल जाव जलते
 जेणामेव धण्णे सत्यवाहे तेणामेव उवागच्छइ) नीने द्विवेसे अवारो सुथेइय
 थता न न्या पोताना पति धन्य सार्थवाह डता त्या गध (उवागच्छिता
 एव वयासी) त्या न्ठने तेने आम कर्णु— (एवं खलु अह देवानुपिया !

साद् बहूनि वर्षाणि यावद् ददति समुल्लापकान् सुमधुरान् पुन पुनर्मन्थजुल
ममणितान् तत् खलु अहमधन्या, अपुण्या, अकृतलक्षणा, इत एकमणि न
प्राप्ता, तद् इच्छामि खलु देवानुप्रिय ! युष्माभिरभ्यनुज्ञाता मती विपुलम
श्न ४ यावद् अनुवर्द्धयामि, (तिष्ठद्) इतिकृत्वा=इत्युक्त्वा उपयाचित

तुम्हेहिं सद्धि बहूहिं वासा जाव देति समुल्लावए सुमहुरे) हे देवानु
प्रिय ! आपके साथ बहुत वर्षों से मैं मनुष्य भवसंयन्धी काम भाग
भोग रही हू परन्तु अभी तक मेरे यहाँ न कोई लडका हुआ है और
न कोई लडकी वे माताएँ धन्य हैं जो सतान से युक्त हैं एव उनकी
तोतली मधुर घोली से जो अपने को प्रसन्न रखती हैं—इत्यादि कह
कर फिर उसने कहा (अहं अहन्नाअपुण्या अलवखणा एषो एगमवि न पत्ता)
मैं अधन्या हू अपुण्या हू पूर्व में मैंने कोई भी ऐसा पुण्य नहीं किया
है, जिससे मेरे यहाँ तो लडका लडकी मेंसे कोईभी नहीं है—
(तं इच्छामि ण देवाणुप्पिया ! तुम्हेहिं अन्नणुज्ञाय समाणा विपुलं
असण ४ जाव अणुवर्द्धेमि तिक्कद् उवयाइय करेत्तए) इसलिए हे देवानु-
प्रिय ! मैं आपसे आज्ञापित होकर यह चाहती हूँ। की चारों प्रकार
का आहार विपुल मात्रा में तैयार कराकर तथा गंध पुष्पादिछेकर
अनेक मात्रादिक महिलाओं के साथ यहाँ के जितने भी इन्द्रादिकों के
घर हैं उन सब की पुष्पाष्वाँकर उन के चरणों में पड़कर सतान होने
की मनौती (मानता) मनाओ—। इस इच्छा के पूर्ण होने पर फिर मैं
तुम्हेहिं सद्धि बहूहिं वासा जाव देति समुल्लावए सुमहुरे)
हे देवानुप्रिय ! तमारी साथे बहुत वासा वजतथी हु मनुष्यवचना कामलोणे
योगवी रही छ पबु डलु मारे पुत्र के पुत्री माथी कथ थयु नथी. आ ससारमा
सतानवाणी माताओ व भाअथाणी अणाय छ के जेमना नाना नाना आणके
तोतली मधुर वाष्ठी द्वारा तेमने पुत्र राजे छ (अहं अहन्ना अपुण्या
अलवखणा एषो एगमवि न पत्ता) हु तो अभाणी छ, पापिणी छ, पूर्वववमा
मे सदान थाय आवु कथ पुष्यकथ कथु नथी. (त इच्छामि ण देवाणुप्पिया !
तुम्हेहिं अन्नणुन्नाया समाणा विपुलं असणं जाव अणुवर्द्धेमि ति कद्
उवयाइय करेत्तए) हु तमारी साथथी पुष्क प्रमावुमा मारे वतना आहार
वनावयथीने तेमअ गंध पुष्प वगेरे लधने अनेक महिलाओणी साथे अहिया
लेटला धन्द् वगेरे देवाना भरे छ ते अधानी पुष्प वगेरेथी पूज करी तेमना
अरओमा पडीने सतानवती यवानी मानता रायु म्यारे मारी आ मनेअमना

वर्तु श्रेय । तत खलु धन्य सायवाहा भद्रा भायामावमवादांत ममापि च खलु हे देवानुप्रिय ! एष एव मनोरथ ' यथा- 'कह ण' कथ खलु केनोपायेन त्व दारक वा दारिका च मजनयित्थसि ? इति कथयित्वा सार्थवाहा 'एय' एतम्=मनोरथरूपम् अर्थम् 'अणुजाणइ' अनुजानाति=अनुमोदयति । तत खलु मा भद्रा सार्थवाही धन्येन सार्थवाहेन अभ्यनुज्ञाता सती 'इद्वतुडा जाव हियया' इष्ट तुष्ट यावत्-इष्टतुष्ट चिन्तानन्दिता हर्षचश्विसर्प दृढया विपुलमशनपानखाद्यस्वाद्यमुरस्फारयति, उपस्कार्य सुचहु

अमयदानादिक का वितरण करू इत्यादि । इस तरह उपयुक्त सय आनी भावना उस भद्रा भार्याने धन्य सार्थवाह से निवेदित की । (तए ण धने सत्थवाहे भइ भारिय एव वयासी) इस प्रकार धन्य सार्थवाह ने अपनी भद्राभार्या की भावना सुनकर उससे ऐसा कहा-(ममपि ण खलु देवानुप्रिया ' एस चेव मणोरहे) हे देवानुप्रिये मेरा भी ही मनोरथ है कि (कह ण तुम दारग दारिय वा पयाएज्जसि) तुम किस उपाय से दारक या दारिका को जन्म दोगी ! इस प्रकारकहकर (महाए सत्थवाहीए एयमद्वमणुजाणइ) धन्य सार्थवाहने उस भद्रा सार्थवाही के इस मनोरथरूप अर्थ को स्वीकार कर लिया उसकी अनुमोदना की । (तए ण सा महा सत्थवाही धन्नेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया समाणी इद्वतुड जाव) इसके बादभद्रा सार्थवाहीने अपने पति धन्य सार्थवाह से आज्ञा प्राप्त कर बहुत अधिक हर्षित एव सन्तुष्ट वित्त होते हुए (विपुल असण पाण स्वाइम साइम उववत्तवावेइ) विपुलमात्रा मं अशन पान खादिम और

सङ्ग अथ अथ त्यारे हु अलयदान वगेरे वडेयु आ प्रभावे भद्रा भार्याये तेना पति धन्यसार्थवाहने विनती करी. (तए ण धन्ने सत्थवाहेभइ भारिय एव वयासी) आ प्रभावे धन्य सार्थवाहे तेमनी भद्रा भार्यानी वातसावणीने तेने आ प्रभावे कहु — ममपि खलु देवानुप्रिया ! एसचेव मणोरहे) हे देवानुप्रिये भारी पखु धन्धे अवेवी अ छे के(कह ण तुम दारग दारिय वा पयाएज्जसि) केवी रीते तमे पुत्र के पुत्रीने जन्म आपीशके ? आ रीते कहीने (महाए सत्थवाहीए एयमद्वमणुजाणइ) धन्यसार्थवाहे तेमनी भद्रा भार्यानी वात स्वीकारी अने तेने अनुभति आपी. (तए ण सा महा सत्थवाही धन्नेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया समाणी इद्व तुड जाव) त्यारभाह भद्रासार्थवाहीये तेमना पति सार्थवाहनी आज्ञा मेणवीने अत्यत प्रसन्नता अतुलवीने अने सन्तुष्ट धर्मे तेले (विपुल असण पाण स्वाइम साइम उववत्तवावेइ) पुष्कण प्रभावेभा अशन, पान, आदिम स्वादिम आहार तोयार करावअये

पुष्पग रात्रिपालालङ्कारं सृजति, प्रदीप्या स्वच्छाद् वृद्धिर्गच्छति
 निर्गत्य राजशुभं नगरं मध्यमभ्यन निर्गच्छति, निर्गत्य यत्रैव पुष्करिणी
 तत्रैवापागच्छति, उपगत्य पुष्करिण्यास्तीरे सुवष्टु पुष्पगभवघ्ननाश्याङ्कार
 स्थापयति, स्थापयित्वा पुष्करिणीमगच्छते, अगच्छ जलमज्जनं करोति,
 कृत्वा जलक्रीडां करोति, कृत्वा स्नात्वा कृतप्रतिभामां 'उल्लपटसाङ्गिणा'
 आर्द्रपटशाटिका=जलावगाहनेन आर्द्रे पटशाटिक=उत्तरीयपरिधानाद्ये यस्या
 सा तथ, तादृशी सा यानि तत्र 'उत्पलाइ' उत्पलानि=कमलानि 'जाव स-
 हस्सपत्ताइ' जाव सहस्रपत्राणि=सहस्रदलकलितानि महापत्राणि सति तानि

स्वादिम आहार तैयार कराया-(उत्पलाइ) पुष्पगभवत्थमल्लाल-
 लकार गेण्डइ) चाद में पुष्प गंध वस्त्र माला अलंकार को लिया और (गेण्डइ) ला
 छेकर (सयाओ गिहाओ) अपने घर से (निगच्छइ) वह (निकली निग्ग
 च्छिन्ना रायगिह नगर मज्झ मज्झग निग्गच्छइ) निकल कर राजशुभ
 नगर के ठीक बीचोबीच मार्ग से हो कर वह चली (निग्गच्छिन्ना जेणेव
 पावस्वरणीतेणेव-उत्तागच्छइ) चलते-र वह वहां पहुँची जहाँ पुष्करिणी थी।
 (उत्तागच्छिन्ना पुष्करिणीपतीरे सुवष्टु पुष्पजावमल्लालर ठवेइ) पहुँचते ही
 उसने उस पुष्करिणी के तीर पर वह चारों प्रकार के आहार को सामग्री
 तथा पुष्प आदि सब वस्तुएँ रख दी (ठविस्सा पुष्करिणि आगाहइ) रख
 कर फिर उसने उस में अवगाहन किया (ओगाहिन्ना जलमज्जनं करेइ)
 अवगाहन कर स्नान किया (जलक्रीडा करेइ) जल क्रीडा को (करिन्ना ष्हाया
 कयवल्लिक्कमा उल्लपटसाङ्गिणा जाइ तत्थ उत्पलाइ जाव सहस्सपत्ताइ ताइ

(उत्पलाइ) पुष्पगभवत्थमल्लालकार गेण्डइ) तयारपथी पुष्प,
 वस्त्र, माला अने अलंकारोने बीधा अने (गेण्डइ) ला (सयाओ गिहाओ)
 पोताना घरथी (निगच्छइ) ते अहार नीकली (निग्गच्छिन्ना रायगिह नगरं मज्झ
 मज्झग निग्गच्छइ) नीकलीने राजशुभ नगरनी ठीक वत्थे वत्थे रस्तेथी ते थाही
 (निग्गच्छिन्ना जेणेव पावस्वरणी तेणेव उत्तागच्छइ) थावता थावता न्या पुष्-
 करिणी वती त्या पडेथी (उत्तागच्छिन्ना पुष्करिणीपतीरे सुवष्टु पुष्प जाव
 मल्लालकार ठवेइ) त्या पडेथीने तेथे पुष्करिणीला हाठे थारे आतना आहारनी
 सामग्री वगेरे अथी वस्तुओ भूमी बीधी. (ठविस्सा पुष्करिणि आगाहइ) भूमीने ते
 पुष्करिणीला उतरी (ओगाहिन्ना जलमज्जनं करेइ) त्या उतरीने तेथे स्नान करुं
 (जलक्रीडा करेइ) जलक्रीडा करी (करिन्ना ष्हाया कयवल्लिक्कमा उल्लपटसाङ्गिणा
 जाइ तत्थ उत्पलाइ जाव सहस्सपत्ताइ ताइ गिण्डइ) तयार पथी न्यारे तेथे

गृह्णाति, गृहीत्वा पुंसाणात् प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुष्य त मुषहु पुष्पगन्ध-
 वल्लमाल्यालङ्कार गृह्णाति, गृहीत्वा यत्रैव नागगृह च यावद् वैश्रमण
 गृह च तथैवोपागच्छति, उपागत्य तत्र खलु नागप्रतिमाना च यावद्
 वैश्रमणप्रतिमानाच 'आलोए' आलावे=दृष्टिपथमागते साति प्रणाम
 करोति, कृत्वा 'ईति पञ्चममइ' ईपत्प्रत्युन्नमति=स्तोत्र प्रणमति, प्रत्युन्नम्य
 'लोमहृत्थगं' लोमहृत्थगं=मयूरपिच्छप्रमार्जनक परामुसइ' परामुसति=गृह्णाति

गिण्डड) वाद म जय वह अच्छी तरह स्नान कर चुकी और काकादि
 पक्षी को अन्नादि को दिया तब गीली पटशाटिका पहिने टूट ही उसने
 वहा जितने कमल थे यावत् सहस्रपत्र युक्त महाकमल थे उन सपर्यो उम
 पुष्पकरिणी से लिया और (गिण्डिता पुष्करिणीओ पञ्चोरुहइ, पञ्चोरुहिता
 त मुषहु पुष्क गद्यत्प्रमल्लालकार गेण्डइ, गिण्डि । जेगामेघनागघरए
 य जाव वेसमणघरएय तेणेव उवागच्छइ) लेकर वह उस पुष्करिणी से
 गहर नीकली-निकल कर उसने समस्त उन पुष्प, गय वस्त्र, माला,
 अलंकार आदि को लिया-और ठेकर जहा नागघर यावत् वैश्रमण का घर
 था वहा गई (उवागच्छिता तत्थण नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य
 आलोए पणाम करेइ वडा पहुँच कर उसने वहाँ नाग प्रतिमाओं को यावत्
 वैश्रमण प्रतिमाओं को दृष्टिपथ होते ही प्रणाम किया । (करिता इसि पञ्चु
 न्नमइ) प्रणाम कर फिर वह कुछ सुकी- (पञ्चुन्नमिना लोमहृत्थग परामुसइ-
 परामुसिता नागपडिमाओ य जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहृत्थण पम

सारी रीते स्नान करी लीधु अने हागडा वगेरे पक्षीओने अन्न वगेरेने भाग
 आप्ये त्पारणाड भीनी साडी पहिरीने न तेजे त्या नेटला कमणे, सदस्य पत्रवाणा
 मडा कमणे हुता ते अधाने पुष्करिणीमाथी लध लीधा अने (गिण्डिता पुष्करि
 णीओ पञ्चोरुहइ, पञ्चोरुहिता त मुषहु पुष्कगद्यत्प्रमल्लालकारं गेण्डइ
 गिण्डिता जेगामेघ नागघरए य जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ)
 लधने ते पुष्करिणीनी अडार नीकणी-नीकणीने तेजे अधा पुष्प वस्त्र, गध, माणा
 अवलंकार वगेरे लीधां अने लधने त्या नागघर वैश्रमण घर वगेरे हुता त्या गध-
 (उवागच्छिता तत्थण नागपडिमाण य जाववेससेणपडिमाण य आलोए पणाम
 करेइ) त्या पडोचीने तेजे नाग अने वैश्रमण वगेरेनी प्रतिमाओने भेता न प्रसुभ कथा
 (करिता इसि पञ्चुन्नमइ) प्रसुभ करीने ते नीची नभी (पञ्चुन्नमिना लोम
 हृत्थग परामुसइ परामुसिता नागपडिमाओ य जाव वेसमणपडिमाओ य

पुस्तक पाठ्यपुस्तक अपनी समझ (बुद्धि) अपना मन अपनी दृष्टियाँ, अपना गृहीत, इन सब प्राकृत विषयों का, एवं सततमानव अपने आपका भी उस कृतस्मृतिज्ञा में ही केवल कृतस्मृतिज्ञ न ही स्मृतिज्ञ का ही बना है। कृतस्मृतिज्ञान ही हमारी समझ की इच्छा है। यदि अज्ञानमुक्त से यह कृतस्मृतिज्ञ ही हमारी प्रज्ञा में अनिच्छित दर्जा का हम समझ लेंगे, हमन अज्ञान समझ लिया, जान लिया पहिचान लिये एवं प्राप्त कर लिया।

२२३—कृतस्मृत्युत्पानात्मक आचारधर्म स अस्तसृष्ट समस्तद्वार दाग्निकों, तथा सततवादी के आचारनिष्ठास्य महतो महीपान् उद्गार—

यदि कृतस्मृतिज्ञ की समझ नहीं मात्र हमें तो फिर कौसी 'समझ' हमारा क्या उद्धार करेगी? इन प्रश्न का ठीक ठीक समाधान तो व दारानिक ही कर सकेंगे वा समझने के लिए आतुर बनते हुए लौकिक (आधिमासिक) पारलौकिक (आधिब्रह्म) समस्त कृतस्मृतिज्ञों से बलाशक्ति स्मृतिज्ञ कर सम्य-कारण-विनयो में स्वयं ही उत्पीडित होत रहते हैं एवं अज्ञानधर्मा अस्मिन्स्वीं को भी उभित्र बनाते रहते हैं। अथवा तो फिर व अज्ञानधर्मासदी ही तथाकथित प्रश्न का समाधान करसकेंगे वा अपनी समझ (बुद्धि) स गणन गुरु की समझ (हृत्वा) स अज्ञान समझ हुए अपने नष्टों को अपनी समझ—(अनुभूति) का ही व्याख्यान दते हुए यही समझन रहते हैं कि—'समाप्तोऽयममार्गः (वचना । समाधान ।) मंसार असार है)। 'जीवननिर्देशं चयामङ्गलम्' (जीवन को जिन का भी नहीं, अपितु अणुमात्र का है)। 'सूक्तदुःखी-आगनापायिनी' (मामारिक सुक्त-दुःख-विनशकर है, यों ही बहलत रहते हैं)। 'अतएव सपसम्बन्धस्यागः सब से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए, और एकमात्र ऐसे महान् ज्ञानप्रज्ञा गुरुमगवान का शरण में ही आजाना चाहिए। तमी तुम्हें परमपत्र मिलेगा)।

४०४—स्वानुगता ममक के सम्बन्ध में क्षिप्रिदिव दिग्दशन—

यही बात हमारी तो कलकल में यही निबंदन कर देना फर्माते होगा कि उस 'समझ' के (विश्व-साक्ष के) एकरात्मक प्रतीक के अनन्तकालपरक मण्डल अलक्षक के भी अरात्म-व्यसरात्म-हम-बाह्य-अन्तस्तरक के निःश्रीम अनुग्रह स स्मृतिज्ञ अपने अनन्तकाल सगुण-अनुभूति माया विद्या के बरपी का अज्ञानपूर्वक, किंवा सुगुणमालुष्य अज्ञानपूर्वक संमरण करते हुए उभी मायात्मक सम्मिष्टा का अज्ञानमान करते हुए भी यदि हम अपना यह प्राकृत जीवन स्थिति कर सके अज्ञानपुरुषानुग्रह से तो यही हमारे लिए फर्माते होगा। इतरे शब्दों में-श्रुतिशास्त्र पर हमारी गन्तव्य-संज्ञानरूपा अज्ञान-मुक्तिगत रहे, प्राकृत-बुद्धिमान् मानवों की हृत्वा स अज्ञानपुरुषानुग्रहा-विद्यया अज्ञानधर्मों के दृष्ट नयनक प्रकृतिकाल में हम यथाकथंकिं श्रुतिशास्त्र के अज्ञान-स्पर्श-नाश का महद्दाम्य प्राप्त करते हैं और यों कथना-अज्ञान-वर्षितरूपेणापि शास्त्रसंमरणपूर्वक भी अपना प्राकृत जीवन स्थिति करसकें, तो हमारी समझ स वा हमारे लिए यही फर्माते होगा—

यस्यामत तस्य मत, मत यस्य—न वेद् स ।

अविज्ञातं विज्ञानता, विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

—इरापनिपत्र

घृष ऋति, दग्गा जानुपादपतिता 'पञ्जलिउडा' प्राञ्जलिपुटा=क्षयानित
 ऋद्रया एवमादीव— यदि खलु अह दारक वा दारिका वा 'पायायामि=
 मजनयामि=मजनयिष्यामि तदा खलु अह याग च यावत् अनुवर्ष्यामि
 =मवर्द्धयिष्यामि ! 'तिष्ठ' इति कृत्वा=इत्युक्त्वा उपयाचित करोति
 कृ वा यत्रै पुष्करिणी तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य त्रिपुलमशान पानं ग्राह्य
 स्वाद्यमास्वादयन्ती यावद् विहरति। तदनन्तर सा 'जिमिया' जिमिता=
 भुक्ता यावद् 'सुईभूया' शुवीभूता=मक्षालितहस्तमुखा मती यत्रैव स्वक

चदनादि गंग द्रव्यों को रखा अथवा उनके ऊपर चन्दनादि तेल को छिड़का
 अगरतगर आदि सुगंधद्रव्यों का उन्हें समर्पण किया विलेपनद्रव्य उन पर
 लगाया। (करिचा जाव घृष उहइ इहिसा जाणुपायपडिया पंजलिउडा एव
 वयासी) इन सब वस्तुओं का समर्पण करने के बाद फिर उसने वहाँ घृष
 को जला कर फिर वह उनके समक्ष दोनों घुटने टेक कर नीचे जमीन
 पर झुक गई और दोनों हाथ जोड़ कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगी
 (जइण अह दारगं वा दारिग वा पायायामि तो ण अह जाय च जाव अणुवर्द्धेमि
 तिष्ठ उवाइय करेइ) यदि मैं पुत्र अथवा पुत्री को जन्म दूगी तो
 आपकी सेवा पूजा करूगी यावत् आपके कोष की वृद्धि करूगी—इस
 प्रकार उमने प्रार्थना रूपमें मनौती मानता मनाई (करिचा जेणेव पोक्खरिणी
 तेणेव उवागच्छइ उवागच्छिता त्रिउल असण ४ आसाएमाणी जाव विहरइ)
 मनौती मना कर फिर वह उस पुष्करिणी पर आई आकर वहाँ उसने
 उस त्रिपुल ग्वाने पीने की सामग्री का आहार किया (जिमिया जाव सुई-
 भूया जेणेव सए गिहे तेणेव उवागया) आहार कर के फिर उसने हाथ

कथु अगरतगर वगेरे सुगंधित द्रव्ये अर्पण कथां अने सुगंधित वेषिने वेष कथे।
 (करिचा जाव घृष उहइ इहिसा जाणुपायपडिया पंजलिउडा एव वयासी)
 आ अर्पणी वस्तुओणुत्त समर्पण करीने तेजे पूषसणी सणगावी अने सणगावीने ते तेमनी
 सामे अने भूटजे। टेकीने नीचे पृथ्वी उपर नभी अने अने हाथ जोडीने आ प्रभाजे
 प्रार्थना करवा लागी (जइण अह दारगं वा दारिग वा पायायामि तोणं अह जाय
 च जाव अणुवर्द्धेमि तिष्ठ उवाइय करेइ) जे हु पुत्र के पुत्रीने जन्म आपीश
 तो आपनी सेवा-पूजा करीश अने आपना निधिनी अभिवृद्धि करीश आ रीते तेजे
 प्रार्थना करवा मानता राभी। करिचा जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उवा
 गच्छिता त्रिउल असण ४ आसाएमाणी जाव विहरइ) मानता मानीनीने ते
 पुष्करिणीना कठे मानी अने अया तेजे पूष अ सारी पेठे भोजन कथु (जिमिया
 जाव सुईभूया जेणेव सए गिहे तेणेव उवागया) आहार वगेरे करीने तेजे हाथ

ही उदाहरण इसके सामने रखते भी हैं वैश्वकि-इन्द्र-विश्वनाभ्याम में विश्वान से प्रतिपादित है। एवं में प्रतिविम्बित पुरुष, बल में प्रतिविम्बित पुरुष, चतुःपदा में प्रतिविम्बित पुरुष, प्रज्ञानपदा में प्रतिविम्बित पुरुष, आदि आदि सभी उदाहरण उस आख्यान की मातृशब्दांतरणपर्यवसित-सत्यया दार्शनिक-पद्धति के ही स्वरूप का रस हैं। सभी दृष्टान्त भौतिक हैं, जबकि सृष्टिज्ञान के अनुसार इन सभी श्रौतनियत दृष्टान्तों का प्रतीक से सम्बन्ध न होकर तत्त्वतः 'प्रतिरूपता' से ही सम्बन्ध है, वैश्वकि अनुपद में ही निवृत्त किया जाने वाला है। अगर प्रतिरूपविधि से उपनियत के ने सभी दृष्टान्त 'मानवस्वरूप' के अन्तर्गत आते हुए सर्वथा सिद्धान्त ही सने हुए हैं जिस 'स आधिदैविकवर्ग का सम्बन्ध करने में असमर्थ दार्शनिक-प्रज्ञाने सम्भवता इन श्रौतनियत प्रतिरूप दृष्टान्तों के आभास पर प्रतीकात्मक-स्वात्मपुरुष-भृगुमरीचिका-शशाङ्ग-धन्व्यापुत्र-आदि आदि-वैश्वे भौतिक दृष्टान्त ही मध्यस्थ बना लिए हैं अर्थात् अर्थ के व्यामोहन से जो कदापि उस समूह अन्त के न हो प्रतिरूप ही हैं न प्रतीक ही। दार्शनिकों का महान् व्यामोहन यही था कि, वह इन भौतिक दृष्टान्तों के माध्यम से स्वयं भी उस अन्त की बुद्धिगम्य बनाने के लिए आशुर हो पड़े थे एवं दूसरों का भी 'परमात्मनो गता' 'दार्शनिकता के व्यामोहन से अलगाने के लिए आशुर बन गए थे। अतएव 'दर्शन' रूपा परानुगता इसी मातृकताने इसी बुद्धिवातामक व्यामोहनने दार्शनिक के मस्तिष्क में भौतिक-दृष्टान्तरूप व्यामोहन उत्पन्न कर ही तो किया।

४२८-कालात्मक प्रतीक-दृष्टान्तों के अष्टविध (८) विषयों का नामसंस्मरण, एवं परम-कालात्मक अन्तःकाल की अन्तिम प्रतीकता का समन्वय—

दार्शनिक मस्तिष्क से उद्भूत दिग्देवकालात्मक-भौतिक-प्रतीकता की पर्यवसानभूमि या वह चान्द्रसम्बन्धकाल का अपनी 'अर्थ' मर्यादा से गणनकालात्मक बनता हुआ सनया भावितिककाल ही प्रमाणित है। अतएव तत्त्वतः अपने इस केवल भौतिकरूप से ही न उस अन्त का ही कोई अस्तित्व, न दिक् का ही एवं न देवप्रदेश का ही। यही मानव की बुद्धिगम्य व्याख्या की वह अस्मितात्पत्नी २० दिश पर दार्शनिक, तथा उदाहारणैव आत्मिभूत-भूतवैश्विक के सम्युक्त कालिक-देशिक आहम्बर नर्तन कर रहे हैं। इसी व्यामोहन की उपरान्त के लिए इसी चान्द्रसम्बन्धकाल-वर्षसंज्ञारमक-सूक्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से शास्त्र ने इस की अर्थव्यापक महतोमहीमान् पाषाण सम्बन्धकाल का उत्पत्ती के माध्यम से उपदेव्य महतोमहीमान् सौरसम्बन्धकाल का उत्पत्ती के माध्यम से उपदेव्य महतोमहीमान्-महदचरम पारमेष्ठिककाल का उत्पत्ती के माध्यम से उपदेव्य महतोमहीमान् पुरबीरस्वन्मूककाल का उत्पत्ती के माध्यम से उपदेव्य महतोमहीमान् अत्यन्त परोरजामूर्ति परमात्मककाल का एवं उत्पत्ती के माध्यम से उपदेव्य महतोमहीमान् अन्त-अस्त्वकाल का दिग्दर्शन करते हुए इस प्रतीकता का पर्यवसान किया उत्पत्ती के माध्यम से उपदेव्य अन्तःकाल प्रमाणित उस महाकालकाल-कालकालात्मक अन्तःकाल पर, यहाँ पहुँचते पहुँचते जो मानव की अस्त्विक-देशिक बुद्धि का व्यामोहन सर्वथा ही प्रकृतिकृत हो जाता है। और यहाँ आकर शास्त्रने 'काल' स ईयते परमो नु देवः कः से एकवार पुनः बालोपलापन-माध्यम से मानव की प्राकृत-बुद्धि के निरोधभूत रम्य को सर्वथा ही समिभूत कर दिया इस अन्तःकाल जैसे अन्तःकालविवर्त का भी उस कालातीत परम अन्त का एकमात्र-अप्रतिविद्यमान ही कथारते हुए। यों यह अन्तिम कालकाल परमात्मक बुद्धिब्यामोहन को निरोध बनाने के लिए ही अस्त्विक में उस

गच्छत्ता पोक्खरिणीं ओगाहति, ओगाहत्ता ण्हायाओ कयवलिक-
 म्माओ सव्वालकारविभूसियाओ विपुल असण ४ आसाएमाणीओ
 जाव परिभुजेमगीओ दोहल विणेइ । एव सपेहेइ सपहत्ता कल्ल
 जाव जलते जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छत्ता
 धण्ण सत्थवाह एव वयासी-एव खल्ल देवाणुप्पिया । मम तम्मस
 गव्वम्मस जाव विणेइ त इच्छामि ण देवाणुप्पिया । तुव्वेहिं अव्व
 णुन्नायासमाणी जाव विहरित्तए, अहा सुह देवाणुप्पिया । मा पडिवध
 करेह, तएण सा भद्दा सत्थवाही धण्णेण सत्थवाहेण अव्वणुन्नाया
 समाणी हट्टुट्टा जाव विपुल असण ४ जाव ण्हाया जाव उड्डपड
 साडिया जेणेव नागघरण जाव धूव डहइ, डहत्ता पणाम करेइ
 पणाम करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ । तएण ताओ
 मित्तनाइ जाव नगरमहिलाओ भद्द सत्थवाहिं सव्वालकारविभूसिय
 करेति, तएण सा भद्दा सत्थवाही ताहिं मित्तनाइ नियगसयणस
 वधिपरिजणणगरमहिलाहिं सद्धिं त विपुल असण ४ जाव परिभुज-
 माणी य दोहल विणेइ विणेइत्ता जामेव दिसिं पाउव्वभूया तामेव दिसिं
 पडिगया । तएण सा भद्दा सत्थवाही सपुन्नडोहला जाव त गव्व
 सुह सुहेण परिवहइ, तएण सा भद्दा सत्थवाही णवण्ह मासाण
 वट्टुपडिपुन्नाण अट्टुमाण राइ दियाण सुकुमालपाणिपाय जाव दारग
 पयाया, तएण तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जाय
 कम्म करेति करित्ता तहेव जाव विपुल असण ४ उव्वखडावेति
 उव्वखडावित्ता तहेव मित्तनाइ निजकसयणसवधिपरिजणे भोयावेइ

अन्तर्णीय पुत्र से, सर्वोपरि इहदेवामुग्रह से यदि रिपर होयता है एकबार भी तो अक्षय ही इह की तथाकथित बुद्धिब्याप्त्यनुवर्तिनी प्ररनोचरशैली एवं समझने-समझने की आश्रयता क्या ही उपरान्त ही होयती है छा सदा के लिए। एवं यहाँ आकर यह सब मानव केवल 'मानव' रूप से ही अभिमुख हो पकता है और प्ररनोचरविमर्शों के बाह्यपाथ से अतिमुक्त ऐसे मानव में ही 'शुद्धबुद्धि' का उदय होता है। यही शुद्धबुद्धि अत्र नवत् अपने सम्युक्त शैक्षिक-भ्यासोहनीसे उपरत होती हुई अत्र प्ररन न कर प्रकृतमन से यही वह कर अविमर्श के प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण ही तो कर देती है कि—

कार्ययत्प्रोपोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेता ।

पच्छेपं स्वाभिरिच्छत ब्रूहि तमे शिष्यस्तेऽहं शाधि-मां, त्वां प्रपन्नम् ॥

—गीता

४३२-दार्शनिक-मायाप्रधान उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र, एवं महज्जमाया-प्रधान मन्त्रब्राह्मशात्मक वेदशास्त्र, और तद्वारा ही उपनिषत् गीता आदि का सम्मा-
वित्त-नैष्ठिक-समन्वय—

स्मरण रहे, उपनिषत् तथा गीता दोनों की माया दार्शनिक है। मात्रब्राह्मशास्त्रिक (ज्ञानविज्ञान-रिपक) उद्बन्धमाया की आचार क्नाप विना उपनिषत्, तथा गीता का उद्बन्ध समन्वय अन्य प्रकृत-सदृशों से भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए-उसी 'प्रतीक' मान की मध्यम बनाइए केवल उक्त गीतामाया की दृष्टि से। गीता इतिहास की माया है जिस में 'मायुक्त' का पदे पदे संरक्षण हुआ है जोकृतग्राहक मगधान् के द्वारा जबकि अविमर्श (वेदमाया) में 'मायुक्त' का संस्मरण भी निश्चिद माना गया है। समझनेबाला पात्र है गीता में मायुक्त, अविष्कृत अत्रुन। अतएव ध्वनियोजित दर्प संकुल किंशित हो जाने पर भी निजोप नहीं हुआ अत्रुन का। तभी तो गीतापदेश के अन्वयानन्तर भी आगे चल कर अक्षयवच-कर्णवधादि प्रसङ्गों में अनेक बार इस मायुक्त धर्मसंश्लेष कर जाता था एक पुनः पुनः मगधान् को ही इस निरान्त मायुक्त अत्रुन का संरक्षण करते रहना पकता था।

४३३-आचारधर्मनिष्ठाविरोधिनी सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना हिन्दूमानव की मानुषता—

इतीक्षिप तो भोक्तव्य है कि- 'बुद्धिब्याप्त्यनुव-व्यक्तिस्वमिमूढ-मायुक्त मानव पहिले तो कुछ सुनना-समझना-ज्ञानना ही नहीं चाहता। यदि समझ लेता है, जान लेता है, तो उसे कर्ण्यरूप में परिखत करना नहीं चाहता अपने इसी व्यक्तिस्वविमोहनत्मक इन्ध से किंवा इस मय से कि यदि मैं करने लग पक, तो संसार के सामने मैं छोटा होजाऊँगा। यदि किसी बलवती प्रेरणा से करने लग भी पक, तो यह कत म्य चिरस्थावी नहीं बनने पाता।' ऐसी है सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना अतएव दिग्भ्रियुदा-वेद्यभ्रियुदा-बालभ्रियुदा वह मायुक्त विद ने भारतीय उद्बन्ध मी आस्तिक हिन्दूमानव को किगत धीन उद्बन्धों से तो मरपन्तिकमेषीय पराङ्मुख ही प्रमाहित कर रक्ता है।

गच्छता पोक्खरिणीं ओगाहति, ओगाहिता ण्हायाओ कयवलिक-
 म्माओ सव्वालकारविभूसियाओ विपुल असण ४ आसाएमाणीओ
 जाव परिभुजेमणीओ दोहल विणेइ । एए सपेहेइ सपहिता कल्ल
 जाव जलते जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छिता
 धण्णं सत्थवाह एव वयासी-एव खल्ल देवाणुप्पिया । मम तस्स
 गव्वम्मस जाव विणेइ त इच्छामि ण देवाणुप्पिया । तुब्भेहिं अब्भ
 णुन्नायासमाणी जाव विहरित्तए, अहा सुह देवाणुप्पिया । मा पडिवध
 करेह, तएण सा भद्दा सत्थवाही धण्णेण सत्थवाहेण अब्भणुन्नाया
 समाणी हट्टुट्टा जाव विपुल असण ४ जाव ण्हाया जाव उल्लपड
 साडिया जेणेव नागघरण जाव धूव डहइ, डहिता ण्णाम करेइ
 ण्णाम करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ । तएण ताओ
 मित्तनाइ जाव नगरमहिलाओ भव सत्थवाहिं सव्वालकारविभूसिय
 करेति, तएण सा भद्दा सत्थवाही ताहिं मित्तनाइ नियगसयणस
 वधिपरिजणणगरमहिलाहिं सद्धिं तां विपुल असण ४ जाव परिभुज
 माणी य दोहल विणेइ विणेइत्ता जामेव दिस्सि पाउब्भूया तामेव दिस्सि
 पडिगया । तएणं सा भद्दा सत्थवाही सपुन्नडोहला जाव त गव्व
 सुह सुहेणं परिवहइ, तएणं सा भद्दा सत्थवाही णवण्ह मासाण
 वहुपडिपुन्नण अट्टट्टमाण राइ दियाण सुकुमालपाणिपाय जाव दारग
 पयाया, तएण तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जाय
 कम्म करेति करित्ता तहेव जाव विपुल असण ४ उवक्खडावेति
 उवक्खडावित्ता तहेव मित्तनाइ निजकसयणसवधिपरिजणे भोयावेइ

हैं। मानसबुद्धि अब ब्रह्म के सम्बन्ध में आचरण की परंपरा, एवं धर्म के सम्बन्ध में विज्ञान की पेशवा करने लग पड़ती है, तो दोनों ही परब्रह्म बन जाते हैं मानव से। ब्रह्म कभी आचार में नहीं आता, तो धर्म कभी प्रचार में नहीं आता। ब्रह्म अनुरीलनात्मिन्ना जिज्ञासा से ही अनुप्राणित है तो धर्म आचरण्यात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से ही अनुप्राणित है। जिज्ञासात्मक प्रश्न का ब्रह्म से ही सम्बन्ध है, एवं आचारत्मक प्रश्न का धर्म से ही सम्बन्ध है। ब्रह्माचारव्यामोहनानुगत धर्मप्रचार-व्यामोहन ने ही एक ओर जहाँ धर्म के आचारपक्ष को शिथिल कर दिया है, तो वहीं दूसरी ओर इसी से ब्रह्मविचारपक्ष शिथिल होनाया है। ब्रह्मविचारसारपरमा मगवती शारदा की उपासना से फलदम्भा मानव की माहृत्यबुद्धि का धर्म पर तो 'विचार' का प्रयोग करने लग पड़ी है, एवं ब्रह्म पर आचारत्मक 'साधना' का प्रयोग करने लग पड़ी है। क्योतिहर्शनव्यामोहनात्मक कल्पित आचार ही मात्र क ब्रह्मज्ञानिना का ब्रह्माचाररूप ब्रह्मवर्शन (ईश्वरवर्शन) बन रहा है। ऐसे ब्रह्मसाक्षात्कार-परवर्ण प्राकृत मानव ही धर्म-प्रचारमात्र के लिए आह्वार बने खते हैं। धर्मप्रचार के 'व्याज' ('धूल') से ये अपनी अनुभूतिना अपने ब्रह्मसाक्षात्कार से ही मातृक बनता को उन्मुक्त बनाते खते हैं, जबकि धर्मप्रचार की एकमात्र आधारभूमि मानी गई है—'धर्माचरण' 'कर्त्तव्याचरण'।

४३७—अग्निनिवेशनिवारक धर्माचरण, तब एव ब्रह्मजिज्ञासा का उदय, एवं सत्यकाम की धर्माचरणमूला ब्रह्मजिज्ञासा, और तच्छान्ति—

धर्माचरण ही वह महान् माध्यम है जिसके द्वारा मानसबुद्धि का व्यक्तित्वविमोहनरमक अग्निनिवेश (दुराग्रह-हठधर्मी) हटा करटा है। इस अग्निनिवेश के हटने से ही मानव में ब्रह्मविज्ञान का उदय होता है जिस विज्ञाना के उत्तर में इसे उत्तरोत्तर आचारनिष्ठा में ही प्रवेश करते हैं श्रुतिमानव। विज्ञाना का स्वतन्त्ररूप से कोई समाधान नहीं होता। स्वतन्त्ररूप से ही ब्रह्मविज्ञान लेकर महर्षि गौतम के समीप। उत्तर मिलता है गोसेवात्मक प्राथमिक उस धर्माचरण के रूप में जो गोपशु और वेदवर्णात्मक गोपशु का प्रतिरूप बनता हुआ मानव के प्राकृत दोषों अग्निनिवेशों का परिमार्त्तिक माना गया है। इसी से तो स्वतन्त्ररूप को आचान्तर में वह शुद्धबुद्धि प्राप्त होजाती है जिससे स्वतः ही स्वतन्त्ररूप की ब्रह्मविज्ञाना उपरान्त हो जाती है एवं पुनरुत्थन पर श्रुति की करना पड़ता है कि—'ब्रह्मविद् इव सोम्य। ते मुक्तं मासि' (ब्रा उप ४।१२।२) स्पष्टरूपरूपेण आचार की सीमा में ही ब्रह्मजिज्ञासा का सफर समाधान सुरक्षित है।

४३८—ब्रह्मजिज्ञासात्मक प्रश्नों से असस्पष्ट अन्वयपरपुत्रों का धर्मात्मक-कर्त्तव्याचार संस्थापन के लिए ही युग युग में आविर्भाव—

अठएव मातृगण के ब्रह्मरूप अन्वयपरपुत्रों तक ने यन्त्रबौद्ध धार्मिक-इत व्यापारों का ही स्वतः ही अनुपमन किया है एवं अपने उपदेशोंसे उत्कालीन समाज का भी उद्बोधन करण्य है। ब्रह्मविज्ञान के उपरान्त के लिए मगवान् कभी कबसा करके अन्वय नहीं लिया करते। अग्नि मगवान् के अन्वय का

व्युत्पन्नमशन पान व्याघ्र स्वाद्य, सुवहृरु पुष्पवत्त्वगन्धमाल्यालङ्कार गृहीत्या
मित्रज्ञानिनिजहस्वजनसन्धिरिजनमहिलाभिश्च सार्द्धं सपरिवृता राजगृ
रस्य नगरस्य मध्यम-येन निर्गच्छन्ति, निर्गत्य यत्र पुष्परिणी तत्रैवोपागच्छन्ति,
उपागत्य पुष्करिणीमवगाहन्त, अत्र गाह्य स्नाता कृतवल्किर्माण सर्वालङ्कारविभू
षिता तद् विपुलमशनपानस्वाद्यस्वाद्यमास्वादयन्त्य यावत्परिभुञ्जाना दोहदं व्यप

(जाओ ण विउल असण ४ सुवहृय-पुष्क-वत्थ-गय-मवलालङ्कार गहाय
मित्तनाइ-नियग-पयण-सयधिपरियणमहिलाहि य सद्धिं सपरिवृताओ
रायगिहस्त नयरस्त मउअ मउअण निगच्छति) जो माताए विपुल अशन
पानादि ४ प्रकार के आहार को और बहुत अधिक पुष्प वस्त्र गंध, माला
अलङ्कार को लेकर मित्रज्ञानि, निजह, स्वजन, सन्धी-परिजन की महिलाओं
के साथ घिरी हुई होकर राजगृह नगर के ठीक बीचों बीच के मार्ग
से निकलती हैं। (निगच्छिन्ता जेणेव पुष्करिणी तेणेव उवागच्छति उवा
गच्छिन्ता पुष्करिणी भोगाहति भोगाहिता ष्हायाओ कयवल्किरम्माओ
सन्धालङ्कारविभूषियाओ विउल असण आसाणमाणोओ जाव परिभुजे-
माणीओ दोहल विणेइ) और निकल कर जहाँ पुष्करिणी है वहाँ जाती हैं
जा कर उसमें अवगाहन करती हैं, अवगाहन कर स्नान करती हैं-स्नात
होकर बल्किर्म गायसादि को अन्नादि का भाग देकर समस्त अलङ्कारों
से शरीर को विभूषित करती हैं और फिर उस विपुल मात्रा में निष्यन्न

ते मातायेना ७ सामुद्रिक शास्त्र प्रभाषेना शारीरिक लक्षणा सङ्ग यथा छे,
(जाओ ण विउल असण ४ सुवहृय पुष्कवत्थगघमल्लालङ्कार गहाय
मित्तनाइ-नियग-पयण-सयधिपरियणमहिलाहि य सद्धिं सपरिवृताओ
रायगिहस्त नयरस्त मउअ मउअण निगच्छति) ७ माताये पुष्कण प्रभाषुभा
अशन पान वगेरे अर अतने आहार अने पूष ७ पुष्प, वस्त्र गंध, माला
अने अलङ्कारेने लधने मित्र ज्ञानि, निजह स्वजन सन्धी परिजननी महिला
येनी साथे राजगृह नगरना वन्थे वन्थे भागमा यधने पसार थाय छे
(निगच्छिन्ता जेणेव पुष्करिणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छिन्ता,
पुष्करिणी भोगाहति, भोगाहिता ष्हायाओ कयवल्किरम्माओ सन्धा
लङ्कारविभूषियाओ विउल अमण आणाएमाणोओ जाव परिभुजे
माणीओ दोहल विणेइ) अने पसार यधने व्या पुष्करिणी छे त्या व्य छे
त्या ७धने तेमा उत्तरे छे, उत्तरीने नहाय छे नहाधने अगय वगेरे पक्षीयेने
अन्नने भाग अपीने बल्किर्म करे छे, अने शरीरना लधा अणेने धरेवायेधी
अलङ्कृत करे छे अने हरी ते पुष्कण प्रभाषुभा तैयार करवाभा आवेला अशन



४४१—स्वस्वरूपबोध की इच्छा से ही स्वस्वरूपबोध का अनुग्रह, एवं उद्भिन्वित प्राकृत मानव की प्रकृति-पुरुष-स्वरूप-विभूतता—

‘स्वस्वरूप का बोध ही इसे उन स्वरूप का बाध करा देता है, जोकि यही स्वरूप इसका वास्तविक स्वरूप है इस सूत्र का भी यही अर्थ है जो पूर्व तब आ है। मानव का बुद्धिगम्य स्वरूप ही प्रकृति-इच्छा ‘स्वस्वरूप’ है और उसी का नाम है ‘प्राकृतस्वरूप’। दुर्गम्य तो इस बुद्धिमान् प्राकृत मानव का यह है कि वह अपने बुद्धिगम्य इस प्राकृत-स्वरूप को भी तो नहीं जान रहा। प्रकृति से पर अन्वयित अप्राकृत स्वरूप की बात अमुपगमनात् से थोड़ी देर के लिए हम छोड़ देते हैं। केवल बुद्धिगम्य प्राकृत-स्वरूप की ही बात करते हैं। उक्तसूत्र महतोमरीयान् भी इस प्राकृत मानवने अपने इस महतोमरीयान् उस प्राकृत-स्वरूप का भी तो चिन्तन नहीं किया है, बिसडा चिन्तन, और समन्वय इतनी प्राकृत-बुद्धि से ही समन्य माना है शास्त्र ने।

४४२—प्रकृति की ६ ठी वैकल्पिक परम्परम्परा से अनुप्राणित चक्षुभूतों क प्रति प्रकृतिच व्यामोहन, एवं तदुक्त्यामोहन में ही इसकी भूतबुद्धि की परिसमाप्ति, और उसके मीपक्ष परिचाम—

इसने तो अपने आपसे इस सीमापर्यन्त ज्ञेय कर लिया है जिसके तन्मन्त्र में कोई भी चक्षुष्य शेष नहीं रह जाता। प्रकृति के निष्कारभूत प्रकृतिविकृतिभाव क्वनिष्कारभूत वैकल्पिकभाव क्षुप्यक्षीकरात्मक स्मृतमहाभूतभाव एवं क्षुप्यक्षीकरात्मक प्रत्यक्षदत्त भूत-भौतिक पर्याय इस सम्पूर्ण प्राकृत परम्परा में से मानव की बुद्धि ने आद्य धर्मत्व के सर्वथा वैकल्पिक-मत्स्यदृष्ट-भूत-भौतिक-पर्यायों को ही दुर्गम्यवशा ‘प्रकृति’ मान लिया है एवं इसकी व्याख्या में ही अपनी बुद्धि परिसमाप्त कर दी है। और स सीमापर्यन्त समाप्त कर दी है जिस सीमा से तो कुछ इधर ही पशुओं की भी बुद्धि कुछ अधिक जान लेती है जानकर इन बुद्धिगम्य-मयी से यथाशक्त अपना परिजान कर लेती है अर्थात् मानव अपने पशुसमवृत्तित इन बुद्धिगम्यमात्रों से उन्मत्त मनों से ही अपना ज्ञान नहीं कर पाता। इसके अधिक मानव का, इसकी बुद्धि का स्वोपरि इसकी बुद्धिगम्या व्याख्या का एक तदनुप्राणित कल्पित व्यक्तित्व-विमोहन का दुर्गम्यपूर्ण इतिहास और क्या होगा ? इसीलिए हमने कहा है कि, यदि यह अपना प्राकृत स्वरूप भी जान लेता तो कदापि भी इसे अपने अकल्पित अप्राकृत स्वरूप का तो बोध हो ही सकता था।

४४३—स्व प्राकृत, और पौरुष-स्वरूप से संबंधा पराकृष्ट प्राकृत मानव के लिए अग्नि ज्ञाता और हिरण्यगर्भमूला ‘बुद्धि’, एवं तत्पथः स्पृष्टभूतों के भी प्राकृत स्वरूप से पराकृष्ट मानव की सर्वविस्मृति—

किन्तु !। इस किन्तु, परन्तु नभ, मुच में ही यह अपनी बुद्धि को आलोचित-विलोचित करता रहा। भौतिक रूपों की व्याख्या-समन्वयों में तो यह अहोरात्र प्राक्पथ से मुच रहा। किन्तु स्वयं ‘यह’ क्या है ? इस अपने प्राकृत स्वरूप के तन्मन्त्र में इसने अपनी बुद्धि से धनमान भी कभी विचार भी नहीं किया *।

* न विजानामि यदि वेदमस्मि, निययः सन्नदो मनसा चरामि । (श्रुत्सं० १। १४ २०) ।

भद्रा सार्थवाही धन्येन सार्थवाहेनाभ्यनुप्राता सती हृष्टतुष्टा यावद् विपुलम् अशन
 पान खाद्य स्वाद्य यावत् स्नाता यावत् आर्द्रपटादिना यत्रव नागघृह
 यावत् धूपं दहति, दग्धा प्रगाम कराति, प्रणाम कृत्वा यथै पुं
 रिणी तत्रैवोत्तमचरति। तत खडुता मित्रज्ञाति यावत् नगरमहिला भद्रा सार्थ
 वाही सर्वालकारविभूषिता इवेति। तत खलु सा भद्रा सार्थवाही ताभिर्मित्रज्ञाति
 निजकस्वजनमम्यन्धियपरिजननगरमहिलाभि सार्थं तद् विपुलमशन पान खाद्य
 स्वाद्य यावत् परिवृज्जाना च दोहद व्यपनयति, व्यपनीय यस्या दिश प्राद्

(अहामुह देवानुप्रिया! मा पट्टिय करेह) हे देवानुप्रिये! तुम्हें जैसे सुख
 हो वैसा करो इसम देरी मत करो (तएण सा भद्रा सत्यवाही धन्येण
 सत्यवाहेण अन्नगुनाया समाणी दृढ वृद्धा) उसक बाद उम भद्रा सार्थ
 वाहीने धन्य सेठ से अनुमति प्राप्त कर वष्टुत ही अधिक हर्षित और
 सन्तुष्ट चित्त हो (जाव) यावत् (विपुल अशन ४ जात्र ह्याया) विपुलमात्रा
 में चागों प्रहार का आहार नैवार किया-यावत् उसने पुष्करिणी में स्नान किया
 (जाव उरुपडमाडिया जेणेव नागघरण जाव धूप दहइ) यावत् गीली साही
 पहिने दूर ही फिर उसने उस पुष्करिणी से कमलों को लिया और जहा
 नागघर आदि थे वहा गई-यहूमुख्य पुष्पार्चा कर उनके समक्ष धूप दिवाई।
 इस प्रकार यहाँ पाचवें सूत्र में जो वर्णन है वह समझ लेना (उदित्ता पगाम
 करेइ-पगाम करित्ता जेणेव पावस्वरिणी तेणेव उवागच्छइ) धूप दिखा शुकने
 पर उसने उन्हें प्रणाम किया प्रणाम कर फिर वह पुष्करिणी पर वापिस
 आ गई (तएण ताओ मिचनानइ नियगसयणसय धियपरिणगगामहिलासर्धि

वष करेह) छे देवातु प्रिये। तमने नेम भुण थाय तेम करे, मोडु करे नहि.
 (तए णं सा भद्रा सत्यवाही धनेण सत्यवाहेणं अन्नगुनाया समाणी
 दृढ वृद्धा) त्थार भाद ते भद्रा सार्थवाही धन्य सार्थवाहीनी पासेथी आत्ता भेजवीने
 भूण न प्रसन्न अने सत्तुष्ट थं (जाव) यावत् (विपुल अशन ४ जात्र पहाया)
 पु ४॥ प्रभासुमा आरे प्रहारने आहार जनावराज्ये अने त्थार पछी तेजे पुष्करि
 षीमा स्नान कथुं (जाव उरुपडमाडिया जेणेव नागघरण जाव धूप
 दहइ) थीना सुगडे न तेजे पुष्करिणीमाथी कमणे वीधा अने नागघर वगेरेना
 देवस्थानमा गं भूण न किंमति पुंभे वगेरेथी ते वधा देवानी भूण करी तेमनी
 सामे धूपसणी सजगावी. आगणतु वखुं पाठकेअये पावभा सूत्र प्रभाजे न
 अक्षु उ अथये. (उदित्ता पगाम करेइ पगाम करित्ता जेणेव पोस्वरिणी ते
 नेव उवागच्छइ) धूप कथे भाद तेजे तेमने प्रसुम कथं. प्रसुम कथं भाद
 करीने पुष्करिणीना किनारे आवी गं (तए ण ताओ मित्तानाइनिघमयण

४४६-सेर का सवासेर से, वतायो का पन्सेरी से परिमाण-समतुलन, एमं तत्समतु-
लित उचर से ही बुद्धिमान् फे बुद्धिदम्भ की उपशान्ति—

उदा-भाषा में जो कह लीकिए कि, बधिक्त्तन् में सेर को जब सवासेर से तोड़ दिया जाता है तो तुलवाने वाले भी 'सेर' की निष्ठा इतनी न बन जाती है। उदाहरण तो यहाँ तक मिलता है लोह में नि-
वतायो को असुर बधिक् पन्सेरी से तोड़कर दिजसा देता है। और फिर भी तुलवाने वाले महान् बुद्धिमान् की दृष्टि में वताया पन्सेरी से भी अधिक भारी ही प्रमाणित हो जाता है। सबकुच इस उपाय के अतिरिक्त प्ररनकर्त्ता बुद्धिमान् के प्ररन का और कोई भी छो उत्तर नहीं हो सकता जो उचर एक महान् प्ररन के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखता।

४४७-असमाधेय प्ररनात्मक 'सम्प्ररन' के द्वारा ही मानव का सम्भावित अनुरजन,
एमं सम्प्ररनशैली का स्वरूप-विगर्धान्—

क्योंकि उठ बुद्धिमान् की बुद्धि को यह कैसे समझाया जाय कि, भीमान् ! वह एक कार्यकारणशील बनता हुआ आपकी, और हमारी, दोनों की ही समझ से बहिर्भूत है। उसके सम्बन्ध में न कार्यकारणत्मक प्ररन ही लड़े हो सकते न कार्यकारणत्मक उत्तर ही हो सकते। किन्तु प्ररनकर्त्ता प्राकृत-बुद्धिमान् मानव उचर के बिना कबोकि सतुष्ट ही नहीं होता। अतएव उठ के समुक्त विषय बनकर उत्तर्य मानव को एक ओर बड़ा प्ररन ही लड़ा कर देना पड़ता है। इत्युचिन्त्य महान् प्ररनात्मक को उचर ही वैदिक-परिग्रहा में 'सम्प्ररन' नाम से प्रविष्ट हुआ है किन्तु सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बन रहा है—'योऽस्याभ्यन्त' परमे भ्योमम सोऽङ्ग । वेद बधि धान वेद' (अरे ! तुम हम से सृष्टि के कार्यकारण-सम्बन्ध में पूँछ रहे हो। मन्ता हम क्या समाधान कर सकते हैं इन प्ररनों का। हम ही नहीं इस सम्पूर्ण विरव का जो परमाकारणत्मक कोई अभ्यन्त (अन्तःप्रकृतिरूप स्वयम्भू) है, हम तो कहेंगे-वह भी तुम्हारे इस प्ररन का समाधान कर सकता है, अबका नहीं अप्रापि सन्वेह'। प्रतारणापूर्वक उद्बोधन की ऐसी विधि ही ही हम समझते हैं विरव के और किसी प्राकृत साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकती। अब यह प्ररनकर्त्ता का अपना विवेक है कि, वह इस सम्प्ररनात्मक महान् प्ररन से अधिक बुद्धिभ्यामोहन में हस्तिय आभाव कि-'बेसा बेसा प्ररन किया है। मान गए न अब तो उचरवाता भी हमारा----- इत्यादि'। और या अपने इस अधिकभ्यामोहन में ही प्ररनकर्त्ता बुद्धिमान् समाप्त हो जाता है। बकि सम्प्ररन के द्वारा उद्बोधनप्रह से विवेक जागरूक हो पड़ता है तो इसी सम्प्ररन के द्वारा प्ररनकर्त्ता का सम्पूर्ण बुद्धिभ्यामोहन उसी क्षण उपशान्त हो जाता है एव वही सम्प्ररन इसे महान् उद्बोधन प्रदान कर देता है। किमातरीय कुह कस्य शर्ममाम्भ किमासीत्गहनं गमीरम' 'किनेपितं पतवि प्रे पितं मनः 'कस्मै वैषाय ह्यिया विधम'-'किंलिङ्गनं क ठ स वृष आसं० इत्यादि प्रुतिवा इच • सम्प्ररनशैली के माध्यम से

* यो न पिता बनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विरवा ।

यो देवानां नामधा एक एव तं 'सम्प्ररनं' भुवना यन्त्यन्या ॥

—शुक्ल० १०।८।३।

तत्रैव मित्रज्ञातिनिजकृष्वजनमम्यन्धिपरिजनान् भोजयित्वा उममेतद्रूप 'गौण'
 गौण=गुणैर्निर्जृत्त गौण =य गार्ध, गुणनिष्कन्न' गुणनिष्कन्न=गुणसञ्जात नाम
 धेय कुरुत -यस्मात् खलु आवयोरय दारको चहृना नागप्रतिमाना च यावत्
 वैश्रवणप्रतिमाना च 'उवाच्यल्लदे-य' उवाचित्रलब्ध =प्रार्थनया प्राप्त तद्
 मयतु खलु आवयोरय दारक 'देवदिन्ने नामेण' देवदत्तो नाम्ना । तत
 खलु तस्य दाकस्याम्पापितरौ नामयेय कुरुत 'देवदत्त' इति । तत खलु
 तस्य दारकस्याम्पापितरौ याग च दाय च भाग च अक्षयनिधिं चानु-
 वदन्त ॥सूत्र ६॥

बालक क माता पिताने प्रथम दिन बालक का जात कर्म क्रिया
 करके उसी तरह यावत् विपुल मात्रा में अशन आदिचारों प्रकार का आहार
 तैयार किया (उवच्यल्लदेव मितनाइनिजकमयणमवधिपरिजणे
 भोयावेत्ता अयमेयास्व गाग गुणनिष्कन्न नामधेज्ज करेते) आहार
 तयार करके फिर उन्होंने उस मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन सधधिजन
 और परिजनों को खिलाया-खिलाकर उन्होंने बच्चे का नाम यथार्थरूप
 में गुणों से निष्कन्न होने के कारण इस तरह वक्ष्यमाणरूप से रखा !
 (जम्हाण अम्ह इमे दारए चहृण नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य
 उवह्यल्लदे त होउण अम्ह इमे दारए देवदिन्ने नामेण) यह हमारा पुत्र
 नाग प्रतिमा यावत् वैश्रवण प्रतिमाओं की मनींती से उत्पन्न हुआ है इसलिये
 इसका नाम देवदत्त हो। (तएण तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्ज
 करेति) इस प्रकार कहकर उस दारक के माता पिताने उसका नाम देव
 दत्तो रख दिया। (तएण तस्स दारगस्स अम्मापियरो जाय च भाय च

आणकना मातापिताये जन्मना पडेषा दिवसे पुञ्ज प्रभाक्षुमा अशन वगेरे
 थारे थार प्रकरने आहार तैयार कराये (उवच्यल्लदेव मितनाइ-
 निजकमयणमवधिपरिजणे भोयावेत्ता अयमेयास्व गौण गुण
 निष्कन्न नामधेज्ज करेति) आहार तैयार करावीने तेभने मित्र, ज्ञाति,
 निजक, स्वजन सधधिजन अने परिजनोने जभाउथा जभापीने तेभजे आणकनु
 नाम तेना शुभे प्रभाक्षे राभ्यु (जम्हाणं अम्ह इमे दारए चहृणं नागपडिमा
 णय जाव वेसमणपडिमाणय उवह्यल्लदे त होउणं अम्ह इमे दारए
 देवदिन्ने नामेण) दोऊनी सामे आणकना मातापिताये कहुं के आ अमारो
 पुत्र नाग वैश्रवण वगेरे देव प्रतिमायेनी भानता राअवाधी धये छे, अेधी
 आणु नाम देवदत्त राअवाभा आणु छे (तए णं तस्स दारगस्स अम्मा
 पियरो नामधेज्जं करेति) आ प्रभाक्षे आणकना मातापिताये भणीने आण-
 कनु नाम देवदत्त पाउथु (तए ण तस्स दारगस्स अम्मापियरो जाय च

जनता रहगा (घाता यथापूषमकरूपयत्), इत्यकार की श्रुति वाणी से ब्रह्मणः कर्तृत्वे, किञ्च कर्तार अपने अर्थात्कारणात्मक सृष्टिविधानों का स्वतन्त्र रूप ब्रह्मणः कर्तृत्वे तुष्ट + ऐसे उक्त्यशास विचार रहे हैं। मूलकारण का ही नाम 'उक्त्य' है जिसके आचार पर ही सत्यताप्रतिष्ठा उक्त्यविचारों, एवं इन उक्त्य-विचारों की मूलभूता महाउक्त्यविचारों प्रतिष्ठित है वेदशास्त्र में। ऐसी विचारों की विस्तार से व्याख्या करने वाले ही 'उक्त्यशास' (अप्युक्त्यशासविरल्लोकाः) कहलाए हैं। अतः ही वेते हैं य इत्या उक्त्यशासः। 'अस्तुत्प'। अपनी इन व्याख्या से वे स्वयं अपने आपसे अपने प्राणों को सर्वप्रथम तृप्त मान लते हैं। अस्तुत्प ही आते हैं अपनी इन व्याख्याओं से एव वृत्तों को भी अस्तुत्प मान लने की शक्ति करते रहते हैं—'नीहारेण प्राप्तुता जन्त्या प्राप्तुत्प उक्त्यशासत्त्वरम्भित'। इस समन्वये हैं—प्राहृत-व्य-स्वाम्यक बुद्धिमानीहन् का स्वयं अपने ही मुख से इत्यकार निराकरण कर देना अपनी उक्त्यविचारों के समूहों प्राहृत विचारों को यों श्रुतप्रमाण से उक्त अनन्त में समर्पित कर देना प्राहृत मानव का ही काम नहीं हो सकता। जो ऐसा कर सकता है उक्तमुख नहीं 'अप्राहृत्य अपिमानव' है। और अत्रत्य ही एतत् अपिमानव ही उक्त अनन्त से अभिन्न जनता हुआ उक्तका 'जुज्ज' माना जा सकता है। इसी उक्त्य को उपनिषत् अपने दार्शनिकी आश्चर्यापूर्ण व्याख्या मन्त्रा में यो अभिष्यक्त किया है कि—

अविद्यायामन्तरं वर्तमानाः स्वयं वीराः पण्डितमन्यमाना ।

दन्त्रम्यमास्थाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—उपनिषत्

४५०—दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मक महान् सम्प्रश्न के द्वारा स्वविमोहनोपशान्ति का प्रयास, परिश्रामतः अधिक व्यामोहन का आविर्भाव, एव तदनुगत निःसीम व्यामोहन-भार से ही सम्भाविता विमोहन-निवृत्ति—

दिग्देशकालमीमांसात्मक प्रस्तुत क्लेशों से हमने स्वयं अपने प्राहृत-विमोहन की उपशान्ति का ही प्रयासमात्र किया है। इस महान् सम्प्रश्न से हमने अपने प्राहृत-बुद्धिमानीहन् को और अधिक व्यामोहन से ही समन्वित किया है। क्योंकि अपने प्राहृत भार की अपेक्षा इस कालभार से बने रहना ही हमारे उद्बोधन का किन्ती न किन्ती कर्म में तो कारण बन ही जायगा निरन्तर बन ही जायगा सम्प्रश्नात्मक अनन्तप्रसात्मक महाकाल की X माया महाकाली के धरुव अनुभव से। अभीष्ट नहीं है हमें कालातीत

* अप-अन्य-व्यक्त्यायां वाचि ।

— 'वाद्-अन्य-वितयता-हेत्वाभास-इत्य-वातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानाभि-भेयसाधिगमः । (स्यासुत्र १।१।)

X—स्वं परा प्रकृति साक्षाद् ब्रह्मणः परमस्मनः ॥

महत्तत्त्वादि-भूतान्तं स्वया सृष्टमिदं जगत् ॥१॥

तैर मित्रज्ञातिनिजकस्वजनमन्धिपरिजनान् भोजयित्वा इममेतद्रूप 'गौण'
 गौणं=गुणैर्निवृत्त गौण =यथार्थ, गुणनिष्कन्त' गुणनिष्कन्त=गुणसञ्जात नाम
 घेय कुरुत -यस्मात् खलु आवयोरय दारको चहृना नागप्रतिमाना च यावत्
 वैश्रवणप्रतिमाना च 'उवाङ्मल्लदे-य' उपगवितलब्ध =प्रार्थनया प्राप्त तद्
 भवतु खलु आवयोरय दारक 'देवदिन्ने नामेण' देवदत्तो नाम्ना । तत
 खलु तस्य दाकस्याम्बापितरौ नामरेय कुरुत 'देवदत्त' इति । तत खलु
 तस्य दारकस्याम्बापितरौ याग च दाय च भाग च अक्षयनिधि चानु-
 वद्वेयत ॥मूत्र ६॥

बालक क माता पिताने प्रथम दिन बालक का ज्ञात कर्म क्रिया
 करके उसी तरह यावत् विपुल मात्रा म अन्न आदिचारों प्रकार का आहार
 तैयार किया (उचख्वडावित्ता तद्देव मितनाइनिजकमयणम रधिपरिजणे
 भोयावेस्ता अयमेयारुच गाग गुणनिष्कन्त नामघेज्जन् करेते) आहार
 तयार करके फिर उन्होंने उस मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन सधधिजन
 और परिजनों को खिलाया-खिलाकर उन्होंने वच्चे का नाम यथार्थरूप
 म गुणों से निष्कन्त होने के कारण इस तरह वक्ष्यमाणरूप से रखा ।
 (जम्हाण अम्ह इमे दारए यहूण नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य
 उवइयलदे त होउण अम्ह इमे दारए देवदिन्ने नामेण) यह हमारा पुत्र
 नाग प्रतिमा यावत् वैश्रवण प्रतिमाओं की मनौती से उपन्न हुआ है इसलिये
 इसका नाम देवदत्त हो । (तएण तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामघेज्ज
 ररेति) इस प्रकार कहकर उस दारक के माता पिताने उसका नाम देव
 दत्तो रख दिया । (तएण तस्स दारगस्स अम्मापियरो जाय च भाय च

भाण्डना मातापिताये जन्मना पडेवा द्विसे पुञ्ज प्रभाभुमा अथन वगेरे
 थारे थार प्रअरने आहार तैथार कराये (उचख्वडावित्ता तद्देव मितनाइ-
 निजकगयगस्वधिपरिजणे भोयावेस्ता अयमेयारुच गौण गुण
 निष्कन्त नामघेज्जन् करेति) आहार तैथार करावने तेभने मित्र, ज्ञाति,
 निजक, स्वजन सधधिजन अने परिजनाने जम्हाया जम्हावने तेभञ्जे भाण्डनु
 नाम तेना शुभे प्रभाञ्जे राभ्यु (जम्हाणं अम्ह इमे दारए यहूणं नागपडिमा
 णय जाव वेसमणपडिमाणय उवइयलदे त होउण अम्ह इमे दारए
 देवदिन्ने नामेण) दोकानी थामे भाण्डना मातापिताये कहुं हे आ अभावे
 पुत्र नाग वैश्रवण वगेरे देव प्रतिमाओंनी भानता राभवथी धये छे, येथी
 आभु नाम देवदत्त राभवामा आव्यु छे (तए ण तस्स दारगस्स अम्मा
 पियरो नामघेज्ज करेति) आ प्रभाञ्जे भाण्डना मातापिताये भणीने भाण
 डनु नाम देवदत्त पाउयु (तए ण तस्स दारगस्स अम्मापियरो जाय च

४५२—बुद्धि क द्वारा अग्राह्या, किन्तु बुद्धिगम्या अनन्ता कालदिग्देशत्रयी क सम्बन्ध में बौद्धिक प्रयोगों की आत्यन्तिक असमर्थता, एवं प्राकृत दिग्देशकाक्षत्रयी क माध्यम से अनन्ता कालदिग्देशत्रयी क साथ बुद्धि की अभिन्नता—

बुद्धि उक्तस्वरूप से समझ लेती है उस अनन्तक्षल को। किन्तु जिसप्रकार बुद्धि अपने समकक्ष रूप साम्बन्धिक विग्-वेरा-क्षल को ग्रहण कर इस पर अपने आचारउत्पन्न प्रयोग कर डालती है वैसे समकक्ष रूप में उस अनन्तक्षल-विग्-वेरा-पर बुद्धि अपना आचारउत्पन्न प्रयोग नहीं कर सकती। खप ही बुद्धि यह भी स्वीकार कर लेती है कि, जिन सीमित विग्-वेरा-क्षलों के माध्यम से इस के मौलिक-स्पर्श-मूल-प्रयोगात्मक आचार सम्बन्धस्थापूर्वक स्थित हैं सम्बन्धस्थात्मक, प्रयोगाचारउत्पन्न यह दिग्देशकाक्षत्र कथतः उस अनन्तक्षल-विग्वेरा के समतुलन में समया ही यत्किञ्चिदस ही है एवं वही इस का आचार है किंवा वही अपने यत्किञ्चिदस से यह बन रहा है। और अशील्य वही अरु इस का सर्वत्र स्वरूप है। अतएव वह अज्ञान यह अज्ञान अभिन्न है। वही अज्ञान यह अज्ञान है किंवा यही अज्ञान यह अज्ञान है। किंवा 'वही और 'वही में कोई भी अन्तर नहीं है। अर्थात् बुद्धिगम्य बुद्धिगम्या-सापेक्ष बौद्धिक आचार-प्रयोगात्मक इस खादिसान्त दिग्देशकाक्षल में तथा बुद्धिगम्य बुद्धिगम्या-सापेक्ष किन्तु बौद्धिक प्रयोगाचारों से एकान्त' अर्थात् उस अज्ञानानन्त क्षलविग्वेरा में अन्तर्विगम्यता कोई भी मौलिक मेद नहीं है। और एक मुच यों अपने इस बौद्धिक-बुद्धिगम्य-प्राकृत-कालात्मक-स्वरूप से ही खादिसान्त कालात्मक में प्राकृत मानव इस यथे से अन्तर से खमान्य से विवेक से ही कैसा अनन्त बन जाता है कैसा महिमामय बन जाय है वह ज्ञान-कर इस की खादिसान्त्य में बुद्धि क्या इस अपने ही अनन्त से प्रभावित नहीं हो जाती। हम समझते हैं-हो जाती है और अकरय ही हो जाती है। एवं अकरय ही इस की यह बुद्धि अपने इस प्राकृत कालानन्त्य के अन्तर्विगम्य से अपना सम्पूर्ण बौद्धिक स्थानोत्पन्न होकर अपने ही उस महिमामय प्राकृत कालानन्त्य के लिए-आज्ञाय तस्मै नमः इस प्रकृतभाव का समर्पण कर देती है।

४५३—शुद्धभाषापत्र समर्पण का मूलबीज, तदभिन्न स्वस्वरूपदर्शन, तद्द्वारा कालानन्त्य की अनुप्राप्त्यप्राप्ति, एवं तदानन्त्य से समन्विता भूतप्रपञ्चाधारभूता अनन्ता बुद्धि—

कैसे अभिन्नकक्ष बुद्ध्या-मानव में यह शुद्धभाषापत्र समर्पण ?। उत्तर है एकमान-‘स्वस्वरूपदर्शन’। मानव की बुद्धि बहकत ‘पर’ दर्शन को ही अपना अन्तर्विगम्य बनाए रखती है तत्काल इसे स्वयं अपने कालानन्त्यात्मक प्राकृतानन्त्य का भी बीज नहीं होपत्ता। और इस परदर्शन में मानवबुद्धि स्वतंत्र विषयों की अपेक्षा अपने आपको बहुत छोटा समझने लग पड़ती है, बरकि कल्पस्थिति ठीक इस से विपरीत है। प्राकृत-अचेतन-बद्ध-पदार्थ मानव की प्राकृत-चेतन-बुद्धि की अपेक्षा कहीं छोटे हैं। मानव की बुद्धि में भूत प्रसि-ष्ठित हैं। अर्थात् भूतों में मानव की बुद्धि प्रसिष्ठित नहीं है। अतएव बौद्धिक मूल (बुद्धि की बीजा में प्रसि-ष्ठित) ही मानव बुद्धि की उत्पत्ति के कारण बनते हैं।

दासचेड पमत्त पासइ, पासित्ता दिसालोय करेइ करेत्ता देवदिन्न
 द्वारग गेण्हइ, गेण्हत्ता कमखसि अछिवावेइ अछियावित्ता उत्तरिजेण
 पिहेइ, पिहित्ता सिग्ध तुरिय चवल वेइय रायगिहस्म नगरस्स अत्र
 द्वारेण निगच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव जिणणुज्जाणे जेणेव
 भग्गकूणए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता देवदिन्न दारय जीवि
 याओ ववरोवेइ, ववरोवित्ता आभरणालकारे गिण्हइ गिण्हित्ता देव
 दिन्नस्स दारगस्स सरीरग निप्पाण निच्चेट्ट जीवियविप्पजढ भग्गकू
 णए पक्खिवइ, पक्खिवित्ता जेणेव माल्लुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ
 उवागच्छित्ता माल्लुयाकच्छय अणुपविसइ, अणुपविसित्ता निच्चले
 निप्फदे तुसिगीए दिवस खवेमाणे चिट्ठइ ॥सू ७॥

टीका—‘तएण से पयए इत्यादि—‘तएण’ तत च्चल्लु=तदनन्तर ‘से’
 असौ पाण्यकनामा ‘दासचेडए’ दासचेडक = दासपुत्रो यो धन्यसार्थवाहस्य
 गृहे कर्मकरत्वेन स्थित आसीत्—स देवदत्तस्य दारकस्य ‘वालगाही’ बाल
 ग्राही बाल गृहीतु शीलमस्यास्तीति बालग्राही=शिशुसरसको जात । असौ देव
 दत्त दारक कटघा गृह्णाति, गृहीत्या बहूमि ‘डिम्पहि य’ डिम्भकैश्च,

‘तएण से पयए दासचेडए’ इत्यादि ।

टीकार्य—(तएण) इसके बाद (से पयए दासचेडए) यह पाण्यकनाम
 का दास पुत्र जो धन्य सार्थवाह के घर पर—नौकर—या (देवदिन्नस्स दारगस्स
 बालगाही जाए) वह देवदत्त का बालग्राही—शिशु अधस्या का सरसक—
 हुआ । (देवदिन्न दारय कडीए गेण्हइ) यह देवदत्त को अपनी कमर=गोद में
 लिये रहता था । (गेण्हित्ता) यह उसे अपनी गोद में लेकर (वहूहि

तए ण से पयए दासचेडए इत्यादि ॥

टीका—(तए ण) त्थर पछी (से पयए दासचेडए) पाण्य नामे दास
 पुत्र—के धन्यसार्थवाहना घर नेकर इत्ये— (देवदिन्नस्स दारगस्स बालगाही
 जाए) पाण्यक देवदत्तस्य सरसक्य माटे नियुक्त करवाया आये (देवदिन्न दारग
 कडीए गेण्हइ) ते देवदत्तने देड=पोण्यमा जेसायीने राखते इत्ये. (गेण्हित्ता) अने

सम्पूर्ण रस इन्द्रियो की प्रातिस्विक सम्पत्ति है। जिस इन्द्रिय में जो रसमात्रा जिस व्यक्त्यानुपात से रहती है, उसी अनुपात से विषयों की ये रसमात्राएँ श्रुत्यरूप से मिलती हैं। विषय श्रुती हैं इन्द्रियों के। किन्तु आत्मत्व है कि परद्वारानमूला भावुकता से इन्द्रियों के विषयों का श्रुत्यो मान लिया है। भावुकता के आवेग से प्राणि एक उदारव्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति श्रुत्य में प्रदान कर देता है। इस श्रुत्यदान से का स्वर में वह स्वयं वरिणी बन जाता है। और आकर्षकत्व पकने पर यह उसी श्रुत्यमहीता के समीप जाता है। एवं वहति वा मुक्त इति मिल जाता है उसीसे यह स्नाष्टि का अनुभव करता है। एक इस अपने ही श्रुत्य के पर्यवर्तन से वह अपने आप को इस भ्रान्ति का अनुगामी मान बैठता है कि, मानो इसे वह अभिमर्ष (कर्मादर) सुप्त पहुँचा था है शाम पहुँचा रहा है। वैयक्तिक मन्त्रा की भी ठीक यही अवस्था है। इन्द्रियसुप्त का श्रुत्य लेकर तो विषय सम्पन्न होने हैं। और इनसे पुनरावर्तन कर यह इन्द्रियस्वर्ग ऐसा मान बैठता है कि, इन विषयों से ही मुक्त मुक्त मिल रहा है। एक व्यक्तिक के मुक्तमें नीच के नामस्मरण से भी पानी आधाता है तो ब्रह्म नहीं सरलता में इस का निगरण एक कर जाता है। विषय अपने स्वरूप से समान किन्तु ऐन्द्रियक अनुभूतियों प्रत्येक की प्रथम प्रथम। ऐसा क्यों! इसलिए कि इन्द्रियानुभूतियों स्वयं इन्द्रियों की अपनी सम्पत्ति है। इन का वैसा स्वरूप होता है, अनुपात से ही विषयों पर इन्द्रियों का अनुभव होय है। और यों सर्वमिना बुध्दिगम्या इति में ही प्रमाणावत है कि इन्द्रियसुप्त ही किस्मसुप्त का कारण है कदापि विषय इन्द्रियसुप्त का कारण नहीं है।

४५७—सन्तानभारात्कमसिद्धा सुखमात्राएँ, एव अन्तोपक्रम से अनन्तान्वेषण क लिए समस्तुर दार्शनिक का महान् बौद्धिक-व्यामोहन—

अर्थात् इन्द्रियसुप्त मन का मुक्त ही इन्द्रियसुप्त का कारण है कदापि इन्द्रियों मानसिक मुक्त का कारण नहीं है। मानसिक सुप्तमात्रा का श्रुत्य लेकर ही इन्द्रियों सुखात्मिका बन रही हैं। मन कदापि इन्द्रियों में नहीं है अपितु सम्पूर्ण इन्द्रियों मनोवर्ग में समाविष्ट है। अर्थात्-मनकी अप्यक्षभूत बुद्धि का सुप्त ही मानसिक मुक्तका कारण है। कदापि मानसिक मुक्त बौद्धिक मुक्तका कारण नहीं है। बौद्धिक-सुखमात्रा का श्रुत्य लेकर ही मन सुखात्मक बन रहा है। बुद्धि कदापि मन में नहीं है। अपितु मन ही कर्मात्मना बुद्धि के गर्भ में समाविष्ट है। और ऐसी महिमाशास्त्रिणी बुद्धिकी वृत्त करने के लिए अन्त मानव न केवल मानसिक मुक्त को ही नापि केवल इन्द्रियसुप्त को ही अपितु भूतों के प्रति अनुभावन करता रहता है जो इसकी महिमा के सम्पन्न मन में अपना मुक्त भी तो महत्त्व नहीं रखे। और उन भूतों की व्याख्या को ही यह करने लय पकवा है बुद्धिपन्था-व्याख्या। एवं ऊँपरि इन भूतव्याख्याओंसे ही इसे यह भ्रान्ति भी हो पकती है कि, 'मै अथ अवरण बुद्धिमान् हूँ' अर्थात् 'बुद्धि' नामक कोई तत्त्व अवरण मुक्त में है। मानो इन भूतों ही बुद्धिका अस्तित्व स्थापित किया हो। अन्त से अनन्त को हूँ करने के ऐसे ही वा पुष्परियास्य भोगने पकत हैं दार्शनिक-बुद्धि को।

४५८—यद्यथावत् प्राकृत-खण्डात्मविवर्तों के समस्तजन में अनन्त-भाषापत्र महान् मानव—

'अर्थात्' की सीमा अभी उपात्त नहीं हुई है। बुद्धि का अर्थ है महत्त्व। यह पारमेष्ठ्य महान् ही बौद्धिक मुक्त का कारण है। कदापि बुद्धि महत्त्व का कारण नहीं है। महत्त्व ही सुखमात्रा का श्रुत्य

दासचेड पमत्त पासइ, पासित्ता दिसालोय करेइ करेत्ता देवदिन्न
 दारग गेण्हइ, गेण्हित्ता कखसि अल्लियावेइ अल्लियावित्ता उत्तरिजेण
 पिहेइ, पिहित्ता सिग्घ तुरिय चवल वेइय रायगिहस्स नगरस्स अत्र
 दारेण निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव
 भग्गकूवप् तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता देवदिन्न दारय जीवि
 याओ ववरोवेइ, ववरोवित्ता आभरणालकारे गिण्हइ गिण्हित्ता देव
 दिन्नस्स दारगस्स सरीरग निप्पाण निच्चेइ जीवियविप्पजढ भग्गकू
 वप् पक्खिवइ, पक्खिवित्ता जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ
 उवागच्छित्ता मालुयाकच्छय अणुपविसइ, अणुपविसित्ता निच्चले
 निष्फेदे तुसिगीए दिवस खवेमाणे चिट्ठइ ॥सू ७॥

टीका—‘तएण से पयए इत्यादि—‘तएण’ तत खल्ल=तदनन्तर ‘से’
 अर्सी पान्थकनामा ‘दामचेडए’ दासचेडक = दासपुत्रो यो धन्यसार्थवाहस्य
 गृहे कर्मकारत्वेन स्थित आसीत्—स देवदत्तस्य दारकस्य ‘पालगाही’ बाल
 ग्राही बाल ग्रहीतु शीलमस्यास्तीति बालग्राही=शिशुसरक्षको जातः । अर्सी देव
 दत्त दारक कटया पृष्ठाति, गृहीत्वा वष्टमि ष्चिम्पहि य’ डिम्भकैश्च,

‘तएण से पयए दासचेडए’ इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) इसके बाद (से पयए दासचेडए) यह पान्थकनाम
 का दास पुत्र जो धन्य सार्थवाह के घर पर—नौकर—या (देवदिन्नस्स दारगस्स
 पालगाही जाए) वह देवदत्त का बालग्राही—शिशु अवस्था का सरक्षक—
 हुआ । (देवदिन्न दारय कडीए गेण्हइ) यह देवदत्त को अपनी कमर=गोद में
 लिये रहता था । (गेण्हित्ता) यह उसे अपनी गोद में लेकर (वहहिं

तए ण से पंपए दासचेडए इत्यादि ॥

टीकार्थ (तए ण) त्थर पडी (से पयए दासचेडए) पाथण नामे दास
 पुत्र—के धन्यसार्थवाहना घर नौकर इत्ये— (देवदिन्नस्स दारगस्स बालगाही
 जाए) आणक देवदत्तना सरक्षक भाटे नियुक्त करवाया आव्ये (देवदिन्न दारग
 कडीए गेण्हइ) ते देवदत्तने केड=प्रेमणामा भेसादीने राधते इत्ये. (गेण्हित्ता) अने

का अवलोकन मान सकता है तो फिर हमें कुछ भी करना सुनना नहीं है ऐसे तात्कालिक-प्रत्यक्षकारी-सूत-
मात्रवादी बुद्धिमान् मानव के सम्मुख में कुछ भी। एवं शास्त्रन कुछ भी नहीं कहा है ऐसे मानव के लिए।
शास्त्र बना ही नहीं है ऐसे यथावात मानवी के लिए, जो अपने प्रत्यक्षदृष्ट मीटिक अर्थ में
ही स्वार्थमना अपने भीतिक स्वरूप का व्यक्त करते निरते हैं सर्वत्र-स्वतन्त्र-पूर्वक, जैसे कि अन्य बातों
के प्राप्ति के लिए अर्थ भी भीतिक मापन-एव आमतक बना ही नहीं है, बा अन्य प्राणी स्वर्ग अपनी ही
प्राकृत बुद्धि से केवल प्राकृत-दिग्देशकालानुसंधी प्रत्यक्षदृष्ट-भुव-उपवर्णित-भूतों की उपासना करते
हए ही स्वस्मन्-स्वरूप से आहारविहारपरायण बनते हुए सुखपूर्वक ! जीवन स्पटीत करत रहते हैं-सबकाल
विमूर्द्धस्तान् विद्धि नष्टान्पेचस । अज्ञानं तस्य शरयम् । ऐसे ही यथावात मानवी का पारिप्रसिक्त
नाम है-किमुपयमानव किन अ समस्तप्रभावति अपने साम्प्रतिक ज्ञानमय की क्षतिपूर्ति के लिए
ही उपयोग करते रहते हैं। प्रजापति के निरस्त-घत-भूत भाग की पूर्ति ही इन यथावात 'मृतमानवों'
(बहमानवों) का एकमात्र महान् उपयोग माना है भारतीय 'यजुर्वेद' ने इत्यास्तप्यात्ममेव।

४६१-प्रकृतिसिद्ध-कर्मव्यात्मक-धर्माचरण क महान् उदक का सम्मरण, एवं तत्-
द्वारा मानव के अभिनिवेश की उपशान्ति—

किन्तु जिस की दृष्टि में प्रत्यक्ष-भूत ही मृत की परिष्कारि नहीं है इस से भी आगे कुछ और है,
एव यह 'भूत' ही जिस की बुद्धि का चेष बना रहता है इन्म प्रकृतिपरीक्षक परीक्षकमार्गक उस बुद्धिमान् के
लिए तो पूर्वक प्राकृत-अनन्त स्वरूप सहकरूपेण शास्त्रस्वाप्यपनिष्ठा कि माध्यम से अमरपमेव विज्ञान बन
जाता है। और जब प्रत्यक्षविमोहनरमक भीतिक व्यामोहन से पोड़ा ऊपर उठ कर मानव की प्रकृति
के रहस्यविरक्षेपण में प्राकृत होता है, तो स्वयं इस की यह मृतबुद्धि ही इस के अनन्तमहिमाशाली प्राकृत
अनन्त स्वरूप को अस्पृक्तअस्तस्वरूप को इस के लिए अभिम्बक कर देती है * । "तत्स्वयं योगसिद्धि-
अनेन-अस्पृक्तअस्तमाध्यमेन-आत्मनि-प्राकृतस्वरूपे-विम्बति" (गीता) । बुद्धियोगसिद्धि-
इति यावत् । प्रकृतिसिद्ध-कर्मव्यात्मक धर्माचरण का यही तो वह महान् उदक है, जिस धर्मा-
चरण से ही मानव की बुद्धि का अभिनिवेशात्मक प्राकृत व्यामोहन उपशान्त हुआ करता है।

४६२-अनन्तप्रज्ञ, एवं अनन्त प्राकृत-विश्व के तन्मात्मक आनन्त्य से समन्वित
मानव का महान् पुरुषार्थ, तन्मध्यपूर्ति-विज्ञासा, तथा तन्माधानानुगता दिग्-
दशकालस्वरूपमीमांसा—

उक्त सम्पूर्ण स्थिति से अब हमें उद्दिष्टपूर्वक हत निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, मानव के सम्मुख
'अनन्तप्रज्ञ अनन्तप्राकृतविश्व' के दो निरन्तर समुपस्थित हैं किन इन दोनों को इसे शक्य बना लेना है और
यही मानव का सम्पूर्ण पुरुषार्थ माना गया है। जैसे वे दोनों अक्षय हैं, इस महान् परम के धर्माधान

४-उसो स्वस्मै तन्नं विससो बायेव तप्ये उशली मुवासाः ।
—शक्यं ० १०११।४।

कृ वा पान्थकस्य दासचेटकस्य हस्ते ददाति । तत खलु स पान्थको दास
चेको भद्राया सार्थवाणा हस्ताद् देवदत्त दारक ऋथा गृह्णाति, गृहीत्वा
स्वकाद्गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य षट्पुत्रिं डिम्भैश्च डिम्भिकाभिश्च
दारकैश्च दारिकाभिश्च, कुमारकैश्च कुमारिकाभिश्च सार्द्धं सपरिवृतो यत्रैव राज
मार्गस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य देवदत्तदारकमेतन्ते 'ठवड्ड' स्थापयति=उपवेशयति
उपवेश्य षट्पुत्रिं डिम्भैश्च यावत्कुमारिकाभिश्च सार्द्धं सपरिवृत 'पमते'
पमत =तद्रक्षणं प्रमादवान् चापि 'विहरइ' विहरति=पालकचालिकादिभि
सहान्यत्र रमते ।

चरित कर ममस्त अलफारों से विभूषित किया (करिचा पथयस्स दासचेट
यस्म हत्ययसि दलयइ) विभूषित करके बाद म उसने उसे पांथक दाम
चेटथ के साथमें दे दिया। (तएण से पथए दासचेटए महाए मत्थवा
हीए हत्याओ देवदिन्न दारय कडिए गिणइइ) उस पाथकदासचेटने भद्रा
सार्थवाहीके हाथ से लेकर देवदत्त को अपनी कटी=गाद में छे लिया।
(गिण्हिना सयाओ गिहाओ पड्डिनिक्खमइ) और लेकर वह अपने घर
से बाहर निकला। (पड्डिनिक्खमिस्सा वड्डिं डिम्भिएहिं डिम्भयाहिं य कुमा
रएहिं य कुमारियाहिं य सद्धिं सपरिवुडे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवा
गच्छइइ) निकल कर वह अनेक डिम्भिकाओं से अनेक डिम्भिकाओं से कुमार
और कुमारिकाओं से घिरा हुआ होकर जहाँ राजमार्ग या पथ पर गा
(उवागच्छिस्सा देवदिन्न दारयं एगते ठवेइ, ठाविस्सा वड्डिं डिम्भिएहिं
जाय कुमारियारि य सद्धिं सपरिवुडे पमत्ते यावि विहरइ। जाएर उसने

अलक्ष्म कथी (करिचा पंथयस्स दासचेटयस्स हत्ययसि दलयइ) आणकने
धरेष्वाओथी अलक्ष्म कथी. आह माताओ नेने पाथक दास चेटकने सोपी दीधि।
(तए ण से पथए दासचेटए महाए मत्थवाहीए हत्याओ देवदिन्न
दारय कडिए गिणइइ) पाथक दासचेटके भद्रा सार्थवाहीना हाथमाथी आणकने
वड्डिने पोत्ताना जेणाम्हा वड्डि दीधि। (गिण्हिस्सा सयाओ गिहाओ पड्डिनिक्ख
मइ) अने वड्डिने ते धरथी अड्डर निक्खथे। (पड्डिनिक्खमिस्सा वड्डिं डिम्भ
एहिं डिम्भियाहिं य कुमारयाहिं य कुमारियाहिं य सद्धिं सपरिवुडे जेणेव
रायमग्गे तेणेव उवागच्छइइ) नीकणीने ते धष्वा डिक्किंके-माणके-डिक्कि
हाओ-आणाम्हा, तेमए कुमार अने कुमारीओनी साथे न्या राज
मार्ग इतो त्या गथे (उवागच्छिस्सा देवदिन्न दारय एगते ठवे
ठाविस्सा वड्डिं डिम्भिएहिं जाय कुमारियाहिं य सद्धिं सपरिवुडे पमत्ते यावि

ही दिया है एवं न कुछ करने ही दिया है। अपितु एवमात्र—‘हम वो समझेंगे, तब मानेंगे तभी करेंगे’ इसी अभिनवेश का सम्बन्ध कर मानवबुद्धि समझ, और काम, दोनों से उत्पन्न बन गई है। इच्छाकार के कर्त्त उपस्थित कर अपने कर्त्तव्य की इतिभी मान बैठने वाले बुद्धिभ्यामुग्र महातुभाव अन्तर्गतस्था ऐसे सम्भस्त होजाते हैं अपने इस दम्भ में कि तिर न वो समझ से ही इनका कोई सम्बन्ध रह्य न कर्त्तव्य से ही।

४६५—कर्मोत्सिर्कस्यतात्मक शाब्दबोध, एव तदमिन्न ‘संवित्’ से मानव की स्वकर्त्तव्य प्रगुचि का समन्वय—

अतएव इस कर्त्तव्यानुगत शाब्दज्ञान की सीमा केवल शब्दज्ञान पर्यन्त ही व्यवस्थित हुई है आचार्य पदति में। शब्द के अक्षराक्षरज्ञानमात्र से सम्बन्ध रखने वाली समझ ही पर्याप्त है कर्त्तव्यसेन में, जिस शाब्दबोध में क्यों? जैसे १, न व—नुच आदि कर्त्त कर्त्तव्य सीमा ही अर्त्तस्वप्न माने हैं स्वयं शास्त्रन ही। आचार्यकर्त्तव्य की पदति का इतिरुक्तव्यथा का बोध ही शब्दबोध की सीमा है एवं यही कर्त्तव्यानुगता ‘समर्थ’ की सीमा है जिसमें सीमित रह कर ही मानव कर्त्तव्यनिष्ठ बन सकता है। यदि कर्त्तव्यारम्भ से पूर्व ही मानव अपने बुद्धिभ्यामोहन में आकर रहस्यबोध की इच्छा व्यक्त कर बैठता है तो शब्दशास्त्र उत्कल उत्कल निष्कन्ध ही कर देता है—‘स साधुमिर्विद्विष्यन्त्ये—नास्ति को वेदनिष्कः।

४६६—आदेशानुगता कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुगति से ही मानव के प्राकृत कर्त्तव्य का संरक्षण, एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय आदेशों का सम्मरण—

शुद्ध वेत्त। यदि एक बालबुद्धि आचार्यारम्भ से पूर्व ही—‘इसे प्रकार ही क्यों कहा जाता है १, मैं शिर्ष ही क्यों? क्यों आचार्यगत करूँ?। मुझे तो इस क्यों का रहस्य समझ दिना बायगा तभी शिर्षगा वीर्त्तगा पहुँगा करूँगा’—इच्छाकार के कर्त्तव्य करने लग पड़ेगा तो न तो इसे उत्तर ही मिल सकेगा न यह कुछ कर ही सकेगा। इस आरम्भ-दशा में तो सर्वत्र समी लोकोत्थेर्त्तों में ही आचार्य शब्द-बोधात्मक-आदेशबलित-ज्ञान ही कर्त्तव्य की आचार्यप्रति बना करता है। और यही—‘समर्थ कर करने खगपकना’ का अर्थ है। इस कर्त्तव्य में स्वयं में ही पैदा क्या है जो तत्सम्बन्धितकृत के साथ साथ उदनुभवता से ही रहने रहने कर्त्तव्य-रास्य का बोध ही कर्त्तव्यनिष्ठ मानव को कराता जाता है। निम्न लिखित बचन इसी तत्त्व का विस्तृत शब्दों में विरलेपन कर रहे हैं जिसे आचार्य क्नाप विना मानव क्यापि कर्त्तव्यनिष्ठ बन ही नहीं सकता—

ब्रह्मचारी, गृहस्थश्च, वानप्रस्थो, यतिस्तथा ॥

एते गृहस्थप्रमवाश्चआरः पृथगाभमाः ॥१॥

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते ‘यथाशास्त्र’ नियेषिताः ॥

‘यथोक्तकारिणः’ चिप्र नयन्ति परमां गतिम् ॥२॥

—समुः १००००० ॥

कृ वा पान्थकस्य दासचेटकस्य हस्ते ददाति । तत खलु स पान्थो दास
चे को भद्राया सार्थवाधा हस्ताद् देवदत्त दारक षट्था गृह्णाति, गृहीत्वा
म्यकाद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य वट्टमि डिम्मकैश्च डिम्मिकाभिश्च
दारकैश्च दारिकाभिश्च, कुमारकैश्च कुमारिकाभिश्च सार्द्धं सपरिवृतो यत्रैव राज
मार्गस्तत्रैवागच्छति, उवागत्य देवदत्तदारकमेतन्ते 'ठवड' स्थापयति=उपवेशयति
उपवेश्य वट्टमिः डिम्मकैश्च यावत्कुमारिकाभिश्च सार्द्धं सपरिवृत 'पमते'
पमत =तद्रक्षणे प्रमादवान् चापि 'विहरड' विहरति=मातृकचालिकादिभि
मदान्यत्र रमते ।

चरित कर ममस्त अलमारीं से विभूषित क्रिया (करित्ता पययस्स दासचेट
यस्म इत्ययसि दलयइ) विभूषित करके बाद म उसने उसे पाथक दास
चेटथ के हाथमें दे दिया! (तएण से पथए दासचेटए मभाए मत्थवा
हीए इत्याओ देवदिन्न दारय कडिए गिण्डइ) उस पाथकदासचेटने मद्रा
सार्थवाहीके हाथ से लेकर देवदत्त को अपनी कटी=गाद में ले लिया ।
(गिण्डिता सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ) और लेकर वह अपने घर
से घाटर निकला । (पडिनिक्खमित्ता वट्टहिं डिम्मिएहिं डिम्मयाडिय कुमा
रएहिं य कुमारियाहिं य सद्धिं सपरिवुडे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवा
गच्छइ) निकल कर वह अनेक डिम्मिकों से अनेक डिम्मिकाओं से कुमार
और कुमरिकाओं से घिरा हुआ होकर जहां राजमार्ग था वहां पर गा
(उवागच्छित्ता देवदिन्न दारय एगते ठवेइ, ठावित्ता वट्टहिं डिम्मिएहिं
जाव कुमारयारि य सद्धिं सपरिवुडे पमत्ते यावि विहरइ। जाकर उसने

अल हृतं कथी. (करित्ता पंथयस्स दासचेटयस्स इत्ययसि दलयइ) आणकने
धरेणुओथी अल हृत कथी. आह माताओ नेने पाथक दास चेटकने सोपी हीथी
(तए ण से पथए दासचेटए मभाए मत्थवाहीए इत्याओ देवदिन्न
दारय कडिए गिण्डइ) पाथक दासचेटके मद्रा सार्थवाहीना हाथमाथी आणकने
वधने पोतान्ना ओण्णाम्म वधं वीथी. (गिण्डित्ता सयाओ गिहाओ पडिनिक्ख
मइ) अने वधने ते बेरथी ण्हार निक्खथे (पडिनिक्खमित्ता वट्टहिं डिम्म
एहिं डिम्मियाडिय कुमारयाडिय कुमारियाडिय य सद्धिं सपरिवुडे जेणेव
रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ) नीकणीने ते धणु उडिडिके-माणके-उडि
कओ-आण्णओ, तेमञ्ज कुमार अने कुमारीओनी साथे न्या राज
भागं इतो त्या गथे (उवागच्छित्ता देवदिन्न दारय एगते ठवे,
ठावित्ता वट्टहिं डिम्मिएहिं जाव कुमारियाडिय य सद्धिं सपरिवुडे पमत्ते यावि

४६६-प्राकृत-व्यामोहनासक्त-प्रत्यक्षवादी मानव की नग्नता, एवं तदनुबन्धनेन परो-
चमावापन्न भी 'क्लिञ्चित्' (कुञ्ज) भाव की नग्नता का उपक्रम—

आशुतथान्त के माध्यम से 'कुञ्ज' का अर्थ आरम्भ में हमने 'प्रतीक' ही समझा था। किन्तु काल के
स्वस्मने ही अन्ततोगत्या हमारा यह प्रतीकव्यामोहन समाप्त कर दिया। एतन्व तमी सं प्रतीक के स्थान
में हमने 'कुञ्ज'—'कुञ्ज' कह देना आरम्भ कर दिया। कि प्रतीकक परोच ही बन रहा है। इच्छा तो यही
थी कि इस 'कुञ्ज' की मीमांसा को जो परोच ही बना रहने दिया जाता। तमी इस का अर्थ कुञ्जकुञ्ज स्वरूप
में आ भी सकता था। किन्तु वर्तमानयुग वैसा आपदधर्मात्मक युग है जिस में परोक्षता कदापि धम्म नहीं है,
आप के बुद्धिमान की अस्मत्ता नग्नता की हुआ से। आज का मानव सबकुछ नग्नप्रदर्शन ही अमीच्छित
मानता है। अब कि भारतीय धर्मपद्धति में उक्तकुञ्ज परोक्षपद्धति के आधार पर ही व्यवस्थित हुआ है—
'परोक्षप्रिया इव हि वेधाः, प्रत्यक्षद्विष'। तो लीकिए। युगधर्मात्मक आपदधर्मक आचलधर्म के समुक्त
धर्मपद्धति को परोक्ष बनाते हुए सर्वान्त में उक्त 'कुञ्ज' का भी नग्नप्रदर्शन कर लेने की वृत्ता करली जाती है
परोक्षप्रिय देवताओं से क्षमा माग्ना करते हुए ही।

४७०-कुञ्ज के महतोमहीयान् स्वरूप की अभिव्यक्तिमूला महती घृष्टा—

यह 'कुञ्ज' अर्थ है उस मानव की, जिसे मानवशरीर से ही आज हमें निवेदन करना पड़ रहा है।
अपनी बात अपने मुख से कभी अन्वी नहीं किया करती। अतएव हम अपने आपको तो कर लेते हैं सर्वथा
परोक्ष। एतन्व हम से अतिरिक्त परममार्गक अक्षयिभूतिक किरण के यन्त्रयाग्य पठित-अपठित सभी मानव-
श्रेणियों को समझि तथा अक्षयि से बना लेते हैं। उदाहरणक उदाहरण। एतन्व उन अक्षयि मानवों की
उदाहरणविधि से ही उन्हीं के समुक्त-स्वामीय वस्तु गोविन्द। सुभ्यमेव समर्पये' न्याय से उन्हीं के
'कुञ्ज' रूप का 'नग्न' किन्तु महतोमहीयान् स्वरूप रख देने की घृष्टा करली जाती है प्रकान्ता दिग्देराकाल-
स्वस्ममीमांसा के माध्यम से ही।

४७१-अभिव्यक्तित्व के मूलाधारभूत 'प्राजापत्यशिक्ष्य' का संस्मरण—

सर्वप्रथम आप के प्राकृत स्वरूप के माध्यम से ही 'कुञ्ज' का महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण आपके समुक्त
रखता आया है। अनाद्यनन्त * क्लिष्टरूप महाकाव्यक महापिरव एक ओर है एवं आप का प्राकृत स्वरूप
एक ओर है। इन दोनों महान् स्वरूपों में कैसी और क्या समता है, क्या साम्य है, यही आपको स्वयं
अपने प्राकृत-स्वरूप से जान लेना है। क्या आप उस अनाद्यनन्त-प्राकृत-महाकाव्य के 'प्रतीक' हैं? नहीं।
क्योंकि 'प्रतीक' का अर्थ तो अक्षय-अक्ष-माग-अर-पथ-एकत्र-हीठा है। क्या आप उस के अक्ष
हैं, नहीं। तो फिर आप उस के 'प्रतीक' तो नहीं हो सकते हैं। अक्षय ही कुञ्ज न कुञ्ज आप उसके।
तो अब आपका ध्यान 'प्राजापत्यशिक्ष्य' (प्राजापति की कारीगरी) की ओर ही आकर्षित किया जाता है इस
'कुञ्ज' के समन्वय के लिए।

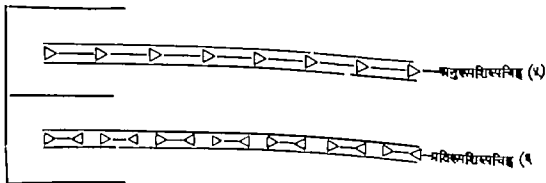
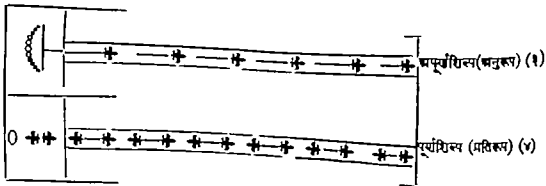
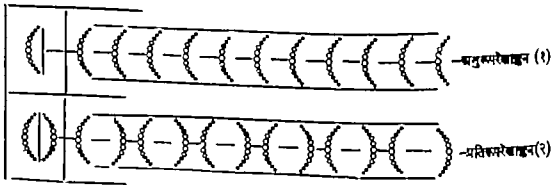
* सूत्रमातिसूत्रम् क्लिष्टस्य मध्ये (श्वेता० उप० ४।१।५)।

अनाद्यनन्तं क्लिष्टस्य मध्ये (श्वेता० उप० ४।१।१)।

चेट पमत' प्रमतम् अन्यत्र सज्जनचित्त पश्यति, दृष्ट्वा दिमात्रोप' दिशात्रो
 कम्- 'अस्मिन्नवसरे ऋस्यापि गमनागमनमस्ति न वा" इति सकलशिक्षा
 निर्गमण करोति, कृत्वा देवदत्त दारक गृह्णाति, गृहीत्वा 'कक्वसि' कक्षे=
 बाहुमूत्रे 'अल्लियावेड' आलीनयति=अन्तर्धान करोति आलीनयित्वा 'उत्त
 रिज्जेण' उत्तरीयेण=उपरिचस्त्रण 'दुपट्टा' इति मापाया, तेन पिहेइ पिद-
 धाति,=प्रच्छादयति, प्रच्छाद्य शीघ्र त्वरित चपल वेगित=शीघ्रातिशीघ्रमिस्थर्थ
 राजगृहस्य नगरस्यापद्वारेण निर्गच्छति, निर्गत्य यत्रैव जीर्णोद्यान यत्रैव
 भग्नकूपस्तत्रैवोपागच्छति उपागत्य देवदत्तां दारक 'जीवियाओ' जीविनात्

छिन्न हा गया—प्रायत हा गया—उनमें एकाग्र धन गया, अथवा गृह—
 लुप्त हा गया—इन्हें भे छलू इस स्थिति से युक्त हुए उसने साथ
 में पाँचक दास चेटक का भी अन्यत्र सलग्न चित्तवाला देवा (पासिता
 दिसालोय करइ करिवा देवदिन्न दारय गेणइइ) देखकर फिर उसने दिशा
 वलोकन किया—आजू वाजू का ओर इधर उधर देखा की कहीं से कोई
 आता जाता तो नहीं है, जब कोई कहीं नहीं दिखाईपडा तो उमन
 उसी समय उस देवदत्त दारक का उठा लिया। (गेण्हित्ता कक्वसि
 अल्लियावइ, अल्लियाविचा उत्तरिज्जेण पिहेइ) उठाकर फिर उसने उस
 अपना काल में लुपा लिया। लुपाकर वाद में उस दुपट्ट से ढक लिया
 (पिहिचा सिग्घ, तुरिय चपल चेइय रायगिहस्स नयरस्स अवहारण निग्गच्छइ)
 ढक कर वह फिर वहा से शीघ्र, त्वरित, जल्दी जल्दी राजगृह नगर के
 अग्न्यार पिछले द्वार २ स बाहर निकला (निग्गच्छित्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव

पासइ) देवदत्तने बहुत भूत्य धरेखाओथी अवकृत बनेने ते मोहवथ थध गये
 तेनु चित्त धरेखाओमा अ ओथी गयु अथवा तो ते बोभाध गये। आ धरेखा
 ओने पु इरी लई आ आतने विचार तेना मनमा भुंथी। थारे दास चेटक
 पथकने पथु त्या थोडे इर रमतमा तस्वीन बनेथे (पासिता दिमात्राय करइ करेत्ता
 देवदिन्ना दारय गेणइइ) पथकने बनेथे पथी तेजे थोभेर बनेथु डे डेअ आवतु
 तो नथी ? अथारे तेने डेअ देभायु नहि त्थारे तेजे तरत आणक देवदत्तने उपाडी
 वीधे। (गेण्हित्ता कक्वसि अल्लियावेड अल्लियाविचा उत्तरिज्जेण पिहेइ) उपाडीने
 तेजे आणकने पडआमा छुपावीने तेने दुपट्टाथी ढकी वीधे। (पिहिचा सिग्घ तुरिय
 चाउ वेइय रागगे'स्स नयरस्स अग्नारेण निग्गच्छइ) ढकीने ते सत्वर
 त्वरित गतिथी राजगृह नगरमा अपद्वारथी अग्नार नीकणी गये। (निग्गच्छित्ता
 जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव भग्नकूप तेणेव उवागच्छइ) नीकणीने ते
 ते अथा गुरु उद्यान अने भग्न इथे इते त्या पडोअथे (उवागच्छित्ता



—इत्यादि—इत्यादि

४७४—मानव की प्राजापत्या शिष्टता, एव तत्सम्बन्ध में विज्ञासात्मक प्रश्न—

आप की भी अभिव्यक्ति उही अनन्तकालपर्यन्त से हुई है एवं आपसे अप्रतिष्ठित अनन्तकाल से आरम्भ कर इसके अवसानपर्यन्त (यदि आप इतका कोई आकलन मान बैठते हैं अपनी कल्पना में ही) कितने भी चर-अचर प्रहार हैं, उन कल्पी अभिव्यक्ति भी उही अनन्तकाल से हुई है। यों दोनों ही उही

मूलम्--तएण से पथए दासचेडे तओ मुहुत्तरस्त जेणेव
 देवदिन्ने दारए ठविए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता देवदिन्न
 दारग तसि ठाणसि अपासमाणे रोयमाणे कदमाणे विलवमाणे देव
 दिन्नस्त दारगस्त सब्बओ समता मग्गणगवेसण करेइ करित्ता देव
 दिन्नस्त दारगस्त कत्थइ सुइ वा खुइ वा पउत्ति वा अलभमाणे
 जेणेव सए गिहे जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवाग
 च्छित्ता धण्ण सत्थवाह एव वयासी-एव खलु सामी । भद्दा सत्थ
 वाही देवदिन्न दारय ण्हाय जाव मम हत्थसि दलयइ, तएण अह
 देवदिन्न दारय कडीए गिण्हामि गिण्हित्ता जाव, मग्गणगवेसण करेमि
 त न णज्जइ ण सामि । देवदिन्ने दारए केणइ हये वा अवहिए वा
 अवखित्ते वा पायवडिए धण्णस सत्थवाहस्त एयमट्ट निवेदेइ, त ण
 से धण्णे सत्थवाहे पथयदासचेडयस्त एयमट्ट सोच्चा णिसम्म तेण य
 महया पुत्तसोएणाभिभूये समाणे परसुणियत्तव चपगपायवे धसत्ति
 धरणीतलसि सब्बगेहिं सन्निवइए, तएण मे धण्णे सत्थवाहे तओ
 मुहुत्तरस्त आसत्थे पच्छागयपाणे देवदिन्नस्त दारगस्त सब्बओ
 समता मग्गणगवेसण करेइ देवदिन्नस्त दारगस्त कत्थइ सुइ वा
 खुइ वा पउत्ति वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ,
 उवागच्छित्ता महत्थ पाहुड गेण्हइ, गेण्हित्ता जेणेव नगरगुत्तिया
 तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता त महत्थ पाहुड उवणेइ, उवणित्ता
 एव वयासी एव खलु देवाणुप्पिया । मम पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए
 देवदिन्ने नाम दारए इट्ठे जाव उवरपुप्फपिव तुल्लहे सवणयाए किमग

४७७-शास्त्रप्रथममूर्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक
 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सबभूव मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक निरव में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना
 लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिक बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इन केन्द्रनिष्ठा का ? एकप्रकार
 उचर है वह 'मनु' उक्त जो शास्त्रप्रथममूर्ति 'रबोन्धीयन्-अव्ययमना रूप इत्यतत्त्वं से अभिन्न है। यह
 केन्द्ररूप-शास्त्रप्रथमरूप मनुवत्त्वं सम्पूर्ण निरव में विरबेररर्यवापति, तथा तद मनु, तद्रूप अमुक प्राकृत
 प्राणी इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिम्यक्त है। इयं मनु का वही रूप 'बह' अर्थात्
 है एवं उसी इयं 'मनु' का अमुक-मायी-रूप 'यह' कहलाया है जोकि 'यह अमुक' इन मनु की अभि-
 म्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उसका कालिकरूप मन्कन्तररूपक अनन्तकाल
 है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका कालिकरूप अनन्तकालात्मक रूपक
 अर्थात् प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेविद्युम्' ही मानव की उद्भवता का महान् मूल है। एवं इत
 ब्रह्मात् प्रयोक्तव्यक-अनुकप्रशिस्यत्त्वक प्राण तथा प्राणी बुद्धिगम्या व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अन्त'
 है तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या कालिक व्याख्या से कालावस्था भी प्रतिरूप, तो कालावस्था इत्यादि
 प्रतिरूप। अर्थात् 'अन्त' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इन्ही प्रतिरूपता की सत्यता का प्रमाण
 ने क्या है—

रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिरूपं प्रतिषद्यथाय ।

इन्द्रो मायामि पुरुरूप ईयते युक्ता हस्य हरयः शता दश ॥ (ब्रह्मसं० ६।४७।१८)

४७८-प्रतिरूपनिष्ठात्मक-मनु-इन्द्राभिन्न-मानव की आत्मस्वरूपाभिन्नप्रतिरूपता
 परिपूर्वता—

विद्वान् मानव उदने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उतका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप का
 अना उस अनन्तकाल का सर्वात्मक प्रतिरूपशिस्य बनता हुआ स्व स्व स्वस्वामिम्यक्ति से परिपूर्व है अर्थात्
 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपमात्रों में परिफ्त हो रहा है ? मन्त्र बुद्धिगम्या सद्ब-व्याख्या के द्वारा
 प्ररन का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण निरव का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जिस
 पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाना था बुद्ध है।

४७९-इन्द्र-प्राण-अग्नि-रुक्माम-मात्रात्मक मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महत्त्वम्य से जो निरव का मनुस्व कालात्मक (अर्थात् इन्द्रात्मक-अयोरीयान्) केन्द्र
 वही क्षेत्रवत्त्व का भी केन्द्र है। अतएव क्षेत्रवत्त्व को अनन्त-मनु-कालात्मक-मन्कन्तररूपक का प्रतीक म
 शिवा है पुण्यपुण्य मे (पुण्यगणार ने)। और शिरस्त्रेण के समक्य से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माम' अर्थात्

✽ प्रशासितार सर्वेपामशीयांसमथोरपि ।
 रुक्मामं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥
 —मनु। १२।१२२५

मूलम्--तएण से पथए दासचेडे तओ मुहुत्तरस्स जेणेव
 देवदिन्ने दारए ठविए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता देवदिन्न
 दारग तसि ठाणसि अपासमाणे रोयमाणे कदमाणे विलवमाणे देव
 दिन्नस्स दारगस्स सब्बओ समता मग्गणगवेसण करेइ करित्ता देव
 दिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइ वा खुइ वा पउत्ति वा अलभमाणे
 जेणेव सए गिहे जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवाग
 च्छिता धण्ण सत्थवाह एव वयासी-एव खल्लु सामी । भद्दा सत्थ
 वाही देवदिन्न दारय ण्हाय जाव मम हत्थसि दलयइ, तएण अह
 देवदिन्न दारय कडीए गिण्हामि गिण्हित्ता जाव, मग्गणगवेसण करेमि
 त न णज्जइ ण सामि देवदिन्ने दारए केणइ हये वा अवहिए वा
 अवखित्ते वा पायवडिए धण्णस सत्थवाहम्स एयमट्ट निवेदेइ, त ण
 से धण्णे सत्थवाहे पथयदासचेडयस्स एयमट्ट सोच्चा णिसम्म तेण य
 महया पुत्तसोएणाभिभूये समाणे परसुणियत्तव चपगपायवे धसत्ति
 धरणीतलसि सब्बगेहिं सन्निवइए, तएण मे धण्णे सत्थवाहे तओ
 मुहुत्तरस्स आसत्थे पच्छागयपाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सब्बओ
 समता मग्गणगवेसण करेइ देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइ वा
 खुइ वा पउत्ति वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ,
 उवागच्छिता महत्थ पाहुइ गेण्हइ, गेण्हित्ता जेणेव नगरगुत्तिया
 तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता त महत्थ पाहुइ उवणेइ, उवणित्ता
 एव वयासी एव खल्लु देवाणुप्पिया । मम पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए
 देवदिन्ने नाम दारए इट्ठे जाव उवरपुप्फपिव दुल्लहे सवणयाए किमग

४७७-शाश्वतप्रब्रह्मर्षि केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिक्रियात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिक्रियात्मक 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिक्रियात्मक बभूव' का सस्मरण—

सबसे पहले मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक आश्रित विरव में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिक बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का, एकमात्र उत्तर है वह 'मनु' उक्त जो शाश्वतप्रब्रह्मर्षि 'रौतरीपीयम्-मन्वपमना रूप इत्येतत्त्वं से अभिन्न है। केन्द्ररूप-शाश्वतप्रब्रह्मरूप मनुतत्त्वं सम्पूर्ण विरव में विश्वेश्वरप्रभावपति तथा तद मध, तत्त्वं अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिष्मक है। इयं मनु का वही रूप 'वह' कथना है एवं उही इयं 'मनु' का अमुक-प्राणी-रूप यह कहलाया है, जोकि 'यह अमुक' इस मनु की अभिष्मक से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उसका कालिकरूप मन्वन्तरकालक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका कालिकरूप अनन्तकालात्मक इत्यं अभिष्मक प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नैविष्टम्' ही मानव की तत्त्वता का महान् मूल है। एवं इत्यं स्वभावतः प्रतीकत्मक-अनुक्रमशिस्यात्मक प्राण तथा प्राणी बुद्धिगम्या व्याख्यापेक्षया उक्त अनन्त के 'अहं' है तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या आश्रित व्याख्या से आलङ्कृत मी प्रतिक्रिया, तो कालातीत इत्या मी प्रतिक्रिया। अर्थात् 'अहं' ही प्रमाणित हो रहा है उक्त अनन्त का। इसी प्रतिक्रिया को लक्षण बना कर बताने का है—

रूपं रूपं प्रतिक्रियात्मक बभूव तदस्य प्रतिक्रियात्मक प्रतिक्रियाध्याय ।

इन्द्रो मायाभिः पुरुषो ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (अब्रह्मसं ६।४।१८)

४७८-प्रतिक्रियाशिस्यात्मक-मनु-इन्द्राभिन्न-मानव की आत्मस्वरूपामिष्मकिक्रियायुक्त परिपूर्णा—

बिना मानव, उतर्न ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उक्त प्रतिक्रिया। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप कर्तव्यता उक्त अनन्तकालक का कर्तव्यक प्रतिक्रियाशिस्य बनता हुआ स्व स्व स्वरूपामिष्मकिक्रिया से परिपूर्ण है अतएव 'प्रतिक्रिया' है। अतः इन प्रतिक्रियामात्रों में परिणत हो रहा है, मन्व बुद्धिगम्या सह-व्याख्या के द्वारा इती प्रत्येक का उभाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विरव का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है वैयंकी पूर्णपरिष्केदी में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९-इन्द्र-प्राण-अग्नि-रुक्माम-माषापम मनु, एव तदभिन्न मानव—

और महत्त्वसे से जो विरव का मनुकालक आलम्बक (अध्वर्यावृत्तिक-अध्वर्यावृत्तिका) केन्द्र है वही धीमयजस का मी केन्द्र है। अतएव खैरकाल को अनन्त-मनु-आलम्बक-मन्वन्तरकालक का प्रतीक मान लिया है पुराणपुराण ने (पुराणशास्त्र ने)। और हिरण्यकेश के अन्वय से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माम' कथना

* प्रशासितार सर्वेषामर्षीणांसमखोरपि ।

रुक्मामं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥

—मनु। १।१।२५

'रोयमाणे' रुदन=साधुगतमार्तनाद कुर्वन्, 'पदमाणे' क्रन्दन्=उच्चै स्वरेण रुदन 'विलवमाणे' विलपन=ऋगतो दारक ? तमन्तरेण कीदृशोऽनर्थो भविष्यति किं करोमि ? क गच्छामि ?' इति जल्पन् देवदत्तस्य दारकस्य सर्वत समन्तान् मार्गणगवेणणा करोति कृत्वा देवदत्तस्य दारकस्य कुत्रापि 'सुइ वा' श्रुतिं वा=दारकवृत्तान्त 'सुइ वा' श्रुतिं वा छिक्वाव्यक्तं तच्चिह्नम्, 'पउत्तिवा' पठति वा=प्रकटतरवारताम् 'अलममाणे' अलममानः=अप्राप्तुवन् यत्रैव स्वक गृह यत्रैव धन्य सार्थवाहस्त्वैवोपागच्छति

माणे विलवमाणे देवदिन्नास दारगस्स सन्वाओ समता मगगणगवेसण करेइ) जाकर उसने उस स्थानपर देवदत्त दारक को नहीं देखा—तो रो पड़ा अश्रु पात करता हुआ आर्तनाद करने लग गया जोर २ से चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा, विलाप करने लगा— देवदत्त दारक कहा गया—अब-उसके बिना कैसा अनर्थ होगा, क्या करू—कहाँ—जाऊँ—इस प्रकार यहबढ़ाने लगा—घाद में उसने उम् देवदत्त की वहाँ सब तरफ चारों ओर मार्गणा की गवेपणा की। (करिष्सा देवदिन्नस्स दारगस्स कथइ सुइ वा खुइवा पउत्ति वा अलममाणे जेणेव सए गिहे जे णेव धन्ने सत्यवाहे तेणेव उवागच्छइ) करके जय उसे उस देवदत्त दारक की कोई श्रुति नहीं सुनाई की, छिक्वादि अव्यक्त चिन्ह भी नहीं ज्ञात हो सका तथा स्पष्ट उसकी किसी बात का पता नहीं पड़ा तो वह जहा अपना घर था— और जहाँ धन्य सार्थवाह थे— वहाँ आया (उवागच्छिष्सा धण्णं सत्यवाह एव वयासी) आकर धन्य सार्थ

देवदिन्नस्स दारगस्स सन्वाओ समता मगगणगवेसण करेइ) त्या अधिने ते णाण्ड देवदत्तने नहि बोत्ता रडवा भाउथे. विलाप कस्वा वाउथे. "आण्ड देवदत्त कथा जेतो रड्ढो ? ते वगर उवे शु यथे ? शु कडु ? उवे कथां भाउ ? 'आ प्रभावे ते दु ष्ठी धर्धने विचार कस्वा वाउथे. त्थार पछी तेरो थामेर आण्ड देवदत्तनी तथास करी अने शोध करी. (करिष्सा देवदिन्नस्स दारगस्स कथइ सुइ वा खुइवा पउत्तिवा अलममाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धन्ने सत्यवाहे तेणेव उवागच्छा) शोध कस्वाभा अत्थारे तेने देवदत्तनो रडवा वगेरेने अवाअ तेभअ छीइ वगेरेनी अव्यक्त ध्वनी सबण्णं नहि अने आण्डने केळ पछु रीते पत्तो जेणवी शक्ये नहि त्थारे ते ब्या तेतु घर इतु अने धन्य सार्थवाह इत्ता त्या आउथे (उवागच्छिष्सा धण्णं सत्यवाह एव वयासी)

४७७-शाश्वतप्रज्ञामूर्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव' का सस्मरण—

सबभूव मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक अस्तित्व विरव में महान् है किसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिक बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। कथा अर्थ है इन केन्द्रनिष्ठा का १, एकत्र उचर है वह 'मनु' तब जो शाश्वतप्रज्ञामूर्ति 'शश्वतीयम्-अभ्ययमना रूप इष्टतत्त्व से अभिन्न है। केन्द्ररूप-शाश्वतप्रज्ञारूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विरव में निरवेरररररनापति, तथा त् मनु तद्रूप अमुक प्राकृत प्रसूती, इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिन्न है। इष्ट मनु का वही रूप 'वह' कथान है एव उसी इष्ट 'मनु' का अमुक-मायी-रूप 'वह' कथलाया है, जोकि 'यह अमुक' इस मनु की अभि-भक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है उक्त अस्तित्वरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है तो वह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उक्त अस्तित्वरूप अनन्तकालात्मक इष्ट अस्तित्व प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेविष्टम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एव इत् यथायात् प्रतीकत्मक-अनुकप्रशिन्यात्मक प्राण, तथा प्राणी बुद्धिगम्य व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'वह' है तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्य अस्तित्व व्याख्या से अलक्ष्यता मी प्रतिक्रम ही कलातीत इष्टा मी प्रतिक्रम। अर्थात् 'अज्ञी' ही प्रमाभिस हो रहा है उस अनन्त का। इष्टी प्रतिक्रमता को तद्रूप बना कर बसि ने कहा है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिरूप प्रतिघट्टयाय ।

इन्द्रो मायामिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरय शता दश ॥ (श्रुत्सं० ६।४।१२)

४७८-प्रतिरूपशिन्यात्मक-मनु-इन्द्राभिन्न-मानव की आत्मस्वरूपामिन्नप्रतिरूपता परिपूर्वता—

किन्तु मानव उक्त ही उक्त रूप एवं प्रत्येक रूप उक्त प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानव रूप तबना उस अनन्तकाल का अस्तित्व प्रतिक्रमशिव्य बनाया हुआ स्व स्व स्वस्वामिभक्ति से परिपूर्ण है अतएव 'प्रतिक्रम' है। अतएव इन प्रतिक्रममार्गों में परिणत हो रहा है १, मन्त्र बुद्धिगम्य उक्त-व्याख्या के द्वारा इत् प्ररन का स्माधान कर रहा है। सम्पूर्ण विरव का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रसिद्धित है अतः पूर्णपरिच्छेदों में निस्वार से कठलाया या युक्त है।

४७९-इन्द्र-प्राण-अग्नि-रूपमाम-मायापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महत्त्वमय से जो विरव का मनु रूप अस्तित्व (अक्षरव्यक्तित्व-अक्षररूपीयात्) केन्द्र है वही वीर्ययज्ञस का मी केन्द्र है। अतएव वीर्यकाल को अनन्त-मनु-अस्तित्व-मन्वन्तरकाल का प्रतीक मनु शिष्य है पुराणपुत्र ने (पुराणपाल ने)। और विर्ययज्ञ के अस्तित्व से केन्द्रात्मक मनु रूपमाम-अस्तित्व

* प्रशासितार सर्वेषामाचीयांसमयोरपि ।
रूपमामं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यास्तुल्यं परम् ॥

—मनुः १।१।२२

‘रोपमाणे’ रुदन=साधुपातमार्चनाद कुर्वन्, ‘कदमाणे’ क्रन्दन्=उच्चैः स्वरेण रुदन ‘विलवमाणे’ विलपन्=‘कगतो दारक ? तन्मन्तरेण कीदृशोऽनर्थो भविष्यति किं करोमि ? क गच्छामि ?’ इति जल्पन् देवदत्तस्य दारकस्य सर्वत समन्तान् मार्गणगवेणया करोति कृत्वा देवदत्तस्य दारकस्य कुत्रापि ‘सुइ वा’ श्रुतिं वा=दारकवृत्तान्त ‘सुइ वा’ श्रुतिं वा छिक्काव्यक्त तच्चिह्नम्, ‘पउत्तिवा’ पठत्ति वा=पकटतरवार्ताम् ‘अलममाणे’ अलममानः=अप्रामुख्यं यत्रैव स्वक गृह यत्रैव धन्य सार्यवाहस्तत्रैवोपागच्छति

माणे विलवमाणे देवदिवास्त दारगस्त सञ्वाओ समता मगणगवेसण करेइ) जाकर उसने उस स्थानपर देवदत्त दारक को नहीं देखा—तो रो पड़ा अश्रु पात करता हुआ आर्तनाद करने लग गया जोर < से चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा, विलाप करने लगा— देवदत्त दारक कहा गया—अप-उसके बिना कैसा अनर्थ होगा, क्या करू—कहाँ—जाऊँ—इस प्रकार षडचक्राने लगा—चाद में उसने उम् देवदत्त की वहां सब तरफ चारों ओर मार्गणा की गवपणा की। (करिचा देवदिन्नस्त दारगस्त कथइ सुइ वा खुइवा पउत्ति वा अलममाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धन्ने सत्यवाहे तेणेव उवागच्छइ) करके जय उसे उस देवदत्त दारक की कोई श्रुति नहीं सुनाई दी, छिक्कादि अव्यक्त चिन्ह भी नहीं ज्ञात हो सका तथा स्पष्ट उसकी किसी बात का पता नहीं पड़ा तो वह जहा अपना घर या— और जहां धन्य सार्यवाह थे— वहां आया (उवागच्छिचा धण्ण सत्यवाह एव वयासी) आकर धन्य सार्य

देवदिन्नस्त दारगस्त सञ्वाओ समता मगणगवेसण करेइ) त्या अधने ते णाणक देवदत्तने नद्धि भेत्या रउवा भाउथे विहाप क्त्वा वाउथे “णाणक देवदत्त कथा जेतो रक्षो ? ते वगर हुवे शु यथे ? शु कडु ? हुवे कथा जठ ? ‘आ प्रभावो ते दु भी धधने विचार क्त्वा वाउथे त्थार पछी तेरो येमेर णाणक देवदत्तनी तपाय करी अने शोध करी (करिचा देवदिन्नस्त दारगस्त कथइ सुइ वा खुइवा पउत्तिवा अलममाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धन्ने सत्यवाहे तेणेव उवागच्छइ) शोध क्त्वाभा ज्थाहे तेने देवदत्तनी रउवा वगेरेने अवाज तेमज छीक वगेरेनी अव्यक्त ध्वनी सुभण्णं नद्धि अने णाणकने केध पखु रीते पत्तो भेणवी शकथे नद्धि त्थारे ते ज्था तेतु धर हतु अने धन्य सार्यवाह हुत्ता त्या आउथे (उवागच्छिचा धण्ण सत्यवाह एव वयासी)

४७७—शाश्वतब्रह्ममूर्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव' का सस्मरख—

स्वमुख मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक अश्लिष विरव में महान् है जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठाश्लिष बुद्धियोगनिष्ठा पर ही संकलान्वित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठ का ? एकप्रकार उत्तर है वह 'मनु' वरुण, जो शाश्वतब्रह्ममूर्ति 'श्रीवलीवन्-ग्रन्थमनी रूप हृद्यतल से अभिन्न है। केन्द्ररूप-शाश्वतब्रह्मरूप मनुतल सम्पूर्ण विरव में निरवेशरप्रवापति तथा तद मनु, तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो स्थली में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिम्पक है। हृद्य मनु का वही रूप 'बह' अर्थात् है एवं उसी हृद्य 'मनु' का अमुक-माणी-रूप 'यद्' कहलाया है, जोकि 'यद् अमुक' इस मनु की अभि-भक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उद्यम अश्लिषरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तरात्मक है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका अश्लिषरूप अनन्तरात्मक अनन्तरात्मक अभिम्पक प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रवापतेर्नेविष्टम्' ही मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एव एत एवयावत् प्रतीक-अनुकप्रतिरूपात्मक प्राण तथा प्राणी बुद्धिगम्य व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अहं' है जो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्य अश्लिष अस्मत् से अलङ्कारा मी प्रतिक्रम तो कालातीव हृद्य मी प्रतिक्रम। अर्थात् 'अहं' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इन्ही प्रतिक्रमता को लक्ष्य बना कर बर्णन ने कहा है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिक्रमं प्रतिचक्षयाय ।

इन्द्रो मायामि पुरुरूप ईयते युक्ता हस्य हरयः शता दश ॥ (अहं० ६१७०।१८)

४७८—प्रतिरूपशिल्पात्मक—मनु-इन्द्राभिन्न—मानव की आत्मस्वरूपामिष्पकिस्यपूर्ण परिपूर्वता—

जिधनें मानव उधनें ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उठका प्रतिक्रम। अर्थात् प्रत्येक मानवका लक्ष्य बना उस अनन्तरात्मक का सर्वात्मक प्रतिक्रमशिल्प बनता हुआ स्व स्व स्वरूपामिष्पक से परिपूर्ण है, अर्थात् 'प्रतिक्रम' है। और इन प्रतिक्रममात्रों में परिष्कृत हो रहा है, मन्त्र बुद्धिगम्य अहं-अस्मत् के हृद्य एव प्ररन का उभाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विरव का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है जिनमें पूर्णपरिष्करी में विस्तार से बलवान्ता का पुत्र है।

४७९—इन्द्र-प्राण-अग्नि-रूपमाम-मात्रापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महद्भाग्य से जो विरव का मनुकम अलात्मक (अक्षरधृतिरूप-अणोरपीयात्) केन्द्र है वही औरमण्डल का मी केन्द्र है। अतएव औरमण्डल को अनन्त-मनु-अलात्मक-मन्वन्तरात्मक का प्रतीक मान लिया है पुण्यपुण्य ने (पुण्यपुण्य ने)। और हिरण्यतेज के अन्वय से केन्द्रात्मक मनु 'रूपमाम' अर्थात्

प्रशासितार सर्वेषामग्नीयांसमञ्चोरपि ।

रूपमामं स्वप्नधीमाम्यं तं विधात्युर्लभं परम् ॥

—मनुः १२।१२२

धन्यकदासचट्टस्य एतमथ श्रुत्वा नशास्य तन च महता पुत्रशोकन
 'अभिभूए' अभिभूत = आक्रान्त सन् 'परसृणियत्तेव' परशुनिकृत् इव
 परशुना = कुठारण निकृत् = टिन चपगपायवव चम्पकादय इव = चम्पक
 वृक्ष इव घमन्ति धरणीयलमि 'स' इति शब्दन भूमितले मन्वगेर्हि
 मर्वाङ्गै सन्निवडए' सन्निपतित । तत न्वन्तु स घन्य सार्थवाह 'ततो
 मुहुत्तरस्स' ततो मुहूर्तान्तरस्य = मुहूर्तस्य पश्चान् मुहूर्तानन्तरमित्यर्थ
 'आसत्थे' आश्वस्थ आश्वस्तो वा = वासवेष्ट 'पच्छागयपाणे' पश्चादाग
 तपाण = पूर्व मृतपाण इव भूत्वा पुनर्जागरितपाण सन् द्वादत्तस्य दारकस्य
 'मन्वभो समता' सर्वत समन्तान् = सर्वासु दिशासु मार्गागवेपग करोति,

आदि में ढाल दिया है । इस प्रकार वह कर वह धन्य सार्थवाह के
 पैरोंपर गिर पड़ा । (तएण से धन्ने सत्यवाह पययदासचेडयस्स एयमद्द
 सोच्चा णिसम्म तेणय महया पुत्तोसोणणा भिभूए समाणे परसृणियत्ते चपगपायवे
 घसत्ति धरणीतलमि सन्वगेर्हि सन्निवडए) इस प्रकार यह धन्य सार्थवाह
 पाथक दासचेटक से इस अर्थ-समाचार-का सुनकर और उसे इत्य में अघ
 घृतकर उस महान् पुत्र शोक से युक्त होता हुआ परशु कुठार से काटे गये चपक
 वृक्षके समान समस्त अर्गों से इकदम जमीन पर गिर पड़ा । (तएण
 स धन्ने सत्यवाहे ततो मुहुत्तरस्स आसत्थे पच्छागयपाणे
 देवदिन्नस्स दारगस्स सन्वभा समता मग्गणगवेसण करेइ) बाद में
 वह धन्य सार्थवाह १ मुहुत् के बाद आश्वस्त हुआ ऐसा उस समय
 मालूम हुआ कि मानों इसमें प्राण झूटकर पुन आ गये हैं—
 अपने पुत्र देवदत्त की सब तरफ चारों दिशाओं में मार्गणा गवेपणा

तेन अपहरणं कथं छि अथवा आणकने डाँठ हुंटे आड वगेरेभा इकी वीधे छि
 आ रीते कहेता ते धन्यसार्थवाहना पजे पडथे (तए ण से घण्णे सत्यवाहे
 पययदासचेडयस्स एयमद्द सोच्चा णिसम्म तेणय महया पुत्तोसोयेणाभि
 मूये समाणे परसृणियत्तेव चपगपायवे घसत्ति धरणीतलमि सन्वगेर्हि
 सन्निवडए) आ प्रभावे धन्य सार्थवाहे पाथकदास चेटकना भेटिथी अथी विगत
 साक्षणीने तेने अशावर हृदयभा धारलुक्कीने महान पुत्रशोकथी पीडते। कुडा-
 वीथी क्षपेता अथाना वृक्षनी नेम ते पृथ्वी उपर पडी अथे, (त एण से घण्णे
 सत्यवाहे ततो मुहुत्तरस्स आसत्थे पच्छागयपाणे देवदिन्नस्स दार
 गस्स सन्वभो समता मग्गणगवेसण करेइ) त्थार आड अेक सुद्धव
 पडी धन्य सार्थवाह आनभा आव्ये। ते वपते आङ्गे कुरी तेव्येभा प्राणतु सय
 यथु डोय तेम धान्यु अिसे यधने ते पोताना पुत्र देवदत्तनी चोमेर तपास

४७७-शाश्वतब्रह्ममूर्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सबसे पहले मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक विरव में महान् है, जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा पर ही आवश्यक है। क्या अर्थ है हम केन्द्रनिष्ठा का ई, एकमात्र उपर है वह 'मनु' तत्त्व भी शाश्वतब्रह्ममूर्ति 'श्रीब्रह्मीयम्-ब्रह्मयमना रूप इत्यतल से अभिन्न है। यह केन्द्ररूप-शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विरव में विरबेवप्रवापति, तथा तद मन् तद्रूप अमुक प्राकृत प्राप्ती इन दो स्थलों में ही पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। इय मनु का वही रूप 'बह' कहलाया है एवं उसी इय 'मनु' का अमुक-माणी-रूप 'यह' कहलाया है, जोकि 'यह अमुक' इस मनु की अभिव्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह 'मनु' है, उक्त कालिकरूप मन्वन्तपरमक अनन्तकाल है तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है एवं उक्त कालिकरूप अनन्तकालात्मक इत्यत्र अभ्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेत्रिष्ठम्' ही मानव की उत्पत्ति का महान् मूल है। एवं इतर ब्रह्मवाक् प्रतीकालक-अनुरूपमित्यन्त्यात्मक प्राण तथा प्राणी बुद्धिगम्या म्यास्यापेक्षया उस अनन्त क 'अज्ञ' है तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या कालिक म्यास्या से कालात्मा भी प्रतिक्रम, तो कालातीत इत्यपि भी प्रतिक्रम। अर्थात् 'अज्ञ' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिक्रमता की लक्ष्य बना कर भक्ति ने कहा है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिक्रमं प्रतिचक्ष्वाय ।

इन्द्रो मायामिः पुरुरूप ईयते युक्ता अस्य हरयः शता दश ॥ (श्रुत्सं० ६।४।१।२८)

४७८-प्रतिरूपमित्यन्त्यात्मक-मनु-इन्द्राभिन्न-मानव की आत्मस्वरूपामिष्यकिञ्चमूला परिपूर्वता—

किन्तु मानव उठने ही उसके रूप एवं प्रत्येक रूप उठका प्रतिक्रम। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप उठने केना उस अनन्तकाल का कालिक प्रतिक्रमित्यन्त्यात्मक बनता हुआ स्व स्व स्वस्वनामिष्यकि से परिपूर्व है अतएव 'प्रतिक्रम' है। क्विन इन प्रतिक्रममात्रों में परिष्कृत ही रहा है ई, मन्त्र बुद्धिगम्या चक्ष-म्यास्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विरव का जो केन्द्र है वही केन्द्रात्मक मनु प्रतिक्रियत है जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में किन्तु से बतलाया जा चुका है।

४७९-इन्द्र-प्राण-अग्नि-रूपमात्र-मात्रापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

जो मद्भूम्या से जो विरव का मनु रूप कालात्मक (अब्रह्मण्डलिक-अयोरीशीयान्) केन्द्र है वही क्षेत्रब्रह्म का भी केन्द्र है। अतएव क्षेत्रब्रह्म को अनन्त-मनु-अलायक-मन्त्ररूपक का प्रतीक मान लिया है पुराणपुराण ने (पुराणशास्त्र ने)। और हिरण्यकेशि के लक्षण से केन्द्रात्मक मनु 'रूपमात्र' कहलाया

✽ प्रशासितारं सर्वेषामशीपांसमखोरपि ।

रूपमात्रं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्सुखं परम् ॥

—मनु १।२।२२

गतया किम् पुनर्दर्शनतया=अयमुत्सुम्यरपुष्पवत् ध्वजगाचरतया दुर्लभ
किं पुनर्दर्शनेन तस्य नाम श्रवणमपि दुर्लभ वर्तते दर्शनस्य का कथे
नि भाव । तत खलु=एकदा सा भद्रा भार्या देवदत्त दारक स्नातं
सर्वालङ्कारविभूषित पाण्यकस्य हस्ते ददाति यावत् पादपतितस्तन्मम निवे-
दयति तत्=वस्मात् कारणात् इच्छामि खलु हे देवानुपिया देवदत्तस्य
दारकस्य सर्वत्र समन्तान्मार्गगवेषणं कर्तुम् । तत खलु ते नगर

पासण्याए) हे देवानुपियो ! सुनो ! भद्रा भार्या की कुक्षि से उत्पन्न
हुआ देवदत्त नामक मेरा एक पुत्र है जो विशेष इष्ट यावत् उदुवर
पुष्प के समान सुनने के लिय भी मुझे दुर्लभ था । उसके वेगने
को तो पात ही क्या है (नएण सा भद्रा देवदिन्नं दारयं ष्ठाय सञ्चाल-
लङ्कारविभूषित पयगस्त हत्ये दलाइ) उस देवदत्त दारक को भद्रा भार्याने
स्नान करा कर और समस्त अलंकारों से विभूषित कर पांथक के
हाथम दिया । (जाव पायपट्टिए त मम निवेदेइ) वह उसे गोद में
लेकर क्रीडा के लिये राजमार्ग छे गया साथ में और भी कई बालक
वालिकाये थीं--उसने वहाँ जाकर उसे एक तरफ एकान्त स्थान में
रख दिया और स्वयं उन बालक बालिकाओं के साथ खेलने लग गया ।
थोड़ा समय बाद जब वह वहाँ आया तो क्या देवता हैं कि वहाँ देवदत्त
नहीं हैं आकर उसने मेरे पैरों में पडकर मुझसे यह समाचार
निवेदित किया है । अतः (इच्छामि ण देवानुपिया ! देवदिन्नदारगस्त
सञ्चओ समता मगणगवेषण काउ) अतः मैं चाहता हूँ कि हे देवा

भारी पत्नी भद्रान्ना उदरधी अन्नेवी देवदत्त नामे भारे पुत्र हुतो । ने भने बहु अ
धु हुतो । तेने ओवानी वात तो दूर रही पखु उदुवरना पुष्पनी नेम तेतु नाम अणव
पखु अणव अण हुतु (नएण सा भद्रा देवदिन्न दारयं ष्ठाय सञ्चालकार-
विभूषित पयगस्त हत्ये दलाइ) देवदत्तने भद्राभार्यां अण नवअवीने अण भारेअ
अधी अणव अण अणो अने पाथकने सेांथे । (जाव पायपट्टिए, त मम निवेदेइ)
आणकने ते डेउमां अणने शञ्भाणं उपर रमाअण अण गणे तेनी आणे अण
आणके अने आणाअणे हुती त्यां अणने तेअ आणक देवदत्तने अण तरअ अण
दीधे अने अते ते अण आणकेअनी आणे रमतमा पडी गये । अण वअत पडी
अणने ते त्या आणे त्या अणके देवदत्त तेने अणने नहि । भारी पासे आवीने
तेअ आ अधी वात अरी छे (इच्छामि ण देवानुपिया ! देवदिन्न
दारगस्त सञ्चओ समता मगणगवेषण काउ) हु अणु छे डे आणक देव

रेखाङ्गनों पर अवधानपूर्वक सख्य वीक्षित, तिन में (॥) इस रूप से प्रतिस्मृता का सम्भव्य हुआ है।

प्रतिस्मृतिस्थापक द्वितीय रेखाङ्गनों में पूर्व के (इस अक्षरवृत्त का तो क्या अर्थ है ?, उत्तर के) इस

अक्षरवृत्त का क्या अर्थ है ? एतन्वया अर्थ है पूर्व-उत्तर-भावात्मिका (॥) इस तमसि च !। सम्भव

वीक्षित । अपनी दाम्पत्यप्रथा से ही इस प्रस्तावकी का पूर्वभावात्मक (इस अक्षरवृत्त का अर्थ है मानव)

उत्तरभावात्मक पूर्व-अक्षर के पूरक (इस अक्षरवृत्त का अर्थ है 'मानवी' एतन्वया (१।२) इन दोनों

पूर्वोत्तरवृत्तों की समन्वित्वात्म्यरूप पूर्ववृत्त का अर्थ है मानव-मानवी-का 'दाम्पत्य' । अक्षरवृत्तानुसंध से पूर्वाभावात्मक-पूर्वप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव-वृत्त-सम्बन्धकारात्मकत्व से अक्षरवृत्तानुसंध बनता हुआ 'अक्षरवृत्त' है प्रतिस्मृता है प्रतिरूप की पूर्वात्मिका है आचार-प प्रतिस्मृता है । इसके शेष अक्षरवृत्तानुसंध-अक्षरवृत्त की पूर्ति अक्षरवृत्तानुसंध मानवी से ही हुई है जो कि मानव का प्रतिस्मृता है, इसकी उत्तरात्मिका है आधेवरूप प्रतिस्मृता है ।

४८३-सौर-धान्य-सम्बन्धकारवृत्तद्वयी से सम्प्रभा कृतरूपा मानव-मानवी की दाम्पत्य रूपा प्रतिरूपता, एवं तदनुगता वंशानुगविलक्षणरूप-रूप-भावात्मिका महिमाम्बिता प्रतिरूपता—

इन दोनों वृत्तों, दोनों अक्षरवृत्तों के सम्भव से ही मानव की प्रतिरूपता पूर्वोत्तरवृत्तानुसंध पूर्वोत्तरवृत्तानुसंध बनती है, और यह दाम्पत्यवृत्त-पूर्व-प्रतिरूपता (मानव, और मानवी का दाम्पत्यरूप गृहस्थाश्रम) ही अनन्तवृत्तानुसंध पूर्व-प्रतिरूपता की अभिव्यक्ति बनती है । और धार्मिक-परिवर्तनानुगता इत्यन्त्या दाम्पत्यपरिपूर्णा (जो कि उत्तरवृत्तानुगता उत्तरवृत्त की प्रवर्धिका बनती हुई वंशानुगतिरूप से प्रतिस्मृता की उत्तरवृत्तानुसंध धार्मिकरूप से अभिव्यक्ति बनती हुई-रूप-रूप-प्रतिरूपता 'बभूव' का अक्षरवृत्त परिवर्तन करती रहती है) मानवेतर किसी भी स्त्री में नहीं है ।

४८४-मानवेतरसर्गानुसन्धिनी अज्ञादज्ञापूर्वा प्रतीकता, एतन्वया प्रतिरूपभावात्मिका, गृहस्थधर्मनिबन्धना मानवीय-दाम्पत्य की अक्षरवृत्तानुसंध अनन्तपूर्वता-सदृश-प्रतिरूपता का समन्वय—

यहाँ की धनुस्मृतिस्थापिका प्रतीकता 'शरीरेण शरीरोत्पत्ति'—'प्राणान्-माहोवृत्त'—'अज्ञानं सम्भवति' इत्येव तत्रैव परिसम्पत्ता है । अर्थात् मानवेतर उक्त मानव, तथा प्राणीसर्व में उत्तरवृत्त का

यत्र भग्नकृत्प्रपापागच्छन्त, उपागत्य देवदत्तस्य दारुस्य शरीरक
निष्प्राण निश्चेष्ट जीवविप्रत्यक्त पश्यति इष्टा 'हा ! हा ! भहो ! अकञ्ज'
हा ! हा ! अणे अकार्यम्=अनिष्ट मजातम् ? अनिकृशा=इति प्राच्य दारुत
२। क भग्नकृपात् उत्तारेति' उत्तारयन्ति=वह्निर्निष्काशयन्ति उत्तार्य घन्यस्य
सार्थवाहस्य हन्ते ददति ॥४८॥

मूलम्—तए ण ते नगरगुत्तिया विजयस्स तकरस्स
पयमग्गमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छति
उवागच्छिता मालुयाकच्छय अणुपविसति अणुपविसिता विजय
तकर मसक्ख सहोढ सगेवेज्ज जीवग्गाह गिण्हति गिण्हिता अट्टि-
मुट्टिजाणुकोप्परपहारसभग्गमहियगत्त करेति, करित्ता अवउडग
वधण करेति कारत्ता देवदिन्नस्स दारगस्स आभरण गेण्हति गेण्ह

(पडिनिक्खमिक्खा जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव भग्गकूपए तेणेव उवागच्छइ)
निकल रर व फिर वहा भाये जहा यह जीर्ण उधान और वड भग्गकूप
था। उवागच्छिता देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरग निष्पाण निश्चेष्ट जीव
विप्पजड पासति पासिता हा हा अहो अकञ्जमिति कहुं देवदि न दारग
भग्गकूवाओ उत्तारेति उत्तारिता घण्णस्स सत्थवाहस्स हत्थे दलयति) आकर
के उन लोगाने देवदत्त दारु के शरीरको निष्पाण निश्चेष्ट और जीव
से विप्रमुक्त देखा देवकर "हाय हाय यह महान् अनर्थ हुआ" इस प्रकार
कहकर देवदत्त दारु को उस भग्नकूप से बाहर निकाला। बाहर निकाल
कर फिर उसे घन्य सार्थवाह के हाथ में सौंप दिया। सूत्र ॥ ८ ॥

शोध करवा राजगृह नगरनी बहार नीकल्या (पडिनिक्खमिक्खा जेणेव जिण्णु-
ज्जाणे जेणेव भग्गकूपए तेणेव उवागच्छइ) बहार नीकलीने तेणे इत्था
इत्था लुलु उधान तेभज भज्ज इवान्नी पासि आव्या. (उवागच्छिता देवदिन्नस्स
दारगस्स सरीरग निष्पाण निश्चेष्ट जीवविप्पजड पासति पासिता हा हा
अहो अकञ्जमिति कहुं देवदिन्न दारग भग्गकूवाओ उत्तारेति उत्तारिता घण्णस्स
सत्थवाहस्स हत्थे दलयति) त्या तेणेणे पाणक देवदत्तना शरीरने निष्पाण,
निलुव अने निश्चेष्ट लेधु अने लेधुनि "अरे ! अरे ॥ अहु जोहु ययु " आ
प्रभावे कहीने तेणेणे पाणक देवदत्तना शरीरने भज्ज इवाभाधी बहार कडयु
बहार कहीने घन्य सार्थवाहने ते शरीर सोपी दीधु ॥ सूत्र ॥ ८ ॥

रेखाङ्गनों पर अथवा नपूर्वक लक्ष्य दीक्षिण, चिन में () इस रूप से प्रतिक्रिया का समन्वय हुआ है।

प्रतिक्रियाशियात्मक द्वितीय रेखाङ्गनों में पूर्व के () इस अर्थ हुआ का तो क्या अर्थ है ?, उत्तर के () इस

अर्थ हुआ का क्या अर्थ है ?, एम क्या अर्थ है पूर्व-उत्तर-मात्रात्मिक () इस समष्टि का ?। समन्वय

कीक्षिण ! अपनी दाम्पत्यप्रका से ही इस प्ररतात्मकी का । पूर्वमात्रात्मक () इस अर्थ हुआ का अर्थ है 'मानव'

उत्तरमात्रात्मक पूर्व-अर्थ के पूरक () इस अर्थ हुआ का अर्थ है 'मानवी' २

पूर्वोत्तरात्मी की समन्वयवस्थात्मक पूर्वाहुत का अर्थ है मानव-मानवी-का से पूर्वाकारात्मक-पूर्वप्रतिक्रिया बनता हुआ भी मानव हुआ 'अर्थ हुआ' है प्रतिक्रिया है प्रतिक्रिया की पूर्वावस्था है अर्थ हुआत्मक-अर्थकार की पूर्ण अर्थ हुआत्मिक मानवी से ही है, इच्छी उत्तरात्मक है आधेयक प्रतिक्रिया है।

**४८३-सौर-बान्द्र-सम्बत्सरशुक्लद्वयी से सम्पन्ना
रूपा प्रतिक्रिया, एवं तदनुगता
निवृत्ता प्रतिक्रिया—**

इन दोनों शुक्ली द्वीनी सम्बत्सरद्वयों के समन्वय से ही पूर्वात्मककारात्मिक बनती है और यह साम्बत्सरी-पूर्वा-पहराभन) ही अनन्तकारात्मिकता पूर्वा-प्रतिक्रिया की श्रमभूता दाम्पत्यपरिपूर्वा (जो कि सन्तुष्टानुगता ही प्रतिक्रिया की अन्तस्त्रियेण भावनात्मिकरूप से अभिविज्ञान अकारणः परिहार्य करती रहती है) मानवेतर किन्ती भी अर्थ म

**४८४-मानवेतरसगानुपन्विनी अज्ञादज्ञावृत्त्या
गृहस्थधर्मनिबन्धना मानवीय-दाम्पत्य
प्रतिक्रिया का समन्वय—**

वही ही अनुस्मरणशियात्मिक प्रतीकता 'शरीरेण ज्ञान् सम्भवति' श्लेष तरेव परिष्कृत है। अतएव मानवेतर उक्त

चरणचिह्न अणुगच्छमाणा' अनुगच्छन्तो यत्रव मालुकाक्षकम्तत्रोपागच्छांत,
 उपागत्य मालुकाक्षकमनुप्रविशन्ति, अनुप्रविश्य विजय तस्कर ससक्खं ससाक्ष्य
 समाप्तिमित्यर्थ 'सहोद सहोद=समाप चौपापहनवस्तुमरित दयदत्तदार
 फाट्काग्युक्तमित्यर्थ, 'सगेवेज्जा' सग्रेवयस=श्रीवाचन्यनसहित गल्वन्धन
 चद्ध गले रज्जु वद्धेत्यर्थ, त 'जीवगाह' जीवगाह=जीवन्त गिह्वति' गृह्णन्ति'
 गृहीत्वा अट्टिमुट्टिजाणुकोप्परपहारसभगमहियगत' अस्थिमुट्टिजानुकूर्परप्रहार
 समग्न मथितगात्रम् अस्थि च मुट्टिश्च जानुनी च कूर्परां च-अस्थिमुट्टिजानुकूर्परा,
 तेषु तैर्वा ये महारास्ते 'सभग' मग्मग्न=चूर्णित महिय' मथित=जर्जरितम्
 'गत' गात्र=शरीर यस्य स त=भग्नसकलशरीरमन्विस्थान कुर्वन्ति कृत्वा
 अवउहगवधण' अत्रकोटस्थन्धनम्-अत्रकाटकेन घाहो शिरसश्च पक्षाद्भागा

तस्करस्स पयमग्मणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छण तेणेव उवागच्छति)
 विजयतस्कर के पाद चिह्नो का अनुमरण करते हुए वहाँ पहुँचे जहाँ
 वह (मालुका काच्छया उवागच्छिता मालुयाच्छय अणुपविसति)
 पहुँचकर वे उसमें घुसे (अणुपविसिता विजय तस्कर ससक्खं सहोद
 सगेवेज्ज जीवगाह गिह्वति) घुसकर उन्होंने उसके गलेमें रस्सी बांधकर जीता
 ही मसाक्ष्य देवदत्त दारक के अलहार रूप साक्ष्य सहित पकड़ लिया। गिह्विता
 अट्टिमुट्टि जाणुकोप्परपहारसभगमहियगत करेति) पकड़कर उन्होंने उसकी
 हड्डियों में मुठियों में घुटनों में, कुहणियों में खूब महार किया--इससे
 उसका शरीर का चूर २ हो गया--जर्जरित हो गया। तात्पर्य यह
 कि उसे इतनी बुरी तरह उन लोगोंने पीटा कि जिससे उसके शरीर
 की समस्त सधियां भग्न हो गईं। (करिता अवउहगवधण, करेति

तस्करस्स पयमग्मणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छण तेणेव उवागच्छति)
 विन्ध्य नामना येरना पगना चिह्णेने अतुसरत्ता भाहुका क्षमा पेडाव्या
 (उवागच्छिता मालुयाकच्छय अणुपविसति अने भाहुका क्षमा पेडा
 अणुपविसिता विजय तस्कर ससक्खं सहोद सगेवेज्ज जीवगाह
 गिह्व ति) पेडीने तेज्याये विन्ध्य नामना येरने ससाक्ष्य अट्टे भाण्ड देव
 दत्तना धरेल्लायेनी साथे व गणाभा येरी भाधीने लुवते व पकडी लीधा
 (गिह्विता अट्टिमुट्टिजाणुकोप्परपहार सभगमहियगतां करेति)
 पकडीने तेज्याये येरना हाडका भूडीये, दीयल्ले अने कोल्लीये उपर पूव प्रहाये
 थ्यां येथी तेनु शरीर शिथिल अने भूका जेपु थई गयु मतलब अे छे तेने
 येथे सुभत मार पडये के येथी तेना शरीरना अधा साधाये त्थी गया.

रक्षाहुनो पर अवधानपूर्वक लक्ष्य दीक्षिष्य, विन मे () इत रूप से प्रतिस्मया का समन्वय हुआ है।

प्रतिस्मयिष्यात्मक द्वितीय रक्षाहुनो में पूर्व के () इस अर्थ इत का वो क्या अर्थ है ? उत्तर के () इस

अर्थ इत का नया अर्थ है ? एवं क्या अर्थ है पूर्व-उत्तर-भावात्मिक () इस समष्टि का ?। समन्वय

कीक्षिष्य ! अपनी साम्प्रदायिकता से ही इस प्रस्ताविका का । पूर्वभावत्मक () इस अर्थ इत का अर्थ है 'मानव'

उत्तरभावात्मक पूर्व-अर्थ के पूरक () इस अर्थ इत का अर्थ है 'मानवी' एवम् (१।२) इन दोनों

पूर्वोत्तरद्वयी की समन्वितवस्थात्मक पूर्वइत का अर्थ है मानव-मानवी-का 'दाम्पत्य' । अस्मत्कालानुक्रम से पूर्वोत्तरात्मक-पूर्वप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव व्यक्त-सम्बन्धकालानुक्रम से अर्थात्तरात्मक बनता हुआ 'अर्थ-इत' है प्रतिस्मया' है प्रतिक्रिया की पूर्वावस्था है आचार्य पर प्रतिक्रिया है। इसके शेष अर्थ इतलक्ष्य-अर्थात्तर की पूर्ण अर्थ इतलक्ष्यता मानवी से ही हुई है जो कि मानव का प्रतिस्मया है, इसकी उत्तरवस्था है आधेवक प्रतिक्रिया है।

४८३-सौर-चान्द्र-सम्बन्धरगुणलक्षणी से सम्पन्न कृतरूपा मानव-मानवी की दाम्पत्य रूपा प्रतिक्रिया, एवं तदनुगता यथानुगतिलक्षणा रूप-रूप-भावात्मिका महिमान्विता प्रतिक्रिया—

इन दोनों इतलक्ष्य, दोनों स्वरूपों के समन्वय से ही मानव की प्रतिक्रिया पूर्वसम्बन्धकालानुक्रम पूर्वोत्तरात्मिका बनती है और वह स्वयं-अर्थी-पूर्णा-प्रतिक्रिया (मानव, और मानवी का दाम्पत्यक गृहस्थाश्रम) ही अनन्तकालानुगता पूर्णा-प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति बनती है। और धार्मिक-परिणामानुगता इत्यन्त्या साम्प्रदायिकपूर्वता (जो कि स्वतन्त्रकालानुगता स्वयं-अर्थी की प्रतिक्रिया बनती हुई यथानुगतिक्रम से प्रतिक्रिया को स्वतन्त्रकालानुगता भाववातिक्रम से अभिव्यक्ति बनती हुई-रूप-रूप-प्रतिक्रिया बगुण' को अक्षरगत परिहार्य करती रहती है) मानवेतर किन्ती भी स्त्री में नहीं है।

४८४-मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अज्ञादज्ञातारूपा प्रतीकता, एवं प्रतिक्रियाभावात्मिका, गृहस्थधर्मनिर्बन्धना मानवीय-दाम्पत्य की अज्ञातीता अनन्तपूर्वता-लक्षणा-प्रतिक्रिया का समन्वय—

यहाँ की अनुक्रमधिव्यक्ति प्रतीकता शरीरेय शरीरोत्पत्ति- 'प्राणान्-प्राणोत्पत्ति' - 'अज्ञात ज्ञान् सम्भवति' रूपेण तत्रैव परिक्रम्यते है। अतः मानवेतर उक्त प्रतीकता तथा प्राणोत्पत्ति में अभिव्यक्ति का

चरणविह्वल अणुगच्छमाणा' अनुगच्छन्तो यत्रव मालुकापक्षकस्तत्रैपोपागच्छात्, उपागत्य मालुकापक्षकमनुप्रविशन्ति, अनुप्रविश्य विजय तस्कर सम्भक्त ससाक्ष्य समाविष्टमित्यर्थ 'सहोद सहोद=समाप चौयापहनवस्तुमहित देवदत्तदार फास्कारपुक्तमित्यर्थ, 'सगेवज्ज' सगैवयव=प्रीवाबन्धनसहित गन्बन्धन पद्म गले रज्जु बद्धेत्यर्थ, त 'जीवग्गाह' जीवग्गाह=जीवन्त गिह्वति' गृह्णन्ति' गृहीत्वा 'अट्टिमुट्टिजाणुकोप्परपहार सभगमदियगत' अस्थिमुट्टिनानुकूर्परमहार सभग्न मथितगात्रम् अस्थि च मुट्टिश्च जानुनी च कूर्परी च-अस्थिमुट्टिजानुकूर्परा, तेषु तैर्वा ये पहारास्तै 'सभग' मन्मग्न=चूर्णित 'मदिय' मथित=जर्जरितम् 'गात्र' गात्र=शरीर यस्य स त=मग्नसकलशरीरमन्त्रिस्थान कुर्वन्ति कृत्वा अवउडगवधण' अवकोटमयन्धनम्-अवकाटकेन बाहो शिरसश्च पश्चाद्भागा

तस्करस्त पयमगमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छति) विजयतस्कर के पाद चिह्नों का अनुसरण करते हुए वहाँ पहुँचे जहाँ वह (मालुका कान्ठया उवागच्छिता मालुयाकच्छय अणुपविसति) पहुँचकर वे उसमें घुसे (अणुपविसिता विजय तस्कर सम्भक्त सहोद सगेवज्ज जीवग्गाह गिह्वति) घुसकर उन्होंने उसके गलेमें रखी बाधकर जीता ही मसाक्ष्य देवदत्त दारक के अलंकार रूप साक्ष्य सहित पकड़ लिया। गिह्विता अट्टिमुट्टि जाणुकोप्परपहारस भगमदियगत करेति) पकड़कर उन्होंने उसकी हड्डियों में मुठियों में घुटनों में, कुहनियों में खूब पहार किये--उससे उसका शरीर का चूर हो गया--जर्जरित हो गया। तात्पर्य यह कि उसे इतनी घुरी तरह उन लोगोंने पीटा कि जिससे उसके शरीर की समस्त सधियां मग्न हो गईं। (करिता अवउडगवधण, करेति

तस्करस्त पयमगमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छति) विजय नामना चोरना पगना चिह्नेने अनुसरता मालुका कक्षमा पहोन्त्या. (उवागच्छिता मालुयाकच्छय अणुपविसति अने मालुका कक्षमा पेक्ष अणुपविसिता विजय तस्कर सम्भक्त सहोद सगेवज्ज जीवग्गाह गिह्वति) पेक्षीने तेज्याये विजय नामना चोरने ससाक्ष्य अट्टे भाणक देव दत्तना धरेत्यायेनी साथे च गणाभा डेरी आधीने लवते च पक्षी वीधा. (गिह्विता अट्टिमुट्टिजाणुकोप्परपहार स भगमदियगत्त करेति) पक्षीने तेज्याये चोरना हाडका भूडीये, दीयेये अने डोषीये उपर भूष प्रहारे ध्यां येथी तेनु शरीर शिथिल अने भूका जेवु धरि गयु मतलब ये छे तेने येवे अथत भार पडये छे येथी तेना शरीरना अथा साधाये त्थी गया

इन सब कालविषयों तथा कालिक-विकृतों का मूलाधारभूत हुए मनुस्त्व, सप्तकुल मानव के 'अहं' रूप अप्राकृत-अलाठीय-स्वरूप को सीमा में ही अन्तर्भूत है। और ऐसे अहं का प्रतिरूप किंवा 'अहं' रूप मानव ही विश्वस्मर के विश्व में देखी जाती विभूति है जिसके सस्वरूपमात्र से मादृश विद्वत्-मानव का क्या हो जाय है ? यह भी तो यह विद्वत् मानव ही जान रहा। कहीं मानव का महतोमहीवान् विभूतिमय अनन्त स्वरूप और कहीं उठी विभूतिराही मानव का यह बुद्धिभ्रमोत्पन्न विस्ते आपादमन्वक आनुग्य कथा हुआ ही यह विद्वत् मानव आब मानव बैठी अनन्तविभूति के उद्बोधन की न केवल पहचान ही कर रहा है अपितु दिग्दराकस्तस्वरूपमीमांसा' नामक महान् कृत का आशय होता हुआ स्वयं अपने विद्वत्-स्वरूप को और भी अधिक विद्वत् ही प्रमाणित कर रहा है।

४८७-वाग्बिभृम्भविस्मृतिपूर्वक-‘अमर्यं वै ब्रह्म, मा मैवीः’ मूलक उद्बोधनघट्ट का प्रति आत्मसमर्पण, एवं अंत मूलधर्तों का स्मरण —

अतएव अन्तर्भोगत्वा अपने इस समस्त वाग्बिभृम्भ को सर्वभूता विस्मृत करते हुए, प्रतिस्व्यात्मक अप्राकृत-भूमिमानव के निम्नलिखित उद्बोधनधर्तों का माह्निक स्मरण करते हुए-‘अमर्यं वै ब्रह्म । मा मैवीः । योऽप्रमादो हि यन्न वयं द्विष्मः’ सं जन्मे वृष्मः । इत् वरदा-अमता-वाणी के समन्वय दिग्दर्शन के अन्वहितोत्तररूप में ही कालधर्तों में प्रस्तुत दिग्दराकालमीमांसा उपरत हो रही है।

- मूलधर्तियाँ
- १-अहंमिद्धि पितृष्वरि मेधाऽनुत्स्य अग्रम ।
अहं सूर्य इषाजनि । (श्रुत् सं० ८।१।१०) ॥
 - २-अहं गर्भेमवयामोपवीष्महं विश्वेषु सुवनेष्वन्तः ।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीयु पुत्राम् ॥
—श्रुत् सं १।१८।१।
 - ३-अहं मनुरमर्षं सूर्यरबाहं कधीषो अषिरस्मि विप्रः ।
अहं कुत्समाजुनेयं न्युष्मेऽहं कविरुना परव्या मा ॥
—श्रुत् सं ४।२।१।

- अनन्तब्रह्म
- ४-स वावस्तान्, स उपरिष्ठान्, स परवान्, स पुरस्तान्, स इक्षिण्यतः,
स उत्तरतः । स एवेदं सवम् ।

- अप्राकृतमानवः (प्रकृत प्रतिरूपः)
- ५-अहमेधावस्तान्, अहमुपरिष्ठान्, अहं परवान्, अहं पुरस्तान्, अहं इक्षि
ण्यतः अहमुत्तरतः । अहमेवेदं सवम् ।

'वनया नाम नन्दर यावद् दृष्ट इवामिपमन्त्री यान् यान्तो याल्मालकोर्जन्
 न्मन्मन्मन्का(लात् नो न्वलु देवानुप्रिया । एतस्य र्जाः राजा वा राज-
 पुत्री वा राजामास्यो वा अवरज्जङ्ग' अपराध्यन्ति=न कोऽप्यन्य एन
 पीड्यन्तीत्यर्थे किन्तु एतद्वे अत्रार्थे=एतद्विषये 'अप्यना' आत्मन =
 निजस्य सयाऽकम्माः' स्वकानि कर्माणि=स्वकृतान्यन कर्माणि भवर-
 त्त्रि' अपराध्यन्ति=एन पीडयन्ति उक्तु' इति प्राच्य एव चारुसाला

एव वधति) राजगृह नगर मे आकरके बहा क श्रुगाटक, अत्रक श्रुवत्
 चत्तर और मशपथ इन सय मागों मे उन्हानि उस विजय चार का
 घोड़ों से चत्ता से चिकने हिय हृण कोडों—से पार गर और भी
 मुी नरह पीटते हृण उसके ऊपर भस्म पूली और तग आदि का
 कडा करकट पार = डालते हृण फिर इम प्रकार जोर जोर से घोषण
 की—(एएण देवानुप्रिया विजय नाम तक्करे जाव गिदे विव आमिप-
 मन्मन्मी याल्घायए वालमारए) हे देवानुप्रियों! यह विजय नाम का
 चोर है। यह दृष्ट पक्षी की तरह आमिप (मांस) का भक्षी है चाल
 यान्त है और चाल मारक है। (त नो न्वलु देवानुप्रिया! एयस्स
 केड राया वा रायपूरिसे वा रायमच्चे वा अवरज्जङ्ग) सो हे देवानुप्रियों!
 इम विषय मे इनका न कोई राजा अपराधी है न राजपुत्र अपराधी है
 राजा का प्रधान अपराधी है। (एयमद्वे अप्यणो सयाऽ कम्म इ
 के निज कृत कर्म ही अपराधी यने हृण हैं।
 जेगामेव चारुसाला तेगामेव उवागच्छति) वे

अने मशपथ आ जथा भागी उपर डेरअ, वेतो
 अणत रीते विनयचोरने भारत आने वारवार
 वगेरे नाणता रक्षकाले भेटेथी घोषणा (ठठर)
 नाम तक्करे जाव गिदे विव आमिम
 देवानुप्रियो! आ विनय नामे चोर छे
 घाती छे अन जाण हत्यारे छे
 हइ राया वा रायपुत्ते वा रायमच्चे
 आ विषे कोडपिछु रीते राज अपराधी
 अनना प्रधान पक्ष अपराधी नथी.
 ति) पक्ष भरी रीते अना योनाना
 तिककट) आभ उडीने (जेगामेव

४८६—स्वानुगत-कारणातीत-अनन्तब्रह्म से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्-
अप्राकृत-अनन्त-स्वरूप, एवं मानव की गुणतमा सवज्येष्ठता-भेष्टता—

अपने प्राकृत स्वरूप से यही महान् प्राकृत मानव वहाँ प्रकृत्या ही स्वरूप से ही श्रद्धि, सुख, सुष्टि समृद्धि, मूसा, आदि आदि अम्युदयमावी से नित्य समन्वित है स्वरूपसेखैव, वहाँ यही मानव अपने अगाहन महतोमहीयान् -महान् प्राकृत स्वरूप से ही मी कहीं महीयान्) स्वरूप से बुद्धि शान्ति तृप्ति आनन्द आभय आदि आदि निःश्रेयस् मावी से नित्य समन्वित है स्वरूप से ही। अपनी इस उमयमाशान्कित स्वरूपता से ही मानव महान् है प्रकृत्या (महद्वृत्तरप्रकृत्या) एवं महतोमहीयान् है प्रकृति से समन्वित, किन्तु प्रकृति से अतीत पुरुषेष्ट (अन्यत्रपुरुषेष्ट)। अन्वयपुरुषात्मक अभय-भाव जिस महतोमहीयान् अप्राकृत मानव की 'स्वरूपप्रतिष्ठा' ही महद्वृत्तर-स्वात्मक प्रकृति-भाव जिस महान् प्राकृत मानव का स्वरूप हो। इहं शब्दों में-अनन्त्या महद्वृत्तरप्रकृति जिस का 'अनन्त-प्राकृत-स्वरूप' हो अनन्त महतोमहीयान् पुरुष जिस का 'अनन्त-पौरुष-स्वरूप' हो, ऐसे प्रकृत्यैव महान्, पुरुषेष्टैव च महतोमहीयान् मानव से अतिरिक्त सच्चामुच ही तो सम्पूर्ण विरव में ओर की ही बंध नहीं है।

४६०—इतर प्राकृत-परिखामात्मक-धार्मिक सगों के समतुल्यन में अप्राकृत-कालातीत प्रमाणित महिमात्मक-मानव-सर्ग की 'महत्ता' के कतिपय प्राकृत निदर्शन—

महत्त्व का इस से अधिक ओर क्या प्रमाण होना कि, वहाँ मानकेतर सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं नष्ट होने के लिए ही वहाँ मानव अपने महान् प्राकृत स्वरूप से अभिष्पृक्त होता है अपने अविनाशी अक्षर अक्षर स्वरूप को अक्षरणा-चरितार्थ करने के लिए ही। मानकेतर प्राणियों का अन्न होता ही है प्रकृति के महत्त्वमात्मक महान् दयक का अनुभवन करने के लिए, वन कि मानव का स्वस्वरूप से आत्मिभाव होता ही है इसी प्राकृत स्वरूप के माध्यम से प्रकृति की वरदा अमया क्षुत्रशुद्ध्या से अर्धकृत्र-स्वकृत्रता-पूर्वक निर्भवत्मेव अभयभाव की अन्वय स्नाने के लिए। मानकेतर प्राकृत (वैश्वरिक्त) प्राणी उत्पन्न होते ही हैं वहाँ प्रकृति के क्षीलाभिलाषात्मक अनुच्छान के लिए, वनकि मानव आनितव होता ही है प्रकृति के क्षीलाभिलाषी से अपने प्राकृतभाव का अनुच्छान करने के लिए। मानकेतर प्राणी ब्रह्मण्य महत्त्व की प्रवर्धिका अक्षरप्रकृति से प्राकृत अक्षरदयक से वहाँ क्या भयतरव वने रहते हैं, वहाँ महान् मानव, महतोमहीयान् मानव इस प्राकृत अक्षरदयकमय को अपने महान् धार्मिक प्राकृत स्वरूप से अभिष प्रमाणित करता हुआ अतएव च इस दयकमय से अपने स्वरूप का सर्वथा ही भयातीत प्रमाणित करता हुआ 'अभय-वै-ब्रह्म' का ही प्रतिस्व बनता हुआ समस्त प्राणियों का 'मा मैयी:—'मा-करिषन्-दुःखभागभवेत्—'सर्वे भवन्तु सुखिनः—'सर्वे सन्तु निरामया' यह आरवाचन ही प्रदान करता रहता है अमयब्रह्मण्य।

४६१—मानवस्वरूप की संयस्त करन वाले आततायी-यग के प्रति धृषिमानव का प्रषण्ड उन्वोष, एवं तच्छ्रयसमात्र से आततायीधर्ग का इद्विकम्पन—

आर वाप ही को इद्विद्वि हिंसक पशुमात्र एवं अगुर यच्छ-निराव-यध-अभ्यदि भाव मानव के इस अमयब्रह्मण्य स्वरूप पर, मानव के हाथ प्राप्त वर से अमयवयनुभव निर्भव प्राकृत प्राणियों के निर्भव-

'रजया नाम तस्कर यावद् दृष्ट इवामिषमक्षी चालप्रातर्को चालमारकोऽस्मि
 तत्=तस्मात्कारणात् नो खलु देवानुप्रिया । एतस्य सर्जः राजा वा राज-
 पुत्रो वा राजामात्यो वा अवरज्जङ्घ' अपराध्यन्ति=न 'कोऽप्य' एन
 पीडयतीत्यर्थे किन्तु एतद्वे अघ्नार्ये=एतद्विषये 'अप्पणा' आत्मन =
 निजस्य सयाऽकम्माइ' स्वकानि कर्माणि=स्वकृता येन कर्माणि अवर
 ज्जति' अपराध्यन्ति=एन पीडयति, 'उरु' इति माच्य यत्रैव चारगसाला

एव वपति) राजगृह नगर मे आकरके वडा क बुगाटक, त्रिक चतुष्
 चत्वर और महापथ इन सब मार्गों मे उन्हाने उम विजय चार का
 कोडों से घातों से चिकने किय दृष्ट कोडों—स चार गार और भी
 घुरी तरह पीटते हुए उसके ऊपर भस्म धूली और तग आदि का
 कूडा करके चार चालते हुए फिर इस प्रकार जोर जोर से घोषण
 की—(एण देवानुप्रिया विजय नाम तस्करे जाव गिद्धे त्रिव आमिष-
 मक्षी चालघायए चालमारए) हे देवानुप्रियों! यह विजय नाम का
 चोर है। यह दृष्ट पक्षी की तरह आमिष (मांस) का मक्षी है चाल
 प्रातर्क है और चाल मारक है। (त नो खलु देवानुप्रिया! एयस्स
 केइ राया वा रायपुरिसे वा रायमच्चे वा अवरज्जङ्घ) मो हे देवानुप्रियों!
 उम प्रिय मे इनका न कोई राजा अपराधी है न राजपुत्र अपराधी है
 और न राजा का प्रधान अपराधी है। (एयमद्वे अप्पणा सयाऽकम्म इ
 अवरज्जति) किन्तु इसके निज कृत कर्म ही अपराधी बने हुए हैं।
 (तिरु) ए-ए कस्कर (जेगामेव चारगसाला तेणामेव उवागच्छति) वे

शुगाटक, त्रिक, चतुष्चत्वर अने महापथ आ जधा मार्गों उपर डेरय, वेतो
 अने शीकषा करानेवा डेरयअथी सभत रीते विजयचोरने भारत अने चारचार
 तेना उपर राभ, भाटी अने कथरे वगेरे नाभता रक्षकअथे मोटेथी घोषणा (ढंढरे)
 धी (एसणु देवानुप्रिया विजय नाम तस्करे जाव गिद्धे त्रिव आमिष
 मक्षी चालघायए चालमारए) हे देवानुप्रियो! आ विजय नामे चोर छे
 गीधनी नेम आ भास भानाथे छे, भाण घाती छे अत भाण हत्यारे छे
 (त नो खलु देवानुप्रिया! एयस्स केइ राया वा रायपुरे वा रायमच्चे
 वा अवरज्जङ्घ) अटके हे देवानुप्रियो! आ विरे डेहिये रीते राज अपराधी
 नहीं, राजपुत्र अपराधी नहीं, तेमने राजना प्रधान पक्ष अपराधी नहीं
 (एयमद्वे अप्पणा सयाऽकम्म इ अवरज्जति) पक्ष भरी रीते अना पानना
 कथे न अने अपराधी अभित करे छे (तिरु) आभ कहीने (जेगामेव

४८६—स्वानुगत—कारसातीत—अनन्तब्रह्म से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्

अप्राकृत—अनन्त—स्वरूप, एवं मानव की गुणतमा सक्ज्येष्ठता—भेष्ठता—

अपने प्राकृत स्वरूप से यही महान् प्राकृत मानव वहाँ प्रकृत्या ही उद्भवत्त से ही श्रद्धि सु
तुष्टि समृद्धि, मूसा आदि आदि अम्युदयमाओं से नित्य सम्न्वित है उद्भवत्तसेयैव वहाँ यही मा
अपने अग्राह्य महतोमहीयान्—महान् प्राकृत स्वरूप से ही मी कही महीयान्) स्वत्वरूप से इति
शान्ति तृप्ति आनन्द अमय आदि आदि निःभेद्यत् माओं से नित्य सम्न्वित है उद्भवत्त
ही। अपनी इस उममभाभान्तिद्य उद्भवत्तत्वा से ही मानव महान् है प्रकृत्या (महद्वृत्तरप्रकृत्या)
महतोमहीयान् है प्रकृति से सम्न्वित, किन्तु प्रकृति से अतीत पुरुषेण (अत्ययपुरुषेण)। अत्ययपुरुषात्
अमय—मात्र कित महतोमहीयान् अप्राकृत मानव की 'स्वरूपप्रतिष्ठा' हो महद्वृत्तर—रूपत्मक प्रकृति
मय कित महान् प्राकृत मानव अ स्वरूप हो। पूर्व शब्दों में—अनन्त्या महद्वृत्त्यकृति कित का 'अ
न्त—प्राकृत—स्वरूप' हो अनन्त महतोमहीयान् पुरुष कित का 'अनन्त—पौरुष—स्वरूप' हो, ऐसे प्रकृत
महान्, पुरुषेयैव च महतोमहीयान् मानव से अतिरिक्त उच्यते ही तो सम्पूर्ण विश्व में ओर ओर मी अ
नही है।

४६०—इतर प्राकृत-परिग्रामात्मक-कालिक सर्गों के समतुलन में अप्राकृत-कालातीत

प्रमाणित महिमात्मक-मानव-सर्ग की 'महत्ता' के कतिपय प्राकृत-निदर्शन—

महत्ता अ इस से अधिक और क्या प्रमाण होगा कि, वहाँ मानवेतर सम्पूर्ण प्राणी उद्वह होते
नह होने के लिए ही वहाँ मानव अपने महान् प्राकृत स्वरूप से अभिव्यक्त होता है अपने अविनाशी अ
अमर स्वरूप को अक्षरता चरितार्थ करने के लिए ही। मानवेतर प्राणियों का कर्म होता ही है प्रकृति के मह
मयत्मक महान् दयक अ अनुवचन करने के लिए, जब कि मानव का स्वस्वरूप से आधिर्माण होता ही
इसी प्राकृत स्वरूप के माध्यम से प्रकृति की वरदा अमया कृत्रन्त्या से अर्थात्-स्वत्वरुपा पूर्वक निर्मरूपे
अमयमय की अन्वय बनाने के लिए। मानवेतर प्राकृत (वैभारिक) प्राणी उद्वह होते ही हैं वहाँ प्रकृति के
लौकिकान्तितात्मक अनुवचन के लिए, जबकि मानव आधिर्माण होता ही है प्रकृति के लौकिकान्तिताओं से
अपने प्राकृतमय का अनुवचन करने के लिए। मानवेतर प्राणी कर्ममय महत्तम की प्रवर्तिका कात्मप्रकृति
से प्राकृत कर्मदयक से वहाँ उदा मयत्तव को रते हैं वहाँ महान् मानव महतोमहीयान् मानव इस
प्राकृत कर्मदयकम की अन्ते महान् कालिक प्राकृत स्वरूप से अभिन्न प्रमाणित करता हुआ अत्यय च इत
द्वद्वमय से अपने स्वरूप को सर्वथा ही अभातीत प्रमाणित करता हुआ अमर—वै अद्य' का ही प्रतिस्
कनता हुआ कर्मल प्राणियों का 'मा मैपीः—'मा—करिचत्—तु—अमाम्मेव'—'सर्वे मयन्तु सुखिना—
'सर्वे सन्तु निरामयः यह अक्षरवाच्य ही प्रमाण करता रहता है अमयत्तवक।

४६१—मानवस्वरूप को सप्रस्त करने वाल आतवापी—वर्ग के प्रति श्रुपिमानव का

प्रचण्ड उद्घोष, एव तच्छ्रवणमात्र से आतवापीवर्ग का हृदयिकम्पन—

और धप ही को उद्घुष्टि दिसक पशुमात्र एवं अमर उद्वह—पिशाच—यच—अग्नादि मात्र मानव के
इस अमयत्तमक स्वरूप पर, मानव के द्वारा प्राप्त कर से अमयत्तमपुत्र निर्मर प्राकृत प्राणियों के निर्मर-

'विजया नाम तस्मिन् यावद् दृष्ट इति मियमक्षी यात्रातको चालमारकोऽस्मि
 तन्=तस्मात्काणान् नो खलु देवानुप्रिया ! एतस्य रुर्जा राजा वा राज-
 पुत्रो वा राजामात्यो वा अवरज्जइ' अपराध्यन्ति=न कोऽप्यन्य एन
 पीडयतीत्यर्थं किन्तु एत्यद्वे भ्रार्थे=एतद्विषये 'अप्पणा' आत्मन =
 निजस्य सयाइ कम्मइ' स्वफानि कर्माणि=स्वकृतान्येव कर्माणि अवर
 ज्जति' अपरायन्ति=एन पीडयति, 'उरु' इति प्राच्य यत्रैव चारगसाला

एव वयति) राजगृह नगर मे आकरके वडा के गुगाटक, त्रिक चतुष्
 चत्वर और महापथ इन सब मार्गों में उन्हाने उस विजय चार का
 कोडों से घटा से चिकने क्रिय हृण कोडों—स चार गार और भी
 घुरी तरह पीटते हृण उसके ऊपर भस्म धूली और तग आदि का
 कडा करकट चार २ डालते हृण फिर डम प्रकार जोर जोर से घोषण
 की—(एण देवाणुप्पिया विजण नाम तस्मरे जाव गिद्धे विव आमिम-
 मक्खी चालघायए चालमारए) इ देवानुप्रिया! यह विजय नावना
 चोर है। यह दृष्ट पक्षी ही तग आमिप (मांस) का भक्षी है चाल
 यात्र है और चाल मारक है। (त नो खलु देवानुप्रिया! एयस्स
 कइ राया वा रायपुरिसे वा रायमच्च वा अवरज्जइ) मो हे देवानुप्रियो!
 डम पिप म इनका न कोई राजा अपराधी है न राजपुत्र अपराधी है
 और न राजा का प्रधान अपराधी है। (एयमद्वे अप्पणो सयाइ कम्म इ
 अवरज्जति) किन्तु इसके निज कृत कर्म ही अपराधी घने हृण हैं।
 (तिरु) पे-१ कहर (जिगामेव चारगसाला तेणामेव उवागच्छति) वे

गुगाटक, त्रिक, चतुष्चत्वर अने महापथ आ जधा भागों उपर डेरथ, वेतो
 अने चिकवा करामेवा डेरथओथी अथत रीते विजयचोरने भारत अने चारचार
 तेना उपर राध, भाटी अने कथरे वगेरे नाभता रक्षकेमे गेटेथी घोषणा (ढठठे)
 करी (एसणु देवाणुप्पिया विजण नाम तस्मरे जाव गिद्धे विव आमिम
 मक्खी चालघायए चालमारए) हे देवानुप्रियो! आ विजय नामे चोर छे
 पीधनी जेभ आ भास जानाछे छे, भाण घाती छे अन भाण डत्यरे छे
 (त नो खलु देवाणुप्पिया! एयस्स कइ राया वा रायपुरिसे वा रायमच्च
 वा अवरज्जइ) ओटवे हे देवानुप्रियो! आ विषे डेरथिपु रीते खल अपराधी
 नहीं, राजपुत्र अपराधी नहीं, तेभर खन्ना प्रधान पक्ष अपराधी नहीं
 (एयमद्वे अप्पणा सयाइ कम्मइ अवरज्जति) पक्ष भरी रीते जेना घेताना
 कयो न अने अपराधी साजित करे छे (तिककट) आभ कहीने (जिगामेव

श्रे, मयाकर्षण श्रे उच्यते चर पुष्पित पस्सवित करता वा खा है और भी अय से इति पर्यन्त स्वयं वही ही एकमात्र मानव ही, महान् मानव ही बुद्धिमान् मानव ही अपने आपको सम्पूर्ण प्राणियों के सम्मिलन में श्रेष्ठ मानने वाला मानव ही तो आब मय के विविध आकर्षण उत्पन्न करता जा रहा है और वही अपने समानधर्मा ही मयाकर्षण के अनक-प्रवृत्त का से यह प्रश्न भी करता जा रहा है कि, 'मानव आज इसप्रकार भयत्रस्त क्यों बनता जा रहा है ? एवं अपने साथ सम्पूर्ण विश्व को भी भयत्रस्त क्यों करता जा रहा है' ? ।

४६४-स्वोत्पन्न मयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानवों के द्वारा अनुदिन मयसम्पर्कभावों का सखन-अनुगमन, एवं तस्मैव मयनिवृत्त्यर्थं प्रश्नों का पारस्परिक आदान प्रदान, और मानवभ्रष्टा का विह्वलनापूर्व-महान् विमोहन—

बिह्वलना एक कर्म-विधा-विधायक-मन्त्र-आततायी-दस्तुयत्न स्वयं विविध मय पर-मयराशियों का सम्मिलन करता हुआ एक इत्थं दम्भुयत्न श्रे उच्यते चर प्रदान करता रहता है ठीक वही रहा आज मानवने अपनी करली है । मय से सभी उन्नत किन्तु काम सभी बेसे ही करते जा रहे हैं बिना मय से इति पर्यन्त परिणाम केवल मय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । इन्का अन्तर मय से परित्राया की है । किन्तु इन्का तो उत खचारण प्राणी की भी ऐसी ही है जो मय से त्राव प्राप्त करने के लिए उपाय ढूँढा करता है । और कमी कमी ऐसा उपाय ढूँढ निकाल लेता है वह प्राणी बिह्वल उपाय से उन्नत सभी कुछ उपाय हो जाता है । अतएव मान लेना पड़ेगा कि, 'इन्का' करना ही कोई पुकार्य नहीं है । क्योंकि इन्का के अग्ररूप प्रयास किए बिना तो इन्काएँ उन्नत नहीं होनामा करतीं । और आज तो मानव मानो मानव से मुकमाद्य में वही प्रश्न कर रहा है कि 'मित्र ! क्या संभव है तुम शिरव में शान्ति के इच्छुक हो ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि, इस शान्ति-मैत्री-साहाय्य-के मूख में तुम किसी अधिक मय की ही योजना का निम्नार्थ करते जा रहे हो' ? ।

४६५-व्याविष विमोहन क सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एव महान् मानव के प्रति तत्सम्बन्ध में प्रयातभाव स किञ्चिद्विष आवेदन—

ऐसा संभव क्यों हो रहा है ? सर्वश्रेष्ठ मी, महान् मी मानव आज क्यों मी मानवस्वरूप के सम्बन्ध में मानव के उदात्त चरित्र के सम्बन्ध में इसकी सर्वश्रेष्ठ मानवता के सम्बन्ध में उदात्त बनता जा रहा है ? क्या आजके लोकचरित्र मानवने अपना तो उन्नतिदिनिपुत्र मानवने अपना तो विज्ञानपुरीय वैज्ञानिक मानवने इन प्रश्नों के वास्तविक-सर्वों की मीमांसा का प्रयास किया है ? किया है करता जा रहा है करता ही रहेगा । क्योंकि मानव अन्तर्गत मानव है महान् है श्रेष्ठम है । अतएव क्यापि हमें तो किसी मी मानवश्रेष्ठ के प्रयास पर कोई मी शक्य नहीं है । अन्तर ही मानव अपनी इस श्रेष्ठता में अग्रप्रयास में एक दिन उन्नत मी होगा ही । और अन्तर ही यह रस ही 'नहि मालुपन्त भेदवर्त हि किञ्चित्' का पुनरुत्पन्न करेगा ही । अपेक्षित है आजके प्रयासों में 'अभिविध' उद्योग । और अन्तः प्रयातभाव से 'विगृह्यशास्त्रमीमांसा' स्वेव वही उद्योग चरित्रमानव के प्रति समर्पित है—उत्तरी महत्त्व का अन्तःकरण से अभिनन्दन करते हुए ही ।

लौ कृत्वा नि=राकृपयन्तीति मयगहिचाइ' मृतफ्रुत्यानि=मृतफ्रिथुस
 मयगिचार्थाण कराति, कृत्वा केगइमालनरग' कनचित्फाअनरेग=कृतिप
 यकाअनन्तरम् अवगयसाए' अवगनशोरु =शोरुकरडिना जानभाप्यामीत् ॥५॥

मूलम्— तएण धणणे सत्थवाहे अन्नया कयाइ लहूसयसि
 ययावराहसि सपलत्ते जाए यावि होत्था, तएण ते नगरगुत्तिय
 धणण सत्थवाह गेण्हति गेण्हित्ता जेणेव चारगे तेणेव उवागच्छति
 उवागच्छित्ता चारग अणुपविसति, अणुपविसित्ता विजएण तक्केरेण
 सद्धिं गगयओ हडिवधण करेति । तएण सा भद्दा भारिया कल्ल
 जाय जलते विउल असण ४ उवक्खवेइ, उवक्खडित्ता भोयणपिडय
 करेइ, करित्ता भोयणाइ पम्बिवइ लछियमुद्धिय करेइ, करित्ता
 एगच सुरभिवरवारिपडिपुन्न दगवारय करेइ, करित्ता पथय दास
 चेइ सदावेइ, सदावित्ता एव वयासी गच्छ ण तुम देवाणुप्पिया
 इम विउल असण ४ गहाय चारगसालाए धणणस्त सत्थवाहस्त
 उवणेहि, तएण से थए दासचेइए भद्दाए सत्थवाहीए एव बुत्त
 समाणे हट्टुट्टे त भोयणपिडय त च सुरभिवरवारिपडिपुन्न
 दगवारय गेण्हइ, गेण्हित्ता सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ,
 पडिनिक्खमित्ता रायगिहे नगरे मज्झ मज्झेण जेणेव चारगसाला

इसम बहुत अधिक जन समूह मम्मिलित हुआ था । (करित्ता बहूइ ला
 या मयगहिचिचाइ करइ, करित्ता कालतरण अवगयस ण जाए यावि होत्था)
 पाइ में उमन अनक और भी लौकिक कृत्य क्रिये । कर के, फिर
 धीरे - धरे अपने पुत्र के शोक से भी रहित हो गया । मूत्र ॥ ९ ॥

नयात्रभा धषा भाषुसे अेकध थया इत्ता (करित्ता बहूइ लोइयाइ मयगहि
 चार करेइ करित्ता कालतरण अवगयसोएजाए यावि होत्था) त्थारपधी धन्य
 सार्थवाहे पुत्रनी अन्त्येधी भरषु पधीनी उत्तर द्विया अणधी धषा लौकिक
 कर्मो क्यो अने आभ ते वअत पन्नार थत्ता धीमे धीमे पुत्र शोकने पषु भूवी गये ॥ सू. ६ ॥

को भवाकर्षण को उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित करता जा रहा है और यी अथ से इति पर्यन्त स्वयं यही ही एकमात्र मानव ही, महान् मानव ही, बुद्धान् मानव ही अपने आपकी सम्पूर्ण प्राणियों के समग्रेशन में श्रेष्ठ मानने वाला मानव ही तो आब मय के विविध आकर्षण उत्पन्न करता जा रहा है और वही अपने समानघर्मा ही भवाकर्षण के जनक-प्रवच को से यह प्रश्न भी करता जा रहा है कि 'मानव आज इसप्रकार भयत्रस्त क्यों बनता जा रहा है ?, एवं अपने साथ सम्पूर्ण विरथ को भी भयत्रस्त क्यों करता जा रहा है ? ।

४६४-स्योत्यन्न मयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानवों के द्वारा अनुदिन मयसम्पर्कमात्रों का सर्जन-अनुगमन, एवं तत्सद्वैव भयनिवृत्त्यर्थ प्रश्नों का पारस्परिक आदान प्रदान, और मानवभ्रष्टा का विदम्बनापूर्व-महान् विमोहन—

विरथप्रकार एक क्रूरकर्मा-हिंसावृत्तिपरकण-मधयव-आतवायी-दस्युराव स्वयं विविध मय पर-म्पराओं का सर्जन करता हुआ एक दसरे दस्युराव को उत्सोचन प्रदान करता रहता है ठीक वही दसरा आब मानकने अपनी करती है । मय से उमी उत्पन्न किन्तु काम उमी जैसे ही करते जा रहे हैं बिनका अथ से इति पर्यन्त परिणाम केवल मय' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । इच्छा अथय मय से परित्राण की है । किन्तु इच्छा तो उस खवारण प्राणी की भी ऐसी ही है जो मय से प्राप्त करने के लिए उपाय ढूँढ करता है । और उमी उमी ऐसा उपाय ढूँढ निकाल लेता है वह प्राणी जिस उपाय से उत्पन्न उमी कुछ समाप्त हो जाता है । अतएव मान लेना पड़ेगा कि, 'इच्छा' करना ही कोई पुरकार्य नहीं है । क्योंकि इच्छा के अनुरूप प्रयास किए बिना तो इच्छाएँ उच्छन्न नहीं होनाया करतीं । और आब तो मानव मानो मानव से मुक्तमात्र में वही प्रश्न कर रहा है कि 'मित्र ! क्या संभवुच तुम विरथ में शामिल के इच्छुक हो ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि, इस शान्ति-मैत्री-सहायित्व-के मूल में तुम किसी अधिक मय की ही योजना का निर्माणा करते जा रहे हो' ? ।

४६५-तथाविध विमोहन के सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एवं महान् मानव के प्रति तत्सम्बन्ध में प्रणतभाव से किञ्चिदिव आयेदन--

एला उक्तक्यों ही रहा है ? । सर्वश्रेष्ठ भी महान् भी मानव आब क्यों यों मानवस्वरूप के सम्बन्ध में मानव के उदात्त चरित्र के सम्बन्ध में इसकी सर्वश्रेष्ठ मानकता के सम्बन्ध में शङ्काशील बनता जा रहा है ? । क्या आबके लोकचतुर मानकने अथवा तो राजनीतिनिपुण मानकने अथवा तो विद्वानपुण वैज्ञानिक मानकने इन प्रश्नों के वास्तविक-उत्तरों की मीमाणा का प्रयास किया है ? । किना है करता जा रहा है करता ही रहेगा । क्योंकि मानव अन्तर्लोकता मानव है महान् है श्रेष्ठतम है । अतएव कदापि हमें तो किसी भी मानवश्रेष्ठ के प्रयास पर कोई भी शङ्का नहीं है । अथय ही मानव अपनी इस सदृष्टता में सन्प्रयास में एक दिन उच्छन्न भी होगा ही । और अथय ही यह स्वयं ही 'नहिं मस्तुपात् भ्रष्टतरं हि किञ्चित्' का पुनरावचन करेगा ही । अपेक्षित है आबके प्रयासों में 'कामिचित्' उद्योग । और अन्ततः प्रणतभाव से 'विगृह्यश्रममीमांसा' रूपेण वही उद्योग विरथमानव के प्रति समन्वित है—उत्तरी महत्वा का अन्तःकरण से अभिनन्दन करते हुए ही ।

अवक्रमित्ता उच्चारपासवण परिट्टवेइ, तएण से धणणे सत्थवाहे
 विजएणं तकरेण एव बुत्ते समाणे तुसिणीए सच्चिट्टेइ, तएण से
 धणणे सत्थवाहे मुहुत्ततरस्म वलियतरांग उच्चारपासवणेण उट्वाहिज्ज
 माणे विजय तकर एव वयासी—एहि ताव विजया ! जाव अव
 क्रमामो, तएण से विजए धणण सत्थवाह एव वयासी—जइण
 तुम देवाणुप्पिया । तओ विउलाओ असण० ४ सविभाग करेहि
 तओह तुच्चेहिं सद्धि एगत अवक्रमामि, तएण से धणणे सत्थवाहे
 विजय एव वयासी—अहणण तुच्चे तओ विउलाओ असण० ४
 सविभाग करिस्सामि, तएण से विजए धणणस्स सत्थवाहस्स एय
 मट्ट पडिसुणेइ, तएण से विजए धणणेण सद्धि एगते अवक्कमेइ
 उच्चारपासवण परिट्टवेइ, परिट्टवित्ता आयते चोम्बे परमसुईभूए
 तमेव ठाण उवसकमित्ता विहरइ, तएण सो भ । कल्ल जाव
 जलते विउल असण० ४ जाव परिवेसेइ, तएण से धणणे सत्थ
 वाहे विजयस्स तकरस्स तओ विउलाओ असण० ४ सविभाग
 करेइ, तएण से पथए भोयणपिडय गहाय चारगाओ पडिनिक्ख
 मइ, पडिनिक्खमित्ता रायगिह नगर मज्झ मज्झेण जेणेव सए
 गिहे जेणेव भद्दा भारिया सत्थवाही तेणेव उवागच्छइ, उवा
 गच्छित्ता भइ सत्थवाहिणिं एव वयासी—एव खल्ल देवाणुप्पिए ।
 धणणे सत्थवाहे तव पुत्तघायगस्स जाव पच्चामित्तस्स ताओ
 विउलाओ असण० ४ सविभागं करेइ । तएण सा भद्दा सत्थ
 वाही पथयस्स दासचेडयस्स अतिएएयमट्ट सोच्चा आसुरुत्ता रुट्टा जाव
 मिसिमिसेमाणा धणणस्स सत्थवाहस्स पओसमावज्जइ ॥सू १०॥

अस्य मूलरहस्य का नाम ही क्या—'राजते' लक्षण 'राष्ट्र' है। उर्ध्वया बहु उर्ध्वया निष्पाय मृतपियदात्मक मृषिक के एक प्रत्ययस्य मान का नाम ही क्या 'राष्ट्र' है, जिसके रक्षक के लिए उग्रहीन मानव आत्मिक मूलरहस्य के मानकों का रक्षण कर देने का नाम ही—'राष्ट्र' के लिए 'राष्ट्रियता' मान रहे हैं एक ही को 'राष्ट्रसेवा'—'देशसेवा'—'देशहित' आदि अभिवाचों से समन्वित करते आये हैं। कौन मानव में ऐसा आत्मोद्धार हुआ, उधर नहीं 'विद्येराक्षमीमांसा'।

४६६—मानवविर्भाव से पूर्व का विरव, और 'राष्ट्र' शब्द के वाच्यार्थ का अन्वेषण, एवं 'मानवस्वरूप की अभिव्यक्ति से समन्वित 'राष्ट्र' शब्द के 'राष्ट्रत्व' की अन्वयता—

छष्टिनिर्माणलुपन्निनी उर पुण्डना—अतिपुण्डना—नियति की ओर अपना ध्यान आकर्षित कीविए, जबकि भूभाग पर मानव नाम की सर्वभेदा विमति स्वस्वरूप से अभिव्यक्त नहीं हुई थी। क्या उर आत्मिक दशा में वह मृषिक 'राष्ट्र' उपाधि से समलङ्कित था। अथवा जाने दीविए उर उदाहरण की। क्योंकि वह उदाहरण आपके प्रत्यक्ष दृष्ट बर्तमान दिग्देशकाल की सीमा से अतिदूर बन जाने के कारण सम्भव है आपके लिए प्रामाणिक न हो। यही तो मानव का वह महान् आत्मोद्धार है जिस 'वर्तमान' लक्षण आत्मोद्धार के कारण ही मानव अपने वैशालिक महान् स्वरूप को विसृत कर बैठा है। हीं तो आपन के उर वर्तमान मूलरहस्य को लक्ष्योद्धार बना लीविए, जिसे आपने अपने जीवन में यदि देख नहीं लिया तो भी ऐसे इतिहासों के सदा समानवर्तियों के अनुभव से झुन कर भी विरवाय तो कर ही लिया होगा कि पटना किंवा पोरबोखमा दुर्गटना उर्ध्वया तत्पर्या ही थी। दिग्देशकाल में किसी वैशालिक मानव की विमल ! बुद्धि ! से आविष्कृत अस्य विम वरदान ('बभ्रुराष्ट्र' नहीं अति 'प्रलयकर वम') के निःसीम अनुभव से पक्षीय का वह सुष्ठुद मम्य उदा उदा के लिए 'निश्चयिष्यता' का ही लक्ष्योद्धार बन गया। अब अब भी देखिए उर प्रान्तविशेष को दिग्-कालानुगत उर देशविशेष को बाहर। क्या अब भी आप मृतपियदात्मक मूलरहस्य को ही 'राष्ट्र' कहेंगे ! क्या मानव की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भी 'राष्ट्र' की उर्ध्व स्वरूप-म्यक्या है ! दीन्यर्थ 'राष्ट्र' शब्द से निष्पन्न 'राष्ट्र' के दीन्यर्थ प्रथममान आलोचकमान के अनुबन्ध से एकमात्र 'मानव' की (ऐसे मानव को, जो स्वस्वरूप से स्वमानवोपिच्छ विमृष्टियों से प्रदीप्त है प्रकाशित है) ही 'राष्ट्र' कहा गया है। जिस मूलरहस्य में ऐसा 'राष्ट्र' रूप (आलोचकमान) मानवभेद—'राजते' अर्थात् कियमान है उर मूलरहस्य को ही 'मानवस्वरूप राष्ट्र' की उपाधि का सम्मान प्राप्त हुआ करता है।

५००—'राष्ट्र'-रूप मानव के सम्बन्ध से ही भूखण्ड-विशेषों की राष्ट्रीयता 'राष्ट्र' स्व रूपव्याख्यात्मक मानव, एवम् तद्व्यापकता का समन्वय—

'राष्ट्रमानव' से ही भूखण्ड 'राष्ट्र' धरलाया है न कि भूखण्ड से मानव को 'राष्ट्र' उपाधि मिली है। निष्कर्षतः मानव स्वयं ही 'राष्ट्र' की स्वरूप-म्यक्या है जिसे कदापि किसी भूखण्ड-भूखण्ड-देश-विशेषक मृतपियदा की सीमा में बाध नहीं किया जा सकता। जिस जिस भूखण्ड में राष्ट्रक मानव उत्पन्नित है वहाँ वहाँ राष्ट्रमानव अपनी 'राजते' रूप प्रदीप्त को जलाजति अर्पित कर मानवों के लिए उत्पीड़क बन गया है

मादिना सम्भारपूर्वक पत्रति, उपस्कृत्य 'भोयणपिडय' भोजनपिटक=भोजन
 भरणाय पिटक=सम्पुष्टकम् 'पिटारा' 'कटोरदान' 'ढन्पा' इति सम्प्रति
 काले 'टीफनयोक्स' इति च प्रसिद्ध 'करेइ' करोति=सज्जयति, कृत्वा=
 मज्जयित्वा तस्मिन् 'भोयणाइ भोजनानि=खाद्यपदार्थानि 'पक्खिवइ' पक्षि
 पति=हयारपति, पक्षिप्य 'लछियमुदिय' लाच्छि। मुद्रे। लाच्छित्त=रेखादिविद्ध
 युक्त, मुद्रित=शब्दादिमुद्रासाहत 'करेइ' करोति=सज्जयति, कृत्वा एकत्र
 'सुरभिवरवारिपडिपुत्र' सुरभिवरवारिप्रतिपूर्ण—सुरभि=केतकीपाटलादि
 सुगन्धवासित वर श्रेष्ठ स्वच्छ वारि=जल, तेन प्रतिपूर्ण=भूत दगवारय'
 दकवारकं=जलपात्रविशेष 'झारी' इति भाषा प्रसिद्ध जलपात्र 'करेइ'
 करोति=सज्जयति, कृत्वा पान्यकं दासवेष्टक संस्पति शब्दयित्वा ग्वमवादीत्-गच्छ

जाव जलते विउल असण ४ उवखखडेइ) इमके बाद उस भद्रा सार्थ
 बाहीने दूसरे दिन प्रातः काल जब सूर्यप्रकाशित हो चुका तब ४
 प्रकारका आहार तैयार किया—(उवखखडिक्का भोयणपिडयं करेई—
 करिक्का भोयणाइ पक्खिवइ, लछियमुदिय करेइ,—करिक्का एगव सुरभि
 वरवारिपडिपुत्रदगवारय करेइ) जब आहार निष्पन्न हो चुका तब उसने
 उसके रखने के लिये एक कटोरदान तैयार किया। जब कटोरदान
 साफ सुगर रूप से तैयार हो चुका तब उसमें उसने आहार को
 रख दिया—आहार रखकर फिर उसे लाख की मुद्रा से मुद्रित कर
 दिया। कटोरदान को मुद्रित करने के बाद फिर उसने एक सुगन्धित
 उत्तम जल से प्रतिपूर्ण झारी को तैयार किया। (करिक्का पंपय दाम
 चेट्त सहावेइ, सहाविता एव वयासी) झारी तैयार कर उसने फिर
 पांयक दाम चेटक को बुलाया—और बुलाकर उसने इस प्रकार कहा—

भरिया कल्ल जाव जलते विउल असण ४ उवखखडेइ) त्थार ज्जाइ भद्राभाया
 सार्थपाडींजे जीअ दिवसे सवारे सूरज उदय पाभत्ता आर अतने आहार तैयार करायअओ
 (उवखखडिक्का भोयणपिडयं करेई करिक्का भोयणाइ पक्खिवइ, लछियमुदिय
 करेइ, करिक्का एगव सुरभिवरवारिपडिपुत्रदगवारय करेइ) आहार न्थारे त्थार
 थड अथे त्थारे तेजे आहारने भूक्त्वा भाटे उओ त्थार करीं न्थारे साक् पाडींभी उओ
 धावाअने साक् थड गथे त्थारे तेभा आहार भूडी दीधि। आहार भूडींने धाअ वजेरे
 लणवीने तेने ज। अर ज थ डरी दीधि। न्थारु "सीअ" करीने तेजे अेक् सुवास
 भुक्त्वा न्णधीं पुअं अरेवी अरी त्थार करीं (करिक्का पंपय दासवेड सहावेइ,
 सहाविक्का एव वयासी) अरी त्थार करीने तेजे पाक्त्तस चेट्ठने जेअअथे अने

आजातमक सादिसप्त विरव ही इस मैत्री का किंवा कम्बुत्व का आधारस्तम्भ बन रहा है किना कलापूर्वक बनाया जाएगा है । इस दिग्देशकालानुक्रमदाने ही तो आब मानव से 'मानव' को पटोष कर दिया है ।

५०३-अन्तराष्ट्रीयस्याविविमोहनमूला आज की मैत्री, तदनुप्राणित सहास्तिस्वादि भावों का आटोपपूर्ण स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी दिग्देशकालात्मक वैयक्तिक स्वार्थ—

अतएव आज स्व अमेरिका से मित्रता आइता है तो भारत स्व की मित्रता के लिए भारत इन्हा जाएगा है तो मुस्लिमखान (पाकिस्तान) अमेरिका का अखल पामे हुए है । मानव मानव की मित्रता आज सर्वत्र अनपेक्षित है । मैत्री अपेक्षित है-देश-ही देश के साथ किंवा दिक् की दिक् के साथ अथवा तो काल की काल के साथ । प्रत्येक देश अर्थात् प्रत्येक दिग्देशकाल अन्य सभी दिग्देशकालों से काम उठाने के लिए मित्रता की उद्योतपरम्पराओं के माध्यम से नवीन नवीन वैशिक-कालिक-कामुखानों (आब की माया में-काल-दिक्-आयोजनो) के आकर्षणों में उल्लिखित बनता जाएगा है जैसेकि एक घाराजना अपने इ यभूत आयोजनों से परम्परा के प्रति निश्चिन्त-निश्चेष किए रहती है । कही भी तो न उपक्रम में ही उपाययिता मैत्री में कमुख में 'मानव का सम्मरथ न उपसहार में ही मानव का समावेश । एक देश वृष्टी देश से मिल कर करता है-वैशिक-कालिक-भूतमौलिक पदाथी के पारस्परिक आदान प्रदान का कल्प-विकल्प का समझेता । यदि इस समझेते में चेष्टा नहीं पट्टा तो फिर कल्प-वस्तु परिग्रह के अभाव में तद्देश के मानव भले ही शरीर ही विचरिचित क्यों न करदें कदापि किना समझेते अर्थात् दिग्देशकालात्मक काम की तात्कालिक अथवा तो मायी-आरा के समझेते अर्थ्यक्रम में परिखत नहीं होते । ऐसी निश्चिन्ता क्यों ! उतर बही दिग्देशकाल का आभोजन । इस आभोजन की किष्मन्तता में तो वैयक्तिक स्वार्थ-पारिवारिक स्वार्थ-समाधिक-स्वार्थ-राष्ट्रीयस्वार्थ-एवं सर्वान्त का विरक्त्वाय अर्थात् वैयक्तिकदि विरवात्स्य मैत्री इन सब का एक ही अर्थ है । और उही अर्थ का नाम है-'दिग्देशकालस्वार्थ' अर्थात् मानवस्वकर्म के अमूलन में बरमसीमा का पोरोपेठम 'अनर्थ' ।

५०४-उयाविच अनर्थात्मक स्वार्थ के पोपक भ्याजघमर्मरिमक आज के मानवता-अहिंसा-सत्य-दया-करुणा-नैतिकता आदि आदि वाग्द्विभ्रमस्य, एवं तदनुगता विलासना भावमङ्गिमा—

इसी 'अनर्थ' की सीमा में आब की वे 'मानवता-दया-करुणा-अहिंसा-मैत्री-सहास्तिस्व-पञ्चशील-सत्यभाषण-परोपकार-स्याग-उपस्थ-पश्चिदान-सयम-नैतिकता-राष्ट्रसेवा-मामसेवा-रचनात्मक कार्य-विकासयोजनाएँ— आदि आदि समस्त उद्योग शब्दयोग्यार्थमात्र अन्तर्माहित है किन में सर्व 'मानव' उपहित है, एवं दिग्देशकाल ही प्रमुख है । दिग्देशकालानुक्रमी स्वार्थ की अतिशय ही शक्ति की सम्पादना-मात्र से भी वे सभी शब्द क्रमशः दानपदा-कुरुता-पूया हिंसा-शानुता-सहाविरोध-पञ्चमित्रयज्ञोत्पत्ता-मिष्याभाषण-स्वस्वार्थ-स गृह-विभ्रम-संरक्षण-स्त्रजन-मौलिकता-राष्ट्रोद्-मामत्रोद्-रचनाविषय-संकोप योजनाएँ— आदि आदि विपर्ययमायी में परिखत हो बाध है । पूर्व-

भोजनपिटके स्थापयति, स्थापयित्वा 'उल्ल उड्' उल्लाञ्जयति= निर्लाञ्छित कराति=उद्गाटयतीत्यर्थ, उल्लाञ्जय 'भायणाणि' भाजनानि= स्थाली कटोरीकादीनि गृह्णाति, गृहीत्वा भाजनानि 'धावेड्' धावति=पत्रालयति, धावयित्वा=पात्रमभालनानन्तरं हृत्थसोय दलयड् हस्तशौच ददाति, प्रेष्ठिनो हस्तौ धावयति, हस्तशौचानन्तरं धन्यसार्थवाह तेन त्रिपुलेन— अशन-पान स्वाद्यस्वाद्येन 'परिवेसड्' परिवपयति=प्रेष्ठिनो भाजनपात्रेऽशनादीनि निदधानीत्यर्थ 'तएणं' तदान्वलु=प्रेष्ठिभोजनसमये स विजयस्तस्करो धन्यं सार्थवाहमेवमवादीत्-स्व खलु देवानुप्रिय ! मम एतस्माद् त्रिपुलाद् अशन-पान-स्वाद्य-स्वाद्यात् सविभाग कुरु । तत खलु म धन्यसार्थवाहस्त्वस्य वाक्यं भूत्वा विजयं तस्करमेवमवादीत्अपि 'आइ' वाक् ।

पिढग ठवेड्) जाकर उसने उस भोजन के द्विवेले वहा रख दिया । (ठविता उल्ल उड्) रखकर फिर उसने उस द्विवेला खोला (उल्लच्छिता भायणाः गोह्र गोह्रिता भायणाः धावेड् धोविता हृत्थसोय दलयड्) खोलकर उसने थाली-कटोरी आदि को उठाया-उठा कर उन्हें धोया, (दलयिता घण सत्यवाह तेग असण ४ परिवेसड्) जुलाकर उस सेठ धन्य सार्थवाह के लिये वह त्रिविध आहार परोसा (तएण से विजय तस्करे घणं सत्यवाह एव वयासी) इसी वीच में उस विजय चौरने धन्य सार्थवाह से इस प्रकार कहा— (तुमण देवाणुप्पिया मम एयाओ विउलाओ असण ४ सविभाग करेहि) हे देवानुप्रिय ! तुम इस अशन, पान स्वाद्य, एव स्वाद्यरूप चार प्रकार के आहार में से विभाग करो (तएण से धन्ने सत्यवाहे विजय तस्कर एव वयासी) विजय चौर की इस प्रकार बात सुनकर धन्य सार्थवाहने उस विजय चौर

पिढग ठवेड्) अने त्या पहोखीने श्येज्जनना उणाने तेजे त्या भूमी दीधे (ठविता उल्ल उड्) त्या भूमीने तेजे उत्रे उद्याउथे (उल्ल छिता भायणाः गोणः गोह्रिता भायणाः धोवड् धोविता हृत्थसोय दलयड्) उद्यादीने तेजे थाणी अने वाड्डीने वीधी अने छाने पाणीथी घेण त्यार आइ तेजे शेठना अने हाथ धेव धव्या (दलयिता घण सत्यवाह तेग त्रिउल्लेण असण ४ परिवेसड्) धेव धवीने तेजे धन्यसार्थवाहने भाटे विविध आतना आहारो पीरस्था (तएण से विजयतस्करे घणं सत्यवाह एव वयासी) अने व वपते ते विजय चोरे धन्यसार्थवाहने आ प्रभाजे क्खु— (तुमण देवाणुप्पिया मम एयाओ विउलाओ असण ४ सविभाग करेहि) हे देवानुप्रिय ! तमे आ अशन, पान स्वाद्य अने स्वद्य आहारभाथी भाशेपवु डिस्सेो करे (तएण से धन्ने सत्यवाह विजयं तस्कर एव वयासी) विजय चो नी आ आतनी वात साकणीने

विस्तार से पूजन-अनुष्ठान विहित है जो कि प्राची-प्रतीची-उदीची-आदि दिग्देश्य द्वारात्मक विष्णु-प्रभापति, अनन्त प्रभापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपमर्शित है ० ।

५०७-कात्, तथा दिक् सं अनुप्रासित देशभाव की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'भारतदेश' क 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का तत्त्वदृष्ट्या सूत्रोच्छेद—

अब तद्वय क्ताइए उस 'दिग' को, जिस की छादि-छन्वतान ही मानव को अक्षविभूट-दिग्निभूट-कनाते हुए आब देशविभूट कना रक्था है एव इस देशविभूटता के माध्यम ने ही विष्णु राष्ट्रप्रेम विश्वधन्धुत्व आदि देशानुबन्धी-मूलव्यवहानुबन्धी निदान्त-कस्वित-ध्यामोहनो अ समर्जन कर गता है । भारतीय परिभाषामें वेगसमाहक नाम (देशों के नाम) की अपि व्यक्त-मूर्त-भूत-धर्तों को प्रधानता नहीं देते । अष्टि सम्पूर्ण देशनाम अनन्त-अमूर्त-मात्र-मात्रों के माध्यम से ही छन्वित हैं, जिन देशानामों की अनन्तता का तत्त्वविशेषण नहीं सम्भव नहीं है । केवल एक समस्त्यात्मक नाम की अनन्तता-अमूर्तता की और ही उच्छेद्यता कर दना है, जिस के माध्यम से स्थलीपुलाकन्ययनेन सभी नामों की अनन्तता का उच्यन्वय गतार्थ बन जाता है । और वह पवित्रतम नाम है- 'भारत' जिस 'भारतदेश' का अपि मूलव्यवहानुबन्ध-अन्त-मूर्त- 'देश' भाव से यत्किञ्चित् भी तो उच्यन्व नहीं है । नहीं का रहस्यपूर्ण किन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य दृष्टिकोण है, जिस एक दृष्टिकोण के उच्यन्वय से ही कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का तो दिग्देश्यपाठ-निर्देशन उच्छेद्यना उपरान्त ही ही जाना चाहिये । जिस मूलव्यवहानुबन्ध भारतीय मानव आवास-निवास-करते हैं क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है ? क्या इसी राष्ट्रियता का स्थोत्रानुबन्ध ही भारतीय-साहित्य-मति-स्मृति-पुराण-शास्त्रों में ? अपि नहीं । न ही इस मूलव्यवहानुबन्ध का नाम 'भारतदेश' ही है न इच्छा नाम 'भारतराष्ट्र' ही है न यहाँ के अनन्तमात्रानुगत अनन्तशास्त्र में इस राष्ट्रीयता का स्थोत्रानुबन्ध ही हुआ है ।

५०८- 'भारत' रूप दिश्य-इव्यवाट्-सम्प्रसारान्नि का विरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक-माध्यम से एतदेश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपि 'भारतदेश' नाम है उक्त प्राणाग्नि-अमूर्तान्नि-वेद्याग्नि-अनन्तान्नि का प्राणाग्निदेव 'भारत' नाम से प्रकिय है । परिष्कृत-भोक्ति-देश का नाम अपि मात्र नहीं है । अपि 'भारत' नाम ही उक्त प्राणाग्नि का है जो 'महतीमहीषान्' है । ऐश्व महतीमहीषान् है जिसके गर्भ में न केवल यह भूतव्यव विशेष ही अपि सम्पूर्ण भूतियव ही एक बुद्धि कितना ही एक रूप रक्त रहा है । यह वह 'भारत-अग्नि' है जो ब्रह्मवीर्यमयक कनाता हुआ प्राणदेवतानुगत प्रकृतिक्रिये नित्य चातुर्वर्ष्य में 'ब्राह्मणवर्ष' माने गए हैं । यह वह 'ब्राह्मणाग्नि' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूतियव के धूर्तों का भी सीमित-प्रदेश-देशों का भी मरण-प्रेरण ही रहा है, एवं इसी के ऊर्ध्वस्थित प्राणमय किवान से पार्थिव वैश्वदेव के वृत्तीय

- ० तन्मया इरा प्राचीर्वरा इक्षिणा वरा प्रतीचीर्वशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु (अजुः सं० १६।३५) । प्राची एव मर्गः (गा० पू० ५।१५) । प्रतीची-एव मह (गो० पू० ५।४५) । उदीची-एव पशु (गा० पू० ५।१५) । इक्षिणीय सर्वम् (गा० पू० ५।१५) इत्यादि ।

प्रपयति । तत खलु म पान्यको दामवेदस्त्वं भोजनपिटक गृह्णात, गृहीत्वा यम्या विश्वः प्रादुर्भूतस्तस्यामेव दिशि प्रतिगत, येन मार्गेणागतस्तनैव मार्गेण गतवानित्यर्थः । तत खलु=तदनु तस्य धन्यस्य सार्थवाहस्य तद् विपुलमञ्जन पान स्वाद्यम् 'आहारियस्स' आहारितस्स=भुक्तस्य सत' 'उच्चारपासवणेण' उच्चारपसवण खलु=उच्चारव=विष्ठाप्रसवणश्च=मूत्रमित्युच्चार-प्रसवणे, ते उवाहित्या' उद्वाद्यपता गीह्यत स्मेत्यर्थः । 'तएण' तत खलु =तदनु म पान्य' सार्थवाहो विजय तस्का मेवमवादीत-एहि=भागच्छ तात्-प्रथम हे विजय ! आवाप् 'एगतमवक्रमामो' एकान्तमपक्रामाव=उच्चार-प्रसवणनिवृत्त्यर्थं निर्जने स्थाने गच्छाव., येनाहमुच्चारपसवणे 'परिद्वेषमि' परिष्ठापयामि=उच्चारप्रसवणोत्सर्गं करोमि। तत खलु स विजयस्तस्कारो धन्य

आहार कोया-आहार कर बादमें उस पाथक को वहा से खाना कर दिया । (तण्ण से पयए दासचेडे त भोजनपिटक गिह्णइ गिह्णित्ता जायेव दिशि पाउन्भूए तामेव दीसि पडिगए) खाना खाते समय उस पाथकदास चेटकने उस भोजन के दिव्ये को छे लिया और लेकर जहां से आया था वहीं पर चला गया (तएण तस्स धण्यास्स सत्थवाहस्स त विउलं असण ४ आहारियस्स समाणस्स उच्चारपासवणे ण उवाहित्या) इसके बाद धन्यसार्थवाह का उस ४ प्रकार के अशन आदि स्थाने से बड़ी नीत और लघुनीत की थाया उपस्थित हुई (तएण स धन्ने सत्थवाहे विजय तक्कर एव वयासी) सा उस धन्यसार्थवाहने विजय खीर से इस प्रकार कहा-(एहि ताव विजया । एगत अवक्रमामो जेण अह उच्चारपासवण परिद्वेषमि) आओ-विजय खीर तुम और हम दोनों निर्जन एकान्त-स्थान में चले । मुझे उच्चारप्रसवण की थाया हा रही है सो मैं वहा उच्चार प्रसवण से निवृत्त होऊंगा ।

आर आतना आहारने जम्हा जम्हा पछी तेवे पाथकने त्याथी जम्हानी आरुआ आपी. (तण्ण से पयए दासचेडे त भोजनपिटक गिह्णइ गिह्णित्ता जायेव दिशि पाउन्भूए तामेव दिशि पडिगए) जम्हा पछी पाथकदास चेटके ते ज्ञाने दीधि जने लहने जम्हा थीआये. इतो त्या जतो रको. (तएण तस्स धण्यास्स सत्थवाहस्स त विउलं असण ४ आहारियस्य समाणस्स उच्चारपासवणे ण उवाहित्या) त्यर आह धन्यसार्थवाहने आर आतना आहारने जम्हा पछी दीधं यक्ष तेभज लघु यक्षानी भुरकेली छिभी थं (तण्ण से धन्ने सत्थवाहे विजय तक्कर एव वयासी) त्यरे धन्य सार्थवाहे विजय खीरने कहु—(एहि ताव विजया ! एगत अव क्रमामो जेण अह उच्चारपासवण परिद्वेषमि) विजय खीर खावे आथके जने निर्जन एकान्त स्थानमा जस्ये. मने उच्चार प्रसवणानी भुरकेली छिभी

विस्तार से पूजन-अनुष्ठान विहित है जो कि प्राची-मतीची-उदीची-आदि दिग्देषका दशाक्षय विष्णु-प्रथापति, अनन्त प्रथापति श्री अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपबर्णित हैं ० ।

५०७-काल, तथा दिक् स अनुप्राखित देशशिव की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'भारतदेश' क 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का उच्चदृष्टया मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की सदि-गान्ठताने ही मानव को अलक्षिमूढ-दिग्भिमूढ-बनावे हुए आब देशभिमूढ बना रखा है एव इत देशभिमूढता के माध्यम न ही जिसमें राष्ट्रप्रेम विश्वबन्धुत्व आदि देशानुबन्धी-भूतयजानुबन्धी निवन्त-कल्पित-ध्यामोहनो का सम्बन्ध कर डाला है । भारतीय परिभाषामें देशसम्बद्ध नाम (देशों के नाम) मी कदापि व्यक्त-मूर्त्त-भूत-मात्रों को प्रचलनवा नहीं देखे । अस्तु सम्पूर्ण देशनाम अनन्त-अमूर्त्त-प्राण-मात्रों के माध्यम से ही सम्पन्नित हैं, जिन देशनामों की अनन्तता का उक्तविश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है । केवल एक सम्पन्नप्रक्रम नाम की अनन्तता-अमूर्त्तता की ओर ही सङ्केतमात्र कर देना है जिस के माध्यम से स्थालीपुलाकन्यायेन सभी नामों की अनन्तता का सम्बन्ध गद्यार्थ बन बाध्य है । और वह पवित्रतम नाम है—'भारत', जिस 'भारतदेश' का कदापि भूक्षयकालक सदि-सन्त-मर्त्य-'देश' भाव से पराकिञ्चित् मी तो सम्भव नहीं है । यही वह रहस्यपूर्वक निन्दु सर्वथा बुद्धियम्य दृष्टिकोण है जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से मी कम से कम भारतीय उपमानव का धो दिग्देशकाल-मिमीशन सर्वमना उपग्रान्त हो ही जाना चाहिए । जिस मूलरूपपर भारतीय मानव आवास-निवास-करते हैं क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है, क्या इसी राष्ट्रीयता का बरोमान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय-साहित्य-अधि-सृष्टि-पुराण-शास्त्रों में ! कदापि नहीं । न तो इस मूलरूपविशेष का नाम 'भारतदेश' ही है न इसका नाम 'भारत' ही है न यहाँ के अनन्तमात्रानुगत अनन्तरास्त्र में इस राष्ट्रीयता का बरोमान ही हुआ है ।

५०८-'भारत' रूप द्विष्य-इष्यवाट्-सम्बत्सराम्नि का विरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक-माध्यम से एतद्देश की ज्ञाचयिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अस्तु 'भारतदेश' नाम है उस प्राणाग्नि-अमूर्त्ताग्नि-वेषाग्नि-अनन्ताग्नि का जो प्राणाग्निवेष 'भारत' नाम से प्रसिद्ध हैं । परिच्छिन्न-श्रीति-देश का नाम कदापि भारत नहीं है । अस्तु 'भारत' नाम धो उस प्राणाग्नि का है जो 'महतीमहीम्यन्' है । ऐन्य महतीमहीमान् है जिसके गर्म में न केवल यह भूलसक विशेष ही अस्तु सम्पूर्ण भूषिष्य मी एक बुद्धि कितना ही स्वल्प रखा है । यह वह 'भारत-अग्नि' है जो ब्रह्मवीम्यन्तक बनवा हुआ प्राणदेवतानुगत प्रकृतिसिद्ध नित्य चतुर्भुजों में 'ब्रह्मवाच्यार्थ' माने गए हैं । यह वह 'ब्रह्मवाग्नि' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूषिष्य के भूतों का मी धीमित-प्रवेश-देशों का मी मरण-पोषण हो रहा है एव इसी के ऊर्ध्वविठत प्राण्यक्रम कितन से पार्थिव नैसर्गिक के चुल्लोकीव

- ० तेज्यो ब्रा प्राचीर्वरा इक्षिया ब्रा प्रवीचीर्वरोष्वाः । तेज्यो नमो अस्तु (अनुः सं० १६।६५) । प्राची एव भर्गः (गो० पू० ५।१५) । प्रवीची-एव महः (गो० पू० ५।४५) । उदीची-एव यश (गो० पू० ५।१५) । इक्षियैव सर्वम् (गो० पू० ५।१५) इत्यदि ।

ढापयत । तत खलु स धन्य सार्थवाहा विजयेन तत्करेणैवमुक्तं सन्
 'तुसिणीए' तूष्णीक = उदासीनतया चाग्भ्यापारहितं सन् सतिष्ठति ।
 तत खलु = तत्पश्चात् स धन्य सार्थवाह 'मुहुत्तरम्' मुहुर्तान्तरेण पुन
 'उच्चारपासवणेण' उच्चारपसवणाभ्या 'यन्नियतराग' बलिततरम् = अतिप्रबलम्
 'उन्वाह्निज्जमाणे' उद्वाध्यमान = अतिज्ञयेन पीडयमानो विजय तत्करमेव-
 मवादीत्—एहि तावत् हे विजय ! जावद् अपक्रामाव । तत खलु स
 विजयो धन्य सार्थवाहमवमवादीत्—यदि खलु यूय देवानुपिया ! तस्माद्

प्रसवण की बाधा से निवृत्त होइये। (तएण से धण्णे सत्थवाहे विजएण
 तत्करेण एवमुक्ते समाणे तुसिणीए सचिद्धइ तएण से धण्णे सत्थवाहे मुहुत्त
 तरस्स बलियतराग उच्चारपासवेण उन्वाह्निज्जमाणे विजय तत्करं एव वयासी)
 विजय चौरने जव धन्यसार्थवाह स इम प्रकार (उलाहने के रूप में) कहा
 तो वह चुप हो गया। इसके बाद पुनः थोड़ी देर में धन्यसार्थवाह को
 उच्चार और प्रसवण की बाधा पहिले की अपेक्षा और अधिक रूपमें हुई
 तब उसने विजय चौर से इम प्रकार कहा—(एहि ताव विजया ! जाव अवक्क-
 मामो, तएण से धण्ण सत्थवाहं एव वयासी—जइण तुम देवानुपिया ! तओ
 विउलाओ अस्सण ४ सविभाग करेहि तओ इ तुन्मेहिं सद्धिं अवक्कमामि)
 आओ विजय—हम तुम दोनों एकात—निर्जन—स्थान में चले। मुझे उच्चार
 और प्रसवण की बहुत जोर से बाधा हा रही है। इस तरह धन्य सार्थवाह
 की बात सुनकर विजयने उससे कहा—यदि तुम हे देवानुपिया ! उस त्रिपुल

अव्यय अक्षान्तभा अर्थने उच्चारप्रभवणानी सुरकेलीथी निवृत्ति भेदो (तएण से
 धण्णे सत्थवाहे विजएण तत्करेण एवमुक्ते समाणे तुसिणीए सचिद्धइ
 तएण से धण्णे सत्थवाहे मुहुत्तरस्स बलियतराग उच्चारपासवेण
 उन्वाह्निज्जमाणे विजय तत्कर एव वयासी) विजय चौरने अक्ष रीते उपासक
 (४पक्ष) ना इपमा धन्यसार्थवाहने आ प्रभावे अक्षु—त्यारे ते रूप यथ गये। त्यार
 पछी यथा वपते धन्यसार्थवाहने पहेला करता वधारे सभत रीते उच्चार प्रभवणानी
 सुरकेली अथी यथ त्यारे इरी तेजे विजय चौरने अक्षु (एहि ताव विजया !
 जाव अवक्कमामो तएण से धण्ण सत्थवाहं एव वयासी जइण तुम
 देवानुपिया ! तओ विउलाओ अस्सण ४ सविभाग करेहि तओइ
 तुन्मेहिं सद्धिं एगत अवक्कमामि) विजय चौरने आपजे अने अक्षान्त
 निजने स्थानभा अर्थने उच्चार प्रभवणानी सभत सुरकेली भने यथा भायी छ
 आ रीते धन्य सार्थवाहनी बात सावणीने विजये तेने अक्षु छे देवानुपिया।

विस्तार से पूरन-अनुष्ठान विहित है, जो कि प्राची-प्रतीची-उदीची-आदि दिग्देखा दशावसन नियम प्रकल्पित, अनन्त प्रकल्पित की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपस्थित है • ।

५०७-काल, तथा दिक् स अनुप्राणित देशभाव की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'भारतदेश' के 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का तच्चदष्टया मूलोच्छेद—

अथ लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की खादि-खान्जाने ही मानव को अक्षयिभूट-दिग्निभूट-बनाते हुए आब देशनिभूट बना रक्ता है एव इव देशनिभूटता के माध्यम ने ही बिछने राष्ट्रप्रेम विश्ववन्धुत्व आदि देशानुबन्धी-भूखरबानुबन्धी निवन्त-कल्पित-व्यामोहनी का उद्घर्ष कर डाला है । भारतीय परिभाषामें देशसमाहक नाम (देशों के नाम) भी कदापि व्यक्त-मूल-भूत-मातों का प्रधानता नहीं देखे । अष्टि सम्पूर्ण देशनाम अनन्त-अमूल-प्राच-मातों के माध्यम से ही समन्वित हैं जिन देशनामों की अनन्तता का उल्लेखकेपय यहाँ सम्भव नहीं है । केवल एक समन्वयक नाम की अनन्तता-अमूलता की भीर ही यज्ञोत्तमात्र का दाना है जिस के माध्यम से स्थलीपुलाकन्याकेन समी नामों की अनन्तता का समन्वय गठार्प बन जाता है । भीर वह पवित्रतम नाम है—'भारत' जिस 'भारतदेश' का कदापि भूखरबन्धक खादि-खन्त-मूल-देश' मात्र से कदापि किन्तु भी तो सम्भव नहीं है । यही वह रहस्यपूर्ण किन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य इतिशेष है जिस एक इतिशेष के समन्वय से भी हम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का वो दिग्देशवास-विमोहन सर्वत्मना उपरान्त हो ही जाना चाहिए । जिस भूखरबन्धक भारतीय मानव आवास-निवास-बन्धक है, क्या उस का नाम 'भारतदेश' किंवा 'भारतराष्ट्र' है ? क्या हवी राष्ट्रियता का यशोगान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय-वाहित-व्यति-स्मृति-पुण्य-शास्त्रों में ? कदापि नहीं । न वो इस भूखरबन्धक का नाम 'भारतदेश' ही है न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है न यहाँ के अनन्तमात्रानुगत अनन्तशास्त्र में यह राष्ट्रीयता का यशोगान ही हुआ है ।

५०८-'भारत' रूप दिव्य-इव्यवाट्-सम्बन्धरामि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक-माध्यम से एतदेश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अष्टि 'भारतेश' नाम है उस प्राग्वाग्नि-अमूर्तवाग्नि-देवाग्नि-अनन्ताग्नि का जो प्राग्वाग्निदेव 'भारत' नाम से प्रथित है । परिष्कृत-मीक्षित-वेश का नाम कदापि भारत नहीं है । अष्टि 'भारत' नाम वो उस प्राग्वाग्नि का है जो 'महतोमहीयन्' है । ऐस्य महतोमहीयान् है जिस के गर्भ में न केवल यह भूखरबन्धक विद्ये ही अष्टि सम्पूर्ण भूपिण्ड भी एक कुपुण्ड्र बिठना ही स्वरूप रख रहा है । यह वह 'भारत-अग्नि' है जो ब्रह्मवीर्यमक बनाता हुआ प्राग्वाग्निानुगत प्रकृतिस्थित निम्न आहर्षक में 'ब्राह्मणवस्य' माने गए हैं । यह वह 'ब्राह्मणाग्नि' किंवा 'ब्रह्माग्नि' है जिस से सम्पूर्ण भूपिण्ड के भूतों का भी, वीमित-प्रदेश-देशों का भी भरख-योग्य हो रहा है एवं हवी के उर्ध्वनिष्ठ प्राग्वाग्नि निवान से पार्थिव वीर्यमय के युक्तोत्तम

• तन्म्यो बरा प्राचीदेश इतिशा बरा प्रतीचीदेशोर्थाः । तन्म्यो नमो अस्तु (ऋगुः सं० १६।६।५) । प्राची एव मर्गः (गो० पू० ५।१५) । प्रतीची-एव मह (गो० पू० ५।५५) । उदीची-एव यश (गा० पू० ५।१५) । इतिथोप सर्वम् (गा० पू० ५।१५) इत्यादि ।

चात्र जत्रने' = यावत्तत्रलति = यावत् - मादृग्प्रभाताया रजन्या = प्रभातसमये दिन-
 करेजालति सूर्योदये सति पुनर्विपुलमश्न ४ यावत् - उपस्कृत्य पान्यकाय
 दासप्राग भोजनपिटक ददाति, स चारकशालाया गत्वा धन्यस्य सार्ध
 गंडम्य भोजनपात्रे परिवेसेद्' परिवपयति = निदधति । तत ग्लु स ग्न्य
 सार्धगंडा विजयस्य तस्करस्य तस्माद् विपुलाद् अग्नपानग्वाग्प्राद्यात्
 सविभाग करोति, स्वय च भुङ्क्ते । तत ग्लु स धन्य सार्धवाह पान्य
 तामवेद विमज्जेद्' विमजयति = गृहगमनायाऽऽगिति । तत ग्लु स
 पान्यका भोजनपिटक गृहान्वा चारगाया चारकात् = रागगान् प्रतिनिष्का
 मति, प्रतिनिष्क्रम्य राजगृ नगर मन्थमयन ग्त्रैव स्वय गृह यत्रैव भद्रा

चोखे मृ, और परमशुचीभूत हो कर उसी अपने स्वान पर आ गये। (तएण
 गा भद्रा फल्ल जात्र जलने विउल अमण ४ जात्र परिवसस) वृसर दिन
 जय प्रात काल हृथा और सूर्य प्रकाशित हा चुथा नय उम भद्राने अशनादि
 रूप चतुर्थिय आहार को विपुलमात्रा में बनाकर उसे भोजन के द्विचम
 रय पाथकदास चेटक के ह्यथ धन्यसार्धवाह के पास कारागार में भेजा-
 पाथक दासचेटकने पहिलेकी ही तरफ होकर उसे थालीमें भोजन के लिये
 परासा-परास कर उमने सेठ के दाना हाथों को धुलाया-(तएण स ग्णो
 सत्थराहे विजयस्य तस्करस्य तओ विउलाया अमण ४ सविभाग करेइ)
 याद् म उम धन्यसार्धवाहने विजय चौर के लिये उम अपने चार प्रकार
 के आहार म स विभाग कर दिय (तएण स धण्णे सत्थवाह पयग दास
 चेडय विमज्जेइ) धन्य सार्धवाहने वाद में उम पाथक दास चेटक को
 चहा से वापिस कर दिया। (तएण स पथए भायणपिटग गहाय चारगाओ

४ जात्र परिवसेइ) पीअ द्विसे सुवार यथु अने सुधं उच्य पाभ्यो त्पारे
 भद्रा वाप्ये पुष्कण प्रभातुभा अशन वगेरे चार नतना आहार जनावी ते अेक
 स्वय उत्राभा मूडीने पाथकदास चेटकने जेसभा धन्य सार्धवाहनी एसे पहोयाउवा
 आसा करी पडेवानी जेम ४ पाथक दास चेटके त्या न्छने यणीभा नभव नु
 पीरस्यु पीरसीने तेत्ति शेठना जने हाथ धावअव्या (तएण से धण्णे सत्थवाह
 विजयस्य तस्करस्य तओ विउलाया असण ४ सविभाग करेइ) त्पार पछी
 धन्य सार्धवाहे विअथ ओरने भाटे चार नतना आहारभायी भा । करी आभ्यो
 (तएण से धण्णे सत्थराहे पथग दासचेडग विमज्जेइ) त्पार पछी धन्य
 सार्धवाहे पाथक दास चेटकने घेर पाठो वज्यो (तएण स पथए भायण-
 पिटग गहाय चारगाओ पहिनिक्खमइ) पाथक दास चेटक ओअनना ज्जाने

का से ही मिलती रही है, जिसकी दृष्टि में 'भारत' अनन्त है। साम्प्रतिक है, केवल भूखण्डविशेष ही नहीं *। जिस इस प्रतीकभूत भारतखण्ड किंवा भारतखण्ड (सम्पूर्ण भूखण्ड) अनन्त भारतदेश का एक प्रतीक मक सुप्रसिद्ध 'भारतवप' नामक पेरा) में अभिव्यक्त होने वाले अनन्तभारतखण्ड के द्वारा भारतीय मानवों के अपने अनन्त 'भारताग्निशास्त्र' अपौरुषेय ब्रह्माग्निमूत्रक वेदशास्त्र के आचार पर का इतर भूखण्डों के मानवों को उन उन के चरित्रो-कर्तव्यों को सुस्पष्टविधत बताते हुए ही उनके लिए 'आर्ष्यत्व' की महत्त्वकामना की है। क्यापि इन्ने अपने भारतखण्ड के विशेष परित्रलक्षण उस वर्णाश्रमधर्मरूप 'स्वधर्म' के प्रति वृद्धे भूखण्डों के विभिन्नप्रकृतिक-मानवों के लिए आग्रह-दुःखप्रह व्यक्त किया ही नहीं जैसे कि अनन्तका क इत व्यापक व्यप से अपने आप को पूर्य करने वाले अन्य भूखण्डों के प्राकृत मानव अपने अपने विशेष कर्तव्यों की ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करते हुए उन्हीं का सर्वत्र-प्रचार-करने का प्रयास करते रहते हैं। और निश्चयेन इसी अस्वधर्म-विशेषप्रकृति विरुद्ध-प्रयासने मानव को उत संघर्ष पर का लड़ा किया है जिससे अनन्तपुराणमूला (अभयब्रह्ममूला) 'मानवता' तथा अनन्तप्रकृतिविद्या 'आर्ष्यता' आब सर्वथा ही अन्त मुक्त बनती चारही है।

५११-स्वधर्मात्मक औतसमार्त्त-विशेषधर्म का भावुकतापूर्णा विश्वप्रचार-व्या मोहन, तद्व्यामोहन से भारतीय आर्षधर्म की अन्तर्मुखता, एव विशेषधर्म तथा आर्ष्यत्व के पार्थक्य का तात्त्विक-समन्वय—

सर्वभूभाषानुसार-कभी इस भारतदेश ने प्रकृतिविद्य स्वधर्मात्मक अपने वर्णाश्रमधर्म के 'विश्व प्रचार' का व्यामोहन किया ही नहीं, बसकि आब भ्रान्तिवश सोचा जाने लगा है परन्तुकरण के माध्यम से। "वेदधर्म का हम सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करवेंगे वधधर्म से ही सम्पूर्ण विश्व सुखी-शान्त हो सकेगा" इत्यादिरूपेण गतानुगतिक-अन्धालुकरण के अनुग्रह से इसप्रकार धर्मात्मक-कृत्स्न प्राकृतिक-कर्तव्य के प्रचार प्रसार के लिए आदर भारतीय आब के अमिनव वेदव्याख्याय यह विस्तृत कर देते हैं कि, क्यापि यह भारतीय दृष्टिकोण नहीं है। क्यापि यहाँ 'धर्म' प्रचार की वस्तु रहा ही नहीं। और क्यापि इस का प्रकृतिविज्ञान स्वधर्मात्मक यह 'वर्णाश्रमधर्म' (वर्णानुगत कर्तव्यधर्म) माध्यमविरहित भूखण्डों के प्रति आकर्षित हुआ ही नहीं। यही नहीं, स्वयं यहाँ मी परस्पर व्यतिक्रम धहन नहीं किया इस वर्णधर्म का भारतीय मानवों के केवल अवधारणुक्तों के अतिरिक्त X। हाँ उत 'आर्ष्यत्व' की महत्त्वकामना

* एतद्देशप्रद्युतस्य सकाशाद्ब्रजन्मनः।

स्व स्वं चरित्रं शिषेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

—नुतुः

X-धम्मव्यतिक्रमो दृष्टः, ईश्वराणां च साहसम्।

तेज्जीयसां न दोषाय वद्धे सवसृजो यथा ॥

—भीमवृमागतत

जात्र जलने' = यात्र जलति = यात्रत - मादृग्प्रभाताया रजन्या = प्रभातसमये दिन-
 करे जाति सूर्योदये सति पुनर्विपुलमशन ४ यात्र - उपम्कुम्भ पान्यकाय
 दामपत्राग भोजनपिटर ददाति, स चारकशालाया गत्वा धन्यस्य सार्थ
 रात्रस्य भोजनपात्रे परिवेसेइ' परिवपयनि = निदधानि । तत खलु स अन्य
 सारिगादा विजयस्य तस्करस्य तस्माद् विपुलात् अग्नपानग्रा-यन्माघात्
 सविभाग करोति, स्वयं च भुङ्क्ते । तत खलु स धन्य सार्थवाह पान्यक
 दासवेद विमज्जेइ' विमर्जयति = शृङ्गमनायाऽऽद्विभति । तत खलु स
 पान्यका भोजनपिटर गृह्णीत्वा चारगाया चारजात् = चागगागार् प्रतिनिष्का
 मति, प्रतिनिष्क्रम्य राजगृह नगर मध्यमभ्यन सत्रेन स्वक गृह यत्रैव मद्रा

चोखे कृष्ण और परमशुचीभूत हो कर उसी अपने स्थान पर आ गया। (तएण
 ग मद्रा कल्ल जात्र जलन विउठ अमण ४ जात्र परिवेसे) दूसर नि
 नच प्रात काल हृमा आर सुये पफाजित हा चुवा तव उम मद्राने अशनादि
 रूप चतुर्विध आहार का विपुलमात्रा म बनाकर उसे भोजन के दिव्य में
 रय पाथकदास चेटक के साथ धन्यसार्थवाह के पास कारागार में यजा-
 पाथक दासचेटकने पहिलेकी ही तरह होकर उस थालीमें भोजन के लिये
 परासा-परास कर उमने सेठ के दाना हाथो का धुलाया-(तएण से धण्णे
 मद्रागहे विजयस्स तस्करस्स तथो विउठाभा अमणप्रसविभाग करेइ)
 याद म उम धन्यसार्थनाहन विजय चौर के लिये उम अपने चार प्रकार
 के आहार में स विभाग र दिया (तएण स धण्णे सत्थवाह पयग दास
 चेटय विमज्जेइ) धन्य सार्थवाहने याद म उम पराथ दास चेटक को
 चहा से तपिस कर दिया। (तएण से पथए मायणपिटग गहाय चारगाओ

४ जात्र परिवसइ) पीला दिवसे सवार यथु अने सूर्य उदय पाभ्यो त्थारे
 मद्रा आमाये पुष्पा प्रभातुभा अशन वगेरे आर जलना आहार बनावी ते अेक
 स्वच्छ उमाभा भूकीने पाथकदास चेटकने लेवभा धन्य सार्थवाहनी पासे पहोयाउवा
 आसा करी पहोवानी लेभ व पाथक दास चेटके त्या अथने थणीभा जभवतु
 पीरस्थु पीरस्थीने तेजे शेठना अने अथ धावअव्या। (तएण स धण्णे सत्थवाहे
 विजयस्स तस्करस्स तथो विउठाओ अतण ४ सविभाग करेइ) त्थार पथी
 धन्य सार्थवाहे विजय चोरने भाटे आर जलना आहारमाथी वा। करी आभ्ये
 (तएण से धण्णे सत्थवाहे पयग दासचेटग विमज्जेइ) त्थार पथी धन्य
 सार्थवाहे पाथक दास चेटकने घेर पाछि पण्ये (तएण से पथए मायण-
 पिटग गहाय चारगाओ पहिनिक्कवमइ) पाथक दास चेटक पोचनना उमाते

उक्त है। नामपातना अवरय है राष्ट्रप्रेम की। किन्तु मानकठानुसन्ध से राष्ट्र के प्रति व्यक्तिगत भी निष्ठा नहीं है आब भारतीय 'व्यक्तिमानव' की। राष्ट्र-समाज-आदि शब्द आब केवल यहाँ कृतपूर्ण ही प्रमाणित हो रहे हैं। आब ही नहीं, आब से तीन खस कर पूर्व से अयावधि-वर्ष्यत।

५१४-वर्णाश्रयाव्यवस्थाओं, आर्य-अनार्य भाषों के व्यतिक्रम के तापिकक कारण का स्वरूप-दिगदर्शन—

ऐसा क्यों ? उत्तर यही दिग्देशकाल का विमोहन। अपने अपने देश प्रदेश-पर-परिवार-की सीमाओं में अपना अपना काम उठाने के महान् आत्मोहनन ही आब उक्त भारतीय मानव को 'रष्ट्रीयता' से परवृत्त ही कर दिया है जिस की रष्ट्रीयता तीन सहस्रवर्ष पूर्व के नैष्ठिक युगों में किष्कानुगत ही पनी हुई थी। प्रकृत में इस आर्यत्व-अनार्यत्व के प्रसङ्ग से यही निवेदन कर देना था कि, आर्यत्व आर्यत्व ही ब्राह्मणात्वादि आर्यत्व ही है। ब्राह्मण्य 'अनार्य' कहला सकता है, जबकि इतर वृतीय मानव भी 'आर्य' कहला सकता है। कहला रहा है आब के अनार्य-ब्राह्मण्य के समतुलन में। किन्तु इतर-देशीय आर्य कदापि ब्राह्मण्य नहीं कहला सकता। क्योंकि ब्राह्मण्य शब्द वर्णाश्रयानुगत विशेषत्व ही का ही उच्चारण है जिसका एतद्देशीय विशेषत्व के साथ ही समन्वय हुआ है जिस इस दुरधिगम्य प्रकृतिसूत्रा (नृत्यकृतिसूत्रा) वर्ण विशेषत्व का समन्वय मानव तमी कर सकेगा जबकि वह अपने दिग्देशकाल से जोड़ा ऊपर उठ बागगा। तमी वह वह समझ सकेगा कि एक भारतीय ब्राह्मण्य 'आर्य' ही हो सकता है, किन्तु इतर देशीय आर्य भी मानव कदापि ब्राह्मण्य नहीं बन सकता। एवमेव अग्नि-वैश्व-द्वार-अवरवर्णादि सभी विभाग इसी आर्य-आर्य-माताशुक्ल से सुस्पष्टस्थित बने हुए हैं प्राकृतिक प्रायःकाल-प्रायःकाल-एवं मृतकाल में। केवल मानव ही इन प्रकृतिसूत्रा वर्णाश्रयव्यवस्थाओं का व्यतिक्रम कर लिया है दिग्देशकालव्यापिनी से।

५१५-भारतदेश के मूल अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) त्रैलोक्य-व्यापक दिव्य 'भारत' नामक अग्निदेव का संस्मरण—

हैं तो इस देश मातृ के इस 'भारत' नाम की आचार्यमुनिस्वयं वह सीमित देशविशेष कदापि नहीं है। अपितु अनन्तप्राणमूर्ति-अमूर्त 'भारत-अग्नि' ही इस देश की 'भारत' अग्नि का एकमात्र कारण है। शीघ्रति अरत की ही मूर्तिभोर भोर ही अनेक शास्त्रों को भरतसप्तम ! भरतसप्तम ! भारत ! आदि अनेक 'भारत' अग्नि के कारण माना जा सकता है। किन्तु यह मान्यता केवल यथोऽनुबन्धिनी ही मानी बागगी, जबकि आस्था का समन्वय ही 'भारतअग्नि' के से ही मानी बागगी। और यही इस देश के नाम अरत का अतिरन्त इतिहास माना बागगी जो कि निम्नलिखित मन्त्र-ब्राह्मण-मुठियों से अर्थात् अग्निमन्त्र हुआ है—

'अग्ने ! महौं २॥ ऽ अग्नि ब्राह्मण्य भारत' इति। (निगदमन्त्रः)। (अथ मन्त्रव्याख्या) प्रथम अग्निः, तस्मादाह- 'ब्राह्मण्य' इति। स हि देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्मात्- 'भरतो' 'ऽग्नि' रित्याहुः। एष उ वा ऽ इमाः प्रजा प्राणो भूषा विमत्ति, तस्माद्वाह- 'भारते' ति। (शत० वा १।५।२५)।—की० वा० ३।५ (ते० वा० ३।५।३।१)।

रक्ता=कोपावेज्ञाद् रक्तमुखनेत्रा रुद्धा' रुष्टा=रोपयुक्ता यावत् मिसिमिसे-
माणा' मिसमिसन्ती=क्रोधज्वालायाऽन्तर्दाहममन्विता सती धन्यस्य सार्धं
वाहस्योपरि 'पशोस' पद्रेप=पकृष्टद्रेपम् भावज्जड' भापयते=णामोति ॥ सू० १० ॥

मूलम्— से धणणे सत्थवाहे अन्नया कयाड मित्तनाइ

नियगसयणसवधिपरियणेण सएण य अत्यसारेण रायकजाओ
अप्पाण सोयावेइ, सोयावित्ता चारगसालाओ पडिनिक्खमइ पडि
निक्खमित्ता जेणेव अलकारियसभा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता
अलकागियकम्म कारवेइ, कारवित्ता जेणेव पुम्करिणी तेणेव उवा
गच्छइ, उवागच्छित्ता अह धोधमट्ठीय गेण्हइ, गिण्हित्ता पोक्खरिणी
ओगाहइ, आगाहित्ता जलमज्जण करेइ करित्ता ण्हाए कयवलिकम्मे
जाव रायगिह नगर अणुपविसइ, अणुपविसित्ता रायगिहनगरस्स
मज्झमज्जेण जेणेव सए गिहे तेणेव पहारेत्थ गमणाए । तएण
त धणण सत्थवाह एज्जमाण पासित्ता रायगिहे नगरे वहवे नियग
सेट्ठिसत्थवाहपभियओ आढति परिजाणति सक्कारेति सम्माणेति
अच्चुट्ठेति सरीरकुसल पुच्छति । तएण से धणणे सत्थवाहे जेणेव
सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जा वि य से तत्थ
वाहिरिया परिसा भवइ, तजहा—दासाइ वा पेस्साइ वा भियगाइ

दासचेटक के मुख से इस गमाचार को सुनकर वह भद्रा सार्धवाही
एकदम क्रोध से लाल मुख नेत्रवाली बन गई, और रोप से युक्त हाती
हुई क्रोध ही तीव्र ज्वाला से नीतर ही नीतर जलने लगी । इस
तरह उसने धन्यसार्धवाह के ऊपर पकृष्ट द्रेप भाव को धारण कर लिया । सूत्र १०

आ रीते पाथक वासयेटक्या भाधी सभाथार साभणीने जद्रा भायो येकदम
क्रोधधी दाह मोण थध अथ, अने ते क्रोधनी ज्वाणभ्योधी सणअवा दाणी. आ
प्रभाये तेन्य मनभा धन्य सार्धवाह उपर सपत्त रोप भाव भाये ॥ सूत्र १० ॥

इसलिए सम्भव बनता आया है कि, जिस मूलसंस्कृतिनिष्ठा से प्रायश्चित्त सम्भव बना करते हैं दर्म्यन्वय भाव भारतीय धर्मात्मन के द्वारा ही उन्हीं दिग्देशकालान्मोहन से स्वतन्त्रता निरपेक्षता ही मूल ही रही है भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के प्रति इति तु महाहर्माग्यम्—भारताग्निप्रतीकमृतस्व—वरास्यास्य स्वयं स्वयंभारमकस्य—भारतस्येति अत्राप्ययमेव ।

५१८—भारत की अखण्डता के मूलाधारभूत सांस्कृतिक-आगरा के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधान में प्रतीक, और प्रतिरूप-शब्दों का संस्मरण, एवं प्रतीक-माषानु-बन्धी अङ्ग की मध्यस्थता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्या जिस उद्यम से भारतीय मानव की तथाविधा सांस्कृतिक-आगरा सम्भव होगी? नन खेती, एकमात्र इस प्रश्न के समाधानान्नेय्य के लिए ही तो 'दिग्देशकालपीमांसा' प्रयुक्त हुई है इसके मूलाधार दो शब्द बने हुए हैं—एक तो 'प्रतीक' और दूसरा 'प्रतिरूप'। जिस दिन भी भारतीय मानव इन दोनों शब्दों के चिरन्तनेच्छिप्त का स्वतन्त्रता सम्बन्ध कर लेगा उन्हीं दिन और उन्हीं क्षण इतनी प्रसुप्ता भी सांस्कृतिक-निष्ठा बाधक होकरेगी। सांस्कृतिक-भारताग्नि की प्रतीकदाने ही इसे सांस्कृतिनिष्ठा से परक मुक्त बना दिया है। अबतक ही यह भूलकर—यह भारतभूमि उस भारतान्नि की प्रतीकभूता है। तभी तो इच्छा-भारत नामकरन हुआ है। किन्तु 'प्रतीक' क्या ही 'अङ्ग' 'अपेक्षित हुआ करते हैं। प्रतीकों का उपयोग एकमात्र यही है कि उद्धार लक्ष्य की ओर निष्ठा प्राप्त हो पाय। किन्तु जब प्रतीकसमक दृष्टान्त ही स्थिरान्त बन जाते हैं तो लक्ष्य विहीन होजाता है एवं उच्छ्रान्त अचेतन-अङ्ग-भौतिक-प्रतीकों से सम्बन्ध रखने वाले सादि-छान्त-मूष-मूल-दिग्देशकालान्मोहन आगराक होकरेते हैं। एव प्रतीक-माष्येन लक्ष्य की उपासना करने वाले चेतनपुरुष (मानव) का सर्वस्व लक्ष्य प्रतीक मक दिग्देशकालान्मोहन ही बन जाता है। उस समय चेतन विस्मृत हो जाता है अपने ही चैतन्य से यह स्वयं भी सर्वथा अङ्गमाष में ही परिणत होजाता है एव इसके सम्पूर्ण लक्ष्य भी अङ्गसमक प्रतीक ही बन जाते हैं। इसी प्रतीकमक्षि ने आज सर्व-मलयक की 'भारतराष्ट्र' मान लिया है जबकि यह तो केवल 'भारतराष्ट्र' का अङ्ग-माषम-प्रतीक-माष ही है।

५१९—अङ्गमाष्यों के विशेषक पुरातत्त्वविदों के द्वारा ज्वंसाक्षरों का अन्वेषण, सर्वनुप्राप्ति 'पुरातत्त्वानुसंधान', एवं तद्द्वारा ही भारत के अतीत गौरव का संरक्षण-प्रयास—

यह थोड़ी समझने वैसी है। भारतीय इतिहास के, तथा पुरातत्त्वों के विशेषक-संशोधक सांस्कृति-निष्ठा विद्वान् आज बाहर हो रहे हैं भूमिस्थ तथा भूपृष्ठस्थ अक्षरों-अक्षरिण-अक्षरिण-मृकमस-उदराक्षरिण-सर्वविशेषी (टीकरी)—सुकर्ण-रजत-सोना-आदि की मुद्राविशेषी के अन्वेषण-प्रयास के लिए। नन कि इसी अन्वेषण के आधार पर न भारतीय सांस्कृति का मूल-शुद्ध-रूप स्पष्टीकृत कर देने के कुछ स्वयं हल रहे हैं। वही भी, वन भी जो भी कुछ दृश्य-श्रुत्य-वस-गता-वीर्य-वीर्य-मूष-भौतिक पदार्थ नन उपलब्ध ही जाता है हीक पढ़ते हैं व उतरी ओर, एव अपने परिकल्पित माष्यरवा के अनुयाय से इन

एव वृत्त। समाणी हट्ट जाव आसणाओ अचमुट्टेड अचमुट्टिता
कठाकठि अवयासइ खेमकुसल पुच्छइ पुच्छिता पहाया जाव
पायच्छित्तो विउलाइ भोगभोगाइ भुजमाणी विहरइ ॥ सू ११ ॥

टीका—‘तएण स घण्णे’ इत्यादि—तत स्वलु म धन्य माथवाह
अन्यथा दत्ताचित् मित्रजातिनिजक मजनमन्धपरिजनेन=मित्रशान्तिप्रभृति
द्वारा स्वकेन च अथमारेण’ अर्थमारेण=वहू मूष्यरत्नादिना यत्तु मूष्यरत्नादि
ममर्पणेनेत्यर्थं रायकज्जाओ’ राजकार्यात=राजसङ्कटात् आत्मान=स्वर्क
‘मायावड माचयति, मोचयित्वा=मुक्ता भूत्वा चारुशालाया प्रतिनिष्का
मति, प्रतिनिष्क्रम्य यत्रैव ‘अलंकारियसभा’ अलङ्कारिकसभा=नामिकाशाला-
भीरुकर्मादिशरीरसम्भारस्थानमित्यर्थं, तत्रैवापागच्छति उपागत्य अलंकारि
यस्य’ अलङ्कारिककर्म=नखकेशमण्डनादिकर्म कारवेड’ कारयति, कारयित्वा
यत्र पुण्यरिणी’ पुण्यरिणी=वर्जुलवापी तत्रैवापागच्छति उपागत्य-अथ

‘तए ण स घण्णे मत्थवाह अननया कयाड’ इत्यादि ॥

टीकाध—(तएण) इसके बाद (से घण्णे सात्थवाहे) उस धन्यमार्थवाहने
(अननया कयाड) किसी एक समय (मित्रनाडनियगमयणसथधिपरियणेण)
मित्र शान्ति, निजक मजन मयरी परिजनों द्वारा (स्वकेन
अथमारेण) अपने वहू मूष्य रत्नादि भेट राजाको समर्पण करवा कर
(रायकज्जाओ अप्पाण मोयावेड) राज्य सङ्कट से अपने आपको मुक्त करा
लिया। (मोयावित्ता चारुशालाओ पड्डिणिक्खमइ) जब वह मुक्त गोपि
हो चुका—तत्र कारागार से बाहर निकला (पड्डिनिक्खमित्ता जेणेव
अलंकारियसभा तणव उवागच्छइ) बाहर निकल कर वह जहां नामिका
की दुकान थी—रहा गया—(उवागच्छित्ता अलंकारियकम्म कारवइ)

तएण से घण्णे मत्थवाहे अननया कयाड’ इत्यादि ॥

टीकाध—(तएण) त्थर पथी (से घण्णे मत्थवाहे) धन्य मर्थवाहे (अथवा
कयाड) केअं अेक पथते (मित्रनाडनियगमयणसथधिपरियणेण)
पेताना मित्र शान्ति स्वजन, सथधी अने परिजनेो दाग (स्वकेन अथमारेण)
अहु किमती रत्नेो पगेरे समर्पणु करवीने (रायकज्जाओ अप्पाण मायावेड)
सन्ध सङ्कटमाथी पेतानी अतने धिरावी (मोयावित्ता चारुशालाओ पड्डिणि
क्खमइ) अथरे ते सुकत धमेथेो अहेर करवामा आव्ये, त्थरे ते वेदमाथी
अहारे निकलेो (पड्डिनिक्खमित्ता जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छइ)
अहारे नीकणीने ते दुबामनी दुकान उपर गथे. (उवागच्छित्ता अलंकारियकम्म

वेदशास्त्रमोहन, सर्वोपरि निर्दोषतागमिता लोकेयता । वहाँ से, जैसे यह एषया, वे-पुरातत्वविद्यम्बुय इत मारुतगुरु की स्वस्था-महाकिस्या मी प्रका में सहस्य प्रकित हो पके । प्ररन का एम्मात्र प्रचान उतर वो है- 'संस्कृति-साहित्य की सत्तासापेक्षता', और वृषय कारण है 'प्रतीक्या भूतदृष्टि का अचानुकरय' । प्रतीक्य-दृष्टि के सम्पूर्ण अर्थ्यकलाप भूत से ही उपरन्त होते हैं । सर्वम्बुयक-अनन्तजग, तदनुभाकित अनन्तकाठ अनन्तादिक-अनन्त-वेरा-नामक कोरें तत्व वहाँ आनतक स्पष्ट ही नहीं होसता है । अपितु उनके सम्पूर्ण-परीषय भूत से ही उपरन्त हैं एवं भूतपर ही परित्माप्त है । अथरय ही शासनकालनिकषना 'सम्भता' के परिषय नामक इतिहासो का मापदण्ड वे अंशवशेष ही बनते आए हैं । किन्तु 'संस्कृति का कदापि इन मौलिक प्रतीक्यों से कोरें मी तो सम्भव नहीं है । वहाँ सम्भ्यता ही संस्कृति है, जबकि वहाँ-संस्कृति के एकाश में ही सम्पूर्ण सम्भ्यता समाधिष्ट है ।

५२२-मारत, तथा मारतेतरदेशों के संस्कृति-सम्भ्यता-शब्दों के समन्वय में महान् अन्तर एवं तदनुपातेनैव मारतीय संस्कृति-सम्भ्यता-शब्दों के चिरन्तन इतिहास का समन्वय-प्रयास—

उन की संस्कृति का आचार सम्भ्यता है एवं सम्भ्यता का आचार दिग्देशकाल है अथ कि मारतीय वन्द्यता का आचार संस्कृति है तथा संस्कृति का आचार दिग्देशकालातीत अनन्तजग है । उन की सम्भ्यता-संस्कृति 'अल के गर्भ' है, एग वहाँ का काल 'संस्कृति-सम्भ्यता' के गर्भ में है । उन को अल शिप अलता है एम वहाँ की अविपका अल पर आरुट है । उनकी आचारभूमि-कालो अवरयो बहति है वो इन की आचारभूमि 'तमाराइन्ति कयो विपरिषता' है । उनका उद्देश्य दिग्देशकाल तथा तदनुकम्बी भूत है वो इनका उद्देश्य दिग्देशकाला तीत अनन्त जग है । अतएव उनके शिप अलशेष ही तत्व प्रान्तरत्व-पुरातनत्व-पुरातत्व है वो हमारे शिप संस्कृति का स्पेराशाहाक दिग्देशकालातीत अतएव समकालिक अविशाल ही 'तत्व' है, वही पुरातनत्व है, वही प्राचीनत्व है । उन की दृष्टि में अविशाल कण्डहर है अज्ञा गला है अतएव निस्तत्व है तो वहाँ की दृष्टि में अणुणु में 'अलकरोष' नाम से ही उद्घोषित अतएव मानव के प्राकृत्तिक-मौलिक-अपरिषय-जीवन के शिप मी-उनकी दृष्टि में मी अनुपगुरु-ने सब भूत-मौलिक शेषपरिषह निस्तत्व ही है गले-उके ही हैं । और आब पुर्माप्यवय अविदृष्टि के स्वरूप को निरमृत कर देनेवासे साब ही प्रतीक्य दिग्देशकालानुनिबनी मूतदृष्टि को ही अपना सर्वोप्य मान बैठने गले हम मारतीयों मी उनकी मन्व्यता मी को उनकी मी माप्य में इन जगडहर-मर्दान एम निगरय-वर्षातमक गौरवों को ही 'पुरातत्व' अना कहलवाना आरम्भ कर दिया है । तिस कार्यनिष्पन्न ऐस्य मौलिक-परीक्यामोहन पुरातुगी में अत्यथ कर बल्ला या उठी को आब के इस प्रतीक्यगु के मौलिक निशानकारने अलमना पुषित-सकृति ही कर दिया है । अतएव आब 'तत्व' नाम से 'दार्शनिकतत्व' तथा 'पुरातत्व' य दो ही तत्व मारतीय-प्रका में प्रधान बने हुए हैं, जबकि दोनों का ही मारतीय-आचारभूमि वरिदृष्टिक तत्व से तो अस्पष्ट मी नहीं है ।

एव वृत्त। समाणी हट्ट जाव आसणाओ अचमुट्टेड अचमुट्टिता
कठाकठि अवयासडे खेमकुसल पुचउइ पुचिउत्ता पहाया जाव
पायच्छिता विउलाइ भोगभोगाइ मुजमाणी विहरड ॥ सू ११ ॥

टीका—'तएण स धणणे' इत्यादि—तत ग्वलु म धन्य मार्ववाह
अन्यदा कदाचित् मित्रज्ञानिनिजक स्वजनमन्त्रिपरिजनेन=मित्रज्ञानिपभृति
द्वारा स्वकेन च अस्थमारेण' अर्थसारेण=बहुमूल्यरत्नादिना चट्टमूल्यरत्नादि
समर्पणेनेत्यय रायकज्जाओ' राजकार्यात्=राजसङ्कटात् आत्मान=स्वय
'मायावेड माचयति, मोचयित्वा=मुक्ता भूत्वा चारकशालाया प्रतिनिष्ठा
मति, प्रतिनिक्रम्य यत्रैव 'अलंकारियसभा' अलङ्कारिकसभा=नामिकाशाला-
वीरगमादिशोरसम्भारम्यामितिर्थ, तत्रैवापागच्छति उपागत्य अलंकारि
यकम्म' अलङ्कारिककर्म=नवकेसमण्डनादिकर्म कारवेड' कारयति, कारयित्वा
यत्रैव पुत्रवरिणी' पुत्रवरिणी=वर्तुलवापो तत्रैवापागच्छति उपाग य-अय

'तए ण से घणणे मत्थवाइ अन्नया फ्याइ' इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तएण) इसके याद (से घणणे सात्थवाहे) उस धन्यमार्थवाहने
(अन्नया कयाइ) किसी एक समय (मित्रना नियमयणसयधिपरियणेण)
मित्र ज्ञानि, निजक स्वजन सयरी परिजनों द्वारा (स्वकेन
अस्थमारेण) अपन बहु मूल्य रत्नादि भेट राजाको समर्पण करवा कर
(रायकज्जाओ अप्पाण मायावेड) राज्य सकट से अपने आपको मुक्त करा
लिया। (मोयाविष्ठा चारगसालाओ पडिणिकवमइ) जब वह मुक्त होपि
हा चुका—तय कारागार से बाहर निकला (पडिनिक्खमिच्चा जेणेव
अलंकारियसभा तेणव उवागच्छइ) बाहर निकल कर वह जहा नाभिन
की दुकान थी—रहा गया--(उवागच्छिता अलंकारियकम्मं कारवेड)

तएण से घणणे म धवाहे अन्नया फ्याइ' इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तएण) त्थार पडी (से घणणे मत्थवाहे) धन्य मार्ववाहे (अन्नया
कयाइ) कांठ अथ वपते (मित्रनाइनियमयणसयधिपरियणेण)
पोत्ताना मित्र ज्ञानि स्वजन, सभंधी अने परिजनों द्वारा (स्वकेन अस्थमारेण)
अट्टु किमती रत्ना वगेरे समर्पण करवावने (रायकज्जाओ अप्पाण मायावेड)
राज्य सकटमाथी पोत्तानी अतने छेअवी (मोयाविष्ठा चारगसालाओ पडिणि
क्खमइ) अतरे ते मुक्त थयेथे अहेर कस्वामा आव्ये, त्तारे ते वेवमाथी
अहार निकल्ये (पडिनिक्खमिच्चा जेणेव अलंकारियसभा तेणव उवागच्छइ)
अहारा नीअवीने ते अन्नमनी दुकान उपर गये। (उवागच्छिता अलंकारियकम्म

इस में 'अनन्तता' अभिव्यक्त हुई है। आचार का अयोरणीयान् भान् ही इस मानव के महतीमही-
चान-भार का एकमात्र महान् बीज (महत्पररूप बीज) है ।

५२५-भूवाधिष्ठिता वैश्वानराग्निं श्रीं सांस्कृतिकता, श्रीं हमारी गृहस्थाचारपद्धति—

आप प्राणानि भी बात करते हैं। भारतीय मानव ही अग्नि-परिपाककर्ता प्रसिद्ध भूवाग्नि (पूरे
के अग्नि) की भी 'वैश्वानर' का प्रतीक मान कर उसे स्मृत करना (वैश्वानरवर्षण-वैश्वानर विमाने को +)

+ स्तोत्रत्रिलोकी के पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नामक त्रित्त (E)-पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१)
स्तोत्रात्मक इन तीन पार्थिव विरवी के क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-नामक तीन 'नर' (नायक-अभि-
ष्टावा देवता) माने गए हैं। इन तीनों नरों के 'दानुनपत्र' लक्षण अन्तर्ग्राम सम्बन्ध से उत्पन्न छापचर्मा
वैश्वानरनामक त्रिमूर्ति अग्नि का ही नाम-'विरवम्य-पृथिव्यान्तरिक्षस्य लोकेभ्य-नरभ्य-अग्नि-
वाय्वादित्येभ्य-उत्पन्ना-अग्निरेव-वैश्वानर-इत्यदि निर्वाचन के अनुसार वैश्वानर है, वैश्वानर
निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

“स वा स वैश्वानर-इमे स लोकः । इमेष पृथिवी विरवम्, अग्निर्नरः । अन्तरिक्षमेव
किष्णम्, वायुर्नरः । द्यौरेव विश्वम् आदित्यो नरः (शतपथब्रा० ६।३।१।३) ।

‘आ सो दां मात्वापृथिवी वैश्वानरो ऋते सूर्येभ्य’ इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार मन्त्रोक्त से सूर्यलोक
पर्यन्त अन्त त्रैलोक्यप्राणमूर्ति श्री वैश्वानराग्नि आधिदैविक-वैश्वानर’ है। किसी ही प्राणियों के उक्त
'आप्यात्मिक-वैश्वानर' की अभिव्यक्ति हुई है जो 'जात्राग्नि' रूप से अर्द्धविष मुक्त अन्न का परिपाक करता
रहा है एवं जिस इस आप्यात्मिक वैश्वानराग्नि का ही अन्नान् ने निम्नलिखितरूप से स्मरण किया है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राश्निनां देहमाश्रितः ।

प्राश्नापानसमायुक्तं पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

—गीता १५।१४।

आधिदैविक-आप्यात्मिक-वैश्वानराग्नि का ही मूर्ध-अन्त मौक्तिक-वेदोपरिमण्डल वह तीव्र
'आधिभौतिक-वैश्वानर' है जिसे लोकव्यामान् में 'अग्नि' कहा गया है। किसी कि सूर्यास्त पर अग्नि-
मूर्धो रश्मिवां प्रत्यक्षरूप से अभिव्यक्त होती रहती है। भूवाग्निस्वरूप इसी आधिभौतिक वैश्वानर अग्नि का
स्वरूप-विरलेपण करते हुए अग्नि ने कहा है—

अग्निं त मन्ये यो 'वस्तु' रस्तं यं यन्ति धेनवः (रश्मयः) ।

अस्तमर्वन्त आश्वोऽस्तं नित्वासो वाजिन इषं स्तोत्रम्य आमर ॥

—ऋक्सं० १।१।१।

आदिति' आद्रियन्ते हृदयेन 'परिजाणति' परिजानन्ति=सुस्वागत श्रेष्ठिन' इति तस्यागमनमनुमोदयन्ति 'सकारंति' सत्कारयन्ति मधुरवचनै, सम्माणेति' समानयन्ति विविधवस्तुसम्पणेन, 'अभ्युद्धेति' अभ्युत्तिष्ठन्ति विनयार्थमभिसुद्धमुत्तिष्ठति शरीरकुशल च पृच्छन्ति। तत खलु=तदनन्तर स धन्य सार्थवाहो यत्रैव म्वक गृह तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य यापि च तस्य तत्र वाद्या परिपद्=गृह्यद्विर्वर्जितजनसमुदाय, 'तजहा' तद्यथा- म यथा 'दामाङ्गा' दामा इतिवा दामा=गृहदासी पुत्रा 'पेस्ताङ्गा वा'

चन्ना- (तएण त धणं मत्थवाह एज्जमाण पासित्ता रायगिहे नयरे वहवे नियगसेट्ठिसत्थवाहपमियञ्चो आत्ति परिजाणति सकारंति सम्माणेति अभ्युद्धेति शरीरकुशल पुच्छति) घर को आते हूण उस धन्य सार्थवाह को जय राजगृह नगर में निज श्रेष्ठी सार्थवाह आदि लोगोंने देखा तो उन लोगों ने उमका हृदयसे खूब आदर किया- आपका स्वागत हो" इस प्रकार कहकर उसके आगमन की खूब अनुमोदनाकी मधुर वचनों द्वारा उसका खूब सत्कार किया। अने वस्तुओंको भेट म देकर खूब सन्मान किया। अपनी विनय प्रकट करने के लिये उसके सम्मुख आने पर उठ बैठे शरीर में कुशल समाचार पूछे। (तएण से धण्णे सत्थवाहे जेणेव सए गिहे तेणेव उपागच्छइ) इसके बाद धन्य सार्थवाह जहां अपना घर था गया (उवागच्छित्ता) जावि य से मत्थ वाहिरिया परिसा भवइ) वहा जाकर उसका जो जरक वाहर के लोगों का समुदाय था-(त जहा) जैसा-(दामाङ्गा वा पेस्ताङ्गा

एज्जमाण पासित्ता रायगिहे नयरे वहव नियगसेट्ठि मत्थवाहपमियञ्चो आत्ति परिजाणति सकारंति सम्माणेति अभ्युद्धेति शरीरकुशल पुच्छति) राजगृह नगरना निजक श्रेष्ठीयो, सार्थवाहो वगेरेको न्यारे धन्य सार्थवाहने घर परइ जत्ता जेया त्यारे तेज्जे वधाजे मणीने तेमनु इहय पूर्वक भूण ज सरस रीते सन्मान कथुं " तमाइ स्वगत छे " आ रीते तेना आगमनने अतुमोहन आभ्यु मधुर वचनोशी वोटोके धन्य सार्थवाहने सत्कार क्यो तेने वोटोके अनेक वस्तुज्जे वेटमा आपी. विनय जताववा भाटे ज्यारे धन्य सार्थवाह वोटोनी सामे पडोअ्या त्यारे तेज्जे जेवा थइ गया अने तेमजे शरीरनी कुशलता पूछी (त एण से धण्णे सत्थवाहे जेणेव सए गेहे तेणेव उपागच्छइ) त्यार पाइ जया तेनु घर इतु त्या गये (उवागच्छित्ता जावि य से मत्थ वाहिरिया परिसा भवइ) त्यां घरनी अहार तेना घरना भाणुसेना समुदाय जेको थये इतो (त जहा)

प्रतिरूप हैं अनन्त के ही महामहिमानुगत विवक्षित हैं, अतएव नमस्य हैं प्रथम्य हैं, स्वयं-शिव-हृन्तरम् हैं । अनन्ता महात्मानुगति ही इस अनन्तमहिमानुगति की एकमात्र आधारभूमि है जिस का अनामवादी केवल-भूतवाणी अतएव शून्यवादी के साथ तो सम्बन्धित नहीं है । मले ही ऐसा शून्यवादी परवम्बकता-मात्र के लिए, मानवता-मानवधर्म-विरहित-अहिंस-ऊच-कृष्ण-दया-शितिक्षा-नीतरगता-सादि के मौखिक शान्दिक प्रदर्शन-करना करता रहे, कदापि उसे यथाभवाचारिक्य अनन्तात्मानुगत महिमात्मक स्वयं-शिव-हृन्तरम्-के जो स्मरण का भी अधिकार नहीं मिल सकता जब कि हम तो ऐसे शून्यवादी मानवधर्मों को भी एकमात्र अपनी आस्था-अज्ञा-के संरक्षण के लिए अपनी ओर से उन्हें भी अनन्त ब्रह्म के ही महिमानुगत 'अथ तर मान लेते हैं । मान लिया है हमारे पूर्वपुरुषों ने जिस इस हमारी अज्ञानता अथवामानवता को देख चुन कर भी तो अभिनिष्ठ महानाभ भारतीय ऋषिऋषिकृति के संस्मरण की कठिनाता से अपने आप को विमुक्त ही बनते रहते हैं बिन ऐसा को भी हम तो मुहुमुहु अपनी अज्ञानशक्तियाँ ही समर्पित करत रहेंगे एव उन के लिए भी-मा करिचद्-तु सभाप् मचेत् वैरी महालक्ष्मणा ही अन्त करते रहेंगे ।

५२७-प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव से अभिव्यक्त बौद्धिक शब्दात्मक प्रतीक, तथा मौखिक-अथात्मक प्रतीक—

वस्तुस्थित्या-प्राकृत मानव अनन्तप्रकृति का प्रतीक नहीं, अस्तु 'प्रतिरूप' है । ऐसे प्रतिरूप अनन्त-मानव का प्रतीक है प्राणात्मिक मायात्मि एव प्राणात्मिक से सम्बन्धित अनन्त प्राकृतिक मानव की दिग्देश-असादीया अनन्ता सहस्रकृति से सहस्ररूपैय विनिर्गता प्रतीकशक्ति का शब्दशक्ति का नाम है—'शब्दशास्त्र' एव ही अनन्तमानवामि के प्रथमरूप-उच्छिन्नरूप-भूतमात्रा-माग का नाम है प्रतीकरूप-मूलरूप भूमस्वस्व एव उच्यते रूप मातृवेष । यो अनन्ता प्रकृति के प्रतिरूपात्मक अनन्तमानव से बौद्धिक प्रतीक, तथा मौखिक प्रतीक मेद से ही प्रतीक्याय अभिव्यक्त हो रहे हैं । प्राणात्मिप्रधान-बौद्धिक प्रतीक का नाम है—'शब्दप्रतीक' एवं भूतान्निप्रधान मौखिक प्रतीक का नाम है—'अर्थप्रतीक' । तदित्यं अनन्तमानवरूप प्राकृतप्रकृति के शब्द अर्थ-रूप से ही प्रतीक निष्पन्न हो जाते हैं ।

५२८-प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव, तथा प्रतीकात्मक सादिसान्त मानव के स्वरूपमेद का विगृह्यण, एवं तदनुगत उभयात्मक प्रतीकमात्रों का पाथक्य, और अथि मानव-सोक्तमानव के विभिन्न-स्वरूप—

अनन्तप्रकृति के अनन्तप्रतिरूप मानवों तथा सादिसान्त प्रतीकमानवों का होकर का अन्तर है । दोनों ही मानव 'प्राकृत' हैं दोनों ही शब्दप्रतीक, तथा अर्थप्रतीक के अभिव्यक्त, किन्ता सदा हैं, इस में तो अर्थ अन्वेष नहीं । अन्तर दोनों में है केवल अनन्तता एव अन्तता का । अनन्ता प्रकृति का अनन्त 'प्रतिरूपमानव' (आत्म-बुद्धि-मन-शरीरत्मक मानव) अनन्त अक्षयिभूय के माध्यम से अनन्त शब्दों का तथा अनन्त मायात्मक अर्थों का अभिव्यक्त करता है । एवं अनन्तप्रकृति का सादिसान्त प्रतीकमानव (मनःशरीर माय मानव) सादिसान्त-दिग्देशकाल के माध्यम से सादिसान्त शब्दप्रतीकों का तथा तथापि ही अथप्रतीकों

५३०—चिरपुरातन प्रतीकात्मक शास्त्र की चिरनूतनता, एवं इस की शारङ्ग-उपयोगिता—

इसी अन्त्य के माध्यम से अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, अनन्त मानव के माध्यम से विनिर्मुक्त सहज-नित्यशब्द का नाम ही 'अनन्त शब्दराशि' है, इसी का नाम है 'अनन्त वेदशास्त्र' (अनन्ता वा वेदा-पे वा) । प्रतिक्रमात्मक मानव का प्रथम-आचार वेदशास्त्र ही 'संस्कृति' नामक विषय है, वही भारतीय परिभाषा में प्राक्वत्त्व-पुरातनत्व किंवा पुरात्व है, जिस के माध्यम से ही भारतीय सांस्कृतिक-आचार, सांस्कृतिक-आयोजन सांस्कृतिक-सम्भवा आदि आदि व्यवहार कितनों की व्यवस्था हुआ करती है । अन्ति ऐसा-शब्दशास्त्र त्वनुगत आचारत्मक कथम्य गता सङ्गा-ही कथा । चिरपुरातन ही यह समन्वयात्मक प्रतीक (शब्दार्थप्रतीक, तत्त्व और आचार) चिरनूतन ही प्रमाणित होता रहता है प्रकृति के सूर्य-चन्द्र-पृथिव्यादि प्राकृत प्रतीकों की भाँति । रात-सहसादि ही दिग्देशकालातिक्रमण इत चिरपुरातन-चिरनूतन 'तत्त्व की नई-प्रति नहीं करतने । सनातनता है प्रकृति सनातन है उस के निम्न सनातन है-तन्निमयव्यवस्थापक शास्त्र एवं सनातन है त्वनुमायित आचारत्मक धर्म ।

५३१—मौलिक-संसावशेषों की सांस्कृतिक ? प्रतीकता, एवं पुरातनतात्मकता ? का महान् व्यामोहन—

सकते गलते-बदलते-नब-होते रहते हैं वे प्रतीकशब्द, जो दिग्देशकाल की सीमा में 'अम रूप 'स्वार्थ-वैयर्थिक-स्वार्थ' की आचार कान्तर ही बोले और बुझाए करते हैं । अस्त होता है उन अर्थों-अवस्था अर्थ-निकमों का जो उत्पत्तिक स्वार्थ के लिए ही लक्ष्यीभूत बना करते हैं । ऐसे अ-वकथों को वे ही प्राचीन तत्व किंवा पुरात्व कहा-हुता करते हैं जो वेदमानव की अवेदान्त-वकथों को ही संस्कृति के प्रतीक मानते रहते हैं । बिन की दृष्टि में मानव का कोई मूल नहीं है मानव की X वैदिक रचनाओं का कोई महत्व नहीं है । अन्ति बिन इन पुरात्ववादियों की दृष्टि में महत्व है उन-बीच शीर्ष-मन्त्रावशेषों का बिन का आचारशास्त्र की दृष्टि से कुछ भी तो उपयोग नहीं है पर्यन्त-उत्पादन माध्यम-व्यामोहनों के अतिरिक्त ।

५३२—मानवीया सनातन-संस्कृतिका 'प्रतिरूप' मानव, एवं तत्-प्रतीक सनातनशास्त्र, तथा मानव के द्वारा स्वप्रतिरूपता की अमिम्यन्ति—

'समकिस्रित्-संरक्षण' से सम्भव रहने वाले 'अर्थ' के सम्बन्ध-सम्बन्ध में ही प्रतीक तथा 'प्रति-रूप' मेर से प्राचीनक इतिवृत्त उपरान्त हो पका, जिस अर्थपूर्ण लक्ष्यीभूत अन्तिवृत्त की ओर पुनः पाठकों

X—मुद्रिपूर्वा वाक्यकृतिपेदे (वार्तानिकपुत्र)

५३५—मयानुगत मृत्युभाव, तन्मूला विपमता, तदनुगता अराष्ट्रीयता, एवं समदर्शन मूलक महिमाभाव के प्रति मानव को उत्सृष्टीयन-प्रदान—

इस मय की उपावस्था का नाम ही है दुःख, दुःख की उपावस्था का नाम ही है शोक, एक शोक की उपमाकथा का नाम ही है हृद्गति-का अन्वेषण अर्थात् 'मृत्यु'। यों प्रारम्भिक मय ही इस अन्तिम मृत्युपथ का चरक बन जाता करता है। प्रारम्भिक मय का एकमात्र अर्थ है-हृदयसाम्य का अभाव, इस साम्यभाव का नाम है विपमता एवं विपमता का ही नाम है दिग्देशकालम्बामोहन। निरन्तर अनन्तब्रह्म की अनन्त-प्रकृतिसाक्ष्या अनन्तकालदिग्देशात्मिका अनन्त महिमा में इस अस्वयं-अभारपायी-पटल में उस अमय-अय-अय-अय ही आविर्भूत हो जाती है अतः उत्पत्तिरूप मानव स्वयं-अय-अय-अय दिग्देशकालमात्रों का प्रतीक बनता हुआ उस में स्मरण उत्पन्न कर देता है। यही इन्द्रात्मक विपमभाव है यही इन्द्रा 'द्वितीयता है और-द्वितीयाद्रे मयं भवति। सद्ब्रह्मन्तरं कुरुते अथ मयं भवति' का यही अन्वयार्थ है। 'अपना और पराया' यह द्वैतभाव दिग्देशकालनिबन्धन ही माना गया है। वह मेरा और यह तेरा वह मेरा राष्ट्र, मेरा वंश मेरा समय एवं वह उस का राष्ट्र, उस का देश उस का समय वह 'मेरा-तेरा' ही 'मेरे-तेरे' शब्दों मयात्मक कथाओं की मूलमिति बनता है। 'सभी मरा है, सभी उस कर है' में भी यही है, वह भी यही है। सब उसी एक के महिमाभाव अनन्त विषय हैं। सभी अनन्त है स्व-स्वरूपेण। कहीं किसी के क्षिप किसी का अभाव नहीं है। सब परस्पर अपने अपने महिमाभावों के पूरक हैं।

५३६—परिशामबादात्मक सर्वविनाशक कार्यकारणभाव तन्मूलक बुद्धिवाद, एवं तद्द्वारा महिमाभाव की अन्तर्मुखता—

परिशामबादने सर्वविनाशक कार्यकारणबादने उपाधारभूत दिग्देशकालानुसन्धी बुद्धिवाद्गो ही मानव के अनन्तमहिमाभाव में उदात्मक स्मरण उत्पन्न किए हैं। और वह बुद्धिवाद ही अक्षरूप से मानव को महिमानन्त का स्वरूप समझने ही नहीं देता। जब भी यह अणुमात्र के लिए अपने महिमात्मक साम्य-केन्द्र पर आता है अनुचरण में ही इस की वार्तिकबुद्धि पुनः कार्यकारण के अन्वेषण में प्रवृत्त हो-जाती है। एक ही महिमासाम्य अन्तर्मुख बन जाता है। नहीं! इसलिये कि इस की बुद्धि आचारनिहा से पराङ्मुख बन गई है। आचार में ही वैश्व अन्त है जो इस की बुद्धि को विचलित नहीं होने देता। आचारहीन की बुद्धि में जो वेद नी शुचिता उत्पन्न नहीं करके-आचारहीन न पुनन्ति चेत्। अन्तर ही सभी आचार ही दिग्देशकालानुसन्धी ही हैं। किन्तु वे अनुसन्धी उत अनन्तब्रह्म से ही नियन्त्रित हैं। अत-एव रहते हुए भी वे आचारानुसन्धी दिग्देशकाल मानवबुद्धि को स्मरण से अन्वित नहीं होने देते। यही शास्त्रीय आचार, तथा लोकस्थित आचारशास्त्रों में वह महात् अन्तर है जिस अन्तर को अक्षरबुद्धि से मारदीय अस्मिन्मानव समझ करमुपाय से ही उनके अनन्तब्रह्म का शाब्दिकार किमा एवं अक्षरपर्याय अस्मत्साम्य मूलक प्राकृतिक अर्थों स्मरणियत किए, और यही अस्मिन्मानव की दिग्देशकालमिमांसा का अर्थ उदात्त बना, किन्तु आचार पर ही इस मानवचर के मुख से अक्षररूप से ही-अभयं वे ब्रह्म! मा मेरी-वेला उदात्त-उदात्त विनि-सुत हुआ जिस का अन्वय ही उस तपाक्षिप्त 'अक्षिप्त' संशोधन पर ही अक्षरस्थित है

तत' खलु सा भद्रा धन्य सार्धवाहममवादीत्—कथ खलु मा दवा
नुप्रिय ! मम तुष्टिर्वा यावदानन्दो वा भविष्यति जैण' य खलु त्व
मम पुत्रघातनाय यावत्प्रत्यामित्राय तस्माद् विपुलाद् अशनपानवाद्य
ग्वाघात् सविभाग करोषि ? । तत खलु= तदनु तच्छ्रुत्वा स धन्या भद्राम
मवादीत्—हे देवानुप्रिये ! नो खलु=नैव धम्मोत्ति वा' धर्म इति भा

(तएण सा भद्रा सत्थवाह एव वयासी) इस प्रकार सुनकर भद्रा सार्ध
वाहीने धन्य सार्धवाह से ऐसा कहा— (कहण देवाणुप्पिया ! मम तुष्टी
वा जाव आणदे वा भविस्सइ जेण तुम मम पुत्रघायगस्स जाव पच्चाप्पि
त्तस्म तन्नो विउल्लाओ असण ठसविभाग करेमि) हे देवाणुप्रिये ! मुझे तुष्टि
यावत् आनंद कैसे होगा जो तुमने (कारावत्त मे) मेरे पुत्रघातक यावत् हार्दिक
शुभ्र उम विजय के लिए विपुल मात्रा वाले उम चतुर्विध आहार को विभक्त
कर दिया है। (तएण से घण्णे भद्र एव वयासी) ऐसा सुनकर धन्यमार्
वाहने भद्रा सार्धवाही से ऐसा कहा—(नो खलु देवाणुप्पियाए ! धम्मोत्ति वा
तवोत्ति वा कयपडिकयाइ वा लोमजत्ताइ वा नायएत्ति वा घाट्टिए
वा सहाएइ वा सुह्हिइ वा तन्नो विपुल्लओ असण ठ सविभागे
कए नन्नत्थ सररीरचित्ताए) हे देवानुप्रिये ! मैंने जो उस
चतुर्विध अशन, पान, स्वाद्य एव स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार में से विभाग
कर जा विजय चौर को हिस्सा (कारावासम) दिया है वह सविभागकरण

आ अधु गन्थु नथी ? (तएण सा भद्रा सत्थवाह एव वयासी) आ रीते
धन्य सार्धवाहनी वात्त सावणीने भद्रा सार्धवाहीअे तेभने ठर्द्ध—(कहन्नां देवाणु
प्पिया ! मम तुष्टी वा जाव आणदे वा भविस्सइ जेण तुम मम पुत्र-
घायगस्स जाव पच्चाप्पित्तस्स तन्नो विउल्लाओ असण ठ सविभाग करेमि)
हे देवानुप्रिये ! मैंने आनंद धन्य के उम ? करण के अथारे तमे अेवमा भद्रा
पुत्रना उल्लाराने ते पुत्रण प्रभासुमा गणाववाभा आवेत्ता आहारमाथी भाग
आपत्ता उत्ता (त एण से घण्णे भद्र एव वयासी) त्वारे धन्य सार्धवाह
भद्रा साथीने ठर्द्ध—(नो खलु देवाणुप्पिए ! धम्मोत्ति वा तवोत्तिवा कय
पडिकइयाइवा लोमजत्ताइ वा नायएत्ति वा घाट्टिए वा सहाएइ वा सुह्हिइ वा
तन्नो विउल्लाओ असण ठ सविभागे कए नन्नत्थ सररीरचित्ताए)
हे देवानुप्रिये ! मैंने विजय अागने पुत्रण प्रभासुमा गणाववा आवेत्ता
आर अतना अशन, पान, स्वाद्य अने स्वाद्य रूप आहारमाथी अे ठध पक्ष भाग
आप्ये छे ते तेने भाग आपवे अेधअे आ अतना सविभागकरण रूप धर्मथी

शान्ति सम्पत्ति-बुद्धि-पुष्टि तुभक्तपन्नम में परिणत हो जाती है, एवं अमुक व्यक्तिविशेष की मूल से ही सर्वसम्पन्न-सुसम्पन्न मी परिवारी को धूलधूसरित होता देखा गया, और सुना गया है। ठीक वही स्थिति 'समाज की है, तो यही स्थिति सम्पूर्ण 'राष्ट्र' की है। बिना स्थिति अथ पर्याप्तज्ञान अन्ततोगत्या सम्पूर्ण विरह पर ही होता है। श्रुतिप्रज्ञा तो इस वैयक्तिक-विकम्पन को व्यक्ति की मूल को आगे पल कर 'त्रैलोक्य' विनमन अथ मी कारण मान लेती है। इत्रासुर-दारुकासुर-वियुन्माली-शालकटकुट-यवण शानासुर-कृत-प्रादि प्रादि एक एक ही व्यक्ति अथ बिन की मलासे त्रैलोक्य विकम्पित हो पड़ा था। अतएव व्यक्ति वहाँ अपनी इस अपरिमिता शक्ति से 'महान्' है वहाँ इस शक्ति की उपयोगिता में मल करता हुआ वही महान् व्यक्ति अथार में शीम उत्पन्न करता हुआ 'अधम' उपाधि से मी समन्वित हो जाता है। अष्टाक्ष-सशस्त्रा-वस्तु-प्रचयडा-विजयवाहिनी सेना का प्रत्येक सैनिक महान् है। इन सब महानों की महत्ता के सुपरिकाम-स्वस्म ही प्रतिबन्धी आठवायी परमत्त होते हैं एवं अत्राहं मूल-शान्ति अथ अनुगामी बन जाता है। किन्तु यह समाप्तना किरणस्नीय है कि, इन सहासों महान् सैनिकों में से किसी मी एक मी सैनिक की महत्त्वपूर्ण एक ही मूल से विद्ययोन्युल मी कैम्पन्न परचित हो जाता है। और यी कैमल एक व्यक्ति की अधमता से सम्पूर्ण राष्ट्र को अधमावस्था में आबाना पकवा है।

५४०-एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से विकम्पन-शान्ति, सम्पत्ति, भौमबोध्य, एवं मानव व्यक्ति के महान्, तथा अधम-विषय--

उदाहरण के विपर्यय मी मानव के सम्पन्न उपस्थित होते रहे हैं और हो रहे हैं। एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से निकृष्ट परिवार मी उत्कृष्ट बन जाता करते हैं एक व्यक्ति की योग्यता से समाज अथ मी अनुपम सम्पन्न बन जाता है। तो एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का अर्थकर्म कर देता है सम्पूर्ण विरह की शान्ति अथ अरथ बन जाता है जैसे कि सेना के एक सैनिक की तात्कालिक अमरु मूल से पराजय विभवमी में परिक्रम हो जाती है। ऐस है यह व्यक्ति का व्यक्तित्व और देखी है इस की महत्ता एवं अधमता। क्या रहस्य है इन दोनों प्रतिबन्धी धर्मों का! वही व्यक्तिमानव महान् और अधम-इन दोनों विरुद्ध भावों का अनुगामी कैसे बन जाता है! 'विश्वशास्त्रात्मरूपमीमांसा' कैमल इस समस्या के चिन्तनमात्र के लिए ही तो प्रवृत्त हुई है। बिल्के माध्यम से स्वयं मानव को ही इन परनों अथ सम्मरनात्मक समाधान प्राप्त कर लेना है अपने अन्तर्बगम् में ही।

५४१-सवित्-मूला 'महत्ता' एवं अनुभूतिमूला 'अधमता', तथा सुष-शुष, समम्-ज्ञान, बोध-बुद्धि, इत्यादि द्वन्द्वों का सस्मरण--

इन दोनों विरुद्ध-भावों के अर्थव्यक्त्य के लिए ही 'सवित्, और अनुभूति ने दो शब्द अन्वयीय हुए हैं शब्दशास्त्र के अन्तप्रहिमात्मक माह्वस में लोकमाध्य में बिनके लिए 'सुष-शुष' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, बोधि-समम्-ज्ञान-बोध-बुद्धि' इत्यादि अनेक नामों से प्रविष्ट हैं, एवं बिन इन दोनों भावों के लिए ही पर्य में-समम् बिना सुष मापकी-इत लोकव्यक्ति के अन्वय की चेष्टा हुई है।

कृत, शरीरचिन्ताथमेव तस्म सचिभागः कृत इति भाष्य । ततः खलु मा भद्रा धन्येन सार्थवाहेन एवमुक्ता सती 'हृद् जाव' इष्टयावत्=इष्टतुष्टचित्तानन्दिता हर्षवशविसर्पहृदया आपनात् अभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्त्या । कठाकठे' कठा कण्ठि=कण्ठेन कण्ठ समेव्येत्यर्थ 'अवयासेइ' आश्लिष्यति=आलिङ्गति, आदर-नकारादिक करोति क्षेमकुशल=कुशलवार्त्ता पृच्छति च । कुशलपश्चमोपृच्छय-
 'ण्हाया' स्नाता=कृतस्नाना 'जाव' यावत् 'कयवलिकम्मा कृतर्वालिर्कमा=कृत= सम्पादित बलिकर्म=प्रियागमननिमित्ता पशुपक्ष्यादिप्राणिभ्योऽनादिदानरूप यया सा तथा, 'कयकोउयमगलपायच्छिन्ता' कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्ता कृत कौतुकं=दृष्टिदोषादिनिवारणार्थ मपीपुण्ड्रादिक, मङ्गल= दुस्स्वप्नादिफलस्याग

निवृत्ति के माव से उसे हमने उस चतुर्विध आहार म से घिमक्त कर उसे हिस्सा दिया है (तएण सा भद्रा धण्णेण सत्थवाहेण एव बुत्ता समाणी, हृद्जाव आसणाभो अम्मुट्टेइ अम्मुट्टिता कठाकठि अवयासेइ, खेमकुसल पुच्छइ) इसके बाद धन्य सार्थवाह के द्वारा इस महार कहे जाने पर इति और सतुष्ट हृदय होती हुई वह भद्रा सार्थवाही आमन से उठ कर बैठो, उठकर उपका उसने कठस आलिङ्गन किया और दुःख मादिक क्षेमकुशलकी बात पूछी । (पुच्छिता ण्हाया जाव पायाच्छिन्ता विउलाइ भोगाभोगाइ भुजमाणी विहरइ) पूछकर फिर उसने स्नान किया याघ प्रयश्चित्त किया । और विपुल भोगोंको भोगते हुए वह अरना समय आनन्द से व्यतीत करने लगी । यहा "जाव" पद से (कयवलिकम्मा कयकोउयमगलपायच्छिन्ता) "इन पशों का सूचन किया गया है । इनका भाष यह है कि—प्रिय आगमन के निमित्त को छेकर उमने पशु पक्षी

निवृत्त यवा भाटे तेने हु पोताना चार बतना आहारभायी आहार आपते। उते (तएण सा भद्रा धण्णेण सत्थवाहेण एव बुत्ता समाणी हृद्जाव आसणाभो अम्मुट्टेइ अम्मुट्टिता कठाकठि अवयासेइ, खेमकुसल पुच्छइ) त्थार ण्हाइ भद्रा सार्थवाही अ धन्य सार्थवाहनी आ वात आबणीने इरिंत अने सतुष्ट हृदया धरने तेजे धन्य सार्थवाहत्त आदिजन क्खुं अने तेनी क्षेम कुशलणी वात पूछी (पुच्छिता ण्हाया जाव पायाच्छिन्ता विउलाइ भोगाभोगाइ भुजमाणी विहरइ)पूछीने तेजे स्नान अने प्रायश्चित्त क्खुं तेमअ धन्य सार्थवाहनी साथे विपुल भोग भोगवता तेजे पोताने। वपत सुजेथी पसार करवा भाउथे। अही 'जाव' पदथी ('कयवलिकम्मा कयकोउयमगलपायच्छिन्ता') आ पदोतु सत्थन करवाभा आअु छे अने। अर्थ आ प्रभाजे छे के तेजे प्रिय आगमनत

अनुभूति-ज्ञान-बुद्धि-मातृकता-रूप प्रकृतिमात्रों से बही मानव 'मातृक' है और दोनों ही मानवस्वरूप विरहेस्वरूप से समन्वित विरव की महती विभक्तियाँ हैं स्व-स्व-स्थान-क्षेत्रों में व्यवस्थित-पतिष्ठित रहते हुए । पुरुषानुभव निष्ठा दिग्देशकालातीत है तो प्रकृत्यनुगता मातृकता दिग्देशकालनिष्पन्ना है । तात्पर्य-निष्ठा का क्षेत्र दिग्देशकालीत 'पुरुष' है एवं मातृकता का क्षेत्र दिग्देशकालात्मिक 'प्रकृति' है । क्या तात्पर्य निष्ठा एवं 'तात्पर्य' शब्द का ? स्वयं अपनी 'अर्थ' से ही समन्वय कर लीजिए । क्योंकि तात्पर्य के तात्पर्य का कोर भी तात्पर्य कदापि काशी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता । यदि किया जाता है, तो वह प्राकृत मातृकता-मात्र है ।

५४६—प्रकृत्यनुगता मातृकता, तथा पुरुषानुगता निष्ठा का संरक्षकक्षेत्र, एवं विभिन्न क्षेत्रों में दोनों की समादरणीयता का समन्वय—

इस मातृकता की दृष्टि से ही तात्पर्य शब्द का यही 'तात्पर्य' मान लिया जा सकता है मातृकतासंरक्षकमात्र के लिए कि-मातृकता का क्षेत्र में मातृकता को स्वतन्त्र न बनने देना ही प्राकृत-मातृकता का क्षेत्र संरक्षक है । एवमत्र निष्ठा के क्षेत्र में निष्ठा को स्वतन्त्र न बनने देना ही पौरुष-निष्ठा का क्षेत्र संरक्षक है । क्या तात्पर्य के पुत्रमूत्र इस दृष्टि तात्पर्य के भी पुत्र का अर्थात् पौत्र का भी अ-भोग करना पड़ेगा ? कर लीजिए । क्योंकि यही तो मातृकता की स्वस्व-महिमा है जो आरम्भ करना तो खनती है किन्तु समाप्त करना नहीं जानती । हाँ वा समन्वय कीजिए एवं 'तात्पर्य' के पौत्र का दिग्देशकालात्मिक प्रकृति के क्षेत्र में संप्राप्त्य तो मातृकता का अर्थात् बुद्धि का अर्थात् ज्ञान का अर्थात् अनुभूति का ही है ।

५४७—सविन्मूला अनुभूति का, तत्पूर्वा निष्ठासमन्वितता मातृकता का प्राकृत-क्षेत्र में महान् विजय, एवं प्रकृतिमूला मातृकता के प्रति ही अयोर्ज्यय—

अनुभवशक्ति-संस्काररूप ज्ञान एवं तत्पुत्र बुद्धि ही प्राकृत विरव के तत्पूर्व प्राकृतिक कर्तव्य-कर्मों की प्रवर्तिता बनेगी बनती ही है । अतएव प्रकृति के दिग्देशकालानुसंधी सभी कार्य हैं तो मातृकतापूर्व ही । किन्तु इनकी यह पूर्णता सम्भव नहीं बना करती है बरन्कि इनके मूल में आचाररूप से पुत्रमूला निष्ठा को, अर्थात् भोग को अर्थात् समझ को, अर्थात् अर्थ को अर्थिष्ठित-पतिष्ठित-कर लिया जाता है तो । शक्तिमान के नियन्त्रण से पृथक् हो जाने वाली शक्ति सर्वप्रथम शक्तिमान का ही संहार कर बखरती है, तदनन्तर बही अनियन्त्रिता स्वतन्त्रशक्ति तत्पूर्व शक्तिमानों का संहार कर बिचा करती है । अतएव अनशक्तिरूपा प्राकृत्यनुगता शक्तिमान् पुरुष की निष्ठा से किना निष्ठात्म्य से नियन्त्रित होकर ही आरम्भ कर्म की साक्षात्कारके लक्ष्य-उपलब्धि करने में समर्थ बना करती है । अंत्य तत्पूर्व मातृकता को ही मातृकता का ही है, दिग्देशकाल का ही है बुद्धि का ही है ज्ञान का ही है, अर्थात् प्रकृति का ही है । किन्तु ! इस किन्तु का उत्तर स्पष्ट है ।

६४८—दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में सविन्मूला निष्ठा का साम्राज्य, किन्तु तदाचार से अनुप्रायिता मातृकता का ही आचारपक्ष में प्राधान्य, तथा तद्द्वारा ही नैष्ठिक-पुरुष में श्रुतता का आविर्भाव—

दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में संप्राप्त्य तो 'निष्ठा' का ही है अर्थात् 'भोग' का ही है अर्थात् 'समझ' का ही है अर्थात् 'वर्ण' का ही है । दिग्देशकालातीत श्रुतता ही अन्तर्मात्रक रथानुपुरुष की

वधै = यष्ट्यादिना ताडनरूपै 'कसत्पहारद्विय' कशाप्रहारैश्च दिवसेऽनेकवार
 कशापातरूपै 'जाव' यावत् एव लक्षादिपरिघातरूपैश्च प्रहारै, कृष्णया
 च ह्युघया च परम्भवमाणे' पराभवन् = परिपीडयमानो जर्जरितशरीर
 सन् कालमासे = मृत्युसमये काल कृत्वा नरएसु' नरके पापकर्मिणा
 यातनास्थाने 'सूत्रे माकृतत्वाद् बहुवचनम्' नेरइयत्ताए' नैरयिकतया
 नारकत्वेन 'उववन्ने' उपपन्न = उत्पन्न । स खलु तत्र = नरके नैरयिका जात,
 कीदृश ? इत्याह— 'काले इत्यादि, 'काले' काल = कृष्णवर्ण 'कालोमासे'
 कालावभास = द्रष्टव्या काल इव = मृत्युरिव अवमासते, यद्वा काल = श्याम
 अवभास = दीप्तिर्यस्य स तथा 'जाव' यावत् यावच्छब्देन— 'गभीर
 लोमहरिसे भीमे उतासणए परमकण्ठे वण्णेण' से ण तस्ये निच्च भीए,

य परम्भवमाणे कालमासे काल किञ्चा नरएसु नेरइयत्ताए उववन्ने)
 उन पूर्व पदशिन रड्वादि द्वारा दृढनियंत्रणरूप वर्धा से यष्ट्यादि द्वारा
 ताडन रूप घर्षो से, दिवस में अनेक वार कृत कशापातरूप प्रहारों
 से— लक्षादि परिघात रूप प्रहारों से मूख और पियास से परिपीडित
 होना हुआ— जर्जरित-शरीर होता हुआ काल भ्रसर काल फर
 के ओर पार कर्मों के प्राप्ता स्थानका नरकमें नारकी
 की पर्याय से उत्पन्न हुआ। (म ण तस्य नेरइए जाए) वह वहाँ
 ऐसा नैरयिक हुआ कि जो (काले कालोमासे जाव वेयण पच्चणुमावमाणे
 विहरइ) शरीर में कृष्ण वर्ण वाला देखने वालों को मृत्यु जैसा प्रतीत
 जाता था— अथवा कालो कीसिवाला। या यावत् शब्द से इम पाठ का
 यहाँ और सग्रह किया गया है। (गभीरलोमहरिसे, भीमे, उतासणए
 परमकण्ठे वण्णेण से तस्य निच्च भीए, निच्च तस्ये, निच्च तसिए,

परम्भवमाणे कालमासे काल किञ्चा नरएसु नेरइयत्ताए उववन्ने) पडेवा
 चञ्चन करवाभा आव्या सुञ्च डोरीओना सभत अधने वाडडीओ वगेरेने
 भार अने द्विसभा धल्लीवार करवाभा आवेवा डोरओओना प्रहारो, लता वगेरेना
 प्रहारो मूण अते तरसधी दुभी यतो शिथिल शरीरवाणे यधने आभरे मृत्यु
 पाभ्ये अने पापकर्मोना यातना स्थानरूप नरकमा नारकीनी पर्यायमा वनभ्ये
 (से ण तस्य नेरइए जाए) नैरयिकनी पथ -- (काले कालोमासे जाव
 वेयण पच्चणुमावमाणे विहरइ) शरीरे ओ भेशेवेओ अने ओनावाओ
 ते मृत्यु वेवे प्रथउ वागतो डतो अद्धी (यावत्) शब्धी आ पाठने सअद्ध
 थयो छ— (गभीरलोमहरिस भीमे उतासणए परमकण्ठे वण्णेण स

५५१-पुरुषसूत्र-‘स्व’ तन्त्र’ में समर्पिता प्रकृति की ‘सर्गतन्त्रस्वतन्त्रता’ का तात्त्विक दिग्दर्शन—

प्रतिक्रमता से होता यही है कि, प्रकृति की विगदेशकालासिद्ध मालुक्ता भी सुरक्षित रह जाती है एक अनुसूक्त पुरुष की निष्ठा से इसकी यह मातृकता कृत्स्ननिष्ठा से भी नियंत्रित बनी रहती है। एम यही ‘पर-कत्रानुगता (अभ्यस्यपुरुषतन्त्रानुगता) यह ‘परतन्त्रता’ है जिसके प्रकृति ‘स्व-‘(अव्यक्तपुरुषक) तन्त्र’ में निष्ठापूर्वक प्रतिष्ठित रहती हुई ‘सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता’ बनी रहती है। यही प्राकृत मानव की सर्वोच्च स्वतन्त्रता का चिरन्तनेतिवृत्त है। उक्त आश्रय सेन से मानवप्रकृति की मातृकता में श्रद्धा को अक्षर्य बनवाती है। और इस श्रद्धा से आश्रित मानव महान् भी अक्षर्य ही बन जाता है।

५५२-पुरुषानुशीलनात्मक समर्पण, अनुभूत्यात्मक संस्मरण, एवं दोनों के तारतम्य से अनुप्राणित वास्तविक-वस्तुस्थिति का स्वरूप-समन्वय—

किन्तु बिना इस आश्रयता के समर्पण के इसकी इस श्रद्धामातृकता में निष्ठा का उदय नहीं हो पाता। फलतः ऐसा केवल महान् मातृक अन्वयगतवा अनुभूतिपरामर्श ही बना रह जाता है। इसका संस्मरण बसुरा पक्ष है, किन्तु उसका अनुशीलन अन्वय पक्ष है। संस्मरणत्मक प्रत्यर्पण में निष्ठा का उदय सम्भव ही नहीं है। क्योंकि इसमें अन्वय मूल की अनुभूति, किंवा मातृकता ही प्रधान बनी रहती है। और यहाँ मूल ही मगवान से बड़ा मानता रहता है अपने आपकी मगवान् का शुश्रूषण का कला हुआ भी। इसी मानना-मातृकता से सम्पूर्ण कृत्स्ननिष्ठा सर्वथा ही अभिभूत हो जाती है ऐसे मातृक मूलतत्त्व की विलका सर्वभेद उदाहरण मातृक अनुन से बड़ा बसुरा और बौन होगा ?। ठीक इसके विपरीत अनुशीलनत्मक संस्मरण में कत्राल ही निष्ठा का उदय हो जाता है। क्योंकि अनुशीलन में अनुशीलनकर्ता कृत्स्ननिष्ठ मानव का ‘कृत्स्न स्व’ ही प्रधान बना रहता है। यहाँ अनुशीलनत्मक उचरतामिस्वपूर्ण कृत्स्न का ही अर्पण होता है जिसमें अनुशीलन कर्ता की मानना-मातृकता कल्पना-का अन्वय भी नहीं है। कृत्स्न का निर्धारण यह स्वयं अपनी अनुभूति से नहीं करता। अपितु शास्त्र के द्वारा स्वतामिद निर्धारित कृत्स्नकर्म के माध्यम से ही अनुशीलन-परणय बना रहने वाला यह कृत्स्ननिष्ठ मानव अपनी मानना-अनुभूति-बैसी कोई भी व्यक्ति कस्तु अपने बोध में नहीं रखता।

५५३-मगवान् के मातृक मर्कों, और नैष्ठिक-मर्कों का संस्मरण, तथा-सहज मातृक अनुन की मातृकता का स्वरूप-दिग्दर्शन और मगवान् के द्वारा तक्षिपन्वय—

“मगवान्-मूल-आर मातृकता एवं “मगवान्-मूल-आर निष्ठा’ दोनों में जो अन्तर है यही मातृकमूल में एवं नैष्ठिकमूल में अन्तर है। अनुन नि-अन्वय मातृक मूल या अतएव महान् या। किन्तु इस महत्ता से ही तो मानस्य अभिष्णक नहीं हो जाती। मानवधर्म में आकर अनुभूत करने से नाच-ग-पड़न से ही तो कृत्स्ननिष्ठा का उदय नहीं हो जाता। अतएव क्या हुआ अनुन के लिए मगवान् का आदर ?, बैसी मर्क का बरदान मिला अनुन को ?, गीतामर्कों से प्ररनी के सम्प्रधान परोक्ष नहीं है।

रूप ससार एव कानतार=महाऽरण्य, नत्=मवाटनीमित्यर्थ, 'अणुरियट्टि र्मड' अनुपर्यट्टिण्यति=निरन्तर परिभ्रमिष्यति। 'एवमेव' एवमेव=अनेनैव प्रकारेण हे जन्म ! यत्खलु अस्माक निर्ग्रन्थो वा निर्ग्रन्थी वा आचार्यो पाठ्ययानामन्विके 'पुढो' मुणु, द्रव्यतो भावतश्च मुडितो भूत्वा अगारात्=अनगारितां पप्रजित=प्राप्त सन् त्रिपुलमणिमौक्तिकरत्नकरत्नसारेण 'दुग्धम्' लुब्धयति=मणिमौक्तिकरत्नादि लुब्धा भवति से वि य' सोऽपि च साधु वा माधी वा 'एवमेव' एवमेव=विजयनस्वरवदेव चातुरन्तससार-कान्तारे भ्रमिष्यतीति भाव ॥सू० १०॥

मूलम्—तेण कालेण तेण समएण धम्मघोसा थेरा भगवतो जाइ सपन्ना जाव पुढ्वाणुपुड्वि चरमाणा गामाणुगाम दूइज्जमाणा जेणेव रायगिहे नगरे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छिता अहापडिरूव उग्गह उग्गिण्हित्ता सजमेण तवसा अ-

मार्ग बहुत लवा चोडा हे अथवा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप काल त्रिमता यद्भूत दीर्घ इ—परिभ्रमण करेगा। (एवमेव जयू। जे ण अम्ह निगग्रथो वा निगगी वा आयरियउवज्झायाण अतिए मुद्धे भविषा अगाराओ अणगारिय पन्वइए समाणे त्रिपुलमणिमुत्तपयणकणगरयणसारेण लुब्धम् से वि य एव चेव) इसी प्रकार से हेनयू। जो हमारे निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी साधु माधी जन आचार्य, उपाध्याय के पास द्रव्य माा रूपसे मुडित हाकर अगार स अनगारी अवस्था को प्राप्त करते हुए त्रिपुल मणिमौक्तिक, धन, कनक, रत्न आदि मे लुभा जाते है वे भी इसी तरह चतुर्गतिरूप इस ससार अटवी में भ्रमण करते रहेगे। ॥सू० १२॥

अणु ऋ वाणि अने विन्तार पायेवे छे अथवा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप हाण जेमेने अणु दीर्घ छे—परिभ्रमण करेये. (एवमेव जयू ! जे ण अम्ह निगग्रथो वा निगगी वा आयरियउवज्झायाण अतिए मुद्धे भविषा अगाराओ अणगारिय पन्वइए समाणे त्रिपुलमणिमुत्तपयणकणगरयणसारेण लुब्धम् से वि य एव चेव) आ दीते व वयू ! वे अमारा निर्ग्रन्थ हे निर्ग्रन्थी साधु साध्वीजन आचार्य अने उपाध्यायनी पासे द्रव्य भाव रूपथी मुडित यधने अगारथी अवस्थाने मेणवता अण व भव्ति मौक्तिक, धन कनक रत्न वजेरेमा लोक्षुप यथ वय छे तेजो पणु आ विजय वस्वर जेवा व छे अने तेजो पणु आ प्रभावे व चतुर्गतिरूप आ ससार रूपी अटवीमा परिभ्रमण करवा रहेये. सू. ११२।

‘अह (जीव)’ का कर्तव्य मान बैठने की महाममानक भूल कर बैठता है, तो इस अह रूप चैटन में प्रकृति की ‘बड़ता’ का समावेश होताया है। और ऐस मानप इस अन्तर्या में आकर केवल अक्षप्रकृति ही प्रकृति बना रहजाता है। स्वयं प्रकृतिका अनन्तअक्षिक विस्तार भी इस की अहकारविमूढा विह्वलितअक्ष प्रकृति से परेअ ही बन जाता है* ।

५५६-अहन्तामूला-प्रत्यक्षप्रभावात्मिका भूतखडता के द्वारा कर्षव्यासक्त कुनैष्टिक की ‘विमूढता’, एवं कर्षव्यप्युत की-‘मूढता’—

स्वलादिति-भावलुगत प्रत्यक्ष इह भूत-मौक्तिक पदार्थों का ‘स्वार्थ’ ही इच्छा इस ‘बड़ता’ का आभास-सम्भ बन जाता है। यह अपने धामने की भूतखड को छोड़ कर कल-परवीं का भी विचार कल में अक्षमर्ष बन जाता है। इसी को सम्मूढ कहा गया है विमूढ कहा गया है जब कि केवल भासुक ‘मूढ’ नाम से ही व्यक्त होने योग्य है (नैष्ठिक की अपेक्षा विमूढ बनवा हुआ भी)। ‘अहकारविमूढात्मा’ (गीता १।२५।)- ‘प्रकृत्येगुणसम्मूढा’ (गीता १।२६।)-‘सर्वज्ञानविमूढांस्तान्०’ (गीता १।२७।)-‘इन्द्रियार्थविमूढस्व’ (नैष्पनिफ्त १।१४।)-‘चेतैर्विमोहयत्येषाः’ (गीता १।४।)-‘इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा’ (गीता १।१।) ‘विमूढा नानुपरयसि’ (गीता १।५।१।)-इत्यादि श्रौत-स्मार्त बचन तात्कालिक स्वार्थपरायण-इन्द्रियलुप्त-सर्वज्ञानविमूढ-सम्भ-अक्षमानवों के इस स्वस्व का ही यथोक्तर्णन ! कर रहे हैं जिन्हें हम अपनी अक्षहारभाषा में ‘कुनैष्टिक’-‘तुष्ट’-‘अह’-‘आधरायी’-‘असुर’-‘राक्षस’ ‘नराचम’ पिशाच’-आदि आदि सम्मानित ! उपाधिर्षा प्रदान करते रहना अपना मानवोचित कर्तव्य ही मानते आरहे हैं।

५५७-परदुःखकतर, अतएव विगदेशकालविमूढ अर्जुन-समतुलित कर्षव्यप्युत भासुक मानवों का प्रशंसात्मक, किन्तु अपनी स्वस्व—

अर्जुन-छटा कर्षव्यविमूढ भासुक मानवभ्रष्ट तो केवल भासुक हैं निरपराध-सौम्य जैसे मानव हैं, जो सब दुःख स्वयं सहने के लिए अहोरात्र सखद ही बने रहते हैं ! परदुःख से कातर बन रहने वाले परपेकार की भावनामात्र से सम्निबत ऐसे धर्मनीर भासुक मानव ही अपनी भासुकतापूर्वा अनुसूक्तियों उद्गारों से गदगद करते रहते हैं स्वधमानवर्मा भासुक भावियों का। अर्थापि ऐसे मानवभ्रष्ट भासुक महामानवों से बगर् के अनिष्ट की कल्पना भी सम्भव नहीं है। अर्थापि वे जो उदा बगर् के ‘कल्प्याय’ की ही नामना किया करते हैं-निमित्त दुःख-स्वनिह्वलितअक्ष पुत्रधर्म का उल्ट उद्घोर करते रहने वाले भीतरण सम्पाक्तियों की भाँति किंवा शार्पणिकों की भाँति। मानवकुलम इन का खेदव्य, इन की गरिमामहिमामयी बाणी परदुःखअक्षकमात्र से अक्ष वृक्षाकुलेअक्ष बन जाने वाली इन की भासुक-आकारक-आहृति इत परदुःख-निवारण-अम्नता से ही अपने आप को, परिवार को, समाज को एव सर्वन्त में एत को ही शक्तिभेदि पर हैंछले हैंछले बड़ा देने वाले ऐसे परपेकारी अक्ष-अक्षणा-अक्ष-अर्षिअ-क पुत्रारी मानवभ्रष्ट अर्जुन की जितनी प्रशंसा की गाय, थोड़ी है। किन्तु !।

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वथा ।

अहकारविमूढात्मा कृत्वाहमिति मन्यते ॥

—गीता १।२५।

मर्यादाया विचरन्त 'गामाणुगाम' ग्रामानुग्रामम्=एक ग्रामादव्यवधानेनान्य-
ग्राम 'दृःजमाणा' द्रवन्त =गच्छन्त यत्रैव राजगृह नगर यत्रैव गुणशिलक
'चेइए' चैत्यम्=उद्यान तत्रैवोपागच्छन्ति, उपाग य 'अहापडिरुव' घषामपति-
रूप=यथायोग्य=साधुमयादाहम् उगगह' अत्रग्रह=त्रमतेराज्ञाम् उगिगद्विस्ता'
अवगृह्ण=वनपालसकाशान्मार्गयित्वा समयेन तपसाऽऽत्मान 'भावेमाणा'
भावयन्त =वासय तो विहरन्ति=तिष्ठन्ति। परिपन्निर्गता। धर्म कथित।
ततः खलु तस्य धन्यस्य सार्थवाहस्य बहुजनस्यातिके एतमर्थं भुक्त्वा निश्चय
अयमेतत्तूप आख्यास्मिन्तो यावत् समुद्रपयत एव खलु स्थविरा भगवन्तो

पुष्पाणुपुर्वि चरमागा गामाणुगाम दृःजमाणा जेणेव रायगिहे नयरे
गुणसिलए चेइए तेणेव उवागच्छति) जो कि विशुद्ध मातृवशवाले थे
यावत् तीर्थफरों की परम्परा के अनुसार विहार करते थे। वे एक ग्राम से
दूसरे ग्राम में विहार करते हुए जहाँ राजगृह नगर और गुणशिलक चैत्य
था वहाँ आये (उवागच्छित्ता अहापडिरुव उगगह उगिगद्विस्ता सजमेण तवमा
अप्याण भावेमाणाविहरति) वहाँ आकर वे साधुजन की मर्यादा के अनुसार
वसति की आज्ञा वहाँ के वनपालक से मांग कर समय और तपसे अपनी आत्मा
को भावित करते हुए ठहर गये। (परिस्ता निगया, धम्मो कहिआ तएण तस्स
पणस्स सत्यघाहस बहुजणस्स अतिए एयमद्व सोच्चा णिसम्म इमेयारुवे अज्झत्थिएण
जाव समुपजित्था) राजगृह नगर से परिपद गृह्य आर्ह-भगवान् ने उसे धर्म की
देवना दी। इसके बाद उस धन्य सार्थवाह ने अनेक जनों के मुख से उस
अर्थ-भगवदागमन रूप समाचार-को सुनकर-उसे हृदय में अवधारित

पूर्विक चरमाणा गामाणुगाम दृःजमाणा जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव
उवागच्छति) ३ लेओ विशुद्ध मानवशना इत्ता, अने तीर्थक्षेत्रानी पर परागत
प्रथा मुग्गण विहार करता इत्ता तेओ ओके गामथी धीले गाम विहार करता ल्या
राजगृह नगर अने उल्लु शिखर चैत्य चत्तु ल्या आव्या (उवागच्छित्ता अहा
पडिरुव उगगह उगिगद्विस्ता सजमेण तपसा अप्याण भावेमाणा विहरति)
त्या आवीने तेणे साधुजनेवित्त मर्यादाने अनुसरता त्याना वन पालकनी पासिधी
वास करवानी आज्ञा मेणवीने तप अने समयमधी पेताना आत्माने भाविक करता
त्या शक्या. (परिस्ता निगया धम्मो कहिओ तएण तस्स पणस्स सत्यवा
इस्स बहुजणस्स अतिए एयमद्व सोच्चा णिसम्म इमेयारुवे अज्झत्थिएण जाव
समुपजित्था) राजगृह नगरथी त्या परिपद ओडडी थ्य भगवाने परिपदने सणेधी
ओटवी के धर्म देशना आपी. त्यार पछी धन्य सार्थवाहे धया भावुसेना मोडवी
भगवानेने पधारवानी समाचार साकणीने, तेने हृदयमा अपाधरित करता तेना

‘अहं’ (जीव) का कर्तव्य मान बैठने की महामायात्मक भूल का बैठना है तो इस ‘अहं रूप बैठने में प्रकृति की ‘बद्धता’ का उपापेय होना है। और ऐसा मानना इस अवस्था में आन्तर केवल बद्धप्रकृति ही प्रकृति बना रहना है। स्वयं प्रकृतिज्ञ अनन्तनासिक विस्तार भी इस की अहंकारविमूढा विह्वलितावस्था प्रकृति से परेच ही बन जाता है० ।

५५६-अहन्तामूला-प्रत्यक्षप्रमाणात्मिका भूतबद्धता के द्वारा कर्षव्यासक्त कुनैष्टिक की ‘विमूढता’, एष कर्तव्यव्युत्त की-‘मूढता’—

स्वल्पदृष्टि-मात्रागत प्रत्यक्ष दृष्ट भूत-मौलिक पदार्थों का ‘स्वार्थ’ ही इच्छा इस ‘बद्धता’ का आन्तर-स्तम्भ बन जाता है। यह अपने समने की भूतवस्तु को छोड़ कर कल-परती का भी विचार करने में अवसर्य बन जाता है। इसी को ‘सम्मूढ़’ कहा गया है ‘विमूढ़’ कहा गया है जब कि केवल मातृक ‘मूढ़’ नाम से ही व्यञ्जित होने योग्य है (नैष्टिक की अपेक्षा विमूढ़ बनता हुआ भी)। ‘अहङ्कारविमूढात्मा’ (गीता १।२७।)-‘प्रकृतोर्गुणासम्मूढा’ (गीता १।१६।)-‘सर्वज्ञानविमूढास्त्वाम्०’ (गीता १।१२।)-‘इन्द्रियार्थविमूढस्व’ (मैत्रयुगलिका १।१४।)-‘पैतृर्षिमोहवत्येषः’ (गीता १।४।)-‘इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा’ (गीता १।१।) ‘विमूढा नस्तुपरबन्धि’ (गीता १।५।१।)-इत्यादि शीत-रमाचै बचन वास्तविक स्वार्थपरयथा इन्द्रियलोकप-रपञ्चलविमूढ-सम्मूढ़-अज्ञानबौ के इस स्वरूप का ही अर्थार्थान् ? कर रहे हैं किहू हम अपनी व्यवहारमाया में ‘कुनैष्टिक’-‘बुद्ध’-‘अहं’-‘आत्मतापी’-‘असुर’-‘राक्षस’-‘नराधम’ पिशाच-आदि आदि सम्मानित । अपाविर्था प्रधान करते रहना अपना मानवचित्त कर्तव्य ही मानत आरह है ।

५५७-परदुःखकतर, असत्य दिग्देशकालविमूढ अर्जुन-समतुलित कर्षव्यव्युत्त मातृक मानवों का प्रशंसात्मक, किन्तु दयनीय स्वरूप—

अर्जुन-छटा कर्षव्यव्युत्त मातृक मानवभेद तो केवल मातृक है निगपराय-सौम्य बैसे मानव हैं, जो सब दुःख स्वयं छाने के लिए अहोरात्र लज्ज ही खड़े रहते हैं। परदुःख से कातर बने रहने वाले परेपकार की याचनामात्र से सम्पन्नित ऐसे धर्ममीक मातृक मानव ही अपनी मातृकत्वपूर्ण अनुभूतियों उखारी से धग्द करके रहते हैं स्वस्मानधर्मा मातृक मालिनी को। क्वापि ऐसे मानवभेद मातृक महामानवों से अग्न के अन्तित की कल्पना भी सम्भव नहीं है। अस्तित्व ने तो छटा अग्न के ‘कल्पयाम्य’ की ही कामना किया करते हैं-विधिपुत्रा-त्पन्तनिह्वलिताव्य पुरार्थ का छवत व्युत्पन्न करते रहने वाले नीतरम सन्वास्थियों की मांति किना शर्यानि की मांति। मानवसुलभ इन का सौम्य, इन की परिणामहिमामयी बापी परदुःखअवकाम से अर्ध पूर्णाकुलौघव बन जाने वाली इन की मातृक-आकर्षक-आकृति इस परदुःख-निवारण-कामना से ही अपने आप की, परिवार को, समाज को एवं सर्वान्य में राग को ही बलिबेहि पर हैंछते हैंछते चढ़ा देने वाले ऐसे परेपकारी स्व-कल्याण-इय-अहिंस-के पुकारी मानवभेद अर्जुन की कितनी प्रशंसा की जाय योग्य है। किन्तु ।।

० प्रकृते क्रियमायानि गुणैः कर्माणि सर्वथाः ।

अहङ्कारविमूढात्मा कथाहमिति मन्यते ॥

—गीता ३।२७

मर्षादया विचरन्त' 'गामाणुगाम' ग्रामानुग्रामम्=एक ग्रामादव्यवधानेनान्य-
 ग्राम 'दृङ्जमाणा' द्रवन्त =गच्छन्त यत्रैव राजगृह नगर यत्रैव गुणशिलक
 'चेइए' चैत्यम्=उद्यान तत्रैवोपागच्छति, उपाग य 'अहापडिम्ब' यथापति-
 रूप=यथायोग्य=साधुमर्षादाहम् उग्गह' भवग्रह=वमतेराज्ञाम् उग्गिद्धिता'
 अचगृह=वनपालसफाशान्मार्गयित्वा सयमेन तपसाऽऽत्मान 'भावेमाणा'
 भावयन्त =वासय तो विहरन्ति=तिष्ठन्ति। परिपन्निर्गता। धर्मे कथित।
 तत खलु तस्य धन्यस्य सार्थवाहस्य बहुजनस्यान्तिके एतमर्थं भुत्वा निश्चम्य
 अयमेतद्रूप आध्यात्मिको यावत् समुदपद्यत एव खलु स्थविरा भगवन्तो

पुष्पाणुपुष्पि चरमाणा गामाणुगाम दृङ्जमाणा जेणेव रायगिहे नयरे
 गुणसिलए चेइए तेणेव उवागच्छति) जो कि विशुद्ध मातृवशात्ते ये
 यावत् तीर्थंकरों की परम्परा के अनुसार विहार करते थे। वे एक ग्राम से
 दूसरे ग्राम में विहार करते हुए जहाँ राजगृह नगर और गुणशिलक चैत्य
 था वहाँ आये (उवागच्छिता अहापडिम्ब उग्गह उग्गिद्धिता सजमेण तत्रमा
 अप्पाण भावेमाणाविहरति) वहाँ आकर वे साधुजन की मर्षादा के अनुसार
 वसति की आज्ञा वहाँ के वनपालक से माग कर सयम और तपसे अपनी आत्मा
 को भावित करते हुए ठहर गये। (परिसा निग्गया, धम्मो कहिआ तएण तस्स
 धण्णस्स सत्थवाहस्स बहुजणस्स अतिए एवमहं सोच्चा णिसम्म इमेयारुवे अज्झत्थिए
 जाव समुपज्जित्था) राजगृह नगर से परिपद यहाँ आई-भगवान् ने उसे धर्मकी
 देवना दी। इसके बाद उस धन्य सार्थवाह ने अनेक जनों के मुख से इस
 अर्थ-भगवदागमन रूप समाचार-को सुनकर-उसे हृदय में अवधारित

पुष्पि चरमाणा गामाणुगाम दृङ्जमाणा जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव
 उवागच्छति) के जेओ विशुद्ध भानवशान्ता इत्था, अने तीर्थंकरेणी परपरागत
 प्रथा मुग्गण विहार करता इत्था तेओ ओक गामथी थिजे गाम विहार करता ज्था
 राजगृह नगर अने ग्रन्थ शिलक चैत्य इत्तु त्या आव्वा (उवागच्छिता अहा
 पडिम्ब उग्गह उग्गिद्धिता सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणा विहरति)
 त्या आव्वा तेओ साधुजनोचित मर्षादाने अनुसरता त्यान्ना वन पालकणी पासेथी
 पास करवानी आज्ञा जेणवीने तप अने सयमथी पोत्तान्ना आत्माने भाविक करता
 त्या शैक्षया (परिसा निग्गया धम्मो कहिओ तएण तस्स धण्णस्स सत्थवा
 हस्स बहुजणस्स अतिए एवमहं सोच्चा णिसम्म इमेयारुवे अज्झत्थिए जाव
 समुपज्जित्था) राजगृह नगरथी त्या परिपद ओकठी ग्रह भगवाने परिपदने सग्गिभी
 ओट्ठे के धर्म देवना आपी त्यार पछी धन्य सार्थवाहे धग्गु भावसेना मोट्ठेथी
 भगवानने पधारवना समाचार सावणीने, तेने हृदयमा अवधारित करता तेना

के स्थान में धर्म्ममीरु-शास्त्रमीरु-कर्त्तव्यमीरु-यत्न जानेवाला परबुद्धकावय्यात्र मानवमंडल ही 'मातृक' कहलाता है, जो परबुद्धों की चर्म्मणा में ही आपन्त का दुःखी बनता हुआ एक दिन इन दुःखा में ही समाप्त हो जाता है एवं छन्दन्तर उसके आश-अनुयायी उसके मातृकत्वापूर्ण इन त्याग-तपस्व-विजृम्भकों के यशोमानसा से अपने आपको भी उन्ही मातृकत्वापूर्ण पथ के पथिक बनाए रखते हैं।

५६१-ईश्वर-धर्म्म-शास्त्र-मीरु, मान्यतामावों में नितान्तमीरु भाषुक-मानवों की परम्परा से ही अनेक शताब्दियों से उत्पीड़ित भारतराष्ट्र—

सचमुच धर्म्ममीरु-शास्त्रम रु-ईश्वरमीरु-सर्वोपरि ऊ्य, अहिंसा, दया, कल्या-मानवता-आदि में नितान्त मीरु ऐसे मातृक मानवों की परम्परिक-सृष्टि-परम्पराने ही तीन सहस्र वर्षों से भारत की धर्म्म-शास्त्र धर्म्म-ईश्वर आदि विमल-निष्ठाओं को विस्मृति के गर्भ में ही निलीन बनाए रक्ता है। इन की इस मातृकत्व के ही अनुग्रह से निःशय एकमात्र अनुमत्किम्बला इस विशुद्धा मातृकत्वा से ही उन विमूढ बुद्धि-वक्त्र-स्वामी-कुनैष्ठिकों को ही उत्तरोत्तर इस राष्ट्र में अन्तर्धर्म्ममहामन्त्र से हड़मूल बनाया है जिनके कारण ही अस्फुट विद्यमान रहते भी मातृकराष्ट्र भी-समृद्धि-विद्या-शोभ्य-यशो-विहीन ही बनता आरहा है निरत तीन सहस्र वर्षों से।

५६२-कर्त्तव्यनिष्ठासक्तिमूलक व्यामोहन से व्यासुग्ध मानव की तमोगुणान्विता अज्ञता, एवं त्वद्वारा मीपसा-अज्ञात-तायद्वय—

निवेदन किया गया है कि 'कृत्तव्यनिष्ठा' शब्द के 'कृत्तव्य' पर्व का प्रकृति से तथा 'निष्ठा' पर्व का 'पुरुष' से सम्बन्ध है। जब कर्त्तव्यनिष्ठात्मक प्रकृतिमान निष्ठात्मक पुरुष के क्षेत्र में जाता हुआ पुरुष की सम्पत्ति बन जाता है तो प्राकृत मानव का वैज्यपुरुषमात्र (धीवमात्रा मन्-अहमात्र) 'अहं करोमि' (मैं करता हूँ) इस मिथ्याधर्म में आकर कालान्तरमें निरिचय कृत्तव्य से परबुद्ध मुल ही होजाता है। यही अकर्मवयता अज्ञान्तर में इसे तमोगुणप्रधान जैसे अकर्मों की ओर ही प्रवृत्त कर देती है जिनका एकमात्र उद्देश्य बना रहता है हिंसक विद्व-व्याप्राप्ति प्राकृत जीवों के नृराज्यधर्म्मका किराी भी उपाय से-हस्त-बल-कपट-दिहा-स्तेय-दस्तु-वृष्टि आदि से स्वार्थोपेक्ष करते रहना। यों धारम्भ की 'मातृकत्वा' ही कालान्तर में 'अपमत्ता' की बननी बन जाती है। मातृकत्वा ही यों परम्परया अपने वर्ग में से ही माननाथम उत्पन्न करदेती है। जैसे तो मानवता के क्षेत्र में मूलतः सभी मानव ही हैं। कस्तु इन मानवों की प्राथमिक मातृकत्वाने ही सभी राष्ट्रों में अपनी मानवता के गर्भ से ही दानक-दस्तुओं को उत्पन्न कर जाता है जो दानक-दस्तु अपनी बननी मानवता को ला-ला कर ही अपनी आयुष्टि करते रहते हैं। कर्त्तव्य-जो जिस से उत्पन्न होता है वह कृती को जाकर जीवित रहा करता है' इस प्राकृतिक-नियम का अस्तिम्भक कदापि सम्भव नहीं है-निष्ठा के अस्तिष्ठ।

५६३-धर्म्ममीरु मातृक अशुन, तथा कर्म्ममीरु कुनैष्ठिक दुर्व्योचन, एवं इन का धर्म्म निष्ठा-कर्त्तव्यनिष्ठा-रूपा महती आन्ति—

अमन्ने मात्र के लिए मातृक की पूर्वास्था को बर्हा इन 'मातृक' कह ल्यते हैं वहाँ इनी की अन्तिम-ब्रह्मस्थाकृता विमूढाकृता (उत्तपवस्था) को 'कुनैष्ठिक' कह ल्यते हैं, एव काक से पाँच लक्ष वर्ष के

बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं पालयित्वा भक्त प्रत्याख्यति, प्रत्याख्याप
मासिकया संलेखनया पट्टि भक्तानि अनशनेन छिनत्ति, छित्त्वा कालमासे
काल कृत्वा सौधर्मे कल्पे देवत्वेन उपवन्न । तत्र खलु भक्त्येककाना देवाना
चत्वारि पर्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता, तत्र खलु धन्यस्य देवस्य चत्वारि
पर्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता । स खलु धन्यो देवस्तस्माद्देवलोकात् आयु

धम्म सोच्चा एव वयासी) इमके वाद उम धन्यसार्थवाहने धर्म मुनक
इस प्रकार कहा—(सद्वामि ण भते निग्गथे पावयणे जाव पव्वइए जाव
बहूणि वासाणि सामन्नपरियाग पाउणिता मत्त पच्चक्खाइ) हे भद्रत ! मैं
निर्गन्ध प्रवचन को श्रद्धा करता हूँ । यावत् वह प्रव्रजित हो गया । यद्वृत्त
वर्षों तक उसने श्रामण्य पर्याय का पालन किया—(याद म उमने चतुर्विध
भक्त को मत्स्याख्यान कर दिया ।—(पच्चक्खित्ता मासियाण सल्लेहणाए सट्ठि
मत्ताइ अणसणाए ज्जेदेइ) प्रत्याख्यान करके १ एक मास की संलेखना से
उमने ६० भक्तों को अनशन द्वारा जेद दिया—(जेदित्ता कालमासे काल किच्चा
सोइममे कप्पे देवत्ताए उववन्ने) जेदकर फिर वह मृत्यु के भ्रमर आने
पर मरा—और मर कर सौधर्म कल्प में देव की पर्याय से उत्पन्न हो गया ।
(तत्थण अत्थेगइयाण देवाण चत्तारिपलिभोवमाइ ठिई पण्णत्ता) वहा कितनेक
देवों की चार पर्यायप्रमाणस्थिति कही गई है सो (तत्थण धण्णस्स
देवस्स चत्तारिपालभोवमाइ ठिइ पण्णत्ता) इसमें धन्यकुमार देवकी वहा चार

एव वयासी त्थार पथी धर्म—देशनात्तु अवसु करीने धन्य सार्थवाहे कहुं—
सद्वामि ण भते निग्गथे पावयणे जाव पव्वइए जाव बहूणि वासाणि
सामन्नपरियाग पाउणिता मत्तपच्चक्खाइ) हे भद्रत ! निर्गन्ध प्रवचनमा
हुं सारी पेटे श्रद्धा धरतुं छु आ रीते धन्य सार्थवाहु प्रव्रजित भद्र गया
धन्य वर्षों सुधी तेजोअये श्रामण्य पर्यायत्तु पालन कथुं त्थार भाइ नेभजे यतुविधि
भक्तत्तु प्रत्याख्यान कथुं (पच्चक्खित्ता मासियाण सल्लेहणाए सट्ठि मत्ताइ अण
सणाए ज्जेदेइ) प्रत्याख्यान करीने जेक भङ्गिनी स देवना वटे तेमजे साछि भक्तोत्त
अनशन वटे छेदन कथुं (जेदित्ता कालमासे काल किच्चा सोइममे कप्पे देवत्ताए
उववन्ने) छेदन कथी भाइ मृत्युने वधत न्यारे आओ त्थारे तेओ भरसु पाग्गा
अने भरसु पाग्गीने सौधर्म कल्पमा देवनी पर्यायथी तेओ उत्पन्न थया (तत्थ ण
अत्थेगइयाण देवाण चत्तारि पलिभोवमाइ ठिई पण्णत्ता) त्था जेट
वाक देवानी स्थिति त्थारपत्थोपम प्रभासु जेटथी छे (तत्थ ण च धण्णस्स देवस्स
चत्तारिपलिभोवमाइ ठिई पण्णत्ता) आ रीते धन्यकुमार देवनी स्थिति त्था त्थार

प्रमाणित कर रही है कि, अनन्तजन्म की अनन्तनालविभूति के महिमालम् दिग्देशकालविकृत भी तत्पर
अनन्त ही है। सरोपन अचेचित हे सचमुच में यत्किञ्चि—वा ही, जिसे लक्ष्य बना लेने में महान् प्रयत्न—
भेद को कदापि आपत्ति नहीं होगी, ऐसी हमारी मान्यता ही नहीं, अपितु पूर्व वास्था है।

५६७—दिग्देशकालनिबन्धना तात्कालिकता से आविर्भूत व्यामोहन, एवं तद्द्वारा अनर्घपरम्पराओं की अभिव्यक्ति—

दिग्देशकाल के व्यामोहने ही मानव की महत्ता में तथाकथिता अनर्घपरम्पराओं का सम्बन्ध निम्न
है। दिग्देशकालनिबन्धना कच स्मिन्ध्व्य अन्य पक्ष है, तो दिग्देशकालनिबन्धना स्वार्थनिष्ठा (कुनिष्ठा)
विभिन्न पक्ष है। सम्मुख अवस्थित मोक्षिक साम को इस वच मान दिग्देशकाल—निबन्धन तात्कालिक स्वार्थ
को देखकर हमारी तात्कालिक बुद्धि अर्थात् आर मविष्णु को विस्मृत कर बैठती है। और ऐसा कुछ मान बैठती
है इस परदर्यानमूला—विमोहनात्मिक मातृक्या के आवेश में कि, यदि अभी इही क्षण किसी भी उपाय से
कृष्णसे—सा से हमने इसे अपने अपने अभिचार में नहीं कर लिया, तो आगामी क्षण में हमें दुःखी ही होना
पड़ेगा। यही तात्कालिक दिग्देशकालवा हमें जैसे कल्प में प्रवृत्त कर देती है जो कल्प अपने सब
आवरणधर्म से अंधपरम्परा को धर्म देता हुआ इस अंध में ही इसे ठन्डीन कर देता है। और वही
ठन्डीनता इसे आरममूलक समदर्शन एवं तदनुगता महती महानता से पराहमूल करती हुई महतोमहीमान् भी
इसके 'मानवत्वम्' को ऐसा ज्योय बना बालती है, जिस ज्योय में आकर वह अपने सम्मुख स्थितमान मोक्षिक
अर्थों के साथ द्विष्ट सिह-भ्यासि की मोक्षि ही नहीं, अपितु शुगालक ही विपट जाता है। और दुर्भाग्यवत्
राजराजोत्तम कल्याणमालसे समरुक्षित इन निष्प्राय अर्थों की निष्ठा में ही यह अपनी बुद्धिमत्ता समाप्त कर
देता है।

५६८—दिग्देशकालाश्रयतापूर्वक की मानव का उर्व्यामोहन से सम्भावित आत्मशा —

शून्य मना करता है इसे दिग्देशकाल से काम उठाने के लिए, जबकि दिग्देशकाल की सीमा से
बाहिर काम उठाने वैय कुछ भी तो नहीं है। कसक मानव शरीरी है फिर मले ही वह श्रुति ही, देवता
ही पवित्रवचन ही, जिंसा तपस्वी भीतरग सन्नाधी हो अक्षय ही सभी को दिग्देशकालात्मिक शरीरव्यथा के
निर्वाह के लिए दिग्देशकालात्मक वचमान का ही आश्रय लेना पड़ेगा *। जो समय से काम उठाना है,
वही बुद्धिमान् है वही विद्वान् है। कदापि इस प्रकृतिविद् शारवत सनातन नियम का अतिक्रमण सम्भव ही
नहीं है। जो इस नियम का अतिक्रमण कर जाता है कथित जगन्निष्कारकाल के व्यामोहन में अपनी दार्श-
निकता में अपनी विद्वता में अभिनिष्ठ होकर, उसे 'शुल्कम्' 'शुल्कम्' के अतिरिक्त और क्या मिलता है।।
दिग्देशकाल—निबन्धना बुद्धिमानी की मातापेय में उपेक्षा करके ही तो अज्ञान यथाविचारविद् राज्यवैभव से
बधित कर देता या अपने आपको।

* नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो अकर्मणः ।

शरीरयात्रायि च ते न प्रसिद्धेदकर्मणः ॥

—गीता ३८

एव हियय उप्पाडणाणि य, वसणुप्पाडणाणि य, उल्लणणाणि य
 पाविहिइ, अणाइय च ण अणवदग्ग दीहमद्व चाउरतससागकतारं
 वीइवइस्सइ जहा व से धण्णे सत्थवाहे। एव खल्ल जवू। समणेण जाव
 सपत्तेण दोच्चस्स णायज्झयस्स अयमट्ठे पण्णत्ते—त्तिवेमि।सू १४।
 ॥ विइय णायज्झयण समत्त ॥ २ ॥

टीका—'जहाण जवू' इत्यादि। 'जहाण' यथा खल्ल=येन प्रकारेण हे
 जम्बू ! धन्येन सार्थवाहेन 'नो' न 'धम्मोत्ति या' धर्मइति वा मत्वा यावत्
 'सुद्ध' इति या मत्वा विजयाय तस्कराय तस्माद् विपुलाद् अन्नपानत्वा
 धस्वाघात् सविभाग कृत, नान्यत्र शरीरसरक्षणार्थाय-शरीरसरक्षणं विहाय
 अन्ननादि सविभागो न कृत इत्यर्थ एवमेव हे जम्बू ! य खल्ल अस्माक
 निर्गन्धो वा निर्गन्धी वा 'जाव' यावत्-आचार्योपाध्यायानामन्तिके मुण्ढो
 भूत्वा अगाराद् अणगारितां प्रजित सन् 'वचगयद्वाणुम्मदणपुप्फगधम
 'जहा ण जवू।' इत्यादि।

टीकार्थ—(जहाण जवू!) हे जम्बू जिस प्रकार (धण्णेण सत्यवाहेण)
 धन्य सार्थवाहने (नो धम्मोत्ति वा जाव विजयस्स त्वकरस्स तन्नो विउल्लाओ
 असणपाणत्ताइमसाइमाओ संविभाग करे) धर्म नहीं मानकर यावत् मित्र
 नहीं मानकर विजय तस्कर के लिये उस विपुल अन्न, पान, स्वाद्य स्वाद्य
 रूप आहार में से विभाग किया (नन्नत्थ सरीरसारक्खणट्ठाए) केवल
 अपने शरीर की रक्षा के निमित्त। (एवामेव जवू' जेण अम्म निग्गये
 वा निग्गधी वा जाव पव्वइए समाणे वचगयद्वाणुम्मदणपुप्फगधमल्लाल कार
 वा निग्गधी इसी तरह हे जवू! जो हमारे निर्गन्ध साधु वा निर्गन्धी साध्विया
 'जहा ण जवू।' इत्यादि।

टीकार्थ—(जहाण जवू!) हे जम्बू! जेवी रीते (धण्णे ण सत्यवाहेण)
 धन्यसार्थवाहे (नो धम्मोत्ति वा जाव विजयस्स त्वकरस्स तन्नो विउल्लाओ
 असणपाणत्ताइमसाइमाओ सविभाग करे) पेटान्नी क्षरन् के पेटान्ने मित्र
 जेवु कथं न आसुत्वा विजय तस्करने भाटे विपुल अन्न पान, आद्य अने स्वाद्यइय
 अक्षरभाथी भाग करी आध्थे (नन्नत्थ सरीरसारक्खणट्ठाए) ते इक्षत पेटान्ना
 शरीरन्नी रक्षा भाटे ए (एवामेव जवू! जेण अम्म निग्गये वा निग्गधी वा
 जाव पव्वइए समाणे वचगयद्वाणुम्मदणपुप्फमल्लालकारविभूसे) आ प्रभावे
 ए एवु हे! जेअभारा निअत्थ साधु के निअत्थ साध्वीजो आआय' के उपाध्यायनी

५७१-ईश्वर के द्वारा प्राप्त बल से सर्वप्रथम ईश्वरसत्ता पर ही प्रहार के ऐतिहासिक दर्शन, एवं अनीश्वरवादियों के संहारकर्म—

सहाय हम चिन्तन करने लग पड़ते हैं कि, सृष्टि के आरम्भ से आरंभक इस अवस्था पर अनेक भी असुर-राक्षस-दसु-आदि कर्षर बुद्ध मानव उत्पन्न हुए, अपने इस विश्व की शक्तियों से ही वो विश्व को विकम्पित किया है। भगवान् के उद्गम से ही वो इन सब को समझूँ मिला है। उसी के बल से तो उन्होंने उस पर प्रहार करने में भी कोई न्यूनता नहीं की है। यही नहीं, अपितु सर्वप्रथम तो इन के प्रहार का स्वयं भगवान् ही कर्त्ता हैं। ईश्वरसत्ता के विरोध से ही तो इन के प्रचण्ड बुद्धि कर्म उत्पन्न होते हैं। उसे न मान कर ही तो ये स्वयं को ब्रह्मा मान बैठते हैं अपने प्राकृत स्वरूप से। और यह अनिश्चयता ही तो उन्हें संहारकर्मों की ओर प्रवृत्त करती है। उस अनन्तता से अपरिचित रह जाने के कारण हा तो वे साक्षात् दिग्देराक्षसों से वास्तविक लाभ उठा लेना ही अपना परमपुरुषार्थ मान बैठते हैं।

५७०-‘कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्’ का सस्मरण, प्रकृतिपरिपाकागत मौक्तिक-दण्ड, एवं उत्सम्बन्ध में कुनैष्टिकों की भ्रान्ति—

और अब हम देख ली अनुभव कर रहे हैं अपने मानस में ही कि, यदि भगवान् बुद्धिमान को भूतपरिग्रह की सहायता नहीं देते तो सम्भवतः सख इतिहास के सत्य-वृथ्य पुराणपुस्तक भगवान् का स्वयं के मुखपट्टक से कदापि श्रुतवाच्य-उन्मुक्तदण्ड से-‘कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्’ जैसी नैष्टिकी प्रार्थना भी मिली रहती ही न होती। भगवान् कदापि अपनी भूतमत्ता को मौक्तिक दण्ड उत्पन्न ही नहीं दे दिया करते। अपितु मौक्तिक दण्ड वो उन की ओर से प्रकृतिपरिपाक के उत्तरदायित्व पर ही लौकिक दिया गया है। सभी तो भूवाचक बड़ मानव यह भ्रान्ति कर बैठता है कि—‘मेरे ऐसे पञ्चयन्त्रों से भी जब कि मुझे भूतसमृद्धि आनायासेनैव उपसम्बन्ध ही रही है, तो कर्म हैं, धर्म का भय और निरर्थक है ईश्वरसत्ता का ध्यामोहन’।

५७३-धर्माचार्यों के द्वारा कुनैष्टिकों की भ्रान्ति परम्पराओं का स्वरूप विवेचन—

यह क्यों ऐसी भ्रान्ति कर बैठता है? स्वयं धर्माचार्यों ने ही तब का और भी अधिक उदात्तता से समाधान किया कि—‘को प्राकृत-बड़ मानव दिग्देराक्षलनचिन्तन स्वार्थ में अन्य कन कर धर्मपथ का परि त्याग करता हुआ धर्मनिन्ता ईश्वर की उपेक्षा करता हुआ अधर्मपथ का अनुगामी बन जाता है उत्कल वह मानो बढ़ने ही लगता है (आज की भाषा में ‘तरफकी’ ही करने लग पड़ता है)। अपने इस ‘बढ़ाव’ से (परप्रतिष्ठा-आर्थसहायि से) यह भूतसमृद्ध (सम्पन्न) मानव निवृत्त मद्र अनुष्ठान (उत्सवाद्योवन) मनाने लगता है। अपने इन लोकायुक्तों के बल पर, तथा समृद्ध आर्थिक पर ही वह नरपथ अपने प्रतिद्वन्द्वियों को लोकसर्व में परास्त भी करता रहता है। किन्तु धर्म में?। तो न करना ही अच्छा है ॥

॥ अधर्मोर्ध्वते तावत्, ततो भद्राणि परस्यति ।

तत सपत्नाः प्रपति, समूहस्तु विनश्यति ॥

—मनुः ४।१०४।

गिज्जे' अर्चनीय = माननीयोऽभ्युत्थनादिना, वदणिज्जे' वन्दनीय स्तुतियोग्यो
 गुणो क्रीर्तनादिना, 'पूयणिज्जे' पूजनीयः=आदरणीयश्चरणस्पर्शादिना, 'पज्जु
 वासणिज्जे' पर्युपासनीय =सेवनीय आहार वस्त्रपात्रादिभिर्भवति । परलाक
 ५पि च खल्लु=मनात्तरेऽपि वहूणि' वहूनि=वहृविधानि 'हस्तच्छेदनाणि य'
 हस्तच्छेदनानि=परकृन्तनानि, क्णच्छेयणाणि य' कर्णच्छेदनानि च 'नासा
 छेयणाणि य' नासात्रेदणाणि च, एव 'हिययउप्पाढणाणि य' हृदयोत्पाट
 नानि च=हृदयचिदारणानि 'वसणुप्पाढणाणि य' वृषणोत्पाटनानिच=अण्ड
 कोपविदारणानि 'उल्लयणाणि य' उल्लम्बनानि च उत=ऊर्ध्वप्रदेशे वृषशांस्वादौ
 म्बनानि=वन्धनानि उल्लम्बनानीत्यर्थ 'ना' न 'पाविहिइ' प्राप्स्यति पूर्वोक्त
 वु खानि न लप्स्यतइति भाव । 'अणाइय' अनादिकम्=आदिरहित च खल्लु
 'अणवदग्ग' अनवदग्गम्=अनन्तम्, दीहमद्व' दीर्घाध्वानं=चतुर्गतिलसग दीर्घमार्गम्,

गाग य साविगाण य अचणिज्जे वदणिज्जे; पूयणिज्जे, पज्जुवासणिज्जे
 मवइ, परलोए वि य ण नो वहूणि इत्यच्छेयणाणि य क्णच्छेयणाणि य ना
 साच्छेयणाणि य एव हिययउप्पाढणाणिय वसणुप्पाढणाणि य उल्ल
 यणाणि य पाविहिइ) वे निर्मन्थ साधु और निर्मन्थ साध्वि या महाराज
 इस लोकमे अनेक धमण और धमणीयों के श्रावक और धाविकाओं के
 माननीय होते हैं, वदनीय होते हैं, पूजनीय होते हैं पर्युपासनीय होते
 हैं तथा परलोकमे वे हस्तच्छेदसे कर्णच्छेदसे, नासिकाच्छेदसे वचते हैं ।
 उनके हृदय नहीं विदारें जाते हैं, अहकोप उनके नहीं विदारें जाते हैं । इस
 न वे उर्ध्व प्रदेशरूप वृषादिकों की शाखा पर ही लटकाये जाते हैं । इस
 पूर्वोक्त समस्त वु खोंसे वे परे रहते हैं । (अणाइय च ण अणवदग्ग दी

वदणिज्जे, पूयणिज्जे, पज्जुवासणिज्जे मवइ, परलोए वि य ण नो वहूणि
 ह्यच्छेयणाणि य क्णच्छेयणाणि य मासच्छेयणाणि य एव हिययउप्पा
 ढणाणिय वसणुप्पाढणाणि य उल्लयणाणि य पाविहिइ) ते निर्मथ साधु अने
 निर्मथ साध्वीओ (महाराज) आ जगतमा श्रमसु अने अक्षीओन्ना तेमव श्रावक अने
 श्राविकाओनी वच्चे सन्धान युक्त पह भेणवे छे अने तेओ वदनीय, पूजनीय अने
 पर्युपासनीय होय छे तथा परलोकमे तेव साधु-साध्वीओ उस्तच्छेदी भची लय छे
 तेमना हृदय अने अ उकेयो विहीलु करवाभा आवता नथी अने तेमने छिया वृक्षोनी
 शाखाओ छपर थसु लटकववाभा आवता नथी छपर कहेवाभा आवता भधा दु ओधी
 तेओ युक्त रहे छे (अणाइय च ण अणवदग्ग दीहमद्व चाउरवसारकतार

मगवान् वासुदेव से सहायता यात्रा कर बैठने का, जैसे इससे ऐसी अच्युता पृथ्वा हा पड़ी, इत्यादि मगवान् वर्य हैं उक्त स्पष्टीकरण के माध्यम से ही। किन्तु जैसा कि हमने निवेदन किया है कलातीत मगवण्विगी के सम्बन्ध में हमारी प्रज्ञा सर्वथा मातृक ही है। अतएव अन्तर्गतवा पुनः यह मातृकता और भागरूक हो ही तो पड़ती है इसी ऐश्वर्य-पटना के सम्बन्ध में कि,—मगवान् ने अपनी पुर्यावतार-निरूपणा मगवत्वा के अरथ दुर्मोचन को मौलिक-सहायता दे दी, यहाँतक तो अमुक दृष्टि से नाव समझ में आई। किन्तु उसी अघसर पर सहायता की अमना अमिष्यक करने मगवान् के अत्यन्त प्रियकरता अमुन भी आए हुए थे। दिग्दशकाल के महान् परिवर्त वात्कालिक साम उठान में अत्यन्त कुशल नैष्ठिक (कुनैष्ठिक) राधा दुर्मोचन के गुणपर पारदर्शी के गुण से गुण भी प्रतिचय के समाचार दुर्मोचन को पहुँचा रहे थे। अपनी इसी आवधानी से प्रतिचय कामरूक बने रहने वाले दुर्मोचन ने अम्यपान्यत्र बहाँ वृत्त भेजे + यहाँ शारिक्रये स्वनं पहुँचे। तपर अब पारदर्शी यह सुना कि, दुर्मोचन मगवान् से सहायता लेने शारिका बा रहे हैं तो दिग्दशकालिक पायदर्शी को तप नहीं स्वय भी बहाँ पहुँचने की धृष्टी। उक्त अमुनने भी अनुपावन किया दुर्मोचन का तत्र गमन सुन कर। सोमाय से दोनों के प्रवेश में अन्तर योजा ही रहा। पूर्णचय में दुर्मोचन मगवान् के शयनकक्ष में पहुँचे तो तदुत्तर कक्ष में ही अमुन पहुँच गए *। दुर्मोचन अपनी वैयक्तिक प्रतिष्ठा के अनुरूप मगवान् के मस्तक की और रखे हुए बहुमुख्य विद्यावन पर राबोधित सम्मान से सम्बन्ध बन कर बैठ गए जबकि अमुन मगवान् के अरथा के समीप प्रवृत्तवा से साम्प्रतिकरूप से ही लड़े हो गए +। कुशल-समानन्तर बोले सर्वप्रथम दुर्मोचन ही इत बर्मादुष्टि ? के बाध मन्दाहात्पूर्वक ही कि,—‘इस युद्ध में आप को हमें सहायता देनी चाहिए (१)। क्योंकि आप के लिए हम और अमुन दोनों सम्मानरूप से मित्र हैं। और फिर (मित्रता न भी मानी बाध तो भी) हम दोनों आप के सम्मान-सम्बन्धी तो हैं ही। (और हाँ, यह स्मरण रखिए कि) हम अमुन से पहिले आए हैं आप के उच्छिष्ट । ऊचपुरुषों का यह नियम है कि, पहिले अपने वाले की बाध पर वे पहिले ध्यान देते हैं (२)। और आप वरमान समाज में एक अष्टम उच्च व्यक्ति हैं। अतएव आप को उक्तानुगत अघरुच का पालन करना ही चाहिए ! (अत्रघययम् ! अत्रघययम् !) । (दुष्टदुष्टि को बच फिरी

—धृतराष्ट्रात्मजो राजा गृहीः प्रबिहितैस्परैः ।

*—स्तः किरीटी सस्यास्तुप्रविवेश महामन ।

—उच्छीर्षितश्च कृष्यारूप निपसाद् धरासने (दुर्मोचन)।

पर्यावाँव स कृष्यस्य प्रहोऽतिष्ठत्कृताम्बलिः (अर्जुन) ॥

(१)—विप्रहोऽस्मिन् मवान् ! साद्य मम दातुमिहार्हति ।

—अत्यन्त पृष्टतापूर्वा वाच्य

(२)—अहं चाभिगतं पूर्वं त्वामद्य मधुघ्नन ! ।

पूर्वं चाभिगतं सन्ता मज्जन्ते पूर्वसारिणः ।

—कैसी बर्माभाषा है ?

मनगारधर्माभूतवर्षिणीटीका अ २ धमणाप्रति भग उपवेश

गिज्जे' अर्चनीय = माननीयोऽभ्युत्थनादिना, वदणिज्जे' वन्दनीय ग्नुतियोग्यो गुणोन्कीर्तनादिना, 'पूयणिज्जे' पूजनीयः=आदरणीयश्चरणस्पर्शादिना, 'पज्जु वासणिज्जे' पर्युपासनीय =सेवनीय आहार वस्त्रपात्रादिभिर्भवति । परलाक ऽपि च खल्ल=मनान्तरेऽपि वृहणि' बहूनि=वह्वुविधानि 'हृत्थच्छेयणाणि य' हस्तच्छेदनानि=परकृन्तनानि, क्णच्छेयणाणि य' कर्णच्छेदनानि च नासा छेयणाणि य' नासाट्रेदणाणि च, एव 'हियगउप्पाडणाणि य' हृदयोत्पाट नानि च=हृदयविदारणानि 'वसणुप्पाडणाणि य' वृषणोत्पाटनानिच=अण्ड कोपविदारणानि 'उल्लंघणाणि य' उल्लम्बनानि च उत्त=ऊर्ध्वमदेशे वृक्षशोन्वादाँ लम्बनानि=वन्धनानि उल्लम्बनानोत्पर्य 'ना' न 'पाविहिइ' प्राप्स्यति पूर्वोक्तं तु खानि न लप्स्यतइ ति भाव । 'अणाइय' थनादिक्कम्=आदिरहित च खल्ल 'अणवदग्ग' अनवदग्गम्=अनन्तम्, दीहमद्व' दीर्घाध्वानं=चतुर्गतिलक्ष्य दीर्घमार्गम्,

गाय य साविगाण य अचणिज्जे वदणिज्जे; पूयणिज्जे, पज्जुवासणिज्जे भवइ, परलोए वि य ण नो बहूणि हृत्थच्छेयणाणि य क्णच्छेयणाणि य ना साच्छेयणाणि य एव हिययउप्पाडणाणिय वसणुप्पाडणाणि य उल्ल चणाणि य पाविहिइ) वे निर्घन्थ साधु और निर्घन्थ साध्वि या महाराज इस लोकमे अनेक भमण और भमणीयों के श्रावक और धाचिकाओं के माननीय होते हैं, वदनीय होते हैं, पूजनीय होते हैं पर्युपासनीय होते हैं तथा परलोकमे वे हस्तच्छेदसे कर्णच्छेदसे, नासिकाच्छेदस षचते हैं । उनके हृदय नहीं विदारें जाते हैं, अडकोप उनके नहीं विदारें जाते हैं । उन वे उर्ध्व प्रदेशरूप वृक्षाविकों की श्लावा पर ही लटकाये जाते हैं । इस पूर्वोक्त समस्त तु खोंसे वे परे रहते हैं । (अणाइय च ण अणवदग्ग दी

यदणिज्जे, पूयणिज्जे, पज्जुवासणिज्जे भवइ, परलोए वि य ण नो बहूणि हृत्थच्छेयणाणि य क्णच्छेयणाणि य मासच्छेयणाणि य एव हिययउप्पाडणाणिय वसणुप्पाडणाणि य उल्लंघणाणि य पाविहिइ) ते निर्घन्थ साधु अने निर्घन्थ साध्वीओ (भङ्गाराओ) आ जगतमा श्रमसु अने अण्णीओना तेमअ श्रावक अने श्राविकओनी वच्चे स-भान युक्त पड भेणवे छे अने तेओ वदनीय, पूजनीय अने पर्युपासनीय होय छे तथा परवीकमा तेव साधु-साध्वीओ हस्तच्छेदशी भन्ती भाय छे तेमना हृदय अने अठकोपो विदीक्षुं करवामा आवत्ता नथी अने तेमने छे आ वृक्षोनी शाखाओ उपर पक्षु लटकाववामा आवत्ता नथी. उपर कडेवामा आवेवा अथा दु जोधो तेओ अक्त रहे छे (अणाइयं च ण अणवदग्ग दीहमद्व चाउरंतससारकंतार

५७६- कुनैष्टिक दुष्टबुद्धि मानवों के लोकचातुर्य स ही अन्ततोगत्था इन का सम्पूर्ण विनाश—

इतिहास का केवल एक अग्र मीमांसा प्रतीत हो रहा है हमें अपनी भावुकता के क्षेत्र से वही कि, जब मगवान् की मगवत्ता का यह निर्यात्प्रत्मक स्वरूप है कि- कुनैष्टिक दुष्टबुद्धियों को भूत से तो बलिष्ठ नहीं करना

में प्रवृत्त नहीं करते। सम्पूर्ण दुष्का मगवत्प्रदत्त निष्ठा से ही, अतएव सब कुछ किया मगवान् ही, सभी कुछ मगवत्प्रदत्ता से ही तो हो रहा है। इस ठप्य को कचम्यनिष्ठा के उत्तरदायित्व से पूरक मान बैठना क्यापि मगवत्प्रदत्त तो नहीं ही है। नैष्टिकी सकिदुष्टि मगवान् का ही तो स्वरूप है जो कचम्यनिष्ठा की ही अपिष्ठात्री मानी गई है। इस सत्य-धर्म-ही आश्रय-रूपा स्वनिष्ठा के माम्भ से ही मगवत्प्रदत्त प्राप्त हुआ करता है। अतः न में लोकदृष्ट्या सभी भावुकताएँ ही भावुकताएँ थीं। किन्तु मगवान् के प्रति इसकी अनन्वनिष्ठा थी। समझे, बिना समझे मी-‘करिभ्ये वचनं तव वैची समर्पन्मूला निष्ठा थी, बित आवेशमूला निष्ठा का नाम ही ‘शास्त्र’ माना गया है। जब दृढतया बार बार पायद्वयों की सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में उद्यम से प्रश्न करने लग पड़े थे तो उद्ययने अन्ततोगत्था वही कहा था कि-‘यान् पायद्वयों के सम्पूर्ण सैन्यकला का एकमात्र रहस्य वही है कि, वे स्वय-धर्म-ही-आर्जवादि मगवत्प्रदत्तियों से ही समन्वित हैं। अतएव स्वयं मगवान् उनकी रक्षा कर रहे हैं। अत्यन्त ही प्रिय है वहाँ का प्रसन्न बिसे निम्नलिखित रूपसे स्मरण कर हम मी अपनी भावुकता उपरान्त कर लेते हैं—

सञ्जय उवाच-भूया भूयो हि यश्राजन् ! पृच्छसे पाण्डवान् प्रति ॥

सारासारबलं ज्ञातु तत्समासेन मे शृणु ॥१॥

एकतो वा जगत्कृत्स्नं, एकतो वा जनाद्द्विनः ।

सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनाद्द्विनः ॥२॥

मस्मद्गुर्याञ्जगदिदं मनसैव जनाद्द्विनः ॥

न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं मस्म कर्तुं जनाद्द्विनम् ॥३॥

यतः सत्यं, यतो धर्मः, यतो ह्यीः, आर्जवं यतः ॥

ततो भवति गोविन्दः, यतः कृष्णस्ततो जयः ॥४॥

अधर्मनिरतान्-मूढान्दग्धुमिच्छति ते सुतान् ।

कालाघकं-अगणकं-युगाघकं च केनचन ।

आत्मयोगेन मगवान् परिषर्षयतेऽनिशम् ॥

—महाभारत-उद्योगपर्व १८ अध्याय

आस्थ-बद्धा-धीला पाठकों से हम आग्रह करते कि वहाँ का सम्पूर्ण मकरज एकवार के अक्षर ही देख लेने का कर करें, किन्तु उद्यय के मुख से प्रुण्यप्रुण्य ने मगवत्ता के सम्बन्ध में महान् ज्योत्सन प्रदान किया है मादय पाठक-बद्ध-धीलों के लिए ।

नात्रस्थान इद्विषयनम्, कर्मपरिणामो भूप कर्मप्रकृतञ्चो राजपुरुषा, मनु
 प्यायुष्कवन्धहेतव स्वल्पापराधा, प्रतिखेखनादि क्रिया मलमूत्रपरित्यागरूपा,
 प्रतिखेखनादि क्रियार्थं हि शरीरं प्रवर्तते, तत्राऽऽहारादिदानं विना प्रवर्तितु
 न प्रभवति, अतो विजयचोरस्थानीयस्य शरीरस्याऽऽहारादिदानं प्रतिखेखनादि
 क्रियार्थमेवेति । पन्थकदासचेटकरधानीय - प्रकृतिभद्रं साधु । यतः-स
 भक्तादिक्रमानीयं ददाति । भद्रासार्थवाहीरूपा आचार्या । ते हि आहारा
 दिभिः शरीरपोषणपरं साधुमुपालम्भयन्ति, तदा साधुर्भोजनकारणं क्षुधावे

रूप से जो अवस्थान है वही इद्विषयन है । कर्मपरिणाम राजा और
 कर्म की प्रकृतिया राजपुरुष हैं । स्वल्प अपराध मनुप्यायु क वध के हेतु
 है मलमूत्र परित्यागरूप प्रति खेखनादि क्रियाएँ हैं । प्रतिखेखनादि क्रिया
 करनेके लिये शरीर हा प्रवर्तित होता है । परन्तु जबतक इसे आहारादि
 न दिया जाय तबतक इसकी प्रवृत्ति उनके करने के लिये नहीं हो सकती
 है । इस लिये विजयचोर के स्थानापन्न इस शरीर को जो आहारादि का
 देना होता है वह उससे प्रतिखेखनादि क्रिया कराने के लिये ही होता
 है । पन्थदासचेटक के जैसा प्रकृति से भद्र परिणाम वाला साधुजन है ।
 क्यों कि वह भक्तादि लाकर देता है । भद्रा सार्थवाही की तरह आचार्य
 महाराज है । क्योंकि वे आहारादिद्वारा शरीर के पोषणमें तत्पर हुए
 साधुओंको उपालम्भ-उलहना देते हैं । उस समय साधुजन इसका कारण

वे अ 'इद्विषयन' छ अही कर्मंतु परिष्कार राव अने कर्मनी प्रकृतिओ राजपुरुष छ
 स्वल्प अपराध मनुष्यना आयुष्यना अधेना हेतु छ भणभूत्र परित्यागरूप प्रतिखे,
 भना वगेरे क्रियाओ छ शरीर अ प्रतिखेभना वगेरे क्रियाओ करवा भाटे प्रवृत्त थाय
 छ पण न्या सुधी आ शरीरने आहार वगेरे अपातो नथी त्या सुधी आ शरीर
 भणभूत्रना त्याग भाटे प्रवृत्त यतु नथी विषयचोरना स्थाने भूक्तओला आ शरीरने
 ने आहार वगेरे आप्नामा आवे छ, ते प्रतिखेभना वगेरे क्रियाओ करववा भाटे
 अ आप्नामा आवे छ पाथकदास चेटक नेवो उत्तम स्वभाववाणो भाषुस साधुअ
 जनना स्थाने भूमी शक्य ठेभके ते बोजन वगेरे लावीने आपे छ भद्रा सार्थवा
 वाहीनी नेम आचार्य महाराज छ ठेभके तेओ आहार वगेरेथी पीताना शरीरने
 पुष्ट भनावनारा साधुओने उपादक (ठपके) आपे छ ते वपते साधुओ आहारनु
 करववुध (भूष) वेदनाथी निवृत्ति भतावे छ त्यारे तेओ (आचार्य) सतुष्ट यथंलय
 छ समय यात्राना निवाह भाटे ओटले के समयभी लुपन चहार करवा भाटे अ साधुओ
 आहार करे छ आ प्रभाषे सपूज् जीव अध्ययनने आ निष्ठा इपे अर्थ स्पष्ट

है। अतएव अद्यपि भगवद्भाषों में मातृकतापूर्णा किसी भी आराधना-कुराडना वा कर्षे भी जगत् नहीं है। भगवान् के साम्राज्य में सुसुखि, दुसुखि, दानों ही बीजित रहते हैं। दोनों को ही भगवान् का अग्रपथित सहयोग मिलता रहता है। वेधता, और असुर, दोनों ही प्रजापति की कृतज्ञ हैं। प्रजापति की भूतसम्पत्ति के दोनों ही समानरूप से बाधकमोक्ष हैं। अन्तर केवल 'दृष्टि' का है। दुष्ट-असुरसुखि-कृतज्ञ केवल 'भौतिक दायार्' की ही अविभाजिणी बन्दी है जबकि प्रजापति पिता की सृष्टिमर्यादा का धर्मपूर्ण निर्बाह करने वाली सन्तुष्टिसुखि-सुखन्तति को भूतदायाद के साथ साथ पिताप्रजापति की 'अनुग्रहदृष्टि' भी अग्रपथितरूपेण प्राप्त हो जाती है। और ऐसा ही सर्वमना ऐसा ही दुष्टा है किन्तु-विशुद्धप्रजापति भगवान् वासुदेव भीकृष्ण के प्राङ्गण में इन की इन दोनों कृतस्वित्ति के लिए। एक (दुर्भावन) को केवल 'भूत' मिला तो दूसरे को दृष्टि-अनुग्रह-माध्यम से स्वयं 'भूतपति' प्राप्त हो गए। दृष्टि का अनुग्रह वात्सल्यपूर्ण अनुग्रह तो परममागधेय माय्याशाली उग्र मातृक अजुन को ही प्राप्त हुआ बिन्ने मरुमान से प्रकृतिपुरस्वर भगवान् के परमपूज्य में सर्वमना समर्पित ही कर दिया था अपने आप को जिस इस वष्य का पुरस्चपुष्प की- 'दृष्टुस्तु प्रथमं राजन्। मया पार्थी बन्धव्यः इत दिव्या बाली के 'दृष्टुः (दृष्टि) अनुग्रहदृष्टिसुखि) इस शब्द से सर्वमना समन्वय होतावा है।

५८१-संविद्-मूला निष्ठा, एवं अनुभूतिमूला मातृकता से समन्वित महान् मानव के प्रकृति-पुरुष-निबन्धन स्वरूपों का समन्वय—

नात पक्ष रही है उक्त 'कृत्विष्टि' संशोधन की जो 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' से वाञ्छित है। इसी कृत्विष्टि संशोधन के प्रसङ्ग की अपेक्षा से पुरुषभाव से अनुप्राणित संविद्-मूला निष्ठा तथा प्रकृतिभाव से अनुप्राणित अनुभूतिमूला मातृकता इन दोनों उक्त महान् कर्तव्य का कृत्विष्टि समन्वय उप-कृत हो पड़ा जो अग्रपथितप्रव्याप्तक प्रस्तुत निबन्धन का मुख्य लक्ष्य है। दिग्देशकालातीया पुरुषानुप्राणित 'निष्ठा' भी मानव का ही स्वरूप (स्वरूप) है एव दिग्देशकालात्मिक प्रकृत्यनुप्राणित 'मातृकता' भी मानव का ही स्वरूप है। क्योंकि प्रकृति-पुरुष के समन्वितरूप का ही नाम महान् मानव है। मानव का निष्ठा रूप पुरुषभाव इसी का लोकातीतभाव है अतुन्वनेनैव मानव अप्राकृत-अलौकिक-मानव है एवं यह 'महत्तोमहीयान्' (प्रकृतिरूप महान् किंवा महवचररूपा प्रकृति से भी महान्) है। तथा मानव का मातृकता रूप प्रकृतिभाव इसी का लोकात्मकभाव है तदनुबन्धनेनैव मानव प्राकृत लौकिक मानव है एव यह 'महान्' है। पुरुषरूप लोकातीत क्षेत्र में मानव दिग्देशकालातीत ही बना रहता है एव प्रकृतिरूप लोकात्मक क्षेत्र में मानव दिग्देशकालात्मक ही बना रहता है। यों मानव के दोनों स्वरूपों के दोनों क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं। और यही मानव उक्त कृत्विष्टि से संशोधन की अपेक्षा कर अपनी वहन मानकता किंवा महत्ता से पण्डित बन जाता है। अतएव यही वह कृत्विष्टि संशोधन वाञ्छित बन रहा है।

५८२-प्रकृतिभावनिबन्धना मानव की विषया समस्या—

दिग्देशकालात्मक प्राकृत क्षेत्र मातृकतापूर्ण है, इस में तो कर्षे कन्देह नहीं। अतएव इस में मानव का मूढ, किंवा विमूढ बन जाना भी अप्रत्याशित नहीं कहा जासकता। न तो प्राङ्गण-मातृकता के क्षेत्र के किना

तृतीयाध्ययनमारभ्यते

द्वितीयाध्ययने विषयकपायादावासक्तस्य दोषा, अनासक्तस्य गुणा उपदिष्टास्तेन चारित्रशुद्धिं कर्तव्येति प्रतिबोधयितुम्, अथास्मिन्नध्ययने सशुद्धिनि शुद्धयोर्दोषगुणा उपदिश्यन्ते, तेन संयमशुद्धिकारणीभूत—सम्यक्त्वशुद्धिं कर्तव्यतया प्रतिबोधयति, तत्रेदं ग्रुपक्षेपसूत्रमाह—

मूलम्—जड्ण भते ! समणे ण भगवया महावीरेण विड्ण अज्झणस्स णायाधम्मकहाण अयमट्ठे पन्नत्ते, तइअस्स ण भते णायज्झयणस्स के अट्ठे पणत्ते ? ॥सू १ ॥

टीका—‘जड्ण मन्ते !’ इत्यादि

यदि खलु भदन्त ! भ्रमणेन भगवता महावीरेण द्वितीयस्याध्ययनस्य ज्ञातार्धमकथानामयमर्थं प्रज्ञप्तं, तृतीयस्य खलु भदन्त ! ज्ञाताध्ययनस्य कोऽर्थं प्रज्ञप्तं ? । सर्वं सुगमम् ॥सूत्र १ ॥

तीसरा अध्ययन मारम

द्वितीय अध्ययनमें, विषय कपाय आदि में आसक्त हुए व्यक्ति के दोष तथा उनमें आसक्त हुए व्यक्ति के गुण उपदिष्ट हुए हैं । इससे वहाँ यही समझाया है कि चारित्र की शुद्धि अवश्य ही करनी चाहिये अथ इस तृतीय अध्ययनमें जो शका सहित है और जो शका रहित है उन दोनों के दोष और गुण कहते हैं । इससे संयम की शुद्धिमें कारणीभूत जो सम्यक्त्व की शुद्धि है वह कर्तव्य है यह वान प्रतिबोधित होती है । यह बात यहाँ सूत्रकार समझाते हैं—इसके लिये वे इस आरम बोधक सूत्र को कहते हैं—जड्ण भते ! इत्यादि

तृतीय अध्ययन मारम

धीन अध्ययनमा विषयकपाय वगेरेमा आसक्त भयेत्ता भावुसना दोषो तेमज्ज असक्त भयेत्ता भावुसना शुद्धो भत्ताववामा आव्या छे आ रीते धीन अध्ययनमा सुभ्यक्षेपे ज्ञेय वात समभाववामा आवी छे के चारित्रनी शुद्धि योक्तस करवी ज्ञेयजे आ तीन अध्ययनमा ने भावुसे शकशील अथवा शका रहित छे, ते भनेना शुद्धो कहेवामा आव्या छे जेथी संयमनी शुद्धि भाटे कारवुक्षेप ने सम्यक्त्वनी शुद्धि छे ते ज् कर्तव्य छे, आ वात समभाव छे सूत्रकार अर्था ज्ञेय वात समभावे छे तेज्जे समभावता आरम बोधक पहेल्ल सूत्र कहे छे—जड्ण भते ! इत्यादि ।

पर्यारूपा विमूढता—अज्ञाना बहुतामिभिता प्रतिक्रियात्मिक इत उचरपरथा का नाम ही रक्त लिया गया है—
'कुनिष्ठा जो प्रचयण साहस से ही सम्भव रखती है। अपने आरम्भ के जीवन में (अनुचित विमुक्तत्व के कारण) बार बार कूट पकने वाला मचलने वाला मुँह विगाड़ लेने वाला, इतस्तत्, पलायित होत रहने वाला निरानन्द मातृक वही मूढ़ दुष्योधन बालान्तर म शकुनि—इसे कुनैष्ठिकों के उद्धार में आकर अन्तर्गत गत्ता येव 'विमूढमानव' ही बन गया था, जिस की इत आत्यन्तिक बहुताने ही इसे उस युग का सर्वमूढान् कुनैष्ठिक ही जो प्रमाणित कर दिया था।

५८६—आरममूढ भाषुक अर्जुन का भगवान् के द्वारा परिश्राव, तत एव अर्जुन का विमूढता से सरघस्य—

यह कि मातृक अर्जुन मूढ़—अपरिपक्व अर्जुन को महत्त्वपूर्ण से भगवान् कृष्ण जैसे नैष्ठिक महापुरुष का अनुग्रह प्राप्त हो गया था। अतएव अर्जुन की मातृकता बालान्तर में सन्निष्टा की ही अनुभामिनी बन गई थी। यह सब मान लीजिए कि, यदि अर्जुन की मातृकता को भगवान् की निष्ठा का प्रभव न मिलता तो यह प्रथम ही स्वयं अपनी मातृकता से अपना स्वरूप ही खो बैठता। यदि दुष्योधनवा इसे शकुनि वैया कोर्त कुनैष्ठिक परमसहाय मिल जाता, तो यह दुष्योधन से भी कहीं अधिक ही कुनैष्ठिक प्रमाणित होता। क्योंकि अर्जुन आरम्भ के मातृक दुष्योधन की अपेक्षा भी कहीं अधिक मातृक थे।

५८७—मातृकता, तथा निष्ठा का प्रतिरूपात्मक महान् उदाहरण—

जो कितना ही अधिक मातृक होता है अधिक अनुभूतिपरयय होता है केवल कल्पनिक विचारों में ही हुआ रहता है वह अक्षर मिलने पर उठना ही अधिक कुनैष्ठिक बन जाता है—यदि मातृकता के आवेश में वह मर क्षण नहीं जाता हो। आरम्भ का मातृक जिस आवेश से परेषकार की परबुद्धहरण की बिलनी अधिक पोषता बरखा है उचर का वही कुनैष्ठिक उसी उच्च पोषणा के अनुपात से उठना ही अधिक वैश्विक—वपन्य स्वार्थिषु बन जाता है। और यों निश्चित कल्पपरय की विस्तृति से आविभूत हो पकने वाली मूढतामूढा मातृकता की रूपा से ही इत प्राकृत विरव में कृतव्यनिष्ठता—स्वानुभूतिपरयय—प्राकृत मातृक—मानवों के ही मातृकमानव कुनैष्ठिकमानव से दो वर्ग बन जाते हैं किन में प्रथमवर्ग अधिक सम्बन्धी से अनुप्राणित है जबकि दूसरे वर्ग में सम्बन्धी हीमिष ही रहा करती है। एव इन दोनों के ही प्रतिरूपात्मक उदाहरण क्रमशः अर्जुन और दुष्योधन बने हुए हैं।

५८८—अव्ययात्मनिषघन अस्तिष के स्वरूप से अपरिचित महान् अर्जुन, एवं अव्ययास्तिष के प्रति आकुष्ट महान् दुष्योधन, और दोनों पात्रों के माध्यम से चिकित्स्य—अविचिकित्स्य—मार्वों का दिग्दर्शन—

यदि अर्जुन अपनी मातृकता में महान् था तो दुष्योधन अपनी कुनिष्ठा में महान् था। दोनों ही लोकोत्तर के अपने अपने अनुभूति—वेधों में। दोनों ही प्रकृतिनिष्पन्न—'निषेध' के परमाचार्य्य बने हुए थे

नगर्यां षड्विंशत्परस्य दिग्भागे सुभूमिभाग नामोद्यानमासीत् तत्
 कीदृशमित्याह—‘सन्वोउयपुष्पफलसमिद्धे’ सर्वेषूकपुष्पफलसमृद्धम्—
 यस्तन्वादिग्रहऋतुजनितपुष्पफलादिसम्पन्नम्, सुरम्यम्—अतिशयरमणीय,
 नन्दनवनवत् ‘सुहसुरभिसीयलच्छायाए’ शुभसुरभि—शीतलछायाया—तत्र
 ‘सुह’ शुभा—शोभना ‘सुरभि’ सुगन्धि ‘सीयल’ शीतला च या छाया
 तथा ‘समणुषद्धे’ समनुषद्धम्—युक्तम्, तस्य खलु सुभूमिभागस्योद्यानस्य
 ‘उत्तरओ’ उत्तरत—उत्तरदिशायामित्यर्थ ‘एग देसंमि, एरुदेशे—एकस्मिन्

‘एव खलु जवू ! तेण कालेण इत्यादि ।

टीकार्थ—(जवू ! एव खलु) हे जवू ! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर इस
 प्रकार है—(तेण कालेण तेण समएण चपा नाम नयरी होत्या) उस कालमें उस
 समयमें चपा नामकी नगरी थी (वन्नओ) इसका वर्णन पहिले किया जा
 चुका है । (तीसेण चपाए नयरीए वहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिमाए सु
 भूमिभाए नाम उज्जाणे होत्या) उस चपा नगरी के बाहर ईशान कोणमें
 सुभूमिभाग नामका उद्यान था । (सन्वोउय पुष्पफ लमिद्धे सुरम्मे नदणवणे
 इव) यह समस्त ऋतुओं की शोभासे समृद्ध था—आर्यात् समस्त ऋतु
 सबन्धी फलपुष्पादिकों से यह सम्पन्न था अतिशय रमणीय था । नन्दन
 वन के समान यह (सुहसुरभि सीयलच्छायाए समणुषद्धे) शुभ, सुरभि
 और शीतल छायासे युक्त था । (तस्स ण सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स
 उत्तरओ एगदेसमि मालुयाकच्छए वन्नओ) उस सुभूमिभाग उद्यान की

‘एव खलु जवू ! तेण कालेण’ इत्यादि ॥

टीकार्थ—(जवू ! एव खलु) जवू ! तमारा प्रश्नो ज्ञाप्य आ प्रभावे छे—(तेण
 कालेण तेण समएण चपा नाम नयरी होत्या) ते काले अने ते समये चपा नामे
 नगरी छती । (वन्नओ) ते नगरीत वषुंन पडेवा करवामा आव्यु छे
 तीसेण चपाए नयरीए वहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिमाए सुभूमिभाए नाम
 उज्जाणे होत्या) ते चपा नगरीनी बहिर धियाण केषुमा सुभूमिभाग नामे उद्यान छते
 (सन्वोउयपुष्पफलसमिद्धे सुरम्मे नदणवणे इव) ते उद्यान समस्त ऋतुष्येणी
 शोभाथी सुकत इत्तु ओट्टे के वधी ऋतुष्येणा इणे अने पुष्पाथी ते सपन्न इत्तु
 अने ते बहु ए रमणीय इत्तु नन्दन वननी जेम ते (सुहसुरभिसीयलच्छायाए
 समणुषद्धे) शुभ सुरभि अने शीतल छायावाण इत्तु (तस्स ण सुभूमिभागस्स उज्जा
 णस्स उत्तरओ एगदेसमि मालुयाकच्छए वन्नओ) ते सुभूमि भाग उद्याननी
 उत्तर दिशाये ओक तरह भाइका कच्छनामे वन इत्तु ते भाइका कच्छनु वषुंन

रूपारूपा विमूढता—सच्चा बड़तामिथिता प्रतिक्रियात्मिक इस उद्योगस्था का नाम ही रत्न खिया बाया है—
कुनिष्ठा जो प्रत्यक्ष छाहस से ही सम्बन्ध रखती है। अपने आरम्भ के जीवन में (अनुचित विमुक्तत्वन के
अर्थ) बार बार कूट पकने वाला मसलाने वाला, मुँह बिगाड़ लेने वाला, इतस्तव पलायित होते जाने
वाला निरान्त मातृक बही मूक दुर्मोघन बालास्तर में शकुनि—जसे कुनैष्टिकी के उद्घोष में आकर अन्तवो-
त्वा सेवा 'विमूढमानस' ही बन गया या बित की इस आत्यन्तिक बड़ताने ही इसे उस मुग का समूह नव
कुनैष्टिक ही तो प्रमाणित कर दिया या।

५८६—आत्ममूढ भावुक अर्जुन के द्वारा परित्राख, तब एव अर्जुन का
विमूढता से सरधवा—

बत कि मातृक, अत्यन्त मूढ—अपरिपक्व अर्जुन को महत्वपूर्ण से मगवान् रूप से नैष्टिक महा
दुर्म्य का अनुग्रह प्राप्त हो गया था। अत्यन्त अर्जुन की भावुकता अतान्तर में सविष्टा की ही अनुयायिनी
बन गई थी। यह सब मान लीजिए कि यदि अर्जुन की भावुकता को मगवान् की निष्ठा का प्रभव न
मिलता तो यह प्रथम तो स्वयं अपनी मातृकता से अपना स्वरूप ही खोनेठका। यदि दुर्म्यमगशा इसे
शकुनि सेवा कोरें कुनैष्टिक परामर्शदाता मिल जाता, तो यह दुर्मोघन से भी बड़ी अधिक ही कुनैष्टिक
प्रमाणित होजाता। क्योंकि अर्जुन आरम्भ के मातृक दुर्मोघन की अपेक्षा भी बड़ी अधिक मातृक न।

५८७—भावुकता, तथा निष्ठा के प्रतिक्रियात्मक महान् उदाहरण—

जो कितना ही अधिक मातृक होता है अधिक अनुभूतिपरमण होता है केवल आत्यन्तिक विचारों में
ही हुआ जाता है वह अत्यन्त मिलने पर उतना ही अधिक कुनैष्टिक बन जाता है—यदि मातृकता के आवेग में
वह मर लप नही जाता तो। आरम्भ का मातृक बित आवेग से परेणकार की परमुक्तहरण की किन्ती
अधिक पोषका करता है उद्योग का बही कुनैष्टिक उठी उच्च पोषका के अनुपात से उतना ही अधिक
वैय्यक्तिक—अपन्य स्वार्थितापु बन जाता है। और यों निरिच्छत कलम्यपय की विन्दुति से आधिभूष हो पकने
वाली मूढप्रमूला मातृकता की कृपा से ही इस प्राकृत विरव में कलम्यनिष्ठावांस्त—स्वानुभूतिपरमण—प्राकृत
मातृक—मानकों के ही मातृकमानस कुनैष्टिकमानस ये दो बर्ग बन जाते हैं। किन में प्रथमवर्ग अधिक
सम्पदाओं से अनुप्राणित है जबकि दूसरे बर्ग में सम्पदा सीमित ही रहा करती है। एवं इन दोनों के ही प्रति-
क्यात्मक उदाहरण अत्यन्त और दुर्मोघन के हुए हैं।

५८८—अभ्ययात्मनिच घन अस्तित्व के स्वरूप से अपरिच्छित महान् अर्जुन, एवं अभ्य
यास्तित्व के प्रति आक्रुष्ट महान् दुर्मोघन, और दोनों पात्रों के माध्यम से
विक्रितस्य—अविचिक्रितस्य—मावों का दिग्दर्शन—

यदि अर्जुन अपनी मातृकता में महान् या तो दुर्मोघन अपनी कुनिष्ठा में महान् या। दोनों ही
तो क्षेत्र के अपने अपने अनुभूति—चेतों में। दोनों ही महतिनिष्पन्न—'नियेष' के परमाचार्य्य के हुए थे

नगर्या षडिहृत्परपौरस्य दिग्भागे सुभूमिभाग नामोद्यानमासीत् तत्
 कीदृशमित्याह—‘सन्वोउयपुष्पफलसमिद्धे’ सर्वतू रपुष्पफलसमृद्धम्—
 यमन्तादिहृत्तुजनितापुष्पकयादिसम्पन्नम्, सुरम्यम्—अतिशयरमणीय,
 नन्दनवनवत् ‘सुहसुरमिसीयलच्छायाए’ शुभसुरभि—शीतलछायाया—तत्र
 ‘सुह’ शुभा—शोभना ‘सुरभि’ सुगन्धि ‘सीयल’ शीतला च या छाया
 तथा ‘समणुषद्धे’ समनुषद्धम्—युक्तम्, तस्य खलु सुभूमिभागस्योद्यानस्य
 ‘उत्तरओ’ उत्तरत—उत्तरदिशायामित्यर्थ ‘एग देसमि, एकदेशे—एकस्मिन्

‘एव खलु जवू ! तेण कालेण इत्यादि ।

टीकार्थ—(जवू ! एव खलु) हे जवू ! तुम्हारे मदन का उत्तर इस
 प्रकार है—(तेण कालेण तेण समएण चपा नाम नयरी होत्था) उस कालमें उस
 समयमें चपा नामकी नगरी थी (वन्नओ) इसका वर्णन पहिले किया जा
 चुका है । (तीसेण चपाए नयरीए षडिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए सु
 भूमिभाए नाम उज्जाणे होत्था) उस चपा नगरी के बाहर ईशान कोणम
 सुभूमिभाग नामका उद्यान था । (सन्वोउय पुष्पक लममिद्धे सुरम्मे नदणवणे
 इव) यह समस्त ऋतुओं की शोभासे समृद्ध था—आर्यात् समस्त ऋतु
 सबन्धी फलपुष्पादिकों से यह सम्पन्न था अतिशय रमणीय था । नंदन
 वन के समान यह (सुहसुरमि सीयलच्छायाए समणुषद्धे) शुभ, सुरभि
 और शीतल छायासे युक्त था । (तस्स ण सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स
 उत्तरओ एगदेसमि मालुयाक्कए वन्नओ) उस सुभूमिभाग उद्यान की

‘एवं खलु जवू ! तेण कालेण’ इत्यादि ॥

टीकार्थ—(जवू ! एव खलु) जवू ! तमारा प्रश्नने जवाअ आ प्रभासे छे—(तेण
 कालेण तेण समएण चपा नाम नयरी होत्था) ते कालेअने ते समये चपा नामे
 नगरी હતી. (वन्नओ) ते नगरीत वण्णं पहिला करवाभा आओ छे
 तीसेण चपाए नयरीए षडिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए सुभूमिभाए नाम
 उज्जाणे होत्था) ते चपा नगरीની બહાર ઈશાન કોણમા સુભૂમિભાગ નામે ઉદ્યાન હતો
 (સન્વોઉયપુષ્પકલમમિદ્ધે સુરમ્મે નદણવણે ઇવ) તે ઉદ્યાન સમસ્ત ઋતુઓની
 શોભાથી યુક્ત હતુ એટલે કે બધી ઋતુઓના ફળો અને પુષ્પોથી તે સમ્પન્ન હતુ
 અને તે બહુ જ રમણીય હતુ નદન વનની જેમ તે (સુહસુરમિસીયલછાયાए
 समणुषद्धे) शुभ सुरभि અને शीतल छायावाण હતु (तस्स ण सुभूमिभागस्स उज्जा
 णस्स उत्तरओ एगदेसमि मालुयाक्कए वन्नओ) તે સુભૂમિ ભાગ ઉદ્યાનની
 ઉત્તર દિશાએ એક તરફ માલુકા કચ્છનામે વન હતુ તે માલુકા કચ્છનુ વણ્ણ

५८६-कालातीत के द्वारा काल का नियन्त्रण, एवं तदनुग्रहसैव मातृक की सन्निष्ठाप्रवृत्ति

क्या या वह अस्मिन् सा संशोधन ? अर्जुन की मातृक्या-दिग्देशकालानुबन्धिनी उग्रशक्तिभी अनुभूति-बुद्धिमानी का उत्प्रेषणित्व अर्जुन की प्रकृति से होकर भगवान् ने इसके पुण्यमात्र पर ही इस के उत्प्रेषणित्व का समर्थन कर दिया। अर्थात् मातृक-मातृकता का आधार पोषण-निष्ठाकल बना दिया गया। अर्थात्-पुरुष से प्रकृति को निवन्त्रित कर दिया गया। अर्थात् कालातीत से काल को मर्यादित कर दिया गया। अर्थात् अनुभूति की संकित के आश्रय में, ज्ञान को समक के आश्रय में, बुद्धि को बोध के आश्रय में छा लका किया। मीमांसे शब्दों में-मातृक-मातृक-बुद्धि को प्रकृत्यतीत नैष्ठिक अस्म्यपुरुष से युक्त कर दिया, वनकि इसकी यह बुद्धि मातृक-दिग्देशकालमात्रों से युक्त होखी थी इससे पूर्व।

५९०-नियन्त्रण्यात्मक संशोधन से समन्वित लोकोत्तर-'बुद्धियोग'—

यही संशोधन अस्म्य-गुरुपानुगतिक्य से 'बुद्धियोग' (बुद्धि का अस्म्यपुरुष से योग) ब्रह्माय इषी बुद्धियोगात्मिक अस्म्यनिष्ठा से अर्जुन के दिग्देशकालानुबन्धन-प्राकृत-ज्ञापकत्व में 'निष्ठाकल' (निरन्वय्यात्मिक बुद्धि) अस्मिन् प्रवृत्त होगया। इषी अस्म्यपुरुषनिष्ठा के अनुग्रह से इषी बुद्धियोगनिष्ठा के नियन्त्रण से निवन्त्रिता इसकी दिग्देशकालानुबन्धिनी प्राकृत्युद्धि ने निवन्धनी का संवरण कर लिया अपने आपकी दिग्देशकालानुबन्धिनी-मातृक्या के अग्रगण्यता से बचाते हुए।

इत्याहं चक्षुःपिपासति कौतुकेन काखानं परितुभुम्बिपति प्रकामम् ॥

व्याख्याभिर्षं च स्वते परिरम्भुमया यो दुर्जनं वरायितुः सनुते मनीषाम् ॥३॥

—आमिनीषिणासे

अरबबकवितं ह्यं शवरातीरमुद्रांशितं स्पष्टेऽजमवरोपितं सुभिरमूपरे वर्षितम् ॥

स्वपुच्छमवनामितं बधिरक्यैः सायः कृताः कृतास्वमुसमस्यना यदुभयो जनसेवितं ॥४॥

ज्ञानी समुद्रतः सहस्रं मे परं त्विनं नरं अस्मिमान् ॥

मन रञ्जनं त्विनं का कमी सम्भव नाहिं सुज्ञानं ॥५॥

धन्य वैश्वं । मानव प्रभाव करने पर पाछू मिट्टी से पैदा निकाल सकता है मृगशृण्णाकल से पिपाद (प्यास) अपनी प्यास बुझ सकता है भूतते फिरते शायकल (छुले का चींग) भी मिल सकता है, म्यानक मकर (मगर) की कण्ठप्रवा से मणि भी निकाल ली जासकती है प्रचयक वरजायित समुद्र को भी घेर कर पार किया जासकता है विषयक प्रचयक एवं को भी पुष्पक शिरोमूषण बनाया जासकता है और भी इन सभी असम्भव भी क्षेत्रों को हो सम्भव बनाया जासकता है किन्तु अस्मिन्निष्ठ-विन्दु-कुनैष्ठिक-आवेशास्मि-अस्मिनी-कूरकर्म-गुरुबुद्धि को अस्मिन् प्रवृत्त नहीं किया जासकता बेशक तपस्विपुत्र दुर्व्यो-धन क्रिडी भी उपाय से कुरुव न होया हुआ 'कुल-विनाश' का ही निमित्त बन गया था इत्यादि-प्रवृत्तमेव ।

सरक्षन्ती रक्षा कुर्वन्ती, 'सगोवेमागी' सगोपायन्तो-उपद्रवत परिरक्षन्ती 'सङ्गे-
माणी' सम्बेद्यन्ती पोषयन्ती समन्तात् पक्षीराट्य वर्षयन्ती विहरति । सू १ ।

मूलम्—तत्थण चपाए नयरीए दुवे सत्थवाहदारगा परि-
वसति त जहा—जिणदत्तपुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य सह जायया सहवद्धि
यया सहपसुकीलियया सहदारदरिसी अन्नमन्नमणुरत्तया अन्नमन्नमणु-
व्वयया अन्नमन्नच्छदाणुवत्तया अन्नमन्नहियइच्छियकारया अन्नम-
न्नेसु गिहेसु किच्चाइ करणिजाड पच्चणुभवमाणा विहरति ॥ सू ३॥

'तत्थण' इत्यादि,

टीका—तत्र खलु चम्पाया नगर्या द्वौ सार्थवाहदारकौ परिवसत तद्यथा
—जिनदत्तपुत्रश्च सागरदत्तपुत्रश्च, तौ विशेषयति 'सहजायया' सहजातकौ
—समानजन्मकालत्वात् 'सह वद्धियया सहवद्धितकौ—सार्थमेव वृद्धिपगतत्वात्
'सहपसुकीलियया' सह पाशुकीलितकौ समानफाले बूली क्रीडाकरत्वात्
'सहदारदरिसी' सहदारदर्शिनौ सह दारदर्शिनौ सह सार्थमेव परस्पर
गृहयोद्धरि रष्टु शील ययो तौ तथा—सहदारदर्शिनौ—इति छायापक्षे
समानकालकृतविवाहौ 'अन्नमन्नमणुरयया' अन्योऽन्यमनुरक्तकौ—पर-

कर रक्षा कौ—उपद्रवौ से उन्हे पचाया चारों तरफ से उन्हे पर्वों से
आवृत कर उनका पोषण क्रिया ॥ सू २ ॥

टीकार्थ—(तत्थण चपाए नयरीए) उस चपा नामकी नगरीमें (दुवे सत्थ
वाहदारगा परिवसति) दो सार्थवाह दारक रहते थे । (तजहा) वे ये
है—(जिणदत्तपुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य) एक जिनदत्त का पुत्र दूसरा
सागरदत्त का पुत्र (सहजायया सहवद्धियया सहपुसकीलियया सहदार
दरिसी) अन्नमन्नमणुरत्तया अन्नमन्नमणुव्वयया अन्नमन्नच्छदाणुवत्तया

दक्षिणे तेमनी रक्षा करी. उपद्रवोधी धंअने अयाव्या, येअने धंअने पापोधी दक्षिणे-
यावृत्त करीने—तेअवृत्त पोषण कथुं ॥ सूत्र २॥

'तत्थण चपाए नयरीए' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तत्थण चपाए नयरीए) ते यथा नामे नगरीमा (दुवे सत्थ
वाहदारगा परिवसति) ये सार्थवाह दारके (पुत्रे) रहते थे । (तजहा)
तेअवृत्त आ प्रभावे छ—(जिणदत्तपुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य) एक जिनदत्तने
पुत्र अने धीअने सागरदत्तने पुत्र (सह जायया सह वद्धियया सह पुसकीलियया
सहदारदरिसी) अन्नमन्नमणुरत्तया अन्नमन्नमणुव्वयया अन्नमन्नच्छदाणुव

अमृत गति से मूर्धन्य ही अभिमन्यु कहते हैं। कर्त्तव्यरूप अनन्तकाल प्रकृति है, कृत व्यक्तिक्रम सादिसान्त 'विकृति' है। अनन्ता है प्रकृति, सावि-सान्त है विकृति। सादिसान्त विकृति का आधार है अनन्त प्रकृति। एवं इस अनन्ता प्रकृति का आत्मजनन है अनन्ताव्ययपुरुष। यह अनन्तपुरुष भी स्थितिक्रम है। अनन्ता विकृति भी स्थिति रूपा है। दोनों के मध्यम में अनन्ता प्रकृतिरूपा गति प्रसिद्धि है। इत उच्च स्थिति सम्भवित किए बिना 'यत्किञ्चित्' संशोधन को यत्किञ्चिद्रूप से भी समन्वित नहीं किया जासकता। अमृत पुरुषरूपा स्थिति चिद्रूपना है, अनन्तप्रकृतिरूपा मध्यस्था गति 'ध्वतना' है एव सादिसान्तविकृतिरूपा अनन्त स्थिति 'अध्वतना' है। इन तीनों का नाम रख लेते हैं क्रमशः—कृत्वातीतास्थिति, अनन्तकालना सान्तकालस्थिति ये। तत्त्वभाषा में ये ही तीनों हैं क्रमशः—अव्ययपुरुष आद्यपरप्रकृति अद्यपर प्रकृति। व्यवहारभाषा में ये ही तीनों हैं—'कर्त्तव्यसाक्षी, कर्त्तव्य कर्त्तव्यफल'। कर्त्तव्यकाल कर्त्तव्यफलकाल इन दोनों के माध्यम से ही मानव के माध्य का (प्राकृत जीवन का) अन्तर्-निर्याम हुआ करता है। कर्त्तव्य यदि फल का दास बन जाता है तो कृतव्य का कल स्थितिल हो जाता फल की प्रधानता हो जाती है। फलता फल की सम्पादना निश्चल प्रमाथित हो जाती है फलरूपा आद्य बड़का और उत्पन्न कर देती है। ठीक इसके विरुद्ध—यदि फल कर्त्तव्य का दास बन जाता है, तो फल आद्यकाल स्थितिल हो जाता है कृतव्य प्रधान बन जाता है। फलता कृतव्य की फलानुगति भी निर्याम बन जाती है एत फल अपनी बड़का से कृतव्य को प्रभावित भी नहीं कर पाता। और यही यत्किञ्चित् संशोधन की स्वरूपभाषा का उपसंहारनिष्कर्ष है। बिलकल्प निम्नलिखित शब्दा में उद्घोर हुआ है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गीता) ।

५६३—आत्मानुगता स्थिति, तथा कासात्मिका गति का स्वरूप—समतुलन—

एक 'स्थिति' के साथ कर्त्तव्य का सङ्ग ही इसे वृद्धी स्थिति' से असङ्ग बनाए रहता है पुरुषात्म्य भी स्थितिक्रम है। बिसे हमने चिद्रूपन कर्त्तव्यसाक्षी कहा है। अमृत-विरत भी स्थितिक्रम है। बिसे हमने अध्वतन कृतव्यकाल कहा है। कृतव्यफल भी 'स्थिति' रूप 'अकर्ममात्र' है तो कृतव्यसाक्षी भी स्थितिक्रम 'अकर्ममात्र' है। यदि मानव (अर्थतः प्राकृत जीवन) अपने कृतव्य को अकर्मरूपा—कृतव्य फलानुगता स्थिति से समन्वित कर देता है, तो फलानुगताकाल यह मानव बड़का में जाता हुआ कुनैष्ठिक बन जान जाता है दुर्गोचनबत्। यही यदि अपने कृतव्य को अकर्मरूपा—कृतव्यसाक्षीरूपा स्थिति से समन्वित कर लेता है तो साक्षीस्थित्यनुगता यह मानव चिद्रूपनमात्र से समन्वित होता हुआ कुनैष्ठिक बन जाता है उद्घोर अनुभव।

५६४—सुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, एवं—'कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' के 'अकर्मणि' का अर्थ है 'फले ते सङ्गो मास्तु'। कर्म का फल 'अकर्म' ही तो होगा। अतएव कर्मफल की वृद्ध उठा 'अकर्म' बन गई है। उपर कर्मसाक्षी अव्ययपुरुष भी अपने

तन्न अम्हेहि एगयओ समेच्चा णित्थरियव्व त्तिक्कु अन्नमन्न
मेयारूव सगार पडिसुणेति, पडिसुणित्ता सकम्मसपउत्ता जाया
यावि हो था ॥ सू ४ ॥

टीका—‘तत्थ ण इत्यादि—तत्र खलु तथा सार्थवाहदारकयारन्यदा
कदाचित् ‘एगयओ’ एकत्. ऋस्मिञ्चित् एकस्मिन्स्थाने ‘सहिष्याण सहितयो
—मिलितयो ‘समुवागयाण’ समुपागतयो एकतरस्य ग्रहे प्राप्तयो ‘सन्निम
न्नाण’ सन्निपण्णयो’ उपविष्टयो ‘मन्निविद्वाण’ सन्निविष्टयो एकस्मिन्
स्थले समिलिततया स्थिरसुवासनतयाच स्थितयो इमेयारूवे’ अपमे
तूप वक्ष्यमाणस्वरूप ‘मिहा क्हासमुल्लावे’ मिथ कथासमुल्लाप, तत्र
‘मिहो क्हा’ मिथ कथा—परस्परकथा तभ्या समुल्लाव’ समुल्लाप जल्पो यत्त्वं
स तथा समुप्पज्जित्था’ समुप्पद्यत अभवत् ‘जण’ यत् खलु देवानुप्रिय
‘अम्ह’ भावया सुख वा दुःख वा पञ्चज्जा’ प्रव्रज्या वा पर्यटन—गारेण

‘तएण तसि सत्थवाहदारगाण’ इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तएण) इसके बाद (अन्नया कयाइ) किसी समयमें
(एगयओ सहिया ण) किसी एक स्थलमें मिले हुए (समुवागयाण)
एक दूसरे के घरमें मात्त हुए (सन्निमन्नाण, सन्नि विद्वागइमेयारूपे
मिहा क्हासमुल्लाव समुप्पज्जित्था) अन्त्री तरह बैठे हुए, अच्छी तरह
एक स्थान पर मिलकर सुस्वरूप से स्थित हुए । (तस्मि सत्थवाहदारगाण)
उन सार्थवाह पुरुषों को (इमेयारूवे मिहाक्हासमुल्लावे समुप्पज्जित्था) इस
तरह यह वक्ष्यमाण मिथो कथा समुल्लाप उत्पन्न हुआ । परस्पर की गप्पी
उन लोगोंने इस प्रकार विचार किया (अम्ह सुह वा दुक्खं वा पञ्चज्जा
वा धिदेसगमण वा समुप्पज्जइ) अपन दोनों चाहे सुखमें रहे या दुखमें

तएण तसि सत्थवाहदारगाण’ इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) त्थर भाव (अन्नया कयाइ) कौठक वधते (एगयओ सहि
याण) कौठ के स्थाने सयुक्त थयेला (समुवागयाण) केक पीबाना घरमा केकडा
थ्या. (सन्निमन्नाण सन्निविद्वाण इमेयारूवेमिहो क्हासमुल्लावे समुप्पज्जित्था)
तेज्जा भने त्या सारी रीते केका अने केकव स्थाने केक पीबानी भणीने प्रसन्नता
अनुभवी (तसि सत्थवाहदारगाण) ते सार्थवाह पुरोने (इमेयारूवे मिहोक्हा-
समुल्लावे समुप्पज्जित्था) आ प्रभावे केक पीबानी आथे प्रेमपूर्वक वातावाप करता विचार
कुदुबन्धो—केटवे के तेज्जा भनेजे आ प्रभावे विचार कथी के—(अम्ह सुहं वा दुक्खं
वा पञ्चज्जा वा धिदेसगमण वा समुप्पज्जइ) अमे भने भवे सुभमा डीग

अमृत गति से मूर्तामृत ही अभिमन्युक्त होते हैं। कर्तव्यकर्म अनन्तकाल 'प्रकृति' है, कर्तव्यकर्मकाल छदिवन्तकाल 'विकृति' है। अनन्ता है प्रकृति, सादि-सान्त है विकृति। सादिसान्त विकृति का आचार है अनन्ता प्रकृति। एवं इस अनन्ता प्रकृति का आश्रमवन है अनन्ताभ्यस्यपुरुष। यह अनन्तपुरुष भी स्थितिकर्म है एव अनन्ता विकृति भी स्थिति कर्मा है। दोनों के मध्यम में अनन्ता प्रकृति कर्मा गति प्रतिष्ठित है। इत उच्च स्थिति को समन्वित किए किना 'यत्किञ्चित्' संशोधन को यत्किञ्चित् रूप से भी समन्वित नहीं किया जा सकत। अमृत पुरुषकला स्थिति चित्तपना है, अनन्तप्रकृति कर्मा मध्यस्था गति 'धतना है एवं छदिवन्तविकृति कर्मा अनन्तस्थ स्थिति 'अचेतना' है। इन तीनों का नाम रख लेते हैं कर्मणः—काशादीतास्थिति अनन्तकाशादि-सान्तकलास्थिति ये। वत्तमाया में ये ही तीनों हैं कर्मणः—अभ्यस्यपुरुष आश्रमपराप्रकृति आश्रमपरा-प्रकृति। व्यवहारमाया में ये ही तीनों हैं—'कर्तव्यसाधी कर्तव्य कर्तव्यकर्म'। कर्तव्यकर्म एवं कर्तव्यकर्मकर्म इन दोनों के मध्यम से ही मानव के माय्य का (प्राकृत धीनन का) अन्तःपुरा निर्याय हुआ करता है। कर्तव्य यदि फल का दास बन जाता है तो कर्तव्य का फल शिथिल हो जाता है फल की प्रधानता ही जाती है। फलता फल की सम्भावना निष्कृत प्रमाणित होजाती है फलक्या आश्रित बहवा और उत्पन्न कर देती है। ठीक इसके विरुद्ध—यदि फल कर्तव्य का दास बन जाता है तो फल का आवकिकल शिथिल हो जाता है कर्तव्य प्रधान बन जाता है। फलतः कर्तव्य की फलानुगति भी निश्चित बन जाती है एवं फल अपनी बहवा से कर्तव्य को प्रमाणित भी नहीं कर पाता। और यही यत्किञ्चित् संशोधन की स्वकर्मगाया का उपसंहारनिष्कर्ष है चिन्ता निम्नलिखित शब्दों में उद्घोष हुआ है—

कर्मण्यथैवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्ः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गीता) ।

५६३—आत्मानुगता स्थिति, तथा कालात्मिका गति का स्वरूप—समतुलन—

एक 'स्थिति' के साथ कर्तव्य का सङ्ग ही इसे दूसरी स्थिति से असङ्ग बनाना पड़ता है। पुत्रव्याभय भी स्थितिरूप है जिसे हमने चित्तपन कर्तव्यसाधी कहा है। अमृत-निरव भी स्थितिकर्म है जिसे हमने अचेतन कर्तव्यकर्म कहा है। कर्तव्यकर्म भी स्थिति कर्म 'अकर्ममात्र' है तो कर्तव्यसाधी भी स्थितिकर्म 'अकर्ममात्र' है। यदि मानव (अर्थात् प्राकृत जीव) अपने कर्तव्य को अकर्मकला—कर्तव्य-फलानिका स्थिति से समन्वित कर देता है तो फलस्थित्याद्यक यह मानव बहमात्र में जाता हुआ कुनैतिक बन जान जाता है दुर्मोघनकत्। यही यदि अपने कर्तव्य को अकर्मकला—कर्तव्यसाधिका स्थिति से समन्वित कर लेता है तो साधीस्थित्यनुगत यह मानव चित्तपनमात्र से समन्वित होता हुआ कुनैतिक बन जाता है उच्चक अर्जुनकत्।

५६४—सुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, एवं—'काष्ठं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' के 'अकर्मणि' का अर्थ है 'फले लं सङ्गो मास्तु'। कर्म का फल 'अकर्म' ही तो होगा। अतएव कर्मकर्म की उच्च सङ्गा 'अकर्म' बन गई है। उपर कर्मसाधी अभ्यस्यपुरुष भी अपने

टोक—'तत्थण इत्यादि तत्र खलु चम्पाया नगरी देवदत्ता नाम गणिका परिवसति, सा च आदशा यावद् अपरिभूता 'चउसट्टिकलापडिया' चतुष्पष्टि कला पण्डिता-चतुष्पष्टिसख्यका कला नृत्यादि फलघृष्टि पर्यन्ता तत्र पण्डिता-निपुणा 'चउसट्टिगणि रागुणोचवेया' चतुष्पष्टि-गणिकागुणोपवता चतुष्पष्टिमख्यका गणिकागुणा शृङ्गारचेष्टारूपा तैरुपपेता-युक्ता 'अउणतीस विसेसे रममाणी' एकोनविंशद् विशेषान् रममाणा-एकोनविंशद्विशेषान् कामशास्त्रप्रसिद्धान् अधिभूत्य रममाणा-विलासं कुवाणा 'एकवीसरइगुणप्पहाणा' एकविंशति रतिगुणप्रदाना एक विंशति सख्यका रतिगुणा तै प्रदाना 'वत्तीसपुरिसोवयारकुसला' द्वाविंशत् पुरुषोपचारकुसला द्वाविंशत् सख्यका पुरुषोपचारा कामशास्त्रप्रसिद्धास्तेषु कुशला-दक्षा णवगसुत्तपडिवोहिया' नवाङ्गमस पतिवोधितानि—

तत्थ ण चपाए नयरीए' इत्यादि ॥

टीकार्थ—(तत्थण चपाए नयरीए) उसी चपा नगरीमे (देवदत्ता नाम गणिया परिवसइ) देवदत्ता नाम की एक गणिका रहती थी । (अङ्कजाव अपरिभूया चउसट्टिकलापडिया, चउसट्टिगणियागुणोचवेया अउणतीस विसेसे रममाणी) यह धन सपन्न थी । यावत् अपरिभूत थी-कोई इसका तिरस्कार नहीं कर सकता था । नृत्यादि से लेकर फलघृष्टि पर्यन्त की ६४ कलाओं में यह निपुण थी । शृङ्गार चेष्टारूप जो ६४ गणिकागुण होते हैं उनसे यह भरपूर थी । कामशास्त्र प्रसिद्ध २५ विशेषों को लक्ष्य में रख कर यह विलास करती थी । (एकवीसरइगुणप्पहाणा) २१ प्रकार के रति गुणों से यह समन्वित थी । (वत्तीसपुरिसोवयारकुसला) ३२ प्रकारके कामशास्त्र प्रसिद्ध पुरुषोपचारों में यह कुशल थी । (णवगसुत्तपडिवोहिया)

'तत्थण चपाए नयरीए' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तत्थण चपाए नयरीए) ते तत्थ नगरीमा देवदत्ता नाम गणिया परिवसइ) देवदत्ता नामे गणिका रहती હતી. (અઙ્કજાવ અપરિભૂયા ચउसट्टिकलापडिया, चउसट्टिगणियागुणोचवेया अउणतीस विसेसे रममाणी) ते धन सपन्न હતી અપરિભૂત હતી-એટલે કે કોઇપણ વ્યક્તિની એવી તાકાત ન હતી કે તેને તિરસ્કાર કરીશકે નૃત્ય વગેરેથી માહીને ફળઘૃષ્ટિ સુધીની એસઠ કળાઓમા તે કુશળ હતી શૃંગારની એટાણે જે એસઠ ગણિક શુભે હોય છે તેમજા શુભે તેમા વિદ્યમાન હતા. કામશાસ્ત્રમા પ્રસિદ્ધ એકવીસ (૨૬) વિશેષોને લક્ષ્યમા રાખીને તે વિલાસ કરતી હતી. (एकवीसरइगुणप्पहाणा) એકવીસ ભતના રતિશુભોથી તે યુક્ત હતી. (वत्तीस पुरिसोवयारकुसला) બત્રીસ (૩૨) ભતના કામશાસ્ત્રમા પ્રસિદ્ધ પુરુષો પચાસમા

आप दूसरों को उत्पीड़ित करने लग पड़ते हैं। बहुतों आप न तो उत्पीड़क ही हैं, न उत्पीड़ित ही। उत्पीड़ित हैं दिग्देशरक्षणरूप के मूत्र-भूतमौलिक सङ्गपदार्थ, एवं सङ्गताप्रधान वे पशु-पक्षी-आदि भौतिक प्राणी जो उत्पीड़नरूप इन मूत्रमात्रों से पहिले तो स्वयं उत्पीड़ित बनते हैं। तदनन्तर प्रतिक्रियारूप से अपने समानचरमा प्राणुत प्राणियों को उत्पीड़ित करते रहते हैं। और यों सम्पूर्ण भूतमीलिक परबन्धि प्राणी अपनी सीमित दिग्देशरक्षणता से, इस उत्पीड़नचरम से घड़ी की प्रहोरण उपासना करते हुए परस्पर उत्पीड़ित-उत्पीड़क ही बने रहते हैं।

५६७-अमूर्चकाल के द्वारा उत्पीड़ित मूर्चकाल—

क्या वे परबन्धि प्राणी उत्पीड़ित, तथा उत्पीड़क बने रहते हैं?, इस प्रश्न पर क्या कमी आपने विचार विमर्श किया है? नहीं तो अब कर लीजिए। इस पशुसर्ग के लिए वर्तमानकाल के अतिरिक्त न तो कोई मूर्चकाल है न भविष्यकाल जिस भूतमविष्यत्काल को अप्यक्त-महद्वाररूप 'अनन्तकाल' कहा जाता है। उस अनन्तकाल से उदा ही उत्पीड़ित यह आदिसान्त सम्प्रसर-मूर्च-अप्यक्त-वर्तमानकाल ही पशुसर्ग का सर्वस्व बना रहता है। उत्पीड़न ही इसका प्रभवरूपान है उत्पीड़करूप उस अनन्त-मूर्च-मविष्यत्-अन्तरकाल से उत्पन्न उत्पीड़ित यह पीड़ितकाल ही तो इस पशुसर्ग का प्रभव है यही प्रतिष्ठा है यही परागण है। व्यवधानात्मक भय ही इस उत्पीड़ित काल का स्वरूप है।

५६८-मूर्चकाल से निरन्तर उत्पीड़ित-मयप्रस्त-शङ्कातद्धितमानस-मूर्च-मौलिक-कालिक-पशुसर्ग—

अतएव महद्वयमय इस पीड़ितकाल से उत्पन्न अप्रैव प्रतिष्ठित एवं अप्रैव लीन होबाने वाले पशुसर्ग को उत्पत्तिद्वय से आरम्भ कर विलयनचरण पर्वन्त उदा सब और से शङ्कातद्धितमानस बन कर ही उदा मयमात्रों से उक्त-विकल्पित रहते हुए ही जीवनवापन करते रहना पड़ता है। शान्ति-निर्ममता-अनन-स्थिरता-बैवा कोई भी शारबट स्थिरचरम आप इनमें उपलब्ध नहीं कर सकते। इनका गमन-शुभन-आशन-पान-आदि आदि सम्पूर्ण भौतिक कर्मकलाप उदा शङ्का-मय-आश्रयता-विकल्पन-आदि मर्त्यमात्रों से ही आरम्भ रहता है, बिसे आब के पशुविज्ञानवेद्या प्राणीशालावित् घो मलीमधि धान ही खे होंगे, बिसे इस खेब मय सह्य उत्पीड़न को ही सम्भवत वे-आत्मरक्षा की सङ्घन स्फूर्ति नाम से व्यवहृत कर खे होंगे जबकि उल्लतः न इस पशुसर्ग में माखीम-पशुविज्ञान की दृष्टि से आत्मस्वरूप ही अमिष्यक है, न उद्वरचा जैसी विकलातुवन्धिनी बागरुण्य का ही इनके व्यय कोई सम्भव है।

५६९-आत्मस्वरूपामिन्यक्तित्व से असंस्पृष्ट, अतएव आत्मरक्षावमम से पराङ्मुख पशु सर्ग की दिग्देशरक्षण-निबन्धना मयातुरता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अपि अचन्तकम से सर्वरचना वच मानदिग्देशकालनिकम्बन सह्य उत्पीड़न-सह्य मय ही इनका सम्पूर्ण इतिहास है बिसे इस मय के विविध परिवचनों के ही आब के भूतद्विप्रधान माकिशाल से सैतन-आत्मा-आत्मनाम-रक्षा की स्फूर्ति-आदि आदि विविध कल्पित नाम रख लिए गए हैं। इस कल्पना का

स्याः सा तथा चाप्यभवत् गणिकासद्वत्तस्यापिपत्य कुर्याती यावद्विहरति ॥ सू ५ ॥

मूलम्--तएण तेसिं सत्थवाहदारगाण अन्नया कयाइ पुब्बा-
वरणहकालसमयसि जिमियभुत्ततरागयाण समाणाण आयन्ताण
चोक्खाण परमसुइभूयाण सुहासणवरगयाण इमेयारूवे मिहो
कहासमुल्लावे समुप्पजित्था, त सेय खल्ल अम्ह देवाणुप्पिया ।
कल्ल जाव जलते विउल असण ४ उवक्खडावेत्ता त विउल असणं
४ धूव पुक्कगधवत्थ गहाय देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभा-
गस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिंरिं पच्चणुभवमाणाण विहरित्तए तिकहु
अन्नमन्नस्स पयमट्ट पडिसुणोति पडिसुणित्ता कल्ल पाउप्पभायाए
रयणीए कोडुविय पुरिसे सदावेति सदावित्ता एव वयासी-गच्छह
ण देवाणुप्पिया । विउल असण ४ उवम्बडेह त विउल असण
४ धूवपुक्कवत्थ गहाय जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे जेणेव णदा-
पुक्खरिणी तेणामेव उवागच्छह, णदा पुक्खरिणीतो अदूरसामते
थूणा मडव आहणह । आसित्त सम्मज्जियोवलित्त सुगध जाव कलिय
करेह, अम्हे पडिवालेमाणा २ चिट्ठह जाव चिट्ठति ॥सू ६ ॥

पालकी-तामजाम-पर बैठ कर यह चलती थी । (नरवाङ्मयान विशेष का नाम
कार्गिरथ है) ऐसी यह गणिका (बहूण गणियासइस्साण आहेवच्च जाव
विहरइ) और हजार गणिका जनों का आधिपत्य करती हुई अपने समय
को आनन्दके साथ व्यतीत करती थी । सूत्र ४॥

‘तएण तेसिं सत्थवाहदारगाण’ इत्यादि ।

तामजाम-उपर सवार धरने ते अपरन्वर करती, नरवाङ्मयान विशेषतः नाम कर्षुस्थि
छे अेवी ते गणिका (बहूण गणियासइस्साण आहेवच्च जाव विहरइ) हजार
अधिकार्योत् आधिपत्य करती पोतान्नावधत्तनेते सुजेथी पसार करती હતી ॥ सूत्र ५॥

विक्रम पशुसर्ग तो यत्किञ्चित् प्रतीकमात्र ही बना हुआ है। अग्नी से अन्न उत्पन्नित हुआ करते हैं। स्वयं अग्नी कदापि अग्नी से उत्पन्नित नहीं होता। प्रतीकारमक, अतएव अन्नरूप पशुसर्ग उक्त अग्नी से अन्नरूप ही उत्पन्नित, मन्त्ररस है। किन्तु आप तो उसके अन्न किंवा प्रतीक नहीं है, जो उस अग्नी अनन्तकाल से पशुसर्ग आप उत्पन्नित होते रहें ! आप तो उसके प्रतिकार हैं, स्वयं मन्त्री हैं। अतएव वही हैं। आप से आपकी नियति से, दयवमय से तो सम्पूर्ण विश्व मयपूर्ण सञ्चालित है *। आप स्वयं महाकालरूप हैं, शिष्यस्वरूप हैं। आप सब को अमयपर देने वाले हैं अपने इस अनन्तकालस्वरूप से। फिर आपका मन्त्र कैसा ! अमन्त्र ही आपका मौलिक स्वरूप है अनन्त प्रकृति की दृष्टि से भी एवं अनन्तपुरुष की दृष्टि से भी।

६०२—प्राकृत-विश्व से अनुप्रायिता-माधुकर्यापूर्वा-भूत के विविध-शाखा-प्रशाखा-विवर्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं 'यत्किञ्चित्' संशोधन के द्वारा तन्निवृत्तप्राय-प्रदर्शन—

मूल कहाँ हो पड़ी आप से ! वस "तना स्य यत्किञ्चित् ता ही समझ लेना है आपको बुद्धि से नहीं, अपितु समझ से जिस समझ का गुणानुवाद पूर्व में किया जा चुका है। सादिसान्ध्य विकृति को अपनी प्रकृति मान बैठना पहिली मूल इस प्रत्यक्षदृष्टा विकृतिरूपा दिग्देराकालामिन्द्र मूर्त्ता मृतप्रकृति के विकृति-तम-वैकृति-पशुसर्ग के, विकारद्वयत्मक बहसर्ग के माध्यम से अपनी भूतप्रकृति के स्वरूपान्वेषण में प्रारंभ हो जाना दूसरी मूल इन दो मूर्त्तों से प्रकृतिविमूढ (विकृतिविमूढ) बनते हुए अपनी इस अज्ञान मानवता में ही अभिनिविष्ट हो जाना तीसरी मूल, अभिनिवेश के निवारक बर्म्भ के प्रति निरपेक्ष बन जाना चौथी मूल भर्म्मनिरपेक्षतामूलक अस्पष्टिक अनुभवों के क्लृप्तपूर्वक (सत्यकल्पमाध्यम से) प्रचार-प्रसार करने के लिए आह्वार हो पड़ना पाँचवीं मूल इस आह्वारा से मानव के मौलिक अनन्त-स्वरूप के प्रति विवर्ती बनते हुए, प्रतिक्रियावादी बनते हुए अपने आपको ही सर्वज्ञ मान बैठना छठी मूल इस अस्पष्टिक सर्वज्ञता के स्वामीभूत से एकमततः व्यक्तिस्वविमोहन का अनुगामी बन जाना सातवीं मूल मानवसुलभ उद्बोधन का अपने अन्तर्बन्ध में अनुभव करते हुए भी अपने व्यक्तिस्वविमोहनरूप इत्यंभूत अस्पष्टिक 'अभिक्रिय' के पतनमय से जानते हुए, भी नहीं जानना मानते हुए भी नहीं मानना यही आठवीं महामूल ओर ओर भी शाश्वत-अज्ञात परराज्य छोटी बड़ी मूलपरम्पराओंसे आपादमस्तक ओतप्रोत मानव ने इस यत्किञ्चित् ही मूल से अपने महान् प्राकृतस्वरूप को कैसा छोटा कर लिया है !, किटना छोटा कर लिया है !, इस अस्पष्टि-मात्र से भी मानव की मानकता का बिकल्पित हो पड़ी है। 'यत्किञ्चित्' ही मूल' इसलिए कि, ब्रह्ममात्र ही तो लगता है अपने इस अस्पष्टिक व्यक्तिस्वविमोहन का जोला उठार देकर में। यत्किञ्चित् ही ही तो श्रुतुता-दरलता-अबकता अपेक्षित है अपने आपकी इस अस्पष्टि इच्छा के यत्किञ्चित् से स्वरूप से उद्बोधन प्राप्त करने के लिए।

* मीमांसाशास्त्रोद्देशि, भीषोद्देशि चर्च्यः ।
मीमादन्निरूप धायुरुष मृत्युर्घातति पञ्चमः ॥
उपनिषत्

स्याः सा तथा चाप्पभवत् गगिकासहस्रस्याधिपत्यं कूर्वन्ती याद्विहरति ॥ सू ५ ॥

मूलम्—तएण तेसिं सत्थवाहदारगाण अन्नया कयाइ पुब्बा-
वरण्हकालसमयसि जिमियभुत्तत्तरागयाण समाणाण आयन्ताण
चोक्खाण परमसुइभूयाण सुहासणवरगयाण इमेयारूवे मिहो
कहासमुल्लावे समुप्पजित्था, त सेय खल्ल अम्ह देवाणुप्पिया ।
कल्ल जाव जलते विउल असण ४ उवक्खडावेत्ता त विउल असणं
४ धूव पुप्फगधवत्थ गहाय देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभा-
गस्स उजाणस्स उजाणसिंरिं पच्चणुभवमाणाण विहरित्ताए तिकट्ठ
अन्नमन्नस्स एयमट्ठ पडिसुणोति पडिसुणिता कल्ल पाउप्पभायाए
रयणीए कोडोविय पुरिसे सद्दावेति सद्दावित्ता एव वयासी-गच्छह
ण देवाणुप्पिया । विउल असण ४ उवस्खडेह त विउल असण
४ धूवपुप्फवत्थ गहाय जेणेव सुभूमिभागे उजाणे जेणेव णदा-
पुक्खरिणी तेणामेव उवागच्छह, णदा पुक्खरिणीतो अदूरसामते
धूणा मडव आहणह । आसित्त सम्मजियोवलित्त सुगध जाव कलिय
करेह, अम्हे पडिवालेमाणा २ चिट्ठह जाव चिट्ठति ॥ सू ६ ॥

पालकी-तामजाम-पर बैठ कर यह चलती थी । (नरवाहयान विशेष का नाम
कर्णोरथ है) ऐसी यह गणिका (घृण गणियासहस्ताण आह्वेषच्च जाय
विहरइ) और हजार गणिका जनों का आधिपत्य करती हुई अपने समय
को आनन्दके साथ व्यतीत करती थी । सूत्र ४॥

‘तएण तेसिं सत्थवाहदारगाण’ इत्यादि ।

तामजाम-उपर चवार थडने ते अवरज्वर करती, नरवाहयान विशेषतः नाम कर्णोरथ
छे जेवी ते गल्लिका (घृण गणियासहस्ताण आह्वेषच्च जाय विहरइ) उन्नर
गल्लिकाज्येतु आधिपत्य करती यैतान्नावभतने ते सुभेथी पसार करती હતી ॥ सूत्र ५॥

मन्वन्तरकाल का चरम उदक है एवं यही है दिग्देशकालमीमांसक का वाग्बिभ्रमण का एकमात्र बह लक्षण, जिस लक्षण की मूलप्रविष्टा है—'अभयं वै ब्रह्म', मा मैपीः, योऽस्मान् द्वेष्टि यन्न बर्षं द्विष्म—तं जस्मे वष्मा।

६०४—दिग्देशकालात्मक मयों से असस्पृष्ट अभयमूर्ति महान् मानव, एवं महान् मानव की दिग्देशकालातीता अनन्तता का माङ्गलिक-संस्मरण—

ब्रह्म अभय है। अतएव मानव को क्यापि कमी मी, कहीं मी किसी से भी कुछ मी भय नहीं करना चाहिए। क्यापि किसी मी दिग्देशकाल के प्रभाव में नहीं खाना चाहिए। क्यापि किसी मी युगधर्मनुगता अगृह्यमनुगता, एवं कालधर्मनुगता • प्रत्यक्षप्रमात्मज्ञा तात्कालिकी मातृधर्माधी, प्रदशनों आयोधनो योधनाधी आदि से प्रभावित होकर अपना अनात्म कच व्यनिष्ठात्मक लक्षण विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। दिग्देशकालनिष्पन्न स्वविनाशक भूत-मौक्तिक संहारत्वों से क्यापि मानव को विक्षिप्त नहीं होखाना चाहिए। दिग्देशकालनिष्पन्न, गन्धर्वनगरकोलात्मप्रसिद्ध तात्कालिक जमत्कारपूर्व तात्कालिक-अनु-कृषता-सुख-सुविधा-वनक, किन्दु परिणामत मानवीय जीवनरत के स्वविनाशक भौतिक आविष्कारों से क्यापि मानव को प्रभावित नहीं होना चाहिए। क्योंकि मानवता अजर है अमर है शारवत है, अनात्म है एवं है कालातीत है। अतएव किसी मी प्रकर का दिग्देशकाल-विभ्रमण उसे निक्षिप्त नहीं कर सकता नहीं कर उग्र आबतक नहीं कर सकेगा कमी मी। उस अनाद्यनन्त्या दिग्देशकालातीता 'मानवता' का ही हम पुन पुन माङ्गलिक संस्मरण कर रहे हैं।

६०५—सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त विरोधी तत्त्वों को निष्कल प्रभावित करते रहने वाले महान् मानव की महती निष्ठा का ऐतिहासिक-संस्मरण—

दिग्देशकालानुक्थी अतएव मनःशरीरप्रधान 'मानवेतिहास' ही इस दिशा में अत्यन्त प्रभाव है कि, सृष्टि के आरम्भ से कच मानवण पर्यन्त उष्ण विभिन्न सृष्टिकालों सत्ताकालों सम्बता-संस्कृति-युगों में मानव की मानवता के अन्ततम शत्रु बिन बिन मी आवतायी-वर्ष-दस्युधोर्न जैसे जैसे भी प्रचरद-वरास-आक्रमण किए इस मानवता पर, उन सब धोषप्रोत्तम पातक आक्रमणों से केवल अपने बाध-दिग्देशकालानुक्थी मनःशरीरमात्रों को ही सहर्य अन्वित करते हुए 'मानवता' में अपने का मनुदि-निष्पन्न मौक्तिक-मानवता' पर्व को तो अक्षय्य ही बनाए रखा। और वे धाराबाहिक मी वरास आक्रमण मानव की आत्मसुदिनिष्पन्ना 'मानवता' का अस्पर्श मी नहीं कर सके आबतक। अक्षर ही लक्ष्य मी लक्ष्य मी के अक्षिप्त प्रमाथी, अनुक्थों से मानव की मनःशरीरनिष्पन्ना मातृधर्मा यथायुगनुपात से प्रभावित मी होती रही। किन्दु क्यापि किसी मी युग में आत्मसुदिनिष्पन्ना निष्ठा अदिधा मानवता' यत्किञ्चित् मी तो प्रभावित नहीं हो सकी किसी मी तात्कालिक युगधर्म से।

•-कालचक्र-अगचक्र-युगचक्र च केशवः।
 आत्मयोगेन मगवान् परिवर्तयत् ऽनिशम् ॥
 —महाभारत उद्यो० ६८ अ०।

पुष्पगन्ध वध्वृहीत्वा देवदत्तया गणिरुया सार्द्धं सुभूमिभागस्योद्यानस्य
 उद्यानश्रियम्—उद्यानशोभाम् प्रत्यनुभवतो—उपवनशाभादर्शनादिना
 प्रमोदयतो विहर्तुं=विलासितुम् इति कृत्वा अयोऽन्ययोरतमर्थं प्रतिभृणुतः
 प्रतिभृत्त्य निश्चित्येत्यर्थं 'कृत्' कर्त्वे 'पाउपमाया रयणीए'पादुष्ममाणाया
 रजन्या राभ्यन्ते प्राच्या दिशि प्रकाशोदये कौटुम्बिकपुरुपान् शब्दयत
 शब्दधित्वा एवमवादिष्टाम् गच्छत खलु प्य दवानुभिया ! विपुत्रमशन

(त सेय खलु अम्ह देवाणुप्पिया) हे देवानुभिय ! हम दोनोंका अथ यह
 अच्छा है कि (कल्ल जाव जलते विउल असण उवन्नखडाविच्चा त
 विउल असण ४ पूषपुष्फगधवत्थ गहाय देवदत्ताए गणियाए सद्धिं
 सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरी पच्चणुभवमाणण विहरित्तए)
 हम दोनों कल जब कि प्रभात हो जाय और सूर्य प्रकाश हो
 जाय तब विपुलमात्राम अशन पान, खाद्य, और स्वाद्य चारों प्रकार
 का आहार निष्पन्न करा कर उस निष्पन्न हुए अशन आदि ४ चारों प्रकार
 के आहारको तथा घूप, पुष्प, गंध, और वस्त्र को लेकर देवदत्त गणिका
 के साथ सुभूमिभाग उद्यान की उद्यान श्रो का अनुभव करते हुए विच-
 ण करें। (त्तिकहुं अन्नमन्नस्स एयमहुं पडिसुणेति) ऐसा विचार उन दोनोंने किया
 परस्पर के इस विचारको स्वीकार कर लिया (पडिसुणिच्चा कल्ल पाउप्प-
 भायाए रयणीए कोडुप्पियपुरिसे सद्दावेति) विचार स्वीकृत हो चुकने के
 बाद कल जब रात्रि प्रभात प्राय हो चुकी और सूर्य प्रकाशित हो चुका
 तब उन दोनोंने अपनेर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया (सद्दाविच्चा एव

(त सेय खलु अम्ह देवाणुप्पिया) हे देवानुभिये ! आपसे होने भाटे ये बात
 सुभद्रपथे के (कल्ल जावजलते विउल असण ४ उवन्नखडावेच्चा त विउल
 असण ४ पूष,पुष्फ गधवत्थ गहाय देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभाग
 स्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरी पच्चणुभवमाणण विहरित्तए) आवती अवे न्यारे
 सवार थाय अने सूर्य प्रकाशतो थाय त्यारे पुष्पण प्रभावुभा अशन, पान, खाद्य,
 अने स्वाद्य चारे प्रकारने आहार अनावअपीने ते चारे अतन्ना आहारने तेमज्ज भूप
 पुष्प, गंध अने वस्त्रने लभने देवदत्ता गणिकानी साथे सुभूमि भाग उद्याननी
 उद्यानशीने अनुभवता विहार करीये. (त्तिकहुं अन्नमन्नस्स एयमहुं पडिसुणेति)
 आ विचारने अनेये स्वीकरी थी. (पडिसुणिच्चा कल्ल पाउप्पमायाए रयणीए
 कोडुप्पिय पुरिसे सद्दावेति) विचारनी स्वीकृति आइ न्यारे रात्रि पसार यथ
 प्रभात यथ अने सूर्यने प्रकाश चोभेर प्रसथो त्यारे अनेये पोतपोताना कौटुम्बिक
 पुरुषोने बोलाव्या. (सद्दाविच्चा एव वयासी) बोलावने अर्ध—(गच्छह ण देवा

कीरल से श्रुतत्वापूर्वक अनुकूल बनाए रखता उन सब महात्माओं के, तथापि उन्मत्तता मक कीरलों के समतुलन में तो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आब की स्वस्वतमा नगयया इन मौक्तिक-विमोहितत्वों का ।

६०६—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीड़क मूर्च्छाल, एवं नियन्त्रित-मूर्च्छ कालानुबन्धी इष्टधामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर जहाँ—'फाल्गु' कालेन पीडयन् के माध्यम से मौक्तिक विग्रहणों को नियन्त्रित-सीमित रक्ता तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अलङ्काररूप उन आत्मसरसक-प्रज्ञाविज्ञानोंका, त्वनुकम्बी लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का अर्धजनिकरूप से विस्तार भी किया, जिस ब्रह्मविज्ञान-मक यज्ञविज्ञान के स्वरूप ही भारतवर्ष की सम्पूर्ण लोकमान्यताएँ प्रकटित्यतापूर्वक प्रकथित रही। अतएव सर्वत्र जो यज्ञविज्ञान प्रथा के शिप 'इष्टधामधुक्' ही बना रहा • । विषयक सभी विज्ञान यहाँ स्या से ही निबन्धित रहे, तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ स्या समावर्णीय रहे, बल्कि प्रभावित यह कमी भी दोनों से ही नहीं हुआ । इसकी 'मानवता' तथापि त्वविज्ञानों, तथा प्राम्यविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी खी-न क्दापि इस देश की 'मानवता' किसी भी सिग्देशकाल के किसी भी मौक्तिक-प्रायात्मक-अनुकम्प से प्रभावित नहीं हुई । परास्वरूप क्दापि सिग्देशकालानुकम्प इसकी 'मानवता' को विमोहित न करसके । सिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहते हुए इनकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे । क्दापि इस की 'मानवता' सिग्देशकालभ्रमों के गर्भ में समाधि न होसकी । सिग्देशकाल इसके अतिपि नने रहे, किन्तु इन्ने कमी सिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया ।

६१०—कालातीत अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्मयन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आब के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुकम्प से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रथा के प्रतिरूपा मक अति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, त्वष्टिक सत्ताब्रह्म के प्रति त्वनुप्राप्ति आचारान्मिक कर्त्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था भ्रष्टा धुरधित रखने वाला यारवत-सनातन-ब्रह्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव आर्यामण्डल मानवभ्रष्टों के द्वारा सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' तथापि से अमलङ्कृत यह भारतीय हिन्दू-मानव दिव्यप्राणान्मिरूप मातृ अग्नि के प्रतिक्रामक परम धन्य पावन भारतवर्ष का यह आर्य सनातन मानव सञ्चारम्भ से अद्यपर्यन्त 'धृता यथापूर्वमकम्पयन्त' अपनी इसी सनातन-मानवता का सम्पूर्ण भिरव

• सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यन्मपेपन्नोऽस्त्वष्टकामधुक् ॥

—गीता

— प्लवा ह्येते ब्रह्मा यज्ञरूपाः (ऋग्वेदनिषत्)

२ पुन पुन पनीक्षमाणा इत्यर्थ 'चिद्विद्' तिष्ठत यावत्ते कौटुम्बिक-
पुरुषा. तदाज्ञानुसारेण काय सम्पाद्य तिष्ठन्त ॥ सू ६ ॥

मूलम्—तए ण ते सत्यवाहदारगा दोच्चपि कोडुंभिय-
पुरिसे सदावेति सदावित्ता एव वयासी-खिप्पामेव लहुकरण जुत्त
जोयं समखुरवालिहाणसमलिहियतिकखग्गसिंणएहिं रययमय-
घटसुत्तरज्जुपवरकचणखचियणत्थपग्गहोवग्गहिंएहिं नीलुप्पलकया-
मेलएहिं पवरगोणजुत्ताणएहिं नाणामणिरयणरुचणघटिया जाल-
परिक्खित्त पवरलखणोववेय जुत्तमेव पवहण उवणेह तेऽवि
तहेव उवणेति ॥ सू ७ ॥

टीका—'तए ण ते सत्यवाहदारगा दोच्च पि' इत्यादि—तत्त म्बलु ती सार्थ
घाहदारको द्वितीयवारमपि कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयत्त शब्दयित्वा एष

वहा का सय अच्छी तरह साफ करो। उस अच्छे रूपम गोमय आदि से
लीपो। अगरवची, काला गुरु आदि सुगंधित द्रव्यों से उसे षसित करो।
पश्चात् हमारी वहा प्रतीक्षा करो। इस प्रकार उन सार्थवाह पुत्रों की वान
सुनकर उन कौटुम्बिक पुरुषोंने जैसा उन्होंने कहाथा वैसा ही सय कार्य
सगादित कर दिया और उनकी प्रतीक्षा करते हुए वहा बैठ रहे ॥ सूत्र ६ ॥

'तए णं ते सत्यवाहदारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तए णं) इसके बाद (ते सत्यवाहदारगा) उन दोनों सार्थ
घाह पुत्रोंने (दोच्चपि) द्वारा भी कौटुम्बिकपुरिसे) कौटुम्बिकपुरुषों को
(सदावेति) बुलाया (सदावित्ता) बुलाकर उनसे (एव वयासी) इस प्रकार कहा—

वगेरे त्याही साक्ष करी नमो. ते स्थानने छल्ला भाटी वगेरेथी सरस्य रीते वीपी
पूय सणी, कावाशुदु वगेरे सुवासित द्रव्येथी ते स्थानने सुगंधित बनावे त्यार भाड
तमे अमारी त्या व नहीने प्रतीक्षा करे. आ रीते ते सार्थवाह पुत्रोनी वात साब
पीने ते कौटुम्बिक पुरुषोन्ने तेमन्ने जेम आजा आपी वती तेमन्ने काम पुदु करी
दीधु अने तेमनी प्रतीक्षा करत त्या व जेथी रव्या ॥ सूत्र ६ ॥

'तए णं ते सत्यवाहदारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तए णं) त्यार भाड (ते सत्यवाहदारगा) ते अने सार्थवाह पुत्रोन्ने
(दोच्चपि) पीछे वार (कौटुम्बिक पुरिसे) कौटुम्बिक पुरुषोने (सदावेति) वेलाव्या

शौर्य से शत्रुतापूर्वक आक्रान्त बनाए रखता, उन सब महापुरुषों के तथापि समन्वयात्मक शौर्यों के समतुलन में तो स्तम्भित भी तो महत्त्व नहीं है आब की स्वल्पमा नगख्या इन मौखिक-चिमीयिकाओं का।

६०६—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीडक मूर्च्छकाल, एवं नियन्त्रित-मूर्च्छकालानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर नहीं—'काल' कलोन पीडयन् के माध्यम से मौखिक विद्वम्बों की नियन्त्रित-शीमित रक्सा जो हुकी ओर मानव की 'मानवता' के अलङ्काररूप उन आत्मसरसक-अष्टविज्ञानाभि उदमुन्धी लोकरंरंरंरं यज्ञविज्ञानों का सर्ववैदिकरूप से विस्तार भी किया किंचि अष्टविज्ञान-मक यज्ञविज्ञान के अन्तर ही मारकराण की सम्पूर्ण लोककामनाओं प्रकृतिस्वतापूर्वक प्रकान्त रही। अतएव सर्वत्र जो यज्ञविज्ञान प्रवा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा ७। विष्वक्क सभी विज्ञान यहाँ उदा से ही निकलत रहे, तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ उदा अमादरणीय रहे बन्कि प्रमासित यह कमी मी दोनी से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित भूवैदिकानों तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी गीन-अदापि इत देश की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी मौखिक-प्राणमक-अनुकन्ध से प्रमासित नहीं हुई। फलस्वरूप अदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' की विमोहित न करके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में रहत हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। अदापि इत की 'मानवता' दिग्देशकालभम्नों के गर्भ में अमासित न होल्की। दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इतने कमी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया।

६१०—कालसंति अनन्तमद्य के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तामयन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायिष्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आब के मानवों का समतुलन—

और प्रकमात्र इत मानवता के अनुकन्ध से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रवा के प्रतिक्रामक अति स्वसि-पुराण-शास्त्र के प्रति कावस्थि सत्ताप्रद्य के प्रति अत्रुप्राप्ति आचार्यमिका कर्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था मदा अरुचित रखन बाता शारवत-सनातन-ब्रह्म का अनुगामी यह आसिठक भारतीय मानव आर्यावर्णीय मानवभेदों के शाय सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' तथापि से उमसङ्कृत यह भारतीय हिन्दू-मानव दिव्यप्राणातिरूप मायत अग्नि के प्रतिक्रामात्मक परत अन्ध पावन मारकराण का यह आर्ष सनातन मानव उच्छारम् से अद्यप्रथति 'घाता यवान्पूर्वसकल्पयत् अपनी इसी सनातन-मानवता का सम्पूर्ण भिख

★ सह यज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेपथोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

—गीता

— प्लावा ह्येते अद्य पञ्चरूपाः (अष्टोपनिषत्)

२ पुन पुन प्रतीक्षमाणा इत्यर्थे 'चिद्वद्' विष्ठत यावत्ते कौटुम्बिक-
पुरुषाः तदाज्ञानुसारेण काय सम्पाद्य विष्ठन्तः ॥ सू ६ ॥

मूलम्—तए ण ते सत्यवाहदारगा दोच्चपि कोडुविय-
पुरिसे सदावेति सदावित्ता एव वयासी-खिप्पामेव लहुकरण जुत्त
जोय समखुरवालिहाणसमलिहियतिमखग्गसिगएहि रययमय-
घटसुत्तरज्जुपवरकचणखचियणत्थपग्गहोवग्गहिएहि नीलुप्पलकया-
मेलएहि पवरगोणजुवाणएहि नाणामणिरयणकचणघटिया जाल-
परिखित्त पवरलमखणोववेय जुत्तमेव पवहण उवणेह तेऽवि
तहेव उवणेति ॥ सू ७ ॥

टीका—'तए ण ते सत्यवाहदारगा दोच्च पि' इत्यादि—तत म्वलु तीं सार्थं
षाहदारकौ द्वितीयवारमपि कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयत शब्दयित्वा एष

वहाँ का सष अच्छी तरह साफ करो। उसे अच्छे रूपमें गोमय आदि से
लीपो। अगरवत्ती, काला गुरु आदि सुगन्धित द्रव्यों से उसे वासित करो।
पथाद हमारी वहा प्रतीक्षा करो। इस प्रकार उन सार्थवाह पुत्रों की वात
सुनकर उन कौटुम्बिक पुरुषोंने जैसा उन्होंने कहाथा वैसा ही सव कार्य
सगादित कर दिया और उनकी प्रतीक्षा करते हुए वहा बैठ रहे। ॥ सूत्र ६ ॥

तए ण ते सत्यवाहदारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तए ण) इसके बाद (ते सत्यवाहदारगा) उन दोनों सार्थ
वाह पुत्रोंने (दोच्चं पि) दुयारा भी कौटुम्बिकपुरिसे) कौटुम्बिकपुरुषों को
(सदावेति) बुलाया (सदावित्ता) बुलाकर उनसे (एव वयासी) इस प्रकार कहा—

वगेरे, त्याधी साइ करी नाये ते स्थानने छात्रा भाटी वगेरेथी सरस रीते वीपे
पूय सणी, प्राद्याशु वगेरे सुवासित द्रव्येथी ते स्थानने सुगन्धित भन्नावे। त्यार प्याह
तमे अभापी त्या न रहीने प्रतीक्षा करे। आ रीते ते सार्थवाह पुत्रोनी वात साब
णीने ते कौटुम्बिक पुरुषोन्ने तेमन्ने जेभ आत्रा आपी हवी तेमन्ने काम पुत्रु करी
दीधु अने तेमनी प्रतीक्षा करत्या त्या न वेसी रह्या ॥ सूत्र ६ ॥

'तए ण ते सत्यवाहदारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तए ण) त्यार प्याह (ते सत्यवाहदारगा) ते अने सार्थवाह पुत्रोन्ने
(दोच्चं पि) वील वार (कौटुम्बिकपुरिसे) कौटुम्बिक पुरुषोन्ने (सदावेति) वेदाव्या

कीयत से श्रुततापूर्वक अनुकूल बनाए रखना, उन सब महत्वाओं के तथाविध सम्भवतःमक कीयतों के समतुलन में तो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है भाव की स्वस्वतया नगत्या इन मौक्तिक-विमीरिकाओं का।

६०६—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीड़क मूर्च्छकाल, एवं नियन्त्रित-मूर्च्छकालानुबन्धी इष्टकामयुक् विश्वशान्तिकर इसका यद्भवविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर नहीं—'अस्तं कालेन पीडयन्' के माध्यम से मौक्तिक विनृम्भणों को नियन्त्रित-सीमित रखा, तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के असङ्करणरूप उन आत्मसरङ्क-महाविज्ञानोंका, उदनुबन्धी शोकरसरङ्क यद्भवविज्ञानों का सर्ववन्निकरूप से विस्तार भी किया, जिस यद्भवविज्ञानात्मक यद्भवविज्ञान के स्वरूप ही मारुतराज की सम्पूर्ण शोकागमनाएँ प्रकृतिस्थयतापूर्वक प्रकथन्त रही। अतएव सर्वत्रक को यद्भवविज्ञान प्रजा के लिए 'इष्टकामयुक्' ही बना रहा *। विष्वंसक सभी विज्ञान यहाँ उदा से ही नियन्त्रित रहे सो रङ्क सभी विज्ञान यहाँ उदा समादरणीय रहे, बल्कि प्रमाविध यह कमी भी दोनों से ही नहीं हुआ। इसकी 'मानवता' तथाकथित मृतविज्ञानों, तथा प्राण्यविज्ञानों (यद्भवविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रह्यीन क्वापि इव हेतु की 'मानवता' किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी मौक्तिक-प्राणात्मक-अनुकथ से प्रमाविध नहीं हुई। फलस्वरूप क्वापि दिग्देशकालानुकथ इसकी 'मानवता' की विमोहित न करसके। दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में उदते हुए इसकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे। क्वापि इव की 'मानवता' दिग्देशकालभम्भों के गर्भ में उमाविध न होसकी। दिग्देशकाल इसके क्वापिमे वने रहे, किन्तु इत्न कमी दिग्देशकाल का क्वापिमे स्वीकार नहीं किया।

६१०—काहातीत अनन्तमद्य के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्मयन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग्देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

ओर एकमात्र इव मानवता के अनुकथ से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रजा के प्रतिष्ठा मक अति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, उग्रसिद्ध सत्तामद्य के प्रति उदनुप्राणिता आचार्यमिमम करुण्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था मदा सुस्थित रखने वाला चारबत-सनातन-ब्रह्म का अनुगामी यह आश्रितक भारतीय मानव आत्मविद्यीय मानवभ्रंशों के दाय सम्मान में मान्य 'हिन्दू' तथापि से उम्साइत वह भारतीय हिन्दू-मानव दिव्यप्राणात्मिक भास्य अग्नि के प्रतिष्ठात्मक परम पथ्य पावन मारुतराज का यह आर्य उनातन मानव सप्त्वारम्य से अच्यप्रभृति 'भाता यथापूर्वमकथयत्' अपनी इसी सनातन-मानवता का सम्पूर्ण विश्व

* सह यद्वाः प्रजा सृष्टा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेपथोऽस्त्विष्टकामयुक् ॥

—गीता

— प्लवा होते अददा यद्भवताः (ष्टोपनिषत्)

सलग्न-ट्टपभाकरेकरज्जुधयमित्यर्थ. ताभ्याम् उपगृहीतौ शकटवाहकपुरुषेण स्ववशीकृतौ, रजतमयघण्टी च तौ सूत्रज्जुपवरकाञ्चनखचिननस्र प्रग्रहापगृहीतौ इतिकर्मधारय. ताभ्याम् 'नीलोत्पलक्यामेलर्हि' नीलोत्पल-कृतापीडाभ्याम् तत्र-नीलोत्पलै = नीलकमलैः, कृत आपीड = शिरोभूषण ययो स्तौ ताभ्याम् 'पवरगोणजुवाणर्हि' पवरगोयुत्रभ्याम्-तरुणोत्तम-पञ्जीवदाभ्यादम् 'जुत्तमेव' युक्त-सर्वथा सयुक्तमेव नानामणिरयणकचण घट्टियाजालपरिक्लिप्त' नानामणिरत्नकाठयनघट्टिकाजालपरिक्लिप्त-अनेकमणिरत्नखचितसुवर्णमयघट्टिकासमूहेन युक्तम् 'पवरलक्ष-णोववेय' पवरलक्षणोपपेत-शुभलक्षणयुक्त 'पवरहण' पवरहण'—शकटम् सेजगाडीति भाषायाम् 'उवणेह' उपनयत-समानयत । ते कौटुम्बिकपुरुषा अपि नयैवोपनयन्ति ॥ घ ७ ॥

हो। कपास के तन्तुओं से निर्मित रस्सी कि जो पवर काचन से खचित हो जिनके दोनों नयनों में पड़ी हुई हो और इसी के बल पर जो शकट वाहक पुरुषों द्वारा वशीभूत किये गये हों (नीलोत्पलक्यामेलर्हि) तथा नीलकमलों का बना हुआ शिरोभूषण जिनके मस्तक पर लगाहो (नानामणिरयणकचणघट्टिया जालपरिक्लिप्त) जो एव नानामणियों से तथा रत्नों से खचित ऐसे सुवर्णमय घट्टिका समूह से युक्त हों तथा जो (पवरलक्षणोववेय) शुभलक्षणों से सपन्न हों (ते वि तद्देव उवणेति) इस प्रकार उन दोनों सार्थवाह पुत्रों का आदेश सुनकर उन कौटुम्बिक पुरुषोंने जैसा उन्होंने पवरहण लाने को कहा था-वैसा ही लाकर उपस्थित कर दिया। और उनकी ॥ सूत्र ७ ॥

घट्टीय्यो जेमना गणभा पाधवाभा आवी छ ज्येवा, तेमञ्च सूतरनी पवर भायनधी परिवेष्टित होरीनी नाथ जेमना अने नाक्या छिद्रोभा नाथेही होय अने ज्येवी नाथोने छीधे च ते जणहो गायीने हाकनाराज्यो वटे वथभा रणात्ता होय (नीलोत्पलक्यामेलर्हि) तेमञ्च नीलकमणोवाणु शिशोभूषण जेमना मस्तके शोभतु होय (नानामणिरयणकचणघट्टियाजालपरिक्लिप्त) जेमण्ये अनेक भण्डि अने रत्नो जठेही सोनानी धुवरीज्यो पहेरेही होय तेमञ्च जे (पवरलक्षणोववेय) शुभ लक्षणोवाणा होवा जेधजे (ते वि तद्देव उवणेति) आ रीते अने सार्थवाह-पुत्रोनी आरा साबाणीने कौटुम्बिक पुरुषो आरा प्रभाण्ये च थोञ्च पवरहण लध आण्यो ॥ सूत्र ७ ॥

श्रीराम से श्रुतपूर्वक अनुकूल बनाए रक्ता उन सब महाधर्मों के, तथापि समन्वय-मक शीतलों के समतुलन में तो एकत्रित मी धो महत्त्व नहीं है आच की स्वस्वतन्त्रा नगण्या इन मौलिक-विमीयिकधर्मों का ।

६०६—मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीड़क मूर्खकाल, एवं नियन्त्रित-मूर्ख कालानुबन्धी इष्टकामधुक् विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर यहाँ—'कालेन पीडयन्' क माम्पम से मौलिक विदुग्मधर्मों को नियन्त्रित—सीमित रक्ता, तो वृत्ती ओर मानव की 'मानवता' के अक्षररूप उन अक्षरसंरक्षक-ब्रह्मविज्ञानोंका उदनुबन्धी शोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों का सार्वजनिकरूप से विस्तार मी किया जिस ब्रह्मविज्ञान-मक यज्ञविज्ञान के कसपर ही मारतयज्ञ की सम्युक्त शोककामनाओं प्रकृतिस्यतापूर्वक प्रकान्त रही । अतएव सरबक को अविज्ञान प्रथा के लिए 'इष्टकामधुक्' ही बना रहा * । विष्णुका सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही नियन्त्रित रहे, धो रबक सभी विज्ञान यहाँ असादररूपी रहे बरकि प्रमाप्ति यह कमी मी दोनों से ही नही हुआ । इसकी 'मानवता' तथापि त्रुतविज्ञानों तथा प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों) दोनों से ही ऊपर ही उठी रही—न कदापि इस देश की 'मानवता' किली मी दिग्देशकाल के किली मी मौलिक-प्राणमक-अनुकूल से प्रमाप्ति नहीं हुई । फलस्वरूप कदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी 'मानवता' को विमोहित न करके । दिग्देशकाल इसकी 'मानवता' के गर्भ में खते हुए इनकी 'मानवता' से नियन्त्रित ही रहे । कदापि इस की 'मानवता' दिग्देशकालधर्मों के गर्भ में समाधि न होनी । दिग्देशकाल इसके अतिथि भने रहे, किन्तु इस्ने कमी दिग्देशकाल का अतिथ्य स्वीकार नही किया ।

६१०—काश्यातीति अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्निन्त्रिता कालप्रकृति के उच्चरदायिष्व से समन्वित पुरातन भारतीय हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग् देशकाशासक्त आच के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवध के अनुकूल से ही यह भारतीय मानव श्रुतिप्रथा के प्रतिरूपधमक अति स्मृति-पुराण-शास्त्र के प्रति, तन्निष्ठ सत्ताब्रह्म के प्रति तदनुप्रापिता आचार्यमिका कर्तव्यनिष्ठाओं के प्रति पूर्ण आस्था भदा सुस्थित रखने वाला शारक्य-स्नातन-ब्रह्म का अनुगामी यह आशितक भारतीय मानव आर्याभणीय मानवभेदों के द्वारा उम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' तथापि से समलङ्क त यह भारतीय हिन्दू-मानव सिद्धप्राणानिक्रम मात्र अग्नि के प्रतिरूपधमक परम धन्य पावन माखण्ड का वह आर्य रानतन मानव लक्ष्यारम्भ से अद्यप्रभृति 'घाता बधायपूर्वमकल्पयत्' अपनी इही स्नातन-मानवता का सम्युक्त विष्व

* सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यज्वमेवोऽस्तिबृष्टकामधुक् ॥

—गीता

— पृथा षोते अष्टा वसुः (ऋग्वेदनिषत्)

देवदत्ताया गणिकाया गृहं वर्तते तत्रैवोपागच्छत, उपागत्य प्रवहणान् प्रन्यत्र
 रोहन प्रत्यक्क देवदत्ताया गणिकाया गृहमनुप्रविशत ततस्तदनन्तर खलु
 सा दत्ता गणिका तौ सार्धवाहदारकौ पञ्चपानौ-आगच्छन्ती पश्यति,
 दृष्ट्वा दृष्टतुष्टा=अतिशयेन प्रमुदिता, अथ मम भाग्योदयो जातो यत एताविभ्य
 पृथौ मम गृहे आगताविति विचार्य स्वासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय सप्ता
 ऽपदान्यन्मुगच्छति=अभिगच्छति अनुगम्य, तयो समुख गन्वा तौ सार्धवाह-
 दारकौ प्रत्येव वक्ष्यमाणप्रकारेणावादीत् 'सदिसतु ण' सन्दिदन्तु आदेश

हे (प्रवहण दुरूहति) उस प्रवहण पर सवार हुए। (दुरूहिता जेणेव देवदत्ताए
 गणियाए गिह तेणेव उवागच्छति) सवार होकर जहा देवदत्ताका घर था वहाँ
 पहुँचे। (उवागच्छिता प्रवहणाओ पच्चोरुहति) पहुँच कर वे उसे प्रवहण से
 नीचे उतरे। (पच्चोरुहिता देवदत्ताए गणियाए गिह अणुरविसति) नीचे
 उतरकर देवदत्ता गणिका के घरमें प्रवेश किया (तएण सा देवदत्ता गणिया
 सत्थवाहदारए एज्जमाणे पामह) देवदत्ता गणिकाने उन दोनों सार्धवाह पुत्रोंको
 आते हुए देखा (पामिसा दृष्टतुष्ट आसणाओ अन्मुट्टेइ) देखकर षठी
 अधिक प्रसन्न हुई उसने विचारा आज मेरे भाग्य का उदय हुआ है, जो
 ये दोनों इभ्यपुत्र मेरे घर पर आये हैं इस प्रकार विचार कर वह अपने
 आसन से उठी-(अन्मुट्टिसा सत्तट्टपयाइ अणुगच्छइ) उठ कर वह सात
 आठ पैर और सामने गई (अणुगच्छिता ते सत्थवाहदारए एष वयासी)
 जाकर उसने उन सार्धवाह दारकों से इस प्रकार कहा (सदिसतु ण देवाणु-

वओ धारुषु कथां (प्रवहण दुरूहति) अने प्रवहण (सिञ्जली) भा भेडा (दुरूहिता
 जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिह तेणेष उवागच्छति) भेसिने तेओ देवदत्ताने
 घेर पडोअ्या (उवागच्छिता पवहणाओ पच्चोरुहति) त्या पडोअ्यीने तेओ प्रव
 हणु भाथी नीचे उतरथी (पच्चोरुहिसा देवदत्ताए गणियाए गिह अणुरविसति)
 नीचे उतरिने गच्छिका देवदत्ताना घरभा प्रविष्ट थया. (तए ण सा देवदत्ता गणिया
 सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासह) गच्छिका देवदत्ताओ अने सार्धवाह पुत्रोने आरता
 नेया (पामिसा दृष्ट तुष्ट आसणाओ अन्मुट्टेइ) भेधने ते पूव अ प्रसन्न
 थइ अने तेने थयु के आणे भारे भाग्योदय थयो छे केमके आ अने इभ्यपुत्रो
 (शिक्षिणाना पुत्रो) भारे घेर आल्या छे आ रीते विचार करिने ते पोताना आसन
 परथी जेथी थइ (अन्मुट्टिसा सत्तट्टपयाइ) जेथी थइने ते सात-आठ पगडा साथे
 गइ अणुगच्छिता ते सत्थवाहदारए एष वयासी) साथे गइने तेओ सार्धवाह
 पुत्रोने क्खं-- (सदिसतु ण देवाणुणिया ! किमिहागमणप्यओयण)

विद्यमान्य से विकसित न होने देगा, जिस मानवताने ही इसे 'अमृतपुत्र' की उपाधि से आस्तक सम्पन्न रक्ता है। क्यापि इसे धार्मिक उन्नति प्रतिक्रियाओं का संस्मरण भी नहीं ही करना होगा, जो उच्च बनापूर्वी प्रतिक्रिया 'मानवता' के लिए अभिराष ही मानी गई है। अतएव अपने इस मानविक-शारीरिक उत्पीड़न को मगमान् अ वरदान ही मानते हुए अपनी उस भावना का परिष्कार ही कर देना चाहिए इसे जिस भावनाओं ही इसे सिगत तीन सहास वर्षों से उत्पीड़ित कर रक्ता है। तदर्थ इसे अपने उच्छेदन को अपने निष्ठावत् के बागमन में ही समर्पित कर देना है एव तदर्थ दिग्देशकालाप्तुओं अ संस्मरण करते हुए दिग्देशकालातीता उस 'मूलसंस्कृति' के ही अनुसूचीकरण में इसे अतिलम्ब ही प्रवृत्त हो ही जाना है जिसके स्वरूपबोधामात्र से ही यह आत्र इतर वास्तव्य की अति समझना नहीं हो अतः तो वास्तविक दुःख-प्रमाणाँ से अभिमूढ हो ही पका है। यही अभिमूढि इसे आत्र उत्पीड़ित किए हुए है। अपने इस उत्पीड़न को उत्पीड़ित वच मान अल के प्रति ही अवन्यावद समर्पित करते हुए इसे उस अनन्तकाल अनन्त दिग् अन्त देशरूप महाकाल को ही अपना लक्ष्य बना लेना है जिसके निष्कर्ष से निर्यात कालिक उत्पीड़न क्यापि नैतिक मानव को उत्पीड़ित नहीं करसकता। दिग्देशकालमीमांसा के माध्यम से—'भारतीय हिन्दूमानव और उसकी भावुकता' नामक उद्बोधनात्मक सामयिक निष्पन्न के प्रस्तुत चतुर्थलयाद के द्वारा भारतीय आस्तिक धनातन हिन्दूमानव की महती मानवता का ध्यान हम अत्यन्त प्रयत्नमात्र से इसी तथ्याधिक 'यत्किञ्चिद्-संशोधन की ओर आकषित करना चाहते हैं जिस संशोधनका रहस्या मत्र समन्वय मानवता-नुकम्पी महान् मानवधर्म के सर्वश्रेष्ठ विधाया मगमान् मनु के—'कालं कालेन पीडयन्' इस महान् उद्बोधनसूत्र के गर्भ में ही पिनद्ध-सुरक्षित है। इस सूत्र के समन्वय की भावुकतापूर्वी वृद्धा करने के लिए ही हमें 'दिग्देशकालाप्तुसंस्कृतिमासा' जैसे गहन-गम्भीर वास्तविक विषय में प्रवृत्त होना पका है उन्ही महान् अल की प्रेरणा से।

६१३—'आत्मन्यन्तर्दधे भूय कालं कालेन पीडयन्' का संस्मरण—

'कालं कालेन पीडयन्' यह यत्किञ्चिद्-संशोधन विशेष बन रहा है। 'काल' से 'काल' को पीड़ित करता हुआ' अन्व अपनी अपेक्षा से 'कौन पीड़ित कर रहा है काल से काल को ! इस छपरन का ही प्रेरक बन रहा है जिस इस छपरनात्मक अपेक्षामात्र के समन्वय के लिए हमें एकबार पुनः राबर्षि मनु की उस सूक्ति का समझना संस्मरण कर लेना चाहिए निम्न लिखितरूप से जिससे स्वतः ही वानव की अपेक्षया उपरान्त हो जाती है—

एवं सर्वं स सुष्टेदं मां वाचिन्यपराक्रमः ॥
 आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥
 —मनु १।११।

६१४—'आत्मन्यन्तर्दधे' वाक्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

शोक का अक्षरप यही है कि— वाचिन्य पराक्रमशाली यह प्रजापति इस सम्पूर्ण विश्व को अस्तन कर तथा मुझे (मनु को) उत्पन्न कर काल से काल को पीड़ित करता हुआ स्वयं अपने आप

देवदत्ताया गणिकाया गृहं वर्तते तत्रैवोपागच्छत, उपागत्य प्रवहणान् प्रमथ्य
 रोहनं प्रत्यरुह्य देवदत्तायां गणिकायां गृहमनुप्रविशत ततस्तदनन्तरं स्वल्डु
 सा देवदत्ता गणिका तौ सार्धंवाहदारकौ एजमानौ-आगच्छन्तौ पश्यति,
 दृष्ट्वा दृष्टतुष्टा=अतिप्रेमया प्रमुदिता, अथ मम भाग्योदयो जातो यत एताविभ्य
 पृथौ मम गृहे आगताविति विचार्य स्वासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय सप्ता
 ऽष्टपदान्यनुगच्छति=अभिगच्छति अनुगम्य, तयो समुखं गत्वा तौ सार्धंवाह-
 दारकौ प्रत्येव वक्ष्यमाणप्रकारेणावादीत् 'सदिसतु ण' सन्दिदन्तु आदेश

हे (प्रवहणं दृष्ट्वा) उस प्रवहण पर सवार हुए। (दृष्ट्वा जेणेव देवदत्ताए
 गणियाए गिहं तेणेव उवागच्छति) सवार होकर जहाँ देवदत्ताका घर था वहाँ
 पहुँचे। (उवागच्छिता प्रवहणाओ पचोस्सति) पहुँच कर वे उसे प्रवहण से
 नीचे उतरे। (पचोस्सति देवदत्ताए गणियाए गिहं अणुगच्छति) नीचे
 उतरकर देवदत्ता गणिका के घरमें प्रवेश किया (तएण सा देवदत्ता गणिया
 सत्यवाहदारए एज्जमाणे पासइ) देवदत्ता गणिकाने उन दोनों सार्धंवाह पृथोको
 आते हुए देखा (पासिता इदुत्तु आसणाओ अन्मुट्ठेइ) देखकर पठी
 अधिक प्रसन्न हुई उसने विचारा आज मेरे भाग्य का उदय हुआ है, जो
 ये दोनों इभ्यपुत्र मेरे घर पर आये हैं इस प्रकार विचार कर वह अपने
 आसन से उठी-(अन्मुट्ठिता सत्तद्वपयाइ अणुगच्छइ) उठ कर वह सात
 आठ पैर और सामने गई (अणुगच्छिता ते सत्यवाहदारए एव वयासी)
 जाकर उसने उन सार्धंवाह दारकों से इस प्रकार कहा (सदिसतु ण देवाणु-

पओ धारेषु कथां (प्रवहणं दृष्ट्वा) अने प्रवहण (सिञ्जाली) भा भेका (दृष्ट्वा
 जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहं तेणेव उवागच्छति) भेसिने तेभ्यो देवदत्ताने
 घेर पडोअ्या (उवागच्छिता प्रवहणाओ पचोस्सति) त्या पडोअ्याने तेभ्यो प्रव
 हण भाथी नीचे उतरयो (पचोस्सति देवदत्ताए गणियाए गिहं अणुगच्छति)
 नीचे उतरिने गच्छिआ देवदत्ताना धरमा प्रविष्टं यथा (तए ण सा देवदत्ता गणिया
 सत्यवाहदारए एज्जमाणे पासइ) गच्छिआ देवदत्ताअने अने सार्धंवाह पुत्रोने आवता
 नेया (पासिता इदुत्तु आसणाओ अन्मुट्ठेइ) भेधने ते भूय न प्रसन्न
 थं अने तेने थयु के आने भारे भाग्योदय धये छे हेपके आ अने धन्यपुत्रो
 शिठियाना पुत्रो) भारे घेर आव्या छे आ रीते विचार करिने ते पौत्ताना आसन
 परथी उथी थं (अन्मुट्ठिता सत्तद्वपयाइ) गच्छी थंने ते सात-आठ पगदा सामे
 थं अणुगच्छिता ते सत्यवाहदारए एव वयासी) सामे गच्छिने तेभ्यो सार्धंवाह
 पुत्रोने कथं-- (सदिसतु ण देवाणुणिया! किमिहागमणप्यओयण)

अज्ञातीत अनात्मत्व है। आर्यों मनुस्मृति के इन तीनों शब्दों से क्रमशः अर्थव्यपुस्य, तत्साराप्रकृति-
रूप अक्षरकाल (मनु) तदपराप्रकृतिरूप अक्षरकाल (मन्वन्तररूप विश्व) ये तीन निष्कर्ष निकल
जाते हैं। अज्ञातीत अर्थव्यपुस्य अर्थव्यपुस्य किंवा अर्थव्यपुस्य, अक्षर, अक्षर, किंवा शब्दव्यपुस्यमान
मनु, मन्वन्तर किंवा * पुरुष-प्रकृति विकृति, किंवा अनन्त अर्थव्यपुस्य, अर्थव्यपुस्य, किंवा स-भा-इव सृष्टम
किंवा-अभिनत्य-कालेन-कालम् इन सब तत्वों का एक ही अर्थ है।

६१६-‘काल कालेन पीडयन्’ का रहस्यात्मक समन्वय—

अब प्रश्न शेष रह जाता है-‘पीडयन्’ का। उस अभिनत्यने मगुल्लंघन कालेन’ रूप काल के लिए
तथा मन्वन्तरकालक ‘काल’ रूप काल के लिए यह व्यवस्था की कि ‘काल काल को पीडित क ता रह’।
इस पीडन का क्या अर्थ? इसी ‘अर्थ’ का नाम है वह ‘यत्किञ्चित्-संशोधन’ किञ्च पूर्व में अनन्त प्रकार
से मयोगान किया जाना है। पीडन का एक ही अर्थ है-‘अन्वेषणी मर्त्यात्’। ‘महान् के गर्भ में
प्रतिष्ठित अस्य’ अपन आपको ‘महान्’ के गर्भ में ही अनुभूत करता हुआ स्वर्गमना अपने
आपको महान् में ही समर्पित रखे’ वही पीडन का अर्थ है। इस से होता क्या है? होता यही है कि
इस मर्त्यादारमक समर्पण से अस्य का स्वरूप भी सुरक्षित रह जाता है। अस्यताप्रयुक्त अस्य लक्ष्य भी सम्यक्
हो जाते हैं। एक अस्यताप्रयुक्त सीमात्मक-अनन्तमात्र-मर्त्यात्माव भी इस अस्वता में नहीं रहने पाते-महान्
के प्रति समर्पण से। यो विद्वेराकालमक अस्यमाव उस अनन्त-कालमहिमा से सीमाबद्ध रहते हुए, उसकी
अनन्तमहिमा को छोड़ी बनाते हुए स्वानुगत तात्कालिक उद्देश्य भी पूरे कर लेते हैं। एक अज्ञातीत के
अनुभव से इनकी अस्यता से भी ये अस्यमाव बन जाते हैं। और ऐसा ही कुछ कालपर्यायक सम्यक्-संशोधन
का छद्म क्रम है। जिस क्रम का ही नाम है-‘महिमाविकार’। अज्ञातीत अज्ञातीत अनन्तात्म्यबद्ध काल-
वाणी (विरवाणी) अज्ञातीत अज्ञातीत इन दोनों वाचियों के वाच्यत्व में सीमारूपेण-मर्त्यात्-
रूपेण-अवस्थित स्व-स्व-अज्ञातीतकालमात्रों में मर्त्यात् कने रहने वाले मूत्र अज्ञातीत अज्ञातीत स्व-स्व-मूत्र
अज्ञातीत-विद्वेराकालानुभव-कालिक-द्वैतिक-स्वरूपों को भी व्यवस्थित बनाए रखने में समर्थ होजाते हैं,
एक उस अनन्तकालमहिमा तथा अनन्तानन्ता महामहिमा के महिमात्मक अनुभव से इनका ठरनु
बन्नी अनन्तमहिमाभाव भी सुरक्षित बना रह जाता है। एक यही ‘उत्पीडक’ का एकमात्र अर्थ है।

६१७-कालपुरुष के प्रकृति-निबन्धन विविध महिमा-विवर्तों का तात्त्विक-संस्मरण—

कालातीत अनन्तब्रह्म की वाणी के अनुभव से अनन्तमहिरूप में परिणत रहने वाले अनन्त-
अज्ञातीत-अक्षरकाल से (परमाक्षरात्मक स्वयम्भूकाल से) परमेष्ठीकाल पीडित है। स्वयम्भूकाल की
अनन्तमहिमा से अनन्त कने रहने वाले, अतएव ‘महेश्वरकाल’ नाम से प्रसिद्ध हो जाने वाले परमेष्ठीकाल

ॐ-यत्कारणमव्यक्त नित्यं सदसदारमकम् ।

तद्विसृष्टं स पुरुषो लोका ब्रह्मोति कीर्त्यते ॥

मनु १।११।

मूलम्—तएण ते सत्यवाहदारगा देवदत्ताए गणियाए सद्धि
जाण दुरुहति दुरुहत्ता चपाए नयरीए मज्झ मज्झेण जेणेव सुभूमि-
भागे उज्जाणे जेणेव नदा पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छिता
पवहणातो पच्चोरुहति पच्चोरुहत्ता नदा पोक्खरिणी ओगाहिति ओगाहत्ता
जलमज्जण करेति, करित्ता जलकीड करेति, करित्ता ण्हाया देवदत्ताए
सद्धि पच्चुत्तरति पच्चुत्तगित्ता जेणेव यूणामडवे तेणेव उवा
गच्छति, उवागच्छिता यूणामडवं अणुपविसति अणुपविसित्ता सव्वा-
लकारविभूसिया आसत्था विसत्था सुहासणवरगया देवदत्ताए सद्धि
त विउल असण ४ धूवपुप्फगधवत्थ आसाएमाणा वीसाएमाणा
परिभुजेमाणा एव च ण विहरति जिमिय भुत्तुत्तरागया वि य ण समाणा
देवदत्ताए सद्धि विपुलाइ माणुस्सगाइ कामभोगइ भुजमाणा
विहरति ।सू ९।

टीका—‘तएण ते’ इत्यादि—ततस्तदनन्तर खलु तौ सार्थवाहदारकौ
देवदत्तया गणिकया सार्द्धं यान-रथ दूरोहत, आरोहतः, दूरुक्त्वा=आरुक्त्वा चम्पा

अधिकवर्णन क्या करे—उसने अच्छी तरह वस्त्र पहिरे यात्रत अपना वेपथी केजैसा
थनाया-और जहा वे दोनों सार्थवाह पुत्र थे, वही आनंद के साथ गईं । ॥मूत्र ८॥

‘तएण ते सत्यवाहदारगा’ इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) इसके बाद (ते सत्यवाहदारगा) वे दोनों सार्थ
वाह पुत्र (देवदत्ताए गणियाए सद्धि) देवदत्ता गणिका के साथ (जाण दुरुहति)

पधारे शु क्लीये तेणे सुहर वओ पहेयां अने तेणे पीताने देह वक्षमी नेये
सुहर भन्वीने ते न्या अने सार्थवाह पुत्रो हता त्याअन ह अनुभवती पहेयांती । सू. ८ ।

‘तए ण ते सत्यवाहदारगा’ इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) त्थर पथी (ते सत्यवाहदारगा) अने सार्थवाह पुत्रो
(देवदत्ताए गणियाए सद्धि) गच्छिता देवदत्तानी साथे (जाणं दुरुहति) ते स्थभा

आत्म से अक्षय के विग्वेराफाल-स्वरूप मीमांसक व्यामोहनों से एकान्त प्रसंग होने रहते हुए स्व स्व-प्रकृतिसिद्ध-शास्त्रसिद्ध-कर्तव्यकर्मों में जागरूकता-पूर्वक वाक्यान्वयन प्रवृत्त रहना ।

६१६-प्रकृतिसिद्ध-उपरदायित्वपूर्व-स्वधर्मार्थक कर्तव्यकर्म के द्वारा रातव कासो-त्पीडन से ही उत्पीडक काल की पीड़ाप्रवृत्ति का उपशम—

अर्थात् कमी एक ऋण के लिए भी इस वर्तमान-भौतिक काल को विभ्रम नहीं लेने देना। अपितु सदा ही कष्ट को कर्तव्य से पीड़ित ही करते रहना। यह मुनिचिन्त है कि, ईश्वरार्थ्यमात्रबुद्धया अपने भौतिक जीवनार्थक व्यक्तकाल को कर्तव्यरूप अनन्तकाल से जो मानव छत पीड़ित करता रहा है उसका कमी अन्त नहीं होता। वह मानव अपने वास्तवीय स्वरूप से अक्षय-अमर है-अनात्म है -वहाँ भी और वहाँ भी बिच इस लोकाधीन तत्त्व का 'लोकमुक्ति' से कापि अन्वय नहीं किया जा सकता। बौद्धिक तत्त्व, बिचार-मीमांसा शास्त्रार्थ बिचारपरामर्श प्ररनोत्तरविमर्श कर्ण्यकारणविमर्श आदि आदि किसी भी बौद्धिक विषयमय से वह तत्त्व अन्वित नहीं हो सकता। इस तत्त्व के अन्वय का तो एकमात्र उपमार्ग है—'कर्तव्यकालेन पीडयन्'। अर्थात्-ईश्वरसाक्षी में-अनन्तकर्तव्य से सादिसात्त्व भौतिक जीवन को सतत-अस्वीकृत करते रहना। अकर्मयुक्ता ही बौद्धिक-दार्शनिक-विचारों की उद्गमभूमि बन जाया करती है बिच दार्शनिकता में कर्तव्यनिष्ठात्मिक आचारनिष्ठा का उत्पत्त नहीं है। तत्कमीमांसा के परपादर्शों उक्त महान् दार्शनिक की अपेक्षा तो उस स्वप्नरूप की ही 'महान्' माना जायगा जो उत्तरदायित्व-पूर्वक तत्त्व कर्तव्यनिष्ठा से हृदयैकअमरपूर्वक अपने लोकजीवन का निर्बाह करवा हुआ दार्शनिक की मति अर्थक के लिए आर्थिक-उत्पीडन का कारण तो नहीं बनवा।

६२०-कर्तव्य-कर्म की स्वरूपरिमापा—

आचार्यक कर्तव्य का नाम ही धर्म है जो उस अनन्त-राजकलज का प्रतिरूप बनवा हुआ 'शास्त्रतधर्म' बन रहा है अतएव जो-सनातनधर्म-आर्यधर्म आदि नामों में प्रसिद्ध है। धर्मार्थक कर्तव्य ही महाकाल है। इस काल से जो अपने मीतिक काल को उत्पीडित करने के क्रोधात् से परिचित हो जाय है, निरपयेन धर्म उद्वेग रक्षक बन जाय है-यतो धर्मस्ततो जयः। इन अनुमान करते हैं कि-काल कालेन पीडयन् से अनुप्राणित 'यत्किञ्चित्-संशोधन' का धर्मार्थ स्वहीमरण होसक्य। यदि धर्म भी अन्वेष न हुआ हो तो हमें कुछ एक बैसे व॥ का निरन्तर अनुशीलन करते रहना चाहिए, बिनके माध्यम से अपनी कर्तव्यनिष्ठा के अनुमद से अक्षय ही विग्वेराफालानुष्ठी उक्त 'यत्किञ्चित्-संशोधन' से हमारी लोकमुक्ति भी अर्थात्पना नहीं, तो अक्षय ही अन्वित ही जायगी।

भरणशोभितौ, 'असत्या' आस्वस्थी परिश्रमापनयनेन स्वस्थीभूतौ, प्रसन्नचित्तौ इत्यर्थं
 'वीमत्या'विस्वस्थी विशेषेण स्वस्थीभूतौ सर्वथाऽपगतश्रमौ, सुखासनवरगतौ
 सुखप्रदपर्यङ्काद्यासनोपविष्टौ, देवदत्तया सार्द्धं त विपुल विस्तीर्णम् अशन पान खाद्य
 स्वाद्य धूप पुष्पं गन्ध वस्त्र च, 'असापमाणा' आम्नादयन्तौ-ईपत्स्वादयन्तौ
 'विसापमाणा' विस्वादयन्तौ-विशेषेण वार वाग्मास्यादयन्तौ, 'परिश्रुजेमाणा'
 परिश्रुजान्तौ-परिश्रमोक्तौ कुर्वाणौ एव च अनेन प्रकारेण खलु विहरत आसाते।
 अपि च खलु 'जिमिय सुत्तुत्तरागया' जिमित भुक्तोतरागतौ जिमित=खादित,
 सुक्तम्=आस्वादित ताभ्यामुत्तर=अनन्तरम् आगतौ सुखासनं पर्यङ्कादिकं प्राप्तौ,
 जिमितमुक्तानन्तरम्-आचान्तौ शुद्धोदकेन कृताचमनौ, लेपाद्यनयनेन चोभौ

आकर वे उसम प्रविष्ट हृए (अणुपविसिक्ता सव्वाल्कारविभूसिया आसत्या
 वीसत्या सुहामणवरगया देवदत्ताए सद्धि) प्रविष्ट होकर सर्व अलकारो
 से विभूषित यने हृए वे आश्वस्त-परिश्रम के अपनयन से स्वस्थचिग हृए
 विश्वस्त हृए-सर्वथा परिश्रम से रहित हृए और सुखप्रदपर्यङ्क (पलग) आदि
 आमन पर जाकर बैठ गये। वादमं उन्होंने उस देवदत्ता के साथ (त
 विउल असण ४ धूवपुष्कगधवस्थ आमामाणा, वीसापमाणा परिश्रुजे
 माणा एव च ण विहरति) उस विपुलमात्रामें निष्यन्न हृए अशन, पान, स्वाद्य,
 स्वाद्य, रूप चारों प्रकार के आहार को किया रुचर कर उसका स्वाद लिया-
 धूप, पुष्प, गन्ध, वस्त्र का वितरण किया-(जिमियसुत्तुत्तरागया वि य ण समाणा
 देवदत्ताए सद्धि विउलाइ माणुस्सगाइ काममोगाइ भुजमाणा विहरति) जब
 वे अच्छी तरह खा पी चुके-तब देवदत्ता के साथ वे पर्यङ्क आदि आमन
 पर आकर बैठ गये वहां इतना संन्य और इस प्रकार जोड़ लेना चाहिये-

(अणुपविसिक्ता सव्वाल्कारविभूसिया आसत्या वीसत्या सुहासनवरगया
 देवदत्ताए सद्धि) प्रवेशीने सर्व अलकारोक्षी विभूषित यथेहा तेभ्यो आश्वस्त-याक वगर
 स्वस्थचित्तं भन्या विस्वस्त यथा-सर्वथा श्रम रहित यथा, अने सुषेथी भेसाय तेवा
 पलग (पर्यङ्क) वगेरे आसने पर भेसी गया। त्यारणाइ तेभ्ये देवदत्ता गुण्डिकानी साथे
 (त विउल असण धूवपुष्कगधवस्थ आसापमाणा, वीसापमाणा परि-
 श्रुजेमाणा एव च ण विहरति) पुष्पण प्रमाद्यमा तैयार करावीने त्या पढोअ्या
 उवाभा आवेला अशन पान, भाद्य अने स्वाद्य इप आर जातना आहारने यथारुचि
 नभ्या तमश् धूप-पुष्प गन्ध अने वस्त्रोत्त वितरणुत्तु (जिमिय सुत्तुत्तरागया
 वि य ण समाणा देवदत्ताए सद्धि विउलाइ माणुस्सगाइ काममोगाइ भुजमाणा
 विहरति) नभ्या पछी तेभ्यो पलग वगेरे सरस आसने पर आवीने देवदत्ता
 गुण्डिकानी साथे भेसी गया अही आटली विगत वधाराणी बाष्पी लेवी भोद्ये हे-

४-समानी व आकृति समाना हृदयानि ष ।

समानमस्तु वो मनो यथा ष - सुसहासति' ॥

—श्रुत्संहिता १०।१६। अन्तिमसूक्त ।

उक्ता मन्त्र-वृत्तबी के-‘संसमभिद्युषसे’ इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा श्रुति ने उन माहात्मिक अग्निदेवों का ही उल्लेख किया है जिन के स्वात्ममुख ब्रह्माग्नि, सौर देवाग्नि पार्ष्णि-मृताग्नि, इन तीन महिमायुक्त देवों से ही उत्पन्न होकर त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विरव का विद्युत्-स्वरूप व्यक्तित्व है एवं जो कि अग्निदेव अपने न्योक्तता • सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक यज्ञ के प्रवक्तृ बनते हुए इसी यज्ञ के द्वारा यन्त्रयावत् इष्टों का मनाश्री के पूरक + हैं । इसी कामवर्ण के कारण जो अग्निदेव ‘वृषन्’ (कामधर्षक, हृष्टकामयुक्त) अग्निषा से प्रसिद्ध हैं । सम्पूर्ण लोको के अग्निपति होने से ही जो अग्निदेव ‘अप्य’ नाम से प्रसिद्ध हैं । ‘वृषा’ नाम से प्रसिद्धा महिमापुमिषीरूपा उत्पत्तयेति में आन्तरिकतया सोम की आहुति से प्रचयस्वरूप से प्रसवशिव हो पड़ने वाले इसी अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण पाण्डित्य भूत अपनी स्वच्छिन्नतया धम्मिभयभयतया ‘यत्नात्मिका’ सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे हैं । अतएव सम्पूर्ण मौक्तिक अगत ‘अग्नीषोमात्मक’ ही कहलाता है । जैसा कि-‘अग्नी-यामात्मकं जगत्’ इत्यादि बृहत्संहितासूक्ति से प्रमाणित है । ये ही अग्नि उत्पत्तीकभूत हमारे सब पावन मातृगण के मातृविधाता हैं । ‘अग्नेर्महो असि ब्राह्मण्य भरतेति’ इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकविधाता ये ही ‘भारत अग्नि’ हमारे इस ‘आय्यवर्षि’ नामक पवित्रतम-बन्धुतम-यशस्वतम-‘भारतधर्ष’ की ‘भारत’ अग्निषा के सर्वाचार प्रमाणित हो रहे हैं । श्रुतेय के द्रव्य महर्षियोंने-‘अग्निमीजे पुरोहितम्’ इत्यादि उक्तप्रकारक मन्त्र (१ मण्डल १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर ‘सूर्याधन्त्रमसौ वाता यथापूर्वकल्पयत्’ इत्यादि उपसंहारयुक्त मन्त्र (१ मण्डल १९ सूक्त १ मन्त्र) पर्यन्त सम्पूर्ण श्रुतेय में महामहिमयुक्ती धोमगमित स्वमूर्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिका महिमा का यथोक्तान किया है । इरधभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधाररूप उची अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने ‘संसमिद्युषसे’ इत्यादि मन्त्र से महान् माहात्मिक संस्मरण करते हुए उक्त-श्रुती में इसी मायात्मिक के प्रतीकभूत मातृगण के आर्य मानवजाति के लिए आचाररत्मक जो माहात्मिक उद्योषन प्रदान किया है उक्त के-‘सप्तस्यध्वम्’ इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उची ‘राष्ट्रीय आचार’ का माहात्मिक उद्योषन हुआ है । जित का राष्ट्रमाया में वच मान राष्ट्रमानव के लिए इत्यंशुयैव समन्वय समीचीन होगा कि—

॥-अग्निर्जागार तमृषः कामयन्ते, अग्निर्जागार तसु सामानि यन्ति ।

अग्निर्जागार तमर्षी सोम आह तवाहमस्मि सकृन् न्योक्ताः ॥

—श्रुत्सं० १।१६। १५।

—सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्या पुरोवाच प्रजापति ।

अनन प्रसविष्यध्वमेपवोऽस्त्विष्टकामयुक् ॥

—गीता

परणशोमिती, 'असत्या' आस्वस्थो परिश्रमापनयनेन स्वस्थीभूतो, प्रसन्नचित्तो इत्यर्थ
 'वीमत्या' विश्वस्थो विशेषेण स्वस्थीभूतो सर्वथाऽपगतश्रमो, सुखासनवरगतौ
 सुखप्रदपर्यङ्काद्यासनोपविष्टौ, देवदत्तया सार्द्धं त विपुल विस्तीर्णम् अशन पान खाद्य
 स्वाद्य धूप पुष्प गन्ध वस्त्र च, 'आसाएमाणा' आग्नादयन्तो-ईपस्त्वादयन्तो
 'विसाएमाणा' विश्वादयन्तो-विशेषेण चार वाग्मास्वादयन्तो, 'परिश्रुजेमाणा'
 परिश्रुजानौ-परिश्रमो कुर्याणो एव च अनेन प्रकारेण खलु विहरत आसाते।
 अपि च खलु 'जिमिय भुक्तु चरागया' जिमित भुक्तोतरागतौ जिमित=खादित,
 भुक्तम्=आस्वादित ताभ्यामुत्तर=अनन्तरम् आगतौ सुखासन पर्यङ्कादिक प्राप्नो,
 जिमितमुक्तानन्तरम्-आचान्तौ शुद्धोदकेन कृताचमनौ, लेपाद्यपनयनेन चोषौ

आकर वे उसम प्रविष्ट ह्यए (अणुवविसिचि सव्वालकारविभूसिया आसत्या
 वीसत्या सुहासणवरगया देवदत्ताए सद्धि) प्रविष्ट होकर सर्व अलकारो
 से विभूषित बने ह्यए वे आश्वस्त-परिश्रम के अपनयन से स्वस्थविन ह्यए
 विश्वस्त ह्यए-सर्वथा परिश्रम से रहित ह्यए और सुखप्रदपर्यङ्क (पलग) आदि
 आमन पर जाकर बैठ गये। बाद मं उन्होंने उस देवदत्ता के साथ (त
 विउल असण ४ धूवपुष्पगधवत्थ आसाएमाणा, वीसाएमाणा परिश्रुजे
 माणा एव च ण विहरति) उस विपुलमात्राम निष्पन्न ह्यए अशन, पान, स्वाद्य,
 स्वाद्य, रूप चारों प्रकार के आहार को किया रुचर कर उसका स्वाद लिया-
 धूप, पुष्प, गन्ध, वस्त्र का वितरण किया-(जिमियभुक्तु चरागया वि य ण समाणा
 देवदत्ताए सद्धि विउलाइ माणुस्सगाइ कामभोगाइ भुजमाणा विहरति) जब
 वे अच्छी तरह स्वा पी चुके-तब देवदत्ता के साथ वे पर्यङ्क आदि आमन
 पर आकर बैठ गये वहाँ इतना सपन्थ और इसमकार जोड़ लेना चाहिये-

(अणुवविसिचि सव्वालकारविभूसिया आसत्या वीसत्या सुहासणवरगया
 देवदत्ताए सद्धि) प्रवेशीने सर्व अलकारोश्च विभूषित थयेत्वा तेज्जो आश्वस्त-धाऊ वगर
 स्वस्थचित्त भन्त्या विश्वस्त थया-सर्वथा श्रम रहित थया, अने सुषेधी जेसाथ तेवा
 पलग (पर्यङ्क) वगेरे आसने पर जेसी गया त्थारभाइ तेभजे देवदत्ता गुञ्जिदानी साथे
 (त विउल असण धूवपुष्पगधवत्थ आसाएमाणा, वीसाएमाणा परि-
 श्रुजेमाणा एव च ण विहरति) पुष्पण प्रभासुमा तोथार करावीने त्या पडोआ-
 श्वाभा आवेत्वा अशन पान, पाद्य अने स्वाद्य इय चार भतन्ना आहारने यथारुचि
 न्भ्या तमज धूप-पुष्प, गन्ध अने वस्त्रोत्त वितरसुक्तुं (जिमिय भुस्तु चरागया
 वि य ण समाणा देवदत्ताए सद्धि विउलाइ माणुस्सगाइ कामभोगाइ भुजमाणा
 विहरति) न्भ्या पडी तेज्जो पलग वगेरे सरस आसने पर आवीने देवदत्ता
 गुञ्जिदानी साथे जेसी गया अही आटवी विगत वधाराणी बाष्पी लेवी भेद्ये हे-

४-समानी ष आकृतिः समाना हृदयानि ष ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः-‘सुसहासति’ ॥

—श्रुत्संहिता १०।१३।१ अन्तिमसूक्त ।

उक्त मन्त्र-चतुष्टयी के-‘संसममिषु वसे’ इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा ऋषि ने उक्त माहात्मिक ‘अग्निदेव’ वा ही उत्तररथ किया है किन्तु के स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि सौर देवाग्नि, पार्ष्णि-मृताग्नि इन तीन महिमामय विषयों से ही उक्तसोक्तोक्त-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विरन अ विर-स्वरूप व्यवस्थित है एतन्मो कि अग्निदेव अपने न्योक्तला * सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक वर के प्रकृत क बनते हुए इसी वर के द्वारा सम्बन्धित हों, कामनाओं के पूरक + हैं। इसी कामकर्षण के कारण वो अग्निदेव ‘वृषम्’ (कामधर्षक, इष्टकामयुक्त) अग्निषो से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण लोकी के अधिपति होने से ही वो अग्निदेव ‘अग्न्य’ नाम से प्रसिद्ध हैं। ‘इहा’ नाम से प्रसिद्धा महिमाधुषिणीरूपा उत्तररथि में अन्तरिक्ष वायु सोम की आहुति से प्रचरदक से प्रकल्पित हो पकने वाले इहाँ अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक मृत अपनी उत्पत्तिबद्धा अग्निभरणलक्षणा ‘यत्नात्मिका सृष्टि’ के रूप में परिणत हो रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण प्रोक्तिक बगल ‘अग्नीषोमात्मक’ ही कहलाया है वैवा कि-‘अग्नी-षोमात्मकं जगत् इत्यदि परब्रह्मसमृति से प्रमाणित है। वे ही अग्नि उत्पत्तीकृत हमारे दश पावन माखरग्न के मायविवाता हैं। ‘अग्नेर्मेहो’ असि ब्राह्मण मारतेति’ इत्यादि मृति के अनुन्धर लोभप्रविद्यता वे ही ‘भारत अग्नि’ हमारे इस ‘आयर्षिर्षत’ नामक पवित्रतम-अन्यतम-परतपतम-‘भारतवर्ष’ की ‘भारत’ अग्निषो के सर्वाधार प्रमाणित हो रहे हैं। ऋग्वेद के इष्ट महर्षिपीने-‘अग्निमीत्ते पुरोहितम्’ इत्यादि उपरमात्मक मन्त्र (१ मरदल १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर ‘सूर्याचन्द्रमसौ धाता अथापूर्वकल्पयन्त’ इत्यादि उपरहायमक मन्त्र (१ मरदल १ सूक्त, १ मन्त्र) पर्यन्त सम्पूर्ण ऋग्वेद में महामहिमशाली सोमगमित अमूर्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिक महिमा अ यथोभान किया है। इत्यभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधाररूप उची अग्निदेव अ सर्वान्त में महर्षि ने ‘संसमिषु वसे’ इत्यादि मन्त्र से महान् माहात्मिक संस्मरण करते हुए उक्त-उची में इसी मारखानि के पटीकृत माखरग्न के आर्य्य मानवभेद के लिए ‘आचाररत्मक’ वो माहात्मिक उद्घोषन प्रदान किया है यस्तु के-‘सत्तत्तज्जभम् ० इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उची ‘रक्षीव आचार’ का माहात्मिक उद्घोषन हुआ है विच का राष्ट्रमाया में वर्तमान राष्ट्रमानव के लिए इत्यरुमेयैव अमन्वय समीचीन होगा कि-

०-अग्निर्जागार तमृच कामयन्ते, अग्निर्जागार तसु सामानि यन्ति ।

अग्निर्जागार तमर्य सोम आह तवाहमस्मि सरुष्य न्योक्ता ॥

—श्रुत्सं० १।४।१।१।

—सह यद्वाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।

अनन प्रसविष्यध्वमेपयोऽस्तिवष्टकामधुक् ॥

—गीता

निस्सरत मतिक्किम्प 'हृत्यसगेळिना-अन्योन्य हस्तालम्बनेन सुभूमिभागे उद्याने
 वहुषु 'आलिघरएसु' आलिघरकेषु श्रेणियद्धृष्टाकारपरिणतवनस्पतिविशेष-
 निकुञ्जेषु च-पुन 'कपलीउरेसु' कदली गृहकेषु-कदली निकुञ्जेषु च लया-
 उरएसु' लतागृहकेषु-चपकाशोकादिलतागृहेषु च 'अच्छणघरएसु'
 आसनगृहकेषु आसन-उपवेशनम् तेषा गृहेषु यदा तदा जना आगत्य सुम्वा-
 सिकयोपविशन्ति यत्र तत्र च 'पेच्छणघरएसु' प्रेक्षणगृहकेषु-प्रेक्षण-प्रेक्षणरु-
 तस्पगृहेषु-यत्रागत्य जना नाटकानि कुर्वन्ति प्रेक्षन्ते च तेषु 'पसाहणघर
 एसु य' प्रसाधनगृहकेषु प्रसाधन मण्डन यत्रागत्य जना स्व पर च मण्डयन्ति तेषां
 गृहेषु 'मोहणघरएसु' मोहनगृहकेषु-विलासगृहेषु 'सालघरएसु' शाला
 गृहकेषु शाला शाखा वासा गृहेषु वस्त्रगृहेषु वा' जालघरएसु' जालगृहकेषु—
 जालिकान्वितगृहेषु यत्राभ्यन्तरस्थिता यद्भिः स्थितैर्न दृश्यन्ते किन्तु अन्त

गणिका के साथ (धूणामडवाओ पडिनिक्खमिति) उस स्थणामडप से
 घाहर निकले (पडिनिक्खमिच्चा) घाहर निकल कर (हृत्यसगेल्लीए) हाथ में
 हाथ मिलाए हुए वे (सुभूमिभागे उज्जाणे वहुसु आलिघरएसुय) उस
 सुभूमिभाग उद्यान में अनेक श्रेणिवद्धृष्टाकार परिणत हुए वनस्पति
 विशेषों के निकुञ्जों में (कपलीघरएसु य लयाघरएसुय) कदलीगृहों में और लयागृहों में
 (अच्छण घरएसुय) यदा तदा आई हुई जनता को बैठने के लिये बनाये हुए आसन
 गृहों में (पेच्छणघरएसुय) जहाँ पर आकर के जन नाटक आदि करते हैं और देखते हैं
 उन प्रेक्षण घरों में (पसाहणघरएसु य) प्रसाधन गृहों में—जहाँ आकर के
 मनुष्य अपने को और दूसरों को अलंकारों से विभूषित करते हैं ऐसे
 घरों में (मोहणघरएसुय) विलास गृहों में (सालघरएसु य) शाला घरों
 में (जालघरएसु य) जालिकान्वित घरों में—जिनके भीतर रहे हुए

(पडिनिक्खमिच्चा) भङ्गर नीउणीने (हृत्यसगेल्लीए) हाथमा हाथ नाभीने तेज्जा
 (सुभूमिभागे उज्जाणे वहुसु आलिघरएसु य) सुभूमिभाग उद्यानमा आवेत्ता
 धसु म्भिविध घरना आकार जेवा वनस्पति विशेषाथी जनाववामा आवेत्ता निकुञ्जेमा
 (कपलीघरएसु य लयाघरएसु य) कदली गृहेमा, लयागृहेमा, (अच्छणघर
 एसु य) अघारनवार आवत्ता सामान्जिठाने भेसुवा भाटे जनाववामा आवेत्ता आसनगृहेमा
 (पेच्छणघरएसु य) भासुसे न्या आनीने नाटक वगेरे करे छे अने लुञ्जे छे तेवा
 प्रेक्षागृहेमा (पसाहणघरएसु य) प्रसाधन गृहेमा अटले डे न्या भासुसे पीतानी
 अतने अने भीअअने शब्दगरे छे, तेवा धरोमा, [मोहणघरएसु य] विलासगृहेमा
 (सालघरएसु य) शालागृहेमा (जालघरएसु य) जालीअवाणा धरोमा अटले डे

४-समानी व आकृति समाना इदयानि व ।

समानमस्तु वो मनो यथा षः-सुसहासति' ॥

—श्रुत्संहिता १०।१६।१ अन्तिमसूक्त ।

उक्त मन्त्र-चतुष्टयी के-‘संसममिषु षते’ इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा श्रुति ने उन माहात्मिक ‘अग्निदेव षा ही उत्तरण किया है बिन के स्वायम्भुष ब्रह्माग्नि, सौर वेवाग्नि, पार्ष्णि-मूवाग्नि इन तीन महिमामय विभवों से ही उत्तरोक्त-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरुम महान् प्राकृत-विरण अ विष्ट-त्वरुम व्यबस्थित है एषा षो कि अग्निदेव अपने न्योक्तका * सोम के सम्बन्ध से अग्नीमीमात्मक मन्त्र के प्रवचक बनते हुए वही यज्ञ के द्वारा यन्त्रवाक्य इहाँ कामनाओं के पूरक + है । वही कामकर्षण के कारण षो अग्निदेव ‘वृषन्’ (कामवचक, इष्टकामधुक्) अग्निषा से प्रसिद्ध है । सम्पूर्ण लोको के अधिपति होने से ही षो अग्निदेव ‘अम्य नाम से प्रसिद्ध है । ‘इवा’ नाम से प्रसिद्धा महिमाशुभिवीरुषा उत्तरवेदि में आन्तरिक वक्ष्य सोम की आकृति से प्रचरकरुप से प्रकृतलित हो पकने वाले इवा अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक भूत अपनी सुखिलक्षणा समिभणलक्षणा ‘यमात्मिक सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे है । अतएव सम्पूर्ण मौक्तिक जगत् ‘अग्नीपोमात्मक’ ही करलाया है जैसा कि-‘अग्नी-पोमात्मकं जगत्’ इत्यादि पद्वक्त्रात्मलभुति से प्रमाणित है । ये ही अग्नि उत्पत्तीकभूत हमारे दल पानन भारतयज्ञ के साम्यविवादा है । ‘अग्नेर्मूर्धो असि ब्राह्मण भारतेति’ इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकाधिवाता ये ही ‘भारत अग्नि’ हमारे इस ‘आर्य्यभिर्त्स’ नामक पवित्रतम-अन्वतम-यशस्वतम-‘भारतवर्ष’ की ‘भारत’ अग्निषा के सर्वाधार प्रमाणित हो रहे है । श्रुत्वेद के इष्य महर्षियोंने-‘अग्निमीत्ते पुरोहितम्’ इत्यादि उक्तकामक मन्त्र (१ मरुत्त १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर ‘सूर्य्याचन्द्रमसौ घता यथापूर्वकरुपयत्’ इत्यादि उपसहायक मन्त्र (१ मरुत्त १९ सूक्त १ मन्त्र) पर्यन्त सम्पूर्ण श्रुत्वेद में महामहिमवाही सोमगमित सर्वमूर्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिक महिमा अ यशोमान किया है । इत्यभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधाररुप उची अग्निदेव अ सर्वान्त में महर्षि ने ‘संसमिषु षते’ इत्यादि मन्त्र से महान् माहात्मिक संस्मरण करते हुए क्त-अवा में वही मात्मानि के पतीकभूत भारतयज्ञ के आर्य्य मानवभेद के लिए ‘आचारत्मक’ जो माहात्मिक उपोषन प्रदान किया है वस्तु के-‘सङ्गच्छन्मम्०’ इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उची ‘राष्ट्रीय आचार’ का माहात्मिक उपोष हुआ है बिन का राष्ट्रभाषा में वचमान राष्ट्रमानव के लिए इत्यस्मैवैव समन्वय समीचीन होगा कि—

॥-अग्निर्जागार तमुष कामयन्ते, अग्निर्जागार तसु सामानि यन्ति ।

अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सरुपे न्योक्ताः ॥

—श्रुत्सं० १।४।१।१।

—सह यज्ञा प्रजा सृष्ट्या पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनन प्रसविष्यधमेपवोऽस्तिवष्टकामधुक ॥

—गीता

गमनाय=तत्र गन्तुमुत्कण्ठितौ गतौ च, ततस्तदनन्तरं ग्लु सा वनमयूरी
 तौ सार्धंवाहदारका एजमाण' एजमानौ प्रत्यागच्छन्तौ पश्यति दृष्ट्वा च'
 'भीया' भीता अकस्माद् भयजनकवस्तुदर्शनेन भय प्राप्ता 'तत्या' अन्ता-
 भयजनितदुःख प्राप्ता स्तब्धा वा क्षणमात्र भयेन निश्चला जाता 'तसिया'
 अन्तर्भावितव्यर्थ, आसिता आत्मनः प्रतिपदेश भयेन सक्रान्ता जाता 'उत्त्रिगा'
 उद्विग्ना-त्रोणशरणरहितत्वेनोद्वेग प्राप्ता 'पलाया' पलायिता-उड्डेयनोद्युक्ता
 'महया २ महेण' महता २ शब्देन उच्चस्वरेण 'केकारव' मयूरशब्द 'विणि-
 म्मुपमाणी २' विनिर्मुञ्चन्ती=पुन पुनः कुर्वन्ती मालुकारुक्ष्णात् पडिनिक्व
 मइ' प्रतिनिष्कामति निस्सरति 'पडिनिक्वत्ता' प्रतिनिष्कम्प्य निस्सृत्य स्वस्था
 नाडुड्डेय 'एगसि' एकस्या वृक्षशाखाया 'ठिचा' स्थित्वा तौ सार्धंवाहदारकौ त

मत्यवाहदारए एजमाणे पासइ) उस वनमयूरीने उन दोनो सार्धंवाह
 दारका का ज्यों ही आते हुए देखा-तो (पासिचा) देखकर (भीया तत्या
 तमिया उत्त्रिगा पलाया) भयभीत हो गईं अस्त हो गईं--अकस्मात्
 भयजनक वस्तु को देखने से भय जनित दुःखको प्राप्त हुईं-अर्थात् क्षण
 मात्र के लिये भयसे निश्चल हो गईं-आत्मा के प्रतिपदेश में भय
 से युक्त हो गईं, उद्वेग यो प्राप्त हो गईं और उस स्थान से उठी (महया २ महेण
 केकारव विणिम्मुपमाणी २ मालुया कच्छाओ पडिनिक्वमइ) उछटी २ यहे जोर २ म
 केकारव (शब्द) वारवार फाँटी करती वह उस मालुका कच्छरु से घाबर हो गईं
 (पडिनिक्वमिता एगसि रुक्मवडालयसि ठिचा ते मत्यवाहदारए मालुया
 कच्छय च अणिमिसाए दिट्टिए पेइमाणी २ चिइइ) बाहर होकर एक

ते आलु ज्वा आगण वंधा (तएण सा वणमऊरी ते मत्यवाहदारए एजमाणे पासइ)
 ते डेवे अने सार्धंवाहोने जेया अने (पासिचा) जेधने (भीया तत्या तसिया उत्त्रिगा
 पलाया) हरी गध, अ अस्त थध गध आसिता अय पमाअनारी वस्तुने जेधने ते
 दुप पाभी, अथवा तो ते अयवीत थधने बोअ वअत भाटे स्तम्भ थध गध, तेना
 आत्मप्रदेशेमा अय प्रसरि गये ते उद्विअ थध गध तेनी अने रक्षणे कथ पधु
 अतने उपाय उते नडि तेथी ते व्याकुण अनी गध अने ते स्थानेथी डडी
 (महया २ महेण केकारव विणिम्मुपमाणी २ मालुया कच्छाओ पडिनिक्वमइ)
 अने भेदा स्वरेथी टूठती २ उडती ते आलुअ कच्छथी अहार नीकणी गध (पडिनि-
 क्वमिसा एगसि रुक्मवडालयसि ठिचा ते मत्यवाहदारए मालुया
 कच्छय च अणिमिसाए दिट्टिए पेइमाणी २ चिइइ) आलुअ कच्छनी अहार नीकणीने ते

अर्थात्—हमारे राष्ट्र में 'दाता' मानवों की अभिवृद्धि हो !

हमारे राष्ट्र में 'वेदसत्त्व', एव तदनुगता 'सुसन्तति' अभिव्यक्त हो !

हमारे राष्ट्रीय-अनमानस से 'श्रद्धा' कमी पलायित न हो !

हमारे राष्ट्रीय कोश में दान के लिए 'प्रभूतसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !

हमारे राष्ट्र में प्रचुरमात्रा में 'अन्नसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !

हमारा राष्ट्र सदा मन्मानित 'अविधि' प्राप्त करता रहे !

हमारे राष्ट्र से सभी इतर राष्ट्र सदा 'भागते' ही रहे !

किन्तु

हमारा भारतराष्ट्र कदापि किसी से भी कुछ भी याचना-अभिलाषा न करे !

आ ब्रह्मन् ! मासो ब्रह्मवर्षसी जायताम् !

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इष्योऽतिष्याधी महारथो जायताम् ।

दोग्धी वेनुः, वीरानइवान्, आशुः सन्धिः, पुरंधियोपा, क्षिप्त् रवेष्ठाः !

समेयो युषाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम् !

निक्रमे निक्रमे न फर्जन्यो वर्षतु !

फल्लवत्यो न ओपभयं पश्यन्ताम् !

योगक्षेमो नः कल्पताम् !

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते

अग्निर्जागार तमु सामानि पन्ति ॥

अग्निर्जागार तमयं सोम आह—

त्वाहमस्मि सख्ये न्योक्ता ॥

एतद्देशप्रद्यतस्य सकाशादग्रबन्मनः ।

स्वं स्व चरित्रं शिषेरन् पृथिम्नां 'सर्वमानषा' ॥

सर्वे मवन्तु सुखिनः ! सर्वे सन्तु निरामया !

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ! ना करिचद् दुःखमागृमेवत् !

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा , स्वस्ति नः पूषा निरववेदाः ।

स्वस्तिनस्तास्पर्षोऽरिष्टनमिः स्वस्ति नो वृद्धस्पतिर्वधावु ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः ! ! शान्तिः ! ! !

टाका—'तर्ण त' ततस्तदनन्तर-मयूषा उर्द्ध्वगन्ता ता सार्यवाह
 दारकी अर्थात्परस्पर गन्धयत=भार्ययत=समुखी कुरुत 'सहावित्ता'
 अन्वयित्वा=अन्योन्यमाहूय वक्ष्यमाणप्रकारेणावादिष्टाम् 'जहाण' यथा खलु
 देवानुप्रिय । तथा वनमयूरी आवामेजमानौ भागच्छती दष्टा च सीता, प्रस्ता,
 प्रसिता, उद्विग्ना पत्राश्रिता-त्वस्थान त्यक्त्वाऽन्यत्स्थान गता महता शब्देन
 केकारव मुच्यन्ती मती यावदावां मालुकाकच्छक च पुन पुन भक्षमाणी
 तिष्ठति 'त' तत्-तस्मात् 'भवियन्व' भवितव्यम् 'एत्य' अत्र केनापि कार

'तर्ण ते सत्थवाहदारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तर्ण) इसके बाद (ते सत्थवाहदारगा) उन दोनों सार्यवाह
 दागोंने (अन्नमण्य सहावेति) परस्पर में विचार किया यानचीन की (सहा
 वित्ता) घातचीत कर के (एव वयासी) फिर वे इस प्रकार कहने लगे—
 (जहाण देवाणुप्पिया) एसा वणमज्जरी अम्हे एज्जमाणा पासित्ता मीया
 तत्था तत्तिया उन्निरगा पत्ताया महया २ सहेण जाव अम्हे मालुयाक
 च्छय च पेच्छमाणी २ चिद्धइ) जिस कारण हे देवानुप्रिय 'यह वनमयूरी
 हम लोगों को आता हुआ-देखकर भयभीत, प्रस्त और त्रासित होकर
 उद्विग्न पनी और यहां से उड़ गई—उड़ती २ उसने वधे जाव २ सेके-
 कारव क्रिया—और इस मालुकाकच्छक से बाहर होकर एक वृक्ष की
 छाल पर बैठो २ यह हम लोगों की ओर और मालुकाकच्छक की ओर
 घार २ देख रही है (त भवियन्व एत्य कारणेणं सिक्कहु मालुयाकच्छय अतो
 अणुपविसति) तो इसमें कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिय-ऐसा

'तर्ण ते सत्थवाहदारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तर्ण) त्थवाह (ते सत्थवाह दारगा) अने सार्यवाह पुत्रोन्ने
 (अन्नमण्य सहावेति) अक्षभीन साधे वातो करी (सहावित्ता) घातचीत करीने
 (एव वयासी) तेअो कडेवा वाअ्या (जहाण देवाणुप्पिया) एसा वणमज्जरी अम्हे
 एज्जमाणा पासित्ता मीया तत्था तत्तिया उन्निरगा पत्ताया महया २ सहेण जाव
 अम्हे मालुयाकच्छय च पेच्छमाणी २ चिद्धइ) हे देवानुप्रिय । आ देव आपणुने
 आवता जेधने भयभीत च प्रस्त, त्रासित, अने व्याकुल यधने अहीथी उठी, अने
 अन्धरे ने उठी त्थारे तेअे मोटा अवाअे केअरव क्यो अने ते मालुकाकच्छकी पहार
 नीकणीने अक्ष जाउनी थाआ उपर बेसी गध छे अरे त्थारी पक्षु ते आपणुने अने
 मालुकाकच्छने वारवार जेध रही छे (त भवियन्व एत्य कारणेणं सिक्कहु मालुया
 कच्छय अतो अणुपविसति) तो अनी पाछण कधने कध रहस्य थोअस छेवु

श्रीः

सप्तचतुष्टयात्मक

‘भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता’

नामक

उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धान्तर्गत

‘दिग्देशकालस्वरूपमीमासात्मक’

‘क’ अक्षरविभागात्मक-११ स्तम्भात्मक

चतुर्थस्वरूढ

उपरत

दाहा— तएण ते' ततस्तदनन्तर—मयूया उर्द्ध्वनान्तर ता सार्थवाह
 दारकी अघोऽन्य=परस्पर शब्दयत =भावयत =समुखी कृत्त 'सहावित्ता'
 शब्दयित्वा=अन्योन्यमाहूय वक्ष्यमाणप्रकारेणावादिष्टाम् 'जहाण' यथा खलु
 देवानुप्रिय ! एषा वनमयूरी आवामेजमानी आगच्छती दष्टा च भीता, व्रस्ता,
 प्रसिता, उद्विग्ना पन्थायिता—स्वस्थान त्यक्त्वाऽन्यस्वस्थान गता महता शब्देन
 केकारव मूठवन्ती मती यावदावा मालुकाकच्छक च पुन पुन प्रेक्षमाणी
 तिष्ठति 'व' तत्-तस्मात् 'भवियन्व' भवितव्यम् 'एथ' अत्र केनापि कार

'तएण ते सत्यवाहदारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) इसके बाद (ते सत्यवाहदारगा) उन दानो सार्थवाह
 दारगोने (अन्नमण्य सहावेति) परस्पर में विचार किया मानवीन की (सहा
 वित्ता) बातचीत कर के (एव वयामी) फिर वे इस प्रकार करने लगे—
 (जहाण देवाणुप्पिया) एसा वणमऊरी अम्हे एज्जमाणा पासित्ता भीया
 तत्था तस्मिया उद्विग्गा पलाया महया २ सहेण जाव अम्हे मालुयाक
 च्छय च पेच्छमाणी २ चिद्धइ) जिस कारण हे देवानुप्रिय ! यह वनमयूरी
 हम लोगों को आता हुआ—देखकर भयभीत, व्रस्त और प्रसित होकर
 उद्विग्न पनी और यहां से उड़ गई—उड़ती २ उसने बड़े जार २ सेके-
 कारव किया—और इस मालुकाकच्छक से बाहर होकर एक वृक्ष की
 डाल पर बैठी २ यह हम लोगों की ओर और मालुकाकच्छक का आर
 धार २ देख रही है (त भवियन्व एथ कारणेण त्तिरुहु मालुयाकच्छय अतो
 अणुपविसति) तो इसमें कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये—ऐसा

'तएणं ते सत्यवाह दारगा' इत्यादि ।

टीकार्थ—(तएण) त्थास्याह (ते सत्यवाह दारगा) अने सार्थवाह पुत्रोअे
 (अन्नमण्य सहावेति) अेकधीन साथे वातो करी (सहावित्ता) बातचीत करीने
 (एव वयामी) तेअे कडेवा द्वाअ्या (जहाण देवाणुप्पिया ! एसा वणमऊरी अम्हे
 एज्जमाणा पासित्ता भीया तत्था तस्मिया उद्विग्गा पलाया महया २ सहेण जाव
 अम्हे मालुयाकच्छय च पेच्छमाणी २ चिद्धइ) हे देवानुप्रिय ! आ ठेव आपखुने
 आवता अेधने भयभीत व्रस्त, प्रसित, अने व्याकुण थधने अहीथी उठी, अने
 अ्थारे ने उठी त्थारे तेअे मोटा अवाले ठेकास्व कथी अने ते मालुकाकच्छनी पडार
 नीकणीने अेक आउनी शाअ्या उपर अेसी गध छे अने त्थाथी पखु ते आपखुने अने
 मालुकाकच्छने बारवार अेध रही छे (त भवियन्व एथ कारणेण त्तिरुहु मालुया
 कच्छय अतो अणुपविसति) तो अेनी पाछा कधने कध रूस्य अेकस डोव

श्रीः

सप्तषट्पद्यात्मक

‘भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता’

नामक

उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धान्तर्गत

‘दिग्देशकालस्वरूपमीमासात्मक’

‘क’ कारविभागात्मक-११ स्वप्नात्मक

चतुर्थखण्ड

उपरत

स्थाने स्वगृहे एव अ(नेन प्रकारेण) 'दो क्रीडामणगा दों क्रीडनकौ-क्रीडा कारकौ दों मयूरीपोतकौ मयूरीशावकौ भविष्यत इति कृत्वा-इति विचार्य, अ-पोऽन्यस्यैतमर्थं प्रतिभृणुत मनसि धारयत, प्रतिश्रुत्य 'सए सए' स्वकान् स्वकान्-दासचेटकान् शब्दयत शब्दयित्वा चैव वक्ष्यमाणप्रकारेणावादिष्टाम् हे देवानुप्रिया गच्छत स्वस्तु यूय इमे-एते अण्डके मयूरी अण्डके गृहीत्वा स्वकाना जातिमतीना कुक्कुटीनामण्डकेषु पक्षिपत, इति वचन धुत्वा यावत्ते दासा अपि तथैवाण्डके प्रक्षिपन्ति ॥ सू १२ ॥

वाली हम दोनों की कुक्कुटिकाएँ उन हम लोगों के द्वारा लाये हुए मयूरी के अडों की अपने २ अडा की रक्षा तथा उनकी परकृत उपद्रवों से प्रतिपालना करती हुई रक्षा और प्रतिपालना करलेगी। (तएणं अण्ड एत्थ दो क्रीडामणगा मजरपोयगा भविस्सति तिकट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ट पडिसुणेति) इस प्रकार हम लोगों के अपने २ घर पर दो क्रीडा कारक मयूरी पोत (वच्चे) हो जावेगे ऐसा विचार कर उन दोनोंने आपसम एक दूसरे का विचार स्वीकार कर लिया (पडिसुणिचा सए सए दासचेट्टए सहावेति) स्वोकार कर फिर उन्होंने अपने २ नौकरों को बुलाया (सहा वित्ता एव वयासी) बुलाकर ऐसा कहा—(गच्छह ण तुम्हे देवाणुप्पिया ! हे देवानुप्रियो ! तुम लोग जाओ और (इमे अट्टए गहाय सयाण जाइमंताण कुक्कुडीण अट्टएसु पक्खिवह जाव ते वि पक्खिवे ति) इन मयूरी के दोनों अडोंको छे जाकर अपनी २ जातीवाली कुक्कुटिकाओं के अडों में रख दो। इस प्रकार के उनके कथन को सुनकर “यावत् उन दासोंने भी उस तरह उन दोनों अडों को छे जाकर उन कुक्कुटिकाओं के अडों में रख दिया ॥ सू १२ ॥

अहारना उपद्रवोथी रक्षयु करती देवना धंयतु पयु रक्षयु करये अने पावन पोपयु करये (तएण अण्डं एत्थ दो क्रीडामणगा मजरपोयगा भविस्सति तिकट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ट पडिसुणेति)आ रीते आपयु अनेना धरोमा द्वीयमयूरना अन्थाओ थधं जये. आभ तेओ अने ओक पीलना विचारोथी सहमत तथा (पडिसुणिचा सए सए दासचेट्टए सहावेति) सहमत थधने तेओओ पोतपोताना नेकरोने गेहाव्या (सहाविचा एव वयासी) गेहावीने आ प्रभावे कथं (गच्छहण तुम्हे देवाणु प्पिया ! हे देवानुप्रियो ! तमे अओओ अने (इमे अट्टए गहाय सयाण जाइमंताण कुक्कुडीण अट्टएसु पक्खिवह जाव ते वि पक्खिवे ति) आ देवना अने धंयने अभादी भरधीओना धंयओनी वन्थे भूडी हो आ रीते तेमनी वात सावणीने नेकरोओ अने धंयने वधने आर्थवाह पुनीनी भरधीओना धंयओनी वन्थे भूडी हीधा सू. १ १२५